# ध्वन्यालोकः

## श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-
समाख्यया व्याख्यया परिगतः

व्याख्यालेखकः—
डा० रामसागर त्रिपाठी
एम० ए०, पीएच०.डी०, आचार्यः

*प्रथम उद्योतः*

प्रकाशकः—
मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

प्रकाशक—
श्री सुन्दरलाल जैन
© मोतीलाल बनारसीदास
पो० ब० ७५, नेपालीखपरा
वाराणसी

मुद्रक—
सोमारुराम
गौरीशंकर प्रेस,
वाराणसी।

प्रथम संस्करण १९६३ ई०

सब प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित स्थानों से प्राप्त करें—

१. मोतीलाल बनारसीदास, बँगलोरोड, जवाहर नगर, दिल्ली–६
२. मोतीलाल बनारसीदास, पो० ब० ७५, नेपालीखपरा, वाराणसी
३. मोतीलाल बनारसीदास, माहेश्वरी मार्केट, बांकीपुर, पटना

## समर्पण

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी
श्रीमती फूलमती देवी की
दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त
यह अभिनव तारावली
सादर समर्पित है।

# प्राक्कथन

'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्र का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है जो एक ओर अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तो को आलोकित कर उन्हे यथास्थान विन्यस्त करता है और दूसरी ओर समस्त परवर्ती साहित्य-शास्त्र पर अपनी प्रकाशरश्मियां विकीर्ण करता है। यह युगान्तरकारी रचना है; आलोचनाशास्त्र को नवीन दिशा प्रदान करता है और शास्त्रीयतत्त्वों को एक व्यवस्थितरूप देता है। लक्ष्य ग्रन्थो की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नही है। इस ग्रन्थरत्न मे भारतीय साहित्य-शास्त्र का यह मूलभूत सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है कि दृश्यमान जगत् परोक्ष सत्ता का परिचायक है और इसका उपयोग केवल इतना ही है कि उसमे हमे प्रतीयमान परोक्ष सत्ता का प्रतिभास प्राप्त हो जाता है। अतः जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें दृश्यमान जगत् में ही सन्तुष्ट न रहकर उस परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिये। यही वह तत्त्व है जो हृदय को मुक्तावस्था की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार यदि हम भारतीय साहित्य को ठीक रूप मे हृदयङ्गम करना चाहते हैं तो ध्वन्यालोक का आश्रय अपरिहार्य हो जाता है। साहित्यशास्त्र में तो इसका उतना ही महत्व है जितना व्याकरण में पाणिनि का और वेदान्त मे वेदान्त सूत्रो का। इस ग्रन्थ के महत्त्व का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि दुर्दम आलोचक पण्डितराज ने भी सम्मानपूर्वक इसके लेखक को आलङ्कारिकसरणि का व्यवस्थापक माना है।

इस ग्रन्थरत्न की रचना विक्रम नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य आनन्दवर्धन ने की थी। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कल्हण ने राजतरङ्गिणी मे लिखा है कि काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभारत्नो में आनन्दवर्धन भी एक थे। यह मान्यता दूसरे प्रमाणो से भी सिद्ध हो जाती है। ध्वन्यालोक में कालिदास, पुण्डरीक, बाण, भट्टोद्भट, भामह, मनोरथ, सर्वसेन, सातवाहन, अमरुक और धर्मकीर्ति का नाम आया है तथा मधुमथन विजय, रत्नावली, तापसवत्सराज, हर्षचरित, रामाभ्युदय इत्यादि लक्ष्यग्रन्थो का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ मे

वामन का भी उल्लेख किया है। वामन ने अपने काव्यालङ्कार सूत्र में शिशुपालवध उत्तर रामचरित तथा कादम्बरी से उदाहरण दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वामनाचार्य का समय अष्टमशती का उत्तरार्ध अथवा नवमशताब्दी का पूर्वार्ध है। लोचन इत्यादि ग्रन्थों को देखने से यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नवम-शताब्दी के अन्तिम चरण मे भट्टनायक ने हृदयदर्पण मे ध्वन्यालोक का खण्डन किया था। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय वामन ( नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ) और भट्टनायक ( नवी शताब्दी का अन्तिम चरण ) के बीच में अर्थात् नवम शताब्दी के मध्यभाग मे है। यही समय अवन्तिवर्मा के राज्यकाल का है। अतः राजतरङ्गिणी का वह कथन सत्य सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन काश्मीरी राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे।

ध्वन्यालोक के दो भाग हैं—एक कारिकाभाग और दूसरा व्याख्याभाग। व्याख्या में परिकर श्लोक, संग्रह श्लोक और संक्षेप श्लोकों का उपादान किया गया है। व्याख्या भाग के तीन नाम प्राप्त होते हैं—ध्वन्यालोक, सहृदयालोक और काव्यालोक।

साहित्य-पर्यालोचको मे इस बात मे पर्याप्त मतभेद है कि कारिकाकार और व्याख्याकार एक ही है या पृथक्-पृथक्। कतिपय विद्वानो का मत है कि आनन्द वर्धन ही कारिकाकार है। इसमे एक तो प्रमाण यह है कि कारिकाकार ने मङ्गला-चरण नही किया। इससे प्रकट होता है कि आलोक का मङ्गलश्लोक ही ध्वनि कारिकाओ का भी मङ्गलाचरण है और इससे सिद्ध होता है कि आलोककार ही ध्वनिकार भी है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि तथा आलोक दोनो मे विषय भेद कही नही पाया जाता। तीसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन के समसामयिक अथवा इनसे तत्काल बाद मे काव्यक्षेत्र मे अवतीर्ण होनेवाले आचार्य ध्वनि तथा आलोक की एकता का संकेत देते हैं। महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक मे दोनो का एक रूप में ही खण्डन किया है। महिमभट्ट काश्मीर के रहनेवाले थे और आनन्दवर्धन के लगभग समसामयिक थे। अतः उनकी सम्मति उपेक्षणीय नहीं हो सकती। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली मे एक श्लोक दिया गया है जिसमें आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार माना गया है। राजशेखर ने भी इस पद्य को उद्धृत किया है। इसका आशय यह है कि जल्हण और राजशेखर के मत मे कारिकाकार और वृत्तिकार दोनो एक ही हैं। इसी प्रकार हेमेन्द्र, क्षेमेन्द्र, जयरथ, विश्वनाथ, गोविन्द और कुमार स्वामी इत्यादि आचार्यो ने आनन्दवर्धन को ही कारिकाकार माना है। अतएव परवर्ती परम्परा कारिकाकार और वृत्तिकार का अभेद मानने के पक्ष में ही है।

दूसरी ओर कहा जाता है कि आरम्भिक मङ्गलाचरण पर प्रथम संख्या का न होना ही इस बात का परिचायक है कि आनन्दवर्धन केवल वृत्तिकार हैं। यदि उन्होने कारिकायें बनाई होती तो मङ्गलाचरण वृत्ति के प्रारम्भ में नहीं अपितु कारिकाओ के प्रारम्भ में किया होता। इसके अतिरिक्त यद्यपि कारिकाओं के प्रारम्भ में इष्टदेवता-नमस्कारात्मक मङ्गल नही है तथापि प्रतिज्ञारूप वस्तु निर्देशात्मक मङ्गल तो विद्यमान है ही। कारिका तथा वृत्ति दोनो के विषयों की एकरूपता भी केवल इतना ही सिद्ध करती है कि दोनों आचार्यो का मत एक ही था। दोनों के एक व्यक्तित्व का परिचय कदापि नही मिलता। दूसरी बात यह भी है कि वृत्तिकार ने अनेक ऐसे विषयो का समावेश कर दिया है जिनका संकेत भी ध्वनिकारिकाओं में नहीं पाया जाता। इससे इनके व्यक्तित्व के पृथक्त्व का स्वभावत. अवभास हो जाता है।

जिन आचार्यो ने दोनों की एकता का संकेत दिया है उनमे कुछ तो केवल इतना कहते हैं कि आनन्दवर्धन ध्वनि के स्थापक थे। इसका आशय यह कदापि नही होता कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार भी थे। महिमभट्ट ने दोनों का समान खण्डन किया है इसका भी यही आशय है कि दोनों का मत एक ही था और एक के खण्डन से दूसरे का खण्डन स्वतः हो जाता है। कुछ लोग भ्रान्त भी हैं। अतः इस आधार पर कि कुछ लोगो ने दोनो की एकता का प्रतिपादन किया है यह कभी नहीं कहा जा सकता कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार भी थे।

ज्ञात होता है कि जो कारिकाये आनन्दवर्धन को प्राप्त हुई थीं उनकी विचारधारा न तो व्यवस्थित थी न पूर्ण। उन कारिकाओ को आधार बनाकर आनन्दवर्धन ने एक पूर्ण, व्यवस्थित, समन्वयमूलक और निर्णायक काव्य सिद्धान्त स्थापित किया। वृत्ति-ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण बन गया है कि परवर्ती आचार्यो ने असन्दिग्ध रूप में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिप्रवर्तक मान लिया तथा कारिकाकार सर्वथा विस्मरणावृत हो गये। यही कारण है कि अनेक परवर्ती ग्रन्थों में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार कहा गया है और कारिकाये आनन्दवर्धन के नाम पर तथा वृत्ति-ग्रन्थ ध्वनिकार के नाम पर उद्धृत किया हुआ पाया जाता है।

प्रथम कारिका का विवेचन और विश्लेषण करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार कोई भिन्न व्यक्ति थे और उन्होने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर की थी जिसका परिचय आनन्दवर्धन को नही था। लोचनकार ने ध्वनिकार और वृत्तिकार के पृथक्त्व का अनेकशः निर्देश किया है। इन्होने कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकार और वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकार शब्द

का प्रयोग किया है। केवल इतना ही नहीं अपितु इन्होने कारिकाओ से व्यतिरिक्त अर्थ का भी यथास्थान वृत्तिग्रन्थ के मौलिक चिन्तन के रूप में निर्देश किया है तथा इसमें कर्तृभेद का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। एक तो अभिनव गुप्त अधिक प्रबुद्ध चिन्तक हैं और आनन्दवर्धन की परम्परा से परिचित भी अधिक हैं। अतः अन्य आचार्यो की अपेक्षा उनका कथन अधिक मान्य है। इससे व्यक्त होता है कि ये दोनो व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् थे।

यदि इन दोनो की सत्ता पृथक् मानी जावे तो ध्वनिकार के अतिरिक्त कारिकाकार का कोई दूसरा नाम उपलब्ध नही होता और न उनके समय के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है। सामान्यतया ज्ञात होता है कि ध्वनिकार दण्डी भामह उद्भट इत्यादि से अर्वाचीन और वृत्तिकार से प्राचीन आचार्य होगे जिन्होने प्राचीन परम्परा पर आधारित ध्वनिसिद्धान्त की कारिकाओं का निर्माण किया और वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने उसकी व्याख्या की ध्वन्यालोक के अन्तिम पद्य और अभिनव गुप्त के प्रथम पद्य मे सहृदय शब्द के आ जाने से तथा ध्वन्यालोक के पुराने नाम सहृदयालोक के आधार पर कुछ लोगों ने ध्वनिकार का नाम सहृदय होने का अनुमान लगाया है। किन्तु सहृदय सामान्यतया काव्य-परिशीलक को कहते हैं। अतः यह शब्द व्यक्तिपरक नही माना जा सकता।

आनन्दवर्धन के जीवनवृत्त-विषयक कतिपय संकेत भी यत्र-तत्र प्राप्त होते है। इनके पिता का नाम भट्टनोण था जो कि काश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे। इन्होने अनेक शास्त्रो का अध्ययन किया और व्याकरण को ये सभी शास्त्रो का मूर्धन्य मानते थे। इनके बनाये हुये ५ ग्रन्थ सुने जाते हैं—( १ ) ध्वन्यालोक ( २ ) देवीशतक ( ३ ) विषमबाणलीला ( ४ ) अर्जुनचरित ( ५ ) धर्मोत्तमा नाम की एक विवृति। इन ग्रन्थों में ध्वन्यालोक ही इनकी कीर्ति का बीज है। देवीशतक काव्यमाला मे प्रकाशित किया गया है। विषमबाणलीला और अर्जुनचरित कही उपलब्ध नहीं होते। ध्वन्यालोक में ही इन ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है। विनिश्चय टीका की धर्मोत्तर नाम की विवृत्ति का उल्लेख लोचन-कार ने तृतीय उद्योत के अन्त में किया है।

ध्वन्यालोक मे ४ उद्योत हैं—प्रथम उद्योत मे ध्वनि विरोधी सम्भावित पक्षो का उल्लेख कर उनपर पूरा विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग मे ध्वनि का स्वरूप बतलाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि ही काव्य का एकमात्र प्रयोजक तत्त्व है तथा उसका अन्तर्भाव और कही नही हो सकता। द्वतीय उद्योत मे व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनिभेदो का निरूपण किया गया है और

इसी प्रसङ्ग में रस का स्वरूप तथा रसवत् इत्यादि अलंकारो से रसध्वनि के भेद इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है तथा विरोधी सिद्धान्तो का पूर्णरूप से खण्डन किया गया है। इसी उद्योत में गुणों का निरूपण भी किया गया है। तृतीय उद्योत सबसे बड़ा है। इसमें 'व्यञ्जक' की दृष्टि से ध्वनिभेद किये गये हैं। इसी प्रसङ्ग मे रीतियों और वृत्तियों का विवेचन किया गया है और भाट्ट, प्राभाकर, तार्किक, वेदान्ती इत्यादि के सिद्धान्त मे भी ध्वनि की आवश्यकता दिखलाई गई है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनिसिद्धान्त की व्यापकता तथा उसके महत्त्व पर विचार किया है और यह दिखलाया है कि यदि प्रतिभा विद्यमान हो तो ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य इन सिद्धान्तों का आश्रय लेने से काव्यार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो सकती। ध्वनि का आश्रय लेने से परिचित काव्यार्थ भी उसी प्रकार नवीन प्रतीत होने लगता है जैसे मधुमास में पुराने भी वृक्ष नये से जान पड़ते हैं। इसी उद्योत मे यह सिद्ध किया गया है कि महाप्रबन्धो में भी अङ्गी के रूप में एक ही रस की व्यञ्जना होती है जैसे महाभारत में शान्त रस की व्यञ्जना होती है।

ध्वन्यालोक की एक प्राचीन टीका चन्द्रिका का उल्लेख लोचन मे किया गया है तथा लोचन टीका से ही चन्द्रिकाकार और अभिनवगुप्त का सगोत्र होना भी सिद्ध होता है। किन्तु यह टीका उपलब्ध नहीं होती। ध्वन्यालोक पर प्राचीनतम प्रामाणिक टीका लोचन ही है जो कि अभिनवगुप्तपादाचार्य की लिखी हुई है। श्री अभिनवगुप्त एक महान् दार्शनिक विद्वान् थे। अतः इन्होने साहित्यशास्त्र मे ग्रन्थ लिखकर उसे दार्शनिक स्वरूप दे दिया। यह इतनी महत्त्वपूर्ण तथा सशक्त टीका है कि हम इसे साहित्यशास्त्र का महाभाष्य भलीभांति कह सकते है। जहां ध्वन्यालोक के दुरूह स्थानो को पूर्णरूप से स्पष्ट कर यह टीका अपने नाम को सार्थक करती है वहां दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्र विचारधारा की दृष्टि से पर्याप्तरूप में मौलिक भी है।

अभिनवगुप्त काश्मीर के एक बहुत बड़े शैव थे। कहा जाता है कि आज भी काश्मीर के अनेक ब्राह्मण परिवारो में इनकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है और इनके नाम पर व्रत रक्खा जाता है। इनके जीवनवृत्त का हमे इन्हींके ग्रन्थो मे परिचय प्राप्त होता है। ये वाराहगुप्त के पौत्र तथा चुखुल के पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम था मनोरथ जो स्वयं एक कवि थे। अभिनवगुप्त ने तीन गुरुओं से शिक्षा पाई थी। लोचन टीका मे इन्होने अपने गुरु का नाम लिखा है महेन्द्रराज। इन्होने ध्वन्यालोक इन्हीं गुरु महेन्द्रराज के पास पढ़ा था और स्थान-स्थान पर लोचन टीका मे बड़े गौरव के साथ इन्होने अपने गुरु का स्मरण किया है तथा

लिखा है कि अमुक सन्दर्भ का अर्थ हमारे गुरु ने इस प्रकार बतलाया था। इनके दूसरे विद्यागुरु थे भट्टतौत जिनका उसी रूप में इन्होंने नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती में स्मरण किया है शैवदर्शन के इनके गुरु लक्ष्मणगुप्त थे। दर्शन तथा तन्त्रशास्त्र पर इनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र पर इनके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं एक है ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन और दूसरा है भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती, जो कि उच्छिन्नरूप मे ही प्राप्त होती है। कहा जाता है कि इनके गुरु भट्टतौत ने काव्य-कौतुक नाम का एक ग्रन्थ लिखा था जिस पर इन्होंने एक विवरण लिखा। यह ग्रन्थ उपलब्ध नही होता।

लोचन-व्याख्या जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही अधिक क्लिष्ट भी है। इस पर कोई भी प्रामाणिक व्याख्या अब तक उपलब्ध नही होती। बालप्रिया एक साधारण टीका है जिसमे अधिकतर प्रतीकयोजना ही की गई है। लोचन जैसे महान् ग्रन्थ के लिये प्रतीकयोजनामात्र पर्याप्त नही हो सकती। चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय से ध्वन्यालोक की दीधिति नाम की एक व्याख्या प्रकाशित हुई है। इसमे प्रतिज्ञा की गई थी कि लोचन का ही सार सरल भाषा में मौलिकता के साथ प्रकट किया जावेगा। किन्तु यह टीका मौलिक अधिक है। अनेक स्थानो पर लोचन का प्रतिफलन इस रचना में हुआ अवश्य है फिर भी इस टीका के सहारे लोचन को ठीक रूप मे समझ सकना सर्वथा असम्भव है। ध्वन्यालोक की एक दूसरी आनन्ददीपिका नामक व्याख्या श्री आचार्य विश्वेश्वरजी ने हिन्दी मे लिखी थी। यह अधिकतर ध्वन्यालोक का ही अनुवाद था। यद्यपि इसमें स्थान-स्थान पर लोचन के अंशो का भी उपादान किया गया है। किन्तु प्रत्यक्ष व्याख्या न होने के कारण इससे लोचन को पूर्णरूप से समझने की आशा ही नही की जा सकती।

प्रस्तुत ग्रन्थ लोचन को ठीक रूप मे समझाने के लिये लिखा गया है। लेखक को सफलता कहां तक मिली है इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही करेंगे किन्तु इतना कहा जा सकता है कि लेखक का प्रथम प्रयास अवलोकनीय अवश्य है। इस व्याख्या मे जहां इस बात पर ध्यान रक्खा गया है कि लोचन का आशय पूर्णतः प्रकट हो जावे वहां इस बात की भी चेष्टा की गई है कि पाठको को इसमे मौलिक रचना जैसा-आनन्द प्राप्त हो। यह व्याख्या एक ओर उन संस्कृतज्ञो के लिये लाभकर होगी जो लोचन का मन्तव्य समझना चाहते है और दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के वे विद्वान् भी इसमे रुचि ले सकेंगे जो एक सहस्र वर्ष पूर्व की साहित्यशास्त्रीय अवस्था का पर्यवेक्षण करना चाहते है।

अन्त मे नामकरण पर भी प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य में नामकरण में बड़ी कलात्मकता पाई जाती है। केवल काव्यग्रन्थों मे ही नही व्याकरण और दर्शन जैसे नीरस विषयो के ग्रन्थो में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं। उदाहरण के लिये भट्टोजि दीक्षित ने कौमुदी की रचना की। किन्तु कौमुदी तो सहृदय रसिकों को जलानेवाली ही होती है। कौमुदी का वास्तविक आनन्द तो वही ले सकता है जिसको अपनी प्रेयसी का वियोग पीडित न कर रहा हो। अतः दीक्षित जी ने स्वयं ही 'मनोरमा' प्रदान कर दी। हरि दीक्षित ने देखा कि यह नंगी मनोरमा सहृदयो को क्या आकर्षित कर सकेगी ? अतः उन्होने उस मनोरमा को शब्दरत्न पहिरा दिया। किन्तु नागेश के भक्त हृदय को लौकिक मनोरमा के साथ कौमुदीविहार की बात उचित नही जंची और उन्होंने मनोरमा मे भगवती पार्वती के दर्शन कर उनका संयोग इन्दु-शेखर ( शब्देन्दुशेखर ) अर्थात् भगवान् शंकर से करा दिया।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सम्बन्धिनी वृत्ति का नाम आलोक रक्खा था। उसपर चन्द्रिका नाम की व्याख्या लिखी गई। अभिनव गुप्त ने देखा कि आलोक और चन्द्रिका का अभेद सम्बन्ध तो उपयुक्त हो सकता है; चन्द्रिका के द्वारा आलोक का आनन्द लेना समझ में नहीं आता। आलोक का आनन्द तो लोचन के द्वारा ही लिया जा सकता है। अतः उन्होने अपनी टीका का नाम लोचन रक्खा।

मुझे भी अपनी पत्नी के नाम में लोचन की व्याख्या का सुन्दर तथा उपयुक्त नाम प्राप्त हो गया। संस्कृत व्याकरण के अनुसार तारा शब्द से मनुप् प्रत्यय होकर तारावत् शब्द बनता है। यदि इस शब्द का नपुंसक लिङ्ग का द्विवचन बनाया जावे तो 'तारावती' बनेगा। लोचन भी दो होते हैं। अतएव तारावती शब्द द्विवचनान्त 'लोचने' का विशेषण हो जावेगा और इस शब्द का अर्थ हो जावेगा 'सुन्दर तथा प्रशस्त पुतलियों वाले दो नेत्र।' दूसरी ओर स्त्रीलिङ्ग के एकवचन मे 'तारावती' शब्द निष्पन्न होकर व्याख्या का विशेषण हो जावेगा। इसी आधार पर प्रारम्भ मे दो श्लोक रक्खे गये है.—

नैव तारावती यावल्लोचने लभते सुधीः।
नालोकं तावदीहेत वीक्षितुं श्रुतवानपि॥
व्याख्या तारावती सेयं चंद्रिकाच्छायहारिणी।
श्यामेवास्मान् रसज्ञांश्च रञ्जयेल्लव्धलोचनान्॥

अर्थात् 'जिस प्रकार अविकल पुतलियोंवाले नेत्रों को जबतक बुद्धिमान् व्यक्ति प्राप्त नही करता तबतक वह यह सुनकर भी कि यहां प्रकाश विद्यमान है उस

प्रकाश का आनन्द नही ले सकता उसी प्रकार जबतक सहृदय तारावती व्याख्या के साथ लोचन का अध्ययन नही करता तबतक वह शास्त्रज्ञ होते हुये भी ध्वन्यालोक का आशय ठीक रूप मे समझ नही सकता। यह तारावती व्याख्या चन्द्रिका नामक टीका के सौन्दर्य का अपहरण करनेवाली है। जिन लोगो ने लोचन टीका प्राप्त कर ली है उन्हे तथा हमें यह ऐसी ही आनन्द देनेवाली हो जैसे चांदनी की सुन्दरता से शोभित होनेवाली अथवा चांदिनी के सौन्दर्य को पराभूत करनेवाली कोई श्यामा ( षोडशी ) आखवालो को आनन्द देती है अथवा तारावती ( नक्षत्रो से भरी हुई ) चन्द्रिका की चमक से शून्य श्यामा ( काली रात ) सहृदयो को आनन्द देती है।

अन्त मे मै डा० नगेन्द्र जी के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत रचना सम्भव हो सकी है।

बसन्त पञ्चमी<br>संवत् २०१९

रामसागर त्रिपाठी

# विषय-सूची

१—मङ्गलाचरण १

मङ्गलाचरण की उपयोगिता (१), उसके प्रकार (२), लोचन के मंगलाचरण की व्याख्या और उसमें लोक तथा काव्य के वैषम्य का निर्देश (२), लोचनकार का स्वपरिचय (४), आलोककार के संगलाचरण पर विचार (५), आलोककार के मंगलाचरण में तीनों प्रकार की ध्वनियों का अध्ययन (६)।

२—ग्रन्थ का अनुवन्ध चतुष्टय और ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ १३

ग्रन्थ का अनुवन्ध चतुष्टय (१३), ध्वनिकार के व्यक्तित्व पर विचार (१४), काव्यशास्त्रीय प्राक्तन सम्प्रदायों में ध्वनि के मूल की खोज (१५), ध्वनि की काव्यात्मता तथा तद्विषयक वादविवाद (१८), 'ध्वनिरिति' में इति शब्द के अन्वय पर विचार (२०), प्रथम कारिका का संक्षिप्त पदकृत्य (२२), अभाववाद-विषयक सम्भावना का अर्थ (२५), विरोधी पक्षों के तीन वर्ग (२७), अभाववाद के तीन विकल्प (२९), प्रथम अभाव विकल्प गुणालङ्काराव्यतिरिक्तत्व का निरूपण (३०), द्वितीय अभावविकल्प प्रवादमात्रत्व का निरूपण (३८), तृतीय अभावविकल्प गुणालङ्कारान्तर्भाव का निरूपण (४३), अभावविकल्पों का उपसंहार (४७), भक्तिवादी पक्ष का निरूपण (४९), अशक्यवक्तव्यतावादीपक्ष (५८), विरोधी पक्षों का उपसंहार (५९), विरोधी पक्षों पर संक्षिप्त कटाक्षनिक्षेप (६१), रचना प्रयोजन का उपसंहार (६२), आनन्दशब्द के विभिन्न अर्थ, रसपरता, प्रयोजन परता, व्यक्तिपरता (६५)।

३—ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका ६९

काव्यात्मभूत अर्थ के दो रूप-वाच्य और प्रतीयमान (६९), प्राक्तन आचार्यों द्वारा किये हुये वाच्य-विवेचन का निर्देश (७५), प्रतीयमान अर्थ की वाच्यव्यतिरिक्तता (७६), प्रतीयमान अर्थ की त्रिरूपता (७२), रसव्यञ्जना की मुख्यता (८१), वस्तुव्यञ्जना का वाच्य से भेद (८४), 'भ्रम धार्मिक ?' का संक्षिप्त पदकृत्य (८६), तात्पर्य वृत्ति में व्यञ्जना के समावेश का निराकरण (८७), अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता (८८), लक्षणा में व्यञ्जना की आवश्यकता (९४), अन्विताभिधानवाद और व्यञ्जना

वृत्ति (१०१) 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' और 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इन वाक्यों पर विचार (१०२), काव्यप्रकाशकार के अनुसार ध्वनि की सिद्धि (१०६), काव्यप्रकाशकार के अनुसार लक्षणा और व्यञ्जना का भेद (११५), धनिक की तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना (११८), महिमभट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना (१२०), वेदान्तियों और वैय्याकरणों का अखण्डता वाद और व्यञ्जना (१२२), दूसरे प्रमाण और व्यञ्जना (१२५), 'भ्रमधार्मिक' विषयक भट्टनायक की भ्रान्ति और उसका खण्डन (१२६), 'भ्रमधार्मिक' के शब्दों की व्यञ्जना (१२६), वाच्य तथा वस्तु व्यञ्जना के विभेद के दूसरे उदाहरण (१३०), अलङ्कार तथा रस व्यञ्जना का वाच्यार्थ से भेद (१४२)।

४—काव्य में व्यञ्जना के महत्त्व का ऐतिहासिक उदाहरण १५५
५—'मानिपाद' की विस्तृत व्याख्या १५९
६—प्रतीयमान की काव्यात्मता की स्वसंवेदनसिद्धि १६८
७—प्रतीयमान अर्थ को सिद्ध करने के दूसरे प्रमाण १७२
८—प्रतीयमान की मुख्यता और उसका महत्त्व १७६
९—प्रतीयमान के प्रसङ्ग में वाच्यार्थ का उपयोग १८२
१०—ध्वनि की परिभाषा १८८
११—परिभाषा के प्रकाश में विभिन्न विरोधी मतों का निराकरण १९०
१२—विभिन्न अलङ्कारों के द्वारा ध्वनि के आत्मसात् कर लिये जाने का निराकरण १९८

समासोक्ति में ध्वनि-सन्निवेश का निराकरण (२०१), आक्षेप के विभिन्न रूपों में ध्वनि के सन्निवेश का निराकरण (२०७), दीपक और अपह्नुति इत्यादि से व्यञ्जना के गतार्थ होने का उदाहरण (२१५), अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में व्यञ्जना के सन्निवेश का निराकरण (२१९), पर्यायोक्त के द्वारा ध्वनि गतार्थ नहीं हो सकती (२२३), अपह्नुति और दीपक में व्यञ्जना के सन्निवेश न हो सकने का विवेचन (२३२), सङ्कर अलङ्कार पर विचार (२३५), अप्रस्तुतप्रशंसा-पर विचार (२४३), विशिष्ट अलंकारों में व्यञ्जना के सन्निवेश का उपसंहार (२५६), व्याजस्तुति पर विचार (२५६), भावालंकार पर विचार (२५८), ध्वनि और अलंकार इत्यादि का सम्बन्ध (२६२),

१४—वैय्याकरणों का स्फोट और ध्वनि की तन्मूलकता २६५
१५—ध्वनि के विभिन्न अर्थ और उनके क्षेत्र २७५
१६—अभाववादियों के निराकरण का उपसंहार २७७

१७—ध्वनि के प्रमुख दो भेद २७९
१८—अविवक्षितवाच्य का उदाहरण २८३
१९—विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण २८५
२०—विवक्षितान्य पर वाच्य में लक्षणा की सम्भावना पर विचार २८७
२१—भक्ति और ध्वनि का विभेद २८८

लक्षणा और ध्वनि पर्याय नहीं हो सकते (२९०), लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती, इस विषय पर विचार (२९१), लक्षणा के लक्षण न हो सकने का उपसंहार (३१०), लक्षण की अव्याप्ति (३११), 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' पर विचार तथा इस प्रसंग में रस प्रतीति पर विचार (३१७), लक्षणा सभी ध्वनि भेदों का उपलक्षण नहीं हो सकती (३२९)।

२२—अशक्यवक्तव्यता वादियों के मत का निराकरण ३३१
२३—लोचन में उद्योत का उपसंहार ३३५

* श्रीभारत्यै नमः *

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

# ध्वन्यालोकः

( लोचन-तारावती-सहितः )

## प्रथम उद्योतः

( लोचनम् )

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां जगद्भावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत् सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

[ जो ( सरस्वती का तत्त्व ) कारणांश के विना ( ही ) अपूर्व वस्तु की रचना और विस्तार किया करता है; पाषाणवत् नीरस जगत् को अपने रस की अधिकता से सारमय वना देता है; क्रमशः प्रतिभा और अभिव्यक्ति के प्रसार से उस जगत् को रमणीय वना देता है वह कवियो और सहृदयों मे भलीभाति पूर्ण रूप से स्फुरित होने वाला सरस्वती का तत्त्व विजयशील हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप मे वर्तमान है ॥ १ ॥ ]

### तारावती

आनन्दाद्वैतसव्यग्रं दिशन्मार्गमनश्वरम् ।
प्रथयन्ती जगन्मुक्तं भारती सा श्रियेऽस्तु नः ॥ १ ॥

सर्वशास्त्रप्रदं भद्रं नत्वा श्रीचन्द्रशेखरम्* ।
ध्वन्यालोकावलोकार्थं कुर्मस्तारावतीमिमाम् ॥ २ ॥

नैव तारावती यावल्लोचने लभते सुधीः ।
नालोकं तावदीहेत वीक्षितुं श्रुतवानपि ॥ ३ ॥

व्याख्या तारावती सेयं चन्द्रिकाच्छायहारिणी ।
श्यामेवास्मान् रसज्ञांश्च रञ्जयेल्लब्धलोचनान् ॥ ४ ॥

परोक्षसत्ता की अनुभूति और अन्तस्तत्त्व की सम्पन्न एकता भारतीय विचारसाधना के मेरुदण्ड है । दृश्यमान जगत् के पीछे ऐसी शक्ति अन्तर्निहित है जो चेतन विश्व की समस्त गतिविधियो पर नियन्त्रण रखती है और उसी की प्रेरणामयी सदिच्छा मानवजीवन को सञ्चालित किया करती है । इसी लिये दुर्गा-सप्तशती मे अन्तःकरण मे विद्यमान अनेक भावों के रूप मे उसके दर्शन किये गये

---

* श्रिया चन्द्रन्ति, श्रियं चन्द्रयन्ति वेति श्रीचन्द्राः । चदेरक् । तेषु शेखरम् विष्णुं शोभासम्पन्नं भगवन्तं शिव तदाख्यं गुरुं च ।

## तारावती

है। ज्ञान तो उस सत्ता का प्रत्यक्ष रूप है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। यही कारण है ऋषियो की कृति वेदमन्त्र उस महातत्त्व का निश्श्वसित माने गये। केवल इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मण मे तो साधारण श्लोक को भी ईश्वरीय निश्श्वसित ही माना गया है—'अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वोऽङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि, अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्श्वसितानि'। अत एव यह स्वाभाविक ही है कि ग्रन्थरचना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य मे उस महाशक्ति का अनुशीलन किया जावे। इसी उद्देश्य से ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण करने की परिपाटी प्रतिष्ठित है। मङ्गलाचरण के अनेक रूप हैं—(१) उस महाशक्ति को प्रणतिपूर्वक सहायता के लिये प्रेरित करना। इसे इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल कहते है। (२) परिशीलकों की मङ्गलाशंसा करते हुये उनसे अपनी एकता स्थापित करना। इसे आशीर्वादात्मक मङ्गल कहते है। (३) पराशक्तिसम्पन्न किसी वस्तु का निर्देश कर परमात्मा की व्यापकता की ओर ध्यान दिलाना। यह वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल कहा जाता है। (४) प्राचीन आचार्य 'वृद्धि' 'सिद्ध' इत्यादि माङ्गलिक शब्दों के प्रयोगमात्र को ही मङ्गलाचरण मानते थे (५) कहीं कहीं केवल 'अथ' शब्द का प्रयोग ही मङ्गलाचरणपरक माना गया है। मङ्गलाचरण के प्रयोजन के विषय मे मतभेद है। कुछ लोग मङ्गलाचरण का उद्देश्य विघ्नविघात मानते है; दूसरे लोग ग्रन्थसमाप्ति को ही मङ्गलाचरण के प्रयोजन के रूप मे स्वीकार करते है। कतिपय आचार्य विघ्नविघातपूर्वक ग्रन्थसमाप्ति को मङ्गलाचरण का प्रयोजन मानकर दोनों मतों का सामञ्जस्य स्थापित करते है। मङ्गलाचरण अपने मङ्गल के लिये भी किया जाता है और शिष्यों को मङ्गलाचरण की परम्परा बनाये रखने का उपदेश देने के लिये भी। जिन ग्रन्थों मे मङ्गलाचरण होते हुये भी ग्रन्थसमाप्ति नही होती उनमे विघ्नबाहुल्य की कल्पना कर ली जाती है और जिन नास्तिको के ग्रन्थों मे मङ्गलाचरण न होते हुये भी ग्रन्थसमाप्ति देखी जाती है उनमे जन्मान्तरीय मङ्गलाचरण की कल्पना कर आस्तिकता का निर्वाह किया जाता है।

आचार्य श्री अभिनवगुप्त 'काव्यालोक' ग्रन्थ की 'लोचन' नामक व्याख्या करने के मन्तव्य से ऐसे इष्टदेवता को प्रणाम कर रहे हैं जिसका स्मरण ग्रन्थ के विषय के अनुकूल है :—

'भगवती सरस्वती का तत्त्व विजयशील हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप मे विद्यमान है। यह सरस्वती का तत्त्व ऐसे शोभनतर विश्व की रचना करता है जिसकी तुलना ब्रह्मा जी का बनाया हुआ यह दृश्यमान जगत् कभी नहीं कर

सकता। इस काव्यजगत् की सभी वस्तुये अपूर्व होती है। (ब्रह्माजी का बनाया हुआ जगत् नियमों से आबद्ध तथा परवश होता है, जबकि काव्य-जगत् सर्वत्र स्वतन्त्र तथा नियमो से सर्वथा विनिर्मुक्त होता है। दृश्य जगत् मे रात्रि मे सूय और दिन मे चन्द्र प्रकाशित नही हो सकते जब कि काव्यजगत् मे राजा का प्रताप-सूर्य तथा सुन्दरी का मुखचन्द्र रात दिन एक सा प्रकाशित रहता है। काव्यजगत् के लिये ये नियम सर्वथा अकिञ्चित्कर है। ब्रह्मा की सृष्टि कवि की सृष्टि का सतत अनुकरण करने की चेष्टा करती है, किन्तु वहाँ तक कभी नहीं पहुँच सकती। ब्रह्मा की सृष्टि मे न राम जैसे आदर्श पुरुप होते हैं और न सीता जैसी पतिपरायणा महिलाये। यही काव्यसृष्टि की अपूर्वता है।) भारती काव्यजगत् के समस्त पदार्थों को विना ही किसी कारण के अंश के उत्पन्न करती हैं। (दृश्य जगत् में जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते है उनमे समवायि असमवायि और निमित्त कारणो का सहयोग और सहकार अपेक्षित होता है। किन्तु काव्य जगत् मे कमल (नायिका के मुख कमल) की उत्पत्ति विना ही जल के हो सकती है। भारती केवल नवीन जगत् की रचना ही नहीं करती अपि तु दृश्य जगत् के विभिन्न पदार्थों को भी आत्मसात् करती है।) वैसे तो संसार पाषाणवत् नीरस है किन्तु जब कवि उसमे अपना रस भर देता है तब वे ही नीरस और निस्सार पदार्थ सरस तथा सारवान् प्रतीत होने लगते है। (विभाव इत्यादि के रूप में काव्यजगत् मे सन्निविष्ट होकर तुच्छ से तुच्छ वस्तु महत्त्वपूर्ण हो जाती है और नीरस से नीरस वस्तु सरस बन जाती है।) इस सरस्वती-तत्त्व के दो भाग है एक प्रख्या अर्थात् कविप्रतिभा और दूसरा उपाख्या अर्थात् वर्णन करने की शक्ति। (इन्हे ही हम आधुनिक भाषा मे अनुभूति और अभिव्यक्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं।) पहले प्रख्या और फिर उपाख्या इस क्रम से जब सरस्वती के तत्त्व का प्रसार होता है तब काव्यजगत् बड़ा ही मनोरम हो जाता है और उससे सारा काव्यजगत् जगमगा उठता है। इस तत्त्व के दो छोर हैं एक है कवि और दूसरा सहृदय। (कवि का काम है निर्माण करना और सहृदय का काम है विचार करना।) इन्ही दो मे उसकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार सरस्वती-तत्त्व सर्वोत्कृष्ट रूप मे विद्यमान हो रहा है। यहाँ पर सरस्वती-तत्त्व का अर्थ ध्वनिकाव्य भी हो सकता हैं। यह तत्त्व भी चैतन्य प्रकाशात्मक होने के कारण अप्रकाशित का प्रकाशन करता है और प्रकाशित को मनोरम बनाता है। अतः यह आत्मरूप है। विजयी कहने से नमस्कार व्यक्त होता है। अपूर्व वस्तु-निर्माण मे कल्पना-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और प्राव प्रख्य जगत्

## लोचनम्

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।
यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

[ भट्ट इन्दुराज के चरणकमलों मे जिसने अधिवास किया है। ( और इसी कारण ) जिसका शास्त्र हृद्य हो गया है इस प्रकार का अभिनवगुप्तपाद की अभिधा ( नाम ) वाला मैं अपने लोचन की नियोजना के द्वारा अत्यन्त स्वल्प भी अनुरणित ( प्रतिध्वनित ) करते हुये लोगो के सामने काव्यालोक ( नामक ग्रन्थ ) को स्फुट कर रहा हू। ]

## तारावती

के सारमय बनाने मे बिम्बवाद का साम्य लक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार मङ्गलाचरण मे ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भी बतला दिया गया है।

अब लोचनकार अपना परिचय दे रहे है—"मैंने भट्ट इन्दुराज नामक अपने गुरु के चरणकमलों के निकट निवास किया है। ( अर्थात् मैं निरन्तर अपने गुरु के चरणकमलो की सेवा शुश्रूषा करता रहा हूँ और गुरु के चरणकमलों के निकट बैठकर मैंने समस्त शास्त्रो का भलीभाँति अध्ययन किया है। ) इस प्रकार सभी शास्त्र मेरे हृदय में विराजमान हो गये है और वे शास्त्र श्रोताओ के हृदयो के लिये रुचिकर तथा आनन्ददायक है। ( जिस प्रकार कमलो मे किसी वस्तु को बसा देने से उसमे सुगन्ध आने लगती है, उसी प्रकार गुरु के चरणकमलो में लोचनकार का शास्त्र वासित होकर सुरभि को बिखेरने लगा है। ) मेरा नाम अभिनवगुप्तपाद है। ( कहा जाता है कि शास्त्रार्थ मे अधिक प्रचण्ड होने के कारण इनसे इनके सहपाठी डरते थे और इनका नाम वाल-वलभी-भुजङ्गम रख दिया था। इन्होने उस उपाधि को नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लिया और भुजङ्गम का पर्याय गुप्तपाद अपने नाम के साथ जोड़ लिया। ) मै अपने 'लोचन' की नियोजना के द्वारा यत्किञ्चित् अनुरणित करते हुये काव्यालोक को लोगो के सामने स्फुट कर रहा हूँ। ( 'लोचननियोजना' के कई अर्थ हो सकते है—(१) मन लगाकर (२) ज्ञान के योग के द्वारा (३) लोचन व्याख्या के द्वारा (४) नेत्र गड़ा कर। जैसे किसी वस्तु को नेत्र गड़ा कर ढूढ़ा जाता है वैसे ही लोचन को संयुक्त कर मै काव्यालोक को स्पष्ट कर रहा हूँ। 'अनुरणन' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार घण्टा बजने के बाद उससे एक प्रतिध्वनि निकलती है और वह बिल्कुल घण्टानाद के समान ही होती है उसी प्रकार मैं जो कुछ कहूंगा वह सब ध्वन्यालोक की प्रतिध्वनिमात्र होगी। मैं अपनी ओर से कुछ नही कहूँगा। 'यत्किञ्चित्' का

ध्वन्यालोकः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

[ (अनु०) स्वेच्छा से ही केसरी का रूप धारण करने वाले तथा मधु (दानव) मथन भगवान् विष्णु के नख, जो कि अपनी निर्मल छाया ( कान्ति ) से इन्दु को आयास में डालने वाले हैं तथा शरणागतो के दुःख और दैन्य को काटने वाले हैं, आप सब व्याख्याताओ और श्रोताओ की रक्षा करें । ]

लोचनम्

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्ट-व्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसाम्मुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वेच्छेति ।

[ वृत्तिकार ( आनन्दवर्धन ) स्वय निरन्तर परमेश्वर-नमस्कार की सम्पत्ति से कृतार्थ हुआ भी व्याख्याताओ तथा श्रोताओं के अभीष्ट व्याख्याफल को सुनने की पूर्ति के लिये समुचित आशीर्वाद प्रकट करने के द्वारा परमेश्वर के साम्मुख्य ( का सम्पादन ) कर रहा है—'स्वेच्छा' इत्यादि श्लोक के द्वारा । ]

तारावती

अर्थ यह है कि ध्वन्यालोक की पूरी व्याख्या तो सम्भव नहीं है । यदि मै उसका कुछ भाग हो स्पष्ट कर सका तो मैं अपने को धन्य समझूगा । (आनन्दवर्धन ने ध्वनि की टीका का नाम 'काव्यालोक' ही रक्खा था । बाद मे ध्वनि की कारिकाओं को मिलाकर उसे ध्वन्यालोक कहने लगे । )

उत्तम पुरुष के क्रिया में प्रयोग करने से ही 'अहम्' का अर्थ आसकता है । फिर भी 'अहम्' का पृथक् प्रयोग किया गया है । इससे ध्वनित होता है कि—'मैं अपने प्रौढ पाण्डित्य के कारण इस ग्रन्थ की व्याख्या करने का सर्वथा अधिकारी हूँ ।' 'स्फुट कर रहा हूँ' कहने का आशय यह है कि टीकाकारो ने आज तक इस ग्रन्थ की यथाश्रुत व्याख्या ही की है इसे स्पष्ट नही कर पाया । यह कार्य मैं करूँगा ।

अब आलोककार के मङ्गलाचरण पर विचार किया जा रहा है । मङ्गलाचरण पर विचार दो दृष्टिकोणों से हो सकता है—ग्रन्थकार के दृष्टिकोण से तथा व्याख्याओ और श्रोताओं के दृष्टिकोण से । ( ग्रन्थकार स्वयं तो बिना बीच में रुके हुये निरन्तर ही परमात्मा को नमस्कार करते रहते हैं; उस नमस्कार की

## लोचनम्

( ४ ) मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान् व्याख्यातृश्रोतॄंस्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात्. सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः, त्राणं चाभीष्टलाभं प्रति सहायकाचरणम्, तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसरणादिना भवतीति इयदत्र त्राणं विवक्षितम्, नित्योद्योगिनश्च

[ मधुरिपु के नख तुम सब लोगो की अर्थात् व्याख्याताओ और श्रोताओं की रक्षा करे, क्योकि सम्बोधन के योग्य वही है। और निस्सन्देह युष्मद् ( वः ) के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। त्राण का अर्थ है अभीष्ट लाभ के प्रति सहायक का आचरण और वह अपने विरोधी विघ्न इत्यादि के अपसारण इत्यादि के द्वारा होता है; अतः इतना ही त्राण कहना यहाँ पर अभीष्ट है। नित्य उद्योग मे लगे हुये

## तारावती

सम्पत्ति से वे कृतार्थ हो गये है। ( अत एव ग्रन्थकार को अपने दृष्टिकोण से मङ्गलाचरण की कोई आवश्यकता नही। ) तथापि व्याख्याताओ और श्रोताओं को आशीर्वाद इसीलिये दे रहे है कि व्याख्याकार तो विघ्नरहित होकर अभीष्ट व्याख्या करने का फल प्राप्त कर सके और श्रोता लोग विघ्नरहित होकर सुनने का फल प्राप्त कर सकें। इसीलिये उचित आशीर्वाद को प्रकट करते हुये ग्रन्थकार ने इस मङ्गलाचरण मे व्याख्याताओ और श्रोताओ के लिये परमेश्वर की अनुकूलता सम्पादित की है।

'मधुमथन भगवान् विष्णु के नख तुम्हारी सबकी अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओ की रक्षा करे। ( यहाँ पर 'तुम्हारी' शब्द का अर्थ 'व्याख्याता और श्रोता' इसलिये लिया गया है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ उन्हीं को सम्बोधित करके तो बनाया है। ) क्यो कि वे ही सम्बोधन के योग्य है। ( यहा पर यह पूछा जा सकता है कि मङ्गलाचरण मे सम्बोधन का प्रयोग कहाँ है ? इसका उत्तर यह है कि ) 'वः' शब्द युष्मद् शब्द का रूप है। युष्मद् के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। जिसको सम्बोधित नही किया जाता उसके लिये युष्मद् शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

रक्षा करने का आशय यह है कि उद्देश्य की सिद्धि के लिये सहायता की जावे। सहायता की जा सकती है अभीष्ट-लाभ के विरोधी विघ्नो के दूर करने इत्यादि के द्वारा। यह तभी सम्भव है जब कि आवश्यक उपकरण प्रदान कर दिये जावे। यही त्राण का अर्थ है। भगवान् विष्णु जिस प्रकार निरन्तर ही नृसिंह मधु इत्यादि दानवों का संहार कर संसार के त्राण मे लगे रहते है उसी प्रकार भक्तो के मार्ग मे आने वाले विघ्नो का संहार भी निरन्तर ही किया करते हैं।

## लोचनम्

भगवतोऽस्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते । नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात् सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः । कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वेच्छया केसरिणः । स्वेच्छया मधुरिपोः न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानव-हननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतनृसिंहरूपस्येत्यर्थः । कीदृशः

भगवान् के सम्मोहरहित अध्यवसाय मे लगे रहने के कारण उत्साह की प्रतीति होने से वीर रस ध्वनित होता है। नखो के प्रहार का उपकरण होने से और प्रहार द्वारा रक्षा किये जाने में नखो के भिन्न न होने से करण होने के कारण कर्तृत्व के द्वारा ( अर्थात् प्रहार में नख करण होते है तथापि कर्ता मे प्रयोग किया गया है इसलिये ) सातिशयशक्तित्व की सूचना मिलती है और ध्वनित होता हैं भगवान् का व्यतिरिक्त करण की अपेक्षा का अभाव। 'मधुरिपु' इस शब्द के द्वारा उन ( भगवान् ) का सदैव संसार के त्रासापसारण का उद्यम कहा गया है। किस प्रकार के मधुरिपु का ? जो स्वेच्छा से ही केसरी बने न कि कर्मपारतन्त्र्य से और नहीं दूसरे की इच्छा से अपि तु विशिष्ट दानव के मारने के योग्य उस प्रकार की इच्छा के ग्रहण करने मे उचित होने के कारण नृसिंह रूप को जिन्होने स्वयं स्वीकार किया; ( यहाँ पर ) यह अर्थ है। ]

## तारावती

भगवान् अपनी इस क्रिया मे न कभी सम्मोह में पड़ते है और न उनके अध्यवसाय में किसी प्रकार की कमी आती है। इस प्रकार भगवान् का उत्साह व्यक्त होता है। शास्त्र का नियम है कि विभाव इत्यादि रस के चारों अङ्गों में यदि एक भी व्यक्त हो जावे तो शीघ्र ही दूसरे अंगो का भी आक्षेप कर लिया जाता है। यहाँ पर वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की व्यञ्जना हुई है। अतः उसके आलम्बन मधु इत्यादि राक्षस, उनके साहस शौर्य इत्यादि उद्दीपन, उनकी अवहेलना इत्यादि अनुभाव और गर्व इत्यादि सञ्चारी भावों का भी शीघ्र ही समावेश हो जाता है और इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी भाव से पानकरसन्याय से वीर रस की ध्वनि होती है।

नखों से प्रहार किया जाता है और प्रहार के द्वारा रक्षा की जाती है। इस प्रकार रक्षण क्रिया मे नख शरीरान्तर्वर्ती करण हैं। किन्तु उनका प्रयोग कर्ता कारक में किया गया है। इस प्रकार इनकी शक्ति की अधिकता ध्वनित होती है।

( लोचनम् )

नखाः ? प्रपन्नानामार्तिं ये छिन्दन्तिः नखानां हि छेदकत्वमुचितम् ; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वम् नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात् सम्भाव्यत एवेति भावः। अथवा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वरयोत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तेवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्तिरुच्छिन्ना भवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तम् । किञ्च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन

[ किस प्रकार के नख ? जो कि शरणागतों की दीनता को काट डालते हैं; निस्सन्देह नखो का (दूसरी वस्तु को) काट डालना उचित है: किन्तु नखों के प्रति दीनता का छेद्यत्व ( अर्थात दीनता का नखो के द्वारा काटा जा सकना ) असम्भव है तथापि भगवान् के नाखूनो के स्वेच्छानिर्माण के औचित्य के कारण सम्भावना की ही जा सकती है। अथवा तीनो लोको का कण्टक हिरण्यकशिपु विश्व का उत्क्लेश ( उत्पीडन ) करनेवाला है, अतः वही वस्तुतः शरणागतों अर्थात् एकमात्र भगवान् की शरण मे आये हुओ के अन्दर आर्ति उत्पन्न करने के कारण आर्ति का साक्षात् मूर्तरूप ही है: उसको नष्ट करने वाले नाखूनों से आर्ति ही उच्छिन्न हो गई, इस प्रकार उस अवस्था मे भी परमेश्वर की परम कारुणिकता बतलाई गई है। और भी वे नाखून स्वच्छ से अर्थात् स्वच्छतागुण से अथवा

तारावती

'भगवान् विष्णु नखों से भक्तों की आर्ति का उन्मूलन नहीं करते अपि तु नख स्वयं ही भक्तों के दुःखो को काट डालते है।' यहाँ नखों की सातिशय-शक्ति है। यहाँ पर कारक के द्वारा वस्तुध्वनि होती है। करण दो प्रकार के होते हैं, एक आभ्यन्तर दूसरा बाह्य। जैसे प्रहरण क्रिया मे खड्ग इत्यादि बाह्य करण है और हस्त इत्यादि आभ्यन्तर करण है। अतएव इससे एक ध्वनि और निकलती है कि भगवान् को व्यतिरिक्त करण की कोई अपेक्षा नहीं। भक्तों के कष्ट काटने में उनके नख ही पर्याप्त है। 'मधुरिपु' शब्द से ध्वनि निकलती है कि 'भगवान् ससार के त्रास का अपनोदन करने मे सदा प्रयत्नशील रहते है।'

भगवान् ने नृसिंह रूप न तो कर्म को परतन्त्रता से ही धारण किया और न किसी दूसरे की इच्छा से। किन्तु देवताओं से भी अवध्य महान् दानवों के संहार के लिए उपयुक्त नृसिंहरूप को अपनी इच्छा से ही स्वीकार किया। 'इच्छा' शब्द से भगवान् के कर्मपारतन्त्र्य का अभाव ध्वनित होता है और 'स्व' शब्द से दूसरे की इच्छा का अभाव ध्वनित होता है। ये सब वस्तुध्वनि है।

काटने का काम नखो का है ही, किन्तु दुखो को काट सकना नखो के लिये असम्भव है। किन्तु भगवान् ने स्वेच्छा से ही नृसिंहरूप धारण किया है।

## लोचनम्

नैर्मल्येन । स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव. स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः खेदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना बालचन्द्रत्वं ध्वन्यते । आयासने तत्सन्निधौ चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिर्हृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते । आयासकारित्वं च नखानां सुप्रसिद्धम् । नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम् । किञ्च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य बालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुशलाः न त्वहमिति व्यतिरेकालंकारोऽपि ध्वनितः; किञ्चाहं पूर्वमेक एवासाधारणवैशद्यहृद्याकारयोगात् सकलस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम् , अद्य पुनरेवंविधा नखाः, दशबालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदनकुशलाश्चेति तानेव लोको बालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्बालेन्दुरविरतायासमनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि, एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः ।

निर्मलता से—क्योंकि स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूप मे भाववाचक (स्वच्छता इत्यादि धर्म के वाचक ) ही होते हैं—तथा अपनी छाया अर्थात् वक्र तथा हृदय आकृति के द्वारा आयासित कर दिया है अर्थात् खेद मे डाल दिया है जिन्होंने; यहाँ पर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि से बालचन्द्रत्व ध्वनित होता है; आयासित करने से उन नखों के निकट चन्द्र की कान्तिहीनता की प्रतीति तथा अहृद्यत्वप्रतीति ध्वनित होती है और नाखूनों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है; और वह आयसकारित्व नरहरि के नाखूनो का विशेष रूप मे प्रतिपादित किया गया है; और भी उनकी स्वच्छता और कुटिलता को देखकर बालचन्द्र अपनी आत्मा मे खेद का अनुभव करता है । 'स्वच्छ तथा कुटिल आकार के योग के समान होने पर भी ये नख शरणागतों के दुःख निवारण मे कुशल है, मैं तो नहीं हूँ' यह व्यतिरेकालङ्कार भी यहाँ पर ध्वनित किया गया है । और भी 'मैं पहले अकेला ही असाधारण निर्मलता तथा हृद्य को प्रिय आकार के योग से सभी लोगों की अभिलाषा की योग्यता का पात्र था, फिर आज ये इस प्रकार के बालचन्द्राकार तथा सन्ततों के आर्तिविच्छेदन मे कुशल दस नाखून है, इसलिये इन्हे ही लोक बालेन्दु से अधिक सम्मान के द्वारा देखेगा, मुझे नहीं' यह समझते हुये बालचन्द्र निरन्तर मानों आयास का अनुभव करता है यह उत्प्रेक्षा और अपह्नुति ध्वनि भी होती हैं । इस प्रकार वस्तु, अलङ्कार और रस के भेद से तीन प्रकार की ध्वनि की व्याख्या इस श्लोक मे हमारे गुरुजनों के द्वारा की गई है । ]

तारावती

अतएव सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण नखो का आर्तिच्छेदन उपपन्न हो जाता है अथवा नखों का आर्तिकृन्तन असम्भव है अतः अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और आर्ति शब्द की लक्षणा हिरण्यकशिपु मे हो जाती है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि हिरण्यकशिपु वेरोक-टोक सभी व्यक्तियो का सबसे अधिक दुःख-दायक है। ( हिरण्यकशिपु दुःख देने वाला नही, किन्तु साक्षात दुःख की मूर्ति ही है। ) यही लक्षणा का प्रयोजन है। हिरण्यकशिपु के मारे जाने से शरणागतों की पीडा भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार यहाँ पर अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि है। साराश यह है कि हिरण्यकशिपु तीनो लोको का कण्टक है और संसार का उत्क्लेश करने वाला है। अतएव एकमात्र भगवान् के आधीन रहने वाले व्यक्तियो को पीडा देने के कारण वह वास्तव मे पीडा की मूर्ति है। उसको नष्ट कर भगवान् ने मानों पीडा ही नष्ट कर दी। उस अवस्था मे भी भगवान् की परमकारुणिकता व्यक्त होती है।

[ आयास होना चेतनधर्म है। अतएव आयास का हो सकना इन्दु में सम्भव नही। इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति होने के कारण अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और आयास की लक्षणा असौन्दर्य मे हो जाती है। भगवान् के नख इतने स्वच्छ तथा इतने मनोहर है कि उनके सामने चन्द्र की शोभा भी फीकी पड जाती है। यही इसका लक्ष्यार्थ है। लक्षणा का प्रयोजन है असौन्दर्य की अधिकता, जो कि व्यञ्जनावृत्ति से प्राप्त होती है। आयास के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर अत्यत तिरस्कृत वाच्य अविवक्षित वाच्यध्वनि है। ]

यहाँ पर स्वच्छ का अर्थ है स्वच्छता। क्योकि स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूपमे धर्मवाचक ही हुआ करते है। एक ओर नखो मे स्वच्छता का गुण विद्यमान है और दूसरी ओर उनकी छाया ( आकृति ) वक्र तथा हृद्य होने के कारण चन्द्र मे आयास का उत्पादन करती है। नखो की शोभा के कारण चन्द्र के आयासित होने से अर्थशक्ति के द्वारा ध्वनित होता है कि यहा पर बालचन्द्र ( द्वितीया के चन्द्रमा ) से मन्तव्य है। आयासित होने से नखों के सामने बालचन्द्र की मलिनता तथा अहृद्यता ध्वनित होती है। नखों का आयासकत्व प्रसिद्ध है और वह भगवान् के नखो मे विशेष रूप से दिखलाया गया है। दूसरी बात यह है कि नखो की स्वच्छता तथा कुटिलता देखकर बालचन्द्र अपने अन्दर खेद का अनुभव करता है कि 'स्वच्छता तथा कुटिलता तो दोनों में समान है; परन्तु भगवान् के नख शरणागतो की आर्ति के कृन्तन मे समर्थ है; मुझ मे यह शक्ति विद्यमान नही है।' इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त

तारावती

चन्द्रमा समझता है कि 'अभी तक अपनी असाधारण निर्मलता तथा हृदयग्राही आकृति के योग से समस्त व्यक्तियो की अभिलाषा का पात्र मैं ही था अब तो तो इस प्रकार के बालचन्द्राकार १० नाखून विद्यमान हैं और ये सन्ताप को नष्ट करने मे भी कुशल हैं ( जब कि मैं वियोगियो को सन्ताप देने वाला हूं । ) अतएव अब तो लोक इन्ही को बालेन्दु के योग्य महान् सम्मान के साथ देखेगा; मुझे कोई कही मानेगा' मानो यह समझते हुये बालचन्द्र निरन्तर आयास का अनुभव करता है। इस प्रकार यह उत्प्रेक्षा भी हो गई। 'ये नख नही है किन्तु १० बालचन्द्र हैं' इस अपह्नुति की भी व्यञ्जना होती है। ( यहाँ पर 'नख नही किन्तु बालचन्द्र' इस अपह्नुति के कारण 'मानो चन्द्र को कष्ट होता है' यह उत्प्रेक्षा होती है। अतएव इन दोनो का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। इन दोनों में एक व्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर नही हो सकता, क्योकि दोनो अलङ्कार एक दूसरे के निरपेक्ष नही है। यहाँ पर चन्द्र मे आयास का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतएव सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार भी यहाँ पर हो सकता है। ) इस प्रकार हमारे गुरु ( सम्भवतः भट्टेन्दुराज ) ने इस श्लोक मे वस्तु अलङ्कार और रस तीनो ध्वनियों की व्याख्या की है।

[ लोचनकार ने यहाँ पर उत्प्रेक्षा तथा अपह्नुति ये दो अलङ्कार दिखलाये हैं। इस पर दीधितिकार ने लिखा है—'कुछ लोगों ने यहाँ पर उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की प्रतीति का प्रतिपादन किया है। इस विषय में हम कुछ कहना नहीं चाहते क्योकि हमे इन महानुभावों के महत्व का ध्यान रखना ही है। हाँ इतना कहा जा सकता है कि प्रतीयमान उत्प्रेक्षा और अपह्नुति भी वही पर स्वीकृत की जा सकती हैं जहाँ पर उत्प्रेक्षा की सामग्री प्रकृतधर्मिक अप्रकृत सम्भावना तथा अपह्नुति की सामग्री प्रकृत के निराकरण के साथ अप्रकृत की स्थापना विद्यमान हो। सहृदयों को इतना तो समझना ही चाहिये कि कष्टकल्पना विच्छित्ति को जन्म देने वाली नहीं होती।' इस पर मेरा निवेदन है कि यहाँ पर उत्प्रेक्षा और अपह्नुति वाच्य नही हैं, किन्तु व्यङ्ग्य हैं। 'आयासित' शब्द ही दोनो सामग्रियों को जुटा देने के लिये पर्याप्त है। चन्द्र मे आयासितत्व धर्म की सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षा का बीज तो विद्यमान है ही—आयासित होने का कारण यह है कि चन्द्र यह समझता है कि अब लोग नखों को बालचन्द्र कहा करेंगे मुझे नही। यही अपह्नुति का बीज है इसमें कोई कष्टकल्पना नही।

यहाँ पर लेखक की भगवद्विषयक रति अङ्गी है और अभिव्यज्यमान वीर रस उसका अङ्ग है। इस प्रकार वीर रस अपराङ्ग गुणीभूत का उदाहरण हो गया

तारावती

है। बालप्रियाकार ने लिखा है कि 'यहाँ पर वीर रस ही अङ्गी है क्योंकि ग्रन्थकार भगवान् से तन्मयभाव को प्राप्त हो ही चुका है। उसने केवल भक्तों को आशीर्वाद दिया है। अतः लेखक की भगवद्विषयक रति व्यक्त नहीं होती। ग्रन्थकार की भगवान् से तन्मयता इसी बात से सिद्ध है कि उसने सूत्र बनाने से पहले मङ्गलाचरण नहीं किया और उसने अपूर्व प्रस्थान की रचना कर दी जो कि भगवत्-शक्ति से ही सम्भव थी।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि एक तो यह बात सिद्ध नहीं है कि सूत्रकार तथा आलोककार दोनों एक ही व्यक्ति हैं। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थो मे मङ्गलाचरण व्यावहारिक दृष्टि से ही किया जाता है जिससे उसकी परम्परा बनी रहे और शिष्यों को उसका उपदेश प्राप्त हो जावे। जिन ग्रन्थों में मङ्गलाचरण नहीं भी होता है उनमे भी ग्रन्थ से बहिर्भूत मङ्गलाचरण की कल्पना की ही जाती है। अतएव सूत्रों के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण न करने से मङ्गलाचरण का अभाव सिद्ध नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थकार ने केवल आशीर्वाद दिया है: उसमे भगवान् की भक्ति नहीं है। भगवान् से भक्तो की रक्षा करने की प्रार्थना स्वयं कविगत भक्ति की परिचायक है। अतः यहाँ पर वीर रस अङ्गमात्र है। अङ्गीभाव ध्वनि ही है।

'निज', 'स्व', 'आत्म' इत्यादि शब्दों का अन्वय प्रधान क्रिया से ही होता है—यहाँ 'स्वेच्छा' शब्द प्रधान क्रिया से अन्वित न होकर 'केसरी' इस संज्ञा शब्द से अन्वित हुआ है। अतएव यहाँ पर अभवन्मतसम्बन्ध नामक दोष प्रतीत होने लगता है। किन्तु 'स्वेच्छा' शब्द के विशेष रूप से व्यञ्जक होने के कारण इस दोष का निराकरण हो जाता है। यद्यपि छाया शब्द का समास होने पर उसमे नपुंसक लिङ्ग हो जाता है तथापि यह नियम वहीं पर लागू होता है जहाँ पर छाया शब्द का अर्थ आतप का अभाव हो। अन्यत्र 'विभाषासेनासुराच्छायाशालानिशाङ्गानाम्' इस सूत्र से विकल्प होता है। यद्यपि यहाँ पर ह्रस्व होकर 'आयासित' के 'आ' से दीर्घ होने पर भी काम चल चकता है तथापि यह समाधान मानना ठीक नहीं। क्योंकि 'स्वच्छाया' इस अभिनवगुप्त की व्याख्या से उसकी सङ्गति नहीं बैठती। अभिनवगुप्त ने स्वच्छ शब्द को धर्मपरक ( स्वच्छतावाचक ) मानकर स्वच्छाया से उसका द्वन्द्वसमास माना है। किन्तु दीधितिकार के अनुसार 'स्वच्छ'शब्द धर्मिपरक भी माना जा सकता है और इस प्रकार वह स्वच्छाया का विशेषण हो जावेगा। यद्यपि अभिनवगुप्त की व्याख्या मे धर्मिपरक को धर्मपरक मानने की कष्ट-कल्पना करनी पडती है तथापि द्वन्द्व मानने मे निर्मलता गुण का प्रत्यायन विशेष रूप से हो जाता है। यह आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण है और व्याख्याताओं तथा

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

[ अनु० ] [ काव्यतत्त्वेत्ता विद्वान् पहले से ही यह व्याख्या करते आये हैं कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है'। कतिपय विद्वानों ने उस ध्वनि का सर्वथा अभाव बतलाया हैं। दूसरे आचार्य कहते है कि वह ध्वनि लक्षणागम्य है। कुछ लोगो ने कहा है कि ध्वनि का तत्त्व कभी वाणी का विषय हो ही नहीं सकता। इस प्रकार के वैमत्य होने के कारण सहृदय मनस्तोष के उद्देश्य से हम उस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते है। ]

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिधद्धप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजन तत्सम्बद्धं प्रयोजनं च सामर्थ्यात् प्रकटयन्नादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मेति।

[ अब प्रधानतया अभिधेय स्वरूप का अभिधान करते हुये अप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजन और उससे सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये आदि वाक्य को कह रहे हैं ( व्याख्या कर रहे हैं )—काव्यस्यात्मा इत्यादि। ]

तारावती

श्रोताओं को अभीष्टव्याख्याश्रवणफलप्राप्ति के लिये आशीर्वाद दिया गया हैं। इससे आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार ग्रन्थकार का निरन्तर भजन-पूजन अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर कुछ लोगो का बतलाया हुआ एकदोष मानना ठीक नहीं क्योंकि एक तो वह अगतिकगति है, दूसरे उससे ग्रन्थकार की सतत परमात्म-भक्ति सिद्ध नहीं हो पाती। एक बात यह भी है कि यहाँ पर अभिधावृत्ति से आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण है और व्यञ्जनावृत्ति से इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल भी कहा जा सकता है। ]

अब प्रधानतया वक्तव्य वस्तु का स्वरूप बतलाते हुये अप्रधान रूप मे प्रयोजन के प्रयोजन और उससे सम्बन्धित प्रयोजन को अर्थसामर्थ्य से प्रकट करते हुये इस प्रथम सूत्र का कथन किया जा रहा है।

[ग्रन्थ का विषय है ध्वनि का स्वरूप। प्रयोजन है सहृदयों को ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान करा देना। उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयों का मनस्तोष। 'हम ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं' इस वाक्य के अर्थ के द्वारा ग्रन्थ का विषय

तारावती

बतलाया गया है। 'सहृदयमनस्तोष के लिये' इस पद के अर्थ के द्वारा प्रयोजन का प्रयोजन बतलाया गया है। स्वरूपज्ञानरूप प्रयोजन का अर्थसामर्थ्य से आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार वाक्यार्थ होने के कारण विषय का उल्लेख प्रधान है। पदार्थगम्य होने के कारण प्रयोजनप्रयोजन प्रीति और आक्षेपगम्य होने के कारण प्रयोजन ज्ञान दोनों ही अप्रधान हैं। सहृदयजन इस निबन्ध के अधिकारी हैं और विद्वानों के विवेचन प्रस्तुत रचना से सम्बद्ध हैं। 'बुधैः' (विद्वानों के द्वारा) पद में बहुवचन के प्रयोग से व्यक्त होता है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने किया है। अनेक विद्वान् जिस सिद्धान्त का निरन्तर प्रतिपादन करते आये हों उसका न तो प्रतिषेध ही सम्भव है और न उसकी उपेक्षा ही की जा सकती है। अतएव उसका निरूपण नितान्त आवश्यक है। यही प्रस्तुत रचना का अनुबन्धचतुष्टय है।

ध्वनिकार का व्यक्तित्व सर्वथा रहस्यमय है। श्रीडे तथा काणे महोदय इन्हें वृत्तिकार आनन्दवर्धन से पृथक् मानते हैं और डा० शङ्करन ने इन्हें आनन्दवर्धन से अभिन्न माना है। संस्कृत साहित्य जगत् में अपनी ही लिखी हुई पुस्तक पर स्वयं वृत्ति अथवा टीका लिखने की एक प्रवृत्ति रही है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार नहीं हैं। आनन्दवर्धन ने पिछले समय से चली आती हुई ध्वनिसम्बन्धिनी कारिकाओं की व्याख्या मात्र की है। पहली बात तो यह है कि आनन्दवर्धन ने जो मङ्गलाचरण किया है उसपर कारिका की प्रथम संख्या नहीं डाली गई है। प्रथम संख्या उपक्रम के पद्य पर डाली गई है। दूसरी बात यह है कि अभिनवगुप्त मङ्गलाचरण लिखने वाले को स्पष्ट ही वृत्तिकार कहते हैं और इस प्रकार कारिकाकार से उनके पृथक्त्व की ओर सङ्केत करते हैं। 'सहृदयाना मनसि आनन्दो लभता प्रतिष्ठाम्' इस सन्दर्भ की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने आनन्द का अर्थ आनन्दवर्धन किया है। यदि ध्वनिकार तथा आलोककार का व्यक्तित्व एक ही होता तो आनन्द का श्लेष व्याख्यात्मक गद्य में नहीं किन्तु मूलपद्य में लाया गया होता, क्योंकि ऐसी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ पद्य के ही अनुकूल हैं। इससे भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन से भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि कारिकाकार उक्त पद्य में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस बात का एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने प्रतिपादन किया है। यहाँ पर ध्वनिकार ने आम्नात शब्द का प्रयोग किया है जो कि अभ्यासार्थक भौवादिक धातु 'म्ना' का निष्ठाप्रत्ययान्त रूप है और उसके पहले 'आ' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। इस

प्रकार इस शब्द का अर्थ होता है—'विद्वानो ने सभी दिशाओ मे पर्याप्त विचार करने के बाद ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके बाद ध्वनि की एक परम्परा सी चल दी जिसका अनुकरण अनेक परवर्ती आचार्यो ने किया और यह सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा मे परम्परागत रूप मे अभ्यस्त हो गया था।' केवल इतने से ही ध्वनिकार को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होने इस शब्द पर और अधिक बल देने के लिये 'सम्' उपसर्ग और जोड़ दिया जिसका अर्थ हो गया कि इस सिद्धान्त का मन्थन भी पर्याप्त मात्रा मे हुआ था। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार को किसी ऐसी परम्परा का ज्ञान था जिसमे ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना जाता था। दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने लिखा है कि इसके पहले इस विषय मे कोई पुस्तक नहीं लिखी गई और ध्वनिविरोधी सिद्धान्तो का सम्भावनामात्र से उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन उक्त परम्परा से अपरिचित थे। 'समाम्नातपूर्वः' मे 'पूर्व' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। 'पूर्व' शब्द से ज्ञात होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले किया जाता रहा था, किन्तु ध्वनिकार के समय तक आते आते उस सिद्धान्त का प्रायः लोप हो चुका था। इस प्रकार इस प्रकरण की पर्यालोचना करने पर प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन से भिन्न ध्वनिकार कोई दूसरे व्यक्ति है; इनकी कारिकाये आनन्दवर्धन को हस्तगत हुई थीं। उन्हीं की व्याख्या आलोक मे की गई।

'सहृदयमनःप्रीतये' मे तथा अन्यत्र 'सहृदय' शब्द का प्रायिक प्रयोग देखकर कुछ लोगो ने कल्पना की है कि सम्भवतः ध्वनिकार का नाम सहृदय था। किन्तु 'सहृदय' शब्द व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप मे प्रयुक्त हुआ नहीं जान पडता; अपि तु काव्यरसिकों का यह विशेषण ही कहा जा सकता है।

जिस परम्परा द्वारा ध्वनिसम्प्रदाय प्राचीनकाल मे समाम्नात किया गया था उसका साहित्यजगत् मे अभी तक अनुसन्धान नहीं किया जा सका। आनन्दवर्धन ने आचार्यों द्वारा जिसके किञ्चित् स्पर्श की बात कही है उसका अनुसन्धान किया जा सकता है। आनन्दवर्धन से पहले आलोचनाजगत् मे तीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे—काव्य के क्षेत्र मे अलंकार तथा रीतिसम्प्रदाय और नाट्य के क्षेत्र में रससम्प्रदाय।

अलंकारसम्प्रदाय का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भामह का 'काव्यालङ्कार' है। इस ग्रन्थ के व्यवस्थित प्रतिपादन को देखते हुये कहा जा सकता है कि यह किसी पूर्ववर्तिनी परम्परा पर आधारित है। भामह के मत से काव्यत्व के निमित्त अलङ्कार-

तारावती

प्रयोग मे एक प्रकार का उक्तिवैचित्र्य अपेक्षित होता है जिसका सम्पादन कवि-प्रतिभा से किया जाता है। भामह के मत में उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का प्राण है और उक्तिवैचित्र्य का प्राण है वक्रोक्ति। भामह ने कहा है :—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

अर्थात् काव्य मे सर्वत्र वक्रोक्ति की सत्ता पाई जाती है; इस वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ विभावित किया जाता है। कवि को वक्रोक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि कोई भी अलङ्कार वक्रोक्ति के विना नहीं हो सकता। परवर्ती आचार्यों ने रुद्रट के अनुकरण पर पहेली-बुझौवल वाले एक विशेष प्रकार के अलङ्कार को ही वक्रोक्ति माना और आजके साहित्यशास्त्र मे रुद्रट की वक्रोक्ति ही मानी जाती है। किन्तु भामह की वक्रोक्ति इससे भिन्न है। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुये भामह ने लिखा है :—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

अर्थात् अर्थ और शब्द की विलक्षणता ही भामह के मत मे वक्रोक्ति है। किसी बात को घुमा फिरा कर कहने से विलक्षणता आ जाती है जिसको भामह काव्य का जीवन मानते है। स्पष्ट ही है कि यहाँ पर भामह ध्वनि की सीमा तक पहुच गये हैं। भामह की यही वक्रोक्ति आगे चलकर कुन्तक के वक्रोक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तन मे कारण हुई और यही ध्वनिसम्प्रदाय की भी बीज कही जा सकती है।

अलङ्कार का निरूपण करने वाले दूसरे आचार्य है दण्डी। इन्होंने अपने 'काव्यदर्पण' मे अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल माना है। यह अतिशयोक्ति भी शब्दभेद से भामह की वक्रोक्ति ही है। आनन्दवर्धन ने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' मे 'सैषा' का अर्थ किया है 'यह वह अतिशयोक्ति' और 'वक्रोक्ति' का अर्थ किया है 'सामान्य अलङ्कार'। अतः भामह और दण्डी दोनो के ऐकमत्य की स्थापना की जा सकती है। इस प्रकार भामह के समान ही दण्डी मे भी ध्वनिसिद्धान्त का बीज अन्तर्निहित है।

अलङ्कारसम्प्रदाय के दूसरे महत्वपूर्ण आचार्य है उद्भट और रुद्रट। उद्भट ने भामह का ही अनुकरण किया है। रुद्रट इस सम्प्रदाय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अन्तिम आचार्य है। इन्होने विवेचन के साथ अलङ्कारों के वर्गीकरण का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन आचार्यों के विवेचन मे कतिपय अलङ्कार तो स्पष्ट ही व्यञ्जनामूलक हैं। दूसरे अलङ्कारों के मूल मे भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति विद्यमान रहती है। अतएव उनकी ध्वनिप्रवणता सिद्ध हो जाती है।

## तारावती

रीति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं वामन। इस सम्प्रदाय का प्रथम सङ्केत दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है। दण्डी ने काव्यत्व का प्रमुख साधन माना है मार्ग, जो कि रीति का ही दूसरा पर्याय है। परन्तु वामन की अपेक्षा दण्डी की मान्यता में यह अन्तर है कि वामन ने रीति को गुण पर आश्रित बतलाया है और अलङ्कार को रीति का अनित्य सम्बन्धी बतलाया है। इसके प्रतिकूल दण्डी ने गुण और अलङ्कार दोनों से रीति का समान सम्बन्ध स्वीकार किया है। अलङ्कारों को वामन काव्यत्व के निमित्त अनिवार्य साधन नहीं स्वीकार करते: पर उसको काव्य का शोभासम्बन्धी मात्र मानते हैं। वामन के मत में प्रत्येक अर्थालङ्कार में उपमा गर्भित रहती है। इसीलिए इन्होंने अर्थालङ्कार समूह को उपमाप्रपञ्च—इस सामान्य नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः रीतियों का व्यवस्थापन वर्ण्य विषय के अनुसार होता है और कोई विशिष्ट रीति वर्ण्य विषय को जितना अधिक प्रकट कर सकती है उतनी ही वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जब तक पद सङ्घटना के द्वारा रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति न हो तब तक वह कभी काव्यत्व की प्रयोजिका नहीं हो सकती। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय भी ध्वनि सम्प्रदायका स्पर्श अवश्य करता है। वामन का प्रत्येक अर्थालङ्कार में उपमा को सन्निहित मानना भी अलङ्कार—व्यञ्जना का परिचायक है।

रस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है भरत मुनि का नाट्य शास्त्र। इसकी प्रधानता नाट्य में ही मानी जाती है। इसीलिये कहीं-कहीं नाट्य रस शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। काव्य में रस की सत्ता प्रारम्भ से ही मानी जाती रही थी। किन्तु आनन्द वर्धन से पहले काव्य में रस सर्वदा गौण स्थान का अधिकारी रहा था। भामह ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस भाव इत्यादि का समावेश करने की चेष्टा की। दण्डी, उद्भट, रुद्रट और वामन ने भी उन्हीं का पदानुसरण किया; किन्तु उत्तरोत्तर रस को महत्त्व प्राप्त होता गया। दण्डी ने 'रसभावनिरन्तरम्' कह कर काव्य में रस की अपरिहार्यता की ओर कुछ-कुछ सङ्केत किया था। वामन ने दण्डी की अपेक्षा इसको अधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने इसका अन्तर्भाव कान्ति गुण में कर 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' यह कान्ति गुण की परिभाषा की। इस प्रकार काव्य में इसकी अपरिहार्यता और अधिक बढ़ गई। उद्भट ने रसका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया। रसको अलङ्कारों की दासता से मुक्त करने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन्होंने अलङ्कार, रीति, रस और ध्वनि सम्प्रदाय के सङ्गम स्थल पर खड़े होकर विरोधी सिद्धान्तों को मिलाने का स्तुत्य प्रयास किया। यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो इसके मूल में यह व्यञ्जना-वृत्ति सर्वाधिक रूप में

ध्वन्यालोकः

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति।

[ ( अनु० ) बुध शब्द का अर्थ है काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान्। ( क्योंकि काव्य शास्त्र मे उन्हीं की सम्मति महत्त्वपूर्ण हो सकती है। ) इन विद्वानो के द्वारा ध्वनि इस संज्ञावाली जो काव्य की आत्मा परम्परा से पहले ही समाम्नात की गई थी अर्थात् ( सम् सम्यक् ) भली प्रकार ( आ-समन्तात् ) चारों ओर से सभी दिशाओं मे विचार करके प्रकट की गई थी, वह ध्वनि यद्यपि सहृदय जनों के मनमें प्रकाशमान हो रही है फिर भी दूसरे लोगों ने ( असहृदय व्यक्तियों ने ) उसका अभाव बतलाया था। उसका अभाव बतलानेवालों के ये ( अग्रिम प्रकरण मे वर्णन किये हुये ) विकल्प सम्भव हो सकते है। ]

लोचनम्

काव्यात्मशब्दसन्निधानाद्बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति-काव्यतत्त्वविद्भिरिति। आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशब्द-

काव्यात्म शब्द के सन्निकट होने से बुध शब्द यहाँ पर काव्यावबोध निमित्तक है (अर्थात् बुध शब्द से यहाँ पर काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् ही अभिप्रेत है) इस अभिप्राय से विवरण दे रहे है ( व्याख्या कर रहे है ) बुध अर्थात् काव्य-तत्त्व वेत्ता विद्वानों के द्वारा। आत्मशब्द के अर्थ को तत्त्व शब्द के द्वारा

तारावती

विद्यमान है। भरत ने प्रारम्भ मे ही रसनिष्पत्ति शब्दका प्रयोग किया था जिस का आशय यह है कि रस वाच्य नही होते किन्तु विभावादि विभिन्न उपकरणों के द्वारा उनकी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार अलङ्कार, रीति तथा रस तीनों पूर्ववर्ती सम्प्रदायों ने ध्वनि सम्प्रदाय की सीमा का स्पर्श अवश्य किया था यद्यपि सिद्धान्त के रूप मे ध्वनि सम्प्रदाय का प्रारम्भ नहीं हुआ था।

प्रस्तुत कारिका पर विचार करने से अवगत होता है कि ध्वनिकार के समय मे ध्वनि सिद्धान्त विद्वन्मण्डली मे चर्चा का विषय बना हुआ था और जिस प्रकार पिछले दिनो में छायावाद को नवीन सिद्धान्त मानकर प्रायः उसका प्रतिवाद ही किया जाता था तथा उसकी हँसी उड़ाई जाती थी उसी प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को भी विरोधियो के विरोध का पर्याप्त सामना करना पड़ा था। ध्वनि विरोध का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उस समय के लक्षण-ग्रन्थकारो ने अपने ग्रन्थों मे इस सिद्धान्त को जानबूझ कर सन्निविष्ट नहीं किया; मानों यह

## लोचनम्

वलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति इति शब्दः। स्वरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थवत्त्वायोगात्। एतद्विवृणोति-संज्ञित इति। वस्तुतस्तु

प्रकट करते हुये सारवत्ता तथा दूसरे शब्दप्रतिपाद्य शास्त्रों से विलक्षण-कारिता दिखला रहे है। 'इति' शब्द ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को बतला रहा है। क्योंकि उसका अर्थ विवादास्पद होने से निश्चय न हो सकने के कारण यहाँ पर (ध्वनि की) अर्थवत्ता का योग नहीं हो सकता। इसी का विवरण दे रहे है—'संज्ञितः' यह शब्द। वास्तव में वह

## तारावती

सिद्धान्त इस योग्य था ही नही कि उन आचार्यों के ग्रन्थों मे स्थान पा सकता। ध्वनिकार ने विरोधियों के समस्त प्रतिवादो की मीमासा कर ध्वनि विरोध को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया-एक तो वे लोग है जो ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार करना नहीं चाहते। दूसरे वे लोग है जो ध्वनि को लक्षणा के अन्दर सन्निविष्ट करते है और तीसरे वे लोग है जो ध्वनि की सत्ता स्वीकार तो करते है किन्तु उसका लक्षण बना सकना असम्भव बतलाते है। ध्वनिकार ने अभाववाद और अशक्यवक्तव्यवाद के लिये परोक्ष भूत का प्रयोग किया है और लक्षणा वाद के लिये वर्तमान काल का। इसका आशय यह है कि अभाववादी तथा अशक्यवक्तव्यवादी ध्वनिकार के समय मे अतीत की कथा बन गये थे। ध्वनिकार ने उनके विषय में केवल सुना था; ऐसे लोगों का प्रत्यक्ष नहीं किया था। लक्षणा मे ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले लोग ध्वनिकार के समय में ही विद्यमान थे।

प्रस्तुत सूत्र मे बुध शब्द के साथ काव्यात्म शब्द का उपादान किया गया है। इस काव्यात्म शब्दका निकटता के कारण बुध शब्द का प्रयोग भी काव्यात्मा को जानने वाले विद्वानों के लिये ही हुआ है। इसी अभिप्राय से मूल में 'बुध' का अर्थ किया गया है काव्यतत्त्ववेत्ता। यहाँ पर 'काव्यात्मा' शब्द के 'आत्मा' शब्द का अर्थ किया गया है 'तत्त्व'। तत्त्व शब्द का अर्थ है जिसका स्वरूप कभी बाधित न हो। इस प्रकार ध्वनि की सारूपता तथा दूसरे शब्दों से उसकी विलक्षणता व्यक्त की गई है। [आशय यह है कि यहाँ पर ध्वनि को 'काव्यात्मा' कहा है। आत्मा का अर्थ है 'आत्मा के समान'। यहाँ पर ध्वनि और आत्मा मे साधर्म्य यही है कि जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का बाध नहीं होता उसी प्रकार ध्वनि के स्वरूप का भी बाध नही हो सकता। अतएव जिस प्रकार प्राणिजगत् मे आत्मा सारभूत पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्द से व्यक्त नही की जा सकती उसी प्रकार काव्य में ध्वनि सारभूत पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्देतर संवेद्य नहीं हो सकती।]

## लोचनम्

न तत्सञ्ज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत सारभूतम्। नह्यन्यथा बुधास्तादृशमानेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति-सहृदयेत्यादिना। एवं तु युक्ततरम्। इतिशब्दो

संज्ञामात्र से ही नहीं कहा गया है; अपितु ध्वनिशब्दका वाच्य है ही प्रत्युत वह सबका सारभूत है। अन्यथा बुध लोग वैसी वस्तु को आम्नात नहीं करते-इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं-'तस्य सहृदय' इत्यादि के द्वारा। यह तो अधिक उचित है—'इति'

## तारावती

अभियुक्तों ने कहा है कि 'इतिलोकेऽर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत्' अर्थात् सामान्य तथा किसी वाक्य के अन्दर आने वाले शब्दो का अर्थ अभिप्रेत होता है; किन्तु जिन शब्दों के बाद 'इति' शब्द जोड़ दिया जाता है उन शब्दों का अर्थ नहीं लिया जाता अपितु शब्दपरता ही उनमे अभिप्रेत होती है। यहाँ पर 'ध्वनिरिति' शब्द मे ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग किया गया है जो कि ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को बतलाता है आशय यह है कि ध्वनि का अर्थ विवादास्पद है अतएव निश्चय न होने के कारण अर्थ का उपादान नहीं हो सकता। अतएव स्वरूपपरता को व्यक्त करने के लिये इति शब्द लिखा गया है। इसी अभिप्राय से आलोक मे 'ध्वनिरिति संज्ञितः' यह अर्थ किया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ पर ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल संज्ञा के लिए ही नहीं किया गया है किन्तु उसका वाच्यार्थ भी अभिप्रेत है क्योंकि ध्वनि शब्द का वाच्यार्थ विद्यमान है ही और इतना ही नहीं अपितु वही तत्त्व समस्त वाङ्मय का सार है। नहीं तो विद्वान् लोग उस प्रकार के (सारहीन) तत्त्व को प्रकाशित करते ही नहीं। इसीलिये मूलकार ने ध्वनि का विशेषण दिया 'सहृदय व्यक्तियों मे प्रकाशमान'। [ यहाँ पर लोचनकार ने आलोक की व्याख्या मे दो परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तो की स्थापना की है—( १ ) 'ध्वनिरिति' मे इति के कारण ध्वनि शब्द स्वरूपपरक है और ध्वनि शब्द विवाद का विषय है; क्योंकि अनिश्चय के कारण अर्थपरता सम्भव नहीं। ( २ ) ध्वनि शब्द का वाच्यार्थ ही विवाद का विषय है क्योंकि वह न केवल निश्चित है अपितु समस्त वाङ्मय का सारभूत है। इस विरोध के निराकरण के लिये लोचनकार ने ग्रन्थ की सङ्गति इस प्रकार बिठाई है। ] इति शब्द का क्रम बदल कर अन्वय इस प्रकार कर लिया जाना चाहिये कि वह शब्द वाक्यार्थ का द्योतक हो जावे—'ध्वनिलक्षण अर्थ जो कि काव्य की आत्मा के रूप मे माना गया है।' इस प्रकार की वाक्यरचना से उसमे अर्थपरता आ जावेगी और विरोध जाता रहेगा। यदि उसकी शब्दपरता स्वीकार की जावेगी तो अर्थ हो जावेगा

## लोचनम्

भिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नात इति। शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गतिः।, एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेत्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव,—प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन। बुधस्यै-

शब्द भिन्नक्रम वाला (होकर) वाक्यार्थ का परामर्शक हो जाता है। ध्वनि लक्षणवाला अर्थ काव्य की आत्मा (होता है।) 'यह' जो कहा गया है यह (अर्थ इस वाक्य का हो जाता है।) निस्सन्देह यदि पदार्थ शब्द माना जावेगा (अर्थात् यदि 'ध्वनि-रिति' का अर्थ ध्वनि शब्द किया जावेगा) तो ध्वनि संज्ञावाला अर्थ यह कहने पर (ग्रन्थ की) सङ्गति ही क्या होगी? इस प्रकार निस्सन्देह ध्वनि शब्द काव्य की आत्मा होता है यह कहा हुआ हो जावेगा जैसे 'गवित्ययमाह' मे होता है। विप्रतिपत्ति का स्थान केवल असत्य ही नहीं होता अपितु धर्मी के होने पर ही धर्म मात्र के लिये उत्पन्न हुई विप्रतिपत्ति ही होती है—इस प्रकार के सहृदयजनों को उद्विग्न करने वाले बहुत अधिक अप्रस्तुत (विस्तार) की आवश्यकता नहीं है।

## तारावती

'ध्वनि सज्ञा' इस अर्थ के मानने पर ग्रन्थ की सङ्गति ही क्या होगी? इस प्रकार तो 'ध्वनि शब्द काव्य की आत्मा है यह अर्थ हो जावेगा जैसे अनुकरण में 'गवि-त्ययमाह' मे 'गो शब्द का यह अर्थ हो जाता है। यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि यदि ध्वनि के वाच्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जावे तो विप्रतिपत्ति ही किस बात की होगी? इसका उत्तर यह है कि विप्रतिपत्ति केवल उसी विषय मे नहीं होती जिसकी सत्ता विद्यमान नही; अपितु धर्मी के होने पर भी धर्म मात्र मे भी विप्रतिपत्ति हो जाती है। इतना पर्याप्त है। अधिक अप्रासङ्गिक कथन के द्वारा सहृदयों को उद्विग्न करना ठीक नहीं। [यहाँ पर लोचनकार ने निष्कर्ष यही निकाला है कि यहाँ 'इति' शब्द का क्रम बदल कर ध्वनि शब्द की अर्थपरता ही अभिप्रेत होती है। ध्वनि तत्त्व विद्यमान है ही फिर उसमे विप्रति-पत्ति कैसी? इस प्रश्न का उत्तर लोचनकार ने यह दिया है कि असत् वस्तु के विषय मे ही विप्रतिपत्ति नहीं होती सत् वस्तु मे भी धर्म मात्र मे विप्रतिपत्ति हो सकती है। जैसे शब्द की सत्ता मे ही उसके नित्यत्व-अनित्यत्व के विषय मे विप्रतिपत्ति होती है। प्रस्तुत प्रकरण में भी ध्वनितत्त्व के विद्यमान होने पर ही विप्रतिपत्ति होती है कि उसको गुण अलङ्कार इत्यादि मे सन्निविष्ट किया जावे या उसकी पृथक् सत्ता ही स्वीकार कर उसे काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार किया जावे। यह है लोचन का सार। किन्तु वास्तविकता यह है कि ध्वनि

## लोचनम्

कस्य तथाभिधान स्यात्, नतु भूयसां तदुक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादि-त्यभिप्रायः। न च बुधाः भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः। एतत्त्वादरेणो-

किसी एक बुध (विद्वान्) का उस प्रकार का कथन प्रामादिक भी हो सकता है; किन्तु बहुतो की वह बात (प्रामादिक मानना) उचित नहीं है। इसीलिये बुधैः में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। वही व्याख्या कर रहे हैं। परम्परा के द्वारा इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उन्होंने विशिष्ट पुस्तक मे विनाही सन्निवेश किये हुये अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा यह बात कही है। बहुत से बुध अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश नहीं करते; इसका उपदेश आदर के साथ दिया गया

## तारावती

की शब्दपरता भी यहाँ पर असङ्गत नहीं है। भारतीय साहित्य शास्त्र मे काव्य के लिये उपादेय उपकरणों पर कभी विवाद नहीं किया गया; विवाद केवल नाम-करण का रहा है। काव्य मे वाच्यार्थ-व्यतिरिक्त अर्थ भी अभिप्रेत होता है इसमे किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। विवाद का विषय केवल यही है कि वाच्यार्थ व्यति-रिक्त गम्यमान अर्थ को ध्वनि संज्ञा प्रदान की जानी चाहिये या उसका अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र कर दिया जाना चाहिये। इसीलिये ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग कर उसकी स्वरूपपरता प्रतिपादित की गई है।

सम्भवतः लोचन की इस व्याख्या को देख कर ही महिमभट्ट ने प्रस्तुत वाक्य-रचना पर आक्षेप किया है तथा लिखा है कि—यहाँ पर प्रक्रम-भेद नामक दोष है। इनके मत मे 'इति' शब्द का प्रयोग 'काव्यस्यात्मेति' इस प्रकार होना चाहिए। क्योंकि दूसरे चरण मे जो 'तस्य' का प्रयोग किया गया है और जो अभाववाद, भाक्तत्ववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद की स्थापना की गई है उसका ध्वनि से ही सम्बन्ध होना चाहिए। ध्वनि के ही अभाव इत्यादि की स्थापना करनी है। किन्तु ध्वनि के बाद इति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जिससे उसके पदार्थत्व का विपर्यास हो जाता है; दूसरा ध्वनि शब्द यहाँ पर है नही। इससे 'तस्य' का ठीक अन्वय बन ही नहीं पाता। किन्तु इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त की व्याख्या मे पहले से ही विद्यमान था अतः इस पर विशेष विचार अनपेक्षित है।

बुध शब्द मे बहुवचन से व्यक्त होता है कि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि केवल किसी एक विद्वान् ने ही प्रतिपादन किया होता तो उसका प्रामादिक हो सकना भी सम्भव हो सकता था। किन्तु बहुतो का प्रामादिक हो सकना सङ्गत नहीं कहा जा सकता। परम्परा शब्द से व्यक्त होता

## लोचनम्

पदिष्टम्। तदाह–सम्यगाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेयं प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च–सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित इत्यनेन। तस्येति। यस्याधिगमाय प्रत्युत प्रयतनीयं का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं मौर्ख्यमभाववादिनामिति-भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते; अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुपपन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्, बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्या-

है। वही बात कह रहे हैं समाम्नातपूर्व यह। पूर्वशब्द के उपादान से यह कहा है कि यही पहले है इसकी सम्भावना यहाँ पर नहीं की जाती। व्याख्या भी 'सम्यक् आसमन्तात् म्नातः प्रकटितः' इन शब्दों के द्वारा की है। 'तस्य जगदुः''—जिस की प्राप्ति के लिये प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये वहाँ अभाव की सम्भावना भी क्या हो सकती है? इसलिये हम क्या करें। आशय यह है कि अभाववादियों की मूर्खता अपार है।

हमलोगों के द्वारा अभाव वादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उनमें दोष दिखलाये जावेंगे। इसीलिये परोक्षत्व (का प्रयोग किया गया है।) भविष्य की वस्तु में दोष दिखलाना उचित है नहीं क्योंकि वह अभी उप-पन्न ही नहीं हुई। यदि कहो कि वह बुद्धि में आरोपित कर दूषित की जा रही है तो बुद्धि में आरोपित होने के कारण ही उसमें भविष्यत्व की हानि हो जाती है।

## तारावती

है कि यद्यपि किसी विशिष्ट पुस्तक में इस सिद्धान्त का समावेश नहीं किया गया फिर भी विद्वान् लोग निरन्तर इसका प्रतिपादन करते आये हैं और उनका प्रवाह अविच्छिन्न बना रहा। बहुत से विद्वान् अनादरणीय वस्तु का आदर से उपदेश कभी नहीं करते इसका तो आदर से उपदेश किया गया है। यही बात 'समाम्नात-पूर्वः' शब्द से व्यक्त होती है। 'पूर्व' शब्द के उपादान का आशय यही है कि यह सिद्धान्त इसी समय पहलीबार नहीं लिखा जा रहा है। इसीलिये आलोक में व्याख्या की गई है–ठीक रूप में चारों ओर से यह सिद्धान्त प्रकट किया गया है। 'तस्य' (उसका) का आशय यह है कि जिसके प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये उसका भी लोग अभाव बतलाते हैं। उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है। तस्य, शब्द इस प्रकार की कण्ठध्वनि से उच्चरित हुआ है कि उससे व्यक्त होता है कि लेखक (ध्वनिकार) को महान् आश्चर्य है कि लोग उसका भी अभाव बतलाते है। 'उसका' पर जोर देने से व्यक्त होता है कि 'हम क्या करें; अभाववादियों की बहुत बडी मूर्खता है।'

लोचनम्

कस्य तथाभिधान स्यात्, नतु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादि-त्यभिप्रायः। न च बुधाः भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः। एतत्त्वादरेणो-

किसी एक बुध (विद्वान्) का उस प्रकार का कथन प्रामादिक भी हो सकता है; किन्तु बहुतो की वह बात (प्रामादिक मानना) उचित नहीं है। इसीलिये बुधैः में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। वही व्याख्या कर रहे हैं। परम्परा के द्वारा इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उन्होंने विशिष्ट पुस्तक में बिनाही सन्निवेश किये हुये अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा यह बात कही है। बहुत से बुध अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश नहीं करते; इसका उपदेश आदर के साथ दिया गया

तारावती

की शब्दपरता भी यहाँ पर असङ्गत नहीं है। भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के लिये उपादेय उपकरणों पर कभी विवाद नहीं किया गया; विवाद केवल नाम-करण का रहा है। काव्य मे वाच्यार्थ-व्यतिरिक्त अर्थ भी अभिप्रेत होता है इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। विवाद का विषय केवल यही है कि वाच्यार्थ व्यति-रिक्त गम्यमान अर्थ को ध्वनि संज्ञा प्रदान की जानी चाहिये या उसका अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र कर दिया जाना चाहिये। इसीलिये ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग कर उसकी स्वरूपपरता प्रतिपादित की गई है।

सम्भवतः लोचन की इस व्याख्या को देख कर ही महिमभट्ट ने प्रस्तुत वाक्य-रचना पर आक्षेप किया है तथा लिखा है कि—यहाँ पर प्रक्रम-भेद नामक दोष है। इनके मत मे 'इति' शब्द का प्रयोग 'काव्यस्यात्मेति' इस प्रकार होना चाहिए। क्योंकि दूसरे चरण मे जो 'तस्य' का प्रयोग किया गया है और जो अभाववाद, भाक्तत्ववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद की स्थापना की गई है उसका ध्वनि से ही सम्बन्ध होना चाहिए। ध्वनि के ही अभाव इत्यादि की स्थापना करनी है। किन्तु ध्वनि के बाद इति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जिससे उसके पदार्थत्व का विपर्यास हो जाता है; दूसरा ध्वनि शब्द यहाँ पर है नहीं। इससे 'तस्य' का ठीक अन्वय बन ही नहीं पाता। किन्तु इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त की व्याख्या मे पहले से ही विद्यमान था अतः इस पर विशेष विचार अनपेक्षित है।

बुध शब्द मे बहुवचन से व्यक्त होता है कि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि केवल किसी एक विद्वान् ने ही प्रतिपादन किया होता तो उसका प्रामादिक हो सकना भी सम्भव हो सकता था। किन्तु बहुतो का प्रामादिक हो सकना सङ्गत नहीं कहा जा सकता। परम्परा शब्द से व्यक्त होता

## लोचनम्

पदिष्टम्। तदाह–सम्यगाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेयं प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च–सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित इत्यनेन। तस्येति। यस्याधिगमाय प्रत्युत प्रयतनीयं का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं मौर्ख्यमभाववादिनामिति-भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुता किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुपपन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्, बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्या-

है। वही बात कह रहे है समाम्नातपूर्व यह। पूर्वशब्द के उपादान से यह कहा है कि यही पहले है इसकी सम्भावना यहाँ पर नहीं की जाती। व्याख्या भी 'सम्यक् आसमन्तात् म्नातः प्रकटितः' इन शब्दों के द्वारा की है। 'तस्य जगदुः"—जिस की प्राप्ति के लिये प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये वहाँ अभाव की सम्भावना भी क्या हो सकती है? इसलिये हम क्या करे। आशय यह है कि अभाववादियों की मूर्खता अपार है।

हमलोगों के द्वारा अभाव वादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उनमें दोष दिखलाये जावेंगे। इसीलिये परोक्षत्व (का प्रयोग किया गया है।) भविष्य की वस्तु मे दोष दिखलाना उचित है नहीं क्योंकि वह अभी उप-पन्नही नहीं हुई। यदि कहो कि वह बुद्धि मे आरोपित कर दूषित की जा रही है तो बुद्धि मे आरोपित होने के कारण ही उसमे भविष्यत्व की हानि हो जाती है।

## तारावती

है कि यद्यपि किसी विशिष्ट पुस्तक मे इस सिद्धान्त का समावेश नहीं किया गया फिर भी विद्वान् लोग निरन्तर इसका प्रतिपादन करते आये है और उनका प्रवाह अविच्छिन्न बना रहा। बहुत से विद्वान् अनादरणीय वस्तु का आदर से उपदेश कभी नहीं करते इसका तो आदर से उपदेश किया गया है। यही बात 'समाम्नात-पूर्वः' शब्द से व्यक्त होती है। 'पूर्व' शब्द के उपादान का आशय यही है कि यह सिद्धान्त इसी समय पहलीबार नहीं लिखा जा रहा है। इसीलिये आलोक मे व्याख्या की गई है–ठीक रूप मे चारों ओर से यह सिद्धान्त प्रकट किया गया है। 'तस्य' (उसका) का आशय यह है कि जिसके प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये उसका भी लोग अभाव बतलाते हैं। उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है। तस्य, शब्द इस प्रकार की कण्ठध्वनि से उच्चरित हुआ है कि उससे व्यक्त होता है कि लेखक (ध्वनिकार) को महान् आश्चर्य है कि लोग उसका भी अभाव बतलाते हैं। 'उसका' पर जोर देने से व्यक्त होता है कि 'हम क्या करे; अभाववादियों की बहुत बडी मूर्खता है।'

## लोचनम्

द्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः जगदुरिति। तद्व्याख्यानायैव संभाव्यदूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनापि नेयमसम्भवतो युक्ता, अपितु सम्भवत एव। अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसानं स्याद् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधास्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं सम्भवन्तीत्याह। सम्भाव्यन्त इति तूच्यमाने पुनरुक्तार्थमेव स्यात्। न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपितु वर्तमानतैव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः। ननु च सम्भवद्वस्तुमूलया सम्भावनया यत्संभावितं तद् दूषयितुमशक्यमित्याह-विकल्पा इति। न तु वस्तु सम्भवति तादृक् इति इयं सम्भावना, अपितु विकल्पा एव। ते च तत्त्वावबोधवन्ध्यतया इसलिये भूतकाल के उन्मेष से, परोक्ष होने से, और विशिष्टरूपसे अद्यतनत्व का प्रतिभास न होने से लिट् (लकार) के द्वारा प्रयोग किया गया है—'जगदुः' यह। उस (लिट् लकार) की व्याख्या करने के लिये ही सम्भावना करके दोषों को प्रकट करेंगे। असम्भव की यह सम्भावना भी उचित नहीं है। अपितु सम्भव की ही (सम्भावना उचित है)। अन्यथा सम्भावनाओं और दूषणों का पर्यवसान कभी हो ही नसके। इसलिये जिस सम्भावना को आगे चलकर कहेंगे उसका समर्थन करने के लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' यह कहा है। यदि सम्भाव्यन्ते 'सम्भावनाकी जाती हैं' यह कहा गया होता तो पुनरुक्तार्थ ही हो जाता। सम्भव की भी सम्भावना हो सकती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसका वर्तमान होना ही स्फुट है अतः वर्तमान के द्वारा ही निर्देश किया गया है। सम्भव वस्तु मूलक सम्भावना के द्वारा जो वस्तु सम्भावित की गई हो उसको दूषित करना अशक्य है यह आशङ्का करके उत्तर दे रहे हैं—विकल्पा' इति। वस्तु तो उस प्रकार की सम्भव ही नहीं है जिससे यह सम्भावना की गई है अपितु (ये) विकल्प ही है।

## तारावती

'जगदुः' क्रिया में अनद्यतन परोक्षभूत का प्रयोग किया गया है। इस क्रिया में परोक्ष भूत का अर्थ यह है कि अभाववादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके ही उनका खण्डन किया जावेगा। भूतकाल के प्रयोग का आशय यह है कि भविष्य वस्तु का खण्डन किया ही नहीं जा सकता। पहले वस्तु को हृदय में स्थापित कर लिया जाता है फिर उस पर विचार किया जाता है। हृदय में स्थापित कर लेने से भूतकाल आ गया और अद्यतन का प्रतिभास होता नहीं है। इसीलिये भूतानद्यतन परोक्ष का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि उस ध्वनि की व्याख्या करने के लिये ही पक्षों की सम्भावना कर उनका खण्डन किया जावेगा। [वस्तुतः परोक्ष भूत का प्रयोग केवल सम्भावना का ही द्योतक नहीं किन्तु किसी पुरानी परम्परा की ओर भी इङ्गित करता है जिसका ज्ञान ध्वनि-

## लोचनम्

स्फुरेयुरपि । अतएव आचक्षीरन् इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषयाः लिङ् प्रयोगाः अतीत-परमार्थे पर्यवस्यन्ति ।

और वे तत्त्वज्ञान मे वन्ध्य (कुण्ठित) होने के कारण स्फुरित भी हो सकें इसीलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि सम्भावना विषयक लिङ्लकार के प्रयोग अतीत के तात्पर्यार्थ मे पर्यवसित होते हैं (आशय यह है कि जिन अभाव पक्षों की कल्पना की गई है वे केवल सम्भावित पक्ष ही है सम्भव नहीं है: जिनकी बुद्धि तत्त्व ज्ञान मे कुण्ठित है उन्हीं के मस्तिष्क मे वे स्फुरित हो सकते हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिये आचक्षीरन् इत्यादि शब्दों मे लिङ्लकार का प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्यार्थ होता है भूतकाल।) जैसे—

## तारावती

कार का था; आनन्द वर्धन तथा अभिनव गुप्तको नही था।] 'सम्भवन्ति' इस क्रिया के प्रयोग का आशय यह है कि असम्भव का सम्भावना नहीं की जा सकती; अन्यथा न तो सम्भावनाओं का ही अन्त आ सकता है और न दोषों की परिसमाप्ति ही हो सकती है। इसीलिये जिन सम्भावित पक्षों का अग्रिम पृष्ठों मे निरूपण किया जायेगा उनके लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का निर्देश किया गया है। यद्यपि यहाँ पर 'सम्भाव्यन्ते' इस कर्मवाच्य क्रिया का भी प्रयोग किया जा सकता था किन्तु अगले प्रकरण मे 'आचक्षीरन्' इत्यादि क्रियाओं मे लिङ्लकार का प्रयोग किया जायेगा। उस लिङ्लकार से कर्मवाच्य क्रिया की पुनरुक्ति ही होती। इसीलिये कर्तृवाच्य का प्रयोग किया गया है कर्मवाच्य का नहीं। 'सम्भवन्ति' मे वर्तमान काल के प्रयोग का आशय यह है कि जो वस्तु सम्भव है वह केवल सम्भावना का ही विषय नहीं होती किन्तु वर्तमानता तो उसमे रहती ही है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सम्भावना के मूल मे सम्भव वस्तु हो तो उसका प्रतिषेध किस प्रकार किया जा सकेगा। इसी प्रश्न का उत्तर देने के मन्तव्य से आलाकार ने विकल्प शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु की सम्भावना की गई है वह सर्वथा सम्भव नहीं है। क्योंकि है तो वह सम्भावना ही। फिर इसके लिये 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि तत्त्व ज्ञान की दिशा मे जिनकी बुद्धि कुण्ठित रहती है उनके मस्तिष्क मे ये पक्ष स्फुटित हो सकते हैं। इसीलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि क्रियाओं मे लिङ् का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ सम्भावना होता है और जिसका पर्यवसान 'अतीत' रूप तात्पर्यार्थ में होता है। [जिस प्रकार 'जगदुः' मे वृद्ध युपारूढ होने के कारण भूतकाल का प्रयोग किया गया है उसी प्रकार

## लोचनम्

यदिनामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् ।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥

इत्यत्र । यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेतिभूतप्राणतैव । यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववन्नभवनस्य सम्भावनेत्यलमप्रकृतेन

'शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर होवे तो यह संसार दण्ड लेकर कुत्तों कौओं से इस को बचाता फिरे ।'

यहाँ पर । 'यदि शरीर का इस प्रकार देखा जाना होवे तो इस प्रकार का दिखलाई पड़े' इस वाक्य के अर्थ का प्राण भूत काल ही है । 'यदि न हो तो क्या हो' यहाँ पर भी । ( इसका अर्थ यही है कि ) क्या हुआ यदि पहले के समान होने की सम्भावना नहीं हुई' इस प्रकार के अप्रासङ्गिक बहुत कहने की

## तारावती

लिङ् का पर्यवसान भी भूतकाल मे ही होता है । ] जैसे 'इस शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर भी होता तो यह ससार दण्ड लेकर कुत्ते कौओं को भगाया करता ।' यहाँ पर 'यदि इस प्रकार का शरीर दृष्टिगत हुआ करता तो इस प्रकार की घटना दिखलाई पडती' इस वाक्य का पर्यवसान भूतकाल मे ही होता है । [केवल विधि वाक्यों में ही नहीं निषेध वाक्यों मे भी सम्भावनार्थक लिङ् का तात्पर्य अतीत मे ही हुआ करता है । जैसे ] 'यदि ऐसा नही होता तो क्या होता' यहाँ पर भी अर्थका पर्यवसान अतीत में ही होता है । यदि पहले कहीं बात समान होने की सम्भावना नहीं हुई तो क्या हुआ ? [ अर्थात् यदि शरीर का अन्दर जैसा बाहर नहीं हुआ तो वह बात नहीं हुई कुत्ते कौओं से शरीर की रक्षा नहीं करनी पडी । इस प्रकार निषेध वाक्य मे भी सम्भावनार्थक लिङ् का प्रयोग भूतके अर्थ मे ही पर्यवसित होता है । ] अब और अधिक अप्रासङ्गिक वर्णन की आवश्यकता नहीं । [ यहाँ पर विकल्प शब्द के प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जिन पक्षों की सम्भावना की जा रही है वे पक्ष परमार्थतः सम्भव नहीं हैं: केवल तत्त्व ज्ञान से विमुख व्यक्ति ही उनको सम्भव मान सकते है । सत्य जैसे प्रतीत होने वाले किन्तु वस्तुतः असत्य प्रमाणों और युक्तियों के बल पर विरुद्ध कल्पना कर लेना विकल्प कहलाता है पातञ्जल दर्शन में विकल्प शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जहाँ वस्तु की सत्ता न हो किन्तु शब्दज्ञान मात्र से जिसकी प्रतीति हो जाती हो उसे विकल्प कहते हैं । भर्तृहरिने वाक्यपदीय में लिखा है—'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' अर्थात् जहाँ अर्थ ( वस्तु ) की सत्ता बिलकुल न हो किन्तु शब्द का प्रयोग कर दिया जावे तो

## लोचनम्

बहुना। तत्र समयापेक्षणेन शब्दाऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमत्तद्विदसु इति त्रय एवैते प्रधान विप्रतिपत्तिप्रकाराः।

आवश्यकता नहीं। उसमें सङ्केत की अपेक्षा से (करते हुये) शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है' यह मानकर वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य नहीं होता, अथवा होते हुये भी अभिधावृत्ति के द्वारा आक्षिप्त (होकर) शब्द के अवगत अर्थ के बल पर आकृष्ट किया हुआ भाक्त प्रयोग ही है। उसके द्वारा आक्षिप्त न होकर के भी कहा नहीं जा सकता जिस प्रकार उस बात को न जानने वाली कुमारियों मे प्रियतम का सुख (नहीं कहा जा सकता) इस प्रकार विप्रतिपत्ति के ये तीन प्रधान प्रकार है।

## तारावती

उससे एक प्रकार का ज्ञान स्फुटित अवश्य हो जायगा। वैयाकरणों के मत में बौद्ध पदार्थ ही शाब्दबोध का विषय होता है। इस समस्त प्रकरण का आशय यही है कि अग्रिम पृष्ठो मे जिन ध्वनि विरोधी पक्षों की उद्भावना की जावेगी, वे वस्तुतः विद्यमान नहीं है अपितु असत् पक्षो को ही बुद्धिगम्य बनाया गया है।] संक्षेप में जिन ध्वनि विरोधी पक्षो की उद्भावना की जा सकती है वे ये हैं, (१) वही शब्द अर्थ का प्रतिपादन कर सकता है जिसका सङ्केत ग्रहण हो गया हो। सङ्केतित अर्थ को वाक्यार्थ कहते है; अतः वाच्यार्थ से भिन्न कोई व्यङ्ग्यार्थ हो ही नहीं सकता। २—यदि वाच्यार्थ से भिन्न कोई भी अर्थ सम्भव है तो वह वाच्यार्थ के बल पर आकृष्ट किया हुआ उसका सहयोगी अर्थ ही हो सकता है। उसका समावेश लक्ष्यार्थ मे हो जावेगा उसके लिये अलग से व्यञ्जना वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। ३—यदि कोई ऐसा भी अर्थ सम्भव है जिसका किसी प्रकार का सम्बन्ध वाच्यार्थ से नहीं है और वह वाच्यार्थ से आक्षिप्त नहीं किया जा सकता तो जैसे पुरुषसहवास का आनन्द न जानने वाली कुमारिकाओं को उस सुख का परिचय नही दिया जा सकता उसी प्रकार इस ध्वनितत्त्वका निर्वचन भी सर्वथा असम्भव है। बस, विरोध के यही तीन प्रकार है। [प्रथम पक्ष को अभाववाद की संज्ञा प्रदान की जा सकती है जो कि विपर्ययमूलक है क्योंकि विरोधी ज्ञान पर आधारित है। दूसरे पक्षको भाक्तवाद कहा जा सकता है जो कि सन्देह मूलक है। तीसरा पक्ष अशक्यवक्तव्यत्ववाद के नाम से अभिहित किया जा सकता है जो कि अज्ञातमूलक है।]

रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व की विमर्शिनी टीका में जयरथ ने १२ ध्वनि

## लोचनम्

तत्राभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः—शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः। यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः। अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वालङ्कारे वान्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्, अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि किञ्चिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे। तत्प्रपञ्चदिक्प्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा 'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते। तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पाः इति तात्पर्यार्थः।

उनमे अभाव विकल्प के तीन प्रकार है—शब्द, अर्थ गुण और अलङ्कारो के ही शब्द और अर्थ के शोभाकारक ( धर्म ) होने के कारण लोक और शास्त्र से भिन्न सुन्दर शब्दार्थ से बने हुये काव्य का शोभा हेतु कोई अन्य (धर्म) है ही नही जो हम लोगो के द्वारा न गिना गया हो-यह एक प्रकार है; अथवा जो न गिना गया हो वह शोभाकारी ही नही होता यह दूसरा है, यदि शोभाकारी होता है तो हमारे कहे हुये गुण अथवा अलङ्कार मे अन्तर्भाव हो जाता है, दूसरे नाम रखने मे तो यह कितना पाण्डित्य है। और भी यदि कहे हुये गुणों और अलङ्कारों मे अन्तर्भाव नहीं होता तथापि कुछ विशेषताका अंश लेकर दूसरा नाम रक्खा जाता है क्योकि उपमा विच्छित्ति के अनेक प्रकार होते हैं। तथापि गुणो और अलङ्कारो से व्यतिरिक्तत्व का अभाव ही है। केवल उतने से ही क्या किया गया? और भी वैचित्र्य की उत्प्रेक्षा की जा सकती है। निस्सन्देह चिरन्तन भरतमुनि इत्यादिकों ने यमक और उपमा ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप मे इष्ट ( बतलाये हैं )। उनके प्रपञ्च की दिशा का प्रदर्शन अन्य अलङ्कारकारो ने कर दिया। वह इस प्रकार—'कर्मण्यण्' यहाँ पर 'कुम्भकार' इत्यादि उदाहरणो को सुनकर स्वयं नगरकार इत्यादि शब्दो की उत्प्रेक्षा की जा सकती है। उतने से अपने विषय मे बहुत अधिक सम्मान देने का क्या अवसर? इसी प्रकार प्रकृत विषय मे भी यह तीसरा प्रकार है। इस प्रकार एक तो तीन प्रकार का विकल्प है; अन्य दो प्रकार, इस प्रकार पाँच विकल्प होते हैं, यही तात्पर्यार्थ है।

## तारावती

विरोधी का उल्लेख किया है। किन्तु उनका इन्हीं तीन प्रकारों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः ध्वनि के मुख्य विरोधी पक्ष ये तीन ही हैं।

प्रथम पक्ष अभाववाद के तीन प्रकार हैं—( १ ) लोक और शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्यका स्वरूप है। शब्द और अर्थ में शोभा का आधान करने वाले धर्म शब्द गुण, अर्थ गुण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ही है। इनके अतिरिक्त शोभाधायक कोई अन्य धर्म है ही नहीं जिसकी गणना हम न कर चुके हों। यह पहला प्रकार है। ( २ ) जिसका साहित्य शास्त्र में अब तक विचार नहीं किया गया वह धर्म शोभाधायक हो ही नहीं सकता। यह दूसरा प्रकार है। ( ३ ) यदि शोभाधायक धर्मान्तर प्रात भी हो जाय तो उसका अन्तर्भाव हमारे कहे हुये गुणों और अलङ्कार में ही हो जावेगा। यह दूसरा नाम रख देने में ही आपका कौनसा पाण्डित्य है। यदि कहो कि उक्त गुणों और अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता तो भी विशेषता के किसी अंश को लेकर दूसरा नाम रक्खा जा सकता है। उपमा में विच्छित्ति के इतने प्रकार हैं कि उनकी संख्या ही नियत नहीं की जा सकती। ऐसी दशा में भी (अर्थात् उपमा इत्यादि किसी अलङ्कार के प्रकार के अन्दर ही उस ध्वनि को सन्निविष्ट कर देने पर भी) ध्वनि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न सिद्ध नहीं होती। दूसरा नाम रख देने से ही क्या हो जावेगा? ध्वनि ही नहीं और भी-अनेक विचित्रताओं की कल्पना की जा सकती है। भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने शब्दालङ्कार के रूप में यमक और अर्थालङ्कार के रूप में उपमा को ही अभीष्ट बतलाया था। अन्य अलङ्कारकारों ने उन्हीं दो अलङ्कारों की दिशा में उन्हीं के प्रपञ्च के रूप में अलङ्कारों की इतनी अधिक संख्या बढ़ा दी। [ जिस प्रकार अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव शब्दालङ्कार यमक और अर्थालङ्कार उपमा में ही कर दिया। उसी प्रकार ध्वनि इत्यादि किसी भी नवीन कल्पना का समावेश भी उन्हीं में हो सकता है। नया नाम करण करने की क्या आवश्यकता? यदि भविष्य में भी कोई नया नाम प्रकट होता है तो उसका भी समावेश इन्हीं दो में हो जावेगा। ] यह ऐसे ही समझना चाहिये जैसे व्याकरण की सामान्य विधियों के अनेक विशेष रूप होते हैं और सबका समाहार उसी सामान्य विधि में हो जाता है। जैसे 'कर्मण्यण्' सूत्र से कुम्भकारः बनता है। उसीसे नगरकारः भी बन सकता है। उसमें कोई नवीनता नहीं मानी जाती।

इस प्रकार अभाववाद के तीन पक्ष तथा लक्षणावाद पक्ष और अशक्यवक्तव्यत्व पक्ष, ये पाच पक्ष ध्वनि-विरोधियों के सम्भव हैं। अगले प्रकरण में इन्हींपर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

## ध्वन्यालोकः

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

[ (अ०) प्रथम पक्ष—सम्भवतः यहाँ पर कुछ लोग यह कहे कि 'इसमे तो कोई सन्देह हो ही नही सकता कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर है। इनमे शब्द गत चारुता मे हेतु अनुप्रास इत्यादि प्रसिद्ध ही है। अर्थगत चारुता मे हेतु उपम। इत्यादि भी प्रसिद्ध ही है। वर्ण सङ्घटना धर्म जो माधुर्य इत्यादि है उनकी भी प्रतीति होती है। कुछ लोगो के द्वारा प्रकाशित की हुई उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ भी सुनने मे आई है किन्तु वे उपर्युक्त अलङ्कारादिकों से पृथक् नही कही जा सकती। उनका भी समावेश अलङ्कारादिको मे हो जाता है। वैदर्भी इत्यादि रीतियो के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। अर्थात् वे भी अलङ्कारादिको से पृथक् नही कही जा सकती। फिर उन सबसे भिन्न ध्वनि नाम की यह कौन सी नई वला है।

## लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—शब्दार्थशरीर तावदित्यादिना। तावद्ग्रहणेन न कस्याप्यत्र विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद्ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः? अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठं

उन्हीं को क्रमशः कहते है—शब्दार्थशरीरं तावत् इत्यादि के द्वारा। 'तावत्' शब्द के उपादान से यह दिखलाते है कि इस विषय मे किसी की विप्रतिपत्ति नही है। उसमे—शब्द और अर्थ तो ध्वनि नही है क्यो कि केवल संज्ञा मे ही क्या गुण है? (अर्थात् शब्द और अर्थ का ही दूसरा नाम (ध्वनि) रख देना व्यर्थ है। यदि शब्द और अर्थ की ( जो ) चारुता है। वह ध्वनि है, तथापि दो प्रकार की चारुता होती है—स्वरूप मात्र मे रहने वाली और सङ्घटना मे रहने वाली। उनमें

## तारावती

मूल मे 'तावत्' शब्द का प्रयोग किया गया है—'शब्दार्थशरीरं 'तावत्' काव्यम्' तावत् शब्द का अर्थ है निश्चय ही ( देखे शब्द कल्पद्रुम कोश ) तावत् शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीरादि है इस विषय में किसी को भी विरोध नही है। अधिकतर विद्वानो ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (भामह) 'शब्दार्थौ

## लोचनम्

सङ्घटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः सङ्घटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। सङ्घटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणाव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्। सङ्घटनाधर्मा इति। शब्दार्थयोरितिशेषः। यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चारुत्वकारि न भवति नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव। चारुत्वहेतुश्च ध्वनिः, तत्र तद्व्यतिरिक्त इदं व्यतिरेकी हेतुः।

शब्दों के स्वरूपमात्र से उत्पन्न होने वाली चारुता शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाश्रित शब्दगुणों से, इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपमात्र मे रहने वाली चारुता उपमा इत्यादि से और सङ्घटना पर्यवसित तो अर्थगुणों से (गतार्थ हो जाती) इस प्रकार गुणों और अलङ्कारोंसे भिन्न ध्वनि कोई होती नहीं 'सङ्घटना धर्मा इति' शब्द और अर्थ के, यह शेष है। (अर्थात् शब्द और अर्थ के सङ्घटना धर्म भी प्रतीत होते है।) जो गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त होता है वह नित्यानित्य दोष असाधु 'दुःश्रव' इत्यादि के समान चारुता को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। और ध्वनि चारुता हेतु होती है अतः उससे व्यतिरिक्त नहीं होती, यह व्यतिरेकी हेतु है।

## तारावती

सहितौ। वक्रकविव्यापारशालिनि' इत्यादि (कुन्तक) 'तददोषौ शब्दार्थौ' (मम्मट) इत्यादि। जिन आचार्यों ने केवल शब्दगत काव्य माना है उन्होंने भी अर्थ के साहचर्य की आनवार्यता प्रतिपादित की है जैसे—शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' (दण्डी) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (पण्डितराज) इत्यादि) [अब प्रश्न यह है कि आप शब्द और अर्थ को ध्वनि कहते है या उनकी किसी विशेषता को] आप शब्द और अर्थ को ध्वनि नहीं कह सकते। क्योंकि शब्द और अर्थ का एक नया नाम देदेने से क्या लाभ? अतएव शब्द और अर्थ की विशेषता (सुन्दरता) को ही ध्वनि कहना पड़ेगा। सुन्दरता दो प्रकार की होती है (१) स्वरूप मे रहने वाली सुन्दरता और सङ्घटन मे रहने वाली सुन्दरता। उनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से होने वाली सुन्दरता शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाश्रित रमणीयता शब्द गुणों से गतार्थ हो जाती है। इसी प्रकार अर्थों की स्वरूपमात्र गत रमणीयता उपमा इत्यादिकों से और सङ्घटना पर्यवसितरमणीयता अर्थ गुणों से गतार्थ हो जाती है। गुण और अलङ्कारों के भेदक तत्त्व का प्रश्न भी साहित्य शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया था। किन्तु इस बात पर प्रकाश नहीं डाला था कि इनका परस्पर भेदक तत्त्व क्या है? सर्वप्रथम

## लोचनम्

ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्वहेतुश्च भविष्यतीत्यभिप्रेत्य तद्व्यतिरिक्त इत्यनेनाभिप्रायेणाह-तदनतिरिक्तवृत्तय इति । नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम् । तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसमपादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः । वर्तन्तेऽनुप्रासभेदाः आस्मिन्निति यदाहुः—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥

पृथक्पृथगिति । परुषानुप्रासा नागरिका । मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता । नागरिकया विदग्धया उपमितेतिकृत्वा । मध्यमकेमलपरुषमित्यर्थः । अतएव वैदग्ध्यविहीनस्वभावा सुकुमारपरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं वृत्तिर्ग्राम्येति । तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव । नेदं वैशेषिकवद्वृत्तिविवक्षिता येनजातौ जातिमतो वर्तमानत्वं स्यात्, तदनुग्रह एवात्र वर्तमानत्वम् ।

(प्रश्न) रीतियाँ और वृत्तियाँ भी जैसे गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होती है और चारुत्व हेतु भी होती है, उसी प्रकार ध्वनि भी उनसे व्यतिरिक्त (होते हुये) चारुत्व हेतु हो जावेगी इस प्रकार व्यतिरिक ( व्यतिरेकी हेतु ) सिद्ध है । इस अभिप्राय से कहा गया है—तदनतिरिक्तवृत्तयः इति । वृत्तियों और रीतियों का तद्व्यतिरिक्तत्व ( शब्द, अर्थ, शब्द सौन्दर्य, अर्थ सौन्दर्य, शब्द सङ्घटना सौन्दर्य, अर्थ सङ्घटना सौन्दर्य इनसे भिन्नत्व सिद्ध नही ही है । यह इस प्रकार-दीप्त कोमल, और मध्यम वर्णनीय ( वर्ण्य विषय ) के उपयोगी होने के कारण परुषत्व ललितत्व तथा मध्यमत्व के स्वरूप विवेचन के लिये तीन वर्ग बनाने के लिये तीन अनुप्रास जातियों को वृत्ति कहा है—वर्तमान रहते है अनुप्रास भेद जिन में, यह ( वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति है । ) जैसा कहते है—

'इन तीनों वृत्तियों मे समान रूप वाले व्यञ्जनो के न्यास को कवि लोग सदा पृथक् पृथक् अनुप्रास ( कहने की ) इच्छा करते हैं ।'

पृथक् पृथक् ( का अर्थ यह है )—परुष अनुप्रास वाली वृत्ति को नागरिका कहते है । कोमल अनुप्रास वाली वृत्ति को उपनागरिका या ललिता कहते है । नागरिका विदग्धा से इसकी उपमा दी गई है इस आधार पर । मध्यम ( वह होता है जो ) न कोमल हो न परुष यह अर्थ है । अतएव वैदग्ध्य विहीन स्वभाव वाली अकोमल और अपरुष ग्राम्य वनिता के सादृश्यसे यह वृत्ति ग्राम्या इस ( नामवाली होती है ) । उनमे तृतीय ( ग्राम्या वृत्ति ) कोमलानुप्रास ( कहलाती है ) । इस प्रकार वृत्तिया अनुप्रास जाति वाली ही है । यहाँ पर वृत्तिया वैशेषिक के समान कही जाना अभीष्ट नहीं है जिससे जाति मे जाति का वर्तमानत्व न हो; उन पर अनुग्रह करना ही वर्तमानत्व है ।

## तारावती

वामन ने अलङ्कारों से गुणों के भेदक तत्त्व की व्याख्या की। उन्होंने लिखा है कि 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' उन्होंने दूसरा भेदकतत्त्व बतलाया नित्यता और अनित्यता का। गुण नित्य धर्म होते हैं और अलङ्कार अनित्य। भट्टोद्भट को यह मत ठीक नहीं जँचा। उन्होंने लिखा है कि लोक में तो शौर्य इत्यादि गुण समवाय वृत्ति ( नित्य सम्बन्ध ) से रहते हैं और अलङ्कार हार इत्यादि संयोग वृत्ति ( अनित्य सम्बन्ध ) से रहते हैं, यह कहा जा सकता है किन्तु काव्य में गुणों और अलङ्कारों का भेद केवल भेड़चाल है। ठीक रूप में ध्वनिवादियों ने ही गुणों और अलङ्कारों के भेद की स्थापना की। ध्वनिवादियों का कहना है कि रस काव्य का जीवन है। जिस प्रकार शौर्य इत्यादि गुण आत्मा के ही धर्म होते हैं उसी प्रकार काव्य के ओज इत्यादि भी रसके ही प्रत्युत धर्म होते हैं। कोमल सङ्घटना कोमल रसों के लिए अनिवार्य होती है और कठोर सङ्घटना कठोर रसों के लिए अनिवार्य होती है। इसके प्रतिकूल अलङ्कार अङ्गभूत शब्द और अर्थ का उपकार करते हुए उस अङ्गी आत्मा भूत रस का उपकार करते हैं। (दे० काव्य प्रकाश उ० ८) इन गुण और अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। मूल में जो सङ्घटना धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है उसका आशय है शब्द और अर्थ के सङ्घटना धर्म [ यहाँ पर अनुमान प्रमाण से साध्य सिद्धि की गई है। ध्वनि पक्ष है; गुण और अलङ्कार से भिन्न न होना साध्य है; चारुता में कारण होना हेतु है। अनुमान प्रयोग इसप्रकार होगा—ध्वनि गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती, क्योंकि चारुता में हेतु होती है। जो जो चारुता में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते। ] यहाँ पर व्यतिरेकी हेतु के द्वारा साध्य सिद्धि होगी। [ अन्वय व्याप्ति इस प्रकार की बननी है—'जो पदार्थ चारुता में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते, इसका कोई उदाहरण मिल ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई चारुता-हेतु होता ही नहीं जो गुण और अलङ्कारों से भिन्न हो। अतएव व्यतिरेकी हेतु से साध्य सिद्धि करनी पड़ेगी। ] व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—'जो पदार्थ गुण और अलङ्कारों से भिन्न होते हैं वे चारुता-हेतु नहीं हो सकते।' जैसे नित्य दोष 'असाधु' इत्यादि अनित्य दोष 'दुःश्रव' इत्यादि गुण और अलङ्कारों से भिन्न होने के कारण चारुता-हेतु नहीं होते। ध्वनि भी चारुता-हेतु है अतएव वह गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती। इसी को व्यतिरेकी हेतु कहते हैं।

[ यहाँ पर ध्वनि-विरोधी ने व्यतिरेकी हेतु के द्वारा ध्वनि का अन्तर्भाव गुण और अलङ्कारों में सिद्ध किया था। पूर्व पक्षी उसमें हेतु दोष दिखला रहा है।

तारावती

वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलङ्कारों से भिन्न भी होती हैं और चारुता हेतु भी होती हैं। इसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार अतिरिक्त भी हो सकती है और चारुता-हेतु भी हो सकती है। इस प्रकार ऊपर दिखलाया हुआ व्यतिरेकी हेतु असिद्ध हो जाता है। [ तर्क शास्त्रमें हेतु दोषों को हेत्वाभास कहते हैं। हेतु यदि साध्य से भिन्न स्थानों मे पाया जावे तो वहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। ऊपर के अनुमान मे हेतु है—रमणीयता में कारण होना। यह हेतु साध्य गुण और अलङ्कारों से भिन्न वृत्तियों और रीतियों में भी मिल जाता है। अतएव यहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होने से साध्य असिद्ध हो जाता है। वस्तुतः यहाँ पर आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी दिखलाये जा सकते हैं। आश्रयासिद्ध वहाँ पर होता है जहाँ पक्ष का नितान्त अभाव हो। ध्वनि विरोधी के मत में ध्वनिका सर्वथा अभाव होता ही है। स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास वहाँ पर होता है जहाँ पक्ष में हेतु का अभाव हो। ध्वनि विरोधी के मत मे ध्वनि में चारुता होती ही नहीं अतएव यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। किन्तु प्रस्तुत तर्क ध्वनिवादी की ओर से उपस्थित किया गया है। अतएव अनैकान्तिक हेत्वाभास ही यहाँ पर समझा जाना चाहिये। आशय यह है कि जिस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होते हुये भी चारुता हेतु हो सकती हैं उसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होते हुये भी चारुता-हेतु हो सकती है। अग्रिम प्रकरण मे इसी हेत्वाभास पर विचार किया जा रहा है। ]

वृत्तियों और रीतियों का गुण और अलङ्कारों से भिन्न होना सिद्ध नहीं है। दीप्त, कोमल और मध्यम विषयों में उपयोगी होने के कारण अनुप्रास के ही कठोर, कोमल और मध्यम इन तीन स्वरूपों की विवेचना करने के मन्तव्य से तीन वर्ग कर लिये गये है। यही तीन वृत्तियाँ हैं जो कि अनुप्रास की ही आश्रित जातियाँ हैं। वृत्ति शब्द 'वृतु वर्तने' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर बनता है, जिसका अर्थ है वर्तमान होना अर्थात् जिनमें अनुप्रास के भेद वर्तमान हों उन्हे वृत्ति कहते हैं। जैसा कि उद्भट ने लिखा है—'कवि लोग सर्वदा इन तीनों वृत्तियों मे पृथक् पृथक् ऐसे अनुप्रास की इच्छा करते है जिसमे समान रूपवाले व्यञ्जनो का प्रयोग किया जाता है।'

पृथक् पृथक् का अर्थ है—अनुप्रास का प्रयोग तीन प्रकार का होता है—(१) जहाँ पर अनुप्रास मे परुष वर्णों का प्रयोग होता है उसे परुषा या नागरिका वृत्ति कहते हैं। (२) जहाँ पर कोमल वर्णों का प्रयोग होता है उसे उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। उपनागरिका शब्द का अर्थ है नगर निवासिनी ललना के समान

## लोचनम्

यथाह कश्चित्—लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः। इति।

तस्माद्वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः। अतएव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः। अनतिरिक्त-

जैसा कि किसी ने कहा है—'पृथ्वी का भोग करने वाले ( राजा लोग ) लोकोत्तर गाम्भीर्य मे वर्तमान रहते हैं!'

अतएव वृत्तियाँ अनुप्रास इत्यादि से अभिन्न वृत्तिवाली हैं। अर्थात् उनका कार्य अधिक नहीं है। अतएव व्यापार भेद के न होने से उनका स्वरूप पृथक् अनुमान करने के योग्य नहीं है इस प्रकार वृत्ति शब्द से व्यापारवाची का

## तारावती

वैदग्ध्य पूर्ण। जिस प्रकार नागरिक ललना अपने हाव-भाव के द्वारा आकर्षण करती है उसी प्रकार उपनागरिका वृत्ति अपनी मधुरता अथवा कोमलता से जन समूह के मन को आकर्षित करती है। (३) जहाँ पर न अधिक कठोर वर्णों का प्रयोग हो और न अधिक कोमल वर्णों का ही प्रयोग हो उसे मध्यमा अथवा ग्राम्यावृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार ग्राम वनिता में किसी प्रकार का वैदग्ध्य-नहीं होता। न उसमे सौकुमार्य ही होता है और न पारुष्य ही। इसी साम्यके आधार पर इस वृत्ति को ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। तृतीय वृत्ति ग्राम्या की एक रूढ़िसंज्ञा कोमलानुप्रास भी है जिसका कि भट्टोद्भट इत्यादि आचार्योंने प्रयोग किया है। वस्तुतः इसमे कोमल अनुप्रास होने का नियम नहीं है। यह केवल नाम पड गया है। इस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास की जातिवाली ही होती हैं उनसे भिन्न नहीं ( भामह ने अनुप्रास के दो भेद किये थे-ग्राम्यानुप्रास और अनुप्रास। सम्भवतः अनुप्रास से उनका अभिप्राय उपनागरिकानुप्रास से था। उद्भट ने वृत्तियों की संख्या तीन कर दी ग्राम्या उपनागरिका और परुषा। इनका विशेष परिचय उद्भट ने काव्यालङ्कार सार संग्रह में दिया है ) यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वृत्तियाँ भी जाति वाचक होती हैं और अनुप्रास को भी जाति कही जाती है। वैशेषिकों का मत है कि जाति मे जाति नहीं रहती फिर वृत्तियों मे अनुप्रास जाति कैसे रह सकती है? इसका उत्तर यहाँ पर वृत्तियो में अनुप्रास का वर्तमानत्व अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से ही माना जाता है।

जैसा कि किसीने कहा है—'राजा लोग लोकोत्तर गाम्भीर्य मे वर्तमान रहते हैं। पर वर्तमान होने का यह आशय है कि राजा लोगों पर गाम्भीर्य का अनुग्रह होता है जिससे उनमे सभी कार्यों के निर्वाह की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से ही वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमानत्व होता है। अनुग्राह्या

## लोचनम्

त्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः। उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह—गताः श्रवणगोचरमिति। रीतयश्चेति। तदतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमितिसम्बन्धः। तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषाञ्च समुचितवृत्यर्पणे यदन्योऽन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्। जातिश्च जातिमतो नान्या समुदायश्च समुदायमतो नान्य इति

अभिप्राय है। अतिरिक्त न होने के कारण ही वृत्ति का व्यवहार भामह इत्यादि ने नहीं किया है! उद्भट इत्यादि के द्वारा प्रयुक्त भी उसमें कोई अधिक अर्थ हृदय पथ में अवतीर्ण नहीं हुआ, इस अभिप्राय से कहते हैं—श्रवण-गोचरता को प्राप्त हुई है यह। रीतयश्च इति। (रीतियाँ भी) उनसे अभिन्न वृत्तिवाली श्रवण गोचर हुई है यह सम्बन्ध (योजना) है। तत् शब्द से यहाँ पर माधुर्य इत्यादि गुण (लिये जाते हैं।) और उनके समुचित वृत्ति में अर्पण करने पर जो एक दूसरे से मेलन की क्षमता के कारण गुड मरिच इत्यादि रसों के पानक के समान सङ्घात रूप में आना है (तथा जो) दीप्त ललित और मध्यम वर्ण्य विषय वाला है गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल के स्वभाव की प्रचुरता की दृष्टि से वही तीन प्रकार की रीतियाँ होती हैं यह कहा गया है। जाति जातिमान् से भिन्न नहीं होती और समुदाय समुदायी से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार रीतियाँ और

## तारावती

नुग्राहक भाव का आशय है—रसाभिव्यञ्जन के सामर्थ्य का आधान करना। आशय यह है कि वृत्तियों का व्यापार अनुप्रासादि से अधिक नहीं होता। [अनुप्रास का कार्य भी रसाभिव्यञ्जन करना और उसमें सहायक होना है और वृत्तियों का व्यापार भी यही है।] अतएव अनुप्रास के बिना वृत्तियों के स्वरूप का अनुमान ही नहीं हो सकता और नहीं अनुप्रास से भिन्न वृत्तियों के स्वरूप का अभिधान ही किया जा सकता है। यही कारण है कि भामह इत्यादि ने वृत्ति का व्यवहार किया ही नहीं। उद्भट इत्यादि ने वृत्तियों का व्यवहार किया है। किन्तु उनमें कोई नवीनता नहीं दिखला पाई। इसीलिये आलोककार ने 'सुनने में आई है' कह कर अपनी अरुचि प्रकट की है।

यही दशा वैदर्भी इत्यादि रीतियों की भी है। वे भी गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं कही जा सकती किन्तु सुनने में आई हैं। 'उनसे अतिरिक्त नहीं होती' में 'उनसे' शब्द का वृत्तियों के प्रसङ्ग में अर्थ है 'अलङ्कारों से' और रीतियों के प्रसङ्ग में अर्थ है 'गुणों से'। रीतियाँ माधुर्य इत्यादि गुणों से पृथक् नहीं

## लोचनम्

वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकी हेतुः । तदाह—तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति । नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात् । नापि चारुत्वहेतुः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति । तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति नाम शब्देनाह ।

वृत्तियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं होतीं । इस प्रकार यह व्यतिरेकी हेतु स्थित ही है । वही कह रहे हैं—उनसे व्यतिरिक्त यह कौन सी ध्वनि है ? यह चारुता का स्थान नहीं है क्योंकि इसका स्वरूप शब्द और अर्थ नहीं हैं । नहीं ही यह चारुत्व मे हेतु है, क्योंकि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न है । अतएव अखण्ड बुद्धि से आस्वादन करने योग्य भी काव्य यदि अपोद्धार ( विभाजन ) की बुद्धिसे विभक्त किया जाता है तथापि यहाँ पर ध्वनि शब्द वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता यह नामशब्द के द्वारा कहा है ।

## तारावती

होतीं । [ तरणार्थक दिवादिधातु 'री' से संज्ञा मे क्तिन् प्रत्यय होकर 'रीति' शब्द निष्पन्न हुआ है । जिसका अर्थ होता है प्रवाह । काव्य के जिस तत्त्व में प्रवाह पर विचार किया जाता है उसे रीति कहते हैं । प्रारम्भ मे दण्डी ने काव्य के दो मार्ग बतलाये थे—वैदर्भमार्ग और गौड़ मार्ग । दोनों प्रदेशों मे काव्य के पृथक् पृथक् आदर्श थे जिनका दण्डी ने विस्तार से वर्णन किया है । आगे चलकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मान लिया, वैदर्भी तथा गौडी रीतियो मे पाञ्चाली का समावेश और कर दिया । इस प्रकार वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं । जिस प्रकार वृत्तियो का समावेश अनुप्रास में हो जाता है उसी प्रकार रीतियों का समावेश माधुर्यादि गुणों मे हो जाता है । ] जिस प्रकार गुड़ मिर्च इत्यादि मिलाकर पानक रस तैय्यार किया जाता है और मिलने की योग्यता होने के कारण सभी वस्तुओं का सङ्घात रूपमे एकीकरण हो जाता है उसी प्रकार जब माधुर्य इत्यादि गुणों का समुचित वृत्ति मे मिलन होता है और उनका एक सङ्घात रूप बन जाता है तब उन्हे रीति कहने लगते हैं । इस प्रकार दीप्त, कोमल और मध्यम वर्णनीय विषय के अनुसार गौड़ विदर्भ और पाञ्चाल देश के कवियों के स्वभाव की प्रचुरता के आधार पर रीति तीन प्रकार की बतलाई गई है । [ वामन ने लिखा है—'रीति काव्य की आत्मा होती है । विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं । विशिष्ट का अर्थ है जिस पद रचना की आत्मा गुण हो ।' रीति तीन प्रकार की होती है गौडी वैदर्भी और पाञ्चाली । गौडी रीति मे ओज कान्ति गुण होते हैं, पाञ्चाली रीति मे माधुर्य और सौकुमार्य होता है, वैदर्भी में

## लोचनम्

ननु माभूदसौ शब्दार्थस्वभावः, माच भूच्चारुत्वहेतुः, तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह अन्य इति। भवत्वेवम्। तथापि नास्त्येव-ध्वनिर्यादृशस्तवलिलक्षयिषितः। काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ नृत्तगीतवाद्य-स्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम्। न च नृत्तगी-तादि कवनीयमित्युच्यते।

( पक्षान्तर ) निस्सन्देह यह शब्द और अर्थ के स्वभाव वाला न हो और वह चारुता मे भी हेतु न हो इससे यह गुणालङ्कार व्यतिरिक्त हो जावे यह आशङ्का करके द्वितीय अभाववाद के प्रकार को कह रहे है—अन्य इति। ऐसा हो जावे तथापि नही हो है ध्वनि जैसी कि तुम लक्षित करना चाहते हो। काव्य की यह कोई ( सम्बन्धित ) कही जानी चाहिये। काव्य की यह कोई नृत्य गीत वाद्य स्थानीय तो है नही। कवनीय को काव्य कहते है। उसकी भाववाचक संज्ञा है काव्यत्व। नृत्य गीत इत्यादि कवनीय होते है यह नहीं कहा जाता।

## तारावती

दोनो का समन्वय होता है। आनन्द वर्धन से पहले यही तीन रीतियाँ काव्य शास्त्र में प्रतिष्ठित थीं। विश्वनाथ ने लाटी रीति का समावेश कर इनकी संख्या चार कर दी और भोजराज ने मागधी और आवन्तिका इन दो और रीतियो को मिलाकर कुलसख्या ६ करदी। इन सब रीतियो का गुणों मे ही समावेश हो जाता है।] जातिमान् से जाति पृथक् नहीं होती और अवयव से अवयवी भिन्न नहीं होता। इस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती। अतएव उक्त व्यतिरेकी हेतु मे कोई दोष नहीं आता। इसीलिये आलोककार ने लिखा है कि 'उनसे भिन्न ध्वनि यह क्या वस्तु है ? यहाँ पर 'ध्वनिर्नाम' इस वाक्य मे नाम शब्द का अर्थ यह है कि ध्वनि न तो चारुता का स्थान है क्योंकि वह शब्द और अर्थ से भिन्न है और न चारुता मे हेतु है क्योंकि गुण और अलङ्कार से भिन्न है। अतएव यद्यपि काव्य का आस्वादन अखण्ड बुद्धि के द्वारा ही किया जाता है तथापि यदि आस्वादन के उपकरणों को पृथक् दिखलाया जावे तो ध्वनि शब्द वाच्य कोई अतिरिक्त तत्त्व प्राप्त ही नही होता। यही नाम शब्द का अर्थ है।

प्रथम पक्ष मे यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि न तो शब्द और अर्थ के स्वभाव वाली ( उनका ही स्वरूप ) होती है और न उनकी चारुता मे हेतु होती है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ध्वनि गुण और अलङ्कारों मे सन्निविष्ट नही की जा सकती, उनसे भिन्न होती है। उनसे भिन्न होते हुये भी ध्वनि काव्य मे रमणी-यता का आधान कर सकती है। इसी अरुचि को लेकर द्वितीय अभाववाद की

ध्वन्यालोकः

अन्ये त्र ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तेः प्रस्थानव्यतिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

दूसरा पक्ष—सम्भवतः दूसरे लोग यह कहें कि ध्वनि है ही नहीं, क्योंकि काव्य का ऐसा कोई प्रकार काव्य की सीमा मे सन्निविष्ट नहीं हो सकता जो कि प्रसिद्ध स्थान ( गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति ) से भिन्न हो । सहृदयो को आनन्द देनेवाले शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है । उक्त प्रस्थान से भिन्न और कोई मार्ग है ही नहीं जिसमे यह लक्षण घट जाता हो । ध्वनि सिद्धान्त के अन्दर आने वाले ( उसे स्वीकार करने वाले ) कतिपय सहृदयो की कल्पना करके ध्वनि मे यदि काव्य व्यवहार प्रवर्तित भी किया जावे तो भी वह सभी विद्वानो के मन को ग्रहण नही कर सकता अर्थात् ऐसा सिद्धान्त सभी को मान्य नहीं हो सकता ।

लोचनम्

प्रसिद्धेति । प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौतद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम् । काव्यप्रकारस्येति । काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः,

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार । प्रस्थान करते है अर्थात् जिस मार्ग से-परम्परा से व्यवहार करते है उसे प्रस्थान कहते है । काव्यप्रकारस्येति । वह मार्ग काव्य के प्रकार के रूप मे तुम्हे अभिप्रेत

तारावती

अवतारणा की गई है । इस पक्षवालो का आशय यह है कि कोई व्यक्ति ध्वनि को शब्द अर्थ और उनके चारुता हेतुओ से पृथक् मान भी ले तब जैसी ध्वनि को आपलक्षित कराना चाहते है वैसी सिद्ध नहीं हो सकती । ध्वनि सिद्धान्तवादियों का कथन है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है । यदि ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करना है तो काव्य से इसका कोई न कोई सम्बन्ध बतलाना ही पडेगा । जिस प्रकार नाटक मे नृत्य गीत इत्यादि के द्वारा रस सृष्टि मे सहायता ली जाती है किन्तु काव्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार यदि ध्वनि नाम का कोई ऐसा पदार्थ है जो नृत्य गीत इत्यादि के समान ही काव्य का उपकारी होता है तो उसका काव्य से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । काव्य उसे ही कहते हैं जो कविता का विषय हो सके काव्य शब्द 'कवृ वर्णे' धातु से बना है जिसका अर्थ है शब्दो के द्वारा सौन्दर्य के साथ किसी विषय को निबद्ध करना नृत्य गीत इत्यादि काव्य का विषय हो ही

## लोचनम्

'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात्। ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—सहृदयेति। मार्गस्येति नृत्तगीताश्निनिकोचनादिप्रायस्येत्यर्थः। तदिति। सहृदयेत्यादि काव्यलक्षणमित्यर्थः।

ननु ये तादृशमपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः। तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति। यथाहि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्राव्रियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुकुमारश्चित्रतन्तु-

है, क्योंकि 'काव्य की आत्मा' यह कहा गया है। वह काव्य क्यो नहीं होता इसका उत्तर दे रहे है—सहृदयेति। मार्गस्येति। अर्थात् नृत्त गीत अश्निनिकोचन इत्यादि के तुल्य। तदिति। सहृदयहृदयाह्लादक शब्द और अर्थ से युक्त होना काव्य का लक्षण है।

(प्रश्न) जो उस प्रकार के अपूर्व (ध्वनि तत्त्व) को काव्य के रूप मे जानते है वे ही सहृदय है—उनका अभिमत होना ही काव्यलक्षण (मे प्रयोजक) है (और वह उक्त प्रस्थान से भिन्न के लिये ही होगा) यह शङ्का कर के कह रहे हैं—नचेति। निस्सन्देह जैसे 'खड्गलक्षण करूँगा' यह कह कर 'आतान वितान योग्य स्वरूप वाला, तह किया जानेवाला, समस्त देह को रखने वाला, सुकुमार, विचित्र

## तारावती

नहीं सकते। अतः इन्हे काव्य मे सन्निविष्ट करना उचित नहीं। इसी प्रकार ध्वनि भी काव्य का विषय नहीं हो सकती। अतः उसे भी काव्य से संबद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रस्थान शब्द प्र उपसर्ग 'स्था' धातु से संज्ञा अर्थमे ल्युट् प्रत्यय होकर बना है जिसका अर्थ होता है—ऐसा मार्ग जो परम्परा से प्रतिष्ठित हो चुका हो अर्थात् जिस मार्ग से परम्परागत रूप मे व्यवहार होता चला आ रहा हो। यह प्रतिष्ठित प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनसे सम्बन्धित गुण और अलङ्कार। आशय यह है कि तुम ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हो। अतएव काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हे वही मार्ग अभीष्ट है और वह हो नहीं सकता क्योकि सहृदयो के हृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कारो को ही काव्य कहते हैं; परम्परागत रूप मे इन्हें ही काव्य के मार्ग के रूप मे स्वीकार किया जाता रहा है। इनसे भिन्न यदि ध्वनि नाम का कोई मार्ग काव्य शोभा के आधान में सहायक होता है तो वह नृत्य, गीत, अश्निनिकोचन इत्यादि अभिनय के समान काव्य सम्बद्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि सहृदयो को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना रूप लक्षण उनमे नहीं घटता।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि सहृदयों को अभिमत होना ही काव्य

## लोचनम्

विरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेद्यः सुच्छेद्य उत्कृष्टःखड्ग इति ब्रुवाणः परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्युक्त्या पर्यनुयुज्यमान एवं ब्रूयात् ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत्। प्रसिद्धं हि लक्षणं भवति न कल्पितमितिभावः। तदाह सकलविद्वदिति। विद्वांसोऽपि हि तत्समयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति। एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृतं स्यादुन्मत्तता परं प्रकटितेति भावः।

तन्तुओं से बनाया हुआ, समेटने और फैलाने को सहन करने वाला, न काटनेवाला किन्तु भली भाति कट जानेवाला उत्कृष्ट खड्ग होता है' यह कहते हुए दूसरों के यह कह कर आक्षेप किये जाने पर कि 'इस प्रकार का वस्त्र होता है खड्ग नहीं-यह कहे कि मेरा अभिमत तो इसी प्रकार का खड्ग है। यह वैसा ही है। आशय यह है कि प्रसिद्ध ही लक्ष्य होता है कल्पित नहीं। यही कह रहे हैं—सकल विद्वदिति। विद्वान् भी निस्सन्देह उस (ध्वनि) के सङ्केत को जानने वाले होंगे इस शङ्का का निराकरण सकल शब्द से किया है। (अर्थात् कुछ ऐसे भी विद्वान् मिल जावेंगे जो कि ध्वनि को मानते हों। किन्तु सबके न मानने से ध्वनि सिद्ध नहीं हो सकती।) ऐसा किये जाने पर भी कुछ किया हुआ नहीं होगा किन्तु तुम्हारी उन्मत्तत्ता ही प्रकटित होगी, यह भाव है।

## तारावती

का लक्षण है और सहृदय वे ही होते हैं जो पहले व्याख्यान की हुई ध्वनि को ही काव्य का स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार का काव्य लक्षण उक्त प्रस्थान से अतिरिक्त मार्ग में ही लागू होता है। इसका उत्तर यह है कि यदि कोई विद्वान् 'खड्ग का लक्षण करूंगा' यह प्रतिज्ञा करके कहने लगे कि 'जो लम्बा चौड़ा हो, तह किया हो, देह को ढकने वाला हो, सुकुमार हो, रंग बिरंगे तन्तुओं वाला हो, फैलाया समेटा जा सके उसे खड्ग कहते हैं।' दूसरे व्यक्ति के यह कहने पर कि 'ऐसा खड्ग नहीं ऐसा तो वस्त्र होता है' वह आग्रह करता ही चला जावे कि मैं तो उसे खड्ग ही कहूंगा' तो उस समय उसकी बात मानने को कोई उद्यत न होगा। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आग्रह करता ही चला जावे कि 'मैं तो काव्य को आत्मा को ध्वनि ही कहूंगा' तो दूसरे लोग उसकी इस बात को स्वीकार करने के लिये कभी उद्यत न होंगे। लक्ष्य कभी कल्पित नहीं होता वह सर्वदा प्रसिद्ध ही होता है। जो लोग प्रसिद्ध लक्ष्य को ठीक रूप में व्याख्या कर सके वे ही उस विषय के पूर्ण विद्वान् कहे जा सकते हैं, वे ऐसी व्याख्या को कभी स्वीकार नहीं कर सकते। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि कुछ विद्वान् ऐसे भी निकल आवेंगे जो

## लोचनम्

यस्त्वत्राभिप्रायं व्याचष्टे—जीवितभूतो हि ध्वनिस्तावत्त्वाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तत्वात्तच्च न काव्यमितिलोके प्रसिद्धमिति। तस्येयं-सर्वं स्ववचनविरुद्धम्। यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति। तस्मात् प्राक्तन एवात्राभिप्रायः।

जिसने यहाँ पर अभिप्राय की व्याख्या की है—जीवन के रूप में ध्वनि तुम्हें अभीष्ट है और जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से अतिरिक्त ही होता है क्योंकि उसको अलङ्कारकारो ने कहा नहीं है और वह काव्य नहीं हो सकता यह। उसका यह सब अपने ही वचन के विरुद्ध है। यदि निस्सन्देह उस पूर्वपक्षवादी ने उसे (ध्वनि को) काव्य का लक्षण मान लिया तो उसको प्राचीनों ने नहीं कहा है अतः प्रत्युत (आपके तर्क के विरुद्ध) वह लक्षण के योग्य ही (सिद्ध) होता है। अतएव पहले बतलाया हुआ ही यहाँ पर अभिप्राय है।

## तारावती

ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानेंगे। इसका उत्तर यह है कि कुछ लोगों के मान लेने से ही ध्वनि प्रतिष्ठित नही हो सकती। सभी विद्वान् उसे स्वीकार नहीं कर सकते। यही आलोककार के सकल शब्द का आशय है। ऐसी दशा मे कुछ लोगो की मान्यता से कोई लाभ नहीं होगा अपितु ऐसे लोगों की उन्मत्तता ही प्रकट होगी। [यहाँ पर अनुमान से साध्य सिद्धि की प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्य नहीं हो सकती, (प्रतिज्ञा) क्यों कि यह शब्द और अर्थ से व्यतिरिक्त है, (हेतु) जो कुछ शब्द और अर्थ से व्यतिरिक्त होता है वह काव्य नहीं हो सकता जैसे नृत्य गीत इत्यादि काव्य नहीं होते (उदाहरण) ध्वनि भी उसी प्रकार की होती है (उपनय) अतएव वह भी उसी प्रकार काव्य नहीं हो सकती (निगमन)। अनुमान की दूसरी प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्य सम्बद्ध नहीं होती (प्रतिज्ञा) क्योकि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त होती है (हेतु), जो वस्तुये गुण और अलङ्कार से भिन्न होती हैं वे काव्य नहीं हो सकती जैसे नृत्य गीत इत्यादि (उदाहरण), यह ध्वनि भी उसी प्रकार की (गुणालङ्कार व्यतिरिक्त) है (उपनय), अतः यह भी वैसी ही (काव्य के क्षेत्र से बाहर) है। (निगमन)

किसी आचार्य ने यहाँ पर कहा है—'ध्वनि काव्य—जीवन के रूप मे तुम्हें अभीष्ट है, किन्तु जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त होता है—क्योंकि अलङ्कार-कारो ने उसका अभिधान नहीं किया है अतः वह ध्वन्यात्मक जीवन काव्य से भिन्न है यह बात लोक मे प्रसिद्ध है।' किन्तु उनका यह सब अपने ही कथन के विरुद्ध है। यदि काव्य मे प्राण प्रतिष्ठा करनेवाली ध्वनि अङ्गीकार कर ही ली

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमर्नातवर्तमानस्य तस्योक्तिष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते।

तीसरा पक्ष—फिर सम्भवतः दूसरे लोग उसके अभाव को दूसरे ही रूप में कहें। (वे कह सकते हैं कि) ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सम्भव नहीं है। यह ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करती। अतएव उसका उक्त रमणीयता हेतुओं में ही अन्तर्भाव कर दिया जाना चाहिये। अथवा उसा में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जावे तो अपूर्व नाम रख देने से ही उस पर बहुत कम कहना शेष रह जावेगा।

दूसरी बात यह है कि वाणी के अनन्त विकल्प हो सकते हैं। अतएव ऐसा कोई सूक्ष्म भेद सम्भव भी हो सकता है जिसका परिगणन प्रसिद्ध काव्यलक्षणकार आचार्यों ने न किया हो, किन्तु फिर भी झूठी सहृदयत्व की भावना को लेकर वास्तविकता की ओर से अपनी आखें मूंदकर जो ये लोग ध्वनि ध्वनि चिल्लाते हुये नाचते फिरते हैं उसमें मुझे कोई औचित्य दिखलाई नहीं पड़ता। महात्मा आचार्यों ने सहस्रों की संख्या में अलङ्कारों के प्रकार प्रकाशित किये हैं तथा भविष्य में भी प्रकाशित किये जावेंगे। इनकी यह दशा सुनाई नहीं पड़ती।

लोचनम्

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः, शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयाभाववादमुपन्यस्यति—पुनरपर इति। कामनीयकमिति। कमनीयस्य कर्म। चारुत्वहेतुतेति यावत्।

(प्रश्न) निस्सन्देह यह चारुत्वहेतु होवे और शब्द अर्थ गुण और अलङ्कारों के अन्तर्भूत भी (होवे) तथापि 'ध्वनि' इस प्रकार की उस भाषा के द्वारा 'जीवन है' यह किसी के द्वारा नहीं कहा गया इस अभिप्राय की आशङ्का करके (उत्तर के रूप में) तृतीय अभाववाद को उपन्यस्त कर रहे हैं—पुनरपरे इति। कामनीयकमिति। कमनीय के कर्म को कामनीयक कहते हैं। आशय यह है कि चारुता की बुद्धि उत्पन्न करने में कारण।

## लोचनम्

ननुविच्छित्तीनामसंख्यत्वात् काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा या नानुप्रासादीनापि माधुर्यादावुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युपगमपूर्वकं परिहरति-वाच्यिकल्पानामिति ।

(प्रश्न) निस्सन्देह विच्छित्तियों के असंख्य होने के कारण कोई ऐसी विच्छित्ति हम लोगों के द्वारा देखी गई, जो न अनुप्रास इत्यादि में नहीं माधुर्य इत्यादि उक्त लक्षण में अन्तर्भूत हो सके, यह आशङ्का कर स्वीकृति के साथ उसका उत्तर दे रहे

## तारावती

गई और अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों ने उसका लक्षण किया भी नहीं तो उसका लक्षण करना ही चाहिये। इस प्रकार यह पूर्व पक्ष नहीं हो सकता। अतएव पहले कहा हुआ अभिप्राय ही ठीक है। [ प्रथम और द्वितीय पक्षों में इतना ही भेद है कि प्रथम पक्ष में कहा गया था शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से भिन्न काव्यशोभाधायक कोई वस्तु है ही नहीं। इस पक्ष में कहा गया है कि 'यदि इनसे भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु मान भी ली जावे तो भी काव्य से उसका कोई सम्बन्ध सिद्ध ही नहीं हो सकता। वह धर्म शोभाधायक नहीं हो सकता।

यहाँ पर ध्वनिवादियों का यह अभिप्राय बतलाया जा सकता है कि 'ध्वनि रमणीय में कारण हो सकती है और वह शब्द, अर्थ तथा गुण और अलङ्कार में अन्तर्भूत भी की जा सकती है तथापि किसी ने भी ध्वनि शब्द का उच्चारण कर उसे काव्य का जीवन नहीं बतलाया है; अतएव उसका प्रकथन करना ही चाहिये। इसी अरुचि को लेकर तृतीय पक्ष की अवतारणा की है। [ इस पक्ष का सारांश यह है कि यदि ध्वनि को चारुता-हेतु मान भी ले और वह शब्द अर्थ गुण और अलङ्कारों के अन्तर्गत भी सिद्ध हो जावे तो भी ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। ध्वनि भी चारुता हेतुओं में एक है; अतएव उपर्युक्त चारुता हेतुओं में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया जाना उचित प्रतीत होता है। चारुता-हेतु तो वे ही हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। यह सारा विवाद उन्हीं में से एक का नाम रख देने के कारण खड़ा किया जा रहा है। ] यहाँ पर कामनीयक शब्द का प्रयोग किया गया है। 'कमनीय' शब्द से वुञ् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है यदि यह प्रत्यय यहाँ पर 'भाव' अर्थ में माना जावेगा तो इसका अर्थ हो जावेगा 'रमणीयता'! अतएव यहाँ पर यह प्रत्यय 'कर्म' अर्थ में माना जाना चाहिये जिस से इस शब्द का अर्थ हो जावेगा 'रमणीय का कर्म' अर्थात् रमणीयता की बुद्धि उत्पन्न करने में कारण गुण और अलङ्कार।

( प्रश्न ) विच्छित्ति के प्रकारों का संख्या नियत नहीं की जा सकती। अतएव हमें विच्छित्ति का कोई ऐसा प्रकार दिखलाई पड़ा जिसका अन्तर्भाव न तो उक्त

## लोचनम्

वक्तीतिवाक् शब्दः । उच्यत इति वागर्थः । उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः । तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः । अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः । प्रकारलेश इति । स हि चारुत्वहेतुर्गुणो वाऽलङ्कारो वा । स च सामान्यलक्षणेन सङ्गृहीत एवो यदाहुः—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति । तथा—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः' इति । ध्वनिर्ध्वनिरिति । वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्ननादरं दर्शयति—नृत्यत इति । तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणाद्भुतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तृभिरितिशेषः । ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः । एषा दर्शेति । स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः । वाग्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारा इति वा ।

है—वाग्विकल्पानामिति । वाक् शब्द का ( व्युत्पत्तिलभ्य ) अर्थ है जो कहे अर्थात् शब्द, जो कहा जावे वह वाक् अर्थात् अर्थ, जिसके द्वारा कहा जावे वह वाक् अर्थात् अभिधा व्यापार । उनमें शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार भी संख्यातीत है । प्रकार लेश इति । निस्सन्देह वह चारुत्व मे हेतु गुण या अलङ्कार ( हो सकता है । ) और वह सामान्य लक्षण के द्वारा सङ्गृहीत ही हो गया । जैसा कि कहा है—'काव्य शोभा के करनेवाले धर्म गुण होते है; उसकी अतिशयता मे हेतु तो अलङ्कार होते हैं, यह, तथा 'वक्र अभिधेय और शब्द की उक्ति वाणी के अलङ्कार ( की संज्ञा ) के रूप मे अभीष्ट है यह । ध्वनिर्ध्वनिरिति । वीप्सा ( दो बार कथन ) के द्वारा सम्भ्रम को सूचित करते हुये अनादर दिखला रहे हैं—नृत्यत इति ।

उसका लक्षण करनेवाले, उससे युक्त काव्य की रचना करने वाले तथा उससे अद्भुत चमत्कार वाले सहृदयो के द्वारा यह इतना ( वाक्य मे ) शेष रह गया । आशय यह है कि ध्वनि शब्द मे कौन बहुत अधिक आदर है ? एषा दर्शेति । अर्थ यह है कि स्वयं दर्प और दूसरों के द्वारा प्रशंसा किया जाना । वाग्विकल्पा इति । अथवा वाणी की प्रवृत्ति मे हेतु प्रतिभा व्यापार के प्रकार ।

## तारावती

लक्षण वाले अनुप्रास इत्यादि मे ही हो सकता है और न माधुर्य इत्यादि मे ही । अतएव ध्वनि नाम का पृथक् पदार्थ मानना ही चाहिये । इस प्रश्न का उत्तर पूर्व पक्ष की बात मानते हुये मूल मे 'वाग्विकल्पानाम्'''एषा दर्शा श्रूयते' इन शब्दो में दिया गया है । यहाँ पर 'वाक्' शब्द का प्रयोग किया गया है । यह शब्द 'वच्' धातु से क्विप् प्रत्यय हो कर बनता है । इस शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है—(१) कर्ता अर्थ मे वक्तीतिवाक् अर्थात् जो अर्थ को कहे उस 'शब्द'

तारावती

को वाक् कहते हैं। (२) कर्म अर्थ में—'उच्यते इति वाक्' अर्थात् जो कहा जावे उसे 'वाक्' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से अर्थ का बोध हो जाता है और (३) करण के अर्थ में 'उच्यते अनया इति वाक्' अर्थात् जिस व्यापार के द्वारा अर्थ कहा जावे वह 'अभिधा व्यापार'। इस प्रकार यहाँ पर यह आशय निकलता है कि शब्द की विचित्रता भी अनन्त प्रकार की होती है: अर्थ की विचित्रता भी अनन्त प्रकार की होती है और अभिधा व्यापार की विचित्रताओं का भी परिसंख्यान नहीं किया जा सकता। मूल के प्रकार लेख शब्दका आशय यह है कि शब्द और अर्थकी विचित्रतायें अनन्त हैं—इस प्रकार यदि यह मान भी लिया जावे कि कोई ऐसा प्रकार सम्भव है जिसको काव्य के प्रसिद्ध लक्षणकार आचार्यों ने नहीं दिखलाया है तो भी उसका सङ्ग्रह सामान्य लक्षण के द्वारा हो ही जाता है। सामान्यलक्षण ये हैं—'काव्य शोभा कारक धर्मों को गुण कहते हैं और उसमें विशेषता का आधान करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं।' वक्रता पूर्ण (चमत्कार कारण) शब्द और अर्थ को अलङ्कार कहते हैं।' 'ध्वनि ध्वनि कह कर नाचते फिरते हैं' इस वाक्य में दोबार 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है इससे सम्भ्रम व्यक्त होता है। 'नृत्यन्ति' शब्द से ध्वनिवादियों का ध्वनिसिद्धान्तविषयक आदर व्यक्त होता है। ये नाचने वाले हैं लक्षणकार आचार्य, ध्वनि सिद्धान्त को मान कर काव्य रचना करने वाले कवि और उसको सुनकर चमत्कृत होने वाले सहृदय। आशय यह है कि ध्वनि सिद्धान्त को आदर देने का कोई कारण नहीं। 'अन्य अलङ्कारों की यह दशा नहीं सुनी जाती' इस वाक्य में 'यह दशा' का अर्थ है कि अन्य अलङ्कारों के प्रवर्तक न तो स्वयं दर्प करते हैं और न दूसरे लोग ही उनकी प्रशंसा करते हैं। वाग्विकल्प शब्द का एक अर्थ यह भी हो सकता है—प्रतिभा के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं जिनसे वाणी प्रवृत्त हुआ करती है। (राजशेखर ने काव्य मीमांसा में यह पद्य उद्धृत किया है—

आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्पन्दः॥

अर्थात् यद्यपि संसार के प्रारम्भ से लेकर उदार कवि प्रतिदिन सार ग्रहण करते चले आए हैं और फिर भी वाणी के परिस्पन्द की मुद्रा अबतक भङ्ग नहीं हुई। आशय यह है जहाँ इतने अलङ्कार बढ़ते चले जा रहे हैं वहाँ ध्वनि नाम का एक अलङ्कार और सही उसके लिए इतना शोर मचाने की क्या आवश्यकता।

ध्वन्यालोके

तस्मात्प्रवादमात्रं ध्वनिः। न तस्य स्वोद्वहनं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति।
व्युत्पन्नैरचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्॥
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो-
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

अतएव ध्वनि सर्वथा प्रवादमात्र है। उसमे अधिक पीसने योग्य कोई भी तत्त्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता। यही बात एक दूसरे कवि ने इन प्रकार कही है:—

जिसमे न तो अलङ्कार से युक्त मन को प्रसन्न करनेवाली कोई वस्तु है, जो न विचित्र वचनों द्वारा रची गई है और न जिसमें वक्रोक्ति है जड़ लोग उसी काव्य की प्रेम से ध्वनि युक्त कर कह प्रशंसा करते हैं। नहीं पता यदि कोई पुण्यात्मा उनसे उसका स्वरूप पूछ दे तो वे क्या कहेंगे।

लोचनम्

तस्मात्प्रवादमात्रमिति। सर्वेषामभाववादिनां साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वेन शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः। न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह—तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना। यतो न सालङ्कृति अतो न मनःप्रह्लादि। अनेनार्थालङ्काराणामभाव उक्तः। व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैरिति शब्दालङ्काराणाम्। वक्रोक्तिः उत्कृष्टा सङ्घटना तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम्। वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनरुक्तत्वं न

तस्मात्प्रवादमात्रमिति। सभी अभाववादियों का यह साधारण उपसंहार है। क्योंकि शोभा हेतु होनेपर गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त नहीं है, और क्योंकि व्यतिरिक्त होने पर शोभा हेतु नहीं है और क्योकि शोभा हेतु होने पर भी आदरास्पद नही है इसलिये—यह आशय है। नहीं ही यह अभाव सम्भावना निर्मूल ही दूषित की गई है यह कह रहे है—तथा चान्येनेति। ग्रन्थकार के समान काल मे होने वाले मनोरथ नाम के कवि के द्वारा। क्योंकि अलङ्कार से युक्त नही है इसलिये मनको आह्लाद देनेवाली नही है। इससे अर्थालङ्कारों का अभाव बतलाया गया है। 'व्युत्पन्न वचनों के द्वारा रचना नहीं की गई' इससे शब्दालङ्कारों का (अभाव बतलाया गया।) वक्रोक्ति उत्कृष्ट सङ्घटन (को कहते है।) उससे शून्य का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से शून्य। वक्रोक्ति शून्य शब्द से सामान्यलक्षण के अभाव से सभी अलङ्कारों का अभाव कहा गया है यह कुछ लोग कहते है। उन्होने तो

## तारावती

'अतएव ध्वनि प्रवादमात्र है' यह समस्त अभाववादियों का सामान्य उपसंहार है। चाहे प्रथम पक्ष के अनुसार यह माने कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारों से भिन्न कोई तत्त्व है ही नही अतः चाहे द्वितीय पक्ष के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारो से भिन्न है तो वह शोभा हेतु नहीं हो सकती, चाहे तृतीय पक्ष के अनुसार यह माने कि यदि ध्वनि को शोभा हेतु मान भी ले तो भी ( अन्य नवीन अलङ्कारो के समान ) उसके अधिक आदर का कोई कारण नहीं, इन तीनों ही पक्षों मे ध्वनि प्रवाद मात्र सिद्ध होती है। यद्यपि इसे अभाव वादों की सम्भावना मात्र की गई है तथापि यह सम्भावना सर्वथा निर्मूल नहीं।

इसीलिये यहाँ पर एक पद्य का उद्धरण दिया गया है जो कि आलोककार के समसामयिक मनोरथ नामक कवि का बनाया हुआ है। 'जिसमे कोई अलङ्कार युक्त, मन को प्रसन्न करने वाली वस्तु नही है' इस वाक्य मे 'अलङ्कार युक्त' हेतु है—क्योंकि उनमे अलङ्कार नही होते अतः वे मन को आनन्द देने वाले भी नही होते। इससे उस प्रकार के काव्य मे अर्थालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। 'विचित्र शब्दो से रचना नहीं की गई' से शब्दालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। वक्रोक्ति शब्द का अर्थ है उत्कृष्ट सङ्घटना, वक्रोक्तिशून्य शब्द का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से रहित। कुछ लोगों का मत है कि यहाँ पर 'वक्रोक्ति शून्य' शब्द से सभी प्रकार के अलङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। क्योंकि वक्रोक्ति अलङ्कारों का सामान्य लक्षण है और उस सामान्य लक्षण से रहित होने का आशय है सभी प्रकार के अलङ्कारों से रहित होना। इस विषय मे मुझे केवल इतना ही कहना है कि अलङ्कारों के अभाव की बात तो पहले ही 'सालङ्कृति' इत्यादि शब्दो के द्वारा ही कह दी गई, वक्रोक्ति शून्य शब्द का भी वही अर्थ करने पर केवल पुनरुक्ति ही होगी इसका कोई समाधान नही किया गया। 'ध्वनि की प्रेम पूर्वक प्रशंसा करते है' इस वाक्य मे प्रेम पूर्वक शब्द का अर्थ है एक दूसरे की देखा-देखी! क्योंकि लोक की भेडचाल होती है और जो सिद्धान्त लोक मे प्रचलित हो जाता है उसके प्रति लोगो मे स्वतः प्रेम उत्पन्न हो जाता है। 'किसी विद्वान् के द्वारा पूछे जाने पर वे उसका स्वरूप क्या बतलावेंगे' इस वाक्य मे 'विद्वान्' शब्द का अर्थ यह है कि मूर्खों के पूछने पर तो चाहे जो कुछ बतलाया जा सकता है, उन्हे भ्रूभङ्ग और कटाक्ष इत्यादि के द्वारा उत्तर देकर ही शान्त किया जा सकता है और उसका मनमाना स्वरूप बतलाया जा सकता है।

यह पद्य मनोरथ कवि का बतलाया गया है मनोरथ कवि का उल्लेख राज-

ध्वन्यालोकः

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

(अनु०) अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं। अर्थात् अन्य लोग ध्वनिसंज्ञावाली उस काव्य की आत्मा को गुणवृत्ति कहा करते हैं।

लोचनम्

परिहृतमेवेत्यलम्। प्रीत्येति गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः। सुमतिनेति। जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटाक्षादिभिरेवोत्तरं दद्यात्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः।

एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः नत्वन्योन्यासम्बद्धा एव। तथाहि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनः शब्दस्यायमेवाभिप्रायः। उपसंहारैक्यं च सङ्गच्छते।

अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति नित्यप्रवर्तमानापेक्षयाभिधानम्।

फिर पुनरुक्तत्व दोष का भी निराकरण नहीं कर पाया (उनके खण्डन के लिये) इतना कहना ही पर्याप्त है। प्रीत्येति। भेड़चाल के अनुराग से यह अर्थ है। सुमतिनेति। मूर्ख के द्वारा पूछे जाने पर भ्रूभङ्ग कटाक्ष इत्यादि के द्वारा ही उत्तर देते हुये उस के स्वरूप को मनमाने ढग से कहदे (किन्तु विद्वानों के द्वारा पूछे जाने पर क्या करेगा?) यह भाव है।

इस प्रकार ये अभाव विकल्प शृङ्खलाक्रम से आये हैं; एक दूसरे से असम्बद्ध ही नहीं हैं। वह इस प्रकार कि-तृतीय अभाव प्रकार के निरूपण के उपक्रम में पुनः शब्द का यही अभिप्राय है, उपसंहार की एकता भी (शृङ्खलाक्रम को मानने से) असङ्गत हो जाती है।

अभाववाद का प्राण है सम्भावना। अतः उसमें भूतकाल कहा गया है। भाक्तवाद तो पुस्तकों में विच्छेदन रहित (रूप में आया) है इस अभिप्राय से 'भाक्तमाहुः' इस नित्यप्रवृत्त वर्तमान की अपेक्षा करते हुये अभिधान किया गया है।

तारावती

तरङ्गिणी में जयापीड के राज्यकाल के प्रसङ्ग में किया गया है। यदि ये वही जयापीड हैं तो यह सिद्ध हो जाता है। कि आनन्दवर्धन के पहले ही ध्वनिकारिकायें लिखी जा चुकीं थीं। सम्भव है कि अभिनव गुप्त का ग्रन्थकार से अभिप्राय ध्वनिकार से ही हो अथवा ये कोई अन्य मनोरथ कवि हों।

इस प्रकार ये अभाववाद के तीन पक्ष हैं। ये तीनों पक्ष शृङ्खला क्रमसे आये हैं; एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं है। इसीलिये तृतीय अभाववाद के उपक्रम में 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया गया है और तीनों वादों का एक ही उपसंहार किया गया है।

## तारावती

अब लक्षणावाद को लीजिये। पहले बतलाया जा चुका है कि कारिका में अभाववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद के लिये 'जगदुः' और 'ऊचुः' इन शब्दों में परोक्ष भूत का प्रयोग किया गया है तथा लक्षण पक्ष के लिये 'आहुः' इस वर्तमान काल का प्रयोग किया है। अभाववाद और अशक्यवक्तव्यवाद का उल्लेख किसी विशेष पुस्तक में नहीं मिलता। अतएव सम्भावना मात्र से ही उन पक्षों का उन्नयन कर लिया गया है। यही उन पक्षों के साथ परोक्ष भूत के प्रयोग का रहस्य है। किन्तु लक्षणा पक्ष अविच्छिन्न रूप में विभिन्न पुस्तकों में मिलता है। इसलिये उसके साथ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है। अभाव वाद में भूतकाल के साथ सम्भावना व्यक्त होती है। लक्षणा पक्ष के साथ वर्तमान काल का प्रयोग उसके अविच्छिन्न प्रवाह को करता है।

[यहाँ पर संक्षेप में लक्षणा की प्रक्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक है। जब हम वाक्य में किसी शब्द का प्रयोग करते हैं तब सर्व प्रथम उसके सङ्केतित अर्थ की उपस्थिति होती है। जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य के प्रयोग करने पर यहाँ 'गङ्गा' का अर्थ 'प्रवाह' उपस्थित होता है। फिर अन्वय अथवा तात्पर्य अनुपपन्न हो जाता है क्योंकि प्रवाह में घर बनाया ही नहीं जा सकता। अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति के कारण जब वाक्य अप्रमाणित हो जाता है और वक्ता का तात्पर्य किसी अन्य अर्थ (तट) में प्रतीत होता है तब उस तट अर्थ में लक्षणा कही जाती है। वास्तव में अन्वयानुपपत्ति लक्षणा का बीज नहीं है। क्योंकि यदि अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज मानी जावे तो 'घर' शब्द में 'मगर' की लक्षणा कर लेने से भी वाक्य की अनुपपत्ति जाती रहती है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये। लक्ष्यार्थ बोध के पहले शक्यार्थोपस्थिति आवश्यक तथा अनिवार्य है; क्योंकि शक्यार्थोपस्थिति के अभाव में तात्पर्यानुपपत्ति हो ही नहीं सकती। यह लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) अजहत्स्वार्था या उपादान लक्षणा-जिस लक्षणामें लक्ष्यार्थ की प्रतीतिके साथ शक्यार्थ की प्रतीति भी होती रहती है। जैसे 'छाते जा रहे हैं' 'भाले आ रहे हैं' 'कौओं से दही बचाओ' इन वाक्यों में छाता और भालों का आना जाना असम्भव है। अतएव छाता का अर्थ छाता लिये हुये पुरुष और भाला का अर्थ भाला लिये हुये पुरुष हो जाता है। पुरुषों के साथ छाता और भाला का आना जाना भी उपपन्न ही है। इसीलिये इस प्रकार की लक्षणा को अजहत्स्वार्था कहते हैं। इसी प्रकार कौओं से दही बचाओ इस वाक्य में 'कौआ' शब्द का लक्ष्यार्थ है—'दही को नष्ट कर देने वाला कोई पशु'। इन पशुओं के साथ कौआ का भी परित्याग नहीं होता।

तात्पर्यानुपपत्ति

अतएव यह अजहत्स्वार्था लक्षणा है ( २ ) दूसरे प्रकार की लक्षणा होती है जहत्स्वार्था या लक्षणलक्षणा। इसमे शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। जैसे 'गङ्गा मे घर' 'कुर्सियाँ शोर मचा रही हैं' इत्यादि वाक्यों में गङ्गा और कुर्सी इन शब्दों के अर्थों का सर्वथा परित्याग हो जाता है और उनसे 'तट' तथा 'कुर्सियों पर बैठे आदमी' यह लक्ष्यार्थ निकल आता है। यही लक्षणा की संक्षिप्त प्रक्रिया है। इसका क्रम इस प्रकार है—सर्व प्रथम शक्यार्थोपस्थिति, फिर तात्पर्यानुपपत्ति और बाद में शक्यार्थ सम्बद्ध लक्ष्यार्थ की उपस्थिति। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ सम्बद्ध होता है।

लक्षणा के विषय मे दो बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है—( १ ) किन सम्बन्धों से शक्यार्थ के स्थान पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है? और ( २ ) मुख्य शब्द का परित्याग कर लक्षक शब्द के प्रयोग में क्या कारण है? शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध मे महर्षि गौतम ने लिखा है—

'सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणबालकराजसक्तुचन्दनगङ्गाशकटान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः।'

( न्या० २–२–६३ )

इसका आशय यह है कि सहचरण इत्यादि १० सम्बन्धों से जो पद जिस अर्थ मे शक्त नहीं होता है उस पद का उस अर्थ मे भी प्रयोग कर दिया जाता है। ये १० सम्बन्ध निम्नलिखित हैं:—

(१) सहचरण-जैसे 'छड़िया जा रही हैं' 'छाते आ रहे हैं;' यहाँ पर पुरुषों के साथ छाते और छड़ी भी जाते आते है। इसी सम्बन्ध से पुरुषों पर छड़ियों और छातों का आरोप कर दिया गया है। (२) स्थान ( बैठना ) जैसे 'कुर्सियाँ शोर मचा रही हैं' यहाँ पुरुषों पर कुर्सियों का आरोप किया गया है क्योंकि पुरुषों का कुर्सियों पर बैठने का सम्बन्ध है। (३) तादर्थ्य अर्थात् किसी निमित्त किसी वस्तु का होना। जैसे चटाई बनाने के लिये रक्खे हुये खस के लिये कोई चटाई शब्द का प्रयोग करे। (४) वृत्त या व्यवहार-जैसे 'यह राजा यम है' यहाँ पर व्यवहार की समानता के कारण राजा में यम का आरोप किया गया है। (५) मान या तौल का सम्बन्ध जैसे 'एक सेर चावल' यहाँ पर सेर पर चावलों का आरोप इसलिये किया गया क्योंकि चावल सेर से तोले गये हैं। (६) धारण करने का सम्बन्ध जैसे 'पर्वत जल रहा है' यहाँ पर वनों पर पर्वत का आरोप किया गया है क्योंकि पर्वत वनों को धारण करते है। (७) सामीप्य सम्बन्ध-जैसे 'गङ्गा में घर' यहाँ पर तटके लिये गङ्गा शब्द का प्रयोग इसी लिये हुआ है क्योंकि तट गङ्गा के समीप है। (८)

तारावती

योग या सम्मिलनका सम्बन्ध-जैसे कृष्ण एक गुण है। किन्तु योग के कारण कृष्ण गुण का आरोप 'साटक' मे कर लिया जाता है और लोग 'काली साडी' कहने लगते हैं। यहाँ पर साडी पर कृष्ण गुण का आरोप योग के कारण हुआ है। (९) साधन का सम्बन्ध-जैसे 'अन्न प्राण है' अन्न प्राण का साधन है; इसीलिये अन्न पर प्राणो का आरोप कर लिया जाता है। (१०) आधिपत्य सम्बन्ध-जैसे राजा के किसी नौकर के अभिमानी होने पर लोग कहते है 'हटो राजा साहब आ रहे हैं।'

उक्त समस्त सम्बन्धो को दो प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—सादृश्य सम्बन्ध और तद्भिन्न सम्बन्ध। किसी मूर्ख मनुष्य को बैल कहना सादृश्य सम्बन्ध है क्योकि जडता मन्दता इत्यादि गुणो के सादृश्य के आधार पर ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जाता है। गुणो पर आधारित होने के कारण इस प्रकार की लक्षणा को गौणी लक्षणा कहते है। भिन्न सम्बन्धो मे होनेवाली लक्षणा शुद्धा कहलाती है। इस प्रकार सम्बन्ध की दृष्टि से लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है।

अब विचार करना है कि मुख्य शब्द के स्थान पर अमुख्य का प्रयोग होता क्यो है? आचार्यो ने इसके दो कारण बतलाये है (१) परम्परा और (२) कोई प्रयोजन। कुछ शब्दो का प्रयोग अमुख्य अर्थ मे स्वभावतः होने लगता है। जैसे 'मण्डप' ( माँड पीने वाला ) का प्रयोग वितान के अर्थ मे; 'कुण्डल' ( कुण्ड को ग्रहण करने वाला ) का प्रयोग कर्णाभरण के अर्थ मे तथा 'कुशल' ( कुशो को बीनने वाला ) का प्रयोग दक्ष के अर्थ मे। इन शब्दो के प्रयोग मे न तो इनके मूल अर्थ की प्रतीति होती है और न प्रयोग के कारण का ही पता चलता है। इन शब्दो का शक्यार्थ के समान प्रयोग होता है। इस प्रकार की लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहते है।

दूसरे प्रकार की लक्षणा प्रयोजनवती कहलाती है, क्योकि इन शब्दों का प्रयोग विशेष प्रयोजन को लेकर हुआ करता है। जैसे यदि एक गांव के अनेक व्यक्ति किसी स्थान पर चले जावे और उनको देख कर जो व्यक्ति यह कहने लगे 'आज अमुक गाँव यहीं उपस्थित है।' यहाँ पर गाँव के व्यक्तियो के लिये 'गाँव' शब्द का प्रयोग संख्या की अधिकता को व्यक्त करने के मतव्य से किया गया है। 'गाव के बहुत से लोग' इन शब्दो से संख्या की अधिकता इतने विशद रूप में प्रतीत नही होती जितनी व्यक्तियों के लिये ग्राम शब्द के प्रयोग से होती है। अतएव सख्या की अधिकता की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। इसी प्रकार 'घी जीवन है' इत्यादि उदाहरणो मे समझना चाहिये।]

## लोचनम्

भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः। तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहु :—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः। तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनमितित्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति।

भाक्त का अर्थ यह है—भजन किया जाता है या पदार्थ के द्वारा सेवन किया जाता है अर्थात् प्रसिद्ध के रूप में उत्प्रेक्षित किया जाता है उसे भक्ति कहते हैं अर्थात् अभिधेय से सामीप्य इत्यादि धर्म, उससे (भक्ति से) आया हुआ भाक्त होता है अर्थात् लाक्षणिक अर्थ। जैसा कि कहते हैं—

'अभिधेय के साथ सामीप्य से, सारूप्य से, समवाय से, वैपरीत्य से और क्रिया-योग से लक्षणा ५ प्रकार की मानी गई है।'

गुण समुदाय में रहनेवाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैक्ष्ण्य इत्यादि जो अर्थ भाग होता है उसे भक्ति कहते हैं, उससे प्राप्त हुये गौण अर्थ को भाक्त कहते हैं। प्रतिपादनीय सामीप्य तैक्ष्ण्य इत्यादि में श्रद्धा की अधिकता को भक्ति कहते हैं। उसको प्रयोजन के रूप में मानकर उससे प्राप्त होनेवाला (अर्थ) भाक्त (होता है) इस प्रकार गौण और लाक्षणिक (दोनों भाक्त कहलाते हैं।) और मुख्य अर्थ का भङ्ग (भी) भक्ति कहलाता है। इस प्रकार मुख्यार्थबाध, निमित्त और प्रयोजन इन तीन का होना उपचार बीज है यह कहा हुआ हो जाता है।

## तारावती

लक्षणा के लिये भक्ति शब्द का भी प्रयोग होता है। इसी भक्ति शब्द से भाक्त शब्द बना है। भक्ति की व्युत्पत्ति कई प्रकार की हो सकती है। (१) 'भज सेवायाम्' धातु से कर्म अर्थ में क्तिन् प्रत्यय होकर 'जिसका भजन या सेवन किया जाय' यह व्युत्पत्ति होगी अर्थात् भक्ति सामीप्य इत्यादि ऐसे धर्मों को कहते हैं जो कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति के निमित्त के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं और लक्ष्यार्थ अपने बोध के लिये जिनका सहारा लेता है अथवा वक्ता या बोद्धा लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिये जिन सामीप्य इत्यादि निमित्त रूप में प्रसिद्ध धर्मों की पर्यालोचना किया करता है उन प्रसिद्ध सामीप्य इत्यादि धर्मों को भक्ति कहते हैं तथा उनसे प्राप्त होने वाला अर्थ भाक्त अर्थात् लाक्षणिक अर्थ कहलाता है। अभियुक्तों का कहना है—

## लोचनम्

काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति । सामानाधिकरण्यस्यायं भावः—यद्यप्यविवक्षितवाच्यं ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात् । विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव

काव्यात्मान गुणवृत्ति रिति । ( 'तं भाक्तम्' तथा 'तं ध्वनिसंज्ञितं' मे ) सामानाधिकरण्य का यह भाव है—यद्यपि अविवक्षित वाच्य नामक ध्वनि भेद 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि मे उपचार है तथापि तदात्मा ही ध्वनि नहीं होती क्योंकि उसके अभाव मे भी हो जाती है। विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उपभेद इत्यादि

## तारावती

(१) अभिधेय से सामीप्य सारूप्य समवाय वैपरीत्य और क्रियायोग इन ५ सम्बन्धों मे किसी एक से सम्बन्धित होने के कारण लक्षणा ५ प्रकार की होती है। (२) शब्द का व्यवहार गुणों के समुदाय मे होता है अर्थात् शब्द स्वसम्बन्ध गुणों का प्रतिपादन किया करता है। अतः शब्द का तीक्ष्णता इत्यादि जो अर्थ भाग है उसे भक्ति कहते है क्योंकि उस अर्थ भाग का सेवन किया जाता है। इस प्रकार गुणों के प्रतिपादन के कारण जो 'गौण' अर्थ निकलता है उसे भाक्त कहते है (३) भक्ति शब्द का अर्थ श्रद्धा की अधिकता भी है, अर्थात् बोधनीय अर्थ सामीप्य तीक्ष्णता इत्यादि के प्रति श्रद्धा की अधिकता। [ जैसे 'बच्चा अग्नि है' मे बच्चे की तेजस्विता का कथन करने मे वक्ता की विशेष श्रद्धा है। यहाँ पर सामीप्य शब्द का प्रयोग प्रभाववश हो गया है;क्योंकि सामीप्य इत्यादि तो निमित्त है बोधनीय प्रयोजन नही हो सकते। ] इस भक्ति को प्रयोजन के रूप मे लेकर जो अर्थ होता है उसे भाक्त कहते है। इस प्रकार गौण और लाक्षणिक दोनो अर्थ भाक्त कहलाते है। (४) भक्ति, भज्ज धातु से क्तिच् प्रत्यय होकर भी बनता है जिसका अर्थ होता है भङ्ग करना या तोड़ना। लक्षणा मे मुख्य अर्थ का भङ्ग किया जाता है इसीलिये इसे भाक्त कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा के तीनो तत्त्व मुख्य अर्थ का भङ्ग; निमित्त और प्रयोजन-इस भाक्त शब्द से प्रतीतिगोचर हो जाते है। यही तीन लक्षणा के बीज हैं जिनसे उपचरित प्रयोग हुआ करता है।

'तं भाक्तम्' 'ध्वन्यात्मानं गुणवृत्तिरिति' इन शब्दो मे सामानाधिकरण्य का प्रयोग किसी विशेष मन्तव्य से हुआ है। दो पदों का सामानाधिकरण्य सदा एक धर्मी का बोधक होता है। पक्ष का आशय यह है कि ध्वनि और गुणवृत्ति दोनों एक दूसरे से अभिन्न हुआ करते हैं। ध्वनिवादी का कहना है कि ध्वनि गुणवृत्ति पर भी आधारित होती है तथापि गुणवृत्ति ही ध्वनि नही होती। यद्यपि अविवक्षित वाच्य नाम ध्वनि भेद मे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि स्थानो पर लक्षणा का सहारा

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहार दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति ।

(अनु०) यद्यपि काव्यलक्षणकारो ने ध्वनि शब्द का उच्चारण कर न तो गुणवृत्ति को ही प्रकाशित किया है और न और ही कोई प्रकार बतलाया है । तथापि अमुख्य वृत्ति से काव्यों मे व्यवहार दिखलाते हुये उसका-ध्वनि वर्ण का-कुछ स्पर्श अवश्य किया था जिसको परवर्ती आचार्यो ने नहीं लक्षित कर पाया तथा उन्होने भी लक्षण नही बनाया था । यही कल्पितकर कहा गया है 'उसे कुछ लोग ध्वनि बतलाते है ।'

लोचनम्

न ध्वनिरिति वक्ष्यामः । तथा च वक्ष्यति :—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदाद्यं ध्वनिः ।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नचासौ लक्ष्यते तथा ॥ इति ॥
कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ॥ इति च ॥

गुणः सामीप्यादयो धर्मास्तैदर्थ्यादयश्च । तैस्तैर्यैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैस्तैर्यैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा । गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्याऽभिधाव्यापारः । एतदुक्तं भवति ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित् । मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्याद्-मुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात् ।

अविवक्षित वाच्य मे भी उपचार ही होता है ध्वनि नहीं यह हम आगे चलकर कहेंगे । उसी प्रकार ( ध्वनिकार भी ) कहेंगे—

'रूप भेद होने के कारण यह ध्वनि भक्ति से एकरूपता को धारण नहीं करती । अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण यह उसके द्वारा लक्षित भी नही होती । किसी एक ध्वनि भेद का वह उपलक्षण ( भले ही ) हो जावे ।' यह भी ।

( गुण वृत्ति शब्द के अर्थ बतलाये जा रहे है ) गुण का अर्थ है सामीप्य इत्यादि धर्म तथा तैदर्थ्य इत्यादि उपायों से जिस ( शब्द ) की अर्थान्तर मे वृत्ति हो अथवा उन उपायो से शब्द की जिसमे ( अर्थ मे ) वृत्ति हो उसे गुण वृत्ति कहते है अर्थात् शब्द अथवा अर्थ । अथवा गुणो के द्वारा वर्तमान होना गुण वृत्ति कहलाता है अर्थात् अमुख्य अभिधा व्यापार । यह बात कही गई है—चाहे ध्वनित करने वाले शब्द को ध्वनि कहे चाहे ध्वनित होने वाले अर्थ को ध्वनि कहे, चाहे ध्वनन व्यापार को ध्वनि कहे, उपचरित (गुण वृत्ति) शब्द के अर्थ व्यापार से भिन्न यह कोई वस्तु नही है । मुख्य अर्थ मे अभिधा ही होती है; अतः परिशेष रहने से अमुख्य मे ही ध्वनि होती है क्यों कि कोई तृतीय राशि होती ही नही ।

## लोचनम्

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति। अन्यो वेति। गुणालङ्कार

यह किसने कहा कि ध्वनि गुण वृत्ति होती है ? यह शङ्का करके कह रहे हैं—'यद्यपि च' इत्यादि। अन्यो वा इति। अर्थात् गुण और अलङ्कार का

## तारावती

लिया जाता है तथापि लक्षणा ही ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि विवक्षितान्यपरवाच्य इत्यादि ध्वनि भेदों में विना ही लक्षणा के ध्वनि हो जाती है। अविवक्षितवाच्य में लक्षणा होती है किन्तु केवल ध्वनि ही नही होती यह बात आगे चलकर बतलाई जावेगी। दे० प्र० उद्योत की १४ वी तथा १६ वीं कारिका 'भक्त्या..... लक्ष्यते तथा' और 'कस्य चित् .....उपलक्षणम्'।

[ आलङ्कारिक लोग दो प्रकार की लक्षणा मानते है शुद्धा और गौणी। किन्तु मीमासक लोग गौणी वृत्ति को लक्षणा से पृथक् मानते हैं। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि भक्ति शब्द से जहाँ लक्षणा के तीनों बीज गतार्थ हो जाते है वहाँ गुण वृत्ति का समावेश भी भक्ति शब्द मे हो जाता है। जो लोग ध्वनि का लक्षणा में सन्निवेश करते है उनका मन्तव्य यह है कि जहाँ कहीं शब्द वाच्यार्थ व्यतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उस सबका समावेश भक्ति लक्षणा या गुणवृत्ति में ही हो जाता है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि की समस्त विशेषतायें गुणवृत्ति शब्द में भी विद्यमान हैं। ] गुणवृत्ति शब्द के तीन अर्थ हो सकते है—(१) गुण शब्द का अर्थ है सामीप्य इत्यादि तथा तीक्ष्णता इत्यादि धर्म। इन उपायो से जिस शब्द की दूसरे अर्थ मे वृत्ति या व्यवहार हो उस शब्द को गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् लक्षक शब्द। (२) उन उपायो से जिस अर्थान्तर मे शब्द का व्यवहार हो वह लक्ष्यार्थ अथवा। (३) गुण के द्वारा वर्तन करना या व्यवहार करना अर्थात् अमुख्य अभिधा ( लक्षणा ) व्यापार। इसी प्रकार ध्वनि शब्द के भी तीन अर्थ हो सकते हैं —(१) जो ध्वनित हो अर्थात् शब्द; (२) जो ध्वनित किया जावे अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ और (३) जिस प्रक्रिया के द्वारा ध्वनित किया जावे अर्थात् व्यञ्जना व्यापार। इस प्रकार ध्वनि और गुण वृत्ति इन दोनों शब्दो से एक से अर्थ ही निकलते हैं और ध्वनि शब्द के तीनों अर्थ गुणवृत्ति शब्द से भी गतार्थ हो जाते है। आशय यह है कि शब्द के दो ही व्यापार होते हैं मुख्य और अमुख्य। मुख्य व्यापार के लिये अभिधा वृत्ति का नाम लिया जाता है और अमुख्य व्यापार अथवा उपचरित शब्दार्थ को गुणवृत्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। तीसरी राशि होती ही नहीं। अतएव अमुख्य व्यापार पर आधारित ध्वनि को

## लोचनम्

प्रकार इतियावत्। दर्शयतेति—भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तम्—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः'इति। अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटोवभाषे—शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। मनाक् स्पृष्ट इति। तैस्तावद्ध्वनिदिगुन्मीलिता यथालिखितपाठकैरतु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः, प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवत् यथाश्रुतग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति। अत एवाह—परिकल्प्यैवमुक्तमिति। यत्रैवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते।

प्रकार। दर्शयता इति। अर्थात् भट्टोद्भटवामन इत्यादि के द्वारा। भामह के द्वारा कहा गया—'शब्द छन्द अभिधानार्थ· ·· ···(काव्य हेतु हैं)' ऐसा यहाँ पर शब्द से अभिधानभेद की व्याख्या करने के लिये भट्टोद्भट ने कहा—शब्दों का अभिधान अर्थात् अभिधा व्यापार मुख्य तथा गुण वृत्त। वामन ने भी कहा—'सादृश्य से लक्षणा वक्रोक्ति होती है।' मनाक् स्पृष्ट इति। उन्होने तो ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया था। जैसा लिखा वैसा पढने वालो ने तो स्वरूप विवेक करने मे असमर्थ होकर उसके स्वरूप का विवेक नही किया; प्रत्युत (वे लोग) बिना टूटे नारियल के फल के समान यथाश्रुत ग्रन्थ को ग्रहण करने के ही द्वारा उपालम्भ दे रहे है। इसीलिये कहते हैं—'परिकल्पित करके इस प्रकार कहा है' यह। यदि इस प्रकारकी योजना न की जावे तो ध्वनिमार्ग का स्पर्श किया गया है यह पूर्वपक्ष का कहना विरुद्ध हो जाता है।

## तारावती

भी गुणवृत्ति मे ही सन्निविष्ट किया जा सकता है। ध्वनि गुणवृत्ति से पृथक् नहीं कही जा सकती। यही भक्ति अथवा लक्षणा पक्ष है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी ने ध्वनिको गुणवृत्ति वृत्ति का नाम दिया है या नही? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ध्वनि शब्द का उल्लेख कर किसी भी आचार्य ने गुणवृत्ति या गुण और अलङ्कार का कोई दूसरा प्रकार प्रकाशित नही किया है तथापि काव्य मे अमुख्य वृत्ति से व्यवहार करते हुये भट्टोद्भट वामन इत्यादि आचार्यो ने ध्वनि मार्ग का स्पर्श अवश्य किया था। भामह ने काव्य हेतुओ का परिगणन कराते हुये लिखा था 'शब्द, छन्द, अभिधान, इतिहासाश्रित कथा, लोक युक्ति और कला ये काव्य के हेतु होते है। (१—९) इस कारिका मे शब्द और अभिधान दोनो शब्दो का पृथक् पृथक् उपादान हुआ है। अतएव इन दोनो शब्दो के भेद की व्याख्या करते हुये भट्टोद्भट ने लिखा—

ध्वन्यालोकः

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः

(अनु०) कुछ लोगों की बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे ध्वनि के तत्त्व को वाणी की शक्ति से परे सहृदयहृदयसंवेद्यमात्र ही बतलाते हैं।

लोचनम्

शालीनबुद्धय इति अप्रगल्भमतय इत्यर्थः। एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते।

शालीन बुद्धय इति। अर्थात् अप्रगल्भ मतिवाले। ये तीनों उत्तरोत्तर भव्य बुद्धि वाले हैं। पहले के लोग (अभाववादी) सर्वथा विपर्यस्त ही नहीं अर्थात् विपर्यय ज्ञान से युक्त हैं और वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। बीच के लोग उसके रूप को जानते हुये भी सन्देह से उसे छिपाते हैं। अन्तिम लोग न

तारावती

'अभिधान' शब्द का अर्थ है शब्दों का अभिधा व्यापार। वह दो प्रकार का होता है मुख्य तथा गुणवृत्ति। वामन ने भी लिखा था—'सादृश्य में होनेवाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हैं।' इस प्रकार भामह ने अभिधान शब्द के द्वारा, भट्टोद्भट ने गुणवृत्ति शब्द के द्वारा और वामन ने लक्षणा शब्द के द्वारा उस ध्वनि मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया था। उन्होंने केवल ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया था। किन्तु व्याख्याता लोगों ने जैसा पढ़ा था उसका वैसे को वैसा ही अर्थ कर दिया। वे उसके स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ थे; अतएव उन्होंने उसको स्वरूप नहीं समझ पाया। अब वे ही लोग उसे उपालम्भ दे रहे हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति नारियल की बाहरी कठोरता को ही नारियल की वास्तविकता समझ जाय उसे तोड़कर उसके आन्तरिक-वास्तविक स्वाद को जानने की चेष्टा न करे। यही दशा उन व्याख्याताओं की हुई जिन्होंने जैसा सुना था वैसा ही ग्रहण कर लिया उसके रहस्य को जानने की चेष्टा नहीं की। आशय यह है कि पुराने आचार्यों ने इस बात की ओर सङ्केत किया था कि ध्वनि और लक्षणा एक ही तत्त्व है। व्याख्याताओं की असावधानता के कारण उसकी ठीक व्याख्या नहीं हो सकी। इस सन्दर्भ की ऐसी ही योजना करनी चाहिये; नहीं तो पूर्व पक्ष के प्रकरण में 'ध्वनि' के स्पर्श की बात कहना ठीक नहीं होगा।

पाँचवाँ पक्ष अशक्यवक्तव्यत्ववादियों का है जिनकी बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे कहते हैं उस ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता। सुकुमार का आशय है—'उनकी बुद्धि प्रगल्भ नहीं।'

ध्वन्यालोकः

तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

( अनु० ) अतएव इस प्रकार के मतभेद के होते हुये सहृदयों का आत्मा को आनन्द देने के उद्देश्य से हम उसके स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं।

लोचनम्

अन्त्यास्त्वनपह्नवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्याससन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम्। तेनेति। एकैकोऽप्यस्य विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम्। एवंविधासु विमतिष्विति निर्धारणे सप्तमी। आसु मध्ये एकोऽपि यो विभक्तिप्रकारस्तेनैव हेतुना तत्स्वरूपं ब्रूम इति। ध्वनिस्वरूपमभिधेयम्। अभिधानाभिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः। विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्। शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधकभावः सम्बन्ध इत्युक्तम्।

छिपाते हुये भी लक्षित करना नहीं जानते इस क्रम से इनके विपर्यास, सन्देह और अज्ञान की प्रधानता है। तेनेति। यह एक भी विप्रतिपत्तिरूप वाक्यार्थ निरूपण में हेतुता को प्राप्त हो जाता है इसलिये एक वचन का प्रयोग किया गया है।

'इस प्रकार की विमतियों में' इसमें निर्धारण में सप्तमी है। इनके बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से हम उसका स्वरूप कह रहे हैं। ध्वनिरूप अभिधेय ( विषय ) है, ध्वनि और शास्त्र का अभिधानाभिधेय नामक ( तथा ) वक्ता श्रोता का व्युत्पाद्य-व्युत्पादक भाव सम्बन्ध है; विमति निवृत्ति के द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है, शास्त्र और प्रयोजनका साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है, यह कहा गया है।

तारावती

( अशक्य वक्तव्य वादियों का मत निम्नलिखित पद्य से भी व्यक्त होता है—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य मूकी भवतोऽयमञ्जलिः॥

अर्थात् कवि का अभिप्राय शब्द से गोचर नहीं होता; केवल आर्द्र पदों में ही स्फुटित होता है। जो व्यक्ति उस अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त कर मौन हो जाते हैं और उनके रोमाञ्च ही उस आनन्द को कहा करते हैं हम उन्हें हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं। )

ध्वनि विरोधी यही उपर्युक्त ५ पक्ष हैं। उत्तरोत्तर पक्ष वालों की बुद्धि अधिक अच्छी है इनसे अभाववादी सबसे अधिक निकृष्ट कोटि के हैं। क्योंकि अभाववादियों को ध्वनि सिद्धान्त का ज्ञान ही नहीं है। अभाववादियों से कवसे अधिक

## तारावती

निकृष्ट कोटि के वे लोग है जो ध्वनि को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। उनसे अच्छे वे लोग है जो ध्वनि को मानते तो है किन्तु उसको काव्य से असम्बद्ध बतलाते है। उनसे भी अच्छे वे लोग है जो ध्वनि का काव्य से सम्बद्ध तो मानते है किन्तु उसका अन्तर्भाव अन्यत्र करना चाहते है। किन्तु ये समस्त अभाववादी निम्नकोटि मे आते हैं यह पक्ष विपर्ययमूलक है। वादी मध्यम श्रेणी के हैं। क्योंकि वे ध्वनिको समझते तो है किन्तु उसका अन्तर्भाव ऐसे स्थान पर कर देते हैं जहाँ उसका अन्तर्भाव सम्भव नही है यह पक्ष सन्देह मूलक है। अशक्यवक्तव्यत्व-वादी उसका अन्तर्भाव कहीं नही करना चाहते किन्तु उनको लक्षण बनाना नही आता। अतः वे पूर्वोक्त दोनों पक्षों से अच्छे है। यह पक्ष अज्ञान प्रधान है। यहाँ पर 'तेन' इस शब्द मे 'तत्' शब्द का तृतीया का एक वचन है। 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त तीनो वादों का सङ्कलन हो जाता है। तृतीया से हेतुता सिद्ध होती है और एक वचन से सिद्ध होता है कि विरोधियों का प्रत्येक वाक्यार्थ पृथक् पृथक् ध्वनि निरूपण मे हेतु है। आशय यह है कि 'ध्वनि का स्वरूप बतलाता हूँ' इस वाक्य का तीनो वाक्यो के साथ सम्बन्ध होता है। 'कुछ लोग ध्वनि का अभाव बतलाते है इसलिये हम उसके स्वरूप का विवेचन करते है' 'कुछ लोग उसे लक्षणा वृत्ति के अन्दर सन्निविष्ट करते है इसलिये हम उसका स्वरूप बतलाते है।' इस प्रकार इस वाक्यार्थ का तीनो के साथ सम्बन्ध होगा।

'इस प्रकार की विमतियो में' इसमे निर्धारण (बहुतो मे एक इस अर्थ मे) मे सप्तमी है। इन विमतियो मे जो एक भी प्रकार है उसके कारण ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की जा रही है। यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप विषय है। सहृदय अधिकारी है। वैमत्य के निराकरण के साथ ध्वनिस्वरूपज्ञान प्रयोजन है। शास्त्र और प्रयोजन का साधक-साध्यभाव सम्बन्ध है। शास्त्र साधक है प्रयोजन साध्य अथवा ध्वनि और शास्त्र का अभिधायकाभिधेय भाव सम्बन्ध है। ध्वनि अभिधेय है और शास्त्र अभिधायक है। इसी प्रकार वक्ता और श्रोता का व्युत्पादक व्युत्पाद्य भाव सम्बन्ध है। वक्ता व्युत्पादक है और श्रोता व्युत्पाद्य, यही आलोककार का अनुबन्ध चतुष्टय है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का श्रोताओं के दृष्टि कोण से प्रयोजन है—विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप को समझ लेना। उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयमनः-प्रीति। इसी भाग की व्याख्या करने के लिये आलोककारने 'तस्य हि ..... आनन्दो लभता प्रतिष्ठाम्, यह भाग लिखा है। इसका अन्वय इस प्रकार होगा—'ध्वनेः स्वरूपं लक्ष्यता मनसि आनन्दो लभता प्रतिष्ठाम्'! आनन्द का अर्थ है

ध्वन्यालोकः

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलकविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिना बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथच रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

( अनु० ) उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिषद्भूत प्रधान तत्त्व है तथा यह तत्त्व अत्यन्त रमणीय है। यद्यपि आचार्य लोग प्राचीन काल से ही काव्य लक्षण करते चले आये है। किन्तु उस ध्वनि का उन्मूलन कभी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि ने भी नही कर पाया। रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्य ग्रन्थो मे प्रसिद्ध व्यवहार वाली उस ध्वनि का लक्षण बनाकर जो लोग निरूपण करना चाहते हैं उन सहृदयो के हृदयो मे आनन्द पूर्ण प्रतिष्ठा तथा स्थिरता को प्राप्त होवे।

लोचनम्

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं' सहृदयमनःप्रतीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह-तस्य हीति। विमतिपदपतितस्येत्यर्थः। ध्वनेःस्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निवृत्त्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं लभतामिति प्रयोजनं सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः।

अब श्रोता के अन्दर रहने वाले प्रयोजन प्रयोजन के प्रतिपादक 'सहृदयमनः प्रीतये' इस भाग की व्याख्या के लिये कह रहे है—'तस्य हि इति' अर्थात् विमति के पद में पडे हुये ( ध्वनिस्वरूप ) का ध्वनि के स्वरूप को लक्षित करने वालो के सम्बन्धी मन मे आनन्द ( प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जावे। ) आनन्द ऐसा, जिसकी आत्मा है दुःखो से छुटकारा तथा सुख की उपलब्धि तथा जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार है। प्रतिष्ठा का अर्थ है विपर्यास इत्यादि से उपहत ( व्यक्तियो ) के द्वारा उन्मूलन न हो सकने के कारण स्थिरता। ( आनन्द प्रतिष्ठा को ) प्राप्त हो जावे इस प्रयोजन के सम्पादन के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है, यह सङ्गति है।

तारावती

निर्वृत्ति संज्ञकतत्व जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार भी हो सकता है। 'प्रतिष्ठा को प्राप्त हो' का आशय यह है—ऐसी स्थिरता को प्राप्त हो जावे जिसका उन्मूलन विपर्यास इत्यादि के द्वारा उपहत बुद्धि वाले ( अभाववादी इत्यादि ) न कर सके। 'प्राप्त हो' का आशय यह है कि प्रयोजन को पूरा करने के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है।

## लोचनम्

प्रयोजन च नाम तत्साध्यवस्तुप्रयोक्तृताप्राणतयैव तथाभवतीत्याशयेन प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम्। तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः सङ्केतेन तावत्पूर्वादिरिति विकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति—सकलेत्यादिना। सकलशब्देन सत्कविशब्देन च प्रकारलेशेऽपि मा भूदिति निराकरोति। अतिरमणीयमिति भाक्ताद्व्यतिरेकमाह। 'नहि सिंहो वटुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रूढता काचित्। उपनिपद्भूतशब्देन तु अपूर्वनामात्रकरण इत्यादि निराकृतम्। अणीयसीभिरित्यादिना गुणालङ्कारानन्तर्भूतत्वं सूचयति। अथवेत्यादिना 'तत्समवायान्तःपातिन' इत्यादिना यत् सामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशीकरोति। रामायणमहाभारतशब्देनादिकवेः प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति। 'लक्षयता'मित्यनेन 'वाचां' स्थितमविषये इति परास्यति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति। तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः। सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्ण्यमानीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम् —

प्रयोजन तो उसके द्वारा सम्पादनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करना ही प्राण होने से वैसा ( ठीक रूप मे प्रयोजन ) होता है इस आशय से 'प्रीति के लिये उसका स्वरूप बतला रहे है' इसके साथ एकवाक्यता के द्वारा व्याख्या की जानी चाहिये। उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुये सङ्केत में पहले बतलाये हुये पाचों विकल्पो का उद्धार सूचित कर रहे है—सकलेत्यादि। 'सकल शब्द सत्कवि शब्द के द्वारा—कोई प्रकार लेश सम्भव भी हो' इसका निराकरण कर रहे है। 'अत्यन्त रमणीय' इससे 'भाक्त' ( लाक्षणिक ) से पृथक्त्व कहते है। 'वटु सिह है' 'गङ्गा मे घर' इन मे कोई रमणीयता नही ही है। 'उपनिपद्भूत' इस शब्द के द्वारा 'अपूर्वनाममात्र का रखना' इस का निराकरण कर दिया। 'अत्यन्त अणु भी ' ' इत्यादि के द्वारा गुण और अलङ्कार मे अन्तर्भाव नही हो सकता यह सूचित करते है। 'अथवा रामायण प्रभृति ' ' इत्यादि के द्वारा जो इसके होने की शङ्का की गई थी उसका निराकरण करते है। 'रामायण महाभारत' इत्यादि शब्दो के द्वारा 'आदि कवि से लेकर सभी कवियो ने इसका आदर किया है' यह दिखलाते है। 'लक्षित करने वाले' इसके द्वारा 'वाणी के विषय मे स्थित नही है' इसको परास्त करते है। जिसके द्वारा लक्षित किया जावे उसे लक्ष कहते है अर्थात् लक्षण। लक्ष से निरूपित करते है ( उसको कहेगे ) लक्षित करते हैं। उन सबका अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करनेवालो का। सहृदयानामिति। काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनके विशद हुये मनोमुकुर मे वर्ण्यनीय से तन्मय होने की योग्यता होती है वे अपने हृदय से सवाद ( वर्ण्यनीय वस्तु से एकीकरण ) को प्राप्त होने वाले सहृदय होते है। जैसा कि कहा है—

## तारावती

'तेन तत्स्वरूपं ब्रूमः' इस वाक्य से यह अर्थ आ जाता है कि विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप का निर्वचन करना प्रस्तुत रचना का प्रयोजन है। किन्तु यह प्रयोजन मुख्य नहीं है अपितु मुख्य प्रयोजन प्रीति ही है। स्वरूप ज्ञान रूप प्रयोजन प्रीति का अङ्ग मात्र है। इन दोनों प्रयोजनों की यहाँ पर एक वाक्यता हो जाती है। प्रपूर्वक युज् धातु से ल्युट् होकर प्रयोजन शब्द निष्पन्न हुआ है। 'प्रयुङ्क्ते' 'प्रयोजयतीति वा प्रयोजनम्।' अर्थात् जो प्रयुक्त करे या प्रयोजित करे उसे प्रयोजन कहते हैं। आशय यह है कि प्रयोजन का प्राण ही यह है कि विवेचनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करे या प्रेरित करे। जिसके कारण परिशीलक किसी विवेचनीय वस्तु के परिशीलन की ओर उन्मुख होता है उसे ही प्रयोजन कहते हैं। पाठक ध्वनि स्वरूप ज्ञान के लिये प्रस्तुत रचना के अध्ययन में प्रवृत्त होगा और प्रीति के लिये स्वरूप ज्ञान में प्रवृत्त होगा। यही इन दोनों की एक वाक्यता है।

यहाँ पर आलोककार ने स्वरूप शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुये ध्वनि विरोधी पाचों सिद्धान्तो का निराकरण करने पर एक सूक्ष्म दृष्टिपात किया है। वह ध्वनि समस्त सत्कवियों के काव्य मे उपनिषद्भूतप्रधान तत्त्व है—अतः यह कोई नहीं कह सकता कि वह थोडे से विचारको द्वारा प्रचलित—अलङ्कारों का ही नया प्रकार कल्पित कर लिया गया है। 'यह तत्त्व अन्यत्र रमणीय है' इससे लक्षणा-पक्ष का व्यवच्छेद हो जाता है। 'गङ्गा मे घर' 'बालक सिंह' इत्यादि लक्षणा मूलक वाक्यो मे कोई रमणीयता नहीं होती जबकि ध्वनिकाव्य अत्यन्त रमणीय हुआ करता है। 'एक नया नाम रखदेने से क्या लाभ?' इस कथन का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'यह तत्त्व समस्तसत्काव्यों का उपनिषद्भूत है। कुछ लोग कहते थे कि 'उस ध्वनि काव्य का, अन्तर्भाव गुण अथवा अलङ्कार मे कर दिया जाना चाहिये।' इन्हीं लोगों का प्रतिवाद करने के लिये आचार्य ने लिखा है—कि 'उसका निराकरण सूक्ष्म से सूक्ष्म कवि बुद्धि ने भी कभी नहीं कर पाया।'

कतिपय आचार्यों ने यह कह कर उसे सामयिक बतलाया था कि 'कतिपय सहृदयों के मान लेने मात्र से ध्वनि का स्वरूप स्थिरता को प्राप्त नहीं हो सकता।' इन लोगों का निराकरण करने के लिये कहा गया है—'रामायण महाभारत प्रभृति समस्त सत्काव्यों मे उसका आदर किया गया है और आदि कवि तक ने उसकी प्रतिष्ठा की है। अतएव ध्वनि केवल कतिपय सहृदयों की मान्यता का विषय नहीं है।' पाँचवा पक्ष यह था कि 'वह ध्वनि वाणी का विषय नहीं हो सकती। इसरूप का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'कतिपय आचार्य

## लोचनम्

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावी रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ इति ॥

'जो अर्थ हृदय से संवाद रखने वाला होता है उसकी भावनाएँ ( निरन्तर-चर्वणा ) रस चर्वणा-रसोद्भव मे हेतु होती है। अग्नि के द्वारा शुष्क काष्ठ के समान उसके द्वारा शरीर व्याप्त कर लिया जाता है।"

## तारावती

उसका निरूपण लक्षण के द्वारा करना चाहते है'। 'लक्ष' धातु से घञ् प्रत्यय हो कर लक्ष बनता है। 'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्ष्यो लक्षणम्।' अर्थात् जिसके द्वारा लक्षित किया जावे उसे लक्ष कहते है अर्थात् लक्षण। इस लक्ष की णित् प्रत्यय द्वारा क्रिया बनाई गई है। लक्ष या लक्षण के द्वारा किसी तत्त्व का निरूपण करना 'लक्ष-क्रियाका अर्थ है। उसका शतृ प्रत्ययान्त रूप बना है 'लक्षयताम्' अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करने वाले।

[ 'लक्षयता 'की उक्त व्याख्या पर श्री महादेव शास्त्री ने दिव्याञ्जन टिप्पणी मे लिखा है—'यहाँ पर करण मे घञ् दुर्लभ है क्योकि ल्युट् प्रत्यय के द्वारा उस का बाध हो जाता है। किन्तु महाभाष्यकार ने 'उपदेशेऽजनुनासिक' इससूत्र के उपदेश शब्द की व्युत्पत्ति मे करण मे घञ् माना है। उसी आधार पर लक्ष धातु से बाहुलक का आश्रय लेकर करण में घञ् किया जा सकता है। मुझे तो ऐसा मालूम पडता है कि 'लक्षयता' का सीधा अर्थ 'निरूपयता' कर दिया जाना चाहिये निरूपण का अर्थ ही है लक्षण के द्वारा लक्ष्य का बोध। इस प्रकार धात्वर्थ के द्वारा ही लक्षण इत्यादि से निरूपण सङ्गृहीत हो जाता है फिर अगतिक गति और बाहुलक का आश्रय लेकर करण घञन्त के द्वारा व्युत्पादन का प्रयत्न क्यों करना चाहिये यह बुद्धिमानो के विचार का विषय है। 'किन्तु यहाँ पर अगतिक गति का आश्रय व्यर्थ नहीं है। सामान्य अर्थ के द्वारा लक्षण का सङ्ग्रह अगतिक गति है। यहाँ पर ग्रन्थकार विशेष रूप से इस बात पर बल देना चाहता है कि ध्वनि सिद्धान्त का अब तक लक्षण नही बनाया गया। किन्तु उसका लक्षण बनाने की कामना से लोगो को है। ग्रन्थकार का यह अभिप्राय सामान्य अर्थ के द्वारा सिद्ध नही हो सकता। इसीलिये बाहुलक तथा अगतिक गति का आश्रय लिया गया है।]

इस प्रबन्ध के सहृदय अधिकारी है। काव्यानुशीलन से जिनके मनोमुकुर विशद हो गये है उनका वर्णनीय विषय से तन्मयता प्राप्त कर लेना ही सहृदयता का एक मात्र लक्षण है; जैसा कि कहा गया है—'जिस अर्थ मे हृदय को तन्मय कर देने की शक्ति होती है उसकी भावना अथवा निरन्तर चर्वणा ही चर्वणा प्राण

## लोचन

आनन्द इति । रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनाश्रयः ।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता ॥ इति ।

तदपहस्तितं भवति । तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि व्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति । यथोक्तं त्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न वोद्धा न नियोगभाक् । इति ।

'आनन्द इति' । रसचर्वणात्मक ( आनन्द ) की प्रधानता दिखलाते हुये रसध्वनि का ही सर्वत्र मुख्यभूत आत्मत्व दिखला रहे है । इससे जो यह कहा था—

'और जो ध्वनि नाम का भी व्यञ्जनात्मक व्यापार ( बतलाया गया है ) उसके ( अभिधा और भावना दो ) भेद सिद्ध हो जाने पर भी काव्य में अंशत्व ही होगा ( काव्य ) रूपता नहीं होगी ।'

वह निराकृत हो जाता है। वह इस प्रकार कि अभिधा भावना और रस आत्मावाले तीन अंशो से युक्त काव्य मे रसचर्वणा जीवनरूप मे स्थित है, इस विषय मे आपको भी विवाद नहीं है । जैसा कि आपने ही कहा है—

'काव्य मे सभी रस लेनेवाले होते हैं न ज्ञानार्जन करनेवाले और न ( उचित कार्यों मे ) नियुक्त होनेवाले ।'

## तारावती

रस की अभिव्यक्ति मे हेतु होता है । जिस प्रकार सूखे काठ मे अग्नि व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार हृदय को एकाकार रूप में परिणत कर वह अर्थ सारे शरीर पर प्रभाव डाला करता है । इसी कारण रसचर्वणा के अवसर पर रोमाञ्चादि शारीरिक विकारों का अनुभव होता है ।

यहाँ पर आनन्द शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ मे हुआ है । रस की चर्वणा ही आनन्द की आत्मा अथवा स्वरूप है । आनन्द शब्द के प्रयोग के द्वारा यही दिखलाया गया है कि प्रधानता रसध्वनि की ही होती है और सर्वत्र रसध्वनि ही मुख्य आत्मा मानी जा सकती है । अतएव भट्ट नायक ने जो कहा था कि 'ध्वनि नाम का जो दूसरा व्यञ्जनात्मक व्यापार है यदि वह अभिधा और व्यञ्जना से भिन्न एक नया प्रकार मान भी लिया जावे तो भी वह अंश ही होगा काव्य का स्वरूप कभी नहीं हो सकता ।' इसका निराकरण स्वतः हो जाता है । वह इस प्रकार—रस, अलङ्कार और वस्तु भेद से ध्वनि तीन प्रकार की बतलाई गई है, उनमें रस-चर्वणा ही काव्य का जीवन होती है इस विषय मे तो भट्ट

## लोचन

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम्। रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति। तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतृणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ इति॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्रधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।

इसलिये वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के अभिप्राय से (यदि) अंशत्वमात्र (मानो) तो सिद्ध बात का ही सिद्ध करना है। रसध्वनि के अभिप्राय से तो अपने सिद्धान्त, प्रसिद्धि और संवेदन के विरुद्ध है। उसमे कवि की कीर्ति से भी प्रीति ही सम्पादन करने योग्य होती है। जैसाकि कहा है—'कीर्ति को स्वर्ग-फलवाली कहते है' जैसा कि कहा गया है—

'साधु काव्य का सेवन करना धर्म अर्थ काम और मोक्ष मे तथा कलाओं मे विचक्षणता कीर्ति और प्रीति को करता है।'

तथापि उसमे प्रीति ही प्रधान है! नही तो व्युत्पत्ति मे हेतु प्रभुसम्मित वेद इत्यादि से तथा मित्रसम्मित इतिहास इत्यादि से व्युत्पत्ति मे हेतु काव्य रूप की जायासम्मित लक्षणवाली विशेषता ही क्या रहे। इसप्रकार प्रधानतया आनन्द ही यहाँ पर कहा गया है। चतुर्वर्ग व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक (अन्तिम) मुख्य फल है।

## तारावती

नायक को भी विवाद नहीं है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—'काव्य में न तो ज्ञान ही प्रधान है और न उपदेश ही। उसमे एकमात्र रस की प्रधानता है। यदि ध्वनि को अंश मानने से भट्ट नायक का अभिप्राय यह है कि वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियाँ अंश होती है तो जो कुछ हमने कहा है उसी को वे भी सिद्ध कर रहे हे। यदि उनका अभिप्राय रस ध्वनि को अंश मानने से है तो वे स्वयं अपने स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध जा रहे है, प्रसिद्धि के भी विरुद्ध है और सहृदयो के स्वसवेदनसिद्ध तत्त्व के भी विरुद्ध है।

## लोचन

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरी स्थितिं गच्छत्विति भावः। यथोक्तम्—

आनन्द इति। आनन्द यह ग्रन्थकार का नाम है। इससे वे आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदयो के हृदयों मे प्रतिष्ठा अर्थात् देवमन्दिर के समान न नष्ट होनेवाली स्थिति को प्राप्त होवे, यह भाव है। जैसा कहा गया है—

## तारावती

आनन्द शब्द से काव्य के प्रयोजन पर भी प्रकाश पड़ता है। यद्यपि आचार्यों ने काव्य के अनेक प्रयोजन माने हैं तथापि उनमें आनन्द की ही प्रधानता है। कवि के दृष्टिकोण से काव्य के प्रयोजन कीर्ति और प्रीति है। कीर्ति के द्वारा भी प्रीति का ही सम्पादन होता है, जैसा कि कहा गया है—'कीर्ति का फल स्वर्ग है।' स्वर्ग आनन्द का ही दूसरा नाम है। श्रोता के दृष्टिकोण से व्युत्पत्ति और प्रीति ये दो फल काव्य के प्रयोजन कहे जाते है। जैसा कि कहा गया है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कलाओं मे निपुणता कीर्ति और प्रीति ये फल सत्काव्य के आस्वादन से उत्पन्न होते है।' तथापि इनमे प्रीति ही प्रधान है क्योंकि विचक्षणता काव्य का मुख्य नहीं किन्तु गौण प्रयोजन है। उपदेश तीन प्रकार के होते है (१) प्रभुसम्मित उपदेश—जैसे वेदशास्त्रों का उपदेश राजाज्ञा के समान अनिवार्य होता है। उसके न मानने पर प्रायश्चित्त रूप दण्ड सहन करना पडता है। (२) मित्रसम्मित उपदेश—जैसे दर्शन या इतिहास पुराण इत्यादि का उपदेश जिसका मित्र की सम्मति के समान किसी समय खण्डन किया जा सकता है (३) कान्तासम्मित उपदेश—यही काव्य का उपदेश होता है। जिसमे प्रणयिनी के प्रणय की भाँति सर्वदा आनन्द की ही प्रधानता होती है। उससे पड़नेवाला प्रभाव यद्यपि गौण होता है फिर भी स्थायी तथा अनिवार्य होता है। राजाज्ञा के प्रतिकूल आन्दोलन किया जा सकता है, मित्रो की सम्मति ठुकराई जा सकती है किन्तु आनन्दानुभूति के साथ प्रणयिनी जो प्रभाव जमा देती है उसके पालन मे एक प्रकार की बाध्यता सी आ जाती है। इसी प्रकार वेद-शास्त्रादि के उपदेश ठुकराये जा सकते है किन्तु काव्यानुशीलन से पड़े हुए प्रभाव का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। चारों वर्गों की व्युत्पत्ति का भी अन्तिम लक्ष्य आनन्द ही है। आचार्य कुन्तक ने तो इसे काव्यरसास्वाद से भी बढ़कर बतलाया है—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

## लोचन

भवति । न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात् । तदाह—सहृदयश्लाघ्य इति । स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते ।

मात्र से ही काव्य का नाम नहीं पड़ जाता क्योंकि लौकिक-वैदिक वाक्यो मे वह बात नहीं होती । यही कह रहे हैं—सहृदयश्लाघ्य इति । वह एक ही अर्थ दो शाखाओ के रूप में विवेकियो के द्वारा विभाग बुद्धि से विभक्त किया गया है ।

## तारावती

दूसरी कारिका मे अर्थ के दो भेद किये गये हैं—वाच्य और प्रतीयमान । यहाँ पर प्रश्न उठता है कि प्रतिज्ञा तो यह की थी कि 'ध्वनि का स्वरूप कह रहे है ।' किन्तु दो भेदो मे वाच्य को भी सम्मिलित किया है । इस ग्रन्थ की सङ्गति कैसे बैठती है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आलोककार ने अवतरण लिखा है कि 'वहाँ पर यह कारिका ध्वनि सिद्धान्त के लक्षण की भूमिका है ।' 'वहाँ पर' का आशय है उक्त अभिधेय और प्रयोजन के होते हुए । भूमिका शब्द का अर्थ है भूमि के समान । ध्वनि एक प्रासाद है, जिस प्रकार नवीन प्रासाद का निर्माण करने के लिए पहले भूमि तैय्यार की जाती है, उसी प्रकार ध्वनिरूपी प्रासाद के लिए भूमिका के रूप मे निर्विवाद सिद्ध वाच्यार्थ का अभिधान किया गया है । क्योकि अर्थ का अधिक भाग प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के आधार पर ही प्रतीतिगोचर होता है । वाच्यार्थ के समकक्ष प्रतीयमान अर्थ को गिनाने का आशय यह है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ का अपलाप नहीं किया जा सकता उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का भी अपलाप नहीं हो सकता । कारिका मे स्मृतौ शब्द आया है—इसका अर्थ यह है कि मनु इत्यादि धर्मशास्त्रकारो ने जिस प्रकार स्मृतियाँ लिखी है उसीप्रकार सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो भेदो का प्रकथन पुराने आचार्यों ने किया है । इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि 'ध्वनि पहले समाम्नात की जा चुकी है ।'

'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं' इसमे शरीर शब्द कथन से ही यह सिद्ध होता है कि इस शरीर में कोई न कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिए । तभी काव्य जीवित कहा जा सकेगा । शब्द आत्मा नहीं हो सकता क्योकि उसको तो शरीर स्थानीय ही माना जा चुका है और जिसप्रकार सभी व्यक्ति शरीर के स्थूलत्व तथा कृशत्व का भी श्रावण प्रत्यक्ष कर सकते है । अतएव शब्द भिन्न ही कोई आत्मा होनी चाहिए । अर्थ दो प्रकार का होता है—एक अर्थ ऐसा होता है कि उसमे ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जो सहृदयों को आकर्षित कर सके और दूसरा अर्थ ऐसा होता है जिसकी प्रशंसा सहृदय लोग स्वयं करने लगते

## लोचन

तथाहि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्यचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते ? तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण । यो विशेषः, स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते । वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे । अत एव अर्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति ।

वह इस प्रकार—अर्थरूपता के समान होते हुये भी क्या कारण है कि किसी की ही सहृदय लोग श्लाघा करते है । तो उसमें कुछ विशेष होना चाहिये । जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग विशेष होने के कारण ज्ञानियों के द्वारा आत्मा के रूप मे व्यवस्थापित किया जाता है । वाच्यार्थ सम्मिलन से विमोहित हृदयवालों के द्वारा तो उसके पृथक् होने मे विप्रतिपत्ति उठाई जाती है जैसे चार्वाकों के द्वारा आत्मा के पृथक् होने में ( आपत्ति उठाई जाती है । ) इसीलिये उपक्रम मे 'अर्थ' यह एक वचन के रूप में कहकर 'सहृदयश्लाघ्य' इस विशेषण के द्वारा हेतु कह कर अपोद्धार ( विभाग ) की वृद्धि से उसके दो भेद अर्थात् अंश होते हैं यह कहा, यह नहीं कहा कि काव्य की दोनों आत्मा होती हैं ।

## तारावती

है । इन दोनों मे प्रथम प्रकार का साधारण अर्थ काव्य का शरीर-स्थानीय ही माना जाता है और द्वितीय प्रकार का अर्थ काव्य की आत्मा होता है । शब्द के समान अर्थ सर्वजनसंवेद्य नहीं होता । दूसरी बात यह है कि अर्थ की सत्तामात्र से ही 'काव्य' संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों मे अर्थ तो होता है किन्तु उन्हें हम काव्य नहीं कहते । यही बात इन शब्दों में कही गई है कि 'सहृदयश्लाघ्य अर्थ को काव्यात्मा की संज्ञा प्राप्त होती है ।' एक ही अर्थ को दो शाखाओं में विभक्त कर लिया जाता है । वह इस प्रकार—यद्यपि काव्यार्थ और लौकिक अर्थ मे इस बात मे समानता है कि दोनों को 'अर्थ' की संज्ञा प्राप्त होती है तथापि इसका क्या कारण है कि सहृदय लोग काव्यार्थ की तो प्रशंसा करते हैं लौकिक अर्थ की प्रशंसा नहीं करते । अतएव काव्यार्थ मे लौकिक अर्थ की अपेक्षा कोई न कोई विशेषता माननी ही पड़ेगी । जो विशेषता होती है वही प्रतीयमान भाग कहलाता है । विशेषता में हेतु होने के कारण विद्वान् लोग प्रतीयमान अर्थ को ही आत्मा के रूप में व्यवस्थापित करते है । किन्तु उसमे वाच्यार्थ का मिश्रण रहता है जिसमें व्यामोह मे पड़कर दोनों अर्थों की एकता समझकर कतिपय असहृदय व्यक्ति प्रतीयमान अर्थ को मानने का विरोध करते हैं । जैसे चार्वाक लोग शरीर से पृथक्

## तारावती

आत्मा को मानने मे विप्रतिपत्ति करते है । इसलिए 'अर्थः' इस शब्द मे एक-वचन का निर्देश किया है और उसका विशेषण दिया है 'सहृदयश्लाघ्य' । यह विशेषण काव्यार्थ की विशेषता के हेतु को अभिव्यक्त करता है । भेद शब्द का अर्थ है अंश । दोनों अर्थों के सम्मिश्रण के कारण एकता की बुद्धि से एक वचन का प्रयोग कर दिया गया है और विभागबुद्धि से दो अंश बतला दिये गये हैं । यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि दोनों अर्थ—वाच्य और प्रतीयमान काव्य की आत्मा होते है ।

यहाँ पर टीकाकारों ने प्रायः एक शङ्का उठाई है कि ध्वनिकार ने प्रतिज्ञा तो ध्वनि-विवेचन के लिए की थी, बीच मे वाच्यार्थ का वर्णन क्यों करने लगे ? इस सन्दर्भ से विश्वनाथ जैसे आचार्य को भी भ्रम हो गया और उन्होंने लिखा है कि जब ध्वनि सदा प्रतीयमान नहीं होती है तब उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद कर देना स्ववचोव्याघात है । अभिनव गुप्त ने इस सम्भावित आक्षेप का उत्तर यह दिया है कि 'यह ध्वनि-विवेचन की भूमिकामात्र है ।' इसका आशय यह है कि केवल अर्थ की सत्ता ही काव्यसंज्ञा-प्रवर्तिका नहीं होती । लौकिक वैदिक वाक्यो में अर्थ होते हुए भी उन्हे काव्यसंज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । किसी भी वाक्य को काव्य संज्ञा तभी प्राप्त हो सकती है जब उसमे किसी प्रकार की रमणीयता हो । अर्थ का यही रमणीयता-प्रयोजक अंश प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है । इस अर्थ में वाच्यार्थ का भी मिश्रण रहता है । अतएव भूमिका के रूप मे वाच्यार्थ का उल्लेख मात्र किया गया है । पूरे सन्दर्भ का आशय यही है कि रमणीयता केवल प्रतीयमान अर्थ मे होती है ।

यद्यपि महान् आचार्यों पर कटाक्षनिक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता तथापि इस व्याख्या से न तो पूर्वापर ग्रन्थ की सङ्गति बैठती है और न विश्वनाथ के आक्षेप का उत्तर ही हो पाता है । यहाँ पर सहृदयश्लाघनीय अर्थ को काव्य की आत्मा कहा गया है और उसी आत्मा के दो भेद किये गये है वाच्य और प्रतीयमान । अतएव यह नही कहा जा सकता कि रमणीयता वाच्यार्थ मे नही होती । मेरी समझ मे इस ग्रन्थ की सङ्गति इस प्रकार लगना अधिक युक्तियुक्त होगा—'सहृदय-श्लाघनीय अर्थ ही काव्य की आत्मा है, प्राचीन आचार्यों ने इस आत्मा की जिस रूप मे व्याख्या की है उसका विवेचन करने से ज्ञात होता है कि यह आत्मा दोनो रूपों मे मानी जाती रही है वाच्य भी और प्रतीयमान भी ।' यहाँ पर 'स्मृतौ' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । इसका आशय यह है कि जिस प्रकार धार्मिक व्याख्या देनेवाले आचार्य किसी विषय मे वैकल्पिक पक्षो की व्यवस्था देते हैं

## ध्वन्यालोकः

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

( अनु० ) जिस प्रकार शरीर में आत्मा की सत्ता होती है उसी प्रकार ललित और उचित सन्निवेश के कारण सुन्दर प्रतीत होनेवाले काव्य में भी सहृदयश्लाघनीय जो अर्थ साररूप में स्थित होता है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो अर्थ हुआ करते हैं ।

## लोचन

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—काव्यस्य हीति । ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह । उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति । तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इतिभावः योऽर्थ इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति तस्येत्यादिना तदभ्युपगम एव द्वयंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—'चारुत्वहेतुत्वाद्गुणालङ्कार—व्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम् ।

कारिका भाग में आये हुये काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहते हैं—काव्यस्य हीति । ललित शब्द के द्वारा गुण और अलङ्कार का अनुग्रह बतलाया है । उचित शब्द से औचित्य रस-विषयक ही होता है यह दिखलाते हुये रस ध्वनि का जीवित होना सूचित करते हैं । आशय यह है कि उस ( जीवितभूत रस ) के अभाव मे किस को लेकर यह औचित्य सर्वत्र उद्घोषित किया जाता है । 'योऽर्थः' मे 'यत्' शब्द से अनुवाद करते हुये दूसरे लोगों के द्वारा यह स्वीकार ही किया गया है यह दिखलाते हैं । 'तस्य' इत्यादि के द्वारा उस ( प्रतीयमान ) का मानना दो अंशों के होने पर ही उपपन्न होता है यह दिखलाते हैं । इससे जो यह कहा था—'चारुत्व-हेतु होने के कारण गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त ध्वनि नहीं है' ध्वनि के आत्मस्वरूप होने के कारण उसमे हेतु असिद्ध है यह दिखला दिया ।

## तारावती

उसी प्रकार साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने जो व्यवस्था दी है उससे सिद्ध होता है कि पुराने आचार्य काव्य की आत्मा के रूप मे स्थित अर्थ को दोनों रूपों मे मानते थे ।' 'उभौ' शब्द का द्विवचन और 'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ' का द्वन्द्व भी इसी आशय की ओर इङ्गित करते है । अग्रिम कारिका मे भी यही बात कही गई है । 'उपमा' इत्यादि प्रकार किसी के मत मे काव्य की आत्मा है ही । यहाँ पर उनका उल्लेख ध्वनि की भूमिका के रूप मे ही किया गया है । इससे पुरानी परम्परा से प्रस्तुत रचना का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ।

## लोचन

न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति। अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः। न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः। एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः। अतएव वक्ष्यति—'वाच्यः प्रसिद्ध' इति ॥ २ ॥

आत्मा देह का चारुत्व हेतु होता है यह निस्सन्देह नहीं होता। यदि ऐसा हो भी तथापि वाच्य में अनैकान्तिक हेतु आ जाता है। अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं होता। गुणी ही गुण नहीं होता। इसके लिये भी वाच्यांश का उपक्षेप (किया गया)। इसीलिये कहेंगे—'वाच्य जो प्रसिद्ध है।' इत्यादि॥ २॥

## तारावती

कारिका भाग में आये हुए काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहा गया है कि काव्य का सन्निवेश ललित और उचित होता है। अतएव काव्य में रमणीयता आ जाती है। ललित शब्द का आशय है—काव्य में गुण और अलङ्कार की सहायता से चारुता आती है। उचित शब्द का आशय है रसविषयक औचित्य। इससे सिद्ध होता है कि काव्य का जीवन रसध्वनि ही है। यदि रसध्वनि को काव्य का जीवन नहीं माना जावेगा तो सर्वत्र औचित्य की जो यह घोषणा की जाती है उसका क्या मन्तव्य होगा? (क्षेमेन्द्र की 'औचित्य विचार चर्चा' औचित्य-सम्प्रदाय का एकमात्र ग्रन्थ है। किन्तु तृतीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने औचित्य का बडे ही विस्तार से समर्थन किया है। उसका कहना है कि औचित्य सिद्धान्त का एकमात्र आधार रस ही है। शब्द और अर्थ का औचित्य भी रसपर्यवसायी ही है। वस्तुतः क्षेमेन्द्र भी औचित्य की आत्मरूपता का प्रतिपादन करते-करते रसप्रवण औचित्य पर ही आ गये हैं।

(कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः॥)

'जो वाच्य अर्थ है' इस वाक्य मे 'जो' शब्द का अर्थ है कि 'वाच्यार्थ को विरोधी भी मानते हैं।' 'उसके दो भेद होते है' इस वाक्य मे 'उस' शब्द का अभिप्राय यह है कि दो अशो के होने पर ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है। जब सुन्दर अर्थ को काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार करलिया तब 'चारुत्व हेतु होने के कारण ध्वनि गुणालङ्कार-व्यतिरिक्त नहीं होती' इस कथन मे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। क्योकि आत्मा कभी भी शरीर की चारुता मे हेतु नहीं होती। यदि दुर्जनतोषन्याय से आत्मा को चारुत्वहेतु मान भी लिया जावे तो भी हेतु मे व्यभिचार तो आ ही जावेगा। कारण यह है कि जो स्वयं अलङ्कार्य है वह अलङ्कार कैसे हो सकता है? जो स्वयं गुणी है वह गुण कैसे हो सकता है? यदि हम

ध्वन्यालोकः

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,
काव्यलक्ष्मविधायिभिः।

ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथायोगम्

(अनु०) उनमें जो वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है। दूसरे (उद्भट इत्यादि) आचार्यों ने उपमा इत्यादि भेदों के द्वारा बहुत प्रकार से उसकी व्याख्या कर दी है। [दूसरे आचार्यों से अभिप्राय काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों से है।] अतएव यहाँ पर उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है। केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवाद मात्र किया जा रहा है।

लोचन

तत्रेति। द्वयंशत्वे सत्यपीत्यर्थः। प्रसिद्ध इति। वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिर्लौकिक एवेत्यर्थः। 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधे'ति सङ्गतिः। अन्यैरिति कारिकाभागं काव्येत्यादिना व्याचष्टे। 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषाभ्यनुज्ञेति दर्शयति-केवलमित्यादिना ॥ ३ ॥

तत्रेति। अर्थात् दो अंशों के होने पर भी। प्रसिद्ध इति। अर्थात् वनिता-वदन, उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि लौकिक ही उद्दीपन। इसकी सङ्गति इस प्रकार होगी—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसकी बहुधा व्याख्या की गई है।' 'अन्यैः' इस कारिकाभाग की 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' इसके द्वारा व्याख्या की गई है। 'इसलिये यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है' इस विशेष के प्रतिषेध के द्वारा शेष भाग की अनुमति दिखलाई जा रही है—केवल इत्यादि के द्वारा ॥ ३ ॥

तारावती

प्रतीयमान अर्थ को ही गुण और अलङ्कार मान लेंगे तो गुणी और अलङ्कार्य कौन होगा ? ॥ २ ॥

तीसरी कारिका के 'तत्र' शब्द का अर्थ है 'यद्यपि सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो अंश हैं तथापि वाच्यार्थ प्रसिद्ध है।' 'प्रसिद्ध' का अर्थ है—'वाच्यार्थ रमणीमुख-कमल, उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि के रूप में लौकिक ही हुआ करता है।' यहाँ पर सङ्गति इस प्रकार बिठाई जानी चाहिये—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसकी बहुत प्रकार से व्याख्या कर दी गई है। उपमा ही सभी अलङ्कारों में प्रधान है। इसी लिए किसी किसी आचार्यों ने अलङ्कारों को उपमाप्रपञ्च कहा है। अप्पयदीक्षित ने लिखा है:—

## लोचन

रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति। अनेन सत्वप्रयुक्तं तद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते। तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति। तेनायं प्रयोगार्थः—प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत्। तथा भासमानत्वात्, लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत्। प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वं चार्थः। यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेश्यत्वमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति। एतच्च किमपीत्यादिना व्याचष्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। नचावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणायोगो वा लावण्यम्, पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।

रजत इत्यादि भी अत्यन्त असत् शोभित नहीं होते। इससे सत्ता से प्रेरित ही भान होता है इसलिये भान से सत्ता अवगत होती है। इससे यह कहा हुआ हो जाता है कि जो प्रतीत होता है वह उस प्रकार का होता (अवश्य) है। इससे प्रयोग का अर्थ (रूप) यह होगा—प्रसिद्ध वाच्य धर्मी, (पक्ष) अतिरिक्त प्रतीयमान के द्वारा उससे युक्त होता है, (साध्य) क्योंकि वैसा प्रतीत होता है (हेतु) लावण्य से उपेत अङ्गना के अङ्ग के समान (उदाहरण) प्रसिद्ध शब्द का अर्थ है सब को प्रतीत होना या अलंकृत होना। (कारिका मे) 'यत्तत्' यह सर्वमय समुदाय, दृष्टान्त (लावण्य) और दार्ष्टान्तिक (प्रतीयमान अर्थ) दोनो मे चमत्कारसारता को प्रकट करने के लिये किसी संज्ञा के द्वारा अभिहित किये जाने की अयोग्यता और एक दूसरे से मिलने के कारण (आकृति तथा लावण्य और वाच्य तथा प्रतीयमान दोनों के अत्यन्त मिले होने के कारण) उनके अभेद के भ्रम के अभाव को भी दिखलाता है। इसकी व्याख्या निर्माण इत्यादि शब्दों से की गई है। अवयव संस्थान के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला अवयव से भिन्न दूसरा धर्म ही लावण्य (होता है)। यह नहीं कहना चाहिये कि अवयवो की निर्दोषता ही या भूषणयोग ही लावण्य (कहा जाता है)। क्योकि पृथक् रूप मे दृश्यमान काणत्व दोष इत्यादि से शून्य शरीरावयवोंवाली तथा अलङ्कारों से सजी हुई होने पर भी 'यह लावण्यशून्य है' ऐसा तथा उस प्रकार की न होते हुए भी किसी मे 'यह लावण्यामृत चन्द्रिका है' ऐसा सहृदयों का व्यवहार होता है।

## तारावती

चतुर्थ कारिका मे प्रतीयमान वस्तु की सत्ता का प्रतिपादन दृष्टान्त द्वारा किया गया है। इस कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार नायिकाओं के मुख, नाक, कान, इत्यादि अनेक अवयव होते हैं किन्तु लावण्य नामक कोई अवयव नहीं

## ध्वन्यालोकः

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम्।

( अनु० ) यह आगे चलकर दिखलाया जावेगा कि वह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस इत्यादि अनेक भेदों में विभक्त होता है। इन समस्त भेदों में प्रतीयमान अर्थ से सर्वथा भिन्न हुआ करता है।

## लोचन

ननु लावण्यं तावद्व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तदित्येव नजानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथाभासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य सह्यर्थ इत्यादिना स्वरूपं तस्या-

यहाँ पर 'लावण्य तो व्यतिरिक्त ( तत्त्व के रूप में ) प्रसिद्ध है, वह प्रतीयमान क्या वस्तु है यही हम नहीं जानते, व्यतिरेक की प्रसिद्धि तो दूर की बात रही, उस प्रकार से भासमान होना यह हेतु असिद्ध है' यह शङ्का करके 'सह्यर्थः.....'

## तारावती

होता, फिर भी वह सभी अवयवों से स्फुरित होने वाला प्रधानतत्त्व है। उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी शब्द का सङ्केतित अर्थ नहीं होता किन्तु सभी शब्दों के सङ्घात से स्फुरित करता है।

इस कारिका में पुनः शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता प्रकट करता है। अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न भी है और सारभूत भी है। महाकवि तथा वाणी इन दोनो शब्दों में बहुवचन का प्रयोग विषय की व्यापकता को सिद्ध करता है। आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में सर्वत्र विद्यमान रहता है। महाकवित्व की संज्ञा भी उन्हीं को प्राप्त होती है जिनको परमात्मा की कृपा से ऐसी प्रतिभा प्राप्त हुई हो कि वे अग्रिम प्रकरण में बतलाये हुये प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य रचना करने में निपुण हों। 'विभाति' शब्द का अर्थ है 'जो इस प्रकार का होता है उसी की शोभा होती है। सर्वथा असत् वस्तु का भान उपपन्न ही नहीं होता। शुक्ति में भी रजत का भान तभी होता है जब कि पृथक् सत्ता विद्यमान होती है। अविद्यमान वन्ध्यापुत्र अथवा आकाश-कुसुम का भान होता ही नहीं। इसप्रकार सत्ता से भान होता है और भान से सत्ता सिद्ध होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो तत्व शोभित होता है वह उसी प्रकार का है भी। इसकी अनुमान प्रक्रिया इस प्रकार होगी—प्रसिद्ध वाच्य ( पक्ष ), स्वव्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त होता है ( साध्य ), क्योंकि उसका भान होता है ( हेतु ), जिस प्रकार लावण्य से युक्त अङ्गनाओं के अङ्ग ( उदा-

## लोचन

भिधत्ते । सर्वेषु चेत्यादिना च व्यतिरेकप्रथां साधयिष्यति । तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैक गोचरश्चेति । लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते । स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते । सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतामन्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावात् । स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन । तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते । मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम् । यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्द-

इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उसका स्वरूप बतलाते हैं । 'सर्वेषु च .....' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा व्यतिरेक प्रसिद्धि को सिद्ध करेंगे । उनमें प्रतीयमान के तो दो भेद हैं—लौकिक तथा केवल काव्यक्रिया में गोचर होनेवाला । जो लौकिक (अर्थ) कभी स्ववाच्यता में भी विश्रान्त होता है वह विधि-निषेध इत्यादि अनेक प्रकार का वस्तु शब्द के द्वारा कहा जाता है । वह भी दो प्रकार का होता है—जिसने पहले कभी वाक्य के अर्थ में उपमा इत्यादि रूप अलङ्कार-भाव का अनुभव किया था (किन्तु) इस समय अलङ्कार से भिन्न रूपवाला ही है, क्योंकि वह दूसरे के प्रति गौण नहीं है, वह पहले की पहिचान के बल पर अलङ्कार ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है जैसे ब्राह्मण संन्यासी । उस रूप (अलङ्कार-रूप) के अभाव के द्वारा उपलक्षित (व्यङ्ग्य) वस्तुमात्र कहलाता है । (वस्तुमात्र में) मात्र ग्रहण से दूसरे रूप के होने का निराकरण कर दिया गया । और जो स्वप्न में भी स्वशब्द वाच्य नहीं होता और न लौकिक व्यवहार में सम्मिलित होता है किन्तु शब्द के

## तारावती

हरण) । प्रसिद्ध शब्द का अर्थ है सभी को ज्ञात तथा अलंकृत । यत् और तत् इन दो सर्वनामों का समूह दृष्टान्त (अङ्गनाओं का लावण्य) और दार्ष्टान्तिक (प्रतीयमान अर्थ) दोनों में एक तो यह प्रकट करना है कि इन दोनों का सार होता है चमत्कृत करना, दूसरे उनका पृथक् रूप में प्रकथन नहीं किया जा सकता है । (अर्थात् न तो लावण्य को ही पृथक् वस्तु के रूप में दिखलाया जा सकता है और न रसध्वनि की ही पृथक् सत्ता का निर्वचन किया जा सकता है ।) तीसरे अङ्ग और लावण्य तथा वाच्य और प्रतीयमान के अभेद का भ्रम भी 'यत्तत्' शब्द से दूर हो जाता है । इसी 'यत्तत्' शब्द की व्याख्या आलोक में 'किमपि' शब्द से की गई है । अवयव संस्थान से अभिव्यक्त होनेवाला अवयवों से भिन्न एक दूसरा ही धर्म लावण्य कहा जाता है ।

## लोचन

समर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति।

द्वारा समर्पित किये जानेवाले तथा हृदय से मेल खाने के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाले विभाव और अनुभाव के योग्य, हृदय मे पहले से ही विनिविष्ट रति इत्यादि के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा सुकुमार आत्मचेतना के आनन्दमय चर्वणव्यापार के द्वारा जिसके स्वरूप का अस्वादन होता है उसे रस कहते हैं। केवल काव्य व्यापार में ही आनेवाला वह ( भेद ) रसध्वनि ही कहा जाता है। वही मुख्य रूप में आत्मा है।

## तारावती

यहाँ पर कहा जा सकता है कि लावण्य कोई और तत्व नहीं केवल अवयवों की निर्दोषता और आभूषित होना ही लावण्य है। इसका उत्तर यह है कि अङ्गनाओं में मुख कान नाक इत्यादि सभी अवयव होते हैं और वे निरन्तर अविकल रूप में बने भी रहते हैं। किन्तु उनकी सत्ता ही सहृदय जनों के आकर्षण में कारण नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि कुछ अङ्गनाओं की ओर अधिक आकर्षण होता है और कुछ की ओर उतना नहीं होता। एक ही ललना की किसी विशेष आयु में दर्शक उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं और दूसरे अवसरों पर उतने नहीं होते। कभी कभी यदि कोई स्त्री कानी हो या उसके किसी अंग में कोई और विकार हो किन्तु फिर भी वह सहृदयों के आकर्षण का केन्द्र बन जाती है किन्तु दूसरी स्त्री जिसके सब अङ्ग अविकल हों उतनी चित्ताकर्षक नहीं होती। इस सबका यही कारण है कि जिन रमणियों मे लावण्य नामक यौवनजन्य चमक उपस्थित होती है और उनकी प्रत्येक प्रकार की चाल से भी प्रकट होती है तथा अङ्गों में भी लक्षित की जा सकती है, वे ही स्त्रियां आकर्षण करने में समर्थ होती हैं फिर चाहे उनके किसी विशेष अङ्ग में किसी प्रकार का दोष ही क्यों न उपस्थित हो। इसके प्रतिकूल उसी यौवनजन्य लावण्य नामक चमक के अभाव में समस्त अङ्गों के अविकल होते हुए भी दूसरी स्त्रियाँ उस प्रकार का आकर्षण नहीं कर सकतीं। वह लावण्य समस्त अङ्गों मे निवास करनेवाला अतिरिक्त तत्त्व होता है; जिसे हम किसी अङ्ग में सन्निविष्ट नहीं कर सकते। इसी प्रकार शब्दो का एक वाच्यार्थ होता है। कभी-कभी हमे किसी वाक्य या प्रबन्ध में सुन्दरता का अनुभव होता है और दूसरे वाक्य मे उसी प्रकार के वाच्यार्थ के होते हुए भी हमे तद्वत् सौन्दर्य का भान नहीं होता। कभी-कभी किसी वाक्य में एक सहृदय व्यक्ति

## तारावती

को रमणीयता का बोध होता है किन्तु दूसरा व्यक्ति उस रमणीयता के अनुभव से सर्वथा वञ्चित ही रह जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सहृदयों में सुप्रसिद्ध वाच्यार्थव्यतिरिक्त एक प्रतीयमान अर्थ भी अङ्गनाओं के लावण्य के समान होता है जिसे न तो हम सुप्रसिद्ध अलङ्कारों मे सन्निविष्ट कर सकते हैं और न प्रकट होने वाले अवयवों मे ही उसका समावेश हो सकता है। (यही अर्थसौन्दर्य काव्य की आत्मा है।)

(प्रश्न) अङ्ग संस्थान से पृथक् लावण्य एक प्रसिद्ध वस्तु है, किन्तु प्रतीयमान क्या वस्तु है यही हमे ज्ञात नहीं। जब उसे हम जानते ही नहीं तब वाच्यार्थ से उसका पृथग्भाव तो दूर की बात रही। अतएव भासमानत्व हेतु स्वरूपतः असिद्ध है और उससे प्रतीयमान की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये उक्त प्रकरण मे प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का बतलाया गया है और 'सभी प्रकारों मे वह वाच्यार्थ से भिन्न होता है' यह प्रतीयमान अर्थ की पृथक्ता सिद्ध करने के लिये कहा गया है।

प्रतीयमान के दो भेद होते हैं-(१) लौकिक और (२) काव्यमात्रगोचर। लौकिक प्रतीयमान उसे कहते हैं जो कभी स्वशब्दवाच्यता को सहन कर सके। उसके विधि-निषेध इत्यादि अनेक प्रकार हैं; उन सब को वस्तु शब्द से अभिहित किया जाता है। इस लौकिक प्रतीयमान के दो भेद होते हैं (१) जो पहले किसी वाक्यार्थ में उपमा इत्यादि के रूप मे अलङ्कारभाव का अनुभव कर चुका हो, किन्तु इस समय किसी के प्रति गौण न होने के कारण अपनी अलङ्काररूपता को छोड़ चुका हो। पहले वह अलङ्कार था इसीलिये उसे अलङ्कारध्वनि की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसमें भूतपूर्व गति का आश्रय उसी प्रकार लिया जाता है जिस प्रकार कोई ब्राह्मण संन्यासधर्म को स्वीकार करलेने के उपरान्त अपने ब्राह्मणत्व को छोड़ देने पर भी भूतपूर्व गति से ब्राह्मण-संन्यासी कहा जाता है। (२) जो कभी अलङ्काररूपता को न प्राप्त हुआ हो। इसको वस्तुमात्रध्वनि कहते है। मात्र शब्द से दूसरे भेद (अलङ्कारध्वनि) का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार लौकिक प्रतीयमान की व्याख्या हो चुकी। कुछ ऐसे प्रतीयमान अर्थ होते है जो स्वप्न मे भी कभी भी स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकते और न कभी लोकव्यवहार में ही आ सकते है-किन्तु उनका स्वरूप केवल आनन्दमय होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण मे लौकिक अनुभव से उद्भूत रति इत्यादि भावनायें पहले से ही निरन्तर विद्यमान रहती हैं। जिस समय हम अभिनय देखते हैं या काव्यगत शब्दों का श्रवण करते हैं तो उनके द्वारा हमे ऐसे विभाव अनुभाव इत्यादि का अनुभव होने

## लोचन

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपालम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्। वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्। वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमितिभेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम्। यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्येऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः।

भट्ट नायक के द्वारा जो यह कहा गया कि '( ध्वनि ) अंश होती है रूप नहीं' यदि वह उपालम्भ वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों के लिये ही है ( तो कोई बात नहीं ) क्योंकि रसध्वनि को तो उन्होंने ही आत्मा के रूप मे अङ्गीकृत कर लिया, रसचर्वणात्मक तृतीय अंश का अभिधा और भावना इन दोंनों अंशों से उत्तीर्ण ( पृथक् तथा परे ) होने के रूप में निर्णय किया गया है। वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियों की रसध्वनिपर्यन्तता तो हम ही विभिन्न स्थानों पर कहेंगे। बस, अधिक कहने की क्या आवश्यकता। 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व' यह तीनों भेदों में व्यापक सामान्य लक्षण है। यद्यपि ध्वनन यह शब्द का ही व्यापार है तथापि अर्थसामर्थ्य का सर्वत्र अपाय न होने के कारण ( सहयोग होने के कारण ) वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व ( माना जाता है ) शब्दशक्तिमूलानुरणन व्यङ्ग्य में भी अर्थसामर्थ्य से ही प्रतीयमान की अवगति होती है, शब्दशक्ति केवल अवान्तरसहकारिणी है यह हम कहेंगे।

## तारावती

लगता है जो हृदय के अनुकूल होने के कारण बड़े ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। उस समय हमारी रति इत्यादि सहज वासनायें उद्बुद्ध हो जाती हैं। उस समय काव्यपरिशीलक के सुकुमार अन्तःकरण मे एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होने लगता है। इसी आनन्द को रस कहते है। यही काव्यव्यापारमात्रगोचर रसध्वनि है। इसी को केवल ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है और यही मुख्य होकर काव्य की आत्मा का रूप धारण करता है।

भट्ट नायक ने जो यह कहा है कि 'ध्वनि काव्य का अंश होती है, उसका स्वरूप नहीं होती' उसका अभिप्राय वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि की अंशरूपता का प्रतिपादन करने से ही है। रसध्वनि को तो आत्मा के रूप मे उन्होंने ही स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने ही यह निर्णय कर दिया कि रसचर्वणात्मक तृतीय अंश उनके माने हुये अभिधा और भावना नामक दो अंशों का अतिक्रमण

ध्वन्यालोकः

तथा ह्यादौस्तावत्प्रभेदो वाच्याद्दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सु सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥

( अनु० ) वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद को समझने के लिये सर्वप्रथम पहला भेद ( वस्तुध्वनि ) को लीजिये। इस भेद में तो व्यङ्ग्यार्थ वाच्य से बहुत ही भिन्न होता है यदि वाच्यवस्तु विधिपरक हो तो व्यङ्ग्यवस्तु निषेधपरक हो सकती है। जैसे :—

'हे धार्मिक ! अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण किया करो। गोदावरी तट पर स्थित कुञ्ज में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला।'

लोचन

दूरं विभेदवानिति। विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः। एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः सः शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

दूरं विभेदवानिति। 'विधि और निषेध विरुद्ध होते हैं' इस विषय में किसी की असहमति नहीं है। इस अर्थ का पहले ही उदाहरण दे रहे हैं :—भ्रम धार्मिक इति।

तारावती

करके स्थित होता है और इस बात को हम भी सिद्ध करेंगे कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, रसध्वनिपर्यवसायी ही होती हैं। वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होना तीनों भेदों में समानरूप से लागू होता है। यद्यपि ध्वनित करना शब्द का ही व्यापार है तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य की सत्ता सर्वत्र विद्यमान रहती है; अतएव वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व सर्वत्र आ जाता है। आगे चलकर बतलाया जावेगा कि शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी अर्थशक्ति से ही प्रतीयमान की प्रतीति होती है। शब्दशक्ति तो केवल अवान्तर सहकारिणी हो जाती है।

('प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका का उद्धरण देकर आचार्य कुन्तक ने लिखा है—'इस दृष्टान्त से वाच्य वाचक रूप प्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्व के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की सत्ता ही सिद्ध की जा सकती है। ललनाओं का लावण्य सकललोक-लोचनसंवेद्य होता है किन्तु प्रतीयमान अर्थ सहृदय-संवेद्य ही होता है। अतः दोनों की तुलना कैसी ? केवल बन्धसौन्दर्य ही लावण्यस्थानीय हो सकता है क्योंकि

## लोचन

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात्तदव-लुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादि-रूपोऽत्र विधिः, अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्यं लोट्। तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद्द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादि-नाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

किसी ( नायिका ) के जीवितसर्वस्व के रूप मे स्थित संकेतस्थान के धार्मिक-सञ्चरण रूप अन्तराय ( विघ्न ) के दोष से और उसके द्वारा हरे हुए पल्लव तथा कुसुम इत्यादि के शोभारहित कर देने से रक्षा करने के लिए यह उक्ति है। उसमे स्वतःसिद्ध भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध कर दिया गया था इस प्रकार यह निषेध के अभावरूप प्रतिप्रसवात्मक विधि है, भेजने (लगाने-नियुक्त करने) इत्यादि के रूप में यहाँ पर विधि नहीं है। यहाँ पर अतिसर्ग (इच्छानुकूल प्रवृत्ति) तथा प्राप्तकाल में लोट् लकार हुई है। उनमें भाव तथा उसके अभाव मे परस्पर विरोध होने के कारण दोनो एक साथ वाच्य नहीं हो सकते। क्रमशः भी नहीं क्योंकि रुक रुक-कर व्यापार नहीं होता। क्योंकि अभिधा विशेष्य को प्राप्त नही होती ( यदि वह विशेषण मे अपनी शक्ति खो चुकी हो ) इत्यादि के द्वारा अभिधा व्यापार का रुककर कार्य करना असम्भव बतलाया गया है।

## तारावती

वही श्रवणमात्र से ही अव्युत्पन्न लोगों को भी आनन्द देता है। प्रतीयमान की तुलना तो नायिकाओं के उस सौभाग्य से ही की जा सकती है जो कि केवल उपभोगपरायण नायकों के लिए ही संवेद्य होता है।' इस विषय में यही कहा जा सकता है कि ललना-लावण्य का आस्वादन सर्वजनसंवेद्य होता है यह एक विचित्र सी बात है। क्या लावण्य-जन्य आह्लाद के लिए किसी योग्यता की अपेक्षा नहीं होती ? वैसे रसव्यञ्जना को ध्वनिसिद्धान्त का प्राणभूत मानकर और बन्धच्छायाजन्य आल्हाद को रसध्वनि में सन्निविष्ट कर ध्वनिवादियों ने इसका स्वयं उत्तर दे दिया है। )

पहले वस्तुध्वनि को लीजिये। इसमे प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से बहुत भिन्न होता है। इसमे तो किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती कि विधि और निषेध एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं। अतएव पहले इसी का उदाहरण दिया जाता है कि वाच्यार्थ विधिपरक होता है और प्रतीयमान निषेधपरक। हाल की एक प्राकृत गाथा को लीजिए:—कोई नायिका अपने प्रियतम से गोदावरी के तट पर स्थित

## तारावती

कुञ्जों में मिला करती है। वहाँ पर कोई भक्त मनुष्य भ्रमण करने के लिये जाया करता है जिससे उस नायिका की प्रेमलीला में भी विघ्न पड़ता है और उसके द्वारा कल्पित किये हुये पल्लवास्तरण इत्यादि अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। वह धार्मिक भक्त गोदावरी तट पर निवास करनेवाले एक कुत्ते से प्रायः भयभीत रहा करता है। नायिका चाहती है कि यदि वह धार्मिक गोदावरी तट पर घूमने न जाया करे तो उसकी (नायिका की) प्रेमलीला के निर्विघ्न समाप्त होने में सहायता मिलेगी। वह धार्मिक से कह रही है–'हे धार्मिक अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण किया करो, गोदावरी तट पर स्थित कुञ्ज मे रहनेवाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला।' यहाँ पर वाच्यार्थ तो यह है कि अब तुम निस्सङ्कोच और निर्भय होकर घूम सकते हो; अब तुम्हे कुत्ते का कोई भय नहीं रहा। किन्तु प्रतीयमान अर्थ यह निकलता है कि 'अभीतक तो वहाँ पर कुत्ता ही रहता था अब वहाँ पर सिंह आ गया है। इसलिये कभी भूल करके भी वहाँ मत जाना। नहीं तो तुम्हें सिंह मार डालेगा। इस प्रकार वाच्यार्थ विधिपरक है और प्रतीयमान अर्थ निषेधपरक।

'भ्रम' इस क्रिया मे लोट् लकार का प्रयोग किया गया है। 'लोट्' विधि इत्यादि कई अर्थों मे प्रयुक्त होता है जिनका समाहार इन तीन अर्थों में किया जा सकता है–(१) प्रवर्तना–किसी व्यक्ति का दूसरे को किसी कार्य में प्रवृत्त करना (२) अतिसर्ग–यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य में पहले से ही प्रवृत्त हो और उसे उस प्रवृत्ति से अलग करने का कहीं से कोई कारण उपस्थित हो गया हो तो उसको पुनः उस कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना। (३) प्राप्तकाल। यहाँ पर भ्रमण तो पहले ही हो रहा है। अतएव 'प्रेषण' इत्यादि के समान प्रथम अर्थ में यह विधि नहीं हो सकती। कुत्ते के भय से भ्रमण में व्याघात उपस्थित होने वाला था उसी का प्रतिप्रसव यह विधान है। अतएव यहाँ पर अतिसर्ग और प्राप्तकाल इन दो अर्थों मे विधि है। आशय यह है कि यहाँ पर प्रवर्तनारूप अपूर्व विधान नहीं किया जा रहा है अतएव निषेध के अभाव द्वारा प्रवृत्त करते हुए कामचार (स्वेच्छा विचरण) को अनुमति दी जा रही है।

यहाँ पर यह विचार करना है कि ये दो अर्थ निकलते किस प्रकार है? दोनों अर्थ एक साथ निकल नहीं सकते क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है। विधि के बाद निषेधरूप अर्थ अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं निकल सकता क्योंकि नियम है कि अभिधा की क्रिया रुककर नहीं होती। कहा भी गया है कि 'जब अभिधा की शक्ति विशेषण मे क्षीण हो जाती है तब वह विशेष्य का प्रत्यायन नहीं करा सकती।' इस कथन से सिद्ध होता है कि अभिधा का व्यापार रुक-रुक कर होना असंभव है।

## लोचन

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूपमुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेधप्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहारः। तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।

नैतत्, त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्य-

(प्रश्न) यहाँ पर तात्पर्यशक्ति विवक्षा के रूप में (कथन की इच्छा के रूप मे) पर्यवसित नहीं हुई है (वक्ता जो कुछ कहना चाहता है उस अर्थ की पूर्त्ति नहीं हुई है) विवक्षा से दृप्त, धार्मिक, तथा 'तत्' इत्यादि पदो के अर्थों का अन्वय न लग सकना रूप मुख्यार्थबाध के बल से विरोधनिमित्तक-विपरीत लक्षणा के बल पर वाक्यार्थता को प्राप्त निषेधप्रतीति को अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से (उत्पन्न) कर देता है, इस प्रकार वह अर्थ शब्दशक्तिमूलक है। 'इस प्रकार इसने कहा' यह निस्सन्देह व्यवहार होता है, अतः वाच्य से भिन्न अन्य अर्थ नहीं होता।

(उत्तर) यह बात नहीं है। निस्सन्देह यहाँ पर तीन व्यापार प्रतीतिगोचर होते हैं—सामान्य आत्मावाले पदार्थों मे अभिधा व्यापार, (क्योंकि) सकेत की अपेक्षा करते हुए अर्थावगमन की शक्ति को अभिधा कहते है। संकेत उतने ही अंश मे होता है विशेष अंश मे नहीं क्योकि उससे आनन्त्य दोष होगा और

## तारावती

यहाँ पर यह बात कही जा सकती है कि तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान भ्रमण-विधि मे नहीं होता। यहाँ पर शब्द कुछ ऐसे रूप में प्रयुक्त किये गये है कि उनसे भ्रमण का विधान हो ही नहीं सकता। १—'धार्मिक' का अर्थ है 'तुम एक महात्मा व्यक्ति हो, तुममे इतनी शक्ति आई ही कहाँ से कि तुम शेर का सामना कर सको। २—उस 'उद्धतसिंह ने' में 'उस' सर्वनाम का अर्थ है कि सिंह के होने मे कोई सन्देह नहीं है, उसका होना सर्वत्र प्रसिद्ध है और श्रुति-परम्परा से तुमने भी अवश्य सुना ही होगा। ३—उद्धत का अर्थ है वह सिंह ऐसा-वैसा नहीं है, वह बड़ा ही भयानक है। इस प्रकार इन शब्दों के प्रयोग से भ्रमण-विधान मे विरोध उपस्थित होता है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद मे विपरीतलक्षणा से वाक्य का अर्थ ही निषेधपरक हो जाता है। अतएव निषेधपरक अर्थ शब्दशक्ति के द्वारा ही निकलता है। इसलिए व्यवहार में यही कहा जाता है कि उसने ऐसा कहा। यह कोई नहीं कहता कि इसने ऐसा ध्वनित किया। अतएव वह अर्थ वाच्य ही है उससे भिन्न नहीं।

## लोचन

भिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः पररपरान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धे विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्। तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमें' ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयेत, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। नहि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो वटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्, तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद्भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित् क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

एक का व्यभिचार दोष भी होगा। इसके बाद विशेषरूप वाक्यार्थ में परस्परान्वित में तात्पर्यशक्ति होती है। क्योंकि यह न्याय है कि सामान्य अन्यथासिद्ध न होने के कारण विशेष का अवगमन कराते हैं। उसमें द्वितीय कक्ष्या में 'भ्रमण करो' इस विधि के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। क्योंकि (द्वितीय कक्ष्या में) अन्वयमात्र की प्रतिपत्ति होती है। 'गंगा में घर' 'सिंह ब्रह्मचारी' इनमें जिस प्रकार अन्वय होते ही प्रतिहत कर दिया जाता है क्योंकि (शब्दों में अन्वित होने की) योग्यता नहीं है उसी प्रकार 'तुम्हारे भ्रमण का निषेध करनेवाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मारा गया। इसलिये इस समय भ्रमण-निषेध का कारण न होने से तुम्हारा भ्रमण उचित है' इस अन्वय में कोई क्षति आती है। अतएव मुख्यार्थबाध की यहाँ पर शङ्का नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर विपरीतलक्षणा का अवसर नहीं है।

## तारावती

—अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता—

उक्त मत की आलोचना करने के पहले तात्पर्य वृत्ति के विषय में संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस विषय मे दो मत हैं। एक है कुमारिलभट्ट के अनुयायियों का जिसको अभिहितान्वयवाद कहते हैं और दूसरा है प्राभाकर गुरु और उनके अनुयायियों का, जिसको अन्वितामिधानवाद कहते हैं। भट्ट सम्प्रदाय का सिद्धान्त इस प्रकार है :—

वाक्यार्थज्ञान तथा वाक्यार्थपूर्ति मे तीन हेतु होते हैं—१. आकाक्षा—वाक्यार्थज्ञान के लिए दो शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता। इस आकांक्षा के विना दो शब्द एकवाक्य नहीं बना सकते। जैसे गाय घोड़ा आदमी हाथी इत्यादि शब्द एक वाक्य नहीं बन सकते क्योंकि इन शब्दों मे परस्पर आकाक्षा नहीं है। २. योग्यता—शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध मे बाध का न होना, जैसे 'आग से सींचता है' इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि इनमें

## तारावती

मिलने की योग्यता नहीं है। ३. सन्निधि निकटवर्तिता—इसके अभाव में शब्दों में आपस में सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे एक पहर के व्यवधान से कहे हुए दो शब्दों में आपस मे अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि उनमे आपस में सन्निधि नहीं है।

इन तीनों हेतुओं के द्वारा जब कतिपय शब्द परस्पर अन्वित होकर एक विशिष्ट अर्थ को सम्पन्न किया करते हैं तब उस शब्दसमूह को वाक्य कहते हैं। उस वाक्य में दो प्रकार का अर्थ होता है—एक पदार्थ और दूसरा वाक्यार्थ। पदार्थ की प्रतीति अभिधावृत्ति के द्वारा होती है और वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्य-वृत्ति के द्वारा। इसको इस प्रकार समझिये—अभिधा सामान्य रूप से सङ्केत ग्रहण के आधीन शब्दों के अर्थ का बोध कराती है। समस्त वाक्यों का संकेतग्रहण हो ही नहीं सकता। क्योंकि वाक्य अनन्त होते हैं, यदि वाक्य मे शक्ति मानी जावेगी तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अभिधावृत्ति से वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि उसमे आनन्त्य दोष होगा। यदि एक वाक्य में संकेतग्रहण से शक्ति मानी जावे और दूसरे वाक्यों में आये हुये उन शब्दों का बोध उसी आधार पर स्वीकार करें तो यह नियम जाता रहेगा कि जिसमें संकेत ग्रहण के कारण शक्तिग्रह होता है उसी का बोध भी हुआ करता है। यह व्यभिचार दोष होगा। उदाहरण के लिये 'गाय लाओ' और 'गाय ले जाओ' इन दोनों वाक्यों में पृथक्-पृथक् सङ्केत स्वीकार करने पर आनन्त्य दोष होगा। यदि केवल प्रथम वाक्यों मे सङ्केत स्वीकार करें तो यह नियम जाता रहेगा कि जिसमें सङ्केतग्रहण होता है उसीके अर्थ का बोध हुआ करता है। यह व्यभिचार (नियमातिक्रमण) है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि अभिधावृत्ति से केवल पदार्थबोध होता है। वाक्यार्थबोध अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार वाक्यार्थबोध के लिए तात्पर्य नामक पृथक् वृत्ति-माननी पड़ेगी। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'गाय' का अर्थ है 'गाय' और 'लाओ' का अर्थ है आनयनानुकूल व्यापार की विधि। गाय में आनयनानुकूलव्यापार-निरूपितकर्मत्व किसी शब्द का अर्थ नहीं। अतएव उसी को वाक्यार्थ कहते हैं और उसकी प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से होती है। वह तात्पर्य पदसान्निध्य रूप प्रत्यायन वाक्य का अर्थ ही होता है। कहा भी गया है—'जब विशेष अर्थ दूसरी प्रकार से सिद्ध नहीं होता तब सामान्य अर्थ ही विशेष के कारण हो जाता है'। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ वाक्यार्थ में कारण होती हैं। वाक्यार्थ के पर्यवसित हो जाने पर एक तीसरी वृत्ति और मानी जाती है और वह है लक्षणा। वाक्यार्थबोध के बाद जब तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्यार्थ का बाध हो जाता है तब उससे सम्बन्ध

## लोचन

भवतु वासौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति। तथाहि—मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रकल्पितिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। नचात्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः। परस्परं विरोध इतिचेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः। नचाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।

अथवा यह हो भी। तथापि द्वितीय स्थान में यह संक्रान्त नहीं हो सकता। वह इस प्रकार—मुख्यार्थबाध मे लक्षणा की कल्पना की जाती है। विरोध की प्रतीति का होना ही बाधा है। पदार्थों का अपनी आत्मा में विरोध नहीं होता। यदि कहो कि एक दूसरे से विरोध होता है—तो यह विरोध अन्वय में ही समझा जाना चाहिये। जबतक अन्वय प्रतिपन्न न हो जावे तब तक विरोध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अन्वय की प्रतीति अभिधाशक्ति से नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थ प्रतिपत्ति मे उपक्षीण उस ( अभिधा ) का रुककर व्यापार [ दुबारा कार्य ] नहीं हो सकता। इस प्रकार तात्पर्यशक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति ( होती है )।

## तारावती

रखनेवाला दूसरा अर्थ ले लिया जाता है। इस तीसरी कोटि को लक्षणा कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिहितान्वयवाद में तीन कोटियाँ होती हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा। अभिधा से पदार्थबोध होता है, तात्पर्यवृत्ति से अन्वयरूप वाक्यार्थबोध होता है। पद से अभिधा द्वारा पदार्थोपस्थिति तो सर्वत्र होती है किन्तु तात्पर्यवृत्ति का वहीं पर अवसर होता है जहाँ वाक्यार्थबोध के आकाक्षा इत्यादि कारण उपस्थित हों। कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जहाँ पदार्थोपस्थिति हो जाती है किन्तु जैसे ही तात्पर्यवृत्ति से अन्वयार्थ बोध होने लगता है वैसे ही वाक्यार्थबोध के कारणो के अभाव मे वह वृत्ति वहीं पर समाप्त हो जाती है और यदि लक्षणा के कारण उपस्थित हों तो लक्षणा का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिये 'गङ्गा मे घर' 'बालक सिंह' इत्यादि वाक्यों में 'गङ्गा' 'घर' 'बालक' 'सिंह' इन सभी शब्दों का अर्थ उपस्थित होता है। किन्तु जब तात्पर्यवृत्ति से इन्हें मिलाने लगते हैं तब तत्काल ज्ञात हो जाता है कि इनमें योग्यता का अभाव है। ऐसे स्थानों पर अन्वय होते होते प्रतिहत हो जाता है। किन्तु यह बात 'तुम्हारे भ्रमण मे विघ्न डालनेवाले कुत्ते को शेर ने मार डाला। अतएव भ्रमण-निषेधक कारण के अभाव मे तुम्हारा भ्रमण उचित

## लोचन

नन्वेवम् 'अङ्गुल्यग्रे कविवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात् । किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम् । 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति ।

( पूर्वपक्ष ) निस्सन्देह इस प्रकार तो 'अंगुली के अग्रभाग में १०० श्रेष्ठ कवि हैं' यहाँ पर भी अन्वयप्रतीति हो जावेगी । ( उ० प० ) क्या अन्वय प्रतीति नहीं होती ? जिस प्रकार दशदाडिमानि षडपूपा इत्यादि ( अनन्वित ) वाक्य में नहीं हुआ करती है । किन्तु प्रतिपन्न हुआ भी वह अन्वय 'शुक्ति मे रजत' के समान दूसरे प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से बाधित हो जाता है अतः उसके अवगम करानेवाले वाक्य की प्रामाणिकता जाती रहती है । 'सिंहो बालकः' में द्वितीय कक्ष्या में निविष्ट तात्पर्यशक्ति के द्वारा समर्पित अन्वय के बाध के उल्लसित होनेपर ( प्रतीति गोचर होनेपर ) बाद में अभिधा तथा तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से व्यतिरिक्त लक्षणा नाम की तृतीयशक्ति ही, जो कि बाधक को व्यर्थ बनाने में निपुण है, समुल्लसित हो जाती है ।

## तारावती

है ।' इस वाक्य मे नहीं होती । यहाँ पर शब्दों में मिलने की योग्यता का अभाव नहीं है । अतएव यहाँ पर न तो मुख्यार्थबाध होता है और न विपरीतलक्षणा की आशंका की जा सकती है ।

अथवा किसी न किसी प्रकार बाध स्वीकार भी कर लिया जावे तथापि निषेधपरक अर्थ द्वितीय कोटि ( तात्पर्यवृत्ति ) गम्य नहीं हो सकता । इस को इस प्रकार समझिये—लक्षणा की कल्पना वहीं पर की जा सकती है जहाँ मुख्यार्थबाध हो । बाध वहीं पर होता है जहाँ विरोध की प्रतीति हो । यह प्रतीति दो प्रकार की हो सकती है—शब्दों की अन्तरात्मा का विरोध तथा अन्वय का विरोध । प्रस्तुत वाक्य 'कुत्ता सिंह द्वारा मारा गया, तुम स्वच्छन्द भ्रमण करो' मे शब्दों की अन्तरात्मा विरुद्ध नहीं है, इसमे तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता । अतएव अन्वय में ही विरोध मानना पड़ेगा । अन्वय मे विरोध की प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक अन्वय प्रतिपन्न न हो जावे । अन्वय की प्रतिपत्ति अभिधावृत्ति से हो ही नहीं सकती क्योंकि अभिधावृत्ति पदार्थोपस्थापन में ही प्रक्षीण हो जाती है और उसकी क्रिया रुक रुक कर हो ही नहीं सकती । अतएव तात्पर्यवृत्ति से

## लोचन

नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्, ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतयाभावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्, आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्य-

( पू० प० ) इस प्रकार तो निस्सन्देह 'सिंह-ब्रह्मचारी' में भी काव्यरूपता आ जावेगी। क्योंकि अभी शीघ्र ही कहीजानेवाली ध्वननरूप आत्मा की सत्ता तो वहाँपर विद्यमान है ही। ( उ० प० ) निस्सन्देह घड़े में भी जीव का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि व्यापक होने के कारण आत्मा की सत्ता तो वहाँपर भी है ही। यदि कहो कि विशेष प्रकार के अधिष्ठान से युक्त शरीर के आत्मा होनेपर ही जीव

## तारावती

ही अन्वय की प्रतिपत्ति माननी होगी। आशय यह है कि लक्षणास्थल में भी 'बालक सिंह है' इत्यादि वाक्यों में आकांक्षा तात्पर्य से ही सिंह और बालक के मुख्यार्थ का अन्वय हो सकता है, जिसका स्वरूप है सिंह और बालक के तादात्म्य की प्रतीति। इस अन्वय के प्रतिपन्न हो जाने पर ही विरोध की प्रतीति होती है।

( प्रश्न ) बाधित स्थान में भी अन्वय अङ्गीकार करने पर 'अङ्गुलि के अग्र-भाग में सौ श्रेष्ठ कवि विद्यमान हैं' इस वाक्य में भी अन्वय की प्रतीति माननी पड़ेगी। ( उत्तर ) जब साकांक्षता और पदार्थोपस्थिति विद्यमान है तब अन्वय के प्रतीत न होने का क्या कारण है? निराकाक्ष पदों में अन्वय की प्रतीति नहीं होती, जैसे महाभाष्य के निम्नलिखित उदाहरण में अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता:—

'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः, अधरोरुकम्, एतत्कुमार्याः, स्फैय्यकृतस्य पिता प्रतिशीन इति।'

जिस प्रकार महाभाष्य के इस उदाहरण में निराकांक्ष पदों का सङ्कलन मात्र होने से अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता वैसा पदसङ्कलन प्रस्तुत स्थान पर नहीं है। अतएव अन्वय तो प्रतिपन्न हो ही जावेगा। किन्तु उस अन्वय के प्रतिपन्न होने पर भी प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से उसका उसीप्रकार बाध हो जाता है जिसप्रकार शुक्ति में रजतज्ञान का बाध हुआ करता है। अतएव उसका अवगम करानेवाला वाक्य अप्रामाणिक हो जाता है। ( प्रश्न ) यदि ऐसा है तो फिर 'बालक शेर है' यह वाक्य भी अप्रामाणिक हो जावेगा? ( उत्तर ) 'बालक शेर है' इस वाक्य में पहले पदार्थोपस्थिति होती है फिर द्वितीय कक्ष्या में तात्पर्यवृत्ति से अन्वय का बोध हो जाता है, फिर अन्वय की बाधकता सामने आती है। इसके बाद उस बाधकता को व्यर्थ करने में समर्थ लक्षणा नाम की एक तीसरी वृत्ति स्फुरित होने लगती है जो उक्त वाक्य की अप्रामाणिकता का निराकरण कर देती है।

## लोचन

व्यवहारः न यस्य कस्यचिदितिचेत् गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः । नचात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम् । न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणा व्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी । चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः । तथाहि त्रितयसन्निधौ लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति । तत्र मुख्यार्थबाधा तावत् प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला । निमित्तं च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तर गम्यमेव ।

का व्यवहार होता है जिस किसी के लिये नहीं होता तो ( काव्य के विषय में भी ) गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होनेवाले शब्द-अर्थरूप शरीर के ध्वनन नामक आत्मतत्त्व के होनेपर ही काव्यरूपता का व्यवहार होता है । (इससे) आत्मा की कोई असारता नहीं होती यह दोनों ओर समान है । इसप्रकार भक्ति ही ध्वनि है यह नहीं कहा जा सकता ( क्योंकि ) निस्सन्देह भक्ति लक्षणा-व्यापार को कहते हैं जो तृतीय कक्ष्या में निविष्ट होनेवाला है; ध्वननव्यापार चौथी कक्ष्या में होता है । वह इसप्रकार—तीन के निकट होनेपर लक्षणा प्रवृत्त होती है यह तो आप ही कहते हैं । उसमें मुख्यार्थबाध तो प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों को ही मूल मान कर चलता है । सामीप्य इत्यादि जो निमित्त बतलाये जाते हैं वे भी दूसरे प्रमाणों से ही अवगत किये जाने योग्य होते हैं ।

## तारावती

( प्रश्न ) प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिए व्यञ्जना वृत्ति तो आप मानते ही हैं । 'बालक सिंह है' इस वाक्य मे भी बालक के शौर्याधिक रूप प्रयोजन की प्रतिप्रत्ति व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है । अतएव ध्वनन रूप आत्मा की सत्ता मे यह वाक्य भी काव्य क्यों नहीं माना जाता ?

( उत्तर ) आत्मा भी तो व्यापक है । अतएव वह घट मे भी विद्यमान है, फिर घट मे जीवव्यवहार क्यों नहीं होता ? जैसे घट मे जीवव्यवहार नहीं होता उसी प्रकार "बालक सिंह है" इस वाक्य मे ध्वनन व्यापार के होते हुए भी काव्यव्यवहार नहीं होता । सम्भवतः आप इसका उत्तर यह दे कि जीव का व्यवहार वहीं पर होता है जहाँ पर कर-चरण इत्यादि विशिष्ट अवयवों का संयोग हो । इसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि जहाँ पर गुणों और अलङ्कारों के औचित्य के साथ काव्य का सुन्दर शब्द और अर्थरूपी शरीर विद्यमान होता है, साथ ही ध्वननव्यापाररूपी काव्य की आत्मा भी विद्यमान होती है वहीं पर काव्य का व्यवहार होता है । इस दृष्टान्त से इस आक्षेप का भी उत्तर हो जाता है कि यदि ध्वनन को काव्य की आत्मा माना जावेगा तो 'बालक सिंह है' इत्यादि स्थानों पर ध्वनि की

## लोचन

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथा हि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्दवाच्यत्वं

जो यह घोष की अत्यन्त पवित्रता, शीतलता, सेव्यता इत्यादि दूसरे शब्दों से न कहाजानेयोग्य और दूसरे प्रमाणों से प्रतिपन्न न होनेवाला प्रयोजन है अथवा 'वटु' की अत्यन्त पराक्रमशीलता है, उसमें शब्द का कोई व्यापार नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जासकता। वह इसप्रकार—उसके समीप होने से उसके धर्मत्व का अनुमान अनैकान्तिक (हेत्वाभास से युक्त) है। वटु का सिंहशब्दवाच्यत्व

## तारावती

सत्ता और काव्यत्व के अभाव में आत्मा की असारता सिद्ध हो जावेगी। जिस प्रकार घट में व्यापक आत्मा के होते हुए भी चेतनाशून्यता के कारण आत्मा की असारता नहीं मानी जाती उसी प्रकार उक्त स्थल पर भी ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्य के अभाव के कारण आत्मा की असारता नहीं मानी जा सकती।

अब विचार करना है कि तृतीय कोटि लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर यही है कि भक्ति या लक्षणा-व्यापार तृतीय कक्ष्या में सन्निविष्ट हो जाता है और ध्वननव्यापार चतुर्थी कक्ष्या में होता है। अतएव ध्वननव्यापार और लक्षणा एक ही नहीं हो सकते। इसको इसप्रकार समझिये—सभी लक्षणावादी इस बात को स्वीकार करते ही हैं कि लक्षणा में तीन बातें मुख्य रूप से होनी चाहिये—(१) मुख्यार्थबाध (२) मुख्यार्थ-सम्बन्ध और (३) रूढिप्रयोजनान्यतर। उदाहरण के लिए कोई कहे कि 'मैं गंगा में झोपड़ी डालकर रहूँगा'। यहाँ पर गङ्गा शब्द का अर्थ है प्रवाह। प्रवाह में झोपड़ी डाली ही नहीं जा सकती, अतः मुख्यार्थबाध हो जाता है। मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ तट ले लिया जाता है और पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मै गगा के तट पर झोपड़ी डालकर रहूँगा।' गङ्गातट शब्द के स्थान पर गंगा शब्द के प्रयोग करने से गंगागत शीतलत्व पावनत्व और सेवनीयत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस पूरे वाक्य का अर्थ होगा—'मैं गंगा के तट पर झोपड़ी डालकर रहूँगा जो बडा ही शीतल, बड़ा ही पवित्र और अपने गुणों के कारण सर्वथा सेवन के योग्य है तथा जहाँ संसार के झन्झट बिल्कुल नहीं हैं। यहाँ पर शीतलत्व पावनत्व की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है क्योंकि यह अर्थ गंगा-तट शब्द से नहीं निकल सकता।

## तारावती

अब यहाँ पर देखना यह है कि ये तीनों शर्तें पूरी किस प्रकार होती हैं तथा इनमें क्या क्या प्रमाण हैं ? लक्षणा की पहली शर्त है मुख्यार्थबाध, यह तो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों पर ही आधारित होती है। उदाहरण के लिए गंगा के प्रवाह में झोपड़ी बनसकना प्रत्यक्षतः बाधित है। दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। ये सम्बन्ध सामीप्य सादृश्य इत्यादि कई प्रकार के हो सकते हैं। ये सामीप्य इत्यादि सम्बन्ध भी प्रत्यक्षादि किसी दूसरे प्रमाण से ही सिद्ध हो जाते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा की तीसरी शर्त है प्रयोजन की प्रतिपत्ति। उदाहरण के लिये 'गङ्गा में झोपड़ी' इस वाक्य में झोपड़ी की अत्यन्त पवित्रता अत्यन्त शीतलता तथा अत्यन्त सेवनीयता और 'बालक सिंह है' इस वाक्य में बालक के पराक्रम का आधिक्य, इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति होती है। आप यह नहीं कह सकते कि इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति शब्दव्यापार पर आधारित नहीं है। क्योंकि इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति में यदि शब्दव्यापार कारण नहीं है तो या तो अनुमान कारण हो सकता है या स्मृति कारण हो सकती है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—'तट, गङ्गागत अत्यन्त पवित्रत्वादि गुणोंवाला है, क्योंकि गङ्गा के समीप है, जैसे मुनिजन इत्यादि।' यहाँ पर व्याप्ति यह होगी—'जो गंगा के निकट होता है वह पवित्र होता है। जैसे मुनिजन गंगा के निकट होने से पवित्र होते हैं।' किन्तु यह व्याप्ति अव्याप्त है, क्योंकि गंगा के निकट खोपड़ी हड्डी इत्यादि भी पड़ी रहती हैं किन्तु वे पवित्र नहीं मानी जा सकतीं। अतएव हेतु में अनैकान्तिकता आ जाती है जिससे साध्यसिद्धि में सव्यभिचार हेत्वाभास उपस्थित होकर उसे अप्रामाणिक बना देता है। इसी प्रकार 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य में शेर की वीरता के प्रत्यायन के लिए हमें अनुमान की यह प्रक्रिया अपनानी पडेगी—'वटु सिंहधर्मवाला है, क्योंकि सिंहशब्दवाच्य है, जो जो सिंहशब्दवाच्य होते हैं वे वे सिंहधर्मवाले भी होते हैं जैसे वास्तविक सिंह, उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी है, अतएव वह भी सिंहधर्मवाला है।' इस अनुमान की प्रक्रिया में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। वटु पक्ष है और सिंहशब्दवाच्यता हेतु है। अनुमान की प्रक्रिया में यह अनिवार्य नियम है कि हेतु का पक्ष में रहना प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों से सिद्ध होना चाहिये। किन्तु यहाँ पर ब्रह्मचारी का सिंहशब्दवाच्य होना प्रत्यक्ष रूप में असिद्ध हो जाता है। अतएव यह अनुमान ठीक नहीं कहा जा सकता। इन दोनों स्थानों के लिए अनुमान की एक दूसरी प्रक्रिया भी हो सकती है—एक इस प्रकार की व्याप्ति बनाई जावे जहाँ पर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ उनके धर्म का योग अवश्य हो जाता है। इस व्याप्ति

तारावती

से साध्यसिद्धि हो सकती है किन्तु व्याप्तिग्रह के लिए कोई दूसरा प्रमाण बतलाना पड़ेगा। क्योंकि बार-बार किन्हीं विशेष उदाहरणों को देखकर ही व्याप्तिग्रह होता है। जब यहाँ पर कोई प्रमाण ही नहीं तब न तो व्याप्तिग्रह हो सकेगा और न साध्यसिद्धि ही होगी। इस प्रकार प्रयोजन की प्रतिपत्ति अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती। अब स्मृति को लीजिये—स्मृति उसी की होती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका है। यहाँ पर कोई नियामक कभी नहीं है कि शब्दप्रयोग से उसके धर्म की स्मृति हो जाती है। दूसरी बात यह है कि धर्म तो बहुत से होते हैं उनमे यह कैसे निश्चय किया जावेगा कि अमुक स्थल पर अमुक धर्म का ही स्मरण होगा? इस प्रकार प्रयोजन की प्रतिपत्ति न तो अनुमानगम्य हो सकती है और न स्मृतिगम्य। अतः मानना ही पड़ेगा कि शब्द का ही कोई व्यापार यहाँ पर कारण होता है जिससे प्रयोजनप्रतिपत्ति हो जाती है।

शब्द के अपने केवल तीन ही व्यापार माने गये हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा। अभिधावृत्ति से प्रयोजन की प्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि अभिधा वहीं पर होती है जहाँ पर संकेतग्रहण हो चुका हो। शीतलता पावनता इत्यादि धर्मों मे संकेतग्रहण हुआ ही नहीं है। अतएव ये धर्म अभिधावृत्तिगम्य नहीं हो सकते। तात्पर्यवृत्ति से भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि उसका कार्य अन्वयप्रतीतिकाल मे ही समाप्त हो जाता है। अब हमे यह देखना है कि प्रयोजनप्रतिपत्ति लक्षणा से हो सकती है या नहीं? लक्षणा के लिए ३ शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है—शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर। जिस प्रकार झोपड़ी के साथ अन्वय होने पर प्रवाह अर्थ बाधित हो जाता है उसी प्रकार यदि 'गंगातट पर झोपडी' यह अर्थ भी बाधित हो जावे तो लक्षणा का अवसर हो सकता है। किन्तु लक्ष्यार्थ में इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतएव लक्षणा की पहली शर्त समाप्त हो गई। लक्षणा की दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। एक तो तट शक्यार्थ ही नहीं है दूसरे उसका शीतत्व इत्यादि से लक्षणा के लिये परिगणित सम्बन्धों मे कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इसप्रकार दूसरी शर्त भी पूरी नहीं हुई। तीसरी शर्त है रूढिप्रयोजनान्यतरत्व। रूढि तो यहाँ पर है ही नहीं। प्रयोजन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए दूसरा प्रयोजन माना जावेगा तो उस दूसरे प्रयोजन का भी कोई दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा जो मूल को ही नष्ट करनेवाला होगा। अतएव यहाँ पर कोई दूसरा प्रयोजन भी नहीं माना जा सकता। [काव्यप्रकाशकार ने यहाँ पर

## लोचन

च वटोरसिद्धम्। अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति। न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः। व्यापारश्च नाभिधात्मा समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा उक्तादेव हेतोः स्खलितगतित्वाभावात्। तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। अत एव यत् केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम्। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। यद्वक्ष्यति—

असिद्ध है। अब यदि अनुमान ( व्याप्ति ) का रूप यह बनाते हो कि जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का योग हो जाता है उसके भी व्याप्तिग्रहण-काल में कोई दूसरा मौलिक प्रमाण कहना चाहिये, वह है नहीं। यह स्मृति भी नहीं है। क्योंकि जिसका अनुभव नहीं किया उसमें वह हो ही नहीं सकती तथा किसी नियम के प्रतिपन्न न होने के कारण वक्ता की विवक्षा इसी अर्थ में है इस अध्यवसाय ( निश्चय ) का अभाव भी प्रसक्त हो जावेगा। अतः यहाँपर शब्द का ही व्यापार ( मानना पडेगा )। अभिधानामक व्यापार हो नहीं सकता, क्योंकि अन्वयप्रतीति में ही उसका परिक्षय हो जाता है। लक्षणात्मक भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त हेतुओं से ही शब्द के स्खलद्गति न होने के कारण अर्थात् बाध न होने के कारण। उसके भी स्खलद्गति मानने पर फिर मुख्यार्थबाध निमित्त तथा प्रयोजन इस प्रकार अनवस्था हो जावेगी। अतएव जो किसी ने लक्षितलक्षणा यह नामकरण किया था वह व्यसनमात्र है। अतएव अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से व्यतिरिक्त यह चौथा व्यापार समझा जाना चाहिये जो ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि सहोदरों ( पर्यायवाचक शब्दों ) के नाम के द्वारा निरूपित किया गया है। जैसा कि कहेंगे:—

## तारावती

एक सम्भावना और बतलाई है—उन्होंने लिखा है कि 'प्रयोजनविशिष्टलक्ष्यार्थ' मे ही लक्षणा मानी जा सकती है। इस सम्भावना का उन्होंने यह कहकर खण्डन किया है कि लक्ष्यार्थ तो लक्षणा का विषय है और प्रयोजन उसका फल है। विषय और फल ये दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये ज्ञान का विषय और होता है और फल और। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है घट और इसके फल के विषय में दो मत हैं—प्रथम मत है मीमांसकों का जो यह

## लोचन

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दोनैव स्खलद्गतिः ॥ इति ।

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः । तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः । मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः । तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः, स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन् प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोपि निषेधविषय इत्युक्तम् । अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम् । न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात् । नह्यर्थशक्तिमूलेऽस्याः व्यापारः । सहकारिभेदाच्च शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः । एवमभिहितान्वयवादिनामिदमनपह्नवनीयम् ।

'जिस फल के उद्देश्य से मुख्यवृत्ति का परित्याग कर गुणवृत्ति से अर्थदर्शन किया जाता है उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं होती ।

इससे सङ्केत की अपेक्षा करते हुए वाच्य के अवगमन की शक्ति को अभिधाशक्ति कहते है । मुख्यार्थबाध इत्यादि सहकारियो की अपेक्षा करते हुये अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति लक्षणाशक्ति ( होती है । ) उन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थावगमन रूप मूल से उत्पन्न ( तथा ) उस ( अभिधेय इत्यादि अर्थ ) के प्रतिभास अर्थात् निरन्तर प्रतीति से पवित्र की हुई ( अर्थात् संस्कारनामक अतिशयता से सम्पादित की हुई ) परिशीलक ( सहृदय ) की प्रतिभा की सहायता से अर्थद्योतन की शक्ति को ध्वननव्यापार कहते है और वह पहले सम्पन्न हुये तीनो व्यापारों को दबाकर प्रधान होकर काव्य की आत्मा हुआ करता है । इस आशय से प्रयोजन विषय होने हुये भी निषेधमुख से प्रवृत्त होने के कारण निषेधविषय होता है यह कहा गया है । यह बात ( विरोधी के असत्य पक्ष की ) स्वीकृति मात्र के द्वारा कही गई है । वस्तुतः यहाँ पर लक्षणा होती ही नहीं क्योंकि यहाँ पर न तो वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होता है और न अन्यसक्रमण ही होता है । इस ( लक्षणा ) का व्यापार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि मे नहीं होता । सहकारी के भेद से शक्तिभेद स्पष्ट ही है, जैसे व्याप्ति स्मृति इत्यादि से सहकृत उसी शब्द की विवक्षा की अवगति मे अनुमापकत्व व्यापार माना जाता है—अक्ष ( इन्द्रिय ) इत्यादि से सहकृत ( उसी शब्द का ) सविकल्पकत्व इत्यादि व्यापार माना जाता है । इसी प्रकार अभिहितान्वयवादियों के दृष्टिकोण से इसका निराकरण नहीं हो सकता ।

तारावती

मानते हैं जि प्रत्यक्षज्ञान का फल है किसी वस्तु का प्रकट हो जाना। घटज्ञान के बाद 'घड़ा जान लिया गया' इस प्रत्यय के कारण घट में जो ज्ञातता अथवा प्रकटता उत्पन्न हो जाती है वही प्रत्यक्षज्ञान का फल है। मीमांसक लोग ज्ञेयधर्म ज्ञातता या प्रकटता को ही ज्ञान का फल मानते है। दूसरा मत है नैय्यायिकों का जिनका मत है कि 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय से जो अनुव्यवसाय या संवित्ति होती है वही प्रत्यक्षज्ञान का फल है। इस प्रकार नैय्यायिक लोग ज्ञातृ-धर्म को ज्ञान का फल बतलाते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय और उसके फल दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ है उसीप्रकार लक्षणाजन्य ज्ञान मे भी उसके विषय तट की अपेक्षा उसके फल शीतत्व-पावनत्व इत्यादि मे भेद अवश्य होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार गङ्गाशब्द से लक्षणावृत्ति-के द्वारा तट की अवगति हो जाती है उसी प्रकार लक्षणा से ही प्रयोजन की अवगति किसी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें लक्षणा की कोई शर्त मिलती ही नहीं। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए होनेवाली लक्षणालक्षित लक्षणा कही जाती है, यह उनका व्यञ्जना को खण्डन करने के लिए दुराग्रहमात्र है, उसमे सार कुछ भी नहीं। इससे सिद्ध होता है कि प्रयोजन-प्रतिपत्ति न तो अनुमान से हो सकती है न स्मृति से और न अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों में किसी से उसका बोध हो सकता है। अतएव उक्त तीनों वृत्तियों से भिन्न एक चौथी वृत्ति या शब्दव्यापार अवश्य मानना पड़ेगा फिर आप उसे ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि पर्यायों में चाहे जो कोई नाम दे सकते है। लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती यह बात आगे चलकर 'मुख्या वृत्ति परित्यज्य' इस कारिका की व्याख्या के अवसर पर अधिक विशद रूप मे समझाई जावेगी।

इसप्रकार शब्द की चार वृत्तियाँ सिद्ध हुईं—(१) वाच्यार्थ का अवगमन करानेवाली सङ्केतसापेक्षिणी वृत्ति अभिधा कहलाती है। (२) अभिधा के द्वारा सङ्केतित अर्थ के प्रकट कर दिये जाने के बाद अन्वयरूप कुछ ऐसा अंश शेष अवश्य रह जाता है जो कि अभिधा के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव वाक्यार्थपूर्ति मे सहायक होकर जो वृत्ति अर्थबोध मे कारण होती है उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं। (३) शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर इन तीन सहकारियों की अपेक्षा करते हुये जो शक्ति दूसरे सम्बन्धित अर्थ का बोध कराती है वह लक्षणा कही जाती है। (४) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन वृत्तियों से जिस अर्थ का अवबोध होता है उसी से एक अन्य भी अर्थ स्फुटित होने लगता है जिसके बार-बार अनुसन्धान से परिशीलन करनेवालों की प्रतिभा पवित्र हो जाती है। इस

## तारावती

प्रकार प्रतिभा को पवित्र करने में समर्थ वृत्ति ध्वनन या व्यञ्जन व्यापार के नाम से अभिहित की जाती है। जब यह वृत्ति शेष तीनों वृत्तियों को दबाकर प्रधान पदपर आसीन हो जाती है तब उसे ध्वनि कहते है। यही ध्वनि काव्य की आत्मा है। (प्रश्न) ऊपर लक्षणा का जो विवेचन किया गया है उससे सिद्ध होता है कि 'भ्रमधार्मिक ·····सिंहेन' मे भ्रमण का निषेध लक्ष्यार्थ है और संकेतस्थान की रक्षा इत्यादि उस लक्षणा के प्रयोजन हैं जिनका अवगम व्यञ्जना से होता है। फिर आलोककार ने यह कैसे लिख दिया कि प्रतिषेधरूप अर्थ व्यञ्जनाव्यापारगम्य है? (उत्तर) निषेध अर्थ प्रमुख है और उसी के द्वारा संकेतस्थान की सुरक्षा व्यक्त होती है। इसीलिये निषेध अर्थ का होना कह दिया गया है। यह उत्तर तो इस बात को मान कर दिया गया है कि प्रस्तुत स्थान पर लक्षणा होती है। वस्तुतः यहाँ पर लक्षणा होती ही नहीं, क्योंकि लक्षणा के हेतु यहाँ पर मिलते ही नहीं। न तो शक्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होता है। और न उसका अन्य अर्थ में संक्रमण ही होता है। यहाँ पर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है जिसमे लक्षणा मानी ही नहीं जा सकती। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार के ज्ञानों मे कुछ सहकारी कारण अवश्य अपेक्षित होते है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। इन दोनों प्रकार के प्रत्यक्षज्ञानों मे सहकारी हेतु होते है इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, जिनके वैशेषिक दर्शन मे ६ भेद किये गये हैं। इसी प्रकार अनुमिति मे भी व्याप्ति, स्मृति तथा पक्षधर्मता का ज्ञान और परामर्श कारण होते है। जो लोग शब्दशक्ति को भी अनुमानगम्य मानते हैं उनके मत मे अर्थबोधन के लिये प्रयुक्त शब्द मे व्याप्ति स्मृति इत्यादि के सहकार से ही अनुमापकत्व का व्यवहार होता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—वक्ता यह बात कहना चाहता है, क्योंकि उसने इस शब्द का प्रयोग किया है; जहाँ-जहाँ पर इस शब्द का प्रयोग होता है वहाँ यह अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे अमुक स्थान पर इस शब्द का प्रयोग किया गया था वहाँ पर यही अर्थ अभीष्ट था, वैसा ही यहाँ पर है—अतएव यहाँ पर भी अमुक अर्थ ही अभीष्ट है। इसी प्रकार उपमान मे सादृश्यज्ञान इत्यादि कारण होते हैं। शाब्द प्रमाण मे अभिधास्थल पर संकेतज्ञान तथा तात्पर्यवृत्ति कारण होती है और लक्षणास्थल पर शक्यार्थबाध इत्यादि कारण होते हैं। व्यञ्जनावृत्ति मे भी कतिपय सहकारी अपेक्षित होते है जिनका परिगणन आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित कारिकाओं मे किया है:—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽन्यस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

तारावती

लक्षणा में शक्यार्थबाध इत्यादि सहकारी होते हैं और व्यञ्जना में वक्तृ बोद्धव्य इत्यादि सहकारी होते हैं। इस प्रकार सहकारी भेद के कारण वृत्तिभेद मानना भी आवश्यक है। अतएव अभिहितान्वयवाद में व्यञ्जनावृत्ति का अपलाप किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

—अन्विताभिधानवाद और व्यञ्जनावृत्ति—

ऊपर अभिहितान्वयवाद के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। अब अन्विताभिधानवाद के अनुसार भी व्यञ्जना की अनिवार्यता दिखलानी है। इसके लिये सर्वप्रथम अन्विताभिधानवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर गुरु के अनुयायी इस तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वाक्यार्थ वाच्य के द्वारा ही प्रकट हो जाता है अतः अभिधावृत्ति के अन्दर ही तात्पर्यवृत्ति का भी समावेश हो जाता है। इन लोगों की शक्तिग्रहण की प्रक्रिया इस प्रकार है:—

'बालक को शक्तिग्रह सर्वप्रथम अन्वित मे ही होता है। जब कोई वृद्ध किसी युवक को 'गाय लाओं' यह आदेश देता है और युवक उसकी आज्ञा से गाय ले आता है, जब यह क्रिया कई बार होती है तब बालक 'गाय लाओ' इस वाक्य का और गाय ले आने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इसप्रकार सबसे पहले बालक को शक्तिग्रह वाक्य मे ही होता है। इसके बाद जब वही वृद्ध के 'गाय ले जाओ' 'अश्व लाओ' इत्यादि वाक्यों को सुनता है और उनकी क्रियाओं को देखता है तथा वाक्य के भिन्न-भिन्न शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोगों पर ध्यान देता है तब वह शब्दों के अवापोद्वाप ( निर्गम-प्रवेश ) के द्वारा शब्दों की शक्ति को समझ लेता है। उस समय वह शब्दों की जिस शक्ति को समझता है उसमें अन्वयांश विद्यमान रहता है। इस प्रकार कारकपदों का क्रिया के साथ और क्रिया पदों का कारक के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। बाद में जब शुद्ध शब्दों का ज्ञान होता है तब इस अन्वयांशमिश्रित शक्ति से अन्वयांश को पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अभिधावृत्ति के द्वारा ही अन्वयांश में शक्ति प्रतीत हो जाती है और तात्पर्यवृत्ति के पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस मत के अनुसार 'गाय लाओ' इस वाक्य के 'लाओ' शब्द का अर्थ होगा—'दूसरे शब्द से अन्वित आनयन क्रिया'। इसी अर्थ मे इसका संकेत है। गवानयन में इसका संकेत नहीं है फिर भी गवानयन का बोध होता ही है। इस प्रकार संकेतग्रहण हुआ 'अन्यपदार्थान्वित आनयन क्रिया' इस अर्थ में और बोध हुआ गवानयन का। जिस प्रकार घड़ा एक वस्तु है। वस्तु शब्द से हमें घडे का बोध भले ही हो जावे किन्तु वस्तु शब्द का अर्थ तो घड़ा नहीं हो जावेगा। इसीप्रकार आनयन पद से गवानयन का बोध भले ही हो जावे

## लोचन

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोसाविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिः निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव।

जो अन्विताभिधानवादी भी 'यत्परक शब्द होता है वह शब्द का अर्थ हुआ करता है' यह हृदय मे ग्रहण कर के शर के समान दीर्घ-दीर्घ अभिधाव्यापार को ही चाहता है उसका यदि दीर्घ व्यापार होता है तो 'यह एक है' यह कहा ही कैसे जा सकता है ? क्योंकि उसका विषय भिन्न होता है। यदि यह अनेक होता है तो तद्विषयक सहकारियों के भेद से इसका असजातीय होना ही ठीक है और सजातीय कार्य मे पदार्थ के विद्वानों ने शब्द बुद्धि और कर्म का रुक-रुक कर व्यापार मना कर दिया है। असाजातीय होनेपर हमारी ही नीति ( गतार्थ हो जाती है। )

## तारावती

किन्तु आनयन पद का अर्थ गवानयन कभी नहीं हो सकता। ऐसी दशा मे जब एक शब्द का अर्थ भी वाच्य नहीं हो सकता तब व्यङ्ग्यार्थ जो अतिविशेष है और जो वाच्यार्थ से भी सर्वथा भिन्न होता है उसका समावेश अभिधावृत्ति मे हो सकेगा, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'लाओ' शब्द का वाच्यार्थ गवानयन नहीं हो सकता, इसका कारण यह है कि न्यायशास्त्र के अनुसार किसी शब्द से उसके सामान्यरूप का परिज्ञान हो जाता है। जैसे धूम को देखकर धूमत्व का ज्ञान हो जाता है। बाद मे धूमत्व का ज्ञान होने के कारण किसी ऐसे धुये को देखकर जिसको कभी न देखा हो, यह ज्ञान हो जाता है कि यह धुआँ है। इसे सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति कहते हैं। यहाँ 'लाओ' शब्द सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से अन्यपदार्थान्वित आनयन क्रिया का ही बोधक होगा गवानयन का नहीं।

अभिहितान्वयवाद मे शब्द का अर्थ अन्वयांश से रहित नही होता है और अन्विताभिधानवाद मे सामान्य रूप से किसी भी दूसरे शब्द से अन्वित ही उसका अर्थ होता है। इस प्रकार 'विशेष शब्द के साथ भी अन्वित' अर्थ वाच्य नहीं हो सकता। अतएव दोनों ही अर्थों मे व्यङ्ग्यार्थ कभी वच्यकोटि में नहीं आ सकता।

अन्विताभिधानवादी भट्ट लोल्लट के अनुयायी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' ये युक्तियाँ देकर व्यञ्जनावृत्ति को अभिधा मे सन्निविष्ट करते हैं। उनके कथन का आशय यह है–'यह शब्दशक्ति का व्यापार भी बाण के समान अधिक-अधिक हो जाता है। जिस प्रकार बलवान

## लोचन

अथ योऽसौ चतुर्थ कक्षानिविष्टोऽर्थः, स एव झटितिवाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत्—पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।

अब यदि यह जो चौथी कक्षा मे निविष्ट अर्थ है वह शीघ्र ही वाक्य के द्वारा अभिहित कर दिया जाता है, इस प्रकार का दीर्घत्व विवक्षित है तो वहाँ पर सङ्केत न करने से साक्षात् प्रतिपत्ति किस प्रकार होती है ? यदि यह मानों कि निमित्तो मे सङ्केत होता है और यह नैमित्तिक अर्थ सङ्केत की अपेक्षा नहीं करता तो इस श्रोत्रिय की उक्तिकुशलता तो देखो। निस्सन्देह जो यह पर्यन्त ( अन्तिम ) कक्षाभागी पहले ही प्रतीतिपथ मे अवतीर्ण होनेवाला अर्थ ( व्यंग्यार्थ ) है उसके बाद मे होनेवाले पदार्थावगम निमित्त बन जाते है यह तो निस्सन्देह ऐसा ही है कि मीमांसक का प्रपौत्र के प्रति नैमित्तिकत्व बतला दिया गया है।

## तारावती

के द्वारा छोडा हुआ बाण अपने वेगनामक व्यापार के द्वारा शत्रु के कवच को भी काटता है, उसके मर्मस्थान को भी विदीर्ण करता है और उसका प्राणहरण भी करता है। उसीप्रकार महाकवि का प्रयोग किया हुआ शब्द भी अभिधा नामक व्यापार के द्वारा पदार्थ की भी उपस्थिति करता है, अन्वयबोध भी कराता है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी कराता है। आशय यह है कि 'एक अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्दशक्ति का तबतक विराम नहीं होता जबतक विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती।' इनका कहना है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिस अर्थ मे वक्ता का तात्पर्य हो। इसपर मुझे ( श्री अभिनव गुप्त को ) यह पूछना है कि यदि शब्द का ही दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता जाता है तो सब व्यापारों को हम एक ही व्यापार कैसे कह सकते हैं? क्योंकि समस्त व्यापारो मे उनके विषय बदलते जाते हैं। विषय भी भिन्न होते है और सहकारी भिन्न होते ही है। ( अभिधा का सहकारी संकेतग्रहण होता है, लक्षणा के सहकारी शक्यार्थबाध इत्यादि होते हैं और व्यञ्जना के सहकारी वक्तृवैशिष्ट्य इत्यादि होते हैं। ) इस अवस्था मे विभिन्न व्यापार असजातीय ही मानने पडेगे। कारण यह है कि शब्दतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने नियम बना दिया है कि शब्द, बुद्धि और कर्मों का सजातीय कार्य मे रुक-रुक कर व्यापार कभी

## लोचन

अथोच्यते–पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं स्यात्। न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात्। अवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केतः पदार्थमात्रः इत्यभ्युपगमे पाश्चात्यैव विशेषप्रतीतिः।

यदि कहा जावे—पहले वहाँ पर सङ्केतग्रहण से संस्कृत ( व्यक्ति ) की प्रतिपत्ति उस प्रकार की हो जाती है इस वस्तुस्थिति से पदार्थों का निमित्तत्व बन जाता है तो उस ( पार्यन्तिक अर्थ ) के अनुसरण में उपयोगी कुछ भी कहा हुआ नहीं होगा। यह भी नहीं कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रहण हो चुका है क्योंकि अन्विता का ही सर्वदा प्रयोग होता है। अवाप और उद्वाप ( शब्दों के प्रवेश और निर्गम ) के द्वारा वह तत्त्व ( पृथक्-पृथक् पदार्थों में सङ्केतग्रहण ) हो जाता है, यदि यह कहो तो सङ्केत पदार्थमात्र में ही होता है यह मानने पर ( निषेधरूप ) विशेष प्रतिपत्ति बाद में ही होगी।

## तारावती

नहीं होता, व्यापारों की असजातीयता स्वीकार कर लेने पर हमारा ही सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि शब्द की पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना के नाम से अभिहित की जाती हैं।

( पूर्वपक्ष ) यहाँ पर दीर्घ-दीर्घतर व्यापार का आशय यह है कि अभिधा तात्पर्य और लक्षणा के बाद जो यह चौथी कक्षा में निविष्ट व्यङ्ग्यार्थ होता है उसी की वाक्य के द्वारा एकदम प्रतीति हो जाती है। ( उत्तर ) अभिधा से उसी की प्रतीति होती है जिसमें संकेतग्रहण हुआ हो। जब व्यङ्ग्यार्थ में संकेतग्रहण हुआ ही नहीं तब अभिधा के द्वारा उसकी प्रतीति हो ही कैसे सकती है ?

( पूर्वपक्ष ) वाक्य को सुनते ही उसका अन्तिम अर्थ ( व्यङ्ग्यार्थ ) प्रतीतिगोचर हो जाता है। उस व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त शक्यार्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ नैमित्तिक होता है। व्यङ्ग्यार्थ की एकदम प्रतीति हो जाने के बाद विशेषरूप से ध्यान देने पर शक्यार्थ की भी प्रतीति होती है। संकेतग्रहण शक्यार्थ में होता है जो कि व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त होता है। उसी आधार पर नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थ का भी बोध हो जाता है और इसमें संकेतग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती। ( उत्तर ) इन महापण्डित महोदय की उक्तिकुशलता को तो देखो ! अन्तिम कक्षा को प्राप्त होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ तो पहले प्रतीतिगोचर होता है और उसमें निमित्त होता है बाद में प्रतीत होनेवाला पदार्थबोध ! अर्थात् कार्य पहले

## लोचन

अथोच्यते—दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति । तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः । यद्वक्ष्यामः—

तद्वत्सचेतसां योऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते ॥ इति ॥

किन्तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्प-परम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति ।

यदि कहो कि शीघ्र तात्पर्य प्रतिपत्ति देखी ही है इस विषय में हम क्या करें । तो इसको तो हम भी स्वीकार नहीं करते हैं यह बात नहीं है । जैसा कि हम कहेंगे—'उसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख आत्मावाले सहृदयों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि मे वह अर्थ शीघ्र ही अवभासित हो जाता है ।' किन्तु अत्यन्त अनुशीलन के अभ्यास के कारण वहाँपर सम्भावित होते हुये भी क्रम सजातीय पदार्थ विकल्प परम्परा के उदय न होने के कारण विषय की व्याप्ति के समान अथवा समयस्मृति के क्रम के समान संवेदनागोचर नहीं होता ।

## तारावती

होता है और कारण बाद में । आशय यह है कि मीमांसक का परपोता मीमांसक को जन्म देनेवाला होता है ?

यहाँ पर आप यह कह सकते है कि संकेतग्रहण तो पहले ही हो चुका था । बुद्धि पहले ही संकेतग्रहण से संस्कृत रहती है । बाद मे वाक्य सुनने पर व्यङ्ग्यार्थबोध हो जाता है और पदार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त-नैमित्तिक भाव बन जाता है । किन्तु इस अवस्था मे व्यङ्ग्यार्थबोध के लिये आप किस प्रक्रिया का आश्रय लेंगे ? व्यङ्ग्यार्थ में संकेतग्रहण तो हुआ नहीं फिर आप अभिधावृत्ति के आधारपर उसकी प्रतीति कैसे मान सकते है ? दूसरी बात यह है कि संकेतग्रहण आपके मत मे पहले हो ही नहीं सकता क्योंकि आप तो अन्वित मे ही शक्ति मानते हैं । यदि आप यह माने कि संकेतग्रहण अन्वित मे ही होता है, किन्तु शब्दों के अवाप-उद्वाप ( प्रवेश-निर्गम ) के आधार पर संकेतग्रहण पदार्थ मात्र मे भी हो सकता है तो इस पर मेरा निवेदन यह है कि ऐसी अवस्था मे विशेष अर्थ की प्रतीति तो बाद मे ही होगी । अभिहितान्वयवादियों के समान आपको भी तात्पर्यवृत्ति इत्यादि की कल्पना करनी ही पडेगी । ऐसी दशा में अन्विताभिधानवाद का आपका सिद्धान्त ही उच्छिन्न हो जावेगा ।

यहाँ पर आप कह सकते हैं कि पदार्थ-व्यङ्ग्यार्थ का निमित्त-नैमित्तिक भाव बने या न बने किन्तु वाक्य बोलते ही एकदम जो तात्पर्यार्थ की प्रतीति होने लगती है

## लोचन

निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्यमाश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद्भेदः, 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादि प्रक्रियाविघातः, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात्। निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरमस्मास्वसूयया।

निमित्त-नैमित्तिक का आश्रय तो अवश्य ही लिया जाना चाहिये। अन्यथा गौण लाक्षणिक में मुख्य से भेद (सिद्ध नहीं होता) और 'श्रुति लिंग इत्यादि छः प्रमाणों मे पारदौर्बल्य' इस प्रक्रिया का विघात (हो जाता है।) क्योंकि निमित्तताके वैचित्र्य से ही इसका समर्थन होता है। निमित्ततावैचित्र्य के मानलेने पर हमारे प्रति असूया से क्या दूसरा लाभ (आपको प्राप्त होगा। अर्थात् आपने तो हमारी बात ही मान ली।)

## तारावती

उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है? इस पर मेरा निवेदन यह है कि इस बात को तो हम भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है। ध्वनिकार ने स्वयं कहा है:—

'सहृदयों की अन्तरात्माये वाक्य के वाच्यार्थ से सर्वथा विमुख होती है। उनकी तत्त्वावभासिनी बुद्धि मे वाच्यार्थज्ञान के विना ही व्यङ्ग्यार्थ एकदम स्फुरित होने लगता है।' किन्तु इस कथन का अभिप्राय यही है कि जिन लोगों ने काव्य इत्यादि का अत्यन्त अनुशीलन किया है उनको अभ्यासवश एकदम व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति मे अङ्गभूत पदार्थबोध इत्यादि क्रम की सम्भावना रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार धुआँ को देखकर एकदम आग का बोध हो जाता है और व्याप्तिग्रह, लिङ्गपरामर्श इत्यादि क्रम की संभावना होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। अथवा गाय इत्यादि पदार्थों के देखते ही उनका बोध हो जाता है—संकेतग्रहण, संकेतस्मृति इत्यादि क्रम के होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार प्रतीत न होते हुए भी निमित्त-नैमित्तिक भाव तो मानना ही पड़ेगा।

[काव्यप्रकाशकारने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो व्यापारः' इन दोनों वाक्यो की विशेषरूप से आलोचना की है। यहाँ पर काव्यप्रकाशकार की आलोचना का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा।

काव्यप्रकाशकार का कहना है कि जो लोग मीमासकों के 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इस वाक्य का आश्रय लेकर व्यञ्जनाव्यापार का निषेध करने की चेष्टा करते है वे लोग मीमासकों की इस तात्पर्यार्थविषयक वाणी के तात्पर्य को विलकुल नहीं समझते और इस प्रकार वे लोग भी सर्वथा देवो के प्यारे (पशु) ही है। वस्तुतः

## तारावती

मीमांसकों की इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि जब वाक्य के अन्दर विद्यमान पदों की उपस्थिति होती है तब उनमें कुछ शब्द तो सिद्ध होते हैं और कुछ साध्य। साध्यों का ही विधान किया जाता है और उन्हीं में वक्ता का तात्पर्य होता है। उसी के बोध के लिये वाक्य का प्रयोग किया जाता है। वही अर्थ ऐसा होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव अज्ञात अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अंश में प्रामाणिक का निर्वाह होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव अज्ञात अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अंश में प्रामाणिकता का निर्वाह होता है जैसा कि कहा भी गया है 'भूत ( सिद्ध ) और भव्य ( साध्य ) दोनों के उच्चारण में सिद्ध शब्द का साधारण अर्थ है कारक और साध्य शब्द का साधारण अर्थ है क्रिया। जब कारकपदों का क्रियापद के साथ अन्वय होता है तब कारकपदार्थ प्रधान क्रिया को पूरा करनेवाली अपनी क्रिया के सम्बन्ध से साध्य बन जाते हैं। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'गाय' कारक शब्द है और 'लाओ' क्रिया शब्द। कारक शब्द गाय यद्यपि स्वतः सिद्ध शब्द है किन्तु लाना क्रिया की पूर्णता के लिये गाय के चलने की क्रिया अभीष्ट हो जाती है। अपनी क्रिया से प्रधान क्रिया को पूर्णता प्रदान करने के कारण गाय यह सिद्ध शब्द भी साध्य बन जाता है। इसी प्रकार 'घड़ा लाओं' इस वाक्य में भी 'लाना' रूप प्रधान क्रिया की पूर्ति के लिए सिद्ध शब्द 'घड़ा' की पूर्वदेश त्याग और अन्यदेशसंयोग रूप क्रिया की अपेक्षा होती है। अतः घड़ा शब्द भी साध्यकोटि में आ जाता है। इसप्रकार जब सभी शब्द साध्य हो गये तब जिस प्रकार तृणों की राशि में पड़ी हुई आग उन्हीं तृणों को जलाती है जो जले नहीं होते, उसी प्रकार वाक्य के प्रयोग में भी जितनी बात हमें किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात होती है उसका विधान नहीं होता और जो वस्तु अप्राप्त ( अज्ञात ) होती है उसी का विधान होता है। उदाहरण के लिये श्येनयाग के प्रकरण में एक वाक्य आया है—'लालपगडीवाले ऋत्विज इधर-उधर सञ्चरण कर रहे हैं।' यहाँ पर चार तत्त्व हैं—लाली, पगड़ी, ऋत्विज और सञ्चरण क्रिया। श्येनयाग में ज्योतिष्टोम का अतिदेश ( समानता ) प्रतिपादित है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में लिखा है कि 'पगड़ीवाले ऋत्विज इधर-उधर विचर रहे है।' इस वाक्य से पगड़ी, ऋत्विज और विचरण तो प्राप्त ही हो जाते हैं। अतएव इन तीन बातों के ज्योतिष्टोम प्रकरण के प्रमाण से सिद्ध हो जाने पर श्येनयाग में केवल पगडी की लाली ही विधेय रह जाती है। इसी प्रकार 'दही से हवन करता है' इस वाक्य में तीन पदार्थ है—दही, करणकारक और हवनक्रिया। इनमें हवन तो प्रकरण से ही सिद्ध है। साधनद्रव्य होने के कारण दही का भी

## तारावती

आक्षेप कर ही लिया जाता है। अतएव यहाँ पर केवल करण कारक ही विधेय रह जाता है क्योंकि वही अप्राप्त है।

कहीं कहीं दो विधियाँ होती हैं, कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं इससे भी अधिक विधियाँ होती हैं। जैसे 'लाल कपड़ा बुनो' यहाँ पर लाली, कपड़ा और बुनना ये तीन शब्द हैं। यदि पहले से मालूम है कि कपड़ा बुनना है तो केवल लाली ही विधेय होगी। यदि पहले से इतना मालूम है कि कुछ बुनना है, यह पता नही कि क्या बुनना है तो लाली और कपड़ा ये दो विधेय होंगे। यदि पहले से कुछ भी नहीं ज्ञात है तो लाली, कपड़ा और बुनना ये तीनों विधेय होंगे। इसी प्रकार 'स्नान और भोजन किये हुये ब्राह्मण को ले आओ' इस वाक्य में यदि पहले से कुछ भी मालूम नहीं है तो स्नान भोजन ब्राह्मण और आनयन ये चार विधेय होंगे। यदि इतना मालूम है कि ब्राह्मण को लाना है तो उसका स्नान और भोजन ही विधेय होगा। यदि इतना मालूम है कि ब्राह्मण स्नान किये बैठा है तो केवल उसका भोजन करना ही विधेय होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो विधेय होता है उसी मे तात्पर्य माना जाता है। अतएव जो उच्चरित शब्द है किसी वृत्ति के द्वारा उसी के अर्थ मे तात्पर्य हो सकता है। इस प्रकार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का यही आशय है कि वाक्य में विद्यमान अनेक पदार्थों मे वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ मे होता है वही उसका अर्थ माना जाता है। न तो प्रतीत होनेवाला सभी कुछ तात्पर्यार्थ ही होता है और न व्यङ्ग्यार्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में ही हो सकता है। यदि जो कुछ भी जिस किसी भी सम्बन्ध से प्रतीत हो उसी मे तात्पर्य माना जावे तो 'पहला मनुष्य दौड़ रहा है' इसका तात्पर्य दूसरे मनुष्य मे भी माना जाने लगेगा। क्योंकि दूसरे के बिना पहला शब्द का कोई आशय ही नहीं है। तात्पर्यार्थ शब्दोपात्त अर्थ मे होता है और व्यङ्ग्यार्थ उससे पृथक् रहता है। अतएव व्यङ्ग्यार्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में नहीं हो सकता और न अभिधावृत्ति के द्वारा वह गतार्थ ही हो सकता है।

(प्रश्न) 'विष खालो और इसके घर मे मत खाना' इसका तात्पर्य यह है कि इसके घर मे नहीं खाना चाहिये। यही वाक्यार्थ है। 'विष खालो' का यह शब्दोपात्त अर्थ हो ही नहीं सकता और तात्पर्य इस अर्थ मे माना ही जाता है। जब शब्दोपात्त अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ मे तात्पर्य माना ही जा सकता है और उसमे अभिधावृत्ति से काम चल जाता है तब केवल इसी आधार पर कि व्यङ्ग्यार्थ शब्दोपात्त नहीं है उसे तात्पर्यार्थ के अन्तर्गत क्यो नहीं माना जा सकता? (उत्तर)

तारावती

'विष खालो और इसके घर में मत खाना' इन दोनों के बीच में 'और' यह संयोजक अव्यय रक्खा है। यह दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध करता है। दो आख्यात (पूर्णक्रियासम्पन्न) वाक्यों का परस्पर अङ्गाङ्गीभाव हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार समान होने के कारण दो गुणों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार जबतक कोई प्रबल युक्ति न उपस्थित हो तबतक दो पूर्ण क्रियाओं का भी परस्पर अङ्गाङ्गीभाव नहीं हो सकता। न तो इन दोनों वाक्यों का कर्तृत्व कर्मत्व इत्यादि के रूप में अन्वय हो सकता है। 'विष खालो' यह एक मित्र की सम्मति है जो सर्वथा असम्भव है। अतएव इसका बाध हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'इसके घर मे भोजन करना विषभक्षण की अपेक्षा भी अधिक हानिकर है'। इसप्रकार यह लक्ष्यार्थपरक वाक्य अङ्ग मान लिया जाता है और 'किसी भी प्रकार इसके घर मे भोजन न करना चाहिये' इस वाक्य के हेतु के रूप मे आ जाता है। इस प्रकार यहाँ पर शब्दोपात्त अर्थ मे ही तात्पर्य है यह बात सिद्ध हो गई। लक्षणा वहाँ पर होती है जहाँ पर वाक्य अपने अर्थ मे सङ्गत न हो और उसकी सङ्गति के लिये तत्सम्बद्ध दूसरा अर्थ लिया जावे। व्यञ्जना इससे भिन्न होती है। व्यञ्जना वहीं पर हो सकती है जहाँ वाक्य का स्वतन्त्र अर्थ पूरा हो जावे और दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगे।]

—अभिधा और व्यञ्जना का भेद—

ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि अभिधा और व्यञ्जना मे निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है। अभिधा निमित्त होती है और व्यञ्जना नैमित्तिक। निमित्त और नैमित्तिक का तादात्म्य कभी हो ही नहीं सकता। अतएव ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती हैं यह विवाद का विषय रह ही नहीं जाता। यह निमित्त-नैमित्तिक भाव तो मानना ही पडेगा। नहीं तो निम्न-लिखित स्थानों की सङ्गति नहीं बैठ सकती:—

(अ) गौण और मुख्य मे भी भेद सिद्ध नहीं होगा। मुख्य (शक्यार्थ) के बाध मे ही लक्षणा हो सकती है। इस प्रकार शक्यार्थ निमित्त होता है और लक्ष्यार्थ नैमित्तिक होता है। यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं माना जावेगा तो न तो शक्यार्थबाध का ही प्रश्न पैदा होगा और न मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का भेद ही हो सकेगा।

(आ) भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में लिखा है कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इनमें अर्थ विप्रकर्ष के कारण क्रमशः पर को दुर्बलता आती जाती है। यह विनियोजक सूत्र है और विनियोजकों के शक्ति

## तारावती

तारतम्य पर विचार करता है। विनियोजक ६ होते हैं–(१) श्रुति–श्रवण मात्र से ही विना किसी अपेक्षा के अर्थ को प्रकट करने की शक्ति (२) लिङ्ग–किसी शब्द की विशेष अर्थद्योतक शक्ति (३) वाक्य–परस्पर आकांक्षा के कारण किसी एक अर्थ मे पर्यवसित होनेवाले पदो को वाक्य कहते हैं। यह ऐसे स्थान पर विनियोजक होता है जहाँ पर किसी दूसरे प्रमाण से वाक्य का कोई एक अंश किसी एक अश मे विनियुक्त हो गया हो तथा उसके दूसरे अंश विनियोग-रहित ही रह जावे। तब एकवाक्यता होने के कारण उसके दूसरे अंश भी उसी अर्थ में विनियुक्त हो जाते हैं जिसमे उस वाक्य का कोई अंश विनियुक्त हुआ रहता है। (४) प्रकरण–परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। जैसे एक विधान है कि 'दर्श और पूर्णमास नामक यज्ञों के द्वारा स्वर्ग के लिए अपूर्वता का सम्पादन करना चाहिये'। यहाँ पर यह आकाक्षा उत्पन्न होती है कि स्वर्ग की अपूर्वता का सम्पादन कैसे किया जाता है। दूसरी ओर प्रयाज इत्यादि की विधि बतलायी गई है किन्तु उनका फल नहीं बतलाया गया है। दर्श और पूर्णमास मे विधि की आकांक्षा है और फल बतलाया गया है तथा प्रयाजादिकों मे फल की आकांक्षा है और विधि बतलाई गई है। इस प्रकार प्रकरण से प्रयाजादियों की दर्शपूर्णमासाङ्गता सिद्ध हो जाती है। (५) स्थान-अर्थात् समान देश मे होना। इसी को क्रम कहते हैं। यह देश की समानता दोनों प्रकार की हो सकती है, पाठ की भी और अनुष्ठान की भी। (६) समाख्या–अर्थात् यौगिक शक्ति। रूढ़िशक्ति का समावेश लिङ्ग मे हो जाता है और यौगिक शक्ति समाख्या मे आती है। इन्ही ६ तत्त्वों के द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि किस मन्त्र का विनियोग किस स्थान पर होगा? यदि इनमे परस्पर विरोध हो तो पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है। क्योंकि पर की उपस्थिति पूर्व की अपेक्षा विलम्ब से होती है। जैसे श्रुति के द्वारा तो शब्द सुनते ही अर्थ की उपस्थिति हो जाती है किन्तु लिङ्ग के द्वारा अर्थोपस्थापन में छानबीन करनी पड़ती है। उदाहरण के लिये अग्निहोत्र के प्रकरण मे एक ऋचा पढ़ी गई है–'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।' अर्थात् 'हे इन्द्र तुम कभी भी घातक नहीं होते हो किन्तु हवि देनेवाले के प्रति प्रसन्न होते हो।' इसके बाद लिखा है–'ऐन्द्रीऋक् के द्वारा गार्हपत्य का उपस्थान करता है' यहाँ पर शब्द श्रुति से तो यह ज्ञात होता है कि इस ऋचा के द्वारा गार्हपत्य की पूजा की जानी चाहिये। किन्तु इन्द्र की स्तुतिरूप लिङ्ग से यह निष्कर्ष निकलता है कि इससे इन्द्र की पूजा होनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर श्रुति और लिंग का विरोध है। लिंग दुर्बल है क्योंकि श्रुति के बाद पढ़ा गया है। अतः उक्त ऋचा से गार्ह-

पत्य की पूजा की जावेगी इन्द्र की नहीं। ( विस्तृत व्याख्या के लिये देखें शाबर भाष्य ) अभिधा और व्यञ्जना का निमित्त-नैमित्तिक भाव मान लेने पर ही इस सूत्र की संगति बैठती है। यदि शब्द श्रुति के बाद जितनी भी उपस्थिति हों सबमे अभिधा व्यापार ही माना जावे तो उपस्थिति में न तो पौर्वापर्य हो सकता है और न उनमें एक की अपेक्षा दूसरा बलवान् ही कहा जा सकता है। अतएव इस सूत्र की संगति के लिये निमित्तनैमित्तिक भाव मानना चाहिये। निमित्ततावैचित्र्य के मान लेने पर हमारे प्रति असूया करने से और क्या लाभ हो सकता है?

इस विषय मे काव्यप्रकाश मे विस्तार पूर्वक विचार किया गया है जिसका सार यह है--

ध्वनि विरोधी—उक्त सूत्र की संगति के लिये व्यञ्जनावृत्ति के मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार एक महावाक्य मे छोटे-छोटे कई वाक्यखण्डो मे किसी एक के अर्थ के पूर्ण हो जाने पर भी अभिधा तब तक विश्रान्त नहीं होती जब तक उस पूरे महावाक्य का अर्थ पूरा नहीं हो जाता, उसी प्रकार श्रुति इत्यादि विनियोजक भी अर्थबोध मे सहकारीमात्र होते है। जैमिनि सूत्र का आशय यह है कि जिन सहकारियो की पहले उपस्थिति होती है वे सहकारी परवर्तियों की अपेक्षा अधिक बलवान् होते है। इस प्रकार जैमिनि सूत्र की सगति भी बैठ जाती है और व्यञ्जना की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

(इ) ध्वनिवादी–यदि आप केवल अभिधावृत्ति को मानेंगे तो 'कुरु रुचिम्' इन शब्दों को उलट देने से 'रुचिङ्कुरु' यह हो जाने पर काव्यान्तर्वर्ती अश्लीलत्व दोष किस प्रकार बन सकेगा? चिङ्कुशब्द लाटी भाषा मे स्त्री की योनि के अन्तर्वर्ती अंकुर के लिये प्रयुक्त होता है। अन्विताभिधानवादियों के मत मे अन्वित मे ही शक्ति मानी जाती है चिङ्कु शब्द पहाँ पर किसी से भी अन्वित नहीं है। अतएव यहाँ पर उसका प्रतीयमान असभ्य अर्थ अश्लीलत्व दोष की सीमा मे आ ही नहीं सकता। अतः काव्य मे उसके परित्याग की आवश्यता ही नहीं रह जाती। व्यञ्जना वृत्ति के मानने से ही यहाँ दोष की व्यवस्था की जा सकती है, अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

ध्वनि विरोधी—उक्त तर्क समीचीन नहीं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अनुभव की हुई शक्ति अन्वित मे स्मारक होती है। चिङ्कु शब्द की शक्ति का असभ्य अर्थ मे अनुभव किया जा चुका है। अतएव वह उसी अर्थ को स्मरण करा देगी और दोष की व्यवस्था हो जावेगी। उसके लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं।

(ई) ध्वनिवादी-यदि वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यंग-व्यञ्जकभाव अंगीकृत नहीं

## तारावती

किया जावेगा तो यह व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं बन सकेगी कि व्याकरणलक्षण-हीन असाधुत्व इत्यादि नित्य दोष होते हैं और कष्टत्व श्रुतिकटुत्व इत्यादि अनित्य दोष होते हैं। साहित्यशास्त्र में कुछ दोष तो नित्य माने जाते हैं और कुछ अनित्य। उदाहरण के लिये व्याकरण के नियम की अवहेलना एक ऐसा दोष है जो सर्वत्र दोष ही रहता है। इसके प्रतिकूल कुछ दोष सार्वत्रिक नहीं होते। जैसे श्रुतिकटु दोष शृंगाररस में तो बुरा मालूम पडता है किन्तु रौद्ररस मे गुण हो जाता है। ऐसे दोष अनित्य दोष कहलाते हैं। नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था तो तभी बनेगी जब व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार किया जावेगा। केवल अभिधावृत्ति के मानने पर वही दोष माना जावेगा जो वाक्यार्थव्यवच्छेदक होगा और ऐसे सभी तत्त्व सर्वत्र दोष ही माने जावेंगे। इसके प्रतिकूल व्यञ्जनावृत्ति के मानने पर दोषों की नित्यानित्यत्व व्यवस्था संगत हो जावेगी। क्योंकि व्यञ्जना के अधीन एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक शब्द किसी व्यंग्यार्थ को पुष्ट कर सकता है दूसरे को अपुष्ट। अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

(उ) साहित्य शास्त्र का नियम है कि कहीं पर कोई शब्द उचित मालूम पड़ता है और दूसरे स्थान पर उसी अर्थ मे उसका पर्यायवाचक ही अच्छा मालूम पड़ता है। जैसे स्त्री के पर्यायवाचक तन्वी, ललना, कामिनी इत्यादि अनेक शब्द है। 'तन्वी' शब्द वियोगावस्था के अनुकूल है, 'ललना' संयोगकाल मे ही उचित प्रतीत होता है और 'कामिनी' शब्द यौवनागमजन्य मदन-विकार की अवस्था में ही अच्छा मालूम पड़ता है। 'कपाली' और 'पिनाकी' ये दोनों शङ्कर जी के पर्यायवाचक शब्द हैं। जब ब्रह्मचारी शङ्करजी की निन्दा करते हुए पार्वतीजी को शङ्करजी से विरक्त करना चाहता है उस समय घृणा की व्यञ्जना के कारण कपाली शब्द का प्रयोग ही उचित है। इसके प्रतिकूल जब कामदेव शङ्कर का सामना करने की दम भरता है उस समय वीरता की व्यञ्जना करने के कारण 'पिनाकी' शब्द ही समीचीन है। यदि केवल अभिधावृत्ति ही मानी जावेगी तो दोनो शब्दों का अभिधेयार्थ तो एक ही होगा फिर यह विभाग-व्यवस्था कैसे बन सकेगी? अतः व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी ही चाहिये।

(ऊ) वस्तुतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ मे निम्नलिखित बातों मे भेद होता है:—

(१) स्वरूप भेद—कहीं वाच्यार्थ विधिपरक होता है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक, कही वाच्यार्थ निषेधपरक होता है और व्यंग्यार्थ विधिपरक। कहीं वाच्यार्थ निश्चयपरक होता है और व्यंग्यार्थ अनिश्चयपरक, कही वाच्यार्थ अनिश्चयपरक होता है और व्यंग्यार्थ निश्चय परक, कहीं वाच्यार्थ निन्दापरक होता है और

तारावती

व्यंग्यार्थ प्रशंसापरक । इसप्रकार दोनों में स्वरूप-भेद होता है। (इनके उदाहरण मूल में दिये गये हैं)

(२) काल-भेद—वाच्यार्थ सदा कारण होता है और व्यंग्यार्थ कार्य । कारण कार्य से सर्वदा पहले आता है । अतएव वाच्यार्थ पहले आता है व्यंग्यार्थ बाद मे । यह काल-भेद है ।

(३) आश्रय-भेद—वाच्यार्थ का आश्रय केवल वाक्य या शब्द होता है । किन्तु व्यंग्यार्थ का आश्रय वाक्य शब्द पद पदांश वर्ण रचना इत्यादि कोई भी हो सकता है ।

(४) निमित्त-भेद—वाच्यार्थ मे निमित्त केवल व्याकरण कोश इत्यादि शब्दानुशासन का ज्ञान होता है किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति में निमित्त शब्दानुशासन ज्ञान भी होता है और प्रकरण इत्यादि का ज्ञान, प्रतिभा की निर्मलता इत्यादि भी होते हैं । इस प्रकार इन दोनों में निमित्त-भेद है ।

(५) कार्य अथवा प्रभाव-भेद—वाच्यार्थ का ज्ञान ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को हो सकता है जिसे शब्दानुशासनज्ञान हो । किन्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञान केवल सहृदयों को ही हो सकता है । दूसरी बात यह है कि वाच्यार्थ केवल प्रतीति का उत्पादक होता है जब कि व्यंग्यार्थ चमत्कार को भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार दोनों में प्रभाव-भेद भी विद्यमान है ।

(६) संख्या-भेद—वाच्यार्थ सभी समझनेवालों के लिये केवल एक प्रकार का होता है किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण इत्यादि के सहकार से अनेक प्रकार का हो जाता है । उदाहरण के लिये एक वाक्य है 'सूर्य अस्त हो गया ।' इसके प्रतिकूल प्रतीयमान अर्थ नाना परिस्थितियो मे नाना प्रकार का हो जावेगा । हमे व्यंग्यार्थ करने मे इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि अमुक वाक्य किस प्रकरण में कहा गया ? कहनेवाला किस प्रकार का व्यक्ति है ? सुननेवाले में क्या विशेषता है ? इन सबकी विशेषताओं से व्यंग्यार्थ अनेक प्रकार का हो जावेगा । 'सूर्य अस्त हो गया' यह वाक्य (१) यदि युद्धकाल में राजा द्वारा अपने सेनापतियों से कहा गया तो इसका अर्थ होगा—आक्रमण करने का यही अवसर है । (२) यदि दूती नायिका से कहेगी तो इसका अर्थ होगा—'अभिसार मे शीघ्रता करो ।' (३) यदि दूती वासक-सज्जा से कहेगी तो इसका अर्थ होगा कि 'तुम्हारा प्रियतम आने ही वाला है' । (४) यदि कोई मजदूर अपने साथी से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब हम लोग काम बन्द करे ।' (५) यदि नौकर ब्राह्मण से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब सन्ध्योपासन का समय हो गया' । (६) यदि कार्यवश बाहर जानेवाले प्रियव्यक्ति से यह वाक्य कहा जावेगा तो इसका अर्थ होगा—'दूर मत जाना' । (७) यदि कोई

## तारावती

गृहस्थ किसी पशुचरानेवाले से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब जानवरों को घर ले जाओ'। (८) दिन में यात्रा करनेवाला या धूप में काम करनेवाला यदि अपने बन्धुओं से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब धूप तेज नहीं रही'। (९) यदि दूकानदार नौकरों से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब बिक्री की वस्तुओं को समेट लो'। (१०) यदि प्रोषितपतिका यह वाक्य अपनी सखी से कहेगी तो इसका अर्थ होगा–'प्रियतम अब भी नहीं आया, अब वियोग मेरे लिये असह्य हो रहा है'। इस प्रकार वाच्यार्थ केवल एक होता है और व्यंग्यार्थ अनेक, यह संख्या-भेद है।

(ए) विषयभेद—वाच्यार्थ सभी विषयों के प्रति एक होता है किन्तु व्यंग्यार्थ विषयों के अनुसार परिवर्तित होता जाता है। उदाहरण के लिये यदि कोई सखी नायिका के परकीय सुरत को छिपाने के लिये कोई बहाना बनाती है तो उस वाक्य का वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों के विषय में एक सा ही होगा, किन्तु व्यंग्यार्थ विषयभेद से भिन्न हो जावेगा। नायिका के विषय में उसका व्यंग्यार्थ और होगा, नायक के विषय में और होगा, उपपति के विषय में और होगा, इसी प्रकार पडोसी सपत्नी इत्यादि प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार उसका व्यंग्यार्थ बदल जावेगा। इसका उदाहरण 'कस्य वा न भवेद्रोषो' इस पद्य के रूप में दिया जावेगा। इस प्रकार इन दोनों का विषयभेद होता है।

यदि इतने भेद होते हुये भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक ही माने जावेंगे तो फिर नील-पीत का भेद भी प्रतिपादित नहीं किया जा सकेगा। वैसे तो समस्त दर्शनों का सार ही अभेदवाद है, द्वैतबुद्धि का निवारण ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। किन्तु अभेद में भेद का देखना ही व्यवहार का एकमात्र कारण होता है। वृद्धो ने कहा है–'एक दूसरे के भेद या भेदहेतुओं में कारण यही है कि उन पर विरुद्ध धर्मों का अध्यास कर दिया जावे और उनकी उत्पत्ति विभिन्न कारणों से हो। विरुद्ध धर्मों का अध्यास और विरुद्ध कारणों से उत्पत्ति ये दोनों हेतु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विद्यमान है यह विस्तार के साथ दिखलाया जा चुका है। अतः दोनों का पृथक्-पृथक् मानना अनिवार्य है।

जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद होता है उसी प्रकार वाचक शब्द और व्यञ्जक शब्द में भी भेद होता है। वाचक शब्दों को संकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जक को ऐसी कोई अपेक्षा नहीं होती। व्यञ्जना केवल एक शब्द से ही नहीं होती–किन्तु पदांश, वर्ण अथवा केवल मात्रा से भी हो सकती है जिसका कोई अर्थ ही नहीं होता। जिस व्यक्ति ने संकेतग्रहण न किया हो वह भी व्यंग्यार्थ के ग्रहण कर लेने में समर्थ हो जाता है। कभी-कभी तो शब्द के अभाव में भी

## तारावती

केवल चेष्टा ही व्यञ्जक हो जाती है। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी एक दूसरे से भिन्न हैं तथा वाचक शब्द और व्यञ्जक शब्द भी भिन्न ही हैं। असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीक्षा किये बिना वाच्यार्थ ही काव्यानन्द का पोषक हो जाता है। इसके बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। यदि व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार नहीं की जावेगी तो बाद में प्रतीत होनेवाले व्यंग्यार्थ में किस वृत्ति का सहारा लिया जावेगा। ऐसे स्थान पर अभिधा से काम नहीं चल सकता, क्योंकि आपके सिद्धान्त के अनुसार अभिधा विधेय में ही होती है और विधेय तो वाच्यार्थ ही हो गया। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का किसी भी प्रकार अभिधा में समावेश नहीं किया जा सकता।

### —लक्षणा और व्यञ्जना का भेद—

कुछ विद्वान् लक्षणा को तो अभिधा से भिन्न मानते हैं किन्तु व्यञ्जनावृत्ति को अङ्गीकार करना नहीं चाहते। वे लोग व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा में करते हैं। इनका कहना है कि व्यञ्जना के भेदक धर्म केवल चार हैं। (१) व्यङ्ग्यार्थ एक नहीं किन्तु अनेक प्रकार का होता है। (२) वह ध्वनि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। (३) उसकी प्रतीति शब्द और अर्थ दोनों के आधीन होती है। वह प्रकरण इत्यादि की अपेक्षा रखता है। यही सब बातें लक्षणा में भी पाई जाती हैं। (१) लक्ष्यार्थ भी एक नहीं अनेक प्रकार का होता है। उदाहरण के लिये राम शब्द को ले लीजिये—'मैं राम हूँ सब कुछ सह रहा हूँ' में राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं तो दुःख सहने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे भाग्य में सुख कहाँ?' इसी प्रकार सीता-परित्याग के अवसर पर 'हे प्रिये! अपने जीवन का मोह रखनेवाले 'राम ने' प्रेम के निर्वाह के लिये उचित कार्य नहीं किया।' यहाँ पर राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं सीता-परित्याग जैसे निर्दय कर्म का करनेवाला हूँ। मुझ जैसा कृतघ्न तथा प्रेम का झूठा आडम्बर भरनेवाला दूसरा नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'यह राम हैं जो भुवन में महती ख्याति प्राप्ति कर चुके हैं।' यहाँ पर 'राम' शब्द का लक्ष्यार्थ होगा—'खरदूषण जैसे महान् वीरों का वध करनेवाले महापराक्रमी राम।' इस प्रकार एक ही राम शब्द के अनेक अर्थ हो गये और व्यञ्जना का प्रथम धर्म अनेक अर्थों का प्रतिपादन करना लक्षणा में भी मिल गया। (२) व्यञ्जना के समान लक्षणा में भी अर्थान्तर संक्रमण इत्यादि हो सकते हैं। (३) व्यञ्जना के समान लक्षणा भी शब्द और अर्थ दोनों के अधीन होती है। क्योंकि मुख्यार्थ भी मुख्यार्थबाध में निमित्त होता ही

## तारावती

है। (४) व्यञ्जना के समान ही लक्षणा में भी प्रकरण इत्यादि अपेक्षित होते ही हैं। कारण यह है कि तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा की एक बहुत बड़ी शर्त है और तात्पर्यानुपपत्तिज्ञान के लिये प्रकरणज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि व्यञ्जना के समस्त धर्म लक्षणा मे मिल जाते हैं और इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती कि लक्षणा से पृथक् व्यञ्जना नाम की नई वृत्ति मानी जावे। जब कोई वैधर्म्य है ही नहीं तब व्यञ्जना नाम की नई वस्तु मानने की आवश्यकता ही क्या है। यह समझ मे नहीं आता।

अब आइये उक्त तर्कों की कुछ आलोचना कर लें—(१) यह तो माना ही जा सकता है कि लक्ष्यार्थ नानाप्रकार के होते हैं। किन्तु यह अनेकरूपता व्यंग्यार्थ की अनेकरूपता के समान नहीं होती, प्रत्युत वाच्यार्थ की अनेकरूपता के समान होती है। जैसे किसी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु किसी एक वाक्य में संयोग इत्यादि के द्वारा उन अर्थों का नियन्त्रण हो जाता है और उस शब्द का उस वाक्य मे नियत अर्थ ही माना जाता है। उसीप्रकार किसी एक वाक्य मे लक्ष्यार्थ भी नियत ही होता है। एक ही वाक्य मे कई एक अनिश्चित अर्थ नहीं हो सकते। जिस अर्थ का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध ही न हो ऐसे अर्थ मे लक्षणा की ही नहीं जा सकती। उदाहरण के लिये—'गङ्गा मे अहीर का घर' इस वाक्य मे निश्चित रूप से गङ्गा का लक्ष्यार्थ तट ही हो सकता है क्योंकि निश्चित रूप से गङ्गा शब्द का तट से ही सम्बन्ध है। इसके प्रतिकूल व्यंग्यार्थ एक ही वाक्य में सैकड़ों हो सकते है जैसा कि 'सूर्य अस्त हो गया' के विभिन्न व्यंग्यार्थों की व्याख्या में दिखलाया जा चुका है। यह भी कोई नियम नहीं है कि व्यङ्ग्यार्थ कोई ऐसा ही अर्थ हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो। प्रकरण इत्यादि के सहकार से व्यङ्ग्यार्थ ऐसा भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो, ऐसा भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित न हो और ऐसा भी हो सकता है जहाँ वाच्यार्थ के साथ सम्बन्धपरम्परा के कारण प्रतीत होनेवाले अर्थ की भी परम्परा स्थापित की जा सके, अर्थात् जहाँ एक सम्बन्ध से एक अर्थ की प्रतीति हो और सम्बद्ध अर्थ से सम्बन्ध होने के कारण दूसरा और फिर तीसरा अर्थ इत्यादि प्रतीत हों। यही इन दोनों की अनेकार्थता में भेद है। इसीलिये हम लक्ष्यार्थ मे व्यंग्यार्थ का समावेश नहीं कर सकते।

यहाँ पर कोई भी व्यक्ति यह तर्क कर सकता है कि लक्षणा को ही क्यों न नियत और अनियत दोनों विषयों मे मान लिया जावे? केवल इतने के लिये एक पृथक् वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता? इस पर मेरा निवेदन है कि लक्षणा और

## तारावती

व्यञ्जना में केवल इतना ही भेद नहीं होता, अपितु इसके अतिरिक्त भी कई अन्य बातों में भेद होता है। लक्षणा में नियमानुकूल मुख्यार्थबाध अवश्य होता है किन्तु व्यञ्जना मे ऐसा नहीं होता। आचार्यों ने व्यञ्जना के दो भेद किये है (१) अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलक ध्वनि और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलक ध्वनि। प्रथम प्रकार मे मुख्यार्थबाध होता है किन्तु द्वितीय प्रकार मे मुख्यार्थबाध की अपेक्षा नहीं होती। लक्षणा के दो भेद किये जाते है—निरूढा और प्रयोजनवती। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन की प्रतिपत्ति विना व्यञ्जना के नहीं हो सकती। उसके लिये व्यञ्जना का मानना अनिवार्य है। अतएव लक्षणा में व्यञ्जना का समावेश कथमपि सम्भव नहीं है।

अभिधा के समान ही व्यञ्जना मे भी मुख्यार्थबाध इत्यादि तीन हेतुओ की आवश्यकता नहीं होती। लक्षणामूलक व्यञ्जना मे लक्षणा के पीछे व्यञ्जना चलती है। पहले लक्षणा हो जाती है फिर प्रयोजनप्रतिपत्ति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लिया जाता है। निमित्त और प्रयोजन कभी एक नहीं हो सकते। व्यञ्जना सर्वदा लक्षणा के पीछे ही चले ऐसा भी नहीं होता। क्योंकि अभिधामूलक व्यञ्जना मे लक्षणा होती ही नहीं। यह भी नही कहा जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा अभिधा और लक्षणा दो में एक के पीछे चलती है। क्योंकि व्यञ्जना अर्थ की अपेक्षा से रहित वर्णमात्र मे भी हो जाती है। कोमल, कठोर इत्यादि वर्णो से माधुर्य ओज इत्यादि गुणों की व्यञ्जना होती है और उससे रसादि की व्यञ्जना हो जाती है। यह भी नियम नहीं बनाया जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा शब्द के द्वारा ही होती है। प्रायः लोग कहा करते है कि नायिका ने अपने नेत्र के इशारे से ही अपना मनोभाव सूचित कर दिया। यह सूचना केवल व्यञ्जनावृत्ति से ही हो सकती है। लक्षणा ऐसे स्थान पर हो ही नहीं सकती। संक्षेप में लक्षणा और व्यञ्जना में निम्न-लिखित छः बातों मे भेद होता है—

(१) व्यञ्जना के अर्थ अनन्त हो सकते है किन्तु लक्षणाजन्य अर्थ सीमित होते हैं।

(२) लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ से सम्बन्धित ही होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिये ऐसा कोई नियम नहीं।

(३) लक्षणा में शक्यार्थबाध होता है किन्तु व्यञ्जना में नहीं।

(४) प्रयोजनवती लक्षणा में व्यञ्जना लक्षणा के पीछे रहती है।

(५) अभिधा के समान व्यञ्जना में भी विशेष प्रकार के संकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जना मे नहीं होती।

तारावती

( ६ ) व्यञ्जना लक्षणा में भी होती है, अभिधा में भी होती है, वर्णमात्र में भी होती है और संकेतमात्र में भी होती है। लक्षणा का इतना विस्तार नहीं होता।

—धनिक की तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना—

दशरूपककार धनञ्जय और अवलोक टीकाकार धनिक ने ध्वनिसिद्धान्त का अन्तर्भाव तात्पर्यवृत्ति में ही करने की चेष्टा की है। उनके कथन का सार इस प्रकार है:—'लौकिक वाक्यों में कहीं तो क्रिया सुनाई पड़ती है और कहीं नहीं सुनाई पड़ती। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'लाओ' यह क्रिया सुनाई पड़ती है किन्तु 'दरवाजा दरवाजा' इस वाक्य में 'बन्द करो' इस क्रिया का अर्थ ले लिया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि चाहे क्रिया का उपादान वाच्यवृत्ति में हुआ हो अथवा उसका उपादान प्रकरण इत्यादि का सहारा लेकर बुद्धि में ही कर लिया गया हो, प्रत्येक अवस्था में उपचय को प्राप्त कराई हुई क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है। इसी प्रकार काव्यों में कहीं तो स्थायीभाव का साक्षात् उपादान होता है, जैसे 'नवोढा प्रियतमा मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न कर रही है।' वहाँ पर प्रेम का साक्षात् उपादान किया गया है। कहीं कहीं उसका साक्षात् उपादान नहीं होता, निश्चित रूप से केवल विभाव इत्यादि का उपादान ही होता है। किन्तु स्थायीभाव के अभाव में विभाव इत्यादि हो ही नहीं सकते। अतएव प्रकरण इत्यादि का आश्रय लेकर किसी भावक के चित्त में सञ्चरणशील होकर, भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किये हुए अपने-अपने विभाव अनुभाव और सञ्चारीभावों के द्वारा संस्कार-परम्परा से वह स्थायीभाव अत्यन्त प्रौढ हो जाता है। इसप्रकार वह स्थायीभाव ही वाक्यार्थ होता है।

'यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शब्दो के अर्थ को मिलाकर ही वाक्यार्थ बनता है। जो रति इत्यादि स्थायीभाव किसी शब्द का अर्थ नहीं हैं वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान सदा कार्य में होता है। इसको इस प्रकार समझिये—'चाहे कोई वाक्य पौरुषेय हो चाहे अपौरुषेय, सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं। यदि वाक्यों को कार्यपरक न माना जावे तो उन वाक्यो का प्रयोग ही व्यर्थ हो जावेगा और वे वाक्य पागलों की बकवासमात्र रह जावेंगे। अब यह प्रश्न होता है कि काव्य के शब्दों में प्रयोक्ता ( कवि ) और प्रयोज्य ( रसिक ) की प्रवृत्ति क्यों होती है? जब काव्य के शब्द होते हैं तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है और जब काव्य के शब्द नहीं होते तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही काव्य-

वाक्यों का कार्य होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि काव्य की अभिधा शक्ति भिन्न भिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन रसों के लिये अपेक्षित विभाव इत्यादि का प्रतिपादन करती है और अन्त मे उनका पर्यवसान रस में हुआ करता है। विभाव इत्यादि पदार्थ होते हैं और रस वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार लौकिक वाक्य तो क्रियापरक होते हैं किन्तु काव्यवाक्य रसपरक ही होते है। यही इन दोनों का अन्तर है।

'कुछ लोगो का कहना है कि यदि वाक्यार्थ स्वमात्रविश्रान्त हो जावे तब बाद मे जो अर्थ निकलता है वह ध्वनि होती है। यदि वाक्यार्थ की परिसमाप्ति के पहले ही दूसरा अर्थ निकलता है तो वह तत्परक होकर तात्पर्य होता है।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि जबतक पूर्ण अर्थ नहीं निकल आता तबतक वाक्यार्थ की विश्रान्ति असम्भव है। 'तात्पर्य की विश्रान्ति किसी नियत अर्थ तक ही होती है, शेष अर्थ व्यङ्ग्य होता है' इसमे नियम कौन बनावेगा? तात्पर्य तराजू पर तौला हुआ तो होता नहीं कि इतना ही हो सकता है। उसका प्रसार वहाँतक होता है जहाँतक पूर्ण कार्यपरता सिद्ध न हो जावे। वस्तुतः 'हे धार्मिक स्वच्छन्द होकर घूमो' इस वाक्य मे श्रोता की आकाक्षापूर्ति विधिपरक अर्थ मे हो जाती है, इसी-लिये आप निषेधपरक अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। इसके प्रतिकूल वक्ता की इच्छा-पूर्ति निषेधपरक अर्थ में होती है, अतएव निषेध भी वाक्यार्थ माना जाना चाहिये।' यह है धनञ्जय तथा धनिक के मत का सार।

इस पर मेरा निवेदन यह है कि यह पहले दिखलाया जा चुका है कि ध्वनि केवल वाक्य में ही नहीं होती किन्तु पद मे भी होती है, शब्द मे भी होती है और पदांश में भी होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उच्चारण बिल्कुल नहीं होता। यदि रंगमञ्च पर कोई विदूषक अपनी विचित्र आकृति के प्रभाव से समस्त दर्शकों को हँसा दे तो बिना शब्द के ही वहाँ पर हास्यध्वनि हो जावेगी। ऐसे स्थानों का निर्वाह आप तात्पर्यवृत्ति के द्वारा नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि तात्पर्यवृत्ति एक पारिभाषिक शब्द है। उसका परम्परागत अर्थ ही लेना होगा। अभिहितान्वयवादी अन्वित मे शक्ति नही मानते। उनके मन में शक्ति के द्वारा केवल पदार्थोपस्थिति हो सकती है। अन्वयाश के लिये उन्हें पृथक् ही तात्पर्यवृत्ति माननी पड़ती है। जब तात्पर्य शब्द उक्त अर्थ मे रूढ हो चुका तब उसे आप मनमाने स्थान पर प्रयुक्त नहीं कर सकते। आपका तात्पर्य-वृत्ति व्यञ्जना के बहुत निकट है। अतएव उसके लिये आपको तात्पर्य से भिन्न ही कोई वृत्ति माननी पड़ेगी और वही है व्यञ्जनावृत्ति।

## तारावती

## —महिमभट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना—

नैय्यायिक महिम भट्टने अपने व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में व्यञ्जना को अनुमान में गतार्थता दिखलाई है। काव्यप्रकाशकार ने उनके सिद्धान्त का सार इस प्रकार दिया है—'ऐसे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती जिसका सम्बन्ध वाच्यार्थ से न हो। यदि असम्बद्धार्थ भी प्रतीति का विषय हो जावे तो चाहे जिस शब्द से चाहे जो अर्थ निकलने लगे। अतएव मानना पड़ेगा कि व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा वाच्यसम्बद्ध अर्थ ही प्रतीतिगोचर होता है। अतएव इसकी एक व्याप्ति बन जाती है–'जहाँ जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ वाच्य का सम्बन्ध अवश्य होता है' यह है अन्वयव्याप्ति। 'जहाँ जहाँ वाच्य का सम्बन्ध नहीं होता वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती' यह है व्यतिरेकव्याप्ति। स्वार्थानुमान में तीन शर्तें होती है–( १ ) सपक्ष मे रहना, ( २ ) विपक्ष मे न रहना, ( ३ ) पक्ष में विद्यमान होना। तीनों शर्तें प्रस्तुत व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के विषय मे लागू हो जाती हैं। वाच्य का सम्बन्ध लिंग ( हेतु ) है और व्यङ्ग्यार्थप्रतीति लिंगी ( साध्य ) है। व्याप्ति के साथ पक्षधर्मता के ज्ञान से जो लिङ्गपरामर्श होता है उसी आधार पर वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यही है अनुमान की प्रक्रिया। जब अनुमान द्वारा ही व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव गतार्थ हो जाता है तब उसके लिये व्यञ्जना नामक एक पृथक् वृत्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस बात को ठीक रूप मे समझने के लिये ध्वनिवादियों के प्रसिद्ध उदाहरण 'भ्रम धार्मिक.....' इत्यादि पद्य को ले लीजिये–यहाँ पर कुत्ते की निवृत्ति गोदावरी के तट पर सिंह की उपलब्धि के कारण अभ्रमण का अनुमान कराती है। उसको इस प्रकार समझिये–यहाँ पर व्याप्ति इस प्रकार होगी–'भीरुव्यक्ति का जितना भी भ्रमण है वह भय के समस्त कारणों की निवृत्ति के साथ होता है।' यह है अन्वय-व्याप्ति। यहाँ पर भीरुभ्रमण साध्य है और भय के कारणों का अभाव हेतु है। इसकी व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार होगी–'जहाँ भय के कारणों के अभाव का ज्ञान नहीं होता वहाँ भीरुभ्रमण भी नहीं होता।' अर्थात् जहाँ भय के कारण विद्यमान होते है वहाँ भ्रमण नहीं होता। गोदावरी के तट पर सिंह का भय विद्यमान है, अतएव वहाँ पर भ्रमण नहीं हो सकता। यहाँ पर गोदावरीतट पक्ष है। भय का कारण सिंह हेतु है, अभ्रमण साध्य है, घर उदाहरण है।(घर में भय का कारण नहीं है, अतएव भ्रमण किया जाता है।) इस प्रकार यहाँ पर अनुमान प्रमाण से भ्रमण का अभाव सिद्ध हो जाता है, उसके लिये व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। महिम भट्ट ने वस्तुव्यञ्जना के दूसरे उदाहरणों मे भी अनुमान से प्रक्रिया दिखलाई है।

तारावती

यह तो हुई वस्तुव्यञ्जना की बात। रसव्यञ्जना के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इसमें विभाव इत्यादि हेतु होते हैं और रस साध्य। उदाहरण के लिये राम का सीता के प्रति अनुराग व्यक्त होता है। उसमें अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी–'राम सीताविषयक रति से युक्त हैं, क्योंकि उनमें स्थित कटाक्ष इत्यादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान हैं, जहाँ स्मित-कटाक्षादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान होते हैं वहाँ रमणीविषयक रति विद्यमान होती है, जैसे दुष्यन्त की रति शकुन्तला के प्रति, उसीप्रकार राम में भी ये चेष्टायें है, अतएव राम भी सीताविषयक रतिमान् हैं। यह साध्यसिद्धि अन्वयव्याप्ति के द्वारा हुई है। व्यतिरेकव्याप्ति से साध्यसिद्धि इस प्रकार होगी–'जहाँ रमणीविषयक रति नहीं होती वहाँ अपूर्व स्मित कटाक्षादि भी नहीं होते। जैसे लक्ष्मण में रमणीविषयक रति नहीं है अतः उनमें कटाक्षादि भी नहीं है। इस प्रकार सर्वत्र अनुमान से ही काम चल सकता है, व्यञ्जनावृत्ति मानना व्यर्थ है।'

ऊपर महिम भट्ट के सिद्धान्त का सार दिया गया है। इस पर ध्वनिवादी का कहना है कि—'आपने साध्यसिद्धि के लिये जो हेतु दिये हैं वे हेत्वाभासमात्र हैं। 'भ्रम धार्मिक·····' मे आप कहते है कि भ्रमण और भय हेतुओं के अभाव में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। इसपर मेरा प्रश्न यह है कि गाथा की नायिका जिस व्यक्ति को सिंह की बात कहकर भ्रमण से रोकना चाहती है वह भीरु है या वीर है? ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे भीरु व्यक्ति को भय के स्थानों पर भी भ्रमण करना पड़े। गुरु की आज्ञा, स्वामी की आज्ञा, प्रेयसी का प्रेम इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे भय के स्थान पर भी भीरु व्यक्ति भ्रमण करता हुआ पाया जा सकता है। अतएव जहाँ भी भीरुभ्रमण होता है वहाँ भय का कारण सन्निहित नहीं होता, इस व्याप्ति में हेतु की अनैकान्तिकता के कारण सव्यभिचार हेत्वाभास हो गया। यदि निषेध्य व्यक्ति वीर है तो यहाँ पर विरुद्ध हेत्वाभास हो जावेगा। विरुद्ध हेत्वाभास वहाँ पर होता है जहाँ हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करे। यहाँ पर अभ्रमण साध्य है, उसका अभाव इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि जहाँकहीं शेर इत्यादि जीव होते है वहाँ वीर व्यक्ति उसका वध करने के लिये भ्रमण किया ही करते हैं। यह तो हो ही सकता है कि कुत्ते के स्पर्श भय से अथवा उसके मारने में यश न होने के कारण वीर व्यक्ति कुत्ते से डरे, किन्तु जहाँ उसे सिंह का ज्ञान हो जावे वहाँ वह निर्भय होकर घूमा करे। ऐसी दशा में भय का कारण अभ्रमण में हेतु हो ही नहीं सकता। अनुमान के लिये पक्षधर्मता का निश्चित होना सबसे बडी शर्त है। जब तक यह पूर्ण रूप से निश्चित

## लोचन

येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकं ग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

और उन लोगों को भी जो अविभक्त स्फोट, वाक्य, तथा उसका (अविभक्त) अर्थ मानते हैं, उन्हें भी अविद्या के मार्ग में (व्यवहार-मार्ग में) आने पर इस समस्त प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। उसको उत्तीर्ण करलेने पर (व्यवहार-मार्ग को छोड देने पर) सभी कुछ ब्रह्माद्वैत ही है यह बात तत्त्वालोक ग्रन्थ की रचना करनेवाले हमारे शास्त्रकार ने नहीं जान पाई थी यह बात नहीं है। बस अधिक कहने की क्या आवश्यकता ?

## तारावती

नहीं होगा कि पर्वत से धुँआ उठ रहा है तब तक उसके आधार पर पर्वत मे आग सिद्ध हो ही नहीं सकती। यदि हेतु को ही सिद्ध करने की आवश्यकता पडे तो असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। यहाँ पर गोदावरी के तट पर सिंह का होना हेतु है। किन्तु यह स्वयं सिद्ध नहीं है कि वहाँ पर सिंह है भी या नहीं है, सिंह का होना एक कुलटा के वचनों से सिद्ध होता है। कुलटा के वचनों का प्रमाण ही क्या ? इस प्रकार यहाँ पर अर्थ से निश्चित सम्बन्ध न होने के कारण असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है और साध्य सिद्धि हो ही नहीं सकती अतएव अनुमान से उक्त उदाहरण गतार्थ नहीं हो सकता।

अब रसप्रक्रिया को ले लीजिये। कटाक्ष इत्यादि से राम के रतिभाव का अनुमान तो हो सकता है। किन्तु यहाँ पर राम के रतिभाव का प्रश्न नहीं है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि राम के रतिभाव से सहृदय परिशीलकों के हृदयों में जो कौतूहल मिश्रित आनन्द उत्पन्न हो जाता है उसकी व्याख्या किस प्रकार की जावे ? निश्चित ही है कि उसकी प्रतीति अनुमान से हो ही नहीं सकती, उसके लिये व्यञ्जनावृत्ति माननी ही पडेगी। इस प्रकार महिम भट्ट का सिद्धान्त सर्वथा निस्सार सिद्ध हो जाता है।

### —वेदान्तियों और वैय्याकरणों का अखण्डतावाद और व्यञ्जना—

जो लोग यह कहते है कि अखण्ड स्फोट ही वाचक होता है और वही वाच्य होता है, उन्हे भी व्यवहार मार्ग में आकर इस समस्त प्रक्रिया का आश्रय लेना ही पडेगा। व्यवहार मार्ग का अतिक्रमण कर परमार्थ सत्ता को ही स्वीकार करनेवालों के लिये तो सभी कुछ परमात्मा से अद्वैत ब्रह्ममात्र ही है, यह बात हमारे शास्त्रकार, तत्त्वालोक ग्रंथ की रचना करनेवाले आनन्दवर्धनाचार्य को ज्ञात न हो यह बात नहीं है।

## तारावती

[ अखण्डतावादी दो हैं—एक तो वेदान्ती, दूसरे वैय्याकरण । इनके मत का सार निम्नलिखित है:—

वेदान्ती लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अखण्ड ब्रह्म की सत्ता मानकर बाह्य सृष्टि का निषेध करते है । उसीप्रकार अखण्ड बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य परब्रह्मात्मक वाक्यार्थ को ही वाच्य मानते है और इस प्रकार की बुद्धि मे निमित्त वाक्य को ही वाच्य मानते हैं । इन लोगों का आशय यह है कि क्रिया-कारक भाव तब तक सम्भव नहीं है जब तक धर्म और धर्मीका भाव अङ्गीकृत न कर लिया जावे । धर्म-धर्मी भाव संसार के मिथ्या होने से असम्भव है । ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से रहित है और ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है । अतएव पद-पदार्थ विभाग के बिना ही अखण्ड महावाक्य ही अखण्ड ब्रह्म का बोधक होता है । इस प्रकार वाक्यगम्य व्यङ्ग्यार्थ में भी वाक्य की ही शक्ति होती है । अतएव वेदन्तियो के मत मे व्यञ्जना वृत्ति समीचीन नहीं कही जा सकती । इनके मत मे वाक्य से भी अभिधेय, लक्ष्य, व्यङ्ग्य या व्यङ्ग्य से भी बढ़ कर जितना भी अर्थ निकलता है उस समस्त अर्थ मे वाक्य की ही शक्ति होती है । वाच्य लक्ष्य व्यङ्ग्य इत्यादि विभेद वेदान्त मत के प्रतिकूल है ।

वेदान्तियों से ही मिलताजुलता वैय्याकरणों का भी मत है । वैय्याकरण अखण्ड स्फोट को ही वाच्य मानते है । उनके मत में शब्द के दो भाग होते है ध्वनि और स्फोट । ध्वनि हमे सुनाई देती है किन्तु उसका वाच्य स्फोट हुआ करता है । भेद ध्वनि में होता है स्फोट मे नही । नाभि से चलने वाली वायु मुख-गह्वर से बाहर निकल कर ध्वनि उत्पन्न किया करती है । 'क' 'ख' 'ग' इत्यादि भेद मुख गह्वर में ही होता है, इसके पहले सभी वर्ण अखण्ड तथा एकरूप होते हैं । यह दशा स्फोटावस्था की होती है । नागेश भट्ट ने मञ्जूषा मे लिखा है—'तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यो लोके तेनैवार्थबोधात्तेनैवार्थसमाप्तेश्च' अर्थात् लोक मे वाक्य-स्फोट मुख्य होता है क्योंकि वाक्य से ही अर्थबोध होता है और वाक्य से ही अर्थ की समाप्ति होती है । जिस प्रकार घट शब्द मे चार वर्ण है—'घ्' 'अ' 'ट्' 'अ' इन चारों वर्णों का पृथक्-पृथक् कोई अर्थ नही, उसी प्रकार 'रामः घटम् आनयति' में पृथक्-पृथक् शब्दों का कोई अर्थ नही । समस्त अखण्ड वाक्य ही सार्थक होता है, वाक्यान्तर्गत शब्द सर्वथा निरर्थक होते है । इसीलिये वैय्याकरण अक्षरो में विकार नहीं मानते । इत्यादि शब्द में 'इ' के लिये 'य' नहीं होता किन्तु 'इति + आदि' इस समूह के स्थान पर 'इत्यादि' यह पूरा समूह हो जाता है । इसीलिये

## तारावती

वैय्याकरण 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' का सिद्धान्त मानते हैं। इनका कहना है कि प्रत्येक वाक्य प्रत्येक अर्थ का वाचक हो सकता है। इसप्रकार इनके भी मत मे अभिधा इत्यादि भेद मानना ठीक नहीं।

उक्त अखण्डतावादियों के सिद्धान्त के विषय में मुझे यह कहना है कि वेदान्ती लोग अखण्ड ब्रह्म को मानते हुए भी व्यवहारदशा मे वस्तुसत्ता मानते ही हैं। अविद्यावश सासारिक पदार्थों का भान होता है जिससे व्यवहार चलता रहता है। इस व्यवहारदशा के लिये उन्हे भी पद-पदार्थकल्पना करनी ही पडती है। इसीलिये कहा गया है—'अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकपदवर्ण-विभागमस्या लिङ्गम्।' अर्थात् वाक्य सर्वथा अनवयव ही होता है। उसमें अविद्या के कारण पद तथा वर्ण की कल्पना कर ली जाती है और वे असत्य पद तथा वर्ण ही व्यवहार दशा मे उस वाक्य मे कारण होते हैं। इसीलिये प्रसिद्ध है कि 'व्यवहारे भट्टनयः' व्यवहार दशा में कुमारिल भट्ट की नीति का अनुसरण किया जाता है। भट्टमत मे व्यञ्जना की क्यो आवश्यकता है यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

वैय्याकरणो के मत मे भी समस्त वाक्यों के समस्त अर्थ बतला देना असम्भव है। अतएव पदो और वर्णों की कल्पना कर ली जाती है। प्रक्रिया दशा मे उन्हे भी वाक्य को शब्दो मे और शब्दो को वर्णों में तोड़ना पड़ता है। अन्यथा व्यवहार का निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उन्हे भी अभिधा इत्यादि वृत्तियाँ माननी पड़ेंगी और व्यञ्जना का वे भी अपलाप नहीं कर सकते। भर्तृहरि ने कहा है—'प्रकृति प्रत्यय या पद इत्यादि जितने भी विभाग हैं या उनको सिद्ध करने के जितने भी उपाय है वे सब शिक्षणीय बालकों का उपलालन मात्र हैं। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति असत्य मार्ग मे रहकर सत्य को प्राप्त कर लेता है।' आशय यह है कि जिस प्रकार खेल मे बच्चे विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाया करते हैं अथवा उन्हें शिक्षा देने के लिये गङ्गा इत्यादि की आकृतियाँ बना कर समझा दिया जाता है, बाद मे वे वास्तविक गङ्गा इत्यादि का ज्ञान प्राप्त कर लेते है। इसी प्रकार प्यार के साथ बालको को शिक्षा देने के लिये पद वर्ण विभाग की कल्पना कर ली जाती है और उनको सिद्ध करने के लिये प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि अनेक उपाय काम मे लाये जाते है। इस प्रकार असत्य मार्ग पर चलकर वे सत्य मार्ग अर्थात् वाक्यस्फोट तक पहुँच जाते है। अतएव प्रक्रिया दशा में वैय्याकरणो को भी व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। वे उसका कथमपि निषेध नहीं कर सकते।

## लोचन

यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः । तदीयभीरुवीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति ।

जो कि भट्ट नायक के द्वारा कहा गया है—'यहाँ पर दृप्तसिंह इत्यादि शब्द के प्रयोग में तथा धार्मिक इत्यादि शब्द के प्रयोग में भयानक रस के आवेश से उद्भूत निषेध की ही प्रतीति होती है । उसके भीरु या वीर स्वभाव के नियम के बिना जाने हुये एकान्ततः निषेध की अवगति हो ही नहीं सकती; अतएव केवल अर्थ सामर्थ्य ही निषेधावगति में निमित्त नही है ।' यहाँ पर

## तारावती

—दूसरे प्रमाण तथा व्यञ्जना—

ऊपर दिखलाया जा चुका है कि शब्द की विभिन्न वृत्तियाँ, अनुमान प्रमाण तथा अखण्डतावाद व्यञ्जना को आत्मसात् नहीं कर सकते । इसीप्रकार दूसरे प्रमाणों से भी व्यञ्जना गतार्थ नहीं हो सकती । प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रियाँ करण होती हैं और जो ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । प्रस्तुत उदाहरण में न तो सिंह ही सन्निहित है जिससे उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके और न नायिका अपने मुख से ही कहती है कि—'हे महात्मन् ! अब तुम गोदावरी तट पर भ्रमण करने मत जाया करो क्योंकि तुम्हारे वहाँ जाने से हम लोगों की प्रेमलीला में विघ्न पडता है ।' इस प्रकार यहाँ पर श्रावण प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता । उपमान प्रमाण मे सादृश्य ज्ञान करण होता है । यहाँ पर सादृश्य ज्ञान है ही नहीं । इस प्रकार नायिका का उद्देश्य उपमान प्रमाण का विषय भी नहीं हो सकता । रस वस्तु तथा अलङ्कार की अभिव्यक्ति अर्थापत्तिजन्य भी नहीं कही जा सकती । अर्थापत्ति वहीं पर होती है जहाँ पर अर्थ अनुपपन्न हो रहा हो । जैसे 'स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता' बिना भोजन के स्थूलता उपपन्न हो ही नहीं सकती । इसीलिये अर्थापत्ति से रात्रि भोजन का बोध हो जाता है । यदि यहाँ पर भी बिना रस इत्यादि की प्रतीति के वाक्य अनुपपन्न हो तब तो अर्थापत्ति हो सकती है । किन्तु अर्थ यहाँ पर अनुपपन्न नहीं होता । इसीलिये व्यञ्जना अर्थापत्ति का विषय नहीं हो सकती । रसादि की प्रतीति काल्पनिक भी नहीं हो सकती । यदि रस काल्पनिक हो तो कल्पना करनेवालों को तो आस्वादन हो, एक नीति से सभी सहृदयों को एकसा रसास्वादन कभी न हो । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति केवल व्यञ्जनाजन्य हो सकती है उसका समावेश न तो शब्द की किसी दूसरी वृत्ति मे हो सकता है और न वह दूसरे प्रमाणों से ही गतार्थ हो सकती है । इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण मे भ्रमणनिषेध के लिये व्यञ्जनावृत्ति अनिवार्य हो जाती है ] ।

## लोचन

सत्रोच्यते—केनोक्तमेतत्- 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं त्वस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, नह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

कहा जा रहा है—यह किसने कहा कि वक्ता तथा प्रतिपत्ता की विशेषता के ज्ञान के विना ही तथा शब्दगत ध्वननव्यापार के अभाव में ही निषेध की अवगति होती है। प्रतिपत्ता की प्रतिभा के सहकार का होना हम लोगों ने द्योतन के प्राण के रूप में कहा है। भयानक रस के आवेश का भी निवारण नहीं किया जा रहा है क्योंकि उस ( धार्मिक ) की भयमात्र की उत्पत्ति मान ली गई है। प्रतिपत्ता का रसाभिनिवेश रस की अभिव्यक्ति के द्वारा ही होता है और रस व्यङ्ग्य ही होता है। उसकी शब्दवाच्यता तो उनके द्वारा भी स्वीकृत नहीं की गई है। अतः व्यंग्यत्व ही है। प्रतिपत्ता का रसावेश नियत नहीं है। यह सहृदय नियमतः भीरु धार्मिक के सदृश ही नहीं है।

## तारावती

भट्ट नायक ने प्रस्तुत पद्य—'भ्रम धार्मिक'·····' इत्यादि का उदाहरण देकर लिखा है—'यहाँ पर सिंह के लिये उद्धत विशेषण दिया गया है और व्यक्ति धार्मिक सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। इन दोनों शब्दों के आधार पर भयानक रस की प्रतीति होती है और उसीसे निषेध का बोध होता है। जबतक यह न मालूम पड जावे कि भ्रमणशील व्यक्ति वीरप्रकृतिवाला है या डरपोक है तबतक निषेध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अतएव केवल अर्थ सामर्थ्य को निषेधप्रतीति का कारण मानना सर्वथा असङ्गत है।' इस पर निवेदन है कि यह तो हम भी नहीं कहते कि वक्ता और श्रोता को विशेषताज्ञान और शब्द के ध्वननव्यापार के अभाव में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। हम तो रसास्वादन करनेवाले सहृदय की प्रतिभा को व्यञ्जना का प्रमाण मानते हैं। हमे प्रस्तुत उदाहरण मे भयानक रस के अङ्गीकार करने मे भी कोई आपत्ति नहीं। किन्तु यह भयानकता केवल सम्बोध्य ( धार्मिक ) के हृदय मे भय का सञ्चार कर सकती है, रसरूपता को धारण नहीं कर सकती। भय की रसरूपता तभी स्वीकार की जा सकती है जब कि परिशीलकों को उसका आस्वादन हो। रसास्वादन तभी हो सकता है जब कि रस अभिव्यक्त हो। यह तो भट्टनायक ने भी नहीं माना कि रस, कभी भी शब्दवाच्य हो सकता है। अतएव मानना ही पड़ेगा कि रस सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है। यहाँ पर

## लोचन

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभानुप्राणितो ध्वननव्यापारः किं न सह्यते। किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति। अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्, तत्को न सहते। अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते तथापि काव्योदाहरणत्वाद्द्वावप्यत्र ध्वनी स्तः को दोषः?

यदि उसकी विशेषता भी सहकारी मानी जावे तो वक्ता और प्रतिपत्ता की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार ही सहन क्यों नहीं करलिया जाता। दूसरी बात यह है कि वस्तुध्वनि में दोष दिखलाते हुये उसके अनुग्राहक के रूप में रसध्वनि का समर्थन कर दिया गया, यह ध्वनि का बहुत ही अच्छा ध्वंस हुआ। जैसा कि कहा गया है—'देव का क्रोध भी वरदान के समान है।' यदि इस (कथन) से रस की ही प्रधानता बतलाई गई है तो उसे कौन नहीं सहता। यदि 'वस्तुमात्रध्वनि का यह उदाहरण उचित नहीं है' यह कहा जाता है तथापि काव्य का उदाहरण होने के कारण यहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ हों; क्या दोष है?

## तारावती

सहृदय के लिये रसानुवेश निश्चित नहीं है, क्योंकि सहृदय व्यक्ति भीरु धार्मिक के समान यह तो नहीं समझता कि उसे भी कहीं शेर मिल जावेगा।

यहाँ पर आप कह सकते हैं कि सहृदय की विशेषता भी भयानक रसाभिव्यक्ति मे सहकारी कारण होती है अर्थात् जहाँपर धार्मिक के समान सहृदय व्यक्ति भी भीरु प्रकृति का होता है वहीं पर भयानकरसाभिव्यक्ति हो सकती है। इस पर मेरा निवेदन यह है कि इतनी कल्पनायें और इतना सरदर्द मोल लेने से तो यही अच्छा है कि वक्ता श्रोता तथा सहृदय की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार को ही आप क्यों नही मान लेते? दूसरी बात यह है कि आपने वस्तुध्वनि का तो खण्डन किया, किन्तु उसकी सहायिका रसध्वनि को आपने स्वीकार कर लिया। यह आपका ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन बड़ा ही अच्छा रहा। ठीक ही कहा गया है कि आपका तो क्रोध भी हमारे लिये वरदान ही सिद्ध हुआ। यदि कहो कि यहाँपर रस की प्रधानता है, तो इसमे भी मेरी कोई हानि नही। आप यहाँ पर कह सकते है कि 'मुझे आपत्ति केवल यह है कि यह उदाहरण एकमात्र वस्तुध्वनि का नहीं हो सकता। इसपर मेरा निवेदन है कि यहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ स्वीकार की जा सकती हैं। क्योंकि यह पद्य तो काव्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है अतएव दोनों ध्वनियों को मानने में क्या दोष? यह आप की इच्छा है कि आप इसे वस्तु या रस किसी भी ध्वनि के उदाहरण के रूप में उद्धृत करें।

## लोचन

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तत् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पणमध्यास्ते, अपितु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्थानोचितविशिष्टकाक्वनुभावशबलनोदितशृङ्गाररसानुवेधः । रसस्यालौकिकत्वात्तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविविक्तविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् ।

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत्, स नास्माकं हृदयमावर्जयति । यदाहुः 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति । तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत् । भ्रमेति—अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकालः ।

और यदि रसानुवेध के बिना सन्तोष न होता हो तो भयानक रसानुवेध सहृदय-हृदय-दर्पण मे आरूढ़ नहीं होता अपितु उक्त नीति से सम्भोगाभिलाषरूप विभाव, संकेतस्थान के योग्य विशिष्ट काकु इत्यादि अनुभाव के एकत्रीभूत सम्मिश्रण से उत्पन्न शृङ्गार रसानुवेध ही ( मानना उचित है )। रस के अलौकिक होने के कारण केवल उतने से ही अवगम न हो सकने से निर्विवाद सिद्ध तथा (परस्पर) भेदपरक विधि-निषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुध्वनि का उदाहरण दे दिया गया है ।

और जिसने ध्वनिव्याख्यान के लिये उद्यत होकर तात्पर्यशक्ति को ही अथवा विवक्षासूचकत्व को ही ध्वननव्यापार कहा वह मेरे हृदय को अपने अनुकूल नहीं बना रहा। जैसा कि कहा है—'लोक भिन्नरुचियों वाला होता है ।' तो इसको आगे यथा स्थान ठीक-ठीक विस्तारपूर्वक बतलावेंगे । और अधिक विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं । भ्रमेति । तुम्हें अनुमति दे दी गई है; तुम्हारे भ्रमण का समय

## तारावती

यदि आपको रसानुवेध के बिना सन्तोष न हो तो भी यहाँ पर सहृदयों के आस्वादन में भयानक रसानुवेध कारण नहीं होता । किन्तु सम्भोग की अभिलाषा को व्यक्त करनेवाला संकेतस्थान यहाँ पर उद्दीपन विभाव है और उसी के अनुसार विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि अनुभाव है । इसके सम्मिश्रण से पुष्ट होकर रतिस्थायी-भाव ही शृंगाररूपमें परिणत होकर आस्वादन में कारण होता है । रस अलौकिक होता है और केवल उन्ही शब्दों के आधार पर उसका अवगमन नहीं हो सकता, इसीलिये इस पद्य को रस के उदाहरण के रूप मे न रखकर विधि के स्थान पर निषेधरूप निर्विवाद सिद्ध वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप मे रक्खा गया है ।

ध्वनि की व्याख्या करने के लिये उद्यत एक महाशय ने लिखा है—'या तो तात्पर्य-शक्ति को ध्वनि कहते है या विवक्षित अर्थ के अनुमान लगाने को ।' यह व्याख्या मुझे रुचिकर प्रतीत नहीं होती । कालिदास ने कहा है कि 'लोगों की रुचियाँ भिन्न प्रकार की होती है' । इस सबकी क्रमशः विस्तारपूर्वक व्याख्या की जावेगी ।

## लोचन

धार्मिकेति । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । विश्रब्ध इति । शङ्काकारणवैकल्यात् । स इति । यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत । अद्येति । दिष्ट्या वर्धस इत्यर्थः । मारित इति । पुनरस्यानुत्थानम् । तेनेति । यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि तद्रक्षायै तत्तयोपश्रावितोऽसौ, स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्ध गोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्कयेतिभावः ।

आ गया है । धार्मिकेति । कुसुम इत्यादि के उपकरणों के लिये तुम्हारा भ्रमण उचित है । 'विश्रब्ध' यह शङ्का के कारणों के अभाव के कारण ( कहा गया है ) । वह अर्थात् जो तुम्हारी अङ्गलतिका को भय से प्रकम्पित कर देता था । 'आज' अर्थात् सौभाग्य से तुम आप्तकाम हो गये हो । 'मारडाला है' अर्थात् इसका पुनः उत्थान नहीं ( सम्भावित है ) । 'उसके द्वारा' अर्थात् जो पहले श्रुतिपरम्परा से तुमने भी सुना है कि गोदावरी के तट पर वन में रहता है । पहले ही उस ( संकेतस्थान ) की रक्षा के लिये इस धार्मिक को उस सिंह के निवास की बात उस नायिका द्वारा सुना दी गई थी; वह इस समय तो दृप्त होने के कारण उस वन से निकलता है अतः प्रसिद्ध गोदावरी के तट के विस्तार में तुम्हारा घूमना भी कथा-शेष हो गया है, उस लतागहन के प्रवेश की शङ्का की ही क्या बात ?

## तारावती

यहाँपर 'भ्रम' का वाच्यार्थ है—मैं तुम्हें स्वच्छन्दविचरण की अनुमति दे रही हूँ, अब तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है ( व्यंग्यार्थ है तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिये ) 'धार्मिक' सम्बोधन का वाच्यार्थ है धर्म करनेवाले अर्थात् कुश-समिधा इत्यादि पूजनसामग्री के लिये तुम्हें वहाँ जाना ही है ( व्यंग्यार्थ—तुम धर्म करना जानते हो, तुम्हें इस प्रकार के भय का सामना नहीं करना चाहिये।) 'विश्रब्ध' का वाच्यार्थ है—तुम्हारे भय और आशंका का कारण कुत्ता नष्ट हो गया अब तुम आश्वस्त रहो । ( व्यंग्यार्थ है अभीतक तुम कुत्ते से ही डरते थे अब वहाँ शेर आ गया है; अब तुम्हें आश्वस्त बिल्कुल नहीं रहना चाहिये । ) 'सः' का वाच्यार्थ है जिस कुत्ते के कारण तुम्हारी अंकलता काँपने लगती थी । ( व्यंग्यार्थ है—जब उस तुच्छ कुत्ते का ही तुम सामना नहीं कर पाते थे तब सिंह के सामने जानेपर तुम्हारी क्या दशा हो जावेगी।) 'अद्य' का वाच्य अर्थ है आज तुम भाग्यशाली हो जो कि तुम्हारा भय का कारण दूर हो गया । ( व्यंग्यार्थ है—शेर ने आज ही तो कुत्ते को मारा है; अभी वह यहीं है; कहीं दूर नहीं गया।) 'मारितः' का वाच्य अर्थ है मार डाला गया और व्यंग्यार्थ है शेर भोजन की तालाश में आता ही है पुनः नहीं आवेगा यह

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

( अनु० ) कहीं-कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधपरक होता है और व्यंग्यार्थ विधिपरक । जैसे:—'हे पथिक ! दिन थोडा ही शेष रह गया है। अतएव भलीभाँति देखलो; यहाँ पर मेरी सास निद्रासागर मे डूबी पड़ी रहती है । और इस स्थान पर मैं सोती हूँ । तुम रात में अन्धे हो जाते हो ( तुम्हें रतौंधी आती है )। कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ गिरना ।

लोचन

अत्ता इति ।

श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्टाः ॥

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति । एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काञ्चित्प्रोषितपतिकां तरुणी मवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः सम्पन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः । न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव रात्र्यन्धेति समुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम् । भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वाच्याद्व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम् ।

अत्ता इति। श्वश्रू इत्यादि छायानुवाद है। 'मह' यह निपात बहुवचन के अर्थ का द्योतक है, यहाँ पर 'हम दोनों के' इस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है 'मम' (मेरे) इस अर्थ मे नही । ऐसे तो विशेषरूप से एकवचन का प्रयोग ही शङ्का पैदा करनेवाला हो जावेगा, अतः प्रच्छन्न अभ्युपगम नही हो सकेगा । किसी प्रोषितपतिका तरुणी को देखकर पथिक प्रवृद्ध कामाङ्कुरवाला हो गया ( तथा ) इस निषेध के द्वारा उसको स्वीकृति दे दी गई; इस प्रकार यहाँ पर विधि निषेध का अभावरूप ही है निमन्त्रण-रूप अप्रवृत्त को प्रवर्तित करने के स्वभाववाली नहीं है, क्योंकि उससे (नायिका के) सौभाग्याभिमान का खण्डन प्रसक्त हो जाता है। अतएव 'रात्र्यन्ध' कहकर समुचित समय पर विकार की आकुलता की सम्भावना ध्वनित कर दी गई । सत्ता तथा उसके अभाव में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य से व्यङ्ग्य स्पष्ट ही अन्य है ।

तारावती

निश्चित नहीं है । 'तेन' 'उस' सिंह का संकेतवाचक विशेषण है । इसका व्यंग्यार्थ है—'नायिका ने सखी इत्यादि के द्वारा पहले ही उस सिंह के गोदावरी तट पर कुंज

तारावती

में निवास की सूचना भेज दी थी। अब वह स्वयं कह रही है कि सिंह के गोदावरी तट पर निवास की बात तो तुम सुन ही चुके हो। अब तक वह सिंह कुञ्ज में ही रहता था, अब ऐसा उद्धत हो गया है कि दिन में भी निकल कर पशुवध किया करता है। अतएव तुम्हारे लता-वन में प्रवेश की शंका तो दूर रही तुम्हारा गोदावरी परिसर पर भ्रमण करना भी कथाशेष हो गया है। इस प्रकार वाच्यार्थ विधिपरक है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक।

अब दूसरा उदाहरण लीजिये—कोई पथिक कहीं रात्रि मे विश्राम करना चाहता है। अकस्मात् उसकी दृष्टि किसी नवयुवती पर पड़ती है। युवती प्रोषितपतिका है। (उसका नवयौवन तथा प्रोषिता होना दोनों बातें पथिक के अनुकूल हैं।) अतः वह कामोन्मत्त हो जाता है। युवती पथिक की कामना को समझकर कह रही है कि 'हे पथिक दिन में तुम मेरे और सास के सोने के स्थान को देख लो। रात में कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ जाना।' यह वाच्यार्थ है।

यहाँ पर 'मह' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। मह शब्द दो प्रकार से बन सकता है— एक तो बहुवचनान्त अव्यय है जिसका अर्थ होता है 'हम सब' या 'हम दोनों' और दूसरा एकवचनान्त 'मम' का छाया रूप है जिसका अर्थ होता है 'मेरी।' यदि नायिका विशेषरूप से एकवचन का प्रयोग करके कहती कि 'मेरी चारपाई पर मत आ जाना, तो लोगों को शंका हो सकती थी। अतएव उसने छिपाकर कहा कि 'हम दोनों की चारपाई पर मत आ जाना।' इससे लोगो की शका का अवसर नही रहा। अतएव यहाँ पर 'आवयोः' 'हम दोनों की' के अर्थ में अव्यय ही मानना चाहिये। एक वचन का रूप नही। नायिका तरुणी भी है और प्रोषितपतिका भी है। अतएव पथिक के हृदय मे दर्शनमात्र से जो कामाङ्कुर उत्पन्न हो गया था अनुकूल परिस्थिति के कारण उसका बढ़ जाना स्वाभाविक ही था और नायिका ने चारपाई पर आने का निषेध करते हुये उसकी कामवासना को तृप्त करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार यहाँ पर निषेधाभाव रूप विधि व्यंग्य है। कुछ लोग पथिक की ओर से कामप्रवृत्ति की व्याख्या न कर नायिका के द्वारा ही सम्भोग के आमन्त्रण के रूप में इस पद्य की व्याख्या करते है। नायिका की ओर से प्रस्तावित होने के कारण उसके सौभाग्याभिमान के खण्डन हो जाने की सम्भावना से यह व्याख्या समीचीन नही कही जा सकती। इसीलिये 'रात्र्यन्ध' यह सम्बोधन किया गया है जिसका व्यंग्यार्थ है—रात ही सम्भोग का उचित अवसर होता है और उस समय तुम और अधिक कामान्ध हो जाओगे। इस प्रकार यहाँ विधि और निषेध का साक्षात् विरोध होने के कारण स्पष्ट ही है कि व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

## लोचन

यत्त्वाह भट्टनायकः 'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपीति' । तन्नाहमितिशब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः । काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत् । अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसम्भोगपरिहारः । अथ यद्यपि मवान् मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितं न युक्तः, तथापि किंकरोमि पापदिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः । प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः । न च सर्वथा त्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यऽतोहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः । प्रतिपन्नमात्रायां न रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा श्लिषः, अपि तु निभृतनिभृतमेवात्तामिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते ।

जो कि भट्ट नायक ने कहा है—'अहम्' इस अभिनयविशेष से आत्मदशा का आवेदन करदेने के कारण यह भी शाब्दिक कथन ही है । वहाँ 'अहम्' इस शब्द का यह साक्षात् अर्थ तो है नहीं । काकु इत्यादि की सहायता से तो उस अर्थ मे ध्वनन ही व्यापार होगा, इस प्रकार यह ध्वनि का भूषण है । 'अत्ता' यह कथन प्रयत्नपूर्वक अनिभृत सम्भोग का परिहार करने के लिये किया गया है । यद्यपि आप कामबाणों की वर्षा से विदीर्ण हृदयवाले उपेक्षा के योग्य नहीं हैं तथापि क्या करूँ यह पापी तुच्छदिवस ( अभी विद्यमान है ), अर्थ यह है कि अनुचित होने के कारण यह कुत्सित है। प्राकृत मे पुंलिंग और नपुंसकलिंग का नियम नहीं होता । 'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ क्योंकि मैं यहीं हूँ इसलिये देखलो मैं दूसरे स्थान पर नहीं जा रही हूँ; अतएव एक दूसरे के वदनावलोकन के विनोद से तबतक हम दिन बिता लें' यह अर्थ है । रात्रि के आते ही अन्धेहोकर मेरी चारपाई का आलिंगन मत करना अपितु छिप छिपकर सासनामक निकटस्थित कण्टक की निद्रा का ज्ञान करते हुये ( आना ) यह ध्वनित होता है ।

## तारावती

भट्ट नायक ने लिखा है—'मैं यहाँ पर सोती हूँ' इस वाक्य मे 'मैं' शब्द का उच्चारण नायिका ने ऐसी कण्ठध्वनि और ऐसी चेष्टाओं के साथ किया है कि उसकी सम्भोग की कामना और प्रेरणा उसी 'मैं' शब्द से प्रकट हो गई । अतः यहाँ पर अभिधावृत्ति से ही विधिपरक अर्थ निकल आता है इसके लिये व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं ।' इसके उत्तर मे मेरा निवेदन है कि 'अहम्' शब्द का यह साक्षात् अर्थ तो है नहीं जिसमे अभिधा मानी जा सके, 'काकु' या कण्ठध्वनि को हम भी व्यञ्जना का सहकारी मानते ही है । काकु से व्यक्त होनेवाला अर्थ व्यञ्जनाव्यापारजन्य ही होता है यह तो ध्वनि का भूषण है ।

ध्वन्यालोकः

कचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह ण्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु ॥

(अनु०) कहीं वाच्य विधिरूप होता है और व्यङ्ग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न। जैसे—'तुम उसी मेरी सौत के पास जाओ। मुझे अकेले ही गहरी श्वासें लेना और रोना पड़े। उस (अपनी प्रियतमा) के वियोग में तुम्हें भी क्यों दाक्षिण्य के दण्डके रूप में निश्श्वास और रोदन का कष्ट सहना पड़े।'

तारावती

यहाँ पर 'सास' के निर्देश का आशय यह है कि सास की उपस्थिति में स्वच्छन्द विहार नहीं हो सकता। जब रात मे वह सो भी जावे तब भी तुम्हें आशंकित होकर ही सुरत में प्रवृत्त होना चाहिये। 'दिवसकम्' मे निन्दा अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। इसका आशय यह है—'यद्यपि मैं जानती हूँ कि तुम्हारा हृदय कामदेव के बाणों से अत्यन्त विदीर्ण हो गया है और तुम्हारी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, फिर भी क्या करूँ यह पापी दिन मुझे तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं करने देता। यह इसका कार्य अनुचित है। अतएव यह निन्दनीय है। इसी निंदा को व्यक्त करने के लिये यहाँ पर 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। दिवस शब्द पुंलिङ्ग भी है और नपुंसकलिङ्ग भी। किन्तु इसका प्रयोग पुल्लिङ्ग में ही होता है, अतः नपुसक लिङ्ग मे इसका प्रयोग अप्रयुक्तत्व दोष से दूषित है। किन्तु प्राकृत में पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग का नियम नहीं है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ यह है—'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ। भलीभाँति देख लो, मैं यहीं सोऊँगी, कहीं अन्यत्र नहीं जाऊँगी; हम दोनों एक दूसरे के मुखकमल को देखने का आनन्द लेते हुए दिन बिता डालें। हाँ एक बात और है—जैसे ही रात हो जावे वैसे ही कामवेग से अन्धे होकर मेरी चारपाई पर मत आ जाना किन्तु ध्यान रखना कि यह सास नाम का काँटा हमारे मार्ग मे है। अतः धैर्यपूर्वक पहले निश्चय कर लेना कि वस्तुतः मेरी सास सो गई; तभी मेरे पास आना।'

महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक मे कई एक हेतुओ की कल्पना करके उनमें दोष दिखलाए हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि इस उदाहरण का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता। वस्तुतः ध्वनि वहीं पर होती है जहाँ किसी बात को तर्क से न सिद्ध किया जा सके। यदि उस कुलटा की सम्भोगेच्छा तर्क से ही सिद्ध की जा सके तो उसके छिपाकर कहने का महत्त्व ही क्या रह जाय। अतएव यह ध्वनि का ही विषय है अनुमान का नहीं।

## लोचन

व्रज मर्मैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिपत ॥

अत्र व्रजेति विधिः । न प्रमादादेव नायिकान्तरसङ्गमनं तव, अपितु गाढानुरागात्, येनान्यादृङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः ।

यहाँ पर 'जाओ' यह विधि है । केवल प्रमाद से ही तुम्हारा दूसरी नायिका से साथ नही हुआ अपितु गाढानुराग से, जिससे दूसरे प्रकार का मुखराग और गोत्रस्खलनादि ( दृष्टिगत हो रहे हैं ) । केवल पूर्वकृत अनुपालनरूप दाक्षिण्य से अर्थात् एकरूपत्व के अभिमान से ही तुम यहाँ पर स्थित हुए हो, अतः तुम सर्वथा शठ हो यह गाढमन्युरूप खण्डिता नायिका का अभिप्राय प्रतीत होता है । यह गमनाभावरूप निषेध नही है और न ही अन्य निषेध के अभावरूप विधि है ।

## तारावती

ऊपर दो उदाहरण दिये गये है—एक मे वाच्य विधिपरक है और व्यंग्य निषेधपरक, दूसरे में वाच्य निषेधपरक है और व्यंग्य विधिपरक । अब तीसरा उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें वाच्य विधिपरक है और व्यंग्य न विधिपरक न निषेधपरकः—

नायिका के साथ नायक बैठा हुआ है । अकस्मात् नायक गोत्रस्खलन कर बैठता है जिससे उसके मुखपर अनुराग रेखा दौड जाती है और वह गहरी श्वास भी लेता है । नायिका इस विकृति को लक्षित कर कहती है कि 'तुम उसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ, मुझे ही रोना और गहरी श्वास लेना पडे; तुम्हें इस दाक्षिण्य का दण्ड क्यों भोगना पड़े ।' यहाँ पर वाच्यार्थ है—'मैं अकेली दुःखी रहूँ, तुम सुखी रहो; अतएव तुम उसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ ।' व्यंग्यार्थ है— तुम सर्वदा कहा करते हो कि अन्य नायिका से तुम्हारा सम्पर्क सयोगवश ही हो गया; वस्तुतः तुम उससे प्रेम नहीं करते हो । किन्तु आज तुम्हारे मुखराग और गोत्रस्खलन इत्यादि को देखकर मैं समझ गई कि तुम मुझसे वास्तविक प्रेम नही करते । तुम्हारा वास्तविक प्रेम तो मेरी सौत से है । तुम मेरे पास पहले के अपने वादों को पूरा करने के लिये केवल दाक्षिण्य के दिखावे के हेतु ही आते हो । तुम सर्वथा शठनायक हो ।' इस प्रकार यहाँ पर खण्डिता के गाढमन्युरूप अभिप्राय की व्यञ्जना

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा :—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाण वि हआसे ॥

(अनु०) कहीं वाच्य निषेधपरक होता है और व्यंग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न । जैसे—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम कृपा करके जाने से रुक जाओ, क्योंकि तुम्हारे मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार का समूह विलुप्त हो रहा है और हे हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं के अभिसार में भी विघ्न कर रही हो ।'

लोचन

दे इति निपातः प्रार्थनायाम् । आ इति तावच्छब्दार्थे । तेनायमर्थः—

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥

अत्र व्यवसिताद्गमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः । गृहागता नायिका गोत्रस्खलनाद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता । नायकेन चाटूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते । न केवलं स्वात्मनो मम च निर्वृतिविघ्नं करोषि, तावदन्यासामपि, ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः ।

'दे' यह प्रार्थनार्थक निपात है 'आ' यह तावत् शब्दार्थक निपात है । इससे यह अर्थ निकलता है—'प्रार्थये' इत्यादि ।

यहाँ पर 'अनुष्ठित गमन से निवृत्त हो जाओ' इस प्रतीति के कारण निषेध वाच्य है । घर में आई हुई नायिका नायक के गोत्रस्खलन इत्यादि अपराध के होने पर वहाँ से लौट जाने को उद्यत हो गई । नायक के द्वारा चाटुकारिता के उपक्रम के साथ रोकी जा रही है । केवल अपनी ही और मेरी ही शान्ति में विघ्न नहीं करती हो । किन्तु दूसरों की भी (शान्ति में विघ्न डालती हो) इससे कभी भी तुम्हें सुख के अंश की भी प्राप्ति नहीं होगी, इससे तुम हत आशा वाली हो यह वल्लभ के अभिप्राय रूप चाटुकारिता की विशेषता अभिव्यक्त होती है ।

तारावती

होती है । जब कि वाच्यार्थ विधिपरक है तब व्यंग्यार्थ खण्डिता का मन्यु न तो जाने का निषेध करता है जिससे निषेधपरक कहा जावे और न दूसरी किसी बात का विधान करता है । अतः यह विधि-निषेध दोनों से भिन्न है ।

उक्त परिस्थिति के प्रतिकूल कहीं कहीं वाच्य निषेधपरक होता है और व्यंग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न । इसका उदाहरण है 'दे..... वि हआसे ।' 'दे' यह

## लोचन

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते—न केवलमात्मनो विघ्नं करोषि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अतएव हताशा, यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं करोषीति सख्यभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः। अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनान्प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात् न ध्वनेः।

तेनायमत्र भावः—काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्ग्रहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हताश इति। अन्यासां च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाटूक्तात्मा व्यङ्ग्य इत्येव व्यवतिष्ठते। अन्ये तु 'तटस्थानां सहृदयानामभिसारिकां प्रतीयमुक्तिः' इत्याहुः। तत्र हताशे इत्यामन्त्रणादियुक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम्।

अथवा सखी के द्वारा उपदेश दी हुई भी उसका अपमान करके जाती हुई (नायिका) सखी के द्वारा इस प्रकार कही जा रही है—लघुता से अपने को बहुमानरहित बनाते हुए केवल अपना ही विघ्न नहीं कर रही हो (तथा) इसी कारण हत आशावाली बन रही हो प्रत्युत वदनचन्द्रिका से राजमार्ग को प्रकाशित कर देने के कारण अन्य अभिसारिकाओं का भी विघ्न कर रही हो, यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यक्त होता है। यहाँ पर इन दोनों व्याख्यानों में अनुष्ठित किये हुये विरुद्ध गमन से और प्रियतम के गृहगमन से निवृत्त हो जाओ इस प्रकार फिर भी वाच्य में ही विश्रान्ति होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद प्रेयोऽलङ्कार अथवा रसवदलङ्कार का यह उदाहरण हो जावेगा ध्वनि का नहीं।

अतएव यहाँ पर यह भाव है—कोई शीघ्रतापूर्वक प्रियतम के घर जाती हुई उसके घर की ओर आनेवाले उसी हृदयवल्लभ के द्वारा न पहिचानने के बहाने इस प्रकार प्रशंसा की जा रही है। इसलिये अपना परिचय देने के लिये ही 'हताशे' यह नर्मवचन है। औरों का भी विघ्न करती हो और तुम्हारा भी ईप्सित लाभ हो जावेगा इसकी भी क्या प्रत्याशा? चाहे मेरे घर को आओ या तुम्हारे घर को हम दोनों चले, इस प्रकार दोनों ओर भी तात्पर्य होने से चाटुकारितारूप वल्लभ का अभिप्राय जो कि अनुभयरूप (विधिनिषेधरूप रहित) है व्यक्त होता है। यही सिद्धान्त यहाँ पर स्थिर होता है। दूसरे लोग तो—तटस्थ सहृदयों की यह अभिसारिका के प्रति उक्ति है यह कहते हैं। उसमें 'हताशे' यह सम्बोधन उचित है या अनुचित इसमें सहृदय ही प्रमाण हैं।

तारावती

निपात संज्ञक अव्यय है जिसका अर्थ होता है प्रार्थना। 'आ' का अर्थ है 'तावत्' जिससे पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम मत जाओ क्योंकि तुम अपने मुखचन्द्र के प्रकाश से अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डालोगी और तुम्हारी भी आशा पूरी न हो सकेगी।' इस पद्य के सन्दर्भ की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। निम्नलिखित व्याख्याओं पर लोचनकार ने विचार किया है :—

(१) नायिका नायक के घर आई है और सहवास में प्रवृत्त हो गयी है। इसी अवसर पर संयोगवश नायक गोत्रस्खलन का अपराध कर बैठता है जिससे नायिका रुष्ट होकर जाने को उद्यत हो जाती है। तब नायक उक्त शब्द कहता है, जिसका व्यंग्यार्थ यह है—'तुम जैसी विश्वसुन्दरी को छोड़कर मैं दूसरी नायिका से प्रेम कैसे कर सकता हूँ? यदि तुम मुझे छोड़कर जाओगी तो मैं अत्यन्त पीड़ित हो जाऊँगा और तुम्हें भी पछताना पड़ेगा। तुम्हारी भी आशा पूरी नही हो सकेगी और दूसरों का भी विघ्न करोगी। इस प्रकार यहाँ पर प्रियतम की चाटुकारिता व्यंग्य है और 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा भविष्य में पछताने की बात कहकर नायिका को आगाह किया गया है।

उक्त व्यंग्यार्थ मे दोष यह है कि इस अर्थ मे मुख्य अर्थ नायिका को रोकना ही है जो कि वाच्य है। व्यंग्यार्थ नायक की चाटुकारिता उक्त वाच्यार्थ का अङ्ग बन गई है। अतएव यह उदाहरण अपराङ्ग गुणीभूतव्यंग्य का हो जाता है ध्वनि का उदाहरण नहीं हो पाता। यदि नायक का अनुराग व्यंग्य माना जावे तो भी वह रोकनारूप वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर रसवत् अलङ्कार हो जावेगा, वस्तुध्वनि का उदाहरण नहीं रहेगा।

(२) उक्त परिस्थिति मे ही प्रियतम के गोत्रस्खलनादि से रुष्ट होकर नायिका अभिसार स्थान से चले जाने को उद्यत हो जाती है। तब नायिका की सखी एक ओर 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा नायिका को आगाह करती है कि तुम बाद मे पछताओगी क्योंकि लघुता के कारण तुम्हारा सारा सम्मान जाता रहेगा।

दूसरी ओर चाटुकारिता के द्वारा नायिका पर यह प्रभाव जमाना चाहती है कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है; यदि तुम यहाँ से जाओगी तो तुम्हारे मुख की चाँदनी चारों ओर छिटक जावेगी यहाँ तक कि दूसरी अभिसारिकाओं का जाना भी रुक जावेगा। अतः तुम जैसी चन्द्रसुन्दरी को छोड़कर नायक किसी और नायिका को चाहेगा इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। गोत्रस्खलन इत्यादि की बात सांयोगिक है उसपर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिये। इस व्याख्या मे भी उपर्युक्त दोष ही है कि इसका पर्यवसान 'लौट चलो' के वाच्यार्थ के साथ ही होकर

तारावती

इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य बना देता है और नायिका के प्रति सखी का अनुराग भावव्यञ्जना के अन्तर्गत आकर तथा वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर प्रेय अलङ्कार का रूपधारण कर लेता है। अतः यह व्याख्या भी मान्य नहीं।

( ३ ) अतः यहाँ पर यह व्याख्या ठीक होगी—कोई नायिका नायक के पास द्रुत-गति से जा रही है और उसका हृदयवल्लभ भी उसी के घर की ओर आ रहा है। नायक मानों न पहचानते हुये तथा अपनी निकटवर्तिता का परिचय देते हुये यह शब्द कह रहा है कि—अभिसारिकायें कालीरात मे ही अपने प्रियतमों से मिलने जा सकती है। तुम्हारे इस प्रकार अभिसार करने से अन्धकार दूर हो जाता है और अभिसारि-काओं के मनोरथ मे विघ्न पडता है। इसका पाप तुम पर पड़ेगा और तुम्हारी भी आशायें पूर्ण नहीं हो सकतीं। अतः तुम अभिसार का विचार छोड़कर लौट चलो।' यह है वाच्यार्थ। इसका व्यङ्ग्यार्थ यह है—कि नायक नायिका की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करना चाहता है। वह नायिका को अपना परिचय देकर यह प्रकट करना चाहता है कि मै भी तुम्हारे घर जा रहा हूँ; अब तुम चाहो तो मेरे घर चलो या अपने घर लौट चलो। यह अच्छा ही हुआ कि तुम मुझे मार्ग मे मिल गई और मैंने तुम्हे पहिचान लिया। अन्यथा हम दोनों को अपने अपने गन्तव्यस्थानपर पहुँच कर निराश ही होना पड़ता। यहाँ पर वाच्य निषेधपरक है और व्यङ्ग्य चाटु-कारितापरक जो न विधि है और न निषेध।

(४) कुछ लोगों ने यह उक्ति तटस्थों की बतलाई है। किन्तु उस अर्थ मे 'हताशे' इस सम्बोधन का औचित्य क्या होगा? इसका निर्णय मैं सहृदयों पर ही छोड़ता हूँ।

ऊपर के चारो उदाहरणों में एक ही विषय ( संबोध्य व्यक्ति ) के प्रति वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। प्रथम उदाहरण मे धार्मिक व्यक्ति के प्रति प्रमाणविधि वाच्य और निषेधविधि व्यंग्य है। द्वितीय उदाहरण में पथिक के प्रति शय्या पर आने का निषेध वाच्य और विधिव्यंग्य है; तृतीय उदाहरण मे नायक के प्रति गमनविधि वाच्य और 'मैं रहस्य को समझ गई हूँ' यह खण्डिताकोप व्यंग्य है। चतुर्थ उदाहरण मे अभिसारिका के प्रति अभिसारनिषेध वाच्य और प्रियतम की चाटुकारिता व्यंग्य है। इन सब उदाहरणों में एक ही व्यक्ति अभिधा-वृत्ति से एक अर्थ समझता है और व्यञ्जनावृत्ति से दूसरा। अतएव यहाँ पर वाच्य और व्यग्य का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि विषयभेद से भी वाच्य और व्यंग्य का भेद हो सकता है। विषयभेद का आशय यह है कि वाच्यार्थ तो सभी श्रोताओ के प्रति एक ही होगा किन्तु व्यंग्यार्थ श्रोताओ

ध्वन्यालोकः

कचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स वण होई रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्मि॥

(अनु०) कहीं विषयभेद से भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद की व्यवस्था की जा सकती है। जैसे—'अपनी प्रियतमा के व्रणपूर्ण अधर को देखकर किसको क्रोध उत्पन्न नहीं होगा? तुम्हारा स्वभाव ही कुटिल है, तुम मेरा मना करना तो कभी मानती ही नहीं। मैंने तुम्हे मना किया था कि इस फूल को मत सूंघो क्योंकि इसमें भौंरा बैठा है। तुमने नहीं मानी और वह फूल तुमने सूंघ ही लिया। अब इस समय उसका दुष्परिणाम तुम्हें सहना ही पड़ेगा।'

लोचन

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम्। अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य वाच्याद्भेद इत्याह—क्वचिद्वाच्यादिति। व्यवस्थापित इति। विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य मे धार्मिक, मान्य, प्रियतमा और अभिसारिका इनकी विषय की एकता होने पर भी स्वरूपभेद के कारण भेद माना जाता है यह प्रतिपादित कर दिया। अब तो विषयभेद से भी व्यङ्ग्य का वाच्य से भेद होता है यह कह रहे है—कहीं कहीं वाच्य से इत्यादि व्यवस्था किया गया है तक। आशय यह है कि अवस्थित होनेवाला विचित्ररूपवाला विषयभेद भी सहृदयों के द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है।

तारावती

की योग्यता के अनुसार बदलता जावेगा। इसीलिये मूल मे लिखा है कि कहीं कहीं वाच्य से विभिन्न विषय के रूप मे 'व्यवस्था' की जा सकती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि 'व्यवस्था की जा सकने' का आशय तो यह है कि स्वयं उनमे सत्य नही होता; केवल कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है वे विभिन्न अर्थ स्वतः व्यवस्थित होने की क्षमता रखते हैं; इसीलिये सहृदय लोग उन्हे व्यवस्थापित कर देने में समर्थ हो जाते हैं। उदाहरण :—

कोई नायिका किसी उपपति से सम्भोग कराकर लौटी है; उपपति ने उसके अधर पर दन्तक्षत का चिह्न बना दिया है। नायिका का पति निकट आ गया है

## लोचन

कस्य वेति । अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव, अकृत्वाऽपि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य । सभ्रमरपद्माघ्राणशीले शीलं हि कथञ्चिदपि वारयितुं न शक्यम् । वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि । सहस्वेदानीमुपालम्भपरम्परामित्यर्थः । अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसन्निधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते । सहस्वेदानीमिति वाच्यसविनयवतीविषयम् । भर्तृविषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम् । सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम् । तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्वचलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम् । तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम् । सपत्नीमध्ये धृयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तम्, प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम् । अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्यं

कस्य वेति । अनीर्ष्यालु को भी देख करके ही रोष होता है, स्वयं न करके कहीं से ( किसी विशेष कारण से प्रकट हुए ) प्रियतमा के व्रणपूर्ण अधर को देखकर पहले न देखी हुई विशेषता के होने के कारण ( क्रोध हो ही जाता है । ) 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले'—शील का वारण कभी नहीं हो सकता । वारित अर्थात्—निषेध करने मे वामा अर्थात् उसको अङ्गीकार न करनेवाली । 'इस समय सहो' अर्थात् उपालम्भपरम्परा को । यहाँ पर भाव यह है—कोई अविनीता कहीं से खण्डित अधरवाली उसके पति के किसी निकटवर्ती प्रदेश मे सन्निहित होने का निश्चय कर मानो उसको न देखती हुई किसी विदग्ध सखी के द्वारा उस ( नायिका ) की निन्दा के परिहार के लिए इस प्रकार कही जा रही है । 'इस समय सहो' यह वाच्य अविनयवाली के विषय मे है । पति के विषय में तो 'अपराध नहीं है' यह निवेद्यमान तत्त्व ही व्यङ्ग्य है । 'सहन करो' यह भी उसी के विषय में व्यङ्ग्य है ( अर्थात् नायिका अपराधिनी नहीं है अतः तुम क्रोध को सहन करो । ) नायिका के प्रियतम के द्वारा प्रगाढ रूप में उपालम्भ दिये जाने पर उसकी बुराई की आशका करनेवाले पड़ोसी लोगों के विषय में अविनय प्रच्छादन के द्वारा विश्वास दिलाना व्यंग्य है । उसकी सौत के उस उपालम्भ तथा उसके अविनय के कारण होने पर 'प्रिया' इस शब्द के बलपर उसके सौभाग्य की अधिकता का प्रख्यापन सपत्नी के विषय मे व्यङ्ग्य है । 'सपत्नियों के मध्य में मैं इतने से खल बना दी गई हूँ यह लघुता अपने अन्दर ग्रहण करना उचित नहीं है, प्रत्युत यह बहुमान है । 'सहो' अर्थात् 'शोभित हो इस समय' यह सखी के विषय मे सौभाग्यप्रख्यापन व्यंग्य है । 'आज यह तुम्हारी प्रच्छन्नानुरागिणी हृदय-

## लोचन

**रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्नविधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसम्बोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति। तदेतदुक्तं व्यवस्थापितशब्देन।**

वल्लभा इस प्रकार रक्षित कर ली गई, पुनः प्रकट-दन्तक्षत का कार्य नहीं करना चाहिये।' यह उसके चौर्यकामुक के विषय मे सम्बोधन व्यंग्य है। 'इस प्रकार मैंने यह छिपा लिया' यह अपने वैदग्ध्य का ख्यापन तटस्थ विदग्ध लोगों के विषय मे व्यङ्ग्य है। वह यह व्यवस्थापित शब्द के द्वारा कहा गया है।

## तारावती

और अधरक्षत को देखकर उसने क्रोध किया है। इस बात को सखी जान गई है किन्तु यह प्रकट करते हुये कि मानों वह जान ही नहीं पाया वह नायिका, नायक, उपपति, सपत्नी इत्यादि सबको सुनाकर ये शब्द कहती है कि 'कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी प्रियतमा के अधर व्रणपूर्ण देखकर क्रुद्ध न हो जावे, तुम्हारा स्वभाव ही भ्रमरयुक्त पुष्प सूँघने का है, तुम मना करने पर मानती नहीं अब सहन करो।' यहाँ पर 'कौन' शब्द का अर्थ है—कोई भी व्यक्ति कितना ही ईर्ष्यारहित क्यों न हो किन्तु यदि उसने स्वयं अपनी प्रियतमा का अधरक्षत न किया हो और अपूर्व अधरक्षत उसे अपनी प्रिया के अधर पर दिखलाई पड़ जावे तो उसे क्रोध होना स्वाभाविक है। 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले' मे शील शब्द का आशय यह है कि जो स्वभाव पड जाता है वह टाला नहीं जा सकता। तुम प्रायः भ्रमरयुक्त फूल सूँघा करती हो, आज संयोगवश भौंरे ने काट खाया। 'वारितवामे' का अर्थ है कि तुम कभी मना करना तो मानती ही नहीं। यहाँ पर वाच्यार्थ का विषय केवल पुंश्चली नायिका है। किन्तु इसका व्यङ्ग्यार्थ विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न प्रकार का होगा—(१) नायक के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'इसका अधरक्षत भ्रमर के काटने से हुआ है, अतः तुम्हें अन्यथा शङ्का कर नायिका पर क्रोध नहीं करना चाहिये। (२) प्रियतम के द्वारा गाढ उपालम्भ देने पर जब पड़ोसियों को नायिका के अपराध की आशङ्का होने लगती है तब उनके प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'नायिका आचारातिक्रमण की अपराधिनी नहीं है, भ्रमर दंश को देखकर पति को क्रोध आ गया है। (३) पति के उपालम्भ और नायिका के अपराध को देखकर जब सपत्नियाँ हर्षित होने लगती है तब उनके प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'नायिका नायक की प्रियतमा ही है, भ्रमर द्वारा किये गये अधर क्षत को देखकर क्रोध आ जाना स्वाभाविक ही है। वास्तविकता के प्रकाश मे आ जाने पर पति का क्रोध शान्त हो जावेगा। इस क्षणिक रोष को देखकर तुम्हें हर्षित नहीं

ध्वन्यालोकः

अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते । तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव ।

('अनु०) इसी भाँति और भी बहुत से प्रतीयमान के प्रकार हैं जो वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद के उदाहरण के रूप में दिखलाये जा सकते हैं । यहाँ पर मैंने उनका दिग्दर्शनमात्र कराया है । ध्वनि का दूसरा भेद है अलङ्कारध्वनि, यह वाच्यार्थ से भिन्न होती है इस बात की विस्तृत विवेचना आगे चलकर की जावेगी । तीसरा रस इत्यादि नामवाला भेद तो वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है; वह कभी भी साक्षात् स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकता और न शब्द की क्रिया ही उसका प्रत्यायन करा सकती है । अतएव रसादिध्वनि भी वाच्य से भिन्न ही होती है ।

लोचन

अत्र इति । द्वितीयोद्योते 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे । यथा हि विधिनिषेधतदनुभयात्मना रूपेण सङ्कलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कारध्वनिः, अलङ्काराणां भूय-

'आगे दिखलाया जावेगा' अर्थात् द्वितीय उद्योत में 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इस विवक्षितान्यपरवाच्य नामक द्वितीय प्रभेद के वर्णन के अवसर पर जिस प्रकार विधिनिषेध तथा अनुभय आत्मा के रूप में संकलित करके वस्तुध्वनि का संक्षेप में सुविधापूर्वक विवेचन किया जा सकता है उस प्रकार अलंकारध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत अधिक है । इसलिये

तारावती

होना चाहिये । यह व्यञ्जना 'प्रियायाः' इस शब्द के बल पर निकलती है । (४) नायिका के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'तुम्हारे अधरक्षत को देखकर पति को क्रोध आ गया है, तुम उसकी प्रियतमा नहीं होती तो उसे क्रोध ही नहीं आता । अतः सौतों के बीच अपने इस अपमान को देखकर तुम्हें अपने अन्दर लघुता का भाव नहीं लाना चाहिये । अब मैंने बचा ली है और तुम्हारे प्रति पति का कोप भी जाता रहेगा ।' यहाँ पर सहस्व का अर्थ है 'शोभित हो' । इस प्रकार नायिका के सौभाग्य का ख्यापन यहाँ पर व्यङ्ग्य है । (५) उपपति के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'तुमसे प्रच्छन्न प्रेम करनेवाली तुम्हारी हृदयवल्लभा को आज तो मैंने उसके पति के क्रोध से बचा लिया । किन्तु भविष्य में तुम्हें सतर्क रहना चाहिये और कभी

## लोचन

म्यात्। तत एवोक्तम्—स प्रपञ्चमिति। तृतीयस्त्विति। तु शब्दो व्यतिरेके। वस्त्वलङ्कारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापारादृते कहा है—सप्रपञ्च (आगे चलकर दिखावेंगे)। तृतीयस्त्विति। 'तु' शब्द व्यतिरेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वस्तु और अलंकार भी शब्दाभिधेयता को अङ्गीकृत कर लेते हैं। रस भाव रसाभास भावाभास भावप्रशम कभी भी अभिहित नहीं हो सकते तथा वे आस्वाद्यमानता को ही प्राण बनाकर शोभित होते हैं। उसमें ध्वनन-

## तारावती

स्पष्ट दन्तक्षत की ऐसी बात नहीं करनी चाहिये। यहाँ पर उपपति के विषय में चौर्य कामुकता व्यक्त होती है। (६) निकटवर्ती रसिकसमाज के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'देखो मैं कितनी निपुण हूँ। ऐसी बातों का बनाना तो मेरे बायें हाथ का खेल है। इस प्रकार विषयभेद से व्यङ्ग्यार्थभेद की व्यवस्था कई रूपों में की जा सकती है। विषयभेद भी स्वरूपभेद के समान अनेक प्रकार का हो सकता है। प्रस्तुत पद्य उदाहरण मात्र है। दूसरे प्रकार भी इसी भाँति समझ लिये जाने चाहिये। इसीलिये मूल में व्यवस्थित शब्द का प्रयोग किया गया है। (हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कई एक अन्य भी उदाहरण दिये हैं—जैसे—विधि में दूसरी विधि, निषेध में दूसरा निषेध, अविधिनिषेध में विधि, अविधिनिषेध में निषेध, विधिनिषेध में दूसरी विधि, विधिनिषेध में दूसरा निषेध इत्यादि। इन सबके उदाहरण वहीं देखे जाने चाहिए। सारांश यही है कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं। महिम भट्ट ने ध्वन्यालोक के प्रायः सभी उदाहरणों को या तो असङ्गत बतलाया है या उनका समावेश अनुमान में करने की चेष्टा की है। किन्तु उनके बतलाये हुए अधिकतर हेतु हेत्वाभास की कोटि में आ जाते हैं अतः अप्रामाणिक हैं।)

व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलङ्कार और रस। वस्तुव्यङ्ग्य वाच्य से भिन्न होता है इसपर प्रकाश डाला जा चुका। अलङ्कार व्यञ्जना और अभिधा का भेद द्वितीय उद्योत की 'असंलक्ष्यक्रमोद्योतः' (२-४) इस कारिका की व्याख्या के अवसर पर विस्तारपूर्वक समझाया जावेगा। विधि और निषेध का सङ्कलन करके वस्तुध्वनि का संक्षेप में कथन करना सम्भव था। अतः उसका दिग्दर्शन करा दिया गया। बहुलता के कारण अलङ्कारों का सङ्कलन कर सकना यहाँ पर सम्भव नहीं है। अतएव यथास्थान द्वितीय उद्योत में विवक्षितान्यपरवाच्य के द्वितीय भेद के वर्णन के अवसर पर उनका निरूपण किया जावेगा।

ध्वन्यालोकः

तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनां प्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत् तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता। विपयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। नहि केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयं कथञ्चित्; इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।

(अनु०) इसको इस प्रकार समझिए—रस इत्यादि की वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है—या तो रस इत्यादि शब्द के द्वारा निवेदित किये गये हों या विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा उनका प्रत्यायन कराया गया हो। यदि प्रथम पक्ष (रसादि का स्वशब्दवाच्य होना) माना जावेगा तो जहाँ पर रस इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया होगा वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति हो ही नहीं सकेगी। इसके प्रतिकूल रस इत्यादि के प्रतिपादन के अवसर पर सर्वत्र रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। जहाँ कहीं रस इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया भी जाता है वहाँ भी उनकी प्रतीति रसादि के प्रतिपादन के द्वारा ही हुआ करती है। रसादि शब्दों का प्रयोग केवल अनुवादक होता है। उन शब्दों के द्वारा रस इत्यादि की प्रतीति होती ही नहीं। क्योंकि दूसरे विषयो मे जहाँ विभाव इत्यादि का अभाव होता है, केवल रस इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग होता है वह रसास्वादन देखा ही नहीं जाता। केवल शृङ्गार इत्यादि शब्दों के होने पर और विभाव इत्यादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य मे थोडी भी रसवत्ता प्रतीत होती हुई देखी ही नहीं जाती। अब चूँकि जहाँ पर रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं होता केवल विशिष्ट विभाव इत्यादि का ही प्रयोग होता है वहाँ रस इत्यादि की प्रतीति हो जाती है और जहाँ पर केवल रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति नहीं होती अतएव अन्वयतिरेक से यह सिद्ध होता है कि रस इत्यादि का सर्वदा वाच्यसामर्थ्य से आक्षेप ही होता है, रस इत्यादि किसी प्रकार भी वाच्य नहीं हो सकते। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि तीसरा प्रभेद रस इत्यादि भी वाच्य से भिन्न ही होता है। यह बात आगे चलकर दिखलाई जावेगी कि (साथ न होते हुए भी रस इत्यादि की प्रतीति वाच्य के साथ होती हुई सी क्यों जान पड़ती है। यह आगे दिखलाया जावेगा कि इसकी प्रतीति वाच्य के साथ की जैसी होती है।

## लोचन

नास्ति कल्पनान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात् । औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्याभावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः । यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात् । तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः । तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ । तदसौ शृङ्गाराभास एव । तदङ्गं भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्तायाः हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण. अत एव तत्सङ्ग्रहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ । यथा—

व्यापार को छोड कर शब्द की गति के स्खलित न होने के कारण मुख्यार्थबाध इत्यादि लक्षणानिबंधन की आशङ्का की ही नहीं जा सकती । औचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर स्थायिनी चित्त-वृत्ति की आस्वादनीयता होने पर रस होता है, व्यभिचारिणी के आस्वादनीय होने पर भाव होता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर रसाभास और भावाभास होते हैं । जैसे रावण की सीता मे रति ( आस्वादनीय होकर रसाभास हो गई है ) । यद्यपि वहाँ पर हास्यरसरूपता ही है क्योकि कहा गया है कि शृङ्गार से हास्य होता है । तथापि सामाजिको की यह बाद की स्थिति है तन्मय होने की दशा मे तो रति की ही आस्वादनीयता होती है, इसप्रकार 'दूराकर्षण मोहमन्त्र के समान उस ( सीता ) के नाम के कर्णगोचर होने पर' इत्यादि मे पौर्वापर्य के विवेक की अवधीरणा से शृङ्गारता ही शोभित होती है । अतः यह शृङ्गाराभास ही है । उसका अङ्ग भावाभास होता है । क्योंकि रसव्यञ्जना के लिये प्रारम्भ की हुई चित्तवृत्ति का प्रशम ही विशेष रूप से हृदय को आह्लादित करता है इसीलिये उसके द्वारा संग्रहीत भी यह भावप्रशम पृथक् गिना गया है । जैसे—

## तारावती

तीसरा भेद है रसव्यञ्जना । वस्तु तथा अलङ्कार की अपेक्षा रसव्यञ्जना मे एक अन्तर है । वस्तु तथा अलङ्कार में कभी-कभी अभिधेय होने की क्षमता होती है, किन्तु रस कभी भी वाच्य नही हो सकता, वह सर्वदा व्यङ्ग्य ही होता है । रस इत्यादि का प्राण ही है आस्वादन किया जाना । जबतक किसी तत्त्व मे आस्वादनीयता नही आती तबतक उसे रस की संज्ञा दी ही नही जा सकती । इस आस्वादनीयता की तभी ठीक-ठीक व्याख्या की जा सकती है जब कि ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जावे । ( अभिधा का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि 'आनन्द आ रहा है' यह कहने से या सुनने से किसी को आनन्द नही आ

लोचन

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोगौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥

'एक ही शय्या पर पराङ् मुख होने के कारण उत्तरकालिककार्यरहित होकर सन्ताप का अनुभव करते हुये, एक-दूसरे के हृदय में अनुनय के स्थित रहते हुये भी गौरव की रक्षा करते हुये, दम्पति के धीरे से अपाङ्गवलन के कारण चक्षुओं के मिलजाने से हास और शीघ्रता के साथ कण्ठग्रह की सम्पन्नतापूर्वक मान-कलह नष्ट हो गया।

तारावती

जाता। विभिन्न वर्णनों और अभिनयों में आनन्दानुभूति असम्भव होती है जो कि ध्वनि का ही रूप है।) अभिधेयार्थ का बाध नहीं होना इसलिए यहाँ पर लक्षणा नहीं हो सकती।

रसध्वनि में रसध्वनि, भावध्वनि, रसाभासध्वनि, भावाभासध्वनि, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता ये सभी भेद सम्मिलित हैं। स्थायिनी चित्त-वृत्ति जब औचित्यप्रवृत्ति के साथ आस्वादरूपता को धारण करती है तब उसे रसध्वनि कहते हैं, जब व्यभिचारिणी चित्तवृत्ति आस्वादरूप हो जाती है तब उसे भावध्वनि कहते हैं। जब वही चित्तवृत्तियाँ अनौचित्य-प्रवृत्त होती हैं तब क्रमशः रसाभास और भावाभास ध्वनियाँ होती हैं। जैसे राम का सीता के प्रति प्रेम रसध्वनि कहा जावेगा और रावण का सीता के प्रति प्रेम रसाभास कहलावेगा। यद्यपि इस प्रकार का रसाभाससम्बन्धी प्रेम हास्य ही कहा जावेगा। क्योंकि कहा गया है कि 'शृङ्गार से हास्य उत्पन्न होता है।' किन्तु रसाभास का ज्ञान तो सामाजिकों को बाद में होगा। रस की उस दशा में जब पाठक तन्मय हो जाता है उसके आस्वाद में रति ही कारण होती है। जब हम रावण के मुख से ऐसे शब्द सुनते हैं कि—'उस सीता के नाम में एक जादू है जो ऐसा मालूम पड़ता है मानों आकर्षण का मोहनमन्त्र हो' इत्यादि वाक्यों को सुनने से चित्तवृत्ति रति इत्यादि भावों में ऐसी तन्मय हो जाती है कि विभाव (नायक और नायिका) का ध्यान ही नहीं रहता, जिससे औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किया जा सके। उस समय विभाव अनुभाव इत्यादि का विचार सर्वथा लुप्त हो जाता है और रसास्वादन ही प्रत्यक्ष रह जाता है। बाद में जब विभाव इत्यादि पर विचार किया जाता है और यह ज्ञात होता है कि यह रति तो सीता के प्रति रावण की है तब उस शृङ्गार के प्रति हास्य का उदय होता है। शृङ्गार के प्रति हास्यचर्वणा ही

## लोचन

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः। न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति। तदाह—प्रकाशत इति। तेन तत्र शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति। विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्महर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वननमेवोच्यते। स्वशब्देति। शृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापार-

यहाँ पर ईर्ष्यारोषात्मक मान का प्रशम हो गया है। यह रस इत्यादि अर्थ 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' इससे जैसा हर्ष होता है वैसा नहीं है। लक्षणा के द्वारा भी नहीं। अपितु सहृदय के हृदयसंवाद के बल पर विभाव और अनुभाव की प्रतीति में तन्मयता के आजाने से आस्वादगोचर होते हुये ही रस्यमानता को ही एकमात्र प्राण के रूप मे रखनेवाला सिद्ध स्वभाव सुख इत्यादि से विलक्षण स्फुरित होता है। यही कहते हैं—प्रकाशित होता है। इससे वहाँ पर अर्थ सहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार होता है। विभावादि अर्थ भी पुत्रजन्महर्ष न्याय से उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है इसप्रकार अर्थ का भी जननातिरिक्त व्यापार ध्वनन ही कहा जाता है। स्वशब्देति। अर्थात् शृङ्गार इत्यादि शब्द से अभिधा व्यापार

## तारावती

शृङ्गाराभास के नाम से पुकारी जाती है। जो व्यभिचारीभाव रसाभास का अङ्ग होता है उसे भावाभास कहते हैं। भावध्वनि मे ही भावप्रशम का भी समावेश हो सकता था, किन्तु यहाँ पर पृथक् परिगणन किया गया है। इसका कारण यह है कि कभी-कभी जब चित्तवृत्ति आस्वादरूपता को धारण करने लगती है उस समय भाव नहीं भाव-प्रशम ही हृदय को आनन्द देने मे कारण होता है। जैसे—

'नायक और नायिका ने एक दूसरे से मान किया है, दोनों एक ही चारपाई पर लेटे हैं, दोनो ने एक दूसरे की ओर से करवट बदल रक्खी है, लेटने के बाद के सारे कार्य बन्द है, दोनों के चित्तों मे सन्ताप है, हृदय मे एकदूसरे से अनुनय करने की इच्छा होते हुए भी अपने-अपने गौरव की रक्षा करते है इसी समय दोनो के अपाङ्ग इशारे मे घूमे और दोनो की आँखे मिल गईं, दोनों को हँसी आ गई, दोनों चटपट एक-दूसरे के गले में चिपट गये और उनका प्रणयरोष का कलह समाप्त हो गया।'

यहाँ पर ईर्ष्या और रोष आस्वादन मे निमित्त नहीं है किन्तु उनका प्रशम ही निमित्त है। (इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के विषय मे भी समझना चाहिये। यह है रसध्वनि के विस्तार का संक्षिप्त परिचय।)

## लोचन

वशादेव निवेदितत्वेन। विभावादीति। तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः। तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वन् ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—न च सर्वत्रेति।

वश ही निवेदित होने के कारण। विभावादि। अर्थात् तात्पर्य शक्ति से। वहाँ पर रस्यमानतासार (रस) के प्रति स्वशब्द के अन्वय-व्यतिरेक का निराकरण करते हुये ध्वनन के ही वे दोनों (अन्वय-व्यतिरेक) होते है यह दिखला रहे है—न च सर्वत्रेति।

## तारावती

इस रसास्वादन से उत्पन्न होनेवाला आनन्द अभिधावृत्ति से संगृहीत नही हो सकता। अभिधावृत्ति के द्वारा भी आनन्द उत्पन्न हुआ करता है और वह इस प्रकार का हुआ करता है जैसा कि 'हे ब्राह्मण! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ।' यह कहने से ब्राह्मण को होता है। रसास्वादन का आनन्द उससे विलक्षण होता है क्योकि उसमे अपने-पराये का भाव तिरोहित हो जाता है। बाध इत्यादि के न होने से लक्षणा भी नही हो सकती। किन्तु जिस समय हम काव्य में किसी अवलम्बन के प्रति उत्पन्न होनेवाले आश्रयगत किसी भाव का परिशीलन करते है और प्रकृतिवर्णन तथा आलम्बनगत चेष्टा इत्यादि की उद्दीपन के रूप मे और आश्रयगत चेष्टाओ की अनुभाव के रूप मे प्रतीति करते है उस समय मे वह आश्रयगत भाव अपने हृदय से मेल खाता हुआ सा मालम पडता है। उस समय हमारा अन्तःकरण उस भाव से तन्मय हो जाता है। हमे भी उस समय उस भाव मे आनन्द की प्रतीति होने लगती है। इसी आनन्द का नाम रस है। आस्वादन करना ही इसका एक मात्र प्राण है। यह रस लौकिक सुखादि से इस अर्थ मे भिन्न होता है कि लौकिक सुख साध्य होते है किन्तु यह स्वयं सिद्ध स्वप्रकाशानन्दस्वरूप होता है। यह उत्पन्न नहीं होता किन्तु स्वयं स्फुरित होता है। इसीलिये मूल मे कहा गया है वह प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विधि से यह तृतीय रसध्वनि वाक्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर स्वयं प्रकाशित हुआ करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रसादि की प्रतीति मे अर्थ सहकार के साथ शब्द का ध्वननव्यापार ही हुआ करता है। विभाव इत्यादि वाच्यार्थ भी रसादिरूप चित्तवृत्ति को उस प्रकार उत्पन्न नही किया करते जिस प्रकार पुत्रजन्म के समाचार से आनन्दात्मक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव रसानुभूति मे अर्थ का भी ध्वननव्यापार ही होता है। रस की वाच्यता दो ही रूपो मे हो सकती है या तो रस, शृगार, रति इत्यादि शब्दो का प्रयोग करके या विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा, तात्पर्यशक्ति से। यदि हम रस को शब्दवाच्य

## लोचन

यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने ।
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ॥
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः ।
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेपस्थितिः ॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचित-चित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाप-चिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि । एवं व्यतिरेका-

जैसे भट्टेन्दुराज का—'बीच बीच में रुक-रुक कर होनेवाले दृष्टिपातों में जो कि नेत्र अस्थिरता को प्राप्त हो जाते है, काटी हुई कमलिनी की नाल के समान जो कि उसके सारे अङ्ग सूखते चले जा रहे हैं; दूर्वाकाण्ड को भी तिरस्कृत करनेवाली घनी पीलिमा जो कि उसके कपोलों पर व्याप्त है, यौवन को प्राप्त कृष्ण के प्रति यौवनवती वनिताओं की बस यही वेपस्थिति है ।

यहाँ पर अनुभाव विभाव के बोधन के बाद ही तन्मय होने की युक्ति से उस विभाव और अनुभाव के योग्य चित्तवृत्ति की वासना से अनुरञ्जित अपनी संवेदना-मयी आनन्दचर्वणा का विषयभूत अर्थ ही रस की आत्मावाला स्फुरित होता है, यद्यपि यहाँ पर अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क इत्यादि किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसप्रकार व्यतिरेक

## तारावती

मानेगे तो रस इत्यादि शब्द और रसानुभूति में अन्वय-व्यतिरेक मानना पड़ेगा । 'जहाँ रसास्वादन होता है वहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द अवश्य होते हैं' यह अन्वय है और 'जहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द नहीं होते वहाँ रसानुभूति भी नहीं होती' यह व्यतिरेक है । किन्तु ऐसा होता नहीं है ।

[ यदि कोई व्यक्ति रङ्गमञ्च पर आकर कह दे 'मैं क्रोध में भरा हूँ' 'मैं रति से युक्त हूँ' 'मुझे लज्जा आ रही है' और क्रोध-रति-लज्जा इत्यादि के अनुभावों का अभिनय करे तो सहृदयों को कथमपि रसास्वादन नहीं हो सकेगा । इसके प्रतिकूल होता यह है कि रस इत्यादि शब्दों के न होने पर भी केवल अनुभावों का ही वर्णन कर देने से रसास्वादन हो जाता है ।]

जैसे भट्टेन्दुराज का निम्नलिखित उदाहरण—'कृष्ण का यौवन प्रारम्भ हो रहा है और उधर युवतियाँ भी भरे हुये यौवन से आप्यायित हैं । अतः कृष्ण को देखकर यौवनवती वनिताओं का रंग-ढंग ही बदल जाता है । बीच बीच में रुक-

## लोचन

भावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति—यत्रापीति। तदिति स्वशब्दनिवेदितत्वम्। प्रतिपादनमुखेनेति। शब्दप्रयुक्तया विभावादिप्रतिपत्त्येत्यर्थः। सा केवलमिति। तथाहि—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्वृत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम्॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते। उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव। सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तु

का अभाव दिखलाकर अन्वय का अभाव दिखला रहे है यत्रापीति। 'तत्' का अर्थ है स्वशब्दनिवेदितत्व। प्रतिपादनमुखेनेति। अर्थात् शब्द के द्वारा प्रयुक्त की हुई विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के द्वारा। सा केवलमिति। वह इसप्रकार—"जब मधुमथन भगवान् कृष्ण द्वारका चले गये तब यमुना तट पर उगी हुई और विहरणकाल मे भगवान् कृष्ण के द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वंजुललता का आलिङ्गनकर उत्कण्ठा से भरी हुई राधा ने वाष्पप्रवाह के कारण गद्गद कण्ठ से तारस्वर मे ऐसा गाना गाया कि स्थलचारियों का तो कहना ही क्या जल के अन्दर निवास करनेवाले जीवों ने भी उत्सुकता-वश कूजना प्रारम्भ कर दिया।"

यहाँ पर विभाव और अनुभाव अम्लान रूप में प्रतीत हो रहे हैं, और उत्कण्ठा चर्वणागोचरता को प्राप्त होती ही है। 'सोत्कण्ठ' शब्द केवल सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। 'उत्क' इस शब्द के द्वारा उक्त अनुभावों का आकर्षण करने के लिये

## तारावती

रुक कर वे कृष्ण को देख लेती हैं जिससे उनके नेत्र अस्थिर हो जाते है। जैसे—काटी हुई कमलिनी सूखती जाती है वैसे ही उन वनिताओं के अङ्ग भी सूखते चले जा रहे है। उनके कपोलों पर कृशताजन्य पीलिमा भी फैल रही है जो कि सूखी हुई घास की पीलिमा को भी लज्जित करनेवाली है।'

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन हैं, वनितायें आश्रय है, चञ्चल नेत्रों से रुक-रुक कर देखना इत्यादि अनुभाव है, कृष्ण का यौवन उद्दीपन विभाव है। इन विभाव और अनुभावो के बोध हो जाने के बाद चित्तवृत्ति मे जो तन्मयता आ जाती है और चित्तवृत्ति अनुभाव और विभाव के योग्य जिस वासना से अनुरञ्जित हो जाती है उसके द्वारा स्वप्रकाशनन्द चिन्मय रस का स्फुरण होने लगता है। यद्यपि यहाँ पर भी अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु इन सबकी प्रतीति विभाव और अनुभाव के बल पर ही हो जाती है।

## लोचन

सोत्कण्ठा शब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तिरतन्मयीभावो वा। न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह विषयान्तर इति। यद्विश्रम्य इत्यादौ। न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदितिभावः। अदर्शनमेव दृढयति—नहीति। केवलशब्दार्थं स्फुटयति—विभावादिति। काव्य इति। तव मते काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः। मनागपीति।

ही सोत्कण्ठा शब्द का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार अनुवाद भी निरर्थक नहीं है। 'पुनः अनुभाव के द्वारा प्रतिपादन करने में पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव उसके द्वारा नहीं होता' इस विषय मे हेतु बतला रहे है—'विषयान्तरे' इत्यादि। 'यद्विश्रम्य' इत्यादि स्थानो पर। जिसके अभाव में भी जो हो जाता है वह उसका बनाया हुआ नहीं कहा जा सकता। न देखे जाने को ही दृढ कर रहे है—'न हि' इत्यादि। केवल शब्द को स्पष्ट कर रहे है विभाव इत्यादि। काव्य इति। अर्थात् तुम्हारे मत मे काव्य के रूप में जो तत्त्व प्रसक्त होता है। 'मनागपीति'।

## तारावती

इस प्रकार यहाँ पर व्यक्तिरेकव्याप्ति 'जहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द नही होते वहाँ रसानुभूति नहीं होती' मे दोष दिखला दिया गया कि उक्त पद्य मे शृङ्गार इत्यादि शब्दो के न होने पर भी रसानुभूति हो जाती है, अब अन्वयव्याप्ति का अभाव दिखलाया जा रहा है—काव्य मे कही कहीं रस, शृङ्गार इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। वहाँ पर भी उनकी प्रतीति विशेषरूप से विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा ही होती है, शब्दों का प्रयोग तो केवल उन भावो का अनुवाद करने के लिये ही होता है। जैसे—

'जब मधुमथन भगवान् कृष्ण द्वारका को चले गये तब यमुनातट पर उगी हुई और विहरणकाल मे भगवान् कृष्ण के द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वञ्जुललता का आलिङ्गनकर उत्कण्ठा से भरी हुई राधा ने वाष्पप्रवाह के कारण गद्गद कण्ठ से तारस्वर में ऐसा गाना गाया कि स्थलचारियो का तो कहना ही क्या जल के अन्दर निवास करनेवाले जीवो ने भी उत्सुकतावश कूजना प्रारम्भ कर दिया।'

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन हैं, राधा आश्रय है, विहरण काल मे झुकी हुई वञ्जुल लता उद्दीपन है, वाष्पप्रवाह, गद्गद कण्ठ, तारस्वर मे गायन अनुभाव है। इन विभाव और अनुभावो की प्रतीति में किसी प्रकार की मलिनता नहीं है। इनके द्वारा रतिभाव की प्रतीति होती है। यहाँ पर औत्सुक्य सञ्चारीभाव का प्रत्यायन अनुभावो के द्वारा ही होता है। 'उत्कण्ठा से भरी हुई' यह विशेषण अनुभावों के

## लोचन

शृङ्गारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

इत्यत्र । एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य तथैवोपसंहरति—यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन । अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं

'शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स और अद्भुत संज्ञा-वाले ये आठ रस नाट्य मे माने गये है ।'

यहाँ पर । इसप्रकार स्वशब्द के साथ रस इत्यादि का व्यतिरेकभाव और अन्वयाभाव को उपपत्ति के द्वारा दिखलाकर उसी प्रकार उपसंहार दिखलाते है—'यतश्च' से लेकर 'कथञ्चित्' यहाँ तक। ( 'अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्व' शब्द के दो अर्थ हो सकते है—कर्मधारय के आधार पर और तत्पुरुष के आधार पर । एक के द्वारा शब्द आता है और दूसरे के द्वारा अर्थ ) अभिधेय ही है सहकारिशक्तिरूप

## तारावती

बलपर प्रकट की हुई उत्कण्ठा का अनुवादक मात्र है । यहाँ पर अनुवाद व्यर्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभावो का प्रयोग तो उत्कण्ठा का आस्वादन कराने के लिये किया गया है और 'सोत्कण्ठ' तथा 'उक्त' शब्दो का प्रयोग राधा की उत्कण्ठा से जलचरो की उत्कण्ठा की सङ्गति भिड़ाने के लिये किया गया है । यदि अनुभावों का अनुवाद करने के लिये सोत्कण्ठ तथा उक्त शब्दो का प्रयोग न किया गया होता तो जलचरों के लिए पृथक् अनुभाव लिखने पडते जिससे एक तो पुनरुक्ति होती दूसरे तन्मयता उत्पन्न नही हो सकती थी । शब्द के द्वारा अनुवाद करने पर यह दोष उत्पन्न नही होता ।

जहाँ पर अनुभावो के द्वारा भी किसी भाव की अभिव्यक्ति हो और तद्वाचक शब्द का उपादान भी कर दिया गया हो, उस अभिव्यक्ति मे अनुभाव ही कारण होते है शब्दजन्य आनन्दानुभूति नहीं हो सकती । 'शब्द केवल अनुवादक होते है' इसमे यही प्रमाण है कि अन्य स्थानो पर भावजन्य आनन्दानुभूति तो होती है किन्तु वहाँ पर शब्द का उपादान नही होता । जैसे 'यद्विश्रम्य विलोकितेषु' इत्यादि पिछले उदाहरण मे । इसके प्रतिकूल जहाँ पर विभाव इत्यादि के द्वारा प्रतिपादन न किया गया हो केवल शृङ्गार इत्यादि शब्दो का उपादान हो वहाँ पर रसवत्ता की बिल्कुल प्रतीति नही होती । जैसे 'शृङ्गार हास्य करुण....' इत्यादि भरत मुनि की कारिका मे सभी रसो का नाम गिनाया गया है किन्तु रसानुभूति किसी की नही होती । जिसके अभाव मे कोई वस्तु उत्पन्न हो जावे तो वह उस वस्तु मे कारण नही माना जा सकता ।

## लोचन

विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये अभिधेयस्य च पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वानुभूतरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्य शक्तिः विशिष्टसमुचितो वाचक साकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः द्वितीयस्तु कथञ्चिद्दूषितः कथञ्चिदङ्गीकृतः। जननानुमानव्यापाराभिप्रायेण दूषित., ध्वननाभिप्रायेणाङ्गीकृतः।

सामर्थ्य अर्थात् शब्द के रसव्वनन करने मे विभाव इत्यादि। अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ का सामर्थ्य अर्थात् पुत्रजन्मजन्य हर्ष से भिन्न स्वभाव होने के कारण जननव्यतिरिक्त और दिन मे भोजन न करने की विशेषता से युक्त पीनत्व के द्वारा अनुमान लगाये हुये रात्रिभोजन से विलक्षण होने के कारण अनुमान से व्यतिरिक्त, ध्वनन करने मे सामर्थ्य अर्थात् शक्ति अर्थात् विशेषताओ से युक्त वाचकसाकल्य। इस प्रकार शब्द और अर्थ इन दोनो का ही व्यापार ध्वनन होता है। इसप्रकार दो पक्षों का उपक्रम करके प्रथम का खण्डन कर दिया; द्वितीय किसीप्रकार दूषित कर दिया और किसीप्रकार अङ्गीकृत कर लिया। जनन और अनुमान के अभिप्राय से खण्डन कर दिया और ध्वनन के अभिप्राय से अङ्गीकृत करलिया।

## तारावती

यहाँ पर अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध किया गया है कि रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग रसास्वादन मे निमित्त नहीं होता अपितु विभाव अनुभाव के द्वारा उनका आक्षेप ही रसास्वादन मे निमित्त होता है। अन्वय का अर्थ है सत्ता और व्यतिरेक का अर्थ है अभाव। जहाँ कहीं रस इत्यादि शब्दो का प्रयोग होता है वहीं रसास्वादन होता है यह अन्वय है और जहाँ कही रस इत्यादि शब्दो का प्रयोग नहीं होता वहाँ रसास्वादन भी नहीं हो सकता यह व्यतिरेक है। किन्तु ये दोनो बाते यहाँ पर ठीक नहीं घटती। ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि रसास्वादन रस इत्यादि शब्दो के प्रयोग होने पर भी नहीं होता और इन शब्दो के प्रयोग न होने पर भी हो जाता है। अतएव रसास्वादन मे रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग कारण नहीं हो सकता। अब दूसरी बात लीजिये—जहाँ कही अनुभाव इत्यादि के द्वारा आक्षेप होता है वहीं रसास्वादन हो सकता है, जहाँ इस प्रकार का आक्षेप नहीं होता वहाँ रसास्वादन हो नहीं सकता ये दोनो बाते ठीक है। अतएव रस वाच्य नहीं स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त ही होते है।

स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की हो सकती है—(१) सप्तानाधिकरण तत्पुरुष अर्थात् अभिधेय या वाच्यार्थ ही वह शक्ति है जिसके

## लोचन

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिभेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत, न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना। इतिशब्दो हेत्वर्थे। 'इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवेति सम्बन्धः। सहेवेति। इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्षत इति दर्शयति अग्रे इति। द्वितीयोद्योते॥ ४॥

जो यहाँ पर भी तात्पर्यशक्ति को ही ध्वनन मानता है वह वस्तुतत्त्व को नहीं समझता। विभाव और अनुभाव के प्रतिपादक वाक्य मे निस्सन्देह तात्पर्यशक्ति भेद में या संसर्ग मे पर्यवसित होगी, आस्वादन ही जिसका सार है इस प्रकार के रस मे पर्यवसित नहीं होगी। अधिक कहने की क्या आवश्यकता! इति शब्द हेतु के अर्थ मे आया है। यहाँ पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—'इस हेतु से भी तृतीय भी प्रकार वाच्य से भिन्न ही होता है।' 'सहेवेति'। 'इव' शब्द से विद्यमान भी क्रम लक्षित नही हो रहा है यह बात दिखला रहे है—आगे चलकर। अर्थात् द्वितीय उद्योत मे।

## तारावती

बल पर शब्द रस का आक्षेप करता है। आशय यह है कि शब्द की शक्ति होती है अभिधेय या वाच्यार्थ। रस के प्रसङ्ग में वाच्यार्थ होता है विभाव इत्यादि। इन विभावादिकों का आश्रय लेकर शब्दप्रयोग—रसाभिव्यञ्जन मे निमित्त होता है, इस प्रकार समानाधिकरणमूलक व्युत्पत्ति से रसाभिव्यञ्जन मे वाच्यार्थ की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। (२) वैय्यधिकरण तत्पुरुष—अभिधेय का सामर्थ्य—वाच्यार्थ की शक्ति है गुण और अलङ्कारों से युक्त तथा रस के अनुकूल वाचकसमुदाय। यह अभिधेय सामर्थ्य रस इत्यादि का ध्वनन किया करता है। इस व्युत्पत्ति से रसाभिव्यञ्जन मे शब्दसहकारिता की व्याख्या हो जाती है। यह ध्वननव्यापार रस इत्यादि का जनक नहीं होता जैसा कि पुत्रजन्म का समाचार पिता के हृदय मे हर्ष का जनक हुआ करता है; और न रस इत्यादि का अनुमान ही कराता है जैसा कि दिन मे भोजन न करने पर भी स्थूल होना रात्रिभोजन का अनुमान कराया करता है। अतएव ध्वननव्यापार शब्द और अर्थ दोनो का हो सकता है। यहाँ पर रस की वाच्यता के दो पक्ष उठाये गये थे—(१) रस शब्दों के द्वारा वाच्य हो सकता है, (२) रस विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा वाच्य हो सकता है। प्रथम पक्ष का खण्डन कर दिया और द्वितीय पक्ष का एक रूप मे खण्डन कर दिया और एक रूप मे स्वीकार कर लिया। विभाव अनुभाव इत्यादि रस के जनक या अनुमापक होते

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ५॥

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः तथा चादिकवेः वाल्मीकेः निहतसहचरविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः। शोको हि करुणस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणप्राधान्यात्।

(अनु०) 'वही अर्थ काव्य की आत्मा है' इसमें यही प्रमाण है कि प्राचीन काल में क्रौञ्च के जोड़े के परस्पर वियोग से उत्पन्न हुआ आदिकवि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया॥ ५॥

विविध वाच्यवाचकरचनाप्रपञ्च से सुन्दरता को प्राप्त काव्य का वही (प्रतीयमान) अर्थ सारभूत है उसमें यह प्रमाण है कि मारे हुए सहचर के वियोग से कातर क्रौञ्ची के आक्रन्द से उत्पन्न हुआ आदिकवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोकरूप में परिणत हुआ। निस्सन्देह शोक करुणा का स्थायीभाव है। प्रतीयमान के अन्य भेदों को देखने पर भी रस, भाव के द्वारा ही उपलक्षण किया गया है क्योंकि प्रधानता उसी की है।

लोचन

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम्। अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति—काव्यस्यात्मेति। स एवेति। प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरितिमन्तव्यम्। इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति' सामान्येनोक्तः। शोक इति। क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायि-

इस प्रकार 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतने से ध्वनिस्वरूप की व्याख्या कर दी। इस समय इतिहास के रूप में भी काव्यात्मत्व दिखला रहे हैं—काव्यस्यात्मेति। 'वही' इस शब्द के द्वारा समस्त प्रतीयमान के प्रक्रान्त होते हुये भी इतिहास के बल पर और प्रकरणागत वृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल पर तृतीय रसध्वनि ही समझी जानी चाहिये। इससे रस ही वास्तव में आत्मा है; वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि तो रस के प्रति ही पर्यवसित होती है इसप्रकार वाच्य की अपेक्षा वे दोनों उत्कृष्ट होती हैं इस अभिप्राय से सामान्य रूप में कह दिया गया है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है। शोक इति। क्रौञ्च के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरीहनन से उत्पन्न साहचर्यध्वंस से उठा हुआ जो शोक स्थायीभाव (वह) निरपेक्ष भाव

## तारावती

है इस अंश में खण्डन कर दिया और ध्वनन करते हैं इस रूप में स्वीकार कर लिया। [ प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उद्भट ने रसास्वादन के ५ प्रकार माने थे—स्वशब्दवाच्यत्व, स्थायी, सञ्चारी, विभाव या अभिनय के द्वारा कथन। इस प्रकार यह स्वशब्दवाच्यता ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इसका उत्तर कुन्तक ने बड़े ही मनोरञ्जक ढङ्ग से दिया है। उन्होंने लिखा है कि—हमने तो कभी रस की स्वशब्दवाच्यता सुनी नहीं। यह तो बड़ा अच्छा है घी इत्यादि शब्दों का नाम लिया और स्वाद आ गया और सुखार्थी लोग त्रैलोक्य राज्य, सुख, समृद्धि सम्पत्ति इत्यादि को केवल इन शब्दों का उच्चारण करते ही प्राप्त कर लेंगे। उद्भट ने कुमारसम्भव के उदाहरणों से जो स्वशब्दवाच्यता दिखलाई है उसका भी उत्तर दे दिया गया कि ऐसे स्थानों पर भी रसानुभूति विभावानुभाव इत्यादि के द्वारा ही होती है। स्वशब्द अनुवादक मात्र ही हो सकते हैं।]

कुछ लोगों ने लिखा है कि 'अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त' का अर्थ है तात्पर्यशक्ति। तात्पर्यशक्ति ही ध्वननव्यापार है।' यह व्याख्या करनेवाले वस्तुतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है। विभाव अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक वाक्य में तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान या तो भेद में हो जाता है या संसर्ग में। (जैसे 'गाम् आनय' इस वाक्य में तात्पर्यवृत्ति या तो अन्य क्रियाओं और कर्मों से भेद बतलाती है या आनयन क्रिया के प्रति गो का कर्मत्व बतलाती है।) यह वृत्ति रस को अनुभूतिगम्य नहीं बना सकती जिसका सार आस्वादन करना ही है। इतना पर्याप्त है अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता? मूल में 'इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एव' इस वाक्य में 'इति' का अर्थ है हेतु। इसप्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'उक्त कारणों से तृतीय भेद रसध्वनि भी वाच्य से भिन्न ही होती है। 'वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिः' इस वाक्य में 'इव' शब्द का अर्थ है—'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में विद्यमान भी क्रम लक्षित नहीं होता इस बात का विवेचन दूसरे उद्योत में किया जावेगा ॥४॥

चौथी कारिका में ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की गई। अब इतिहास के बहाने से भी यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। यद्यपि यहाँ पर प्रकरण प्रतीयमानमात्र का है तथापि आदिकवि के शोकरूप इतिहास के दृष्टान्त से तथा वृत्तिकार आनन्दवर्धन की व्याख्या के आधार पर 'स एव' का अर्थ रसध्वनि ही ठहरता है। अतएव वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है यही अर्थ समझना चाहिये। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि वहीं पर काव्यरूपता को धारण करती है जहाँ पर वे रसध्वनिपर्यवसायी होती है। वस्तुध्वनि और

## लोचन

भावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूत-विभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्छलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादितिनयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दछन्दोवृत्तादिनियन्त्रित-श्लोकरूपतां प्राप्तः ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ।

के कारण विप्रलम्भशृङ्गारोचित रतिस्थायीभाव से भिन्न ही है । वही उस प्रकार के विभाव तथा उससे उठे हुये आक्रन्द इत्यादि अनुभाव की चर्वणा के द्वारा हृदय संवाद तथा तन्मय होने के क्रम से आस्वाद्यमानता को प्राप्त होकर लौकिक शोक से भिन्न करुण रसरूप को, जिसका कि सार अपने चित्त की द्रुति का समास्वादन ही है, प्राप्त होकर रस से भरे हुये घडे के छलकने के समान और चित्तवृत्ति के प्रवाह स्वभाववाले वाग्विलाप इत्यादि के समान सङ्केत की अपेक्षा न करते हुये चित्तवृत्ति के व्यञ्जक होने के कारण इस नीति से बिना ही बनावट के अर्थात् बिना ही बुद्धिपूर्वक विचार किये हुये आवेशवश ( वह शोक ) समुचित शब्द छन्द वृत्त इत्यादि से नियमित होकर श्लोकरूपता को प्राप्त हो गया ।

'हे निषाद ! शाश्वत वर्षों मे तुम प्रतिष्ठा को न प्राप्त हो जो कि क्रौञ्च मिथुन मे काममोहित एक को तुमने मार डाला है ।'

## तारावती

अलङ्कारध्वनि भी वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है अतः सामान्य रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा कह दिया गया है ।

[ कारिका नं० ४ में 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव·····' लिखकर वाच्यार्थव्यतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ का परिचय दिया गया था· इसमे वस्तु, अलङ्कार तथा रस ये तीनो प्रकार की ध्वनियाँ आ जाती थीं । उसी व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनिकार ने प्रस्तुत कारिका मे काव्य की आत्मा बतलाया । केवल प्रमाण या उदाहरण के रूप मे शोक की श्लोकत्वपरिणति का उल्लेख किया जिसका अर्थ रसध्वनिपरक हो सकता था । किन्तु कारिका और उसके प्रकरण से स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्वनिकार तीनों प्रकार की ध्वनियो को काव्य की आत्मा मानते है । आनन्दवर्धन ने इस कारिका की व्याख्या उपलक्षणपरक की । उनका आशय यह है कि 'ध्वनिकार ने उदाहरण के रूप मे जो शोक की श्लोकत्वपरिणति दिखलाई है उसका अर्थ यह नहीं है कि रस-

## तारावती

ध्वनि ही काव्य की आत्मा होती है। रसध्वनि तो उपलक्षणमात्र है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी रसध्वनि के समान ही काव्य की आत्मा हो सकती हैं।' इसके प्रतिकूल अभिनव गुप्त ने रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनिसमुदाय के दो वर्ग हैं—एक ओर तो वे लोग हैं जो ध्वनिमात्र को काव्य की आत्मा मानते हैं और दूसरे वे लोग है जो केवल रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्षपाती है। आनन्दवर्धन प्रथम वर्ग में हैं और अभिनवगुप्त द्वितीय वर्ग मे किन्तु दोनो में अधिक भेद नहीं है। स्वयं आनन्दवर्धन ने अनेक स्थानों पर रसध्वनि की प्रधानता प्रतिपादित की है।

जब क्रौञ्ची के सहचर का वध करदिया गया और उनका परस्पर साहचर्य भङ्ग हो जाने के कारण उन्हे जो शोक हुआ उसे हम विप्रलम्भ के स्थायीभाव रति का सञ्चारीभाव शोक नही कह सकते। कारण यह है कि जबतक पुनः सम्मिलन की आशा रहती है तभीतक हम उसे रतिस्थायी मे सन्निविष्ट कर सकते है। सहचर की हत्या के बाद आलम्बन के विच्छिन्न हो जाने से वह शोक रति की सीमा के बाहर हो गया। अतः वह शोक स्थायीभाव था। कविवर वाल्मीकि जी के चित्त मे वासनारूप मे जो शोक विद्यमान था उसे रस की उपयुक्त सामग्री प्राप्त हो गई। मृत क्रौञ्च आलम्बन था और उसके वियोग से कातर क्रौञ्ची आश्रय थी। क्रौञ्चीका आक्रन्द इत्यादि अनुभाव था और विषाद इत्यादि सञ्चारीभाव थे। इनकी सहायता से अनुभावो के आस्वादन के द्वारा क्रौञ्च के शोक के साथ वाल्मीकि जी का शोक एकरूपता को प्राप्त हो गया और क्रमशः तन्मय हो गया। वह शोक लौकिक शोक से भिन्न था, उसका आस्वादन केवल चित्त की प्रवणशीलता के द्वारा ही किया जा सकता था। जिस प्रकार घडे के अधिक भर जाने से रस छलकने लगता है अथवा जिस प्रकार चित्त के भावनाविभोर हो जाने से विलाप प्रलाप इत्यादि होने लगते है क्योकि चित्तवृत्ति का स्वभाव ही उच्चलित होना होता है; प्रलाप करनेवाला विचारपूर्वक अपने दुःख को प्रकट करनेवाले शब्दो का प्रयोग नहीं करता और न उस प्रलाप का वाच्यार्थ ही किसी प्रकार का भाव होता है; किन्तु उस प्रलाप के द्वारा असङ्केतित होते हुये भी उस भावना की अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी प्रकार शोक की भावना के अधिक भर जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्त से नियन्त्रित होकर कविवर वाल्मीकि की चित्तवृत्ति श्लोकरूप मे परिणत हो गई। इस रचना मे विचारपूर्वक शब्दो का प्रयोग नही किया गया था, भावनाविभोर होने के कारण उनका प्रस्फुटन स्वतः हो गया था। यद्यपि उस रचना मे कोई शब्द शोकवाचक नही था तथापि वह

## लोचन

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत्। न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति। एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।' इति। अगम इतिच्छान्दसेनाडागमेन। स एवेत्येवकारेणेदमाह—नान्य आत्मेति। तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्॥

इति तदपास्तम्। व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तत्रापूर्वमुक्तम्। अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यतेत्यावेदितं प्राक्।

मुनिका शोक है यह नहीं समझना चाहिये। ऐसा होने पर उसके दुःख से वह भी दुःखी हुये इस हेतु को लेकर रस का आत्मा होना निरवकाश हो जावेगा। दुःखसंतप्त की यह दशा नहीं होती। इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकस्थायिभावात्मक करुण रस के उच्चलन का स्वभाव होने के कारण वही काव्य की आत्मा अर्थात् सारभूत स्वभाव सा है तथा (उसका यह स्वभाव ही) दूसरे शब्द (बोधों) से विलक्षणता करनेवाला है।

यही हृदयदर्पण मे कहा गया है—'जबतक यह इसके द्वारा पूर्ण नही होता तबतक उसका वमन नहीं करता।' 'अगमः' यह वैदिक 'अट्' के आगम के द्वारा बना है।' 'वही' इस 'ही' के द्वारा यह कहते है कि और आत्मा नहीं है।' इससे जोकि भट्टनायक ने कहा है।

शब्द की प्रधानता का आश्रय लेकर पृथक् शास्त्र को जानते हैं; अर्थतत्त्व से युक्त को तो आख्यान कहते है; इन दोनो के गौण हो जाने पर तथा, व्यापार की प्रधानता होने पर काव्यबुद्धि हो जाती है।

इसका निराकरण हो गया; यदि व्यापार ध्वननात्मक आस्वादन स्वभाववाला है तो कोई नई बात नहीं कही। यदि अभिधा ही व्यापार है तथापि इसकी प्रधानता नहीं होती यह पहले ही बतला चुके।

## तारावती

श्लोक शोक को अभिव्यक्त कर रहा था। श्लोक का अर्थ यह था—'हे निषाद! आनेवाले शाश्वत वर्षों मे तुम प्रतिष्ठा को मत प्राप्त हो, जो कि क्रौञ्च के जोडे मे काममोहित एक को तुमने मार डाला है'। यहाँ पर यह नहीं समझना चाहिये कि

तारावती

कविवर वाल्मीकि जी को शोक हुआ। यदि ऐसा समझा जावेगा तो यह बात जाती रहेगी कि रस ही काव्य की आत्मा है। शोकाभिभूत व्यक्ति की यह दशा नहीं होती अर्थात् वह न तो शाप ही देने लगता है और न श्लोक ही बनाने लगता है। आस्वाद के अनुकूल स्थायीभावात्मक शोक ही करुण रस होता है और उसका स्वभाव ही होता है उच्चलित होना। वह शोक ही काव्य की आत्मा होता है अर्थात् वह स्वभावतः काव्य का सारभूत तत्त्व होता है। उसका सारभूत तत्त्व होना भी उसे अन्य शाब्दज्ञानो मे पृथक् करनेवाला होता है। आशय यह है कि जब चित्त इस प्रकार की भावना से भर जाता है तब वह रुक नहीं सकता और कविता के रूप मे प्रवाहित होने लगता है। इसीलिये हृदयदर्पणकार ने कहा है—'जब तक कोई व्यक्ति किसी भाव से पूर्ण रूप से भर नहीं जाता तब तक पद्य के रूप मे वह उसे उद्गीर्ण नही कर सकता।' 'अगमः' मे अट्का आगम छान्दस है।

[पाणिनि व्याकरण मे 'न माड्योगे' सूत्र से 'मा' के योग मे अट् नहीं होता, किन्तु यहाँ पर अट् का आगम कर दिया गया है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राचीन ऋषियो के अन्तः करण मे वेदमन्त्रो का स्वतः आविर्भाव हो जाया करता था उसी प्रकार कविवर वाल्मीकि के अन्तःकरण में इस छन्द का स्वतः प्रकाश हो गया। इस प्रकार इस छन्द का महत्त्व वेदमन्त्र से कम नहीं है। वेदमन्त्र व्याकरण के शासन मे पूर्णरूप से नहीं रहते, उनमे जैसी विधि देखी जाती है उसी को सिद्ध कर लिया जाता है। इसीप्रकार यहाँ पर भी व्याकरण के अनुशासन का अतिक्रमण करके अट् का आगम कर दिया गया है। यद्यपि यहाँ पर योगविभाग के द्वारा हे अम ! अर्थात् लक्ष्मीरहित इस सम्बोधन को मानकर के भी काम चल सकता है तथापि यहाँ पर लोचनकार को यह पद्य वेदमन्त्र की कोटि मे रखना है इसीलिये छान्दस अट् माना गया है।]

'स एव' मे 'एव' का अर्थ है कि 'काव्य की और कोई आत्मा नही है।' इससे भट्टनायक के इस कथन का निराकरण हो गया—'जो शास्त्र शब्द की प्रधानता को लेकर प्रवृत्त होता है वह और ही प्रकार का शास्त्र (वैदिक शास्त्र) होता है। जो अर्थ तत्त्व से युक्त होता है उसे आख्यान कहते है और इन दोनो के गौण होने पर व्यापार की प्रधानता मे काव्यसंज्ञा प्राप्त होती है। इस पर मेरा प्रश्न यह है कि कौन सा व्यापार प्रधान होता है? यदि आपका मन्तव्य आस्वादन-स्वभाववाले व्यञ्जनाव्यापार की प्रधानता से है तो आपने कोई नई बात नहीं कही यदि आपका अभिप्राय अभिधाव्यापार से है तो हम इसका खण्डन पहले ही कर चुके।

## तारावती

[ यहाँ पर दीधितिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि शोक एक प्रकार की चित्त-वृत्ति होती है । उस चित्तवृत्ति का परिणाम शब्द और अर्थरूप काव्य कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये दीधितिकार ने लिखा है--यहाँ पर परिणाम सांख्यों का जैसा नहीं है । जिसप्रकार सांख्यशास्त्र सत्कार्यवाद को मानता है जिसका अर्थ यह है कि कारण सदा कार्य में सन्निहित रहा करता है और अवसर पर पृथक् सत्ता मे आ जाता है । उनका कहना है कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती । इसप्रकार का परिणामवाद यहाँ पर अभीष्ट नहीं है किन्तु यहाँ पर ऐसे परिणाम से मन्तव्य है जैसा कि कहा जाता है 'वृक्ष पुष्प और फल के रूप मे परिणत हो गया ।' जिस प्रकार फल केवल कार्य होता है और जो जिसके तत्काल पूर्व होता है वह उसका कारण माना जाता है; इसी अर्थ में यहाँ पर शोक का परिणाम श्लोक माना गया है । इसी विचित्र परिणति के कारण तो स्वयं मुनि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपना आश्चर्य अपने शिष्य भरद्वाज के सामने प्रकट किया । लोचन में जो यह लिखा है कि 'मुनि का शोक नहीं समझा जाना चाहिये' यह कथन ठीक नहीं है। स्वयं लोचनकार ने लिखा है कि क्रौञ्च शोक का आलम्बन-विभाव है । अतएव यह कहा ही नहीं जा सकता कि शोक क्रौञ्च के अन्दर था । प्रदीप मे लिखा है कि 'आस्वादन सामाजिकों को होता है; अतएव सामाजिकों मे ही रस की सत्ता स्वीकार की जानी चाहिये ।' इससे सिद्ध होता है कि आलम्बन मे रस की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती । ( कोई दूसरा सामाजिक वहाँ पर विद्यमान नहीं है। ) अतएव और कोई चारा न होने के कारण मुनि में ही शोक की कल्पना करनी पड़ेगी । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मुनि को दुःखित मानने पर उनका शोक दुःख से युक्त होगा और वह आस्वादनात्मक काव्य का रूप नहीं धारण कर सकेगा । इसका उत्तर यह है कि रस तो आनन्द चिन्मय है उसके आत्मा मानने मे क्या बाधा हो सकती है ? यद्यपि लौकिक शोक उद्वेजक होता है तथापि जब उसे अलौकिकभाव प्राप्त हो जाता है तब उसकी आनन्दरूपता सभी को माननी पड़ेगी । शोक तभी रस कहा जाता है जब उसमें आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । भट्टनायक की कारिकाओं को उद्धृत कर जो कि लोचनकार ने उसका खण्डन किया है कि 'यदि व्यापार ध्वननात्मक है तो उसमे कोई नवीनता नहीं आई और यदि अभिधात्मक है तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है' यह खण्डन भी ठीक नहीं । क्योंकि आस्वादनव्यापार को सभी लोग नहीं समझ सकते; उनके लिये उसके बतलाने मे नवीनता विद्यमान है ही । किन्तु मैं प्राचीन लोगों के वचनों की अधिक पर्यालोचना करना उचित नहीं समझता ।' यह है दीधितिकार के कथन का अनुवाद ।

## तारावती

ऊपर लोचन और दीधिति दोनों टीकाओं का आशय प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि शोक किसका है? एक तो शोक क्रौञ्च का हो सकता है जो कि मारा गया है; दूसरा शोक क्रौञ्ची का हो सकता है जो कि अपने सहचर के विरह से कातर है और तीसरा शोक इस घटना का साक्षात् अवलोकन करनेवाले कविवर वाल्मीकि का हो सकता है। सहृदय सामाजिक के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ पर रसास्वादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ पर शोक के श्लोकरूप में परिणत होने की प्रक्रिया पर विचार हो रहा है। इस दृष्टि से हमारे सामने उपर्युक्त तीन शोक ही विद्यमान हैं। क्रौञ्च का शोक काव्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि क्रौञ्च आलम्बन है और आलम्बन का भाव रसरूपता को धारण ही नहीं कर सकता। अब रही क्रौञ्ची के शोक की बात। उसका भी शोक रसरूपता को धारण नहीं कर सकता। शोक एक क्रियाशून्य भाव है। शोक की पराकाष्ठा इसी मे है कि हाथ पैर ढीले पड जावें और चेतना शिथिल हो जावे। श्लोकरूप मे परिणति सक्रियता का परिणाम है जो शोक जैसे निष्क्रिय भाव मे सम्भव नही है। अब रही मुनि के शोक की बात। यदि मुनि को भी शोक मान लिया जावे तो उसमे भी वैसी ही निष्क्रियता आ जावेगी और शोक की श्लोकरूप मे परिणति असम्भव हो जावेगी। मुनि का शोक शुद्ध शोक नहीं है किन्तु उस शोक मे सहानुभूति का भी मिश्रण है। यही सहानुभूति का मिश्रण शोक मे रसनीयता उत्पन्न कर देता है। यही लोचनकार का आशय है। इसीलिये उन्होने लिखा है—'आस्वाद के उपयुक्त शोक ही करुण रस की आत्मा है क्योंकि उच्चलित होना उसका स्वभाव है'।

भट्टनायक ने शब्द और अर्थ को गौण मानकर व्यापार की प्रधानता मे काव्यसंज्ञा मानी थी। इसपर लोचनकार ने लिखा था कि यदि भट्टनायक का व्यापार की प्रधानता से अभिप्राय व्यञ्जनावृत्ति से है तो उसमे कोई नई बात नहीं और अभिधाव्यापार का खण्डन पहले ही किया जा चुका है। इसपर दीधितिकार ने लिखा था कि 'आस्वादन की प्रक्रिया सर्वजनसंवेद्य नहीं है अतः उसका बतलाना आवश्यक है।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि भट्टनायक व्यञ्जनाव्यापार को नहीं मानते। लोचनकार का यहाँपर आशय है कि यदि व्यञ्जनाव्यापार की प्रधानता मान ली जावे तो भट्टनायक हमारे ही मत के हो जाते हैं, वे कोई ऐसी नवीन बात नहीं कहते जिसको हम न मानते हों। दीधितिकार ने लोचन के उक्त अभिप्राय को न समझकर ही खण्डन किया है। शास्त्र का काम ही यह है कि जो बात लोक मे प्रायः अनुभूत और प्रयुक्त हो उसकी व्यवस्था और

## लोचन

श्लोकं व्याचष्टे—विविधेति । विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायाञ्च प्रपञ्चेन यच्चारुशब्दार्थालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः । आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीवव्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतन्निरवकाशम्, यदुक्तं हृदयदर्पणे—'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यादिति' । निहतसहचरीतिविभाव उक्तः । आक्रन्दितशब्देनानुभावः । जनित इति चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः ।

श्लोक की व्याख्या कर रहे हैं—विविध इत्यादि । विविध अर्थात् विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनीय रस की अनुकूलता के साथ विचित्रता को लिये हुये । वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से युक्त । इससे सर्वत्र ध्वनन के होते हुये भी वैसा (काव्यत्व का) व्यवहार नहीं होता । आत्मा के होते हुये भी कहीं ही जीव का व्यवहार होता है यह पहले ही कहा जा चुका है । उससे यह बात निरवकाश हो गई जो कि हृदयदर्पण में कहा गया है—'तो सर्वत्र का व्यवहार हो जावेगा ।' 'निहतसहचरी' इस शब्द से विभाव कहा गया है; आक्रन्दित शब्द से अनुभाव (कहा गया है ।) जनित शब्द के साथ 'चर्वणागोचर होने के रूप में इतना और जोड दिया जाना चाहिये ।

## तारावती

प्रक्रिया को शास्त्रकार सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सामने रख देते हैं । काव्य को सुनकर सभी व्यक्तियों को आनन्द आता है किन्तु उसकी प्रक्रिया सर्वजनसंवेद्य नहीं होती; उसी को समझा देना शास्त्रकार का काम है। अतः यदि वही भट्टनायक ने भी किया तो उसपर अभिनव गुप्त को आपत्ति ही क्या हो सकती थी ? हाँ प्रश्न यह अवश्य है कि जो प्रक्रिया भट्टनायक ने दिखलाई है वह ध्वनिसम्प्रदाय से भिन्न है अथवा नहीं । यदि भट्टनायक भी ध्वननव्यापार को मान लेते हैं तो उनके व्यापार में कोई नवीनता नहीं रह जाती। यही लोचनकार का आशय है ।

मूल मे 'विविध वाच्य .....परिणतः' इस भाग में कारिका की व्याख्या की गई है । विविध शब्द का अर्थ है विचित्र प्रकार के, और यह विचित्रता आती है रसप्रवणता के कारण, जो कि विचित्र तत्त्वों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । रस को अभिव्यक्त करनेवाले तत्त्व होते है वाच्य वाचक और रचना । इन्हीं तीनों के प्रपञ्च से काव्य में चारुता आती है । वाच्यचारुता का अर्थ है अर्थालङ्कार: वाचकचारुता का अर्थ है शब्दालङ्कार और रचनाचारुता का अर्थ है गुण । जहाँ पर इन तीनों तत्त्वों की चारुता रसानुकूल होकर विद्यमान हो वहाँ पर काव्यसंज्ञा

## लोचन

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह—शोको हीति। करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायिभावः। शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते। प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः।

(प्रश्न) यदि शोकचर्वणा से श्लोक उद्भूत हुआ तो प्रतीयमान वस्तु काव्य की आत्मा है यह कैसे (सिद्ध होता है।)? इस शङ्का का उत्तर दे रहे हैं—शोको हीत्यादि। शोकचर्वणागोचरात्मक करुण का (शोक) निस्सन्देह स्थायीभाव है। निस्सन्देह शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव अनुभाव इत्यादि हैं तत्समुचित चित्तवृत्ति चर्वणात्मक होकर रस (कहलाती है) इस प्रकार औचित्य के कारण स्थायीभाव की रसत्व की प्राप्ति कही जाती है। क्योंकि प्रथम स्वसंवेदनागोचर तदनन्तर दूसरे में अनुमान किया हुआ चित्तवृत्ति समूह संस्कार क्रम से हृदयसंवाद को प्राप्त होते हुये चर्वणा मे उपयुक्त किया जाता है।

## तारावती

अर्थवती होती है और उस काव्य का वही अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ और विशेष रूप से रसध्वनि) आत्मा का रूप धारण करता है। अतएव सर्वत्र ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्यत्व का व्यवहार सर्वत्र नहीं होता है जैसे सर्वत्र आत्मा की सत्ता होते हुए भी जीव-व्यवहार सर्वत्र नहीं होता। यह पहले ही बतलाया जा चुका है। अतएव हृदयदर्पण मे जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने पर सर्वत्र काव्य का व्यवहार होने लगेगा' उसका स्वतः निराकरण हो गया। 'निहतसहचर' यह विभाव (आलम्बन) बतलाया गया है: आक्रन्दित शब्द से अनुभाव बतलाया गया है और जनित शब्द का अर्थ है चर्वणागोचर होने के साथ जो अनुभूति का विषय बनता है।

(प्रश्न) यदि शोकचर्वणा से श्लोक उत्पन्न हुआ तो आप यह कैसे कह सकते है कि प्रतीयमान वस्तु काव्य की आत्मा है? (उत्तर) इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये मूल मे कहा गया है कि शोक करुण रस का स्थायीभाव है। करुण रस की आत्मा है शोकचर्वणा का प्रत्यक्षीकरण। इसीलिये करुण रस का स्थायीभाव शोक माना गया है। शोक के स्थायीभाव होने के कारण उसके जितने भी विभाव और अनुभाव होते है करुण के अनुकूल उन सबकी एक चित्तवृत्ति बन जाती है और उस चित्तवृत्ति का जब आस्वादन किया जाता है तब वही रसरूपता को धारण कर लेती है। स्थायीभाव का रसास्वादन मे यही उपयोग है

## लोचन

ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरमाह—प्रतीयमानस्य चेति। अन्य भेदो वस्त्वलङ्कारात्मा। भावग्रहणेन व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्रविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम्। यथा—

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम्।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती॥

इत्यत्र लज्जायाः। रसभावशब्देन च तदाभास तत्प्रशमावपि संगृहीतावेव, अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्। प्राधान्यादिति। रसपर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्रविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमितिभावः॥ ५॥

आत्मा प्रतीयमान रूप है। उसमें तीन भेदों का प्रतिपादन किया गया है एक रूप रस ही नहीं और इस इतिहास से रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है। यह शङ्का करके स्वीकृति के साथ उत्तर दे रहे हैं—प्रतीयमानस्य च इत्यादि। अन्य भेद वस्तु तथा अलङ्कार रूप है। भावशब्द के प्रयोग से यह कहा गया है कि चर्वणागोचर व्यभिचारीभाव की भी प्राणरूपता होती है। यद्यपि उतने में ही चर्वणा की विश्रान्ति नहीं होती और स्थायिचर्वणा पर्यवसान के योग्य रस की प्रतिष्ठा उसे नहीं भी प्राप्त होती है। जैसे—

'नख से नखाग्र को घिसती हुई, चञ्चल वलय को इधर-उधर हटाती हुई, गम्भीर शिञ्जारव से परिपूर्ण नूपुरोंवाले पैर से धीरे-धीरे भूमि को कुरेदती हुई।'

यहाँ पर लज्जा का। रस और भाव शब्द से उनके आभास और उनके प्रशम संगृहीत ही हो गये हैं; क्योंकि अवान्तर वैचित्र्य होते हुये भी उनमें एकरूपता होती ही है। 'प्राधान्यात्' का अर्थ है रसपर्यवसान के कारण केवल उतने में विश्रान्ति न होने पर भी तथा दूसरे शाब्दबोध से वैलक्षण्य उत्पन्न करने के कारण औचित्य होने से वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि का भी जीवितत्व बतला दिया है।

## तारावती

इसीलिये कहा जाता है कि स्थायीभाव ही रसरूपता को प्राप्त होता है। हम लोक में प्रेम शोक क्रोध इत्यादि जिन भावों का अनुभव करते हैं वे हमारी चित्तवृत्ति में स्थायी रूप से अपना घर कर लेते हैं। जब हम विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव के रूप में दूसरे व्यक्तियों में उसे अनुमित (प्रतीतिगोचर) करते हैं तब संस्कारपरम्परा से वह भाव हमारे हृदय से मेल खा जाता है और इसप्रकार वह भाव हमें आस्वादन प्रदान करने में उपयुक्त हो जाता है।

## तारावती

( प्रश्न ) प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है; उसके तीन भेद किये गये केवल रस ही नहीं। इस दृष्टान्त से रस को ही आत्मा बतलाया गया है; फिर प्रतीयमान अर्थमात्र को आत्मा क्यों कहा गया है ? ( उत्तर ) इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये आलोककार ने लिखा है कि 'यद्यपि प्रतीयमान के अन्य भेद देखे जाते हैं तथापि उनमें प्रमुख रस तथा भाव ही होते हैं; अतएव उपलक्षण के रूप में उन्हीं का उल्लेख किया गया है। अन्य भेद होते हैं वस्तु तथा अलङ्कारों की ध्वनियाँ। रस से पृथक् भावध्वनि कहने का आशय यह है कि कभी-कभी व्यभिचारीभाव की भी चर्वणा इस रूप में होती है कि यद्यपि केवल उसमें ही रसास्वादन की परिसमाप्ति नहीं होती और न उसे रस की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो पाती है जैसी कि स्थायीभाव की चर्वणा के पर्यवसान में उसे रसरूपता प्राप्त हो जाती है, तथापि उतने से ही वह व्यभिचारीभाव भी उस काव्य का प्राण बन जाता है। जैसे—

'वह नायिका नख को दूसरे नख के अग्रभाग से घिस रही थी, चञ्चल वलय को बार-बार इधर से उधर हटा रही थी और पैर के नाखून से पृथ्वी को कुरेद रही थी जिससे नूपुरों का शिञ्जाशब्द बड़ा ही मधुर तथा गम्भीर मालूम पड़ रहा था।'

यहाँ पर लज्जा भाव की ध्वनि काव्य का प्राण है। रस और भाव शब्द से रसाभास और भावभास का भी संग्रह हो गया। क्योंकि यद्यपि इनमें अवान्तर वैचित्र्य होता है तथापि एकरूपता तो होती ही है। 'रस और भाव प्रधान होते हैं' कहने का आशय यह है कि चर्वणा का पर्यवसान रस और भाव में ही होता है। इसीलिये ये प्रधान होते हैं। यद्यपि केवल वस्तु तथा अलङ्कार में काव्यरसास्वादन की विश्रान्ति नहीं होती तथापि दूसरे शब्दबोध की अपेक्षा इनमें भी कुछ विलक्षणता होती ही है। इसीलिये उचित होने के कारण इन्हें भी काव्य का प्राण कह दिया गया है।

[ ध्वन्यालोक की अधिकतर प्राचीन पुस्तकों में 'निहतसहचरीविरहकातर ...' यह पाठ पाया जाता है और इसी के अनुसार लोचन में 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' तथा 'सहचरीहननोद्भूतेन' ये पाठ पाये जाते हैं। इन पाठों से यह प्रतीत होता है कि निषाद ने क्रौञ्ची का वध किया था। किन्तु वाल्मीकि रामायण देखने से अवगत होता है कि वध नर क्रौञ्च का हुआ था क्रौञ्ची का नहीं। वाल्मीकि रामायण में 'एकम् अवधीः' इस पुल्लिङ्ग का निर्देश किया गया है तथा श्लोक में क्रौञ्ची के रोने की बात कही गयी है ( दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता ) इसी प्रकार एक दूसरे श्लोक में स्पष्ट ही 'पुमांसम्' शब्द आया है ( तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांस पाप-

## तारावती

निश्चयः ) इसी आधार पर दीधितिकार ने 'निहतसहचरविरहकातर' तथा क्रौञ्चाक्रन्द जनितः' ये पाठ कर दिये हैं। दिव्याञ्जन नामकी पादटिप्पणी मे लिखा है 'अनेक पुस्तकों मे 'निहतसहचरी' यही पाठ पाया जाता है और लोचन से भी सहचरी का ही मारा जाना सिद्ध है। अतः सर्वत्र लेखक का प्रमाद नहीं मान सकते यद्यपि अभिधा से क्रौञ्च का मारा जाना ही सिद्ध होता है किन्तु व्यञ्जना से एक अर्थ और निकलता है—राम और सीता के मिथुन मे रावणरूपी निषाद ने सीता का अपहरण किया जो कि मरण से भी अधिक पीड़ा देनेवाला था। इस कारण राम सीता के वियोग से कातर होकर जनस्थान में इधर-उधर विलाप करने लगे। इस अर्थ की व्यञ्जना होने के कारण क्रौञ्ची का मारा जाना ही उचित प्रतीत होता है। ध्वन्यालोक व्यञ्जनावृत्ति का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त हुआ है। अतएव उसी व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर क्रौञ्ची का मारा जाना लिख दिया गया है।'

ज्ञात होता है कि टीकाकार रामसीतापरक व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या करते आये होंगे और सर्वसाधारण मे यह धारणा बन गई होगी कि क्रौञ्चमिथुन मे एक को मारने का अभिप्राय सीता का अपहरण रूप कार्य है जिसके लिये कवि ने रावण के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। इसी सामान्य धारणा के कारण किसी लेखक ने जान-बूझकर वृत्तिग्रन्थ को भी बदल दिया और लोचन में भी आवश्यक परिवर्तन कर दिया। उसी परम्परा का पालन दूसरे लेखकों ने भी किया। यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि ध्वनिकार का मन्तव्य शोक की श्लोकरूपता मे परिणति का कथन करना ही है उसमे स्त्री या पुरुष किसी का भी मारा जाना समान महत्त्व रखता है। रामायण की कथा के आधार पर दीधितिकार का माना हुआ पाठ ही ठीक ठहरता है।

दीधितिकार ने व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये 'मानिषाद.....'इस श्लोक का एक टीका के आधार पर एक नया अर्थ दिया है—'हे मानिषाद! (लक्ष्मी के निवास भगवान् रामचन्द्र जी ) तुमने निरन्तर वर्षों मे प्रतिष्ठा प्राप्त की। क्योंकि क्रुञ्चा ( कुटिलगामिनी कैकसी राक्षसी ) के पुत्र रावण और उसकी पत्नी मन्दोदरी में काममोहित रावण का वध किया।' किन्तु इस आशय के मानने मे कई आपत्तियाँ हैं—एक तो अर्थ करने मे यह अभिधेयार्थ ही हो जाता है; इसकी व्यङ्ग्यता जाती रहती है। दूसरी बात यह है कि इस अर्थ में राम के उत्साह के प्रति वाल्मीकि जी की चित्तवृत्ति का विस्फारण तो प्रतीत होता है किन्तु रावणवध के कारण शोक की अभिव्यक्ति नहीं होती। तीसरी बात यह है कि यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का उपमानोपमेयभाव स्थापित किया जावे तो राम को निषाद की

ध्वन्यालोकः

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ ६ ॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।

(अनु०) आस्वादपरिपूर्ण उसी अर्थवस्तु को प्रस्रवण करनेवाली महाकवियों की भगवती भारती देवी चारों ओर स्फुरित होनेवाली प्रतिभा की ऐसी विशेषता को अभिव्यक्त किया करती है जिसकी समानता लोक मे कही नहीं मिलती ॥ ६ ॥

जिस रसध्वनि और भावध्वनि रूप वस्तुतत्त्व का पहले वर्णन किया जा चुका है उसी के प्रवाह को महाकवियो की भारती प्रकट किया करती है जिससे चतुर्दिक् स्फुरित होनेवाली कवियों की प्रतिभा प्रकट हो जाती है और उसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती । यही कारण है कि इतने बडे संसार में जहाँ कवियों की परम्परा अत्यन्त विचित्रता के साथ निरन्तर चलती ही रहती है महाकवियो की श्रेणी मे दो तीन या पाच छह कवि ही आते हैं ।

तारावती

उपमा देनी पड़ेगी जो कि सर्वथा अनुचित है । यदि कामान्ध होने के कारण रावणवध का औचित्य सिद्ध किया जावे तो मिथुन का उल्लेख व्यर्थ हो जावेगा और यदि मिथुन का उल्लेख कामान्धता का साधक हो तो रामकर्तृकवध अनुचित हो जावेगा । अतएव यह अर्थ सर्वथा अमान्य है । रामायण से पुरुष-क्रौञ्च का मारना ही सिद्ध होता है । व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये क्रौञ्च का पुंस्त्व अविवक्षित माना जा सकता है । कवि का तात्पर्य केवल वियोग से ही है ।

आचार्य श्री विश्वेश्वर जी ने नई व्याख्या का सहारा लिया है—'निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः' की व्युत्पत्ति उन्होंने इस प्रकार की है—'निहतः सहचरीविरहकातरश्चासौ क्रौञ्चः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चः; तदुद्देश्यकः क्रौञ्ची-कर्तृकोऽयम् आक्रन्दः तज्जनितः शोकः' यह समाधान तो अच्छा है किन्तु इससे पूरा निर्वाह नहीं हो पाता । उक्त व्याख्या से आलोक का तो समर्थन हो गया, लोचनकार ने 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' लिखा है । इसके लिये आचार्य जी ने 'निहतसहचरीत्यादिग्रन्थेन' यह कर दिया है । किन्तु इस ग्रन्थ से केवल विभाव ही नहीं बतलाया गया है अनुभाव का भी उल्लेख किया गया है दूसरी बात यह है कि 'सहचरीहननोद्भूत' मे आचार्य जी को पाठभेद का ही सहारा लेना पडा है । अतः मेरी समझ मे सर्वत्र पाठभेद स्वीकार कर लेना ही अच्छा है । ]

## लोचन

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते–अनुक्तनिमित्तायामपीति ।

इससे दो प्रकारो की अवधीरणा करके तृतीय प्रकार की आशङ्का कर रहे हैं—'अनुक्तनिमित्तायामपि' इत्यादि ।

## तारावती

अर्थात् अभीष्ट को जहाँ छिपाया जाता है और जहाँ पर कुछ उपमा अन्तर्भूत होती है उसे अपह्नुति कहते है, प्रकृत अर्थ को छिपाने के कारण इसका यह नामकरण किया गया है । भामह ने ही अपह्नुति का यह उदाहरण दिया है—'यह मदसे मुखर भ्रमरपंक्ति बार-बार गुञ्जार नहीं कर रही है किन्तु कामदेव के खीचे जाते हुये धनुष की प्रत्यञ्चा सुनाई पड रही है ।' इस अपह्नुतिमे भी 'भ्रमरपंक्ति कामदेव के धनुप की प्रत्यञ्चा के समान है' यह उपमा व्यक्त होती है किन्तु सौन्दर्य उपमा मे नहीं अपह्नुति मे है । इस पूरे प्रकरण का आशय यही है कि जिस प्रकार दीपक और अपह्नुति मे उपमा की व्यञ्जना होते हुये भी कोई उन्हे उपमा के नाम से नही पुकारता क्योंकि सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा मे नही दीपन और अपह्नव मे होता है । इसी प्रकार यद्यपि समासोक्ति और आक्षेप व्यङ्ग्यार्थ रहता है तथापि उसे कोई ध्वनि नही कह सकता क्योंकि वहाँ पर चारुत्वनिष्पत्तिरूप प्राधान्य वाच्य मे रहता है व्यङ्ग्य मे नही ।

यहाँ तक यह सिद्ध किया जा चुका कि ध्वनि का अन्तर्भाव आक्षेप और समासोक्ति मे नही हो सकता । अब अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति को लीजिये । भामह ने विशेषोक्ति का यह लक्षण किया है:—

'( कारणसमूह के ) एक भाग के कम हो जाने पर जो किसी विशेषता को ख्यापित करने के लिये दूसरे गुणो की प्रशंसा की जाती है, उसे विशेषोक्ति कहते है।' दण्डी ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है:—

गुण-जाति-क्रियादीना यत्तु वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥

'किसी विशेषता को प्रकट करने के लिये ही जो गुण जाति इत्यादि की न्यूनता दिखलाई जाती है उसे विशेषोक्ति कहते हैं ।' इसी आधार पर आचार्य दण्डी ने विशेषोक्ति के गुणवैकल्य, क्रियावैकल्य इत्यादि भेद किये है । सरस्वतीकण्ठाभरण मे भी यही परिभाषा स्वीकार की गई है और वामन ने भी–'एकगुणहानकल्पनाया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः ।' कहकर इसी लक्षण को पुष्ट किया है । किन्तु नवीन आचार्य इस लक्षण को नही मानते । काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—

## तारावती

'जहाँ कारणों की अखण्ड सत्ता विद्यमान हो उसे विशेषोक्ति कहते हैं।' इसी परिभाषा का अनुसरण साहित्यदर्पण मे भी किया गया है और कुवलयानन्द मे अप्पय दीक्षित ने भी इसी परिभाषा को अपनाया है। इस प्रकार विशेषोक्ति की परिभाषा के विषय मे प्राचीनों और नवीनो मे ऐकमत्य नही है। यद्यपि प्राचीनो की परिभाषा विशेषोक्ति इस नामकरण से अधिक सङ्गत हो जाती है तथापि नवीन आचार्यों ने जिस मत को व्यवस्थित रूप दे दिया है वही मान्यता को प्राप्त हो सकता है।

नवीन आचार्यों ने विशेषोक्ति के तीन भेद किये है—अचिन्त्य-निमित्ता, उक्त-निमित्ता और अनुक्त-निमित्ता। पुष्कल कारणो के होने हुये भी फलोत्पत्ति क्यों नहीं होती, इस निमित्त की प्रतीति व्यञ्जना के आधार पर होती है। कहीं-कहीं निमित्त इतना गुप्त होता है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, उसे अचिन्त्य-निमित्ता कहते है। वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती ही नही, अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। कहीं-कहीं पर निमित्त का कथन स्वयं कर दिया जाता है उसे उक्त-निमित्ता कहते है। वहाँ पर भी वाच्यवृत्ति मे ही निमित्त का कथन होने के कारण ध्वनि का अवसर नहीं होता। तीसरा प्रकार वह होता है जिसके निमित्त का उपादान अभिहित नही होता किन्तु उसकी प्रतीति की जा सकती है। वह प्रतीति व्यञ्जना के ही आधार पर हो सकती है, अतः उसी मे ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का की जा सकती है। तीनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। अचिन्त्य-निमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरणः—

'कुसुमायुध अकेला होते हुये भी तीनो लोको को जीत लेता है। भगवान् शङ्कर ने उसके शरीर का अपहरण करते हुये भी बल का अपहरण नही किया।'

शङ्कर जी ने उसके बल का अपहरण क्यो नहीं किया इसका कारण समझ मे नही आता। अतः यह अचिन्त्य-निमित्ता विशेषोक्ति है। यहाँ पर व्यङ्ग्य की कोई सम्भावना नही। यह भामह का उदाहरण है। उक्त-निमित्ता विशेषोक्ति मे भी अर्थ की परिसमाप्ति वस्तुस्वभाव मे ही हो जाती है, उसमे अर्थान्तर व्यञ्जना की आवश्यकता ही नही पड़ती। अतएव वहाँ पर भी व्यङ्ग्य की सद्भावना की शङ्का नही हो सकती। जैसे—

'कपूर के समान जला हुआ भी जो कामदेव प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी शक्ति से सफलता प्राप्त कर लेता है उस अपारबलवाले कामदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।' यहाँ पर कपूर के समान जलनारूप कारण उपस्थित है किन्तु शक्ति का ह्रास-रूप कार्य उत्पन्न नही हुआ है। इसमे कारण यह है कि वह अपारबलवाला है।

है। वास्तविकता यह है कि इस उत्तर के देने मे आलोककार के सामने दोनों अभिप्राय थे। इसीलिये उद्भट की व्याख्या का उल्लेख न कर आलोककार ने सामान्य रूप मे ही कह दिया कि प्रकरणसामर्थ्य से व्यङ्ग्यार्थ की केवल प्रतीति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विशेषोक्ति में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

अब पर्यायोक्त को लीजिये—भामह ने पर्यायोक्त का लक्षण इस प्रकार दिया है:—

"( जब वाच्य अर्थ ही ) वाच्य-वाचक वृत्तियो से भिन्न दूसरे ही व्यञ्जनात्मक प्रकार से अभिहित किया जावे तब उसे पर्यायोक्त कहते हैं।' ( इसी लक्षण को उद्भट ने भी उद्धृत किया है और प्रतीहारेन्दुराज ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'वाचक की अर्थात् अभिधायक स्वशब्द की वृत्ति अर्थात् व्यापार होता है वाच्यार्थ का प्रत्यायन कराना। वाच्य अर्थात् अभिधेय का व्यापार होता है दूसरे वाच्य के साथ आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि के माहात्म्य से संसर्ग को प्राप्त होना। इस प्रकार के शब्द का जो वाच्य-वाचकव्यापार, उसके बिना भी प्रकारान्तर से अर्थात् अर्थसामर्थ्यात्मक अवगमन स्वभाव से जो अवगत होता है वह पर्याय से स्वकण्ठ से न कहा हुआ भी सान्तराल शब्दव्यापार से अवगत होने के कारण पर्यायोक्त वस्तु कही जाती है। इससे स्वसंश्लेष के द्वारा काव्यार्थ अलङ्कृत किया जाता है।)

पर्याय शब्द का अर्थ है समानार्थक शब्द, जब अभीष्ट अर्थ को उन्हीं शब्दों में न कहकर पर्यायवाचक शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जाता है तब उसे पर्यायोक्त कहते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये पर्यायवाचक शब्द घट के स्थान पर कलश कह देने के समान नहीं होते। यदि इसीप्रकार की पर्यायता यहाँ पर अभीष्ट होती तो विच्छित्तिवैचित्र्य ही क्या रह जाता। अतएव यहाँ पर वृत्तियों का पर्याय होता है। जो बात अभिधावृत्ति से कही जाती है यदि वही बात चमत्कारसम्पादन के उद्देश्य से व्यञ्जनावृत्ति मे कही जावे तब उसे पर्यायोक्त अलङ्कार कहते हैं। आचार्य दण्डी ने इसका लक्षण अधिक स्पष्ट रूप मे दिया है :—

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥

अर्थात् 'जब कथन के लिये अभीष्ट किसी अर्थ को साक्षात् शब्दों द्वारा न कह कर उसी की सिद्धि के लिये दूसरे प्रकार से कहा जाता है उसे पर्यायोक्त कहते हैं।'

## तारावती

साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—'जब गम्य अर्थ को ही कुछ वाकेपन के साथ कहा जावे तब उसे पर्यायोक्त कहते है ।' काव्यप्रकाशकार ने यद्यपि कारिका मे तो व्यङ्ग्यार्थप्रतीति का उल्लेख नही किया है तथापि उसकी व्याख्या करते हुये लिखा है—'वाच्य-वाचकभाव से व्यतिरिक्त अवगमन ( व्यञ्जना )-व्यापार के द्वारा जो कि प्रतिपादन किया जाता है उसे ही वांकेपन के साथ प्रकारान्तर से कहने के कारण पर्यायोक्त कहते हैं ।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि पर्यायोक्त एक ऐसा अलङ्कार है जिसमे ध्वनि के अन्तर्भाव का सबसे अधिक अवसर है । व्यञ्जना का यही अर्थ है कि अभीष्ट बात को सीधे न कहकर उसको इस सौन्दर्य के साथ घुमा-फिराकर कहा जावे कि सहृदय लोगो को उसकी अभिव्यक्ति हो जावे । पर्यायोक्त भी यही वस्तु है । अब प्रश्न यह है कि जब पुराने आचार्य पर्यायोक्त का वर्णन करते ही चले आ रहे है तब क्यो न ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में ही कर दिया जावे, नया नाम-करण करने की क्या आवश्यकता ? आनन्दवर्धन ने इसका उत्तर यह दिया है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ मे ही चमत्कार का पर्यवसान होता है और व्यङ्ग्यार्थ ही मुख्य है तो हम उसको ध्वनि कहने के लिये बाध्य हैं और हमें पर्यायोक्त का ध्वनि मे अन्तर्भाव करना होगा । क्योंकि ध्वनि केवल पर्यायोक्त में आनेवाले व्यङ्ग्यार्थ तक ही तो सीमित नहीं, उसका क्षेत्र तो बहुत ही व्यापक है । यदि व्यङ्ग्यार्थ गौण है और चमत्कार वाच्यार्थ मे है तो उसमे ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता ।

रुय्यक ने भी पर्यायोक्त का यह लक्षण किया है—'गम्य का भी दूसरी भंगिमा से अभिधान पर्यायोक्त कहलाता है। जो कुछ गम्य होता है उसी के अभिधान मे पर्यायोक्त कहा जाता है ।' इस पर प्रश्न उठाया है कि 'जो गम्य है उसका अभिधान कैसे हो सकता है ?' और इसका उत्तर दिया है कि 'गम्य की अपेक्षा प्रतीयमान की सत्ता दूसरे ही रूप मे होती है। उसी का, उसी समय, उसी विच्छित्ति के द्वारा वाच्यत्व और गम्यत्व सम्भव नहीं होता है । अतः अभिधान कार्यमुख से होता है। ( कारण के प्रकरण में कार्य का वर्णन होता है और कारण प्रतीयमान होता है । ) प्रस्तुत तो वहाँ पर कार्य भी होता ही है अतः वह भी वर्णनीय होता है ।'

पर्यायोक्त का उदाहरण यह है:—

'शत्रुओं के विनाश की जिनकी दृढ इच्छा थी, जो उचित मार्ग का अतिक्रमण-कर चलनेवाले थे उन मुनि परशुराम को मेरे इस धनुष ने धर्म का उपदेश दे दिया ।' ( एक तो मुनि का शत्रु-भाव रखना ही अनुचित, फिर विनाश की इच्छा और उस पर दृढता के साथ जमना तो और भी अनुचित है । ऐसे अधार्मिक को

## लोचन

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलङ्कृतः। अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्। अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते।

यहाँ पर यद्यपि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करनेवाला है यह प्रतीत होता है तथापि उसकी सहायता से 'देशिता धर्मदेशना' ( धर्मोपदेश दे दिया) इस अभिधीयमान के द्वारा ही काव्यार्थ अलंकृत किया जाता है। अतएव पर्याय से अर्थात् व्यञ्जनात्मक दूसरे प्रकार से उपलक्षित होकर जो अभिधावृत्तिगम्य होता है वह अभिधीयमान उक्त होकर ही पर्यायोक्त कहा जाता है, यह लक्षण पद है, पर्यायोक्त यह लक्ष्य पद है, अर्थालङ्कारत्व और सामान्य लक्षण यह सभी कुछ उचित ही ठहरता है।

## तारावती

भी जिसने धर्म पर चलने के लिये बाध्य कर दिया उसके महत्त्व के विषय में जो कहा जावे वही थोडा है।)

यद्यपि यहाँ पर यह अभिव्यक्त होता है कि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव का अतिक्रमण करनेवाला है तथापि काव्यार्थ ( वीररस ) की शोभा 'धर्म सिखा दिया' इस वाच्यार्थ से ही बढ़ती है, व्यङ्ग्यार्थ केवल उसका सहायक हो जाता है। इसीलिये ( भामह का कहा हुआ ) लक्षण, लक्ष्य, अलङ्कारता और सामान्य लक्षण सभी कुछ समीचीन सिद्ध होता है। पर्याय का अर्थ है प्रकारान्तर और वह प्रकार अवगमन या व्यञ्जनाव्यापार ही हो सकता है। उस व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा अगवत होकर जो बात कही जाती है उस कही हुई बात को ही उक्त कहते है और वही उक्त पर्यायोक्त कहलाता है। यह है लक्षण का वाक्य। आशय यह है कि जब लक्षण मे ही कह दिया गया कि 'अभिधीयते' जो प्रकारान्तर से कहा जावे उसे पर्यायोक्त कहते हैं, तब व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता मे पर्यायोक्त हो ही नही सकता।) 'पर्यायोक्त' यह लक्ष्य वाक्य है, ( इसमे भी उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय है चमत्कारपूर्ण वाच्यार्थ को ही पर्यायोक्त कहते है।) पर्यायोक्त एक अलङ्कार है और अलङ्कार का सामान्य लक्षण है जो दूसरे को शोभित करे। यदि व्यङ्ग्य की प्रधानता मानी जावेगी तो वह अलङ्कार्य हो जावेगा और उसकी अलङ्कारता तथा सामान्य लक्षण ठीक नही घट सकेगा। अतएव यही मानाजाना चाहिये कि पर्यायोक्त मे व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ ही शोभा-

## लोचन

यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद्व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह—यदि प्राधान्येनेति। ध्वनाविति। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारः स्यादित्यर्थः।

और यदि 'अभिधीयते' इसके बल पर यह व्याख्यान हो 'अभिधीयते' अर्थात् प्रधानतया प्रतीतिगोचर होता है तथा उदाहरण 'भम धम्मिअ' इत्यादि ( दिया जावे ) तो अलङ्कारत्व ही दूर हो जायगा क्योंकि उसका पर्यवसान तो आत्मरूपता में हो गया। तब अलङ्कारों के मध्य मे गणना नही करनी चाहिये और इसके दूसरे भेदों को भी कहा जाना चाहिये। यह कह रहे हैं—'यदि प्रधानतया' इत्यादि। 'ध्वनि मे' इत्यादि। अर्थात् आत्मा मे अन्तर्भाव होने के कारण यह आत्मा ही होगी अलङ्कार नही।

## तारावती

धायक होता है और उसमे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

( अलङ्कार सर्वस्व मे पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया गया है—

स्पृष्टास्ताः नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः॥

यहाँ पर हयग्रीव के स्वर्गविजय का वर्णन करना है। किन्तु उसे उस रूप मे न कहकर उसके कार्य का कथन कर दिया गया है। मम्मट का उदाहरण इस प्रकार है:—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
भेदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥

यहाँ पर 'ऐरावत और शक्र मद-मान से रहित हो गये' यह व्यङ्ग्य भी स्वशब्द से कहा जा रहा है। यहाँ पर जो कहा गया है वही व्यङ्ग्य है। किन्तु अन्तर यह है कि जिस प्रकार व्यङ्ग्य है उस प्रकार नही कहा जा रहा है। जैसे निर्विकल्पक और सविकल्पक का ज्ञान एक जैसा ही होता है। गोत्व शुक्लत्व और गमन क्रिया का ज्ञान होता है। किन्तु सविकल्पक ज्ञान मे बौद्ध-दर्शन के अनुसार भेद अथवा अतद्व्यावृत्ति और व्याकरण-दर्शन के अनुसार संसर्ग अथवा नाम-जात्यादिरूप विशेषण विद्यमान रहता है जो निर्विकल्पक में नहीं होता। इस प्रकार वहाँ ज्ञान के प्रकारों में भेद होता है। इसीप्रकार पर्यायोक्त में भी प्रकारगत भेद ही होता है वस्तुगत नहीं। )

## लोचन

तत्रेति । यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः । ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाच्चाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत् । न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात् । अथ व्यापकाङ्गित्वे तस्योपगम्येते त्यज्यते चालङ्कारता, तर्ह्यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात् पर्यायोक्तवाचेतिभावः । न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलितमिति दर्शयति—

तत्र इति । जिस प्रकार का अलङ्काररूप में विवक्षित है उस प्रकार (के तत्त्व) में ध्वनि अन्तर्भूत नहीं होती (क्योंकि) हम लोगों ने वैसी ध्वनि नहीं कही है । ध्वनि महाविषयवाली होती है, सर्वत्र सत्ता के कारण व्यापक होती है तथा समस्त प्रतिष्ठा का स्थान होने के कारण अङ्गी होती है । (कोई एक विशेष) अलङ्कार व्यापक नहीं होता—अन्य अलङ्कारो के समान । अंगी भी नही होता—अलङ्कार्य के आधीन होने के कारण । यदि व्यापकता तथा अङ्गिता ही उसकी स्वीकार की जाती है और अलङ्कारता को छोड दिया जाता है तो मेरी ही नीति स्वीकार कर ली जाती है, केवल मात्सर्यग्रहण से पर्यायोक्त की वाणी के द्वारा (स्वीकार किया गया है ।) यह आशय है । केवल इतना भी नही, पुराने लोगों ने नही देख पाया किन्तु हमने ही उन्मीलित किया है, यह दिखला रहे हैं—

## तारावती

यदि दुराग्रह करके 'अभिधीयते' का यही अर्थ किया जावे कि 'प्रधानता से प्रतीत होता है' और प्रधानता से प्रतीत होनेवाले अर्थ को पर्यायोक्त कहा जावे तथा ध्वनि के उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि को इसके उदाहरण के रूप मे रक्खा जावे तो वह अर्थ स्वमात्रपर्यवसित हो जावेगा, उसकी अलंकारता ही दूर जा पडेगी । (क्योंकि जो अलंकृत की जानेवाली वस्तु है वह अलंकार्य कैसे हो सकती है ?) तब ध्वनि के अनुकूल इसके दूसरे भेदो का कथन भी करना पड़ेगा । इसीलिये आलोककार ने कहा है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होगा तो ध्वनि में पर्यायोक्त का अन्तर्भाव करना पडेगा । ध्वनि मे अन्तर्भाव का आशय यह है कि ध्वनिरूप आत्मा मे जब उसका अन्तर्भाव हो जावेगा तब वह आत्मा ही बन जावेगा अलंकार नहीं हो सकेगा ।

'ध्वनि का पर्यायोक्त मे अन्तर्भाव नही हो सकता' इस कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार के गौणव्यङ्ग्यार्थ को आप अलंकाररूप मे स्वीकार करते है उस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ मे ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता । कारण यह है कि ध्वनि का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है और गुण रीति इत्यादि काव्य के जितने भी तत्त्व है उन सबका वह प्रतिष्ठाभाजन भी है । अतएव ध्वनि को हम प्रधान कहेंगे

## लोचन

न पुनरिति। भामहस्य यादृक्तदीयं रूपमभिमतं तादृगुदाहरणेन दर्शितम्। तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात्। तेन तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्र नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः।

न पुनः इत्यादि। भामह को जैसा उसका रूप अभिमत है वैसा उदाहरण के द्वारा दिखला दिया गया। उसमें भी व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं होती क्योंकि वह चारुत्व मे हेतु नही होता। उससे इसके अनुसरण करने से उसके समान जो दूसरे उदाहरण की भी कल्पना की जावे उसमें भी व्यङ्ग्य की प्रधानता ही ( सिद्ध होती है ) इस प्रकार असङ्गति नहीं है।

## तारावती

ये गुण अलंकार में होते नहीं। अलङ्कार व्यापक नहीं हो सकते, जैसे कटक कुण्डल इत्यादि नही होते। ( यहाँ पर अनुमान प्रमाण के बल पर अलङ्कारों की व्यापकता का अभाव सिद्ध किया गया है। अलङ्कार पक्ष है, व्यापक न होना साध्य है, अलङ्कारत्व हेतु है और कटक कुण्डल इत्यादि उदाहरण है। आशय यह है कि जिस प्रकार आत्मा तो व्यापक होती है किन्तु आभूषण व्यापक नही हो सकते उसी प्रकार ध्वनि व्यापक हो सकती है अलङ्कार नही। ) इसीप्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार अङ्गी (प्रधान) भी नही हो सकता क्योंकि वह अलङ्कार्य के आधीन होता है (अर्थात् उसकी अलङ्कारता ही तब सिद्ध होती है जब वह किसी को अलङ्कृत करता है। जिसे अलंकृत करता है वही अङ्गी होता है, अलङ्कार अङ्ग ही हो सकता है। यदि आप पर्यायोक्त में प्रतीयमान अर्थ की व्यापकता और अलङ्कार्यता स्वीकार करने का आग्रह करते है तब तो नामका ही झगडा रह जाता है। तब तो फिर आप ध्वनि नाम को स्वीकार ही कर लेते हैं। केवल द्वेषवश आप ध्वनि नाम को स्वीकार नहीं करते, हमारे माने हुये तत्त्व का ही नाम पर्यायोक्त रख देते हैं। अब यह दिखलाया जा रहा है कि प्राचीनो ने इस बात को भी नहीं समझ पाया। केवल हमने ही इसका उन्मीलन किया है। भामह के उदाहरण जैसे पर्यायोक्त मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती ही नहीं। आशय यह है कि भामह को पर्यायोक्त का जैसा स्वरूप अभीष्ट था उन्होंने वैसा ही उदाहरण के द्वारा दिखलाया। वहाँ पर भी (अर्थात् उस उदाहरण मे भी) व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं है क्योंकि वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ चारुता मे हेतु नहीं है। अतएव उनके अनुकरण पर यदि दूसरे उदाहरणों की भी कल्पना की जावेगी तो उसमे भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता नहीं रखनी पड़ेगी। अर्थात् अलङ्कार के क्षेत्र मे जब भामह को महत्ता दी जाती है और भामह के बतलाये हुये मार्ग पर अलङ्कारों का विवेचन किया जाता है तो उन्हीं के बतलाये हुये मार्ग पर दूसरे उदाहरणों की

## लोचन

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'मम धम्मिअ' इत्याद्युदाहियते तदस्मच्छिष्यतैव । केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रवणेनात्मसंस्कार इत्यनार्यचेष्टितम् । यदाहुरैतिहासिकाः—'अवज्ञयाऽप्यवच्छाद्य शृण्वन्नरकमृच्छति ।' इति । भामहेन ह्युदाहृतम्—

'गृहेष्वध्वसु वा नाद्यं भुञ्ज्महे यदधीतिनः ।
विप्रा न भुञ्जते' इति

एतद्धि भगवद्वासुदेववचनं पर्यायेण रसदानं निषेधति । यत्स एवाह—'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति । न चास्य रसदाननिषेधस्य व्यङ्ग्यस्य किञ्चिच्चारुत्वमस्ति येन प्राधान्यं शङ्क्येत । अपितु तद्व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यत्र भोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत् प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्करुते । नह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम् ।

यदि उनके बतलाये हुए उदाहरण का अनादर करके 'मम धम्मिअ' इत्यादि का उदाहरण दिया जाता है तो हमारी शिष्यता ही हो गई । केवल ( शिष्य की ) नीति का अवलम्बन कर अपश्रवण से आत्मसस्कार कर लिया यह अनार्यचेष्टा ही है । जैसा कि ऐतिहासिकों ने कहा है । ( विद्या तथा गुरु के विषय मे ) ऐतिहासिको ने जैसा कि कहा है—'अवज्ञा के द्वारा भी अपने को छिपाकर सुनते हुए नरक को प्राप्त होता है ।' भामह ने यह उदाहरण दिया है—

'घरों मे या मार्गों मे ( वह ) अन्न हम लोग नही खाते जो अधीती ब्राह्मण नहीं खा लेते ।'

निस्सन्देह यह भगवान् वासुदेव का वचन पर्यायोक्त से विषदान का निषेध करता है । जैसा कि उन्होंने ही कहा है—'और वह विषदान की निवृत्ति के लिये था' इस व्यङ्ग्य रसदान निषेध की कोई चारुता नही है जिससे प्राधान्य की शंका की जावे । अपितु उस व्यङ्ग्य से युक्त ( उससे बढ़ाया हुआ ) जो विप्रभोजन के विना भोजन न करना है वही उक्त प्रकार से पर्यायोक्त होकर प्राकरणिक भोजनार्थ को अलंकृत करता है । इनका यह कथन अभीष्ट नही है कि 'निर्विष भोजन हो', इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार ही है, यह चिरन्तनो के लिये अभिमत है, यह तात्पर्य है ।

## तारावती

भी कल्पना करनी पड़ेगी । भामह ने अपने उदाहरण मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता रक्खी नहीं, अतएव दूसरे भी ऐसे ही उदाहरण देने पड़ेगे जिनमे व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न हो । यही ग्रन्थ की सङ्गति है ।

## तारावती

यदि भामह के दिये हुये उदाहरण का अनादर करके 'भम धम्मिअ' यह ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण पर्यायोक्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो यह तो हमारा शिष्य बन जाना ही होगा। केवल अन्तर यह रह जावेगा कि शिष्यों की नीति का सहारा न लेकर अशुद्ध रूप में इधर-उधर से सुनी हुई बात के आधार पर अपना संस्कार कर लेना कहा जावेगा जो कि सर्वथा अनार्य चेष्टा होगी। (आशय यह है कि 'भम धम्मिअ' यह व्यङ्ग्यार्थ का उदाहरण तो हम ध्वनिवादियों की ओर से दिया गया है। यदि तुम उसे स्वीकार कर लेते हो तो तुम हमारे शिष्य बन गये। अन्तर केवल यह रह गया कि तुम नियमपूर्वक शिष्यों का कर्तव्य पालन करते हुये गुरुमुख से विद्या पढ़ते उसके स्थान पर इधर-उधर से सुन-सुनाकर तुमने आत्मसंस्कार कर लिया और पण्डित बन गये। यह भी तो तुम्हारी अनार्य चेष्टा ही रही।) ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि—'गुरु तथा विद्या का अपमान करते हुए अपने को छिपाकर विद्या का श्रवण करते हुये भी नरक को जाता है।' (ये शब्द मनोरञ्जन के उद्देश्य से उपहासपरक हैं।) भामह ने पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया है—'रत्नाहरण' में कृष्ण शिशुपाल के यहाँ गये हैं। शिशुपाल ने भोजन तैय्यार कराया है। भगवान् कृष्ण को शत्रु के यहाँ भोजन करने में विष की शङ्का हो जाती है। अतः वे कहते हैं—जो अन्न अधीती ब्राह्मण नहीं खा लेते उसे हम लोग घर में भी नहीं खाते और मार्ग में भी (यात्रा में भी) नहीं खाते।' यह भगवान् वासुदेव का वचन व्यञ्जना-वृत्ति से विषदान का निषेध करता है जैसा कि स्वयं भामह ने व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'ये शब्द विषदान की निवृत्ति के उद्देश्य से कहे गये हैं।' यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ है विषदान का निषेध। उसमें किसी प्रकार की चारुता नहीं है जिससे उसकी प्रधानता का सन्देह किया जावे। किन्तु 'विप्रभोजन के बिना जो भोजन न करना'-रूप वाच्यार्थ है वही उक्त व्यङ्ग्यार्थ से विशेषता को प्राप्त होकर उक्त प्रकार से पर्यायोक्त का रूप धारण करके प्राकरणिक भोजनार्थ को अलंकृत कर देता है। (आशय यह है कि 'मैं भोजन नहीं करूँगा क्योंकि इसमें विष है' इस व्यङ्ग्यार्थ में कोई सौन्दर्य नहीं। सौन्दर्य की प्रतीति तब होती है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कृष्ण को भोजन में विष की आशङ्का है और कह यह रहे हैं कि 'मैं मार्ग में भी ऐसा भोजन नहीं करता जिसको पहले अधीती ब्राह्मण खा नहीं लेते।' इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ पर ध्यान रखते हुये जब हम कृष्ण की वचनभङ्गिमा पर विचार करते हैं तब हमें उस कथन में ही चारुता की अनुभूति होती है।) कृष्ण का विवक्षित

ध्वन्यालोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

(अनु०) अपह्नुति और दीपक के विषय मे यह तो प्रसिद्ध ही है कि इनमे वाच्य की ही प्रधानता होती है और व्यङ्ग्य उसका अनुयायी होता है ।

लोचन

अपह्नुतिदीपकयोरिति । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह प्रसिद्धमिति । प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः । पूर्वं चैतदुपमाव्यपदेशभाजनमेव तथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्तयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति ।

छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृत्—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च ।

अपह्नुतिदीपकयोरिति । यह पहले ही निर्णय कर दिया । इसीलिये कह रहे है—प्रसिद्धमिति । अर्थात् प्रतीत, प्रसाधित तथा प्रामाणिक । पहले यह उपमा इत्यादि नामवाला ही जिस प्रकार नहीं होता इस छाया के द्वारा ( अर्थात् इस प्रकार ) दृष्टान्त के रूप मे कहा हुआ भी उद्देश क्रम की पूर्ति के लिये ग्रन्थशय्या की योजना करने के निमित्त पुनः कह दिया गया—'व्यङ्ग्य की प्रधानता के अभाव के कारण ध्वनि नही होती ।' वस्तु एक ही है ( किन्तु ) दूसरी छाया के द्वारा कही गई है क्योकि उपमा की ही व्यङ्ग्य के रूप मे शंका की जा सकती है । जो कि विवरणकार ने—दीपक का सर्वत्र उपमान्वय नहीं होता इस पर बहुत से उदाहरणो के प्रपञ्च के द्वारा विचार किया है वह अनुपयोगी है, निस्सार है तथा उसका प्रतिषेध भी सरलतापूर्वक हो सकता है ।

तारावती

अर्थ यह नही है कि भोजन निर्विष होना चाहिये । (उनका विवक्षित तो यही है कि मैं भोजन नहीं करूँगा ) अतएव पर्यायोक्त को अलङ्कार मानना ही प्राचीन आचार्यों को अभीष्ट था । यही प्रस्तुत ग्रन्थ का तात्पर्य है । ( इस प्रकार लक्षण, लक्ष्य, अलङ्कारता, सामान्य लक्षण और उदाहरण इन सभी दृष्टियों से सिद्ध कर दिया कि पर्यायोक्त मे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।)

अब दीपक और अपह्नुति को लीजिये । इनके विषय मे पहले ही निर्णय किया जा चुका है । (इन दोनों अलङ्कारो मे उपमा व्यङ्ग्य होती है ।) और दीपक तथा अपह्नुति ये दोनो वाच्य होते है । यह बात प्रसिद्ध ही है कि इन मे वाच्य दीपक तथा अपह्नति प्रधान होते है और व्यङ्ग्य उपमा उनकी अनुवर्तिका मात्र होती

लोचन

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभञ्जनम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥ इति ॥

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह मानभञ्जन अनङ्ग को उत्पन्न करती है, वह प्रिया-सङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, वह असह्य मन के शोक को उत्पन्न करती है।'

तारावती

है।) यहाँ पर प्रसिद्ध शब्द के तीन अर्थ हैं—इनमें उपमा की अप्रधानता स्पष्ट प्रतीत होती है सिद्ध भी की जा चुकी है और प्रमाणप्रतिपन्न भी है। अपह्नुति और दीपक के विषय में पहले भी कह चुके हैं और अब पुनः इन पर विचार प्रारम्भ किया है। अतएव पूछा जा सकता है कि पुनः विचार करने की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि पहले समासोक्ति और आक्षेप के प्रकरण में यह दिखलाने की आवश्यकता थी कि व्यङ्ग्यार्थ भी गौण हो सकता है। इस विषय में दीपक और अपह्नुति का ऐसा दृष्टान्त है कि जिसको अलङ्कार सम्प्रदायवाले भी अस्वीकार नहीं कर सकते। इन अलङ्कारों में उपमा व्यङ्ग्य होती है किन्तु उपमा कहकर उन्हें कोई नहीं पुकारता क्योंकि वहाँ पर उपमा में सौन्दर्य का पर्यवसान नहीं होता। इस बात को सिद्ध करने के लिये वहाँ पर दृष्टान्त के रूप में इन दोनों अलङ्कारों का उल्लेख हुआ था। यहाँ इन पर विचार इसलिये किया गया कि जिन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव दिखलाने की प्रतिज्ञा की गई थी उनमें दीपक और अपह्नुति ये दो अलङ्कार भी थे। इन अलङ्कारों का उल्लेख पर्यायोक्त के बाद किया गया था। अतः उद्देशक्रम को पूरा करने के लिये तथा ग्रन्थ की सङ्गति बिठाने के लिये पुनः कह दिया कि व्यंग्य की प्रधानता न होने से इन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। बात वही है जो पहले कही गई थी। यहाँ पर प्रकारान्तर से वही बात दुहरा दी गई है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के रूप में उपमा की ही प्रधानता की शङ्का की जा सकती थी। (उसी का निराकरण वहाँ किया था और उसी का निराकरण यहाँ किया गया है।) जो कि विवरणकार ने लिखा है कि दीपक का उपमा के साथ सर्वत्र अन्वय नहीं होता और बहुत से उदाहरणों के प्रपञ्च के द्वारा उस पर विचार किया है वह अनुपयोगी भी है निस्सार भी है और उसका खण्डन भी आसानी से किया जा सकता है। जैसे भामह का उदाहरण लीजिये—

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, प्रीति मान को नष्ट करनेवाले कामदेव को उत्पन्न करती है, कामदेव प्रियतमा के सहवास की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है और वह उत्कण्ठा मन की असह्य वेदना को उत्पन्न करती है।'

## लोचन

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात्। नहि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः। तथाहि—

राम इव दशरथोऽभूद् दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम्॥

इति न भवति। तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रासः इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन।

यहाँ पर उत्तरोत्तर जन्यत्व होने पर उपमानोपमेयभाव की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है। क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिये। वह इस प्रकार :—

'राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु और अज भी रघु के समान (हुये) अज के समान दिलीप वंश हुआ। राम की यह कीर्त्ति विचित्र है।'

यह नहीं होता यह बात नहीं। अतएव क्रमिकत्व या समानता या प्राकरणिकत्व उपमा को रोक देता है यह क्या भय, बस अधिक गर्दभी-दोहन का अनुवर्तन व्यर्थ है।

## तारावती

यहाँ पर भी यद्यपि एक के बाद दूसरे की उत्पत्ति होती है तथापि इनका भी उपमानोपमेयभाव सरलता से कल्पित किया जा सकता है। 'जैसे मद प्रीति को उत्पन्न करता है उसीप्रकार प्रीति काम को उत्पन्न करती है; जैसे प्रीति काम को उत्पन्न करती है उसीप्रकार काम प्रियासमागम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, जिस प्रकार काम प्रियासङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, उसीप्रकार वह उत्कण्ठा असह्य मनस्ताप को उत्पन्न करती है।' यह उपमा सरलता से कल्पित की जा सकती है,। यह बात नहीं है कि क्रमशः आनेवाले शब्दों का उपमानोपमेयभाव बनता नहीं। उदाहरण लीजिये—

'राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु हुये, रघु के समान दिलीप हुये। यह राम की कीर्ति विचित्र ही है।

यहाँ पर क्रमशः आनेवाले शब्दों का उपमानोपमेय भाव नही बनता यह बात नहीं है। अतएव क्रमिकता का होना अथवा प्रकरण की समानता उपमा का निरोध कर देते है यह कौन सी डराने की बात आप कह रहे हैं। जाने दो और अधिक गदही दुहने की चेष्टा व्यर्थ है। (यह एक मजाक है।)

अब सङ्करालंकार को ले लीजिये—प्राचीन आचार्यों (भामह दण्डी इत्यादि) ने दो अलङ्कारों के एक मे मिलने को संसृष्टि अलङ्कार कहा था। उन्होंने सङ्कर

ध्वन्यालोकः

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात्। अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति।

(अनु०) सङ्कर अलङ्कार मे भी जब एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया को ग्रहण करता है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य की विवक्षा ही नहीं होती। अतएव वह स्थान ध्वनि का लक्ष्य हो ही नहीं सकता। जहाँ पर दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ पर भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता समान होती है। (अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती) यदि साङ्कर्य मे वाच्य के गौण हो जाने से व्यङ्ग्यार्थ प्रधानरूप मे अवस्थित होता है तो वह भी ध्वनि का विषय (लक्ष्य) हो सकता है; वही ध्वनि नहीं होती। जैसा कि पर्यायोक्त मे सिद्ध किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि कहीं भी किसी अलङ्कार मे सङ्कर यह नामकरण ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है।

लोचन

सङ्करालङ्कारेऽपीति।

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः॥

सङ्करालङ्कार मे भी :—

'विरुद्ध अलङ्कारों के उल्लेख मे, एक साथ उनकी वृत्ति के असम्भव होने पर तथा एक के ग्रहण मे न्याय तथा दोष के अभाव मे सङ्कर (अलङ्कार) होता है।

तारावती

नाम का कोई अलङ्कार नहीं माना था। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने परस्पर मिलनेवाले अलङ्कारों के दो भेद कर दिये (१) जहाँ मिलनेवाले अलङ्कार स्वमात्रपर्यवसित होते हैं और उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, इस प्रकार के सम्मिलन को संसृष्टि कहते हैं। संसृष्टि मे पृथक् रूप मे ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का ही नहीं हो सकती क्योंकि उसमे सभी अलङ्कार स्वतन्त्र होते है और स्वतन्त्र अलङ्कारो मे ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता यह सिद्ध ही किया जा चुका है। (जहाँ पर दो या दो से अधिक अलङ्कार एक दूसरे के प्रति सापेक्षभाव से स्थित होते हैं वहाँ पर सङ्कर अलङ्कार होता है। इन आचार्यों ने सङ्कर अलङ्कार के चार भेद किये हैं—सन्देह सङ्कर, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का एक विष-

## लोचन

इति लक्षणादेकः प्रकारः। यथा ममैव—

शशिवदना सितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम्।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद्द्वयासम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात् सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यतायां एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना। योऽपि द्वितीयः प्रकारः शब्दार्थालङ्काराणामेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का। यथा 'स्मर स्मरसिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्।' इति। अत्रैव यमकमुपमा च। तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापिद्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता। यथा—

इस लक्षण से एक प्रकार हुआ। जैसे मेरा ही—

'चन्द्रवदना, नीलकमललोचना, श्वेतकुन्ददशनपक्ति यह (नायिका) विधाता के द्वारा आकाश, जल और भूमि के सार से सम्भव हृद्य आकार की बनाई गई है।'

यहाँ पर 'चन्द्रमा है वदन जिसका' अथवा 'चन्द्रमा के समान वदन है जिसका' इस रूपक और उपमा के उल्लेख से एक साथ दो के असम्भव से, एकतर पक्ष के त्याग तथा ग्रहण मे प्रमाण न होने से सङ्कर (है) इस प्रकार व्यङ्ग्य और वाच्य का ही निश्चय न होने से ध्वनि की सम्भावना ही क्या? जो दूसरा भी प्रकार है—शब्द और अर्थ अलङ्कारों का एकत्र होना उसमे भी प्रतीयमान की क्या शंका? जैसे 'स्मर के समान प्रियतम का स्मरण करो जिसको आलिङ्गन के द्वारा रमण कराती हो।' यही पर यमक और उपमा है। तृतीय भी प्रकार—जहाँ एकत्र वाक्यांश मे अनेक अर्थालंकार हो वहाँ भी दोनो के साम्य से किसकी व्यङ्ग्यता? जैसेः—

## तारावती

यानुप्रवेश सङ्कर, अर्थालङ्कारों का एकविषयानुप्रवेश सङ्कर और अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर। परवर्ती आचार्यों ने दूसरे और तीसरे भेद (शब्दार्थालङ्कारों का एकविषयानुप्रवेश तथा अर्थालङ्कारो का एकविषयानुप्रवेश) एक ही मे मिला दिये और साधर्म्य के आधार पर दोनो का एकविषयानुप्रवेश यह नाम रख दिया। इस प्रकार ये आचार्य सङ्कर के केवल तीन भेद ही मानते है। दीधितिकार का यह भ्रम है कि नवीन आचार्यों ने शब्दार्थालङ्कारों के एकविषयानुप्रवेश को संसृष्टि मान लिया जिससे नवीनो के मत मे तीन भेद रह गये। सभी नवीन आचार्य शब्दार्थालङ्कार के एकविषयानुप्रवेश को सङ्कर ही मानते है। संसृष्टि और सङ्कर मे भेद यह होता है कि जहाँ विभिन्न शब्दों से अलङ्कार प्रकट होते है वहाँ

उनकी ससृष्टि होती है और जहाँ एक ही शब्द से विभिन्न अलङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ सङ्कर होता है ।

सङ्कर और संसृष्टि की मान्यता के आधार और उनके विषय-विभाजन पर रुय्यक ने अच्छा प्रकाश डाला है । उनका कहना है कि—'उक्त अलङ्कारों का यथासम्भव कहीं कथन हो तो क्या वे सब पृथक्-पृथक् अलङ्कार माने जावेंगे या कोई अन्य अलङ्कार होगा ? इस विषय मे कहा जा सकता है कि जैसे बाह्यालङ्कारों मे सुवर्ण, मणिमय इत्यादि पृथक्-पृथक् अलङ्कार शरीर को पृथक्-पृथक् रूप मे आभूषित करते हैं, साथ ही उनकी संयोजना भी नवीन सौन्दर्य को जन्म देती है । इसीप्रकार अनेक अलङ्कारों की योजना में भी पृथक् पर्यवसान नहीं होता अपितु उसे दूसरा अलङ्कार कहना ही ठीक होगा । अनेक अलङ्कारों के योग मे भी संयोगन्याय से स्फुटावगम और समवायन्याय से अस्फुटावगम ये दो प्रकार होते हैं । प्रथम को संसृष्टि और द्वितीय को सङ्कर कहते हैं । अतएव तिल-तण्डुलन्याय और क्षीर-नीर न्याय उनकी यथार्थता को बतलाते हैं ।)

विश्वनाथ ने तो एक शब्द से प्रकट होनेवाले दो शब्दालङ्कारों को भी सङ्कर ही माना है । यहाँ पर लोचनकार ने चार भेद मानकर सङ्कर का निरूपण किया है । सङ्कर का प्रथम प्रकार यह है—

'जहाँ एक ही स्थान पर दो विरुद्ध अलङ्कारों का उल्लेख किया जा सकता हों, एक साथ दोनों का हो सकना सम्भव न हो; न तो एक के ग्रहण करने मे कोई न्याय हो और न दूसरे के त्याग के लिये कोई बाधक हो वहाँ पर सन्देह संकर होता है ।" जैसे मेरा ( लोचनकारका ) पद्य—

'ब्रह्माजी ने शशिवदना, नीलकमलनयना, श्वेतकुन्ददशनपक्ति इस नायिका को आकाश, जल और स्थल से उत्पन्न मनोहर आकारवाली बनाया है ।' आशय यह है कि इस नायिका का मुखचन्द्र आकाश का तत्त्व है नीलकमलनयन जल का तत्त्व है और श्वेतकुन्ददशन भूमि का तत्त्व है, इस प्रकार यह नायिका मनोहरता मे पृथ्वी जल और आकाश तीनों का सार भाग है । यहाँ पर शशिवदना इत्यादि शब्दों मे बहुव्रीहि समास है । इसका विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है । ( १ ) चन्द्रमा है वदन जिसका और ( २ ) चन्द्रमा के समान है वदन जिसका । प्रथम विग्रह मे रूपक होगा और द्वितीय मे उपमा । दोनों एक साथ हो नहीं सकते । एक को स्वीकार करने और दूसरे को छोड़ने मे न कोई साधक प्रमाण है और न बाधक । अतएव यहाँ पर सन्देह सङ्कर अलङ्कार है । इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि एक तो इसमें वाच्य और व्यङ्ग्य का ही निश्चय नहीं, दूसरे यह निश्चय नहीं कि यहाँ पर कौन सा अलङ्कार माना जावे । अतएव

## लोचन

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति ।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम् ॥ इति ॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्ति रूपकं दर्शयति । उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता । तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम् ।

शब्दार्थवर्त्यलङ्काराः वाक्य एकत्र वर्तिनः ।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वा मिथीयते ॥ इति च ॥

चतुर्थस्तु प्रकारः यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम् । यथा—

'तुल्य उदय और अवसान होने से सूर्य के अस्तकी ओर चले जाने पर क्लान्त दिन निवास के लिये अन्धकार रूपी गुफा मे मानों प्रविष्ट हो रहा हो ।'

यहाँ पर स्वामी की विपत्ति के योग्य व्रत ग्रहण के लिये उद्युक्त कुलयुवक का आरोप एकदेशविवर्ति रूपक को प्रकट करता है और उत्प्रेक्षा इव शब्द से कही गई है । वह इस प्रकार दो प्रकार बतलाये गये है

'शब्द और अर्थवर्ती अलंकार एक वाक्य मे रहनेवाले अथवा एक वाक्यांश मे अनुप्रवेश से संकर कहा जाता है ।' और यह चौथा तो प्रकार ( वहाँ पर होता है ) जहाँ पर अलंकारों का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव हो । जैसे—

## तारावती

यहाँ पर ध्वनि का प्रश्न ही नहीं उठता । ( २ ) दूसरे प्रकार का सङ्कर अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ एक ही स्थान पर एक शब्दालङ्कार हो और एक अर्थालङ्कार। जैसे 'स्मर स्मरमिव प्रियम्—कामदेव के समान अपने प्रिय का स्मरण करो जिसको आलिङ्गन के द्वारा तुम रमण कराया करती हो ।' यहाँ पर 'स्मर स्मर' मे यमक है और 'कामदेव के समान कहने मे उपमा है । ये दोनों अलङ्कार 'स्मर' शब्द से ही अवगत होते है अतः यह एकविषयानुप्रवेश सङ्कर है । ( इसमे व्यङ्ग्यार्थ की सम्भावना ही नहीं फिर ध्वनि का प्रश्न ही कैसा ? ) ( ३ ) जहाँ एक ही वाक्यांश मे कई अर्थालङ्कार हो वहाँ तीसरे प्रकार का सङ्कर होता है । जैसे—

'उदय और अवसान में एकरूपता के कारण जब भगवान् भास्कर अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर गये तब क्लान्त दिवस वास करने के उद्देश्य से तमोगुहा मे मानो प्रविष्ट हो रहा है ।' ( अर्थात् सूर्य और दिन का उदय और अस्त साथ साथ होता है । सूर्य अस्त हो गया अतएव दिन भी क्लान्त होकर अन्धकाररूपी गुफा मे घुस गया । )

यहाँ पर सूर्य स्वामी हैं, उसका अस्ताचल को चला जाना विपत्ति में पड़ना है । दिन कुलपुत्रक ( सेवक ? ) है । दिन का अन्धकाररूपी गुफा मे प्रवेश

## लोचन

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद्गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम्। यथोक्तम्—

'प्रकृष्ट वायु मे पड़े हुये नील कमल से बिल्कुल विशेषता न रखनेवाली विशालनेत्रोवाली ( उस पार्वती ) का धैर्यरहित ( चञ्चल ) अवलोकन न जाने उसने मृगाङ्गनाओं से लिया या मृगाङ्गनाओं ने उससे लिया ।'

यहाँ पर मृगाङ्गनाओ के अवलोकन से उसके अवलोकन की उपमा यद्यपि व्यङ्ग्य है तथापि सन्देहालंकार ( रूप ) वाच्य की वह उत्थानकारिणी होने के कारण सन्देह में पर्यवसान होता है । जैसा कि कहा गया है—

## तारावती

करना सेवक का साधननिरत होना है । जिस प्रकार स्वामी के विपत्ति मे पड़ जाने पर उसके आधीन ही उत्थान-पतन को प्राप्त करनेवाला सेवक अपने स्वामी के उत्थान की कामना से किसी गुफा मे प्रवेश कर साधनानिरत हो जावे उसीप्रकार सूर्य के अन्ताचल की ओर प्रस्थान कर जाने पर दिन भी अन्धकार रूपी गुफा मे प्रविष्ट होकर साधना-निरत हो गया । यहाँ पर अन्धकारपुञ्ज पर गुफा का आरोप किया गया है । उसके अनुसार सूर्य पर स्वामी का, दिवस पर सेवक का और अस्ताचलगमन पर विपत्ति पड़ने का आरोप होना चाहिये जो नहीं किया गया है । अतएव यहाँ पर एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार की प्रतीति होती है । 'विशतीव' मे इव शब्द के द्वारा उत्प्रेक्षा प्रकट की गई है । इन दोनों अलङ्कारो का एक-विषयानुप्रवेश सङ्कर है । दूसरे और तीसरे प्रकारों का, वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

'जहाँ शब्द और अर्थ मे रहनेवाले अलङ्कार ( अर्थात् शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ) एक वाक्य में विद्यमान हों अथवा एक वाक्यांश मे विद्यमान हों तो उसे सङ्कर अलङ्कार कहते है ।'

जहाँ कई अलङ्कारों मे एक दूसरे के प्रति अनुग्राह्यानुग्राहकभाव हो वह चौथे प्रकार का सङ्कर ( अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर ) होता है । जैसे कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग मे पार्वती के नख-शिख का वर्णन करते हुये महाकवि ने लिखा है—

## लोचन

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः ।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥

तदाह—यदालङ्कार इत्यादि । एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता । मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम् । आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने' त्याद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति—अलङ्कारद्वयेति । सममिति । द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः ।

'परस्पर उपकार के द्वारा जहाँ अलकार स्थित हों और स्वतन्त्रता से आत्मलाभ न प्राप्त करे वह भी संकर ( होता है ) ।

वह कहते है—यदालकार इत्यादि । इस प्रकार चतुर्थ प्रकार मे भी ध्वनित्व निराकृत हो गया । मध्य के दोनों की तो व्यङ्ग्य की सम्भावना ही नहीं है यह कह दिया गया । 'शशिवदना' इत्यादि उदाहृत आद्य प्रकार मे किसी न किसी प्रकार सम्भावना है यह आशका करके निराकरण कर रहे हैं—अलंकारद्वय इत्यादि । 'समम्' इति । आशय यह है कि दोनों के आन्दोल्यमान ( अस्थिर ) होने के कारण ( समान प्रधानता होती है । )

## तारावती

पार्वती के नेत्र विस्तृत और विशाल थे । जिस समय स्त्री-सुलभ स्वाभाविक अधैर्य के कारण उनकी चितवन चञ्चल हो जाती थी तब नेत्र इतने सुन्दर प्रतीत होते थे मानों तेज वायु मे पडा हुआ कोई कमल चञ्चल हो रहा हो । इस प्रकार की चञ्चल चितवन न जाने उसने मृग की अङ्गनाओं से सीखी थी या मृग की अङ्गनाओं ने उससे सीखी थी ।'

यहाँ पर यह उपमा व्यक्त होती है कि 'पार्वती की चितवन मृगियो की चितवन के समान थी ।' 'उसने मृगियों से चितवन सीखी या मृगियों ने उससे सीखी' यह सन्देहालङ्कार यहाँ पर वाच्य है । उपमा केवल सन्देहालङ्कार का अभ्युत्थान ही करनेवाली है । ( उपमा सन्देहालङ्कार के सौन्दर्य-पोषण के निमित्त अपना सौन्दर्य समर्पित कर देती है । ) इस प्रकार अनुग्राहक होने के कारण उपमा गौण हो गई है । सन्देहालङ्कार अनुग्राह्य है अर्थात् उपमा के द्वारा उपकृत होकर सन्देह मे ही सौन्दर्य का पर्यवसान होता है ।

चौथे प्रकार के सङ्कर की परिभाषा यह दी गई है—

'जहाँ अलङ्कार परस्पर उपकार करते हुये स्थित होते हैं और एक दूसरे से निरपेक्ष होकर अपनी सत्ता स्थापित नहीं कर सकते उसे भी सन्देह कहते हैं ।' ( जैसे उक्त उदाहरण मे सन्देह वाच्य है जिसके कारण उपमा का जन्म होता है और उपमा व्यङ्ग्य होकर सन्देहपर्यवसायिनी हो गई है । )

## लोचन

ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम्। यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणं णवरं पसिद्धि सरणाणम्।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे ण पियामुहे दिट्ठे॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—अथेति। तन्नोत्तरम्—तदा सोऽपीति। सङ्करालङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेः द्वितीयो भेदः। यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम्। अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह—अपि चेति। 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः। सङ्कीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत्।

जहाँ पर प्रधानतया व्यङ्ग्यही भासित होता है वहाँ क्या करना चाहिये? जैसे—

'( केवल ) प्रसिद्धि शरण दुष्टो का गुणानुराग नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि चन्द्र के देखने पर प्रस्नुत होती है प्रिया-मुख देखने पर नहीं।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास तो वाच्य के रूप मे शोभित हो रहा है, व्यतिरेक और अपह्नुति तो व्यङ्ग्य होने के कारण प्रधानतया (शोभित हो रही है), इस अभिप्राय से आशंका कर रहे है—अथ इत्यादि। यहाँ उत्तर है—तदा सोऽपि इत्यादि। यह सकरालङ्कार ही नहीं होता। अपितु यह अलङ्कारध्वनि नाम का ध्वनि का दूसरा प्रकार है। जोकि पर्यायोक्त मे निरूपित किया गया था, उसका यहाँ भी अनुसरण कर लेना चाहिये। इसके बाद सङ्कर के सभी प्रकारों मे ध्वनि-सम्भावना के निराकरण का सामान्य प्रकार बतला रहे है—'अपि च' इत्यादि। यहाँ पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे च' अर्थात् सब भेदों से भिन्न सङ्कीर्णता का अर्थ है मिलजाना अर्थात् एक हो जाना, उसमे दूध और पानी की भाँति एक की प्रधानता किस प्रकार होती है।

## तारावती

ऊपर सङ्कर के चारों भेदो का निरूपण किया गया। चौथा अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यह बात सिद्ध करने के लिये आलोककार ने कहा है कि 'जहाँ पर एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार के सौन्दर्य को ग्रहण करता है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्रधान रूप मे मानना अभीष्ट नही होता, अतएव उसमे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। सङ्कर के एकविषयानुप्रवेश नामक दूसरे और तीसरे भेदों मे व्यङ्ग्यालङ्कार की सम्भावना ही नहीं होती, यह बात बतलाई जा चुकी है। अतएव उन दोनों भेदों मे ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। अब रही सन्देह-सङ्कर नामक प्रथम भेद की बात, जहाँ दो अल-

## नारायती

कारों में यह निर्णय नहीं हो पाता कि कौन सा अलङ्कार माना जाये, उसमें व्यङ्ग्यार्थ की सम्भावना हो सकती है। अतएव 'उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता' यह सिद्ध करने के लिये आलोककार ने कहा है कि 'दो अलङ्कारों की सम्भावना में व्यङ्ग्य और वाच्य की प्रधानता एक जैसी होती है।' अर्थात् जहाँ दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ यह सम्भव है कि एक अलङ्कार व्यङ्ग्य हो। किन्तु जब वहां पर दोनों अलङ्कार्य रहते हैं किसी का होना निश्चित ही नहीं हो पाता तब किसी की प्रधानता-अप्रधानता के निर्णय का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि ऊपर बतलाये हुये सङ्कर के तीन भेद (अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर) में ऐसा भी हो सकता है कि व्यङ्ग्य-अलङ्कार प्रधान हो और वाच्य-अलङ्कार गौण हो। ऐसे स्थान पर आप क्या करेंगे? उदाहरण के लिये—

भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे॥ इति छाया।

'जो दुष्ट केवल प्रसिद्धि का सहारा लेकर ही चलते हैं उनमें गुणों से प्रेम नहीं होता। कहा जाता है कि चन्द्रकान्तमणि चन्द्र को देख कर तो द्रवित हो जाती है, प्रियतमा के मुख को देखकर द्रवित नहीं होती।' (आशय यह है कि जो व्यक्ति दूसरों से किसी की प्रशंसा को सुनकर ही उसके गुणावगुणों को स्वीकार कर लेते हैं उन्हें न गुणों का परिचय होता है और न वे गुणों का आदर करना जानते हैं। चन्द्रकान्त मणि ने सुनने-सुनाने के आधार पर चन्द्र को गुणवान् समझ लिया है, इसीलिये चन्द्रमा के सामने तो वह द्रवित हो जाती है सुन्दरी के मुख के सामने द्रवित नहीं होती।) यहाँ पर मुख के सामने चन्द्रकान्त मणि के द्रवित न होना रूप विशेष के द्वारा पामरों का गुणानुराग होना रूप सामान्य समर्थित किया गया है। अतएव यह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है जो कि वाच्य है। इससे इस व्यतिरेक की व्यञ्जना होती है कि 'चन्द्र की अपेक्षा मुख कहीं अधिक सुन्दर है।' अथवा इस अपह्नुति की व्यञ्जना होती है—'यह मुख नहीं चन्द्र है।' व्यज्यमान व्यतिरेक और अपह्नुति में चारुता की परिसमाप्ति होती है। अतएव इस संकर को हम ध्वनि कह सकते हैं और इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। इसीलिये ग्रन्थकार ने लिखा है कि जहाँ वाच्य को गौण बनाकर व्यङ्ग्य स्थित होता है वह तो ध्वनि का ही क्षेत्र होगा, किन्तु केवल वही तो ध्वनि नहीं हो सकती। (क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है और संकर का सीमित।) यह सब पर्यायोक्त के प्रकरण में कहा जा चुका है,

ध्वन्यालोकः

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्।

(अनु०) अप्रस्तुतप्रशंसा में भी जब सामान्य-विशेष भाव से अथवा निमित्त-नैमित्तिक भाव से अभिधान किये जा रहे अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से अभिसम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों का समान ही प्राधान्य होता है और जब कहे जा रहे अप्रस्तुत सामान्य का प्राकरणिक प्रतीयमान विशेष से सम्बन्ध होता है तब विशेष की प्रतीति होने पर भी प्रधानतया उसके सामान्य से अविनाभाव ( व्याप्यव्यापकभाव ) सम्बन्ध होने के कारण सामान्य की भी प्रधानता होती है।

तारावती

वही यहाँ पर भी समझना चाहिये। आशय यह है कि यह संकरालंकार ही नहीं कहा जा सकता, अलंकारध्वनि नाम का यह ध्वनि का दूसरा भेद है। ( यहाँ तक संकर के विभिन्न भेदो मे ध्वनि का अन्तर्भाव क्यो नहीं होता यह दिखलाया जा चुका।) संकर के सभी भेदों मे अर्थात् सामान्यतया संकर अलंकार मे ही ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता उसका प्रमाण आलोककार ने यह कहकर दिया है 'किसी भी संकर अलंकार मे संकर यह कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है। आलोककार ने लिखा है—'संकरालंकारेऽपि क्वचित् संकरोक्तिरेव' यहाँ पर क्वचित् का सम्बन्ध संकरालंकार से है—'क्वचित् संकरालंकारेऽपि' अर्थात् कहीं भी किसी भी संकरालंकार मे। अर्थात् यह तर्क सब भेदों मे समान रूप से सङ्गत हो जाता है। 'संकर' यह जो नामकरण किया गया है वही इस बात को सिद्ध करता है कि संकरालंकार मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता नहीं होती। 'संकर' शब्द का अर्थ है संकीर्ण होजाना या मिश्रित होजाना, दूध और पानी की भाँति ऐसा मिश्रण जिसमे एक दूसरे का परिज्ञान ही न हो सके। ऐसी दशा मे एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता कही ही कैसे जा सकती है।(आशय यह है कि जहाँ अलंकारो मे प्राधान्य का निर्णय न किया जा सके या वाच्यालंकार प्रधान हो वहाँ संकर अलंकार होता है और जहाँ व्यङ्ग्यालंकार प्रधान हो वहाँ संकरालंकारध्वनि होती है। अतएव संकरालंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

## लोचन

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥ मा० ३।२९

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः । स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति-सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च । तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन । तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः—सामान्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः, स एकः प्रकारः । यथा—

'अधिकार से पृथग्भूत अन्य वस्तु की जो प्रशंसा की जाती है उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते है । यह तीन प्रकार की वर्णन की गई है ।'

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन । और वह आक्षेप तीन प्रकार का होता है—सामान्य-विशेष भाव में; निमित्त-निमित्ति भाव में और सारूप्य मे । उनमे प्रथम दो प्रकारों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की प्रधानता तुल्य ही होती है यह प्रतिज्ञा करते हैं—अप्रस्तुत इत्यादि से प्राधान्यम् यहाँ तक । उसमे सामान्यविशेष भाव मे भी दो गतियाँ होती है—सामान्य अर्थात् अप्राकरणिक शब्द के द्वारा कहा जाता है और प्राकरणिक विशेष अभिव्यक्त होता है यह एक प्रकार है । जैसे—

## तारावती

इस प्रकरण के प्रारम्भ में समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, संकर इत्यादि व्यञ्जनामूलक अलंकारों मे ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न उठाया था । उसी क्रम से यहाँ प्रत्येक अलंकार पर विचार किया गया और यह सिद्ध किया गया कि ध्वनि का अन्तर्भाव व्यञ्जनामूलक अलंकारों में भी नहीं हो सकता । वहाँ पर 'इत्यादि' शब्द का जो प्रयोग किया गया था उसकी व्याख्या शेष रह गई । अतएव आलोककार अप्रस्तुतप्रशंसा नामक एक और अलंकार पर विचार कर इस प्रकरण की पूर्ति कर रहे हैं ।

प्राचीन आचार्य अधिकतर नामकरण के आधार पर ही परिभाषा बनाते थे । आचार्य दण्डी तथा भामह दोनों ने अप्रस्तुतप्रशंसा की केवल यह परिभाषा की है कि जहाँ पर अप्रस्तुत की स्तुति की जावे उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं । किन्तु अप्रस्तुत शब्द सापेक्ष है और स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका प्रस्तुत से क्या सम्बन्ध हो ? यदि अप्रस्तुतमात्र का वर्णन किया जावेगा और उसका प्रस्तुत से कोई सम्बन्ध भी नहीं होगा तो वह प्रमत्त-प्रलापमात्र रह जावेगा । प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के विषय मे प्राचीन आचार्य मौन हैं । दण्डी ने उदाहरण देकर जो उसकी व्याख्या की है उससे स्पष्ट होता है कि

## तारावती

जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा के द्वारा प्रस्तुत की निन्दा व्यक्त हो उसे अप्रस्तुत-प्रशंसा कहते हैं। यद्यपि भामह ने व्याख्या नहीं की है तथापि उनके उदाहरण से प्रस्तुत की निन्दा की अभिव्यक्ति होती अवश्य है। किन्तु नवीन आचार्यों ने इस प्रशंसा शब्द को और अधिक बढ़ा दिया तथा इसे प्रकथन के अर्थ में मान-कर अप्रस्तुतप्रशंसा का यह लक्षण बना दिया कि जहाँ कहीं अप्रस्तुत के प्रकथन के द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। यहाँ पर अलंकार का बीज है—एक कथन के द्वारा दोनों की प्रतीति। यदि वाक्य में कई शब्द ऐसे हों जिनसे दोनों अर्थों की प्रतीति हो रही हो किन्तु कोई एक आध दो शब्द ऐसे हों जिनमें दोनों का आरोपात्मक अभिधान कर दिया गया हो तो उसे एकदेशविवर्ति रूपक कहते हैं। समासोक्ति में प्रस्तुत का कथन किया जाता है और अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। इसके प्रतिकूल अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत का कथन किया जाता है और प्रस्तुत की प्रतीति होती है। समासोक्ति में विशेष्य-वाचक शब्द से केवल प्रस्तुत का बोध होता है, उससे अप्रस्तुत विशेष्य की प्रतीति नहीं होती किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

(अलंकारसर्वस्व में अप्रस्तुतप्रशंसा का परिचय इस प्रकार दिया गया है—'जहाँ सामान्य-विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सारूप्य में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति हो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। ऐसे स्थानों पर अप्रस्तुत का कहना ही ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो प्रस्तुत नहीं उसके कहने का अर्थ ही क्या? हाँ यदि वह प्रस्तुतपरक हो तो कदाचित् ठीक कहा जा सके। किन्तु यदि अप्रस्तुत का प्रस्तुत से सम्बन्ध न हो तो प्रस्तुत की प्रतीति ही नहीं होगी क्योंकि ऐसी दशा में अतिप्रसङ्ग हो जावेगा। सम्बन्ध तीन प्रकार का हो सकता है क्योंकि उन्हीं की अर्थान्तरप्रतीतिहेतुता सिद्ध हो सकती है। वे तीन प्रकार हैं—सामान्य-विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सारूप्य।)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्धको लेकर आचार्यों ने अप्रस्तुतप्रशंसा को ५ भेदों में विभक्त किया है:—

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ का. प्र. १०।९९

(१) जहाँ कार्य प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत निमित्त का कथन किया जावे (२) जहाँ निमित्त प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत कार्य का कथन किया जावे। (३) जहाँ सामान्य प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत विशेष का कथन किया जावे। (४) जहाँ विशेष प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत सामान्य का कथन किया जावे। (५) जहाँ

## लोचन

अहो संसार नैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि

'संसार की निर्दयता पर आश्चर्य है; आपत्तियों की दुरात्मता पर आश्चर्य है, स्वभावतः कुटिल विधाता की न समझी जा सकनेवाली गतियों पर भी आश्चर्य है ।'

यहाँ निस्सन्देह सर्वत्र सामान्यरूप दैवप्राधान्य ( इस ) अप्रस्तुत का वर्णन

## तारावती

एक वस्तु प्रस्तुत हो और तत्सदृश अन्य वस्तु का कथन किया जावे । प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं ५ भेदों पर विचार किया जा रहा है ।

भामह ने अप्रस्तुतप्रशंसा का यह लक्षण लिखा है—'प्रकरण से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु की जो स्तुति की जाती है वह अप्रस्तुतप्रशंसा होती है । यह तीन प्रकार की कही गई है ।' ( १–इस कारिका में अधिकार शब्द का अर्थ है प्रकरण, जैसे व्याकरण में संज्ञाधिकार, अङ्गाधिकार इत्यादि । २–न तो भामह की कारिका में ही 'त्रिविधः परिकीर्तितः' यह पाठ है और न भामह ने तीन रूपों में उसका विभाजन ही किया है । भामह का पाठ इस प्रकार का है—'अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा ।' अपने समय की परम्परा के अनुसार 'त्रिविधः परिकीर्तितः' यह पाठ कर लिया गया है ।) यहाँ पर आशय यह है कि जहाँ प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जावे उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं । वह प्रस्तुत का आक्षेप तीन प्रकार का हो सकता है ( १ ) सामान्य-विशेष भाव से ( २ ) निमित्त-निमित्ति भाव से और ( ३ ) स्वरूप के सादृश्य के आधार पर । इनमें से प्रथम दो प्रकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि इनमें वाच्य और व्यङ्ग्य, अप्रस्तुत और प्रस्तुत की प्रधानता समान होती है । यह बात आलोककार ने 'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि' से लेकर 'प्राधान्यं' तक कही है । उनमें भेदों के आक्षेप का पहला कारण होता है सामान्य-विशेष भाव । इसके भी दो रूप हो सकते हैं—( १ ) जिस अप्राकरणिकका अभिधान किया जा रहा है वह सामान्य हो और जिस प्राकरणिक की व्यञ्जना हो रही है वह विशेष हो । जैसे कष्टपूर्ण परिस्थिति में पड़ा हुआ कोई व्यक्ति कह रहा है :—

'संसार की निर्घृणता पर खेद है, आपत्तियों की दुष्टता पर दुःख होता है, आश्चर्य होता है कि विधाता की स्वभावतः कुटिल गति का पार पाना कितना कठिन है ।'

ध्वन्यालोकः

यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम् । निमित्तनिमित्तिभावे-चायमेव न्यायः । यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वना-वेवान्तःपातः । इतरथात्वलङ्कारान्तरमेव ।

(अनु०) और जहाँ विशेष का सामान्यनिष्ठत्व भी होता है वहाँ यद्यपि सामान्य प्रधान हो सकता है तथापि विशेष की भी प्रधानता होती है क्योंकि सामान्य मे समस्त विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है । यही न्याय निमित्त-निमित्तिभाव ( कार्य-कारणभाव ) मे होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय मे भी लागू होता है । जब अप्रस्तुतप्रशंसा मे सादृश्य के कारण ही अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है तब यदि समानरूपवाले वाच्य अप्रस्तुत की प्रधानरूप मे विवक्षा न हो तो उसका ध्वनि मे अन्तर्भाव हो जावेगा । नहीं तो यह अलङ्कार-विशेष ही होगा ।

लोचन

विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति । तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्तत्वाद्व्यङ्ग्यविशेष-वद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम् । नहि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते । यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः । यथा—

किया हुआ कहीं विनष्ट विशेषात्मक प्रकृत वस्तु मे पर्यवसित होता है । उसमे भी विशेषांश के सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्ग्य विशेष के समान सामान्य की भी प्रधानता है । सामान्य और विशेष की एकसाथ प्रधानता विरुद्ध नहीं होती । जब अप्राकरणिक विशेष प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब दूसरा प्रकार होता है । जैसे—

तारावती

यहाँ पर प्रस्तुत है किसी व्यक्ति की कष्टपूर्ण स्थिति और अप्रस्तुत है संसार की निर्घृणता इत्यादि । इस प्रकार दैवगति इत्यादि सामान्य बातों का उल्लेख-कर व्यक्तिविशेष की परिस्थिति की ओर सङ्केत किया गया है । संसार की निर्घृणता इत्यादि इसलिये सामान्य है कि ये सर्वत्र पाई जाती हैं और किसी व्यक्ति की किसी वस्तु का नष्ट हो जाना विशेष है क्योंकि वह एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित है। अप्रस्तुत कथन का पर्यवसान प्रस्तुत मे होता है । सामान्य और विशेष का व्यापक-व्याप्यभाव सम्बन्ध होता है । विना सामान्य के विशेष नहीं रह सकता । अतएव विशेष अंश के सामान्य द्वारा व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार विशेषपरक व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है उसीप्रकार सामान्यपरक वाच्यार्थ भी प्रधान ही है । सामान्य और विशेष की

## लोचन

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये न विरोध इत्युक्तम्। एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि

'कमलिनी के पत्तेपर जलकण को उस मूर्ख ने जो प्रारम्भ से ही मुक्तामणि समझा यह कितनी ( बडी ) बात है ? इससे भी ( अधिक आश्चर्यजनक ) और सुनो—आदान किये जाने पर धीरे से अङ्गुली के अग्रभाग की लघु क्रिया से प्रविलीन हो जाने पर 'दुःख है कि कहाँ उडकर चला गया' इस आन्तरिक शोक से ( वह ) सो नहीं पाता ।'

यहाँ पर बिना अवसर के महत्त्व की सम्भावना, यह सामान्य प्रस्तुत है, अप्रस्तुत तो जलबिन्दु मे मणित्व की सम्भावनाविशेष रूप वाच्य । उसमें भी सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता मे विरोध नहीं है, यह कह दिया गया । इस प्रकार 'यदा तावत्' से 'विशेषस्यापि प्राधान्यम्' यहाँ तक एक

## तारावती

एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं कही जा सकती । ( व्यङ्ग्यार्थ के सामान्यातिशायी न होने के कारण यहाँ पर ध्वनि ही नहीं है फिर उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नही उठता । ) ( २ ) अप्रस्तुत प्रशसा का दूसरा भेद वह होता है जहाँ विशेष अप्रस्तुत हो और सामान्य प्रस्तुत हो । विशेष का अभिधान किया जावे और उससे सामान्य का आक्षेप हो जावे । जैसे :—

'यह कोई बडी बात नही है कि उस मूर्ख ने प्रथम अवलोकन के अवसर पर कमलिनी के पत्तेपर स्थित जलबिन्दुओ को मुक्तामणि समझ लिया । मै तुम्हे इससे भी अधिक विचित्र बात सुनाता हूँ—अङ्गुली के अग्रभाग को धीरे से घुमाकर जैसे ही उसने उन मुक्तावलियों को लेने की चेष्टा की वे जलबिन्दु एकदम विलीन हो गये । अब यह समझकर कि वे मुक्तामणियाँ न जाने कहाँ उड गईं वह मूर्ख रात दिन दुःखी रहता है और अन्तःशोक से सो नही सकता ।'

यहाँ पर प्रस्तुत है—'मूर्खों की ममता ऐसे स्थान पर होती है जहाँ उसके होने का कोई अवसर नहीं होता ।' और विशेष है—'कमलिनीपत्र पर जलबिन्दुओ मे मुक्तामणियों की सम्भावना ।' विशेष वाच्य है और सामान्य व्यङ्ग्य । दोनो

## लोचन

प्राधान्यमित्यन्तेन। एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति—निमित्तेति। कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाक्षिपति। यथा—

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकी श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्, तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्तप्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति न व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा सेतौ—

प्रकार का दोनों भेदों में विचार कर लिया गया। इसी ही न्याय का निमित्त-नैमित्तिक भाव मे भी अतिदेश करते हुए उसकी भी द्विप्रकटता को दिखलाते हैं—निमित्त इत्यादि। कदाचित् निमित्त अप्रस्तुत होते हुये अभिधीयमान नैमित्तिक प्रस्तुत का आक्षेप करता है। जैसे—

'जो अभ्युदय मे प्रेम को प्राप्त होते हैं और आपत्ति मे छोडते नही है वे ही बान्धव हैं, वे ही मित्र है और लोक स्वार्थपरायण है।'

यहाँ पर नैमित्तिकी अपनी प्रस्तुत श्रद्धेयवचनता को अभिव्यक्त करने के लिये अप्रस्तुत सुहृद्बान्धवरूपत्व निमित्त का सज्जनों की आसक्ति के द्वारा वर्णन कर रहे है। उसमे नैमित्तिक की प्रतीति मे भी निमित्तप्रतीति ही अनुप्राणक के रूप में प्रधान हो जाती है इस प्रकार व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का प्राधान्य नहीं है। कभी तो नैमित्तिक अप्रस्तुत वर्ण्यमान होते हुये प्रस्तुत निमित्त को व्यक्त करता है। जैसे सेतु में—

## तारावती

की एक साथ प्रधानता है जो कि विरुद्ध नहीं कही जा सकती जैसा कि पहले निरूपण किया जा चुका है। इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों प्रकारों पर विचार किया गया कि उनमे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यही बात आलोक मे 'यदा तावत्' से लेकर 'विशेषस्यास्ति प्राधान्यं' तक कही गई है। जो बात सामान्य विशेष में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के लिये कही गई है वही बात निमित्त-नैमित्तिक भाव में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के लिये भी कही जा सकती है। उसी का अतिदेश (समान न्याय) आलोक मे 'निमित्त-नैमित्तिकभावे चायमेव न्यायः' यह कह कर किया गया है। निमित्त-नैमित्तिक भाव में अप्रस्तुतप्रशंसा एक तो ऐसी होती है कि उसमे निमित्त अप्रस्तुत होकर वाच्य होता है और वह

## लोचन

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुअ लच्छिरहिअं महुमहस्स उरम् ।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापव्भारम् ॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम् । तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतम्; प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरीकरोत्यात्मानमिति समं प्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः । एवं द्वौ प्रकारौ

'मैं मन्थन से पहले पारिजातरहित स्वर्ग, कौस्तुभ और लक्ष्मीरहित मधुमथन का उरःस्थल और मुग्धचन्द्ररहित शङ्करजटा के अग्रभाग का स्मरण करता हूँ ।'

यहाँ पर जाम्बवान् कौस्तुभ-लक्ष्मीरहित विष्णुवक्षस्थल के स्मरणादिक अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत वृद्धसेवा, चिरञ्जीवित्व, व्यवहारकौशल इत्यादि मन्त्रिता में उपादेय निमित्तभूत की अभिव्यक्ति के लिये ( यह वर्णन किया गया है । ) वहाँ पर निमित्त की प्रतीति में भी नैमित्तिक वाच्यभूत है, इसके प्रतिकूल उस निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण अपने को प्रधान बना लेता है । इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की समप्रधानता ही है । इस

## तारावती

प्रस्तुत नैमित्तिक की व्यञ्जना करता है । जैसे कोई व्यक्ति अपने बान्धवों की अपेक्षा अपने किसी निकटवर्ती मित्र का विशेष पक्षपाती है और उसी की बात मानता है । जब उससे इसका कारण पूछा जाता है तब वह कहता है--

'जो लोग अभ्युदय में प्रसन्न होते हैं और विपत्ति में साथ नहीं छोडते वे ही बन्धु हैं, वे ही मित्र हैं, संसार के अन्य लोग तो स्वार्थ के साथी होते हैं ।'

यहाँ पर सुहृद् और बान्धव के सज्जनों द्वारा स्वीकार किये हुये सच्चे स्वरूप का वर्णन किया गया है जो कि अप्रस्तुत है तथा प्रस्तुत है 'अपने किसी विशेष हितैषी की बात मानना ।' सुहृद् तथा बान्धव का सामान्य स्वरूप निमित्त है और बात मानना नैमित्तिक है । निमित्त का अभिधान नैमित्तिक की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है । यद्यपि नैमित्तिक की प्रतीति हो जाती है तथापि निमित्त का अभिधान ही प्रधान है क्योंकि वही नैमित्तिक का अनुप्राणन करता है । अतएव व्यङ्ग्य-व्यञ्जक की यहाँ प्रधानता नही है जिससे यह ध्वनिकाव्य कहा जा सके । ( ४ ) कभी-कभी नैमित्तिक अप्रस्तुत होता है जिसका अभिधान इसीलिये किया जाता है जिससे प्रस्तुत निमित्त की अभिव्यक्ति हो जावे । जैसे सेतुबन्ध काव्य में जाम्बवान् एक मन्त्री के उपयुक्त गुणो पर प्रकाश डालते हुये कह रहे हैं :—

## लोचन

प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः। तत्रापि द्वौ प्रकारौ—अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मदुपाध्याय-

प्रकार दो प्रकारों में प्रत्येक के दो-दो प्रकारों पर विचारकर सारूप्यलक्षण तृतीय प्रकार की परीक्षा की जा रही है। उसमें भी दो प्रकार होते हैं—कभी वाच्य अप्रस्तुत से चमत्कार होता है और व्यङ्ग्य तन्मुखापेक्षी होता है। जैसे हमारे

## तारावती

'मुझे समुद्र मन्थन से पूर्व पारिजात से रहित स्वर्ग, मधुमथन भगवान् विष्णु का कौस्तुभ तथा लक्ष्मी से रहित वक्षस्थल तथा भगवान् शङ्कर का मुग्धचन्द्रशून्य जटाप्राग्भार याद आ रहा है।'

जाम्बवान् यहाँ पर कहना यह चाहते हैं कि एक मन्त्री में अनेक उपादेय गुण होने चाहिये। जब तक ये गुण नहीं होते बहुत समय तक मन्त्री पद का निर्वाह नहीं हो सकता। जाम्बवान् में ये गुण थे इसीलिये उन्होंने मन्त्री पद में इतने दिनों तक सफलता प्राप्त की कि वे उस समय से मन्त्री पद पर कार्य करते रहे है जब कि समुद्र-मन्थन भी नहीं हुआ था। यहाँ पर जाम्बवान् में मन्त्री पद के अनेक गुण कारण है जिससे उनका इतने समय तक सफल रहना और इतने समय पूर्व का स्मरणरूप कार्य सम्पन्न हुआ है। जाम्बवान् ने यहाँ पर भगवान् के कौस्तुभ-लक्ष्मीशून्य वक्षस्थल के स्मरण इत्यादि कार्यों का वर्णन किया है जो कि अप्रस्तुत है। यह अप्रस्तुत का वर्णन वृद्धसेवा, चिरजीवन, व्यवहारकुशलता इत्यादि मन्त्रित्व के उपादेय गुणों को अभिव्यक्त करने के लिये ही किया गया है जो कि पारिजातरहित स्वर्ग इत्यादि के स्मरणरूप कार्य में निमित्त हैं। यद्यपि यहाँ पर निमित्त की प्रतीति होती है किन्तु नैमित्तिक (कार्य) वाच्य है। यदि व्यङ्ग्यार्थ निमित्त इसलिये प्रधान है कि वक्ता द्वारा उसीको अभिव्यक्त करना अभीष्ट है तो वाच्यार्थ नैमित्तिक इसलिये प्रधान है कि वह व्यंग्यार्थ निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होता है। इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रधानता एक जैसी हो गई। अतएव न तो इस काव्य को हम ध्वनि कह सकते है और न ध्वनि का अप्रस्तुतप्रशंसा के इस भेद में समावेश का प्रश्न उठता है। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा के दो भेद में प्रत्येक के दो-दो प्रकारों पर विचार किया जा चुका। अब उसके तीसरे भेद स्वरूपसादृश्य में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा पर विचार किया जा रहा है। [सादृश्य में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन भेद किये गये हैं—श्लेषमूलक, समासोक्ति-मूलक और केवल सादृश्य मूलक। किन्तु यहाँ पर लोचनकार ने इन सब भेदों पर विचार न कर सभी को सादृश्यमूलकता में ही सन्निविष्ट कर दिया है।] सादृश्य

## लोचन

भट्टेन्दुराजस्य—

प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद् येन त्वमुत्थापितः।
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियाम्।
भ्रातः प्रत्युपकारिणां पुरि परं वेताल लीलायसे॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते, तथाप्यप्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम्। नह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न ह्यद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता। यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ। यथा ममैव—

उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

'जिसने तुम्हे प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हे बलपूर्वक उठाया, बहुत समय तक जिसके कन्धे पर बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, केवल मुस्कुराहट से ही इस उसके प्राणापहरण का कार्य करनेवाले भाई वेताल! तुम प्रत्युपकारियों के आगे रहने की लीला धारण कर रहे हो।'

यहाँ पर यद्यपि सारूप्य के कारण कोई दूसरा प्रस्तुत कृतघ्न आक्षिप्त किया जाता है तथापि अप्रस्तुत वेतालवृत्तान्त का ही चमत्कारित्व है। अचेतन के उपालम्भ के समान यह अर्थ असम्भाव्यमान नहीं है और न यही है कि ह्यद्य न हो, इस प्रकार यहाँ पर वाच्यार्थ की प्रधानता है। यदि पुनः अत्यन्त असम्भाव्यमान अप्रस्तुतार्थ विशेषणोवाले वर्णन किये हुये अप्रस्तुत के द्वारा आक्षिप्त किया हुआ प्रस्तुत चमत्कारकारक हो तो वह वस्तुध्वनि होती है। जैसे मेरा ही—

## तारावती

के आधार पर अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना दो प्रकार की हो सकती है—(१) कभी ऐसा होता है कि चमत्कार अप्रस्तुत वाच्य के आधीन होता है और व्यङ्ग्य तन्मुखापेक्षी होकर गौण हो जाता है। जैसे हमारे ही उपाध्याय भट्टेन्दुराज का पद्य—

'जिसने तुम्हे प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, जिसके कन्धे पर तुम बहुत समय तक स्थित रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, ऐसे इस व्यक्ति के प्राणो को केवल मुस्कुराहट से ही अपहरण कर रहे हो। हे भाई वेताल! आज तो तुम प्रत्युपकार करनेवालो के सरमौर होकर आनन्द कर रहे हो।'

यहाँ पर किसी कृतघ्न के प्रति उपालम्भ प्रस्तुत विषय है जिसकी व्यञ्जनावृत्ति

लोचन

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्।
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य सङ्क्रीडसे॥
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुश्शिक्षितो।
मन्येऽमुष्य जडात्मतास्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात्॥

'हे भावसमूह! जो कि हठपूर्वक व्यक्ति के हृदय को आक्रान्त कर नचाते हुए विविध भङ्गिमाओं से अपने हृदय को आच्छादित कर क्रीडा करते हो; वह तुमको जड़ कहता है और उससे अपनी सहृदयम्मन्यता से दुश्शिक्षित है। इसकी जडात्मता को मैं तुम्हारे साम्य की सम्भावना से प्रशंसा ही समझता हूँ।'

तारावती

से अभिव्यक्ति होती है। वेताल-वृत्तान्त अप्रस्तुत वाच्य है। किन्तु चमत्कार में कारण वेताल-वृत्तान्त ही है। (क्योंकि 'हमने तुम्हारा उपकार किया किन्तु तुम अपकार कर रहे हो, यह तुम्हे शोभा नहीं देता' इस आक्षिप्त व्यङ्ग्य की अपेक्षा वेताल के प्रति प्राणसमर्पण इत्यादि उक्त वाक्य अधिक चमत्कारकारक है।) यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अतीत के वेताल के प्रति इन शब्दों के प्रयोग मे असम्भवता का प्रतिभास होता है अतः वाच्य सुन्दर नहीं हो सकता। जिस प्रकार अचेतन के प्रति उपालम्भ सम्भावना क्षेत्र से बाह्य होते हुये भी असुन्दर नहीं होता उसी प्रकार यह अर्थ भी असुन्दर नहीं है। काव्य मे इस प्रकार के वर्णन असम्भव नहीं माने जाते। लोक के मानदण्ड सर्वत्र काव्य के मानदण्ड नही होते। अतएव वाच्य अर्थ की ही यहाँ पर प्रधानता है। और यहाँ पर सारूप्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही है ध्वनि नहीं। (२) दूसरे प्रकार की सादृश्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा ऐसे स्थान पर कही जा सकती है जहाँ अत्यन्त असम्भव विशेषणों के द्वारा अचेतन इत्यादि अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है और उससे चेतन प्रस्तुत का आक्षेप कर लिया जाता है तथा अर्थपर्यवसान उसी प्रक्षिप्त प्रस्तुत अर्थ मे ही होता है। अतः उसी अर्थ की प्रधानता होती है। वहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार नहीं होगा। उसका समावेश व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता के कारण ध्वनि काव्य के अन्तर्गत होगा। उदाहरण के लिये जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) पद्य—

'हे भावों के समूह! तुम मनुष्यों के हृदयों पर हठपूर्वक आक्रमण करके उनको नचाया करते हो। विभिन्न प्रकार की भङ्गिमाओं के द्वारा अपने हृदय को छिपाये रहते हो और दूसरों के हृदयों के साथ खेलते हो। वे ही तुम्हें जड़ कहते है और स्वयं सहृदयम्मन्यता के अवलेप मे पड़े हुये है। तुम्हारे साम्य की सम्भावना से उनको जड कहना ही मुझे उनकी प्रशंसा प्रतीत होती है।'

लोचन

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकनिरस्कृततिमिरप्रधानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयल्लोकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमंवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते। जडोऽयमिति सुधानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिनर्तयति। न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठुगर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडा-

कोई महापुरुष वीतराग होते हुये भी रोगी के समान प्रगाढ़ विवेक के आलोक से अन्धकार के विस्तार का निरस्कार किये हुये भी लोक के मध्य में अपने को छिपाते हुये इस न्याय से लोक को वाचालित करते हुये अपने अन्दर अप्रतिभास को ही अङ्गीकृत करते हुये उसी लोक के द्वारा 'यह मूर्ख है' इस रूप में जो अपमानित किया जाता है तब उसका प्रस्तुत लोकोत्तर चरित्र व्यङ्ग्य के रूप में प्रधानता से प्रकाशित होता है। 'यह जड है' यह कहकर उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि भाव लोक के द्वारा अपमानित किया जाता है। प्रत्युत वह भाव किसी विरही के मन को औत्सुक्य और चिन्ता से कंपानेवाला तथा दूसरे के मन को प्रहर्षपरवश बना देता है इस प्रकार हठपूर्वक स्वेच्छा से ही विकारों को उत्पन्नकर लोक को नचा देता है। उसके हृदय को कोई नहीं जान पाता कि यह किस प्रकार का है; प्रत्युत महागम्भीर अत्यन्त विदग्ध भलीभाँति गर्वरहित अत्यन्त क्रीडाचतुर होता

तारावती

यहाँ पर प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई महापुरुष यद्यपि वीतराग है, अपने घने ज्ञानालोक के प्रकाश से मोहान्धकार के विस्तार का सर्वथा निराकरण कर चुका है किन्तु रागान्ध लोगो के सामने स्वयं रागान्धता प्रकट करनी चाहिये इस नीति को लेकर संसार में अपनी वीत रागता को प्रच्छादित कर संसार को मूर्ख बनाने के लिये ऐसी बातें करता है जिससे लोग अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ समझकर उसको मूर्ख बतलाते हैं और अपने अन्दर अज्ञानान्धकार को स्वीकार कर लेता है। उसका यह लोकोत्तर चरित्र प्रस्तुत है जिसकी व्यञ्जना उक्त पद्य में की गई है तथा यह व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत से अभिव्यक्त होकर प्रधान हो जाता है। यहाँ पर अप्रस्तुत वाच्यार्थ इस प्रकार होगा—भाव का अर्थ है अपनी सत्ता स्थापित रखनेवाले तथा सहृदयों में किसी भावना को जगानेवाले चन्द्रोदय उद्यान इत्यादि विश्व के सुन्दरतम पदार्थ। संसार इनको जड़ समझकर इनका अपमान करता है। इसके प्रतिकूल वे भाव किसी विरही के मन को उत्कण्ठा और चिन्ता से झकझोर डालते है तथा किसी संयोगी के अन्तःकरण को प्रहर्षपरवश कर देते हैं। इस प्रकार वे भाव

## लोचन

चतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात् प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावनानिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यद्युच्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावव्रातस्यातिविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति । जडादपि पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते ।

तदाह—यदा त्विति। इतरथा त्विति। इतरथैव पुनरलङ्कारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्ग्यस्य कथञ्चिदपि प्राधान्यम् , इति भावः ।

है । वह यदि लोक के द्वारा वैदग्ध्य-सम्भावना मे निमित्त उन्हीं कारणो से प्रत्युत 'जड है' इस रूप में सम्भावित कर लिया जाता है और जिन कारणों से अपने को जाड्य के रूप में सम्भावित किया जाना चाहिये उन्हीं कारणों से ( अपने को ) सहृदय समझता है वह इस लोक के लिये 'जड हो' यह जो कहा जावे तब इस प्रकार के अविदग्ध भावसमूह की जडता प्रसिद्ध है इस प्रकार वह प्रत्युत स्तुति ही है । यह लोक जड़ से भी अधिक पापवाला है यह ध्वनित होता है ।

वहाँ कहते हैं—यदात्विति । इतरथात्विति । अन्य प्रकार से ही अलङ्कारान्तरत्व अर्थात् विशेष प्रकार का अलङ्कार होता है । आशय यह कि व्यंग्य का किसी प्रकार भी प्राधान्य नहीं होता ।

## तारावती

समूह जब जैसा चाहते है लोगों के हृदयों में विकार उत्पन्न करते हुए बलपूर्वक उसे नचाया करते हैं, कोई नहीं जान पाता कि वे भावसमूह स्वयं किस प्रकार के हैं । वस्तुतः वे भावसमूह स्वयं तो बडे ही गम्भीर, अतिनिपुण, भलीभाँति गर्वरहित और दूसरों के साथ खिलवाड़ करने मे अत्यन्त चतुर हैं । इन्हीं कारणों से ( अर्थात् अपने को छिपाने के ही कारण ) लोग उन्हें जड़ समझते हैं जब कि इन भावों को अत्यन्त विदग्ध समझना चाहिये । जिन कारणों से अपने को जड समझना चाहिये उन्हीं कारणोंसे लोग अपने को सहृदय समझते हैं।आशय यह है कि विदग्ध वस्तुओं को जड़ समझने के कारण लोक स्वयं तो जड़ है और अपने को सहृदयतम समझता है।इससे बड़ी जड़ता और क्या हो सकती है कि विदग्ध को जड़ और जड़ को विदग्ध कहा जावे।ऐसे लोक के लिये यदि जड कहा जावे और इस प्रकार के भावसमूह से उपमा दी जावे जो अविदग्ध लोगों के लिये जड़रूप मे प्रसिद्ध हो चुके है तो यह उनकी प्रशंसा ही होगी।आशय यह है कि यह संसार जड जगत् की अपेक्षा भी अधिक पापी ( जड, मूर्ख ) है। [ यहाँ पर 'जड जगत् को जड़ कहनेवाले मूर्ख हैं' इस वाच्यार्थ मे उतना चमत्कार नहीं है जितना किसी ज्ञानी लोगों को बनाने के लिये स्वयं अज्ञानी बन जाने के व्यङ्ग्यार्थ में है । अतः यह ध्वनि का क्षेत्र है । यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ही नहीं जो कि उसमे ध्वनि के अन्तर्भाव की कल्पना की जावे । ] यही बात

## ध्वन्यालोकः

तदयमत्र संक्षेपः—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

(अनु०) इस सम्पूर्ण व्याख्यान का सारांश यह है—

'जहाँ पर केवल वाच्यार्थ का अनुयायी होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान हो गया हो वहाँ पर स्पष्टरूप से समासोक्ति इत्यादि वाच्यालङ्कार होते हैं । जहाँ पर व्यङ्ग्य का स्पष्ट रूप से आभासमात्र मिल रहा हो, अथवा व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुगमन कर रहा हो या उसकी प्रधानता प्रतीत न हो, वहाँ पर ध्वनि नहीं होती । जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यपरक हों और वहाँ पर संकर अलंकार हो सकने का अवसर न हो तो वह ध्वनि का विषय होता है ।

## लोचन

उद्देश्ये यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कारवर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुवेशः सम्भावितः । तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—तदयमत्रेति । कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः । तत्र व्याजस्तुतिर्यथा—

उद्देश मे समासोक्ति इत्यादि द्वन्द्व मे जो आदि ग्रहण किया गया है उससे व्याजस्तुति इत्यादि अलङ्कारवर्ग की भी सम्भावना की गई है जिसमे व्यंग्य की सम्भावना की जा सकती है । उसमें सर्वत्र साधारण उत्तर देने का उपक्रम कर रहे है—तदयमत्र इत्यादि । आशय यह है कि प्रतिपद अथवा कहाँ तक लिखा जावे । उसमे व्याजस्तुति जैसे—

## तारावती

आलोक मे 'यदा तु' 'से लेकर 'ध्वनावेवान्तःपातः' तक कही गई है । 'नहीं तो विशेषप्रकार का अलङ्कार होता है' कहने का आशय यह है कि व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता मे ही अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अलङ्कारविशेष होता है व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता मे ही प्रधानता मे तो अलंकार हो ही नहीं सकता ।

जिन व्यञ्जनामूलक अलङ्कारो मे ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करने की प्रतिज्ञा की थी उन समासोक्ति आक्षेप इत्यादि अलङ्कारों मे द्वन्द्व समास करके 'इत्यादि' शब्द जोड़ दिया था।इससे व्याजस्तुति इत्यादि व्यङ्ग्यार्थमूलक अलङ्कारों

लोचन

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
खेदे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते । यत्तूदाहृतं केनचित्—

'दूसरे के घर में होनेवाले वृत्तान्त से क्या ? किन्तु मैं मौन होकर स्थित होने मे समर्थ नहीं हूँ क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव प्राकृतिक रूप मे मुखर होता है । खेद है कि आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर मे, बाजारों मे, चौराहों पर, मधुशालाओं में उन्मत्त के समान घूमती रहती है ।'

यहाँ पर जो स्तुत्यात्मक व्यंग्य है उससे वाच्य ही उपस्कृत होता है । जो कि किसी ने उदाहरण दिया था—

तारावती

मे भी ध्वनि के समावेश की सम्भावना का निराकरण हो गया । ( आलोककारने इत्यादि शब्द से अप्रस्तुतप्रशंसा पर भी विचार कर लिया । ) उन सभी शेष अलङ्कारों मे ध्वनि के समावेश का एक साधारण उत्तर आलोककार ने अगले श्लोको मे दिया है । आशय यह है कि प्रत्येक अलङ्कार को लेकर कहाँ तक लिखा जावे । अभिनवगुप्त ने 'इत्यादि' शब्द से व्याजस्तुति और भाव इन दो अलङ्कारों पर और विचार किया है। उनमे पहले व्याजस्तुति को लीजिये । [ व्याजस्तुति के विषय मे भी प्राचीन और नवीन मतों में भेद है । प्राचीन आचार्य 'व्याजेन स्तुतिः' इस तत्पुरुष समास के आधार पर जहाँ निन्दा वाच्य हो उसे व्याजस्तुति मानते है । किन्तु नवीन आचार्य 'व्याजरूपा स्तुतिः' यह कर्मधारय समास और जोड़कर दोनो स्थानों पर व्याजस्तुति मानते है-(१) जहाँ प्रशंसा की अभिव्यक्ति के लिये निन्दा की जावे, अथवा (२) जहाँ निन्दा की अभिव्यक्ति के लिये प्रशंसा की जावे । यहाँ पर लोचनकार ने केवल उभयसम्मत प्रथम प्रकार की व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है । ]

'दूसरों के घर की बात से हमें क्या ? किन्तु मैं चुप बैठने मे असमर्थ हूँ । दाक्षिणात्य लोग स्वभाव से ही मुखर होते हैं । दुःख की बात है कि हे राजन् ! आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर, बाजारों में, चौराहों पर और पानगोष्ठियों में उन्मत्त के समान जहाँ-तहाँ घूम रही है ।'

यहाँ पर प्रशंसात्मक व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है । किसी ने व्याजस्तुतिका यह उदाहरण दिया है:—

## लोचन

आसीन्नाथ पितामही तव मही, जाता ततोऽनन्तरम्
माता, सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये ॥
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले ॥

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता ? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम् ? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥

'हे नाथ! पृथ्वी तुम्हारी पितामही थी, उसके बाद माता बन गई; अब कुल की उन्नति के लिये अम्बुराशिरूपी रशना के सहित तुम्हारी जाया बन गई। जब सौ वर्ष पूरे हो जावेंगे तो वही तुम्हारी अनिन्दनीय पुत्रवधू हो जावेगी। समस्त-नीतियों में निपुण राजाओं के घर में क्या यह उचित है?'

यह हमें ग्राम्य ही प्रतीत होता है क्योंकि यह अत्यन्त असभ्य स्मृति में हेतु है। और इसने स्तुति की क्या? 'तुम वंशक्रम से राजा हो' यह कितनी स्तुति हुई? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयों की गोष्ठी में निन्दित ही होती है अतः इसकी उपेक्षा ही की जानी चाहिये।

'जिसका अप्रतिबन्ध विकार प्रादुर्भूत होते हुए जिस हेतु से उस अभिप्राय को व्यक्त करता है वह प्रतिबन्ध (हेतु) भाव होता है।'

## तारावती

'हे राजन्! पृथ्वी पहले तुम्हारी दादी थी; इसके बाद माता बन गई। इस समय अम्बुराशिकी मेखला से विभूषित वह भूमि तुम्हारे कुल की वृद्धि के लिये तुम्हारी धर्मपत्नी बन गई। जब सौ वर्ष पूरे हो जावेंगे तब वही तुम्हारी अभिनन्दनीय पुत्रवधू बन जावेगी। क्या समस्तनीति-पारङ्गत राजाओं के वंश में यह ठीक है?'

यह उदाहरण हमें (अभिनवगुप्त को) अत्यन्त गंवारू मालूम पड़ता है क्योंकि इससे बहुत ही असभ्य स्मृति जाग्रत होती है। (फिर जिस प्रशंसा के लिये इस कवि ने दादी को माँ, माँ को पत्नी और पत्नी को पुत्रवधू बनाया) वह प्रशंसा इसने क्या कर दी? यही न कि तुम वंश-परम्परा से राजा हो। यह क्या बात हुई। वंश-परम्परा से तो राजा हुआ ही करते हैं। इसमें प्रशंसा क्या हो गई? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयगोष्ठी में निन्दित मानी जाती है; अतएव इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिये।

## लोचन

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता । यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेषरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादि लक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः । यथा—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारीति वाच्यं प्रधानम् । व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु नाकाचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना ।

यहाँपर भी वाच्य की प्रधानता मे भावालङ्कार होता है ? जिस विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति से सम्बद्ध वाग्व्यापार इत्यादि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत रूप मे उत्पन्न होते हुये उस चित्तवृत्तिरूप विशेष अभिप्राय को व्यक्त करता है; वह हेतु अर्थात् यथेष्ट भोग्यत्व इत्यादि लक्षणवाला वह अर्थ ही भावालङ्कार होता है । जैसे—

'जो कि मैं इस घर मे अकेली अबला तथा तरुणी हूँ, मेरा गृहपति विदेश चला गया है; तो यहाँ निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो ? अरे मूर्ख पान्थ ! यह मेरी सास निःसन्देह अन्धी और बहरी है ।'

यहाँपर व्यङ्ग्य एक-एक पद में सहायक है । अतः वाच्य की ही प्रधानता है। व्यङ्ग्य की प्रधानता मे तो कोई अलङ्कारता नहीं होती, यह निरूपण कर दिया गया है, अधिक कहने से क्या ?

## तारावती

अब भावालङ्कार को लीजिये । ( भाव को रुद्रट ने अलङ्कार माना है । ) उन्होंने भावालङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

'जिस अनुराग इत्यादि विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति से उत्पन्न हुआ वाग्व्यापार इत्यादि विकार निश्चितरूप से उस चित्तवृत्ति को जिस हेतु से व्यक्त किया करता है वह हेतु ही भावालङ्कार कहा जाता है ।'

इसमे भी भाव तभी अलङ्कार बनता है जब वाच्य की प्रधानता हो । आशय यह है कि विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण वाणी का व्यापार इत्यादि जो विकार उत्पन्न हुआ हो वह यदि उस चित्तवृत्ति को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ हो तो जिस हेतु उस अभिव्यक्ति का उदय होता है वह हेतु ही भावालङ्कार कहा जाता है । इस प्रकार का हेतु हो सकता है यथेष्ट उपभोग्यता इत्यादि । जैसे—

कोई प्रोषितपतिका निवासस्थान के इच्छुक किसी पथिक से कह रही है—
'हे मूर्ख पथिक ! तुम देख रहे हो कि इस घर मे मैं अकेली ही तरुणी अबला हूँ ।

## तारावती

मेरे घर का स्वामी भी विदेश चला गया है। बेचारी बूढ़ी सास एक तो अन्धी है दूसरे बहरी, फिर तुम निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो।'

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा यथेष्ट उपभोग्यत्व रूप अभिप्राय की सूचना मिलती है। व्यङ्ग्य एक-एक पद का सहकारी बनता है। अतएव वाच्य की ही प्रधानता है। यदि यहाँ पर (या कहीं अन्यत्र) व्यङ्ग्यार्थ प्रधान माना जावेगा तो इसे अलङ्कार संज्ञा प्राप्त ही नहीं हो सकेगी। इस प्रकार यहाँ तक पूर्णरूप से 'व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों का ध्वनि मे अन्तर्भाव नहीं हो सकता, यह सिद्ध कर दिया गया। अब अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता? [उक्त भावालङ्कार को इस प्रकार समझिये यहाँ पर नायिका ने जितने भी शब्द कहे है उनमे एक व्यञ्जना निकलती है। जब तक व्यङ्ग्यार्थ को न स्वीकार किया जावे तब तक उसके उन शब्दो का प्रयोग ही सार्थक नहीं होता। 'घर का स्वामी परदेश को चला गया है मैं एक तो अकेली दूसरे अबला और तीसरे तरुणी' यह सब कहने का आशय सर्वसाधारण के प्रति तो यह है कि तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं है, किन्तु नायक के प्रति इसका आशय यह है कि आज बड़ा अच्छा अवसर है तुम्हे यहाँ अवश्य रहना चाहिये।' 'चला गया है' मे भूतकाल का आशय यह है कि उसे गये पर्याप्त समय हो गया अतः उसके लौटने की सम्भावना नहीं, 'विदेश' का अर्थ यह है कि वह कहीं निकट ही नहीं गया है, जहाँ वह गया है वह स्थान बहुत दूर है अतः वह किसी प्रकार भी लौट नहीं सकता। मैं अकेली हूँ का अर्थ यह है कि यहाँ कोई और आकर नहीं रहेगा, 'अबला' का अर्थ है तुम्हे मुझसे भय या सङ्कोच नहीं करना चाहिये; 'तरुणी' का अर्थ है मेरा यौवन आकर्षक है। 'बेचारी सास अन्धी और बहरी है' का सर्वसाधारण के प्रति अर्थ है—'यदि तुम अनुचित चेष्टा कर बैठो तो मेरी रक्षा कौन करेगा? पथिक के प्रति इसका अर्थ है—'सास की तुम्हे शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक तो वह अन्धी है दूसरे बहरी, न वह देख सकेगी और न सुन सकेगी।' 'मूढ' का सर्वसाधारण के प्रति अर्थ है—'हे पथिक! तुम ऐसे मूर्ख हो कि ऐसी परिस्थिति मे भी मुझसे ठहरने के लिये कह रहे हो। पथिक के प्रति इसका अर्थ है—'मैं जानती हूँ कि तुम कामान्ध होने के कारण अपनी चेतना नष्ट कर चुके हो। मैं तुम्हारी आकाक्षा अवश्य पूरी करूँगी।' इन शब्दो की सार्थकता व्यङ्ग्यार्थ के साथ ही है। अतएव यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक होकर भावालङ्कार बन गया है। यदि व्यङ्ग्य की वाच्योपस्कारकता न मानी जावे तो यहाँ पर भाव अलङ्कार नहीं हो सकेगा।]

ऊपर व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों से ध्वनि का भेद दिखलाया गया है। अब

## लोचन

यत्रेति काव्ये। अलङ्कृतय इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। प्रतिभामात्र इति। यत्रोपमादौ म्लिष्टार्थप्रतीतिः। वाच्यार्थानुगम इति। वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः। न प्रतीयत इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपितु बलात्कल्प्यते। तथापि हृदये नानुप्रविशति। यथा 'दे आ पसिअ णिवत्तसु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु। तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य, अप्राधान्ये म्लिष्टप्रतीतौ। वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटप्राधान्ये च। क्व तर्ह्यसावित्याह—तत्परावेवेति। सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः। सङ्करालङ्कारेणेतित्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात्।

जहाँपर का अर्थ है काव्य मे। अलंकृतयः। अलङ्कार होने के कारण ही वाच्य के उपस्कारक होते हैं। प्रतिभामात्र अर्थात् जहाँ उपमा इत्यादि में मलिन अर्थ की प्रतीति होती है। वाच्यार्थानुगम का अर्थ है जहाँ वाच्यार्थ के साथ अनुगम हो अर्थात् अप्रस्तुतप्रशसा के समान समप्राधान्य। न प्रतीयते। स्फुट रूप में प्रधानता प्रकाशित नहीं होती अपितु बलात् कल्पित कर ली जाती है तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नही होती। जैसी कि 'देआ पसिअ णिवत्तसु' की दूसरों द्वारा की हुई व्याख्याओं मे। इससे चारों प्रकारों मे ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। व्यङ्ग्य के होनेपर भी अप्राधान्य होनेपर, मलिन प्रतीति मे, वाच्य के साथ समान प्रधानता होनेपर और प्राधान्य के स्फुट न होनेपर। तो फिर यह होता कहाँ है? यह कह रहे हैं—'तत्परावेव' इत्यादि।' सङ्कर के द्वारा अर्थात् अलङ्कार के अनुप्रवेश की सम्भावना के द्वारा छोड़ा हुआ। सङ्करालङ्कार के द्वारा यह ठीक नहीं है। अन्य अलङ्कारों का उपलक्षण मानने पर तो अर्थ क्लिष्ट हो जावेगा।

## तारावती

अलोककार तीन कारिकाओं मे सूत्ररूपमें समस्त विवरण का साराश दे रहे हैं। सम्भवतः ये कारिकायें आलोककार की ही लिखी हुई है। इन कारिकाओं का सार यह है—"समासोक्ति इत्यादि वाच्य अलङ्कार वहाँ पर होते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अपनी प्रधानता को केवल वाच्यार्थ के अनुगमन के कारण खो चुके हों ॥१॥"

"ध्वनि ऐसे स्थान पर नहीं होती जहाँ (१) व्यङ्ग्य की स्पष्ट प्रतीति न होकर उसका हल्का सा प्रतिभास ही हो रहा हो, अथवा (२) वह वाच्यार्थ के पीछे चल रहा हो या (३) उसकी प्रधानता न प्रतीत हो रही हो॥२॥"

"जहाँ पर व्यङ्ग्य की ही प्रधानता हो और रचना के लिये उपात्त शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थपरक ही हों तथा उसमे सङ्कर के अनुप्रवेश की सम्भावना न हो वही विषय ध्वनि का क्षेत्र होता है॥३॥

ध्वन्यालोकः

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। इतश्च नान्तर्भावः, यतः काव्यविशेषोऽङ्गी-ध्वनिरितिकथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव।

(अनु०) इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि ध्वनि का अन्तर्भाव अन्यत्र नहीं हो सकता। ध्वनि के अन्यत्र अन्तर्भाव न हो सकने का एक कारण और है—ध्वनि एक प्रकार का ऐसा काव्य है जो अङ्गी कहा गया है; अलंकार, गुण और वृत्तियाँ उसके अङ्ग होते है, यह आगे चलकर सिद्ध किया जावेगा। यदि अवयव (अङ्ग) अवयवी (अङ्गी) से पृथक् हो तो वह अवयवी के नाम से प्रसिद्ध नही हो जाता और अपृथग्भाव मे वह उसका अवयव ही होगा, कोई भी व्यक्ति उसे अवयवी नहीं कह सकता। यदि कोई ऐसा स्थान सम्भव भी हो जहाँ अलङ्कार ही ध्वनि का रूप धारण कर रहे हों तो भी ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारों मे कभी नही हो सकता क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

तारावती

यहाँ पर 'यत्र' शब्द का अर्थ है काव्य मे। 'अलङ्कृतयः' शब्द का आशय यह है कि अलङ्कार शब्द का अर्थ है अलंकृत या आभूषित करनेवाला। जिसको आभूषित किया जाता है वह आभूषण से भिन्न होता ही है। अलङ्कार कभी अलंकार्य नही हो सकता। अतएव वाच्यालंकार कहने का आशय ही यह है कि वे अलंकार वाच्य को सौन्दर्य प्रदान करने के कारण अलंकृत मात्र करते है स्वयं प्रधान कभी नही होते। 'व्यङ्ग्य के प्रतिभामात्र मे' का अर्थ है जहाँ पर उपमा इत्यादि मे अर्थ प्रतीति मलिन हो। 'प्रधानता प्रतीत नहीं होती' का अर्थ यह है कि जहाँ पर स्पष्ट रूप मे प्रधानता प्रकाशित नही होती अपितु बलात् प्रधानता की कल्पना कर ली जाती है किन्तु फिर भी हृदय में प्रविष्ट नहीं होती। अर्थात् जहाँ पर युक्ति-पर्यालोचना के द्वारा परीक्षा करने पर व्यङ्ग्यार्थ बलपूर्वक खींचकर लाया जाता है और युक्तिपर्यालोचना के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। उदाहरण के लिये जैसे प्रतिषेधरूप वाच्य मे विधिरूप व्यङ्ग्य के उदाहरण 'दे आ पसिअ णिवत्तसु' इत्यादि उदाहरण मे अन्य लोगो की की हुई व्याख्या मे (देखो पृ० १३५) इस प्रकार पहली दो कारिकाओं का अर्थ यह है कि चार प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों मे ध्वनि का व्यवहार नहीं होता—(१) व्यङ्ग्यार्थ के होते हुये भी जहाँ उसकी प्रधानता न हो (२) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ मलिनता के साथ प्रतीत हो रहा हो। (३) जहाँ वाच्यार्थ और

## लोचन

इतश्चेति। न केवलमन्योन्यविरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वात् तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः। अवयव इति। एकैक इत्यर्थः। तदाह—पृथग्भूत इति। अथ पृथग्भूतस्तथा माभूत्, समुदायमध्यनिपतितस्तर्ह्यस्तु तथेत्याशङ्क्याह—अपृथग्भावे त्विति। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात्, तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलङ्काररूपं प्रधानत्वादेव। यत्त्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—न तु तत्त्वमेवेति।

'इतश्च' इति। केवल एक दूसरे के विरुद्ध वाच्यवाचक भाव और व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का आश्रय लेने के कारण अलङ्कारों का और ध्वनि का तादात्म्य न हो ऐसी बात नहीं है (किन्तु) स्वामी और भृत्य के समान अङ्गीरूप और अङ्गरूप में भी विरोध होने से (दोनों में भेद है।) 'अवयव इति' अर्थात् प्रत्येक। वही कहते हैं—पृथग्भूत इति। 'अच्छा पृथग्भूत वैसा न हो, समुदायमध्यनिपतित तो वैसा हो ही जावे' यह शङ्का करके कहते हैं—अपृथग्भावेत्विति। तथापि वह एक ही समुदाय नहीं होता, क्योंकि अन्य भी समुदायों की वहाँपर सत्ता हो सकती है। उस समुदायी के मध्य में प्रतीयमान भी है, वह प्रधान होने से ध्वनि नहीं। वह कहते हैं—'न तु तत्त्वमेवेति'।

## तारावती

व्यङ्ग्यार्थ दोनों की एक सी प्रधानता हो (४) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य स्फुट न हो। अब प्रश्न उठता है कि तो फिर व्यङ्ग्यार्थ होता कहाँ पर है? इसका उत्तर अन्तिम कारिका में दिया गया है कि जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थपरक होते हैं वहीं सङ्कर से रहित विषय ध्वनि का होता है।' यहाँ पर सङ्कर का अर्थ है किसी भी अलङ्कार का अनुप्रवेश। आशय यह है कि वहीं पर व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि का रूप धारण करता है जहाँ उसके किसी दूसरे अलङ्कार में प्रविष्ट होने की सभावना नहीं। यहाँ पर सङ्कर का अर्थ सङ्करालङ्कार नहीं है क्योंकि यहाँ पर लेखक का मन्तव्य किसी भी अलङ्कार में ध्वनि के समावेश का निराकरण करना है। यदि सङ्कर को दूसरे अलङ्कारों का उपलक्षण मानकर व्याख्या की जावे तो यह क्लिष्ट कल्पना होगी।

ऊपर बतलाया गया है कि अलङ्कार वाच्य-वाचक भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते हैं और ध्वनि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है। यह एक दूसरे का विरोध है। अतः ध्वनि और अलङ्कारों का तादात्म्य नहीं हो सकता। केवल इतना ही नहीं अपितु ध्वनि स्वामिस्थानीय है और अलङ्कार इत्यादि भृत्यस्थानीय। दूसरे शब्दों में ध्वनि अङ्गी है और अलङ्कार इत्यादि अङ्ग। जिस प्रकार स्वामी का समावेश भृत्यवर्ग में नहीं हो सकता अथवा

## लोचन

नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानतामिषेकं दत्त्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—यत्रापि वेति । नहि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इत्यादि 'कस्स वा ण' इत्यादि, तदाह—तन्निष्ठत्वमेवेति ।

अलङ्कार को ही तुमने प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि और आत्मा यह कह दिया है' यह शङ्का कर के कहते हैं—यत्रापि वेति । समासोक्ति इत्यादि मे कोई एक ही हम लोगों ने वैसा ही नही कर दिया है क्योंकि उससे भिन्न मे भी उसकी सत्ता होती है, क्योंकि समस्त समासोक्ति इत्यादि अलंकारस्वरूप के अभाव मे भी उसे दिखलाया जा चुका है (जैसे) 'अत्ता एत्थ' इत्यादि और 'कस्स वा ण' इत्यादि । वह कहते हैं—तन्निष्ठत्वमेव इति ।

## तारावती

जिस प्रकार अङ्गी का अङ्ग मे समावेश नहीं हो सकता उसी प्रकार ध्वनि का भी अलङ्कारों मे समावेश नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की एकता सामान्य नियम के विरुद्ध है । अवयव और अवयवी इन दोनो का तादात्म्य दो प्रकार से हो सकता है एक तो अवयवी को अवयव से पृथक् करके उसे पूर्ण तत्व मानकर और दूसरे अवयव को समुदाय के अन्दर ही रखते हुये । एक-एक अवयव पृथक् होकर पूरे अवयवी के रूप मे प्रसिद्ध हो जावे, ऐसा हो ही नहीं सकता । अब प्रश्न यह है कि पृथक् करके हम एक अवयव अवयवी न मानें; समुदाय के अन्दर ही उस अवयव और अवयवी की एकरूपता क्यों न मान ले ? इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था मे भी केवल एक अवयव ही पूरा समुदाय कैसे कहा जा सकता है ? अवयवों के समुदाय को ही अवयवी कहते हैं । अतएव एक अवयव का पूरे अवयवी से तादात्म्य हो ही नही सकता । दूसरी बात यह भी है कि उस समुदाय मे प्रतीयमान अर्थ भी एक अवयव होगा जो कि प्रधान रूप में स्थित होने के कारण कभी भी अलङ्काररूपता को प्राप्त ही नहीं हो सकता और यदि प्रतीयमान अर्थ अप्रधान होगा तो उसे ध्वनि की संज्ञा प्राप्त न हो सकेगी । इन कारणों से कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि अङ्गरूप में स्थित अलङ्कार ही अङ्गी ध्वनि का रूप धारण किया करते हैं । ( प्रश्न ) निस्सन्देह तुमने किसी अलङ्कार को ही प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि' यह नाम दे दिया है और उसी को काव्य की आत्मा भी कह दिया है, ( उत्तर ) कहीं-कहीं ऐसा होता अवश्य है कि अलङ्कार भी ध्वनि का रूप धारण कर लेता है । अलङ्कारध्वनि भी ध्वनिकाव्य का एक प्रकार है । किन्तु यह समझना ठीक नहीं कि समासोक्ति इत्यादि अलङ्कारों मे ही हमने किसी एक को ध्वनि कह दिया है, क्योकि ध्वनि वहाँ पर भी होती है

ध्वन्यालोकः

'सूरिभिः कथित' इति विद्वद्दुपज्ञेयमुक्तिः न यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

(अनु०) 'विद्वानों के द्वारा अभिहित किया जाता है' इस कथन मे विद्वानों के द्वारा कहने का आशय यह है कि इस ध्वनि-सिद्धान्त का प्रारम्भ विद्वानों ने किया है, यह योंही मनमाने रूप मे प्रचलित नहीं हो गया। अतः इसका प्रतिपादन किया जाता है। वैय्याकरण ही प्रथम कोटि के विद्वान् माने जाते है क्योंकि सब विद्याओं के मूल मे व्याकरण ही है। वे लोग वर्णों के सुनाई पड़नेवाले भाग को ध्वनि कहते है। उसीप्रकार उनके मत का अनुसरण करनेवाले दूसरे काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् भी इन चार अर्थों मे ध्वनि शब्द का प्रयोग करते है—(१) वाच्यार्थ के लिये (२) वाचक शब्द के लिये (३) सम्मिश्र अर्थात् विभाव अनुभाव इत्यादि के संयोग से होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ के लिये। (४) आत्मा रूप मे स्थित शब्द के व्यापार अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार के लिये। इन चारो के अतिरिक्त काव्य नामक पदार्थ को भी ध्वनि कहते है क्योंकि वह भी उक्त चारों प्रकार का एक सम्मिलित रूप ही होता है।

लोचन

विद्वद्दुपज्ञेति। विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः। तेन 'उपज्ञोपक्रमं' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्।

विद्वद्दुपज्ञेति। विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् प्रथम उद्गम है जिस उक्ति का इस प्रकार बहुव्रीहि है। इससे 'उपज्ञोपक्रमम्' इत्यादि सूत्र से तत्पुरुष के अधीन होनेवाला नपुंसकलिङ्ग निरवकाश हो जाता है।

तारावती

जहाँ अलङ्कार-ध्वनि नहीं होती। यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ समासोक्ति इत्यादि अलङ्कारो मे किसी एक की भी ध्वनि नहीं होती वहाँ पर भी ध्वनि काव्य हुआ करता है। जैसे 'अत्ता एत्थ' और 'कस्स वा ण' इन उदाहरणों मे अलङ्कार-व्यतिरिक्त ध्वनि दिखलाई जा चुकी है। इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि अलङ्कारनिष्ठ ही नहीं होती।

ऊपर इतिहास मनोविज्ञान इत्यादि आधारो पर सिद्ध किया गया है कि ध्वनि काव्य ही काव्य की आत्मा है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सिद्धान्त

## तारावती

यों ही मनमाने ढंग से कल्पित कर लिया गया है या इसमे कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये ध्वनिकार ने लिखा था 'सूरिभिः कथितः' और आलोककार ने लिखा है कि 'यह उक्ति विद्वदुपज्ञा है ।' उपज्ञा शब्द का अर्थ है प्रथमज्ञान या उपक्रम । विद्वदुपज्ञा शब्द में दो समास हो सकते हैं एक तो तत्पुरुष जिसका अर्थ होगा विद्वानों का प्रथम ज्ञान या विद्वानों द्वारा उपक्रम और दूसरा समास हो सकता है बहुव्रीहि, जिसका अर्थ होगा 'विद्वानों से प्रथम उपक्रम हुआ है जिसका ।' यहाँ पर तत्पुरुष समास नहीं माना जा सकता क्योंकि तत्पुरुष होने पर 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इस सूत्र से नपुंसक लिङ्ग हो जावेगा और 'विद्वदुपज्ञा' न बनकर 'विद्वदुपज्ञ' यह रूप बनेगा । बहुव्रीहि समास होने पर उक्ति का विशेषण हो जाने से स्त्रीलिंग सङ्गत हो जाता है ।'

('विद्वदुपज्ञ' शब्द में विद्वत् शब्द का अर्थ है वैय्याकरण । क्योंकि वैय्याकरण ही सर्वोच्च विद्वान् माने जाते हैं । भगवान् भर्तृहरि ने वैय्याकरणों की प्रशंसा इन शब्दों में की है :—

उपासनीय यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत् ।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम् ॥

कि बहुना—

इदमाद्यं पदस्थानं मुक्तिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥
रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले ।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नराः ॥' वाक्यपदीय ब्र. का.।

भामह ने आलङ्कारिकों के लिये व्याकरणज्ञान की अनिवार्यता स्वीकृत की है :—

'सदोपयुक्तं सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभिः ।
नापारयित्वा दुर्गाधमसुं व्याकरणार्णवम् ॥
शब्दरत्नं स्वयं गम्यमलङ्कर्तुमयं जनः ॥' (काव्यालङ्कार २–३)

मनु जी ने वैय्याकरणो को पंक्तिपावन लिखा है और पुष्यदत्त ने तो यहाँ तक कहा है कि—'वैय्याकरणों के सुधामधुर स्निग्ध वचनों से आपूर्णकर्ण होकर यदि मुझे रहना पड़े तो मैं देवी के शाप से मृत्युलोक में जन्म लेने को भी धन्य समझूँगा ।' )

[ जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है ध्वनिकार को ध्वनि की किसी प्राचीन परम्परा का ज्ञान था और वह परम्परा आलोककार के समय तक नष्ट हो गई थी ।

तारावती

यहाँ पर ध्वनिकार ने 'सूरिभिः कथितः' कहकर उसी परम्परा की ओर संकेत किया है, किन्तु आलोककार को ऐसी किसी परम्परा का ज्ञान नहीं था। अतएव उन्होने इस कथन की सङ्गति भिड़ाने के लिये कल्पना कर ली कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रादुर्भाव वैय्याकरणों के स्फोटवाद से हुआ है। अभिनव गुप्त मम्मट इत्यादि बाद के सभी आचार्यों ने इसी व्याख्या को ठीक माना। यद्यपि 'जहाँ पर शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वानो ने ध्वनि संज्ञा प्रदान की है' इस कथन का यह आशय कभी नहीं हो सकता कि 'विद्वानों ने स्फोटवाद का प्रतिपादन किया था और उसके आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ।' तथापि वैय्याकरणों के स्फोट और काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त में कुछ साम्य अवश्य है। यह भी सम्भव है कि पहले पहल साहित्य शास्त्र मे इस सिद्धान्त का प्रवर्तन वैय्याकरणों के अनुकरण पर हुआ हो और बाद मे उस सिद्धान्त का विस्तारकर पूरा काव्यशास्त्र उससे आवेष्टित कर दिया गया हो। अतएव यहाँ पर स्फोटवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

वैय्याकरण लोग शब्द और अर्थ का तादात्म्य मानते है 'जो शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है।' तब प्रश्न उपस्थित होता है कि लोक मे अर्थ की जो क्रियायें देखी जाती हैं वे शब्द की क्यो नहीं होती? यदि शहद शब्द और अर्थ दोनों एक है तो जिस प्रकार शहद अर्थ (वस्तु) से मुख मीठा हो जाता है उसी प्रकार शहद शब्द से भी मुख मीठा हो जाना चाहिये। अग्नि शब्द से मुँह जल जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस शङ्का का समाधान वैय्याकरण इस प्रकार करते है कि किसी भी शब्द का वाह्य अर्थ नहीं होता किन्तु प्रत्येक वस्तु का एक भावात्मक चित्र हम लोगों के अन्तः करण मे बना होता है। वह आकृति ही जाति कहलाती है—'आकृतिर्जातिपदवाच्या' वह आकृति ही शब्द का वास्तविक अर्थ होती है। इसी को बौद्धार्थ कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनो की सत्ता अन्तःकरण में होती है, अतः दोनों का तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। इस विषय मे वैय्याकरण का सिद्धान्त अभेदवादी वेदान्तियों के बहुत निकट पड़ता है। अभेदवादी वेदान्ती दृश्यमान जगत् को भ्रममात्र मानते है। ब्रह्म तत्व को जान लेने से उस भ्रमका निराकरण उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जागने के बाद दृश्यमान स्वप्नजगत् का अन्तर्धान हो जाता है। दृश्यमान भ्रमात्मक विश्व के सब पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु ब्रह्म के रूप में सब एक हो जाते है। इसको इस प्रकार समझिये—यदि हम कार्य का निषेध कर कारण की सत्ता ज्ञात करते जावें तो एकता

या अभेद की ओर अग्रसर होते जावेंगे। जैसे लकड़ी की बनी हुई सैकड़ों वस्तुयें भिन्न होती हैं किन्तु लकड़ी के रूप में सब एक हैं। इसी प्रकार लोहे की वस्तुयें लोहे के रूप में, पत्थर की वस्तुयें पत्थर के रूप में और मिट्टी की वस्तुयें मिट्टी के रूप में एक होती हैं। मिट्टी, पत्थर, लोहा, लकड़ी सब एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु पृथ्वी के विकार के रूप में सब एक हो जाते हैं। यदि हम इसी प्रकार का कार्य का निषेध करते हुए कारण की सत्ता मानते चले जावें तो समस्त तत्व एक हो जावेंगे। इसी तत्व को ब्रह्म नाम से अभिहित किया जाता है। अन्तः करणतत्त्व में शब्द-ब्रह्म की यही एकता परा वाणी कही जाती है। वहाँ पर जिस प्रकार घट पट मठ इत्यादि सभी अर्थतत्व एक हैं उसी प्रकार 'क' 'ख' 'ग' इत्यादि शब्दतत्व भी एक ही हैं। जब शब्दब्रह्म को घट पट इत्यादि रूप में बुद्धि ग्रहण करती है तो उस परा वाणी का नाम पश्यन्ती हो जाता है। यदि हम अपने कान बन्द कर ले तो कण्ठदेश में एक प्रकार की सनसनाहट का हमें अनुभव होता है। इसे मध्यमा नाम से पुकारा जाता है। परा वाणी का स्थान नाभिदेश है, पश्यन्ती का हृदय और मध्यमा का कण्ठ। इन तीनों अवस्थाओं में 'क ख ग' इत्यादि वर्ण एक रूप रहते हैं। उनमें भेद नहीं होता। कण्ठ से आगे बढ़कर जब वर्ण स्थान और प्रयत्न के द्वारा पृथक् पृथक् होकर दूसरे द्वारा ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं तब उस वाणी को वैखरी कहते हैं। जिस वायुसंयोग के द्वारा स्थान और प्रयत्नों से शब्द अभिव्यक्त हुआ करते हैं उसे वैय्याकरण लोग ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार शब्द के दो भाग होते हैं—एक तो स्फोट या अर्थभाग और दूसरा वायुसंयोगात्मक ध्वनि। स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता और न उसमें किसी प्रकार की उपाधि होती है, भेद ध्वनि में होता है। इसीलिये विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चारण की हुई ध्वनि विभिन्न प्रकार की होती है। नव परिणीता वधू की ध्वनि और प्रकार की होती है, और वृद्धा की ध्वनि और प्रकार की होती है तथा दूसरे लोगों की ध्वनि दूसरे प्रकार की होती है। इस ध्वनिभेद से स्फोट रूप शब्दब्रह्म में भेद नहीं होता। किन्तु वह स्फोटरूप शब्दब्रह्म वायुसंयोग रूप ध्वनि के द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ करता है। ध्वनि का अर्थ से सम्बन्ध नहीं होता और अर्थभाग बिना ध्वनि के अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसीलिये जब कभी मेला इत्यादि लगा होता है और बहुत से लोग एक साथ बोलते हैं तथा उनके शब्द तो सुनाई पड़ते हैं किन्तु अर्थ समझ में नहीं आता, तब लोग यही कहा करते हैं कि बहुत बड़ी ध्वनि सुनाई पड़ रही है। आशय यह है कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय ख्याति से ब्रह्म का विवर्त जगत् है उसी प्रकार शब्द-ब्रह्म से विवर्वित होनेवाला और उसी में पर्यवसान को प्राप्त होनेवाला समस्त

## तारावती

वाङ्मय और उसका वाच्य अर्थ सभी कुछ उस स्फोटरूप शब्दब्रह्म का ही विपरिणाम है। उसकी व्यञ्जना करनेवाले वायुसंयोग को ध्वनि कहते हैं। विभिन्न प्रकार का भेद ध्वनिभेद हुआ करता है स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। यह इस प्रकार समझना चाहिये जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और कृशता से आत्मा में कृशता नहीं होती अथवा तेल मुकुर खड्ग इत्यादि विभिन्न वस्तुओं में देखने पर मुखाकृति विभिन्न प्रकार की प्रतीत होती है किन्तु मुख में भेद नहीं होता उसी प्रकार औपाधिक ध्वनिभेद होने पर भी स्फोट में भेद नहीं होता। यह स्फोट सिद्धान्त का सार है वैय्याकरण स्फोट के व्यञ्जकों को ध्वनि कहते थे। उनके मत में ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वनतीति ध्वनिः'। साहित्यशास्त्रियों ने इसी ध्वनि शब्द को लेकर उसका और अधिक विस्तार किया। उन्होंने ध्वनित करना एक सामान्य धर्म ले लिया और जितने भी ध्वनित करनेवाले तत्व थे उन सभी का समावेश ध्वनि में कर दिया। इस प्रकार रीति, वृत्ति, गुण, अलङ्कार, शब्द, पद, पदांश, वर्ण, वाक्य रचना इत्यादि समस्त व्यञ्जक वर्ग इस ध्वनि शब्द से संगृहीत होने लगा। केवल इतना ही नहीं अपितु अर्थ भी यदि दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो वह भी व्यञ्जक वर्ग में सन्निविष्ट हो गया। यह व्यञ्जक अर्थ वाच्य भी हो सकता है, लक्ष्य भी और यदि एक व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा दूसरा व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होने लगे तो व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक कोटि में आ जावेगा। ध्वनि शब्द का यहीं तक विस्तार नहीं हुआ अपितु उसकी कर्म साधन व्युत्पत्ति को मानकर व्यज्यमान अर्थ को भी ध्वनि संज्ञा प्रदान की गई और इस प्रकार वस्तु अलङ्कार और रस तीनों का समावेश ध्वनि में हो गया। इसके अतिरिक्त भावसाधन व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर व्यञ्जना की प्रक्रिया को भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाने लगा। साथ ही इन सब का समूह काव्य भी ध्वनि के क्षेत्र में आ गया। इस प्रकार काव्य के लिये उपर्युक्त समस्त सामग्री का अन्तर्भाव इस ध्वनि शब्द में हो गया और ध्वनि ने काव्य की आत्मा का रूप धारण कर लिया।

'वैय्याकरण लोग श्रवणेन्द्रिय द्वारा गोचर किये हुये वर्णों के लिये ध्वनि शब्द का व्यवहार करते हैं।' इस कथन का आशय यह है कि परम्परा द्वारा शब्द कर्ण-विवर तक पहुँचते हैं और अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार शब्दज शब्द ही सुनाई पड़ते हैं यह कहा गया है। जिस प्रकार घण्टा की ध्वनि में अनुरणन रूपता होती है अर्थात् शब्द होने के बाद एक प्रकार की झङ्कार सुनाई पड़ती रहती है उसी प्रकार इन ध्वनियों के उच्चारण के बाद भी

## लोचन

श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति, ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् भर्तृहरिः—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥

एवं घण्टानिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽत्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः । तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् स एव—

श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्र-शष्कुली में परम्पराप्रवाह से आये हुये अन्तिम शब्द सुनाई पडते हैं इस प्रक्रिया में अन्तिम शब्द श्रुतिगोचर होते हैं यह कह दिया गया। उनका घण्टानुरणनरूपत्व है ही, वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे गये है । जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

'जो संयोग वियोग इत्यादि करणों से उत्पन्न किया जाता है वह स्फोट है। अन्य लोगों ने शब्दज शब्दों को ध्वनि कहा है ।'

इस प्रकार घण्टानिर्ह्राद के समान अनुरणन आत्मा से उपलक्षित व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि के रूप मे व्यवहृत किया जाता है । उसी प्रकार नादशब्दवाच्य जो श्रूयमाण वर्ण अन्त्य बुद्धि के द्वारा किये जानेवाले स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे जाते हैं । जैसा कि उन्हीं भगवान् ने कहा है—

## तारावती

एक प्रकार का बुद्धि उत्पादन रूप अनुरणन होता रहता है । यही बात भर्तृहरि ने इस प्रकार कही है :—

'संयोग और वियोग का सहारा लेकर जिह्वाग्रभाग इत्यादि करण जिसे उत्पन्न किया करते हैं उसे स्फोट कहते हैं । दूसरे लोग शब्दज शब्द को ध्वनि के नाम से पुकारते हैं ।'

[ उक्त ग्रन्थ का सन्दर्भ समझने के लिये वर्णोच्चारण प्रक्रिया पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है । शब्द के विषय में तीन मत हैं—( १ ) शब्द अनित्य होते हैं । ये उत्पन्न और विनष्ट हुआ करते हैं । अन्य द्रव्यों के समान उनकी भी जाति होती है । यह सिद्धान्त है न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का । ( २ ) वर्ण नित्य होते हैं, ये वर्ण ही शब्द का निर्माण किया करते हैं । उन्हीं का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है जिसे शक्ति कहते हैं। यह सिद्धान्त है मीमांसा, वेदान्त, साख्य और योगदर्शनों का । ( ३ ) वैय्याकरणों का स्फोटवाद अथवा अखण्डता

## तारावती

का सिद्धान्त । ये लोग ब्रह्म के समान समस्त वर्णों की एकता तथा अखण्डता को मानते हैं । इसके सिद्धान्त का परिचय पहले दिया जा चुका है । प्रस्तुत लोचन नैय्यायिको के उत्पत्तिवाद को मानकर लिखा गया है । अतः इस प्रकरण को ठीक रूप में समझने के लिये नैय्यायिकों का उत्पत्तिवाद समझ लिया जाना चाहिये । नैय्यायिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं क्योंकि शब्द के कारण होते हैं, कारण से उत्पन्न होनेवाले पदार्थ अनित्य हुआ करते हैं । शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होता है, इन्द्रिय ग्राह्य सभी तत्व अनित्य होते हैं जैसे रूप इत्यादि अनित्य हुआ करते हैं । कार्यवस्तुओं के समान मन्दतीव्र इत्यादि व्यवहार शब्द के विषय में भी हुआ करता है । इन्हीं कारणों से शब्द कृतक अथवा अनित्य माना जाता है । इस शब्द को उत्पन्न करनेवाले दो कारण होते हैं—संयोग और विभाग । जैसे मृदङ्ग और हाथ के संयोग से, अथवा मुगरी और घण्टा के संयोग से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे संयोगज शब्द कहते हैं । बांस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे विभागज शब्द कहते हैं । किन्तु जहाँ पर शब्द उत्पन्न होता है उससे कर्णेन्द्रिय कुछ न कुछ दूर तो होती ही है। अतः शब्ददेश में ही कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं कर सकती । जिस प्रक्रिया के द्वारा शब्द श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचता है उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं—वीचीतरङ्ग न्याय और कदम्बमुकुल न्याय । वीचीतरङ्ग न्याय का आशय यह है कि जिस प्रकार किसी सरोवर मे एक छोटा सा पत्थर का टुकड़ा फेंक दिया जावे तो सरोवर मे लहरे उत्पन्न हो जाती है। पहले गोलाकार एक लहर उत्पन्न होती है फिर दूसरी, फिर तीसरी इसी क्रम से सारा सरोवर लहरों से भर जाता है । इसी प्रकार वायुमण्डल में जब शब्द प्रविष्ट होता है तब उसकी लहरें एक के बाद दूसरी उठ कर कर्ण विवर तक पहुँचती हैं जहाँ ग्राहक यन्त्र के द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है । दूसरा न्याय है कदम्बमुकुल न्याय । जैसे कदम्ब मुकुल के केतु-शीर्षमें एक कलीसी होती है जिससे एक वृत्त सा बनकर समस्त मुकुल को आवेष्टित कर लेता है । यही शब्द की भी दशा है । वस्तुतः वीचीतरङ्ग न्याय ही ठीक है क्योंकि उसमें शब्द की एकता अक्षुण्ण बनी रहती है । जलधारा में उठनेवाली तरंगें एक ही होती हैं किन्तु कदम्ब की कलियों में वैसी एकता नहीं होती । अतः आचार्यों ने वीचीतरङ्ग न्याय को ही स्वीकार किया है कदम्बमुकुल न्याय को नहीं । वीचीतरङ्ग न्याय से उत्पन्न होनेवाले शब्द को शब्दज शब्द कहते हैं । उत्पत्ति वादियों के अनुसार शब्द के दो भेद है ध्वनि और वर्ण । भेरी इत्यादि के अभिघात से उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते हैं और कण्ठताल्वादि के अभिघात से उत्पन्न शब्द वर्ण कहलाते है । इस सन्दर्भ में प्रस्तुत लोचन की व्याख्या करनी

## लोचन

प्रत्ययैरनुपाख्यायैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिणामेष्वपि सत्सु । यथोक्तम्—

'उपाख्यान में अशक्य तथा ( स्फोट के ) ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से ध्वनि के द्वारा प्रकाशित किये हुये शब्द में स्वरूप का अवधारण किया जाता है ।'

इससे व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि शब्द से कहे गये हैं । और भी वर्ण के उतने परिमाण के होते हुये भी—जैसा कि कहा गया है—

## तारावती

चाहिये । 'श्रोत्रशष्कुली में शब्द सन्तान ( परम्परा ) से आते हैं' का आशय यह है कि शब्द वीचीतरङ्ग न्याय से कर्ण कुहरों में प्रविष्ट होकर ग्राहक यन्त्र के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं । 'शब्दज शब्द' की व्याख्या की ही जा चुकी । शब्दज शब्द का प्रत्यक्ष अनुभव घण्टानुरणन में होता है । घण्टे के बज चुकने के बाद जो उसमें एक प्रकार की झङ्कार होती रहती है वही शब्दज शब्द का स्वरूप है । कारिका में संयोग और वियोग का आश्रय लेकर साधनों के द्वारा शब्द के उत्पन्न होने की बात कही गई है । ये साधन ध्वनि में मृदङ्ग इत्यादि का अभिघात और वर्णों में कण्ठ तालु इत्यादि का अभिघात हो सकते हैं । ]

जिस प्रकार घण्टानाद में अनुरणनरूपता होती है और उस अनुरणन को ध्वनि संज्ञा से अभिहित किया जाता है उसी प्रकार ( शब्द और अर्थ से ) अनुरणन रूप में उपलक्षित होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है । ( इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थध्वनियाँ संगृहीत हो गईं । इनको उपलक्षण मान लेने पर सब प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का समावेश ध्वनि में हो गया । ) इसी प्रकार जो लोग ( वैय्याकरण ) शब्द को नित्य तथा अखण्ड मानते हैं उनका कहना है कि वायु संयोग के द्वारा वर्ण पृथक् पृथक् रूप में अभिव्यक्त होते हैं । इस प्रकार अभिव्यक्त होनेवाले वर्णों को नाद शब्द से अभिहित किया जाता है । ये वर्ण स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं और स्फोट का अभिव्यञ्जन तथा ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा हुआ करता है । यही बात भगवान् भर्तृहरि ने इसी प्रकार कही है:—

'स्फोट को ग्रहण करने के अनुकूल इस प्रकार के कुछ अन्तराल प्रत्यय होते हैं जिनके स्वरूप का वास्तविक विवेचन नहीं किया जा सकता । किन्तु उनके द्वारा ध्वनि से प्रकाशित किये हुये शब्द में स्फोट के स्वरूप को समझ लिया जाता है ।'

## तारावती

[ ऊपर कहा गया है कि स्फोट का ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा होता है। अन्तिम बुद्धि शब्द का आशय ठीक रूप मे समझ लेना चाहिये । एक नियम है शब्द बुद्धि और कर्म द्विक्षणावस्थायी होते हैं । ये प्रथम क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण मे स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण मे नष्ट हो जाते हैं । जिन प्रयत्नों का आश्रय लेकर एक वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार के दूसरे प्रयत्नों का आश्रय लेकर दूसरे वर्ण की उत्पत्ति होती है । अब मान लीजिये एक 'घट' शब्द है । इसमे चार वर्ण है 'घ' 'अ' 'ट' 'अ' । पहले 'घ' की उत्पत्ति होगी, यह पहले क्षण मे उत्पन्न होगा, दूसरे क्षण मे स्थित रहेगा । उसके स्थितिकाल मे ही दूसरे क्षण मे 'अ' की उत्पत्ति होगी । तीसरे क्षण में 'घ' नष्ट हो जावेगा, 'अ' स्थित रहेगा और 'ट' की उत्पत्ति होगी । फिर चतुर्थ क्षण मे 'अ' नष्ट हो जावेगा, ट स्थित रहेगा और अ की उत्पत्ति होगी जो कि पञ्चम क्षण में बना रहेगा और षष्ठ क्षण मे नष्ट हो जावेगा । वर्णनित्यता वादियों के मत मे उत्पत्ति का अर्थ होगा अभिव्यक्ति । इस प्रकार 'घट' शब्द पूर्ण रूप से कभी निष्पन्न हो ही नहीं सकता, इन वर्णों का सङ्घात कभी बनेगा ही नहीं । अब प्रश्न यह है कि फिर 'घट' पद से घट अर्थ का अवगम कैसे हो सकता है ? लम्बे वाक्यों का तो सांघातिक अवगमन और भी असम्भव हो जावेगा । फिर उनका अर्थबोध कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि इन वर्णों का नाश हो जाता है तथापि इनसे एक संस्कार उत्पन्न होता है। वह संस्कार स्थायी रहता है और दूसरे वर्ण के संस्कार से उसका योग होता है । इस प्रकार 'घट' शब्द के चारों वर्णों का सामूहिक संस्कार अन्तिम वर्ण 'अ' पर सन्निहित है जिससे सामूहिक भावना घटार्थ की अभिव्यञ्जिका होती है । यह इसी प्रकार होता है जैसे यज्ञादि कर्म जिस क्षण किये जाते है उसके दूसरे क्षण स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं । किन्तु उस कर्म से स्वर्ग इत्यादि की प्राप्ति बहुत समय बाद होती है । उसके लिये यह कल्पना की जाती है कि यज्ञ इत्यादि कार्यों से एक प्रकार के अदृष्ट की उत्पत्ति होती है और उस अदृष्ट से स्वर्ग इत्यादि फल कालान्तर मे प्राप्त होते हैं । स्फोट के अन्तिम वर्ण से ग्रहीत होने का यही आशय है । ]

इस सिद्धान्त का तत्व यह है कि नित्य तथा अखण्ड स्फोट की वर्णों के रूप मे व्यञ्जना वर्णों के रूप मे ध्वनि के द्वारा होती है । इस प्रकार व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं । इसी साम्य के आधार पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ ध्वनि कहे गये हैं । ध्वनि के प्रयोग मे एक और बात है—श्रोत्रेन्द्रिय से जितने वायु-संयोग के द्वारा वर्ण सुनाई पड़ जावे, उस वर्ण का वही परिमाण होता है । जैसा कि कहा गया है—

## लोचन

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ इति ।

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोह्यन्ते, स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति ।

'अल्प प्रयत्न के द्वारा उच्चारण किये हुये भी शब्द को बुद्धि या तो ग्रहण ही नहीं करती या सम्पूर्ण वर्ण को स्पष्ट रूपमें ग्रहण करती है ।'

उन उतने ही सुने जानेवाले वर्णों में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तिभेदात्मक अधिक व्यापार होता है वह ध्वनि कहा गया है । जैसा कि उन्हीं ने कहा है—

'शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में जो वैकृत ध्वनियाँ कारण होती हैं उनसे स्फोट रूप आत्मा में भेद नहीं आता ।'

## तारावती

'यदि प्रयत्न की थोड़ी भी कमी में शब्द का उच्चारण किया जावे तो उस शब्द को बुद्धि या तो ग्रहण ही नहीं करती या स्फुट रूप में समस्त वर्ण को ग्रहण नहीं करती ।'

आशय यह है कि वर्ण एक निश्चित परिमाण में ही ध्वनि के द्वारा सुनाई पड़ते हैं । उस प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से वक्ता का जो अतिरिक्त व्यापार होता है और जो कि द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तियों के भेद में कारण होता है उसे भी ध्वनि कहते हैं । जैसा कि उन्हीं ( भर्तृहरि ) ने कहा है—

'शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद मे वैकृत ध्वनियाँ प्रस्फुटित होती है किन्तु उनसे स्फोट की आत्मा में अन्तर नहीं आता ।

[ इस समस्त विवरण का आशय यह है कि—'ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्राकृत और वैकृत । प्राकृत ध्वनि 'कत्व' 'ह्रस्वत्व' 'आद्युदात्तत्व' इत्यादि धर्म-विशिष्ट होती है । यद्यपि स्फोट स्वयं प्रकाशमान होता है तथापि वह पिण्डीभूत वायुसंयोग से अवरुद्ध रहता है । इस अवरोध का निराकरणकर स्फोट को प्रकाशित करना ही प्राकृत ध्वनि का काम है । यह प्रकाशमान स्फोट ध्वनि से अभिन्न प्रतीत होता है । अतएव स्फोट एक होता है, नित्य होता है, व्यापक होता है और नाना प्रकार की ध्वनियों के स्वरूप से आक्रान्त होकर प्रकट हुआ करता है और जब यह पूर्व वर्णों के संस्कार से युक्त होकर अन्तिम वर्ण पर

## लोचन

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। वाव्यवाचकसंमिश्र इति। वाच्यवाचकसहितः सम्मिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इति-

'हमारे द्वारा भी अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप प्रसिद्ध शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार चारों ही ध्वनि होती हैं और उनके योग से समस्त काव्य ध्वनि (कहा जाता है।) इससे भेद और अभेद का व्यपदेश भी ठीक न हो यह बात नहीं है। 'वाच्यवाचकसम्मिश्र' इति। वाच्यवाचक सहित सम्मिश्र यह मध्यमपदलोपी समास है। 'गाम्, अश्वम्, पुरुषम्, पशुम्' के

## तारावती

अभिव्यक्त होता है तब अर्थबोध कराता है। प्राकृत ध्वनि को ही वर्ण कहते हैं। स्फोट कभी भी प्राकृत ध्वनियों से रहित प्रतीत नहीं होता। इसीलिये सूक्ष्म दृष्टि से विचार न करनेवाले नैय्यायिक लोग इस स्फोट की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। वैकृत ध्वनि का काम यह है कि यह प्राकृत ध्वनि के द्वारा प्रतीत होनेवाले वर्ण मे द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तिभेद कर देता है। कहा ही जाता है कि एक ही वर्ण अमुक व्यक्ति ने शीघ्र उच्चारण किया अमुक ने विलम्ब से किया। वीरों की, नई बहुओं की, क्रोध मे भरे व्यक्ति की ध्वनियों में जो पृथक्-पृथक् भेद होता है वह भेद भी वैकृत ध्वनि का ही होता है। वैकृत ध्वनिभेद होते हुये भी प्रकृत ध्वनिभेद नहीं होता; अतएव आकार इत्यादि की एकरूपता कही जाती है। वैय्याकरणाभिमत ध्वनि का यही सार है। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि उच्चारण की प्रक्रिया को भी ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार यहाँ पर तीन अर्थों मे ध्वनि का प्रयोग बतलाया गया है (१) नैय्यायिकों के अनुसार उत्पन्न होनेवाले शब्दज शब्दों के लिये। इस आधार पर साहित्यिक लोग व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि कहते है। इनमे साधर्म्य है प्रतीयमान अथवा उत्पद्यमान होना (२) वैय्याकरणों के मत मे स्फोट व्यङ्ग्य होता है और प्राकृत ध्वनि उसकी व्यञ्जना करती है। इस प्रकार ध्वनि व्यञ्जक होती है। इसी साम्य के आधार पर साहित्य शास्त्र मे व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं। यह व्यञ्जक दो प्रकार का होता है वाच्यार्थ और वाचक शब्द। (३) वैकृत ध्वनियाँ वृत्तिभेद में कारण होती हैं। इस साम्य के आधार पर व्यञ्जनाव्यापार को ध्वनि कहते हैं।]

इस प्रकार हम लोगों ने अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन शब्दव्यापारों से भिन्न व्यापार को ध्वनि संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जक शब्द,

## लोचन

वत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि । तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः; द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा । शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः । उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात् । अत एव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्यादिति । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः ।

समान विना चकार के ही समुच्चय हो जाता है । इससे वाच्य भी ध्वनि है, वाचक शब्द भी ध्वनि है दोनों की व्यञ्जकता होती है 'ध्वनित करता है' इस व्युत्पत्ति को मानकर । शब्द करना शब्द कहलाता है अर्थात् शब्दव्यापार; यह अभिधा इत्यादि रूप नहीं होता अपितु आत्मस्थानीय होता है, वह भी ध्वनन अर्थात् ध्वनि कहलाता है । 'काव्य' इस नामवाला जो अर्थ है वह भी ध्वनि होती है क्योंकि ध्वनि के उक्त चार प्रकारमय ही (काव्य) होता है । इसीलिये साधारण हेतु बतलाते हैं—'व्यञ्जकत्व साम्यादिति' व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सब पक्षों मे सामान्यरूप मे साधारण होता है यह अर्थ है ।

## तारावती

व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जना व्यापार इन चारों को ध्वनि कहते हैं । इन सब का संयोग होने के कारण समस्त काव्य को भी ध्वनि कहते है । विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होने के कारण भेद और अभेद दोनों का व्यपदेश करना उचित नहीं है यह बात नहीं। अर्थात् भेद और अभेद दोनों का व्यपदेश उचित नहीं है। 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' मे भेदव्यपदेश है क्योंकि काव्य शब्द मे षष्ठी और 'ध्वनिः' मे प्रथमा है । यहाँ व्यङ्ग्य व्यञ्जक इत्यादि ध्वनि के अर्थ हैं । अतः भेदव्यपदेश किया गया है । इसी प्रकार 'स ध्वनिः' मे दोनों शब्दो मे प्रथमा है । अतः अभेदव्यपदेश है ।

('वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः' इस वाक्य का एक दृष्टि में देखने पर सीधा अर्थ यह प्रतीत होता है कि 'वाच्य और वाचक से मिश्रित, शब्द आत्मावाले तथा काव्य इस नामवाले तत्व को व्यञ्जक की समानता के कारण ध्वनि कहा गया है ।' किन्तु लोचनकार ने इस वाक्य का और ही अर्थ लगाया है जिससे ध्वनि के सभी भेदों का इस वाक्य में समावेश हो जाता है । ) यहाँ पर सम्मिश्र एक पृथक्तत्व है, वाच्यवाचक शब्द के साथ उसका मध्यमपदलोपी समास हो जाता है । अर्थात् वाच्य वाचक से युक्त सम्मिश्र । शब्दात्मा एक पृथक् तत्व है और काव्यमितिव्यपदेश्यः

## ध्वन्यालोकः

न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

(अनु०) जो ध्वनि इस प्रकार की है और आगे चलकर किये जानेवाले भेदों उपभेदों से जिसका विषय महान् तथा व्यापक हो जाता है उसका प्रकाशन विशेष प्रकार के अप्रसिद्ध केवल अलङ्कारों के प्रकाशन के समान नहीं हो सकता। अतएव जिनके हृदयों में उस ध्वनि के प्रति ( अथवा अप्रसिद्ध अलङ्कारों के प्रति ) भावना भरी हुई है उनका उत्तेजित होना उचित ही है। उनके प्रति ईर्ष्या के कारण अपनी बुद्धि को कभी कलुषित नहीं बनाना चाहिये। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण होगा।

## तारावती

यह पृथक् तत्व है। यहाँ पर यद्यपि 'च' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि समुच्चय हो जाता है। जैसे 'मैं गाय, घोड़ा, पुरुष, पशु को जानता हूँ।' इस वाक्य मे यद्यपि 'और' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि सभी का समुच्चय हो जाता है। इस प्रकार वाच्य अर्थ को ध्वनि कहते हैं और वाचक शब्द को भी ध्वनि कहते है। दोनों व्यञ्जक होते हैं, दोनों अवस्थाओं में व्युत्पत्ति होगी, 'ध्वनति इति ध्वनिः'। सम्मिश्र अर्थात् व्यङ्ग्य को भी ध्वनि कहते हैं। सम्मिश्र शब्द का अर्थ है जो विभाव अनुभाव के सम्मिलन के द्वारा अवगत किया जावे इस प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ। इस अर्थ मे ध्वनि शब्द का प्रयोग करने पर व्युत्पत्ति होगी 'ध्वन्यत इति ध्वनिः।' अब 'शब्दात्मा' शब्द को लीजिये। शब्द का अर्थ है 'शब्दन' अर्थात् शब्दव्यापार। अतएव 'शब्दात्मा' शब्द का अर्थ हुआ ऐसा शब्दव्यापार जो आत्मा के रूप मे स्थित हो। ऐसा शब्दव्यापार अभिधा नहीं हो सकता अपितु व्यञ्जना हो सकता है क्योंकि वही काव्य की आत्मा है। इस प्रयोग मे ध्वनि की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वननं ध्वनिः'। जिस वस्तु के लिये 'काव्य' यह नाम दिया जाता है वह भी ध्वनि कहलाता है क्योंकि उसमें कोई ऐसा तत्व नहीं होता जो उक्त चारों प्रकारों से भिन्न हो। उक्त समस्त प्रकारों मे ध्वनि शब्द का प्रयोग वैय्याकरणों के अनुसार इस आधार पर होने लगा कि वैय्याकरण भी ध्वनि के द्वारा शब्द की व्यञ्जना मानते हैं और साहित्यिकों की ध्वनि मे भी मूल आधार व्यञ्जना ही है। आशय यह है कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का होना एक साधारण तर्क है जो सभी पक्षों मे सामान्य रूप में लागू होता

## लोचन

यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यादिति' तत्परिहरति—न चैवंविधस्येति । वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा—मुख्ये द्वे रूपे । तद्भेदा यथा—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य; असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तरभेदाः । महाविषयस्येति अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः । विशेषग्रहणेनाव्यापकत्वमाह । मात्रशब्देनाङ्गित्वाभावम् । तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकारणं चेतो येषामिति । अभाववादिन इति । अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः ।

और जो यह कहा गया कि 'वाणी के विकल्पों के अनन्त होने से' इत्यादि । उसका परिहास कर रहे है—न चैवं विधस्य इत्यादि । कहे जानेवाले प्रभेद जैसे—मुख्य दो रूप हैं । उनके भेद जैसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये अविवक्षितवाच्य के भेद हैं । विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये ( दो भेद हैं ) उसमे भी अवान्तर भेद होते हैं । 'महाविषयस्य' का अर्थ है समस्त लक्ष्य मे व्यापक । विशेष ग्रहण से अव्यापकता बतलाते हैं । मात्र शब्द से अङ्गित्व का अभाव ( बतलाते हैं ) उसमे अर्थात् ध्वनिस्वरूप मे भावित अर्थात् दे दिया गया है चित्त जिन लोगों का अथवा चमत्काररूप उस अलङ्कार के द्वारा भावित अर्थात् अधिवासित अतएव मुकुलित लोचनत्व इत्यादि विकार का कारण है चित्त जिनका । अभाववादी अर्थात् अवान्तर तीनों प्रकारों से भिन्न भी ।

## तारावती

है । आशय यह है कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सामान्यतया सभी पक्षों में साधारण रूप में पाया जाता है ।

अभाववाद के एक पक्ष मे जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि अनन्त वाग्विकल्पों मे ही एक साधारण अलङ्कार माना जा सकता है ।' अब उसका उत्तर दिया जा रहा है—'अपने भेद और उपभेदों के कारण, जिनका निरूपण आगे चलकर द्वितीय उद्योत मे किया जावेगा, ध्वनि का विषय महान् है ।' उसके प्रभेद इस प्रकार हैं—मुख्य रूप से ध्वनि के दो रूप होते हैं—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य । उनके उपभेद इस प्रकार हैं—अविवक्षितवाच्य दो प्रकार का होता है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य । विवक्षितान्यपरवाच्य भी दो प्रकार का होता है—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । उनके भी बहुत से अवान्तर भेद होते हैं । इस प्रकार ध्वनि का विषय महान् हो

## ध्वन्यालोकः

अस्ति ध्वनिः । स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन ।

(अनु०) ध्वनि है । वह सामान्यरूप से दो प्रकार की होती है अविक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपर वाच्य ।

## लोचन

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह—अस्तीति । उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्येऽप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति-सचेति । पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं

उनके प्रत्याख्यान का फल बतला रहे हैं—'ध्वनि है' इत्यादि । उदाहरण की पीठपर भाक्तत्व की शङ्का भी सरलता से हो सकती है और उसका परिहार भी सरलता से किया जा सकता है, इस अभिप्राय से भाक्तत्व और अलक्षणीयत्व के प्रथम परिहार योग्य होते हुये भी उनका प्रतिसमाधान न करके आगे आनेवाले उद्योत के अनुवाद के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेद निरूपण कर रहा है—स च इत्यादि । पाँचों प्रकार के ध्वनिशब्द के अर्थ मे 'जिसके द्वारा' 'जिसमे' 'जिससे' 'जिसको' 'जिसके लिये' इस बहुव्रीहि के अर्थ के

## तारावती

जाता है अर्थात् काव्य शब्द से जो कुछ भी अभिहित किया जाता है उस सबमें ध्वनि व्यापक रूप में रहती है ।' केवल विशेष प्रकार के अलङ्कारों मे उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।' इस वाक्य में 'विशेष' शब्द का अर्थ है कि अलङ्कार व्यापक नहीं होते जब कि ध्वनि काव्य में व्यापक होती है । 'केवल' शब्द का अर्थ है अलङ्कार केवल आभूषण ही हो सकते हैं वे अङ्गी (प्रधान) नहीं हो सकते । 'तद्भावितचेतसाम्' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—जिन लोगों ने ध्वनि के स्वरूप में अपना चित्त लगा दिया है उनके प्रति ईर्ष्यालु नहीं होना चाहिये । दूसरा अर्थ है—'ध्वनि को चमत्कार रूप मे समझते हुये जिन्होंने उसी आशय से अपने चित्तों को अधिवासित कर लिया है उनके नेत्र मुकुलित हो गये हैं उनके चित्तों में पक्षपात का विकार उत्पन्न हो गया है । अतः उनके प्रति अपनी बुद्धि को ईर्ष्या से परिपूर्ण नहीं बनाना चाहिये । (क्योंकि वास्तविकता को न समझ सकने के कारण वे बेचारे दया के पात्र है ।) इस प्रकार तीन अवान्तर प्रकारों मे विभक्त अभाववादियों का निराकरण हो गया ।

अभाववादियों का फलितार्थ बतलाया जा रहा है कि 'ध्वनि है' । अभाववाद

## लोचन

सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। वाच्येऽर्थे तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः। एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि। यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति। विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति। तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति। आश्रय से यथोचित रूप मे सामानाधिकरण्य की योजना सुविधापूर्वक की जा सकती है। ध्वनि वाच्यार्थ को कहते है, यह मानने पर वाच्यशब्द से स्वात्मा कहा जाता है, उससे अविवक्षित अर्थात् अप्रधान कर दिया गया है स्वात्मा जिसके द्वारा, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ (कहलाता है)। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य मे भी। अथवा कर्मधारय के द्वारा अर्थ करने के पक्ष मे अविवक्षित होते हुये जो वाच्य है। विवक्षितान्यपर होते हुये जो वाच्य है यहाँ उसमे अर्थ कदाचित् अनुपपद्यमान होने इत्यादि निमित्त के द्वारा अविवक्षित

## तारावती

के निराकरण कर देने से यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। अब दो प्रश्न शेष रह गये—(१) क्या ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा मे कर दिया जाना चाहिये? (२) क्या ध्वनि का लक्षण बनाना अशक्य है? इन दोनों पक्षों पर ही विचार करना है। किन्तु उदाहरण के आधार पर ही लक्षणापक्ष की स्थापना भी की जा सकती है और उसका उत्तर भी दिया जा सकता है। अतएव यद्यपि लक्षणापक्ष और अशक्यवक्तव्यपक्ष का परिहार पहले करना चाहिये तथापि इस प्रकरणप्राप्त विषय का अतिक्रमण करके उदाहरण देने की सुविधा के लिये वृत्तिकार ने ही ध्वनि के प्रमुख भेदों का पहले निरूपण किया है। ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण दूसरे उद्योत में विस्तारपूर्वक किया जावेगा। उसी का अनुवाद यहाँ पर कर दिया गया है कि ध्वनि दो प्रकार की होती है—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। (अविवक्षितवाच्य शब्द मे एक तो बहुव्रीहि समास हो सकता है और दूसरा कर्मधारय।) बहुव्रीहि द्वारा अर्थ करने मे तृतीया, सप्तमी, पञ्चमी, षष्ठी और चतुर्थी के अर्थों मे बहुव्रीहि मानकर ध्वनि के पाँचों अर्थों मे सामानाधिकरण्य की भलीभाँति योजना की जानी चाहिये। ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ भी होता है और अविवक्षितवाच्य मे 'वाच्य' शब्द का प्रयोग किया ही गया है। अतएव ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ होने पर वाच्य का अर्थ करना चाहिये 'अपनी आत्मा'। इससे 'अविवक्षितवाच्य' शब्द का अर्थ हो जावेगा—'अविवक्षित अर्थात् अप्रधान कर दिया है अपनी आत्मा को जिसने अर्थात् व्यञ्जक अर्थ।' 'अविवक्षितवाच्य' मे विभिन्न अर्थों मे

## लोचन

कदाचिदुपपद्यमान इतिकृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्य-महिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? सामान्येनेति। वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुभाभ्यामेवाभ्यां सङ्गृहीत इति भावः। होता है। कदाचित् उपपद्यमान होने के कारण विवक्षित ही होता है। व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति को तो अपने सौभाग्य की महिमा से कर देता है। अतएव यहाँ पर अर्थ प्रधानतया व्यञ्जक होता है। पहले तो शब्द (व्यञ्जक होता है)। (प्रश्न) विवक्षा और अन्यपरत्व ये विरुद्ध हैं? (उत्तर) अन्यथात्व के रूप मे विवक्षित होने में क्या विरोध है? 'सामान्य रूपमें' इति। आशय यह है कि वस्तु रस और अलङ्कारात्मक निस्सन्देह तीन प्रकार की भी ध्वनि इन दोनों ही भेदों के द्वारा संगृहीत हो गई है।

## तारावती

बहुव्रीहि करने पर ये अर्थ होंगे—(१) षष्ठी के अर्थ मे बहुव्रीहि—अविवक्षित है वाच्य जिसका अर्थात् वाचक शब्द, (२) तृतीया के अर्थ मे बहुव्रीहि—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य रूप स्वात्मा जिसके द्वारा अर्थात् वाच्य अर्थ। (३) सप्तमी के अर्थ में बहुव्रीहि—'अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसमे अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार (४) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसके लिये अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ। (५) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिससे अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार के वाच्य सामर्थ्य इत्यादि हेतु। इसी प्रकार विवक्षितान्यपर-वाच्य के भी विभिन्न अर्थ कर लेने चाहिये। अथवा कर्मधारय समास भी हो सकता है—अर्थात् जो अविवक्षित होते हुए वाच्य है। इसी प्रकार जो अन्य-परता के साथ विवक्षित है और वाच्य है। व्यञ्जनाव्यापार का आश्रय लेने पर वाच्यार्थ की दो स्थितियाँ हो सकती हैं—कहीं तो वाच्यार्थ का अनुपपन्न (असङ्गत) होना इत्यादि कुछ ऐसे हेतु होते हैं जिनसे वाच्य अविवक्षित हो जाता है। कहीं-कहीं वाच्यार्थ सङ्गत ही होता है, अतएव उसका कहना वक्ता को अभीष्ट ही होता है। किन्तु एक तो उस शब्द का प्रयोग नवीन भङ्गिमा के साथ किया गया होता है, दूसरे उस शब्द मे ही कोई ऐसी विशेषता विद्यमान होती है कि उससे एक नवीन अर्थ व्यक्त होने लगता है। इस प्रकार वह शब्द अपने सौभाग्य की महिमा से उस नवीन अर्थ को भी व्यक्त कर दिया करता है। अतएव वाच्यार्थ से लेकर व्यङ्ग्यार्थप्रतीति पर्यन्त उस शब्द का व्यापार चलता रहता है और वह शब्द अपने सौभाग्य की महिमा से व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति उत्पन्न किया करता है। प्रथम प्रकार की व्यङ्ग्यप्रतीति मे वाच्यार्थ अविवक्षित होता है, अतएव उसे अविवक्षित-

## लोचन

ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम् ? उच्यते—अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमितिध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जीवितम् ।

( प्रश्न ) उक्त नामों की पीठपर नये नामों के समावेश का क्या लाभ ! ( उत्तर ) बतलाते हैं—इन दोनों नामों के द्वारा ध्वननात्मक व्यापार में पूर्व प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक तीनों व्यापारों से अवगत होनेवाले अर्थ की प्रतीति से प्रतिपत्ता के अन्दर रहनेवाली और प्रयोक्ता की अभिप्रायरूपिणी विवक्षा का सहकारित्व बतला दिया गया है इस प्रकार नामों के द्वारा ध्वनि का स्वरूप ही प्रत्युज्जीवित कर दिया गया है ।

## तारावती

वाच्य कहते है और दूसरे प्रकार मे अन्य अर्थ ( व्यङ्ग्यार्थ ) के साथ वाच्यार्थ विवक्षित होता है, अतएव उसे विवक्षितान्यपरवाच्य कहते हैं । द्वितीय प्रकार मे अर्थ दूसरे अर्थ का अभिव्यक्त करता है अतः प्रधानतया अर्थ व्यञ्जक होता है किन्तु प्रथम प्रकार में अर्थ अविवक्षित होता है अतः प्रधानतया शब्द व्यञ्जक होता है । ( यहाँ पर महिम भट्ट ने एक प्रश्न उठाया है कि ) अर्थ विवक्षित भी है अर्थात् वाच्यार्थ का कथन अभीष्ट भी होता है और उसका वाच्यार्थ व्यतिरिक्त दूसरा भी अर्थ निकलता है, यह बात परस्पर विरुद्ध है । इसका उत्तर यह है कि इसमे क्या विरोध है कि एक शब्द अपने अर्थ को एक अन्य विशेष अर्थ के साथ कहता है ? मूल मे कहा गया है कि ध्वनि सामान्यतया दो प्रकार की होती है । यहाँ पर सामान्यतया का अर्थ यह है कि यद्यपि ध्वनि के तीन भेद किये गये थे वस्तु, रस और अलङ्कार । तथापि इन तीनों भेदों का संग्रह अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन्हीं दो भेदों मे कर दिया गया । ( प्रश्न ) पहले से ध्वनि के तीन नाम चलते ही थे वस्तु, रस और अलङ्कार । उन्हीं की पीठ पर ये दो नये नाम सन्निविष्ट कर देने से क्या लाभ ? ( उत्तर ) इन दो नामों के रखने का एक विशेष प्रयोजन है । यह बतलाया जा चुका है कि ध्वनि का एक अर्थ व्यापार भी है । उस व्यापार मे शब्द और अर्थ दोनों कारण होते हैं । जब प्रतिपत्ता ( श्रोता ) किसी शब्द को सुनता है तब उसको अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक पूर्व प्रसिद्ध तीनों व्यापारों से एक अर्थ की अवगति होती है । दूसरी ओर प्रयोक्ता ( वक्ता ) का अभिप्राय भी किसी विशेष अर्थ मे होता है जिसे वक्ता की विवक्षा कहते है । अभिधा इत्यादि तीनों व्यापारों से अवगत तथा श्रोता के

ध्वन्यालोकः

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

(अनु०) उनमे पहले ( अविवक्षितवाच्य ) का उदाहरण—

स्वर्ण को फूलनेवाली पृथिवी को तीन ही पुरुष प्राप्त कर पाते हैं—वीर, सफल और पूर्ण विद्यावाला तथा जो सेवा करना जानता है।

लोचन

सुवर्णपुष्पामिति। सुवर्णानि पुष्पयतीति सुवर्णपुष्पा। एतच्च वाक्यमेवासम्भवत्स्वार्थमितिकृत्वाऽविवक्षितवाच्यम्। तत एव पदार्थमभिधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन तमुपहत्य सादृश्यात् सुलभसमृद्धिसमाचारभाजनतां लक्षयति। तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपयनद्ध्वन्यत इति। शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः।

सुवर्णपुष्पाम् इत्यादि। सुवर्णों को जो फूलती है उसे सुवर्णपुष्पा ( कहते हैं ) यह वाक्य ही असम्भव स्वार्थवाला है इसलिये यह अविवक्षितवाच्य है। उसी से पदार्थ को कहकर और अन्वय को तात्पर्यशक्ति से अवगत कराकर बाधकवश उसको उपहतकर सादृश्य से सुलभसमृद्धिसम्भार की पात्रता को लक्षित करता है। उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, सफलविद्यावाले और सेवकों का प्राशस्त्य अशब्दवाच्यत्व के रूप मे छिपाया जाता हुआ होकर नायिका के कुचकलशयुगल के समान महार्घता को प्राप्त होते हुये ध्वनित करता है, इस प्रकार शब्द यहाँ पर प्रधानतया व्यञ्जक है और अर्थ तो उसकी सहकारिता के रूप मे ( गृहीत होता है )। इस प्रकार चार व्यापार हैं।

तारावती

अन्तःकरण मे विराजमान अर्थ का और प्रयोक्ता के अभिप्रेत विवक्षित अर्थ का परस्पर सहकार अवश्य होता है यही सिद्ध करने के मन्तव्य से यहाँ पर नये नाम रक्खे गये है। इस प्रकार नामों के द्वारा ही ध्वनि का स्वरूप भी प्रत्युज्जीवित कर दिया गया है।

अविवक्षित वाच्य का जो उदाहरण मूल मे दिया गया है उसके सुवर्णपुष्पा शब्द को लीजिये। इसका अर्थ है—'जो सुवर्ण को फूलती है।' यह पृथिवी का विशेषण है। अतएव पृथिवी पर लता का आरोप हो जाता है। न तो पृथिवी एक लता ही है और न किसी लता मे सोने के फूल ही आते हैं। इस प्रकार इस

तारावती

ने तरुणी के अधर-दशन का जो सुमधुर फल प्राप्त किया है वह ऐसी-वैसी तपस्या से प्राप्त नहीं हो सकता। लोक में बड़े से बड़े जितने भी तप प्रसिद्ध हैं वे इतना उच्चकोटि का फल नहीं दे सकते। न तो वह स्थान ही दृष्टिगत होता है जहाँ ऐसी तपस्या की जा सके, न इतना समय ही है और न ऐसी तपस्या ही प्रसिद्ध है। तपस्या के उत्तम से उत्तम स्थान श्रीपर्वत इत्यादि हैं जिनकी निर्विघ्न उत्तम सिद्धि प्रदान करने की प्रशंसा सुनी गई है। किन्तु वे भी इतनी बड़ी सिद्धि प्रदान नहीं कर सकते। संसार मे समय की गणना सीमित है जो स्वर्गीय सहस्र कल्प से आगे नहीं जाती। उतना समय भी इस सिद्धि के लिये पर्याप्त नहीं है। पञ्चाग्नि इत्यादि कुछ तपस्यायें भी सुनी गई है किन्तु इस प्रकार के उत्तम फल को देने-वाली कोई तपस्या ज्ञात ही नहीं है। 'तवाधरपाटलम्' में 'तव' शब्द पृथक् है; यदि यहाँ पर समास कर दिया गया होता तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाती। 'तुम्हारा दशन कर रहा है।' यह अभिप्राय व्यक्त नहीं हो पाता। अतएव कुछ लोगों का यह कहना ठीक नहीं है कि यहाँ पर छन्द की पूर्ति के लिये समास नहीं किया गया। आशय यह है कि यहाँ पर वक्ता मुख्यरूप से 'तव' शब्द पर जोर देना चाहता है। यों तो संसार मे सैकड़ों रमणियाँ है और अधिकतर बिम्बफल को उनके अधर की उपमा का सौभाग्य प्राप्त होता ही रहता है किन्तु 'तुम जैसी सुन्दरी' के अधर की उपमा का सौभाग्य निस्सन्देह एक बड़ी बात है जो साधारण तथा लोकप्रसिद्ध तपस्या का फल नहीं हो सकता। शुकशावक इसीलिये धन्य है कि वह 'तुम्हारा' अधर दशन कर रहा है। यह आशय तभी व्यक्त हो सकता है जबकि 'तव' शब्द को पृथक् रक्खा जावे। यदि समास कर दिया गया होता तो 'त्वत्' शब्द अधर का विशेषणमात्र बन कर रह जाता और वास्तविक व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति न कर पाता और इस पद्य मे विधेयाविमर्श दोष आ जाता। [ विशेष्य से विशेषण के किसी विशेष सम्बन्ध को लेकर उसका क्रिया से अन्वय हो जाता है जैसे वैदिक वाक्य 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' में 'गो' से अन्वित आरुण्य का साध्यता इत्यादि सम्बन्ध से क्रयण मे अन्वय हो जाता है और 'धन-वान् सुखी' इस लौकिक वाक्य मे 'मतुप्' के अर्थ से अन्वित धन का प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से सुख मे अन्वय हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर अधर से अन्वित त्वत्सम्बन्धित्व का बिम्बफलकर्मक दशन मे प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से अन्वय हो जाता है। आशय यह है कि बिम्बफल तुम्हारे अधर की उपमा प्राप्तकर अपने को सौभाग्यशाली समझता है और शुकशावक प्रधानरूप तुम्हारे अधर को ही दृष्टिगत रख सादृश्य के कारण बिम्बफल का दशन कर रहा है। यही 'तव' के न्यस्तरूप मे

## लोचन

अत्र च त्रय एव व्यापाराः—अभिधा, तात्पर्यं, ध्वननं चेति । मुख्यार्थबाधाद्यभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात् । यदि वाकस्मिकविशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये । तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तत्तुर्यकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि । इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती । वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्तेः केवलं

यहाँ पर तीन ही व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन । क्योंकि मुख्यार्थबाध इत्यादि के अभाव में तीसरी ( वृत्ति ) लक्षणा का अभाव है । अथवा आकस्मिक विशिष्ट प्रश्न के अर्थ की अनुपपत्ति से मुख्यार्थबाध में सादृश्य से बीच में लक्षणा हो जावे । उसका तो प्रयोजन ध्वन्यमान ( प्रधानीभूत व्यङ्ग्यार्थ ) ही हैं । वह चौथी कक्ष्या मे निविष्ट होनेवाला है । केवल पहले लक्षणा ही प्रधान ( तथा ) ध्वननव्यापार में सहकारी है । यहाँ तो अभिधा और तात्पर्यशक्ति प्रधान हैं । वाच्यार्थ सौन्दर्य से व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ति हो जाने से केवल अंशमात्र लक्षणाव्यापार

## तारावती

पढ़ने का विशिष्ट अर्थ है ।] 'दशति' शब्द का अर्थ है स्वाद लेता है; चखता है । आशय यह है कि स्वाद ले-ले कर धीरे-धीरे चख रहा है । जिससे प्रबन्ध-विच्छेद नहीं होता । एक पेटू के समान सभी कुछ खा नहीं डालता । यदि पेटू के समान सभी कुछ खा जावे तो आस्वाद्य वस्तु शीघ्र ही समाप्त हो जावे और स्वाद लेने के लिये उसे कुछ शेष न रहे । किन्तु यह शुकशावक तो रसज्ञ है; रस ले-ले कर चख रहा है । जिस प्रकार उसको तुम्हारे अधर-दशन का सौभाग्य किसी अनुपम तपस्या के फल के रूप मे मिला है उसी प्रकार रसज्ञता भी तपस्या का ही फल है । 'शुकशावक' शब्द से व्यक्त हो जाता है कि यह भी तपस्या का ही फल है जो कि उसे तारुण्य के कारण उचित समय मे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो गया । इससे व्यक्त होता है कि वक्ता अनुराग से भरा हुआ है; उसके हृदय में नायिका के अधरपान की उत्कट अभिलाषा छिपी हुई है, वह औचित्य का परित्याग न करते हुये विदग्धता के साथ अपने अभिप्राय को प्रकट करना चाहता है । इसीलिये चाटुकारिता के इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है जिससे रति की आलम्बनभूत नायिका को उद्दीपन हो जावे जो कि उसकी अभिलाषा के अनुकूल हो । यहाँ पर चाटुकारिता ही नायिका के लिये उद्दीपन है ।

प्रथम भेद (अविवक्षितवाच्य) में चार व्यापार थे—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना । यहाँ पर केवल तीन ही व्यापार हैं । लक्षणा की तीनों शर्तें मुख्यार्थबाध इत्यादि यहाँपर नहीं मिलतीं । अतएव तीसरा व्यापार लक्षणा यहाँपर नहीं होगा

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या विभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं विभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वान्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।

(अनु०) जो यह कहा गया था कि 'भक्ति ध्वनि है' इसका प्रति समाधान किया जा रहा है :—

'दोनों में रूप भेद होने से भक्ति से ध्वनि एकरूपता को धारण नहीं करती।'

यह ध्वनि जिसके प्रकार ऊपर बतलाये जा चुके हैं भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करती क्योंकि दोनों का रूप भिन्न होता है। जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्य से प्रकाशन हो वहाँ व्यङ्ग्य को प्रधानता में ध्वनि होती है। भक्ति तो केवल उपचार को कहते हैं।

लोचन

लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये तु लक्षणा सन्मुन्मेषमात्रमपि नास्ति। असंलक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः ॥ १३ ॥

अतएवोभयोदाहरणपृष्ठ एव लाक्षणिकाहुरित्यनुभाष्य दूषयति। अयं भावः—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्तादृप्यम्? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया, लक्षणम्? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम्? तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—भक्त्या विभर्तीति। उक्तप्रकार इति पञ्चस्वर्थेषूपयोज्यम्—

का उपयोग भी है यह कहा गया। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में तो लक्षणा का सन्मुन्मेषमात्र भी नहीं है क्योंकि क्रम का संलक्षित न होना ही (उसमें कारण है) यह हम कहेंगे। इसलिये द्वितीय भेद में भी चार ही व्यापार होते हैं ॥१३॥

अतएव दोनों उदाहरणों की पीठ पर ही 'लाक्षणिक कहते हैं' यह अनूदित करके दूषित करते हैं। भाव यह है—भक्ति और ध्वनि क्या पर्याय के समान तद्रूप होती हैं? अथवा पृथिवीत्व के समान पृथिवी से अन्यत्र व्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण लक्षण है? अथवा देवदत्त के घर के कौवे के समान सम्भवमात्र होने से उपलक्षण है? उनमें प्रथम पक्ष का निराकरण कर रहे हैं—

भक्त्या विभर्ति इत्यादि। 'उक्त प्रकार' इस शब्द को पाँचों अर्थों में लगाना

## तारावती

अथवा यहाँ पर किसी न किसी प्रकार मुख्यार्थ बाध की कल्पना की जा सकती है—नायक ने अकस्मात् उस तरुणी से ऐसा विशिष्ट प्रश्न क्यों कर दिया? शुकशावक तो बिम्बफल का स्वाद लिया ही करते है, क्या उसके लिये इतनी बड़ी तपस्या की आवश्यकता है? इत्यादि प्रश्नों के उत्पन्न होने से मुख्यार्थबाध हो जाता है। उससे नायिका का सौन्दर्यातिरेक लक्ष्यार्थ के रूप में गृहीत होता है, जिसका प्रयोजन है चाटुकारिता के समक्ष अपनी अधरपान की इच्छा को व्यक्त करते हुये नायिका को उद्दीप्त कर तैय्यार करना। यह प्रयोजन चौथी कक्ष्या मे सन्निविष्ट हो जाता है जो व्यञ्जनाव्यापार-गम्य है। इस प्रकार मध्य मे लक्षणा मानी जा सकती है। अविवक्षितवाच्य से इसमें भेद यह है कि अविवक्षितवाच्य के उदाहरण मे लक्षणा ही प्रधानतया व्यञ्जनाव्यापार में सहकारिणी थी किन्तु यहाँपर अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ प्रधान रूप मे सहकारिणी होती हैं, क्योंकि वाक्यार्थसौन्दर्य से ही व्यङ्ग्य की प्रतिपत्ति हो जाती है, लक्षणा व्यापार का उपयोग तो लेशमात्र होता है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सर्वत्र विवक्षितान्यपरवाच्य मे लक्षणा दिखलाई जा सकती है? उत्तर है नही। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य मे तो लक्षणा का उन्मेषमात्र भी नहीं होता। क्योंकि उसमे कोई क्रम लक्षित किया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार इस दूसरे भेद में भी चार ही व्यापार होते हैं।

ऊपर दोनों उदाहरणो में लक्षणा का समावेश दिखलाया गया। अतएव 'उस ध्वनि को कुछ लोग भाक्त (लक्षणागम्य) बतलाते हैं' इस पक्ष का उल्लेख कर उसमे दोष दिखलाये जा रहे हैं। जिस लक्षणापक्ष का अग्रिम प्रकरण मे खण्डन किया गया है उसकी विवेचना से यह साराश निकलता है कि लक्षणा के अन्दर ध्वनि का अन्तर्भाव करने में तीन विकल्प हो सकते है—(१) ध्वनि और लक्षणा दोनों एक ही वस्तु हैं, एक वस्तु के दो नाम रख दिये है लक्षणा और ध्वनि, दोनों एक दूसरे के पर्यायवाचक शब्द है। (२) भक्ति या लक्षणा ध्वनि का लक्षण है। लक्षणा का उपयोग यह होता है कि वह किसी एक वस्तु को अन्य समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है। जैसे पृथिवीत्व या गन्धवत्त्व। यह लक्षण पृथ्वी को जल इत्यादि शेष समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है। प्रश्न यह है कि क्या इसी प्रकार भक्ति या लक्षणा भी ध्वनि का लक्षण अथवा व्यावर्तक धर्म है। (३) क्या भक्ति सत्तामात्र से ही ध्वनि का उपलक्षण होती है। जैसे कौआ अपनी सत्तामात्र से ही देवदत्त के घर का परिचायक होता है। (किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कहाँ है?' दूसरे ने उत्तर दिया कि 'वह जहाँ कौआ बैठा है।' यहाँ कौआ देवदत्त के घर का परिचायक है।) क्या इसी प्रकार लक्षणा भी ध्वनि

## लोचन

शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च। रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह–वाच्येति। तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत्। प्रकाशनं द्योतनमित्यर्थः। उपचारमात्रमिति। उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः। मात्रशब्देनेदमाह–यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्।

चाहिये—शब्द अर्थ व्यापार व्यङ्ग्य और समुदाय में। रूपभेदको दिखलाने के लिये ध्वनि के रूप को कहते है—वाच्य इत्यादि। 'तात्पर्येण' का अर्थ है विश्रान्तिधाम होने के कारण प्रयोजन के रूप मे। 'प्रकाशनं' का अर्थ है द्योतन। 'उपचारमात्र' इति। उपचार गुणवृत्ति को कहते हैं अर्थात् लक्षणा। उपचरण अर्थात् अतिशयित व्यवहार मात्र शब्द से यह कहते हैं—जहाँ तृतीय लक्षणाव्यापार वस्तुस्थिति से सम्भव होते हुये भी अनुपयुक्त होने के कारण आदरणीय न होने के समान होता है। 'जिस अर्थ को लेकर' यह प्रयोजन का लक्षण है। वहाँपर भी लक्षणा है अतः किस प्रकार ध्वनन और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं?

## तारावती

की परिचायिका है? लक्षणापक्ष में यही तीन विकल्प सम्भव हैं। इनमें प्रथम पक्ष का निराकरण किया जा रहा है।

ध्वनि भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करती। ध्वनि का प्रकार बतलाया जा चुका है। यह बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार ५ अर्थों में होता है—शब्द, वाच्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और सबका समुदाय। इन सभी अर्थों में उक्त प्रकार की योजना करनी चाहिये। अर्थात् पाँचों अर्थों में ध्वनि और लक्षणा मे रूपभेद होता है यह समझना चाहिये। रूपभेद को समझाने के लिये आलोककार ने यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप बतलाया है—जहाँ शब्द और अर्थ किसी दूसरे वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ को तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित किया करते हैं और उसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता भी होती है उसे ध्वनि कहते हैं। तात्पर्य के द्वारा कहने का आशय यह है कि वक्ता के अभिप्राय की विश्रान्ति व्यङ्ग्यार्थ में ही होती है। अतः विश्रान्ति का स्थान होने के कारण प्रयोजन के रूप मे व्यङ्ग्यार्थ ही अभिव्यक्त होता है। प्रकाशन का अर्थ है द्योतन। यह हुई ध्वनि की बात। अब भक्ति को लीजिये। भक्ति केवल उपचार को कहते हैं। उपचरण का अर्थ है व्यवहार का अतिशायन। अर्थात् गुणों के आधार पर अथवा परम्परागत अत्यन्त व्यवहार के कारण जहाँ एक शब्द का ऐसे अर्थ मे प्रयोग किया जावे जो उस

ध्वन्यालोकः

माचैतत्स्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १४ ॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च । तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्।

(अनु०) यह न सही किन्तु भक्ति ध्वनि का लक्षण तो होती ही है । इस पर कहते हैं—'लक्षणा ध्वनि का लक्षण ( व्यावर्तक धर्म ) नहीं हो सकती, क्योंकि इससे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दो दोष आवेंगे ॥ १४ ॥

यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनि का व्यावर्तक धर्म लक्षणा है । यह कैसे ? ( उत्तर ) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण । उनमे अतिव्याप्ति इसलिये होगी कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी लक्षणा सम्भव है ।

लोचन

द्वितीयं पक्षं दूषयति—अतिव्याप्तेरिति । असाविति ध्वनिः । तयेति भक्त्या । ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—महत्सौष्ठवमिति । अत एव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद्व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति । यथोक्तम्—'समाधिरन्यधर्मस्य तत्राप्यारोपो विवक्षितः' इति दर्शयति । ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह—प्रसिद्ध्यनुरोधेति । परम्परया तथैव प्रयोगात् ।

द्वितीय पक्ष को दूषित करते हैं—अतिव्याप्तेः इत्यादि । वह अर्थात् ध्वनि । 'उससे' का अर्थ है भक्ति से । ( प्रश्न ) ध्वनन अवश्यंभावी है फिर तद्व्यतिरिक्त विषय कैसे हो सकता है ? यह कहते हैं—'महत् सौष्ठवम्' इति । आशय यह है कि प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यञ्जकत्व से कोई कार्य नहीं। 'महत्' शब्द के ग्रहण से वह गौण ही होता है । जैसा कहा गया है—'अन्य धर्म के कहीं आरोप को समाधि कहा जाना अभीष्ट है ।' यह दिखलाते हैं । प्रयोजन के अभाव मे वैसा व्यवहार कैसे होता है ? यह कहते हैं—'प्रसिद्ध्यनुरोध' इति । परम्परा से वैसा प्रयोग होने के कारण ।

तारावती

शब्द के वास्तविक अर्थ से सम्बन्ध रखता हो। 'केवल उपचार को लक्षणा कहते हैं' इस वाक्य में केवल शब्द का आशय यह है कि लक्षणा मे ही यह बात देखी जाती है कि जिस अर्थ मे शब्द प्रचलित न हो उस अर्थ मे उसका प्रयोग करना अर्थात् लक्षणा में जिस प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे मे प्रयोग किया जावे और प्रयोजन की प्रतिपत्ति व्यञ्जनागम्य हो वहाँ तो लक्षणा होती है । किन्तु लक्षणा

## तारावती

ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ लक्षणा के अतिरिक्त प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये चतुर्थ व्यापार व्यञ्जना वस्तुस्थिति के कारण उपस्थित तो हो किन्तु उसका उपयोग कुछ न हो रहा हो, अतः उसका आदर किया जा सके तथा उसका होना न होना एक जैसा हो। न्यायसूत्रकारने प्रयोजन का यह लक्षण दिया है—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस तत्व को लेकर कोई शब्द प्रवृत्त हो उसे प्रयोजन कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ प्रयोजनाभिव्यक्ति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लिया जाता है और ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। (इसीप्रकार ध्वनि ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ तात्पर्यानुपपत्ति के कारण लक्षणा का विषय हो और प्रयोजनज्ञान के लिये व्यञ्जना नामक चतुर्थ वृत्ति का आश्रय लिया जावे तथा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ वाच्यार्थ बाध इत्यादि हेतुओं के न होने के कारण लक्षणा का बीज न हो।) इस प्रकार जब लक्षणा के अभाव में व्यञ्जना और व्यञ्जना के अभाव में लक्षणा सम्भव है तब दोनों एक हो ही कैसे सकती हैं?

अब द्वितीय पक्ष का खण्डन किया जा रहा है—'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह उससे लक्षित नहीं होती।' 'यह' का अर्थ है ध्वनि और 'उससे' का अर्थ है लक्षणा के द्वारा। (प्रश्न) जब कि लक्षणा में ध्वनि का होना अनिवार्य है तब लक्षणा का विषय ध्वनि के अतिरिक्त कैसे हो सकता है?

(उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि कवि लोग ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं जिनमें व्यञ्जना होती तो है किन्तु उसके कारण कोई विशेष सुन्दरता नहीं आती। कहने का आशय यह है कि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति सर्वत्र होती है तथापि ध्वनिरूपता को प्राप्त करने के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि उसमें कुछ न कुछ निगूढता अवश्य रहे। किन्तु कुछ ऐसे भी स्थान होते हैं जहाँ प्रयोजन बिलकुल गूढ़ नहीं होता। उन शब्दों के उपचरित अर्थ में प्रयोग करने की परम्परा चल पड़ती है और कवि लोग स्वाभाविक रूप में उन शब्दों का प्रयोग करते चले जाते हैं तथा सुननेवालों को उसमें चमत्कार बोध नहीं होता। अतः वहाँ पर ध्वनि नहीं हो सकती। यदि हम यह लक्षण बनावें कि 'जहाँ लक्षणा हो वहीं ध्वनि हो सकती है।' तो लक्षणा होने से उन प्रसिद्ध स्थानों पर भी ध्वनि का लक्षण चला जावेगा जहाँ वस्तुतः नहीं जाना चाहिये। यही अलक्ष्य में लक्षण का घटित हो जाना रूप अतिव्याप्ति दोष कहा जाता है। वस्तुतः इसीलिये प्रयोजन के अनादरणीय होने के कारण व्यञ्जकता से वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं पूरी

ध्वन्यालोकः

यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपबलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्।

(अनु०) जहाँ व्यङ्ग्य के कारण बहुत बड़ी सुन्दरता नहीं आती वहाँ भी कवि लोग प्रसिद्धि के अनुरोध से आरोपित शब्दवृत्ति ( लक्षणा ) के द्वारा व्यवहार करते देखे जाते हैं जैसे—

'यह कमलिनी पत्रास्तरण स्तनों और जंघाओं के स्थूल होने के कारण उनका संसर्ग प्राप्तकर दोनों ओर अत्यन्त मलिन हो गया है किन्तु मध्य भाग के कृश होने के कारण उसका मिलन प्राप्त न कर हरा बना हुआ है। ढीली भुजलताओं के इधर-उधर फेंकने के कारण इसकी रचना अस्त-व्यस्त हो गई है। इस प्रकार यह आस्तरण उस कृशाङ्गी के सन्ताप को कह रहा है।

लोचन

वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः। उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः। वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम्। यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात्। गूढतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम्। अनेनैवाशयेन वक्ष्यति—यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति।

हम तो कहते हैं—अर्थ यह है कि प्रसिद्धि अर्थात् प्रयोजन की जो अनिगूढ़ता। भाव यह है कि उत्तान अर्थात् स्फुट अवभासमान रूप में वह प्रयोजन प्रकाशित होते हुये कोष के समान निगूढ़ता की अपेक्षा करता है। 'वदति' इसमें उपचार ( लक्षणा ) होनेपर निस्सन्देह स्फुटीकरण की प्रतिपत्ति प्रयोजन है। यदि अगूढ़ को स्वशब्द से कहा जाता तो क्या अचारुता हो जाती? अथवा गूढरूप मे वर्णन करने पर क्या अधिक चारुता उत्पन्न हो गई? इसी आशय से कहेगे—'क्योंकि जो दूसरी उक्ति से अशक्य होता है' इत्यादि।

तारावती

होती। 'व्यञ्जना मे अधिक सुन्दरता नहीं होती' इस वाक्य मे अधिक शब्द का आशय यह है कि ऐसे स्थान पर व्यञ्जना गुणीभूत होकर अलङ्कार का रूप धारण कर लेती है। समाधि अलङ्कार का लक्षण करते हुए जैसा कि कहा गया है—जहाँ अन्य धर्म का कहीं अन्यत्र आरोप विवक्षित हो उसे समाधि कहते हैं।

ध्वन्यालोकः

तथा-चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि।
विरमिअ पुणोरमिज्जइ पियोजणो णत्थि पुनरुत्तम्॥
[ शतकृत्वोऽवरुद्ध्यते सहस्रकृत्वः चुम्ब्यते।
विरम्य पुनारम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्॥ ] इतिछाया।
तथा-कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छित्त महिलाओ॥

(अनु०) उसी प्रकार :—

'अपने प्रियतम का सौ बार आलिङ्गन किया जाता है; हजार बार चुम्बन किया जाता है। रुक-रुककर रमण किया जाता है किन्तु वह पुनरुक्त नहीं होता।'

उसी प्रकार :—

'स्वैरिणी महिलाएँ चाहे कुपित हों चाहे प्रसन्न हों चाहे रो रही हों चाहे हँस रही हों, जिस रूप मे उन्हें ग्रहण करो उसी रूप में हृदय को हर लेती हैं।'

तारावती

(प्रश्न) जब दूसरे अर्थ मे दूसरे शब्द के प्रयोग में कोई प्रयोजन नहीं होता तब वैसा प्रयोग किया ही क्यों जाता है?

(उत्तर) किसी अन्य अर्थ मे अन्य शब्द के प्रयोग की परम्परा चल पड़ती है जिससे अभिधा के समान वैसा ही प्रयोग होने लगता है।

हम तो यह कहते हैं कि प्रसिद्ध का अर्थ ही है प्रयोजन का छिपा न होना, यद्यपि ध्वनिस्थल मे भी प्रयोजन सर्वथा अस्फुट नहीं होता। वह इस रूप में व्यक्त किया जाता है कि स्फुटरूप में अवभास के समान हो जाता है। तथापि उसमें कुछ न कुछ निगूढ़ता उसी प्रकार अपेक्षित होती ही है जिस प्रकार कोष को निगूढ रखने की आवश्यकता होती है।

अब प्रथम उदाहरण को लीजिये—'कमलिनी-पत्र की शय्या कह रही है' इस वाक्य में 'वदति' 'कहना' चेतन का काम है। शय्या कहने का काम नहीं कर सकती। अतः तात्पर्यानुपपत्ति से उसका अर्थ हो जाता है 'प्रकट कर रही है।' लक्षणा का प्रयोजन है—'स्फुटरूप मे प्रकट कर रही है।' यदि 'स्फुट प्रकट कर रही है' यही कह दिया जाता तो क्या असुन्दरता आ जाती? यदि 'कहती है' इस शब्द के द्वारा छिपा कर कहा गया तो क्या अधिक सुन्दरता हो गई? इस प्रकार अधिक सुन्दरता न होने से ध्वनि नहीं हो सकती, किन्तु लक्षणा है। इसीलिये अगली कारिका में कहेंगे कि ध्वनि का विषय वही होता है जो ऐसी चारुता को प्रकट करे जिसका प्रकट करना दूसरी उक्ति से असम्भव हो।'

ध्वन्यालोकः

तथा—

अज्जाएँ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो ज्जिअजाओ हिअए सवत्तणिम् ॥
[ भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥ इतिच्छाया ]

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितो
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवति शब्दः न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः ।

(अनु०) चौथा उदाहरण—

'प्रियतम ने अपनी नवोढा पत्नी के स्तनों पर उसकी नवलता के कारण एक हलका सा प्रहार प्रदान किया । वह प्रहार कोमल होते हुए भी सपत्नियों के हृदय मे असहनीय सा प्रतीत होने लगा ।'

पाँचवाँ उदाहरण—

'जो इक्षु दूसरे के लिये पीडा का अनुभव करता है, जो तोड़े जाने पर भी मधुर ही रहता है, जिसका विकार भी सभी को अभीष्ट होता है, यदि इस प्रकार का इक्षु नितान्त दूषित क्षेत्र मे पड़कर बढ़ न सका तो क्या यह इक्षु का दोष है ? क्या यह गुणहीन मरुभूमि का दोष नहीं है ?

यहाँ पर इक्षु पक्ष मे 'अनुभवति' शब्द ( में लक्षणा होती है किन्तु ध्वनि नहीं । ) इस प्रकार का प्रयोग ध्वनि का विषय कभी हो ही नहीं सकता ।

लोचन

अवरुन्धिज्जइ आलिङ्ग्यते । पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात् ।

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथागृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

'अवरुन्धज्जइ' इसका अर्थ है आलिङ्गन किया जाता है । 'पुनरुक्तम्' इससे अनुपादेयता लक्षित होती है, क्योंकि उक्त अर्थ असम्भव है ।

'कुपित, प्रसन्न, रोते हुये मुखवाली, विहँसती हुई जैसे भी ग्रहण की जावें वैसे स्वैरिणी महिलायें हृदय को हर लेती हैं ।'

## लोचन

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते। हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः।

तथा अज्जेति। कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडायोगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासौभाग्यलवप्राप्तानां हृदये दुस्सहो जातः, मृदुकत्वादेव। अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य न सम्पद्यते। दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम्। दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते।

यहाँपर ग्रहण के द्वारा अनुपादेयता लक्षित होती है; हरण से उसकी परतन्त्रता की प्राप्ति लक्षित होती है।

तथा अज्ज यह। कनिष्ठभार्या के स्तन पृष्ठ में नवलता के कारण कान्त के द्वारा उचित क्रीडा के योग से कोमल भी दिया हुआ प्रहार उस सौभाग्यसूचक क्रीडा के संविभाग को न प्राप्त करनेवाली सौतों के हृदय में दुस्सह हो गया, कोमल होने के कारण ही। अन्य का दिया हुआ मृदु प्रहार अन्य के लिये हो जाता है। और मृदु होते हुये भी दुस्सह, यह विचित्र है। दान से यहाँ फलवत्ता लक्षित होती है।

## तारावती

अब दूसरा उदाहरण लीजिये। 'प्रिय कभी पुनरुक्त नहीं होता' इसमें अवरुन्धिजह का अर्थ है 'आलिङ्गन किया जाता है।' पुनरुक्त कोई शब्द या वाक्य हो सकता है, मनुष्य कभी पुनरुक्त नहीं हो सकता। अतः बाध होकर लक्ष्यार्थ होता है—'प्रिय व्यक्ति कभी अनुपादेय नहीं होता।' यहाँपर पुनरुक्त कहने में ऐसी कौन सी सुन्दरता है जो अनुपादेय कहने में नहीं आती?

अब तीसरा उदाहरण लीजिये—ग्रहण कोई वस्तु की जाती है, सहिलायें ग्रहण नहीं की जा सकतीं। इसीप्रकार हरण किसी मूर्त द्रव्य का होता है, हृदय का हरण नहीं किया जा सकता। अतः बाध होकर ग्रहण और हरण का लक्ष्यार्थ क्रमशः 'उपादान' और 'अधीन कर लेना' होता है। ग्रहण और हरण इन दोनों शब्दों के प्रयोग में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो उपादान और अधीन करना इन दोनों शब्दों में विद्यमान नहीं है।

चौथा उदाहरण लीजिये—प्रियतम ने अपनी छोटी स्त्री के स्तनपृष्ठ पर उचित क्रीडा-प्रसङ्ग में उसकी नवलता तथा कोमलता का विचार करते हुये बहुत ही कोमल प्रहार किया था, किन्तु फिर भी जिन सौतों ने इस सौभाग्य सूचक क्रीडा-संविभाग को प्राप्त नहीं कर पाया उनके लिये वह कोमल भी प्रहार असह्य हो गया। क्योंकि कोमल प्रहार था।( कोमल प्रहार प्रेमका सूचक था। यदि प्रियतम ने जोर से मारा होता तो शायद सौतें प्रसन्न ही होतीं। ) यहाँपर अन्य के कोमल प्रहार किया गया था और अन्य पर उसका प्रभाव पडा, यह असङ्गति अलङ्कार है। यह

## लोचन

तथा परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयाऽनुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते, तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति । नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—न चैवं विध इति ।

उसी प्रकार—परार्थ इत्यादि । यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष की अपेक्षा से 'अनुभवति' शब्द मुख्य ही है; तथापि अप्रस्तुत इक्षु के प्रशंसा किये जाने पर पीडा के अनुभव से असम्भवता पीडावत्त्व लक्षित होता है और उसका पर्यवसान पीड्यमान मे होता है । यहाँ पर प्रयोजन है फिर ध्वनित क्यों नहीं होता ? यह शङ्का करके कहते हैं—नचैवंविध इत्यादि ॥ १४ ॥

## तारावती

आश्चर्य की बात है कि प्रहार कोमल किया गया था और हो असह्य गया, यह विरोधाभास है । दान किसी वस्तु का किया जाता है, प्रहार का दान करना असम्भव है । अतः प्रहार प्रदान किया का लक्ष्यार्थ है 'प्रहार किया' । लक्षणा का प्रयोजन है–'सफल प्रहार किया ।' 'प्रहार प्रदान किया' इन शब्दों मे ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो 'सफल प्रहार किया' इन शब्दो मे नहीं आ जाती ।

पाँचवाँ उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा या अन्योक्ति का है । 'इक्षु इतना गुणवान् होते हुये भी मरुभूमि मे वृद्धि को प्राप्त नही हो सका' यह अप्रस्तुत है, इससे प्रस्तुत अर्थ निकलता है–'यदि महापुरुष किसी बुरे स्थान पर पहुँच कर उन्नति न कर सके तो इसमे महापुरुष का क्या दोष ? इसमें तो उस स्थान का ही दोष है । यहाँपर 'अनुभवति' शब्द लक्षक है । अनुभव करना चेतन धर्म है । गन्ना कभी अनुभव नहीं कर सकता । अतः उसका लक्ष्यार्थ होता है–'गन्ना पीसा जाता है ।' यहाँपर 'पीडा का अनुभव करता है' इस कथन मे ऐसी कोई चारुता नहीं जो 'पीसा जाता है' कहने मे न हो।यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष के दृष्टिकोण से 'अनुभवति' शब्द मुख्य ही है तथापि जब कि अप्रस्तुत इक्षु की प्रशंसा की जाती है तब पीड़ा के अनुभव के साथ इक्षु के अन्वय की असम्भवता स्पष्ट ही है । उससे पीडावान् मे लक्षणा होती है और उसका पर्यवसान पीसे जाने मे होता है ।

( प्रश्न ) जब कि यहाँपर प्रयोजन विद्यमान है ।तब ध्वनि क्यों नहीं मानी जाती ।

( उत्तर ) इस प्रकार के विषय मे व्यङ्ग्यार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है इसलिये इसे हम ध्वनि नहीं कह सकते ॥१४॥

प्रस्तुत कारिका में इस बात का हेतु देते हुये कि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता मे भी

## ध्वन्यालोकः

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥ १५॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः।

(अनु०) इसमे कारण यह है :—

'ध्वनि की उक्ति का विषय वही शब्द हो सकता है जो व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेकर ऐसी चारुता प्रकाशित करे जो कि व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न किसी अन्य उपाय से प्रकाशित ही न की जा सके॥ १५॥'

यहाँ पर उदाहरण दिये हुये विषय में जिस शब्द में लक्षणा है वह किसी ऐसी रमणीयता की अभिव्यक्ति मे हेतु नहीं होता जो अन्य शब्द से व्यक्त न की जा सके।

### लोचन

यत उक्त्यन्तरेणेति। उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः। शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्। ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति—ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः। उदाहृत इति। वदतीत्यादौ।

'यत उक्त्यन्तरेण' इत्यादि। उक्त्यन्तरेण का अर्थ है ध्वनि के अतिरिक्त स्फुट शब्दार्थ व्यापार विशेष के द्वारा। 'शब्द' यह पाँचों अर्थों में जोड़ा जाना चाहिये। 'ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्' इति। अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा कहा जाता है। 'उदाहृत इति' वदति इत्यादि में।

### तारावती

ध्वनि क्यों नहीं होती? यह बतलाया गया है कि ध्वनि का विषय कौन सा शब्द होता है? 'दूसरी उक्ति के द्वारा' कहने का आशय यह है कि जिस चारुता को कोई शब्द केवल ध्वनि के आधार पर ही व्यक्त कर सके, विशेष प्रकार के वाच्य और वाचक के द्वारा वह चारुता व्यक्त न की जा सकती हो, वही शब्द ध्वनि का विषय होता है। यहाँपर शब्द के पाँचों अर्थ लेने चाहिये (१) 'शब्द्यते' अर्थात् जो प्रकथित किया जावे अर्थात् अर्थ। (२) 'शब्द्यतेऽनेन' जिसके द्वारा प्रकथन किया जावे अर्थात् शब्द (३) 'शब्दनं शब्दः' अर्थात् व्यापार (४) 'शब्द्यते' जो व्यक्त किया जावे अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ (५) इन सबका समुदाय। ये सब तभी ध्वनि का स्वरूप धारण करते है जब कि अन्य प्रकार से उसकी रमणीयता का अभिधान सम्भव न हो। 'ध्वनि उक्ति का विषय होता है' अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा पुकारा जाता है। 'उदाहरण दिये हुये विषय मे' अर्थात् 'वदति' इत्यादि स्थानों पर॥१५॥

यहाँ तक यह बात बतलाई गई कि जहाँ लक्षणा मे प्रयोजन की अभिव्यक्ति

## ध्वन्यालोकः

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

(अनु०) और भी—

जहाँ पर शब्द अपने विषय से भी भिन्न किसी दूसरे विषय में रूढ़ हो जाते हैं वे लावण्य इत्यादि शब्द प्रयुक्त होकर ध्वनि का स्थान कभी नहीं बनते ॥ १६ ॥

## लोचन

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वनन व्यापार इत्याह—किञ्चेति । लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः । यदाह—

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन होते हुये भी आदरास्पद नहीं होता उसमें कौन ध्वननव्यापार होता है ? यह कहकर जहाँ मूलतः प्रयोजन होता ही नहीं और उपचार होता है वहाँ भी कौन ध्वननव्यापार है ? यह कहते हैं—किञ्च इत्यादि । लावण्य इत्यादि जो शब्द अपने विषय लावण्यरसयुक्तत्व इत्यादि स्वार्थ से भिन्न हृद्यत्व इत्यादि में रूढ़ है और रूढ़ होने से ही तीनों ( लक्षणा-प्रयोजनों ) की सन्निधि के अपेक्षणरूप व्यवधान से शून्य हैं । जैसा कि कहा है :—

## तारावती

होती तो है किन्तु सौन्दर्य के लिये उसका उपयोग न होने के कारण वह अभिव्यक्ति व्यर्थ हो जाती है । अब यह बात बतलाई जा रही है कि कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ लक्षणा होती है किन्तु प्रयोजन होता ही नहीं । ( साराश यह है कि लक्षणा दो प्रकार की होती है—निरूढा तथा प्रयोजनवती । निरूढा लक्षणा उसे कहते है जो कि प्रयोग परम्परा के कारण अपने मूल अर्थ को सर्वथा छोड़कर रूढ शब्द बन जाती है । पहले-पहल किसी व्यक्ति ने किसी विशेष प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे अर्थ मे प्रयोग किया । बाद मे उसी के अनुकरण पर दूसरे लोगों ने विना उस प्रयोजन पर ध्यान दिये उस शब्द का उसी रूप मे प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार एक परम्परा चल पड़ी । धीरे-धीरे उस शब्द का मूल अर्थ तिरोहित हो गया और वह शब्द दूसरे अर्थ मे रूढ जैसा बन गया । उदाहरण के लिये कुशल शब्द को लीजिये । कुशल शब्द का मूल अर्थ है कुशों को बीननेवाला । वस्तुतः कुशों को बीनने मे एक प्रकार की निपुणता अपेक्षित होती है । कुशों के आस-पास और बहुत से तृण उग आते हैं । अतः कुशों के उपादान मे इस बात का ध्यान

तारावती

रखना पड़ता है कि कुशों के साथ और घास सम्मिलित न हो जावे। इसी आधार पर किसी ने कुशल शब्द का प्रयोग निपुण के अर्थ में कर दिया। बाद में लोग उसी अनुकरण पर सामान्यतया निपुण के अर्थ मे कुशल शब्द का प्रयोग करने लगे। यह प्रयोग इतना बढ़ा कि मूल अर्थ छूट गया और कुशल शब्द निपुण के अर्थ मे सामान्यतया रूढ हो गया। इस प्रकार प्रयोग-परम्परा के कारण जो शब्द अर्थान्तर मे रूढ हो गये है और जिनको सुनकर मूल अर्थ की प्रतीति नहीं होती उन्हे निरूढा लक्षणा कहते है। इनसे भिन्न जो लक्षणायें होती हैं उनमे अर्थान्तर मे शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन को लेकर होता है। उस प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। यह व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का होता है—एक तो ऐसा होता है कि यदि उसका अभिधान दूसरे शब्द के द्वारा किया जावे तो वह सुन्दरता नहीं आती जो लक्षणामूलक विशेष शब्द के प्रयोग से आती है। दूसरा ऐसा होता है कि उसका अभिधान दूसरे शब्द से करने पर भी रमणीयता मे कोई अन्तर नहीं आता। ध्वनि का क्षेत्र प्रथम प्रकार की ही प्रयोजनवती लक्षणा है द्वितीय प्रकार की नहीं। क्योंकि ध्वनि के लिये यह अनिवार्य है कि रमणीयता का पर्यवसान व्यङ्ग्यार्थ मे ही हो। पिछले पृष्ठों में कई उदाहरणों के द्वारा ऐसे स्थल दिखलाये जा चुके है जहाँ लक्षणा तो होती है किन्तु दूसरे शब्दों से भी कहे जाने की योग्यता रखने के कारण ध्वनि नहीं होती। अब निरूढा लक्षणा पर विचार किया जा रहा है जिसमे प्रयोजन बिल्कुल होता ही नहीं।) ऐसे स्थानों पर ध्वनन व्यापार का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ध्वनि का मूल प्रवृत्तिनिमित्त व्यञ्जना वहाँ पर होती ही नहीं।

(लावण्य शब्द का मूल अर्थ है लवणरसयुक्त। लवणरसयुक्त वस्तु प्रिय होती है। इसी साम्य के आधार पर इस शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में होने लगा है।) लावण्य इत्यादि शब्द अपने विषय लवणरसयुक्तत्व इत्यादि को छोड़ कर अपने अर्थ से भिन्न रमणीयता इत्यादि दूसरे अर्थों मे रूढ हो जाते हैं। क्योंकि वे रूढ होते हैं इसीलिये उनमे लक्षणा की तीनों शर्तें (स्वार्थबाध, स्वार्थसम्बन्ध और रूढि-प्रयोजनान्यतर) लागू नहीं होतीं। जैसे कि कहा भी गया है—'कुछ निरूढा लक्षणायें प्रयोग सामर्थ्य से अभिधा के समान हो गई हैं।' ये लक्षणायें जब अपने विषय से भिन्न उस (लक्ष्यार्थ) मे प्रयुक्त होती भी हैं तथापि ध्वनि का स्थान नहीं बनतीं। उनमे ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। शब्द की उपचरित वृत्ति का अर्थ है गौणीवृत्ति और लक्षणावृत्ति। 'लावण्य इत्यादि' मे इत्यादि शब्द का अर्थ है लावण्य शब्द ही नहीं अपितु इस के जैसे और बहुत से शब्द।

## लोचन

निरूढाः लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्। इति। ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति, न तत्र ध्वनिव्यवहारः। उपचरिता शब्दस्य वृत्तिः गौणी लाक्षणिकी चेत्यर्थः। आदिग्रहणेनानुलोम्यं, प्रातिकूल्यं, सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दाः लाक्षणिकाः गृह्यन्ते। लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम्। कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्। तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः। अन्यः पुनरुपचरित एव। न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः।

'कुछ निरूढा लक्षणायें सामर्थ्य से अभिधानवत् होती हैं।' वे अपने विषय से अन्यत्र उस विषय में प्रयुक्त होकर भी ध्वनि का स्थान नहीं होती। वहाँ पर ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। अर्थ यह है कि शब्द की उपचरित वृत्ति गौणी और लाक्षणिकी होती है। आदि ग्रहण से आनुलोम्य, प्रातिकूल्य, सब्रह्मचारी इत्यादि लाक्षणिक शब्द ग्रहण किये जाते हैं। लोमों के अनुगत अनुलोम मर्दन। कूल (तट) के प्रतिपक्षरूप मे स्थित धारा प्रतिकूल। तुल्य गुरुवाला सब्रह्मचारी यह मुख्य विषय है और तो उपचरित ही है। यहाँ पर किसी प्रयोजन के उद्देश्य से लक्षणा प्रवृत्त नहीं हुई है अतः तद्विषयक ध्वननव्यवहार नहीं होता।

## तारावती

जैसे अनुलोम, प्रतिकूल, सब्रह्मचारी। अनुलोम शब्द का मूल अर्थ है—'लोमों का अनुगमन करनेवाला।' सम्भवतः इस शब्द का पहला प्रयोग मालिश के लिये हुआ होगा। यदि रोमों की दिशा मे मालिश किया जावे तो अच्छा रहता है, यदि उससे विपरीत दिशा मे मालिश की जावे तो ठीक नहीं रहता। इसीलिये सम्भवतः अनुलोम मालिश का प्रयोग होता रहा होगा। बाद मे अनुलोम शब्द का प्रयोग ही 'अनुकूल दिशा मे' इस अर्थ में होने लगा। इसी प्रकार प्रतिकूल शब्द का मुख्यार्थ है कूल अर्थात् तट की दूसरी ओर। पहले यह शब्द नदी की धारा के लिये प्रयुक्त हुआ होगा कि नदी की धारा 'प्रतिकूल' अर्थात् तट की दूसरी ओर है। किन्तु बाद मे सभी विपरीत दिशा की वस्तुओं के लिये इस शब्द का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार साथी अर्थात् एक गुरु के पास पढनेवाले दो ब्रह्मचारियों को सब्रह्मचारी कहते होंगे बाद मे इस शब्द का प्रयोग किसी भी समान गुण रखनेवाले व्यक्ति के लिये होने लगा। (इसी प्रकार कुण्डल, मण्डप इत्यादि शब्दों के विषय मे समझना चाहिये।)

लोचनकार ने लिखा था कि निरूढा लक्षणा में लक्षणा की तीनों शर्तें लागू नहीं होतीं। इस पर श्रीमहादेव शास्त्री ने लिखा है—'वस्तुतः निरूढा लक्षणा स्थल

ध्वन्यालोकः

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

(अनु०) इन शब्दों में शब्द की उपचरितवृत्ति ( लक्षणावृत्ति ) होती ही है। इस प्रकार के विषय मे कहीं-कहीं मूल अर्थ सम्भव होते हुये भी उनमे ध्वनि व्यवहार दूसरे रूप मे प्रवृत्त होता है । उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

लोचन

ननु 'देवडिति लुणाहि पलुन्नम्मिगमिज्वालवणुज्ज्वलं गुमरिफोल्ल परण्य' ( ? ) इत्यादौ लावण्यादि शब्द सन्निधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः, सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात् । अपितु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव । अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना । तदाह—प्रकारान्तरेणेति । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः ॥ १६ ॥

( प्रश्न ) 'देवडिति लुणाहि पलुन्नम्मि गमिज्वालवणुज्वलं गुमरिफोल्लपराण्ण' इत्यादि मे लावण्य इत्यादि के सन्निधि में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है । ( उत्तर ) सच है किन्तु वह लावण्य शब्द से नहीं होती अपितु समग्र वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद ध्वननव्यापार से ही होती है। यहाँपर निस्सन्देह प्रियतमा मुख का ही समस्त दिशाओं का प्रकाशकत्व ध्वनित होता है । बस, बहुत की क्या आवश्यकता ? वह कहते हैं—प्रकारान्तरेण इत्यादि । अर्थात् व्यञ्जकत्व के द्वारा ही । उपचरित लावण्य इत्यादि शब्द के प्रयोग के द्वारा नहीं ।

तारावती

पर भी मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग की अपेक्षा होती ही है, केवल प्रयोजन अपेक्षित नही होता । नहीं तो लक्षणा का उत्थान ही नही हो सकता और अभिधा से भेद क्या रह जावेगा ? इसीलिये निरूढा लक्षणा के उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' इत्यादि मे काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि 'कुशग्रहण इत्यादि के अर्थ का प्रयोग न होने के कारण ।' यह उक्ति तभी सङ्गत होती है जब कि निरूढा लक्षणा में मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग अपेक्षित हो ।' मेरा निवेदन है कि जब किसी शब्द का अपने बाधित अर्थ मे प्रयोग प्रारम्भ होता है तब उसमे दो नहीं तीनों शर्तें विद्यमान होती है । किन्तु परम्पराप्रवाह मे जब लोग उसका शक्तिभ्रम से प्रयोग करने लगते हैं तब उसमे किसी भी शर्त की प्रतीति नहीं होती । जब कोई व्यक्ति व्याख्यान मे 'कुशल' इस शब्द का प्रयोग करता है तथा साधारण श्रोता को न तो इस बात का ही आभास होता है कि 'व्याख्या में कुश के उपादान का क्या अर्थ ?' अतः बाधित होकर यह शब्द निपुण अर्थ का प्रत्यायन करता है; विवेचकत्व रूप

ध्वन्यालोकः

अपिच—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १७ ॥

(अनु०) और भी—

'मुख्य ( अभिधा ) वृत्ति को छोड़कर गौणी ( लक्षणा ) वृत्ति से जिस फल की अभिव्यक्ति के लिये अर्थ का प्रत्यायन किया जाता है उस फल को द्योतित करने में शब्द की गति प्रस्खलित नहीं होती ।'

लोचन

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तथा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति होती है वहाँ-वहाँ ध्वनि होती है यह तो नहीं है । उससे यदि भक्ति ध्वनि का लक्षण है तो भक्ति के निकट सर्वत्र ध्वनि का व्यवहार हो जावेगा । इससे अतिव्याप्ति होगी । स्वीकार कर के भी हम कहते हैं—'हो, जहाँ-जहाँ भक्ति वहाँ-वहाँ ध्वनि । तथापि यद्विषयक लक्षणाव्यापार होता है

तारावती

साधर्म्य ही लक्षणा का बीज है और 'असत्य के लेश से रहित सत्य के ग्रहण का प्रत्यायन कराना' प्रयोजन है । इन बातों पर विना ही ध्यान दिये श्रोता 'कुशल' का निपुण अर्थ एकदम समझ जाता है । अभिधा से इसमे भेद यह है कि अभिधा में सङ्केत के माध्यम से किसी अर्थ मे शब्द की प्रवृत्ति होती है और निरूढा लक्षणा मे सर्वप्रथम बाधित होकर उपचरित वृत्ति से ही प्रवृत्ति होती है, बाद में वह शब्द अभिधायक जैसा बन जाता है । काव्यप्रकाशकार ने 'कुशग्रहणाद्य-योगात्' मूल प्रवृत्ति को लेकर कहा है और अभिनव गुप्त ने बोधकाल मे बाध इत्यादि के प्रतिसन्धान न होने की बात लेकर 'तीनों शते लागू नहीं होती' यह कहा है । अतः दोनों में कोई विरोध नहीं ।

(प्रश्न) कभी कभी कवि लोग चमत्कार का आधान करने के मन्तव्य से रूपक-श्लेष इत्यादि की योजना के लिये निरूढा लक्षणा के मूल अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित करते है।(इस विषय मे लोचन मे जिस प्राकृत गाथा का उदाहरण दिया गया है वह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है और न उसकी संस्कृतच्छाया का ही पता चलता है। अतः विहारी का यह दोहा इसका अच्छा उदाहरण है—'सगुण सलोने रूप की जुन चख तृषा बुझाइ ।' नमकीन पानी को कितना ही पीते चले जाओ उससे प्यास शान्त

## लोचन

ध्वननव्यापारः। न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः। धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते। तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः। ध्वननं च प्रयोजनविषयम्। न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः लक्षणासामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—

तद्विषयक ध्वनि-व्यापार नहीं होता। विभिन्न विषयवाले दो पदार्थों का धर्मधर्मी भाव नहीं होता। और धर्म ही लक्षण (होता है) यह कहा जाता है। उसमें लक्षणा तो अमुख्यार्थविषयक व्यापार होता है और ध्वनन प्रयोजनविषयक होता है। उसके विषय मे भी दूसरा लक्षणाव्यापार तो उचित नहीं है क्योंकि लक्षणा की सामग्री का अभाव है। इस अभिप्राय से कहते हैं—

## तारावती

होती ही नहीं। रूप भी नमकीन है, अतः उसको पीने में नेत्रों की प्यास बुझती ही नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर नमकीन (लावण्ययुक्त) अपने निरूढा लक्षणा के रूप मे ही नहीं लिया गया है अपितु चमत्कार उत्पादन के लिये कवि ने उसके मूल अर्थ की ओर संकेत किया है।) ऐसे स्थान पर निरूढ़ा लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती ही है फिर यह कैसे कह सकते हैं कि निरूढा लक्षणा मे व्यङ्ग्यार्थ होता ही नहीं। (उत्तर) यह सच है कि यहाँ पर निरूढा लक्षणा मे भी व्यङ्ग्यार्थ उपस्थित है, किन्तु वह केवल लावण्य (नमकीन) शब्द से ही अवगत नही होता अपितु सम्पूर्ण वाक्यार्थ प्रतीति के बाद व्यञ्जनाव्यापार से वह अर्थ आता है। यहाँ पर नेत्रों की प्यास न बुझने से ही नमकीन शब्द के मूल अर्थ की ओर सङ्केत होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि निरूढा लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता। अब इस विषय को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। इसीलिये मूल मे कहा है कि 'कहीं कहीं सम्भव होते हुये भी ध्वनिव्यवहार प्रकारान्तर से प्रवृत्त होता है।' आशय यह है कि लक्षणावृत्ति के आधार पर लावण्य इत्यादि शब्दों के प्रयोग से ही उस प्रकार की व्यञ्जना नहीं निकल सकती ॥१६॥

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि जहाँ-जहाँ लक्षणा हो वहाँ-वहाँ सर्वत्र ध्वनि अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है। अतएव यदि लक्षणा के द्वारा ध्वनि पहिचानी जाती है तो जहाँ-कहीं लक्षणा होगी वहाँ ध्वनि का व्यवहार होने लगेगा, यह अतिव्याप्ति दोष होगा। अथवा हम थोड़ी देर के लिये यह स्वीकार किये लेते हैं कि जहाँ-कही लक्षणा होती है वहाँ ध्वनि अवश्य होती है। तथापि हमे यह कहना है कि लक्षणाव्यापार का जो विषय होता है ध्वनिव्यापार का वही विषय नहीं होता। लक्षण उसे ही कहते हैं जो जिसमे नियमित रूप से रहता है। (जैसे गन्धवत्त्व नियमित रूप से पृथिवी के अन्दर रहता है अतः गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण

## लोचन

अपि चेत्यादि । मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयाऽर्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने तावद् द्वितीयो व्यापारः । न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा । न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः । तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनावस्थानात् । तेनायं लक्षणाया न विषय इति भावः । दर्शन-

अपि च इत्यादि । मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधाव्यापार को छोड़कर अर्थात् समाप्त करके लक्षणा रूप मे स्थित गौणीवृत्ति से अमुख्य अर्थ का दर्शन अर्थात् प्रत्यायन, वह जिस फल अर्थात् कर्मरूप मे स्थित प्रयोजन के उद्देश्य से किया जाता है उस प्रयोजन मे तो ( कोई ) अन्य व्यापार होता है। यह लक्षणा तो नहीं ही होती क्योंकि जिस शब्द की गति अर्थात् अवबोधन शक्ति स्खलित होनेवाली अर्थात् बाधक व्यापार से विधुर की जानेवाली हो उसके व्यापार को लक्षणा कहते हैं ? प्रयोजन का अवगमन करानेवाले शब्द का बाधक योग नहीं होता । क्योंकि ऐसा होनेपर वहाँ पर भी दूसरे निमित्त तथा दूसरे प्रयोजन के अन्वेषण से अनवस्था हो जावेगी । भाव यह है कि इससे यह लक्षणा का विषय नहीं होता । 'दर्शनम्' मे णिजन्त

## तारावती

है । ) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि असाधारण धर्म को ही लक्षण कहते हैं । लक्षण धर्म होता है और लक्ष्य धर्मी होता है । लक्षण-लक्ष्यभाव तभी बन सकता है जब कि दोनों का एक विषय हो । जिनका विषय भिन्न होता है उनका धर्म-धर्मी भाव बन ही नहीं सकता । अब लक्षणा और ध्वनि को ले लीजिये । लक्षणा का विषय होता है अमुख्य अर्थ, ( जैसे 'गङ्गायां घोषः' मे लक्षणा का विषय है अमुख्य अर्थ गङ्गातट ) इसके प्रतिकूल ध्वनि ( व्यञ्जना ) का विषय है । लक्षणा का प्रयोजन ( जैसे 'गङ्गायां घोषः' मे शैत्य पावनत्व इत्यादि ) इस प्रकार विषयभेद होने के कारण न इनका लक्ष्यलक्षणभाव बन सकता है न धर्म-धर्मीभाव । ( प्रश्न ) यहाँ पर दो लक्षणाव्यापार मानकर काम चल सकता है । प्रथम व्यापार के द्वारा तट में लक्षणा हो और द्वितीय व्यापार के द्वारा प्रयोजन में लक्षणा हो जावे । इस प्रकार दो लक्षणाव्यापारों को मानकर काम चल जावेगा, पृथक् व्यञ्जना तथा ध्वननव्यापार को मानने की क्या आवश्यकता रह जावेगी ? ( उत्तर ) दो लक्षणाव्यापार नहीं माने जा सकते क्योंकि लक्षणा की सामग्री द्वितीय बार उपस्थित नहीं है । इसी अभिप्राय से प्रस्तुत कारिका ( १७ वीं कारिका ) लिखी गई है । इसका आशय यह है—शब्द की मुख्यवृत्ति अर्थवा

## लोचन

मिति प्यन्तो निर्देशः। कर्तव्य इति। अवगमयितव्य इत्यर्थः। अमुख्यतेति। बाधकेन विधुरीकृतेत्यर्थः। तस्येति शब्दस्य।

निर्देश है। कर्तव्य इति। अर्थात् अवगत कराया जाना चाहिये। अमुख्यता इति। अर्थात् बाधक के द्वारा विधुर किया जाना। 'तस्य' का अर्थ है शब्द का।

## तारावती

प्रधान व्यापार अभिधाव्यापार ही है। लक्षणा करने में उस मुख्यवृत्ति का परित्याग कर दिया जाता है और गौणीवृत्ति से जिसका कि दूसरा नाम लक्षणा है, अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है। इस लक्षणा के द्वारा जिस अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है वह अर्थ भी मुख्य नहीं किन्तु अमुख्य (गौण) ही होता है। वह लक्षणा जिस फल अथवा प्रयोजन को लेकर की जाती है उस प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये किसी अन्य वृत्ति को न मानना अनिवार्य है। (कारिका में फल शब्द में कर्म का प्रयोग किया गया है। वैय्याकरणों के मत के अनुसार धातु के दो अर्थ होते हैं—फल तथा व्यापार। जैसे लकड़ी काटना एक क्रिया है, इसमें हाथ से कुल्हाड़ी उठाकर लकड़ी पर मारना व्यापार है, और लकड़ी के दो टुकड़े हो जाना फल है। जिसके अन्दर व्यापार रहता है उसे कर्ता कहते हैं और जिसके अन्दर फल रहता है उसे कर्म कहते हैं। प्रत्येक व्यापार का कोई न कोई फल अवश्य होता है। लक्षणा भी एक व्यापार है इसका भी फल होना चाहिये। अब प्रश्न यह है कि उस फल अथवा प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये कौन सा व्यापार माना जाना चाहिये? क्या यह भी लक्षणा ही है?) यह लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ शब्द की गति स्खलित हो जावे अर्थात् जहाँ शब्द की अवबोधनशक्ति किसी बाधकव्यापार के द्वारा कुण्ठित कर दी जावे। (जैसे प्रवाह में घर बन सकने की असम्भवनीयता के कारण जब शब्द की गति कुण्ठित हो जाती है तब उससे दूसरा अर्थ लिया जाता है।) किन्तु जब शब्द प्रयोजन का अवगमन कराने लगता है, तब उसमें शब्द की अवबोधनशक्ति कुण्ठित नहीं होती। (जैसे 'गङ्गातट पर घर' यह कहने में शब्द की शक्ति बाधित नहीं होती। यदि प्रयोजन के प्रत्यायन में भी बाधक योग तथा लक्षणाव्यापार माना जावेगा तो लक्षणाव्यापार की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी। जैसे प्रथम बार लक्षणा के लिए कोई सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक प्रयोजन माना जाता है। उसी प्रकार प्रयोजन की अवगति के लिये भी कोई नया सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इससे अनवस्था दोष होगा। (आशय यह है कि लक्षणा की तीन शर्तें होती हैं—(१)

## तारावती

मुख्यार्थबाध, ( २ ) मुख्यार्थ सम्बन्ध और ( ३ ) रूढि अथवा कोई प्रयोजन । यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये हम लक्षणा का सहारा लेंगे तो लक्षणा की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी । जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य में लक्षणा की तीनों शर्तें विद्यमान है—( १ ) प्रवाह मे घर नहीं बन सकता इससे गङ्गा के मुख्य अर्थ प्रवाह का बाध हो जाता है । ( २ ) तट का गङ्गा से सम्बन्ध है इससे गङ्गा शब्द से तट अर्थ ले लिया जाता है ( ३ ) गङ्गा तट के स्थान पर 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग गङ्गागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति के लिये किया गया है । यही बाधित प्रयोग का प्रयोजन है । अब इस प्रयोजन की प्रतीति के लिये हमें दूसरी बार लक्षणा करनी है । इस में लक्षणा की कोई भी शर्त नहीं मिलती ( १ ) एक तो गङ्गा का 'गङ्गातट' अर्थ मुख्य नहीं है, दूसरे 'गङ्गा तट पर घर' यह वाक्य असम्भव नहीं है, जिससे उसका बाध हो जावे । अतः पहली शर्त समाप्त हो गई । ( २ ) जिस प्रकार प्रवाह और तट का सम्बन्ध तट तथा शैत्य-पावनत्व का नहीं है । तट की अपेक्षा तो प्रवाह में ही अधिक शीतलता और पवित्रता होती है । अतः कोई ऐसा निमित्त दिखलाई नहीं पड़ता जिससे दूसरी बार लक्षणा हो सके । ( ३ ) शीतत्व और पावनत्व से भिन्न और प्रयोजन क्या होगा जिसके लिये यह लक्षणा की जानी चाहिये ? स्पष्ट ही है कि ऐसा कोई प्रयोजन विद्यमान नहीं है । अतः तीसरी शर्त भी जाती रही । एक बात और है—यदि कोई प्रयोजन ढूँढ भी निकाला जावे तो उसके प्रत्यायन के लिये भी वही सब सामग्री जुटानी पड़ेगी । फिर उसमें भी तीसरी शर्त प्रयोजन की होगी जिसके लिये पुनः सामग्री जुटानी पड़ेगी । यही अनवस्था दोष है जिसके कारण मूल रूप मे ही प्रयोजन में लक्षणा का निराकरण हो जाता है । ) इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रयोजनप्रतिपत्ति लक्षण-लक्षणा का विषय नहीं है। ( लक्षणा दो प्रकार की होती है उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा । उपादान-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ लक्ष्यार्थ के साथ शक्यार्थ का भी परित्याग नहीं होता । इसे ही अजहत्स्वार्था लक्षणा कहते हैं । जहाँ शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर लक्ष्यार्थ सर्वथा भिन्न रूप मे लिया जाता है उसे लक्षणलक्षणा या जहत्स्वार्था लक्षणा कहते हैं । 'गङ्गायां घोषः' मे उपादान-लक्षणा नहीं है क्योंकि यहाँपर प्रवाह अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है । लक्षणलक्षणा का विषय भी शैत्य पावनत्व इत्यादि नहीं अपितु तट ही है ।) कारिका मे 'अर्थदर्शनम्' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसमे दर्शन शब्द 'दृश्' धातु से णिच् होकर ल्युट् प्रत्यय होने से बना है । अर्थात् इसका आशय है अर्थ का दिखलाया जाना ( देखा जाना नहीं ) सारांश यह है कि मुख्य वृत्ति को छोड़कर जिस फल के उद्देश्य से

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्।

(अनु०) प्रयोजन का लक्षण है ऐसे अर्थ को प्रकाशित करना जिसमें सौन्दर्य की विशेषरूप से अधिकता हो। यदि उसके प्रकट करने में शब्द की मुख्यवृत्ति का आश्रय लिया जावे तो उसका प्रयोग ही दूषित हो जावे। किन्तु ऐसा होता नहीं।

लोचन

दुष्टतैवेति। प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः? उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सामग्र्यभावात्। न च नास्ति व्यापारः। न चासावभिधा समयस्य तत्राभावात्। यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः। न चैवमिति। न च प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविघ्नेनैव

दुष्टतैव इति। प्रयोजन के अवमनन की सुविधापूर्वक निष्पत्ति के लिये उस अमुख्य अर्थ मे शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि 'सिंहो वटुः' मे शौर्य के अवगमन कराये जाने का लक्ष्य होनेपर शब्द की गति का स्खलन हो जावे तो उस प्रतीति को उत्पन्न नहीं करेगा फिर उसका प्रयोग ही किसलिये (किया गया)? उपचार (अमुख्य वृत्ति-लक्षणा) के द्वारा कर देगा तो वहाँपर भी दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण करना पडेगा; वहाँपर भी उपचार (मानना होगा) यह अनवस्था आ जावेगी। यदि वहाँपर गति का स्खलन न माना जावे तो प्रयोजन का अवगमन कराने मे लक्षणा नामक व्यापार नहीं होगा क्योंकि उसकी सामग्री नहीं है। यह बात नहीं है कि वहाँ (कोई) व्यापार न हो। वह अभिधा है नहीं क्योंकि वहाँ सङ्केत नहीं है। लक्षणा और अभिधा के अतिरिक्त जो व्यापार है वही ध्वननव्यापार है। न चैवमिति। इस प्रकार के प्रयोग में कोई दुष्टता नहीं ही है क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति विना विघ्न के ही हो जाती है। इससे अभिधा

तारावती

गौणीवृत्ति के द्वारा अर्थ दिखलाया जाता है उसमे शब्द की गति स्खलित नहीं होती।' वृत्ति मे लिखा है—'यदि प्रयोजन करने मे शब्द की अमुख्यता हो तो उसके प्रयोग मे दुष्टता ही आ जावेगी' इस वाक्य मे 'करने मे' शब्द का अर्थ है 'अवगमन कराने मे', 'अमुख्यता' का अर्थ है बाधक के द्वारा कुण्ठित कर देना और

## लोचन

प्रतीतेः। तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन प्रविविक्षुर्निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वाद-न्यत्र प्रसरति। अत एव अमुख्योऽस्यायमर्थ इति व्यवहारः। तथैव चामुख्यतया सङ्केतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव सा।

ही मुख्य अर्थ मे प्रवेश की इच्छा करते हुये बाधक के द्वारा रोकी हुई होकर चरितार्थ न होने से अन्यत्र प्रसरित होती है। इसलिये इसका यह अर्थ अमुख्य है यह व्यवहार होता है। उसी प्रकार अमुख्य रूप मे वहाँपर सङ्केत ग्रहण भी है, इसीलिये लक्षणा अभिधा की पूंछ पकड़कर ही चलती है।

## तारावती

'उसके' का अर्थ है 'शब्द के'। इस प्रकार उक्त वाक्य का आशय यह है—( मुख्य अर्थ को छोड़कर ) उस (तट इत्यादि) अमुख्य अर्थ मे ( गङ्गा इत्यादि ) शब्द का प्रयोग इसलिये किया जाता है जिससे प्रयोजन का अवगम सुविधापूर्वक हो जावे। ( जैसे 'ब्रह्मचारी अत्यन्त वीर है' यह कहने के स्थान पर 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि जिससे शौर्याधिक्य की अभिव्यक्ति हो जावे। ) यदि 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य के द्वारा शौर्याधिक्य की प्रतीति कराने मे शब्द की गति कुण्ठित हो जावे तो यह शब्द उस शौर्याधिक्य की प्रतीति करा ही नहीं सकेगा। तो उसका प्रयोग ही क्यों किया गया ? यदि कहो उसकी प्रतीति उपचार ( लक्षणा ) के द्वारा हो जावेगी तो उसके लिये भी कोई प्रयोजन ढूँढ़ना पड़ेगा, उसमे भी लक्षणा करनी पड़ेगी। ( फिर तीसरी फिर चौथी इस प्रकार लक्षणाओं की लड़ी सी लग जावेगी और उनकी कहीं समाप्ति ही न हो सकेगी।) यह अनवस्था दोष होगा। यदि कहो कि प्रयोजन के प्रत्यायन मे शब्द की गति कुण्ठित नहीं होती तो मानना पड़ेगा कि प्रयोजन के अवगम में लक्षणा नामक व्यापार होता ही नहीं क्योंकि उसकी सामग्री तो रही ही नहीं। यह तो आप कह ही नहीं सकते कि वहाँ पर कोई व्यापार होता ही नहीं। वहाँ व्यापार होता है। वह व्यापार 'अभिधा' नहीं हो सकता क्योंकि प्रयोजन मे संकेतग्रहण नहीं हुआ है। ( कोश ग्रन्थों मे गङ्गा का अर्थ शीतल और पावन लिखा नहीं होता। अतएव प्रयोजनप्रत्यय के लिये कोई दूसरा व्यापार ही मानना पड़ेगा। ) अभिधा और लक्षणा से भिन्न जो दूसरा व्यापार है वही ध्वननव्यापार कहा जाता है। वृत्ति मे कहा गया है—'यह बात यहाँ नहीं होती' इस वाक्य का आशय है कि लाक्षणिक शब्द के प्रयोग मे कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति किसी भी विघ्न से रहित तत्काल हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि जब अभिधा मुख्य अर्थ मे प्रविष्ट होने लगती है तब बाधक आकर उसे रोक देता है।

ध्वन्यालोकः

तस्मात्—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १८ ॥

(अनु०) अतएव—गुणवृत्ति ( गौणीवृत्ति तथा लक्षणा ) वाचकत्व का आश्रय लेकर ही व्यवस्थित होती है । अतएव वह ( उस ) ध्वनि की लक्षणा कैसे हो सकती है जिसका एकमात्र मूल व्यञ्जकता ही होती है ॥ १८ ॥

लोचन

उपसंहरति—तस्मादिति । यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः । सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात् ? भिन्नविषयत्वादिति । एतदुप-

उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । क्योंकि लक्षणा अभिधा-पुच्छभूता ही होती है इस हेतु से उसके बाधन से उठने के कारण और उसकी पुच्छभूत होने के कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार का सहारा होनेवाली गुणवृत्ति अर्थात् गौण लाक्षणिक ( नामक ) प्रकार । वह किस प्रकार व्यञ्जनात्मक ध्वनि का लक्षण होगा ? क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है । इसका उपसंहार करते हैं—

तारावती

अब चूँकि अभिधा चरितार्थ हो नहीं पाती अतएव वही दूसरे अर्थ ( अमुख्य अर्थ ) में बट जाती है । आशय यह है कि लक्ष्यार्थ भी अभिधा का अमुख्यार्थ ही है, इसीलिये लक्ष्यार्थ के लिये लोग कहा करते हैं कि यह इसका अमुख्यार्थ है । इसी प्रकार अमुख्य रूप मे सङ्केत ग्रहण भी वहाँ पर माना जाता है । इसी कारण कहा जाता है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर चला करती है ॥१७॥

अट्ठारहवीं कारिका मे 'भक्ति ध्वनि का लक्षण होती है' इस मान्यता पर विचार का उपसंहार किया गया है । कारण यह है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर ही आगे बढ़ती है इसी कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार की आश्रित कही जाती है । इसके दो कारण हैं—एक तो लक्षणा का उत्थान ही अभिधा को बाध कर होता है दूसरे लक्षणा अभिधेयार्थ की अवगति के पीछे आती है । गुणवृत्ति का अर्थ है गौणी लक्षणा का प्रकार । वह व्यञ्जनात्मक ध्वनि का लक्षण हो ही कैसे सकती है ? क्योकि दोनों के विषय भिन्न होते हैं । ( आशय यह है कि लक्षणा केवल अभिधा के सम्बन्ध में ही होती है । वह अभिधा से निरपेक्ष होकर रह ही नहीं सकती । 'गङ्गा' इत्यादि पद से 'तीर' इत्यादि लक्ष्यार्थ तभी लिये जाते हैं

## ध्वन्यालोकः

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः। अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये च बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद्भक्तिरलक्षणम्।

(अनु०) अतएव ध्वनि अन्य होती है तथा गुण-वृत्ति और होती है। इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि का भेद तथा और बहुत से प्रकारों में लक्षणा व्याप्त होती ही नहीं। अतः लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

## लोचन

संहरति—तस्मादिति। यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च भिन्नविषयत्वं तस्माद्धेतोरित्यर्थः। एवम् 'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' इति कारिकागतमतिव्याप्तिं व्याचष्टे अव्याप्तिरप्यस्येति। अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेन्न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्—

तस्मादिति। क्योंकि अतिव्याप्ति बतलाई है उसके प्रसङ्ग से भिन्नविषयता आ जाती है; इसलिये अतिव्याप्ति है। इस प्रकार 'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से यह उसके द्वारा लक्षित नहीं की जाती' इस कारिका में आई हुई अतिव्याप्ति की व्याख्या कर अव्याप्ति की व्याख्या कर रहे हैं—'अव्याप्तिरप्यस्य इति'। अर्थात् इस गुणवृत्तिरूप की। जहाँ-जहाँ ध्वनि होती है वहाँ-वहाँ यदि भक्ति हो तो अव्याप्ति न होवे। ऐसा नहीं है।

## तारावती

जब कि यह ज्ञात हो जाता है कि प्रस्तुत वाक्य 'गङ्गा' का मुख्यार्थ 'प्रवाह' सङ्गत नहीं है और प्रवाह का निकटवर्ती सम्बन्धी 'तीर' उस अर्थ का पूरक तथा सङ्गतिकारक होता है। इसके प्रतिकूल ध्वनि में न तो मुख्यार्थबाध की अपेक्षा होती है और न मुख्यार्थ-सम्बन्ध की। व्यङ्ग्यार्थ ऐसा भी हो सकता है जिसका वाच्यार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध हो न हो। इतना अधिक भेद होने के कारण लक्षणा को हम ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते।) इसीलिये वृत्तिकार ने उप संहार करते हुये लिखा है कि 'ध्वनि और होती है तथा गुणवृत्ति और होती है।'

[यहाँपर 'लक्षणा को हम ध्वनि का लक्षण मान सकते हैं या नहीं' इस प्रश्न पर विचार किया गया है। लक्षण का अर्थ है लक्षित कराना या पहिचान कराना। उदाहरण के लिये किसी के यह पूछने पर 'गाय कैसी होती है? हम उसे गाय की एक ऐसी विशेषता बतला दें जिससे वह गाय को तत्काल पहिचान ले। उसी

## लोचन

अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पा'मित्यादौ । 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम् ? ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति ! केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते 'सिंहो वटुः' इति । अर्थो वार्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति । शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद्गौणस्य भेदः । यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका । सा च पञ्चविधा । तद्यथा—

'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि अविवक्षित वाच्य मे भक्ति है । 'शिखरिणि' इत्यादि मे वह कैसे ? ( प्रश्न ) लक्षणा तो गौण को भी व्याप्त कर लेती है । केवल शब्द उस अर्थ को लक्षित कराकर उसी के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है 'सिंहो वटुः' इत्यादि मे । अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक के साथ उसके वाचक का सामानाधिकरण्य कर देता है । अथवा शब्द और अर्थ एक साथ उसको लक्षित कराकर दूसरे ही शब्द और अर्थ से मिश्रित हो जाते है इस प्रकार लाक्षणिक का गौण से भेद है । जैसा कहा है—'गौण में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं ।' वहाँपर भी लक्षणा है ही इस प्रकार सर्वत्र वही व्यापक होती है । वह ५ प्रकार की होती है । वह इस प्रकार—

## तारावती

विशेषता को लक्षण कहते है । गाय का लक्षण भी अनिवार्यतः ऐसा ही होना चाहिये जो सभी गायों मे लागू हो जावे तथा गाय से भिन्न किसी अन्य वस्तु मे लागू न हो । तभी लक्षण की पूर्णता कही जावेगी । यदि गाय का लक्षण किया जावे और वह भैंस में भी लागू हो जावे तो यह लक्षण का दोष होगा और वह लक्षण अशुद्ध कहा जावेगा, इस लक्षण-दोष को अतिव्याप्ति कहते हैं। क्योंकि यह लक्षण का लक्ष्य से अधिक मे व्याप्त हो जाना है। जैसे—यदि गायका यह लक्षण किया जावे कि 'जिसके चार टाँगें हों उसे गाय कहते है।' यह लक्षण अतिव्याप्त है क्योंकि यह गाय से भिन्न घोड़ा गधा भैंस इत्यादि मे भी लागू हो जाता है। इसी प्रकार यदि गाय का ऐसा लक्षण बनाया जावे जो आधी गायों मे तो लागू हो जावे और आधी गायो मे लागू ही न हो तो लक्षण को अव्याप्त लक्षण कहेगे । जैसे यदि गाय का यह लक्षण किया जावे कि 'जो सास्नादिमान् श्वेत पशु हो उसे गाय कहते हैं' यह लक्षण काली गायो मे लगेगा ही नहीं । अतः यह अव्याप्तलक्षण है । अव्याप्त लक्षण भी अशुद्ध माना जाता है । इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दो लक्षण-दोष होते है । यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और वह ऐसे स्थान पर भी लागू हो जावे जिसे

## तारावती

ध्वनि न माना जा सके तो उस लक्षण को अतिव्याप्त कहेंगे। 'लक्षणा ही ध्वनि का लक्षण है' इस लक्षण मे पिछले प्रकरण मे विस्तारपूर्वक अतिव्याप्ति दोष दिखलाया जा चुका है। ( इसके विस्तार के लिये देखो १४ वीं तथा १५ वीं कारिकाओं की व्याख्या।) अब अव्याप्ति को लीजिये—यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और ध्वनि के ही कुछ भागों में घटित न हो तो यह लक्षण की अव्याप्ति होगी। प्रस्तुत प्रकरण मे यही अव्याप्ति दिखलाई जा रही है। ]

१४ वीं कारिका के उत्तरार्द्ध मे कहा गया था कि 'अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण गुणवृत्ति या लक्षणा ध्वनि को लक्षित नहीं कराती।' इसकी अतिव्याप्ति की तो पहले व्याख्या की जा चुकी, अब अव्याप्ति की व्याख्या की जा रही है। 'इस लक्षण मे अव्याप्ति दोष भी है' वृत्ति के इस वाक्य मे 'इस' शब्द का अर्थ है—'गुणवृत्तिरूप लक्षण में' गुणवृत्ति को लक्षण मानने मे तभी अव्याप्ति दोष नहीं हो सकता जबकि जहाँ कहीं ध्वनि हो वहाँ सर्वत्र लक्षणा या गुणवृत्ति अवश्य विद्यमान हों। किन्तु ऐसा होता नहीं है। ( ध्वनि के कुछ भेदों मे तो गुणवृत्ति रहती है और कुछ मे नहीं रहती। पहले ध्वनि के भेद किये गये थे अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूलक ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूलक ध्वनि ) इनमें अविवक्षितवाच्य मे तो लक्षणा होती है जिसके उदाहरण 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्' इत्यादि हो सकते है जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण 'शिखरिणि क्व नु नाम···' इत्यादि पद्य मे वह लक्षणा हो ही किस प्रकार सकती है? ( अतएव ध्वनि के एक भाग में लक्षणा न होने से 'जहाँ ध्वनि होती है वहाँ लक्षणा अवश्य होती है' यह नियम जाता रहता है, यह अव्याप्ति दोष है, अतः लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। ) ( प्रश्न ) लक्षणा तो गौणी के क्षेत्र को भी व्याप्त कर लेती है। ( इस विषय मे दो मत है—एक है मीमांसको का और दूसरा है आलङ्कारिकों का। मीमांसक मानते हैं कि गौणी और लक्षणा ये पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। गौणीवृत्ति में गुणों के साम्य के आधार पर एक शब्द का प्रयोग बाधित होकर भिन्न अर्थ में होता है और लक्षणा में गुणों से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से बाधित अर्थ मे शब्द का प्रयोग होता है। इन दोनों वृत्तियों में भेद यह है कि गौणी वृत्ति में जिसके लिये बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका भी साथ मे ही प्रयोग किया जाता है किन्तु लक्षणा मे उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता जैसे 'सिंहो वटुः' में शौर्य इत्यादि गुणों के कारण 'वटु' के लिये सिंह कहा गया है और वटु के साथ सिंह का प्रयोग भी सम्मिलित है। अतः यह गौणी वृत्ति है। इसके प्रतिकूल 'गङ्गा में घर' इसमें सामीप्य सम्बन्ध से

## तारावती

'तट' के अर्थ में गङ्गा का प्रयोग किया गया है और 'तट' का प्रयोग किया नहीं गया है। यह लक्षणा है। किन्तु आलङ्कारिकों को यह विभेद मान्य नहीं। उनका कहना है कि बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग लक्षणा का बीज है और वह गुणवृत्ति में भी विद्यमान है ही, फिर इन दोनों वृत्तियों के भेद मानने की क्या आवश्यकता? शब्द प्रयोग करना कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्व नहीं है जो वृत्तिभेद का ही प्रयोजक हो जावे। मीमांसकों के सिद्धान्त को आत्मसात् करने के लिये आलङ्कारिकों ने लक्षणा के दो भेद माने हैं गौणी और शुद्धा। सादृश्य सम्बन्ध में गौणी लक्षणा होती है तथा सादृश्यभिन्न सम्बन्ध में शुद्धा। गौणी लक्षणा में भी सर्वत्र शब्दों का प्रयोग नहीं होता। जहाँ होता है वहाँ वह रूपक का बीज बन जाता है अन्यत्र रूपकातिशयोक्ति का बीज होता है। इसी मन्तव्य से यहाँ पर कहा गया है कि लक्षणा गौणी को भी व्याप्त कर लेती है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि गौणी स्थल पर एक शब्द दूसरे अर्थ को कहता किस प्रकार है? तथा जब उस अर्थ का वाचक शब्द भी साथ में रक्खा होता है तब उससे उसकी एकता कैसे बनती है?) यहाँ पर शब्द की तीन प्रकार की क्रिया हो सकती है—(१) केवल लक्षण शब्द ही वाचक के अर्थ को लक्षित कराकर उसके साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जावे। (एक ही अर्थ को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट करने को शब्दों का सामानाधिकरण्य कहा जाता है।) जैसे 'सिंहो वटुः' इस वाक्य मे (सिंह शब्द लक्षक है और वटु शब्द वाचक। सिंह शब्द 'वटु' का अर्थ कहकर वटु के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है।) (२) अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक शब्द के साथ दूसरे वाचक शब्द को समानाधिकरण बना देता है (३) अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक साथ दूसरे शब्द और अर्थ को लक्षित करा कर उनके साथ मिल जाते हैं। यही लाक्षणिक का गौण से भेद है। जैसा कि कहा गया है—'गौणी में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा मे नहीं।' (किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। गौणी मे भी शब्द प्रयोग नहीं होता और लक्षणा मे होता भी है। लक्षणा के दो भेद हैं सारोपा और साध्यवसाना। सारोपा रूपक अलङ्कार का बीज है इसमें लक्षक शब्द के साथ वाचक का भी प्रयोग होता है जैसे 'सिंहो वटुः।' साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति का बीज है। इसमें शब्द का प्रयोग नहीं होता। जैसे बालक के लिये केवल सिंह शब्द का प्रयोग। यह तो गौणी की बात हुई। सादृश्येतरसम्बन्ध अर्थात् लक्षणा के दूसरे भेदों में भी दोनों दशायें होती हैं। जैसे कार्य-कारणभाव सम्बन्ध के उदाहरण 'आयुर्घृतम्' में दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि

## लोचन

अभिधेयेन संयोगात्; द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते। अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य। सामीप्यात् 'गङ्गायां घोषः।' समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा। वैपरीत्यात् यथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चिद् ब्रवीति—'किमिवोपकृतं न तेन मम' इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः। यथा—अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्।

अभिधेय के साथ संयोग से। द्विरेफ शब्द का जो अभिधेय 'दो रेफ हैं जिसमे यह (अर्थ) होने से भ्रमरशब्द, उस भ्रमर शब्द से जिस षट्पद लक्षण अर्थ का संयोग सम्बन्ध है वह अर्थ द्विरेफ शब्द से लक्षित किया जाता है (यह) उस अभिधेय सम्बन्ध को निमित्त के रूप में मानकर होता है। जिसके स्वरूप की व्याख्या की जा चुकी। सामीप्य से (जैसे) 'गङ्गा में घर'। समवाय से अर्थात् (नित्य) सम्बन्ध से जैसे 'छडियों को प्रवेश कराओ।' वैपरीत्य से जैसे शत्रु को उद्दिष्ट कर कोई कहे—'उसने मेरा क्या उपकार नहीं किया?' क्रियायोगात् का अर्थ है कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले में 'यह व्यवहार हो कि यह प्राणों को हर रहा है'। इस प्रकार इस पाँच प्रकार की लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है।

## तारावती

घी खानेवाले व्यक्ति के लिये कोई यह कहे कि यह आयु खा रहा है तो यह साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार दोनो स्थानों पर दोनो अवस्थायें हो सकती है। अतः आलङ्कारिकों का ही मत ठीक है कि गौणी का समावेश लक्षणा में ही होता है।) गौणीवृत्ति मे भी लक्षणा होती ही है। अतएव (बाधित शब्द के प्रयोग में) सर्वत्र लक्षणा व्यापक ही होगी। वह लक्षणा (सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त) ५ प्रकार की होती है। वह इस प्रकार—(१) अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ से संयोगसम्बन्ध होने पर। (यहाँपर संयोग का अर्थ है वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध) उदाहरण के लिये 'द्विरेफ' शब्द को लीजिये। इसमें बहुव्रीहि समास है, अतः इसकी व्युत्पत्ति होगी—'दो हैं रेफ जिसमें' इससे इसका अभिधेयार्थ सिद्ध हुआ भ्रमर शब्द। (अब जैसे एक वाक्य है—'द्विरेफ उड़ रहा है' इसका वाच्यार्थ हुआ 'भ्रमर शब्द उड़ रहा है।' शब्द का उड़ना असम्भव है अतः तात्पर्यानुपपत्ति के कारण अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है।) भ्रमर शब्द का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है षट्पद अर्थात् छः पैरोवाले एक विशेष प्राणी से। अतः द्विरेफ शब्द से

## लोचन

तथाहि—'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्लक्षणास्त्येव। नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तर्ह्युक्तं विवक्षितान्यपरेति? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः। तद्भेदशब्देन रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणायाः उपपत्तिः। तथाहि—विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसंभाव्य इति को लक्षणावकाशः?

वह इस प्रकार—'शिखरिणि' इसमे आकस्मिक प्रश्न विशेष इत्यादि बाधक के अनुप्रवेश मे सादृश्य से लक्षणा है ही। (प्रश्न) निस्सन्देह यहाँपर मध्य में लक्षणा अङ्गीकार ही कर ली फिर इसे विवक्षितान्यपर यह क्यों कहा गया? (उत्तर) यहाँपर उसका असंल्लक्ष्यक्रमात्मक मुख्य भेद कहा जाना अभीष्ट है। तद्भेद शब्द से रस, भाव, उनके आभास, उनके प्रशम भेद तथा उनके अवान्तर भेद (आते है) उनमे लक्षणा की उपपत्ति नहीं ही होती। वह इस प्रकार—विभावानुभाव प्रतिपादक काव्य मे मुख्य अर्थ मे बाधक का अनुप्रवेश ही असम्भाव्य है फिर लक्षणा का क्या अवकाश?

## तारावती

षट्पदरूप लक्ष्य अर्थ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से ले लिया जाता है। इस लक्ष्यार्थ ग्रहण मे अभिधेय सम्बन्ध ही निमित्त है जिसकी व्याख्या की जा चुकी है। (२) सामीप्य सम्बन्ध से जैसे—'गङ्गा मे घर।' (३) समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से। जैसे 'छडियों को आने दो' (छड़ियो का आना असम्भव है। अतः इस अर्थ का बाध होकर 'छडीवाले पुरुष' यह अर्थ ले लिया जाता है। छड़ी तथा छडीवाले पुरुष दोनों का समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि जब तक पुरुषों के पास छड़ी नहीं होगी तब तक वे छडीवाले नहीं कहे जावेंगे।) (४) वैपरीत्य सम्बन्ध से जैसे शत्रु के विषय में कोई यह कहे—'इसने हमारा क्या उपकार नही किया'! (यहाँ पर वैपरीत्य सम्बन्ध से अपकार मे लक्षणा हो जाती है। (५) क्रियायोग अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले के विषय मे कोई कहे—'यह हमारे प्राण हर रहा है।' (अन्न प्राण का कारण है अतः कार्यकारणभाव सम्बन्ध से अन्न का प्रयोग प्राण के अर्थ मे कर दिया गया है। इस प्रकार इस पाँच भेदोंवाली लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है। वह इस प्रकार—पहले विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण दिया गया था—'न जाने इस शुक-शावक ने कितने दिनों किस पर्वत पर कौन सी तपस्या की है जो इसे तुम्हारे अधर-दशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।' इस उदाहरण में भी बाध उपस्थित होता है—क्योंकि नायक ने अकस्मात् यह प्रश्न क्यों कर दिया यह समझ मे नहीं आता। अतः विशेष प्रकार

## लोचन

ननु किं बाधया, इयदेवलक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' इति। इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कार्यकारणरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सहकारित्वादितिचेत्—मैवम् धूमशब्दाद्धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति। सति तस्मिन् स्वार्थविश्रान्त्यभावात्। नच विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

(प्रश्न) बाधा की क्या आवश्यकता? लक्षणा का यही स्वरूप माना जावे—'अभिधेय से अविनाभूत प्रतीति को लक्षणा कहते हैं'। यहाँपर रस इत्यादि अभिधेयों से अविनाभूत ही लक्षित होते हैं, क्योंकि विभाव और अनुभाव कारण-कार्य रूप हैं और व्यभिचारी उनके सहकारी है। (उत्तर) ऐसा नहीं है। (ऐसा मानने पर) धूम शब्द से धूम के प्रतिपन्न हो जाने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणा द्वारा सम्पादित ही होगी। उससे अग्नि से शीतापनोदन स्मृति इत्यादि अपर्यवसित शब्दार्थ होगा। यदि कहो धूम शब्द के स्वार्थविश्रान्त होने के कारण उतने में व्यापार नहीं होता तो मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवन (होता है) यह आ गया। क्योंकि उसके होने पर (ही) स्वार्थ मे विश्राम का अभाव होता है। विभाव इत्यादि के प्रतिपादन में कोई बाधक है ही नहीं।

## तारावती

के प्रश्न के अकस्मात् किये जाने से बाधक का अनुप्रवेश हो जाता है और अधर चुम्बन में बिम्बफल तथा नायक का सादृश्य होने के कारण लक्षणा हो ही जाती है। (सिद्धान्ती) पिछले प्रकरण मे मैंने इस उदाहरण मे मध्य में तो लक्षणा मान ही ली। (पूर्वपक्षी) फिर आप यहाँ पर एक दूसरा भेद विवक्षितान्यपर क्यों मानते है? उसे लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य मे ही क्यों सन्निविष्ट नहीं कर देते? (उत्तर) विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद बतलाये गये थे—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रस इत्यादि तथा उसके भेदों की ध्वनि तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु तथा अलङ्कार की ध्वनि। तथा उसके 'भेद' का अर्थ है—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, और भावप्रशम (भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता) की ध्वनि तथा उनके अवान्तर भेद। यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही विवक्षितान्यपरवाच्य का प्रमुख भेद है इसमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं होती। वह इस प्रकार—विभाव और अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक काव्य मे मुख्य अर्थ मे बाधक का अनुप्रवेश असम्भव है। अतः लक्षणा का अवकाश ही यहाँपर क्या हो सकता है?

## लोचन

नन्वेवं धूमावगमनानन्तरमग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिमिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः—किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यानुमानमात्रमिति का रसता? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किन्तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न तावत्स्थेन प्रतिपद्यते, अपितु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणसरणि-

(प्रश्न) इस प्रकार धूम ज्ञान के अनन्तर अग्नि के स्मरण की भांति विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के अनन्तर रति इत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति होती है। इस प्रकार यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं होता। (उत्तर) प्रतीति के स्वरूप को जाननेवाले इस मीमांसक से यह पूछा जाना चाहिये—क्या यहाँपर दूसरे की सभी प्रकार की चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति आपके लिये रसप्रतिपत्ति अभिमत है। ऐसे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। ऐसा होने पर लोकगत चित्तवृत्ति का अनुमान कर लेने में ही क्या रस रह जावेगा, जो अलौकिक चमत्कारात्मक रसास्वाद है, जिसका प्राण है काव्यगत विभाव इत्यादि की चर्वणा वह स्मरण अनुमान इत्यादि के साम्य से व्यर्थता का पात्र नहीं किया जाना चाहिये। किन्तु लौकिक कार्य कारण के अनुमान इत्यादि के द्वारा संस्कृत हृदयवाला विभाव इत्यादि को प्रतिपन्न होते हुये ही तटस्थ के रूप मे उसे प्राप्त नहीं करता। अपितु जिसका पर्याय हृदय संवाद है। उस सहृदयत्व के द्वारा परवश हो जाने के कारण आगे चलकर पूर्ण होनेवाले रसास्वाद के अङ्कुरित हो जाने से अनुमान स्मरण इत्यादि की सरणि पर विना ही

## तारावती

(प्रश्न) लक्षणा के लक्षण में मुख्यार्थबाध के समावेश की आवश्यकता ही क्या? लक्षणा की इतनी ही परिभाषा क्यों नहीं मानी जाती कि—'अभिधेय के साथ अविनाभूत प्रतीति (किसी रूप में सम्बद्ध होने) को लक्षणा कहते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी विभाव अनुभाव इत्यादि के साथ अविनाभूत रसों की प्रतीति होती है। अतः उन्हें भी लक्षणा में ही सन्निविष्ट कर सकते हैं। क्योंकि विभाव रस में कारण होते हैं और अनुभाव इसमें कार्य होते हैं। तथा व्यभिचारी भाव सहकारी होते हैं। अतः ये सब इसके साथ अविनाभूत होते ही हैं। इसका उत्तर यह है कि जहाँ पर धूम शब्द से वाच्यार्थ धूम की प्रतिपत्ति होने के बाद अग्नि का स्मरण होता है वहाँ भी आप लक्षणा मानेंगे। इसके बाद शीत के दूर

## लोचन

मनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया । न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं येनेदानीं स्मृतिः स्यात् । न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात् । अतएवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः । यदाह 'विभावो विज्ञानार्थः' लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः । अनुभावोऽप्यलौकिक एव—'यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव इति । तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव ह्यनुभवनम् । लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः । अत एव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यते इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे आरूढ हुये तन्मय होने के योग्य चर्वणा को प्राण के रूप में स्वीकार कर ( उसे प्राप्त करता है ) । यह चर्वणा पहले दूसरे प्रमाण से उत्पन्न नहीं हुई है क्योंकि अलौकिक में प्रत्यक्ष इत्यादि का व्यापार नहीं होता । अतएव ( रसप्रतीति के अलौकिक होने से ही ) विभावादि व्यवहार भी अलौकिक ही होता है । जैसा कहते हैं—विभाव विज्ञानार्थक है, लोक मे कारण ही कहा जाता है विभाव नहीं । अनुभाव भी अलौकिक ही होता है जो वाणी अङ्ग और सत्व से किया हुआ अभिनय ( स्थायी और व्यभिचारी को ) अनुभव गोचर बनाता है इससे अनुभाव कहलाता है । उस चित्तवृत्ति का तन्मय होना ही अनुभवन है । लोक मे तो कार्य ही कहते हैं अनुभाव नहीं । अतएव परकीया चित्तवृत्ति अवगत नहीं की जाती इस अभिप्राय से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति.' इस सूत्र मे स्थायी

## तारावती

होने की स्मृति भी जो कि अपर्यवसित अर्थ है, लक्ष्यार्थ ही माना जावेगा ।' क्योंकि धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध तो है ही । ) यदि आप कहें कि धूम शब्द स्वार्थ विश्रान्त है अर्थात् उसका अर्थ स्वतः पूर्ण हो जाता है अतएव अग्नि तथा शीतापनोदन पर्यन्त अर्थों मे लक्षणाव्यापार नहीं माना जा सकता इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है । कि जहाँ किसी शब्द के अर्थ की स्वतः पूर्ति न हो वहाँ लक्षणा होती है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवन है । क्योंकि पर्यवसान का अभाव होता है । विभाव इत्यादि के द्वारा रस के प्रतिपादन में कोई बाधक होता ही नहीं, अतः यहाँपर लक्षणा नहीं मानी जा सकती ।

कतिपय मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार धूमप्रत्यक्ष के बाद अग्नि का अनुमान या स्मरण कर लिया जाता है उसी प्रकार विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के उपरान्त रति इत्यादि चित्तवृत्ति का अनुमान या स्मरण निपुणतया कर लिया जाता है क्योंकि जिस प्रकार पहले धूमप्रत्यक्ष अनुभव होता है और बाद में अग्नि का

## तारावती

अनुमान या स्मरण, उसी प्रकार पहले विभावादि की प्रतिपत्ति होती है। अतएव जिस प्रकार अनुमानजन्य स्मरण को हम शब्द का व्यापार नहीं मानते उसी प्रकार रसप्रतिपत्ति भी शब्द का कोई व्यापार नहीं होती। ( जब रसप्रतिपत्ति शब्द का ही कोई व्यापार नहीं होती तब यह तो दूर की बात रही कि उसके लिये हम शब्द के नये व्यापार व्यञ्जना की कल्पना करें ) [ यहाँपर प्रतिपत्तियाँ दो प्रकार की हैं—परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति और रसप्रतिपत्ति। प्रश्न यह है कि मीमांसक क्या सिद्ध करना चाहता है ? क्या वह यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण से न होकर अनुमान या स्मरण से होती है ? यदि ऐसा है तब तो यह सिद्ध का ही सिद्ध करना है क्योंकि परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति शब्द का व्यापार नहीं ही होती। अब यदि रसप्रतीति शब्द व्यापार का विषय नहीं होती यह सिद्ध करना है तो यह दुश्चेष्टामात्र है क्योंकि रस अलौकिक होते हैं। अतः उनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त कहाँसे आवेगा ? इसी आशय से लोचनकार यहाँपर उपहास उड़ाते हुये उत्तर दे रहे हैं। ] यह मीमांसक प्रतीति के स्वरूप को तो भलीभाँति समझता है—जरा इससे पूछा जाना चाहिये कि क्या आप दूसरों की चित्तवृत्ति को ही रस मानते हैं ? आप इस भ्रम में न रहे। यदि लोक की चित्तवृत्ति के अनुमान को ही रस नाम दिया जावेगा तो उसमे रसत्व ( आस्वादन ) ही क्या रह जावेगा ? रसास्वाद और ही वस्तु है। रसास्वाद की आत्मा अलौकिक चमत्कार है और उसका प्राण काव्यगतविभाव इत्यादि की चर्वणा है। यदि इस प्रकार के उक्त रसास्वादन को स्मरण और अनुमान की समता प्रदान की जावेगी तो उसमें रसत्व धर्म ही क्या रहेगा ? अतः स्मरण और अनुमान की तुलना करके इसे व्यर्थ नहीं बनाना चाहिये। किन्तु जिन लोगों के अन्तःकरण लौकिक कार्य कारण के अनुमान के द्वारा संस्कृत हो चुके हैं जिस समय वे लोग काव्य या नाट्य मे विभाव इत्यादि का परिशीलन करते है उस समय उन्हें वे विभाव इत्यादि अपने से सम्बन्ध रखनेवाले नितान्त परकीय ही नहीं मालूम पड़ते। किन्तु उनका हृदय उस समय सहृदयत्व भावना से पूर्ण रूप से परवश हो जाता है। सहृदयता का अर्थ है हृदय का इस प्रकार का हो जाना जिससे परिशीलन की जानेवाली वस्तु उससे मेल खाती हुई सी जान पड़े। आगे चलकर पूर्ण होनेवाला रसास्वादन एक परिपूर्ण कल्पवृक्ष के समान है, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों उसके फल है। सहृदयों के हृदयों मे विभाव इत्यादि के परिशीलन के द्वारा उससे रसास्वादरूपी कल्पवृक्ष का एक अङ्कुर जम जाता है। इस प्रकार सहृदयों के हृदय अनुमान तथा स्मरण के क्रम पर

बिना ही आरूढ़ हुये तन्मय हो जाते हैं। इस तन्मयता के अनुकूल (विभाव इत्यादि की जो चर्वणा होती है वही इस रस का प्राण है। यह चर्वणा किसी दूसरे प्रमाण से रसास्वाद के पहले उत्पन्न नहीं हो चुकी थी। अतः उसका स्मरण नहीं हो सकता। (स्मरण उसी वस्तु का होता है जिसका अनुभव पहले हो चुका हो।) इस समय भी उसकी उपपत्ति किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती। क्योंकि अलौकिक तत्व के ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष इत्यादि की क्रिया सर्वथा असमर्थ होती है। रसानुभूतिपरक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही होता है। यही बात भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे कही है—'विभाव का अर्थ है विज्ञान अर्थात् स्थायी और व्यभिचारी भाव जिनके द्वारा विशेष रूप से ज्ञात (भावित) किये जावे उन्हे विभाव कहते है। लोक में कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है विभाव का नहीं क्योंकि विभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। प्रमदा उद्यान इत्यादि को कारणार्थक विभाव इसीलिये मानते है कि इन्हीं के द्वारा भावों का विशेष रूप से ज्ञान होता है। यद्यपि अनुभाव (अश्रुपातादि के द्वारा भी स्थायी की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रमदा और उद्यान इत्यादि विभावरूप कारणों के द्वारा ही विशेष रूप से उनका परिज्ञान होता है। क्योंकि अश्रुपातादि तो अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।) अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। इसको अनुभाव इसलिये कहते हैं क्योंकि यह स्थायी तथा सञ्चारी भावों को अनुभव के योग्य बनाता है। इस श्रेणी मे आते है वाचिक, आङ्गिक, सात्विक इत्यादि अभिनय। अनुभव गोचर बनाने का अर्थ यही है कि किसी भावना से भावित चित्तवृत्तिके अनुकूल तन्मयता उत्पन्न कर देना। लोक में अनुभाव शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु कार्य शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि अनुभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार विभाव और अनुभाव सर्वथा अलौकिक होते हैं। दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान ही विभाव और अनुभाव का रूप नहीं धारण कर सकता। सामाजिक लोग परकीय चित्तवृत्ति के अनुमान के द्वारा ही आनन्द को ग्रहण नहीं करते किन्तु उनकी अपनी चित्तवृत्ति ही तदाकार रूप मे परिणत हो जाती है। इसीलिये—'विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है' इस भरत मुनि के सूत्र में स्थायी भाव का ग्रहण नहीं किया गया है। वस्तुतः कहना यह चाहिये था कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ पर जानबूझकर स्थायी शब्द की अवहेलना की गई है। कारण यह है कि अनुभाव के द्वारा ही स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है उसकी पृथक्

## तारावती

अनुमान या स्मरण, उसी प्रकार पहले विभावादि की प्रतिपत्ति होती है। अतएव जिस प्रकार अनुमानजन्य स्मरण को हम शब्द का व्यापार नहीं मानते उसी प्रकार रसप्रतिपत्ति भी शब्द का कोई व्यापार नहीं होती। ( जब रसप्रतिपत्ति शब्द का ही कोई व्यापार नहीं होती तब यह तो दूर की बात रही कि उसके लिये हम शब्द के नये व्यापार व्यञ्जना की कल्पना करें ) [ यहाँपर प्रतिपत्तियाँ दो प्रकार की है—परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति और रसप्रतिपत्ति। प्रश्न यह है कि मीमांसक क्या सिद्ध करना चाहता है ? क्या वह यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण से न होकर अनुमान या स्मरण से होती है ? यदि ऐसा है तब तो यह सिद्ध का ही सिद्ध करना है क्योंकि परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति शब्द का व्यापार नहीं ही होती। अब यदि रसप्रतीति शब्द व्यापार का विषय नहीं होती यह सिद्ध करना है तो यह दुश्चेष्टामात्र है क्योंकि रस अलौकिक होते है। अतः उनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त कहाँसे आवेगा ? इसी आशय से लोचनकार यहाँपर उपहास उड़ाते हुये उत्तर दे रहे हैं। ] यह मीमासक प्रतीति के स्वरूप को तो भलीभाँति समझता है—जरा इससे पूछा जाना चाहिये कि क्या आप दूसरों की चित्तवृत्ति को ही रस मानते हैं ? आप इस भ्रम में न रहें। यदि लोक की चित्तवृत्ति के अनुमान को ही रस नाम दिया जावेगा तो उसमे रसत्व ( आस्वादन ) ही क्या रह जावेगा ? रसास्वाद और ही वस्तु है। रसास्वाद की आत्मा अलौकिक चमत्कार है और उसका प्राण काव्यगतविभाव इत्यादि की चर्वणा है। यदि इस प्रकार के उक्त रसास्वादन को स्मरण और अनुमान की समता प्रदान की जावेगी तो उसमे रसत्व धर्म ही क्या रहेगा ? अतः स्मरण और अनुमान की तुलना करके इसे व्यर्थ नहीं बनाना चाहिये। किन्तु जिन लोगों के अन्तःकरण लौकिक कार्य कारण के अनुमान के द्वारा संस्कृत हो चुके हैं जिस समय वे लोग काव्य या नाट्य में विभाव इत्यादि का परिशीलन करते हैं उस समय उन्हे वे विभाव इत्यादि अपने से सम्बन्ध रखनेवाले नितान्त परकीय ही नहीं मालूम पड़ते। किन्तु उनका हृदय उस समय सहृदयत्व भावना से पूर्ण रूप से परवश हो जाता है। सहृदयता का अर्थ है हृदय का इस प्रकार का हो जाना जिससे परिशीलन की जानेवाली वस्तु उससे मेल खाती हुई सी जान पड़े। आगे चलकर पूर्ण होनेवाला रसास्वादन एक परिपूर्ण कल्पवृक्ष के समान है, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारो उसके फल है। सहृदयों के हृदयों में विभाव इत्यादि के परिशीलन के द्वारा उससे रसास्वादरूपी कल्पवृक्ष का एक अङ्कुर जम जाता है। इस प्रकार सहृदयों के हृदय अनुमान तथा स्मरण के क्रम पर

विना ही आरूढ़ हुये तन्मय हो जाते हैं। इस तन्मयता के अनुकूल (विभाव इत्यादि की जो चर्वणा होती है वही इस रस का प्राण है। यह चर्वणा किसी दूसरे प्रमाण से रसास्वाद के पहले उत्पन्न नहीं हो चुकी थी। अतः उसका स्मरण नहीं हो सकता। (स्मरण उसी वस्तु का होता है जिसका अनुभव पहले हो चुका हो।) इस समय भी उसकी उपपत्ति किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती। क्योंकि अलौकिक तत्व के ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष इत्यादि की क्रिया सर्वथा असमर्थ होती है। रसानुभूतिपरक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही होता है। यही बात भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कही है—'विभाव का अर्थ है विज्ञान अर्थात् स्थायी और व्यभिचारी भाव जिनके द्वारा विशेष रूप से ज्ञात (भावित) किये जावें उन्हे विभाव कहते हैं। लोक मे कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है विभाव का नहीं क्योंकि विभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। प्रमदा उद्यान इत्यादि को कारणार्थक विभाव इसीलिये मानते हैं कि इन्हीं के द्वारा भावों का विशेष रूप से ज्ञान होता है। यद्यपि अनुभाव (अश्रुपातादि के द्वारा भी स्थायी की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रमदा और उद्यान इत्यादि विभावरूप कारणों के द्वारा ही विशेष रूप से उनका परिज्ञान होता है। क्योंकि अश्रुपातादि तो अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।) अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। इसको अनुभाव इसलिये कहते हैं क्योकि यह स्थायी तथा सञ्चारी भावों को अनुभव के योग्य बनाता है। इस श्रेणी मे आते हैं वाचिक, आङ्गिक, सात्विक इत्यादि अभिनय। अनुभव गोचर बनाने का अर्थ यही है कि किसी भावना से भावित चित्तवृत्तिके अनुकूल तन्मयता उत्पन्न कर देना। लोक में अनुभाव शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु कार्य शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि अनुभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार विभाव और अनुभाव सर्वथा अलौकिक होते हैं। दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान ही विभाव और अनुभाव का रूप नहीं धारण कर सकता। सामाजिक लोग परकीय चित्तवृत्ति के अनुमान के द्वारा ही आनन्द को ग्रहण नहीं करते किन्तु उनकी अपनी चित्तवृत्ति ही तदाकार रूप में परिणत हो जाती है। इसीलिये—'विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है' इस भरत मुनि के सूत्र में स्थायी भाव का ग्रहण नहीं किया गया है। वस्तुतः कहना यह चाहिये था कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ पर जानबूझकर स्थायी शब्द की अवहेलना की गई है। कारण यह है कि अनुभाव के द्वारा ही स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है उसकी पृथक्

## लोचन

स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्भिमावानुभावोचितचित्तवृत्तिसुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अतएव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः, यत्प्रबन्धप्रवृत्तबन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणान्नाभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनं प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनम् हेतुव्यापारवत्।

का ग्रहण नहीं किया गया। प्रत्युत वह शल्यभूत हो जाता। स्थायी की तो रसत्वप्राप्ति औचित्य से कही जाती है। विभाव और अनुभाव के योग्य चित्तवृत्ति के संस्कार के (उद्बोधन से) सुन्दर चर्वणा के उदय हो जाने से वह (स्थायी की रसत्व प्राप्ति) होती है। हृदयसंवाद में उपयोगी लोकचित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान पुलक इत्यादि के द्वारा स्थायीभूत रति इत्यादि के अवगमन से भी (स्थायी की) रसता प्राप्ति हो जाती है। व्यभिचारी तो चित्तवृत्त्यात्मक होते हुये भी मुख्य चित्तवृत्ति के आधीन होकर ही चर्वणागोचर होता है; अतः विभाव और अनुभाव के मध्य मे उसकी गणना की गई। अतएव रस्यमानता (आस्वादनगोचरता) की यही निष्पत्ति होती है कि प्रबन्ध में आये हुये बन्धुसमागम इत्यादि कारणों से उत्पन्न हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्ति को नीचा करके चर्वणा रूपता धारण कर लेता है। अतः यहाँ चर्वणा का अर्थ अभिव्यञ्जन ही है ज्ञापन नहीं होता, जैसा कि प्रमाण व्यापार का (ज्ञापन) हुआ करता है। उत्पादन भी नहीं होता, जैसा कि हेतु व्यापार (से उत्पादन होता है)।

## तारावती

अवस्थिति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। (यदि यहाँपर विभावादिकों का संयोग स्थायीभाव के साथ बतलाया गया होता हो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता कि परकीय चित्तवृत्ति का अनुमान कर लिया जाता है।) इस प्रकार अर्थप्रतीति में यह एक अनिष्ट शल्य हो जाता। यह कहना उचित ही है कि स्थायी भाव ही रसरूपता को धारण करता है। कारण यह है कि दूसरे व्यक्तियों (नायक इत्यादिकों) मे जो रति इत्यादि स्थायीभाव रहता है उससे सम्बन्ध रखनेवाले विभाव अनुभाव के अनुकूल जो चित्तवृत्ति बनती है उसके संस्कारों से जब सहृदयों की चित्तवृत्तियाँ भी संस्कृत हो जाती है तब रसास्वादन का उदय होता है। इस प्रकार स्थायी चित्तवृत्तियाँ ही रसरूपता को धारण करती हैं। दूसरी बात यह है

## लोचन

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः तर्हि किमेतत्? नन्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र? यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात्; अस्तु किं ततः? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनी-

(प्रश्न) यदि यह ज्ञापन भी नहीं और निष्पत्ति भी नहीं तो यह क्या है? (उत्तर) यह वह नही है (किन्तु) अलौकिकरस है। (प्रश्न) विभाव इत्यादि यहाँ पर क्या ज्ञापकहेतु है या कारक? (उत्तर) न ज्ञापक है न कारक; अपितु चर्वणोपयोगी है। (प्रश्न) यह अन्यत्र कहाँ देखा गया? (उत्तर) क्योंकि नहीं देखा गया इसीलिये अलौकिक है यह कहा गया। (प्रश्न) इस प्रकार तो यह रस अप्रामाणिक हो जावेगा? (उत्तर) हो जावे तो उससे क्या? उसकी चवर्णा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति के सिद्ध हो जाने पर और क्या प्रार्थनीय है। (प्रश्न) यह

## तारावती

कि रस चर्वणा सदा हृदयसंवाद के द्वारा ही होती है। हृदयसंवाद में उपयोगी होता है लोक-चित्तवृत्ति का परिज्ञान। क्योंकि जब तक लोकगत चित्तवृत्ति का परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक एक चित्तवृत्ति दूसरी चित्तवृत्ति से मेल खा ही नहीं सकती। जब लोकगत चित्तवृत्ति के परिज्ञान के द्वारा सहृदयों का हृदय दूसरों की चित्तवृत्ति से मेल खा जाता है तब प्रमदा उद्यान इत्यादि विभाव और पुलक इत्यादि अनुभावों के द्वारा रति इत्यादि स्थायीभाव का अवगम हो जाता है। (इसीलिये स्थायीभाव ही रस रूपता को प्राप्त होता है यह सिद्धान्त माना गया है तथा विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव से उसे पृथक् रक्खा गया है।) यद्यपि रति इत्यादि स्थायीभावों के समान लज्जा इत्यादि व्यभिचारीभाव भी चित्तवृत्ति रूप ही होते हैं किन्तु अन्तर यह होता है कि सञ्चारीभाव रूप में चित्तवृत्तियाँ सर्वदा मुख्य चित्तवृत्ति रति इत्यादि स्थायी भावों के आधीन होती हैं (तथा उसे पुष्ट करती हैं।) इसीलिये (पोषकता साम्य को लेकर) सञ्चारी भाव को भी विभाव इत्यादि के साथ सम्मिलित कर दिया गया है। अतएव रसास्वादन की निष्पत्ति को ही रसनिष्पत्ति कहते हैं। रसास्वादन का अर्थ है ऐसी चर्वणा जिसमें प्रबन्धगत बन्धुसमागम इत्यादि कारणों से होनेवाली हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्तियों को नीचा करके उच्चकोटि की एक नई ही चित्तवृत्ति का आविर्भाव होता है। अतः चर्वणा की अभिव्यक्ति ही होती है। जिस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा किसी पदार्थ के स्वरूप का ज्ञापन होता है उस प्रकार का ज्ञापन रस का नहीं हो सकता। जिस प्रकार दण्डचक्र इत्यादि के द्वारा घट इत्यादि का उत्पादन होता

## लोचन

यम्। नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्येव चर्वणात्मत्वादित्यलं बहुना। अतश्च रसोऽयमलौकिकः। येन ललितपरुषानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्, का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि ये हेयाः' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः। अतएवालक्ष्यक्रमता। यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया। शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयवलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात् कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत्। अविरुद्धत्वे वा

तो अप्रमाणवाला है? (उत्तर) ऐसा नहीं है क्योंकि यह स्वसंवेदन सिद्ध है। क्योंकि ज्ञानविशेष ही चर्वणात्मक होता है; बस अधिक की क्या आवश्यकता? इसलिये यह रस अलौकिक है। क्योंकि अर्थाभिधान मे अनुपयुक्त ललित और परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति अभिव्यञ्जकत्व होता है उसमे लक्षणा की शङ्का भी क्या? काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही वह चर्वणा देखी जाती है। सहृदय लोक उसी काव्य को बार-बार पढते हुये और चर्वण करते हुये देखा जाता है; काव्य के (शब्द और अर्थ मे अनुरक्त होते हुये लोक) नहीं (देखा जाता)। उसमे 'उपादान करके भी जिनका परित्याग कर दिया जाता है' इस न्याय से जिसने प्रतीति कर दी है (अर्थ ज्ञान करा दिया है) उस (शब्द) का उपयोग नहीं होता इस प्रकार शब्द का भी यहाँ पर ध्वननव्यापार (होता है)। इसीलिये अलक्ष्यक्रमता (कही जाती है)। जो किसी ने कहा था कि वाक्यभेद हो जावेगा वह अनभिज्ञता के कारण। निस्सन्देह एक बार उच्चार किया हुआ शास्त्र सङ्केत के बल से अर्थ का प्रतिपादन करते हुये एक साथ विरुद्ध अनेक अर्थों के सङ्केत स्मरण के असम्भव होने के कारण किस प्रकार दो अर्थों का प्रत्यायन करा सकेगा

## तारावती

है उस प्रकार रस का उत्पादन भी नहीं हो सकता। किन्तु इसका केवल अभिव्यञ्जन ही होता है।

(प्रश्न) यदि रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता तो और होता क्या है? (उत्तर) रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नही होता यही तो रस की अलौकिकता है। (इसी अलौकिक क्रिया के लिये अभिव्यञ्जना नामक एक नया व्यापार मानना पड़ता है।) (प्रश्न) विभाव इत्यादि को आप कारक हेतु मानते हैं या ज्ञापक? (उत्तर) न यह कारक ही

## लोचन

तावानेको वाक्यार्थः स्यात्। क्रमेणापि विरम्य व्यापारायोगः। पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात्। प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम;' इति श्रुतौ खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इति का प्रमेति प्रसज्यते। तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम्। इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणा विषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः।

विरुद्ध न होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ हो जावेगा। क्रम से भी विरत होकर व्यापार होना असम्भव है। पुनः उच्चारण किये हुये वाक्य मे भी वही (अर्थ निकलेगा) क्योंकि संकेत और प्रकरण तो तदवस्थ ही रहते है। प्रकरण और सङ्केत से प्राप्य अर्थ के तिरस्कार के साथ दूसरे अर्थ के प्रत्यायन कराने में कोई नियम नहीं है इस प्रकार उससे 'स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र मे हवन करना चाहिये' इस श्रुति मे 'कुत्ते का मास खाना चाहिये' यह अर्थ नहीं है इसमें क्या प्रमाण है यह (दोष) प्रसक्त हो जावेगा। उसमे भी कोई इयत्ता नहीं है इसलिये अविश्वसनीयता हो जावेगी इस प्रकार वाक्यभेद दोष है। यहाँ पर तो प्रतिपादन किया जाता हुआ विभाव इत्यादि ही चर्वणाविषयता की ओर उन्मुख हो जाता है इस प्रकार सङ्केत इत्यादि के उपयोग का अभाव है। 'नियुक्त किया हुआ मैं (यह कार्य) करूँ'; 'मैं कृतार्थ हूँ' इस शास्त्रीय प्रतीति के समान यह नहीं है। वहाँ

## तारावती

होता है न ज्ञापक ही किन्तु चर्वणोपयोगी नये ही प्रकार का हेतु होता है। (प्रश्न) अन्यत्र यह बात कहाँ देखी गई है कि कोई हेतु न कारक हो न ज्ञापक? (उत्तर) कहीं अन्यत्र नहीं देखी गई है इसीलिये तो रस अलौकिक होता है। (प्रश्न) यदि कोई भी लौकिक दृष्टान्त नहीं मिलता तो रस तो अप्रामाणिक हो जावेगा? (उत्तर) हो जावे तो उससे क्या? (अप्रामाणिक होकर भी उसकी रसनीयता रूप कार्यकारिता तो बनी ही रहेगी।) उसकी चर्वणा के द्वारा हृदय मे जो आस्वादन का आविर्भाव होता है उसी से प्रीति और व्युत्पत्ति (आनन्दास्वादन के साथ व्युत्पत्ति) सिद्ध हो जाती है उससे बढ़कर आपको और कौन सा प्रमाण चाहिये। (प्रश्न) इसमे कोई प्रमाण तो फिर भी प्राप्त नहीं हो सका? (उत्तर) इसका स्वप्रकाशस्वरूप और स्वसंवेदन सिद्ध होना सबसे बडा प्रमाण है। (प्रश्न) जब रसनिष्पत्ति के लिये एक विशेष प्रकार की चर्वणा अभीष्ट होती है तब आप उसे स्वसंवेदन सिद्ध किस प्रकार कह सकते हैं? (उत्तर) चर्वणा और कुछ भी नहीं एक

## लोचन

तन्नोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत् तत्काल-सारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः।

बाद के कर्म की ओर उन्मुख होने से लौकिकता है। यहाँ तो विभाव इत्यादि की चर्वणा अद्भुत पुष्प के समान उसी समय के (वर्तमानकाल के) सार के रूप में उदित (होती है) पूर्वापरकाल की अनुबन्धिनी नहीं होती इस प्रकार लौकिक आस्वाद और योगियों के विषय से यह रसास्वाद सर्वथा भिन्न ही है।

## तारावती

प्रकार का ज्ञान ही है। अतः रस की स्वसंवेदनसिद्धता मे कोई त्रुटि नहीं आती। अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? (इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस सर्वथा अलौकिक होता है।) जब ललित और परुष अनुप्रास भी रस के अभिव्यञ्जक होते है जिनमे अर्थाभिधान तक की आवश्यकता नहीं होती तब लक्षणा के द्वारा रसाभिव्यक्ति के गतार्थ होने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। काव्यात्मक शब्दों के निष्पीडन से ही रसचर्वणा देखी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि सहृदय लोग उसी काव्य को बार-बार पढ़ते हैं और उसका स्वाद लेते हैं। काव्य के शब्द (तथा वाच्यार्थ) में आस्वाद नहीं होता (अपितु अभिव्यज्यमान रस की चर्वणा में ही आनन्द होता है)। चर्वणा के विषय में काव्य शब्द उपायभूत होते हैं, किन्तु उनके विषय मे उपाय की यह परिभाषा लागू होती है कि 'उपादान करके भी जिनका परित्याग कर दिया जाय उन्हे उपाय कहते है।' अतएव जिन काव्य शब्दों की प्रतीति हो चुकती है उनका उपयोग हो जाता है। अत. काव्य के लिये भी ध्वननव्यापार शब्द का प्रयोग होता है। अलक्ष्यक्रमत्व कहने का भी यही अभिप्राय है कि शब्द से रसाभिव्यक्ति हो जाती है। यदि बीच में अर्थ व्यवधान अनिवार्य हो तो अलक्ष्यक्रमत्व कहना सर्वथा असङ्गत हो जावे। कुछ लोग कहते है कि 'यदि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता मानी जावेगी तो वाक्यभेद मानना पड़ेगा' यह कथन सर्वथा अनभिज्ञता का परिचायक है। जब कोई वाक्य एक बार बोला जाता है तब जब वह सङ्केत के बल पर अर्थ प्रतिपादित करने लगता है तब एक-साथ दो अर्थों को किस प्रकार कह सकता है ? यदि वे दोनों अर्थ एक दूसरे से परस्पर विरुद्ध हैं तो एकसाथ अनेक विरोधी सङ्केतों का स्मरण असम्भव है, यदि वे दोनों अर्थ परस्पर विरोधी न हो अर्थात् एक क्रिया में दोनों का अन्वय हो सकना सम्भव हो तो जितना भी बोध होता है उतना सम्पूर्ण एक

ही वाक्यार्थ माना जावेगा ( जैसे 'श्वेतो धावति' में 'श्वेतः' के दो अर्थ है 'श्वा + इतः' अर्थात् 'कुत्ता इधर से' तथा 'श्वेत वर्णवाला' दोनों मे विरोध नहीं है, अतः दोनों का एक क्रिया मे अन्वय हो जाता है । इसी प्रकार 'सर्वदोमाधवः पायात्' में 'सर्वदोमाधवः' के दो अर्थ हैं 'सब कुछ देनेवाले भगवान् कृष्ण' तथा 'सर्वदा + उमाधवः' अर्थात् 'सर्वदा भगवान् शङ्कर' यहाँ पर कृष्ण और शिव दोनों का एक क्रिया में अन्वय सम्भव है । अतः दोनों को मिलाकर एक ही वाक्यार्थ माना जाता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । ) एक अर्थ के बाद दूसरा अर्थ निकल नहीं सकता क्योंकि शब्दों की क्रिया रुक-रुककर होती नहीं । यदि दो बार भी वाक्य बोला जावे तो प्रकरण सामग्री इत्यादि तो वही बनी रहेगी । अतः दो विभिन्न अर्थ तो निकल ही नहीं सकेंगे । ऐसा कोई नियम नहीं कि प्रकरण और सङ्केत के आधार पर प्राप्त होनेवाले अर्थ का तिरस्कार करके बिल्कुल नया ही अर्थ ले लिया जावे । यदि ऐसा माना जावेगा तो 'स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र करना चाहिये ।' इस वाक्य का 'कुत्ते का मांस खाना चाहिये' यह अर्थ भी निकलने लगेगा और कोई व्यवस्था नहीं रह जावेगी। क्योंकि यह अर्थ नहीं होता इसमे प्रमाण ही क्या होगा ? उसमें भी फिर अर्थों की कोई सीमित संख्या नहीं रहेगी । अतः अर्थ की वास्तविकता पर विश्वास जम ही नही सकेगा । इस प्रकार वाक्यभेद एक दोष माना जाता है । यह तो हुई शास्त्रों की बात । किन्तु काव्य मे अभिधा के द्वारा विभाव इत्यादि का प्रतिपादन होता है और फिर विभाव इत्यादि रसचर्वणा की ओर उन्मुख हो जाते हैं । अतएव उनमें सङ्केत प्रकरण इत्यादि सामग्री की अपेक्षा नहीं होती । अन्य शास्त्रों मे शास्त्रीय वाक्यों से आदेश मिलता है । उनमे पाठक या परिशीलक यह अनुभव करता है कि मुझे शास्त्र ने अमुक कार्य मे नियुक्त किया है, अतः इस कार्य को करूँ, और जब वह शास्त्रीय विधि को पूरा कर चुकता है तब उसे यह अभिमान होता है कि मैं यह कार्य सफलतापूर्वक कर चुका । किन्तु ऐसा मद काव्य मे नहीं होता । शास्त्र लौकिक होते है क्योंकि उनमे उत्तर काल में ( शास्त्राध्ययन के अनन्तर ) कर्तव्य मे लगाया जाता है । किन्तु काव्य में ऐसा नहीं होता । अतः काव्य अलौकिक होते हैं । काव्य में विभाव इत्यादि की चर्वणा इन्द्रजाल में दिखलाये हुये पुष्प के समान वाक्यार्थबोधसमकाल मे ही होती है । पहले पीछे का इसमें कोई नियम नहीं होता । इसीलिये लौकिक आस्वाद तथा योगियों के विषय से रसास्वाद एक बिल्कुल भिन्न वस्तु है । इसीलिये विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण 'शिखरिणि क नु नाम ··· ·····' इत्यादि मे भी

## लोचन

अतएव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव सहृदया वक्त्रभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते। अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात्। अस्माभिस्तु दुर्दुरूटं प्रत्याययितुमुक्तम्—भवत्वत्र लक्षणा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति। यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना। उपसंहरति—तस्माद्भक्तिरिति ॥ १८ ॥

अतएव 'शिखरिणि' इत्यादि में भी मुख्यार्थबाध इत्यादि क्रम की अपेक्षा बिना किये हुये ही सहृदय लोग वक्ता के चाटुप्रतीतिरूप अभिप्राय को जान लेते हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने सामान्यतया विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में भक्ति का अभाव बतला दिया। हमने तो विरोधियों की टर-टर का प्रत्यायन कराने के लिये कह दिया—यहाँ लक्षणा हो जावे; अलक्ष्यक्रम में तो कुपित होकर भी क्या कर लोगे! यदि कुपित नहीं होते हो तो 'सुवर्णपुष्पा' इत्यादि अविवक्षितवाच्य में भी मुख्यार्थबाध इत्यादि लक्षणा सामग्री की बिना ही अपेक्षा किये हुये व्यङ्ग्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बस अधिक की क्या आवश्यकता? उपसंहार करते है—तस्माद्भक्तिः इत्यादि ॥ १८ ॥

## तारावती

वाच्यार्थबाध इत्यादि क्रम की बिना ही अपेक्षा किये हुए सहृदय लोग चाटुकारिता और प्रसन्नता रूप वाक्यार्थ को समझ लेते हैं। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने सामान्य रूप से विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में लक्षणा का न होना ही स्वीकार कर लिया है। मैंने केवल विरोधियों की टरटराहट को शान्त करने के लिये (दुर्जनतोष न्याय से) यह कह दिया कि विवक्षितान्यपरवाच्य के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के उदाहरण (शिखरिणि क्वनुनाम····· इत्यादि) में जैसे तैसे बीच में लक्षणा मान भी ली जावे फिर भी तुम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि में क्या करोगे? (उसके लिये तो व्यञ्जनावृत्ति मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। अरे भाई क्रोध का क्या काम सच्ची बात कहनी चाहिये।) यदि क्रोध का काम नहीं और तुम कुपित न हो जाओं तो हम तो यहाँ तक कहने को उद्यत हैं कि अविवक्षित वाच्य के उदाहरण 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्·····' इत्यादि में भी लक्षणा की सामग्री सन्निहित होते हुये भी उसकी बिना ही अपेक्षा किये व्यङ्ग्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बस, इस विषय में मुझे इतना ही कहना है, अधिक की क्या आवश्यकता? इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि का लक्षण भक्ति कभी नहीं हो सकती।

## ध्वन्यालोकः

कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः ।

(अनु०) वह लक्षणा सम्भवतः किसी ध्वनिभेद का उपलक्षण हो जावे । आगे चलकर ध्वनि के जो भेदोपभेद बतलाये जावेंगे उनमे किसी एक भेद का उपलक्षण सम्भवतः लक्षणा हो जावे । यदि कहो कि सारी ध्वनि ( उपलक्षण के रूप मे ) गुणवृत्ति के द्वारा ही लक्षित हो जावेगी तो इसपर मेरा कहना यह है कि अभिधा व्यापार के द्वारा उससे भिन्न सारा अलङ्कारवर्ग लक्षित ही हो जावेगा फिर प्रत्येक अलङ्कार का पृथक्-पृथक् लक्षण बनाना व्यर्थ ही हो जावेगा ।

## लोचन

ननु मा भूद्ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। मा च भूद्भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम् । उपलक्षणं तु भविष्यति, यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्तीति भवत्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम् ? किंवा नः त्रुटितम् ? इति तदाह-कस्यचिदि-

( प्रश्न ) ध्वनि और भक्ति ये दोनों एकरूप न हों; ध्वनि भक्ति का लक्षण भी न हो; उपलक्षण तो हो जावेगी—जहाँ ध्वनि होती है वहाँ भक्ति भी होती है इस प्रकार ध्वनि भक्ति से उपलक्षित होती है । यह सर्वत्र नहीं होता इससे क्या दूसरे ( विरोधी ) का बन गया और क्या हमारा बिगड़ गया ? ( उत्तर ) इसी का उत्तर देते हैं—कस्यचित् इत्यादि ।

## तारावती

( लक्षणापक्ष के उत्थान मे तीन विकल्पों की कल्पना की थी ( १ ) लक्षणा ध्वनि का स्वरूप हो सकती है । ( २ ) लक्षणा ध्वनि का लक्षण हो सकती है । ( ३ ) लक्षणा ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है । पिछले प्रकरण मे दो पक्षों का विस्तारपूर्वक निराकरण कर दिया गया । अब तीसरे पक्ष को लीजिये—प्रायः ऐसा होता है कि लक्षणकार समस्त समूह मे किसी एक तत्त्व का परिचय दे देते है । उसी के आधार पर शेष समूह भी समझ लिया जाया करता है । इसे उपलक्षण कहते हैं । उपलक्षणवादियों का आशय यह है कि ध्वनि का कोई एक भेद तो ऐसा होता ही है जिसमें लक्षणा विद्यमान हो । तब उसे उपलक्षण मान कर शेष भेदों का उसी में समाहार हो जावेगा, ध्वनि के पृथक् लक्षण करने की

## लोचन

त्यादि । ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्क्याह—यदि चेति । अभिधानाभिधेयभावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः, ततश्चाभिधावृत्ते वैय्याकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीमलङ्कारकाराणां व्यापारः । तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानीमीश्वरप्रभृतीनां कर्तृणां ज्ञातृणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात् । तदाह—लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति ।

( प्रश्न ) भक्ति तो प्राचीनों के द्वारा कही गई है । उसके उपलक्षण के द्वारा समग्रभेदोंवाली ध्वनि को भी लक्षित कर लेंगे और जान जावेंगे । फिर उसके लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? यह शङ्का करके कहते हैं—यदि च इत्यादि । अभिधान और अभिधेयभाव अलङ्कारों का व्यापक है फिर अभिधाव्यापार के वैय्याकरण और मीमांसकों द्वारा निरूपित कर दिये जाने पर अलङ्कार ( शास्त्र )-कारों का व्यापारक्षेत्र कहाँ होगा ? उसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है यह तार्किकों के द्वारा कह दिये जाने पर ईश्वरप्रभृति कर्ताओं और ज्ञाताओं का अपूर्वकृत्य क्या होगा ? इस प्रकार सभी कुछ आरम्भ हो जावेगा । वह कहते है—'लक्षणकरणवैय्यर्थ्यप्रसंग' यह ।

## तारावती

क्या आवश्यकता ? अब इसी पक्ष पर विचार किया जा रहा है ।) ( प्रश्न ) ध्वनि और भक्ति की एकरूपता न मानी जावे, ध्वनि का लक्षण भी भक्ति न हो किन्तु उपलक्षण तो हो ही सकती है । कुछ ऐसे भी स्थल होते हैं जहाँ ध्वनि होती है और वहाँ भक्ति होती ही है, बस इतना ही पर्याप्त है; भक्ति के द्वारा ध्वनि उपलक्षित हो जावेगी । ध्वनि के समस्त भेदों मे भक्ति नहीं होती इससे हमारे प्रतिपक्षियों का क्या काम बन जाता है या हमारा क्या बिगड़ जाता है ? इसी का उत्तर देने के लिये यह कारिका लिखी गई है कि लक्षणा किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है । अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चिरन्तन आचार्यों ने भक्ति का पूर्णरूप से निरूपण कर दिया । उसी को उपलक्षण मानकर समग्र भेदवाली ध्वनि को लक्षित भी कर लेंगे और जान भी जावेंगे । फिर ध्वनि का लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? इसी आक्षेप का उत्तर वृत्तिकार ने इस प्रकार दिया है—सभी अलङ्कारों मे अभिधान और अभिधेय भाव व्यापक रूप में रहता है । अभिधावृत्ति का पूर्ण निरूपण वैय्याकरणों और मीमासको ने कर ही दिया था । फिर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन करनेवाले आचार्यों का काम ही क्या शेष रह गया ? इसीप्रकार तार्किकों ने जब यह कह ही दिया कि हेतु के

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ ९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्न समीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः। येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायितैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।

(अनु०) और भी—यदि अन्य आचार्यों ने इस ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो इससे तो हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है।

यदि पहले कुछ आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो भी हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है। क्योंकि हमारा पक्ष है कि ध्वनि है। वह पहले ही सिद्ध हो गया; इस प्रकार हमारा समीहित अर्थ तो विना ही प्रयत्न के सम्पन्न हो गया। जिन लोगों ने यह कहा कि 'ध्वनि की आत्मा (तत्व) सहृदयहृदयसंवेद्य ही है उसका आख्यान हो ही नहीं सकता।' वे भी सोच-समझकर कहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि जो नीति हम बतला चुके हैं या जो आगे चलकर बतलाई जावेगी उससे ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षणों के प्रतिपादित कर देने पर भी यदि यही कहा जावेगा कि ध्वनि का प्रकथन हो ही नहीं सकता तो यह बात तो सभी के विषय में लागू हो जावेगी। यदि इस अतिशयोक्ति के द्वारा वे लोग ध्वनि के स्वरूप के विषय में यह कह रहे हैं कि ध्वनि दूसरे काव्यों का अतिक्रमण करती है तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

लोचन

माभूद्दाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ् निरूपितं तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह-किञ्चेत्यादि। प्रागेवेति। अस्मत्प्रयत्नादिति शेषः। एवं विप्रकारमभाववादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव

अथवा अपूर्व उन्मीलन न हो पूर्वोन्मीलित को ही हम लोगों ने ठीक रूप में निरूपित कर दिया है फिर भी क्या दोष है? इस अभिप्राय से कहते हैं—'किंच' यह। 'प्रागेव' यह। 'हमारे प्रयत्न से' यह शेष है (अर्थात् हमारे प्रयत्न से पहले)। इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद और भक्ति के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए इसके बीच में अलक्षणीयत्व का निराकरण कर ही दिया। अतएव उसके साक्षात्

## लोचन

मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—येपीत्यादिना। उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम्। वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति—'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना। तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति। सर्वेषामिति—लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः। अतिशयोक्त्येति। यथा—तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इति वदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता साररूपतां प्रतिपादयितुमितिदर्शितमितिशिवम्॥ १९॥

निराकरण के अर्थवाली मूलकारिका नहीं सुनाई देती है। वृत्तिकार तो निराकरण किये हुये को भी प्रमेयशय्या की पूर्ति के निमित्त कण्ठ से उस पक्ष का अनुवाद कर दूषित कर रहे है—'येऽपीत्यादि'। उक्त नीति से 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस सामान्य लक्षण का प्रतिपादन कर दिया। आगे चलकर कही जानेवाली नीति से 'अर्थान्तरे संक्रमितम्' इत्यादि के द्वारा विशेष लक्षण हो जावेगा। उसमे प्रथम उद्योत मे कारिकाकार ने सामान्य लक्षण ही किया। द्वितीय उद्योत में कारिकाकार ने अवान्तरविभाग और विशेष लक्षण को बनाते हुए अनुवाद मुख से दो प्रकार के मूल विभाग की सूचना दी। उसके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत मे मूल विभाग को कह दिया—'वह दो प्रकार का है' यहाँ 'सभी का' अर्थात् लौकिको का और शास्त्रीयों का। 'अतिशयोक्ति के द्वारा' यह। जैसे 'वे अक्षर हृदय मे कुछ स्फुरित कर रहे हैं' इसके समान अतिशयोक्ति के द्वारा साररूपता के प्रतिपादन के लिये कथन की अशक्यता दिखलाई गई। इस प्रकार सब कल्याणकारक हो॥१९॥

## तारावती

द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है तब फिर ईश्वर इत्यादि विभिन्न कारणों कार्यों ज्ञाताओं इत्यादि का निरूपण क्या कार्य रह जावेगा? इस प्रकार शास्त्रों का सारा उद्योग ही व्यर्थ हो जावेगा। (आशय यह है कि किसी सामान्य बात को कह देने के बाद उसके विशेष प्रतिपादन की आवश्यकता होती ही है। अतः लक्षणा को उपलक्षण मान लेने पर भी ध्वनि का समस्त प्रपञ्च तथा उसका निरूपण व्यर्थ नहीं हो जाता।)

## तारावती

अथवा यह भी माना जा सकता है कि ध्वनि का निरूपण कोई नई वस्तु नहीं। पुराने आचार्यों ने जिसका उन्मीलन कर दिया है उसी का सम्यक् निरूपण हमने कर दिया है। ऐसा मानने में भी क्या दोष? इसी अभिप्राय से उन्नीसवीं कारिका का उत्तरार्ध लिखा गया है। इसका आशय यह है कि यदि पहले ही और लोगों ने ध्वनि का निरूपण कर दिया है तो इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है कि ध्वनि विद्यमान है (और वह काव्य की आत्मा भी है)। पहले ही लिखने का आशय है हमारे लिखने के पहले। (आशय यह है कि यदि प्रतिपक्षी यह कहें कि ध्वनिकार से पहले ही अन्य आचार्यों ने लक्षणा का प्रतिपादन किया था। लक्षणा की व्याख्या उपलक्षणपरक करने से ध्वनि का लक्षण स्वतः हो जाता है। अतः ध्वनि का प्रतिपादन कोई नई वस्तु नहीं। प्रतिपक्षियों का यह कथन तो ध्वनिकार के दावे को ही सिद्ध करता है कि ध्वनि होती है। अतः प्रतिपक्षियों के इस कथन से ध्वनिकार का कुछ नहीं बिगड़ता।) ध्वनि-प्रस्तावना मे विरोधियों के ५ मतों का उल्लेख किया गया था—३ अभाववाद सम्बन्धी, १ लक्षणा में अन्तर्भाव और १ अशक्यवक्तव्यत्ववादी। इस उद्योत मे अभाववाद के तीनों पक्षों का निराकरण कर दिया गया और यह भी सिद्ध कर दिया गया कि ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अब अशक्यवक्तव्यत्ववाद का निराकरण शेष रह गया। इसके लिये ध्वनिकार की एक-आध कारिका होनी चाहिये थी। किन्तु जब तीन प्रकार के अभाववाद का निराकरण हो गया और ध्वनि की लक्षणा वृत्ति-गम्यता भी निराकृत कर दी गई तब अशक्यवक्तव्यत्ववाद का निराकरण भी स्वाभाविक रूप में ही हो गया। अतएव उसके निराकरण के लिये कोई मूल कारिका सुनाई नहीं देती। किन्तु वृत्तिकार ने प्रमेय सन्निवेश को पूरा करने के लिये अभिधावृत्ति में ही उसको अनूदित कर निराकृत कर दिया है। वह इस प्रकार है—'जो लोग ध्वनि को सहृदयहृदयसंवेद्यमात्र कहकर उसकी निर्वचनानर्हता का प्रतिपादन करते हैं वे भी सोच-समझकर नहीं बोलते, क्योंकि कही हुई तथा कही जानेवाली नीति से ध्वनि के सामान्य विशेष लक्षणों के प्रतिपादन कर देने पर भी यदि उसको अनाख्येय कहा जावेगा तो यह बात तो सभी के विषय में घटित हो जावेगी।' यहाँ पर कही हुई नीति का आशय है ध्वनि परिभाषा की कारिका—'यत्रार्थः शब्दो वा·····इत्यादि।' कही जानेवाली नीति का आशय है—'अर्थान्तरे संक्रमितम्' इत्यादि कारिका के द्वारा उसके भेदोपभेद किया जाना। प्रथम उद्योत में कारिका-कार ने सामान्य लक्षण ही किया है। दूसरे उद्योत में विशेष लक्षण तथा अवान्तर भेद किये गये हैं। किन्तु कारिकाकार ने यह नहीं कहा कि उसके भेद

## तारावती

कितने होते हैं ? केवल अवान्तर भेदों का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया । विशेष लक्षण तथा अवान्तर भेदों का परिचय देते हुए ध्वनिकार ने यह सूचित कर दिया कि ध्वनि मूल रूप में दो प्रकार की होती है । इसी आशय के अनुसार वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत में ही लिख दिया कि 'वह ध्वनि दो प्रकार की होती है' । 'सभी के विषय में लागू हो जावेगी' इस कथन में सभी का अर्थ है सभी लौकिक तथा शास्त्रीय विषयों में । ( आशय यह है कि इस ग्रन्थ ध्वन्यालोक में ध्वनि का सामान्य लक्षण भी दिखा दिया गया और विशेष भी । अतः इस बात का स्वतः निराकरण हो गया कि ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता । ) अथवा 'ध्वनि का लक्षण नहीं बनाया जा सकता' इस कथन में अतिशयोक्ति मानी जा सकती है और इसका आशय यह माना जा सकता है कि ध्वनि काव्यतत्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । उसका महत्त्व इतना अधिक है कि वह सभी काव्यतत्वों का अतिक्रमण करनेवाला होता है । यहाँपर अतिशयोक्ति का आशय है कि उसका प्रकथन किया ही नहीं जा सकता यह कथन उस ध्वनि का प्रशंसापरक मात्र है । जैसे—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्याः
तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति ॥

'निद्रा के कारण आधी आँखों को बन्द किये हुए उस मृगनयनी ने मद से मन्थर कुछ ऐसे मधुर अक्षरों का उच्चारण किया जो न तो सार्थक ही थे न निरर्थक ही । आज भी वे अक्षर मेरे हृदय में किसी भावना का स्फुरण कर रहे हैं ।' यहाँ किसी नई भावना का अर्थ है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता अर्थात् जो महत्त्वपूर्ण हैं । इस प्रकार ध्वनि का आख्यान नहीं किया जा सकता इन शब्दो का यह अर्थ हो सकता है कि ध्वनि एक सारगर्भित पदार्थ है । बस ध्वनि स्थापना के विषय में मुझे ( अभिनव गुप्त को ) यही कहना है । ( तृतीय उद्योत में अनिर्वचनीय पक्ष की विशेष मीमांसा की गई है वहीं देखी जानी चाहिये । ) यह मेरी व्याख्या मेरे समस्त पाठकों को शिवरूपिणी हो ।

क्या लोचन के न होने पर चन्द्रिका से भी आलोक की शोभा हो सकती है ? इसीलिये अभिनव गुप्त ने लोचनोन्मीलन किया है । ( आशय यह है कि यदि चाँदनी छिटकी हुई हो प्रकाश फैल रहा हो तो भी जिसके आँखें नहीं हैं वह प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता । इसीप्रकार ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नाम

## लोचन

किं लोचनं विनालोको भातिचन्द्रिकयापि हि ।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते
सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केतो नाम
प्रथम उद्योतः ।

क्या लोचन के विना चन्द्रिका से भी आलोक शोभित होता है ? इससे अभिनवगुप्त ने यहाँ पर लोचनोन्मीलन कर दिया ।

जिसकी उन्मीलनी शक्ति के द्वारा ही विश्व क्षणभर मे उन्मीलित हो जाता है, अपनी आत्मारूपी आयतन में विश्राम करनेवाली उस कल्याणकारिणी प्रतिभा की हम वन्दना करते हैं । अथवा प्रतिभा अर्थात् ज्ञानरूपिणी शिवा ( पार्वती ) की हम वन्दना करते हैं ।

यह है महामाहेश्वर आचार्यवर अभिनव गुप्त द्वारा उन्मीलित
सहृदयालोक-लोचन में ध्वनिसङ्केत नामक
प्रथम उद्योत ।

---

## तारावती

की एक टीका लिखी जा चुकी थी । यह इतनी अपूर्ण तथा अस्पष्ट थी कि साधारण पाठक ध्वन्यालोक के रहस्य को इस टीका के द्वारा इसी प्रकार नहीं समझ सकता था जिस प्रकार चाँदनी का सहारा लेकर कोई नेत्रहीन व्यक्ति आलोक का आनन्द नहीं ले सकता । इसीलिए अभिनव गुप्त ने लोचन टीका में पाठकों की आँखें खोलने की चेष्टा की है । )

जिन भगवती पार्वती जी की प्रकाशन शक्ति से ही सारा विश्व क्षणभर में प्रकाशित हो जाता है । ( अर्थात् जैसे ही भगवती पार्वती अपने कृपा-कटाक्ष से हृदय तत्व को उन्मीलित कर देती है वैसे ही सारा विश्व करतलामलकवत् विना किसी अन्य उपकरण के हमारे अन्तःकरणों में एक दम उद्भासित होने लगता है । ) जो केवल अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं । अथवा ब्रह्मचिन्मय रूपी आयतन मे

## तारावती

जिनका स्वरूपतः निवास है जो ज्ञानस्वरूपिणी हैं जिनका नाम शिवा है उस आदिशक्ति की हम वन्दना करते हैं ।

अथवा जिस प्रतिभा के प्रकाशन योग से सारा विश्व क्षणभर में प्रतिभासित होने लगता है । ( अर्थात् कवि-प्रतिभा के अन्तःकरण में जागरूक होते ही कवि त्रिलोकदर्शी बन जाता है । पुरानी से पुरानी वस्तुयें उसे चिर नवीन और चिर सुन्दर प्रतीत होती हैं तथा कवि प्रतिभा के सहकार से कोई कुरूप से कुरूप वस्तु रमणीय बन जाती है ) जो प्रतिभा निरन्तर अपनी आत्मा में ही वासना रूप में विद्यमान रहती है, जो शिवा है अर्थात् रसावेश के कारण विशद भी है, सुभग भी है और आनन्द विधायिनी भी है तथा लोकमङ्गल का सम्पादन करनेवाली है । उस कविप्रज्ञा की हम वन्दना करते हैं ।

इति तारावत्यां समाप्तोऽयं प्रथम उद्योतः ।

# DHVANYĀLOKA

*of*

SHRI ANANDVARDHANACHARYA

*with the*

LOCHAN COMMENTARY

*by*

**SHRI ABHINAVA GUPTA**

*along with*

FULL HINDI TRANSLATION OF BOTH THE TEXTS

*and*

## TARAWATI VYAKHYA

*by*

**Dr. RAM SAGAR TRIPATHI,**
*M.A , Ph.D., Acharya*

*SECOND UDYOT*

Moti Lal Banarsi Dass
DELHI — VARANASI — PATNA

# ध्वन्यालोकः

## श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-
समाख्यया व्याख्यया च परिगतः

व्याख्यालेखकः—
डा० रामसागर त्रिपाठी
एम० ए०, पीएच० डी०, आचार्यः

द्वितीय उद्योतः

प्रकाशकः—
मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

प्रकाशक—
श्री सुन्दरलाल जैन
© मोतीलाल बनारसीदास
पो० ब० ७५, नेपालीखपरा
वाराणसी

मुद्रक—
सोमारुराम
गौरीशंकर प्रेस,
वाराणसी।

प्रथम संस्करण १९६३ ई०

मूल्य ६)

सब प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित स्थानों से प्राप्त करें—

१. मोतीलाल बनारसीदास, बँगलोरोड, जवाहर नगर, दिल्ली–६
२. मोतीलाल बनारसीदास, पो० ब० ७५, नेपालीखपरा, वाराणसी
३. मोतीलाल बनारसीदास, माहेश्वरी मार्केट, बांकीपुर, पटना

## समर्पण

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी
श्रीमती फूलमती देवी की
दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त
यह अभिनव तारावती
सादर समर्पित है।

# विषय-सूची

## द्वितीय उद्योत

१—लोचन का मङ्गलाचरण ३३७
२—प्रथम उद्योत की सङ्गति ३३७
३—अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेद ३३७

अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत के वाच्यार्थ पर विचार ( ३३९ ) लक्षणामूलकध्वनि भेदों मे वाच्यार्थ पर विचार की आवश्यकता ( ३४० ) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का प्रथम उदाहरण ( ३४२ ) इस उदाहरण की लक्षण-सङ्गति और उसकी चर्वणा का प्रकार ( ३४५ ) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का दूसरा उदाहरण तथा लक्षण संगति ( ३४८ ) हृदयदर्पणकार के मत पर विचार ( ३५० ) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का उदाहरण तथा उसकी लक्षणसंगति ( ३५१ ) दूसरा उदाहरण ( ३५३ )

४—विवक्षितान्यपर वाच्य के दो भेद ३५५

[रस की सामान्य प्रक्रिया ( ३५७ ) काव्यप्रकाशकार के रस विवेचन का सार ( ३५९ ) भट्टलोल्लट का मत और उसकी आलोचना ( ३६० ) शङ्कुक का मत और उसकी आलोचना ( ३६१ ) भट्ट नायक का मत तथा उसकी आलोचना ( ३६३ ) अभिनवगुप्तका मत ( ३६५ )]

५—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेद ३६९

रसध्वनि परिचय ( ३७० ) भावध्वनि का स्वरूप और उदाहरण ( ३७० ) भावोदय का स्वरूप और उदाहरण ( ३७१ ) भावस्थिति का उदाहरण ( ३७२ ) भावशान्ति का उदाहरण ( ३७३ ) भावसन्धि का उदाहरण ( ३७३ ) भावशबलता का उदाहरण ( ३७४ ) विभावध्वनि अनुभावध्वनि का निराकरण ( ३७५ ) रसाभास का स्वरूप और उदाहरण ( ३७५ ) भावध्वनि इत्यादि का रसान्तर्भाव ( ३७७ ) रसध्वनि का स्वरूप और उदाहरण ( ३७७ )

६—रसवदलङ्कार से ध्वनि का विषय भेद ३८१
७—भट्ट नायक का रसविषयक मत ३८२
८—भट्ट नायक के खण्डन का उपक्रम—रस विषयक विभिन्न मत ३८३

लोल्लट का मत और उसका निराकरण ( ३८८ ) शङ्कुक का मत ( ३८९ ) अन्य आचार्यों के मत–अनुकर्तृगत रस, विभावानुभावमात्र रस, नाट्य की रसरूपता, शुद्धविभाव, शुद्ध अनुभाव, स्थायीमात्र, व्यभिचारीमात्र, उनके संयोग की रस-रूपता, अनुकार्य की रसरूपता, समस्त समुदाय की रसरूपता ( ३९२ )

९—काव्य में रस ३९३

१०–रसमें प्रतीति की अपरिहार्यता तथा विलक्षणता ३९३

११—भट्ट नायक के मत के खण्डन का उपक्रम ३९५

१२—भावकत्व और भोजकत्व का अन्यत्र अन्तर्भाव ३९६

१३—रस की स्वाभिमत प्रक्रिया ३९७

१४—रसध्वनि का उपसंहार ४०१

१५—रसालङ्कार का स्वरूप ४०२

१६—प्रेयोलङ्कार का उदाहरण तथा उसकी भामह और उद्भट दोनों के मत से संगति ४०३

१७—रसवदलङ्कार के विषय में अन्य मान्यतायें और उनकी परीक्षा ४०७

१८—शुद्ध रसवदलङ्कार का उदाहरण ४०९

१९—रस की अलङ्काररूपता का समर्थन ४१२

२०—सङ्कीर्ण रसादि अलङ्कार का उदाहरण ४१३

२१—रसवत् इत्यादि अलंकार के विषय का उपसंहार ४१५

२२—रसवत् अलंकार से रस ध्वनि की विविक्त विषयता का प्रतिपादन ४१७

२३—ध्वनि, उपमा इत्यादि और रसवत् इत्यादि की विविक्तविषयता का उपसंहार ४२१

२४—शुद्ध भावालंकार का उदाहरण ४२२

२५—रसाभास की अलंकारता का उदाहरण ४२३

२६—भावाभास की अंगता का उदाहरण ४२५

२७—'चेतन के वाक्यार्थी भाव में ही रसवदलंकार होता है' इस मत की परीक्षा ४२६

२८—उक्त निराकरण की उदाहरणों द्वारा पुष्टि ४२९

२९—'चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना होने पर रस इत्यादि अलंकार होते हैं' इस मत का निराकरण ४३४

[ध्वनिकार के मत का सार और उसका औचित्य (४७३) मम्मट द्वारा स्पष्टीकरण (४३८) कुन्तक के विवेचन का सार और उसकी समीक्षा (४३९) रसवदलंकार के खण्डन मे कुन्तक के दो तर्क (४३९) कुन्तक द्वारा भामह का खण्डन ( ४४० ) उद्भट का

खण्डन ( ४४१ ) दण्डी का खण्डन ( ४४१ ) आनन्दवर्धन की मान्यता की आलोचना ( ४४२ ) कुन्तक का रसवत् अलंकार के विषय में अपना मत ( ४४२ ) ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता का आशय ( ४४३ ) ध्वनिकार के रसालंकार शब्द के प्रयोग का समर्थन तथा उनकी मान्यता का आशय और उसका समर्थन (४४४) उदाहरणों के कुन्तक द्वारा खण्डन की आलोचना ( ४४६ ) कुन्तक की परिभाषा पर विचार ( ४४८ ) ]

३०—गुण और अलंकार का भेद ४४९
३१—माधुर्य का शृंगार में प्रकर्ष ४५१
३२—माधुर्य का रसों में तारतम्य ४५४
३३—रौद्र की रसनियोजना ४५७
३४—शब्दगत ओज के द्वारा रसाभिव्यक्ति का उदाहरण ४५९
३५—अर्थगत ओज के द्वारा रसाभिव्यक्ति का उदाहरण ४६२
३६—प्रसाद गुण का स्वरूप और उसका अधिष्ठान ४६५
३७—दोषों की रसदृष्टि से व्यवस्था ४६८
३८—रसों के भेदों की अनन्तता ४७१
३९—शृंगार निबन्धन का उपक्रम ४७६
४०—शृंगार में अनुप्रास के बाहुल्य का दोष ४७७
४१—शृंगार में यमकादि निबन्धन की सदोषता ४७८
४२—रसाभिव्यक्ति में अलंकार योजना के लिये युक्ति ४८०
४३—उदाहरण ४८२
४४—यमक इत्यादि का अन्य अलंकारों से वैषम्य ४८५
४५—उक्त प्रकरण का उपसंहार ४८६
४६—अलंकार वर्ग की समीक्षापूर्वक योजना का उपक्रम ४८७
४७—अलंकार वर्ग की समीक्षा के प्रकार ४८८
४८—अलंकार की अंगता का उदाहरण ४९०
४९—रसपरक अलंकार की भी क्वाचित्क अंगिरूपता ४९२
५०—अवसर के अनुकूल ग्रहण का उदाहरण ४९४
५४—अवसर के अनुकूल त्याग का उदाहरण ४९७
५५—अलंकार के आत्यन्तिक निर्वाह न करने का उदाहरण ५०७
५६—प्रयत्नपूर्वक अंगत्व के रूप मे प्रत्यवेक्षा का उदाहरण ५०९
५७—त्यक्त के पुनर्ग्रहण का उदाहरण ५१२
५८—संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का प्रकार और उसके दो भेद ५१४

५९—श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का भेद ५१६
६०—श्लेष का उदाहरण ५१७
६१—शब्दशक्तिमूलक वस्तुव्यञ्जना की मान्यता के विषय में विभिन्न मत तथा औचित्य का निर्णय ५२१
६२—शब्दशक्ति से साक्षात् अलंकारान्तर प्रतिभा ५२५
६३—अलंकारान्तरसंपृक्त श्लेष से अलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पोषण का उदाहरण ५२७
६४—अन्य उदाहरण ५२९
६५—तीसरा उदाहरण ५२९
६६—आक्षिप्त अलंकार के शब्दान्तर से अभिधान में ध्वनि का अभाव ५३१
६७—उदाहरण ५३४
६८—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का क्षेत्र ५३७
[ अभिधा के निर्णायक तथा श्लेष के दूसरे अलंकारों से सम्बन्ध पर विश्वनाथ का मत ५३८ ]
६९—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण ५४१
७०—शब्दशक्तिमूलक ध्वननव्यापार से अर्थान्तर की प्रतीति के प्रकार ५४२
७१—शब्दशक्तिमूलकध्वनि के अन्य उदाहरण ५४८
७२—शब्दशक्तिमूलक विरोध ध्वनि के उदाहरण ५५२
७३—शब्दशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण ५५७
७४—अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि ५५८
७५—संलक्ष्य और असंलक्ष्य का भेद ५६१
७६—अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यतिरेक ५६५
७७—शब्दशक्ति से अर्थ के आख्यान का उदाहरण ५६८
७८—अर्थशक्ति से अर्थाख्यान का उदाहरण ५७१
७९—उभयशक्ति से अर्थाख्यान का उदाहरण ५७३
८०—व्यञ्जक अर्थ के तीन भेद ५७४
८१—कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण ५७८
८२—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण ५७९
८३—दूसरा उदाहरण ५८०
८४—स्वतःसम्भवी वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण ५८०
८५—दूसरा उदाहरण ५८२
८६—अलङ्कार ध्वनि ५८४
८७—अलङ्कार ध्वनि का व्यतिरेक ५९०

८८—व्यङ्ग्यमुख से वाच्य के व्यवस्थापन में रूपक ध्वनि का उदाहरण ५९४
८९—दूसरा उदाहरण ५९८
९०—तीसरा उदाहरण ५९९
९१—उपमाध्वनि ६०२
९२—दूसरा उदाहरण ६०४
९३—आक्षेप ध्वनि ६०६
९४—शब्दशक्तिमूलक अर्थान्तरन्यास ध्वनि ६०८
९५—अर्थशक्तिमूलक अर्थान्तरन्यास ध्वनि ६१०
९६—व्यतिरेक ध्वनि ६१२
९७—उत्प्रेक्षा ध्वनि ६१४
९८—श्लेष ध्वनि ६२०
९९—यथासंख्य ध्वनि ६२४
१००—दीपक ध्वनि ६२४
१०१—अप्रस्तुतप्रशंसा ध्वनि ६२६
१०२—अपह्नुति ध्वनि ६२८
१०३—उक्त उदाहरण मे ही अन्य अलङ्कारों की ध्वनियाँ ६२९
१०४—अतिशयोक्ति ध्वनि ६३१
१०५—अलङ्कारध्वनि की प्रयोजनवत्ता ६३३
१०६—वस्तु से अलङ्कारव्यञ्जना मे ध्वनि की अनिवार्यता ६३६
१०७—अलङ्कार से अलङ्कारव्यञ्जना में ध्वनि का क्षेत्र ६३७
१०८—ध्वनिभेदों का परिगणन ६४०
१०९—ध्वनि के आभास का विवेक ६४१
११०—वाच्यार्थ के प्रतीयमान अर्थ में परिणत होने पर ध्वनि का उदाहरण ६४६
१११—अविवक्षितवाच्य की आभासरूपता ६५०
११२—सभी प्रभेदों में स्फुट प्रतिपत्ति का सामान्य नियम ६५४
११३—अभिनवगुप्त का उद्योतसमापन मङ्गलश्लोक ६५५

# ध्वन्यालोकः

## द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥ १॥

(अनु०) इस प्रकार (प्रथम उद्योत मे) दो प्रकार की ध्वनि प्रकाशित की गई थी—(१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)। उनमे अविवक्षितवाच्य के अवान्तर भेद तथा विवक्षितान्यपरवाच्य से उसके भेद का प्रतिपादन करने के लिये यह कहा जा रहा है:—

'अविवक्षतवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का होता है-(१) अर्थान्तर में सङ्क्रमित अथवा अत्यन्ततिरस्कृत।'

### लोचन

या स्मर्यमाणा श्रेयांसि सूते ध्वंसयते रुजः।
तामभीष्टफलोदारकल्पवल्लीं स्तुवे शिवाम्॥

वृत्तिकारः सङ्गतिमुद्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते—एवमित्यादि। प्रकाशित इति। मयावृत्तिकारेण सतेतिभावः। न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तथेति। तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्तं बीजभूतमिति सम्बन्धः।

### लोचन

जो स्मरण की हुई कल्याणों को उत्पन्न करती है और रोगों को ध्वस्त करती है, अभीष्ट फलों के लिये उदार कल्पलता (भगवती) उस शिवा की हम स्तुति करते है।

वृत्तिकार उद्योत की सङ्गति करने के लिये उपक्रम कर रहा है—एवम् इत्यादि। प्रकाशित इति। अर्थात् वृत्तिकार होते हुये मेरे द्वारा। यह मैंने सूत्र का उल्लङ्घन करके नहीं कहा अपितु कारिकाकार के अभिप्राय से ही यह कह रहे हैं—तत्र इति। उसमे अर्थात् वृत्तिकार के किये हुये दो प्रकार के प्रकाशन में जो निमित्त अर्थात् बीजभूत है, यह सम्बन्ध है।

### तारावती

द्वितीय उद्योत के प्रारम्भ में भी लोचनकार ने मङ्गलाचरण किया है। वस्तुतः शास्त्रीय परम्परा मध्य में भी मङ्गलाचरण करने का प्रतिपादन करती है—

## लोचन

यदि वा—तत्रेति पूर्वं शेषः। तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। तदवान्तरभेदप्रतिपादन-

अथवा वहाँ पर 'तत्र' यह पहले शेष रह गया। उसमें प्रथम उद्योत में वृत्तिकारके द्वारा प्रकाशित किया हुआ अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् अवान्तर प्रकार है उसके प्रकाशन के लिये यह कहा जा रहा है। उसके अवान्तर भेद के

## तारावती

(मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।) अभिनवगुप्त शैव थे। इसीलिये उन्होने यहाँपर भगवती शिवा (पार्वती) की वन्दना की है—'जो भगवती पार्वती स्मरण करते ही अपने भक्तो के आनन्द-मङ्गल को उत्पन्न करती हैं तथा उनके रोगों और आपत्तियों को ध्वस्त करडालती हैं; वे भगवती अभीष्ट फल देने में उदार कल्पलता के समान हैं, मैं उन्हीं कल्याणकारिणी भगवती पार्वती की वन्दना कर रहा हूँ।' एक दूसरे पद्य मे अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को भी 'शिवा' कहा है। यदि यहाँ पर प्रतिभा का अर्थ लगाया जावे तो इसका आशय होगा—भगवती प्रतिभा देवी की जैसे ही उपासना की जाती है वैसे ही मानव के आनन्द-मङ्गल का विधान हो जाता है और सारे कष्ट कट जाते हैं। वस्तुतः काव्य का परिशीलन एक ओर ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द का विधान करता है, दूसरी ओर लोकवृत्त में पटुता प्रदान कर अकल्याण का नाश करता है। इससे अनायास चतुर्वर्गफलप्राप्ति हो जाती है। इसीलिये प्रतिभा को सभी फल देने के लिये उदार कल्पलता बतलाया गया है।

[प्रथम उद्योत मे लक्षणापक्ष के निराकरण की सुविधा के लिये आलोककार ने ध्वनि के दो भेद कर लिये थे—अविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। यद्यपि इस प्रकार का विभाजन कारिकाकार ने नहीं किया, तथापि इन दोनों भेदों के अवान्तर भेदों का निरूपण प्रस्तुत प्रकरण मे किया गया है जिससे उक्त भेद कारिकाकर के सम्मत सिद्ध होते हैं। आलोककार ने वहाँ पर अपने उक्त ग्रन्थ की सङ्गति कारिकाकार से लगाते हुये ही प्रस्तुत उद्योत का प्रारम्भ किया हे।] ग्रन्थकार प्रथम उद्योत की सङ्गति द्वितीय उद्योत से लगाते हुये (इस द्वितीय उद्योत का) प्रारम्भ कर रहे हैं। यहाँपर वृत्तिकार का आशय यह है कि मैंने वृत्तिकार होने के नाते ध्वनि के दो प्रकारो को प्रकाशित किया था। यह मैंने सूत्र का उल्लङ्घन करके नहीं कहा था। अर्थात् जो कुछ मैंने कहा था वह सूत्रकार को अभिप्रेत न हो ऐसी बात नहीं थी, कारिकाकार को भी ये भेद अभिप्रेत ही है। इसी अभिप्राय से यहाँपर लिखा गया है कि 'अविवक्षितवाच्य के उपभेदों का प्रतिपादन करने के लिये प्रथम कारिका लिखी गई है।

## लोचन

द्वारेणैव चानुवादद्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यात्प्रभिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति-भावः। सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च। येन वाच्येन अविवक्षितेन सताऽविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्व्यप-दिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः। योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तर-संवलनयान्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरि-णत उक्तः। यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति।

प्रतिपादन के द्वारा ही और अनुवाद के द्वारा अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य से प्रभिन्नत्व उसके प्रतिपादन के द्वारा यह कहा जा रहा है यह भाव है। 'संक्रमितम्' में णिच् के द्वारा व्यञ्जनाव्यापार में जो सहकारी वर्ग है उसका यह प्रभाव है यह कहा गया और तिरस्कृत शब्द के द्वारा भी यही कहा गया। जिस वाच्य के अविवक्षित होते हुये अविवक्षितवाच्य यह नाम-करण होता है वह वाच्य दो प्रकार का होता है; यह सम्बन्ध है। अनुपपन्न होते हुये भी जो अर्थ उतने से ही अनुपयोग होने के कारण दूसरे धर्म के सम्मिलन से दूसरा सा होकर लक्षित होता है तथा सूत्रन्याय से धर्मी से अनुगत होकर विद्यमान होता है वह रूपान्तरपरिणत कहा गया है। और जो अनुपपन्न होते हुए केवल उपाय रूपसे ही दूसरे अर्थ की प्रतीति करके पलायन कर जाता है वह तिरस्कृत यह (कहा जाता है)।

## तारावती

आशय यह है कि वृत्तिकार ने ध्वनि के दो भेदों का जो प्रकाशन किया था उसमें बीजभूत निमित्त प्रस्तुत कारिकायें ही हैं। अथवा 'तत्र' यह पूर्व शेष है। अर्थात् 'तत्र' का अर्थ है प्रथम उद्योत मे। आशय यह है कि वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत मे जो अविवक्षितवाच्य नामक ध्वनि का अवान्तर भेद प्रकाशित किया था उसी का प्रतिपादन करने के लिये प्रस्तुत कारिका लिखी गई है। कारिका में अविवक्षितवाच्य के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया गया है। अविवक्षितवाच्य स्वयं ध्वनि का एक प्रभेद या अवान्तर भेद है। अतएव उसी प्रभेद का उल्लेख करते हुये अनुवाद के द्वारा यह बात बतलाई गई है कि अवि-वक्षितवाच्य नामक अवान्तर भेद विवक्षितान्यपरवाच्य नामक प्रभेद से भिन्न होता है। निष्कर्ष यह है कि वृत्तिकार द्वारा प्रथम उद्योत में बतलाये हुये ध्वनि के दो भेद कारिकाकार के भी सम्मत हैं। यद्यपि कारिकाकार ने इन भेदों का उल्लेख

किया नहीं है। ( अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। ) यहाँपर 'संक्रमित' शब्द में प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, ( शुद्ध क्रिया संक्रान्त का नहीं। ) इसका आशय यह है कि ( अर्थ अपनी विशेषता से ही स्वतः दूसरे अर्थ में संक्रान्त नहीं हो जाता अपितु ) व्यञ्जनाव्यापार का जो सहकारी वर्ग है उसी का यह प्रभाव होता है कि व्यञ्जना का सहकारीवर्ग ही एक अर्थ (मूल वाच्यार्थ) का संक्रमण दूसरे अर्थ में करा देता है। यही तिरस्कृत शब्द के 'क्त' प्रत्यय का भी अर्थ है। अर्थात व्यञ्जक का सहकारी वर्ग ही वाच्यार्थ का तिरस्कार करने में कारण होता है। यहाँ पर कारिका का सम्बन्ध इस प्रकार होगा—जिस वाच्य के अविवक्षित हो जाने पर ध्वनि का नाम अविवक्षितवाच्य पड़ जाता है वह वाच्य दो प्रकार का होता है—एक तो वह होता है जहाँ अर्थ उपपन्न तो हो जाता है किन्तु उतने ही अर्थ का उपयोग नहीं होता—वह अर्थ अपूर्ण मालूम पड़ता रहता है अतएव उसका सम्मिश्रण दूसरे धर्मों ( अर्थों ) से हो जाता है और वह अन्य का जैसा प्रतीत होने लगता है। वह लक्ष्यमाण ( प्रतीयमान ) अर्थ का अनुगमन करते हुये स्थित रहता है। ( आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य के प्रथम भेद में वाच्यार्थ पूर्णतया अनुपपन्न नहीं होता। वाच्यार्थ का उपयोग अवश्य होता है किन्तु वह अर्थ अपूर्ण सा मालूम पड़ता रहता है। अतः वह अपनी पूर्ति के लिये दूसरे धर्मों से मिल जाता है, इसी कारण वह अर्थ और का जैसा हो जाता है। ये समस्त धर्म प्रतीयमान होते हैं। इन समस्त धर्मों का एक धर्मी मे उसीप्रकार संक्रमण हो जाता है जिस प्रकार एक सूत मे अनेक प्रकार के पुष्प पिरोये जाते हैं। ) अविवक्षितवाच्य के इस प्रथम प्रभेद को रूपान्तरपरिणत अथवा अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य कहते हैं। अविवक्षितवाच्य का दूसरा प्रकार वह है जिसमें वाच्यार्थ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। उसका उपादान केवल इसीलिये होता है कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति मे वाच्यार्थ एक उपायमात्र होता है। ( वाच्यार्थ का बाध भी लक्षणा की एक शर्त है। लक्ष्यार्थप्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक वाच्यार्थबाध न हो और वाच्यार्थबाध तब तक नहीं हो सकता जब तक वाच्यार्थ की प्रतीति न हो। इस प्रकार लक्ष्यार्थप्रतीति मे यह वाच्यार्थ केवल उपाय होता है। ) यह वाच्यार्थ दूसरे अर्थ ( लक्ष्यार्थ की ) प्रतीति कराकर स्वयं मानो पलायन कर जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का तिरस्कार हो जाने के कारण इस ( दूसरे ) प्रकार को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहते है।

ध्वन्यालोकः

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः

(अनु०) और उस प्रकार के उन दोनों भेदों से व्यङ्ग्य की ही विशेषता होती है।

लोचन

ननु व्यङ्ग्यात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्क्याह—तथाविधाभ्यां चेति। चो यस्मादर्थे। व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्ग्यवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।

(प्रश्न) व्यङ्ग्यात्मक ध्वनि का भेद-निरूपण किया जा रहा है तब वाच्य दो प्रकार का होता है यह भेदकथन सङ्गत नहीं है? यह शङ्का कर के उत्तर देते हैं—'तथाविधाभ्यां च ताभ्याम्' (यहाँ पर) 'च' 'जिससे' के अर्थ में आया है। भाव यह है कि व्यञ्जक के वैचित्र्य से व्यङ्ग्य का वैचित्र्य निःसन्देह उचित है। आशय यह है कि जब व्यञ्जक अर्थ में ध्वनि शब्द हो तो कोई दोष नहीं है।

तारावती

(प्रश्न) ध्वनि की आत्मा है व्यङ्ग्यार्थ। इस ध्वनि के ही भेदों का निरूपण करना है; फिर 'वाच्यार्थ दो प्रकार का होता है' यह कहकर वाच्यार्थ का भेदकथन किस प्रकार सङ्गत हो सकता है? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'और उस प्रकार के इन दोनों वाच्यभेदों से व्यङ्ग्य की ही विशेषता सिद्ध होती है।' यहाँपर 'च' का अर्थ है 'क्योंकि'। आशय यह है कि वाच्यार्थ व्यञ्जक होता है और व्यञ्जक की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता भी सिद्ध होती है। पहले बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द का अर्थ व्यञ्जक भी होता है, यदि यह अर्थ माना जावे तो यहाँ पर वाच्यार्थ के भेद करने में कोई दोष नहीं।

(यहाँ पर उचित यह था कि इन दोनों भेदों के लक्षण दिये जाते। किन्तु लक्षण न देकर यहाँ पर वृत्तिकार ने उदाहरण देना प्रारम्भ कर दिया है। इसका कारण यह है कि) भेद प्रतिपादन के लिये जिन शब्दों का उपादान किया गया है, वे वास्तव में अन्वर्थ संज्ञाये हैं, अर्थात् शब्द से ही उनका लक्षण भी सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ पर उदाहरण ही दे दिया है। ('स्निग्ध·····' यह पद्य महानाटक से लिया गया है और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण तथा मम्मट ने काव्य-प्रकाश में इसे उद्धृत किया है।) यहाँपर सङ्गति इस प्रकार लगायी जाती है—'उनके (भेदों) में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण जैसे इस

ध्वन्यालोकः

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघनाः ।
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ॥
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे ।
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥

इत्यत्र रामशब्दः ।

( अनु० ) उनमें अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण जैसे :—'स्निग्ध और श्यामल मेघों की कान्ति से आकाश लिप्त हो रहा है, बादलों के चारों ओर हर्ष-परवश बलाकायें उड़ रही हैं, वायु जलकणों से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त शीतल है और मेघों के सुहृद् मयूरोंकी आनन्ददायक प्रकृति-मधुर केकावाणी भी व्याप्त हो रही है । हुआ करे, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ । सब कुछ सह रहा हूँ । किन्तु वैदेही कैसी होगी 'हाय हाय हाय देवी धैर्य धारण करो ।'

यहाँ पर राम शब्द ।

लोचन

भेदप्रतिपादकेनैवान्वर्थनाम्ना लक्षणमपि सिद्धमित्यभिप्रायेणोदाहरणमेवाह—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो यथेति—

अत्रश्लोके रामशब्द इति सङ्गतिः । स्निग्धया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया, द्रविड़वनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचिक्येन क्षिप्रमाच्छुरितं वियन्नभो यैः । वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परमागवशात् प्रहर्षवशाच्च बलाकाः सित-

अन्वर्थ नामवाले भेदप्रतिपादक के द्वारा ही लक्षण भी सिद्ध है, इस अभिप्राय से उदाहरण ही कहते हैं—'अर्थान्तर संक्रमित' इति । जैसे—इस श्लोक में राम शब्द यह सङ्गति है । स्निग्ध और जलसम्बन्ध से सरस श्यामल अर्थात् द्रविड वनिता में मिलनेवाले कृष्ण वर्ण की कान्ति अर्थात् चमकदमक के द्वारा लिप्त अर्थात् व्याप्त कर लिया गया है वियत् अर्थात् आकाश जिनके द्वारा। अत्यन्त उत्कर्ष से तथा प्रहर्षवश उद्वेलन करनेवाली अर्थात् प्रसरण शील तथा चलनेवाली हैं बलाकायें अर्थात् विशेष

तारावती

पद्य में राम शब्द।' मेघ आकाश को चारों ओर से घेरे हुये हैं। इनका वर्ण स्निग्ध है अर्थात् जल से परिपूर्ण होने के कारण इनकी कान्ति अत्यन्त सरस है । इनकी कान्ति श्यामल भी है अर्थात् द्रविडवनिताओं में प्राप्त होनेवाले श्यामवर्ण से युक्त है। इस प्रकार की कान्ति अर्थात् तरल प्रभा से आकाश व्याप्त हो रहा है । ( यही बलाकाओं के गर्भाधान का समय है, अतः) बगलों की पंक्तियाँ उत्साह से भरी हुई हैं और प्रकाशित हो

## लोचन

पक्षिविशेषा येषु त एवंविधाः मेघाः। एवं नभस्तावद्दुरालोकं वर्तते। दिशोऽपि दुस्सहाः। यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित्प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्ज-सम्वादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुस्सहं स्मारयन्ति, स्वयं च दुस्सहाः इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठान-त्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामभिमन्यमानः इत एव प्रभृति प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—कामं सन्त्विति।

प्रकार के श्वेत पक्षी जिनमें वे इस प्रकार के मेघ। इस प्रकार आकाश कठिनाई से देखा जाने योग्य है। दिशायें भी दुस्सह हैं क्योंकि सूक्ष्म जलकणों का उद्गिरण करने-वाले पवन चल रहे हैं। बहुवचन से मन्दमन्दत्व तथा अनियत दिशा से आना सूचित होता है। तो कहीं गुफाओं में प्रविष्ट होकर बैठो, इससे कह रहे हैं—मेघों के जो सुहृद् तथा उनके होते हुए जो शोभन हृदयवाले मयूर उनके आनन्द अर्थात् हर्ष से कल अर्थात् षड्ज से मेल खानेवाली केका अर्थात् विशेष प्रकार का शब्द, वे (केकायें) समस्त दुस्सह पयोद-वृत्तान्त का स्मरण करा रही हैं और स्वयं दुस्सह हैं, यह भाव है। इस प्रकार उद्दीपन विभाव से उद्बोधित विप्रलम्भ शृङ्गारवाले (भगवान् राम) रति के परस्पर अधिष्ठान होने के कारण विभावों की साधारणता को मानते हुए यहीं से प्रियतमा को हृदय में धारणकर ही अपना वृत्तान्त कह रहे हैं—कामं सन्तु इत्यादि।

## तारावती

रही हैं तथा चल भी रही हैं, क्योंकि वे मेघों के श्याम और अपने श्वेत वर्ण के मिल जाने से परम सौभाग्य को प्राप्त हो रही हैं तथा प्रहर्षपरवश भी हैं। बलाका एक विशेष प्रकार का श्वेत पक्षी होता है। उनसे युक्त मेघ आकाश में छाये हुए हैं। अतः उद्दीपनों से परिपूर्ण होने के कारण आकाश की ओर देखना अत्यन्त दुष्कर हो गया है। तो फिर आकाश की ओर देखने की आवश्यकता ही क्या? दिशाओं का मण्डल ही देखने के लिये क्या थोड़ा है? किन्तु दिशाओं की ओर देखना भी असह्य है क्योंकि उनमें उद्दीपक मन्द-मन्द वायु बह रही है। यह वायु छोटे-छोटे जलकणों को उद्गीर्ण कर रही है। 'वाताः' शब्द में बहुवचन का प्रयोग व्यक्त करता है कि वायु अनिश्चित दिशा से आ रही है और बहुत ही मन्द-मन्द बह रही है। अतः दिशाओं की ओर भी नहीं देखा जा सकता। तो फिर कहीं गुफाओं में छिपकर कालयापन करना चाहिये। किन्तु यह भी नहीं हो सकता।

## लोचन

दृढमिति सातिशयम् । कठोरहृदय इति । रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम् । यथा तद्गेहम् इत्युक्तेऽपि 'नतभित्ति' इति । अन्यथा रामपदं दशरथकुलोत्पन्नत्वकौशल्यास्नेहपात्रत्ववाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति । अस्मीति । स एवाहं भवामीत्यर्थः । भविष्यतीति क्रियासामान्यम् । तेन किं करिष्यतीत्यर्थः । अथ च भवनमेवास्या असम्भाव्यमिति । उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससम्भ्रममाह–हहाहेति । देवीति । युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः ।

दृढम् का अर्थ है अतिशयता से युक्त। कठोर हृदय इति । राम शब्द के अर्थ के द्वारा विशेष प्रकार की ध्वनि को अवकाश देने के लिये 'कठोर हृदय' शब्द (का प्रयोग किया गया है) । जैसे 'तद्गेहम्' यह कह दिये जाने पर भी 'नतभित्ति' यह शब्द । अन्यथा राम शब्द दशरथकुलोत्पन्नत्व कौशल्यास्नेहपात्रत्व बाल्यचरित जानकीलाभ इत्यादि धर्मान्तर-परिणत अर्थ को क्यों न ध्वनित करेगा ? 'अस्मि' इति । अर्थात् मैं वही हूँ । भविष्यति यह सामान्य क्रिया है । उससे 'क्या करेगी ?' यह अर्थ हो जाता है। और भी इसका होना ही असम्भाव्य है। उक्त प्रकार से हृदयनिहित स्मरण, (वैदेही इत्यादि) शब्द और विकल्प की परम्परा से प्रत्यक्ष की हुई तथा हृदय को स्फुटित करने के लिये उद्यत प्रियतमा के विषय मे सम्भ्रमपूर्वक कहते हैं—ह हा हा इति । 'देवि इति' । तुम्हारा धैर्य उचित है ।

## तारावती

क्योंकि मयूर मेघों के मित्र होते हैं । वे मेघ विद्यमान हैं ही । अतएव शोभन हृदय रखनेवाले इन मयूरों की मधुर केका वाणी हर्ष और आनन्द के कारण अत्यन्त कल अर्थात् श्रुति-मधुर हो गई है जो कि षड्ज ध्वनि की संवादिनी है । हमे चाहे जहाँ जाकर बैठें उन मयूरों की मधुर वाणी मेघ के सम्पूर्ण वृत्तान्त का स्मरण करा ही देती है । वह मेघवृत्तान्त असह्य है और मयूरों का कलरव भी असह्य ही है । इस प्रकार राम का विप्रलम्भ उद्दीपन विभावों से उद्बोधित हो गया है । रति उभयनिष्ठ होती है । दोनों प्रेमी एक दूसरे के प्रति रतिभाव के अधिष्ठान होते हैं । और उद्दीपन विभाव दोनों के हृदयों में समान रूप मे ही रसोद्दीपन करते हैं । यही समझकर उद्दीपनों का प्रथम दो पंक्तियों में वर्णन कर इसके आगे प्रियतमा को हृदय में रखकर प्रथम अपने वृत्तान्त का कथन कर रहे हैं—कि मेरे लिये ये उद्दीपन चाहे जितनी मात्रा में बने रहे । 'दृढम्' का अर्थ है बहुत अधिक और 'कठोरहृदय' शब्द राम का विशेषण है । इस शब्द का विशेष रूप से उपादान इसलिये किया गया है जिससे राम शब्द की ध्वनि को अवसर प्राप्त हो जावे ।

ध्वन्यालोकः

अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम् ।

( अनु० ) इससे केवल संज्ञी ( राम ) का ही प्रत्यायन नहीं होता अपितु दूसरे व्यङ्ग्य धर्मों से परिणत संज्ञी का प्रत्यायन होता है ।

लोचन

अनेनेति । रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः । व्यङ्ग्यधर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसङ्ख्येयम् । तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम् । क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत् ।

अनेन इति । भाव यह है कि अनुपयुक्त अर्थवाले राम शब्द के द्वारा । व्यङ्ग्य राज्य निर्वासन इत्यादि असंख्य प्रकार का प्रयोजनरूप धर्मान्तर है । वह असंख्य होने के कारण अभिधाव्यापार के द्वारा समर्पण में अशक्य है । क्रम से अर्पण किये जाने पर भी एक बुद्धि के विषय हो सकने के अभाव के कारण विचित्र प्रकार की चर्वणा के योग्य नहीं हो सकता । अतः चारुता की अधिकता करनेवाला

तारावती

जैसे 'तद्गेहं नतभित्ति' इस पद्य में 'गेहम्' का 'तद्' विशेषण रख देने मात्र से ही घर की दुर्दशा व्यक्त हो जाती है । 'नतभित्ति' कहकर उस व्यञ्जना को और अधिक अवकाश प्रदान कर दिया गया है । यदि यहाँ पर 'कठोर हृदय' इस विशेषण का प्रयोग न किया गया होता तो दशरथकुलोत्पन्नत्व, कौशल्यास्नेहपात्रत्व, बालचरित, जानकीलाभ इत्यादि दूसरे धर्मों में परिणत अर्थ को ध्वनित क्यों न करता ? 'अस्मि' की व्यञ्जना यह है कि 'मैं राम तो जीवित हूँ' किन्तु 'भविष्यति' इस सामान्य क्रिया के प्रयोग द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि सीता के होने में ही सन्देह है । सीता जी राम के हृदय में विद्यमान हैं, उनको राम ने उक्त प्रकार से उद्दीपनों का स्मरण करते हुए, 'वैदेही' इस सम्बोधन के द्वारा तथा 'सीता होगी या नहीं होगी' इस विकल्प के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है और अब स्मरण के माध्यम से प्रत्यक्षभाव को प्राप्त सीता जी राम के हृदय को विदीर्ण करने ही वाली हैं । अतः राम ने संभ्रमसूचक 'ह हा हा' इन शब्दों का प्रयोग किया है । साथ ही राम प्रत्यक्षीभूत सीता को डाटस भी दे रहे हैं और उसके लिये उन्होंने 'देवि' शब्द का प्रयोग किया है । देवी के पद पर जिसका अभिषेक किया जा चुका है उसको तो धैर्यशालिनी होना ही चाहिये । यहाँ पर राम शब्द का अर्थ उपयुक्त नहीं होता । ( राम का स्वयं यह कहना कि 'मैं राम हूँ' कोई अर्थ नहीं रखता । अतः तात्पर्यानुपपत्ति के कारण इसका लक्ष्यार्थ है मैं 'सहन की शक्ति रखनेवाला राम हूँ ।' ) इस लक्षणा का प्रयोजन है राज्य-निर्वासन इत्यादि

## लोचन

प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्र-पानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति। यथोक्तम्—उक्तस्यन्तरेणाशक्यं यत्। एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्यः।

नहीं है। प्रतीयमान तो उन असंख्य अनुद्भिन्न विशेषतावाले होने के कारण ही क्या-क्या रूप नहीं सह सकते इस प्रकार चित्रपानक रस, अपूप और गुडमिश्रित मोदक के समान विचित्र चर्वणा का स्थान बन ही जाता है। जैसा कहा गया है—'जो दूसरी युक्ति से अशक्य हो' इत्यादि। यही सर्वत्र प्रयोजन प्रतीयमान होने के कारण उत्कर्ष का हेतु माना जाना चाहिये।

## तारावती

असंख्य अन्यधर्मों से इसका संयोग हो जाना। (यहाँ पर आशय यह है कि मैं ने अपने जीवन में कभी सुख नहीं देखा, मुझे राज्य से च्युत होना पड़ा, बन्धु वियोग हुआ, पिता की मृत्यु हुई, माताओं का वियोग सहा और अन्त में प्राणप्रिया सीता का भी वियोग सहना पड़ा। इस प्रकार कष्ट सहते-सहते मेरा हृदय कठोर हो गया है। इन उद्दीपनों का सह लेना मेरे लिये बड़ी बात नहीं। किन्तु बेचारी सीता की क्या दशा होगी? वह तो विदेह राज की प्यारी पुत्री है सदा सुखमय जीवन बिताया है, वह कोमलाङ्गी इन उद्दीपनों को सहकर जीवित रह सकी होगी इसमें भी सन्देह है। यहाँ पर ध्यान देनेवाली बात यह है—गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप में लिखा है कि यहाँ राम शब्द बाधित हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'राम सभी दुःखों के पात्र हैं।' इसके प्रतिकूल वृत्तिकार ने सभी दुःखों के सहने को व्यङ्ग्यार्थ माना है और उसको विप्रलम्भ शृङ्गार का व्यञ्जक कहा है। गोविन्द ठक्कुर ने व्यङ्ग्यार्थ माना है—'मैं सीता के बिना भी जीवित रह सकूँगा।' यदि इस पद्य को ध्वनि काव्य का उदाहरण मानना है तो प्रधानीभूत चमत्कारोत्पादक अर्थ की व्यङ्ग्यता ही माननी पड़ेगी और उसी को प्रधान मानना पड़ेगा। यहाँपर चमत्कारकारक अर्थ है राम के अनेक प्रकार के कष्टों का समूह। अतः यह व्यङ्ग्य ही है लक्ष्य नहीं। अन्यथा यह ध्वनि-काव्य का उदाहरण हो ही न सकेगा।) राम के अनेक प्रकार के कष्ट असंख्य हैं। अतः अभिधाव्यापार के द्वारा उनका प्रकथन सर्वथा असंभव है। यदि उन सबका प्रकथन सम्भव भी हो तब भी एक-एक करके ही उनका उल्लेख किया जावेगा। अतएव सब मिलकर एक बुद्धि को उत्पन्न कर ही नहीं सकते। अतः सब मिलकर विचित्र प्रकार की चर्वणा का उत्पादन कर ही नहीं

## तारावती

सकते और न चारुता की अतिशयता का ही सम्पादन कर सकते हैं। किन्तु जब उनको व्यञ्जना के माध्यम से व्यक्त किया जाता है तब उनमें पृथक् पृथक् विशेषता की प्रतिभास नहीं होता, वे कौन कौन रूप को नहीं सह सकते तथा सब मिलकर एक बुद्धि में उपारूढ़ हो जाते हैं जैसे विभिन्न रसों से बने हुये पानक में सभी रसों का पृथक्-पृथक् स्वाद प्रतीत नहीं होता सभी का सङ्घातरूप ही आस्वाद-गोचर होता है। अथवा जैसे पुये में विभिन्न द्रव्यों का एक सामूहिक रस बन जाता है, जैसे गुड के लड्डुओं में विचित्र प्रकार की चर्वणा उत्पन्न हो जाती है, उसीप्रकार 'राम' शब्द के द्वारा सभी व्यङ्ग्य अर्थों का एक सङ्घातरूप चर्वणागोचर हो जाता है। जो कि व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य माध्यम से सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा गया है—'जब शब्द व्यञ्जक बनकर ऐसी चारुता को प्रकाशित किया करता है जो कि अन्य उक्ति से सम्भव नहीं होती, वही ध्वनि का रूप धारण करता है।' चर्वणा की विचित्रता का सम्पादन और दूसरी उक्ति से बोधन की अक्षमता ही ऐसे हेतु माने जाने चाहिये जो कि लक्षणा में प्रतीयमान प्रयोजन को उत्कर्ष प्रदान किया करते हैं। यह बात इस ध्वनि के सभी उदाहरणों में लागू होती है। आशय यह है कि जिस प्रयोजन को लेकर बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है वह प्रयोजन अन्य उपाय से अभिहित नहीं किया जा सकता और न सांङ्केतिक प्रभाव ही अन्य उपाय से सम्भव होता है। यही प्रतीयमान प्रयोजन की मुख्यता में कारण है और इसी कारण प्रतीयमान अर्थ ध्वनिरूपता को प्राप्त होता है। (कुछ लोगों ने लिखा है कि इस पद्य में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भी उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं—'आकाश निराकार है अतः उसका लेपन बाधित होकर 'व्यापन' इस लक्ष्यार्थ को प्रकट करता है। इसी प्रकार मित्र कोई चेतन हो सकता है बादलों को मित्र कहना बाधित होकर आनन्ददायक इस अर्थ को लक्षित करता है। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं, क्योंकि चारुता का पर्यवसान इन अर्थों में नहीं होता। चारुता का पर्यवसान तो राम शब्द के द्वारा विभिन्न व्यङ्ग्य अर्थों में ही होता है। अतः राम शब्द की अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता ही ध्वनि का रूप धारण कर सकती है 'लिप्त' तथा 'सुहृद्' की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता नहीं।)

वृत्तिकार ने लिखा है 'यहाँपर संज्ञीमात्र (केवल संज्ञी) का प्रत्यायन नहीं होता'। इसका आशय यह है कि 'यहाँपर अन्य धर्मों की प्रतीति के साथ संज्ञी 'राम' की भी प्रतीति होती है। संज्ञी का अत्यन्त तिरस्कार नहीं होता।' अतएव यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का ठीक उदाहरण नहीं हो सकता इसमें किसी न किसी रूप में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता आ जाती है। इसी अरुचि के कारण अर्थान्तर-

ध्वन्यालोकः

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रइ किरणानुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ॥
( तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ )

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः ।

( अनु० ) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का दूसरा उदाहरण जैसे मेरी लिखी हुई पुस्तक विषमबाणलीला का यह पद्य :—

'गुण तभी वास्तव मे गुण बनते हैं जब वे सहृदयों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं । रवि-किरणों द्वारा अनुगृहीत होकर ही कमल कमल बनते हैं । यहाँपर द्वितीय कमल शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण है ।

लोचन

मात्रग्रहणेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह—यथा चेत्यादि । ताला तदा । जाला यदा । घेप्पन्ति गृह्यन्ते । अर्थान्तरन्यासमाह–रविकिरणेति । कमलशब्द इति । लक्ष्मीपात्रत्वादिधर्मान्तरशतचित्रतापरिणतं संज्ञिनमाहेत्यर्थः । तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तन्नार्थे तद्धर्मसमवायः । तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति । व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि । एवं कमलशब्दः । गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्रमाहेति । तत्र यद्बलात्कैश्चिदारोपितं तदप्रातीतिकम् । अनुपयोग बाधितो ह्यर्थोऽस्य ध्वनेर्विषयो लक्षणामूलं ह्यस्य ।

मात्र शब्द के प्रयोग से यहाँ पर संज्ञी का तिरस्कार नहीं किया गया है इसलिए कहते हैं—यथा च इत्यादि । ताला का अर्थ है तब । जाला का अर्थ है जब । घेप्पन्ति का अर्थ है ग्रहण किये जाते है ।

अर्थान्तरन्यास को कहते हैं—रवि किरणेत्यादि । कमल शब्द इति । अर्थात् लक्ष्मीपात्रत्व इत्यादि सैकड़ों दूसरे धर्मो मे परिणत संज्ञी को कहता है । उससे शुद्ध मुख्य अर्थ में बाधानिमित्तक वहाँ पर अर्थ मे उसके धर्मों का समवाय हो जाता है । उसी निमित्त से रामशब्द धर्मान्तरपरिणत अर्थ को लक्षित कराता है । शब्द के द्वारा वाच्य न होनेवाले असाधारण व्यङ्ग्य ही दूसरे धर्म होते हैं । इसी प्रकार कमल शब्द । गुण शब्द तो संज्ञी को कहता है । उसमें जिस बल पर किसी ने आरोप करके कहा है वह सहृदयों की प्रतीति से असिद्ध है । अनुपयोग के द्वारा बाधित अर्थ निस्सन्देह इस ध्वनि का भेद होता है और इसका मूल निस्सन्देह लक्षणा होती है ।

## तारावती

संक्रमित वाच्य का ही एक दूसरा उदाहरण और दिया गया है। यह पद्य आनन्द वर्धन की स्वरचित पुस्तक विषमबाणलीला से उद्धृत किया गया है। 'जब सहृदयों द्वारा आदृत होते हैं तभी गुण गुण बन जाते हैं। सूर्य किरणों द्वारा अनुगृहीत होकर ही कमल कमल बनते हैं।' यहाँपर 'ताला' का संस्कृत रूप है 'तदा', 'जाला' का संस्कृत रूप है 'यदा' 'घोष्यन्ति' का संस्कृत रूप है 'गृह्यन्ते।' द्वितीय दल में अर्थान्तरन्यास ( प्रतिपादक प्रमाण ) का उल्लेख किया गया है। प्रथम कमल शब्द का तो सामान्य 'कमल' अर्थ है किन्तु द्वितीय कमल शब्द का अभिधेयार्थ बाधित हो जाता है, जो कमल है ही वह कमल क्या हो जावेगा? अतः बाधित होकर इसका लक्ष्यार्थ हो जाता है वास्तविक कमल। व्यङ्ग्य प्रयोजन हैं—कमल के अनेक गुण जैसे लक्ष्मीपात्रत्व इत्यादि इस प्रकार के सैकड़ों धर्मों का सङ्घातरूप विचित्रीभाव। इन सैकड़ों धर्मों से संवलित होकर विचित्रभाव से युक्त कमल संज्ञी ही दूसरे कमल शब्द का प्रतीयमान अर्थ है ( अलङ्कारसम्प्रदायवादियों की दृष्टि से यहाँ पर लाटानुप्रास होगा—क्योंकि दूसरे कमल शब्द का तात्पर्य है धर्मविशिष्ट कमल। वे धर्म होंगे सौरभ, सौकुमार्य, कान्तिमत्त्व, कान्तावदनोपमानयोग्यता इत्यादि। इस प्रकार तात्पर्यमात्र मे भेद होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहेंगे। ) कुछ लोगों का कहना है—'शुद्ध अर्थात् मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। ( यह लक्षणा की प्रथम शर्त हुई। ) उस अर्थ में उसके धर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं यही लक्षणा मे निमित्त है। इसी निमित्त को मानकर राम शब्द की लक्षणा दूसरे धर्मों से परिणत अर्थ मे हो जाती है। यहाँपर प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ होंगे दूसरे असाधारण धर्म, जिनका शब्द के द्वारा अभिधान किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् राम का अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करना लक्ष्यार्थ है और राम का निर्वेद ग्लानि मोह इत्यादि व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार 'कमल' शब्द के विषय में समझना चाहिये। 'गुण गुण हो जाते हैं।' मे दूसरे गुण-शब्द में लक्षणा नहीं मानी जा सकती क्योंकि गुण शब्द यहाँपर संज्ञीमात्र का परिचायक है उसमें दूसरे धर्मों का संयोग नहीं होता।' इस प्रकार कुछ लोगों ने अपने बुद्धिसामर्थ्य से जो लक्ष्य और व्यङ्ग्य का आरोप कर लिया है वह सहृदयजनों की प्रतीति के अनुकूल नहीं है। निस्सन्देह प्रथम उदाहरण में 'राम' शब्द और दूसरे उदाहरण मे दूसरा 'कमल' शब्द बाधित है क्योंकि इन शब्दों का अपने वाच्यार्थ मे कोई उपयोग नहीं है। बाधित होने से जो राज्यनिर्वासन इत्यादि अर्थ प्रतीतिगोचर होता है वही ध्वनि का विषय है, लक्षणा उसके मूल में विद्यमान है।

## लोचन

यत्तु हृदयदर्पण उक्तम्—'हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कार' इति। तत्रापि संरम्भ आवेगो विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्तावदुपगतः। न च रामशब्दाभिव्यक्तार्थसहायकेन विना संरम्भोल्लासोऽपि। अहं सहे तस्याः किं वर्तत इत्येवमात्मा हि संरम्भः।' कमलपदे च कः संरम्भः इत्यास्तां तावत्। अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थबाधाऽत्रास्तीति लक्षणामूलत्वादविवक्षितवाच्यभेदता त्वस्योपपन्नैव शुद्धार्थस्याविवक्षणात्। न च तिरस्कृतत्वंधर्मिरूपेण, तस्यापि तावत्यनुगमात्।

जो कि हृदय दर्पण में कहा है—'ह हा हा यह संरम्भार्थक चमत्कार है।' वहाँ पर भी संरम्भ आवेग को कहते हैं जो कि विप्रलम्भ का व्यभिचारी है, इससे रसध्वनि तो मान ही ली। रामशब्द से अभिव्यक्त अर्थ की सहायता के बिना संरम्भ का उद्गम हो ही नहीं सकता। संरम्भ की आत्मा निस्सन्देह यही है कि 'मैं सहता हूँ उसका क्या होगा?' कमल शब्द मे क्या सरम्भ है? इस प्रकार अधिक रहने दो। अनुपयोगात्मक मुख्यार्थबाधा यहाँ पर है इस प्रकार लक्षणामूलक होने के कारण इसका अविवक्षित वाच्य का भेद होना उपपन्न ही है क्योंकि (यहाँ पर) शुद्ध अर्थ की विवक्षा नहीं होती। धर्मी के रूप में तिरस्कार नहीं ही होता क्योंकि उतने मे उसका भी अनुगम हो ही जाता है।

## तारावती

हृदय दर्पण मे लिखा है—'ह हा हा' इन शब्दो का अर्थ है संरम्भ या आवेग। उसी के कारण चमत्कार का अनुभव होता है।' इस पर मेरा यह कहना है कि संरम्भ या आवेग विप्रलम्भ शृङ्गार का व्यभिचारी भाव माना जाता है। संरम्भ को स्वीकार कर लेने का आशय यही है कि रसध्वनि को आपने स्वीकार कर ही लिया। यहाँ पर संरम्भ की अभिव्यक्ति तभी होती है जब कि राम शब्द के उक्त व्यङ्ग्यार्थों को मान लिया जाता है। अन्यथा संरम्भ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। संरम्भ का स्वरूप यही होगा कि 'मैं तो सह रहा हूँ न जाने उसकी क्या दशा होगी?' राम शब्द मे तो किसी न किसी प्रकार संरम्भ माना भी जा सकता है किन्तु कमल शब्द के विषय मे आप क्या कहेगे? उसमे कौन सा संरम्भ आप मानेगे? किन्तु जाने दीजिये अधिक विवाद मे पड़ने से क्या लाभ? अविवक्षितवाच्य का भेद तो यह सिद्ध ही है क्योंकि शुद्ध अर्थ की यहाँ पर विवक्षा नहीं होती। इन शब्दो के प्रयोग करने का यहाँ पर कोई उपयोग नहीं। अतः मुख्यार्थ का बाध तो विद्यमान ही है। अतः यह ध्वनि यहाँ पर लक्षणामूलक ही है इसमे कोई भी सन्देह नहीं। यहाँ पर धर्मी के रूप मे 'राम' तथा कमल शब्द का तिरस्कार नहीं होता क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ मे उसका भी प्रवेश हो जाता है। (अतएव इसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य लक्षणामूलक ध्वनि कहते है।)

ध्वन्यालोकः

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥ इति

अत्रान्धशब्दः।

(अनु०) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण जैसे आदिकवि वाल्मीकि का श्लोक—

'जिसका सौभाग्य सूर्य में संक्रान्त हो गया है (अर्थात् हेमन्त में सूर्य भी चन्द्र के समान आह्लादकारक हो जाता है।), जिसका मण्डल तुषार से आवृत है वह चन्द्र निश्श्वास से अन्धे दर्पण के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है।' यहाँ पर अन्ध-शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण है।

लोचन

अत एव च परिणतवाचोयुक्त्या व्यवहृतम्—आदिकवेरिति। ध्वनेर्लक्ष्यप्रसिद्धतामाह—रवीति। हेमन्तवर्णने पञ्चवट्यां रामस्योक्तिरियम्। अन्ध इति चोपहतदृष्टिः। जात्यन्धस्यापि गर्भे दृष्ट्युपघातात्। अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यतीति तिरस्कारोऽन्धार्थस्य न त्वत्यन्तम्। इह त्वादर्शस्यान्धत्वमारोप्यमाणमपि न सह्यमिति।

अतएव परिणतवाचोयुक्ति (प्राचीनों की उक्ति) से कहा गया है 'आदि कवि की'। ध्वनि का लक्ष्य में प्रसिद्ध होना बतला रहे हैं—'रवि' इत्यादि। हेमन्त वर्णन में पञ्चवटी में राम की यह उक्ति है। अन्ध उसे कहते हैं जिसकी दृष्टि उपहत हो गई हो। क्योंकि जात्यन्ध की भी दृष्टि गर्भ में उपहत होती है। यह अन्धा आगे भी नहीं देखता। यहाँ अन्ध के मुख्यार्थ का तिरस्कार आत्यन्तिक नहीं है। यहाँ पर तो आदर्श के ऊपर अन्धत्व का आरोप किया जाना भी सह्य नहीं

तारावती

इसीलिये अब ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें मुख्यार्थ का अनुप्रवेश नहीं होता अर्थात् उसका सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। यह उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिया गया है, जिसका आशय यह है कि लक्षणामूलक ध्वनि का प्रयोग अनादि काल से होता रहा है। इसी आशय से वृत्तिकार ने 'आदिकवेः' इस शब्द का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि लक्ष्य में प्रसिद्ध है। यह श्लोक रामायण के हेमन्त वर्णन से लिया गया है। यह राम की उक्ति है—इसका आशय यह है—'जिस चन्द्र का सौभाग्य सूर्य में संक्रान्त हो गया है। (अर्थात् हेमन्त में सूर्य भी चन्द्र के समान शीतलता इत्यादि गुणोंवाला हो जाता है।) जिसका मण्डल तुषार से आवृत हो गया है वह चन्द्र इस समय उसी प्रकार प्रकाशित

## लोचन

अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटीकरणाशक्तत्वं नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्यादर्शलक्षणया प्रतिपादयति । असाधारणविच्छायत्वानुपयोगित्वादि धर्मजातमसङ्ख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति । भट्टनायकेन तु यदुक्तम्—'इवशब्दयोगाद्गौणताऽप्यत्र न क्वचित् ।' इति तत् श्लोकार्थमरामृश्य । आदर्शचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दो द्योतयति । निश्श्वासान्ध इति चादर्शविशेषणम् । इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदर्शश्चन्द्रमा इत्युदाहरणं भवेत् । योजनं चैतदिवशब्दस्य क्लिष्टम् । न च निश्श्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता । जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम् ।

हो सकता । यहाँ पर अन्ध शब्द नष्टदृष्टिवाले व्यक्ति के अन्दर विद्यमान पदार्थ-स्फुटीकरण की अशक्ति को निमित्त बनाकर दर्पण का लक्षणा से प्रतिपादन करता है । असाधारण रूप में विच्छायत्व ( कान्तिका अभाव ) अनुपयोगित्व इत्यादि असंख्य धर्मों को व्यक्त करता है । भट्टनायक ने तो जो कहा है—'इव शब्द के योग से यहाँ पर गौणता भी कोई नहीं है' वह श्लोक के अर्थ का परामर्श न करके कहा है । इव शब्द आदर्श और चन्द्रमस इन शब्दों के सादृश्य को द्योतित करता है। 'निःश्वासान्ध' यह आदर्श का विशेषण है। 'इव' शब्द की अन्ध अर्थ के साथ योजना करने पर 'आदर्श-चन्द्रमा' यह उदाहरण हो जावे । यह 'इव' शब्द की योजना क्लिष्ट है । यह कल्पना ठीक नहीं कि निश्श्वास के समान अन्धा आदर्श और उसके समान चन्द्रमा । इस प्रकार की योजना तो जैमिनिसूत्र में होती है काव्य में 'भी' नहीं । बस अधिक की क्या आवश्यकता ।

## तारावती

नहीं हो रहा जैसे निश्श्वास से अन्धा दर्पण प्रकाशित नहीं हुआ करता ।' यहाँपर अन्ध शब्द ध्यान देने योग्य है । अन्ध शब्द का अर्थ है जिसकी आँखें फूट गई हों। क्योंकि जन्मान्ध की भी आँखें गर्भ में ही फूट जाती हैं । 'यह अन्धा सामने भी नहीं देखता' यदि यह वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति के लिये कहा जावे जो आँखें रहते हुये भी प्रमादवश कोई काम बिगाड़ दे तो वहाँ पर अन्धे शब्द का दृष्ट्युपघातरूप अर्थ बाधित तो हो जावेगा किन्तु उसके अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होगा क्योंकि उस व्यक्ति ने फूटी हुई आँखोंवाले व्यक्ति के समान ही अपनी आँखों से काम नहीं लिया । किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में दर्पण के साथ आँखें फूटने का आरोप करना कैसे सह्य हो सकता है ? दर्पण के तो आँखें होती ही नहीं । यहाँपर अन्धशब्द के दर्पण को लक्षित कराने में निमित्त है—पदार्थ के स्फुटीकरण की अशक्तता । क्योंकि यही बात फूटी हुई आँखवाले व्यक्ति मे भी होती है । इसी निमित्त को लेकर ( गौणी सारोपा लक्षणा के आधार पर ) अन्धशब्द दर्पण को

ध्वन्यालोकः

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइं अ वणाइं ।
णिरहङ्कारमिअङ्का हरन्ति नीलआ वि णिसाओ ॥
अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ ।

(अनु०) दूसरा उदाहरण जैसे :—

'मस्त मेघोंवाला आकाश, वन जिनमें अर्जुनवृक्षों को धारायें आलिङ्गित कर रही हों और नील निशायें जिनमें अहङ्कारपूर्ण चन्द्रमा प्रकाशित न हो रहा हो ये भी सब मन को आकर्षित करते हैं ।' यहाँपर मत्त और निरहङ्कार शब्द अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य के उदाहरण हैं ।

तारावती

लक्षित करता है ( जैसे 'सिंहो बटुः' में 'सिंह' शब्द शौर्य आदि गुणों को लेकर बटु को लक्षित करता है । यह लक्षणा जहत्स्वार्था या लक्षणलक्षणा है क्योंकि यहाँ पर अन्ध शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो गया है । ) इस लक्षणा के असख्य प्रयोजन बतलाये जा सकते हैं । जैसे–असाधारण रूप में विच्छाय या श्रीहीन होना उपयोगरहित होना इत्यादि । ये प्रयोजन व्यङ्ग्य हैं । ( यहाँ पर काव्य-सौन्दर्य में हेतु 'अन्ध' शब्द का बाधित अर्थ में प्रयोग करना ही है जिसके अभिधेय का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है । अतः यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण है । ) यहाँपर भट्टनायक ने लिखा है—'इस श्लोक मे 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है । ( अतः उत्प्रेक्षालङ्कार के द्वारा यहाँपर अर्थ किया जाना चाहिये । ) अतः यहाँपर गौणी लक्षणा किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं की जा सकती ।' भट्टनायक का यह सब लिखना श्लोक के अर्थ पर विचार न करने के कारण है । ( भट्टनायक ने श्लोक के 'निःश्वासान्ध इव' इन शब्दों को देखा और सीधा-सीधा अर्थ लगा दिया, श्लोक के अन्वय पर विचार भी नहीं किया कि यहाँ पर 'इव' शब्द चन्द्रमा के साथ लगता है 'अन्ध' के साथ नहीं । ) यहाँपर इव शब्द दर्पण और चन्द्र के सादृश्य को प्रकट करता है—'चन्द्रमा निश्श्वासान्ध दर्पण के समान है ।' निश्वासान्ध शब्द दर्पण का विशेषण है । ( जो कि प्रत्यक्षतः बाधित है । ) यदि 'इव' शब्द का अन्ध शब्द के साथ अन्वय किया जावेगा तो 'चन्द्रमा दर्पण है' यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण हो जावेगा । किन्तु यह योजना अत्यन्त क्लिष्ट होगी । यहाँपर यह कल्पना ठीक नहीं कि 'दर्पण निश्वास के कारण अन्धे के समान है' और 'चन्द्रमा दर्पण के समान है' । इस प्रकार की योजना जैमिनीय सूत्रों मे होती होगी; काव्य में ऐसी योजना नहीं होती । बस, इतना पर्याप्त है अधिक कहने की

## लोचन

गअणमिति ।

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥

इतिच्छाया । च शब्दोऽपिशब्दार्थे । गगनं मत्तमेघमपि न केवलं तारकितम् । धारालुलितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवलं मलयमारुतान्दोलितसहकाराणि निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवलं सितकरकरधवलिताः । हरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः । मत्तशब्देन सर्वदैवेहासम्भवत्स्वार्थेन बाधितमद्योपयोगक्षीवात्मकमुख्यार्थेन सादृश्यान्मेघालँलक्षयतासमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वादिधर्मसहस्रं ध्वन्यते । निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्रं लक्षयता तत्पारतन्त्र्यविच्छायत्वोज्जिगीषारूपजिगीषात्यागप्रभृतिः ॥ १ ॥

गअणमिति ।

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥

यह छाया है । 'च' शब्द यहाँ 'भी' के अर्थ मे है । आकाश मत्तमेघवाला भी है तारकित ही नहीं । धारा के द्वारा आलिङ्गित या प्रकम्पित अर्जुनवृक्षवाले वन भी केवल मलयपवन से आन्दोलित आमोंवाले वन ही नहीं । अहङ्काररहित चन्द्रवाली नीलनिशा मे भी केवल श्वेत किरणोंवाले चन्द्र की किरणों से धवलित ही नहीं । 'हरन्ति' का अर्थ है उत्सुक बनाते हैं । यहाँ पर सर्वथा ही असम्भव स्वार्थवाले मत्त शब्द से जिसका मद्य के उपयोग से प्रमत्तव्यक्तिरूप मुख्यार्थ बाधित हो चुका है, सादृश्य से मेघों को लक्षित कराते हुये असमञ्जसकारित्व दुर्निवारत्व इत्यादि सहस्रों धर्म ध्वनित किये जाते हैं । चन्द्र को लक्षित करानेवाले निरहङ्कार शब्द से भी उसकी पराधीनता, शोभाहीनता ऊपर उठनारूप उत्कर्ष की इच्छा का त्याग इत्यादि ( अनेक धर्म ध्वनित किये जाते है ) ।

## तारावती

क्या आवश्यकता । ( यहाँ पर भट्टनायक के मीमांसक होने पर कटाक्ष किया गया है । )

( अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का दूसरा उदाहरण वाक्पतिराज के 'गौडवहो' से लिया गया है । यह प्रावृट्-वर्णन का पद्य है । ) यहाँपर 'च' शब्द का प्रयोग अपि के अर्थ मे किया गया है । आशय यह है कि केवल तारकित नहीं अपितु मत्तवाले मेघों से युक्त भी आकाश चित्त का आकर्षण करता है । जिस समय शीतल मन्द सुगन्धित पवन सहकारमण्डल का आन्दोलित करता है उस समय तो उसमें

ध्वन्यालोकः

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥ २॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः।

(अनु) विवक्षितवाच्य ध्वनि की आत्मा दो प्रकार की होती है—१. जिसमें ध्वनि के उद्योतन (व्यञ्जन) व्यापार का क्रम लक्षित न किया जा सके उसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं और २. जिसमें द्योतन-क्रम लक्षित किया जा सके उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं।'

मुख्यरूप में प्रकाशमान व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि की आत्मा होता है। और वह वाच्यार्थ की दृष्टि से कोई तो अलक्ष्यक्रम रूप में प्रकाशित होता है और कोई क्रम के साथ, इस भाँति दो प्रकार माना जाता है।

लोचन

अविवक्षितवाच्यस्य प्रभिन्नत्वम् इति यदुक्तं तत्कुतः? नहि स्वरूपादेव भेदो

अविवक्षितवाच्य का भिन्न होना जो यह कहा वह किससे? स्वरूप से ही भेद

तारावती

एक आकर्षण होता ही है। उस समय भी एक आकर्षण ही होता है जब धारायें अर्जुन वृक्षों का आलिङ्गन करती हैं। जिस समय निशायें निशाकर की श्वेत किरणों से स्वच्छ तथा धवलित हो जाती हैं उस समय उनमें एक सम्मोहिनी शक्ति तो होती ही है। निशायें उस समय भी मन को हर लेती है जिस समय चन्द्रदेव का सारा अहङ्कार समाप्त हो गया होता है और चारों ओर नीलिमा ही नीलिमा दृष्टिगत होती है। 'हरन्ति' का अर्थ है चित्त मे उत्कण्ठा पैदा करती हैं। यहाँ पर मत्त शब्द का अभिधेयार्थ लिया जाना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि मत्त शब्द का अभिधेयार्थ है 'मद्य के उपयोग के कारण जिसकी चेतना कुण्ठित हो गई हो।' मद्य का उपयोग कोई मनुष्य ही कर सकता है मेघ कभी मदिरापान कर ही नहीं सकते। इस प्रकार यहाँपर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और सादृश्य के आधार पर गौणी लक्षणा से यह शब्द मेघ को लक्षित कराने लगता है। इससे प्रयोजनरूप व्यञ्जनाओं के रूप मे अनेक धर्मों की ध्वनि हो सकती है। जैसे अयुक्तियुक्त कार्य करनेवाला अनिवार्य इत्यादि। इसीप्रकार चन्द्र का विशेषण निरहङ्कार शब्द भी चेतनविषयमात्र होने के कारण बाधित होकर गौणी लक्षणा से चन्द्र को लक्षित करता है। उससे प्रयोजन रूप में अनेक धर्मों की अभिव्यक्ति होती है जैसे पराधीनता, विच्छायता और उद्गमन रूप विजय की

## लोचन

भवतीत्याशङ्क्य विवक्षितवाच्यादेवास्य भेदो भवति, विवक्षातदभावयोर्विरोधादित्यभिप्रायेणाह—असंलक्ष्येति। सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्योत उद्योतनव्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः। ध्वनिशब्दसान्निध्याद्विवक्षिताभिधेयत्वेनान्यपरत्वमत्राक्षिप्तमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। ध्वनेरिति। व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। आत्मेति। पूर्वश्लोकेन व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्द्योतने स्वात्मनि कः क्रम इत्याशङ्क्याह—वाच्यार्थापेक्षयेति। वाच्योऽर्थो विभावादिः॥ २॥

नहीं होता यह शङ्का करके विवक्षितवाच्य से ही इसका भेद होता है क्योंकि विवक्षा और उसके अभाव का विरोध होता है इस अभिप्राय से कहते हैं—असंलक्ष्य इत्यादि। यहाँ पर बहुव्रीहि है—ठीक रूप में लक्षित नहीं किया जा सकता क्रम जिसका उस प्रकार का उद्योत अर्थात् उद्योतन व्यापार है जिसका। ध्वनि शब्द के निकट होने के कारण विवक्षिताभिधेय होने से अन्यपरत्व का यहाँ पर आक्षेप हो जाता है अतः स्वकण्ठ से नहीं कहा गया। 'ध्वनेः' इति। अर्थात् व्यङ्ग्य का आत्मा इति। पूर्व श्लोक से व्यङ्ग्य का वाच्य के द्वारा भेद बतलाया गया। इस समय तो द्योतन व्यापार के द्वारा द्योत्य का आत्मनिष्ठ ही (भेद बतलाया जा रहा है) यह अर्थ है। यहाँपर यह शङ्का करके कि 'व्यङ्ग्य ध्वनि का द्योतन करने में अपने अन्दर ही क्या क्रम हो सकता है?' कह रहे हैं—'वाच्यार्थ की अपेक्षा से' यह। वाच्य अर्थ विभाव इत्यादि।

## तारावती

इच्छा का त्याग इत्यादि। इस प्रकार यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण है॥ १॥

(ऊपर अविवक्षितवाच्य के उदाहरणों की व्याख्या की गई है। अब ध्वनि के द्वितीय भेद की व्याख्या की जा रही है, जिसको विवक्षितान्यपरवाच्य कहते हैं। अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणा पर आधारित होती है और विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधा पर। इस प्रभेद मे न तो बाध ही होता है, न अभिधेय का तिरस्कार, न अन्य संक्रमण। इसमें व्यञ्जना के साथ अभिधा का भी उपयोग होता है। किन्तु चरम लक्ष्य ध्वनि ही होता है। विवक्षितान्यपरवाच्य के भेद इस आधार पर किये गये हैं कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के मध्य में अन्तर लक्षित होता है या नहीं। जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति इतनी शीघ्र हो जाती है कि उनके मध्य का अन्तर लक्षित ही नहीं किया जा सकता वहाँ पर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है। इसके रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि, भावोदय, भावशबलता इत्यादि अनेक भेद होते है। विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद होता है—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। जहाँ पर वाच्यार्थ के

## तारावती

वाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मे स्पष्ट अन्तर प्रतीतिगोचर हो। इसके मुख्य रूप म दो भेद होते हैं—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि और अर्थशक्तिमूलक ध्वनि। इनके उपभेदों का भी विस्तार शास्त्रों में पाया जाता है, जिसका विवेचन यथास्थान किया जावेगा।)

यह कहा गया था कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि का एक प्रभेद है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अविवक्षितवाच्य की यह प्रभिन्नता किससे है? अपने स्वरूप से ही किसी का भेद नहीं होता। इस शङ्का के उत्तर मे कहा जा सकता हैं कि अविवक्षितवाच्य का भेद विवक्षितवाच्य से ही होगा। क्योंकि वाच्य की विवक्षा और अविवक्षा इन दोनों मे स्पष्ट विरोध है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत कारिका लिखी गई है। 'असंलक्ष्यक्रमोद्योत' शब्द मे बहुव्रीहि समास है—'सम्' का अर्थ है सम्यक् या भलीभाँति और उद्योत का अर्थ है उद्योतन अथवा प्रकाशन व्यापार। इस प्रकार इस शब्द का विग्रह होगा—जिसका क्रम ठीक रूप मे लक्षित न किया जा सके उसे 'असंलक्ष्यक्रम' कहते है। असंलक्ष्यक्रम है उद्योत या उद्योतन या प्रकाशनव्यापार जिसका उसे असंलक्ष्यक्रमोद्योत कहते हैं।

यहाँ पर विवक्षिताभिधेय या विवक्षितवाच्य शब्द का प्रयोग किया गया है—किन्तु कहा जाना चाहिये विवक्षितान्यपरवाच्य। यहाँपर 'अन्यपर' शब्द छोड़ दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस कारिका मे 'ध्वनि' शब्द भी साथ मे रक्खा हुआ है। ध्वनि होती ही वहाँ पर है जहाँ वाच्यार्थ अन्यपरक होता है। अतः यहाँ पर 'अन्यपर' शब्द का आक्षेप कर लिया जाता है, आचार्य ने अपने कण्ठ से उसका उच्चारण नहीं किया है। यहाँ पर ध्वनि शब्द व्यङ्ग्यार्थ परक है। प्रथम कारिका मे अविवक्षितवाच्य ध्वनि के व्यङ्ग्य के भेद वाच्यार्थ की द्विरूपता के आधार पर किये गये थे। इस कारिका मे व्यञ्जनाव्यापार के आधार पर व्यङ्ग्यार्थ के आत्मनिष्ठ ही भेद किये गये हैं। (प्रश्न) व्यङ्ग्य ध्वनि के द्योतन मे अपने अन्दर ही कौन सा क्रम हो सकता है? (उत्तर) व्यङ्ग्यार्थ-का क्रम अपने अन्दर नहीं लगाया जाता अपितु वाच्यार्थ की अपेक्षा करते हुये उसके क्रम का निर्णय किया जाता है। वाच्यार्थ विभाव इत्यादि होते हैं॥ २॥

(अग्रिम प्रकरण मे रसध्वनि पर विचार किया गया है। अतः इस प्रकरण को पूर्णतया हृदयङ्गम करने के लिये रस की सामान्य प्रक्रिया पर संक्षिप्त प्रकाश डाल देना अप्रासङ्गिक न होगा। लौकिक भाषा मे रति इत्यादि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी कहे जाते हैं वे ही जब नाट्य और काव्य में आते

हैं तब उन्हें कारणादि शब्दों का परित्याग कर विभाव अनुभाव और सञ्चारी-भाव इन नामों से पुकारा जाने लगता है। जब स्थायी भाव इन विभाव इत्यादिकों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं तब इन्हें रस कहने लगते हैं।

रस उत्पन्न नहीं होता किन्तु अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि लोक में हम कारणादि जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे शब्द रस के विषय में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। रस के कारण को विभाव कहते हैं क्योंकि ये रस का विभावन या प्रत्यायन करते हैं अर्थात् रस को प्रतीति के योग्य बनाते हैं। ये विभाव नामक कारण दो प्रकार के होते हैं—एक तो जनक कारण जिन्हें आलम्बन कहते हैं क्योंकि इन्हीं का आलम्बन लेकर रस का उद्गम होता है और दूसरे उद्दीपन अथवा पोषण में निमित्त। इन कारणों को उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद इत्यादि का निरूपण किया जाता है। उद्दीपन विभाव के अन्दर एक तो आलम्बन की ऐसी चेष्टायें आती हैं जो आश्रयगत भाव को बढ़ानेवाली होती हैं, उन्हें नायिकाओं के अलङ्कार के नाम से अभिहित किया जाता है। किसी भाव के अनुकूल परिस्थितियाँ भी उद्दीपन विभाव का दूसरा प्रकार है। भाव के उत्पन्न होने पर आश्रय की दशा कुछ और ही हो जाती है जिसको देखकर दूसरे लोग आश्रयगत भाव को समझ जाते हैं। ये चेष्टायें भाव का प्रभाव अथवा कार्य ही होती हैं। रस की अलौकिकता के कारण इनका संज्ञा कार्य न रह कर अनुभाव हो जाती हैं। भाव के अनुभाव या अनुभवगोचर बनाने के ही कारण इन्हें अनुभाव कहते हैं। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—कायिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य। भाव दो प्रकार के होते हैं एक स्थायी दूसरे अस्थायी। स्थायी भाव विस्तीर्ण महासागर के समान स्थिर रहनेवाले होते हैं और अस्थायी भाव उस महासागर में उठ कर गिरनेवाली लहरों के समान आते-जाते रहते हैं। ये स्थायीभाव के सहकारी होते हैं। ये स्थायी भाव में व्यभिचरण या सञ्चरण करते हैं अर्थात् चारों ओर से घूम फिर कर बार-बार आते-जाते हैं। अतः इन भावों को व्यभिचारी या सञ्चारी के नाम से पुकारा जाता है। रति इत्यादि को स्थायी भाव इसलिये कहते हैं कि ये मनुष्यों के अन्तःकरणों में वासना रूप में सदा स्थायी बने रहते हैं। जब ये स्थायी भाव ही विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं तब इन्हें रस की संज्ञा दी जाती है। रसों के आस्वादन में विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव और स्थायीभावों की प्रतीति समूहावलम्बनात्मक होती है। यह समूहावलम्बनात्मक प्रतीति घट और पट की समूहावलम्बनात्मक प्रतीति की भाँति नहीं होती, जिस घट, पट इत्यादि की पृथक्-

## तारावती

पृथक् सत्ता प्रतीत हो किन्तु यह प्रतीति पानक रस के समान होती है जिसमे कपूर इत्यादि विभिन्न वस्तुओं की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं मालूम पड़ती। इस प्रकार जब विभिन्न उपकरणों द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर कोई भाव रसनीयता धारण करता है तब उसे रसध्वनि कहते है। इस रसास्वादन में पाठक इतना अधिक तादात्म्य प्राप्त कर लेता है कि उसे अपनी परिमित प्रमातृ सत्ता का बोध ही नहीं रहता। इसे ही रसध्वनि कहते है। कभी कभी कोई भाव अनुचित होने के कारण पाठकों को पूर्ण तादात्म्य प्रदान नहीं कर सकता। पाठक अनुचित समझने के कारण उसके प्रति कुछ विराग अथवा द्वेषभाव से भर जाता है। इसको आचार्यों ने रसाभास की संज्ञा प्रदान की है। जिस प्रकार पानक रस मे किसी द्रव्य का स्वाद सर्वातिशायी होकर प्रमुख बन जाता है उसीप्रकार रसास्वादन के मध्य मे भी कोई भाव प्रमुखता को धारण कर लेता और पाठकों या दर्शकों के लिये पूरा रस आस्वाद का विषय न होकर वही भाव आस्वाद्य हो जाता है। उसे भाव-ध्वनि कहते हैं। जब उसी भाव में अनौचित्य का प्रतिभास होता है तब उसे भावाभास कहते हैं। कभी भाव का उत्पन्न होना ही आस्वाद का विषय होता है कभी उसका समाप्त होना, कभी दो भावों की सन्धि, कभी अनेक भावों का सङ्घात ही आस्वाद का विषय होता है। इस आधार पर आचार्यों ने भावोदय, भाव-शान्ति, भावसन्धि, भावशबलता इत्यादि को भी आस्वाद्य बतलाया है। यद्यपि रसोदय, रसशान्ति, रससन्धि इत्यादि नामकरण भी किये जा सकते हैं किन्तु रस अखण्ड सत्ता ही मानी जाती है, रस में उत्पत्ति, विनाश, सन्धि इत्यादि उपाधियाँ नहीं होतीं। दूसरी बात यह है कि रस की सत्ता भी भाव से अभिन्न होती है, अतः भावो के औपाधिक भेद से ही काम चल सकता है। इसीलिये आचार्यों ने रसोदय इत्यादि के नामकरण की आवश्यकता नहीं समझी। यही असंलक्ष्यक्रम का संक्षिप्त विषय-विस्तार है।

एक दूसरा प्रश्न भी आचार्यों के विचार का विषय रहा है और वह है—परिशीलक का विभाव इत्यादि से क्या सम्बन्ध होता है जो कि उसे दूसरे के भाव में आनन्द आता है, उस रसास्वादन की प्रक्रिया क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने भरतमुनि के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस रस सूत्र की व्याख्या मे खोजने की चेष्टा की है। सूत्र की अनेक प्रकार की व्याख्यायें की गई हैं और उनसे अनेक वादों का प्रचलन हुआ है। काव्यप्रकाशकार ने ४ प्रमुखवादों का परिचय दिया है। अतः उनका परिचय देना सर्वदा वाञ्छ-

## तारावती

नीय होगा। इस सूत्र के दो शब्दों की व्याख्या ही विभिन्नवादों के प्रवर्तन में कारण हुई है—एक है 'संयोगात्' और दूसरा है 'निष्पत्तिः'।

( १ ) प्रथम सिद्धान्त है भट्टलोल्लट तथा उनके अनुयायियों का। इस सिद्धान्त में निष्पत्ति शब्द का अर्थ किया गया है उत्पत्ति और संयोगात् शब्द का अर्थ किया गया है उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध। यह व्याख्या मीमांसकों के मत पर आधारित है। इसका सारांश इस प्रकार है—जब हम किसी नाटक को देखते हैं, या काव्य का अध्ययन करते हैं तो रति इत्यादि रसों के स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है। ( १ ) नायिका इत्यादि आलम्बन और उद्यान इत्यादि उद्दीपन दोनों ही प्रकार के विभाव रति इत्यादि भावों को उत्पन्न करते हैं। ( २ ) कटाक्ष भुजाक्षेप इत्यादि जितने भी अनुभाव हैं और जिन्हें हम स्थायी भावों का कार्य कह सकते हैं, वे स्थायीभाव को इस योग्य बना देते हैं कि उसकी उत्पत्ति की प्रतीति हो सके अर्थात् दूसरे लोग उसकी उत्पत्ति को समझ सकें। ( ३ ) निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव जिन्हें हम स्थायी भावों का सहकारी कारण कह सकते हैं, इस स्थायी भाव का पोषण करते हैं यही रति इत्यादि स्थायी भावों की उत्पत्ति का स्वरूप है। इन भावों की उत्पत्ति प्रधान रूप से मुख्य वृत्ति से वास्तविक राम इत्यादि में ही होती है। जिसका कि नर्तक रङ्गमञ्च पर अनुकरण करता है। कारण यह है कि आलम्बन सीता इत्यादि से उसी का साक्षात् सम्बन्ध होता है। नर्तक राम इत्यादि का रूप धारण कर लेता है और दर्शक लोग उसी को राम समझने लगते हैं। अतएव वस्तुतः न होते हुये भी नर्तक में भी दर्शकों को रस की प्रतीति होने लगती है। यह प्रतीति उसीप्रकार की होती है जिस प्रकार रस्सी में साँप की प्रतीति होती है।

इस मत का साराश यह है कि सीता इत्यादि आलम्बन से वास्तविक राम इत्यादि का ही सम्बन्ध होता है। अतः उन्हीं के हृदय में रति इत्यादि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। नर्तक का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः नट के हृदय में भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। नट राम इत्यादि का अभिनय करता है। अतः दर्शक भ्रमवश उसे ही राम समझ लेते हैं और उसी में उन्हें रस की प्रतीति होने लगती है।

किन्तु यह मत समीचीन नहीं। इसमें कई दोष हैं पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्त में इस बात की उचित व्याख्या नहीं की जा सकी है कि दर्शकों को रसास्वादन क्यों होता है? इसमें तो केवल इतना बतलाया गया है कि रस की उत्पत्ति राम में होती है और नर्तक में उसकी प्रतीति होती है। दर्शकों का सीता

## तारावती

इत्यादि आलम्बनों से क्या सम्बन्ध है। जो उन्हें भी उनके प्रेम में आनन्द आता है? दूसरी बात यह है कि रसों और विभावादिकों में कार्य-कारण भाव माना गया है जो सर्वथा असङ्गत है। कारण कभी न कभी कार्य से पृथक् अपना अस्तित्व अवश्य रखता है किन्तु यहाँ विभावादि की सत्ता रस के अभाव में सम्भव ही नहीं। इन्हीं कारणों से यह सिद्धान्त माननीय नहीं ठहरता।

दूसरा सिद्धान्त है न्यायशास्त्र का अनुसरण करनेवाले श्री शंकुक तथा उनके अनुयायियों का। इस सिद्धान्त का अनुसरण करनेवाले निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति न मानकर अनुमिति तथा 'संयोगात्' का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक भाव मानते हैं। इनके मत में रस उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु उसका अनुमान किया जाता है। वह सिद्धान्त इस प्रकार है—जब नट राम इत्यादि किसी पात्र का अभिनय करता है उस समय दर्शकों को यह प्रतीत होने लगता है कि 'यह राम ही है'। इस प्रतीति को हम उन चारों प्रकार की प्रतीतियों मे सन्निविष्ट नहीं कर सकते जो लोक में या न्यायशास्त्र में मानी जाती हैं—(१) इसे हम 'यही राम है' अथवा 'यह राम ही है' इस प्रकार की दो सम्यक् प्रतीतियों के अन्दर सन्निविष्ट नहीं कर सकते। सम्यक् प्रतीति वहीं पर होती है जहाँ सचमुच राम उपस्थित हो। यहाँ सचमुच राम उपस्थित नहीं है। अतएव यह प्रतीति यहाँ पर नहीं हो सकती। (२) यहाँ पर 'यह राम हैं' इस प्रकार की मिथ्याप्रतीति भी नहीं हो सकती। मिथ्याप्रतीति वहीं पर होती है जहाँ राम न हो और उनको कोई राम कहे तथा जहाँ पर बाद में बाध अवश्य हो और यह प्रतीति होने लगे कि यह राम नहीं है। यहाँ पर यह मिथ्याप्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रतीति में उत्तरकालिक बाध नहीं होता। (३) इसे हम 'राम है या नहीं' इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी नहीं कह सकते। यह संशयात्मक प्रतीति इसलिये नहीं कही जा सकती क्योंकि हमे यहाँ पर सशय का अनुभव नहीं होता। (४) 'यह राम के समान है' इस प्रकार की सादृश्य की प्रतीति भी यहाँ पर नहीं होती। क्योंकि हमें सादृश्य का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार यह प्रतीति सम्यक् मिथ्या संशय और सादृश्य इन चारों प्रकार की लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण उसी प्रकार की नई ही प्रतीति होती है जिस प्रकार चित्र में बने हुये घोड़े की प्रतीति होती है। जब नट—'यह प्राणेश्वरी मेरे नेत्रों के सामने आ गई, यह वही मेरी प्रियतमा है जो स्पर्शमात्र से ही समस्त सन्ताप को शान्त कर देनेवाली होने के कारण मेरे अङ्गों के लिये सुधारस की वृष्टि प्रतीत होती है। नेत्रों के लिये ऐसी ही आनन्ददायिनी है जैसे मानों कर्पूर की आर्द्र सलाई हो। यह ऐसी ही प्रिय प्रतीत हो रही है मानों मन

तारावती

की मनोरथ-लक्ष्मी साक्षात् शरीर धारण कर आ गई हो।' इस प्रकार के संयोग सम्बन्ध से काव्यवाक्यों का अनुसन्धान करता है, अथवा—'दैववश आज मेरा उस चपल और विशाल नेत्रोंवाली नायिका से वियोग हुआ है और आज ही यह ऐसा समय भी आ उपस्थित हुआ जिसमें विलोल जलद हर समय घिरे रहते हैं।' इस प्रकार के काव्यगत वियोग-वाक्यो का अनुसन्धान करता है तथा शिक्षा और अभ्यास का आश्रय लेकर कलाकौशल प्रकट करता है, तब उन काव्यगत वाक्यों के अनुसन्धान के बल पर शिक्षा और अभ्यास के द्वारा प्रदर्शित किये हुये कार्य के बल पर उसी नट के द्वारा भावो के जिन कारणों कार्यों और सहकारियों को अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है वे होते तो वास्तव में कृत्रिम हैं किन्तु कला-कौशल की सूक्ष्मता के कारण कृत्रिम मालूम नही पड़ते। इस प्रकार वे अपना कारण कार्य और सहकारी कारण नाम छोड़कर विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से पुकारे जाने लगते हैं। इनसे एक प्रकार की व्याप्ति बनती है और वह इस प्रकार की होती है—'जहाँ कहीं इन विभावादिकों का संयोग होता है वहाँ रति इत्यादि भाव अवश्य उत्पन्न होते हैं। इस व्याप्ति में गम्य अर्थात् अनुमाप्य तो रति इत्यादि भाव हैं और गमक अर्थात् अनुमापक विभावादिकों का संयोग है। इस व्याप्ति के बल पर नट में रति इत्यादि भावों का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु इसमें वस्तु की एक ऐसी सुन्दरता होती है जिससे उसमें आस्वाद उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। यही कारण है कि अनुमान होते हुये भी अन्य अनुमानों से विलक्षण होने के कारण यह अनुमान रूप में प्रतीत नहीं होता। तब इसका नाम स्थायी भाव पड़ जाता है। इस स्थायिभाव का अनुमान नट में ही लगाया जाता है। यद्यपि यह नट में विद्यमान नहीं होता है किन्तु समाज में उपस्थित दर्शक गण अपनी वासना से प्रेरित होकर इस रस का चर्वण करते है। यही रस कहलाता है।

इस मत का साराश यह है कि जिस प्रकार उड़ती हुई धूल को धुआँ समझकर धूल में नियत अग्नि का कोई अनुमान लगा ले उसी प्रकार जब तक यह प्रकट करता है कि ये विभावादि हमारे ही हैं तब विभावादि में नियत रति इत्यादि भावका दर्शक लोग नट मे ही अनुमान कर लेते हैं। यद्यपि वह रतिभाव उसमे होता नहीं है। वही अनुमित रति भाव सामाजिकों के आस्वादन का कारण बनकर रस बन जाता है।

किन्तु इस मत मे भी दोष हैं। पहली बात तो यह है कि इस मत मे यह भुला दिया गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार का कारण होता है। जो चमत्कार प्रत्यक्ष

## तारावती

ज्ञान के द्वारा हो सकता है वह अनुमानजन्य ज्ञान के द्वारा नहीं। दूसरी बात यह है कि इस शङ्का का इसमें भी कोई समाधान नहीं किया गया कि जब दर्शक का आलम्बन से किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है तब उसे रसास्वादन होता कैसे है? इस प्रकार तर्क के सामने यह सिद्धान्त भी निस्सार सिद्ध हो जाता है।

( ३ ) तीसरा मत है साख्य शास्त्र के अनुयायी भट्टनायक तथा उनका अनुसरण करनेवाले अन्य आचार्यों का। इस मत के अनुयायी निष्पत्ति शब्द का अर्थ करते हैं भुक्ति और संयोग शब्द का अर्थ है भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध। इस प्रकार उनका कहना है कि समाजिकों को प्रतीत होनेवाली इसकी सत्ता नायक अथवा उसका अनुसरण करनेवाले नर्तक के अन्दर नहीं मानी जा सकती और न उसकी सत्ता आत्मगत ही मानी जा सकती है; न यह उत्पन्न ही होता है और न अभिव्यक्त ही। नायक में रस की सत्ता अङ्गीकृत नहीं की जा सकती क्योंकि नायक उपस्थित नहीं है; अतः नायक के भाव भी उपस्थित नहीं हैं। जो असत् है सत्ता के द्वारा वह कभी भी प्रमाण का विषय हो सके यह सर्वथा असम्भव है। नर्तक में भी रस की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि जब सामाजिक के हृदय में स्वयं ही उसकी स्थिति नहीं है तो नर्तक में उसका अनुमान कर लेने पर भी सामाजिक के हृदय मे चमत्कार की उद्भावना हो ही कैसे सकती है? रस सामाजिक के हृदय में भी विद्यमान नहीं माना जा सकता। दर्शक या सामाजिक के हृदय में रस के विद्यमान होने का यह आशय है कि जब कोई दर्शक नाटक को देखता है तो आनन्दातिरेक के कारण उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि वह नायक के अतिरिक्त कोई और है। वह अपने को नायक ही समझने लगता है। इस प्रकार जब वह अपने को दुष्यन्त या राम के रूप में देखता है तब उसका शकुन्तला या सीता के प्रति प्रेम का आस्वादन करना सङ्गत हो जाता है। किन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि सीता ऐसी जो पूज्य नायिकायें हैं और जिन्हें हम जगन्माता मानते हैं वे ही हमारे प्रेम का आधार कैसे हो सकती है। दूसरी बात यह है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जो हमारे कृतिसाध्य नहीं हो सकते। जैसे समुद्र पर पुल बाँधना एक ही बाण से समुद्र को क्षुब्ध कर देना इत्यादि। ऐसे कार्यों का हम अपने को आश्रय मान भी कैसे सकते हैं? तीसरी बात यह है कि यदि दर्शक अपने को नायक ही समझने लगेगा तो नायक के दुःख मे दर्शक को दुःखी होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। दर्शक को नायक के शोक में भी आनन्दानुभूति ही होती है। रस उत्पन्न भी नहीं होते क्योंकि विभाव इत्यादि वास्तविक नहीं हैं और अवास्तविक वस्तु से किसी भी पदार्थान्तर की उत्पत्ति होना असम्भव

है। रस अभिव्यक्त नहीं होता क्योंकि व्यञ्जना से सिद्ध वस्तु ही किसी भाव को व्यञ्जित कर सकती है। सिद्ध न होने के कारण यहाँ व्यञ्जना का अवसर ही नहीं है। किन्तु होता यह है कि काव्य और नाट्य में अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक और वृत्ति मानी जाती है जिसका नाम है भावकत्व वृत्ति। इसका काम यह होता है कि यह विभावादिकों तथा आश्रयों के व्यक्तित्व अंश को हटाकर उन्हें सर्वसाधारण की एक वस्तु बना देती है। उदाहरण के लिये मान लो हम दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति प्रेम का अभिनय देख रहे हैं तो इस भावकत्व वृत्ति का यह काम होगा कि वह दुष्यन्त के अन्दर से दुष्यन्तत्व और शकुन्तला के अन्दर से शकुन्तलात्व को निकाल देगी तथा हमारे लिये दुष्यन्त का अर्थ होगा संसार के हम सभी मनुष्य और शकुन्तला का अर्थ होगा संसार की सभी प्रेमिकायें। उस अवस्था में रङ्गमञ्च पर अवतीर्ण शकुन्तला को अपनी प्रेमिका के रूप में देखकर हम सभी उसके प्रेम का आस्वादन करने के योग्य हो सकते हैं। इस भावकत्व वृत्ति के अतिरिक्त एक वृत्ति और होती है जिसका नाम है भोजकवृत्ति। इस भोजकवृत्ति का काम यह है कि यह मनुष्यों के हृदयों पर पड़े हुये रजस् और तमस् के आवरण को-जो रसास्वादन प्रक्रिया में व्यवधान डालते हैं-दूर कर देती है। और शुद्ध सत्त्वगुणों का आविर्भाव और उद्रेक कर देती है। उस सत्त्व के उद्रेक से जो प्रकाश उत्पन्न होता है उसमें केवल ऐसा ज्ञान शेष रह जाता है जिसमे चारों ओर आनन्द ही आनन्द होता है तथा संसार की अन्य समस्त वस्तुयें तिरोहित हो जाती हैं। भावकत्ववृत्ति के द्वारा रति इत्यादि स्थायी भाव का साधारणीकरण कर दिया जाता है; अर्थात् दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम सर्वसाधारण के प्रेम का रूप धारण कर लेता है और भोजकवृत्ति के द्वारा लोगों की चित्तवृत्तियाँ इस योग्य बना दी जाती है कि वे रसास्वाद कर सकें। इसीप्रकार रस का भोग होता है। रस के भोग का यही तात्पर्य है।

इस सिद्धान्त का आशय यह है, कि जिस प्रकार शब्द की अभिधावृत्ति होती है उसी प्रकार दो वृत्तियाँ और होती हैं, एक का नाम है भावक और दूसरी का भोजक। भावकवृत्ति का काम विभावादि से व्यक्तिरूप अंश को पृथक्कर उसे सर्वसाधारण की वस्तु बना देना है और भोजक-वृत्ति का यह काम है कि वह सर्वसाधारण की चित्तवृत्ति को रसास्वादन के योग्य बना दे। बस इन्हीं दो वृत्तियो के आधार पर रसास्वादन होता है।

इस सिद्धान्त के द्वारा यह आपत्ति तो दूर हुई कि दर्शकों और पाठकों के रसास्वादन के हेतु की कोई व्याख्या नहीं की जा सकी थी। किन्तु एक आपत्ति और

सर पर आई कि भावकत्व और भोजकत्व ये दो वृत्तियाँ कल्पित करनी पड़ीं। एक को यदि व्यञ्जना भी मानें तो भी एक और अधिक वृत्ति मानने का दोष तो आ ही जायेगा। दूसरी बात यह है कि रसास्वादन की जो प्रक्रिया बतलाई गई है वह भी सर्वथा नई ही है परम्परानुमोदित नहीं। अतएव यह सिद्धान्त भी त्याज्य है।

(४) चतुर्थ मत है आचार्य अभिनव गुप्त का। यह मत अलङ्कार शास्त्र के आधार पर स्थिर किया गया है। इसमे संयोग का अर्थ मिलन माना गया है और निष्पत्ति शब्द का अर्थ अभिव्यक्ति माना गया है। इस सिद्धान्त का सार यह है—रति इत्यादि स्थायीभाव उन सहृदयों के हृदयों में वासनारूप में निरन्तर विद्यमान रहते हैं जिन्हें लोक मे प्रमदा इत्यादि कारणों, कटाक्ष इत्यादि कार्यों और निर्वेद इत्यादि सहकारियों के आश्रय से स्थायीभाव का अनुमान करने की पूर्ण पटुता प्राप्त हो चुकी है। अनुमान का प्रकार यह होगा—अमुक व्यक्ति-अमुक व्यक्तिविषयक रतिवाला है; क्योंकि उसमें कटाक्ष इत्यादि कार्य और लज्जा इत्यादि सहकारी विद्यमान हैं। जो रति के कार्यों और सहकारियों से युक्त होता है वह रतिवाला होता है। जैसे देवदत्त स्वकान्ताविषयक रतिवाला है। वैसा ही अमुक व्यक्ति भी है। अतएव अमुक व्यक्ति उसी प्रकार का (रतिमान्) है। तर्कशास्त्र के यहाँ पञ्चावयव वाक्य है। इस अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा जो लोग लौकिक भावनाओं का अनुमान लगाने में पटु हैं उनके अन्दर वासनारूप में स्थायीभाव निरन्तर विद्यमान रहते हैं। इन स्थायी भावों की अभिव्यक्ति उन्हीं प्रमदा कटाक्ष निर्वेद इत्यादि कारणों कार्यों और सहकारियों के सम्मिलन से ही होती है। किन्तु इसमे विशेषता यह है कि जब ये कारण कार्य और सहकारी काव्य और नाट्य के क्षेत्र मे आते हैं तब ये अपना कार्य इत्यादि नाम छोड़ देते हैं और इनके लिये विभाव इत्यादि ऐसे शब्दों का प्रयोग होने लगता है जिनका व्यवहार लोक में नहीं होता। इस नामकरण का कारण यह है कि इनमें एक प्रकार की अलौकिकता होती है। वह अलौकिकता यह है कि लोक में हर्ष शोक और मोह के कारणों से हर्ष शोक और मोह उत्पन्न होते हैं किन्तु काव्य में समस्त कारणों से केवल आनन्द ही उत्पन्न होता है। दूसरी बात यह है कि काव्य और नाट्य में इन कारणादिकों मे एक नये प्रकार की क्रिया या व्यापार होता है जिसे विभावन अनुभावन इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित किया जा सकता है और जिनके आधार पर विभावादि शब्दों का नामकरण हुआ है। किसी विशेष व्यक्ति से इनके किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार करने का नियम नहीं है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा ही है, यह शत्रु का ही है यह किसी अन्य तटस्थ व्यक्ति का ही है। और न किसी विशेष

## तारावती

व्यक्ति से किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध के परित्याग का ही नियम है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा भी नहीं है यह शत्रु का भी नहीं है और यह किसी तटस्थ व्यक्ति का भी नहीं है। हम इस आलम्बन इत्यादि को अपना नहीं कह सकते। यदि उसे हम अपना समझें तो अपने ही प्रेम इत्यादि का सबके सामने अभिनय होता देखकर हमे आनन्द के स्थान पर लज्जा का ही अनुभव होगा। यदि शत्रु का समझें तो आनन्द के स्थानपर द्वेष ही होगा। यदि उदासीन का समझें तो आनन्द के स्थानपर हम उदासीन हो जावेंगे। यदि हम यह समझने लगेंगे कि हमारा भी नहीं है, शत्रु का भी नहीं है और उदासीन का भी नहीं है तो हमे उससे सरोकार ही क्या रहेगा! बस इसी प्रकार के विभावादिकों के नाम से विख्यात कारणादिकों से दर्शकों की चित्तवृत्ति मे वासनारूप में विद्यमान रति इत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। वह अभिव्यक्ति यद्यपि उस समय नियमित रूप से अध्ययन करनेवाले के अन्तःकरण मे ही होती है किन्तु ऊपर बतलाये हुये कारणों से व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध का परित्याग कर देने के कारण साधारणीकरण के उपाय से प्रमाता के चित्त मे एक ऐसा अपरिमित भाव जाग्रत हो जाता है कि उसे उस समय अपनी परिमित प्रमातृसत्ता का ज्ञान ही नहीं रहता और उस समय उसकी दृष्टि से वे सारी वस्तुये तिरोहित हो जाती है जो जानने योग्य कही जा सकती हैं। इस प्रकार वह सारे विश्व से अपनी आत्मा को मिला देता है और सारे विश्व से एकात्म भाव का अनुभव करने लगता है। वह प्रमाता ही समस्त सहृदयों से एकाकार होकर उस रति इत्यादि भाव को प्रत्यक्ष करता है। यद्यपि यह बहुत ही साधारण रूप में उपस्थित किया जाता है और अभिन्न होता है—जिस प्रकार ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार रस का गोचरीकरण भी रस से भिन्न नहीं होता फिर भी इसका प्रत्यक्ष होता ही है। इसके प्राण अथवा स्वरूप की निष्पत्ति इसका चर्वण करना ही है। इसका जीवन उतने ही काल का होता है जबतक विभावादि विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार इलायची मिर्च शकर कपूर इत्यादि विलक्षण वस्तुओं से बनाया हुआ पानक रस समस्त वस्तुओं के समूह से तैय्यार किये हुये एक विभिन्न प्रकार के नवीन रस को व्यक्त किया करता है उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण लोकातीत आस्वाद का चर्वण इस रस मे भी होता है। जब इसका स्वाद लिया जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो सारे शरीर का आलिङ्गन कर रहा हो अर्थात् सारे शरीर को अमृत से सींच रहा हो। यह अन्य सब कुछ तिरोहित कर देता है, यह उसी प्रकार आनन्द का अनुभव कराता है जिस प्रकार मुक्ति दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव

## तारावती

हुआ करता है। (रसो वै सः) यह सर्वथा अलौकिक होता है क्योंकि लौकिक आनन्द केवल एक व्यक्ति को होता है किन्तु यह सर्वजनीन है तथा लौकिक आनन्द अवसान मे विरसता उत्पन्न करता है किन्तु इसमे यह बात नहीं होती। यही अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाला शृङ्गार इत्यादि रस नाम से पुकारा जाता है। इस रस को हम कार्य नहीं कह सकते क्योंकि कार्य उपादान से भिन्न अन्य कारणों के विनाश पर भी बना रहता है। जैसे घट इत्यादि कार्य दण्ड इत्यादि कारण के विनष्ट होनेपर भी बने ही रहते है। किन्तु रस विभावादि के नष्ट हो जानेपर नहीं रहता। रस ज्ञाप्य भी नहीं होता; क्योंकि ज्ञाप्य वही वस्तु होती है जो पूरी तौर से बन चुकी हो। जैसे घड़े के बन जाने पर ही दीपक घड़े को प्रकट कर सकता है। इसके प्रतिकूल यह रस कभी पूर्णरूप से सिद्ध ही नहीं होता केवल विभाव इत्यादि के द्वारा यह व्यञ्जनावृत्ति से प्रकट होता है और तभी यह आस्वादन के योग्य हो जाता है। इस प्रकार न यह कार्य होता है न ज्ञाप्य। यहाँपर कोई भी मुझसे पूछ सकता है कि इस रस से भिन्न क्या कहीं कोई चीज देखी गई है जो न तो कारक हो न ज्ञापक? इसपर मेरा उत्तर होगा कि वास्तव मे ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई है। किन्तु इस प्रकार रस के समान कहीं किसी वस्तु का न देखा जाना केवल रस की अलौकिकता को ही सिद्ध करता है जो रस के लिये भूषण की ही बात है दूषण की नहीं। यदि आप चाहे तो इसे कार्य भी कह सकते हैं क्योंकि इसमे चर्वणा की उत्पत्ति होती है, जिसको लेकर रसनिष्पत्ति शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसीप्रकार इसे हम ज्ञाप्य या ज्ञेय भी कह सकते हैं क्योंकि यह एक ऐसे स्वार्थपर्यवसित लोकोत्तरज्ञान का विषय होता है जो लोकप्रसिद्ध सभी प्रकार के ज्ञान से विलक्षण होता है। लोक के ज्ञान ये हैं—(१) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान। (२) अपूर्ण योगियों का ज्ञान जिसमे चक्षु इत्यादि बाह्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं होती। (३) परिपक्व योगियों का ज्ञान जिसमे सासारिक ज्ञेय पदार्थों का संस्पर्श भी नहीं होता और जिसका पर्यवसान अपनी आत्मा मे ही होता है। विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त किया हुआ यह ज्ञान आनन्दस्वरूप होने के कारण ज्ञाप्य भी कहला सकता है। न यह निर्विकल्पक हो सकता है न सविकल्पक। (तर्कशास्त्र मे इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से उद्भूत ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। तर्कशास्त्र के अनुसार किसी भी विशेष प्रकार के ज्ञान में विशेषण ज्ञान कारण होता है। जैसी दण्डी के ज्ञान में दण्ड का ज्ञान कारण है। इसी प्रकार दण्ड के ज्ञान में दण्डत्व का ज्ञान कारण है। इस प्रकार विशेषण

तारावती

ज्ञान के आधार पर होनेवाले ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाते हैं। कुछ ऐसे ज्ञान है जिनमे कोई भी ज्ञान विशेषण नहीं होता। ऐसे ज्ञानों को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं।) रस का ग्राहक निर्विकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि हमे रसास्वादन मे विभावादि विशेषणों का प्रत्यक्ष रूप मे अनुभव होता है। इसे हम सविकल्पक भी नहीं कह सकते क्योंकि इसका आस्वादन अलौकिक अखण्ड आनन्दमय होता है इसमे किसी प्रकार के विभेद अथवा विशेषण के लिये अवसर ही नहीं। इस प्रकार यह न तो सविकल्पक है न निर्विकल्पक। साथ ही निर्विकल्पक न होने से सविकल्पक भी कहा जा सकता है और सविकल्पक न होने से निर्विकल्पक भा हो सकता है। दोनो प्रकार का न होना और दोनों प्रकार का होना, यह जो विरोध है वह इस रसप्रक्रिया के लिये भूषण ही है दूषण नहीं क्योंकि यह इसकी अलौकिकता को ही सिद्ध करता है। यह है श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य का रसविषयक मत।

इस मत का सार यही है कि बार-बार रति इत्यादि कारणों से रति इत्यादि की उत्पत्ति देखकर संस्कार रूप में रति इत्यादि की भावना सहृदयों के हृदयों मे अपना घर कर लेती है। फिर जब हम रङ्गमञ्च पर राम और सीता का अभिनय देखते है उस समय यद्यपि वह प्रेम राम और सीता के व्यक्तित्व के अन्दर सीमित होता है किन्तु भावनाओं की स्वाभाविक प्रकृति के कारण वह सर्वसाधारण की वस्तु बनने की क्षमता रखता है और उसके लिये अलग से भावक इत्यादि वृत्तियों की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार साधारणीकृत रति इत्यादि अभिनीत भावों के द्वारा दर्शकों और पाठकों के अन्तःकरणों मे अवस्थित रति इत्यादि भावों का उद्बोधन हो जाता है। यह उद्बोधन व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा होता है और इस प्रकार उसका आस्वादन होने लगता है। यही रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया है। इस सिद्धान्त और भट्टनायक के सिद्धान्त में यही अन्तर है कि इसमें दो वृत्तियाँ अलग से नहीं माननी पड़तीं और पूर्वमत में दर्शकों की चित्तवृत्ति मे न रहनेवाली रति का भी आस्वादन होना था यह दोष भी न रहा। इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इस प्रश्न का भी उत्तर हो जाता है कि सहृदयों को ही रस का आस्वादन क्यों होता है? मीमांसक वैय्याकरण इत्यादि को क्यों नहीं होता।

नाट्यसूत्र में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव सब एक साथ मिलाकर लिख दिये गये हैं। इसका आशय यह है कि किसी वस्तु में अलग से किसी वस्तु की सत्ता नियत नहीं है। एक ही वस्तु कई भिन्न-भिन्न रसों से सम्बन्ध रख सकती है। उदाहरण के लिये भीरु पुरुषों के प्रति सिंह भयानक रस का आलम्बन हो सकता है; जिसने पहले कभी न देखा हो उसके हृदय में विस्मय पैदा करने के

## ध्वन्यालोकः

तत्र—

रस-भाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

(अनु०) उन दोनों भेदों में :—

'रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावप्रशान्ति इत्यादि जब अक्रम रूप मे व्यक्त हो रहे हो और प्रसाधन रूप में भी स्थित हों तब वे रस इत्यादि ध्वनि की आत्मा के रूप मे व्यवस्थित होते हैं ॥ ३ ॥

## लोचन

तत्रेति । तयोर्मध्यादित्यर्थः । यो रसादिरर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा । न त्वक्रम एव सः, क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद् भवति । तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वानरूप-भेदतेति वक्ष्यते । आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह । तेन रसादिर्योऽर्थः स ध्वनेरक्रमो नाम भेदः । असंलक्ष्यक्रम इति यावत् ।

'तत्र' इति । अर्थात् उन दोनों के बीच से । जो रस इत्यादि अर्थ वही अक्रम होकर काव्य की आत्मा बनता है । वह अक्रम ही नहीं होता, उसका कदाचित् क्रमत्व भी हो जाता है । उस समय पर तो अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानरूप भेद यह कहेंगे । 'आत्म' शब्द स्वभाव का कहनेवाला होकर प्रकार को बतलाता है। उससे रस इत्यादि जो अर्थ वह ध्वनि का अक्रम नाम भेदवाला है । आशय यह है कि जिसका क्रम लक्षित न किया जा सके ।

## तारावती

कारण वही सिंह अद्भुत रस का आलम्बन हो सकता है; जिनके बान्धवों को उस सिंह ने मार डाला हो उनके हृदय मे क्रोध उत्पन्न करने के कारण वही सिंह रौद्र रस का भी आलम्बन हो सकता है । इसी प्रकार अश्रुपात इत्यादि अनुभाव शृङ्गार रस के हैं; वे ही करुण भयानक इत्यादि रसों के भी अनुभाव हो सकते हैं । चिन्ता विप्रलम्भ शृङ्गाररस का व्यभिचारी भाव है,। वही चिन्ता वीर करुण और भयानक रसों का भी व्यभिचारी भाव हो सकता है । शृङ्गार मे रूप इत्यादि की चिन्ता होती है; वीर रस में सहायक इत्यादिकों की भी चिन्ता होती है, करुण रस मे बान्धवों के अपकार इत्यादि की चिन्ता होती है और भयानक रस में भय के कारणों ( प्रचण्ड वस्तुओं ) इत्यादि की चिन्ता होती है ।)

'तत्र' का अर्थ है उनमे अर्थात् ऊपर बतलाये हुये दो भेदों मे । जब रस इत्यादि अर्थ ( व्यङ्ग्यार्थ ) अक्रम होता है तब वह ध्वनि की आत्मा के रूप मे व्यवस्थित होता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि रस इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों में क्रम

## लोचन

ननु किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः? नेत्याह। किन्तु यदाङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः। एतच्च सामान्यलक्षणे गुणीकृतस्वार्थावित्यत्र यद्यपि निरूपितम्, तथापि रसवदाद्यलङ्कारप्रकाशनावकाशदानायानूदितम्। स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव; न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम् तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः। यथा—

(प्रश्न) क्या रस इत्यादि अर्थ सर्वदा ध्वनि का प्रकार ही होता है? (उत्तर) बतलाते हैं—ऐसा नहीं होता। किन्तु जब अङ्गित्व अर्थात् प्रधानत्व के रूप में अवभासित होता है। यह यद्यपि सामान्यलक्षणा में 'स्वार्थ को गौण बनानेवाले.....' यहाँपर निरूपित कर दिया था तथापि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों के प्रकाशन को अवकाश देने के लिये अनुवाद कर दिया गया। वह रस इत्यादि ध्वनि व्यवस्थित ही होती है। उसके बिना कोई काव्य नहीं होता। यद्यपि समस्त काव्य रस के द्वारा ही जीवित रहता है तथापि एक घन चमत्कारात्मक उस रस का भी यह चमत्कार प्रयोजन के रूप में स्थित किसी अंश से अधिक हो जाता है। उसमें जब कोई व्यभिचारी उद्रिक्त अवस्था को प्राप्त होकर चमत्कार की अधिकता का प्रयोजक हो जाता है तब वह भावध्वनि होती है। जैसे—

## तारावती

होता ही नहीं। क्रम कभी-कभी रस इत्यादि अर्थों में भी होता है। इस बात का विवेचन आगे चलकर करेंगे कि जब रस में व्यङ्ग्यमान अर्थों में क्रम की प्रतीति होती है तब उनका अन्तर्भाव अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में ही हो जाता है। 'ध्वनि की आत्मा' में आत्मा शब्द का अर्थ है स्वभाव और यह शब्द ध्वनि के प्रकार को प्रकट करता है। इसका आशय यह है कि रस इत्यादि जो अर्थ होता है वह ध्वनि का ही एक भेद होता है जिसका नाम 'अक्रम' होता है। इसे हम दूसरे शब्दों में असंलक्ष्यक्रम कह सकते हैं। (प्रश्न) क्या रस इत्यादि अर्थ सर्वत्र ध्वनि का प्रकार ही होता है अर्थात् जहाँ कहीं रस होता है वहाँ सर्वत्र ध्वनि ही कही जाती है? (उत्तर) नहीं। किन्तु जब रस अङ्गी अर्थात् प्रधानता के रूप में अवभासित होता है तभी वह ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है। यद्यपि यह बात प्रथम उद्योत में ध्वनि के लक्षण करने के अवसर पर ही कह दी गई थी क्योंकि वहाँ पर कहा गया था कि 'जब शब्द अपने अर्थ को और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर प्रधानतया अवभासित होता है तब उसे ध्वनि कहते

## लोचन

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति ।
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ॥
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीम् ।
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥

अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारिचमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशयः । व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः । यदाह—विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिण इति । तदोदयावस्थाप्रयुक्तः कदाचित् । यथा—

'कोपवश ( शायद ) प्रभाव से ढकी हुई स्थित हो ( किन्तु ) वह बहुत समय तक कुपित नहीं होती । ( सम्भवतः ) स्वर्ग को उछल कर चली गई हो ( किन्तु ) इसका मन मुझमें भावार्द्र है। देवताओं के शत्रु भी मेरे आगे स्थित उसको हरने में समर्थ नहीं हैं । और वह नेत्रों से अत्यन्त अगोचर हो गई है यह क्या विधि है ?'

यहाँ पर इतने विप्रलम्भ शृङ्गार के होने पर भी वितर्क नाम के व्यभिचारी भाव के चमत्कार से उत्पन्न आस्वाद की अधिकता ही है । व्यभिचारी उदय, स्थिति और अपाय इन तीन धर्मोंवाले होते हैं । जैसा कहा है—'विविध रूप में सामने होकर जो विचरण करते है उन्हें व्यभिचारी कहते हैं । उसमें कदाचित् उदयावस्था-प्रयुक्त होता है । जैसे—

## तारावती

है ।' तथापि यहाँ पर पुनः कहा गया है कि 'जब रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप में अवभासित होते हैं तब उनको ध्वनि कहते हैं ।' इस पुनः कथन का मन्तव्य यह है कि आगे चलकर रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का प्रकाशन करेंगे । वहाँपर यह बतलाया जावेगा कि रस इत्यादि कहाँ पर गौण होते हैं और उनके गौण होने पर उनका क्या नाम होता है । उसी वर्णन को अवकाश प्रदान करने के लिये यहाँ पर पुनः दोहरा दिया गया है कि जहाँ पर रस इत्यादि प्रधान होते है वहीं पर ध्वनि होती है । 'व्यवस्थित' शब्द का आशय यह है कि वह रस इत्यादि ध्वनि व्यवस्थित ही होती है । उससे शून्य कोई काव्य नहीं होता । ( जब रजस् और तमस् का आवरण भङ्ग हो जाता है और सत्त्व का उद्रेक होता है तथा चित्तवृत्ति रति इत्यादि से अवच्छिन्न चेतनामय हो जाती है तब उसे रस कहते हैं।) यद्यपि समस्त काव्य रस से ही जीवित होता है तथापि रस चमत्कारस्वरूप एकघन होता है तथा यह चमत्कार उस रस के किसी अंश से और अधिक बट जाता है । अतः उस चमत्कारस्वरूप आस्वादन में वही अंश प्रधान माना जाता है । उस रस में जब कोई व्यभिचारी भाव इस प्रकार उद्रिक्त अवस्था को

## लोचन

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया ।
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम् ॥
भूयस्तत्प्रकृतं कृतञ्च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लतया ।
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः ॥

अत्र हि प्रणयकोपस्योज्जिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युदयावकाश-निराकरणात्तदेव काव्यजीवितम् । स्थितिः पुनरुदाहृता—'तिष्ठेत् कोपवशात्'

गोत्रस्खलन के कर्णगोचर होनेपर शय्या को प्राप्त होनेवाली नायिका के द्वारा परिवर्तन ( करवट बदलने ) का ध्यान किया गया और फिर प्रारम्भ भी अङ्गीकार किया गया । फिर उसको प्रयत्न का विषय बनाया और एक भुजलता को शिथिल कर तथा दूसरी ओर डालकर ( वह कार्य ) किया भी; किन्तु वह कृशाङ्गी स्तन-भार को प्रियतम के हृदय से पृथक् करने में समर्थ नहीं हो सकी ।'

यहाँ पर प्रणय कोप का उदयावस्था में ही जो स्थित होना 'समर्थ नहीं हो सकी' इस ( कथन के द्वारा ) उदयावकाश के निराकरण कर देने से वही आस्वाद का जीवन है । 'तिष्ठेत् कोपवशात्.....' इत्यादि पद्य के द्वारा स्थिति का उदा-

## तारावती

प्राप्त होकर चमत्कार का प्रयोजक होता है तब उसे भावध्वनि कहते हैं । जैसे विक्रमोर्वशीय मे उर्वशी के वियोग मे पुरूरवा कह रहे हैं :—

'सम्भव हो सकता है कि क्रोध के कारण वह अपने प्रभाव से अन्तर्धान हो गई हो ? किन्तु क्रोध तो वह अधिक समय तक करती नहीं । सम्भवतः स्वर्ग को चली गई हो । किन्तु मेरी ओर उसका मन भावपूर्ण तथा आर्द्र है । ( अतः वह मुझ को छोड़ कर स्वर्ग को नहीं जा सकती । ) देवताओं के शत्रु भी मेरे सामने से उसे हरकर नहीं ले जा सकते । किन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि वह बिल्कुल ही मेरे नेत्रों के सामने से ओझल हो गई है ।'

यहाँपर विप्रलम्भ शृङ्गार विद्यमान है किन्तु आस्वाद वितर्क नामक व्यभि-चारी भाव के ही कारण होता है । व्यभिचारी भाव तीन प्रकार के होते हैं— ( १ ) उदय की अवस्था मे, ( २ ) स्थिति की अवस्था में, तथा ( ३ ) विनाश की अवस्था मे । जैसाकि कहा गया है—'विविध रूप में अभिमुख होकर जो विचरण करते है उन्हे व्यभिचारी कहते हैं ।' ( विविध कहने से उनकी त्रिप्रकारता व्यक्त होती है ।) उनमे व्यभिचारी भाव कभी उदयावस्था मे ही चमत्कार तथा आस्वा-दन मे निमित्त होता है । उदाहरण :—

'नायिका प्रियतम के साथ एक ही शय्या पर लेटी हुई थी । सहसा प्रियतम

## लोचन

इत्यादिना । क्वचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थया प्रयुक्तश्चमत्कारः । यथोदाहृतं प्राक्—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया' इति । अयं तत्प्रशम इत्युक्तः । अत्र चेर्ष्याविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम् ।

क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम् । यथा—

ओसुरु सुम्भि आइं मुहु चुम्बुइ जेण ।
अमिअरस घोण्टाणं पडिजाणिउ तेण ॥

इत्यत्र श्रुत्युक्ते तु कोपे कोपकषायगद्गदमन्दरुदितापायेन मुखं चुम्बितं तेनामृतरसनिगरणविश्रान्तिपरम्पराणां तृप्तिर्ज्ञातेति कोपप्रसादसन्धिश्चमत्कारस्थानम् ।

हरण दे ही दिया गया । कहीं व्यभिचारी का प्रशमावस्थाप्रयुक्त चमत्कार होता है । जैसा कि पहले उदाहरण दिया गया—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया ··· ·' इत्यादि । यह उसका प्रशम है यह कहा गया । यह ईर्ष्या विप्रलम्भ रस का भी प्रशम है यह योजना की जा सकती है । कहीं तो व्यभिचारी की सन्धि भी चर्वणा का स्थान होती है । जैसे—

'जिसने ईर्ष्या के आँसुओं से शोभित ( नायिका ) के मुख का चुम्बन किया उसने अमृतरस के निगरण की तृप्ति जान ली ।'

यहाँ पर शब्दश्रुति के द्वारा क्रोध के कहे जाने पर 'कोप से कलुषित गद्गद तथा मन्द-मन्द रोनेवाली ( नायिका ) के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने अमृतरस-निगरण से उत्पन्न विश्राम परम्परा की तृप्ति जान ली । इस प्रकार कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार का स्थान है ।

## तारावती

के मुख से गोत्रस्खलन हो गया । ( नायिका का नाम लेने के स्थान पर उसकी सौत का नाम मुख से निकल गया । ) जब वह सौत का नाम नायिका के कर्ण-गोचर हुआ तब उसने दूसरी ओर करवट लेने का विचार किया, करवट बदलने का उद्योग प्रारम्भ करना भी चाहा; उसके लिये उद्योग किया भी और अपनी बाहुलता को ढीला करके तथा दूसरी ओर डालकर उस कार्य की पूर्ति भी की । किन्तु वह कृशाङ्गी प्रियतम के वक्षःस्थल से अपने स्तनों के भार को खींचकर पृथक् करने मे समर्थ न हो सकी ।'

यहाँपर प्रणयकोप का उदय होना ही चाहता था, किन्तु 'समर्थ न हो सकी' कहकर उसका निराकरण कर दिया गया, इस प्रकार उदयावस्था मे स्थित प्रणय-कोप ही यहाँ पर आस्वाद का जीवन है । भावस्थिति का उदाहरण—'तिष्ठेत्को-

## लोचन

क्वचिद्व्यभिचार्यन्तरशबलतैव विश्रान्तिपदम्। यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा।
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्॥
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा।
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥

कहीं व्यभिचारी की आन्तरिक शबलता ही विश्राम स्थान होती है। जैसे—

'कहाँ तो यह दुष्कर्म और कहाँ शशाङ्क का निर्मल कुल? वह फिर दिखलाई पड जाती?! हमारा शास्त्र तो दोषों को शान्त करने के लिये होना चाहिये? अहो उसका मुख तो क्रोध मे भी सुन्दर है। पापरहित कुशलबुद्धिवाले न जाने क्या कहेगे? वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ है। हेचित्त स्वास्थ्य को प्राप्त हो। न जाने कौन धन्य युवक उसका अधरपान करेगा?'

## तारावती

पवशात् प्रभावपिहिता.....' इस पद्य में दिया ही जा चुका है। कहीं पर व्यभिचारी भाव की प्रशमावस्था ही चर्वणा का स्थान होती है। जैसा कि पहले—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया .....' इस उदाहरण की व्याख्या मे बतलाया जा चुका है (पृष्ठ १४६)। वहाँ पर ईर्ष्या और रोष का प्रशम आस्वाद मे कारण बतलाया गया था। ईर्ष्या विप्रलम्भ का प्रशम भी आस्वादन में कारण होता है यह भी योजना यहाँ पर की जा सकती है। (वस्तुतः ईर्ष्या भाव की प्रशान्ति मानना ही ठीक है। क्योकि आचार्यों ने रस के अखण्डस्वरूप होने के कारण उसके रसोदय इत्यादि भेद नहीं माने हैं।)

कहीं-कहीं दो व्यभिचारी भावो की सन्धि भी रसचर्वणा मे कारण होती है। जैसे उक्त प्राकृत गाथा जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार की हो सकती है :—

ईर्ष्याश्रुशोभिताया मुखं चुम्बितं येन।
अमृतरसनिगरणानां तृप्तिर्ज्ञाता तेन॥

'ईर्ष्या के आँसुओं से शोभित होनेवाली नायिका के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने ही ठीक रूप मे जान पाया कि अमृत रस को पीने मे कैसी तृप्ति होती है?'

यहाँपर कोप शब्द का कण्ठरव से उच्चारण किया गया है। जिस समय प्रियतमा क्रोध के कारण कषाय और गद्गद कण्ठ से मन्द-मन्द रो रही हो उस समय उसके मुख को चुम्बन करने का जिसे सौभाग्य प्राप्त हो गया उसे मानो अमृत रस को स्वाद ले-लेकर और रुक-रुककर पीने का आनन्द प्राप्त हो गया। यहाँपर कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार मे कारण है।

## लोचन

अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये, मतिस्मरणे, शङ्कादैन्ये, धृतिचिन्तने परस्परं वाध्यवाधकभावेन द्वन्द्वशो भवन्ती पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वादस्थानम्। एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष्यम्। एतानि चोदयसन्धिशवलत्वादिकानि कारिकायामादिग्रहणेन गृहीतानि।

नन्वेवं विभावानुभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति विभावध्वनिरनुभावध्वनिश्च वक्तव्यः। मैवम्; विभावानुभावौ तावत्स्वशब्दवाच्यावेव। तच्चर्वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति रसभावेभ्यो नाधिकं चर्वणीयम्। यदा तु विभावानुभावावपि व्यङ्ग्यौ भवतस्तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते? यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्याकर्णने शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।

दूराकर्णणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्।
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना॥

यहाँपर निस्सन्देह वितर्क-औत्सुक्य, मति-स्मरण, शङ्का-दैन्य, धृति-चिन्ता परस्पर वाध्य-वाधकभाव से जोडे में होते हुये, अन्त में चिन्ता को ही प्रधानता देते हुये परम आस्वाद का स्थान है। इसी प्रकार अन्य की भी उत्प्रेक्षा कर ली जानी चाहिये। ये उदय, सन्धि और शवलत्व इत्यादि कारिका मे आदि ग्रहण से ग्रहण किये गये हैं।

(प्रश्न) इस प्रकार विभाव-अनुभावमुख से भी अधिक चमत्कार देखा जाता है इस प्रकार विभावध्वनि और अनुभाव-ध्वनि भी कही जानी चाहिये। (उत्तर) ऐसा मत कहो। विभाव और अनुभाव तो स्वशब्दवाच्य ही होते हैं। उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियों मे ही पर्यवसित होती है इस प्रकार रस और भाव से अधिक चर्वणा योग्य नहीं होता। जब विभाव और अनुभाव भी व्यङ्ग्य होते हैं तो वस्तु-ध्वनि को भी क्यों नहीं सहन किया जाता? जब तो विभावाभास से रत्याभास का उदय हो तब विभाव के आभास से चर्वणा का आभास होता है तब रसाभास का विषय होता है। जैसे रावणकाव्य के सुनने मे शृङ्गाराभास होता है। यद्यपि मुनि ने निरूपित किया है कि 'जो शृङ्गारानुकृति होती है वह हास्य कहलाती है' तथापि वहाँपर हास्यरस उत्तरकालिक होता है।

'दूरसे आकर्णण मोहमन्त्र के समान उसके नाम के श्रुतिगोचर होने पर उसके बिना चित्त काल के एक अंश के लिये भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होता।'

तारावती

कहीं कहीं पर व्यभिचारियों की दूसरे व्यभिचारियों से शबलता आनन्ददायक होती है। जैसेः—

'कहाँ तो यह दुष्कार्य और कहाँ विशुद्ध चन्द्रवंश! एक बार मुझे फिर देखने को मिल जाती? मेरा शास्त्रानुशीलन मुझे शान्ति प्रदान करनेवाला होना चाहिये! उसका मुख क्रोध मे भी कितना कमनीय मालूम होता है? न मालूम पापरहित कुशल लोग मेरे इस कार्य के विषय मे क्या कहेंगे? उसका स्वप्न मे भी प्राप्त हो सकना दुर्लभ है? हे चित्त शान्त हो और स्वस्थता को प्राप्त करो? न मालूम कौन धन्य युवक उसके अधरपान का सौभाग्य प्राप्त करेगा?'

(यह देवयानी की कामना मे ययाति की उक्ति है। देवयानी ब्राह्मणकन्या है अतः ययाति के हृदय में उसके प्रेम के विषय मेंये सङ्कल्प-विकल्प उठ रहे है।) यहाँपर 'कहाँ तो ·····चन्द्रवंश' मे वितर्क और 'एक बार·····मिल जाती' में औत्सुक्य, 'मेरा शास्त्रानुशीलन·····होना चाहिये' मे मति और 'उसका मुख ····· प्रतीत होता है' मे स्मरण, 'न मालूम·····क्या कहेंगे' मे शङ्का और 'उसका स्वप्न·····दुर्लभ है' में दैन्य, 'हे चित्त ·····प्राप्त करो' में धृति और 'न मालूम ··· कर सकेगा' में चिन्ता, एक दूसरे के बाध्य-बाधक के रूप में उपस्थित हुये हैं और अन्त मे चिन्ता को ही प्रधानता प्रदान करते हुये आस्वाद में कारण हुये हैं। इन भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का ग्रहण कारिका के आदि शब्द से हो जाता है।

(प्रश्न) कभी-कभी चमत्कार की अधिकता विभाव और अनुभाव के कारण भी देखी जाती है, अतः भावध्वनि के समान विभावध्वनि और अनुभावध्वनि का भी निरूपण क्यो नहीं करना चाहिये? (उत्तर) विभाव और अनुभाव सर्वदा शब्दवाच्य ही होते हैं; व्यङ्ग्य कभी नहीं होते। अतः विभावध्वनि और अनुभाव-ध्वनि नहीं होतीं। विभाव और अनुभाव की चर्वणा का पर्यवसान भी चित्तवृत्ति मे ही हो जाता है अतः उनका आस्वाद भी रस और भाव से पृथक् नहीं होता। (प्रश्न) कभी कभी विभाव और अनुभाव भी व्यङ्ग्य होते है उस दशा में इन दोनों की ध्वनियो का पृथक् विवेचन अनिवार्य हो जाता है? (उत्तर) विभाव और अनुभाव के व्यङ्ग्य होने पर वस्तुध्वनि क्यों नहीं सहन की जाती? अर्थात् ऐसे स्थान पर विभाव और अनुभाव की ध्वनि नही कही जावेगी अपितु वस्तु-ध्वनि ही कही जावेगी।

जहां पर विभावाभास हो अर्थात् रति इत्यादि भाव किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति व्यक्त किये गये हों जिनके प्रति उन भावों का व्यक्त करना अनुचित हो तो वहां पर वह रति इत्यादि भाव भी रत्याभास का रूप धारण कर लेता है और विभावा-

## लोचन

इत्यत्र तु न हास्यरसचर्वणावसरः। ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थावन्धाभावात्। केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयते। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात्। अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्रावस्थाप्यते शुक्तौरजताभासवत्। एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अत एवाभिलाषे एकतरनिष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव। एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दा आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते। यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससंमूर्छिता मोदोपभोगेऽपि शुद्धमांस्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः। यथा—

यहाँ पर तो हास्यरस की चर्वणा का अवसर नही होता। (प्रश्न) यहाँ पर रति स्थायीभाव नहीं है क्योंकि परस्पर आशावन्ध का अभाव है। (उत्तर) यह किसने कहा कि रति है। वह तो रत्याभास है। यह आभासता इसलिये है जिससे 'सीता मुझमें उपेक्षिका या द्वेषपूर्णा है' यह प्रतिपत्ति इसके हृदय को स्पर्श नहीं ही करती। निस्सन्देह उसके स्पर्श करने पर उसकी भी अभिलाषा विलीन हो जावे। 'यह मेरे अन्दर अनुरक्त है' इस निश्चय का अभाव भी नहीं है क्योंकि कामजन्य मोह से (ऐसा) निश्चय विद्यमान है ही। अतएव वस्तुतः उसका आभासत्व वहाँ पर स्थापित किया जाता है। जैसे शुक्ति मे रजत का आभास। और यह शृङ्गारानुकृति शब्द का प्रयोग करनेवाले मुनि ने भी सूचित किया है। अनुकृति अर्थात् अमुख्यता या आभास यह एक ही अर्थ है। अतएव एकतरनिष्ठ अभिलाष मे भी शृङ्गार शब्द से विभिन्न स्थानों पर व्यवहार उसके आभास के रूप मे माना जाना चाहिये। शृङ्गार से वीर इत्यादि की भी आभासरूपता का उपलक्षण हो ही गया।

इस प्रकार भावध्वनि इत्यादि रसध्वनि के ही निष्यन्द हैं। आस्वाद मे प्रधान प्रयोजक अंश को विभक्त कर पृथक् व्यवस्थापित किया जाता है। जैसे गन्ध की युक्ति को जाननेवालों के द्वारा आस्वादन मे मिले हुये आमोद के उपभोग किये जाने पर भी शुद्ध मांसी इत्यादि से प्रयुक्त यह सुगन्ध है (ऐसा कहा जाता है।) यहाँ पर रसध्वनि तो वही होती है जो यहाँ पर मुख्य रूप से विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के संयोग से उत्पन्न स्थायी की प्रतिपत्ति करनेवाले प्रतिपत्ता (सहृदय) का स्थायी अंश की चर्वणा से प्रयुक्त ही आस्वाद का प्रकर्ष होता है। जैसे—

तारावती

भास के कारण उस भाव की चर्वणा भी चर्वणाभास हो जाती है। उसे ही रसाभास कहते हैं, जैसे रावणकाव्य मे रावण का सीता के प्रति प्रेम शृङ्गाराभास के रूप में स्थित है। यद्यपि भरत मुनि लिखा है कि—'शृङ्गार के अनुकरण में हास्य रस होता है? किन्तु वह हास्य-रस शृङ्गारानुभूति के बाद ही व्यक्त होता है।

'दूराकर्षण मोहमन्त्र ··· ···' इत्यादि पद्य का उत्तरार्ध इस प्रकार है:—

एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः।
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्।

रावण सीता के वियोग मे कह रहा है—'दूर से आकर्षण करनेवाले मोहमन्त्र के समान जब से मैंने सीता का नाम सुना है तब से मेरा चित्त एक क्षणभर भी कहीं स्थिर नहीं हो रहा है। काम से पीडित अपने इन अङ्गों के कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ। संसार के सभी पदार्थों से मेरा मन हट गया है। मुझे बिल्कुल ही पता नहीं चल रहा है कि उस (सीता) के प्राप्त करने का सुख मुझे किस प्रकार मिल सकेगा।'

यहाँ पर रावण का सीता के प्रति प्रेम वर्णित किया गया है जो कि रसाभास है। किन्तु यहाँ पर हास्य रस की प्रतीति ही नहीं होती। (प्रश्न) यहाँ पर रति भी तो स्थायी भाव नही है? (उत्तर) जब कि दोनों ओर अनुराग का बन्धन है ही नहीं तब यह कौन कहता है कि यह रति स्थायी भाव है? यहाँ पर रत्याभास है। यह आभास इस प्रकार समझना चाहिये कि—'सीता मेरी उपेक्षा करती है या मुझसे द्वेष करती है।' यह विचार रावण के चित्त का स्पर्श ही नहीं कर पाता। यदि यह विचार रावण के चित्त मे आ जावे तो तत्काल ही उसका भी प्रेम विलीन हो जावे। कामजन्य मोह के कारण 'सीता मुझ पर प्रेम करती है' इस निश्चय की भी रावण को आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये ऐसे स्थान पर आभास की स्थापना कर ली जाती है। जैसे शुक्ति मे रजन का आभास हो जाता है। यही बात 'शृङ्गारानुकृति' शब्द का प्रयोग कर भरत मुनि ने भी सूचित की है। अनुकृति शब्द का अर्थ है मुख्य न होना और यही आभास शब्द का भी अर्थ है। इस प्रकार दोनों शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करनेवाले है। इसीलिए जहाँ कामना केवल एक ओर से दिखलाई पड़े और वहाँपर शृङ्गार शब्द का प्रयोग किया गया हो वहाँ पर उसका मन्तव्य शृङ्गाराभास ही समझना चाहिये। शृङ्गाराभास कहने से वीराभास इत्यादि का उपलक्षण हो ही जाता है। इस प्रकार भावध्वनि इत्यादि रस ध्वनि के ही छोटे छोटे प्रवाह है। जहाँ पर रस का कोई एक अंश प्रधान रूप से प्रयोजक होता है वहाँ पर पृथक् रूप मे उसी के अंश के नाम पर ध्वनि की

ध्वन्यालोकः

**रसादिरर्थो सहेव वाच्येनावभासते। सर्वाङ्गित्वेनावभासमानोध्वनेरात्मा।**

(अनु०) रस इत्यादि ( वाच्य के बाद इतना शीघ्र प्रकट होता है कि ऐसा मालूम पड़ने लगता है मानो ) वाच्य के साथ ही अवभासित हो रहा हो। वही जब प्रधानतया अवभासित होता है तब ध्वनि की आत्मा बनता है ।

लोचन

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले ।
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता ॥
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ ।
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने ॥

अत्र हि नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपवित्रितचित्रफलकावलोकनाद्वत्सराजस्य परस्परास्थावन्धरूपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजनवशेन चर्वणारूढ इति । तदलं वहुना ? स्थितमेतत्—रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकार इति । सहवेति । इवशब्देनासंलक्ष्यता ? विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता । वाच्येनेति । विभावानुभावादिना ॥ ३ ॥

'कठिनाई से दोनों ऊरुओं को व्यतीतकर वहुत देर तक नितम्वस्थल मे भ्रमण कर, त्रिवलीरूपी तरङ्ग से विषम इसके मध्य भाग मे निश्चलता को प्राप्त हुई मेरी दृष्टि प्यासी सी इस समय तुङ्ग स्तनों पर धीरे-धीरे चढ़कर जलकणों को वहानेवाले दोनो नेत्रों को आकांक्षापूर्वक वार-वार देखती है ।'

यहाँ पर निस्सन्देह नायिका के आकार ( के कारण ) वार-वार वर्णन किये जाते हुये और अपनी प्रतिकृति से पवित्रित चित्रफलक के अवलोकन से वत्सराज का परस्पर आशावन्धरूप रतिस्थायीभाव विभाव और अनुभाव के संयोजन के कारण चर्वणारूढ हुआ है इसलिये अधिक की आवश्यकता नहीं । यह निश्चित होता है—रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप मे भासमान होकर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकार होता है । सहेव इति । 'इव' शब्द के क्रम के विद्यमान रहते हुये भी असंलक्ष्यता की व्याख्या की गई है। 'वाच्येन' का अर्थ है विभाव अनुभाव इत्यादि के द्वारा ॥ ३ ॥

तारावती

व्यवस्था की जाती है । उदाहरण के लिये यदि एक पेया विभिन्न द्रव्यों से तैय्यार की जावे और उन सब द्रव्यों का एक ही रस तैय्यार हो जावे तथा उनकी सम्मिलित सुगन्धि का भी उपभोग किया जा रहा हो फिर भी पृथक् करके लोग कहने लगते हैं कि इस द्रव्य मे शुद्ध जटामासी द्रव्य की विशेष गन्ध आ रही है । इसी

तारावती

शृङ्गारादिरस मे किसी एक भाव का विशेष रूप से नाम ले लिया जाता है। ( और उसे भावध्वनि की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। ) रसध्वनि वहाँ पर होती है जहाँ विभाव और अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायीभाव की प्रतिपत्ति हो और अनुशीलनकर्ता स्थायी भाव के अनुशीलन से ही आस्वाद-प्रकर्ष का अनुभव करे। जैसे—

रत्नावली मे वत्सराज उदयन ने विदूषक के साथ वाटिका-विहार के अवसर पर एक चित्र-फलक प्राप्त किया है। इसी चित्र-फलक में रत्नावली का चित्र बना हुआ है। इसी चित्र को देखकर वत्सराज विदूषक से कह रहे हैं :—

'मेरी दृष्टि– एक तृषित रमणी के समान—कठिनाई से इसके दोनों ऊरुओं को पार कर गई, बडी देर तक नितम्बस्थल पर घूमती रही, त्रिवली रूप तरङ्गों के कारण विषम भाग मे बिल्कुल स्थिर होकर रह गई। इस समय ( तृषित रमणी के समान मेरी दृष्टि) धीरे-धीरे ऊँचे स्तनों पर चढ़कर जलकणों ( आँसुओं ) को बहाने-वाले नेत्रों को उत्कण्ठा पूर्वक देख रही है।'

( जिस प्रकार कोई प्यासी स्त्री किसी वन मे घूमती रहे, विषम और ऊँचे नीचे प्रदेशों को बडी कठिनाई से पार कर जावे और अन्त मे किसी ऊँचे पहाड़ी टीले पर चढकर किसी जलप्रवाह को उत्कण्ठा के साथ देखने लगे यही दशा राजा की दृष्टि की भी हुई। यहाँपर ऊरुओं और नितम्बो की विशालता, मध्य की कृशता, स्तनों की ऊँचाई से सौन्दर्य का आधिक्य और अश्रुओं के कारण नायिका की वियोगव्यथा अभिव्यक्त होती है। )

यहाँ पर रत्नावली आलम्बन है, चित्रदर्शन उद्दीपन है। दृष्टि स्तम्भ इत्यादि अनुभाव और औत्सुक्य इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर रत्नावली व्यभिचारी भाव है। इनसे पुष्ट होकर रत्नावली तथा उदयन दोनों में परस्पर-आस्थाबन्ध को प्राप्त होनेवाली रति ही स्थायीभाव के रूप मे चर्वणा मे कारण होती है। आशय यह है कि राजा जिस चित्रफलक को देख रहे है उसमें रत्नावली का चित्र बना हुआ है। उसकी आँखों मे आँसू भरे हुये है। इससे रत्नावली का राजा के प्रति अनुराग व्यक्त होता है। यह चित्र-फलक राजा की अपनी प्रतिकृति से भी पवित्र है।( भावावेश मे भरकर रत्नावली ने एकान्त स्थान पर जाकर उदयन का चित्र बनाया था जिसको छिपकर उसकी अन्तरङ्गिणी सखी ने देख लिया और उस चित्र के पास ही राजा का भी चित्र बना दिया। वह चित्र सम्भ्रम के कारण वहीं छूट गया और संयोगवश राजा के हाथ में पड गया। राजा उस चित्र को देख रहे हैं और उसका वर्णन विदूषक से कर रहे है। ) यहाँ

## ध्वन्यालोकः

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विविक्तो विषय इति प्रदर्श्यते—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥ ४॥

(अनु०) अब यहाँ पर यह बतलाया जा रहा है कि रसवत् इत्यादि अलङ्कार की अपेक्षा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि किस प्रकार भिन्न है।

'जहाँ पर रस इत्यादि प्रधान हों और विभिन्न प्रकार के वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) तथा उन दोनों की चारुता में हेतु (गुण और अलङ्कार) उन रस इत्यादि का ही अनुसरण करनेवाले हों तथा उन्हीं के अधीन हों वह ध्वनि का विषय माना जाता है'॥ ४॥

## लोचन

नन्वङ्गित्वेनावभासमान इत्युच्यते तन्नाङ्गत्वमपि किमस्ति रसादेर्येन तन्निराकरणायैतद्विशेषणमित्यभिप्रायेणोपक्रमते—इदानीमित्यादिना। अङ्गत्वमस्ति रसादीनां रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितालङ्काररूपतायामिति भावः। अनया च भङ्ग्या रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति। पूर्वं समासोक्त्यादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तर्भाव इति दर्शितम्। वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्चेति द्वन्द्वः। वृत्तावपि शब्दाश्चालङ्काराश्चार्थालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः। मत इति। पूर्वमेवैतदुक्तमित्यर्थः।

(प्रश्न) अङ्गित्व के रूप में अवभासमान यह कहा जाता है। उसमें क्या रस इत्यादि का अङ्गत्व भी होता है जिसके निराकरण के लिये यह विशेषण है? इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—इदानीं इत्यादि के द्वारा। आशय यह है कि रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि और समाहित इन अलङ्कारों की रूपता में रस इत्यादि का अङ्गत्व भी होता है।

कथन की इस भङ्गिमा से रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस इत्यादि की ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता यह सूचित करते हैं। पहले निस्सन्देह समासोक्ति इत्यादि में वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता यह दिखलाया गया। वाच्य, वाचक और उनकी चारुता में हेतु यह द्वन्द्व है। वृत्ति में भी शब्द और शब्दालङ्कार, अर्थ और अर्थालङ्कार यह द्वन्द्व है। मतः इति अर्थात् यह पहले हीं कह दिया गया।

## तारावती

पर उस चित्र-फलक के अवलोकन से वत्सराज का आस्थाबन्ध उभयनिष्ठ है। अतः यह रतिभाव विभाव अनुभाव इत्यादि के संयोग से चर्वणा की पदवी पर आरूढ़ हुआ है। (अतः सच्चे अर्थ में यही रस है। अधिक कहने की क्या आवश्यकता?)

## लोचन

ननूक्तं भट्टनायकेन—'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि नाटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन ,रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ

( प्रश्न ) भट्टनायक ने कहा है—'रस जब परगत रूप में प्रतीतिगोचर होता है तब ( उसमें ) तटस्थता ही होगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि राम इत्यादि के चरितमय काव्य से वह स्वगत के रूप में प्रतीत होता है। आत्मगत

## तारावती

उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप में प्रकाशित होकर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि का प्रकार कहलाते हैं। वृत्तिकार ने उक्त सन्दर्भ की व्याख्या करते हुये लिखा है—'रस इत्यादि अर्थ मानों वाच्य के साथ अवभासित होते हैं और वे अङ्गी के रूप में अवभासित होकर ध्वनि की आत्मा बनते हैं।' इस वाक्य में 'मानों' का आशय यह है कि क्रम विद्यमान तो रहता है किन्तु लक्षित नहीं होता। 'वाच्य के साथ में' का अर्थ है विभाव इत्यादि के साथ में॥ ३॥

( प्रश्न ) तृतीयकारिका की व्याख्या में जो यह कहा गया था कि—'जब रस इत्यादि अङ्गी के रूप में अवभासित होते हैं तभी वे ध्वनि का रूप धारण करते हैं।' तो क्या ऐसा भी कोई स्थान होता है जहाँ पर रस इत्यादि अभिव्यक्त होते हुए भी अङ्गी के पद पर आरूढ़ न हों? क्योंकि जब रस इत्यादि की अप्रधानता का कोई स्थान प्राप्त हो जावे तभी उसके निराकरण के लिये रस इत्यादि का यह विशेषण ( अङ्गी के रूप में अवभासित होना ) प्रयोजनीय हो सकता है। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये प्रस्तुत कारिका ( चतुर्थ कारिका ) लिखी गई है। इसीलिये इस कारिका की व्याख्या का उपक्रम करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है—'अब रसवत् अलङ्कार इत्यादि की अपेक्षा ध्वनि का विषय भिन्न होता है यह बतलाया जा रहा है।' आशय यह है कि जब रस इत्यादि अभिव्यक्त होकर अलङ्काररूपता को धारण कर लेते हैं तब रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार कहे जाते हैं। इस रूप में कारिकाकार ने यह सिद्ध कर दिया कि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस इत्यादि ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता। पहले ( प्रथम उद्योत में ) यह दिखलाया था कि समासोक्ति इत्यादि अलङ्कारों में वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता। ( यहाँ पर यह दिखलाया गया है कि रसध्वनि का विषय रसवत् इत्यादि अलङ्कारों से सर्वथा पृथक् होता है।) 'वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां' शब्द में द्वन्द्व समास है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी वाच्य और वाचक तथा उनकी चारुता में हेतु। इस शब्द की व्याख्या करते हुये

## लोचन

स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात। सा चायुक्ता सीतायाः। सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्? न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः? नचोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते। अननुभूतत्वात्। शब्दादपितत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद्दुःखित्वे करुणाप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूप में प्रतीति मानने पर अपने अन्दर रस की उत्पत्ति हो मानी हुई होगी। सीता की वह बात (सीता के प्रति सामाजिकों में रति की उत्पत्ति) अनुचित है क्योंकि (सीता) सामाजिकों के प्रति विभाव नहीं हो सकतीं। यदि कहो कि साधारण कान्तात्व वासना के विकास में हेतु विभावरूपता में प्रयोजक होता है तो देवता इत्यादि के वर्णन में वह भी कैसे हो सकता है? यह भी नहीं कह सकते कि मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण अनुभव का विषय बन जाता है। अलोकसामान्य राम इत्यादि के जो समुद्र सेतुबन्धन इत्यादि विभाव हैं वे किस प्रकार साधारणता को प्राप्त हो सकते हैं? उत्साहादिमान् राम का स्मरण कर लिया जाता है यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि (राम का) अनुभव नहीं किया गया है। शब्द से भी उसकी प्रतिपत्ति में रसोत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे प्रत्यक्ष रूपमें नायक मिथुन की प्रतिपत्ति में (रसोपजनन नहीं हो सकता। उत्पत्ति पक्ष में करुणा के उत्पन्न होने से दुःखित्व होने पर करुण रस प्रधान नाट्यों में पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये न उत्पत्ति है और नहीं ही अभिव्यक्ति। शक्तिरूप (सूक्ष्म वासना

## तारावती

वृत्ति में लिखा है—'शब्दार्थालङ्काराः' इसमें भी द्वन्द्व है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—शब्द तथा अलङ्कार और अर्थ तथा अलङ्कार। 'कारिका में लिखा है—'वह ध्वनि का विषय माना गया है' इस वाक्य में 'माना गया है' का अर्थ है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

इस विषय में भट्टनायक ने लिखा है—नाटक में रसानुभव में तीन व्यक्तित्व होते हैं—(१) जिनका अनुकरण किया जाता है जैसे राम इत्यादि। इन्हें अनुकार्य कहते हैं। (२) अनुकरण करनेवाला नट इत्यादि और (३) आस्वाद लेनेवाला सामाजिक। 'यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामाजिक जिस रस का आस्वादन करता है वह रस उस सामाजिक से ही सम्बन्ध रखता है या अन्य (नट या अनुकार्य) से? यदि रस परगत होता है अर्थात् उसका सम्बन्ध

## लोचन

रूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रतीतिः स्यात् । तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः । तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः । किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य—व्यंशता-प्रसादात् । तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम् । भोगकृत्वं सहृदयविषयमितित्रयोंऽशभूताः व्यापाराः । तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः ? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम् । श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम् ? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः । यद्वशादभिधा

रूप ) शृङ्गार की अभिव्यक्ति में विषयार्जन के तार तम्य की ओर प्रवृत्ति हो जावेगी । उसमें भी क्या स्वागत रस अभिव्यक्त होता है या परगत यह पहले के समान ही दोष है । अतः काव्य से रस प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है । किन्तु काव्यात्मक शब्दों की तीन अंशरूपता की कृपा से अन्य शब्दों से वैलक्षण्य होता है । उसमें अभिधायकत्व तो वाच्य विषयक होता है, भावकत्व रस इत्यादि विषयक और भोजकत्व सहृदय विषयक इस प्रकार अंशभूत तीन व्यापार होते है । उसमें यदि अभिधाभाग शुद्ध ( इतर व्यापारानालिङ्गित ) होती तन्त्र इत्यादि शास्त्र न्यायों से श्लेष इत्यादि अलंकारों का क्या भेद हो ? और वृत्ति भेद वैचित्र्य भी अकिञ्चित्कर ( हो जावे ) । श्रुतिदुष्ट इत्यादि का वर्जन भी किसलिये हो ? इसलिये रसभावना नामक दूसरा व्यापार होता है जिसके वश में

## तारावती

सामाजिक से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति ( नट या अनुकार्य ) से होता है तो सामाजिक तो एक तटस्थ व्यक्ति हो गया । वह अपने से सम्बन्ध रखनेवाले रस का आस्वादन ही क्यों करेगा ? यदि रस स्वगत माना जावे अर्थात् रस की अवस्थिति सामाजिक में ही मानी जावे और राम इत्यादि के चरित्र का अभिनय इत्यादि उस रसास्वादन का प्रवर्तक माना जावे तो इसका आशय यही होगा कि सामाजिक में रस की उत्पत्ति हुई है । अब मान लीजिये रङ्गमञ्च पर राम और सीता के प्रेम का अभिनय हो रहा है । उस अवस्था में सामाजिक के हृदय में सीता के प्रति रति जागृत हो ही कैसे सकती है ? सीता जैसी जगत्पूज्य नायिकाओं के प्रति वासना का उद्‌बोध सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है । दूसरी बात यह है कि सीता राम के ही प्रेम का आलम्बन है, वे सामाजिक के प्रेम का आलम्बन हो ही कैसे सकती है ? अभिनय या काव्य परिशीलन सीता से व्यक्तित्व अंश को पृथक् कर देता है और सीता सीता न रहकर सामान्य कान्ता बन जाती है । यही सर्वसाधारणत्व की भावना सामाजिकों की वासना के विकास में हेतु विभावरूपता की

## तारावती

प्रयोजक होती है। आशय यह है कि वासना विकास एक कार्य है और उसका कारण है कान्ता का प्रत्यक्षीकरण। सीता के अन्दर से सीतास्वरूप व्यक्तित्व अंश के पृथक् हो जाने से तथा सर्व-साधारण कान्तात्व की प्रतीति होने के कारण सामाजिकों में रसवासना का उद्बोध हो जाता है' यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि देवता इत्यादि पूज्यों के प्रति कान्ता-बुद्धि हो ही नहीं सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण हो आता है इसलिये रसास्वादन होता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो सर्व-साधारण की शक्ति का विषय कभी हो ही नहीं सकते। जैसे समुद्र पर पुल बाँधना, समुद्र को लाँघना इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनको अपनी शक्ति से सम्पन्न करने की कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। वे कार्य हमें अपने उत्साह इत्यादि का स्मरण कैसे करा सकते हैं और हमारे उत्साह इत्यादि के उद्बोधक कैसे हो सकते हैं। निस्सन्देह ये कार्य कभी सर्व-साधारण की वस्तु हो ही नहीं सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि काव्य इत्यादि के अध्ययन से उत्साह इत्यादि से युक्त राम इत्यादि का स्मरण हो आता है जोकि रसास्वादन में कारण हो जाता है। स्मरण उसी का होता है जिसका पहले अनुभव किया हो। राम इत्यादि का पहले कभी अनुभव नहीं किया था, अतएव सामाजिक को उनका स्मरण हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार दो प्रेमियों को एक साथ देखकर रति-भाव का आस्वादन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शब्द के द्वारा राम इत्यादि के उत्साह इत्यादि की प्रतिपत्ति होने पर भी रसास्वादन नहीं हो सकता। रस उत्पन्न होता है यह भी नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि यदि करुण रस की उत्पत्ति हो और उससे सामाजिकों को दुःख हो तो उसको पढ़ने में कौन प्रवृत्त होगा? दुःख में कोई पड़ना नहीं चाहता। इस प्रकार रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती और न अभिव्यक्ति ही मानी जा सकती है। (अभिव्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की होती है जो पहले से विद्यमान हो और प्रकाश इत्यादि के द्वारा वह प्रकट कर दी जावे। जैसे अन्धेरे में रक्खे हुये घड़े को दीपक का प्रकाश अभिव्यक्त कर देता है।) रस की अभिव्यक्ति तभी मानी जा सकती है जब रस सामाजिकों के अन्तःकरणों में पहले से विद्यमान मान लिया जावे और उसकी अभिव्यक्ति काव्य परिशीलन के द्वारा मानी जावे। किन्तु इसमें भी यह दोष है कि शक्ति अर्थात् वासनारूप में स्थित विषय के उपार्जन में सामाजिकों की प्रवृत्ति का तारतम्य अधिकाधिक रूप में प्रकट होने लगेगा। (आशय यह है कि यदि घड़ा अन्धकार में रक्खा हो तो उसको देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है। यदि प्रकाश मन्द हो तो घड़ा उतना स्पष्ट दिखलाई नहीं देगा। घड़े को अधिकाधिक स्पष्टता

## तारावती

देने के लिये प्रकाश की मात्रा का अधिकाधिक बढ़ाना वाञ्छनीय होता है। इसी प्रकार काव्यरसास्वादन भी उसी को होगा जिसने अधिक से अधिक विषयों का सेवन किया होगा। अतएव काव्यरसास्वादन की मात्रा बढ़ाने के लिये सामाजिक लोग विषयों का सेवन करने की ओर अधिक से अधिक आकृष्ट होने लगेंगे और काव्य विषय-वासनाओं को बढाने का एक माध्यम हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि यह मान लेने पर भी इस प्रश्न का कोई उचित समाधान नहीं किया जा सकता कि रस की स्थिति स्वगत होती है अथवा परगत। इस प्रकार काव्य से रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त ही होता है। किन्तु मानना पड़ेगा कि काव्य के शब्दों मे अन्य शब्दों से यही विलक्षणता होती है कि काव्य के शब्दों मे तीन अंशों का सम्बन्ध होता है। वे तीन अश वृत्तियाँ हैं—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधायकत्ववृत्ति का पर्यवसान वाच्यार्थ मे होता है। रस इत्यादि के विषय मे भावकत्ववृत्ति मानी जाती है और सहृदयों के विषय मे भोजकत्ववृत्ति से काम लिया जाता है। काव्य मे यही तीन अंशभूत व्यापार होते हैं। उनमे यदि शुद्धरूप मे अभिधाव्यापार को ही काव्य मे प्रयोजनीय मानें और उसका संसर्ग भावकत्व और भोजकत्व इन दो पृथक् वृत्तियों से स्वीकार न करें तो तन्त्र इत्यादि अन्य शास्त्रीय न्यायों से काव्य का क्या भेद रह जावे? (आशय यह है कि दूसरे शास्त्रों में भी एक शब्द के कभी-कभी कई-कई अर्थ ले लिये जाते हैं और उसके लिये वे लोग तन्त्र, एकशेष इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। काव्य मे भी एक शब्द के कभी-कभी कई अर्थ ले लिये जाते हैं और उसके लिये श्लेष शब्द का प्रयोग होता है। फिर अन्यशास्त्रों से काव्य के शब्दों में विलक्षणता क्या रही? यदि कोई विलक्षणता हो सकती है तो यही कि काव्य मे अभिधा से भिन्न भावकत्व और भोजकत्व नाम की वृत्तियाँ स्वीकार की जावें। अन्यथा काव्य में भी तन्त्र इत्यादि से ही काम चलाया जा सकता है। श्लेष इत्यादि मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।) यदि केवल अभिधावृत्ति ही स्वीकार की जावे तो काव्य मे उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों की कल्पना ही व्यर्थ हो जावे। (उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ स्वसामर्थ्य से रसास्वादन मे कारण होती है। यदि केवल अभिधावृत्ति ही मानी जावेगी तो शब्द का वाच्यार्थ मात्र गृहीत होगा, उपनागरिका इत्यादिवृत्तियों का क्या उपयोग रह जावेगा?) कर्णकटु इत्यादि दोष भी तभी सार्थक माने जाते है जब काव्य मे अभिधा से भिन्न वृत्तियाँ गृहीत होती है। यदि केवल अभिधायकत्ववृत्ति ही मानी जावेगी तो श्रुतिकटु इत्यादि दोषों का मानना भी व्यर्थ हो जावेगा। अतएव अभिधायकत्ववृत्ति से

## लोचन

विलक्षणैव । तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम । भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः । स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति । व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति ।

अभिधा विलक्षण ही ( प्रतीत होती है ) । काव्य का रसों के प्रति जो यह भावकत्व वह विभाव इत्यादि का साधारणता सम्पादन नहीं है । भावितरस में जो उसका भोग वह अनुभव स्मरण इत्यादि प्रतिपत्तियों से विलक्षण ही द्रुतिविस्तार-विकासात्मक ( होता है ? जिसमे ) रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्वमय अपने चित्स्वभावरूप लोकोत्तरानन्दमय विश्रान्तिलक्षणवाला परब्रह्मास्वाद के समकक्ष होता है । वही प्रधानीभूत अंश सिद्धरूप होता है । व्युत्पत्ति तो अप्रधान ही होती है ।' यह ( भट्टनायक ने कहा है ) ।

## तारावती

भिन्न भावकत्व नाम की एक दूसरी वृत्ति का मानना अनिवार्य हो जाता है । यही वह वृत्ति है जिसके कारण अन्य शास्त्रों के अभिधेयार्थों से काव्य के अभिधेयार्थ मे भिन्नता होती है और उसी के कारण काव्यगत अभिधेयार्थ विलक्षण प्रकार का प्रतीत होता है । इस भावकत्व वृत्ति का यही काम है कि काव्य में आनेवाले जितने भी विभाव इत्यादि होते हैं उनके अन्दर से व्यक्तित्व अंश को हटाकर उनमें साधारणीकरण कर दिया जाता है; अर्थात् उस समय उस भावकत्व वृत्ति के प्रभाव से सीता इत्यादि से विशिष्ट व्यक्तित्व अंश निकल जाता है और सीता इत्यादि एक साधारण प्रेयसी का रूप धारण कर लेती हैं जिससे उनमे सामाजिकों के रसास्वादन के प्रयोजक बनने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है । जब उन विभावादि रसके अङ्गों का साधारणीकरण हो जाता है और वे आस्वाद के योग्य बन जाते है तब सामाजिक लोग तीसरी भोजकत्ववृत्ति के प्रभाव से उस रस का भोग ( चर्वणा या आस्वादन ) करते हैं । यह भोग स्मरण अनुभव इत्यादि सब प्रकार की लौकिक प्रतिपत्तियों से भिन्न होता है । सामाजिकों की चित्त-वृत्ति उस रसास्वादन काल मे कभी-कभी द्रवित हो जाती है, कभी-कभी उनका विस्तार हो जाता है और कभी-कभी उनका विकास हो जाता है । यह आस्वाद उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का ब्रह्मानन्द हुआ करता है । अथवा योगी को मधुमती भूमिका मे प्राप्त हुआ करता है । यह आस्वाद शुद्ध सत्त्व गुण से परिपूर्ण

## लोचन

अत्रोच्यते—रसस्वरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथाहि—पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः। विस्मयशोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष

यहाँ पर ( उत्तर के रूप में ) कहा जा रहा है—'रसस्वरूप मे ही पहले तो विरोधियों की विप्रतिपत्तियाँ हैं। वह इस प्रकार—पूर्वावस्था मे जो स्थायी वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्यगत ही रस होता है। नाट्य मे तो प्रयुक्त होने के कारण नाट्यरस यह कुछ लोग (कहते हैं)। प्रवाहधर्मिणी चित्तवृत्तियों मे ( एक) चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोष का क्या अर्थ ? विस्मय शोक क्रोध इत्यादि का तो क्रमशः परिपोष नहीं होता अतः

## तारावती

होता है जिसमे हम यह भूल जाते हैं कि अमुक वस्तु हमारी ही है या दूसरे की ही है अथवा हमारी नहीं है या दूसरे की नहीं है। ( आशय यह है कि लोक मे हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख इसलिये नहीं समझ पाते कि हमारी चित्तवृत्तियाँ सङ्कुचित होती हैं। हम उनमें अपनी आत्मा के व्यापकत्व का अनुभव नहीं कर पाते। किन्तु रसास्वादन के अवसर पर इस भोजकत्ववृत्ति के प्रभाव से हमारी चित्तवृत्तियों मे सत्त्व का उद्रेक हो जाता है और हम संसार के साथ अपनी चित्तवृत्तियों को एकाकाररूपता मे परिणत कर देते हैं जिससे हमें काव्य या नाट्य मे वे क्रियायें आनन्द देने लगती हैं जिनको पराया समझकर लोक मे हम तटस्थ बने रहते हैं। ) उस सत्त्व के उद्रेक मे रजोगुण और तमोगुण की विचित्रतायें भी सम्मिलित रहती है किन्तु प्रधान सत्ता सत्त्व की ही रहता है। अपनी सत्ता के द्वारा उस समय हम ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते है जिसमे संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और उस आनन्द का पर्यवसान अपनी चेतना में ही हो जाता है। ( रजोगुण के प्रभाव से हमारी आत्मा मे द्रुति उत्पन्न हो जाती है, तमोगुण से विस्तार हो जाता है और सत्त्वगुण के प्रभाव से उसका विकास हो जाता है। वह रस चैतन्य चित्तवृत्तिस्वरूप होता है। वही प्रधान अंश होता है। चित्तवृत्तियाँ सिद्ध होती है अतः रस भी सिद्ध ही कहा जाता है। उस रसास्वादन के लिये पाठकों को जिस प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है वह अप्रधान होता है। रस सर्वदा सिद्धरूप ही माना जाता है। यह है श्री भट्टनायक का सिद्धान्त।

## लोचन

इति नानुकार्ये रसः। अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्। सामाजिक गते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः। तस्मान्नायं पक्षः। कस्तर्हि? इहानन्त्यान्नियतस्यानुकारो न शक्यः, निष्प्रयोजनश्च विशिष्टताप्रतीतौ तटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात्।

अनुकार्यगत रस नहीं ( हो सकता। ) अनुकर्ता ( नट ) मे उसके मानने पर लय इत्यादि का अनुसरण नहीं होगा। सामाजिकगत मानने मे चमत्कार ही क्या? प्रत्युत करुण इत्यादि में दुःख की प्राप्ति होगी। अतः यह पक्ष नहीं है। तो क्या है? यहाँ पर अनन्त होने के कारण नियत का अनुकरण नहीं किया जा सकता। निष्प्रयोजन भी है क्योंकि विशिष्टता की प्रतीति मे तटस्थ के रूप में ( चतुर्वर्गोपाय रूप ) व्युत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

## तारावती

इस विषय में मुझे ( श्री अभिनवगुप्त को ) यह कहना है कि रसस्वरूप के निरूपण मे ही विरोधियों के विभिन्न मत पाये जाते हैं। ( सर्वप्रथम भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को ले लीजिये—इस सिद्धान्त के अनुसार रस की उत्पत्ति अनुकार्य ( वास्तविक राम ) मे ही होती है। ललना इत्यादि आलम्बन विभाव इस उत्पत्ति मे कारण होते हैं। उद्दीपन विभाव इसे उद्दीप्त करते हैं। कटाक्ष इत्यादि अनुभाव इसके कार्य हैं क्योंकि इन्हीं कटाक्ष इत्यादि के द्वारा रस की सत्ता प्रतीति के योग्य होती है और निर्वेदादि व्यभिचारीभाव इस रस के सहचर होते हैं। इनके द्वारा रस का परिपोष होता है। इस प्रकार यह रस वास्तविक अनुकार्य राम मे ही उत्पन्न होता है। उसका अनुकरण रङ्गमञ्च पर नट भी करता है। अतएव नट मे भी वास्तविक राम के रूप का आरोप कर लिया जाता है। अतएव नट मे भी रस प्रतीत होता है। यह भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद है। इसके अनुसार रस की अपरिपुष्ट और अविकसित अवस्था मे रति इत्यादि स्थायी भाव होते हैं वे ही व्यभिचारीभाव इत्यादि के सम्मिश्रण से परिपोष को प्राप्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं और यह रस वास्तविक राम मे ही उत्पन्न होता है। ) नाट्य मे इसका प्रयोग होता है इसीलिये इसे नाट्यरस की संज्ञा प्रदान की जाती है। ( यह है भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का सार ) अब इस सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा कर लीजिये—इसमें कहा गया है कि स्थायी भाव का व्यभिचारीभाव के द्वारा परिपोष होता है। स्थायीभाव एक प्रकार की चित्तवृत्ति है और सञ्चारीभाव भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही है। चित्तवृत्ति सर्वदा प्रवाहधर्मिणी होती है अर्थात् एक चित्तवृत्ति का उदय और अस्त होता रहता है। अतएव एक चित्तवृत्ति

का दूसरी चित्तवृत्ति के द्वारा परिपोष किस प्रकार हो सकता है ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक चित्तवृत्ति का निरन्तर बना रहना कालान्तर में उसे परिपुष्ट कर देता है । देखा जाता है कि चित्तवृत्ति का सर्वदा ह्रास ही होता है विकास कभी नहीं होता । विस्मय शोक क्रोध इत्यादि भावनायें जितनी तीव्रता के साथ हमारे अन्त.करणों मे उत्पन्न होती हैं उतनी तीव्रता निरन्तर बनी नहीं रहती । धीरे-धीरे ये भावनायें शान्त होती जाती हैं । इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक राम मे रस की उत्पत्ति होती है । जिस प्रकार रस अनुकार्यगत नहीं माना जा सकता उसीप्रकार अनुकर्तृगत ( नटगत ) भी नहीं माना जा सकता । यदि नट में रस की सत्ता सिद्ध रूप में मान ली जावे तो फिर उसके परिपोष के लिये लय इत्यादि के अनुसरण की आवश्यकता ही क्या पड़े ? इसीप्रकार रस सामाजिक-गत भी नहीं माना जा सकता । कारण यह है कि यदि रस सामाजिक की चित्तवृत्ति मे पहले ही से विद्यमान हो तो उसे आनन्द ही किस बात में आवे ? उदाहरण के लिये करुण रस का स्थायीभाव शोक है । यदि इस शोक की सत्ता सामाजिक की चित्तवृत्ति मे पहले से ही सिद्धरूप में उपस्थित है तो सामाजिक को शोक का ही अनुभव होना चाहिये । उसे उस शोक मे आनन्द का अनुभव नहीं होना चाहिये । ऐसी दशा मे उस करुणरसमय अभिनय को देखने के लिये किसी की प्रवृत्ति ही क्यो होगी ? वस्तुतः करुण रस के परिशीलन में भी ब्रह्मानन्द-सहोदर एक अनिर्वचनीय रस का आस्वादन किया जाता है । शोकाश्रुओं मे भी सहृदयों को अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिकों में सिद्धरूप में रस विद्यमान रहता है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि नट राम इत्यादि की रति इत्यादि भावनाओं का अनुकरण करता है । एक ही रति इत्यादि भावना विभिन्न व्यक्तियों मे विभिन्न प्रकार की होती है । किसी मे वह भावना मन्द होती है किसी मे मन्दतर होती है और किसी में मन्दतम होती है । दूसरे व्यक्ति मे उसका परिमाण दूसरे प्रकार का होता है । इस प्रकार जब भावनाओं की सर्वत्र एकरूपता होती ही नहीं तब निश्चित एक विशेष अवस्था-वाली किसी भावना का कोई दूसरा व्यक्ति अनुकरण कर ही कैसे सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि कोई उसका अनुकरण करने मे सफल भी हो जावे तो भी उसका उपयोग क्या होगा ? जब कि दर्शक यह बात समझ ही जावेगा कि नट राम इत्यादि व्यक्ति-विशेष की भावना का अनुकरण मात्र कर रहा है वस्तुतः नट के अन्दर वह भावना है ही नहीं, तो फिर असत्य का प्रतिभास हो जाने से उनमे आस्वाद की उत्पत्ति हो ही किस प्रकार सकेगी । और उन्हे चतुर्वर्गफल-

## लोचन

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वादरूपा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किन्त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः नानुकार्यादिष्विति केचित्।

अतएव अनियत अवस्थावाले स्थायीभाव के उद्देश्य से संयुक्त होनेवाले विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के द्वारा 'यह राम सुखी है' इस स्मृति से विलक्षण, स्थायी में प्रतीतिगोचर होनेवाली आस्वादरूपिणी प्रतिपत्ति ( जब ) अनुकर्ता का अवलम्ब लेकर केवल नाट्यगामिनी ( होती है ) ( तब उसे ) रस ( कहते हैं )। वह व्यतिरिक्त आधार की अपेक्षा नहीं करती। किन्तु अनुकार्य से अभिन्नरूप मे अभिमत नर्तक में आस्वाद लेनेवाला सामाजिक ही होता है। बस यह इतना ही है। इसलिये नाट्य मे ही रस होता है अनुकार्य इत्यादि मे नहीं, यह कुछ लोग कहते है।

## तारावती

प्राप्ति भी किस प्रकार हो सकेगी ? इस प्रकार यह पक्ष किसी प्रकार भी समीचीन नहीं जान पड़ता।

अतएव रस की प्रक्रिया इस प्रकार होगी कि जब विभाव-अनुभाव और सञ्चारी-भावों का एक ऐसे स्थायी भाव से सम्बन्ध होता है जिसमे न तो कोई अवस्था ही नियत होती है और न उसमे किसी व्यक्ति का सम्बन्ध ही होता है उस समय सामाजिक लोग उस रति इत्यादि भाव का अनुमान लगा लेते है। ( यह अनुमान नट मे ही लगाया जाता है और नट को ही लोग चित्रतुरग-न्याय से वास्तविक राम समझ लेते हैं। नट मे अनुमान इस प्रकार लगाया जाता है कि यह राम सुखी है। इस प्रतीति का समावेश स्मृति में नहीं हो सकता क्योंकि स्मृति की अपेक्षा इसमे एक प्रकार की विलक्षणता होती है। अब चूंकि अभिनय इत्यादि वस्तु के सौन्दर्य के कारण रति इत्यादि स्थायी भाव ही प्रतीतिगोचर होते हैं अतएव उनके विषय मे लगाई हुई अनुमिति भी आस्वाद को प्रकट करनेवाली हो जाती है। इसी आस्वादमयी प्रतीति को रस कहते है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि नट की सत्ता सर्वदा अनुकरण करनेवाले नट मे ही होती है और वह सर्वदा नाट्य मे ही विद्यमान रहती है। उस रस के अनुमान के लिये किसी अतिरिक्त आधार की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अनुकार्य ( राम इत्यादि से ) अभिन्न रूप मे स्वीकृत नट मे सामाजिक ही उस रस का आस्वादन करता है। बस इस रसनिष्पत्ति के लिये इतनी ही सामग्री अपेक्षित है। अतएव नाट्य मे ही रस माना जाता है, अनुकार्य

## लोचन

अन्ये तु अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्र्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीतास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्रसा नाट्यरसाः। अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्र्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्त्युचितवासनानुषक्तं स्वनिर्वृतिचर्वणाविशिष्टमेव रसः। तन्नाट्यमेव रसाः। अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

दूसरे लोग तो ( यह कहते हैं )—अनुकर्ता मे जो अभिनय इत्यादि सामग्री से उत्पन्न किया हुआ स्थायी का अवभास ( होता है ) जैसा कि भित्ति पर हरिताल इत्यादि के द्वारा अश्व का अवभास होता है वही लोकातीत होने के कारण आस्वाद इस दूसरी संज्ञावाली प्रतीति से आस्वादगोचर होनेवाला रस होता है; इस प्रकार नाट्य से रस होने के कारण नाट्यरस ( कहलाता है )। फिर दूसरे लोग (कहते हैं) विभाव और अनुभावमात्र ही विशिष्ट सामग्री से समर्पित किये जाते हुये उसके द्वारा विभावित तथा अनुभावित की जानेवाली स्थायी चित्तवृत्ति के अनुकूल वासना से अनुषक्त होकर अपनी ( सहृदय की ) निर्वृति रूप विशिष्ट प्रकार की चर्वणा ही रस होती है। उनका नाट्य ( अभिनय ) ही रस होता है। अन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग केवल स्थायी को, और लोग व्यभिचारी को, अन्य लोग उनके संयोग को, कुछ लोग अनुकार्य को, कुछ लोग समस्त समुदाय को रस कहते है। बस अधिक कहने की क्या आवश्यकता ?

## तारावती

इत्यादि मे रस नहीं माना जाता। ( क्योंकि उक्त रीति से रस नटाश्रित ही होता है, अतः नाट्य मे ही रस मानना ठीक है। इसलिये नाट्यरस यह संज्ञा चरितार्थ होती है। यह है कुछ लोगों का ( शंकुक इत्यादि का ) मत।

दूसरे आचार्यों का कहना है—'जिस प्रकार भित्ति पर हरताल इत्यादि से अश्व का चित्र बना दिया जाता है और उस चित्र मे अश्व का अवभास होने लगता है उसीप्रकार अभिनय इत्यादि सामग्री के सहकार से अनुकरण करनेवाले नट मे स्थायी भाव का अवभास होने लगता है। यह एक ऐसी प्रतीति होती है जिसकी तुलना लोक मे होनेवाली किसी भी प्रतीति से नहीं हो सकती। अतएव इस प्रतीति मे एक प्रकार का आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रतीति का दूसरा नाम आस्वाद भी हो जाता है। इस रसन या आस्वादन को रस कहते हैं। यह रसन या आस्वादन नाट्य से होता है अतः इसे नाट्यरस

## लोचन

काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति-वक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिक-प्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वात्र नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः, उपायवैलक्षण्यादियमेव तावदत्र सरणिः। एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादि विकल्पेन। सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मा के स्थानवाले काव्य मे भी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो प्रकारों से अलौकिक प्रसन्न मधुर और ओजस्वी शब्दों से समर्पित किये जानेवाले विभाव इत्यादि के योग से यही रस की वार्ता है। अथवा यहाँ पर नाट्य से विलक्षण रूपवाली रसप्रतीति हो; उपाय की विलक्षणता से यही (आगे कही जानेवाली) पद्धति (ठीक है)। ऐसी स्थिति मे प्रथमपक्षमे ही प्रतीति के स्व-परगत इत्यादि विकल्प के द्वारा ये दोष हैं। सभी पक्षों में रस की प्रतीति अपरिहार्य है। अप्रतीत निस्सन्देह पिशाच के समान अव्यवहार्य हो जावेगा। किन्तु जिस प्रकार केवल प्रतीतिको लेकर अविशिष्ट होते हुये भी प्रत्यक्षकृत, आनुमानिक, आगमोत्थ, प्रतिभाजन्य, योगिप्रत्यक्षजन्य प्रतीतियाँ अन्य ही होती हैं उसी प्रकार यह प्रतीति भी चर्वणा आस्वादन भोग इन दूसरे नामोंवाली हो जावे।

## तारावती

कहते हैं। दूसरे लोगों का कहना है कि जब सामाजिकों के प्रति विभाव और अनुभाव नाट्य की विशिष्ट सामग्री के द्वारा समर्पित किये जाते हैं तब उन विभावादिकों को जिस स्थायी चित्तवृत्ति का विभावन और अनुभावन करना अभीष्ट होता है उस स्थायी चित्तवृत्ति की उपयुक्त वासना से संवलित होकर वे ही विभाव और अनुभाव रस कहे जाते हैं, जिनमे (अन्तरात्मा को बाह्य जगत् से विमुख करते हुये) स्वमात्र विश्रान्त निर्वृति के साथ आनन्द का अनुभव किया जाता है। उसी नाट्य को रस कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि शुद्ध विभाव ही रस होता है, दूसरे लोग कहते हैं कि शुद्ध अनुभाव ही रस कहा जाता है, कुछ लोग कहते हैं केवल स्थायी भाव ही रस होता है, दूसरे लोग कहते हैं व्यभिचारी भाव ही रस होता है, और लोग इन सबके संयोग को रस मानते हैं। कुछ लोग अनुकार्य (वास्तविक राम इत्यादि) को ही रस कहते हैं और कुछ लोग समस्त समुदाय को रस मानते

## लोचन

तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। रसाः प्रतीयन्त इति तु ओदनं पचतीतिवद्व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतेरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौलिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।

क्योकि उनकी निदानभूत हृदयसंवाद इत्यादि से उपकृत विभाव इत्यादि सामग्री लोकोत्तर रूप होती है। रस प्रतीत होते हैं यह तो ओदन पकाता है के समान व्यवहार होता है। प्रतीयमान ही रस होता है। प्रतीति ही विशिष्ट आस्वादन है। वह तो नाट्य में लौकिक अनुमान प्रतीति से विलक्षण होती है और उसकी आदि मे उपाय के रूप मे अपेक्षा करती है। इस प्रकार काव्य में अन्य शब्द प्रतीति से विलक्षण और उसकी आदि मे उपाय के रूप में अपेक्षा करती है।

## तारावती

है। अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता, साराश यह है कि विचारकों मे रस के विषय में ऐकमत्य है ही नहीं।

जो बात नाट्यरस के विषय मे कही जाती है वही काव्यरस के विषय में भी कही जा सकती है जिस प्रकार नाट्य में दो प्रकार का अभिनय होता है—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। कुछ अभिनय ऐसा होता है जो लोक-व्यवहार के अत्यन्त सन्निकट पड़ता है उसे लोकधर्मी अभिनय कहते हैं, दूसरे प्रकार का अभिनय ऐसा होता है जो लोक-व्यवहार मे नित्यप्रति नहीं आता जैसे स्वर अलङ्कार इत्यादि—उसी प्रकार काव्य भी दो प्रकार का होता है स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इन दोनों प्रकारों का आश्रय लेकर प्रसाद माधुर्य और ओज गुणों से परिपूर्ण अलौकिक शब्दों के द्वारा काव्य में भी पाठकों को विभाव इत्यादि का समर्पण किया जाता है। अतएव उनके संयोग से काव्यरस के क्षेत्र मे भी वही जटिलता उत्पन्न हो जाती है। अथवा यही मान लो कि काव्यरस नाट्यरस की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का होता है। उपायों की विलक्षणता के कारण जिस रसप्रक्रिया का उल्लेख किया जावेगा वही प्रक्रिया सबसे अधिक समीचीन जान पड़ती है। भट्टलोल्लट के उत्पत्ति पक्ष मे दोष दिखलाये ही जा चुके हैं। उसमे बतलाया ही जा चुका है कि रसप्रतीति की अवस्थिति स्वगत या परगत इत्यादि वैकल्पिक पक्षों के कारण निश्चित ही नहीं की जा सकती। किसी भी पक्ष का आश्रय लिया जावे इतना तो मानना ही पडेगा कि रस की प्रतीति होती है। यदि रस की प्रतीति ही न मानी जावे तो उसका व्यवहार उसी प्रकार असङ्गत हो जावे जिस प्रकार पिशाच का ठीक रूपमे ज्ञान न होने के कारण उसका व्यवहार ही असङ्गत माना जाता है। यद्यपि प्रतीति

## लोचन

तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह—"तासामनादित्वम् आशिषो नित्यत्वात्। जातिकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।" इति।

अतः पूर्व पक्ष अनुत्थान रूप मे ही उपहत हो गया। यही तो महान् साहस है कि राम इत्यादि का चरित्र सबके हृदय से मेल नहीं खाता। क्योंकि चित्त मे विचित्र प्रकार की वासनाओं की विशिष्टता होती है। जैसा कहा है—'उनका अनादित्व होता है क्योंकि आकाङ्क्षायें नित्य होती हैं। जाति देश और काल से व्यवहितों का भी आनन्तर्य होता है क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप

## तारावती

एक ही होती है और सब प्रकार की प्रमा के लिये प्रतीति शब्द का प्रयोग होता है किन्तु विभिन्न प्रकार की प्रमा के लिये विभिन्न प्रकार के उपायों से काम लिया जाता है। अतएव उपायों की विभिन्नता के कारण प्रतीति के भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रतिभा, योगि प्रत्यक्ष, ये विभिन्न भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार रस-प्रतीति भी प्रत्यक्षादि सब प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। चर्वणा, आस्वाद भोग इत्यादि इसी प्रतीति के विभिन्न नाम हैं। यह प्रतीति प्रत्यक्ष इत्यादि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण इसलिये मानी जाती है कि हृदय-संवाद के द्वारा उपकृत होकर जो विभाव इत्यादि सामग्री इस रस को प्रतीत करने मे निदान ( कारण ) होती है वह सर्वदा अलौकिक ही हुआ करती है। अतएव लौकिक प्रत्यक्ष इत्यादि प्रतीतियों में उसका समावेश हो ही नहीं सकता। वस्तुतः प्रतीति को ही रस कहते हैं। प्रतीति और रस में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। फिर भी 'रस प्रतीत होता है' यह व्यवहार किया जाता है। यह व्यवहार उसी प्रकार होता है जैसे 'भात पका रहा है' यह लौकिक व्यवहार हुआ करता है। जिस प्रकार पके हुये चावलों को ही भात कहते हैं, वह स्वतः पका हुआ है ही। किन्तु लौकिक व्यवहार में 'भात पक रहा है' यह कहा जाता है, उसी प्रकार प्रतीति ही रस है, किन्तु रस प्रतीत हो रहे हैं यह व्यवहार किया जाता है। नाट्य मे यह प्रतीति लौकिक अनुमान प्रतीति से विलक्षण होती है, किन्तु लौकिक अनुमान प्रतीति को उपाय के रूप मे अपने सामने रखकर ही प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार काव्य मे भी शाब्दी प्रतीति अन्य लौकिक शाब्दी प्रतीतियों से विलक्षण होती हैं अर्थात् लोक में जिस प्रकार शब्द से अर्थ की अवगति होती है वैसी अवगति काव्य में नहीं होती। दोनों प्रतीतियों में भेद होता है। किन्तु काव्य की प्रतीति उपाय के रूप मे लौकिक शाब्दी प्रतीति को सामने रखते हुये उसकी अपेक्षा अवश्य करती है।

## लोचन

तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव नान्यत्किंञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दा-

होते है।' इससे रस की प्रतीति तो सिद्ध हो गई। वह प्रतीति आस्वादन रूप मे उत्पन्न होती है। वाच्य-वाचक का तो वहाँ पर अभिधा से पृथग्भूत व्यञ्जनात्मक ध्वननव्यापार ही होता है। काव्य का भोगकरणव्यापार रसविषयक ध्वन्यात्मक ही होता है और कुछ नहीं। भावकत्व भी समुचित गुणालङ्कारपरिग्रहात्मक (ही होता है जिसको) हम ही विस्तृत करके कहेंगे। यह अपूर्व क्या है? जो यह कहा जाता है कि काव्य रसों के प्रति भावक होता है उससे आपने ही भावन के कारण उत्पत्ति पक्ष को ही प्रत्युज्जीवित कर दिया। केवल काव्य शब्दों का ही भावकत्व नहीं होता। क्योंकि अर्थ के न जानने पर वह होता नहीं। केवल अर्थों का

## तारावती

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि रस प्रतीत होता है। अतएव भट्टनायक का यह कहना कि 'रस प्रतीत ही नहीं होता' किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पूर्व पक्ष (भट्टनायक का पक्ष) तो अपने उत्थान काल में ही उपहत हो गया। यह कहना बहुत बडे साहस की बात है कि 'राम इत्यादि का चरित्र सभी लोगों के हृदयों में मेल नहीं खा सकता' हमारे चित्तों मे विचित्र प्रकार की विभिन्न वासनायें भरी रहती है। (हम भले ही समुद्र पर पुल बाँधना इत्यादि कार्यो को अपनी शक्ति से सम्पन्न न कर सके किन्तु इस प्रकार के कार्यों का सम्पादन करने के लिये हमारे अन्तःकरणों मे वासनायें जागृत होती ही रहती हैं। जिन कार्यों का घटनारूप मे परिणत होना सर्वथा असम्भव होता है उनके स्वप्न तो देखा ही करते हैं अथवा उनके विषय मे ख्याली पुलाव पकाते ही रहते हैं। अतः समुद्रलङ्घन इत्यादि लोकोत्तर चरित्रों से भी हमारा हृदय मेल खा ही जाता है।) जैसा कि योग दर्शन मे कहा गया है (यहाँपर लोचनकार ने पौर्वापर्य क्रम को बदलकर योग दर्शन के दो सूत्रों को उद्धृत किया है। इन सूत्रों मे इस बात पर विचार किया गया है कि जब कोई बच्चा किसी पशु के गर्भ से उत्पन्न होता है तब उत्पन्न होते ही उसके अन्दर उस योनि के अनुकूल प्रवृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न हो जाती हैं। सामान्य नियम है कि हमारी प्रवृत्ति अनुभव के आधार पर

## लोचन

न्तरेणाप्यमाणत्वे तदयोगात् । द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इत्यत्र । तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इतियंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्धसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तारविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः । तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे

भी नहीं होता क्योंकि दूसरे शब्दों से अर्पण करने पर वह नहीं होता । दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा—'जहाँ अर्थ और शब्द उस अर्थ को व्यक्त करते हैं।' यहाँपर अतएव व्यञ्जकत्व नाम के व्यापार से गुण तथा अलङ्कार के औचित्यवाली इतिकर्तव्यता से भावक काव्यरसों को भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशोंवाली भावना मे कारण अंश मे ध्वनन ही आ जाता है । भोग भी काव्य शब्द से नहीं किया जाता । अपितु घने मोहरूपी अन्ध सङ्कट से निवृत्ति के द्वारा आस्वाद इस दूसरे नामवाले अलौकिक द्रुति विस्तार और विकासात्मक भोग के अलौकिक कर्तव्य में ध्वननव्यापार भी मूर्धाभिषिक्त होता है। और वह यह भोगकृत्त्व रस के ध्वननीय

## तारावती

होती है उदाहरण के लिये जब तक हम पहले दूध पीकर भूख शान्त न कर चुके हों तब तक हमें यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि दूध पी लेने से भूख शान्त हो जाती है। किन्तु जब किसी पशु का कोई बच्चा पहले-पहल जन्म लेता है तब भूख लगने पर उसकी स्वतः प्रवृत्ति दूध पीने की ओर हो जाती है । घोड़े का बच्चा घोड़े के कार्य करने लगता है, गाय का बच्चा अपना वर्ग समझ जाता है । यह कैसे होता है? इसी बात का इन सूत्रों मे विचार किया गया है । इन सूत्रों का सारांश यह है कि जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर जीव कभी न कभी उस विशेष योनि मे आया ही होगा । अनेक योनियों का व्यवधान पड जाने से उस समय की उसकी स्मृतियां तो समाप्त ही हो जाती हैं किन्तु उस समय के अनुभव संस्काररूप मे उसके अन्दर सन्निहित रहते है और उसी विशेष योनि को प्राप्त कर उन्हीं संस्कारों के अनुकूल उसकी प्रवृत्ति भी होने लगती है । ) सासारिक जीव नाना योनियो मे भ्रमण करते रहते है, किन्तु किसी योनि मे अनुभव करने के बाद पुनः उसी योनि मे आने तक बीच में सहस्रों योनियों का व्यवधान हो जाता है । किन्तु पहले उस योनि-विशेष के शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के सहकार से जो वासनाये प्रकट हुई थीं उसी प्रकारके शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के पुनः उत्पन्न होने

## लोचन

दैवसिद्धम् । रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति । सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गि-भाववैचित्र्यस्यानन्त्याद्द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता । परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य । व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम् । यथारामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भा-रूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे । तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति । तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा । प्रधानत्वे ध्वनिः अन्यथा रसाद्यलङ्काराः ।

सिद्ध होने पर दैवसिद्ध हो जाता है । क्योंकि भोग रस्यमानता से उत्पन्न चमत्कार से अतिरिक्त नहीं होता । सत्व इत्यादि के अङ्गाङ्गिभाववैचित्र्य की अनन्तता के कारण द्रव इत्यादि के रूप में आस्वाद गणना उचित नहीं है । इस रसास्वादन का परब्रह्मास्वाद सादृश्य हो जावे । शास्त्र और इतिहास से उत्पन्न शासन और प्रतिपादन से ( रस का ) व्युत्पादन विलक्षण होता है । जैसे राम वैसा मैं हूँ इस उपमान से अतिरिक्त रसास्वाद के उपाय अपनी प्रतिभा के विजृम्भण रूप व्युत्पत्ति को अन्त मे कर देता है, इसके लिये हम किसको उपालम्भ दें । इससे यह स्थित है रस अभिव्यक्त ही होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादनगोचर होते हैं । उसमे अभिव्यक्ति प्रधान रूप में हो या अन्यथा । प्रधान होने पर ध्वनि ( होती है ) अन्यथा रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं ।

## तारावती

पर उसी प्रकार की वासनायें प्रादुर्भूत हो जाती हैं । "यद्यपि दोनों शरीरों में जाति, देश, काल इत्यादि का व्यवधान हो जाता है किन्तु स्मृति और संस्कारों की एकरूपता के कारण निरन्तरता बनी ही रहती है ।' उसका क्रम इस प्रकार होता है – जिस समय कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उस समय चित्त की सत्ता के कारण उसमे वासना रूप मे संस्कार का आविर्भाव हो जाता है । वही संस्कार स्वर्ग-नरक इत्यादि का अङ्कुर होता है, अथवा यज्ञ इत्यादि कर्मों का शक्ति के रूप मे स्थित होना ही संस्कार कहलाता है; अथवा कर्ता की शक्ति को ही संस्कार कहते हैं जिससे वह भोग्य और भोक्ता का रूप धारण करता है । संस्कार से स्मृति, स्मृति से सुख दुःख का उपभोग, उस उपभोग के अनुभव से संस्कार और स्मृति इत्यादि की उत्पत्ति, बस यही क्रम स्मृति और संस्कार की परम्परा-वाहिता में माना जाता है । ( प्रश्न ) प्रथम शरीर मे वासना की सत्ता किस प्रकार मानी जा सकती है ? ( उत्तर ) वे वासनायें अनादि होती हैं क्योंकि महामोह पूर्ण कामनायें निरन्तर बनी ही रहती हैं ।' सदैव सुख-साधनों की प्राप्ति हो, सुख-साधनों से मेरा

## तारावती

वियोग कभी न हो, बस यही विशेष प्रकार के सङ्कल्प वासनाओं मे कारण होते है। ये सङ्कल्प सदा ही बने रहते हैं अतः वासनायें भी नित्य होती हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि चाहे किसी प्रकार का अभिनय क्यों न हो वासना के कारण हमें उसमे रस की प्रतीति होने लगती है। वह प्रतीति आस्वादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती है। इस आस्वादन की प्रतीति के लिए अभिधाव्यापार कुछ नहीं कर सकता। अतः उसके लिये व्यञ्जनारूप ध्वननव्यापार ही मानना पडता है। भट्टनायक ने काव्य मे जो एक नई भोजकवृत्ति मानी थी वह और कुछ नहीं केवल ध्वननव्यापार ही है। भावकत्ववृत्ति भी और कुछ नहीं विभिन्न रसों के लिये उपयुक्त गुण और अलङ्कार मे ही उसका परिग्रह हो जाता है। इस बात को आगे चलकर हम स्वयं ही बतलावेंगे। यह भावकत्व व्यापार कोई नई वस्तु तो है नहीं। आप जो यह कहते हैं कि 'काव्य रस के प्रति भावक होता है' उसका एक-मात्र अर्थ यही है कि काव्य रस को उत्पन्न कर देता है। भावक शब्द का सम्बन्ध ही 'भव' ( भूधातु ) से है जिसका अर्थ है उत्पन्न होना। जिस उत्पत्ति पक्ष का आपने खण्डन किया था भावकवृत्ति को अङ्गीकार कर लेने से वही पुनः प्रत्युज्जीवित हो गया। दूसरी बात यह है कि केवल काव्य शब्द ही रस के भावक नहीं हो सकते। क्योंकि अर्थ का ज्ञान न होने पर रस की भावना हो ही नहीं सकती। केवल अर्थ भी रस के भावक नहीं होते क्योंकि वही बात जब दूसरे शब्दों के द्वारा प्रकट की जाती है तब रस की भावना हो ही नहीं सकती। यदि कहो कि दोनों ही भावक होते हैं तो यह बात तो हमने ( प्रथम उद्योत की १३ वीं कारिका मे ) कह ही दी कि—'जहाँ पर अर्थ या शब्द अपने को अथवा अपने अर्थ को गौण बनाकर उस विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं, विद्वान् लोग उसे ध्वनि कहते हैं।' इससे यह सिद्ध हो गया कि व्यञ्जकत्व नाम के व्यापार और गुण तथा अलङ्कार इत्यादि के औचित्य रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावकता को प्राप्त होकर काव्य ही रसों को भावित करता है। ( इसको इस प्रकार समझिये—मीमासकों के मत में 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य के द्वारा पुरुष के प्रति स्वर्ग के उद्देश्य से यज्ञ इत्यादि धर्म का विधान किया जाता है। 'यजेत' इस क्रिया के दो भाग हैं—'यज' धातु और प्रत्यय। प्रत्यय के भी दो भाग हैं—आख्यातत्व और लिङ्। ये दोनों अंश भावना का ही अर्थ देते हैं। 'भावना' का अर्थ है—'सत्ता में आने-वाली वस्तु को सत्ता में लाने के अनुकूल क्रिया।' यह भावना दो प्रकार की होती है आर्थी भावना और शाब्दी भावना। आर्थी भावना तीन पदार्थों की अपेक्षा करती है— १—साध्य, २—साधन, और ३—इति कर्तव्यता। भावना के विषय

ध्वन्यालोकः

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥ ५॥

(अनु०) "अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अङ्ग हो रहे हों उस काव्य में रस इत्यादि अलङ्कार बन जाते हैं यह मेरी सम्मति है" ॥ ५ ॥

तारावती

सहोदर होता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि 'रसास्वादन की प्रक्रिया सर्वथा अप्रधान होती है।' शास्त्र द्वारा शासन करने में और इतिहास द्वारा प्रतिपादन करने में जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है रस-प्रक्रिया उससे सर्वथा विलक्षण होती है। शास्त्र और इतिहास से हमें केवल इस उपमान की प्रतीति होती है कि 'राम के समान व्यवहार करना चाहिये रावण के समान नहीं।' किन्तु काव्य में इस उपमान की प्रतीति भी होती है और अन्त में रसास्वाद में उपायभूत (सामाजिक की) प्रतिभा का विकास भी व्युत्पत्ति के रूप में होता है। यही इन दोनों व्युत्पत्तियों में अन्तर है। जब कि यह अन्तर स्पष्ट रूप में प्रतीतिगोचर हो रहा है और यह आपके (भट्टनायक के) प्रतिकूल है तो अब हम इसका उपालम्भ किसको दें। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि रसकी अभिव्यक्ति होती है और उसका आस्वादन प्रतीति के रूप में ही किया जाता है अर्थात् प्रतीतिगोचर होना ही रस का आस्वादन है। यह अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है—(१) जहाँ अभिव्यक्त रस इत्यादि प्रधान हों उसे ध्वनि कहते हैं और (२) जहाँ पर अभिव्यक्त तत्त्व गौण हो उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं। यही बात वृत्ति में इस प्रकार कही गई है—'जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति इत्यादि अभिव्यज्यमान तत्त्व प्रधान हों और शब्द, अर्थ, अलङ्कार और गुण परस्पर विभिन्न रूप में ध्वनि की दृष्टि से ही व्यवस्थित किये जावें उसे ध्वनि कहते हैं।' व्यवस्थित किये जावें कहने का आशय यह है कि जो युक्तियाँ पहले दी जा चुकी हैं उन्हीं के आधार पर गुण अलङ्कार इत्यादि के विभिन्न रूप में व्यवस्थित किये जाने के कारण ही अभिव्यज्यमान अर्थ को प्रधानता प्राप्त होती है और इसीलिये वह ध्वनि का रूप धारण करता है।

[ उक्त विवेचन का सारांश यही है कि अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का विवेचन किया है। निस्सन्देह रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में भी रस इत्यादि की अभिव्यक्ति होती ही है किन्तु उनमें रस इत्यादि की स्थिति उपमा इत्यादि से अच्छी नहीं होती। जिस प्रकार उपमा इत्यादि अलङ्कार दूसरे तत्त्व को अलंकृतकर आनन्द-साधना में कारण बनते हैं उसीप्रकार रस इत्यादि

ध्वन्यालोकः

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

(अनु०) यद्यपि अन्य आचार्यों ने भी रसवत् अलङ्कार का विषय दिखलाया है तथापि मेरा पक्ष यह है कि जिस काव्य मे अन्य अर्थ प्रधानतया वाक्यार्थ हो जावे और रस इत्यादि उसके अङ्ग हों वहाँ रस इत्यादि अलङ्कार का विषय होते है। जैसे चाटूक्तियों मे प्रेयोलङ्कार वाक्यार्थ होते हुये भी रस इत्यादि प्रेयालङ्कार के अङ्ग रूप मे देखे जाते हैं।

लोचन

अन्यत्रेति। रसस्वरूपे वस्तुमात्रेऽलङ्कारतायोग्ये वा। मे मतिरित्यन्यपक्षं दूष्यत्वेन हृदि निधायाभीष्टत्वात् स्वपक्षं पूर्वं दर्शयति—तथापीति। स हि परदर्शितो विषयो भाविनीत्या नोपपन्न इति भावः। यस्मिन् काव्ये इति। स्पष्टत्वेनासङ्गतं वाक्यमित्थं योजनीयम्—यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः, चशब्दस्तुशब्दार्थे। यस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदलङ्कारशब्दस्य विषयाः, स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः; न त्वन्य इति यावत्। अत्रोदाहरणमाह—तद्यथेति। तदित्यङ्गत्वम्। यथात्र वक्ष्यमाणो-

अन्यत्र इति। रसस्वरूप मे वस्तुमात्र मे अथवा अलङ्कार के योग्य (वस्तु) मे। 'मे मतिः' अन्यपक्ष को दूषित करने योग्य के रूप मे हृदय मे रखकर अभीष्ट होने से अपना पक्ष पहले दिखलाते है—तथापि इति। निःसन्देह वह दूसरे के द्वारा दिखलाया हुआ विषय भावी नीति से उपपन्न नहीं होता, यह भाव है। यस्मिन् काव्ये इति। स्पष्टरूप मे असंग वाक्य की योजना इस प्रकार करनी चाहिये 'जिस काव्य मे पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्गभूत हो और वाक्यार्थ के रूप मे स्थित अर्थ दूसरा ही हो, 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ मे है। उस काव्य के सम्बन्धी जो रस इत्यादि अङ्गभूत व रस इत्यादि अलङ्कार के अर्थात् रसवत् इत्यादि अलङ्कार शब्द के विषय होते हैं। वही अलङ्कारशब्दवाच्य होता है जो अङ्गभूत हो और कोई नहीं। यहाँ पर उदाहरण देते हैं—'वह इस प्रकार'। वह का अर्थ है अङ्गत्वम्। अर्थात् जिस

तारावती

भी आनन्द-साधना मे परमुखापेक्षी हो होते है। इसके प्रतिकूल जहाँ आनन्द-साधना ही प्रधान होती है, पाठक आस्वादन मे तन्मय हो जाता है और अलङ्कार शब्द, अर्थ, गुण, रीति इत्यादि काव्य के समस्त तत्त्व उस आनन्द के उपकरण के

## लोचन

दाहरणे, तथान्यत्रापीत्यर्थः। भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोलङ्काररस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इतीदमेकं वाक्यम्। भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषय-

प्रकार यहाँ कहेजानेवाले उदाहरण में वैसे ही अन्यत्र भी। भामह के अभिप्राय से चाटुओं में प्रेयोऽलंकार के वाक्यार्थ होने पर भी रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं। इस प्रकार यह एक वाक्य है। निःसन्देह भामह ने गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयक

## तारावती

रूप में अवस्थित होते हैं वहाँ रसध्वनि होती है। रसध्वनि में अलङ्कार इत्यादि का स्वतन्त्र सौन्दर्य आस्वादन में निमित्त नहीं होता अपितु आस्वादन में स्वतन्त्र रूप से निमित्त रसध्वनि के सौन्दर्य का वह अभिवर्धक मात्र होता है। ]॥ ४॥

'अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अङ्ग होते हैं मेरी सम्मति में वहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार बन जाते हैं।' इस दूसरी कारिका में अन्यत्र शब्द का अर्थ है—जहाँ पर चौथी कारिका में बतलाई गई स्थिति नहीं होती अर्थात् जहाँ पर वाच्य, वाचक इत्यादि काव्य के अनेक तत्त्व रसादिपरक ही नहीं होते अपितु इसके प्रतिकूल रस इत्यादि ही वाक्यार्थपरक होते हैं। ऐसी स्थिति तीन प्रकार की हो सकती है—( १ ) जहाँ पर प्रधानता किसी दूसरे रस-स्वरूप की ही हो, ( २ ) जहाँ एकमात्र कोई वस्तु प्रधान हो, और ( ३ ) जहाँ पर कोई ऐसी वस्तु प्रधान हो जिसे अलङ्कार के नाम से भी अभिहित किया जा सके। 'मेरी सम्मति है' कहने से प्रकट होता है कि अन्य पक्षों को अपने हृदय में रखकर और यह समझते हुये कि वे सब पक्ष दूषित हैं पहले अपने पक्ष की स्थापना की जा रही है, क्योंकि अभीष्ट तो अपना ही पक्ष है। 'तथापि' शब्द के प्रयोग से व्यक्त होता है कि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का दूसरों द्वारा दिखलाया हुआ विषय उपयुक्त नहीं होता क्योंकि जिस नीति का आगे चलकर उल्लेख किया जावेगा उसी से दूसरों के पक्षों का खण्डन किया जा सकता है। 'यस्मिन् .....विषया इति मामकीनः पक्षः' यह वाक्य स्पष्ट रूप में असङ्गत है। अतः इसकी योजना इस प्रकार की जानी चाहिये—'जिस काव्य में वे पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्ग के रूप में स्थित हों और अन्य अर्थ वाक्यार्थ के रूप में स्थित हो।' यहाँ पर 'च' शब्द का अर्थ है 'तु' शब्द। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'जिस काव्य में पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्ग हों और वाक्यार्थ कोई अन्य हो उस काव्य से सम्बन्धित जो रस इत्यादि होते हैं वे रस इत्यादि अलङ्कार के अथवा रसवत् इत्यादि अलङ्कार के विषय होते हैं। आशय यह है कि वही तत्त्व अलङ्कारशब्दवाच्य होता है जो अङ्ग हो, जो अङ्गी अर्थात् प्रधान हो उसे अलङ्कार नहीं कहते। इस विषय में

## लोचन

प्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तम्। तत्र प्रेयानलङ्कारोऽलङ्करणीय इहोक्तः। न त्वलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्। यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम्। चमत्कारकारितेति यावत्।

प्रीतिवर्णन को 'प्रेयोलङ्कार' यह कहा है। वहाँ पर 'प्रियतर है अलङ्कार जहाँ वह प्रेयोलङ्कार अर्थात् अलङ्करणीय' यहाँ कहा गया है। अलङ्कार का वाक्यार्थत्व यहाँ पर उचित नहीं है। अथवा वाक्यार्थत्व प्रधानत्व को कहते हैं अर्थात् चमत्कार-

## तारावती

उदाहरण देते हुये वृत्तिकार ने कहा है—"वह इस प्रकार—जैसे चाटूक्तियों में प्रेयोलङ्कार के वाक्यार्थ होने पर भी रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।" इस वाक्य में 'वह' का अर्थ है 'अङ्ग होना' अर्थात् इस वाक्य में बतलाया गया है कि रस इत्यादि अङ्ग किस प्रकार होते हैं। वृत्तिकार का आशय यह है कि जो बात यहाँ पर बतलाई जावेगी वही अन्यत्र भी समझ लेनी चाहिये। इस पूरे वाक्य की दो प्रकार से योजना की जाती है और दो प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं—एक है भामह के अनुसार और दूसरा है उद्भट के अनुसार। (प्रेयोऽलङ्कार के विषय में भामह और उद्भट में मतभेद है। भामह गुरु, देव, नृपति और पुत्र के प्रति प्रेम को प्रेयोलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते हैं जब कि उद्भट किसी प्रकार के भाव को प्रेयोलङ्कार कहते हैं। अतः भामह के अनुसार रसवत् अलङ्कार प्रेयोलङ्कार से भिन्न होता है और उद्भट के अनुसार रसवत् अलङ्कार भी प्रेयोलङ्कार के अन्दर ही आ जाता है। इस भेद को ध्यान में रखते हुये ही दोनों के अनुयायी अपने-अपने अनुसार आनन्दवर्धन के इस वाक्य का अर्थ लगाते हैं।) भामह के अनुसार इस पूरे वाक्य का सीधा अर्थ होगा—'चाटूक्तियों में यद्यपि वाक्यार्थ प्रेयोलङ्कारपरक होता है तथापि उनमें रस इत्यादि अङ्ग के रूप में आते हुये देखे जाते हैं।" (आशय यह है कि जहाँ पर राजविषयक रति इत्यादि का वर्णन किया जाता है और उसकी पुष्टि शृङ्गार वीर इत्यादि रसों के माध्यम से की जाती है वहाँ पर प्रधानता तो राजविषयक रति इत्यादि की ही होती है और पोषक रस उसके अङ्ग हो जाते हैं। इस अर्थ के करने में कारण यह है कि भामह गुरुविषयक, देव-विषयक, नृपतिविषयक और पुत्रविषयक प्रीतिवर्णन को प्रेयोलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते हैं। (चाटूक्तियों में राजविषयक रति ही प्रधानतया वर्ण्य-विषय होती है, शेष रस उसके पोषक मात्र होते हैं।) जो प्रधानतया वर्ण्य-विषय हो उसे अलङ्कार कहा ही नहीं जा सकता। अतएव भामह के मत में प्रेयोलङ्कार शब्द का विशेष अर्थ करना पड़ेगा। 'प्रेयोऽलङ्कार' शब्द में एक तो बहुव्रीहि समास हो सकता है दूसरा कर्मधारय। 'प्रेयोलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वे' वृत्तिकार के इस वाक्य में

## लोचन

उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते—चाटुषु चाटुविषये वाक्यार्थत्वे प्रेयोऽलङ्कारस्यापि विषय इति पूर्वेण सम्बन्धः। उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः,

कारकता। उद्भट के मत का अनुसरण करनेवाले तो ( वाक्य का ) भङ्ग करके व्याख्या करते हैं—चाटुओं मे अर्थात् चाटु के विषय के वाक्यार्थ होने पर अर्थात् चाटुओ के प्रतिपाद्य विषय होने पर प्रेयोऽलङ्कार का भी विषय होता है यह पूर्व से सम्बन्ध है। उद्भट के मत मे भावालङ्कार ही प्रेय ( होता है ) यह कहा गया है।

## तारावती

बहुव्रीहि समास मानना ही ठीक है। बहुव्रीहि के अनुसार प्रेयोलङ्कार शब्द का अर्थ होगा—'प्रेय है अलङ्कार जिसमें' अर्थात् अलङ्करणीय वस्तु जिसमे राजविषयक रति इत्यादि का वर्णन हो। इस प्रकार भामह के मत में इस वाक्य की सङ्गति लग जाती है। क्योंकि इन स्थानों पर राजविषयक रति ही अलङ्करणीय वस्तु होती है और राजा के शृङ्गार शौर्य इत्यादि के वर्णन मे आई हुई दाम्पत्य रति, उत्साह इत्यादि कविगत राजविषयक रति के पोषक तत्त्व ही होते है। अथवा यहाँ पर समानाधिकरण तत्पुरुष अथवा कर्मधारय भी माना जा सकता है—उस दशा में प्रेयोऽलङ्कार शब्द का अर्थ होगा प्रेय ही अलङ्कार। तब वहाँ पर वही प्रश्न उपस्थित होगा कि कोई अलङ्कार वाक्यार्थ कैसे हो सकता है। तब वाक्यार्थ का अर्थ करना होगा प्रधानता और प्रधानता का अर्थ होगा—चमत्कारपर्यवसायिता। अर्थात् प्रेयोलङ्कार जहाँ पर चमत्कार-पर्यवसायी हो वहाँ पर रस इत्यादि अङ्ग रूप मे आते हुये देखे जाते है। यह तो हुई भामह के अनुसार व्याख्या। उद्भट के अनुसार यह व्याख्या सङ्गत नहीं हो सकती। क्योंकि उद्भट रसवत् अलङ्कार को भी प्रेयोऽलङ्कार के अन्दर सन्निविष्ट करते हैं। ( जैसा कि उन्होंने कहा है—'रति इत्यादि भावों को जब अनुभाव इत्यादि के द्वारा सूचित करते हुये काव्यनिबद्ध किया जाता है तब सज्जन लोग उसे प्रेयस्वत् काव्य कहते है।' इसको व्याख्या करते हुये प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है—'यहाँ पर रति इत्यादि का अर्थ है दूसरे स्थायीभाव व्यभिचारी भाव और सात्विक भाव। तथा अनुभाव इत्यादि का अर्थ है—विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव।' आशय यह हुआ कि जहाँ पर विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के द्वारा कोई भी स्थायी भाव, सञ्चारी भाव या सात्विक भाव सूचित किया जावे वहाँ सर्वत्र उद्भट के मत में प्रेयोलङ्कार होता है। इस प्रकार उद्भट के मत में रसवत् भी प्रेय के अन्दर ही अन्तर्भुक्त हो गया। तब यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि प्रेयोलङ्कार मे रसवत् उसका अङ्ग होता है। क्योंकि

## लोचन

प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। न केवलं रसवदलङ्कारस्य विषयः यावत्प्रेयः प्रभृतेरपीत्यपि-शब्दार्थः। रसवच्छब्देन प्रेयःशब्देन च सर्व एव रसवदाद्यलङ्कारा उपलक्षिताः, तदेवाह—रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इति उक्तविषय इति शेषः।

प्रेम से भावों का उपलक्षण हो जाता है। अपि शब्द का अर्थ यह है कि केवल रसवत् अलङ्कार का ही विषय नहीं है अपितु प्रेय इत्यादि अलङ्कारों का भी विषय है। रसवत् शब्द से और प्रय शब्द से सभी रसवत् इत्यादि अलङ्कार उपलक्षित हो जाते हैं। वही कहते हैं—रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते है। 'उक्त विषय' मे यह और शेष रह गया अर्थात् उक्त वाक्य मे इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये।

## तारावती

अपना ही अङ्ग कभी कोई नहीं हो सकता।) अतएव उद्भट के मत मे उक्त वाक्य को दो खण्डों मे विभक्त कर व्याख्या करनी होगी—पहला खण्ड होगा 'चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि' इसकी योजना इस प्रकार होगी—'चाटुषु वाक्यार्थत्वेऽपि प्रेयोलङ्कारस्य' प्राकरणिक होने के कारण 'विषयः' शब्द का अध्याहार कर लिया जाता है। 'चाटुषु' शब्द मे विषयसप्तमी है। चाटुओं के विषय मे भी वाक्यार्थ होने पर भी अर्थात् चाटुओं की वाक्यार्थता मे भी प्रेयोलङ्कार का विषय होता है। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि उद्भट का मत ठीक नही है क्योंकि 'चाटुषु' मे षष्ठी के अर्थ में सप्तमी नहीं हो सकती। यहाँ पर षष्ठी के अर्थ मे सप्तमी नहीं है अपितु विषयसप्तमी है। 'चाटूना वाक्यार्थत्वे' इसमे षष्ठी का प्रयोग तो लोचनकार ने फलितार्थ के रूप मे किया है। निस्सन्देह उद्भट के मत में सभी प्रकार के भावालङ्कारों को प्रेय अलङ्कार का नाम दिया जाता है। क्योंकि प्रेय शब्द का आशय है प्रेम, और प्रेम का प्रयोग सभी भावों के उपलक्षण के रूप मे किया गया है। इस वाक्य मे 'अपि' शब्द का अर्थ होगा—'यह विषय केवल रसवत् अलंकार का ही नहीं होता अपितु प्रेयः प्रभृति जितने भी इस कोटि के अलंकार होते हैं उन सबका समावेश इसमे हो जाता है। 'रसवत्' शब्द और प्रेयः शब्द ये दोनों शब्द रसवत् इत्यादि समस्त अलङ्कारों के उपलक्षण है। यही बात उद्भट के मत मे दूसरे वाक्यखण्ड मे कही गई है कि 'रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।' यहाँ पर 'उक्त विषय मे' इस शब्द को और जोड़कर इसकी व्याख्या करनी चाहिये अर्थात् उक्त विषय मे—जहाँ वाक्यार्थ प्रधान हो रस इत्यादि अङ्ग के रूप मे आते हुये देखे जाते है। यह है उद्भट के मतानुयायियों के अनुसार व्याख्या।

[ ऊपर आनन्दवर्धन के मत के अनुसार 'रसवत्' अलङ्कार का विषय बतलाया

## तारावती

गया है। 'मेरी सम्मति है' कहने का आशय यह है कि दूसरी भी सम्मतियाँ विद्यमान हैं जिन्हें मैं नहीं मानता। वे सम्मतियाँ संक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(१) रस इत्यादि सर्वदा अलङ्कार्य ही होते हैं अतः वे अलङ्कार का रूप कभी धारण ही नहीं कर सकते। यह कहना ही असत्य है कि रस अलङ्कार होते हैं।

समीक्षा—रस अलङ्कार्य वहीं पर होते हैं जहाँ उनमें प्रधानता हो। ऐसा भी देखा जाता है कि जहाँ पर रस इत्यादि की निष्पत्ति तो होती है किन्तु वहाँ पर प्रधानता किसी अन्य वाक्यार्थ की होती है। अतः वहाँ पर रस अलङ्कार ही होता है अलङ्कार्य नहीं।

(२) अलङ्कार वही होता है जो शब्दगत अथवा अर्थगत हो। रस न शब्द गत होता है न अर्थगत। अतः न इसे हम शब्दालङ्कार मे सन्निविष्ट कर सकते हैं और न अर्थालङ्कार मे। अतः रस के अन्दर अलङ्कारता आ ही नहीं सकती।

समीक्षा—यह नियम ठीक नहीं है कि जो शब्दगत या अर्थगत हो उसे ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कारता के प्रयोजक शब्द और अर्थ नहीं होते अपितु चमत्कार ही अलङ्कारता का प्रयोजक होता है। वह चमत्कार रसगत हो ही सकता है अतः रस की अलङ्काररूपता में कोई दोष नहीं आता। दूसरी बात यह है यदि अलङ्कार की शब्दार्थगतता माननी अभीष्ट ही है तो भी व्यङ्ग्य भी तो शब्द और अर्थ के आश्रित ही होते हैं। अतः रस शब्दगत तथा अर्थगत कहे भी जा सकते हैं। इस प्रकार उनकी अलङ्कारता अक्षुण्ण बनी रह सकती है।

(३) रस इत्यादि वही पर अलङ्कार होते हैं जहाँ पर वे अङ्गी (प्रधान) हों। यदि वे अङ्ग (गौण) हों तो उदात्त अलङ्कार का दूसरा भेद होता है।

समीक्षा—जहाँ पर रस अङ्गी (प्रधान) होंगे वहाँ पर उन्हें अलङ्कार की संज्ञा प्राप्त ही कैसे हो सकेगी? वहाँ पर वे अलङ्कार्य हो जावेंगे। रसादि के अप्रधान होने पर उदात्त अलङ्कार भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि उदात्त अलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ महापुरुषों के चरित्र का उपलक्षण हो। रस इत्यादि के उपलक्षण में उदात्त अलंकार नहीं होता।

(४) रस इत्यादि का 'अलङ्कार' यह नामकरण रूपक इत्यादि के साम्य पर ही किया जाता है, अतः यह गौण है।

समीक्षा—रूपक इत्यादि मे रमणीयता का एक प्रकार होता है और रस इत्यादि मे उससे सर्वथा भिन्न कोई दूसरा ही प्रकार होता है। जब विच्छित्ति में अन्तर है तब आप उस प्रयोग को गौण नहीं कह सकते।]

ध्वन्यालोकः

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिरादर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेप्पिति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

इत्यत्र करुणरसस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः।

(अनु०) वह रस इत्यादि अलङ्कार दो प्रकार का होता है शुद्ध अथवा सङ्कीर्ण। उनमें प्रथम (शुद्ध) का उदाहरण :—

(कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा करते हुये कह रहा है :—)

"आपके शत्रुओं की स्त्रियों का समूह स्वप्नों मे अपने प्रियतमों को देखता है और उपालम्भ देता है कि—'तुम बहुत दिनों बाद तो प्राप्त हुये हो फिर भी मुझसे हँसी कर रहे हो जोकि मुझे दर्शन नहीं देते। हे निष्करुण! यह तुम्हें प्रवास मे रुचि क्यों हो गई है? मेरे किस अपराध ने तुम्हे मुझसे दूर कर दिया है?' स्वप्न के प्रलापों में इस प्रकार कहते हुये तथा प्रियतमों के कण्ठों मे बाहुपाश डाले हुये आपके शत्रुओं की स्त्रियों का समूह जब जाग पड़ता है और देखता है कि उसका बाहुवलय तो रिक्त है तब जोर से रो पड़ता है।"

यहाँ पर शुद्ध करुण रस स्पष्ट ही अङ्ग हो गया है। अतः यहाँ पर रसवत् अलङ्कार है। इसी प्रकार ऐसे ही विषय मे दूसरे भी रसों का स्पष्ट ही अङ्गभाव हो सकता है।

लोचन

शुद्ध इति। रसान्तरेणाऽङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः, आमिश्रस्तु सङ्कीर्णः। स्वप्नस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति हसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः। न मे प्रयास्यसि पुनरिति। इदानीं त्वां विदितशठभावं बाहुपाशवन्धान्नात्र मोक्ष्यामि। अत एव रिक्तबाहुवलय इति। स्वीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याह—केयं निष्करुणेति। केना-

शुद्ध इति। अङ्गभूत दूसरे रस से अथवा दूसरे अलङ्कार से न मिला हुआ। भलीभाँति मिला हुआ तो सङ्कीर्ण होता है। स्वप्न के अनुभूत के समान होने से हँसता हुआ ही प्रियतम स्वप्न में देखा गया। न मे प्रयास्यसि पुनरिति। इस समय विदितशठभाववाले तुमको बाहुपाश से नहीं छोड़ूंगी। इसीलिये कहा है—'रिक्त बाहुवलय' यह। स्वीकृत का उपालम्भ उचित ही है अतः कहते हैं—'केयं

## लोचन

सीति। गोत्रस्खलनादावपि न मया कदाचित् खेदितोऽसि। स्वप्नान्तेषु स्वप्नायितेषु सुप्तप्रलपितेषु पुनःपुनरुद्भूततया बहुष्विति वदन् युष्माकं रिपुस्त्रीजनः प्रियतमे विशेषेणासक्तः कण्ठग्रहो येन तादृश एव सन् बुद्ध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः सन् तारं मुक्तकण्ठं रोदितीति। अत्र शोकस्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः। नहि त्वया निष्करुणेति'। 'केनासि' इति। गोत्रस्खलन इत्यादि मे भी मेरे द्वारा कभी खेदित नहीं किये गये। स्वप्नान्त में अर्थात् स्वप्नायित मे अर्थात् स्वप्न के प्रलापों में बार-बार उद्भूत होने के कारण बहुत बार यह कहते हुये आपसे सम्बद्ध रिपुस्त्री-समूह प्रियतम मे विशेष रूप से आसक्त कर दिया गया है कण्ठग्रह जिसके द्वारा इस प्रकार का ही होते हुये जागकर शून्यवलय के आकार मे बना लिया है बाहुपाश जिसने इस प्रकार का होते हुये तार अर्थात् मुक्तकण्ठ से रोता है। यहाँ पर स्वप्न-दर्शन से उद्दीप्त शोक-स्थायिवाले चर्वणागोचर होनेवाले करुण रस से सुन्दर हुआ राजा का प्रभाव शोभित होता है इस प्रकार शुद्ध करुण ही अलङ्कार है। 'तुम्हारे द्वारा

## तारावती

वह रस इत्यादि अलङ्कार दो प्रकार का होता है—१. शुद्ध और २. सङ्कीर्ण। शुद्ध का अर्थ है जिसमे केवल वही रस काव्य के किसी दूसरे तत्त्व को अलङ्कृत कर रहा हो तथा जिसमें न तो कोई दूसरा रस ही अङ्ग (अलङ्कार होने के कारण गौण) हो और न कोई दूसरा अलङ्कार ही मिला हो। जिसमें अङ्गभूत कोई दूसरा रस अथवा अलङ्कार मिला होता है उसे सङ्कीर्ण कहते है। (यहाँ पर शुद्ध का उदाहरण दिया गया है। कोई कवि आश्रयदाता राजा की प्रशंसा करते हुये ये शब्द कह रहा है। वह राजा के शत्रुओं की स्त्रियो का कारुण्य दिखलाकर राजा की प्रभावशालिता का वर्णन करना चाहता है। वह कह रहा है कि—) हे राजन्—आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ स्वप्नों में अपने प्रियतमों को देखती है और उपालम्भ देती है कि "एक तो तुम बहुत दिनों बाद मुझे पुनः प्राप्त हुये हो फिर भी मेरे साथ हँसी कर रहे हो जो कि मुझे दर्शन नहीं देते।"

स्वप्न मे उसी के समान वस्तु दिखलाई पड़ती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका हो। शत्रुस्त्रियाँ अपने प्रियतमों को सर्वदा हँसते हुये ही देखती थीं। अतएव अब जबकि उनके प्रियतम मारे गये हैं और वे उन्हे स्वप्नों मे देखती है तब भी हँसते हुये ही देखती हैं। 'तुम मुझे दर्शन नहीं देते हो' कहने का आशय यह है कि मैं तुम्हारी शठता समझ गई हूँ (यह प्रेम-पूर्ण उपालम्भ है।) अब मैं तुम्हे तुम्हारी शठता का ऐसा कड़ा दण्ड दूँगी कि तुम्हे बाहुपाश के बन्धन मे बाँध

## लोचन

रिपवो हता इति यादृगनलङ्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपि तु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाच्यार्थः। सौन्दर्यं च करुणरसकृतमेवेति चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्त्वन्तरं वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारुतयावभासात्। तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं भाति इति रसस्यापि वस्तुत एवालङ्कारत्वे को विरोधः।

शत्रु मार डाले गये' यह इस प्रकार का जैसा अनलंकृत वाक्य है उस प्रकार का यह नहीं है अपितु यहाँ पर वाक्यार्थ अधिक सुन्दर हो गया है। और सौन्दर्य करुण रस का ही किया हुआ है। चन्द्र इत्यादि वस्तु के द्वारा जिस प्रकार दूसरी वस्तु अलंकृत की जाती है क्योंकि उसके द्वारा उपमित होने के कारण चारुता का अवभास होने लगता है। उसी प्रकार रस के द्वारा भी वस्तु या दूसरा रस उपस्कृत होकर सुन्दर रूप में शोभित होने लगता है इस प्रकार रस का भी वस्तु के समान अलङ्कार होने मे क्या विरोध है?

## तारावती

कर रक्खूँगी और कभी नहीं छोड़ूँगी। इसीलिए तो कहा है कि 'उन स्त्रियों के बाहुवलय रिक्त होते हैं।' आशय यह कि स्त्रियाँ जब अपने प्रियतमों को स्वप्न में देखती हैं तब स्वप्न के प्रलाप के साथ अपनी दोनों बाहुओं को (दोनों हाथों की उँगलियों को एक दूसरे मे डालकर) एक ऐसे घेरे के रूप में बना लेती है मानों वे अपनी भुजाओं को प्रियतमों के कण्ठ में डाले हों। किन्तु वस्तुतः उनके बाहुओं के घेरे रिक्त ही होते हैं क्योंकि उनके प्रियतम तो कब के मारे जा चुके हैं। किन्तु उन स्त्रियों को स्वप्नों मे अपने प्रियतम दिखलाई पड़ते हैं और जब प्रियतम मिल ही गये तो उपालम्भ देना ठीक ही है। इसीलिये वे कहती है कि हे करुणारहित? तुम्हें यह प्रवास की रुचि क्यों हो गई है? (जोकि मैं तुम्हारे वियोग मे मरी जाती हूँ और तुम्हें दया नहीं आती।) जिनको अपना बना लिया जाता है उनको उपालम्भ देना ठीक ही है। 'तुम्हें मुझसे किसने दूर कर दिया।' इसमें 'किसने' का अर्थ है 'मेरे किस अपराध ने' अर्थात् मैंने कभी गोत्रस्खलन इत्यादि मे भी तुम्हें खिन्न नहीं किया। (यहाँ पर अभिनव गुप्त की यह व्याख्या ठीक नही मालूम पड़ती। क्योंकि गोत्रस्खलन तो पुरुषों का ही उचित होता है। कारण यह है कि पुरुषों का ही बहुपत्नी-प्रेम उचित माना जाता है। स्त्रियों के गोत्रस्खलन का आशय यही होगा कि उनका अनेक पुरुषों से प्रेम है जो कि सामाजिक तथा शास्त्रीय दोनों विधियों के विरुद्ध है।) स्वप्नान्त का अर्थ है स्वप्न के प्रलापों मे (यहाँ पर स्वप्नान्त का 'स्वप्न के अन्तिम भागों मे यह अर्थ भी सम्भव है क्योंकि इससे ध्वनित होता है कि उन स्त्रियों को निद्रा नहीं आती और

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति। एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषयः। अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः।

(अनु०) यहाँ पर ( प्रधानीभूत ) वाक्यार्थ है त्रिपुररिपु का प्रभावातिशय। श्लेप ( तथा उपमा ) के साथ ईर्ष्या-विप्रलम्भ उसका अङ्ग हो गया। इसी प्रकार के स्थान रसवत् इत्यादि अलङ्कार के न्याय्य विषय होते हैं। इसीलिये ईर्ष्या-विप्रलम्भ और करुण को अङ्ग के रूप मे समाविष्ट करने के कारण ( विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश ) दोप नहीं होता।

लोचन

क्षिप्त इति। कामिजनपक्षेऽनादृतः इतरत्र धुतः। अवधूत इति न प्रतीप्सितः प्रत्यालिङ्गनेन, इतरत्र सर्वाङ्गधूननेन विशरारूकृतः। साश्रुत्वमेकत्रेर्ष्यया अपरत्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेर्ष्याविप्रलम्भो य आकृष्टस्तस्य श्लेषोपमासहितस्याङ्गत्वं, न केवलस्य। यद्यप्यत्र करुणो रसो वास्तवोऽप्यस्ति तथापि स तच्चारुत्वप्रतीत्यै न व्याप्रियत इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेपसहितस्येत्येतावदेवावोचत् न तु करुणसहितस्येत्यपि।

क्षिप्त इति। कामी के पक्ष मे अनादृत कर दिया अन्यत्र ( अरि पक्ष मे ) कँपा कर अलग कर दिया। अवधूत का अर्थ है प्रत्यालिङ्गन के द्वारा उसके प्रेम को स्वीकृत नहीं किया। अन्यत्र सारे अङ्गो को हिलाकर विशीर्ण कर दिया। साश्रु होना एक ओर ईर्ष्या से और दूसरी ओर प्रत्याशा रहित होने से। 'कामी के समान' इस श्लेष के द्वारा अनुगृहीत उपमान से जो ईर्ष्या-विप्रलम्भ आकृष्ट किया गया था—श्लेष और उपमा के सहित उसकी अङ्गरूपता ( गौणरूपता ) हो जाती है केवल की नहीं। यद्यपि यहाँ पर करुण रस वास्तविक भी है तथापि वह उसकी चारुता की प्रतीति के लिये व्याप्त नहीं होता है इस अभिप्राय से 'श्लेष के सहित' इतना ही कहा करुणरस के सहित यह भी नहीं कहा।

तारावती

'विभावादिकों में कौन-सा तत्त्व रस के द्वारा अलंकृत किया जाता है?' यह उनका कथन इसी प्रकार खण्डित हो जाता है कि हम विभाव इत्यादि को अलङ्कार्य मानते ही नहीं। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि प्रस्तुत अर्थ ही अलङ्कार्य होता है। यह बात केवल एक पद्य मे ही नहीं अपितु लक्ष्य मे बहुत अधिक देखी जाती है, यही बात बतलाने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'इसी प्रकार ऐसे विषय में दूसरे रसों का अङ्ग हो जाना स्पष्ट ही है। ऐसे विपय का आशय यह है कि जहाँ पर राजा इत्यादि का प्रभावख्यापन किया जाता है इस प्रकार के विषय मे।

## लोचन

एतमर्थमपूर्वतयोत्प्रेक्षितं दृढीकर्तुमाह—एवंविध एवेति। अतएवेति। यतोऽत्र विप्रलम्भस्यालङ्कारत्वं ततो हेतोरित्यर्थः। न दोष इति। यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रसः समाविशेत्। रतिस्थायिभावत्वेन तु सापेक्षभावो विप्रलम्भः। स च शोकस्थायिभावत्वेन निरपेक्षभावस्य करुणस्य विरुद्ध एव।

पूर्वरूप में उत्प्रेक्षित इस अर्थ को दृढ़ करने के लिये कह रहे हैं—एवंविध एव इति। अतएव इति। अर्थात् क्योंकि यहाँपर विप्रलम्भ की अलङ्कारता है वाक्यार्थता नहीं, इस हेतु से। यदि दो मे एक रस की प्रधानता होती तो दूसरे रस का समावेश हो ही नहीं सकता। रति के स्थायिभाव होने से यहाँ सापेक्षभाव में विप्रलम्भ है। और वह शोक के स्थायी होने से निरपेक्ष भाव में स्थित करुण के विरुद्ध ही है।

## तारावती

दूसरा उदाहरण रस इत्यादि के सङ्कीर्ण होकर अर्थात् दूसरे अलङ्कारों से साङ्कर्य को प्राप्त होकर अङ्गरूपता को धारण करने का है। यह पद्य अमरुशतक के मङ्गलाचरण से उद्धृत किया गया है। ( इस पद्य का अर्थ पाद टिप्पणी मे अनुवाद के अन्दर देखिये। ) यहाँपर क्षिप्त शब्द के दो अर्थ हैं—कामी के पक्ष में इसका अर्थ है अनादर कर दिया और दूसरे पक्ष मे ( शराग्नि के विषय मे ) इसका अर्थ है हिला-डुलाकर दूर हटा दिया। 'अवधूतः' शब्द का कामी के पक्ष मे अर्थ है प्रत्यालिङ्गन के द्वारा अभिनन्दन नहीं किया और शराग्नि के पक्ष में अर्थ है—सारे अङ्गों को हिला-डुलाकर इधर-उधर उसे विशीर्ण कर दिया। त्रिपुर-युवतियों की आखों से आँसू कामी के पक्ष में ईर्ष्याजन्य हैं और शराग्नि पक्ष में—अपने प्रियतमों के समागम की पुनः प्रत्याशा न होने के कारण उनका अश्रुप्रवाह हुआ है। यहाँपर शराग्नि उपमेय है, कामी उपमान है, इव वाचक शब्द है और क्षिप्त करना इत्यादि धर्म हैं। इन धर्मों के सम्पादन मे सहायक होता है श्लेष। इस प्रकार श्लेष के द्वारा अनुगृहीत उपमा के द्वारा प्राकरणिक शराग्निपरक अर्थ की ओर ईर्ष्या-विप्रलम्भ शृङ्गार जो कि स्फुट रूप में अभिव्यक्त होता है—खींचकर लाया जाता है। इस प्रकार यहाँपर केवल ईर्ष्या-विप्रलम्भ शृङ्गार ही शराग्निपरक वाच्यवस्तु को उपस्कृत नहीं करता अपितु उसके साथ श्लेष और उपमा का सहकार भी अपेक्षित होता है। इसीलिये यह सङ्कीर्ण रसवत् का उदाहरण है; शुद्ध रसवत् का नहीं। यद्यपि यहाँपर अभिव्यक्ति वास्तविक करुण रस की होती है। ( मारे गये त्रिपुरासुर आलम्बन हैं, शङ्कर की शराग्नि इत्यादि उद्दीपन है; अश्रु इत्यादि अनुभाव हैं और विषाद इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर त्रिपुर युवतियों का शोक करुणरस का रूप धारण कर लेता है तथापि यहाँपर ईर्ष्या-

## तारावती

विप्रलम्भ के साथ उपमा और श्लेष का साङ्कर्य बतलाया गया है; करुण और विप्रलम्भ का साङ्कर्य नहीं। कारण यह है कि यहाँपर करुण रस चारुता प्रतीति मे व्यापक रूप मे अवस्थित नहीं होता है। ( आशय यह है कि प्रस्तुत पद्य मे चारुता-प्रतीति ईर्ष्या-विप्रलम्भ-शृङ्गाराश्रित ही है, करुण रस की हल्की सी छाया बीच में झलक मारती हुई अवगत होती है। अतः मुख्यतया अभिव्यक्त होनेवाली कविगत शङ्करभक्ति का पोषक शृङ्गार रस ही कहा गया है करुण नहीं। ) रसवत् अलङ्कार के क्षेत्र के विषय मे सर्वप्रथम यह कल्पना वृत्तिकार ने ही की है। इसके पहले यह बात किसी और ने नहीं कही। अपनी इसी नवीन उद्भावना को अधिक दृढ़ करने के लिये वृत्तिकार ने उपसंहार के लिये कहा है—'रसवत् इत्यादि अलङ्कार का न्याय्य विषय इसी प्रकार का स्थान होता है। अतएव अङ्ग होने के कारण ईर्ष्या-विप्रलम्भ और करुण का एकत्र समावेश दोष नहीं माना जाता। ( आचार्यों ने विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश एक दोष माना है। विरुद्ध रसों का संक्षिप्त परिचय यह है—१. शृङ्गार रस का विरोध करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से होता है। २–करुण का विरोध हास्य और शृङ्गार से होता है। ३–वीर रस का विरोध भयानक और शान्त से होता है। ४–शान्त रस का विरोध वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से होता है। ५–हास्य का विरोध भयानक और करुण से होता है। ६–रौद्र का विरोध हास्य शृङ्गार और भयानक रसों से होता है। ७—भयानक का विरोध शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से होता है। ८–बीभत्स का विरोध शृङ्गार से होता है। इन रसों के विरोध तथा अविरोध की तीन प्रकार से व्यवस्था की जाती है। किन्ही दो रसों का विरोध आलम्बन के एक होने पर होता है; किन्हीं दो का आश्रय की एकता में और किन्हीं दो का विरोध अनन्तर ( एक के बाद दूसरे के आने पर ) होता है। आलम्बन की एकता मे होनेवाला रसविरोध—१–वीर शृङ्गार का विरोध तभी होता है, जब उनके आलम्बन एक हों। इसी प्रकार आलम्बन की एकता मे ही। २–संभोग शृङ्गार का हास्य बीभत्स और रौद्र से विरोध होता है। ३–विप्रलम्भ शृङ्गार का वीर करुण और रौद्र रसो से विरोध आलम्बन की एकता मे ही होता है। वीर और भयानक का विरोध आलम्बन की एकता मे तथा आश्रय की एकता मे होता है। शान्त और शृङ्गार का विरोध नैरन्तर्य मे तथा विभाव की एकता में होता है। वीर का अद्भुत और रौद्र से विरोध, शृङ्गार का अद्भुत से विरोध और भयानक का बीभत्स से विरोध तीनों प्रकार से होता है। यहाँपर करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार का एक साथ समावेश किया गया है। अतः परस्पर विरुद्ध दो रसों का एकत्र समावेश

ध्वन्यालोकः

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्? अलङ्कारो हि चारुत्व-हेतुः प्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः। तथा चायमत्र संक्षेपः—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

(अनु०) निस्सन्देह जहाँ पर रस मुख्यतया वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हो वहाँ पर वह अलङ्कार हो ही कैसे सकता है? जो चारुता में हेतु हो उसे ही अलङ्कार कहते हैं। यही परम्परागत रूप में प्रसिद्ध है। यह स्वयं ही अपनी ही चारुता में हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ पर यह सारांश है :—

रस और भाव इत्यादि तात्पर्य का आश्रय लेकर सन्निवेश करना ही सभी अलङ्कारों की अलङ्कारता को सिद्ध करनेवाला होता है।

लोचन

एवमलङ्कारशब्दप्रसङ्गेन समावेशं प्रसाध्य एवंविध एवेति यदुक्तं तत्रैवकार-स्याभिप्रायं व्याचष्टे—यत्र हीति। सर्वासामुपमादीनाम्।

इस प्रकार अलङ्कार शब्द के प्रसङ्ग से समावेश को सिद्ध कर के 'इस ही प्रकार' में जो 'ही' (एव) शब्द का प्रयोग किया उसका अभिप्राय बतलाते हैं—'यत्र हि' इत्यादि। सभी अर्थात् उपमादिकों का।

तारावती

एक दोष जैसा प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पर विप्रलम्भ अलङ्कार के रूप मे अवस्थित है वह यहाँ पर वाक्यार्थ नहीं है। अतः इन दोनों का एकत्र समावेश दोष नहीं माना जा सकता। यदि इन दोनों में किसी एक की प्रधानता होती तो दूसरा रस समाविष्ट हो ही नहीं सकता था (अथवा यदि समाविष्ट हो जाता तो दोष माना जाता) किन्तु जब इनमें एक की भी प्रधानता नहीं तब यहाँ पर दोष माना ही कैसे जा सकता है? विप्रलम्भ और करुण का विरोध इसीलिये है कि विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति है। अतः इसमे आलम्बन की अपेक्षा बनी रहती है अर्थात् आलम्बन से पुनः मिलने की आशा विप्रलम्भ शृङ्गार में नष्ट नहीं होती जब कि करुण रस का स्थायी भाव शोक है अतः उसमें आलम्बन की अपेक्षा सर्वथा समाप्त हो जाती है। अपेक्षा के होने और न होने में परस्पर विरोध है। अतएव शृङ्गार और करुण का परस्पर विरोध है ही। इस प्रकार अलङ्कार शब्द के प्रसङ्ग मे दो विरुद्ध रसों के एकत्र समावेश का समर्थन कर अब यह दिखलाया जा रहा है कि 'ऐसे ही स्थान रसवत् इत्यादि अलङ्कार का उचित विषय होते हैं' इस वाक्य में 'ही' का क्या अर्थ है—इसी विषय में वृत्तिकार ने कहा है कि 'जहाँ पर रस

## लोचन

अयं भावः—उपमादीनामलङ्कारत्वे यादृशी वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्। तदवश्यमन्येनालङ्कार्येण भवितव्यम्। तच्च यद्यपि वस्तुमात्रमपि भवति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरात्मभावः। तदुक्तं—रसभावादितात्पर्यमिति। तस्येति—प्रधानस्यात्मभूतस्य। एतदुक्तं भवति—उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभिरपि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते।

भाव यह है—'उपमा इत्यादि की अलङ्कारता में जैसी बात है वैसी रस इत्यादि की भी है। तो अवश्य अन्य अलङ्कार्य होना चाहिये। यद्यपि वस्तुमात्र भी होता है तथापि फिर भी विभाव इत्यादि रूपता में उसका पर्यवसान होने से रस इत्यादि का ही तात्पर्य है अतः सर्वत्र रसध्वनि की ही आत्मरूपता होती है। वही कहा है—'रसाभावादि तात्पर्य' इत्यादि। तस्य इति। अर्थात् प्रधानीभूत आत्मतत्त्व का। यह कहा गया है—उपमा के द्वारा यद्यपि वाच्य अर्थ अलंकृत किया जाता है तथापि उसका वही अलङ्करण है जो उसके व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जन सामर्थ्य का कथन है। इस प्रकार वास्तव में ध्वन्यात्मक ही अलङ्कार्य होता है। शरीर-समवायी कटक-कुण्डल इत्यादि के द्वारा भी विभिन्न चित्तवृत्तिविशेष के औचित्य सूचनात्मक होने से चेतन आत्मा ही अलंकृत की जाती है।

## तारावती

इत्यादि वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित होते हैं वहाँ वे अलङ्कार हों ही कैसे सकते हैं? अलङ्कार तो उसे ही कहते है जो चारुता के हेतु के रूप मे प्रसिद्ध हो। यह स्वयं आत्मा होते हुए अपनी ही चारुता मे हेतु नहीं हो सकता।' इस प्रसङ्ग मे वृत्तिकार ने एक कारिका का उल्लेख किया है जिसका आशय यह है—'रस भाव इत्यादि तात्पर्य का आश्रय लेकर सन्निवेश करना ही सभी अलङ्कारों की अलङ्कारता को सिद्ध करनेवाला होता है।' इस वाक्य में सभी अलङ्कारों का अर्थ है उपमा इत्यादि समस्त अलङ्कारों की अलङ्कारता को सिद्ध करनेवाला होता है केवल रसवत् इत्यादि अलङ्कारों की अलङ्कारता को ही नहीं।

यहाँपर आशय यह है कि उपमा इत्यादि को अलङ्कार मानने मे जो बात है वही रस इत्यादि को अलङ्कार मानने के पक्ष मे भी कही जा सकती है। अतएव जहाँ कहीं किसी तत्त्व को हम अलङ्कार के नाम से अभिहित करते है वहाँ कोई दूसरा अलङ्कार्य अवश्य होना चाहिये। यद्यपि कभी कभी केवल वस्तु ही अलङ्कार्य हो जाती है (जैसे 'किं ह्यस्येन.....' इत्यादि पद्य मे नरपतिप्रभाव अलङ्कार्य है) तथापि

## लोचन

तथाहि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। नहि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृत–इत्यभिमानात्।

वह इस प्रकार—'कुण्डल इत्यादि से उपेत भी शव-शरीर शोभित नहीं होता क्योंकि ( वहाँ पर ) अलङ्कार्य नहीं है। यतिका शरीर कटक इत्यादि से युक्त होकर हास्यावह होता है क्योंकि अलंकार्य अनुचित है। देह का कोई अनौचित्य नहीं होता अतः वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्य होती है। क्योंकि यह कहा जाता है कि मैं अलंकृत किया गया।

## तारावती

उसका पर्यवसान अन्ततः विभाव इत्यादि के रूप में ही होता है। इस प्रकार रस इत्यादि मे ही तात्पर्य की विश्रान्ति होती है। अतएव सर्वत्र रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा के रूप मे अवस्थित होती है। इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है—'अतएव जहाँ पर रस इत्यादि वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हों वह सब रस इत्यादि अलंकार का विषय नहीं होता, वह ध्वनि का ही एक भेद होता है, उपमा इत्यादि उसके अलङ्कार होते हैं।' इस वाक्य में 'उसके' शब्द का अर्थ है आत्मा के रूप मे अवस्थित प्रधानीभूत रस इत्यादि के। इस कथन का आशय यह है कि यद्यपि उपमा इत्यादि के द्वारा वाच्यार्थ ही अलंकृत किया जाता है तथापि रस के उसका वाच्यार्थ को अलंकृत करने का यही अर्थ है कि वह वाच्यार्थ मे व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यक्त करने की शक्ति का आधान कर देता है। इस प्रकार वस्तुतः अलङ्कार्य ध्वन्यात्मक रस इत्यादि ही होते हैं। ( इसको हम लौकिक अलङ्कारों के दृष्टान्त के द्वारा भलीभाँति समझ सकते हैं।) लोक मे कटक, कुण्डल इत्यादि आभूषण होते हैं। उनका समवाय-सम्बन्ध शरीर से ही होता है। ( अर्थात् शरीर को आभूषित करने के कारण ही आभूषणों को आभूषण कहा जाता है। समवाय सम्बन्ध का अर्थ है नित्य सम्बन्ध। यहाँ पर 'आभूषणों का शरीर से समवाय सम्बन्ध होता है' यह वाक्य कहा गया है। इसका आशय आभूषणों का शरीर पर नित्य धारण किया जाना नहीं है अपितु उसका अर्थ यह है कि आभूषणों में आभूषणत्व धर्म का प्रयोजक यही तत्त्व है कि आभूषण शरीर को आभूषित करते हैं। ) इन लौकिक आभूषणों के द्वारा चेतन आत्मा ही अलंकृत की जाती है क्योंकि आभूषण विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियों के औचित्य को सूचित करते हैं। ( नवयुवक के शरीर पर धारण किये हुये हार कटक कुण्डल इत्यादि उस युवक की रागात्मक चित्तवृत्ति को सूचित करते हैं। इसी प्रकार संन्यासी के शरीर पर धारण किये हुये काषाय वस्त्र,

ध्वन्यालोकः

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः।

(अनु०) इसलिए जहाँ रस इत्यादि वाक्यार्थीभूत होते हैं वह सब रस इत्यादि अलङ्कार का विषय नहीं होता, वह ध्वनि का प्रभेद है उसके उपमा इत्यादि अलङ्कार होते हैं। जहाँ पर तो प्रधान रूप में अर्थान्तर के वाक्यार्थ होने पर रस इत्यादि के द्वारा चारुत्वनिष्पत्ति की जाती है वह रस इत्यादि की अलङ्कारता का विषय है।

लोचन

रसादेरलङ्कारताया इति व्यधिकरणषष्ठ्यौ। रसादेर्यालङ्कारता तस्याः स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्। रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति।

रसादेरलङ्कारताया इति। दोनों षष्ठी व्यधिकरण हैं। रस इत्यादि की जो अलङ्कारता उसका विषय वही है। इसी के अनुसार ही पहले वाक्य में भी योजना कर ली जानी चाहिए। रस इत्यादि से की हुई अलङ्करणरूप क्रियात्मा का जो विषय—यह।

तारावती

दण्ड इत्यादि उसकी वैराग्यमयी चित्तवृत्ति के द्योतक होते हैं।) वह इस प्रकार समझिये—यदि कुण्डल इत्यादि किसी शव के शरीर पर सजाये जावें तो भी उनकी शोभा नहीं होती, क्योंकि उसमें अलङ्कार्य चेतना तो है ही नहीं। इसीप्रकार यदि किसी संन्यासी के शरीर पर कटक इत्यादि सजा दिये जावें तो वह एक उपहास की वस्तु ही हो जावेगी क्योंकि वहाँ पर अलङ्कार्य अनुचित है। शरीर तो सबके एक से ही होते हैं उनके लिये कोई चीज उचित या अनुचित नहीं होती। अर्थात् जो आभूषण एक शरीर को आभूषित करते हैं वे किसी भी दूसरे शरीर को आभूषित कर सकते हैं, उनके लिये कोई वस्तु उचित या अनुचित नहीं कही जा सकती है। वस्तुतः अलङ्कार्य तो आत्मा ही होता है। क्योंकि लोग कहा ही करते हैं कि 'मैं अलंकृत हो गया'। ('मैं' शब्द का प्रयोग तो आत्मा के लिये ही होता है। आशय यह है कि कटक इत्यादि आभूषण रागित्व के औचत्य को प्रकट करते है। यति की आत्मा का रागी होना अनुचित है। अतएव यति के शरीर पर विद्यमान कटक कुण्डल इत्यादि हास्यावह होते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि विभिन्न शरीरों में विद्यमान कटक कुण्डल इत्यादि के द्वारा रागित्व इत्यादि विशेष

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति।

( अनु० ) इस प्रकार ध्वनि, उपमा इत्यादि तथा रसवत् इत्यादि का विषय-विभाग हो जाता है ।

तारावती

प्रकार की चित्तवृत्ति की सूचना मिलती है । यदि वह चित्तवृत्ति उस आत्मा के अनुकूल हो तो धारण किया हुआ अलङ्कार वास्तविक अलङ्कार का काम देता है । अन्यथा हास्यावह हो जाता है । यह तो लौकिक प्रमाण हुआ । इसके अतिरिक्त लोक मे व्यवहृत शब्द भी प्रमाण है । लोग कहा ही करते हैं कि मैं अलंकृत हो गया । यहाँपर मैं का अर्थ है चेतना या आत्मा। इस प्रकार लोक मे शरीर को अलंकृत कर अलङ्कार वस्तुतः आत्मा के ही अलङ्कारक होते हैं । उसीप्रकार काव्य में अलङ्कार शब्द तथा वाच्यार्थरूप काव्य-शरीर को अलंकृत करते हुये रसरूप आत्मा के ही अलंकृत करनेवाले होते हैं । )

'रसादेरलङ्कारतायाः विषयः' इस वाक्य मे 'रसादेः' मे भी षष्ठी है और 'अलङ्कारतायाः' में भी षष्ठी है । यहाँ पर दोनों मे व्यधिकरण षष्ठी है । अतएव यहाँ पर अर्थ होगा—'रस इत्यादि की जो अलङ्कार-रूपता होती है उसका विषय होता है ऐसा स्थान, जहाँ प्रधानतया कोई दूसरा अर्थ वाक्यार्थ हो और रस इत्यादि के द्वारा उनकी चारुता का सम्पादन किया जावे ।' ( 'रसादेः, अलङ्कारतायाः विषयः' इस वाक्य मे रसादि शब्द तथा अलङ्कारता शब्द इन दोनों में षष्ठी का प्रयोग किया गया है । यह षष्ठी दो प्रकार की हो सकती है—समानाधिकरण तथा व्यधिकरण। समानाधिकरण षष्ठी का आशय है दोनों शब्दों के सम्बन्ध कारक का एक ही सम्बन्धी से सम्बन्धित होना । तब उसका अर्थ हो जावेगा—'ऐसा स्थान जहाँ पर प्रधान वाक्यार्थ दूसरा होता है और रस इत्यादि उसमे चारुता का सम्पादन करते है, रसादि का तथा अलङ्कारता का विषय होते हैं । अभिनवगुप्त का कहना है कि यहाँ पर षष्ठी का सामानाधिकरण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे अर्थतः सिद्ध हो जावेगा कि रस इत्यादि अलङ्काररूप ही होते हैं । यहाँ पर वस्तुतः व्यधिकरण षष्ठी मानी जानी चाहिये । इस प्रकार इसका अर्थ हो जाता है—रस इत्यादि की जो अलङ्कारता होती है अर्थात् रस इत्यादि जब अलङ्काररूपता को धारण करते हैं तब उनका वह विषय होता है । इससे यही व्यक्त होता है कि रस इत्यादि की ध्वनिरूपता भी होती है और अलङ्काररूपता भी । ) इसी के अनुसार पिछले वाक्य मे भी योजना कर लेनी चाहिये—'रसादेरलङ्कारस्य विषयः' का अर्थ कर लेना चाहिये कि रस इत्यादि के द्वारा जो अलङ्करण का कार्य सम्पादित किया जाता है उसका विषय इसी प्रकार के स्थल होते हैं ।

## लोचन

एवमिति—अस्मदुक्तेन विषयविभागेनेत्यर्थः। उपमादीनामिति। यत्र रसस्यालङ्कार्यता रसान्तरं वाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः। तेन संसृष्ट्या नोपमादीनां विषयापहार इति भावः। अनेन भावाद्यलङ्कारा प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते। तत्र भावालङ्कारस्य शुद्धस्योदाहरणं यथा—

तव शतपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंसनूपुरकलध्वनिना मुखरः।
महिषासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः कनकमहामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गतः॥

एवमिति। अर्थात् हमारे कहे हुये विषय-विभाग के द्वारा। 'उपमादीनामिति' जहाँ रस की अलङ्कार्यता होती है और दूसरे रस अङ्गभूत नहीं होते वहाँ शुद्ध उपमा इत्यादि होती है। आशय यह है कि इससे संसृष्टि के द्वारा उपमा इत्यादि का विषयापहार नहीं होता। रसवदलङ्कारस्य च इति। इससे प्रेयस् ऊर्जस्वी और समाहित ये भाव इत्यादि के अलङ्कार भी ग्रहण कर लिये जाते हैं। शुद्ध भावालङ्कार का उदाहरण जैसे—

'हे माता! शतपत्र के समान कोमल तथा ताम्रतलवाला, चलनेवाले कलहंस के समान नूपुर की सुन्दर ध्वनि से मुखर, तुम्हारा चरण महिषासुर के सर पर बलात् रक्खा हुआ, स्वर्ण के महा पर्वत के समान गुरुता को कैसे प्राप्त हो गया।'

## तारावती

वृत्तिकार ने उपसंहार करते हुये लिखा है—'इस प्रकार ध्वनि, उपमा इत्यादि तथा रसवत् अलङ्कार का विषय-विभाजन हो जाता है' इस वाक्य में 'इसप्रकार' शब्द का अर्थ है—'जैसा कि विषय-विभाग हमने बतलाया है।' वह इस प्रकार है—जहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार्य होते हैं वह ध्वनि का विषय होता है। जहाँ पर रस अलङ्कार्य होता है; कोई दूसरा रस उसका अङ्ग होता नहीं और उपमा इत्यादि से अलङ्कार्य रस का अलङ्करण किया जाता है वहाँ पर शुद्ध उपमा इत्यादि अलङ्कार होते हैं। जहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार्य होता है, कोई दूसरा रस उसे अलङ्कृत करता है और उपमा इत्यादि उक्त अलंकारक रस की सहगामिनी होती है वहाँ पर उपमा और अलङ्कारक रस की संसृष्टि होती है। जहाँ पर रस अलङ्कार्य होता है; उपमा इत्यादि के द्वारा उसका अलङ्करण होता नहीं अपितु दूसरे रस के द्वारा ही उसका अलङ्करण होता है वहाँ पर शुद्ध रसवत् अलङ्कार होता है। इस प्रकार विषय-विभाजन कर देने से इस शंका का भी उन्मूलन हो गया कि 'यदि रस को अलङ्कार माना जावेगा तो उपमा इत्यादि अलङ्कारों से सर्वत्र उसकी संसृष्टि ही होगी और शुद्ध उपमा इत्यादि का कोई विषय ही प्राप्त नहीं होगा।' यहाँ पर रसवत् अलङ्कार से भाव इत्यादि

## लोचन

इत्यत्र देवीस्तोत्रे वाक्यार्थीभूते वितर्कविस्मयादिभावस्य चारुत्वहेतुतेति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषयः। रसाभासस्यालङ्कारता यथा ममैव स्तोत्रे—

समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणै—
र्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे।
शिवं हृदयवल्लभं यदि यथा तथा रञ्जयेः,
तदेव ननु वाणि ते भवति सर्वलोकोत्तरम्॥

अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे शृङ्गाराभासश्चारुत्वहेतुः। नह्ययं पूर्णः शृङ्गारो निर्गुणत्वे निरलङ्कारत्वे च भवति। 'उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मक' इति चाभिधानात्।

यहाँ पर वाक्यार्थ रूप मे स्थित देवीस्तोत्र में वितर्क विस्मय इत्यादि भाव की चारुताहेतुता है इसलिये उसके अङ्ग होने से (यह) भावालङ्कार का विषय है। रसाभास की अलंकारता जैसे मेरे ही स्तोत्र मे—

'समस्त गुणों की सम्पत्तियाँ समस्त अलङ्कारों के समूह के साथ यदि तुम्हारा आभूषण हो जावें तथापि हे वाणी! यदि हृदयवल्लभ शिव को जैसे तैसे प्रसन्न कर लो तो वही तुम्हारे लिये सब लोक से बढ़कर हो जावे।'

यहाँ पर निस्सन्देह परमेश्वर-स्तुतिमात्रपरक वचन परम उपादेय होते हैं। इस वाक्यार्थ में श्लेषके सहित शृङ्गाराभास चारुता में हेतु है। नायिका के निर्गुण निरलङ्कार होने पर यह पूर्ण शृंगार नहीं होता। क्योंकि कहा गया है—उत्तम युवक-प्रकृतिवाला उज्ज्वलवेषात्मक शृंगार होता है।

## तारावती

अलङ्कारों का भी ग्रहण हो जाता है जिनको प्रेय ऊर्जस्वी और समाहित ये संज्ञायें प्राप्त होती हैं (१) जहाँ पर पूर्वोक्त विधि से भाव को अलङ्कारता प्राप्त हो गई हो उसे प्रेयोलङ्कार कहते हैं। शुद्ध प्रेयोलङ्कार का उदाहरणः—

हे माता जो तुम्हारा चरणतल शतपत्र कमल के पल्लव के समान कोमल है और चलायमान कलहंस नूपुर की सुन्दर ध्वनि से मुखर हो रहा है वही जब बलात् महिषासुर के सर पर रक्खा गया तब न मालूम किस प्रकार स्वर्ण के महान् पर्वत के समान भारी हो गया।'

यहाँ पर वाक्यार्थ है देवी का स्तोत्र और वितर्क विस्मय इत्यादि भाव उसमें चारुता का आधान करते हैं अतः देवी के प्रति कविगत रतिभाव के अङ्ग होने के कारण वितर्क विस्मय इत्यादि भावालङ्कार (प्रेयोलङ्कार) हो गये है।

तारावती

(२) ऊर्जस्वी अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ रसाभास या भावाभास दूसरे का अङ्ग हों। उदाहरण के लिये जैसा कि मेरे ( अभिनवगुप्त के ) बनाये हुये स्तोत्र मे 'हे वाणी ! समस्त गुणों ( १—माधुर्यादिकों २–सौन्दर्यादिकों ) की सम्पत्तियाँ सभी अलङ्कारों ( १—अनुप्रासादिकों २–कटकादिकों ) के समूह के साथ यदि तुम्हारा आभूषण हो जावें तो भी तुम शोभा नहीं दे सकतीं। हृदय के प्रिय शिव ( १—भगवान् शिवजी २—कल्याण कारक प्रियतम ) को यदि तुम किसी न किसी प्रकार प्रसन्न कर लो तो वही तुम्हारा सर्वलोकोत्तर आभूषण हो जावे।'

आशय यह है कि जिस प्रकार कोई नायिका कितनी ही गुणवती हो; चाहे वह सभी आभूषणों से सजी हुई हो किन्तु वास्तविक सफलता इसी में है कि वह कल्याणकारक अपने प्रियतम को जैसे भी हो सके प्रसन्न कर ले। इसी प्रकार किसी वाणी मे कविता के चाहे सभी गुण तथा अलङ्कार विद्यमान हों किन्तु जब तक वह हृदयवल्लभ भगवान् शिव को प्रसन्न नहीं करती तब तक उसके समस्त गुण और अलंकार व्यर्थ हैं।

यहाँ पर वास्तविक अर्थ यही है कि वाणी की शोभा अलङ्कारादिकों से नहीं होती किन्तु भगवान् शिव की उपासना से होती है। किन्तु यहाँ पर श्लेष की महिमा से शृङ्गाररसपरक एक दूसरा ही अर्थ निकल आता है जो कि वास्तविक अर्थ में चारुता का सम्पादन करता है। इस प्रकार यह शृङ्गार मुख्यार्थ का अङ्ग हो गया है किन्तु यहाँपर पूर्ण शृङ्गार नहीं है। क्योंकि नायिका के निर्गुण और निरलंकार होनेपर शृङ्गार की पूर्णता हो ही नहीं सकती। शृङ्गार का लक्षण करने मे ही यह बात कही गई है—'शृङ्गार की उत्तम युवा प्रकृति होती है और उसका वेष उज्ज्वल होता है।' यहाँ पर उज्ज्वलता के अभाव मे शृङ्गार रस न होकर शृङ्गाराभास है। मुख्य वाक्यार्थ है परमात्मा के स्तुति-परक मात्र वचनों का उपादान किया जाना चाहिये। उस वाक्य में श्लेष के साथ शृङ्गाराभास चारुता-सम्पादन में हेतु होता है।

[ रसाभास शब्द का अर्थ है ऐसा तत्त्व जो वस्तुतः रस न हो किन्तु रस के समान प्रतीत हो रहा हो। आचार्यों ने अनौचित्य प्रवृत्त रस को रसाभास की संज्ञा प्रदान की है। उदाहरण के लिए यदि सीता के प्रति रावण के प्रेम-भाव का वर्णन किया जायेगा तो सहृदय व्यक्तियों को उसमें शृङ्गार रस का आस्वाद उत्पन्न नहीं होगा अपितु रावण के प्रति वर्तमान उनका द्वेषभाव ही और अधिक उद्दीप्त हो जावेगा। इस प्रकार वह प्रेम रस की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकेगा अपितु रसाभास कहा जावेगा। किन्तु अभिनवगुप्त ने यहाँ पर रसाभास का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में किया है। ज्ञात होता है अभिनवगुप्त के समय तक रसाभास की संज्ञा और उसका क्षेत्र पूर्ण-

## लोचन

भावाभासाङ्गता यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि विन्नसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु ॥

अत्र रौद्रप्रकृतीनामनुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः । एवं तत्प्रशमस्याङ्गत्वमुदाहार्यम् ।

भावाभास की अङ्गता जैसे—'वह आपकी रक्षा करे जिसके मार डालने से बचे हुये राक्षस उनके तुल्य रंगवाले अञ्जन से रंगे हुये लावण्ययुक्त अपनी कान्ताओं के नेत्र-कमलों से भी विशेष भय खाते हैं ।

यहाँ रौद्र प्रकृतिवालों का अनुचित त्रास भगवान् के प्रभाव से उत्पन्न हुआ है, अतः भावाभास है । इस प्रकार उसके प्रशम की अङ्गता का भी उदाहरण देना चाहिये ।

## तारावती

तया प्रतिष्ठित नहीं हो सका था । इसीलिए अभिनव ने रसाभास की परिभाषा का ठीक रूप में अनुसरण न करके रसाभास शब्द का सीधा अर्थ ले लिया और सामान्यतया यह परिभाषा कर दी कि जहाँ पर शृङ्गार का पूर्ण परिपाक न हो सका हो उसे शृङ्गाराभास कहते हैं । किन्तु आचार्यों की परम्परा इसके प्रतिकूल है । आचार्य लोग सामान्यतया यही मानते हैं कि जहाँ पर शृङ्गार अनौचित्य-प्रवृत्त होता है वहाँ पर वह शृङ्गाराभास कहा जाता है । अतएव इन आचार्यों के मत में काव्यप्रकाश का उदाहरण ठीक होगा जो कि इस प्रकार है:—

"हे राजन् आप के सैनिक मृग के समान कातर नयनोंवाली, आप के शत्रुओं की पत्नियों का सहसा आलिंगन करते हैं, प्रणामकर उनसे रति की प्रार्थना करते हैं, उनको पकड़ लेते हैं और शास्त्रविधि का भी अतिक्रमण कर उनके सभी अङ्गों का चुम्बन करते हैं । उनके प्रियतम इस समस्त क्रिया को देखते हैं, किन्तु फिर भी आप की प्रशंसा करते हैं कि—'हे औचित्यसिन्धु ! पुण्यों के प्रभाव से आप मेरे दृष्टिगोचर हुये हैं, जिससे मेरी सभी आपत्तियाँ दूर हो गई हैं ।

यहाँ पर कवि-विषयक रति अङ्गी है, उसका अङ्ग है सैनिकों का शत्रुओं की पत्नियों के प्रति प्रेम जो कि परस्त्री-विषयक होने के कारण तथा प्रेम न करनेवाली स्त्रियों के विषय में होने से शृंगाराभास है ।

भावाभास के अङ्ग होने का उदाहरणः—

'वे भगवान् कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें जिनके द्वारा मारे जाने से बचे हुए दैत्य, भगवान् कृष्ण के रंग के अञ्जन से रञ्जित अपनी पत्नियों के लावण्य युक्त नयन-कमलों से भी भयभीत होते हैं ।'

ध्वन्यालोकः

यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्ह्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात् । यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुयोजनया यथाकथञ्चिद्भवितव्यम् ।

(अनु०) यदि यह कहो कि चेतनों का वाक्यार्थ होना रस इत्यादि अलङ्कार का विषय होता है, तो इससे आपके कहने का आशय यह होगा कि या तो उपमा इत्यादि का विषय बहुत कम होता है या बिल्कुल नहीं होता। क्योंकि अचेतन वस्तु-वृत्त के वाक्यार्थ होने पर चेतन वस्तुवृत्त योजना किसी न किसी रूप में होनी ही चाहिये ।

लोचन

'मे मति' रित्यनेन यत्परमतं सूचितं तद्दूषणमुपन्यस्यति—यदीत्यादिना । परस्य चायमाशयः—अचेतनानां चित्तवृत्तिरूपरसाद्यसंभवात्तद्वर्णने रसवदलङ्कारस्यानाशङ्क्यत्वात्तद्विभक्त एवोपमादीनां विषय इति ।

'मेरा मत है' इस कथन के द्वारा जिस परमत की सूचना दी थी वह दूषित है यह कहते हैं—यदि इत्यादि के द्वारा । दूसरे का आशय यह है—अचेतनों के चित्तवृत्तिरूप रस इत्यादि के असम्भव होने के कारण उसके वर्णन में रसवत् अलंकार की आशंका ही नहीं की जा सकती इसलिये उस रसवत् अलङ्कार से विभक्त ही उपमा इत्यादि का विषय है।

तारावती

दैत्य भगवान् कृष्ण से भयभीत हो गये हैं, अतः वे उनके वर्ण से भी भयभीत रहते हैं । उनकी पत्नियों के सुन्दर नेत्रों में लगा हुआ अञ्जन अब उन्हें आनन्द नहीं दे रहा है प्रत्युत उनमें त्रास ही उत्पन्न कर रहा है । यह त्रास नहीं है किन्तु त्रासाभास है । क्योंकि दैत्यों की प्रकृति रौद्ररस-प्रधान होती है । अतएव उनमें त्रास का उत्पन्न हो सकना सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है । यहाँ पर कवि-गत भगवद्विषयक रति प्रधान ( अङ्गी ) है और त्रासाभास उसका अङ्ग होकर आया है। अतएव यह ऊर्जस्वी अलङ्कार का उदाहरण है।

( ३ ) समाहित अलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ भावप्रशम अपरांग होकर आया हो । इसका उदाहरण स्वयं समझना चाहिये ।

[ काव्यप्रकाश-कार ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है:—

'हे राजन् निरन्तर तलवारों के कंपाने से, भृकुटी-भंग के साथ तर्जन से और हुङ्कार सिंहनाद इत्यादि गर्जन से शत्रुओं का जो मद दिखलाई पड़ता था, वह आप का दर्शन होते ही न मालूम कहाँ चला गया ।'

ध्वन्यालोकः

अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते। तत् महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्।

(अनु०) यदि यह कहो कि चेतनवस्तुवृत्त की योजना के होने पर भी जहाँ वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है वह रसवत् अलङ्कार का विषय नहीं होता, तो रस के निधानभूत बहुत बड़े काव्यप्रबन्ध की नीरसता का प्रतिपादन हो जावेगा।

लोचन

एतद्दूषयति—तर्हीति। तस्माद्वचनाद्धेतोरित्यर्थः। नन्वचेतनवर्णनं विषय इत्युक्तमित्याशङ्क्य हेतुमाह—यस्मादिति। यथाकथञ्चिदिति विभावादिरूपतया। तस्यामिति चेतनवृत्तान्तयोजनायाम्। नीरसत्वमिति। यत्र हि रसस्तत्रावश्यं रसवदलङ्कार इति परमतम्, ततो न रसवदलङ्कारश्चेन्नूनं तत्र रसो नास्तीति परमताभिप्रायान्नीरसत्वमुक्तम्। न त्वस्माकं रसवदलङ्काराभावे नीरसत्वम्, अपितु ध्वन्यात्मभूतरसाभावे, तादृक्च रसोऽत्रास्त्येव।

इसको दूषित करते हैं—तर्हि इति। अर्थात् उस वचन के हेतु से। (प्रश्न) यह कहा गया है कि अचेतन वर्णन विषय है यह आशङ्का करके (उत्तर रूप मे) हेतु बतला रहे हैं—यस्मात् इति। यथा कथंचित् विभाव इत्यादि के रूप में। तस्याम् इति। चेतन वृत्तान्त योजना मे। नीरसत्वमिति। दूसरों का मत है कि जहाँ रस होता है वहाँ अवश्य रसवत् अलङ्कार का विषय होता है। अतः यदि रसवत् अलंकार नहीं है तो वहाँ रस है ही नहीं। इस दूसरो के मत के अभिप्राय से नीरसत्व बतलाया। हमारे मत मे तो रसवत् अलंकार के अभाव में नीरसत्व नहीं होता अपितु ध्वन्यात्मभूत रस के अभाव में, और उस प्रकार का रस तो यहाँ पर है ही।

तारावती

यहाँ मद-प्रशम कवि के राजविषयक-रतिभाव का अंग है। इसी प्रकार काव्यप्रकाशकार ने भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शवलता के अंग होने के भी उदाहरण दिये है।]

यहाँ तक हुआ मुख्य पक्ष (ध्वनिकार का रसालंकार-विषयक सिद्धान्त) कारिका-मे कहा गया था कि 'यह मेरी सम्मति है।' इससे व्यक्त होता है कि दूसरों की सम्मतियाँ भिन्न प्रकार की हैं। उन विरोधी सम्मतियों का खण्डन करने के लिए उनके मत का उल्लेख किया जा रहा है—

कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि रसवत् अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ मुख्यार्थ

चेतनपरक हो । उनका आशय यह है कि रसाश्रयत्व के लिए चित्तवृत्ति का होना नितान्त अपेक्षित है । अचेतनों में चित्तवृत्ति होती ही नही । अतः जहाँ वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है वहाँ रस हो ही नहीं सकता। अतएव वहाँ पर उपमा इत्यादि अलङ्कार हुआ करते है। जहाँ वाक्यार्थ चेतनपरक होता है वहाँ पर रसालङ्कार हुआ करता है । यही उपमा इत्यादि और रसालङ्कार इत्यादि का विषय-विभाजन है । यह है हमारे विरोधियों की सम्मति । इस पर मेरा निवेदन यह है कि यदि चेतनों का वाक्यार्थीभाव सर्वत्र रसालङ्कार का ही विषय माना जावेगा तो उपमा इत्यादि का क्षेत्र या तो बहुत ही सङ्कुचित हो जावेगा या कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि उसका कोई विषय ही नहीं रहेगा । ( प्रश्न ) यह तो अभी बतला दिया गया है कि उपमा इत्यादि का विषय अचेतन-वर्णन होता है । फिर आप उपमा के विषयापहार का प्रश्न क्यों उठाते हैं ? ( उत्तर ) उपमा इत्यादि के विषयापहार का कारण यह है कि जहाँ कहीं भी वाक्यार्थ अचेतनपरक होगा वहाँ पर भी चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना किसी न किसी प्रकार विभाव इत्यादि के रूप में हो ही जावेगी । आप कह सकते है किसी न किसी प्रकार चेतन वस्तु वृत्तान्त की योजना होने पर भी रसालङ्कार वहाँ पर नहीं होता जहाँ पर वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है । तब मैं कहूँगा कि यदि आप अचेतनपरक वाक्यार्थ को रसालङ्कार का विषय नहीं मानेंगे तो ऐसे-ऐसे महान् काव्य प्रबन्ध नीरस माने जाने लगेंगे जो रसमय साहित्य मे रस का निधान ( बहुमूल्य कोष ) माने जाते हैं । यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के प्रबन्ध की नीरसता दूसरों के मत मे प्रसक्त होती है । क्योंकि दूसरे लोग वहाँ सर्वत्र रसवत् अलङ्कार मानते है जहाँ कहीं रस विद्यमान हो । अतएव जहाँ रसवत् अलङ्कार नहीं होगा निस्सन्देह वहाँ रस भी नहीं हो सकता। अचेतनवस्तुवृत्तान्त योजना मे दूसरे लोग रसवत् अलङ्कार मानते हैं, हम नहीं मानते । अतएव हमारे मत में रसवत् अलङ्कार के न होने पर भी नीरसता नहीं हो सकती, अपितु नीरसता तभी हो सकती है जबकि ध्वनि का आत्मभूत रस वहाँ पर विद्यमान न हो । इस प्रकार का रस यहाँ पर है ही अतः हमारे मत मे उसकी नीरसता प्रसक्त नहीं होती ।

अब यहाँ पर कतिपय उदाहरणो से यह बात पुष्ट की जा रही है कि 'चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना के किसी न किसी रूप में होने पर भी जहाँ वाक्यार्थ अचेतन-परक होता है वहाँ पर रसवत् अलङ्कार नहीं होता ।' यदि यह स्वीकार किया जावेगा तो रसनिधानभूत बहुत से काव्यप्रबन्ध नीरस माने जाने लगेंगे । प्रथम उदाहरण लीजिये—पुरूरवा उर्वशी के वियोग में उन्मत्त हो गये हैं । वे अपनी

ध्वन्यालोकः

यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो—
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

(अनु०) जैसे:—

'निस्सन्देह असहिष्णु वह (मेरी प्रेयसी) इस नदी के रूप में परिणत हो गई है। तरङ्गें ही इसका भ्रूभङ्ग हैं, क्षुब्ध पक्षियों की पंक्तियाँ ही इसकी रसना है, संरम्भ के कारण शिथिल हुये वस्त्र के समान यह फेन को खींच रही है। बहुत से स्खलनों का अनुसरण करते हुये यह कुटिल गति में जा रही है।'

लोचन

तरङ्गेति। तरङ्गा एव भ्रूभङ्गा यस्याः। विकर्षन्ती विलम्बमानं बलादाक्षिपन्ती। वसनमंशुकम्। प्रियतमालम्बननिषेधायेतिभावः। बहुशो यत्स्खलितं येऽपराधास्तानभिसन्धाय हृदयेनैकीकृत्यासहमाना मानिनीत्यर्थः। अथ च मद्वियोगपश्चात्तापासहिष्णुस्तापशान्तये नदीभावं गतेति।

तरङ्ग इत्यादि। तरङ्ग ही हैं जिसके भ्रूभङ्ग, विकर्षन्ती का अर्थ है लटकते हुए (वस्त्र) को बलपूर्वक खींचती हुई। वसन का अर्थ है बारीक वस्त्र। अर्थात् प्रियतम द्वारा पकडे जाने के निषेध के लिये। बहुत से जो स्खलित अर्थात् अपराध उनका अभिसन्धान करके अर्थात् हृदय से एक करके सहन न करती हुई अर्थात् मानिनी, और भी मेरे वियोग के पश्चात्ताप को न सहन करनेवाली ताप की शान्ति के लिये नदीभाव को प्राप्त हुई।

तारावती

उसी उन्माद की अवस्था मे नदी में अपनी प्रियतमा की उत्प्रेक्षा कर रहे हैं—'यह नदी मानों मेरी प्रियतमा उर्वशी है। इसकी तरंगें ही मानों इसकी भौहों की मरोड़ है, क्षुब्ध पक्षियों का कलरव ही मानो उसकी रसना की ध्वनि है, यह फेन को उसी प्रकार खींच रही है मानों उर्वशी आवेश के कारण अपने शिथिल हुये वस्त्र को खींच रही हो। जिससे उसका प्रियतम उसे पकड़ न ले। पर्वत शिलाओं के कारण बहुत से स्खलनों को प्राप्त होकर उसीप्रकार कुटिलतापूर्वक चल रही है मानों वह उर्वशी मेरे बहुत से स्खलनों (अपराधों) को लक्षित कर कुटिलतापूर्वक जा रही हो। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानों वह उर्वशी मानिनी होने के कारण मेरे अपराधों को सहन न करती हुई मेरे वियोग और पश्चात्ताप से उत्पन्न सन्ताप

## ध्वन्यालोकः

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः ।
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ॥
चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते ।
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

( अनु० ) दूसरा उदाहरण :—

'यह लता मानों मेरी प्रियतमा उर्वशी हो । यह उर्वशी के समान ही कृश है । इसके पल्लव मेघजल से आर्द्र हो गये हैं मानों उसके अधर आँसुओं से धुल गये हों । समय के व्यतीत हो जाने से इसमें पुष्पोद्गम बन्द हो गया है मानों उसने अपने आभूषण त्याग दिये हों । इस समय इस पर भौंरों की गुञ्जार नहीं हो रही है, अतएव यह ऐसी मालूम पड़ती है मानों वह ( उर्वशी ) चिन्ता के कारण मौन हो गई हो । मानों प्रचण्ड स्वभाववाली वह चरणों पर पडे हुये मेरा तिरस्कार करके सन्ताप कर रही हो ।

### लोचन

तन्वीति । वियोगकृशाप्यनुतप्ता चाभरणानि त्यजति । स्वकालो वसन्तग्रीष्म-प्रायः । उपायचिन्तनार्थं मौनं, किमिति पादपतितमपि दयितमवधूतवत्यहमिति च चिन्तया मौनम् । चण्डी कोपना । एतौ श्लोकौ नदीलतावर्णनपरौ तात्पर्येण पुरूरवस उन्मादाक्रान्तस्योक्तिरूपौ ।

'तन्वी' इति । वियोग से कृश भी अनुतप्त आभरणों को छोड देता है । अपना काल अर्थात् वसन्त-ग्रीष्म-प्राय । उपाय की चिन्तना के लिये मौन, किस कारण चरणपर पडे हुये भी प्रियतम को मैंने तिरस्कृत कर दिया इस चिन्ता से मौन । चण्डी अर्थात् क्रोध करनेवाली । ये दोनों श्लोक नदी तथा लता वर्णन-परक तात्पर्य से उन्मादाक्रान्त पुरूरवा की उक्ति के रूप मे है ।

### तारावती

की शान्ति के लिये नदी के रूप मे परिणत हो गई है । 'अभिसन्धाय' का अर्थ है लक्षित करके अथवा हृदय से एकरूपता प्रदान कर । अर्थात् उर्वशी ने इस समय मेरे अपराधों को हृदय से एकाकार कर लिया है । मेरे अपराध उसके हृदय मे भर गये है और उनको सहन करने की शक्ति न होने के कारण वह मानिनी बन गई है । यहाँ पर वाक्यार्थ अचेतन नदीपरक है और उनमे चेतन नायिका ( उर्वशी ) के वृत्तान्त की योजना कर ली गई है ।

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणाम्
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीवीत्विषः पल्लवाः।

तीसरा उदाहरण :—

'हे प्रिय ( गोप ) वे कालिन्दी के तट पर स्थित लताकुञ्जों के बने हुये घर अच्छी तरह तो हैं, जो कि गोपों की बधुओं के विलास के एकमात्र सहचर है और विशेष रूप से राधा की एकान्त-क्रीडा के साक्षी हैं। अब इस समय काम-कला के निमित्त शय्या की रचना के लिये कोमलता पूर्वक तोड़ने का पल्लवों का उपयोग विच्छिन्न हो गया होगा ? उनकी नीली कान्ति जाती रही होगी और मुझे ऐसा लगता है कि वे पल्लव जरठ हो गये होंगे।

तारावती

दूसरा उदाहरण जैसे—पुरूरवा वहींपर कह रहे है—यह लता मानो मेरी प्रिय-तमा उर्वशी हो। यह उर्वशी के समान ही कृश हो गई है। इस लता के पल्लव मेघ जल से आर्द्र हो गये हैं मानों उस ( उर्वशी ) के अधर आँसुओं से धुल गये हों। इस लता के पुष्पागम का काल है बसन्त और ग्रीष्म। वह काल व्यतीत हो चुका है। अतः इसमे पुष्पों का आना बन्द हो गया है मानों उस उर्वशी ने अपने आभूषण छोड़ दिये हों। वियोग की कृशता तथा अनुताप में कोई भी व्यक्ति आभूषण छोड देता है। इस समय इस पर भौंरों की गुञ्जार नहीं हो रही है। अतएव यह ऐसी मालूम पड़ती है मानों उर्वशी चिन्ता के कारण मौन धारण किये हो। यह मौन धारण उपाय की चिन्ता के लिये है अथवा 'क्यों चरण-पतित प्रिय-तम का मैंने प्रत्याख्यान कर दिया' इस चिन्ता से है। इस प्रकार मानों चरणों पर पड़े हुये मेरा प्रत्याख्यान करके इस लता के रूप में वह उर्वशी पश्चात्ताप कर रही हो। यहाँ पर वाक्यार्थ तो अचेतन लता के विषय मे है किन्तु चेतन उर्वशी के वृत्तान्त की योजना कर दी गई है। ये दोनों श्लोक नदी और लता के वर्णन परक हैं किन्तु इनका तात्पर्य उन्माद से आक्रान्त पुरूरवा की उक्ति के रूप मे है।

तीसरा उदाहरण :—भगवान् कृष्ण द्वारका मे विद्यमान हैं। वे या तो वृन्दावन-विहार का स्मरण करते हुये अपने मन में कह रहे हैं या किसी आये हुये गोप से कह रहे हैं—

'हे प्रिय ! कालिन्दीतनया ( कालिन्दी-यमुना ) के तट पर स्थित लताकुञ्जों

## लोचन

तेषामिति। हे भद्र ! तेषामिति ये ममैव हृदये स्थितास्तेषाम्। गोपवधूनां गोपीनां ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम्। प्रच्छन्नानुरागिणीनां नान्यो नर्मसुहृद्भवतीति। राधायाश्च सातिशयं प्रेमस्थानमित्याह—राधासम्भोगानां ये साक्षाद्द्रष्टारः। कलिन्दशैलतनया यमुना तस्यास्तीरे लतागृहाणां क्षेमं कुशलमिति काक्वा प्रश्नः। एवं तं दृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनविभावस्मरणात् प्रबुद्धरतिभावमात्मगतमौत्सुक्यगर्भमाह द्वारकागतो भगवान् कृष्णः—स्मरतल्पस्य मदनशय्यायाः कल्पनार्थं 'मृदुसुकुमारं कृत्वा यश्छेदस्त्रोटनं स एवोपयोगो साफल्यम्। अथ च स्मरतल्पे यत्कल्पनं क्लृप्तिः स एव मृदुः सुकुमार उत्कृष्टश्छेदोपयोगस्त्रोटनफलं तस्मिन् विच्छिन्ने। मय्यनासीने का स्मरतल्पकल्पनेति भावः। अतएव परस्परानुराग-

'तेषाम्' इति। हे भद्र ! उनका अर्थात् जो मेरे ही हृदय में स्थित हैं उनका। गोपवधुओं अर्थात् गोपियों के जो विलास-सुहृद् अर्थात् नर्मसचिव हैं उनका। प्रच्छन्न अनुरागिणियों का और कोई नर्मसचिव नहीं होता। और राधा का अधिकता के साथ प्रेम का स्थान है यह कहते हैं—राधा-संभोगों के जो साक्षात् देखनेवाले हैं, कलिन्द पर्वत की पुत्री अर्थात् यमुना उसके तटपर लतागृहों का क्षेम अर्थात् कुशल है ? यह काकु से प्रश्न है। इस प्रकार उससे पूछकर गोपदर्शन से प्रबुद्ध संस्कारवाले द्वारकागत भगवान् कृष्ण आलम्बन और उद्दीपन विभाव के स्मरण से जागृत हुये रतिभाव से युक्त आत्मगत औत्सुक्य के साथ कहते हैं—स्मरतल्प अर्थात् मदनशय्या की कल्पना के लिये मृदु अर्थात् सुकुमार होने के कारण उनका छेद अर्थात् तोड़ना ही उनका उपयोग अर्थात् सफलता है। दूसरा यह—कामशय्या में जो कल्पना वही मृदु अर्थात् सुकुमार और उत्कृष्ट छेदोपयोग अर्थात् तोड़ने का फल, उसके विच्छिन्न होने पर। भाव यह है कि मेरे आसीन न होने पर काम शय्या की कल्पना ही क्या ? इसलिये परस्परानुराग निश्चय के

## तारावती

के बने हुये घर सकुशल तो हैं ? ( 'वे' इस सर्वनाम से यहाँ यह ध्वनित होता है कि वे सर्वदा मेरे हृदयों में ही विद्यमान रहते हैं। ) वे गोपवधुओं के विलास के एकमात्र सहचर ( नर्मसचिव ) हैं और राधा की एकान्त-क्रीड़ा के साक्षी हैं। ( प्रच्छन्न कामियों की सुरत-क्रीड़ा का साक्षी वृक्षों और लताओं के अतिरिक्त और हो ही कौन सकता है। ) कलिन्दतनया यमुना को कहते हैं उसके तट पर बने हुये लतागृहों के लिये कुशल तो है ? यह प्रश्न काकु से किया गया है। आशय यह है कि जब मैं उन्हें छोड़कर चला आया और उनका हम लोगों के विश्रम्भ विहार का उपयोग जाता रहा तब वे भी जैसे तैसे समय पूरा कर रहे होंगे। उनके

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव ।

(अनु०) इत्यादि विषयों में अचेतनों के वाक्यार्थ होते हुए भी चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना विद्यमान है ही ।

लोचन

निश्चयगर्भमेवाह—तेजान इति । वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम् । अधुना जरठीभवन्तीति । मयि तु सन्निहितेऽनवरतकथितोपयोगान्नेमे जराजीर्णताखिलीकारं कदाचिदाप्नुवन्तीति भावः । विगलन्ती नीला त्विड्येषामित्यनेन कतिपयकालप्रोषितस्याप्यौत्सुक्यनिर्भरत्वं ध्वनितम् । एवमात्मगतेयमुक्तिर्यदि वा गोपं प्रत्येव सम्प्रधारणोक्तिः । बहुभिरुदाहरणैर्महतो भूयसः प्रबन्धस्येति यदुक्तं तत्सूचितम् ।

साथ कहते हैं—ते जाने इति । यहाँपर वाक्यार्थ कर्म है । 'अधुना जरठीभवन्ति' इति । भाव यह है कि मेरे तो सन्निहित होने पर निरन्तर बतलाये हुये उपयोग से बुढ़ापे की जीर्णता की व्यर्थता को ये कभी प्राप्त नहीं होते । विगलित होनेवाली नील त्वचा है जिनकी इससे कतिपय काल से प्रोषित भी ( इनके ) औत्सुक्य से भरे होने को ध्वनित करते हैं । इस प्रकार यह उक्ति आत्मगत है अथवा गोप के प्रति सम्प्रधारण के लिये उक्ति है । जो यह कहा था कि 'बहुत बड़े तथा अधिक प्रबन्ध की रसमयता होती है' वह बहुत से उदाहरणों से सूचित कर दिया ।

तारावती

लिये कुशल हो ही कैसे सकता है। यहाँपर भगवान् ने गोप को देखा है अतः उनकी संस्कारजन्य स्मृति प्रबुद्ध हो गई है। उन्हे आलम्बन राधा गोपी इत्यादि और उद्दीपन लतावेश्म इत्यादि का स्मरण हो आया है । इससे उनके हृदय में गोपीविषयक रतिभाव प्रबुद्ध हो गया है और द्वारका में बैठे हुये भगवान् कृष्ण उत्कण्ठा से भरी हुई यह बातें कह रहे है । ) वे कहते हैं कि उस समय उन लताओं-पल्लवों का उपयोग यही था कि मदनशय्या की कल्पना ( रचना ) के लिये उन्हें कोमलतापूर्वक तोड़ा जाता था । अथवा उनके तोड़ने का उपयोग यही था कि उनसे कामकला के निमित्त शय्या की कल्पना की जाती थी, यह उपयोग बहुत ही सुकुमार तथा बड़ा ही उत्कृष्ट था । अब उनका यह उपयोग विच्छिन्न हो गया है । जब उस शय्या पर आसीन होने के लिए मैं वहाँ विद्यमान ही नहीं हूँ तो फिर वहाँ पर मदनशय्या की कल्पना ही क्या हो सकती है ? अतएव अपने और गोपियों के परस्पर अनुराग के निश्चय के साथ कह रहे हैं कि 'मुझे मालूम पड़ता है कि अब वे पल्लव जरठ गये होंगे ।' 'मुझे मालूम पड़ता है' इस क्रिया का कर्म

ध्वन्यालोकः

अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलङ्कारः। तदेवं सत्युपमादयोऽलङ्काराः निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः। यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन। तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता। यः पुनरङ्गी रसः भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति।

(अनु०) यदि यह कहो कि जहाँ चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना होती है वहाँ रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं तो उपमा इत्यादि का विषय या तो सर्वथा जाता रहेगा या बहुत ही कम हो जावेगा। क्योंकि ऐसा कोई अचेतन-वस्तु-वृत्तान्त है ही नहीं जहाँ अन्त मे विभाव के रूप मे चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना न हो। अतएव अंग होने पर रसादि अलङ्कार होते हैं और जो रस या भाव अंगी हों तथा सब प्रकार से अलङ्कार्य हो वह ध्वनि की आत्मा होता है। (यही रस ध्वनि और रसालङ्कार का विषय विभाजन है।)

तारावती

है पूरा वाक्य 'अब वे पल्लव जरठ हो गये होंगे।' (यहाँपर भगवान् को गोपी-प्रेम का पूर्ण निश्चय है। यदि ऐसा न होता तो गोपियों के परपुरुष-विहार की सम्भावना मे भगवान् का पल्लवों के जरठ होने की कल्पना करना ही असङ्गत हो जाता। इसीलिये भगवान् ने यह बात गोपियों के प्रेम के निश्चय के साथ कही है।

इस समय जरठ हो गये होंगे कहने का आशय यही है कि जब मैं वहाँ विद्यमान था और उन पल्लवों का बतलाया हुआ उपयोग नित्यप्रति किया करता था अर्थात् नित्य ही काम-क्रीडा के निमित्त शय्या की रचना करने के लिये मैं नव-किसलयों को तोड़ लिया करता था तब इन पल्लवो को बुढ़ापे की जीर्णता के कारण वैवर्ण्य इत्यादि का कभी मुख देखना नहीं पड़ता था। (किन्तु अब जब मैं इतनी दूर बैठा हूँ और काम-क्रीड़ा के लिये उनको तोड़नेवाला कोई नहीं है तब ये पल्लव लताओं मे लगे-लगे ही मुरझा जाते होंगे और पीले पड जाते होंगे।) 'विगलन्नीलत्विष.' मे बहुव्रीहि समास है। इसका विग्रह इस प्रकार होगा—'विगलित हो रही है नीली कान्ति जिनकी' यहाँ पर 'विगलित हो रही है' में वर्तमान काल के प्रयोग से ध्वनित होता है कि भगवान् का प्रवास अभी बहुत थोड़े दिन पहले हुआ है फिर भी भगवान् के अन्दर उत्कण्ठा चरम सीमा पर पहुँच गई है। इससे भगवान् के अनुराग का आधिक्य व्यक्त होता है। इस प्रकार यह उक्ति या तो आत्मगत है या किसी गोप के प्रति पुरानी बातों के निश्चय करने के लिये कही गई है।

## लोचन

अथेत्यादि । नीरसत्वमत्र मा भूयादित्यभिप्रायेणेति शेषः । ननु यत्र चेतनवृत्तस्य सर्वथानुप्रवेशः स उपमादेर्विषयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—यस्मादित्यादि । अन्तत इति स्तम्भपुलकाद्यचेतनमपि वर्ण्यमानमनुभावत्वाच्चेतनमाक्षिपत्येव तावत्, किमत्रोच्यते । अतिजडोऽपि चन्द्रोद्यानप्रभृतिः स्वविश्रान्तोऽपि वर्ण्यमानोऽवश्यं चित्तवृत्तिभावतां त्यक्त्वा काव्येऽनाख्येय एव स्यात्, शास्त्रेतिहासयोरपि वा । एवं परमतं दूषयित्वा स्वमतमेव प्रत्याम्नायेनोपसंहरति तस्मादिति । यतः परोक्तो विषयविभागो न युक्त इत्यर्थः । भावो वेति वा ग्रहणात्तदाभासतत्प्रशमादयः । सर्वाकारमिति क्रियाविशेषणम् । तेन सर्वाकारमित्यर्थः । अलङ्कार्य इति । अतएव नालङ्कार इतिभावः ।

अथ इत्यादि । यहाँ पर शेष यह है कि 'यहाँ पर नीरसत्व न हो इस अभिप्राय से, ( प्रश्न ) जहाँ पर चेतन वृत्त का सर्वथा अनुप्रवेश हो वह उपमा इत्यादि का विषय हो जावेगा यह शङ्काकर ( उत्तर ) देते हैं —यस्मात् इत्यादि । अन्तत इत्यादि । वर्णन किया जाता हुआ स्तम्भ पुलक इत्यादि अचेतन भी अनुभाव होने के कारण चेतन का आक्षेप करता ही है । इस विषय में क्या कहा जावे अत्यन्त जड़ चन्द्र उद्यान भी स्वमात्र विश्रान्त होते हुये भी ( वाच्यार्थ बोध के द्वारा अपने मे पर्यवसित होते हुये भी ) वर्णन किये जाने पर अवश्य ही चित्तवृत्ति विशेष की ( उद्दीपन ) विभावता को छोड़कर काव्य में आख्यान के योग्य हो ही नहीं सकते । अथवा शास्त्र और इतिहास मे भी ( आख्यान के योग्य नहीं हो सकते । ) इस प्रकार परमत को दूषित करके अपने मत को ही पुनराख्यान के द्वारा उपसंहार कर रहे हैं—तस्मादिति । अर्थात् क्योंकि दूसरों का कहा हुआ विषय-विभाग ठीक नहीं है । भावो वा इति । 'वा' ग्रहण से उनके आभास तथा उनके प्रशम ( गृहीत ) हो जाते हैं । 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है । इससे इसका अर्थ होता है सब प्रकार से । 'अलङ्कार्य इति' अतः अलङ्कार नहीं होता है यह भाव है ॥ ५ ॥

## तारावती

पहले कहा गया था कि 'यदि चेतन-वृत्तान्त-योजना के होने पर भी अचेतन वाक्यार्थ होने पर रसवत् अलङ्कार नहीं माना जावेगा तो रसनिधानभूत बहुत से काव्य-प्रबन्धों की नीरसता प्रसक्त हो जावेगी ।' इस वाक्य मे बहुत से शब्द का प्रयोग किया गया था, अतएव तीन उदाहरण दिये गये । ( तीन मे बहुवचन होता ही है । ) इन सब उदाहरणों मे यद्यपि अचेतन ही वाक्यार्थ है तथापि चेतन-वस्तुवृत्तान्त-योजना विद्यमान है ही । इन उदाहरणों मे नीरसता प्रसक्त न हो जावे इस मन्तव्य से यदि तुम यह कहना चाहो कि जहाँ कहीं चेतन-वृत्तान्त

तारावती

योजना होती है वहाँ सर्वत्र रस इत्यादि अलङ्कार होता है तो उपमा इत्यादि का विषय या तो सर्वथा समाप्त हो जावेगा या उसका विषय बहुत स्वल्प रह जावेगा। (प्रश्न) जहाँ चेतन-वृत्तान्त का सर्वथा अनुप्रवेश नहीं होता वह उपमा इत्यादि का विषय हो जावेगा। (उत्तर) ऐसा कोई अचेतन वृत्त है ही नहीं जिसमें अन्ततः विभाव इत्यादि के रूप मे चेतनवस्तु-वृत्तान्त-योजना न हो। यदि अचेतन भी स्तम्भ पुलक इत्यादि का वर्णन किया जाता है तो वह भी अनुभाव रूप होने के कारण चेतना का आक्षेप कर ही लेता है। इस विषय में कहा ही क्या जा सकता है। (आशय यह है कि स्तम्भ पुलक इत्यादि जितने भी अनुभाव हैं वे सब विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के परिचायक मात्र होते हैं। चित्तवृत्ति चेतन में ही सम्भव हैं, अतः यदि अचेतन मे भी स्तम्भ पुलक इत्यादि अनुभावों का वर्णन किया जावेगा तो वह भी चित्तवृत्ति का आक्षेप कर ही लेगा। अतः यदि यह तथ्य तुम्हारे प्रतिकूल जाता है तो हम क्या कह सकते हैं और क्या तुम्हारी सहायता कर सकते हैं।) अत्यन्त जड़ चन्द्र उद्यान इत्यादि यदि इस रूप मे भी वर्ण्य-विषय बनें कि उनका पर्यवसान सर्वथा स्वमात्र में हो अर्थात् जहाँ कहीं चन्द्र उद्यान इत्यादि स्वतन्त्र वर्ण्य विषय के रूप में भी वर्णन किया जावे और उनसे किसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति की पुष्टि न भी दिखलाई जावे तो भी चित्तवृत्ति की विभावरूपता को छोड़कर उनका काव्य में प्रकथन सम्भव ही नहीं हो सकेगा।(आशय यह है कि चन्द्र उद्यान इत्यादि का कितना ही स्वतन्त्र वर्णन किया जावे किन्तु उनमें चित्तवृत्ति की विभावरूपता तो आ ही जावेगी। या तो वे चित्तवृत्ति का आलम्बन होंगे या उद्दीपन।) यही बात शास्त्र-और इतिहास के विषय में भी कही जा सकती है। उनमें भी जहाँ कहीं भी इन जड़ वस्तुओं का प्रकथन किया जावेगा वहाँ सर्वत्र चित्तवृत्ति को प्रभावान्वित करना तो उनका लक्ष्य होगा ही। अतः बिना चेतन योजना के सर्वथा जड का काव्य और शास्त्र मे प्रकथन सम्भव है ही नहीं। इस प्रकार वृत्तिकार परमत का खण्डन कर अपने मत का पुनराख्यान करते हुये प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं। 'अतएव अङ्ग के रूप में स्थित होने पर रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं और जो अङ्गी रस या भाव सर्वाकार रूप मे अलङ्कार्य होते हैं वे ही ध्वनि की आत्मा बनते हैं।' आशय यह है कि दूसरों का बतलाया हुआ विषय–विभाग ठीक नहीं है। 'रस या भाव' मे 'या' से रसाभास, भावाभास और भावप्रशम का भी ग्रहण हो जाता है। 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है। इसका अर्थ है सभी प्रकार से 'अलङ्कार्य होते हैं' में अलङ्कार्य का आशय यह है कि अङ्गी होने पर अलङ्कार्य होने के कारण ही वे अलङ्कार नहीं हो सकते।

## तारावती

[ प्रस्तुत प्रकरण में रस की ध्वनिरूपता और अलङ्काररूपता के विषय-विभाजन पर विचार किया गया है। ध्वनिकार के मत में सिद्धान्त पक्ष इस प्रकार है—१. जहाँ पर रस ( काव्यानन्द ) का विकास प्रधान रूप में होता है। उसके पोषण के लिये दूसरे अलङ्कारों का प्रयोग किया जाता है। वह रस किसी दूसरे तत्त्व का स्वयं पोषक नहीं होता। वहाँ पर रस ध्वनि का रूप धारण करता है। इसी प्रकार भाव इत्यादि के विषय में भी समझना चाहिये। २. जहाँ पर कोई अन्य तत्त्व प्रधान होता है और रस उस प्रधानीभूत तत्त्व का पोषण करते हुये अलङ्करण करता है। वहाँ पर रस अलङ्कार कहा जाता है। इसी प्रकार भाव इत्यादि भी अलङ्कार का रूप धारण कर सकते है। ३. जहाँ पर रति इत्यादि भावों के समुचित उपकरणों द्वारा परिपोष को प्राप्त हो जाने पर रस का ठीक रूप में परिपाक होता है; कोई दूसरा रस या भाव उसका पोषक होकर आता है और उसके पुष्ट करने के लिये उपमा इत्यादि का प्रयोग भी किया जाता है वहाँ पर रस या भाव के साथ उपमा इत्यादि की संसृष्टि अथवा संकर होता है। ४. जहाँ पर किसी प्रधानीभूत रस का परिपाक हो जाता है और उसको पुष्ट करने के लिये किसी दूसरे रस या भाव का प्रयोग नहीं किया जाता, वहाँ पर जिन उपमा इत्यादि का प्रयोग किया जाता है वह उपमा इत्यादि का स्वतन्त्र विषय होता है। यह विषय-विभाजन ध्वनि-सम्प्रदाय-सम्मत है। अलंकार सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्य यही मानते हैं कि रस सर्वत्र अलङ्कार ही होता है। किन्तु उनकी मान्यता मे सबसे बड़ा दोष यही है कि रस तो सर्वत्र विद्यमान होगा ही। ऐसी दशा में एक अलङ्कार तो विद्यमान हो ही गया। अब यदि उपमा इत्यादि किसी दूसरे अलङ्कार का प्रयोग किया जाता है तो रस इत्यादि अलङ्कार से उसकी संसृष्टि या संकर हो जावेगा और उपमा इत्यादि का कहीं भी स्वतन्त्र विषय नहीं मिलेगा। प्राचीन आचार्य इस पर यह तर्क देते हैं कि रस परिपाक के लिये चित्तवृत्ति का होना नितान्त अपेक्षित तथा अनिवार्य है। अतः रस की सत्ता सर्वत्र वहीं मानी जा सकती है जहाँ काव्य का विषय कोई चेतन तत्त्व हो। क्योंकि चेतन तत्त्व में ही चित्तवृत्ति सम्भव है। किन्तु काव्य का विषय सर्वत्र चेतन तत्त्व ही बनता हो ऐसी बात नहीं है। जड़ तत्त्व भी काव्य का विषय बनते हैं। अतएव जहाँ पर जड़ पदार्थों का काव्य के विषय के रूप मे उपादान किया जावेगा वहाँ पर रस आदि न होने के कारण उपमा इत्यादि अलङ्कारों का स्वतन्त्र विषय उपलब्ध हो जावेगा। इस पर ध्वनि-सम्प्रदायवादियों को आपत्ति यह है कि बिना चित्तवृत्ति के न तो काव्य ही सम्भव है, न इतिहास ही और न शास्त्र ही। जहाँ कहीं जड़,

तारावती

पदार्थ भी काव्य का विषय बनेंगे वहाँ भी चित्तवृत्ति का संयोग किसी न किसी रूप में होगा ही। फिर चाहे वे तत्त्व चित्तवृत्ति के आलम्बनरूप हों चाहे उद्दीपन-रूप। चित्तवृत्ति के अभाव मे काव्य ही सम्भव नहीं हो सकता। इस आपत्ति का निराकरण करने के मन्तव्य से पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि १—जहाँ पर चेतन तत्त्व प्रधानतया वाक्यार्थ हो वहाँ पर रस इत्यादि अलंकार होते हैं और २—जहाँ जड़ पदार्थ प्रधानतया वाक्यार्थ हों वहाँ पर चेतन तत्त्व के किसी न किसी रूप में योजना होने पर भी रस अलङ्कार नहीं माना जा सकता। किन्तु इस विषय-विभाजन मे सबसे बड़ा दोष यह है कि अनेक काव्यों मे अचेतन तत्त्व प्रधानतया वाक्यार्थ बने हैं किन्तु चेतनों का उनपर आरोपकर उन्हें सरस बना दिया गया है। इस प्रकार काव्य रसात्मक साहित्य में अमूल्य मणि माने जाते हैं। यदि चेतन के यथाकथञ्चित् योग में रसात्मकता नहीं मानी जावेगी तो इस प्रकार के रस-निधानभूत अनेक काव्य नीरस माने जाने लगेंगे। इस प्रकार पूर्वपक्षी उभयतःपाशा रज्जु से आक्रान्त हो गया। यदि चेतन तत्त्व के यथाकथञ्चित् योग में रस माना जाता है तो उपमा इत्यादि की स्वतन्त्र सत्ता का विषयापहार हो जाता है और यदि ऐसे स्थानो में रस नहीं माना जाता तो रस के अमूल्य कोष नीरसता की कोटि मे जा पड़ते हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षी को कहीं निकलने का अवसर नहीं है। अतएव ध्वनिकार का सिद्धान्त मानने से ही निस्तार हो सकता है कि जहाँ पर रस दूसरे तत्त्व का अलङ्करण कर रहा हो वहाँ पर वह अलङ्कार होता है और जहाँ पर स्वयं स्वतन्त्र रूप मे आस्वादन का विषय बन रहा हो वहाँ पर वह अलङ्कार्य होता है और उसे ही ध्वनि कहते हैं। इस व्याख्या के मानने से कोई दोष नहीं आता।

रुय्यक ने अपने अलङ्कारसर्वस्व मे प्राचीनों और नवीनों की रसालङ्कार-विषयक मान्यता पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—"१—जहाँ पर विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों द्वारा विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति प्रकाशित की जाती है उसे रस कहते हैं। २—विभाव और अनुभाव के द्वारा सूचित किया हुआ निर्वेद इत्यादि ३३ भेदोंवाला भाव कहलाता है, देव इत्यादि विषयक रति को भी भाव कहते है। ३—उनके आभास का अर्थ है रसाभास और भावाभास। अविषय मे प्रवृत्ति होने के कारण जहाँ पर अनौचित्य की प्रतीति हो रही हो उसे आभास कहते हैं। ४—प्रशम उसे कहते है जहाँ पर उक्त दोनों प्रकारों से निवर्तित होने के कारण अवस्था प्रशान्त होने लगती है। उनमे भी रस पर-विश्रान्तिरूप होता है। अतः रसप्रशम सम्भव नहीं है। इसलिये अवशिष्ट दूसरे भेद के विषय में ही यह समझा जाना चाहिये।

## तारावती

रसवत् उसे कहते हैं जिस निबन्ध में निबन्धरूप व्यापार मे रस विद्यमान हो। प्रेय का अर्थ है प्रियतर। यह प्रियतर निबन्धन ही होता है। इसी प्रकार ऊर्जस्वी का अर्थ है ऊर्ज अर्थात् बल जिसके अन्दर विद्यमान हो। वह भी निबन्धन हो सकता है। यहाँ पर बल शब्द का योग इसीलिये किया गया है कि इसमे अनौचित्य के साथ प्रवृत्ति होती है। ( अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने मे कुछ बल तथा कुछ साहस अपेक्षित होता ही है। ) समाहित का अर्थ है परिहार अथवा समेटना। प्रकृत में वह उक्त भेद के विषय मे ही लागू होता है अतः उसका दूसरा पर्यायवाचक शब्द 'प्रशम' है। उनमें जिस दर्शन में वाक्यार्थ के रूप मे स्थित रस इत्यादि ( प्रधानीभूत रस इत्यादि ) रसवत् अलंकार माने जाते हैं उसमे अङ्गभूत रस इत्यादि के विषय में जो रसवत् इत्यादि अलङ्कार होते है उन्हें द्वितीय उदात्तालङ्कार कहा जाता है। इसके प्रतिकूल जिस सिद्धान्त मे अङ्गभूत रस इत्यादि के विषय मे रसंवत् इत्यादि अलङ्कार होते हैं क्योंकि दूसरा प्रकार ( प्रधानीभूत रत्यादि ) रसध्वनि से व्याप्त होता है वहाँ पर उदात्तालङ्कार का विषय ही शेष नहीं रह जाता क्योंकि उसके विषय को रसवत् अलङ्कार ही व्याप्त कर लेता है।" यह है रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का अनुवाद।

कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में रसवत् इत्यादि अलङ्कार की मान्यता का सर्वथा निषेध कर दिया है उन्होंने प्राचीन आचार्यों की मान्यता का भी खण्डन किया है और ध्वनिकार की मान्यता का भी। इन आचार्यों की मान्यताओं की परीक्षा युक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा कुन्तक ने बडे विस्तार से की है। रसवत् अलङ्कार के विषय मे ठीक परिचय प्राप्त करने के लिए विभिन्न आचार्यों की मान्यताये तथा उन पर कुन्तक के विचारों का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा।

कुन्तक ने रसवत् अलङ्कार के खण्डन मे दो तर्क दिये है—( १ ) सत्कवियों के वाक्यों मे आये हुए समस्त अलङ्कारों मे यह प्रतीति विद्यमान रहती है कि यह अलङ्कार है और यह अलङ्कार्य है। किन्तु कितना ही विचार किया जावे, रसवत् अलङ्कार के विषय मे अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद अवगत ही नहीं होता। यदि प्रधानतया वर्ण्यमान शृङ्गार इत्यादि को अलङ्कार्य माना जावे तो उसका कोई न कोई अलङ्कार होना ही चाहिये अन्यथा उसमे अलंकार्यत्व आ ही नहीं सकेगा। यदि तद्विदाह्लादनिबन्धत्व धर्म होने के कारण शृंगार इत्यादि को ही अलंकार कहा जावे तो कोई दूसरा अलंकार्य होना ही चाहिये। इस प्रकार अलंकार तथा अलंकार्य के ठीक रूप में विषय-विभाग न हो सकने के कारण रसवत् अलंकार स्वीकार्य नहीं हो सकता। ( २ ) रसवत् अलंकार में शब्दार्थ की सङ्गति भी नहीं होती।

## तारावती

'रसवत्' शब्द में रस शब्द से मतुप् प्रत्यय किया गया है। अतः इस शब्द का अर्थ हुआ 'रस जिसमे विद्यमान हो ऐसा तत्त्व।' इसके बाद रसवदलङ्कार शब्द में दो समास सम्भव हैं षष्ठीतत्पुरुष–रसवत् का अलङ्कार अथवा विशेषण कर्मधारय–रसवान् अलङ्कार। यदि षष्ठीतत्पुरुष माना जावे तो प्रश्न पैदा होगा कि वह रसवत् कौन वस्तु है जिसका यह अलङ्कार होगा? यदि वह वस्तु काव्य ही हो तो दूसरा प्रश्न यह उठेगा फिर वह वस्तु कौन सी है जिसको अलंकार का नाम दिया गया है? किसी भी काव्य मे रस तत्त्व ही उसका काव्यत्व होता है। अतः षष्ठी समास पक्ष मे रस तत्त्व का अर्थ होगा काव्यत्व और रसवदलंकार शब्द का अर्थ होगा—काव्यत्व के अलंकार। उपमा रूपक इत्यादि सभी अलंकार काव्यत्व के ही होते हैं। अतः सभी अलंकार रसवदलंकार ही कहे जावेंगे। इसी प्रकार रसवान् अलकार यह कर्मधारय समास करने पर भी यही बात होगी। क्योंकि सभी अलंकार रसवान् ही होते हैं। इस प्रकार रसवदलकार का शब्दार्थ ठीक नहीं बैठता। कुन्तक ने सामान्यतया रसवदलंकार के खण्डन करने में यही दो तर्क दिये हैं।

इनके अतिरिक्त कुन्तक ने रसवदलंकार के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों की परीक्षा भी की है। सर्वप्रथम भामह के लक्षण को लीजिए—भामह के रसवत् अलकार के लक्षण में दो पाठ पाये जाते हैं—(१) 'दर्शितस्पृष्टशृङ्गारादिरसं रसवत्' और (२) 'दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं रसवत्।' यदि प्रथम पाठ माना जावे तो इसका अर्थ होगा—'जहाँ पर स्पर्श किये हुये शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये गये हों' यदि दूसरा पाठ माना जावे तो इसका अर्थ होगा—'जहाँ पर स्पष्ट रूप मे शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जावें।' दोनों पाठों में यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह क्या वस्तु है जिसमे शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जाते हैं? यदि कहो कि वह वस्तु काव्य ही है जिसमे शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जाते हैं तो इसका अर्थ होगा—काव्य ही अलंकार है। काव्य को अलंकार मानने पर वह तो व्याघात दोष होगा। क्योंकि पहले तो भामह ने यह कहा कि काव्य के एकदेश शब्द और अर्थ मे अलकार होते हैं और बाद मे काव्य को ही अलंकार कह दिया। यह बात सङ्गत नहीं हो सकती। यहाँ पर दूसरा समास सम्भव है तृतीया के अर्थ मे बहुव्रीहि। अर्थात् 'स्पष्ट रूप मे दर्शित किये गये हैं शृङ्गार इत्यादि रस जिसके द्वारा'। तब भी यही प्रश्न उपस्थित होगा कि शृङ्गार इत्यादि रस स्पष्ट रूप में किसके द्वारा दिखलाये जाते हैं? क्या प्रतिपादन वैचित्र्य के द्वारा? स्पष्ट रूप मे रसादि का प्रतिपादन वैचित्र्य तो रसादि का स्वरूप ही होगा। दूसरी बात यह है कि रसवदलंकार शब्द में षष्ठी तत्पुरुष करने पर रसवत् काव्य का अलंकार रसवत् अलंकार होता

तारावती

है इस कथन में कोई सार नहीं। इस प्रकार भामहाभिमत रसवत् अलंकार की परिभाषा निस्सार सिद्ध हो जाती है।

उद्भट ने रसवदलङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायि सञ्चारि विभावाभिनयास्पदम्।

(रसवत् अलङ्कार उसे कहते हैं जिसमें स्पष्ट रूप में शृङ्गार इत्यादि रस का उदय दिखलाया गया हो और जो स्वशब्द, स्थायी भाव, सञ्चारी भाव, विभाव तथा अभिनय (अनुभाव) में प्रतिष्ठित हो।) इस लक्षण में कोई नई बात नहीं कही गई है। भामह ने जो कुछ कहा था उसी का विस्तार कर दिया गया है। नई बात केवल एक है और वह यह है कि रसवत् अलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ रस स्वशब्दवाच्य हो। कुन्तक का कहना है कि उद्भट ने तो रस को स्वशब्दवाच्य कहकर संसार के सभी भोग सभी व्यक्तियों के लिये सुलभ बना दिये हैं। अब तो जिस प्रकार रस शब्द का उच्चारण करने से रसास्वादन हो जावेगा उसी प्रकार राज्य शब्द का उच्चारण करने से राजा होने का आनन्द आ जावेगा—पूड़ी कचौड़ी का नाम लेने से उत्तम प्रकार के भोजन का आनन्द सहज रूप मे प्राप्त हो जावेगा। आशय यह है कि रसवत् अलङ्कार के विषय में भामह के समान उद्भट का मत भी निस्सार ही है।

रसवत् अलङ्कार के दण्डी के लक्षण मे दो प्रकार का पाठ पाया जाता है—'रसवद्रससंश्रयम्' और 'रसवद्रसपेशलम्'। 'रससंश्रयात्' शब्द का दो प्रकार से विग्रह हो सकता है—'रसः संश्रयो यस्यासौ रससंश्रयः तस्मात्कारणात्' अर्थात् रस जिसका आश्रय हो उस कारण से उसे रसवत् अलङ्कार कहते हैं। प्रश्न यह है कि वह क्या वस्तु है? पहले ही बतलाया जा चुका है कि काव्य नहीं हो सकता। दूसरा समास तत्पुरुष हो सकता है अर्थात् रस का आश्रय या रस के द्वारा जिसका आश्रय लिया जाता है। इसमें भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह क्या वस्तु है। 'रसपेशलम्' पाठ की भी वही दशा है। इस प्रकार तर्क की कसौटी पर दण्डी का मत भी खरा नहीं उतरता।

यदि यह कहा जावे कि जिस प्रकार सूखे वृक्ष मे सरसता आ जाने से वृक्ष हरा-भरा हो उठता है उसी प्रकार अलङ्कार्य शब्दार्थसमूह रूप वाक्यार्थ होता है, उसमे सरसता का सम्पादन कर रस अलङ्कार बन जाता है। यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी दशा मे प्रधान और गौण का विपर्यास हो जावेगा। काव्य में रस

प्रधान होता है वह गौण हो जावेगा और वाक्यार्थ गौण होता है वह प्रधान हो जावेगा ।

इसके बाद कुन्तक ने आनन्दवर्धन की मान्यता की आलोचना की है । चेतन और अचेतन के विषय में आनन्दवर्धन ने जो कुछ कहा था कुन्तक ने उस सबका उसी रूप में समर्थन करते हुये ध्वनिकार का ही अतिदेश कर दिया । ध्वनिकार की सैद्धान्तिक आलोचना में कुन्तक ने केवल इतना कहा कि ध्वनिकार ने 'काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः' इस वाक्यखण्ड में रस को अलङ्कार कहा । 'रसवत्' के मतुप् प्रत्यय को क्यों छोड़ दिया ? ध्वनिकार के मत में मतुप् प्रत्यय का निर्वाह किस प्रकार होगा ? इसके अतिरिक्त कुन्तक ने आनन्दवर्धन द्वारा दिये हुये उदाहरणों की ही केवल आलोचना की सैद्धान्तिक मान्यता के विषय में और कुछ नहीं कहा ।

इस प्रकार समस्त प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं का खण्डन कर कुन्तक ने अन्त में अपनी दृष्टि से एक नया ही स्वरूप बतलाया है । उनका कहना है कि रसवत् शब्द में मतुप् प्रत्यय नहीं अपितु तुल्य अर्थ में वत् प्रत्यय है । ( तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः ) इस प्रकार रसवत् का अर्थ होता है रस के समान। जब उपमा इत्यादि कोई अलङ्कार काव्य में सरसता सम्पादन करने के कारण रस की समता धारण कर लेता है तब उसे रसवत् अलङ्कार कहते हैं। एक मात्र यह अलङ्कार काव्य का सर्वस्व बन जाता है और समस्त अलङ्कारों का जीवन हो जाता है । इस प्रकार के रसवत् के कुन्तक ने कई उदाहरण दिये हैं । डा० नगेन्द्र ने इस पर टिप्पणी करते हुये वक्रोक्ति जीवित की भूमिका में लिखा है—'जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो दो मत हो ही नहीं सकते । क्योंकि काव्य के मनोविज्ञान का यह स्वीकृत सत्य है कि कल्पना भाव के संसर्ग से ही रमणीय बनती है—काव्य-शास्त्र की शब्दावली में, रस के संयोग से ही अलङ्कार में काव्यत्व अथवा चारुता आती है । रस और कल्पना का मणिकाञ्चन योग ही काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि है और कुन्तक ने उसका प्रतिपादन कर निश्चय ही अपने प्रौढ़ काव्यज्ञान का परिचय दिया है ।' इसके बाद डाक्टर महोदय ने इस प्रकरण का उपसंहार करते हुये लिखा है—'अतः उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि रसवत् अलंकार वास्तव में कोई अलङ्कार नहीं है क्योंकि विषय से संबद्ध होने के कारण रस अलङ्कार्य ही है, अलङ्कार नहीं है । उसकी स्थापना के लिये प्रकारान्तर से भी जो प्रयत्न किये गये हैं उनसे भी कम से कम उनकी अलङ्कारता की सिद्धि नहीं होती ।'

ऊपर रसवत् अलंकार के विषय में अन्य आचार्यों की मान्यताओं के खण्डन

## तारावती

तथा कुन्तक के अपने मत का सार दिया गया है। इस प्रकार हम रसवत् अलंकार-विषयक समस्त धारणाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) ध्वनिकार के पूर्व की धारणायें, (२) ध्वनिकार की धारणा और (३) कुन्तक की धारणा। ध्वनिकार के पूर्व इस विषय में जितने भी मत हैं उन सबका सार यही है कि जहाँ कहीं रस होता है वहीं रसवत् अलंकार माना जाता है। वास्तविकता यह है कि ध्वनिकार के पहले आचार्यों का ध्यान अलंकार्य तथा अलंकार के भेद की ओर गया ही नहीं था। इन लोगों की सामान्य धारणा का यदि विश्लेषण किया जावे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि ये लोग नित्य प्रति की व्यावहारिक भाषा तथा काव्य-भाषा में भेद मानते थे। इन लोगों का विचार था कि काव्य की भाषा मे एक रमणीयता होती है, एक आकर्षण होता है और एक वैलक्षण्य होता है जो लोक-भाषा में नहीं होता। इसीलिये सर्वसाधारण का आकर्षण काव्य की ओर विशेष रूप से होता है। काव्य में कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान होते हैं जो उसमें रमणीयता का आधान करते हुये उसे ग्राह्य बना देते हैं। जो भी तत्त्व काव्य मे रमणीयता का आधान कर उसे ग्राह्य बनाते हैं वे अलङ्कार कहलाने के अधिकारी हैं फिर वे चाहे रस हों, चाहे भाव हों, चाहे कोई और तत्त्व हों। इसी लिये ये लोग रस को भी अलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते थे और उसे 'रसवत्' इस नाम से पुकारते थे। 'रसवत्' यह एक अलङ्कार का नाम मात्र है। इस शब्द के साथ कुन्तक ने अलङ्कार शब्द को जोड़ कर 'रसवदलङ्कार' शब्द बनाकर षष्ठी तत्पुरुष तथा समानाधिकरण कर्मधारय का जो विवाद उठाया है वह अनावश्यक भी है, अप्रासङ्गिक भी और अयथार्थ भी। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि 'रसवत्' संज्ञा डित्थ-डवित्थ की भाँति यदृच्छाशब्द तो है नहीं, यह एक अन्वर्थ संज्ञा है, फिर इसका अर्थ क्या है और इसके नामकरण का कारण क्या है? वस्तुतः काव्य को ग्राह्य बनानेवाले तत्त्वों में एक रस भी है। अतः जो लोग काव्य को ग्राह्य माननेवाले समस्त तत्त्वों को अलङ्कार नाम से अभिहित करने के पक्षपाती हैं उनके मत मे रस को ही अलङ्कार कहा जाना चाहिये फिर नाम करण में मतुप् प्रत्यय क्यों जोड़ दिया गया है? महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में लिखा है कि दाक्षिणात्य लोग तद्धित के प्रेमी होते हैं। वे लोग 'लोक मे' 'वेद मे' कहने के स्थान पर प्रायः 'लौकिक मे' 'वैदिक मे' कहा करते हैं। पतञ्जलि ने यह बात किसी सामान्य व्यक्ति के लिये नहीं कही अपितु महावैय्याकरण तथा मुनित्रयी में महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कात्यायन के विषय में कही है। ज्ञात होता है किसी दाक्षिणात्य ने या दाक्षिणात्य के समान किसी तद्धित-प्रेमी ने रसालङ्कार

तारावती

कहने के स्थान पर रसवदलङ्कार शब्द का प्रयोग कर दिया होगा और परम्परानुरोध से वही शब्द चल पड़ा। इसीलिये ध्वनिकार ने रसालङ्कार शब्द का प्रयोग किया है रसवदलङ्कार का नहीं। ( काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः। ) यदि हम प्राचीन आचार्यों का अध्ययन उन्हीं के दृष्टिकोण से करें तो रसवदलङ्कारों में अलङ्कार्य और अलङ्कार के विभाजन की चेष्टा होनी ही नहीं चाहिये। प्राचीनों का मन्तव्य केवल इतना ही था कि अनेक तत्त्वों में रस भी एक ऐसा तत्त्व है जो काव्य को ग्राह्य बनाने में सहायक होता है अतः वह अलङ्कार शब्द द्वारा अभिहित किये जाने का अधिकारी है। अथवा यदि अलङ्कार तथा अलङ्कार्य के विभाजन के बिना सन्तोष न हो तो यहाँ मान लिया जा सकता है कि सामान्य शब्द और अर्थ अलङ्कार्य होते हैं और रस अलङ्कारक होता है। शब्दगत और अर्थगत अलङ्कार माने ही जाते है और लोचनकार ने रस की उपमा इत्यादि से समानता स्थापित करते हुये लिखा ही है कि जिस प्रकार साम्य का आधान कर उपमा उपकारक होती है उसी प्रकार सरसता का सम्पादन कर रस भी प्रस्तुत का उपकारक हो जाता है। इन आचार्यों के मत मे अलङ्कार हो जाने पर रस की गौणता भी प्रसक्त नही होती क्योंकि ये आचार्य अलङ्कार को गौण तत्त्व मानते ही नहीं थे।

ध्वनिकार काव्यशास्त्र के इतिहास मे एक सीमास्तम्भ हैं। इन्होंने प्राचीन काल से चली आती हुई काव्यशास्त्रीय परम्पराओं का पुनः परीक्षण किया और काव्यशास्त्र से सम्बद्ध प्रत्येक तत्त्व को उसके उचित स्थान पर विन्यस्त करने की चेष्टा की। ध्वनिकार ने अलङ्कार और अलंङ्कार्य के विभाजन पर भी उचित विचार किया। यदि विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जावे तो ज्ञात होगा कि ध्वनिकार के मत मे सौन्दर्य ही अलङ्कार्य होता है। अलंकार उस सौन्दर्य की अभिवृद्धि का साधन होता है। काव्य में अलंकार्य वही तत्त्व होता है जिसमे सौन्दर्य पर्यवसित होता है। दूसरे तत्त्व जो सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं अलंकार कहलाते हैं। काव्य की भाषा वही नहीं होती जो कि लोक मे प्रयुक्त की जाती है। लोक मे हम प्रायः अपना मन्तव्य सीधे-सीधे शब्दों मे कह देते हैं। किन्तु काव्य मे कोई बात कही नहीं जाती अपितु अभिव्यक्त की जाती है। जब लोकभाषा काव्यार्थप्रत्यायन मे कुण्ठित हो जाती है तब कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो कि अपने लौकिक अर्थ से भिन्न एक नया अर्थ (प्रतीयमान अर्थ) देने लगते हैं, जिसमे एक ऐसा सौन्दर्य होता है जो बलात् परिशीलक के अन्तःकरण को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यद्यपि यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता

## तारावती

है वस्तु, अलंकार और रस, तथापि काव्य का आस्वाद्यरूप सौन्दर्य उसके भाव पर ही अधिकृत रहता है। अतः भावानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति ही रमणीयता के आधार का एकमात्र साधन है जिससे किसी भी काव्य को काव्यरूपता प्राप्त हो जाती है। यह भावानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति दो रूपों में विभाजित की जा सकती है—मुख्यरूप में तथा अमुख्यरूप में। जो भावात्मक अर्थ कवि का मुख्य अभिव्यङ्ग्य होता है उसी को ध्वनि संज्ञा प्राप्त होती है। वह रस या भाव ही अलंकार्य होता है और उसी के लिए अलंकारों का प्रयोग हुआ करता है। वैसे तो रमणीयता का आधार कोई भी भाव हो सकता है, भाव के माध्यम ही से रमणीयता आस्वाद्य हो जाती है किंतु अलंकारों का प्रयोग उस रमणीयता की अधिकाधिक अभिवृद्धि कर देता है। अतः मुख्यतया प्रतिष्ठित भाव की रमणीयता के अभिवर्धक जितने भी तत्व होते हैं उन्हें ही अलंकार कहा जाता है। ध्वनि-संज्ञा को प्राप्त होनेवाले मुख्य भाव के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भाव भी काव्य में प्रयुक्त होते हैं। ये भाव मुख्य भाव-प्रवण होकर उसके सौन्दर्य को बढ़ाने में निमित्त हो जाते हैं। अतः इन भावों को भी मुख्य अलंकार्य भाव का अलंकरण करने के कारण अलंकार कहा जाता है। उदाहरण के लिए भक्ति काव्य में कवि के अन्तःकरण मे स्थित आराध्य के प्रति प्रेम ही मुख्यतया अभिव्यक्त होकर आस्वादन में निमित्त होता है। भक्त भावावेश में अपने आराध्य के जिन लोकोत्तर कृत्यों का प्रकथन करेगा वे कृत्य अनेक भावनाओं को अभिव्यक्त करनेवाले होंगे। इस प्रकार अभिव्यक्त होनेवाली भावनायें रसरूपिणी भी हो सकती हैं, भावरूपिणी भी और भावों की विभिन्न दशाओं से सम्बद्ध भी। इस प्रकार की जो भावनायें भक्तगत आराध्यालम्बनात्मक भाव ( भक्ति ) की अभिवृद्धि करेंगी वे उस भाव का अलंकरण करने के कारण अलंकार ही कहलावेंगी। आशय यह है कि ध्वनिरूप में स्थित रस; भाव या किसी अन्य तत्त्व को सौन्दर्याभिवर्धन के द्वारा अलंकृत करनेवाला रस रसालंकार या रसवदलंकार कहलाता है। यही ध्वनिकार की मान्यता का सार है। इस मान्यता में अलंकार्य और अलंकार के ठीक रूप में विभाजित न किये जाने का भी दोष नहीं आता। क्योंकि स्पष्ट रूप में मुख्यतया अभिव्यङ्ग्य रस इत्यादि अलंकार्य होता है और उसके सौन्दर्यातिशय का सम्पादक रस अलंकार होता है। यह अलंकार वस्तुतः रसालंकार ही होता है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। रसवदलंकार का प्रयोग ध्वनिवादियों ने परम्परा-निर्वाह के मन्तव्य से ही किया है। इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए आचार्य कुन्तक ने कुछ नहीं कहा। कुन्तक ने केवल आनन्दवर्धन के दिये हुये उदाहरण का खण्डन किया है। आनन्दवर्धन

के सिद्धान्त के विषय मे उन्होंने कुछ नहीं कहा। वस्तुतः उदाहरण के सङ्गत न होने से किसी सिद्धान्त का खण्डन नहीं हो जाता। फिर भी उदाहरणों के विषय में कुन्तक ने जो कुछ कहा है उसकी भी एक परीक्षा कर लेना ठीक होगा।

कुन्तक ने 'तन्वीमेघ जलार्द्र.....जातानुतापेव सा' तथा 'तरङ्गभ्रूभङ्ग.....सा परिणता' इन दो पद्यों को रसवदलङ्कार का उदाहरण मानकर इनकी रसवदलङ्कारपरक योजना स्वयं की है और उसके खण्डन के लिये जो युक्ति दी है उसका पाठ उच्छिन्न हो गया है। अतः यह ज्ञात नहीं होता कि कुन्तक ने इन पद्यों की रसवदलङ्कारता का खण्डन किस आधार पर किया है। वास्तविकता यह है कि आनन्दवर्धन ने ये उदाहरण रसवदलङ्कार के नहीं दिये हैं अपितु इन पद्यों को यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया है कि केवल चेतन वस्तु ही रस का विषय बन सकती है। यही कुन्तक ने भी माना है और अपनी बात को सिद्ध करने के लिये आनन्दवर्धन का अतिदेशमात्र कर दिया है। कुन्तक भ्रमवश इन पद्यों को रसवदलङ्कार का उदाहरण समझ गये हैं।

इसके बाद कुन्तक ने आनन्दवर्धन के वास्तविक उदाहरणों पर विचार किया है। पहले 'क्षितीहस्ता....वः शराग्निः' इस उदाहरण पर विचार किया गया है। इस विषय में कुन्तक ने लिखा है—'केवल शब्दसाम्य के आधार पर विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थों का अभ्यास परमात्मा भी नहीं कर सकता। केवल शब्द-साम्य से विरुद्ध धर्मों की एकता की प्रतीति अनुभवविरुद्ध है। यदि इसीप्रकार एकता मानी जाने लगेगी तो 'गुड-खण्ड' शब्द से विषास्वाद भी प्रतीतिगोचर होने लगेगा। दूसरी बात यह है कि यदि शब्दसाम्य से वैसी प्रतीति मानी भी जावे तो भी करुण और शृङ्गार इन दो विरोधी रसों का एकत्र समावेश दोष हो जावेगा। पता नहीं कुन्तक ने यह खण्डन आनन्दवर्धन का किया है या अमरुक का। यदि आनन्दवर्धन का खण्डन है तो अमरुक ने जो 'कामीव' लिखकर शब्दसाम्य के आधार पर उपमा का प्रयोग किया है उसकी क्या व्याख्या होगी? यद्यपि शब्द-साम्य के आधार पर बिम्बग्राही उपमा का प्रयोग नहीं हो सकता और न उपमा उतने अधिक सादृश्य का ही प्रतिपादन कर सकती है, तथापि शब्द पर आधारित उपमा भी सहृदयों के चित्तों की कुछ न कुछ आवर्जक होती ही है। इसमें सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं। इसीलिये महाकवियों के काव्य में भी शब्दसादृश्य पर आधारित उपमा का प्रयोग देखा जाता है। दूसरा आरोप है विरोधी रसों के एकत्र समावेश का। शास्त्रकारों ने शृङ्गार और करुण को परस्पर विरोधी माना है। प्रस्तुत पद्य में इन दोनों रसों का एकत्र

समावेश किया गया है। कुन्तक का कहना है कि यह काव्य का दोष है। किन्तु विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश वहीं पर दोष होता है जहाँ दो में कोई एक प्रधान हो। जहाँ दोनों रस किसी दूसरे तत्त्व के अङ्ग होने के कारण गौण हो जाते हैं पर उनका परस्पर समावेश ही नहीं होता अतः वह दोष नहीं माना जाता। यहाँ पर भक्त-गत शिवालम्बनक रतिभाव प्रधान है और करुण तथा ईर्ष्याविप्रलम्भ दोनों ही उसके अङ्ग हो रहे हैं। अतः उनका एकत्र समावेश दोष नहीं माना जा सकता। कुन्तक का कहना है कि यहाँ पर सादृश्य का कारण वास्तविक नहीं है, अतः यह दोष है। इस विषय में पहले ही बतलाया जा चुका है कि कवि-परम्परा के अनुसार शब्द-साम्य भी उपमा का प्रयोजक होता है। इस प्रकार इस उदाहरण का कुन्तक द्वारा किया हुआ खण्डन ठीक नहीं है।

कुन्तक ने दूसरे उदाहरण के खण्डन का उपक्रम करते हुये लिखा है कि 'आलोककार को स्वयं प्रथम उदाहरण से सन्तोष नहीं था और वे अपने प्रतिपादित सिद्धान्त की सङ्गति पूर्णरूप से बैठाना ही चाहते थे। अतः उन्होंने क्रोध में भर कर एक दूसरा उदाहरण दे दिया' किन्तु कुन्तक यहाँ पर यह भूल गये कि आनन्दवर्धन ने 'क्षितौ हस्तावलग्नः ·····' यह उदाहरण बाद में दिया है और जिसको कुन्तक दूसरा उदाहरण कहते हैं वह उन्होंने पहले दिया है। अतः यह कहना किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं हो सकता कि प्रथम उदाहरण मे अरुचि होने के कारण आनन्दवर्धन ने दूसरा उदाहरण दिया है। दूसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन ने दोनों उदाहरणों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् रक्खा है। अतः यह कहना कि एक उदाहरण से असन्तुष्ट होकर आनन्दवर्धन ने दूसरा उदाहरण दिया है किसी प्रकार भी ठीक नहीं कहा जा सकता। 'किं हास्येन न मे····· रिपुस्त्रीजनः' यह ध्वन्यालोक का प्रथम उदाहरण है और कुन्तक ने इसे ध्वन्यालोक का दूसरा उदाहरण बतलाया है। आन्दवर्धन ने यह उदाहरण देकर लिखा था कि यहाँ पर करुण रस राजविषयक रतिभाव का अङ्ग हो रहा है। इस पर कुन्तक ने लिखा है—"यहाँ पर करुण रस ही उपपन्न नहीं होता, क्योंकि पतियों के मारे जाने से ही स्त्रियों का वियोग हो ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी महापुरुष के प्रताप से आक्रान्त होकर शत्रुजन या उनकी स्त्रियाँ भाग गई हों और इस प्रकार उनका वियोग हो गया हो।" किन्तु यहाँ पर करुण रस मानने में चमत्कार का आधिक्य है। शत्रुओं के भाग जाने की अपेक्षा शत्रुओं के मारे जाने में राजा के शौर्य का आधिक्य अभिव्यक्त होता है। अतः यहाँ पर प्रवास-विप्रलम्भ न मानकर करुण रस ही माना जाना चाहिये।

तारावती

दूसरी बात यह है कि यहाँ मुख्य विषय करुण और विप्रलम्भ के निर्णय का नहीं है। यहाँ मुख्य विषय है रस को अलङ्कार सिद्ध करने का। चाहे यहाँ करुण माना जावे चाहे विप्रलम्भ। दोनों में कोई भी रस राजविषयक रतिभाव का अङ्ग ही होकर आया है अतः वह अलङ्कार ही है इसमें सन्देह नहीं। इसके आगे कुन्तक लिखते हैं—"यहाँ पर परिपोष पदवी को करुण रस ही प्राप्त होता है। यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार की गन्ध भी नहीं है।" आनन्दवर्धन ने भी यहाँ पर करुण रस ही माना है, विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं, अतः यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार का खण्डन अप्रासङ्गिक है। इसके बाद कुन्तक लिखते हैं—"इन दोनों उदाहरणों में करुण रस ही व्यङ्ग्य है, अतः वही प्रधान है। वह (व्यङ्ग्य होने के कारण) राजस्तुति इत्यादि किसी भी चाटूक्ति का अङ्ग नहीं हो सकता।" यहाँ पर कुन्तक इस भ्रम में प्रतीत होते हैं कि जो व्यङ्ग्य होता है वह प्रधान अवश्य होता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। कोई तत्त्व व्यङ्ग्य होकर भी प्रधान नहीं हो सकता और दूसरा तत्त्व वाच्य होकर भी प्रधान हो सकता है। देखना यह होता है कि किसी विशेष स्थान पर मुख्य वर्ण्य विषय क्या है? जो मुख्य वर्ण्य विषय होता है वही प्रधान माना जाता है चाहे वह व्यङ्ग्य हो चाहे वाच्य। इसके प्रतिकूल प्रधानतया वर्ण्यमान उस विषय को पुष्ट करने के लिये जितने भी तत्त्व आते हैं वे सब गौण होकर अलङ्करण करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं। प्रस्तुत उदाहरणों में यद्यपि करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है तथापि उसका उपादान शिवभक्ति तथा राजविषयक रति में सरसता सम्पादन के मन्तव्य से ही हुआ है। शिवभक्ति तथा राजविषयक रति प्रधानतया वर्ण्यमान होने के कारण अङ्गी है तथा वे ही अलङ्कार्य हैं। करुण रस का अभिव्यञ्जन उन भावों में सरसता सम्पादन के लिये किया गया है। अतः व्यङ्ग्य होते हुये भी करुण रस अलङ्कार के रूप में स्थित है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के दोनों उदाहरण समीचीन हैं और कुन्तक ने उनका खण्डन ग्रन्थ के ठीक अभिप्राय को न समझ करके ही किया है।

अब कुन्तक की अपनी परिभाषा पर भी एक दृष्टिपात कर लेना चाहिये। कुन्तक 'रसवत्' शब्द में मतुप् प्रत्यय नहीं मानते अपितु वत् प्रत्यय मानते हैं। यहाँपर पूछना यह है कि 'रसवत्' सभी अलङ्कारों का विशेषण है या रसवत् नाम का कोई एक अलङ्कार होता है? यदि रसवत् शब्द सभी अलङ्कारों का विशेषण माना जावे और यह स्वीकार किया जावे कि रसवत् नाम का कोई एक अलङ्कार नहीं होता तो कुन्तक की प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है। ऐसी दशा में 'सः' का वाच्यार्थ (निर्देश्य) क्या होगा? 'यथा स रसवन्नाम' इस कारिका में प्रयुक्त

## तारावती

'सः' का वाच्यार्थ क्या होगा ? दूसरी बात यह है कि अन्य आचार्यों ने मतुप् प्रत्यय माना था। उसको छोड़कर वत् मानने से नवीनता क्या आ गई ? क्या 'रस से युक्त अलङ्कार' कहने में वही प्रतीति नहीं होती जो 'रस के समान अलङ्कार' कहने में होती है ? यदि मतुप् मानने में भी वही अर्थ हो सकता है तो प्राचीन आचार्यों की मान्यता का परित्याग करने की क्या आवश्यकता ? तीसरी बात यह है कि कुन्तक के माने हुये 'रसवत्' अलङ्कार को स्वीकार करने में वही आपत्ति उपस्थित हो जाती है जो कुन्तक दूसरों का खण्डन करने के लिये देते थे। इस मत से प्रधान और गुणभाव का विपर्यास हो जाता है। 'रस के समान अलङ्कार' कहने में रस गौण हो जाता है और अलंकार प्रधान हो जाता है जो कि कुन्तक को भी अभीष्ट नहीं है। चौथी बात यह है कि कुन्तक रसवत् अलंकार को 'सर्वालंकारजीवितम्' कहते हैं। इसका आशय यह है कि रस सभी अलंकारों में अलंकारत्व सम्पादित करनेवाला एक तत्त्व है। रस के अभाव मे कोई अलङ्कार ही नहीं होता। तब तो यह अलङ्कार की सामान्य परिभाषा में कहा जाना चाहिये न कि रसवत् अलङ्कार के निरूपण के प्रसङ्ग में। इस प्रकार रसवत् शब्द को सभी अलंकारों का विशेषण मानना ठीक नहीं। अब दूसरा पक्ष लीजिये—रसवत् नाम का कोई एक अलंकार होता है। यदि कुन्तक ऐसा मानते हैं तो उनसे पूछा जा सकता है कि आपके मतमें अलंकार क्या होगा और अलंकार्य क्या होगा, तथा शब्द अर्थ की सङ्गति भी आपके मत में क्या होगी ? निस्सन्देह इन प्रश्नों का कुन्तक के पास भी कोई उत्तर नहीं है। अतः कुन्तक की मान्यता भी स्वीकार्य नहीं ठहरती। अत एव ध्वनिकार का मत ही समीचीन सिद्ध होता है कि जहाँ पर वर्ण्य विषय कोई दूसरा हो और वर्ण्य विषय से भिन्न कोई अन्य रस उस वर्ण्य विषय में सरसता-सम्पादन के मन्तव्य से प्रयुक्त किया गया हो वह सरसता-सम्पादक रस मुख्य विषय का अलंकरण करने के कारण अलंकार कहा जाता है। यही रसालंकार का क्षेत्र है।]

यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अलंकार अलंकार्य से भिन्न होता है। यह बात लोकसिद्ध भी है। (लोक में आभूषण और आभूष्य में भेद हुआ करता है। इसी प्रकार गुण भी गुणी से भिन्न होता है। गुण और अलंकार का व्यवहार तभी न्यायसङ्गत कहा जा सकता है जबकि गुणी और अलंकार्य विद्यमान हो। यह बात (अलंकार और अलंकार्य का भेद) हमारे पक्ष को मानने पर ही (रसवत् अलंकार के विषय में ध्वनिकार की व्यवस्था मानने पर ही) सिद्ध हो सकती है। इन्ही दो अभिप्रायों को लेकर छठी कारिका का उपक्रम करते हुये वृत्तिकारने लिखा है 'किञ्च'। इस किञ्च मे जो समुच्चयार्थक 'च' का प्रयोग किया गया है उसका

## ध्वन्यालोकः

किञ्च—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः विज्ञेयाः कटकादिवत् ॥ ६ ॥

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत।

(अनु०) और भी :—

गुण वे माने जाते हैं जो रसरूप उस अङ्गी अर्थ का आश्रय लेते हैं और अलङ्कार कटक इत्यादि के समान अङ्गाश्रित ही माने जाने चाहिये ॥ ६ ॥

( काव्य में ) विद्यमान रहनेवाले उस रस इत्यादि रूप अङ्गी अर्थ का जो आश्रय लेते हैं वे गुण कहे जाते हैं जैसे शौर्य इत्यादि। उसके अङ्ग होते हैं वाच्य-वाचक इत्यादि। जो उनका आश्रय लेते हैं वे अलङ्कार माने जाने चाहिये जैसे कटक इत्यादि।

### लोचन

अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धत्वात्. यथा गुणि-व्यतिरिक्तो गुणः। गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः। स चास्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिप्रायद्वयेनाह—किञ्चेत्यादि। न केवलमेतावद्युक्तिजातं रसस्याङ्गित्वे, यावदन्यदपीति समुच्चयार्थः। कारिकाप्यभिप्रायद्वयेनैव योज्या। केवलं प्रथमाभिप्राये प्रथमं कारिकार्धं दृष्टान्ताभिप्रायेण व्याख्येयम्। एवं वृत्तिग्रन्थोऽपि योज्यः ॥ ६ ॥

अलङ्कार्य से व्यतिरिक्त अलंकार माना जाना चाहिये क्योंकि लोक में वैसा ही सिद्ध है जैसे गुणी से व्यतिरिक्त गुण। गुण और अलंकार का व्यवहार गुणी और अलंकार्य के होने पर ही सङ्गत होता है। और वह हमारे पक्ष में ही उपपन्न होता है इन दो अभिप्रायों से कहते हैं—किञ्च इत्यादि। रस के अङ्गित्व में केवल इतना ही युक्तिसमूह नहीं है और भी है इस समुच्चय के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। कारिका की भी योजना दोनों अभिप्रायों से की जानी चाहिये। केवल प्रथम अभिप्राय में कारिका के पूर्वार्ध की दृष्टान्त के रूप में व्याख्या की जानी चाहिये। इसी प्रकार वृत्ति ग्रन्थ की भी योजना की जानी चाहिये।

### तारावती

आशय यह है कि रस को अङ्गी मानने में हमारे पास केवल इतनी ही युक्तियां नहीं हैं अपितु और भी हैं। कारिका की योजना भी दोनों अभिप्रायों से करनी चाहिये ( वे दो अभिप्राय ये हैं—( १ ) अङ्गी रस तथा गुण और अलंकार में भेद होता है

ध्वन्यालोकः

तथा च—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

(अनु०) वह इस प्रकार :—

शृङ्गार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है । शृङ्गाररसमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्यगुण अवस्थित होता है ॥ ७ ॥

लोचन

ननु शब्दार्थयोर्माधुर्यादयो गुणाः, तत्कथमुक्तं रसादिकमङ्गिनं गुणा आश्रिता इत्याशङ्क्याह—तथा चेत्यादि । तेन वक्ष्यमाणेन बुद्धिस्थेन परिहारप्रकारेणोपपद्यते

( प्रश्न ) शब्द और अर्थ के माधुर्य इत्यादि गुण होते हैं तो यह कैसे कहा कि गुण रस इत्यादि अङ्गी का आश्रय लेते हैं ? यह शङ्का करके (उत्तर) देते हैं—तथा च इत्यादि । अर्थ यह है कि उस आगे कहे जानेवाले बुद्धिस्थ परिहार

तारावती

और ( २ ) गुण और अलंकार का परस्पर भेद ) यदि कारिका का केवल प्रथम अभिप्राय ही स्वीकार करना हो अर्थात् केवल यह मानना हो कि कारिका अङ्गी और अङ्ग अथवा रस की ध्वनिरूपता और अलंकाररूपता का भेद दिखलाने के लिये ही लिखी गई है तो कारिका का पूर्वार्ध (गुण और गुणो के भेद को दिखलानेवाला भाग ) दृष्टान्त के अभिप्राय से लिखा हुआ माना जाना चाहिये और उसी रूप में उसकी व्याख्या भी की जानी चाहिये । इसी प्रकार वृत्तिग्रन्थ की भी योजना करनी चाहिये । ( इस करिकाका आशय यही है कि जिस प्रकार शूरता सौजन्य विद्या इत्यादि गुण आत्मा में ही विद्यमान रहते हुये उसके उत्कर्ष में कारण होते हैं उसी प्रकार माधुर्य ओज प्रसाद भी जोकि काव्य-गुण कहे जाते हैं आत्मभूत रस में ही स्थित होकर उसके उत्कर्ष को बढ़ाया करते हैं । इसीप्रकार जैसे वलय केयूर इत्यादि शारीरिक अलंकार शारीरिक शोभा को बढ़ाते हुये आत्मा के उत्कर्ष में कारण होते हैं उसी भाँति अनुप्रास उपमा इत्यादि काव्य के शरीर-स्थानीय शब्द और अर्थ को आभूषित करते हुये रसके उत्कर्षाधान मे कारण होते हैं। जिस प्रकार गुण और गुणी में भेद होता है उसीप्रकार अलंकार और अलंकार्य में भी भेद होता है । जिस प्रकार गुण का कहना तभी सङ्गत हो सकता है जब गुणी विद्यमान हो उसीप्रकार अलंकार की संज्ञा भी तभी गतार्थ हो सकती है जब उसका कोई अलंकार्य विद्यमान हो । यदि रस को अलंकार मानना है तो उसका कोई अलंकार्य भी मानना होगा। यह अलंकार और अलंकार्य का भेद तभी सङ्गत हो सकता है जबकि

## लोचन

चैतदित्यर्थः । शृंगार एवेति । मधुर इत्यत्र हेतुमाह--परः प्रह्लादन इति । रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः । यतेरपि चमत्कारोऽस्त्येव । अत एव मधुर इत्युक्तम्। मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटिति रसनानिपतितस्तावदभिलषणीय एव भवति । तन्मयमिति । स शृङ्गार आत्मत्वेन प्रकृतो यत्र

प्रकार से यह उपपन्न हो जाता है । शृङ्गार एव इति । 'मधुर' इसमें हेतु बतलाते है—'परः प्रह्लादन' इति । रति में समस्त देव तिर्यक् मनुष्य इत्यादि जातियों में अविच्छिन्न वासना होती है इस प्रकार कोई भी ऐसा नहीं होता जिसका हृदय उससे संवाद न खाता हो । यति मे भी चमत्कार होता ही है । अतएव मधुर यह कहा है । मधुर शर्करा इत्यादि रस विवेकी या अविवेकी स्वस्थ या आतुर किसी की भी रसना पर पड़ा हुआ अभिलषणीय हो ही जाता है । 'तन्मयम्' इति । वह शृङ्गार जहाँपर व्यङ्ग्य होने के कारण आत्मा के रूप में

## तारावती

पोषक रस को अलंकार माना जावे और मुख्य वर्ण्य विषय को अलंकार्य माना जावे। अतः ध्वनिकार की मान्यता ही निर्दुष्ट तथा स्वीकार्य सिद्ध होती है ॥ ६ ॥

( प्रश्न ) जब माधुर्य इत्यादि गुण शब्द और अर्थ-गत ही होते हैं तब आपने यह कैसे कहा कि गुण रस इत्यादि अङ्गी का आश्रय लेते हैं ? ( उत्तर ) इसी आशङ्का का समाधान करने के लिये सातवीं कारिका लिखी गई है और इसी का उत्तर देने के लिये सातवीं कारिका का उपक्रम करते हुये आलोककार ने लिखा है 'तथा च'। इस 'तथा च' शब्द का अर्थ यह है कि उक्त प्रश्न के समाधान का प्रकार इस समय मेरी बुद्धि मे स्थित है और आगे चलकर उसका कथन मैं स्वयं करूँगा। उसी समाधान के प्रकार से मेरी यह मान्यता प्रमाणित हो जाती है। कारिका मे कहा गया है कि 'शृङ्गार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है क्योंकि शृङ्गार-रसमय काव्य का आश्रय लेकर ही माधुर्य गुण की प्रतिष्ठा होती है।' इस कारिका मे शृङ्गार को परम आनन्ददायक कहा गया है। यह शृङ्गार को मधुर मानने का एक हेतु है। शृङ्गार परम आनन्ददायक होता है इसमे यही प्रमाण है कि शृङ्गार का स्थायी भाव होता है रति; और देवता, तिर्यक् मनुष्य इत्यादि जितनी भी जातियाँ इस विश्व मे विद्यमान है उन सबकी अविच्छिन्न वासना रति मे होती ही है । इस विश्व मे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका हृदय रति से मेल न खा जाता हो। रति-वासना किसी संन्यासी के हृदय मे भी चमत्कार का आधान कर ही देती है । इसीलिए शृङ्गार को मधुर कहा गया है । शर्करा इत्यादि मधुररस चाहे ज्ञानी की जबान पर पड़े

ध्वन्यालोकः

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।

(अनु०) अन्य रसों की अपेक्षा शृङ्गार ही अधिक मधुर होता है क्योंकि वही आनन्द-साधना मे हेतु होता है। शब्द और अर्थ उस मधुर शृङ्गार रस को प्रकाशित करते है अतएव काव्य का वह माधुर्य नामक गुण होता है। श्रव्यत्व तो ओजस् मे भी साधारणतया होता है। (अतः यह माधुर्य का लक्षण नहीं हो सकत।।)

लोचन

व्यङ्ग्यतया। काव्यमिति शब्दार्थावित्यर्थः। प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठां गच्छतीति यावत्। एतदुक्तं भवति--वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। तस्माद्युक्तमुक्तम् तमर्थमित्यादि। कारिकार्थं वृत्त्याह—शृङ्गार इति। ननु 'श्रव्यं नाति समस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति माधुर्यस्य लक्षणम्। नेत्याह—श्रव्यत्वमिति। सर्वं लक्षणमुपलक्षितम्। ओजसोऽपीति। 'यो यः शस्त्रं' इत्यत्र श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः॥ ७॥

प्राकरणिक है। 'काव्य' का अर्थ है शब्द और अर्थ। प्रतितिष्ठति का अर्थ है प्रतिष्ठा को प्राप्त होना है। यह कहा गया हो जाता है—वस्तुतः माधुर्य शृङ्गार इत्यादि रस का ही गुण है। वह मधुर रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ में उपचरित (लक्षणामूलक प्रयोग) है। मधुर रस की अभिव्यक्ति मे शब्द और अर्थ की समर्थता लक्षण है। इससे ठीक कहा है—'तमर्थम्' इत्यादि। कारिका का अर्थ-वृत्ति के द्वारा बतलाया जा रहा है—शृङ्गार इति। (प्रश्न) माधुर्य का लक्षण 'जो सुनने योग्य हो और जिसमे शब्द अधिक समासगर्भित अर्थ देनेवाले न हों उस (काव्य) को मधुर कहते हैं। (उत्तर देते हैं) नहीं, यह कहते हैं—श्रव्यत्वमिति। सभी लक्षण का उपलक्षण लिया गया। 'ओजस् का भी'। भाव यह है कि—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में श्रव्यत्व और असमस्तत्व तो है ही॥ ७॥

तारावती

चाहे अज्ञानी की, चाहे स्वस्थ की और चाहे आतुर की, किन्तु यह रस किसी भी व्यक्ति की जबान पर पड़ते ही शीघ्र अभिलषणीय हो ही जाता है। कारिका के 'तन्मय' शब्द का अर्थ है—'वह शृङ्गार ही व्यङ्ग्य होने के कारण आत्मा के रूप मे जहाँ स्वीकार किया गया है उस काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य गुण प्रतिष्ठित होता है।' काव्य का अर्थ है शब्द और अर्थ। 'प्रतिष्ठित होता है' का अर्थ है प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस वाक्य मे यह बात कही गई है कि—वस्तुतः माधुर्य

ध्वन्यालोकः

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ८ ॥

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत्। सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति।

(अनु०) विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में माधुर्य की उत्तरोत्तर अधिकता होती है। कारण यह है कि इन रसों में मन क्रमशः अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

विप्रलम्भ शृंगार और करुणरसों में तो माधुर्य ही प्रकर्षवाला होता है क्योंकि वे रस सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित करने में निमित्त होते हैं।

लोचन

सम्भोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतरत्वं मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह—शृङ्गार इत्यादि। करुणे चेति

सम्भोग शृङ्गार से मधुरतर है विप्रलम्भ, उससे भी मधुरतम है करुण। इस प्रकार शब्द और अर्थ में उनका अभिव्यञ्जन कौशल मधुरतरत्व और मधुरतमत्व होता है इस अभिप्राय से कहते हैं—शृङ्गार इति। 'करुणे च' में च शब्द क्रम को

तारावती

नामक गुण शृङ्गार इत्यादि रसों का ही होता है। औपचारिक रूप में उस मधुर रस को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ के लिए भी 'माधुर्य गुण' इस शब्द का प्रयोग हो जाता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ की मधुर शृङ्गार इत्यादि रसों की अभिव्यक्ति-समर्थता ही माधुर्य के नाम से अभिहित की जाती है। यही माधुर्य का लक्षण है। वृत्तिकार ने 'शृङ्गार एव..... गुणः' इन शब्दों में कारिका का अर्थ ही कर दिया है। (प्रश्न) भामह ने तो माधुर्य का यह लक्षण लिखा है—'जो श्रव्य हो और जिसमें शब्द अधिक समासगर्भित न हों उसे मधुर कहते हैं।' (उत्तर) यह बात नहीं है। श्रव्यत्व तो ओज में भी मधुर के समान ही होता है। यहाँ पर 'श्रव्यत्व' का अर्थ है भामह का पूरा लक्षण अर्थात् भामह के बतलाये हुये माधुर्य के दोनों तत्त्व-श्रव्यत्व भी और असमस्तत्व भी। 'ओजस् में भी होता है' कहने का आशय यह है कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति.....' इत्यादि वेणीसंहार के पद्य में श्रव्यत्व भी है और असमस्तत्व भी। अतः ओज में भी ये दोनों तत्त्व पाये ही जाते हैं। अतएव भामह का किया हुआ माधुर्य का लक्षण ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

संभोग शृङ्गार से अधिक मधुर होता है विप्रलम्भ शृंगार और उससे भी अधिक

## लोचन

च शब्दः क्रममाह । प्रकर्षवदिति । उत्तरोत्तरं तरतमयोगे नेति भावः । आर्द्रतामिति । सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः । अधिकमिति । क्रमणेत्याशयः तेन करुणेऽपि सर्वथैव चित्तं द्रवतीत्युक्तं भवति । ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति तर्हि पूर्वकारिकायां शृङ्गार एवेत्येवकारः किमर्थः ? उच्यते—नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते; अपि त्वात्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः; उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येवकारेण द्योत्यते । वृत्त्यार्थमाह—विप्रलम्भेति ॥ ८ ॥

कहता है । प्रकर्षवत् इति । भाव यह है कि उत्तरोत्तर तर और तम के योग से । 'आर्द्रताम्' इति । सहृदय का चित्त आवेश-रहित काठिन्य, क्रोधादिजन्य दीप्तरूपत्व और विस्मय हास इत्यादि रागित्व को छोड देता है यह अर्थ है । अधिकमिति । आशय यह है कि क्रमशः । इससे करुण में भी सभी का चित्त द्रवित हो जाता है यह कह दिया गया है । ( प्रश्न ) करुण मे भी मधुरिमा होती है तो पहली कारिका मे 'शृङ्गार एव' में एवकार किसलिये है । ( उत्तर ) कहा जाता है—इससे रसान्तर का व्यवच्छेद नहीं होता । अपितु आत्मभूत रस के ही वस्तुतः माधुर्य इत्यादि गुण होते हैं । उपचार से शब्द और अर्थ मे भी ( व्यवहृत किये जाते हैं ) यह एवकार से द्योतित किया जा रहा है । वृत्ति के द्वारा अर्थ कहते हैं—विप्रलम्भ इति ॥ ८ ॥

## तारावती

मधुर होता है करुण रस । इस प्रकार जिन शब्दों और अर्थों मे उन रसो के अभिव्यञ्जन की कुशलता होती है उन शब्दों और अर्थों को (मधुर) मधुरतर और मधुरतम कहा जाता है । ( संभोग शृंगार को प्रकाशित करनेवाले शब्द और अर्थ मधुर होते हैं । विप्रलम्भ को प्रकाशित करनेवाले मधुरतर होते हैं और करुण रस को प्रकाशित करनेवाले मधुरतम होते हैं । ) इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यह ८ वीं कारिका लिखी गई है जिसका आशय यह है कि 'विप्रलम्भ नामक शृंगार में तथा करुण रस मे माधुर्य ( उत्तरोत्तर ) प्रकर्ष को प्राप्त है । क्योंकि इन रसो मे मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है ।' 'करुणे च' मे जो च अक्षर का प्रयोग किया गया है वह क्रम को व्यक्त करता है । इस प्रकार इसका अर्थ हो जाता है कि माधुर्य संभोग, विप्रलम्भ तथा करुण में क्रमशः ( उत्तरोत्तर ) प्रकर्ष को प्राप्त होता है । 'प्रकर्षवत्'-का आशय यह है कि उत्तरोत्तर तर और तम के योग से उनमें प्रकर्ष होता है । अर्थात् विप्रलम्भ मधुरतर और करुण मधुरतम होता है । 'आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है' कहने का आशय यह है कि चित्त में स्वाभाविक

## तारावती

कठोरता होती है। ( भक्ति रसायन मे लिखा है कि चित्त नामक द्रव्य स्वभावतः कठोर होता है।) जब चित्त मे माधुर्य का सञ्चार होता है तब चित्त अपने आवेश रहित ( अन्य भावना के सन्निहित न होने पर ) स्वाभाविक काठिन्य का भी परित्याग कर देता है, क्रोध इत्यादि से उत्पन्न दीप्त रूपता का भी परित्याग कर देता है, विस्मय हास इत्यादि से उत्पन्न चित्त की रागावस्था ( विस्मय हासादिजन्य विक्षेप) का भी परित्याग कर देता है। 'मन अधिक आर्द्र हो जाता है' इस वाक्य मे अधिक शब्द का अभिप्राय है क्रमशः अधिक आर्द्र हो जाता है। इसका आशय यह हुआ कि करुण रस में भी चित्त सर्वदा ( पूर्णरूप से, सबसे अधिक ) द्रवित हो जाता है। ( प्रश्न ) यदि करुण रस मे भी मधुरिमा होती है तो पहली कारिका में 'शृंगार एव' ( शृङ्गार में ही ) इस 'एव' कार ( ही शब्द ) का क्या अर्थ हुआ ? ( एव शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से होता है—विशेष्य के साथ, विशेषण के साथ और क्रिया के साथ। विशेष्य के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेद होता है अर्थात् उसका विशेषण उसी मे रहता है अन्यत्र नहीं। जैसे 'राम एव कुशलः अस्ति' का अर्थ हुआ राम के अतिरिक्त अन्य कोई कुशल नहीं है। विशेषण के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ होता है अयोगव्यवच्छेद अर्थात् उस विशेषण का अभाव विशेष्य मे नहीं है। जैसे 'रामः कुशल एवास्ति' का अर्थ हुआ राम में कुशलता का अभाव नहीं है। क्रिया के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ अत्यन्तायोगव्यवच्छेद होता है अर्थात् विशेष्य मे विशेषण के अत्यन्ताभाव का निषेध कर उससे विशेषण की सत्ता को नियमित कर देता है। जैसे 'चन्द्रः आकर्षको भवत्येव' इस वाक्य मे 'एव' का प्रयोग क्रिया के साथ हुआ है। अतः चन्द्र मे आकर्षकता के अत्यन्ताभाव का निषेधकर उसमें आकर्षकता के सम्बन्ध को नियमित कर देता है। यही बात निम्नलिखित श्लोक मे कही गई है:—

अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥

प्रस्तुत प्रकरण में 'शृंगार एव मधुरः' कहा गया है। यहाँपर एवकार का प्रयोग विशेष्य के साथ किया गया है। अतएव इसका अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदपरक होगा। अर्थात् इसका आशय होगा—'शृंगार से भिन्न अन्य कोई रस मधुर नहीं होता।' किन्तु प्रस्तुत कारिका में कहा गया है कि करुण मधुरतम होता है। यह पूर्वापर-विरोध कैसा ? ) ( उत्तर ) यहाँपर एवकार से रसान्तर का व्यवच्छेद नहीं होता। अपितु इसका आशय यह निकलता है कि परमार्थतः माधुर्य इत्यादि गुण आत्म-स्थानीय रस के ही होते है, औपचारिक रूप में शब्द और अर्थ के लिये

ध्वन्यालोकः

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते । तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम् ।

(अनु०) काव्य में रहनेवाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा लक्षित होते हैं । उस दीप्ति को व्यक्त करने में जो शब्द और अर्थ कारण होते हैं उन्हीं का आश्रय लेकर ओजगुण व्यवस्थित होता है' ॥ ९ ॥

निस्सन्देह रौद्र इत्यादि रस बहुत बड़ी दीप्ति अर्थात् उज्ज्वलता को उत्पन्न कर देते हैं । अतएव लक्षणा से वे रौद्र इत्यादि ही दीप्ति होते हैं यह कहा जाता है । उस दीप्ति को प्रकाशित करनेवाला शब्द ऐसा वाक्य होता है जिसमे रचना दीर्घसमास से अलंकृत हो ।

लोचन

रौद्रेत्यादि । आदिशब्दः प्रकारे । तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम् । दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा । सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या ।

रौद्र इत्यादि । आदि शब्द प्रकारवाचक है । इससे वीर और अद्भुत का भी ग्रहण हो जाता है। दीप्ति—प्रतिपत्ता के हृदय मे विकास विस्तार और प्रज्वलन-स्वभाववाली होती है और वह मुख्य रूप मे ओज.शब्दवाच्य होती है । उसके

तारावती

भी मधुर शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है । ( आशय यह है कि एवकार अन्य योग का व्यवच्छेदक होगा । शृंगार से भिन्न एक तो कोई दूसरा रस हो सकता है जिससे शृङ्गार का सजातीय भेद है । एक रस से भिन्न शब्द या अर्थ हो सकता है जिससे रस का विजातीय भेद है । यहाँपर आचार्य का मन्तव्य शृङ्गार के सजातीय भेद से नहीं है अपितु विजातीय भेद से है । 'शृङ्गार के अर्थ मे सामान्यतः शृंगार के समान वृत्ति रखनेवाले सभी रस सन्निविष्ट हो जाते हैं वे ही मधुर होते हैं, अब्द और अर्थ नहीं । किन्तु औपचारिक प्रयोग उनमें भी हो जाता है ) वृत्तिकार ने इस कारिका का अर्थ करते हुए लिखा है कि विप्रलम्भ शृंगार और करुण मे माधुर्य ही प्रकर्षवान् होता है क्योंकि सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने में वे अधिक निमित्त होते हैं ॥ ८ ॥

( नवीं कारिका का अर्थ यह है—'काव्य मे रहनेवाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा पहिचाने जाते हैं । उस दीप्ति गुण की अभिव्यक्ति में निमित्त शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर ओज व्यवस्थित होता है । ) इस कारिका में 'रौद्र इत्यादि'-गत इत्यादि का अर्थ है रौद्र रस के ढंग के अन्य रस । इस प्रकार इसमे वीर और

## लोचन

तदास्वादमया रौद्राद्याः, तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया । तेन कारणे कार्योपचारात् रौद्रादिरेवौजःशब्दवाच्यः । ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनावाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते । यथा चञ्चदित्यादि । तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नैर्गमकैर्वाचकैरभिधीयमानः समासापेक्ष्यपि दीप्तिरित्युच्यते । यथा 'यो यः' इत्यादि ।

आस्वादमय रौद्र इत्यादि होते हैं । उस आस्वादात्मक कार्यरूप दीप्ति से दूसरे रसों से पृथक् रूप मे प्रतीत होते है । इससे कारण मे कार्य का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओजः शब्द वाच्य होते हैं।अतः लक्षितलक्षणा के द्वारा तत्प्रकाशन-परक दीर्घसमास-रचना वाक्यरूप शब्द दीप्ति ( होता है ) यह कहा जाता है । जैसे चञ्चत् इत्यादि । उसका प्रकाशन-परक अर्थ प्रसन्न और शीघ्र अर्थबोधक वाचकों के द्वारा कहा जाता हुआ समास की बिना ही अपेक्षा किये हुये भी दीप्ति यह कहा जाता है । जैसे 'यो यः' इत्यादि ।

## तारावती

अद्भुत का समावेश हो जाता है । दीप्ति का स्वभाव ही है कि वह पाठकों दर्शकों या श्रोताओं के हृदय को विकसित विस्तृत या प्रज्वलित कर देती है । आशय यह है कि दीप्ति एक ऐसी चित्तवृत्ति को कहते है जिसमें विकास, विस्तार और प्रज्वलन तीनों मिले होते है । उसी दीप्ति को मुख्य रूप मे ओज कहा जाता है। उस दीप्ति-रूप चित्तवृत्तिमय रौद्र इत्यादि रस होते हैं अर्थात् रौद्र इत्यादि रस दीप्ति को उत्पन्न किया करते है । रौद्र इत्यादि रस कारण होते हैं । उनसे उत्पन्न होनेवाला आस्वादरूप कार्य ही दीप्ति नामक एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति होता है । बस इसी दीप्तिरूप चित्तवृत्ति के द्वारा रौद्र इत्यादि रस अन्य रसों से पृथक् प्रतीत होते हैं । रौद्र इत्यादि रस कारण होते है और ओज उनका कार्य होता है । अतएव कारण मे काय का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओजःशब्द से पुकारे जाते है । ( दो विभिन्न पदार्थों मे सादृश्य की अधिकता के कारण भेद का स्थगन करना उपचार कहलाता है ।)

[ 'त एव दीप्तिरित्युच्यते' इस वृत्तिग्रन्थ मे 'ते' यह विशेष्य है और 'दीप्तिः' यह विशेषण है । व्युत्पत्तिवाद के अनुसार क्रिया विशेष्य के अनुसार ही हुआ करती है । अतः उच्यते इस क्रिया मे बहुवचन का प्रयोग होना चाहिये। किन्तु इति शब्द सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोधक है और उसी इति शब्द के साथ उच्यते का सम्बन्ध है । अतः क्रिया का सामान्यार्थक एकवचन उपपन्न हो जाता है । ]

इससे लक्षितलक्षणा के द्वारा उसको प्रकाशित करनेवाले ऐसे शब्द को दीप्ति

ध्वन्यालोकः

यथा—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

(अनु०) ( दीर्घ समासघटकवाक्य रूप शब्द के दीप्ति होने का उदाहरण ) जैसे :—'फड़कती हुई भुजाओं द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड गदा के अभिघात से दुर्योधन की दोनों ऊरुओं को एक साथ चूर्णकर आर्द्र तथा गाढ़े शोणित से अपने हाथों को लालकर के हे देवि ! यह भीम तुम्हारे केशों को बाँधेगा ।'

लोचन

चञ्चदिति । चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनादृत्यैव स्यानेनाश्यान-

'चञ्चत्' इत्यादि । चञ्चत् अर्थात् वेगपूर्वक घूमनेवाली भुजाओं से घुमाई हुई जो प्रचण्ड दारुण गदा उसके द्वारा जो सभी ओर से दोनों ऊरुओं का घात उससे ठीक रूप में चूर्ण की गई है अर्थात् न उठने के योग्य नष्ट की गई हैं दोनों ऊरु जिसकी उस सुयोधन को अनादृत कर के स्यान अर्थात् घने तथा आर्द्ररूप में

तारावती

कहते हैं जो कि दीर्घसमासरचना-गर्भित वाक्य के रूप में होता है । ( लक्षितलक्षणा या लक्षणलक्षणा उसे कहते हैं जिसमें किसी शब्द के वाच्य अर्थ का सर्वथा परित्याग होकर तत्संबद्ध कोई अन्य अर्थ लेलिया जाता है । इसी का दूसरा नाम जहत्स्वार्था है। यहाँ पर ओज शब्द का वास्तविक वाच्य अर्थ है हृदय की दीप्ति। किन्तु इसका प्रयोग रौद्र इत्यादि रसों के लिये भी होता है क्योंकि इनमें जन्य-जनक भाव सम्बन्ध है । जैसे 'आयुर्घृतम्' इस वाक्य में जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होने के कारण घीके लिये आयु अब्द का प्रयोग हो जाता है । इसी को उपचार कहते हैं । इसीलिये आचार्य ने रौद्रादि रसों के लिये ओजः शब्द का प्रयोग औपचारिक माना है । दूसरी लक्षणा होती है ओजस् को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ में । यहाँ पर लक्षणा तात्स्थ्य सम्बन्ध में होती है । जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में मञ्चपर बैठे हुये पुरुषों को मञ्च कह देते हैं । इसी प्रकार शब्दों पर और अर्थों पर आधृत दीप्ति नामक चित्तवृत्ति (ओज) का प्रयोग भी शब्दो और अर्थों के लिये हो जाता है। दीप्ति उस शब्द को कहते हैं जिसमे वाक्य के अन्दर दीर्घ समासरचना की गई हो

## लोचन

तया न तु कालान्तरशुष्कतयावनद्धं हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणितौ लोहितौ पाणी यस्य सः। अत एव स भीमः कातरत्रासदायी। तवेति। यस्यास्तत्तदपमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यत्युत्तंसवतः करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणित-शकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा। देवीत्यनेन कुलकलत्र खिली-

कालान्तर शुष्क रूप मे नहीं, अवनद्ध अर्थात् हाथों से न गिरते हुये रूपवाला अत्यन्त अन्दर से लेने के कारण घना रसमात्र स्वभाववाला नहीं इस प्रकार का जो शोणित अर्थात् रुधिर उससे लाल हो गये हैं हाथ जिसके। इसीलिये भीम अर्थात् कातरों को त्रास देनेवाला। 'तव' इति। जिसके वे देवी के अनुचित भी भिन्न-भिन्न बहुत से अपमान किये गये। उन तुम्हारे कचों को उत्तंसवाला कर देंगे अर्थात् चोटीवाला बना देंगे। वेणीभाव को दूर करते हुये हाथ से गिरे हुये रक्तबिन्दुओं से रक्तपुष्पों के आपीड के समान संयोजित कर देंगे यह उत्प्रेक्षा है। 'देवि'

## तारावती

और वह रचना दीप्ति को व्यक्त करती हो।) जैसे 'चञ्चद्भुजभ्रमित·····इत्यादि पद्य मे दीर्घ समास के द्वारा दीप्ति की उत्पत्ति होती है।' उस दीप्ति को प्रकाशित करनेवाले अर्थ को भी दीप्ति कहते हैं जिसका एकदम अर्थ को समर्पित करनेवाले शब्दों के द्वारा अभिधान किया गया हो और जिसके लिये दीर्घसमास की भी अपेक्षा न हो जैसे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि पद्य। अत्र 'चञ्चद्भुज भ्रमित·····' इत्यादि उदाहरण को लीजिये चञ्चत् शब्द भुज का विशेषण है और भ्रमित तथा चण्ड शब्द गदा के विशेषण हैं। आशय यह है कि चञ्चत् अर्थात् वेग के साथ लहराती हुई बाहुओं के द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड अर्थात् दारुण गदा से जो चारों ओर से ऊरुओं के ऊपर घात है उस घात के द्वारा एक साथ सुयोधन के दोनो ऊरुदेश चूर्ण हो जावेंगे अर्थात् उनमे पुनः उठने की शक्ति नहीं रह जावेगी। इस प्रकार के सञ्चूर्णित ऊरुओंवाले सुयोधन का अपमान कर आर्द्रतापूर्वक बंधे हुये गाढे रक्त से लाल हाथोवाला भीम हे देवि तुम्हारे कचों को शृङ्गारित करेगा। स्यान का अर्थ है आर्द्र। भीम के हाथ आर्द्र रक्त से ही सने हुये होंगे, समय के व्यतीत होने की शुष्कता उनमें नहीं आई होगी। 'बंधे हुये' रक्त कहने का आशय यह है कि गाढ़ा होने के कारण रक्त हाथो मे ही सीमित होगा; हाथों से टपक नहीं रहा होगा। गाढ़ा रक्त कहने का आशय यह है कि दुर्योधन का रक्त बिल्कुल अन्दर की नसों से निकाला गया होगा ऊपर ऊपर केवल रस के स्वभाव में ही स्थित रक्त नहीं लेलिया गया होगा। उसी रक्त से भीमके दोनों हाथ लाल हो

## लोचन

कारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्तव्या। सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाघातदानानुद्यमः। स च सञ्चूर्णितोरुत्वादेव। स्थानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता। समासेन च सन्ततवेगवहनस्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ताप्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका। अन्ये तु सुयोधनस्य संबन्धि यत्स्यानावनद्धं घनं शोणितं तेन शोणपाणिरिति व्याचक्षते।

इस सम्बोधन के द्वारा कुलवती के कलत्रत्व को व्यर्थ करने का स्मरण करानेवाले (कार्यों के) द्वारा क्रोध का ही उद्दीपनविभावत्व (सम्पादित) किया गया है। अतः यहाँपर शृङ्गार की शङ्का नहीं करनी चाहिये। सुयोधन का अनादर गदा के द्वितीय प्रहार का अनुद्यम है और ऊरुओं के चूर्ण होने से ही (होता है)। 'स्थान' के ग्रहण से द्रौपदीमन्यु प्रच्छालन में शीघ्रता सूचित की गई है और समास के द्वारा निरन्तर वेगपूर्ण प्रवाहित होने का स्वभाव होने से मध्य में उतने से ही विश्रान्ति को प्राप्त होते हुये चूर्ण की हुई दोनों ऊरुओंवाले सुयोधन के अनादर पर्यन्त प्रतीति एकरूप मे ही होती है इस प्रकार औद्धत्य की बहुत अधिक पोषिका है। दूसरे लोग तो सुयोधन से सम्बद्ध जो ताजे रूप में अवनद्ध घना रक्त उससे लाल हाथोंवाली यह व्याख्या करते है।

## तारावती

जावेंगे। भीम शब्द के प्रयोग से व्यञ्जना निकलती है कि भीम कातरों को त्रास देने वाले हैं अर्थात् भीम इतने अधिक भयानक हैं कि वीर से वीर व्यक्ति उनका विरोधी होकर कातर होजाता है और त्रास को अनुभव करने लगता है। 'तव' का व्यङ्ग्यार्थ है—'तुम वही हो जिसके अनेक प्रकार के ऐसे-ऐसे अपमान किये गये जो देवी पद पर अभिषिक्त किसी रमणी के लिये सर्वथा अनुचित थे। वही तुम हो, मैं तुम्हारे केशों को उत्तंसित करूँगा अर्थात् उत्तंसवाला बना दूँगा। उत्तंस का अर्थ है शिरोभूषण। आशय यह है कि तुम्हारे केशो की इस एकवेणीरूपता को दूर कर मैं प्रसाधित कर दूंगा। उस समय मेरे हाथ से गिरे हुये रक्त कण ऐसे शोभित होने लगेंगे मानो केशों का संयोजन कुसुमों के गुच्छों से किया गया हो। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर सम्बोधन मे हे देवि यह शब्द प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द कुलवधू के कुलवधूत्व रूप को व्यर्थ करने के विभिन्न उद्यमों को स्मरण करा देता है। इस प्रकार यह क्रोध का ही उद्दीपन विभाव बन जाता है। इस प्रकार यहाँ पर शृङ्गार की शङ्का नहीं करनी चाहिये। 'सुयोधनस्य' में षष्ठी 'षष्ठी चानादरे' इस पाणिनि सूत्र से अनादर अर्थ मे हुई है। सुयोधन

ध्वन्यालोकः

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नैर्वाचकाभिधेयः।

यथा—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्।
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवयाः गर्भशय्यां गतो वा॥
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः।
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम्।

(अनु०) उस ओज को प्रकाशित करनेवाला अर्थ दीर्घ समास रचना की बिना अपेक्षा किये हुये प्रसन्न ( शीघ्र अर्थ समर्पक ) शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। जैसे :—

'पाण्डवों की सेना में अपने भुजबल के अधिक अभिमान से परिपूर्ण जो-जो व्यक्ति शस्त्र धारण करता है; पाञ्चालों के वंश में जो कोई बालक है, अधिक आयु-वाला है अथवा गर्भशय्या में ही विराजमान है; जो कोई उस द्रोणवध रूप कर्म का साक्षी है अथवा मेरे युद्ध भूमि मे विराजमान होने पर जो कोई विरुद्ध रूप में आता है; चाहे वह सारे विश्व का ही संहारक क्यो न हो मैं क्रोधान्ध होकर उसका अन्त कर सकता हूँ।'

इत्यादि उदाहरणो से दोनों (शब्द और अर्थ) ओज का रूप धारण करते हैं।

तारावती

के अनादर का आशय यही है कि मैं एक गदा मे ही उसकी ऊरुओं को चूर्ण कर दूँगा, दूसरी बार गदा प्रहार की मुझे आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वह इसीलिये होगा कि ऊरु 'चूर्ण' हो जावेगी। 'स्यान' ( आर्द्र ) कहने से द्रौपदी के शोक-मिश्रित क्रोध के भाव को प्रक्षालित करने की शीघ्रता अभिव्यक्त होती है। समास का स्वभाव ही होता है निरन्तर वेग में प्रवाहित होना। अतः उतने मे ही ( मध्यवर्ती किसी घटना में ही ) विश्रान्ति को न प्राप्त कर दोनों चूर्णित ऊरुओंवाले सुयोधन के अनादरपर्यन्त प्रतीति एकरूप में ही हो जाती है। इस प्रकार यह प्रतीति औद्धत्य की अत्यन्त परिपोषक है। कुछ लोग 'सुयोधनस्य' में सम्बन्ध मे षष्ठी मानकर यह अर्थ करते है—'दुर्योधन का जो आर्द्र और गाढा रक्त उससे लाल हाथोंवाला यह भीम।' ( किन्तु यह अर्थ लोचनकार को मान्य नहीं है क्योंकि 'शोणित' शब्द समास के अन्दर आ गया है अतः उसका 'सुयोधनस्य' से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। व्याकरण का नियम है—'जो शब्द किसी दूसरे शब्द से सम्बद्ध हों उनका समास नहीं होता और जिनका समास हो चुका हो

## लोचन

य इति। स्वभुजयोर्गुरुमदो यस्य चमूनां मध्येऽर्जुनादिरित्यर्थः पाञ्चालराजपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन द्रोणस्य व्यापादनात्तत्कुलं प्रत्यधिकः क्रोधावेशोऽश्वत्थाम्नः। तत्कर्मसाक्षीति कर्णप्रभृतिः। रणे सङ्ग्रामे कर्तव्ये यो मयि यद्विषये प्रतीपं चरति समरविघ्नमाचरति। यद्वा मयि चरति सति सङ्ग्रामे यः प्रतीप प्रतिकूलं कृत्वास्ते स एवं विधो यदि सकलजगदन्तको भवति तस्याप्ययमन्तकः किमुतान्यस्य मनुष्यस्य देवस्य वा। अत्र पृथग्भूतैरेव क्रमाद्विमृश्यमानैरर्थैः पदात्पदं क्रोधः परां धारामाश्रित इत्यसमस्ततैव दीप्तिनिबन्धनम्। एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भयचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः॥ ९॥

य इति। दोनों सेनाओं के मध्य मे अपनी भुजाओं का गुरुमद है जिसको अर्थात् अर्जुन इत्यादि। पाञ्चालराज-पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा द्रोण के मारे जाने से उसके वंश के प्रति अश्वत्थामा का अधिक अधिक क्रोधावेश है। उस कर्म को देखनेवाला कर्ण इत्यादि। रण अर्थात् संग्राम मे विचरण करते हुये जो मुझमें अर्थात् मेरे विषय मे विपरीत आचरण करता है अर्थात् समर विघ्न का आचरण करता है। अथवा संग्राम में मेरे विचरण करने पर जो प्रतीप अर्थात् प्रतिकूलरूप मे वर्तमान होता है वह यदि समस्त जगत् का अन्तक होवे उसका भी मैं अन्तक हूँ किसी दूसरे मनुष्य या देव का कहना ही क्या? यहाँ पर पृथग्भूत तथा क्रमशः विमर्श किये जानेवाले अर्थों से एक पद से दूसरे पद मे क्रोध बहुत बडी धारा को प्राप्त हो गया है इस प्रकार असमस्तता ही दीप्ति में हेतु है।

इस प्रकार माधुर्य और दीप्ति परस्पर विरोधी रूप मे स्थित शृंगार इत्यादि और रौद्र इत्यादि में रहनेवाले (होते हैं) यह प्रदर्शित करते हुये उनके समावेश वैचित्र्य को हास्य भयानक बीभत्स और शान्त रसों मे (भी) दिखला दिया। शृंगार का अंग होने के कारण हास्य मे माधुर्य प्रकृष्ट होता है और विकाशधर्मा होने के कारण ओज भी प्रकृष्ट ही होता है। इस प्रकार दोनों का साम्य है। डूबी हुई चित्तवृत्ति के स्वभाववाला होते हुये भी भयानक मे विभाव के दीप्त होने से ओज का प्रकर्ष होता है और माधुर्य अल्प होता है। बीभत्स में भी ऐसा ही होता है। शान्त में तो विभाव के विचित्र होने से कदाचित् ओज का प्रकर्ष होता है और कदाचित् माधुर्य का। बस यही (गुणों का) विभाजन है॥ ९॥

तारावती

उनका दूसरे शब्दों से सम्बन्ध नहीं होता।' यदि किसी-न-किसी प्रकार 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' की भाँति सम्बन्ध षष्ठी का यहाँ समर्थन किया भी जावे तो भी अनादर की व्यञ्जना नहीं होगी जोकि प्रस्तुत प्रकरण के अनुकूल है।)

अब दूसरा उदाहरण लीजिये जिसमें समास की बिना अपेक्षा किये हुये अर्थ ही ओजरूप होता है—यह पद्य भी वेणीसंहार से ही लिया गया है और अश्वत्थामा का वचन है। द्रोणाचार्य के मारे जाने का समाचार सुनकर अश्वत्थामा उत्तेजना में भरकर कह रहे हैं—पाण्डवों की सेना में अपनी दोनों भुजाओं का जिसको बहुत बड़ा मद हो अर्थात् अर्जुन इत्यादि (यहाँपर प्रत्येक से 'मैं उसका अन्तक हूँ' यह वाक्य जुड़ जावेगा।) 'पाञ्चालगोत्र में जो कोई बच्चा हो, अधिक आयु-वाला हो अथवा अभी गर्भशय्या में ही विराजमान हो मैं उन सबका अन्त कर दूँगा।' यहाँ पर पाञ्चालगोत्र के प्रति अधिक क्रोध दिखलाया गया है। इसका कारण यही है कि पाञ्चालराजपुत्र धृष्टद्युम्न ने ही द्रोण का वध किया था। अतएव अश्वत्थामा का क्रोध उनके प्रति अधिक होना स्वाभाविक ही है। जो भी उस कर्म (द्रोणवध) का साक्षी है अर्थात् कर्ण इत्यादि। युद्ध करने में जो मेरे विषय में अर्थात् मेरे प्रतिकूल आचरण करता है अर्थात् मेरे युद्ध करने में विघ्न डालता है। अथवा युद्ध में मेरे विचरण करने पर जो प्रतिकूलता ग्रहण कर स्थित होता है, वह इस प्रकार का व्यक्ति यदि समस्त विश्व का अन्तक भी हो उसका भी मैं अन्तक हूँ; किसी और मनुष्य अथवा देवता का तो कहना ही क्या? यहाँ पर पृथक्-पृथक् पदों से क्रम-क्रम से अर्थात् रुक-रुक कर वक्ता के द्वारा विचारे गये अर्थों से एक पद से दूसरे पद में क्रोध एक बहुत बड़ी धारा का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार इस उदाहरण में समास का न होना ही दीप्ति को प्रकट करने में हेतु है। इस प्रकार यहाँपर यह दिखलाया गया है कि परस्पर विरोधी रूप में स्थित माधुर्य और दीप्ति गुण क्रमशः शृङ्गार इत्यादि और रौद्र इत्यादि रसों में रहते हैं। इस बात को प्रदर्शित करते हुये यह भी दिखला दिया है कि हास्य भयानक बीभत्स और शान्त में उनका समावेश किस विलक्षणता के साथ होता है। हास्य शृङ्गार का अंग होता है। अतः उसमें माधुर्य का प्रकर्ष होता है। दूसरी ओर वह विकासधर्मी भी होता है। अतः ओज का भी उसमें प्रकर्ष होता है। इस प्रकार हास्य में माधुर्य तथा ओज की समान भाव में स्थिति होती है। भयानक में यद्यपि आश्रय की चित्तवृत्ति डूब जाती है तथापि उसमें विभाव (आलम्बन और उद्दीपन दोनों) प्रदीप्त रूप में होते हैं। अतः उसमें ओज प्रकृष्ट रूप में होता है और माधुर्य अल्पमात्रा में होता है। बीभत्स में भी यही बात

ध्वन्यालोकः

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥ १० ॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

(अनु०) सब रसों के प्रति काव्य का जो एक समर्पकत्व गुण होता है, उसे ही प्रसाद कहते हैं; इसकी क्रिया सर्वसाधारण होती है ॥ १० ॥

प्रसाद का अर्थ है शब्द और अर्थ की स्वच्छता। यह गुण सर्वसाधारण रूप में रहता है और इसकी स्थिति सर्वसाधारण रूप में सभी रचनाओं मे होती है। इसको मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही स्थित होनेवाला समझना चाहिये।

लोचन

समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन। अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः। उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः। तमेव व्याचष्टे-प्रसादेति।

समर्पकत्व का अर्थ है ठीक रूप में अर्पण करना अर्थात् सूखे काष्ठ मे अग्नि के दृष्टान्त से प्रतिपत्ताओं के प्रति अपने आवेश के द्वारा शीघ्र ही क्रियाशील हो जाना। और अकलुषित जल के दृष्टान्त से वह अकालुष्य अर्थात् प्रसन्नत्व सब रसों का गुण है। उपचार से तो उस प्रकार के व्यंग्य अर्थ मे जो शब्द और अर्थ का समर्पकत्व वह भी प्रसाद है। उसी की व्याख्या करते हैं—प्रसादेति।

तारावती

होती है। शान्त में विभाव विचित्र प्रकार का (भिन्न-भिन्न रूप का) होता है। अतः उसमें कभी ओज का प्रकर्ष होता है और कभी माधुर्य का। रसों मे गुणों की स्थिति का यही विषय-विभाग है ॥ ६ ॥

'काव्य का सब रसों के प्रति जो एक समर्पकत्व गुण होता है उसे ही प्रसाद कहते हैं। इसकी क्रिया सब रसों के प्रति सर्वसाधारण होती है।' यह है कारिका का अर्थ। इसमें समर्पकत्व शब्द का प्रयोग किया गया है इसका अर्थ है ठीक रूप में अर्पण करदेने का गुण। इसका आशय यह है कि परिशीलकों के प्रति उनके हृदय से मेल खा जाने के द्वारा एक दम अपने स्वरूप का आवेश करते हुये प्रभावशालितारूप क्रिया को उत्पन्न कर देना। (कहने का अभिप्राय यह है सभी प्रकार के काव्यों में एक ऐसा गुण विद्यमान होना चाहिये कि काव्य सहृदय पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं के हृदय से मेल खा जावे और अपनी आत्मा अथवा

## लोचन

ननु रसगतो गुणस्तत्कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्याह—स चेति। च शब्दोऽवधारणे। सर्वरससाधारण एव गुणः। स एव च गुण एवंविधः। सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः। मुख्यतयेति। अर्थस्य तावत्समर्पकत्वं व्यङ्ग्यं प्रत्येव संभवति नान्यथा। शब्दस्यापि स्ववाच्यार्पकत्वं नाम कियदलौकिकं येन गुणः स्यादिति भावः। एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्त्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ॥१०॥

( प्रश्न ) जब रसगत गुण होता है तो शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसी ? इस शंका का उत्तर दे रहे हैं—'स च इति' । 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है । सर्वरससाधारण ही गुण है और वही गुण सर्वरससाधारण है । यह सभी जो रचना है वह शब्दगत और अर्थगत समस्त और असमस्त उन सब में ( यह प्रसाद गुण ) साधारण है । मुख्यतया इति । भाव यह है अर्थ का समर्पकत्व तो व्यंग्य के प्रति ही होता है अन्यथा नहीं। शब्द का भी अपने वाच्य का समर्पकत्व कितना अलौकिक है जो गुण माना जावे । इस प्रकार माधुर्य ओज और प्रसाद ये तीन गुण ही भामह के अभिप्राय से उपपन्न होते हैं । वे प्रतिपत्ता ( सहृदय ) के आस्वादमय होते हैं । उससे आस्वाद्य रस मे उपचरित होते हैं उससे उनके व्यञ्जक शब्द और अर्थ में भी ( उपचरित होते हैं ) यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

## तारावती

स्वरूप का सञ्चार एकदम सहृदयों में कर दे । इसी गुण को प्रसाद गुण कहते हैं । ) यह इसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूखे काष्ठ मे आग एकदम व्याप्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार साफ धुले हुये कपड़े के तार-तारको पानी एकदम पकड़ लेता है । यह अकालुष्य, अथवा स्वच्छता का ऐसा गुण जिससे काव्य हृदय को एकदम आक्रान्त कर लेता है, सभी रसों का गुण होता है । सादृश्य सम्बन्धिनी लक्षणा ( उपचार ) के आधार पर उस व्यंग्यार्थ को शीघ्र समर्पित करने की शब्द और अर्थ की जो विशेषता होती है उसे भी प्रसाद कहते हैं । इसीलिये वृत्तिकारने प्रसाद का अर्थ किया है शब्द और अर्थ की स्वच्छता ।

( प्रश्न ) जब गुण रसगत माना जाता है तब यह कहने का क्या आशय है कि स्वच्छता शब्दगत और अर्थगत होती है ।

( उत्तर ) 'और वह गुण सर्वरससाधारण होता है ।' ( वृत्ति ) यहाँपर 'और' शब्द अवधारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अवधारण का अर्थ है निश्चय करना । यह निश्चय दो प्रकार से किया गया है—( १ ) यह गुण सभी रसों मे ही सामान्य-

तारावती

तया रहता है ( शब्द और अर्थ में नहीं । ) ( २ ) यही गुण सभी रसों में सामान्यतया रहता है ( माधुर्य और ओज नहीं । ) यह गुण सभी प्रकार की रचनाओं में भी साधारणतया रहता है । इसका आशय यह है कि यह गुण शब्द में भी रहता है, अर्थमें भी रहता है, समासगर्भित रचना में भी रहता है, समासरहित रचना मे भी रहता है । इस प्रकार यह गुण सर्वसाधारण है। 'मुख्यतया गुण व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही माने जाने चाहिये ।' इस कथन का आशय यह है कि अर्थ की समर्पकता तो व्यङ्ग्यार्थ के प्रति ही हो सकती है अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकती। शब्द में समर्पकता का गुण वाच्यार्थ को शीघ्रातिशीघ्र समर्पित करने के रूप में भी हो सकता है । किन्तु यह कोई अलौकिक बात नहीं है अर्थात् सभी शब्दों से यह तो आशा की ही जाती है कि वे अपना अर्थ प्रकट कर दें । अतः शब्दों की इस विशेषता को गुण का नाम देदेना उचित नहीं । ( अतएव शब्दगत प्रसाद गुण का भी यही आशय है कि शब्द शीघ्र ही व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करदे ) इस प्रकार भामह के अभिप्रेत तीन गुण ही उपपन्न होते हैं-माधुर्य, ओज और प्रसाद । (वामन दण्डी इत्यादि के माने हुये १० गुण सिद्ध नहीं होते । ) ये गुण मुख्यतया प्रतिपत्ता की द्रुति दीप्ति तथा प्रसाद रूपिणी आस्वादमयी चित्तवृत्तियों के ही वाचक होते हैं । इसी से उनका औपचारिक प्रयोग उन-उन चित्तवृत्तियों द्वारा आस्वाद्य रस में भी होता है । फिर उन रसों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ में भी उनका लाक्षणिक प्रयोग ही होता है । यही प्रस्तुत प्रकरण का तात्पर्य है ॥ १० ॥

( ऊपर काव्यमे गुणों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है । आचार्यों ने गुणों पर अधिकतर रीतियों और वृत्तियों के सम्बन्ध में ही विचार किया है । अतः गुणों पर ठीक रूप में विचार करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि रीतियों और वृत्तियों को भी समझा जावे । ध्वनि-कार तथा उनके व्याख्याताओं ने वृत्तियों और रीतियों पर तृतीय उद्योत में विचार किया है । अतः वहीं पर गुणों के विषय में भी विस्तृत विवेचन किया जावेगा )

इस प्रकार यहाँ तक यह दिखलाया जा चुका कि विभाग-व्यवस्था के साथ गुण तथा अलङ्कार का व्यवहार हमारे पक्ष में ही ठीक हो सकता है । अब यह दिखलाया जा रहा है कि नित्यदोष और अनित्यदोष की विभाग-व्यवस्था भी रस-विषयक हमारी मान्यता के स्वीकार कर लेने पर ही सङ्गत हो सकती है । इसी मन्तव्य से यह ११ वीं कारिका लिखी गई है । ( भामह ने वाणी के चार दोष माने थे-श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट :—

ध्वन्यालोकः

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥ ११॥

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्येऽर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि? ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्। एवमसंलक्ष्यक्रमद्योत्यो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन।

(अनु०) और जो श्रुतिदुष्ट इत्यादि अनित्य दोष दिखलाये गये हैं वे ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही त्याज्य के रूप में उदाहृत किये गये हैं॥ ११॥

जो श्रुतिदुष्ट इत्यादि अनित्य दोष सूचित किये गये हैं वे भी केवल वाच्यार्थ में नहीं होते, शृंगार से व्यतिरिक्त किसी अन्य व्यंग्यार्थ मे भी नहीं होते, ऐसे शृङ्गार में भी नहीं होते जो ध्वनि की आत्मा के रूप मे स्थित न हो। तो होता क्या है? यह बतलाया गया है कि ध्वन्यात्मक शृङ्गार मे ही अर्थात् अङ्ग के रूप में स्थित व्यङ्ग्य शृङ्गार मे ही उनका परित्याग किया जाना चाहिये। अन्यथा उनकी अनित्यता दोषता ही न बने। इस प्रकार सामान्य रूप से ध्वनि की आत्मा दिखलाई गई जिसका प्रकाशन अलक्ष्यक्रम रूप मे होता है।

लोचन

एवमस्मत्पक्ष एव गुणालङ्कारव्यवहारो विभागेनोपपद्यते इति प्रदर्श्य नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव सङ्गच्छत इति दर्शयितुमाह—श्रुतिदुष्टादय इत्यादि। वान्तादयोऽसभ्यस्मृतिहेतवः श्रुतिदुष्टाः। अर्थदुष्टा वाक्यार्थबलादश्लीलार्थप्रतिपत्तिकारिणः। यथा—'छिद्रान्वेषी महाँस्तब्धो घातायैवोपसर्पति' इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया। यथा 'कुरु रुचिम्' इति क्रमव्यत्यासे। श्रुतिकष्टस्तु अधाक्षीत् अक्षोत्सीत् तृणेढि इत्यादि। शृङ्गार इत्युचितरसोपलक्षणार्थम्। वीरशान्ताद्भुतादावपि

इस प्रकार हमारे पक्ष में ही गुण और अलङ्कार का व्यवहार विभाग के रूप मे सङ्गत होता है यह दिखलाकर नित्यानित्य दोष-विभाग भी हमारे ही पक्ष मे संगत होता है यह दिखलाने के लिये कहते हैं—श्रुतिदुष्टादय इत्यादि। वान्त इत्यादि असभ्य स्मृति में हेतु होते हैं। श्रुतिदुष्ट और अर्थदुष्ट वाक्यार्थ बल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति करनेवाले होते हैं। जैसे—'छिद्र का अन्वेषण करनेवाला महान् स्तब्ध घात के लिये ही निकट जाता है' यह। कल्पनादुष्ट तो दोनो पदों की कल्पना से। जैसे 'कुरु रुचिम्' यहाँपर क्रम बदल देने से। श्रुतिकष्ट तो अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि इत्यादि में। शृंगार यह उचित रस के उपलक्षण के लिये (कहा गया है)। वीर शान्त और अद्भुत में भी उनका वर्जन (उचित)

## लोचन

तेषां वर्जनात्। सूचिता इति। न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्। नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् शृङ्गारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः॥११॥

होने से। सूचिता इति। भाव यह है कि (भामह के द्वारा) इनका विषय-विभाग प्रदर्शन के द्वारा अनित्यत्व और भिन्नवृत्त इत्यादि दोषों से पृथक्त्व नहीं दिखलाया गया। गुणों से व्यतिरिक्तत्व नहीं (दिखलाया गया)। बीभत्स हास्य और रौद्र इत्यादि में इनके उपगम से और शृंगार इत्यादि में वर्जन से अनित्यत्व और दोषत्व का समर्थन हम लोगों के द्वारा किया गया॥ ११॥

## तारावती

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥

वान्त (कै) इत्यादि असभ्य अर्थ का स्मरण कराने में जो हेतु होते हैं उन्हें श्रुतिदुष्ट दोष कहते हैं। अर्थदुष्ट उन्हें कहते हैं जो कि वाक्यार्थ के बल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति करानेवाले हों। जैसे 'छिद्र का अन्वेषण करनेवाला महान् स्तब्ध घात के लिये ही निकट आता है।' (राजवर्णन में इसका अर्थ यह है कि शत्रु के दोषों को ढूंढनेवाला अत्यन्त दृढ व्यक्ति हत्या करने के लिये ही निकट आता है। यहाँपर छिद्र स्तब्ध और घात इन शब्दों से एक अश्लील अर्थ की ओर सङ्केत होता है। छिद्र से योनि, स्तब्ध से पुरुष के उपस्थ की कठोरता और घात से सुरतकालीन आघात की व्यञ्जना होती है। अतः यहाँपर अर्थदुष्ट दोष है।) दो पदों की कल्पना अर्थात् उलट-फेर के द्वारा जो दोष आ जाता है उसे कल्पनादुष्ट कहते है। जैसे 'कुरु रुचिम्' इन शब्दों के पौर्वापर्य में परिवर्तन कर लेने से 'रुचिङ्कुरु' बन जाता है। (इसमें बीच में चिङ्कु शब्द आ जाता है जो कि काश्मीरी भाषा में स्त्री के गुप्ताङ्ग के लिए प्रयुक्त होता है। अतः यह कल्पनादुष्ट दोष है।) जहाँ पर कर्णकटु वर्णों का प्रयोग हो वहाँ श्रुतिकष्ट दोष होता है जैसे अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि इत्यादि। (वृत्तिकार ने लिखा है कि श्रुतिदुष्ट इत्यादि जो दोष सूचित किये गये है वे वहीं पर होते हैं जहाँ पर शृङ्गार रस अङ्गी हो। यदि केवल वाच्यार्थ हो या शृङ्गार से भिन्न कोई अन्य वाच्यार्थ हो अथवा शृङ्गार ही अङ्ग हो तो वहाँ पर ये दोष नहीं माने जाते।) वृत्तिकार का शृङ्गार शब्द उपलक्षण मात्र है। इसमें उन समस्त रसों का समावेश हो जाता है जिनमें श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों का परित्याग उचित हो। अतएव यहाँपर वीर, शान्त और अद्भुत का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि उनमें भी इन

## तारावती

दोषों का वर्जन होता ही है। वृत्तिकार ने सूचित शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है कि भामह ने नित्यदोष और अनित्यदोषों का विषय-विभाग करके स्वयं नहीं दिखलाया है। किन्तु भिन्नवृत्त इत्यादि दोष भी दिखला दिये हैं और श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष भी। नित्य और अनित्य का विषय-विभाजन नहीं किया है। न उन्होंने यही दिखलाया है कि ये दोष गुणों से व्यतिरिक्त होते हैं। (भामह ने यह नहीं दिखलाया है कि इनमें कौन से दोष कहाँ पर दोष रहते हैं कहाँ पर अदोष हो जाते हैं और कहाँ पर गुण हो जाते हैं।) हम लोगों ने (ध्वनि सम्प्रदाय-वादियों ने) यह बात देखी कि श्रुतिकष्ट इत्यादि का बीभत्स हास्य रौद्र इत्यादि में उपादान किया जाता है तथा शृङ्गार शान्त और अद्भुत में इनका परित्याग किया जाता है। इस आधार पर हम ध्वनिवादियों ने ही इन दोषों की अनित्यता और दोषता का समर्थन किया है। यही वृत्तिकार का आशय है।

[ इस कारिका के लिखने का आशय यह है कि दोष दो प्रकार के पाये जाते हैं—कुछ दोष तो सर्वदा दोष ही रहते हैं जैसे छन्दोभङ्ग इत्यादि और कुछ दोष प्रकरण के अनुसार दोष भी हो जाते हैं, गुण भी हो जाते हैं और कहीं-कहीं न दोष रहते हैं न गुण। जैसे श्रुतिकष्ट नामक दोष कोमल रसों में दोष रहता है, वही कठोर रसों में गुण हो जाता है। यह बात सहृदयहृदयसंवेद्य ही है। अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव दोषों की नित्यता तथा अनित्यता की व्यवस्था करनी होगी। यह व्यवस्था तभी सङ्गत मानी जा सकती है जब कि व्यङ्ग्य रस को उसके अङ्गी के रूप में स्थित होने पर ध्वनि की आत्मा मान लिया जावे। यदि वाच्यार्थमात्र ही स्वीकार किया जावेगा तो अर्थरूपता तो सर्वत्र एक जैसी ही होती है। अतः उसमें दोषों की नित्यानित्यव्यवस्था न बन सकेगी। इसके प्रतिकूल जब कि रस-व्यञ्जना का सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया जाता है तब यह विभाग-व्यवस्था बन जाती है। तब यह व्यवस्था ठीक हो जाती है कि कठोर वर्ण कोमल रसों में ही दोष होते हैं, कठोर रसों मे वे गुण हो जाते हैं। यही बात हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में इस प्रकार कही है—'रस के उत्कर्षहेतु गुण होते हैं और अपकर्षहेतु दोष होते हैं। ये गुण और दोष रस के ही धर्म होते हैं। उस रस के उपकारक शब्द और अर्थ में गुण और दोष का औपचारिक प्रयोग होता है। अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करने के कारण गुण और दोष रसाश्रित ही माने जाते हैं। वह इस प्रकार — जहाँ दोष होते हैं वहीं गुण होते हैं। रस-विशेष मे ही दोष होते हैं शब्द और अर्थ में नहीं। यदि शब्द और अर्थ में दोष हों तो बीभत्स इत्यादि में कष्टत्व इत्यादि गुण न हो जावें और हास्य इत्यादि में

ध्वन्यालोकः

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥ १२ ॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निस्सीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसंख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम्।

(अनु०) उस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अङ्गों के जो अवान्तर भेद हैं और स्वयं उसके जो स्वगत अवान्तर भेद हैं उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने मे भेदों की संख्या अनन्त हो जाती है ॥ १२ ॥

जो रस इत्यादि व्यङ्ग्य होता है और अंगी ( प्रधान ) रूप में भी स्थित होता है वह असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की एक आत्मा बतलाया गया है। उसके अंगों के अर्थात् वाच्य और वाचक के अनुसार आनेवाले अलङ्कारों के जो संख्यातीत अवान्तर भेद हैं और जो स्वगत भेद हैं अर्थात् उस अंगी अर्थ के रस भाव रसाभास भावाभास भावप्रशम नामक भेद विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव के प्रतिपादन के साथ अनन्त हो जाते हैं अर्थात् अपने आश्रय की अपेक्षा से ( स्त्रीपुरुष की प्रकृति का विचार करते हुये ) अनन्त हो जाते है। उनकी विशेषतायें सीमातीत हो जाती है। एक दूसरे से उनके सम्बन्ध की परिकल्पना करने पर रस के किसी एक भी प्रकार के भेदोपभेदों का परिसंख्यान नहीं किया जा सकता फिर सबका तो कहना ही क्या ?

लोचन

अङ्गानामित्यलङ्काराणाम्। स्वगता इति। आत्मगताः सम्भोगविप्रलम्भाद्या आत्मीयगता विभावादिगतास्तेषां लोष्टप्रस्तारेणाङ्गाङ्गिभावे का गणनेति भावः।

अंगानां का अर्थ है अलङ्कारों का। स्वगता इति। आत्मगत अर्थात् सम्भोग विप्रलम्भ इत्यादि और आत्मीयगत अर्थात् विभाव इत्यादि गत, लोष्टप्रस्तार के द्वारा उनके अंगाङ्गिभाव की क्या गणना हो सकती है यह भाव है। स्वाश्रय

तारावती

अश्लीलत्व इत्यादि गुण न हो जावें। ये दोष अनित्य होते हैं, क्योंकि जिस अङ्गी के वे दोष होते हैं उसके अङ्गी न होने पर वे दोष नहीं रहते और उसके अङ्गी होने पर दोष हो जाते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से गुण और दोष का रस ही आश्रय सिद्ध होता है।]

## ध्वन्यालोकः

तथाहि शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ—संभोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः।

(अनु०) वह इस प्रकार—अंगी शृङ्गार के दो भेद होते हैं सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोग के परस्पर प्रेमपूर्वक देखना सुरत-विहरण इत्यादि लक्षणवाले बहुत से प्रकार होते हैं।

## लोचन

स्वाश्रयः स्त्रीपुंसप्रकृत्यौचित्यादिः।

परस्परं प्रेम्णा दर्शनमित्युपलक्षणं सम्भाषणादेरपि। सुरतं चातुःषष्टिकमालिङ्गनादि। विहरणमुद्यानगमनम्। आदिग्रहणेन जलक्रीडापानकचन्द्रोदयक्रीडादि।

*अभिलाषविप्रलम्भो द्वयोरप्यन्योन्यजीवितसर्वस्वाभिमानात्मिकायां रताबुत्पन्ना-*

अर्थात् स्त्री-पुरुष के स्वभाव का औचित्य इत्यादि।

परस्पर प्रेम के द्वारा दर्शन यह उपलक्षण है सम्भाषण इत्यादि का भी। सुरत अर्थात् चौसठ प्रकार का आलिङ्गन इत्यादि। विहरण अर्थात् उद्यान गमन। आदि ग्रहण से जलक्रीडा, मदिरापान, चन्द्रोदय, क्रीडा इत्यादि।

दोनों के एक दूसरे को जीवित का सर्वस्व मानने के अभिमानरूप रति के

## तारावती

(बारहवीं कारिका का आशय यह है कि रस के अङ्गों और उनके स्वगत भेदों का परिसंख्यान सर्वथा असम्भव है।) 'उसके अंगों का' इसमें 'अंगों का' का अर्थ है अलङ्कारों का। (आशय यह है कि एक तो अलङ्कारों की संख्या में ही इयत्ता नहीं है, फिर कौन अलङ्कार किस प्रकार किस सम्बन्ध से किसी विशेष रस को अलङ्कृत करता है इसका विवेचन तो और भी अशक्य है।) स्वगत शब्द के दो अर्थ होते हैं—आत्मगत और आत्मीयगत। रस के आत्मगत भेदों का आशय है किसी विशिष्ट रस के अवान्तर भेद। जैसे शृंगार के संभोग और विप्रलम्भ मे भेद। आत्मीयगत का अर्थ है विभावादिगत। जिस प्रकार छन्दों में प्रस्तार होता है उसी प्रकार यदि लोष्ट-प्रस्तार की प्रक्रिया से उन सबके अंगाङ्गी-भाव का विस्तार किया जावे (अलङ्कारों के द्वारा विभिन्न रसों का पोषण विभिन्न प्रकार के विभाव इत्यादि में विभिन्न प्रकार के भावों का मेल दिखलाया जावे) तो उनकी गणना ही क्या हो सकती है? यही इस कारिका का भाव है। 'अपने आश्रय की अपेक्षा से भेदोपभेद-संख्या सीमा-रहित हो जाती है।' इस वाक्य में आश्रय का अर्थ है स्त्री-पुरुष की प्रकृतियों का औचित्य इत्यादि। ये प्रकृतियाँ अनन्त होती हैं और इनके उचित भावो का विस्तार भी अनन्त ही हो जावेगा। सम्भोग के परस्पर प्रेम-दर्शन सुरत-विहरण इत्यादि

## तारावती

लक्षणोंवाले अनेक प्रकार होते हैं ।' इस वाक्य में प्रेम-दर्शन का अर्थ है प्रेमपूर्वक दर्शन । यह उपलक्षण है । इससे सम्भाषण इत्यादि का भी ग्रहण हो जाता है । ( मैथुन के आठ भेद बतलाये गये है—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति । यहाँपर दर्शन को उपलक्षण मान लेने से उन सभी भेदों का ग्रहण हो जाता है । ) सुरत का अर्थ है ६४ प्रकार के आलिङ्गन इत्यादि । ( कामसूत्रों में वात्स्यायन मुनि ने सुरत के ६४ प्रकार बतलाये हैं । मूलरूप में सुरत के ८ प्रकार होते हैं—आलिङ्गन, चुम्बन, नखच्छेद्य, दशनच्छेद्य, संवेशन, सीत्कृत, पुरुषायित और औपरिष्टक । इन आठ प्रकारों में प्रत्येक के आठ आठ प्रकार होकर ६४ भेद हो जाते हैं । आलिङ्गन दो प्रकार का होता है असंप्रयोगकालिक और संप्रयोगकालिक । असंप्रयोगकालिक आलिङ्गन चार प्रकार का होता है—स्पृष्टक, विद्धक, उद्घृष्टक और पीडितक । संप्रयोगकालिक आलिङ्गन भी चार प्रकार का होता है—लतावेष्टितक, वृक्षाधिरूढक, तिलतंडुलक और क्षीरनीरक। इस प्रकार आलिङ्गन के भी ८ प्रकार होते है। चुम्बन के ८ स्थान बतलाये गये हैं। इस प्रकार चुम्बन भी ८ प्रकार का ही होता है। चुम्बन के ८ स्थान ये हैं—ललाट, केश, कपोल, नेत्र, वक्षस्थल, स्तन, ओष्ठ और मुख का आन्तरिक भाग । नखच्छेद्य भी आठ प्रकार का होता है—आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल, रेखा, व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक और उत्पलपत्रक । दशनच्छेद्य भी ८ प्रकार का होता है—गूढक, उच्छूनक, विन्दु, विन्दुमाला, प्रवालमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक और वाराहचर्वितक । संवेशन भी ८ प्रकार का होता है—उत्फुल्लक, विजृम्भितक, इन्द्राणिक, सम्पुटक, पीडितक, वेष्टितक, वाडवक और समपृष्ट । सीत्कृत के आठ प्रकार ये हैं—हिङ्कार, स्तनित, कूजित, रुदित, सूत्कृत, दूत्कृत, फूत्कृत और विरुत। पुरुषायित के आठ प्रकार ये है—उपसृतक, मन्थन, हुलोवमर्दन, पीडितक, निर्घात, वाराहघात, वृषाघात और चटकविलसित । औपरिष्टक भी आठ प्रकार का होता है—निमित, पार्श्वतोदृष्ट, वहिःसंदंश, अन्तःसंदंश, चुम्बितक, परिमृष्टक आम्रचूषितक और सङ्कर । इस प्रकार सुरत के ६४ प्रकारों का वात्स्यायनसूत्रों मे वर्णन किया गया है । कामसूत्रों मे इनके विस्तृत लक्षण दिखलाये गये है वहीं देखना चाहिये । ) विरहण का अर्थ है उद्यान गमन । इत्यादि का अर्थ है जलक्रीडा, पानक, चन्द्रोदय, क्रीडा इत्यादि । ( यह तो सम्भोगशृङ्गार का वर्णन हुआ। अब विप्रलम्भ शृङ्गार को लीजिये ) विप्रलम्भ कई प्रकार का होता है—अभिलाष, ईर्ष्या, विरह और प्रवास इत्यादि। जहाँ दोनों की इस प्रकार की रति उत्पन्न हो गई हो कि एक दूसरे को जीवितसर्वस्व समझने लगे हो किन्तु किसी कारण एक दूसरे

## ध्वन्यालोकः

विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदाः। तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम्, किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम्। ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति।

(अनु०) विप्रलम्भ के भी अभिलाष ईर्ष्या विरह प्रवास-विप्रलम्भ इत्यादि (भेद) होते हैं उनमे प्रत्येक के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भेद होते हैं। उनके भी देश-काल आदि आश्रय तथा अवस्था-भेद होते हैं। इस प्रकार स्वगत भेद की दृष्टि से एक ही उस (रस) की अपरिमेयता सिद्ध होती है। फिर अंगभेद कल्पना करने पर तो कहना ही क्या ? जोकि अंग के अवान्तर भेद हैं उनमें प्रत्येक अंगी के अवान्तर भेदों से सम्बन्ध-परिकल्पना करने पर अनन्तता को ही प्राप्त हो जाता है।

## लोचन

यामपि कुतश्चिद्धेतोरप्राप्तसमागमत्वे मन्तव्यः। यथा 'सुखयतीति किमुच्यत' इत्यतः प्रभृति वत्सराजरत्नावल्योः न तु पूर्वं रत्नावल्याः। तदा हि रत्यभावे कामावस्थामात्रं तत्। ईर्ष्याविप्रलम्भः प्रणयखण्डनया खण्डितया सह। विरहविप्रलम्भः पुनः खण्डितया प्रसाद्यमानयापि प्रसादमगृह्णन्त्या ततः पश्चात्तापपरीतत्वेन विरहोत्कण्ठितया सह मन्तव्यः। प्रवासविप्रलम्भः प्रोषितभर्तृकया सहेति विभागः। आदिग्रहणाच्छापादिकृतः। विप्रलम्भ इव विप्रलम्भः। वञ्चनायां ह्यभिलषितो विषयो न लभ्यते; एवमत्र। तेषां चेति। एकत्र संभोगादीनामपरत्र विभावादीनाम्। आश्रयो मलयादिः मारुतादीनां

उत्पन्न हो जाने पर भी किसी हेतु से समागम के प्राप्त न होने पर माना जाना चाहिये। जैसे 'सुख देती है, इस विषय में क्या कहा जावे' यहाँ से लेकर वत्सराज और रत्नावली का, पहले रत्नावली का नहीं। उस समय पर निस्सन्देह रति न होने पर वह केवल कामदेव की अवस्था ही होगी। ईर्ष्या-विप्रलम्भ प्रणय-खण्डन इत्यादि के द्वारा खण्डिता के साथ होता है। विरह–विप्रलम्भ फिर प्रसन्न की जाती हुई भी प्रसन्नता को न ग्रहण करनेवाली खण्डिता के साथ बाद में पश्चात्ताप से भर जानेपर विरहोत्कण्ठिता के साथ माना जाना चाहिये। प्रवास-विप्रलम्भ प्रोषितपतिका के साथ (होता है) यह विषय-विभाग है। आदि ग्रहण से शाप इत्यादि से उत्पन्न वियोग के समान जो वियोग होता है। वञ्चना में निस्सन्देह अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी। 'तेषां च' इति। एकत्र सम्भोग इत्यादि का अपरत्र विभाव इत्यादि का। मारुत इत्यादि विभावों

## लोचन

विभावानामिति यदुच्यते तद्देशशब्देन गतार्थम्। तस्मादाश्रयः कारणम्। यथा ममैव—

दयितया ग्रथिता स्वगियं मया हृदयधामनि नित्यनियोजिता।
गलति शुष्कतयापि सुधारसं विरहदाहरुजां परिहारकम्॥

तस्येति शृङ्गारस्य। अङ्गिनां रसादीनां प्रभेदस्तत्सन्बन्धकल्पनेत्यर्थः॥१२॥

का मलय इत्यादि आश्रय है जो यह कहा जाता है वह देश शब्द से गतार्थ है। अतः आश्रय का अर्थ है कारण जैसे मेरा ही (उदाहरण)—'प्रियतमा के द्वारा गूंथी हुई (तथा) मेरे द्वारा नित्य हृदय-स्थल पर रखी हुई यह माला सूखी होने पर भी विरह-दाह रोग को शान्त करनेवाले अमृत रस को क्षरित करती है।'

'तस्य' का अर्थ है शृंगार का। अर्थात् अङ्गी रस इत्यादि का प्रभेद उनकी सम्बन्ध-कल्पना के द्वारा (होता है)॥ १२॥

## तारावती

का समागम न प्राप्त कर सके हों वहाँ पर अभिलाष-विप्रलम्भ होता है। रति उसे कहते हैं जहाँ अभिलाषा दोनों ओर हो। अभिलाषा केवल एक ओर हो तो उसे रति नहीं कहेंगे। वह केवल काम की एक अवस्था ही होगी। जैसे रत्नावली में चित्रदर्शन के अवसर पर—'यह कहना ही आवश्यक नहीं कि वह मुझे सुख दे रही है' इस वत्सराज की उक्ति के बाद ही रति का प्रारम्भ समझना चाहिये। इससे पहले रत्नावली का प्रेम रति की सीमा में नहीं आ सकता क्योंकि वह उभय-निष्ठ नहीं है। उस समय रति के अभाव मे वह काम की एक विशेष अवस्था ही है। ईर्ष्या-विप्रलम्भ खण्डिता नायिका के साथ प्रणय-खण्डन इत्यादि के द्वारा होता है। विरह-विप्रलम्भ तब होता है जब नायक खण्डिता को मनाने की चेष्टा करता रहे और खण्डिता उसकी प्रार्थनाओं को ठुकराती चली जावे, अन्त में नायक निराश होकर वहाँ से चला जावे और तब नायिका को पश्चात्ताप हो। उस नायिका को विरहोत्कण्ठिता कहते है और उस वियोगावस्था को विरह-विप्रलम्भ कहते हैं। प्रवास-विप्रलम्भ प्रोषितपतिका के साथ होता है। यही इन प्रकारों का विषय-विभाग है। इत्यादि का अर्थ है शाप इत्यादि के द्वारा होनेवाला विप्रलम्भ। (जैसे कादम्बरी मे पुण्डरीक की मृत्यु के उपरान्त आकाशवाणी द्वारा पुनः सम्मिलन का आश्वासन मिल जाने पर महाश्वेता का विप्रलम्भ। अथवा चन्द्रापीड की मृत्यु के बाद उसी प्रकार का आश्वासन मिल जानेपर कादम्बरी का विप्रलम्भ।) विप्रलम्भ शब्द का शाब्दिक अर्थ है वञ्चना। वञ्चना मे अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती वही बात वियोग में भी होती है। इसी सादृश्य के आधार पर वियोग के लिये विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जाता है इसका अर्थ होता है विप्रलम्भ

ध्वन्यालोकः

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥ १३ ॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति ।

(अनु०) अतएव यहाँपर दिग्दर्शनमात्र कराया जा रहा है जिससे व्युत्पन्न रसिकों की बुद्धि प्रकाश को प्राप्तकर प्रत्येक स्थान पर तत्त्व को समझ सकेगी ॥ १३ ॥

दिग्दर्शनमात्र करा देने से व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि अलङ्कारों के साथ एक भी रसभेद के अंगाङ्गिभाव को जान लेने के कारण प्रकाश को प्राप्तकर सर्वत्र प्रसार पा जावेगी ॥

लोचन

येनेति । दिङ्मात्रोक्तेनेत्यर्थः । सचेतसामिति । महाकवित्वं सहृदयत्वं च प्रेप्सूनामिति भावः । सर्वत्रेति । सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति सम्बन्धः ॥ १३ ॥

येन का अर्थ है दिग्दर्शन के द्वारा । 'सचेतसाम्' का अर्थ है जो महाकवित्व और सहृदयत्व प्राप्त करना चाहते हैं । 'सर्वत्र' इति । सभी रसादिकों में प्राप्त किया गया है । आलोक अर्थात् अवगम अर्थात् अच्छी व्युत्पत्ति जिसके द्वारा, यह सम्बन्ध है ॥ १३ ॥

तारावती

( वञ्चना ) के समान विप्रलम्भ ( नियोग ) । 'उनकी देश काल इत्यादि और आश्रय अवस्था इत्यादि के भेद से अनेकरूपता हो जाती है ।' इस वाक्य में 'उनकी' का अर्थ है एक ओर उन सम्भोगादिकों का और दूसरी ओर विभाव इत्यादि का देश काल इत्यादि और आश्रय अवस्था इत्यादि का भेद होने पर अनेकरूपता हो जाती है । कुछ लोगों ने आश्रय शब्द का अर्थ किया है मलय इत्यादि । क्योंकि मलय उद्दीपन विभाव वायु का आश्रय है। किन्तु मलय इत्यादि, देश शब्द से ही गतार्थ हो जाते हैं । अतएव आश्रय शब्द का अर्थ है कारण । उदाहरण के लिये मेरा ( अभिनव गुप्त का ) ही पद्य—

'यह माला प्रियतमा की गूँथी हुई है; अतएव मैं इसे नित्य अपने वक्षस्थल पर धारण करता हूँ । यद्यपि यह बिल्कुल सूख चुकी है किन्तु फिर भी मेरे लिये अमृत-रस की वर्षा कर रही है और मेरे वियोग के दाह की पीड़ा को शान्त करनेवाली है ।'

यहाँपर माला के उद्दीपक होने में प्रियतमा द्वारा ग्रथित होना कारण है ।

ध्वन्यालोकः

तत्र—

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ १४ ॥

अङ्गिनो हि शृंगारस्य ये उक्ता प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः। अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह।

(अनु०) उसमें :—

'जहाँ शृंगार अंगी हो वहाँ पर उसके सभी भेदों मे प्रयत्नपूर्वक लाने के कारण एकरूप अनुबन्धवाला अनुप्रास उसका प्रकाशक नहीं होता ॥ १४ ॥

निस्सन्देह अंगी शृंगार के जो भेद बतलाये गये हैं उन सबमे एकविध अनुबन्ध के रूप में प्रवृत्त होनेवाला अनुप्रास उसका व्यञ्जक नहीं होता। अंगी कहने का आशय यह है कि यदि शृङ्गार अंग हो तो उसमे अनुप्रास का एकरूपानुबन्ध कवि की इच्छा पर निर्भर है।

लोचन

तत्रेति। वक्तव्ये दिङ्मात्रे सतीत्यर्थः। यत्नादिति। यत्नतः क्रियमाणत्वादिति हेत्वर्थोऽभिप्रेतः। एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम् ॥ १४ ॥

तत्रेति। दिङ्मात्रवक्तव्य होने पर यह अर्थ है। यत्नादिति। यत्नपूर्वक किया जाता हुआ होने के कारण यहाँ हेतु अर्थ अभिप्रेत है। 'एकरूप' शब्द के ग्रहण का आशय यह है कि एकरूप अनुबन्ध को छोड़कर निबद्ध किया हुआ विचित्र अनुप्रास दोषपूर्ण नहीं होता ॥ १४ ॥

तारावती

'उसके असंख्य भेद हैं' मे उसके शब्द का अर्थ है शृङ्गार के। आशय यह है कि अङ्गी रसादि के अवान्तर भेद उनके सम्बधों की कल्पना रूप ही होते हैं ॥

तेरहवीं कारिका का आशय यह है—अग्रिम प्रकरण मे शृङ्गार की अङ्ग कल्पना का दिग्दर्शन मात्र कराया जावेगा। जिससे सहृदयों की बुद्धि को एक प्रकाश प्राप्त हो जावेगा और वे रस-सम्बन्धी दूसरे निगूढ़ तत्वों को भी समझ सकेंगे। यहाँपर जिससे का अर्थ है दिग्दर्शन मात्र करदेने से। सहृदय शब्द से यहाँपर दोनों का ग्रहण हो जाता है—जो महाकवित्व पद को प्राप्त करने के इच्छुक हैं तथा जो सहृदयत्व पद को प्राप्त करना चाहते हैं। 'आसादितालोका' यह बहुव्रीहि समास है और बुद्धिः का विशेषण है। इसका विग्रह इस प्रकार होगा सब रसों में प्राप्त कर

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ १५ ॥

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम् । प्रमादित्वमित्यनेनैतदृश्यते—काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति । 'विप्रलम्भे विशेषत' इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते। तस्मिन् द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति ।

(अनु०) ध्वनि की आत्मा के रूप मे स्थित शृङ्गार रस की व्यञ्जना में यमक इत्यादि का निबन्धन; कवि के शक्त होने पर भी, प्रमाद ही कहा जावेगा और विप्रलम्भ में तो विशेष रूप में प्रमाद कहा जावेगा ॥ १५ ॥

ध्वनि की आत्मा के रूप मे स्थित शृङ्गार रस का जहाँ वाच्य-वाचक के द्वारा प्रकाश किया जावे उसमें यमक इत्यादि तथा वैसे ही दूसरे अलङ्कारों का, जिनमें दुष्कर सभंग शब्दश्लेष इत्यादि सम्मिलित हैं, निबन्धन शक्त होते हुए भी प्रमाद ही कहा जावेगा । प्रमाद कहने का आशय यह है कि काकतालीय न्याय से कभी किसी एक यमक इत्यादि की निष्पत्ति भले ही हो जावे किन्तु अन्य अलङ्कारों की भाँति उनका रस के अंग के रूप मे बहुलता से प्रयोग नहीं करना चाहिये । 'विप्रलम्भ में विशेषरूप से' इस कथन के द्वारा विप्रलम्भ मे सौकुमार्य की अधिकता व्यक्त की गई है । उसकी व्यञ्जना में अंग के रूप में यमक इत्यादि का प्रयोग नियमानुकूल करना ही नहीं चाहिये ।

तारावती

लिया गया है आलोक जिसके द्वारा । आलोक का अर्थ है अवगम अर्थात् व्युत्पत्ति। ( आशय यह है कि यदि थोड़ा सा सङ्केत करदिया जावेगा तो सहृदयों को समझने की योग्यता उत्पन्न हो जावेगी और वे उसी आदर्श पर न बतलाई हुई बात को भी समझ जावेंगे । ) ॥ १३ ॥

चौदहवीं कारिका का उपक्रम करने के लिये आनन्द-वर्धन ने लिखा है—'तत्र' तत्र का अर्थ है उसके होनेपर अर्थात् जब हमे दिग्दर्शन मात्र के रूप मे कथन करना है तब हम ( शृङ्गार रस मे अङ्गयोजना-अलङ्कारयोजना-का प्रकरण ले रहे हैं । ) इस कारिका मे कहा गया है कि यदि शृंगार अगी हो तो प्रयत्न पूर्वक लाया हुआ एकरूप अनुबन्धवाला अनुप्रास शृंगार के सभी भेदों में उसका प्रकाशक नहीं होता यहाँपर 'यत्नात्' में हेतु के अर्थ में पञ्चमी का प्रयोग हुआ है । क्योंकि प्रयत्न-

## लोचन

यमकादीत्यादिशब्दः प्रकारवाची । दुष्करं मुरजबन्धादि । शब्दभङ्गो न श्लेष इति । अर्थश्लेषो न दोषाय 'रक्तस्त्वम्' इत्यादौ, शब्दभङ्गोऽपि क्लिष्ट एव दुष्टः, न त्वशोकादौ ॥ १५ ॥

'यमकादि' में आदि शब्द प्रकारवाची है । 'दुष्कर' मुरज बन्ध इत्यादि । शब्दभङ्ग श्लेष इति । 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि अर्थश्लेष मे दोष नहीं होता । भङ्ग-श्लेष भी क्लिष्ट ही दुष्ट होता है, अशोक इत्यादि में नहीं ॥ १५ ॥

## तारावती

पूर्वक उसका अनुबन्धन किया जाता है अतः वह प्रकाशक नहीं होता । 'जिस का अनुबन्धन एकरूप का हो' कहने का आशय यह है कि यदि अनुबन्धन विचित्र प्रकार का हो ऐसे अनुप्रास का निबन्धन सदोष नहीं होता । ( यदि एक प्रकार का ही अनुप्रास बहुत दूर तक चला जाता है तो उस काव्य में अनुप्रास ही प्रधान बन जाता है और मुख्य वस्तु अथवा रस गौण हो जाता है । यही दोष होता है। ) ॥ १४ ॥

१५ वीं कारिका का आशय यह है—'यदि शृंगार रस अंगी हो तो शक्ति होते हुए भी यमक इत्यादि का निबन्धन प्रमाद ही कहा जावेगा और यह बात विप्रलम्भ शृंगार के विषय में विशेष रूप से कही जायगी ।' यहाँपर 'यमक इत्यादि' मे इत्यादि शब्द का अर्थ है प्रकार । यमक के प्रकार ( ढंग ) के जो 'दुष्कर शब्द-भंग श्लेष आदि' अलङ्कार होते हैं—यहाँपर दुष्कर का अर्थ है मुरजबन्ध इत्यादि । अर्थश्लेष में दोष नहीं होता । जैसे 'रक्तस्त्वं नव पल्लवैः' इत्यादि पद्य में ( सभंग शब्द श्लेष भी वहीं पर दोष होता है जहाँ पर उसका प्रयोग क्लिष्ट हो । यदि उसका प्रयोग सरल हो तो दोष नहीं होता जैसे 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः.....' इत्यादि पद्य मे 'अशोक' शब्द में सभंग शब्दश्लेष होते हुये भी क्लिष्ट न होने के कारण दोष नहीं है । ( इस विषय मे पण्डितराज ने लिखा है—'वैय्याकरणों को त्व प्रत्यय, यङन्त, यङ्लुगन्त इत्यादि के प्रयोग बहुत प्रिय हैं । किन्तु उनका मधुर रस में प्रयोग नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार कवि को चाहिये कि चाहे सम्भव ही क्यों न हों किन्तु ऐसे अनुप्रास के समूहों और यमक इत्यादिकों का निबन्धन न करे जिनमे व्यंग्य चर्वणा के लिये आवश्यक योजना के अतिरिक्त उनके लिये ही पृथक् योजना करनी पड़े और जो अधिक चमत्कारकारक हों । क्योंकि ऐसे अलङ्कार रस चर्वणा के बीच में आ जाते हैं और सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर खींचते हुए इससे पराङ्मुख कर देते हैं । यह बात विप्रलम्भ के विषय मे विशेष रूप से कही जा सकती है । निस्सन्देह विप्रलम्भ निर्मल मिश्री से बने हुये

## ध्वन्यालोकः

अत्र युक्तिरभिधीयते—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥ १६॥

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत् सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

(अनु०) इस विषय में युक्ति बतलाई जा रही है—

'रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलङ्कार का बन्ध कर सकना शक्य हो और उसके लिये पृथक् यत्न न करना पडे ध्वनि में वही अलङ्कार माना जाता है॥ १६॥

निष्पत्ति में आश्चर्यजनक होते हुये भी रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलङ्कार का बन्धन कर सकना सम्भव हो, वह इस अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में अलङ्कार माना जाता है। उसी की रसाङ्गता मुख्य होती है।

## लोचन

युक्तिरिति। सर्वव्यापकं वस्त्वित्यर्थः। रसेति। रससमवधानेन विभावादिघटनामेव कुर्वंस्तन्नान्तरीयकतया यमासादयति स एवायालङ्कारो रसमार्गे नान्यः।

'युक्तिः' इति। अर्थात् सर्वव्यापक वस्तु। 'रस' इति। रस की सन्निकटता से विभाव इत्यादि को सङ्घटित करते हुये अवश्यकर्तव्यता के रूप मे जिसको प्राप्त करता है यहाँपर मार्ग में वहाँ अलङ्कार होता है अन्य नहीं। इससे वीर और

## तारावती

पानक के समान सबसे अधिक मधुर होता है। यदि उसमें कोई भी पदार्थ थोड़ी भी स्वतन्त्रता को धारण कर ले तो वह सहृदयों के हृदय को पीड़ित करनेवाला हो जाता है और सर्वथा सामानाधिकरण्य को प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात ध्वनिकार ने 'ध्वन्यात्मभूते शृंगारे' इत्यादि कारिका लिख कर कही है। और जो अलङ्कार क्लिष्ट न हों तथा अपने कथारस की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठने की चेष्टा न कर रहे हों अपितु रसचर्वणा में ही सुन्दर सुख को प्रकट करने की शक्ति रखते हों उन अनुप्रास इत्यादि का त्याग उचित नहीं होता।')॥ १५॥

(अब यहाँपर यह विचार किया जा रहा है कि इन अनुप्रासादिकों का प्रयोग शृंगार रस का अभिव्यञ्जक होता क्यों नहीं है? कारिका मे कहा गया है कि ध्वनि में वही अलङ्कार माना जाता है जिसका आक्षेप रस के द्वारा हो कर सकना सम्भव हो और जिसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न न करना पड़े।) 'इस विषय मे

## लोचन

तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र । गड्डुरिकाप्रवाहोपहतसहृदयमधुराधिरोहणविहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया शृङ्गारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भावः । तथा च 'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते' इति सामान्येन वक्ष्यति । निष्पत्ताविति । प्रतिभानुग्रहात्स्वयमेव सम्पत्तौ निष्पादनानपेक्षायामित्यर्थः । आश्चर्यभूत इति । कथमेष निबद्ध इत्यद्भुतस्थानम् ।

अद्भुत इत्यादि रसों मे भी सर्वत्र कवि और सहृदय के लिये यमक इत्यादि रस विघ्न कारक ही होते हैं । भेड़ चाल के प्रवाह से उपहत तथा सहृदय धुरीणता के अधिरोह से रहित लोक के अनुरञ्जन के अभिप्राय से मैंने यह कह दिया है कि शृङ्गार और विप्रलम्भ में विशेष रूप से ( उनका वर्जन करना चाहिये ) । इस प्रकार 'अतएव रस में इनकी अङ्गता विद्यमान नहीं है' यह सामान्य रूप में कहेगे। 'निष्पत्तौ' इति । अर्थात् प्रतिभा के अनुग्रहण से स्वयमेव निष्पत्ति हो जाने से निष्पादन की अपेक्षा नहीं होती । आश्चर्यभूत इति । यह कैसे निबद्ध हो गया यह अद्भुत का स्थान है ।

## तारावती

'युक्ति' दी जा रही है' इस वाक्य में युक्ति शब्द का अर्थ है सर्वव्यापक वस्तु । आशय यह है कि उक्त अवसरों पर अनुप्रासादि के प्रयोग न करने का ऐसा हेतु बतलाया जा रहा है जो सर्वत्र लागू हो जाता है । कारिका का आशय यह है कि कवि का ध्यान प्रधानतया रस की ही ओर होता है । रसादि की अभिव्यञ्जना करने के लिये कवि विभाव इत्यादि की सङ्घटना किया करता है । उस अवसर पर यदि किसी ऐसे अलङ्कार का प्रयोग स्वतः हो जावे जिसका टाल सकना असम्भव हो और जो रसाभिव्यञ्जन के लिये अनिवार्य हो जावे, रस के मार्ग में वही अलङ्कार माना जाता है । उसके अतिरिक्त अन्य अलङ्कार ही नहीं होता । यहाँपर शृङ्गार शब्द का प्रयोग न कर सामान्य रूप से रस शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका आशय यह है कि यमक इत्यादि का प्रयोग केवल शृङ्गार रस में ही कवि और सहृदय के लिए व्याघात उत्पन्न करनेवाला नहीं होता किन्तु वीर और अद्भुत इत्यादि रसों में भी सर्वत्र विघ्न डालनेवाला होता है । अधिकतर विचारक यमक इत्यादि को शृङ्गार रस का ही विघातक मानते आये हैं । भेड़ चाल का अनुसरण करने के कारण जिनका विवेक नष्ट हो गया है और जो सहृदय-धुरीण लोगों की सीमा में नहीं आ सकते वे भी उन्हीं लोगों का अनुसरण करते हुये यही मानते हैं कि यमक इत्यादि का बहुल प्रयोग शृङ्गार रस का ही उपघातक होता है । उनके सामने झुककर उनका संग्रह करने के लिए ही मैंने ( ध्वनिवादियों ने ) भी शृंगार रस

ध्वन्यालोकः

यथा—

कपोले पत्त्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निश्श्वासैरयममृतह्रद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पस्तनतटीम्
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

(अनु०) जैसे :—

कपोलों की पत्र रचना करतल के आवरण के द्वारा पोछ दी गई है। निश्श्वासों के द्वारा इस अमृत के समान हृद्य अधर रस का पान किया गया है। आँसू बार-बार कण्ठ में लगकर स्तन-तट को कँपा रहा है। बिना ही अनुरोध के मन्यु तुम्हें प्यारा हो गया किन्तु हम प्यारे नहीं हुये।

लोचन

करकिसलयन्यस्तवदना श्वासतान्ताधरा प्रवर्तमानवाष्पभरनिरुद्धकण्ठी अविच्छिन्नरुदितचञ्चत्कुचतटा रोषमपरित्यजन्ती चाटूक्त्या यावत्प्रसाद्यते तावदीर्ष्याविप्रलम्भगतानुभावचर्वणावहितचेतस एव वक्तुः श्लेषरूपकव्यतिरेकाद्या अयत्ननिष्पन्नाश्चर्वयितुरपि न रसचर्वणाविघ्नमादधतीति।

करकिसलय पर अपने मुख को रक्खे हुये श्वास को मलिन अधरवाली, प्रवृत्त होनेवाले वाष्पभार से निरुद्ध कण्ठवाली, अविच्छिन्न रोदन से चञ्चल कुचतटों-वाली, रोष को न छोड़ती हुई चाटूक्ति से जब तक प्रसन्न की जाती है तब तक ईर्ष्या-विप्रलम्भ गत अनुभाव की चर्वणा में मन लगाये हुये वक्ता के बिना यत्न के निष्पन्न श्लेष रूपक व्यतिरेक इत्यादि चर्वण करते हुये (सहृदय व्यक्ति) के भी रस चर्वणा में विघ्न नहीं करते।

तारावती

का ही उपघातक अलङ्कारों को कह दिया है। वस्तुतः अलङ्कारों का बाहुल्य सभी रसों का विघातक होता है। यही बात आनन्दवर्धन आगे चलकर स्वयं कहेंगे—'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते'। 'आश्चर्य हो जाता है' कहने का आशय यह है कि जब किसी अलङ्कार की निष्पत्ति हो जाती है—जो प्रायः स्वयं ही हुआ करती है तथा जिसके निष्पादन के लिये कवि को पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता—तब उस अलङ्कार को देखकर आश्चर्य हो जाता है कि बिना ही चेष्टा के यह अलङ्कार किस प्रकार आ गया। (इस प्रकार रस-व्यञ्जना की चेष्टा में ही जिस अलङ्कार को निबद्ध कर सकना शक्य हो, इस अलङ्कार-ध्वनि के प्रकरण मे वही अलङ्कार माना जाता है। क्योंकि वही मुख्यरूप से इसका अंग होता है।)

ध्वन्यालोकः

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।

(अनु०) अलङ्कार का रस के अङ्ग होने का लक्षण यह है कि कवि को अलङ्कार-योजना के लिये कोई पृथक् प्रयत्न न करना पड़े। रसबन्धन के अध्यवसाय में प्रवृत्त कवि की रसवासना का अतिक्रमण कर दूसरे प्रयत्न का सहारा लेने पर जो अलङ्कार निष्पन्न होता है वह अलङ्कार रस का अङ्ग नहीं होता। जब अविच्छिन्न रूप में यमक लाने की बुद्धि-पूर्वक चेष्टा की जाती है तब नियमतः दूसरे प्रयत्न का सहारा लेना ही पड़ता है और वह प्रयत्न होता है विशेष प्रकार के शब्दों का अन्वेषण रूप।

तारावती

(यहाँपर अलङ्कार के अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व का उदाहरण दिया गया है। मानिनी नायिका को मनाने के अवसर पर नायक ने ये शब्द कहे हैं।) नायिका कर-किसलय पर अपने मुख को रक्खे हुये है। श्वास से उसका अधर मलिन पड़ रहा है, बहनेवाले आँसुओं के भार से उसका कण्ठ रुंध गया है, निरन्तर रोने के कारण उसके कुचतट कांप रहे हैं, वह क्रोध को किसी प्रकार छोड़ नहीं रही है। उसको चाटूक्तियों के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा ही मुख्य विषय है। अतः यहाँ पर ईर्ष्या-विप्रलम्भ के अनुभावों की चर्वणा मुख्य व्यंग्य है और वक्ता का ध्यान प्रधान रूप से उसी ओर है। संयोगवश निम्नलिखित अलङ्कारों का भी समावेश हो गया है—(१) रूपक—मन्यु पर प्रियतम का आरोप—प्रियतम के सहवास के अवसर पर भी कपोल की पत्र-रचना प्रियतम के हाथ से पुँछ जाती है और मन्यु में भी करतल पर कपोल रखने के कारण पत्र-रचना पुछ गई है। प्रियतम सहवास के अवसर पर अमृत के समान हृद्य अधर-रस का पान करता है और मन्यु भी निश्वासों के द्वारा अधर-रस (अधरों की आर्द्रता) को पी गया है। प्रियतम भी प्रियतमा को कण्ठ में लगाता है और मन्यु भी आँसुओं के रूप में नायिका का कण्ठ पकड़े हुये है। प्रियतम भी नायिका के स्तनतटों को तरल कर देता है और मन्यु भी स्तनों को तरल कर रहा है। इन साधारण धर्मों के आधार पर मन्यु पर प्रियतम का आरोप हुआ है। अतः रूपक अलङ्कार है (२) अधर-रस शब्द के दो अर्थ हैं—अधरामृत और अधरों की आर्द्रता। इस प्रकार श्लेषालङ्कार है। (३) मन्यु प्यारा है मैं प्यारा नहीं हूँ, इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार हो जाता है। ये तीनों अलङ्कार स्वाभाविक रूप में ही आ गये हैं। इनके लिये कवि को कोई अतिरिक्त

## लोचन

लक्षणमिति व्यापकमित्यर्थः। 'प्रबन्धेन क्रियमाण' इति सम्बन्धः। अत एव बुद्धिपूर्वकत्वमवश्यंभावीति बुद्धिपूर्वकशब्द उपात्तः। रससमवधानादन्यो यत्नो यत्नान्तरम्। निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि। बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानीत्यर्थः। तथा निरूप्यमाणे दुर्घटनानि कथमेतानि रचितानीत्येवं विस्मयावहानीत्यर्थः। अहं पूर्वः अग्र इत्यर्थः। अहमादावहमादौ प्रवर्त इत्यर्थः। अहंपूर्व इत्यस्य भावोऽहंपूर्विका। अहमिति निपातो विभक्तिप्रतिरूपकोऽस्मदर्थवृत्तिः।

लक्षणमिति। अर्थात् व्यापक। सम्बन्ध यह है कि प्रबन्ध के द्वारा किया जाता हुआ। अतः बुद्धिपूर्वकत्व अवश्यभावी है इसलिये बुद्धिपूर्वक शब्द का उपादान किया गया है। यत्नान्तर का अर्थ है रस-समवधान से भिन्न यत्न। निरूपण किये जानेपर जिनकी सङ्घटना दुष्कर है। अर्थ यह है कि बुद्धिपूर्वक करने के लिये इच्छित होते हुये भी जिनका करना अशक्य है। तथा निरूपण किये जाने पर दुर्घट अर्थात् ये कैसे रच गई हैं इस प्रकार विस्मय को उत्पन्न करनेवाले। 'मैं पहले' अर्थात् आगे। अर्थात् मैं पहले आऊँगा मैं पहले आऊँगा। 'अहं पूर्व' की भाववाचक संज्ञा है अहंपूर्विका। 'अहम्' यह 'अस्मद्' के अर्थ में विभक्ति-प्रतिरूप निपात है।

## तारावती

प्रयत्न करना नहीं पड़ा है। अलङ्कार बिना यत्न के निष्पन्न हुये हैं और रसचर्वणा-परायण सहृदय के हृदय में भी रस-चर्वणा मे व्याघात उत्पन्न नहीं करते।

वृत्तिकार ने लिखा है कि 'उस अलङ्कार का रस के अङ्ग होने में लक्षण है उसका पृथक् यत्न द्वारा सम्पन्न न होना।' आशय यह है कि कवि रस-निष्पत्ति के लिये जो प्रयत्न करता है उसी प्रयत्न के द्वारा अलङ्कार का प्रयोग भी हो जाता है। उसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़े तो वह अलङ्कार रस का अङ्ग नहीं हो सकता। लक्षण का अर्थ है व्यापक धर्म। अलङ्कार की रसाङ्गता का व्यापक धर्म ही है पृथक् यत्न के द्वारा निर्वर्त्य न होना। इस सन्दर्भ की लोचन-कार ने विस्तृत व्याख्या नहीं की है। सम्भवतः इसे सरल समझकर छोड़ दिया है। केवल कतिपय शब्दों का अर्थ दे दिया है। उन्हीं शब्दों का अर्थ यहाँपर दिया जा रहा है। मूल स्पष्ट है अतः विषय को समझने के लिये अनुवाद को देखना चाहिये। वृत्ति में लिखा है—'प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वं क्रियमाणे' इस वाक्यखण्ड मे 'प्रबन्धेन क्रियमाणे' यह सम्बन्ध योजना होगी। (प्रबन्ध का अर्थ है अविच्छेद। अर्थात् यमक इत्यादि यदि कहीं एक बार आजावें तो उससे उतना रसविच्छेद नहीं होता। किन्तु जब यमक इत्यादि अविच्छिन्न रूप मे आते ही चले जाते है तो एक तो कवि को यमक के लिये शब्दान्वेषण का पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत्—नैवम्, अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहं पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ। युक्तं चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः। तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत्स्थितमेव। यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीनां त्वङ्गितैव। रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम्। अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसेनाङ्गत्वं पृथग्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद्यमकादेः।

(अनु०) (प्रश्न) जो बात यमक के विषय मे कही जाती है वही दूसरे अलङ्कारों के विषय में भी कही जा सकती है? (उत्तर) दूसरे अलङ्कारों के विषय मे यह बात नहीं कही जा सकती। जब कोई प्रतिभाशाली कवि रसमय रचना करने मे अपना मन लगा देता है उस समय ऐसे ऐसे अलङ्कार जिनकी सङ्घटना प्रयत्न करने पर भी कठिन है स्वयं आने लगते हैं मानों पहले आने के लिये होड़ लगा रहे हों। उदाहरण के लिये (चन्द्रापीड के) कादम्बरी के दर्शन करने के अवसर पर कादम्बरी में अलङ्कार इसी प्रकार आये हैं अथवा जिस प्रकार सेतुबन्ध काव्य में माया के बने हुये राम के शिर के दर्शन के अवसर पर सीता देवी के विह्वल हो जाने पर भी अलङ्कार होड़ लगाकर आये हैं। अलङ्कारों का इस प्रकार होड़ लगाकर आना स्वाभाविक ही है। कारण यह है कि रसों का आक्षेप विशेष प्रकार के वाच्य के द्वारा ही किया जाता है। रूपक इत्यादि अलङ्कार भी और कुछ नहीं हैं केवल रस-प्रतिपादक शब्दों के द्वारा प्रकाशित होनेवाले (और रस को प्रकाशित करनेवाले विशेष प्रकार के वाच्य ही हैं। अतः इस प्रकार के अलङ्कार रसाभिव्यक्ति मे बहिरंग कभी नहीं कहे जा सकते। किन्तु यमक के दुष्कर मार्ग में बहिरंगता बनी ही रहती है। (आशय यह है कि वाच्यार्थ के द्वारा रस का आक्षेप होता है। अतः वाच्यालङ्कारों का आना स्वाभाविक ही है। किन्तु यमक इत्यादि का निरन्तर आना असाधारण बात है, उसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना ही पड़ता है। अतः उनका प्रयोग रसाभिव्यक्ति में व्याघात ही उत्पन्न करता है।) रसमय काव्यों में भी जहाँ यमक इत्यादि का प्रयोग-बाहुल्य पाया जाता है वहाँ रस इत्यादि अङ्ग (अप्रधान) होते हैं और यमक इत्यादि अंगी। हाँ रसाभास में यमक आदि का अङ्ग होना भी विरुद्ध नहीं वे। किन्तु जहाँ रस अङ्गी (प्रधान रूप मे व्यङ्ग्य) हों वहाँ यमक इत्यादि अङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि उनके लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है।

## ध्वन्यालोकः

अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः—

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते॥

( अनु० ) इसी अर्थ के संग्रह श्लोक :—

कतिपय रस-मय वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनमें अलंकारों का भी समावेश हो जाता है। वहाँ पर महाकवि के एक ही प्रयत्न के द्वारा रस और अलङ्कार दोनों की निष्पत्ति हो जाती है।

यमक इत्यादि की रचना मे कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। अतः समर्थ भी कवि की रसमय रचना मे यमक इत्यादि अङ्ग नहीं हो सकते।

यमक इत्यादि का रसाभास का अङ्ग होना निषिद्ध नहीं है, किन्तु ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित शृंगार में यमक इत्यादि किसी प्रकार भी अङ्ग नहीं हो सकते।'

### लोचन

एतदिति। अहंपूर्विकयापरापतनमित्यर्थः। कानिचिदिति। कालिदासादिकृतानीत्यर्थः। शक्तस्यापि पृथग्यत्नो जायत इति सम्बन्धः। एषामिति। यमकादीनाम्। ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे इति यदुक्तं तत्प्राधान्येनार्धश्लोकेन सङ्गृहीते ध्वन्यात्मभूत इति॥ १६॥

'अहं' इति। अर्थात् अहंपूर्विका के साथ दौड़-दौड़कर आना। कानिचित् इति। अर्थात् कालिदास इत्यादि के किये हुये। समर्थ ( कवि ) का भी पृथक् यत्न हो जाता है यह सम्बन्ध है। 'इनका' अर्थात् यमक इत्यादि का। 'ध्वन्यात्मभूत शृंगार मे' जो यह कहा गया है वह प्रधानतया अर्ध श्लोक से संगृहीत 'ध्वन्यात्मभूते' इस ( का संग्राहक है )॥ १६॥

### तारावती

दूसरे पाठक की मनोवृत्ति यमक मे ही उलझकर रह जाती है उसे रसास्वादन का अवसर ही नहीं मिलता। ) इसीलिये 'बुद्धिपूर्वक' शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि जब यमक प्रबन्ध के रूप में प्रवृत्त होगा तो उसमें बुद्धिपूर्वकता आ ही जावेगी। 'यत्नान्तर' शब्दका अर्थ है रस-समवधान के लिये जितने यत्न की आवश्यकता है उसके अतिरिक्त यत्न। 'निरूप्यमाण-दुर्घटनानि' के दो अर्थ

ध्वन्यालोकः

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते।

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

अलङ्कारो हि वाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। वाच्यालङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित्, अलङ्काराणामनन्तत्वात्। स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते।

(अनु०) अब उस अलङ्कार वर्ग की व्याख्या की जा रही है जिसका ध्वन्यात्मभूत शृंगार में उपादान उचित होता है—

'ध्वन्यात्मभूत शृंगार में समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट किया हुआ रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

अलङ्कार निस्सन्देह वाह्यालंकार के साम्य से अङ्गी की चारुता में हेतु कहा जाता है। 'रूपक इत्यादि' मे इत्यादि के द्वारा उन सब अलङ्कारों का संग्रह हो जाता है जो कि वाच्यालङ्कार के रूप में कहे गये हैं और जो कुछ लोगों के द्वारा आगे चलकर कहे जावेंगे। क्योंकि अलङ्कार अनन्त होते हैं। वह सब अलङ्कारप्रपञ्च यदि समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट किया जाता है तो अङ्गी ध्वनि के रूप में स्थित सभी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रस इत्यादि की चारुता में हेतु बन जाता है।

लोचन

इदानीमिति। हेयवर्ग उक्तः। उपादेयवर्गस्तु वक्तव्य इति भावः। व्यञ्जक इति। यश्च यथा चेत्यध्याहारः। यथार्थतामिति। चारुत्वहेतुतामित्यर्थः। उक्त इति।

इदानीमिति। हेयवर्ग कह दिया गया। उपादेयवर्ग तो कहा जाना चाहिये यह भाव है। व्यञ्जक इति। 'जो और जिस प्रकार' इन शब्दों का अध्याहार (किया जाना चाहिये)। यथार्थतामिति। अर्थात् चारुत्वहेतुता को। 'कहा

तारावती

हो सकते हैं—निरूपण करने पर भी जिनकी संघटना कठिन हो अर्थात् ऐसे अलङ्कार स्वभावतः आ जाते हैं जिनकी सङ्घटना उस समय भी कठिन हो जावे। जब बुद्धिपूर्वक उनके संघटन करने की इच्छा की जावे तथा निरूपण करने पर जो दुर्घट दिखलाई दें अर्थात् जिनपर विचार करने पर स्वयं कवि को आश्चर्य हो जावे कि मैंने इन अलङ्कारों को रच कैसे दिया? 'अहंपूर्विका' शब्द 'अहंपूर्वः' से बना है जिसका अर्थ है कि 'मैं ही पहले आऊँगा' 'मैं ही पहले जाऊँगा' इस प्रकार की होड़ अलङ्कारों में लग जाती है। 'इसी अहंपूर्वः' शब्द का भावार्थक

ध्वन्यालोकः

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नाति निर्वहणैषिता ॥१८॥

( अनु० ) इस (अलङ्कार) के विनिवेश में इस समीक्षा से काम लेना चाहिये—

'जिस रूपक इत्यादि की विवक्षा रसपरक हो, कभी अंगी के रूप में न हो, समय पर ग्रहण और त्याग कर दिया जावे निर्वहण की अत्यन्त इच्छा न हो ॥१८॥

लोचन

भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः। वक्ष्यते चेत्यत्र हेतुमाह अलङ्काराणामनन्तत्वादिति। प्रतिभानन्त्यादन्यैरपि भाविभिः कैश्चिदित्यर्थः ॥ १७ ॥

गया है'। अर्थात् भामह इत्यादि अलङ्कार-लक्षणकारों के द्वारा। और कहा जावेगा इस विषय में हेतु बतलाते हैं—अलङ्कारों के अनन्त होने से। अर्थात् प्रतिभा के अनन्त होने से अन्य भी कुछ होनेवाले ( अलंकारों ) से ( अनन्तता होती है। ) ॥ १७ ॥

तारावती

प्रत्यय होकर 'अहंपूर्विका' बना है। 'यह बात ठीक भी है' इस वाक्य में 'यह बात' का अर्थ है—अलङ्कारों का होड़ लगा कर आना। 'कुछ अलङ्कार रसवान् होते हैं' इस वाक्य में 'कुछ' का अर्थ है कालिदास इत्यादि महाकवियों के बनाये हुये। इसका सम्बन्ध इससे है कि 'समर्थ भी कवि को उनके लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। इनकी रस में व्यङ्ग्यता नहीं होती' इस वाक्य में 'इनकी' का अर्थ है यमक इत्यादि की। इन संग्राहक पद्यों में 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे' यह जो कहा गया है वह प्रधानतया आधी कारिका में आये हुये 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे' का ही निर्देशक है ॥१६॥

'अब ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार के व्यञ्जक अलङ्कार वर्ग का प्रकथन किया जा रहा है' इस वाक्य में 'अब' का अर्थ यह है कि पिछले प्रकरण में उन अलङ्कारों का दिग्दर्शन करा दिया गया जो रसमय रचना में त्याज्य होते हैं; रसमय रचना में जिनका प्रकथन करना शेष है उनका निर्देश किया जा रहा है। 'व्यञ्जक' के साथ 'जो' और 'जिस प्रकार' का अध्याहार कर लेना चाहिये। अर्थात् यहाँपर यह भी बतलाया जा रहा है कि कौन से अलङ्कार रस के व्यञ्जक होते हैं और यह भी बतलाया जा रहा है कि वे किस प्रकार व्यञ्जक होते हैं। 'अलङ्कार यथार्थता को प्राप्त होते हैं' इस वाक्य में यथार्थता का अर्थ है चारुत्वहेतुता। अर्थात् आत्मभूत शृङ्गार में यदि विचारपूर्वक रूपक इत्यादि अलङ्कारों की योजना की जावे

ध्वन्यालोकः

निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥१९॥

( अनु० ) निर्वहण के होते हुये भी प्रसन्न पूर्वक अग के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया जावे। इस प्रकार का रूपक इत्यादि अलङ्कार समूह के अंगत्व का साधक माना जाता है॥ १६ ॥

लोचन

समीक्ष्येति। समीक्ष्येत्यनेन शब्देन कारिकायामुक्तेतिभावः। श्लोकपादेषु चतुर्षु श्लोकार्धे चाङ्गत्वसाधनमिदम्; रूपकादिरिति प्रत्येकं सम्बन्धः। यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति नाङ्गित्वेन, यमवसरे गृह्णाति, यमवसरे त्यजति, यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, यं बलादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति विततं महावाक्यम्। तन्महावाक्यमध्ये चोदाहरणावकाशमुदाहरणस्वरूपं तद्योजनं तत्समर्थनं च निरूपयितुं ग्रन्थान्तरमिति वृत्तिग्रन्थस्य सम्बन्धः।

भाव यह है कि 'समीक्ष्य' इस शब्द से कारिका मे कही हुई समीक्षा ली जाती है। चार श्लोक-पादों में और श्लोकार्ध में यह अङ्गत्व का सिद्ध करना है। 'रूपकादिः' इसका प्रत्येक से सम्बन्ध हो जाता है। जिस अलङ्कार को उसके अङ्गत्व के रूप में कहना चाहता है अङ्गी के रूप में नहीं, जिसको अवसर पर ग्रहण करता है, जिसको अवसर पर छोड़ देता है, जिसका अत्यन्त निर्वाह नहीं करना चाहता, प्रयत्नपूर्वक जिसकी अङ्ग के रूप मे अपेक्षा करता है, वह इस प्रकार निबद्ध किया हुआ रसाभिव्यक्ति मे हेतु हो जाता है इस प्रकार का यह विनत महावाक्य है। और उस महावाक्य के बीच मे उदाहरण का अवकाश, उदाहरण स्वरूप उसकी योजना और उसका समर्थन इनके निरूपण के लिये ग्रन्थान्तर ( प्रवृत्त हुआ है ) यह वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है।

तारावती

तो वे अलङ्कार वास्तव में चारुता-हेतु हो जाते हैं। 'रूपक इत्यादि अलङ्कार वर्ग कहा गया है' इस वाक्य में 'कहा-गया-है' का अर्थ है भामह इत्यादि आलङ्कारिकों के द्वारा कहा गया है। 'आगे चलकर कहे जावेंगे' का हेतु यह है कि अलङ्कार अनन्त होते हैं क्योंकि प्रतिभायें भी अनन्त होती हैं। अतः सम्भव है आगे चलकर कतिपय नये अलङ्कारों का प्रवर्तन किया जावे॥ १७॥

( १७ वीं कारिका में कहा था कि कवि को समीक्षापूर्वक अलंकार योजना करनी चाहिये।) अब यह बतलाया जा रहा है कि वहाँ पर जिस समीक्षा का निर्देश किया गया था वह समीक्षा क्या हो सकती है? अर्थात् रसाभिनिवेश में

ध्वन्यालोकः (१)

रसबन्धेष्वत्यादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति। यथा—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः।

( अनु० ) रस के बन्धनों के लिए जिस कवि के मन में अत्यन्त आदर है इस प्रकार का कवि जिस अलङ्कार को उसके अंग के रूप में कहना चाहता है (वह रूपक इत्यादि अलङ्कार-समूह को अंग सिद्ध करनेवाला होता है।) जैसे—

'हे मधुकर! तुम इस शकुन्तला की चञ्चल अपांगोंवाली कांपती हुई दृष्टि का बार बार स्पर्श कर रहे हो। कान के निकट मंडराते हुये तुम इस प्रकार का शब्द कर रहे हो मानों कोई रहस्य की बात कहना चाहते हो। यह अपने हाथों को हिला रही है और तुम इसके रति-सर्वस्व अधर का पान कर रहे हो। इस प्रकार हम तो तत्त्वान्वेषण में ही मारे गये, तुम सचमुच सफल हो गये।'

यहाँ पर भ्रमर की स्वभावोक्ति अलङ्कार रस के गुणों के अनुकूल है।

तारावती

प्रवृत्त कवि को अलङ्कार योजना में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये। १८ वीं कारिका के प्रत्येक चरण में एक-एक और १९ वीं कारिका के प्रथम आधे श्लोक मे एक बात बतलाई गई है जो कि अलङ्कार को रस का अङ्ग (उसका पोषक) बनाने में समर्थ होती है। वे तत्त्व ये हैं—(१) जिस अलङ्कार को अङ्ग के रूप मे निबद्ध किया जावे। (२) जिसको अङ्गी के रूप में कभी निबद्ध न किया जावे। (३) जिसका ग्रहण और त्याग अवसर के अनुकूल हो अर्थात् जिसे अवसर के अनुसार ग्रहण किया जावे और अवसर के अनुसार ही छोड़ दिया जावे। (४) जिसके निर्वहण की अत्यन्त उत्कण्ठा न हो। (५) निर्वहण के होते हुये भी प्रयत्नपूर्वक जिसको अङ्ग बना देने की चेष्टा की जावे। वह इस प्रकार निबद्ध किया हुआ रूपक इत्यादि अलङ्कार रस की अभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है। यह (छोटे-छोटे अवान्तर वाक्यों से बना हुआ) एक महाकाव्य है। इस महाकाव्य के बीच में (अवान्तर वाक्यों के आधार पर) उदाहरण देने का अवकाश है, उदाहरणों का स्वरूप-विवेचन तथा उसकी प्रकृत में योजना और उसका समर्थन इन बातों का निरूपण करने के लिये अगला ग्रन्थ लिखा जा रहा है यही वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है।

## लोचन

चलापाङ्गामिति। हे मधुकर! वयमेवंविधाभिलापचाटुप्रवणा अपि तत्त्वान्वेषणादस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासपात्रीभूता जाताः। त्वं खल्विति। निपातेनायत्नसिद्धं तवैव चरितार्थत्वमिति शकुन्तलां प्रत्यभिलाषिणो दुष्यन्तस्येयमुक्तिः। तथाहि कथमेतदीयकटाक्षगोचरा भूयास्म, कथमेषास्मदभिप्रायव्यञ्जकं रहोवाक्यमाकर्ण्यात्, कथं नु हठादनिच्छन्त्या अपि परिचुम्बनं विधेयास्मेति यदस्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत्तवायत्नसिद्धम्। भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाशङ्काकरीं दृष्टिं पुनः पुनः स्पृशति। श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नेत्रयोरुत्पलशङ्कानपगमात्तत्रैव दन्ध्वन्यमान आस्ते। सहजसौकुमार्यत्रासकातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकसितारविन्दकुवलयामोदमधुरमधरं पिबतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगतः। अन्ये तु भ्रमरस्वभावे उक्तिर्यस्येति भ्रमरस्वभावोक्तिरत्र रूपकव्यतिरेक इत्याहुः।

चलपाङ्गाम् इति। हे मधुर! इसप्रकार के अभिलाप और चाटु में प्रवण भी हम लोग तत्त्वान्वेषण से वस्तुवृत्त के अन्वेषण किये जानेपर हत होगये हैं अर्थात् आयासमात्र के ही वाचक बन गये हैं। 'त्वं खलु' इति। यहाँ निपात से अयत्न सिद्ध तुम्हारा ही चरितार्थत्व है। यह शकुन्तला के प्रति अभिलाषी दुष्यन्त की उक्ति है। वह इस प्रकार-कैसे इसके कटाक्ष का गोचर हो जाऊँ,—किस प्रकार यह हमारे अभिप्रायव्यञ्जक एकान्तवचनों को सुने; किस प्रकार न चाहनेवाली का भी हठपूर्वक पूर्ण रूप में चुम्बन करूँ; यह जो हमारे मनोराज्यपदवी मे आरूढ है तुम्हारे लिये अयत्नसिद्ध है। भ्रमर निस्सन्देह नील कमल की बुद्धि से उसकी आशङ्का उत्पन्न करनेवाली दृष्टि का बार-बार स्पर्श करता है। नेत्रों के श्रवणावकाशपर्यन्त होने का उत्पलशङ्का के नष्ट न होने के कारण वहीं पर अतिशय रूप में शब्द कर रहा है। सहज सौकुमार्य के त्रास से कातर (शकुन्तला के) रति निधानभूत विकसित अरविन्द और कुवलय जैसे आमोद से मधुर अधर को पीता है इस प्रकार भ्रमरस्वभावोक्ति अलङ्कार प्रकृत रस के अङ्गत्व को ही प्राप्त हो गया है। दूसरे लोग तो 'भ्रमरस्वभाव में उक्ति है जिसकी वह भ्रमरस्वभावोक्ति' यहाँपर रूपक व्यतिरेक है यह कहते हैं।

## तारावती

(अलङ्कार के रसाङ्गता-सम्पादन का प्रथम प्रयोजक यह बतलाया गया है कि जब कवि रसमय रचना करने में अपना मन पूर्णरूप से लगा दे उस समय जो अलङ्कार प्रयुक्त हो जाता है रस के अङ्ग के रूप में कहना कवि को अभीष्ट हो, वह अलङ्कार वास्तव में रस का अङ्ग कहा जाता है।) उदाहरण के लिये अभिज्ञान शाकुन्तल मे दुष्यन्त छिपकर शकुन्तला की सारी चेष्टाओं को देख रहे हैं।

ध्वन्यालोकः

नाङ्गित्वेनेति न प्राधान्येन। कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा —

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दाम विलासबन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति।

( अनु० ) 'नागित्वेन' का अर्थ है प्रधानता के रूप में नहीं। कभी-कभी रस इत्यादि के तात्पर्य से कथन के लिये अभीष्ट भी अलंकार अंगी के रूप में कथन के लिये अभीष्ट दिखलाई पडता है। जैसे—

'जिन विष्णु भगवान् ने चक्राभिधातरूपी अपने सबल आदेश के द्वारा ही राहु की धर्मपत्नियों के सुरतोत्सव में केवल चुम्बन ही शेष रक्खा और आलिंगन के उत्कट विलास को व्यर्थ बना दिया।'

यहाँ पर रस इत्यादि के तात्पर्य होते हुये भी पर्यायोक्त की विवक्षा अंगी के रूप मे की गई है।

तारावती

उसी समय एक भ्रमर, शकुन्तला के ऊपर दौड़ आता है, शकुन्तला भयभीत हो जाती है, उस समय की शकुन्तला की चेष्टाओ को देख कर दुष्यन्त भौंरे को सम्बोधित करते हुये ये शब्द कह रहे हैं। इन शब्दों का आशय यह है कि हमारी कामनायें उत्कट कोटि की हैं और हम चाटूक्तियों में भी निपुण है। किन्तु तत्त्वान्वेषण में ही हम मारे गये और आयास के अतिरिक्त हमे कोई फल नहीं मिला। यहाँपर 'खलु' यह निपातार्थक अव्यय है। 'त्वं खलु कृती' इन शब्दों से व्यक्त होता है कि जीवन धारण करना तुम्हारा ही सफल हुआ है और वह भी विना किसी प्रयत्न के। हमारी कामना है कि किसी न किसी प्रकार शकुन्तला के कटाक्षो का विषय बन सकें, किसी न किसी उपाय से एकान्त मे यह हमारे अभिप्राय को सुने, यह निषेध कर रही हो और हम बलात् इसके अधरों का पान करें ये सब कामनाये हमारे मनोराज्य की पदवी पर ही अधिष्ठित हैं किन्तु तुम्हें विना ही प्रयत्न के प्राप्त हो गई हैं। यहाँपर भौंरे की स्वभावोक्ति का उपादान जो अलङ्कार है, रस का परिपोष करने के लिये ही किया गया है। भौंरे का स्वभाव ही नेत्र, कान, अधर इत्यादि पर मँडराना और गुनगुनाना होता है। उसमे यह कल्पना की गई है कि शकुन्तला के नेत्र नीलोत्पल की आशङ्का उत्पन्न करते हैं और उनको नीलोत्पल ही समझ कर भौंरा टूट रहा है। नेत्र कानों तक दौड़ते हैं अतः कानों के निकट भी नीलोत्पल की शङ्का दूर नहीं हुई है। अतः भौंरा वहीं पर गुनगुना रहा

## लोचन

चक्राभिघात एव प्रसभाज्ञा अलङ्घनीयो नियोगस्तया यो राहुदयितानां रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषं चकार। यत आलिङ्गनमुद्दामं प्रधानं येषु विलासेषु तैर्वन्ध्यः शून्योऽसौ रतोत्सवः। अत्राह कश्चित्—पर्यायोक्तमेवात्र कवेः प्राधान्येन विवक्षितं, नतु रसादि। तत्कथमुच्यते रसादितात्पर्ये सत्यपीति। मैवम्; वासुदेवप्रतापो ह्यत्र विवक्षितः। स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति, अपि तु पर्यायोक्तमेव। यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषा-

चक्राभिघात ही है प्रसभ आज्ञा अर्थात् अलंघनादि नियोग उसके द्वारा जिसने राहु की प्रियतमाओं के रतोत्सव को चुम्बनमात्र शेष कर दिया। क्योंकि आलिङ्गन ही है उद्दाम अर्थात् प्रधान जिन विलासों में उनसे वन्ध्य अर्थात् शून्य वह रतोत्सव (बनगया)। यहाँपर किसी ने कहा है यहाँ प्रधानतया पर्यायोक्त ही कवि का विवक्षित (कहने के लिये अभीष्ट) रस इत्यादि नहीं। तो यह कैसे कहा जा रहा है कि रस इत्यादि तात्पर्य के होते हुये भी? किन्तु ऐसा नहीं। यहाँ विवक्षित है वासुदेवप्रताप। वह यहाँपर चारुता-हेतु के रूप में प्रकाशित नहीं होता किन्तु पर्यायोक्त ही चारुता-हेतु के रूप में प्रकाशित हो रहा है) यद्यपि यहाँ

## तारावती

है। शकुन्तला में स्वाभाविक कोमलता है; अतः वह भौंरे से त्रस्त हो रही है, ऐसी दशा में वह भौंरा प्रफुल्लित कमल और कुवलय के समान सुगन्धित तथा मधुर, रतिनिधानभूत, अधर का पान कर रहा है। यही भौंरे की स्वभावोक्ति है जिससे दुष्यन्त के पूर्वराग विप्रलम्भ का परिपोष होता है। यही अलङ्कार की रसाङ्गता या रस-परिपोषकता है। कतिपय विद्वानों ने यह अर्थ किया है कि यहाँ पर रूपक और व्यतिरेक अलङ्कार है क्योंकि भ्रमर पर कामुक का आरोप किया गया है। वृत्तिकार के 'भ्रमरस्वभावोक्ति' शब्द का अर्थ उन्होंने यह किया है कि जिन रूपक और व्यतिरेक अलङ्कारों की उक्ति भ्रमर के स्वभाव में है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि यहाँपर भ्रमर के गुण और कार्यों के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की अवगति हो रही है। अतः यहाँपर समासोक्ति अलङ्कार है।

(2)

अलङ्कार को अङ्गरूपता प्रदान करनेवाला दूसरा तत्त्व है उसका अङ्गी के रूप में स्थित न होना। इसका अर्थ यह है कि जब कभी किसी अलङ्कार का प्रयोग रस के परिपोष के लिये किया जाता है वहाँ पर रस का प्रतिभास ही प्रधान रूप में होना चाहिये। अलङ्कार उसका परिपोषक ही होना चाहिये। किन्तु कहीं पर ऐसा भी हो जाता है कि रस में तात्पर्य होते हुये भी प्रधान रूप से वहाँ पर अलङ्कार का ही प्रतिभास होता है। जैसे—

ध्वन्यालोकः

अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य।

( अनु ) (३) अङ्ग के रूप मे विवक्षित भी जिस अलङ्कार का अवसर के अनुकूल ही ग्रहण करता है अवसर के प्रतिकूल नहीं। अवसर पर ग्रहण करने का उदाहरण—

'उत्कण्ठ कलिकावाली, विशेष रूप से पाण्डुवर्णवाली, क्षणभर में ही जृम्भा को आरम्भ करदेनेवाली, अविरल रूप में श्वसन के उद्गम द्वारा अपने आयासका विस्तारित करती हुई मदन से युक्त इस उद्यानलता को परस्त्री की भाँति देखते हुये मैं निस्सन्देह देवी के मुख को कोपसे लाल कर दूँगा । यहाँपर उपमा में श्लेष का अवसर के अनुकूल उपादान है ।

लोचन

शङ्का, तथापि दृष्टान्तवदेतत्—यत्प्रकृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारोऽङ्गभूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्यते। ततश्च क्वचिदनौचित्यमागच्छतीत्ययं ग्रन्थकृत आशयः। तथा च ग्रन्थकार एवाग्रे दर्शयिष्यति। महात्मनां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषणमिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम्।

पर काव्य मे कोई दोष की शङ्का नहीं है तथापि यह दृष्टान्तवत् है कि पोषणीय प्रकृत का तिरस्कारक अङ्गभूत अलङ्कार भी हो जाता है । फिर कहीं अनौचित्य को भी प्राप्त हो जाता है यह ग्रन्थकार का आशय है । तथा च ग्रन्थकार इस प्रकार आगे दिखलावेंगे । महात्माओं का दोषोद्घोषण अपना ही दोष है अतएव यह दोष का उदाहरण नहीं दिया ।

तारावती

'जिन विष्णु भगवान् ने चक्राभिघातरूपी अपने सबल आदेश से राहु की धर्मपत्नियों के सुरत के उत्सव मे केवल चुम्बन ही शेष रक्खा और आलिङ्गन के उत्कट विलास को व्यर्थ बना दिया ।'

यहाँपर कहना यह है कि विष्णु भगवान् ने चक्र से राहु का शिर काट लिया । किन्तु कहा यह गया है कि 'राहु की पत्नियों का आलिङ्गन असम्भव बना कर उनका सुरत व्यर्थ कर दिया ।' ( पुराणों में लिखा है कि छलपूर्वक अमृत पान में

## लोचन

उद्गामा उद्गताः कलिकाः यस्याः। उत्कलिकाश्च रुहरुहिकाः। क्षणात्तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धा जृम्भा विकासो यया। जृम्भा च मन्मथकृतोऽङ्गमर्दः। श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोल्लासैरात्मनो लतालक्षणस्यायासमायासनमान्दोलनयत्नमातन्वतीम्। निश्श्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं हृदयस्थितं सन्तापमातन्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम्। सह मदनाख्येन

उद्गाम अर्थात् निकली हुई हैं कलिकायें जिसकी और उत्कलिका का अर्थ है उत्कण्ठा। क्षणभर में अर्थात् उसीसमय प्रारम्भ कर दिया गया है जृम्भा अर्थात् विकास जिसके द्वारा। जृम्भा अर्थात् कामजन्य अङ्गमर्द। श्वसनोद्गम अर्थात् वसन्त मारुत के उल्लास के द्वारा लतारूप अपने आयास अर्थात् हिलने के प्रयत्न को विस्तारित करती हुई। निश्श्वासपरम्पराओं के द्वारा अपने आयास अर्थात् हृदयस्थित सन्ताप को प्रकट करनेवाली। मदन नाम के वृक्ष-

## तारावती

प्रवृत्त राहु का शिर भगवान् ने अपने चक्र से काट लिया। अमृतपान कर चुकने के कारण उसकी मृत्यु नहीं हुई। अब केवल शिर को ही राहु कहते हैं। इस प्रकार शिर के कट जाने के बाद से राहु के लिये आलिंगन असम्भव हो गया। केवल चुम्बन ही शेष रह गया।) यहाँपर भंग्यन्तर से एक बात कही गई है। अतः पर्यायोक्त अलङ्कार है। इस विषय में किसी ने लिखा है—यहाँपर पर्यायोक्त ही कवि के लिये प्रधानतया विवक्षित है। रस की प्रधानता यहाँपर कही ही किस प्रकार जा सकती है? किन्तु यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि यहाँपर मुख्य रूप से वासुदेव के प्रताप का वर्णन ही अभिप्रेत है। किन्तु वह चारुता-हेतु के रूप में प्रतीत नहीं हो रहा है। चारुता-हेतु पर्यायोक्त ही मालूम पड़ता है। यहाँपर एक बात और समझ लेनी चाहिये—लेखक ने दोषदर्शन की दृष्टि से यह उदाहरण नहीं दिया है। इस उदाहरण के द्वारा लेखक ने केवल यह बात दिखलाई है कि कहीं कहीं पर जिस रस का परिपोष करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है उसका अंग होते हुये भी उसी का तिरस्कारक हो जाता है। यहाँपर यह भले ही दोष न हो किन्तु कभी-कभी ऐसी अवस्था दोषपूर्ण भी हो सकती है। यह बात आगे चलकर ग्रंथकार स्वयं स्वीकार करेगा कि मान्य कवियों के काव्यों में दोष दिखलाना ग्रंथकार को अभीष्ट नहीं है। क्योंकि महात्माओं के दोष की उद्घोषणा करना अपना ही दोष होता है। अतः अलङ्कार के दोष होने का उदाहरण नहीं दिया गया है।

(३) जिसका ग्रहण अवसर के अनुकूल हो। अंग के रूप में प्रयोग करने मात्र से ही अलङ्कार रस का परिपोषक नहीं हो जाता। यह भी हो सकता है कि अलङ्कार का उपादान रस के अंग के रूप में हुआ हो किन्तु अवसर के प्रतिकूल

## लोचन

वृक्षविशेषेण मदनेन कामेन च। अत्रोपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य भाविनो मार्गपरिशोधकत्वेन स्थितस्तच्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरस्सरायमाणो गृहीत इति भावः। अभिनयोऽप्यत्र प्राकरणिके प्रतिपदम्। अप्राकरणिके तु वाक्यार्थाभिनयेनोपाङ्गादिना। न तु सर्वथा नाभिनय इत्यलमवान्तरेण। ध्रुवशब्दश्च भावीर्ष्यावकाश प्रदानजीवितम्।

विशेष के साथ और मदन अर्थात् कामदेव के साथ। भाव यह है कि यहाँपर उपमा श्लेष भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ का मार्ग-परिशोधक होने के रूप में स्थित उसकी चर्वणा के आभिमुख्य को करते हुये अवसरपर अर्थात् रस के प्रमुख होने की दशा में आगे आते हुये ग्रहण किया जाता है। यहाँपर अभिनय भी प्राकरणिक अर्थ में प्रतिपद (होता है)। अप्राकरणिक में तो वाक्यार्थाभिनय के साथ उपाङ्ग इत्यादि के द्वारा (अभिनय किया जाता है)। सर्वथा अभिनय न होता हो यह बात नहीं है। बस अधिक अवान्तर की क्या आवश्यकता? ध्रुव शब्द भावी ईर्ष्या के अवकाश-प्रदान का जीवन है।

## तारावती

प्रयोग करने के कारण वह रस का परिपोष न कर सके। अतः वही अलङ्कार रस का परिपोष कर सकता है जो अंग के रूप में विवक्षित भी हो और उसका उपादान अवसर के प्रतिकूल न होकर अवसर के अनुकूल ही हो। अवसर के अनुकूल अलङ्कार प्रयोग का उदाहरण रत्नावली से दिया गया है। वत्सराज उदयन और रानी वासवदत्ता ने अपनी-अपनी लताओं को दोहद के कृत्रिम उपायों द्वारा अकाल-कुसुमित कराने की चेष्टा की थी। संयोगवश राजा की लता कुसुमित हो गई और वासवदत्ता की लता कुसुमित न हो सकी। राजा यह समाचार सुनकर उद्यान-लता को देखने के लिये जाते हुये कह रहे हैं कि जब मैं प्रेमपूर्वक अपनी प्रफुल्लित लता को देखूँगा तो स्वभावतः अपनी असफलता के विचार से रानी को क्रोध आवेगा। इसी प्रसंग में पर-स्त्री की उपमा दी गई है। जब कोई पुरुष किसी पर-स्त्री को प्रेमपूर्वक देखता है तब उसकी पत्नी को क्रोध आ जाना स्वाभाविक ही है। लता भी स्त्री (स्त्रीलिंग) है। अतः उसे प्रेमपूर्वक देखते हुये राजा को देखकर वासवदत्ता को क्रोध अवश्य आवेगा। यहाँपर लता के जितने भी विशेषण दिये गये हैं वे सब श्लेष के कारण लता और पर-स्त्री दोनों ओर घटते हैं।) लता 'उद्यानोत्कलिका' होगी अर्थात् उसमें कलियाँ निकल आई होंगी। मानो पर-स्त्री (प्रतिनायिका) उत्कट कोटि की सम्मिलन की उत्कण्ठा से युक्त हो। लता के अन्दर उसी अवसर पर जृम्भा अर्थात् विकास आरम्भ हो गया होगा। मानो पर-

3(b) ध्वन्यालोकः

गृहीतमपि चयमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतया लङ्कारान्तरापेक्षया। यथा—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणैः
त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तः सखे मामपि॥
कान्तापादतलाहतिस्तवमुदे तद्वन्मयाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

(अनु०) (४) जिसको ग्रहण करके भी रस के अनुकूल होने के कारण दूसरे अलङ्कार की अपेक्षा करते हुये छोड़ भी दिया जावे। जैसे—हे अशोक तुम नव पल्लव से और मैं भी प्रियतमा के श्लाघ्य गुणों से रंगा हुआ हूँ? हे मित्र? स्मर-धनु से छूटे हुये शिलीमुख तुम पर आ रहे हैं और मुझपर भी। कान्ता के चरण तल के द्वारा ताड़न तुम्हें आनन्द देता है और उसी प्रकार मुझे भी। हे अशोक हम दोनों को सब बातें समान हैं केवल ब्रह्माजीने मुझे अशोक बनाया है।

## लोचन

रक्तो लोहितः। अहमपि रक्तः प्रवृद्धानुरागः। तत्र च प्रबोधको विभावस्तदीय-पल्लवराग इति मन्तव्यम्। एवं प्रतिपादमाद्योऽर्थो विभावत्वेन व्याख्येयः। अत एव हेतुश्लेषोऽयम्। सहोक्त्युपमाहेत्वलङ्काराणां हि भूयसा श्लेषानुग्राहकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण भामहो न्यरूपयत्—'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इत्युक्त्या न त्वन्यालङ्कारानुग्रहचिकीर्षया।

रक्त अर्थात् लाल। मैं भी रक्त अर्थात् प्रवृद्ध अनुरागवाला हूँ। यहाँपर प्रबोधक विभाव उसका पल्लवराग माना जाना चाहिये। इस प्रकार प्रतिपद प्रथम अर्थ की व्याख्या विभाव रूप में की जानी चाहिये। इसीलिये यह हेतु-श्लेष है। सहोक्ति उपमा और हेतु अलङ्कारों का अधिकता के साथ श्लेष का अनुग्राहकत्व है। इसी अभिप्राय से भामहने निरूपण किया है—वह सहोक्ति उपमा और हेतु के निर्देश से तीन प्रकार का है—इस उक्ति से अन्य अलङ्कारों के अनुग्रह के निराकरण की इच्छा से नहीं।

## तारावती

वनिता में जृम्भा अर्थात् काम-वेदना के कारण अंगों का टूटना प्रारम्भ हो गया हो। श्वसन शब्द के दो अर्थ हैं—(१) वसन्त की वायु और श्वास-वायु। श्वसन अर्थात् वसन्त की वायु से लता अपने आयास (मन्द-मन्द कम्पन) को विस्तारित कर रही होगी जैसे कोई रमणी अपने हृदय में स्थित काम-वेदनाजन्य सन्ताप को प्रकट कर रही हो। लता समदना अर्थात् मदनफल नामक वृक्ष से युक्त होगी अर्थात् मदनफल नाम के वृक्ष पर फैली हुई होगी जैसे कोई रमणी मदन अर्थात्

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति। नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किं तर्हि ? अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत्-न, तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते स तस्य विषयः। यथा—'सहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ।

(अनु०) यहाँ पर प्रबन्ध में प्रवृत्त हुआ भी श्लेष व्यतिरेक के कथन की इच्छा से त्याग दिया गया है और इसी कारण रस-विशेष (विप्रलम्भ) को पुष्ट करता है। (पूर्वपक्षी) यहाँ पर दो अलङ्कारों का मेल नहीं है। (उत्तरप०) तो क्या है ? (पूर्व प.) नरसिंह (के मिलित स्वरूप) के समान यह श्लेष और व्यतिरेक के मेल से बना हुआ दूसरा ही अलङ्कार है। (उ. प.) नहीं यह बात नहीं है। क्यों कि उसकी व्यवस्था तो अन्य प्रकार से ही होती है। जहाँ पर श्लेष विषयभूत शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति हो जाती है वह उसका (सङ्कर का) विषय होता है। 'जैसे वे हरि नाम के ही हैं किन्तु देव सुन्दर घोड़ों के समूह के कारण सहरि हैं।'

तारावती

कामदेव से युक्त हो।' यहाँ पर उपमा और श्लेष का उपादान अवसर के अनुकूल ही हुआ है। क्योंकि अग्रिम प्रकरण में सागरिका के प्रति राजा के प्रेम को देखकर रानी के चित्त में ईर्ष्या-विप्रलम्भ का उदय होने ही वाला है। यह उपमा उसी ईर्ष्या-विप्रलम्भ के मार्ग की शोधक है। यह सहृदयों के हृदय को रस की चर्वणा के अनुकूल बना देती है और रस के प्रमुख अवस्था को प्राप्त होने के ठीक पहले अवसर के अनुकूल ही इसका उपादान हुआ है। (इस प्रकरण का मुख्य प्रतीयमान ईर्ष्या-विप्रलम्भ है; उसका आस्वादन करने के पहले इस उपमा द्वारा सहृदयों के हृदय रसास्वादन के अनुकूल बन जाते हैं। यही इस उपमा का रसप्रवणत्व है।) नट को प्रत्येक शब्द का अभिनय प्राकरणिक अर्थ लता में ही करना चाहिये। अप्राकरणिक अर्थ मे अभिनय वाक्यार्थ के अभिनय के द्वारा उपाङ्ग इत्यादि के रूप में होता है। यह बात नहीं कहनी चाहिये कि अप्राकरणिक अर्थ में अभिनय होता ही नहीं। 'ध्रुवम्' (अवश्य ही) शब्द ही भावी ईर्ष्या को अवकाश देने में जीवन है।

(४) अवसर तथा आवश्यकता के अनुकूल किसी अलङ्कार का त्याग देना भी रस का पोषक होता है। आशय यह है कि यदि रस-परिपोष के लिये एक अलङ्कार का उपादान किया गया हो और उसके लिये उस अलङ्कार को छोड़कर

## लोचन

रसविशेषमिति विप्रलम्भम्। सशोकशब्देन व्यतिरेकमानयता शोकसहभूतानां निर्वेदचिन्तादीनां व्यभिचारिणां विप्रलम्भपरिपोषकाणामवकाशो दत्तः। किं तर्हीति। सङ्करालङ्कार एक एवायं; तत्र किं त्यक्तं किं वा गृहीतमिति परस्याभिप्रायः। तस्येति सङ्करस्य। एकत्र हि विषयेऽलङ्कारद्वयप्रतिभोल्लासः सङ्करः। सहरिशब्द एको विषयः। सः हरिः यदि वा सह हरिभिः सहरिरिति।

रस-विशेष का अर्थ है विप्रलम्भ। व्यतिरेक को लानेवाले सशोक शब्द से शोक के साथ होनेवाले निर्वेद चिन्ता इत्यादि विप्रलम्भ के परिपोषक व्यभिचारियों को अवकाश दे दिया गया है। कि तर्हीति। यह एक ही सङ्करा-लङ्कार ही है। उसमे क्या छोड़ दिया गया और क्या ग्रहण किया गया है यह दूसरे का अभिप्राय है। 'तस्य' का अर्थ है सङ्कर का। एक विषय मे दो अलङ्कारों की प्रतिभा का उल्लास सङ्कर है। 'सहरि' शब्द एक विषय है। वह हरि, अथवा हरियों के साथ।

## तारावती

दूसरे अलङ्कार के ग्रहण करने की आवश्यकता पड जावे तो उसे छोड़ भी देना चाहिये। जैसे हनुमान् नाटक मे श्री रामचन्द्र जी भगवती सीता की वियोगावस्था में अशोक से कह रहे हैं—

'हे अशोक तुम नवीन पल्लवों से रक्त (लालरंग से रंगे हुये) हो और मैं भी प्रियतमा के श्लाघ्य गुणों से रक्त (प्रवृद्ध अनुरागवाला) हूँ। स्मर और धनु नाम के वृक्षों से छूटे हुये शिलीमुख (भ्रमर) तुम्हारे ऊपर आ रहे हैं और स्मरधनु (कामदेव के धनुष) से छूटे हुये शिलीमुख (बाण) मेरे ऊपर आ रहे हैं। कान्ता के चरणतल का प्रहार तुम्हे आनन्द देनेवाला है अर्थात् पुष्पित कर देता है और उसी प्रकार कान्ता के चरणतल का प्रहार (एक प्रकार का सुरत-बध) मुझे भी आनन्द देता है। मुझमें और तुममें सब बात तो समान हैं भेद केवल इतना ही है कि तुम अशोक हो और मैं सशोक हूँ।'

यहाँ पर रक्त, शिलीमुख, स्मर, धनुः, अशोक इन शब्दों में श्लेष है जिससे अनुग्राहक के रूप मे ३ अलङ्कारों की व्यञ्जना होती है (१) सहोक्ति—अर्थात् अशोक के साथ राम भी रक्त हैं इत्यादि रूपों में उपमागर्भित साहचर्य व्यक्त होता है। (२) उपमा—'राम अशोक के समान रक्त हैं' इत्यादि। (३) हेतु—अशोक पल्लवों से रक्त है इसी उद्दीपन के कारण राम प्रियतमा के गुणों से रक्त हो रहे हैं। अशोक पर स्मर और धनुनाम के वृक्षों से छूटे हुये भ्रमर आ रहे हैं जो उद्दीपक हैं अतः राम भी कामबाणों का लक्ष्य हो रहे हैं, अशोक प्रियतमा के चरणाघात से फूल उठता है इसी तथ्य का स्मरणकर वे अपनी प्रियतमा के स्मरण का

तारावती

आनन्द ले रहे हैं। इस प्रकार यहाँपर प्रत्येक पाद में प्रथम अर्थ (अशोक-परक अर्थ) की उद्दीपन विभाव रूप में व्याख्या की जानी चाहिये। अतएव इसे हम हेतु-श्लेष कहेंगे। सहोक्ति, उपमा और हेतु ये तीन अलङ्कार विशेष रूप से अधिकता के साथ श्लेष के ग्राहक होते हैं इसी आशय से भामह ने निरूपण किया है—'सहोक्ति, उपमा और हेतु इन तीन अलङ्कारों का निर्देश करने के कारण वह (श्लेष) तीन प्रकार का होता है।' इस उक्ति के द्वारा भामह ने यही सिद्ध किया है कि ये तीन अलङ्कार विशेष रूप से श्लेष के द्वारा अनुगृहीत होते हैं। इसका आशय यह कदापि नहीं है कि अन्य अलङ्कार श्लेष के द्वारा अनुगृहीत होते ही नहीं। 'प्रबन्धप्रवृत्त श्लेष-व्यतिरेक को अनुगृहीत करने के निमित्त परित्यक्त होकर विशेष रस को पुष्ट करता है।' इस वाक्य मे विशेष रस का अर्थ है विप्रलम्भ शृङ्गार। 'सशोक' शब्द से व्यतिरेक की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार शोक के साथ होनेवाले तथा विप्रलम्भ के परिपोषक निर्वेद चिन्ता इत्यादि व्यभिचारी भावों को भी अवकाश प्रदान कर दिया गया है। (यहाँपर मूल ग्रन्थ में एक उदाहरण अलङ्कार के अवसरानुकूल ग्रहण का दिया गया है और दूसरा उदाहरण 'रक्तस्त्वं' इत्यादि अवसरानुकूल अलङ्कार के परित्याग का दिया गया है। इस विषय में पण्डितराज ने लिखा है कि "जिस प्रकार रति इत्यादि की आवश्यकता के अनुसार किसी अंग से भूषण (वस्त्र) इत्यादि का हटाया जाना ही विशेष शोभाधायक होता है उसी प्रकार प्रकृत उदाहरण में रसानुकूल होने के कारण उपमालंकार का परित्याग ही रमणीय है व्यतिरेक नहीं। इसीलिये सहृदय-धुरन्धर ध्वनिकार ने रस के अनुसार कहीं रस का संयोग करना चाहिये कहीं वियोग यह कहकर सादृश्य के दूरीकरण में 'रक्तस्त्वम्' इस पद्य का उदाहरण दिया है।" यहाँपर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपमा और व्यतिरेक इन दोनों की यहाँपर संसृष्टि है या संकर? आनन्दवर्धन ने संसृष्टि मानी है। संसृष्टि मानने से ही ध्वनिकार का मन्तव्य भी सिद्ध होता है क्योंकि संकर में सब अलंकार मिलकर एक हो जाते हैं। अतएव उसमें किसी एक अलकार के ग्रहण और दूसरे के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। जब दो या अधिक अलंकार एक दूसरे से मिलते हैं और उनकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती रहती है तब उनकी संसृष्टि कही जाती है। संसृष्टि में ही एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग उचित कहा जा सकता है। अग्रिम प्रकरण में संकर को पूर्व पक्ष में रखकर संसृष्टि की सिद्धान्तपक्षता का समर्थन किया गया है) (प्रश्न) यहाँपर दो अलंकारों का सम्मिलन नहीं है किन्तु एक दूसरा ही श्लेष-व्यतिरेक नामवाला

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्। श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेन्न, व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा—

(अनु०) (इसके प्रतिकूल) यहाँपर श्लेष का विषय अन्य शब्द है और व्यतिरेक का विषय अन्य शब्द है। यदि इस प्रकार के विषय में अलङ्कारान्तर कल्पना की जावेगी तो संसृष्टि का तो विषयापहार ही हो जावेगा। यदि यह कहो कि 'श्लेष-मुख से ही यहाँ पर व्यतिरेक को अपना स्वरूप प्राप्त होता है। अतः यह संसृष्टि का विषय नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि व्यतिरेक प्रकारान्तर से भी देखा जाता है। जैसेः—

तारावती

अलंकार है। दो अलंकारों का एकीकरण इसी प्रकार हो सकता है जैसे मनुष्य और सिंह को मिलाकर नृसिंह की एक मूर्ति की कल्पना कर ली जाती है। फिर भी यह कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि एक अलंकार ने दूसरे को अवकाश दे दिया? यहाँपर पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि संकर नाम का यह एक ही अलंकार है उसमें क्या छोड़ा गया क्या ग्रहण किया गया? अर्थात् जब दोनों अलंकार मिलकर एक है तब कथन संगत नहीं हो सकता कि एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण किया गया। (उत्तर) यहाँपर दो अलङ्कारों का एकीकरण रूप सङ्कर नहीं है। कारण यह है कि सङ्कर के विषय में तो व्यवस्था का प्रकार ही दूसरा है। अलङ्कारों का सङ्कर वहीं पर होता है जहां एक ही विषय में दो अलङ्कारों की प्रतिभा का उल्लास हो। आशय यह है कि जहाँ दो अलङ्कारों की प्रतीति का विषय (क्षेत्र) एकही होता है वहाँ उन दोनों अलङ्कारों का सङ्कर कहा जाता है। श्लेष और व्यतिरेक का सङ्कर वहीं पर होगा जहाँ जिस शब्द में श्लेष हो उसी शब्द का दूसरा प्रकार (अर्थ) लेकर व्यतिरेक की प्रतीति होने लगे। जैसे 'सहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इस वाक्य में सहरि शब्द श्लेष का भी प्रत्यायन करता है और व्यतिरेक का भी। सहरि शब्द का भगवान् के पक्ष में अर्थ होगा 'वे भगवान्' और राजा के पक्ष में अर्थ होगा-'हरि अर्थात् घोड़ों से युक्त' इस प्रकार इस पूर्ण वाक्य का अर्थ होता हैं वे भगवान् तो नाम के ही 'हरि' हैं किन्तु वास्तविक 'सहरि' शब्द राजा के पक्ष में ही ठीक घटता है क्योंकि राजा घोड़ों से युक्त हैं। यहाँ पर 'सहरि' शब्द ही श्लेष का भी प्रत्यायन करा देता है और व्यतिरेक का भी। इस प्रकार यहाँ पर

## लोचन

अत्र हीति। हि शब्दस्तुशब्दस्यार्थे। रक्तस्त्वमित्यत्रेत्यर्थः। अन्य इति रक्त इत्यादिः। अन्यश्च अशोकसशोकादिः। नन्वेकं वाक्यात्मकं विषयमाश्रित्यैकविषयत्वादस्तु सङ्कर इत्याशङ्क्याह—यदीति। एवंविधे वाक्यलक्षणे विषये विषय इत्येकत्वं विवक्षितं बोध्यम्। एकवाक्यापेक्षया यद्येकविषयत्वमुच्यते तत्र क्वचित् ससृष्टिः स्यात्, सङ्करेण व्याप्तत्वात्। ननूपमागर्भो व्यतिरेकः, उपमा च श्लेषमुखेनैयातेति श्लेषोऽत्र व्यतिरेकस्यानुग्राहक इति संकरस्यैवैष विषयः। यत्र

अत्र हीति। 'हि' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ मे है। अर्थात् तुम रक्त हो। अन्य का अर्थ है रक्त इत्यादि। और अन्य अशोक सशोक इत्यादि है। (प्रश्न) एक वाक्यात्मक विषय को लेकर एक विषय होने से सङ्कर होजावे? इस शङ्का का (उत्तर) देते हैं—'यदि इति'। इस प्रकार के वाक्यात्मक विषय में। विषय यह एक वचन विवक्षित समझा जाना चाहिये। एक वाक्य की अपेक्षा से यदि एकवाक्यत्व कहा जावे तो कहीं संसृष्टि हो ही नहीं सकती। क्योंकि (ऐसी दशा मे) सङ्कर से व्याप्त (हो जावेगी)। (प्रश्न) व्यतिरेक उपमागर्भित है और उपमा श्लेष के बल पर ही आई है इस प्रकार श्लेष यहाँ पर व्यतिरेक का अनुग्राहक है अतः यह सङ्कर का ही विषय है।

## तारावती

श्लेष और व्यतिरेक का सङ्कर है। इसके प्रतिकूल प्रस्तुत उदाहरण 'रक्तस्त्वं—सशोकः कृतः' में श्लेष का विषय रक्तः इत्यादि है और व्यतिरेक का विषय 'अशोक' 'सशोक' इत्यादि शब्द है। विषयभेद होने के कारण यहाँ पर सङ्कर नहीं संसृष्टि ही होगी। 'अत्र ह्यन्य एव व्यतिरेकस्य' इस वृत्तिगत वाक्य मे 'हि' शब्द का अर्थ है 'तु' अर्थात् यहाँ तो विषयभेद हो जाता है अतः सङ्कर नहीं हो सकता। (प्रश्न) यहाँ पर एक शब्द भले ही दोनों अलङ्कारों का विषय न हो किन्तु एक वाक्य तो दोनों अलङ्कारो का विषय है ही। फिर यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि विषय-भेद दोनों के कारण दोनों अलङ्करों का सङ्कर नहीं हो सकता। (उत्तर) यदि आप वाक्य को लेकर भी दो अलङ्कारों की एकविषयता मानेंगे तो संसृष्टि तो कहीं हो ही न सकेगी। सर्वत्र सङ्कर ही संसृष्टि के विषय को व्याप्त कर लेगा। अतएव एक वाक्य को लेकर अलङ्कारों की एकविषयता नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर 'वाक्य में' इस शब्द का एक वचन सप्रयोजन है। इसका अर्थ होता है 'एक वाक्य में'। (प्रश्न) व्यतिरेक सर्वदा उपमा-गर्भित ही होता है। वहाँ पर उपमा श्लेष के बल पर ही आई है अतः यहाँ पर श्लेष व्यतिरेक का अनुग्राहक ही है अतएव यहाँ पर श्लेष और व्यतिरेक का सङ्कर ही होना चाहिये। संसृष्टि का विषयापहार भी नहीं होता क्योंकि संसृष्टि ऐसे स्थान पर हो सकती है जहाँ पर दो अलंकारों का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव हो। अतः यहाँ पर संसृष्टि के विषयापहार की आड़ ली ही कैसे जा सकती

ध्वन्यालोकः

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्दमाधरस्यापि शम्या
गाढ़ोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुग्रत्विषो वो।
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः। नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वप्रतीतिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात् न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा—

(अनु०) अपने वेग से निर्दयता-पूर्वक पर्वतों को भी दिखलाकर देनेवाली कल्पान्त वायु से भी जो शान्त नहीं की जा सकती, जो दिन में उज्ज्वल कान्ति को प्रगाढ़ता के साथ उगलती रहती है, जो अन्धकार रूपी कज्जल से रहित न हो यह बात नहीं जो पतङ्ग से उत्पत्ति को प्राप्तकर उसी से हरण को नहीं प्राप्त होती। ऐसी, उष्ण कान्तिवाले समस्त द्वीपों के दीपक सूर्य की प्रभा, जो एक विलक्षण प्रकार की ही (दीपक की) वत्ती है, आप सब लोगों को सुखी करे।

यहाँपर तो समानता के (दीपवर्ति और सूर्य प्रभा में) विना ही प्रपञ्चप्रतिपादन के व्यतिरेक दिखाया है। यहाँपर श्लेषमात्र से चारुत्वप्रतीति है इसलिये व्यतिरेक का अंग होने से उसकी विवक्षा नहीं होती। स्वतः अलंकारता नहीं है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस प्रकार के विषय में भलीभाँति प्रतिपादित किये हुये साम्य मात्र से ही चारुता की प्रतिपत्ति देखी जाती है। जैसे—

लोचन

त्वनुग्राह्यानुग्राहकभावो नास्ति तत्रैकवाक्यगामित्वेऽपि संसृष्टिरेव; तदेतदाह—श्लेषेति। श्लेषबलानीतोपमामुखेनेत्यर्थः। एतत्परिहरति—नेति। अयं भावः—किं सर्वत्रोपमायाः स्वशब्देनाभिधाने व्यतिरेको भवत्युत गम्यमानत्वे। तत्राद्यं पक्षं दूषयति—प्रकारान्तरेणेति। उपमाभिधानेन विनापीत्यर्थः।

जहाँ पर तो अनुग्राह्यानुग्राहक भाव नहीं होता वहाँ एकवाक्यगामी होने पर भी संसृष्टि ही होती है। अतः यही कह रहे हैं—श्लेष इति। अर्थात् श्लेष के बल पर से लाई हुई उपमा के द्वारा। इसका उत्तर देते हैं—नेति। आशय यह है—'क्या सर्वत्र उपमा के स्वशब्द द्वारा कहे जाने में व्यतिरेक होता है या गम्यमान होने में? उसमें प्रथम पक्ष में दोष दिखलाते हैं—प्रकारान्तरेण इति। अर्थात् उपमा के अभिधान के विना भी।

## लोचन

शम्या शमयितुं शक्येत्यर्थः। दीपवर्तिस्तु वायुमात्रेण शमयितुं शक्यते। तम एव कज्जलं तेन। न नो रहिता अपि तु रहितैव। दीपवर्तिस्तु तमसापि युक्ता भवति। अत्यन्तमप्रकटत्वात् कज्जलेन चोपरिचरेण। पतङ्गादर्कात्। दीपवर्तिः पुनः शलभाद्ध्वंसते नोत्पद्यते। साम्येति। साम्यस्योपमायाः प्रपञ्चेन प्रबन्धेन यत्प्रतिपादनं स्वशब्देन तेन विनापीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—प्रतीयमानैवोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मान्न श्लेषोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहित्वेनोपात्ता। ननु यद्यप्यन्यत्र नैवं तथापीह तत्प्रावण्येनैव सोपात्ता; तदप्रावण्ये स्वयं चारुत्वहेतुत्वाभावादिति श्लेषोपमात्र पृथगलङ्कारभावमेव न भजते। तदाह—नात्रेति। एतदसिद्ध स्वसंवेदनबाधितत्वादिति हृदये गृहीत्वा स्वसंवेदनमपह्नुवानं परं श्लेषं विनोपमामात्रेण चारुत्वसम्भवमुदाहरणान्तरं दर्शयन्निरुत्तरीकरोति—यत इत्यादिना। उदाहरणश्लोके तृतीयान्तपदेषु तुल्यशब्दोमिसम्बन्धनीयः अन्यत्सर्वं रक्तस्त्वमिति वद्योज्यम्।

शम्या अर्थात् शमन किये जाने में समर्थ। दीपवत्ती तो वायुमात्र से शमन की जा सकती है। अन्धकार ही कज्जल उसके द्वारा। नहीं रहित है ऐसा नहीं अपितु रहित ही है। दीपवत्ती तो अन्धकार से भी युक्त होती है क्योंकि अत्यन्त अप्रकट होती है और ऊपर मँडरानेवाले कज्जल के द्वारा (अन्धकार से युक्त होती है)। पतङ्ग से अर्थात् सूर्य से (उत्पन्न)। किन्तु दीप की वत्ती तो शलभ से ध्वस्त होती है उत्पन्न नहीं होती। साम्य अर्थात् उपमा के प्रपञ्च अर्थात् प्रबन्ध से जो प्रतिपादन उस स्वशब्द के बिना भी यह अर्थ है। यह कहा गया है—प्रतीयमान उपमा ही व्यतिरेक की अनुग्राहिणी होती हुई स्वकण्ठ से अभिधान की अपेक्षा नहीं करती। अतः श्लेषोपमा व्यतिरेक के अनुग्राहक के रूप में ग्रहण नहीं की गई है। (प्रश्न) यद्यपि अन्यत्र ऐसा नहीं होता तथापि यहाँपर (रक्तस्त्वं इत्यादि मे) तो तत्परक (व्यतिरेकपरक) रूप में ही वह दिखलाई गई है। तत्परक न होने पर स्वयं चारुत्व हेतु न होने के कारण श्लेषोपमा यहाँपर पृथक् अलङ्कार भाव को ही प्राप्त नहीं होती है। वही कहते हैं—नात्रेति। यह असिद्ध है क्योंकि स्वसवेदन से बाधित है यह हृदय मे रख कर स्वसवेदन को छिपानेवाले विरोधी को श्लेष के बिना केवल उपमा के द्वारा चारुता से युक्त दूसरे उदाहरण को दिखलाते हुये निरुत्तर करते है—'यत इत्यादिना।' उदाहरण के श्लोक में तृतीयान्त पदों के साथ तुल्य शब्द का सम्बन्ध कर लिया जाना चाहिये। और सब 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि के समान योजित किया जाना चाहिये।

तारावती

है ? व्यतिरेक को श्लेषमुख से ही आत्मलाभ होता है' वृत्तिकार के इस कथन का आशय यह है कि श्लेष उपमा को लाने में कारण होता है और उपमा के कारण व्यतिरेक सत्ता में आता है। अतः इनका अनुग्राह्यानुग्राहक भाव है। (उत्तर) व्यतिरेक सर्वदा उपमागर्भित ही होता है इस कथन से आपका क्या अभिप्राय है? क्या जहाँ व्यतिरेक होता है वहाँ अनिवार्य रूप से उपमा वाच्य होती है ? अथवा अनिवार्य रूप से उपमा के वाच्य होने की आवश्यकता नहीं है। क्या व्यतिरेक में उपमा व्यङ्ग्य भी हो सकती है ? अच्छा प्रथम पक्ष को लीजिये। यह आप कह ही नहीं सकते कि जहाँ उपमा वाच्य होती है वहीं व्यतिरेक होता है। ऐसे भी स्थान देखे जाते हैं जहाँ व्यतिरेक तो होता है किन्तु उपमा वाच्य नहीं होती। जैसे सूर्यशतक का यह पद्य लीजिये—'उष्ण कान्तिवाले समस्त द्वीपों के दीपक सूर्य की प्रभा जो कि एक दूसरे ही प्रकार की दीपक की वत्ती है, आप सब लोगों को सुखी करे। दीपक की प्रभा वायु से बुझ जाती है किन्तु यह सूर्य की प्रभा निर्दय होकर वेग से पर्वतों को भी ढहा देनेवाली कल्पान्त वायु से भी नहीं बुझ सकती। इसकी प्रगाढ़ और उज्ज्वल दीप्ति सर्वदा प्रकाशित ही रहती है। दीपक की वत्ती दिनमें सर्वदा शून्य हो जाती है क्योंकि दिन में दीपक का प्रकाश बिल्कुल प्रकट नहीं होता किन्तु सूर्य की प्रभा दिन में शून्य नहीं होती। दीपक अन्धकार और कालिख से रहित नहीं होता। कज्जल सर्वदा दीपक के ऊपर ही मंडराया करता है, किन्तु सूर्य की प्रभा कज्जलरूपी अन्धकार से रहित न हो ऐसा नहीं होता। (दीधितिकार ने 'अहनि न रहिता' का एक अर्थ यह भी किया है कि दीपक की वत्ती दिनमें पुरुषों का हित नहीं करती किन्तु सूर्य की प्रभा दिन में मनुष्यों का हित करती है।) दीपप्रभा पतंग (शलभ) से शान्त हो जाती है किन्तु सूर्यप्रभा पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न ही होती है, शान्त नहीं होती। यही सूर्य प्रभा की विलक्षणता है।' यहाँपर साम्य प्रपञ्च के द्वारा प्रतिपादन के बिना ही व्यतिरेक दिखलाया गया है। 'साम्य' का अर्थ है उपमा और प्रपञ्च का अर्थ है प्रबन्ध। आशय यह है कि यहाँपर उपमा का स्वशब्द के द्वारा (अभिधा वृत्ति के द्वारा) प्रतिपादन नहीं किया गया है फिर भी व्यतिरेक हो जाता है। यहाँपर कहने का आशय यह है कि (कहीं-कहीं पर) प्रतीयमान उपमा ही व्यतिरेक की अनुग्राहिणी होकर कण्ठ-रव से साम्य प्रतिपादन की अपेक्षा नहीं करती। अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि श्लेष-मूलक उपमा व्यतिरेक की अनुग्राहिणी के रूप मे ग्रहण की गई है। (प्रश्न) अन्यत्र ऐसा होना सम्भव भी हो कि बिना श्लेषमूलक वाच्योपमा के व्यतिरेक सम्पन्न भी हो जावे किन्तु यहाँपर श्लेषमूलक उपमा का उपादान व्यतिरेक में एक

ध्वन्यालोकः

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयोः
तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः ॥

इत्यादौ ।

'हे जलधर ! मेरा करुण क्रन्दन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरा नेत्रजल (अश्रु) तुम्हारे विश्रामरहित प्रवाहित होनेवाले धाराजल के समान हैं और प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न हुई शोक की अग्नि बिजली के विलास के समान है । मेरे हृदय मे प्रियतमा का मुख विद्यमान है और तुम्हारे अन्दर चन्द्रमा है । इस प्रकार सब बातों मे मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी है । फिर हे जलधर ! तुम मुझे जलाने के लिये ही क्यों उद्यत हो । इत्यादि में ।

तारावती

विशेषता उत्पन्न करने के लिये ही किया गया है । कारण यह है कि श्लेष पर आधारित उपमा यदि व्यतिरेक में विशेषता का आधान न करे तो उसमे स्वयं अपनी कोई सुन्दरता रह ही नहीं जाती । अतः यहाँपर श्लेष और उपमा पृथक् अलङ्कार ही नहीं हो सकते; फिर इनका अङ्गाङ्गि-भाव सङ्कर क्यों नहीं माना जा सकता ? (उत्तर) ऊपर प्रतिपक्षी ने जो कुछ कहा है वह वस्तुतः ठीक नहीं है और न सिद्ध ही होता है । उक्त उदाहरण में राम और अशोक का श्लेष-मूलक साम्य पृथक् चमत्कार-कारक है और उनका व्यतिरेक पृथक् चमत्कारोत्पादक है । यह बात स्वसंवेदन-सिद्ध है और पूर्वपक्षी इस बात को समझ भी रहा है, किन्तु अपने संवेदन को छिपा रहा है । अतः उसे निरुत्तर करने के लिये ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जहाँ श्लेष के बिना केवल उपमा से ही चारुता की निष्पत्ति हो जाती है और व्यतिरेक के परिपोष की अपेक्षा भी नहीं रह जाती । इस प्रकार के विषय में यदि केवल साम्य का प्रतिपादन ही सुचारुरूप से किया जावे तब भी चारुता देखी ही जाती है। जैसेः—

हे जलधर ! मेरा करुण क्रंदन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरे नेत्रजल अविराम प्रवाहित होनेवाले धाराजल के समान है और प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न हुई शोक की अग्नि बिजली के विलास के समान है, मेरे अन्दर प्रियतमा का मुख विद्यमान है और तुम्हारे अन्दर चंद्रमा है, इस प्रकार सब बातों मे मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी ही है । फिर भी हे जलधर ! तुम मुझे निरन्तर जला डालने पर ही क्यों तुले हुये हो ?' (तुम जलधर हो, तुम्हारा अन्तः करण शीतल है फिर तुम मुझे क्यों जला रहे हो ?)

(३५) ध्वन्यालोकः

रसनिर्वहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति। यथा—

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन्॥

इत्यादौ रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रसपुष्ट्ये।

( अनु० ) और रस के निर्वहण में अपना मन पूर्ण रूप से लगाये हुये कवि जिस ( अलङ्कार ) का अत्यन्त निर्वाह करना नहीं चाहता वह अलङ्कार रस पोषक होता है। जैसेः—

'प्रियतमा क्रोध में भरकर कोमल बाहुलता रूपी पाश में नायक को भली-भाँति जकड़ कर शाम के समय सखियों के सामने निवास स्थान पर ले जाकर उसकी दुश्चेष्टाओं की ओर संकेत करती हुई अपनी क्रोधावेश में स्खलित होती हुई सुन्दर वाणी में ( सखियों से ) कह रही थी कि 'फिर कभी ऐसा मत कहना' इस प्रकार हँसते हुये अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा करनेवाला जो प्रियतम रोती हुई नायिका के द्वारा पीटा जाता है वह धन्य ही है।

यहाँ पर रूपक का आक्षेप किया जाता है जिसका निर्वाह नहीं किया गया है अत वह रस को बहुत अधिक पुष्ट करता है।

तारावती

( यह पद्य सुभाषितावली में आनन्दवर्धन के नाम पर पाया जाता है, कुछ लोग इसे यशोवर्मा का बतलाते हैं। सूक्तिमुक्तावली में यशोवर्मा के नाम पर दो पद्य दिये हुये हैं—एक तो यही है और दूसरा 'यत्त्वन्नेत्रसमानकाति ..... ..' इत्यादि है। महा नाटक ( ४–३४ ) पर भी यह पद्य पाया जाता है।)

इस पद्य में तृतीयांत शब्द उपमान है और प्रथमांत उपमेय। 'तुल्य' शब्द वाचक है। इस पद्य में भी 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि के समान योजना करनी चाहिये अर्थात् यहाँ पर तृतीयांत उपमान के रूप में भी पाये जाने चाहिये और हेतु के रूप में भी। 'बादल गरज रहे हैं इसीलिये मेरे मुख से वियोग के उद्दीप्त हो जाने के कारण रुदन का शब्द निकल रहा है। निरंतर वर्षा हो रही है अतः मेरे भी वेदना-जन्य आसू प्रवाहित हो रहे हैं।' इत्यादि।

यहाँ पर केवल साम्य के बल पर ही चारुता की निष्पत्ति हो जाती है न श्लेष की अपेक्षा है न व्यतिरेक की। इसी प्रकार 'रक्तस्त्वम् ..... ' इस पद्य में भी उपमा-गत चारुता की निष्पत्ति पृथक् रूप में होती है और उसको छोड़ कर व्यति-

## लोचन

एवं ग्रहणत्यागौ समर्थ्य 'नातिनिर्वहणैषिता' इति भागं व्याचष्टे—रसेति। चकारः समीक्षाप्रकारसमुच्चयार्थः। वाहुलतिकायाः वन्धनीयपाशत्वेन रूपणं यदि निर्वाहयेत्, दयिता व्याधवधूः वासगृहं कारागारपञ्जरादीति परमनौचित्यं स्यात्। सखीनां पुर इति। भवत्योऽनवरतं ब्रुवते नायमेवं करोतीति तत्पश्यन्त्विदानीमिति

इस प्रकार ग्रहण और त्याग का समर्थन करके 'अत्यन्त निर्वहण की इच्छा न होना' इस भाग की व्याख्या करते हैं:—रसेति! चकार समीक्षा प्रकार के समुच्चय के अर्थ में है। वाहुलतिका के वन्धनीय पाश के रूप में आरोप का यदि निर्वाह किया जावे तो दयिता व्याधवधू और वासगृह कारागार-पञ्जर इत्यादि यह परम अनौचित्य होगा। 'सखियों के सामने' कहने का भाव यह है कि 'आप सब निरन्तर कहा करती हैं कि यह ऐसा नहीं करता, इसलिये अब इस समय पर देखो।'

## तारावती

रेक की निष्पत्ति पृथक् की गई है। एक को छोड़कर दूसरे का उपादान रस का परिपोषक हो रहा है।

(५) इस प्रकार अलङ्कार के ग्रहण और त्याग का समर्थन कर कारिका के 'नातिनिर्वहणैषिता' इस भाग की व्याख्या की जा रही है—वृत्तिकार ने 'यं च' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें 'च' शब्द समुच्चयवाचक है और अलङ्कार की समीक्षा के नये प्रकार का समुच्चय कराता है। पाचवाँ प्रकार यह है कि जिस अलङ्कार के निर्वहण के लिये कवि सचेष्ट नहीं होता। आशय यह है कि जिस समय कवि रस के निर्वहण में अपना मन पूर्ण रूप से लगा देता है और संयोगवश आये हुये अलङ्कार की परिसमाप्ति के लिये अधिक प्रयत्न नहीं करता उस समय वह अलङ्कार रस का परिपोषक हो जाता है। जैसे.—

कोई नायिका सखियों से अपने प्रियतम के अपराधों का वर्णन किया करती है। सखियाँ नायक का पक्ष लेती हैं और सर्वदा यही कह दिया करती हैं कि नायक ऐसी प्रकृति का नहीं है वह ऐसा अपराध नहीं कर सकता। एक बार नायिका नायक को नखक्षत इत्यादि से विभूषित देख लेती है और पकड़कर सखियों के सामने ले आती है। इस प्रकार अपने कथन को प्रमाणित करती है। यही वर्णन करते हुये कवि कह रहा है—

'प्रियतमा सायंकाल में क्रोधावेश में भरकर अपनी कोमल और चञ्चल बाहुलता रूपी पाश में प्रियतम को दृढ़ता पूर्वक बाँध कर अपने निवासस्थान में सखियों के सामने ले आई। अपनी कल मधुर वाणी में जो कि कोप के कारण स्खलित हो रही थी उसकी दुश्चेष्टाओं को सङ्केत के द्वारा सूचित करते हुये अर्थात् उसके

(5) ध्वन्यालोकः

निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति॥

इत्यादौ।

(अनु) निर्वहण के लिये अभीष्ट भी जिसको प्रयत्न पूर्वक अङ्ग के रूप में देखता है। जैसे—

मैं श्यामाओं (प्रियङ्गुलताओं) में तुम्हारा अङ्ग, चकित हरिणों के अवलोकन में तुम्हारा दृष्टिपात, चन्द्रमा में कपोल सौन्दर्य, मयूरों के बर्हभार में तुम्हारा केश-पाश और नदी की कृश लहरियों में भ्रू-विलास को देखता हूँ। किन्तु खेद है कि कहीं भी एकत्र तुम्हारा सौन्दर्य दृष्टिगत नहीं होता।' इत्यादि में।

## लोचन

भावः। स्खलन्ती कोपावेशेन कला मधुरा च गीर्यस्याः सा। काऽसौ गीरित्याह—भूयो मैवमित्येवं रूपा। एवमिति यदुक्तं तत्किमित्याह—दुश्चेष्टितं नखपदादि संसूच्य अङ्गुल्यादिनिर्देशेन। हन्यत एवेति न तु सख्यादिकृतोऽनुनयो रुध्यते। यतोऽसौ हसनं निमित्तीकृत्य निह्नुतिपरप्रियतमश्च तदीयं व्यलीकं का सोढुं समर्थेति।

निर्वोढुमिति। निश्शेषेण परिसमापयितुमित्यर्थः। श्यामासु सुगन्धिप्रियङ्गुलतासु पाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकित्वेन च योगात्। शशिनीति पाण्डुरत्वात्। उत्पश्यामीति यत्नेनोत्प्रेक्षे। जीवितसन्धारणायेत्यर्थः। हन्तेति कष्टम्। एकस्थसादृश्याभावे हि

कोप के आवेश में स्खलित होनेवाली तथा कल अर्थात् मधुर है वाणी जिसकी। यह वाणी कौन है यह कहते हैं—'फिर कभी नहीं' इस रूपवाली। इस प्रकार जो यह कहा वह क्या? यह कहते हैं—दुश्चेष्टित अर्थात् नखक्षत इत्यादि को 'सूचित करके' अर्थात् अंगुली इत्यादि के निर्देश से। 'मारा ही जाता है' सखी इत्यादि के किये हुये अनुनय को नहीं माना जाता। क्योंकि यह हँसी को निमित्त बनाकर छिपाने का प्रयत्न करता है और है प्रियतम भी, उसके अपराध को सहने में कौन समर्थ हो सकती है?

निर्वाह करने के लिये, अर्थात् निश्शेष रूप में समाप्त करने के लिये। 'श्यामा में' अर्थात् सुगंधित प्रियङ्गुलताओं में, पाण्डुता तनुता और कण्टकित होने के योग से। 'चन्द्रमा में' अर्थात् पाण्डु वर्ण के योग से। 'उत्पश्यामि' का अर्थ है प्रयत्न पूर्वक देखता हूँ। अर्थात् जीवन धारण करने के लिये। 'हन्त' का अर्थ है खेद

## लोचन

दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकस्य धृतिं लभ इतिभावः। भीरिति। यो हि कातरहृदयो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयतीत्यर्थः। अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं, तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम्।

की बात है। एक स्थान पर सादृश्य के अभाव मे निस्सन्देह दोलायमान मैं सर्वत्र स्थित हुआ कहीं भी धैर्य को प्राप्त नहीं कर रहा हूँ यह भाव है। 'भीरु' इति। अर्थात् जो निस्सन्देह कातर हृदयवाला होता है वह सर्वत्र एक स्थान पर नहीं रखता। यहाँ पर निस्सन्देह उस भाव के आध्यारोप रूप उत्प्रेक्षा को अनुप्राणित करनेवाला सादृश्य जैसा उपक्रान्त किया गया है वैसा निर्वाह भी कर दिया गया (इस प्रकार) विप्रलम्भ का पोषक ही हुआ है।

## तारावती

नखक्षत इत्यादि चिन्हों की ओर हाथ से संकेत करते हुये सखियों से कहा कि देखो अब कभी ऐसा मत कहना कि यह अपराधी नहीं है। उस समय नायिका रो रही थी और प्रियतम हँसकर अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा कर रहा था। उस समय प्रियतमा उसे मारने लगी। सचमुच इस प्रकार का सौभाग्य जिसे प्राप्त हो वह धन्य ही है।'

यहाँ पर 'बाहुलतारूपी पाश' इसमे रूपक अलङ्कार है। किन्तु उसका निर्वाह नहीं किया गया है। निर्वाह न करने के कारण ही रस का परिपोष भली भाँति हो जाता है। यदि बाहुलतारूपी पाश के रूपक का निर्वाह किया जाता तो नायिका को व्याध-वधू कहना पड़ता और वासगृह को कारागारपञ्जर, जो कि अत्यन्त अनुचित होता। 'मारती ही है' कहने का आशय यह है कि सखी इत्यादि के किये हुये अनुरोध को भी नहीं मानती। क्योंकि यह प्रियतम हंसी का बहाना लेकर अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा कर रहा है। भला उसके अपराध को सहने में कौन समर्थ हो सकती है। (यह पद्य अमरुशतक से लिया गया है।)

(६) निर्वहण होते हुये भी प्रयत्नपूर्वक जिसकी अङ्ग के रूप मे अपेक्षा की जावे। जहाँ पर कवि ने किसी एक अलङ्कार का पूर्ण रूप से निर्वाह कर दिया हो किन्तु ऐसी कुशलता से उसका निर्वाह किया हो कि वह पूर्ण होते हुये भी रस का अंग बन जावे वहाँ पर रस अलंकार का पोषक ही होता है। जैसे मेघदूत में यक्ष अपनी प्रियतमा को सन्देश देते हुये कह रहा है :—

'हे भीरु मैं सुगन्धित प्रियंगुलताओं मे तुम्हारे अंग की कल्पना करता हूँ। चञ्चल हरिणी के प्रेक्षण में मैं तुम्हारे दृष्टिपात की कल्पना करता हूँ। इसी प्रकार

ध्वन्यालोकः

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्त प्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः संपद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्। किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग्दर्शिता तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति।

(अनु०) वह इस प्रकार उपनिबद्ध किया हुआ अलङ्कार कवि की रस की अभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है। उक्त प्रकारों का अतिक्रमण करने पर तो नियमतः अलङ्कार रसभङ्ग में कारण हो जाता है। इस प्रकार के लक्ष्य (जहाँ अलङ्कार रसोपघातक हो गया है) महाकवियों के प्रबन्धों में भी प्रायः देखे जाते हैं। किन्तु उनको पृथक्-पृथक् इसलिये नहीं दिखलाया कि जिन महात्माओं की आत्मा सहस्रों सूक्तियों से प्रकाशित हो चुकी है उनके दोषों की उद्घोषणा करना अपना ही दोष हो जाता है। किन्तु रस इत्यादि के विषय मे रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग की व्यञ्जकता के क्षेत्र में लक्षणों का जो यह दिग्दर्शन कराया गया है उसका अनुसरण करते हुये तथा अन्य लक्षणों की भी उत्प्रेक्षा करते हुये यदि कोई सुकवि अभी हाल में ही कहे हुये असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की प्रतिभावाली ध्वनि की आत्मा का सावधान चित्त होकर उपनिबन्धन करता है तो उसे महत्त्वपूर्ण सुकवि का पद (अनायास ही) मिल जाता है।

तारावती

चन्द्र में कपोलों के सौन्दर्य की, मयूरों के बर्हभारे मे केशों की और नदी की कृशतर लहरियों मे भ्रूविलास की कल्पना करता हूँ किन्तु खेद है कि कहीं भी तुम्हारा एकस्थ सौन्दर्य दृष्टिगत नहीं होता।' यहाँ पर प्रियंगुलताओं मे नायिका के अंग की कल्पना की गई है। क्योंकि नायिका के समान प्रियंगुलताओं में भी पाण्डुवर्णता (स्वर्णवत् गौरवर्णता) और दुबलापन होता है तथा नायिका जिस प्रकार प्रेमावेश मे रोमाञ्चित होती है उसी प्रकार प्रियंगुलताओं मे भी कटीलापन होता है। (इससे नायिका की सर्वकालिक प्रेम निर्भरता हर्ष-परवशता और रोमाञ्चित रहना अभिव्यक्त होता है।) चन्द्रमा में मुख की उत्प्रेक्षा इसीलिये की जाती है कि दोनों ही गौर वर्णवाले हैं। 'उत्प्रेक्षामि' का अर्थ है 'प्रयत्नपूर्वक कल्पना करता हूँ' क्योंकि वियोग दशा में मेरे प्राणधारण का यही एक आश्रय है। खेद इसीलिये है कि सादृश्य की सब वस्तुयें इतस्ततः बिखरी हुई हैं, एक स्थान

लोचन

तत्तु लक्ष्यं न दर्शितमिति सम्बन्धः। प्रत्युदाहरणे अदर्शितेऽप्युदाहरणानुशीलन दिशा कृतकृत्यतेति दर्शयति—किं त्विति। अन्यल्लक्षणमिति। परीक्षाप्रकारमित्यर्थः। तद्यथावसरे त्यक्तस्यापि पुनर्ग्रहणमित्यादि यथा ममैव—

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससन्दूषिताः।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरैः,
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः॥

इत्यत्र रूपकसन्देहनिदर्शनास्त्यक्त्वा पुनरुपात्ता रसपरिपोषायेत्यलम्॥१८, १९॥

सम्बन्ध योजना इस प्रकार है कि उस तत्त्व को नहीं दिखलाया। प्रत्युदाहरण के न दिखलाये जानेपर भी उदाहरणानुशीलन की दिशा से ही कृतकृत्यता हो जाती है यह दिखलाते हैं—'किन्तु' इति। 'अन्यल्लक्षणमिति' अर्थात् परीक्षा का प्रकार। वह जैसे अवसर पर छोड़े हुये को पुनः ग्रहण कर लेना इत्यादि। जैसे मेरा ही:—

'यदि शीतांशु की किरणें अमृत की शोभावाली हैं तो क्यों अत्यन्त रूप में मेरे मन को जला रही हैं? यदि कालकूट पटल के साथ रहने से दूषित हैं तो प्राणों को क्यों नहीं हर लेतीं? यदि प्रियतमा के संकथन रूपी मन्त्राक्षरों के द्वारा उनकी रक्षा की जाती है तो मैं मोह को क्यों प्राप्त हो जाता हूँ? अरे-अरे! मैं नहीं जानता कि यह क्या गति है?'

यहाँ पर रूपक सन्देह और निदर्शना को छोड़ कर रस परिपोष के लिए पुनः उपादान कर लिया गया। बस इतना पर्याप्त है॥ १८, १९॥

तारावती

पर सभी वस्तुओं का सादृश्य दिखलाई नहीं देता, अतः मेरा हृदय सर्वदा दोलायमान रहता है। मैं जहाँ कहीं स्थित होता हूँ और एक वस्तु के सादृश्य का आनन्द लेता हूँ वहाँ दूसरी वस्तु का अभाव खटकता रहता है, एक ही स्थान पर सभी वस्तुओं के सादृश्य का धैर्य हमें प्राप्त नहीं होता। 'हे भीरु' इस सम्बोधन का आशय यह है कि जो कातर हृदय होता है वह अपनी सभी चीजों को एक स्थान पर ही नहीं रखता। मालूम पड़ता है कि प्रियतमा ने भय के कारण ही अपनी समस्त सुन्दर वस्तुओं को एक स्थान पर नहीं रक्खा है। यहाँपर उत्प्रेक्षालङ्कार में किसी वस्तु पर किसी ऐसे तत्त्व का अध्यारोप किया जाता है जिसकी सत्ता वहाँ विद्यमान नहीं होती। इस उत्प्रेक्षा का अनुप्राणक (जीवनदायक) सादृश्य ही होता है। यहाँ पर सादृश्य को जिस रूप में प्रारम्भ किया गया था उसका पूरा पूरा निर्वाह कर दिया गया किन्तु फिर भी वह विप्रलम्भ का पूर्ण रूप से परिपोषक ही हो गया है।

## तारावती

यदि कवि उक्त प्रकारों का आश्रय लेकर अलङ्कारों को काव्य में निबद्ध करता है तो वह अलङ्कार रस की अभिव्यक्ति मे कारण हो जाता है। इसके प्रतिकूल यदि उक्त प्रकारों का अतिक्रमण कर दिया जावे तो वह अलंकार नियमपूर्वक रसभङ्ग में कारण बन जाता है। महाकवियों के प्रबन्धों में ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें अलङ्कारो का अनुचित प्रयोग रस के व्याघात में कारण बन गया है। किन्तु मैं यहाँ विस्तार के साथ उनकी व्याख्या नहीं करना चाहता। कारण यह है कि जिन महात्माओं की अन्तरात्मा सहस्रों सूक्तियों से द्योतित हो रही है उनके दोषों का उद्घोष करना स्वयं अपना ही दोष हो जावेगा। किन्तु यहाँ पर रस इत्यादि के विषय में रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग किस प्रकार व्यञ्जक होता है इसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। यदि कोई अच्छा कवि इस मार्ग का अनुसरण करेगा और स्वयं इसी प्रकार के अन्य लक्षणों की कल्पना कर लेगा तथा परीक्षा के दूसरे प्रकारों को निकालेगा और उसके आधार पर सावधानता के साथ पहले बतलाये हुये असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को निबद्ध करने की चेष्टा करेगा तो उसे सुकवि का महत्त्वपूर्ण पद सरलतापूर्वक मिल सकेगा ऐसी आनन्दवर्धन की धारणा है। परीक्षा के अन्य प्रकारों में उदाहरण के लिये एक यह हो सकता है कि जहाँ अलङ्कार को छोड़कर पुनः ग्रहण कर लिया जावे। जैसे मेरा ( अभिनव गुप्त का ) ही पद्य—

'यदि शीतांशु की किरणें अमृत की शोभावाली हैं तो फिर मेरे मन को बहुत अधिक जला क्यों रही हैं ? ( यदि इनके जलाने में यह कारण है कि ) ये कालकूट पटल के सम्पर्क से दूषित हो चुकी हैं तो मेरे प्राणों को क्यों नहीं हर लेतीं ? यदि इनके प्राणों के न हरने का कारण यह है कि उस विष के प्रभाव को मारनेवाले प्रियतमा के वचन रूपी अमृत के अक्षर मेरी रक्षा करते हैं तो मैं बार-बार मूर्छित क्यों हो जाता हूँ ? अत्यन्त दुःख की बात है कि मैं समझ ही नहीं पाता हूँ कि मेरी यह दशा क्या हो गई है ?'

यहाँ निम्नलिखित अलङ्कार प्रकट हो रहे है—( १ ) रूपक—किरणों पर अमृत-च्छटा का आरोप, कालकूट-सम्पर्क-दूषितत्व का आरोप और प्रियतमा के वचनों पर मन्त्राक्षरत्व का आरोप होने से रूपक अलङ्कार है। ( २ ) सन्देह—क्या ये अमृत की शोभावाली हैं या विष के सम्पर्क से दूषित हैं अथवा प्रियतमा के वचन-रूपी मन्त्राक्षर मेरी रक्षा करते हैं—इस प्रकार सन्देह है। ( ३ ) निदर्शना—किरणों पर अमृतशोभाशालित्व और विषसम्पृक्तत्व के तथा प्रियतमा के वचनों पर मन्त्राक्षरों के ऐक्य का आरोप किया गया है इसलिये निदर्शनालङ्कार है।

ध्वन्यालोकः

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ २० ॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः ।

(अनु०) इस विवक्षितान्यपरवाच्य की जिस आत्मा का अनुस्वान के समान क्रमपूर्वक प्रतिभास होता है वह भी दो रूपों में व्यवस्थित होती है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ॥ २० ॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के व्यङ्ग्य के संलक्ष्यक्रम होने के कारण अनुरणन के समान जो आत्मा होती है वह भी शब्दशक्तिमूलक तथा अर्थशक्तिमूलक इन दो प्रकारों की होती है ।

लोचन

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः प्रथमं भेदमलक्ष्यक्रमं विचार्य द्वितीयभेदं विभक्तुमाह-क्रमेणेत्यादि । प्रथमपादोऽनुवादभागो हेतुत्वेनोपात्तः । घण्टाया अनुरणनमभिघातजशब्दापेक्षया क्रमेणैव भाति । सोऽपीति । न केवलं मूलतो ध्वनिर्द्विविधः । नापि केवल विवक्षितान्यपरवाच्यो द्विविधः । अयमपि द्विविध एवेत्यपि शब्दार्थः ॥२०॥

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद लक्ष्यक्रम पर विचार करके द्वितीय भेद का विभाजन करने के लिये कह रहे हैं—क्रमेण इत्यादि । अनुवाद भाग प्रथम पाद हेतु के रूप में ग्रहण किया गया है । घण्टा का अनुरणन अभिघातज शब्द की अपेक्षा क्रमशः ही शोभित होता है । सोऽपीति। केवल मूलतः ही ध्वनि दो प्रकार की नहीं होती और नहीं ही केवल विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार का होता है। यह भी दो ही प्रकार की होती है यह 'अपि' शब्द का अर्थ है ॥२०॥

तारावती

यहाँ पर 'यदि.....शोभावाली हैं' में जिन अलङ्कारों का उपादान किया गया है 'तो फिर.....जला क्यों रही है' इन शब्दों के द्वारा उनका परित्याग कर दिया गया है । पुनः 'यदि ये.....दूषित हो चुकी हैं' इन शब्दो के द्वारा उन्हीं अलङ्कारों का उपादान किया गया और पुनः 'तो.....हर लेती हैं' इन शब्दों में उनका परित्याग कर दिया गया । पुनः 'यदि प्रियतमा के.....करते हैं ।' मे उनका उपादान किया गया और पुनः 'तो फिर.....हो जाता हूँ' मे उनका परित्याग कर दिया गया । इस प्रकार अलङ्कारों के उपादान और परित्याग से रस की अत्यन्त पुष्टि हो जाती है । यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का दिग्दर्शन किया गया ॥ १८, १९ ॥

## तारावती

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पर विचार किया जा चुका अब द्वितीय भेद का विभाजन करने के लिये ध्वनिकार ने यह बीसवीं कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि की आत्मा का प्रतिभास केवल असल्लक्ष्यरूप में ही नहीं होता अपितु संल्लक्ष्य रूप में क्रमवद्धता के साथ उसी प्रकार उसका प्रतिभास होता है जिस प्रकार अनुरणन की प्रतीति हुआ करती है। उसकी व्यवस्था दो प्रकार से होती है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। इसलिये यह ध्वनि भी दो प्रकार की मानी जाती है। इस कारिका का प्रथम पाद अनुवाद रूप है। अर्थात् सिद्ध वस्तु का निर्देश करता है (किसी साधारण संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्य के दो खण्ड होते हैं एक उद्देश्य और दूसरा प्रतिनिर्देश्य अथवा विधेय। यहाँ पर 'इस ध्वनि की अनुस्वान के समान जो आत्मा क्रम के साथ प्रतिभासित होती है' यह उद्देश्य वाक्य है और 'शब्द तथा अर्थमूलक होने के कारण उसमें दो भेद होते हैं' यह विधेय वाक्य है।) प्रथम पाद जोकि अनुवाद अथवा उद्देश्य वाक्य का एक खण्ड है उसका उपादान हेतु के रूप में हुआ है अर्थात् इस ध्वनि का प्रतिभास अनुस्वान या अनुरणन के समान हुआ करता है क्योंकि इसके आत्मा की प्रतीति क्रमपूर्वक होती है। घण्टा में जो अभिघातज शब्द होता है उसकी अपेक्षा उसके अनुरणन की प्रतीति पृथक् ही होता है। आशय यह है कि जिस प्रकार पहले-पहल घण्टा में अभिघात होने पर एक शब्द होता है; फिर उस शब्द से पृथक् ही उसका अनुरणन श्रुतिगोचर होता रहता है उसी प्रकार संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य मे पहले शब्द का प्रयोग होता है फिर उससे अभिधेयार्थ की प्रतीति होती है और उसके बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस क्रम का प्रतिभास पाठकों को होता चलता है अतः इसे संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं। (रसध्वनि मे हम पद्य को सुनते जाते हैं और हमें आनन्दानुभूति होती जाती है। उसमें हमें यह मालूम ही नहीं पड़ता कि पहले हम शब्द सुनते हैं फिर अर्थ समझते हैं और उसके बाद आनन्द की उपलब्धि होती है। इसके प्रतिकूल संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में हमें पौर्वापर्यक्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है कि हम पहले शब्द सुनते हैं तब वाच्यार्थबोध होता है और फिर व्यङ्ग्यार्थबोध। यही संल्लक्ष्य और असंल्लक्ष्य की प्रक्रिया में अन्तर है।) मूल में कहा गया था 'वह भी दो प्रकार का होता है' इस वाक्य में 'भी' शब्द का अर्थ यह है कि इस प्रकरण में ध्वनि के सभी भेदोपभेद दो ही दो प्रकार के किये गये हैं—ध्वनि के दो भेद होते हैं अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत-

ध्वन्यालोकः

ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात्, नापहृत इत्याह—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्नानुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ २१ ॥

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः ।

(अनु०) (प्रश्न) शब्दशक्ति से जहाँ अर्थान्तर प्रकाशित होता है वह यदि ध्वनि का एक प्रकार कहा जाता है तो श्लेष के विषय का तो अपहार ही हो गया । (उत्तर) नहीं अपहार हुआ, यही बात २१वीं कारिका में कही जा रही है—

'जिसमें शब्द के द्वारा न कहा हुआ किन्तु शब्दशक्ति के द्वारा आक्षिप्त ही किया हुआ अलङ्कार प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है ॥ २१ ॥

जिससे अलंकार ही, वस्तुमात्र नहीं, जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है यह हमारा कहने का मन्तव्य है—'जहाँ दोनों वस्तुयें शब्दशक्ति से प्रकाशित होती हैं वहाँ श्लेष होता है ।'

लोचन

कारिकागतं हिशब्दं व्याचष्टे—यस्मादिति । अलङ्कारशब्दस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति—न वस्तुमात्रमिति । वस्तुद्वये चेति । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे ।

कारिका में आये हुये 'ही' शब्द की व्याख्या करते हैं—'यस्मादिति' । अलङ्कार शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाते हैं—न वस्तुमात्रमिति । 'वस्तुद्वये च' में 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है ।

तारावती

वाच्य । विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो ही भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य । संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भी दो ही भेद होते हैं—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ॥ २० ॥

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ पर शब्द-शक्ति से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है उसे यदि ध्वनि मे अन्तर्भूत कर दिया जावेगा तो श्लेष के तो विषय का ही अपहार हो जावेगा । श्लेष कहीं हो ही न सकेगा । इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये बीसवीं कारिका लिखी गई है—कारिकाकार का आशय यह है कि जिस काव्य में किसी शब्द के बल पर केवल वस्तु की ही व्यञ्जना न हो किन्तु किसी अलंकार की भी व्यञ्जना हो उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं । यदि

ध्वन्यालोकः

यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन वलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥

(अनु०) जैसे—

विष्णुपरक अर्थ—अजन्मा जिस भगवान् ने शकटासुर को मारा; वलि या वलवान् राक्षसों को जीतनेवाला, गोवर्धन तथा पातालगत भूमि को धारण करनेवाला, चक्र को वलय के रूप में धारण करनेवाला है, जिसका नाम देवता लोग चन्द्रमा को दमन करनेवाले राहु के शिर को नष्ट करनेवाला वतलाते हैं, वे यादवों का आवास वनानेवाले, सवकुछ प्रदान करनेवाले भगवान् लक्ष्मीनाथ तुम्हारी रक्षा करें।

भगवान् शंकरपरक दूसरा अर्थ—कामदेव को जीतनेवाले जिन भगवान् शंकर ने वलि को जीतनेवाले विष्णु के शरीर को पुराने समय में अस्त्रस्थ वना दिया था; उद्धत भुजङ्ग ही जिसके हार और वलय हैं, जिसने गङ्गा को धारण किया; जिसके शिर को चन्द्रमा से युक्त कहते हैं, देवता लोग जिसका 'हर' यह स्तुत्य नाम वतलाते हैं; वे अन्धक का नाश करनेवाले उमाकान्त भगवान् शंकर तुम्हारी रक्षा करें।

तारावती

शब्दशक्ति मे दो वस्तु-परक अर्थ प्रकाशित हों तो वहाँ पर श्लेष होता है। कारिका म आये हुए हि शब्द की व्याख्या करने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है—'क्योंकि अलंकार जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं। यहाँ पर अलंकार का व्यवच्छेद्य क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये कहा गया है—वस्तु मात्र नहीं। 'और दो वस्तुओं के शब्दशक्ति से प्रकाशित होने पर श्लेष होता है।' यहाँ पर 'च' शब्द का प्रयोग 'तु' शब्द के अर्थ मे किया गया है। (कहने का आशय यह है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में भी शब्द के वल पर ही दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है और श्लेष में भी शब्द के वल पर ही दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। अन्तर केवल इतना है कि दोनों मे एक अर्थ तो वस्तु-परक होता ही है किन्तु दूसरा अर्थ भी यदि केवल वस्तु-परक ही हो तो वह श्लेष कहलाता है और यदि दूसरा अर्थ अलंकार-परक हो अथवा अलंकारमिश्रित वस्तुपरक हो तो उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं।)

तारावती

देखा तो उससे एक मूसल उत्पन्न हुआ। आनेवाली आपत्ति को बचाने के निमित्त उस मूसल का चूरा कर सागर के निकट फेंक दिया गया। एक बार जब सब मिलकर तीर्थयात्रा के लिये जा रहे थे, शराब के नशे में चूर होकर एक दूसरे को अपशब्द कहने लगे। इसके बाद एक दूसरे को मार डालने की क्रिया प्रारम्भ हो गयी। भगवान् ने समुद्र के तट पर पूर्वोक्त मूसल के चूरे को लेकर जैसे ही दूसरों को मारा वैसे ही उस चूरे से अङ्कुर बन गये और उन अङ्कुरों ने मूसल का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार परस्पर लड़ते हुवे सभी मारे गये।) यह तो इस पद्य का विष्णुपरक अर्थ हुआ। इन्हीं शब्दों से शंकरपरक अर्थ भी निकल सकता है। शंकरपरक अर्थ इस प्रकार होगा—'मनोभव को नष्ट करनेवाले जिन भगवान् शंकर ने त्रिपुरदाह के अवसर पर बलि को जीतनेवाले भगवान् विष्णु के शरीर को अस्त्र के रूप में अर्थात् बाण के रूप मे प्रयुक्त किया था। (त्रिपुरवध की कथा लिङ्ग पुराण, शिव पुराण और स्कन्द पुराण में आई है। कहा जाता है कि विद्युन्माली, तारकाक्ष और कमलाक्ष नाम के तीन राक्षस थे। इन राक्षसों ने ब्रह्मा से वरदान के रूप में काञ्चन राजत और आयस् ये तीन पुर प्राप्त किये। बाद में दर्प के वशवर्ती होकर जब उन असुरों ने विश्व को उत्पीडित करना प्रारम्भ कर दिया तब भगवान् शंकर ने देवताओं की सहायता से बाणरूपधारी भगवान् विष्णु के द्वारा उस राक्षस का वध किया।) उद्धत सर्प ही जिसके हार और वलय हैं, जिसने गङ्गा को धारण किया, ऋषि लोग जिसके शिर को चन्द्रयुक्त बतलाते हैं और जिसका 'हर' यह स्तुत्य नाम बतलाते है। स्वयं ही अन्धकासुर का विनाश करनेवाले, तथा भगवती उमा के पति वे ही भगवान् शंकर जी तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें। (अन्धकासुर के विनाश की कथा भी लिङ्ग, शिव और स्कन्द पुराणों मे आई है। अन्धकासुर हिरण्याक्ष का पुत्र था। देवासुर-संग्राम में शुक्राचार्य जी मृत राक्षसों को मृतसञ्जीवनी विद्या के प्रभाव से पुनः प्रत्युज्जीवित कर दिया करते थे। एक बार भगवान् शंकर ने शुक्राचार्य को निगल लिया। शुक्राचार्य ने शंकर जी के पेट मे लोक-लोकान्तरो के दर्शन किये। अन्धकासुर शुक्राचार्य को छुड़ाने के निमित्त सेना लेकर चढ़ आया। सेना का कलकलनाद शुक्राचार्य जी ने भगवान् शंकर के पेट के अन्दर से सुना और उत्तेजित होकर शंकर जी के शुक्र मार्ग से बाहर निकल आये। अन्धकासुर लडता-लड़ता मारा गया।)

यहाँ पर प्रतीतिगोचर होनेवाला दूसरा अर्थ वस्तुमात्र है। अतः यह श्लेष का ही विषय है, शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य का नहीं। क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ पर दूसरे अर्थ से वस्तु-मात्र की प्रतीति हो वहाँ पर श्लेष होता है और जहाँ पर दूसरे अर्थ से अलंकार की प्रतीति हो वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है।

ध्वन्यालोकः

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्क्य इदमुक्तम् 'आक्षिप्तः' इति। तदयमर्थः—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्यात्क्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।

(अनु०) (प्रश्न) भट्टोद्भट ने दिखलाया है कि दूसरे अलङ्कारों की प्रतिभा मे भी श्लेप यह नाम हो जाता है; अतएव फिर भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कोई अवकाश नहीं रहा—इसी शङ्का का उत्तर देने के लिये यह कहा है कि 'अलङ्कार आक्षिप्त हो'। अतएव यह अर्थ हुआ—जहाँ शब्दशक्ति साक्षात् दूसरा अलंकार वाच्य होते हुये प्रतिभासित होता है वह सब श्लेप का विपय है। और जहाँ पर शब्दशक्ति के द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वाच्य से भिन्न दूसरा ही व्यङ्ग्य अलंकार प्रकाशित होता है वह ध्वनि का विपय है।

लोचन

आक्षिप्तशब्दस्य कारिकागतस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुं चोद्यमुपक्रमते—नन्वलङ्कारेत्यादिना।

कारिकागत आक्षिप्त शब्द का व्यवच्छेद्य (पृथक्करणीय) दिखलाने के लिये प्रेरणीय के रूप में उपक्रम किया जा रहा है नन्वलंकार इत्यादि से।

तारावती

कारिका मे आक्षिप्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इसकी सङ्गति बिठाने के लिये तथा यह दिखलाने के लिये कि उस आक्षिप्त शब्द से कौन सा तत्त्व ध्वनि के क्षेत्र से बाह्य हो जाता है, पूर्वपक्ष के रूप में उसकी अवतारणा की जा रही है—(प्रश्न) भट्टोद्भट ने दिखलाया है कि जहाँ दूसरे अलंकार की प्रतीति हो रही हो वहाँ भी श्लेष नामक अलकार होता है। फिर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लिये अवसर ही कहाँ रह गया? (उत्तर) कारिका मे आये हुये आक्षिप्त शब्द पर ध्यान देने से इस प्रश्न का उत्तर स्वतः समझ मे आ जावेगा। आक्षिप्त शब्द का आशय यह है कि जहाँ पर शब्दशक्ति से दूसरा अलंकार साक्षात् वाच्य होकर प्रकाशित हो रहा हो वह सब श्लेष का विषय होता है। इसके प्रतिकूल जहाँ पर शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरे अलंकार का आक्षेप कर लिया जावे और वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही हो वहाँ पर ध्वनि का विपय होता है।

[इस प्रकरण में बतलाया गया है कि जहाँ शब्दशक्ति से अलंकार की प्रतीति हो वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है और जहाँ पर शब्दशक्ति से किसी

प्रकरण मे होता ही है। यदि बिना किसी प्रयोजन एक अर्थ अभिधा से ले लिया जावे और दूसरा अर्थ व्यञ्जना से तो प्रकरण का उपयोग ही क्या हुआ? यह तो वही दशा हुई खेत सींचने के लिये जहाँ आवश्यकता है वहाँ एक नाली निकाल दो और जहाँ आवश्यकता नहीं है वहाँ दूसरी नाली निकाल दो। तो इसमें व्यवस्था ही क्या हुई। अतः मानना पड़ेगा कि किसी भी प्रकरण मे शब्दों का दूसरा अर्थ वहीं पर लिया जाता है जहाँ उसकी आवश्यकता हो। इस प्रकार दोनों अर्थ अभिधा के द्वारा ही निकलते हैं। प्राचीनों ने ऐसे प्रकरण मे जहाँ व्यञ्जना वृत्ति-मानी है वहाँ उनका अभिप्राय दूसरे अर्थ के लिये व्यञ्जना मानने में नहीं है अपितु दोनों अर्थों मे उपमानोपमेय भाव को स्थापित करने के लिये व्यञ्जना व्यापार की अपरिहार्यता बतलाई गई है।

उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि आलङ्कारिकों के दो पक्ष हैं—एक पक्ष शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि को मानता ही नहीं जिसमें आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त प्रमुख है तथा अप्पय दीक्षित का भी झुकाव उसी ओर मालूम पड़ता है। दूसरी ओर है मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि। ये लोग केवल अलङ्कार-ध्वनि को ही शब्दशक्तिमूलक नहीं मानते अपितु वस्तु-ध्वनि को भी शब्दशक्तिमूलक मानते हैं। उपभेद कल्पना मे इस बात पर ध्यान रखना होगा कि पाठकों के लिए चमत्कारविधान किस तत्त्व पर आधारित है। यदि चमत्कार विधान साम्य पर निर्भर है तो वह अलङ्कार-ध्वनि कही जावेगी यदि उसका आधार द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग है तो वह श्लेष अलङ्कार कहा जावेगा और यदि उसका आधार शब्द केवल पर निकलनेवाला दूसरा अर्थ है तो वह वस्तु-ध्वनि कहलावेगी। ऐसे स्थान देखे जाते है जहाँ शब्द के बल पर दूसरा अर्थ निकलता है और वक्ता को उस अर्थ को छिपाकर किसी अपने अन्तरंग मित्र पर प्रकट करना ही अभीष्ट होता है। ऐसे स्थान पर वस्तुतः चमत्कार में मूल कारण वह छिपाकर कहा हुआ अर्थ ही होता है। वहाँ एक तो सादृश्य की ओर पाठक का ध्यान ही नहीं जाता और यदि जाता भी है तो वह इतना उपेक्षणीय होता है कि उसके आधार पर ही पाठक के चमत्कार का पर्यवसान नहीं हो सकता। श्लिष्ट शब्दों के श्लेष की ओर यद्यपि पाठकों का ध्यान जाता है तथापि उसमे ही सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं हो जाती। सौन्दर्य की विश्रान्ति तब होती है जब पाठक उसे छिपाकर कहे हुये अर्थ का परिशीलन करता है। यह क्षेत्र शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि का ही है अतः उसका अपलाप नहीं हो सकता।

प्रस्तुत प्रकरण मे यह बतलाया गया है कि द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग में जहाँ

ध्वन्यालोकः

शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ॥

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद्विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः।

(अनु०) शब्दशक्ति से दूसरे अलंकार के साक्षात् प्रतिभास ( प्रतीत ) होने का उदाहरण—

'हार के विना भी स्वभाव से ही हारी उसके दोनों स्तन किसके हृदय में विस्मय नहीं उत्पन्न कर रहे थे ?'

यहाँ पर शृंगार का व्यभिचारी विस्मय नाम का भाव है और विरोधालंकार भी साक्षात् प्रतिभासित होता है। अतः विरोध की छाया को अनुगृहीत करनेवाले श्लेष का यह विषय है, अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य-ध्वनि का नहीं।

लोचन

तस्या विनापीति। अपि शब्दोऽयं विरोधमाचक्षाणोऽर्थद्वयेऽप्यभिधाशक्तिं नियच्छति हरतो हृदयमवश्यमिति हारिणौ। हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति। अत एव विस्मयशब्दोऽस्यैवार्थस्योपोद्बलकः। अपिशब्दाभावे तु न तत एवार्थद्वयस्याभिधा स्यात्, स्वसौन्दर्यादेव स्तनयोर्विस्मयहेतुत्वोपपत्तेः। विस्मयाख्यो भाव इति दृष्टान्ताभिप्रायेणोपात्तम्। यथा विस्मयः शब्देन प्रतिभाति विस्मय इत्यनेन शब्देन तथा विरोधोऽपि प्रतिभात्यपीत्यनेन शब्देन।

तस्या विनापीति। यह अपिशब्द विरोध को कहते हुये दोनों अर्थों में अभिधाशक्ति को नियन्त्रित करता है—जो अवश्य हृदय को हरते हैं उन्हें हारी कहते हैं। जिनके हार विद्यमान हों उन्हें भी हारी कहते हैं। अतएव विस्मय शब्द इसी अर्थ के बोध में सहकारी है। अपि शब्द के अभाव में तो उसी से दो अर्थों की अभिधा होवे। क्योंकि स्तनों की विस्मयहेतुता तो अपने सौन्दर्य से ही ( सिद्ध है )। विस्मय नामक भाव यह दृष्टान्त के अभिप्राय से ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार विस्मय इस शब्द से विस्मय प्रतीत होता है उसीप्रकार विरोध भी 'अपि' शब्द से प्रतीत होता है।

तारावती

किसी दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हो वहाँ वह अलङ्कार या तो श्लेषमूलक ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करता है। जहाँ अलङ्कार साक्षात् वाच्य हो वहाँ वह श्लेष-मूलक कहा

तारावती

जाता है और जहाँ व्यङ्ग्य हो वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करता है। पहले श्लेषमूलक साक्षात् वाच्य अलङ्कारान्तर का उदाहरण लीजिये। 'उसके दोनों पयोधर जो हार न होते हुये भी स्वभावतः हारी हैं किसके हृदय में विस्मय नहीं उत्पन्न कर रहे थे?' विस्मय उत्पन्न करने का कारण यह है कि हाररहित होते हुये भी हारी (हारवाले) हैं। 'हाररहित होते हुये भी' इस वाक्य का 'भी शब्द' विरोध का अभिधान करते हुये 'हारी' शब्द के दोनों अर्थों में अभिधा को नियन्त्रित कर देता है। 'हारी' शब्द के दो अर्थ हैं 'जो हृदय को अवश्य हरे' और 'जिनके पास हार विद्यमान है।' दूसरा अर्थ करने से विरोध की प्रतीति होती है और उस प्रतीयमान विरोध को 'अपि' शब्द वाच्य बना देता है। विस्मय भी उत्पन्न होने का कारण यही है कि पयोधर हाररहित होते हुये भी हारी हैं। अतः विस्मय शब्द भी इसी अर्थ का सहकारी तथा पोषक है। यदि यहाँ पर 'अपि' शब्द का प्रयोग न किया गया होता तो दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती थी। यदि केवल यही कहा जाता कि 'उसके पयोधर हाररहित हैं, स्वभावतः हारी हैं और किसके हृदय में विस्मय नहीं पैदा करते।' तो विस्मय का अर्थ यही होता कि उसके स्तन अपने सौन्दर्य के कारण ही विस्मय में डालनेवाले हैं। अतएव अभिधा वृत्ति से यहाँपर विरोध की प्रतीति नहीं होती।

वृत्तिकार ने लिखा है कि—'यहाँपर शृङ्गार रस का व्यभिचारी विस्मय नामक भाव और विरोधालङ्कार ये दोनों साक्षात् प्रतिभासित होते हैं।' यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि प्रकरण तो श्लेषालङ्कार और शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि के विषय-विभाजन का चल रहा है फिर बीच में शृङ्गार रस के व्यभिचारी भाव की वाच्यता का उल्लेख क्यों कर दिया गया। इसका उत्तर यह है कि विस्मय नामक व्यभिचारी भाव का कथन दृष्टान्त के अभिप्राय से किया गया है। जिस प्रकार विस्मय शब्द का प्रयोग कर देने से शृंगार रस के व्यभिचारी भाव विस्मय की प्रतीति अभिधा-वृत्ति से ही होती है उसी प्रकार 'भी' शब्द का प्रयोग कर देने से विरोधाभास की प्रतीति भी साक्षात् अभिधा वृत्ति से ही हो जाती है। अतः यह विषय श्लेष का ही है जो विरोधालङ्कार की छाया का परिशेष करता है। यह विषय शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप अलङ्कार-ध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि यहाँपर विरोधाभास अलंकार वाच्य है।

किन्तु उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि जहाँ वाच्यालंकार होता है वहाँ किसी प्रकार की ध्वनि होती ही नहीं। 'वाच्य श्लेष अथवा विरोध के द्वारा व्यक्त की हुई असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि का तो यह क्षेत्र है

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव। यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
स्त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्द्ररूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥

(अनु०) वाच्य श्लेष अथवा विरोध के द्वारा व्यञ्जित अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का तो यह विषय ( क्षेत्र ) है ही। जैसे मेरा ही पद्य—

सुदर्शन-कर, चरणारविन्द के त्रिभुवनाक्रमण-क्रीडन में लोकों को आक्रान्त करनेवाले, चन्द्रात्मक नेत्र धारण करनेवाले भगवान् कृष्ण ने समस्त श्लाघनीय शरीरवाली सभी अंगों की लीला से तीनों लोकों को जीतनेवाली, चन्द्र के समान सम्पूर्ण मुख को धारण करनेवाली जिन रुक्मिणी को उचित ही अपने शरीर से अधिक समझा, वे रुक्मिणी आपलोगों की रक्षा करें।

लोचन

ननु किं सर्वथात्र ध्वनिर्नास्तीत्याशङ्क्याह—अलक्ष्येति। विरोधेन वेति। वाग्रहणेन श्लेषविरोधसङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति, अनुग्रहयोगादेकतरत्यागग्रहणनिमित्ताभावो हि वा शब्देन सूच्यते। सुदर्शनं चक्रं करे यस्य। व्यतिरेकपक्षे सुदर्शनौ श्लाघ्यौ करावेव यस्य। चरणारविन्दस्य ललितं त्रिभुवनाक्रमणक्रीडनम्। चन्द्ररूपं चक्षुर्धारयन्।

( प्रश्न ) क्या यहाँ सर्वथा ध्वनि नहीं है? यह शंका करके ( उत्तर ) देते हैं—अलक्ष्येति। विरोधेन वेति। वा ग्रहण से यह श्लेष और विरोध का संकरालंकार है यह दिखलाते हैं। अनुग्रह ( अनुग्राह्यानुग्राहक भाव ) के योग से एक के त्याग और ग्रहण के निमित्त का अभाव 'वा' शब्द से सूचित होता है। सुदर्शनचक्र है जिसके हाथ में। व्यतिरेक पक्ष में सुन्दर दर्शनवाले अर्थात् श्लाघ्य हैं हाथ ही जिसके। चरणारविन्द का ललित अर्थात् त्रिभुवन के आक्रमण की क्रीडा। चन्द्ररूप नेत्रों को धारण करते हुये।

तारावती

ही।' वृत्तिकार के इस वाक्य में 'अथवा विरोध के द्वारा' अथवा शब्द का अर्थ यह है कि आप उसे चाहे श्लेष कहें अथवा विरोध। ये दोनों मिलकर एक ही अलंकार बनाते हैं अर्थात् यहाँ पर श्लेष और विरोध का संकर बन जाता है। श्लेष और विरोध में अनुग्राह्यानुग्राहक भाव विद्यमान है, अतः एक के ग्रहण और दूसरे के त्याग का कोई निमित्त यहाँ पर विद्यमान नहीं है। यही बात 'वा' शब्द

ध्वन्यालोकः

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते। यथा च—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

(अनु०) यहाँ पर व्यतिरेक की छाया को अनुगृहीत करनेवाला श्लेष वाच्यरूप मे ही प्रतीत होता है। एक और उदाहरण—

'मेघरूपी सर्प से उत्पन्न हुआ विष (१—जल २—गरल) वियोगिनियों। के लिये बलपूर्वक, भ्रमि, अरति, हृदय में आलसीपन, प्रलय (चेष्टाशून्य होना), मूर्च्छा, अंधेरा (छा जाना), शरीर की शिथिलता और मरण, ये बातें उत्पन्न कर रहा है।

लोचन

वाच्यतयैवेति। स्वतनोरधिकामिति शब्देन व्यतिरेकस्योक्तत्वात्। भुजगशब्दार्थपर्यालोचनाबलादेव विषशब्दो जलमभिधायापि न विरन्तुमुत्सहेत, अपितु द्वितीयमर्थं हालाहललक्षणमाह। तदभिधानेन विनाभिधाया एवासमाप्तत्वात्। भ्रमिप्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण एवार्थः।

वाच्यतया एवेति। क्योंकि अपने शरीर से अधिक, इन शब्दों के द्वारा व्यतिरेक कहा गया है। भुजंग शब्द के अर्थ की पर्यालोचना के बल से ही विष शब्द जल को कहकर भी विरत होना नहीं चाहता अपितु हालाहल लक्षणवाले दूसरे अर्थ को कहता है। क्योंकि उसके अभिधान के बिना अभिधा ही असमाप्त रह जाती है। भूमि से लेकर मरण पर्यन्त (शब्दों) का साधारण ही अर्थ है।

तारावती

से व्यक्त होती है। दूसरे अलंकार से संपृक्त वाच्य श्लेष का दूसरा उदाहरण आनन्दवर्धन का बनाया हुआ अपना ही पद्य है। इस पद्य में व्यतिरेक की छाया को अनुगृहीत करनेवाला श्लेष वाच्य के रूप में ही प्रतीत होता है। पद्य का अर्थ यह है—'भगवान् कृष्ण सुदर्शन-कर हैं अर्थात् उनके हाथों मे सुदर्शनचक्र है और रुक्मिणी का सारा शरीर प्रशंसनीय है।' व्यतिरेक पक्ष में इसका अर्थ यह है कि भगवान् के कर ही केवल सुन्दर दर्शनीय हैं जब कि रुक्मिणी का सारा शरीर प्रशंसनीय है। भगवान् ने चरणारविन्द की ललितगति अर्थात् त्रिभुवन के अतिक्रमण की क्रीडा के द्वारा लोकों को आक्रान्त किया, किन्तु रुक्मिणी ने अपने सब अङ्गों की लीला से तीनों लोकों को जीत लिया, भगवान् केवल चन्द्ररूपी नेत्रों को ही धारण करते हैं जब कि रुक्मिणी का पूरा मुख चन्द्रमा के समान है। इस प्रकार यह बात उचित ही थी कि भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर से अधिक

समझा। वे रुक्मिणी आप सब लोगों की रक्षा करें।

यहाँ पर व्यतिरेकालङ्कार है। रुक्मिणी कृष्ण से अधिक हैं क्योंकि रुक्मिणी का सारा शरीर सुन्दर है किन्तु भगवान् के केवल हाथ ही सुन्दर हैं। (वे सुदर्शनकर हैं।) भगवान् ने केवल पैरों से ही लोकों को आक्रान्त किया किन्तु रुक्मिणी जी ने सारे शरीर की लीला से तीनों लोकों को जीत लिया। भगवान् के केवल नेत्र ही चन्द्रात्मक हैं। किन्तु रुक्मिणी का मुख चन्द्र है। किन्तु यह व्यतिरेकालङ्कार वाच्य है क्योंकि कवि ने स्वयं कह किया है कि 'भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर की अपेक्षा अधिक समझा। इस व्यतिरेक को अनुगृहीत करनेवाला 'सुदर्शनकर' इत्यादि शब्दों में श्लेष उसका पोषक है। इस प्रकार व्यतिरेक का पोषक श्लेष ही यहाँ पर माना जावेगा, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं। (हाँ रुक्मिणीविषयक कविगत रति (भक्ति-भाव) तो ध्वनि है ही।)

अन्य उदाहरण—

'मेघरूपी सर्प से उत्पन्न हुआ विष (जल) वियोगिनी स्त्रियों के लिये बल पूर्वक भ्रमि (मस्तक का चक्कर) अरति (संसार से विरक्ति) हृदय मे आलस्य, प्रलय (चेष्टाशून्यत्व) मूर्छा, नेत्रों के सामने अन्धकार शारीरिक कष्ट और मरण ये बातें उत्पन्न कर रहा है।'

विष के दो अर्थ हैं जल और गरल। यद्यपि प्राकरणिक होने के कारण विष शब्द जल का प्रत्यायन करा देता है तथा जब हम भुजग शब्द के अर्थ की पर्यालोचना करते हैं तब उसी कारण विष शब्द जल की बोधकता तक ही रुकने का साहस नहीं करता। अपितु हालाहलरूप द्वितीय अर्थ का प्रत्यायन कर देता है। कारण यह है कि जब तक हालाहल का अभिधान नहीं किया जावेगा तब तक अभिधा की विश्रान्ति नहीं होगी। 'भ्रमि' से लेकर 'मरण' पर्यन्त चेष्टाओं का साधारण ही अर्थ है। जिस प्रकार ये चेष्टायें सर्प के काटने में विष के सञ्चार के कारण हो जाती हैं उसी प्रकार मेघों का जल उद्दीपन होने के कारण वियोगिनियों के अन्दर भ्रमि इत्यादि विकार उत्पन्न करता है। (यहाँ पर मेघरूपी सर्प में रूपक अलङ्कार है। यही रूपक इस बात के लिये विवश कर देता है कि विष शब्द के दोनों अर्थ लिये जावें। क्योंकि जब तक गरल रूप अर्थ नहीं लिया जाता तब तक सर्प के वाच्यार्थ की पूर्ति ही नहीं होती। अतः यहाँ पर रूपकानुग्राही श्लेष ही माना जावेगा, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं।)

एक अन्य उदाहरण—

'जिन महाराज के गजेन्द्र उनकी बाहु-परिघाओं के समान हैं जिन्होंने शत्रुओं

## ध्वन्यालोकः

यथा वा—

चमहिअमाणसकञ्चणपङ्कअणिम्महिअपरिमला जस्स ।
अखण्डिअदाणपसारा वाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा ॥
( खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य ।
अखण्डितदानप्रसरा वाहुपरिघा इव गजेन्द्राः ॥ इति छाया )
अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते ।

(अनु०) अथवा एक और उदाहरण—

( राजा के महत्त्व का क्या कहना ? ) जिसके वाहुपरिघ गजेन्द्रों के समान है जिन्होंने खण्डित किये हुये शत्रुओं के मनरूपी सोने के कमलों के यशरूपी परिमल को मथ डाला और जिनके दान का प्रसार खण्डित नहीं होता ।'

यहाँ रूपक-छायानुग्राही श्लेष वाच्य के रूप में ही अवभासित होता है ।

## लोचन

निराशीकृतत्वेन खण्डितानि यानि मानसानि शत्रुहृदयानि तान्येव काञ्चनपङ्कजानि । ससारत्वात्तैर्हेतुभूतैः । णिम्महिअपरिमला इति । प्रसृतप्रतापसारा अखण्डितवितरणप्रसरा वाहुपरिघा एव यस्य गजेन्द्रा इति । गजेन्द्रशब्दवशाच्चमहिअशब्दः परिमलशब्दो दानशब्दश्च त्रोटनसौरभमदलक्षणानर्थान् प्रतिपाद्यापि न परिसमाप्ताभिधाव्यापारा भवन्तीत्युक्तरूपं द्वितीयमप्यर्थमभिदधात्येव ।

निराश किये जाने के कारण खण्डित कर दिये गये हैं जो मानस अर्थात् शत्रु हृदय वही हैं स्वर्ण कमल । ससार होने के कारण हेतुभूत उनके द्वारा । 'णिम्महिअपरिमला' इति । जिनके प्रताप का सार फैल गया है जिनका वितरण का प्रसार खण्डित नहीं होता इस प्रकार की बाहु-परिघायें ही जिसके गजेन्द्र हैं । गजेन्द्र शब्द के कारण चमहिअ शब्द, परिमल शब्द और दान शब्द, तोड़ना, सुगन्धि और मद इन अर्थों को प्राप्त होकर भी परिसमाप्त अभिधा व्यापारवाले नहीं होते हैं । इस प्रकार उक्त रूपवाले द्वितीय अर्थ को भी कहते ही है ।

## तारावती

के मनरूपी सोने के कमलों की परिमल को मथ डाला है और जिनके दान का प्रसार खण्डित नहीं होता ।'

शत्रुओं के मन निराश कर दिये जाने के कारण खण्डित कर दिये गये है और कमल हाथियों ने तोड़ डाले हैं । राजा के हाथों के वितरण का प्रसार नहीं रुकता और हाथियों के मद की धारा का प्रसार नहीं रुकता ।

ध्वन्यालोकः

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः । तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कार व्यवहार एव ।

(अनु०) उस आक्षिप्त अलङ्कार के स्वरूप को जहाँ पर दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित कर दिया जावे वहाँ पर शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का व्यवहार नहीं होता । वहाँ पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालङ्कार का ही व्यवहार होता है ।

लोचन

एवमाक्षिप्तशब्दस्य व्यवच्छेद्यं प्रदर्श्यैवकारस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमाह—सचेति । उभयार्थप्रतिपादनशक्तशब्दप्रयोगे, यत्र तावदेकतरविषयनियमनकारणमभिधाया नास्ति, यथा 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति । यत्र वा प्रत्युत द्वितीयाभिधाव्यापारसद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा–'तस्या विना' इत्यादौ, 'चमहिअ' इत्यन्ते । तत्र तावत्सोऽर्थोऽभिधेय एवेति स्फुटमदः । यत्राप्यभिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिर्विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा संक्रामति, तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते, तत्रापि

इस प्रकार आक्षिप्त शब्द के व्यवच्छेद्य को दिखलाकर 'एवकार' के व्यवच्छेद्य को दिखलाने के लिये कहते हैं—'स च' इति । दोनों अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के प्रयोग में जहाँ पर अभिधा के दो मे एक विषय के नियमन का कारण नहीं है जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि। अथवा जहाँ द्वितीय अभिधाव्यापार की सत्ता को बतलानेवाला प्रमाण है जैसे तस्या विनापि इत्यादि से 'चमहिअ' यहाँ तक । वहाँ पर वह अर्थ सर्वथा अभिधेय ही होता है यह स्पष्ट है । और जहाँ पर एक अर्थ में अभिधा के नियमन का हेतु प्रकरण इत्यादि विद्यमान है उससे द्वितीय अर्थ में अभिधा संक्रान्त नहीं होती । वहाँ पर यह द्वितीय अर्थ आक्षिप्त कहा जाता

तारावती

यहाँ पर खण्डित, परिमल और दान इन शब्दों के दो-दो अर्थ हैं—( अ ) खण्डित—( १ ) निराश किये हुये और ( २ ) तोड़े हुये । ( आ ) परिमल—( १ ) यश और ( २ ) सुगन्धि तथा ( इ ) दान—( १ ) वितरण ( २ ) मद । इस प्रकार इस पूरे वाक्य का यह अर्थ हो जाता है—राजा की बाहु-परिघायें उसी प्रकार शत्रुओं को विजय के लिये निराश करके उनके यश को मथ डालती हैं जिस प्रकार उनके हाथी सोने के कमलों की सुगन्धि को मथ डालते हैं, जिस प्रकार हाथियों का मद का प्रवाह कभी प्रतिहत नहीं होता उसी प्रकार बाहुओं का वितरण करने का विस्तार कहीं प्रतिहत नहीं होता ।

## लोचन

यदि पुनस्तादृक्छब्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहृतशक्तिकः सम्पाद्यते। अत एव साभिधा शक्तिर्बाधितापि सती प्रतिप्रसूतेव तत्रापि न ध्वनेर्विषय इति तात्पर्यम्। चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः आक्षिप्तोऽप्याक्षिप्ततया झटिति सम्भावयितुमारब्धोऽपीत्यर्थः। न त्वसावाक्षिप्तः, किन्तु शब्दान्तरेणान्येनाभिधाया प्रतिप्रसवनादभिहितस्वरूपः सम्पन्नः। पुनर्ग्रहणेन प्रतिप्रसवं व्याख्यातं सूचयति। तेनैवकार आक्षिप्ताभासं निराकरोतीत्यर्थः।

है। उसमें भी यदि पुनः ऐसा शब्द विद्यमान है जिससे यह नियामक प्रकरण इत्यादि अपहृतशक्तिवाला हो जावे अतएव वह अभिधा शक्ति बाधित होते हुये भी पुनः प्रसूत सी हो जाती है वहाँ पर भी ध्वनि का विषय नहीं है यह तात्पर्य है। 'च' शब्द 'अपि' शब्द के अर्थ में भिन्नक्रम है। आक्षिप्त भी अर्थात् आक्षिप्त के रूप में शीघ्रही सम्भावना के लिये आरम्भ किया हुआ भी। वह आक्षिप्त नहीं है किन्तु दूसरे शब्द विशेष के द्वारा अभिधा के पुनः जीवित हो जाने से अभिहित स्वरूपवाला हो गया। पुनः ग्रहण से व्याख्या किये हुये प्रतिप्रसव को सूचित करता है। इससे 'एव' का प्रयोग आक्षिप्ताभास का निराकरण करता है यह अर्थ है।

## तारावती

यहाँ पर श्लेष ही रूपकच्छायानुग्राही है और उसकी प्रतीति वाच्य रूप में ही होती है। कारण यह है कि गजेन्द्र शब्द का प्रयोग प्रस्तुत वाक्य में ही कर दिया गया है। अतः जब तक दोनों अर्थ नहीं निकल आते तब तक अभिधा का व्यापार शान्त ही नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से लक्षण में आये हुये 'आक्षिप्त' का आशय व्यक्त हो जाता है कि उसके कौन से स्थान ध्वनि की सीमा में नहीं आते। अब वृत्तिकार कारिकागत 'एवकार' के द्वारा कौन कौन से स्थान ध्वनि की सीमा से बाह्य हो जाते हैं उनको दिखलाने के लिये अग्रिम प्रकरण का प्रारम्भ कर रहा है—'आक्षिप्त अलङ्कार ही' में 'ही' (एव) शब्द का आशय यह है कि जहाँ पर अलङ्कार आक्षिप्त तो हो किन्तु उसका स्वरूप दूसरे शब्द या शब्दों से अभिहित कर दिया जावे वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। वहाँ पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालङ्कार का ही प्रयोग होता है। इस प्रकरण का आशय यह है—जहाँ पर किसी ऐसे शब्द का प्रयोग हो जिसके दो अर्थ निकल सकें और वहाँ पर कोई कारण उपस्थित न हो जिसके एक अर्थ में अभिधा का नियमन किया जा सके जैसा कि 'येन ध्वस्त.....' इत्यादि पद्य के उदाहरण में दिखलाया जा चुका है

तारावती

अथवा वहाँ पर किसी कारण से एक अर्थ का नियमन तो हो रहा हो किन्तु कोई ऐसा भी प्रमाण उपस्थित हो जिसके कारण दूसरा अर्थ भी उसी अभिधावृत्ति की सीमा में ही सन्निविष्ट हो जावे जैसा कि 'उसके दोनों पयोधर.....कर रहे थे' से लेकर 'जिन महाराज..... नहीं होता' तक दिखलाया जा चुका है, ये समस्त स्थान वाच्यश्लेष की सीमा में आते हैं। यह बात स्पष्ट ही है कि वे सब स्थान वाच्यार्थ ही कहे जावेंगे। इसके अतिरिक्त जहाँ पर प्रकरण इत्यादि के कारण एक अर्थ में अभिधा का नियमन हो जावे और इसी कारण द्वितीय अर्थ में अभिधा प्रसार न पा सके वहाँ पर जो दूसरा अर्थ प्रतीतिगोचर होने लगता है वह आक्षिप्त अलङ्कार कहा जाता है। वहाँ पर भी यदि कोई ऐसा शब्द प्राप्त हो जावे जिससे नियामक प्रकरण इत्यादि की शक्ति ही उपहत हो रही हो तथा इसी कारण दूसरे अर्थ मे बाधित हुई अभिधा शक्ति मानों पुनः प्रत्युज्जीवित हो जावे तो वहाँ पर भी ध्वनि का विषय नहीं होता। यही इस प्रकरण का तात्पर्य है। 'स च आक्षिप्तः अलङ्कारः' इस वृत्ति के वाक्य मे 'च' शब्द का अर्थ है 'अपि' और इसकी योजना भिन्नक्रम से होती है अर्थात् 'च' शब्द का प्रयोग 'सः' के बाद हुआ है किन्तु उसका अन्वय 'आक्षिप्तः' के बाद होता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा 'आक्षिप्तःअपि' अर्थात् 'आक्षिप्त के रूप में जिस अलङ्कार की सम्भावना किया जाना प्रारम्भ हो गया हो।' आशय यह है कि वह अलङ्कार वस्तुतः आक्षिप्त नहीं होता किन्तु दूसरे शब्द से अभिधा का प्रत्युज्जीवन हो जाने के कारण उसका स्वरूप अभिहित ( अभिधावृत्ति-गम्य ) हो जाता है। 'यत्र पुनः शब्दान्तरेण' में पुनः शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है कि वह अभिधाशक्ति उपहत होकर प्रत्युज्जीवित हो जाती है जैसी कि व्याख्या अभी की जा चुकी है। अतएव 'एव' शब्द के प्रयोग से जो कि आक्षिप्ता-भास होने की सम्भावना थी उसका निराकरण हो गया। आशय यह है कि 'एवकार' का एक मन्तव्य यह भी हो सकता था कि केवल आक्षिप्त अलंकार ही ध्वनि का विषय होता है आक्षिप्ताभास नहीं। 'पुनः' शब्द के प्रयोग से इस व्याख्या का निराकरण हो गया और उसका अर्थ यह हो गया कि जहाँ पर कोई अलङ्कार आक्षिप्त होते हुये भी किसी अन्य शब्द के द्वारा अभिहित हो जावे वहाँ पर ध्वनि नहीं होती अपितु वाच्यश्लेष होता है।

जहाँ पर व्यङ्ग्य होकर भी अलङ्कार किसी दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित जैसा हो जाता है और अभिधा की शक्ति नियन्त्रित होकर भी प्रत्युज्जीवित हो जाती है उसका उदाहरण दिया जा रहा है—कोई गोपी किसी गोष्ठ ( गायों के बाड़े ) में गिर गई है। वह भगवान् कृष्ण से उठाने की प्रार्थना करते हुये कह रही है—

ध्वन्यालोकः

यथा—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किंनाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वावलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

(अनु०) जैसे—

हे केशव ! गोधूलि से नष्ट की हुई दृष्टि से मैंने कुछ नहीं देख पाया; इसीलिये मैं गिर गई हूँ; मुझ गिरी हुई को तुम सहारा क्यों नहीं देते ? विषम स्थानों में खिन्न-मनवाले समस्त निर्बलों की शरण तुम्हीं हो । इस प्रकार गोष्ठ में गोपी के द्वारा विशेष अभिप्राय से कहे हुये भगवान् आप लोगों की बहुत समय तक रक्षा करें ।

दूसरा अर्थ—

'हे केशव ! हे गोप ! प्रेम से आकृष्ट की हुई दृष्टि के कारण मुझे उचित-अनुचित का कुछ ज्ञान नहीं रहा; इसीलिये मैं खण्डित-चरित्रवाली बन गई हूँ। क्या कारण है कि तुम मेरे पतित्व का आश्रय नहीं लेते हो अर्थात् मेरे पति नहीं बन जाते हो ? एक-मात्र तुम्हीं विषमवाण कामदेव के द्वारा खिन्न किये हुये मनवाली सब अबलाओं को शरण देते हो । इस प्रकार गोष्ठ में .....रक्षा करें ।'

लोचन

हे केशव गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किञ्चिद् दृष्टं मया तेन कारणेन स्खलितास्मि मार्गे । तां पतितां सतीं मां किं नाम कः खलु हेतुर्यन्नालम्बसे हस्तेन । यतस्त्वमेवैकोऽतिशयेन बलवान्निम्नोन्नतेषु सर्वेषामबलानां बालवृद्धाङ्गनादीनां खिन्नमनसां गन्तुमशक्नुवतां गतिरालम्बनाभ्युपाय इत्येवंविधेऽर्थे प्रकरणेन नियन्त्रिताभिधाशक्तिरस्तथापि द्वितीयेऽर्थे व्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिर्निरुद्धा सती सलेशमित्यनेन प्रत्युज्जीविता ।

हे केशव ! गोधूलि से हरी हुई दृष्टि के द्वारा मैंने कुछ नहीं देख पाया; इस कारण से मार्ग मे स्खलित हो गई हूँ । उस गिरी हुई मुझको क्या कारण है जो हाथ से सहारा नहीं देते हो ! क्योंकि तुम्हीं अकेले अत्यन्त बलवान् ऊँचे-नीचे स्थानों में सभी निर्बल बाल, वृद्ध, अङ्गना इत्यादि दुःखी मनवालों और चलने में असमर्थ लोगों की गति अर्थात् आलम्बन का उपाय हो। इस प्रकार के अर्थ मे यद्यपि ये प्रकरण द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले शब्द हैं तथापि द्वितीय अर्थ की व्याख्या किये जाने पर अभिधाशक्ति रोकी हुई होकर 'सलेश' शब्द से प्रत्युज्जीवित हो गई ।

## लोचन

अत्र सलेशम् ससूचनमित्यर्थः, अल्पीभवनं हि सूचनमेव। हे केशव! गोप स्वामिन्! रागहृतया दृष्ट्येति। केशवेन उपरागेण हृतया दृष्ट्येति वा सम्बन्धः। स्खलितास्मि खण्डितचरित्रा जातास्मि। पतितामिति भर्तृभावं मां प्रति। एक इत्यसाधारणसौभाग्यशाली त्वमेव। यतः सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसामीर्ष्याकालुष्यनिरासेन सेव्यमानः सन् गतिजीवितरक्षोपाय इत्यर्थः।

यहाँ सलेश का अर्थ है सूचना के सहित। अल्प होना निस्संदेह सूचना ही है। अथवा हे केशव! गोप स्वामिन्! राग से हरी हुई दृष्टि के द्वारा यह। केशव की ओर जानेवाली उपराग के द्वारा हरी हुई दृष्टि से यह सम्बन्ध है। स्खलिता हूँ अर्थात् खण्डित चरित्रवाली हो गई हूँ। 'पतिता' अर्थात् मेरे प्रति पतिभाव को। एक अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो। क्योंकि सभी मदन विधुरमनवाली अबलाओं के ईर्ष्या कालुष्य के निराकरण के द्वारा सेव्यमान होते हुये गति अर्थात् जीवनरक्षा का उपाय हो यह अर्थ है।

## तारावती

'हे केशव! गोधूलि से हरी हुई (नष्ट की हुई) दृष्टि के द्वारा मैंने कुछ देख नहीं पाया; इसी कारण मैं गिर गई हूँ। उसी मुझ गिरी हुई को क्या कारण है कि तुम हाथ से सहारा नहीं दे रहे हो। क्योंकि तुम्हीं केवल अत्यन्त बलवान् हो जोकि विषम अर्थात् नीचे-ऊँचे प्रदेशों में सभी अबलों (दुर्बलों) अर्थात् दुःखी मनवाले बाल-वृद्ध स्त्री इत्यादि के लिये जोकि चलने में असमर्थ है एकमात्र गति अर्थात् आलम्बन का उपाय हो। ये शब्द जिन कृष्ण से अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये गोपी ने कहे वे भगवान् सर्वदा आपलोगों की रक्षा करे।) यहाँ पर प्रकरण के द्वारा उक्त अर्थ में इन शब्दों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित कर दी गई है फिर भी कई शब्द द्व्यर्थक आये हैं जिनके बलपर एक और अर्थ निकलता है किन्तु प्रकरण न होने के कारण जब द्वितीय अर्थ की व्याख्या की जाने लगती है तब वह अभिधाशक्ति रुक जाती है। किन्तु इसके बाद जब 'सलेशम्' शब्द पर विचार किया जाता है तब वह अभिधाशक्ति पुनः प्रत्युज्जीवित हो जाती है। 'सलेशम्' का अर्थ है सूचना के साथ अर्थात् अपनी मनःकामना अभिव्यक्त करने के लिये। 'लेश' शब्द 'लिश' धातु से घञ् प्रत्यय होकर बनता है 'लिश' धातु अल्पार्थक है, अतः 'लेश' शब्द का अर्थ हुआ स्वल्प या थोड़ा। थोड़ा कहने का अभिप्राय यही है कि उसने अपने मन्तव्य को पूर्णरूप से व्यक्त नहीं किया अपितु स्वल्प-मात्रा में उसे सूचित कर दिया। 'विशेष अभिप्राय को सूचित करने के लिये' इन शब्दों का ठीक अर्थ तभी बैठ सकता है जबकि उस विशेष अर्थ की भी

तारावती

व्याख्या कर दी जावे । अतएव प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित होकर पूर्वोक्त नायिका के गिर जाने का अर्थ एकमात्र अभिधावृत्ति के द्वारा अवगत हो रहा था और दूसरा प्रेम-प्रकाशनपरक अर्थ प्राकरणिक न होने के कारण आक्षेपगम्य ही था । किन्तु सलेश शब्द ने अभिधा को पुनः जीवित कर दिया और उसके अभिप्राय की व्याख्या के लिये यह अर्थ और निकलने लगा—( केशवगोप रागहृतया दृष्ट्या ) हे केशव ! हे गोप ! राग ( अनुराग ) के द्वारा हरी हुई दृष्टि से अथवा केशवगत उपराग ( प्रेमजन्य अवसाद ) के कारण हरी हुई दृष्टि से कुछ नहीं देख पाया अर्थात् मैं प्रेमपाश में एकदम आबद्ध हो गई और कर्तव्याकर्तव्य का विचार भी न कर सकी । इसीलिये मैं स्खलित हो गई हूँ अर्थात् मेरा चरित्र खण्डित हो गया है । ( पतितां किं नाम न आलम्बसे ) तुम मेरे पतित्व को क्यों ग्रहण नहीं कर रहे हो अर्थात् मेरे पति क्यों नहीं बन जाते । तुम ही एक हो अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो जो कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति इतना तीव्र राग जाग्रत हो गया है । तुम्हीं केवल अद्वितीय सौभाग्य-शाली हो क्योंकि विषमेषु ( विषमबाण ) अर्थात् कामदेव के खिन्न मनवाली सभी अबलाओं के द्वारा तुम्हारा ही सेवन किया जाता है और आश्चर्य की बात है कि तुम उन युवतियों के हृदयों में ईर्ष्या कालुष्य का सञ्चार भी नहीं होने देते और उन सबका स्वच्छन्दता-पूर्वक उपभोग करते हो । तुम्हीं उनको शरण देनेवाले हो अर्थात् तुम उनकी जीवनरक्षा का एकमात्र उपाय हो। आशय यह है कि मैं तुम्हारे वियोग मे मर रही हूँ, यदि तुम मेरे अनुराग को स्वीकार नहीं करोगे तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है, मैं अबला हूँ मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं, जब कि तुम सभी वियोग-विधुर ललनाओं को मृत्यु के मुख से बचाते हो तब तुम मेरी ही उपेक्षा क्यों करते हो, तुम्हें मेरा प्रेम भी स्वीकार करना चाहिये। द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग होने के कारण यह अर्थ भी अभिधावृत्ति-गम्य ही है । किन्तु प्रकरण पहले अर्थ का है, अतः अभिधा दूसरे अर्थ को कहने में अशक्त हो जाती है । 'सलेशम्' शब्द का प्रयोग अभिधा की उसी अशक्ति को हटा देता है जिससे पुनः अभिधा जीवित होकर दूसरे अर्थ को प्रकट कर देती है । अतएव यहाँपर वाच्यश्लेष ही है; शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि व्यङ्ग्य अलङ्कार को कभी-कभी भी कोई एक शब्द ही वाच्य बना देता है जिससे उसमे ध्वनिकाव्यत्व की योग्यता जाती रहती है ( यही बात रस इत्यादि के विषय मे भी कही जा सकती है । रस तभी आस्वादयोग्यता को प्राप्त करता है जबकि उसकी अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव इत्यादि के द्वारा होती है । यदि विभावादि के माध्यम से रसाभिव्यक्ति हो रही हो किन्तु उसमें अभिव्यञ्जन

ध्वन्यालोकः

एवंजातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः। यत्र तु सामर्थ्यात्क्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः। यथा—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।'

(अनु०) इस प्रकार का सभी (विषय) यथेष्ट रूप मे वाच्य श्लेष का विषय हो। इसके प्रतिकूल जहाँ पर सामर्थ्य के द्वारा आक्षिप्त हुआ होकर दूसरा अलङ्कार शब्दशक्ति के द्वारा प्रकाशित हो रहा हो वह सब ध्वनि का ही विषय होता है। जैसे—'इसी बीच मे कुसुम समय युग का उपसंहार करते हुये अट्टों को धवलित करनेवाली फुल्ल मल्लिकाओं के विकासवाला ग्रीष्मनामक महाकाल प्रवृत्त हुआ।'

(यहाँपर दूसरे अर्थ की भी व्यञ्जना होती है—सतयुग इत्यादि सुमनोहर समय का उपसंहार कर फुल्लमल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले असुरों के लिये ग्रीष्म के समान प्रचण्ड महाकाल (भगवान् शिव) का प्रादुर्भाव हुआ)।

लोचन

एवं श्लेषालङ्कारस्य विषयमवस्थाप्य ध्वनेराह—यत्र त्विति। कुसुमसमयात्मकं यद्युगं मासद्वयं तदुपसंहरन्। धवलानि हृद्यान्यट्टान्यापणा येन तादृक् फुल्लमल्लिकानां हासो विकासः सितिमा यत्र। फुल्लमल्लिका एव धवलाट्टहासोऽस्येति तु व्याख्याने 'जलदभुजगम्' इत्येतत्तुल्यमेतत्स्यात्। महांश्चादौ दिनदैर्घ्यदुरतिवाहयोगात्कालः समयः अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अत एव अवयवप्रसिद्धेःसमुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकाल-प्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

इस प्रकार श्लेषालङ्कार के विषय को अवस्थापित कर ध्वनि का विषय बतलाते हैं—'जहाँ पर तो' इत्यादि। कुसुमसमयात्मक जो जोड़ा अर्थात् दो मास, उनको समेटते हुये। धवल अर्थात् हृद्य कर दिये गये हैं अट्ट अर्थात् आपण जिसके द्वारा उस प्रकार का फुल्लमल्लिकाओं का हास अर्थात् विकास अर्थात् श्वेत वर्ण जिसमें। 'फुल्लमल्लिकायें ही हैं धवल अट्टहास जिसकी' ऐसी व्याख्या करने पर यह 'जलदभुजगम्' इसके समान हो जावे। दिन की दीर्घता कठिनाई से व्यतीत करने के योग से यह काल महान् है। यहाँपर ऋतुवर्णन के प्रस्ताव नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले, अतएव 'अवयव प्रसिद्धि से समुदायप्रसिद्धि बलवान् होती है' इस न्याय का अपाकरण करते हुये महाकाल प्रभृति शब्द इसी अर्थ को कहकर कृतकृत्य हो जाते हैं। इसके बाद अर्थावगति शब्दशक्तिमूलक ध्वनन व्यापार से ही होती है।

## तारावती

के समकक्ष रस अथवा शृङ्गारादि शब्द का भी प्रयोग कर दिया जावे तो रस वाच्य होकर सदोष हो जाता है। इसीलिये आचार्यों ने स्वशब्दवाच्यता को रसदोषों में सन्निविष्ट किया है।)

[ यहाँ तक उन स्थानों का विवेचन कर दिया गया जहाँ श्लेष अलङ्कार वाच्य होता है ( किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि भट्टोद्भट का यह कहना ठीक है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का समस्त विषय श्लेष के द्वारा व्याप्त होता है अतः शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि का कहीं अवकाश ही नहीं ) इसी मन्तव्य से यहाँपर शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि के क्षेत्र का विवेचन किया जा रहा है। ( जहाँ पर द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर अविधावृत्ति से ही दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है। वहाँ पर वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है इसके निर्णायक संयोग इत्यादि होते हैं जिनका परिगणन निम्नलिखित कारिकाओं में किया गया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इनकी विस्तृत व्याख्या अनेकशः की गई है। वहीं देखनी चाहिये। जब वक्ता का तात्पर्य एक अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है तब दूसरे अर्थ मे अभिधा प्रसार नहीं पा सकती। ऐसी दशा में दूसरा अर्थ व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ही निकलता है। उन वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों में सादृश्य इत्यादि सम्बन्ध भी व्यङ्ग्य ही होते हैं। ऐसे स्थानों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि दोनों अर्थ प्राकरणिक ही हों और संयोग इत्यादि के द्वारा किसी एक अर्थ में अभिधा शक्ति नियमित न हो रही हो तो दो अर्थ अभिधावृत्ति-गम्य ही होते हैं। वह ध्वनि का विषय नहीं होता। शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि का विषय ऐसा ही स्थान होता है जहाँ श्लेष के दो या अधिक अर्थ निकलें, एक अर्थ मे प्रकरणादि के द्वारा अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जावे, तब दूसरे अर्थ के लिये व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़े और वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थों के सम्बन्ध का निर्वाह भी व्यञ्जना के द्वारा ही हो। जहाँ किसी एक अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण न हो अथवा श्लेषमूलक दूसरा अलङ्कार वाच्य ही हो या दूसरा अलङ्कार व्यङ्ग्य होकर भी किसी विशिष्ट शब्द के कारण वाच्य होने के लिये बाध्य हो जावे वहाँ पर वाच्यश्लेष ही होता है शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं।

श्लेष का दूसरे अलङ्कारों से क्या सम्बन्ध है और श्लेष स्वतन्त्र अलङ्कार हो

सकता है या नहीं इस विषय में विश्वनाथ ने अच्छा प्रकाश डाला है। अतः साहित्यदर्पण के उक्त प्रकरण का आशय दे देना अप्रासङ्गिक न होगा—साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—'श्लेष के विषय मे कुछ लोगों का मत है कि इस अलङ्कार का ऐसा कोई पृथग्भूत विषय नहीं होता जहाँ किसी दूसरे अलङ्कार का अवसर न हो। इस प्रकार श्लेष निरवकाश होकर दूसरे अलङ्कारों का अपवाद हो जाता है। अतएव अलङ्कारों का बाध करके ही इसकी प्रवृत्ति होती है और यह अलङ्कार दूसरे अलङ्कारों की प्रतिभा को उत्पन्न करने मे कारण हो जाता है। आशय यह है कि दूसरे अलङ्कारों की छाया के विना श्लेष सम्भव नहीं है यह कुछ लोगों का मत है।

'इस विषय मे यहाँपर विचार करना है कि जहाँ पर दो अर्थों की प्रतीति होती है वहाँ पर कुछ तो ऐसे स्थल होते है जिनमें द्वितीय अर्थ का संकेतमात्र मिलता है उसका अभिधान नहीं किया जाता। ऐसे स्थानोंपर समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त इत्यादि अलङ्कार होते हैं। ऐसे अलङ्कारों मे श्लेष की गन्ध भी नहीं होती क्योंकि इनमें द्वितीय अर्थ अभिधेय होता ही नहीं।

'दूसरे स्थल ऐसे होते हैं जहाँ वस्तुतः द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग रहता है। यदि वहाँ पर श्लेषमूलक रूपक हो तो रूपक श्लेष का बाधक हो जाता है क्योंकि वहाँ पर सौन्दर्य का पर्यवसान आरोप मे ही होता है द्व्यर्थकता में नहीं। यदि वहाँ पर विरोधाभास या पुनरुक्तवदाभास हो तो विरोध सूचक अर्थ की सूचना ही मिलती है वह अर्थ द्वितीय अर्थ के समकक्ष नहीं होता। अतः वहाँ पर श्लेष नहीं हो सकता। ये तो वे स्थान हुये जहाँ श्लेष न होकर कोई दूसरा ही अलङ्कार होता है।

'इनके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे होते हैं जहाँ द्व्यर्थक शब्दों के बलपर कुछ तो प्राकरणिक अर्थ निकलते हैं और कुछ अप्राकरणिक। यदि दो प्राकरणिक अर्थों का एक धर्म मे सम्बन्ध हो (जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि मे विष्णु और शङ्कर का) अथवा दो अप्राकरणिक अर्थों का एकधर्म में सम्बन्ध हो तो वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। यदि एक प्राकरणिक और दूसरे अप्राकरणिक अर्थ का एकधर्म मे सम्बन्ध हो तो वहाँ पर दीपक होता है। यदि अप्राकरणिक अर्थ प्राकरणिक से सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करे तो उपमा होती है। इस प्रकार श्लेष का ऐसा कोई स्थान ही शेष नहीं रह जाता जहाँ ये अलङ्कार न हो सके। इसके प्रतिकूल इन अलङ्कारों के ऐसे स्थान मिल सकते हैं जहाँ श्लेष न हो। इस प्रकार ऐसे स्थानों पर विभिन्न अलङ्कार मानने पर श्लेष अलङ्कार का सर्वथा अभाव ही हो जावेगा। किन्तु श्लेष मानने पर अलङ्कारों को दूसरे स्थान मिल जावेंगे और उन

तारावती

अलङ्कारों का विषयापहार नहीं होगा। अतएव श्लेष की सत्ता बनाये रखने के लिये ऐसे स्थानों पर श्लेप ही मानना चाहिये अन्य अलङ्कार नहीं। ( यह है कुछ लोगों की मान्यता। )

इस विषय मे विश्वनाथ का कहना है कि—'यह बात ठीक नहीं है कि श्लेष का दूसरे अलङ्कारों से पृथग्भूत स्वतन्त्र कोई विषय ही नहीं रह जाता। 'येन ध्वस्त-मनोभवेन.....'इत्यादि स्थल श्लेप का स्वतन्त्र विपय है। दूसरे लोग यहाँपर तुल्य-योगिता बतलाते हैं। किन्तु तुल्ययोगिता मे यह नियम नहीं होता कि उसमे दोनों अर्थ वाच्य ही हों जब कि श्लेष मे दोनों अर्थों के वाच्य होने का नियम है। दूसरा भेद यह होता है कि तुल्ययोगिता में एक धर्म का अनेक धर्मियों से सम्बन्ध होता है किन्तु श्लेष मे धर्म भी भिन्न होते हैं और धर्मी भी। श्लेष मे विभिन्न धर्मियों का विभिन्न धर्मों से सम्बन्ध होता है।

'यह जो कहा गया था कि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान बन गया।' यहाँ पर श्लेष उपमा की प्रतिभा के उत्पादन मे हेतु होता है, यहाँ पर श्लेष ही प्रधान है, उपमा की प्रतिभा के कारण उसमें सौन्दर्य का आधान हो जाता है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्णोपमा का कोई विषय ही नहीं मिलेगा। यदि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान हो गया।' इस वाक्य मे 'कला' शब्द का शब्दश्लेष उपमा मे हेतु होता है तो 'मुख चन्द्र के समान मनोज्ञ है' इस वाक्य मे मनोज्ञ का अर्थ-श्लेप उपमा का प्रयो-जक होगा। इस प्रकार धर्म के प्रत्यायन मे कहीं शब्द-श्लेष आ जावेगा और कहीं अर्थ श्लेष। अतएव पूर्णोपमा का विषय ही जाता रहेगा। अतः ऐसे स्थानों पर पूर्णोपमा ही मानी जानी चाहिये श्लेष नहीं। रुद्रट ने शब्द साम्य को उपमा का प्रयोजक माना ही है। कुछ लोग कहते हैं कि गुण और क्रिया का साम्य वास्तविक होता है, अतः उनका साम्य ही उपमा का प्रयोजक होता है और उनके साम्य मे ही उपमा अङ्गीकार की जानी चाहिये शब्दसाम्य मे नहीं क्योंकि वहाँ पर सादृश्य अवास्तविक होता है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उपमा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह वास्तविक साम्य मे ही होती है। अवास्तविक शब्दसाम्य मे भी उपमा रूपक इत्यादि अलङ्कार माने ही जाते है और यह कहना ही कि उपमा का बाध कर श्लेष हो जाता है यह सिद्ध करता है कि शब्दसाम्य में उपमा होती है। ऐसे स्थान पर उपमा ही मानी जानी चाहिये इसमे एक प्रमाण यह भी है कि श्लेष सादृश्य के निर्वाह मे सहायक होता है, सादृश्य श्लेष के निर्वाह में सहायक नहीं होता। अतएव सिद्ध हो जाता है कि सादृश्य-मूलक उपमा अङ्गी है और

## तारावती

श्लेष उसका अङ्ग। 'शब्द-मूलक और अर्थ-मूलक अलङ्कारों का परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव सङ्कर नहीं होता' यह नियम भी उन्हीं-उन्हीं शब्दालङ्कारों के विषय में लागू होता है जिनमें अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—(१) जहाँ पर द्वितीय अर्थ की ओर सङ्केतमात्र होता है वहाँ समासोक्ति, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा इत्यादि अलङ्कार ही होते हैं श्लेष नहीं। (२) जहाँ शब्द की द्व्यर्थकता के बलपर एक अर्थ का दूसरे पर आरोप किया जाता है वहाँ रूपक ही होता है वहाँ भी श्लेष नहीं होता। (३) जहाँ शब्द के बल पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का बोध होता है वहाँ (अ) यदि दो प्रस्तुतों का एक धर्म में संबंध हो अथवा दो अप्रस्तुतों का एक धर्म में सम्बन्ध हो वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। (आ) यदि एक प्रस्तुत और दूसरे अप्रस्तुत का सम्बन्ध हो वहाँ पर दीपक होता है। (४) यदि द्व्यर्थकता के बल पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सादृश्य विधान हो तो उपमा होती है। (५) यदि दोनों अर्थ प्रस्तुत हों, दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हों, दोनों अर्थ समान कोटि के हों और उनमे संयोग इत्यादि के द्वारा अभिधा का नियन्त्रण न हो सके तो वहाँ पर श्लेष होता है। यह तो स्वतन्त्र श्लेष तथा श्लेषमूलक दूसरे अलङ्कारों का विषय-विभाजन हो गया। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहाँ पर होती है जहाँ प्रयुक्त शब्दों से प्राकरणिक अर्थ की पूर्ति हो जावे, उस अर्थ को अपनी पूर्ति के लिये दूसरे अर्थ की अपेक्षा भी न हो, उस समय सहृदयों को जो दूसरे अर्थ की प्रतीति होने लगती है और वही अर्थ विशेष रूप से रमणीयता में हेतु होता है उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार यह ध्वनि दो प्रकार की होती है वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि। किन्तु आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के अनुसार यह केवल एक ही प्रकार की होती है और उसे अलङ्कार-ध्वनि कहते है। अन्य आचार्यों के द्वारा मानी हुई वस्तु-ध्वनि को आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मत मे श्लेषध्वनि की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।]

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण जैसे बाण-भट्ट लिखित हर्षचरित के द्वितीय उच्छ्वास में ग्रीष्मवर्णन के प्रसङ्ग में लिखा है—

'इसी बीच में कुसुम समय युग का उपसंहार करते हुए फुल्लमल्लिका धवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ।'

यहाँ पर युग, अट्टहास, महाकाल इत्यादि शब्दों के दो-दो अर्थ हैं—एक अर्थ ग्रीष्मपरक है और दूसरा भगवान् शिव-परक। कुसुमसमययुग का अर्थ है वसन्त काल के दो महीने चैत्र और वैशाख। दूसरा अर्थ है वसन्त काल के समान शोभन

## लोचन

अत्र केचिन्मन्यन्ते—"यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चेत्यविरुद्धम्" इति ।

यहाँ कुछ लोग मानते हैं –'क्योंकि पहले इन शब्दों की दूसरे अर्थ में दूसरी अभिधा देखी गई इससे उस प्रकार के अर्थान्तर में देखी हुई अभिधाशक्तिवाले ही प्रतिपत्ता के लिये नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले इन ( शब्दों ) से प्रतिपत्ति ध्वननव्यापार से ही होती है इस प्रकार शब्दशक्तिमूलकत्व और व्यङ्ग्यत्व विरुद्ध है ।'

## तारावती

युग सतयुग त्रेता इत्यादि। उनका उपसंहार हो गया है । 'ग्रीष्म नामक महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ' महाकाल के भी दो अर्थ हैं—रुढि के द्वारा महाकाल का अर्थ है विनाश के देवता भगवान् शङ्कर और ग्रीष्म के पक्ष में इसका अर्थ है महान् या विशाल समय। ग्रीष्म में दिन बड़े-बड़े हो जाते हैं और उनका व्यतीत करना कठिन हो जाता है इसीलिये ग्रीष्म के लिए महाकाल या विशाल समय यह विशेषण दिया गया है । 'ग्रीष्माभिधान' का भगवान् शङ्कर के पक्ष मे अर्थ है अभक्तों और असुरों के लिये ग्रीष्म की भीषणता से उपलक्षित होनेवाले और ग्रीष्म के पक्ष में अर्थ है ग्रीष्म नामवाले । 'फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहास' का भगवान् शङ्कर के पक्ष मे अर्थ है 'फूली हुई मल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले' और ग्रीष्म के पक्ष मे इसका अर्थ है 'अट्टों अर्थात् अट्टालिकाओं को श्वेत बनानेवाले फूली हुई मल्लिकाओं के विकास से परिपूर्ण । यहाँ पर 'फुल्लमल्लिका धवलाट्टहास' का अर्थ किसी ने यह किया है—'फूली हुई मल्लिकाये ही हैं धवलअट्टहास जिसके' किन्तु इस अर्थ में ग्रीष्म तथा शङ्कर का रूप्यरूपक भाव वाच्य हो जावेगा और 'जलदभुजगजम्' के समान यह भी ध्वनि का उदाहरण न होकर वाच्यश्लेष का ही उदाहरण हो जावेगा । अतः पूर्वोक्त अर्थ करना ही ठीक है । इस प्रकार यहाँ पर दो अर्थ हो जाते हैं । एक ग्रीष्मपरक और दूसरा शिवपरक । यहाँ पर ऋतु वर्णन का प्रस्ताव या प्रकरण है । इससे ग्रीष्म के अर्थ में अभिधा शक्ति नियन्त्रित हो जाती है । यद्यपि महाकाल का शिव अर्थ और युग का सतयुग इत्यादि अर्थ रूढि के द्वारा प्राप्त होता है और विशाल समय तथा दो महीने यह अर्थ यौगिक है, इस प्रकार नियमानुकूल शिवपरक अर्थ ही प्रथम उपस्थित होना चाहिये क्योंकि नियम है कि योग की अपेक्षा रूढि बलवान् होती है, जैसा कि न्याय प्रसिद्ध है—अवयवप्रसिद्धि ( यौगिक अर्थ ) से समुदायप्रसिद्धि ( रूढ अर्थ ) अधिक बलवान् होता है । तथापि प्रकरण ऋतुवर्णन का है, अतएव उक्त न्याय का अतिक्रमण कर

## लोचन

अन्ये तु—"सामिधैव द्वितीयार्थसामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततोध्वननव्यापाररूपोच्यते" इति ।

एके तु—"शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते । स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोरुत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति, प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालङ्कारता । यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम्" इति ।

दूसरे लोग तो—'वह दूसरी अभिधा शक्ति ही क्योंकि सहकारी के रूप में भीषण देवता विशेष सादृश्यात्मक अर्थ सामर्थ्य का अवलम्बन करती है इससे ध्वनन व्यापार रूपक कही जाती है ।

कुछ लोग तो—'शब्दश्लेष में शब्द के भेद होने पर, अर्थश्लेष में भी शक्तिभेद हो जाता है इस सिद्धान्त में द्वितीय शब्द वहाँ पर ले आया जाता है । वह कभी अभिधा व्यापार से जैसे दोनों का उत्तर देने के लिये 'श्वेतो धावति' यह अथवा प्रश्नोत्तर इत्यादि में वहाँ पर वाच्यालङ्कारता होती है । जहाँ पर तो ध्वनन व्यापार से ही शब्द ले आया जाता है वहाँ शब्दान्तर के बल से भी प्रतिपन्न वह अर्थान्तर प्रतीयमानमूला होने के कारण प्रतीयमान ( होना ही ) ठीक है ।'

## तारावती

महाकाल इत्यादि शब्दों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जाती है और ये शब्द ग्रीष्मपरक अर्थ कहकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं । उसके बाद दूसरे—शिवपरक—अर्थ की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक ध्वनन व्यापार से ही होती है । शब्दशक्तिमूलक ध्वनन-व्यापार से दूसरे अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है इस विषय में कई मत हैं । प्रमुख मतों का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

( १ ) इस विषय में कुछ लोग कहते हैं—जब हम किसी ऐसे शब्द का किसी विशेष प्रकरण में प्रयोग करते हैं जिसकी अभिधा शक्ति किसी दूसरे अर्थ में भी देख चुके होते हैं उस समय उस दूसरे अर्थ का संस्कार हमारे अन्तःकरणों पर जमा रहता है। जैसे ( यहाँपर महाकाल शब्द का प्रयोग विशाल समय के अर्थ में किया गया है किन्तु 'महाकाल' का शिव अर्थ भी दूसरे स्थानों पर अधिगत होता है और वह अर्थ हमारे अन्तःकरणों पर जमा हुआ है ।) ऐसे स्थान पर पहले संयोग इत्यादि के कारण एक अर्थ में शक्तिग्रह और शाब्दबोध हो जाता है और उसी अर्थ में अभिधा का नियमन हो जाता है । अर्थात् वहाँ पर यह सिद्ध हो जाता है कि कवि या लेखक का उसी अर्थ में तात्पर्य है, फिर उन्हीं द्व्यर्थक शब्दों

## लोचन

इतरे तु—"द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन सार्कं या रूपणा सा तावद्भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात् । तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वात् ।

दूसरे लोग तो—द्वितीय पक्ष की व्याख्या में जो अर्थ सामर्थ्य उससे द्वितीय अभिधा ही पुनरुज्जीवित हो जाती है । इससे द्वितीय अर्थ अभिहित ही होता है ध्वनित नहीं । उसके बाद तो उस प्रतिपन्न द्वितीय अर्थ का प्राकरणिक प्रथम अर्थ के साथ जो रूपण वह तो शोभित होता ही है । वह दूसरे शब्द से नहीं अतः ध्वननव्यापार से ही होती है । उसमे किसी अभिधाशक्ति की आशङ्का की ही नहीं

## तारावती

के बल पर उस प्रकार के अर्थान्तर मे देखी हुई अभिधाशक्ति के संस्कार के कारण एक और अर्थ निकल आता है । यह अर्थ अभिधेयार्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह तो पहले ही नियन्त्रित हो चुका होता है । अतएव यह अर्थ ध्वनन व्यापार से ही निकल सकता है । यह शब्दशक्तिमूलक कहलाता है क्योंकि द्वयर्थक शब्दों के बल पर निकला होता है । व्यङ्ग्य भी कहलाता है क्योंकि अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने के बाद इसकी प्रतीति होती है । इस प्रकार इस अर्थ का शब्दशक्तिमूलक होना और व्यङ्ग्य होना परस्पर विरुद्ध नहीं कहा जा सकता ।"
( इसी मत का अनुसरण काव्यप्रकाशकार इत्यादि ने किया है।)

( २ ) दूसरा मत—'अभिधा इत्यादि जितने भी व्यापार हैं उन सबकी आत्मा केवल शब्द की ऐसी शक्ति ही है जो कि अर्थबोध के अनुकूल हो । सभी प्रकार की अभिधा इत्यादि वृत्तियों के द्वारा अर्थबोध होना ही उनका प्रधान कार्य है । सहकारी का भेद ही उनका परस्पर भेदक होता है । आशय यह है कि वैसे तो अर्थबोधक होने के नाते सभी वृत्तियाँ एक ही हैं किन्तु अर्थबोध कराने में विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को विभिन्न प्रकार के सहकार की आवश्यकता होती है । इन्हीं सहकारियों के भेद से वृत्तियों मे भेद हो जाता है । अभिधा-वृत्ति केवल संकेत ग्रहण का ही सहकार लेती है, लक्षणा-वृत्ति में मुख्यार्थबाध इत्यादि के सहकार की अपेक्षा होती है और ध्वनन व्यापार में प्रकरण इत्यादि के सहकार की अपेक्षा होती है उपर्युक्त उदाहरण में जो दूसरा अर्थ निकलता है वह भी एक प्रकार की अभिधा ही है किन्तु उसे ध्वनन अथवा व्यञ्जना व्यापार का नाम इसलिये दे दिया गया है कि उसमें संकेत ग्रहण के अतिरिक्त ऐसे अर्थ-सामर्थ्य का भी आश्रय लिया जाता है जिसके द्वारा ग्रीष्म तथा महाकाल नामक भीषण देवता दोनों के सादृश्य की स्थापन की जाती है ।"

## लोचन

तस्याश्च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनुत्थानात्। अत एवालङ्कारध्वनिरयमिति युक्तम्। वक्ष्यते च 'असम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्' इत्यादि। पूर्वत्र तु 'सलेश' पदेनैवासंबद्धता निराकृता। 'येन ध्वस्त' इत्यत्रासंबद्धता नैव भाति। 'तस्या विनापि' इत्यत्रापिशब्देन 'श्लाघ्या' इत्यत्राधिकशब्देन 'भ्रमिं' इत्यादौ च रूपकेणासंबद्धता निराकृतेति तात्पर्यम्।

जा सकती। उसमें तो द्वितीय शब्दशक्तिमूल होती है। उसके विना आरोप का उत्थान ही नहीं होता। इसलिये यह अलङ्कार-ध्वनि है, यह उचित है। कहेंगे भी—'असम्बद्धार्थ का अभिधायित्व प्रसक्त न हो जावे' इत्यादि। पहले में तो 'सलेश' शब्द से ही असम्बद्धता का निराकरण हो गया। 'येन ध्वस्त' इत्यादि में असम्बद्धता प्रतीत नहीं होती। 'तस्याः विनापि' इसमे अपि शब्द से 'श्लाघ्याशेषतनुम्' इत्यादि में अधिक शब्द से, भ्रमिम् इत्यादि में रूपक से असम्बद्धता का निराकरण हो गया, यह तात्पर्य है।

## तारावती

(३) तीसरा मत—"शब्दश्लेष वहीं पर होता है जहाँ शब्द का भेद हो। अर्थश्लेष मे भी जहाँ पर दो अर्थ होते हैं वहाँ पर शब्दभेद करना ही पड़ता है, क्योंकि एक सिद्धान्त है कि जहाँ शक्ति की अनेकता होती है वहाँ शब्द की भी अनेकता होती है। अतएव ऐसे अवसर पर दूसरे शब्द की कल्पना कर ली जाती है और उस दूसरे शब्द को वहाँ पर ले आकर दो अर्थ किये जाते हैं। (सभङ्ग शब्दश्लेष के उदाहरण 'सर्वदो माधवः' में 'सर्वदः + माधवः' और 'सर्वदा + उमाधवः ये दो शब्द पृथक् पृथक् प्रतीत होते ही हैं, अभङ्ग अर्थश्लेष के उदाहरण—'दुष्टजन और तराजू की एक सी दशा होती है कि ये थोड़े में ही ऊपर उठ जाते हैं और थोड़े में ही नीचे आ जाते हैं' मे भी दो प्रकार का 'ऊपर जाना' और नीचे आना विवक्षित है। अतः दोनों को शब्द के द्वारा आवेष्टित करने के लिये शब्दभेद की कल्पना अनिवार्य हो जाती है) कहीं कहीं पर दोनों ही अर्थ अभिधावृत्ति से ही निकलते हैं। जैसे दोनों प्रश्नों का एक साथ उत्तर देने के लिये 'श्वेतो धावति' इत्यादि और प्रश्नोत्तरालङ्कार इत्यादि। (विद्वद्गोष्ठियों में कभी-कभी मनोरञ्जन के लिये दो प्रश्नों का शब्दच्छल से एक साथ उत्तर देने की चेष्टा की जाती है। जैसे किसी ने एक साथ दो प्रश्न किये 'कौन कहाँ से दौड़ रहा है?' और 'दौड़ने वाले का रङ्ग क्या है?' दूसरे ने विनोद के लिये दोनों प्रश्नों का एक साथ उत्तर दे दिया 'श्वेतो धावति' इस का दो प्रकार से अर्थ किया जावेगा—'श्वा + इतो धावति' इधर से कुत्ता दौड़ रहा है और 'श्वेतः

ध्वन्यालोकः

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्॥

यथा वा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः,
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो,
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥

( अनु० ) दूसरा उदाहरण—

'उठे हुये शोभायुक्त धाराओंवाले ( प्रोल्लसद्धारः ) कालागुरु के समान कृष्ण वर्ण के मेघों के समूह ने ( पयोधरभरः ) तन्वी के विषय में किसको अभिलाषायुक्त नहीं बना दिया।' इसका दूसरा अर्थ—'तन्वी के स्तनभार ने, जो कि उठा हुआ है जिस पर हार शोभित हो रहा है और जो कालागुरु के लेप से मलिन है, किसको कामुक नहीं बनाया।'

अथवा जैसे—

'समुचित समय पर विना ही क्लेश के विसर्जित किये हुये जल के द्वारा प्रजा को आनन्द देनेवाली, दिन के प्रथम भाग मे प्रत्येक दिशा में बिखरी हुई और दिन के विरत होने पर समेटी हुई, विशाल दुःख को उत्पन्न करनेवाले सांसारिक भयरूपी महासागर को पार करने के लिये नाव, पवित्र वस्तुओं में उत्कृष्ट सूर्य की किरणे आपके हृदय मे अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें।' दूसरा अर्थ—'उचित समय पर विना क्लेश के दूध को बहाकर अपने बछड़ों को आनन्द देनेवाली, दिन के प्रथम भाग में इधर-उधर विचरनेवाली दिन के विराम मे समिट कर एकत्र हो जानेवाली, संसार-सागर के निस्तार की नौका गायें आपके हृदय में प्रेम उत्पन्न करे।'

लोचन

**पयोभिरिति पानीयैः क्षीरैश्च। संहारो ध्वंसः, एकत्र ढौकनं न। गावो रश्मयः सुरभयश्च।**

'पयोभिः' का अर्थ है जल से और दूध से। संहार का अर्थ है ध्वंस और एक स्थान पर हटाना। गौ अर्थात् किरणें और गाये।

तारावती

दूसरा उदाहरण जैसे—वर्षा वर्णन के प्रकरण मे कहा गया है—'आकाश में उठे हुये, सुशोभित धाराओंवाले काली अगर के समान मलिन मेघो के समूह ने किसके

हृदय में तन्वी के प्रति अभिलाषा उत्पन्न नहीं कर दी ।' यहाँ पर कई शब्दों के दो दो अर्थ हैं—( १ ) उन्नत—( १ ) आकाश मे लगे हुये और ( २ ) ऊपर को उठे हुये । ( आ ) प्रोल्लसद्धारः—( १ ) सुशोभित धाराओंवाले और ( २ ) सुशोभित हारोंवाले । ( इ ) कालागुरुमलीमसः—( २ ) काली अगर के समान काले वर्ण के और ( २ ) काली अगर के लेप से मलिन अथवा काली अगर के समान काले अग्रभागवाले । ( ई ) पयोधरभरः—( १ ) मेघसमूह और ( २ ) स्तनों का भार । इस द्व्यर्थकता के वलपर इस पद्य का एक अर्थ और निकलता है—'ऊपर को उठे हुये सुशोभितहारोंवाले, कालागुरु के लेप से मलिन अथवा कालागुरु के समान कृष्ण अग्रभागवाले तन्वी के पयोधर–भार ने किसको कामना-युक्त नहीं बनाया ।' नायिका के पक्ष मे 'तन्व्याः पयोधरभरम्' यह अन्वय होगा और मेघों के पक्ष में 'तन्व्या अभिलाषिणम्' यह अन्वय होगा । यहाँ पर वर्षा-वर्णन का प्रकरण है अतः इस अर्थ मे अभिधा नियन्त्रित हो जाती है । इसके बाद द्व्यर्थक शब्दों के वल पर नायिकापरक अर्थ निकलता है । दोनों अर्थों की असम्बद्धार्थकता को 'दूर करने के लिये इनमे उपमानोपमेय भाव की स्थापना कर दी जाती है जिससे इस पद्य का पूरा अर्थ यह हो जाता है—जिस प्रकार ऊपर को उठे हुये, अगुरु के लेप के कारण धूम्र वर्ण के किसी युवती के स्तन प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उत्कण्ठा जागृत कर देते हैं, उसी प्रकार आकाश मे लगे हुये कालागुरु के समान काले रंग के मेघसमूह ने प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में युवतियों की कामना जागृत कर दी ।'

एक और उदाहरण जैसे मयूर कवि ने सूर्यशतक में सूर्य की स्तुति करते हुये लिखा है—'पवित्रों में उच्चतम सूर्य की किरणें आप लोगों के हृदयों मे अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें । ये सूर्य की किरणे उचित समयानुसार खींचकर विसर्जित किये हुये जलों से प्रजाओं को आनन्द देती हैं अर्थात् उचित समय पर ( ग्रीष्मकाल में ) जल को खींचती हैं और उचित समय पर ही ( वर्षाऋतु में ) उसको विसर्जित करती हैं । ( यहाँ पर दो पाठ हैं 'आकृष्ट' तथा 'अक्लिष्ट' । प्रथम पाठ का अर्थ है 'समय पर जल को खींचकर' तथा दूसरे पाठ का अर्थ है 'क्लेश रहित जल प्रदान करती हैं । ) दिन के पूर्व भाग मे दिशाओ-विदिशाओं मे फैल जाती हैं और जब दिन का अवसान होता है तब समेट ली जाती हैं । संसार दीर्घदुःखो को उत्पन्न करनेवाला है; उसमें भय का महासागर लहरा रहा है; उसको पार करने के लिये सूर्य की किरणें नाव का काम देती हैं ।' यहाँ पर गो शब्द के दो अर्थ हैं किरणे तथा गायें, इसी आधार पर पूरे पद्य का धेनुपरक एक अर्थ और ले लिया

तारावती

जाता है कि 'गायें उचित समय पर ( प्रातःकाल ) खींचकर दूध से अपने बछड़ों को आनन्द देती हैं; प्रातःकाल चरने के लिये इधर-उधर बिखर जाती हैं और दिन की समाप्ति पर एक स्थान पर एकत्र हो जाती हैं; भवसागर के पार करने के लिये जो नाव का काम देती हैं अर्थात् गाय की पूँछ पकड़कर भवसागर को पार किया जाता है; वे गायें तुम्हारे हृदय में अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें।" यहाँ पर प्रकरण सूर्यस्तुति का है अतः अभिधा का नियमन उसी अर्थ में हो जाता है। इसके बाद द्वितीय अर्थ के संस्कार से गोपरक अर्थ और निकल आता है। इनकी असम्बद्धार्थकता का निराकरण करने के लिये दोनों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। 'जिस प्रकार गायें परम प्रेम उत्पन्न करें उसी प्रकार किरणें भी परम प्रेम उत्पन्न करें।' इस प्रकार ये शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के उदाहरण हैं।

[ महिमभट्ट ने इन तीनों उदाहरणों का खण्डन किया है। 'इसी बीच में ·· महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ' इसके लिये महिमभट्ट ने लिखा है कि यह समासोक्ति का उदाहरण है। किन्तु समासोक्ति और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में यह अन्तर है कि समासोक्ति में केवल विशेषणसाम्य होता है किन्तु उपमा-ध्वनि में श्लेपमूलक विशेष्यसाम्य भी होता है। दूसरी बात यह है कि व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ गौण स्थान का अधिकारी होता है और उससे उपस्कृत होकर वाच्यार्थ ही चमत्कार में कारण होता है। इसके प्रतिकूल उपमा ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ ही चमत्कारपर्यवसायी होता है। प्रस्तुत उदाहरण मे ग्रीष्मवर्णन चमत्कारकारक नहीं है अपितु महाकाल से उसकी सादृश्यकल्पना ही चमत्कृति में हेतु है। अतः यह उदाहरण शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि का ही है; समासोक्ति का नहीं। दूसरे उदाहरण 'उन्नतः प्रोल्लसद्धारः·····चक्रेऽभिलाषिणम्' के विषय में महिमभट्ट ने लिखा है कि 'जिस प्रकार महाकाल शब्द का द्वितीय अर्थ समासोक्ति की ओर इङ्गित करता है वैसा कोई शब्द इस पद्य में विद्यमान नहीं है जिससे इसका दूसरा अर्थ ही नहीं निकलता।' किन्तु 'पयोधरभरस्तन्यैः' की वाक्यरचना सहसा द्वितीय अर्थ की ओर ध्यान खींच लेते हैं और प्राकरणिक वर्षा के अर्थ में द्वितीय अर्थ उपमान हो जाता है। अतः यह कहना ठीक नहीं कि यहाँपर द्वितीय अर्थ का प्रत्यायन करानेवाला कोई शब्द ही नहीं। महिमभट्ट ने तृतीय उदाहरण 'दत्तानन्दाः·····प्रीतिमुत्पादयन्तु' को लेकर बड़े विस्तार से दिखलाने की चेष्टा की है कि यहाँपर न तो विशेष्य ही दूसरे अर्थ का प्रत्यायक है न विशेषण ही और न दोनों मिलकर ही। यदि 'गो' शब्द 'गाय' के अर्थ का स्मारक है तो 'गो' शब्द

ध्वन्यालोकः

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः ।

(अनु०) इन उदाहरणों मे शब्दशक्ति से अप्राकरणिक अर्थान्तर के प्रकाशित हो जाने पर वाक्य का असम्बद्धार्थ प्रतिपादन कहीं प्रसक्त न हो जावे इसीलिये सामर्थ्य से अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेय भाव कल्पित कर लिया जाना चाहिये; इस प्रकार यह श्लेष अर्थ के द्वारा आक्षिप्त होता है शब्द के द्वारा उपारूढ़ नहीं होता । इस प्रकार अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय श्लेष से सर्वदा भिन्न होता है ।

लोचन

असम्बद्धार्थाभिधायित्वमिति । असम्वेद्यमानमेवेत्यर्थः । उपमानोपमेय भाव इति । तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानम्, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम् । सामर्थ्यादिति । ध्वननव्यापारादित्यर्थः ।

असम्बद्धार्थाभिधायित्व अर्थात् असम्वेद्यमात्र । उपमानोपमेयभाव इति । उस उपमारूप से व्यतिरिक्त करना, निह्नुति करना ( छिपाना ) इत्यादि व्यापारमात्र रूप ही आस्वादप्रतीति में प्रधान विश्रान्तिस्थान होते हैं उपमेय इत्यादि नहीं यह सर्वत्र अलङ्कार ध्वनि मे समझा जाना चाहिये । सामर्थ्य से अर्थात् ध्वनन-व्यापार से ।

तारावती

के 'वज्र' इत्यादि अनेक और अर्थ होते हैं उनका प्रत्यायक क्यों नहीं, यदि उनका भी प्रत्यायन करावे तो यह प्रत्यायन अनभिमत होगा ।' किन्तु यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि काव्य मे तर्कशास्त्र के समान प्रतिपादन नहीं होता । इसमें तो व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा सहृदयसंवेद्य ही होता है । यह बात विस्तारपूर्वक लोचन में 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इस उदाहरण की व्याख्या मे दिखलाई जा चुकी है । गो शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु बुद्धि मे सर्वप्रथम 'गाय' अर्थ ही उपारूढ होता है । 'गाय' अर्थ ही प्राकरणिक किरणों की अपेक्षा भी पहले बुद्धि मे आता है । जबकि समस्त विशेषण भी गाय के अर्थ को पुष्ट करनेवाले मिल जाते हैं तब उस अर्थ का अपलाप नहीं हो सकता और वह प्राकरणिक 'किरण' अर्थ का उपमान बन जाता है । इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक उपमा-ध्वनि के इन तीनों उदाहरणों का प्रत्याख्यान अशक्य है । ]

ध्वन्यालोकः

अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वीश्वराख्य-जनपदवर्णने भट्टबाणस्य—

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदनाः मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदाः।'

(अनु०) अन्य अलङ्कार भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि मे सम्भव हैं। वह इस प्रकार—विरोध भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप देखा जाता है। जैसे स्थाण्वीश्वर नामक जनपद वर्णन में भट्टबाण का—

'जहाँ पर मातङ्गगामिनी और शीलवती, गौरी और विभवरत, श्यामा और पद्मरागिणी, धवलद्विज शुचिवदन और मदिरा से सुगन्धित श्वासवाली प्रमदायें थीं।'

लोचन

मातङ्गेति। मातङ्गवद्गच्छन्ति तान् शवरांश्च गच्छन्तीति विरोधः। विभवेषु रताः विगतमहादेवे स्थाने च रताः। पद्मरागरत्नयुक्ताः पद्मसदृश लौहित्ययुक्ताश्च। धवलैर्द्विजैर्दन्तैः शुचि निर्मलं वदनं यासां धवलद्विजवदुत्कृष्टविप्रवच्छुचिवदनं च यासाम्।

मातंगेति। मातङ्ग के समान चलती हैं उनको या शवरों के पास जाती है, यह विरोध है। विभवों मे लगी हुई और शंकर-रहित स्थान में प्रेम करनेवाली। पद्मरागयुक्त और पद्मसदृश लाली से युक्त। धवलद्विज अर्थात् दाँतों से शुचि अर्थात् निर्मल वदन है जिनका। धवलद्विजवत् अर्थात् उत्कृष्ट ब्राह्मणवत् पवित्र मुख है जिनका।

तारावती

अब उक्त प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है कि इन उदाहरणों मे शब्दशक्ति से जबकि दूसरा अप्राकरणिक अर्थ प्रकाशित हो जाता है तब कहीं यह दोष न आ जावे कि वाक्य असंबद्ध अर्थ का अभिधान करनेवाला है अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत अर्थ सर्वथा एक दूसरे से असंबद्ध है यह बात सहृदय-संवेद्य नहीं है। सहृदयों को दोनों की असंबद्धता की प्रतीति कभी नहीं होती। इसी दोष को दूर करने के लिये तथा सहृदय-संवेद्यता का निर्वाह करने के लिये प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। जैसे—'सूर्य की किरणें गायों के समान हैं' इत्यादि। इस प्रकार यहाँ पर सामर्थ्य से अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति के बल पर श्लेष का आक्षेप कर लिया जाता है। अतएव यहाँ पर श्लेष अर्थाक्षिप्त होता है वाच्यश्लेष के समान सर्वथा शब्द के ही आधीन

ध्वन्यालोकः

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्य प्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्।

(अनु०) यहाँ पर वाच्य विरोध या तच्छायानुग्राही श्लेष यह है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विरोध शब्द के द्वारा साक्षात् प्रकाशित नहीं किया गया है। जहाँ पर विरोधालङ्कार साक्षात् शब्द के द्वारा आवेदित हो वहाँ पर श्लिष्ट उक्ति मे वाच्यालङ्कार विरोध या श्लेष का विषय होता है।

तारावती

नहीं होता। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का विषय श्लेष से सर्वथा पृथक् होता है। यहाँ पर यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि ऐसे स्थानों पर सर्वत्र काव्य सौन्दर्य और रसास्वादन का पर्यवसान साम्यस्थापन की क्रिया मे ही होता है और उसी मे सौन्दर्य की विश्रान्ति होती है, उपमेय मे सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं होती। इसी प्रकार व्यतिरेक मे व्यतिरेचन अर्थात् वैषम्यप्रदर्शनात्मक व्यापार में और अपह्नुति मे निह्नुति अर्थात् छिपाने के व्यापार में ही सौन्दर्य का पर्यवसान होता है।

शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य में ध्वनि में अन्य अलङ्कार भी सम्भव हैं। उदाहरण के लिये विरोधालङ्कार को ले लीजिये। बाणभट्ट ने स्थाण्वीश्वर नामक जनपद के वर्णन के अवसर पर कहा है—"जहाँ पर प्रमदायें मातङ्गगामिनी और सुशीलता से युक्त थीं, गौरी और विभवरत थीं, श्यामा और पद्मरागिणी थीं, धवल द्विज शुचिवदन थीं और उनके मुख से निकलनेवाली श्वासवायु मदिरा से सुगन्धित थी।" यहाँ पर विरोधालङ्कार की ध्वनि होती है। (१) जो प्रमदायें मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डालों के पास गमन करनेवाली हैं वे शीलवती किस प्रकार हो सकती हैं? यही विरोध है। मातङ्ग अर्थात् हाथियों के समान सुन्दर चालवाली हैं यह अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है। (२) 'विभवरत' शब्द का अर्थ है 'ऐसे स्थान से प्रेम करनेवाली जहाँ शङ्कर जी न हों।' जो गौरी अर्थात् पार्वती हैं वे ऐसे स्थान से प्रेम करनेवाली कैसे हो सकती हैं जहाँ शङ्कर जी न हों? यह विरोध है। विरोध का परिहार इस प्रकार हो जाता है—कि वे प्रमदायें गौर वर्ण की और सम्पत्ति मे रत हैं। (३) जो श्यामा अर्थात् काली हैं वे पद्म (कमल) के समान लाल रंग की किस प्रकार हो सकती हैं? यह विरोध है। श्यामा अर्थात् षोडशी हैं और पद्मराग नामक रत्न

ध्वन्यालोकः

यथा तत्रैव—

"समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि—सन्निहितवालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः।" इत्यादौ।

(अनु०) जैसे वहीं पर 'मानों उसके बालान्धकार के सन्निहित रहते हुये भी उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी।' इत्यादि में।

लोचन

यत्र हीति। यस्यां श्लेषोक्तौ काव्यरूपायां, तत्र यो विरोधः श्लेषो वेति सङ्करस्तस्य विषयत्वम्। स विषयो भवतीत्यर्थः। कस्य? वाच्यालङ्कारस्य वाच्यालङ्कृतेः वाच्यालङ्कृतित्वस्येत्यर्थः। तत्रैव विरोधे श्लेषे वा वाच्यालङ्कारत्वम् सुवचमितियावत्।

वालेषु केशेष्वन्धकारः काष्ण्यम्, वालः प्रत्यग्रश्चान्धकारस्तमः।

यत्रहीति। जिसमें अर्थात् काव्यरूप श्लेषोक्ति मे; उसमें जो विरोध या श्लेष का सङ्कर उसका विषय होना। अर्थात् वह विषय होता है। किसका? वाच्यालङ्कार का, वाच्यालंकृति का अर्थात् वाच्यालंकृतित्व का। उसी विरोध या श्लेष मे वाच्यालंकृतित्व सरसता से कहा जा सकता है। बालों में अर्थात् केशों मे अन्धकार अर्थात् कालापन और बाल अर्थात् ताजा अन्धकार।

तारावती

धारण किये हैं, इस प्रकार विरोध का परिहार हो जाता है। (४) जो धवलद्विज अर्थात् उत्कृष्टकोटि के ब्राह्मण के समान पवित्र मुखवाली हैं उनकी निःश्वास में मदिरा की गन्ध कैसे आ सकती है? यह विरोध है। 'निर्मल द्विज अर्थात् दाँतों के कारण पवित्र मुखवाली' यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँपर विरोधालङ्कार ध्वनित होता है।

यहाँपर न तो यही कहा जा सकता है कि विरोधाभास अलङ्कार ही वाच्य है और न यही कहा जा सकता है कि विरोधाभास अलङ्कार में चारुता का आधान करनेवाला श्लेष ही वाच्य है। क्योंकि यहाँपर साक्षात् शब्द के द्वारा विरोधालङ्कार का प्रकाशन नहीं हुआ है। श्लेषानुगृहीत वाच्यविरोधाभास का विषय ऐसा काव्य होता है जहाँ श्लेषोक्ति के काव्यरूपता को धारण करने पर जो विरोध अथवा श्लेष अलङ्कार हो उसका निवेदन साक्षात् शब्द के द्वारा कर दिया जावे। 'विरोध अथवा श्लेष' में अथवा शब्द का अर्थ है चाहे उसे हम विरोधालङ्कार कहें चाहे श्लेष अर्थात् जहाँ पर इन दोनों अलङ्कारों का सङ्कर अलङ्कार हो। ऐसा विषय किसका होता है? वाच्यालंकृति अर्थात् वाच्यालंकृतित्व का। आशय यह है कि विरोध-श्लेष सङ्कर की विषयता या प्रयोजकता ऐसे ही स्थान पर होती है जहाँ

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम् ।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते ।

(अनु०) अथवा जैसे मेरा ही—

'सभी के एकमात्र शरण, अक्षय, अधीश, बुद्धि के स्वामी, हरि, कृष्ण, चतुर आत्मावाले, निष्क्रिय, अरिमथन चक्रधर को नमस्कार करो ।'

यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप विरोध स्पष्टरूप में ही प्रतीत हो रहा है।

लोचन

ननु मातङ्ग इत्यादावपि धर्मद्वये यश्चकारः सः विरोधद्योतक एव । अन्यथा प्रतिधर्मं सर्वधर्मान्ते वा न क्वचिद्वा चकारः स्यात् , यदि समुच्चयार्थं, स्यादित्यभिप्रायेणोदाहरणान्तरमाह—यथेति । शरणं गृहमक्षयरूपमगृहं कथम् । यो न धीशः स कथं धियामीशः । यो हरिः कपिलः सः कथं कृष्णः । चतुरः पराक्रमयुक्तो यस्यात्मा स कथं निष्क्रियः । अरीणामरयुक्तानां च यो नाशयिता स कथं चक्रं बहुमानेन धारयति । विरोध इति । विरोधनमित्यर्थः । प्रतीयत इति । स्फुटं नोच्यते केनचिदिति भावः ।

( प्रश्न ) मातङ्ग इत्यादि दोनों धर्मों मे ही जो चकार वह विरोध का द्योतक ही है । नहीं तो यदि समुच्चयार्थक होता तो प्रत्येक धर्म में सब धर्मों के अन्त मे ( चकार होता ) या कहीं न होता । इस अभिप्राय से दूसरा उदाहरण देते हैं—'यथा' इति । शरण अर्थात् गृह; वह अक्षयरूप अर्थात् अगृह कैसे ? जो धीश ( धी + ईश ) नहीं वह बुद्धियों का स्वामी कैसे ? जो हरि अर्थात् कपिल वह कृष्ण कैसे ? चतुर अर्थात् पराक्रमयुक्त जिसकी आत्मा वह निष्क्रिय कैसे ? अरियों का अर्थात् अरयुक्तों का नाश करनेवाला वह कैसे चक्र को बहुत आदर से धारण करता है ? विरोध इति । अर्थात् विरोध की क्रिया । 'प्रतीत होता है' अर्थात् किसी के द्वारा स्फुटरूप में नहीं कहा जाता ।

तारावती

इन दोनों अलङ्कारों का निवेदन साक्षात् शब्द के द्वारा कर दिया गया हो । ऐसे ही स्थान पर विरोध या श्लेष मे वाच्यालङ्कारता सुविधापूर्वक कही जा सकती है । जैसे भट्टबाण के ही हर्षचरितसार मे एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—'वहाँपर मानों विरोधी पदार्थों का समवाय था । वह इस प्रकार-वालान्धकार के सन्निहित रहते हुये भी उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी ।' 'उसके अन्दर वाल अर्थात् ताजा अन्धकार अर्थात् तम विद्यमान था तथापि उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी' यह विरोध

तारावती

है । 'उसके बालों मे अन्धकार अर्थात् कालिमा विद्यमान थी' यह अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है ।

( यहाँपर भट्टबाण के दो उद्धरण दिये गये हैं—'यत्र च·····प्रमदाः' यह उदाहरण विरोधाभास ध्वनि का है और 'समवाय इव ·····भास्वन्मूर्तिः' यह वाच्य विरोधाभास का है । महिम भट्ट ने ध्वनि के उदाहरण का यह कहकर खण्डन किया है कि वहाँपर 'चू' का प्रयोग ही अलङ्कार को वाच्य बना देता है । इसी खण्डन को सही मानकर लोचनकार ने इसी अरुचि के आधार पर दूसरे उदाहरण की योजना की सङ्गति लगाई है । ) ( प्रश्न ) पूर्वोक्त उदाहरण में भी दो विरोधी धर्मों को 'और' के द्वारा जोड़ा गया है । 'मातङ्गगामिनी और सुशीलता से युक्त' 'गौरी विभव-रत' 'श्यामा और पद्मरागिणी' इत्यादि । यह और के द्वारा जोड़ना ही विरोध को वाच्य बना देता है । यदि यहाँपर 'और' का प्रयोग समुच्चयार्थक होता और यदि यहाँपर विरोध वाच्य न होता तो या तो और का प्रत्येक विशेषण के साथ अथवा एक बार अन्तिम विशेषण के पहले प्रयोग होता या कहीं पर भी प्रयोग न होता । इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण में भी किस प्रकार विरोध व्यङ्ग्य माना जा सकता है ? ( उत्तर ) यदि ऐसा है तो फिर आनन्दवर्धन का ही लिखा हुआ यह श्लोक भी उदाहरण के रूप मे ले लीजिये—

'जो एकमात्र सभी को शरण देनेवाला है, जो अक्षय है, अधीश है, बुद्धि का स्वामी है, हरि है, कृष्ण है, चतुर आत्मावाला है, निष्क्रिय है, अरिमन्थन है, चक्रधर है, उसे नमस्कार करो ।'

शरण और क्षय इन दोनों शब्दों का अर्थ है घर । जो स्वयं अक्षय है अर्थात् घररहित है वह दूसरे को शरण अर्थात् घर कैसे दे सकता है ? यह विरोध है । अक्षय का अर्थ अविनाशी और शरण का अर्थ त्राण कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है । जो अधीश ( अ + धी + ईश ) अर्थात् बुद्धि का ईश नहीं है वह 'धियाम् ईशः' बुद्धि का स्वामी भी है यह विरोध है । अधीश का अर्थ अधिपति करलेने पर उसका परिहार हो जाता है । जो हरि ( कपिश-वर्ण का ) है वह कृष्ण ( काला ) कैसे हो सकता है ? यही विरोध है । हरि और कृष्ण दोनों भगवान् के नाम हैं इस प्रकार इस विरोध का परिहार हो जाता है । जो चतुर ( पराक्रम युक्त ) आत्मावाला है वह निष्क्रिय अर्थात् क्रिया-शून्य कैसे हो सकता है ? यही विरोध है । चतुर का बुद्धिमान् और निष्क्रिय का निर्लिप्त अर्थ कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है । 'अरि' ( आरोंवाले रथ के चक्र ) को मथन करनेवाला ( तोड़नेवाला ) चक्र ( पहिया ) धारण करनेवाला नहीं हो सकता ।

ध्वन्यालोकः

एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते। यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।
ये मूर्धस्वयभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रियै सन्तु वः॥

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलाऽनुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः। इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः।

(अनु०) इस प्रकार का व्यतिरेक भी देखा जाता है। जैसे मेरा ही पद्य—

'अन्धकार को नष्ट करनेवाले जो आकाश को अत्यन्त उज्ज्वल कर देते हैं या जो नखोद्भासी हैं; जो कमल की शोभा को भी पुष्ट करते हैं या जो कमल की कान्ति को तिरस्कृत करते हैं; जो पर्वतों के शिरों पर सुशोभित होते हैं या जो अमरों के शिरों को आक्रान्त करते हैं; दिनपति के दोनों प्रकार के पाद आप लोगों का कल्याण करनेवाले हों।'

इसी प्रकार और भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनि के प्रकार हैं; उनका अनुसरण सहृदयों को स्वयं करना चाहिये। यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से उनका प्रपञ्च नहीं किया गया।

लोचन

नखैरुद्भासन्ते येऽवश्यं खे गगने न उद्भासन्ते। उभये रश्म्यात्मानोऽङ्गुलीपाण्यादिवयविरूपाश्चेत्यर्थः॥ २१॥

नखों से जो अवश्य उद्भासित होते हैं; ख अर्थात् आकाश में शोभित नहीं होते। दोनों ही रश्मि आत्मावाले और अङ्गुली एड़ी इत्यादि अवयवीरूप यह अर्थ है॥ २१॥

तारावती

यह विरोध है। अरिमथन (शत्रुनाशक) और चक्र (शस्त्र) को धारण करनेवाला अर्थ कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है।

यहाँपर विरोध अर्थात् विरोधनक्रिया-मूलक अलङ्कार वाच्य नहीं हो सकता किन्तु शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप ध्वनि स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रही है क्योंकि यहाँपर कोई शब्द ऐसा नहीं है जो कि विरोध को साक्षात् वाच्य बना दे।

व्यतिरेकालङ्कार की भी इसी प्रकार की ध्वनि देखी जाती है। जैसे—

"दिनपति के दोनों प्रकार के पाद (किरणें तथा चरण) आप लोगों का कल्याण करनेवाले हों। दोनों ही तम का नाश करनेवाले हों। (किरणें अन्धकार

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥ २२ ॥

यथार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः । यथा —

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्त्राणि गणयामास पार्वती ॥

(अनु०) 'अर्थशक्त्युद्भव ( एक ) अन्य प्रकार है जिसमें वह अर्थ प्रकाशित होता है जो स्वतः तात्पर्य से बिना ही युक्ति के दूसरी वस्तु को व्यक्त कर देता है ॥ २२ ॥

जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से ही शब्द व्यापार के बिना ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त कर देता है वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणनोपम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है । जैसे—

"देवर्षि के इस प्रकार कहते हुये ( कहने के समय ) पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचे को मुख किये हुये लीलाकमल पत्रों को गिनने लगी ।"

तारावती

का नाश करती हैं और चरण अज्ञान का नाश करते हैं । ) एक तो ( किरणें ) आकाश को अत्यन्त उज्ज्वल बना देती हैं और दूसरे ( चरण ) नखोद्भासी हैं । एक तो ( किरणें ) कमलों की कान्ति को पुष्ट करनेवाली हैं और दूसरे ( चरण ) कमलों की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले हैं । एक तो ( किरणें ) पर्वतों के मस्तकों पर शोभित होती हैं और दूसरे ( चरण ) प्रणामकाल में देवताओं के शिरों को आक्रान्त कर लेते हैं ।"

यहाँपर व्यतिरेकालङ्कार की शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनि है । क्योंकि चरणों और किरणों के महत्त्व का एक दूसरे से तारतम्य बतलाया गया है । किरणें आकाश को उज्ज्वल करती हैं और चरण ( न+ख+उद्भासी ) आकाश में अवश्य ही प्रकाशित न होनेवाले अथवा नखों से शोभित होनेवाले हैं । 'उभये' अर्थात् 'दोनों' का अर्थ है किरणात्मकपाद और अङ्गुली एड़ी इत्यादि अवयवीरूप पाद । यहाँ नखोद्भासी शब्द के द्व्यर्थक होने के कारण ध्वनि निकलती है इसीलिये यह शब्दशक्तिमूलक व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है । ( महिमभट्ट ने इस उदाहरण को अनुमान में गतार्थ करने की चेष्टा की है । किन्तु अनुमान से व्यञ्जना गतार्थ नहीं होती इसका वर्णन विशेष रूप से प्रथम उद्योत में किया जा चुका है । वहीं देखना चाहिये । )

## लोचन

एवं शब्दशक्त्युद्भवं ध्वनिमुक्त्वार्थशक्त्युद्भवं दर्शयति अर्थेति । अन्य इति । शब्दशक्त्युद्भवात् । स्वतस्तात्पर्येणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं ध्वननव्यापारमाह नतु तात्पर्यशक्तिम् । सा हि वाच्यार्थप्रतीतावेवोपक्षीणेत्युक्तम् प्राक् । अनेनैवाशयेन वृत्तौ व्याचष्टे—यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादिति। स्वत इति शब्दः स्वशब्देन व्याख्यातः।उक्तिं विनेति व्याचष्टे—शब्दव्यापारं विनैवेति । उदाहरति यथा एवमिति ।

इस प्रकार शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि को कहकर अर्थशक्त्युद्भव को दिखलाते है—अर्थेति । अन्य का अर्थ है शब्दशक्त्युद्भव से भिन्न 'स्वतः तात्पर्य से' यह अभिधा व्यापार निराकरणपरक ध्वनन व्यापार को कहता है तात्पर्य शक्ति को नहीं । वह वाक्यार्थप्रतीति मे ही उपक्षीण हो चुकी यह पहले ही कह चुके हैं । इसी आशय से वृत्ति में व्याख्या की गई है—'जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से' इत्यादि । स्वतः इस शब्द की स्वशब्द से व्याख्या की गई है । 'उक्ति के विना' इसकी व्याख्या करते है—'शब्द व्यापार के विना ही' । उदाहरण देते हैं—जैसे 'एवम्.....' इत्यादि ।

## तारावती

शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनियों के दूसरे भी प्रकार है । सहृदयों को चाहिये कि वे उनका स्वयं अनुशीलन करें । यहाँ पर उन सबकी अधिक व्याख्या इसलिये नहीं की जावेगी कि उससे ग्रन्थ के अधिक विस्तृत हो जाने का भय है ।

## अर्थशक्तिमूलक ध्वनि

ऊपर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की व्याख्या की जा चुकी । अब लेखक अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को दिखला रहा है—

'ध्वनि का एक दूसरा प्रकार है अर्थशक्तिमूलक ध्वनि । इसमे वाच्यार्थ ऐसा हुआ करता है जो स्वतः तात्पर्य के द्वारा एक ऐसे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है जिसका अभिधान वाक्य में किसी शब्द के द्वारा नहीं किया गया होता है ।'

'दूसरा ही' का अर्थ है—शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि से भिन्न । 'स्वयं ही तात्पर्य के द्वारा' कहना अभिधा व्यापार का निराकरण करनेवाला है । इसका आशय यह है कि दूसरा अर्थ ध्वननव्यापार के द्वारा निकलता है । यहाँ पर तात्पर्य शब्द का अर्थ तात्पर्यवृत्ति नहीं है। क्योंकि यह तो पहले ही ( प्रथम उद्योत मे ही ) बतलाया जा चुका है कि तात्पर्यवृत्ति वाच्यार्थप्रतीति मे ही उपक्षीण हो जाती है । इसी आशय से वृत्ति में व्याख्या की गई है कि 'जहाँ पर अर्थ स्वसामर्थ्य से विना ही शब्दव्यापार के अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है वह, अर्थशक्त्युद्भव नाम की अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है ।' कारिका के 'स्वतः' शब्द की व्याख्या 'स्व'

ध्वन्यालोकः

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति। न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यः रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः। यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम्। इह तु सामर्थ्यादाक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः। तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः।

(अनु०) यहाँपर लीलाकमल-पत्र का गिनना अपने स्वरूप को उपसर्जन (गौण) बनाकर बिना ही शब्दव्यापार के व्यभिचारी भावात्मक दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है। यह अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का ही विषय है यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जहाँपर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से रस इत्यादि की प्रतीति होती है केवल वही उसका मार्ग होता है। जैसे कुमारसम्भव में वसन्त-वर्णन के प्रसङ्ग में, वसन्त पुष्पाभरणों को धारण किये हुये देवी के आगमन इत्यादि का मनोभव-शरसन्धान पर्यन्त वर्णन तथा परिवृत्त धैर्यवाले भगवान् शिव की चेष्टा इत्यादि का वर्णन साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किया गया है। यहाँपर तो सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारियों के द्वारा रस की प्रतीति होती है। अतः यह ध्वनि का दूसरा ही प्रकार है।

लोचन

अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम्। साक्षादिति। व्यभिचारिणां यत्रालक्ष्यक्रमतया व्यवधिवन्ध्यैव प्रतिपत्तिः स्वविभावादिबलात्तत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितत्वम् विवक्षितमिति न पूर्वापरविरोधः। पूर्वं हि उक्तम्—व्यभिचारिणामपि भावत्वान्न स्वशब्दतः

अर्थान्तर का अर्थ है लज्जात्मक। साक्षादिति। अलक्ष्यक्रम होने के कारण जहाँ व्यभिचारियों की अपने विभाव इत्यादि के बल पर व्यवधानशून्य ही प्रतिपत्ति होती है वहाँ साक्षात् शब्दनिवेदितत्व ही विवक्षित है इस प्रकार पूर्वापर विरोध नहीं होता। पहले विस्तारपूर्वक कहा गया है कि व्यभिचारियों की भाव

तारावती

शब्द के द्वारा की गई है और कारिका के 'उक्ति विना' शब्द की व्याख्या 'शब्द-व्यापार के विना ही' इन शब्दों के द्वारा की गई है। उदाहरण देते हैं—

'जिस समय देवर्षि नारद इस प्रकार (पार्वती के विवाह के विषय में) बातचीत कर रहे थे, उस समय पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किये हुये पार्वती लीला-कमलपत्रों को गिन रही थीं।'

## लोचन

प्रतिपत्तिरित्यादि विस्तरतः। एतदुक्तं भवति—यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्वलक्ष्यक्रमः। यथा—

होने के कारण स्वशब्द से प्रतिपत्ति नहीं होती। यह बात कही हुई है—यद्यपि रसभाव इत्यादि अर्थ ध्वन्यमाय ही होता है कहीं भी वाच्य नहीं होता तथापि सब अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय नहीं होता। जहाँ निस्सन्देह स्थायीगत और व्यभिचारीगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से शीघ्र ही रस की अभिव्यक्ति हो जाती है वह अलक्ष्यक्रम बना रहे। जैसे—

## तारावती

यहाँ पर लीला-कमलपत्रों की गणना गौण होकर बिना ही किसी दूसरी शब्द-वृत्ति की अपेक्षा किये हुये पार्वती के लज्जा-रूप एक दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। यह लज्जा एक व्यभिचारी भाव है। (प्रश्न) यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ३३ प्रकार के व्यभिचारी भावों की ध्वनि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का ही विषय है। फिर यहाँ पर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रकरण मे यह उदाहरण देना कहाँ तक समीचीन कहा जा सकता है? (उत्तर) असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य वहाँ पर होता है जहाँ पर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदन किये हुये विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावो के बलपर रस इत्यादि की प्रतीति होती हो। (प्रश्न) पहले बतलाया जा चुका है कि व्यभिचारी भाव कभी स्वशब्दवाच्य नहीं होते। उससे विरोध पडता है? (उत्तर) साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किये हुये होने का आशय यह है कि जहाँ पर व्यभिचारियों की प्रतीति अपने विभाव इत्यादि के बलपर हो रही हो और न तो उन दोनों के मध्य मे कोई क्रम लक्षित किया जा सके और न दोनों मे कोई व्यवधान ही दृष्टिगत हो रहा हो तथा विभावादि से व्यभिचारियों की प्रतीति एकदम हो जावे वही असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय होता है और उसी को साक्षात् शब्दवाच्य कहा जाना अभिमत है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध नहीं आता। यह विस्तारपूर्वक पहले ही दिखलाया जा चुका है कि व्यभिचारी भाव भी एक प्रकार के भाव ही होते हैं; अतः उनकी भी प्रतिपत्ति स्वशब्द से नहीं होती (जैसे स्थायी भावों और रसों की प्रतिपत्ति स्वशब्द के द्वारा नहीं हुआ करती है।) इस प्रकरण को इस प्रकार समझिये—यद्यपि रस भाव इत्यादि अर्थ सर्वदा ध्वनि (व्यञ्जना) का ही विषय होता है; यह कभी भी वाच्य नहीं हो सकता तथापि सभी रस भाव इत्यादि अर्थ असंलक्ष्यक्रम का ही विषय नहीं होते। जहाँ पर

## लोचन

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रदाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥

इत्यादौ सम्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावतायोग्यस्वभावावर्णनम् ।

प्रतिगृहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमेव ।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥

इत्यनेन विभावतोपयोग उक्तः—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

'इसके बाद लगभग बुझे हुये इनके पराक्रम को शरीर के गुण से प्रदीप्त सा करती हुई वनदेवियों द्वारा पीछे जाई जाती हुई स्थावरराजकन्या दृष्टिगत हुई ।'

इत्यादि में सम्पूर्ण आलम्बन और उद्दीपन विभावता के योग्य स्वभाव का वर्णन है ।

'प्रणयीजनों के प्रेमी होने के कारण त्रिलोचन ( शङ्कर ) ने उस पूजा को ग्रहण करना प्रारम्भ किया और पुष्प-धनुषधारी ( कामदेव ) ने सम्मोहन नाम के अमोघ बाण को धनुष पर रक्खा ।'

इससे विभावता का उपयोग बतलाया गया ।

'चन्द्रोदय के आरम्भ में अम्बुराशि के समान कुछ विचलित धैर्यवाले शङ्कर जी ने बिम्बफल के समान अधरोष्ठवाले उमामुख पर विलोचनों को प्रेरित किया ।'

## तारावती

विभाव अनुभाव इत्यादि समस्त वाच्यार्थ पूर्णता को प्राप्त हो गये हों और या तो वे स्थायीभाव-प्रवण हों या व्यभिचारीभाव-प्रवण हों तथा उनसे शीघ्र ही (एकदम) रसाभिव्यक्ति हो जावे वहाँ पर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है । उदाहरण के लिये कुमारसम्भव का वसन्त-वर्णनवाला वह प्रकरण लीजिये जिसमे वसन्त पुष्पों के आभूषण धारण किये हुये देवी पार्वती का शङ्कर जी के निकट आने का वर्णन किया गया है—

'इसके उपरान्त स्थावर ( जड़-जगत् ) के स्वामी हिमालय की पुत्री पार्वती दृष्टिगोचर हुईं जिनके पीछे वन-देवियाँ भी आ रही थीं और जो मानों अपने शरीर-सौन्दर्य के प्रभाव से लगभग बुझे हुये कामदेव के पराक्रम को प्रज्ज्वलित कर रही थीं ।'

यहाँ पर पार्वती आलम्बन हैं; वसन्तपुष्पाभरण इत्यादि उद्दीपन है । इस प्रकार विभाव के सम्पूर्ण योग्य स्वभाव का इसमें वर्णन किया गया है ।

## लोचन

अत्र हि भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात्तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात्प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य सूचितस्य गाढीभावाद्रत्यात्मनः स्थायिभावस्यौत्सुक्यावेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभिचारिणः साधारणीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाशित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति। व्यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्रक्सूत्रकल्पस्थायिचर्वणाविश्रान्तेरलक्ष्यक्रमत्वम्। इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयम्, अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव। रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षया अलक्ष्यक्रमतैव। लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्। अमुमेव भावमेवशब्दः केवलशब्दश्च सूचयति।

यहाँ पर निस्सन्देह भगवती के उनकी ओर झुके होने के कारण और इस समय उनकी ओर उन्मुख हो जाने से और प्रणयी लोगों के प्रेमी होने के कारण सूचित पक्षपात के गाढ हो जाने से अपने रत्यात्मक स्थायी भाव के और औत्सुक्य, आवेग, चापल्य, हर्ष इत्यादि व्यभिचारी का साधारणीभूत अनुभाववर्ग प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार विभाव और अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारी की चर्वणा में पर्यवसित होती है। व्यभिचारियों की परतन्त्रता से ही माला-सूत्रवत् स्थायिचर्वणा में विश्रान्त होने से अलक्ष्यक्रमत्व (माना जाता है)। यहाँ तो कमलदल गणना और नीचे मुख करना कुमारियों का दूसरी प्रकार से भी सम्भावित किया जा सकता है। इस प्रकार शीघ्र ही हृदय को लज्जा में विश्रान्त नहीं कर देता। अपितु पहले सम्पन्न हुई तपश्चर्या इत्यादि वृत्तान्त के अनुस्मरण से उसमें प्रतिपत्ति कर देता है। इस प्रकार क्रमव्यङ्ग्यता ही है। रस तो यहाँ पर भी दूर से ही व्यभिचारी के स्वरूप की पर्यालोचना करने पर शोभित होता है अतः उसकी अपेक्षा से अलक्ष्यक्रमता ही (मानी जावेगी)। लज्जा की अपेक्षा तो वहाँ पर लक्ष्यक्रमता ही (है)। रसविभाव को एवशब्द और केवल शब्द सूचित करते हैं।

## तारावती

"जैसे ही त्रिलोचन शङ्कर जी ने प्रणयीजनों के प्रेमी होने के कारण उस पूजा का प्रतिग्रह करना प्रारम्भ किया वैसे ही पुष्पधनुपधारी कामदेव ने धनुष पर सम्मोहन नाम के एक अमोघ बाण को रक्खा।"

यहाँ पर पूर्वोक्त विभाव (पार्वती इत्यादि की उपस्थिति) का उपयोग बतलाया गया है।

"जिस प्रकार चन्द्रोदय के प्रारम्भ में महासागर क्षुब्ध हो उठता है। उसी प्रकार भगवान् शङ्कर का धैर्य च्युत हो गया और उन्होंने अपने समस्त नेत्रों

तारावती

को बिम्बफल के समान रक्त अधरोष्ठवाले उमा के मुख पर (सतृष्णरूप में) डाला।"

भगवती उमा तो पहले से ही शङ्कर में अनुरक्त थीं और शङ्कर जी इस समय उमा की ओर उन्मुख हो गये हैं। दूसरी बात यह है कि शङ्कर जी प्रणयीजनों के प्रिय भी हैं। इन्हीं सब कारणों से उमा के प्रति शंकर जी का झुकाव सूचित होता है जोकि प्रगाढता को प्राप्त होनेवाली रति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वही रतिभाव स्थायीभाव बनकर शृङ्गार रस का रूप धारण कर रहा है। इसके अतिरिक्त औत्सुक्य, आवेग, चापल्य और हर्ष इत्यादि व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ पर वर्णन किया हुआ अनुभावों का समूह एक ओर स्थायीभाव रति से सम्बन्ध रखता है, दूसरी ओर व्यभिचारियों से भी सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार विभाव अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारीभावों की चर्वणा में परिणत हो जाती है और उसका व्यभिचारियों के आस्वादन में ही पर्यवसान हो जाता है। जिस प्रकार माला में फूल सर्वदा सूत के आधीन रहते हैं उसी प्रकार व्यभिचारीभाव सर्वदा स्थायीभाव के ही आधीन रहते हैं और व्यभिचारियों के परतन्त्र रहने से आस्वादन का विराम स्थायीभाव या रस में ही होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि देवी के आगमन के वर्णन से लेकर कामदेव के शरसंधान और शंकर जी की धैर्यपरिवृत्ति तक जितना भी वर्णन किया है; उससे व्यक्त होनेवाले विभाव और अनुभाव के द्वारा व्यभिचारीभाव एकदम व्यक्त हो जाते हैं। इसीलिये इसे साक्षात् शब्द से अभिव्यक्त होनेवाला कहते हैं और इसीलिये इसे असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं। अब उपर्युक्त 'जिस समय..... गिन रही थीं।' को लीजये। कुमारिकाओं का नीचे को मुँह कर लेना और लीलाकमल की पंखुडियों को गिनने लगना स्वाभाविक भी हो सकता है तथा अन्य भी किसी कारण से सम्भव है। अतएव इसका पर्यवसान एकदम लज्जा मे नहीं होता। किन्तु जब पार्वती की तपश्चर्या इत्यादि समस्त प्राचीन वृत्तान्त का स्मरण आ जाता है जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि पार्वती का अनुराग शंकर जी के प्रति पहले से ही विद्यमान है और नारद शंकर जी के विवाह के विषय में ही बात-चीत कर रहे हैं तब पार्वती जी के मुख नीचा करने और लीला-कमल पत्तों के गिनने का सम्बन्ध लज्जा नामक व्यभिचारीभाव से हो जाता है। इस प्रकार क्रम के लक्षित होने के कारण इसे संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ही कहते हैं। अतएव यह असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य से भिन्न ध्वनि का नया ही प्रकार है। यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि केवल व्यभिचारी भाव की प्रतीति विलम्ब में होती है। व्यभिचारीभाव

ध्वन्यालोकः

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः। यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम्।

( अनु० ) और जहाँ पर शब्दव्यापार सहायक अर्थ दूसरे अर्थ की व्यञ्जकता के रूप में गृहीत होता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं होता। जैसे—

'विट को सङ्केत-काल जानने की इच्छा करते हुये जानकर चतुर नायिका ने हंसते हुये नेत्रों से अभिप्राय-सूचक सङ्केत देते हुये लीला-कमल को सिकोड़ दिया।'

यहाँ लीलाकमल-निमीलन की व्यञ्जकता उक्ति के द्वारा ही निवेदित कर दी है।

लोचन

'उक्तिं विने'ति यदुक्तं तद्व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमुपक्रमते यत्र चेति। चशब्दस्तु-शब्दस्यार्थे। अस्येति। अलक्ष्यक्रमस्तु तत्रापि स्यादेवेति भावः। उदाहरति—सङ्केतेति। व्यञ्जकत्वमिति। प्रदोषसमयं प्रतीतिशेषः। उक्त्यैवेति। आद्यपदत्रयेणेत्यर्थः। यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिदभिधाशक्तिः पदस्येति व्यञ्जकत्वं न विघटितम्, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जक इति। ततश्च ध्वनेर्यद्गोप्यमानतोदितचारुत्वात्मकं प्राणितं तदपहस्तितम्। यथा कश्चिदाह—गम्भीरोऽहं न मे कृत्यं कोऽपि वेद न सूचितम्। किञ्चिदब्रवीमि' इति। तेन गाम्भीर्यसूचनार्थः प्रत्युत आविष्कृत एव। अत एवाह व्यञ्जकत्वमिति उक्त्यैवेति च॥ २२॥

'उक्ति के विना' जो यह कहा उसके व्यवच्छेद्य को दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं—'यत्र च' इत्यादि। 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। 'अस्य' इति। भाव यह है कि अलक्ष्यक्रम तो वहाँ पर भी होगा ही। उदाहरण देते हैं—'संकेत' इति। व्यञ्जकत्वमिति। यहाँ प्रदोष समय के प्रति यह शेष है। 'उक्ति से ही'। अर्थात् प्रथम तीन पादों के द्वारा। यद्यपि यहाँ पर दूसरे शब्द के सन्निधान मे भी प्रदोष अर्थ के किसी पद की अभिधा शक्ति नहीं है, अतः व्यञ्जजत्व विघटित नहीं होता। तथापि शब्द के द्वारा कहा हुआ ही यह अर्थ दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है। इससे ध्वनि का जो गोप्यमानता के साथ प्रकट हुआ चारुत्वरूप प्राण वह समेट लिया गया। जैसे कोई कहता है—'मैं गम्भीर हूँ मेरे कार्य को कोई नहीं जानता और न सूचित को ही, अतः मैं कुछ कहता हूँ' यहाँ पर गाम्भीर्य सूचक अर्थ प्रत्युत आविष्कृत कर ही दिया गया। इसीलिये कहते हैं—'व्यञ्जकत्व' यह और 'उक्ति के द्वारा ही' यह॥ २२॥

तारावती

की पर्यालोचना करने पर रस की प्रतीति शीघ्र हो जाती है। अतएव रसकी दृष्टि से असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहेंगे और व्यभिचारीभाव की दृष्टि से संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। इसी आशय को लेकर 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का ही विषय है' और 'केवल असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय है' इन दोनों वाक्यों में 'ही' और 'केवल' इन दो शब्दों का प्रयोग वृत्तिकार ने प्रस्तुत कारिका की व्याख्या के अवसर पर किया है।

२२वीं कारिका में कहा गया है कि 'जहाँ पर वाच्यार्थ बिना ही उक्ति के दूसरे अर्थ को व्यक्त करे वहाँ पर अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है' यहाँ पर 'बिना ही उक्ति के' कहने का आशय क्या है? यह दिखलाया जा रहा है। 'और जहाँ पर एक अर्थ शब्द के व्यापार की सहायता से दूसरे अर्थ को व्यक्त करता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं होता।' इस वाक्य मे 'और' का अर्थ है 'तो' अर्थात् उक्त संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के प्रतिकूल जहाँ पर शब्दव्यापार की सहायता से दूसरे अर्थ का बोध हो वहाँ पर ध्वनि नहीं होती। 'इस ध्वनि का' कहने का आशय यह है कि ऐसा स्थान असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसध्वनि का तो विषय हो ही सकता है। उदाहरण—

'विदग्ध नायिका ने विट (उपनायक) को संकेतकाल की जिज्ञासा करते हुये जानकर विकसित नेत्रों के द्वारा अपने आशय को व्यक्त करते हुये लीला-कमल को सिकोड़ लिया।'

यहाँ पर लीलाकमल के निमीलन के द्वारा यह व्यञ्जना निकलती है कि मिलने का समय रजनीमुख है जब कि कमल सिकुड़ जाते हैं। लीलाकमलनिमीलन प्रदोष समय का व्यञ्जक है। प्रथम तीन पादों के द्वारा चौथे पाद की व्यञ्जकता अभिहित कर दी गई है। यद्यपि दूसरे शब्द के निकट होते हुये भी यहाँ पर कोई ऐसा शब्द नहीं है जिससे रजनीमुख का अर्थ निकले। अतएव यहाँपर व्यञ्जना विघटित नहीं होती अर्थात् दूसरा अर्थ व्यञ्जना से ही निकलता है इसमें किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं होता। किन्तु फिर भी 'नायक सङ्केतकाल की जिज्ञासा रखता था, नायिका ने अपने अभिप्राय को व्यक्त किया इत्यादि वाक्यों के द्वारा यह कह ही दिया गया है कि लीला-कमल निमीलन में व्यञ्जना है। इस प्रकार एक अर्थ दूसरे ऐसे अर्थ को सूचित करता है जिसको सूचना पृथक् रूप मे उक्ति के द्वारा दे दी गई है। अतएव छिपाकर कहने से उद्भूतरमणीयता जो कि ध्वनि का प्राण है यहाँ पर गले में हाथ डालकर निकाल दी गई है। यह ऐसा ही है जैसे कोई कहे—'मैं गम्भीर हूँ, न तो मेरे कार्यों को कोई जान पाता है और

ध्वन्यालोकः

तथा च—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः॥ २३॥

शब्दशक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

और इसी से—

'शब्दार्थशक्ति से आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ पुनः अपनी उक्ति के द्वारा ही आविष्कृत कर दिया जाता है वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही (वस्तु) अलङ्कार होता है॥ २३॥

शब्दशक्ति के द्वारा, अर्थशक्ति के द्वारा अथवा शब्दार्थशक्ति के द्वारा आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ फिर से अपनी उक्ति से प्रकाशित कर दिया जाता है वह इस अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ध्वनि से और ही (वस्तु) अलङ्कार होता है। यदि सम्भव हो तो अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का वह वैसा अलंकार होता है।

लोचन

प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्—तथा चेति। तेन चोक्तप्रकारद्वयेनायमपि-तृतीयः प्रकारो मन्तव्य इत्यर्थः। शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ चेत्येकशेषः। सान्यैवेति। न ध्वनिरसौ, अपि तु श्लेषादिरलङ्कार इत्यर्थः।

प्रक्रान्त दोनों प्रकारों का उपसंहार और तृतीय प्रकार का सूचन एक ही यत्न से करूँ इस आशय से वृत्तिकार साधारण अवतरणपद का प्रक्षेप कर रहा है—तथा च इति। उन दोनों उक्त प्रकारों से यह भी तृतीय प्रकार माना जाना चाहिये यह अर्थ है। शब्द और अर्थ और शब्दार्थ इनका एकशेष है। 'सान्यैव'। अर्थात् वह ध्वनि नहीं है अपितु श्लेष इत्यादि अलङ्कार ही है।

तारावती

मेरे इङ्गित का ही किसी को ज्ञान हो पाता है। अतः मैं कुछ कह रहा हूँ।' वस्तुतः गम्भीरता कहने की वस्तु नहीं वह तो आकृति तथा व्यवहार से ही प्रकट होनी चाहिये, किन्तु इस व्यक्ति ने अपने मुख से ही कह दिया है कि 'मैं गम्भीर हूँ।' अतः इस गम्भीरता का महत्त्व ही जाता रहा। इसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भी 'विट सङ्केतकाल की जिज्ञासा कर रहा था और चतुर नायिका ने ऐसा किया' इन शब्दों को लिखकर

ध्वन्यालोकः

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं संत्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु वलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामितिभयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद्धः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः॥

( अनु० ) उनमें शब्दशक्ति का उदाहरण जैसे—

'हे पुत्री तुम विषाद को मत प्राप्त हो, तीव्र वेगवाले ऊपर को उठनेवाले श्वास का लेना छोड़ दो। यह क्या विचित्र बहुत बडा कम्पन तुम्हारे अन्दर हो रहा है। बल को नष्ट करनेवाले अङ्ग तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इधर जाओ। इस प्रकार समुद्र ने भयशमन के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर जिन्हें लक्ष्मी प्रदान की वे भगवान् आप लोगों के पाप को जला डालें।

समुद्र के कथन का देवताओं के प्रत्याख्यान का अर्थ—

'हे देवी तुम शङ्कर के पास मत जाओ। अग्नि और वायु को छोड़ दो। वरुण और ब्रह्मा जी तो तुम्हारे गुरु ही हैं। अभिमानी इन्द्र की आवश्यकता नहीं है। इधर ( विष्णु की ओर ) जाओ।

लोचन

अथवा ध्वनिशब्देनालक्ष्यक्रमः तस्यालङ्कार्यस्याङ्गिनः स व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यो वाच्यमात्रालङ्कारापेक्षया द्वितीयो लोकोत्तरश्चालङ्कार इत्यर्थः। एवमेव वृत्तौ द्विधा व्याख्यास्यति। विषमत्तीति विषादः। ऊर्ध्वप्रवृत्तमग्निमित्यत्र चार्थो मन्तव्यः। कम्पोऽपां पतिः को ब्रह्मा वा तव गुरुः। वलभिदा इन्द्रेण जृम्भितेन ऐश्वर्यमदमत्तेनेत्यर्थः। जृम्भितं च गात्रसंमर्दनात्मकं बलं भिनत्ति आयासकारित्वात्।

अथवा ध्वनि शब्द से अलक्ष्यक्रम ( लिया जाता है। ) उस अङ्गी अलङ्कार्य का वह दूसरा अर्थात् वाच्यालङ्कार की अपेक्षा अन्य व्यङ्ग्य और लोकोत्तर अलङ्कार होता है। इसी प्रकार वृत्ति में दो प्रकार की व्याख्या करेंगे। विष को जो खाता है वह विषाद ( कहलाता है )। 'ऊर्ध्वप्रवृत्त' यहाँपर अग्नि यह और अर्थ माना जाना चाहिये। 'कम्प' अर्थात् जल के पति और 'कः' अर्थात् ब्रह्मा तुम्हारे गुरु है। जृम्भित अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त बलभिद् अर्थात् इन्द्र से क्या। जृम्भित अर्थात् गात्रसम्मर्दनात्मक ( चेष्टा ) आयासकारी होने के कारण बल को नष्ट कर देती है।

तारावती

कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को स्वयं ही वाच्य बना दिया। इसीलिये वृत्तिकार ने 'लीलाकमलनिमीलन व्यञ्जक है' तथा 'उक्ति के द्वारा ही निवेदित कर दिया।' ये शब्द लिखे हैं॥२२॥

## तारावती

तेईसवीं कारिका का अवतरण वृत्तिकार ने 'तथा च' शब्द के द्वारा दिया है। 'तथा च' शब्द का अर्थ है 'पिछली बातें तथा कुछ और' इस प्रकार 'तथा च' शब्द से वृत्तिकार का मन्तव्य यह है कि जिन दो प्रकारों (शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक) का प्रकरण चल रहा है उनका उपसंहार भी इसी कारिका में हो जावेगा और नये प्रकार (शब्दार्थशक्तिमूलक) की सूचना भी इसी कारिका के द्वारा मिल जावेगी। इस प्रकार एक ही यत्न से तीनों कार्य हो जावेंगे इसी मन्तव्य से वृत्तिकार ने 'तथा च' इस सर्वसाधारण अवतरण पद का उपक्षेप किया है। इसका आशय यह है कि उक्त दोनों प्रकारों के द्वारा इस तृतीय प्रकार को भी समझ लेना चाहिये। शब्दार्थ शब्द में एकशेष द्वन्द्व है इसका विग्रह इस प्रकार होगा—शब्द, अर्थ और शब्दार्थ। 'ध्वनेः सा अन्या अलंकृतिः' कारिका के इन शब्दों में 'ध्वनेः' यह रूप पञ्चमी और षष्ठी इन दो विभक्तियों में बनेगा। यदि यहाँ पर पञ्चमी विभक्ति मानी जावे तो इसका अर्थ होगा—'वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही अलङ्कार होता है।' अर्थात् वह ध्वनि नहीं होती अपितु श्लेष इत्यादि अलङ्कार होता है। यदि षष्ठी मानी जावे तो उसका अर्थ होगा—'वहाँ पर अलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि अलङ्कार्य के रूप में स्थित होती है और उसका अलङ्कार वह द्व्यर्थक शब्दों के बल पर आनेवाला व्यङ्ग्यार्थ होता है। वह व्यङ्ग्यार्थ यद्यपि अलङ्कार होता है तथापि वाच्यालङ्कारों की अपेक्षा वह भिन्न ही होता है क्योंकि उसमें लोकोत्तर चमत्कार का आधिक्य होता है। इसी भाँति दो रूपों में व्याख्या वृत्ति में आगे चलकर की जावेगी।

अब शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार को लीजिये—समुद्र-मन्थन के अवसर पर जब लक्ष्मी जी प्रोद्भूत हुईं तब वे अत्यन्त त्रस्त थीं और यह निश्चय नहीं कर पा रहीं थीं कि किधर जावें किधर न जावें। उस समय समुद्र ने इन शब्दों के द्वारा लक्ष्मी को विष्णु की ओर प्रेरित कर दिया। समुद्र प्रकट रूप में तो कह नहीं सकता था कि तुम विष्णु के पास जाओ क्योंकि इससे अन्य देवताओं के रुष्ट हो जाने का भय था। अतः उसने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जिससे प्रकट रूप में तो यह प्रतीत हो रहा था कि मानों समुद्र लक्ष्मी जी के त्रास का अपनोदन करना चाहता है किन्तु अप्रकट रूप में उसका अर्थ देवताओं की ओर से पृथक् करना था। समुद्र ने कहा—'हे बेटी तुम विषाद को मत प्राप्त होओ।' इसका दूसरा अर्थ है 'तुम विष-पान करनेवाले शङ्कर जी का वरण मत करो क्योंकि जो विषपान करनेवाला है उसकी पत्नी बनकर तुम्हें सुख नहीं मिल सकेगा।' 'तुम ऊपर को प्रवृत्त होनेवाले अत्यन्त वेगशाली श्वसन (श्वास-प्रश्वास की क्रिया) को छोड़ दो।'

लोचन

प्रत्याख्यानमिति वचसैवात्र द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत इति निवेदितम्। सा हि कमला पुण्डरीकाक्षमेव हृदये निधायोत्थितेति स्वयमेव देवान्तराणां प्रत्याख्यानं करोति। स्वभावसुकुमारतया तु मन्दरान्दोलितजलधितरङ्गभङ्गपर्याकुलीकृतां तेन प्रतिबोधयता तत्समर्थाचरणमन्यत्र दोषोद्घाटनेन अत्र याहीति चाभिनयविशेषेण सकलगुणादरदर्शकेन कृतम्। अत एव मन्थमूढामित्याह। इत्युक्तप्रकारेण भयनिवारणव्याजेन सुराणां प्रत्याख्यानं लक्ष्मीं कारयित्वा पयोधिर्यस्यै तामदात्स वो युष्माकं दुरितं दहत्विति सम्बन्धः।

'प्रत्याख्यान करवाकर' इन वचनों से ही दूसरा अर्थ कहा जाता है यह निवेदन कर दिया। वह लक्ष्मी निस्सन्देह पुण्डरीक को ही हृदय में धारण कर उठी थी इस प्रकार स्वयं ही दूसरे देवताओं का प्रत्याख्यान कर देती। स्वभावसुकुमार होने के कारण मन्दराचल के आन्दोलन से (उठी हुई) समुद्र की तरङ्गों के भङ्ग से व्याकुल की हुई (लक्ष्मी) को प्रतिबोधित करनेवाले समुद्र ने उसका समर्थन का आचरण अन्यत्र दोषोद्घाटन और 'इधर जाओ' इस विशेष प्रकार के अभिनय के द्वारा समस्त गुणों का आदर दिखलाते हुये कर दिया। इसीलिये मन्थन के कारण मूढ यह कहा। इस प्रकार उक्तप्रकार से भय निवारण के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान मन्थन के कारण मूढ लक्ष्मी को करवाकर समुद्र ने जिसको वह लक्ष्मी प्रदान कर दी वह आप सब के पापों को जला डाले यह सम्बन्ध है।

तारावती

इसका दूसरा अर्थ है 'तुम्हें ऊर्ध्वप्रवृत्तिवाले अग्निदेव और अत्यन्त वेगगामी वायुदेव का परित्याग कर देना चाहिये। क्योंकि अग्निदेव सर्वदा ऊपर को ही जाते हैं जो नीचे देखता ही नहीं वह तुम्हारे सौन्दर्य को क्या समझ सकेगा और जो निरन्तर तीव्रगति से भागता ही रहता है उससे भी तुम्हे एक अच्छे पति प्राप्त होने की आशा नहीं रखनी चाहिये।' 'तुम्हारे अन्दर यह गुरु कम्पन कैसा हो रहा है? (कः कम्पः ते गुरुः) 'कः' का दूसरा अर्थ है ब्रह्मा और 'कम्प' का अर्थ है 'जल के देवता' अर्थात् वरुण। ये दोनों तो तुम्हारे गुरु ही हैं, ब्रह्मा जी तो पितामह कहे ही जाते हैं और लक्ष्मी जी का जन्म ही जल देवता (वरुण) से हुआ है अतः ये देवता तो लक्ष्मी के लिये पिता ही हैं; अतः इनसे विवाह की बात चलाना भी अधार्मिक है तथा अनुचित है। 'बल को भेदनेवाले अर्थात् आयास उत्पन्न करनेवाले जृम्भित अर्थात् अंगों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। दूसरा अर्थ है 'जृम्भित' अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त 'बलभिद्' अर्थात् इन्द्र को वरण करने की आवश्यकता नहीं है।' इस प्रकार भय के प्रशमन के बहाने से देवताओं का प्रत्याख्यान करवाकर समुद्र ने मन्थन के

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निश्शेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र ।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृति व्याजपूर्वम् ॥

(अनु०) अर्थशक्ति से जैसे—

'यहाँ वृद्धा माँ सोती है; परिणत आयुवालों में अग्रणी पिता जी यहाँ सोते हैं; समस्त गृहकर्म के श्रम से शिथिल शरीरवाली कुम्भदासी यहाँ रहती है; मैं अभागिनी इसमें रहती हूँ, जिसके प्राणनाथ कुछ ही दिनों से बाहर चले गये हैं ।' इस प्रकार तरुणी ने पथिक से अवसर कथन के बहाने के साथ सब बातें कही ।

लोचन

अम्बेति । अत्रैकैकस्य पदस्य व्यञ्जकत्वं सहृदयैः सुकल्प्यमिति स्वकण्ठेन नोक्तम् । व्याजशब्दोऽत्र स्वोक्तिः ।

'अम्बा' इति । यहाँपर एक-एक पद का व्यञ्जकत्व सहृदयों द्वारा स्वयं कल्पित किया जाना चाहिये अतः स्वकण्ठ से नहीं कहा । व्याजशब्द का प्रयोग अपनी उक्ति है ।

तारावती

कारण मूढ लक्ष्मी जिन भगवान् को प्रदान कर दी वे भगवान् तुम्हारे पापों को जला डालें ।' 'देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर' इन शब्दों के 'कराकर' में णयन्त प्रत्यय का प्रयोग किया गया है । णयन्त का अर्थ यह होता है जहाँ एक व्यक्ति कोई एक कार्य स्वतः करे और उस कार्य के करने में प्रेरणा कोई दूसरा दे; इस अवस्था में जो प्रेरक कर्ता होता है उसी अर्थ में णयन्त प्रत्यय हो जाता है । यहाँ पर णयन्त प्रत्यय से व्यञ्जना निकलती है कि वह कमला पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु को ही हृदय में रखकर समुद्र से निकली थी और स्वयं भगवान् का ही वरण करना चाहती थी । वह तो स्वयं ही भगवान् का वरणकर अन्य देवों का प्रत्याख्यान कर देती । किन्तु एक तो वह स्वयं सुकुमार स्वभाव की थी उधर मन्दराचल ने समुद्र के जल को भलीभाँति अलोडित-विलोडित कर डाला था । इससे समुद्र में भयानक लहरें उठीं और टूट-टूट कर पुनः पुनः आने लगी जिससे लक्ष्मी जी अत्यन्त व्याकुल हो गईं । अतः वे सरलतापूर्वक अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकतीं थीं । इसीलिये समुद्र ने उसको प्रतिबोधित कर शिव इत्यादि में दोष दिखलाकर लक्ष्मीजी के अभीष्ट का समर्थन कर दिया । 'इधर को जाओ'

तारावती

इन शब्दो के विशेषप्रकार के अभिनय के द्वारा उसने भगवान् विष्णु की ओर सङ्केत किया जो कि समस्त गुणों के प्रति आदर दर्शक अभिनय था। इस अभिनय के द्वारा यही व्यक्त होता था कि इनमें कोई दोष नहीं है प्रत्युत गुण भरे हुये हैं और तुम्हारे योग्य वर यही हो सकते हैं। इसीलिये लक्ष्मी जी का विशेषण दिया है 'मन्थमूढां'। यहाँ पर शब्दों की सम्बन्ध-योजना इस प्रकार होगी—'इस भाँति अर्थात् उक्त प्रकार से भय निवारण के बहाने से देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर मन्थन के कारण मूढ़ लक्ष्मी को समुद्र ने जिन भगवान् को प्रदान कर दिया वे भगवान् आप लोगों के समस्त पापों को जला डालें।' यह कहकर कवि ने शब्द-शक्ति के बलपर आई हुई व्यञ्जना को स्वयं अभिहित कर दिया। अतएव यहाँ पर अलङ्कार ही है ध्वनि नहीं।

अब अर्थशक्ति के बल पर अधिगत व्यङ्ग्यार्थ के अलङ्कार होने का एक उदाहरण लीजिये—कोई पथिक रात्रि में निवासस्थान प्राप्त करने की आशंका प्रगट कर रहा है। उसका उत्तर देते हुये स्वयंदूतिका नायिका कह रही है—

'यहाँ पर मेरी माँ सोती है जोकि बिल्कुल वृद्धा है, यहाँ पर पिता जी सोते हैं जो इतने वृद्ध हैं कि वृद्ध लोगों में उनका नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। यहाँ पर मेरी दासी सोती है जो घर का समस्त कार्य करते-करते थक जाती है और जिसका शरीर पूर्णतया शिथिल पड़ जाता है। इस (कमरे) में पापिनी मैं अकेली ही सोती हूँ क्योंकि मेरे प्राणनाथ कुछ ही दिन से परदेश गये हुये हैं। इस प्रकार तरुणी ने अवसर की उक्ति के बहाने से अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया।'

यहाँ पर प्रत्येक पद की व्यञ्जकता स्पष्ट है और सहृदयों के द्वारा सरलतापूर्वक उनकी कल्पना की जा सकती है, अतः स्वकण्ठ से उनका कथन नहीं किया जा रहा है। [ यहाँ पर शब्दों की व्यञ्जकता इस प्रकार होगी—'मेरी माँ और मेरे पिता जी' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'ये मेरे माता पिता हैं, मैं इनकी प्यारी पुत्री हूँ, यदि ये लोग मेरा अपराध जान भी लेंगे तो भी मुझ से प्रेमवश कुछ नहीं कहेंगे अतः तुम्हे इनसे भय करने की आवश्यकता नहीं है।' 'वृद्ध और वृद्धों में अग्रणी' कहने का व्यङ्ग्यार्थ यह है—'एक तो ये ऐसे सोते हैं कि इनको होश ही नहीं रहता दूसरे यदि इन्हे कुछ आहट मालुम भी पड़े तब भी ये सरलता से देख-सुन नहीं सकते और उठ तो ये तभी सकते हैं जब कोई दूसरा इन्हे उठावे।' 'घर का समस्त काम करने में थकी हुई शिथिल' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि वह बेचारी तो इतनी थक जाती है कि जब से सोती है तब से उसे होश ही नहीं रहता कि कहाँ है और बाहर क्या होरहा है।' तथा का व्यङ्ग्यार्थ यह है यही तीन व्यक्ति मेरे घर में हैं और इनसे डरने की तुम्हे कोई आवश्यकता नहीं।' 'इस में' का व्यङ्ग्यार्थ यह है

ध्वन्यालोकः

उभयशक्त्या यथा—'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतये'त्यादौ ।

(अनु०) उभय शक्ति से जैसे 'दृष्टया केशव गोपराग' इत्यादि पद्य के उदाहरण मे ।

लोचन

एवमुपसंहारव्याजेन प्रकारद्वयं सोदाहरणं निरूप्य तृतीयं प्रकारमाह—उभयेति । शब्दशक्तिस्तावद् गोपरागादि शब्दश्लेषवशात् । अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात् । यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेशमिति चात्र स्वोक्तिः ॥ २३ ॥

इस प्रकार उपसंहार के बहाने दोनों प्रकारों को उदाहरण के बहाने निरूपित कर के तृतीय प्रकार को कहते हैं—उभयेति । शब्दशक्ति तो गोपराग इत्यादि शब्दश्लेष के कारण है । अर्थशक्ति तो प्रकरणवश है क्योंकि जबतक राधारमण का समस्त तरुणीजनविषयक प्रच्छन्न अनुराग विदित न हो तबतक दूसरे अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती । 'सलेश' शब्द अपनी उक्ति है ॥ २३ ॥

तारावती

कि मैं इस कमरे में अकेली रहती हूँ जहाँ किसी को पता भी नहीं चल सकता कि क्या हो रहा है। 'पापिनी' या अभागिनी कहने का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'मैं इतनी मन्दभागिनी हूँ कि मुझे अब तक मन भरकर सुरत करने का अवसर नहीं मिला आज तुम्हें देख कर मैं कामदेव के बाणों से अत्यन्त पीडित हो गई हूँ।' 'मैं अकेली' कहने का व्यङ्ग्य यह है कि यहाँ कोई और नहीं आता ।' 'प्राणनाथ' का व्यङ्ग्य यह है कि मैं उनको अपना स्वामी ही मानती हूँ, वस्तुतः मेरा उनसे प्रेम नहीं है।' 'कुछ दिनों से परदेश गये हैं' कहने से व्यक्त होता है कि वे अभी हाल में ही बाहर गये हैं, उनके शीघ्र लौटने की आशा नहीं है ।' यहाँ पर वक्तृ-वैशिष्ट्य से व्यक्त होता है कि हम लोगों के विस्रम्भ-विहार को यहाँ कोई नहीं जान सकेगा। मैं तुम्हें देखकर काम पीड़ित हो गई हूँ । अत एव मुझे रमण के द्वारा आनन्द दो । ] यहाँ पर 'अवसर दिखलाने के बहाने से' इसमें बहाने शब्द के द्वारा कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य बना दिया है ( यहाँ पर कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसके बदलने से व्यञ्जना जाती रहे । अतः यह शब्दशक्तिमूलक न होकर अर्थशक्तिमूलक कही जावेगी । ) इस प्रकार उपसंहार के बहाने दो प्रकारों ( शब्द-शक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ) का निरूपण उदाहरणों के साथ कर दिया अब तृतीय प्रकार बतला रहे हैं—उभयशक्तिमूलक का उदाहरण जैसे 'दृष्टया केशव गोप रागहृतया..... ...गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्' वाला पहले दिया हुआ उदाहरण । यहाँ पर गोप

ध्वन्यालोकः

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ—कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः—प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतः सम्भवी च द्वितीयः।

(अनु०) 'अन्य वस्तु का व्यञ्जक अर्थ भी दो प्रकार का समझा जाना चाहिये—एक तो जिसका कलेवर केवल कविप्रौढोक्ति से ही निष्पन्न हुआ हो दूसरे जो स्वतः सम्भव हो ॥ २४ ॥

अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा गया है उसके भी दो प्रकार होते हैं—एक तो कवि या कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति के द्वारा ही जिसके कलेवर की रचना हुई हो और दूसरा जो स्वतः सम्भव हो।

लोचन

एवमर्थशक्त्युद्भवस्य सामान्यलक्षणं कृतम्। श्लेषाद्यलङ्कारेभ्यश्चास्य विभक्तो विषय उक्तः। अधुनास्य प्रभेदनिरूपणं करोति—प्रौढोक्तीत्यादिना। योऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जक उक्तः सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः, यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपिशब्दार्थः। प्रौढोक्तेरप्य-

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव का सामान्य लक्षण कर दिया। श्लेष इत्यादि अलङ्कारों से इसका विभक्त विषय बतला दिया। अब इसके प्रभेद का निरूपण करते हैं—प्रौढोक्ति इत्यादि के द्वारा जो अर्थान्तर का व्यञ्जक दूसरा अर्थ बतलाया गया है वह भी दो प्रकार का होता है। केवल अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ही दो प्रकार का नहीं होता, उसका जो दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जकार्थ की द्विविधता के द्वारा दो प्रकार का होता है यह अपि शब्द का अर्थ है। प्रौढोक्ति का भी अवान्तर

तारावती

राग इत्यादि शब्दों का शब्दश्लेष इसे शब्दशक्तिमूलक बना देता है और अर्थ शक्तिमूलकता प्रकरणवश आ जाती है। क्योंकि जबतक राधारमण भगवान् कृष्ण का अखिल तरुणीजनविषयक प्रच्छन्न अनुराग का गौरवास्पद होना विदित न हो तब तक अर्थान्तर की प्रतीति हो ही नहीं सकती। यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ को कवि ने 'सलेशम्' यह क्रियाविशेषण देकर वाच्य कल्प बना दिया है जिसका विस्तृत विवेचन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। ( यहाँ पर अभिनव गुप्त ने अर्थशक्ति-मूलकता का प्रयोजक तत्त्व प्रकरण का ज्ञान माना है। किन्तु प्रकरण का ज्ञान तो सामान्यतया सभी प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का प्रयोजक होता है। अतः यहाँ पर उभय-

## लोचन

**वान्तरभेदमाह**—कवेरिति। तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति। प्रकर्षेण ऊढः सम्पादयितव्येन वस्तुना प्राप्तस्तत्कुशलः प्रौढः। उक्तिरपि समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढेत्युच्यते। भेद बतलाते हैं—'कवेः इति' इससे ये तीन भेद हो जाते हैं। प्रकर्ष के द्वारा रूढ अर्थात् सम्पादनीय वस्तु के द्वारा प्राप्त उसमें कुशल प्रौढ (कहलाता है) समर्पणीय वस्तु के अर्पण के योग्य उक्ति भी प्रौढा कही जाती है।

## तारावती

शक्तित्व की सम्पादकता इसी तथ्य पर आधारित मानी जानी चाहिये कि इस पद्य में दृष्टम् इत्यादि कतिपय द्वयर्थक शब्द ऐसे हैं जो कि पर्याय में बदले जा सकते हैं और इस परिवर्तन से व्यञ्जकता में कोई कमी नहीं आती। इसके प्रतिकूल 'गोपराग' इत्यादि द्वयर्थक शब्दों के पर्याय में बदल देने से व्यङ्ग्यार्थ का अवगमन व्याहत हो जाता है। प्रथम प्रकार के शब्दों के कारण इसे हम अर्थशक्तिमूलक कह सकते हैं और दूसरे प्रकार के कारण शब्दशक्तिमूलक। अत एव यह उभय शक्तिमूलक ध्वनि है।) ॥ २३ ॥

उपर अर्थशक्तिमूलक का सामान्य लक्षण बना दिया गया और यह भी दिखला दिया गया कि श्लेष इत्यादि अलङ्कारों से इसका विषय-विभाजन किस प्रकार होता है। अब इसके उपभेदों का निरूपण चौबीसवीं कारिका के द्वारा किया जा रहा है। कारिका में 'अर्थोऽपि' इस में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है इसका आशय यह है कि अर्थान्तर का दीपक अर्थात् व्यञ्जक जो कि अर्थ (वाच्यार्थ) बतलाया गया है वह भी दो प्रकार का होता है केवल अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ही दो प्रकार का नहीं होता उसका जो अवान्तर अर्थशक्तिमूलक नामवाला दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जकार्थ की द्विविधता के बल पर दो प्रकार का हो जाता है। (एक तो वह होता है जिसका कलेवर केवल कविप्रौढोक्ति के द्वारा ही निष्पन्न हुआ हो और दूसरा भेद वह होता है जोकि लोक में भी स्वतः सम्भव हो।) कविप्रौढोक्ति निष्पन्न शरीरवाले दूसरे प्रभेद के भी अवान्तर भेद होते हैं। एक तो कविप्रौढोक्तिसिद्ध और दूसरा कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध। इस प्रकार इसके तीन भेद हो जाते है (१) कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध (२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध और (३) स्वतः सम्भव। प्रौढ़ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'प्र + ऊढ' ऊढ़ शब्द वह धातु का 'क्त' प्रत्ययान्त रूप है। अतः इसका अर्थ होता है प्राप्त किया हुआ अर्थात् ऐसी वस्तु के द्वारा प्राप्त किया हुआ जिसका सम्पादन करना कवि को अभीष्ट हो। 'प्र' का अर्थ है प्रकर्ष के साथ सम्पादनीय वस्तु के द्वारा जिसकी प्राप्ति हुई हो। अत एव सम्पादनीय वस्तु में जो कुशल हो उसे प्रौढ़ कहते है। जब इस 'प्रौढ़' शब्द का उक्ति

## तारावती

शब्द के साथ समास होकर 'प्रौढोक्ति' शब्द बन जाता है तब इसका अर्थ हो जाता है ऐसी उक्ति जो कि प्रतिपादनीय वस्तु के समर्पण में उचित हो ।

( प्रस्तुत कारिका में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेद व्यञ्जक अर्थ के आधार पर किये गये हैं । यहाँ पर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है । सर्वप्रथम मतभेद तो ध्वनिकार, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में ही प्रतीत होता है । ध्वनिकार व्यञ्जक अर्थ के स्पष्ट रूप में दो भेद मानते हैं—प्रौढ़ोक्ति सिद्ध और स्वतः सम्भव। ध्वनिकार के 'द्विविध' शब्द से ही इस आशङ्का का उन्मूलन हो जाता है कि ध्वनिकार के मत में एक तीसरा भेद भी सम्भव है । आनन्दवर्धन ने 'कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध' शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है—'कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढ़ोक्ति के द्वारा सिद्ध एक भेद है और दूसरा है स्वतः सम्भव । आनन्दवर्धन का स्पष्ट आशय यही है कि चाहे अर्थ कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध हो अथवा कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध हो, हम दोनों को एक ही भेद के अन्तर्गत रखकर एक ही नाम से पुकार सकते है और वह है प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ । यद्यपि आनन्द-वर्धन ने कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध दोनों प्रकार के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये है तथापि यहाँ पर 'एक' तथा 'वा' शब्द के प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन भी ध्वनिकार के समान दो ही भेदों को मानने के पक्षपाती हैं । इसके प्रतिकूल लोचनकार ने कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध भेदों को पृथक्-पृथक् मानकर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के तीन भेद कर दिये हैं । हेमचन्द्र को यह भेदोपभेद सङ्गत प्रतीत नहीं होता । उनका कहना है कि यह भेदोपभेद कल्पनान्याय्य नहीं है क्योंकि सभी भेदों का समाहार 'कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु' में ही हो जाता है । यदि स्वतः सम्भवी अर्थ मे भी कवि प्रौढोक्ति का समावेश नहीं होगा तो स्वतः सम्भवी वस्तु न तो काव्यत्व की प्रयोजक हो सकेगी और न व्यङ्ग्यार्थ का ही अभिव्यञ्जन कर सकेगी । इसी प्रकार कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति भी कविप्रौढ़ोक्ति मे ही सन्निविष्ट हो जाती है । अतः इन दोनों को पृथक् न मानकर कविप्रौढ़ोक्ति को ही व्यञ्जकता का प्रधान तत्त्व मानना चाहिये । माणिक्यचन्द्र ने भी हेमचन्द्र का ही पदानुसरण कर इस भेदोपभेद कल्पना का प्रत्याख्यान किया है । काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट अभिनव गुप्त से पूर्णतया सहमत हैं; उन्होंने व्यञ्जक अर्थ को तीन भेदों में विभाजित कर उसके औचित्य की परीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं समझी । रसगङ्गाधरकार ने ध्वनि का अनुसरण करते हुये केवल दो भेद माने है प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध और स्वतः सम्भव । उनका कहना है कि कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कवि-

## तारावती

निवद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध दोनों प्रकार की वस्तुओं का निर्माण प्रतिभा के द्वारा ही होता है, अतः दोनों को एक ही मानना चाहिये। यदि इनके पृथक्त्व को माना जावे तो कविनिवद्धवक्तृ-निवद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु को भी व्यञ्जना का एक भेद मानना पड़ेगा। यदि उसे भी कविनिवद्धवक्तृ की उक्ति के अन्दर ही लाना है तो कविनिवद्धवक्ता की उक्ति भी तो कवि के लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्व से ही प्रादुर्भूत हुई है अतः वह भी कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु ही मानी जा सकती है; अतएव उसे पृथक् भेद के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिये। इसपर नागेश भट्ट का कहना है कि जिस प्रकार वृद्धोक्ति के विषय की अपेक्षा शिशूक्ति के विषय में कुछ नवीनता होती है उसी प्रकार कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु की अपेक्षा कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु में विलक्षणता होती ही है। अतः इन दोनों भेदों को पृथक्-पृथक् मानना ही चाहिये। इसके बाद वक्तृनिवद्धवक्ता की उक्ति भी प्रतिनिधित्व के रूप में ही प्रतीति उत्पन्न करती है। अतः उसमें चमत्कार का स्थगन हो जाता है। अतएव उसे पृथक् भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये।

वस्तुतः अभिनवगुप्त और आचार्य मम्मट की भेदोपभेद-कल्पना ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। कवि कुछ तो ऐसे अर्थों का उपादान करता है जो लोक में भी विद्यमान होते हैं और कुछ अपनी कल्पना से उद्भूत कर लेता है। यद्यपि प्रथम प्रकार में भी कवित्व का चमत्कार विद्यमान रहता है तथापि दोनों प्रकारों में चमत्कार का तारतम्य अवश्य रहता है। चमत्कार की नवीनता ही भेद की प्रयोजिका होती है। इसीप्रकार कवि की कही हुई बात में और कवि द्वारा किसी वक्ता के माध्यम से कहलाई हुई बात में भी चमत्कार की नवीनता होती ही है। तुलसी भी रावण की गर्हणा करते हैं; किन्तु अङ्गद के द्वारा की हुई गर्हणा में चमत्कार का वैचित्र्य होता ही है। अतः इन दोनों का भेद माना ही जाना चाहिये। अब अङ्गद कविनिवद्धवक्ता हैं और राम भी कविनिवद्ध दूसरे वक्ता हैं। अङ्गद राम के द्वारा नियुक्त हों या स्वयं बोल रहे हों इससे चमत्कार-विधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि यदि कविनिवद्धवक्तृकल्पित वस्तु को व्यञ्जक माना जावेगा तो कविनिवद्धवक्तृनिवद्धवक्तृकल्पित वस्तु को भी व्यञ्जक कोटि में लाना पड़ेगा। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यञ्जक अर्थ तीन ही प्रकार का होता है। ]

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के ऐसे व्यञ्जक का उदाहरण जिसका कलेवर लोक में सम्भव न हो केवल कवि द्वारा कल्पित कर लिया गया हो:—

ध्वन्यालोकः

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे ।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स शरे ॥

(अनु०) कविप्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्न शरीरवाली वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण—

'वसन्तमास अभिनव सहकार इत्यादि नवीन पल्लव और पत्तों को देनेवाले तथा युवतीजनों को लक्ष्यकारक मुखोंवाले कामदेव के बाणों को तैय्यार ही कर रहा है उसे दे नहीं रहा है ।'

लोचन

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपल्ललाननङ्गस्य शरान् ॥

अत्र वसन्तश्चेतनोऽनङ्गस्य सखा सज्जयति केवलं न तावदर्पयतीत्येवंविधया समर्पयितव्यवस्त्वर्पणकुशलयोक्त्या सहकारोद्भेदिनी वसन्तदशा यत उक्ता अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्यारम्भं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति । अन्यथा वसन्ते सपल्लवसहकारोद्गम इति वस्तुमात्रं न व्यञ्जकं स्यात् । एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा ।

'सुरभिभास, युवतीजन ही हैं जिनके लक्ष्य इस प्रकार के मुख है जिनके इस प्रकार के अभिनव सहकार इत्यादि नवीन पल्लव पत्रो को ग्रहण करनेवाले काम बाणों को तैय्यार करता है किन्तु प्रदान नहीं करता ।

यहाँपर क्योंकि काम का मित्र चेतन वसन्त केवल तैय्यार करता है किन्तु अर्पित नहीं करता इस प्रकार की समर्पणीय वस्तु के अर्पण में कुशल उक्ति के द्वारा सहकार की उद्भेदिनी वसन्त की दशा कही गई है अतः ध्वनित होनेवाले तथा क्रमशः अधिक गाढ होनेवाले कामोत्पीडन को व्यक्त करता है । अन्यथा वसन्त मे पल्लव सहित सहकार का उद्गम होता है यह वस्तुमात्र व्यञ्जक न होती । यह कवि की प्रौढ उक्ति है ।

तारावती

'वसन्तमास कामदेव के बाणों को तैय्यार तो कर रहा है, परन्तु उसे अर्पित नहीं कर रहा । इन बाणों के अग्रभागों का लक्ष्य युवतियों का समूह है । बाण अभिनव आम्रमञ्जरी प्रभृति अनेक प्रकार के है और ये नवीन पल्लवों तथा पत्रों या नवपल्लवरूपी पत्रों को प्रदान करनेवाले हैं ।'

यहाँ पर कविकल्पना के द्वारा ही अचेतन वसन्त को चेतन माना गया है, उसे कामदेव का मित्र कहा गया है; वह कामदेव के बाणों को तैय्यार करता है

ध्वन्यालोकः

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव—'शिखरिणि' इत्यादि।

(अनु०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर वस्तु से व्यञ्जना जैसे पहले दिया हुआ उदाहरण—'शिखरिणि क्व नु नाम.....' इत्यादि।

लोचन

शिखरिणीति। अत्र लोहितं बिम्बफलं शुको दशतीति न व्यञ्जकता काचित्। यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम्।

शिखरिणि इति। यहाँ पर लाल बिम्बफल का दशन शुक करता है इसमें कोई व्यञ्जकता नहीं आती। जबकि कविनिबद्ध साभिलाष तरुणवक्ता की यह प्रौढोक्ति है तब व्यञ्जकता (आती है।)

तारावती

किन्तु उसे प्रदान नहीं करता, यह भी कवि-कल्पना ही है। (सहकार के नव-पल्लवों पर बाण के पत्रों का आरोप भी कविकल्पनाप्रसूत ही है। इस उक्ति में एक कुशलता, जो कि अर्पण करने योग्य वस्तु के वर्णन में कवि को सहायता प्रदान करती है। इस उक्ति से वसन्त की उस प्रारम्भिक अवस्था का प्रकथन किया गया है जिसमें सहकार का उद्भेद प्रारम्भ हो जाता है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि कामदेव का उन्मथन अभी प्रारम्भ ही हुआ है, यह धीरे-धीरे प्रगाढ होता जावेगा और आगे चलकर कामदेव अत्यन्त प्रबुद्ध हो जावेगा। यहाँ हृदय को विशेष आह्लाद देने के कारण व्यङ्ग्यार्थ ही प्रधान है अतः यह अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है। यह ध्वनि कवि-कल्पना-प्रसूत वाच्यार्थ से ही निकलती है; अतएव कवि की उक्ति ही प्रौढ है। अन्यथा यहाँ पर लोकसम्भव अर्थ इतना ही है कि वसन्त में पल्लवों के साथ आम्रमञ्जरियों का उद्गम प्रारम्भ हो जाता है। इतनी वस्तु उक्त अर्थ की व्यञ्जना कर ही कैसे सकती है? यह केवल कवि की प्रौढोक्ति है।

अब ऐसी ध्वनि (अर्थशक्तिमूलक ध्वनि) का उदाहरण लीजिये जिसमें व्यञ्जक (वाच्यार्थ) के कलेवर का निर्माण कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में कारण हो। इसका उदाहरण जैसा कि पहले ही 'शिखरिणि क्व नु नाम.....शुक शावकः' इस पद्य के रूप में दिया जा चुका है। यहाँ पर कामुक की संभोगेच्छा व्यक्त होती है। लोकसम्भव अर्थ केवल इतना ही है कि शुक लाल बिम्ब-फल का दशन कर रहा है। उसकी पूर्वजन्म की तपस्या

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम् ।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम् ॥

स्वतः सम्भवी य औचित्येन वहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः । यथोदाहृतम्—'एवंवादिनि' इत्यादि ।

(अनु०) अथवा दूसरा उदाहरण—

'आदर पूर्वक दिये हुये यौवन के हाथ के अवलम्ब को लेकर उठे हुये तुम्हारे स्तनों ने मानों मन्मथ को अभ्युत्थान प्रदान किया ।'

स्वतःसम्भवी का अर्थ है औचित्य के साथ जिसकी सद्भावना (सत्ता) की संभावना बाहर भी की जा सके और जिसका कलेवर केवल कवि की उक्ति के बलपर ही निष्पन्न न हुआ हो । जैसा कि पहले 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य के रूप में उदाहरण दिया जा चुका है ।

लोचन

सादरवितीर्णयौवनहस्तालम्बं समुन्नमद्भ्याम् ।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥

स्तनौ तावदिह प्रधानभूतौ ततोऽपि गौरवितः कामस्ताभ्यामभ्युत्थानेनोपचर्यते । यौवनं चानयोः परिचारकभावेन स्थितमित्येवं विधेनोक्तिवैचित्र्येण स्वदीयस्तनावलोकनप्रवृद्धमन्मथावस्थः को न भवतीति भङ्ग्या स्वाभिप्रायध्वननं कृतम् । तव

'आदरपूर्वक दिये हुये यौवन के हाथ के सहारे को लेकर उठे हुए तुम्हारे स्तनों ने कामदेव को मानो अभ्युत्थान प्रदान कर दिया।' यहाँ पर प्रधानभूत स्तन हैं, उससे भी गौरव से युक्त है कामदेव (अतः) उन (स्तनों) के द्वारा उठकर उसका स्वागत किया जाता है । यौवन इन दोनों के परिचारकभाव के साथ स्थित है । इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य के द्वारा तुम्हारे स्तनों के अवलोकन से प्रवृद्ध मदनावस्थावाला कौन नहीं हो जाता, इस भङ्गिमा के साथ अपने अभिप्राय का ध्वनन

तारावती

इत्यादि की कल्पना प्रौढोक्तिमात्र है । किन्तु यदि यह प्रौढोक्ति कवि की ही मानी जावे और कविकल्पना को ही व्यञ्जक कहा जावे तो सम्भोगेच्छा प्रकाशन का व्यङ्ग्यार्थ कभी न निकलेगा । उसकी विश्रान्ति तो कविकल्पना में ही हो जावेगी । जब कि कवि-निबद्ध साभिलाष तरुण वक्ता की यह प्रौढोक्ति मानी जाती है तभी वह सम्भोगेच्छा की व्यञ्जिका होती है ।

## लोचन

तारुण्येनोन्नतौ स्तनाविति हि वचने न व्यञ्जकता। न केवलमिति। उक्तिवैचित्र्यं तावत्सर्वथोपयोगि भवतीति भावः।

किया गया है। तुम्हारे तारुण्य से स्तन उन्नत हैं इस वचन में व्यञ्जकता नहीं होती। न केवल मिति। उक्तिवैचित्र्य तो सर्वथा उपयोगी होता है यह भाव है।

## तारावती

अथवा दूसरा उदाहरण लीजिये—

'यौवन ने आदरपूर्वक हाथ का सहारा देकर तुम्हारे स्तनों को उठाया और उठकर तुम्हारे स्तनों ने मानों कामदेव का अभ्युत्थानपूर्वक स्वागत किया।'

जब कभी किसी बड़े अदमी के यहाँ कोई दूसरा उससे भी बड़ा प्रधान पुरुष आ जाता है तब वह बड़ा आदमी हड़बड़ाकर उसके स्वागत के लिये उठ नहीं पाता और उसका कोई सेवक उसे चटपट हाथ पकड़कर उठा देता है तब वह अभ्यागत का अभिनन्दन करता है। यहाँ पर कामदेव का आगमन हुआ है नायिका के स्तन अभ्युत्थान के द्वारा उसका स्वागत करना चाहते हैं और यौवन उन्हें उठ खड़े होने मे सहायता देता है। (इस प्रकार यहाँ पर समासोक्ति और उत्प्रेक्षा का सङ्कर है।) आशय यह है कि स्तन तो प्रधान हैं और उनसे भी प्रधानभूत है कामदेव। स्तन अभ्युत्थान के द्वारा कामदेव का उपचार करते हैं। यौवन इन दोनों के परिचारक के रूप मे स्थित है। यह है उक्तिवैचित्र्य या प्रौढोक्ति। क्योंकि लोक में न तो स्तन अधिकारी ही हैं न कामदेव के आने पर वे उठना ही चाहते हैं और न यौवन उन्हें सहारा देकर उठाता ही है। यह सब प्रौढोक्ति मात्र है। यदि यह केवल कवि की प्रौढोक्ति मानी जावे तो इस प्रौढोक्ति में ही चमत्कार का पर्यवसान हो जावेगा और उससे कोई व्यञ्जना न निकल सकेगी। जब कि यह प्रौढोक्ति किसी विदग्ध रसिक की मानी जाती है तब उससे व्यञ्जना निकलती है कि 'तुम्हारे स्तनों को देखकर किसका कामदेव अत्यन्त मात्रा में बढ़ नहीं जाता? मैं भी अत्यन्त कामपीडित हो गया हूँ और मैं तुम्हारा सहवास चाहता हूँ।' यह अभिप्राय की व्यञ्जना चमत्कारपर्यवसायी होने के कारण ध्वनिरूपता को प्राप्त हो गई है। यदि यहाँ पर केवल लोकसम्भव वस्तु कही जाती कि जवानी से तुम्हारे स्तन बढ गये हैं तो व्यञ्जना होती ही क्या?

स्वतःसम्भवी का अर्थ है जिसकी सत्ता की संभावना बाहर भी अर्थात् लोक में भी की जा सके और जिसका शरीर केवल उक्ति के कारण ही अभिनिष्पन्न न हुआ हो। केवल का अर्थ यह है कि उक्ति-वैचित्र्य तो सर्वत्र उपयोगी होता ही

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

सिहिपिच्छकण्णपूरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥

(अनु०) अथवा दूसरा उदाहरण—

मयूर पिच्छ को कर्णपूर के रूप मे धारण किये हुये गर्व से भरी हुई व्याध की पत्नी मुक्ताफलों से अपने प्रसाधनो को विशेष रूप से सजाई हुई सपत्नियों के बीच मे घूम रही है ।

लोचन

शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥

शिखिमात्रमारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम् । अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽप्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुत्तमसौभाग्यम् । रचितानि विविधभङ्गीभिः प्रसाधनानीति तासां सम्भोगव्यग्रिमाभावात्तद्विरचनशिल्पकौशलमेव परमिति दौर्भाग्यातिशय

'मयूरपिच्छ को कर्णपूर बनाये हुये व्याध की स्त्री मुक्ताफलों से रचित प्रसाधनोंवाली अपनी सौतों के मध्यमें गर्व के साथ घूम रही है ।'

उसमे आसक्त का कृत्य मयूरमारण मात्र है, अन्यों मे आसक्त ने तो हाथियो को भी मारा, इस प्रकार इस वचन से उत्तम सौभाग्य कहा गया। विविध भङ्गिमाओं से प्रसाधन रचे गये इस प्रकार उनकी सम्भोगव्यग्रता के अभाव से उनके विरचन का शिल्प-कौशल ही सर्वाधिक है इस प्रकार इस समय दौर्भाग्य की अधिकता

तारावती

है । ( किन्तु उक्तिवैचित्र्य के साथ जहाँ वस्तु लोकसम्भव भी हो वहाँ पर जो व्यञ्जना होती है उसका व्यञ्जक लोकसम्भव वस्तु को ही माना जाता है । ) पहले आया हुआ उदाहरण 'एववादिनि देवर्षौ····' इत्यादि पद्य इसका भी उदाहरण हो सकता है ।

इसका दूसरा उदाहरण—

'व्याध की वहू केवल मयूरपिच्छ को ही कर्णपूर के रूप मे धारण किये हुये हैं; उसके पास और अभूषण नहीं हैं । किन्तु उसकी सपत्नियाँ गजमुक्ताओं से अपने शरीर को भलीभाँति सजाये हुये हैं । तथापि व्याधवधू अपनी सपत्नियों के बीच में गर्व के साथ घूम रही है ।'

यह वस्तु लोकसम्भव है । इससे व्यञ्जना निकलती है कि व्याधवधू में आसक्त व्याध प्रातदिन कामोन्मत्त रहता है और सुरतव्यापार में लगा रहता है, न उसे

## लोचन

इदानीमिति प्रकाशितम्। गर्वश्च बाल्याविवेकादिनापि भवतीति नात्र स्वोक्तिसद्भावः शङ्क्यः। एष चार्थो यथा यथा वर्ण्यते आस्तां वा वर्णना, बहिरपि यदि प्रत्यक्षादिनावलोक्यते तथा तथा सौभाग्यातिशयं व्याधवध्वा द्योतयति ॥ २४ ॥

प्रकाशित की गई। गर्व तो बाल्य और अविवेक इत्यादि से भी हो सकता है अतः यहाँ पर 'स्वोक्ति' के होने की शङ्का नहीं करनी चाहिये। और यह अर्थ जैसे-जैसे वर्णन किया जाता है अथवा वर्णन को जाने दीजिये बाहर भी प्रत्यक्ष इत्यादि के द्वारा यदि अवलोकन किया जाता है वैसे-वैसे व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता को व्यक्त करता है ॥ २४ ॥

## तारावती

शिकार में जाने की इच्छा ही होती है और अधिक सम्भोग करने के कारण वह इतना अशक्त भी हो गया है कि बलवान् सिंहों और हाथियों का शिकार कर ही नहीं सकता। यदि कहीं निकट कोई मयूर आ जाता है तो अपनी प्रियतमा के विनोद के लिये वह उस मयूर को ही मार लेता है और व्याधवधू मयूरपिच्छ का कर्णपूर धारण करके ही सन्तोष करती है। इसके प्रतिकूल दूसरी सपत्नियों में जब प्रियतम पहले आसक्त था तब वह सुरतव्यापार में इतना आसक्त नहीं हो जाता था कि शिकार खेलने न जा सकता। वह शिकार खेलने जाता था और मदोन्मत्त हाथियों का शिकार करने मे सारा दिन लगा देता था तथा हाथियों को मारकर गजमुक्ता लाकर अपनी प्रियतमाओं ( नायिका की सौतों ) को देता था। इस प्रकार नायिका का उत्तम सौभाग्य व्यक्त होता है। जिन सौतों ने अनेक भङ्गिमाओं के साथ अपने प्रसाधनों को सजाया है वे वस्तुतः सम्भोग में व्यग्र रहती ही नहीं। उनका सबसे बड़ा कार्य यही है कि वे अपने प्रसाधनो के रचनाशिल्प का कौशल दिखलाती रहें। इस प्रकार इस समय पर उनके दौर्भाग्य की अधिकता ही अभिव्यक्त होती है। यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि नायिका के गर्व की बात कहकर कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य बना दिया है। क्योंकि गर्व तो अल्हड़पन के कारण भी हो सकता है और अविवेक से भी हो सकता है। ( महिम भट्ट ने गर्व को हेतु मानकर नायिका के सौभाग्य की साध्यसिद्धि मानी है और इस उदाहरण को अनुमान मे अन्तर्भूत करने की चेष्टा की है। किन्तु गर्व बाल्य के कारण या अविवेक के कारण अथवा सन्तोषशील होने के कारण भी हो सकता है। अतः यहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास है और इसका समावेश अनुमान मे नहीं किया जा सकता। ) इस अर्थ का जितना-जितना वर्णन किया जाता है,

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः सप्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥२५॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः ।

(अनु०) 'जहाँ पर अर्थशक्ति से अन्य अलङ्कार भी प्रतीत होता है वह ध्वनि का अनुरणन रूप व्यङ्ग्य दूसरा प्रकार होता है ॥ २५ ॥

वाच्य अलङ्कार से भिन्न जहाँ दूसरा अलङ्कार अर्थसामर्थ्य से प्रतीत होता है वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणन रूप व्यङ्ग्य दूसरी ध्वनि होती है ।

लोचन

एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यञ्जनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः । इदानीं तस्यैवालङ्काररूपे व्यञ्जनीयेऽलङ्कारध्वनित्वमपि भवतीत्याह—अर्थेत्यादि । न केवलं शब्दशक्तेरलङ्कारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि । यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलङ्कारोऽपीत्यपिशब्दार्थः । अन्यशब्दं व्याचष्टे-वाच्येति ॥ २५ ॥

इस प्रकार दो भेदोंवाला अर्थशक्त्युद्भव वस्तुमात्र के व्यञ्जनीय होने पर वस्तुध्वनि के रूप में निरूपित कर दिया गया । इस समय उसी के अलकाररूप व्यञ्जनीय होने पर अलंकारध्वनित्व भी होता है यह कहते हैं—अर्थेत्यादि । केवल शब्दशक्ति से ही अलंकार की प्रतीति नहीं होती पूर्वोक्त नीति से अर्थशक्ति से भी ( होती है ) अथवा जहाँ केवल वस्तु की प्रतीति नहीं होती अपितु अलंकार की भी प्रतीति होती है यह अपि शब्द का अर्थ है । अन्य शब्द की व्याख्या करते हैं 'वाच्य' इत्यादि ॥ २५ ॥

तारावती

या वर्णन की भी बात जाने दीजिये, बाह्यरूप से यदि प्रत्यक्ष इत्यादि के रूप में ही इसका अवलोकन किया जाता है, उतनी ही उतनी व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता अभिव्यक्त होती है ॥ २४ ॥

ऊपर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के व्यञ्जक की दृष्टि से दो भेद किये गये थे। प्रौढोक्ति-मात्र निष्पन्न व्यञ्जकार्थ और स्वतःसम्भवी व्यञ्जकार्थ । ( प्रथम प्रकार के दो भेद कर इस उपभेद गणना की संख्या तीन करदी गई थी । ) इन तीनों भेदों मे यदि केवल वस्तु की व्यञ्जना करनी हो तो उसे अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि कहते हैं । इस वस्तुध्वनि का निरूपण ( तथा उदाहरणों में उनकी संयोजना ) विस्तार पूर्वक किया जा चुका है । अब प्रस्तुत कारिका मे यह दिखला रहे हैं कि अर्थशक्तिमूलक

## तारावती

ध्वनि के क्षेत्र में केवल वस्तु ही व्यञ्जनीय नहीं होती अपितु उसमें व्यञ्जनीय तत्त्व अलङ्कार भी होता है। ऐसी दशा में उसे अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि भी कहते हैं। यही बात इस कारिका में कही गई है कि 'और जहाँ पर अर्थशक्ति से एक दूसरा (वाच्यालङ्कार से भिन्न) अलङ्कार भी प्रतीतिगोचर होता है वह अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलकध्वनि का एक दूसरा प्रकार होता है।' यहाँ पर 'यत्राप्यन्यः' में 'अपि' शब्द 'यत्र' शब्द के साथ आया है, किन्तु उसकी योजना भिन्नक्रम से 'अर्थशक्तेः' तथा 'अलङ्कारः' के साथ होती है। 'अर्थशक्तेः' के साथ 'अपि' शब्द के रखने का आशय यह है कि केवल शब्दशक्ति से ही पहले बतलाये हुये रूपमें अलङ्कार की प्रतीति नहीं होती अपितु अर्थशक्ति से भी अलङ्कार की प्रतीति होती है। अथवा 'अपि' शब्द को 'अलङ्कारः' के साथ रक्खा जा सकता है, तब उसका अर्थ होगा—'अर्थशक्ति से केवल वस्तु ही प्रतीत नहीं होती किन्तु अलङ्कार भी प्रतीत होता है।' कारिका में अन्यः शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी का अर्थ बतलाने के लिये वृत्तिकारने लिखा है—'जहाँ अर्थसामर्थ्य से वाच्यालङ्कार से व्यतिरिक्त एक दूसरा अलङ्कार अवभासित होता है वह अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरा प्रकार है।

[यहाँ पर अर्थशक्तिमूलकध्वनि के भेदोपभेदों के निरूपण में ग्रन्थकार ने सङ्केतमात्र दिया है, विस्तार के साथ विवेचन नहीं किया। अर्थशक्तिमूलकध्वनि की भेदोपभेदकल्पना इस प्रकार होगी—उपभेदों की कल्पना के दो आधार हो सकते हैं व्यञ्जक तथा व्यङ्ग्य। दोनों के दो-दो प्रकार होते है वस्तु तथा अलङ्कार। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलकध्वनि के चार भेद हो गये। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—स्वतः सम्भव व्यञ्जक, कविकल्पित व्यञ्जक और कविनिबद्धवक्तृकल्पित व्यञ्जक। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के १२ भेद हो गये—(१) स्वतःसम्भव वस्तु से वस्तुध्वनि, (२) कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि, (३) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि, (४) स्वतः सम्भव अलङ्कार से वस्तुध्वनि (५) कविकल्पित अलङ्कार से वस्तुध्वनि, (६) कविनिबद्धवक्तृकल्पित अलङ्कार से वस्तुध्वनि। ये वस्तुध्वनि के ६ भेद हैं। इसी प्रकार अलङ्कारध्वनि के भी ६ भेद हो जाते हैं—(७) स्वतः सम्भव वस्तु से अलङ्कारध्वनि, (८) कविकल्पित वस्तु से अलङ्कारध्वनि, (९) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से अलङ्कारध्वनि (१०) स्वतः सम्भव अलंकार से अलङ्कारध्वनि, (११) कविकल्पित अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि और (१२) कविनिबद्धवक्तृकल्पित अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि। इन बारह भेदों में प्रथम तीन का निरूपण ग्रन्थकार ने स्वयं करदिया। शेष भेद भी अप्रत्यक्ष रूप में

ध्वन्यालोकः

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्य तदुच्यते—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं विभ्रद्भूरना प्रदर्शितः ॥ २६ ॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च ससन्देहादिपूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम्।

(अनु०) उसके विषय के अत्यन्त विरल होने की आशंकाकर यह कहा जा रहा है—

'रूपक इत्यादि जो अलंकारवर्ग वाच्यता के आश्रित होता है वह समस्त (अलंकारवर्ग) प्रतीयमानत्व को धारण करते हुये पर्याप्त मात्रा मे दिखलाया गया है।' ॥ २६ ॥

दूसरे स्थानों पर वाच्यता के रूप मे प्रसिद्ध जो कि रूपक इत्यादि अलंकारवर्ग है वह दूसरे स्थानों पर प्रतीयमानता के रूप में पूज्य आचार्य भट्टोद्भट इत्यादि ने बहुलता के साथ दिखला दिया है। वह इस प्रकार कि ससन्देह इत्यादि मे उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति इत्यादि का प्रतीयमान होना दिखलाया है इस प्रकार दूसरे अलंकार का दूसरे अलंकार में प्रतीयमान होना सिद्ध करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा।

लोचन

आशङ्क्येति। शब्दशक्त्या श्लेषाद्यलङ्कारो भासत इति संभाव्यमेतत्। अर्थशक्त्या तु कोऽलङ्कारो भातीत्याशङ्कावीजम्। सर्व इति प्रदर्शित इति च पदेनासम्भावनात्र मिथ्यैवेत्याह।

'आशङ्क्य' इति। शब्द-शक्ति से श्लेष इत्यादि अलंकार भासित होता है इसकी सम्भावना की जासकती है। अर्थ-शक्ति से तो कौन अलंकार शोभित होता है यह शङ्का का बीज है।' 'सर्व' शब्द और 'प्रदर्शित' शब्द इस पद से असम्भावना यहाँ पर मिथ्या ही है यह कहते हैं।

तारावती

यत्र-तत्र पाये जाते हैं। किन्तु इनका विशद रूप मे निरूपण काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास मे हुआ है। वहीं देखना चाहिये। ग्रन्थ-विस्तार भय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है ] ॥ २५ ॥

## लोचन

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ॥ इति।
'तस्याः पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्रांगुलिः पल्लवः।'

'प्रशंसा के लिये उपमान से भेद और अभेद को कहते हुये सन्देहपूर्ण वचन को विद्वान् लोग ससन्देह अलंकार कहते हैं।'

जैसे—'क्या यह उसका हाथ है, अथवा मारुत से हिलाये हुये पत्ररूपी अंगुलियोंवाला पल्लव है।'

## तारावती

अब यहाँ पर एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि इसकी तो सम्भावना की जा सकती है कि शब्दशक्ति के बलपर श्लेष इत्यादि अलङ्कारों की ध्वनि हो किन्तु अर्थशक्ति के भी अलङ्कारों की ध्वनि हो सकती है यह किस प्रकार सम्भव है और यह हो ही कैसे सकता है? यदि किसी प्रकार यह सम्भव भी मान लिया जावे तो भी इस प्रकार की ध्वनि का विषय बहुत ही स्वल्प रहेगा, इसके विषय को व्यापक और विस्तृत बनाने के लिये आप क्या करेंगे? यहाँ पर शङ्का का बीज यही है कि अर्थ-शक्ति से अलङ्कारध्वनि सम्भव किस प्रकार है? इसी प्रश्न का उत्तर २६ वीं कारिका में दिया गया है। कारिका का अर्थ यह है—'रूपक इत्यादि अलङ्कारों का जो समूह वाच्य वृत्ति का सहारा लेनेवाला बतलाया गया है वह अधिकतर गम्यमानता को धारण करनेवाला दिखलाया गया है।'

रूपक इत्यादि अलङ्कार वाच्य तो होते ही हैं इसके अतिरिक्त व्यङ्ग्य भी हो सकते हैं। भट्टा उद्भट इत्यादि आचार्यों ने एक स्थान पर इनको वाच्य लिखा है और दूसरे स्थान पर व्यङ्ग्य के रूप में प्रदर्शित किया है। कारिकागत 'सभी' तथा 'दिखलाये हैं' इन शब्दों का आशय यह है कि अर्थशक्ति से अलङ्कार व्यङ्ग्य नहीं हो सकते यह आशङ्का मिथ्या ही है। (एक अलंकार मे दूसरा अलंकार प्रायः व्यङ्ग्य होता है। उदाहरण के लिये सादृश्यमूलक समस्त अलंकारों मे उपमा व्यङ्ग्य होती है। अप्पय दीक्षित ने लिखा है—'उपमा एक नटी के समान होती है जो कि विचित्र प्रकार की भूमिकाओं (रूपकादिकों) के भेदों को प्राप्तकर काव्यरूपी रङ्गमञ्च पर नाचती हुई रसज्ञों के चित्तों को अनुरञ्जित करती है।' इसी प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का बीज मानकर सभी अलंकारों मे वक्रोक्ति की व्यङ्ग्यता स्वीकार की है। दण्डी ने सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति को व्यङ्ग्य माना है।)। भट्टोद्भट इत्यादि का आशय यह है कि जहाँ एक अल-कार वाच्य होता है वहाँ दूसरा अलंकार प्रायः व्यङ्ग्य होता है। उदाहरण के

## लोचन

इत्यादावुपमा रूपकं वा ध्वन्यते। अतिशयोक्तेश्च प्रायशः सर्वालङ्कारेषु ध्वन्यमानत्वम्। अलङ्कारान्तरस्येति। यत्रालङ्कारोऽप्यलङ्कारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणालङ्कारो ध्वन्यत इति कियदिदमसंभाव्यमिति तात्पर्येणालङ्कारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगी, न ह्यलङ्कारेणालङ्कारो ध्वन्यत इति प्रकृतमदः, अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ वस्त्विवालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्य इत्येतावतः प्रकृतत्वात्।

यहाँ पर उपमा और रूपक ध्वनित होते हैं। अतिशयोक्ति का तो प्रायः सभी अलंकारों में ध्वनन होता है। 'अलंकारन्तरस्य इति।' जहाँ अलंकार भी दूसरे अलंकार को ध्वनित करता है वहाँ वस्तुमात्र से अलंकार ध्वनित होता है यह कितना असम्भव है? इस अभिप्राय से वृत्तिकार ने अलंकारान्तर शब्द का प्रयोग किया है, वह प्रकृत में उपयोगी नहीं है। अलंकार से अलंकार ध्वनित होता है यह प्रकृत नही है। क्योंकि प्रकृत इतना ही है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में वस्तु के समान अलंकार भी ध्वनित होता है।

## तारावती

लिये ससन्देहालङ्कार जहाँ पर वाच्य होता है वहाँ पर उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति व्यङ्ग्य बतलाई गई हैं। उद्भट ने ससन्देह अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—'जहाँ पर वर्णन करनेवाले व्यक्ति के वचन प्रशंसापरक होने के कारण सन्देह से युक्त हों और उपमान के साथ भेद भी हो और अभेद भी, उसे ससन्देह अलङ्कार कहते हैं।' जैसे 'यह उसका हाथ है या कि पल्लव-जिससे मानों वायु के कारण पत्ररूपी उँगलियाँ नाच रही हैं।' यहाँ पर ससन्देहालङ्कार वाच्य है और 'हाथ पल्लव के समान है' यह उपमा तथा 'हाथ पल्लव ही हैं' यह रूपक में दोनों अलंकार व्यङ्ग्य हैं। अतिशयोक्ति तो प्रायः सभी अलंकारों में व्यङ्ग्य होती है यह बात आगे चलकर तृतीय उद्योत में सिद्ध की जावेगी। अतएव इस बात के सिद्ध करने में अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा कि दूसरा अलंकार दूसरे अलंकार में व्यङ्ग्य होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थशक्ति से व्यक्त होनेवाले अलंकारों का क्षेत्र या तो बहुत कम है या बिल्कुल नहीं है।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि अलंकार-व्यञ्जना दो रूपों में होती है—वस्तु से अलंकार व्यञ्जना और अलंकार से अलंकार-व्यञ्जना। आलोककारने एक अलंकार से दूसरे अलंकार की व्यञ्जना की जो बात कही है उसका आशय यह नहीं है कि अलंकार का व्यञ्जक केवल अलंकार ही होता है। उसका आशय यही है कि जब एक अलंकार भी दूसरे अलंकार को व्यक्त कर सकता है तो वस्तु से अलंकारध्वनि को कोई भी असम्भव नहीं मान सकता। वस्तु से अलंकार-

## लोचन

तथा चोपसंहारग्रन्थे 'तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः' इत्यत्र श्लोके वृत्तिकृत् 'ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां' इत्युपक्रम्य 'तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्' इति वक्ष्यति। अन्तरशब्दो वोभयत्रापि विशेषपर्यायः, वैषयिकी सप्तमी न तु प्राग्व्याख्यायामियं निमित्तसप्तमी। तदयमर्थः—वाच्यालङ्कारविशेषविषये व्यङ्ग्यालङ्कारविशेषो भातीत्युद्भटादिभिरुक्तमेवेत्यर्थशक्त्यालङ्कारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव। केवलं तेऽलङ्कारलक्षणकारत्वाद्वाच्यालङ्कारविशेषविषयत्वेनाहुरिति भावः॥ २६॥

अतएव उपसंहार ग्रन्थ में 'वे अलंकार ध्वनि की अङ्गता को प्राप्त होकर परा छाया को प्राप्त होते हैं' इस कारिका पर वृत्तिकार 'ध्वन्यङ्गता दोनों प्रकारों से होती है' यह उपक्रम करके 'उसमें इस प्रकरण में 'व्यङ्ग्यत्व के रूप मे यह समझना चाहिये।' यह कहेंगे। अथवा अन्तर शब्द उभय विशेष का पर्यायवाचक है; विषय में सप्तमी अर्थ होता है—वाच्यालङ्कार विशेष के विषय में व्यङ्ग्य अलङ्कार विशेष शोभित होता है। यह उद्भट इत्यादि ने कहा ही है। इस प्रकार अर्थशक्ति से अलङ्कार से अलङ्कार व्यक्त होता है यह उन्होंने स्वीकृत ही कर लिया। केवल वे अलङ्कार-लक्षणकार होने के कारण वाच्यालङ्कार विशेष के विषय मे ही कहते हैं यह भाव है॥

## तारावती

ध्वनि तो एक साधारण सी बात रह जाती है। यहाँ पर यह बात सर्वथा ध्यान रखनी चाहिये कि प्रकरण यहाँ पर अलंकार के व्यङ्ग्य होने का ही है व्यञ्जक होने का नहीं। यहाँपर ग्रन्थकार को केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि वस्तु के समान अलङ्कार भी व्यङ्ग्य हो जाते हैं। (ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के इस प्रतिपादन को देखकर कि एक अलङ्कार दूसरे का व्यञ्जक होता है कोई भी व्यक्ति इस भ्रम में पड़ सकता है कि ये आचार्य वस्तु से अलङ्कार-ध्वनि नहीं मानते अपितु अलङ्कार से ही अलङ्कार-ध्वनि मानते हैं। इसी भ्रम का निवारण करने के मन्तव्य से लोचनकार ने लिखा है कि प्रस्तुत प्रकरण का मन्तव्य अलङ्कार की व्यञ्जकता का निरूपण करना नहीं है अपितु उसकी व्यङ्ग्यता का निरूपण करना है।) इसी अभिप्राय से अलङ्कार शब्द का प्रयोग वृत्तिकार ने किया है। प्रकृत में इसका उपयोग नहीं अर्थात् यह नहीं समझा जाना चाहिये कि अलङ्कार ही अलङ्कार के व्यञ्जक होते हैं। यह बात प्राकरणिक नहीं है कि एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार के द्वारा ध्वनित किया जाता है। क्योंकि यहाँ पर प्रकृत अर्थ इतना ही है कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में वस्तु के समान अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होते हैं। इसमें प्रमाण यही है कि उपसंहार ग्रन्थ में जहाँ पर यह प्रकरण आवेगा कि 'वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर एक

ध्वन्यालोकः

इयत्पुनरुच्यत एव—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः।

(अनु०) इतना तो मुझे कहना है—

अलंकारान्तर की प्रतीति में भी जहाँ पर वाच्यार्थ उस व्यङ्ग्य अलंकार परक अवभासित नहीं होता वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता ॥ २७ ॥

यदि दूसरे अलंकारों में अनुरणन रूप अलंकार की प्रतीति हो भी रही हो फिर भी जहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्य प्रतिपादन की ओर उन्मुख होकर चारुता को प्रकाशित न करे वह ध्वनि का मार्ग नहीं होता। जैसा कि दीपक इत्यादि अलंकारों में उपमा के प्रतीयमान होते हुये भी चारुता की व्यवस्था उपमापरक नहीं होती अतः उसे ध्वनि नहीं कहते।

लोचन

ननु पूर्वैरेव यदीदमुक्तं किमर्थं तव यत्न इत्याशङ्क्याह—इयदिति। अस्माभिरितिवाक्यशेषः। पुनः शब्दस्तदुक्ताद्विशेषद्योतकः।

यहाँ पर यह शङ्का करके कि 'जब पहले के लोगों ने ही यह कह दिया तब तुम्हारा यह यत्न किस लिये है ?' कहते हैं—'इतना' यह। इसमें 'हमलोगों के द्वारा' यह वाक्य का शेष है। पुनः शब्द उस कहे हुये से विशेषता को बतलानेवाला है।

तारावती

बहुत बड़ी छाया को धारण करते हैं' इस श्लोक की व्याख्या करने के अवसर पर उपक्रम में लिखेंगे कि 'दोनों प्रकारों से अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनते हैं। व्यञ्जक होकर भी और व्यङ्ग्य होकर भी।' यह लिखकर फिर लिखा है 'यहाँ पर अलङ्कारों की ध्वन्यङ्गता व्यङ्ग्य के रूप में ही मानी जानी चाहिये क्योंकि यहाँपर प्रकरण व्यङ्ग्य का ही है।' इससे सिद्ध होता है कि यहाँ पर अलङ्कार की व्यञ्जकता मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु अलङ्कार व्यङ्ग्य हो सकते हैं इस बात को सिद्ध करने के लिये यह दिखला दिया है कि एक अलङ्कार से दूसरा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है। अथवा इस बात को हम दूसरी भाँति भी सिद्ध कर सकते हैं—अलङ्कारान्तरस्य अलङ्कारान्तरे

ध्वन्यालोकः

यथा—

चन्दमयूएहिं णिसा णलिनी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लआ।
हंसेहिं सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई॥
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियत गुर्वी॥ इति छाया।)

इत्यादिपूपमागर्भत्वे सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः।

(अनु०) जैसे—

'चन्द्र किरणों से निशा, कमलों से नलिनी, पुष्प गुच्छों से लता, हंसों से शरत्कालीन शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गुरु बनाई जाती है।'

इत्यादि उदाहरणों में उपमागर्भित होने पर भी वाच्यालंकार के द्वारा ही चारुता व्यवस्थित होती है व्यङ्ग्यालंकार के तात्पर्य से नहीं। अतएव वहाँ पर वाच्यालंकार के द्वारा काव्य का नामकरण न्याय्य है।

तारावती

व्यङ्ग्यम्' इस वाक्य का अर्थ करने मे 'अलङ्कारान्तरे' इस शब्द के अन्तर शब्द का अर्थ किया गया था 'दूसरा' और सप्तमी का अर्थ किया गया था 'निमित्त'। इस प्रकार यह अर्थ हो गया था कि अन्य अलङ्कार की व्यञ्जना मे दूसरा अलङ्कार निमित्त होता है। अब 'अन्तर' शब्द का दोनों स्थानों पर 'विशेष' अर्थ कर लिया जावे और सप्तमी को पहले के समान निमित्त सप्तमी न मानकर विषय सप्तमी मान लिया जावे। अब इसका अर्थ हो जावेगा एक विशेष वाच्यालङ्कार के विषय मे एक विशेष प्रकार का व्यङ्ग्यालङ्कार शोभित हुआ करता है यह उद्भट इत्यादि ने कहा है, अतएव उन्होंने यह स्वीकार ही कर लिया कि अर्थशक्ति से अलकार उपगत होता है (अर्थशक्ति में वस्तु तथा अलङ्कार दोनों आ जाते हैं।) किन्तु उद्भट इत्यादि केवल अलङ्कारों का लक्षण करनेवाले थे अतः उन्होंने वाच्यालङ्कार विशेष के विषय में व्यङ्ग्यालङ्कारों का प्रतिपादन किया। यही अर्थ करना ठीक है।

(प्रश्न) जब पुराने आचार्यों ने इस बात को स्वीकार ही कर लिया फिर आप व्यर्थ मे पिष्ट-पेषण क्यों कर रहे हैं? (उत्तर) इस विषय मे मुझे फिर इतना और कहना है—फिर का अर्थ है जितना कहा चुका है उसके अतिरिक्त 'जहाँ पर वाच्यालङ्कार से भिन्न व्यङ्ग्य अलङ्कार की प्रतीति तो हो रही हो किन्तु वहाँ पर वाच्यालङ्कार व्यङ्ग्यालङ्कारपरक न हो वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता।'

## लोचन

चन्द्रमऊ इति। चन्द्रमयूखादीनां न निशादिना विना कोऽपि परभागलाभः। सज्जनानामपि काव्यकथां विना कीदृशी साधुजनता। चन्द्रमयूखैश्च निशायाः गुरुकीकरणं भास्वरत्वसेव्यत्वादि यत्क्रियते, कमलैर्नलिन्याः शोभापरिमललक्ष्म्यादि, कुसुमगुच्छैर्लतायाः अभिगम्यत्वमनोहरत्वादि, तत्सर्वं काव्यकथायाः सज्जनैरित्येतावानयमर्थो गुरुः क्रियत इति दीपकबलाच्चकास्ति। कथाशब्द इदमाह—आसतां तावत्काव्यस्य केचन सूक्ष्मा विशेषाः, सज्जनैर्विना काव्यमित्येष शब्दोऽपि न ध्वंसते। तेषु तु सत्स्वास्ते सुभगं काव्यशब्दव्यपदेशभागपि शब्दसन्दर्भमात्रम्। तथा तैः क्रियते यथादरणीयतां प्रतिपद्यत इति दीपकस्यैव प्राधान्येनोपमायाः।

'चन्द्रमऊ' इति। चन्द्रमयूख इत्यादि का निशा इत्यादि के बिना कोई भी परम सौभाग्य प्राप्त नहीं होता सज्जनों की भी काव्यकथा के बिना कैसी सज्जनता? भास्वरत्व और सेव्यत्व इत्यादि जो किया जाता है उससे चन्द्रकिरणों से निशा का गुरुत्वसम्पादन, कमलों से नलिनी की शोभा परिमललक्ष्मी इत्यादि। पुष्पगुच्छों से लता का अभिगम्यत्व मनोहरत्व इत्यादि हंसों से शरत्काल की शोभा का श्रुतिसुखकरत्व और मनोहरत्व इत्यादि वह सब काव्यकथा से सज्जनों के द्वारा गुरु किया जाता है इतना यह अर्थ दीपक के बलपर प्रकाशित होता है। कथा शब्द यह बतलाता है—काव्य की कुछ सूक्ष्म विशेषतायें बनी रहें, सज्जनों के बिना तो 'काव्य' यह शब्द ही ध्वस्त हो जाता है। उनके होते हुये तो काव्य शब्द का नाम धारण करनेवाला शब्दसन्दर्भ मात्र भी सुभग बन जाता है। उनके द्वारा ऐसा किया जाता है जिससे आदरणीयता को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार दीपक का ही प्राधान्य है उपमा का नहीं।

## तारावती

ध्वनि वहीं पर होती है जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता हो और वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य के सौन्दर्य-पोषक के रूप में ही अवस्थित हो। वह ध्वनि का मार्ग नहीं हो सकता जहाँ पर दूसरे अलङ्कारों के होने पर किसी एक अलङ्कार की अनुरणनात्मक व्यञ्जना तो हो किन्तु वाच्यालङ्कार की सुन्दरता व्यङ्ग्य का प्रतिपादन करने के ही कारण न प्रतीत हो रही हो। उदाहरण के लिये दीपक इत्यादि अलङ्कारों में उपमा की व्यञ्जना तो अवश्य होती है किन्तु काव्यसौन्दर्य की व्यवस्था उस उपमा के ही कारण नहीं। अतएव वहाँ पर उपमा की ध्वनि नहीं कही जा सकती। जैसे—'चन्द्र किरणों से निशा, कमलों से कमलिनी, पुष्प गुच्छों से लता, हंसों से शरत्काल की शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गौरवमय बनाई जाती है।'

तारावती

यहाँ पर कर्ता के रूप में चन्द्रमयूख इत्यादि अप्रस्तुतों और प्रस्तुत सज्जनों तथा कर्म के रूप में अप्रस्तुत निशा इत्यादिकों और प्रस्तुत काव्यकथा का 'गौरव-शाली बनाना' रूप एकधर्म में अभिसम्बन्ध होने के कारण दीपक अलङ्कार वाच्य है और उससे 'सज्जन चन्द्रमयूख इत्यादि के समान हैं और काव्यकथा निशा इत्यादि के समान है' इस उपमा की व्यञ्जना होती है। यहाँ काव्यसौन्दर्य की व्यवस्था वाच्यालङ्कार दीपक के ही कारण होती है व्यङ्ग्यालङ्कार उपमा के कारण नहीं। इसको इस प्रकार समझिये—चन्द्रकिरणों के द्वारा तो निशा की शोभा होती है, चन्द्रकिरणों को भी विना रात्रि के कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात कमल और कमलिनी इत्यादि के विषय में कहीं जा सकती है। यह तो हुई उपमान अंश की बात। उपमेय अंश के विषय में भी यही कहा जा सकता है। सज्जनों से काव्यकथा की शोभा बढ़ती है। किन्तु सज्जन भी विना काव्यकथा के सज्जन कैसे हो सकते हैं? अतएव उपमापरक यहाँ पर वाच्य नहीं है और न उपमा के द्वारा काव्य-सौन्दर्य व्यवस्थित ही होता है। अब दीपक को ले लीजिये जो कि वाच्यालङ्कार है—चन्द्रकिरणों के द्वारा रात्रि में गुरुता उत्पन्न की जाती है क्योंकि चन्द्रकिरणों के द्वारा रात्रि को प्रकाशमान तथा सेवन करने योग्य बनाया जाता है। इसी प्रकार शोभा और सुगन्धि प्रदान करने के कारण कमल कमलिनी को गौरव प्रदान करते हैं, पुष्पगुच्छों से लताओं का गौरव बढ़ जाता है क्योंकि उनसे लताओं में मनोहरता आ जाती है और वे निकट जाने का आकर्षण उत्पन्न करनेवाली बन जाती हैं। हंस शरत्काल की शोभा बढ़ाते हैं क्योंकि उनके स्वर से कानों को तृप्ति प्राप्त होती है और मनोहरता बढ़ जाती है। ये समस्त गुण सज्जन की उपस्थिति से काव्यकथा में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त गुणों का समन्वय दीपक के द्वारा ही प्रकट होता है उपमाद्वारा नहीं। सज्जनों से केवल काव्य की शोभा नहीं बढ़ती किन्तु कथा की शोभा बढ़ती है। कथा का अर्थ है 'कथन करना'। कथा शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि सज्जनों की अनुपस्थिति मे काव्य का कथन करना ( नामलेना ) भी ध्वस्त हो जाता है। भले ही किसी काव्य मे ध्वनि इत्यादि महत्त्वपूर्ण गुण बने हैं किन्तु सज्जनों के अभाव में उन्हें कोई नहीं पूछता। सज्जनों की उपस्थिति मे समस्त काव्य सन्दर्भ काव्य-कथन ( काव्य का नाम ) प्राप्त कर लेता है। सज्जन काव्य को ऐसा बना देते हैं जिससे वह आदर का पात्र बन जाता है। इस प्रकार यहाँ पर वाच्यालङ्कार दीपक की ही प्रधानता है अतएव उसी के द्वारा काव्यसंज्ञा प्रदान करना उचित है। ऐसे स्थानों पर व्यङ्ग्य अलङ्कारों के होते हुये भी ध्वनि काव्य नहीं कहा जाता।

ध्वन्यालोकः

यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः। यथा—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

(अनु०) किन्तु जहाँ पर वाच्य की अवस्थिति व्यङ्ग्यपरक के रूप में ही होती है वहाँ पर व्यङ्ग्य के द्वारा ही नामकरण उचित होता है। जैसे—

"इनको तो लक्ष्मी प्राप्त हो गई है फिर क्यों ये पुनः मन्थन का कष्ट उठावेंगे? आलस्य रहित मनवाले इनको पूर्व परिचित निद्रा की भी मैं सम्भावना नहीं करता हूँ। समस्त द्वीपों के स्वामियों के द्वारा अनुगमन किये हुये ये पुनः सेतु क्यों बाँधेंगे?, तुम्हारे निकट आने पर समुद्र का कम्पन इन विकल्पों को करता हुआ सा प्रतीत होता है।"

लोचन

एवं तु कारिकार्थमुदाहरणेन प्रदर्श्यास्या एव कारिकायांव्यवच्छेद्यबलेन योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं स ध्वनेर्मार्ग इत्येवं रूपस्तं व्याचष्टे—यत्र त्विति। तत्र च वाच्यालङ्कारेण कदाचिद्व्यङ्ग्यमलङ्कारान्तरं, यदि वा वाच्यालङ्कारस्य सद्भावमात्रं न व्यञ्जकता, वाच्यालङ्कारस्याभाव एव वेति त्रिधा विकल्पः। एतच्च यथायोगमुदाहरणेषु योज्यम्। उदाहरति—प्राप्तेति। कस्मिंश्चिदनन्तबलसमुदायवति नरपतौ समुद्रपरिसरवर्तिनि पूर्णचन्द्रोदयतदीयबलावगाहनादिना निमित्तेन पयोधेस्तावत्कम्पो जातः। सोऽनेन सन्देहेनोत्प्रेक्ष्यते इति स सन्देहोत्प्रेक्षयोः सङ्करात्सङ्करालङ्कारो वाच्यः। तेन च

इस प्रकार उदाहरण के द्वारा कारिका के अर्थ को दिखलाकर इसी कारिका के व्यवच्छेद्य के बलपर जो अर्थ अभिमत है 'जहाँ तत्परत्व हो वह ध्वनि का मार्ग होता है' इस रूपवाला, उसकी व्याख्या की जा रही है—'जहाँ तो' इत्यादि। वहाँ पर कभी वाच्यालङ्कार से व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर, अथवा वाच्यालङ्कार की सत्तामात्र व्यञ्जना नहीं अर्थात् वाच्यालङ्कार का अभाव ही ये तीन प्रकार के विकल्प हैं। यह तो यथायोग उदाहरणों में मिला लेना चाहिये उदाहरण देते हैं—'प्राप्त' इति। किसी अनन्तबलसमुदायवाले राजा के समुद्र परिसर के निकटवर्ती होने पर पूर्णचन्द्रोदय तथा उसकी सेना के अवगाहन इत्यादि के द्वारा समुद्र का कम्पन उत्पन्न हो गया। उसकी इस सन्देह के द्वारा उत्प्रेक्षा की गई है इस प्रकार सन्देह और उत्प्रेक्षा के सङ्कर से सङ्करालङ्कार वाच्य है। उसे उसस राजा की वासुदेव-

## लोचन

वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यते । यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात् नाद्यतनात् । अद्यतननत्वे भगवतोऽपि प्राप्तश्रीकत्वेनानालस्येन सकलद्वीपाधिपतिविजयित्वेन च वर्तमानत्वात् ।

रूपता ध्वनित होती है। यद्यपि यहाँ पर व्यतिरेकालङ्कार शोभित होता है तथापि वह पहले के वासुदेवस्वरूप से है आजकल के नहीं । क्योंकि आजकल के तो वासुदेव के भी लक्ष्मी को प्राप्त किये हुये होने के कारण तथा समस्तद्वीपाधिपतियों के रूप में वर्तमान होने से ( व्यतिरेक नहीं हो सकता ) ।

## तारावती

प्रस्तुत कारिका का अर्थ यह है कि जहाँ पर व्यङ्ग्यालङ्कार की प्रधानता नहीं होती वहाँ ध्वनि काव्य नहीं होता । इस प्रकार ध्वनि-निरूपण के प्रकरण में यह कारिका ध्वनि के अभाव का निर्देश करती है । यहाँ तक कारिका के अभावपरक अर्थ की उदाहरण के द्वारा व्याख्या की जा चुकी । इस कारिका में जो ध्वनि सिद्धान्त का व्यवच्छेद्य दिखलाया गया है उसके बलपर ध्वनि के लिये जो अभिमत विषय होता है उसका निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँ पर वाच्यालङ्कार व्यङ्ग्यालङ्कार के आधीन हो वहाँ पर ध्वनि काव्य कहा जाता है । अब इसी सिद्धान्त की उदाहरणों के द्वारा व्याख्या की जावेगी । व्यङ्ग्यालङ्कार की प्रधानता होने पर वाच्यालङ्कार की स्थिति के विषय में तीन विकल्प हो सकते हैं—( १ ) वाच्यालङ्कार के द्वारा कभी-कभी दूसरा व्यङ्ग्य अलङ्कार प्रतीतिगोचर होता है, ( २ ) अथवा वाच्यालङ्कार की केवल सत्ता तो होती है किन्तु वह अभिव्यञ्जना की केवल सत्ता तो होती है वह किन्तु वह अभिव्यञ्जना की क्रिया मे सहायक नहीं होता, अथवा ( ३ ) वहाँ पर वाच्यालङ्कार होता ही नहीं । इन तीनों विकल्पों की यथास्थान उदाहरणों मे योजना कर लेनी चाहिये । अब उदाहरण के लिये रूपक ध्वनि को लीजिये—

कोई चारण कह रहा है—'हे राजन् आपके निकट आने पर जो कि समुद्र काँपने लगता है उससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों वह सङ्कल्प-विकल्प करने लगता है कि इन्हें तो लक्ष्मी प्राप्त हो गई है फिर ये मथने का कष्ट क्यों करेंगे ? अब इनके मन में आलस्य भी नहीं है अतः मैं इनकी पहलेवाली निद्रा की भी सम्भावना नहीं कर सकता । जब समस्त द्वीपों के स्वामी इनके पीछे चलते है तब ये दुबारा सेतु क्यों बाँधेंगे ?' मानों यही सङ्कल्प-विकल्प समुद्र के मन मे उठते हैं ।'

सेना के एक विशाल समुदाय को लेकर जब राजा समुद्र तट पर आया उस

## लोचन

न च सन्देहोत्प्रेक्षानुपपत्तिबलाद्रूपकस्याक्षेपः, येन वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वं व्यङ्ग्यस्य भवेत्। यो योऽसम्प्राप्तलक्ष्मीको निर्व्याजविजिगीषाक्रान्तः स मां मर्थ्नीयादित्याद्यर्थसम्भावनात्। न च पुनरपीति पूर्वामिति भूय इति च शब्दैरयमाकृष्टोऽर्थः। पुनरर्थस्य भूयोऽर्थस्य च कर्तृभेदेऽपि समुद्रैक्यमात्रेणाप्युपपत्तेः। यथा पृथ्वी पूर्वंकार्तवीर्येण जिता पुनरपि जामदग्न्येनेति। पूर्वा निद्रा च सिद्धा राजपुत्राद्यवस्थायामपीति सिद्धं रूपकध्वनिरेवायमिति। शब्दव्यापारं विनैवार्थसौन्दर्यबलाद्रूपणाप्रतिपत्तेः।

सन्देह और उत्प्रेक्षा की अनुपपत्ति के बल पर रूपक का आक्षेप नहीं होता जिससे व्यङ्ग्य का वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्व हो। क्योंकि (यहाँपर) इस अर्थ की सम्भावना की जा सकती है कि जो जो लक्ष्मी को प्राप्त किये हुये नहीं होता अथवा बिना बहाने विजय की इच्छा से आक्रान्त होता है वह मुझे मथ सकता है। यह भी नहीं (कहा जा सकता है) कि 'पुनरपि' 'पूर्वाम्' और 'भूयः' इन शब्दों से यह अर्थ आकृष्ट कर लिया जाता है। क्योंकि कर्ता के भेद में भी 'पुनः' अर्थ की और 'भूयः' अर्थ की समुद्र की एकतामात्र से ही उपपत्ति हो जाती है जैसे पृथ्वी पहले कार्तवीर्य के द्वारा जीती गई फिर जमदग्निपुत्र परशुराम के द्वारा। (और पहले की निद्रा राजपुत्र इत्यादि अवस्था मे भी हो सकती है) अतः सिद्ध हो जाता है कि यह रूपकध्वनि ही है क्योंकि शब्दसौन्दर्य के बिना ही अर्थसौन्दर्य के बलपर ही आरोप की प्रतिपत्ति नहीं होती।

## तारावती

समय पूर्ण चन्द्रोदय के प्रभाव से अथवा सैनिकों के समुद्रजलावगाहन के कारण समुद्र मे ज्वार भाटे आने लगे। उनको देखकर कोई कवि कल्पना कर रहा है कि ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों समुद्र यह समझकर भयभीत हो जाता है और काँपने लगता है कि क्या यह लक्ष्मी के निमित्त मुझे मथन के लिये आया है? किन्तु लक्ष्मी तो इन्हें पहले ही प्राप्त हो चुकीं, फिर से मथने का कष्ट ये क्यों उठावेंगे? न इन्हें आलस्य ही मालूम पड़ रहा है जो ये सोने के लिये आये हों। न इनका कोई शत्रु ही है जो कि उस पर आक्रमण करने के लिये इन्हें सेतुबन्धन की आवश्यकता पड़ी हो। यह सन्देह वाच्य है क्योंकि कवि ने स्वयं कहा है कि समुद्र सङ्कल्प-विकल्प मे पड़ जाता है। 'मानों वह सङ्कल्प-विकल्प मे पड़ जाता है' यह उत्प्रेक्षा है जो कि पूर्वोक्त सन्देह के द्वारा पुष्ट हो जाती है। इस प्रकार सन्देह और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभावसङ्कर वाच्य है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि 'प्रस्तुत राजा विष्णुरूप है।' यही वास्तव में कवि का प्रतिपाद्य है और उसके लिये वह उपर्युक्त सन्देह और उत्प्रेक्षा का अभिधान करता है। वाच्यालङ्कार व्यङ्ग्यपरक है, इसलिये यहाँ पर रूपकध्वनि है।

## तारावती

( प्रश्न ) यहाँ व्यतिरेक की भी तो अभिव्यक्ति होती है, विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई थीं प्रस्तुत राजा को प्राप्त हो गई हैं। विष्णु को आलस्य था प्रस्तुत राजा को नहीं है, विष्णु का शत्रु रावण लङ्का मे रहता था, प्रस्तुत राजा का कोई शत्रु नहीं है प्रत्युत सभी द्वीपाधिपति इनके पीछे चलते है। अतएव विष्णु की अपेक्षा ये अधिक महान् हैं। इस प्रकार व्यतिरेक के अभिव्यक्त होने के कारण व्यतिरेक-ध्वनि ही होनी चाहिये रूपक-ध्वनि किस प्रकार हो सकती है ? ( कुन्तक ने तृतीय उन्मेष में इसे प्रतीयमान व्यतिरेक माना है। संभवतः यह प्रश्न कुन्तक की मान्यता को पूर्वपक्ष बनाने के लिये ही हो। ) ( उत्तर ) यद्यपि यहाँ पर व्यतिरेक प्रतीत होता है तथापि वह पुराने विष्णु के स्वरूप से ही व्यतिरेक कहा जा सकता है वर्तमान विष्णु के स्वरूप से नहीं। अब तो विष्णु को भी लक्ष्मी प्राप्त हो चुकी हैं, आलस्य भी दूर हो चुका है और रावण इत्यादि द्वीपाधिपतियों पर विजय भी प्राप्त हो चुकी है। अतः वर्तमान विष्णु के साथ तो प्रस्तुत राजा का अभेद ही हो सकता है। अतएव इसे रूपक-ध्वनि मानना ही उचित है।

( प्रश्न ) यहाँ पर रूपक सन्देह और उत्प्रेक्षा का पोषक अथवा साधकमात्र है। अतएव रूपक की प्रधानता नहीं हो सकती। जबतक राजा पर विष्णु के अभेद का आरोप न कर दिया जावे तब तक न समुद्र के विकल्प ही सङ्गत हो सकते हैं जो कि सन्देहालङ्कार में बीज हैं और न समुद्र के कम्पन के हेतु की कल्पना ही ठीक हो सकती है जिससे उत्प्रेक्षा सिद्ध हो सके। इस प्रकार रूपक जब कि वाच्यालङ्कारों का उपस्कारक मात्र है तब रूपकध्वनि किस प्रकार कही जा सकती है ? ( उत्तर ) 'यह विष्णु है' यही जानकर समुद्र मे वितर्क और कम्पन की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु यह जान करके भी हो सकती है कि जिस किसी को लक्ष्मी की कामना होगी वही मुझे मथेगा, जिस किसी को आलस्य का अनुभव होता है वह मुझे शय्या बनाने की चेष्टा करता है, जिसको शत्रुओं पर बिना किसी बहाने विजय प्राप्त करने की कामना होती है वही सेतु बाँधना चाहता है, विष्णु भगवान् को भी इन चीजों की आवश्यकता थी अतः वे भी मेरे निकट आये थे और ज्ञात होता है इन महाराज को भी इन्हीं वस्तुओं की कामना है अतः ये भी मेरे निकट आ रहे हैं। इस कल्पना से भी वितर्क और भय उत्पन्न हो सकते है। अतः 'ये विष्णु है' यह बात सर्वथा व्यङ्ग्य ही है जो कि समुद्र के वितर्क और भय से पुष्ट होती है। अतएव यहाँ पर रूपक की ध्वनि ही कही जावेगी वाच्य-सिद्धयङ्ग गुणीभूत नहीं। ( प्रश्न ) ये पुनः मथने का कष्ट क्यों करेंगे ? में 'पुनः' शब्द यह प्रकट करता है कि ये विष्णु है जो एक बार तो मथ चुके थे अब दूसरी

## लोचन

यथा च—

ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन् सरय्वा
वाददूयूतं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित् ॥
एकोऽवादीत्प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यो
मत्वा तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥

इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति, तदसत्; भवतेत्यनेन शब्दबलेन वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात् ।

और जैसे —

'ज्योत्स्ना-पूरके प्रवाह से धवल सरयू के इस तटपर किन्हीं दो सिद्ध युवकों का बड़ी देर तक विवादरूपी द्यूत होता रहा—एक केशी को प्रथम मारा हुआ कहता था दूसरा कंस को, तत्त्व को समझकर बतलाइये कि आपने किसको पहले मारा ?'

इसको कुछ लोग यहाँ पर उदाहरण के रूप में पढ़ते है, वह ठीक नहीं है । 'आप के द्वारा' इस शब्द के बलपर यहाँ पर तुम वासुदेव हो यह अर्थ स्फुट कर दिया गया है ।

## तारावती

बार फिर मथना चाहते हैं । यही बात 'पहलेवाली' निद्रा और 'दुबारा सेतु-बन्धन क्यो करेंगे ?' मे पहलेवाली और दुबारा शब्द से भी सिद्ध होती है । इस प्रकार विष्णुरूपता वाच्य है व्यङ्ग्य नहीं हो सकती फिर यहाँ पर रूपकध्वनि किस प्रकार कही जा सकती है ? ( उत्तर ) मथनेवाले, सोनेवाले और सेतु बाँधनेवाले में भेद होने पर भी समुद्र तो एक ही है, वह यह सोच सकता है कि पहले मैं विष्णु के द्वारा मथा गया था अब की बार पुनः इन राजा के द्वारा मथा जाऊँगा । पहले मुझे विष्णु ने शय्या बनाया था अब की बार इनके द्वारा बनाया जाऊँगा, पहले मुझे विष्णु ने बाँधा था अब की बार इनके द्वारा बाँधा जाऊँगा । भेद मे भी 'पुनः' 'भूयः' इत्यादि शब्द देखे जाते है जैसे पहले पृथ्वी कार्तवीर्य के द्वारा जीती गई पुनः परशुराम के द्वारा । राजपुत्र इत्यादि की अवस्था मे भी नीद का पुरानापन सिद्ध हो सकता है । अर्थात् जब ये महाराज राजपुत्र की अवस्था मे थे तब बडे आराम से सोते थे इन्हे कोई चिन्ता ही नहीं थी । अब जब से ये महाराज पद पर प्रतिष्ठित हो गये है तब से इनका आलस्य जाता रहा । अतएव यहाँ पर बिना ही शब्दव्यापार के केवल अर्थ के बलपर राजा पर विष्णु के अभेद का आरोप हो जाता है । अतः यह रूपकध्वनि ही है । ( पण्डितराज ने यहाँ पर भ्रान्तिमान्

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

(अनु०) अथवा मेरा ही पद्य—

'हे तरल और आयत नेत्रोंवाली ! तुम्हारे इस मुख के लावण्य और कान्ति से दिशाओं के मुख को भर देने पर तथा मुस्कुराहट के होने पर इस समय जो कि यह समुद्र कुछ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हो रहा है अतः मैं समझता हूँ कि स्पष्ट ही जलराशि है ।'

तारावती

की ध्वनि मानी है । उनका कहना है कि समुद्र को भय या वितर्क तभी उत्पन्न हो सकता है जब कि समुद्र राजा को विष्णु ही समझ जावे । यदि आरोपमात्र माना जावेगा तो समुद्र को भय उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः यह भ्रान्तिमान् ध्वनि ही है रूपकध्वनि नहीं । किन्तु रूपक मे भेद का सर्वथा स्थगन न हो जाता हो ऐसी बात नहीं है । दूसरी बात यह है कि भ्रान्ति समुद्र को हो सकती है किन्तु चारण को भ्रान्ति नहीं है, यहाँ पर राजा और विष्णु मे भेद का स्थगन चारण ने ही किया है । वही वक्ता है । अतः यहाँ पर रूपकध्वनि मानना ही ठीक है । यहाँ पर वाच्यालङ्कार सन्देह और उत्प्रेक्षा का सङ्कर व्यङ्ग्यअलङ्कार रूपक की प्रतीति मे सहायक हो रहा है । )

कुछ पुस्तकों मे रूपकध्वनि के रूप मे निम्नलिखित एक उदाहरण और पाया जाता है—'चन्द्रिका-प्रवाह के विस्तार के कारण श्वेतिमा को प्राप्त हुये समुद्र के इस तट पर किन्हीं दो सिद्ध युवकों मे बड़ी देरतक विवाद होता रहा । उनमें एक कहता था कि केशी पहले मारा गया और दूसरा कहता था कि पहले कंस-मारा गया । आप,समझकर तत्त्व की बात बतलाइये कि आपने पहले किसको मारा ?'

यह उदाहरण प्रक्षिप्त है । यहं ध्वनि का उदाहरण हो ही नहीं सकता। क्योंकि 'आपने पहले किसको मारा' इस वाक्य से यह बात उक्त हो जाती है कि आप विष्णु हैं । अतः यह रूपक वाच्य ही है व्यङ्ग्य नहीं ।

रूपकध्वनि का दूसरा उदाहरण जैसे आनन्दवर्धन का पद्य 'हे तरल और आयत ( प्रसन्नता के कारण चञ्चल और विशाल ) नेत्रोंवाली ? इस समय जबकि

ध्वन्यालोकः

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपकध्वनिरितिव्यपदेशो न्याय्यः।

उपमाध्वनिर्यथा—

वीराणं रमइ घुसिणरूणम्मि ण तदा पिआथणुच्छङ्गे।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह वहलसिन्दूरे॥

(अनु०) इस प्रकार के विषय में अनुरणन रूपक का आश्रय लेने से ही काव्य के चारुत्व की व्यवस्था होती है। अतः इसको रूपक-ध्वनि कहना ही ठीक है।

उपमाध्वनि का उदाहरण जैसे—

'केसर से अरुण प्रियतमा के स्तनोत्सङ्ग में वीरों की दृष्टि उतनी नहीं रमती जितनी कि शत्रु के हाथियों के घने सिन्दूरवाले कुम्भस्थलों में रमती है।'

लोचन

तुल्ययोजनत्वादुपमाध्वन्युदाहरणयोर्लक्षणं स्वकण्ठेन न योजितम्।

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा वहलसिन्दूरे॥

तुल्ययोजना के कारण उपमाध्वनि के दोनों उदाहरणों के लक्षण अपने कण्ठ से नहीं कहे हैं।

'वीरों की दृष्टि केसर से अरुण प्रियास्तनों के उत्संग में उतनी नहीं रमती जितनी घने सेंदुरवाले शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थल पर रमती है।'

तारावती

अतः जलराशि शब्द का श्लेष व्यञ्जक नहीं है। पहले व्यञ्जक अलङ्कार की तीन अवस्थायें बतलाई गई थीं। प्रथम अवस्था में अलङ्कार स्वयं दूसरे अलङ्कार का व्यञ्जक होता है। इसका उदाहरण पहला पद्य है जिससे सन्देह और उत्प्रेक्षा का सङ्करूपका व्यञ्जक हो गया है। दूसरी अवस्था के अनुसार अलङ्कार बना तो रहता है किन्तु वह व्यञ्जक नहीं होता। उसका यह उदाहरण है।) यहाँ पर जो अर्थशक्ति के द्वारा व्यक्त होनेवाला अनुरणनरूप रूपक है उसी के सहारे से काव्य की चारुता व्यवस्थित होती है। अतः नामकरण उसी के द्वारा किया जाना चाहिये यही मूल की योजना है।

(२) अब इसके बाद उपमाध्वनि के दो उदाहरण दिये जावेंगे आनन्दवर्धन ने उदाहरण तो दे दिये हैं किन्तु उनकी योजना लक्षण के साथ नहीं की है। इसका कारण यह है कि इनकी योजना रूपक के समान ही की जा सकती है।

## लोचन

प्रसाधितप्रियतमाश्वासनपरतया समनन्तरीभूतयुद्धत्वरितमनस्कतया च दोलायमानदृष्टित्वेऽपि युद्धे त्वरातिशय इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कारः। तत्र तु येयं ध्वन्यमानोपमा प्रियाकुचकुड्मलाभ्यां सकलजनत्रासकरेष्वपि शात्रवेषु मर्दनोद्यतेषु गजकुम्भस्थलेषु तद्भोग रतिमाददानामिव बहुमान इति सैव वीरतातिशयचमत्कारं विधत्त इत्युपमायाः प्राधान्यम्।

शृङ्गार की हुई प्रियतमा की आश्वासनपरता और शीघ्र ही होनेवाले युद्ध के विषय मे मन मे त्वरा होने के कारण दृष्टि के दोलायमान होते हुये भी युद्ध मे त्वरा की अतिशयता है इस प्रकार व्यतिरेक वाच्यालंकार है। उसमें तो जो यह प्रियतमा के कुच-कलियों से ध्वन्यमान उपमा है वह सभी जनों के अन्दर त्रास उत्पन्न करनेवाले भी मर्दन में उद्यत शत्रुओं के गजकुम्भस्थलो मे उपमा के कारण रति को ग्रहण करनेवालों के समान बहुत आदर है, इस प्रकार वह (उपमा) ही वीरता के अतिशय के चमत्कार को उत्पन्न करती है अतः उपमा का ही प्राधान्य है।

## तारावती

(अ) उपमाध्वनि का प्रथम उदाहरण—

वीरों की दृष्टि केसर के रंग से लालिमा को प्राप्त होनेवाले अपनी प्रियतमा के स्तनमण्डल पर पड़कर उतने आनन्द को प्राप्त नहीं होती जितनी घने सिन्दूर से रंगे हुये शत्रु के हाथियों के मस्तक पर पड़कर आनन्दित होती है।

एक ओर तो प्रियतमा शृङ्गार किये हुये बैठी है, उसके शृङ्गार का सन्तोष करना है। दूसरी ओर मन मे युद्ध के लिये त्वरा उत्पन्न हो रही है, किन्तु फिर भी युद्ध के लिये उत्कण्ठा की अधिकता है। अतएव व्यतिरेक अलङ्कार वाच्य है। इससे इस उपमालङ्कार की व्यञ्जना होती है कि हाथियों के सिन्दूर से रंगे हुये मस्तक प्रियतमा के सिन्दूर लिप्त स्तनों की कलियों के समान है। यहाँ पर काव्य के सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा मे ही होता है। यद्यपि शत्रुओं के हाथियो का समूह समस्त व्यक्तियों में त्रास उत्पन्न कर रहा है और वह समस्त जनसमूह का भेदन करने के लिये उद्यत हो रहा है किन्तु फिर भी वीरों को उन हाथियों के मस्तकों का मर्दन करने मे इतना अधिक आनन्द आता है जितना किसी साधारण व्यक्ति को अपनी प्रियतमा के कुचकुम्भों के मर्दन में आया करता है। इस प्रकार उपमा के द्वारा वीरों की युद्ध-विषयक रति अभिव्यक्त होती है जो कि वीरता की अधिकता को द्योतित करते हुये चमत्कार उत्पन्न करती है। अतएव उपमा की प्रधानता होने के कारण यह काव्य उपमाध्वनि की ही सीमा मे आता है। आशय यह है कि व्यतिरेक मे उपमा तो व्यङ्ग्य होती ही है, जहाँ पर

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य—

तं ताण सिरिसहोअर रअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥
( तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ ) इति छाया

(अनु०) अथवा जैसे मेरा ही विषमबाणलीला मे असुर-पराक्रम के अवसर पर कामदेव के विषय मे कहा हुआ पद्य—

'श्री-सहोदर रत्नों के हरण में एकरसवाला उनका वह हृदय, कुसुमबाण के द्वारा प्रियतमाओं के बिम्बाधरों में निविष्ट कर दिया गया ।'

लोचन

असुरपराक्रमेण इति। त्रैलोक्यविजयो हि तत्रास्य वर्ण्यते । तेषामसुराणां पातालवासिनां यैः पुनः पुनरिन्द्रपुरावमर्दनादि किं किं न कृतं तद्धृदयमिति यत्तेभ्यस्तेभ्योऽतिदुष्करेभ्योऽप्यकम्पनीयव्यवसायं तच्च । श्रीसहोदराणामत एवानिर्वाच्योत्कर्षाणामित्यर्थः । तेषां रत्नानामासमन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं यद् हृदयं तत्कुसुमबाणेन सुकुमारतरोपकरणसम्भारेण प्रियाणां बिम्बाधरे निवेशितम् , तदवलोकनपरिचुम्बनदर्शनमात्रकृतकृत्यताभिमानयोगि तेन कामदेवेन कृतम् । तेषां हृदयं यदत्यन्तं विजिगीषाज्वलनजाज्वल्यमानमभूदिति यावत् । अत्रातिशयोक्तिर्वाच्यालङ्कारः । प्रतीयमाना चोपमा । सकलरत्नसारतुल्यो बिम्बाधर इति हि तेषां बहुमानो वास्तव एव । अत एव न रूपकध्वनिः । रूपकस्यारोप्यमाणत्वेनावास्तवत्वात् । तेषामसुराणां

'असुरों के पराक्रम करने मे' यह । वहाँ पर इनके ( कामदेव के ) त्रैलोक्य विजय का वर्णन किया गया है । उन पातालवासी असुरो का जिन्होंने बार-बार इन्द्रपुरी का अवमर्दन इत्यादि क्या-क्या कार्य नहीं किया, उनके उस हृदय को जोकि भिन्न-भिन्न अत्यन्त दुष्कर कार्यों से भी अकम्पनीय व्यवसायवाला है वह । श्रीसहोदर अर्थात् इसीलिये अनिर्वाच्य उत्कर्षवाले उन रत्नों के सभी ओर से हरण करने मे एकरस तत्परक जो हृदय उसको कुसुमबाण ने सुकुमारतर उपकरणों के सम्भार से प्रियतमाओं के बिम्बाधर में निविष्ट कर दिया, उस कामदेव ने उनके अवलोकन परिचुम्बन और दर्शनमात्र से कृतकृत्यता के अभिमान से युक्त बना दिया । आशय यह है कि जो उसका हृदय विजय की इच्छारूपी अग्नि से अत्यन्त जाज्वल्यमान था । यहाँ पर अतिशयोक्ति वाच्यालङ्कार है । उपमा प्रतीयमान है । समस्त रत्नों के सार के तुल्य बिम्बाधर यह उनका बहुमान वास्तविक ही है । इसीलिये रूपकध्वनि नहीं होती क्योकि आरोप्यमाण होने के कारण रूपक वास्तविक

## लोचन

वस्तुवृत्त्यैव सादृश्यं स्फुरति तदेव च सादृश्यं चमत्कारहेतुः प्राधान्येन।

नहीं है। वस्तुवृत्ति से ही उन असुरों का सादृश्य स्फुरित होता है। वही सादृश्य प्रधानरूप से चमत्कार में हेतु है।

## तारावती

व्यतिरेक की अपेक्षा उपमा में चमत्कार की अधिकता होती है वहाँ पर उपमाध्वनि कही जाती है। यहाँ पर हाथियों के लिये प्रियतमाओं के कुचकुम्भों से उपमा व्यक्त होती है जोकि नायक में युद्ध-विषयक रतिभाव को व्यक्त करते हुये उसकी वीरता की अधिकता को ध्वनित करती है। अतएव यहाँ पर उपमाध्वनि है। वीरों को प्रियतमाओं के सम्पर्क की अपेक्षा युद्ध में अधिक आनन्द आता है यह वाच्य व्यतिरेक एक सीधी सी बात है वीर रस का परिपोष व्यतिरेक के कारण नहीं किन्तु युद्ध के हाथियों के लिये प्रियतमा के कुच-कुम्भों की उपमा के द्वारा ही होता है। अतएव यहाँ पर उपमाध्वनि ही है।

(आ) उपमाध्वनि का दूसरा उदाहरण—जैसे आनन्दवर्धन की लिखी हुई विषमबाणलीला में कामदेव के असुरों पर पराक्रम दिखलाने के अवसर पर एक पद्य आया है—वहाँ पर कामदेव के त्रैलोक्यविजय का वर्णन किया गया है। पद्य का अर्थ यह है—

'कामदेव ने अपने पुष्प-बाण के द्वारा उनके उस हृदय को जोकि लक्ष्मीजी के सहोदर रत्नों के आहरण करने में पूर्णरूप से आनन्द से भरा हुआ था उनकी प्रियतमाओं के बिम्बाधरों में ही निविष्ट कर दिया।'

'उनके कहने का आशय यह है कि उन असुरों का पराक्रम प्रसिद्ध है। जिन असुरों ने पातालपुर में रहते हुये भी इन्द्रपुर का मर्दन इत्यादि न जाने क्या-क्या नहीं करडाला उनको कौन नहीं जानता होगा। 'उस हृदय को' कहने का आशय यह है कि उन समस्त दुष्कर कर्मों के करने के अवसर पर भी कभी कम्पित नहीं हुआ उससे बढ़कर साहस और शौर्य किसमें हो कहता है? 'लक्ष्मीजी के सहोदर रत्नों के कहने का आशय यह है कि वे रत्न अत्यन्त उत्कृष्ट थे। उनके उत्कर्ष का इससे बढ़कर परिचय और क्या दिया जा सकता है कि वे रत्न लक्ष्मीजी के सहोदर थे? 'आहरण' कहने का आशय यह है कि वे असुर थोड़े बहुत रत्नों से ही सन्तोष करने-वाले नहीं थे, किन्तु पूर्णरूप से चारों ओर से वे उन रत्नों पर अपना सर्वतो-भावेन अधिकार चाहते थे। 'पुष्पबाण के द्वारा' कहने का आशय यह है कि काम-देव को अपने कठोर अस्त्रों के सन्धान की आवश्यकता ही न पड़ी, उसने फूल के केवल एक बाण से जो कि उसका एक अत्यन्त सुकुमार उपकरण है असुरों पर विजय

ध्वन्यालोकः

आक्षेप ध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः॥

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेषप्रकाशपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम्।

(अनु०) आक्षेपध्वनि का उदाहरण जैसे—

'हयग्रीव के आश्रित समस्त गुणों को कहने में वह समर्थ हो सकता है जो कि जल के घड़ों से महासागर का परिमाण जानने में समर्थ हो सकता है।'

यहाँ पर अतिशयोक्ति के द्वारा हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता के प्रतिपादनरूप उनकी असाधारण विशेषताओं के प्रकाशनपरक आक्षेप की व्यञ्जना होती है।

तारावती

प्राप्त करली। यदि कहीं कठोर अस्त्रों का प्रयोग किया होता तो न जाने क्या हो जाता? 'बिम्बाधरो मे निविष्ट कर दिया' कहने का आशय यह है कि उन राक्षसों के हृदयों को ऐसा बना दिया कि वे अपनी प्रियतमाओं के बिम्बाधरों के अवलोकन चुम्बन दर्शन इत्यादि मे ही अपने को कृतकृत्य समझने लगे। आशय यह है कि उनका जो हृदय विजय की कामनारूप अग्निसे जाज्वल्यमान हो रहा था वही प्रियतमाओं के बिम्बाधरों तक ही सीमित हो कर रह गया।

यहाँ पर वस्तुतः रत्नों के आहरण करने की मनोवृत्ति और है तथा अपनी प्रियतमाओं के बिम्बाधर-दशन की मनोवृत्ति दूसरी। इस प्रकार दोनों में भेद है। किन्तु 'उसी हृदय को निविष्ट कर दिया' कहकर अभेद का आरोप किया गया है।

अतएव यहाँ पर अभेदातिशयोक्ति अलङ्कार वाच्य है। अथवा हृदय का अधरों पर निविष्ट करने का सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु सम्बन्ध का आरोप किया गया है। अतएव यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति वाच्य अलङ्कार है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि उन ललनाओ का बिम्बाधर समस्त रत्नो के सार के समान है। उन लोगों की दृष्टि में बिम्बाधर का समस्त रत्नो के सार के समान होने का बहुत बड़ा मान वास्तविक है। अतएव यहाँ पर रूपकध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि रूपक मे आरोप होता है अतः उसमे वास्तविकता नही होती। यह व्यङ्ग्यार्थ असुरों की वस्तुवृत्ति से ही स्फुरित होता है—'जो असुर सिन्धु-सारभूत रत्नों के ग्रहण करने मे आनन्द लेते थे, वे प्रियतमाओं के बिम्बाधरों से ही सन्तुष्ट हो गये' इस वस्तुवृत्ति से 'विम्बाधर रत्नों के सार के समान हैं' यह उपमा व्यक्त होती है और

लोचन

अतिशयोक्त्येति। वाच्यालङ्कार रूपयेत्यर्थः। अवर्णनीयता प्रतिपादनमेवाक्षेपस्य रूपमिष्टप्रतिषेधात्मकत्वात्। तस्य प्राधान्यं तद्विशेषणद्वारेणाह—असाधारणेति।

'अतिशयोक्ति के द्वारा' यह। अर्थात् वाच्यालङ्काररूपिणी। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का रूप है क्योंकि उसकी आत्मा है इष्टप्रतिषेध। उसकी प्रधानता उसके विशेषणों के द्वारा कहते हैं—'असाधारण इति।'

तारावती

चमत्कार का पर्यवसान प्रधानतया इसी अभिव्यक्ति में होता है अतः यहाँ पर उपमाध्वनि है।

(३) आक्षेपध्वनि का उदाहरण—

'हयग्रीव में रहनेवाले समस्त गुणों को कहने में वह व्यक्ति समर्थ है जो महासागर के परिमाण को जल के घड़ों के द्वारा जान सकता है।'

घड़ों के द्वारा समुद्र के परिमाण को जानने का सम्बन्ध न होते हुये भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतः यहाँ पर सम्भावनामूलक सम्बन्धातिशयोक्ति वाच्य है। उससे यह ध्वनि निकलती है कि 'हयग्रीव के गुणों का वर्णन नहीं हो सकता। गुणों का वर्णन करना इष्ट है जिसका प्रतिषेध व्यङ्ग्य है। इष्टप्रतिषेध होने के कारण आक्षेपालंकार व्यङ्ग्य है। यहाँ पर आक्षेप की ही प्रधानता है क्योंकि इसी से यह व्यक्त होता है कि हयग्रीव के गुण असाधारण हैं और क्योंकि इसी से हयग्रीव के गुणों की विशेषता भी प्रकाशित होती है। अतएव यहाँ पर आक्षेपालंकार की ध्वनि है। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का रूप है क्योंकि आक्षेप इष्टप्रतिषेधात्मक ही होता है। 'असाधारण विशेष गुणों का प्रकाशन होता है' इस विशेषण के द्वारा लेखक ने आक्षेप की प्रधानता सिद्ध की है।

(रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में इस उदाहरण का प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि आक्षेप अलंकार वहीं पर होता है जहाँ पर निषेधाभास हो वास्तविक निषेध नहीं। यहाँ पर हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता तो वास्तविक निषेध है निषेधाभास नहीं। अतः यहाँ पर आक्षेपध्वनि नहीं हो सकती। रुय्यक के इस कथन का पण्डितराज ने बड़े ही मनोरञ्जक शब्दों में खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है—'इस पद्य में आक्षेपध्वनि का अभाव अलंकारसर्वस्वकार ने इसीलिये बतलाया है कि जैसा आक्षेप अलंकारसर्वस्वकार मानते हैं वैसा आक्षेप यहाँ पर नहीं है। यह कोई वेद की आज्ञा नहीं है कि आक्षेप अलंकार वहीं पर होता है जहाँ निषेध आभासरूप हो। पुराने आचार्यों ने भी आक्षेप का यह लक्षण नहीं बनाया है। ऐसी कोई युक्ति भी नहीं है जिससे ध्वनिकार की उक्ति की उपेक्षा कर हम तुम्हारी बात पर श्रद्धा करने लगें। इसके प्रतिकूल इससे विपरीत बात

ध्वन्यालोकः

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्यश्च सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणम्—

देवाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिओ।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणं अण्णाणं ण सरिच्छा॥

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः।

(अनु०) अर्थान्तरन्यासध्वनि शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य और अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य ( दो प्रकार की ) सम्भव है। उनमें प्रथम का उदाहरण—

'फल के दैवायत्त होने के कारण क्या किया जावे, फिर भी इतना हम कहते हैं कि रक्ताशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के समान नहीं हैं।'

यह ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित होती है, अतः यदि वाक्य का दूसरे अर्थ मे भी तात्पर्य हो तो भी विरोध नहीं है।

लोचन

सम्भवतीत्यनेन प्रसङ्गाच्छब्दशक्तिमूलस्यात्र विचार इति दर्शयति।

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः॥

'सम्भव है' इससे प्रसङ्गवश यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक का विचार किया गया है यह दिखलाया है।

'दैवायत्त फल के विषय मे क्या किया जावे, फिर इतना तो हम कहते हैं कि रक्ताशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के सदृश नहीं हैं।'

तारावती

अधिक उचित होगी कि हम तुम्हारी बात छोड़कर ध्वनिकार की बात मानें। ध्वनिकार ने अलंकार-शास्त्र की सरणि का व्यवस्थापन किया है। प्राचीन आचार्यों के वचनों को छोड़कर इस शास्त्र में आक्षेप इत्यादि शब्दों के संकेत का ग्राहक और कोई प्रमाण है ही नहीं। यदि ध्वनिकार जैसे मान्य आचार्यों की बात को इस प्रकार टाला जाने लगेगा तो सभी कुछ अस्त-व्यस्त हो जावेगा और कोई व्यवस्था तो रहेगी ही नहीं।' वस्तुतः भामह इत्यादि आचार्यों ने भी कथन के लिये अभीष्ट वस्तु के निषेध को ही आक्षेप माना है जिसका मन्तव्य विशेषता के साथ कथन करना हो। 'निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषा भिधित्सया।' यहाँ पर हयग्रीव के गुणों का वर्णन करना अभीष्ट है उसका निषेध किया गया है जिससे हयग्रीव के गुणों का विशेषता के साथ कथन हो जाता है। अतः ध्वनिकार का बतलाया हुआ आक्षेप अलंकार ठीक ही है।)

## लोचन

अशोकस्य फलमाम्रादिवन्नास्ति किं क्रियतां पल्लवास्त्वतीव हृद्या इतीयतानिधा समाप्तैव। तत्र फलशब्दस्य शक्तिवशात् समर्थकमस्य वस्तुनः पूर्वमेव प्रतीयते। लोकोत्तरजिगीषातदुपायप्रवृत्तस्यापि हि फलं सम्पल्लक्षणं दैवायत्तं कदाचिन्न भवेदपीत्येवं सामान्यात्मकम्। नन्वस्य सर्ववाक्यस्याप्रस्तुतप्रशंसा प्राधान्येन व्यङ्ग्या तत्कथमर्थान्तरन्यासस्य व्यङ्ग्यता? द्वयोर्युगपदेकत्र प्राधान्यायोगादित्याशङ्क्याह— पदप्रकाशेति। सर्वो हि ध्वनिप्रपञ्चः पदप्रकाशो वाक्यप्रकाशश्चेति वक्ष्यते। तत्र फलपदेऽर्थान्तरन्यासध्वनिः प्राधान्येन। वाक्ये त्वप्रस्तुतप्रशंसा। तत्रापि पुनः फलपदोपात्तसामर्थ्यसमर्थकभावप्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्वनिरेवायमिति भावः।

अशोक का फल आम्र इत्यादि के समान नहीं है, क्या किया जावे? पल्लव तो अत्यन्त हृद्य हैं, इतने से ही अभिधा समाप्त हो जाती है। यहाँपर फल शब्द की शक्ति के कारण इस वस्तु का समर्थन पहले ही प्रतीत होता है। 'लोकोत्तर को विजय करने की इच्छा और उसके उपाय मे प्रवृत्त का भी सम्पत्तिरूप फल दैवायत्त (है) कभी न भी हो' इस प्रकार का सामान्यरूप है। 'इस पूरे वाक्य की अप्रस्तुतप्रशंसा प्रधानतया व्यङ्ग्य है तो अर्थान्तरन्यास की व्यङ्ग्यता कैसे? क्योंकि दोनों का एक साथ प्राधान्य हो ही नहीं सकता।' यह शङ्का करके कहते हैं— पदप्रकाशेति। यह कहेंगे कि समस्त ध्वनिप्रपञ्च पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश होता है। उसमे फल शब्द में अर्थान्तरन्यासध्वनि प्रधानरूप मे है। वाक्य में तो अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। उसमे भी फिर 'फल' शब्द के द्वारा उपात्त सामर्थ्य के समर्थक भाव की प्रधानता से ही शोभित होती है, इस प्रकार यह अर्थान्तरन्यास की ध्वनि ही है, यह भाव है।

## तारावती

(४) अर्थान्तरन्यासध्वनि दो प्रकार की सम्भव है (अ) शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य और (आ) अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य। सम्भव है कहने का आशय यह है कि यद्यपि यहाँ पर प्रकरण अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का ही है किन्तु सम्भव शब्दशक्तिमूलक भी है। अतएव उसका भी उदाहरण यहाँ पर दिया जा रहा है—

'फल दैव के आधीन होता है उसके लिये किया ही क्या जावे? हाँ इतना हम कहते हैं कि रक्त अशोक के पल्लव अन्य पल्लवों जैसे नहीं होते।'

'अशोक के पल्लव हृदय को सर्वाधिक प्रिय होते हैं। किन्तु आम इत्यादि के समान उसमें फल नहीं होते उसके लिये किया ही क्या जा सकता है?' बस अभिधेयार्थ इतने में ही समाप्त हो जाता है। यहाँ पर फल शब्द की शक्ति से एक

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअट्ठाविअ मण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहु जाणअ रोसिउं सक्कम्॥
(हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन्।
अपराद्धस्यापि न खलु ते वहुज्ञ रोषितुं शक्यम्॥) इति छाया।

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराद्धस्यापि वहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते।

(अनु०) द्वितीय का उदाहरण जैसे—

'हृदय में स्थापित क्रोधवाली तथा रोषरहित मुखवाली मुझको प्रसन्न करते हुये हे वहुज्ञ! अपराध से युक्त भी तुम पर क्रोध करना शक्य नहीं है।'

यहाँ पर वाच्यविशेष के द्वारा सापराध भी वहुज्ञ पर कोप करना असम्भव है यह समर्थक वाच्यसम्बद्ध (किन्तु) वाच्य से भिन्न अर्थ तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित होता है।

तारावती

दूसरे अर्थ की ओर संकेत होता है—'जिसके अन्दर सबसे अधिक विजय की इच्छा हो और जो उपाय में भी लगा हुआ हो उसके लिये सम्पत्तिरूपी फल तो भाग्य के अधीन ही होता है। वह कभी नहीं भी हो सकता है।' यह अर्थ पहले ही अर्थात् फल शब्द के सुनते ही प्रतीत होने लगता है। यह अर्थ सामान्यात्मक है; इससे पूर्वोक्त वाच्यार्थ (अशोकपल्लवपरक अर्थ) का समर्थन होता है। अतः सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण यहाँ पर अर्थान्तरन्यासध्वनि है।

(प्रश्न) इस उक्ति के द्वारा किसी ऐसे निराशा से भरे हुए निर्वेदपूर्ण व्यक्ति की प्रशंसा की जा रही है जो यद्यपि उपाय में लगा हुआ है किन्तु उसे फल प्राप्त नहीं हो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर अप्रस्तुत (अशोक) से प्रस्तुत व्यक्ति की अवगति होती है। अतएव यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार की ध्वनि होती है। प्रथम उद्योत में वतलाया जा चुका है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत अर्थ सर्वदा व्यङ्ग्य होता है और वह कहीं-कहीं पर प्रधान भी होता है। इस प्रकार यहाँ पर सम्पूर्ण वाक्य के द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार की ध्वनि होती है। वाक्यगम्य होने के कारण वही प्रधान है। दो ध्वनियाँ एक साथ प्रधान नहीं हो सकती। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरन्यासध्वनि कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है? (उत्तर) यह वात आगे चलकर वतलाई जावेगी कि जितना ध्वनिकाव्य का विस्तार है वह पद के द्वारा भी प्रकाशित होता है और वाक्य के द्वारा भी। अर्थान्तरन्यासध्वनि

## लोचन

हृदये स्थापितो न तु बहिः प्रकटितो मन्युर्यया। अत एवाप्रदर्शितरोषमुखमपि मां प्रसादयन् हे बहुज्ञ, अपराद्धस्यापि तव न खलु रोषकरणं शक्यम्। अत्र बहुज्ञेत्यामन्त्रणार्थो विशेषे पर्यवसितः। अनन्तरं तु तदर्थपर्यालोचनाद्यत्सामान्यरूपं समर्थकं प्रतीयते तदेव चमत्कारकारि। सा हि खण्डिता सती वैदग्ध्यानुनीता तं प्रत्यसूयां दर्शयन्तीत्थमाह। यः कश्चिद्बहुज्ञो धूर्तः स एवं सापराधोऽपि स्वापराधावकाशमाच्छादयतीति मा त्वमात्मनि बहुमानं मिथ्या ग्रहीरिति। अन्वितमिति। विशेषे सामान्यस्य संबद्धत्वादिति भावः।

हृदय में स्थापित कर लिया है किन्तु बाहर प्रकट नहीं किया जा रहा है मन्यु जिसके द्वारा। अतएव मुख को रोष से युक्त न दर्शित करनेवाली भी मुझे प्रसन्न करते हुये हे बहुज्ञ! अपराधी भी तुम्हारे प्रति रोष करना शक्य नहीं है। यहाँ पर बहुज्ञ यह आमन्त्रणार्थ विशेष में पर्यवसित होता है। बाद में तो उसके अर्थ की पर्यालोचना के कारण जो समर्थक सामान्य रूप प्रतीत होता है वही चमत्कारकारक है। वह खण्डिता होती हुई वैदग्ध्य से मनाई जाकर उसके प्रति असूया दिखलाती हुई यह कहती है। 'जो कोई बहुज्ञ धूर्त (होता है) वही इस प्रकार सापराध होते हुये भी अपने अपराध के अवकाश को छिपाता है इस प्रकार तुम अपने प्रति मिथ्या बहुमान को मत ग्रहण करो।' यह। 'अन्वित' यह। भाव यह है कि विशेष मे सामान्य के सम्बद्ध होने के कारण।

## तारावती

'फल' पद के द्वारा प्रकाशित हो रही है और अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि वाक्य के द्वारा प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार प्रकाशक के भेद होने के कारण दोनो ध्वनियों की प्रधानता में कोई विरोध नहीं आता। दूसरी बात यह है कि फल पद के सहकार से दोनों अर्थों के समर्थक-समर्थ्य भाव की प्रधानता सहृदयों को प्रतीत होती है। अतएव इसे अर्थान्तरन्यासध्वनि कहना ही ठीक होगा।

(आ) अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य अर्थान्तरन्यास ध्वनि का उदाहरण—

किसी नायक ने अपराध किया है। नायिका उसके अपराध को जान गई है किन्तु उसने ऊपर से अपना रोष नहीं प्रकट होने दिया है। प्रियतम फिर भी उससे अनुनय विनय कर रहा है। इसपर नायिका कहती है—

'मैंने मन्यु को अपने हृदय में ही रख लिया है। मेरे मुख पर रोष का किसी प्रकार का कोई चिह्न प्रकट नहीं हो रहा है, फिर भी तुम मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहे हो। हे बहुज्ञ! यद्यपि तुम अपराधी हो फिर भी तुम्हारे ऊपर रोष नहीं किया जा सकता।'

ध्वन्यालोकः

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयतः सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्प्रदर्शितमेव। द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

जाएज्ज वणुद्देशे खुज्ज ञ्चिअ पाअवो गडिअवत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ता एक्करसो दरिद्दो अ॥
(जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च॥ इति छाया।)

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम्। तथाविधादपि पादपात्तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति।

(अनु०) व्यतिरेक ध्वनि भी दोनो रूपों में सम्भव है। उसमे प्रथम का उदाहरण पहले दिखला दिया गया है। द्वितीय का उदाहरण जैसे—

'वन के प्रदेश में गलित पत्तोंवाला कुबड़ा वृक्ष मैं बन जाऊँ। किन्तु मानव लोक में त्याग में ही एकमात्र आनन्द लेनेवाला दरिद्र बनकर जन्म न लूं।'

यहाँपर त्याग मे ही एकमात्र आनन्द लेनेवाले दरिद्र के जन्म का अभिनन्दन न करना और टूटे हुये पत्तोंवाले कुब्ज वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन करना साक्षात् शब्द वाच्य है। इस प्रकार के वृक्ष की अपेक्षा भी उस प्रकार के पुरुष की उपमानोपमेय भाव की प्रतीति के साथ अधिक शोचनीयता तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित होती है।

तारावती

यहाँ पर 'बहुज्ञ' इस सम्बोधन के वाच्य अर्थ का पर्यवसान विशेष मे होता है अर्थात् नायिका नायक को बहुज्ञ कहती है, उसका आशय यही है कि मैंने अपना रोष अभी प्रकट तो किया नहीं, फिर भी तुम जान गये कि मेरे हृदय मे रोष विद्यमान है; इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि तुम अपराधी हो और अपने अपराध को समझ करके ही मुझे मनाने की चेष्टा कर रहे हो। यही विशेषपरक (नायक-परक) अर्थ है। यहीं पर वाच्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बाद मे जब इस विशेष अर्थ की पर्यालोचना की जाती है और इस परिस्थिति की मीमासा की जाती है कि यह नायिका खण्डिता है और इसको वैदग्ध्य के साथ मनाया जा रहा है तब वह ये शब्द कह रही है, तब उससे एक सामान्य अर्थ और निकलता है—'जो कोई बहुत वाचाल और धूर्त होता है वह चाहे अपराधी ही क्यों न हो अपने अपराध को छिपाने मे समर्थ हो जाता है। इस सामान्य का विशेष में अन्वय हो जाता है क्योंकि सामान्य सर्वदा विशेष से ही सम्बद्ध होता है। इस प्रकार सामान्य के द्वारा

## लोचन

व्यतिरेकध्वनिरपीति। अपिशब्देनार्थान्तरन्यासवदेव द्विप्रकारत्वमाह। प्रागिति। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति' इति। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' इति। जायेय, वनोद्देश एव वनस्यैकान्ते गहने यत्र स्फुटतरबहुवृक्षसम्पत्त्या प्रेक्षतेऽपि न कश्चित्। कुब्ज इति रूपघटनादावनुपयोगी। गलितपत्र इति। छायामपि न करोति तस्य का पुष्पफलवत्तेत्यभिप्रायः। तादृशोऽपि कदाचिदाङ्गारिकस्योपयोगी भवेदुलूकादीनां वा निवासायेति भावः। मानुष इति। सुलभार्थिजन इति भावः। लोक इति। यत्र लोक्यते सोऽर्थिभिस्तेन

'व्यतिरेक ध्वनि भी'। 'भी' शब्द से अर्थान्तरन्यास के समान ही दो प्रकार का होना कहते हैं। 'पहले' यह। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति—' यह। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' यह। उत्पन्न होऊँ वन के उद्देश में ही वन के गहन एकान्त में जहाँ अधिक स्पष्ट बहुत से वृक्षों की सम्पत्ति से कोई देखता भी नहीं। कुब्ज यह। अर्थात् (किसी) रूप की सङ्घटना में अनुपयोगी। गलितपत्र इति। जो छाया भी नहीं करता उसके पुष्पफलशाली होने की क्या सम्भावना? यह अभिप्राय है। भाव यह है कि कदाचित् उस प्रकार का भी केला बनानेवाले का उपयोगी होवे या उलूक इत्यादि के निवास के लिये हो। मानुष इति। अर्थात् जिसको याचक लोग सुलभ हैं। लोक इति। भाव यह है कि जहाँ वह प्रार्थियों के

## तारावती

विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास की व्यञ्जना होती है। यह अर्थान्तर न्यास ही प्रधान है क्योंकि इसी से इस अर्थ की परिसमाप्ति होती है कि मैं तुम्हारे अपराध को खूब समझती हूँ। तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि तुम मुझे धोखा देने में सफल हो गये हो और न तुम्हें अपने ऊपर अभिमान करना चाहिये। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरन्यासध्वनि है। 'अन्वित' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि विशेष से सामान्य सम्बन्धित रहता ही है।

(५) व्यतिरेकध्वनि—व्यतिरेकध्वनि भी दो प्रकार की संभव है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। 'भी' का अर्थ है जिस प्रकार अर्थान्तरन्यासध्वनि के दो भेद होते हैं उसी प्रकार व्यतिरेकध्वनि के भी दो भेद सम्भव हैं। प्रथम भेद के उदाहरण पहले ही दिखलाये जा चुके हैं—वे ये हैं—खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति····· सन्तु वः' और 'रक्तस्त्वम् ·····धात्रा सशोकः कृतः।' अब अर्थशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण लीजिये—

'मैं वन के एक प्रदेश में नष्टपत्तोंवाला कुबड़ा वृक्ष बन जाऊँ किन्तु मनुष्य-संसार में एकमात्र त्याग में ही आनन्द लेनेवाला दरिद्र व्यक्ति कभी न बनूँ।'

'वन के प्रदेश में जन्म लूँ' कहने का आशय यह है कि जहाँ पर सैकड़ो

ध्वन्यालोकः

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिश्श्वासानिलमूर्छितः ।
मूर्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव । तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिश्श्वासानिलमूर्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते । न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धतैवेति शक्यते वक्तुम् । गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात् ।

(अनु०) उत्प्रेक्षा ध्वनि का उदाहरण जैसे—

'चन्दन में लिपटे हुये भुजङ्गों की निःश्वास वायु से मूर्छित हुआ यह मलय-पवन वसन्त मे पथिकों को मूर्छित करता है ।

यहाँपर वसन्त में मलय-पवन का पथिकों को मूर्छाकारक होना कामदेव सम्बन्धी उन्मथन प्रदान करने के द्वारा ही है । और उसकी चन्दन में लिपटे हुये भुजङ्गों के निःश्वास वायु के द्वारा मूर्छित होने के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है । इस प्रकार साक्षात् न कही हुई भी उत्प्रेक्षा वाक्यार्थ सामर्थ्य से अनुरणन रूप में प्रतीत होती है । यहाँपर यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के विषय में 'इव' इत्यादि शब्द के प्रयोग के बिना असंबद्धता ही रहती है । प्रमाण की सत्ता होनेपर अन्यत्र भी उसके प्रयोग न होनेपर उसके अर्थ का अवगमन देखा जाता है ।

लोचन

चार्थिजनो न च किञ्चिच्छक्यते कर्तुं तन्महद्वैशसमिति भावः । अत्र वाच्यालङ्कारो न कश्चित् । उपमानेत्यनेन व्यतिरेकस्य मार्गपरिशुद्धिं करोति । आधिक्यमिति । व्यतिरेकमित्यर्थः ।

उत्प्रेक्षितमिति । विषवातेन हि मूर्छितो । बृंहित उपचितो मोहं करोति । एकश्च मूर्छितः पथिकमध्येऽन्येषामपि धैर्यच्युतिं विदधन्मूर्छां करोतीत्युभयथोत्प्रेक्षा ।

द्वारा देखा जाता है और उसके द्वारा प्रार्थी लोग देखे जाते हैं तथा कुछ किया नहीं जा सकता। यह बहुत बड़ी मार डालनेवाली बात ( कष्ट कारक बात ) है। यहाँ कोई वाच्यालङ्कार नहीं है । उपमान इत्यादि ( शब्दों ) से व्यतिरेक की मार्ग-परिशुद्धि की जाती है । 'आधिक्य' अर्थात् व्यतिरेक ।

उत्प्रेक्षितमिति । विषवात से मूर्छित अर्थात् बढ़ाया हुआ अर्थात् उपचय को प्राप्त मोह को उत्पन्न कर देता है । पथिकों के मध्य मे एक मूर्छित दूसरों का भी धैर्यच्युत करते हुये मूर्छा उत्पन्न कर देता है इस प्रकार उभयथा उत्प्रेक्षा है ।

## लोचन

नन्वत्र विशेषणमधिकीभवद्धेतुतयैव सङ्गच्छते। ततः किम्? न हि हेतुता परमार्थतः। तथापि तु हेतुता उत्प्रेक्ष्यत इति यत्किञ्चिदेतत्। तदिति। तस्येवादेरप्रयोगेऽपि तस्यार्थस्येत्युत्प्रेक्षारूपस्यावगतेः प्रतीतेर्दर्शनात्।

(प्रश्न) यहाँ पर विशेषण अधिक होते हुये हेतुता के रूप मे ही सङ्गत होता है? (उत्तर) उस से क्या? वास्तव में तो हेतुता नहीं है। तथापि हेतुता की उत्प्रेक्षा की जाती है यह बहुत कुछ छोटी बात है। तत् इति। क्योंकि उस 'इव' इत्यादि शब्द के प्रयोग न होने मे भी उस उत्प्रेक्षारूप अर्थावगति की प्रतीति के दर्शन होते हैं।

## तारावती

समृद्ध वृक्षों की सम्पत्ति स्फुट रूप मे प्रतीत हो रही हो वहाँ एक कुबड़े वृक्ष की ओर कोई दृष्टि भी न डालेगा। 'कुबड़ा' कहने का आशय यह है कि जिससे लकड़ी के उपयोग की कोई आकृति भी न बनाई जा सके। 'नष्ट पत्तोंवाला' कहने का आशय यह है कि मैं वृक्ष के रूप में छाया भी न दे सकूं फल और पुष्पों की तो बात ही क्या? ऐसा वृक्ष भी कभी या तो केला बनानेवाले के काम मे आ जाता है या उलूक इत्यादि के निवास के लिये भी कदाचित् उसका उपयोग हो जाता है। 'मनुष्य-लोक मे' मनुष्य का आशय यह है कि जहाँ याचक लोग सुलभ हों। लोक शब्द 'लोक्' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। अतः लोक शब्द का आशय यह है कि जहाँ पर अर्थी लोगों के द्वारा मे देखा जाऊँ और मैं अर्थियों को देखूं। याचक सहायता की प्रार्थना भी करें और उनकी सहायता की कामना भी हृदय मे विद्यमान हो, किन्तु दरिद्रता के कारण कुछ किया न जा सके तो इससे बढकर दुःखदायक बात और क्या होगी?

यहाँ पर केवल दान में ही आनन्द लेनेवाले दरिद्रव्यक्ति के जन्म की निन्दा की गई है और नष्ट पत्तोंवाले कुबड़े वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन किया गया है। यहाँ पर कोई वाच्यालङ्कार नहीं है। पहले तो 'दान मे आनन्द लेनेवाला दरिद्र व्यक्ति टूटे हुये पत्तोंवाले कुबड़े वृक्ष के समान होता है' यह उपमा व्यक्त होती है। यह उपमा व्यतिरेक की मार्गपरिशोधिका है। फिर तात्पर्य के द्वारा अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से यह प्रकट होता है कि एक ठूँठ कुबडे वृक्ष की अपेक्षा एक दान के प्रेमी दरिद्र व्यक्ति का जन्म अधिक घृणास्पद है और उसको शोक भी अधिक होता है।' आधिक्य का अर्थ है व्यतिरेक। अर्थ का पर्यवसान इसी में होता है अतएव यह व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है।

ध्वन्यालोकः

यथा—

ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो ।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ ॥
( ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः ।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग एव न माति ॥ ) इति छाया ।

(अनु०) जैसे—

निस्सन्देह यह पूर्णिमा का चन्द्रमा ईर्ष्या-कलुषित भी तुम्हारे मुख के सादृश्य को प्राप्तकर आज अपने अङ्ग मे ही नहीं समा रहा है ।

तारावती

( ६ ) उत्प्रेक्षाध्वनि जैसे—

'वसन्त काल में मलयपवन चन्दन में लपटे हुये सर्पों के नि.श्वास वायु से मूर्छित हो गया है तथा पथिकों को मूर्छित कर रहा है ।'

मूर्छित शब्द के दो अर्थ हैं—बढा हुआ और मूर्छा को प्राप्त। सर्पों के निःश्वास में विष का सम्पर्क रहता है । अतएव विष-वायु से जो बढा हुआ है वह दूसरों पर अपना विष का प्रभाव अवश्य जमावेगा । इसीलिये मलय-पवन विष-वायु से वृद्धि को प्राप्त होकर दूसरों को मूर्छित कर रहा है । अथवा मलय-पवन मानों एक पथिक है जो कि विषवायु से मूर्छित हो गया है पथिकों मे यदि एक मूर्छित हो जाता है तो वह दूसरों के भी धैर्य को च्युत कर देता है और दूसरे पथिक भी मूर्छित हो जाते हैं । अतएव यहाँ पर दोनों रूपों में उत्प्रेक्षा होती है । वसन्तकाल मे मलयपवन का कामोद्दीपक होने के कारण पथिकों को मूर्छित करनेवाला होता है; किन्तु उसकी उत्प्रेक्षा चन्दन में लिपटे हुए सर्पों के निःश्वास वायु से मूर्छित होने के रूप में व्यक्त होती हैं । 'मानों' सर्पों के विषयुक्त श्वासवायु से बढकर मलय-पवन पथिकों को मूर्छित कर रहा है अथवा 'सर्पों की विषैली श्वासवायु से मूर्छा को प्राप्त होकर मलय-पवन पथिकों को भी मूर्छित कर रहा है ।' यहाँ पर उत्प्रेक्षा यद्यपि साक्षात् शब्दोपात्त नहीं है किन्तु फिर भी वाक्यार्थसामर्थ्य से अनुरणन रूप मे व्यक्त होती है ।

( प्रश्न ) यहाँ पर 'चन्दन मे लिपटे हुये सर्पों के श्वासवायु से मूर्छित' यह मलयपवन का विशेषण है जो कि प्रकृत अर्थ की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है । कवि को कहना केवल इतना ही है कि मलय-पवन पथिकों को मूर्छित कर देता है, उपर्युक्त विशेषण प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । अतएव यह पथिकों को मूर्छित करने मे हेतु ही क्यों न माना जावे ? इसे आप उत्प्रेक्षा किस प्रकार कह सकते हैं ? ( उत्तर ) यदि आप इसे हेतु मानेगे तो इससे क्या हो जावेगा ? यह

## लोचन

एतदेवोदाहरति—यथेति । ईर्ष्याकलुषस्यापीषदरुणच्छायाकस्य । यदि तु प्रसन्नस्य मुखस्य सादृश्यमुद्वहेत् सर्वदा वा तत्किंकुर्यात्त्वन्मुखं त्वेतद्भवतीति मनोरथानामप्यपथमिदमित्यपिशब्दस्याभिप्रायः । अङ्के स्वदेहे न मात्येव दशदिशः पूरयति यतः । अद्येयताकालेनैकं दिवसमात्रमित्यर्थः । अत्र पूर्णचन्द्रेण दिशां पूरणं स्वरससिद्धमेवमुत्प्रेक्ष्यते ।

इसी का उदाहरण देते हैं—'यथा' इति । 'ईर्ष्या कलुष का भी' अर्थात् उसका भी जिसकी चमक कुछ लाल हो गई है । यदि प्रसन्न मुख की समानता धारण करे अथवा सर्वदा ( समान रहे ) तो क्या करे ? तुम्हारा मुख यह हो जावेगा यह तो मनोरथों के भी मार्ग से दूर है यह अपि शब्द का अभिप्राय है । अङ्क में अर्थात् अपने शरीर में ही नहीं समा रहा है क्योंकि दस दिशाओं को भर रहा है । 'आज' अर्थात् इतने समय मे केवल एक दिन के लिये । यहाँपर पूर्ण चन्द्र के द्वारा दिशाओं का भरा जाना स्वतः सिद्ध है जिसकी इस प्रकार उत्प्रेक्षा की जा रही है ।

## तारावती

कोई वास्तविक हेतु तो है नहीं । यह तो सभी जानते हैं कि सर्पों के विष के सम्पर्क से पथिकों को मूर्छा नहीं आती । केवल हेतु के रूप मे उत्प्रेक्षा कर ली गई है । अतएव इसे आप हेतूत्प्रेक्षा कह सकते हैं।

यहाँ पर आप यह बात नहीं कह सकते कि इस प्रकार के विषय मे 'इव' ( मानों ) इत्यादि शब्द के प्रयोग के अभाव मे वाक्य असम्बद्ध मालूम पड़ने लगता है । काव्य का अनुशीलन करनेवाले की प्रतिभा इत्यादि के सहकार से उपर्युक्त विशेषण स्वतः इस प्रकार के अर्थ के बोधक हो जाते हैं । दूसरे स्थानों पर भी देखा जाता है कि इव इत्यादि शब्दों के प्रयोग न होने पर भी उत्प्रेक्षा की प्रतीति हो जाती है । उदाहरण—

'निस्सन्देह यह पूर्णिमा का चन्द्रमा आज ईर्ष्या से कलुषित भी तुम्हारे मुख की समानता को प्राप्तकर अपने अङ्क में नहीं समा रहा है' ।

जब मुख ईर्ष्या से कलुषित हो गया है और कुछ अरुणिमा को धारण कर रहा है तब चन्द्र उसकी तुलना को प्राप्त होकर प्रसन्नता के कारण अपने अङ्क में ही नहीं समा रहा है; फिर यदि वह प्रसन्न मुख-मण्डल की तुलना को धारण कर ले तो न मालूम क्या-क्या करे ? आशय यह है कि यह कहना कि चन्द्रमा तुम्हारे मुख का रूप धारण कर सकेगा यह कहने का साहस करना तो मनोरथों के भी दूर है; यही 'ईर्ष्या से कलुषित भी' में भी शब्द का अर्थ है। 'आज' का अर्थ है केवल एक दिन

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्णनयनेषु हृतेक्षणश्रीः ॥

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् ।

(अनु०) अथवा जैसे—

'मृग त्रास से व्याकुल होकर चारों ओर घरों की ओर दौड़ते हुये धनुर्धारी किन्हीं पुरुषों के द्वारा पीछा नहीं किया गया । तथापि अङ्गनाओं के कानों तक खींचे हुये नेत्र बाणों के द्वारा पराजित की हुई नेत्रकान्तिवाला होकर कहीं स्थित न हुआ ।' शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण है ।

लोचन

ननु ननुशब्देन वितर्कोत्प्रेक्षारूपमाचक्षाणेनासम्बद्धता निराकृतेति सम्भावयमान उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । परितः सर्वतः निकेतान् परिपतन्नाक्रामन् न कैश्चिदपि चापपाणिभिरसौ मृगोऽनुबद्धस्तथापि न क्वचित्तस्थौ । त्रासचापलयोगात्स्वाभाविकादेव । तत्र चोत्प्रेक्षा ध्वन्यते—अङ्गनाभिराकर्णपूर्णैर्नेत्रशरैर्हृता ईक्षणश्रीः सर्वस्वभूता यस्य यतोऽतो न तस्थौ । नन्वेतदप्यसम्बद्धमस्त्वित्याशङ्क्याह—शब्दार्थेति ।

यहाँपर यह सम्भावना करते हुये कि 'वितर्क तथा उत्प्रेक्षा के रूप को कहनेवाले 'ननु' शब्द में असम्बद्धता का निराकरण हो गया' दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'अथवा जैसे'—'परितः' अर्थात् चारों ओर घरों की ओर दौड़कर आता हुआ मृग किन्हीं भी धनुषधारी ( पुरुषों ) से अनुबद्ध नहीं किया गया ( मारा नहीं गया ) तथापि कहीं स्थित नहीं हुआ क्योंकि उसका त्रास और चञ्चलता का योग स्वाभाविक है ही । वहाँपर उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है—क्योंकि 'अङ्गनाओं के आकर्णपूर्ण नेत्र-बाणों से उनकी सर्वस्वभूत नेत्रकान्ति नष्ट कर दी गई थी अतः वे स्थित नहीं हो सके । ( प्रश्न ) यह भी असम्बद्ध ही हो यह शङ्का करके ( उत्तर देते हुये ) कहते हैं—शब्दार्थ इति ।

तारावती

अर्थात् पूर्णिमा के दिन । 'अङ्ग में नहीं समा रहा है' कहने का आशय यह है कि दसो दिशाओं में भर रहा है। वस्तुतः चन्द्र का दसो दिशाओं को प्रपूरित कर देना स्वयं सिद्ध है किन्तु उसके लिये कल्पना की गई है कि 'मानों ईर्ष्या के कारण नायिका के मुख के कलुषित हो जाने पर चन्द्रमा उसकी तुलना करने में समर्थ हो गया है

तारावती

इसीलिये वह प्रसन्नता के कारण आपे से बाहर होकर दसों दिशाओं में फैल रहा है। यह उत्प्रेक्षा है। इसकी भी प्रतीति बिना ही इव इत्यादि शब्द के प्रयोग के होती है।

( प्रश्न ) ऊपर निस्सन्देह ( ननु ) शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द वितर्क का वाचक है और इसीलिये उत्प्रेक्षा के स्वरूप को प्रकट करता है। फिर आप यह कैसे कह रहे है कि 'यहाँ पर बिना ही इव इत्यादि शब्द के प्रयोग के उत्प्रेक्षा अवगत हो जाती है और अर्थों की असम्बद्धार्थकता जाती रहती है'?

( उत्तर ) तो फिर दूसरा उदाहरण लीजिये—

'एक मृग त्रास से व्याकुल होकर चारों ओर भवनों के सामने दौड़ रहा था किन्तु किन्हीं भी धनुर्धर पुरुषों ने उसका पीछा नहीं किया। तथापि अङ्गनाओं के कान तक ताने हुये नेत्रबाणों से नष्ट-नेत्रकान्तिवाला होकर वह कहीं रुका नहीं।'

मृगों का स्वभाव ही होता है कि या तो त्रास के कारण या अपनी स्वाभाविक चञ्चलता से वे कहीं रुकते नहीं। उसके लिये उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है कि मानो अङ्गनाओं के नेत्र-बाणों से अपने नेत्रों की शोभा के उपहत हो जाने के कारण वे कहीं रुके नहीं। यहाँ पर कोई शब्द ऐसा नहीं जो उत्प्रेक्षा को प्रकट करे फिर भी उत्प्रेक्षा प्रकट हो जाती है और किसी प्रकार की असम्बद्धार्थकता नहीं रहती। इसी प्रकार 'चन्दन में लिपटे हुये''' '''मूर्छित कर रहा है।' इस वाक्य में भी असम्बद्धार्थकता नहीं मानी जानी चाहिये।

( प्रश्न ) जिस प्रकार आप इस वाक्य के अनुसार उसे संबद्ध वाक्य मान लेते हैं उसीप्रकार उस वाक्य के अनुसार इसे आप असंबद्ध क्यों नहीं मान लेते? ( उत्तर ) शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण होती है। जहाँ पर सहृदयों को असंबद्धार्थकता का भान होता है वहाँ पर असंबद्धार्थकता मानी जाती है और जहाँ पर उसका भान नहीं होता वहाँ असंबद्धार्थकता नहीं मानी जाती। यहाँ पर सहृदयों को असंबद्धार्थकता का भान नहीं होता अतः असंबद्धार्थकता नहीं मानी जाती।

[ यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिये कि उत्प्रेक्षा की तीन स्थितियाँ होती है—वाच्योत्प्रेक्षा, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और ध्वन्यमानोत्प्रेक्षा। उत्प्रेक्षण तत्त्व विद्यमान हो और उत्प्रेक्षा को प्रकट करने के लिये 'इव' इत्यादि शब्दों मे किसी का प्रयोग किया हो वहाँ पर वाच्योत्प्रेक्षा होती है। जहाँ पर 'इव' इत्यादि किसी वाचक शब्द का प्रयोग न किया गया हो किन्तु बिना उत्प्रेक्षा के अर्थ की पूर्ति हो जावे, बाद मे उत्प्रेक्षा अभिव्यक्त हो जावे और काव्य-सौन्दर्य तन्निष्ठ ही हो वहाँ पर

ध्वन्यालोकः

श्लेषध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्तनसद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति प्रतीतिरशब्दाऽप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते ।

(अनु०) श्लेष की ध्वनि जैसे—

'( जिस द्वारका पुरी मे ) रमणीयता के कारण पताका को प्राप्त करनेवाली, एकान्त के कारण राग को बढ़ानेवाली, झुकी हुई वलीका ( छादनाधार ) वाली वलभियों का सेवन युवक लोग अपनी वधुओं के साथ करते थे ।'

यहाँ पर 'वधुओं के साथ वलभियों का सेवन करते थे' इस वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद 'वधुयें वलभियों के समान थीं' यह श्लेष की प्रतीति विना ही शब्द के अर्थसामर्थ्य से मुख्य रूप मे वर्तमान है ।

लोचन

पताका ध्वजपटान् प्राप्तवतीः । रम्या इति हेतोः । पताकाः प्रसिद्धीः प्राप्तवतीः । किमाकाराः प्रसिद्धीः रम्या इत्येवमाकाराः । विविक्ता जनसङ्कुलत्वाभावादित्यतो रागं सम्भोगाभिलाषं वर्धयन्तीः । अन्ये तु रागं चित्रशोभामिति । तथा रागमनुरागं वर्धयन्तीः । यतो हेतोः विविक्ताः विभक्ताङ्ग्यो लटभा याः । नमन्ति वलीकानि छदिपर्यन्तभागा यासु । नमन्त्यो वल्ल्यस्त्रिवलीलक्षणा यासाम् । समामिति सहेत्यर्थः । ननु · समशब्दात्तुल्यार्थोऽपि प्रतीतः । सत्य सोऽपि श्लेषबलात् । श्लेषश्च नाभिधावृत्तेराक्षिप्तः, अपि त्वर्थसौन्दर्यबलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः । अत एव वध्व इव वलभ्य इत्यभिदधतापि वृत्तिकृतोपमाध्वनिरितिनोक्तम् । श्लेषस्यैवा-

पताका अर्थात् ध्वजपटों को प्राप्त करनेवाली क्यों रमणीय हैं इस हेतु से । पताका अर्थात् प्रसिद्धि को प्राप्त करती हुई । किस प्रकार की प्रसिद्धि ? रमणीय हैं इसी प्रकार की । विविक्त अर्थात् जनसङ्कुलत्व के अभाव में इसी हेतु से राग अर्थात् सम्भोगाभिलाप को बढ़ाती हुई । जिस कारण से विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गोंवाली अर्थात् सुन्दरियाँ । वलीक अर्थात् छदपर्यन्त भाग जिसमे झुक रहे हैं, झुक रही हैं त्रिवली नाम की वलियाँ जिनकी । 'समम्' यह साथ के अर्थ मे है । ( प्रश्न ) सम शब्द से तुल्य अर्थ भी प्रतीत होता है । ( उत्तर ) ठीक है, किन्तु वह भी श्लेष के वल से ही और श्लेष अभिधावृत्ति से आक्षिप्त नहीं ( किया गया ) है । अपितु अर्थसौन्दर्य वल से श्लेष सर्वथा ध्वन्यमान ही है । अतएव वधुओं के समान वलभियाँ यह कहते हुये भी वृत्तिकार ने उपमाध्वनि यह नहीं कहा ! क्योंकि

## लोचन

मूलत्वात्। समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमाया एव स्पष्टत्वाच्छ्लेषस्तदाक्षिप्तः स्यात्। समभिति निपातोऽञ्जसा सहार्थवृत्तिर्व्यञ्जकत्ववलेनैव क्रियाविशेषणत्वेन शब्दश्लेषतामेति। न च तेन विनाभिधाया अपरिपुष्टता काचित्। अत एव समाप्तायामेवाभिधायां सहृदयैरेव स द्वितीयोऽर्थोऽपृथग्यत्नेनैवावगम्यः। यथोक्तं प्राक्—'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' इत्यादि। एतच्च सर्वोदाहरणेष्वनुसर्तव्यम्। 'पीनरचैत्रो दिवा नाक्ति' इत्यत्राभिधैवापर्यवसितेति सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तार्किकमीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्ग इत्यलं बहुना। तदाह—अशब्दापीति।

यहाँ मूल तो श्लेष ही है। 'समाः' यह यदि स्पष्ट होता तो उपमा के ही स्पष्ट होने से श्लेष उसके द्वारा आक्षिप्त हो जाता। 'समम्' यह साथ के अर्थ में विद्यमान निपात क्रियाविशेषण होने के कारण व्यञ्जकत्व के बल से ही शीघ्र ही शब्दश्लेषता को प्राप्त हो जाता है। उसके बिना अभिधा की कोई अपरिपुष्टता नहीं है। अतएव अभिधा के समाप्त हो जानेपर ही सहृदयों के द्वारा ही वह दूसरा अर्थ अपृथक् यत्न से अवगत करने योग्य हो जाता है। जैसा पहले कहा गया—'केवल शब्दार्थशासन ज्ञान मात्र से ही....' इत्यादि। इसका तो अनुसरण सभी उदाहरणों में किया जाना चाहिये। 'पीन चैत्र दिन मे नहीं खाता है' यहाँ पर अभिधा ही पर्यवसित नहीं हुई है; इस प्रकार वही स्वार्थ निर्वाह के लिये अर्थान्तर और शब्दान्तर का आकर्षण करती है। इस प्रकार तार्किक और मीमासक के अनुमान और श्रुतार्थापत्ति का ध्वनिप्रसङ्ग नहीं है। बस, बहुत कहने की क्या आवश्यकता? वही कहते हैं—'शब्दरहित भी'।

## तारावती

ध्वन्यमान उत्प्रेक्षा होती है। इनके उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों मे दिये गये हैं वहीं देखने चाहिये। ]

श्लेषध्वनि का उदाहरण जैसे शिशुपालवध मे माघ कवि ने द्वारका के वर्णन के अवसर पर लिखा है—

'रमणीय होने के कारण पताका प्राप्त करनेवाली, एकान्त (विविक्त) होने के कारण राग को बढानेवाली, झुकी हुई वलीकाओंवाली वलभियों को युवक लोग वधुओं के साथ सेवन कर रहे थे।'

यहाँ पर सामान्य वाच्यार्थ यही है कि युवक लोग अपने साथ अपनी प्रियतमाओं को लिये हुये अपने गुप्त विलास-गृहों का सेवन करते थे। किन्तु यहाँ पर वलभियों (कूटागारों) के लिये जो विशेषण दिये गये है वे द्वयर्थक है जो एक ओर वलभियों के साथ लगते हैं और दूसरी ओर वधुओं के साथ। इससे एक प्रतीति

तारावती

यह उत्पन्न होती है कि वलभियाँ वधुओं के समान थीं। 'रमणीयता के कारण पताका प्राप्त करनेवाली थीं।' वलभी के पक्ष में इसका अर्थ होगा—उनपर ध्वजपट फहरा रहे थे, क्योंकि वे रमणीय थीं। ध्वजायें उन्हीं भवनों पर बाँधी जाती हैं जो रमणीय होते हैं। वधू के पक्ष मे 'वे पताका अर्थात् प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुकी थीं। किस प्रकार की प्रसिद्धि? रमणीय या रूपवती होने की प्रसिद्धि। वलभिया विविक्त अर्थात् जन समूह से घिरे न होने के कारण राग अर्थात् सम्भोग की अभिलाषा बढ़ा रहीं थीं। कुछ लोग यहाँ पर यह अर्थ करते हैं कि वलभियां जनसमूह से घिरे न होने के कारण राग अर्थात् चित्र-शोभा को बढा रही थीं। आशय यह है कि उन वलभियों में चित्रकला पूर्णरूप से चमक रही थी क्योंकि लोग वहाँ आते जाते नहीं थे जिससे उस चित्रकला में मलिनता आ जाती। वधुयें भी राग अर्थात् अनुराग को बढ़ा रही थीं क्योंकि वे विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गोंवाली बहुत ही सुन्दरी थीं। वलभियों की वलीकायें अर्थात् छादनाधार काष्ठ झुके हुये थे। दूसरी ओर वधुओं की उदरस्थ वलियाँ (त्रिवली) झुकी हुई थीं। इस प्रकार वलभियाँ वधुओं के समान थीं। समम् शब्द का अर्थ है साथ में। (प्रश्न) 'समम्' शब्द से तुल्य अर्थ की भी तो प्रतीति होती है। यदि समम् का तुल्य अर्थ मान लिया जावे तो उपमा वाच्य हो गई। उपमा की उस वाच्यता को पूरा करने के लिये सभी विशेषणों का दूसरा अर्थ करना ही पड़ेगा अन्यथा साधारण धर्म की एकता सिद्ध नहीं होगी। इस प्रकार श्लेष यहाँ पर वाच्य ही है व्यङ्ग्य नहीं। फिर आप यहाँ पर श्लेषध्वनि किस प्रकार मानते हैं? (उत्तर) यहाँ पर 'समम्' का उपमापरक अर्थ तभी निकल सकता है जब कि श्लिष्ट अर्थ की व्यञ्जना हो जाती है। श्लिष्ट अर्थ व्यञ्जनावृत्ति से ही निकल सकता है अभिधावृत्ति से नहीं। कारण यह है कि अभिधावृत्ति की विश्रान्ति बिना ही श्लिष्ट अर्थ के हो जाती है। अर्थसौन्दर्य के कारण ही श्लिष्ट अर्थ की ध्वनि होती है। अतएव श्लेष की ध्वनि ही मानी जावेगी अभिधा नहीं। इसीलिये यद्यपि वृत्तिकारने यह लिखा है कि 'वधुओं के समान वलभियां थीं' फिर भी उपमाध्वनि नहीं मानी। क्योंकि यहाँ पर उपमा का मूल श्लेष ही है। यदि 'समम्' इस क्रियाविशेषण के स्थानपर 'समा.' यह वधुओं या वलभियों का विशेषण रक्खा गया होता तो उपमा स्पष्ट (वाच्य) होती और उसके बल पर श्लेष का आक्षेप किया जाता। 'समम्' यह निपातार्थक अव्यय है और शीघ्र ही 'वधुओं के साथ मे' इस अर्थ का अभिधायक हो जाता है। क्योंकि यह क्रियाविशेषण है अतः वधुओं का विशेषण एकदम नहीं हो जाता। फिर व्यञ्जना के बलपर ही शब्द-श्लेष का रूप धारण करता है। यदि यहाँ पर विशेषणों को वधुओं के साथ न जोड़ा

तारावती

जावे और यह अर्थ न किया जावे कि 'वलभिया वधुओं के समान थीं' तो भी अर्थ की पूर्ति में कोई कमी नहीं रह जाती और न उसके विना अभिधा की किसी प्रकार की अपरिपुष्टता शेष रह जाती है। अतएव जव अभिधा समाप्त हो जाती है तभी केवल सहृदय व्यक्ति तो द्वितीय अर्थ को जान पाते है और उसके लिये कवि को कोई पृथक् यत्न करना नहीं ही पड़ता। यहाँ पर इस पूरे विवरण का आशय यही है कि जव हम इस पद्य को सुनते हैं तव हमे एकदम अर्थ का अवगमन होने लगता है कि युवक लोग वधुओं के साथ अपने कूटागारों का सेवन करते थे। वाद मे सहृदय व्यक्तियों का ध्यान जव इस ओर जाता है कि इस पद्य मे जितने भी विशेषण वलभियों के लिये दिये गये हैं वे तो वधुओं के लिये भी लागू हो सकते है और उससे एक अधिक सुन्दर अर्थ निकल सकता है, तव 'समम्' का अर्थ समान भी हो सकता है इस ओर सहृदयों का ध्यान जाता है। अत. यहाँ पर श्लेप व्यङ्ग्य ही है और चमत्कार का पर्यवसान उसी में होने के कारण श्लेपध्वनि यहाँ पर कही जावेगी। इसका निष्कर्प यही है कि जहाँ पर वाच्यार्थ की पूर्णतया पूर्ति हो जावे; उसमें किसी प्रकार की कमी शेप न रह जावे उसके वाद सहृदय व्यक्तियों को चमत्कारपूर्ण एक दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगता है वही ध्वनि का रूप धारण करता है।

यही वात पहले भी कही जा चुकी है कि–'वह प्रधानीभूत काव्यार्थ केवल शब्दानुशासन और केवल अर्थानुशासन ही नहीं जाना जा सकता उसको केवल काव्यार्थ-तत्त्ववेत्ता ही जान पाते हैं। यह वात सभी उदाहरणों मे समझी जानी चाहिये। इस वात को समझ लेने से मीसांसकों और तार्किको का स्वतः समाधान हो जाता है। मीमांसक लोग उपर्युक्त व्यञ्जना के विषय में श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति मानते हैं। आक्षेप के विषय में ममांसकों के दो मत हैं। प्रथम है कुमारिल भट्ट का और दूसरा है प्रभाकर गुरु का। प्रथम मत को श्रुतार्थापत्ति कहा जाता है और दूसरे को अर्थापत्ति। प्रथम मत के अनुसार आकांक्षा की पूर्ति के लिये शब्द का आक्षेप करलिया जाता है। जैसे—'स्थूल देवदत्त दिनमे नहीं खाता है' यहाँ पर 'रात मे खाता है' का आक्षेप करलिया जाता है। दूसरे मत के अनुसार शब्द के अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है जैसे उसी उदाहरण मे रात्रिभोजन के अर्थ का आक्षेप किया जाता है। तार्किक लोग इस प्रकार के आक्षेप को अनुमान द्वारा गतार्थ करते है। किन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार की श्रुतार्थापत्ति अर्थापत्ति या अनुमान के विना अभिधेयार्थ की ही पूर्ति नहीं होती। अभिधा ही अपर्यवसित होकर ऐसे स्थान पर स्वार्थ-निर्वाह के लिये अर्थान्तर या शब्दान्तर को अपनी ओर खींच लेती है।

ध्वन्यालोकः

यथासङ्ख्यध्वनिर्यथा—

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।
अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः॥

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषणभूताङ्कुरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद्वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते। एव मन्येऽप्यलङ्काराः यथायोगं योजनीयाः।

(अनु०) यथासंख्यध्वनि का उदाहरण—

'आम का वृक्ष अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ और हृदय में कामदेव भी अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ।'

यहाँपर निस्सन्देह उच्चारण के प्रथम क्रम के अनुसार ही जो बाद मे भी उच्चारण किया गया है उससे मदन के विशेषणभूत अङ्कुरित इत्यादि शब्दों के अन्दर अनुरणन रूप जो चारुता प्रतीत होती है वह तुल्ययोगिता और समुच्चयरूप वाच्य से भिन्न ही प्रतीतिगोचर होती है।

लोचन

एवमन्येऽपीति। सर्वेषामेवार्थालङ्काराणां ध्वन्यमानता दृश्यते। यथा च दीपक ध्वनिः—

'इस प्रकार दूसरे भी' सभी अर्थालङ्कारों की ध्वन्यमानता देखी जाती है।

तारावती

किन्तु व्यञ्जना सदा अभिधेयार्थ की पूर्ति हो जाने पर ही कार्य कर सकती है। अतएव व्यञ्जना का अन्तर्भाव तार्किकों और मीमासकों के अनुमान, श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति मे नहीं हो सकता। इसीलिये मूल मे कहा गया है कि यहाँ पर श्लेष विना ही शब्द के प्रतीत होता है।

(८) यथासंख्यध्वनि का उदाहरण—

'आम अङ्कुरित हुआ, पल्लवित हुआ, कोरकित हुआ और पुष्पित हुआ। हृदय मे कामदेव अङ्कुरित हुआ, पल्लवित हुआ, कोरकित हुआ और पुष्पित हुआ।'

यहाँ पर आम के अङ्कुरित होने इत्यादि का जोकि अप्रस्तुत हैं एक धर्म आम मे सम्बन्ध होता है और काम के अङ्कुरित होने इत्यादि का जो प्रस्तुत हैं, एक धर्म कामदेव मे सम्बन्ध होता है। अतएव यहाँ पर तुल्ययोगिता अलङ्कार है। आम उद्दीपन विभाव है और उसका अङ्कुरित होना ही कामोद्दीपन के लिये पर्याप्त है; पल्लवित होना इत्यादि उसी कार्य को करनेवाले हैं। अतएव यहाँ पर समुच्चयालङ्कार है। अथवा जैसे ही आम अङ्कुरित इत्यादि हुआ वैसे ही काम भी अङ्कुरित इत्यादि

हो गया । इस प्रकार भी समुच्चयालङ्कार ही है । ये दोनों वाच्यालङ्कार हैं । कारण यह है कि समस्त प्रस्तुतों और समस्त अप्रस्तुतों को एक में जोड़ने के लिये यहाँ पर 'और' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव जब तक समस्त प्रस्तुतों और समस्त अप्रस्तुतों का एक साथ योग नहीं हो जाता तब तक और के वाच्यार्थ की पूर्ति ही नहीं होती । इसी प्रकार आम और कामदेव के एक साथ अङ्कुरित होने इत्यादि का बोध भी 'और' इस शब्द के प्रयोग के कारण ही होता है । और इस शब्द का प्रयोग भी 'जैसे ही' के अर्थ में देखा जाता है। जैसे 'मैंने उसे देखा और मुझे क्रोध आगया ।' इसका आशय यही है कि उसको देखना और क्रोध का आना एक साथ हुआ । इस प्रकार यहाँ पर समुच्चय और तुल्ययोगिता दोनों ही वाच्यालङ्कार हैं । अर्थ की परिसमाप्ति यहीं पर हो जाती है । बाद में 'पश्चात् निदश होने पर क्रमशः सम्बन्ध हुआ करता है' इस सिद्धान्त को लेकर यह आशय निकल आता है कि जैसे ही आम अङ्कुरित हुआ काम अङ्कुरित होगया, आम के पल्लवित होते ही काम पल्लवित होगया, आम के कोरकित होते ही काम कोरकित होगया और आम के पुष्पित होते ही काम भी पुष्पित हो गया । यह यथासंख्य अलङ्कार वाच्य की सीमा के बाहर है और केवल ध्वनित ही हो रहा है । यथासम्भव अलङ्कार वाच्य वहाँ पर होता है जहाँ क्रमानुसार अन्वय के न होने पर वाच्य की परिसमाप्ति ही न हो । जैसे काव्य-प्रकाश का उदाहरण—'हे राजन् यह बड़ी विचित्र बात है कि आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों और मृगनयनियों के अन्तःकरणों में तीन प्रकार से निवास करते है और अपनी प्रतापाग्नि, विनय और विलास के द्वारा उनके अन्तःकरणों में सन्ताप, आनन्द और रति को पुष्ट करते हैं ।' इस उदाहरण में क्रमशः प्रतापाग्नि से शत्रुओं में सन्ताप उत्पन्न किया जाता है, विनय के द्वारा विद्वानों में आनन्द की सृष्टि की जाती है और विलास के द्वारा रमणियों मे रति का परिपोष किया जाता है । न तो शत्रुओं में आनन्द या रति हो सकती है; न विद्वानों या रमणियों में सन्ताप ही हो सकता है । जब तक यहाँ पर क्रमशः अर्थ नहीं किया जाता तब तक वाच्यार्थ की परिसमाप्ति होती ही नहीं । किन्तु यह बात प्रस्तुत उदाहरण में नहीं है । यहाँ पर आम के पुष्पित होने से काम कोरकित भी हो सकता है अङ्कुरित भी हो सकता है और पुष्पित भी हो सकता है । इसी प्रकार आम के कोरकित होने से भी ये सभी बातें हो सकती हैं । इसीलिये यहाँ पर यथासख्य व्यङ्ग्य है वाच्य नहीं । )

ऊपर कतिपय अलङ्कारों की ध्वनि का निरूपण किया गया है । सभी प्रकार के अर्थालङ्कार प्रायः ध्वनित होते हुये देखे जाते हैं । अन्य अलङ्कारों की ध्वनि को भी यथासम्भव समझ लेना चाहिये । कतिपय उदाहरण और लीजिये—

## लोचन

अपह्नुतिध्वनिर्यथाऽस्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

यः कालागुरुपत्त्रभङ्गरचना वासैकसारायते
गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुधाधामनि ॥
विच्छेदानलदीपितोत्कवनिताचेतोऽधिवासोद्भवं
सन्तापं विनिनीषुरेष विततैरङ्गैर्नताङ्गि स्मरः ॥

अत्र चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनो लक्ष्मणो वियोगाग्निपरिचितवनिताहृदयोदित-प्लोषमलीमसच्छविमन्मथाकारतयापह्नवो ध्वन्यते । अत्रैव सन्देहध्वनिः—यतश्चन्द्र-

अपह्नुति की ध्वनि जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

'जो गौराङ्गी वनिताओं के कुचकुम्भ के समान विशाल तथा सुभग आभोग-वाले सुधाकर मे काले अगर के बड़े पत्ते की रचना के निवास के समान सारवान् हो रहा है, हे नताङ्गि वह वियोगाग्नि से प्रदीप्त उत्कण्ठित वनिताओं के चित्त में निवास करने से उत्पन्न सन्ताप को दूर करने की इच्छा करते हुये यह कामदेव अपने विस्तृत ( फैले हुये ) अंगों से ( विराजमान है ) ।

यहाँ पर चन्द्रमण्डल मध्यवर्ती चिन्ह का वियोगाग्नि से परिचित वनिताओं के हृदय मे उत्पन्न जलन के कारण मलिन कान्तिवाले कामदेव के आकार के रूप मे अपह्नव ( छिपाना ) ध्वनित होता है । यहीं पर सन्देहध्वनि-क्योंकि चन्द्रवर्ती

## तारावती

पर्यवसान यहीं पर हो जाता है । बाद मे वाच्यार्थ के बल पर एक दूसरा अर्थ और निकलता है—'कुलवती प्रियतमा सौभाग्य के अभिमान से भरी हुई है और वह परिमलयुक्त मालती के पुष्प के समान सुकुमार है । वह सदा विना किसी छल के शुद्ध प्रेम का पालन करती रहती है । दूसरी ओर प्रियतम वेश्याओं के समूह मे निन्दनीय रूप में स्वेच्छापूर्वक इधर-उधर घूमता रहता है, वेश्याओं के समूह ने बनावटी निपुणता के कारण अधिक ख्याति प्राप्त कर रक्खी है । अतएव वे ऐसी मालूम पडती हैं जैसे मानों दूर से आमोद को बगरानेवाले केतकी के समूह हो । जिस प्रकार केतकी में काटे भरे रहते है उसी प्रकार वेश्या के पास भी कुट्टिनी रहती है । नायिका का अभिप्राय यह है कि हे प्रियतम तुम चाहे जितना वेश्याओं के समूह मे घूमो तुम्हे वह आनन्द अन्यत्र कहीं नहीं आ सकता जो मुझसे प्राप्त हो सकता है ।

( इ ) अपह्नुतिध्वनि—जैसे मेरे ( अभिनवगुप्त के ) उपाध्याय भट्टेन्दुराज ने लिखा है—

'हे नताङ्गि ? गौराङ्गी ललना के कुचकुम्भ के समान विशाल और सुभग

## लोचन

वर्तिनस्तस्य नामापि न गृहीतम् । अपितु गौराङ्गीस्तनाभोगस्थानीये चन्द्रमसि कालागुरुपत्त्रभङ्गविच्छित्त्यास्पदत्वेन यः सारतामुत्कृष्टतामाचरतीति तन्न जानीमः किमेतद्वस्त्विति ससन्देहोऽपि ध्वन्यते । पूर्वमनङ्गीकृतप्रणयामनुतप्तां विरहोत्कण्ठितां वल्लभागमनप्रतीक्षापरत्वेन कृतप्रसाधनादिविधितया वासकसज्जीभूतां पूर्णचन्द्रोदयावसरे दूतीमुखानीतः प्रियतमस्त्वदीयकुचकलशन्यस्तकालागुरुपत्त्रभङ्गरचना मन्मथोद्दीपनकारिणीति चाटुकं कुर्वाणश्चन्द्रवर्तिनी चेयं कुवलयदलश्यामलकान्तिरेवमेव उसका नाम भी नहीं लिया अपितु गौराङ्गीस्तनाभोग के समान चन्द्रमा में काले अगर के पत्रभङ्ग की विच्छित्ति के योग से जो सारता अर्थात् उत्कृष्टता को धारण करता है वह हम नहीं जानते कि क्या वस्तु है ? इस प्रकार सन्देह भी ध्वनित होता है । पहले प्रणय को अङ्गीकार न करने के कारण अनुतप्त, (अतः) विरहोत्कण्ठिता, वल्लभ के आगमन की प्रतीक्षा मे लगे होने के कारण प्रसाधन इत्यादि विधि के सम्पादन कर लेने से वासकसज्जा बनी हुई ( नायिका से ) दूतीमुख से बुलाया हुआ प्रियतम 'तुम्हारे कुचकलश मे लगी हुई कालागुरुपत्रभङ्गरचना कामोद्दीपनकारिणी है' यह चाटुकारिता करते हुये 'यह चन्द्रवर्तिनी कुवलयदलश्यामल कान्ति ( भी )

## तारावती

विस्तारवाले सुधाकर मे जो काले अगर की पत्र-रचना के रूप मे निवास करने के ही कारण सुन्दरता को प्राप्त हो रहा है, यह कामदेव अपने विस्तृत अङ्गों के द्वारा वियोगाग्नि से प्रज्वलित उत्कण्ठित वनिताओं के चित्तों में निवास करने से उत्पन्न हुये सन्ताप को दूर करना चाहता है ।'

यहाँ पर चन्द्रमा में जो काले धब्बे पड़े हुये हैं उनके लिये कहा गया है कि वह कामदेव है जो कि वियोगिनी स्त्रियों के अन्तःकरणों मे रहा है । वियोगिनियों के अन्तःकरण वियोगाग्नि से प्रदीप्त थे अतएव उनमे निवास करने के कारण कामदेव के अङ्ग भी काले पड़ गये । उन सन्तप्त अङ्गों के सन्ताप को शान्त करने के लिये कामदेव अपने अङ्गों को फैला कर चन्द्रमा में लेट रहा है । इस प्रकार यहाँ पर अपह्नुति की ध्वनि निकलती है—'यह चन्द्रमा मे कलङ्क नहीं है किन्तु कामदेव अपने अङ्गों के सन्ताप को शान्त करने के लिये लेटा हुआ है।' यहाँ पर निषेध शब्दवाच्य नहीं है इसीलिये अपह्नुति वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही कही जा सकती है ।

अपह्नुति के अतिरिक्त इसमें कई एक अन्य अलङ्कारों की भी ध्वनि है—

( १ ) सन्देहध्वनि—यहाँ पर चन्द्रमण्डलमध्यवर्ती कलङ्क का नाम भी नहीं लिया गया । किन्तु गौराङ्गी के स्तनाभोग के समान चन्द्रमण्डल मे कालागुरु की पत्र-रचना की समता के कारण जो उत्कृष्टता को प्राप्त हो रहा है वह हमें नहीं मालूम कि क्या वस्तु है ? इस प्रकार सन्देह की भी ध्वनि होती है ।

## लोचन

अत्र हि मधुमासमदनासवानां त्रैलोक्ये सुभगतान्योन्यं परिपोषकत्वेन। ते तु त्वयि लोकोत्तरेण वपुषा सम्भूय स्थिताः इत्यतिशयोक्तिर्ध्वन्यते। आपातेऽपि विकारकारणमित्यास्वादपरम्परा क्रियायापि विना विकारात्मनः फलस्य सम्पत्तिरिति विभावनाध्वनिरपि। विभ्रममधोर्धुर्यमिति तुल्ययोगिताध्वनिरपि। एवं सर्वालङ्काराणां ध्वन्यमानत्वमस्तीति मन्तव्यम्। न तु यथा कैश्चिन्नियतविषयीकृतम्। यथायोगमिति। क्वचिदलङ्काराः क्वचिद्वस्तु व्यञ्जकमित्यर्थो योजनीय इति ॥ २७ ॥

यहाँ पर निस्सन्देह मधुमास, मदन और आसवों की तीनों लोकों में सुभगता एक दूसरे के परिपोषक के रूप में है। 'वे तो तुम्हारे अन्दर शरीर से एकत्र होकर स्थिर हुये हैं' इस प्रकार अतिशयोक्ति ध्वनित होती है। 'आपात में ही विकार कारण' यह आस्वाद-परम्परा की क्रिया के विना ही विकारात्मक फल की उत्पत्ति ( हो जाती है ) अतः विभावनाध्वनि भी है। इस प्रकार समस्त अलङ्कारों की ध्वन्यमानता ( हो सकती ) है यह मानना चाहिये। ऐसा नहीं जैसा कि कुछ लोगों ने उसे नियतविषयवाला बना दिया है। 'यथायोग' यह। कहीं अलङ्कार कहीं वस्तु व्यञ्जक होती है यह अर्थ योजित कर लिया जाना चाहिये ॥ २७ ॥

## तारावती

प्रवेश सङ्कर है। इत्यादि स्वयं यथोचित रूप मे समझ लेना चाहिये। )

( ई ) अतिशयोक्तिध्वनि का उदाहरण जैसे मेरा ( अभिनवगुप्त का ) लिखा हुआ पद्य :—

'तुम्हारे दोनों नेत्र क्रीडा के नवाङ्कुर के समान स्थित विलासमय वसन्त का अग्रगण्य शरीर है, भौहों के लीलामय विलास का कार्यक्रम भङ्गिमा के साथ झुकनेवाला यह धनुष है; कुछ ही आस्वाद लेनेपर मुख कमल की मदिरा आश्चर्यजनक रूप मे विकार को उत्पन्न करनेवाली है। हे सुन्दरी ! सचमुच ब्रह्माजी की एक अनुपम रचना तुम इन तीनों लोकों का सार हो।'

मधु, मदन और मदिरा इन तीनों मे लोकोत्तर सौन्दर्य है। इसका कारण एक यह है कि ये तीनों एक दूसरे के पोषक होते है। वे तीनों मिलकर नायिका के शरीर मे विद्यमान है। मधु नेत्रों के रूप में और मदिरा मुख-कमल के अधरामृत के रूप में विद्यमान है ही, भौह के रूप मे काम-कार्मुक की भी सत्ता पाई ही जाती है। जब कामदेव का धनुष उपस्थित ही है तब कामदेव की उपस्थिति मे भी कोई शङ्का की बात नहीं रह जाती। यहाँ पर मधु, मदन और मदिरा के नायिका के शरीर के रूप में स्थित होने का सम्बन्ध होते हुये भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है; अतः यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार ध्वनित है। इसके अतिरिक्त मधु तथा नेत्र,

ध्वन्यालोकः

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापयितुमिदमुच्यते—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥ २८॥

(अनु०) इस प्रकार अलङ्कारों की ध्वनि के मार्ग का व्युत्पादन कर उसकी प्रयोजनवत्ता को ख्यापित करने के लिये यह कहा जा रहा है—

'वाच्यत्व की दशा में जिन अलङ्कारों का शरीरीकरण व्यवस्थित नहीं है वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर बहुत बड़ी छाया को प्राप्त होते हैं॥ २८॥

लोचन

ननूक्तास्तावच्चिरन्तनैरलङ्कारास्तेषां तु भवता यदि व्यङ्ग्यत्वं प्रदर्शितं किमियतेत्याशङ्क्याह—एवमित्यादि। येषामलङ्काराणां वाच्यत्वेन शरीरीकरणं शरीरभूताप्रस्तुतादर्थान्तरभूततया अशरीराणां कटकादिस्थानीयानां शरीरतापादनं व्यवस्थितं

(प्रश्न) प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कार बतलाये थे उनका यदि आपके द्वारा व्यङ्ग्यत्व दिखलाया गया इससे क्या? (इसमें क्या नवीनता आ गई?) यह शङ्काकर (उत्तर में) कहते हैं—'एवम् इत्यादि।' जिन अलङ्कारों का वाच्यत्व के रूप में शरीरीकरण—अर्थात् शरीरस्थानीय प्रस्तुत से (भिन्न) दूसरा अर्थ होने के कारण अशरीर कटक इत्यादि स्थानीय (अलङ्कारों का) शरीरता-सम्पादन

तारावती

मुखासव तथा मदिरा, भ्रू तथा काम-कार्मुक में भेद होते हुये भी अभेद की कल्पना की गई है, अतएव यहाँ पर अभेदातिशयोक्ति की ध्वनि है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अलंकारों की ध्वनि भी यहाँ हो सकती है:—

(१) विभावनाध्वनि-वास्तव में मदिरा तभी मस्तीरूप विकार उत्पन्न कर सकती है जब कि उसके पीनें के बाद कुछ विलम्ब हो जावे। कोई भी मदिरा पीते ही मस्ती उत्पन्न नहीं कर सकती। अतएव मस्तीरूप कार्य में आस्वाद-परम्परा कारण है। किन्तु यहाँ पर मुख-मदिरा बिना ही आस्वाद-परम्परा के आपातमात्र से ही विकार उत्पन्न कर देती है। अतएव बिना ही कारण के कार्य उत्पत्ति हो जाने से विभावना अलंकारध्वनि है।

(२) तुल्ययोगिताध्वनि—दोनों नेत्र और वसन्त ये दोनों विलासों का शरीर बतलाये गये हैं। इस प्रकार अधिक वसन्त के साथ समानता स्थापित कर न्यून (नेत्रों) का एक धर्म (विलासों) में सम्बन्ध किया गया है। उद्भट के अनुसार विशिष्ट के साथ न्यून की समता स्थापित कर जहाँ एक धर्म में सम्बन्ध किया जाता है वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। इस प्रकार यहाँ पर तुल्ययोगिता की ध्वनि है।

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च। तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्। व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः। इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते।

( अनु० ) ध्वन्यङ्गता दोनो प्रकार से होती है व्यञ्जकत्व के रूप मे भी और व्यङ्ग्यत्व के रूप में भी। उनमें यहाँ पर प्रकरण होने के कारण व्यङ्ग्यत्व के रूप में ही ध्वन्यङ्गता समझी जानी चाहिये। व्यङ्ग्यता होने पर भी अलङ्कारों की प्राधान्य विवक्षा होने पर ही ध्वनि मे अन्तःपात ( समावेश ) होता है। अन्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का प्रतिपादन किया जावेगा।

लोचन

सुकवीनामयत्नसम्पाद्यतया। यदि वा वाच्यत्वे सति येषां शरीरतापादनमपि न व्यवस्थितं दुर्घटमिति यावत्। तेऽलङ्काराः ध्वनेर्व्यापारस्य काव्यस्य वाङ्गतां व्यङ्ग्यरूपतया गताः सन्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमात्मरूपतां यान्ति। एतदुक्तं भवति—

व्यवस्थित है क्योंकि सुकवियो के लिये अयत्नसम्पाद्य ( हो जाता है )। अथवा वाच्यत्व के होने पर जिनका शरीरता-सम्पादन भी व्यवस्थित नहीं है अर्थात् दुर्घट है। वे अलङ्कार ध्वनि व्यापार या काव्य की अङ्गता को व्यङ्ग्यरूप मे प्राप्त होकर परा अर्थात् दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति को आत्मरूपता प्रदान कर देते हैं। यह

तारावती

आशय है कि जितने भी अलंकार होते हैं सभी की ध्वनि हो सकती है। केवल नियत विषय में ही अलंकारों की ध्वनि नहीं होती जैसा कि कुछ लोगों का विचार है। ऊपर कुछ उदाहरण दिये गये है। अवसर और औचित्य के अनुसार अन्य अलङ्कारों की ध्वनि भी समझ ली जानी चाहिये। अवसर और औचित्य का आशय यह है कि कहीं तो अलङ्कार मे दूसरा अलङ्कार व्यञ्जक होता है और कहीं केवल वस्तु व्यञ्जक होती है। जहाँ जैसा अवसर हो वहाँ वैसी ही व्यञ्जना समझ ली जानी चाहिये॥ २७॥

अलङ्कारध्वनि का मार्ग यहाँ तक बतलाया जा चुका। अब प्रश्न आता है कि जब पुराने आचार्यों ने अलङ्कारों का निरूपण कर ही दिया तब आपने उनकी व्यञ्जना बतलाकर कौन-सी नई बात कही? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उसका प्रयोजन २८ वीं कारिका मे बतलाया जा रहा है—

( इस कारिका मे दो प्रकार की योजना की जा सकती है एक तो 'वाच्यत्वेन' को एक तृतीयान्त शब्द मानकर और दूसरे 'वाच्यत्वे + न' इस प्रकार एक सप्तम्यन्त शब्द से न को पृथक् मानकर। शरीरीकरण शब्द में च्विप्रत्यय है जिसका अर्थ

## लोचन

सुकविर्विदग्धपुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवम्भूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह—इतरथात्विति॥ २८॥

कहा गया है—सुकवि यद्यपि विदग्ध तथा बहुत बड़े परिवारवाली स्त्री के समान अलङ्कार को अत्यन्त श्लिष्टता के साथ जोड़ता है तथापि कुंकुम की पीलिमा के समान उसको शरीरता प्रदान करना ही कष्टसम्पाद्य है। आत्मरूपता प्रदान करने की तो सम्भावना ही क्या? वह व्यङ्ग्यता इस प्रकार की है जो अप्रधान होते हुये भी वाच्यमात्र अलंकारों से (व्यङ्ग्य) अलंकारों को उत्कर्ष प्रदान कर देती है जैसे बालक्रीडा में भी राजत्व (उत्कर्ष देनेवाला होता है।) इस अर्थ को मन मे रखकर कहते हैं—'अन्यथा तो'॥ २८॥

## तारावती

होता है-जो शरीर नहीं हैं उनको शरीर बना दिया जावे।)?—प्रस्तुत अर्थ काव्य का शरीर-स्थानीय होता है। अलङ्कार उससे भिन्न एक दूसरा ही अर्थ होते हैं, अतएव वे वाच्य होते हुये काव्य के शरीर उसी प्रकार नहीं होते जैसे शरीर से पृथग्भूत कटक-कुण्डल इत्यादि शरीर की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकते। उन अलङ्कारों को शरीर बना देना व्यवस्थित है क्योंकि अच्छे कवियों के लिये यह बात बिना प्रयत्न के हो जाती है। अथवा दूसरी योजना के अनुसार इसका अर्थ होगा—वाच्य होने पर जिनके अन्दर शरीरत्व धर्म का सम्पादन करना भी व्यवस्थित नहीं होता अर्थात् अत्यन्त दुष्कर होता है। वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर अर्थात् व्यङ्ग्य के रूप में ध्वनि-व्यापार का अङ्ग बनकर या ध्वनिकाव्य का अङ्ग बनकर बहुत बड़ी दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ पर कहने का आशय यह है कि यद्यपि एक सुकवि विदग्धललना के समान आभूषणों को बड़ी ही निपुणता से सजाता है जोकि बिलकुल ही ठीक बैठ जाते हैं किन्तु फिर भी वे अलङ्कार कभी भी शरीर का अवयव नहीं बन सकते। कुङ्कुम कितनी ही कुशलता से लगाया जावे किन्तु वह शरीर के स्वाभाविक सुनहले रंग का रूप कभी धारण नहीं कर सकता। जब अलङ्कार शरीर ही नहीं बन सकता तब आत्मा का रूप धारण कर सकेगा इसकी तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती। यह व्यङ्ग्य होना ही एक ऐसा तत्त्व है जो अप्रधानभूत होते हुये भी केवल वाच्य अलङ्कारों की अपेक्षा अलङ्कारों को उत्कर्ष प्रदान करदेती है। जिस प्रकार बालक्रीडा मे कोई राजा बनजाता है। इसी बात को मन में रखकर वृत्तिकार ने कहा है कि अन्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का प्रतिपादन आगे चल

ध्वन्यालोकः

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयी गतिः—कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण। तत्र—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां

अत्र हेतुः—

काव्यवृत्तिस्तदाश्रया ॥ २९ ॥

यस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम्। अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात्।

( अनु० ) अङ्गी के रूप में व्यङ्ग्य होने पर भी अलङ्कारों की गति दो प्रकार की होती है—कभी वस्तुमात्र से व्यक्त होते हैं कभी अलङ्कार से। उनमें—

'जब वस्तुमात्र से अलङ्कार व्यक्त होते हैं तब वे निस्सन्देह ध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं।

इसमें कारण यह है—

काव्यवृत्ति उन्हीं के आधीन रहती है ॥ २९ ॥

क्योंकि वहाँ पर उस प्रकार के व्यङ्ग्य-अलङ्कार-परक होकर ही काव्य प्रवृत्त हुआ है। अन्यथा वह वाक्यमात्र ही रह जाता।

तारावती

कर किया जावेगा ( अभिनवगुप्त के 'अप्रधान होते हुये' शब्द का आशय यह है कि अभिनवगुप्त रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अतः प्रधानतया तो रसध्वनि ही काव्य की आत्मा हुआ करती है किन्तु जिस प्रकार बच्चे खेल में किसी एक बच्चे को राजा बना दिया करते हैं। वह बच्चा यद्यपि राजा होता नहीं है फिर भी अन्य बच्चों की अपेक्षा उसे कुछ अधिक महत्त्व मिल जाता है। उसी प्रकार जब अलङ्कार व्यङ्ग्य होते हैं तब यद्यपि वे रसध्वनि के समान काव्य का प्रधानीभूत आत्मा तो नहीं बन जाते तथापि उन्हें अन्य वाच्यालङ्कारों की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्व अवश्य मिल जाता है। ) अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग दो रूपों में हो सकता है एक व्यञ्जक के रूप में एक व्यङ्ग्य के रूप में। अतएव प्रस्तुत प्रकरण में जहाँ-कहीं भी अलङ्कारध्वनि शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ पर व्यङ्ग्य अलङ्कार का ही अभिप्राय समझना चाहिये। एक बात और ध्यान रखनी चाहिये कि अलङ्कार के व्यङ्ग्य होने पर भी जहाँ उसकी प्रधानता होगी वहीं उसकी प्रधानता ध्वनि के अन्दर होगी यदि व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानता नहीं होगी तो उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहेंगे जिसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जावेगा ॥ २८ ॥

ध्वन्यालोकः

तासामेवालङ्कृतीनां—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे
पुनः
ध्वन्यङ्गता भवेत् ।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥ ३० ॥

उक्तं ह्येतत्—'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति। वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः । तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषरूपेण वार्थेनार्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः ।

(अनु०) उन्हीं अलङ्कारों के—
'दूसरे अलङ्कारों द्वारा व्यङ्ग्य होने पर तो
उनकी ध्वन्यङ्गता हो जाती है अर्थात् वे ध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं, यदि चारुत्व के उत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्य की प्रधानता लक्षित हो रही हो ॥ ३० ॥'

यह बात कही जा चुकी है कि वाच्य और व्यङ्ग्य की प्राधान्य विवक्षा चारुता के उत्कर्ष के आधीन होती है । यदि अलङ्कार केवल वस्तु के द्वारा व्यङ्ग्य हो तो अभी दिखलाये हुये उदाहरणों से उनका विषय समझ लेना चाहिये । अतः इस प्रकार अर्थमात्र से अथवा दूसरे अलङ्कार-विशेषरूप अर्थ से अर्थान्तर के अथवा अलङ्कार के प्रकाशित होने पर चारुत्व के उत्कर्ष के आधीन प्राधान्य के होने पर अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि समझी जानी चाहिये ।

लोचन

तत्रेति द्वय्यां गतौ सत्याम् । अत्र हेतुरित्ययं वृत्तिग्रन्थः । काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रयालङ्कारप्रवणा यतः । अन्यथेति । यदि न तत्परत्वमित्यर्थः । तेन तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यता नैव शङ्क्येति तात्पर्यम् ।

तासामेवालङ्कृतीनामिति पठिष्यमाणकारिकोपस्कारः । पुनरिति कारिकामध्य

'उसमे यह' । दो गतियों के होनेपर । 'अत्र हेतुः' यह वृत्ति ग्रन्थ है ( कारिका भाग नहीं ) । क्योंकि काव्य की अर्थात् कविव्यापार की वृत्ति तदाश्रय अर्थात् अलंकारोन्मुख होती है । 'अन्यथा' अर्थात् यदि तत्परत्व न हो । इससे तात्पर्य यह है कि वहाँ पर गुणीभूत व्यङ्ग्य होने की आशंका करनी चाहिये ।

'तासामेव अलंकृतीनाम्' यह आगे आनेवाली कारिका का उपस्कार है ।

तारावती

पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। अलक्ष्यक्रम का प्रकाशन वर्ण, पद, वाक्य-संघटना और प्रबन्ध के द्वारा होता है। अतएव ध्वनि के ३५ भेद होते हैं।

[ काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि के ५१ भेद बतलाये हैं। उनका परिगणन इस प्रकार है—लक्षणामूलक ध्वनि दो प्रकार की होती है–अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि। इन दोनों में प्रत्येक के दो दो भेद किये जा सकते हैं–१-वाक्यगत और २-पद गत। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के कुल चार भेद हुये। अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि ६ प्रकार की होती है १-वाक्य-गत, २-पदगत, ३-पदांशगत, ४-वर्णगत, ५-रचनागत और ६-प्रबन्धगत। इस प्रकार कुल मिलाकर १० भेद हुये। अभिधा-मूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। इनमें प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं ( १ ) वाक्यगत, ( २ ) पदगत। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के चार भेद हुये। पूर्वोक्त १० भेदों को मिलाकर १४ भेद हो गये। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि इत्यादि १२ भेद बतलाये जा चुके हैं। उनमे प्रत्येक के तीन तीन भेद होते है। (१) पदगत, (२) वाक्यगत और (३) प्रबन्धगत। इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के ३६ भेद हो गये। पूर्वोक्त १४ भेदों को मिलाकर कुल ५० भेद हुये। एक उभय शक्तिमूलक ध्वनि होती है। इस प्रकार कुल ५१ भेद हो गये।

प्रतिहारेन्दुराज ने गणना का क्रम कुछ भिन्न ही रक्खा है। उन्होंने लघुवृत्ति मे लिखा है—'ध्वनि दो प्रकार की होती है—वाचकशक्तिमूलक ( शब्दशक्ति-मूलक ) और वाच्यशक्तिमूलक ( अर्थशक्तिमूलक ) वाचकशक्तिमूलक ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इन तीनों भेदों की एकता का स्थापित करनेवाला तत्त्व है वाच्यार्थ का विवक्षित होना। वस्तु और अलङ्कारध्वनि की दृष्टि से व्यञ्जक वाच्य दो प्रकार का होता है—विवक्षित और अविवक्षित। अतएव इन भेदो का आश्रय लेने से तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थो में रहनेवाले व्यञ्जकतत्त्व के छः प्रकार होते है। इन छः प्रकारों मे दो भेदों में वाच्य अविक्षित बतलाया गया है। चार से विवक्षित बतलाया गया है। जहाँ पर वाच्य विवक्षित होता है वहाँ वाच्य दो प्रकार का होता है—स्वतः सम्भवी और प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न। इस प्रकार उसके ८ भेद हो जाते है। ये ८ भेद अविवक्षित वाच्य के दो भेदो को मिलाकर १० हो जाते हैं। इनमे प्रत्येक के पद-गत और वाक्यगत ये दो दो भेद करके २० हो जाते है। वर्णसंघटना प्रबन्ध इत्यादि भेद पद और वाक्य मे ही सन्निविष्ट हो जाते है। इस प्रकार ध्वनि के २० ही मूल भेद होते है और इतने ही यथा सम्भव गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद होते हैं। ]

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रस्खिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः॥ ३१॥

(अनु०) इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रतिपादन करके उनके आभास का विवेक करने के लिये कहा जा रहा है—

'जहाँ प्रतीयमान अर्थ मलिनता के साथ भासित हो अथवा वाच्य के अङ्ग के रूप में भासित हो वह इस ध्वनि का गोचर नहीं होता॥ ३१॥

लोचन

एवमिति। अविविक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ—अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः—शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः—कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतः सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसङ्घटनाप्रबन्धप्रकाशत्वेन पञ्चत्रिंशद्भेदाः। तदाभासेभ्यो ध्वन्याभासेभ्यो विवेको विभागः।

'इस प्रकार इति'। अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो मूल भेद हैं। प्रथम के दो भेद—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। द्वितीय के दो भेद अलक्ष्यक्रम और अनुरणनरूप। प्रथम के अनन्त भेद हैं। द्वितीय दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। अन्तिम तीन प्रकार का (होता) है—कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर और स्वतः सम्भवी। वे प्रत्येक व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के उक्त भेदों की नीति से चार प्रकार के होते हैं इस प्रकार १२ प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है। प्रारम्भ के चार भेद इस प्रकार १६ मुख्य भेद होते हैं। वे पद और वाक्य के रूप में प्रत्येक दो प्रकार के कहे जावेंगे। अलक्ष्यक्रम के तो वर्ण, पद, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध प्रकाश्य होने रूप मे ३५ भेद होते हैं। उनके आभासों से अर्थात् ध्वन्याभासों से विवेक अर्थात् विभाग।

तारावती

इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रतिपादन कर अब उनके आभास का विवेक करने के लिये कहा जा रहा है। उनके आभास का अर्थ है ध्वनि का आभास और विवेक का अर्थ है विभाग। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—'ऐसा

ध्वन्यालोकः

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च। तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्याऽर्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः। स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः। यथा—

कमलाअराणं मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम्॥

(अनु०) प्रतीयमान निस्सन्देह दो प्रकार का होता है—स्फुट और अस्फुट। उनमे जो स्फुट प्रतीयमान शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का मार्ग है दूसरा नहीं। स्फुट भी जो प्रतीयमान अभिधेय के अंग के रूप में अवभासित होता है वह इस अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि का गोचर नहीं होता। जैसे—

'कमलों के आकर मलिन नहीं हुये; हंस भी सहसा उड़े नहीं; किसी ने मेघमण्डल को ऊपर उठाकर गाँव के तालाब में फेंक दिया।'

लोचन

अस्येत्यात्मभूतस्य ध्वनेरसौ काव्यविशेषो न गोचरः।

कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च सहसा।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम्॥ इतिच्छाया।

अन्ये तु पिउच्छा पितृश्वसः इत्यमामन्त्रयते। केनापि अति निपुणेन।

इसका अर्थात् आत्मभूत ध्वनि का यह काव्यविशेष गोचर (विषय) नहीं होता।

'कमलों का समूह मलिन नहीं पड़ा, हंस सहसा उड़ नहीं गये, किसी ने आकाश को उठाया और गाँव के तालाब में डाल दिया।'

दूसरे लोग तो 'पिउच्छा' का (संस्कृत में अनुवाद) 'पितृस्वसः' यह सम्बोधन मे करते हैं, अर्थात् हे पिता की बहन। 'किसी ने' अर्थात् अत्यन्त निपुण ने।

तारावती

स्थान ध्वनि के क्षेत्र मे नहीं आता जिसमे प्रतीयमान अर्थ या तो मलिनता के साथ भासित हो या वाच्य का अङ्ग बन जावे।' कारिका में कहा गया है कि 'इस ध्वनि का वह गोचर नहीं होता।' यहाँ पर 'इस' का अर्थ है जो ध्वनि आत्मा के रूप मे स्थित है। 'वह' का अर्थ है उस प्रकार का काव्य जिसमे प्रतीयमान अर्थ या तो मलिन हो या वाच्य का अङ्ग हो। आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ दो प्रकार का होता है—स्फुट और अस्फुट। उनमे जो स्फुट प्रतीयमान अर्थ शब्दशक्ति और अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का विषय होता है और कोई नहीं। स्फुट भी जो प्रतीयमान अर्थ अभिधेय के अङ्ग के रूप मे अवभासित होता है वह इस ध्वनि के क्षेत्र मे नहीं आता। जैसे—

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधर प्रतिविम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव। एवं विधेविषयेऽन्यत्रादि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाचस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीते ध्वनेरविषयत्वम्।

(अनु०) यहाँ पर प्रतीयमान मुग्धवधू द्वारा जलधर प्रतिविम्ब दर्शन की वाच्यांगता ही है। इस प्रकार के विषय में अन्यत्र भी जहाँ पर व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की चारुत्वोकर्ष की प्रतीति से प्रधानता का निश्चय किया जाता है, वहाँ पर व्यंग्य की अंग के रूप मे प्रतीति होने के कारण ध्वनि की विषयता नहीं होती।

लोचन

वाच्याङ्गत्वमेवेति। वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत्। वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवाञ्छया व्यनक्ति।

'वाच्यांगत्व ही' अर्थात् विस्मय के विभावरूप वाच्य के साथ ही मुग्धता की अधिकता प्रतीत होती है; इस प्रकार वाच्य से ही चारुता की सम्पत्ति (प्रकट होती है)। वाच्य तो अपनी आत्मा की उपपत्ति के लिये दूसरे अर्थ को अपने उपकार की कामना से व्यक्त कर लेता है।

तारावती

'किसी ने आकाश को निपुणता के साथ उठाकर गाँव के तालाव में एकदम डाल दिया। आश्चर्य है कि फिर भी न तो कमलों का समूह ही मलिन पड़ा और न सहसा हंस उड़ गये।'

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ यह है कि किसी मुग्धवधू ने गाँव के तालाव मे आकाश का प्रतिविम्ब देखकर ये शब्द कहे है। यहाँ पर चमत्कार वाच्यार्थ के द्वारा ही होता है क्योंकि वाच्यार्थ ही विस्मय का विभाव है और उसी के द्वारा मुग्धता की अधिकता प्रतीत होती है। अतः चारुता वाच्यार्थ के ही कारण है। व्यङ्ग्यार्थ केवल वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये ही उपस्थित हो जाता है। वाच्य तो अपनी सिद्धि के लिये अपने उपकार की इच्छा से दूसरे अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) को अभिव्यक्त करता है। अतः यह ध्वनिकाव्य नहीं हो सकता। इस प्रकार के विषय में जहाँ अन्यत्र भी व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य में ही चारुता की अधिकता की प्रतीति होने से वाच्य की ही प्रधानता मालूम पड़े वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ अङ्ग के रूप मे ही प्रतीत होता है। अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। जैसे—

'वेतस-कुञ्ज से उड़नेवाले पक्षी का कोलाहल सुनते हुये घर के काम मे लगी हुई वहू के अङ्ग सहमे जा रहे हैं।'

ध्वन्यालोकः

यथा—

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्म वावडाए वहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देश्यते ।

(अनु०) जैसे—

'वानीर अर्थात् वेतस लता के कुञ्ज से उड़नेवाले पक्षियों के कोलाहल को सुनते हुये घर के काम में लगी हुई वहू के अंग सहमे जाते हैं ।'

इस प्रकार का विषय प्रायः गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण के रूप में निर्दिष्ट किया जावेगा ।

लोचन

वेतसलतागहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृतायाः वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति छाया ।

अत्र दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवोपस्कुरुते । तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशयलज्जापारतन्त्र्यवद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद् गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति । गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति । अस्मादेव वाच्यात्सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वनिष्पत्तिः ।

'वेतसलता-गहन से उड़े हुये पक्षियों के कोलाहल को सुननेवाली घर के काम में लगी हुई वहू के अंग सहमे जाते हैं ।

यहाँ पर दिये हुये सङ्केतवाले चौर्य-कामुक के समुचित स्थान की प्राप्ति ध्वनित होकर वाच्योपस्कारक हो होती है । वह इस प्रकार—'गृहकर्म में लगी हुई अर्थात् अन्यपरायण भी, 'वधू के' अतिशय लज्जा की पराधीनता में बंधी हुई भी । 'अंगानि' अर्थात् एक भी इस प्रकार का अंग नहीं है जो गाम्भीर्य-युक्त अवहित्थ के वश में छिपाये जाने में समर्थ हुआ हो । 'सहमे जा रहे हैं' अर्थात् गृहकर्म-सम्पादन की बात तो दूर रही अपने को भी धारण करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं । गृहकर्म के योग से स्फुटरूप में उस प्रकार के दिखलाई पड़नेवाले । इसी वाच्य से सातिशय मदन-पारवश्य की प्रतीति होने से चारुता की निष्पत्ति होती है ।

तारावती

किसी नायक और नायिका ने वेतस-लतागृह में एकान्तस्थान पर मिलने का सङ्केत किया है । नायिका घर के काम में लगी हुई है अतः वह नियत समय पर सङ्केतस्थान पर जा नहीं सकी है । नायक वहाँ पर ठीक समय पर पहुँच गया है।

तारावती

नायक के पहुँच जाने पर उस वेतसलता के पक्षी उड़ने लगे और कोलाहल करने लगे। उन पक्षियों के उस कोलाहल को सुनकर घर के काम में लगी हुई नायिका को अत्यन्त कष्ट का अनुभव हुआ। यहाँ पर प्रतीयमान अर्थ है सङ्केत का देना और चौर्य-कामुकरत के योग्य स्थान का प्राप्त करना। यह प्रतीयमान अर्थ 'अङ्ग सहमे जा रहे हैं, इस वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये ही आया है। यहाँपर व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक सुन्दर है। वह इस प्रकार (१) घर के काम में लगी हुई कहने का आशय यह है कि नायिका की भावना इतनी उत्कण्ठ कोटि की है कि यद्यपि वह दूसरे काम में लगी हुई है तथापि उसका ध्यान निरन्तर नायक और सङ्केत की ही ओर है। (२) 'वहू' कहने का आशय यह है कि यद्यपि वह नवपरिणीता है और बहुत बड़ी लज्जा की परतन्त्रता से बँधी हुई है तथापि भावना की तीव्रता के कारण वह भाव संवरण करने में समर्थ नहीं हो रही है। (३) 'अग सहमे जा रहे हैं' मे बहुवचन के निर्देश का आशय यह है कि उसका एक भी अंग ऐसा नहीं है जो कि गम्भीरता के साथ भावगोपन की क्रिया (अवहित्था) के द्वारा अपने भावों को संवृत करने में समर्थ हो सके। (४) 'सहमे जा रहे हैं' कहने का आशय यह है कि घर के काम करना तो दूर रहा उसके अंग स्वयं अपने को ही धारण करने मे समर्थ नहीं हैं। घर के काम में लगे होने के कारण उनकी भावनायें स्फुट रूप में प्रकट होती हैं और इसी से चारुता की निष्पत्ति भी होती है। अतएव वाच्यार्थ की प्रधानता होने के कारण यह ध्वनिकाव्य नहीं हो सकता (यहाँ पर काव्यप्रकाशकार ने असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य माना है। उसकी व्याख्या करते हुये उद्योतकार ने लिखा है कि यहाँ पर सङ्केत देना इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों की अपेक्षा 'अङ्ग सहमे जा रहे हैं' इस उक्ति में अधिक रमणीयता है। क्योंकि अंगों का सहमना एक अनुभाव है जोकि औत्सुक्य आवेग इत्यादि सञ्चारी भावों के साथ अनुराग के उद्रेक से उत्पन्न कामपरवशता अभिव्यक्त होती है। विश्वनाथ ने निर्णय दिया है कि वाच्यसिद्धयङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य को बाधकर यहाँ पर असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग हो जाता है। यहाँ पर कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि लोचनकार इसे केवल वाच्यसिद्धयङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य मानते है असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं मानते। उन्हे लोचनकार के इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये-'अस्मादेव वाच्यात् सातिशयमदनपरवशता प्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः।' आनन्द-वर्धन ने भी लिखा है—'व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते।' इससे स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य भी यहाँ पर असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य मानने के विरोधी नहीं हैं। इस प्रकरण का पूरा विश्लेषण करने पर दो बातें प्रकट होती हैं—एक तो यह

ध्वन्यालोकः

यत्र तु प्रकरणादि प्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः।

(अनु०) जहाँ पर तो प्रकरण इत्यादि की प्रतिपत्ति से विशेषता को निर्धारित किया हुआ वाच्यार्थ पुनः प्रतीयमान के अंग के रूप में ही अवभासित होता है वह इसी अनुरणन रूप व्यंग्यध्वनि का मार्ग है।

लोचन

यत्रेति। प्रकरणमादिर्यस्य शब्दान्तरसन्निधानसामर्थ्यलिङ्गादेस्तदवगमादेव यत्रार्थो निश्चितसमस्तस्वभावः। पुनर्वाच्यः पुनरपि स्वशब्देनोक्तोऽत एव स्वात्मावगतेः सम्पन्नपूर्वत्वादेव तावन्मात्रपर्यवसायी न भवति। तथाविधश्च प्रतीयमानस्याङ्गतामेतीति सोऽस्य ध्वनेर्विषय इत्यनेन व्यङ्ग्यतात्पर्यनिबन्धनं स्फुटं वदता व्यङ्ग्यगुणीभावे त्वेतद्विपरीतमेव निबन्धनं मन्तव्यमित्युक्तं भवति।

'जहाँ पर तो'। प्रकरण जिसके आदि मे है अर्थात् शब्दान्तर सन्निधि, सामर्थ्य, लिंग इत्यादि। उनके अवगम से ही जहाँ पर अर्थ के समस्त स्वभाव का निश्चय कर लिया गया हो। फिर भी वाच्य अर्थात् फिर भी स्वशब्द द्वारा कहा हुआ, अतएव अपनी स्वरूप की अवगति के पहले ही सम्पन्न हो जाने से उसका पर्यवसान उतने में ही नहीं होता, उस प्रकार का प्रतीयमान की अंगता को प्राप्त कर लेता है इस प्रकार वह इस ध्वनि का विषय है, इस कथन के द्वारा व्यंग्य तात्पर्य के निबन्धन को स्फुट रूप मे कहते हुये व्यंग्य के गुणीभाव में तो इससे विपरीत ही निबन्धन माना जाना चाहिये यह कहा हुआ हो जाता है।

तारावती

कि जहाँ वाच्यसिद्धयङ्ग गुणीभाव हो वहाँ भी ये आचार्य व्यङ्ग्य को अङ्ग मानते हैं और जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ असुन्दर हो उसे भी ये आचार्य प्रधान का विरोधी अंग ही मानते हैं। दूसरी बात यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य की संसृष्टि और सङ्कर भी आचार्यों ने माना है। यहाँ पर अभिनवगुप्त ने वाच्यसिद्धयङ्ग और असुन्दर इन दोनों गुणीभावों को दिखलाकर इनकी संसृष्टि की ओर सङ्केत किया है। इस प्रकार यहाँ पर आचार्यों की मान्यता में कोई विरोध नहीं है।)

ऊपर यह बतलाया जा चुका कि ध्वनि होती कहाँ पर नहीं है। यह यहाँ पर केवल दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार का विषय प्रमुख रूप में गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में निर्दिष्ट किया जावेगा। इसके प्रतिकूल जहाँ पर प्रकरण आदि की प्रतिपत्ति से वाच्यार्थ की विशेषताओं का निर्धारण किया जा चुके और पुनः वह वाच्यार्थ प्रतीयमान के अङ्ग के रूप में अवभासित होने लगे वह इसी अनुरणन रूप व्यङ्ग्यध्वनि का मार्ग होता है। 'प्रकरण आदि' का अर्थ है वाक्यार्थ

ध्वन्यालोकः

यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुण्हे ।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी वहिः श्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यते । एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये । प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्नुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भावः ।

(अनु०) जैसे—

'हे हालिक की वहू ! गिरे हुये पुष्पों को वीन लो । शेफालिका को मत हिलाओ । यह तुम्हारा वलय शब्द, तुम्हारे ससुर ने सुन लिया है जिसका परिणाम बुरा होगा ।'

यहाँ पर अविनीत के साथ रमण करती हुई कोई सखी वलय-कल कल को सुननेवाली सखी के द्वारा सजग की जा रही है । वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये इसकी अपेक्षा है । वाच्यार्थ के प्रतिपन्न हो जाने पर उसके अविनय के प्रच्छादन के तात्पर्य से कहे हुये होने के कारण पुनः व्यंग्य का अंग ही हो जाता है अतः इसका इस अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि में ही अन्तर्भाव हो जावेगा ।

तारावती

में नियन्त्रित करनेवाले संयोग इत्यादि समस्त हेतु । उनमे प्रकरण प्रधान होता है इसीलिये संयोगादि न कहकर प्रकरणादि कहा है । इस प्रकरण इत्यादि मे शब्दान्तर सन्निधान सामर्थ्य लिङ्ग इत्यादि सभी कुछ आ जाता है । जव किसी वाक्य का प्रयोग किया जाता है तव प्रकरण इत्यादि के आधार पर उसका अर्थवोध होता है । यद्यपि प्रकरण इत्यादि शब्दोपात्त न होने से व्यंग्य ही कहे जा सकते हैं तथापि वाच्यार्थवोध मे ही उनकी शक्ति प्रक्षीण हो जाती है।उन प्रकरण इत्यादिकों के द्वारा ही वाच्यार्थ के समस्त स्वभाव का निश्चय कर लिया जाता है । फिर भी वाच्यार्थ स्वशब्द के द्वारा कहा जा चुका होता है और उसके स्वरूप का अवगमन पहले ही सम्पन्न हो जाता है अतएव वह स्वमात्रपर्यवसायी नहीं हो सकता और इस प्रकार का वाच्यार्थ प्रतीयमान अर्थ का अंग वन जाता है । वही इस ध्वनि का विषय होता है।यहाँ पर आशय यह है कि प्रकरण इत्यादि के सहकार से वाच्यार्थ का निर्णय होजाने के वाद जो एक दूसरा व्यंग्य प्रतीत होता है वहाँ पर वाच्यार्थ का पर्यवसान अपने मे ही नहीं हो सकता अपितु वह प्रतीयमान का अंग हो जाता है । ऐसा ही स्थान ध्वनि का विषय होता है । यहाँ पर स्फुट रूप में यह कहा

## लोचन

उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे ।
एष ते विषमविपाकः श्वसुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥ इति छाया ।

यतः श्वसुरः शेफालिकालतिकां प्रयत्नै रक्षंस्तस्या आकर्षण-धूननादिना कुप्यति । तेनात्र विषमपरिपाकत्वं मन्तव्यम् । अन्यथा स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्याक्षेपः स्यात् । अत्र च 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्येतदनुसारेण व्याख्या कर्तव्या । वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तये लाभाय एतद्व्यङ्ग्यमपेक्षणीयम् । अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्यते । स्वतःसिद्धतया अवचनीय एव सोऽर्थः स्यादिति यावत् । नन्वेवं व्यङ्ग्यस्योपस्कारता प्रत्युतोक्ता भवेदित्याशङ्क्याह—प्रतिपन्ने चेति । शब्देनोक्त इति यावत् ॥ ३१ ॥

'हे हलवाले की पुत्रवधू! गिरे हुये पुष्पों को बीन लो, शेफालिका को मत हिलाओ। यह अनिष्टकर परिणामवाला तुम्हारा वलय-शब्द तुम्हारे ससुर ने सुन लिया ।'

क्योंकि ससुर शेफालिका की लता की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करते हुये उसके खींचने कँपाने इत्यादि से कुपित हो जाता है ।

इसी से विषमविपाकत्व माना जाना चाहिये। अन्यथा अपनी उक्ति से ही व्यंग्य आक्षेप होजावे । यहाँ पर 'कस्स वा ण होइ रोसो' के समान व्याख्या की जानी चाहिये । वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति अर्थात् लाभ के लिये इस व्यंग्य की अपेक्षा की जानी चाहिये। अन्यथा वाच्य अर्थ प्राप्त ही न होवे। आशय यह है कि स्वतः सिद्ध होने कारण वह अर्थ कहने के अयोग्य ही होजावे। 'इस प्रकार प्रत्युत व्यंग्य की उपस्कारता कही हुई हो जावेगी' यह शंका करके कहते हैं—'और प्रतिपन्न हो जाने पर' इत्यादि । आशय यह है कि शब्द के द्वारा कहे जाने पर ॥ ३१ ॥

## तारावती

गया है कि ध्वनिकाव्य मे तात्पर्य व्यंग्योन्मुख होता है। इससे यह समझ लेना चाहिये कि गुणीभूत व्यंग्य मे तात्पर्य का निबन्धन उससे विपरीत ही होता है ।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण—

'हे हालिक ( हल जोतनेवाले ) की पुत्रवधू ! गिरे हुये फूलों को बीन लो, शेफालिका को हिलाओ नहीं । तुम्हारे ससुर ने तुम्हारे इस वलय शब्द को सुन लिया है जिसका परिणाम बहुत बुरा हो सकता है ।

कोई नायिका शेफालिका-कुञ्ज मे अपने अविनीत प्रियतम ( जार ) के साथ रमण कर रही है जिससे उसके वलय का कलकल शब्द बाहर से सुनाई पड़ रहा है । सखी ने उस शब्द को बाहर से सुना है और वह उपर्युक्त शब्दों में नायिका को सजग कर रही है । बाह्यरूप मे उसके कहने का आशय यह है कि 'तुम्हारा ससुर शेफालिका-कुञ्ज की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है । अतएव उसके हिलाने-कँपाने

इत्यादि से उसे क्रोध आ जाता है। अतएव तुम लता को मत हिलाओ केवल गिरे हुये फूल बीन लो। नहीं तो तुम्हारा ससुर रुष्ट हो जावेगा और उसका परिणाम बुरा होगा।' यहाँ पर परिणाम के बुरे होने का कारण यही समझना चाहिये कि नायिका का ससुर प्रयत्न से शेफालिका-लता की रक्षा करता है और उसके हिलाने इत्यादि से रुष्ट हो जाता है। नहीं तो—विपमविपाक का दूसरा अर्थ समझने पर व्यङ्ग्य का आक्षेप अपनी उक्ति से ही हो जावेगा और वह ध्वनिकाव्य नहीं रहेगा। यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या 'कस्य वा न भवेद्रोषो' इत्यादि पद्य के अनुसार करनी चाहिये। (अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों के प्रति इसकी व्यञ्जना विभिन्न प्रकार की होगी। (अ) जार के प्रति इन शब्दों की व्यञ्जना होगी—'तुम्हें सावधान होकर कार्य करना चाहिये, ध्यान रक्खो कि आभूषणों की झनकार न हो नहीं तो भय है कि कहीं रहस्योद्घाटन न हो जावे। (आ) नायिका के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'इस वार तो मैंने वात वना ली, तुम्हे सर्वदा सोच-समझकर ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये।' (इ) तटस्थ व्यक्तियों के प्रति इसका सीधा सा अर्थ होगा कि 'नायिका शेफालिका-कुञ्ज में पुष्पावचय कर रही है।' (ई) सखियों के प्रति इसका अर्थ होगा—'देखो मैं कितनी निपुण हूँ मैंने नायिका के दुराचार को कितनी निपुणता से छिपाया है।' (उ) ससुर के प्रति इसका अर्थ होगा—'मैं तुम्हारा स्वभाव जानती हूँ, तुम्हें शेफालिका का हिलाना अच्छा नहीं लगता, नायिका केवल मुग्धता-वश लता से फूल तोड़ रही है, मैंने उसे मना कर दिया है अब तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये। इत्यादि विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न व्यञ्जनायें होंगी।) यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के दो भाग हैं—एक तो इस प्रकरण का ज्ञान होना कि नायिका उपपति से कुञ्ज में विहार कर रही है और उसके वलयों का कलकल शब्द वाहर जा रहा है। वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तथा उसके निराकांक्ष सफल वोध के लिये इस व्यङ्ग्य की अपेक्षा है। अन्यथा वाच्यार्थ की ही प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि शेफालिका का हिलाना ससुर को रुष्ट कर देता है यह वात तो स्वतः सिद्ध है और नायिका भी इसे जानती है। अतएव सखी को इस वात के कहने की आवश्यकता ही क्या है? अतः प्रकरणादि का ज्ञान, जो व्यङ्ग्यार्थ से ही अधिगत होता है, वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये आवश्यक है। (प्रश्न) फिर तो ध्वनि के उदाहरण के प्रतिकूल व्यङ्ग्यार्थ की वाच्योपस्कारकता सिद्ध हो जावेगी। (उत्तर) जब प्रकरणादि के ज्ञान के साथ एक अर्थ—शेफालिका के हिलाने से ससुर के रुष्ट हो जाने के अर्थ—के प्रतिपन्न हो जाने पर अर्थात् शब्द के द्वारा अभिहित कर दिये जाने पर दूसरा व्यङ्ग्यार्थ यह निकलता

ध्वन्यालोकः

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह—

(अनु०) इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनि के उसके आभास-विवेक के प्रस्तुत होने पर अविवक्षितवाच्य का भी आभास-विवेक करने के लिये कह रहे हैं—

लोचन

तदाभासविवेके प्रस्तुत इति सप्तमी हेतौ। तदाभासविवेकलक्षणात् प्रसङ्गादिति यावत्। कस्य तदाभास इत्यपेक्षायामाह—विवक्षितवाच्यस्येति। स्पष्टे तु व्याख्याने प्रस्तुत इत्यसङ्गतम्। परिसमाप्तौ हि विवक्षिताभिधेयस्य तदाभासविवेकः। न त्वधुना प्रस्तुतः। नाप्युत्तरकालमनुबध्नाति।

'उसके आभास-विवेक के प्रस्तुत होने पर' यह हेतु मे सप्तमी है अर्थात् उसके आभास-विवेकरूप प्रसंग से। 'किसका तदाभास?' इस अपेक्षा में कहते हैं—'विवक्षितवाच्य का।' स्पष्ट व्याख्यान मे तो प्रस्तुत यह असंगत हो जावेगा। विवक्षितवाच्य की परिसमाप्ति में उसके आभास का विवेक होता है। (वह) इस समय प्रस्तुत नहीं है और न उत्तरकाल का अनुबन्धन करता है।

तारावती

है कि उपपति के अविनय को छिपाने के लिये ही सखी ने ये वचन कहे हैं। तब वह वाच्यार्थ इस व्यङ्ग्यार्थ का अंग बन जाता है। अतः इसका अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि में अन्तर्भाव होगा॥ ३१॥

'इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उसके आभासविवेक के प्रस्तुत होने पर अविवक्षितवाच्य का भी आभासविवेक करने के लिये कहा जा रहा है।' यह वृत्तिकार का ३२ वीं कारिका का उपक्रम है। 'उसके आभासविवेक के प्रस्तुत होने पर' इसमें सप्तमी हेतु मे है। अर्थात् क्योंकि उसके आभासविवेकरूप का प्रस्तावरूप प्रकरण चल रहा है अतः अविवक्षितवाच्य की भी वही बात (आभास विवेक) बतलाया जा रहा है। प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके आभासविवेक का प्रकरण चल रहा है। इसका उत्तर देने के लिये कहा गया है विवक्षितवाच्य ध्वनि का। यही व्याख्या इस अवतरण की की जानी चाहिये। जो व्याख्या स्पष्ट है वही कर देने पर प्रस्तुत शब्द असगत हो जावेगा। क्योंकि विवक्षितवाच्य की परिसमाप्ति हो जाने पर ही उसके आभास का विवेक किया जा सकता है। वह इस समय प्रस्तुत नहीं है और न उत्तर काल का ही अनुबन्धन हो सकती है। (लोचनकार की यह टिप्पणी कुछ जटिल है। अतः इसको समझ लेना चाहिये। वृत्तिकार ने लिखा है कि 'विवक्षितवाच्य के आभासविवेक प्रस्तुत होने पर।'

ध्वन्यालोकः

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥ ३२ ॥

(अनु०) 'बाधित अर्थवाले शब्द का निबन्धन जो कि अव्युत्पत्ति या अशक्ति से किया जाता है उसे विद्वान् लोग ध्वनि का विषय न समझें।' ॥ ३२ ॥

लोचन

स्खलद्गतेरिति। गौणस्य लाक्षणिकस्य वा शब्दस्येत्यर्थः। अव्युत्पत्तिरनुप्रासादिनिबन्धनतात्पर्यप्रवृत्तिः। यथा—

प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीनाम्।
चित्ताकाशावकाशे विहरति सततं यः स सौभाग्यभूमिः ॥

अत्रानुप्रासरसिकतया प्रेङ्खदितिलाक्षणिकः, चित्ताकाश इति गौणः प्रयोगः कविना कृतोऽपि न ध्वन्यमानरूपसुन्दरप्रयोजनांशपर्यवसायी।

'स्खलद्गति का' अर्थात् गौण अथवा लाक्षणिक शब्द का। अव्युत्पत्ति अर्थात् अनुप्रास इत्यादि निबन्ध के तात्पर्य से प्रवृत्ति। जैसे—

'प्रौढ़ सीमन्तिनियों के चलायमान प्रेमप्रबन्ध के प्रचुर परिचयवाले चित्ताकाश के अवकाश मे जो निरन्तर विहार करता है वह सौभाग्यशाली है।'

यहाँ अनुप्रास की रसिकता से 'प्रेङ्खत्' इस लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया गया है। चित्ताकाश यह गौण प्रयोग कवि द्वारा किया हुआ भी ध्वन्यमान रूपवाले सुन्दर प्रयोजनाश का पर्यवसायी नहीं है।

तारावती

किसी विषय के निरूपण में प्रस्तुत उसे कहते हैं जहाँ किसी एक विषय का निरूपण किया जा रहा हो और वह समाप्त हो जावे तथा उसी से सम्बन्धित कोई दूसरा विषय निरूपण के निमित्त प्रारम्भ किया जावे। यदि वृत्तिकार के अवतरण का सीधा अर्थ किया जावे तो उसका आशय यह होगा कि विवक्षितवाच्य ध्वनि का निरूपण समाप्त हो गया है और अब विवक्षितवाच्य ध्वनि के आभास पर विचार करना प्रारम्भ किया जा रहा है। किन्तु ऐसा है नही। न तो अव्यवहित रूप में समाप्त हुये प्रकरण में अर्थात् ३१ वीं कारिका मे विवक्षितवाच्य का प्रकरण ही समाप्त किया गया है और न अगले प्रकरण मे उसके आभास पर ही विचार किया जावेगा। अतः विवक्षितवाच्य के आभास के प्रकरण को प्रस्तुत मानना प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतएव इस अवतरण मे 'तदाभासे प्रस्तुते' इस सप्तमी को हेतु मे मानना चाहिये। इस प्रकार इसका अर्थ हो जावेगा कि 'यहाँ पर अविवक्षितवाच्य के आभासविवेक पर विचार इसलिये किया जा रहा है कि विवक्षितवाच्य ध्वनि के आभासविवेक का प्रकरण चल ही रहा है (३१ वीं कारिका में विवक्षितवाच्य

तारावती

के आभास का निरूपण किया गया है।) और इसीलिये अविवक्षितवाच्य के आभास पर भी विचार कर लेना उचित है।' इस विषय में दीधितिकार ने लिखा है कि यहाँ पर आचार्य का वचन ठीक नहीं है क्योंकि संयोग और समवाय सम्बन्ध के न होने के कारण सप्तमी हो ही नहीं सकती। प्रस्तुत का सम्पन्न अर्थ कर लेने पर प्रस्तुत शब्द संगत भी हो जाता है।)

कारिका के 'स्खलद्गतेः' शब्द का अर्थ है—'जहाँ शब्द वाच्यार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो गया हो अर्थात् बाधित शब्द' यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि अभिधावृत्ति को छोड़कर लक्षणा को अवकाश देने के लिये बाधित शब्द का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि उससे कोई न कोई प्रयोजन सिद्ध हो सके। जब अभिधा अभीष्टार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो जाती है तब बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है जिससे लक्ष्यार्थ के साथ प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ का भी अवगमन होता है। ऐसे ही स्थान पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। यहाँ पर 'स्खलद्गतेः' शब्द से गौणी का भी बोध होता है और लक्षणा का भी। इसके प्रतिकूल जहाँ कवि अपनी अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण बाधित शब्दों का प्रयोग करता है वह ध्वनि का विषय नहीं होता। (लाक्षणिकता कवि की अयोग्यता छिपाने का साधन नहीं है वह काव्य में नई तड़प पैदा कर देने से ही चरितार्थ हो सकती है।) अव्युत्पत्ति का अर्थ यह है कि जहाँ पर लाक्षणिक शब्द की प्रवृत्ति में अनुप्रास का निबन्धन ही निमित्त हो। जैसे—'प्रेङ्खत्.....भूमिः' यह पद्य—'वह व्यक्ति सौभाग्यशाली है जो निरन्तर प्रौढ़ ललनाओं के ऐसे चित्ताकाश के अवकाश में विहार किया करता है जो काँपनेवाले (प्रेङ्खत्) प्रेम के उत्कृष्ट बन्धन में प्रचुर परिचय प्राप्त कर चुके होते हैं।'

वस्तुतः काँपती कोई स्थूल वस्तु है। प्रेम सूक्ष्म होने के कारण काँप नहीं सकता। अतएव यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है अस्थिर प्रेम। इस लक्षणा का अनुप्रास की सिद्धि के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। चित्त को आकाश बतलाया गया है जो एक गौण प्रयोग है क्योंकि अप्रत्यक्षत्व सूक्ष्मत्व इत्यादि गुणसाम्य के बलपर ही चित्त को आकाश कहा गया है। इसका भी अनुप्रास-निष्पत्ति के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव सुन्दरता के साथ किसी प्रयोजन के व्यक्त न करने के कारण यह ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता।

अशक्ति का अर्थ है ऐसे शब्द का प्रयोग जिसका प्रयोजन केवल छन्द की पूर्ति ही हो। जैसे—

## लोचन

**अशक्तिर्वृत्तपरिपूरणाद्यसामर्थ्यम्** । यथा—

विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवरवारिनिधौ पतता त्वया ।
चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुड्यमये कृता ॥

अत्र प्रवरान्तमाद्यपदं चन्द्रमस्युपचरितम् । भाजनमित्याशये । कुड्यमय इत्यविचले । अत्रैतत्कामपि कान्तिं न पुष्यति, ऋते वृत्तपूरणात् ।

अशक्ति अर्थात् वृत्तपरिपूरण इत्यादि मे असामर्थ्य । जैसे—

'हे विषमवाण के कुटुम्ब सञ्चय मे श्रेष्ठ ! ( चन्द्र ) वारिनिधि मे गिरते हुये तुमने चञ्चल तरंगों से विघूर्णित पात्रवाली कुड्यमय ( पाषाणमय ) अपनी आत्मा मे चञ्चलता ( उत्पन्न ) कर ली ।'

यहाँ पर प्रवर पर्यन्त आद्य पद चन्द्रमा मे औपचारिक है, 'भाजन' यह आशय में और 'कुड्यमय' यह अविचल मे । यहाँ यह पादपूर्ति के अतिरिक्त और किसी कान्ति को पुष्ट नहीं करता ।

## तारावती

'हे विषमवाण के कुटुम्बियों के समूह मे श्रेष्ठ ? समुद्र मे गिरकर तुमने अपनी कुड्यमय ( स्थिर ) आत्मा में जिसका भाजन ( मध्यभाग ) चञ्चल तरङ्गों से काँप रहा है, चञ्चलता उत्पन्न कर ली ।'

यहाँ पर चन्द्र के लिये 'विषमवाण के कुटुम्बियो में श्रेष्ठ' कहा गया है, यह प्रथम पद है जिसका प्रयोजन छन्दःपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसी प्रकार 'भाजन' का अन्तरात्मा के लिये प्रयोग किया गया है क्योंकि भाजन (पात्र) भी वस्तुओं का अधिकरण होता है और आत्मा भी अधिकरण होता है । कुड्य- (पाषाण ) स्थिर होता है इसी साम्य के वल पर स्थिर के लिये 'कुड्यमय' शब्द का प्रयोग किया गया है । इन प्रयोगों का छन्दःपूर्ति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं । अतएव यहाँ पर ध्वनि नहीं हो सकती ।

प्रथम उल्लास मे वतलाया गया था कि जहाँ पर व्यङ्ग्य के कारण वहुत अधिक सौन्दर्य नहीं भी होता वहाँ पर भी कवि लोग प्रसिद्धि के अनुरोध से लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग कर देते हैं । जैसे 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' में वदति का प्रयोग । इसी प्रकार लावण्य इत्यादि शब्दों को भी समझना चाहिये । इस प्रकार के शब्द ध्वनि की सीमा में नहीं आते । इसके अतिरिक्त ऐसे भी लाक्षणिक शब्द ध्वनिकाव्य के क्षेत्र में नहीं आते जिनका अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण प्रयोग कर दिया गया हो । यही इस कारिका के 'स च' में 'च' शब्द का अर्थ है ।

यद्यपि ध्वनि का स्वरूप पहले वतलाया जा चुका, तथापि ध्वन्याभास के

ध्वन्यालोकः

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्याव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः। यतः—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्वयङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

तच्चोदाहृतविषयमेव।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योतः।

(अनु०) स्खलद्गति अर्थात् उपचरित शब्द का अव्युत्पत्ति या अशक्ति से जो निबन्धन होता है वह भी ध्वनि का विषय नहीं होता। क्योंकि—

'जो कि सभी भेदों में अंगीभूत व्यंग्य का स्फुट रूप में अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है' ॥३३॥

इसके विषय के उदाहरण दिये ही जा चुके हैं।

इस प्रकार श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा लिखे हुये ध्वन्यालोक का द्वितीय उद्योत समाप्त हो गया।

---

तारावती

विवेक में ध्वनि का स्वरूप कारण अवश्य है। इसीलिये कारिकाकार ने ३३वीं कारिका का अवतरण देते हुये लिखा है 'यतः'—'क्योंकि'। कारिका का अर्थ यह है—

'सभी प्रकार के ध्वनि के अवान्तर भेदों मे अङ्गीभूत व्यङ्ग्य का जो स्फुट रूप में अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है।'

(आशय यह है कि ध्वनि मे तीन बाते अनिवार्य रूप से होती हैं (१) व्यङ्ग्य होना, (२) अङ्गी होना और (३) स्फुट रूप मे अवभासित होना। यदि तीनों मे एक की भी न्यूनता होती है तो उसे ध्वनि न कहकर ध्वन्याभास कहते हैं। और प्रथम के न होने पर तो ध्वन्याभास भी नहीं हो सकता।) इस कारिका की तीन प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—(१) अवभासन का अर्थ है अवभासित होनेवाली वस्तु। क्योंकि सत्ता के उपस्थित होने पर वस्तु स्वयं उपस्थित हो जाती है। लक्षण का अर्थ है स्वरूप। अतएव इसका आशय हुआ 'अङ्गी के रूप मे अवभासित होनेवाला व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनि का पूर्ण स्वरूप है।' (२) अवभासन का अर्थ है ज्ञान और लक्षण का अर्थ है प्रमाण। आशय यह है कि 'अङ्गी व्यङ्ग्य का ज्ञान ही ध्वनि का पूरा प्रमाण है क्योंकि उसी से ध्वनि का पूरा स्वरूप प्रकट होता है। (३) अवभासन का अर्थ है ज्ञान और लक्षण का अर्थ है परिभाषा। आशय यह है कि 'अङ्गी व्यंग्य

## लोचन

स चेति। प्रथमोद्योते यः प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवय इत्यत्र 'वदति-विसिनीपत्त्रशयनम्' इत्यादि भाक्त उक्तः। स न केवलं ध्वनेर्न विषयो यावदयमन्योऽपीति चशब्दार्थः। उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृत् उपस्कारं ददाति—यत इति। अवभासनमिति। भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायादवभासमानं व्यङ्ग्यम्। ध्वनिलक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम् अवभासमानं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणम्, तच्च पूर्णम्, पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात्। अथवा ज्ञानमेव ध्वनिलक्षणम्, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेद्यत्वात्। वृत्तावेवकारेण ततोऽन्यस्य चाभासरूपत्वमेवेति सूचयता तदाभासविवेकहेतुभावो यः प्रक्रान्तः स निर्वाहित इति शिवम्।

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यया।
वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत्॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदया-लोकलोचने ध्वनिसङ्केते द्वितीय उद्योतः।

'और वह' इत्यादि। प्रथम उद्योत में 'प्रसिद्धि के अनुरोध से प्रवर्तित व्यवहार-वाले कवि देखे जाते है' यहाँ पर 'विसिनीपत्र पर शयन को कहता है' यह जो भाक्त कहा था। च शब्द का अर्थ है कि केवल वही ध्वनि का विषय न हो ऐसा नहीं है अपितु अन्य भी। उक्त ध्वनिस्वरूप का ही उसके आभास के विवेक मे हेतु होने के कारण कारिकाकार अनुवाद करता है इस अभिप्राय से वृत्तिकार उपस्कार देता है।

'क्योंकि'। 'अवभासन' 'भाव के आनयन में द्रव्य का आनयन' इस न्याय से अवभासन अर्थात् व्यङ्ग्य। (वही) ध्वनिलक्षण अर्थात् ध्वनि का पूर्ण स्वरूप है। अथवा अवभासन का अर्थ है ज्ञान, वह ध्वनि का लक्षण अर्थात् प्रमाण है और वह पूर्ण है क्योंकि ध्वनि के पूर्ण स्वरूप का निवेदन करता है। अथवा ज्ञान ही ध्वनि का लक्षण है क्योंकि लक्षण ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य (विज्ञेय) होता है। वृत्ति मे 'एवकार' (अर्थात् 'ही') के द्वारा उससे भिन्न की आभासरूपता होती है यह सूचित करते हुये उसके आभासविवेक के जो कारण प्रक्रान्त था उसका ही निर्वाह कर दिया गया। बस कल्याण हो।

'जिसके द्वारा प्रभूत तथा प्रतीतिमात्र सत्तावाला यह (जगत्) भेद के रूप मे प्रकाशित किया जाता है उस पश्यन्ती की मैं अभिनव गुप्त बन्दना करता हूँ।'

यह है श्री महामहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदया-लोकलोचनध्वनि-सकेत मे द्वितीय उद्योत।

का ज्ञान ही ध्वनि की पूरी-परिभाषा है। क्योंकि लक्षण का निर्णय लक्ष्य के ज्ञान से ही होता है।

वृत्तिकार ने लिखा है 'ध्वनि के विषय का उदाहरण दिया ही जा चुका।' यहाँ पर 'ही' का अर्थ है कि वृत्तिकार यहाँ पर यह सूचित कर रहे हैं कि 'उससे भिन्न जितना भी उसका क्षेत्र है वह ध्वन्याभास रूप ही है।' इस प्रकार ध्वनि के आभास विवेक के कारण पर प्रकाश डालने का जो प्रकरण उठाया था उसी का निर्वाह कर दिया। इस प्रकार सभी का कल्याण हो।

'यह जगत् विस्तृत तथा प्रभूत रूप में है। किन्तु है यह प्रतीतिमात्र ही। जो मायारूपिणी परमेश्वरी इस ब्रह्म से भिन्न के रूप में प्रकाशित करती हैं, इस जगत् को देखनेवाली उन भगवती परमेश्वरी की, अभिनवगुप्त नामवाला मैं वन्दना कर रहा हूँ।'

आशय यह है कि संसार वास्तव में वस्तु सत् नहीं है अर्थात् इसमें विद्यमान वस्तुओं की बाह्य सत्ता नहीं है। यह ब्रह्म से अभिन्न जगत् है। किन्तु इसकी प्रतीति हमें होती ही है जिसमें एक मात्र कारण मायारूपिणी भगवती हैं जिन्हें हम आदिशक्ति दुर्गा या पार्वती के नाम से पुकार सकते हैं। वेदान्त के अनुसार विश्व की बाह्य-सत्ता की प्रतीति माया के कारण ही होती है वैसे यह विश्व ब्रह्म से अभिन्न है।

यहाँ पर भगवती के लिये 'पश्यन्ती' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस से एक अर्थ की ओर और संकेत होता है। वाणी चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा वाणी में सभी शब्द और सभी अर्थ अभिन्न रहते हैं। जिस प्रकार घट-पट इत्यादि का बाह्यभेद ब्रह्म में नहीं होता उसी प्रकार परा वाणी में भी सर्वथा अभेद होता है। दूसरी वाणी है पश्यन्ती। इसका ग्रहण बुद्धि के द्वारा होता है और इसमें आकर बुद्धि भेद को ग्रहण करने लगती है। मध्यमा का आभास स्वयं कान बन्द करने पर एक नाद के रूप में होता है। इसमें भी पूर्ण भेद नहीं हो पाता। फिर मुख-गह्वर में आकर स्थान-प्रयत्न इत्यादि के संयोग से 'क' और 'ख' इत्यादि में भेद हो जाता है। आशय यह है कि परा वाणी के रूप में सभी कुछ अभिन्न होता है, किन्तु पश्यन्ती वाणी बुद्धि के क्षेत्र में आकर इस विस्तृत विश्व को भेद के रूप में प्रकाशित किया करती है। भेद वास्तविक नहीं है किन्तु उसकी केवल प्रतीति होती है। इतने बड़े विश्व का आभास करा देना भगवती आदि शक्ति का ही काम है जिसे माया के रूप में पुकारा जाता है। इसी आधार पर आदिशक्ति की पूजा की जाती है और ब्रह्म को शब्द ब्रह्म के रूप में माना जाता है।

॥ यह तारावती का दूसरा उद्योत समाप्त हुआ ॥

# वक्तव्य

ध्वन्यालोक का उत्तरार्ध पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुये अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस खण्ड में तृतीय और चतुर्थ, ये दो उद्योत सन्निविष्ट किये गये हैं। तृतीय उद्योत कलेवर में जितना विशाल है विषय-वस्तु की दृष्टि से उतना ही उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण भी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस उद्योत मे लेखक ने ध्वनि सम्बन्धी अनेक आवश्यक शङ्काओं का समाधान करने की चेष्टा की है। उद्योत का प्रारम्भ व्यञ्जक निरूपण से होता है। अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपरवाच्य, संलक्ष्यक्रम, असंलक्ष्यक्रम, शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक सभी प्रकार के ध्वनिभेदों के व्यञ्जकों पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही रसव्यञ्जना के व्यञ्जक तत्त्वों पर अधिक विस्तार से विचार किया गया है और सङ्घटना, रीति और गुण का रस से क्या सम्बन्ध है इस विषय मे मतभेद प्रदर्शन-पूर्वक तत्त्वनिर्णय की चेष्टा की गई है। इसी प्रसङ्ग में काव्यभेदों पर विचार किया गया है जिसके साथ ही औचित्य सम्प्रदाय के बीज भी अन्तर्निहित हो गये हैं। प्रबन्ध के द्वारा रसव्यञ्जना के प्रसङ्ग में कथापरीक्षा तथा उसका औचित्य, इतिवृत्त तथा कल्पना का योग, अवसर के अनुकूल उद्दीपन और प्रशमन इत्यादि विषयों का भी यथेष्ट समावेश किया गया है। इसके अतिरिक्त रसविरोध तथा विरोध परिहार पर भी स्वतन्त्ररूप से विचार किया गया है। विरोध के प्रसङ्ग में ही वृत्तियों का परिचय भी दिया गया है। दूसरे महत्त्वपूर्ण विषय हैं शान्तरस की सत्ता की सिद्धि, वाच्य-वाचक विचार, रस की संलक्ष्यक्रमता, गुणीभूतव्यङ्ग्य का महत्त्व और उपयोग तथा काव्य में उसका स्थान, प्राधान्याप्राधान्यविवेचन की आवश्यकता, चित्रकाव्य, अलङ्कार सम्प्रदाय का ध्वनिसम्प्रदाय से सम्बन्ध, वक्रोक्ति, अलङ्कार और ध्वनि, वृत्तिविवेचन तथा विभिन्न वृत्तियों का एकीकरण और ध्वनि विरोधी मतों की परीक्षा। ध्वन्यालोक केवल ध्वनिसंस्थापनपरक ग्रन्थ ही नहीं है अपितु प्राक्तन सभी विचारधाराओं को एक-सूत्र में अनुस्यूत करता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत उद्योत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इसमें प्राक्तन सभी विचारधाराओं का ध्वनिमान्यता के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। केवल पूर्ववर्ती ही नहीं अपितु उत्तरवर्ती औचित्य और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का भी प्रेरणा-स्रोत यही उद्योत है। इसमे व्यञ्जना का भी सबल प्रतिपादन कर दिया गया है।

चतुर्थ उद्योत उपसंहारात्मक है। इसका प्रारम्भ ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के उपयोग से होता है जिससे काव्य मे अनन्तता तथा नवीनता आ जाती है। रसध्वनि फिर भी सर्वाधिक प्रधान होती है और जहाँ अनेक रसों का उपादान किया जाता है वहाँ एक रस को अङ्गी बनाना भी अत्यावश्यक बतलाया गया है। इस प्रसङ्ग में रामायण तथा महाभारत के अङ्गी रसों पर विस्तारपूर्वक दृक्पात किया गया है। काव्य मे अक्षुण्ण वस्तु से ही नवीनता आती है। इस दिशा में

सर्वाधिक उपयोग कवि-प्रतिभा का होता है। व्यङ्ग्यार्थ से ही नहीं और न केवल व्यञ्जना वृत्ति के उपयोग से अपितु वाच्य-वाचक भाव में भी काव्य अनन्तता का प्रयोजक हो जाता है। अवस्थादि भेद भी क्षुण्ण अर्थ को नवीनता प्रदान करने वाले हो जाते हैं। दो कवियों के भाव प्रायः मेल खा जाते हैं। किन्तु सर्वत्र अपहरण का ही आरोप समीचीन नहीं होता। इस दृष्टि से संवाद ( मेल ) का वर्गीकरण किया गया है और सदोषता निर्दोषता पर निर्णय दिया गया है।

उपर्युक्त दिग्दर्शन से प्रकट होता है कि प्रस्तुत खण्ड ध्वनि के छात्र के लिए अनिवार्यरूप से उपयोगी है। विशेष रूप से तृतीय उद्योत तो काव्यशास्त्र के प्रत्येक छात्र के लिये अनिवार्य आवश्यकता है। डॉ० नगेन्द्र प्रस्तुत कृति के प्रेरणाकेन्द्र तो रहे ही हैं उन्होंने आमुख लिख कर भी अनुगृहीत किया है, इसके लिये आभार प्रदर्शित कर मैं उनकी सतत प्राप्य अनुकम्पा का मूल्यांकन नहीं करूंगा। इसके प्रस्तुत करने में मुझे अपने पुत्रों श्री योगेश्वर त्रिपाठी और श्री ज्ञानेश्वर त्रिपाठी से यथेष्ट सहायता मिली है। उन्होंने प्रेस कापी तैय्यार करने, मूल से मिलाने, विषय सूची तैय्यार करने और वर्णानुक्रमणी बनाने का बहुत ही श्रमसाध्य कार्य सम्पादित किया है। प्रेस कापी तैय्यार करने और मूल से मिलाने में मेरे अनुज श्री रामशरण त्रिपाठी से भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। मैं 'मोतीलाल बनारसी दास' प्रकाशन के अधिष्ठाता श्री सुन्दरलाल जैन का अन्तस्तल से आभारी हूँ जिन्होंने मेरे श्रम को प्रकाश मे लाने की उदारता दिखलाकर कृतार्थ किया है और इसका सर्वाधिक श्रेय श्री किशोर चन्द्र जी जैन को दिया जा सकता है जिनकी देख रेख में मुद्रण कार्य सम्पादित किया गया है। श्री जनार्दन जी पाण्डेय का आभार प्रदर्शित न करना भी एक कृतघ्नता होगी जिन्होंने प्रूफ देखने का स्वयं भार वहन कर पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन मे स्तुत्य सहयोग प्रदान किया है। पुस्तक बनारस में मुद्रित हुई और दिल्ली में उसका प्रूफ देखने में अनावश्यक विलम्ब हो जाता। ऐसी दशा में मुद्रण की कतिपय अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिये अभिनवगुप्त के गुरु का नाम भट्टेन्दु राज है किन्तु पूर्वार्ध के प्राक्कथन के ६ वें पृष्ठ पर महेन्द्रराज छप गया है। आशा है कि सहृदय पाठक ऐसे स्थलों को विवेक पूर्वक स्वयं सम्हाल लेंगे॥

अन्त मे पाठकों की सेवा में कालिदास का निम्नलिखित पद्य निवेदित कर मैं पाठकों से त्रुटियों के लिये क्षमा प्रार्थना करूँगा :—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्याः लावण्यं रेखया किञ्चिदङ्कितम्।

भ्रातृ द्वितीया
संवत् २०२०

रामसागर त्रिपाठी

# विषय-सूची

## तृतीय उद्योत


१—लोचनकार का मङ्गलाचरण ६५७
२—द्वितीय उद्योत से विषय वस्तु की सङ्गति ६५९
३—प्रथम कारिका मे 'च' की योजना और उसका आशय ६६२
४—अविवक्षितवाच्य के भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का पद प्रकाश्यत्व ६६२
५—अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य की पदप्रकाश्यता ६६६
६—दूसरा उदाहरण ६७०
७—अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता ६७३
८—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता ६७४
९—विवक्षितवाच्य के शब्दशक्त्युद्भव की पद प्रकाश्यता ६८०
१०—शब्दशक्त्युद्भव की वाक्यप्रकाश्यता ६८१
११—संलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य मे अर्थशक्त्युद्भव के कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर नामक भेद की पदप्रकाश्यता ६८२
१२—उक्त भेद की वाक्यप्रकाश्यता ६८५
१३—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर नामक कल्पित भेद की पद-वाक्यप्रकाश्यता ६८५
१४—स्वतः सम्भवी भेद की पदप्रकाश्यता ६८८
१५—स्वतः सम्भवी भेद की वाक्यप्रकाश्यता ६८९
१६—ध्वनि की पदप्रकाश्यता पर शङ्का और उसका समाधान ६९१
१७—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की व्यञ्जकता का उपक्रम ६९५
१८—वर्णों की व्यञ्जकता का समर्थन ६९७
१९—इस विषय मे सङ्गीत शास्त्र का उदाहरण ७०१
२०—पद से अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का द्योतन ७०७
२१—पद के द्वारा द्योतकता पर विवाद ७०७
२२—पदांश के द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का द्योतन ७१०
२३—'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः' के सामानाधिकरण्य पर विचार ७११
२४—वाक्यरूप शुद्ध अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि ७१३
२५—अलङ्कारान्तरसङ्कीर्ण वाक्यरूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि ७१५

२६—सङ्घटना के द्वारा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के ध्वनित होने का उपक्रम ७१७
२७—इस प्रसङ्ग मे रीतियों का संक्षिप्त दिग्दर्शन
२८—आनन्दवर्धन की रीति-विषयक धारणा और उसके प्रसङ्ग में वैकल्पिक पक्षों पर विचार ७१८
२९—सङ्घटना की रसव्यञ्जकता पर विचार ७२०
३०—वैकल्पिक पक्षों की उद्भावना का प्रयोजन तथा पक्षों की स्थिति पर विचार ७२३
३१—सङ्घटना और गुणों के ऐक्य तथा गुणों के सङ्घटनाश्रितत्व पर विचार ७२३
३२—गुणों के आश्रय पर विचार ७२६
३३—इस दृष्टि से गुण और अलङ्कार का भेद ७२८
३४—शब्दाश्रितत्व की दृष्टि से गुण और सङ्घटना के ऐक्य पर विचार ७२९
३५—रसाभिव्यञ्जना में सङ्घटना के अनिश्चय का प्रतिपादन ७३२
३६—इस विषय मे दूसरा पक्ष और दोनों के ऐक्य का प्रतिपादन ७३७
३७—उत्तम देवताविषयक शृङ्गार वर्णन के अनौचित्य विचार का उदाहरण ७३९
३८—एकत्व पक्ष में औचित्य के दूसरे नियामक ७४१
३९—वक्ता और वाच्य के भेदोपभेद ७४३
४०—व्यङ्ग्यार्थ की ही अभिनेयता का समर्थन ७४५
४१—वक्तृ वाच्य भेदों पर आधारित औचित्य पर विचार ७४७
४२—इस पर आधारित सङ्घटना पर विचार ७४८
४३—प्रस्तुत पक्ष का उपसंहार ७५५
४४—सङ्घटना मे विषयाश्रय औचित्य ७५५
४५—प्रस्तुत प्रसङ्ग में काव्यभेदों पर विचार ७५७
४६—मुक्तक का स्वरूप, प्रबन्ध से उसका सम्बन्ध और भाषाओं में निबन्धन ७५७
४७—काव्य के दूसरे भेद ७५८
४८—मुक्तक में सङ्घटना का औचित्य ७६२
४९—सन्दानितक इत्यादि में सङ्घटना का औचित्य ७६४
५०—विषयाश्रित सङ्घटना के औचित्य का उपसंहार ७६८
५१—प्रबन्ध के द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की व्यञ्जना ७७२
५२—कथा परीक्षा मे विभावौचित्य ७७४

५३—भावौचित्य तथा इस प्रसङ्ग में प्रकृतियों पर विचार ७७७
५४—लोकोत्तर कृत्यों के औचित्य पर विचार ७७९
५५—प्रख्यात वृत्त के उपादान का औचित्य ७८१
५६—विनेय व्यक्तियों के प्रतीति रक्षण की आवश्यकता ७८२
५७—रति इत्यादि में प्रकृत्यौचित्य पर विचार की आवश्यकता ७८५
५८—उपसंहार ७९०
५९—अध्ययन और प्रतिभा का उपयोग ७९१
६०—सिद्ध रस काव्यों मे स्वेच्छा सन्निवेश का निषेध ७९३
६१—कथा में रसानुकूल परिवर्तन ७९६
६२—शास्त्र-मर्यादा पालन के लिये काव्यक्रिया का निषेध ७९७
६३—शिक्षा के विभिन्न रूप और काव्यशिक्षा की उत्कृष्टता ८००
६४—नाटक सन्धियों का विवेचन ८०२
६५—अर्थप्रकृतियों का सन्धियों में अन्तर्भाव ८०५
६६—'रत्नावली' का उदाहरण ८०६
६७—शास्त्र स्थिति सम्पादनेच्छा का निषेध और वेणीसंहार का उदाहरण ८०९
६८—अवसर के अनुकूल उद्दीपन और प्रशमन ८११
६९—अंगी रस के अनुसंधान की आवश्यकता और इस विषय में तापस वत्सराज का उदाहरण ८१३
७०—रसानुकूल अलंकार योजना पर विचार ८२०
७१—प्रबन्ध के द्वारा अनुरणनात्मक ध्वनि के माध्यम से रस व्यञ्जना ८२१
७२—इस विषय में दीधितिकार की योजना की समीक्षा ८२४
७३—उक्त विषय में मधुमथन-विजयकार का उदाहरण ८२५
७४—विषमबाण लीला से उदाहरण ८२६
७५—महाभारत से उदाहरण ८२७
७६—रसध्वनि के व्यञ्जकों पर सूक्ष्म विचार ८३२
७७—सुप् इत्यादि की व्यञ्जकता का उदाहरण ८३३
७८—दूसरा उदाहरण ८३९
७९—सुबन्त की व्यञ्जकता का उदाहरण ८४२
८०—तिङन्त की व्यञ्जकता का उदाहरण ८४३
८१—सम्बन्ध की व्यञ्जकता का उदाहरण ८४५

८२—तद्धित की व्यञ्जकता का उदाहरण ८४६
८३—समास वृत्ति की व्यञ्जकता ८४६
८४—निपात इत्यादि की व्यञ्जकता ८४७
८५—निपात की व्यञ्जकता का दूसरा उदाहरण ८४८
८६—उपसर्गकी व्यञ्जकता ८५१
८७—उपसर्ग इत्यादि की अनेकता की व्यञ्जकता ८५२
८८—पादपौनरुक्त्य की व्यञ्जकता ८५४
८९—वाक्य इत्यादि के पौनरुक्त्य की व्यञ्जकता ८५६
९०—प्रकृत्यंश की व्यञ्जकता ८५८
९१—सर्वनाम की व्यञ्जकता ८५९
९२—वाचकत्व के अभाव में भी व्यञ्जकता का प्रतिपादन ८६२
९३—शृङ्गारेतर विषयों में शृङ्गार परक वर्णों के प्रयोग से चारुता निष्पादन पर विचार ८६४
९४—सहृदय संवेदन सिद्धि मे व्यञ्जना की आवश्यकता ८६७
९५—रस विरोध का उपक्रम ८७०
९६—रसाभिव्यञ्जक तत्त्वों का विलोम और विरोधी तत्त्व ८७१
९७—रस विरोध पर सामान्य दृष्टिपात ८७३
९८—विरोधी उपकरणों का उपादान रसविरोधी होता है ८७४
९९—विप्रकृष्टसम्बन्धवाली वस्तु का विस्तार पूर्वक वर्णन ८७८
१००—अकाण्ड विच्छेद ८८०
१०१—विना अवसर के विस्तार ८८२
१०२—पुनः पुनः दीपन ८८४
१०३—वृत्ति का अनौचित्य ८८५
१०४—विरोध परिहार का उपक्रम ८८९
१०५—विरोध परिहार की शर्तें ८९०
१०६—शृङ्गार में करुणरस के संचारी भावों के समावेश पर विचार ८९२
१०७—शृङ्गार रस में मरण के वर्णन पर विचार। ८९५
१०८—विरोधी रस की प्रकृत रस पोषकता के तीन रूप तथा उसके उदाहरण। ८९८
१०९—दो परस्पर विरोधी रसों का प्रकृत रस में समावेश, इसमें दोष तथा उसका परिहार। ९०३
११०—रस के विषय में विधि और अनुवाद शब्दों का आशय ९०९

१११—विरोध के स्थलों का निरूपण । ९१३
११२—विरोधियों के अभिनय पर विचार । ९१४
११३—विरोध परिहार के अन्य प्रकार ९१६
११४—रसको अंगी बनाने का निर्देश ९२४
११५—रस का अंगांगी भाव किस प्रकार संभव है ? इस पर विचार ९२६
११६—नाट्य वस्तु की संक्षिप्त रूप रेखा ९३०
११७—अविरोधी रसों का विवेचन ९३१
११८—विरोधी रसों का विवेचन ९३५
११९—परिस्थिति के अनुसार रस विरोध परिहार का निर्देश ९३६
१२०—विरोध परिहार के तीन प्रकारों की व्याख्या ९३८
१२१—दो रसों के परस्पर समावेश के अन्य प्रकार ९४५
१२२—रसों के अङ्गाङ्गी भाव के द्वारा विरोध-परिहार, इस विषय में शङ्का समाधान ९४६
१२३—एकाश्रय के विभिन्नाश्रय में करदेने पर विरोध परिहार का निर्देश ९५४
१२४—नैरन्तर्य में रसान्तर व्यवधान का निर्देश ९५७
१२५—इस विषय में नागानन्द का उदाहरण ९५८
१२६—शान्त रस विषयक प्रश्नोत्तर, उसकी सत्ता तथा अन्यत्र अन्तर्भाव पर विचार ९६६
१२७—एक वाक्य में भी व्यवधान में विरोध निवृत्ति ९७६
१२८—रस विरोध की दृष्टि से शृङ्गार रस में विशेष सावधानता की आवश्यकता ९८०
१२९—अन्य रसों में शृङ्गार का समावेश उतना सदोष नहीं होता ९८२
१३०—काव्य का जाया सम्मितत्व
१३१—रस विरोध का उपसंहार ९८९
१३२—रस प्रकरण में वाच्य-वाचक पर विचार की आवश्यकता और औचित्य का निर्देश ९९०
१३३—इस प्रसङ्ग में द्विविध वृत्तियों का निरूपण ९९२
१३४—इति वृत्त और रस का सम्बन्ध ९९६
१३५—रसप्रतीति में क्रमकल्पना पर विचार १००१
१३६—रसप्रतीति में क्रम की संलक्ष्यता १०१७
१३७—व्यञ्जना वृत्ति पर पुनः विचार का उपक्रम १०२५
१३८—इस विषय में विप्रतिपत्ति १०२७

वैय्याकरणों और मीमांसकों की विप्रतिपत्ति ( १०२७ ) कुमारिल भट्ट के कथन का आशय ( १०३० ) प्राभाकर दर्शन वादियों का मत ( १०३० ) वैय्याकरणों के स्फोटवाद का आशय ( १०३१ )

१३९—पूर्वपक्ष की आलोचना और स्वमत स्थापन १०३२

१४०—तात्पर्य वृत्ति से निर्वाह न हो सकने का प्रतिपादन तथा इस विषय में अनेक दार्शनिक मत वादों की समीक्षा १०४०

१४१—पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय तथा प्रदीप-घटन्याय के विषय में शङ्का समाधान १०४४

१४२—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' की विशेष मीमांसा १०४७

१४३—लक्षणा और व्यञ्जना का भेद-स्वरूप भेद १०४९

१४४—विषय भेद १०५६

१४५—व्यञ्जकत्व का अभिधा और गुण वृत्ति दोनों से भेद १०५९

१४६—लक्षणा और व्यञ्जना के भेद पर पुनः दृष्टिपात १०५३

१४७—व्यञ्जना वृत्ति को सिद्ध करने के लिये अन्य हेतु १०७८

१४८—उक्त विषय में अनुमान पद्धति पर संक्षिप्त दृष्टिपात १०८१

१४९—विभिन्न दर्शनों में व्यञ्जना वृत्ति के स्वीकार की आवश्यकता १०८४

मीमांसकों के मत में व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता ( १०८४ ) वैय्याकरणों के मत में व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता ( १०९५ ) तार्किकों के मत में व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता ( १०९६ ) व्यञ्जना की अनुमानगतार्थता का निराकरण ( ११०४ )

१५०—गुणीभूतव्यङ्ग्य ११२३

परिचय ( ११२४ ) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का गुणीभाव ( ११२५ ) वाच्यार्थ के तिरस्कृत न होने पर गुणीभाव ( ११३० ) उक्ति के द्वारा कथन में गुणीभाव ( ११३१ ) रस इत्यादि दूसरे तत्त्वों का गुणीभाव ( ११३१ ) विभिन्न तत्त्वों के गुणीभूत होने के रूप ( ११३१ ) गुणीभूतव्यङ्ग्य का महत्त्व ( ११३३ ) गुणीभूतव्यङ्ग्य के द्वारा अलङ्कार वर्ग में सौन्दर्य का आधान ( ११३७ ) वक्रोक्ति और गुणीभूतव्यङ्ग्य ( ११४४ ) अतिशयोक्ति से भिन्न अन्य अलङ्कारों में व्यञ्जना का योग ( ११५० ) गुणीभूत व्यङ्ग्य के अलंकारों को कृतार्थ करने के तीन प्रकार ( ११५३ ) गुणीभूतव्यङ्ग्य के अभाव में कोई अलङ्कार अलङ्कार नहीं हो

सकता ( ११५८ ) गुणीभूतव्यङ्ग्य से ही सभी अलङ्कारों की गतार्थता ( ११६१ ) गुणीभूतव्यङ्ग्य का लक्षण ( ११६४ ) गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि का निष्यन्द होता है ( ११६५ )

१५१—प्रतीयमान अर्थ का महत्त्व ११६५

१५२—गुणीभूतव्यङ्ग्य का दूसरा प्रकार–काकाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य ११७१

१५३—क्या काकु ध्वनि हो सकता है ? ११७५

१५४—काकु व्यञ्जना का दूसरा उदाहरण ११७७

१५५—काकु व्यञ्जना गुणीभाव को कैसे धारण करती है ११७८

१५६—गुणीभूतव्यङ्ग्य के क्षेत्र मे ध्वनि संयोजना की चेष्टा का निषेध ११८१

१५७—गुणीभूतव्यङ्ग्य का पर्यवसान भी ध्वनि में ही होता है ११८७

१५८—गुणीभूतव्यङ्ग्य को अर्थान्तर संक्रमित वाच्य क्यों नहीं कहते ११९४

१५९—गुणीभूतव्यङ्ग्य का ध्वनि वाह्य विषय ११५४

१६०—प्राधान्याप्राधान्य विवेचन का महत्त्व और इसमें व्यामोह की सम्भावना ११९८

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' की व्याख्या और उसमें व्याजस्तुति की सम्भावना ( १२०१ ) इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा का समर्थन ( १२०६ ) अप्रस्तुतप्रशंसा के विभिन्न रूप ( १२०९ )

१६१—चित्र काव्य १२१८

स्वरूप, नामकरण और भेद ( १२२० ) चित्र काव्य और भाव पक्ष ( १२२२ ) चित्र काव्य के निरूपण की आवश्यकता ( १२२७ ) काव्य में शब्दों की परिवर्तनीयता का आशय ( १२२८ )

१६२—काव्य में अचेतन वस्तु के समावेश का प्रकार १२३८

१६३—कवि का महत्त्व ११३०

१६४—ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के विवेचन का उपसंहार १२३३

१६५—ध्वनि की अनन्तता और उसके भेदोपभेदों का विचार ११३८

१६६—लोचन और काव्यप्रकाश की गणना प्रक्रिया १२४०

१६७—साहित्य दर्पण की गणना प्रक्रिया १२४५

१६८—आलोक में संसृष्टि और साङ्कर्य का दिग्दर्शन १२४६

१६९—स्वगत भेदों का अनुग्राहक भाव सङ्कर १२४६

१७०—सन्देह सङ्कर १२४७

१७१—एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर १२५१

१७२—संसृष्टि १२५२
१७३—गुणीभूतव्यङ्ग्य से साङ्कर्य और संसृष्टि १२५४
१७४—प्रधानता और गुणीभाव पर विचार १२५८
१७५—ध्वनि की गुणीभूतव्यङ्ग्य से संसृष्टि १२६१
१७६—अलङ्कारों से साङ्कर्य और संसृष्टि १२६३
विभिन्न प्रकार के साङ्कर्य और संसृष्टि का साधारण निर्देश
( १२६३ ) अन्य भेदों से रसध्वनि के साङ्कर्य का एक उदाहरण
( १२६५ ) वाच्यालङ्कार की ध्वनि से संसृष्टि ( १२७४ )
१७७—संसृष्टि और सङ्कीर्ण भेदों का साङ्कर्य और संसृष्टि ११८३
१७८—ध्वनिभेदों की अपरिमिति का उपसंहार १२९०
१७९—काव्य के मूल तत्त्व के रूप में रीतियों का प्रवर्तन और ध्वनि १२९२
१८०—रीतियों का संक्षिप्त परिचय १२९५
१८१—वृत्तियाँ और ध्वनि १२९६
१८२—वृत्तियों का संक्षिप्त परिचय १२९७
१८३—रीतियों और वृत्तियों में ध्वनि के अन्तर्भाव का उपसंहार १२९८
१७४—अशक्य वक्तव्यत्व पक्ष का खण्डन १३००
१८५—अनिर्वाच्य पक्ष का उपसंहार १३०५
१८६—लोचन के समापनश्लोक १३०५

## चतुर्थ-उद्योत

१८७—लोचन का मङ्गलाचरण १३०७
१८८—तृतीय उद्योत से सङ्गति तथा ध्वनि निरूपण का प्रयोजनान्तर १३०८
१८९—पुरानी उक्तिमें ही ध्वनि के द्वारा नवीनता का सञ्चार हो जाता है १३१०
१९०—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के कारण नवीनता का उदाहरण १३१४
१९१—अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्य के कारण नवीनता का उदाहरण १३१६
१९२—विवक्षितान्यपरवाच्य से नवीनता का उदारण १३१८
१९३—ध्वनिमार्ग से काव्य की अनन्तता का प्रतिपादन १३२२
१९४—रस परिग्रह से पुराने अर्थों में नवीनता शब्दशक्त्युद्भव १३२६
१९५—विवक्षितान्यपर वाच्य अनुरणन रूप ध्वनि के भेदों से काम में नवीनता लाने का उदाहरण। १३२९
१९६—अर्थशक्तिमूलक अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि से नवीनता के उदाहरण १३३०
१९७—रसध्वनि की प्रधानता। १३३४

१९८—रामायण तथा महाभारत में अंगीरस का विवेचन १३३५
१९९—उक्त विषय में निष्कर्ष १३५०
२००—अंगी रस के विवेचन की आवश्यकता १३५३
२०१—रचना के रसप्रवण होने पर अलङ्कार के अभाव में भी काव्य उपादेय हो जाता है इस बात का उदाहरण १३५४
२०२—अक्षुण्ण वस्तु से रस की दुष्टि १३५६
२०३—गुणीभूतव्यङ्ग्य से प्रतिभा की अनन्तता और नवीनता का विवेचन १३५८
२०४—प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार १३६२
२०५—प्रतिभा के गुण से काव्य में किस प्रकार अनन्तता आती है इस बात का विवेचन १३६५
२०६—वाच्यार्थ की अपेक्षा भी काव्य में नवीनता आ जाती है १३६८
२०७—अवस्था भेद इत्यादि का विवेचन १३७६
२०८—उक्त विषय में प्रश्न १३७८
२०९—वस्तुयें अपने विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त की जाती हैं सामान्य के साथ विशिष्ट का भी योग रहता है जिससे एक ही वस्तु अनेक रूपों में आया करती है १३८२
२११—प्रत्येक दार्शनिक की दृष्टि में शब्द का विशिष्ट अर्थ ही मानना पड़ेगा १३८३
२११—काव्य की अनन्तता में उक्ति वैचित्र्य का योग १३८६
२१२—अवस्था इत्यादि भेद की शोभा रस और औचित्य से ही होती है। १३८९
२१३—काव्य की अनन्तता का उपसंहार १३८९
२१४—काव्यों में कवियों के भाव मिलजाने का हेतु १३९०
२१५—दो कवियों के भावों में जो संवाद ( मेल ) होता है उसके प्रकार १३९१
२१६—प्रकारों की उपादेयता पर विचार १३९४
२१७—पूर्वस्थिति का अनुयायी भी काव्य आत्मतत्त्व के भिन्न होने पर सदोष नहीं माना जा सकता १३९४
२१८—वस्तु योजना के मेल में तो दोष होता ही नहीं १४००
२१९—प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार १४०३
२२०—कवियों को निश्शंक होकर कविता करने का उपदेश १४०५
२२१—उपसंहारात्मक कारिकाओं में ग्रंथ के विषय इत्यादि का उल्लेख १४०८

२२२—आनन्द वर्धन नाम पर विशेष प्रकाश —१४११
२२३—लोचन के उपसंहारात्मक पद्य १४१४
२२४—अंत में मंगलाचरण —१४१४
२२५—लोचन की विशेषता —१४१५
२२६—अपनी गुरु परंपरा का निर्देश १४१५
२२७—सज्जन प्रशंसा तथा दुर्जन निंदा —१४१५
२२८—शिवपर विश्वास और सब कुछ शिवमय होने की प्रशंसा —१४१६

# ध्वन्यालोकः

## तृतीय उद्योतः

एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेनैतत्प्रकाश्यते—

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाश्यता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥ ॥

(अनु०) इस प्रकार व्यंग्य-मुख से भेदोपभेदों सहित ध्वनि के स्वरूप को दिखला दिये जाने पर अब व्यञ्जक-मुख से यह दिखला रहे हैं :—

'अविवक्षितवाच्य ध्वनि का प्रकाशन पद और वाक्य से होता है उससे भिन्न अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि का प्रकाशन भी पद और वाक्य से ही होता है' ॥ १ ॥

### लोचन

स्मरामि स्मरसंहारलीलापाटवशालिनः ।
प्रसह्यशम्भोर्देहार्धं हरन्तीं परमेश्वरीम् ॥

उद्योतान्तरसङ्गतिं कर्तुमाह वृत्तिकारः—एवमित्यादि । तत्र वाच्यमुखेन तावदविवक्षितवाच्यादयो भेदाः, वाच्यश्च यद्यपि व्यञ्जक एव । यथोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो

'कामदेव के संहार की लीला की चतुरता से शोभित होनेवाले शङ्कर की आधी देह को बलात् हरनेवाली परमेश्वरी को मैं स्मरण करता हूँ ।'

दूसरे उद्योत की सङ्गति करने के लिये वृत्तिकार कहते हैं—'इस प्रकार' इत्यादि। उसमे वाच्यमुख से तो अविवक्षितवाच्य इत्यादि भेद ( होते हैं ) और वाच्य यद्यपि व्यञ्जक ही होता है । जैसा कहा गया है—'जहाँ अर्थ अथवा शब्द

### तारावती

तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में लोचनकार ने पुनः मङ्गलाचरण किया है।यह भी ग्रन्थ का मध्यगत मङ्गलाचरण ही है और बार-बार किया हुआ मङ्गलाचरण विशेष रूपसे मङ्गल-प्रवण होता है । यहाँ पर लोचनकार ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार भगवती पार्वती का स्मरण किया है । लोचनकार कह रहे हैं—'भगवान् शङ्करजी बड़े ही निपुण हैं।उन्होंने खेल-खेल में ही कामदेव के संहार की लीला दिखला दी । उन अत्यन्त समर्थ तथा निपुण भगवान् शङ्कर के आधे शरीर को भगवती पार्वती ने बलात् हर लिया और भगवान् शङ्कर कुछ कर भी न सके । इस प्रकार भगवती पार्वती भगवान् शङ्कर की अपेक्षा कहीं अधिक निपुण तथा समर्थ हैं । इसीलिये

## लोचन

वे'ति। ततश्च व्यञ्जकमुखेनापि भेद उक्तः, तथापि स वाच्योऽर्थो व्यङ्ग्यमुखेनैव भिद्यते। तथा ह्यविवक्षितो वाच्यो व्यङ्ग्येन न्यग्भावितः, विवक्षितान्यपरो वाच्य इति व्यङ्ग्यार्थप्रवण एवोच्यते। इत्येवं मूलभेदयोरेव यथास्वमवान्तरभेदसहितयोर्व्यञ्जकरूपो योऽर्थः स व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षिताशरणतयैव भेदमासादयति। अत एवाह—व्यङ्ग्यमुखेनेति। किञ्च यद्यप्यर्थो व्यञ्जकस्तथापि व्यङ्ग्यतायोग्योऽप्यसौ भवतीति, शब्दस्तु न कदाचिदपि व्यङ्ग्यः अपि तु व्यञ्जक एवेति। तदाह—व्यञ्जकमुखेनेति। न च वाच्यस्याविवक्षितादिरूपेण यो भेदस्तत्र सर्वथैव व्यञ्जकत्वं नास्तीति पुनः शब्देनाह। व्यञ्जकमुखेनापि भेदः सर्वथैव न न प्रकाशितः किन्तु प्रकाशितोऽप्यधुना पुनः व्यञ्जकमुखेन। तथाहि व्यङ्ग्यमुखप्रेक्षितया विना पदं वाक्यं वर्णाः पदभागः सङ्घटना महावाक्यमिति स्वरूपत एव व्यञ्जकानां भेदः, न चैषामर्थवत्कदाचिदपि व्यङ्ग्यता सम्भवतीति व्यञ्जकैकनियतं स्वरूपं यत्तन्मुखेन भेदः प्रकाश्यते इति तात्पर्यम्।

इत्यादि। इससे व्यञ्जक-मुख से भी भेद कह दिया गया। तथापि वह वाच्य अर्थ व्यञ्जक-मुख के ही द्वारा भेद को प्राप्त होता है। वह इस प्रकार—अविवक्षितवाच्य व्यङ्ग्य के द्वारा नीचा कर दिया जाता है। विवक्षितान्यपरवाच्य यह व्यंग्यार्थ-प्रवण ही कहा जाता है। इस प्रकार अपनी सत्ता के अनुसार अवान्तर भेद सहित मूल भेदों का ही व्यञ्जकरूप जो अर्थ वह व्यंग्यमुख प्रेक्षणरूप अशरणता से ही भेद को प्राप्त कर लेता है। अत एव कहते हैं—'व्यंग्यमुख के द्वारा' यह। और भी यद्यपि अर्थ व्यञ्जक (होता है) तथापि वह व्यञ्जकता के योग्य भी होता है, अतः शब्द तो कभी व्यंग्य नहीं होता अपितु व्यञ्जक ही होता है। वह कहते हैं—'व्यञ्जक-मुख से'। पुनः शब्द से यह कहते हैं कि वाच्य के अविवक्षितवाच्य इत्यादि रूपमे जो भेद वहाँ सर्वथा व्यञ्जकत्व नहीं होता यह बात नहीं है। व्यञ्जक-मुख से भी भेद सर्वथा प्रकाशित नहीं किया यह बात नहीं किन्तु प्रकाशित भी इस समय शुद्ध व्यञ्जकमुखसे (प्रकाशित किया जारहा है)। वह इस प्रकार-व्यंग्यमुख प्रेक्षण के बिना पद, वाक्य, वर्ण, पदभाग सङ्घटना महावाक्य के स्वरूप से ही व्यञ्जकों के भेद हैं। इनकी अर्थ के समान व्यंग्यता कभी सम्भव नहीं है। इस प्रकार एकमात्र व्यञ्जक मे नियत जो स्वरूप है उसके दृष्टिकोण से भेद प्रकाशित किया जा रहा है, यह तात्पर्य है।

## तारावती

वे परम ईश्वरी हैं। उन भगवती पार्वती के ऐश्वर्य का क्या कहना जिन्होंने योगीश्वर भगवान् शङ्कर के हृदय में भी सरसता का सम्पादन कर दिया। मैं इस तृतीय उद्योत के प्रारम्भ मे उन परम ईश्वरी भगवती पार्वती जी का स्मरण करता

## तारावती

हूँ । यहाँ पर कविप्रतिभा की ओर भी सङ्केत किया गया है जो कि नीरस से नीरस हृदय में भी सरसता का सम्पादन कर देती है ।

द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के रूपमें ध्वनि के स्वरूप का भी निरूपण किया जा चुका और उसके भेद भी दिखलाये जा चुके । अब पुनः व्यञ्जक के रूपमें स्वरूप और भेद दिखलाये जा रहे हैं । ( प्रश्न ) द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के भेदों के साथ वाच्य के भी अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दो भेद दिखलाये थे । यह भी प्रथम उद्योत में ही बतलाया जा चुका है कि वाच्यार्थ व्यञ्जक होते हैं । जैसा कि प्रथम उद्योत की 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस कारिका से स्पष्ट है । अतएव वाच्य के भेद करने के साथ ही व्यञ्जक के भी भेद होगये । फिर यह कथन किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि द्वितीय उद्योत में व्यङ्ग्य के भेद दिखलाये गये थे और इस तृतीय उद्योत मे व्यञ्जक के भेद दिखलाये जावेंगे ? ( उत्तर ) पहली बात तो यह है कि अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपर-वाच्य ये दोनों वाच्यार्थ के भेद नहीं है किन्तु व्यङ्ग्य के ही भेद हैं--एक व्यङ्ग्य ऐसा होता है जिसमें वाच्यार्थ की विवक्षा होती है और दूसरा व्यङ्ग्य वह होता है जिसमे वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं होती । इस प्रकार ये व्यङ्ग्य के ही भेद हैं वाच्यार्थ के नहीं । अविवक्षितवाच्य शब्द का अर्थ है--जिसमे वाच्य को अवि-वक्षित कर दिया जावे अर्थात् व्यङ्ग्य के द्वारा नीचा कर दिया जावे। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य शब्द का अर्थ है जिसमे वाच्य की विवक्षा अन्यपरक रूपमें हो अर्थात् वाच्यार्थ व्यङ्ग्यपरक हो । इस प्रकार अविवक्षितवाच्य और विव-क्षितान्यपरवाच्य ये दोनों भेद व्यङ्ग्य के ही है । यह और बात है कि अपने विस्तार के अनुसार व्यङ्ग्य के मूलभेद और अवान्तर भेदों के दिखलाने के प्रसंग मे व्यञ्जकरूप वाच्यार्थ के भी भेद हो जाते हैं । किन्तु ये भेद सर्वथा व्यंग्यार्थ के ही मुखापेक्षी हैं और स्वतः नहीं किन्तु व्यंग्य के आधीन होकर इन्हें भेदों को प्राप्त कर लेना पड़ता है । मानों इस क्रिया मे अपने भेदोपभेद कराने के लिये वाच्यार्थ को पराधीन हो जाना पड़ता है । दूसरी बात यह है कि व्यञ्जक एक तो अर्थ होता है और दूसरा शब्द । अर्थ मे व्यंग्य हो सकने की भी योग्यता होती है । आशय यह है कि अर्थ केवल वाच्यार्थ के रूप मे ही व्यञ्जक होता हो ऐसी बात नहीं है किन्तु व्यंग्य अर्थ भी दूसरे व्यंग्य अर्थ का व्यञ्जक होता है । एक ही अर्थ एक स्थान पर वाच्य होता है और दूसरे स्थान पर व्यंग्य हो जाता है । इस प्रकार अर्थ मे व्यंग्य होने की क्षमता होती है शब्द में नहीं । शब्द कभी भी व्यंग्य नही होता अपितु व्यञ्जक ही होता है । इसीलिये वृत्तिकार ने कहा है कि व्यंग्य-मुख से

## लोचन

यस्तु व्याचष्टे—'व्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्काररसानां मुखेन इति' स एवं प्रष्टव्यः—एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतम्। वृत्तिकारेण तु दर्शितम्। न चेदानीं वृत्तिकारो भेदप्रकटनं करोति। ततश्चेदं कृतमिदं क्रियत इति कर्तृभेदे का सङ्गतिः? न चैतावता सकलप्राक्तनग्रन्थसङ्गतिः कृता भवति। अविवक्षितवाच्यादीनामपि प्रकाराणां दर्शितत्वादित्यलं निजपूज्यजनसगोत्रैः साकं विवादेन।

जिसने तो व्याख्या की—'व्यंग्य अर्थात् वस्तु, अलंकार और रस के मुख से' उससे यह पूछा जाना चाहिये—ये तीन भेद कारिकाकार ने नहीं किये, वृत्तिकार ने तो दिखला दिये। इस समय वृत्तिकार भेदों का प्रकटन नहीं कर रहे है। अतः 'यह किया' 'यह कर रहे हैं' यह कर्ता के भेद में कैसे संगत होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इतने से सभी पुराने ग्रन्थों की संगति की हुई हो जाती है। क्योंकि अविवक्षितवाच्य इत्यादि प्रभेदों को भी दिखलाया जा चुका है। बस अपने पूज्यजनों के सगोत्रों से विवाद करने की आवश्यकता नहीं।

## तारावती

भेद दिखलाये जा चुके अब व्यञ्जक-मुख से भेद दिखलाये जा रहे हैं। इस अवतरण का आशय यह है कि जिसमे व्यंग्य हो सकने की क्षमता होती है उसके भेद द्वितीय उद्योत मे दिखलाये जा चुके, अब उसके भेद दिखलाये जा रहे हैं जो केवल व्यञ्जक ही होता है व्यंग्य कभी नहीं हो सकता। आशय यह है कि यह बात नहीं है कि द्वितीय उद्योत में व्यञ्जक के रूप मे ध्वनि के भेद किये ही नहीं गये थे। यद्यपि वाच्यात्मक व्यञ्जक के भी भेद किये जा चुके हैं किन्तु अब शुद्ध व्यञ्जक के ही भेद किये जा रहे हैं। पद वाक्य वर्ण, पद भाग, सङ्घटना और महावाक्य मे स्वरूप से ही व्यञ्जक होते है। अर्थ के समान ये कभी व्यञ्जक और कभी व्यंग्य नहीं होते। अतएव यहाँ पर यही तात्पर्य है कि जो स्वरूप केवल व्यञ्जक के रूप मे ही नियत है उसको दृष्टिगत रखते हुये ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण किया जा रहा है।

कतिपय विद्वानों ने 'व्यंग्य के रूप मे ध्वनि के भेद दिखलाये जा चुके है' इस वाक्य का यह अर्थ किया है कि व्यंग्य अर्थात् वस्तु अलङ्कार और रस रूप में ध्वनि के भेद दिखलाये जा चुके हैं।' किन्तु वस्तु अलङ्कार और रस के रूप में भेद वस्तुतः आनन्दवर्धन ने दिखलाये है कारिकाकार (ध्वनिकार) ने ये भेद नहीं किये। अतएव कारिका के लिये इस अवतरण की संगति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। क्योंकि कारिका का कर्ता दूसरा है और भेदों का कर्ता दूसरा। कर्तृभेद होने पर 'हम यह कर चुके और अब हमे यह करना है' इस ग्रन्थ की संगति

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाश्यता यथा महर्षेर्व्यासस्य—"सम्पैताः समिधः श्रियः', यथा वा कालिदासस्य—'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्', यथा वा 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'। एतेषूदाहरणेषु 'समिध' इति 'सन्नद्ध' इति 'मधुराणा'मिति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव कृतानि।

(अनु०) अविवक्षितवाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के पद के द्वारा प्रकाशित होने के उदाहरण जैसे भगवान् व्यास का—'यह सम्पत्ति की सात समिधायें होती हैं।' अथवा कालिदास का—'तुम्हारे (मेघ के) सन्नद्ध होने पर विरहविधुर प्रियतमा की कौन उपेक्षा कर सकता है?' अथवा 'मधुर आकृतियों के लिये क्या आभूषण नहीं होता?' इन उदाहरणों मे 'समिध्' शब्द 'सन्नद्ध' शब्द और 'मधुर' यह शब्द व्यञ्जकत्व के अभिप्राय से ही प्रयुक्त किये गये हैं।

लोचन

चकारः कारिकायां यथासंख्यशङ्कानिवृत्त्यर्थः। तेनाविवक्षितवाच्यो द्विप्रभेदोऽपि प्रत्येकं पदवाक्यप्रकाश इति द्विधा। तदन्यस्य विवक्षिताभिधेयस्य सम्बन्धी यो भेदः क्रमद्योत्यो नाम स्वभेदसहितः सोऽपि प्रत्येकं द्विधैव। अनुरणनेन रूपं रूपणसादृश्यं तस्य तादृग्व्यङ्ग्यं यत्तस्येत्यर्थः। महर्षेरित्यनेन तदनुसन्धत्ते यत्प्रागुक्तम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये दृश्यत इति।

कारिका मे 'च' यथासंख्य की शङ्का की निवृत्ति के लिये है। इससे दो प्रकार का भी अविवक्षितवाच्य प्रत्येक पद और वाक्य द्वारा प्रकाशित (होकर) दो प्रकार के (होते है)। उससे भिन्न विवक्षिताभिधेय सम्बन्धी जो भेद क्रमद्योत्य-नामवाला अपने प्रभेद के सहित, वह भी दो प्रकार का होता है। अर्थात् अनुरणन से रूपण या स्वरूप की जिसकी समानता है इस प्रकार का व्यंग्य है जिसका उसका। 'महर्षेः' शब्द से उसका अनुसन्धान करते हैं जो पहले कहा है कि रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्य मे देखा जाता है, यह।

तारावती

नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सभी पुराने ग्रन्थो की संगति के लिये यह अवतरण दिया गया है क्योंकि दूसरे उद्योत मे वस्तु इत्यादि भेदों के अतिरिक्त अविवक्षितवाच्य इत्यादि भेद भी दिखलाये गये है। मैं समझता हूँ कि ग्रन्थ की संगति के लिये इतना कहना पर्याप्त है। अपने पूजनीय व्यक्तियों के समकक्ष आचार्यों की अधिक आलोचना करना ठीक नहीं (सम्भवतः अभिनव गुप्त के गुरुजनों मे किसी ने अथवा तत्समकक्ष किसी आचार्य ने ग्रन्थ की इस प्रकार संगति

## लोचन

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥

'धृति, क्षमा, दया, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुरवाणी और मित्रों से द्रोह न करना ये सम्पत्ति की ७ समिधायें है ।'

## तारावती

लगाई होगी । इसीलिये अभिनवगुप्त ने उनके लिये 'निजपूज्यजनसगोत्रैः' यह विशेषण दिया । यहाँ पर लोचनकार का कहना यही है कि द्वितीय उद्योत मे अर्थ के रूप में ध्वनि के भेद दिखलाये गये थे जो कि कभी व्यंग्य भी हो सकता है । किन्तु इस उद्योत मे वर्ण इत्यादि के रूप मे भेद दिखलाये जा रहे हैं जो केवल व्यञ्जक ही होते हैं व्यंग्य कभी नहीं होते । )

कारिका का आशय यह है—'अविवक्षितवाच्य नामक ध्वनि पद और वाक्य से प्रकाशित होती है और उससे भिन्न अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि भी पद और वाक्य से प्रकाशित होती है ।' इस कारिका मे 'च' 'और' शब्द का प्रयोग यथासंख्य की शङ्का की निवृत्ति के लिये किया गया है । आशय यह है कि यहाँ पर और शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है जिससे यह ज्ञात हो सके कि अविवक्षितवाच्य और अनुरणनरूप व्यङ्ग्य दोनों प्रकार की ध्वनियों के व्यञ्जक पद और वाक्य दोनों होते हैं । यदि यह कहा जाता कि अविवक्षितवाच्य और अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि पद और वाक्य के द्वारा प्रकाशित होती है तो कदाचित् उसका आशय यह हो जाता कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित होती है और अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि वाक्य के द्वारा प्रकाशित होती है । इस प्रकार अविवक्षितवाच्य के दोनों भेदो मे प्रत्येक के दो भाग होते हैं पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य । उससे भिन्न अर्थात् विवक्षितवाच्य से सम्बन्ध रखनेवाला जो भेद है जो कि क्रमद्योत्य कहलाता है अपने भेदों के सहित उसके भी ( प्रत्येक के ) दो भेद होते है । उसे अनुरणनरूप कहते हैं । अनुरणनरूप शब्द का अर्थ है अनुरणन से जिसके रूपण या स्वरूप की समानता है । अर्थात् जिस प्रकार पहले घण्टानाद सुनाई पड़ता है और बाद मे उसकी प्रतिध्वनि, इसी प्रकार जिसमे पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और बाद मे प्रतिध्वनि के समान व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है । अविवक्षितवाच्य का पहला भेद है अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य । उसके दो भेद बतलाये गये है पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य । अविवक्षितवाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की पदप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे महर्षि व्यास का श्लोक—यहाँ पर महर्षि शब्द से उसी का अनुसन्धान किया जाता है जो कि पहले

## लोचन

समिच्छब्दस्यात्र सर्वथा तिरस्कारः असम्भवात्। समिच्छब्देन च व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यानपेक्षलक्ष्म्युद्दीपनक्षमत्वं सप्तानां वक्त्रभिप्रेतं ध्वनितम्। यद्यपि 'निःश्वासान्धइवादर्शः' इत्याद्युदाहरणादप्ययमर्थो लभ्यते तथापि प्रसङ्गाद्बहुलक्ष्यव्यापित्वं दर्शयितुमुदाहरणान्तराण्युक्तानि। अत्र च वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारः पूर्वोक्तमनुसृत्य योजनीयः किं पुनरुक्तेन। सन्नद्धपदेन चात्रासंभवत्स्वार्थेनोद्यतत्वं लक्षयता वक्त्रभिप्रेता निष्करुणकत्वाप्रतिकार्यत्वाप्रेक्षापूर्वकारित्वादयो ध्वन्यन्ते। तथैव मधुरशब्देन सर्वविषयरञ्जकत्वतर्पकत्वादिकं लक्षयता सातिशयाभिलाषविषयत्वं नात्राश्चर्यमिति वक्त्रभिप्रेतं ध्वन्यते।

'समिध्' शब्द के अर्थ का सर्वथा त्याग हो जाता है क्योंकि असम्भव है। समिध् शब्द के द्वारा व्यंग्यार्थ ( निकलता है ) अन्य की बिना अपेक्षा किये हुये सातों की लक्ष्मी के उद्दीपन की क्षमता जो वक्ता को अभिप्रेत है ध्वनित की गई है। यद्यपि 'निःश्वास से अन्धे आदर्श के समान' इत्यादि उदाहरण से भी यह अर्थ प्राप्त हो जाता है तथापि प्रसङ्गवश बहुलक्ष्यव्यापित्व दिखलाने के लिये दूसरे उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ पर वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार पूर्वोक्त का अनुसरण करके योजित कर लिया जाना चाहिये पुनरुक्त की क्या आवश्यकता? यहाँ पर असम्भव स्वार्थवाले और उद्यतत्व को लक्षित करानेवाले सन्नद्ध पद से वक्ता के अभिप्रेत निष्करुणत्व अप्रतिकार्यत्व और अप्रेक्षापूर्वकारित्व इत्यादि ध्वनित किये जाते हैं। उसी प्रकार सर्वविषयरञ्जकत्व तर्पकत्व इत्यादि को लक्षित करानेवाले मधुर शब्द से वक्ता का अभिमत अतिशयतापूर्ण अभिलाषविषयत्व इस विषय में आश्चर्यजनक नहीं है यह ध्वनित करता है।

## तारावती

कहा गया था कि रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्यों मे इसको सत्ता पाई जाती है। व्यास के श्लोक का अर्थ यह है—

'धैर्य, क्षमा, दया, शौच, कारुण्य, अनिष्ठुर वाणी और मित्रों से द्रोह न करना ये सम्पत्ति की सात समिधाये हैं।'

समिधा शब्द के अर्थ का यहाँ पर सर्वथा परित्याग हो जाता है क्योंकि समिधायें आग की होती हैं लक्ष्मी की समिधाओं का हो सकना असम्भव है। अतएव समिधा शब्द के अर्थ का बाध हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है 'बढ़ानेवाली।' लक्षणा का प्रयोजन यह प्रकट करना है कि 'ये सातों गुण लक्ष्मी को स्वतः बढ़ाते हैं, इन्हें इस कार्य के लिये किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं होती। ( समिधायें अग्नि को स्वत. बढ़ाती है—उन्हे किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा

## तारावती

नहीं होती । ) यही ध्वनि है । यद्यपि 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि उदाहरण से भी इस अर्थ की उपलब्धि हो जाती है अर्थात् यह उदाहरण भी अविवक्षित-वाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की पद-प्रकाश्यता का हो सकता है तथापि दूसरा उदाहरण प्रसंगानुकूल यह सिद्ध करने के लिये दिया गया है कि 'अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य के एक नहीं अनेक उदाहरण हो सकते हैं । यह तथा दूसरे उपभेद अनेक लक्ष्यों मे व्याप्त हैं ।' यहाँ पर वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार किस प्रकार होता है इसकी योजना पहले के समान कर लेनी चाहिये । बार-बार एक ही बात के पिष्टपेषण की क्या आवश्कता ? ( यहाँ पर यद्यपि उपमा भी अभिव्यक्त होती है—'जिस प्रकार शुष्क इन्धन अग्नि को प्रदीप्त करता है उसी प्रकार धृति इत्यादि गुण लक्ष्मी को प्रदीप्त करते हैं ।' तथापि पहले यहाँ पर सारोपा लक्षणा ही होती है और समिध् शब्द के लक्ष्मी के साथ बाधित होने के कारण उनसे लक्ष्यार्थ निकलता है 'बढ़ानेवाले' और उससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि धृति इत्यादि गुण लक्ष्मी को इतना अधिक बढ़ाते हैं जितना कोई और वस्तु नहीं बढ़ाती । इस प्रकार यह उदाहरण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का ही है उपमाध्वनि का नहीं । यहाँ पर इन्धन अर्थ की सर्वथा अविवक्षा भी स्पष्ट है और व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये केवल समिध् शब्द का पर्याप्त होना भी स्पष्ट ही है । अतः यह पदव्यंग्या अत्य-तिरस्कृतवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि है । )

इसी का दूसरा उदाहरण जैसे कालिदास के मेघदूत मे यक्ष मेघ से कह रहा है—'जब तुम पवनपदवी पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ोगे तब परदेशियों की वे ललनायें, जो कि स्नान ( ऋतुस्नान ) कर अपने केशों को सुखा रही होंगी, विश्वास के कारण अपने प्रियतमों के लौटने की आशंसा करती हुई तुम्हारी ओर सतृष्ण दृष्टि से देखेंगी । क्योंकि जब तुम सन्नद्ध हो रहे हो तब वियोग-विधुर अपनी प्रियतमा की कौन अपेक्षा कर सकता है यदि वह मेरे ही समान पराधीन वृत्तिवाला न हो ।' यहाँ पर सन्नद्ध शब्द को लीजिये यह शब्द सम् उपसर्ग नह-धातु से क्त प्रत्यय होकर बना है । 'नह' धातु का अर्थ होता है कवच पहिनना । इसीलिये अमरकोष मे लिखा है 'सन्नद्धो वीर्यतः सज्जो दंशितः' मेघ का कवच पहिन सकना स्वार्थ मे बाधित है । अतः उसका लक्ष्यार्थ निकलता है 'उद्यत होना' । इससे प्रयोजन के रूप मे व्यंग्यार्थ निकलता है कि 'जब तुम वियोगियों पर प्रहार करते हो तब तुम्हारे अन्दर करुणा बिल्कुल ही नहीं रहती, न साधारण व्यक्ति की इतनी शक्ति होती है कि वह तुम्हारा प्रतिकार कर सके और न तुम सूझबूझ के साथ प्रहार करते हो ।' ( जो व्यक्ति वियोगियों पर प्रहार करने के लिये कवच-

ध्वन्यालोकः

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यथा—'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'। अत्र रामेणेत्येतत्पदं साहसैकरसत्वादि व्यङ्ग्यामिसङ्क्रमित-वाच्यं व्यञ्जकम्।

(अनु०) उसी का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य मे जैसे—'हे प्रिये जीवन को प्रिय समझनेवाले राम ने प्रेम के उपयुक्त कार्य नहीं किया।' यहाँपर 'राम ने' इस पद के वाच्यार्थ का संक्रमण साहसैकरसत्व इत्यादि व्यंग्यार्थ में हो जाता है (अतः यह पद) व्यञ्जक है।

लोचन

तस्यैवेति। अविवक्षितवाच्यस्य यो द्वितीयो भेदस्तस्येत्यर्थः।

प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा!
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः॥
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा' इति।

'उसी का' अर्थात् अविवक्षितवाच्य का जो दूसरा [illegible] है उसका।

'क्रूर राक्षस ने प्रत्याख्यान के क्रोध के योग्य (व्यवहार) तुमसे किया। और तुमने उसको इस प्रकार सह लिया जिससे कुलवान् ऊँचा सिर धारण करते हैं। तुम्हारी आपत्तियों के साक्षी तथा इस समय इस धनुष को व्यर्थ ही धारण करनेवाले (जीवन के प्रेमी राम ने प्रेम का उचित व्यवहार नहीं किया)।

तारावती

धारण कर सिपाही बनकर आता है उसमें सिपाहियों की विशेषताये होनी ही चाहिये। इसीलिये निष्करुणत्व इत्यादि की व्यञ्जना यहाँ पर होती है।) यही कहना वक्ता को अभीष्ट है और इसी अर्थ के प्रत्यायन के लिये वक्ता ने बाधित शब्द सन्नद्ध का प्रयोग किया है। यहाँ पर कवच धारण करने के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। अतएव यहाँ पर शब्दव्यंग्या अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

तीसरा उदाहरण जैसे कालिदास ने ही अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का वर्णन कराते हुये लिखा है—'सिवार में फँसा हुआ भी कमल अत्यन्त रमणीय होता है; चन्द्रमा का मलिन भी चिह्न शोभा को ही बढ़ाता है, यह कृशांगी वल्कल से भी अधिक मनोज्ञ मालूम पड़ रही है। मधुर आकृतियों के लिये क्या वस्तु आभूषण नहीं बनती।' यहाँ पर आकृति को मधुर कहा गया है। मधुर एक रस होता है जो गुड़, शकर, शहद इत्यादि में तो सम्भव है पर आकृति मधुर नहीं हो सकती। अतः यह शब्द बाधित होकर सभी को अनुरञ्जित करना,

## लोचन

रक्षःस्वभावादेव यः क्रूरोऽनतिलङ्घ्यशासनत्वदुर्मदतया च प्रसह्य निराक्रियमाणः क्रोधान्धः तस्यैतत्तावत्स्वचित्तवृत्तिसमुचितमनुष्ठानं यन्मूर्धकर्तनं नाम, मान्योऽपि कश्चिन्ममाज्ञां लङ्घयिष्यतीति। त इति यथा तादृगपि तया न गणितस्तस्यास्तवेत्यर्थः। तदपि तथा अविकारेणोत्सवापत्तिबुद्ध्या नेत्रविस्फारतामुखप्रसादादिलक्ष्यमाणया सोढम्। यथा येन प्रकारेण कुलजन इति यः कश्चित्पामरप्रायोऽपि कुलवधूशब्दवाच्यः। उच्चैः शिरो धत्ते एवंविधाः किल वयं कुलवध्वो भवाम इति। अथ च शिरःकर्तनावसरे त्वया शीघ्रं कृत्यतामिति तथा सोढं तथोच्चैः शिरो धृतं यथान्योऽपि कुलस्त्रीजनः उच्चैः शिरो धत्ते नित्यप्रवृत्ततया। एवं रावणस्य तव च समुचितकारित्वं निर्व्यूढम्। मम पुनः सर्वमेवानुचितं पर्यवसितम्। तथाहि राज्यनिर्वासनादि निरवकाशीकृतधनु-

राक्षस स्वभाव से ही जो क्रूर (है और) अधिक अनुल्लङ्घनीय शासन की दुर्मदता के कारण बलात् निराकरण किया हुआ क्रोध से अन्धा (हो गया) (यह) जो कि तुम्हारा सिर काटना उसका तो अपनी चित्तवृत्ति के अनुकूल ही अनुष्ठान है और भी कोई मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन न कर बैठे।

तुम्हारा अर्थात् जिससे उस प्रकार का भी उसके (सीता के) द्वारा नहीं गिना गया इस प्रकार का तुम्हारा। उसको भी उस प्रकार अर्थात् विकाररहित तथा उत्सव की प्राप्ति की बुद्धि से नेत्रविस्फारण तथा मुखप्रसाद इत्यादि के द्वारा लक्षित होनेवाली ने सहलिया। जिससे अर्थात् जिस प्रकार से कोई पामरप्राय कुलवती भी कुलवधू शब्द की वाच्य हो जाती है। 'ऊँचा सिर धारण करती है' कि इस प्रकार की हम कुलवती हैं। और भी सिर काटने के अवसर पर तुमने 'शीघ्र ही काटो' इस आशय से ऊँचा सिर कर लिया जिससे नित्य प्रवृत्त होने के कारण अन्य भी कुल-स्त्रियाँ ऊँचा सिर धारण कर लेती है। इस प्रकार रावण का और तुम्हारा समुचित-कारित्व असंदिग्ध है। मेरा तो फिर सब कुछ अनुचित ही परिणाम निकला। वह इस प्रकार-राज्यनिर्वासन इत्यादि के कारण निरवकाश किये हुये धनुर्व्यापारवाले भी

## तारावती

तृप्त करना इत्यादि धर्म को लक्षित कराता है। उससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि शकुन्तला का रूप यदि बहुत बढ़ी-चढ़ी अभिलाषा का विषय बन जावे तो इसमे आश्चर्य की बात कुछ नहीं। यही ध्वनि है। यह ध्वनि 'मधुर' इस पद से निकलती है, अतः पदव्यंग्या अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। क्योकि मधुर शब्द के वास्तविक अर्थ मधुर रस का सर्वथा परित्याग हो जाता है।

अविवक्षितवाच्य के अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य नामक भेद की पदप्रकाश्यता का उदाहरण--

## लोचन

व्यापारस्यापि कलत्रमात्ररक्षणप्रयोजनमपि यच्चापमभूत्तत्संप्रतित्वय्यरक्षितव्यापन्नाया-मेव निष्प्रयोजनम्, तथापि च तद्धारयामि। तन्नूनं निजजीवितरक्षैवास्य प्रयोजनत्वेन सम्भाव्यते। न चैतद् युक्तम्। रामेणेति। समसाहसरसत्वसत्यसंधत्वोचितकारि-त्वादिव्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतेनेत्यर्थः। 'कापुरुषादि धर्मपरिग्रहस्त्वादिशब्दात्' इति यद्व्याख्यातम्, तदसत्, कापुरुषस्य ह्येतदेव प्रत्युतोचितं स्यात्। प्रिय इति शब्द-मात्रमेवैतदिदानीं संवृत्तम्। प्रियशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं यत्प्रेमनाम तदप्यनौचित्य-कलङ्कितमिति शोकालम्बनोद्दीपनविभावयोगात्करुणरसो रामस्य स्फुटीकृत इति।

( मेरा ) जो धनुष कलत्र-रक्षण प्रयोजनमात्र था इस समय तुम्हारे अरक्षित रूप में मारे जाने पर निष्प्रयोजन रह गया। तथापि उसे धारण कर रहा हूँ। अतः निःसन्देह अपने जीवन की रक्षा ही इसके प्रयोजन के रूप मे सम्भावित की जा सकती है। यह उचित नहीं है। 'राम के द्वारा' अर्थात् समानरूप में साहसरसत्व, सत्यसन्धत्व और उचितकारित्व इत्यादि दूसरे धर्मों में परिणत ( राम के द्वारा )। आदि शब्द से कायर इत्यादि धर्म परिग्रह हो जाता है' यह जो व्याख्या की गई है—वह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्युत कायर के लिये तो यही उचित होता। 'प्रिय' यह इस समय शब्दमात्र ही हो गया। प्रिय शब्द का जो प्रवृत्तिनिमित्त प्रेम वह भी अनौचित्य से कलङ्कित है। इस प्रकार शोक के आलम्बन और उद्दीपन विभाव योग से राम का करुण रस स्पष्ट कर दिया गया है यह।

## तारावती

रावण ने राम को निराश और युद्ध से विरत करने के लिये माया के द्वारा सीता की मूर्ति बनवाकर ( मेघनाद के द्वारा ) उसका सिर कटवा लिया। श्रीराम-चन्द्रजी सीताजी को वस्तुतः मरी हुई जानकर उनके वियोग में विलाप करते हुये कह रहे हैं—

'क्रूर राक्षस ने तुम्हारे द्वारा प्रत्याख्यात होकर क्रोध मे भरकर वही किया जो उसके लिये उचित था। तुमने भी उसको उसी प्रकार सह लिया जिससे कुलजनों का सिर ऊँचा हो जाता है। हे प्रिये इस समय तुम्हारी आपत्ति को साक्षी के रूप मे देखते हुये इस धनुष को व्यर्थ ही धारण करनेवाले राम ने, जिसको अपना जीवन ही प्यारा है, प्रेम के योग्य कार्य नहीं कर पाया।'

रावण राक्षस होने के कारण स्वभावतः क्रूर है, वह एक बुरे मद से भरा हुआ है कि कोई भी उसके शासन का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। अतएव जब उसका बलात् निराकरण किया गया तब उसका क्रोधान्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। उसके लिये यह बात अपनी चित्तवृत्ति के अनुकूल ही थी कि उसने सिर काट लिया

## तारावती

जिससे फिर कभी कोई उसकी आज्ञा के उल्लङ्घन करने का साहस न कर बैठे। उसने आज्ञा का उल्लङ्घन करनेवाली सीता का सिर काटकर अपनी क्रूरता का निर्वाह कर दिया। 'तुम्हारा सिर काट लिया' में 'तुम्हारा' शब्द से व्यक्त होता है कि तुम इतनी महान् हो कि उतने प्रभावशाली तथा क्रूर रावण को भी कुछ नहीं समझा। इतनी महत्त्वशालिनी भी तुम्हारा सिर रावण ने काट ही लिया। उस आपत्ति को भी सीता ने उत्सव समझकर आनन्दपूर्वक सहन कर लिया। नेत्र विस्फुरण और मुख की प्रसन्नता से यह बात प्रकट हो रही थी कि सिर काटे जाने के अवसर पर भी सीता जी के चित्त मे आनन्द था। सीता जी के कर्तव्य-पालन में इतनी उच्चता थी कि दूसरी पामर भी कुलवधुओं का सिर स्वाभिमान से ऊँचा हो जाता है। कुलवधुओं मे ही यह शक्ति है कि वे कर्तव्य-पालन के लिये अपना सिर भी दे देती हैं। दूसरा आशय यह है कि सिर काटने के अवसर पर सीताजी ने अपना सिर इस मन्तव्य से ऊँचा कर दिया कि शीघ्र काटों। नित्य ही कुलवधुओं के सामने कर्तव्य-पालन तथा सतीत्व-रक्षा की दिशा में सिर कटवाने का अवसर आता है और वे सीता के उदाहरण से ही अपना सिर ऊँचा कर देती हैं। इस प्रकार रावण ने अपने क्रूरता के कर्तव्य का निर्वाह कर दिया और सीता ने अपने पातिव्रत्य धर्म को निभा दिया। किन्तु राम के लिये तो सभी कुछ अनुचित ही रहा। राज्य से निर्वासित हो जाने इत्यादि के बाद धनुष के कार्यों का अवसर जाता ही रहा था। केवल उसका एक ही प्रयोजन रह गया था कि पत्नी की रक्षा की जाती। जब पत्नी का सिर काटा गया तब राम उस सब दृश्य को एक साक्षी के समान ही देखते रह गये, कोई भी प्रतीकार न कर सके। बिना ही रक्षा के सीता जी के मर जाने पर धनुष का पत्नी-रक्षा रूप प्रयोजन भी जाता रहा। फिर भी राम धनुष को धारण किये हुये है जिसका एक मात्र यही प्रयोजन हो सकता है कि वे अपने शरीर की रक्षा करें। राम को अपना जीवन प्यारा है, जो बात उचित नहीं है।

यहाँ पर कहनेवाले राम हैं। अतः उन्हें कहना चाहिये कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाया। राम का स्वयं ही कहना कि 'राम ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाया' किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं होता। अतएव उसका बाध हो जाता है। उससे एक अर्थ यह निकलता है कि—'उन राम ने अपना कर्तव्य पालन नहीं कर पाया जिनमें साहस के प्रति रस है, जो सत्य प्रतिज्ञावाले हैं और जो सर्वदा उचित कार्य ही करते हैं। उन रामने भी अपना कर्तव्य पालन नहीं कर पाया यह बात अनुचित हुई।' इस प्रकार राम शब्द का वाच्यार्थ व्यंग्य धर्मों में परिणत होकर ही अपना अर्थ देता है। राम शब्द के वाच्यार्थ का भी सर्वथा परित्याग

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिविम्बम्।
परमत्थविआरे, उण चन्दो चन्दो विअ वराओ॥

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः।

(अनु०) अथवा जैसे—

'यों ही लोग उसके कपोल की उपमा में चन्द्रविम्ब को दिया करते हैं। वास्तविक विचार करने पर बेचारा चन्द्र चन्द्र जैसा ही है।'

यहाँ पर दूसरा चन्द्र शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य है।

लोचन

एमेअ इति।

एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिविम्बम्।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः॥ (इति छाया)

'एमेअ' यह :—

'यों ही' 'लोग उसके कपोलों की उपमा में यों ही चन्द्रविम्ब को दे दिया करते हैं। पुनः वास्तविक विचार करने पर तो बेचारा चन्द्र चन्द्र ही है।'

तारावती

नहीं होता क्योंकि वस्तुतः राम धनुष धारण किये हुये ही हैं। इस प्रकार यहाँ पर राम शब्द का व्यंग्य धर्मान्तर परिणत अर्थ लिया जाता है। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि है जो कि पद के द्वारा प्रकाशित होती है। कुछ लोगों ने यहाँ पर कायरता इत्यादि व्यंग्य धर्मों मे संक्रान्तवाच्य की व्याख्या की है। (प्रदीपकार ने लिखा है—'जो राम कायर हैं उन्होंने.....' चक्रवर्ती ने लिखा है—'जो राम छलपूर्ण स्नेह करनेवाले हैं।' भट्ट गोपाल ने लिखा है—'जो राम पुरुषार्थ से विमुख है।') किन्तु ये व्याख्यायें ठीक नहीं हैं। क्योंकि यदि राम में कायरता इत्यादि धर्मों को स्वीकार कर लिया जावे तो रक्षा न कर सकने में अनुचित क्या हो? यहाँ पर आशय यही है कि जिन राम मे साहस है, शौर्य है, सत्यसन्धत्व है उन राम ने भी अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाया यह बात अनुचित हुई। अतएव यहाँ पर साहस इत्यादि धर्मों की ही व्याख्या करनी चाहिये। राम का सीता के लिये 'प्रिये' सम्बोधन तो अब शब्दमात्र ही रह गया। प्रिय का प्रवृत्तिनिमित्त प्रेम होता है। प्रिय वही होता है जिसमे प्रेम हो और वह उसका निर्वाह भी कर सके। राम का प्रेम अनौचित्य से कलङ्कित हो गया है। इस प्रकार यहाँ पर शोक के आलम्बन और उद्दीपन विभाव के योग से राम का करुण रस स्फुट कर दिया गया है।

## लोचन

एवमेवेति स्वयमविवेकान्धतया । जन इति लोकप्रसिद्धगतानुगतिकतामात्रशरणः । तस्या इत्यसाधारणगुणगणमहार्घवपुषः । कपोलोपमायामिति निर्व्याजलावण्यसर्वस्वभूतमुखमध्यवर्ति प्रधानभूतकपोलस्योपमायां प्रत्युत तदधिकवस्तुकर्तव्यं ततो दूरनिकृष्टं शशिबिम्बं कलङ्कव्याजजिह्मीकृतम् । एवं यद्यपि गड्डरिकाप्रवाहपतितो लोकः, तथापि यदि परीक्षकाः परीक्षन्ते तद्वराकः कृपैकभाजनं यश्चन्द्र इति प्रसिद्धः स चन्द्र एव क्षयित्वविलासशून्यत्वमलिनत्वधर्मान्तरसङ्क्रान्तो योऽर्थः । अत्र च यथा व्यङ्ग्यधर्मान्तरसङ्क्रान्तिस्तथा पूर्वोक्तमनुसन्धेयम् । एवमुत्तरत्रापि ।

यों ही अर्थात् स्वयं अविवेक से अधा होने के कारण । 'जन' का अर्थ है लोक में प्रसिद्ध केवल गतानुगतिकता का सहारा लेनेवाला । उसका असाधारण गुणगणों से महनीय शरीरवाले का । 'कपोल की उपमा में' अर्थात् बिना बनावट के लावण्यसर्वस्वभूत मुख के मध्यवर्ती प्रधानभूत कपोल की उपमा में प्रत्युत उससे अधिकवस्तु की जानी चाहिये उससे दूर गिरा हुआ शशिबिम्ब कलक के व्याज से कुटिल कर दिया गया है । इस प्रकार यद्यपि भेड़ाचाल के प्रवाह में लोक पड़ा हुआ है तथापि परीक्षक यदि परीक्षा करें तो बेचारा एकमात्र कृपापात्र जो चन्द्र नाम से प्रसिद्ध है वह चन्द्र ही है । अर्थात् क्षयित्व, विलासशून्यत्व, मलिनत्व इत्यादि दूसरे धर्मों में संक्रान्त जो अर्थ ( ऐसा चन्द्र है ) । यहाँ पर जिस प्रकार व्यङ्ग्यधर्मोत्तर की संक्रान्ति होती है वैसा पहले कहे हुये के समान समझ लिया जाना चाहिये । ऐसा ही आगे भी ।

## तारावती

दूसरा उदाहरण—

( उस नायिका ) के कपोलों की उपमा में लोग यों ही चन्द्रबिम्ब का उल्लेख कर दिया करते हैं। वास्तविक रूप में विचार करने पर बेचारा चन्द्र-चन्द्र ही है ।'

'यों ही' से व्यञ्जना निकलती है कि लोग प्रायः अज्ञान से अन्धे हैं वे अधिकतर बिना सोचे समझे ही बात किया करते हैं। 'लोग' कहने का आशय यह है कि सर्वसाधारण व्यक्तियों का केवल यही सहारा होता है कि वे लोकप्रसिद्ध गतानुगतिकता के आधार पर बात किया करें सामान्यतया जैसा प्रसिद्ध होता है लोग वैसी ही बात किया करते हैं । छानबीन कर बोलना सर्वसाधारण के वश की बात नहीं । 'उसके' का आशय यह है कि उस नायिका का शरीर असाधारण गुणों के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । कपोल की उपमा में कहने का आशय यह है कि नायिका स्वयं ही लावण्यमयी है उसे लावण्य के लिये प्रसाधनों की भी आवश्यकता नहीं होती । उस लावण्य का सर्वस्वभूत है उसका मुख और उस मुख के मध्य में भी

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाश्यता यथा—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अनेन हि वाक्येन निशार्थो न च जागरणार्थः कश्चिद्विवक्षितः। किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

(अनु०) अविवक्षितवाच्य के उपभेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे—

'जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है उसमें संयमी जागता है। जिसमे प्राणी जागते हैं वह देखनेवाले मुनि के लिये रात्रि है।'

निस्सन्देह इस वाक्य से न तो निशा का कोई अर्थ और न जागरण का कोई अर्थ विवक्षित है। तो क्या? मुनि का तत्त्वज्ञान मे अवहित होना और अतत्त्व से पराङ्मुख होना प्रतिपादित किया जाता है। इस प्रकार यह तिरस्कृतवाच्य व्यञ्जक हो जाता है।

लोचन

एवं प्रथमभेदस्य द्वावपि प्रकारौ पदप्रकाशकत्वेनोदाहृत्य वाक्यप्रकाशकत्वेनोदाहरति—या निशेति। विवक्षित इति। तेन ह्युक्तेन न कश्चिदुपदेश्यं प्रत्युपदेशः सिद्ध्यति। निशायां जागरितव्यमन्यत्ररात्रिवदासितव्यमिति किमनेनोक्तेन। तस्माद्बाधितस्वार्थमेतद्वाक्यं संयमिनो लोकोत्तरतालक्षणेन निमित्तेन तत्त्वदृष्टाववस्थानं मिथ्यादृष्टौ च पराङ्मुखत्वं च ध्वनति। सर्वशब्दार्थस्य चापेक्षिकतयाप्युपपद्यमानतेति न सर्वशब्दस्यान्यथानुपपत्त्याऽयमर्थ आक्षिप्तो मन्तव्यः। सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां चतुर्दशानामपि भूतानां या निशा व्यामोहजननी तत्त्वदृष्टिः तस्यां संयमी जागर्ति कथं प्राप्येतेति। न तु

इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों प्रकारों को पदप्रकाश्य के रूप में उदाहरण देकर वाक्यप्रकाश्य के रूपमे उदाहरण देते हैं—'जो रात्रि'। 'कहा गया है' यह! इस कहे हुए से उपदेशयोग्य व्यक्ति के प्रति कोई उपदेश सिद्ध नहीं होता। रात मे जागना चाहिये अन्यत्र रात्रि के समान रहना चाहिये इस कथन से क्या? इससे बाधितस्वार्थवाला वह वाक्य संयमी के लोकोत्तरता लक्षण निमित्त से तत्त्वदृष्टि मे अवधान और मिथ्यादृष्टि से पराङ्मुखत्व को ध्वनित करता है। सर्वशब्द के अर्थ की सापेक्षिक रूप मे भी उपपत्ति हो जाती है अतः यह नहीं मानना चाहिये कि सर्वशब्द की अन्यथानुपपत्ति से इस अर्थ का आक्षेप हो जाता है। ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त १४ भूतों की जो रात्रि अर्थात् व्यामोह को उत्पन्न करनेवाली तत्त्वदृष्टि, उसमे संयमी जागृत रहता है कि यह कैसे प्राप्त हो? अर्थात्

## लोचन

विषयवर्जनमात्रादेव संयमीति यावत्। यदि वा सर्वभूतनिशायां मोहिन्यां जागर्ति कथमियं हेयेति। यस्यां तु मिथ्यादृष्टौ सर्वाणि भूतानि जाग्रति अतिशयेन सुप्रबुद्धरूपाणि सा तस्य रात्रिरप्रबोधविषयः। तस्यां हि चेष्टायां नासौ प्रबुद्धः। एवमेव लोकोत्तराचारव्यवस्थितः पश्यति मन्यते च। तस्यैवान्तर्बहिष्करणवृत्तिश्चरितार्था। अन्यस्तु न पश्यति न च मन्यत इति। तत्त्वदृष्टिपरेण भाव्यमिति तात्पर्यम्। एवं च पश्यत इत्यपि मुनेरित्यपि च न स्वार्थमात्रविश्रान्तम्। अपि तु व्यङ्ग्य एव विश्राम्यति। यत्तच्छब्दयोश्च न स्वतन्त्रार्थतेति सर्व एवायमाख्यातसहायः पदसमूहो व्यङ्ग्यपरः। तदाह—अनेन हि वाक्येनेति। प्रतिपाद्यत इति ध्वन्यत इत्यर्थः।

केवल विषय-वर्जन से ही कोई संयमी नहीं हो जाता। अथवा मोहिनी सब भूतों की रात्रि मे जागता है कि यह कैसे छोड़ी जावे। जिस मिथ्यादृष्टि मे तो सब प्राणी सुप्रबुद्ध रूपमे जागते हैं वह उसकी रात्रि अर्थात् प्रबोध का अविषय होता है। उस चेष्टा में वह प्रबुद्ध नहीं होता। लोकोत्तर आचार मे प्रवृत्त (व्यक्ति) इसी प्रकार का देखता है और मानता है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टिपरायण होना चाहिये। इस प्रकार 'देखनेवाले' यह और 'मुनि' यह भी स्वार्थविश्रान्त नहीं है। अपितु व्यंग्य मे ही विश्रान्त होता है। 'यत्' और 'तत्' शब्दों की स्वतन्त्रार्थता नहीं होती। इस प्रकार क्रिया की सहायता से युक्त यह सब व्यंग्यपरक है। वही कहते है—'इस वाक्य से' प्रतिपादित किया जाता है अर्थात् ध्वनित किया जाता है।

## तारावती

कपोलतल ही सबसे अधिक प्रधान है। उन कपोलों की उपमा में कोई ऐसी वस्तु लानी चाहिये जो उनकी अपेक्षा अधिक हो। शशिबिम्ब तो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक निकृष्ट है और कलङ्क के बहाने से वह और अधिक निकृष्ट बना दिया गया है। इस प्रकार यद्यपि भेड़ाचाल का अनुसरण करते हुये संसार नायिका के कपोलतलों को चन्द्र की उपमा दे देता है तथापि यदि परीक्षक लोग परीक्षा करें तो बेचारा चन्द्रमा दया का पात्र बन जाता है। क्योंकि जो प्रसिद्ध चन्द्रमा है वह आखिर है तो चन्द्रमा ही। यहाँ पर दूसरे चन्द्र शब्द मे उसके धर्मों का सङ्क्रमण हो जाता है, वे धर्म हैं—चन्द्रमा क्षयी है, विलासशून्य है, मलिन है इत्यादि। इन धर्मों से संक्रान्त होकर जो अर्थ आता है वही यहाँ पर दूसरे चन्द्र शब्द का अर्थ हो जाता है। यहाँ पर वाच्यातिरिक्त दूसरे व्यङ्ग्यधर्मों की संक्रान्ति किस प्रकार होती है इसकी व्याख्या पहले (दूसरे उद्योत के प्रारम्भ मे) की जा चुकी है। उसी के अनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार आगे के उदाहरणो मे भी समझ लेना चाहिये।

तारावती

( ३ ) ध्वनि का प्रथम भेद है अविवक्षितवाच्य । उसके दो भेद होते हैं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य । इन दोनों प्रकारों में पद के प्रकाशकत्व के उदाहरण दे दिये गये अब इनमें वाक्य के प्रकाशकत्व के उदाहरण दिये जा रहे हैं । ( यहाँ पर लोचनकार ने पदप्रकाशकत्व और वाक्य-प्रकाशकत्व इन शब्दों का प्रयोग किया है । प्रकाशक वास्तव में पद और वाक्य ही होते हैं, ध्वनिभेद तो प्रकाश्य होते हैं । अतः यहाँ पर ठीक प्रयोग होगा—'पदप्रकाश्यत्वेन' और 'वाक्यप्रकाश्यत्वेन' । सम्भवतः यह मुद्रण प्रमाद हो । किन्तु यदि स्थित का समर्थन करना हो तो यह अर्थ करना चाहिये—'पद की प्रकाशकता को दिखलाने के रूप में दोनों भेदों के उदाहरण दे दिये, अब वाक्य की प्रकाशकता को दिखलाते हुये लेखक उदाहरण दे रहा है ।' )

जो सब प्राणियों के लिये रात है उसी में संयमी व्यक्ति जागता है और जिसमें संसारी लोग जागते हैं वह ज्ञानवान् मुनि के लिये रात होती है ।'

यह भगवान् कृष्ण गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए कह रहे हैं । यदि इसमें रात तथा जागने का यथाश्रुत अर्थ लिया जावे तो उपदेश्य के प्रति कोई उपदेश ही सिद्ध न हो । इस उपदेश का क्या आशय कि रात्रि में जागना चाहिये तथा और समय में रात्रि के समान रहना चाहिये । इस प्रकार इस वाक्य के वाच्यार्थ का बाध हो जाता है और रात्रि का लक्ष्यार्थ हो जाता है मिथ्यादृष्टि और जागने का लक्ष्यार्थ हो जाता है तत्त्वदृष्टि । इस लक्षणा में निमित्त है संयमी व्यक्ति की लोकोत्तरता । इससे व्यञ्जना निकलती है कि 'तत्त्वदृष्टि की ओर ध्यान देना चाहिये और मिथ्यादृष्टि से पराङ्मुख रहना चाहिये ।' यहाँ पर कहा जा सकता है कि 'सब प्राणियों के लिये जो रात है' में सब शब्द के द्वारा संयमी भी आजाते हैं फिर उनका 'रात में जागना' कहना अनुपपन्न हो जाता है । अतः सर्व शब्द की उपपत्ति के लिये अर्थापत्ति से उक्त अर्थ प्राप्त हो सकता है उसके लिये लक्षणामूल व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं किन्तु इसका उत्तर यह है कि सर्व शब्द आपेक्षिकरूप में भी उपपन्न हो जाता है । एक ओर हैं सब प्राणी और दूसरी ओर हैं संयमी । 'संयमी से भिन्न सभी व्यक्तियों के लिये जो रात है उसमें संयमी व्यक्ति जागता है' यह अर्थ करने से अनुपपत्ति नहीं होती । अतः उक्त अर्थ आक्षेपगम्य नहीं हो सकता । उसके लिये लक्षणामूल व्यञ्जना ही माननी पड़ती है । आशय यह है कि ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त १४ प्रकार के प्राणियों के लिये जो रात्रि अर्थात् व्यामोह उत्पन्न करनेवाली तत्त्व दृष्टि है उसमें संयमी जागता है कि यह तत्त्वदृष्टि कैसे प्राप्त हो सके । आशय यह है कि संयमी बनने

ध्वन्यालोकः

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाश्यता यथा—

विससइओ काण वि काण वि वालेइ अम्मिअणिम्माओ।
काण वि विसामिअमओ काण वि अविसामओ कालो॥
( विपमयितः केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः॥ इति छाया। )

अत्र हि वाक्ये विषामृतशब्दाभ्यां दुःखसुखरूपसङ्क्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

(अनु०) उसी के ( अवान्तर-भेद ) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण—

'किसी के लिये समय विषमय होता है; किसी के लिये अमृत निर्माणवाला होता है, किसी के लिये विषामृतमय और किसी के लिये अविषामृतमय होता है।'

निस्सन्देह इस वाक्य मे विष और अमृत शब्दों के द्वारा व्यवहार किया गया है जिनके वाच्यार्थों का संक्रमण सुख और दुःख मे हो गया है। अतएव यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का व्यञ्जक है।

तारावती

के लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि विषय-वासनाओं का परित्याग कर दिया जावे। उसके लिये यह भी आवश्यक है कि तत्त्वदृष्टि के प्रति जागरूक रहा जावे और अतत्त्वदृष्टि के प्रति उदासीनता रहे। अथवा यहाँ पर यह अर्थ हो सकता है कि सब प्राणियों को मोहित करनेवाली जो रात अर्थात् मिथ्यादृष्टि है उसके प्रति संयमी व्यक्ति जागरूक रहता है कि इसका परित्याग कैसे किया जा सके। जिस मिथ्या दृष्टि के प्रति सभी प्राणी जागते है अर्थात् उसके स्वीकार करने तथा उपभोग करने मे अत्यन्त ही प्रबुद्ध अर्थात् सावधान रहते हैं कि कहीं कोई वस्तु उपभोग से छूट न जावे वह मिथ्यादृष्टि संयमी के प्रबोध का विषय नहीं होती। मिथ्यादृष्टि की चेष्टाओं मे संयमी व्यक्ति प्रबुद्ध नहीं होता। लोकोत्तर आचरण मे व्यवस्थित ( संयमी व्यक्ति ) ऐसा ही समझता है और ऐसा ही मानता है। उसी की अन्तःकरण की वृत्ति चरितार्थ होती है और उसी की बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति भी चरितार्थ होती है। दूसरे लोग न तो देखते ही हैं और न मानते ही हैं। तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टि-परायण होना चाहिये। इसी प्रकार 'देखनेवाले' और 'मुनि के' इन दोनों शब्दों का भी पर्यवसान स्वार्थ में ही नहीं होता है। ( 'पश्यतः' 'देखनेवाले' का लक्ष्यार्थ है 'तत्त्वदृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि को समझनेवाला और मुनि का अर्थ है—संयमी तथा मननशील कोई भी व्यक्ति ) इन दोनों शब्दों के

## लोचन

विषमयितो विषमयतां प्राप्तः । केषाञ्चिद्दुष्कृतिनामतिविवेकिनां वा । केषाञ्चित्सुकृतिनामत्यन्तमविवेकिनां वा अतिक्रामत्यमृतनिर्माणः । केषाञ्चिन्मिश्रकर्मणां विवेकाविवेकवतां वा विषामृतमयः । केषामपि मूढप्रायाणां धाराप्राप्तयोगभूमिकारूढानां वा अविषामृतमयः कालोऽतिक्रामतीति सम्बन्धः । विषामृतपदे च लावण्यादिशब्दवन्निरूढलक्षणारूपतया सुखदुःखसाधनयोर्वर्तते । यथा विषं निम्बममृतं कपित्थमिति । न चात्र सुखदुःखसाधने तन्मात्रविश्रान्ते, अपि तु स्वकर्तव्यसुखदुःखपर्यवसिते । न च ते साधने सर्वथा न विवक्षिते । निस्साधनयोस्तयोरभावात् । तदाह—सङ्क्रमितवाच्याभ्यामिति । केषाञ्चिदिति चास्य विशेषे सङ्क्रान्तिः । अतिक्रामतीत्यस्य च क्रियामात्रसङ्क्रान्तिः । काल इत्यस्य च सर्वव्यवहार सङ्क्रान्तिः । उपलक्षणार्थन्तु विषामृतग्रहणमात्रसङ्क्रमणं वृत्तिकृता व्याख्यातम् । तदाह—वाक्य इति ।

'विषमयित' अर्थात् विषमता को प्राप्त । कुछ का अर्थात् पापियों और अविवेकियों का । कुछ का अर्थात् पुण्यात्माओ का अथवा अत्यन्त अविवेकियो का अमृत की रचनावाला व्यतीत होता है । मिले हुये कर्मवाले अथवा ज्ञान और अज्ञानवाले कुछ लोगों का ( समय ) विष और अमृतमय होता है । मूढप्राय अथवा धारा से प्राप्त योगभूमिका पर आरूढ कुछ लोगों का काल विष और अमृतमयता से रहित व्यतीत होता है, यह सम्बन्ध है । विष और अमृत पद लावण्य इत्यादि शब्द के समान निरूढा लक्षणारूप होने से सुख और दुःख के साधन में वर्तमान रहते हैं । जैसे नीम विष है और कथा अमृत है । यहाँ पर सुख और दुःख के साधन स्वमात्र विश्रान्त नहीं हैं अपितु अपने द्वारा किये जाने योग्य सुख और दुःख मे पर्यवसित होते हैं । उन साधनों की विवक्षा सर्वथा नहीं होती यह बात नहीं क्योंकि निस्साधन तो वे हो ही नहीं सकते । वह कहते हैं–'सङ्क्रमित वाच्यों से यह । किसी का संक्रमण विशेष मे हो जाता है । अतिक्रान्त होता है का क्रियामात्र में सङ्क्रमण हो जाता है और 'काल' इसका सङ्क्रमण सब व्यवहारो मे हो जाता है। उपलक्षण के लिये तो विष और अमृत शब्दों के संक्रमण की व्याख्या वृत्तिकार ने करदी । वह कहते हैं–'वाक्य मे' यह ।

## तारावती

अर्थों का पर्यवसान पूर्वोक्त व्यङ्ग्यार्थ मे ही होता है । इस प्रकार पूरे वाक्य मे 'यत्' और 'तत्' शब्द ही छूट जाते हैं । इनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता । अतएव क्रिया के सहित पूरा पदसमूहरूप वाक्य व्यङ्ग्यार्थपरक ही है । इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'इस वाक्य के द्वारा रात्रि का या जागने का कोई अर्थ विवक्षित नहीं है। 'मुनि के तत्त्वज्ञान के प्रति अवहित होने और अतत्त्व की ओर से पराङ्मुख होने का प्रतिपादन किया जाता है ।' यहाँ पर प्रतिपादन किया जाता है कहने का अर्थ है ध्वनित किया जाता है ।

## तारावती

( ४ ) अविवक्षितवाच्य के भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण—

'किन्हीं लोगो का समय विषमय व्यतीत होता है, दूसरे लोगों के लिये समय का परिपाक अमृतमय होता है, और लोगों के लिये विष और अमृत से युक्त होता है तथा दूसरों के लिये न विषमय ही होता है न अमृतमय ही ।'

यहाँ पर विष और अमृत शब्दो का अर्थ सुख और दुःख में संक्रान्त हो गया है । इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ हो जाता है—'पापियों का समय दुःखमय ही होता है और अत्यन्त ज्ञानियों का समय भी दुःखमय ही होता है ( क्योंकि पापी पाप का फल भोगते हैं और ज्ञानियों के लिये स्वयं संसार ही दुःखमय होता है । ) जो धर्मात्मा है या जो अत्यन्त अज्ञानी है उनका समय सुखमय व्यतीत होता है । जो लोग न तो बहुत पापी ही है और न बहुत पुण्यात्मा ही हैं अथवा जो न तो पूर्ण ज्ञानी ही हैं और न बहुत अज्ञानी ही है उनका समय दुःख और सुख से मिला हुआ व्यतीत होता है । इसके प्रतिकूल जो अत्यन्त मूढ हैं अथवा जो योग की पूरी भूमिका को प्राप्त कर चुके हैं उनका समय न तो दुःखमय ही होता है न सुखमय ही । मूढ लोग सुख और दुःख के अनुभव की क्षमता ही नहीं रखते और योगी लोगों को अनुभव होता ही नहीं है ।

लावण्य इत्यादि शब्दों के समान विष और अमृत इन शब्दों की दुःख और सुख मे निरूढा लक्षणा है । जैसे नीम विष होता है, कपित्थ अमृत होता है । अन्तर यह है कि 'नीम विष होता है और कपित्थ अमृत होता है' इस वाक्य मे दुःख और सुख के साधन में लक्षणा होती है, किन्तु प्रस्तुत उदाहरण 'किन्हीं लोगों का अमृतमय ही' मे लक्षणा का पर्यवसान स्वसाध्य सुख और दुःख मे होता है । साथ में उन साधनों का अन्वय बिल्कुल न होता हो ऐसी बात नहीं है । साधनों का भी अन्वय साथ में हो ही जाता है । क्योंकि बिना साधन के साध्य हो ही नहीं सकता । सुख और दुःख के साधन के रूप में अमृत और विष का भी अन्वय हो जाता है इसीलिये यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण न होकर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण है । इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है कि विष और अमृत के वाच्यार्थो का संक्रमण सुख और दुःख में हो जाता है । जिस प्रकार विष और अमृत की लक्षणा दुःख और सुख मे होती है उसी प्रकार 'कुछ लोगों का' की लक्षणा पापी इत्यादिकों मे होती है । 'व्यतीत होता है' की लक्षणा, जीवन की सभी क्रियाओं मे हो जाती है तथा 'काल' की लक्षणा सभी व्यवहारों मे हो जाती है । इस प्रकार यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की वाक्यप्रकाश्यता का

उदाहरण है। वृत्तिकार ने केवल विष और अमृत के वाच्यार्थों के संक्रमण की व्याख्या की है। वस्तुतः इस पद्य की क्रिया, काल तथा सर्वनाम इत्यादि के अर्थों का भी अर्थान्तर में संक्रमण हो जाता है। वृत्तिकार की विष और अमृत शब्दों के वाच्यार्थ की अर्थान्तरसंक्रमणपरक व्याख्या उपलक्षणमात्र है। इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'वाक्य में' व्यञ्जकता है। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि विष और अमृत शब्दों का सुख और दुःख के अर्थों में निरूढा लक्षणा के रूप में प्रयोग नहीं होता। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य न मानकर अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य मानना चाहिये। किन्तु शब्दों के अर्थ का सङ्कोच-विस्तार प्रायः होता ही रहता है। सम्भव है आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के समय में विष और अमृत इस प्रकार का प्रयोग होता रहा हो। इस दृष्टि से यह उदाहरण असङ्गत नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि विष और अमृत शब्दों की निरूढालक्षणापरक व्याख्या न भी की जावे तो भी विष और अमृत शब्दों की लक्षणा दुःखदायक वस्तुओं तथा सुखदायक वस्तुओं में हो जावेगी। विष और अमृत का समावेश भी दुःखदायक और सुखदायक वस्तुओं में है ही। ऐसी दशा में 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यता' के समान यहाँ पर भी उपादान लक्षणा ही होगी लक्षणलक्षणा नहीं। अतएव यहाँ पर अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य न होकर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ही होगा। दीधितिकार ने लिखा है कि पीयूषवर्ष का 'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः' यह वाक्य व्यङ्ग्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का ठीक उदाहरण होगा किन्तु यहाँपर 'अस्ति' का अध्याहार करने से 'कदली अस्ति' इत्यादि पृथक् वाक्य बन जाते हैं और इनमें व्यङ्ग्यार्थ केवल पदद्योत्य ही रह जाता है। इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने 'जिसके मित्र मित्र हैं, शत्रु शत्रु हैं और कृपाभाजन कृपाभाजन है वही वास्तव में उत्पन्न हुआ है और वही वास्तव में जीवित है।' यह उदाहरण पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का दिया है। वस्तुतः वाक्य व्यङ्ग्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का काव्यप्रकाशकार का दिया हुआ यह उदाहरण अधिक समीचीन होगा—विद्वानों की सभा में जानेवाले किसी व्यक्ति के प्रति कोई आप्त कह रहा है—'मैं तुमसे कह रहा हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय एकत्र है। अतएव तुम्हें अपनी बुद्धि को ठीक रखकर सावधानतापूर्वक वहाँ स्थित होना चाहिये।' यहाँ पर (१) मैं तुमसे कह रहा हूँ' यह वाक्य अनुपपन्न है। क्योंकि बात कह देने से ही मालूम पड़ सकता है कि उसने बात कही। अतः इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती और 'मैं तुमसे कह रहा हूँ, इसका बाध हो जाता है। उससे दूसरा लक्ष्यार्थ निकलता है

ध्वन्यालोकः

विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाश्यता यथा—

प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि ।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किन्न जडः कृतोऽहम् ॥

अत्र हि जड इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमनुरणनरूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते ।

(अनु०) विवक्षितवाच्य के भेद अनुरणनरूप व्यंग्य के उपभेद शब्दशक्त्युद्भव की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'धनों से याचकों की आकांक्षा को पूरा करने के लिये यदि दैव के द्वारा मैं उत्पन्न नहीं किया गया हूँ तो मार्ग मे निर्मल जल को धारण करनेवाला तडाग अथवा जड कूप ही क्यों नहीं बना दिया गया हूँ ।'

यहाँ पर निर्विण्ण वक्ता के द्वारा अपने समानाधिकरण के रूप में प्रयोग किया गया 'जड' यह शब्द अनुरणनरूप में अपनी शक्ति से कूप के समानाधिकरणत्व को प्राप्त हो जाता है ।

लोचन

एवं कारिकाप्रथमार्धलक्षितांश्चतुरः प्रकारानुदाहृत्य द्वितीयकारिकार्धस्वीकृतान् षडन्यान् प्रकारान् क्रमेणोदाहरति—विवक्षिताभिधेयस्येत्यादिना । प्रातुमिति पूरयितुम् ।

इस प्रकार कारिका के प्रथमार्ध मे लक्षित चार प्रकारों का उदाहरण देकर द्वितीय कारिकार्ध मे स्वीकृत छः अन्य प्रकारो के क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं—'विवक्षिताभिधेय का' इत्यादि के द्वारा । 'प्रातुम्' का अर्थ है पूरा करने के लिये ।

तारावती

'मैं तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ ।' ( २ ) जब विद्वान् लोग सामने ही हैं तब इसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'यहाँ पर विद्वानों का समुदाय एकत्र है ।' इस प्रकार इसका बाध होकर लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'यहाँ जो विद्वान् आये हैं वे सर्वशास्त्रविशारद हैं ( ३ ) इसी प्रकार जब बुद्धि का सहारा सर्वदा लिया ही जाता है तब बुद्धि का सहारा लेने का परामर्श व्यर्थ ही हो जाता है । इससे बाध होकर लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'तुम अपनी बुद्धि को प्रमाणों के आधीन ठीक रक्खो' इस सबसे यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि—'इस स्थानपर ऐसे ऐसे विद्वान् एकत्र हुये हैं जो सब शास्त्रों मे निष्णात है और उनके सामने अपनी बात को प्रमाणों से सिद्ध कर सकना अत्यन्त दुष्कर है । तुम भलीभाँति अपनी बुद्धि को ठीक रक्खो और जो भी बात कहो वह प्रमाण से भरी हुई हो । यह तुम्हारे लिये

## लोचन

धनैरिति बहुवचनं यो येनार्थी तस्य तेनेति सूचनार्थम्। अत एवार्थिग्रहणम्। जनस्येति बाहुल्येन हि लोको धनार्थी, न तु गुणैरुपकारार्थी। दैवेनेति। अशक्यपर्यनुयोगेनेत्यर्थः। अस्मीति। अन्यो हि तावदवश्यं कश्चित् सृष्टो न त्वहमितिनिर्वेदः। प्रसन्नं लोकोपयोगि अम्बु धारयतीति। कूपोऽथवेति। लोकैरप्यलक्ष्यमाण इत्यर्थः। आत्मसमानाधिकरणतयेति। जडः किंकर्तव्यतामूढ इत्यर्थः। अथ च कूपो जडोऽर्थिता कस्य कीदृशीत्यसम्भवद्विवेक इति। अत एव जडः शीतलो निर्वेदसन्तापरहितः। तथा जडः शीतलजलयोगितया परोपकारसमर्थः। अनेन तृतीयार्थेनायं जडशब्दस्तटाकार्थेन पुनरुक्तसम्बन्ध इत्यभिप्रायेणाह—कूपसमानाधिकरणतामिति। स्वशक्त्येति शब्दशक्त्युद्भवत्वं योजयति।

'धनैः' में बहुवचन 'जो जिसका प्रार्थी है उसका उसके द्वारा' यह सूचित करने के लिये। अतएव अर्थी शब्द का प्रयोग किया गया है। 'जन का' इसका व्यङ्ग्यार्थ है—बहुलता से लोक धन का अर्थी होता है गुणों से उपकार का अर्थी नहीं 'दैव के द्वारा' यह। अर्थात् जिससे भलीभाँति प्रश्न किया ही नहीं जा सकता। मैं यह। अन्य कोई इस प्रकार का अवश्य उत्पन्न किया गया है, मैं नहीं, यही निर्वेद है। प्रसन्न अर्थात् लोकोपयोगी जल को जो धारण करता है। 'अथवा कूप'। अर्थात् लोक के द्वारा न देखा जाता हुआ। 'आत्मसमानाधिकरण के रूप मे' यह 'जड़' अर्थात् किंकर्तव्यमूढ़। और यह कि कूप अर्थात् जड़ अर्थात् जिसको यह विवेक ही न हो कि किसकी प्रार्थना किस प्रकार की है। अतएव जड़ अर्थात् शीतल अर्थात् निर्वेदसन्ताप रहित। उसी प्रकार जड़ अर्थात् शीतल जल से संयुक्त होने से परोपकारसमर्थ। इस तृतीय अर्थ के द्वारा यह जड शब्द तड़ाग के अर्थ के साथ पुनरुक्त सम्बन्धवाला है इस अभिप्राय से कहते हैं—'कूपसमानाधिकरणता को'। 'अपनी शक्ति से' यह शब्दशक्त्युद्भव की योजना करता है।

## तारावती

मेरी शिक्षा है। यदि तुम मेरा कहना मानोगे तो तुम्हारा हित होगा नहीं तो तुम उपहास के योग्य हो जाओगे।')

प्रथम कारिका के प्रथम दल में अविवक्षितवाच्य के दो भेद बतलाये गये थे—पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। अविवक्षितवाच्य के दोनों पूर्वोक्त भेदों के साथ इन दोनों भेदों को गुणित करने पर इसके चार भेद हो जाते हैं—पदप्रकाश्य अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य, पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और वाक्यप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। यहाँ तक इन चारों भेदों की व्याख्या की जा चुकी और उनके उदाहरण दिये जा चुके। अब कारिका

## तारावती

के उत्तरार्ध की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। इसमें कहा गया है कि विवक्षितान्यपरवाच्य का उपभेद अनुरणनरूपव्यङ्ग्य भी पद और वाक्य के द्वारा प्रकाशित हुआ करता है। इसके छह भेद हो सकते हैं जिनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(५) विवक्षितवाच्य के अनुरणनरूप व्यंग्य (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) में शब्द-शक्त्युद्भव की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'यदि मैं दैव के द्वारा धनों से याचक-जनों की आकाक्षाओं को पूरा करने के लिये नहीं पैदा किया गया तो मार्ग मे निर्मल जल को धारण करनेवाला तडाग, कुआँ या जड ही क्यों नहीं बना दिया गया ?'

यहाँ पर 'प्रा' धातु का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है पूरा करना। इससे व्यंग्यार्थ निकलता है कि वक्ता तबतक सन्तुष्ट होना नहीं चाहता जब तक वह याचकों को उतना न दे दे जितना याचक चाहते हों। (प्रातुं के 'तुमुन्' प्रत्यय का व्यंग्यार्थ है कि वक्ता अपने जन्म की सफलता इसी में समझता है कि वह य चकों की आकाक्षा पूरी कर सके।) 'धनों से' में बहुवचन से सूचित होता है कि जो व्यक्ति जो भी चाहता हो उसको वही मिलना चाहिये। अर्थी या याचक शब्द के ग्रहण का भी यही आशय है। 'याचक-जन' में 'जन' शब्द का व्यंग्यार्थ यह है कि अधिकतर लोग धनों की आकाक्षा ही रखते हैं, गुणों के द्वारा उपकृत होने की इच्छा बहुत कम लोगों को होती है। 'दैव के द्वारा' की व्यञ्जना यह है कि दैव सर्वथा स्वतन्त्र होता है वह दृष्टिगोचर भी नहीं होता। उसने मुझे जैसा बना दिया है मुझे वैसा ही स्वीकार करना पड़ेगा। मैं उससे किसी प्रकार का कोई शिकवा भी नहीं कर सकता। 'अस्मि' 'हूँ' मे उत्तमपुरुष तथा एक वचन का व्यंग्यार्थ यह है कि परमात्मा ने ऐसा मुझे नहीं बनाया और लोगों को बनाया है। तडाग निर्मल अर्थात् लोकोपयोगी जल को धारण करता है जिससे वह निरन्तर लोक की आकांक्षा पूरी करता रहता है। (इस वाक्य के द्वारा लोचनकार ने तडाग से वैपम्य बतलाया है, यह 'अम्बुधर' की व्युत्पत्ति नहीं है जैसा कि कुछ लोगों ने समझा है।) 'अथवा कूप' की व्यञ्जना यह है कि या तो मैं लोक का उपकार कर सकता या लोक के द्वारा मैं देखा ही न जा सकता।

वक्ता इस बात से बहुत विरक्त हो गया है कि लोक तो उससे धन की अभिलाषा रखता है किन्तु उसमे इतनी शक्ति नहीं है कि वह उनकी आकाक्षा पूरी कर सके। अतएव उसने अपने लिये जड शब्द का प्रयोग किया है। जो कि वक्ता के समानाधिकरण होने के कारण उससे 'जडत्व के अभेद' का परिचायक है। (जहाँ प्राति-

## ध्वन्यालोकः

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्येषु 'वृत्तेऽस्मिन्महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः।'

एतद्धि वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति।

(अनु०) उसी की वाक्यप्रकाश्यता जैसे हर्षचरित मे सिंहनाद के वाक्यों में—'इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथ्वी को धारण करने के लिये तुम शेष हो।'

यह वाक्य निस्सन्देह अनुरणनरूप अर्थान्तर को स्फुट रूप में शब्दशक्ति के द्वारा प्रकाशित करता है।

## तारावती

पदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है वहाँ दोनों शब्दों में अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।) इस प्रकार वाच्यार्थ का पर्यवसान वक्ता और जड़ के समानाधिकरण में ही होजाता है। इसके बाद 'जड' शब्द के अर्थ के बल पर अनुरणनरूप में कूप से भी समानाधिकरण व्यक्त होता है। जड शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) किंकर्तव्यविमूढ़ (२) शीतल और (३) जल से युक्त। वक्ता और कूप का इन तीनों अर्थों के बल पर सामानाधिकरण्य इस प्रकार होगा—(१) जिस प्रकार अचेतन होने के कारण कुआँ अपने कर्तव्य को समझ नहीं सकता क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान ही नहीं हो पाता कि किसकी क्या याच्ञा है उसी प्रकार वक्ता भी ज्ञानशून्य बन जाने की कामना कर रहा है जिससे उसे न तो याचकों की याच्ञा का अनुभव ही हो और न उसके कारण वेदना ही उत्पन्न हो। (२) कूप सदा शीतल रहता है उसे निर्वेद और सन्ताप का अनुभव ही नहीं होता। उसी प्रकार वक्ता भी कामना करता है कि वह सदा शीतल रहे और उसे निर्वेद तथा सन्ताप का अनुभव ही न हो। (३) जिस प्रकार शीतल जल से युक्त होने के कारण कुआँ परोपकार करने मे लगा रहता है उसी प्रकार वक्ता भी कामना कर रहा है कि वह भी धन से सम्पन्न हो, जिससे वह भी दूसरों का उपकार कर सके। यद्यपि इस 'जड' शब्द का अन्वय तडाग के साथ भी हो सकता है किन्तु उसका तीसरे अर्थ के साथ सम्बन्ध उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि तडाग के लिये 'निर्मल जल धारण करनेवाला' यह विशेषण दिया ही जा चुका है। अतएव जड के तीसरे अर्थ के साथ उसकी पुनरुक्ति की सम्भावना हो जाती है। अतः 'जड' शब्द का कूप के साथ ही सम्बन्ध ध्वनित होता है। इसीलिये कूपसमानाधिकरणता बतलाई है। इस प्रकार यहाँ पर जड शब्द से प्रकाशित होनेवाली शब्दशक्त्युद्भवध्वनि है। 'अपनी शक्ति से कूपसमानाधिकरणता को प्राप्त हो जाता है' मैं अपनी शक्ति से कहने का अर्थ है शब्दशक्त्युद्भवत्व के द्वारा।

## लोचन

महाप्रलय इति। महस्य उत्सवस्य आसमन्तात्प्रलयो यत्र तादृशि शोककारणभूते वृत्ते धरण्या राज्यधुराया धारणायाश्वासनाय त्वं शेषः शिष्यमाणः। इतीयता पूर्णे वाक्यार्थे कल्पावसाने भूपीठभारोद्वहनक्षम एको नागराज एव दिग्दन्तिप्रभृतिष्वपि प्रलीनेष्वित्यर्थान्तरम्।

'महाप्रलय' यह। मह अर्थात् उत्सव का चारों ओर से जहाँ प्रलय उस प्रकार के शोककारणभूत वृत्त मे धरणी अर्थात् राजधुर के धारण करने के लिये अर्थात् आश्वासन के लिये तुम शेप अर्थात् बचे हुये हो। इस इतने वाक्यार्थ के पूर्ण हो जाने पर दूसरा अर्थ यह (आ जाता है)—कल्पावसान में दिग्गज इत्यादि के प्रलीन हो जाने पर भी भूपीठभार के उद्वहन में समर्थ केवल नागराज ही है।

## तारावती

(२) उसी शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे—बाण रचित हर्षचरित मे प्रभाकर वर्धन की भी मृत्यु हो चुकी है और राज्य वर्धन को भी गौडाधिप ने मिथ्या विश्वासों से जाल में फँसाकर एकान्त मे मार डाला है। उस समय हर्ष का सेनापति हर्ष को समझाते हुये कह रहा है कि—'इस महाप्रलय के हो जाने पर पृथ्वी को धारण करने के लिये तुम शेप हो।' इस वाक्य का वाच्यार्थ 'इस' शब्द के प्रयोग के कारण प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। वाच्यार्थ इस प्रकार है—'इस मह अर्थात् उत्सव के आप्रलय अर्थात् चारों ओर से पूर्ण प्रलय के उपस्थित होने पर केवल तुम्हीं शेप बचे हुये हो जो पृथ्वी की मर्यादा को अथवा राज्यधुर को स्थिर रख सकते हो।' (क्योकि राज्य का भार संभालनेवाले तुम्हारे पिता तथा बडे भाई दोनों का मरण हो चुका है जिससे राज्य का आनन्दोत्सव पूर्णरूप से समाप्त हो गया।) इसके बाद महाप्रलय तथा शेप शब्दों के बल पर दूसरा अर्थ निकलता है। इन दोनो अर्थों का उपमानोपमेय भाव हो जाता है। 'जिस प्रकार महाप्रलय होने पर पृथ्वी को धारण करनेवाले वाराह शूकर इत्यादि सभी नष्ट हो जाते है, उस समय केवल शेष नाग ही पृथ्वी को धारण कर सकता है, उसी प्रकार उत्सव को समाप्त करनेवाले अपने पूर्वजो के महानाश के उत्पन्न होने पर केवल तुम्हीं शेप रह गये हो जिन पर पृथ्वी की रक्षा के लिये विश्वास किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ पर सम्पूर्ण वाक्य से अनुरणनन्याय से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि निकलती है, यह बात स्पष्ट ही है।

(३) इसी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य मे अर्थशक्त्युद्भव के कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर नामक भेद की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

ध्वन्यालोकः

अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्यार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा हरिविजये—

चूअङ्कुरावअंसं छणसप्पसरमहद्घणमणहरसुरामोअम् ।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम् ॥

अत्र ह्यसमर्पितमपीत्येतदवस्थाभिधायिपदमर्थशक्त्या कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति ।

(अनु०) इसी ( विवक्षितान्यपरवाच्य ) के उपभेद कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर की पदप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे हरिविजय में—

'बहुमूल्य महोत्सव के प्रसार के कारण मनोहर सुरामोदवाले आम्रमञ्जरी के आभूषणों से युक्त वसन्त मास की लक्ष्मी के मुख को कामदेव ने बिना किसी के प्रदान किये हुये स्वयं ग्रहण कर लिया ।'

यहाँ पर 'बिना दिये हुये ही कामदेव ने मधुमासलक्ष्मी के मुख को ग्रहण कर लिया' मे बिना दिये हुये यह अवस्था का कहनेवाला पद अर्थशक्ति से कामदेव के बलात्कार को प्रकाशित करता है ।

लोचन

चूताङ्कुरावतंसं क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम् ।

महार्घेण उत्सवप्रसरेण मनोहरसुरस्य मन्मथदेवस्य आमोदश्चमत्कारो यत्र तत् । अत्र महार्घशब्दस्य परनिपातः, प्राकृते नियमाभावात् । क्षण इत्युत्सवः ।

असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम् ॥

मुखं प्रारम्भो वक्त्रं च । तच्च सुरामोदयुक्तं भवति । मध्वारम्भे कामश्चित्तवृत्तिमाक्षिपतीत्येतावानयमर्थः कविप्रौढोक्त्यार्थान्तरव्यञ्जकः सम्पादितः ।

'बहुल्मूय उत्सव के प्रसार से मनोहर सुरामोदवाले आम्रमञ्जरी के आभूषण से युक्त'

महार्घ उत्सव के विस्तार से मनोहर सुर अर्थात् मन्मथ देव का आमोद अर्थात् चमत्कार जिसमे विद्यमान हो वह । यहाँ महार्घ शब्द का परनिपात ( हो जाता है ) क्योंकि प्राकृत मे नियम नहीं होता । 'क्षण' का अर्थ है उत्सव ।

'कुसुमशर ने बिना ही दिये मधुमास-लक्ष्मी का मुख पकड़ लिया ।' मुख अर्थात् प्रारम्भ और वक्त्र । वह भी सुरा के आमोद से युक्त होता है । 'वसन्त के प्रारम्भ मे काम चित्तवृत्ति को आक्षिप्त कर देता है' यह इतना अर्थ कविप्रौढोक्ति से अर्थान्तर का व्यञ्जक कर दिया गया है ।

ध्वन्यालोकः

अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाश्यता यथोदाहृतम् प्राक्–'सज्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि। अत्र 'सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरा' नित्ययं वाक्यार्थः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो मन्मथोन्माथमदनावस्थां वसन्तसमयस्य सूचयति।

(अनु०) इसी मे ( विवक्षितवाच्य के ) उपभेद ( कविप्रौढोक्ति निष्पन्न शरीर ) की वाक्य-प्रकाश्यता जैसा कि पहले उदाहरण दिया गया है—'सज्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि। यहाँपर 'वसन्तमास वाण तैय्यार कर रहा है; किन्तु कामदेव को प्रदान नहीं कर रहा है' यह वाक्यार्थ कविप्रौढोक्ति-निष्पन्नशरीर है और वसन्तसमय की ( की हुई ) कामदेव द्वारा उन्मथन और मदन की अवस्था को सूचित करता है।

तारावती

'बहुमूल्य महोत्सव के प्रसार के कारण मनोहर सुरामोदवाले आम्रमञ्जरी के आभूषणों से युक्त वसन्त मास की लक्ष्मी के मुख को कामदेव ने विना किसी के प्रदान किये हुये स्वयं ही ग्रहण कर लिया।'

यहाँ पर 'क्षणप्रसर महार्घमनोहर सुरामोदम्' का अर्थ है महार्घ अर्थात् बहुमूल्य बहुत बड़े उत्सव के द्वारा 'मनोहर सुर' अर्थात् कामदेव का आमोद अर्थात् चमत्कार जहाँ विद्यमान है। महार्घ शब्द 'क्षणप्रसर' शब्द का विशेषण है। अतः यहाँ पर महार्घ का पूर्व प्रयोग होकर 'महार्घक्षण प्रसर' यह रूप होना चाहिये। किन्तु प्राकृत मे पूर्व निपात का ऐसा कोई हठ नियम नहीं है। क्षण शब्द का अर्थ है उत्सव।

'मनोहर सुरामोद' शब्द के दो अर्थ हैं ( १ ) जिसमे मनोहरदेव कामदेव का आमोद अर्थात् चमत्कार विद्यमान हो और ( २ ) जो मनोहर मदिरा की गन्ध से युक्त हो। इसी प्रकार मुख शब्द के भी दो अर्थ है प्रारम्भ और मुख। वसन्त के प्रारम्भ मे कामदेव का चमत्कार विद्यमान होता है और नायिका के मुख में मदिरा की सुगन्ध आ रही है।

इस वाक्य का केवल यही अर्थ है कि वसन्त के प्रारम्भ में चित्त में कामदेव का जागरण हो जाता है। यहाँ पर कामदेव का मधुमासलक्ष्मी के मुख को पकड़ लेना एक कविकल्पित वस्तु है। मधुमासलक्ष्मी ने मुख समर्पित नहीं किया है फिर भी कामदेव ने पकड़ लिया है। इससे नायिका की नवोढ़ा दशा की अभिव्यक्ति होती है। और नायक ( कामदेव ) पर हठी कामुक के व्यवहार का समारोप हो आता है। इस कविकल्पित वस्तु से नायक के नायिका पर बलात्कार की ध्वनि निकलती है। इस ध्वनि मे 'बिना किसी के दिये हुये' इस पद का

## लोचन

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिशरीरार्थशक्त्युद्भवे पदवाक्यप्रकाशतायामुदाहरणद्वयं न दत्तम्। 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इति प्राच्यकारिकाया इयतैवोदाहृतत्वं भवेदित्यभिप्रायेण। तत्र पदप्रकाशता यथा—

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिशरीर अर्थशक्त्युद्भव में पद और वाक्य द्वारा प्रकाश्यता के अन्तर्गत दो उदाहरण नहीं दिये। 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर और स्वतः सम्भवी' इस प्राच्य कारिका का इतने से ही उदाहृतत्व हो जावे इस अभिप्राय से। उसमें पदप्रकाश्यता जैसे—

'काम सचमुच मनोरम (होते है) विभूतियाँ भी सचमुच रमणीय होती हैं किन्तु मत्त अङ्गनाओं के अपाङ्गभङ्ग के समान जीवन चञ्चल है।'

## तारावती

अर्थ ही व्यञ्जक है। अतएव यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से पद से प्रकाशित होनेवाली अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है।

इसी कविप्रौढोक्तिनिष्पन्न शरीर नामक भेद की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण जैसे—द्वितीय उद्योत में एक उदाहरण दिया गया था—'वसन्त अभिनव आम्रमञ्जरी इत्यादि अनङ्ग के शरों को सज्जित कर रहा है किन्तु दे नहीं रहा है। ये अनङ्गशर नवीन पल्लव और पत्रों को देनेवाले हैं और इनके मुखों का लक्ष्य युवतियों का समूह ही है।' वहाँ बतलाया जा चुका है कि 'वसन्त केवल कामदेव के बाणों को तैय्यार ही कर रहा है अभी दे नहीं रहा है' इस कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु से वसन्तसमय मे कामदेव की क्रमशः प्रगाढावस्था ध्वनित होती है। यह ध्वनि समस्त वाक्य से निकलती है। अतएव यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से वाक्यप्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि निकलती है।

यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृप्रौढौक्ति-निष्पन्नशरीर नामक भेद की पदप्रकाश्यता और वाक्यप्रकाश्यता के दो भेद नहीं दिये गये हैं। यथासम्भव इसका कारण यह हो सकता है कि 'प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः' इस प्राचीनों की कारिका मे अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के मूलभेद दो ही माने गये हैं—(१) प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर और (२) स्वतः सम्भवी। इसी आधार पर यहाँ पर केवल दो भेदों के ही उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु इस अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध नामक एक भेद और होता है। उसके दोनों उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

## लोचन

इत्यत्र कविना यो विरागी वक्ता निबद्धस्तच्छक्तिप्रौढोक्त्या जीवितशब्दोऽर्थात्मूलतयेदं ध्वनयति—सर्व एवामी कामा विभूतयश्च स्वजीवितमात्रोपयोगिनः, तदभावे हि सन्निरपि तैरसद्रूपताप्यते, तदेव च जीवितं प्राणधारणरूपत्वात्प्राणवृत्तेश्च चाञ्चल्याद्-नास्थापदमिति विषयेषु वराकेषु, किं दोषोद्घोषणदौर्जन्येन निजमेव जीवितमुपालम्भम. तदपि च निसर्गचञ्चलमिति न सापराधमित्येतावता गाढं वैराग्यमिति। वाक्य-प्रकाशता यथा 'शिखरिणी'त्यादौ ।

यहाँ पर कविने जो विरागी वक्ता निबद्ध किया है उसकी प्रौढोक्ति से अर्थशक्ति-मूलतया जीवित शब्द यह ध्वनित करता है—ये सभी कामनायें और विभूतियाँ स्वजीवन मात्र की उपयोगिनी हैं उसके अभाव में निःसन्देह होते हुये भी वे न होने का रूप ही प्राप्त कर लिया करती हैं । वही जीवन प्राणधारण रूप होने से और प्राणवृत्ति की चञ्चलता से आस्था का स्थान नहीं है । इस प्रकार बेचारे विषयों के दोषोद्घोषण के दौर्जन्य से क्या अपने ही जीवन को उपालम्भ देना चाहिये। वह भी स्वभाव चञ्चल है इस प्रकार वह भी अपराधी नहीं इतने से गाढ वैराग्य (ध्वनित होता है)। वाक्यप्रकाश्यता जैसे—'शिखरिणि' इत्यादि ।

## तारावती

(क) कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध नामक भेद में पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'यह सच है कि काम्य वस्तुयें मनोरम होती है, यह भी सच है कि सम्पत्तियाँ भी मनोरम होती हैं, किन्तु जीवन तो मत्त अंगनाओं के अपागों के भंग के समान चञ्चल है।'

यहाँ पर विरागी व्यक्ति एक कविनिबद्ध वक्ता है। 'जीवन अंगनाओं के अपांगभंग के समान चञ्चल है' यह उसी विरागी व्यक्ति की प्रौढोक्ति है । उससे अर्थशक्ति से यह ध्वनि निकलती है—'जितनी भी सांसारिक कामनायें और विभू-तियाँ हो सकती हैं उनका एकमात्र उपयोग जीवन के लिये ही है। जीवन न होने पर उनका रहना भी न रहने के समान हो जाता है । प्राणों का धारण करना ही जीवन है और प्राणवृत्ति चञ्चल होती है। अतएव जीवन का कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। फिर बेचारे दोषों के उद्घोषण का दौर्जन्य ही क्यों दिखलाया जावे ? अपने जीवन को ही दोष देना चाहिये । अथवा वह जीवन भी स्वाभाविक रूप में चञ्चल है । अतः उसका भी क्या अपराध ? यही कारण है कि जीवन के प्रति प्रगाढ वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। यहाँ पर यह ध्वनि जीवित शब्द से निकलती है । अतएव कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु से पदद्योत्यध्वनि का यह उदाहरण है ।

ध्वन्यालोकः

स्वतः सम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

वाणिअअ हत्तिदन्ता कुतो अह्माण वाघकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुह्मा ॥

अत्र लुलितालकमुखीत्येतत्पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावितशरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं सूचयंस्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति ।

(अनु०) स्वतः सम्भवी शरीर अर्थशक्त्युद्भव नामक उपभेद में पदप्रकाश्यता का उदाहरण—

'हे व्यापारी ! हमारे घर मे हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म तब तक कहाँ जब तक कि चूर्णकुन्तल से सुशोभित मुखवाली हमारी पुत्रवधू घर में विलास के साथ घूम रही है ।'

यहाँ पर 'लुलितालकमुखी' यह पद स्वतः सम्भावित शरीरवाली अर्थशक्ति से व्याधवधू की सुरतक्रीडासक्ति को सूचित करते हुये उसके पति की निरन्तर सम्भोगजन्य क्षीणता को प्रकाशित करता है ।

लोचन

वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥ इति छाया

सविभ्रमं चङ्क्रम्यते । अत्र लुलितेति स्वरूपमात्रेण विशेषणमवलिप्ततया च हस्तिदन्ताद्यपाहरणं संभाव्यमिति वाक्यार्थस्य तावत्येव न काचिदनुपपत्तिः ।

'ऐ बनिये ( व्यापारी ) कहाँ से हमारे ( यहाँ ) हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म जब तक मुख पर केशों को छिटकाये हमारी पुत्रवधू घरमें विचरण कर रही है । विलास-पूर्वक इधर-उधर घूम रही है । यहाँ लुलित इत्यादि विशेषण स्वरूप से और अवलेप के गर्व ( तथा प्रमाद ) से हस्तिदन्त इत्यादि के अनाहरण की सम्भावना की जा सकती है । अतः वाक्यार्थ के उतने से ही ( विरत हो जानेपर ) कोई अनुपपत्ति नहीं होती ।

तारावती

(ख) उसी की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण–जैसे पहले आया हुआ उदाहरण 'शिखरिणि क नु नाम—' इत्यादि पद्य । इसमें रसिक व्यक्ति कविनिबद्धवक्ता है । बिम्बफल का तपस्या करना केवल उसी कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु है । उससे उस व्यक्ति की अधरचुम्बन विषयक अभिलाषा ध्वनित होती है । अतएव यह कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वाक्यप्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण है ।

## ध्वन्यालोकः

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा--

सिहिपिच्छकण्णऊरा बहुआ वाहस्य गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छकर्णपूरायाः नवपरिणीतायाः कस्याश्चित्सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते । तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् । तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां दौर्भाग्यातिशयः ख्याप्यते । तत्सम्भोगकाले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थ आसीदित्यर्थप्रकाशनात् ।

(अनु०) उसी की वाक्यप्रकाश्यता जैसे—

'मयूर पिच्छ के कर्णपूर को धारण किये हुये व्याध की बहू मुक्ताफल के द्वारा प्रसाधन को बनाये हुये सपत्नियों के बीच में गर्व के साथ घूम रही है ।'

इस वाक्य के द्वारा भी किसी नवपरिणीता, मयूरपिच्छ का कर्णपूर धारण करनेवाली, व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता प्रकाशित की जाती है । क्योंकि इससे यह अर्थ प्रकाशित होता है कि एकमात्र उसके सम्भोग में ही लगा हुआ पति केवल मयूर मारने की शक्तिवाला बन गया । उससे भिन्न मुक्ताफल का प्रसाधन करनेवाली चिरपरिणीता सौतों के दुर्भाग्य की अधिकता प्रकट होती है । क्योंकि इससे यह अर्थ निकलता है कि उनके सम्भोग काल में वही व्याध बड़े बड़े हाथियों के वध के कार्य में समर्थ था ।

### लोचन

सिहिपिच्छेति । पूर्वमेव योजिता गाथा ।

'सिखि पिच्छ' इति । इस गाथा की योजना तो पहले ही की जा चुकी ।

### तारावती

(५) अनुरणनरूप व्यङ्ग्य मे स्वतः सम्भवी भेद की पदप्रकाश्यता का उदाहरण—किसी व्यापारी ने किसी वृद्ध व्याध से हांथी दाँत और व्याघ्रचर्म को देने के लिये कहा, इसपर वह वृद्ध व्याध कहने लगा—

'हे वणिक् ! जब तक हमारे घर मे हमारी पुत्रवधू अपने मुख पर केशों को फहराती हुई घूम रही है तब तक हमारे घर में कहाँ से हाथी दाँत आये और कहाँ से व्याघ्रचर्म आया ?'

यहाँ पर व्याधवधू का अपने मुख पर केशों को फहराते हुये घूमना वाच्य वस्तु है जो कि लोक में स्वतः सम्भव है । इससे अर्थशक्ति से यह ध्वनित होता है कि

## तारावती

व्याध का पुत्र अपनी पत्नी के सौन्दर्य पर रीझकर उसके विलासों को देखता रहता है और सहवास में ही अपना मन लगाये रहता है जिससे वधू के केश निरन्तर छूटे रहते हैं तथा मुखपर मंडराते रहते हैं। व्याध का पुत्र निरन्तर सम्भोग के कारण अत्यत क्षीण हो गया है और वह हाथियों और बाघों को नहीं मार सकता जिससे घर मे हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म मिलसके। केशों का छूटे रहना और मुख पर मँडराना यह विशेषण स्वरूपमात्र ( स्वभावोक्ति के रूप मे ) भी हो सकता है और हाथी दाँत इत्यादि का न लाना प्रमाद से भी सम्भव है। अतएव वाच्यार्थ की विश्रान्ति इतने मे ही हो जाती है और इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती। अतः संभोगक्षामता इत्यादि व्यङ्ग्य ही है। इस प्रकार यहाँ पर स्वतःसम्भवी वस्तु से पदप्रकाश्य अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि निकलती है।

( ६ ) उसी स्वतः सम्भवी भेद की वाक्यप्रकाश्यता का उदाहरण—

'मयूरपिच्छ के कर्णाभरण बनाये हुये व्याध की वधू मुक्ताफलों के आभूषणों का शृङ्गार करनेवाली अपनी सौतों के मध्य में अभिमानपूर्वक घूम रही है।'

इस गाथा की योजना पहले ही की जा चुकी है। इस वाक्य से भी मयूर-पिच्छ का कर्णाभरण धारण करनेवाली नव परिणीता व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता ध्वनित होती है क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि उस नवपरिणीता वधू के संभोग का आनन्द लेने के कारण उसके पति में केवल इतनी ही शक्ति रह गई है कि वह मयूरों को मार सके। उसकी बहुत दिनों की व्याही हुई सौतों को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। उस समय उसका पति उन सपत्नियों में इतना अधिक अनुरक्त नहीं हुआ था और उसमें हाथियों के मारने की शक्ति बनी रही थी। वह हाथियों को मारकर मुक्ता-फल लाकर दिया करता था। अतएव यद्यपि नायिका की सपत्नियाँ मुक्ता-फल धारण किये हुये हैं और नायिका को मयूर पिच्छ ही मिल सके हैं किन्तु फिर भी नायिका का सौभाग्य प्रकट होता है और सपत्नियों का दौर्भाग्य प्रकट होता है। नायिका का मयूरपिच्छ धारण करना और सौतों में अभिमानपूर्वक घूमना स्वतः सम्भवी वस्तु है। उससे नायिका के सौभाग्य रूप मे वाक्यप्रकाश्यध्वनि निकलती है।

( ऊपर वाक्यप्रकाश्य तथा पदप्रकाश्य ध्वनि भेदों के उदाहरण दिये गये। यहाँ पर अब यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि ध्वनि पदसमूह में रहती है और समूह की ही बोधक होती है। फिर यह कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि ध्वनि एक पद के द्वारा प्रकाशित होती है ? )

ध्वन्यालोकः

ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता। काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात्। उच्यते—स्यादेष दोषः यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्। तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्। किञ्च काव्यानां शरीराणामिव संस्थानविशेषाविच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधि।

(अनु०) (प्रश्न) ध्वनि एक विशेष प्रकार का काव्य बतलाई गई है फिर उसका पद के द्वारा प्रकाशित होना कैसे हो सकता है? निस्सन्देह विशेष प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति में कारण विशेष प्रकार का शब्द-सन्दर्भ ही विशेष प्रकार का काव्य होता है। पदप्रकाशत्व में उसका होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि स्मारक होने के कारण पद वाचक नहीं होते। (इसके) उत्तर में कहा जा रहा है—यह दोष होता यदि वाचकत्व ध्वनि-व्यवहार में प्रयोजक होता। किन्तु ऐसा नहीं है। उसकी व्यवस्था तो व्यञ्जकत्व के द्वारा होती है। दूसरी बात यह है कि शरीरों के समान काव्यों की भी चारुत्वप्रतीति विशेष प्रकार के अवयवसंस्थान से घटित समुदाय के द्वारा ही यद्यपि सिद्ध होती है तथापि अन्वय-व्यतिरेक से भागों में कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार व्यञ्जकत्व के द्वारा व्यवस्थित पदों का ध्वनिव्यवहार व्यवस्थित नहीं है।

लोचन

नन्विति। समुदाय एव ध्वनिरित्यत्र पक्षे चोद्यमेतत्। तद्भावश्चेति। काव्यविशेषत्वमित्यर्थः। अवाचकत्वादिति यदुक्तं सोऽयमप्रयोजको हेतुरिति छलेन तावदर्शयति—स्यादेष दोष इति। एवं छलेन परिहृत्य वस्तुवृत्तेनापि परिहरति—किंचेति। यदि परो ब्रूयात्—न मया अवाचकत्वं ध्वनिव्यवहारे हेतूकृतं किं तूक्तं काव्यं ध्वनिः। काव्यं चानाकाङ्क्षप्रतिपत्तिकारि वाक्यं न पदमिति तत्राह—सत्यमेवं तथापि पदं न

'ननु' इति। समुदाय में ही ध्वनि होती है इस पक्ष मे यह प्रश्न उठता है। 'तद्भाव' इति। अर्थात् काव्यविशेषत्व। 'अवाचक होने से' जो यह कहा यह अप्रयोजक हेतु है यह छल से दिखलाते हैं—'यह दोष होता' इत्यादि। इस प्रकार छल से परिहार करके वस्तुवृत्त से भी परिहार कर रहे हैं—'किञ्च'—यदि दूसरा कहे कि 'मैंने अवाचकत्व को ध्वनि के अभाव मे हेतु नहीं बनाया किन्तु यह कहा है कि काव्य ध्वनि है और काव्य आकांक्षारहित प्रतिपत्ति करानेवाला वाक्य होता है पद नहीं' इस विषय में कहते हैं—यह सच है, तथापि हमलोगों ने यह नहीं कहा

## लोचन

ध्वनिरित्यस्माभिरुक्तम्। अपि तु समुदाय एव, तथा च पदप्रकाशो ध्वनिरिति प्रकाश-पदेनोक्तम्। ननु पदस्य तत्र तथाविधं सामर्थ्यमिति कुतोऽखण्ड एव प्रतीतिक्रम इत्याशङ्क्याह काव्यानामिति। उक्तं हि प्राग्विवेककाले विभागोपदेश इति।

कि पद ध्वनि है। अपितु समुदाय ही ( ध्वनि है। ) इसीलिये 'ध्वनि पदप्रकाश होता है' यह प्रकाश शब्द के द्वारा कहा गया है। 'यदि वहाँ पर पद का इस प्रकार का सामर्थ्य है तो अखण्ड प्रतीतिक्रम किस प्रकार होगा ?' यह शङ्का करके कहते हैं—'काव्यों का' यह। निःसन्देह पहले ही कहा गया है कि विवेककाल मे विभाग का उपदेश होता है।

## तारावती

( प्रश्न ) आपने यह बतलाया है कि वाचक, वाच्य और व्यङ्ग्य के समुदाय को ध्वनि कहते है। यह एक विशेष प्रकार का काव्य होता है। काव्य एक विशेष प्रकार के शब्दों के समूह को कहते हैं जो विशेष प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति करानेवाला होता है। दूसरी ओर आप कह रहे हैं कि ध्वनि शब्द के द्वारा प्रकाशित होती है। यदि ध्वनि का शब्द के द्वारा प्रकाशित होना मान लिया जावे तो शब्दसमूह के द्वारा सत्ता मे आनेवाला काव्यत्व ध्वनि मे किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? पद केवल स्मारक होते हैं वाचक नहीं होते। फिर ध्वनि का पदप्रकाश्यत्व किस प्रकार सङ्गत हो सकता है ? यह प्रश्न इस पक्ष को मानकर किया गया है कि ध्वनि समुदाय को कहते हैं। पहले ध्वनि के अनेक अर्थ बतलाये थे और यह सिद्धान्तित किया था कि ध्वनि सभी के समूह को कहते हैं। ( उत्तर ) सिद्धान्ती ने यहाँ पर दो उत्तर दिये है—एक तो पूर्वपक्षी को निरुत्तर करने के लिये उसकी बात काटने के मन्तव्य से छलपूर्वक दिया गया है जिससे सिद्धान्त की बात छिपा ली गई है। प्रश्नकर्ता के प्रश्न का साराश यह था कि ध्वनि पद के द्वारा इसलिये प्रतीत नहीं हो सकती कि पद वाचक नहीं होते। ( सिद्धान्ततः वाक्यस्फोट ही मुख्य होता है। जिस प्रकार शब्द मे प्रत्येक अक्षर का कोई अर्थ नहीं होता उसी प्रकार वाक्य मे प्रत्येक शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। ) वैय्याकरणों का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार 'घट' शब्द मे 'घ' का पृथक् कोई अर्थ नहीं है उसी प्रकार 'घटो भवति' में 'घट' शब्द का भी कोई अर्थ नहीं है। सम्पूर्ण वाक्य का ही अर्थ होता है किन्तु समस्त वाक्यों का अर्थ बतला सकना असंभव है इसीलिये वाक्यगत पदों की कल्पना कर ली जाती है और पदों में भी वर्णों की कल्पना कर ली जाती है। यही बात वैय्याकरण-भूषणसार की निम्नलिखित कारिका मे कही गई है :—

तारावती

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

अर्थात् पद में वर्ण नहीं होते जैसे 'ए' 'ओ' इत्यादि वर्णों में 'अ + इ' 'अ + उ' इत्यादि अवयव पारमार्थिक नहीं होते । वाक्य से पदों का कोई भी पृथक् विवेक ( भेद ) नहीं होता ।

वैय्याकरण 'भवति' इत्यादि शब्दों मे 'भू + अ + ति' इत्यादि विभाजन कल्पित उपायमात्र मानते हैं :—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

शिक्षण प्राप्त करनेवाले बालकों के लिये व्याकरण के उपाय लालनमात्र हैं । ( जैसे खेल मे बालक ) असत्य मार्ग पर स्थित होकर फिर सत्य की आकांक्षा करता है ।'

उत्तरपक्षी का कहना है कि यह सच है कि पद अवाचक होते हैं किन्तु ध्वनि का प्रयोजक वाचकत्व होता भी तो नहीं । ध्वनि का प्रयोजक तो व्यञ्जकत्व होता है । यदि व्यञ्जकता विद्यमान है तो पद वाचक हों या न हों ध्वनि तो हो ही सकती है । इस प्रकार छलपूर्वक उत्तर देकर वस्तुवृत्त के द्वारा अर्थात् वास्तविकता को प्रकट करते हुये उत्तर दिया जा रहा है । उक्त उत्तर पर प्रश्नकर्ता कह सकता है कि मेरा आशय यह नहीं है कि पद इसलिये ध्वनित नहीं हो सकता कि वह वाचक नही होता किन्तु मेरा कहने का आशय यह है कि ध्वनि काव्य को कहते हैं । काव्य एक ऐसे पदसमूहरूप वाक्य को कहते है जिसमे आकांक्षा विद्यमान न रह जावे अर्थात् जिससे पूर्ण अर्थ की प्रतीति हो सके । पद अकेला काव्य नहीं हो सकता। (प्रश्न) जब पद काव्य नहीं हो सकता तब पद ध्वनि कैसे हो सकता है ? ( उत्तर ) मैं यह नहीं कहता कि पद ध्वनि या काव्य होता है । मैं ध्वनि तो समुदाय को ही मानता हूँ । किन्तु मेरा कहना यह है कि ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित हुआ करती है । इसीलिये प्रकाश शब्द का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है । समुदाय में होते हुये भी ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित तो हो ही सकती है। ( प्रश्न ) जब ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित हो सकती है तो शेष काव्य वाक्य से उसका क्या सम्बन्ध रह जाता है ? उसी पद को काव्य क्यो नहीं मान लिया जाता ? अखण्ड वाक्य को काव्य क्यों कहा जाता है ? ( उत्तर ) यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि काव्य एक शरीर है । शब्द इत्यादि उसके अङ्ग होते हैं । जिस प्रकार यद्यपि शरीर में चारुता की प्रतीति विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त समुदाय के द्वारा

ध्वन्यालोकः

अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टश्रुतिर्गुणम्॥
पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।
तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता॥
विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥

इति परिकरश्लोकाः।

(अनु०) श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों मे अनिष्ट का श्रवण जिस प्रकार दुष्टता का सम्पादन स्पष्टरूप में करता है उसी प्रकार इष्टस्मरण गुण का सम्पादन कर सकता है॥ १॥

'इस कारण पदों के स्मारक होते हुये भी केवल पद से प्रकाशित होनेवाली ध्वनि के सभी भेदों मे रमणीयता होती है॥ २॥

'जिस प्रकार विच्छित्ति के द्वारा शोभित होनेवाले एक ही भूषण से कोई कामिनी शोभित होने लगती है उसी प्रकार पद के द्वारा द्योत्य ध्वनि से अच्छे कवि की वाणी शोभित होती है॥ ३॥ ये परिकर श्लोक है।

लोचन

ननु भागेषु पदरूपेषु कथं सा चारुत्वप्रतीतिरारोपयितुं शक्या? तानि हि स्मारकाण्येव। ततः किम्? मनोहारिव्यङ्ग्यार्थस्मारकत्वाद्धि चारुत्वप्रतीतिनिबन्धनत्वं केन वार्यते? यथा श्रुतिदुष्टानां पेलवादिपदानामसभ्यपेलाद्यर्थं प्रति न वाचकत्वम्। अपि तु स्मारकत्वम्। तद्वशाच्च चारुस्वरूपं काव्यं श्रुतिदुष्टम्। तच्च श्रुतिदुष्टत्वमन्वय-व्यतिरेकाभ्यां भागेषु व्यवस्थाप्यते तथा प्रकृतेऽपीति तदाह—अनिष्टस्येति। अनिष्टार्थ-स्मारकस्येत्यर्थः। दुष्टतामित्यचारुत्वम्। गुणमिति चारुत्वम्। एवं दृष्टान्तमभिधाय पादत्रयेण तुर्येण दार्ष्टान्तिकार्थ उक्तः। अधुनोपसंहरति—पदानामिति। यत एवमिष्ट-

(प्रश्न) पदरूप भागों मे उस चारुत्वप्रतीति का आरोप कैसे किया जा सकता है? वे तो स्मारक ही होते हैं (उत्तर) इससे क्या? मनोहर व्यङ्ग्यार्थ को स्मरण कराने के कारण निःसन्देह वे चारुत्वप्रतीति में निबन्धन होते हैं इसको कौन रोक सकता है? जैसे श्रुतिदुष्ट 'पेलव' इत्यादि पदों मे असभ्य 'पेल' इत्यादि अर्थ के प्रति वाचकत्व नहीं होता। अपितु स्मारकत्व ही होता है। उसके वश से चारुस्वरूप काव्य श्रुतिदुष्ट होता है और वह श्रुतिदुष्टत्व अन्वय-व्यतिरेक से भागों मे स्थापित किया जाता है वैसा ही प्रकृत मे भी है। वही कहते है—'अनिष्ट का' अर्थात् अनिष्ट अर्थ के स्मारक का। दुष्टता का अर्थ है अचारुत्व। गुण का अर्थ है चारुत्व। तीन पादो से कहकर चौथे से दार्ष्टान्तिक अर्थ कहा है। अब उपसंहार

## लोचन

स्मृतिश्चारुत्वमावहति तेन हेतुना सर्वेषु प्रकारेषु निरूपितस्य पदमात्रावभासिनोऽपि पदप्रकाशस्यापि ध्वने रम्यतास्ति स्मारकत्वेऽपि पदानामिति समन्वयः। अपिशब्दः काकाक्षिन्यायेनोभयत्रापि सम्बध्यते। अधुना चारुत्वप्रतीतौ पदानामन्वयव्यतिरेकौ दर्शयति—विच्छित्तीति ॥ १ ॥

करते हैं—'पदों का' यह। क्योंकि इस प्रकार की इष्ट स्मृति चारुत्व को धारण करती है। इस हेतु से सभी प्रकारों मे निरूपित तथा पदमात्र से अवभासित होनेवाले भी अर्थात् पदप्रकाश्य भी ध्वनि की रम्यता पदों के स्मारक होते हुये भी होती है, यह समन्वय है। अपिशब्द कौवे की आँख के न्याय से दोनों ओर सम्बद्ध हो जाता है। इस समय चारुत्वप्रतीति मे पद के अन्वय-व्यतिरेक को दिखलाते हैं—'विच्छित्ति' इत्यादि ॥ १ ॥

## तारावती

ही हो सकती है तथापि शरीर मे कोई एक विशेष अवयव ऐसा होता है जिसके होने से चारुता की प्रतीति होती है और न होने से चारुता की प्रतीति नहीं होती। अतएव उस व्यक्ति के सौन्दर्य की कल्पना उसी अंग में कर ली जाती है। उसी प्रकार काव्य मे भी चारुता सम्पूर्ण वाक्य मे ही होती है किन्तु उसमे हेतु किसी एक पद की उपस्थिति ही हो जाती है। अतएव व्यञ्जकत्व के द्वारा पदों के लिये भी ध्वनि शब्द का व्यवहार किया जा सकता है। उसमें कोई विरोध नहीं आता।

(प्रश्न) पदरूप भागों में उस चारुता की प्रतीति का आरोप हो ही किस प्रकार सकता है? पद तो केवल अर्थ के स्मारक होते हैं। (उत्तर) पद अर्थ के स्मारक होते हैं इससे क्या हुआ? वे मनोहर व्यंग्यार्थ का स्मरण कराते हैं। अतएव वे चारुताप्रतीति मे कारण होते हैं इस बात मे किस को आपत्ति हो सकती है? उदाहरण के लिये श्रुतिदुष्ट पेलव शब्द को लीजिये। यह शब्द कोमल अर्थ का वाचक है, असभ्य पेल (वृषण) का वाचक नहीं है, केवल उस अर्थ का स्मरण करा देता है। इसी स्मरण करा देने के कारण ही सुन्दर स्वरूपवाला यह काव्य श्रुतिदुष्ट दोष से दूषित हो गया है। जहाँ पर इस प्रकार के असभ्य अर्थ के स्मारक भाग होते हैं वहीं पर श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष होते है, जहाँ पर इस प्रकार के भाग नहीं होते वहाँ ये दोष भी नहीं होते। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष भागों में ही माने जाते है। इसी प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के नियम से ही चारुता की प्रतीति में हेतुता भी भागों मे ही मानी जाती है। यही बात इस परिकर श्लोक मे कही गई है—

ध्वन्यालोकः

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये संघटनायाञ्च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥ २ ॥

(अनु०) 'जोकि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है वह वर्ण पद इत्यादि में वाक्य में संघटना में और प्रबन्ध में भी दीप्त होती है' ॥ २ ॥

तारावती

'जिस प्रकार श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों में अनिष्ट का श्रवण दुष्टता का आपादन करता है उसी प्रकार दुष्ट का स्मरण गुण का स्पष्ट रूप मे आपादन करता है ।'

'अनिष्ट का श्रवण' शब्द में अनिष्ट शब्द का अर्थ है अनिष्ट का स्मरण करानेवाला शब्द । दुष्टता का अर्थ है अचारुता । गुण का अर्थ है चारुता । इस प्रकार तीन चरणों में दृष्टान्त कहा और चौथे चरण में दार्ष्टान्तिक कह दिया । अब दूसरे श्लोक में उपसंहार कर रहे हैं—

'अतएव यद्यपि पद स्मारक होते हैं तथापि केवल पद से प्रकाशित होनेवाले ध्वनि के समस्त उपभेदों में रमणीयता विद्यमान रहती ही है ।'

क्योंकि इष्ट का स्मरण चारुता का आवाहन करनेवाला होता है इसी कारण केवल पद के द्वारा अवभासित होनेवाले भी ध्वनि के उन समस्त उपभेदों में जिनका निरूपण पहले किया जा चुका है रमणीयता विद्यमान रहती ही है यद्यपि पद होते स्मारक ही हैं । इस कारिका का समन्वय इसी रूप में करना चाहिये । कारिका में आया हुआ अपि शब्द उसी प्रकार दोनों ओर लग जाता है जिस प्रकार कौवे की दोनों आँखों में एक ही पुतली घूमती रहती है । इस प्रकार 'अपि' शब्द का 'स्मारकत्व' के साथ भी अन्वय होता है और पदमात्रावभासिनः के साथ भी । अब तृतीय श्लोक में चारुत्वप्रतीति में पद का अन्वय-व्यतिरेक दिखलाया जा रहा है—'जैसे किसी कामिनी का कोई एक ही आभूषण ऐसा होता है जो कि सभी से पृथग्भूत होकर शोभा का परिपोष किया करता है और उससे कामिनी का सारा शरीर जगमगा उठता है किन्तु उस भूषण की शोभा सर्वोपरि अवगत होती रहती है । उसी प्रकार कवि की भारती में भी कोई एक पद ही इतना अच्छा होता है कि वह विच्छित्तिविशेष का परिपोष करनेवाले किसी ऐसे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है जो कि चमत्कारपर्यवसायी होने के कारण ध्वनि का रूप धारण कर लेता है और उससे कवि की वाणी एकदम जगमगा उठती है ॥१॥

ऊपर प्रथम कारिका की व्याख्या की गई । इस कारिका से अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उपभेदों और विवक्षितवाच्य के संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के उपभेदों की व्यञ्जकता का निरूपण कर दिया गया कि ये सब ध्वनियाँ पद और वाक्य से

## लोचन

एवं कारिकां व्याख्याय तदसङ्गृहीतमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं प्रपञ्चयितुमाह—यस्त्विति। तुशब्दः पूर्वभेदेभ्योऽस्य विशेषद्योतकः। वर्णसमुदायश्च पदम्। तत्समुदायो वाक्यम्। सङ्घटना पदगता वाक्यगता च। सङ्घटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः इत्यभिप्रायेण वर्णादीनां यथाक्रममुपादानम्। आदिशब्देन पदैकदेशपदद्वितयादीनां ग्रहणम्। सप्तम्या निमित्तत्वमुक्तम्। दीप्यतेऽवभासते सकलकाव्यावभासकतयेति पूर्ववत्काव्यविशेषत्वं समर्पितम् ॥ २ ॥

इस प्रकार कारिका की व्याख्या करके उसके द्वारा असंगृहीत असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य को प्रपञ्चित करने के लिये कहते हैं—यस्त्विति। 'तु' शब्द पूर्वभेदों से इसकी विशेषता का द्योतक है। वर्णसमुदाय को पद कहते हैं, उसके समुदाय को वाक्य कहते हैं। सङ्घटना पदगत भी होती है और वाक्यगत भी। सङ्घटित वाक्य-समुदाय को प्रबन्ध कहते हैं इस अभिप्राय से वर्णों का यथाक्रम उपादान किया गया है। आदि शब्द से पद के एक देश दो पद इत्यादि का ग्रहण होता है। सप्तमी से निमित्तत्व कहा गया है। सकल काव्य के अवभासक के रूप में दीप्त किया जाता है अर्थात् अवभासित किया जाता है; इस प्रकार पूर्ववत् काव्य-विशेष का समर्थन कर दिया गया॥ २॥

## तारावती

अभिव्यक्त होती हैं। अब ध्वनि के उपभेदों मे शेष रह जाता है, असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उपभेद। उसके व्यञ्जक तत्त्वों को दूसरी कारिका में विस्तारपूर्वक बतलाया जा रहा है—

'जो कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि भेद है वह तो वर्ण और पद इत्यादि मे तथा वाक्य में, संघटना मे और प्रबन्ध में भी दीप्त होता है।

यहाँ पर तो का अर्थ यह है कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य से भिन्न जिन ध्वनि-भेदों का पहली कारिका मे उल्लेख किया गया था उन भेदों से इसमे कुछ विलक्षणता होती है। यहाँ पर व्यञ्जकतत्त्वों का क्रम एक विशेष मन्तव्य से रक्खा गया है—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का सबसे छोटा व्यञ्जक वर्ण होता है। इसीलिये वर्ण का उल्लेख सबसे पहले किया गया है। वर्णसमुदाय को पद कहते हैं, पद-समुदाय को वाक्य कहते हैं। अतएव वर्ण के बाद पद और पद के बाद वाक्य का उल्लेख किया गया है। संघटना दो प्रकार की होती है पदगत और वाक्य-गत। अतएव संघटना का उसके बाद उल्लेख है। संघटित वाक्यसमूह ही प्रबन्ध कहलाता है। इसी अभिप्राय से वर्ण इत्यादि का यथाक्रम उल्लेख हुआ है। 'पद इत्यादि में' इत्यादि का आशय यह है कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की

ध्वन्यालोकः

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद् द्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते—

शषौ सरेफसंयोगो टकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः॥ ३॥
त एव तु निवेश्यन्ते वीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः॥ ४॥

श्लोकद्वयेनान्वय-व्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति।

(अनु०) उसमें वर्णों के अनर्थक होने के कारण द्योतकता असम्भव है यह शङ्का करके कहा जा रहा है—

'अधिक संख्या में 'श' और 'ष' 'रेफ' के अधिक संयोग से युक्त वर्ण, टकार की अधिकता ये शृङ्गार में विरोधी होते हैं। अतएव वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं।'॥ ३॥

वे ही जब बीभत्स इत्यादि रस मे निविष्ट किये जाते हैं तब उसको दीप्त करते ही हैं। अतः वर्ण रस के प्रकट करनेवाले होते हैं॥ ४॥

दो श्लोकों के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से वर्णों की द्योतकता दिखलाई गई है।

लोचन

भूयसेति प्रत्येकमभिसंबध्यते। तेन शकारो भूयसेत्यादि व्याख्यातव्यम्। रेफप्रधान संयोगः कर्हर्द्र इत्यादिः।

'भूयसा' इसका अभिसम्बन्ध प्रत्येक के साथ होता है। इसलिये 'शकार अधिकता से' इत्यादि व्याख्या की जानी चाहिये। रेफप्रधान संयोग—कर्ह हर्द्र इत्यादि।

तारावती

अभिव्यक्ति पद के एक देश दो पद इत्यादि से भी होती है। 'पदादिषु' में सप्तमी निमित्त में है। अर्थात् वर्ण पद इत्यादि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि मे निमित्त होते हैं। 'दीप्यते' का अर्थ है अवभासित होता है। अवभासित कहने का आशय यह है कि वर्ण इत्यादि एक देश मे स्थित होकर नवीन विच्छित्ति के साथ ध्वनि का प्रत्यायन कराते हुये समस्त काव्य को अवभासित कर देते हैं। इस प्रकार पहले जैसे पद की अवभासकता के द्वारा काव्य विशेष का समर्थन किया गया था उसी प्रकार यहाँ पर वर्ण इत्यादि की अवभासकता का समर्थन हो गया॥ २॥

अब यहाँ पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि वर्ण तो सर्वथा निरर्थक होते हैं वे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के द्योतक किस प्रकार हो सकते हैं? इसका उत्तर निम्नलिखित दो कारिकाओं में दिया जा रहा है—

## लोचन

विरोधिन इति । परुषावृत्तिविरोधिनी शृङ्गारस्य यतस्ते वर्णा भूयसा प्रयुज्यमाना न रसांश्च्योतन्ति स्रवन्ति । यदि वा तेन शृङ्गारविरोधित्वेन हेतुना वर्णा शषादयो रसाच्छृङ्गाराच्च्यवन्ते तं न व्यञ्जयन्तीति व्यतिरेक उक्तः । अन्वयमाह—त एव त्विति । शादयः । तमिति वीभत्सादिकं रसम् । दीपयन्ति द्योतयन्ति । कारिकाद्वयं तात्पर्येण व्याचष्टे—श्लोकद्वयेनेति । यथासंख्यप्रसङ्गपरिहारार्थं श्लोकाभ्यामिति न कृतम् । पूर्वश्लोकेन हि व्यतिरेक उक्तो द्वितीयेनान्वयः । अस्मिन् विषये शृङ्गार-लक्षणे शषादिप्रयोगः सुकवित्वमभिवाञ्छता न कर्तव्य इत्येवं फलत्वादुपदेशस्य कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेक उक्तः । न च सर्वथा न कर्तव्योऽपि तु वीभत्सादौ कर्तव्य एवेति पश्चादन्वयः । वृत्तिकारेण त्वन्वयपूर्वको व्यतिरेक इति शैलीमनुसर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः ।

'विरोधी का' यह । परुषा वृत्ति शृङ्गार की विरोधिनी है । क्योंकि वे वर्ण अधिकता से प्रयोग किये हुये रस को स्रवित नहीं करते । अथवा शृङ्गारविरोधित्व हेतु से श ष इत्यादि वर्ण शृङ्गार से च्युत हो जाते हैं अर्थात् उसको व्यक्त नहीं करते । यह व्यतिरेक कहा गया है । अन्वय कहते हैं—'वे ही तो' यह । 'श' इत्यादि । 'उसको' अर्थात् वीभत्स इत्यादि रस को । 'दीप्त करते है' अर्थात् द्योतित करते है । दो कारिकाओं की तात्पर्य के द्वारा व्याख्या करते हैं—'दो श्लोकों के द्वारा' यह । यथासंख्या के प्रसङ्ग के परिहार के लिये 'श्लोकाभ्याम्' यह नहीं लिखा । पूर्वश्लोक से व्यतिरेक कहा द्वितीय से अन्वय । शृङ्गार लक्षण इस विषय मे ष श इत्यादि प्रयोग सुकवित्व की इच्छा करनेवाले के द्वारा नहीं किया जाना चाहिये । उपदेश के इसी फल के कारण कारिकाकार ने पहले व्यति-रेक कहा । वह सर्वथा नहीं किया जाना चाहिये यह नहीं अपितु वीभत्स इत्यादि मे किया ही जाना चाहिये यह बाद मे अन्वय ( कहा गया है ) । वृत्तिकार ने तो अन्वयपूर्वक व्यतिरेक इस शैली का अनुसरण करने के लिये पहले अन्वय का उपादान किया गया ।

## तारावती

'अधिक संख्या मे श और ष का प्रयोग, रेफ के संयोग से युक्त वर्ण, ढकार ये शृंगार रस मे विरोधी होते हैं । अतएव वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

वे ही जब वीभत्स इत्यादि रस मे निविष्ट किये जाते हैं तब उसको दीप्त ही करते है । अतएव वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं ॥ ४ ॥

इन दो कारिका वाक्यों में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वर्णों की द्योतकता

## तारावती

सिद्ध की गई है। 'भूयसा' ( अधिकता से ) इस शब्द का अन्वय प्रत्येक के साथ हो जाता है। अर्थात् अधिकता से श का प्रयोग, अधिकता से ष का प्रयोग इत्यादि वर्ण शृंगार रस को प्रवाहित करनेवाले नहीं होते। यही व्याख्या करनी चाहिये। ( दीधितिकार ने 'सरेफसंयोगौ' यह पाठ मान कर र के संयोग के साथ श और ष शृंगाररसोपघातक होते हैं यह अर्थ किया है। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं हैं। क्योंकि रेफ का बहुलता से किसी वर्ण के साथ संयोग शृंगार का उपघातक होता ही है। ) 'सरेफसंयोग' का अर्थ है रेफप्रधान संयोग जैसे र्क र्ह र्द्र इत्यादि। ये वर्ण शृंगार रस के विरोधी हैं कहने का आशय यही है कि परुषा वृत्ति शृंगाररस की विरोधिनी होती है। ( भट्टोद्भट ने परुषा वृत्ति की परिभाषा ही यह की है कि 'श और ष, रेफ संयोग तथा टवर्ग से संयुक्त की हुई वृत्ति को परुषावृत्ति कहते हैं।' ) कारिका में रसच्युत् शब्द का प्रयोग किया गया है। इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—( १ ) रस को च्युत या स्रवित करनेवाले। क्योंकि बाहुल्य से श इत्यादि का प्रयोग शृंगार रस को स्रवित नहीं करता अतः सिद्ध होता है कि वर्ण रस को प्रवाहित करनेवाले होते हैं। अथवा ( २ ) उस शृंगारविरोधी हेतु से श ष इत्यादि वर्ण शृंगार रस से च्युत हो जाते हैं अर्थात् उसे अभिव्यक्त नहीं करते इससे सिद्ध होता है कि वर्ण रस के अभिव्यंजन में निमित्त होते हैं। तीसरी कारिका में व्यतिरेक के द्वारा साध्य सिद्धि की गई है। व्यतिरेकी हेतु का स्वरूप यह होगा—'जहाँ पर रस के अविरोधी वर्णों का अभाव होता है ( और विरोधी वर्णों की सत्ता होती है ) वहाँ पर रस का भी अभाव होता है। जैसे शृंगार रस के विरोधी श इत्यादि के बहुल प्रयोग से रस च्युत या छटित नहीं होता अथवा वह काव्य रस से च्युत हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण रस के व्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार तीसरी कारिका मे व्यतिरेकी हेतु दिखलाकर चौथी कारिका में अन्वय दिखलाया जा रहा है—अन्वयव्याप्ति का रूप यह है—जहाँ रस के अविरोधी वर्ण होते हैं वहाँ रस च्युत या छटित होता है। जैसे वीभत्स इत्यादि कठोर रसों के अविरोधी वर्ण वही श इत्यादि जहाँ बाहुल्य के साथ आते हैं वहाँ वीभत्स इत्यादि रस अभिव्यक्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण रस के व्यञ्जक होते हैं। 'वे ही वर्ण' अर्थात् 'श' इत्यादि। 'उसको' अर्थात् वीभत्स इत्यादि को। 'दीप्त करते हैं' अर्थात् द्योतित करते हैं।

वृत्तिकार ने उक्त कारिकाओं का तात्पर्य इस प्रकार लिखा है कि—'श्लोकद्वय से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वर्णों की द्योतकता दिखलाई गई है।' यहाँ पर वृत्तिकार ने 'दो श्लोकों के द्वारा' न लिखकर 'श्लोकद्वय के द्वारा' यह लिखा है।

## लोचन

एतदुक्तं भवति—यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिसम्पदेव रसास्वादे निबन्धनम्। तथापि विशिष्टश्रुतिकशब्दसामर्थ्यमाणास्ते विभावादयस्तथा भवन्तीति स्वसंवित्तिसिद्धमदः। तेन वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणार्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैकग्राह्यो मृदुपुरुषात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकार्येव। अत एव च सहकारितामेवाभिधातुं निमित्तसप्तमी कृता वर्णपदादिष्विति। न तु वर्णैरेव रसाभिव्यक्तिः, विभावादिसंयोगाद्धि रसनिष्पत्तिरित्युक्तं बहुशः। श्रोत्रग्राह्योऽपि च स्वभावो रसनिष्यन्दे व्याप्रियत एव, अपदगीतध्वनिवत् पुष्करवाद्यनियमितविशिष्टजातिकरणघ्राणाद्यनुकरणशब्दवच्च।

यह बात कही हुई है—यद्यपि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव की प्रतीति की सम्पत्ति ही रसास्वादन में हेतु है। तथापि यह तो स्वसंवेदना सिद्ध है कि विशिष्ट श्रुतिवाले शब्दों से समर्थित किये जाते हुये वे विभाव इत्यादि वैसे हो जाते हैं। इससे वर्णों का भी सुनने के समय मे उपलक्षित किये जाते हुये अर्थ की बिना ही अपेक्षा किये हुये भी केवल श्रोत्र से ही ग्रहण करने योग्य मृदुपुरुष इत्यादि आत्मावाला स्वभाव रसास्वाद मे सहकारी ही होता है। और इसीलिये सहकारिता को कहने के लिये 'वर्ण पद इत्यादि में' इसमें निमित्त सप्तमी की गई है। वर्णों से ही रसाभिव्यक्ति नहीं होती, विभाव इत्यादि के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है यह बहुत बार कहा जा चुका। केवल श्रोत्र के द्वारा ग्राह्य भी स्वभाव रसास्वादन को व्याप्त कर ही लेता है जैसे अपद गीतध्वनि और पुष्कर वाद्य से नियमित विशिष्ट जाति करण घ्राण इत्यादि के अनुकरण शब्द।

## तारावती

इसका कारण यह है कि यदि 'दो श्लोको से अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा' यह लिखा होता तो इसका अर्थ यह हो सकता था कि प्रथम श्लोक में अन्वय दिखलाया गया है और दूसरे श्लोक मे व्यतिरेक। इसीलिये 'श्लोकद्वय' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे उक्त दोष नहीं आता। वास्तविकता इससे विपरीत है। वस्तुतः पहली कारिका मे व्यतिरेक बतलाया गया है और दूसरी में अन्वय। परम्परानुसार पहले अन्वय दिखला कर ही व्यतिरेक दिखलाया जाना चाहिये। किन्तु कारिकाकार ने यह परिवर्तन इसलिये कर दिया है कि कारिका लिखने का प्रयोजन यह उपदेश देना है कि यदि सुकवि बनने की इच्छा हो तो इस शृंगार रस के क्षेत्र मे श ष इत्यादि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यही उपदेश देने के लिये कारिकाकार ने पहले व्यतिरेक बतलाया है। फिर अन्वय यह दिखलाने के लिये बतलाया है कि इस कथन का आशय यह नहीं है कि श ष इत्यादि का प्रयोग कहीं करना

तारावती

ही नहीं चाहिये। अपितु वीभत्स इत्यादि में इन वर्णों का प्रयोग करना ही चाहिये। वृत्तिकार ने स्वाभाविक शैली का अनुसरण करने के लिये पहले अन्वय शब्द का प्रयोग किया और बाद में व्यतिरेक का।

यहाँ पर कहने का आशय यह है कि यद्यपि रसास्वाद में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव की प्रतीति ही कारण होती है तथापि यह स्वसंवेदन सिद्ध ही है कि विशेष प्रकार की श्रुतिवाले शब्दों से जब विभाव इत्यादि का समर्थन होता है तब वे काव्य-रस के विशेष रूप से पोषक होते हैं। यही कारण है कि जब वर्ण श्रवण-गोचर होते हैं उस समय वर्ण तो उपलक्षित हो जाते हैं किन्तु उनका अर्थ शीघ्र ज्ञात नहीं होता। उस समय जिन कोमल या कठोर वर्णों का कानों से प्रत्यक्ष किया जाता है वे बिना ही अर्थ की अपेक्षा किये हुये रसास्वादन के सहकारी हो जाते हैं। अर्थात् यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक स्थान पर अमुक रस है। इसी सहकारिता के अर्थ को प्रकट करने के लिये कारिका में निमित्त सप्तमी का प्रयोग किया गया है—'वर्णपदादिषु'। आशय यह है कि वर्णों से रस-निष्पत्ति नहीं होती, वर्ण तो रस-निष्पत्ति में निमित्त मात्र होते हैं। रस निष्पत्ति के लिये विभावादि संयोग की अपेक्षा होती है यह कई बार बतलाया जा चुका है। किन्तु वर्णों का कोमल या कठोर रूप से अपना भी एक स्वभाव होता है जिसका ग्रहण केवल श्रोत्र से ही होता है। वह स्वभाव भी रस के अभिव्यञ्जन को व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार ऐसे गाने को सुनकर जिसमें पद विद्यमान न हो अथवा ढोल इत्यादि वाद्यों के लिये नियमित विशिष्ट प्रकार के जाति और करण ग्राण इत्यादि के अनुकरण को सुनकर यह प्रतीत हो जाता है कि अमुक गान अमुक रस सम्बन्धी है उसी प्रकार अक्षरों के माधुर्य इत्यादि के आधार पर बिना ही अर्थ जाने इतना मालूम पड़ जाता है कि अमुक पद्य अमुक रस प्रवण है। अतएव वर्णों की अभिव्यञ्जकता सर्वथा अक्षुण्ण है।

[ ऊपर वर्णों की रसाभिव्यञ्जकता सिद्ध करने के लिये संगीत शास्त्र के कुछ उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ पर अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—वर्ण, रस के अभिव्यञ्जक होते हैं, क्योंकि अर्थ इत्यादि इतर तत्त्व की बिना ही अपेक्षा किये हुये रस-प्रत्यायन करा देते हैं, जैसे अपदगीत ध्वनि या पुष्कर वाद्य नियन्त्रित जाति करण ग्राण इत्यादि के अनुकरण शब्द। व्याप्ति यह होगी—जो तत्त्व अर्थ इत्यादि इतर तत्त्व की बिना ही अपेक्षा किये हुये रसप्रत्यायन करा देते हैं वे रस के अभिव्यञ्जक होते हैं। अपदगीत ध्वनि इत्यादि तत्त्व अर्थ इत्यादि इतर तत्त्व की बिना ही अपेक्षा किये हुये रसप्रत्यायन करा देते हैं अतः वे रस के अभिव्यञ्जक

## तारावती

माने जाते हैं, इसी प्रकार वर्ण भी अर्थ इत्यादि इतर तत्त्वों की बिना ही अपेक्षा किये रस का प्रत्यायन करा देते हैं अतः वे भी रसाभिव्यञ्जक होते है ।

संगीत शास्त्र की रचना स्वरों के आधार पर हुई है । स्वर की परिभाषा यह है :—

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥

अर्थात् 'श्रुति के बाद उत्पन्न होनेवाली अनुरणनात्मक जो स्निग्ध ध्वनि होती है और जो बिना किसी अपेक्षा के स्वतः सुननेवाले के चित्त को अनुरञ्जित कर देती है उसे स्वर कहते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि स्वरो का निर्माण श्रुतियों से होता है । श्रुति की परिभाषा यह दी हुई है :—

प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः ।
सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥

'जब हम पहले किसी शब्द को सुनते हैं तब वह केवल ह्रस्व ही सुनाई देता है । इस श्रुतिगोचर होनेवाली ध्वनि को श्रुति कहते हैं, इसका लक्षण है स्वर का अवयव होना ।' एक दूसरे ग्रन्थ मे श्रुति का यह लक्षण दिया हुआ है :—

नित्यं गीतोपयोगित्वमभिज्ञेयत्वमप्युत ।
लक्ष्ये प्रोक्तं सुपर्याप्तं संगीतश्रुतिलक्षणम् ॥

'जो संगीत के लिये नित्य उपयोगी हो और जो प्रतीतिगोचर किये जाने के योग्य हो तथा जिसका निरूपण पर्याप्त रूप मे लक्ष्य की दृष्टि से किया गया हो यह संगीत-श्रुति का लक्षण है ।'

ऊपर की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रथम श्रुतिगोचर होनेवाली ध्वनि को सगीत मे श्रुति कहते हैं । इन श्रुतियों के विभिन्न प्रकार के संयोग से स्वर बनते हैं । श्रुतियाँ तो साधारण ध्वनि हैं, किन्तु जब उनकी अनुरणनात्मक ( प्रतिध्वनि रूप ) आवृत्ति इस रूप मे की जाती है कि उनमे स्निग्धता उत्पन्न हो जाती है तथा श्रोता को अनुरञ्जित करने की शक्ति आ जाती है तब उसे स्वर कहने लगते है । 'स्व' का अर्थ है स्वपद और 'र' का अर्थ है अनुरञ्जन करना । अर्थात् जब श्रुतियो का विभिन्न प्रकार का संयोग अनुरञ्जन योग्य बन जाता है तब उसे स्वर कहते हैं । विभिन्न स्वरों के लिये श्रुतियों की विभिन्न संख्या भी नियत है जो इस प्रकार है :—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः ।

## तारावती

द्वे द्वे निषादगन्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ

'षड्ज मध्यम और पञ्चम में चार-चार श्रुतियाँ होती हैं, निषाद और गान्धार में दो-दो तथा ऋषभ और धैवत मे तीन-तीन श्रुतियाँ होती हैं।' षड्ज और पञ्चम को छोड़कर अन्य स्वर दो-दो प्रकार के होते है । प्राकृत ( कोमल ) और विकृत (वैकृत) । इसी दृष्टि से लोचनकार ने लिखा है कि वर्णों का भी कोमल कठोरात्मक एक विशेष प्रकार का स्वभाव होता है जो अर्थ की अपेक्षा नहीं करता तथा उसको श्रुति समय के द्वारा लक्षित किया जा सकता है। ये वर्ण रसास्वादन मे सहकारी होते ही हैं। वर्ण संगीतशास्त्र में चार प्रकार के माने जाते हैं—स्थायी, आरोही, अवरोही, और संचारी । आशय यह है कि जब कोई व्यक्ति संगीत स्वरों का ही प्रयोग करता है और उसमें स्पष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं होता उस समय भी काकु और ध्वनि के आश्रय से हर्ष, खेद, शोक, निर्वेद इत्यादि की प्रतीति हो ही जाती है। इसी प्रकार विभिन्न वर्णों के प्रयोग से भी रसाभिव्यक्ति होती है।

लोचनकार ने दूसरे उदाहरण दिये हैं जाति करण और ग्राम के। जाति संगीत की कोटियों को कहते हैं जिनका विस्तृत विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में आतोद्य विधान के प्रकरण मे किया गया है। संगीत मे इस प्रकार का क्रम माना जाता है—श्रुतियो से स्वर, स्वर से ग्राम और ग्राम से मूर्छनाओं की उत्पत्ति होती है। ग्राम की परिभाषा यह है :—

यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता वसन्ति हि ।
तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते ॥

'जैसे जब अनेक कुटुम्बियों के मिलकर रहने को ग्राम कहते हैं उसी प्रकार स्वर-समूह को ग्राम कहा जाता है ।' इनकी संख्या तीन होती है ।—

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनाश्चैकविंशति ।

एक स्वर से आरम्भ करके क्रमशः सातवें स्वर तक आरोह करने के पश्चात् उसी मार्ग से अवरोह करने को मूर्छना कहते हैं । हर एक ग्राम में हर एक स्वर से ग्रारम्भ करने पर एक ग्राम मे सात मूर्छनायें सम्पन्न हो जाती है । तीन ग्रामों के आधार पर इन मूर्छनाओं की संख्या २१ मानी जाती है । वादी और संवादी मे विभिन्नता होने पर भी एक ही मूर्छना से उत्पन्न रागों में कई लक्षण एक ही प्रकार के होते हैं । उन लक्षणों में न्यासस्वर प्रधान है । सप्तस्वरों में किसी भी एक स्वर को न्यास रूप में ग्रहण करनेवाली जाति की उत्पत्ति हो सकती है । जिस जाति में षड्जन्यास स्वर होता है उसका नाम षाड्जी है। इसी प्रकार आर्षभी गान्धारी इत्यादि जातियाँ बन जाती है । इनका विस्तृत विवेचन संगीत के ग्रन्थों मे किया

तारावती

गया है। जब इनका नियमन वाद्यों के द्वारा होता है तब पद और अर्थ न होते हुये भी रसाभिव्यक्ति हो जाती है।

संगीतज्ञों मे आज भरत का जाति-ज्ञापन प्रचलित नहीं है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी मूर्छना पद्धति ने भारतीय संगीत को निश्चयात्मक रूप से प्रभावित किया होगा। भरत वर्णित श्रुति स्वर ग्राम और मूर्छना से जातियों का निकट का सम्बन्ध है। भरत ने १८ जातियों का विवेचन तो किया है किन्तु नाट्यशास्त्र में जाति का स्वरूप तथा उसकी व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या कहीं नहीं दी गई है। मतङ्ग कृत बृहद्देशीय में जाति शब्द की तीन प्रकार की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या दी हुई है। (१) श्रुति और ग्रहादि के समूह से जो जन्म पाती है वह जाति है। (२) सब रागों के जन्म का जो हेतु है उसे जाति कहते हैं। (३) रस की प्रतीति या जन्म जिसके द्वारा होता है उसे जाति कहते हैं। मूर्छना और जाति में अन्तर यह है कि मूर्छना स्वरसंघ का ढाँचा मात्र होती हैं किन्तु जाति से राग तथा रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिना ही पद पदार्थ की प्रतीति के जाति रसनिष्पत्ति में कारण होती है।

जिस प्रकार वाचिक अभिनय में संगीत का उपयोग होता है उसी प्रकार आंगिक अभिनय मे करण और अंगहार का प्रयोग किया जाता है। विभिन्न रसों के अनुकूल अङ्गों की स्थापना करण कहलाती है। इन्हीं करणों से अङ्गहार बनते है। इनमे पदसञ्चार हस्तसंञ्चार इत्यादि पर विचार किया जाता है। इस प्रकार नेत्र-सञ्चालन भ्रूसञ्चालन कर-व्यवस्था पाद-व्यवस्था इत्यादि से भावाभिनय किया ही जाता है। वहाँ शब्द न होते हुये भी भावानुभूति हो जाती है। इसी प्रकार पद पदार्थों के अवगमन के अभाव मे भी भावानुभूति हो सकती है। यहाँ पर घ्राण का अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं। भरतमुनि ने जहाँ इतर अंगों के अभिनय का विवेचन किया है वहाँ घ्राण के अभिनय का विवेचन नहीं किया। सम्भवतः लोचनकारने घ्राण शब्द से यहाँ पर नासाकर्म की ओर सङ्केत किया होगा। भरतमुनि ने अष्टम अध्याय मे नासिका का ६ प्रकार का विनियोग बतलाया है तथा विस्तारपूर्वक इस बात का प्रतिपादन किया है कि निर्वेद औत्सुक्य चिन्ता इत्यादि विभिन्न भावों के अभिनय मे नासिका की किस प्रकार की स्थिति होनी चाहिए। यहाँ पर सारांश यही है कि बिना शब्द और अर्थ के भी रसाभिव्यक्ति हो सकती है। अतः वर्णों को रसाभिव्यञ्जक मानने मे तो अनुपपत्ति होनी ही नहीं चाहिए। कहीं कहीं घ्राण शब्द के स्थान पर 'प्रभाव' यह पाठ पाया जाता है—'करणप्रभावाद्यनुहारशब्दवत्'। यह पाठ कुछ अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि इसमे करणों के प्रभावाभिनय का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

ध्वन्यालोकः

पदे चालक्ष्यक्रमस्य द्योतनं यथा--

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥

अत्र हि ते इत्येतत्पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम्।

(अनु०) पद मे अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का द्योतन जैसे--

'काँपनेवाली तथा भय के कारण स्खलित वस्त्र के छोरवाली और उन विधुर नेत्रों को प्रत्येक दिशा में दौड़ानेवाली (वह वासवदत्ता) क्रूर तथा धुयें के कारण अन्धी अग्नि के द्वारा देखी नहीं गई अपितु अपनी दारुणता के कारण सहसा जला डाली गई।'

यहाँ पर निस्सन्देह 'ते' (उन) यह पद सहृदयों के लिये स्फुटतया रसमय के रूप में अवभासित होता है।

लोचन

पदे चेति। पदे च सतीत्यर्थः। तेन च रसप्रतीतिर्विभावादेरेव। ते विभावादयो यदा विशिष्टेन केनापि पदेनार्प्यमाणा रसचमत्कारविधायिनो भवन्ति तदा पदस्यैवासौ महिमा समर्प्यत इति भावः।

'और पद मे' अर्थात् पद के होने पर। इससे रसप्रतीति विभाव इत्यादि से ही होती है। भाव यह है कि वे विभाव इत्यादि जब किन्हीं विशिष्ट पदों से अर्पण किये जाते हुये रसचमत्कार-विधायक होते हैं तब पद की ही यह महिमा समर्पित की जाती है।

तारावती

विभिन्न वर्णों की रसाभिव्यञ्जकता पर रसगंगाधर तथा वक्रोक्तिजीवित इत्यादि ग्रन्थों में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। वहीं देखना चाहिए।]

पद मे भी अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का द्योतन होता है। यहाँ पर 'पद में' यह सप्तमी विभक्ति भावलक्षणा सति सप्तमी है। इसका अर्थ होता है 'पद के होने पर'। इससे यह सिद्ध होता है कि रस की प्रतीति विभाव इत्यादि से ही होती है। वे विभाव इत्यादि जब किसी विशिष्ट पद के द्वारा समर्पित किये जाते हैं और इस प्रकार रस के चमत्कारविधायक बन जाते है तब रस की चमत्कृति का श्रेय उस पद को ही दिया जाता है और पद की ही यह महिमा मानी जाती है। अब पद के द्वारा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के द्योतन का उदाहरण लीजिये--

## लोचन

अत्र हीति । वासवदत्तादाहाकर्णनप्रबुद्धशोकनिर्भरस्य वत्सराजस्येदं परिदेवित-वचनम् । तत्र च शोको नामेष्टजनविनाशप्रभव इति तस्य जनस्य ये भ्रूक्षेपकटाक्षप्रभृतयः पूर्वं रतिविभावतामवलम्बन्ते स्म त एवात्यन्तविनष्टाः सन्त इदानीं स्मृतिगोचरतया निरपेक्षभावत्वप्राणं करुणरसमुद्दीपयन्तीति स्थितम् । ते लोचने इति । तच्छब्दस्त-ल्लोचनगतस्वसंवेद्याव्यपदेश्यानन्तगुणगणस्मरणाकारद्योतको रसस्यासाधारणनिमित्ततां प्राप्तः । तेन यत्केनचिच्चोदितं परिहृतं च तन्मिथ्यैव । तथा हि चोद्यम्—प्रक्रान्त-परामर्शकस्य तच्छब्दस्य कथमियति सामर्थ्यमिति । उत्तरं च—रसाविष्टोऽत्र परामृष्टेति तदुभयमनुत्थानोपहतम् । यत्र ह्यनूद्दिश्यमानधर्मान्तरसाहित्ययोग्यधर्मयोगित्वं वस्तुनो यच्छब्देनाभिधाय तद्बुद्धिस्थधर्मान्तरसाहित्यं तच्छब्देन निर्वाच्यते—

'यहाँ निःसन्देह' यह । वासवदत्ता के दहन के सुनने से प्रबुद्ध शोक से भरे हुये वत्सराज का यह विलाप-वचन है । वहाँ शोक इष्टजन विनाश से उत्पन्न हुआ है इसलिये उस व्यक्ति के जो भ्रूक्षेप कटाक्ष इत्यादि पहले रतिभाव की विभावता का अवलम्बन लेते थे वे ही अत्यन्त विनष्ट होते हुये इस समय स्मृतिगोचर होने के कारण ऐसे करुण रस को उद्दीप्त करते हैं जिसका प्राण है निरपेक्षभाव, यह स्थिति है। 'वे लोचन' में 'वे' शब्द उन लोचनो में विद्यमान स्वसंवेद्य तथा अवर्णनीय अनन्त गुण गणों के स्मरणाकार के द्योतक होकर रस की असाधारण निमित्तता को प्राप्त हुआ है । इससे जो किसी ने प्रश्न किया और उत्तर दिया वह मिथ्या ही है । वह प्रश्न इस प्रकार है—प्रक्रान्त परामर्शक तत् शब्द की इतनी शक्ति कैसे ? और उत्तर—यहाँ पर दर्शक रसाविष्ट है । ये दोनों ( प्रश्न और उत्तर ) अनुत्थान से ही उपहत हैं । जहाँ वस्तु की बाद मे उद्दिष्ट किये जानेवाले दूसरे धर्म के साहित्य के योग्य धर्म की संयुक्तता 'यत्' शब्द के द्वारा कहकर उस बुद्धिस्थ दूसरे धर्म के साहित्य को तत् शब्द के द्वारा कहा जाता है ।

## तारावती

महाराज उदयन शिकार खेलने गये थे। मन्त्रियों ने राजनीति की आवश्यकता के अनुसार वासवदत्ता को छिपा दिया और लावाणक नगर में आग लगा दी तथा महाराज के लौटने पर उन्हें यह समाचार दे दिया कि वासवदत्ता जलकर मर गई है । यह सुनकर महाराज उदयन विलाप करते हुये कह रहे हैं—

"जिस समय तुम्हे आग ने जलाया उस समय तुम काँप रही होगी, तुम्हारा अञ्चल भय के कारण नीचे सरक गया होगा ( अस्त-व्यस्त होगया होगा ) तुम्हारे वे नेत्र व्याकुल हो गये होंगे और उनको तुम चारों ओर ( सहायता के लिये या मेरे दर्शन के लिये ) दौडा रही होगी । आग अत्यन्त क्रूर थी । उसने अपनी

## लोचन

यत्रोच्यते—'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धत्व'मिति; तत्र पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शकत्वं तच्छब्दस्य। यत्र पुनर्निमित्तोपनतस्मरणविशेषाकारसूचकत्वं तच्छब्दस्य 'स वट' इत्यादौ यथा तत्र का परामर्शकत्वकथेत्यास्तामलीकपरामर्शकैः पण्डितम्मन्यैः सह विवादेन।

जहाँ कहा जाता है—'यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होता है' वहाँ पर तत् शब्द का पूर्वप्रक्रान्त परामर्शकत्व हुआ करता है। जहाँ पर तो तत् शब्द का निमित्त से आये हुये आकार-विशेष का सूचकत्व होता है जैसे 'वह घड़ा' इत्यादि में वहाँ परामर्शकत्व की बात ही क्या? बस, असत्य परामर्श देनेवाले अपने को पण्डित समझनेवाले लोगों से अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं।

## तारावती

दारुणता के साथ तुम्हें जला डाला वह निःसन्देह धुयें के कारण अन्धी होगई थी जिससे उसने तुम्हें देख नहीं पाया। (नहीं तो तुम्हारे सौन्दर्य पर रीझ कर वह तुम्हे कदापि न जलाती।)"

वासवदत्ता के दाह को सुनकर वत्सराज का शोक एकदम जाग्रत हो गया है और उनका हृदय उस शोक से भरा हुआ है। उस समय विलाप करते हुये वे ये शब्द कह रहे हैं। उसमे शोक इष्टजन (वासवदत्ता) के विनाश से उत्पन्न हुआ है। अतएव उस वासवदत्ता के जो भ्रूक्षेप कटाक्ष इत्यादि पहले सम्भोग-शृङ्गार की विभावरूपता (उद्दीपनरूपता) को धारण करते थे वे ही अब अत्यन्त विनष्ट होगये हैं और इस समय पर स्मृतिगोचर होने के कारण उस करुण रस का उद्दीपन कर रहे हैं जिस करुण रस का प्राण है निरपेक्षभावत्व अर्थात् अनुभूत वस्तु की प्राप्ति की आशा न रहना। यही यहाँ पर स्थिति है। यहाँ पर 'ते लोचने' (वे नेत्र) में 'वे' शब्द लोचनगत गुणगणों के स्मरण स्वरूप का अभिव्यञ्जक है।

जिनकी रमणीयता केवल स्वसंवेदन सिद्ध ही हो सकती है उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार 'वे' शब्द रसका असाधारण निमित्त बन गया है। यहाँ पर किसी ने जो प्रश्नोत्तर लिखे हैं वे मिथ्या ही है। प्रश्न इस प्रकार है—(प्रश्न) 'वह' सर्वनाम अथवा सङ्केतवाचक विशेषण प्रसिद्धि का परामर्शक होता है। उसमें इतनी शक्ति कहाँ से आ गई कि वह इतने बड़े अर्थ को प्रकट कर सके? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है (उत्तर) यहाँ पर 'वे लोचन' में 'वे' इस सङ्केतवाचक विशेषण का प्रयोग वक्ता ने लोचन के गुणगणों को अपनी बुद्धि में रखकर रसावेश के साथ किया है और श्रोता को भी उसकी प्रतिपत्ति उसी रूप में होती है। अतएव यहाँ पर प्रसिद्धि का परामर्श साधारण रूप में नहीं होता अपितु रसावेश के साथ होता है। ये दोनों प्रश्नोत्तर असङ्गत हैं। कारण

## लोचन

उत्कम्पिनीत्यादिना तदीयभयानुभावोत्प्रेक्षणम् । मयानिर्वाहितप्रतीकारमिति शोकावेगस्य विभावः । ते इति सातिशयविभ्रमैकायतनरूपे अपि लोचने विधुरे कान्दिशीकतया निर्लक्ष्ये क्षिपन्ती कस्त्राता क्वासावार्यपुत्र इति तयोर्लोचनयोस्तादृशी चावस्थेति सुतरां शोकोद्दीपनम् । क्रूरेणेति तस्यायं स्वभाव एव । किं कुरुतां तथापि च धूमेनान्धीकृतो द्रष्टुमसमर्थ इति न तु स विवेकस्येदृशानुचितकारित्वं सम्भाव्यते, इति स्मर्यमाणं तदीयं सौन्दर्यमिदानीं सातिशयशोकावेशविभावतां प्राप्तमिति । ते शब्दे इति सर्वोऽयमर्थो निर्व्यूढः । एवं तत्र तत्र व्याख्यातव्यम् ।

उत्कम्पिनी इत्यादि के द्वारा उसके भय के अनुभाव की उत्प्रेक्षा की गई है । 'मेरे द्वारा जिसके प्रतीकार का निर्वाह नहीं किया जा सका' यह शोकावेग का विभाव है । 'वे' अर्थात् सातिशय विलास का जो एकमात्र आयतन है इस प्रकार के रूपवाले भी विधुर नेत्रों को भयातिरेक से बिना ही लक्ष्य के इधर-उधर डालती हुई कि 'कौन रक्षक है' 'कहाँ आर्यपुत्र हैं' उन नेत्रों की वैसी अवस्था नितान्त रूप में शोक का उद्दीपन है । 'क्रूर के द्वारा' । उसका यह स्वभाव ही है । क्या किया जावे ? तथापि धूम से अन्धा किया हुआ, देखने में असमर्थ, विवेकशील के इस प्रकार के अनुचितकारित्व की सम्भावना नहीं की जा सकती । इस प्रकार स्मरण किया हुआ उसका सौन्दर्य इस समय पर शोकावेश की सातिशयविभावता को प्राप्त हुआ है । 'वे' इस शब्द के होने पर यह सारा अर्थ पूरा हो जाता है । इसी प्रकार विभिन्न स्थलों पर व्याख्या कर ली जानी चाहिये ।

## तारावती

यह है कि न तो यह प्रश्न ही उठता है और न इसका उत्तर ही समीचीन है । 'वह' शब्द प्रसिद्ध या प्रक्रान्त का परामर्शक वहीं पर होता है जहाँ पर पहले 'जो' शब्द के द्वारा किसी वस्तु मे किसी ऐसे धर्म का योग होना बतलाया जा चुका हो जो कि बाद मे निर्दिष्ट किये जानेवाले किसी दूसरे धर्म के साथ रहने की योग्यता रखता हो और बाद मे 'वह' ( तत् ) शब्द के द्वारा उस बुद्धिस्थ दूसरे धर्म के साथ का निर्वचन कर दिया जावे । जैसे 'जो पुरुष विद्वान् है वह पूज्य है' इस वाक्य मे पहले पुरुष के अन्दर विद्वत्त्व धर्म का योग बतलाया गया है । इस विद्वत्त्व धर्म मे एक दूसरे धर्म पूज्यत्व के साथ रहने की योग्यता है । बाद में 'वह पूज्य है' कह कर उस दूसरे बुद्धिस्थ धर्म का निर्वचन भी कर दिया गया है । ऐसे ही स्थान पर 'तत्' शब्द प्रसिद्ध या प्रक्रान्त का परामर्शक होता है । जहाँ यह कहा जाता है कि यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध हुआ करता है' वहीं पर तत् शब्द पूर्व प्रक्रान्त का परामर्शक होता है । इसके प्रतिकूल जहाँ पर तत् शब्द किसी निमित्तवश प्राप्त हुये स्मरण के द्वारा किसी विशेष आकार का सूचक होता

ध्वन्यालोकः

पदावयवेन द्योतनं यथा—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणाम्
वद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्ससुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

इत्यत्र त्रिभाग-शब्दः ।

(अनु०) पदावयव के द्वारा द्योतन जैसेः—

गुरुओं के सन्निकट लज्जा के योग से नीचे को मुख किये हुये, कुचकलशों मे कम्पन उत्पन्न करनेवाले मन्यु को अन्दर ही रोके हुये उसने जो कि आँसू गिराकर चञ्चल हरिणी के समान आकर्षक नेत्र के तिहाई भाग को मेरी ओर गड़ा दिया, तो क्या उसने यह नहीं कह दिया कि रुको ( मत जाओ ) ।

यहाँ पर त्रिभाग शब्द ।

लोचन

त्रिभागशब्द इति । गुरुजनमवधीर्यापि सा मां यथा तथापि साभिलाषमन्युदैन्य-गर्वमन्थरं विलोकितवतीत्येवं स्मरणेन परस्परहेतुकत्वप्राणप्रवासविप्रलम्भोद्दीपनं त्रिभाग-शब्दसन्निधौ स्फुटं भातीति ।

'त्रिभाग शब्द' । गुरुजनों की अवधीरणा करके भी उसने मुझे जैसे तैसे, अभिलाष, मन्यु, दीनता और गर्व के साथ मन्थर दृष्टि से देखा इस प्रकार स्मरण करने से परस्पर हेतुता ही जिसका प्राण है इस प्रकार के प्रवास-विप्रलम्भ का उद्दीपन त्रिभाग शब्द के निकट स्फुट प्रतीत होता है ।

तारावती

है जैसे 'वह घडा' इत्यादि मे, वहाँ पर तत् शब्द के प्रक्रान्तपरामर्शकत्व की बात ही कैसे उठ सकती है ? बस इतना पर्याप्त है, मैं उन पण्डितंमन्यों से अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं समझता, जो झूठा परामर्श दिया करते हैं ।

'काँपनेवाली' इस विशेषण से वासवदत्ता के भय के अनुभाव की कल्पना की गई है । 'मैं उस भय का प्रतीकार नहीं कर सका' इसीलिये यह उनके शोकावेग का उद्दीपक है । 'वे नेत्र' मे 'वे' का अर्थ है कि जिन नेत्रों मे विलास अत्यधिक मात्रा मे निवास किया करता था, असहाय होकर वे भी व्याकुल होगये और उस समय वे नेत्र अत्यन्त भय के कारण चारों ओर बिना ही लक्ष्य के इसलिये पड़ रहे थे कि 'कौन हमारा रक्षक आजावे' 'आर्यपुत्र कहाँ मिल जावे' । नेत्रों की इस प्रकार की दुर्दशा शोक को उद्दीप्त करती है । क्रूर होना तो अग्नि का स्वभाव ही

है, इस विषय में किया ही क्या जासकता है। किन्तु कोई भी सहृदय व्यक्ति इस प्रकार के सौन्दर्य को जान-बूझकर नष्ट नहीं कर सकता था। अग्निदेव ने उसे इसीलिये नष्ट कर दिया कि धुयें के कारण उसकी आँखें अन्धी हो गई थीं। यदि उसने वासवदत्ता का सौन्दर्य देख पाया होता तो ऐसा अनुचित कार्य करने की सम्भावना उससे कभी नहीं हो सकती थी। इस प्रकार यहाँ पर वासवदत्ता के सौन्दर्य का स्मरण शोकावेश के आधिक्य को प्रकट करते हुये शोक का उद्दीपन विभाव बन गया है। यह सारा अर्थ 'वे' इस शब्द के होने पर ही पुष्ट होता है। इसी प्रकार की व्याख्या विभिन्न स्थानों पर करनी चाहिये।

पदांश के द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ( रस ) के ध्वनित होने का उदाहरण—

कोई नायक प्रवास के लिये प्रस्तुत था। उस समय नायिका ने उसकी ओर देखकर जो चेष्टायें की हैं उनका वर्णन वह अपने अन्तरंग मित्र से कर रहा है—

'एक तो उसका स्वभाव ही लज्जाशील है दूसरे वह उस समय गुरुजनों के पास बैठी थी। मेरे प्रस्थान के विचार से उसके हृदय में मन्यु की एक आँधी सी उठ रही थी जिससे उसके श्वास-प्रश्वास विशेष तीव्र होकर उसके कुचकलशों को कँपा देते थे। वह अपने उस मन्यु को अपने अन्दर ही रोके हुये थी और मुझे रोकने के लिये न कुछ कह सकती थी और न मेरे प्रस्थानजन्य शोक से भरे हुये रोष को प्रकट ही कर सकती थी। आँसू गिरा रही थी; उसके नेत्र चञ्चल हरिणी के समान बडे ही आकर्षक मालूम पड़ रहे थे। उन नेत्रों के एक तिहाई भाग को उसने मेरी ओर ऐसा गड़ा दिया कि उसने मानों यह कह ही दिया कि तुम मत जाओ।'

यहाँ पर 'चकितहरिणी-हारिनेत्रत्रिभाग' एक पद है। उसका एक अंश है त्रिभाग शब्द। इससे सिद्ध होता है कि उसने पूरी निगाह से नायक की ओर नहीं देखा अपितु नेत्र के तृतीय भाग से तिरछी चितवन के द्वारा देखा। इस त्रिभाग शब्द से अभिलाषा, मन्यु, दैन्य और गर्व अभिव्यक्त होता है। 'गुरुजनों की अवधीरणा करके भी उसने मेरी ओर जैसे तैसे अभिलाष मन्यु दैन्य और गर्व के कारण मन्थर दृष्टि से देखा' इस प्रकार स्मरण करने से त्रिभाग शब्द की निकटता में प्रवास विप्रलम्भ का उद्दीपन स्फुट रूप में प्रतीत होता है। इस प्रवास-विप्रलम्भ का प्राण है परस्पर आस्थाबन्ध। नायिका का प्रेममय आस्थाबन्ध नेत्र के त्रिभाग से देखने के कारण अभिव्यक्त होता है और नायक का आस्थाबन्ध उस चितवन के स्मरण से व्यक्त होता है। इस प्रकार यहाँ पर विप्रलम्भ शृंगार की ध्वनि में त्रिभाग यह पदांश ही निमित्त है।

ध्वन्यालोकः

वाक्यरूपश्चालक्ष्यक्रमध्वनिः शुद्धोऽलङ्कारसङ्कीर्णश्चेति द्विधा मतः। तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये–'कृतककुपितैः' इत्यादि श्लोकः। एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।

वाक्यरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि दो प्रकार की मानी गई है शुद्ध और अलङ्कारसङ्कीर्ण। उनमें शुद्ध का उदाहरण जैसे रामाभ्युदय मे 'कृतककुपितैः' इत्यादि श्लोक। यह वाक्य निस्सन्देह परिपोष को प्राप्त परस्पर अनुराग को प्रदर्शित करते हुये चारों ओर से रसतत्त्व को प्रकाशित करता है।

लोचन

वाक्यरूपश्चेति। प्रथमा निर्देशेनाभ्यतिरेकनिर्देशस्यायमभिप्रायः। वर्णपदपदांशेषु सत्स्वेवालक्ष्यक्रमो व्यङ्ग्यो निर्भासमानोऽपि समस्तकाव्यव्यापक एव निर्भासते, विभावादिसंयोगप्राणत्वात्। तेन वर्णादीनां निमित्तत्वमात्रमेव। वाक्यं तु ध्वनेरलक्ष्यक्रमस्य न निमित्ततामात्रेण वर्णवदुपकारि, किन्तु समग्रविभावादिप्रतिपत्तिव्याप्तत्वात् रसादिमयमेव तन्निर्भासत इति वाक्य इत्येतत्कारिकायां न निमित्तसप्तमीमात्रम् अपि त्वनन्यत्र भावविषयार्थमपीति।

और वाक्यरूप प्रथमा निर्देश के द्वारा अभेदबोध का यह अभिप्राय है—वर्ण, पद और पदांश के होते हुये ही अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य निर्भासित होता हुआ भी समस्त काव्यव्यापक ही शोभित होता है क्योंकि उसका प्राण विभाव इत्यादि का संयोग है। इससे वर्ण इत्यादि की निमित्तत्वमात्रता ही है। वाक्य तो वर्ण इत्यादि के समान अलक्ष्यक्रम ध्वनि का केवल निमित्तता से ही उपकार करनेवाला नहीं होता। किन्तु समग्र विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति मे लगे होने से वह रसादिमय ही शोभित होता है इस प्रकार कारिका मे 'वाक्ये' यह निमित्तसप्तमी ही नही है अपितु अन्यत्र सम्भव न होना रूप विषय के अर्थवाला भी है।

तारावती

'वाक्य रूप असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि दो प्रकार की होती है—शुद्ध और अलंकारसंकीर्ण।' वृत्तिकार के इस वाक्य मे 'वाक्यरूप' मे भी प्रथमा का निर्देश किया गया है। 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिः' इसमे भी प्रथमा निर्देश किया गया है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों में सामानाधिकरण्य है। 'दो प्रातिपदिकार्थों का अभेद के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं होता' इस नियम के अनुसार वाक्यरूप' तथा 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि इन दोनों शब्दों मे अभेद-सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। इस प्रथमा निर्देश तथा अभेद-सम्बन्ध के निर्देश का अभिप्राय यह है—यद्यपि वर्ण, पद और पद का भाग इनके होने पर ही अलक्ष्यक्रमव्यंग्य निर्भासित हुआ करता है तथापि उसका निर्भास समस्त वाक्य में व्यापक रूप से

## लोचन

शुद्ध इत्यर्थालङ्कारेण केनाप्यसंमिश्रः ।

कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै—
वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया ।
नवजलधरश्यामाः पश्यन्दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥

अत्र तथा तैस्तैः प्रकारैर्मात्रा धृतमपीत्यनुरागपरवशत्वेन गुरुवचनोल्लङ्घनमपि त्वया कृतमिति । प्रिये प्रिय इति परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानात्मको रतिस्थायिभाव उक्तः । नवजलधरेत्यसोढपूर्वप्रावृषेण्यजलदालोकनं विप्रलम्भोद्दीपनविभावत्वेनोक्तम् ।

शुद्ध का अर्थ है किसी अर्थालङ्कार से असमिश्र ।

'बनावटी कोपों से, आँसुओं से और दैन्य-पूर्ण अवलोकनों से माता द्वारा रोकी हुई भी जिसकी प्रीति से वन को भी गई कठिन हृदयवाला वह तुम्हारा प्रिय तुम्हारे वियोग में नव जलधरों से श्याम दिशाओं को देखते हुये जीवित ही है ।'

यहाँ पर उस प्रकार विभिन्न उपायों से माता द्वारा रोकी हुई भी अनुराग की परवशता से तुमने गुरुवचन का उल्लङ्घन भी किया । 'हे प्रिये ।' 'हे प्रिय !' इससे परस्पर जीवितसर्वस्वाभिमानात्मक रतिस्थायिभाव कहा गया है । 'नवजलधर····' से पहले न सहे हुये मेघ का अवलोकन विप्रलम्भ के उद्दीपन विभाव के रूप मे

## तारावती

ही होता है । कारण यह है कि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य का प्राण है विभाव इत्यादि का संयोग । अत एव रसनिष्पत्ति समस्त काव्य में होती है किन्तु वर्ण इत्यादि निमित्तमात्र हो जाते हैं । किन्तु वाक्य के विषय मे यह बात नहीं है । वाक्य वर्ण इत्यादि के समान अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का उपकारक केवल निमित्तमात्र होकर के ही नहीं होता अपितु समग्र विभावादि की प्रतिपत्ति में लगा रहता है । अतएव वाक्य रसादिमय ही निर्भासित होता है । ( आशय यह है कि वर्ण पद इत्यादि रस की पूरी सामग्री नहीं जुटा पाते । रस की पूरी सामग्री तो काव्य के दूसरे भागों से प्राप्त होती है वर्ण इत्यादि उस अभिव्यक्त रस में एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं । इसके प्रतिकूल जहाँ वाक्य व्यञ्जक होता है वहाँ रस की सामग्री अन्यत्र से नहीं आती अपितु वाक्य ही सारी सामग्री जुटा देता है । इस प्रकार वाक्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य से अभिन्न होता है । यही प्रथमा तथा अभेद निर्देश का आशय है । ) कारिका मे 'वर्णपदादिषु की सप्तमी को निमित्तसप्तमी बतलाया था किन्तु 'वाक्य' इसमे केवल निमित्तसप्तमी नहीं है अपितु इसका आशय ऐसे विषय से भी है जो अन्यत्र सम्भव न हो । (अर्थात् 'वाक्य' इस शब्द में सप्तमी निमित्तसप्तमी नहीं है अपितु विषयसप्तमी है । )

## लोचन

जीवत्येवेति सापेक्षभावता एवकारेण करुणावकाशनिराकरणायोक्ता। सर्वत एवेति। नात्रान्यतमस्य पदस्याधिकं किञ्चिद्रसव्यक्तिहेतुत्वमित्यर्थः। रसतत्त्वमिति। विप्रलम्भशृङ्गारात्मतत्त्वम्।

कहा गया है। 'जीवित ही है' मे सापेक्षभावता (एक दूसरे की अपेक्षा करते हुये जीवित रहने की सत्ता) 'ही' के प्रयोग से करुण रस के अवकाश के निराकरण के लिये कही गई है। 'चारों ओर से ही' अर्थात् यहाँ पर किसी एक पद का रसाभिव्यक्ति में कुछ भी अधिक हेतुत्व नहीं है। 'रसतत्त्व' अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गारात्मकत्व।

## तारावती

(अ) शुद्ध का अर्थ है किसी भी अर्थालङ्कार से न मिला हुआ। इसका उदाहरण जैसे रामाभ्युदय काव्य का यह पद्य—

'वनावटी कोपों के द्वारा, अश्रुजलों के द्वारा और दैन्यपूर्ण अवलोकनों के द्वारा माता के द्वारा रोकी हुई भी जिसके प्रेम से तुम वन को चली गई थीं, हे प्रिये वही तुम्हारा कठोर हृदयवाला प्रियतम इस समय नवीन जलधरों के कारण श्यामायमान दिशाओं को देखते हुये भी तुम्हारे अभाव में भी जीवन धारण किये हुये है।'

'यद्यपि विभिन्न उपायों से माता ने वन जाने से रोका तथापि तुम न मानी और मेरे साथ वन को चली ही आई। इस प्रकार तुमने अनुरागपरवशता में गुरुवचनों का उल्लङ्घन भी करदिया। अतएव ऐसी प्रेमिका के वियोग में नायक को प्राण छोड़ देने चाहिये थे किन्तु नायक नवजलधररूप उद्दीपनों के होते हुये भी सबकुछ सह रहा है और अपने प्राण नहीं छोड़ता। इस प्रकार यह वाक्य नायक-नायिका के प्रेम की परिपुष्ट अवस्था को दिखलाते हुये सभी ओर से पूर्णरूप से विप्रलम्भ शृङ्गार को प्रकट करता है। इस ध्वनि में किसी एक शब्द की प्रधानता नहीं है। प्रिय शब्द में एक दूसरे के जीवनसर्वस्व होने का अभिमान छिपा ही रहता है। अतएव 'प्रिये' इस सम्बोधन तथा 'प्रिय' इस प्रथमान्त से रति स्थायीभाव प्रकट किया गया है। नवीन जलधर इत्यादि शब्दों का आशय यह है कि मेघ उठ रहे हैं जिनका सहन करसकना सर्वथा असम्भव है और जिनका पहले कभी सहन किया भी नहीं गया है। 'यह विप्रलम्भ शृङ्गार का उद्दीपन विभाव है।' जीवन धारण किये हुये ही है। यह सापेक्षभाव का शब्द है जिससे नायिका के भी जीवित होने की सम्भावना पाई जाती है। अतएव आलम्बनविच्छेद न होने के कारण यहाँ पर करुण रस को अवकाश नहीं रहता किन्तु विप्रलम्भ शृङ्गार ही पुष्ट हो जाता है।

## ध्वन्यालोकः

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा—'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि श्लोकः। अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यञ्जकानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरामभिव्यज्यते।

(अनु०) अलङ्कारान्तरसङ्कीर्ण जैसे 'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि श्लोक। यहाँ पर व्यञ्जक के बतलाये हुये लक्षणों का अनुगमन करनेवाले रूपक के द्वारा उपस्कृत होकर रस ठीक रूप में अभिव्यक्त होता है।

### लोचन

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिः
यदपि विधृता; तिष्ठत्यारादपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखाः
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः॥

रूपकेणेति। स्मर एव नवनदीपूरः प्रावृषेण्यप्रवाहः सरभसमेव प्रवृद्धत्वात् तेनोढाः परस्परसाम्मुख्यमबुद्धिपूर्वमेव नीताः। अनन्तरगुरवः श्वश्रूप्रभृतय एव सेतवः इच्छाप्रसररोधकत्वात्। अथ च गुरवोऽलङ्घ्याः सेतवस्तैः विधृता प्रतिहतेच्छाः। अत एवापूर्णमनोरथास्तिष्ठन्ति। तथापि परस्परोन्मुखतालक्षणेनान्योन्यतादात्म्येन स्वदेहे सकलवृत्तिनिरोधाल्लिखितप्रायैरङ्गैर्नयनान्येव नलिनीनालानि तैरानीतं रसं परस्पराभिलाषलक्षणमास्वादयन्ति परस्पराभिलाषात्मकदृष्टिच्छटामिश्रीकारयुक्त्यापि कालमतिवाहयन्तीति।

'कामदेवरूपी नदी के प्रवाह से लाये हुये फिर भी जो कि गुरुरूपी सेतु के द्वारा विशेषरूप से रोके हुये अतएव निकट ही अपूर्णमनोरथवाले बैठे हुये हैं; फिर भी लिखे हुये जैसे अङ्गों से एक दूसरे की ओर उन्मुख प्यारे व्यक्ति नेत्रकमलिनी की नाल से लाये हुये रस का पान कर रहे है।'

'रूपक के द्वारा'। कामदेव ही है नवीन नदी का पूर अर्थात् वर्षाकाल का प्रवाह, सहसा बढ़े होने के कारण उसके द्वारा बहाकर लाये हुये अर्थात् बिना ही बुद्धि के एक दूसरे की सम्मुखता को प्राप्त किये हुये। बाद में गुरु अर्थात् सास इत्यादि ही सेतु हैं क्योंकि इच्छा के प्रसार को रोकनेवाले है। और भी गुरु अर्थात् अलंघ्य सेतु उनके द्वारा रोके हुये अर्थात् प्रतिहत इच्छावाले; अतएव अपूर्ण मनोरथवाले स्थित हैं। तथापि परस्पर उन्मुखतावाले एक दूसरे के तादात्म्य से अपने शरीर में समस्तवृत्तियों के निरोध से लिखितप्राय अङ्गों से नयन ही हैं कमलिनी नाल, उनके द्वारा लाये हुये परस्पर अभिलाष लक्षणवाले रस को आस्वादित कर रहे है—परस्पर अभिलाषात्मक दृष्टिछटाओं के मिलाने की युक्ति से कालयापन कर रहे हैं।

## लोचन

ननु नात्र रूपकं निर्व्यूढं हंसचक्रवाकादिरूपेण नायकयुगलस्याऽरूपितत्वात्। ते

(प्रश्न) यहाँ पर रूपक पूरा नहीं किया गया है क्योंकि नायक-युग्म का हंस चक्रवाक इत्यादि रूप में आरोप नहीं किया गया है। निःसन्देह वे हंस इत्यादि

## तारावती

(आ) अलङ्कारान्तरसङ्कीर्ण वाक्य रूप असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का उदाहरण—

'कामदेवरूपी नवीन नदी के प्रवाह के द्वारा बहाकर लाये हुये, गुरुरूपी सेतु के द्वारा रोके हुये अपूर्ण मनोरथवाले जो प्रेमीजन दुःख के साथ निकट ही बैठे हुये हैं और जो लिखे हुये से अङ्गों के द्वारा एक दूसरे की ओर उन्मुख प्रतीत हो रहे हैं वे नयनरूपी नलिनी की नाल से लाये हुये रस का पान कर रहे हैं।'

आशय यह है कि यद्यपि उनको सहवास-सुख प्राप्त नहीं हो रहा है तथापि वे प्रेमीजन परस्पर प्रेमपूर्ण अवलोकन के द्वारा ही अपना समय बिता रहे हैं।

यहाँ पर कामदेव पर नवीन नदी की धारा का आरोप किया गया है गुरुजनों पर सेतु का और नेत्रों पर कमलिनी नाल का आरोप किया गया है। अतः यह रूपक अलङ्कार है। इसके द्वारा प्रसाधित होकर रस भली भाँति अभिव्यक्त होता है।

कामदेव को नवीन-नदीपूर कहा गया है नदीपूर का अर्थ है वर्षा का प्रथम प्रवाह। जब वर्षा का प्रथम प्रवाह आता है तब क्योंकि वह एकदम बढ़ा होता है अतः तृणलता इत्यादि जिस किसी वस्तु को पाता है बलात् बहाये लिये चला जाता है। इसी प्रकार कामदेव के इस नवीन प्रवाह में भी प्रेमीजन बलात् बहते हुये चले गये हैं, उनमें एक दूसरे की ओर प्रवृत्ति बुद्धिपूर्वक उत्पन्न नहीं हुई है। बाद में जैसे धारा के साथ बहनेवाले तृण इत्यादि को कोई सेतु बीच में पड़कर रोक देता है और आगे नहीं बढ़ने देता उसी प्रकार सास इत्यादि गुरुजन सेतु हैं क्योंकि वे इच्छा के प्रसार को रोकनेवाले हैं। अथवा 'गुरुसेतु' का अर्थ बड़े सेतु भी किया जा सकता है जिनका उल्लङ्घन करना अशक्य है। उनके द्वारा रोके हुये हैं अर्थात् उनकी इच्छाओं को प्रतिहत कर दिया गया है इसीलिये वे अपूर्ण मनोरथ होकर बैठे हुये हैं।

इससे ज्ञात होता है कि उनमें एक दूसरे की एकरूपता उत्पन्न हो गई है। देह की सारी वृत्ति निरुद्ध हो गई है यह इस बात से ज्ञात होता है कि उनके अङ्ग चित्र लिखे हुये के समान बिल्कुल निरुद्ध हो गये हैं। उनके नेत्र ही कमलिनी की नाल हैं। उनके द्वारा लाये हुये परस्पर अभिलाषपूर्ण दृष्टिच्छटारूपी रस का आस्वाद ले रहे हैं। आशय यह है कि अपनी अनुरागपूर्ण दृष्टि की छटा के मिश्रण की युक्ति से ही अपना समय बिता रहे हैं।

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः सङ्घटनायां भासते ध्वनिरित्युक्तं तत्र सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते—

(अनु०) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि संघटना में भासित होती है। यह कहा गया है। उसमे संघटना स्वरूप का ही पहले निरूपण किया जा रहा है—

लोचन

हि हंसाद्याः एकनलिनीनालानीतसलिलपानक्रीडादिपूचिता इत्याशङ्क्याह—यथोक्त-व्यञ्जकेति। उक्तं हि पूर्वं 'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादौ 'नातिनिर्वहणैषिता' इति। प्रसाधित इति। विभावादिभूषणद्वारेण रसोऽपि प्रसाधित इत्यर्थः ॥ ३, ४ ॥

संघटनायामिति भावे प्रत्ययः, वर्णादिवच्च निमित्तमात्रे सप्तमी। उक्तमिति निरूप्यत इति गुणेभ्यो विविक्ततया विचार्यत इति यावत्।

एक कमलिनीनाल से लाये हुये जलपान की क्रीडा में अभ्यस्त हैं यह शङ्का करके (उत्तर) देते है—'यथोक्त व्यञ्जक' यह। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इत्यादि में पहले कहा गया था कि अत्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं होनी चाहिये। 'प्रसाधित' यह। अर्थात् विभाव इत्यादि भूषण के द्वारा रस भी विभूषित किया गया है ॥ ३, ४ ॥

'संघटना में' यह भाव मे प्रत्यय है, वर्ण इत्यादि के समान केवल निमित्त मे सप्तमी है। 'कहा गया है' अर्थात् कारिका में। 'निरूपित किया जाता है' अर्थात् गुणों से पृथक् रूप में विचार किया जाता है।

तारावती

(प्रश्न) यहाँ पर रूपक निर्वहण (पूर्णता) को प्राप्त नहीं हुआ है क्योंकि नायक और नायिका पर हंसमिथुन चक्रवाक इत्यादि आरोप नहीं किया गया है। निःसन्देह वे हंस इत्यादि एक कमलिनी की नाल से लाये हुये जलपान की क्रीड़ा इत्यादि मे अभ्यस्त होते ही हैं। इस प्रकार नायक और नायिका पर हंसमिथुन का बिना आरोप किये रूपक मे पूर्णता किस प्रकार आसकती है? बिना पूर्णता के रूपक रस का परिपोषक और अलङ्कारक किस प्रकार हो सकता है? (उत्तर) यह 'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादि कारिकाओं में रस में अलङ्कार प्रयोग की प्रक्रिया पर विचार करने के प्रकरण मे पहले ही बतलाया जा चुका है कि वही अलङ्कार रस का पोषक होता है जिसके अत्यन्त निर्वहण की ओर कवि का ध्यान न हो। (नहीं तो अलङ्कार प्रधान हो जाता है और रस दब जाता है।) इसी बात को प्रकट करने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है कि व्यञ्जक अलङ्कार की बतलाई हुई प्रक्रिया का अनुसरण करते हुये यहाँ रूपक रस का पोषक हो रहा है। रूपक के द्वारा रस प्रसाधित किया गया है कहने का आशय यह है कि रूपक विभाव इत्यादि को आभूषित करते हुये रस का भी आभूषित करनेवाला बन गया है ॥ ३, ४ ॥

ध्वन्यालोकः

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥ ५॥

कैश्चित्—

(अनु०) 'समास-रहित, मध्यम समास से भूषित तथा दीर्घ समासवाली तीन प्रकार की संघटना बतलाई जाती है॥ ५॥'

कुछ लोगों के द्वारा

तारावती

यह दूसरी कारिका में कहा गया था कि 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि संघटना मे भासित होती है।' इस पर विचार करने के पहले कि संघटना किस प्रकार रस को अभिव्यक्त करती है, संघटना के स्वरूप पर प्रकाश डाल लेना उचित प्रतीत होता है। संघटना शब्द में सम् उपसर्ग 'घट' धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है। यह भावार्थक प्रत्यय है। जिस प्रकार वर्ण इत्यादि मे निमित्तसप्तमी मानकर व्याख्या की गई थी उसी प्रकार 'संघटनायाम्' मे भी निमित्त सप्तमी ही है। अर्थात् संघटना भी वर्ण इत्यादि के समान रस इत्यादि की अभिव्यञ्जना मे निमित्त ही होती है। 'कहा गया था' का आशय है द्वितीय कारिका मे कहा गया था कि संघटना भी अभिव्यञ्जक होती है। 'निरूपण किया जा रहा है' कहने का आशय यह है कि यह विचार किया जा रहा है कि गुणों से संघटना में क्या भेद होता है?

[ यहाँ पर आनन्दवर्धन ने संघटना शब्द का प्रयोग रीति के अर्थ में किया है। अब यह विचार उठाया जा रहा है कि संघटना या रीति किस प्रकार रस के अभिव्यञ्जन मे सहायक होती है? रीति सम्प्रदाय का विस्तृत परिचय तृतीय उद्योत के अन्त मे टिप्पणी के रूप में दिया जावेगा। यहाँ पर आवश्यकतानुसार संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा।—वैसे तो शैली व्यक्तिसापेक्षिणी होती है और प्रत्येक कलाकार के अनुसार इसमें कुछ न कुछ विशेषता अवश्य रहती है तथापि एक प्रदेश के व्यक्तियों में कुछ न कुछ साम्य रहता ही है। यह बात केवल काव्यशैली के क्षेत्र मे ही नहीं लागू है अपितु मानव-साधना के प्रत्येक क्षेत्र मे इसकी सत्ता पाई जाती है। इसी आधार पर हम करते हैं कि पंजाबी लोगों की अमुक प्रथा है, बंगालियों की अमुक परम्परा है; दाक्षिणात्यों की विचार धारा इस प्रकार होती है, अंग्रेज लोग वीर होते हैं इत्यादि। यदि इसी प्रकार देश-भेद के आधार पर काव्यशैलियों की व्याख्या की जावे तो देश-भेद की अनन्तता के आधार पर काव्यशैलियाँ भी असीमित हो जावेंगी। किन्तु विभिन्न देशों की

तारावती

विभिन्न परम्पराओं में भी साम्य के बीज खोजे जा सकते हैं और इसी आधार पर उनका एक नामकरण कर दिया जाता है ।

सर्व प्रथम काव्य शैलियों का विचार दण्डी ने किया । उन्होंने समस्त काव्य-क्षेत्र को दो मार्गों में विभाजित कर दिया एक तो विदर्भ का मार्ग और दूसरा गौड या बंगाल का मार्ग । शैली के लिये उन्होंने प्रयोग भी मार्ग शब्द का ही किया । दण्डी ने शैली के अन्दर केवल वर्णविन्यास पर ही विचार नहीं किया अपितु प्रत्येक क्षेत्र में दोनों शैलियों का अन्तर दिखलाया । इसके बाद देश-भेद के आधार पर रीतियों का विचार आचार्य वामन ने किया । उन्होंने ही सबसे पहले रीति शब्द का प्रयोग किया । उन्होंने दण्डी के द्विविध मार्गों में एक तीसरा और जोड़ कर रीतियों की संख्या तीन कर दी—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली । वामन ने गुणात्मक पदरचना का नाम रीति रखकर गुण और रीति दोनों के सम्बन्ध की ओर इङ्गित किया और विभिन्न रीतियों की परिभाषा में भी गुणों का उल्लेख किया । इस प्रकार वामन के मत मे रीति और गुण का अनिवार्य सम्बन्ध है । आचार्य वामन ही रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और उसके सबसे बड़े आचार्य माने जाते हैं । उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना और तीनों रीतियो की परिभाषायें इस प्रकार दीं—

'जिसमें दोष की मात्राओं का बिल्कुल स्पर्श न हो, जो कि समस्त गुणों से गुम्फित हो और जिसको वीणा के स्वर का सौभाग्य प्राप्त हो उसे वैदर्भी रीति कहते हैं ।

'जिसमें शिथिलता के भाव का प्रवेश हो, जो पुरानी छाया से युक्त हो और मधुर तथा सुकुमार हो उसे कवि लोग पाञ्चाली रीति कहते हैं ।

'जिसमें समासगर्भित अत्यन्त उत्कट पद हों जो ओज और कान्ति से समन्वित हो, रीति के निपुण वेत्ता उसे 'गौडी रीति' कहते हैं ।'

यही तीन रीतियाँ वामन ने मानी हैं । इन्हीं से मिलती जुलती उपनागरिका, परुषा और कोमला ये तीन वृत्तियाँ भी हैं । आनन्दवर्धन से पूर्व की रीति और वृत्तियों की यही स्थिति है । आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना इस नाम से अभिहित किया है । इन्होंने यहाँ पर विस्तार पूर्वक रीतियों के स्वरूप का विवेचन करते हुये दो प्रश्नों पर प्रमुख रूप मे प्रकाश डाला है—रीति और गुण का क्या सम्बन्ध है ? रीतियाँ रस की अभिव्यञ्जक किस प्रकार होती हैं ?

आनन्दवर्धन ने भी अपने प्राचीनों की मान्यता के आधार पर रीति या संघटना तीन ही प्रकार की मानी है—( १ ) समासरहित संघटना ( २ ) मध्यम समास

## तारावती

से भूषित संघटना और ( ३ ) दीर्घ समास से युक्त संघटना । प्रथम प्रकार की संघटना को हम वैदर्भी रीति कह सकते हैं, दूसरे प्रकार की संघटना को पाञ्चाली और तीसरे प्रकार की संघटना को गौडी यह नाम दिया जा सकता है । संघटनाओं के इन भेदों का ५ वीं कारिका में केवल अनुवाद कर दिया गया है । इसके बाद ६ ठी कारिका मे गुण और संघटना तथा संघटना और रस के सम्बन्ध पर विचार प्रारम्भ कर दिया गया है । गुण और संघटना का परस्पर क्या सम्बन्ध है इस विषय में दो बातें कही जा सकती हैं—( १ ) गुण और संघटना दोनों एक ही वस्तुयें हैं—गुणों का ही दूसरा नाम संघटना रख दिया गया है । ( २ ) ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं । यदि दूसरा पक्ष माना जावे तो एक प्रश्न यह उठता है कि क्या संघटना गुणों के आश्रित रहती है या गुण संघटना के आश्रित रहते हैं ? इस प्रकार संघटना और गुणों के सम्बन्ध के विषय में तीन मत हो गये ( १ ) गुण और संघटना दोनों एक ही चीजें है इनमें कोई भेद नहीं । ( २ ) संघटना गुणों पर आश्रित रहती है । ( ३ ) गुण संघटना पर आश्रित रहते हैं । यह तो हुई संघटना और गुणों के परस्पर सम्बन्धविषयक वैकल्पिक पक्षों की बात । दूसरा प्रश्न यह है कि संघटना और रस का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि संघटना अभिव्यञ्जक होती है और रस अभिव्यङ्ग्य होते हैं । ६ ठी कारिका में कहा गया है कि 'संघटना माधुर्य इत्यादि गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है ।' संघटना और गुणों के परस्पर सम्बन्ध विषयक तीनों वैकल्पिक पक्षों को लेकर प्रस्तुत कारिका की व्याख्या इस प्रकार होगी—( १ ) यदि यह मानें कि संघटना और गुण दोनों एक ही चीजें हैं तो इस कारिका का अर्थ होगा—संघटना इन गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त किया करती है जो गुण संघटना की आत्मा ही है । यद्यपि संघटना और गुण दोनों एक ही वस्तुयें हैं तथापि देख जाता है कि विचारक लोग विचार के निमित्त एक ही वस्तु के स्वभाव में भेद की कल्पना करलिया करते है । इसी काल्पनिक भेद को लेकर कह दिया गया है कि संघटना गुणो का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है। ( २ ) गुण संघटना के आधीन रहते हैं इस पक्ष को लेकर इस कारिका का अर्थ होगा—'संघटना ऐसे गुणों का आश्रय लेकर रसों की व्यञ्जना करती है जो गुण संघटना का आधेय होते हैं । ( ३ ) भेदवाद मे इस पक्ष को लेकर कि संघटना गुणों के आधीन रहती है इस कारिका का अर्थ होगा—'संघटना ऐसे गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है जिन गुणों के वह आधीन रहा करती है । यही आनन्दवर्धन के विवेचन का सार है । ]

ध्वन्यालोकः

तां केवलमनूद्येदमुच्यते—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।

रसान्—

सा सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति। अत्र च विकल्प्यं गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयीगतिः गुणाश्रया सङ्घटना सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति। तत्रैक्यपक्षे सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे च गुणानात्मभूतानाधेयभूतान् वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः। यदा तु नानात्वपक्षे गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः।

( अनु० ) उसका केवल अनुवाद कर यह कहा जा रहा है—

'माधुर्य इत्यादि गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली वह ( संघटना ) रसों को अभिव्यक्त करती है।'

वह संघटना गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती हुई रसादियों को अभिव्यक्त करती है। यहाँ पर विकल्प करने योग्य यह है कि—गुण और संघटना दोनों की एकरूपता है या भेद है? भेद होने पर भी दो अवस्थायें हो सकती हैं—गुण के आधीन संघटना हो या संघटना के आधीन गुण हों। उनमें एकता के पक्ष मे संघटना के अधीन गुण इस पक्ष में यह अर्थ होता है—अपनी आत्मा के रूप में स्थित गुणों या अपने आधेयभूत गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली संघटना रसादिकों को अभिव्यक्त किया करती है। जबकि गुण और संघटना के नानात्व पक्ष में संघटना गुणों के आधीन रहती है यह पक्ष मानें तो अर्थ होगा—गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली अर्थात् गुणों के परतन्त्र स्वभाववाली, गुणरूप ही नहीं।

लोचन

रसानिति कारिकायां द्वितीयार्धस्यादयं पदम्। 'रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः' इति कारिकार्धम्।

'रसान्' यह कारिका मे द्वितीयार्ध का प्रथम पद है। रसास्त त्रितये हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः, यह कारिका का आधा भाग है।

तारावती

छठी कारिका की व्याख्या आनन्दवर्धन ने दो खण्डों में की है—प्रथम खण्ड में कारिका का प्रथम दल और द्वितीय दल का प्रथम शब्द रक्खा गया है। 'रसान्' यह छठी कारिका के द्वितीय दल का प्रथम शब्द है। पूरा द्वितीय दल इस प्रकार है—'रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः'। इस कारिका में 'रसान्'

## लोचन

बहुवचनेनाद्यर्थः संग्रहीत इति दर्शयति—रसादीनिति। अत्र चेति—अस्मिन्नेव कारिकार्धे। विकल्पेनेदमर्थजातं कल्पयितुं व्याख्यातुं शक्यम्, किं तदाह—गुणानामिति। त्रयः पक्षाः ये सम्भाव्यन्ते ते व्याख्यातुं शक्याः। कथमित्याह—तत्रैक्यपक्ष इति। आत्मभूतानिति। स्वभावस्य कल्पनया प्रतिपादनार्थं प्रदर्शितभेदस्य स्वाश्रयवाचो युक्तिर्दर्श्यते शिंशपाश्रयं वृक्षत्वमिति। आधेयभूतानिति। संघटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः। धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः। गुणपरतन्त्रेति। अत्र नाधाराधेयभाव आश्रयार्थः। न हि गुणेषु संघटना तिष्ठतीति। तेन राजाश्रयः प्रकृतिवर्ग इत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतय इत्ययमर्थः, एवं गुणेषु परतन्त्रस्वभावा तदायत्ता तन्मुखप्रेक्षिणी संघटनेत्ययमर्थो लभ्यत इति भावः।

बहुवचन से आदि का अर्थ संगृहीत कर लिया गया है, यह दिखलाते हैं 'रस इत्यादि का' यह। 'यहाँ पर' अर्थात् उसी कारिका के आधे भाग में। विकल्प से इस अर्थसमूह की कल्पना अर्थात् व्याख्या की जा सकती है—वह क्या है यह कहते हैं—'गुणों का' यह। तीन पक्ष, जिनकी सम्भावना की जाती है उनकी व्याख्या की जा सकती है। किस प्रकार? यह कहते हैं—'उसमें ऐक्यपक्ष में' इत्यादि। 'आत्मभूतों का'। स्वभाव के प्रतिपादन के लिये कल्पना के द्वारा कथन देखा जाता है शिंशपा के आश्रयवाला वृक्ष। 'आधेय भूतों को'। संघटना के आश्रित गुण होते हैं यह भट्टोद्भट इत्यादि कहते हैं। धर्म धर्मी के आश्रित होते हैं यह प्रसिद्ध मार्ग है। 'गुणपरतन्त्र' इति। यहाँ पर आधाराधेय भाव आश्रय का अर्थ नहीं है। गुणों मे संघटना रहती नहीं है। उससे 'राजाश्रय प्रकृतिवर्ग' इसमें जैसे राजाश्रय के औचित्य से अमात्य इत्यादि प्रकृतियाँ यह अर्थ होता है इसी प्रकार गुणों से परतन्त्र स्वभाववाली उसके आधीन अर्थात् उसके मुख को देखनेवाली संघटना यह अर्थ प्राप्त होता है, यह भाव है।

## तारावती

यह बहुवचनान्त पाठ है। इस बहुवचन का अर्थ है—संघटना रसों को भी अभिव्यक्त करती है और भाव रसाभास भावाभास इत्यादि रसवर्ग के दूसरे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों को भी अभिव्यक्त करती है। इसी मन्तव्य से वृत्तिकार ने 'रसान्' की व्याख्या करते हुये 'रस इत्यादिकों को' यह लिखा है। 'यहाँ पर विकल्प्य यह है' इस वाक्य में 'यहाँ पर' का अर्थ है इस आधी कारिका में। विकल्प्य का अर्थ है विकल्प से इस अर्थ समूह की कल्पना की जा सकती है अथवा व्याख्या की जा सकती है। वह अर्थसमूह क्या है?—गुण और संघटना की एकता या भेद, और भेद में भी गुणाश्रित संघटना या संघटनाश्रित गुण ये तीन पक्ष हैं जिनकी सम्भावना की जा सकती है। इन तीनों पक्षों के आधार पर

ध्वन्यालोकः

किं पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति ? अभिधीयते—यदि गुणाः सङ्घटनाचेत्येकं तत्त्वं, सङ्घटनाश्रया वा गुणाः, तदा सङ्घटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः। गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषयनियमो व्यवस्थितः। सङ्घटनासु स विघटते।

(अनु०) फिर इस विकल्प का प्रयोजन क्या है ? बताया जा रहा है—यदि गुण और संघटना दोनों एक तत्त्व हैं अथवा संघटना के आधीन गुण रहते हैं तो संघटना के समान गुणों में भी अनियत विषयता आजाने का दोष होगा। निस्सन्देह गुणों में माधुर्य और प्रसाद की अधिकता करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार के विषय में ही होती है। ओज का विषय रौद्र और अद्भुत इत्यादि ही होते हैं। माधुर्य और प्रसाद का विषय रस भाव तथा उनके आभास ही होते है। इस प्रकार गुणों के विषयका नियम व्यवस्थित है। संघटनाओं में वह विघटित होता है।

तारावती

कारिका की व्याख्या की जा सकती है। किस प्रकार ? इसका उत्तर दे रहे है—ऐक्य पक्ष में आत्मभूत गुणों का आश्रय लेकर स्थित होनेवाली संघटना, यह अर्थ किया जा सकता है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि जब गुण और संघटना एक ही वस्तु हैं तब संघटना गुणों का आश्रय लेती है, इस कथन का क्या अर्थ होगा ? इसका उत्तर यह है—प्रायः देखा जाता है कि किसी बात को समझाने के लिये किसी के स्वभाव में भेद की कल्पना कर ली जाती है और उस दिखलाये हुये भेद मे यह कह दिया जाता है कि अमुक वस्तु अमुक के आश्रित है। उदाहरण के लिये शिंशपा और वृक्षत्व में भेद नहीं है फिर भी कह दिया जाता है कि वृक्षत्व शिंशपा मे रहता है। दूसरा पक्ष है भेद का। इस भेदवाद में यदि संघटना के आश्रित गुण रहते हैं यह पक्ष माना जाता है तब उस पक्ष में इस कारिका का अर्थ होगा—संघटना ऐसे गुणों का आश्रय लेकर रसों को अभिव्यक्त करती है जो कि संघटना के आधेयभूत होते हैं। भट्टोद्भट इत्यादि ने लिखा है कि गुण संघटना के धर्म होते है। यह तो प्रसिद्ध मार्ग ही है कि धर्म धर्मी के आश्रित रहा करते है। यदि तीसरे पक्ष के अनुसार यह माना जावे कि संघटना गुण के आश्रित रहती है तब उस पक्ष में इस कारिका का अर्थ होगा—संघटना जो कि गुणों का आश्रय लेकर स्थित होती है अर्थात् जिसका स्वभाव गुणों से पराधीन होता है तथा जो गुण रूप ही नहीं होती वह संघटना रसों को अभिव्यक्त करती है। 'गुण से पराधीन' कहने का आशय यह है कि 'गुण के आश्रित संघटना होती है' इस वाक्य मे

लोचन

सङ्घटनाया इवेति। प्रथमपक्षे तादात्म्येन समानयोगक्षेमत्वादितरत्र तु धर्मत्वेनेति भावः। भवत्वनियतविषयतेत्याशङ्क्याह—गुणानां हीति। हिशब्दस्तुशब्दार्थे। नत्वेवमुपपद्यते आपद्यते तु न्यायबलादित्यर्थः। स इति योऽयं गुणेष्वनियम उक्तोऽसावित्यर्थः।

'संघटना के समान'। यह भाव है कि प्रथम पक्ष मे तादात्म्य के कारण उनका योग-क्षेम समान होता है इसलिये अन्यत्र धर्म के कारण। 'अनियत विषयता हो' यह शङ्का करके कहते हैं—'निःसन्देह गुणों का'। यहाँ 'हि' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। यह सिद्ध तो नहीं होता किन्तु न्याय के बल पर आ जाता है। 'वह' अर्थात् जो यह गुणों के लिये नियम बतलाया गया है वह।

तारावती

आश्रय का अर्थ आधाराधेयभाव नहीं है क्योंकि गुणों में संघटना रहती नहीं है। अपितु यहाँ पर आश्रय का प्रयोग उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्रयोग 'प्रकृति वर्ग राजा के आश्रय में रहता है' यह है। 'राजाश्रित भृत्य वर्ग का अर्थ है राजा के आश्रय के औचित्य से अमात्य इत्यादि प्रकृति होती है उसी प्रकार गुणों में परतन्त्र स्वभाववाली अर्थात् गुणों के आधीन या गुणमुखप्रेक्षिणी संघटना होती है, यह अर्थ प्राप्त हो जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि इन वैकल्पिक पक्षों का विवेचन करने से लाभ क्या है? इसी पर प्रस्तुत प्रकरण में विचार किया जा रहा है। पहला पक्ष लीजिये 'गुण और संघटना एक ही हैं या इनका तादात्म्य है' ऐसी दशा में इन दोनों का योग-क्षेम एक सा ही होगा। जो बात संघटना मे होगी वही बात गुणों में भी होगी। यदि दूसरा पक्ष लिया जावे अर्थात् यह स्वीकार किया जावे कि गुण संघटना के आधीन होते हैं तो गुणों को धर्म मानना पड़ेगा और संघटना को धर्मी। धर्मी की विशेषतायें धर्म में भी होना अनिवार्य है। ऐसी दशा में भी जो विशेषता संघटना में होगी वही गुणों में आ जावेगी। संघटना का विषय नहीं होता। असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा तीनों प्रकार की संघटना कोमल और कठोर दोनों प्रकार के रसों को अभिव्यक्त करती है। यही बात गुणों में आ जावेगी अर्थात् माधुर्य और ओज दोनों गुण दोनों प्रकार के रसों के अभिव्यञ्जक माने जाने लगेंगे। अतएव उक्त दोनों पक्षों को मानने पर गुणों का विषय भी अनियत हो जावेगा। (प्रश्न) यदि गुणों का विषय भी अनियत हो ही जावे तो इसमें दोष क्या है? (उत्तर) इसमें तो सन्देह नहीं कि गुणों का विषय नियत होता है। माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार के विषय में ही होता है। ओज का प्रकर्ष रौद्र और अद्भुत इत्यादि के विषय में ही होता है। माधुर्य

ध्वन्यालोकः

तथाहि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति। तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा—'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' इति। यथा वा—

अनवरतनयनजलनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते।
करतलनिपण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥

इत्यादौ। तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ। तस्मान्न सङ्घटनास्वरूपा न च सङ्घटनाश्रया गुणाः।

(अनु०) वह इस प्रकार—शृङ्गार में भी दीर्घसमासवाली संघटना देखी जाती है और रौद्र इत्यादि मे भी समासरहित संघटना होती है। उसमें शृङ्गार में दीर्घ समास जैसे—'मन्दारपुष्प रेणुसे पिञ्जरित अलकोंवाली' अथवा—

'निरन्तर नयनजल निपतन से नष्टपत्ररचनावाला, करतल पर निपण्ण तुम्हारा वदन हे अबले किसे सन्तप्त नहीं करेगा।'

इत्यादि में। तथा रौद्र इत्यादि मे भी समासरहित संघटना देखी जाती है जैसे—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि। अतएव न गुण संघटना का स्रूप हैं न संघटना पर आश्रित।

लोचन

तथात्वे लक्ष्यदर्शनमेव हेतुत्वेनाह—तथाहीति। दृश्यत इत्युक्तम्। दर्शनस्थानमुदाहरणमासूत्रयति-तत्रेति। नात्र शृङ्गारः कश्चिदित्याशङ्क्य द्वितीयमुदाहरणमाह—यथा वेति। एषा हि प्रणयकुपितनायिकाप्रसादनायोक्तिर्नायकस्येति। तस्मादिति। नैतद्व्याख्यानद्वयं कारिकायां युक्तमिति यावत्।

ऐसा होने पर लक्ष्यदर्शन को ही हेतु के रूप में कहते हैं—'तथाहि' इत्यादि। 'देखा जाता है' इस कहे हुये दर्शनस्थान उदाहरण को दिखलाते हैं—'वहाँ पर यहाँ पर कोई शृङ्गार नहीं है यह शङ्का करके दूसरा उदाहरण देते हैं—'अथवा जैसे'। यह प्रणयकुपिता नायिका के प्रसादन के लिये नायक की उक्ति है। 'इससे' अर्थात् ये दोनों व्याख्यान कारिका में उचित नहीं है।

तारावती

और प्रसाद रस और रसाभास, भावाभास इत्यादि के विषय में ही होते हैं। कहने का आशय यह है कि गुणों का विषयनियम व्यवस्थित है। यहाँ पर 'गुणानां हि' मे हि शब्द का अर्थ है 'तु' अर्थात् गुणों का तो विषयनियम व्यवस्थित है। यह बात तर्क के बल पर सिद्ध नहीं की जाती किन्तु अनेक लक्ष्यों पर विचार करने से सामान्य न्याय के बल पर स्वतः यह निष्कर्ष निकल आता है। गुणों में जो विषय की व्यवस्था बतलाई गई है संघटना में उसका व्यभिचार मिलता है अर्थात् संघटना में विषय की व्यवस्था ठीक रूप मे लागू नहीं होती। संघटना मे विषय-व्यवस्था

## तारावती

किस प्रकार विघटित हो जाती है इसमें तर्क के रूप में लक्ष्य ही दिखलाये जा रहे है जहाँ यह व्यवस्था लागू नहीं होती। वह इस प्रकार कि नियमानुकूल शृङ्गार रस में समास नहीं होने चाहिये और रौद्र इत्यादि रसों में लम्बे समास होने चाहिये। किन्तु देखा जाता है कि कहीं-कहीं शृङ्गार रस मे लम्बे समास होते हैं और रौद्र रस मे समास होते ही नहीं। 'देखे जाते' हैं यह कहा गया था। अब जिन उदाहरणो में देखे जाते हैं उन स्थानों को सूत्ररूप में बतलाया जा रहा है। उसमें शृङ्गार रस में दीर्घ समास का उदाहरण जैसे 'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' मे दीर्घ समास है। इसका अर्थ है कि 'मन्दार पुष्प की धूल से नायिका के अलक पिञ्जर वर्ण के हो गये थे' यह शृङ्गार रस है। इस वाक्य मे शृङ्गार रस की आलम्बनभूत नायिका के केशपाश के सौन्दर्य की प्रशंसा की गई है। अतः यह शृङ्गार रस है और इसमे दीर्घ समास विद्यमान ही है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि संघटना का विषय नियत होता है। इस पर कोई कह सकता है कि प्रस्तुत वाक्य में भले ही नायिका के सौन्दर्य की प्रशंसा की गई हो किन्तु केवल इतने से वाक्य से ही शृङ्गार रस की कोई प्रतीति तो होती नहीं। शृङ्गार रस की पूर्ण प्रतीति के निमित्त पूरे प्रसङ्ग के सामने होने की आवश्यकता है। अतः इस वाक्य से ही यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि संघटना का विषय नियत नहीं होता। इस पर वृत्तिकार दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'अनवरत.....तापयति'। इस पद्य मे पूरे प्रथम दल मे शब्द को छोड़कर एक लम्बा समास किया गया है। इसका अर्थ यह है—कोई नायक किसी मानिनी नायिका से कहा रहा है—'हे अबले तुम्हारा यह करतल पर रक्खा हुआ मुख किसके हृदय में सन्ताप उत्पन्न न करेगा जिसकी पत्ररचना निरन्तर जलविन्दुओं के गिरने से धुलकर नष्ट हो रही है। यह प्रणय कुपिता नायिका के प्रसादन के लिये नायक की उक्ति है। अतएव यहाँ पर मान विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यक्ति होती है। नियमानुकूल सबसे अधिक समास रहित संघटना विप्रलम्भ शृङ्गार में ही होनी चाहिये। यहाँ पर दीर्घ समास होते हुये भी विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि समास रहित संघटना ही विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना करती है। दूसरी व्यवस्था यह है कि दीर्घसमासा संघटना रौद्र इत्यादि रस को अभिव्यक्त करती है। किन्तु इस नियम का भी व्यभिचार देखा जाता है। 'यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरु मदः पाण्डवीनां चमूनाम्' इत्यादि वेणी संहार का पद्य कुपित भीमसेन की उक्ति है। यहाँ पर समास बिलकुल नहीं किया गया है और समास का न करना ही रौद्र रस का विशेष रूप से अभिव्यञ्जक हो रहा है। अतः यह सिद्ध होगया कि संघटना का विषय नियत नहीं

ध्वन्यालोकः

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्। उच्यते प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्।

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥

(अनु०) (प्रश्न) यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं होती तो फिर इनके किस आलम्बन की कल्पना की जावे? (उत्तर) कहा जा रहा है—इनके आलम्बन का प्रतिपादन तो पहले ही किया जा चुका है—'उस अङ्गी अर्थ (रस) का जो अवलम्बन लेते हैं वे गुण माने जाते हैं। कटक इत्यादि के समान अलङ्कार अङ्गाश्रित माने जाने चाहिये।

लोचन

किमालम्बना इति। शब्दार्थालम्बनत्वे हि तदलङ्कारेभ्यः को विशेष इत्युक्तं चिरन्तनैरितिभावः। प्रतिपादितमेवेति। अस्मन्मूलकृतेत्यर्थः।

'किस सहारे से'। भाव यह है कि शब्द और अर्थ का सहारा होने से उनके अलङ्कारों से क्या विशेषता है? यह प्राचीनों ने कहा है। 'प्रतिपादित ही किया गया है' अर्थात् हमारे मूलकार के द्वारा।

तारावती

होता किन्तु गुणों का विषय नियत होता है। अतएव यदि संघटना और गुणों की एकता मानी जावेगी या संघटना के आश्रित गुण माने जावेंगे तो यह दोष होगा कि संघटना का धर्म गुणों में भी मानना पड़ेगा और गुणों को भी अनियत विषय ही माना जाने लगेगा। इस प्रकार ये दोनों पक्ष ठीक नहीं है और न इनके अनुसार की हुई कारिका की व्याख्या ही ठीक है।

(प्रश्न) यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं है तो गुणों के किस आश्रय की कल्पना की जावे! प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि गुण निराश्रय तो हो ही नहीं सकते, इनका कोई न कोई आधार तो मानना ही पड़ेगा। आधार के रूप में तीन ही तत्त्व माने जा सकते हैं शब्द, अर्थ और संघटना। शब्द और अर्थ गुणों का आश्रय माने नहीं जा सकते क्योंकि प्राचीनों ने कह दिया है कि यदि शब्द और अर्थ गुणों का आश्रय माने जावेंगे तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार से गुणों में भेद क्या रह जावेगा? आशय यह है कि शब्दाश्रित काव्य तत्त्व शब्दालङ्कार कहलाते हैं, अर्थाश्रित काव्यतत्त्व अर्थालङ्कार कहलाते हैं। अब संघटना ही शेष रह जाती है जो कि गुणों का आश्रय मानी जा सकती है। यदि आप संघटना को भी गुणों का आश्रय नहीं मानेंगे तो फिर गुणों का दूसरा आश्रय रह क्या जावेगा? (उत्तर) इस शङ्का का समाधान तो हमारे मूल-कार (कारिकाकार) ने ही देदिया है'—

ध्वन्यालोकः

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।

( अनु० ) अथवा शब्दाश्रय ही गुण होंवें। इनका अनुप्रासादितुल्यत्व नहीं हो सकता। क्योंकि अनुप्रास इत्यादि शब्द के अर्थ की अपेक्षा न करनेवाले धर्म ही हैं यह प्रतिपादित किया जा चुका है। गुण तो विशेष व्यङ्ग्य के द्वारा अवभासित होनेवाले वाच्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्दधर्म ही हैं। इनकी शब्दधर्मता शौर्य इत्यादि के शरीराश्रयत्व के समान दूसरे का आश्रय होते हुये भी मानी जाती है।

लोचन

अथवेति। न ह्येकाश्रितत्वादैक्यं, रूपस्य संयोगस्य चैक्यप्रसङ्गात्। संयोगे द्वितीयमपेक्ष्यमपि चेत्। इहापि व्यङ्ग्योपकारकवाच्यापेक्षाऽस्त्येवेति समानम्। न चायं मम स्थितः पक्षः, अपितु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्दधर्मत्वं शौर्यादीनामिव शरीरधर्मत्वम्। अविवेकी हि औपचारिकत्वविभागं विवेक्तुमसमर्थः। तथापि न कश्चिद्दोष इत्येवं परमेतदुक्तमित्येतदाह—शब्दधर्मत्वमिति। अन्याश्रयत्वेऽपीति। आत्मनिष्ठत्वेऽपीत्यर्थः।

'अथवा'। एक में आश्रित होने के कारण एकता नहीं कही जा सकती क्योंकि रूप और संयोग की भी एकता प्रसक्त हो जावेगी। यदि कहो कि 'संयोग में दूसरे की अपेक्षा होती है' तो यहाँ पर भी व्यङ्ग्य के उपकारक वाच्य की अपेक्षा है ही इस प्रकार यह पहले के समान है। यह मेरा पक्ष स्थित नहीं है, अपि तु अविवेकियों के अभिप्राय से भी शौर्य इत्यादि के शरीरधर्म के समान इनका शब्दधर्मत्व मान लिया जावे। निस्सन्देह अविवेकी औपचारिकत्व ( गौणत्व ) का विभेद करने में असमर्थ होता है। तथापि कोई दोष नहीं है इस आशय से यह कहा है यह कहते हैं—'शब्दधर्मत्व' इत्यादि। 'अन्याश्रयत्व मे भी' अर्थात् आत्मनिष्ठत्व में भी।

तारावती

'उस अङ्गी अर्थ ( रस ) का जो आश्रय लेते हैं वे गुण माने गये हैं। कटक इत्यादि के समान अलङ्कार अङ्गाश्रित माने जाने चाहिये।'

आशय यह है कि अलङ्कारों का आश्रय शब्द और अर्थ होते हैं और गुणों का आश्रय रस होते हैं। अतः संघटना गुणों का आश्रय नहीं मानी जा सकती।

अथवा गुणों को शब्द के आश्रय में रहनेवाला भी माना जा सकता है। ( प्रश्न ) यदि गुण शब्दाश्रित ही होते हैं तो वे अनुप्रास इत्यादि के समान क्यों

## ध्वन्यालोकः

ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्सङ्घटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव। न ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्। वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।

(अनु०) (प्रश्न) यदि गुण शब्दाश्रय होते हैं तो उनका संघटनारूपत्व अथवा संघटनाश्रयत्व प्राप्त ही हो गया। निस्सन्देह असंघटित शब्द वाचक न होने के कारण अर्थविशेष के द्वारा प्रतिपाद्य रस इत्यादि के आश्रित गुणों के कभी आश्रय नहीं होते। (उत्तर) यह बात नहीं है। क्योंकि इस बात का प्रतिपादन किया ही जा चुका है कि रस इत्यादि की व्यञ्जना वर्ण और पद इत्यादि से होती है।

## तारावती

नहीं हो जाते? (उत्तर) अनुप्रास इत्यादि शब्द का ऐसा धर्म होते हैं जिनमे अर्थ की अपेक्षा नहीं होती यह बात पहले ही बतलाई जा चुकी है। इसके प्रतिकूल गुण शब्द का ऐसा धर्म होते है जो व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करनेवाले वाच्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ हों। (प्रश्न) गुण भी शब्दाश्रित होते है और अनुप्रास इत्यादि भी शब्दाश्रित ही होते है फिर एकाश्रय होने के कारण दोनों की तुल्यता क्यों नहीं हो जाती? (उत्तर) एकाश्रय मे रहने के कारण कभी दो वस्तुयें एक नही हो जाती। यदि एकाश्रय मे रहने के कारण दो वस्तुये एक हो जाती है तो रूप और संयोग भी एक हो जावेगे। क्योंकि एक ही द्रव्य कटक इत्यादि मे रूप भी रहता है और संयोग भी। (प्रश्न) सयोग को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा होती है रूप को नही। फिर दोनों एक कैसे हो सकते हैं? (उत्तर) यहाँ पर भी तो गुण को शब्द के अतिरिक्त व्यङ्ग्य के उपकारक वाच्य की अपेक्षा होती है। यह बात दोनो मे एक सी ही है। यहाँ पर ध्यान रखने की बात यह है कि गुण शब्दाश्रित नहीं होते फिर भी शब्द के आश्रित उसी प्रकार कहे जाते है जिस प्रकार शौर्य इत्यादि शरीर के धर्म नहीं होते वे आत्मा के धर्म होते हैं किन्तु कहे शरीर के धर्म जाते है। आशय यह है कि गुणों का शब्दधर्म होना मुख्य पक्ष नहीं है किन्तु जिस प्रकार अविवेकी लोग शौर्य इत्यादि को शरीर का धर्म न होते हुये भी शरीर का धर्म कहने लगते हैं (उसे ज्ञानी लोग भी औपचारिक या लाक्षणिक प्रयोग मानकर सहन कर लेते है।) उसी प्रकार यदि कोई अविवेकी चाहे तो गुणो को शब्दों का धर्म कह सकता है। क्योंकि अविवेकी वही होता है जो औपचारिक का भेद न कर सके अर्थात् यह न जान सके कि मुख्य क्या है और गौण क्या है? मुख्य पक्ष यही है कि गुण आत्मभूत रस के धर्म होते है। किन्तु यदि कोई उन्हें शब्दधर्म भी मानता है तो औपचारिक प्रयोग मानकर उसमें भी कोई दोष नहीं आता। इसी आशय से वृत्तिकार

## लोचन

शब्दाश्रया इति। उपचारेण यदि शब्देषु गुणास्तदेदं तात्पर्यम्—शृङ्गारादि रसाभिव्यञ्जकवाच्यप्रतिपादनसामर्थ्यमेव शब्दस्य माधुर्यम्। तच्च शब्दगतं विशिष्ट-घटनयैव लभ्यते। अथ सङ्घटना न व्यतिरिक्ता काचित्, अपितु सङ्घटिता एव शब्दाः तदाश्रिततं तत्सामर्थ्यमिति संघटनाश्रितमेवेत्युक्तं भवतीति तात्पर्यम्।

ननु शब्दधर्मत्वं शब्दैकात्मकत्वं वा तावतास्तु, किमयं मध्ये संघटनानुप्रवेश इत्याशङ्क्य स एव पूर्वपक्षवाद्याह—न हीति। अर्थविशेषैर्न तु पदान्तरनिरपेक्षशुद्धपद-

'शब्दाश्रय' इत्यादि। उपचार से यदि शब्दों मे गुण होते हैं तो यह तात्पर्य है—शृङ्गाररसाभिव्यञ्जक वाच्यप्रतिपादन सामर्थ्य ही शब्द का माधुर्य है। और शब्दगत वह (माधुर्य) विशिष्ट संघटना से ही प्राप्त होता है, यदि कहो कि सघटना कोई व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है अपितु संघटित शब्द ही (संघटना है) तात्पर्य यह है उन (संघटित शब्दों) के आश्रित वह पूर्वोक्त सामर्थ्य संघटनाश्रित ही है यह बात कही हुई हो जाती है।

'शब्दधर्मत्व अथवा शब्दैकाश्रयत्व उतने से ही (गुणों के शब्दाश्रयत्व से ही) सिद्ध हो जावे यह बीच मे संघटना का क्या अनुप्रवेश?' यह शङ्का करके वही पूर्वपक्षवादी कहता है—'नहि' इत्यादि। भाव यह है कि पदान्तरनिरपेक्ष शुद्ध पद

## तारावती

ने लिखा है कि 'अन्याश्रित होते हुये भी जिस प्रकार शौर्य इत्यादि शरीर के आश्रित कहे है उसी प्रकार गुण भी शब्दधर्म कहे जाते हैं।' यहाँ पर अन्याश्रित का अर्थ है आत्मनिष्ठ। अर्थात् जैसे आत्मनिष्ठ होते हुये भी शौर्य इत्यादि शरीर का धर्म कहे जाते हैं उसी प्रकार रसरूप आत्मनिष्ठ होते हुये भी गुण शब्दधर्म कहे जाते हैं।

(प्रश्न) यदि गुण शब्दाश्रित होते हैं तो उनका संघटनारूपत्व या सङ्घटना-श्रयत्व स्वभावतः सिद्ध हो गया। आशय यह है कि जब आप यह कहते हैं कि शब्दों मे गुणों का औपचारिक प्रयोग होता है तब उसका तात्पर्य यही माना जा सकता है कि शब्द की मधुरता शब्दों के उस सामर्थ्य को ही कहते हैं जिसके द्वारा ऐसे वाच्यार्थ का प्रतिपादन किया जा सके जो कि शृङ्गार इत्यादि रसों का अभिव्यञ्जक हो। यदि शब्दों मे इस प्रकार के वाच्यार्थ को प्रकट करने की शक्ति नहीं होती तो वहाँ पर शब्दों का माधुर्य भी नहीं माना जा सकता। शब्द के अन्दर वाच्यार्थ को कहने की शक्ति सङ्घटना के द्वारा ही आती है। क्योंकि सङ्घटना कोई पृथक् वस्तु तो है नहीं अपितु संघटित शब्दों को ही सङ्घटना कहते हैं। शब्दों मे व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जक वाच्यार्थ को प्रकट करने के सामर्थ्य का तात्पर्य यही है सङ्घटनाश्रित सामर्थ्य। (प्रतिप्रश्न) (प्रश्नकर्ता की इस स्थापना पर कि गुणों का

## लोचन

वाच्यैः सामान्यैः प्रतिपाद्या व्यङ्ग्या ये रसभावतदाभासतत्प्रशमास्तदाश्रितानां मुख्यतया तन्निष्ठानां गुणानामसङ्घटिता शब्दा न भवन्त्युपचारेणापीति भावः। अत्र हेतुः—अवाचकत्वादिति। न ह्यसङ्घटिता व्यङ्ग्योपयोगिनिराकाङ्क्षरूपवाच्यमाद्रियन्त इत्यर्थः। एतत्परिहरति—नैवमिति। वर्णव्यङ्ग्यो हि यावद्रस उक्तस्तावदवाचकस्यापि पदस्य श्रवणमात्रावसेयेन स्वसौभाग्येन वर्णवदेव यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्वं स्फुटमेव लभ्यत इति तदेव माधुर्यादीति किं सङ्घटनया। तथा च पदव्यङ्ग्यो यावद्ध्वनिरुक्तस्तावच्छुद्धस्यापि पदस्य स्वार्थस्मारकत्वेनापि रसाभिव्यक्तियोग्यार्थावभासकत्वमेव माधुर्यादीति तत्रापि कः सङ्घटनाया उपयोगः ?

वाच्य सामान्यों के द्वारा नहीं अपितु अर्थविशेषों के द्वारा रस, भाव, उनके आभास और उनके प्रशम ये जो व्यङ्ग्य, उनके आश्रित अर्थात् मुख्य रूप से उनमें रहनेवाले गुणों के आश्रय असंघटित शब्द उपचार के द्वारा भी नहीं हो सकते। इसमें हेतु है—'अवाचकत्व के कारण'। निस्सन्देह असंघटित (शब्द) व्यङ्ग्योपयोगी निराकांक्ष रूप वाच्य को नहीं कहते। इसका उत्तर देते हैं—'ऐसा नहीं है—' क्योंकि जब वर्णव्यंग्य भी रस बतलाया गया है तब अवाचक भी पद के श्रवणमात्र से ज्ञात होने योग्य अपने सौभाग्य से वर्ण के समान ही जो रसाभिव्यक्ति हेतुत्व स्पष्ट ही उपलब्ध होता है वही माधुर्य इत्यादि है। संघटना की क्या आवश्यकता ? और भी जब पदव्यङ्ग्य भी ध्वनि कही गई है तो शुद्ध भी पद के स्वार्थस्मारकत्व के द्वारा भी रसाभिव्यक्ति के योग्य अर्थ का अवभासन करना माधुर्य इत्यादि है, उसमें भी संघटना का क्या उपयोग !

## तारावती

शब्दाश्रितत्व और सङ्घटनाश्रितत्व दोनों एक ही वस्तुयें हैं अतः या तो संघटना और गुण एक ही तत्त्व हैं या गुण सङ्घटना के आधीन रहा करते हैं—एक प्रश्न और उत्पन्न होता है।) गुणों को हम शब्दधर्म मान सकते हैं या शब्दाश्रित मान सकते है। यह बीच में सङ्घटना क्यों सम्मिलित की जा रही है ! (प्रतिपक्षी) (उक्त प्रतिप्रश्न के उत्तर में प्रतिपक्षी अपने प्रश्न को और अधिक दृढ़ता तथा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत कर रहा है।) 'रसों की निष्पत्ति विशेष प्रकार के वाच्यार्थ द्वारा होती है। वे रस ही गुणों का आश्रय होते हैं। अतः रसों पर आश्रित रहनेवाले गुण कभी भी असङ्घटित शब्दों को अपने आश्रय के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि गुणों का आश्रय वे ही शब्द हो सकते हैं जिनमे वाच्यार्थ का पर्यवसान होकर रसनिष्पत्ति की भूमिका सम्पन्न हो सके। वाच्यार्थ का पर्यवसान कभी भी असङ्घटित शब्दों में नहीं होता। अतः गुणों के आश्रय भी असङ्घटित शब्द नहीं हो सकते। प्रतिपक्षी का मन्तव्य यह है कि रस, भाव, रसाभास, भावा-

तारावती

भाव, भावप्रशम इत्यादि सर्वदा व्यङ्ग्य ही होते हैं। इनकी व्यञ्जना विशेष प्रकार के अर्थों से ही होती है। (उस विशेष अर्थ को कहनेवाले सङ्घटित तथा साकांक्ष पद ही होते हैं।) रस इत्यादि की व्यञ्जना ऐसे शब्दों से कभी नहीं होती जिनको दूसरे पदों की अपेक्षा बिल्कुल न हो। जिनको केवल शुद्ध पद की संज्ञा प्रदान की जा सके और जो सामान्य रूप में अर्थ के बोधक हों अर्थात् जो केवल पदमात्र के अर्थ के परिचायक हों। इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यञ्जित करनेवाले वाच्यार्थ के बोधक शब्दों के आश्रित ही गुण मुख्य रूप में माने जाते हैं। इस प्रकार उन शब्दों मे रहनेवाले गुणों के आश्रय असङ्घटित शब्द उपचार से भी नहीं होते। उपचार से भी असङ्घटित शब्दों के गुणों के आश्रय न होने का हेतु है उन शब्दों का वाचक न होना। इसका अर्थ यह है कि असङ्घटित शब्द व्यङ्ग्योपयोगी निराकांक्ष वाच्यार्थ को कभी प्रकट नहीं कर सकते। इस प्रकार शब्दसङ्घटना को या तो गुणों से अभिन्न मानना चाहिये या गुणों का आश्रय मानना चाहिये। (प्रतिपक्षी की इस लम्बी-चौड़ी स्थापना का सार यही है कि सङ्घटित शब्द ही वाचक होकर व्यङ्ग्य रस की अभिव्यक्ति में निमित्त होते हैं और वे ही गुणों का आश्रय-औपचारिक रूप में ही सही, माने जाते है। असङ्घटित शब्द न वाचक होते है न व्यञ्जक। अतः गुण शब्दधर्म होते हैं कहने का स्पष्ट अर्थ यही है कि गुण और सङ्घटना या तो एक ही वस्तु है या गुण सङ्घटना के आश्रित रहते हैं।) अब इसका उत्तर दिया जा रहा है। (उत्तर) जब यह सिद्ध ही किया जा चुका कि वर्ण और पद से भी रस इत्यादि की व्यञ्जना होती है तब सङ्घटना निरपेक्ष गुणों के द्वारा रसाभिव्यक्ति के मानने मे आपत्ति ही क्या रह गई? वर्ण के द्वारा रसाभिव्यक्ति मानने से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ति मे अर्थ की बिलकुल अपेक्षा नहीं होती और पद के द्वारा रसाभिव्यक्ति के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पदान्तरनिरपेक्ष केवल स्वार्थ का बोधक भी पद अभिव्यञ्जक होता है। जब केवल वर्ण के द्वारा रसाभिव्यक्ति अङ्गीकृत की जा चुकी तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अवाचक पद भी रसाभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है जिसका सौभाग्य वर्ण के समान श्रवणमात्र से ज्ञात हो रहा हो। वही पद माधुर्य गुण की सीमा में आता है उसके लिये सङ्घटना की क्या आवश्यकता? इसी प्रकार जब पद को भी ध्वनि का अभिव्यञ्जक माना जा चुका है तब शुद्ध भी पद अपने अर्थ का स्मरण कराते हुये रस की अभिव्यक्ति के योग्य अर्थ को प्रकट कर देता है और उसी को माधुर्य इत्यादि गुणों के नाम से पुकारने लगते है उसमें भी सङ्घटना का क्या उपयोग? (उक्त विस्तृत विवेचन का निष्कर्ष यह है—

ध्वन्यालोकः

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचिन् सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसङ्घटनाशब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः।

(अनु०) रस इत्यादि की वाक्यव्यङ्ग्यता के अङ्गीकार कर लेने पर भी कोई भी निश्चित संघटना उनके आश्रयत्व को प्राप्त नहीं होती। अतएव अनियत संघटनावाले शब्द ही विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य से अनुगत होकर गुणों का आश्रय हो जाते है।

लोचन

ननु वाक्यव्यङ्ग्ये ध्वनौ तर्ह्यवश्यमनुप्रवेष्टव्यं सङ्घटनया स्वसौन्दर्यं वाच्यसौन्दर्यं वा तया विना कुत इत्याशङ्क्याह—अभ्युपगत इति। वा शब्दोऽपिशब्दार्थे, वाक्यव्यङ्ग्यत्वेऽपीत्यत्र योज्यः। एतदुक्तं भवति—अनुप्रविशतु तत्र सङ्घटना न हि तस्याः सन्निधानं प्रत्याचक्ष्महे। किन्तु माधुर्यस्य न नियता सङ्घटना आश्रयो वा स्वरूपं वा

'तो वाक्यव्यङ्ग्य ध्वनि मे अवश्य ही संघटना को प्रविष्ट होना चाहिये, स्वसौन्दर्य या वाच्यसौन्दर्य उसके विना कैसे?' यह शङ्का करके कहते हैं—'अभ्युपगते इति।' वा शब्द अपि शब्द के अर्थ मे है। यहाँ पर वाक्यव्यङ्ग्यत्व में भी यह योजना की जानी चाहिये। यह बात कही गई है—संघटना उसमे प्रवेश करे, उसकी निकटता का हम प्रत्याख्यान नहीं करते। किन्तु नियत संघटना न माधुर्य का आश्रय है और न स्वरूप। क्योंकि उसके विना

तारावती

(१) गुणो का आश्रय मुख्यरूप मे रस ही होत है किन्तु औपचारिक रूप मे उन्हे शब्दाश्रित भी माना जा सकता है। (२) गुणो का आश्रय बनने के लिये इस बात की आवश्यकता नहीं कि शब्द सङ्घठित ही हों, वर्ण और पद के समान असङ्घठित पद भी रसाभिव्यक्ति मे हेतु हो सकते है और वे ही माधुर्य इत्यादि गुणो के नाम से पुकारे जा सकते है। (३) इस प्रकार वामन का यह मत ठीक नहीं कि सङ्घटना और गुण दोनो एक ही है। (४) इसी प्रकार भट्टोद्भट का यह मत भी ठीक नहीं कि गुण सङ्घटना पर आधारित होते है।)

(प्रश्न) पदव्यङ्ग्यध्वनि मे सङ्घटना न भी मानें तब भी वाक्य से व्यक्त होनेवाली रसध्वनि मे सङ्घटना का प्रयोग होना ही चाहिये। विना सङ्घटना के वाक्य मे अपना सौन्दर्य किस प्रकार हो सकता है और वाच्यार्थ का भी सौन्दर्य किस प्रकार हो सकता है? (उत्तर) रसध्वनि की वाक्य से अभिव्यक्ति मानने पर भी कोई निश्चित सङ्घटना रसादिकों का आश्रय नहीं बनती। अतएव ऐसे शब्द जिनकी कोई सङ्घटना नियत न हो जब किसी विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य का अनुगमन

ध्वन्यालोकः

ननु माधुर्ये यदि नामैवमुच्यते तदुच्यताम्; ओजसः पुनः कथमनियत-सङ्घटनशब्दाश्रयत्वम्। न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते। उच्यते यदि न प्रसिद्धिमात्रग्रहदूषितं चेतरतदत्रापि न न ब्रूमः। ओजसः कथम-समासा सङ्घटना नाश्रयः? यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक्प्रतिपादितम्। तच्चौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्तत्को दोषो भवेत्। न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति। तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित् क्षतिः। तेषां तु चक्षुरादीनामिव यथास्वं विषयनियमितस्य न कदा-चिद्व्यभिचारः। तस्मादन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना। न च सङ्घटनाश्रिता गुणा इत्येकं दर्शनम्।

(अनु०) (प्रश्न) यदि माधुर्य के विषय में ऐसा कहा जाता है तो कहा जावे किस प्रकार अनियत संघटनावाले शब्द ओज के आश्रय हो सकते हैं? समासरहित संघटना कभी ओज के आश्रयत्व को प्राप्त नहीं हो सकती। इस पर कहा जा रहा है—यदि प्रसिद्धिमात्र के ग्रहण का दोष चित्त में न उत्पन्न हो गया हो तो वहाँ पर भी हम 'न' नहीं कह सकते (अर्थात् यह नहीं कह सकते कि असमासा संघटना से ओज की अभिव्यक्ति नहीं होती।) असमासा संघटना ओज का आश्रय क्यों नहीं हो सकती। क्योंकि रौद्र इत्यादि को प्रकाशित करनेवाली दीप्ति को निस्सन्देह ओज कहते हैं यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। वह ओज यदि असमासा संघटना में भी हो तो क्या दोष आजावेगा। यहाँ पर अचारुता सहृदयसंवेद्य है ही नहीं। अतएव गुणों का आश्रय अनियत संघटना को मानने पर कोई दोष नहीं आता। चक्षु इत्यादि के समान उन गुणों का स्वरूप सर्वदा विषय के द्वारा नियमित होता है और उसमें कभी व्यभिचार नहीं आता। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि गुण अन्य वस्तु हैं और संघटना अन्य वस्तु। संघटना के आश्रित गुण नहीं होते यह एक सिद्धान्त हुआ।

लोचन

तया विना वर्णपदव्यङ्ग्ये रसादौ भावान्माधुर्यादेः वाक्यव्यङ्ग्योऽपि तादृशीं सङ्घटनां विहायापि वाक्यस्य तद्रसव्यञ्जकत्वात्सङ्घटना सन्निहितापि रसव्यक्तावप्रयोजिकेति। तस्मादौपचारिकत्वेऽपि शब्दाश्रया एव गुणाः। इत्युपसंहरति—शब्दा एवेति।

वर्णपदव्यङ्ग्य रस इत्यादि में भी माधुर्य इत्यादि होता है। वाक्यव्यङ्ग्य में भी वाक्य की उस प्रकार की संघटना को छोड़कर के भी वाक्य के उस रस को व्यञ्जक होने के कारण सन्निहित भी संघटना रसाभिव्यक्ति में प्रयोजिका नहीं होती। इसलिये औपचारिकत्व में भी शब्दाश्रय ही गुण होते हैं। यह उप-संहार कर रहे हैं—'शब्द ही'।

## लोचन

ननिवति । वाक्यव्यङ्ग्यध्वन्यभिप्रायेणेदं मन्तव्यमिति केचित् ।

वयं तु ब्रूमः—वर्णपदव्यङ्ग्येऽप्योजसि रौद्रादिस्वभावे वर्णपदानामेकाकिनां स्वसौन्दर्यमपि न तादृगुन्मीलति तावद्यावत्तानि सङ्घटनाङ्कितानि न कृतानीति सामान्येनैवायं पूर्वपक्ष इति । प्रकाशयत इति । 'लक्षण हेत्वोः' इति शत् प्रत्ययः ।

'ननु इति ।' कुछ लोग यह कहते हैं कि वाक्य व्यङ्ग्य ध्वनि के अभिप्राय से यह माना जाना चाहिये ।

हम तो कहते हैं—वर्ण पद व्यङ्ग्य भी रौद्र इत्यादि स्वभाववाले ओजमें एकाकी वर्ण तथा पदों का स्वसौन्दर्य भी उतना तब तक नहीं होता जब तक संघटना से अङ्कित न किये गये हों.इस प्रकार सामान्यरूप से ही यह पूर्व पक्ष है । 'प्रकाशित करते हैं' लक्षण हेत्वोः' से शतृप्रत्यय हो जाता है ।

## तारावती

करते हैं तब वे शब्द ही गुणो का आश्रय हो जाते हैं । यहाँ पर 'अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे' में 'वा' का प्रयोग 'अपि' के अर्थ में हुआ है । इसीलिये यहाँ पर अर्थ किया गया है 'वाक्यव्यङ्ग्यत्व के स्वीकार कर लेने पर भी' । आशय यह है कि हम वाक्य में सङ्घटना का तो खण्डन करते ही नहीं । वाक्य में संघटना सन्निहित रहे; उसके सन्निधान मे हमें कोई आपत्ति नहीं । किन्तु कोई भी निश्चित संघटना न तो माधुर्य का आश्रय होती है और न उसका स्वरूप ही होती है । क्योंकि जबकि बिना संघटना के वर्ण और पद से व्यक्त होनेवाले रस इत्यादि मे माधुर्य इत्यादि देखा जाता है तथा वाक्य के द्वारा व्यक्त होनेवाले रस इत्यादि में भी उस प्रकार की संघटना को छोड़कर अन्य प्रकार से भी वाक्य को संघटित कर देने पर भी वह वाक्य उस रस को अभिव्यक्त करता ही रहता है; इससे मानना पडेगा कि सन्निहित भी संघटना रसाभिव्यक्ति में प्रयोजिका नहीं होती । अतएव मानना ही पड़ेगा कि गौण प्रयोग होते हुये भी गुण शब्द के आश्रित ही होते हैं । इसीलिये वृत्तिकार ने उपसंहार करते हुए लिखा है कि 'शब्द ही विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य से अनुगत होकर गुणों का आश्रय बनते हैं ।' ( इस विवेचन का आशय यही है कि वर्ण और पद के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली रसध्वनि मे संघटना का प्रश्न उठता ही नहीं । वाक्यव्यङ्ग्य रसध्वनि में संघटना विद्यमान होती है किन्तु वह अभिव्यञ्जना की प्रयोजिका नहीं होती क्योंकि यदि वाक्य की संघटना को बदल कर उस वाक्य को अन्य प्रकार से संघटित कर दिया जावे तो भी रसध्वनि बनी ही रहती है । इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि असंघटित शब्द ही गुणों का आश्रय होते हैं ।)

## लोचन

**रौद्रादि प्रकाशनालक्ष्यमाणमोज इति भावः। न चेति। च शब्दो हेतौ। यस्मात् 'यो यः शस्त्रं' इत्यादौ नाचारुत्वं प्रतिभाति तस्मादित्यर्थः। तेषां त्विति। गुणानाम्। यथास्वमिति 'शृङ्गार एव परमो मनःप्रह्लादनो रसः' इत्यादिना च विषय नियम उक्त एव।**

अर्थात् ओज रौद्र इत्यादि के प्रकाशन से भलीभाँति लक्षित होता है। 'न च' इति। 'च' शब्द हेतु में है। अर्थात् क्योंकि 'यो यः शस्त्रं' इत्यादि में अचारुता प्रतीत नहीं होती इसलिये। 'उनका तो' अर्थात् गुणों का। 'यथास्वम्' इति। 'शृङ्गार ही मनका परम प्रल्हादन रस है' इसके द्वारा विषयनियम कह ही दिया गया है।

## तारावती

(प्रश्न) यदि आप माधुर्य के विषय मे यह बात कहना चाहें तो कह भी सकते है। (क्योंकि शृङ्गार की व्यञ्जना अधिकतर तो समासरहित संघटना से ही होती है; किन्तु कभी-कभी दीर्घसमासवाली संघटना से भी शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः माधुर्य गुण के विषय में संघटना के नियत होने का नियम नहीं रहा।) किन्तु ओज गुण के लिये आप यह किस प्रकार कह सकते है कि ओज ऐसे शब्दों के आधीन रहता है जिनकी संघटना नियत नहीं होती? किन्हीं लोगों ने (चन्द्रिकाकार ने) माना है कि यह पूर्वपक्ष वाक्यव्यङ्ग्य रस इत्यादि के विषय मे ही है (क्योंकि संघटना वाक्य में ही सम्भव है।) इस पर हमारा (लोचन-कार का) कहना यह है कि यह बात आप केवल वाक्य-व्यङ्ग्य ध्वनि के विषय में ही नहीं सकते किन्तु यही बात आप वर्ण और पद व्यङ्ग्य ध्वनि के विषय मे भी कह सकते हैं। कारण यह है कि रौद्रादि स्वभाववाला ओज गुण जहाँ पर वर्ण या पद के द्वारा प्रकाशित होगा वहाँ पर अकेला वर्ण या अकेला पद किसी प्रकार भी अपनी उतनी सुन्दरता प्रकट नहीं कर सकेगा जितनी संघटना से अङ्कित होकर कर सकेगा। आशय यह है कि ओजगुण सर्वदा संघटना के ही आश्रित होता है वह माधुर्य इत्यादि के समान कभी संघटना से पृथक् रह ही नहीं सकता। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष सामान्यतया ओजगुण के विषय में ही है केवल वाक्यव्यङ्ग्य रसध्वनि के विषय में नहीं। (उत्तर) यदि प्रसिद्धिमात्र को मानने का दोष चित्त मे उत्पन्न न हो गया हो तो इसका उत्तर भी नहीं दिया जा सकता यह बात नहीं। (आशय यह है कि यह बात प्रसिद्ध हो गई है कि ओजगुण मे दीर्घसमास का होना अनिवार्य है। प्रतिपक्षी केवल उसी प्रसिद्धि को लेकर अपनी बात पर डटा हुआ है और जैसे-तैसे उस पुरानी बात को सिद्ध करना चाहता है। किन्तु विचार उन्मुक्त होने चाहिये। पुरानी लकीर का फकीर होना भी एक दोष है। यदि दोष को छोड़ दिया जावे तो सरलतापूर्वक समझ मे आ सकता

ध्वन्यालोकः

अथवा सङ्घटनारूपा एव गुणाः। यत्तूक्तम्—'सङ्घटनावद्गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति। लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति। तत्राप्येतदुच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितविषयव्यभिचारस्तद्विरूपमेवास्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत्? कविशक्तितिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः—कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात्कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते। परिकरश्लोकश्चात्र—

(अनु०) अथवा सङ्घटनारूप ही गुण होते हैं। जोकि यह कहा गया था कि 'सङ्घटना के समान गुणों की भी अनियतविषयता प्राप्त हो जावेगी क्योंकि लक्ष्य में व्यभिचार देखा जाता है।' उस पर यह कहा जा रहा है कि जिस लक्ष्य मे परिकल्पित विषय का व्यभिचार देखा जावे उसको विरूप ही मान लिया जाना चाहिये। उस प्रकार के विषय मे सहृदयों को अचारुता का अवभास क्यों नहीं होता इसका उत्तर यह है कि वहाँ पर अचारुता कविशक्ति से तिरोहित हो जाती है। दो प्रकार का दोष होता है—कवि की अव्युत्पत्ति से उत्पन्न और कवि की अशक्ति से उत्पन्न। उसमे अव्युत्पत्तिकृत दोष कभी-कभी कवि की शक्ति से तिरोहित होकर प्रतीत नहीं होता। किन्तु अशक्तिकृत दोष तो शीघ्र ही प्रतीत हो जाता है। इस विषय मे एक परिकर श्लोक भी है—

लोचन

अथ वेति। रसाभिव्यक्तावेतदेव सामर्थ्यं शब्दानां यत्तथा तथा संघटमानत्वमिति भावः।

'अथवा' यह। भाव यह है कि रसाभिव्यक्ति में शब्दों का इतना ही सामर्थ्य है कि उस प्रकार से संघटित कर दिये जावें।

तारावती

है कि ओज के लिये दीर्घ समास का होना अपरिहार्य नहीं है।) असमासा संघटना ओज को प्रकाशित क्यो नहीं कर सकती? यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि रौद्र इत्यादि रसों को प्रकाशित करनेवाली दीप्ति को ओज कहते हैं। यहाँ पर 'प्रकाशयतः' इस शब्द मे शतृप्रत्यय 'लक्षणहेत्वोः' इस पाणिनिसूत्र से हुआ है। इसका अर्थ यह है कि रौद्र इत्यादि के प्रकाशन से ही ओज लक्षित होता है। यदि वह ओज समास रहित सङ्घटना के द्वारा भी हो तो क्या दोष हो जावेगा? 'योयः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि पद्य मे कोई अचारुता तो प्रतीत नहीं होती। अतएव यदि गुणों को असङ्घटित शब्दों के आश्रित मानें तब भी कोई दोष नहीं होता। गुणो के विषय तो उसी प्रकार नियत है जिस प्रकार इन्द्रियो के

तारावती

विषय नियत होते हैं। जैसे इन्द्रियों के विषयों में कभी व्यभिचार नहीं आता उसी प्रकार गुणों के विषयों में भी कभी व्यभिचार नहीं आता। (आशय यह है कि जिस प्रकार नेत्र का विषय है रूप और कान का विषय है शब्द। ये विषय नियत हैं। कभी ऐसा नहीं हो सकता कि कानों का कार्य आँख करने लगे और आँख के विषय रूप को कान देखने लगे। इसी प्रकार गुणों का विषय व्यवस्थित है। माधुर्य का स्थान ओज नहीं ले सकता और ओज का स्थान माधुर्य नहीं ले सकता।) इन गुणों का अपना क्षेत्र नियत होता है यह बात—'शृङ्गार एव परमः परः प्रह्लादनो रसः' इत्यादि कारिकाओं में कह दी गई है और वहाँ पर गुणों के विषय नियत कर दिये गये हैं। अतएव गुण अन्य होते हैं और सङ्घटना अन्य होती है। गुण सङ्घटनाओं के आश्रित भी नहीं होते। यह हुआ एक पक्ष।

(२) दूसरे मत के अनुसार सङ्घटना और गुण दोनों एक ही वस्तु हैं। गुण सङ्घटना का रूप ही होते हैं। आशय यह है कि रसाभिव्यक्ति मे शब्दों की यही सामर्थ्य है कि शब्द विभिन्न रूप में सङ्घटित हों तभी वे रसाभिव्यञ्जक हो सकते हैं। विरोधियों की ओर से जो यह कहा गया था कि यदि सङ्घटना और गुण एक ही होते हैं तो जिस प्रकार सङ्घटना का विषय नियत नहीं होता उसी प्रकार गुणों मे भी अनियतविषयता आ जावेगी। किन्तु वास्तव मे ऐसा नहीं होता अपितु लक्ष्य में इसका अपवाद देखा जाता है। इत्यादि। इस पर मेरा उत्तर यह है कि सङ्घटना का भी विषय नियत होता है और गुणों का भी। जहाँ कहीं कल्पित विषय मे व्यभिचार देखा जावे वहाँ कमी ही समझी जानी चाहिये। इस प्रकार के विषय मे सहृदयों को अचारुता का आभास क्यों नहीं मिलता? इसका उत्तर यही है कि ऐसे स्थानों पर दोष कवि की शक्ति से तिरोहित हो जाता है। दोष दो प्रकार का होता है—(१) व्युत्पत्ति की कमी से होनेवाला और (२) शक्ति की कमी से होनेवाला। शक्ति उस प्रतिभा को कहते हैं जिससे कवि मे वर्णनीय वस्तु के विषय में नवीनरूप में उल्लेख करने की क्षमता आ जाती है और व्युत्पत्ति निपुणता को कहते हैं जिससे वर्णनीय वस्तु के उपयोग में आनेवाली समस्त वस्तु के पौर्वापर्य के परामर्श करने की योग्यता उत्पन्न हो। व्युत्पत्ति की कमी से जो दोष उत्पन्न होता है वह शक्ति से तिरस्कृत होकर कभी-कभी लक्षित नहीं होता; किन्तु जो दोष शक्ति की कमी से उत्पन्न होता है वह एकदम लक्षित हो जाया करता है। यही बात एक प्रसिद्ध श्लोक में कही गई है:—

ध्वन्यालोकः

'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥'

तथा हि—महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसंभोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते। यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्।

(अनु०) 'अव्युत्पत्तिकृतदोष कवि शक्ति से संवृत हो जाता है; किन्तु जो उसका अशक्तिकृतदोष होता है वह शीघ्र ही अवभासित होने लगता है।'

वह इस प्रकार—महाकवियों को भी उत्तमदेवताविषयक प्रसिद्ध सम्भोग-शृङ्गार के निबन्धन इत्यादि का अनौचित्य शक्ति के द्वारा तिरस्कृत होने के कारण ग्राम्यत्व के रूप में प्रतिभासित नहीं होता। जैसे कुमारसम्भव में देवी का सम्भोगवर्णन।

लोचन

शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्। व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम्। तस्येति कवेः। अनौचित्यमिति। आस्वादयितृणां यः चमत्कारविघातस्तदेव रससर्वस्वम्, आस्वादायत्तत्वात्। उत्तमदेवतासम्भोगपरामर्शे च पितृसमभोग इव लज्जातङ्कादिना कश्चमत्कारावकाश इत्यर्थः। शक्तितिरस्कृतत्वादिति। सम्भोगोऽपि ह्यसौ वर्णितस्तथा प्रतिभानवता कविना यथा तथैव विश्रान्तं हृदयं पौर्वापर्यपरामर्शं कर्तुं न ददाति यथा निर्व्याजपराक्रमस्य पुरुषस्याविषयेऽपि युद्ध्यमानस्य तावत्तस्मिन्नवसरे साधुवादो वितीर्यते न तु पौर्वापर्यपरामर्शे, तथाऽत्रापीति भावः।।

शक्ति अर्थात् प्रतिभा अर्थात् वर्णनीय वस्तु के विषय मे नूतन उल्लेखशाली होना। व्युत्पत्ति अर्थात् उसमे उपयोगी समस्त वस्तु के पौर्वापर्य परामर्श की कुशलता। उसका अर्थात् कवि का। 'अनौचित्य' अर्थ यह है कि आस्वाद करनेवालों के चमत्कार का विघात न होना वही रस का सर्वस्व है क्योंकि आस्वाद के आधीन होता है। उत्तमदेवता के सम्भोग के परामर्श मे पिता के सम्भोग के समान लज्जा और आतङ्क इत्यादि से चमत्कार का अवकाश ही क्या है?

'शक्तितिरस्कृत होने से' यह सम्भोग भी प्रतिभाशाली कवि के द्वारा ऐसा वर्णित किया गया है जैसे उसी में विश्रान्त हृदय पौर्वापर्य परामर्श करने नहीं देता जैसे व्याजरहित पराक्रमवाले तथा विना अवसर युद्ध करनेवाले पुरुष को उस अवसर पर साधुवाद दे दिया जाता है किन्तु पौर्वापर्य परामर्श मे नहीं, वैसा ही यहाँ पर यह भाव है।

ध्वन्यालोकः

एवमादौ विषये यथौचित्यत्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे। शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते। तथा हि शक्तिरहितेन कविना एवंविधे विषये शृङ्गार उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते। नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति' इत्यादौ किमचारुत्वम्? अप्रतीयमानमेवारोपयामः।

(अनु०) इत्यादि विषय में जिस प्रकार औचित्य का त्याग नहीं होता वैसा आगे दिखलाया ही गया है। शक्तितिरस्कृतत्व का निर्णय अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा होता है। वह इस प्रकार कि शक्तिरहित कवि के द्वारा इस प्रकार के विषय में निबद्ध किया हुआ शृङ्गार स्फुटतया दोष के रूप में अवभासित होता है। (प्रश्न) इस पक्ष में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में क्या अचारुता है? (उत्तर) हम तो प्रतीत न होनेवाली अचारुता का ही आरोप करते हैं।

लोचन

दर्शितमेवेति। कारिकाकारेणेति भूतप्रत्ययः। वक्ष्यते हि 'अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्' इत्यादि। अप्रतीयमानमेवेति। पूर्वापरपरामर्शविवेकशालिभिरपीत्यर्थः।

'दिखलाया ही है' यह कारिकाकार ने अतः भूत अर्थ मे प्रत्यय (क्त) है। निस्सन्देह कहेंगे—'अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का कोई कारण नहीं इत्यादि। 'अप्रतीयमान नहीं' अर्थात् पूर्वापर विवेकशालियों के द्वारा भी।

तारावती

'अव्युत्पत्ति से होनेवाला दोष कवि की शक्ति से संवृत हो जाता है, किन्तु अशक्ति से उत्पन्न दोष शीघ्र ही प्रकट हो जाया करता है।'

उदाहरण के लिये एक सामान्यनियम है कि उत्तम देवता के विषय में सम्भोग-वर्णन अनुचित हुआ करता है। किन्तु महाकवियों ने जहाँ उत्तम देवताविषयक सम्भोगशृङ्गार का वर्णन किया है वह न तो अनुचित ही मालूम पड़ता है और न उसमे ग्राम्यता ही आती है। कुमारसम्भव मे देवी का सम्भोगवर्णन भी इसी प्रकार का है। उसमें अनौचित्य का प्रतिभास नहीं होता। इसमें यही प्रमाण है कि आस्वाद लेनेवालों को चमत्कार के विघात की यहाँ पर प्रतीति नहीं होती। यही एक सबसे बडा प्रमाण है; क्योंकि रसका सर्वस्व आस्वाद के ही आधीन हुआ करता है। जहाँ कहीं उत्तम देवता के सम्भोग शृङ्गार का विस्तृत निबन्धन उपस्थित किया जाता है वह माता-पिता के सम्भोग के समान लज्जा और आतङ्क इत्यादि को उत्पन्न करनेवाला होता है। अतः उसमे चमत्कार का अवकाश ही कहाँ होता है? 'शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण' कहने का आशय यह है कि

## तारावती

प्रतिभाशाली कवि ( कालिदास ) ने शिवपार्वती के सम्भोग का वर्णन इतनी निपुणता से किया है कि सहृदयो का हृदय उसी वर्णन में विश्रान्त होकर रह जाता है और पाठकों को अवकाश ही प्राप्त नहीं होता कि वे पौर्वापर्य का परामर्श कर सके तथा उसके अनौचित्य पर ध्यान दे सके। जैसे–यदि कोई पराक्रमशाली व्यक्ति किसी अनुचित पक्ष को लेकर युद्ध कर रहा हो तो भी उस अवसर पर एक-बार साधुवाद निकल ही जाता है। पौर्वापर्य के परामर्श में वह बात नहीं होती। वैसा ही यहाँ पर समझना चाहिये। इस प्रकार के विषयों में जिस प्रकार औचित्य का त्याग नहीं होता—उसकी व्याख्या आगे कर दी गई है। यहाँ पर वृत्तिकार ने 'कर दी गई है' इस भूतकाल का प्रयोग किया है जबकि 'की जावेगी' इस भविष्य-त्काल का प्रयोग होना चाहिये। भूतकाल का प्रयोग करने का कारण यह है कि कारिकाकार ने तो पहले ही व्याख्या कर दी थी। वृत्तिग्रन्थ का प्रणयन बाद मे हुआ। ध्वनिकार ने कारिकायें पहले बनाई थीं। अतः कारिका के प्राक्तनत्व को लेकर यहाँ पर भूतकाल का प्रयोग कर दिया गया है। आगे चल कर कारिका आवेगी—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।' वहीं पर बतलाया जावेगा कि ऐसे विषयों मे औचित्य का त्याग क्यों नहीं होता? अन्वय-व्यतिरेक से इस बात का निश्चय किया जाता है कि कहाँ पर अनौचित्य शक्ति के द्वारा तिरस्कृत हुआ है, कहाँ पर नहीं। वह इस प्रकार कि यदि शक्तिरहित कवि उत्तमदेवता के विषय मे शृङ्गार रस का उपनिबन्धन करने लगे तो वहाँ पर स्फुट रूप में दोष मालूम पड़ने लगेगा। ( अन्वय इस प्रकार होगा—'जहाँ अच्छा कवि वर्णन करता है वहाँ अदोषता होती है।' व्यतिरेक इस प्रकार होगा—'जहाँ कवि अच्छा नहीं होता वहाँ अदोषता भी नही होती।' यहाँ पर ग्रन्थकार का आशय यह है कि कविवर कालिदास ने इतनी प्रौढ़ता के साथ भगवती पार्वती के सम्भोग शृङ्गार का वर्णन किया है कि जब हम उसे पढ़ने लगते हैं तब काव्य की प्रौढ़ता मे इतने निमग्न हो जाते हैं कि हमे ध्यान ही नहीं रहता कि हम उत्तमदेवताविषयक शृङ्गार का आस्वादन कर रहे हैं। जब हमे कोई विशेष रूप से स्मरण दिलाता है कि यह वर्णन तो उत्तमदेवता के विषय में है अतः माता पिता के सम्भोगवर्णन के समान सर्वथा अनुचित है तब हमारा ध्यान उस ओर जाता है। इस प्रकार काव्य का अनौचित्य कवि की शक्ति से दब जाया करता है। यही बात सङ्घटना के विषय मे समझनी चाहिये। नियमानुकूल शृङ्गार मे असमासा सङ्घटना ही होनी चाहिये, रौद्र रस में दीर्घसमासा सङ्घटना ही होनी चाहिये। जहाँ इस नियम का अतिक्रमण किया जाता है वहाँ अनौचित्य तो होता है, किन्तु कवि की प्रतिभा के

ध्वन्यालोकः

तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चिन्नियम-हेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते—

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ६ ॥

(अनु०) अतएव सङ्घटना के गुणों के व्यतिरिक्त होने पर अथवा गुणरूप होने पर नियम का कोई और हेतु कहा जाना चाहिये । अतः कहा जा रहा है—

'उसके नियम मे वक्ता और वाच्य का औचित्य हेतु होता है' ॥ ६ ॥

लोचन

गुणव्यतिरिक्तत्व इति । व्यतिरेकपक्षे हि संघटनाया नियमहेतुरेव नास्ति । ऐक्य-पक्षेऽपि न रसो नियमहेतुरित्यन्यो वक्तव्यः । तन्नियम इति कारिकावशेषः । कथां नयति स्वकर्तव्याङ्गभावमिति कथानायको यो निर्वहणे फलभागी ।

'गुण व्यतिरिक्तत्व में' । व्यतिरेकपक्ष मे सङ्घटना का नियम हेतु ही नहीं होता ऐक्य पक्ष में भी रस नियम का हेतु नहीं होता अतः अन्य कहना चाहिये ।

'तन्नियम' यह कारिका का अवशेप अंश है । कथा को अपने कर्तव्य के अङ्ग भाग के रूप मे ले चलता है वह कथानायक ( होता है ) अर्थात् निर्वहण में फलभागी ।

तारावती

प्रभाव से वह अनौचित्य लक्षित नहीं होता । ) ( प्रश्न ) इस पक्ष मे 'यो यः शस्त्रं विभर्ति' इस पद्य में क्या अचारुता है ? ( उत्तर ) यहाँ पर कोई न कोई अचारुता तो है ही; किन्तु वह कविप्रतिभा से ऐसी दब गई है कि पूर्वापर विवेचन का विवेक रखने वाले भी उसे जान नहीं पाते । यदि हम इस पक्ष को सिद्ध ही करना चाहते हैं कि सङ्घटना और गुण एक ही है या सङ्घटनाश्रित गुण होते हैं तो 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' में ऐसी अचारुता का आरोप करना ही पड़ेगा जो प्रतीतिगोचर नहीं हो रही है । ( किन्तु यह अच्छी बात नहीं है कि एक ठीक निर्दुष्ट पद्य को हम बलात् केवल इसलिये दूपित कह दें कि हमें एक अपना पक्ष सिद्ध करना है और वह दोष भी ऐसा है जो किसी की भी समझ में नहीं आता । )

अतएव यदि आपको इस बात का आग्रह ही है कि सङ्घटना और गुण की एकता या व्यतिरेक में सङ्घटनाश्रितत्व सिद्ध हो जावे तो औचित्य का नियामक रस को न मानकर किसी दूसरे तत्त्व को मानना पड़ेगा । क्योंकि यदि सङ्घटना और गुण दोनों पृथक् पृथक् तत्त्व हैं तब तो नियम का कोई हेतु है ही नहीं तो रस नियम का हेतु नहीं हो सकता । इसीलिये औचित्य का नियामक कोई दूसरा तत्त्व मानना पड़ेगा । अतः छठी कारिका के उत्तरार्ध से औचित्य के दूसरे निमित्तों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

ध्वन्यालोकः

तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा, रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा। कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः। वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्। तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव। यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासमध्यसमासे एव सङ्घटने।

(अनु०) उसमे वक्ता या तो कवि होता है या कविनिबद्ध कोई पात्र। कविनिबद्ध भी या तो रसभाव से रहित होता है या रसभावसमन्वित। रस भी कथानायक के आश्रित होता है या उसके विपक्ष के आश्रित। कथानायक भी धीरोदात्त इत्यादि भेद से भिन्न प्रथम होता है या उसके बाद का—यही विकल्प हैं। वाच्य भी ध्वन्यात्मक रस का अङ्ग होता है या रसाभासाङ्ग, वाच्य अभिनेयार्थ होता है या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृत्याश्रय होता है या तद्भिन्न प्रकृत्याश्रय—इस प्रकार वाच्य बहुत प्रकार का होता है। उसमे यदि कवि रसभावरहित वक्ता है तब रचना में स्वेच्छाचार होता है और जब कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित होता है तब भी वही बात होती है। इसके प्रतिकूल जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता नियम से रसभाव से युक्त हो और रसप्रधानाश्रित होने के कारण ध्वनि का आत्मभूत ही हो तब नियम से ही असमास या मध्यसमासवाली सङ्घटना ही ( अपेक्षित होती है। )

लोचन

धीरोदात्तादीति। धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः, वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः, वीरशृङ्गारप्रधानो धीरललितः, दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीरप्रशान्त इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सात्वत्यारभटीकैशिकीभारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः। पूर्वः कथानायकस्तदनन्तर उपनायकः। विकल्पा इति वक्तृभेदा इत्यर्थः।

वाच्यमिति। ध्वन्यात्मा ध्वनिस्वभावो यो रसस्तस्याङ्गं व्यञ्जकमित्यर्थः।

धीरोदात्त इत्यादि। धर्म और युद्ध वीर प्रधान धीरोदात्त ( होता है ) वीर और रौद्र प्रधान धीरोद्धत ( होता है। ) वीर शृंगार प्रधान धीरललित ( होता है ) दानवीर, धर्मवीर और शान्त प्रधान धीर शान्त ( होता है )। इस प्रकार चार नायक क्रमशः सात्वती, आरभटी, कौशिकी और भारती नामक वृत्तियों में प्रधान होते हैं। पहला कथानायक और उसके बाद का उपनायक ( होता है )। 'विकल्प' अर्थात् वक्ता के भेद। 'वाच्य यह' ध्वन्यात्मक अर्थात् ध्वनि स्वभाववाला जो रस उसका अङ्ग अर्थात् व्यञ्जक।

## तारावती

'वक्ता और वाच्य का औचित्य सङ्घटना के नियम मे हेतु होता है' ॥ ६ ॥

'तन्नियम' इत्यादि भाग छठी कारिका का शेष अंश है । वक्ता और वाच्य के औचित्य के आधार पर सङ्घटना के नियमों पर विचार करने के पहले सङ्घटना के दृष्टिकोण से वक्ता और वाच्य के भेदोपभेद कर लेना उचित प्रतीत होता है । उसमें वक्ता दो प्रकार का हो सकता है या तो कवि या कविनिबद्ध कोई पात्र । कविनिबद्धपात्र भी दो प्रकार का हो सकता है रस और भाव से रहित तथा रस और भाव से युक्त । रस भाव युक्त वक्ता भी दो प्रकार का हो सकता है कथानायक के आश्रित रस से युक्त और कथानायक के विरोधी व्यक्ति मे रहनेवाले रस से युक्त । ( 'कथानायक' शब्द कथा उपपद नीधातु से कर्ता के अर्थ मे ण्वुल् प्रत्यय होकर बना है ) इस कथानायक शब्द का अर्थ होता है कथा को अपने कर्तव्य का अङ्गभूत बनानेवाला व्यक्ति जो कि निर्वहण मे फल का भागी हो । कथानायक के धीरोदात्त इत्यादि भेद होते है— नायक चार प्रकार का होता है—( १ ) धीरोदात्त उसे कहते है जिसमे धर्मवीर तथा युद्धवीर की प्रधानता हो । ( २ ) धीरोद्धत उसे कहते है जिसमे वीररस और रौद्र रस की प्रधानता हो । ( ३ ) धीरललित उसे कहते हैं जिसमें वीररस और शृङ्गार रस की प्रधानता हो । ( ४ ) धीरप्रशान्त उसे कहते है जिसमे दानवीर, धर्मवीर और शान्तरस की प्रधानता हो । इन चारो नायको में क्रमशः सात्वती, आरभटी, कैशिकी और भारती नामक वृत्तियों की प्रधानता होती है । ( इनके लक्षण अन्यत्र दिये गये हैं वहीं देखना चाहिये । शृङ्गाररस के नाम चार प्रकार के होते है अनुकूल, दक्षिण, शठ और धूर्त । इनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद होते है उत्तम, मध्यम और अधम । इनके भी लक्षण रसशास्त्रीय ग्रन्थों में दिये गये हैं वही देखना चाहिये) यह नायक भी दो प्रकार का होता है— या तो पहला या बाद का । पहला कथानायक होता है और बाद का उपनायक होता है । ( यह या तो कथानायक के अनुकूल हो सकता है या विरोधी । अनुकूल होगा तो अनुनायक या उपनायक कहलावेगा और प्रतिकूल होगा तो प्रतिनायक। ) नायकभेद के यही विकल्प है अर्थात् वक्ता के यही भेद है । इसी भाँति वाच्य भी कई प्रकार का होता है । एक तो ऐसा वाच्य जो ध्वनिस्वभाववाले रस का अङ्ग अर्थात् व्यञ्जक हो, दूसरा ऐसा वाच्य जो रसाभास का व्यञ्जक हो ।

वाच्यार्थ के पुनः दो भेद होते हैं अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ। इनके अतिरिक्त उसके दो भेद और होते हैं उत्तम प्रकृति का आश्रय लेनेवाला वाच्यार्थ और उससे भिन्न प्रकृति का आश्रय लेनेवाला वाच्यार्थ । इस प्रकार वाच्यार्थ के बहुत से प्रयोग होते हैं । यहाँ पर अभिनेयार्थ शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिये ।

## लोचन

अभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यैराभिमुख्यं साक्षात्कारप्रायं नेयोऽर्थो व्यङ्ग्यरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तदभिनेयार्थं वाच्यम्, स एव हि काव्यार्थ इत्युच्यते। तस्यैव चाभिनयेन योगः। यदाह मुनिः—'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति' इत्यादि तत्र तत्र। रसाभिनयनान्तरीयकतया तु तद्विभावादिरूपतया वाच्याऽर्थोऽभिनीयत इति वाच्यमभिनेयार्थमित्येषैव युक्ततरा वाचोयुक्तिः। नत्वत्र व्यपदेशिवद्भावो व्याख्येयः, यथान्यैः। तदितरेति। मध्यमप्रकृत्याश्रयमधमप्रकृत्याश्रयं चेत्यर्थः। एवं वक्तृभेदान् वाच्यभेदाँश्चाभिधाय तद्गतमौचित्यं नियामकमाह—तत्रेति।

अभिनेय अर्थात् वाणी अङ्ग सत्व और आहार्य के द्वारा आभिमुख्य अर्थात् साक्षात्कार की ओर ले जाया जानेवाला व्यङ्ग्यरूप अर्थात् ध्वनि स्वभाव वाला है अर्थ जिसका वह अभिनेयार्थ अर्थात् वाच्य। वही काव्यार्थ कहा जाता है। उसी का अभिनय से योग होता है। जैसा कि मुनि कहते हैं—'वाणी अङ्ग और सत्त्व से उपेत काव्यार्थों को भावित करते हैं' इत्यादि विभिन्न स्थानों पर। रसाभिनय मे अवश्यकर्तव्यता के रूप मे तो उसके विभावादि रूपता के कारण वाच्य अर्थ अभिनीत किया जाता है इसलिये वाच्य अभिनेयार्थ है यही अधिक उपयुक्त कथन है। यहाँ पर व्यपदेशिवद्भाव की व्याख्या नहीं की जानी चाहिये जैसी औरों ने की है। 'उससे भिन्न' मध्यमप्रकृत्याश्रय और अधमप्रकृत्याश्रय। इस प्रकार वक्ता के भेदों और वाच्य के भेदों को कहकर तद्गत औचित्य के नियामक को कहते है—'वहाँ पर'।

## तारावती

यह शब्द वाच्यार्थ का विशेषण है और इसमे बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह होगा—'अभिनय है अर्थ जिसका' अर्थात् अभिनेयार्थवाच्य उसे कहते हैं जिस वाच्यार्थ का अर्थ अभिनेय हो। अभिनेय शब्द दो शब्दो से मिलकर वना है अभि+नेय। 'अभि' का अर्थ है सामने और 'नेय' का अर्थ है ले आना। आशय यह है कि जिस वाच्यार्थ का अर्थ दर्शकों के सामने ले आया जावे उस वाच्यार्थ को अभिनेयार्थ वाच्य कहते हैं। कोई भी अर्थ चार प्रकार के अनुभावों के द्वारा सामने लाया जाता है—वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य। इनके द्वारा सामने लाया जानेवाला या प्रत्यक्ष कराया जानेवाला अर्थ व्यङ्ग्यार्थ ही होता है जिसका स्वभाव ध्वन्यात्मक हो अर्थात् जिस व्यङ्ग्यार्थ मे ध्वनिरूपता को धारण करने की क्षमता हो। अतएव अभिनेयार्थ वाच्यार्थ का निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि जिस वाच्यार्थ के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला ध्वनि के स्वभाववाला व्यङ्ग्यार्थ वाचिक, आङ्गिक,

तारावती

सात्त्विक और आहार्य इन चार प्रकार के अनुभावों के द्वारा प्रत्यक्ष रूपमें ( दर्शनीयरूप में ) सामने लाया जावे उस वाच्यार्थ को अभिनेयार्थ कहते हैं। उसी व्यङ्ग्यार्थ की संज्ञा काव्यार्थ भी होती है और उसी व्यङ्ग्यार्थ का अभिनेय से योग भी होता है । भरत मुनि ने विभिन्न स्थानों पर सङ्केत दिया है कि अभिनय व्यङ्ग्यार्थ का ही होता है । जैसा कि उन्होंने भावों की परिभाषा लिखते हुये लिखा है—"वाणी अङ्ग और सत्त्व से युक्त काव्यार्थों को ये भावित करते हैं।' अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वाच्यार्थ का योग अभिनय से सर्वथा नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि होता है । किन्तु होता इसी रूप में है कि रस अथवा भाव का अभिनय तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि रसके विभाव इत्यादि का भी अभिनय न किया जावे । इस प्रकार रसाभिनय के लिये विभाव इत्यादि के रूप में वाच्य का अभिनय भी अपरिहार्य ही है; अतएव वाच्यार्थ का भी अभिनय किया ही जाता है। यहाँ पर सारांश यह है कि यद्यपि वाच्यार्थ का भी अभिनय से योग होता है तथापि वाच्यार्थ को अभिनेयार्थ इसीलिये कहते हैं कि वाच्यार्थ के अर्थ ( व्यङ्ग्यार्थ ) का अभिनय किया जाता है—यही व्याख्या करनी चाहिये; क्योंकि यही अधिक उचित तर्क है अर्थात् बहुव्रीहि का अर्थ इसी व्याख्या मे ठीक बैठता है । कुछ लोगों ने ( चन्द्रिकाकार ने ) यह अर्थ किया है कि 'अभिनेय है अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ जिसका' इस प्रकार की व्याख्या करने मे दोष यह आता है कि 'जिस वाच्यार्थ का वाच्यार्थ अभिनेय है' इस अर्थ का क्या अभिप्राय होगा ? 'वाच्यार्थ का वाच्यार्थ' कहने का क्या अभिप्राय ? इसका उत्तर चन्द्रिकाकार ने यह दिया है कि यहाँ पर व्यपदेशिवद्भाव से भेद की कल्पना कर ली जावेगी अर्थात् व्याख्याता लोग किसी एक ही वस्तु में भेद की कल्पना कर उसे समझाया करते हैं । जैसे 'राहु का शिर' यद्यपि 'राहु' वास्तव में शिर को ही कहते हैं; राहु और शिर दोनों एक ही वस्तु है फिर भी समझाने के लिये भेदकल्पना की गई है । इसी प्रकार 'वाच्यार्थ का वाच्यार्थ' इसमें भी भेद की कल्पना कर लेनी चाहिये । किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है । '( क्योंकि एक तो व्यपदेशिवद्भाव अगतिकगति है दूसरे अभिनय भाव इत्यादि का ही होता है । अतः जब व्यङ्ग्यार्थ के अभिनयपरक अर्थ करने से सन्दर्भ ठीक बैठ जाता है तब व्यपदेशिवद्भावपरक व्याख्या करना ठीक नहीं । ) 'वाच्य के दो और भेद होते हैं—उत्तम प्रकृति के आश्रित और उससे भिन्न के आश्रित ।' यहाँ पर उससे भिन्न का आशय है मध्यम प्रकृति के आश्रित या अधम प्रकृति के आश्रित ।

## लोचन

रचनाया इति संघटनायाः । रसभावहीनोऽनाविष्टस्तापसादिरुदासीनोऽपीतिवृत्ताङ्गतया यद्यपि प्रधानरसानुयाय्येव, तथापि तावति रसादिहीन इत्युक्तम् । स एवेति कामचारः । एवं शुद्धवक्त्रौचित्यं विचार्य वाच्यौचित्येन सह तदेवाह—यदा त्विति । कविर्यद्यपि रसाविष्ट एव वक्ता युक्तः । अन्यथा 'स एव वीतरागश्चेत्'

रचना का अर्थात् सङ्घटना का रसभावहीन तापस इत्यादि उदासीन भी इतिवृत्ताङ्ग होने के कारण प्रधान रस का अनुयायी ही होता है तथापि उतने में रसभावहीन यह कह दिया गया । 'वही' अर्थात् कामचार । इस प्रकार वक्ता के शुद्ध औचित्य पर विचारकर वाच्यौचित्य के साथ उसी को कहते हैं—'जब तो' । कवि का यद्यपि रसाविष्ट वक्ता होना ही उचित है, नहीं तो 'यदि वह वीतराग हो'

## तारावती

इस प्रकार वक्ता के भेदों और वाच्य के भेदों का अभिधान कर दिया गया । अब उनके औचित्य के नियमक पर विचार किया जा रहा है—'जब कवि में रस भाव इत्यादि का समावेश न हो तथा कवि ही वक्ता हो तब स्वेच्छानुसार रचना किसी प्रकार की भी हो सकती है अर्थात् उसमें सङ्घटना का कोई विशेष नियम नहीं है ।' 'कवि रसभावहीन वक्ता हो' मे रसभावहीन का आशय यह है कि जब कवि मे किसी प्रकार के रस भाव इत्यादि का समावेश न हुआ हो । ( उदाहरण के लिये सूर तुलसी इत्यादि ने भक्ति-परक काव्य लिखा है और उनमे भक्ति का आवेश भी था । किन्तु कुछ ऐसे कवियों ने भी भक्ति-परक रचनायें की है जिनमे वस्तुतः भक्तिभावना विद्यमान नहीं थी । अथवा भक्त कवियों को भी प्रकरण वश ऐसे रसों का अभिव्यञ्जन करना पड़ा है जिनमें उनकी अन्तरात्मा आनन्द नहीं लेती थी । ऐसे अवसर पर यदि कवि मे रस का अभिनिवेश न हो तो उसे अधिकार है कि वह सङ्घटना के किसी भी प्रकार को अपना सकता है । आशय यह है कि कुछ तो प्रकरण ऐसे होते हैं जिनको कवि पूर्ण तन्मयता के साथ लिखता है और उनका प्रभाव पाठकों या दर्शकों पर भी जमाना चाहता है तथा कुछ प्रकरण ऐसे होते है जिनको कवि प्रकरण-वश लिखता तो है किन्तु उसका पूर्ण अभिनिवेश उसमे नहीं होता । यदि कवि इस प्रकार प्रकरण को चलते हुये रूप मे लिख रहा हो तो उसे अधिकार है कि चाहे जैसी शैली अपना सकता है । ) रसभावहीन का अर्थ है रसाभिनिवेश से रहित तपस्वी इत्यादि कोई उदासीन कवि । यद्यपि इस प्रकार का भी इतिवृत्त काव्य का अङ्ग होने के कारण प्रधान रस का अनुयायी होता है ( अतः उसे रसभावहीन कवि नहीं कह सकते ) तथापि उतने अंश मे अर्थात् अप्रधान रस मे वह रसभावहीन होता ही है

## लोचन

इति स्थित्या नीरसमेव काव्यं स्यात्। तथापि यदा यमकादिचित्रदर्शनप्रधानोऽसौ भवति, तदा रसादिहीन इत्युक्तम्। नियमेन रसभावसमन्वितो वक्ता न तु कथञ्चिदपि तटस्थः। रसश्च ध्वन्यात्मभूत एव न तु रसवदलङ्कारप्रायः। तदासमासामध्यसमासे एव संघटने, अन्यथा तु दीर्घसमासापीत्येवं योज्यम्। तेन नियमशब्दस्य द्वयोश्चैवकारयोः पौनरुक्त्यमनाशङ्क्यम्।

इत्यादि स्थिति से काव्य नीरस ही हो जावेगा। तथापि जब यह (कवि) यमक इत्यादि चित्र-दर्शन प्रधान होता है तब रसभावादिहीन कहा गया है। नियमपूर्वक वक्ता रसभाव इत्यादि से समन्वित ही होना चाहिये, किसी प्रकार भी तटस्थ नहीं। रस भी ध्वन्यात्मभूत ही होना चाहिये रसवदलङ्कारप्राय नहीं। तब असमासा और मध्यसमासा ही सङ्घटनायें (होती हैं), अन्यथा तो दीर्घसमासा भी हो सकती है—इस प्रकार की योजना करनी चाहिये। इससे नियम शब्द और दोनों एवकारों के पौनरुक्त्य की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

## तारावती

इसीलिये उसे रसभावहीन कहा गया है। (उदाहरण के लिये सूर का प्रधान अभिनिवेश कोमल रसों के लिखने में है। प्रसङ्ग-वश उन्होंने अघासुर-वध इत्यादि में कठोररस-परक भी रचना की है तथापि उसमें उनका पूर्ण अभिनिवेश नहीं था। अतः यद्यपि सूर सहृदयशिरोमणि कहे जाते हैं तथापि कठोर रसों के विषय मे वे रसभावहीन ही कहे जावेंगे और यदि उस प्रकार की रचना में उन्होंने सङ्घटना के औचित्य का उल्लङ्घन किया होगा तो वह आलोचकों की उपेक्षा का ही विषय होगा। किन्तु तुलसी के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उनका अभिनिवेश प्रायः सभी प्रकार के काव्य के विषय में था।) इसी प्रकार जब कवि-निबद्ध वक्ता रसभाव रहित हो तब वही बात अर्थात् रचना स्वेच्छानुसार कैसी भी हो सकती है। यहाँ तक शुद्धवक्ता के दृष्टिकोण से सङ्घटना के औचित्य का विचार कर दिया गया। अब वाच्यार्थ के औचित्य के साथ वक्ता के औचित्य पर विचार किया जा रहा है—'जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता नियम से रस और भाव से युक्त हो और रस प्रधान मे आश्रित होने के कारण ध्वनि की आत्मा के रूप में ही स्थित हो तब सङ्घटना असमास या मध्यसमास वाली ही होती है। किन्तु करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार मे सङ्घटना समासरहित ही होती है।'

यद्यपि कवि का सर्वदा रसाविष्ट वक्ता होना ही उचित है। नहीं तो जैसा कि कहा गया है कि 'यदि कवि वीतराग हो तो सारा काव्य नीरस हो जावेगा' इसके अनुसार काव्य मे नीरसता आ जावेगी तथापि कभी-कभी कवि का अभिनिवेश प्रधान-

ध्वन्यालोकः

करुणविप्रलम्भयोस्त्वसमासैव सङ्घटना।

कथमिति चेदुच्यते—रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदातत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः।

(अनु०) करुण और विप्रलम्भ मे तो असमासा सङ्घटना ही होती है। किस प्रकार? यदि यह कहो तो कहा जा रहा है—जब प्रधानतया रस का प्रतिपादन करना हो तब उसकी प्रतीति मे व्यवधान डालनेवालों तथा विरोधियों का सभी प्रकार से परिहार करना चहिये।

लोचन

कथमिति चेदिति। किं धर्मसूत्रकारवचनमेतदिति भावः। उच्यते इति। न्यायोपपत्त्येत्यर्थः। तत्प्रतीताविति। तदास्वादे ये व्यवधायका आस्वादविघ्नरूपा विरोधिनश्च तद्विपरीतास्वादमया इत्यर्थः।

'यदि कहो किस प्रकार' यह। भाव यह है कि क्या यह धर्म-शास्त्रकार का वचन है? 'कहा जाता है' अर्थात् न्याय्य उपपत्ति से। 'उसकी प्रतीति में' अर्थात् उसके आस्वाद मे जो व्यवधायक अर्थात् आस्वाद विघ्नस्वरूप विरोधी उससे विपरीत आस्वादमय।

तारावती

तया रसोन्मुख न होकर यमक इत्यादि अथवा चित्रकाव्यप्रदर्शनपरक हो जाता है उसी दशा मे कवि रसभावहीन कहा जाता है। (इसके अतिरिक्त कवि अपने प्रधान रस से भिन्न जब ऐसे विषय मे लिखने लगता है जिसका उसे चलता हुआ वर्णन करना है तब भी वह रसभावाभिनिवेश हीन ही कहा जाता है। आलोककार ने 'यदा तु कवि ·····संघटने' इस वाक्य के अन्त मे लिखा है 'नियमेनैव तत्रासमासे एव संघटने।' इस वाक्य का सीधा अर्थ यह होगा-नियम से ही असमास या मध्यसमास ही संघटनायें होती हैं। यहाँ पर एक तो नियम शब्द दूसरे दो वार 'ही' (एव) का प्रयोग पुनरुक्त हो जाते हैं और इनका कोई उपयोग नहीं रहता। अतः इस पुनरुक्ति को दूर करने के लिये इन शब्दों को वाक्य में विभिन्न स्थानो पर जोड़ देना शाहिये। नियम का अन्वय वक्ता से करना चाहिये अर्थात् जो वक्ता नियमपूर्वक रसभाव से युक्त हो अर्थात् किसी प्रकार भी तटस्थ न हो। प्रथम 'एव' शब्द को ध्वन्यात्मभूत के साथ जोड़ना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि रस ध्वन्यात्मभूत ही हो किसी प्रकार भी रसवदलङ्कारप्राय न हो। दूसरा 'एव' अपने ठीक स्थान पर (प्रयोग के स्थान पर) लग जाता है। उसका अर्थ हो जाता है—'तत्र सङ्घटना असमास या मध्यसमासवाली

ध्वन्यालोकः

एवं च दीर्घसमासा सङ्घटनासमासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये। ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात्स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति। रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यसमासा सङ्घटना कदाचिद्धीरोद्धतनायकाश्रयेण दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या। सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरससाधारणः सर्वसङ्घटनासाधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न प्रकाशयति। तस्मात्सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः।

(अनु०) और इस प्रकार समासों की अनेक प्रकार की सम्भावना के कारण दीर्घसमासा सङ्घटना कदाचित् रसप्रतीति में व्यवधान भी उपस्थित कर देती है। अतः उस दीर्घसमास में अत्यन्त आग्रह शोभित नहीं होता है। विशेष रूप से अभिनेयार्थ काव्य में। उससे भिन्न (श्रव्य काव्य में) विशेष रूप से करुण और विप्रलम्भ शृंगार में। उन दोनों के अधिक सुकुमार होने के कारण थोड़ी भी अस्वच्छता में शब्द और अर्थ की प्रतीति मन्थर हो जाती है। पुनः रौद्र इत्यादि दूसरे रस के प्रतिपादनीय होने पर मध्यसमासवाली सङ्घटना अथवा कदाचित् धीरोद्धत नायक से सम्बन्ध रखनेवाले क्रिया-कलाप का आश्रय लेने से दीर्घसमास भी उस वाच्य की अपेक्षा करने के कारण जो ऐसे रस के अनुकूल हो जिस (रस का) आक्षेप विना दीर्घसमास के हो ही न सके गुणहीन नहीं होता अतएव उसका भी अत्यन्त परिहार नहीं होना चाहिये। (जहाँ वाच्य विना दीर्घ समास के रस को अभिव्यक्त ही न कर सके वहाँ दीर्घसमास विगुण नहीं होता। अतः उसका भी परित्याग करना उचित नहीं है।) सब प्रकार की सङ्घटनाओं में प्रसाद नामक गुण व्यापक होता है। यह बतलाया जा चुका है कि वह सभी रसों में साधारण होता है तथा सभी सङ्घटनाओं में भी साधारण होता है। प्रसाद गुण का अतिक्रमण करने पर समासरहित सङ्घटना भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिव्यक्त नहीं करती। प्रसाद गुण के परित्याग न करने पर मध्यम समासवाली सङ्घटना भी (कोमल रसों को) प्रकाशित न करे—ऐसा नहीं होता। अतः सर्वत्र प्रसाद गुण का अनुसरण करना चाहिए।

लोचन

सम्भावनयेति। अनेकप्रकारः सम्भाव्यते संघटना तु सम्भावनायां प्रयोक्त्रीति द्वौ णिचौ। विशेषतोऽभिनेयार्थेति। अत्रुटितेन व्यङ्ग्येन तावत्समासार्थाभिनयो न शक्यः कर्तुम्। काक्वादयोऽन्तरप्रसादगानादयश्च। तत्र दुष्प्रयोजा बहुतरसन्देहप्रसरा च तत्र प्रतिपत्तिर्न नाट्येऽनुरूपा स्यात्। प्रत्यक्षरूपत्वात्तस्या इति भावः। अन्यत्र चेति अनभिनेयार्थेऽपि। मन्थरीभवतीति। आस्वादो विघ्नितत्वात्प्रतिहन्यत इत्यर्थः। तस्या दीर्घसमाससङ्घटनायाः य आक्षेपस्तेन विना यो न भवति व्यङ्ग्यामिव्यञ्जकस्तादृशो रसोचितो रसव्यञ्जकतयोपादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटनां प्रति सा अवैगुण्ये हेतुः। नायकस्याक्षेपो व्यापार इति यद्व्याख्यातं तन्न श्लिष्यतीत्यलम्।

'सम्भावना के द्वारा' अनेक प्रकार की सम्भावना की जाती है और सङ्घटना तो सम्भावना में प्रयोजिका होती है इस प्रकार दो णिच् (किये गये हैं) 'विशेषरूप से अभिनेयार्थ काव्य में'। बिना टूटे हुये व्यंग्य के द्वारा तो समासार्थ का अभिनय नहीं ही किया जा सकता। और काकु इत्यादि तथा प्रसादन के लिये अन्तर्गान इत्यादि। उसमें कठिनता से प्रयोग करने योग्य तथा बहुतर सन्देह-प्रसारवाली प्रतिपत्ति नाट्य के अनुरूप नहीं होगी। क्योंकि उसका रूप प्रत्यक्ष (हो जाता है) यह भाव है। 'और अन्यत्र' अर्थात् अनभिनेय अर्थ (वस्तु) में भी। 'मन्थर हो जाती है' अर्थात् विघ्नित होने के कारण आस्वाद प्रतिहत हो जाता है। उसका अर्थात् दीर्घसमास सङ्घटना का जो आक्षेप उसके बिना जो व्यंग्य का अभिव्यञ्जक नहीं होता उस प्रकार का रसोचित अर्थात् रसव्यञ्जकता के लिये ग्रहण किया हुआ जो वाच्य उसकी जो दीर्घसमाससङ्घटना के प्रति अपेक्षा वह अवैगुण्य में हेतु है। नायक का आक्षेप अर्थात् व्यापार जो यह व्याख्या की गई वह (हृदय में) जमती ही नहीं बस इतना पर्याप्त है।

तारावती

ही होती है नहीं तो दीर्घसमासवाली भी हो सकती है। इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये जिससे नियम शब्द तथा दोनों 'एव' शब्दों की पुनरुक्ति की आशङ्का न की जा सके। 'करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार में सङ्घटना समासहीन होनी चाहिये। (प्रश्न) यह कैसे? क्या यह धर्मशास्त्र का वचन है जोकि इसका निर्देश मानना अनिवार्य हो? (उत्तर) यह बात तो न्यायानुकूल ही सिद्ध हो जाती है जब प्रधानतया रस का प्रतिपादन किया जा रहा हो तब उसकी प्रतीति मे व्यवधायक हो अर्थात् जातत्व रसास्वदन मे विघ्नकारक हों अथवा विरोधी हो अर्थात् उससे विपरीत आस्वाद को उत्पन्न करनेवाले हों उनका तो पूर्ण रूपमें

परित्याग ही करना चाहिये । अब ऐसी सङ्घटना की बात लीजिये जिसमें लम्बे समास किये गये हों । समास में अनेक प्रकार की सम्भावना की जा सकती है । ( जैसे 'लोकनाथ' शब्द में बहुव्रीहि भी हो सकता है, कर्मधारय भी और मध्यमपद-लोपी समास भी । ) अतः कभी-कभी वाच्यार्थ के निर्णय में विवेचन करना पड़ सकता है जिससे रस की प्रतीति में एक व्यवधान उपस्थित हो सकता है । यह बात विशेष रूप से लम्बे समासों में होती है । अतः लम्बे समासों का अधिक आग्रह अच्छा नहीं लगता । यहाँ पर सम्भावना शब्द सम् उपसर्ग भू धातु से दो बार णिच् प्रत्यय होकर संज्ञा अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होने से बना है । एक णिच् के बाद जब दुबारा णिच् प्रत्यय होता है तब एक णिच् का लोप हो जाता है । दो बार णिच् होने से यह अर्थ हो जावेगा—समास मे अनेक प्रकार सम्भव होते हैं, कोई परिशीलक व्यक्ति उनकी सम्भावना करता है और उसकी सम्भावना में प्रयोजक होती है सङ्घटना । इस प्रकार दीर्घसमासगर्भित सङ्घटना में अनेक प्रकार की सम्भावना से वाच्यार्थ व्यवहित हो जाता है और उससे रसप्रतीति भी व्यवहित हो जाती है । यह बात विशेष रूपसे ऐसे काव्य में होती है जोकि अभिनय के लिये लिखा गया हो । कारण यह है कि दृश्य काव्य अभिनय के मन्तव्य से लिखा जाता है और नट लोग उस काव्य का अभिनय कर उसका प्रत्यक्षी-करण पाठकों के सामने करते हैं । यदि अभिनेय काव्य मे लम्बे समास हुये तो उस समासगर्भित वाक्य का अभिनय बिना वाक्य को तोड़े हुये सम्भव नहीं होता । ऐसी दशा में व्यङ्ग्यार्थ भी टूट-टूट कर ही परिशीलकों के सामने आता है जिससे रसप्रतीति में विघ्न पडता है ।

दूसरी बात यह है कि अभिनय में अभिनेता को विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि बनाकर ( काकु के द्वारा ) किसी शब्द या वाक्य का उच्चारण करना पड़ता है । यदि लम्बे समास हुये तो कण्ठध्वनि किस प्रकार बनाई जा सकेगी ? इसी प्रकार अभिनय मे बीच-बीच मे जनता के अनुरञ्जन के लिये गाने भी होते हैं । यदि गानों में लम्बे समास हुये तो उनका स्वर-संयोग किस प्रकार ठीक किया जा सकेगा ? आशय यह है कि उस अभिनेय काव्य में ऐसी प्रतिपत्ति जिसका प्रयोग ( अभिनय ) कठिनाई से किया जा सके तथा जो सन्देह को बहुत अधिक प्रसार देनेवाली हो नाट्य के अनुकूल नहीं होती । क्योंकि उसमें तो नाट्यप्रतीति प्रत्यक्षरूपिणी ही होती है । दूसरे स्थान पर अर्थात् ऐसे काव्य में जिसका प्रयोजन अभिनय न हो विशेषरूप से दीर्घसमास के परित्याग का ध्यान करुणरस तथा विप्रलम्भशृङ्गार मे रखना चाहिये । क्योंकि निस्सन्देह ये

## लोचन

व्यापीति। या काचित्सङ्घटना सा तथा कर्तव्या यथा वाच्ये झटिति भवति प्रतीतिरिति यावत्। उक्तमिति। 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु' इत्यादिना। न व्यनक्तीति। व्यञ्जकस्य स्ववाच्यस्यैवाप्रत्यायनादिति भावः। तदिति। प्रसादस्यापरित्यागे अभीष्टत्वादन्नार्थे स्वकण्ठेनान्वयव्यतिरेकावुक्तौ।

'व्यापी' इति। आशय यह है कि जो कोई भी सङ्घटना हो वह ऐसी की जानी चाहिये जिससे वाच्य में शीघ्र ही प्रतीति हो जावे। 'कहा गया है' 'काव्य का (सभी रसों के प्रति) जो समर्पकत्व' इत्यादि के द्वारा। 'व्यक्त नहीं करता है' भाव यह है कि क्योंकि व्यञ्जक अपने वाच्य का ही प्रत्यायन नहीं कराता। 'वह' यहाँ प्रसाद के अपरित्याग में अभीष्ट होने के कारण, इस विषय में स्वकण्ठ से अन्वय-व्यतिरेक कह दिये गये हैं।

## तारावती

दोनों रस अन्य रसों की अपेक्षा अधिक सुकुमार होते है। अतः इनमें यदि स्वल्प भी अस्वच्छता आती है तो शब्द और अर्थ की प्रतीति मन्द पड़ जाती है जिससे आस्वादन में विघ्न पड़ जाता है और उसकी क्रिया ही नष्ट हो जाती है। यदि दूसरे रौद्र इत्यादि रसों का प्रतिपादन करना हो तो मध्यमसमासा सङ्घटना भी गुणहीन नहीं होती और यदि कदाचित् उन रौद्रादि रसों में धीरोद्धत नायक से सम्बद्ध व्यापार का आश्रय लिया जावे तो ऐसी दशा मे दीर्घसमासा सङ्घटना भी बुरी नहीं होती। दीर्घसमासा सङ्घटना वहाँ पर भी अनुचित नहीं होती जहाँ पर दीर्घसमासा सङ्घटना मे अनुपपत्ति के कारण नवीन अर्थ की योजना कर ली जाती हो तथा उस नवीन अर्थ की योजना के अभाव में वाच्यार्थ अपने व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त ही न कर सके। इस प्रकार रस की अभिव्यञ्जना के लिये जिस वाच्यार्थ का उपादान किया जावे उस वाच्यार्थ को यदि दीर्घसमासघटित सङ्घटना की अपेक्षा हो तो वहाँ पर दीर्घसमास दूषित नहीं होता। इसमें कारण यही है कि वहाँ पर दीर्घसमास के अभाव मे रौद्रादि रस की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती और अभिव्यञ्जक वाच्यार्थ को उस दीर्घसमास की अपेक्षा होती है। वृत्तिकार ने इन शब्दों का प्रयोग किया है—'उसके आक्षेप के बिना न होनेवाले रस में उचित वाच्य की अपेक्षा होने के कारण दीर्घसमासा सङ्घटना दूषित नहीं होती।' कुछ लोगों ने 'उसके आक्षेप' का अर्थ किया है नायक का आक्षेप, किन्तु यह व्याख्या सङ्गत नहीं होती। यहाँ पर ठीक व्याख्या यही है कि जहाँ पर रसाभिव्यक्ति के लिये दीर्घसमासवाली सङ्घटना का आक्षेप अनिवार्य हो और उसके बिना वाच्यार्थ रसाभिव्यक्ति कर ही न सके, वहाँ पर चूँकि वाच्यार्थ रसाभिव्यक्ति के लिये दीर्घसमासा सङ्घटना की अपेक्षा रखता है, अतः दीर्घसमासा सङ्घटना

ध्वन्यालोकः

अतएव च 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते तत्प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम्, अभिप्रेतरसप्रकाशनात्। तस्माद्गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा संघटनाया यथोक्तादौचित्याद्विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम्।

(अनु०) अतएव 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में यदि ओज की स्थिति का मानना अभीष्ट न हो तो वहाँ पर प्रसाद नामक गुण ही माना जाना चाहिये, माधुर्य नहीं। वहाँ अचारुता नहीं आती; क्योंकि उससे अभिप्रेत रस प्रकाशित हो जाता है। अतः चाहे सङ्घटना को गुणों से अभिन्न माने चाहे भिन्न, बतलाये हुये औचित्य के कारण विषय नियम होता है अतः सङ्घटना में रस की व्यञ्जकता होती है। रस की अभिव्यक्ति में निमित्तभूत उस सङ्घटना का जो अभी नियमहेतु बतलाया गया है वही गुणों का भी नियत विषय है, अतः गुणों के आश्रय से सङ्घटना की व्यवस्था करना भी विरुद्ध नहीं है।

लोचन

न माधुर्यमिति। ओजोमाधुर्ययोर्ह्यन्योऽन्याभावरूपत्वं प्राङ्निरूपितमिति तयोः सङ्करोऽत्यन्तं श्रुतिवाह्य इति भावः। अभिप्रेतेति। प्रसादेनैव स रसः प्रकाशितः न न प्रकाशित इत्यर्थः। तस्मादिति। यदि गुणाः संघटनैकरूपास्तथापि गुणनियम एव सङ्घटनाया नियमः। गुणाधीनसङ्घटनापक्षेऽप्येवम्। सङ्घटनाश्रयगुणपक्षेऽपि सङ्घटनाया नियामकत्वेन यद्वक्तृवाच्यौचित्यं हेतुत्वेनोक्तम् तद् गुणानामपि नियमहेतुरिति पक्षत्रयेऽपि न कश्चिद्विप्लव इति तात्पर्यम्॥ ५, ६॥

'माधुर्य नहीं' अर्थात् ओज और माधुर्य का अन्योन्याभावरूपत्व पहले ही निरूपित कर दिया गया, इस प्रकार उनका सङ्कर अत्यन्त श्रुतिवाह्य है। 'अभिप्रेत' अर्थात् प्रसाद के द्वारा ही वह रस प्रकाशित कर दिया गया, प्रकाशित न कर दिया गया हो ऐसी बात नहीं। 'इससे' यदि गुण और सङ्घटना एक रूप हैं तथापि गुण का नियम ही सङ्घटना का नियम है। गुण के आधीन सङ्घटना पक्ष में भी यही है। सङ्घटनाश्रय गुण पक्ष में भी सङ्घटना के नियामक होने के कारण जो वक्ता और वाच्य का औचित्य हेतु के रूप में बतलाया गया है वह गुणों का भी नियमहेतु होता है—इस प्रकार तीनों पक्षों में कोई विप्लव नहीं है यह तात्पर्य है॥ ५, ६॥

तारावती

ऐसे स्थान पर दूषित नहीं होती। इतना कहना पर्याप्त है अधिक की क्या आवश्यकता?

## तारावती

सभी प्रकार की संघटनाओं में प्रसाद नामक गुण व्यापक होता है, अर्थात् कोई भी किसी प्रकार की भी संघटना हो उसको ऐसे रूप में बनाना चाहिये जिससे वाच्य के विषय में एकदम प्रतीति हो जावे। यह तो पहले बतलाया ही जा चुका है कि प्रसाद नामक गुण साधारणतया सभी रसों में आता है और सभी संघटनाओं में सामान्यतया अपेक्षित होता है। यह बात 'समर्पकत्वं काव्यस्य यस्तु सर्व-रसान् प्रति' इत्यादि कारिका में कही गई है। यदि प्रसाद गुण का अतिक्रमण कर दिया जावे तो समासरहित संघटना भी करुणरस तथा विप्रलम्भशृङ्गार को अभिव्यक्त नहीं कर सकती; क्योंकि वाच्यार्थ व्यञ्जक होता है और प्रसाद गुण के अभाव में उस वाच्यार्थ का ही प्रत्यायन नहीं हो सकता। यदि प्रसाद गुण का परित्याग न किया गया हो तो मध्यमसमासवाली संघटना भी करुणरस तथा विप्रलम्भशृङ्गार को अभिव्यक्त नहीं कर सकती—यह बात नहीं है; अतः सर्वत्र प्रसाद गुण का अनुसरण करना चाहिये। इसीलिये यद्यपि 'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति' इत्यादि पद्य रौद्ररसपरक है, किन्तु इसमें समास नहीं किया गया है। इस समास न करने के कारण यदि इसे हम ओज के अन्दर सन्निविष्ट नहीं करना चाहते तो भी माधुर्य में सन्निविष्ट नहीं कर सकते। इसे हम प्रसाद गुण के अन्दर ही सन्नि-विष्ट करेंगे। आशय यह है कि यहाँ पर वाच्यार्थ तो उद्धत है और संघटना समास न करने के कारण माधुर्यप्रवण है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यहाँ पर ओज और माधुर्य का सङ्कर है। किन्तु पहले इस बात का निरूपण किया जा चुका है कि ओज के अभाव को माधुर्य कहते हैं और माधुर्य के अभाव को ओज कहते हैं। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के अभावरूप ही होते हैं। अतः इनका साङ्कर्य तो श्रवणगोचर भी नहीं हो सकता। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि ओजस्विनी संघटना के अभाव में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में अचारुता आ गई है। कारण यह है कि यहाँ पर प्रसाद गुण ही रौद्ररस के प्रकाशन के ओज का कार्य कर देता है। वह रौद्र का प्रकाशन नहीं करता ऐसी बात नहीं है। अतः चाहे हम संघटना को गुणों के साथ अभिन्न मानें या भिन्न मानें जो ऊपर औचित्य का नियम बतलाया गया है उसके अनुसार उनके विषय का नियम है ही। अतः संघटना भी रस की व्यञ्जक होती है। इसी प्रकार गुणों के आधीन संघटना की व्यवस्था भी विरुद्ध नहीं है; क्योंकि संघटना रस में निमित्त होती है और जो उसके नियमहेतु अभी बतलाये गये हैं वे गुणों के भी निश्चित विषय हो सकते हैं। आशय यह है कि यदि गुण और संघटना दोनों को एक ही मानें तो गुण के नियम संघटना में भी लागू हो सकते हैं। यदि गुणों के आधीन

ध्वन्यालोकः

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ७ ॥

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्। सन्दानितकविशेषक-कलापककुलकानि। पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथासकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति।

( अनु० ) 'एक दूसरे प्रकार का विषय के आधीन औचित्य भी उस संघटना को नियन्त्रित करता है। क्योंकि काव्य के अवान्तर भेदों का आश्रय लेकर वह संघटना भेदवाली स्थित होती है।

वक्ता और वाच्य में रहनेवाले औचित्य के होते हुये भी विषय के आधीन एक दूसरा औचित्य भी संघटना को नियन्त्रित करता है। क्योंकि काव्य के भेद हैं संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक और कुलक। पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा और सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका और कथा। इनके आश्रय से भी सङ्घटना विशेषतावाली हो जाती है।

लोचन

नियामकान्तरमप्यस्तीत्याह—विषयाश्रयमिति। विषयशब्देन सङ्घातविशेष उक्तः। यथा हि सेनाद्यात्मकसङ्घातनिवेशी पुरुषः कातरोऽपि तदौचित्यादनुगुणतयै-

दूसरा नियामक भी है यह कहते हैं—'विषयाश्रय'""इत्यादि। विषय शब्द से विशेष प्रकार का संघात बतलाया गया है। जिस प्रकार निस्सन्देह सेना इत्याद्यात्मक संघात में निविष्ट कातर पुरुष भी उसके औचित्य से अनुगुणरूप में ही

तारावती

संघटना को माने तो भी यही बात होगी अर्थात् गुणों के ही नियम संघटना में भी लागू होजावेंगे। यदि संघटना के आधीन गुणों को माने तो संघटना नियामक होगी। ऐसी दशा में वक्ता और बोद्धव्य का जो औचित्य संघटना मे हेतु के रूप में बतलाया गया है वह गुणों का भी नियमहेतु हो सकता है। इस प्रकार तीनो पक्षों मे किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं आता॥ ५, ६ ॥

अब यह बतलाया जा रहा है कि संघटना के दूसरे भी नियामक हैं—'एक दूसरे प्रकार का भी औचित्य होता है जो कि संघटना को नियन्त्रित करता है। काव्य के भेदोपभेदों के आधार पर संघटना में भी भेद हो जाया करता है।'

विषय शब्द का अर्थ है एक प्रकार का संघात या समूह। जिस प्रकार एक

## लोचन

वास्ते, तथा काव्यवाक्यमपि सङ्घातविशेषात्मकसन्दानितकादिमध्यनिविष्टं तदौचित्येन वर्तते । मुक्तकं तु विषयशब्देन यदुक्तं तत्सङ्घातामावेन स्वातन्त्र्यमात्रं प्रदर्शयितुं स्वप्रतिष्ठितमाकाशमिति यथा। अपिशब्देनेदमाह—सत्यपि वक्तृवाच्यौचित्ये विषयौचित्यं केवलं तारतम्यभेदमात्रव्याप्तम्, न तु विषयौचित्येन वक्तृवाच्यौचित्यं निवार्यत इति। मुक्तकमिति। मुक्तमन्येनानालिङ्गितं तस्य संज्ञायां कन्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते। मुक्तकस्यैव विशेषणं संस्कृतेत्यादि । क्रमभावित्वात्तथैव निर्देशः। द्वाभ्यां क्रिया-

रहता है उसी प्रकार काव्यवाक्य भी काव्यविशेषात्मक सन्दानितक इत्यादि के मध्य में निविष्ट होकर उसके औचित्य से वर्तमान रहता है। मुक्तक तो विषय शब्द से जो कहा गया है उसके संघात के अभाव के कारण केवल स्वातन्त्र्य को प्रदर्शित करने के लिये ( यहाँ पर आया है ) जैसे स्वप्रतिष्ठित आकाश। 'अपि' शब्द से यह कहते है—वक्ता और वाच्य के औचित्य के होते हुये भी विषय का औचित्य केवल तारतम्य के भेद से प्राप्त है; विषयौचित्य के द्वारा वक्ता और वाच्य का औचित्य निवारित नहीं किया जाता। 'मुक्तक' मुक्त अर्थात् अन्य से अनालिङ्गित उसका संज्ञा में कन्। इससे स्वतन्त्ररूप में परिसमाप्त तथा निराकाक्ष अर्थवाला प्रबन्धमध्यवर्ती मुक्तक यह नहीं कहा जाता। मुक्तक का ही विशेषण है संस्कृत इत्यादि। क्रमभावी होने के कारण वैसा ही निर्देश है। दो से क्रिया की समाप्ति

## तारावती

कायर मनुष्य भी सेना इत्यादि रूपसमूह के अन्दर पहुँच कर सेना के औचित्य से उसी प्रकार के गुणोंवाला हो जाता है, उसी प्रकार काव्यवाक्य भी सन्दानितक इत्यादि विशेष प्रकार के समूह मे पड़कर उसी के औचित्य का अनुसरण करने लगता है। मुक्तक मे कोई समूह नहीं होता किन्तु उसके लिये विषय शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। यह इस बात को प्रकट करने के लिये किया गया है कि मुक्तक स्वतन्त्र होता है इसमे कोई समूह नहीं होता। जैसे यदि कोई यह प्रश्न करे कि पृथ्वी इत्यादि चार तो आकाश में स्थित हैं और आकाश कहाँ स्थित है ? तो इसका उत्तर यही होगा कि आकाश अपने में ही स्थित है। यही बात मुक्तक के विषय मे भी समझनी चाहिये। उपर्युक्त कारिका मे 'भी' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका आशय यह है कि इस विषयाश्रित औचित्य से पूर्वोक्त वक्तृवाच्य का औचित्य निवृत्त नहीं होता, उसमे केवल तारतम्य का अन्तर हो जाता है। आशय यह है कि वक्तृगत औचित्य और वाच्यगत औचित्य रसाभिव्यक्ति के लिये अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त विषयगत औचित्य का जितना अधिक निर्वाह किया जाता है उतनी

अधिक चारुता उस काव्य में बढ़ जाती है। (यहाँ पर विषय का अर्थ काव्य का स्वरूप या काव्य का भेद है। अतः विषयगत औचित्य पर प्रकाश डालने से पहले लेखक काव्य के भेदोपभेदों का संक्षिप्त परिचय दे रहा है।) काव्य का सबसे छोटा भेद मुक्तक होता है। यह संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में निबद्ध किया जाता है। मुक्तक शब्द मुक्त शब्द से संज्ञा में कन् प्रत्यय होकर बना है। मुक्त शब्द का अर्थ है जिसका आलिङ्गन कोई दूसरा न कर रहा हो अर्थात् यदि केवल एक पद्य परतः निरपेक्ष भाव से अर्थसमाप्ति में पर्याप्त हो तो उसे मुक्तक कहते हैं। मुक्तक के अर्थ में ही यह बात आ जाती है कि वही पद्य मुक्तक हो सकता है जिसका आलिङ्गन कोई दूसरा पद्य न कर रहा हो। इसीलिये यदि प्रबन्ध के अन्दर कोई ऐसा पद्य आजावे जिसका अर्थ पूर्णतया उस पद्य में ही समाप्त हो रहा हो और उसे अर्थ-समाप्ति केलिये किसी अन्य की आकांक्षा न हो तो भी उसे मुक्तक नहीं कहेंगे। (क्योंकि अर्थसमाप्ति में स्वतन्त्र होते हुये भी उसका आलिङ्गन तो दूसरे पद्यों से हो ही रहा है। इस पर दीधितिकार ने लिखा है—'यह कहना ठीक नहीं है कि प्रबन्धान्तर्गत स्वतन्त्र पद्यों को मुक्तक नहीं कहते क्योंकि यद्यपि अन्ततः उन्हें पद्यान्तर की अपेक्षा होती है तथापि अनेकशः वे स्वतन्त्र रूप में शाब्द प्रतीति तो उत्पन्न ही कर देते हैं और कहीं कहीं रसास्वादपर्यन्त उनमें स्वतन्त्र सत्ता पाई जाती है, अतः मुक्तकत्व की स्वीकृति के लिये कोई बाधा नहीं आती।' किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रबन्धान्तर्वर्ती पद्यों में अर्थ की परिसमाप्ति स्वतन्त्र होती ही नहीं। प्रबन्ध के कारण पाठक की एक भावना बन जाती है और एक प्रकार की विचारधारा से पाठक ओतप्रोत हो जाता है। जब कोई भी स्वतन्त्र पद्य प्रबन्ध के अन्दर आ जाता है तब प्रबन्ध से प्राप्त विचारधारा तथा भावना के प्रकाश में ही हम उस पद्य को भी देखते हैं और उसी वातावरण में हम उसका आस्वादन भी करते हैं। उदाहरण के लिये तुलसी का निम्नलिखित दोहा लीजिये—

तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै ताहि तहाँ लै जाय॥

यह दोहा दोहावली में भी आया है और रामचरितमानस में भी। दोहावली में इसकी स्वतन्त्र सत्ता है और नीतिवाक्य के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं मालूम पड़ता। किन्तु जब हम रामचरितमानस में इसे पढते हैं तो प्रतापभानुका अतीत, उसका दैववश कपटमुनि के आश्रम मे पहुँचना और भविष्य की उसकी विनाश की भूमिका—ये सारी बातें हमारी आँखों के सामने नाच उठती हैं तथा इस दोहे में कही हुई नीति-सूक्ति के अतिरिक्त बहुत बड़ा प्रसंग और तज्जन्य निर्वेद हमारे

## लोचन

समाप्तौ सन्दानितकम्। त्रिभिर्विशेषकम्। चतुर्भिः कलापकम्। पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम्। इति क्रियासमाप्तिकृता भेदा इति द्वन्द्वेन निर्दिष्टा। अवान्तरक्रियासमाप्तावपि वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देश्येन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः। एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा। एकदेशवर्णना खण्डकथा। समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना सकलकथा। द्वयोरपि प्राकृतप्रसिद्धेर्वाद् द्वन्द्वेन निर्देशः। में सन्दानितक, तीन से विशेषक, चार से कलापक, पाँच इत्यादि से कुलक। ये क्रियासमाप्ति के द्वारा किये हुये भेद हैं इस प्रकार द्वन्द्व से निर्देश किया गया है। अवान्तर क्रियासमाप्ति में भी वसन्तवर्णन इत्यादि एक उद्देश्य से प्रवृत्त पर्यायबन्ध (कहलाता है)। धर्म इत्यादि एक पुरुषार्थ के उद्देश्य से प्रकार-वैचित्र्य से अनन्त वृत्तान्त वर्णन के प्रकार परिकथा (कहलाते हैं)। एकदेश का वर्णन खण्डकथा। अन्त में फलों वाले समस्त इतिवृत्त का वर्णन सकलकथा। दोनों के प्राकृत में प्रसिद्ध होने के कारण द्वन्द्व का निर्देश किया गया है। पहले

## तारावती

आस्वादन में निमित्त हो जाता है। अतः यह दोहा वहाँ पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो देता है। अतः मुक्तक कहलाने का अधिकारी नहीं रहता। हम अनेक प्रकार के सिनेमा के गीत सुना करते हैं किन्तु वातावरण के प्रकाश में जब अभिनय के साथ वह गीत हमें सिनेमाघर में सुनाया जाता है तब उसका प्रभाव और ही प्रकार का होता है। अतः प्रबन्धान्तर्वर्ती स्वतन्त्र पद्य को मुक्तक नहीं कह सकते। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि दण्डी प्रभृति आचार्य प्रबन्धान्तर्वर्ती परिसमाप्तार्थ पद्य को ही मुक्तक कहा करते थे। इसीलिये उन्होंने मुक्तक की पृथक् परिभाषा लिखने की आवश्यकता नहीं समझी थी। 'सर्गबन्धाशरूपत्वादनुक्तवाक्यविस्तरः।' इसी मान्यता का खण्डन यहाँ पर अभिनवगुप्त ने किया है। अग्निपुराण में मुक्तक की यह परिभाषा दी हुई है—'मुक्तक एक ही श्लोक को कहते हैं जो सज्जनों को चमत्कृत करने में समर्थ हो।) 'संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश से निबद्ध' यह विशेषण मुक्तक का ही है। (क्योंकि दोनों में प्रथमान्त का निर्देश है।) इन भाषाओं की उत्पत्ति के आधार पर इनका क्रम रक्खा गया है। संस्कृत से प्राकृत उत्पन्न हुई है, प्राकृत से अपभ्रंश। (इनका संक्षिप्त परिचय काव्यादर्श में दण्डी ने दिया है।) मुक्तक काव्य इन तीनों भाषाओं में लिखे जाते थे। यह तो स्वतन्त्र पद्य की बात हुई। कभी-कभी कई पद्यों में एक ही क्रिया होती है, अतः क्रिया की एकता के आधार पर काव्य के ४ भेद किये गये हैं—(१) यदि दो पद्यों में क्रिया समाप्त हो तो उसे सन्दानितक कहते हैं (उसी को मुक्तक भी कहते हैं)। (२) यदि तीन पद्यों में क्रिया समाप्त हो तो उसे विशेषक कहते हैं। (३) यदि चार पद्यों में

## लोचन

पूर्वेषां तु मुक्तकादीनां भाषायामनियमः । महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णनाप्रबन्धः सर्गबन्धः संस्कृत एव । अभिनेयार्थं दशरूपकं नाटिकात्रोटकरासकप्रकरणिकाद्यवान्तरप्रपञ्चसहितमनेकभाषाव्यामिश्ररूपम् । आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता । कथा तद्विरहिता । उभयोरपि गद्यबन्धस्वरूपतया द्वन्द्वेन निर्देशः । आदिग्रहणाच्चम्पूः । यथाह दण्डी—'गद्यपद्यमयी चम्पूः' इति ।

के मुक्तक इत्यादि का भाषा में नियम नहीं है । महाकाव्यरूप पुरुषार्थ फलवाला समस्तवस्तु-वर्णनपरक प्रबन्ध सर्गबन्ध संस्कृत में ही (होता है) । अभिनेयार्थ दशरूपक 'नाटिका त्रोटक, रासक, प्रकरणिक इत्यादि अवान्तर प्रपञ्च सहित अनेक भाषा से मिले हुये रूपवाला (होता है) । आख्यायिका उच्छ्वास इत्यादि से और वक्त्र तथा अपवक्त्र इत्यादि से युक्त होती है । कथा उससे रहित होती है । दोनों के गद्यबन्धस्वरूप होने के कारण द्वन्द्व से निर्देश किया गया है । आदिग्रहण से चम्पू । जैसा दण्डी कहते हैं—'गद्यपद्यमयी चम्पूः' यह ।

## तारावती

क्रिया की परिसमाप्ति हो तो उसे कलापक कहते हैं । (४) यदि पाँच या पाँच से अधिक पद्यों में क्रिया की समाप्ति हो तो उसे कुलक कहते हैं । इन चारों भेदों में वृत्तिकार ने द्वन्द्व समास का योग किया है । इसका आशय यह है कि ये भेद इस आधार पर किये गये है कि इनमे कई पद्यों में एक ही क्रिया का प्रयोग होता है । (ये चारों प्रकार भी सभी भाषाओं में मिलते हैं । इसीलिये लोचनकार ने लिखा है कि मुक्तक इत्यादि का भाषा मे कोई नियम नहीं है । हेमचन्द्र ने भी यहाँ कहा है कि ये सब भेद सभी भाषाओं मे होते हैं।) अब उन भेदों का उल्लेख किया जाता है।जो अनेक वाक्यों का समूह होते हैं तथा जिनका कलेवर अपेक्षाकृत विस्तृत होता है । पर्यायबन्ध उसे कहते हैं जिसमे यद्यपि अवान्तर क्रियायें समाप्त हो जाती है परन्तु उनका उद्देश्य वसन्त इत्यादि किसी एक वस्तु का वर्णन ही होता है।(आधुनिक काल की अनेक कवितायें इसी नाम से अभिहित की जा सकती हैं ।) परिकथा उसे कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों मे किसी एक को लेकर (अथवा इन्हीं से सम्बद्ध किसी तत्त्व को लेकर) अनेक प्रकारों के द्वारा अनेक वृत्तान्तों का वर्णन किया जावे।कथा के एक भाग का वर्णन खण्डकथा कहलाती है । (इसे ही खण्डकाव्य भी कह सकते हैं । साहित्यदर्पण में खण्डकाव्य की परिभाषा इस प्रकार लिखी है—'खण्डकाव्य उसे कहते हैं जो

काव्य के एकदेश का अनुसरण करनेवाला हो।') सकलकथा उसे कहते हैं जिसमें अनेक इतिवृत्तों का वर्णन किया जावे और वे समस्त इतिवृत्त फलपर्यन्त दौड़नेवाले हों। वृत्तिकार ने खण्डकथा और सकलकथा इन दोनों में द्वन्द्व समास का निर्देश किया है। इसका आशय यह है कि ये दोनों भेद प्राकृत में ही प्रसिद्ध थे। इनसे पहले जितने भी मुक्तक इत्यादि भेद बतलाये गये हैं उनका भाषा में कोई नियम नहीं है। सर्गबन्ध उसे कहते हैं जो कि महाकाव्य रूप हो, कोई भी पुरुषार्थ जिसका फल हो और जिससे प्रबन्धात्मक रूप में सम्पूर्ण जीवनवृत्त का वर्णन किया गया हो। (इसके विस्तृत लक्षण साहित्यदर्पण में दिये हुये हैं वहीं देखना चाहिये।) सर्गबन्ध (महाकाव्य) केवल संस्कृत में ही लिखा जाता है। कुछ काव्य अभिनय के मन्तव्य से लिखे जाते हैं। (ये दृश्यकाव्य कहलाते हैं।) इनके भेद हैं—दश रूपक (नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन। इनका विस्तृत परिचय साहित्यदर्पण में देखना चाहिये।) इन दश रूपकों का अवान्तर विस्तार भी होता है, जैसे—नाटिका, त्रोटक, रासक, प्रकरणिक इत्यादि। (ये उपरूपक कहलाते हैं। इनके १८ भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्यप्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका। इनके भी लक्षण साहित्यदर्पण में दिये गये हैं।) ये दश-रूपक तथा इनका समस्त अवान्तर प्रपञ्च अभिनेयार्थ काव्य होता है। इसका स्वरूप अनेक भाषाओं से मिला हुआ रहता है। (नाटक इत्यादि में किसकी क्या भाषा होनी चाहिये इसका विस्तृत विवेचन नाट्यशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में किया गया है। वहीं देखना चाहिये।) अब गद्य काव्यों को लीजिये—प्रधानतया इसके दो भेद होते हैं—आख्यायिका और कथा। आख्यायिका उसे कहते है जिसका विभाजन उच्छ्वास इत्यादि के द्वारा किया गया हो तथा उसमे वक्त्र तथा अपवक्त्र का समावेश हो। कथा उसे कहते हैं जिसमे ये दोनों बातें नहीं अर्थात् न तो उसका विभाजन उच्छ्वास इत्यादि के द्वारा हो और न वक्त्र तथा अपवक्त्र का प्रयोग हो। (साहित्यदर्पण मे इनका विशेष परिचय दिया गया है। अग्निपुराण मे गद्य काव्य के पाँच भेद किये गये हैं—आख्यायिका, कथा, खण्ड कथा, परिकथा और कथानिका। इनके लक्षण भी वहाँ पर दिये गये है।) वृत्तिकार ने आख्यायिका तथा कथा में द्वन्द्व का निर्देश किया है। इसका कारण यह है कि ये दोनों ही गद्यबन्ध रूप में होते हैं। वृत्तिकार ने 'इत्यादि' शब्द का प्रयोग किया है। इस इत्यादि से चम्पू का ग्रहण हो जाता है। जैसा

ध्वन्यालोकः

तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। तच्च दर्शितमेव। अन्यत्र कामचारः। मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।

(अनु०) उनमे मुक्तकों में रसबन्धाभिनिवेशी कवि का उसी के आश्रित औचित्य होता है और वह दिखलाया ही जा चुका है। अन्यत्र कवि को स्वतन्त्रता होती है कि वह यथेच्छ रचना कर सकता है। निस्सन्देह प्रबन्धों के समान मुक्तकों मे भी रसबन्धाभिनिवेशी कवि देखे जाते हैं। जैसे अमरुक कवि के शृंगार रस को प्रवाहित करनेवाले मुक्तक प्रबन्धरूपता को धारण करनेवाले प्रसिद्ध ही हैं।

लोचन

अन्यत्रेति रसबन्धानभिनिवेशे। ननु मुक्तके विभावादिसंघटना कथं येन तदायत्तो रसः स्यादित्याशङ्क्याह—मुक्तकेष्विति। अमरुकस्येति।

कथमपि कृतप्रत्यापत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजप्रकल्पितमश्रुतम्।
असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिं विशङ्क्य ससम्भ्रमम्
विवलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः॥

'अन्यत्र' अर्थात् रसबन्ध का अभिनिवेश न होने पर। 'मुक्तक मे विभाव इत्यादि की संघटना कैसे जिससे उसके आधीन रस हो?' यह शङ्का करके कहते हैं—'मुक्तकों मे' यह। जैसे अमरुक का—

'किसी न किसी प्रकार प्रियतम के लौटने पर तथा स्खलित उत्तरवाला हो जाने पर विरहकृश (नायिका ने) बहाने से न सुनने की कल्पना करके सम्भ्रमपूर्वक असहिष्णु सखी को श्रोत्रप्राप्ति की आशङ्का करके शून्यघर मे दृष्टि घुमाकर फिर गहरी श्वास ली।'

तारावती

कि दण्डी ने कहा है—'गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं।' (आदि ग्रहण से ही उन अनेक प्रकारों का भी समावेश हो जाता है जो कि अभिनव गुप्त के बाद प्रकाश मे आये हैं और आधुनिक काल तक अनेक प्रकार के काव्यभेदों की कल्पना की जाती रही है उन सबका समावेश भी इसी इत्यादि शब्द के द्वारा हो जाता है तथा जो प्रकार भविष्य मे भी प्रवर्तित किये जावेंगे उन सबका यहाँ समावेश समझा जाना चाहिये।) इन भेदोपभेदों के आधीन भी संघटना मे विशेषता आ जाती है।

## लोचन

इत्यत्र हि श्लोके स्फुटैव विभावादिसम्पत्प्रतीतिः ।

यहाँ पर श्लोक में स्फुट ही विभाव इत्यादि सम्पत्ति की प्रतीति होती है ।

## तारावती

ऊपर काव्य के भेदोपभेदों का दिग्दर्शन कराया गया है । अब इनके औचित्य पर विचार किया जा रहा है । सर्वप्रथम मुक्तक को लीजिये । यदि मुक्तक की रचना करनेवाले कवि में रस को निबद्ध करने का आग्रह हो तो कवि को उन्हीं सब औचित्यों का पालन करना चाहिये जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है । मुक्तक के क्षेत्र मे भी रस के अनुकूल औचित्य तथा वक्ता और वाच्य पर आश्रित औचित्य उसी रूप मे होते हैं । अन्यत्र अर्थात् यदि मुक्तक रचना करनेवाले कवि को रसबन्धन करना अभीष्ट न हो तो कवि चाहे जिस प्रकार की संघटना का प्रयोग कर सकता है । ( प्रश्न ) रसनिष्पत्ति के लिये विभाव इत्यादि की संघटना अनिवार्य होती है । मुक्तक के छोटे से कलेवर में विभाव इत्यादि की सघटना हो सके यह सम्भव ही किस प्रकार है ? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—( उत्तर ) प्रायः देखा जाता है कि जिस प्रकार कवियों का अभिनिवेश रसमय प्रबन्ध रचना मे होता है उसी प्रकार मुक्तकों मे भी हुआ करता है । उदाहरण के लिये अमरुक के मुक्तक शृङ्गार रस को प्रवाहित करनेवाले हैं और यह प्रसिद्ध है कि उनमे प्रबन्ध के जैसे तत्त्व विद्यमान हैं । ( कहा ही जाता है कि 'अमरुक का एक पद्य सौ प्रबन्धों के समान है ।' ) उदाहरण के लिये अमरुक का एक पद्य लीजिये—

'जब प्रियतम किसी न किसी प्रकार लौटकर आया और उससे संयोगवश गोत्र-स्खलन हो गया, उस समय विरह के कारण कृश नायिका ने बहाने से यह प्रकट किया कि उसने उस गोत्रस्खलन को सुन नहीं पाया । उस समय उसे यह आशङ्का हुई कि कहीं असहनशील सखी ने सुन तो नहीं लिया । अतएव उसने सम्भ्रम-पूर्वक शून्य घर मे अपनी दृष्टि घुमाई और फिर गहरी श्वास ली ।'

इस पद्यमे स्पष्ट रूपमे विभाव इत्यादि रस की सारी सामग्री पाई जाती है । ( नायक आलम्बन है; उसका किसी न किसी प्रकार घर आना, गोत्रस्खलन इत्यादि उद्दीपन हैं; अनसुना करना, शून्य घर मे चारों ओर दृष्टि घुमाना और गहरी श्वास लेना इत्यादि अनुभाव हैं; ग्लानि, शङ्का, असूया, त्रास, वितर्क, दैन्य इत्यादि सञ्चारी भाव हैं; इनसे पुष्ट होकर रति स्थायिभाव ने शृङ्गार रस का रूप धारण किया है । इस प्रकार एक पद्य मे ही रस की सारी सामग्री उपलब्ध हो रही है । )

ध्वन्यालोकः

सन्दानितकादिपु तु विकटवन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घसमासे एव रचने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रवन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम्। पर्यायवन्धे पुनरसमासामध्यसमासे एव सङ्घटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि सङ्घटनायां परुपा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या। परिकथायां कामचारः। तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तरससम्बन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्दीर्घसमासायामपि न विरोधः। वृत्त्यौचित्यं तु यथारसमनुसर्तव्यम्। सर्गवन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यमन्यथा तु कामचारः, द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद्रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसवन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिवन्धनबाहुल्याद् गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमे हेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक्क्रियते।

( अनु० ) सन्दानितक इत्यादि मे तो विकट निवन्धन के औचित्य के कारण मध्यसमास और दीर्घसमास घटित रचनायें ही उपयुक्त हैं। यदि ये प्रवन्ध के आश्रित हों तो पहले कहे हुये प्रवन्ध के औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिये। पर्यायवन्ध में तो असमास और मध्यसमास परक सङ्घटनायें ही ठीक हैं। यदि कदाचित् अर्थ के औचित्य का आश्रय लेकर दीर्घसमासा सङ्घटना का उपयोग करना पड़े तो परुषा और ग्राम्या वृत्तियों का तो परित्याग कर ही देना चाहिये। परिकथा मे इच्छानुसार कैसी भी सङ्घटना हो सकती है। क्योंकि उसमें इतिवृत्त मात्र का उपन्यास किया जाता है और रस के सम्बन्ध का अधिक अभिनिवेश नहीं होता। प्राकृत में प्रसिद्ध खण्डकथा और सकल कथाओं में तो कुलक इत्यादि के निवन्धन की अधिकता होने के कारण दीर्घसमासा सङ्घटना मे भी कोई विरोध नहीं आता। वृत्ति के औचित्य का अनुसरण तो रस के अनुसार करना चाहिये। रस के तात्पर्य से लिखे हुये सर्गवन्ध में रस के अनुकूल औचित्य का पालन करना चाहिये नहीं तो इच्छानुसार चाहे जैसी संघटना का प्रयोग किया जा सकता है। सर्गबन्ध लिखनेवालों की प्रवृत्ति दोनों प्रकार के मार्गों में देखी जाती है; किन्तु रसतात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा है। अभिनेयार्थ काव्यों मे सव प्रकार से रसवन्ध मे ही आग्रह रखना चाहिये। आख्यायिका और कथा में गद्यनिबन्धन की बहुलता होती है और गद्य का मार्ग छन्दोबन्ध से भिन्न हुआ करता है। अतः इस विषय में नियमों में हेतु यद्यपि पहले नहीं बनाये गये थे तथापि यहाँ पर संक्षेप में बनाये जा रहे हैं—

तारावती

मुक्तक न मानना ही मुख्य पक्ष है। यही आनन्दवर्धन को भी मान्य है और यही अभिनवगुप्त का भी अभिमत है। यदि प्रबन्धाश्रित पद्यों को मुक्तक संज्ञा प्रदान ही करनी हो तो ऐसे पद्यों को सम्मिलित किया जा सकता है जो मुक्तक रचना के क्षेत्र में तो आते हैं किन्तु प्रबन्ध की हल्की सी छाया लेकर लिखे जाते हैं। जैसे सूरसागर के गीत इत्यादि प्रबन्धाश्रित मुक्तक माने जा सकते हैं।) पर्यायबन्ध में तो नियमानुसार समासरहित ही अथवा मध्यसमासवाली ही संघटना अपनाई जानी चाहिये। यदि कदाचित् रौद्र इत्यादि रसों में अर्थ के औचित्य के कारण दीर्घसमासा संघटना का प्रयोग करना पड़े तो सावधानी से परुषा और ग्राम्या वृत्तियों को बचाना चाहिये। परिकथा में चाहे जैसी संघटना का उपयोग किया जा सकता है; क्योंकि उसमें प्रधानतया इतिवृत्त का प्रस्तुत करना ही अभीष्ट होता है, अतः उसमें रसबन्ध का अत्यन्त अभिनिवेश नहीं होता। खण्डकथा तथा सकलकथा ये दोनों प्रकार प्राकृत में ही प्रसिद्ध हैं और उनमे कुलक इत्यादि का निबन्धन बहुत अधिक पाया जाता है। अतः उसमें दीर्घसमास करने में भी कोई विरोध नहीं आता। किन्तु उनमें वृत्ति के औचित्य का पालन रस के अनुसार करना चाहिये। आशय यह है कि परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या इन तीनों वृत्तियों का औचित्य प्रबन्ध के अनुसार तथा रस के अनुसार होता है। यदि सर्गबन्ध ( महाकाव्य ) रस के मन्तव्य से लिखा गया हो तो रस के अनुकूल ही उसमे औचित्य का पालन करना चाहिये। यदि सर्गबन्ध ( महाकाव्य ) का प्रणयन केवल कथा के मन्तव्य से हो तो चाहे जैसी संघटना का प्रयोग किया जा सकता है। यदि केवल कथा के तात्पर्य से सर्गबन्ध लिखना अभीष्ट हो तो वृत्तियों के प्रयोग में भी स्वेच्छाचारिता अपनाई जा सकती है। सर्गबन्ध लिखने वालों की प्रवृत्ति दोनों ही मार्गों में देखी जाती है, किन्तु रसतात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा है। 'द्वयोः मार्गयोः' में सप्तमी विभक्ति है, अतः दोनों ही मार्गों मे' यह अर्थ किया गया है। आशय यह है कि सर्गबन्धकाव्य रसतात्पर्य से भी लिखा जाता है और कथामात्रतात्पर्य से भी। कथातात्पर्य से लिखा हुआ सर्गबन्ध जैसे भट्टजयन्तक का कादम्बरीकथासार और रसतात्पर्य से लिखा हुआ जैसे रघुवंश इत्यादि। कुछ लोगों ने 'दोनों मार्गों में' इस वाक्य का अर्थ किया है संस्कृत और प्राकृत दोनों मे सर्गबन्ध लिखा जाता है। किन्तु यह अर्थ करने में जो कि यह कहा गया है कि 'किन्तु रसतात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा है।' इस वाक्य की क्या सङ्गति होगी? और इसका क्या उत्तर दिया जावेगा कि किसकी अपेक्षा रसतात्पर्य से लिखना अधिक अच्छा होता है। इस प्रकार यहाँ पर 'नेयार्थ' दोष होगा। अतः 'दोनों

ध्वन्यालोकः

एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥ ८ ॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवर्जितेऽपि विषयापेक्षनियमहेतुः। तथा ह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः। रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम्। तत्रापि च विषयौचित्यमेव। आख्यायिकायां तु भूम्ना मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने। गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायावत्त्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात्। कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।

(अनु०) यह जैसा कि औचित्य बतलाया गया है यह छन्दोनियम से रहित गद्यबन्ध में भी सर्वत्र उस (संघटना) का नियामक होता है ॥ ८ ॥

यह जो वक्तृगत तथा वाच्यगत औचित्य संघटना का नियामक बतलाया गया है यही छन्दोनियम से रहित गद्यबन्ध में भी विषय की अपेक्षा करते हुये नियम में हेतु होता है। वह इस प्रकार—जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित हो तो यथेच्छ संघटना होती है। वक्ता के रसभावसमन्वित होने पर पहले बतलाये हुये औचित्य का अनुसरण करना चाहिये। उसमें भी विषयानुरूप ही औचित्य होता है। आख्यायिकायें तो अधिकता के साथ मध्यम समास या दीर्घसमासवाली संघटना ही होती है; क्योंकि गद्य में छायावत्ता विकटबन्ध के आश्रय से ही आती है। क्योंकि उसमें उसकी अधिकता आ जाती है। कथा में तो विकटबन्ध की प्रचुरता होते हुये भी गद्य के रसबन्ध में कहे हुये औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिये।

लोचन

विषयापेक्षमिति। गद्यबन्धस्य भेदा एव विषयत्वेनानुमन्तव्याः।

'विषयापेक्ष' यह। गद्यबन्ध के भेद ही विषय के रूप में पाये जाने चाहिये ॥८॥

नारावती

मार्गों में' का अर्थ 'रस तात्पर्य तथा कथामात्र तात्पर्य इन दोनों मार्गों में' यह करना चाहिये। अभिनेयार्थ काव्य में तो सर्वथा रसबन्ध में ही अभिनिवेश करना चाहिये अर्थात् उसमें रसमय रचना के औचित्य का पालन करना चाहिये ॥ ७ ॥

आख्यायिका और कथा इन दोनों प्रकार के काव्यों में गद्य के निबन्धन का बाहुल्य होता है। गद्य का मार्ग छन्दोबद्ध रचना से सर्वथा भिन्न हुआ करता है। किन्तु इस दिशा में नियमपालन के कौन-कौन से हेतु होने चाहिये—इसका निर्धारण

ध्वन्यालोकः

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत्॥ ९॥

(अनु०) 'रचना रसबन्ध में कहे हुये औचित्य का आश्रय लेकर ही सर्वत्र शोभित होती है। किन्तु विषय की अपेक्षा करते हुये वह (औचित्य) भेदवाला हो जाता है॥ ९॥

तारावती

किसी भी आचार्य ने अभी तक नहीं किया है। यहाँ पर मैं भी बहुत ही सङ्क्षेप में प्रकाश डाल रहा हूँ। यह दिग्दर्शनमात्र है। इसी के आधार पर दूसरे तत्त्व भी समझ लिये जाने चाहिये।

'ऊपर जिस औचित्य का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है वह जिस प्रकार छन्दोबद्ध रचना के क्षेत्र में संघटना का नियामक होता है उसी प्रकार छन्दोबद्ध के नियमों से रहित गद्यबन्ध में भी उस सङ्घटना का नियामक होता है।

सङ्घटना के नियामक के रूप में जिन वक्तृगत तथा वाच्यगत औचित्यों का निरूपण पहले किया जा चुका है यही औचित्य छन्दोव्यवस्था से रहित गद्य में भी विषय की अपेक्षा करते हुये नियम में हेतु होता है। यहाँ पर विषय शब्द से गद्य बन्ध के भेदों का ग्रहण किया जाना चाहिये। आशय यह है कि पद्य और गद्य में एक से ही औचित्यों का पालन किया जाता है किन्तु गद्य में माध्यम के रूप में स्वीकृत गद्य के प्रकार के आधार की भी अपेक्षा उसमें रहती अवश्य है। वह इस प्रकार कि पद्य के समान गद्य में भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता रस और भाव से रहित हो तो स्वेच्छानुसार किसी भी प्रकार की सङ्घटना का पालन किया जा सकता है। यदि वक्ता रसभाव से युक्त हो तो पहले बतलाये हुये औचित्यों का अनुसरण ही करना चाहिये। उनमें भी प्रधानतया विषय के औचित्य-पालन का आग्रह होना चाहिये। आख्यायिका में प्रचुरता से मध्यसमास और दीर्घसमास वाली सङ्घटनायें ही होनी चाहिये। क्योंकि गद्य में छाया अर्थात् काव्य-सौन्दर्य विकटबन्ध के आश्रय से ही आता है। क्योंकि विकटबन्ध के कारण गद्य में काव्य सौन्दर्य अधिक प्रकृष्ट कोटि का हो जाता है। कथा में यद्यपि विकटबन्ध की प्रचुरता अपेक्षित होती है तथापि उसमें रसबन्ध में कहे हुये औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिये॥ ८॥

यहाँ तक विषयाश्रित सङ्घटना के औचित्य पर विचार कर चुकने के बाद जो निष्कर्ष निकलता है और उससे जो सिद्धान्तपक्ष बनता है उसका अभिधान ९ वीं कारिका में किया जा रहा है—

अथवा पद्यवद् गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तौचित्यं संश्रिता रचना भवति। तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद्विभेदवद्भवति, न तु सर्वाकारम्। तथा हि गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घ-समासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते। नाटका-

(अनु०) अथवा पद्य के समान गद्यबन्ध मे भी रचना रसबन्ध में भी कहे हुये औचित्य का सर्वत्र सहारा लेने वाली होती है। वह तो विषयक की अपेक्षा से कुछ विशेषतावाला हो जाता है, पूर्णरूप में नहीं। वह इस प्रकार—गद्यबन्ध में भी अत्यन्त दीर्घ समासगर्भित रचना विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण रसों मे आख्यायिका में भी

## लोचन

स्थितपक्षं तु दर्शयति—रसबन्धोक्तमिति। वृत्तौ वा शब्दोऽस्यैव पक्षस्य स्थितिद्योतकः। यथा—

स्त्रियो नरपतिर्वह्निर्विषं युक्त्या निषेवितम्।
स्वार्थाय यदि वा दुःखसम्भारायैव केवलम्॥ इति।

रचना सङ्घटना। तर्हि विषयौचित्यं सर्वथैव त्यक्तं नेत्याह—तदेव रसौचित्यं विषयं सहकारितयापेक्ष्य किञ्चिद्विभेदोऽवान्तरवैचित्र्यं विद्यते यस्य सम्पाद्यत्वेन तादृशं भवति। एतद्व्याचष्टे—तत्त्विति। सर्वाकारमिति। क्रियाविशेषणम्। असमासैवेति। सर्वत्रै-वेति शेषः। तथा हि वाक्याभिनयलक्षणे 'चूर्णपादैः प्रसन्नैः' इत्यादि मुनिरभ्यधात्। अत्रापवादमाह—न चेति। नाटकादाविति। स्वविषयेऽपीति सम्बन्धः॥ ९॥

स्थित पक्ष को तो दिखला रहे हैं—'रसबन्धोक्त····' इत्यादि। और वृत्ति में 'वा' शब्द इसी पक्ष की स्थिति का द्योतक है। जैसे—

'स्त्रियाँ, राजा, अग्नि विष ये युक्ति के साथ सेवन किये हुये या तो स्वार्थ साधन के लिये या केवल दुःखसम्भार के लिये ही (होते हैं)।

रचना अर्थात् संघटना 'तो क्या विषय का औचित्य सर्वथा ही छोड़ दिया गया?' कहते हैं—नहीं। वही रस का औचित्य विषय की सहकारी के रूप में अपेक्षा करके—कुछ विभेद अर्थात् अवान्तर वैचित्र्य सम्पाद्य के रूप मे जिसमे विद्यमान है इस प्रकार का हो जाता है। इसकी व्याख्या करते हैं—'वह तो' यह। 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है। 'असमासा' ही 'सर्वत्र ही' इतना शेष है। वह इस प्रकार वाक्याभिनय के लक्षण मे मुनि ने कहा—'प्रसन्न चूर्णपादों से····' इत्यादि। उसमें अपवाद कहते हैं—'न च' इत्यादि। 'नाटक इत्यादि में' अपने विषय में भी यह सम्बन्ध है॥ ९॥

## तारावती

'रचना सर्वत्र रसबन्ध के योग्य औचित्य का आश्रय लेकर शोभित होती है, किन्तु विषय की अपेक्षा से उसमें कुछ भेद हो जाता है॥ ९॥

ध्वन्यालोकः

दावप्यसमासैव सङ्घटना। रौद्रवीरादिवर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या।

शोभित नहीं होती। नाटक इत्यादि में असमासा संघटना ही होती है। रौद्र वीर इत्यादि के वर्णन में औचित्य विषय की अपेक्षा करते हुये प्रमाण में घट भी जाता है और बढ़ भी जाता है। वह इस प्रकार के आख्यायिका में अपने विषय में भी अत्यन्त समासहीन संघटना नहीं होना चाहिये। नाटक इत्यादि में अत्यन्त दीर्घ समास वाली नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार संघटना की दिशा का अनुसरण करना चाहिये।

तारावती

अथवा पद्य के समान गद्य में भी रसबन्ध के लिये कहे हुये औचित्य का आश्रय लेकर रचना सर्वत्र शोभित होती है। वृत्तिकार द्वारा प्रयोग किया हुआ 'वा' (अथवा) शब्द यहाँ पर विकल्पार्थक नहीं है, किन्तु इसी पक्ष की मुख्यता को सिद्ध करता है। कभी कभी अथवा शब्द मुख्य पद का द्योतक भी होता है। जैसे—

'स्त्रियाँ, राजा, अग्नि और विष युक्ति से सेवन किये जाने पर स्वार्थसाधन के लिये होते हैं अथवा केवल दुःखसंभार के लिये ही होते हैं।'

यहाँ पर 'अथवा' शब्द मुख्य पक्ष का ही द्योतक है।

इस कारिका मे रचना शब्द का अर्थ है सङ्घटना। आशय यह है कि रसबन्ध मे कहे हुये औचित्य का आश्रय लेने वाली सङ्घटना ही सर्वत्र शोभित होती है। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या इस सिद्धान्तनिरूपण में विषय के औचित्य का सर्वथा प्रत्याख्यान कर दिया गया है? उत्तर है—नहीं। किन्तु वही रस का औचित्य सहकारिता के रूप में विषय के औचित्य की अपेक्षा करता है और इस प्रकार उस रसौचित्य मे ही विषयौचित्य के आधार पर कुछ विभेद अर्थात् अवान्तर वैचित्र्य हो जाता है। इस वैचित्र्य का सम्पादक विषय का औचित्य होता है और सम्पाद्य वैचित्र्य होता है जो कि रसौचित्य में हुआ करता है। आशय यह है कि रसौचित्य मुख्य होता है, काव्य-प्रकारों से उसमें कुछ विलक्षणता आ जाती है। इसी बात को वृत्तिकार ने इस प्रकार कहा है—'वह तो विषय की अपेक्षा कुछ विशेषता वाला हो जाता है सर्वाकार नहीं।' यहाँ पर सर्वाकार यह क्रियाविशेषण है। आशय यह है कि विषय का औचित्य रस के औचित्य मे विशेषता उत्पन्न अवश्य करता है; किन्तु वह विशेषता परिमाण में बहुत थोड़ी होती है, पूर्ण रूप से

ध्वन्यालोकः

इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव। तस्य तु यथा प्रकाशनं तत्प्रतिपाद्यते—

(अनु०) प्रबन्धात्मक अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि रामायण महाभारत इत्यादि में प्रकाशित होती हुई प्रसिद्ध ही है। उसका जैसे प्रकाशन होता है अब उसका प्रतिपादन किया जा रहा है—

लोचन

एवं सङ्घटनायां चालक्ष्यक्रमो दीप्यत इति निर्णीतम्। प्रबन्धे दीप्यत इति तु निर्विवादसिद्धोऽयमर्थ इति नात्र वक्तव्यं किञ्चिदस्ति। केवलं कविसहृदयान् व्युत्पादयितुं रसव्यञ्जने येतिकर्तव्यता प्रबन्धस्य सा निरूप्येत्याशयेनाह—इदानीमिति।

इस प्रकार सङ्घटना मे अलक्ष्यक्रम दीप्त होता है यह निर्णय कर दिया गया। प्रबन्ध में दीप्त होता है यह निविवाद सिद्ध अर्थ (है) अतः इस विषय मे कुछ भी कहना नहीं हैं। केवल कविसहृदयों को व्युत्पन्न करने के लिये प्रबन्ध की जो इतिकर्तव्यता है इसका निरूपण किया जाना चाहिये इस आशय से कहते है 'इस समय'।

तारावती

नहीं होती। यदि विषय के आधार पर रसौचित्य में पूरी विशेषता ही आ जावे तो रसौचित्य का महत्त्व ही क्या रहे और रसौचित्य को प्रधानता ही किस प्रकार दी सके? इसको इस प्रकार समझिये—गद्यबन्ध मे नियमानुकूल अतिदीर्घ समास वाली रचना ही शोभित होती है।

यदि आख्यायिका भी लिखी जा रही हो, किन्तु उसमें विप्रलम्भ शृङ्गार अथवा करुण रस प्रतिपाद्य हों तो आख्यायिका में भी दीर्घसमासा संघटना अधिक अच्छी नहीं मालूम पड़ेगी। आशय यह है कि रस का औचित्य ही प्रमुख रूप में प्रयोजनीय होता है। नाटक इत्यादि में भी सर्वत्र ही असमासा रचना ही होनी चाहिये, क्योंकि मुनि ने वाक्याभिनय के लक्षण मे लिखा है—'पृथक्-पृथक् स्पष्ट शब्दों के द्वारा अभिनय करना चाहिये।' तथापि कहीं नाटक मे समास किये ही न जावें यह बात नहीं है। रौद्र इत्यादि के अभिनय में नाटक मे भी समास का प्रयोग किया जा सकता है। रौद्र वीर इत्यादि के वर्णन मे औचित्य विषय की विशेषता के आधार पर प्रमाण में घट भी जाता है और बढ़ भी जाता है। वह इस प्रकार—यदि आख्यायिका मे रौद्र इत्यादि रस लिखे जा रहे हो तो बिल्कुल ही समासरहित रचना नहीं होगी और उसमें बड़े समासों का प्रयोग किया जावेगा। इसके प्रतिकूल यदि नाटक में दीर्घ समास का विषय भी आ जावे तो भी अत्यन्त दीर्घ समासो का उसमें प्रयोग नहीं होगा। इस प्रकार संघटना का दिग्दर्शन करा दिया गया है। इसी का अनुसरण करना चाहिये॥ ६॥

ध्वन्यालोकः

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥ १० ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥ ११ ॥

( अनु० ) 'विभाव, भाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के औचित्य से युक्त घटित या केवल कविकल्पित कथा के शरीर का विधान ( पहला हेतु है ) ॥१०॥,

'इतिवृत्त के कारण आई हुई अननुकूल स्थिति को छोड़कर उत्प्रेक्षा करके भी अन्दर अभीष्ट रस के योग्य कथा का उन्नयन करना ( दूसरा हेतु है ) ॥११॥

लोचन

इदानीं तत्प्रकारजातं प्रतिपद्यत इति सम्बन्धः ।

प्रथमं तावदिति । प्रबन्धस्य व्यञ्जकत्वे ये प्रकारास्ते क्रमेणैवोपयोगिनः । पूर्वं हि कथापरीक्षा । तत्राधिकावापः फलपर्यन्ततानयनम्, रसं प्रति जागरणं तदुचित-विभावादिवर्णनेऽलङ्कारौचित्यमिति । तत्क्रमेण पञ्चकं व्याचष्टे—विभावेत्यादिना ।

यह। इस समय उसके प्रकार समूह का प्रतिपादन किया जा रहा है यह सम्बन्ध है ।

'प्रथमं तावत्' प्रबन्ध की व्यञ्जकता में जो प्रकार हैं वे क्रमशः ही उपयोगी होते हैं । पहले कथापरीक्षा, उसमें अधिकता की प्राप्ति, फलपर्यन्त ले जाना, रस के प्रति जागरण और उसके लिये उचित विभाव इत्यादि के वर्णन में अलङ्कारों का औचित्य ( ये पाँच प्रकार हैं ) । इसी क्रम से इस पञ्चक की व्याख्या कर

तारावती

ऊपर यह निर्णय कर दिया गया कि संघटना के द्वारा अलक्ष्यक्रम व्यंग्य दीप्त होता है।'प्रबन्ध अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का व्यञ्जक होता है' इसमें किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता ।

यहाँ तक इस बात की पूर्ण व्याख्या की जा चुकी कि संघटना के द्वारा असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य की व्यञ्जना होती है। अब प्रबन्ध के द्वारा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की व्यञ्जना पर विचार करना है । यह विचार दो प्रकार से किया जा सकता है—एक तो यह सिद्ध करना कि प्रबन्ध के द्वारा भी व्यञ्जना हो सकती है । किन्तु इस विषय में किसी को विप्रतिपत्ति है ही नहीं । अतः स्वतःसिद्ध तथा सर्वजन-सम्भव विषय को सिद्ध करने के लिये तर्क देना व्यर्थ ही है । इसीलिये ध्वनि-कारने यहाँ पर प्रबन्ध की व्यञ्जकता के लिये तर्क नहीं दिये हैं । दूसरा तत्त्व है यह बतलाना कि वे कौन सी विशेषतायें हैं जिनसे प्रबन्ध व्यञ्जक होता है । यहाँ पर इसी बात की व्याख्या की जा रही है । कारिकाकारने प्रबन्ध को व्यञ्जक बनाने

ध्वन्यालोकः

सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥ १२ ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥ १३ ॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ १४ ॥

( अनु० ) 'केवल शास्त्रीय मर्यादा परिपालन की दृष्टि से ही नहीं, अपितु रस-व्यञ्जना के उपयोग की दृष्टि से सन्धि तथा सन्धि के अङ्गों की संघटना करना ( प्रबन्धव्यञ्जकता का तीसरा हेतु है। ) ॥ १२ ॥

मध्य में अवसर के अनुकूल रस का उद्दीपन तथा प्रशमन करना तथा प्रबन्ध के आरम्भ से अवसानपर्यन्त अङ्गी रस का अनुसन्धान करना ( प्रबन्धव्यञ्जकता का चौथा हेतु है ) ॥ १३ ॥

( अलङ्कारयोजना की ) शक्ति होते हुये भी रस की अनुरूपता का ध्यान रखते हुये ही अलङ्कारों की योजना करना ( प्रबन्धव्यञ्जकता का पञ्चम हेतु है। ) ( यही पञ्चक ) प्रबन्ध की रस इत्यादि के प्रति व्यञ्जकता मे निबन्धन है ॥ १४ ॥

तारावती

की दृष्टि से पाँच बातों पर ध्यान रखने की आवश्यकता पर बल दिया है। इसके लिये पाँच कारिकायें लिखी गई हैं। प्रथम चार कारिकाओं मे प्रत्येक में एक तत्त्व का निर्देश किया गया है। पाँचवीं कारिका के पूर्वार्ध मे पाँचवाँ तत्त्व निर्दिष्ट है और उत्तरार्ध मे उपसंहार है। ये पाँचों प्रकार अक्रम नहीं हैं किन्तु क्रमबद्ध ही हैं। अर्थात् पहले प्रथम तत्त्व का ध्यान रखना चाहिये फिर दूसरे का, फिर तीसरे का। इसी क्रम से इन तत्त्वों का ध्यान रखना चाहिये। पाँचों प्रकार क्रमशः ये हैं ( १ ) सर्वप्रथम कथानक के कलेवर की रचना पर ध्यान देना चाहिये। कथानक चाहे घटित हुआ हो अर्थात् प्रमाणप्रसिद्ध कोई घटना हो या केवल कल्पनाप्रभूत हो, दोनों प्रकार के कथानकों मे विभाव, भाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के औचित्य का सर्वथा ध्यान रहना चाहिये; क्योंकि इससे कथानक की शोभा बढ़ जाती है। ( यहाँ पर भाव का अर्थ है अपरिपुष्ट स्थायी; क्योंकि सञ्चारी का पृथक् उपादान किया ही गया है और परिपुष्ट स्थायी भाव न रह कर रस बन जाता है। यदि इनका औचित्य कथानक में न हो तो वह कथानक दूषित माना जाता है। इसी लिये विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना, रस के विरोधी तत्त्वों का उपादान तथा दूसरे प्रकार के अर्थानौचित्य रसदोष के अन्दर आते हैं। ) ( २ ) यदि पुराण-

## तारावती

प्रसिद्ध घटना का उपादान किया गया हो और उसमें कोई ऐसी स्थिति आ जावे जो प्रस्तुत रस के अनुकूल न हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिये या मध्य मे भी कल्पना के द्वारा अभीष्ट रस के अनुकूल कथा का उन्नयन कर लेना चाहिये। (आशय यह है कि यदि प्रसिद्ध कथानक मे रसचर्वणा के लिये अनावश्यक कोई अधिक तत्त्व हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिये। और यदि कोई विरोधी तत्त्व हो तो उसको तो कहना ही नहीं चाहिये। यदि उसके विना कथानक का निर्वाह न हो रहा हो तो उसको ऐसे रूप मे बदल देना चाहिये जिससे वह रस के अनुकूल बन जावे।) (३) कथानक की रचना के लिये जिन सन्धियों तथा सन्ध्यङ्गों का शास्त्र मे निरूपण किया गया है उनका पालन करना चाहिये। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि उनका पालन रसव्यञ्जना के अनुकूल हो और उनसे रसाभिव्यक्ति मे सहायता मिल रही हो तभी उनका पालन करना चाहिये, केवल इस दृष्टि से ही उनका पालन नहीं करना चाहिये कि शास्त्र मे उनका प्रतिपादन किया गया है और शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा करनी ही है। (शास्त्र मे इन अङ्गों का उल्लेख इसीलिये किया गया है कि इनके अनुसार कथानक संघटित करने से रसव्यञ्जना सुन्दर बन पड़ती है। यदि इनके पालन करने से रसव्यञ्जना से कोई सहायता न मिले अथवा रस मे व्याघात उपस्थित हो तो इनके पालन करने की आवश्यकता नहीं है।) (४) कथानक के बीच मे आवश्यकतानुसार रस का उद्दीपन और प्रशमन होना चाहिये। अर्थात् इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ आवश्यकता हो वहाँ रस को तीव्रता प्रदान कर दी जावे और जहाँ रस के प्रशान्त कर देने से रस की पुष्टि होना सम्भव हो वहाँ पर उसे प्रशान्त कर देना चाहिये। यदि उसकी विश्रान्ति प्रारम्भ हो गई हो तो उसका अनुसन्धान कर लेना चाहिये। (दीधितिकार ने यहाँ पर दो पृथक् पृथक् तत्त्व माने है—एक तो रसका उद्दीपन और प्रशम तथा दूसरा अन्तमे अङ्गी रस का अनुसन्धान। यह व्याख्या लोचन के विरुद्ध होने से त्याज्य है।) (५) कवि अलङ्कारयोजना में कितना ही निपुण क्यों न हो उसे रसानुकूल ही अलङ्कारयोजना करनी चाहिये। रस इत्यादि के प्रति प्रबन्ध की व्यञ्जकता के यही ५ निबन्धन है। इन पाँचो प्रकारों को संक्षेप मे इस प्रकार कहा जा सकता है—कथापरीक्षा, अधिकतासम्पादन, रस को फलपर्यन्त लेजाना, रस के प्रति जागरूक रहना, उचित विभाव इत्यादि के वर्णन मे अलङ्कार के औचित्य का ध्यान रखना। अब इन्हीं पाँचो की क्रमशः व्याख्या की जा रही है—

(१) सर्वप्रथम कथापरीक्षा को लीजिये। कथा ऐतिहासिक भी हो सकती है, पौराणिक भी और सर्वथा काल्पनिक भी। किन्तु सभी प्रकार के कथानकों में

## ध्वन्यालोकः

प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। प्रथमं तावद्विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम्। तत्र विभावौचित्यं तावत्प्रसिद्धम्।

( अनु० ) प्रबन्ध भी रस इत्यादि का व्यञ्जक ( होता है ) यह कहा गया है। उसकी व्यञ्जकता मे निबन्धन ( यह है )। सर्वप्रथम विभाव, भाव ( स्थायी भाव ) अनुभाव और सञ्चारी भाव के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होनेवाले कथाशरीर का विधान अर्थात् ठीक रूप मे प्रतिपादन के लिये अभीष्ट रस और भाव इत्यादि की अपेक्षा से जो उचित विभाव भाव अनुभाव और सञ्चारी भाव हो उसके औचित्य से सुन्दर मालूम पड़नेवाले कथाशरीर का विधान व्यञ्जकता मे निबन्धन होता है यह एक है। उनमें विभावौचित्य तो प्रसिद्ध ही है।

## लोचन

तदौचित्येति। शृङ्गारवर्णनेच्छुना तादृशी कथा संश्रयणीया यस्यामृतुमाल्यादेर्विभावस्य लीलादेरनुभावस्य हर्षधृत्यादेः सञ्चारिणः स्फुट एव सद्भाव इत्यर्थः। प्रसिद्धमिति। रहे है—विभाव इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा। 'तदौचित्यम्' शृगार वर्णन के इच्छुक द्वारा उस प्रकार की कथा का आश्रय लिया जाना चाहिये जिसमें ऋतु माल्य इत्यादि विभाव का लीला इत्यादि अनुभाव का और हर्ष धृति इत्यादि सञ्चारी की स्फुट ही सद्भावना हो यही अर्थ है। 'प्रसिद्धम्' यह लोक मे और भरतशास्त्र में।

## तारावती

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसमे रस के जिन तत्त्वों को निबद्ध किया जाये वे सर्वथा उचित ही होने चाहिये। उदाहरण के लिये यदि शृंगाररसमय रचना करनी है तो उसके अनुकूल ही परिस्थिति का निर्माण करना होगा। शृंगाररसमय रचना के लिये कवि को ऐसी कथा का आश्रय लेना चाहिये जिसमें स्पष्ट रूप में ऋतु माला इत्यादि का वर्णन सन्निहित हो, जिस मे लीला इत्यादि अनुभावों के वर्णन का पर्याप्त अवसर हो और हर्ष, धृति, इत्यादि सञ्चारिभाव स्पष्ट रूप में प्रतीत हो रहे हों। रसोपकरणों के औचित्य का यही अभिप्राय है। इस औचित्य को हम कई भागों मे विभाजित कर सकते हैं—विभावौचित्य, भावौचित्य, अनुभावौचित्य और सञ्चार्यौचित्य। विभावौचित्य लोक मे भी प्रसिद्ध है और भरत इत्यादि आचार्यों ने निरूपण भी विशेष रूप में कर दिया है। ( यह बात लोकसिद्ध है कि कौन से विभाव उचित होते हैं ? कौन से अनुचित ? उदाहरण के लिये कुछ प्रेम

## तारावती

उचित माने जाते हैं और कुछ उचित नहीं होते। कहीं क्रोध प्रशंसनीय होता है कहीं निन्दनीय। इसी प्रकार अन्य भावो के विषय भी मे समझना चाहिये।) भरत मुनि ने नाट्य को त्रैलोक्यानुकृति कहा है तथा उसे धीरोदात्ताद्यवस्थानुकृति बतलाया है। भरत के मत मे नाट्य लोकधर्मी होता है और लोकप्रवृत्ति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के प्रादेशिक राष्ट्रिय तथा जातीय चरित्रों का अध्ययन कार्यकलाप और वाक्यादि की दृष्टि से किया है। प्रकृति के अन्दर विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों, मस्तिष्कों और स्वभावों का वर्णन किय गया है। तथा उनको रसानुकूल रखने का आदेश दिया गया है। भरत का कहना है—

'एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि।
यथा भावरसावस्थं विज्ञायैवं प्रयोजयेत्॥

अर्थात् केश से नख तक यह स्त्री का विभूषण है। इस प्रकार इनको जानकर भाव और रस की अवस्था के अनुसार इनका प्रयोग करना चाहिये। किन्तु प्रकृतियों और प्रवृत्तियों की इयत्ता नहीं हो सकती। भरत ने कहा है कि प्रकृतियाँ नाना शील वाली होती है, शील में ही नाट्य की प्रतिष्ठा होती है। लोकसिद्ध ही सिद्ध माना जाता है; शास्त्र लोकस्वभाव से उद्भूत होता है; अतः नाट्यप्रयोग में लोक ही प्रमाण है। जो शास्त्र हैं, जो धर्म हैं जो शिल्प हैं, जो क्रियायें है; लोकधर्म द्वारा सञ्चालित होने पर ही वे नाट्य संज्ञा की अधिकारिणी होती हैं। स्थावर और चर लोक का शास्त्र के द्वारा इयत्ता के रूप मे निर्णय कर सकना असम्भव है अतः मैंने जो नहीं कहा वह भी लोक से ही समझ लिया जाना चाहिये।' इस प्रकार भरत लोक के औचित्य को प्रमुखता देते हैं। वस्तुतः धर्म और अधर्म तथा उचित और अनुचित की भावना प्रत्येक समझदार व्यक्ति के हृदय मे स्वतः होती है। अतः लोकप्रवृत्त व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से ही उचित अनुचित का निर्णय कर लेता है। शास्त्रकार केवल दिग्दर्शन कराते है। साहित्यदर्पणकार ने विभावानौचित्य का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया है—'उपनायकविषयक, मुनि गुरुपत्नी इत्यादि के प्रति विद्यमान तथा अनुभयनिष्ठरति और प्रतिनायकनिष्ठ तथा अधम पात्र तिर्यक् इत्यादि के प्रति शृगार मे अनौचित्य होता है। गुरु इत्यादि के प्रति कोप, हीननिष्ठ शान्त, गुरु इत्यादि को आलम्बन बनाकर हास्य, ब्रह्मवध इत्यादि के लिये उत्साह, अधम पात्रगत वीर और उत्तम पात्रगत भयानक ये अनुचित होते हैं तथा ऐसे दूसरे स्थानों पर भी समझना चाहिये।' इसी प्रकार उद्दीपन के औचित्य का भी दिग्दर्शन कराया जा सकता है। आशय यह है रसनिष्पत्ति के उद्देश्य से कथानक ऐसा चुना जाना चाहिये जो सहृदयों को अनुचित प्रतीत न हो और जिस

ध्वन्यालोकः

भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात् । प्रकृतिर्हुत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी । तां यथायथमनुसृत्यासङ्कीर्णः स्थायी भाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग्भवति । अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्योत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति । तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः ।

(अनु०) भाव का औचित्य तो प्रकृति के औचित्य से ( होता है ) । प्रकृति निस्सन्देह उत्तम मध्यम और अधम भाव से तथा दिव्य मानुष इत्यादि भाव से विभेदवाली ( हो जाती है ) । उसको ठीक रूप मे अनुसरण करते हुए उपनिबद्ध किया हुआ असंकीर्ण स्थायी भाव औचित्यवाला हो जाता है । नही तो केवल मानव के आश्रय से दिव्य के और केवल दिव्य के आश्रय से केवल मनुष्य के उपनिबद्ध किये हुये उत्साह इत्यादि अनुचित होते हैं । अतएव राजा इत्यादि केवल मानव के वर्णन में सातों समुद्रों के लंघन इत्यादि रूप व्यापार उपनिबद्ध किये हुये सुन्दरता से भरे हुये भी नियमतः नीरस ही होते हैं । उसमें अनौचित्य ही हेतु है ।

लोचन

लोके भरतशास्त्रे च । व्यापार इति । तद्विषयोत्साहोपलक्षणमेतत् । स्थाय्यौचित्यं हि व्याख्येयत्वेनोपक्रान्तं नानुभवौचित्यम् । सौष्ठवभृतोऽपीति । वर्णनामहिम्नेत्यर्थः । तत्र त्विति । नीरसत्वे ।

'व्यापार' यह । यह तद्विषयक उत्साह का उपलक्षण है । क्योंकि वर्णनीय के रूप में स्थाय्यौचित्य का उपक्रम किया गया है अनुभावौचित्य का नहीं । 'सुन्दरता से युक्त भी' अर्थात् वर्णन की महिमा से । 'वहाँ पर तो' अर्थात् नीरसत्व में ।

तारावती

व्यक्ति के प्रति जो भाव दिखलाया गया हो उसके पात्र रसाभास उत्पन्न करें और न परिस्थितियाँ ही सहृदयों मे खिचाव उत्पन्न करने वाली हो ।

ऊपर विभावौचित्य का वर्णन किया गया है। कथानक के औचित्य की कल्पना में कवि को जिस दूसरे तत्त्व का विचार करना है वह है भावौचित्य। (वैसे तो भावौचित्य मे विभावों का औचित्य भी प्रयोजनीय होता ही है तथापि भावौचित्य के लिये कतिपय अतिरिक्त तत्त्व भी आवश्यक होते हैं । ) भाव का औचित्य प्रकृतियों के औचित्य पर आधृत होता है । प्रकृतियों का विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है—प्रथम भेदकल्पना के अनुसार प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—

## तारावती

उत्तम, मध्यम और अधम । द्वितीय उपभेद कल्पना के अनुसार उसके तीन भेद होते है दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। समान परिस्थिति में प्रकृतिभेद के आधार पर भावना का भेद भी हो जाता है। एक ही परिस्थिति में उत्तम प्रकृतिवाले व्यक्ति के हृदय में जैसी भावनाये उठेंगी अधम प्रकृतिवाले व्यक्ति के हृदय में सर्वथा विपरीत भावनाये होगी । अतः भावाभिव्यक्ति में प्रकृति का सर्वथा ध्यान रखना चाहिये अन्यथा प्रकृतिविपर्यय दोप के कारण रसानुभूति अकल्प नहीं हो सकती । ( साहित्यदर्पण मे प्रकृति-भेद के विपय मे लिखा है कि—प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—दिव्य अर्थात् देवताओं की प्रकृति, अदिव्य अर्थात् मानव इत्यादि की प्रकृति और दिव्यादिव्य अर्थात् महापुरुषों की प्रकृति जो कुछ देवता और कुछ मनुष्यत्व की ओर झुकी हुई होती है । उनके धीरोदात्त इत्यादि भेद होते हैं, उनके भी उत्तम मध्यम और अधम ये भेद होते हैं । उसमे जो जिस प्रकार का हो उसका उससे भिन्न रूप मे वर्णन करना प्रकृतिविपर्यय दोप कहलाता है । जैसे धीरोदात्त राम का धीरोद्धत्त के समान वालिवध अथवा जैसे कुमारसम्भव में उत्तम देवता पार्वती और परमेश्वर का सम्भोगशृङ्गार- वर्णन ( 'यह मातापिता के सम्भोगवर्णन के समान अत्यन्त अनुचित है' यह कुछ लोग कहते हैं ।) उस प्रकृति का यदि ठीक रूप मे अनुसरण किया जावे और उसके माध्यम से स्थायी भाव का उपनिबन्धन इस रूप में किया जावे कि वह न किसी विरोधी भाव से सङ्कीर्ण हो और न किसी अनुकूल अथवा उदासीन भाव के प्रति गौण हो रहा हो वह स्थायी भाव ही औचित्यशाली कहा जा सकता है । इसके प्रतिकूल यदि प्रकृति का उलट-फेर हो जाता है जैसे देवों के जो उत्साह इत्यादि भाव होते हैं उनको केवल मानव के आश्रय से वर्णन किया जावे अथवा जो उत्साह इत्यादि भाव केवल मानव के हो सकते है उनका आश्रय केवल देवताओ को बनाया जावे तो इस प्रकार के उत्साह इत्यादि के उपनिबन्धन अनुचित होते है । ( केवल मानव और केवल देव का अर्थ है कि जो पाण्डव इत्यादि देवों और मानवों की मिश्रित प्रकृति के होते है उनके आश्रय मे दिव्य या मानुष किसी प्रकार के औचित्य का पालन किया जा सकता है । ) इस प्रकार राजा इत्यादि जो केवल मानव है उनके वर्णन के प्रसङ्ग मे सातों समुद्रों को लाँघ जाने इत्यादि 'कार्यों का' उपनिबन्धन किया जाता है तो वह उपनिबन्धन ( कलात्मक दृष्टि से ) कितना ही अच्छा क्यों न हो किन्तु नियमतः नीरस हो जाता है । इस नीरसता का कारण अनौचित्य ही होता है । यहाँ पर 'कार्यों का उपनिबन्धन' अनुचित बतलाया गया है। रसप्रकरण मे कार्य या व्यापार को सर्वदा अनुभाव कहा जाता है । किन्तु यहाँ पर भाव के औचित्य का प्रकरण

ध्वन्यालोकः

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तदलोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्षमाभुजामिति? नैतदस्ति, न वयं ब्रूमो यत् प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम्, किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायां तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव। यथा पाण्डवादिकथायाम्। सातवाहना-

(अनु०) (प्रश्न) निस्सन्देह सातवाहन इत्यादि (राजाओं) के नागलोकगमन इत्यादि (लोकोत्तर कार्य) सुने जाते हैं; अतः समस्त पृथ्वी के भरण-पोषण में समर्थ पृथ्वी का भोग करनेवाले (राजाओं) के अलोकसामान्य प्रभावातिशय वर्णन करने में क्या अनौचित्य है? (उत्तर) यह नहीं है। हम यह नहीं कहते कि राजाओं का प्रभावातिशय वर्णन अनुचित होता है; किन्तु केवल मनुष्य के आश्रय से जो उत्पाद्यवस्तु की कथा की जाती है उसमें दिव्य औचित्य की योजना नहीं करनी चाहिये। दिव्य मनुष्य (दोनों प्रकृतिवाली) के आश्रय से की हुई कथा में दोनों के औचित्य की योजना अविरुद्ध ही है। जैसे पाण्डु इत्यादि की कथा में। सातवाहन इत्यादि में तो जितना कर्मवृत्त सुना जाता है केवल उतने

तारावती

है अनुभाव के औचित्य का नहीं। अतः व्यापार शब्द का अर्थ करना चाहिये सात समुद्रों के लांघ जाने इत्यादि कार्यों से उपलक्षित उत्साह इत्यादि।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि राजा लोग सर्वसाधारण जनता के समान सीमित शक्ति वाले तो होते नहीं उनमें लोकोत्तर शक्ति होती है। वे समस्त पृथ्वी के रक्षण करने की शक्ति रखते हैं और भूमि का भोग भी करते हैं। यदि उनके आश्रय से अलोकसामान्य प्रभाव की अतिशयता का वर्णन करें तो क्या अनुचित होगा? उदाहरण के लिये सातवाहन इत्यादि का नागलोकगमन इत्यादि सुना जाता है। (विक्रम की द्वितीय शताब्दी के आस पास सातवाहन नामक राजा कुन्तल राज्य में हुआ था। इसकी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठान) में थी। इन्हीं का चलाया हुआ शक संवत् है और इन्हीं ने प्रसिद्ध मुक्तक कोश गाथासप्तशती की रचना की थी। ये अपने दान मान और ऐश्वर्य के कारण जनसाधारण में अलौकिक शक्तिसम्पन्न माने जाने लगे थे। ऐसे व्यक्तियों के विषय में किंवदन्तियाँ प्रायः चल पड़ती हैं। सम्भवतः इनके विषय में भी पातालगमन जैसी किंवदन्तियाँ चल पड़ी हों और वे आनन्दवर्धन के समय तक तथा उसके बाद तक प्रसिद्ध रही हों। विक्रमादित्य के विषय में ऐसी ही किंवदन्तियाँ आज भी प्रसिद्ध है। यह भी सम्भव है कि ये कोई दूसरे सातवाहन हों।) आशय यह है कि राजाओं के लोकोत्तर

ध्वन्यालोकः

दिपु तु येषु यावदपदानं श्रूयते तेषु तावन्गात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम्। तदयमत्र परमार्थः—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

का अनुममन करना गुणों की अनुकूलता के अनुसार प्रतिभासित होता है उसके अतिरिक्त तो उन्हीं के विषय मे उपनिबन्धन अनुचित होता है। तो यह यहाँ पर सारार्थ है—

'अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का और कारण नहीं होता। प्रसिद्ध औचित्य का उपनिबन्धन रस की सबसे बड़ी परा विद्या है॥'

लोचन

व्यतिरिक्तं त्विति। अधिकमित्यर्थः।

'व्यतिरिक्त तो' यह अर्थात् अधिक।

तारावती

कृत्य सम्भव है अतः उनके प्रभाव की अधिकता का वर्णन क्यों अनुचित कहा जावेगा? (उत्तर) इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कुछ प्रतिपक्षी ने कहा है वह वास्तव में ठीक नहीं है। हमारे कहने का आशय यह नहीं है कि राजाओं के प्रभाव की अधिकता का वर्णन नहीं करना चाहिये। सामान्य जनों की अपेक्षा राजा मे प्रभाव की जितनी अधिकता सम्भव हो सकती है उसका वर्णन करना दोष नहीं कहा जा सकता, अतः उसका तो वर्णन करना ही चाहिये। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि कथायें दो प्रकार की होती है एक तो लोक मे परम्परागतरूप मे प्रसिद्ध और दूसरी काल्पनिक। परम्पराप्राप्त कथाओं के समान कल्पित कथाओं के प्रति सर्वसाधारण की भावना पहले से ही बनी नहीं रहती। अतः यदि ऐसी कल्पित कथा को लेकर नाट्य या काव्य की रचना की जावे उसके पात्र सर्वथा लौकिक तथा अप्रसिद्ध हो और उनके विषय मे सर्वसाधारण की कोई पुरानी धारणा बनी हुई न हो तो उनके चित्रण मे मानव औचित्य का ध्यान रखना चाहिये, दिव्य औचित्य की योजना उनके साथ नहीं करनी चाहिये। प्रसिद्ध कथा मे कुछ पात्र ऐसे होते हैं जो होते तो है वस्तुतः लौकिक, किन्तु उनके साथ परम्परागतरूप मे दिव्यता जुड़ जाती है, उन्हे हम दिव्यादिव्य प्रकृति का नायक कह सकते है उनके चरित्रो मे दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकार की प्रकृतियों की योजना विरुद्ध नहीं कही जा सकती। जैसे पाण्डव इत्यादि के चरित्र। (मूल मे पाण्ड्वादि लिखा है। ज्ञात होता है 'पाण्डवादि' मे ड् के नीचे हलन्त

ध्वन्यालोकः

अत एव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटक-

(अनु०) अतएव भरत में नाटक का प्रख्यात वस्तुविषयत्व और प्रख्यात उदात्त-नायकत्व अवश्यकर्तव्यता के रूप में रक्खा गया है। इससे नायक के औचित्य

तारावती

पाठ की भ्रष्टता के कारण आ गया है। क्योंकि पाण्डु की कथा मे किसी लोकोत्तर कृत्य का वर्णन नहीं है। पाण्डवों की कथा सभी लोकोत्तर कृत्यों से भरी हुई है।) इसमें भी इतना ध्यान रखना चाहिये कि प्रसिद्ध दिव्यादिव्य प्रकृति वाले राजाओं के लोकोत्तर कृत्यों की जो सीमा लोक में प्रतिष्ठित हो चुकी हो यदि उतने तक का ही अनुगमन किया जाता है तो वह अनुगमन रस के अनुकूल होता है। यदि लोकप्रतिष्ठा का अतिक्रमण करके उससे अधिक का वर्णन किया जावे तो वह अनुगमन रस के अनुकूल होता है। यदि लोकप्रतिष्ठा का अतिक्रमण करके उससे अधिक का वर्णन किया जावे तो वह सर्वथा अनुचित ही होता है। यहाँ पर सारांश इतना ही है—

'अनौचित्य को छोड़कर रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं होता। प्रसिद्ध औचित्य का निबन्ध रस की सबसे बड़ी उपनिषद् है।' (उपनिषद् शब्द के दो अर्थ होते हैं—परा विद्या और निकट पहुँचना। आशय यह है कि औचित्य का निबन्धन रस की परा विद्या है और रसनिष्पत्ति के सबसे अधिक निकट पहुँचना भी औचित्य का उपनिबन्ध ही है।)

भरतमुनि ने नाटक के अन्दर प्रख्यात वस्तु का कथानक के रूप में उपादान करना और इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति को नाटक का नायक बनाना कवि का अनिवार्य कर्तव्य माना है। इसका कारण ही यह है कि प्रसिद्ध कथानक के पात्रों के चरित्र तथा उनकी शक्ति की सीमा कवि के सामने सर्वदा सन्निहित रहती है, अतः कवि उनका चित्रण करने में व्यामोह में नहीं पड़ता और पाठकों की भी उनके पात्रों के विषय मे एक भावना बनी रहती है, अतः पाठक न तो उनकी सम्भावना में सन्देह करते हैं और न उनका आस्वादन ही प्रतिहत होता है। इसके प्रतिकूल काल्पनिक नाटकादि की रचना में कवि को किसी पात्र के चरित्र की कल्पना स्वयं करनी पड़ती है और परिशीलक जब उस नई घटना को पढ़ता है या उसका अभिनय देखता है तब किसी विशिष्ट पात्र के विषय में उसकी धारणा चित्रण के अनुकूल बन जाती है। न तो कवि के मस्तिष्क में उस नवीन पात्र के विषय में कोई धारणा बद्धमूल होती है और न पाठकों के सामने उनका कोई चरित्र स्पष्ट होता है। ऐसी दशा में यह बहुत सम्भव है कि कवि स्वकल्पित चरित्र के ठीक ठीक निर्वाह करने में भूल कर जावे। वहाँ कवि को विशेष रूप से चरित्रचित्रण में

ध्वन्यालोकः

स्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम् । तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति । यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात्तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः ।

अनौचित्य के विषय में कवि व्यामोह मे नहीं पड़ता । और जो नाटक को उत्पाद्य ( कल्पित ) वस्तु वाला बनावे उससे अप्रसिद्ध और अनुचित नायक के स्वभाव-वर्णन मे बहुत बड़े प्रमाद की सम्भावना है ।

लोचन

एतदुक्तं भवति—यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग् वर्णनीयम् । तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्तार्णवलङ्घनमसम्भाव्यमानतयानृतमिति हृदये स्फुरदुपदेशस्य चतुर्वर्गोपायस्याप्यलीकतां बुद्धौ निवेशयति । रामादेस्तु तथाविधमपि चरितं पूर्वप्रसिद्धिपरम्परोपचितसम्प्रत्ययोपारूढसत्यतया न चकास्ति । अतएव तस्यापि यदा प्रभावान्तरमुत्प्रेक्ष्यते तदा तादृशमेव । न त्वसंभावनापदं वर्णनीयमिति । तेन हीति । प्रख्यातोदात्तनायकवस्तुत्वेन । व्यामुह्यतीति । किं वर्णयेयमिति । यस्त्विति कविः ।

( यहाँ पर ) यह कहा गया है—जहाँ उपदेश दिये जानेवाले ( सहृदय व्यक्तियों ) की प्रतीति का खण्डन हो रहा हो उस प्रकार की वस्तु का वर्णन करना चाहिये । उसमे केवल मानव का अकस्मात् सातों समुद्रों का लांघ जाना असम्भव होने से असत्य है यह उपदेश्य ( उपदेश के योग्य ) व्यक्ति के हृदय में स्फुरित होते हुये बुद्धि मे चतुवर्ग फलप्राप्ति के उपाय की भी असत्यता को निविष्ट कर कर देता है । राम इत्यादि का तो उस प्रकार का भी चरित्र पूर्वप्रसिद्धि-परम्परा से बढ़े हुये विश्वास के कारण ( हृदय पर ) चढ़ा हुआ असत्य के रूप में प्रकाशित नहीं होता । अतएव जब उनके भी दूसरे प्रभाव की कल्पना की जाती है तब वैसा ही होता है । आशय यह है कि असम्भावना के स्थान का वर्णना नहीं करना चाहिये । 'इससे निस्सन्देह' अर्थात् प्रख्यात उदात्त नायक विषयक वस्तु होने से । 'व्यामोहित होता है' अर्थात् क्या वर्णन करूँ यह ( व्यामोह ) । 'जो' अर्थात्

तारावती

जागरूक रहना पड़ता है । यदि वहाँ पात्र के चित्रण मे कवि प्रकृति के औचित्य का पालन करने मे समर्थ हो जाता है तो भावौचित्य के कारण प्रबन्ध रसाभिव्यञ्जन में समर्थ होता है ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि कवि को सर्वदा ऐसा वर्णन करना चाहिये जिससे विनेय व्यक्तियों की प्रतीति का खण्डन न हो ( आशय यह है कि काव्य का प्रमुख प्रयोजन होता है सुकुमार प्रकृति के राजकुमार इत्यादि

## लोचन

महान् प्रमाद इति । तेनोत्पाद्यवस्तु नाटकादि न निरूपितं मुनिनेति न कर्तव्यमिति तात्पर्यम् । आदिशब्दः प्रकारे, हिमादेः प्रसिद्धदेवचरितस्य सङ्ग्रहार्थः ।

अन्यस्तु—उपलक्षणमुक्तो बहुव्रीहिरिति प्रकरणमत्रोक्तमित्याह । 'नाटिकादि' इति वा पाठः । तत्रादिग्रहणं प्रकारसूचकम्, तेन मुनिनिरूपिते नाटिकालक्षणे 'प्रकरण-नाटकयोगादुत्पाद्यं वस्तु नायको नृपतिः' इत्यत्र यथासंख्येन प्रख्यातोदात्तनृपतिनायकत्वं बोद्धव्यमिति भावः ।

कवि । 'बहुत बड़ा प्रमाद' इसलिये उत्पाद्य वस्तुवाले नाटक इत्यादि का मुनि ने निरूपण नहीं किया है अतः उन्हें नहीं करना चाहिये यह तात्पर्य है । 'आदि' शब्द प्रकारार्थक है ( यह ) हिम इत्यादि प्रसिद्ध देवचरित के संग्रह के लिये ( लिखा गया हैं । )

दूसरा तो 'उक्त बहुव्रीहि उपलक्षण है इसलिये प्रकरण यहाँ पर कहा गया है' यह कहता है । अथवा 'नाटिकादि' यह पाठ है । उसमें आदिग्रहण प्रकारसूचक है । इससे मुनि के द्वारा निरूपित नाटिकालक्षण में 'प्रकरण और नाटक के योग से उत्पाद्य वस्तु और नायक नृपति होता है' यहाँ पर क्रम का अनुसरण करते हुये प्रख्यात उदात्त नृपति नायक समझा जाना चाहिए—यह भाव है ।

## तारावती

को ठीक मार्ग पर ले आया जावे । यह तभी सम्भव है जब कि उनके हृदय में असत्यता का प्रतिभास न हो । यदि नाटकादि में ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाता है जिसको विनेय व्यक्ति सत्य समझने लगते हैं तभी उनकी आस्था जमती है और तभी वे उपदेश को ग्रहण कर सकते हैं । ) अब मान लीजिये कोई ऐसा पात्र है जो शुद्ध मानव की सीमा से पार नहीं जा सकता, यदि एकदम उसका सातों समुद्रों का लाघ जाना दिखला दिया जावेगा तो सहृदयों के हृदयों में असम्भवनीयताजन्य असत्यता स्फुरित होने लगेगी और जिस चतुर्वर्ग के उपाय का उपदेश देना कवि को अभीष्ट होता है असम्भव प्रकृति उस उपाय के मिथ्यात्व को बुद्धि में निविष्ट कर देती है ( जिससे कवि का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता । ) राम इत्यादि का तो यदि वैसा भी चरित्र चित्रित किया जावे अर्थात् समुद्र पर पत्थरों को तैराना, एक बाण से समुद्र को क्षुब्ध कर देना इत्यादि असम्भव घटनाओं को यदि राम इत्यादि पात्रों के विषय में दिखलाया जावे तो पूर्वप्रसिद्धि की परम्परा से बढ़े हुये विश्वास के हृदय पर जमे होने के कारण ये घटनायें असत्य के रूप में प्रतीत नहीं होतीं । अतएव यदि उन राम इत्यादि के भी प्रसिद्धि से भिन्न दूसरे प्रकार के प्रभावों का वर्णन किया जावे तो उनकी भी वही

तारावती

दशा होगी। सारांश यह है कि असम्भव का वर्णन नहीं करना चाहिये। (आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि आज कल या तो नवीनता की झोंक में या पुरातन के खण्डन करने की मिथ्या वीर भावना से कुछ कवि प्राचीन प्रतिष्ठित चरित्रों में गड़बड़ किया करते हैं। कोई मेघनाद को नायक बनाते हुए देखा जाता है कोई दूसरे प्रकार की कल्पनाओं से प्राचीन चरित्रों की बुद्धिगम्यता प्रतिपादित करते हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार प्राचीन नवीन कल्पना के लिये अपरिमित अवकाश होते हुये भी यह सरस्वती के मन्दिर को व्यर्थ कलङ्कित करना है।) भरत मुनि का आशय यही है कि प्रख्यात और उदात्त नायक विषयक वस्तु होने से कवि इस व्यामोह में नहीं पड़ता कि क्या वर्णन करना चाहिये या क्या नहीं करना चाहिये। यहाँ पर कहा गया है कि जो उत्पाद्य वस्तु वाले नाटक इत्यादि की रचना करे उससे अप्रसिद्ध अनुचित नायक के स्वभाववर्णन में बहुत बड़े प्रमाद की सम्भावना रहती हैं। इसमें यह प्रश्न उठता है कि नाटक तो कल्पित वस्तु वाला होता ही नहीं फिर यह क्यों कहा गया कि 'जो कल्पित वस्तु वाले नाटक की रचना करे'? अतः इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये इस सन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि यदि नाटक भी कल्पित विषय वाला रक्खा जावे तो कवि से बहुत बड़े प्रमाद हो जाने की सम्भावना हो सकती है। इसीलिये उत्पाद्य वस्तु वाले नाटक इत्यादि की रचना नहीं करना चाहिये। और इसीलिये मुनि ने नाटक को उत्पाद्य वस्तु को लेकर लिखने का आदेश नहीं दिया है और न उसका निरूपण ही किया है। 'नाटकादि' में आदि शब्द प्रकारवाचक है अर्थात् नाटक के ढंग पर ही लिखे हुये और भी अभिनेय काव्य जिनमे प्रख्यात वस्तु को नाट्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जावे। इससे डिम इत्यादि का संग्रह हो जाता है जिसमें प्रसिद्ध देवचरित को नाट्य वस्तु के रूप मे ग्रहण किया जाता है। (नाट्य शास्त्र में रूपक के दस भेद किये गये है—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन। इसी प्रकार १८ उपरूपक होते हैं। इनमें कुछ रूपक और उपरूपक प्रख्यात वस्तु को लेकर चलते हैं और कुछ कल्पित वृत्त को लेकर। नाटक प्रथम प्रकार का रूपक होता है जिसमे प्रख्यात वृत्त का आश्रय लिया जाता है। लोचन के अनुसार यहाँ पर वृत्तिकार (आनन्दवर्धन) ने जो 'नाटकादि' की कल्पित वृत्तता में कवि के महान् प्रमाद की सम्भावना का उल्लेख किया है उसका आशय यह है कि यदि प्रख्यात वृत्त पर आधृत नाटक इत्यादि को कल्पितवस्तुविषयक माना गया होता तो कवि के महान् प्रमाद की सम्भावना थी, इसीलिये भरतमुनि ने नाटक इत्यादि को कल्पित वृत्त-गत माना नहीं है और उसकी

ध्वन्यालोकः

ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद्दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत्क्रियताम्, रत्यादौ तु किं तया प्रयोजनम् ? रीतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण

(अनु०) ( प्रश्न ) यदि उत्साह इत्यादि के वर्णन में दिव्य, मानुष इत्यादि के औचित्य की परीक्षा की जाती है तो की जावे, रति इत्यादि में तो उससे क्या प्रयोजन ? स्थिति यह है कि रति भारतवर्षोचित व्यवहार से ही दिव्यों की भी वर्णित

तारावती

रचना करनी भी नहीं चाहिये । ) कुछ लोग 'नाटकादि' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—इस शब्द में बहुव्रीहि है, यह बहुव्रीहि उपलक्षणपरक हो जाता है। ( उपलक्षण का अर्थ है एक भाग के ग्रहण करने पर सम्पूर्ण का ज्ञान हो जाना । यहाँ नाटक शब्द के ग्रहण से सभी रूपकों और उपरूपकों का ग्रहण हो जाना उपलक्षण है । ) अतः नाटकादि के द्वारा प्रकरण इत्यादि कल्पितवस्तुपरक रूपकों का ग्रहण हो जाता है । इस अवस्था में आनन्दवर्धन के उक्त कथन का यही आशय है कि जिन प्रकरणादिकों में वस्तु उत्पाद्य होती है उसमें प्रमाद हो जाना अधिक सम्भव है। अथवा यहाँ पर 'नाटकादि' यह पाठ न मानकर 'नाटिकादि' यह पाठ मानना चाहिये । यहाँ पर 'आदि' का ग्रहण प्रकार का सूचक है । अर्थात् 'जिस प्रकार की नाटिका होती है उस प्रकार के रूपकों में ' ' इत्यादि । मुनि ने नाटिका का लक्षण यह लिखा है—( 'नाटिका में ) प्रकरण और नाटक के योग से उत्पाद्य वस्तु और नायक राजा होता है ।' यहाँ पर यथासंख्य अर्थात् क्रम के अनुसार व्याख्या करनी चाहिये । अर्थात् नाटिका में प्रकरण और नाटक तीनों के तत्त्व मिले रहते हैं—प्रकरण के अनुसार वस्तु उत्पाद्य होती है और नाटक के अनुसार उदात्त चरित्रवाला कोई प्रख्यात राजा नायक होता है । आशय यह है कि नाटिका की वस्तु भी कल्पित ही होती है और उसी को लेकर आनन्दवर्धन ने लिख दिया है कि कल्पित वस्तु वाली नाटिका इत्यादि में प्रमाद का हो जाना बहुत स्वाभाविक है । ( साहित्यदर्पण में नाटिका का लक्षण यह लिखा है—'नाटिका कल्पित वृत्त वाली, अधिकतर स्त्रीपात्रों से युक्त, चार अङ्कों वाली होती है । इसमें प्रख्यात धीरललित राजा नायक होता है ।' आशय यह है कि नाटिका में किसी प्रसिद्ध नायक का कल्पित चरित्र रहता है'।)

ऊपर बतलाया है कि प्रकृतियों के औचित्यका पालन भावौचित्य में हेतु होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उत्साह इत्यादि के वर्णन में तो दिव्य मानव इत्यादि प्रकृतियों के भेद की परीक्षा सङ्गत कही जा सकती है—देवों में उत्साह का परिमाण मानवों की अपेक्षा भिन्न अवश्य होता है । अतः उत्साह इत्यादि के क्षेत्र में दिव्य मानव इत्यादि औचित्यों की परीक्षा यदि कोई करता है तो किया करे, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती । किन्तु रति इत्यादि में उस परीक्षा का क्या

ध्वन्यालोकः

दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः, नैवम्; तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता ? त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम्। यत्तु दिव्यमौचित्यं तत्तत्रानुपकारकमेवेति चेत्—न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद् ब्रूमः। किं तर्हि ? भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ; तथैव देवेषु तत्परिहर्तव्यम्। नाटकादेरभिनेयत्वादभिनयस्य च सम्भोग-

की जानी चाहिये। ( उत्तर ) ऐसा नहीं है। वहाँ औचित्य के अतिक्रमण से तो दोष होता ही है। वह इस प्रकार कि अधम प्रकृति के औचित्य से उत्तम प्रकृति के शृङ्गारोपनिबन्धन में क्या उपहास्यता न होगी ? शृङ्गार के विषय में भारत में भी तीन प्रकार की प्रकृतियों का औचित्य है। यदि कहो कि जो ( अतिरिक्त ) दिव्य औचित्य है वह तो इस विषय में अनुपकारक ही है तो ( इसका उत्तर यह है कि ) हम शृङ्गारविषयक दिव्य औचित्य कुछ और नहीं बतलाते। तो क्या ? भारतवर्ष के विषय में जैसा कि उत्तम नायक राजा इत्यादि के ( विषय में ) शृंगार का उपनिबन्धन होता है वैसा ( ही ) देवों के आश्रय से भी शोभित होता है। नाटक

लोचन

कथं तर्हि सम्भोगशृङ्गारः कविना निबध्यतामित्याशङ्क्याह—न चेति। तथैवेति। मुनिनापि स्थाने स्थाने प्रकृत्यौचित्यमेव विभावानुभावादिषु बहुतरं प्रमाणीकृतम् 'स्थैर्येणोत्तममध्यमाधमानां नीचानां सम्भ्रमेण' इत्यादि वदता।

तो कवि के द्वारा सम्भोग शृङ्गार कैसे निबद्ध किया जावे यह शङ्का करके कहते हैं—'और नहीं' यह। 'उसी प्रकार से' यह। मुनि ने भी विभाव अनुभाव इत्यादि में स्थान-स्थान पर प्रकृत्यौचित्य ही बहुत अधिक प्रमाणित किया है—'उत्तम और मध्यम का स्थैर्य के द्वारा तथा नीचों का अपसर्पण के द्वारा' यह कहते हुये।

तारावती

प्रयोजन ? प्रेम, सम्भोग इत्यादि जैसे देवों में होते हैं वैसे ही मानवों में भी होते है। यदि कोई कवि भारतीय व्यक्तियों के प्रेम के औचित्य के ही आधार पर दिव्य प्रेम का भी वर्णन करता है तो उसमें अनौचित्य क्या होगा ? आशय यह है कि प्रेम तो सभी का एक-सा होता है उसमें औचित्य-भेद का क्या अर्थ ? इसका उत्तर यह है कि यह कथन ठीक नहीं है। यदि प्रेम के क्षेत्र में भी औचित्य का अतिक्रमण किया जाता है तो उसमे भी दोष होगा। वह इस प्रकार—यदि अधम प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों के औचित्य का प्रयोग उत्तम प्रकृति वाले व्यक्तियों के शृंगारोपनिबन्धन में किया जावेगा तो वह अवश्य ही उपहसनीय होगा। ( भरतमुनि ने उत्तम

ध्वन्यालोकः

शृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात्तत्र परिहार इति चेत्, न; यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता तत्काव्यस्यैवं विषयस्य सा केन निवार्यते ? तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत्पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवताविषयम्।

इत्यादि मे राजा इत्यादि के विषय में ग्राम्य शृगार का भी उपनिबन्धन प्रसिद्ध नहीं है उसी प्रकार देवों के विषय में भी उसका त्याग करना चाहिये। (यदि कहो कि) नाटक इत्यादि के अभिनेय होने से और संभोगशृङ्गारविषयक अभिनय के असभ्य होने से उसका परिहार (किया जाता है) तो (इसका उत्तर यह है कि) यह बात नहीं है। यदि इस विषय के अभिनय में असभ्यता है तो इस विषय के काव्य मे उसे (असभ्यता को) कौन रोक लेगा ? अतः अभिनेय अर्थ या अभिनय भिन्न अर्थवाले काव्य मे जो उत्तम प्रकृतिवाले राजा इत्यादि का उत्तम प्रकृतिवाली नायिकाओं के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन वह माता पिता के सम्भोग वर्णन के समान नितान्त असभ्य है और उसी प्रकार उत्तम देवताओं के विषय में भी।

तारावती

और मध्यम व्यक्तियों की रति भाव के द्वारा मानी है और नीचों की सम्भ्रम के द्वारा।) स्वयं भारतवर्ष में ही शृंगार के विषय में उत्तम मध्यम और अधम प्रकृति के अनुसार औचित्य का विचार किया ही जाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृत्यौचित्य का विचार उत्साह इत्यादि मे ही किया जाना चाहिये, शृंगार इत्यादि मे नहीं। यहाँ पर कोई विचारक यह भी कह सकता है कि शृंगार के विषय मे उत्तम मध्यम इत्यादि प्रकृतियाँ ही प्रयोजक होती है—प्रकृतियों का दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य यह विभाजन इस दिशा में अकिञ्चित्कर है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। शृंगार की दृष्टि से दिव्य औचित्य और कुछ नहीं है और न हम उसे कोई पृथक् तत्त्व कहते ही हैं। तो फिर है क्या ? भारतवर्ष के विषय में एक प्रकार का प्रकृत्यौचित्य नहीं होता अपितु उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकारों का औचित्य माना जाता है। यदि देवताओं के शृगार का वर्णन करना हो तो भारतवर्ष के उत्तम राजा इत्यादि के जिस प्रकार के औचित्य का पालन किया जाता है और उनकी रति का जिस प्रकार का वर्णन किया जाता है उसी प्रकार का वर्णन दिव्य पात्रों का भी करना चाहिये। राजा इत्यादि के विषय में प्रसिद्ध ग्राम्य शृंगार का उपनिबन्धन नाटक इत्यादि में प्रसिद्ध नहीं है। (नाटक में दन्तच्छेद्य, नखच्छेद्य तथा अन्य लज्जाजनक तत्त्वों का समावेश नाट्य

ध्वन्यालोकः

न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदा परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते ?

(अनु०) सम्भोग शृङ्गार का सुरत रूप एक ही प्रकार नहीं होता (उसके) परस्पर प्रेमपूर्वक दर्शन इत्यादि और भी भेदोपभेद हो सकते हैं, उत्तम प्रकृति के विषय मे उनका वर्णन क्यों नहीं किया जाता ? अतः उत्साह के समान

तारावती

शास्त्र के अनुसार भी वर्जित है और व्यवहार में भी नाटक मे वैसा प्रयोग किया नहीं किया जाता। ) यहाँ पर पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि नाटक की तो बात ही और है। नाटक मे अभिनय किया जाता है; सम्भोग का अभिनय अत्यन्त असभ्यता प्रकट करने वाला होगा। अतः सम्भोग का अभिनय नहीं किया जाता। किन्तु श्रव्य काव्य का प्रयोजन तो अभिनय होता नहीं है अतः श्रव्य काव्य में इस प्रकार के अनौचित्य का परित्याग क्यो किया जाना चाहिये ? ( उत्तर ) यदि अभिनेय के इस ग्राम्य शृंगार को सहन नहीं किया जा सकता तो श्रव्य काव्य मे इस प्रकार के अनौचित्य का निवारण किस प्रकार तथा किसके द्वारा किया जा सकता है ? आशय यह है कि अभिनय में जिस प्रकार असभ्य व्यवहार चित्तसङ्कोच उत्पन्न करता है उसी प्रकार असभ्य व्यवहार का वर्णन सुनकर भी चित्तसङ्कोच होता ही है। अतः काव्य चाहे अभिनेय हो चाहे अनभिनेय, श्रव्य हो अथवा पाठ्य दोनों प्रकार के काव्यो में उत्तम प्रकृतिवाले राजा इत्यादि का उत्तम प्रकृतिवाली नायिकाओं के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार माता-पिता का सम्भोगवर्णन अनुचित हुआ करता है। यह तो सर्वथा अनुचित ही है। ( यही व्यवस्था दिव्य शृंगार के विषय मे भी स्थापित की जा सकती है। ) उत्तम देवताओं के विषय मे भी ग्राम्य सम्भोग वर्णन अनुचित ही होता है। ( आशय यह है कि दिव्य अदिव्य इत्यादि प्रकृतियो का विचार शृंगार के क्षेत्र मे भी किया ही जाता है। )

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि सम्भोगवर्णन असभ्य है तो उसका वर्णन तो काव्य के क्षेत्र से बाह्य ही हो जावेगा, नहीं तो उसका वर्णन किया ही किस प्रकार जा सकेगा ? ( उत्तर ) सम्भोग शृङ्गार का केवल सुरतरूप एक ही प्रकार तो नहीं है; किन्तु उसके और भी बहुत से प्रकार हो सकने है जैसे प्रेमपूर्वक एक दूसरे को देखना ( मिलना, बातचीत करना ) इत्यादि। उत्तम प्रकृतिवालों के विषय में यदि इन शालीन प्रेमचेष्टाओं का वर्णन किया जावे तो उसमें दोष क्या होगा ? इस समस्त कथन का निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार उत्साह इत्यादि

ध्वन्यालोकः

तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्। तथैव विस्मयादिषु। यत्त्वेवं-विधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव। अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव।

रति मे भी प्रकृति के औचित्य का अनुसरण करना चाहिये। उसी प्रकार विस्मय आदि मे भी। जोकि इस प्रकार के विषय में महाकवियों के भी विना सोचे-समझे (रचना) करने की (प्रवृत्ति) देखी जाती है वह दोष ही है। यह पहले ही कहा ही जा चुका है कि शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण वह (दोष) लक्षित नहीं होता। अनुभाव का औचित्य तो भरत में प्रसिद्ध ही है।

तारावती

मे प्रकृति के औचित्य का विचार आवश्यक होता है उसी प्रकार रति मे भी प्रकृति के औचित्य का अनुवर्तन अपरिहार्य ही है। मुनि ने विभिन्न प्रकरणों मे विभाव अनुभाव इत्यादि के वर्णन के प्रसङ्ग मे प्रकृति के औचित्य का बहुत अधिक विवेचन किया है और प्रमाणित भी कर दिया है, जैसे प्रेमप्रसङ्ग में—उत्तम और मध्यम के आश्रय से जिस प्रेम को काव्यविषय बनाया जावे उसमे स्थिरता होनी चाहिये, नीचों के प्रसङ्ग में सम्भ्रम होना चाहिये इत्यादि। यही बात विस्मय इत्यादि के विषय में भी गतार्थ होती है (अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ लोगों का विस्मय परिमाण मे अधिक होता है, कुछ का कम, कोई विस्मय को एकदम प्रकट करने लगता है और कोई गम्भीरता से अपनी आकृति को छिपाये रहता है। यह सब प्रकृत्यौचित्य ही है।) यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस विषय में महाकवियों ने भी सूझबूझ से काम नहीं लिया है (कालिदास ने भी शङ्कर-पार्वती के सम्भोग का वर्णन कर ही दिया है।) उसकी क्या व्यवस्था होगी? इसका उत्तर यह है कि महाकवियों का वह विवेक-शून्य कार्य दोष ही माना जावेगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उसमे ऐसी कलात्मक प्रौढ़ता विद्यमान रहती है जिससे उस अनौचित्य का तिरस्कार हो जाता है और परिशीलकों के सामने वह दोष के रूप में नहीं आता। अनुभाव का औचित्य तो भरत इत्यादि में प्रसिद्ध ही है। (नाट्य में अनुभाव का औचित्य तो भरत ने विभिन्न भावों का विभिन्न रूप मे अभिनय दिखलाया है यह सब अनुभावौचित्य ही है। यहाँ पर सञ्चारियों के औचित्य का उल्लेख नहीं किया गया। उसको भी उसी प्रकार समझ लेना चाहिये जिस प्रकार दूसरे औचित्य बतलाये गये हैं। अनुभावौचित्य का उदाहरण यह होगा कि यदि कोई व्यक्ति शोक का अभिनय मुख-विकास के द्वारा करे अथवा भ्रम की परिस्थिति

ध्वन्यालोकः

इयत्तच्यते—भरतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकवि-प्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनावहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः। औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्यनेनैतत् प्रतिपादयति—यदितिहासा-

(अनु०) इतना तो कहा जा रहा है—भरत इत्यादि विरचित स्थिति का अनुवर्तन करते हुये, महाकवियों के प्रबन्धों की पर्यालोचना करते हुये और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुये कवि को सावधानचित्त होकर विभाव इत्यादि के औचित्य के भ्रंश को बचाने का बहुत बड़ा प्रयत्न करना चाहिये। औचित्यवान् घटित या कल्पित कथाशरीर का ग्रहण व्यञ्जक होता है इससे यह प्रतिपादन करते

लोचन

इयत्त्विति। लक्षणज्ञत्वं लक्ष्यपरिशीलनमदृष्टप्रसादोदितस्वप्रतिभाशालित्वं चानुसर्तव्यमिति संक्षेपः।

'इतना तो'। लक्षण का जानना, लक्ष्य का परिशीलन करना, अदृष्ट और प्रसादन से उत्पन्न अपनी प्रतिभा से युक्त होना—इनका अनुसरण करना चाहिये यह संक्षेप है।

तारावती

में गम्भीरता धारण करे तो यह अनुचित होगा। इसी प्रकार यदि कोई नायिका किसी कामी द्वारा सम्बाधित किये जाने पर क्रोधजन्य उद्विग्नता का हर्षपूर्ण मुद्रा मे अभिनय करे तो यह भी अनुचित ही होगा। सञ्चारी का औचित्य जैसे वेश्यागत लज्जा और कुलवती की लज्जाहीनता अनुचित कही जावेगी। इसी प्रकार उत्तम प्रकृतिवालों मे जो लज्जाशीलता होगी वह अधम प्रकृतिवालों में नहीं होगी। इस प्रकार उस परिस्थिति मे भी भाव का तारतम्य होगा ही। इन सब औचित्यों का निर्वाह करते हुये कथाशरीर की रचना करना प्रबन्धौचित्य का प्रथम रूप है।)

ऊपर कथाशरीर के विधान में परिपालनीय औचित्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। उपसंहार के रूप में इतना कहा जा सकता है—कथाविधान मे तीन तत्त्वों का प्रधानतया अनुसरण किया जाना चाहिये—लक्षणज्ञान, लक्ष्यपरिशीलन और अपनी प्रतिभा। १—भरत इत्यादि लक्षणशास्त्रकारों ने विस्तारपूर्वक नाट्य-वस्तु रचना पर विचार किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों मे जिस स्थिति का विवेचन किया है उसका पूर्णरूप मे अनुसरण करना चाहिये। (इसी प्रकार वात्स्यायन मुनि इत्यादि ने जिन विभिन्न परिस्थियों और तज्जन्य मनोविकारों का विस्तृत विवेचन किया है उसका भी पालन करना चाहिये और साथ ही लोकवृत्त को भी देखना

ध्वन्यालोकः

दिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यम्, नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात्स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति। हैं—कि इतिहास आदि में विभिन्न प्रकार की रसमयी कथाओं के होते हुये भी जो उसमें विभाव इत्यादि के औचित्यवाला कथाशरीर हो उसी को ग्रहण करना चाहिये, दूसरे को नहीं। घटित कथाशरीर से भी अधिक प्रयत्न कल्पित कथा-शरीर ( के निष्पादन ) में करना चाहिये। वहाँ पर ध्यान न देने से कवि की बहुत बड़ी अव्युत्पत्ति की सम्भावना हो जाती है।

लोचन

रसवतीष्वित्यनादरे सप्तमी। रसवत्त्वं चाविवेचकजनाभिमानाभिप्रायेण मन्त-व्यम्। विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता। कवेरिति। न हि तत्रेतिहासवशा-देव मया निवद्धमिति जात्युत्तरमपि सम्भवति।

'रसवतीषु' में अनादर में सप्तमी है। और रसवत्त्व तो अविवेचक जनों के अभिमान के अभिप्राय से माना जाना चाहिये। विभाव इत्यादि के औचित्य के विना रसवत्ता ही क्या ? 'कवि का' यह। वहाँ पर इतिहास के कारण ही मैंने ऐसा निवद्ध कर दिया है—यह असमीचीन उत्तर भी सम्भव नहीं है।

तारावती

चाहिये। क्योंकि शास्त्रकार दिग्दर्शनमात्र कराते है; औचित्य का पूर्ण परिचय तो लोक से ही मिलता है।)

२—महाकवियों के वनाये हुये प्रवन्धों का मनोयोगपूर्वक अध्यन करना चाहिये और उनकी पर्यालोचना करनी चाहिये। अर्थात् यह देखना चाहिये कि महाकवियों ने कथा का उपादान किस प्रकार किया है और उसकी संघटना का निर्वाह भी किस प्रकार किया है ! इससे कथाशरीर के निर्माण में निपुणता आ जाती है।

३—कवि को अपनी प्रतिभा का अनुसरण भी करना चाहिये। प्रतिभा का उदय अदृष्ट अर्थात् सुकृत और प्रसाद अर्थात् देवता की कृपा हुआ करता है। इस प्रतिभा के वल पर अनुचित के निराकरण के लिये नवीन अर्थों और उसके योग्य नवीन शब्दों का स्फुरण होता है। प्रतिभा के द्वारा उच्छिन्न कथाभागों की संघटना और अनुचित भागों का त्याग या उचित रूप में परिवर्तन कथाशरीर के निर्माण के लिये अत्यन्त आवश्यक है।) कवि को चाहिये कि अपने मन को भलीभाँति अवधान से युक्त वनाकर उक्त तत्त्वों की सहायता से विभाव इत्यादि में जो औचित्यभ्रंश हो जाता है उसके निराकरण का वहुत वड़ा प्रयत्न करे। 'घटित या उत्प्रेक्षित

ध्वन्यालोकः

परिकरश्लोकश्चात्र—

कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा।
यथारसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

इस विषय मे एक परिकर श्लोक भी है—

'उत्पाद्यवस्तु कथाशरीर को उन उन प्रकारों से बनाना चाहिये जिससे वह सब रसमय हो प्रतीत होने लगे।'

तारावती

औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण व्यञ्जक होता है' इस कथन से यह प्रतिपादित किया गया है कि—चाहे इतिहास इत्यादि में विविध प्रकार की रसमय कथायें भरी पड़ी हों, किन्तु काव्यवस्तु के लिये ऐसे कथाशरीर का ही उपादान किया जाना चाहिये जिसमें विभाव इत्यादि का औचित्य विद्यमान हो। उससे भिन्न (अनौचित्य वाला) कथाशरीर काव्य वस्तु के रूप में नहीं ग्रहण किया जाना चाहिये। 'रसवती कथाओं में' यहाँ पर सप्तमी अनादर के अर्थ में हैं। अर्थात् इतिहास आदि में भरी हुई रसवती कथाओं का अनादर (उपेक्षा) करके केवल विभाव इत्यादि के औचित्य वाली कथायें ही ग्रहण की जानी चाहियें। वस्तुतः कथाओं मे रसवत्ता तो विभाव इत्यादि के औचित्य से ही आती है। जिन कथाओं मे इस प्रकार का औचित्य विद्यमान नही होता उनमे रसवत्ता ही क्या? किन्तु फिर भी अविवेकी जन उन कथाओं मे भी रसवत्ता का अभिमान कर सकते हैं। इसी लिये उन कथाओं को भी रसवती कह दिया गया है जिनमें औचित्य नहीं होता और उनके अनादर के लिये अनादर के अर्थ मे सप्तमी विभक्ति का प्रयोग कर दिया गया है। यह तो इतिहासप्रसिद्ध कथा की बात हुई। काल्पनिक कथाओं मे उससे भी अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता होती है जितना ध्यान वृत्त (घटित) कथाओं मे रक्खा जाता है। यदि कवि उस प्रकार की कल्पित कथा की संघटना लापरवाही से करे तो उसके स्खलन की सम्भावना बहुत अधिक रहती है जिससे कवि अव्युत्पत्ति के लाञ्छन से ग्रस्त हो सकता है। क्योंकि यदि कल्पित कथा मे किसी प्रकार की रसविषयिणी कलुषता आ जाती है तो कवि को यह बहाना करने का भी अवसर नहीं रहता कि मैंने इतिहास के अनुरोध से ऐसा लिख दिया। यद्यपि यह बहाना है असमीचीन ही; क्योकि कवि को रसानुकूल परिवर्तन करने की छूट तो रहती ही है। इसी विषय मे यह एक प्रसिद्ध श्लोक है—

'उत्पाद्य वस्तु विषयक कथाशरीर की संघटना इस रूप में की जानी चाहिये कि कथा का प्रत्येक भाग रसमय ही प्रतीत हो।'

ध्वन्यालोकः

तत्र चाभ्युपायः सम्यग्विभावाद्यौचित्यानुसरणम्। तच्च दर्शितमेव। किञ्च—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

(अनु०) उसमे उपाय है कि रस मे विभाव इत्यादि के औचित्य का अनुसरण करना। और वह दिखला ही दिया गया है। और भी—

'सिद्ध रसों से प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले जो रामायणादि कथाश्रय (प्रबन्ध) हैं उनके साथ रसविरोधिनी स्वेच्छा की योजना नहीं करनी चाहिये।'

लोचन

तत्र चेति। रसमयत्वसम्पादने। सिद्धः आस्वादमात्रशेषो न तु भावनीयो रसो येषु; कथानामाश्रया इतिहासाः, तैरितिहासार्थैः सह स्वेच्छा न योज्या। सहार्थश्चात्र

'और उसमे' अर्थात् रसमयता के सम्पादन में। 'सिद्ध' यह। सिद्ध अर्थात् आस्वादमात्र रूप में अवशिष्ट तथा भावना के योग्य नहीं है रस जिनमें। कथा के आश्रय अर्थात् इतिहास। उन इतिहासार्थों के साथ अपनी इच्छा का योग नहीं

तारावती

सभी कुछ रसमय बना देने का उपाय है विभाव इत्यादि के औचित्य का पालन करना, जिसका विस्तृत परिचय पिछले पृष्ठों पर दिया जा चुका है। और भी—

'कथा को लेकर लिखे हुये रामायण इत्यादि जो प्रबन्ध सिद्ध रस वाले तथा प्रतिष्ठित हैं उनमें रसविरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिये।'

रस की दो अवस्थायें होती हैं सिद्ध और साध्य। सिद्ध रस वह होता है जिसका आस्वादनमात्र ही अवशिष्ट रह गया हो और भावना के द्वारा जिसमें आस्वादनीयता उत्पन्न करने की आवश्यकता न हो। रामायण इत्यादि सिद्धरस काव्य हैं उनमे भावना के द्वारा आस्वादनीयता सम्पादित करने की आवश्यकता नहीं (प्रख्या शब्द का अर्थ है तुल्य अर्थात् जिस प्रकार लोक मे कोई पदार्थ पूर्णरूप से तैय्यार करके रख दिया जावे, उसका रस पूर्णतया निष्पन्न हो चुका हो केवल आस्वादन ही शेष हो। इसी प्रकार के रामायण इत्यादि सिद्धरस काव्य हैं। उनका भी आस्वादन लिया जा सकता है उनमे अपनी नवीन भावना के समावेश से रसनयिता उत्पन्न करने की चेष्टा व्यर्थ है।) 'तैः' यह तृतीया है जो कि 'साथ' के अर्थ में हुई है अर्थात् उनके साथ। अर्थात् उस इतिहासार्थ के साथ अपनी इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिये। यहाँ पर साथ का अर्थ विषयविषयिभाव है। (अधिकरण के चार अर्थों में 'वैषयिक' अर्थ एक है जिसमें सप्तमी हुआ करती है। अतः यहाँ पर विषय-विषयिभाव में सप्तमी हो गई है।) इसीलिये वृत्ति में इसकी व्याख्या

ध्वन्यालोकः

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत्स्वेच्छैव न योज्या। यदुक्तम्—'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः'। स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या।

उन कथाश्रित ( प्रबन्धों ) में तो स्वेच्छा का योग करना ही नहीं चाहिये। जैसा कि कहा गया है—कथामार्ग मे स्वल्प भी अतिक्रम नहीं होना चाहिये। यदि स्वेच्छा का भी योग करना हो तो रसविरोधिनी स्वेच्छा का योग नहीं करना चाहिये।

लोचन

विषयविषयिभाव इति व्याचष्टे—तेष्विति सप्तम्या। स्वेच्छा तेषु न योज्या। कथञ्चिद् वा यदि योज्यते तत्तत्प्रसिद्धरसविरुद्धा न योज्या। यथा रामस्य धीरललितत्वयोजनेन नाटिकानायकत्वं कश्चित्कुर्यादिति त्वत्यन्तासमञ्जसम्। यदुक्तमिति। रामा-

करना चाहिये। यहाँ साथ का अर्थ है विषयविषयीभाव इसलिये 'उनमें' इस सप्तमी के द्वारा व्याख्या की है। स्वेच्छा उनमें नहीं जोड़ी जानी चाहिये। यदि कथञ्चित् जोड़ी जानी चाहिये तो उन उन प्रसिद्ध रसों के विरुद्ध नहीं जोड़ी जानी चाहिये। जैसे कोई राम के धीरललितत्व की योजना के द्वारा ( उन्हे ) नाटिका का नायकत्व ( प्रदान ) करे तो यह अत्यन्त असमीचीन होगा। 'जैसा कहा गया है'—रामाभ्युदय में यशोवर्मा के द्वारा—

तारावती

मे 'उनमे' इस सप्तमी का प्रयोग किया गया है। इसका सार यही है कि कथाश्रित काव्यों मे प्रथम तो अपनी इच्छा का उपयोग करना ही नहीं चाहिये जैसा कि रामाभ्युदय में यशोवर्मा के द्वारा कहा गया है कि 'कथामार्ग में थोड़ा सा भी अतिक्रम नहीं होना चाहिये। और यदि इच्छा का उपयोग करना ही हो तो इच्छा रसानुकूल ही होनी चाहिये; विभिन्न प्रकृत रसों के विपरीत तो इच्छा का कभी प्रयोग करना ही नहीं चाहिये। उदाहरण के लिये राम की धीरोदात्तता प्रसिद्ध है। यदि कोई कवि स्वेच्छा से राम को धीरललित बना कर उनके जीवन को शृङ्गारमय चित्रित कर दे और उन्हे नाटिका का नायक बना दे तो यह बहुत ही अनुचित बात होगी। ( इसके प्रतिकूल कृष्ण में धीरोदात्तता के साथ धीरलालित्य का योग अनुचित नहीं कहा जा सकता। )

(वृत्तिकार ने 'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः' को उद्धृत किया है। यह एक प्रसिद्ध पद्य के दूसरे चरण का अन्तिम खण्ड है। पद्य यह है—

औचित्यं वचसा प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
बुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयोः,
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैरेतावदेवास्तु नः॥

ध्वन्यालोकः

इदमपरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः यथा कालिदासप्रबन्धेषु। यथा च सर्वसेनरचिते हरिविजये। यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये।

(अनु०) प्रबन्ध की रसव्यञ्जकता मे यह दूसरा निबन्धन है कि इतिवृत्तवश आई हुई किसी प्रकार रस की प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर पुनः कल्पना करके अभीष्ट रस के उचित कथा का उन्नयन कर लेना चाहिये। जैसे कालिदास के प्रबन्धों में या जैसे सर्वसेनरचित हरिविजय मे या मेरे ही अर्जुनचरित महाकाव्य में।

लोचन

भ्युदये यशोवर्मणा—'स्थितमिति यथा शय्याम्'। कालिदासेति। रघुवंशेऽजादीनां राज्ञां विवाहादिवर्णनं नेतिहासेषु निरूपितम्। हरिविजये कान्तानुनयाङ्गत्वेन पारिजातहरणादिनिरूपितमितिहासेष्वदृष्टमपि। तथार्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालविजयादिवर्णितमितिहासाप्रसिद्धम्।

'स्थित' यहाँ। कथायोजना के अनुसार 'कालिदास इत्यादि' रघुवंश मे अज इत्यादि राजाओं के विवाह इत्यादि का वर्णन इतिहासों मे निरूपित नहीं किया गया है। हरिविजय में कान्ता के अनुनय के अङ्ग के रूप में पारिजातहरण इत्यादि इतिहासों मे न देखे हुये (कथानक) का निरूपण किया गया है। उसी प्रकार अर्जुनचरित मे अर्जुन के पातालविजय इत्यादि का वर्णन इतिहास में प्रसिद्ध नहीं है।

तारावती

('प्रकृतियों के अनुकूल वाणी का औचित्य, सर्वत्र पात्रानुकूल तथा अपने अवसर पर रस की पुष्टि, कथामार्ग का अतिक्रमण न करना, प्रस्तुत को सामग्रीकल्पना में शुद्धि और शब्द तथा अर्थ की प्रौढ़ता, ध्यान देकर विद्वान् लोग परिभावन कर सकें बस यह इतना ही हमें चाहिये।')

यह पद्य भोज के शृंगारप्रकाश में दिया है। इसके दूसरे चरण का अन्तिम भाग 'कथामार्गे न चातिक्रमः' आनन्दवर्धन ने उद्धृत किया है और इसपर टिप्पणी करते हुये लोचनकार ने लिखा है कि यह भाग यशोवर्मा के रामाभ्युदय से लिया गया है। डा० राघवन् के अनुसार यही एक ऐसा प्रमाण है जिससे यह प्रकट होता है कि यह पद्य यशोवर्मा के रामाभ्युदय में आया है। यह पुस्तक इस समय उपलब्ध नहीं होती। ईशा की अष्टम शती के प्रथमार्ध में यशोवर्मा कन्नौज के राजा थे और उनके आश्रय में ही प्रसिद्ध नाटककार भवभूति भी रचना करते थे।

ध्वन्यालोकः

कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेनां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित्प्रयोजनम्; इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

(अनु०) काव्य का उपनिबन्धन करनेवाले कवि को पूरी आत्मा से रसपरतन्त्र होना चाहिये। उसमें यदि इतिवृत्त में रस के प्रतिकूल स्थिति देखे तो इसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूप मे रस के अनुकूल दूसरी कथा का सृजन कर ले। केवल इतिवृत्त के निर्वाह से कवि का कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि उसकी सिद्धि इतिहास से हो जाती है।

लोचन

एतदेव युक्तमित्याह—कविनेति।

यही ठीक है यह कहते हैं—'कवि के द्वारा' यह।

तारावती

भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में कुछ आलोचनाशास्त्र सम्बन्धी पद्य लिखे हैं। प्रस्तुत पद्य की विचारधारा भवभूति के उन पद्यों से मेल खाती है। ज्ञात होता है कि प्रस्तुत पद्य भी रामाभ्युदय की प्रस्तावना में ही लिखा गया होगा।

लोचन मे 'जैसा कहा गया है' का उद्धरण देकर 'रामाभ्युदये यशोवर्मणा' इन शब्दों के बाद 'स्थितमिति यथाशय्याम्' यह लिखा है और इन शब्दों को उद्धरण चिह्न से चिह्नित कर दिया गया है। यहाँ पर इन शब्दों का कोई सम्बन्ध समक्ष में नहीं आता। उद्धरणचिह्न से ऐसा ज्ञात होता है कि ये शब्द भी रामाभ्युदय के ही है। किन्तु रामाभ्युदय के उपलब्ध न होने से इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। सम्भव है प्रस्तुत पद्य से पृथक् ये शब्द रामाभ्युदय मे पहले आये हों। फिर भी केवल इतने शब्दों से अर्थ की संगति लगा सकना दुस्साध्य है। दूसरी बात यह हो सकती है कि यहाँ पर उद्धरणचिह्न लेखक के प्रमाद से लग गया हो और यहाँ पर 'स्थितमिति' के स्थान पर 'स्थितिमिति' यह पाठ हो। ऐसी दशा में 'स्थितिं त्यक्त्वा' के 'स्थिति' शब्द का यह प्रतीकनिर्देश हो सकता है। डा० राघवन् ने यही सम्भव माना है, और यही पाठ सबसे अधिक शुद्ध प्रतीत होता है। ऐसी दशा में 'स्थितिमिति यथा शय्याम्' यह भाग प्रबन्ध के दूसरे औचित्य की व्याख्या करनेवाला सिद्ध होता है। ('स्थिति' का अर्थ है कथा की योजना।)

प्रबन्ध की रसाभिव्यञ्जकता का दूसरा निबन्धन यह है कि यदि इतिवृत्त के कारण कथा की कोई ऐसी योजना सामने आ जावे जो रस के अनुकूल न हो तो उस योजना को छोड़कर पुनः नई कल्पना करके अभीष्ट रस के अनुकूल कथा का उन्नयन कर लेना चाहिये। जैसा कि कालिदास के प्रबन्धों मे किया गया है।

तारावती

उदाहरण के लिये अज इत्यादि राजाओं के विवाह का वर्णन इतिहासग्रन्थों मे निरूपित नहीं किया गया है, किन्तु कालिदास ने रघुवंश मे इसका वर्णन किया है। ( इसी प्रकार दुर्वासा के शाप की कल्पना कालिदास ने रसानुगुणता की दृष्टि से ही की है और अपने नाटकों में दूसरे परिवर्तन भी इस प्रकार कर लिये है कि पात्रों के आदर्श-परिवर्तन न करते हुये भी सदोष परिस्थितियों का सर्वथा निराकरण कर दिया है। तुलसीदास ने कैकेयी के दोषपरिमार्जन के लिये सरस्वती का उनकी जबान पर बैठ जाना लिखा है। परशुरामजी राम को बारात से लौटने के अवसर पर मार्ग में मिले थे—अनेक रामकथा काव्यो मे ऐसा ही वर्णन मिलता है। किन्तु राम के अभ्युदय का उत्कर्ष दिखलाने के लिये तुलसी उनको समस्त राजाओं के सामने ही धनुष्-यज्ञ की रङ्गशाला मे लाये है। विदेहराज की प्रतिज्ञा थी कि जो धनुष् की प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा उसी से सीता का विवाह हो जावेगा। राम ने प्रत्यञ्चा चढाने मे धनुष को तोड़ भी दिया; यह प्रतिज्ञापूर्ति नहीं थी किन्तु राम के चरित्र का एक दोष था जिसके निराकरण के लिये तुलसी ने धनुष् तोड़ने की ही प्रतिज्ञा कराई है। ) इसी प्रकार सर्वसेनरचित हरिविजय मे प्रियतमा सत्यभामा के अनुनय के अङ्ग होने के कारण पारिजातहरण इत्यादि का निरूपण कर दिया गया है, जो कि ऐतिहासिक कथाओं में नहीं देखा गया। स्वयं आनन्दवर्धन ने अर्जुनचरित नामक एक महाकाव्य लिखा था। इस नाटक मे अर्जुन के पाताल-विजय इत्यादि का वर्णन किया गया है जो कि इतिहास मे प्रसिद्ध नहीं है। यही ठीक भी है। काव्यरचना में कवि को सर्वथा रस के आधीन रहना चाहिये। यदि इतिवृत्त में कोई प्रतिकूल परिस्थिति दिखलाई पड़े तो उसे सर्वथा भङ्ग कर दे और स्वतन्त्रतापूर्वक किसी दूसरी ऐसी कथा की कल्पना कर ले जो प्रकृत रस के अनुकूल हो। काव्य का फल कवि की दृष्टि से यही है कि उसे महाकवि का पद प्राप्त हो जावे और सहृदय की दृष्टि से उसका प्रयोजन है अनुरञ्जन के साथ उपदेश प्राप्त होना। ये प्रयोजन कथामात्र के निर्वाह से तो सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि जो प्रयोजन किसी अन्य उपाय से सिद्ध हो जाता है उसके लिये नवीन साधन की कल्पना नहीं की जाती। इतिवृत्त का निर्वाह तो इतिहास इत्यादि से ही हो जाता है, उसके लिये काव्य का उपादान अनावश्यक है। अतः यदि इतिवृत्त रसनिष्पत्ति का उपघातक हो तो उसे छोड़कर नई कल्पना द्वारा उसे ठीक कर लेना चाहिये।

अब प्रबन्ध की रसाभिव्यञ्जकता का तीसरा तत्त्व लीजिये—प्रबन्ध की रसाभिव्यञ्जकता में यह एक अन्य प्रमुख निबन्धन है कि काव्यशास्त्र में रचना के

ध्वन्यालोकः

रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत्सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया,

(अनु०) रस इत्यादि के व्यञ्जकत्व मे प्रबन्ध का यह दूसरा मुख्य निबन्धन है कि मुख प्रतिमुख गर्भ विमर्श और निर्वहण नामवाली सन्धियों का और उपक्षेप

लोचन

सन्धीनामिति। इह प्रभुसम्मितेभ्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतिभ्यः कर्तव्यमिदमित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः शास्त्रेभ्यो ये न व्युत्पन्नाः, न चाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तकर्मफलसम्बन्धप्रकटनकारिभ्यो मित्रसम्मितेभ्य इतिहासशास्त्रेभ्यो लब्धव्युत्पत्तयः, अथ चावश्यं व्युत्पाद्याः प्रजार्थसम्पादनयोग्यताक्रान्ताः राजपुत्रप्रायास्तेषां हृदयानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयकविभावादिसंयोगप्रसादोपनत इत्येवं रसोचितविभावादियुपनिबन्धे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसभाविन्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम्, नाट्यमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः। न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव, द्वयोरप्येकविषयत्वात्। विभावाद्यौचित्यमेव हि सत्यतः प्रीतेर्निदानमित्यसकृदवोचाम।

विभावादीनां तद्रसोचितानां यथास्वरूपवेदनं फलपर्यन्तीभूततया व्युत्पत्तिरि-

'सन्धियों का' यह। यहाँ पर 'यह करना चाहिये' इस आज्ञामात्र परम अर्थवाले श्रुति स्मृति इत्यादि शास्त्रों से जो व्युत्पन्न नहीं हैं और नहीं ही 'यह इनकी बात अमुक से कर्म हुई' इस युक्तियुक्त कर्मफलसम्बन्ध को प्रकट करनेवाले मित्रसम्मित इतिहासशास्त्रों व्युत्पत्ति को प्राप्त करनेवाले हैं और प्रजा के प्रयोजनसम्पादन की योग्यता से आक्रान्त जो राजपुत्र अवश्य व्युत्पन्न करने ही हैं उनके अन्दर हृदय में प्रवेश के माध्यम से व्युत्पत्ति का आधान करना चाहिये।

और हृदयानुप्रवेश रसास्वादमय ही होता है। और वह रस चतुर्वर्ग मे उपायभूत व्युत्पत्ति के लिये अनिवार्य विभाव इत्यादि के संयोग की कृपा से प्राप्त हुआ है। इस प्रकार रस के योग्य विभाव इत्यादि के उपनिबन्धन में रसास्वाद की विवशता ही परिणामरूप मे होनेवाली व्युत्पत्ति में प्रयोजिका है इस प्रकार प्रीति ही व्युत्पत्ति की प्रयोजिका है। रस प्रीत्यात्मक होता है, वही नाट्य है और नाट्य ही वेद है यह हमारे उपाध्याय (का कथन है)। ये दोनों प्रीति और व्युत्पत्ति भिन्न रूपवाली नहीं है; क्योंकि दोनों का विषय एक है। यह हमने कई बार कहा है कि विभाव इत्यादि का औचित्य ही सचमुच प्रीति का निदान है।

## लोचन

व्युच्यते । फलं च नाम यददृष्टवशाद्देवताप्रसादादन्यतो वा जायते । नच तदुपदेश्यम्, तत उपाये व्युत्पत्त्ययोगात् । तेनोपायक्रमेण प्रवृत्तस्य सिद्धिः, अनुपायद्वारेण प्रवृत्तस्य नाश इत्येवं नायकप्रतिनायकगतत्वेनार्थानर्थोपायव्युत्पत्तिः कार्या । उपायश्च कर्त्राश्रीयमाणः पञ्चावस्था भजते । तद्यथा—स्वरूपम्, स्वरूपाक्किञ्चिदुच्छूनताम्, कार्यसम्पादनयोग्यताम्, प्रतिबन्धोपनिपातेनाशङ्क्यमानताम्, निवृत्तप्रतिपक्षतायां बाधकबाधनेन सुदृढफलपर्यन्तताम् । एवमार्तिसहिष्णूनां विप्रलम्भमीरूणां प्रेक्षापूर्वकारिणां तावदेवं कारणोपादानम् । ता एवंविधाः पञ्चावस्थाः कारणगता मुनिनोक्ताः—

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य यः ।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ इति ।

विभिन्न रसों के योग्य विभाव इत्यादि का फलप्राप्तिपर्यन्त ठीक स्वरूपज्ञान व्युत्पत्ति कहा जाता है । और फल अदृष्टवश देवताप्रसाद से अथवा अन्य कारण से उत्पन्न होता है वह उपदेश देने योग्य नहीं होता; क्योंकि उससे उपाय में कोई व्युत्पत्ति होने का योग नहीं होता । इससे उपायक्रम से प्रवृत्त की सिद्धि और अनुपाय द्वारा प्रवृत्त का नाश इस प्रकार नायक और प्रतिनायक गत अर्थ और अनर्थ की व्युत्पत्ति करा दी जानी चाहिये । कर्ता के द्वारा आश्रय लिये जाने पर उपाय पाँच अवस्थाओं को प्राप्त कर लेता है । वह इस प्रकार—स्वरूप, स्वरूप का कुछ परिपोष, कार्य सम्पादन की योग्यता, प्रतिबन्ध के आ पड़ने से आशङ्का, प्रतिपक्ष के निवृत्त हो जाने पर बाधक के बाधन द्वारा सुदृढ फलपर्यन्तता। इस प्रकार कष्ट को सहन करनेवाले ( लोगों का ) इस प्रकार कारण का उपादान होता है । ये कारणगत पाँच अवस्थायें मुनि ने कही हैं—

'फल योग के सिद्ध किये जाने मे कारण का जो व्यापार उसकी अनुपूर्वी से प्रयोक्ताओं के द्वारा पाँच अवस्थायें ज्ञात की जानी चाहिये ।

'प्रारम्भ, प्रयत्न तथा प्राप्ति के हेतु की सम्भावना, फलप्राप्ति का नियत होना और पाँचवा फलयोग ।'

## तारावती

विषय में जो सिद्धान्त तथा मानदण्ड स्थापित किये गये हैं उनको मानना तो चाहिये और उनका पालन भी करना चाहिये । किन्तु शास्त्रमर्यादापालन कभी भी लक्ष्य नहीं होना चाहिये । यदि उन व्यवस्थाओं से रसाभिव्यक्ति में सहायता मिलती हो तो उनका पालन करना ठीक है, अन्यथा नहीं । ( शास्त्रकार उन सम्भव

तारावती

उपायों का निरूपण किया करते हैं जिनसे अधिक से अधिक रसनिष्पत्ति हो सके; फिर परिस्थितियों की वैयक्तिकता अवशिष्ट ही रह जाती है जिसका इयत्तया प्रकथन तथा परिगणन अशक्य है। अतः कलाकार का यह कर्तव्य है कि शास्त्रीय व्यवस्थाओं से उपकृत होते हुए भी वैयक्तिकता पर विचार करके ही उसकी संयोजना करे।) लोकव्यवस्था के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि राजपुत्र इत्यादि जिन व्यक्तियों से समाज स्वार्थसाधन की अपेक्षा करता है और जिनका प्रजा के प्रयोजनसम्पादन की योग्यता से युक्त होना अत्यावश्यक होता है उनको कर्तव्य की शिक्षा दी जावे। इसका एक उपाय है वेद और शास्त्रों द्वारा उनको उनका कर्तव्य बतलाना। किन्तु वेद शास्त्र इत्यादि समस्त उपदेशप्रधान शास्त्रों का परम अर्थ होता है 'ऐसा करना चाहिये'—यह आज्ञामात्र प्रदान करना। (किन्तु आज्ञा का अनुवर्तन सरल नहीं होता, एक तो तुच्छ वृत्तियाँ बलात् कुपथगामिनी बना देती हैं और शास्त्रमर्यादा दूर ही रक्खी रह जाती है, दूसरे अपने को बुद्धिमान समझने और दूसरे की आज्ञा का पालन करने मे हीनभाव अनुभव करने की मनुष्य की दुर्बलता राजपुत्र इत्यादि को शास्त्र की आज्ञा का पालन करने से रोकती रहती है और इस उपाय से बहुत कम इन्द्रियजयी लोग ही कर्तव्य-पालन की ओर अग्रसर हो सकते है) सामान्यतः राजपुत्र इत्यादि को वेदशास्त्र के विधान से कर्तव्यज्ञान नहीं होता। दूसरा उपाय है इतिहास और दर्शनशास्त्रों से व्युत्पत्ति उत्पन्न करना। इनका निर्देश मित्रसम्मित उपदेश जैसा होता है। इनका कार्य होता है यह ज्ञान करा देना कि अमुक व्यक्ति की अमुक दशा अमुक कर्म से हुई है। इस प्रकार युक्तियुक्त कर्म तथा मूल सम्बन्ध को प्रकट करनेवाले इतिहास तथा दर्शनशास्त्र के वाक्य मित्रसम्मित उपदेश जैसे होते हैं। उनसे भी राजपुत्रादिकों को व्युत्पत्ति की प्राप्ति नहीं होती। (कारण यह है कि जिस प्रकार राजसम्मित वेदशास्त्र वाक्यों का राजा के आदेश के समान अपना अपमान समझकर प्रत्याख्यान किया जासकता है और उसके प्रतिकूल आन्दोलन इत्यादि किया जा सकता है उसी प्रकार इतिहास पुराण दर्शन इत्यादि मित्रसम्मित वचनों को मित्र की सम्मति के समान ठुकराया जा सकता है।) उन राजपुत्रादिकों को कर्तव्य का उपदेश देना अनिवार्य होता है और वेद-शास्त्रादि तथा इतिहास-पुराणादि के वचन अकिञ्चित्कर हो जाते है तब उनके अन्दर हृदय में प्रवेश के द्वारा चतुर्वर्ग के उपायों की व्युत्पत्ति (योग्यता) का आधान करना उचित होता है। हृदय में प्रवेश रसास्वादमय ही होता है तथा आनन्दसाधना ही उसमें प्रधान होती है। (इसीलिये काव्यप्रकाशकारने रसास्वादमय काव्य को

तारावती

कान्तासम्मित उपदेश कहा है । ) आनन्दसाधना या रसास्वाद विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के संयोग से ही प्राप्त होता है और वह विभावादि संयोग जब तक सम्पन्न नहीं होता तब तक चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति भी नहीं हो सकती । इस प्रकार विभावादिसंयोग चतुर्वर्गव्युत्पत्ति में अवश्यम्भावी होता है और विभावादि-संयोग रसास्वादन का भी प्रवर्तक होता है इस प्रकार रसास्वादन के योग्य विभाव इत्यादि का जब उपनिबन्धन किया जाता है तब उसका परिशीलन करनेवाला मानो विवश होकर रसास्वादन करने लगता है । विभावादिसंयोग के परिशीलन से हमारे हृदय में बलात् रसास्वादन की प्रवृत्ति हो जाती है और न चाहते हुये भी हम आनन्दानुभव करने लगते हैं । उसी आनन्दसाधना के साथ परिणाम स्वरूप वाद में व्युत्पत्ति का अवगम होता है, उस व्युत्पत्ति में रसास्वादन ही प्रवर्तक का रूपधारण करता है । इस प्रकार व्युत्पत्ति की प्रयोजिका भी प्रीति ही होती है । रस की आत्मा प्रीति ही है, उसी को नाट्य कहते हैं और नाट्य ही वेद कहलाता है । आशय यह है कि कवि को विभावादि की संयोजना करनी पड़ती है जिससे स्वाभाविक रूप में आस्वादन प्रवृत्त हो जाता है; काव्यरसास्वादन के साथ ही आनुषङ्गिक रूप में धर्मादि चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति भी हो जाती है; उस व्युत्पत्ति की प्रयोजिका प्रीति ही होती है । राजपुत्र इत्यादि विनेय व्यक्ति जब विभाव इत्यादि का परिशीलन करते हैं तब कवि अनायास ही उनके हृदय में प्रविष्ट होकर रससञ्चार करता है और वे परवश-से होकर उस रस का आस्वादन करने के लिये बाध्य हो जाते हैं । उसके साथ ही उनके अन्दर उचित-अनुचित कर्तव्याकर्तव्य की व्युत्पत्ति भी उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार व्युत्पत्ति को उत्पन्न करनेवाली प्रीति ही होती है । ( क्योंकि विनेय व्यक्ति रस के माध्यम से सम्पादित व्युत्पत्ति को ग्रहण करने के लिये बाध्य होता है अतः व्युत्पत्तिसम्पादन का यह प्रकार वेदादि तथा पुराणादि दोनों साधनों से अधिक अच्छा होता है ।) प्रीति और व्युत्पत्ति भिन्न रूपवाली नहीं होती; क्योंकि दोनों का विषय एक ही होता है । यह तो हम कई बार बतला चुके हैं कि वास्तव में प्रीति का मूलकारण विभाव इत्यादि का औचित्य ही है । व्युत्पत्ति भी कोई अन्य वस्तु नहीं है अपितु विभिन्न रसों में जो विभाव इत्यादि उचित होते हैं उनके स्वरूप को ठीक-ठीक समझा देना और उन समस्त उपकरणों को फलपर्यन्त ले जाना ही व्युत्पत्ति कहलाता है । विभावादि का परिपोष ही रसरूपता में परिणत होता है, अतः प्रीति और व्युत्पत्ति दोनों का रूप भिन्न नहीं होता । अब काव्य द्वारा सम्पादनीय फल के विषय में विचार कर लेना चाहिये । लोक में फल अनेक

तारावती

साधनों से प्राप्त हो सकता है। कभी फल भाग्यवश ही प्राप्त हो जाता है; कभी देवाराधन से देवताओं की कृपा के रूप में फलप्राप्ति होती है; कभी अन्य कोई साधन उपस्थित हो जाता है ( जैसे किसी मित्र की सांयोगिक सहायता आदि। ) ये समस्त फल काव्य के विषय नहीं होते और न कवि का उद्देश्य इस प्रकार के फल का उपदेश देना ही होता है। कारण यह है कि, जैसा कि बतलाया जा चुका है, काव्य का प्रमुख प्रयोजन होता है विनेय व्यक्तियों को सन्मार्ग का उपदेश देना जिससे वे उचित मार्ग को समझ सकें। भाग्य इत्यादि से जो फलप्राप्ति होती है उससे किसी प्रकार के साधन की शिक्षा नहीं मिलती। अतः ऐसी व्युत्पत्ति का उपदेश देना चाहिये कि जो व्यक्ति ठीक उपायों का क्रमबद्ध रूप में आश्रय लेता है उसे सफलता मिल सकती है और जो व्यक्ति ऐसे उपायों का सहारा लेता है, जो सफलता में कारण नहीं हो सकते, उसका नाश हो जाता है। नायक में उपाय दिखला कर उसकी सफलता दिखलाई जानी चाहिये और प्रतिनायक में मिथ्या उपाय दिखलाकर उनसे उद्भूत अनर्थ दिखलाये जाने चाहिये। इससे परिशीलकों को उचित तथा अनुचित उपायों की व्युत्पत्ति हो जाती है। ( यहाँ पर बतलाया गया है कि देवाराधन से उद्भूत फल काव्य का विषय नहीं होता। इसके प्रतिकूल कुछ काव्यों मे देवताप्रसाद से सफलता होती हुई दिखलाई जाती है। यहाँ पर यह समझ लेना चाहिये कि यदि कोई व्यक्ति माला जपते हुये ही सफलता प्राप्त कर ले उस प्रकार का फल काव्य का विषय नही होता। यही आचार्य का आशय है। आस्तिकता स्वयं एक सन्मार्ग है। यदि कोई गुणवान् व्यक्ति अन्यायों से पराहत होकर अच्छे मार्ग को न छोड़ते हुये भगवत्सहायता को भी प्राप्त कर लेता है तो उसका निषेध करना आचार्य का लक्ष्य नहीं है। ) कर्ता जिस उपाय का आश्रय लेता है वह पाँच अवस्थाओं मे विभक्त किया जाता है। वे पाँच अवस्थायें है ( १ ) सर्वप्रथम उपाय का स्वरूप प्रदर्शित करना अर्थात् यह निर्देश करना कि अमुक उपाय अमुक कार्य के साधन मे प्रयुक्त किया गया है। ( २ ) स्वरूप से कुछ आगे बढ़ना अर्थात् उपाय का कार्यसाधन की दिशा मे परिपोष। ( ३ ) उपाय में कार्यसम्पादन की योग्यता का प्रदर्शन। ( ४ ) प्रतिबन्धक के आ जाने से जहाँ कार्यसिद्धि सन्दिग्ध हो जावे और ( ५ ) प्रतिपक्ष के निवृत्त हो जाने पर बाधक के बाधन के द्वारा सुदृढ फल पर्यन्त ( बीज को ले जाना। ( लोचन के प्रस्तुत पाठ से यही ५ अवस्थायें सिद्ध होती हैं। किन्तु इस व्याख्या से पाँचों सन्धियों की सङ्गति ठीक नहीं बैठती। उक्त विभाजन के अनुसार तृतीय अवस्था में कार्यसम्पादन की योग्यता और चतुर्थ अवस्था में साधनसिद्धि का सन्दिग्ध

## लोचन

एवं या एताः कारणस्यावस्थास्तत्सम्पादकं यत्कर्तुरितिवृत्तं पञ्चधा विभक्तम् । त एव मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्या अन्वर्थनामानः पञ्च सन्धय इतिवृत्तखण्डाः सन्धीयन्त इति कृत्वा । तेषामपि सन्धीनां स्वनिर्वाह्यं प्रति तथा क्रमदर्शनादवान्तरभिन्ना इतिवृत्तभागाः । सन्ध्यङ्गानि 'उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोमनम्' इत्यादीनि ।

इस प्रकार जो कार्य की अवस्थायें हैं उनका सम्पादन करनेवाला जो कर्ता का इतिवृत्त पाँच भागों में विभक्त किया गया है वही मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण नामक अन्वर्थ संज्ञावाली पाँच सन्धियाँ अर्थात् इतिवृत्तखण्ड ( होती है ) 'जिनका सन्धान किया जाता है' इस व्युत्पत्ति के आधार पर । उनके सन्धियों का भी अपने निर्वाह्य ( फल ) के प्रति उस प्रकार के क्रम के देखे जाने अवान्तरभिन्न इतिवृत्तभाग ( होते है । ) सन्धि के अङ्ग है—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन इत्यादि ।

## तारावती

होना सिद्ध होता है जबकि काव्यशास्त्रीय विवेचन के अनुसार तृतीय सन्धि मे ही कार्यसिद्धि की सन्दिग्धता प्रस्तुत की जानी चाहिये । इसी प्रकार उपर्युक्त विभाजन में सफलता का निश्चय यह चौथी अवस्था और सफलता की प्राप्ति—इन दोनों को एक कर दिया गया है जो कि प्रसिद्धविभाजन के प्रतिकूल भी है और तर्कसङ्गत नहीं है । प्रतापरुद्रटि में इस प्रकार व्याख्या की गई है—प्रथम अवस्था में स्वरूप का कुछ आगे बढ़ना, द्वितीय अवस्था में कार्यसम्पादन की योग्यता, तृतीय अवस्था में प्रतिबन्धक की उपस्थिति से फल का सन्दिग्ध होना, चतुर्थ मे प्रतिबन्धक की निवृत्ति से कार्य का निश्चय और पञ्चम में बाधक के बाधन के द्वारा सुदृढ फल-पर्यन्तता । यह विभाजन प्रसिद्धि के अनुकूल भी है और तर्कसङ्गत भी । इसमें 'स्वरूपम्' यह सामान्य शब्द रक्खा गया है, 'स्वरूपात् किञ्चिदुच्छूनताम्' यह प्रथम अवस्था मानी गई है । 'निवृत्तप्रतिपक्षतायाम्' के बाद 'कार्यस्य निश्चयावस्थाम्' इतना और जोड़ कर चतुर्थ अवस्था मानी जा सकती है और 'सुदृढ फल पर्यन्तता' यह पञ्चम अवस्था । ) श्रम तथा विघ्नों को सहन करनेवाले, कार्य की असफलता से भयभीत तथा समझ-बूझकर काम करनेवालों का कारणों का उपादान इसी प्रकार का हुआ करता है । वे कारण मे रहनेवाली ५ प्रकार की अवस्थायें मुनि ने इस प्रकार कही हैं—

'कारण का फल से योग ( काव्य और नाट्य मे ) साध्य होता है । उसमें कारण का जो व्यापार होता है, प्रयोक्ता लोगों को चाहिये कि आनुपूर्वी अर्थात् क्रमिकता के द्वारा पाँच अवस्थाओं को समझ ले ।

## तारावती

'प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति की सम्भावना ( अथवा असम्भावना ) नियतफलप्राप्ति और पाँचवा फल योग ( ये क्रमशः ५ अवस्थायें होती हैं ) ।

इस प्रकार जो ये ५ कारण की अवस्थायें हैं उनका सम्पादककर्ता का इतिवृत्त होता है । वह इतिवृत्त ५ भागों में विभक्त किया गया है । इन भागों को ५ सन्धियों के नाम से अभिहित किया जाता है । सन्धि शब्द सम् उपसर्ग 'धा' धातु से कर्म में 'कि' प्रत्यय होकर बना है। ) इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ होगा जिनका सन्धान किया जावे उन्हें सन्धि कहते हैं । सन्धान इतिवृत्त का किया जाता है । अतः इतिवृत्त-खण्डों को सन्धि कहते हैं । इन पाँच सन्धियों के नाम हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण । ये अन्वर्थ संज्ञायें हैं अर्थात् इनकी परिभाषा शब्दार्थ से ही अवगत हो जाती है । ( मुख का अर्थ है प्रारम्भ । अतः प्रारम्भ में बीज की उत्पत्ति को मुखसन्धि कहते है । प्रतिमुख शब्द का अर्थ है जिसमें प्रतिष्ठित किया जावे या आगे बढ़ाया जावे अथवा मुख के प्रतिकूल बढ़ा जावे । प्रतिमुखसन्धि में एक तो मुखसन्धि के निर्दिष्ट बीज को आगे बढ़ाया जाता है दूसरे प्रयत्न के प्रारम्भ हो जाने से कभी बीज प्रकट रहता है कभी अप्रकट। यह स्थिति मुख के प्रतिकूल होती है क्योंकि मुखसन्धि में बीज प्रकट ही रहता है। गर्भ शब्द 'गृ' धातु से भन् प्रत्यय होकर बनता है जिसका अर्थ है निगरण कर लेना गुप्त कर लेना या कुक्षि में छिपा लेना'। इस सन्धि मे बीज गर्भित हो जाता है अतः इसे गर्भसन्धि कहते है । विमर्श शब्द में 'वि' उपसर्ग का अर्थ है छानबीन अतः जहाँ छानबीन से बीज का परिज्ञान हो और छानबीन से ही सफलता भी प्रतीत हो वहाँ विमर्शसन्धि होती है । निर्वहण का अर्थ है निर्वाह । इसमे बीज का निर्वाह कर दिया जाता है अतः इसे निर्वहणसन्धि कहते हैं । इस प्रकार सन्धियों की ये अन्वर्थ संज्ञायें हैं । ) इन सन्धियों के द्वारा फल का निर्वाह किया जाता है । उस निर्वाह्य फल के प्रति इन सन्धियों में एक-एक के अन्दर अवान्तर क्रम भी देखा जाता है । अतः इन सन्धियों के अवान्तर भेद के रूप मे भी इतिवृत्त के टुकड़े कर लिये जाते हैं । सन्धियों के इन अवान्तर भेदों को सन्ध्यङ्ग कहते हैं । वे हैं—उपक्षेप परिकर, परिन्यास, विलोभन इत्यादि । ( मुखसन्धि के उपक्षेप इत्यादि १२ भेद होते हैं प्रतिमुख के विलास इत्यादि १३ भेद होते है । गर्भ सन्धि के अभूताहरण इत्यादि १२ भेद होते हैं। विमर्श के अपवाद, संकेत इत्यादि १३ भेद होते हैं और निर्वहण के सन्धि-विबोध ग्रथन इत्यादि १४ भेद होते हैं । इनके लक्षण और उदाहरण नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक दिये हुये हैं । इनको वहीं देखना चाहिये। अप्रासङ्गिक विस्तार-भय से यहाँ पर विवेचन नहीं किया जा रहा है । )

## लोचन

अर्थप्रकृतयोऽत्रैवान्तर्भूताः। तथा हि स्वायत्तसिद्धेर्बीजं बिन्दुः कार्यमिति तिस्रः। बीजेन सर्वव्यापाराः बिन्दुनानुसन्धानं कार्येण निर्वाहः सन्दर्शनप्रार्थनाव्यवसायरूपा ह्येतास्तिस्रोऽर्थे सम्पाद्ये कर्तुः प्रकृतयः स्वभावविशेषाः। सचिवायत्तसिद्धित्वे तु सचिवस्य तदर्थमेव वा स्वार्थमेव वा स्वार्थमपि वा प्रवृत्तत्वेन प्रकीर्णत्वप्रसिद्धत्वाभ्यां

अर्थप्रकृतियाँ भी इन्हीं में अन्तर्भूत (हो जाती है।) वह इस प्रकार—स्वायत्तसिद्धिवाले (नायक) के लिये बीज, बिन्दु और कार्य ये तीन। बीज से सभी व्यापार, बिन्दु से अनुसन्धान और कार्य से निर्वाह; सन्दर्शन प्रार्थना और व्यवसाय रूपवाली ये तीन अर्थ अर्थात् सम्पादनीय में कर्ता की प्रकृति अर्थात् स्वभावविशेष। सचिवायत्तसिद्धि में तो सचिव का उसके लिये ही अथवा अपने लिये ही अथवा अपने लिये भी प्रवृत्त होने से प्रकीर्ण और प्रसिद्ध रूपों में

## तारावती

अर्थप्रकृतियों का अन्तर्भाव भी इन्हीं में हो जाता है। वह इस प्रकार—नायक तीन प्रकार का होता है–स्वायत्तसिद्धि, सचिवायत्तसिद्धि और उभयायत्तसिद्धि। स्वायत्तसिद्धिवाला नायक वह होता है जिस की सफलता स्वयं उसके हाथ में हो। इस प्रकार के नायक की अर्थप्रकृतियाँ तीन होती हैं—बीज, बिन्दु और कार्य। अर्थ-प्रकृति शब्द का अर्थ है प्रयोजन की सिद्धि में हेतु। स्वायत्तसिद्धि वाले नायक की यही तीन अर्थ प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं। बीज का अर्थ है सभी व्यापार। बिन्दु का अर्थ है अनुसन्धान और कार्य का अर्थ है निर्वाह। बीज का रूप है सन्दर्शन अर्थात् निर्देश। (कार्य को सिद्ध करने वाला जो हेतु प्रारम्भ में बहुत ही स्वल्प मात्रा में निर्दिष्ट किया गया हो और जिसका नाटक के अग्रिम भाग में विशेष विस्तार होने वाला हो उसे बीज कहते हैं। प्रारम्भ में बीज बहुत छोटा होता है और बाद में विस्तृत होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार नाट्यबीज प्रारम्भ में बहुत संक्षिप्त होता है किन्तु बाद में अनेक प्रकार से विस्तृत होकर नाटक इत्यादि का रूप धारण कर लेता है।) बिन्दु सम्प्रार्थना रूप होता है। इसमें बीज को फल से मिलाने की सम्प्रार्थना या आकांक्षा की जाती है। (जिस प्रकार तैलबिन्दु जल में बहुत प्रकार से फैल जाता है उसी प्रकार नाट्यबिन्दु भी अग्रिम कथाभाग में फैलता जाता है। नाटक में प्राय. छोटे-छोटे प्रयोजन होते है और इनकी पूर्ति भी थोड़ी-थोड़ी दूर पर होती चलती है तब कथा भाग रुकता-सा जान पड़ता है, वहाँ पर कोई ऐसा तत्त्व (Point) आ जाता है जो कथाभाग को आगे बढा देता है यही बिन्दु कहलाता है।) कार्य का रूप होता है व्यवसाय। (कार्य नाट्यफल को कहते हैं यह फल धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में कोई एक दो

## लोचन

प्रकरीपताकाव्यपदेश्यतयोभयप्रकारसम्बन्धी व्यापारविशेषः प्रकरीपताकाशब्दाभ्यामुक्त इति। एवं प्रस्तुतफलनिर्वाहणान्तस्याधिकारिकस्य वृत्तस्य पञ्चसन्धित्वं पूर्णसन्ध्यङ्गता च सर्वजनव्युत्पत्तिदायिनी निबन्धनीया। प्रासङ्गिके त्विति वृत्ते नायं नियम इत्युक्तम्—

'प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न ह्येष नियमो भवेत्।'

इति मुनिना। एवं स्थिते रत्नावल्यां धीरललितस्य नायकस्य धर्माविरुद्ध होने से प्रकरी और पताका इस नामकरण से दोनों प्रकारों का सम्बन्धी व्यापार-विशेष प्रकरी और पताका शब्दों से कहा गया है। इस प्रकार प्रस्तुत फल के निर्वाह-पर्यन्त आधिकारिक वृत्त की पाँच सन्धियों का होना और पूर्ण सन्धियों का अङ्ग होना सभी व्यक्तियों को व्युत्पत्ति देनेवाला निबद्ध किया जाना चाहिये। कहा गया है कि प्रासङ्गिक इतिवृत्त मे यह नियम नहीं है—

'प्रासङ्गिक में पदार्थ होने के कारण यह नियम नहीं होता।' यह मुनि के

## तारावती

या तीन हो सकते हैं। इस फल को सिद्ध करने के लिये जो व्यवसाय किया जाता है उसे ही कार्य कहते हैं।) इस प्रकार ये तीन अर्थ अर्थात् सम्पादनीय (कार्य) में कर्ता की प्रकृतियाँ अर्थात् विशेष स्वभाव होते हैं। यह तो हुई स्वायत्तसिद्धिवाले नायक की बात। अब सचिवायत्तसिद्धि को लीजिये। सचिवायत्तसिद्धि में सचिव या तो उस राजा के लिये ही प्रवृत्त होता है, या अपने लिये ही अथवा अपने लिये भी (अर्थात् दोनों के लिये) प्रवृत्त होता है। अतः उसका कार्य या तो प्रकीर्ण (अर्थात् सङ्कट से युक्त फेंका हुआ या कथा में मिलाया हुआ) होता है या प्रसिद्ध। यदि प्रकीर्ण होता है तो उसे प्रकरी कहते हैं और यदि प्रसिद्ध होता है तो उसे पताका कहते हैं। इस प्रकार आधिकारिक कथावस्तु मे प्रारम्भ से प्रस्तुत फल के निर्वाहण पर्यन्त पाँचो सन्धियाँ और सभी सन्धियों के अङ्ग इस प्रकार निबद्ध किये जाने चाहिये जिससे सभी व्यक्तियों को व्युत्पत्ति प्राप्त हो सके। किन्तु यह नियम प्रासङ्गिक इतिवृत्त में नहीं लागू होता। यह बात मुनि ने कही है—

'प्रासङ्गिक में परार्थ होने के कारण यह नियम नहीं लगता।'

ऊपर नाट्यरचना में इतिवृत्त का निर्वाह का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है अब रत्नावली का उदाहरण लीजिये। रत्नावली के नायक हैं धीरललित महाराज उदयन। सम्भोग का सेवन धरिललित नायक का अवच्छेदक धर्म है। अतः ऐसे सम्भोग का सेवन जो धर्म के विरुद्ध नहीं है (धीरललित नायक के लिये) अनुचित नहीं कहा जा सकता किन्तु जीवन में धर्म, अर्थ और काम का सन्तुलन और अविरोध ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख का

## लोचन

सम्भोगसेवायामनौचित्याभावात् प्रत्युत न निस्सुखः स्यादिति श्लाघ्यत्वात् पृथ्वीराज्य-महाफलान्तरानुबन्धिकन्यालाभफलोद्देशेन प्रस्तावनोपक्रमे पञ्चापि सन्धयोऽवस्थापञ्चक-सहिताः समुचितसन्ध्यङ्गपरिपूर्णा अर्थप्रकृतियुक्ता दर्शिता एव। 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इति हि बीजादेव प्रभृति 'विश्रान्तविग्रहकथः' इति 'राज्यं निर्जित-शत्रु' इति च वचोभिः 'उपभोगसेवावसरोऽयम्' इत्युपक्षेपाद्यभृति हि निरूपितम्।

द्वारा। ऐसी स्थिति में धीरललित नायक का सम्भोग सेवन में अनौचित्य न होने से प्रत्युत 'सुखरहित नहीं होना चाहिये' इस (नियम से) प्रशंसनीय होने के कारण पृथ्वी के राज्यरूप महाफल के अनुबन्धी कन्यालाभ के उद्देश्य से प्रस्तावना के उपक्रम में पाँचों सन्धियाँ पाँचों अवस्थाओं के साथ, समुचित सन्ध्यङ्गों से परिपूर्ण और अर्थप्रकृतियों से युक्त दिखलाई ही गई हैं। 'स्वामी के वृद्धिहेतु इसके प्रारम्भ करने पर' इस बीज से ही लेकर 'जिसमे विग्रह की कथा शान्त हो गई है' तथा 'शत्रुओं से जीता हुआ राज्य' इन वचनों से 'यह उपभोग सेवा का अवसर है'

## तारावती

एकमात्र साधन है। (जीवन मे धर्म के साथ अर्थ और काम का भी उतना ही महत्त्व हैं।) धर्मशास्त्र का नियम है कि 'जीवन सुख रहित नहीं होना चाहिये।' इस नियम के अनुसार वत्सराज का शृङ्गार सेवन अनुचित नहीं कहा जा सकता। उनका वह शृङ्गारसेवन श्लाघ्य ही है। एक तो उसमे कन्यारत्न की प्राप्ति एक बहुत बड़ा फल है दूसरे पृथ्वी के राज्य की प्राप्ति का एक दूसरा बहुत बड़ा लाभ और सम्मिलित है। उसी उद्देश्य से नाटक की प्रवृत्ति हुई है। उसमे प्रस्तावना के उपक्रम में (बीज को प्रस्तुत कर उसको क्रमबद्धता के साथ फलपर्यन्त ले जाने मे) पाँचों कार्यावस्था और पाँचों अर्थ प्रकृतियों के संयोग से पांचों सन्धिया दिखलाई गई हैं और जहाँ तक सम्भव हो सका है उन सन्धियों के अङ्ग भी दिखलाये गये है। 'यह कार्य स्वामी की वृद्धि के लिये प्रारम्भ किया गया.....' इस कथन में बीज सन्निहित है; 'विग्रह की कथा शान्त हो गई....' 'राज्य मे शत्रु जीत लिये गये....' इत्यादि वचनों के द्वारा 'यह उपभोग सेवा का अवसर है' यहां से मुखसन्धि के उपक्षेप नामक (प्रथम) अङ्ग से ही प्रारम्भ करके सभी प्रकार की सन्धियों और अधिक से अधिक सन्ध्यङ्गों को दिखलाया गया है। यदि रत्नावली के पाठ के आधार पर सभी उदाहरण देकर नाट्यशास्त्र के सभी सन्ध्यङ्गों को समझाया जावे तो व्यर्थ ही ग्रन्थ का अत्यन्त विस्तार हो जावेगा। यदि प्रत्येक सन्धि के एक-आध उदाहरण देकर सन्तोष किया जावे तो पाठक व्यर्थ में ही भ्रम में पड़ जावेगा। इसीलिये मैं यहा पर इनको विस्तार के

ध्वन्यालोकः

यथा रत्नावल्याम्; न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया। यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।

इत्यादि उनके अङ्गों का रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा करते हुये सङ्घटन, जैसे रत्नावली मे। केवल शास्त्रस्थिति सम्पादन की इच्छा से तो नहीं, जैसे वेणीसंहार मे विलास नामक प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग की घटना प्रकृत रस के प्रतिकूल होते हुए भी भरत मत के अनुसरणमात्र की इच्छा से की गई है।

लोचन

एतत्तु समस्तसन्ध्यङ्गस्वरूपं तत्पाठपृष्ठे प्रदर्श्यमानमतितमां ग्रन्थगौरवमावहति। प्रत्येकेन तु प्रदर्श्यमानं पूर्वापरानुसन्धानवन्ध्यतया केवलं संमोहदायि भवतीति न विस्तृतम्। अस्यार्थस्य यत्नावधेयत्वेनेष्टत्वात् स्वकण्ठेन यो व्यतिरेक उक्तो 'न तु केवलया' इति तस्योदाहरणमाह—न त्विति। केवलशब्दमिच्छाशब्दं च प्रयुञ्जानस्यायमाशयः—भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम्। न तु पूर्वरङ्गवददृष्टसम्पादनं विघ्नादिवारणं वा। यथोक्तम्—

इन शब्दों से उपक्षेप से ही लेकर निरूपण किया गया है। यह समस्त सन्ध्यङ्गों का स्वरूप उसके पाठ के आधार पर दिखलाया जाने पर अत्यन्त ग्रन्थगौरव को धारण कर लेगा। प्रत्येक रूप मे दिखलाये जानेपर पूर्वापर अनुसन्धान में व्यर्थ होने के कारण केवल सम्मोहदायक होगा। अतः विस्तृत रूप में नहीं दिखलाया।

अर्थ के यत्नपूर्वक अवधान देने योग्य होने से स्वकण्ठ से जो व्यतिरेक 'केवल (शास्त्रस्थितिसम्पादन की इच्छा) से नहीं' इन शब्दों से कहा गया उसका उदाहरण देते हैं—'न तु' इत्यादि। 'केवल' शब्द और 'इच्छा' शब्द को प्रयुक्त करने वाले का आशय यह है—भरतमुनि ने सन्ध्यङ्गो के रसाङ्गभूत इतिवृत्त का प्राशस्त्योत्पादन ही प्रयोजन कहा है। पूर्वरङ्ग के समान अदृष्टसम्पादन या विघ्न इत्यादि का वारण नहीं। जैसा कहा गया है—

तारावती

साथ नहीं समझा रहा हूँ। (दशरूपक इत्यादि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिकतर रत्नावली से ही उदाहरण दिये गये है। अतः वहीं देखना चाहिये।) यहां पर कहने का मन्तव्य यही है कि जिस प्रकार रत्नावली में सन्धि और सन्ध्यङ्गों का निर्वाह प्रकृति के औचित्य और रस की मर्यादा को ध्यान में रखकर किया गया है उसी प्रकार यदि इन अङ्गों का समावेश किया जाता है तब तो प्रबन्ध रसाभिव्यञ्जक होता है यदि इसके प्रतिकूल रस और प्रकृतियों का विचार छोड़कर केवल शास्त्र-

## लोचन

'इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानपक्षयः ।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम् ॥
आश्चर्यवदभिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम् ।
अङ्गानां षड्विधं ह्येतद् दृष्टं शास्त्रे प्रयोजनम् ॥' इति ।

'इष्ट अर्थ की रचना, वृत्तान्त का अपक्षीण न होना, प्रयोग की रागप्राप्ति, गोपनीयों का गोपन, चमत्कारकारक कथन और प्रकाशनीयों का प्रकाशन—शास्त्र में अङ्गों का यह छः प्रकार का प्रयोजन देखा गया है ।'

## तारावती

मर्यादापरिपालन के लिये ही इन सबके सन्निवेश की चेष्टा की जाती है और उसमें केवल शास्त्रस्थितिसम्पादन की इच्छा ही प्रयोजक होती है तो वह प्रबन्ध रसाभिव्यञ्जन न करके केवल रसभङ्ग का ही साधन बन जाता है । शास्त्रमर्यादा-पालन करने न करने का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका यत्नपूर्वक ध्यान रखना अभीष्ट होता है । इसीलिये ध्वनिकार ने नियम भी बतलाया और उसके अभाव के स्थान का भी निर्देश इन शब्दों में किया कि 'केवल शास्त्रस्थिति-सम्पादन की इच्छा से सन्धि तथा सन्ध्यङ्गों का पालन नहीं करना चाहिये ।' तथा आलोककारने जहां नियम का उदाहरण दिया वहां व्यतिरेक का भी उदाहरण दिया है । 'केवल शास्त्रस्थिति सम्पादन की इच्छा से नहीं' इस वाक्य में केवल शब्द और इच्छा शब्द के प्रयोग का आशय यह है—शास्त्रों मे प्रायः समस्त-विधियां दो प्रकार की होती हैं एक तो कर्मकाण्डस्तर की, जिनका पालन करना अनिवार्य होता है । ( जैसे गौरीपूजन के नवग्रह इत्यादि के लिये जितनी शास्त्रीय विधि होती है उसका अनिवार्य रूपमें पालन किया जाता है ।) भरतमुनि ने पूर्वरङ्ग का इसी प्रकार का विधान किया है जिसका फल होता है अदृष्टसम्पादन और विघ्न इत्यादि का निवारण । अतः पूर्वरङ्ग की समस्त विधि अनिवार्य है । दूसरे प्रकार की विधि ऐसी होती है जिसके पालन करने के लिये प्रयोक्ता स्वतन्त्र होता है । उन विधियों की शास्त्र में चर्चा इसीलिये की जाती है कि वे कुछ ऐसे तत्त्व होते है जिनके आधार पर गुणावगुणों की परीक्षा तथा विचार किया जा सकता है और सामान्यतया उनका पालन श्रेयस्कर होता है । ( जैसे धर्मशास्त्रों मे विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है कि कैसी कन्या से विवाह करना चाहिये । यदि उन बतलाये हुये गुणों में कुछ व्यक्तिगत परिस्थिति के अनुकूल न हों तो उनका पालन नहीं करना चाहिये । शास्त्रकार का वहाँ यही आशय होता है कि ऐसा करना प्रशस्त होता है ।) भरतमुनि द्वारा बतलाई हुई सन्धि और सन्ध्यङ्गों की विधि

## लोचन

ततश्च—

'समीहा रतिभोगार्था विलासः परिकीर्तितः ।'

इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गविलासलक्षणे । रतिभोगशब्द आधिकारिकरसस्थायिभावोपव्यञ्जकविभावाद्युपलक्षणार्थत्वेन प्रयुक्तः, यथा तत्त्वं नाधिगतार्थं इति । प्रकृतो ह्यत्र वीररसः ।

इसके बाद—

'रतिभोग के प्रयोजनवाली इच्छा को विलास कहते हैं ।'

यह प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग विलास के लक्षण में कहा गया है । रतिभोग शब्द आधिकारिक रस के स्थायी भाव के उपव्यञ्जक विभाव इत्यादि के उपलक्षण के रूप मे प्रयुक्त किया गया है; ( वेणीसंहारकार ने ) ठीक तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाया । यहाँ पर प्रकृत वीररस है ।

## तारावती

पूर्वरङ्ग के समान अनिवार्य नहीं, अपितु रसाङ्गभूत इतिवृत्त में प्राशस्त्य का सम्पादन करनेवाली ही है । यह बात भरतमुनि ने स्वयं कही है—

'शास्त्र में अङ्गों का यह छः प्रकार का प्रयोजन देखा गया है । इष्ट अर्थ की रचना, वृत्तान्त का क्षीण न होना, अभिनयदर्शन से सामाजिकों के मनोरञ्जन की समृद्धि, गोपनीय तत्त्वो का गोपन, चमत्कार कारक कथन और प्रकाशनीय तत्वों का प्रकाशन ।'

यदि ये अभिप्राय सिद्ध न हो रहे हों प्रत्युत अङ्गों से रस में व्याघात उत्पन्न हो रहा हो तो शास्त्रमर्यादापालन के लिये ही काव्य या नाट्य में उनका समावेश नहीं करना चाहिये । जैसा कि वेणीसंहार में किया गया है । वेणीसंहार मे अनेक वीरो का संक्षय उपस्थित है; महाभारत का युद्ध होने जा रहा है उसी प्रसङ्ग के अन्दर दुर्योधन अन्तःपुर मे जाते हैं और वहाँ उनका भानुमती से शृङ्गार का विस्तार वर्णित किया जाने लगता है । कवि ने यह सब अप्रासङ्गिक तथा अवसर के प्रतिकूल इसलिये किया है कि उसे प्रतिमुखसन्धि के अङ्गविलास की पूर्ति करनी है । विलास की भरतमुनि ने यह परिभाषा दी है—

'रतिभोग के प्रयोजनवाली इच्छा को विलास कहा जाता है ।'

वस्तुतः वेणीसंहार के लेखक भट्टनारायण ने इस प्रकरण का ठीक अर्थ समझ नहीं पाया है । यहाँ पर 'रतिभोग के प्रयोजनवाली इच्छा' का यथाश्रुत अर्थ नहीं है, अपितु यह शब्द उपलक्षणपरक है । अतः इसका अर्थ हो जाता है—जिस रस का अधिकारिक के रूप मे उपादान किया गया हो उसका स्थायिभाव। अतः शृङ्गार

ध्वन्यालोकः

इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य यथा रत्नावल्यामेव ।

(अनु०) यह दूसरा प्रबन्ध की रसव्यञ्जकता मे निमित्त है कि अवसर के अनुसार रस के बीच मे उद्दीपन और प्रशमन ( होने चाहिये ।) जैसे रत्नावली मे ही।

लोचन

उद्दीपन इति । उद्दीपनं विभावादिपरिपूरणया । यथा 'अयं स राआ उदयणो त्ति' इत्यादि सागरिकायाः । प्रशमनं वासवदत्तातः पलायने । पुनरुद्दीपनं चित्रफलकोल्लेखे । प्रशमनं सुसङ्गतप्रवेशे इत्यादि । गाढं ह्यनवरतपरिमृदितो रसः सुकुमारमालतीकुसुमवज्झटित्येव म्लानिमवलम्बेत । विशेषतस्तु शृङ्गारः । यदाह मुनिः—

यद्वामाभिनिवेशित्वं यतश्च विनिवार्यते ।
दुर्लभत्वं यतो नार्या कामिनः सा परा रतिः ॥ इति ।

वीररसादावपि यथावसरमुद्दीपनप्रशमनाभ्यां विना झटित्येवाद्भुतफलकल्पे साध्ये लब्धे प्रकटीचिकीर्षित उपायोपेयभावो न प्रदर्शित एव स्यात् ।

'उद्दीपन' यह। यह विभावादि परिपूरण के द्वारा उद्दीपन जैसे सागरिका का 'यह वह राजा उदयन है' इत्यादि । प्रशमन जैसे वासवदत्ता से पलायन में । फिर उद्दीपन जैसे चित्रफलक के उल्लेख मे। प्रशमन सुसङ्गता के प्रवेश मे इत्यादि। गाढरूप मे निरन्तर मसला हुआ रससुकुमार मालती कुसुम के समान शीघ्र ही मलिनता को प्राप्त हो जावे और विशेषरूप मे शृङ्गार । जैसा कि मुनि ने कहा है—

'जो कि विपरीत अभिनिवेश होता है, जो कि मना किया जाता है जो कि नारी दुर्लभ होती है कामियों की वह बहुत बड़ी रीति है ।'

वीररस इत्यादि में भी अवसर के अनुसार उद्दीपन और प्रशमन के विना शीघ्र ही अद्भुत फल के समान साध्य के प्राप्त हो जाने पर जिस उपायोपेयभाव के प्रकट करने की इच्छा है वह प्रदर्शित हो ही नहीं सकता ।

तारावती

का प्रयोजन रतिभोग की इच्छा है और वीररस का प्रयोजन उत्साह की इच्छा है । वेणीसंहार में वीररस प्रकृत है अतः विलास की पूर्ति के लिये रतिभोगेच्छा का नहीं अपितु उत्साहेच्छा का विस्तार किया जाना चाहिये ।

प्रबन्ध की रसव्यञ्जकता का चौथा निमित्त है अवसर को समझकर बीच-बीच मे रस को उद्दीप्त करना और बीच-बीच में शान्त करना । जो आधिकारिक रस प्रक्रान्त किया गया हो उसको निरन्तर प्रगाढ रूपमे परिपुष्ट करते रहने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये । रस को बीच-बीच मे उद्दीप्त करने का अर्थ है उसमें उचित

तारावती

विभाव इत्यादि की पूर्ण योजना करते हुये प्रकाशित करना ( प्रशमन का अर्थ है उसको विघटित कर आस्वाद की धारा को विच्छिन्न कर देना) इसका भी उदाहरण रत्नावली से ही दिया जा सकता है। रत्नावली मे मदन-पूजन के अवसर पर उदयन का नाम सुनकर सागरिका कहती है कि 'ये वही राजा उदयन हैं'। यहाँ पर सागरिका की शृङ्गारभावना उद्दीप्त होती है फिर वासवदत्ता के भय से जब सागरिका भागने लगती है तब उस भावना का प्रशमन हो जाता है। फिर चित्र-फलक के उल्लेख में उस भावना का पुनः उद्दीपन होता है; सागरिका का तन्मयता-पूर्वक राजा का चित्रचित्रण, सखी के सामने कामदेव के चित्र बनाने का बहाना, सखी का निकट ही रति के रूप मे सागरिकानामधारिणी रत्नावली का चित्र बना देना, वानर के सम्भ्रम से चित्र का छूट जाना और वह राजा द्वारा प्राप्त करना इत्यादि समस्त प्रकरण मे पुनः शृङ्गारभावना का उद्दीपन होता है पुनः वासवदत्ता की सखी सुसङ्गता के प्रवेश करने पर इस भावना का प्रशमन हो जाता है। ( फिर सागरिका की सखी से सङ्केतस्थान नियत करने में शृङ्गारभावना की उद्दीप्ति और सागरिका के वेश में वासवदत्ता के आ जाने से उस भावना का प्रशमन, यही क्रम चलता रहता है। ) इस प्रकार ठीक अवसर पर उद्दीपन और ठीक अवसर पर प्रशमन होने से शृङ्गार रस के अन्दर नीरसता नहीं आने पाती और बार-बार उद्दीप्त तथा प्रशान्त होकर शृङ्गारभावना परिशीलकों का अनुरञ्जन करने में सर्वथा समर्थ हो जाती है। यदि एक ही रस का निरन्तर परिमर्दन किया जावे तो वह उसी प्रकार मलिन हो सकता है जैसे सुकुमार मालती का पुष्प निरन्तर मसलने से मलिन हो जाता है। यह बात शृङ्गार के विषय में विशेष रूप से कही जा सकती है; क्योंकि शृङ्गार में तो प्रच्छादनपूर्वक निर्वाह ही आनन्ददायक होता है। मुनि ने कहा है—

'स्त्रियों की वामाचरण की अभिलाषा होती है अर्थात् स्त्रियों की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है जो व्यक्ति या वस्तु उन्हें सर्वाधिक प्रिय होती है उसके प्रेम को वे सहसा प्रकट नहीं करती, प्रत्युत उसके प्रति वे अधिक से अधिक विपरीत आचरण करती हैं। दूसरी बात यह है कि स्त्रियों का मिलना जुलना समाज में ठीक नहीं माना जाता और सामान्यतया उसका निवारण किया जाता है। स्त्रियाँ प्रायः सुलभ नहीं होतीं। कामियों के लिये रति की सबसे बड़ी भूमिका यही है।'

वीररस में भी अवसर के अनुसार उद्दीप्त और प्रशमन करना ही पड़ता है। यदि ऐसा न किया जावे और एक बार के उद्योग मे ही सफलता मिल जावे तो वह सफलता ऐसी ही होगी जैसे इन्द्रजाल इत्यादि मे कोई कार्य दिखला दिया जाता

ध्वन्यालोकः

पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च । यथा तापसवत्सराजे ।

(अनु०) पुनः जिसका विश्राम आरम्भ हो गया हो उस अङ्गी रस का पुनः अनुसन्धान करना जैसे तापसवत्सराज में ।

लोचन

पुनरिति । इतिवृत्तवशादारब्धाऽऽशङ्क्यमानप्राया न तु सर्वथैवोपनता विश्रान्ति-विच्छेदो यस्य स तथा । रसस्येति । रसाङ्गभूतस्य कस्यापीति यावत् । तापसवत्सराजे

'पुनः' यह । इतिवृत्तवश जिसकी विश्रान्ति अर्थात् विच्छेद आरम्भ किया गया हो अर्थात् केवल आशङ्का का विषय ही बना हो सर्वथा उपनत न हुआ हो उस प्रकार से । 'रस का यह' । आशय यह है कि रस के अङ्गभूत किसी भी तत्त्व का । निस्सन्देह तापसवत्सराज में वासवदत्ताविषयक, जीवितसर्वस्वाभिमानात्मक

तारावती

है तथा उसका हेतु दर्शकों की समक्ष में नहीं आता । ऐसी दशा में कवि का यह दिखलाने का अभिप्राय कभी सिद्ध नहीं हो सकता कि अमुक उपाय से अमुक फल की सिद्धि हुई । कवि को प्रबन्धयोजना मे जिस दूसरे तत्त्व का ध्यान रखना पड़ता है वह यह है कि यदि अङ्गीरस का विच्छेद प्रारम्भ हो गया हो तो उसका पुनः अनुसन्धान कर लेना चाहिये। आशय यह है कि अङ्गी रस कभी बहुत समय के लिये दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिये । यदि इतिवृत्त का निर्वाह करने के लिये अङ्गी-रस को बहुत समय तक छोड़ देना अनिवार्य हो जावे तो बीच-बीच मे उसका अनुसन्धान करते चलना चाहिये । 'विच्छेद आरम्भ हो गया हो' का आशय यह है कि जिस समय कथाप्रवाह में अङ्गीरस के विच्छेद की आशङ्का उत्पन्न हो जावे उस समय उसका अनुसन्धान कर लेना चाहिये उसका सर्वथा तिरोधान तो होने ही नहीं देना चाहिये । 'रस का अनुसन्धान कर लेना चाहिये' मे रस का आशय है रस के अङ्गभूत किसी तत्त्व का, अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र अङ्गी रस का पूरा परिपोष ही किया जावे । रस के विभाव इत्यादि किसी तत्त्व का उल्लेख ही पर्याप्त होता है । उदाहरण के लिये 'तापसवत्सराज' नामक नाटक को लीजिये ( दीधितिकार ने लिखा है कि 'तापसवत्सराज' नामक नाटक उपलब्ध नहीं होता, किन्तु सुना जाता है कि यह नाटक विन्ध्याचल के पास के किसी गाँव में मिला है। बालप्रियाकार ने तापसवत्सराज के अनुपलब्ध होने की बात नहीं लिखी है, प्रत्युत लोचन मे जिन श्लोकों का सङ्केत किया गया है उन श्लोकों के पूरे-पूरे भाग मूल पुस्तक के आधार पर लिख दिये हैं । इससे सिद्ध होता है कि सम्भवतः बालप्रिया-कार को यह पुस्तक देखने को मिल गई होगी । प्रतीत होता है कि यह नाटक

## लोचन

हि वासवदत्ताविषयो जीवितसर्वस्वाभिमानात्मा प्रेमबन्धस्तद्विभावाद्यौचित्यात्करुण-विप्रलम्भादिभूमिका गृह्णन् समस्तेतिवृत्तव्यापी। राज्यप्रत्यापत्या हि सचिवनीति-

प्रेमबन्धन उन विभावों के औचित्य से करुण विप्रलम्भ की भूमिकाओं को ग्रहण करते हुये समस्त इतिवृत्त मे व्यापक है। सचिवनीति की महिमा से आई हुई उसके

## तारावती

भासरचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' के आधार पर लिखा गया होगा।) इस नाटक में वासवदत्ता के प्रति प्रेमबन्धन समस्त इतिवृत्त मे व्यापक है। इस प्रेमबन्धन की आत्मा है दोनों का एक दूसरे को जीवनसर्वस्व मानना। (कूटनीतिक कारणों से जब मन्त्री लोग वासवदत्ता को छिपाकर उसके आग मे जलकर मर जाने की घोषणा कर देते हैं उस समय) उन विभावों के औचित्य से (अनुकूल परिस्थियों को प्राप्त कर) वह वासवदत्ता के प्रति प्रेमबन्ध करुण विप्रलम्भ का रूपधारण कर लेता है। (विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण दोनों वेदनाप्रधान रस हैं। इनमे भेद यह है कि यदि आलम्बन का विच्छेद न हो गया हो और दोनों के पुनः सम्मिलन की आशा बनी हुई हो तो विप्रलम्भ शृङ्गार होता है, यदि मरण हो गया हो और पुनः सम्मिलन की आशा शेष न हो तो उस अवस्था में जो दुःख होता है वह करुण रस कहलाता है। यदि मरण के बाद पुनः सम्मिलन की आशा बनी हुई हो जैसा की दैवी शक्ति के प्रभाव से प्रायः सम्भव हो सकता है तो वहाँ पर करुण विप्रलम्भ होता है। वासवदत्ता के मरण के समाचार से वस्तुतः उदयन का करुण रस है करुणविप्रलम्भ नहीं; क्योंकि पुनः सम्मिलन की आशा उदयन को नहीं है। किन्तु एक तो पाठकों को पुनः सम्मिलन की आशा बनी हुई है जिससे वे उस दुःख को करुण विप्रलम्भ समझकर ही आस्वादित करते है, दूसरे स्वप्नदर्शन इत्यादि घटनाओं से वासवदत्ता के पुनः मिलन की क्षीण आशा उदयन के हृदय मे भी कभी-कभी जागृत होती रहती है। इसीलिये यहाँ पर उदयन के दुःख को करुण विप्रलम्भ कहा गया है करुण रस नहीं।) इस प्रकार वासवदत्ता का बढ़ा-चढ़ा प्रेमबन्धन करुण विप्रलम्भ इत्यादि की अथवा करुण इत्यादि की और विप्रलम्भ इत्यादि की भूमिकाओं को ग्रहण करते हुये समस्त इतिवृत्त मे व्याप्त है। (अङ्गी रस की दूसरी विशेषता यह होती है कि में उसका फल से योग करा दिया जावे।) तापसवत्सराज का फल ही है वासवदत्ता की प्राप्ति। साथ ही मन्त्रियों की नीति की महिमा से राज्य की पुनः प्राप्ति हो जाती है और साथ ही उसमें अङ्गभूत पद्मावती का लाभ भी सम्मिलित है। इस प्रकार वासवदत्ता की प्राप्ति में प्राणों का सञ्चार करनेवाली हैं राज्य की पुनः प्राप्ति और साथ में पद्मावती का लाभ। इन सब फलों में देवी वासवदत्ता की प्राप्ति

## लोचन

महिमोपनतया तदङ्गभूतपद्मावतीलाभानुगतयाऽनुप्राण्यमानरूपा परमाभिलषणीयतमतां प्राप्ता वासवदत्ताधिगतिरेव तत्र फलम्। निर्वहणे हि 'प्राप्ता देवी भूतधात्री च भूयः सम्बन्धोऽभूद्दर्शकेन' इत्येवं देवीलाभप्राधान्यं निर्वाहितम्। इयति चेतिवृत्तवैचित्र्यचित्रे भित्तिस्थानीयो वासवदत्ताप्रेमबन्धः प्रथममन्त्रारम्भात्प्रभृति पद्मावतीविवाहादौ, तस्यैव व्यापारात्। तेन स एव वासवदत्ताविषयः प्रेमबन्धः कथावशादाशङ्क्यमानविच्छेदोऽप्यनुसंहितः। तथा हि प्रथमे तावदङ्के स्फुटं स एवोपनिबद्धः

अङ्गभूत पद्मावती के लाभ से अनुगत राज्य की पुनः प्राप्ति से अनुप्राणित होनेवाली और परम अभिलषणीयता को प्राप्त वासवदत्ता की प्राप्ति ही वहाँ पर फल है। निर्वहण में निस्सन्देह 'प्राणियों की रक्षा करनेवाली देवी पुनः प्राप्त हो गई और दर्शक के साथ सम्बन्ध हो गया' इस प्रकार देवीलाभ के प्राधान्य का निर्वाह कर दिया गया। और इतने इतिवृत्त के वैचित्र्यरूपी चित्र में वासवदत्ता का प्रेमबन्ध भित्तिस्थानीय है क्योंकि प्रथम मन्त्रणा से प्रारम्भ कर पद्मावती के विवाह इत्यादि में उसी की क्रिया (दृष्टिगत होती है।) इससे वही वासवदत्ताविषयक उस प्रेमबन्धन का, जिसके विच्छेद की कथा के कारण आशङ्का हो रही थी, अनुसन्धान कर लिया गया। वह इस प्रकार—पहले अङ्क में तो स्पष्ट रूप में ही उपनिबद्ध किया

## तारावती

ही प्रधान है क्योंकि 'प्राणियों की रक्षा करनेवाली देवी पुनः प्राप्त हो गई और दर्शक से सम्बन्ध हो गया।' इन शब्दों मे निर्वहण मे देवी के लाभ का ही निर्वाह किया गया है। यह इतिवृत्त का वैचित्र्य एक इतना बड़ा (विशाल) चित्र है जिसमें फलक का काम देता है वासवदत्ता का प्रेमबन्ध। क्योंकि जब सर्वप्रथम मन्त्रियों में आपस में मन्त्रणा होती है वहीं से लेकर पद्मावती के विवाह इत्यादि मे उसी वासवदत्ता के प्रेमबन्ध की क्रिया ही (दिखलाई देती है)। जब कथा आगे बढ़ती है और दूसरे इतिवृत्त खण्डों का विस्तार होने लगता है तब ऐसी सम्भावना उत्पन्न हो जाती है वह प्रमुख प्रेमबन्ध विच्छिन्न हो जावेगा। (क्योंकि जब वासवदत्ता गुप्त वास करने लगती है और उदयन उसे मरी हुई समझते हैं उनका पद्मावती से पुनः विवाह हो जाता है तब वासवदत्ता के प्रेम का अवसर ही नहीं रह जाता।) उस विच्छिन्न प्रेमबन्धन का अनुसन्धान कवि बार-बार प्रत्येक अङ्क में करता चलता है जिससे प्रधान कार्य आँखों से सर्वथा तिरोहित न होजावे। वह इस प्रकार समझिये—प्रथम अङ्क में तो वासवदत्ता का प्रेमस्फुट रूप में ही उपनिबद्ध किया गया है। यहाँ पर लोचनकार ने तापसवत्सराज के प्रथम अङ्क के एक श्लोक के प्रथम और अन्तिम चरण लिखे हैं। बालप्रियाकार के अनुसार पूरा पद्य इस प्रकार होगा—

## लोचन

'तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा तद्गोष्ठ्यैव' इत्यादिना 'बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथ वा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवम्' इत्यन्तेन। द्वितीयेऽपि 'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मित-मधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम्' इत्यादिना स एव विच्छिन्नोऽप्यनुसंहितः। तृतीयेऽपि। गया है—'उसके मुखचन्द्र के अवलोकन के द्वारा दिन और उसकी गोष्ठी से ही प्रदोष बिताया' यहाँ से 'क्यों मेरा मन उत्कण्ठा से भरा है अथवा प्रेम असमाप्त उत्सव वाला है' यहाँ तक।

'क्या दृष्टि अमृत की बरसानेवाली नहीं? क्या मुख मुस्कुराहट रूप मधु को प्रवाहित करनेवाला नहीं है?' इत्यादि से उसी विच्छिन्न का अनुसन्धान कर लिया गया। तीसरे में भी—

तारावती

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा,
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे,
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथ वा प्रेमासमाप्तोत्सवम्॥

'मैंने अपने दिन वासवदत्ता के मुख कमल के अवलोकन के द्वारा बिताये हैं, अपने सन्ध्या काल वासवदत्ता से बात-चीत का आनन्द लेते हुये बिताये हैं। वह वासवदत्ता कामवासनाजन्य आनन्दातिरेक में भरकर उत्साह के साथ अपने अङ्ग अर्पित किया करती थी; मैं उन्हीं आनन्दानुभावों में अपनी रात्रियाँ बिताया करता था। (इस प्रकार उसके सहवास में कोई कमी नहीं रह गई और मैं भरपूर आनन्द लेता रहा हूँ। फिर भी) इस समय वह मार्ग में निगाह गड़ाये बैठी होगी और उसको देखने के लिये मेरे इस मन में पूरी उत्कण्ठा भरी हुई है, न जाने यह क्या बात है, अथवा प्रेम का उत्सव तो कभी समाप्त ही नहीं होता। (सम्भवतः उदयन ने ये शब्द मृगया से लौटने के अवसर पर कहे हैं।) द्वितीय में भी राजा वासवदत्ता को याद करते हैं। यहाँ पर भी पद्य का एक ही चरण दिया गया है। बालप्रिया के अनुसार पूरा पद्य इस प्रकार होगा।

'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किम्,
नोर्ध्वार्द्रं हृदयं न चन्दनरसस्पर्शानि चाङ्गानि वा।
कस्मिन् लब्धपदेन ते कृतमिदं क्रूरेण पीताग्निना,
नूनं वज्रमयोऽन्य एव दहनस्तस्येदमाचेष्टितम्॥'

क्या तुम्हारी दृष्टि अमृत बरसानेवाली नहीं थी? क्या तुम्हारा मुख मुस्कराहट रूपी मधु को क्षरित नहीं करता था? क्या तुम्हारे हृदय का ऊपरी भाग आर्द्र नहीं था अथवा क्या तुम्हारे अङ्ग चन्दन रस के जैसे शीतल स्पर्शवाले नहीं थे?

लोचन

सर्वत्र ज्वलितेषु वेश्मसु भयादालीजने विद्रुते,
श्वासोत्कम्पविहस्तया प्रतिपदं देव्या पतन्त्या तथा।
हा नाथेति मुहुः प्रलापपरया दग्धं वराक्या तया,
शान्तेनापि वयं तु तेन दहनेनाद्यापि दह्यामहे॥

इत्यादिना। चतुर्थेऽपि—

देवीस्वीकृतमानसस्य नियतं स्वप्नायमानस्य मे,
तद्गोत्रग्रहणादियं सुवदना यायात्कथं न व्यथाम्।

'सर्वत्र भवनों के प्रज्वलित होने पर भय से सखियों के भागने लगने पर निःश्वास कम्प और घबराहट से भरी हुई और उस प्रकार प्रतिपद गिरती हुई 'हाय नाथ' इन शब्दों के साथ बार-बार प्रलाप में लगी हुई वह बेचारी देवी जल गई। किन्तु शान्त भी उस अग्नि से हम तो आज भी जले जा रहे हैं।'

इत्यादि के द्वारा। चतुर्थ में भी—

'देवी के द्वारा मेरा मन स्वीकार कर लिया गया है (अतः) निश्चितरूप से स्वप्न देखने लगने पर उसके नाम का ग्रहण करने से यह सुमुखी (पद्मावती)

तारावती

(आशय यह है कि तुम्हारे सभी अङ्ग इस प्रकार के थे कि अग्नि उन्हें जला ही नहीं सकती थी। नेत्रों में अमृत भरा था, मुख स्मित का मधु बरसाता था, हृदय आर्द्र था और सारे अङ्ग चन्दनरस से लिपे जैसे थे।) न जाने किस अङ्ग मे पैर जमाकर अग्नि ने यह कर डाला? तुम क्रूर अग्नि के द्वारा पी ही ली गई। निस्सन्देह यह वज्र की बनी हुई कोई दूसरी ही आग होगी जिसका यह कार्य हुआ है। (साधारण आग की इतनी शक्ति ही नहीं थी कि तुम्हारे मधुर अङ्गों को जला सकती।)

फिर तृतीय अङ्क में भी स्मरण करते हैं—

'जिस समय सारे भवन चारों ओर से जलने लगे होंगे और भय के कारण सारी सखियाँ इधर उधर भागने लगी होंगी उस समय वह देवी (वासवदत्ता) घबरा गई होगी, उसकी गहरी श्वासें चलने लगी होंगी, वह काँपने लगी होगी और प्रतिपद गिर रही होगी। 'हाय नाथ!' यह बार बार कहती हुई विलाप कर रही होगी। वह बेचारी इसी प्रकार जल गई होगी। वह आग अब यद्यपि शान्त होगई है किन्तु उस आग से हम आज भी जले जा रहे हैं।'

चतुर्थ अङ्क में पुनः स्मरण करते हैं—

'मेरे मन को देवी ने स्वीकार कर लिया है, यदि मैं सो गया तो निश्चित रूप

लोचन

इत्थं यन्त्रणया कथंकथमपि क्षीणा निशा जाग्रते,
दाक्षिण्योपहतेन सा प्रियतमा स्वप्नेऽपि नासादिता ॥

इत्यादिना । पञ्चमेऽपि समागमप्रत्याशया करुणे विवृत्ते विप्रलम्भेऽङ्कुरिते—

तथाभूते तस्मिन् मुनिवचसि जातागसि मयि,
प्रयत्नान्तर्गूढां रुषमुपगता मे प्रियतमा ।
प्रसीदेति प्रोक्ता न खलु कुपितेत्युक्तिमधुरम्,
समुद्भिन्ना पीतैर्नयनसलिलैः स्थास्यति पुनः ॥

इत्यादिना । षष्ठेऽपि—

क्यों व्यथा को प्राप्त न होगी। इस प्रकार यन्त्रणापूर्वक जैसे-तैसे जागते हुये रात बीत गई। दाक्षिण्य के द्वारा उपहत मैं उस प्रियतमा को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर पाया।'

इत्यादि के द्वारा । पञ्चम मे भी समागम की प्रत्याशा से करुण के निवृत्त हो जाने पर और विप्रलम्भ के अंकुरित होने पर—

'मुनि वचन के उस प्रकार ( सम्पन्न ) हो जाने पर, मेरे अपराध करने पर प्रयत्नपूर्वक अन्दर छिपाये हुये क्रोध को प्राप्त हुई मेरी प्रियतमा 'प्रसन्न हो' यह कही हुई 'मैं निस्सन्देह कुपित नहीं हूँ' यह मधुर उक्ति में कहकर छिपे हुये नयन-जल के साथ पुनः स्थित होगी ( अथवा नेत्रजल के द्वारा प्रकाशित प्रेम वाली स्थित होगी ।' )

इत्यादि के द्वारा । छठे में भी—

तारावती

से मैं देवी वासवदत्ता को स्वप्न मे अवश्य देखूंगा और उसका नाम लेकर बड़-बड़ाने लगूँगा जिससे सुन्दर मुखवाली यह पद्मावती अवश्य व्यथित हो जावेगी, इस प्रकार यन्त्रणा के साथ जागते हुये ही जैसे-तैसे रात बीत गई । मैं दाक्षिण्य के द्वारा ऐसा मारा गया हूँ कि प्रियतमा मुझे स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होती ।'

पञ्चम में भी जब समागम की प्रत्याशा उत्पन्न हो जाती है और करुणरस निवृत्त हो जाता है तथा शुद्ध विप्रलम्भ अंकुरित हो जाता है, तब उदयन कहते है—

'मुनि ने जो कुछ कहा है वह जब उसी रूपमें घटित हो जावेगा (सम्भवतः मुनि ने पुनःसम्मिलन की भविष्यवाणी की होगी । ) अर्थात् जब मुनि के कथनानुसार मेरा वासवदत्ता से पुनः सम्मिलन हो जावेगा तब पुनः यह स्थिति आवेगी कि कि मैं अपराध करूँगा और मेरी प्रियतमा प्रयत्नपूर्वक अपने क्रोध को छिपाये हुये होगी । जब मैं कहूँगा कि 'प्रसन्न हो जाओ' तब वह मधुर स्वर मे कहेगी कि 'मैं कुपित नहीं हूँ' । वह आँसुओ को पी गई होगी तथा उन आँसुओं से भरी हुई होगी और पुनः इस रूपमें स्थित होगी ।' ( कहीं कहीं 'समुद्भिन्नप्रीतिः नयनसलिलैः

## लोचन

'त्वत्सम्प्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः' इत्यादिना।

अलंकृतीनामिति योजनापेक्षया कर्मणि षष्ठी। दृश्यते चेति। यथास्वप्नवासवदत्ताख्ये नाटके—

स्वञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥ इति॥ १४॥

'सचिवों ने तुम्हारी सम्प्राप्ति का लोभ दिखला कर मुझसे प्राण धारण करवाये।' इत्यादि के द्वारा।

'अलंकृतीनाम्' इसमें योजना की दृष्टि से कर्म में षष्ठी हो जाती है 'और देखे जाते हैं' यह। जैसे स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटक में—

'भलीभाँति जड़े हुये पलकरूपी किवाड़ोंवाले नेत्रद्वार को सौन्दर्यरूपी ताडन के द्वारा खोलकर वह राजकुमारी हृदयरूपी घर में प्रविष्ट हो गई' ॥१४॥

## तारावती

यह पाठ भी देखा जाता है। इसका अर्थ है—नेत्रजल से उसका प्रेम प्रकट हो रहा होगा।)

षष्ठ अङ्क में भी राजा ने कहा है—(यहाँ पर भी लोचनकारने केवल प्रथम चरण ही उद्धृत किया है। बालप्रिया के अनुसार पूरा पाठ यह होगा)—

त्वत्सम्प्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः,
तन्मत्वाऽत्यजतः शरीरकमिदं नैवास्ति निस्स्नेहता।
आसन्नोऽवसरस्तवानुगमने जाता धृतिः किन्त्वयम्,
खेदो यच्च तवानुगं न हृदयं तस्मिन् क्षणे दारुणम्॥

तुम्हारी प्राप्ति का लोभ दिखाकर मन्त्रियों ने मेरे प्राण बचाए। उसीको ठीक मान कर मैंने इस तुच्छ शरीर का परित्याग नहीं किया। अतः यह मेरी स्नेहहीनता नहीं कही जा सकती। जब तुम्हारे पीछे जाने का अवसर निकट आया तब मुझे धैर्य उत्पन्न हो गया क्योंकि उस समय मुझे तुम्हारे पुनः मिलने की सम्भावना हो गई थी)। किन्तु खेद की बात यह है कि मेरा यह दारुणहृदय उस समय तुम्हारा अनुगामी नहीं बन गया। (आशय यह है मैं तुम्हारे वियोग में मर नहीं गया यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि मुझे मन्त्रियों से तुम्हारे पुनः सम्मिलन का आश्वासन प्राप्त हो गया था, किन्तु मेरा हृदय आश्वासन मिलने के समय तक रुका रहा, विदीर्ण नहीं हो गया।) इस प्रकार कथाप्रसङ्ग में यद्यपि अङ्गी रस विच्छिन्न हो गया था, किन्तु कवि ने प्रत्येक अङ्क में उसका अनुसन्धान कर लिया है जिससे वह रस पाठकों की दृष्टि से ओझल नहीं होता।

ध्वन्यालोकः

प्रबन्धविशेषस्य नाटकादेः रसव्यक्तिनिमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचिदलंकारनिबन्धने तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते, तदुपदेशार्थमिदमुक्तम्। दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु।

(अनु०) नाटक इत्यादि विशेष प्रकार के प्रबन्ध का रसाभिव्यक्ति में निमित्त यह दूसरा (तत्त्व) समझा जाना चाहिये कि शक्ति होते हुए भी (रस की) अनुरूपता के साथ अलङ्कारों की योजना (की जावे)। समर्थ कवि निस्सन्देह कभी कभी रसबन्धन की परवाह न करके अलङ्कारनिबन्धन के अवसर पर केवल उसी में अपना मन लगाकर तथा तल्लीन होकर प्रबन्ध का प्रारम्भ करता है उसके उपदेश के लिये यह कहा गया है। प्रबन्धकाव्यों में केवल अलङ्कारनिबन्धन में ही आनन्द लेनेवाले तथा रस की अपेक्षा न करनेवाले कवि देखे जाते हैं।

तारावती

अब अलङ्कार योजना को लीजिये। कुछ कवि इतने प्रतिभाशाली तथा कल्पनाशील होते हैं कि उनकी बुद्धि में अलङ्कार स्फुरित होते ही चले जाते हैं। नाटक इत्यादि प्रबन्धों की रसाभिव्यञ्जकता का यह एक अन्य निमित्त है कि कवि अलङ्कारयोजना में कितना ही समर्थ क्यों न हो उसे अलङ्कारयोजना करने में रस की अनुरूपता का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। समर्थ कवि निस्सन्देह कभी कभी अपनी रचना करने मे केवल अलङ्कारयोजना पर ही ध्यान केन्द्रित रखता है और उसी आधार पर प्रबन्ध लिख डालता है तथा रस की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। उनको उपदेश देने के लिये ही यह कहा गया है। (जो कवि स्वयं रस की दृष्टि से ही अलङ्कारों का निबन्धन करते हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं।) ऐसे भी कवि देखे जाते हैं जो अपने प्रबन्धकाव्यों में केवल अलङ्कारयोजना में ही आनन्द लेते हैं और रस की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं। जैसे स्वप्नवासवदत्तम् के इस कथन मे—

'मेरे नेत्ररूपी दरवाजे पर पलकरूपी किवाड़ भली भाँति जड़े हुये थे। वह राजकुमारी सौन्दर्यरूपी ताडन से (उसे खोलकर) मेरे हृदयरूपी घर मे प्रविष्ट हो गई।'

(यह कथन केवल रूपक के व्यसन से ही लिखा गया है। इसमें रसपरिपोष में सहायक केवल इतना अंश है कि 'राजकुमारी मेरे हृदयरूपी घर में नेत्र द्वार से प्रविष्ट हो गई'। शेष अलङ्कार अनावश्यक है। इस दोष से महाकवि भी बचते हुये नहीं दिखलाई देते। हिन्दी के कतिपय मूर्धन्य कवियों ने भी कहीं-कहीं रूपक

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥१५॥

(अनु०) और भी—

'ध्वनि का अनुस्वानोपमात्मक जो उपभेद बतलाया गया है कुछ प्रबन्धों में वह भी इस ( रसध्वनि ) का भासित होता है' ॥१५॥

लोचन

न केवलं प्रबन्धेन साक्षाद्व्यङ्ग्यो रसो यावत्परम्पर्येणापीति दर्शयितुमुपक्रमते—किञ्चेति। अनुस्वानोपमः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च, यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः

प्रबन्ध से केवल साक्षात् रस व्यङ्ग्य नहीं होता अपितु परम्परा के द्वारा भी यह दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं—'किञ्च' यह। अनुस्वानोपम का अर्थ है शब्द-शक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल जो ध्वनि का उपभेद उदाहृत किया गया है वह

तारावती

को अनावश्यक रूप में इतना अधिक बढ़ा दिया है कि वह प्रकृत रस का सहायक न होकर अलङ्कारमात्र रह गया है। माघ, किरात इत्यादि में अलङ्कारों के व्यसन से ही प्रकृत कथा की उपेक्षा कर अप्रकृत पर्वतवर्णन इत्यादि का विस्तार किया गया है। नैषध में भी केवल उक्तिचमत्कार के मन्तव्य से ही कई स्थानों पर अनावश्यक विस्तार दिया गया है। ऐसे प्रबन्ध, रस की उपेक्षा के कारण, प्रशस्त नहीं कहे जा सकते।) ॥ १४ ॥

( ऊपर १४ वीं कारिका तक व्यञ्जकों का परिचय दिया जा चुका। सर्वप्रथम अविवक्षित वाच्य के व्यञ्जक बतलाये गये, फिर विवक्षितान्यपरवाच्य संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के व्यञ्जक बतलाये गये और अन्त में असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रस-ध्वनि के व्यञ्जक वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक बतला दिये गये। अब १५ वीं कारिका में यह बतलाया गया है कि प्रबन्ध भी संलक्ष्यक्रम अनुरणनरूप व्यङ्ग्य का भी व्यञ्जक होता है। इसके बाद १६ वीं कारिका में असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के व्यञ्जक बतलाये गये हैं। यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब १४ वीं कारिका मे रसध्वनि के व्यञ्जक बतलाये गये और १६ वीं कारिका में भी रसध्वनि के व्यञ्जकों का ही निरूपण किया गया फिर १५ वीं कारिका में संलक्ष्यक्रम के व्यञ्जकों का निरूपण करने में क्या तर्क है? अतः इसकी सङ्गति के लिये लोचन-कार ने इस १५ वीं कारिका को भी रसध्वनिविषयक ही माना है और यह दिखलाया है कि १४ वीं कारिका तक प्रत्यक्ष रसव्यञ्जक लिखे गये हैं तथा

ध्वन्यालोकः

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद् द्योतते। तद्यथा मधुमथनविजये

(अनु) इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो अनुरणनरूप व्यङ्ग्य प्रभेद भी दो प्रकार का बतलाया गया है वह भी कुछ प्रबन्धों मे द्योतित होता है। वह

लोचन

सः केषुचित्प्रबन्धेषु निमित्तभूतेषु व्यञ्जकेषु सत्सु व्यङ्ग्यतया स्थितः सन्। अस्येति रसादिध्वनेः प्रकृतस्य भासते व्यञ्जकतयेति शेषः। वृत्तिग्रन्थोऽप्येवमेव योज्यः। अथ वानुस्वानोपमः प्रभेद उदाहृतो यः प्रबन्धेषु भासते अस्यापि 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्' इत्युत्तरश्लोकेन कारिकावृत्त्योः सङ्गतिः।

निमित्तभूत कुछ व्यञ्जक प्रबन्धों के होते हुये व्यङ्ग्यरूप में स्थित। 'इसका' अर्थात् प्रकृत रसध्वनि का व्यञ्जक के रूप मे भासित होता है। यहाँ पर 'व्यञ्जकतया' यह शेष है।

वृत्तिग्रन्थ की योजना भी इसी प्रकार करनी चाहिये। अथवा अनुस्वानोपम जो बतलाया हुआ प्रभेद कुछ प्रबन्धो मे भासित होता है इस का भी 'द्योत्य कहीं-कहीं अलक्ष्य क्रम होता है' इस बाद वाले श्लोक से कारिका और वृत्ति की सङ्गति हो जाती है।

तारावती

१५ वीं और सोलहवीं कारिकाओं में परम्परा के द्वारा व्यञ्जक दिखलाये गये हैं।) प्रबन्ध के द्वारा साक्षात् रसाभिव्यक्ति तो होती ही है परम्परा के द्वारा भी प्रबन्ध रस का अभिव्यञ्जक होता है इसी बात को दिखलाने के लिये आलोककार ने १५ वीं कारिका का उपक्रम दिया है 'किञ्च'। जिसका अर्थ है केवल इतना ही नहीं किन्तु और भी अर्थात् प्रबन्ध साक्षात् ही रस का व्यञ्जक नहीं होता किन्तु परम्परा से भी होता है। इस पक्ष में कारिका का अर्थ इस प्रकार होगा—'अनुस्वानोपम' अर्थात् अनुरणनरूप संलक्ष्यक्रम शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल जो ध्वनि का प्रभेद कहा गया है वह निमित्तभूत व्यञ्जक प्रबन्धों के होते हुये व्यङ्ग्य के रूप मे स्थित होकर 'इस' अर्थात् प्रकृत रसादि ध्वनि के व्यञ्जक के रूप मे शोभित होता है। (इसको इस प्रकार समझिये—'प्रबन्धेषु' मे निमित्तसप्तमी है अर्थात् प्रबन्ध शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनियों की व्यञ्जकता मे निमित्त अर्थात् व्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनियाँ व्यङ्ग्य होती है। वे व्यङ्ग्यध्वनियाँ प्रकृत रसध्वनि की व्यञ्जक भी होती है। इस प्रकार प्रबन्ध से व्यक्त होकर संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्यध्वनियाँ रस को

## लोचन

एतदुक्तं भवति—प्रबन्धेन कदाचिदनुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिः साक्षाद्व्यज्यते स तु रसादिध्वनौ पर्यवस्यतीति । यदि तु स्पष्टमेव व्याख्यायते ग्रन्थस्य, पूर्वोत्तरस्याऽलक्ष्यक्रमविषयस्य मध्ये तदा ग्रन्थोऽयमसङ्गतः स्यात् । नीरसत्वं च पाञ्चजन्योक्त्यादीनामुक्तं स्यादित्यलम् ।

यहाँ पर यह बात कही गई है—प्रबन्ध से कदाचित् अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि साक्षात् व्यक्त होती है, वह तो रस इत्यादि ध्वनियों में पर्यवसित होती है । यदि इसकी स्पष्ट ही व्याख्या की जावे तो अलक्ष्यक्रमविषयक पूर्वोत्तर ग्रन्थ के मध्य में यह ग्रन्थ असङ्गत हो जावेगा और पाञ्चजन्य इत्यादि की उक्तियों का नीरसत्व भी कहा हुआ हो जावेगा ।

## तारावती

ध्वनित करती हैं—यह अर्थ करने मे 'ध्वनेः' और 'अस्य' इन दोनों शब्दों का विशेषणविशेष्यभाव न मानकर पृथक् पृथक् योजना करनी चाहिये और 'व्यङ्ग्यतया स्थितः' तथा 'व्यञ्जकतया' इन शब्दों का अध्याहार कर लेना चाहिये । इस कारिका का अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—'ध्वनेः अनुस्वानोपमात्मा यः प्रभेद उदाहृतः सः केषुचित् प्रबन्धेषु ( अभिव्यञ्जननिमित्तेषु सत्सु ) ( व्यङ्ग्यतया स्थितः अस्य ( प्रकृतस्य रसादिध्वनेः ) व्यञ्जकतया भासते । ) इसी प्रकार वृत्ति ग्रन्थ की भी योजना करनी चाहिये । ( वृत्तिग्रन्थ इस प्रकार है—'इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो अनुरणनरूप व्यङ्ग्य नामक दो प्रकार का प्रभेद कहा गया है वह भी कुछ प्रबन्धों में द्योतित होता है ।' यहाँ 'प्रबन्धों में' को इस प्रकार कर लेना चाहिये—'प्रबन्धों को व्यञ्जक के रूप मे निमित्त मान कर स्वयं व्यङ्ग्य होकर रस के व्यञ्जक के रूप मे शोभित होता है । ) अथवा इस कारिका को अग्रिम कारिका से मिलाकर अर्थ करना चाहिये—अग्रिम कारिका के इन शब्दों को कि 'अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होता है' इस कारिका में लाना चाहिये और अर्थ इस प्रकार करना चाहिये—'इस ध्वनि का जो बतलाया हुआ अनुस्वानोपम प्रभेद प्रबन्धों मे शोभित होता है कहीं उसका भी व्यङ्ग्य अलक्ष्यक्रम हुआ करता है ।' इस प्रकार अग्रिम कारिका से मिलाकर इस कारिका और वृत्ति की सङ्गति बैठानी चाहिये ।

यहाँ पर यह बात कही गई है कि प्रबन्ध से कदाचित् अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि साक्षात् व्यक्त होती है और उसका पर्यवसान रस इत्यादि की ध्वनि मे होता है । यद्यपि यह कारिका का सीधा अर्थ नहीं है, कारिका का सीधा अर्थ है केवल यह बतलाना कि प्रबन्ध से संलक्ष्यक्रम की भी व्यञ्जना होती है, तथापि कारिका

## तारावती

को तोड़कर तथा घुमा-फिरा कर यह अर्थ करना पड़ता है। वस्तुतः यह अर्थ करना सर्वथा अनिवार्य है। क्योंकि यथाश्रुत व्याख्या करने पर यह ग्रन्थ अलक्ष्यक्रम के प्रकरण के मध्य में पड़ जावेगा। पहले भी अलक्ष्यक्रम के व्यञ्जक बतलाये गये हैं और बाद की कारिका में भी वही प्रकरण चलेगा। बीच में संलक्ष्यक्रम का आ जाना असङ्गत हो जावेगा और पाञ्चजन्य इत्यादि की उक्तियों का नीरसत्व सिद्ध हो जावेगा जो कि एक दोष होगा।

[ दीधितिकारने उक्त लोचन का आशय लिखकर अपनी अरुचि प्रदर्शित की है। दीधितिकार का सार यह है—"कुछ लोग 'द्योत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचित्' को लक्ष्यक्रमपरक मानकर पुनरुक्ति की शङ्का करते हैं, पाञ्चजन्य इत्यादि की उक्तियों मे नीरसता आ जाने का दोष बतलाते हैं और अलक्ष्यक्रम के प्रकरण में संलक्ष्यक्रम के आ जाने का दोष भी बतलाते हैं तथा इन दोषों को दूर करने के लिये कारिका को परम्परा से अलक्ष्यक्रमपरक सिद्ध कर देते हैं। यहाँ पर विचार करना यह है कि अग्रिम कारिका में 'अलक्ष्यक्रमः' यही पाठ है, अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं आता। क्योंकि यह कारिका लक्ष्यक्रम के विषय में हैं और अगली कारिका अलक्ष्यक्रम के विषय में। पाञ्चजन्य इत्यादि की उक्तियों में नीरसता भी प्रसक्त नहीं होती। क्योंकि वहाँ पर वस्तुरूप संलक्ष्यक्रम के कथन से रसरूप अलक्ष्यक्रम का प्रतिषेध नहीं हो जाता। प्रकरण की असङ्गति भी नहीं आती। क्योंकि रस प्रबन्धद्योत्य होता है, उसके बाद 'संलक्ष्यक्रम भी प्रबन्धद्योत्य होता है' इस कथन की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, अतः उसका कथन भी प्राकरणिक ही हो जाता है। अतः ग्रन्थ की अन्यथायोजना ठीक नहीं। इसीलिये काव्यप्रकाश में प्रबन्ध की व्यञ्जकता में गृध्रगोमायु संवाद का ही उदाहरण दिया गया है।"

दीधितिकार के उक्त कथन पर यदि विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि लोचन में प्रसक्ति का दोष तो दिया ही नहीं गया है। दीधितिकार ने यह उल्लेख नहीं किया कि पुनरुक्ति की बात किसने कही है। इतना तो स्पष्ट ही है कि लोचन में कहीं भी पुनरुक्ति दोष नहीं बतलाया गया है। रही शेष दो दोषों की बात। उनमें सबसे बड़ी आपत्ति तो लोचन मे यही उठाई गई है कि असंलक्ष्यक्रम के मध्य में यह प्रकरणान्तर कैसे हो गया? इस पर दीधितिकार का उत्तर है कि प्रबन्ध की व्यञ्जकता का प्रकरण है अतः अप्राकरणिक होने का दोष नहीं आ सकता। किन्तु इस तृतीय उद्योत में इस रूप में प्रकरण नहीं चलाये गये है कि शब्द किनका व्यञ्जक होता है, वाक्य किनका व्यञ्जक होता है इत्यादि। अपितु प्रकरण इस प्रकार के हैं कि अविवक्षित वाच्य के व्यञ्जक कौन कौन होते हैं इत्यादि।

लोचन

लीलादाढा शुध्यूद्धासअलमहिमण्डलसश्रिअ अज्ज ।
कीस्मसुणालाहरतुज्जआइ अङ्गम्मि ॥

'लीला से दाढ के अग्रभाग में समस्त महीमण्डल को उठानेवाले तुम्हारे ही अङ्ग में आज मृणाल का आभरण भी क्यों गुरु हो रहा है ?'

तारावती

पहले अविवक्षित वाच्य के व्यञ्जक दिखलाये गये, फिर संलक्ष्यक्रम के और अब असंलक्ष्यक्रम रसध्वनि के व्यञ्जकों का प्रकरण १६ वीं कारिका तक चलता है फिर १५ वीं कारिका बीच में संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के व्यञ्जक बतलाने के लिये क्यों लिखी गई ? यह असङ्गति स्पष्ट है। पाञ्चजन्य इत्यादि की उक्तियों की नीरसता का जो दोष दिया गया है उसमें भी लोचनकार का आशय यही है कि वस्तुतः वहाँ पर भी रस विद्यमान होता ही है, अतः वहाँ पर व्यङ्ग्य वस्तु को रस का व्यञ्जक मान लेने से प्रकरण की असङ्गति जाती रहती है। अतः यहाँ पर लोचनकार की व्याख्या ही ठीक है कि १४ वीं कारिका तक रस के उन व्यञ्जकों का उल्लेख किया गया जो रस को साक्षात् स्वतः व्यक्त कर देते हैं। अब १५ वीं और १६ वीं कारिका में ऐसे व्यञ्जक दिखलाये जा रहे हैं जो स्वयं वस्तु की व्यञ्जना करते हैं और वह व्यक्त हुई वस्तु रस की व्यञ्जक होती है। इस प्रकार ये तत्त्व साक्षात् नहीं अपितु परम्परा से रस के व्यञ्जक होते हैं। इनमें सुप् तिङ् वचन इत्यादि अनेक तत्त्व आ जाते हैं। किन्तु पहले प्रबन्ध की व्यञ्जकता का निरूपण इसलिए किया गया है कि साक्षात् रसव्यञ्जकों में अन्त में प्रबन्ध की व्यञ्जकता ही आई थी। अतः इस प्रकरण के उसी प्रबन्ध से प्रारम्भ करने में पूर्वापर की सङ्गति बैठ जाती है।]

प्रबन्ध की परम्परा से आलोककार ने रसव्यञ्जकता के तीन उदाहरण दिये हैं—(१) मधुमथनविजय नामक काव्य में पाञ्चजन्य की उक्तियों में। (यहाँ पर लोचन में मधुमथनविजय का एक पद्य उद्धृत किया गया है जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

लीलांदंष्ट्राग्रोद्धृतसकलमहीमण्डलस्यैवाद्य ।
कस्मान्मृणालाभरणमपि तव गुरु भवत्यङ्गे ॥)

मधुमथनविजय के प्रस्तुत पद्य का अर्थ यह है कि हे भगवान् आप ने (वाराहावतार में) खेल खेल में ही अपनी दाढ़ की नोक पर समस्त पृथ्वीमण्डल को धारण कर लिया। न जाने क्यों उन्हीं आप के लिये आज मृणाल का आभूषण भी भारी हो रहा है ?'

ध्वन्यालोकः

पाञ्चजन्योक्तिषु । यथा वा ममैव कामदेवस्य सहचरसमागमे विषमबाण-लीलायाम् ।

जैसे—मधुमथनविजय मे पाञ्चजन्य की उक्तियों मे; अथवा मेरी ही विषमबाण-लीला मे कामदेव का सहचर से समागम होने पर ।

लोचन

इत्यादयः पाञ्चजन्योक्तयो रुक्मिणीविप्रलब्धवासुदेवाशयप्रतिभेदनाभिप्रायमभि-व्यञ्जयन्ति । सोऽभिव्यक्तः प्रकृतरसस्वरूपपर्यवसायी ।

सहचराः वसन्तयौवनमलयानिलादयस्तैः सह समागमे ।

मिअवहण्डिअरोरोणिरङ्कुसो अविवेअरहिओ वि ।
सविण वि तुमम्मि पुणोवन्ति अ अतन्ति पंमुसिम्मि ॥

इत्यादि पाञ्चजन्य की उक्तियाँ रुक्मिणी के द्वारा विप्रलब्ध भगवान् वासुदेव के आशय के प्रतिभेदनरूप अभिप्राय को अभिव्यक्त करती हैं । वह अभिव्यक्त हो कर प्रकृत रस के स्वरूप मे पर्यवसित होता है ।

सहचर है वसन्त यौवन मलयानिल इत्यादि । उनके साथ समागम मे ।

'मैं मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाला, निरङ्कुश और विवेकरहित हो जाता हूँ। किन्तु तुम्हारी भक्ति को स्वप्न मे भी स्मरण नहीं करता हूँ ।'

तारावती

इस प्रबन्धगत पद्य से व्यक्त होता है कि भगवान् कृष्ण रुक्मिणी के वियोगी हैं उनकी रुक्मिणी को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा है । उसी अभिलाषा को यह वक्ता प्रकट कर रहा है । यह अभिव्यक्त वस्तु है जो कि प्रकरणगत विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जिका हो गई है ।

( २ ) दूसरा उदाहरण आनन्दवर्धन की लिखी हुई विषमबाणलीला से दिया गया है । इसमे कामदेव का अपने वसन्त, यौवन, मलयानिल इत्यादि सहचरों से मिलना दिखलाया गया है । यौवन की उक्ति यहाँ पर उद्धृत की गई है । इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

( भवाम्यपहस्ततरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि तव पुनर्भक्तिं न प्रस्मरामि ॥ )

'मैं मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाला हो जाता हूँ, निरंकुश हो जाता हूँ और विवेकरहित भी हो जाता हूँ। और फिर स्वप्न में भी तुम्हारी ( कामदेव की ) भक्ति को विस्मृत नहीं करता हूँ ।'

ध्वन्यालोकः

यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते ।

और जैसे महाभारत में गृध्रगोमायुसंवाद इत्यादि में ।

लोचन

इत्यादयो यौवनस्योक्तयस्तत्तन्निजस्वभावव्यञ्जिकाः, स स्वभावः प्रकृतरसपर्यवसायी ।

यथा चेति । श्मशानावतीर्णं पुत्रदाहार्थमुद्योगिनं जनं विप्रलब्धुं गृध्रो दिवा शवशरीरभक्षणार्थी शीघ्रमेवापसरत यूयमित्याह ।

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥

इत्याद्यवोचत् ।

इत्यादि यौवन की उक्तियाँ अपने भिन्न-भिन्न स्वभावों की व्यञ्जना करनेवाली हैं । उस स्वभाव का पर्यवसान प्रकृत रस मे होता है ।

'और जैसे' यह । श्मशान में आये हुये पुत्रदाह के लिये उद्योग करनेवाले व्यक्ति को ठगने के लिये दिन मे शवशरीर के भक्षण करने की इच्छावाला गृध्र 'आप लोग शीघ्र चले जावें' यह कहता है ।

'गृध्र और शृगालों ( आदि ) से घिरे हुये कङ्कालों से घने, घोर और सब प्राणियों को भय देनेवाले इस श्मशान में स्थित होने की आवश्यकता नहीं है । कालधर्म ( मरण ) को प्राप्त हुआ कोई भी चाहे वह प्रिय हो या द्वेष्य यहाँ जीवित नहीं हुआ । प्राणियों की गति ही ऐसी है ।'

इत्यादि कहा ।

तारावती

यहाँ पर यौवन की इन उक्तियों से यौवन के विभिन्न स्वभावों की अभिव्यञ्जना होती है जैसे यौवन के उत्कट होने पर लोकमर्यादा का सर्वथा प्रत्याख्यान कर कामदेव का ही अनुसरण किया जाता है । इत्यादि । ( यह स्वभावव्यञ्जना वस्तुध्वनि कही जा सकती है । ) इसका पर्यवसान प्रकृत शृङ्गार रस मे होता है ।

( ३ ) तीसरा उदाहरण महाभारत से दिया गया है । ( यह उदाहरण काव्यप्रकाश में प्रबन्ध से वस्तुव्यञ्जना के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया गया है । यहाँ पर भी प्रबन्ध से रसपर्यवसायी वस्तुव्यञ्जना ही दिखलाई गई है । महाभारत

## लोचन

गोमायुस्तु निशोदयावधि अमी तिष्ठन्तु, ततो गृध्रादपहृत्याहं भक्षयिष्यामीत्यभिप्रायेणावोचत्—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
असुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं बालास्त्यक्ष्यध्वमविशङ्किताः ॥

इत्यादि । स चाभिप्रायो व्यक्तः शान्तरस एव परिनिष्ठिततां प्राप्तः ॥ १५ ॥

शृगाल ने तो 'ये निशा के उदयपर्यन्त स्थित रहें, तब गृध्र से छीनकर मैं खा लूँगा' इस अभिप्राय से कहा—

'हे मूर्खों ! यह सूर्य स्थित है, इस समय स्नेह कर लो । यह मुहूर्त बहुत विघ्नों वाला है, सम्भवतः जी भी जावे । सोने के समान वर्णवाले, यौवन को न प्राप्त हुये इस बालक को हे बचपन करनेवालो ! गृध्र के कहने से ही शङ्कारहित हो कर कैसे छोड़ दोगे ?'

इत्यादि । और यह व्यक्त अभिप्राय शान्त रस में ही पूर्ण स्थिरता को प्राप्त हुआ है ॥ १५ ॥

## तारावती

मे शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्मपर्व मे गृध्र और गोमायु का संवाद आया है ।) कुछ नागरिक एक नदी में एक मृत बालक के शव का विसर्जन करने आये हैं । ( लोचन में 'जलाने आये हैं' यह लिखा है। यह ठीक नहीं है। एक तो छोटे बालकों के शव जलाये नहीं जाते दूसरे जला देने पर गृध्र या गोमायु को खाने की आशा ही क्या रह जावेगी ? अतः विसर्जन करने आये हैं यही अर्थ करना चाहिये । ) वे मोह के कारण उस बालक को जल्दी छोड़ नहीं रहे हैं । उनको देखकर एक गृध्र कह रहा है—

'इस श्मशान में गृध्र जैसे मांसाहारी भयानक पक्षी और सियार जैसे भयानक मांसाहारी पशु मरे पड़े है । चारों ओर हड्डियों के कंकाल बहुतायत से दिखलाई पड़ रहे हैं । यह स्थान बड़ा ही घोर और सब प्राणियों को भय देने वाला है । यहाँ तुम्हारा रहना अच्छा नहीं । संसार की गति ही ऐसी है । यहाँ जो कोई भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है चाहे वह कितना ही प्यारा अथवा कैसा ही द्वेष्य हो कभी भी पुनः जीवित नहीं हो सकता यह तो सभी प्राणियों की गति है । इसलिये कभी मोह में पड़कर अधिक शोक नहीं करना चाहिये । अतएव तुम भी संसार की इसी दशा को देखते हुए मोह छोड़कर लौट जाओ ।'

## तारावती

इस प्रबन्ध में वर्ण्य विषय एकवस्तु है और उससे एक दूसरी वस्तु ध्वनित होती है कि गृध्र यह प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार ये लोग बालक के शव को छोड़कर जल्दी ही घर को लौट जायें तो मैं इसे खा लूँ। यदि मोह और शोक में कहीं इन लोगों को काफी देर हो गई और सूर्य अस्त हो गया तो मैं इस बालक को न खा सकूंगा क्योंकि मेरी गति दिन में ही है; अतः रात होजाने पर यह शव मेरे हाथ से निकल जायेगा। इसी लिये वह उन सब व्यक्तियों को जल्दी ही घर लौट जाने की सम्मति दे रहा है।

(इसको सुन कर वे सब लोग लौटने के लिये उद्यत हो जाते हैं) तब सियार उनसे कहता है—

'तुम लोग तो हमें बड़े ही मूर्ख मालूम पड़ रहा हो। अभी तो यह सूर्य स्थित हैं (जब इतना दिन शेष है तब हिंसक वन्य पशुओं का भय ही क्या?) एक बात और है—यह समय बहुत अधिक विघ्नों से भरा हुआ है। (यह समय ऐसा है जबकि बहुत से राक्षस भूत प्रेत पिशाच इत्यादि मारे मारे फिरते हैं। सम्भव है कि किसी राक्षस इत्यादि के आवेश के कारण इसकी मृत्यु हुई हो। यदि यह बात हो तो) यह भी सम्भव है कि इस अवसर के टल जाने के बाद (राक्षस इत्यादि की बाधा के शान्त हो जाने पर) यह जी ही उठे। देखो इस बालक का रंग कैसा सोने के समान चमचमा रहा है। (अभी इसका वर्ण बिलकुल नहीं बिगड़ा है और न इसके अन्दर कोई मृत्यु का चिह्न मालूम पड़ रहा है।) यह अभी बालक ही तो है! अभी इसकी जवानी भी तो नहीं आई है, कैसा सुन्दर बालक है! तुम लोग तो मुझे बिल्कुल मूर्खमालूम पड़ रहे हो जो केवल गृध्र के कहने से ही ऐसे सुन्दर बालक को छोड़ कर चले जाना चाहते हो। और तुम्हें इसके छोड़ने से बिल्कुल शङ्का नहीं हो रही है।'

यह गोमायु का कथन भी एक वस्तु है। इससे एक दूसरी वस्तु ध्वनित होती है कि—सियार दिन में तो उस बालक का मांस खा नहीं सकता क्योंकि उसे पड़ोस में ही स्थित गृध्र से भय है। वह यह चाहता है कि "यदि कहीं सूर्यास्त पर्यन्त शव के सम्बन्धी लोग रुक जावें तो रात हो जाने पर गृध्र को दिखाई ही न पड़ेगा और उस शव 'मांस को खाने की गृध्र की कुछ भी शक्ति न रह जावेगी। तब मैं स्वच्छन्दतापूर्वक उसका मांस खा सकूंगा।' इसलिए वह उन मनुष्यों को श्मशान से लौटने से रोक रहा है और उनसे बालक के सौन्दर्य की प्रशंसा कर तथा उसके पुनः जीवित होने की सम्भावना प्रकट कर यही प्रयत्न कर रहा है कि वे इतने समय तक रुके रहें कि सूर्य अस्त हो जावे।"

ध्वन्यालोकः

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धित समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥१६॥

(अनु०) सुप्तिङ्वचन, सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित और समास से कहीं अलक्ष्यक्रम द्योत्य होता है ॥१६॥

## लोचन

एवमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य रसादिध्वनेर्यद्यपि वर्णेभ्यः प्रभृति प्रबन्धपर्यन्ते व्यञ्जकवर्गे निरूपिते न निरूपणीयान्तरमवशिष्यते तथापि, कविसहृदयानां शिक्षां दातुं पुनरपि सूक्ष्मदृशान्वयव्यतिरेकावाश्रित्य व्यञ्जकवर्गमाह—सुप्तिङ्डित्यादि। वयं त्वित्थमेतदनन्तरं सवृत्तिकं वाक्यं बुध्यामहे। सुवादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्रभिप्रायादिरूपः अस्यापि सुवादिभिर्व्यक्तस्यानुस्वानोपमस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो द्योत्यः। क्वचिदिति। पूर्वकारिकया सह सम्मील्य सङ्गतिरिति। सर्वत्र हि सुबादीनामभिप्रायविशेषाभिव्यञ्जकत्वमेव। उदाहरणे स त्वभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्वं विभावादिरूपताद्वारेण रसादीन् व्यनक्ति।

इस प्रकार अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रस इत्यादि की ध्वनि के यद्यपि वर्णों से लेकर प्रबन्धपर्यन्त व्यञ्जकवर्ग के निरूपित कर दिये जाने पर अन्य कुछ निरूपण करने योग्य शेष नहीं रह जाता है तथापि कवि और सहृदयों को शिक्षा देने के लिये फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वयव्यतिरेक का आश्रय लेकर व्यञ्जकवर्ग को कहते है—'सुप् तिङ्' इत्यादि। हम तो इस के बाद इस प्रकार सवृत्तिक वाक्य को समझते हैं। 'सुप् इत्यादि के साथ जो अनुस्वानोपम ( ध्वनि ) वक्ता की अभिप्रायरूप भासित होती है व्यक्त अनुस्वानोपम इस ध्वनि का भी अलक्ष्यक्रम द्योत्य होता है।' 'कहीं' यह। पूर्व कारिका से मिलाकर सङ्गति होती है। सुप् इत्यादि का सर्वत्र अभिप्राय विशेष व्यञ्जकत्व ही होता है। उदाहरण में वह अभिव्यक्त अभिप्राय अपनी शक्ति के अनुसार विभाव इत्यादि की रूपता के द्वारा रस इत्यादि को व्यक्त रकता है।

## तारावती

यह अभिप्राय व्यक्त होकर शान्त रस मे ही परिपूर्णता को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रबन्ध वस्तु की व्यञ्जना के द्वारा रस का व्यञ्जक हो जाता है॥ १५॥

प्रस्तुत ग्रन्थ के उपक्रम मे ध्वनि का स्वरूप बतलाने की प्रतिज्ञा की थी। प्रथम उद्योत मे विप्रतिपत्तियाँ, उनपर विचार और ध्वनि का सामान्य स्वरूप बतला दिया गया। द्वितीय उद्योत मे व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनि के स्वरूप पर विचार किया गया। तृतीय उद्योत मे अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्यपरवाच्य, अनुरणनरूप तथा असल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य इन सभी के व्यञ्जकों का निरूपण कर दिया गया और यह

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुब्विशेषैस्तिङ्विशेषैर्वचनविशेषैः सम्बन्धविशेषैः कारकशक्तिभिः कृद्विशेषैस्तद्धितविशेषैः समासैश्चेति । चशब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते ।

ध्वनि की आत्मा अलक्ष्यक्रम रस इत्यादि सुप् की विशेषताओं से, तिङ् की विशेषताओं से, वचन की विशेषताओं से, कारकशक्तियों से, कृत्प्रत्यय की विशेषताओं से, तद्धित की विशेषताओं से और समासों से ( व्यक्त होता है । ) 'च' शब्द से प्रयोग किये हुये निपात, उपसर्ग और काल इत्यादि से अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है ।

लोचन

एतदुक्तं भवति—वर्णादिभिः प्रबन्धान्तैः साक्षाद्वा रसोऽभिव्यज्यते विभावादिप्रतिपादनद्वारेण यदि वा विभावादिव्यञ्जनद्वारेण परम्परयेति तत्र बन्धस्यैतत्परम्परया व्यञ्जकत्वं प्रसङ्गादादावुक्तम् । अधुना तु वर्णपदादीनामुच्यते इति । तेन वृत्तावपि 'अभिव्यज्यमानो दृश्यते' इति । व्यञ्जकत्वं दृश्यत इत्यादौ च वाक्यशेषोऽध्याहार्यः विभावादिव्यञ्जनद्वारतया पारम्पर्येणेत्येवंरूपः ।

यहाँ यह कहा गया है—वर्ण आदि से प्रबन्धपर्यन्त के द्वारा विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के माध्यम से या तो साक्षात् रस अभिव्यक्त होता है या विभाव इत्यादि की व्यञ्जना के द्वारा परम्परा से । उसमे प्रबन्ध का रस की परम्परा से व्यञ्जकत्व प्रसंगवश पहले कह दिया गया । इस समय तो वर्ण इत्यादि का कहा जा रहा है । इससे वृत्ति मे भी 'अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है' 'व्यञ्जकत्व देखा जाता है' इत्यादि मे 'विभाव इत्यादि के व्यञ्जन के माध्यम के रूप में परम्परा से' इस प्रकार के वाक्यशेष का अध्याहार कर लेना चाहिये ।

तारावती

बतला दिया गया कि वर्णों से लेकर प्रबन्धपर्यन्त विभिन्न तत्त्व किस प्रकार असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादिध्वनि के व्यञ्जक होते हैं । इस प्रकार अब कुछ निरूपण करने योग्य नहीं रह गया तथापि कवियों और सहृदयों को शिक्षा देने के लिये व्यञ्जक वर्गों पर पुन सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जा रहा है जिसमे अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया जावेगा । अर्थात् कोई विशेष तत्त्व किस प्रकार व्यञ्जक होता है और किस प्रकार व्यञ्जक नहीं होता—इसी आशय से यह १६वीं कारिका लिखी गई है। इसका आशय यह है कि ध्वनि का आत्मा अलक्ष्यक्रम रस इत्यादि की अभिव्यक्ति कहीं-कहीं सुप् अर्थात् शब्दविभक्तियों तिङ् अर्थात् क्रियाविभक्तियों, वचन की विशेषताओं, सम्बन्ध

## तारावती

की विशेषताओं कारकशक्तियों, कप्रत्ययों, तद्धितप्रत्ययों और समासगत विशेषताओं के द्वारा भी होती है। कारिका में 'च' शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है कि विशेष रूप मे प्रयोग किये जाने पर निपात, उपसर्ग और काल इत्यादि के द्वारा भी अलक्ष्यक्रम की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ पर लोचनकार ने कहा कि हम तो इसके बाद वृत्ति के सहित वाक्य को समझते हैं। इसका आशय यह है कि पिछली कारिका में इस कारिका को जोडकर अर्थ करना चाहिये। पिछली कारिका की क्रिया 'भासते' के सुप् इत्यादि तृतीयान्त करण हैं और उस कारिका के 'अस्य ध्वनेः' इस शब्द का 'द्योत्यः' इस शब्द से सम्बन्ध हो जाता है इस प्रकार दोनों कारिकाओं का मिलाकर यह अर्थ होगा--कहा हुआ अनुस्वानोपमात्मक जो प्रभेद कुछ प्रबन्धों मे तथा कहीं-कहीं सुप् इत्यादि के द्वारा भासित होता है इस ध्वनि का द्योत्य अलक्ष्यक्रम होता है। जहाँ तक इस इस कारिका का सम्बन्ध है इसका आशय यही है सुप् इत्यादि के द्वारा जो अनुस्वानोपम ध्वनि भासित होती है और जो वक्ता के अभिप्राय इत्यादि के रूप में होती है सुप् इत्यादि के द्वारा अभिव्यक्त अनुरवारोपम इस ध्वनि का भी अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य द्योत्य होता है। आशय यह है कि सर्वत्र सुप् इत्यादि विशेष अभिप्राय के ही व्यञ्जक होते हैं। किन्तु प्रस्तुत कारिका के उदाहरण के क्षेत्र मे वे स्थल आते हैं जहाँ विशेष प्रकार का अभिप्राय व्यक्त होकर अपनी सत्ता प्रकरण और आवश्यकता के अनुसार पहले विभाव इत्यादि रूपता को प्राप्त होता है। और फिर उसी विभावादि रूपता के द्वारा रस इत्यादि को व्यक्त करता है।

उक्त विवेचन का आशय यह है कि वर्ण इत्यादि से लेकर प्रबन्धपर्यन्त दूसरी अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है--कहीं तो विभाव इत्यादि का प्रतिपादक साक्षात् अभिधावृत्ति से ही होता है और वह विभावादिसंयोग रस को अभिव्यक्त करता है तथा कहीं वर्ण इत्यादि निमित्त व्यञ्जकों से विभाव इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है और अभिव्यक्त होकर विभाव इत्यादि रस को अभिव्यक्त करते है। प्रथम प्रकार की रसाभिव्यक्ति का विवेचन पहले किया जा चुका कि किस प्रकार वर्ण इत्यादि से साक्षात्-रस की अभिव्यक्त होती है। उस प्रकरण के अन्त में प्रबन्ध से रसाभिव्यञ्जकता का विवेचन किया गया था। अतः प्रकरण की समरसता बनायी रखने के लिये परम्परा से रसाभिव्यक्ति प्रकरण मे पहले प्रबन्ध की ही अभिव्यञ्जकता दिखलाई गई। अब वर्ण और पद इत्यादि की परम्परा से रसव्यञ्जकता दिखलाई जा रही है। अतः वृत्ति मे भी जहाँ पर यह आया है कि 'अभिव्यक्त होते हुये देखा जाता है' वहाँ पर 'विभाव इत्यादि की अभिव्यञ्जना के द्वारा' यह

ध्वन्यालोकः

यथा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

(अनु०) जैसे—

'निस्सन्देह यही धिक्कार है कि मेरे शत्रु, उनमें भी यह तापस, वह भी यहीं राक्षस कुल को मारता है, आश्चर्य है कि रावण जीवित है। इन्द्रजित (मेघनाद) को धिक्कार है, प्रबोध को प्राप्त होनेवाले कुम्भकर्ण से भी क्या? स्वर्गरूपी छोटे से ग्राम को नष्ट करने में वृथा फूली हुई इन भुजाओं से भी क्या?'

लोचन

'ममारय' इति। मम शत्रुसद्भावो नोचित इति सम्बन्धानौचित्यं क्रोधविभावं व्यनक्ति अरय इति बहुवचनम्। तपो विद्यते यस्येति पौरुषकथाहीनत्वं तद्धितेन मत्वर्थीयेनाभिव्यक्तम्। तत्रापिशब्देन निपातसमुदायेनात्यन्तासम्भावनीयत्वम्। सत्कर्तृका यदि जीवनक्रिया तदा हननक्रिया तावदनुचिता। तस्यां च स कर्ता अपिशब्देन मनुष्यमात्रकम्। अत्रैवेति। मदधिष्ठितो देशोऽधिकरणम्, निःशेषेण हन्यमानताया राक्षस-

'मेरे शत्रु' यह। मेरे शत्रुओं का होना उचित नहीं है यह सम्बन्ध का अनौचित्य क्रोध के विभाव को अभिव्यक्त करता है 'अरयः' यह बहुवचन। 'तप विद्यमान है जिसका' यह पौरुष की बात-चीत का न होना मत्वर्थीय तद्धित से व्यक्त हुआ।

'तत्रापि' (उसमें भी) इस निपातसमुदाय से अत्यन्त असम्भवता (प्रकट होती है।) यदि मेरी की हुई जीवन क्रिया तो हनन की क्रिया तो अनुचित है। उसमें भी वह कर्ता है—'भी' शब्द से केवल तुच्छ मनुष्य की (अभिव्यक्त होती है) 'यही पर' यह।

तारावती

जोड़ देना चाहिये और जहाँ पर यह आया है कि 'व्यञ्जकत्व देखा जाता है' वहाँ पर 'परम्परा के द्वारा' इस वाक्यशेष का अध्याहार कर लेना चाहिये।

सुप् इत्यादि की व्यञ्जकता का उदाहरण हनुमान्नाटक के १४ वें अङ्क से लिया गया है। रामरावणयुद्ध चल रहा है। रावण वीर दर्प में उन्मत्त है। किन्तु राम के शौर्य को देखकर कह रहा है—

'यही तिरस्कार है कि मेरे शत्रु हों, उसमें भी यह तापस? वह भी यहीं पर राक्षस कुल को मार रहा है, आश्चर्य है कि रावण जीवित है। इन्द्र को जीतनेवाले

ध्वन्यालोकः

अत्र हि श्लोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते। तत्र 'मे यदरय' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामभिव्यञ्जकत्वम्। 'तत्राप्यसौ तापस' इत्यत्र तद्धितनिपातयोः। 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र तिङ्कारकशक्तीनाम्। 'धिक् धिक् शक्रजितम्' इत्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासो-

निस्सन्देह इस श्लोक मे अधिकता से इन सभी का स्फुट व्यञ्जकत्व दिखलाई देता है। उसमे 'मेरे शत्रु' इससे सुप् सम्बन्ध और वचन की अभिव्यञ्जकता है। 'उसमें भी यह तापस' इसमे तद्धित और निपात की। 'वह भी यहीं राक्षस कुल को मारता है, आश्चर्य है कि फिर भी रावण जीवित है' यहाँ तिङ् और कारक की शक्तियों की (व्यञ्जकता है।) 'इन्द्रजित को धिक्कार धिक्कार' इत्यादि आधे श्लोक में कृत्प्रत्यय तद्धित प्रत्यय समास और उपसर्गों की (व्यञ्जकता है।) व्यञ्जकों की

लोचन

बलं च कर्मेति तदिदमसम्भाव्यमानमुपनतमिति पुरुषकारासम्पत्तिर्ध्वन्यते तिङ्कारक-शक्तिप्रतिपादकैश्च शब्दैः। रावण इति त्वर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वं पूर्वमेव व्याख्या-तम्। धिग्धिगिति निपातस्य शक्रं जितवानित्याख्यायिकेयमिति। उपपदसमासेन सहकृतः स्वर्गेत्यादिसमासस्य स्वपौरुषानुस्मरणं प्रति व्यञ्जकत्वम्। ग्रामटिकेति स्वार्थिकतद्धितप्रयोगस्य स्त्रीप्रत्ययसहितस्यावहुमानास्पदत्वं प्रति, विलुण्ठनशब्दे

मेरे द्वारा अधिष्ठित देश परिपूर्णरूप से मारे जाने का अधिकरण है। और 'राक्षस-बल' यह कर्म है इस प्रकार यह असम्भव बात प्राप्त हुई है इस प्रकार 'तिङ्' तथा कारकशक्ति प्रतिपादक शब्दों से पुरुषार्थ की असम्पत्ति ध्वनित होती है। 'रावण' इस अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यत्व की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। 'धिक् धिक्' इस निपात की (व्यञ्जकत्व) 'इन्द्र को जीत लिया' यह आख्यायिका ही है, उपपद समास से सहकृत स्वर्ग इत्यादि समास का स्वपौरुषानुसरण के प्रति व्यञ्जकता है। स्त्रीप्रत्यय के सहित 'ग्रामटिका' इस स्वार्थिक तद्धित प्रयोग की अवहुमाना-

तारावती

(मेघनाद) को धिक्कार है धिक्कार है, प्रबोध को प्राप्त होनेवाले कुम्भकर्ण से भी क्या? अथवा स्वर्ग जैसे तुच्छगाँव को नष्ट करने में वृथा फूली हुई इन भुजाओं से भी क्या।'

इस श्लोक मे इन सभी का बहुत अधिक मात्रा में स्पष्ट ही व्यञ्जकत्व देखा जाता है। वह इस प्रकार—'मेरे शत्रु हो' मे विभक्ति, सम्बन्ध और वचन अभि-व्यञ्जक है। 'मेरे' एकवचनवाचक विभक्ति की व्यञ्जना है कि मैं जगत् का एक वीर हूँ, विश्व विजय के लिये मुझे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। 'मेरे' भी शत्रु

ध्वन्यालोकः

पसगार्णाम्। एवंविधस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति। यत्र हि व्यङ्ग्यावभासिनः पदस्यैकस्येव तादृशि-र्भावस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया, किमुत यत्र तेऽनां बहूनां समवायः। यथात्रानन्तरोदितश्लोके। अत्र हि रावण इत्यस्मिन् पदेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्येन ध्वनिप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनरनन्तरोक्तानां व्यञ्जकप्रकाराणामुद्भासनम्। दृश्यन्ते च महात्मनां प्रतिभाविशेषभाजां बाहुल्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः।

अधिकता के सङ्घटित किये जाने पर इस प्रकार के काव्य की बन्धन की छाया सब को अतिक्रमण करनेवाली ( होकर ) प्रकट होती है। निस्सन्देह जहाँ व्यङ्ग्य को अवभासित करनेवाले एक ही पद का आविर्भाव हो वहाँ पर भी काव्य मे कोई अपूर्व बन्ध की छाया होती है, उसका तो कहना ही क्या जहाँ उन बहुतों का समूह हो। जैसा कि यहाँ अभी उदाहरण दिये श्लोक में। यहाँ निस्सन्देह 'रावण' इस पद में ध्वनि के अवान्तर भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के द्वारा अलंकृत होने पर भी पुनः अभी कहे हुये व्यञ्जकप्रकारों का भी उद्भासन होता है। विशेष प्रतिभा को प्राप्त करनेवाले महात्माओ के इस प्रकार के बन्धनप्रकार बहुत अधिक देखे जाते हैं।

लोचन

विशब्दस्य निर्दयावस्कन्दनं प्रति व्यञ्जकत्वम्। वृथाशब्दस्य निपातस्य स्वात्मपौरुष-निन्दां प्रति व्यञ्जकता। भुजैरिति बहुवचनेन प्रत्युत भारमात्रमेतदिति व्यज्यते। तेन तिलशस्तिलशोऽपि विभज्यमानेऽत्र श्लोके सर्वे एवांशो व्यञ्जकत्वेन भातीति किम-न्यत्। एतदर्थप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति—एवमिति। एकस्य पदस्येति यदुक्तं तदु-दाहरति—यथात्रेति।

स्पदत्व के प्रति व्यञ्जकता है। 'विलुण्ठन' शब्द मे 'वि' शब्द की निर्दयतापूर्वक विनष्ट करने के प्रति व्यञ्जकता है। निपात 'वृथा' शब्द की आत्मपौरुष निन्दा के प्रति व्यञ्जकता है। 'भुजाओं से' मे बहुवचन के द्वारा व्यक्त होता है कि प्रत्युत ये भारमात्र ही है। इससे तिल तिल करके इस श्लोक के विभक्त करने पर सभी अंश व्यञ्जकत्व के रूप मे शोभित होते है। अधिक कहने से क्या ? इस अर्थ के

तारावती

बने रहे यह अद्भुत भी है और अनुचित भी। 'मेरे' मे सम्बन्ध कारक है, इसका व्यङ्ग्यार्थ यह है कि मेरा कोई भी शत्रु विद्यमान रहे जिससे मेरा वध्य और घातक भाव का सम्बन्ध हो ऐसा सम्भव ही नहीं है क्योंकि मुझसे शत्रुता करके भी कोई जीवित बचा ही नहीं। 'शत्रु हो' में बहुवचन का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि मेरे एक

भी शत्रु का रह सकना आश्चर्यजनक है फिर बहुत से शत्रुओं का तो कहना ही क्या ? इस प्रकार विभक्तिसम्बन्ध और वचनसम्बन्ध के अनौचित्य की व्यञ्जना करते हुये क्रोध के विभाव को व्यक्त करते हैं। 'उसमें भी यह तापस' यहाँ पर तद्धित और निपात व्यञ्जक हैं। 'तापस' में तद्धित अण् प्रत्यय और 'अपि' ( भी ) यह निपात है। तापस में अण् मत्वर्थीय है, अतः इसका अर्थ है कि तप जिसके अन्दर विद्यमान हो। इससे व्यञ्जना निकलती है कि ऐसे शत्रु जिनके पौरुष की बातचीत भी सम्भव न हो। मैं यदि जीवित हूँ तो शत्रुओं द्वारा मेरे वर्ग का संहार अनुचित है और उस संहार का कर्ता भी वह। यहाँ 'भी' शब्द की व्यञ्जना है केवल 'तुच्छ मनुष्य'। 'वह यहीं पर राक्षस कुल को मारता है और आश्चर्य है कि रावण जीवित है' यहाँ पर तिङ् और कारक शक्तियाँ व्यञ्जक है। 'मारता है' और जीवित है' की क्रियाविभक्तियाँ व्यञ्जक हैं, 'यहाँ पर' का अधिकरण कारक और 'राक्षस कुल को' का कर्म कारक ये कारक शक्तियाँ व्यञ्जक हैं। 'यहाँ पर' का अर्थ है जहाँ मैं विद्यमान हूँ और मेरा एकच्छत्र प्रभुत्व है। 'निहन्ति' में 'नि' उपसर्ग से व्यक्त होता है कि निश्शेष रूप में राक्षसों का संहार कर रहे हैं। 'राक्षसकुलम्' में कर्म कारक से व्यञ्जना निकलती है कि समस्त राक्षस वंश का संहार ही भगवान राम की संहार क्रिया का लक्ष्य है। 'रावण' शब्द में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। अर्थात् रावण का स्वयं ही रावण कहना बाधित होकर अनुपम पराक्रम शालित्व इत्यादि गुणों को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार 'एव' 'जीव धातु' 'अहो' यह अव्यक्त ये भी व्यञ्जक हो सकते हैं। समिष्ट में इसका व्यंग्यार्थ यह होगा कि रावण अद्वितीय पराक्रमी तथा समस्त जगद्विजेता है। यही आश्चर्य है कि उस रावण का भी कोई शत्रु होकर बना रहे। यदि वह शत्रु अकेला हो तो भी कुछ समझ मे आसकता है किन्तु बहुत बड़ी संख्या में शत्रु विद्यमान हों यह और भी आश्चर्यजनक है वे शत्रु भी यदि कहीं दूर प्रदेश में स्थित हो जहाँ रावण विद्यमान न हो तो भी कोई बात है किन्तु यहाँ ये राम इत्यादि शत्रु तो ऐसे प्रदेश में स्थित है जहाँ रावण विद्यमान ही नहीं है अपितु उसका पूर्णप्रभुत्व है फिर स्थित होते हुये यदि चुप रहें तो भी कुशल है किन्तु ये तो क्रियाशील ही नहीं किन्तु संहार कर रहे हैं; फिर किसी एक का मारा जाना भी बड़ी बात नहीं ये तो समस्त राक्षस वंश के विनाश पर ही उतारू हैं। शत्रु भी यदि कोई वीर हो तो भी एक बात है किन्तु ये तो बेचारे तपस्वी है। यदि परम पराक्रमी के रूप में प्रसिद्ध मैं मर गया होता और तब यह सब कुछ होता तो इतना बड़ा आश्चर्य नहीं होता किन्तु सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यही है

## तारावती

कि रावण अब तक जीवित है। ( केवल मेरा पराक्रम ही व्यर्थ नहीं हो रहा है अपितु दूसरे भी परमपराक्रमी महावीरों का पराक्रम व्यर्थ ही जा रहा है। ) धिक् धिक् इस निपात ( तथा इसकी वीप्स ) से परम गर्हणीयता की व्यञ्जकता होती हैं। शक्रजित अर्थात् शक्र को जीतनेवाला इस उपपद समास से व्यक्त होता है कि मेघनाद का शक्र को जीत लेना तो एक कल्पित कथा सी जान पड़ती है। ( शक्र शब्द 'शक्' धातु से रम् प्रत्यय होकर बनता है। इसका अर्थ है जो शत्रुओं को जीतने मे समर्थ हो' (मेघनाद ने ऐसे शत्रु को भी अनायास ही जीत लिया अतः राम को जीतना तो उनके लिये बड़ी बात ही नही थी। किन्तु उन मेघनाद की शक्ति भी कुण्ठित हो गई। यह व्यञ्जना उपपद समास तथा उसके साथ क्विप् इस कृदन्त प्रत्यय से निकलती है। ( प्रबोधितवता में 'प्र' उपसर्ग 'बुध' धातु से णिच् प्रत्यय होकर क्तवत् प्रत्यय होता है। 'प्र' का अर्थ है प्रकर्ष णिच् का अर्थ है प्रेरणा और क्तवत् का अर्थ है भूत काल। इससे व्यञ्जना निकलती है कि कुम्भकर्ण से बड़ी आशा थी; उन्हे जगाने के लिये बहुत अधिक उद्योग किया गया, वे जागे भी किन्तु उन्होंने कर क्या लिया। अब तो उनकी आशा और उठकर उनके पराक्रम सब अतीत की कथा बन गये है। मेघनाद और कुम्भकर्ण की आशा तो दूर की बात रही मैं ही क्या कर पाया। शत्रुजित् के क्विप् प्रत्ययान्त उपपद समास के साथ 'स्वर्ग ही ग्रामटिका' यह कर्मधारय समास भी व्यञ्जक है। ग्रामटिका में स्वार्थिक तद्धित प्रयोग है। ( ग्रामटिका मे अल्प अर्थ में तद्धित 'टिकच्' प्रत्यय हो जाता है। इसका अर्थ है तुच्छ ग्राम। इससे व्यञ्जना निकलती है कि मैंने स्वर्ग को एक तुच्छ गांव के समान बड़ी ही सरलता से जीत लिया था और उस के अभिमान से मेरी भुजायें फूली हुई थीं; किन्तु यह सब अभिमान व्यर्थ ही था। जब से साधारण तपस्वी मेरे सामने ही मेरे वंश का नाश कर रहे है तब स्वर्ग जैसे तुच्छ ग्राम के जीत लेने का क्या दर्प। विलुण्ठन' शब्द में 'वि' उपसर्ग की व्यञ्जना है निर्दयता-पूर्वक नष्ट भ्रष्ट करना। वृथा' इस निपात की व्यञ्जना है अपने पौरुष की निन्दा। 'भुजाओं से' में बहुवचन से व्यक्त होता है इन में कोई शक्ति नहीं ये मेरी भुजाये तो भाररूप ही हैं। अधिक कहने की क्या आवश्यकता यदि इस पद्य को तिल तिल करके तोड़ा जावे तो इसका सभी अंश व्यञ्जक के रूप में प्रकाशित होता है। ( यहाँ पर प्रकृति, प्रत्यय, अव्यय इत्यादि प्रत्येक तत्त्व व्यञ्जक ही है। ऊपर दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। ) यदि इस प्रकार के काव्य से सम्बद्ध व्यञ्जक बहुलता से सङ्घटित किये जावें तो ऐसे काव्य मे एक ऐसा उच्चकोटि का सङ्घटना सौन्दर्य विद्यमान होगा जो कि सभी सौन्दर्यों का अतिक्रमण कर

ध्वन्यालोकः

यथा महर्षेर्व्यासस्य—

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः ।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

(अनु०) जैसे महर्षि व्यास का—

'जिसमें सुख अतिक्रान्त हो गये हैं और दारुण ( दुःख ) विपरीत रूप में उपस्थित है इस प्रकार के काल और कल कल ( उत्तरोत्तर ) अधिक पापियों के दिनों वाली गतयौवना पृथ्वी है ।'

लोचन

अतिक्रान्तं न तु कदाचन वर्तमानतामवलम्बमानं सुखं येषु ते काला इति, सर्वएव न तु सुखं प्रति वर्तमानः स कोऽपि काललेश इत्यर्थः । प्रतीपान्युपस्थितानि वृत्तानि प्रत्यावर्तमानानि तथा दूरभावीन्यपि प्रत्युपस्थितानि निकटतया वर्तमानानि भवन्ति दारुणानि दुःखानि येषु ते । दुःखं बहुप्रकारमेव प्रतिवर्तमानाः सर्वे कालांशा इत्यनेन कालस्य तावन्निर्वेदमभिव्यञ्जयतः शान्तरसव्यञ्जकत्वम् । देशस्याप्याह—पृथिवी

दिखलाने का फल दिखलाते हैं—'इस प्रकार यह' 'एक पद का' जो यह कहा उसका उदाहरण दे रहे हैं—'जैसे यहाँ पर' यह ।

बीता हुआ, कभी वर्तमानता का अवलम्बन लेनेवाला नहीं है सुख जिनमें ऐसे काल, सभी ( काल ) सुख के प्रति वर्तमान कोई एक भी काल कालेश नहीं यह अर्थ है । विपरीत रूप में उपस्थित बीते हुये और पुनः लौटकर आनेवाले तथा भविष्य में अतिदूर होनेवाले भी प्रत्युपस्थित अर्थात् निकटता से वर्तमान हो जाते हैं दारुण अर्थात् दुःख जिनमें । सभी प्रकार के कालांश बहुत प्रकार के दुःखों को लौट रहे हैं इस कथन के द्वारा निर्वेद को अभिव्यक्त करनेवाले काल की शान्तरस व्यञ्जकता ( सिद्ध हो जाती है । ) देश की भी बतलाते हैं—पृथिवी

तारावती

जावेगा । ( क्योंकि जब व्यञ्जकों की संख्या अधिक होगी तो व्यङ्ग्यों की संख्या भी असीमित हो जावेगी। व्यङ्ग्यों का सौष्ठव ही सौन्दर्य का एकमात्र निदान होता है।) यदि व्यङ्ग्य को अवभासित करनेवाले किसी एकपद का प्रत्यक्षीकरण हो जावे वहाँ पर भी काव्य का रचनासौन्दर्य प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है फिर जहाँ इस प्रकार के सौन्दर्याधायक व्यञ्जकों की भरमार हो और प्रत्येक पद तथा उस पद का प्रत्येक खण्ड नवीन चारुता लिये हुये हो वहाँ के सौन्दर्य का तो कहना ही क्या । उदाहरण के लिये अभी उद्धृत किये हुये 'व्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि पद्य में प्रधान व्यङ्ग्यार्थ है 'रावण' पद से अभिव्यक्त होनेवाला अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य । ( रावण' पद

ध्वन्यालोकः

अत्र हि कृत्तद्धितवचनैरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः।

यहाँ पर निस्सन्देह कृत्प्रत्यय, तद्धितप्रत्यय और वचन से अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और 'गतयौवना पृथिवी' से अत्यन्त तिरस्कृत वाक्यध्वनि प्रकाशित की गई है।

लोचन

श्वः श्वः प्रातः प्रातर्दिनाद्दिनं पापीयदिवसाः पापानां सम्बन्धिनः पापिष्ठजनस्वामिका दिवसा यस्यां सा तथोक्ता। स्वभावत एव तावत्कालो दुःखमयः, तत्रापि पापिष्ठजनस्वामिकपृथिवीलक्षणदेशदौरात्म्याद्विशेषतो दुःखमय इत्यर्थः। तथा हि श्वः श्व इति दिनाद्दिनं गतयौवना वृद्धस्त्रीवदसम्भाव्यमानसंभोगा गतयौवनतया हि यो यो दिवस आगच्छति स स पूर्वापेक्षया पापीयान् निकृष्टत्वात्। यदि वेयसुनन्तोऽयं शब्दो मुनिनैवं प्रयुक्तो णिजन्तो वा। अत्यन्तेति। सोऽपि प्रकारोऽस्यैवाङ्गतामेतीति भावः।

कल-कल अर्थात् प्रातः प्रातः अर्थात् एक दिन से दूसरे दिन पापीय दिनवाले अर्थात् अत्यन्त पापियों से सम्बन्धित जिसके दिनों के स्वामी हैं इस प्रकार की हो गई है। स्वभाव से ही काल दुःखमय है उसमें भी अत्यन्त पापी लोगों के स्वामित्ववाले पृथ्वीरूप देश की दुरात्मता से विशेष रूप से दुःखमय (हो गया है) यह अर्थ है। वह इस प्रकार कल कल अर्थात् एक दिन से दूसरे दिन गतयौवना वृद्धा स्त्री के समान यौवन के गत हो जाने से जिसके सम्भोग की सम्भावना नहीं की जा सकती जो जो दिन आता है वह वह पहले की अपेक्षा निकृष्ट होने के कारण अधिक पापवाला है। अथवा यह शब्द ईयसुन् अन्तवाला मुनि ने प्रयुक्त किया है अथवा णिजन्त है। 'अत्यन्त' यह। भाव यह है कि वह भी प्रकार इसी की अङ्गता को प्राप्त होता है।

तारावती

बाधित होकर धर्मान्तर परिणत 'रावण' को अभिव्यक्त करता है।) उस अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का सौन्दर्य उन समस्त व्यञ्जकों के व्यंग्यार्थों के द्वारा बट जाता है जिन पर पिछले पृष्ठों मे विस्तृत प्रकाश डाला गया है। यह नहीं समझना चाहिये कि प्रत्येक पद को व्यञ्जक बनाकर कविता करना असम्भव है। विशेष प्रतिभाशाली महात्माओं के इस प्रकार के बन्धनप्रकार प्रायः देखे जाते हैं। एक उदाहरण लीजिये—महर्षि व्यास ने बुरे समय के आ जाने का वर्णन करते हुए हुये लिखा है—

'ये ऐसे समय है जब कि सुख व्यतीत हो चुका है, दारुण (दुःख) प्रतिकूल रूप में उपस्थित हैं, पृथिवी का यौवन व्यतीत हो चुका है और जो भी

तारावती

दिन आता है वह पहले की अपेक्षा अधिक पापियों से अधिकृत होता जाता है।'

यौवन किसी स्त्री का ही समाप्त होता है; पृथ्वी की यौवनसमाप्ति बाधित हो जाती है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है—उपभोग के अयोग्य होना। उससे व्यङ्ग्यार्थ के रूप में पृथिवीगत अनेक हीनतायें प्रतिभासित होती हैं। यौवन का अर्थ बिल्कुल छूट जाता है अतः यह अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि हुई। इस इस ध्वनि का सौन्दर्यप्रकर्ष कृत्प्रत्यय तद्धितप्रत्यय वचन के व्यङ्ग्यार्थों के द्वारा बढ़ जाता है तथा उनसे अलक्ष्यक्रम रसध्वनि आस्वादगोचर हो जाती है। (कृत्प्रत्यय तीन शब्दों में है—अतिक्रान्त, प्रत्युपस्थित और गत शब्दों में क्त प्रत्यय।) अतिक्रान्त में क्तप्रत्यय भूतकालार्थक है इससे व्यञ्जना होती है कि यह काल ऐसा है जिसमें सुख सर्वथा व्यतीत हो गया है किसी प्रकार भी वर्तमान नहीं है। इससे काल की अत्यन्त भीषणता व्यक्त होती है। 'प्रत्युपस्थित' शब्द में भी भूतकालार्थक 'क्त' प्रत्यय है, इसकी व्यञ्जना यह है कि दारुण परिस्थितियाँ कुछ पहले से ही आई हुई हैं अतः उनके वर्तमान होने में किसी प्रकार की शङ्का नहीं रह गई। विगत भीषण परिस्थितियाँ लौट आई हैं और जिन भीषणताओं की बहुत समय बाद आने की सम्भावना थी वे अभी आ गई हैं और निकट ही वर्तमान रूप में मालूम पड़ती हैं। इस प्रकार इस क्त प्रत्यय से व्यक्त होता है कि एक तो इनका आना सन्दिग्ध नहीं रहा दूसरे इनका निराकरण भी अशक्य प्रतीत होता है। ('गत' में क्त प्रत्यय से यही व्यक्त होता है कि पृथिवी का यौवन व्यतीत हो गया अब उसके पुनरावर्तन की कोई आशा नहीं। अतः पृथिवी निस्सार है और सर्वथा परित्याग के योग्य है।) तद्धित प्रत्यय 'पापीय' में 'छ' है इसका अर्थ है पापियों से सम्बन्ध रखनेवाले। इस 'छ' प्रत्यय से व्यञ्जना निकलती है कि अब इन दिनों पर अधिकार पापियों का ही रह गया है। भले आदमियों की तो बात पूछनेवाला भी कोई नहीं। स्वभाव से ही काल दुःखमय है उसमें भी देशगत बुराई और अधिक बढ़ गई है कि पृथिवी के सभी शासक पापी ही हो गये हैं। अतः यह समय और अधिक दुःखदायक हो गया है। वह इस प्रकार कि जैसे किसी वृद्ध स्त्री का जो भी दिन आता है वह पिछले दिन की अपेक्षा उसे और अधिक यौवनशून्य बना देता है, उसके अन्दर आकर्षकता, सम्भोग की सम्भावना इत्यादि सभी कुछ प्रतिदिन क्षीण होते जाते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी का जो भी दिन बीत रहा है वह पहले की अपेक्षा अधिक निकृष्ट ही होता है जिससे न पृथ्वी में कोई आकर्षण रह गया है और न वह सम्भोगयोग्य ही रह गई है। 'पापीय' में ईयसुन् प्रत्यय भी माना जा सकता है जिसका अर्थ होता है अपेक्षाकृत अधिक

ध्वन्यालोकः

एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते। सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

तालैः शिञ्जावलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठैः सुहृद् वः॥

(अनु०) इन सुप् इत्यादिकों का एक एक रूप में (पृथक् पृथक्) और समुदाय के रूप में व्यञ्जकत्व महाकवियों के प्रबन्धों में प्रायः देखा जाता है। सुबन्त का व्यञ्जकत्व जैसे—

'झङ्कार से परिपूर्ण वलयों से सुन्दर मालूम पड़नेवाली तालियों द्वारा मेरी प्रियतमा द्वारा नचाया हुआ तुम्हारा मित्र नीलकण्ठ दिवस के अन्त में जिसके ऊपर बैठता है।'

लोचन

सुबन्तस्येति। समुदितत्वे तूदाहरणं दत्तं व्यस्तत्वे चोच्यत इति भावः। तालैरिति बहुवचनमनेकविधं वैदग्ध्यं ध्वनत् विप्रलम्भोद्दीपकतामेति।

'सुबन्त का' यह समुदित होने पर तो उदाहरण दे दिया गया, पृथक् होने पर दिया जा रहा है यह भाव है। 'तालैः' मे बहुवचन अनेक प्रकार के वैदग्ध्य को ध्वनित करते हुये विप्रलम्भ की उद्दीपकता को प्राप्त होता है। (उदाहृत श्लोक

तारावती

पापी। ऐसी दशा में यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इसका शुद्धरूप 'पापीयोदिवसाः' होगा, 'स' का लोप कैसे हो गया? इसका उत्तर यह है कि यह मुनि का प्रयोग है अतः 'स' का लोप आर्ष है। अथवा ईयसुन् प्रत्यय करके नामधातु का णिच् प्रत्यय कर दिया जावे। 'जो लोकों को 'पापीयः' बनाता है उसके लिये णिच् होकर क्रिया होगी 'पापीयति' फिर कर्ता में अच् प्रत्यय करके रि और णिच् का लोप करके 'पापीय' यह अदन्त शब्द बन सकता है इस प्रकार कृत्प्रत्यय और तद्धित प्रत्यय की व्यञ्जकता दिखला दी गई। 'कालाः' में बहुवचन से व्यक्त होता है कि काल का कोई भी अंश सुखमय नहीं रहा सभी कालांश दारुण व्याधियों के देने वाले बन गये हैं। इस प्रकार प्रथम पंक्ति मे काल की भीषणता बतलाई है और दूसरी पक्ति मे स्थान की अस्पृहणीयता। जब देश और काल दोनों विपरीत हैं तब ममत्व ही किससे किया जावे? इस प्रकार असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य शान्त रस यहाँ पर ध्वनित होता है और उसका अङ्ग बन गयी है 'गतयौवना' की अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यव्यञ्जना।

प्रस्तुत कारिका में सुप् इत्यादि की व्यञ्जकता बतलाई गई है। यह व्यञ्जकता दोनों प्रकार की हो सकती है—समुदित रूप में मिलकर सभी की एक साथ

ध्वन्यालोकः

तिङन्तस्य यथा—

अवसर रोउं चिअ णिम्मिआइं मा पुंस मे हअच्छीइं ।
दंसणमेत्तुम्भत्तेहिं जहिं हिअअं तुह ण णाअम् ॥

तिङन्त का जैसे—

'दूर हटो; रोने के लिये ही निर्मित मेरे इन हत नेत्रों को विकसित मत करो जिन्होंने दर्शनमात्र से ही उन्मत्त होकर तुम्हारे हृदय को भी नहीं जाना ।'

लोचन

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुंसय हते अक्षिणी मे ।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवं रूपं न ज्ञातम् ॥

उन्मत्तो हि न किञ्चिज्जानातीति न कस्याप्यत्रापराधः । दैवेनेत्थमेव निर्माणं कृतमिति । अपसर मा वृथा प्रयासं कार्षीः दैवस्य विपरिवर्तयितुमशक्यत्वादिति तिङन्तो व्यञ्जकः तदनुगृहीतानि पदान्तराण्यपीति भावः ।

की छाया संस्कृत में दी गई है । इसका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है । )

उन्मत्त निस्सन्देह कुछ नहीं जानता; अतः यहाँ पर किसी का अपराध नहीं है । दैव ने ही इस प्रकार का निर्माण किया है । 'हटो; व्यर्थ मे प्रयास मत करो; क्योंकि दैव का बदलना अशक्य है ।' इस प्रकार तिङन्त व्यञ्जक है और उससे अनुगृहीत और पद भी व्यञ्जक है ।

तारावती

व्यञ्जकता और इनकी पृथक् व्यञ्जकता । सुप् इत्यादि की व्यञ्जकता के प्रायः दोनों रूप प्रबन्ध काव्यों मे देखे जाते है । सामूहिक रूप मे व्यञ्जकता के उदाहरण पिछले प्रकरण में दिये जा चुके । अब पृथक् पृथक् तत्त्वों की व्यञ्जकता बतलाई जा रही है । सुबन्त की व्यञ्जकता का उदाहरण मेघदूत से दिया गया है । पूरा पद्य इस प्रकार है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनीवासयष्टिः
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवसविगमें नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥

'यक्ष मेघ को अपने घर की पहिचान बतलाते हुये कह रहा है कि—( मेरे दरवाजे पर माधवी का मण्डप है जिसके चारों ओर कुरबक का घेरा बना हुआ है, उसके समीप ही लाल अशोक और बकुल के वृक्ष खड़े हैं । ) उन दोनों वृक्षों के मध्य मे सोने की वासयष्टि ( एक प्रकार की छतरी जिस पर पालतू पक्षी रहा

तारावती

करते हैं । ) है जिसका ऊपरी फलक स्फटिक मणि का बना हुआ है और नीचे की ओर प्रौढ बांसो के समान चमकने वाली मणियां जड़ी हुई हैं । दिन के व्यतीत होने पर ( सायं काल मे ) तुम्हारा मित्र मयूर उस वासयष्टि पर आकर बैठता है । यह वही मयूर है जिसको मेरी प्रियतमा तालियाँ बजा-बजाकर नचाया करती है जो तालियाँ झङ्कार करनेवाले वलयों से बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ती है ।

यहाँ पर सुबन्तपद 'तालै' तृतीया का बहुवचन है जिससे ध्वनित होता है कि 'मेरी प्रियतमा अनेक प्रकार से ताल बजा लेती है, वह विलास नृत्य और सङ्गीत में बहुत निपुण है ।' यह व्यञ्जना आलम्बन के गुणों का स्मरण कराने के कारण विप्रलम्भ का उद्दीपन करती है । इस प्रकार सुबन्त से वस्तुव्यञ्जना के द्वारा रस-ध्वनि होती है ।

तिङन्त से व्यञ्जना का उदाहरण—

किसी नायक ने अपराध किया है; नायिका रो रही है, नायक उसे मनाना चाहता है; इस पर नायिका कहती है—

'तुम यहाँ से चले जाओ; भगवान् ने मेरी हतभागिनी आँखें रोने के लिये ही बनाई है अतः तुम इन्हें बढ़ाने की चेष्टा मत करो । ये आँखें तुम्हारे दर्शनमात्र से से उन्मत्त हो गईं और इन्होने तुम्हारे हृदय को नहीं जान पाया ।'

आशय यह है कि नायिका कह रही है कि मेरी आँखों का ऐसा भाग्य कहाँ कि अपने प्रियतम के तृप्तिकारक मुख के अवलोकन का आनन्द ले सकें । परमात्मा ने तो इनके भाग्य मे रोना ही दिया है । सबसे बड़ा अपराध तो इनका यही था कि इन्होंने तुम्हारे बाह्य रूप को ही देखा और उन्मत्त हो गये; इन्होंने तुम्हारे कपटी हृदय को नहीं देखा ।' जो उन्मत्त हो जाता है वह निस्सन्देह कुछ समझ ही नहीं पाता । अतः रूप पर उन्मत्त होकर मैंने जो कुछ किया उसमे अपराध किसका है ? परमात्मा ने ही ऐसी रचना कर दी थी । यहाँ 'दूर हटो' यह क्रिया है । इससे व्यञ्जना निकलती है कि 'तुम्हारा मुझे मनाने की चेष्टा करना व्यर्थ है; जब दैव ने ही ऐसा विधान कर दिया तो उसे बदल कौन सकता है ? इस व्यञ्जना के द्वारा नायिका नायक से अपनी हृदयवेदना निवेदित कर उसके हृदय में सद्भावना जगाना चाहती है । इस प्रकार यहाँ तिङन्त व्यञ्जक है और उसके साथ दूसरे शब्द भी व्यञ्जक हैं । ( 'एव' ( ही ) शब्द से व्यञ्जना निकलती है कि तुम्हारी अनुयायिनी होने का यही फल मिला कि मुझे जीवन भर रोना पड़ेगा। 'हतभागी नेत्र' से सौभाग्य का अभाव और 'तुम्हारे हृदय को नहीं देखा' मे हृदय शब्द से नायक की दुष्टता व्यक्त होती है । )

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

मा पन्थं रुन्धीयो अवेहि वालअ अहोसि अहिरीयो।
अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो॥

(अनु०) अथवा जैसे—

'अरे अप्रौढ बालक! दूर हटो, मेरे मार्ग को मत रोको, आश्चर्य है कि तुम निर्लज्ज हो; हम परतन्त्र हैं क्योंकि हमें शून्य घर की रक्षा करनी है।'

लोचन

मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अह्रीकः।
वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते॥

इत्यत्रापेहीति तिङन्तमिदं ध्वनति—त्वं तावदप्रौढो लोकमध्ये यदेवं प्रकाशयसि। अस्ति तु सङ्केतस्थानं शून्यगृहं तत्रैवागन्तव्यमिति।

'अन्यत्र व्रज बालक' अप्रौढबुद्धे स्नान्तीं मां किं प्रकर्षेणालोकयस्येतत्। भो इति सोल्लुण्ठमाह्वानम्। जायाभीरुकाणां सम्बन्धितडमेव न भवति। अत्र जायातो ये भीरव-

(गाथा का अनुवाद वृत्ति के अनुवाद में दिया गया है।)

यहाँ पर 'दूर हटो' यह तिङन्त यह ध्वनित करता है—'तुम तो प्रौढ़ नहीं हो जो लोक के मध्य मे इस प्रकार प्रकाशित करते हो। सूना घर सङ्केत स्थान तो है ही वहीं तुम्हे आ जाना चाहिये।'

'हे बालक! अर्थात् अप्रौढ बुद्धिवाले अन्यत्र जाओ। स्नान करती हुई मुझको प्रकर्ष के साथ (घूर घूर कर) क्या देख रहे हो? 'ओ' (अरे) यह सम्बोधन

तारावती

अथवा तिङन्त की व्यञ्जकता का दूसरा उदाहरण—

किसी नायक ने किसी नायिका को मार्ग मे घेरा है। नायिका संकेतस्थल का निर्देश करती हुई कह रही है—

'तुम्हारी चेष्टायें तो बालकों जैसी हैं; तुम सामने से हट जाओ। तुम तो बिलकुल निर्लज्ज हो। लोग तुम्हारी चेष्टाओं को देख रहे हैं और तुम्हें लोक निन्दा का भी भय नही लगता। मैं तुम्हारी तरह बेकार और स्वतन्त्र थोड़े ही ही हूँ। मेरा घर सूना पड़ा है और मुझे उसकी रखवाली करनी है।'

यहाँ पर दूर 'हट जाओ' यह तिङन्त (क्रिया) पद है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि—'तुम प्रौढ नहीं हो जो लोक में इस प्रकार प्रच्छन्न प्रेम को प्रकाशित कर रहे हो। मेरा घर सूना पड़ा है जो कि संकेतस्थान है वहीं आ जाना।

ध्वन्यालोकः

सम्बन्धस्य यथा—

अण्णत्त वच्च वालअ ह्ला अन्ति किं मं पुलोएसि एअम् ।
भो जाआभीरुआणं तडं विअण होई ॥

कृतकप्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव । अवज्ञातिशये कः । समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोजने ।

(अनु०) सम्बन्ध का जैसे—

'हे बालक ! दूर जाओ । स्नान करती हुई मुझे देख रहे हो यह क्या बात है ? पत्नियों से डरनेवाले के लिये ( यह ) तट नहीं है ।'

जहाँ 'क' का प्रयोग किया गया हो वहाँ प्राकृत में तद्धित के विषय में व्यञ्जकत्व कहा ही जाता है । अवज्ञा की अधिकता में 'क' प्रत्यय होता है । समासों का व्यञ्जकत्व वृत्ति के औचित्य के द्वारा विनियोजन में होता है ।

लोचन

स्तेषामेतत्स्थानमिति दूरापेतः सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धेनेर्ष्यातिशयः प्रच्छन्नकामिन्याभिव्यक्तः । कृतकेति 'क'ग्रहणं तद्धितोपलक्षणार्थम् । कृतः कप्रत्ययप्रयोगो येषु काव्यवाक्येषु यथा जायाभीरुकाणामिति । ये ह्यरसज्ञा धर्मपत्नीषु प्रेमपरतन्त्रास्तेभ्यो कोऽन्यो जगति कुत्सितः स्यादिति कप्रत्ययोऽवज्ञातिशयद्योतकः । समासानां चेति । केवलानामेव व्यञ्जकत्वमावेद्यत इति सम्बन्धः ।

अपमान के सहित है । पत्नियों से डरनेवालों से सम्बन्धित तट ही नहीं होता । यहाँ पर 'जाया से जो डरे हुये हैं उनका यह स्थान यह सम्बन्ध बहुत दूर चला गया' इस सम्बन्ध से प्रच्छन्न कामिनी के द्वारा ईर्ष्या की अधिकता अभिव्यक्त की गई । 'कृतक' में क का ग्रहण तद्धित के उपलक्षण के लिये है । किया गया है 'क' प्रत्यय का प्रयोग जिन काव्यवाक्यों में जैसे 'जायाभीरुकाणाम्' में । जो रसज्ञ नहीं हैं और धर्मपत्नियों के प्रेम के आधीन हैं उनसे अधिक कुत्सित कौन होगा ? इस प्रकार क प्रत्यय अवज्ञा की अधिकता का द्योतक है। 'समासों का' अर्थात् केवल ( समासों ) का व्यञ्जकत्व निवेदित किया जा रहा है ।

तारावती

सम्बन्ध की व्यञ्जकता का उदाहरण—

कोई नायिका किसी विवाहित पुरुष से प्रेम करती है और वह नायक भी नायिका को चाहता है । किन्तु अपनी पत्नी के सामने वह उस नायिका से प्रेम करते हुये डरता है । नायिका चाहती है कि वह अपनी पत्नी की उपेक्षा कर और उसे अपमानित कर नायिका से प्रेम करे । इस समय नायिका सरोवर तट पर

तारावती

अकेले में स्नान कर रही है और नायक उसे देख रहा है। नायिका ताने के साथ कह रही है—

'अरे लड़के! ( अप्रौढ बुद्धिवाले ) कहीं और जाओ। मैं स्नान कर रही हूँ मुझे क्या देख रहे हो? जो लोग अपनी स्त्रियों से डरते हैं उनके लिये यह तट नहीं हैं।'

आशय यह है कि मैं ऐसा प्रेम पसन्द नहीं करती कि तुम वहाँ सामने तो डर जाओ और यहाँ छिप छिप कर मुझे देखो। यदि प्रेम करना है तो तुम्हे खुलकर प्रेम करना चाहिये। यहाँ पर 'भोः' ( अरे ) यह सम्बोधन का शब्द अपमानजनक रूप मे प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर 'जो अपनी पत्नी से डरे हुये हैं उनका यह तट नहीं है' इसमे 'उनका तट' यह सम्बन्ध सर्वथा असम्भव है। ( यदि तुम वहाँ नहीं बोलते तो यहाँ भी बात नहीं कर सकते। ) इस प्रकार सम्बन्धषष्ठी से ईर्ष्या की अधिकता अभिव्यक्त होती है।

प्राकृत भाषाओं में जहाँ 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है वहाँ तद्धित के विषय मे व्यञ्जकता प्रसिद्ध ही है। 'क' प्रत्यय अधिक अनादर के अर्थ मे होता है। 'क' का ग्रहण दूसरे तद्धित प्रत्ययों का उपलक्षण है। अर्थात् जिस प्रकार 'क' प्रत्यय व्यञ्जक हो सकता है उसी प्रकार अन्य तद्धित प्रत्यय भी व्यञ्जक हो सकते हैं। 'क' प्रत्यय का उदाहरण है—'जायाभीरुकाणाम्' यहाँ 'भीरु' शब्द से 'क' प्रत्यय किया गया है जो अवज्ञातिशय अर्थ मे होता है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है कि जो रसज्ञ नहीं होते और धर्मपत्नी के प्रेम के आधीन होते हैं उनसे निकृष्ट संसार में और कौन हो सकता है? ( यहाँ जाया शब्द का व्यङ्ग्यार्थ है कि तुम्हारी पत्नी में न सौन्दर्य है और न आकर्षण उससे सन्तान पैदा करने का उपयोग भले ही हो, सरसता और सहृदयता की आशा तो हो ही नहीं सकती। फिर भी तुम उससे डरते हो यह तुम्हारी हृदयहीनता है जो कि तुम मेरे रूपसौन्दर्य की आकर्षकता की भी उसके डर से उपेक्षा कर देते हो। यही हीनता, अरसिकता और अज्ञान 'बालक' इस सम्बोधन से व्यक्त होते हैं भय अनौचित्य की सीमा तक पहुँच गया है, जो बहुत ही बुरा है। अत. तुमसे यह आशा ही नही की जा सकती कि मैं तुमसे अपना सम्बन्ध करूं और बाद मे डर कर तुम मेरा साथ नहीं छोड़ जाओगे। ये सब व्यञ्जनायें कुत्सार्थक प्रत्यय तथा सम्बन्धानौचित्य के कारण निकलती है। )

समास भी वृत्ति के औचित्य के साथ विनियुक्त करने पर व्यञ्जक होते है। यह केवल समासों की व्यञ्जकता का ही कथन किया गया है। ( यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों का निर्णय समास के

ध्वन्यालोकः

निपातानां व्यञ्जकत्वं यथा—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुस्सहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपार्धरम्यैः ॥

इत्यत्र चशब्दः ।

(अनु०) निपातों का व्यञ्जकत्व जैसे—

'उस प्रियतमा से सुदुस्सह वियोग एकदम आ पड़ा और नवीन जलधरों के उदय से दिन भी आतपाभाव से रमणीय हो जावेंगे ।'

यहाँ पर 'च' ( और ) शब्द ।

लोचन

च शब्द इति जातावेकवचनम् । द्वौ च शब्दावेवमाहतुः—काकतालीयन्यायेन गण्डस्योपरि स्फोट इतिवत्तद्वियोगश्च वर्षासमयश्च समुपनतौ एतदलं प्राणहरणाय । अत एव रम्यपदेन सुतरामुद्दीपनविभावत्वमुक्तम् ।

'च शब्द' यह । जाति में एकवचन है । दो 'च' शब्द यह कहते हैं—काकतालीय न्याय से फोडे पर ( दूसरा ) फोड़ा इसके समान उसका वियोग और वर्षा समय एक साथ आये। यह प्राणहरण के लिये पर्याप्त है । अत एव 'रम्य' शब्द से उद्दीपन विभावत्व तो कह ही दिया गया ।

तारावती

आधार पर भी होता है । ये वृत्तियाँ वीर रौद्र शृङ्गार इत्यादि की व्यञ्जना करती हैं । इस प्रकार केवल समासों की व्यञ्जकता का पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका, अतः यहाँ पर उनके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है । )

यहाँ तक उन व्यञ्जकों का परिचय दिया जा चुका जिनका उल्लेख कारिका में किया गया था । कारिका में 'च' शब्द का भी प्रयोग किया गया है । अतः उससे निपात इत्यादि दूसरे तत्त्वों का भी उपादान हो जाता है । अब उनकी व्याख्या की जा रही है । निपातों की व्यञ्जकता का उदाहरण—

विक्रमोर्वशीय मे राजा पुरूरवा उर्वशी के साथ गन्धमादन पर्वत पर विहार करने गये हैं । वहाँ गोत्रस्खलन के कारण उर्वशी रुष्ट होकर कुमारवन में चली गई जिसमें किसी भी स्त्री का जाना निषिद्ध था और उसके लिये यह नियम बना हुआ था कि यदि कोई स्त्री नियम का अतिक्रमण करके उस वन मे चली जाती तो वह लता बन जाती । उर्वशी भी लता बन गई । राजा उसके वियोग मे विलाप करते हुये घूम रहे है वे उसी अवसर पर कह रहे हैं ।

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्तिपद्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

अत्र तुशब्दः।

अथवा जैसे—

'बार बार अङ्गुलि से रोके हुए अधरोष्ठवाले, प्रतिषेध के अक्षरों की विक्लवता के कारण अभिराम, कन्धे की ओर घूमे हुये उस सुन्दर पद्म-युक्त नेत्रोंवाली (शकुन्तला) के मुख को जैसे तैसे ऊपर को उठाया किन्तु चूम तो नहीं पाया।'

यहाँ पर 'तु' (तो) शब्द।

लोचन

तु शब्द इति। पश्चात्तापसूचकस्सन् तावन्मात्रपरिचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वनतीति भावः।

'तु शब्द' यह, भाव यह है कि पश्चात्तापसूचक होते हुये केवल उतने परिचुम्बन की प्राप्ति से ही कृतकृत्यता हो जाती यह ध्वनित करता है।

तारावती

'उस प्रियतमा से यह अत्यन्त असह्य वियोग एक दम आ पड़ा और नवीन जलधरों के उदय से धूपरहित हो जाने के कारण दिन अधिक रमणीय हो जाने चाहिये।'

इस पद्य मे दो बार 'च' शब्द आया है 'चोपनतः' 'भवितव्यं च' इन दोनों चकारों के लिये एक साथ ही वृत्ति में 'च शब्द' कहकर निर्देश किया गया है। यहाँ पर एकवचन जाति के अर्थ में हुआ है इससे एकवचन से दोनों चकारों का ग्रहण हो जाता है। 'च' यह निपात है। इन दोनों 'च' शब्दों से व्यञ्जना होती है—जैसे फोड़े पर दूसरा घाव हो जावे उसी प्रकार काकतालीय न्याय से अर्थात् संयोगवश प्रियतमा का वियोग और वर्षाकाल एक साथ आये हैं। इससे मेघों की अत्यन्त उद्दीपकता, उनसे मलिन दिवसों के यापन करने की कठिनता और विरहवेदना की असह्यता का उत्कर्ष ध्वनित होता है। आशय यह है यह संयोग हमारे प्राण लेने के लिये पर्याप्त है। (यदि कुछ व्यवधान से उद्दीपक मेघ आये होते तो उनको सह लिया गया होता और वे अधिक पीड़ित नहीं करते।) इसीलिये 'रम्य' शब्द से उद्दीपकता ठीक ठीक बतला दी गई है।

निपात की व्यञ्जकता का दूसरा उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल से दिया गया है। राजा का शकुन्तला से एकान्त सम्मिलन हो चुका है। गौतमी के आ जाने

ध्वन्यालोकः

निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम्।

(अनु०) निपातों का प्रसिद्ध भी द्योतकत्व यहाँ पर रस की अपेक्षा से कहा गया है।

लोचन

प्रसिद्धमपीति। वैयाकरणादिगृहेषु हि प्राक्प्रयोगस्वातन्त्र्यप्रयोगाभावात् षष्ठ्याद्यश्रवणाल्लिङ्गसंख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतका निपाता इत्युद्घोष्यत एवेति भावः।

'प्रसिद्ध भी' यह। भाव यह है वैयाकरणों के घरों में निस्सन्देह पहले प्रयोग-स्वातन्त्र्य प्रयोग का अभाव, षष्ठी इत्यादि का आश्रयण और लिङ्गसंख्या का अभाव इन (कारणों) से वाचक की विलक्षणता से निपात द्योतक हैं यह घोषित किया ही जाता है।

तारावती

से शकुन्तला राजा को छोड़ कर चली गई है तथा उनका सहवास नहीं हो सका है। राजा पश्चात्ताप करते हुये कह रहे हैं—

'शकुन्तला बार बार अपनी अंगुलियों से अपने अधरोष्ठ को छिपाने का प्रयत्न करती थी (जिससे मैं उसका चुम्बन न कर सकूँ)। बार बार मना करने के जो शब्द उसके मुख से निकलते थे और जिनके कारण उसकी व्याकुलता अभिव्यक्त हो रही थी उनसे उसका मुख बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता था। चुम्बन को बचाने के लिये उसने अपना मुख कन्धे की ओर घुमा लिया था। उसके नेत्रलोमों से युक्त नेत्र बड़े ही सुन्दर प्रतीत हो रहे थे। मैंने उसके मुख को ऊपर को उठाया किन्तु चुम्बन तो नहीं कर पाया।'

यहाँ पर 'तो' शब्द पश्चात्ताप का सूचक है और उससे ध्वनित होता है कि यदि और कुछ न सही उतना भर मुझे चुम्बन ही मिल जाता तो मैं कृतकृत्य हो जाता। ('चूम तो नहीं पाया' की व्यञ्जना यह है कि मैंने सभी कुछ प्रयत्न कर लिया किन्तु उसका चुम्बन नहीं ले सका, वस्तुतः उसका चुम्बन सरल नहीं है।)

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वैयाकरणों के मत में निपातों का कोई अर्थ नहीं होता। इन लोगों का मत है कि उपसर्ग और निपात किसी अर्थ के वाचक नहीं होते किन्तु द्योतक (व्यञ्जक) होते है। उदाहरण के लिये 'अनुभवति' मे 'अनु' का कोई अर्थ नहीं है।' 'भवति' में ही 'अनुभव' इत्यादि सभी अर्थ सन्निहित है। 'अनु' का प्रयोग उस सन्निहित अर्थ को अभिव्यक्तमात्र कर देता है। यही निपातों के विषय में भी कहा जा सकता है। वैयाकरण लोग

ध्वन्यालोकः

उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखाङ्किताः॥

(अनु०) उपसर्गों की व्यञ्जकता जैसे—

'शुकों से युक्त कोटरों के मुख से गिरे हुये नीवार वृक्षों के नीचे (पड़े हैं)। कहीं इङ्गुदी के फलों को फोड़नेवाले चिकने उपल दिखलाई ही पड़ रहे हैं; विश्वास के उत्पन्न हो जाने से स्खलनरहित गतिवाले मृग शब्द को सहते हैं और जलों के आधार के मार्ग वल्कल शिखाओं के प्रवाह की रेखाओं से अङ्कित हैं।'

लोचन

प्रकर्षेण स्निग्धा इति प्रशब्दः प्रकर्षं द्योतयन्निङ्गुदीफलानां सरसत्वमाचक्षाण आश्रमस्य सौन्दर्यातिशयं ध्वनति। 'तापसस्य फलविषयोऽभिलाषातिरेको ध्वन्यते' इति त्वसत्। अभिज्ञानशाकुन्तले हि राज्ञ इयमुक्तिर्न तापसस्येत्यलम्। द्वित्राणामित्यनेनाधिक्यं निरस्यति। सम्यगुचैर्विशेषेणेक्षितत्वे भगवतः कृपातिशयोऽभिव्यक्तः।

'प्रकर्ष के साथ स्निग्ध' इसमे 'प्र' शब्द प्रकर्ष को द्योतित करते हुये इङ्गुदी फलों की सरसता बतलाते हुये आश्रम के सौन्दर्य के आधिक्य को ध्वनित करता है। 'तापस की फलविषयक अभिलाषातिशयता को प्रकट करता है' यह कहना तो ठीक नहीं। अभिज्ञानशाकुन्तल में यह राजा की उक्ति है तापस की नहीं बस इतना पर्याप्त है। 'दो तीन' कहने से अधिक का निराकरण करते हैं। ठीक रूप में अधिकता से विशेष रूप में देखने में भगवान् की कृपा की अधिकता अभिव्यक्त होती है।

तारावती

इन के वाचक न होने के कई कारण बतलाते हैं—(१) वाचक शब्दों के प्रयोग का कोई नियम नहीं होता। 'घटम् आनय' 'आनय घटम्' इत्यादि किसी रूप में प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु 'प्र' इत्यादि उपसर्गों और 'च' इत्यादि निपातों का स्थान नियत होता है। उपसर्गों का प्रयोग नियमतः धातुओं के पहले ही होता है। (२) वाचक शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग हुआ करता है किन्तु उपसर्ग और निपातों का प्रयोग दूसरे शब्दों में जुड़कर ही होता है। 'प्र' 'अनु' इत्यादि का एकांकी होने पर कोई अर्थ ही नहीं होता और न इनका प्रयोग ही हो सकता है। (३) वाचक शब्दों के साथ सम्बन्ध इत्यादि में षष्ठी इत्यादि का प्रयोग होता है

## तारावती

जैसे—'देवस्य पुत्रः' इत्यादि; किन्तु 'इव' इत्यादि निपातों के साथ सम्बन्ध इत्यादि में षष्ठी इत्यादि का भी प्रयोग नहीं होता। (४) वाचक शब्दों में लिङ्ग संख्या इत्यादि का योग होता है किन्तु उपसर्ग और निपातों में लिङ्ग संख्या इत्यादि का योग नहीं होता। इन कारणों से उपसर्गों और निपातों में अन्य वाचकों से विलक्षणता होती है। अतः उपसर्ग और निपात वाचक नहीं किन्तु द्योतक ही माने जाते हैं। फिर इनकी द्योतकता का पृथक् प्रतिपादन करने का क्या प्रयोजन? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि इनका द्योतकत्व वैयाकरणों में प्रसिद्ध है तथापि यहाँ पर पृथक् उल्लेख रस इत्यादि की दृष्टि से किया गया है। आशय यह है कि उपसर्ग और निपात सामान्यतया द्योतक तो होते ही हैं वे रस इत्यादि के भी व्यञ्जक होते हैं।

उपसर्गों की द्योतकता का उदाहरण—जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल मे मृगयाविहार के प्रसङ्ग में तपोवन के निकट जाकर अपने साथी को बतला रहे हैं कि यह प्रदेश बिना कहे तपोवन का प्रदेश ज्ञात हो रहा है।

वृक्षों के नीचे नीवार धान्य कण बिखरे पड़े हैं जिनको वृक्षों के कोटरों में बैठे हुये तोतों ने कुतर-कुतर कर खा डाला है। (मुनि लोग अपने जीवननिर्वाह के लिये नीवार बो लेते हैं। अतः नीवार-कण आश्रम के निकट ही सम्भव हैं।) कहीं-कहीं इङ्गुदी फल को पीसनेवाले बहुत अधिक चिकने पत्थर दिखलाई पड़ रहे हैं। (मुनि लोग इङ्गुदी फलों को पीस पीस कर अपने तेल का काम चलाया करते हैं। वे इङ्गुदी फलों को तोड़ कर उनको पत्थर से पीस लेते हैं अतः इस प्रकार के चिकने पत्थर आश्रम के निकट ही मिल सकते है।) रथ का घर्घर रव हो रहा है किन्तु हिरणों को विश्वास हो गया है कि आश्रम के निकट उन्हे कोई मारेगा नहीं। अतः वे शब्द की परवाह नहीं करते तथा किसी भय के होने पर भी अपनी चाल मे अन्तर नहीं भरने देते (भागते नहीं)। कहीं-कहीं जलाशय बने हैं, उन जलाशयों को जानेवाले मार्गों पर वल्कल वस्त्रों के छोर से निकली हुई जलधारा की रेखायें बनी हैं (जिससे ज्ञात होता है कि जलाशयों में स्नान कर मुनि लोग इन मार्गों से निकलते होंगे और उनके वल्कल के छोरों से जल बहता जाता होगा जिसकी रेखायें मार्गों में बन गई है। (इन बातों से ज्ञात होता है कि हम आश्रम के निकट हैं।

यहाँ पर 'प्रस्निग्ध' शब्द में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है प्रकर्ष, इससे व्यञ्जना होती है कि यहाँ के इङ्गुदी फल बहुत ही चिकने हैं और उनमे तेल बहुत अधिक निकलता है जिससे उनके पीसनेवाले पत्थर डूब गये है। अत. यह स्थान बहुत ही सुन्दर हैं। कुछ लोगों ने यहाँ पर यह व्याख्या की है कि—'तपस्वी लोग विशेष

ध्वन्यालोकः

इत्यादौ। द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोषः। यथा—'प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि समसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन्द्राग्जन्तून्' इत्यादौ। यथा वा 'मनुष्यवृत्या समुपाचरन्तम्' इत्यादौ।

(अनु) इत्यादि मे। दो तीन उपसर्गों का एक पद में जो प्रयोग वह भी रसाभिव्यक्ति के अनुगुण होने से ही निर्दोष होता है। जैसे—'उत्तरीय की प्रभा के समान अन्धकार के प्रभ्रष्ट होने पर शीघ्र ही वीत आवरणवाले जन्तुओं को देखकर.....' इत्यादि में। अथवा जैसे 'मनुष्य की वृत्ति से ठीक आचरण करनेवाले को.....' इत्यादि में।

लोचन

मनुष्यवृत्या समुपाचरन्तं स्ववुद्धिसामान्यकृतानुमानाः।
योगीश्वरैरप्यसुवोधमीश त्वां वोद्धुमिच्छन्त्यवुधाः स्वतर्कैः॥

सम्यग्भूतमुपांशुकृत्वा आसमन्ताच्चरन्तमित्यनेन लोकानुजिघृक्षातिशयस्तत्तदाचरतः परमेश्वरस्य ध्वनितः।

'हे ईश! अपनी सामान्य बुद्धि के आधार पर अनुमान करनेवाले मूर्ख लोग मनुष्य वृत्ति में आचरण करनेवाले, योगीश्वरों के द्वारा भी सरलतापूर्वक न समझे जाने योग्य आपको अपने तर्कों से जानना चाहते हैं।'

ठीक रूप में छिपकर 'आ' अर्थात् चारों ओर से चरण (विचरण) करनेवाले इससे लोक के प्रति विभिन्न कार्यों को करनेवाले भगवान् के अनुग्रह की अतिशयता ध्वनित होती है।

तारावती

फल की अभिलाषा से खूब तेल निकाल निकाल कर अपने बालों को चिकना किया करते हैं यह व्यञ्जना होती है।' किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं; क्योंकि अभिज्ञान शाकुन्तल मे यह कथन राजा का है तपस्वी का नहीं। (आशय यह है कि 'प्र' उपसर्ग आश्रम के प्रति अनुराग की अधिकता को व्यक्त करते हुये शान्तरस में पर्यवसित होता है।)

कहीं कहीं एक ही पद में दो तीन उपसर्गों का प्रयोग देखा जाता है। यह प्रयोग भी दोषरहित तभी माना जा सकता है जब यह रसाभिव्यक्ति के अनुकूल होता है। जैसे सूर्यशतक में मयूर कवि ने सूर्य की प्रशंसा करते हुये लिखा है—'जब सूर्य ने देखा कि जो अन्धकार उत्तरीयवस्त्र के समान समस्त जन्तुओं को ढके हुये था वह एकदम हट गया और समस्त जन्तु आवरणरहित हो गये (तब उसने किरणों को तन्तुओं के रूप मे फैलाकर उन सबको मानो आवरण दे दिया)।'

ध्वन्यालोकः

निपातानामपि तथैव। यथा 'अहो वतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादौ। यथा वा—

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्ववपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति च
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते।
हा धिक्कष्टमहो क यामि शरणं तेषां जनानां कृते
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता॥

इत्यादौ।

(अनु०) निपातों का भी उसी प्रकार (व्यञ्जकत्व होता है)। जैसे 'अहो आश्चर्य है कि तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो।' इत्यादि में; अथवा जैसे—

'किसी ऊर्जित अर्थात् महत्त्वशाली व्यक्ति को देखने पर जो जीवित होते है, जो अपने शरीर में फूले नहीं समाते, जो प्रेम के साथ नाचने लगते हैं जिनके आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगते है जिनका शरीर रोमाचित होने लगता है—हाय, धिक्कार है कष्ट की बात है आश्चर्य की बात है कि सज्जनों के विरोधियों का पोषण करनेवाले दुष्ट दैव के द्वारा सर्वथा प्रलय को प्राप्त किये हुये उन (लोगों) के लिये मैं किसकी शरण जाऊँ!'

इत्यादि में।

लोचन

तथैवेति। रसव्यञ्जकत्वेन द्वित्राणामपि प्रयोगो निर्दोष इत्यर्थः। श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हा धिगिति च ध्वन्यते।

'उसी प्रकार' यह। अर्थात् रस की व्यञ्जकता में दो तीन का भी प्रयोग निर्दोष होता है। अहो बत' यह और 'हा धिक्' यह श्लाघातिशय और निर्वेदातिशय को ध्वनित करता है।

तारावती

यहाँ पर 'देखकर' के लिये 'समुद्वीक्ष्य' का प्रयोग किया गया है। इसमें 'सम्' 'उत्' और 'वि' ये तीन उपसर्ग हैं; सम का अर्थ है भलीभाँति, 'उत्' का अर्थ है उच्चता के साथ और 'वि' का अर्थ है विशेषरूप से। इस प्रकार सूर्य के भली भाँति, उच्चतापूर्वक और विशेष रूप से प्राणियों को देखने में भगवान् सूर्य की कृपा की अधिकता व्यक्त होती है कि भगवान् सूर्य प्राणियों से इतना प्रेम करते हैं कि उन्होंने प्राणियों को बहुत ही ध्यान से देखा। दूसरा उदाहरण—

'अपनी सामान्य बुद्धि से ही अनुमान करनेवाले मूर्ख लोग मनुष्य वृत्ति से विचरण करनेवाले योगीश्वरों के द्वारा भी भलीभाँति न जानने योग्य तुझ ईश को अपने तर्कों से जानना चाहते हैं।'

तारावती

यहाँ पर विचरण के लिये 'समुपाचरन्तम्' यह प्रयोग किया गया है। 'सम्' का अर्थ है भलीभाँति, 'उप' का अर्थ है 'गुप्त रूप में' और 'आ' का अर्थ है चारों ओर। इससे ध्वनित होता है कि भगवान् व्यामोहरहित होकर लोककल्याण के लिये सर्वत्र विचरण करते हैं। वे जिस रूप में विचरण करते हैं वह उनका रूप गुप्त अतः दुर्ज्ञेय होता है। इससे विभिन्न कार्यों को करनेवाले भगवान् की लोकानुग्रहेच्छा की अधिकता ध्वनित होती है।

जो बात उपसर्गों के विषय में कही गई है वह निपातों के विषय में भी लागू होती है। अर्थात् रसव्यञ्जक के रूप में यदि दो तीन उपसर्गों का प्रयोग किया जावे तो उसमें दोष नहीं होता। जैसे 'अहो बत! तुम स्पृहणीय पराक्रमवाले हो।' यहाँ पर 'अहो' और 'बत' ये दो निपात प्रयुक्त किये गये हैं जिनसे प्रशंसा की अधिकता ध्वनित होती है। दूसरा उदाहरण—

'कुछ लोग इतने सज्जन होते है कि जब वे किसी ऊर्जस्वीत् गुणवान् व्यक्ति को देखते हैं तो जी उठते हैं, अपने अङ्गों में नहीं समाते, आनन्दित हो जाते हैं, उनके आनन्दाश्रु एकदम प्रवाहित होने लगते है और वे रोमाञ्चित हो जाते हैं; किन्तु धिक्कार है, अत्यन्त खेद की बात है कि दुष्ट दैव ऐसे लोगों का बिलकुल नाश कर देता है और सज्जनों से द्रोह करनेवालों को पुष्ट करता है। जब दैव ही सज्जनों का घातक है तब हम उनके त्राण के अतिरिक्त किस की शरण जावें?'

यहाँ पर 'हा' 'धिक्' ये दो निपात एक साथ आये हैं; इनसे विधि के प्रति असूया और लोक की विपरीत की निन्दा की व्यञ्जना से निर्वेद की अधिकता ध्वनित होती है।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि सुप् तिङ् इत्यादि तो व्यञ्जक होते ही हैं कभी कभी एक साथ दो दो तीन तीन उपसर्ग निपात इत्यादि आ जाते हैं; उनका दो तीन बार प्रयोग भी व्यञ्जक हो सकता है। केवल कारिका में आये हुये तत्त्व ही दो बार कहे जाने पर व्यञ्जक नहीं होते अपितु शब्द इत्यादि भी व्यञ्जक हो जाते हैं। पुनरुक्ति भी व्यञ्जक हो सकती है इस प्रसङ्ग से दूसरी पुनरुक्तियों की व्यञ्जकता का भी निर्देश किया जा रहा है कि यदि पदपौनरुक्त्य का व्यञ्जकत्व की दृष्टि से प्रयोग किया गया हो तभी वह शोभा को धारण करती है। (आशय यह है कि वैसे पुनरुक्ति तो दोष ही होती है, किन्तु यदि व्यञ्जकत्व की दृष्टि से उसका प्रयोग किया जावे तो वह रसापकर्ष के स्थान पर रसोत्कर्ष ही करती है। यही बात साहित्यदर्पण मे बतलाये हुये विहित के अनुवाद इत्यादि स्थलों के विषय मे कही जा सकती है।) पद के पौनरुक्त्य से व्यञ्जना का उदाहरण—

ध्वन्यालोकः

पदपौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित्प्रयुज्यमानं शोभामावहति। यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कुतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति॥

इत्यादौ।

(अनु०) पदपौनरुक्त्य तो कभी व्यञ्जकत्व की अपेक्षा से ही प्रयुक्त किया हुआ शोभा को धारण करता है। जैसे—

'जो कि वञ्चना में अपने मन को लगाये हुये कार्य की ओर उन्मुख दुष्ट लोग बहुत सी खुशामद की बातों से भरी हुई बनावटी बातें किया करते हैं उसको सज्जन लोग नहीं जानते ऐसा नहीं है अपितु जानते हैं किन्तु इसके प्रणय को व्यर्थ करने में समर्थ नहीं होते।'

इत्यादि में।

लोचन

प्रसङ्गात्पौनरुक्त्यान्तरमपि व्यञ्जकमित्याह—पदपौनरुक्त्यमिति। पदग्रहणं वाक्यादेरपि यथासम्भवमुपलक्षणम्। विदन्तीति। त एव हि सर्वं विदन्ति सुतरामिति ध्वन्यते। वाक्यपौनरुक्त्यं यथा—'पश्य द्वीपादन्यस्मादपि' इति वचनान्तरं 'कः

प्रसङ्गवश दूसरे व्यञ्जक पौनरुक्त्य को कहते हैं—'पदपौनरुक्त्य' यह। पदग्रहण यथासम्भव वाक्य इत्यादि का भी उपलक्षण है। 'जानते हैं'। 'वे ही सब भली भाँति जानते हैं' यह ध्वनित होता है। वाक्यपौनरुक्त्य जैसे—'देखो दूसरे

तारावती

'दुष्ट लोग वञ्चना को अपने मन में रक्खे हुये और स्वार्थ साधन को ही अपना लक्ष्य समझते हुये जो कि चाटुकारिता से भरी हुई बहुत सी बनावटी बातें किया करते हैं उनको सज्जन लोग जान नहीं जाते ऐसा नहीं है, वे जान जाते हैं; किन्तु फिर भी (अपनी सज्जनता के कारण) उनमे इतनी शक्ति ही नहीं होती कि वे दुष्टों की अभ्यर्थना को व्यर्थ कर सके।'

यहाँ पर 'नहीं जान जाते ऐसा नहीं' इस कथन से ही दृढता आ जाती है क्योंकि दो बार 'न' का प्रयोग प्रकृत अर्थ को दृढ कर देता है। तथापि पुनः 'जानते हैं' यह कह दिया गया है। इस पुनरुक्ति से व्यञ्जना निकलती है कि और कोई जाने या न जाने सज्जनों मे इतनी निपुणता होती है कि ठीक ठीक तो वे ही जान पाते हैं।

## लोचन

सन्देहः द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यनेनेप्सितप्राप्तिरविघ्नतैव ध्वन्यते। 'किं किम् ? स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' इत्यनेनामर्षातिशयः। 'सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी' इत्युन्मादातिशयः।

द्वीप से भी' इन वचनों के बाद 'क्या सन्देह है दूसरे द्वीप से भी' इससे इष्ट की विघ्नरहित ही प्राप्ति ध्वनित होती है। 'क्या क्या मेरे जीवित रहते धार्तराष्ट्र स्वस्थ हों' इससे अमर्ष की अधिकता। 'समस्त पर्वतों के स्वामी! क्या तुमने सर्वाङ्गसुन्दरी को देखा है?' इससे उन्माद की अधिकता।

## तारावती

यहाँ पर 'पद-पौनरुक्त्य' यह उपलक्षणपरक है, इससे वाक्य इत्यादि के पौनरुक्त्य मे भी व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है। वाक्य-पौनरुक्त्य मे व्यञ्जकता का उदाहरण—(१) रत्नावली मे सूत्रधार कहता है—'दूसरे द्वीप से भी, समुद्र के मध्य से भी, दिशा के छोर से भी अभिमत को लाकर अभिमुख विधाता उसे सङ्घटित कर देता है।' सूत्रधार के इस कथन को लेकर 'क्या सन्देह है? दूसरे द्वीप से भी' इत्यादि वाक्य को कहते हुये पात्रप्रवेश होता है। वाक्य के इस पौनरुक्त्य से ध्वनित होता है कि अभीष्ट की प्राप्ति विना विघ्न के ही हो जावेगी। (रत्नावली का प्रवहण भङ्ग, पुनः व्यापारियों के हाथ मे पड़ना, सागरिका के रूप मे उदय के अन्तःपुर मे निवास इत्यादि ऐसी घटनायें थी जिनको अनुकूल विधाता ने स्वयं सङ्घटित कर दिया और रत्नावली के रूप मे अभीष्ट प्राप्ति होकर ही रही।) (२) वेणीसंहार मे भीमसेन बार-बार यह वाक्य बोलते हैं कि 'मेरे जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हों।' इस वाक्य से भीमसेन के क्रोध की अधिकता ध्वनित होती है। (३) विक्रमोर्वशीय मे उर्वशी के लतारूप मे परिणत हो जाने पर राजा पर्वत से पूछते हैं—'हे समस्त पर्वतो के स्वामी! क्या तुमने इस वन के अन्दर मेरे द्वारा विमुक्त सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी को देखा है?' 'देखा' की प्रतिध्वनि सुनकर फिर वही कहते हैं। यहाँ वाक्य का पुनः कहना राजा के उन्माद की अधिकता को ध्वनित करता है।

तिङन्त के अर्थसमूह में कारक, काल, संख्या, उपग्रह (कर्तृवाच्यता कर्मवाच्यता) ये सब आ जाते है, तिङन्त पद के अन्दर इन सबका अनुप्रवेश हो जाता है। इनमे प्रत्येक पर यदि अन्वय और व्यतिरेक की दृष्टि से सूक्ष्मतया विचार किया जावे अर्थात् यह देखा जावे कि कौन अर्थ किस शब्द के होने पर व्यक्त होता है और उसके हटाने पर हट जाता है तो भागों मे रहनेवाला व्यञ्जकत्व भी अनुभव-गोचर हो जावेगा। उदाहरण के लिये काल की व्यञ्जकता को लीजिये।

ध्वन्यालोकः

कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

समविसमणिव्विसेसा . समन्तओ मन्दमन्दसंआरा ।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ॥
[ समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः ।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥ इति छाया]

(अनु०) काल की व्यञ्जकता जैसे—

'सम और विषम में विशेषतारहित, चारों ओर मन्द मन्द विचरणवाले मार्ग क्षणभर में मनोरथों द्वारा भी अलङ्घनीय हो जावेंगे ।'

लोचन

कालस्येति । तिङन्तपदानुप्रविष्टस्याख्यातार्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्यमिति भावः ।

'काल का' यह । भाव यह है कि तिङन्त पद में अनुप्रविष्ट, कारक काल संख्या वाच्यरूप अर्थकलाप के मध्य में भी अन्वय व्यतिरेक से सूक्ष्म दृष्टि से भाग में रहनेवाले व्यञ्जकत्व का भी विचार करना चाहिये ।

तारावती

कोई नायक परदेस को जा रहा है, वर्षाकाल सन्निकट है । नायिका उससे कह रही है—

'शीघ्र ही वर्षाकाल आ जावेगा समान तथा ऊँचे नीचे सभी प्रदेश पानी भर जाने से एक जैसे हो जावेंगे । चारों ओर पिच्छलता आ जाने से इनमें सञ्चरण बहुत ही मन्द हो जावेगा । शीघ्र ही मार्ग मनोरथों के लिये भी दुर्लङ्घ्य हो जावेंगे ।'

आशय यह है कि हे प्रियतम ! आप तो परदेश जा रहे हैं, एक तो वर्षा का उद्दीपन काल आयेगा, दूसरे हमारे लिये सन्देश भेजना भी कठिन हो जावेगा । अतः मेरी प्राण रक्षा के लिये तुम्हें ऐसे समय में परदेश नहीं जाना चाहिये । यहाँ पर 'शीघ्र ही हो जावेगा' इस भविष्यत्काल का प्रयोग किया गया है यहाँ पर भविष्यत् मे स्य प्रत्यय भविष्यत्काल का वाचक है । जिससे व्यञ्जना निकलती है 'जब मैं वर्षाकाल की कल्पना करती हूँ तब भी मेरा शरीर काँप उठता है फिर जब वर्षाकाल वर्तमान होगा तब मेरी क्या दशा होगी यह तो कहना ही कठिन है ।' यह व्यञ्जना यहाँ पर रस की परम परिपोषक हो जाती है। जब हम इस गाथा के अर्थ को विप्रलम्भ शृंगार के विभाव के रूप मे समझते हैं तब यह रसमय हो जाता हैं । इस प्रकार तिङन्त इत्यादि के अवान्तर भाग भी व्यञ्जक होते हैं ।

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यचिराद्भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते । अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रसवान् ।

(अनु०) यहाँ पर निस्सन्देह 'शीघ्र ही मार्ग हो जावेंगे' यहाँ पर 'हो जावेंगे' इस पद में कालविशेष का अभिधान करनेवाला रसपरिपोष हेतु प्रत्यय प्रकाशित होता है । निस्सन्देह यह गाथा का अर्थ प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार के विभाव के रूप में विभावित किये जाने पर रसवाला होता है ।'

लोचन

रसपरिपोषेति । उत्प्रेक्ष्यमाणो वर्षासमयः कम्पकारी किमुत वर्तमान इति ध्वन्यते ।

'रसपरिपोष' यह । उत्प्रेक्षा किया हुआ वर्षा समय कम्पन पैदा करनेवाला है वर्तमान का तो कहना ही क्या ? यह ध्वनित किया जाता है ।

तारावती

यहाँ प्रकरण अंशांशी की व्यञ्जकता का चल रहा है । इसी प्रसङ्ग में यह भी समझ लिया जाना चाहिये कि जिस प्रकार प्रत्ययरूप अंश व्यञ्जक होता है उसी प्रकार प्रकृतिरूप अंश भी व्यञ्जक हो सकता है अर्थात् पूरा पद तो व्यञ्जक होता ही है दोनों पदांश ( प्रकृति और प्रत्यय ) व्यञ्जक होते हैं । उदाहरण—

'आश्चर्य है कि यह ब्राह्मण ( सुदामा कुछ ) दिनो में ही इतना अधिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया गया । वह टुटी दीवारोंवाला घर और ये आकाश चूमनेवाले विशाल भवन, वह बुड्ढी गाय और ये हाथियों की घनघोर घटायें, वह मूसल का तुच्छ शब्द और यह स्त्रियों का ललित सङ्गीत । आश्चर्य है कि कितना बड़ा अन्तर हो गया है ।'

यहाँ पर 'दिवसैः' शब्द की प्रकृति है 'दिवस' । इससे व्यञ्जना होती है कि इस ब्राह्मण को इतनी अधिक उन्नति करने में न वर्ष लगे न महीने । कुछ ही दिनों में यह सब हो गया । एक तो इतना बड़ा परिवर्तन ही आश्चर्यजनक है, दूसरी बात यह है कि यह सब दिनों मे ही सम्पन्न हो जावे, वर्षों की तो बात ही दूर रही महीने भी न लगे यह तो सर्वथा अत्यन्त असम्भव है । इस प्रकार 'दिवस' इस प्रकृति ( शब्द ) का अर्थ वस्तु की अत्यन्त असम्भवनीयता को ध्वनित करता है । सामान्य प्रकृतियों मे तो व्यञ्जकता होती ही है, 'सर्वनाम' रूप प्रकृति मे व्यञ्जकता विशेष रूप से होती है । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब प्रकृतिरूप अंश में व्यञ्जकता बतला दी तब सर्वनाम में पृथग्भूत व्यञ्जकता बतलाने में पौनरुक्त्य दोष है। इसका उत्तर यह है कि सर्वनाम सामान्य प्रकृति से मिलकर ( भी )

ध्वन्यालोकः

यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित्प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते। यथा—

तद्गेहं नतभित्तिमन्दिरमिदं लब्धावगाहं दिवः
सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणामेताः घनाभाः घटाः॥
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः॥

अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः।

(अनु०) जिस प्रकार यहाँ पर प्रत्यय का अंश व्यञ्जक है उसी प्रकार कहीं प्रकृति का अंश भी देखा जाता है। जैसे—

'झुकी दीवालोंवाला वह घर और आकाश में अवकाश पानेवाला यह (विशाल) भवन। वह बुड्ढी गाय और ये बादलों के समान हाथियों की घटायें। वह तुच्छ मूसल का शब्द और यह स्त्रियों का मधुर सङ्गीत। आश्चर्य है कि यह ब्राह्मण दिनों में ही इतनी बड़ी भूमिका पर पहुँचा दिया गया।'

यहाँ श्लोक में 'दिनों में ही' इस पद में प्रकृति का अंश भी द्योतक है।

लोचन

अंशाशिकमसङ्गादेवाह—यथात्रेति। दिवसार्थो ह्यत्रात्यन्तासम्भाव्यमानतामस्यार्थस्य ध्वनति।

अंशाशी के प्रसङ्ग से ही कहते हैं—'जैसे यहाँ'। दिवस का अर्थ यहाँ पर इस अर्थ की अत्यन्त असम्भाव्यमानता को बतलाता है।

तारावती

व्यञ्जक होता है। (सामान्य सर्वनाम भी व्यञ्जक हो सकता है इसके उदाहरण अन्यत्र दिये गये हैं।) इसीलिये पौनरुक्त्य नहीं होता। उदाहरण के लिये प्रस्तुत 'तद्गेहं नतभित्ति' इत्यादि पद्य को ही लीजिये—'वह घर' यहाँ 'वह' इस सर्वनाम से घर की जीर्ण-शीर्णता और बहुत ही निकृष्टता व्यक्त होती है। किन्तु केवल 'वह' की व्यञ्जना उत्कृष्टतापरक भी हो सकती है। इसीलिये 'नतभित्ति' (झुकी हुई दीवालोंवाला) इस शब्द का प्रयोग किया गया। अब इस नतभित्ति' शब्द के सहकार मे 'तत्' की व्यञ्जना से दौर्भाग्यातिशय का ख्यापन हो जाता है। यदि केवल 'नतभित्ति' शब्द का प्रयोग किया गया होता 'तत्' यह सर्वनाम न होता तो उस घर के समस्त दौर्भाग्यों का आयतन होने की सूचना नहीं मिलती। इसी प्रकार 'वह गाय' 'मूसल की वह क्षुद्र ध्वनि' इत्यादि मे भी समझा जाना चाहिये। 'यत्' और 'तत्' शब्द का नित्य सम्बन्ध हुआ करता है किन्तु 'ते लोचने प्रतिदिशं

ध्वन्यालोकः

सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते श्लोके। अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादिशब्दप्रयोगो न कृतः।

(अनु०) और सर्वनामों का व्यञ्जकत्व जैसे अभी उदाहरण दिये हुये श्लोक में। यहाँ पर सर्वनामों के व्यञ्जकत्व को ही हृदय में रखकर कवि ने 'क' इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया।

लोचन

सर्वनाम्नां चेति। प्रकृत्यंशस्य चेत्यर्थः। तेन प्रकृत्यंशेन संभूय सर्वनामव्यञ्जकं दृश्यत इत्युक्तं भवतीति न पौनरुक्त्यम्। तथाहि—तदिति पदं नतमित्तीत्येतत्प्रकृत्यंशसहायं समस्तामङ्गलनिधानभूतां मूपकाद्याकीर्णतां ध्वनति। तदिति हि केवलमुच्यमाने समुत्कर्षातिशयोऽपि सम्भाव्येत। न च नतभित्तिशब्देनाप्येते दौर्भाग्यायतनत्वसूचका विशेषा उक्ताः। एवं सा धेनुरित्यादावपि योज्यम्। एवंविधे च विषये स्मरणा-

'सर्वनामों का' यह। अर्थात् प्रकृति के अंश का भी। इससे प्रकृति अंश से मिलकर सर्वनाम व्यञ्जक देखा जाता है यह बात कही हुई हो जाती है अतः पुनरुक्ति दोष नहीं आता। वह इस प्रकार—'तत्' यह शब्द 'नतभित्ति' इस प्रकृति-अंश की सहायता के साथ समस्त अमङ्गल के निधानरूप मूषक इत्यादि की आकीर्णता को ध्वनित करता है। केवल 'तत्' यह कहे जाने पर उत्कर्ष की अधिकता भी सम्भावित की जा सकती। 'नतभित्ति' शब्द से ही दौर्भाग्य की अधिकता की सूचक ये विशेषतायें नहीं कही गई होतीं। इसी प्रकार 'वह गाय' इत्यादि में भी योजना कर ली जानी चाहिये। और इस प्रकार के विषय में 'तत्'

तारावती

विधुरे क्षिपन्ती' में जैसा बतलाया जा चुका है ऐसे अवसरों पर 'तत्' शब्द को यत् शब्द की अपेक्षा नहीं होती अपितु 'तत्' शब्द स्मरण के आकार का द्योतक होता है। 'वह घर' 'वह गाय' 'वह क्षुद्र मूसलध्वनि' से सुदामा के अतीत दौर्भाग्य की अधिकता व्यक्त की गई है और 'इदम्' शब्द अनुभव का वाचक है। 'यह गगनचुम्बी भवन' 'यह हाथियों की घनघोर घटायें' 'यह रमणियों का कलमधुर सङ्गीत' ये अनुभव गोचर हैं। स्मृति और अनुभव में अत्यन्त विरुद्ध विषयता को सूचित किया जा रहा है जिससे आश्चर्य के विभाव की योजना की गई है। यदि 'तत्' और 'इदम्' शब्द न होते तो सभी कुछ असङ्गत हो जाता। अतः यहाँ पर काव्य सौन्दर्य का प्राण यही 'तत्' और 'इदम्' अंश ही है। प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना इसी प्रकार करनी चाहिये। यहाँ पर प्रकृतियों और सर्वनामों को मिलाकर जो व्यञ्जकता दिखलाई गई है वह एक उपलक्षणपरक शब्द है जिससे निष्कर्ष निकलता है कि

ध्वन्यालोकः

अनया दिशा सहृदयैरन्येऽपि व्यञ्जकविशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः। एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्।

( अनु० ) इस दिशा से सहृदयों द्वारा और भी व्यञ्जक विशेष स्वयं समझ लिये जाने चाहिये। यह सब पद वाक्य और रचना द्वारा द्योतन की उक्ति से ही गतार्थ भी वैचित्र्य के साथ व्युत्पत्ति के लिये पुनः कहा गया।

लोचन

यत्राकारद्योतकता तच्छब्दस्य। न तु यच्छब्दसम्बद्धतेत्युक्तं प्राक्। अत एवात्र तदिदं-शब्दादिना स्मृत्यनुभवयोरत्यन्तविरुद्धविषयतासूचनेनाश्चर्यविभावता योजिता। तदिदं-शब्दाद्यभावे तु सर्वमसंगतं स्यादिति तदिदमंशयोरेव प्राणत्वं योज्यम्। एतच्च द्विशः सामस्त्यं त्रिशः सामस्त्यमिति व्यञ्जकमित्युपलक्षणपरम्। तेन लोष्टप्रस्तारन्यायेनानन्त-वैचित्र्यमुक्तम्। यद्वक्ष्यत्यन्येऽपीति।

अतिविक्षिप्ततया शिष्यबुद्धिसमाधानं न भवेदित्यभिप्रायेण संक्षिपति—एतच्चेति। विततत्वाभिधानेऽपि प्रयोजनं स्मारयति—वैचित्र्येणेति।

यत्र शब्द की स्मरण के आकार की द्योतकता होती है। यत् शब्द सम्बद्धता नहीं होती यह पहले कहा जा चुका है। अतएव यहाँ पर 'तत्' 'इदम्' शब्द इत्यादि से स्मृति और अनुभव की अत्यन्त विरुद्धविषयता की सूचना के द्वारा आश्चर्य की विभावना योजित की गई है। 'तत्' और 'इदम्' इत्यादि शब्दों के अभाव में तो सब असङ्गत हो जाता, अतः 'तत्' और 'इदम्' शब्दों में ही प्राणत्व की योजना करनी चाहिये। और यह दो दो से समस्तता और तीन तीन से समस्तता यह उपलक्षणपरक है। इससे लोष्टप्रस्तारन्याय से अनन्त वैचित्र्य कहा गया है। जैसा कि कहेंगे कि 'अन्य भी' इत्यादि।

अत्यन्त विक्षिप्त ( बिखरा हुआ ) होने के कारण शिष्य-बुद्धि का समाधान नहीं होगा इस अभिप्राय से संक्षेप करते हैं—'और यह।' फैलाकर कहने में भी प्रयोजन का स्मरण कराते हैं—'वैचित्र्य से' यह।

तारावती

व्यञ्जकत्व में परिपूर्णता दो दो करके भी आ सकती है तीन तीन करके भी आ सकती है। यह तो सिद्ध ही है कि यहाँ पर कवि ने सर्वनामों का प्रयोग व्यञ्जक के रूप में किया है। यदि कवि का लक्ष्य सर्वनामों के द्वारा व्यञ्जना करना न होता तो कवि सर्वनामों का प्रयोग न कर वैपम्य दिखलाने के लिये—'कहाँ तो झुकी दीवालों वाला घर और कहाँ विशाल भवन' इस प्रकार 'कहाँ तो' इन शब्दों का प्रयोग करता। इनका प्रयोग न कर सर्वनामों का प्रयोग किया गया है इससे यही

तारावती

सिद्ध होता है कि कवि सर्वनाम का प्रयोग व्यञ्जक के रूप में कर रहा है और दो दो शब्द मिलकर पूर्ण व्यञ्जक बनते हैं। यदि इस प्रकार दो दो तीन तीन को मिलाकर व्यञ्जक माना जावे और एक दूसरे से उनके साङ्कर्य की विवेचना की जावे तो लोष्टप्रस्तार के द्वारा व्यञ्जकों की संख्या अनन्त हो जावेगी और उनकी विशेषताओं की भी कोई सीमा न रहेगी। अतः यहाँ मार्गमात्र दिखलाया गया है। समस्त व्यञ्जकों का उल्लेख सर्वथा असम्भव है। सहृदयों को चाहिये कि वे इसी प्रकार अन्य व्यञ्जकों की स्वयं कल्पना कर लें। यहाँ पर यह विषय बहुत ही बिखर गया है। अतः सम्भव है कि शिष्यों को कुछ व्यामोह हो जावे और वे ठीक रूप मे उसको हृदयङ्गम न कर सके इसीलिये अन्त मे संक्षेप मे बतला दिया गया है कि यह सब पद वाक्य और रचना के द्योतन के कथन से ही गतार्थ तथा अपनी विचित्रताओं के साथ ठीक रूप में समक्ष मे आ जावे इसलिये पुनः कथन कर दिया गया। विचित्रता को समझाने के लिये ही पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया। (आशय यह है कि पिछली कारिकाओं मे पद इत्यादि की व्यञ्जकता बतलाई जा जा चुकी थी। पद के अन्दर ही उसके विभिन्न अवयव सुप् तिङ् इत्यादि भी आ जाते हैं। किन्तु इतने से बात स्पष्ट नहीं होती थी अतः स्पष्ट करने के मन्तव्य से 'सुतिङ्' इत्यादि प्रस्तुत कारिका लिखी गई है।)

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यङ्ग्यार्थ या तो अभिधेयार्थ-मूलक होता है या लक्षणार्थमूलक। लक्ष्यार्थ भी अभिधा की पुच्छभूत ही होती है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि रस इत्यादि जितने भी व्यङ्ग्यार्थ होते हैं उन सबका उद्गम सर्वदा वाच्यार्थ से ही होता है और वाच्यार्थ मे ही रस इत्यादि का आक्षेप किया जा सकता है। इसका आशय यही है कि जहाँ कहीं वाच्यार्थ होगा वहीं व्यञ्जना हो सकेगी, जहाँ वाच्यार्थ नहीं होगा वहाँ व्यञ्जना हो ही नहीं सकेगी। अर्थ सम्पूर्ण पद का होता है उसके किसी अंश का नहीं। सुप् इत्यादि पदांश हैं पूर्ण पद नहीं। अतः जब सुप् इत्यादि में वाच्यार्थ ही नहीं होता तो उससे व्यञ्जना किस प्रकार हो सकती है और सुप् इत्यादि को रसाभिव्यञ्जक किस प्रकार माना जा सकता है? प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि सुप् इत्यादि का व्यञ्जकत्ववैचित्र्य-प्रतिपादन असङ्गत ही है। यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर पदों की व्यञ्जकता के निरूपण के अवसर पर दिया जा चुका है तथापि यहाँ पर प्रश्न दो मन्तव्यों से पुनः उठाया है। एक तो इस मन्तव्य से कि पाठक पहले कही हुई बात को भूल न जावे, दूसरे यह कि उसी प्रतिपादन मे कुछ अधिक कहना है। (पदों की व्यञ्जकता के निरूपण के अवसर पर यह प्रश्न उठाया गया था कि

ध्वन्यालोकः

ननु चार्थसामर्थ्यादाक्षेप्या रसादय इत्युक्तम्, तथा च सुवादीनां व्यञ्जकत्व-वैचित्र्यकथनमनन्वितमेव । उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकत्वोक्त्यवसरे। किञ्चार्थ-विशेषादाक्षेप्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद्यथा-

(अनु०) (प्रश्न) यह कहा गया है कि रस इत्यादि अर्थसामर्थ्य से आक्षेप करने योग्य होते हैं। अतः सुप् इत्यादि का व्यञ्जकत्व वैचित्र्यकथन-अनुचित ही है। (उत्तर) इस (ग्रन्थ) मे (ही) पदों के व्यञ्जकत्व के कथन के अवसर पर कहा गया है। (इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है।) दूसरी बात यह है कि रस इत्यादि के अर्थविशेष के द्वारा आक्षेप करने योग्य होने पर भी उन अर्थ-

लोचन

नन्विति। पूर्वनिर्णीतमप्येतदविस्मरणार्थमधिकाभिधानार्थं चाक्षिप्तम्। उक्त-मत्रेति। न वाचकत्वं ध्वनिव्यवहारोपयोगी येनावाचकस्य व्यञ्जकत्वं न स्यादिति प्रागेवोक्तम्। ननु न गीतादिवद्रसाभिव्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य तत्र व्यापारोऽस्त्येव; स च व्यञ्जनात्मैवेति भावः। एतच्चास्माभिः प्रथमोद्योते निर्णीतचरम्। न चेदमस्माभिर-

'ननु' यह। पूर्वनिर्णीत भी यह विस्मरण न होने के लिये और अधिक कहने के लिये आक्षिप्त किया गया है। 'यहाँ यह कहा गया' वाचकत्व ध्वनिव्यवहार का उपयोगी नहीं है जिससे अवाचक का व्यञ्जकत्व न हो यह पहले ही कहा जा चुका है। भाव यह है गीत इत्यादि के समान शब्द के रसाभिव्यञ्जकत्व में भी वहाँ पर व्यापार नहीं ही होता ऐसा नहीं है और वह व्यञ्जनात्मक ही होता है।

तारावती

वस्तुतः वाक्य सार्थक होते हैं, वाक्यगत पद उसी प्रकार निरर्थक होते हैं जिस प्रकार पदगत वर्ण निरर्थक होते हैं। अतः पदों की व्यञ्जकता सिद्ध नहीं होती।) वहाँ पर बतलाया जा चुका है कि व्यञ्जक होने के लिये वाचक होना अनिवार्य नहीं है। जिस प्रकार गीत इत्यादि रस के व्यञ्जक होते हैं उसी प्रकार (अर्थ निरपेक्ष) शब्द का व्यापार रसाभिव्यञ्जन में न हो ऐसी बात नहीं है। इसका निरूपण प्रथम उद्योत में ही किया जा चुका है। शब्द यह व्यापार व्यञ्जना के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। जब केवल वर्ण माधुर्य इत्यादि गुणों की व्यञ्जना करते हैं तब केवल वर्णरूप सुप् इत्यादि रस की व्यञ्जना क्यों नहीं कर सकते? दूसरी बात यह है कि कहीं कहीं अर्थविशेष के द्वारा भी रस इत्यादि की अभि-व्यक्ति होती है, वे वाच्यार्थविशेष किन्हीं विशेष शब्दों के द्वारा ही अभिहित किये जा सकते हैं। जब तक उन विशेष शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता तब तक वे विशेष अर्थ भी निष्पन्न नहीं हो पाते और न रस इत्यादि की व्यञ्जना ही कर

ध्वन्यालोकः

प्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिज्ञानं विभज्योपयुज्यत एव। शब्दविशेषाणां चान्यत्र च चारुत्वं यद्विभागेनोपदर्शितं तदपि तेषां व्यञ्जकत्वेनावस्थितमित्यवगन्तव्यम्।

विशेषों के व्यञ्जक शब्दों के विना न हो सकने के कारण जैसा दिखलाया गया है वैसे व्यञ्जकस्वरूप का परिज्ञान विभक्त करके उपयुक्त हो ही जाता है। और जो शब्दविशेषों का चारुत्व विभक्त करके अन्यत्र दिखलाया गया है वह भी उनके व्यञ्जकत्व से ही अवस्थित होता है—यह समझना चाहिये।

लोचन

पूर्वमुक्तमित्याह—शब्दविशेषाणां चेति। अन्यत्रेति। भामहविवरणे। विभागेनेति। स्रक्चन्दनादयः शब्दाः शृङ्गारे चारवो बीभत्से त्वचारव इति रसकृत एव विभागः। रसं प्रति च शब्दस्य व्यञ्जकत्वमेवेत्युक्तं प्राक्।

यह हमने प्रथम उद्योत में प्रायः निर्णीत ही कर दिया है। यह हमने कुछ अपूर्व नहीं कहा यह कहते हैं—'शब्द विशेषों का' यह। 'अन्यत्र' भामह विवरण मे। 'विभाग से, स्रक् चन्दन इत्यादि शब्द शृंगार में सुन्दर और बीभत्स में असुन्दर होते हैं यह रसकृत विभाग ही है। रस के प्रति शब्द का व्यञ्जकत्व ही है यह पहले कहा जा चुका।

तारावती

सकते हैं। इससे यह सिद्ध ही हो जाता है कि जहाँ अर्थ से रसादि की व्यञ्जना होती है वहाँ भी शब्द निमित्त अवश्य होता है। अतः शब्द को तोड़ कर उसके पृथक् पृथक् अवयवों मे जो व्यञ्जक के स्वरूप (व्यञ्जकता) का परिज्ञान कराया गया है वह भी सङ्गत ही हो जाता है। यह बात हम कोई नई नहीं कह रहे हैं। भामह विवरण में (उद्भट) ने विशेष शब्दों की चारुता-अचारुता का निरूपण विभाग के साथ किया है (शब्द–खण्डों की चारुता-अचारुता का निरूपण किया है।) यह चारुता अचारुता का निरूपण तभी सङ्गत होता है जब कि शब्दों और शब्दखण्डों व्यञ्जकता स्वीकार कर ली जावे। स्रक्, चन्दन इत्यादि शब्द शृङ्गार में चारु होते हैं और बीभत्स मे अचारु होते हैं यह विभाजन रस की दृष्टि से ही किया जा सकता है। रस की दृष्टि से भी यह विभाजन तभी सङ्गत हो सकता है जब कि अर्थनिरपेक्ष शब्द की व्यञ्जकता मान ली जावे। इन सबका विस्तार-पूर्वक निरूपण पहले किया जा चुका है। (आशय यही है कि जहाँ कहीं अर्थमूलक व्यञ्जना होती है वहाँ भी शब्द का सहकार अनिवार्य होता है और जहाँ शब्द-मूलक व्यञ्जना होती है वहाँ तो शब्द में कारणता होती ही है।) यहाँ पर एक प्रश्न यह भी विचारणीय है कि वहाँ तो ठीक है जहाँ शृङ्गारपरक रचना होती है।

ध्वन्यालोकः

यत्रापि तत्सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठवं तेषां प्रवाहपतितानां तदेवाभ्यासादपोद्धृतानामप्यवभासत इत्यवसातव्यम्।

(अनु०) जहाँ पर वह इस समय प्रतिभासित नहीं होता वहाँ पर भी दूसरी व्यञ्जक रचना में जो सौष्ठव देखा गया प्रवाहपतित अपोद्धृत उन (शब्दों) का अभ्यासवश वही अवभासित होता है यह समझना चाहिये।

लोचन

यत्रापीति। स्रक्चन्दनादिशब्दानां तदानीं शृङ्गारादिव्यञ्जकत्वाभावेऽपि व्यञ्जकत्वशक्तेर्भूयसा दर्शनात्तदधिवाससुन्दरीभूतमर्थं प्रतिपादयितुं सामर्थ्यमस्ति। तथा हि—'तटी तारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः 'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा। यथा वास्मदुपाध्यायस्य विद्वत्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य—

इन्दीवरद्युति यदा बिभृयान्न लक्ष्म
स्युर्विस्मयैकसुहृदोऽस्य यदा विलासाः।
स्यान्नाम पुण्यपरिणामवशात्तथापि
किं किं कपोलतलकोमलकान्तिरिन्दुः॥

'जहाँ पर भी' यह। स्रक्चन्दन इत्यादि शब्दों का उस समय शृंगार इत्यादि के व्यञ्जकत्व के अभाव में भी व्यञ्जकत्व शक्ति के बहुत अधिक देखने से उसके अधिवास के कारण अधिक सुन्दरता को प्राप्त अर्थ को प्रतिपादित करने के लिये शक्ति है। वह इस प्रकार—'तटी तारं ताम्यति' यहाँ पर तट शब्द के पुंस्त्व और नपुंसकत्व का अनादर करके 'स्त्री यह नाम भी मधुर है' यह समझ कर सहृदयों के द्वारा स्त्रीत्व का ही आश्रय लिया गया। अथवा जैसे हमारे उपाध्याय विद्वत्कवि सहृदयचक्रवर्ती भट्टेन्दुराज का—

'यदि पुण्य-परिणामवश चन्द्र इन्दीवर के समान श्याम कान्तिवाले चिह्न को न धारण करे, यदि इसके विलास एकमात्र मित्र बन जावें तथापि वह चन्द्रमा क्या कपोलतल के समान कोमल कान्तिवाला हो सकेगा?'

तारावती

वहाँ शब्द श्रृङ्गार के व्यञ्जक होते हैं। किन्तु कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ शृंगार की अभिव्यञ्जना नहीं होती, किन्तु शृंगारपरक शब्दों के प्रयोग से चारुता वहाँ पर भी आ जाती है। रसाभिव्यञ्जना वहाँ पर चारुता मे निमित्त नहीं हो सकती तो फिर चारुता मे निमित्त दूसरा तत्त्व क्या माना जा सकता है? वही तत्त्व शृङ्गार स्थल में भी क्यों निमित्त नहीं माना जा सकता? उसके लिये व्यञ्जना को

## तारावती

निमित्त मानने की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि जहाँ इसकी अभिव्यक्ति नहीं होती वहाँ भी चारुता मे हेतु व्यञ्जना ही होती है । होता ऐसा है कि हम प्रायः शृङ्गाररसमयी रचनायें पढ़ते रहते हैं और तदनुकूल रसाभिव्यञ्जनजन्य शब्द-सौष्ठव का आस्वादन करते रहते हैं । इससे हमारी अन्तरात्मा मे एक भावना बन जाती है कि उन शब्दों में सौष्ठव विद्यमान है । यह सौष्ठव का परिज्ञान व्यञ्जना के कारण ही होता है । फिर जब हम किसी ऐसी रचना को देखते हैं जहाँ उन शब्दों से किसी विशेष प्रकार के रस की अभिव्यक्ति नहीं होती वहाँ अभ्यास, वासना और संस्कारवश उन शब्दों मे सौष्ठव की प्रतीति होती ही रहती है। अतः सिद्ध है कि व्यञ्जनाजन्य सौष्ठवप्रतीति ही संस्कार-वश उन स्थलों पर भी अवभासित होती रहती है जहाँ उन शब्दों से व्यञ्जना नहीं होती । उस अवभास में भी मूलभूत व्यञ्जना ही निमित्त होती है । उदाहरण के लिये तट शब्द पुलिङ्ग भी है, स्त्रीलिङ्ग भी और नपुंसकलिङ्ग भी । 'तट.' 'तटी' और 'तटम्' तीनों शब्दों का समानार्थक प्रयोग होता है । 'तटी अत्यधिक पीडित ( विदीर्ण ) हो रही है' यहाँ पर तट शब्द के पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का अनादर करके स्त्रीलिंग का प्रयोग किया गया है, कारण यह है कि 'स्त्री यह नाम भी मधुर होता है' इस उक्ति के आधार पर यद्यपि यहाँपर माधुर्य की कोई अभिव्यञ्जना नहीं होती तथापि संस्कारवश तट शब्द के स्त्रीलिङ्ग रूप में पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग की अपेक्षा कुछ विशेष सौष्ठव आ ही गया है। इसीलिये सहृदय कवि ने यहाँ पर स्त्रीलिङ्ग रूप का ही प्रयोग किया है । दूसरा उदाहरण जैसे अभिनवगुप्त के उपाध्याय विद्वत्कवि सहृदयचक्रवर्ती उत्पल राजदेव का पद्य—

'जब चन्द्र इन्दीवर के समान कान्तिवाले चिन्ह ( कलङ्क ) को न धारण करे, जब उसमे विस्मय के एकमात्र सहचर विलास भी उत्पन्न हो जावें तो भी पुण्य परिणाम वश वह चन्द्र क्या कपोलतल के समान कोमल कान्तिवाला हो सकता है ?'

यहाँ पर कलङ्क को इन्दवीरवत् बतलाया गया है । यद्यपि यहाँ कोई माधुर्यभाव की व्यञ्जना नही होती तथापि 'इन्दीवर' शब्द में संस्कार जन्य माधुर्याभिव्यञ्जनक्षमता विद्यमान है ही । उसी के कारण यहाँ पर सौष्ठव का प्रतिभास होता अवश्य है । इसी प्रकार लक्ष्य, विस्मय, सुहृत्, विलास, नाम, परिणाम, कोमल इत्यादि शब्दों के विषय में भी समझा जाना चाहिये । इन से सौष्ठव का प्रतिभास इसीलिये होता है कि शृंगार रस क्षेत्र मे इनकी माधुर्याभिव्यञ्जन की शक्ति देखी जा चुकी है । यह तो मानना ही पड़ेगा क्योंकि यदि यह नहीं माना जावेगा तो शब्द-वाचकता तो सभी अर्थों में एक जैसी होती है फिर किसी विशेष अवसर पर किसी

ध्वन्यालोकः

कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात्? अन्य एवासौ सहृदयसंवेद्य इति चेत् किमिदं सहृदयत्वं नाम? किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम्? उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्? पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविधसहृदयव्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्वनियमो न

(अनु०) अन्यथा वाचकत्व के समान होने पर शब्दों की चारुताविषयक विशेषता क्या हो? यदि कहो यह (विशेषता) और ही हृदयसंवेद्य होती है तो यह हृदयसंवेद्य क्या वस्तु है? क्या रस और भाव की अपेक्षा न करते हुये काव्याश्रित संकेतविशेष का ज्ञान? अथवा रसभावादिमय काव्यस्वरूप के परिज्ञान की निपुणता? पहले पक्ष में उस प्रकार के सहृदयों द्वारा व्यवस्थापित शब्दविशेषों का चारुत्वनियम (सिद्ध) नहीं होगा। क्योंकि दूसरे संकेतों के द्वारा अन्यथा भी

लोचन

अत्र हीन्दीवरविस्मयसुहृद्विलासनामपरिणामकोमलादयः शब्दाः शृङ्गाराभिव्यञ्जनदृष्टशक्तयोऽत्र परं सौन्दर्यमावहन्ति।

अवश्यं चैतदवगन्तव्यमित्याह—कोऽन्यथेति। असंवेद्यस्तावदसौ न युक्त इत्याशयेनाह—सहृदयेति। पुनरिति। अनियन्त्रितपुरुषेच्छायत्तो हि समयः कथं नियतः स्यात्।

यहाँ निस्सन्देह इन्दीवर, लक्ष्य, विस्मय, सुहृद्, विलास, नाम, परिणाम, कोमल इत्यादि शब्द जिनकी शक्ति शृङ्गार रसके अभिव्यञ्जन में देखा जा चुकी है यहाँ परम सौन्दर्य को धारण करते हैं।

और यह अवश्य ही समझा जाना चाहिये यह कहते हैं—'अन्यथा क्या।' असंवेद्य तो वह नहीं ठीक है इस आशय से कहते हैं—'सहृदय' इत्यादि 'पुनः' यह। पुरुष की अनियन्त्रित इच्छा के आधीन संकेत नियत कैसे हो सकता है!

तारावती

विशेष शब्द में विशेष चारुता के मानने का क्या आधार होगा? यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि सौष्ठव के प्रतिभास के लिये व्यञ्जना को घसीटने से क्या लाभ? यह कोई अन्य ही तत्त्व है जो कि सहृदयसंवेदनासिद्ध कहा जा सकता है (अर्थात् इस तत्त्व को सिद्ध करने के लिये कोई अन्य प्रमाण नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह अनिर्वाच्य होता है। इसके लिये तो यही कहा जा सकता है कि यह सहृदयसंवेद्य है।) इसके उत्तर में निवेदन है कि यहाँ पर पूर्वपक्षी ने दो शब्दों का प्रयोग किया है संवेदना और सहृदय। इनमें संवेदना पर तो हमें कोई आपत्ति नहो। कोई भी सौष्ठव—सम्पादक तत्त्व असंवेद्य तो हो ही नहीं सकता। अब रही सहृदय की बात। आप सहृदय किसे कहते हैं? क्या काव्यगत ऐसे

## ध्वन्यालोकः

स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्थापनसम्भवात्। द्वितीयस्मिंस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्। वाचकत्वाश्रयाणान्तु प्रसाद एवार्थापेक्षायां तेषां विशेषः। अर्थानपेक्षायां त्वनुप्रासादिरेव। व्यवस्थापन की सम्भावना की जा सकती है। दूसरे पक्ष में तो रसज्ञता ही सहृदयत्व है। उस प्रकार के सहृदयों के द्वारा संवेद्य रसादि समर्पण का नैसर्गिक सामर्थ्य ही शब्दों की विशेषता होती है। इस प्रकार व्यञ्जकत्व के आश्रित ही उनका मुख्य चारुत्व होता है। वाचकत्व का आश्रय लेनेवाले उन शब्दों के अर्थ की अपेक्षा करने पर प्रसाद ही उनकी विशेषता है। अर्थ की अपेक्षा न करने पर तो अनुप्रास इत्यादि ही।

### लोचन

मुख्यं चारुत्वमिति। विशेष इति पूर्वेण सम्बन्धः। अर्थापेक्षायामिति। वाच्यापेक्षायामित्यर्थः। अनुप्रासादिरेवेति। शब्दान्तरेण सह या रचना तदपेक्षोऽसौ विशेष इत्यर्थः। आदिग्रहणाच्छब्दगुणालङ्काराणां संग्रहः। अत एव रचनया प्रसादेन चारुत्वेन चोपबृंहिता एव शब्दाः काव्ये योज्या इति तात्पर्यम्॥ १५, १६॥

'मुख्यचारुत्व' इसका सम्बन्ध पहले आये हुये विशेष शब्द से है। अर्थ की अपेक्षा में अर्थात् वाच्य की अपेक्षा में। 'अनुप्रासादि ही।' दूसरे शब्दों के साथ जो रचना उसकी दृष्टि से यह विशेषता है यह अर्थ है। 'आदि' शब्द के ग्रहण से शब्द गुण और अलङ्कारों का संग्रह हो जाता है। अत एव रचना के द्वारा प्रसाद और चारुत्व से उपबृंहित शब्दों की ही काव्य में योजना करनी चाहिये॥ १५,१६॥

### तारावती

विशेष संकेत का समझना ही सहृदयत्व कहलाता है जिसमें रस भाव इत्यादि की कोई अपेक्षा न हो? अथवा रसादिमय काव्यस्वरूप के परिज्ञान की निपुणता ही सहृदयत्व की प्रयोजिका होती है? (सहृदय शब्द के ये ही अभिप्राय सम्भव है।) यदि प्रथम पक्ष के अनुसार यह मानें कि सहृदय बनने के लिये रस, भाव इत्यादि के परिज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं होती; काव्य के शब्द नवीन अर्थ देते हैं उन अर्थों को पहिचानना ही सहृदयत्व है तो इस पर मेरा कहना यह है—कि यदि रस इत्यादि से अनभिज्ञ को ही सहृदय माना जावेगा तो उनके द्वारा शब्दों की जो भी व्यवस्था की जावेगी कि अमुक शब्द चारु है, अमुक शब्द अचारु है वह व्यवस्था नियमित नहीं हो सकेगी क्योंकि दूसरे सहृदय आकर दूसरे प्रकार की व्यवस्था कर देंगे। आशय यह है कि यदि व्यक्तियों की इच्छा को ही नियामक माना जावेगा

तारावती

तो संसार में एक प्रकार के तो व्यक्ति होते नहीं और न उनकी इच्छायें ही नियन्त्रित होती हैं। अतः एक ही शब्द को कुछ लोग चारु कहेंगे दूसरे लोग अचारु। ऐसी दशा में कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि चारुता का नियामक, वस्तुतः रस इत्यादि ही होता है क्योंकि वही अद्वितीय आस्वाद का प्रवर्तक होता है। अतः रस की दृष्टि से जो भी व्यवस्था की जावेगी वह स्थिर हो जावेगी, उसमें मनमानी व्यवस्था के लिये अवसर नहीं रहेगा। यदि रसभावादि दृष्टि सहृदयता की व्यवस्थापक मानी जाती है तो सहृदयता का अर्थ ही हुआ रसज्ञता। अतः 'सहृदयसंवेद्य शब्दविशेष' का अर्थ यह हुआ कि—रस और भाव इत्यादि को समर्पण करने की स्वभाविक शक्ति ही शब्दों की विशेषता होती है जिसको सहृदय ही परख पाते हैं। अतः मुख्य चारुता व्यञ्जकत्व पर ही अवलम्बित होती है। यदि शब्दों को वाचकता तक ही सीमित रखना हो तो उनकी दो परिस्थितियाँ हो सकती हैं एक तो अर्थ की अपेक्षा करते हुये चारुता का निरूपण किया जावे दूसरे अर्थ की अपेक्षा न करते हुये चारुता का निरूपण किया जावे। यदि अर्थ की अपेक्षा करते हुये चारुता का निरूपण करना हो तो उसकी सबसे बड़ी विशेषता प्रसाद गुण ही होगी अर्थात् वहाँ शब्दप्रयोग का मन्तव्य अपना अभिप्राय दूसरे को समझा देना मात्र होता है। यह प्रयोजन जिस शब्द के प्रयोग से सबसे अधिक सिद्ध हो जावे वही शब्द उस अर्थ के प्रति विशिष्ट माना जावेगा और शब्द की सबसे बड़ी विशेषता मानी जावेगी अर्थ का एकदम प्रत्यायन करा देना। यह विशेषता आपेक्षिक ही मानी जा सकती है—यदि वही अर्थ दूसरे शब्दों से कहे जाने पर उतनी शीघ्रता से अर्थ न प्रकट करे तो जिन शब्दों से अर्थ एक दम प्रकट हो जावे उन शब्दों में अर्थ को प्रकट करने की विशेषता ही मानी जावेगी। यदि सौष्ठव का प्रत्यायन वाच्यार्थ की दृष्टि से न करना हो तो शब्दों का सौष्ठव अनुप्रास इत्यादि की संज्ञा का अधिकारी होगा। इसमें भी आपेक्षिक सौष्ठव ही रहता है। यदि दूसरे शब्दों का उसी अर्थ मे प्रयोग करने पर अनुप्रास इत्यादि की निष्पत्ति न हो तो अनुप्रास निष्पादन ही प्रयुक्त शब्दों की विशेषता होगी। अनुप्रास आदि मे आदि शब्द से शब्दगुणों और शब्दालङ्कारों का संग्रह हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिये जो रचना प्रसाद और चारुता के द्वारा उपबृंहित हो। (साराश यह है कि मुख्य रूप में व्यञ्जना की दृष्टि से सौष्ठवपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। यदि व्यञ्जनाजन्य सौष्ठव अपेक्षित न हो तो वाच्यार्थ की दृष्टि से अथवा स्वयं वाचक शब्द की दृष्टि से सौष्ठव पर विचार कर शब्दों का प्रयोग करना चाहिये।)॥ १५, १६॥

ध्वन्यालोकः

एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमभिधाय तेषामेव विरोधिरूपं लक्षयितुमिदमुपक्रम्यते—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥१७॥

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धनं प्रत्याहृतमना कविर्विरोधपरिहारे परं यत्नमादधीत। अन्यथा त्वस्यरसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ् न सम्पद्यते।

( अनु० ) इस प्रकार रस इत्यादि के व्यञ्जकों को कह कर उन्हीं के विरोधियों के स्वरूप को बतलाने के लिये उपक्रम किया जा रहा है—

'प्रबन्ध अथवा मुक्तक में रस इत्यादि के निबन्धन की इच्छा करने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को विरोधियों के परिहार में यत्न करना चाहिये।'

प्रबन्ध अथवा मुक्तक में भी रसभावनिबन्धन के प्रति आहृत मन वाला कवि विरोधपरिहार मे परम प्रयत्न को भली भाँति धारण करे। नहीं तो इसका एक भी श्लोक रसमय सम्पन्न नहीं होता।

लोचन

रसादीनां यद्व्यञ्जकं वर्णपदादिप्रबन्धान्तं तस्य स्वरूपमभिधायेति सम्बन्धः। उपक्रम्यत इति। विरोधिनामपि लक्षणकरणे प्रयोजनमुच्यते शक्यहानत्वं नाम अनया कारिकया। लक्षणं तु विरोधिरससम्बन्धीत्यादिना भविष्यतीत्यर्थः।

रस इत्यादिकों का जो व्यञ्जक-वर्ण, पद से लेकर प्रबन्धपर्यन्त उसका स्वरूप कह कर यह सम्बन्ध है। 'उपक्रम किया जा रहा है' यह। इस कारिका से विरोधियों के भी लक्षण करने में शक्यहानरूप प्रयोजन बतलाया जा रहा है। लक्षण तो 'विरोधिरसम्बन्धि' इत्यादि से हो जावेगा यह अर्थ है।

तारावती

ऊपर १६ वीं कारिकापर्यन्त व्यञ्जक तत्त्वों पर विचार किया गया और यह बतला दिया गया कि ध्वनि के विभिन्न भेद वर्ण से लेकर प्रबन्धपर्यन्त किस किस रूप मे अभिव्यक्त होते हैं। १८वीं कारिका से इस बात पर विचार किया जावेगा कि रसविरोध किसे कहते हैं। १८ वीं और १९ वीं कारिकाओं में रसविरोध के स्वरूप पर विचार किया जावेगा। प्रस्तुत १७ वीं कारिका मे यह विचार किया गया है कि यहाँ पर रसविरोध का प्रकरण लिखने का प्रयोजन क्या है? वस्तुतः इस प्रकरण का प्रयोजन यही है कि पाठकगण यह समझ जावें कि जो रसविरोधी तत्त्व हैं उनका परिहार भी सम्भव है। इसीलिये सर्वप्रथम विरोधस्थलों को दिखलाकर बाद में परिहार का प्रकार दिखलाया गया है। प्रस्तुत कारिका मे कहा गया है

ध्वन्यालोकः

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥

( अनु० ) फिर वे विरोधी हैं कौन जो यत्नपूर्वक कवि के परिहरणीय हैं यह कहा जा रहा है—

'विरोधी रस सम्बन्धी विभाव इत्यादि का परिग्रह अन्वित भी अन्य वस्तु का

लोचन

ननु 'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः' इति यदुक्तं तत एव व्यतिरेकमुखेनैतदप्यवगंस्यते, मैवम्; व्यतिरेकेण हि तदभावमात्रं प्रतीयते न तु तद्विरुद्धम्। तदभावमात्रं च न तथा दूषकं यथा तद्विरुद्धम्। पथ्यानुपयोगो हि न तथा व्याधिं जनयति यद्वदपथ्योपयोगः। तदाह—यत्नत इति। विभावेत्यादिना श्लोकेन यदुक्तं तद्विरुद्धं विरोधीत्यादिनार्धश्लोकेनाह। इतिवृत्तेत्यादिना श्लोकद्वयेन यदुक्तं तद्विरुद्धं विस्तरेणेत्यर्धश्लोकेनाह। उद्दीपनेत्यर्धश्लोकोक्तस्य विरुद्धं अकाण्ड इत्यर्धश्लोकेन।

( प्रश्न ) 'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः' यह जो कहा गया। उसी से व्यतिरेक मुख से यह भी ज्ञात हो जावेगा। ( उत्तर ) ऐसा नहीं। व्यतिरेक से उसका अभावमात्र प्रतीत होता है विरुद्ध नहीं। केवल उसका अभाव वैसा दूषक नहीं है जैसा विरुद्ध। पथ्य का अनुपयोग उतना व्याधि को नहीं उत्पन्न करता जितना अपथ्य का उपयोग। वह कहते हैं—'यत्न से' 'विभावभावानुभाव' इत्यादि श्लोक से जो कहा गया उसका विरोधी 'विरोधि' इत्यादि आधे श्लोक से कहते हैं। 'इतिवृत्ति' इत्यादि दो श्लोकों में जो कहा गया उसके विरुद्ध 'विस्तरेण—' इत्यादि दो श्लोकों में जो कहा गया उसके विरुद्ध 'विस्तरेण—' इस आधे श्लोक से

तारावती

कि कवि चाहे जिस प्रकार की रचना में प्रवृत्त हो चाहे वह प्रबन्धकाव्य लिख रहा हो चाहे मुक्तक यदि उसके मन में रस निबन्धन की कामना विद्यमान है तो उसे इस बात के लिये अत्यन्त सावधान तथा जागरूक रहना चाहिये कि उसके अभीप्सित रस में विरोधी रस का रञ्चमात्र भी समावेश न हो पावे। यदि वह यह ध्यान नहीं रक्खेगा तो उसका एक पद्य भी रसमय नहीं हो सकेगा ॥ १७ ॥

अब इस विषय मे विचार किया जा रहा है कि जिन विरोधियों का परित्याग करना कवि का कर्तव्य है वे विरोधी हैं कौन ? वस्तुतः प्रबन्ध की रसाभिव्यञ्जकता के अवसर पर विस्तारपूर्वक उन तत्त्वों पर विचार किया जा चुका है जो रस के अभिव्यञ्जक होते हैं। इससे अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि उन तत्त्वों का

ध्वन्यालोकः

अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥१९॥

विस्तारपूर्वक वर्णन, विना अवसर विच्छेद और विना अवसर के प्रकाशन, परिपोष को प्राप्त भी ( रस ) का बार-बार दीपन और वृत्तियों का अनौचित्य रस विरोध के लिये होता है ॥ १८, १९ ॥

लोचन

रसस्येत्यर्धश्लोकोक्तस्य विरुद्धं परिपोषं गतस्येत्यर्धश्लोकेन । 'अलंकृतीनामित्यनेन यदुक्तं तद्विरुद्धमन्यदपि च विरुद्धं वृत्त्यनौचित्यमित्यनेन । एतत्क्रमेण व्याचष्टे—कहते हैं। 'उद्दीपन' इत्यादि आधे श्लोक मे कहे हुये का विरुद्ध 'अकाण्ड' इस आधे श्लोकसे। 'रसस्य' इस आधे श्लोक मे कहे हुये के विरुद्ध 'परिपोषं गतस्य' इस आधे श्लोक के द्वारा । 'अलंकृतीनाम्' इस श्लोक से जो कहा गया उसके विरुद्ध तथा और भी

तारावती

अभाव रसविरोधी होता है । अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब पूर्वोक्त तत्त्वों के व्यतिरेक के द्वारा ही विरोधी तत्त्व भी अवगत हो सकते हैं तब पृथक् रूप में विरोधियों का प्रकरण लिखने की क्या आवश्यकता ? किन्तु इसका उत्तर स्पष्ट है। व्यतिरेक से अनुकूल का अभाव ही व्यक्त होता है स्वतन्त्र विरोधियों का समावेश व्यतिरेक मे नहीं होता। दोष दोनों प्रकार से उत्पन्न होता है अनुकूल परिस्थितियो का प्रयोग न करने से और विरोधियों का समावेश करने से। किन्तु अनुकूल के समावेश न करने से दोष इतना तीव्र नहीं होता जितना विपरीत परिस्थितियों के प्रयोग से । पथ्य का अनुपयोग व्याधि को उतना अधिक नहीं बढ़ाता जितना कुपथ्य का सेवन । इसीलिये यहाँ पर कहा गया है कि विरोधियों के परिहार में बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है । इस दिशा में बहुत अधिक जागरूक रहना चाहिये । पहले १० से १४ तक कारिकाओं मे बतलाया जा चुका है कि रस के व्यञ्जक कौन से तत्त्व होते हैं । उनके प्रतिकूल तत्त्व स्वभावतः रसविरोधी होते हैं । उनको क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिये—( १ ) (क) घटित या कल्पित कथाशरीर का इस रूप मे सम्पादन करना कि उसमे विभाव, भाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के औचित्य से सौष्ठव आ गया हो रस का व्यञ्जक होता है । ( ख ) इसके प्रतिकूल विरोधी रस से सम्बद्ध विभाव इत्यादि का ग्रहण करना रसविरोधी होता है । ( २ ) ( क ) इतिवृत्तवश आई हुई प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर कल्पना से मध्य में ऐसी कथा का उन्नयन कर लेना जो रस के अनुकूल हो तथा केवल शास्त्रस्थिति-

सम्पादन की इच्छा से न हो अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि तथा सन्ध्यङ्गों की सङ्घटना रसाभिव्यञ्जक होती है। (ख) इसके प्रतिकूल सम्बद्ध भी किसी अन्य वस्तु का अत्यन्त विस्तार से वर्णन करना प्रकृत रस का उपघातक होता है। (३) (क) मध्य में अवसर के अनुकूल उद्दीपन और प्रशमन रस के व्यञ्जक होते हैं। (ख) इसके प्रतिकूल विना अवसर के विच्छेद और विना अवसर के प्रकाशन रस के विरोधी होते हैं। (४) (क) जिस अंगी रस का विश्राम प्रसक्त हो गया उसका अनुसन्धान करते चलना रस-साधना में उपकारक होता है। (ख) इसके प्रतिकूल परिपोषक को प्राप्त भी रस का बार बार उद्दीपन रसविरोधी होता है। (५) (क) अलङ्कारों की रसानुरूप योजना रस के लिये सात्म्य होती है। (ख) इसके प्रतिकूल वृत्तियों का अनौचित्य रसविरोधी होता है। प्रस्तुत प्रकरण में इन पाँचों की यथाक्रम व्याख्या की जावेगी।

[ प्रस्तुत प्रकरण को समझने के लिये रस-विरोध पर संक्षिप्त प्रकाश डाल लेना आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं कुछ अविरोधी। साहित्यदर्पण में विरोधी रसों का इस प्रकार परिगणन किया गया है—(१) शृंगार रस के विरोधी होते हैं करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक। (२) करुण के विरोधी होते हैं हास्य और शृंगार। (३) वीर रस का विरोध भयानक और शान्त के साथ होता है। (४) वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक के साथ शान्त का विरोध होता है। (५) हास्य के विरोधी भयानक और करुण होते हैं। (६) रौद्र के विरोधी हास्य शृंगार और भयानक रस होते हैं। (७) भयानक के विरोधी शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त होते हैं। (८) वीभत्स का विरोधी शृंगार होता है। इनके विरोध और अविरोध की व्यवस्था पर भी आचार्यों ने विचार किया है। पण्डितराज ने लिखा है कि विरोध दो प्रकार का होता है—स्थितिविरोध और ज्ञानविरोध। साहित्यदर्पणकार ने विरोध और अविरोध की व्यवस्था पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—'रसों के विरोध और अविरोध की अवस्था तीन प्रकार की होती है—(१) किन्हीं दो रसों का विरोध आलम्बन की एकता में होता है अर्थात् एक ही व्यक्ति के प्रति विरोधी रसों का प्रतिपादन दूषित होता है, यदि विभिन्न व्यक्तियों के प्रति उन रसों का प्रतिपादन किया जावे तो दोष नहीं होता। (२) जैसे वीर और शृंगार आलम्बन की एकता में विरोधी होते हैं। जिस व्यक्ति के प्रति रति हो और उसी को जीतने तथा पराभूत करने की इच्छा का वर्णन किया जावे यह विरोध होगा। किन्तु सीता के प्रति रति और रावण के प्रति विजय की इच्छा का वर्णन तो हो ही सकता है। (३) किन्हीं

ध्वन्यालोकः

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भवनीयः। तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने।

( अनु० ) प्रस्तुत रस की दृष्टि से विरोधी जो रस उसके सम्बन्धी विभावभाव और अनुभावों का परिग्रह रसविरोध के हेतु के रूप मे सम्भावित किया जाना चाहिये। उसमें विरोधी रस के विभाग का परिग्रह जैसे शान्त रस के विभावों में उसके विभाव के रूप में निरूपित किये जाने पर बाद में ही शृङ्गार इत्यादि का

लोचन

प्रस्तुतरसापेक्षयेत्यादिना। हास्यशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयो रौद्रकरुणयोर्भयानकबीभत्सयोर्न विभावविरोध इत्यभिप्रायेण शान्तशृङ्गारावुपन्यस्तौ, प्रशमरागयोर्विरोधात्।

विरुद्ध 'वृत्यनौचित्य' इसके द्वारा। इसकी क्रमशः व्याख्या की जा रही है—'प्रस्तुत रस की अपेक्षा इत्यादि के द्वारा। हास्य और शृङ्गार का, वीर और अद्भुत का रौद्र और करुण का भयानक और बीभत्स का विभावविरोध नहीं है इस अभिप्राय से शान्त और शृङ्गार को उपन्यस्त किया गया है क्योंकि प्रशम और राग का

तारावती

दो रसों का विरोध आश्रय की एकता मे होता है अर्थात् एक ही व्यक्ति के हृदय मे दो विरोधी भावों का वर्णन दूषित होता है। जैसे एक ही व्यक्ति में उत्साह और भय इन दोनों तत्त्वों का वर्णन दूषित होता है किन्तु राम मे उत्साह और रावण में भय का वर्णन दूषित नहीं होता। ( ३ ) किन्हीं दो रसों का विरोध नैरन्तर्य मे होता है। वीर और शृंगार का विरोध आलम्बन की एकता में होता है। इसी प्रकार सम्भोग शृंगार का विरोध हास्य, रौद्र और बीभत्स से तथा विप्रलम्भ का विरोध वीर करुण और रौद्र से आलम्बन की एकता में ही होता है। वीर और भयानक का विरोध आलम्बन की एकता मे और, आश्रय की एकता मे होता है। शान्त और शृंगार का विरोध नैरन्तर्य और विभाव की एकता में होता है। बीभत्स अद्भुत और रौद्र से, शृंगार का अद्भुत से और भयानक का बीभत्स से विरोध तीनों प्रकार से होता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। ]

अब रसविरोध की प्रथम स्थिति पर विचार कीजिये—जहाँ प्रस्तुत रस की दृष्टि से विरोधी रस के उपकरणों का उपादान किया जावे वहाँ पर रसविरोध होता है। ( रसगङ्गाधरकार का कहना है कि रसविरोध शब्द में रस का अर्थ है उसकी उपाधि स्थायी भाव क्योंकि रस तो सामाजिक की चित्तवृत्ति में होता है

ध्वन्यालोकः

विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये। विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने।

विभाव वर्णन करने में। विरोधी रस के भावों के परिग्रह का उदाहरण जैसे प्रिय के प्रति प्रणय कलह में कुपित कामिनियों के विषय मे वैराग्य की बातचीत से अनुनय करने मे। विरोधी रस के अनुभावों के परिग्रह का उदाहरण जैसे प्रणय कुपित तथा प्रसन्न न होनेवाली नायिका के विषय में कोपावेशविवश नायक के रौद्र रस के अनुभावों के वर्णन करने मे।

लोचन

विरोधिनो रसस्य यो भावो व्यभिचारी तस्य परिग्रहः, विरोधिनस्तु यः स्थायी स्थायितया तत्परिग्रहोऽसम्भवनीय एव तदनुत्थानप्रसङ्गात्। व्यभिचारितया तु परिग्रहो भवत्येव। अत एव सामान्येन भावग्रहणम्। वैराग्यकथाभिरिति वैराग्य-

विरोध है। विरोधी रस का जो भाव अर्थात् व्यभिचारी उसका परिग्रह; विरोधी का जो स्थायी, स्थायी के रूप में उसका परिग्रह ही असम्भव है क्योंकि उसके उत्थान का प्रसङ्ग ही नहीं आता। व्यभिचारी के रूप मे तो उसका परिग्रह हो ही जाता है। इसीलिये सामान्यतया भाव शब्द का उपादान किया गया है 'वैराग्य की बातों के द्वारा' यहाँ वैराग्य शब्द से शान्त का जो स्थायी निर्वेद वह कहा

तारावती

नायक इत्यादि में नहीं होता। दूसरी बात यह है कि रस अद्वितीयानन्दमय होता है, उसमें विरोध असम्भव है। विरोध के विषय में रसगङ्गाधरकार का कहना है कि यदि प्रकृत रस के विरोधी रसांगों का निबन्धन किया जावेगा तो विरोधी प्रकृत रस का बाध कर लेगा अथवा दोनों उसी प्रकार नष्ट हो जावेंगे जैसे सुन्द और उपसुन्द परस्पर लड़कर दोनों नष्ट हो गये।) रस के उपकरण तीन होते हैं विभाव, भाव, और अनुभाव। विरोधी रस से सम्बद्ध इन तीनों का उपादान नहीं करना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि शान्त रस के विभावों का शान्तरस के विभावों के रूप मे ही वर्णन किया गया हो और उसके तत्काल बाद शृंगार रस के विभावों का वर्णन प्रारम्भ कर दिया जावे तो विरोधी रस के विभाव परिग्रह का दोष होगा। (पहले बतलाया जा चुका है कि हास्य और शृंगार, वीर और अद्भुत रौद्र और करुण, भयानक और बीभत्स इनके विभावों का विरोध नहीं होता। इन रसों का विरोध तभी होता है जब एक ही आलम्बन के प्रति दोनों भाव हों। यदि हास्य और शृंगार के पृथक् पृथक् आलम्बनों का एक साथ

## लोचन

शब्देन निर्वेदः शान्तस्य यः स्थायी स उक्तः। यथा 'प्रसादे वर्तस्व प्रकटयमुदं सन्त्यज रुषम्' इत्यादूयुपक्रम्यार्थान्तरन्यासो 'न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः काल-हरिणः' इति। मनागपि निर्वेदानुप्रवेशे सति रतेर्विच्छेदः। ज्ञातविषयसतत्त्वो हि जीवितसर्वस्वाभिमानं कथं भजेत। न हि ज्ञातशुक्तिकारजततत्त्वस्तदुपादेयधियं भजते ऋते संवृतिमात्रात्। कथाभिरिति बहुवचनं शान्तरसस्य व्यभिचारिणो धृति-मतिप्रभृतीन् संगृह्णाति।

गया है। जैसे—'प्रसन्नता में वर्तमान होओ, आनन्द प्रकट करो और क्रोध छोड़ दो' यह उपक्रम करके—'हे मुग्धे! बीता हुआ कालहरिण पुनः आने में समर्थ नहीं होता।' यहाँ थोडे भी निर्वेद के अनुप्रवेश मे रति का विच्छेद हो जाता है। विषयों के वास्तविक तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति निरसन्देह जीवितसर्वस्व के अभिमान को किस प्रकार प्राप्त होवे। शुक्ति और रजत के तत्त्व को जाननेवाला एकमात्र संवृति को छोड़कर उसके उपादान की बुद्धि को प्राप्त नहीं होता। 'कथाभिः' का बहुवचन शान्त रस के व्यभिचारी धृति, मति इत्यादि का संग्रह कर लेता है।

## तारावती

वर्णन किया जावेगा तो दोष नहीं होगा। एक मे रौद्र और दूसरे में करुण का होना तो स्वाभाविक ही है।) इसीलिये यहाँ पर विभाव विरोध में शान्त और शृङ्गार का उदाहरण दिया गया है। शम और रति एक दूसरे के विरोधी होते हैं। शम का वर्णन करते करते यदि कोई कवि रति के विभावों का उपादान कर ले तो यह दोष ही होगा। यह तो हुई विरोधी रस के विभावों के उपादान की बात। अब विरोधी रस के उपादान को लीजिये—भाव शब्द का अर्थ है व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव। यहाँ पर भाव शब्द से तात्पर्य व्यभिचारी भाव से ही है स्थायी भाव से नहीं। क्योंकि यदि विरोधी रस के स्थायी भाव का उपादान किया जावेगा और उसका परिपोष भी स्थायी भाव के ही रूप में किया जावेगा तो प्रकृत रस तो समाप्त ही हो जावेगा और उसके स्थान पर विरोधी रस सत्ता मे आ जावेगा। अतः विरोधी रस के सञ्चारी भावों का उपादान दोष होता है। यदि स्थायी भावों का भी उपादान व्यभिचारी भावों के रूप मे किया जावेगा तो उनका उपादान भी दोष होगा। इसीलिये सामान्यतया भावों के विरोधी होने की बात कह दी गई है। उदाहरण के लिये प्रणयकुपिता नायिकाओं को मनाने के लिये कोई वैराग्य की कथायें करने लगे। वैराग्य (निर्वेद) यद्यपि शान्त रस का स्थायी भाव है किन्तु जब मानिनी के अनुनय के प्रसंग में उसका उपादान किया जावेगा तब वह

व्यभिचारी भाव के रूप में आवेगा। उदाहरण के लिये चन्द्रकवि के निम्नलिखित पद्य को लीजिये—

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषं,
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं,
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः॥

( प्रसन्नता में वर्तमान होओ, आनन्द प्रकट करो, क्रोध छोड़ दो, हे प्रिये मेरे सूखते हुये अङ्गों को तुम्हारे वचन अमृत के समान सींचने लगें, सुखों के निधान अपने मुख को अभिमुख स्थापित करो, हे मुग्धे! गया हुआ कालरूपी हरिण पुनः आ ही नहीं सकता। )

यहाँ मानिनी के प्रसादन के लिये उक्त शब्दों का प्रयोग किया गया है। किन्तु अन्तिम पंक्ति में जो अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया गया है वह शान्तरस-परक है। इस प्रकार शृंगार के भाव के अन्दर शम का सञ्चारी के रूप में उपादान कर दिया गया है जो कि शृंगार का विरोधी है। अतः यह दोष है। ( यदि शृंगार में निर्वेद का थोड़ा सा भी प्रवेश कर दिया जावे तो रति का तो विच्छेद हो ही जाता है क्योंकि जिस व्यक्ति को संसार की नश्वरता का पता है जो विषय वासनाओं की अकिञ्चित्करता तथा तुच्छता जान लेगा वह विषयों के सेवन में क्यों प्रवृत्त होगा? जो समस्त स्थावर जंगम जगत् को ब्रह्ममय जानता है वह अपने प्रेमी को जीवित सर्वस्व कैसे मान सकता है जब कि माया का संवरण विद्यमान हो? वेदान्त मे केवल ब्रह्मतत्त्व ही सत्य माना जाता है, जगत् उसी प्रकार मिथ्या माना जाता है जैसे स्वप्न मे देखे हुये दृश्य मिथ्या होते हैं और जिस प्रकार जाग जाने के बाद स्वप्न का बाध हो जाता है उसी प्रकार जगत् रूप दीर्घ स्वप्न का बाध ब्रह्मज्ञान से हो जाता है। सत्य ब्रह्म में मिथ्या जगत् की प्रतीति मायाजन्य होती है। इसके लिये अधिकतर दो दृष्टान्त दिये जाते हैं—रज्जु मे सर्प का भान और शुक्ति में रजत का भान। जो व्यक्ति रजत को जानता है जब वह रजत की चमक शुक्ति में देखता है तब अज्ञान के कारण शुक्ति को रजत कहने लगता है और सत्य रूप में तब तक शुक्ति को रजत ही कहता जाता है जब तक उसे सत्य ज्ञान नहीं करा दिया जाता। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का सत्यरूप में भान होता है। इस भान में कारण है माया। माया की दो शक्तियाँ होती हैं आवरण और विक्षेप। आवरणशक्ति के द्वारा वास्तविक तत्त्व संवृत हो जाता है और विक्षेपशक्ति के द्वारा मिथ्या तत्त्व प्रतिभासित होने लगता है। जब तक शुक्ति का वास्तविक तत्त्व

ध्वन्यालोकः

अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत्प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विशेषेण कथनम्। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद्वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारविबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने।

(अनु०) यह दूसरा रसभङ्गहेतु है कि प्रस्तुत रस की अपेक्षा किसी न किसी प्रकार अन्वित भी अन्य वस्तु का विशेष रूप में कथन करना। जैसे किसी नायक के विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन के उपक्रम होने पर यमक इत्यादि की अलङ्कारों की रसिकता के कारण बहुत बड़े प्रबन्ध के द्वारा पर्वत इत्यादि के वर्णन में।

लोचन

नन्वन्यदनुन्मत्तः कथं वर्णयेत्, किमुत विस्तरत इत्याह—कथञ्चिदन्वितस्येति।

अनुन्मत्त कौन व्यक्ति अन्य का वर्णन करेगा, विस्तार से तो कहना ही क्या? इसपर कहते हैं—किसी प्रकार अन्वित।

तारावती

आवृत अथवा संवृत न हो जावे और विशेष शक्ति से उसमे रजत का भान न होने लगे तब तक कोई भी ऐसा व्यक्ति जिसका शुक्ति और रजत दोनों का ज्ञान हो शुक्ति की ओर रजतबुद्धि से अपना हाथ बढ़ा ही नहीं सकता। इसी प्रकार जब तक ब्रह्मतत्त्व का संवरण और जगत् तत्त्व का विक्षेप न हो जावे तब तक जगत् को सत्य मानकर व्यवहार के लिये कोई व्यक्ति उसका उपादान कर ही नहीं सकता। यही बात प्रस्तुत प्रसङ्ग मे समझी जानी चाहिये। जो व्यक्ति संसार की असारता को समझता है वह किसी अन्य व्यक्ति को तब तक अपना जीवितसर्वस्व कैसे मान सकता है जब तक उसकी असारता-बुद्धि का संवरण और जीवितसर्वस्व भावना का स्फुरण न हो जावे। एसी दशा मे उक्त प्रसङ्ग सदोष ही कहा जावेगा। 'कथाओं के द्वारा' इस बहुवचन से धृति मति इत्यादि दूसरे सञ्चारियों का समावेश हो जाता है। विरोधी रस के अनुभावों के उपादान मे भी दोष होता है। जैसे यदि नायक के प्रयत्न करने पर भी प्रणयकुपिता मानिनी प्रसन्न न हो तो नायक कोप के आवेश से विवश होकर नायिका को मारने पीटने लगे। मारना पीटना रौद्र रस का अनुभाव है। रौद्र रस शृंगार का विरोधी है। अतः शृंगार मे रौद्र के अनुभाव का वर्णन दोष होगा।

रसभंग का दूसरा हेतु यह होता है कि कोई वस्तु प्रकृत वस्तु से संबद्ध तो है किन्तु उनका सम्बन्ध बहुत ही कठिनाई से स्थापित किया जा सकता है। प्रकृत रस की अपेक्षा उस वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना दोष माना जाता है

और उससे रसभंग हो जाता है। जो वस्तु सर्वथा असम्बद्ध है उसका वर्णन तो कोई उन्मत्त व्यक्ति ही करेगा किन्तु सम्बद्ध वस्तु का भी अधिक विस्तार से वर्णन दोष ही होता है। ( शिंगभूपाल ने अंग रस को अंगी रस से अधिक महत्त्व देने में रसाभास माना है। शारदातनय इत्यादि दूसरे आचार्यों की भी कुछ ऐसी ही सम्मति है। काव्यप्रकाशकारने भी रसदोष-प्रकरण में 'अंगिनोऽनुसन्धानम्..... तथा 'अनंगस्याभिधानम्'—ये दो दोष माने हैं। साहित्यदर्पणकारने भी रसदोष लिखा है—'अंगिनोऽनुसन्धानमनङ्गस्य च कीर्तनम्'। रसगङ्गाधर में इस तत्त्व का कई खण्डों में प्रतिपादन किया गया है—'समान बलवाले, अधिक बलवाले या प्रतिकूल रसों का निबन्धन प्रकृत रस का विरोधी होने से दोष होता है।' 'इसी प्रकार अप्रधान प्रतिनायक इत्यादि के नाना प्रकार के चरित्रों का और अनेक प्रकार की सम्पत्ति का नायक के उन तत्त्वों की अपेक्षा अधिक का वर्णन नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने पर वर्णन के लिये अभीष्ट नायक का उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा और तत्प्रयुक्त रसपरिपोष भी नहीं हो सकेगा। अतः प्रतिनायक के चरित्र का उतना ही वर्णन करना चाहिये जितना नायक के चरित्रोत्कर्ष में सहायक हो। यदि प्रतिनायक का अधिक उत्कर्ष दिखला दिया जावेगा तो किसी विषबाण से शबर द्वारा महाराज के मारे जाने के समान नायक का विजय सांयोगिक ही रह जावेगा और प्रतिनायक का चरित्र नायक के उत्कर्ष में हेतुभूत नहीं हो सकेगा।' इसी प्रकार 'प्रकृत रस की अनुपकारक वस्तु का भी वर्णन प्रकृत रस के विराम मे हेतु होने के कारण दोष होता है।') जैसे किसी नायक के विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन प्रारम्भ किया गया हो और कवि यमक इत्यादि अलङ्कारों का विशेष प्रेमी होने के कारण उस विप्रलम्भ का वर्णन छोड़कर पर्वत इत्यादि का वर्णन करने लगे। ( विप्रलम्भ शृंगार में पर्वत इत्यादि की रमणीयता भी उद्दीपन विभाव के अन्दर आ सकती है। यदि कवि इतने ही सम्बन्ध को लेकर विप्रलम्भ शृंगार को छोड़कर पर्वत इत्यादि वर्णन से प्रवृत्त हो जावे तो वह दोष ही होगा। पहले कहा जा चुका है यमक इत्यादि का निबन्धन विप्रलम्भ शृंगार मे विशेष रूप से विघ्न उत्पन्न करता है अप्रकृत-वर्णन के उदाहरण के रूप मे किरातार्जुनीय का वह प्रकरण उपस्थित किया जा सकता है—जब अर्जुन तपस्या करने जाते हैं और उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये किन्नर, गन्धर्व और अप्सरायें भेजी जाती हैं। कवि वर्णन के प्रलोभन मे पड़कर पर्वत, ऋतु, जलक्रीडा इत्यादि के वर्णन में ऐसा लगता है कि प्रकृत वर्णन दृष्टि से सर्वथा तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार शिशुपालवध मे भगवान् कृष्ण युधिष्ठिर के यज्ञ मे भाग लेने जा रहे हैं जहाँ उन्हें

ध्वन्यालोकः

अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्तिः रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम्। तत्रानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीय-समागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने।

(अनु०) यह दूसरा रसभङ्गहेतु समझा जाना चाहिये कि विना अवसर रस का विच्छेद और विना अवसर प्रकाशन। उनमें विना अवसर इसका विराम जैसे किसी नायक के किसी स्पृहणीय समागम वाली नायिका के साथ शृंगार के बहुत बड़ी परिपोष पदवी को प्राप्त हो जाने पर और परस्पर अनुराग के विदित हो जाने पर समागमोपाय की चिन्ता के योग्य व्यवहार को छोड़कर स्वतन्त्ररूप मे दूसरे व्यापारों का

लोचन

व्यापारान्तरस्येति। यथा वत्सराजचरिते चतुर्थेऽङ्के—रत्नावलीनामधेयमप्यगृह्णतो विजयवर्मवृत्तान्तवर्णने। अपि तावदिति शब्दाभ्यां दुर्योधनादेस्तद्वर्णनं दूरा-

'दूसरे व्यापार का'। जैसे वत्सराज चरित चतुर्थ अङ्क मे रत्नावली का नाम भी लेने वाले विजयवर्मा के वृत्तान्त वर्णन मे। 'अपि तावत्' इन शब्दों से दुर्योधन

तारावती

शिशुपाल का वध करना है। कवि वर्णन के व्यामोह में इतना अधिक पड़ जाता है कि कृष्ण के मार्गवर्णन के प्रसंग में रैवतक पर्वत, षड् ऋतु, जलक्रीडा, सन्ध्या, रात्रि, प्रभात इत्यादि के वर्णन में आठ, नौ सर्ग लगा देता है तथा पाठक सर्वथा भूल जाता है कि कथा कहाँ जा रही है। इस प्रकार के वर्णन सर्वथा सदोष होते हैं। अप्रासंगिक का थोड़ा बहुत वर्णन सह्य हो सकता है किन्तु इतना अधिक विस्तार अनुचित ही कहा जावेगा।)

रसभंग का तीसरा हेतु यह होता है कि रस को ऐसे स्थान पर छोड़ देना जहाँ उसका छोड़ना उचित न हो और पाठक को रसविच्छेदजन्य अतृप्ति तथा खेद का अनुभव होता रहे। इसी प्रकार रस का ऐसे स्थान पर प्रकाशित करना जहाँ उसका प्रकाशन उचित न हो दोष ही कहा जावेगा। (काव्यप्रकाश—'अकाण्डे प्रथनच्छेदौ'। साहित्यदर्पण—'अकाण्डे प्रथनच्छेदौ'। रसगङ्गाधर—'विभिन्नरसों का प्रस्तावना के अयोग्य स्थान पर प्रस्ताव और विच्छेद के अयोग्य स्थान पर विच्छेद। जैसे सन्ध्यावन्दन देवयजन इत्यादि धर्मवर्णन के प्रसंग में किसी कामिनी के साथ किसी कामुक के अनुरागवर्णन में और जैसे—महायुद्ध में दुर्भट प्रतिभटों के उपस्थित होने पर और मर्मभेदी वचनों के बोलने पर नायक का सन्ध्यावन्दन करना इत्यादि'।) विना अवसर के रसविराम का उदाहरण जैसे—

ध्वन्यालोकः

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तविविधवीरसङ्क्षये कल्पसङ्क्षय-कल्पे सङ्ग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने। न चैवंविधे विषये दैव-व्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्ति-निबन्धनं युक्तम्। इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक्—'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः' इत्यादिना।

वर्णन करने में। बिना अवसर के रस का प्रकाशन जैसे जिस संग्राम में अनेक वीरों का संक्षय प्रारम्भ हो गया हो और जो कल्पनाश के समान उपस्थित हो उस संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर रामदेव के समान भी किसी नायक का, जिसका विप्रलम्भ शृंगार प्रारम्भ न किया हो, किसी उचित निमित्त के बिना ही शृंगार में प्रवेश के वर्णन में। इस प्रकार के विषयों में कथापुरुष का दैवव्यामोहितत्व परिहार ठीक नहीं है क्योंकि कवि का प्रवृत्तिनिमित्त प्रधानतया रसबन्ध ही होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इतिवृत्तवर्णन तो उसका उपायमात्र है—जैसे 'प्रकाश की इच्छा करनेवाला व्यक्ति दीपशिखा में यत्नवान् होता है' इत्यादि के द्वारा।

लोचन

पास्तमिति वेणीसंहारे द्वितीयाङ्कमेवोदाहरणत्वेन ध्वनति। अत एव वक्ष्यति 'दैवव्या-मोहितत्वम्' इति। पूर्वं तु सन्ध्यङ्गाभिप्रायेण प्रत्युदाहरणमुक्तम्। कथापुरुषस्येति प्रतिनायकस्येति यावत्।

इत्यादि का वह वर्णन दूर से ही परित्यक्त है इस प्रकार वेणीसंहार का द्वितीय अङ्क ही उदाहरण के रूप में ध्वनित करता है। इसीलिये कहेंगे—देवव्यामोहितत्व'। पहले तो सन्ध्यङ्ग के अभिप्राय से प्रत्युदाहरण दे दिया। 'कथापुरुष का' अर्थात् प्रतिनायक का।

तारावती

यदि किसी नायक के हृदय में किसी नायिका के समागम की स्पृहा उत्पन्न हो गई हो, शृंगार रसपरिपोष पदवी को प्राप्त हो गया हो और एक दूसरे का अनुराग प्रकट हो चुका हो क्योंकि रति के उभयनिष्ठ हुये बिना शृङ्गार का पूर्ण परिपोष कहा ही नहीं जा सकता। आशय यह है कि शृंगार रस पूर्वराग के रूप में स्थित हो ऐसी दशा में उचित व्यवहार यही हो सकता है समागम-उपाय सोचा जावे—दूतीसम्प्रेषण, पत्रलेखन, संकेतनिर्धारण इत्यादि की चेष्टा की जावे—किन्तु इसके प्रतिकूल यदि कोई कवि इन व्यवहारों को छोड़कर दूसरे कार्यों का विस्तारपूर्वक

तारावती

वर्णन करने लगे तो यह दोष होगा। जैसे 'तापसवत्सराज' में रत्नावली और उदयन के पूर्वराग उत्पन्न हो जाने के बाद चतुर्थ अङ्क में विजयवर्मा के वृत्तान्त का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, विजयवर्मा रत्नावली का नाम तक नहीं लेते इस प्रकार प्रकृत रस उदयन और रत्नावली के अनुराग का अतिक्रमण कर तथा उसको बीच मे ही छोड़कर दूसरे कार्यव्यापारों का वर्णन प्रारम्भ कर दिया गया है। यह बिना अवसर के रस को छोड़ देने में दोष की व्याख्या की गई है। दूसरा दोष तब होता है जब रस का बिना अवसर के विस्तार किया जाता है। उदाहरण के लिये जब कि महासमर का प्रारम्भ हो चुका हो, अनेक वीरों का संक्षय भी प्रवृत्त हो और प्रलय का दृश्य उपस्थित हो उस समय नायक की शृङ्गार चेष्टाओं का वर्णन किया जाने लगे तो यह शृङ्गार का बिना अवसर विस्तार अत्यन्त अनुचित होगा। फिर नायक चाहे रामदेव के समान ही क्यों न हो यदि उसके विप्रलम्भ शृङ्गार का उपक्रम नहीं किया गया होगा और शृङ्गार चेष्टाओं का कोई कारण भी उपस्थित नहीं होगा तो उस दशा में उस नायक का शृङ्गारचेष्टाओं का वर्णन सर्वथा अनुचित ही कहा जावेगा। 'रामदेव जैसे का भी' यहाँ पर 'भी' कहने का आशय यह है कि भगवान् राम के लिये युद्ध तो एक साधारण सी बात है; उनके भ्रुकुटिविलास से ही सारी सृष्टि का लय हो सकता है। उनके लिये युद्ध की चिन्ता क्या ? अतः युद्ध की विभीषिका से चिन्तित होना और आमोद प्रमोद में न पड़ना उनके लिये कोई अनिवार्य बात नहीं। किन्तु उन राम के विषय में भी यदि महान् वीरों के संक्षय के अवसर पर शृङ्गारक्रीडा का वर्णन किया जावे तो वह भी अनुचित ही होगा। फिर दुर्योधन इत्यादि के विषय में तो कहना ही क्या ? उनके विषय में शृङ्गार का विस्तार तो अनुचित होगा ही। वेणी-संहार के द्वितीय अङ्क मे दुर्योधन का शृङ्गारप्रथन इसी का उदाहरण है।' 'रामदेव जैसे का भी' कहने से उसी उदाहरण की व्यञ्जना होती है। हाँ यदि विप्रलम्भ का उपक्रम हो या शृङ्गारप्रथन का कोई निमित्त उपस्थित हो तो इस प्रकार के वर्णन का अनौचित्य दूर हो सकता है। यहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस प्रकार के विषय में प्रतिनायक के शृङ्गार-विस्तार के द्वारा लेखक का मन्तव्य यह व्यक्त करना होता है कि 'प्रतिनायक की बुद्धि ही दैववश मारी गई थी, अतः ऐसे अवसरों पर भी जब कि उसे सतर्क होकर चलना चाहिये था वह व्यर्थ की शृङ्गारचेष्टाओं में लगा हुआ था, फिर उसका विनाश क्यों न होता ?' किन्तु यह समाधान ठीक नहीं, क्योंकि कवि का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त रसबन्धन ही होता है यही कहना ठीक है। इतिवृत्तवर्णन तो एक

ध्वन्यालोकः

अतएव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन।

(अनु०) और इसीलिये केवल इतिवृत्तवर्णन की प्रधानता होने पर अङ्गाङ्गि-भावरहित रसभाव के निबन्धन के द्वारा कवियों के इस प्रकार के स्खलित हो जाते हैं इसीलिये रसभाव इत्यादि रूप व्यंग्यतात्पर्य ही इनका उचित है इसीलिये हमने यत्न आरम्भ किया है, केवल ध्वनिप्रतिपादन के आग्रह से नहीं।

लोचन

अत एव चेति। यतो रसबन्ध एव मुख्यः कविव्यापारविषयः इतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्ये सति यदङ्गाङ्गिभावरहितानामविचारितगुणप्रधानभावानां रसभावानां निबन्धनं तन्निमित्तानि स्खलितानि सर्वे दोषा इत्यर्थः। न ध्वनिप्रतिपादनमात्रेति। व्यङ्ग्योऽर्थो भवतु मा वा भूत् कस्तत्राभिनिवेशः? काकदन्तपरीक्षाप्रायमेव तत्स्यादिति भावः।

'इसीलिये' यह। क्योंकि रसबन्ध ही कवि के व्यापार का मुख्य विषय है। इतिवृत्तमात्र वर्णन के प्रधान होने पर जो अङ्गाङ्गिभावरहित अर्थात् गौण और प्रधान भाव का विना विचार किये हुये रसों और भावों का निबन्धन तन्निमित्त स्खलित ही सब दोष (होते हैं) यह अर्थ है। 'ध्वनिप्रतिपादनमात्र' यह। व्यंग्य अर्थ हो या न हो उसमें क्या अभिनिवेश? वह काकदन्तपरीक्षा के समान ही होगा यह भाव है।

तारावती

उपायमात्र होता है जैसा कि प्रथम उद्योत में कहा जा चुका है—'जिस प्रकार आलोक का इच्छुक व्यक्ति दीपशिखा में यत्नवान् होता है।...' इत्यादि। वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में दुर्योधन के शृङ्गारप्रथन का उदाहरण पहले भी आ चुका है किन्तु वहाँ पर सन्ध्यङ्ग की पूर्ति के लिये कथा-भाग के समावेश को अनुचित बतलाने के उदाहरण के रूप में दुर्योधन और भानुमती के शृङ्गार-प्रथन का उल्लेख किया गया था और यहाँ पर विना अवसर के शृङ्गारप्रथन के प्रसङ्ग में 'रामदेव जैसे का भी' इस 'भी' शब्द से उसकी व्यञ्जना की गई है। अतः विषयभेद होने से यहाँ पर पुनरुक्ति नहीं है। यहाँ पर 'कथापुरुष का दैवव्यामोहितत्व' में कथापुरुष का अभिप्राय है प्रतिनायक, प्रधान नायक नहीं; क्योंकि प्रधान नायक तो सफलता की ओर ही अग्रसर होता है उसका दैवव्यामोहित होकर कार्य विगाड़ लेना उचित नहीं।

रसनिबन्धन ही कवि का प्रधान कार्य क्षेत्र होता है। यदि कवि ऐसा काव्य

ध्वन्यालोकः

पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत्परिपोषप्राप्तस्यापि रसस्य पौनः पुन्येन दीपनम्। उपयुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते।

(अनु०) फिर यह दूसरा रसभंग हेतु समझ लिया जाना चाहिये जो कि परिपोष को प्राप्त भी रस का पुनः पुनः दीपन। निस्सन्देह अपनी सामग्री से परिपोष को प्राप्त होनेवाला उपयुक्त रस बार-बार परामर्श किये जाने पर अत्यन्त मलिनकुसुम के समान कल्पित होता है।

तारावती

लिख रहा हो जिसमें केवल इतिवृत्त की प्रधानता हो तो वह कभी कभी अपने काव्य को ग्राह्य बनाने के मन्तव्य से उसमें रसभाव इत्यादि की संयोजना करता चलता है—उस निबन्धन में न वह अनुबद्ध रसभावों के अङ्गाङ्गिभाव का ध्यान रखता है और न उनके गौण तथा प्रधान होने की ही कोई परवाह करता है। इस कारण रसभावनिबन्धन के क्षेत्र में पद पद पर उसके प्रमादस्खलित होते हैं और वे ही सब दोष हो जाते हैं। अतः समस्त प्रबन्धों का तात्पर्य एकमात्र रस और भाव इत्यादि ही होना चाहिये और उसमें आनेवाले दोषों को बचाना चाहिये यह दिखलाने के लिये ही हमने प्रस्तुत प्रकरण प्रारम्भ किया है, हमारा अभिनिवेश केवल ध्वनि का प्रतिपादन करना ही नहीं है। आशय यह है कि यहाँ पर कोई प्रस्तुत प्रकरण को ध्वनि से असम्बद्ध कहकर अप्रासंगिकता का दोषारोपण कर सकता है। उस पर आनन्दवर्धन का कहना है कि इस प्रकरण को लिखने का हमारा मन्तव्य उन त्रुटियों की ओर संकेत करना है जो रसभावनिबन्धन में प्रायः कवियों से हो जाती है। इसका ध्वनि से भी सम्बन्ध है। किन्तु केवल ध्वनि का प्रतिपादन ही प्रस्तुत प्रकरण का मन्तव्य नहीं है। आशय यह है कि उस प्रकार के इतिवृत्तात्मक काव्य में ध्वनि हो या न हो इसमें हमारा क्या आग्रह? वह तो काकदन्त परीक्षा के समान सर्वथा व्यर्थ ही है।

दूसरा रसभङ्गहेतु यह समझा जाना चाहिये कि कोई रस विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों की उचित सामग्री के बल पर पूर्णतया परिपोष को प्राप्त हो गया हो फिर भी उसका पुनः पुनः दीपन किया जावे। यदि किसी उचित रस के परिपुष्ट हो जाने के बाद उसका उपभोग किया जा रहा हो उस समय उसका बार बार परामर्श किया जावे तो मसले हुये पुष्पों के समान उसमें मलिनता आ जाती है। जैसे कुमारसम्भव में रतिविलाप के अवसर पर कवि बार बार कहता चलता है कि 'रति विलाप करने लगी' 'रति छाती पीट कर रोने लगी' इत्यादि। इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाषकथने। यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः। एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहित्थैर्भवितव्यम्।

(अनु०) उसी प्रकार वृत्ति अर्थात् व्यवहार का जो अनौचित्य वह भी रसभङ्गहेतु ही होता है जैसे किसी नायक के प्रति किसी नायिका का उचित भङ्गिमा के विना स्वयं सम्भोग की अभिलाषा के कथन करने में। अथवा भरतप्रसिद्ध कैशिकी इत्यादि वृत्तियों या दूसरे आलङ्कारिकों में प्रसिद्ध उपनागरिका इत्यादि का जो अनौचित्य अर्थात् अविषय में योजना वह भी रसभङ्गहेतु ही होता है। इस प्रकार इन रसविरोधियों और इसी दिशा में स्वयं कल्पित किये हुये दूसरे (रसविरोधों) का परिहार करने में अच्छे कवियों को सावधान रहना चाहिये।

लोचन

वृत्त्यनौचित्यमेव चेति बहुधा व्याचष्टे तदपीत्यनेन चशब्दं कारिकागतं व्याचष्टे। रसभङ्गहेतुरेव इत्यनेनैवकारस्य कारिकागतस्य भिन्नक्रमत्वमुक्तम्। रसस्य विरोधायैवेत्यर्थः। नायकं प्रतीति। नायकस्य हि धीरोदात्तादिभेदभिन्नस्य सर्वथा वीररसानुवेधेन भवितव्यमिति तं प्रति कातरपुरुषोचितमधैर्ययोजनं दुष्टमेव।

'वृत्त्यनौचित्य भी' इसकी बहुधा व्याख्या की है। 'वह भी' से कारिका में आये हुये 'च' शब्द की व्याख्या करते हैं। 'रसभङ्गहेतु ही' इसके द्वारा कारिका में आये हुये 'एव' शब्द का भिन्नक्रमत्व कहा गया है। अर्थात् 'रस के विरोध के लिये ही। 'नायक के प्रति'। धीरोदात्तादि भेद से भिन्न नायक में निस्सन्देह वीररसानुवेध ही होना चाहिये अतः उसके प्रति कातर पुरुष के योग्य अधैर्य की योजना दूषित ही है।

तारावती

बार बार मसलने से पुष्प के समान रस मलिन पड़ जाता है और सहृदयों को उस ओर से विराग हो जाता है।

वृत्ति का अनौचित्य एक दूसरा तत्त्व है जो रसभंग में हेतु ही होता है। वृत्ति के अनौचित्य के यहाँ पर तीन अर्थ है—१—वृत्ति अर्थात् व्यवहार का अनौचित्य। उदाहरण के लिये सामान्यतया कोई नायिका किसी पुरुष के सामने अपनी सम्भोग की अभिलाषा शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं करती। प्रेमप्रवृत्ति सर्वप्रथम

ध्वन्यालोकः

परिकरश्लोकाश्चात्र—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥

(अनु०) और यहाँ परिकर श्लोक हैं—

'अच्छे कवियों के मुख्य व्यापार विषय रस इत्यादि होते हैं। उनके निबन्धन में उनको सर्वदा अप्रमत्त होना चाहिये।

'जो नीरस प्रबन्ध वह कवि का महान् अपशब्द है। इससे वह दूसरों के द्वारा न याद किये जाते लक्षणवाला अकवि ही होता।

लोचन

तेषामिति रसादीनाम्। तैरिति सुकविभिः। सोऽपशब्द इति दुर्यश इत्यर्थः। ननु कालिदासः परिपोषं गतस्यापि करुणस्य रतिविलासेषु पौनःपुन्येन दीपनमकार्षीत्,

'उनका' अर्थात् रस इत्यादि का। 'उनके द्वारा' अर्थात् अच्छे कवियों के द्वारा। 'वह अपशब्द है' अर्थात् अपयश है। (प्रश्न) कालिदास ने परिपोष को प्राप्त हुये भी करुण रस का रतिविलापों मे पुनः पुनः दीपन किया है तो यह रस-

तारावती

शब्दों द्वारा प्रकट करना पुरुष का काम है। यदि नायिका प्रेम प्रकट करना चाहती है तो वह विलासचेष्टाओं और संकेतों के द्वारा अपना कार्य पूरा करती है। इस सामान्य व्यवहार का अतिक्रमण कर यदि किसी नायक के प्रति नायिका के सम्भोगाभिलाष का कथन कराया जावे और संकेतों तथा विलासचेष्टाओं का माध्यम न स्वीकार किया जावे तो यह व्यवहार का अनौचित्य होगा। २—इस विषय का दूसरा उदाहरण यह हो सकता है कि नायक के धीरोदात्त इत्यादि भेद किये गये हैं; धीरोदात्तता इत्यादि नायक में तभी आती है जब कि उसके अन्दर वीररस का अनुवेध हो। इसके प्रतिकूल यदि धीरोदात्त इत्यादि में कातर पुरुष के योग्य अधैर्य दिखलाया जावे तो वह व्यवहार का अनौचित्य होगा और वह दोष ही होगा। २—भरत मुनि ने जिन कैशिकी इत्यादि वृत्तियों का उल्लेख किया है उनकी यथास्थान योजना रसाभिव्यक्ति में हेतु होती है। किन्तु इसके प्रतिकूल उनका अनौचित्य रसभङ्ग मे हेतु होता है। अनौचित्य का यहाँ पर अर्थ है जहाँ कैशिकी इत्यादि वृत्तियों की योजना नहीं की जानी चाहिये वहाँ उनकी योजना करना। ३—उद्भट इत्यादि दूसरे आलङ्कारिकों ने जिन उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों का निरूपण किया है उनकी अविषय मे योजना भी रसभङ्ग में हेतु

होती है। ( वृत्तियों का विस्तृत परिचय ३३वीं कारिका की व्याख्या में दिया जावेगा। ) १६वीं कारिका का उत्तरार्ध इस प्रकार है—'रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव वा' यहाँ पर 'एव' शब्द 'वृत्त्यनौचित्य' के बाद जुड़ा है। किन्तु व्याख्या करने में इसकी योजना 'विरोधाय' के साथ कर ली जानी चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कारिकाओं में कहे हुये तत्त्व रसविरोध के लिये ही होते हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिये आनन्दवर्धन ने 'एव' शब्द को 'सभङ्गहेतुः' के साथ लगाया है। इस प्रकार जिन विरोधी तत्त्वों का उल्लेख प्रस्तुत कारिकाओं में किया गया है उनका परित्याग करने के लिये अच्छे कवियों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसी दिशा में दूसरे रसविरोधियों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये और उनका परिहार करने की भी चेष्टा करनी चाहिये। इस विषय में निम्नलिखित कतिपय परिकर श्लोक भी प्रसिद्ध हैं—

'अच्छे कवियों का मुख्य व्यापार विषय रस इत्यादि ही होते हैं अर्थात् सत्कवियों की क्रियाशीलता का सबसे बड़ा फल यही है कि रस इत्यादि की अभिव्यक्ति हो जावे। अतः उन अच्छे कवियों का सबसे बड़ा कर्तव्य यही है कि रस इत्यादि के निबन्धन में कभी प्रमाद न करें।

'रसरहित प्रबन्धरचना कवि का बहुत बड़ा अपशब्द है अर्थात् कवि का सबसे बड़ा अपयश यही है कि रसहीन प्रबन्ध की रचना करे। ( 'नीरस प्रबन्ध कवि का सबसे बड़ा अपयश है' इस वाक्य में 'आयुर्घृतम्' के समान जन्यजनक भाव में लक्षणा है अर्थात् नीरस काव्य कवि के अपयश का सबसे बड़ा जनक होता है। ) इससे तो अच्छा यही है कि वह कवि ही न बने जिससे उसके नाम को कोई याद ही न करे।' ( यदि नीरस काव्य लिखनेवाले कवि का कोई नाम लेगा तो उसकी निन्दा ही करेगा। अतः अच्छा तो यही है कि वह कवि ही न बने और न कोई उसका नाम ही स्मरण करे। )

( प्रश्न ) कालिदास ने रतिविलापों में परिपोष को प्राप्त भी करुण रस का पुनः पुनः दीपन किया है। इस प्रकार महाकवियों के भी ये रस-दोष देखे ही जाते हैं। ( वेणीसंहार इत्यादि के दोष दिखलाये ही जा चुके हैं। ) फिर आजकल के कवियों पर यह अधिक जोर क्यों दिया जा रहा है कि रसविरोध का परिहार करना ही चाहिये? जब महाकवि भी इस प्रकार की त्रुटियाँ करते हैं तब आजकल के सामान्य कवियों से यदि ऐसी ही भूलें हों तो क्या आश्चर्य?

( उत्तर ) 'पुराने कवियों की वाणी स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्त होती थी; उनको यश प्राप्त हो गया था। अतः यदि उनसे कहीं भूल हो गई हो तो उसका

ध्वन्यालोकः

पूर्वे विश्रृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ॥
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः ॥ इति।

(अनु०) 'कीर्ति को प्राप्त करनेवाले पुराने कवि ( यदि ) विश्रृङ्खल वाणीवाले ( हो गये हों ) तो उनका सहारा लेकर मनीषी को यह नीति नहीं छोड़नी चाहिये।

'वाल्मीकि व्यास प्रभृति जो प्रख्यात कवीश्वर हो गये हैं हमने उनके अभिप्राय से बाह्य यह मार्ग नहीं दिखलाया है।'

लोचन

तत्कोऽयं रसविरोधिनां परिहारनिर्बन्ध इत्याशङ्क्याह—पूर्वे इति।

न हि वशिष्ठादिभिः कथञ्चिद्यदि स्मृतिमार्गस्त्यक्तस्तद्वयमपि तथा त्यजामः। अचिन्त्यहेतुकत्वादुपरिचरितानामिति भावः। 'इति' शब्देन परिकरश्लोकसमाप्तिं सूचयति ॥ १९ ॥

विरोधियों का परिहार का आग्रह कौन? यह शङ्का कर के कहते हैं—'पहले के' यह।

किसी न किसी प्रकार वशिष्ठ इत्यादि ने यदि स्मृतिमार्ग छोड़ दिया तो उन्हीं के समान हम भी नहीं छोड़ें। क्योंकि ऊपर के चरित्रों का हेतु समझ में नहीं आता। यह भाव है। इति शब्द से परिकर श्लोकों की समाप्ति की सूचना देते हैं।

तारावती

सहारा लेकर किसी मनीषी को रसविरोध की परिहारसम्बन्धिनी इस नीति का परित्याग नहीं करना चाहिये।'

आशय यह है महाकवियों की त्रुटियाँ उनकी महत्ता में ही ढँक जाती हैं। उनका सहारा लेकर साधारण व्यक्ति यदि वैसी भूलें करने लगे तो उसको त्राण प्राप्त नहीं हो सकता। महाभाष्यकार ने भी लिखा है कि मूर्ख व्यक्ति अशुद्ध शब्द बोलकर दूषित हो जाता है। किन्तु जो विशेष विद्वान् होता है उसको अपनी विद्वत्ता का सहारा मिल जाता है और पाठकों का ध्यान महापण्डितों की सामान्य त्रुटियों की ओर नहीं जाता।) उदाहरण के लिये वशिष्ठ इत्यादि धर्मशास्त्र के महान् आचार्य तथा प्रतिष्ठित ऋषि थे। यदि उन्होंने कहीं धर्म-मार्ग की अवहेलना कर दी हो तो साधारण जन का यह कर्तव्य नहीं है कि उन महान् ऋषियों का निदर्शन लेकर धर्म-मार्ग का परित्याग करने लगे। महान् लोगों के चरित्र लोकोत्तर होते हैं। सामान्य व्यक्ति उनके हेतु की कल्पना भी नहीं कर सकता। अतः उनके

ध्वन्यालोकः

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥२०॥

स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोषा।

(अनु०) 'विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ हो जाने पर तो बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त विरोधियों की उक्ति दोषरहित होती है' ॥ २० ॥

विवक्षित रस के अपनी सामग्री से परिपोष को प्राप्त हो जाने पर विरोधियों की अर्थात् विरोधी रसाङ्गों की बाध्य अथवा अङ्गभाव को प्राप्त होने पर उक्ति दोष-रहित होती है।

लोचन

एवं विरोधिनां परिहारे सामान्येनोक्ते प्रतिप्रसवं नियतविषयमाह—विवक्षित इति। बाध्यानामिति। बाध्यत्वाभिप्रायेणाङ्गत्वाभिप्रायेण वेत्यर्थः। अच्छला निर्दोषेत्यर्थः।

इस प्रकार सामान्य रूप में विरोधियों के परिहार कह दिये जाने पर निश्चित विषयवाले प्रतिप्रसव ( विपरीतनिर्दोषिता ) कहते हैं—विवक्षित इत्यादि। 'बाध्या-नाम्' यह। अर्थात् बाध्यत्व के अभिप्राय से अथवा अङ्गत्व के अभिप्राय से। अच्छला का अर्थ है निर्दोष।

तारावती

अनुकरण पर न तो नीति-मार्ग का ही परित्याग करना चाहिये और न कला-जगत् में निश्चित सिद्धान्तों और मान्यताओं का ही अतिक्रमण करना चाहिये।'

( प्रश्न ) रसविरोध तथा रसदोष के विषय में आपने जो मान्यतायें स्थापित की हैं उनमें प्रमाण क्या है? क्या आपके कथन से ही इन मान्यताओं पर विश्वास कर बन्धन स्वीकार कर लिया जावे?

उत्तर—'बहुत से प्रख्यात कवीश्वर साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित हैं जिनमें व्यास और वाल्मीकि मुख्य है। उनके काव्यों का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमने जो मान्यतायें निर्धारित की हैं वे सब इन मूर्धन्य कवियों को मान्य हैं और उनका अभिप्राय भी इन मान्यताओं के पक्ष में ही है। अतः हमने कोई बात मनमानी नहीं कही है' ॥१६॥

ऊपर रसविरोधी तत्त्वों का उल्लेख सामान्यरूप में किया जा चुका। अब उन तत्त्वों का परिचय दिया जावेगा जिनमें विरोधी तत्त्व विरोधी न रहकर पोषक के रूप में परिणत हो जाते हैं—

ध्वन्यालोकः

बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति नान्यथा। तथा च तेषा युक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते। अङ्गभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते।

(अनु०) विरोधियों का बाध्यत्व अभिभभव के शक्य होने पर ही होता है; अन्यथा नहीं। अत एव उनका कथन प्रस्तुत रस के परिपोष के लिये ही हो जाता है। अङ्गभाव को प्राप्त होने पर उनका विरोध ही निवृत्त हो जाता है।

लोचन

बाध्यत्वाभिप्रायं व्याचष्टे—बाध्यत्वं हीति।

बाध्यत्व के अभिप्राय की व्याख्या करते हैं—'बाध्यत्वं हि' इत्यादि।

तारावती

'कवि जिस रस की अभिव्यक्ति करना चाहता है यदि वह रस प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया हो और उसका विरोधी रस या तो बाध्य रूप मे आवे अथवा विवक्षित रस का अङ्ग बन कर आवे तो इस प्रकार के विरोधी रस का उपादान सदोष नहीं कहा जा सकता' ॥ २० ॥

रस की विभाव इत्यादि सामग्री रस का पोषक तत्त्व होती है। विरोधी रस के उपादान मे विरोध को दूर करने की पहली शर्त यह है कि मुख्य रस की सामग्री में किसी प्रकार की कमी न रह जावे और उस सामग्री से मुख्य रस का पूर्णरूप में परिपोष हो जावे। दूसरी शर्त यह है कि मुख्य रस के जिस विरोधी रस का उपादान किया गया हो वह अपनी दुर्बलता के कारण बाध्य हो जावे अर्थात् मुख्य रस अपने विरोधी को अपनी शक्ति से दबा ले अथवा विरोधी रस मुख्य रस का अङ्ग बन जावे ऐसी दशा मे विरोधी रस तथा उसके अङ्गों का उपादान दोष नहीं होता। कोई भी रस अपने विरोधियों का बाध तो तभी कर सकता है जब उसमे इतनी शक्ति हो कि वह विरोधी को दबा सके, अन्यथा एक रस दूसरे का बाध नहीं कर सकता। एक रस मे दूसरे को दबाने की शक्ति तभी आती है जब दबानेवाले रस की सामग्री पूर्ण हो और वह परिपोष को प्राप्त हो गया हो तथा दबने वाले रस की सामग्री न्यून हो और वह परिपोष को भी न प्राप्त हुआ हो। इस प्रकार जब मुख्य रस अमुख्य रस को दबा लेता है तब अमुख्य रस मुख्य रस का परिपोषक ही हो जाता है। ( जैसे शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही किसी नायक की वास्तविक शोभा होती है उसी प्रकार विरोधी रस दबा कर अपने आधीन कर लेने से ही मुख्य रस की शोभा बढ़ती है और इस प्रकार वह परिपुष्ट होता है। ) यह तो हुई बाध्य होनेपर विरोधी रस के समावेश मे निर्दोषिता की बात। कोई विरोधी रस

ध्वन्यालोकः

अङ्गभावप्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा। तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्। तेषाञ्च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्। तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न व्यायान्। आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः।

(अनु०) उनकी अङ्गभावप्राप्ति या तो स्वाभाविक होती है या आरोपकृत होती है। उसमें जिनकी नैसर्गिक ( अङ्गभावप्राप्ति ) होती है उनकी उक्ति में तो अविरोध ही होता है। जैसे विप्रलम्भ शृङ्गार में उसके अङ्ग व्याधि इत्यादि का। और उन ( व्याधि आदि ) का उस ( शृङ्गार ) के अङ्गों का ही अदोष होता है अतदङ्गों का नहीं। तदङ्गता के सम्भव होने पर भी मरण का उपन्यास ठीक नहीं। क्योंकि आश्रय के विच्छेद में रस का सर्वथा विच्छेद प्रसक्त हो जाता है।

लोचन

अङ्गभावाभिप्रायमुभयथा व्याचष्टे, तत्र प्रथमं स्वाभाविकप्रकारं निरूपयति—तदङ्गानामिति। निरपेक्षभावतया सापेक्षभावविप्रलम्भशृङ्गारविरोधिन्यपि करुणे ये व्याध्यादयस्सर्वथाङ्गत्वेन दृष्टाः तेषामिति। ते हि करुणे भवन्त्येव त एव च भवन्तीति। शृङ्गारे तु भवन्त्येव नापि त एवेति। अतदङ्गानामिति। यथालस्यौग्रजुगुप्सानामित्यर्थः। तदङ्गत्वे चेति। 'सर्व एव शृङ्गारे व्यभिचारिण' इत्युक्तत्वादिति भावः। आश्रयस्य स्त्रीपुरुषान्यतरस्याधिष्ठानस्यापाये रतिरेवोच्छिद्येत तस्या जीवितसर्वस्वाभिमानरूपत्वेनोभयाधिष्ठानत्वात्।

अङ्गभाव के अभिप्राय को दो प्रकार से कहते हैं, उसमें प्रथम स्वाभाविक प्रकार का निरूपण करते हैं—'उसके अङ्गों का' यह। सापेक्ष भाव मे होनेवाले विप्रलम्भ शृंङ्गार के निरपेक्ष भाव में होने के कारण विरोधी भी करुण में जो व्याधि इत्यादि सर्वथा अङ्ग के रूप में देखे गये हैं उनका यह ( आशय है )। वे निस्सन्देह करुण मे होते ही हैं और वे ही होते है। शृङ्गार में तो होते ही हैं और वे ही नहीं ( होते )। 'अतदङ्गानाम्' इति। अर्थात् जैसे आलस्य औग्र और जुगुप्सा का।' और उसके अङ्गों 'का' यह। भाव यह है कि क्योंकि यह कहा गया है कि 'शृंगार मे भी व्यभिचारी होते है। आश्रय का अर्थात् अधिष्ठानरूप स्त्री पुरुष दो में एक का विनाश हो जाने पर रति ही उच्छिन्न हो जावे। क्योंकि वह ( रति ) जीवितसर्वस्वाभिमानरूप होने के कारण उभयनिष्ठ होती है।

तारावती

मुख्य रस का पोषक उस समय भी हो जाता है जब कि वह मुख्य रस का अङ्ग बन जावे। इस प्रकार भी विरोधी रस के समावेश मे दोष-राहित्य आ जाता है। एक रस

तारावती

दूसरे का अङ्ग दो रूपों में बनता है या तो उसमें अंग बन जाने की स्वाभाविक योग्यता हो या उस पर अङ्गभाव का आरोप कर दिया जावे। उसमे जो रस या उसके अङ्ग स्वाभाविक रूप में अंग हो जाते हैं उनके कथन में तो विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। उदाहरण के लिये काव्यशास्त्र में निर्वेद इत्यादि ३३ सञ्चारी माने जाते हैं। उनमे २९ सञ्चारी तो शृङ्गार रस में हो ही सकते हैं, उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा ये चार सञ्चारी परवर्ती आचार्यों के मत मे शृङ्गार में नहीं होते। भरत ने केवल तीन सञ्चारियों का शृङ्गार मे निषेध किया है आलस्य औग्रय और जुगुप्सा। भरत ने मरण का निषेध शृङ्गार में नहीं किया है। इस प्रकार तीन या चार सञ्चारी शृङ्गार मे नहीं होते शेष २९ सञ्चारी शृङ्गार में होते है। शृङ्गार का विरोधी है करुण। आलम्बन के एक होने पर शृङ्गार ओर करुण का विरोध होता है। करुण रस के व्यभिचारी भाव निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता इत्यादि होते हैं। इस प्रकार व्याधि इत्यादि सञ्चारियों की स्थिति दो प्रकार की हो गई—एक तो व्याधि-इत्यादि शृङ्गार के सञ्चारी भाव के रूप मे आते हैं दूसरे ये शृङ्गार के विरोधी करुण मे आते हैं। शृङ्गार और करुण का विरोध है इसमे तो सन्देह हो ही नहीं सकता। क्योंकि शृंगार रस ( विप्रलम्भ शृङ्गार ) सापेक्ष भाव में होता है और करुण निरपेक्ष भाव में। आशय यह है कि जहाँ आलम्बन के विद्यमान होने का निश्चय होने से पुनर्मिलन की अपेक्षा बनी रहे वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है और जहाँ मरण के निश्चय होने से पुनर्मिलन की अपेक्षा समाप्त हो जावे वहाँ करुण होता है। सापेक्ष भाव और निरपेक्ष भाव में विरोध होता है। अत एव करुण के व्यभिचारी भाव व्याधि इत्यादि शृङ्गार के विरोधी सिद्ध हुये। इन व्याधि इत्यादि सञ्चारियों का प्रयोग शृङ्गार मे भी होता ही है ( क्योंकि व्याधि इत्यादि को तो काम दशाओं में गिनाया गया है। ) अतः शृङ्गार रस के अंग के रूप में यदि व्याधि इत्यादि का प्रयोग किया जाता है तो दोष नहीं होता। इसके प्रतिकूल यदि ( इन व्याधि इत्यादि का करुण के अंग के रूप में अथवा ) उन उग्रता इत्यादि सञ्चारियों का, जो शृङ्गार के अंग नहीं बन सकते, उपनिबन्ध किया जाता है तो वह दोष होता है। क्योंकि व्याधि इत्यादि के विषय मे ये नियम बनाये जा सकते है—( १ ) व्याधि इत्यादि करुण में होते ही हैं। ( २ ) करुण में व्याधि इत्यादि ही होते हैं। ( ३ ) शृङ्गार मे व्याधि इत्यादि होते ही है और ( ४ ) शृङ्गार मे केवल व्याधि इत्यादि ही नहीं होते। इस प्रकार यदि शृङ्गार के अंग के रूप में व्याधि इत्यादि विरोधी करुण के अंगों का उपनिबन्ध किया जाता है तो वह दोष नहीं होता। यदि

ध्वन्यालोकः

करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत् न; तस्याप्रस्तुतत्वात्, प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु करुणरसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोधः। शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसवन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

(अनु०) यदि कहो कि इस प्रकार के विषय में करुण का परिपोष हो जावेगा तो ऐसा नहीं होगा; क्योंकि वह प्रस्तुत नहीं है और प्रस्तुत का विच्छेद हो चुका है। जहाँ करुण का ही काव्यार्थत्व हो वहाँ विरोध नहीं होता। अथवा शृङ्गार में मरण के शीघ्र ही प्रत्यावर्तन सम्भव होने पर कदाचित् उपनिबन्धन अत्यन्त विरोधी नहीं होता। अधिक समय में प्रत्यावर्तन होने पर उसका मध्य में प्रवाहविच्छेद हो ही जाता है अतः रसबन्ध को प्रधान बनाकर चलनेवाले कवि के द्वारा इस प्रकार के इतिवृत्त का उपनिबन्धन छोड़ ही दिया जाना चाहिये।

लोचन

प्रस्तुतस्येति। विप्रलम्भस्येत्यर्थः। काव्यार्थत्वमिति। प्रस्तुतत्वमित्यर्थः। नन्वेवं सर्व एव व्यभिचारिण इति विघटितमित्याशङ्क्याह—शृङ्गारे वेति। अदीर्घकाले यत्र मरणे विश्रान्तिपदबन्ध एव नोत्पद्यते तत्रास्य व्यभिचारित्वम्। कदाचिदिति। यदि तादृशीं भङ्गिं घटयितुं सुकवेः कौशलं भवति यथा—

'प्रस्तुत का' यह। अर्थात् विप्रलम्भ का। 'काव्यार्थत्व' यह। अर्थात् प्रस्तुतत्व। (प्रश्न) इस प्रकार सभी व्यभिचारी होते हैं यह बात कट जाती है यह शङ्का करके कहते हैं—'अथवा शृंगार में' यह। अदीर्घ कालवाले मरण मे जहाँ विश्राम शब्द का प्रयोग ही सिद्ध नहीं होता वहाँ यह व्यभिचारी होता है। 'कदाचित्' यह। यदि उस प्रकार की भङ्गिमा को घटित करने का कवि का कौशल होता है। जैसे—

तारावती

व्याधि इत्यादि का करुण के अंग के रूप में उपनिबन्ध किया जाता है या उग्रता इत्यादि शृङ्गारविरोधी अंगों का उपनिबन्धन किया जाता है तो वह दोष होता है। एक सिद्धान्त यह भी है कि शृंगार मे सभी व्यभिचारी होते हैं। (शृंगार में उग्रता आलस्य, जुगुप्सा और इन सञ्चारियों का निषेध किया गया है। आलम्बन के प्रति उग्रता निषिद्ध है, किन्तु सपत्नी के प्रति उग्रता शृङ्गार का पोषण ही करती है। आलस्य प्रेम-व्यवहार में निषिद्ध है, किन्तु रति-जन्य आलस्य शृङ्गार का पोषक होता है। आलम्बन के प्रति जुगुप्सा निषिद्ध है, किन्तु प्रतिनायक अथवा सपत्नी के प्रति जुगुप्सा दूषित नहीं होती। इस प्रकार प्रायः सभी सञ्चारी शृङ्गार के

## लोचन

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्या सरय्वो-
र्देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥

अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य । अत एव सुकविना मरणे पदबन्धमात्रं न कृतम् । अनूद्यमानत्वेनैवोपनिबन्धनात् । पदबन्धनिवेशे तु सर्वथा शोकोदय एवापरिमितकाल-प्रत्यापत्तिलाभेऽपि ।

अथ दूरपरामर्शकसहृदयसामाजिकाभिप्रायेण मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तेरङ्गतोच्यते, हन्त तापसवत्सराजेऽपि यौगन्धरायणादिनीतिमार्गाकर्णनसंस्कृतमतीनाम् वासवदत्ता-मरणबुद्धेरेवाभावात् करुणस्य नामापि न स्यादित्यलमवान्तरेण बहुना । तस्मादीर्घकाल-तात्र पदबन्धलाभ एवेति मन्तव्यम् । एवं नैसर्गिकाङ्गता व्याख्याता । समारोपितत्वे तद्विपरीतेत्यर्थलब्धत्वात् स्वकण्ठेन न व्याख्याता ।

'जाह्नवी और सरयू के जल-सम्मिलन से उत्पन्न तीर्थ मे शरीर त्यागने से अमर गणना के आलेख्य को शीघ्र ही प्राप्त होकर पहले आकार की अपेक्षा अधिक चतुर कान्ता से संगत होकर वे (अज) नन्दन के अन्दर लीलागारों मे रमण करने लगे ।

यहाँ पर स्पष्ट ही मरण रति का अंग हो रहा है । इसीलिये कवि ने मरण में पदबन्धनमात्र (भी) नहीं किया । क्योंकि अनुवाद के रूप में ही उसका उपनिबन्ध किया गया है । पदबन्ध के निवेश में तो अत्यन्त परिमित काल में ही पुनः प्राप्त हो जाने पर भी सर्वथा शोक का उदय ही हो जावेगा ।

यदि दूर का परामर्श करनेवाले सहृदय सामाजिकों के अभिप्राय से मरण की अदीर्घकालीन प्रत्यापत्ति का अंग होना स्वीकार किया जाता है तब तो 'तापस-वत्सराज' मे भी यौगन्धरायण इत्यादि के नीति मार्ग को सुनने से संस्कृत बुद्धिवाले (सहृदयों) में वासवदत्ता के मरण की बुद्धि न होने से करुण का तो नाम भी नहीं होगा। बस ! अवान्तर अधिक विस्तार की क्या अवश्यकता ? अतः यहाँ दीर्घकालता तो पदबन्ध के लाभ मे ही समझी जानी चाहिये । इस प्रकार नैसर्गिक अंगता की व्याख्या की गई । समारोपित होने पर उसके विपरीत होती है; अतः अर्थ प्राप्त होने के कारण स्वकण्ठ से व्याख्या नहीं की ।

## तारावती

सम्बन्ध मे प्रयुक्त किये जा सकते हैं ।) इस प्रकार यदि विरोधी उग्रता इत्यादि सञ्चारियों का शृङ्गार में उपादान सम्भव हो तो भी मरण का उपन्यास श्रेयस्कर

नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जब आश्रय ही नहीं रहेगा तब शृङ्गार का तो अत्यन्त विच्छेद हो जावेगा। अतः मरण का वर्णन शृङ्गार के अनुकूल किसी भी अवस्था में नहीं पड़ता। शृङ्गार का स्थायी भाव है रति, रति तभी होती है जब स्त्री पुरुष दोनों एक दूसरे को जीवनसर्वस्व मानने लगें। इस प्रकार रति उभयनिष्ठ होती है। अतः रति-आश्रय स्त्री पुरुष दोनों होते हैं। यदि इनमें एक का भी मरण हो गया तो रति ही उच्छिन्न हो जावेगी। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि शृंगार का न सही, मरण के बाद करुण का तो परिपोष हो जावेगा। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार के प्रकरण में सहृदयों की प्रवृत्ति शृङ्गार का आस्वादन करने के लिये होती है करुण के आस्वादन के लिये नहीं। अतः प्रस्तुत शृङ्गार रस ही है करुण नहीं। प्रस्तुत का विच्छेद दोष होगा ही। जहाँ पर करुण ही प्रस्तुत होता है तथा वही काव्यप्रवृत्ति का प्रयोजक होता है तथा उसी का आस्वादन करने के लिये सहृदयों को प्रवृत्त किया जाता है वहाँ मरण का वर्णन सदोष नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर पूछा जा सकता है कि जब मरण का वर्णन शृङ्गार में निषिद्ध ही है तब यह कहने का क्या आशय कि शृङ्गार में सभी सञ्चारी होते हैं? इसका उत्तर यह है कि विशेष अवस्थाओं में मरण भी शृङ्गार का पोषक होता है। यदि मरण के बाद शीघ्र ही पुनःसम्मिलन की सम्भावना उत्पन्न हो जावे तो कदाचित् उसका उपनिबन्ध अधिक सदोष नहीं माना जा सकता। मरण के बाद पुनः प्रत्यापत्ति का वर्णन इतना शीघ्र होना चाहिये कि पाठकों और दर्शकों की बुद्धि में रति का विच्छेद न होने पावे और न उनके हृदय में शृङ्गार की प्रतीति ही विश्रान्त हो सके। किन्तु इसमें शर्त यह है कि कवि के अन्दर इतनी कुशलता होनी चाहिये कि वह वस्तु की सङ्घटना ऐसे रूप में कर दे जिससे शृङ्गार की बुद्धि का विच्छेद न होने पावे। उदाहरण के लिये रघुवंश में अज की मृत्यु का वर्णन करते हुये महाकवि कालिदास ने लिखा है कि अपने दीर्घ रोग से परितप्त होकर अज ने प्रायोपवेशन प्रारम्भ कर दिया तब—

'जहाँ पर भगवती जाह्नवी और सरयू जैसी पवित्र नदियों का जल एक दूसरे से मिलता है और इसीलिये जहाँ पर तीर्थ बन गया है वहाँ पर शरीर का न्यास करने से अज को शीघ्र ही अमरों में गणना प्राप्त हो गई। उधर इन्दुमती भी अपने लौकिक रूप से अधिक सुन्दर रूप धारण कर वहाँ आई। अपनी उस प्रेयसी से मिलकर अज नन्दन उद्यान के अन्दर बने हुए क्रीडागृहों में विहार करने लगे।'

यहाँ पर अज की मृत्यु उनके प्रेयसीसम्मिलन और सम्भोग शृङ्गार मे हेतु होने से रति का अङ्ग है यह बात स्पष्ट ही है। ( यहाँ पर ध्यान देनेवाली बात यह

ध्वन्यालोकः

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विविक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां वाध्यत्वेनोक्तावदोषो यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि द्रक्ष्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति॥

(अनु०) उसमे विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ हो जाने पर विरोधी रसाङ्गों के बाध्यत्व के रूप मे कथन मे अदोष जैसे—

'कहाँ तो दुष्कृत्य और कहाँ शशधर ( चन्द्र ) का वंश ? एक बार वह पुनः दिखलाई पड़ जाती ? हमारा शास्त्र तो दोषों की शान्ति के लिये होना चाहिये ! आश्चर्य है कि उसका मुख क्रोध में भी कमनीय प्रतीत होता है। कल्मषरहित कुशल बुद्धिवाले क्या कहेंगे ? वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ है। हे चित्त ! स्वस्थ हो जाओ। न जाने कौन धन्य युवक उसका अधरपान करेगा !'

लोचन

एवं प्रकारत्रयं व्याख्याय क्रमेणोदाहरति-तत्रेत्यादिना। क्वाकार्यमिति। वितर्कौत्सुक्येन, मतिः स्मृत्या, शङ्का दैन्येन, धृतिश्चिन्तया च बाध्यते। एतच्च द्वितीयोद्योतारम्भ एवोक्तमस्माभिः।

इस भाँति तीनों प्रकारों की व्याख्या करके क्रमशः उदाहरण देते हैं—

'वहाँ पर' इत्यादि के द्वारा। 'कहा तो अकार्य' यहाँ वितर्क औत्सुक्य से, मति स्मृति से, शङ्का दैन्य से और धृति चिन्ता से बाधित की जाती है। और यह हमने द्वितीय उद्योत के आरम्भ में ही कह दिया है।

तारावती

है कि आठ वर्ष पूर्व इन्दुमती की मृत्यु हो चुकी है और प्रियतमा के शोक में अज का विलाप करुणरसपरक ही है। क्योंकि परस्पर जीवितसर्वस्व माननेवालों में एक की तो मृत्यु हो चुकी है। अतः दूसरे को भी जीवितसर्वस्व होने का अधिकारी कोई दिखलाई नहीं देता। अतएव अष्टम सर्ग का अजविलाप सर्वथा करुणरसपरक ही है। उसी शोक से अभिभूत होकर अज भी रोगग्रस्त हो जाते हैं और अन्त में व्याधि के अचिकित्स्य हो जाने पर अपने पुत्र दशरथ को राज्य-भार सौंप कर अनशन करते हुए प्राणों का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार यह सारा वर्णन विप्रलम्भशृङ्गारपरक न होकर करुणरसपरक ही है। किन्तु मरने के पहले लिखा गया है कि 'यद्यपि अज का वह रोग वैद्यों से असाध्य तथा प्राणान्त मे हेतु था

## तारावती

तथापि प्रियतमा के पीछे जाने में शीघ्रता कराने के कारण अज ने उस रोग को लाभ ही समझा।' इन शब्दों के द्वारा कालिदास ने मरण के द्वारा सम्मिलन की आशा प्रत्युज्जीवित कर दी है। इसके बाद ही अज की मृत्यु और उसके बाद प्रियतमा के साहचर्य की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण यह है कि जहाँ दो में किसी एक की मृत्यु हो जाने पर आलम्बनविच्छेद हो जाने से रस-विच्छेद की सम्भावना उत्पन्न हो जावे वहाँ प्रत्युज्जीवन के भी तत्काल दिखला दिये जाने पर रसविच्छेद नहीं होता। इस प्रकरण में रघुवंश का जो पद्य उदाहृत किया गया है वह ठीक नहीं बैठता। क्योंकि एक की मृत्यु तो बहुत पहले हो चुकी है, यहाँ दूसरे की मृत्यु के बाद स्वर्ग में दोनों के पुनः समागम का वर्णन किया गया है। अतः करुण के बाद शृङ्गार के तत्त्व दिखलाए हैं। यहाँ पर आचार्य का अभिप्राय केवल इतना ही है कि मरण भी शृङ्गार का उपकरण हो सकता है। इसी का यह उदाहरण है, सम्पूर्ण प्रकरण का उदाहरण नहीं। इस प्रकरण का ठीक उदाहरण होगा कादम्बरी का महाश्वेतावृत्तान्त। महाश्वेता कपिञ्जल की अभ्यर्थना पर अपने प्रियतम पुण्डरीक से मिलने चलती है; पुण्डरीक का वियोग-व्यथा से देहावसान हो चुका है। महाश्वेता का विप्रलम्भ भली-भाँति करुणरूपता धारण नहीं कर सका है कि इतने में ही चन्द्रमण्डल से एक व्यक्ति निकलकर पुण्डरीक के शव को उठा ले जाता है और आकाशवाणी हो जाती है कि महाश्वेता का पुण्डरीक से इसी शरीर में सम्मिलन होगा। इस आकाशवाणी के बाद विदेश-गमन के समान पुनः सम्मिलन की आशा में विप्रलम्भ सुरक्षित रहता है। (कतिपय आचार्यों ने इस प्रकार को पृथक् ही करुणविप्रलम्भ की संज्ञा प्रदान की है।) मरण को शृङ्गार रस का अङ्ग बनाने के मन्तव्य से ही महाकवि कालिदास ने ऐसे किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया जिससे मरण की स्पष्ट प्रतीति हो और शृङ्गार की बुद्धि का ही विच्छेद हो जावे। यहाँ पर मरण के लिए 'देहन्यास' शब्द का प्रयोग किया गया है जो कि मरण का अनुवादमात्र है। अनुवाद के रूप में मरण का उल्लेख इसीलिए किया गया है कि शृङ्गारानुकूल बुद्धि का व्यवच्छेद न होने पावे। यदि मरणपरक किसी ऐसे पदबन्ध का प्रयोग कर दिया जाता है जिससे बुद्धि का व्यवच्छेद हो जाने की सम्भावना हो तब चाहे कितना ही शीघ्र प्रत्युज्जीवन का वर्णन कर दिया जावे किन्तु शोक का उदय तो हो ही जाता है। यदि प्रत्यु-ज्जीवन का बहुत समय बाद वर्णन किया जाता है तो बीच में शृङ्गार रस के प्रवाह का विच्छेद हो ही जाता है। अतः यदि कवि प्रधान रूप में शृंगाररस बन्ध के लिए प्रवृत्त हुआ हो तो उसे ऐसे इतिवृत्त का परित्याग ही करना चाहिए जिससे

तारावती

शृंगार रस की भावना के विच्छिन्न होने की सम्भावना हो। यहाँ पर प्रवाह-विच्छेद न होने देने का आशय यही है कि कवि को किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे प्रसङ्गागत रसबुद्धि विच्छिन्न हो जावे। कुछ लोगों ने अदीर्घकाल प्रत्यापत्ति इत्यादि ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की है—'मरण की प्रत्यापत्ति में जहाँ शीघ्र ही प्रत्युज्जीवन की सम्भावना होती है वहाँ मरण शृंगार का अङ्ग बन जाता है और यह शीघ्र ही प्रत्युज्जीवन की सम्भावना सामाजिक की दृष्टि से होती है। सहृदय सामाजिक दूर की बात को समझ लेता है। अतः वर्णन इस प्रकार का होना चाहिए कि सहृदय सामाजिक की शृंगार रसानुकूल बुद्धि में विच्छेद न होने पावे और उसे मरण के बाद शीघ्र ही पुनरुज्जीवन की सम्भावना अवभासित हो जावे।' किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है तापसवत्सराज में यौगन्धरायण के नीतिमार्ग को सहृदय पाठक सुनते ही हैं और पाठकों की बुद्धि उससे संस्कृत हो ही जाती है। अतः पाठकों को यह ज्ञात ही रहता है कि अभी वासवदत्ता मरी नहीं है—राजा मिथ्या प्रचार पर विश्वास करने के कारण भ्रम में है। अतः वहाँ पर करुण का नाम भी नहीं होगा। किन्तु पाठक करुण रस का आस्वादन करते ही हैं। बस इतना इस मान्यता के प्रतिकूल कहना काफी है। अधिक आवान्तर वस्तु के विस्तार की क्या आवश्यकता? अतः यहाँ पर निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है जिनसे बुद्धि-विच्छेद हो सके तब बुद्धिविच्छेद हो जाता है और जब ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता तब बुद्धिविच्छेद नहीं होता। अतः दीर्घकालता कवि की वाणी पर आधारित होती है समय पर नहीं। इस प्रकार इस बात की व्याख्या की जा चुकी कि जो रस या रसाङ्ग विरोधी रस में भी होते हैं और प्रकृत रस के परिपोषक हो सकते हैं उनको किस प्रकार प्रकृत रस का अङ्ग बनाया जाता है। दूसरे प्रकार के वे रस या रसाङ्ग होते हैं जो प्रकृत रस में कभी आते ही नहीं। वे सर्वदा प्रकृत रस के विरोधी ही होते हैं। उनको भी कवि अपनी वाणी की कुशलता से प्रकृत रस का अङ्ग बना देता है। इस विषय मे कुछ अधिक कहना नहीं है। जो कुछ स्वाभाविक रसाङ्गों की अंगता के विषय मे कहा गया है उसके विपरीत सर्वथा विरुद्ध रसांगों के विषय में समझना चाहिए। (स्वाभाविक रसागों के विषय में कहा गया था कि वे प्रकृत रस के अंग होकर ही उसका पोषण करते है। इसके विपरीत आरोपित रसागों के विषय में कहा जा सकता है कि वे विरोधी रस के रसाङ्ग होकर ही प्रकृत रस का परिपोष करते हैं।) इस प्रकार किसी विरोधी रस या रसाङ्ग के प्रकृत रस के पोषक होने के तीन रूप हो सकते है—(१) यदि विरोधी का बाध

ध्वन्यालोकः

यथा वा पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीयमुनिकुमारोपदेशवर्णने ।

(अनु०) अथवा जैसे महाश्वेता के प्रति निर्भर अनुराग के प्रारम्भ होने पर पुण्डरीक के लिये दूसरे मुनिकुमार के उपदेशवर्णन में ।

लोचन

द्वितीयेति । विपक्षीभूतवैराग्यविभावाद्यवधारणेऽपि ह्यशक्यविच्छेदत्वे न दार्ढ्यमेवानुरागस्योक्तं भवतीति भावः ।

'द्वितीय' यह । भाव यह है कि विपक्ष रूप में स्थित वैराग्य के विभाव इत्यादि के अवधारण मे भी विच्छेद के अशक्य होने से अनुराग की दृढता ही कही हुई होती है ।

तारावती

कर दिया जावे, ( २ ) यदि कोई तत्त्व विरोधी रस मे भी सम्भव हो और प्रकृत रस में भी सम्भव हो तो उस तत्त्व का विरोधी के अंग के रूप मे उपादान न कर प्रकृत रस के अग के रूप मे ही उपादान किया जावे और ( ३ ) सर्वथा विरोधी रस-तत्त्व का प्रकृत रस पर आरोपकर उसे प्रकृत रस का अंग बना दिया जावे । अब क्रमशः इन तीनों के उदाहरण दिये जा रहे हैं ।

उक्त तीनों रूपों के साथ यह शर्त अनिवार्य है कि प्रकृत रस का पूर्ण परिपाक हो जाना चाहिए । तभी वह या तो दूसरे रस का बाध करता है या उसे अपना अंग बनाता है । ( १ ) जब विरोधी रस बाध्य रूप मे निबद्ध किया जाता है उसका उदाहरण जैसे 'काकार्यं शशलक्ष्मणः·····' इत्यादि पद्य जो कि द्वितीय उद्योत में भावशबलता के उदाहरण के रूप में लोचन में उद्धृत किया जा चुका है और वहीं उसकी व्याख्या भी की जा चुकी है । वहाँ पर प्रकृत रस शृंगार है । उसके व्यभिचारी भाव औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य तथा चिन्ता की अभिव्यक्ति होती है। साथ ही शृंगार के विरोधी शान्त रस के व्यभिचारी वितर्क, मति, शङ्का, और धृति की भी अभिव्यक्ति होती है । वितर्क का बाध औत्सुक्य द्वारा होता है । इसी प्रकार मति का स्मृति के द्वारा, शङ्का का दैन्य के द्वारा और धृति का चिन्ता के द्वारा बाध हो जाता है। पर्यवसान मे चिन्ता में ही विश्रान्ति होती है । इस प्रकार शृंगार रस का पूर्ण परिपाक हो जाता है । विरोधी रस के व्यभिचारी वितर्क इत्यादि का सर्वथा बाध हो जाता है । अतः ( विजित शत्रु के समान ) वे व्यभिचारी ( विजेता ) शृङ्गार को पुष्ट ही करते हैं । अथवा दूसरा उदाहरण जैसे कादम्बरी में अच्छोद सरोवर के निकट महाश्वेता को पुण्डरीक का प्रथम दर्शन

ध्वन्यालोकः

स्वाभाविक्यामङ्गभावप्राप्तावदोषो यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

इत्यादौ। समारोपितायामप्यविरोधो यथा 'पाण्डुक्षामम्' इत्यादौ। यथा वा 'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादौ।

(अनु०) स्वाभाविक अङ्गभावप्राप्ति मे अदोष जैसे—

'मेघरूपी भुजङ्गम से उत्पन्न विष (जलरूपी गरल) वियोगिनियों के लिये चक्कर, अरति, आलस्यपूर्ण हृदयता, चेतना ज्ञान का अभाव, मूर्च्छा, अन्धकार (मोह) शरीर का अवसाद और मरण उत्पन्न करता है।'

इत्यादि मे। समारोपित अङ्गता में भी अविरोध जैसे—'पाण्डुक्षामं वदनम्' इत्यादि में। अथवा जैसे 'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादि में।

लोचन

समारोपितायामिति। अङ्गभावप्राप्ताविति भावः।

पाण्डुक्षामं वक्त्रं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्लेन्द्रियरोगं सखि हृदन्तः॥

अत्र करुणोचितो व्याधिः श्लेषभङ्ग्या स्थापितः। कोपादिति बध्नेति हन्यत इति रौद्रानुभावानां रूपकबलादारोपितानां तदनिर्वाहादेवाङ्गत्वम्। तच्च पूर्वमेवोक्तं 'नाति-निर्वहणैषिता' इत्यन्तरान्तरे।

समारोपिता मे। 'अंगभाव प्राप्ति में' इतना शेष है।

'हे सखि तुम्हारा पाण्डु और क्षीण मुख, सरस हृदय और अलस शरीर तुम्हारे हृदय के अन्दर असाध्य रोग की सूचना देते हैं।'

यहाँ करुण के योग्य व्याधि श्लेष की भङ्गिमा से स्थापित की गई है। 'कोप से' यह 'बाँधकर' यह और 'मारा जाता है' यह इन रूपकों के बल पर आरोपित अनुभावों का रूपक के निर्वहण करने से अंगत्व हो जाता है। वह पहले ही कहा गया है 'अत्यन्त निर्वहण की इच्छा न होना' इसके बीच मे।

तारावती

हो गया और पुण्डरीक ने सुगन्धित मञ्जरी तथा महाश्वेता ने एकावली एक दूसरे को प्रणय-निवेदन के संकेत के रूप में प्रदान कर दी। यहीं से परस्पर सहृदय सर्वस्वाभिमान रूप रति दोनों के हृदयों में जाग्रत हो गई। पुण्डरीक की विरह-वेदना के अपनोदन के मन्तव्य से उसके सहचर कपिञ्जल ने वैराग्य का उपदेश दिया। वह वैराग्य का उपदेश शृङ्गार के प्रसंग में आया था। यह विरोधी रस

का समावेश था। किन्तु उस विरोधी रस का बाधकर शृङ्गार ही प्रमुख बन गया और वह विरोधी रस ( शान्त ) शृङ्गार के परिपोषक के रूप में ही परिणत हो गया। शान्त रस की शृंगार-परिपोषक के रूप में परिणति इस प्रकार हुई कि उससे यह सिद्ध हो गया कि यद्यपि विरोधी वैराग्य के विभाव इत्यादि का अवधारण किया गया तथापि अनुराग इतना दृढ़ था कि वैराग्य की कथाओं से भी उसका उपशम नहीं हो सका। इस प्रकार अनुराग की दृढ़ता को सिद्ध करना ही शान्त रस के उपादान का प्रयोजन है। अतः यहाँ पर शान्त का शृङ्गार मे समावेश दोष नहीं अपितु गुण ही है।

( २ ) स्वाभाविक रूप में अंगभाव प्राप्ति मे दोष न होने का उदाहरण जैसे—

'जलदरूपी भुजंगम से उद्भूत विष ( जल और गरल ) वियोगिनियों के लिये बलात् चक्कर, अरति, हृदय में आलस्य, चेष्टाशून्यता, अन्धकार, शरीर का टूटना और मरण उत्पन्न कर रहा है।'

उद्दीपन होने के कारण वर्षा का जल वियोगिनियों के लिये सर्प-विष जैसा ही है। जल की वर्षा करनेवाले काले बादल काले सांपों के समान हैं। विष शब्द के दो अर्थ हैं ही जल और गरल। अतः बादलों से छोड़ा हुआ जल सर्पों से छोड़े हुये विष के समान है। जिस प्रकार सर्पों के विष के प्रभाव से चक्कर आने लगते है, संसार की सारी वस्तुयें अच्छी नहीं लगतीं, शरीर ढीला पड़ जाता है, चेष्टा शक्ति जाती रहती है, मूर्छा आने लगती है, शरीर टूटने लगता है, आखों के सामने अंधेरा छा जाता है। यही सब बातें वर्षा में वियोगिनियों के लिये होती हैं। यहाँ पर प्रस्तुत रस है विप्रलम्भ शृङ्गार। उसके विरोधी करुण के अंगभ्रमि इत्यादि है। किन्तु ये भ्रमि इत्यादि विप्रलम्भ के भी स्वाभाविक रूप मे अङ्ग बनने की क्षमता रखते हैं। अत एव कवि ने इसको स्वाभाविक रूप में ही विप्रलम्भ का अङ्ग बना दिया है।

( ३ ) तीसरा प्रकार है ऐसे विरोधियों का प्रकृत पर आरोपकर उनको अंग-रूपता प्रदान करना जो स्वाभाविक रूप में अङ्ग नहीं बन सकते। इसका उदाहरण—

हे सखि! तुम्हारा मुख पीला तथा क्षीण पड़ गया है; हृदय सरसता से भरा हुआ है और शरीर आलस्य से परिपूर्ण है, ये सब बातें बतलाती हैं कि तुम्हारे हृदय के अन्दर ऐसा रोग घुस गया है जिसकी चिकित्सा दूसरे ही शरीर मे सम्भव है।

यहाँ पर रोग का अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाना, मुख का पीला पड़ जाना इत्यादि विरोधी रस करुण के अंग है और अर्थ श्लेष की भंगिमा से अर्थात् ऐसे अनुभावों से जो उभयत्र सम्भव हैं इनका आरोप शृंगार पर किया गया है। आरोप

ध्वन्यालोकः

इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनं तस्यामपि न दोषः। यथोक्तम्—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादौ। कथं तत्राविरोध इति चेत्—द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात्। अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्-उच्यते। विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं नानुवादे।

(अनु०) और यह अङ्गभावप्राप्ति दूसरी है जो कि आधिकारिक होने से किसी एक प्रधान वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों या दो भावों की अङ्गभावप्राप्ति हो जाती है उसमें भी दोष नहीं होता। जैसा कि कहा गया है—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में। यदि कहो कि वहाँ अविरोध कैसे होता है तो (इसका उत्तर यह है कि) क्योंकि उन दोनों को अन्यपरक के रूप में ही व्यवस्थित किया जाता है। यदि कहो अन्यपरक होने पर भी विरोधियों की विरोधनिवृत्ति किस प्रकार होती है तो उस पर कहते हैं—विरुद्धों का समावेश विधि में दुष्ट होता है अनुवाद में नहीं।

तारावती

कर देने से इनका विरोध जाता रहा है। (यह उदाहरण काव्यप्रकाश में भी आया है। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि चेहरे का पीलापन इत्यादि करुण के ही अंग (अनुभाव) नहीं होते अपितु शृङ्गार के भी अंग हो सकते हैं। अतः इनका कथन विरुद्ध नहीं माना जा सकता। काव्यप्रकाशकार का यह मत समीचीन ही प्रतीत होता है क्यों कि भरत ने भी व्याधि को केवल करुण का ही नहीं अपितु शृङ्गार का भी अंग माना जाता है। सम्भवतः इसी अरुचि के कारण ध्वनिकार ने दूसरा उदाहरण दिया है।) दूसरा उदाहरण जैसे—'कोपात्कोमललोलबाहुलतिका' इत्यादि। इस पद्य की विस्तृत व्याख्या पहले की जा चुकी है। वहाँ पर यह कहा गया था कि वही अलङ्कार रस का पोषक होता है जिसके निर्वहण की इच्छा दृष्टिगत न हो रही हो। इसी मान्यता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत पद्य को उद्धृत किया गया था यहाँ पर इसको उद्धृत करने का आशय यह है कि 'कोप से' 'बाँध कर' और 'मारा जाता है' ये ऐसे तत्त्व है जो शृङ्गार में नहीं अपितु उसके विरोधी रौद्र में ही सम्भव हैं। इसमें बाहुलतिका पर बंधनपाशों का आरोप किया गया है; किन्तु वधू इत्यादि पर व्याध इत्यादि का आरोप नहीं किया गया। रूपक के अनिर्व्यूढ रहने से रौद्र का पूर्ण परिपाक नहीं हो सका है। इसके प्रतिकूल प्रकृत शृङ्गार का पूरा परिपाक हो गया है। इसीलिये शृंगार का अंग होकर ही रूपक आया है और रूपक के बलपर विरोधी का प्रकृत पर आरोप करने का यह ठीक उदाहरण है।

ऊपर उन तीन प्रकारों का वर्णन किया जा चुका जिनमें एक विरोधी रस दूसरे प्रकृत रस का अङ्ग हो सकता है और उस विरोधी का प्रकृत के साथ सन्नि-

## लोचन

अन्येति। चतुर्थोऽयं प्रकार इत्यर्थः। पूर्वं हि विरोधिनः प्रस्तुतरसान्तरेऽङ्गतोक्ता, अधुना तु द्वयोर्विरोधिनोर्वस्त्वन्तरेऽङ्गभाव इति शेषः। क्षिप्त इति। व्याख्यातमेतत्—'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' इत्यत्र। नन्वन्यपरत्वेऽपि स्वभावो न निवर्तते, स्वभावकृत एव च विरोध इत्यभिप्रायेणाह—अन्यपरत्वेऽपीति। विरोधिनोरिति। तत्स्वभावयोरिति हेतुत्वाभिप्रायेण विशेषणम्। उच्यत इति। अयं भावः—सामग्रीविशेषपतितत्वेन भावानां विरोधाविरोधौ न स्वभावमात्रनिबन्धनौ शीतोष्णयोरपि विरोधाभावात्। विधाविति। तदेव कुरु मा कार्षीरिति यथा। विधिशब्देनात्रैकदा प्राधान्यमुच्यते। अत एवातिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति न गृह्णन्तीति विरुद्धविधिर्विकल्पपर्यवसायीति वाक्यविदः। अनुवाद इति। अङ्गतायामित्यर्थः।

'अन्या' यह। अर्थात् यह चौथा प्रकार है। पहले निस्सदेह विरोधी की प्रस्तुत दूसरे रस में अङ्गता कही गई, अब तो दोनों विरोधियों का दूसरी वस्तु में अंगभाव बतलाया जा रहा है' यह शेष है। 'क्षिप्त' यह। इसकी व्याख्या 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे..... —'इस कारिका मे की जा चुकी है। 'अन्यपरत्व में भी स्वभाव निवृत्त नहीं होता और विरोध स्वभावकृत ही होता है' इस अभिप्राय से प्रश्न करके कहते हैं—'अन्यपरत्व मे भी' इत्यादि। 'विरोधियों का' यह। विरुद्ध स्वभाववालों का इस हेतुत्व के अभिप्राय से विशेषण है। 'कहा जा रहा है' यह। भाव यह है कि विशेष सामग्री में पड़े हुये भावों का ही विरोध या अविरोध होता है; केवल स्वभाव के ही आधीन नहीं होता। क्योंकि शीत और उष्ण का भी विरोध नहीं होता। 'विधि' मे यह। जैसे 'वही करो' 'मत करो' इसमें। विधि शब्द से यहाँ पर एकसमय प्रधानता कही जा रही है अतएव अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण करते है नहीं ग्रहण करते हैं यह विरुद्धविधि विकल्प मे पर्यवसित होती है यह वाक्यज्ञों का मत है। 'अनुवाद में यह'। अर्थात् अंगता में।

## तारावती

वेश दूषित नहीं माना जाता। इनके अतिरिक्त एक चौथा प्रकार और होता है। पूर्वोक्त तीन प्रकारों से इस चौथे प्रकार में भेद यह होता है कि पूर्वोक्त तीन प्रकारों मे विरोधी रस प्रकृत का पोषक किस प्रकार होता है यह दिखलाया गया है। इस चौथे प्रकार मे यह दिखलाया जा रहा है कि दो परस्पर विरोधी रस प्रकृत रस में सन्निविष्ट किस प्रकार होते हैं। वह प्रकार यह है कि यदि आधिकारिक होने के कारण एक वाक्यार्थ (रस) प्रधान हो और परस्पर विरोधी दो रस या भाव उस एक आधिकारिक की ही पुष्टि कर रहे हों तो उन दोनों के अङ्गरूपता धारण करने में भी कोई दोष नहीं होता। आशय यह है कि विरोधमूलकदोष तो तभी हो

## तारावती

सकता है जब दो विरोधी परस्पर संबद्ध हों। जहाँ विरोधियों का परस्पर सम्बन्ध ही नहीं होता, उनमें प्रत्येक किसी दूसरे को पुष्ट करता है वहाँ न तो उनका विरोध ही होता है और न विरोधमूलक दोष ही वहाँ पर होता है। जब दोनों पृथक्-प्रस्तुत रस का परिपोषण कर देते हैं फिर यदि वे सम्बद्ध भी होते हैं तो भी उनका विरोध अकिञ्चित्कर होता है। यह तो हो ही सकता है कि दो विरोधी राजा किसी तीसरे अपने से बड़े राजा के हितसाधक हों। उदाहरण के लिये 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि अमरुक के पद्य को लीजिये। इसकी व्याख्या 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे—' इस कारिका में की जा चुकी है। यहाँ पर प्रधानीभूत वाक्यार्थ है—त्रिपुरारि का प्रभावातिशय और उसके अङ्ग हैं करुण तथा शृङ्गार। ये दोनों परस्पर विरोधी रस हैं किन्तु दोनों ही भगवान् शङ्कर के प्रभाव-की अधिकता को ख्यापित करने में सहयोग देते हैं अतः दोनों का परस्पर समावेश दूषित नहीं माना जा सकता। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो सर्वथा विरोधी होते हैं उनके विरोध की निवृत्ति हो ही किस प्रकार सकती है? इसका उत्तर यह है कि उक्त स्थल पर विरोधी रस स्वतन्त्र नहीं होते अतः वे अपने विरोध का निर्वाह भी नहीं कर सकते। वे अन्यपरक होते हैं और स्वयं विरोधी होते हुये भी विरोध का पालन नहीं कर सकते और दोनों ही स्वामी का कार्य बनाते ही हैं। इस पर यह पूछा जा सकता है कि विरोधी अनुचर अपने स्वामी का ही कार्य बनाते हैं, स्वयं तो नहीं बन जाते। अन्यपरक होते हुये भी किसी का स्वभाव तो कहीं नहीं चला जाता। विरोध मे कारण तो स्वभाव ही होता है। ऐसी दशा मे उनकी विरोधनिवृत्ति की बात करना कैसे सङ्गत हो सकता है? यहाँ पर मूल मे जो 'विरोधिनोः' यह विशेषण दिया गया है उसका अर्थ है विरोधी स्वभाववाला होना। यह विशेषण हेतुगर्भित है। अर्थात् क्योंकि उनका स्वभाव ही विरोध रखना है फिर वे अन्यपरक होकर भी विरोध का परित्याग कैसे कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि विधि में विरोधी का समावेश दूषित होता है, अनुवाद मे नहीं। इसको इस प्रकार समझिये यह समझना ठीक नहीं है कि दो विरोधियों के विरोध का आधार केवल स्वभाव ही होता है। दो वस्तुओ का विरोध या अविरोध स्वभाव के आधार पर भी होता है और विशेष प्रकार की सामग्री मे पड़ना भी उनके विरोध या अविरोध का आधार होता है। उदाहरण के लिये शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श में परस्पर विरोध है। यह स्वाभाविक विरोध इस रूप मे होता है कि शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श दोनों एक अधिकरण में नहीं रह सकते। इसी प्रकार शीतस्पर्श या उष्णस्पर्श द्रव्यत्व के साथ या रूप इत्यादि गुणों के साथ एक अधिकरण मे रह सकता है यह उनका

स्वाभाविक अविरोध है। इसी प्रकार शीतस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य में उष्ण-स्पर्श की उत्पत्ति प्रतिबद्ध हो जाती है यह उनका द्रव्यविशेष में सन्निविष्ट होने से विरोध का उदाहरण है। इसी प्रकार शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का सामग्रीसन्निवेश-जन्य अविरोध वहाँ पर हो सकता है जो द्रव्य शीत तथा उष्ण दोनों प्रकार के उपकरणों से बनाया जाता हो। आशय यही है कि भावों का विरोध या अविरोध सामग्रीविशेष से संयुक्त होने के कारण होता है, शीत और उष्ण के समान केवल स्वभाव से ही उनका विरोध या अविरोध नहीं होता। वाक्य में दो भाग होते हैं—एक तो ज्ञात तत्त्व जिनके विषय में कोई बात कही जाती है, उसे वाक्य का उद्देश्य अथवा अनुवाद भाग कहते हैं। दूसरा अंश होता है अज्ञात अंश जो कि बतलाया जाता है, उसे विधि अंश अथवा विधेय अंश कहते हैं। विधेय में विरोधियों का समावेश दूषित होता है उद्देश्य में नहीं। क्योंकि दो विरोधी कार्य एक साथ किये ही नहीं जा सकते किन्तु दो विरोधियों से सम्बन्ध रखनेवाला कोई अन्य कार्य तो किया ही जा सकता है। उदाहरण के लिये—'यह कार्य करो' 'मत करो' इन दो विरोधी आदेशों का पालन नहीं किया जा सकता क्योंकि इन दोनों में विधेय में ही विरोध है। किन्तु विधेय में विरोध के विषय में इतना और समझ लेना चाहिये कि विरोधी विधेयों का समावेश वहीं पर दूषित होता है जहाँ एक ही स्थान पर एक ही समय में दो विरोधियों की प्रधानता बतलाई जाती है। यदि कहीं शास्त्र में इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध तत्त्वों का एक साथ विधान होता है तो उनका एक ही में समावेश नहीं हो सकता अपितु उनका पर्यवसान विकल्प में होता है। उदाहरण के लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ का विधान स्वर्ग के उद्देश्य से किया गया है। ज्योतिष्टोम में १२ स्तोत्र आते हैं। इन स्तोत्रों का विभिन्न क्रम से गान किया जाता है। अन्त में जो स्तोत्र आता है उसी के आधार पर ज्योतिष्टोम का भेद किया जाता है। इस भाँति ज्योतिष्टोम चार प्रकार का हो जाता है—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। ज्योतिष्टोम यज्ञों में सोम को रखने लिये जिस पात्र को काम में लाया जाता है उसे 'षोडशी' कहते हैं। ज्योतिष्टोम के प्रकरण मे लिखा हुआ है कि—'अतिरात्र ( नामक ज्योतिष्टोम के प्रकार ) में षोडशी को ग्रहण करता है।' फिर लिखा है कि—'अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नहीं करता है।' इस प्रकार अति-रात्र के विषय में दो विरुद्ध विधान पाये जाते हैं। शास्त्र-विधि व्यर्थ तो हो ही नहीं सकती। अतः दोनों की चरितार्थता के लिये विकल्प में अर्थ का पर्यवसान हो जाता है। दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। अतः विकल्पपरक अर्थ करना पड़ता है। आशय यह है कि अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण न करने का

ध्वन्यालोकः

यथा—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः॥

इत्यादौ। अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनूद्यमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति। श्लोके ह्यस्मिन्नीर्ष्याविप्रलम्भशृङ्गारकरुणवस्तुनोर्न विधीयमानत्वम्। त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वात्तदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात्।

(अनु०) जैसे—'आओ, जाओ, गिरो, उठो, कहो, चुप रहो इस प्रकार आशारूपी ग्रह से ग्रस्त याचकों के साथ धनी लोग क्रीडा करते हैं।'

इत्यादि में। यहाँ निस्सन्देह विधि और निषेध के अनुवादरूप होने के कारण विरोध नहीं है उसी प्रकार यहाँ पर भी हो जावेगा। निस्सन्देह इस श्लोक मे ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण इन दो वस्तुओं का विधीयमानत्व नहीं है। क्योंकि त्रिपुरारि के प्रभावातिशय के वाक्यार्थ होने के कारण उसके अङ्ग के रूप में उन दोनों की व्यवस्था होती है।

लोचन

क्रीडाङ्गत्वेन ह्यत्र विरुद्धानामर्थानामभिधानमिति राजनिकटव्यवस्थिततातायिद्वयन्यायेन विरुद्धानामप्यन्यमुखप्रेक्षितापरतन्त्रीकृतानां श्रौतेन क्रमेण स्वात्मपरामर्शेऽप्यविश्राम्यताम्, का कथा परस्परस्वरूपचिन्तायां येन विरोधः स्यात्। केवलं विरुद्धत्वादरुणाधिकरणस्थित्या यो वाक्यीय एषां पाश्चात्यः सम्बन्धः सम्भाव्यते स विघटताम्।

यहाँ पर निस्सन्देह क्रीडा के अंग के रूप में विरुद्ध भी अर्थों का अभिधान किया गया है इस प्रकार राजा के निकट बैठे हुये दो आततायियों के न्याय से विरुद्ध भी अन्यमुखप्रेक्षी होने के कारण परतन्त्र किये हुये श्रुतिक्रम से अपने परामर्श में भी विश्राम न पानेवाले (तत्त्वों का क्रीडा मे अंग के रूप में अन्वय होता है।) परस्पर रूप चिन्ता के विषय में तो कहना ही क्या जिससे विरोध हो। विरुद्ध होने के कारण केवल अरुणाधिकरणस्थिति से जो इसके बाद वाक्यीय सम्बन्ध की सम्भावना की जाती है वह विघटित हो जावेगी।

तारावती

दोष नहीं होता। क्योंकि न ग्रहण करने की विधि भी मौजूद है। इस प्रकार विधेय में दो विरोधियों की समान कोटि की प्रधानता दूषित होती है।

ऊपर विधेय में दो विरोधियों के समावेश में सदोषता का परिचय दिया गया है। अब उद्देश्य में विरोधियों के समावेश में दोष नहीं होता यह बतलाया जा रहा है। निम्नलिखित उदाहरण लीजिये—

## तारावती

'आशा रूपी ग्रह से ग्रस्त याचकों से धनी लोग इस प्रकार क्रीड़ा करते हैं कि—आओ-जाओ, उठो गिरो, बोलो—चुप रहो इत्यादि ।' आशय यह है कि धनी लोगों का याचकों को अपनी क्रीडा का साधन बनाना एक सामान्य स्वभाव होता है। कभी वे उनसे कहते हैं आओ, कभी जाओ, कभी कहते हैं उठो और कभी कहते हैं गिरो, कभी कहते हैं बोलो और कभी कहते हैं चुप रहो । यह सब उनका खिलवाड़ ही होता है । वे जैसा चाहते हैं वैसी ही आज्ञा देते हैं और चूँकि याचक आशा-रूपी ग्रह से ग्रसे हुये होते हैं, अतः जैसा कुछ उनसे कहा जाता है वैसा उन्हें पालन करना पड़ता है ।

यहाँ पर 'आओ', 'जाओ' 'गिरो' 'उठो' 'बोलो' 'चुप रहो' ये सब परस्पर विरुद्धार्थक शब्द हैं । किन्तु ये सब अनुवाद ही हैं क्योंकि धनियों की भाषा का इनमें अनुवाद किया गया है । विधेय है क्रीडा करना । क्रीडारूप विधेय के ये सब परस्पर विरोधी तत्त्व अंग बनकर आये हैं । अतः विरोधियों का एकत्र समावेश यहाँ पर दोष नहीं है । यह ऐसे ही होता है जैसे दो विरोधी एक दूसरे के प्राण लेने पर उतारू हों किन्तु जब वे राजा के निकट पहुँचते हैं तब एक दूसरे के साथ चुपचाप बैठ जाते हैं, वहाँ वे अन्यमुखप्रेक्षी होते हैं इसीलिये उनकी स्वतन्त्रता जाती रहती है । इसी प्रकार यहाँ पर भी 'आओ' 'जाओ' इत्यादि परस्पर विरोधी तत्त्व 'क्रीडा' रूप विधेय के मुखप्रेक्षी हैं । अतः ये उसके आधीन ही हो गये हैं। जब हम इनको सुनते हैं तब सुनने के क्रम से ही इनके अर्थ का परामर्श होता जाता है । किन्तु क्योंकि ये दूसरे अर्थ के साधक के रूप में आये हैं, अतः इनका विश्राम अपने शाब्दिक अर्थ मे ही नहीं होता अपितु ये क्रीडा का अंग बन जाते हैं । इनके परस्पर स्वभाव-चिन्तन का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः इनका विरोध भी नहीं होता। क्योंकि विरोध तो तभी होता है जब परस्पर स्वरूप का चिन्तन किया जावे । केवल इतना अन्तर अवश्य पड़ जाता है कि साधारण वाक्यों में समस्त उद्देश्य पहले तो विधेय का प्रतिपादन करते हैं और बाद में स्वयं परस्पर संयुक्त हो जाते है । उदाहरण के लिये ज्योतिष्टोम प्रकरण में अरुणाधिकरण आता है । वहाँ एक श्रुति-वाक्य है—'अरुणा, पिङ्गाक्षी, एक वर्षवाली के द्वारा सोमको खरीदता है ।' अर्थात् सोम को एक वर्ष की गाय से खरीदना चाहिये । जिसका रंग लाल हो और आँखें पीली हों । मीमांसकों के मत में शाब्द-बोध मे भावना प्रधान रहती है । 'अरुणया' 'पिङ्गाक्ष्या' और 'एकहायन्या' इन तीनों शब्दों में करण मे तृतीया है । अतः क्रमरूप आख्यात ( क्रिया ) जन्य भावना के साथ इनका अन्वय करण के रूप में पृथक्-पृथक् होता है । बाद में इनका

ध्वन्यालोकः

न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात्। वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते। यैर्वा साक्षात् काव्यार्थता रसादीनां नाभ्युपगम्यते तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या। तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः। यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तुसहकारिणो विधीयमानांशाद्भावविशेषप्रतीतिरुत्पद्यते ततश्च न कश्चिद्विरोधः। दृश्यते हि विरुद्धोभयसहकारिणः कारणात्कार्यविशेषोत्पत्तिः। विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहकारित्वम्। एवंविधविरुद्धपदार्थविषयः कथमभिनयः प्रयोक्तव्य इति चेत्—अनूद्यमानैवंविधवाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति। एवंविध्यनुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद्विरोधः।

(अनु०) रसों में विधि और अनुवाद का व्यवहार नहीं होता यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन ( रसादिकों ) को वाक्यार्थ के रूप में माना गया है। वाच्यार्थ के और वाच्य के जो विधि और अनुवाद उनका उस ( वाच्य ) के द्वारा आक्षिप्त होनेवाले रसों के विषय में निवारण कौन कर सकता है ? अथवा जो लोग रस इत्यादिकों की साक्षात् काव्यार्थता को स्वीकार नहीं कर सकते हैं उनको रसों की तन्निमित्तता ( वाच्यनिमित्तता ) अवश्य माननी पड़ेगी तथापि यहाँ पर श्लोक मे विरोध नहीं है क्योंकि भावविशेष की प्रतीति ऐसे विधीयमानांश से उत्पन्न होती है जिसमे अनुवाद किये जानेवाले अङ्गों को निमित्त मानकर उत्पन्न होनेवाली दोनों प्रकार की रसवस्तु सहकारी के रूप मे रहती है। निस्सन्देह दोनों विरोधी सहकारी कारणों से कार्यविशेष की उत्पत्ति देखी जाती है। एक कारण का विरुद्धफलोत्पादन में हेतु बनना विरुद्ध होता है; दोनों विरोधियों का सहकारी होना विरुद्ध नहीं होता। यदि कहो कि इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थों के विषय में अभिनय का प्रयोग कैसे किया जावे तो अनुवाद किये जानेवाले इस प्रकार के वाच्य के विषय में जो बात होगी वह यहाँ भी हो जावेगी। इस विधि और अनुवाद के आश्रय से यहाँ विरोध परिहार हो गया।

तारावती

परस्पर भी सम्बन्ध हो जाता है। 'अरुणा' और 'पिङ्गाक्षी' ये गुण है और 'एक हायनी' यह द्रव्य। द्रव्य और गुण का विरोध नहीं होता। अतः इन सब के पृथक् पृथक् क्रम रूप भावना से सम्बन्ध होने पर भी परस्पर अन्वय हो जाता है और उसका अर्थ यह निकल आता है जो एक वर्ष की गाय लाल हो तथा पीले नेत्रों वाली हो उससे सोमलता के क्रय की भावना करनी चाहिये। यह तो वहाँ पर

## लोचन

ननु प्रधानतया यद्वाच्यं तत्र विधिः। अप्रधानत्वेन तु वाच्येऽनुवादः। न च रसस्य वाच्यत्वं त्वयैव सोढमित्याशङ्कमानः परिहरति—न चेति। प्रधानाप्रधानत्व-मात्रकृतौ विध्यनुवादौ। तौ च व्यङ्ग्यतायामपि भवत एवेति भावः। मुख्यतया च रस एव काव्यवाक्यार्थ इत्युक्तम्। तेनामुख्यतया यत्र सोऽर्थस्तत्रानूद्यमानत्वं रसस्यापि युक्तम्। यदि वानूद्यमानविभावादिसमाक्षिप्तत्वाद्रसस्यानूद्यमानता तदाह—

प्रधानतया जो वाच्य हो वहाँ विधि होती है। अप्रधानरूप में वाच्य में अनुवाद होता है। रस का वाच्यत्व तो तुमने ही सहन नहीं किया, यह शङ्काकर उत्तर देते हैं—

'ऐसा नहीं' यह। विधि और अनुवाद प्रधान और अप्रधान मात्र से सम्पन्न किये जाते हैं और वे व्यङ्ग्यता में होते ही हैं यह भाव है। यह कहा गया है कि मुख्य रूप में रस ही काव्य वाक्यार्थ होता है। इससे अमुख्य रूप मे जहाँ वह अर्थ हो वहाँ रस की अनुवादरूपता उचित ही है। अथवा अनुवाद किये जानेवाले विभाव इत्यादि से आक्षिप्त होने के कारण रस की अनुवादरूपता होती है। वह

## तारावती

होता है जहाँ पृथक्-पृथक् सम्बद्ध होनेवाले अनुवाद रूप शब्द एक-दूसरे के विरोधी नहीं होते। यह बात ऐसे स्थलपर लागू नहीं होती जहाँ भावना के सम्बद्ध तत्त्व परस्पर विरुद्ध होते है। वहाँ पर वे तत्त्व पृथक्-पृथक् भावना से तो सम्बद्ध होते हैं किन्तु उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। यही बात यहाँ पर भी होती है कि आओ जाओ इत्यादि विरोधी क्रीडारूप भावना से तो अन्वित हो जाते हैं किन्तु वाद में उनका परस्पर अन्वय नहीं होता केवल इतना ही अन्तर पड़ता है वैसे दो विरोधियों द्वारा एक ही भावना को पुष्ट करने मे कोई विरोध नहीं।

( प्रश्न ) विधि और अनुवाद ( उद्देश्य और विधेय ) ये दोनों शब्द वाक्यार्थ बोध मे प्रयुक्त किये जाते है और इनका विशेष प्रयोग मीमांसा दर्शन में होता है। जो प्रधान रूप में वाच्य हो उसे विधि कहते हैं और जो अप्रधान रूप में वाच्य हो उसे अनुवाद कहते हैं। विधि और अनुवाद की यही परिभाषा है। आप स्वयं ही इस बात को सहन नहीं करते कि रस कभी भी वाच्य हो सकता है। जब रस कभी वाच्य होता ही नहीं तब रस में विधि और अनुवाद शब्दों का प्रयोग कहाँ उचित कहा जा सकता है? ये दोनों शब्द वाच्यार्थविषयक ही हैं। ( उत्तर ) विधि और अनुवाद का प्रयोजक तत्व केवल यही है कि उनमें प्रधानता और अप्रधानता का विचार किया जावे और जो प्रधान हो उसे विधि तथा जो अप्रधान हो उसे अनुवाद कह दिया जावे। विधि और अनुवाद होने के लिये ऐसा कोई

## लोचन

वाक्यार्थस्येति। यदि वा माभूदनूद्यमानतया विरुद्धयो रसयोः समावेशः, सहकारितया तु भविष्यतीति सर्वथा विरुद्धयोर्युक्तियुक्तोऽङ्गाङ्गिभावो नात्र प्रयासः कश्चिदिति दर्शयति यैवेति। तन्निमित्तेति। काव्यार्थो विभावादिर्निमित्तं येषां रसादीनां ते तथा तेषां

कहते हैं—'वाक्यार्थ का' यह। अथवा अनुवाद रूप में विरुद्ध रसों का समावेश न हो सहकारी के रूप मे तो हो जावेगा इस प्रकार विरुद्धों का अङ्गाङ्गिभाव सर्वथा उचित ही है; इस विषय में कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं यह दिखलाते हैं—'अथवा जिनके द्वारा' यह 'तन्निमित्तता' यह। 'वे' अर्थात् काव्यार्थ विभाव इत्यादि निमित्त हैं जिन रसादिकों के वे उस प्रकार के अर्थात् 'तन्निमित्त' होते हैं। उनकी भाव-

## तारावती

नियम नहीं है कि ये दोनों वाच्य मे ही होते है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वाच्य न होने से रसों के विषय में विधि और अनुवाद इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वाक्यार्थ दोनों हो सकते है—वाच्यार्थ भी और व्यङ्ग्यार्थ भी। यदि वाच्यार्थ के विषय मे विधि और अनुवाद का प्रयोग किया जा सकता है तो व्यङ्ग्यार्थ रस के विषय मे भी वह प्रयोग क्यों नहीं हो सकता? यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि मुख्य रूप मे रस ही वाक्य का अर्थ होता है क्योंकि तात्पर्य का पर्यवसान रस मे ही होता है। अतः यह ठीक ही है कि जहाँ रसरूप पर्यवसित अर्थ मुख्य न हो वहाँ रस भी अनुवादरूपता को धारण कर सकता है यह उचित ही है। आशय यह है कि रस भी वाक्यार्थ होता है अतः रस के विषय में भी गौण मुख्य यह व्यवहार अथवा विधि और अनुवाद यह व्यवहार उचित ही कहा जा सकता है। (यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यह बात सर्वसम्मत नहीं है कि काव्यवाक्यों द्वारा रसों का ही प्रतिपादन होता है और इसीलिये रस ही मुख्य वाक्यार्थ होते हैं ऐसी दशा मे रसों के विषय मे विधि और अनुवाद के प्रतिपादन की क्या व्यवस्था होगी? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये पक्षान्तरों की व्याख्या की जा रही है।) अथवा यहाँ पर यह समझना चाहिये कि रसों का आक्षेप विभाव इत्यादि से होता है। यदि विभाव इत्यादि अनुचित हों तो रसों को अनूदित मानने में भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। जब रसों का आक्षेप वाक्यार्थ और वाच्य के द्वारा होता है तब उन आक्षेप करनेवाले तत्त्वों मे जो विधि और अनुवादरूपता रहती है वह यदि आक्षेप्य रस इत्यादि मे भी आ जावे तो उसका निवारण कौन कर लेगा? (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि 'चकार' अर्थात् 'वाक्यार्थ और वाच्य' मे 'और' का प्रयोग प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है क्योंकि उसके अर्थ का यहाँ पर अन्वय नहीं होता अतः उस 'और' की विवक्षा नहीं होती। सम्भवतः

## लोचन

भावस्तत्ता। अनूद्यमाना ये हस्तक्षेपादयो रसाङ्गभूता विभावादयस्तन्निमित्तं यदुभयं करुणविप्रलम्भात्मकं रसवस्तु रससजातीयं तत्सहकारि यस्य विधीयमानस्य शाम्भव-शरवह्निजनितदुरितदाहलक्षणस्य तस्माद्भावविशेषे प्रेयोलङ्कारविषये भगवत्प्रभवातिशय-लक्षणे प्रतीतिरितिसङ्गतिः। विरुद्धं यदुभयं वारितेजोगतं शीतोष्णं तत्सहकारि यस्य तण्डुलादेः कारणस्य तस्मात्कार्यविशेषस्य कोमलभक्तकरणलक्षणस्योत्पत्तिर्दृश्यते। सर्वत्र हीत्थमेव कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरादौ नान्यथा।

वाचक संज्ञा है तन्निमित्तता। ( अनूद्यमानाङ्ग·····प्रतीतिः' इसका आशय यह है कि ) अनूद्यमान जो हस्तक्षेप इत्यादि रसाङ्गभूत विभावादि तन्निमित्तक जो करुण विप्रलम्भात्मक उभय रूप रसवस्तु अर्थात् रससजातीय वह सहकारी ( होता है ) शङ्करजी की शराग्नि से उत्पन्न दुरितदाहरूप जिस विधीयमान का उससे भाव विशेष मे अर्थात् भगवत्प्रभावातिशय रूप प्रेयोलङ्कार के विषय में प्रीति होती है यह सङ्गति है। विरुद्ध जो उभयात्मक जल तथा तेजगत शीतोष्ण वे सहकारी होते हैं जिस तण्डुलादि कारण के उससे कोमल भात के करण रूप कार्य विशेष की उत्पत्ति होती है। सर्वत्र बीजाङ्कुर इत्यादि मे इसी प्रकार का कार्य-कारण भाव होता है; अन्यथा नहीं।

## तारावती

दीधितिकार का मन्तव्य यहाँ पर यह है कि वाक्यार्थ या तो रस हो सकता है या वाच्यार्थ। रस से यहाँ अभिप्राय हो ही नहीं सकता क्योंकि यहाँ पर रस के आक्षेप करनेवाले तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। यदि वाच्यार्थ ही यहाँ पर अभिप्रेत है तो वाक्यार्थ ही वाच्य होता है। अतः वाक्यार्थ और वाच्य कहने का क्या अभिप्राय ? किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि न तो वाच्य केवल वाक्यार्थ ही होता है और न केवल वाक्यार्थ रस का आक्षेप करनेवाला होता है वाच्य पदार्थ के द्वारा भी रस का आक्षेप हो ही जाता है। यहाँ पर आचार्य का मन्तव्य यही है कि रस का आक्षेप चाहे वाक्यार्थ के द्वारा हुआ हो चाहे किसी दूसरे वाच्यार्थ के द्वारा, आक्षेपक तत्त्वों में रहनेवाला विधि और अनुवाद का व्यवहार रस के विषय मे भी घटित हो ही सकता है।) अथवा यदि आप इस बात को नहीं मानना चाहते कि अनुवादरूप होने के कारण विरुद्ध रसों का समावेश दूषित नहीं होता तो न मानिये, यह तो आप मानेंगे ही कि सहकारी होने के कारण रस के विषय में विधि और अनुवाद इन शब्दों का व्यवहार अनुचित नहीं कहा जा सकता। अतः सर्वथा विरुद्धों का अङ्गाङ्गिभाव उचित ही है इस विषय में प्रयास ( जबरदस्ती ) कोई नहीं किया जा रहा है। जो लोग यह नहीं मानते कि रस साक्षात् काव्यार्थ

तारावती

होते हैं वे इतना तो मानेंगे ही कि साक्षात् काव्यार्थ विभाव इत्यादि वाच्यार्थ ही होते हैं और उन वाच्यार्थों द्वारा रस इत्यादि का आक्षेप होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि उनको इतना तो मानना पड़ेगा कि काव्यार्थ विभाव इत्यादि रस में निमित्त होते हैं। ऐसी दशा मे भी प्रस्तुत पद्य 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि मे कोई विरोध नहीं आता। इस पद्य में त्रिपुरासुर आलम्बन हैं, त्रिपुर-युवतियाँ आश्रय है और उनके द्वारा हाथ से क्षिप्त कर देना इत्यादि अनुभाव हैं। ये जो रसाङ्गभूत विभाव इत्यादि हैं उनको निमित्त मानकर करुण और विप्रलम्भ इन दोनों रसों की अभिव्यक्ति होती है। ये दोनों ही रसरूप वस्तु हैं अर्थात् ध्वनिरूप पूर्ण रस नहीं अपितु दूसरे तत्त्व को पुष्ट करनेवाले रस-सजातीय तत्त्व हैं। शम्भु की शराग्नि से जो दूषित-दाह होता है वही विधीयमान अंश है। उस विधीयमान अंश के ये दोनों करुण और विप्रलम्भ रस सहकारी हो जाते हैं। उस विधीयमान अंश से एक विशेष भाव मे, जोकि भगवान् के प्रभावातिशय रूप में प्रेयोलङ्कार कहा जा सकता है, प्रतीति हो जाती है। यही इस ग्रन्थ की संगति है आशय यह है कि हस्तक्षेप इत्यादि वाच्यसामग्री से करुण और विप्रलम्भ इन दोनों की मिश्रित प्रतीति होती है जो कि भगवान् के प्रभावातिशय को पुष्ट करने के कारण उसकी सहकारिणी है। भगवान् का प्रभावातिशय प्रेयोलङ्कार के क्षेत्र में आ जाता है। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है—'लोचनकार ने जिस प्रेयोलङ्कार को समझा है वह यहाँ पर नहीं होता, क्योंकि शिवविषयक रति भाव की ही यहाँ सभी ओर से प्रधानता है और प्रेयोलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ भाव अप्रधान हो। किन्तु यदि अलङ्कार मे ही पक्षपात हो तो शृंगार और करुण के अंग होने के कारण रसवत् अलङ्कार का निर्णय कर लिया जावे।' यहाँ पर निवेदन यह है कि लोचनकार ने कविगत शिवविषयक रतिभाव को प्रेयोलङ्कार नहीं कहा है और शिवविषयक रति प्रेयोलङ्कार हो भी नहीं सकती क्योंकि वह तो ध्वनि रूप मे स्थित है। करुण और विप्रलम्भ के द्वारा शङ्कर जी के प्रभावातिशय की पुष्टि होती है और प्रभावातिशय के द्वारा कविगत रतिभाव की। इस प्रकार प्रभावातिशय (शिव जी का उत्साह जो भावरूप मे स्थित है) अपराग होकर प्रेयोलङ्कार बन गया है इसमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती। यह भी ठीक ही है कि करुण और विप्रलम्भ ये दोनों रसवत् अलङ्कार हो गये हैं।) दो विरोधी सहकारी कारणो से विशेष कार्य की उत्पत्ति देखी ही जाती है। उदाहरण के लिये जल शीतस्पर्शवाला होता है और अग्नि उष्णस्पर्शवाली। दोनों एक दूसरे के विरोधी है किन्तु दोनों ही मिलकर सहकारी कारण बनकर भात पकाने का काम करते हैं और उनसे कोमल भात पक

## लोचन

ननु विरोधस्तर्हि सर्वत्राकिञ्चित्करः स्यादित्याशङ्क्याह—विरुद्धफलेति। तथाचाहुः—'नोपादानं विरुद्धस्य' इति। नन्वभिनेयार्थे काव्ये यदीदृशं वाक्यं भवेत्तदा यदि समस्ताभिनयः क्रियते तदा विरुद्धार्थविषयः युगपदभिनयः कर्तुं शक्य इत्याशयेनाशङ्कमान आह—एवमिति। एतत्परिहरति—अनूद्यमानेति। अनूद्यमानमेवंविधं विरुद्धाकारं वाच्यं यत्र तादृशो यो विषयः 'एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ' इत्यादिस्तत्र या वार्ता सात्रापीति।

( प्रश्न ) तो विरोध सर्वत्र अकिञ्चित्कर होगा यह शङ्का करके ( उत्तर रूप में ) कहते हैं—'विरुद्ध फल इत्यादि'। इसीलिये कहते है—( प्रश्न ) अभिनयार्थक काव्य में यदि इस प्रकार का वाक्य हो तब यदि समस्ताभिनय किया जावे तो विरुद्ध विषय का एक साथ किस प्रकार अभिनय किया जा सकता है यह शङ्का करते हुये कहते हैं—'इस प्रकार' यह। इसका परिहार करते हैं—'अनूद्यमान' यह। अनुवाद किया जानेवाला विरुद्ध आकार का इस प्रकार का वाच्य जहाँ पर हो उस का 'आओ, जाओ, गिरो, उठो' इत्यादि जो विषय उसमें जो बात ( होती है ) वह यहाँ पर भी ( हो जावेगी। )

## तारावती

जाना रूप विशेष कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार बीज के उगाने के लिये शीतल जल और भूमिगत उष्णता दोनों का सहकार अपेक्षित होता है यही बात सभी कार्य-कारण भावों के विषय मे समझी जानी चाहिये। प्रस्तुत पद्य में भी विरोधी करुण और विप्रलम्भ सहकारी बनकर शिव के प्रभावातिशय रूप कार्य को पुष्ट करते हैं।

( प्रश्न ) इस प्रकार का परिहार तो सर्वत्र सम्भव है फिर विरोध कहाँ रह गया? विरोध तो सर्वत्र इसी प्रकार अकिञ्चित्कर हो जावेगा। ( उत्तर ) कारण का विरोध वहाँ पर आवेगा जहाँ एक ही कारण एक ही साथ दो विरोधी फलों को उत्पन्न करें। दो विरोधियों का सहकार विरोधी नहीं माना जाता। आशय यह है कि एक ही वस्तु एक ही साथ दो विरोधियों को जन्म नहीं देती जैसे जल एक ही साथ शीत और उष्ण इन दोनों फलों को उत्पन्न नहीं कर सकता। किन्तु दो विरोधी तत्त्व एक ही कार्य के सहयोगी तो हो ही सकते हैं। यही बात 'विरुद्ध का उपादान····' इत्यादि में कही गई है। ( लोचनकार ने यहाँ पर 'नोपादानं विरुद्धस्य····' केवल इतना ही अंश उद्धत किया है। पूरी कारिका का पता नहीं है। सम्भवतः इस कारिका का अर्थ यही होगा कि सहकारी के रूप मे विरोधियों का उपादान [illegible] नहीं होता।) ( प्रश्न ) यदि इस प्रकार का वाक्य किसी ऐसे काव्य

## लोचन

एतदुक्तं भवति—'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादौ प्राधान्येन भीतविप्लुतादि दृष्ट्यु-पपादनक्रमेण प्राकरणिकस्तावदर्थः प्रदर्शयितव्यः । यद्यप्यत्र करुणोऽपि पराङ्गमेव तथापि विप्रलम्भापेक्षया तस्य तावन्निकटं प्राकरणिकत्वं महेश्वरप्रभावं प्रति सोपयोग-त्वात् । विप्रलम्भस्य तु कामीवेत्युत्प्रेक्षोपमावलेनायातस्य दूरत्वात् । एवञ्च साश्रु-नेत्रोत्पलाभिरित्यन्तं प्राधान्येन करुणोपयोगाभिनयक्रमेण लेशतस्तु विप्रलम्भस्य करुणेन सादृश्यात्सूचनां कृत्वा । कामीवेत्यत्र यद्यपि प्रणयकोपोचितोऽभिनयः कृतस्तथापि ततः प्रतीयमानोऽप्यसौ विप्रलम्भः समनन्तराभिनीयमाने स दहतु दुरितमित्यादौ सारोपाभिनयसमर्पितो यो भगवत्प्रभावस्तन्नाङ्गतायां पर्यवस्यतीति न कश्चिद्विरोधः । एवं विरोधपरिहारमुपसंहरति—एवमिति ।

यह कहा गया है—'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि में प्रधानतया भयभीत के भागने इत्यादि के उपपादन क्रम से प्राकरणिक अर्थ दिखलाया जाना चाहिये । यद्यपि यहाँ पर करुण भी पराङ्ग ही है तथापि विप्रलम्भ की अपेक्षा उसकी प्राकरणि-कता निकट है क्योंकि महेश्वर के प्रभाव के प्रति उसका उपयोग होता है और 'कामी के समान' इस उत्प्रेक्षा और उपमा के बलपर आया हुआ विप्रलम्भ तो दूर है । इस प्रकार 'साश्रुनेत्रोत्पलाभिः' यहाँ तक प्रधानतया करुण के उपयोगी अभिनय के क्रम से और करुण के सादृश्य के कारण लेशमात्र विप्रलम्भ की सूचना करके ( अभिनय किया गया है । ) यद्यपि 'कामी के समान' यहाँ पर प्रणयकोप के योग्य अभिनय किया गया है तथापि उससे प्रतीयमान भी यह विप्रलम्भ शीघ्र बाद मे ही 'वह पाप को जलावे' इसके अभिनय किये जाने पर जोरदार अभिनय से समर्पित जो भगवान् का प्रभाव उसकी अङ्गता मे पर्यवसित होता है इस प्रकार कोई विरोध नहीं है । इस विरोधपरिहार का उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार' यह ।

## तारावती

में आवे जो अभिनय के मन्तव्य लिखा गया हो और उस समस्त वाक्य का अभिनय करना हो तो एक साथ ही दो विरोधियों का अभिनय कैसे किया जा सकेगा ? ( उत्तर ) वाच्य में जब दो विरोधी तत्त्व उद्देश्य रूप मे आ जाते हैं उनका भी तो अभिनय किया ही जाता है । जैसे 'आओ, जाओ, उठो, गिरो,' इत्यादि वाक्य में उद्देश्य रूप मे दो-दो विरोधी तत्त्व आये हैं। अभिनय तो इनका भी किया ही जाता है।वहाँ जो बात अभिनय के लिये होती है वही यहाँ पर भी हो सकती है।

ऊपर अभिनय के विषय मे जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह है—यदि 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि पद्य का अभिनय करना हो तो सर्वप्रथम भीत और विप्लुत दृष्टि केउपपादन के द्वारा प्राकरणिक अर्थ का अभिनय किया जाना चाहिये।

ध्वन्यालोकः

किञ्च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित्प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्तिकत्वात्तद्विरोधविधायिना न कश्चिद्दोषः। तस्माद्वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी रसविरोधीति वक्तुं न्याय्यः, न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित्।

(अनु०) और भी—अभिनन्दनीय उदयवाले किसी नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके विरोधियों का जो करुण रस वह परीक्षकों के वैक्लव्य का आधान नहीं करता अपितु अतिशय प्रीति का निमित्त बन जाता है। अतः उस विरोध करनेवाले तत्त्व की शक्ति के कुण्ठित हो जाने से कोई दोष नहीं होता। इसीलिये वाक्यार्थ रूप में स्थित रस या भाव का विरोधी रसविरोधी होता है यह कहना न्याय्य है; अङ्गभूत किसी का ( विरोधी कहना ) ठीक नहीं।

तारावती

यहाँ पर वस्तु का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—( १ ) शङ्कर जी के प्रभावातिशय से परिपुष्ट कविगत शङ्करविषयक रति ( भक्ति ) भाव। ( २ ) शङ्कर जी के प्रभाव को पुष्ट करनेवाला त्रिपुरयुवतियों का करुण रस, ( ३ ) 'कामीव' इस उपमा के बल पर आया हुआ शृङ्गार रस। शङ्कर जी का प्रभावातिशय सर्व प्रमुख है, और करुण तथा शृङ्गार दोनों गौण हैं, क्योंकि दोनों ही शङ्कर जी के प्रभावातिशय को पुष्ट करनेवाले होने के कारण अपराग हो गये हैं। किन्तु इन दोनों मे विप्रलम्भ शृंगार को अपेक्षा करुण शङ्कर जी के प्रभावातिशय के अधिक निकट पड़ता है क्योंकि उसका उपयोग शङ्कर जी के प्रभावातिशय के द्योतन में अधिक होता है, अतः प्राकरणिकता उसमे अधिक है। शृंगार तो बहुत दूर है क्योंकि उसका शङ्कर जी के प्रभावातिशय मे बहुत ही कम उपयोग होता है, 'कामी के समान' इस उपमा के बल पर ही उसका उपादान हुआ है, अतः प्राकरणिक अर्थ को चमत्कारपूर्ण बनाने में ही उसका उपयोग है, मुख्यार्थ को परिपुष्ट करने में उसका उपयोग नहीं है। अतः जब प्रस्तुत पद्य का अभिनय किया जावेगा तब 'सास्रुनेत्रोत्पलाभिः' यहाँ तक करुण रस का उपयोगी अभिनय ही किया जावेगा और साथ साथ बहुत थोड़े रूप में विप्रलम्भ से करुण के सादृश्य की सूचना भी की जावेगी। ( दो विरोधियों का एक साथ अभिनय सम्भव नहीं है, अतः पहले करुण का अभिनय किया जावेगा और बाद मे विप्रलम्भ की सूचना दी जावेगी। ) 'कामी के समान' यहाँ पर यद्यपि प्रणयकोप के लिये उचित अभिनय किया गया है तथापि उससे जिस विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति होती है वह मुख्य नहीं हो पाता अपितु 'वह शङ्कर की शरारि

## लोचन

विषयान्तरे तु प्रकारान्तरेण विरोधपरिहारमाह—किञ्चेति । परीक्षकाणामिति सामाजिकानां विवेकशालिनाम् । न वैक्लव्यमिति । न तादृशे विषये चित्तद्रुतिरुत्पद्यते करुणास्वादविश्रान्त्यसावात् । किन्तु वीरस्य योऽसौ क्रोधो व्यभिचारितां प्रतिपद्यते तत्फलरूपोऽसौ करुणरसः स्वकारणाभिव्यञ्जनद्वारेण वीरास्वादातिशय एव पर्यवस्यति । यथोक्तम्—'रौद्रस्य चैव यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः' इति । तदाह—प्रीत्यतिशयेति । अत्रोदाहरणम्—

विषयान्तर मे तो प्रकारान्तर से विरोध परिहार बतलाते हैं—'और भी' यह । परीक्षकों का अर्थात् विवेकशाली सामाजिकों का 'वैक्लव्य नहीं' यह । उस प्रकार के विषय में चित्तद्रुति उत्पन्न नहीं होती क्योकि करुण के आस्वाद में विश्रान्ति नही होती। किन्तु जो यह क्रोध वीररस के व्यभिचारी भाव का रूप धारण करता है उसका फलरूप यह करुण रस अपने कारण के अभिव्यञ्जन के द्वारा वीररस के आस्वाद की अधिकता में ही पर्यवसित होता है । जैसा कहा गया है—'और रौद्र का जो कर्म है वह करुण रस समझा जाना चाहिये ।' वही कहते हैं—'प्रीति की अधिकता' यह । यहाँ उदाहरण—

## तारावती

आपके पापों को जला डाले' इस वाक्य से जो बहुत ही जोरदार अभिनय होता है और उससे शङ्कर जी के जिस प्रभावातिशय का समर्थन होता है उसमे विप्रलम्भ अंग बनकर पर्यवसित होता है । इस प्रकार विधि और अनुवाद का आश्रय लेने से अर्थात् यह मान लेने से कि दो विधियों का विरोध ही दूषित होता है, दो उद्देश्यों का जो एक ही विधि को पुष्ट कर रहे हों विरोध दूषित नहीं होता, यहाँ पर विरोध का परिहार हो जाता है ।

ऊपर जो विरोध-परिहार के प्रकार बतलाये गये हैं उनसे भिन्न एक दूसरा प्रकार भी विरोध-परिहार का है—यदि किसी नायक का उदय हो चुका हो और उसके उस उदय का अभिनन्दन करना हो तो उसके प्रभाव की अधिकता का वर्णन किया जाता है यदि उसके साथ ही उसके विरोधी राजाओं के करुण रस का वर्णन किया जावे तो उनसे न तो विवेकशील पाठक ही उद्विग्न होगे और न आलोचक ही उसे अनुचित बतलावेंगे । कारण यह है कि अनौचित्य वहीं पर होता है तथा पाठकों को वैक्लव्य वहीं पर उत्पन्न होता है जहाँ चित्तवृत्ति की दशा परस्पर विरुद्ध हो। उदाहरण के लिये करुण रस मे चित्तवृत्ति में द्रवण-शीलता उत्पन्न होती है और रौद्र मे चित्तवृत्ति दीप्त हो जाती है । दीप्ति और द्रवणशीलता दोनों परस्पर विरोधी हैं । अतः दोनों रूप एक साथ चित्तवृत्ति में कभी उत्पन्न नहीं हो सकते ।

लोचन

कुरवक कुचाघातक्रीडासुखेन वियुज्यसे
वकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम् ।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता–
मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ॥

भावस्य वेति। तस्मिन् रसे स्थायिनः प्रधानभूतस्य व्यभिचारिणो वा यथा विप्रलम्भशृङ्गार औत्सुक्यस्य ।

'हे कुरवक ? कुचाघात के क्रीडासुख से वियुक्त हो रहे हो, हे वकुलवृक्ष ? मुखासव के सेवन का तुम्हें स्मरण करना होगा । हे अशोक ? चरणघटना शून्य होकर सशोकता को प्राप्त होगे । इस प्रकार जिसके पुर-त्याग के अवसर पर स्त्रियाँ कह रही थीं ।'

'अथवा भाव का' ।उसरस में प्रधान स्थायी या प्रधानभूत व्यभिचारी का जैसे विप्रलम्भ में औत्सुक्य का ।

तारावती

अब यदि किसी नायक के उदय का अभिनन्दन करना है और उसके लिये उसके विरोधियों के करुण रस का उपादान किया गया है तो इस प्रकार के विषय में अर्थ की परिसमाप्ति करुण रस में नहीं होती क्योंकि करुण रस ऐसे स्थान पर साध्य बन कर नहीं अपितु साधन बनकर ही आता है । ऐसी दशा मे चित्त में द्रवणशीलता ही उत्पन्न नहीं हो पाती जिससे विरोध की सम्भावना की जा सके । अपितु होता यह है कि ऐसे स्थान पर पाठकों का पूरा ध्यान नायक के उत्कर्ष में ही केन्द्रित रहता है और उनके अन्दर प्रतिपक्षी से सहानुभूति ही उत्पन्न नहीं हो पाती जिससे उनका हृदय प्रतिपक्षिओं के प्रति द्रवित हो ही नहीं पाता । वहाँ पर प्रतिपक्षियों का उपादान तो आलम्बन के रूप में ही होता है आश्रय के रूप में नहीं । अतः उनके भाव से तादात्म्य का प्रश्न ही नहीं उठता । वहाँ पर नायक वीर रस का आश्रय होता है । युद्धवीर मे क्रोध व्यभिचारी के रूप मे आता है । क्रोध का फल ही शोक होता है । आचार्यों की ऐसी ही मान्यता है । कहा गया है कि––रौद्र का जो कर्म ( फल ) होता है वही करुण रस समझा जाना चाहिये । नायकों की क्रोधपूर्ण चेष्टाओं का ही यह फल होता है कि उनके शत्रुओं की दशा कारुणिक हो जाती है । इस प्रकार ऐसे स्थल पर करुण रस अपने कारणो की ( रौद्र रस की ) अभिव्यञ्जना करते हुये वीररस मे पर्यवसित हो जाता है । इस प्रकार करुण रस वीर के पोषण में आनन्द का कारण बन जाता है। अतः करुण की शक्ति से कुण्ठित हो जाने के कारण उस विरोधी का विधान करनेवाले रस मे कोई दोष नहीं आता। एक उदाहरण लीजिये–

ध्वन्यालोकः

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित्करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति।

(अनु०) अथवा वाक्यार्थरूप में स्थित किसी करुण रस के विषय का उस प्रकार की शृङ्गार वस्तु के साथ विशेष भङ्गिमा का आश्रय लेकर जो संयोजना की जाती है वह रस परिपोष के लिये ही होती है। क्योंकि स्वभावतः मधुर पदार्थ शोचनीयता को प्राप्त होकर इस प्रकार पुरानी अवस्था में होनेवाले तथा स्मरण किये जाते हुये विलासों से शोक के आवेश को अधिक उत्पन्न करते हैं।

तारावती

'किसी राजा ने शत्रुओं को पराजित कर दिया है। शत्रु अपनी प्रियतमाओं को लेकर अपनी राजधानी से भाग खड़े हुये हैं। उस समय शत्रुओं की स्त्रियाँ करुणापूर्ण स्वर में कहती है कि—हे कुरवक! अभी तक तुम हमारे स्तनों के आघात की क्रीडा का आनन्द लिया करते थे, अब वह आनन्द तुम्हें कहाँ मिलेगा! हे वकुल वृक्ष! अब तुम हमारे मुखासव के सेवन का स्मरण किया करना। हे अशोक! अब तुम्हें हमारे चरणों के प्रहार का सुख नहीं मिल सकेगा, अतः तुम अशोक नहीं रह सकोगे अपि तु सशोक हो जाओगे।' (ये कविसमयख्यातियाँ है कि अशोक सौभाग्यवती स्त्रियों के चरणाघात से फूलता है; कुरवक आलिंगन से और वकुल मुख का कुल्ला मारने से खिलता है।)

यहाँ पर कुचाघात इत्यादि से शृङ्गार की व्यञ्जना होती है, वह शत्रुओं की करुणा का पोषक होकर उसका अंग बन जाता है। मुख्य वर्ण्य विषय है राजा का प्रभावातिशय। उस प्रभावातिशय को शत्रुओं की करुणा पुष्ट करती है। इस प्रकार विरोधियों का परस्पर सम्मिलन पाठकों के हृदय मे विक्षोभ उत्पन्न नहीं करता अपितु प्राकरणिक अर्थ की शोभा बढ़ाता है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि वाक्यार्थरूप मे स्थित चाहे रस हो चाहे भाव हो और वह भाव भी चाहे उस रस का स्थायी भाव हो चाहे प्रधानभूत व्यभिचारी हो उसका अर्थात् प्रधान रस का विरोधी ही वास्तविक विरोधी होता है यही कहना ठीक है जैसे यदि विप्रलम्भ शृङ्गार में औत्सुक्य प्रधानीभूत व्यभिचारी भाव हो तो उसका विरोधी वास्तविक विरोधी कहा जावेगा। किन्तु यदि कोई रस या कोई भाव अंग रूप में स्थित हो तो उसका अविरोधी होना अकिञ्चित्कर होता है।

ऊपर यह दिखलाया जा चुका है कि 'श्लिष्टो हस्तावलग्न०' इस पद्य में विरोधी

## लोचन

अधुना पूर्वस्मिन्नेव श्लोके क्षिप्त इत्यादौ प्रकारान्तरेण विरोधं परिहरति–अथवेति। अयं चात्रभावः–पूर्वं विप्रलम्भकरुणयोरन्यत्राङ्गभावगमनान्निर्विरोधत्वमुक्तम्। अधुना तु स विप्रलम्भः करुणस्यैवाङ्गतां प्रतिपन्नः कथं विरोधीति व्यवस्थाप्यते––तथाहि करुणो रसो नामेष्टजनविनिपातादेर्विभावादित्युक्तम्। इष्टता च नाम रमणीयतामूला। ततश्च कामीवार्द्रापराध इत्युत्प्रेक्षयेदमुक्तम्। शाम्भवशरवह्निचेष्टितावलोकने प्राक्तन-प्रणयकलहवृत्तान्तः स्मर्यमाण इदानीं विध्वस्ततया शोकविभावतां प्रतिपद्यते। तदाह–भङ्गिविशेषेति। अग्राम्यतया विभावानुभावादिरूपताप्रापणया ग्राम्योक्तिरहितयेत्यर्थः।

इस समय तो 'क्षिप्त' इत्यादि पहले श्लोक में ही प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं—'अथवा' इत्यादि। यहाँ पर यह भाव है—पहले अन्यत्र अंगभाव को प्राप्त होने के कारण विप्रलम्भ और करुण का निर्विरोधत्व कहा गया। इस समय तो वह विप्रलम्भ करुण की अंगता को प्राप्त होनेवाला विरोधी कैसे यह व्यवस्थापित किया जा रहा है। वह इस प्रकार—यह कहा गया है कि करुण रस इष्टजनों के विनिपात इत्यादि विभाव से होता है और इष्टता तो रमणीयता से ही उद्भूत होती है। इससे 'कामीवार्द्रापराध' इस उत्प्रेक्षा से यह कहा गया है—शङ्कर जी की शराग्नि की चेष्टाओं के अवलोकन से पुराना प्रणयकलह का वृत्तान्त स्मरण किया जाता हुआ इस समय विध्वस्त हो जाने के कारण शोकविभावता को प्राप्त हो जाता है। वह कहते हैं—'विशेष भङ्गिमा के द्वारा' यह। अग्राम्य विभाव अनुभाव इत्यादि की प्राप्ति के साथ ग्राम्योक्ति रहित।

## तारावती

का समावेश सदोष नहीं होता अब यह दिखला रहे हैं कि उसी पद्य में विरोध-परिहार दूसरे प्रकार से भी सम्भव है और केवल दोष-परिहार ही नहीं अपितु उसमें गुणरूपता भी आ सकती है। पहले यह बतलाया गया था कि प्रस्तुत पद्य में विप्रलम्भ और करुण दोनों ही एक तीसरी रसवस्तु शङ्करविषयक भक्तिभाव का पोषण करते हैं अतः परांग होने के कारण दोनों का परस्पर विरोध नहीं होता। अब यह सिद्ध किया जा रहा है कि विप्रलम्भ स्वयं करुण का अंग बन गया है अतः उनके विरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यदि करुण रस का विषय वाक्यार्थ हो गया हो अर्थात् वाक्यरचना में करुण रस को प्रधानता प्राप्त हो गई हो और उस प्रकार की विरोधी शृङ्गारवस्तु के साथ उसकी संयोजना विशेष भंगिमा के साथ की जावे तो वह विरोधियों की सहसंयोजना रसपरिपोषक ही होती है रस-विरोधी नहीं। इसको इस प्रकार समझिये––करुण रस का विभाव अर्थात् कारण होता है इष्टजनविनिपात, क्योंकि इष्टजनविनिपात से ही करुण रस सम्भव होता है

ध्वन्यालोकः

यथा—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

इत्यादौ। तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम्। तस्माद्यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः।

(अनु०) जैसे—'यह वह रसना को ऊपर खींचनेवाला, स्थूलस्तनों का भली-भाँति मर्दन करनेवाला, नाभि, ऊरु तथा जंघाओं का स्पर्श करनेवाला और नीवी को खोलनेवाला हाथ है।'

इत्यादि में। अतः यहाँ पर त्रिपुरयुवतियों से शङ्कर की शराग्नि ने वैसा ही व्यवहार किया जैसा पहले अपराध में आर्द्रकामी किया करता था। इस प्रकार भी निर्विरोधता है ही। इसलिये यहाँ जैसे-जैसे निरूपण किया जाता है वैसे-वैसे दोष का अभाव सिद्ध हो जाता है।

लोचन

अत्रैव दृष्टान्तमाह—यथा अयमिति। अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि निपतितं बाहुं दृष्ट्वा तत्कान्तानामेतदनुशोचनम्। रसनां मेखलां सम्भोगावसरेषूर्ध्वं कर्षतीति रसनोत्कर्षी।

इसी विषय में दृष्टान्त कहते हैं—'जैसे यह'। यहाँ पर युद्धभूमि में पड़ी हुई भूरिश्रवा की बाहु को देखकर उनकी कान्ताओं का यह अनुशोचन है। सम्भोग के अवसरों पर रसना अर्थात् मेखला को ऊपर को खींचनेवाला रसनोत्कर्षी।

तारावती

यह बात कही जा चुकी है और इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। वस्तु तभी इष्ट बनती है जब उसमें रमणीयता विद्यमान होती है। क्योंकि रमणीयता ही किसी वस्तु को इष्ट बनानेवाली होती है। सामान्यतया जब हम किसी भी वस्तु की दुर्गति देखते हैं तो हमे दुःख होता ही है, किन्तु यदि वह वस्तु रमणीय भी हो तो हमारा दुःख और अधिक बढ़ जाता है कि जो पदार्थ स्वभाव से ही मधुर था वह कैसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गया? इस प्रकार जितना ही हम उसकी पुरानी गौरव-पूर्ण आनन्ददायक दशा का स्मरण करते हैं उतना ही हमारा शोकावेश अधिकाधिक बढ़ता चला जाता है। इस प्रकार विरोधी होते हुये भी शृङ्गार की व्यतीत हुई आनन्दमय दशा का स्मरण शोक को बढ़ाता ही है किन्तु शर्त यह है कि उसकी सयोजना नवीन भंगिमा के साथ करुण के परिपोषक के रूप में की गई

ध्वन्यालोकः

इत्थं च—

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिविलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव॥

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम्।

एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभिः समावेशासमावेशयोर्विषयविभागो दर्शितः।

(अनु०) और इस प्रकार—

'घायल कोमल उंगलियो से प्रवाहित होनेवाले रक्त से भरे हुये अतः महावर लगाये हुये के समान पैरों से दर्भ-परिपूर्ण स्थलियों को पार करती हुई, प्रवहमान अश्रुओं से धुले हुये मुखवाली, डरी हुई अतः अपने हाथों को प्रियतमों के हाथों में पकड़ाये हुये तुम्हारे वैरियों की स्त्रियाँ इस समय दावाग्नि के चारों ओर घूम रही हैं मानों उनके विवाह सन्निहित हों।'

इत्यादि सभी का निर्विरोध समझा जाना चाहिये।

इस प्रकार रसादिकों का विरोधी रसादिकों के साथ समावेश और असमावेश का विषय-विभाग दिखला दिया गया।

तारावती

हो! यह परिपोषकता शृङ्गार रस में तब आती है जब वर्णन में ग्राम्यता न आने पावे, शृंगार रस करुण के विभाव अनुभाव इत्यादि रूपों में परिणत हो जावे और उसमें ग्राम्य उक्तियों का अभाव हो। एक उदाहरण—महाभारत के स्त्रीपर्व में हताहत सैनिकों को आलम्बन मानकर शोक का वर्णन किया गया है। शोक का पूर्ण परिपाक स्त्रीपर्व में ही होता है। भूरिश्रवा की स्त्रियाँ अपने मरे हुये पति का कटा हुआ हाथ देखती है और विलाप करती हुई कहती हैं—

'यह वही हाथ है जो सहवास के लिये हमारी रसना को ऊपर उठाया करता था, जो हमारे स्थूल स्तनों का विमर्दन किया करता था और हमारी नाभि ऊरु तथा जङ्घाओं का स्पर्श किया करता था।'

यहाँ पर करुण के प्रसङ्ग मे शृङ्गार काल की सम्भोगचेष्टाओं का वर्णन किया गया है। ये चेष्टाये करुण का अग बन गई हैं क्योंकि शोक को अधिक तीव्रता प्रदान कर देती है। इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' मे 'मानो अपराध में आर्द्र कामी हो' इस उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया गया है। इस उत्प्रेक्षा से भी शोक की

## लोचन

अमुना विरोधोद्धरणप्रकारेण बहुतरं लक्ष्यमुपपादितं भवतीत्यभिप्रायेणाह—इत्थं चेति। होमाग्निधूमकृतं वाष्पाम्बु यदि वा बन्धुगृहत्यागदुःखोद्भवम्। भयं कुमारीजनोचितः साध्वसः। एवमियताङ्गभावं प्राप्तानामुक्तिरच्छलेति कारिकाभागोपयोगि निरूपितमित्युपसंहरति—एवमिति। तावद्ग्रहणेन वक्तव्यान्तरमप्यस्तीति सूचयति ॥२०॥

उस विरोधोद्धरण के प्रकार से बहुत अधिक लक्ष्य उपपादित हो जाते हैं इस अभिप्राय से कहते हैं—'और इस प्रकार'। होमाग्नि के धूम से उत्पन्न अश्रुजल या बन्धुगृहत्याग के दुःख से उत्पन्न भय का अर्थ है कुमारीजनोचित साध्वस। इस प्रकार इतने से 'अङ्गभाव को प्राप्त होनेवालों की उक्ति छलरहित होती है' इस कारिका भाग का उपयोगी निरूपण कर दिया गया यह उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार'। तावत् शब्द से सूचित करते हैं कि और भी कुछ कहना है ॥ २० ॥

## तारावती

भावना अधिक तीव्र हो जाती है। जब उन त्रिपुर-युवतियों ने शङ्कर जी के बाण की अग्नि का उपद्रव देखा तब उन्हें अपने पूर्वानुभूत प्रियतम समागम का स्मरण हो आया। कहाँ तो उनके प्रियतमों की वह चाटुकारिता जब कि अपनी प्रियतमाओं से तिरस्कृत होकर भी वे उनकी चाटुकारिता ही करते थे और कहाँ उनकी यह दुर्दशा। वैसे भी किसी की दुर्दशा करुणाभाव ही जागृत करती है; किन्तु जब यह ज्ञात होता है कि दुर्दशा-ग्रस्त व्यक्ति पहले कितना आनन्दपूर्ण सम्पन्न जीवन व्यतीत करता था और अब उसके समस्त आनन्द समाप्त हो गये तब करुणाभाव और अधिक तीव्र हो जाता है। इस प्रकार जितना अधिक निरूपण किया जावे उतना ही प्रस्तुत पद्य निर्दोष ही सिद्ध होता है।

यह विरोध का उद्धार केवल एक ही पद्य मे नहीं किया जा सकता। अनेक लक्ष्य ऐसे हो सकते है जहाँ इस प्रकार विरोध का उद्धार किया जा सकता है। एक और उदाहरण लीजिये—

किसी राजा ने अपने समस्त शत्रुओं को उच्छिन्न कर दिया है। वे शत्रु अपनी प्रियतमाओं को लेकर जंगल को भाग गये है। उस समय का वर्णन करते हुये कवि कहता है कि—वे शत्रुस्त्रियाँ दावाग्नि के चारों ओर घूम रही हैं उस समय ऐसा मालूम पड़ता है मानों उनका पुनः विवाह हो रहा हो। (विवाह मे अग्नि की परिक्रमा की ही जाती है। वे ऐसे स्थलों को पार कर रही है जहाँ कुश बिखरे हुये हैं। कुशों से उनके पैर लाल हो गये हैं तब उनकी ऐसी शोभा हो गई है मानों उनके महावर लगाया गया है। (विवाह मे भी कुश बिछाकर उन पर

ध्वन्यालोकः

इदानीं तेषामेकप्रबन्धनिवेशने न्याय्यो यः क्रमस्तं प्रतिपादयितुमुच्यते—

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥ २१ ॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतयाङ्गाङ्गिभावेन बहवो रसा उपनिबध्यन्त इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां छायातिशययोगमिच्छति तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद्विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन निवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः।

(अनु०) इस समय उनके एक प्रबन्ध मे निविष्ट करने में जो उचित क्रम है उसके प्रतिपादन के लिये कहते हैं—

'प्रबन्धों का नाना रस निबन्धन प्रसिद्ध होने पर भी उनका उत्कर्ष चाहनेवाले के द्वारा एक रस अंग बना दिया जाना चाहिये' ॥ २१ ॥

प्रबन्धों मे अर्थात् महाकाव्य इत्यादि में अथवा नाटक इत्यादि में बिखरे हुये रूप में अङ्गाङ्गि भाव से बहुत से रसों का उपनिबन्धन किया जाता है इस प्रसिद्धि के होते हुये भी जो प्रबन्धों की छाया की अधिकता का योग चाहता है उसके द्वारा उन रसों मे अन्यतम किसी विवक्षित रस को अङ्गी के रूप मे सन्निविष्ट कर दिया जाना चाहिये यह अधिक उचितमार्ग है।

लोचन

तदेवावतारयति—इदानीमित्यादिना। तेषां रसानां क्रम इतियोजना। प्रसिद्धेऽपीति। भरतमुनिप्रभृतिभिर्निरूपितेऽपीत्यर्थः। तेषामिति प्रबन्धानाम्। महाकाव्यादिष्वित्यादिशब्दः प्रकारे। अनभिनेयान् भेदानाह, द्वितीयस्त्वभिनेयान्। विप्रकीर्णतयेति। नायकप्रतिनायकपताकाप्रकरीनायकादिनिष्ठतयेत्यर्थः। अङ्गाङ्गिभावेनेत्येकनायकनिष्ठत्वेन। युक्ततर इति। यद्यपि समवकारादौ पर्यायबन्धादौ च नैकस्याङ्गित्वं तथापि नायुक्तता तस्याप्येवंविधो यः प्रबन्धः तद्यथा नाटकं महाकाव्यं वा तदुत्कृष्टतरमिति तरशब्दार्थः।

वही अवतारित करते हैं—'इस समय' इत्यादि के द्वारा। उन रसों का क्रम यह योजना है। 'प्रसिद्ध होने पर भी' यह। अर्थात् भरतमुनि इत्यादि के द्वारा निरूपित होने पर भी। उनका अर्थात् प्रबन्धो का। 'महाकाव्य इत्यादि मे' यहाँ आदि शब्द प्रकारवाचक है। अनभिनेय भेदों को कहता है; द्वितीय तो अभिनेयों को। 'विप्रकीर्ण रूप में' यह। अर्थात् नायक, पताका और प्रकरी नायक इत्यादि में रहने के कारण। अङ्गाङ्गिभाव के द्वारा अर्थात् एकनायकनिष्ठ होने के कारण। 'अधिक उचित' यह। यद्यपि समवकार इत्यादि में और पर्यायबन्ध इत्यादि मे एक का अङ्गित्व नहीं होता तथापि उसकी भी अयुक्तता नहीं होती इस प्रकार का जो प्रबन्ध होता है जैसे नाटक या महाकाव्य वह अधिक उत्कृष्ट होता है यह तर शब्द का अर्थ है ॥ २१ ॥

तारावती

भंवरों में पैर रक्खे जाते हैं और पैरों में महावर लगाया जाता है।) उन पर जो आपत्ति पड़ी है उसके कारण उनके आँसू बह रहे हैं जिससे उनके मुख धुल गये हैं। (विवाह मे भी एक तो होम के धुयें के कारण कुमारियों के आँसू बहते हैं दूसरे उन्हें अपने बन्धुजनों के परित्याग का दुःख होता है उससे भी उनके आँसू बहते हैं।) वे डरी हुई हैं क्योंकि राजमहलों को छोड़कर पहले पहल उन्हें वनों के भयावह दृश्यों का साक्षात्कार हुआ है। (विवाह में भी कुमारियों का स्वभाव ही डरना होता है। पहले पहल अपने प्रियतमों के सम्पर्क में उन्हें भय का अनुभव होता है।) उन्होंने अपने हाथ अपने पतियों के हाथों में दे दिये हैं क्योंकि वनों में बिना हाथ का सहारा लिये चलना उनके लिये अशक्य है। (विवाह में भी पतियों के हाथ मे वधुओं का हाथ दिया जाता है।) इस प्रकार दावाग्निरूपी विवाह-होमाग्नि के चारों ओर शत्रुस्त्रियाँ घूम रही हैं।

यहाँ पर राजाओं और उनकी पत्नियों का करुण रस अङ्गी है। उस करुण रस को पुष्ट करनेवाला है उनका विवाहोत्सव के समय का आनन्द का स्मरण। ऐसे अवसरों पर सर्वत्र ही निर्विरोध को समझ लेना चाहिये। इस प्रकार रस इत्यादि का विरोधी रस इत्यादि के साथ समावेश और असमावेश का विषय-विभाग तो दिखला दिया गया। 'तो' का अर्थ है कि इस विषय में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है ॥२०॥

ऊपर की कारिका की वृत्ति में 'तावत्' शब्द का प्रयोग कर यह सङ्केत दिया गया था कि इस विषय मे और भी कुछ कहना शेष है। वह क्या है? इसी प्रश्न का उत्तर २१ वीं कारिका से दिया जा रहा है। इस कारिका में यह दिखलाया गया है कि यदि कई रस किसी एक प्रबन्ध मे आ जावे तो उनके एक मे सन्निविष्ट करने का क्रम क्या होना चाहिये? कारिका का आशय यह है—'यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि प्रबन्धों मे अनेक रसों का निबन्धन किया जाता है तथापि यदि कवि अपने प्रबन्ध को उत्कृष्ट बनाना चाहे तो उसका कर्तव्य है कि वह एक रस को अंगी रस बना दे।'

'प्रसिद्ध है' कहने का आशय यह है कि भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने इस बात का निरूपण किया है (और काव्य-परम्परा के परिशीलन से भी यही तथ्य प्रकट होता है।) कि चाहे काव्य अभिनेय न हो जैसे महाकाव्य इत्यादि और चाहे अभिनेय हो जैसे नाटक इत्यादि, सभी प्रकार के काव्यों में अनेक रस आते हैं वे समस्त रस समस्त काव्य मे व्याप्त होते हैं और उनमें कोई अंगी होते हैं तथा कोई अंग। कोई रस नायकगत होता है कोई प्रतिनायक गत, कोई पताका (व्यापक

ध्वन्यालोकः

ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्य दमुच्यते—

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः॥ २२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलप्रबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति।

(अनु०) परिपोष को प्राप्त होनेवाले बहुत से दूसरे रसों के होते हुये भी एक का अङ्गी होना विरुद्ध क्यों नहीं होता? यह शङ्का कर कह रहे हैं—

'प्रस्तुत रस का जो दूसरे रसों के साथ समावेश वह स्थायी के रूप में अवभासित होनेवाले इस रस के अङ्गीभाव को नष्ट नहीं करता॥ २२॥

प्रबन्ध मे पहले ही प्रस्तुत तथा बार-बार अनुसन्धान किये जाने के कारण स्थायी जो रस उस समस्त प्रबन्ध मे व्यापक रस का अन्तरालवर्ती दूसरे रसों के साथ जो समावेश वह उसकी अङ्गिता को उपहत नहीं करता॥

तारावती

प्रासंगिक इतिवृत्त) के नायक से सम्बद्ध होता है और कोई प्रकरी (प्रदेशस्थ प्रासंगिक इतिवृत्त) के नायक से सम्बद्ध। आशय यह है कि एक नायक मे रहनेवाला कोई रस अपने नायक की सत्ता के अनुसार ही महत्त्व को प्राप्त होता है। यदि प्रधान नायक गत (आधिकारिक कथावस्तु के नायक गत) होता है तो अंगी होता है नहीं तो अंग। यह सब प्रसिद्ध है तथापि यदि कवि की कामना हो कि उसका काव्य अत्यन्त रमणीयताशाली हो तो उसे उन समस्त रसों मे किसी एक अभीष्ट रस को अंगी अवश्य बना देना चाहिये यही अधिक अच्छा भाग है। 'अधिक अच्छा' कहने का आशय यह है कि ऐसे भी काव्य होते है जिनमें किसी एक रस की प्रधानता नहीं होती। उदाहरण के लिये श्रव्य काव्य मे पर्यायबन्ध और दृश्य काव्यों मे समवकार ऐसे ही काव्य होते हैं जिनमें विभिन्न रस बिखरे हुये होते हैं और उनमे किसी एक को अंगी के रूप मे यदि प्रतिष्ठित न किया जावे तो कुछ अनुचित नहीं होता तथापि नाटक या महाकाव्य मे एक रस को अंगी बनाना तो अनिवार्य ही होता है। यही कारण है कि पर्यायबन्ध, समवकार इत्यादि की अपेक्षा महाकाव्य और नाटक अधिक उत्कृष्ट माने जाते हैं। अतः यह स्वीकार करना ही चाहिये कि अनेक रसों में किसी एक का अंगी बनाना अधिक समीचीन होता है॥२१॥

## लोचन

नन्विति। स्वयं लब्धपरिपोषत्वे कथमङ्गत्वम्? अलब्धपरिपोषत्वे वा कथं रसत्वमिति रसत्वमङ्गत्वं चान्योन्यविरुद्धं तेषां चाङ्गत्वायोगे कथमेकस्याङ्गित्वमुक्तमिति भावः। रसान्तरेति। प्रस्तुतस्य समस्तेतिवृत्तव्यापिनस्तत एव विततव्याप्तिकत्वेनाङ्गिभावोचितस्य रसान्तरैरितिवृत्तवशायातत्वेन परिमितकथाशकलव्यापिभिर्यः समावेशः समुपबृंहणं स तस्य स्थायित्वेनेतिवृत्तव्यापितया भासमानस्य नाङ्गितामुपहन्ति, अङ्गितां पोषयत्येवेत्यर्थः।

'ननु' यह। स्वयं परिपोष को प्राप्त होने पर अङ्गत्व कैसे? अथवा परिपोष को न प्राप्त होने पर रसत्व कैसे? इस प्रकार रसत्व और अङ्गित्व के सिद्ध न होने पर कैसे एक का अङ्गी होना कहा गया है? यह प्रश्न का भाव है।

'रसान्तर' यह। प्रस्तुत तथा समस्त इतिवृत्त मे व्यापक और इसीलिये विस्तृत व्याप्तिवाला होने के कारण अङ्गी होने के अधिकारी (किसी) रस का इतिवृत्त वश आने के कारण परिमित कथाखण्डों मे व्याप्त दूसरे रसों के साथ जो समावेश अर्थात् उसका अभिवर्धन वह उस स्थायी होने से इतिवृत्त में व्यापक होने के कारण शोभित होनेवाले (रस) की मुख्यता को उपहत नहीं करता अर्थात् अङ्गिता को पुष्ट ही करता है।

## तारावती

(प्रश्न) रस की परिभाषा करते हुये आचार्यों ने लिखा है कि रस उसे कहते हैं जो वेद्यान्तरस्पर्शशून्य हो अर्थात् जिसके आस्वादन के अवसर पर अन्य सभी प्रकार के संवेदनीय पदार्थों का तिरोभाव हो जावे जो स्वप्रकाशानन्द चिन्मय हो और जिसका स्वरूप अखण्ड हो उसे रस कहते हैं। रस की इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर उनका अंगागिभाव तो दूर रहा उनका एक साथ समावेश भी कठिन प्रतीत होता है, वह न तो दूसरे का अंग ही हो सकता है और न अंगी ही। यदि स्वसामग्रीसमवधान में ही उसका परिपोष हुआ है तो वह अंग किस प्रकार हो सकता है? यदि उसका परिपोष दोष नहीं हो गया है तो वह रस ही किस प्रकार कहा जा सकता है? इस प्रकार अनेक रसों के परिपुष्ट हो जाने पर एक को ही अंगी कह देना क्यों सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है? आशय यह है कि रस कभी अंग नहीं हो सकता और अंग कभी रस नहीं हो सकता। रसत्व और अंगत्व परस्पर विरुद्ध हैं। जब अंगत्व रस मे आही नहीं सकता तो कोई एक अंगी भी कैसे हो सकता है? (उत्तर)—

'प्रस्तुत रस स्थायी के रूप मे अवभासित होता है (और वही अंगीरस कहा जाता है।) यदि उसमे (प्रसंगवश) अन्यरसों का समावेश हो जावे तो उसके अंगी होने मे कोई उपघात नहीं होता ॥२२॥

## लोचन

एतदुक्तं भवति—अङ्गभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादिसामग्र्या स्वावस्थायां यद्यपि लब्धपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव न परितुष्य विश्राम्यति किन्तु चमत्कारान्तरमनुधावति। सर्वत्रैवाङ्गाङ्गिभावेऽयमेवोदन्तः। यथाह तत्रभवान्—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥ इति ॥२२॥

यह कहा गया है—अगभूत भी दूसरे रस अपनी विभाव इत्यादि की सामग्री से अपनी अवस्था में यद्यपि परिपोप को प्राप्त होकर चमत्कारगोचरता को प्राप्त कर लेते हैं तथापि वह चमत्कार उतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु दूसरे चमत्कार की ओर दौड़ता है। अङ्गाङ्गिभाव मे सर्वत्र यही घटना होती है। जैसा कि श्रीमान् जी ने कहा है—

'गुण अपना संस्कार करके प्रधान को प्राप्त हो जाता है, और प्रधान के उपकार करने मे अधिकता मे वर्तमान होता है' यह ॥ २२ ॥

## तारावती

आशय यह है कि वही रस काव्य मे अङ्गीरस का रूप धारण करता है जो नाटक के बीज के साथ ही सर्वप्रथम उपस्थित हो और काव्य जितना ही आगे बढ़ता जावे वह रस भी साथ साथ परिपोष को प्राप्त होता रहे तथा उसका बार बार अनुसन्धान भी कर लिया जाता रहे। इस प्रकार के रस को हम काव्य का स्थायी रस कह सकते है; क्योंकि यह रस समस्त प्रबन्ध मे व्याप्त होता है और प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त स्थिर बना रहता है। बीच बीच मे और रस भी आते रहते है। उनका समावेश इस व्यापक रस मे होता चलता है। अन्य रसों से मिल जाने के कारण उसकी अगिता ( प्रधानता ) नष्ट नहीं होती। सारांश यह है कि किसी रस को समस्त इतिवृत्त मे व्याप्त होने के ही कारण अंगी होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इतिवृत्त में कोई एक ही कथा हो ऐसा तो कोई नियम नहीं है। मुख्य कथा एक होती है और उसके साथ छोटी-छोटी कथाओं के खण्ड गुंथे हुये से चलते रहते हैं। उन छोटी छोटी कथाओं मे स्वतन्त्र रसों की सत्ता विद्यमान रहती है। इस प्रकार वे छोटे-छोटे रस उसी व्यापक रस को बढ़ाते हैं और वह व्यापक रूप मे ही बढ़ता चला जाता है। उसकी अंगिता नष्ट नहीं होती अपितु पुष्ट ही होती है।

यहाँ पर जो कुछ कहा गया है उस सबका सार यही है कि खण्ड रसों की विभाव इत्यादि सामग्री भी पूर्ण होती है और उनका परिपोष भी अपनी अवस्था से हो ही जाता है तथा वे भी चमत्कार-गोचरता को प्राप्त हो ही जाते हैं। किन्तु

ध्वन्यालोकः

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

(अनु०) इसी को सिद्ध करने के लिये कह रहे हैं—

'जिस प्रकार प्रबन्ध के एक व्यापक कार्य का विधान किया जाता है उसी प्रकार रस की विधि में भी विरोध नहीं होता ॥ २३ ॥

लोचन

उपपादयितुमिति । दृष्टान्तस्य समुचितस्य निरूपणेनेति भावः । न्यायेन चैतदेवोपपद्यते । कार्यं हि तावदेकमेवाधिकारिकं व्यापकं प्रासङ्गिककार्यान्तरोपक्रियमाणमवश्यमङ्गीकार्यम् । तत्पृष्ठवर्तिनीनां नायकचित्तवृत्तीनां तद्बलादेवाङ्गाङ्गिभावः प्रवाहपतित इति किमत्रापूर्वमिति तात्पर्यम् । तथेति व्यापितया । यदि वा एवकारो भिन्नक्रमः, तथैव तेनैव प्रकारेण कार्याङ्गाङ्गिभावरूपेण रसानामपि बलादेवासावापतंतीत्यर्थः । तथा च वृत्तौ वक्ष्यति 'तथैवे'ति ।

'उपपादन करने के लिये' यह । भाव यह है कि समुचित दृष्टान्त के निरूपण के द्वारा । और न्याय से यही उपपन्न होता है । कार्य तो निस्सन्देह एक आधिकारिक ही प्रासङ्गिक दूसरे कार्यों से उपकार किया जाता हुआ अवश्य अंगीकृत किया जाना चाहिये। उसकी पृष्ठवर्तिनी नायक की चित्तवृत्तियों का उसके बल से ही अङ्गाङ्गिभाव प्रवाह से प्राप्त हुआ है अतः इसमें अपूर्व क्या है ? यह तात्पर्य है । 'उस प्रकार' अर्थात् व्यापक रूप में । अथवा 'एव' शब्द क्रमभेद से लगाया जाना चाहिये । 'उसी ही प्रकार' अर्थात् कार्य के अङ्गाङ्गिभाव के रूप में ही रसों का भी वह बलपूर्वक आ जाता है । अतः वृत्ति में कहेंगे—'तथैव' यह ।

तारावती

वह चमत्कार अपने स्वरूप में ही नहीं रुक जाता अपितु दूसरे ( प्रधान रस के ) चमत्कार की ओर दौड़ता है । अंगांगिभाव में सर्वत्र यही बात लागू होती है । यही बात निम्नलिखित कारिका में कही गई है:—

'गौण ( तत्व ) अपने संस्कार कर लेने के बाद प्रधान को प्राप्त हो जाता है और प्रधान के बहुत बडे उपकार में वर्तमान हो जाता है ।'

इस प्रकार गौण रसों का प्रधान रस मे समावेश दूषित नहीं कहा जा सकता और उनका विरोध भी अकिञ्चित्कर हो जाता है ॥ २२ ॥

२२ वीं कारिका में जो बात कही गई है उसको सिद्ध करने के लिये २३ वीं कारिका में एक समुचित दृष्टान्त का निरूपण किया गया है । कारिका का आशय यह है :—

ध्वन्यालोकः

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य यथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत्कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित्। प्रत्युत प्रत्युदित-विवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते।

(अनु०) जिस प्रकार सन्धि इत्यादि से युक्त प्रबन्ध-शरीर के अन्ततक जानेवाले व्यापक कार्य की कल्पना की जाती है और ऐसा नहीं होता कि उसका साङ्कर्य दूसरे कार्यों से न हो। यह भी नहीं होता कि उनके द्वारा सङ्कीर्ण हो जाने पर भी उसकी प्रधानता जाती रहती हो। उसीप्रकार सन्निवेश किये जाने पर रस का भी कोई विरोध नहीं होता। इसके प्रतिकूल उदय हुये विवेकवाले अनुसन्धान करने-वाले सहृदयों का उस प्रकार के विषय में अत्यन्त आनन्द प्रवृत्त हो जाता है।

लोचन

कार्यमिति। 'स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति' इति लक्षितं बीजम्। बीजाद्यभृति प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणं यावत्समाप्तिबन्धं स तु बिन्दुः'। इति बिन्दुरूपयार्थप्रकृत्या निर्वहणपर्यन्तं व्याप्नोति तदाह—अनुयायीति। अनेन बीजं बिन्दुश्चेत्यर्थप्रकृती सङ्गृहीते। कार्यान्तरैरिति। 'आगर्भादाविमर्शाद्वा पताका विनि-वर्तते' इति प्रासङ्गिकं यत्पताकालक्षणार्थप्रकृतिनिष्ठं कार्यं यानि च ततोऽप्यूनव्याप्ति-तया प्रकरीलक्षणानि कार्याणि तैरित्येवं पञ्चानामर्थप्रकृतीनां वाक्यैकवाक्यतया निवेश उक्तः। तथाविध इति। यथा तापसवत्सराजे। एवमनेन श्लोकेनाङ्गाङ्गितायां दृष्टान्तनिरूपणमितिवृत्तवलापतितत्वं च रसाङ्गाङ्गिभावस्येति द्वयं निरूपितम्। वृत्ति-ग्रन्थोऽप्युभयाभिप्रायेणैव नेयः॥ २३॥

'कार्य यह'। जो थोड़ी मात्रा मे समुद्दिष्ट होकर बहुत प्रकार से फैलता है' यह बीज लक्षित किया गया। बीज से लेकर प्रयोजनों के विच्छिन्न हो जाने पर जो समाप्तिपर्यन्त अविच्छेद का कारण हो वह तो बिन्दु होता है। इस बिन्दुरूप अर्थ प्रकृति से निर्वहण पर्यन्त व्याप्त कर लेता है—वह कहते हैं—'अनुयायी' यह। इससे बीज और बिन्दु इन दो अर्थप्रकृतियों का संग्रह हो गया। 'दूसरे कार्यों से' यह। 'गर्भ तक या विमर्श तक पताका निवृत्त हो जाती है' इस प्रकार पताका-रूप जो अर्थप्रकृति में रहनेवाला कार्य और जो उससे क्रम व्याप्तिवाला होने के कारण प्रकरी रूप कार्य उनके द्वारा' इस प्रकार पाँचो ही अर्थप्रकृतियों का वाक्यैकवाक्यता के रूप मे निवेश कहा गया है। 'उस प्रकार का' यह। जैसे तापसवत्सराज में। इस प्रकार इस श्लोक के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव मे दृष्टान्त निरूपण तथा रस के अङ्गाङ्गिभाव मे इतिवृत्त के बलपर आना इन दोनों का निरूपण किया गया है। वृत्ति ग्रन्थ की योजना भी इसीप्रकार करनी चाहिये॥ २३॥

## तारावती

"जिस प्रकार प्रबन्ध के एक व्यापक कार्य का विधान किया जाता है वही प्रकार रस की विधि में भी अपनाया जा सकता है उसमें कोई विरोध नहीं होता।"

प्रस्तुत कारिका का आशय ठीक रूप मे समझने के लिये यह आवश्यक है कि नाट्य-वस्तु-विधान की संक्षिप्त रूपरेखा समझ ली जानी चाहिये। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रत्येक काव्य का एक फल होता है। उस फल पर स्वामित्व अधिकार कहलाता है। उस अधिकार को लेकर चलनेवाली कथावस्तु को आधिकारिक कथावस्तु कहते हैं। प्रासङ्गिक कथावस्तु का उपादान आधिकारिक के उपकार के लिये ही होता है। आधिकारिक कथावस्तु समस्त प्रबन्ध मे व्याप्त होती है और प्रासङ्गिक काव्य के थोड़े भाग में। प्रबन्धनिर्वाह के लिये ५ कार्यावस्थाओं, ५ अर्थप्रकृतियों और पाँच सन्धियों पर विचार किया जाता है। ५ कार्यावस्थाये होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम। पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य, तथा पाँच सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। इन सन्धियों मे प्रत्येक के अनेक अङ्ग भी होते है। इन समस्त तत्त्वों के लक्षण और सन्ध्यङ्गों के लक्षण तथा परिभाषायें नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक दी गई हैं। इस कारिका का आशय यह है—इस विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि सन्धि इत्यादि से युक्त कथाशरीर मे एक व्यापक कार्य स्वीकार करना अनिवार्य है जो कि प्रबन्ध के अन्त तक चला जाता है। आधिकारिक नाट्यवस्तु का प्रवर्तक होता है बीज। बीज की परिभाषा की गई है—'जो बहुत ही थोड़ी मात्रा में उद्देश्य के रूप मे स्वीकार किया गया हो और नाट्यवस्तु में बहुत प्रकार से व्याप्त हो जावे उसे बीज कहते हैं।' जैसे छोटे से बीज से विशाल वटवृक्ष तैय्यार हो जाता है उसीप्रकार छोटे से नाट्यबीज से कथानक का विशाल कलेवर तैय्यार हो जाता है। जैसे रत्नावली मे 'द्वीपादन्यस्मादपि' इत्यादि कथन नाट्यबीज है। बीज को लेकर वस्तु जब आगे बढ़ती है तब कथासूत्र के प्रवाह मे पड़कर कोई ऐसा स्थल आ जाता है जहाँ कथा-प्रयोजन विच्छिन्न होता हुआ सा दिखलाई पड़ने लगता है। उस समय कोई ऐसा तत्त्व आ जाता है जो उस वस्तु को और आगे बढ़ा देता है तथा वस्तु को अन्त तक अग्रसर करता रहता है, उस तत्त्व को बिन्दु कहते है। बिन्दु का कार्य कथावस्तु मे विच्छेद न उत्पन्न होने देना है। इस प्रकार आधिकारिक कथावस्तु बीज और बिन्दु इन दो अर्थप्रकृतियों के सहयोग से प्रारम्भ से अन्त तक चली जाती है। (कार्य के विषय में पहले ही बतलाया जा चुका है कि वह एक व्यापक तत्त्व होता है जो प्रारम्भ से अन्त तक चलता रहता है

और अन्त में जहाँ बीज का फल से योग होता है वहाँ दर्शकों और पाठकों को कार्य की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है । ) इस प्रकार बीज, बिन्दु और कार्य इन तीन अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध आधिकारिक कथावस्तु से होता है और उसमें बीज तथा बिन्दु के सहयोग से अनुयायी कार्य व्यापक रूप में कल्पित कर लिया जाता है । यह तो हुई आधिकारिक वस्तु की बात । वह आधिकारिक वस्तु प्रासङ्गिक वस्तु से साङ्कर्य को न प्राप्त होती हो ऐसा नहीं होता आशय यह है कि आधिकारिक वस्तु के कार्य के साथ अन्य कार्य भी आते ही हैं । वे कार्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो ऐसे कार्य जो आधिकारिक कार्य के साथ कुछ दूर तक चलते हैं और उन्हें पताका नाम से अभिहित किया जाता है और दूसरे वे कार्य जो किसी एक देश में आकर वहीं समाप्त हो जाते हैं । उन्हें प्रकरी कहते हैं । पताका या तो गर्भसन्धि तक चलती है या फिर अधिक से अधिक विमर्शसन्धि पर्यन्त जाती है । उसके बाद निवृत्त हो जाती है । इस प्रकार विस्तृत पताका या स्वल्प देश गत प्रकरी को बीज बिन्दु इत्यादि से मिलाकर कथाशरीर का निष्पादन होता है । इस प्रकार मुख्य-वस्तु के साथ प्रासंगिक वस्तु के सन्निवेश से मुख्य-वस्तु का प्राधान्य समाप्त नहीं हो जाता । इसी प्रकार मुख्य ( अंगी ) रस मे अप्रधान रसों का समावेश करने मे कोई विरोध नहीं होता । इसके प्रतिकूल कहा जा सकता है कि जो सहृदय विवेकशील हैं और ठीक रूप में अंगी का अनुसन्धान करते हैं उन सहृदयों को दूसरे रसों से सङ्कीर्ण मुख्य रस के आस्वादन में प्रमोद की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है । जैसे तापसवत्सराज में । ( इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है । ) इस कारिका में दो बातें कही गई हैं—( १ ) इतिवृत्त के दृष्टान्त से यह सिद्ध किया गया है कि जिस प्रकार इतिवृत्त मे मुख्य वस्तु के साथ अमुख्य वस्तु का समावेश दूषित नहीं होता और न मुख्य वस्तु की मुख्यता को ही व्याघात लगता है उसी प्रकार अमुख्य रसों के समावेश से मुख्य रस की न तो मुख्यता नष्ट होती है और न किसी प्रकार का विरोध आता है । ( २ ) मुख्य इतिवृत्त का रस मुख्य रस होता है और अमुख्य इतिवृत्त का रस अमुख्य होता है । अतः उनका अंगांगिभाव असंगत नहीं माना जा सकता । वृत्ति ग्रन्थ की योजना भी इन्हीं दो दृष्टिकोणों से की जानी चाहिये ॥

ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका कि दो रसों का अंगांगिभाव सम्भव है । यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कुछ रस तो ऐसे हैं जिनका एक में सन्निवेश सम्भव है और कुछ रस ऐसे हैं जिनका परस्पर सन्निवेश सम्भव नहीं है । जिन रसों का परस्पर सन्निवेश सम्भव है उन रसों का तो अंगांगिभाव बन जाता है ।

ध्वन्यालोकः

ननु येषां रसानां परस्पराविरोधः यथा वीरशृङ्गारयोः शृङ्गारहास्ययो रौद्र-शृंगारयोर्वीराद्भुतयोर्वीररौद्रयो रौद्रकरुणयोः शृंगाराद्भुतयोर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गि-भावः, तेषां तु कथं भवेद्येषां परस्परं वाध्यवाधकभावः ? यथा शृंगारवीभत्सयो-र्वीरभयानकयोः शान्तरौद्रयोः शान्तशृङ्गारयोर्वा ।

(अनु०) ( प्रश्न ) जिन रसों का परस्पर अविरोध है जैसे वीर शृङ्गार का शृङ्गार हास्य का, शृङ्गार रौद्र का, वीर अद्भुत का, वीर रौद्र का, रौद्र करुण का अथवा शृङ्गार और अद्भुत का, उनमें अंगाङ्गि भाव हो उनका तो कैसे हो जिनका परस्पर वाध्यबाधक भाव है जैसे शृङ्गार वीभत्स का, वीर भयानक का, शान्त रौद्र का अथवा शान्त-शृङ्गार का ?

लोचन

शृङ्गारेण वीरस्याविरोधो युद्धनयपराक्रमादिना कन्यारत्नलाभादौ । हास्यस्य तु स्पष्टमेव तदङ्गत्वम् हास्यस्य स्वयमपुरुषार्थस्वभावत्वेऽपि समधिकतररञ्जनोत्पादनेन शृङ्गाराङ्गतयैव तथात्वम् । रौद्रस्यापि तेन कथञ्चिदविरोधः । यथोक्तम्—'शृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते' तैरिति रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैरित्यर्थः । केवलं नायिका विषयमौद्धत्यं तत्र परिहर्तव्यम् । असम्भाव्यपृथिवीसम्मार्जनादिजनितविस्मयतया तु वीराद्भुतयोः समावेशः । यथाह मुनिः—'वीरस्य चैव यत्कर्म सोद्भुतः' इति । वीर रौद्रयोर्धीरोद्धते भीमसेनादौ समावेशः क्रोधोत्साहयोरविरोधात् । रौद्रकरुणयोरपि मुनि-नैवोक्तः—'रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ।'

शृङ्गार से वीर का अविरोध युद्धनय पराक्रम इत्यादि के द्वारा कन्यारत्न लाभ इत्यादि मे । हास्य का तो उसका अङ्ग होना स्पष्ट ही है । हास्य के स्वयं अपुरुषार्थ स्वभाव होते हुये भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक रञ्जन के उत्पादक होने के कारण शृङ्गार के अंग के रूप मे ही पुरुषार्थ स्वरूप प्राप्ति होती है । रौद्र का भी किसी प्रकार उससे अविरोध होता है । जैसा कहा गया है—'उनके द्वारा बलात् शृङ्गार का सेवन किया जाता है । उनके द्वारा अर्थात् रौद्र प्रकृतिवाले राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्यों द्वारा वहाँ पर केवल नायिकाविषयक औद्धत्य का परित्याग कर दिया जाना चाहिये । असम्भव पृथिवी सम्मार्जन इत्यादि से उत्पन्न विस्मय के कारण तो वीर और अद्भुत का समावेश होता है । जैसा कि मुनि ने कहा है—'वीर का जो कर्म वह अद्भुत' यह । वीर रौद्र का धीरोद्धत भीमसेन इत्यादि में समावेश होता है; क्योंकि क्रोध और उत्साह का विरोध नहीं होता । रौद्र और करुण का भी मुनि ने ही कहा है—'रौद्र का ही जो कर्म वह करुण रस समझा जाना चाहिये ।'

## तारावती

किन्तु जिनका परस्पर सन्निवेश सम्भव नहीं है उनका अंगांगिभाव कैसे बनेगा ? आचार्यों के कथन के अनुसार कुछ रस परस्पर विरोधी होते हैं कुछ अविरोधी। वीर और शृंगार परस्पर अविरोधी रस होते हैं। (वीर का आलम्बन होता है विजेतव्य व्यक्ति और शृंगार का आलम्बन होता है प्रेम-पात्र व्यक्ति। एक ही व्यक्ति को आलम्बन मानकर वीर शृंगार दोनों की निष्पत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि जिससे प्रेम करने की इच्छा हो उसी पर विजय प्राप्त करने की कामना नहीं हो सकती। किन्तु यदि आलम्बन भेद हो तो दोनों रसों में विरोध नहीं होता।) जब कन्यारत्न का लाभ युद्ध नीति अथवा पराक्रम के द्वारा होता है तो शृंगार का वीर से विरोध नहीं होता। (रुक्मिणी की प्राप्ति युद्ध के द्वारा हुई थी, वासवदत्ता को उदयन ने यौगन्धरायण के नीति-जन्य उत्साह से प्राप्त किया था और राक्षस विधि से कन्यापहरण में पराक्रमजन्य उत्साह से कन्या प्राप्ति होती है।) हास्य तो स्पष्ट रूप में ही शृंगार का अंग होता है। (मुनि ने शृंगार की प्रकृति को ही हास्य कहा है।) समस्त रसों में आश्रय के उपनिबन्धन का अनिवार्य नियम है अर्थात् रसों में यह अवश्य ही दिखलाया जाता है कि अमुक भाव किस में उद्भूत हुआ। यदि शकुन्तला की रति का वर्णन किया जावेगा तो उस रति का आश्रय दुष्यन्त है यह अवश्य दिखलाया जावेगा। किन्तु हास्य रस में हास्य की परिस्थिति (आलम्बन-मात्र) का चित्रण किया जाता है। यह अनिवार्यतया नहीं दिखलाया जाता कि उसका आश्रय कौन है अर्थात् उस परिस्थिति से हँसी किसको आई। (उसका आश्रय या तो समस्त सहृदय होते है या सहृदयों द्वारा कल्पित कोई व्यक्ति)। तथापि हास्य रस में यह विशेषता होती है कि वह अनुरञ्जन बहुत अधिक मात्रा मे उत्पन्न करता है और इस प्रकार शृंगार रस के हर्ष को अधिकाधिक तीव्र करता जाता है। अतः हास्य को शृङ्गार का अंग होकर ही आश्रय प्राप्त होता है। अतः उसी रूप में हास्य के अवयवों की पूर्ति होती है और उसे रसरूपता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार हास्य और शृङ्गार का भी परस्पर विरोध नहीं है। रौद्र और शृङ्गार परस्पर विरोधी कहे जाते हैं। किन्तु उनका अविरोध भी किसी न किसी रूप में स्थापित किया जा सकता है। भरत ने कहा है कि राक्षस दानव और उद्धत स्वभाववाले मनुष्य शृङ्गार का सेवन बलपूर्वक किया करते हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना पड़ता है कि जिस नायिका के प्रति उनमें प्रेमप्रवृत्ति दिखलाई जाती है उस नायिका के प्रति क्रोध और उग्रता नहीं दिखलानी पड़ती। प्रेम में व्याघात डालनेवालों तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति उनकी उग्रता का वर्णन किया जाता है। शृङ्गार एक ऐसा रस है

लोचन

शृङ्गाराद्भुतयोरिति। यथा रत्नावल्यामैन्द्रजालिकदर्शने। शृङ्गारवीभत्सयोरिति। ययोर्हि परस्परमुन्मूलनात्मकतयैवोद्भवस्तत्र कोऽङ्गाङ्गिभावः ? आलम्बननिमग्नरूपतया च रतिरुत्तिष्ठति ततः पलायमानरूपतया जुगुप्सेति समानाश्रयत्वेन तयोरन्योन्यसंस्कारोन्मूलनत्वम्। भयोत्साहावप्येवमेव विरुद्धौ वाच्यौ। शान्तस्यापि तत्त्वज्ञानसमुत्थितसमस्तसंसारविषयनिर्वेदप्राणत्वेन सर्वतो निरीहस्वभावस्य विषयासक्तिजीविताभ्यां रतिक्रोधाभ्यां विरोध एव।

'शृङ्गार और अद्भुत का' यह। जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के दर्शन में। 'शृङ्गार और वीभत्स का' यह। निस्सन्देह जिनका उद्भव परस्पर उन्मूलनात्मक रूप में ही होता है उसमें क्या अङ्गाङ्गिभाव ? आलम्बन में निमग्न रूप में रति का उत्थान होता है और उससे पलायन रूप में जुगुप्सा का उत्थान होता है इस प्रकार समानाश्रयत्व वे एक दूसरे के संस्कार का उन्मूलन करनेवाले होते हैं। इसी प्रकार भय और उत्साह के विरोध को भी कहना चाहिये। शान्त भी तत्त्वज्ञानजन्य समस्त संसार के विषयों से विराग ही प्राण होने के कारण चारों ओर से निरीह स्वभाववाला होता है उसका ( उन ) रति और क्रोध से विरोध ही होता है जिनका जीवन ही है विषयासक्ति।

तारावती

जो सभी के लिये हृद्य होता है। अतएव जहाँ दानव इत्यादि के उद्धत स्वभाव का वर्णन होता है वहाँ साथ ही यदि किसी सुन्दरी से उसकी प्रेमलीला का भी वर्णन किया जावे तो किसी न किसी प्रकार शृङ्गार और रौद्र का परस्पर समावेश हो सकता है। वीर और अद्भुत भी परस्पर विरोधी नहीं होते। क्योंकि जहाँ वीरों के असम्भव कृत्यों का वर्णन किया जाता है वहाँ वीर और अद्भुत का परस्पर समावेश हो जाता है। मुनि ने कहा ही है कि वीर का जो कर्म वही अद्भुत होता है। धीरोद्धत स्वभाववाले भीमसेन इत्यादि में वीर और रौद्र का समावेश हो सकता है क्योंकि क्रोध और उत्साह दोनों का विरोध तो है ही नहीं। रौद्र और करुण भी विरोधी नहीं होते क्योंकि इनके सम्बन्ध को भी मुनि ने ही बतलाया है—'रौद्र का ही जो कर्म होता है उसी को करुण रस समझा जाना चाहिये।' हाँ आश्रय की एकता में दोनों का विरोध होता है। यदि एक में क्रोध हो और उसके विरोधी दूसरे व्यक्ति में करुण हो तो कोई विरोध नहीं होता। शृङ्गार और अद्भुत भी परस्पर विरुद्ध नहीं होते। उदाहरण के लिये रत्नावली नाटिका में राजा और सागरिका का सम्मिलन ऐन्द्रजालिक की अद्भुत क्रियाओं के द्वारा हुआ है और उसी के द्वारा सागरिका से वासवदत्ता की ईर्ष्या निवृत्ति हुई है। अतः शृङ्गार और अद्भुत भी परस्पर अविरोधी होते हैं।

ध्वन्यालोकः

इत्याशङ्क्य दमुच्यते—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता ॥ २४ ॥

(अनु०) यह आशङ्का करके यह कहा जा रहा है—

'दूसरे अङ्गीरस मे अविरोधी या विरोधी रस को परिपोष को नहीं प्राप्त कराना चाहिये । इससे अविरोधिता होती है' ॥ २४ ॥

तारावती

ऊपर उन रसों का दिग्दर्शन कराया गया है जिनका परस्पर मिल सकना सम्भव होता है और जो एक दूसरे के विरोधी नहीं होते । इसके प्रतिकूल कुछ रस ऐसे भी होते हैं जिनकी उत्पत्ति या सत्ता ही एक दूसरे को उन्मूलित करनेवाली होती है । उदाहरण के लिये शृंगार और बीभत्स को लीजिये । शृंगार का स्थायी भाव है रति और बीभत्स का स्थायी भाव है जुगुप्सा । रति का तो उत्थान ही तब होता है जब आश्रय का मन आलम्बन के प्रति ललकने लगता है और उसी में गड़ जाता है । इसके प्रतिकूल जुगुप्सा का उदय तभी होता है जब आश्रय आलम्बन की ओर से दूर भागने के लिये आतुर हो जाता है । इस प्रकार शृङ्गार बीभत्स के संस्कारों का उन्मूलन करता है और बीभत्स शृङ्गार के संस्कारो का उन्मूलन करता है । अतः एक ही आश्रय मे एक साथ उन दोनों का कथन संगत नहीं कहा जा सकता । इसीप्रकार भय मे आलम्बन से भागने की प्रवृत्ति होती है और उत्साह में आलम्बन को अभिभूत करने के लिये उसकी ओर बढ़ने की प्रवृत्ति होती है । अतः दोनों विरोधी हैं और दोनों का एक साथ उपादान ठीक नहीं कहा जा सकता । शान्तरस का प्राण होता है निर्वेद जो कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है संसार के समस्त विषयों से पृथक् होने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है । अतः सभी ओर से स्वभाव का इच्छारहित हो जाना ही शान्त रस है । इसके प्रतिकूल रति का जीवन है विषयों में आसक्ति । क्रोध भी विषयासक्ति से ही उत्पन्न होता है । क्योंकि जब विषयों के प्रति तीव्र अनुराग होता है तभी विघ्न डालनेवालों के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ करता है । इस प्रकार विषयों के प्रति विराग और विषयों के प्रति अनुरक्ति इन दोनों मे स्वाभाविक विरोध होने के कारण शान्तरस स्वाभाविक रूप मे शृंगार और रौद्र का विरोधी है ।

यह पूर्वपक्ष का प्रश्न है । इसका आशय यह है कि रस का विरोध दो प्रकार का होता है—एक तो सामानाधिकरण्य का विरोध और दूसरा उन्मूल्य-उन्मूलक रूप में विरोध । सामानाधिकरण्य का विरोध कहीं आलम्बन की एकता में होता है,

## लोचन

अविरोधी विरोधी वेति। वाग्रहणस्यायमभिप्रायः—अङ्गिरसापेक्षया यस्य रसान्तरस्योत्कर्षो निबध्यते तदा तदविरुद्धोऽपि रसो निबद्धश्चोद्यावहः। अथ तु युक्त्याङ्गिनिरसेऽङ्गभावतानयेनोपपत्तिर्घटते तद्विरुद्धोऽपि रसो वक्ष्यमाणेन विषयभेदादियोजनेनोपनिबध्यमानो न दोषावह इति विरोधाविरोधावकिञ्चित्करौ। विनिवेशनप्रकार एव त्ववधातव्यमिति।

'विरोधी अथवा अविरोधी' यह। वा ग्रहण का यह अभिप्राय है—अंगीरस की अपेक्षा जिस दूसरे रस का उत्कर्ष निबद्ध किया जाता है तब निबद्ध किया हुआ उसका अविरुद्ध रस भी प्रश्न उठानेवाला होता है। और यदि युक्तिपूर्वक अंगीरस मे अङ्गभाव की प्राप्ति के द्वारा उपपत्ति घटित होती है तो विरुद्ध भी रस आगे कहे जाने योग्य विषयभेद इत्यादि की योजना के द्वारा उपनिबद्ध किया हुआ दोषावह नहीं होता, इस प्रकार विरोध और अविरोध अकिञ्चित्कर होते हैं। विनिवेशन के प्रकार मे ही तो ध्यान देना चाहिये।

## तारावती

कहीं आश्रय की एकता मे और कहीं अधिकरण की एकता में। अतः जिन परिस्थितियों से विरोध होता है उनसे भिन्न परिस्थितियों में न तो विरोध होता है और न उनका एक साथ वर्णन दूषित ही कहा जा सकता है। किन्तु जिनका उन्मूल्य-उन्मूलक भाव मे विरोध होता है उनका विरोध तो आत्यन्तिक होता है अतः उनका एकत्र समावेश दूषित क्यों नहीं होता? इसी प्रश्न का उत्तर २४वीं कारिका मे दिया गया है। कारिका का आशय यह है कि—

'यदि किसी प्रकरण में कोई एक अङ्गी रस विद्यमान हो तो उसके साथ कोई भी दूसरा रस आ सकता है चाहे वह विरोधी हो चाहे अविरोधी। किन्तु शर्त यह है कि दूसरे रस को पूर्णरूप मे पुष्ट नहीं करना चाहिए। यदि अंगी रस पूर्णरूप से पुष्ट कर दिया जाता है और दूसरा रस पुष्ट नहीं किया जाता तो विरोध नहीं होता ॥२४॥

'सारांश यह है कि शृंगार इत्यादि रस यदि प्रबन्ध के द्वारा व्यंग्य हो रहे हों तो अविरोधी या विरोधी किसी दूसरे रस को पुष्ट नहीं करना चाहिये। 'या' कहने का आशय यह है कि यदि अंगी रस के सामने किसी ऐसे दूसरे रस को अधिक उत्कृष्ट बना दिया जाता है जो विरोधी नहीं है तो वह भी एक दोष ही होगा और सहृदयों के अङ्गुलि-निर्देश का विषय बन जायेगा। इसके प्रतिकूल यदि अंगी रस

ध्वन्यालोकः

अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः। तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः। उत्कर्षसाम्येऽपि तयोर्विरोधासम्भवात्।

(अनु०) अङ्गी दूसरे रस शृङ्गार इत्यादि के प्रबन्ध व्यङ्ग्य होने पर अविरोधी या विरोधी रस परिपोष को नहीं प्राप्त किया जाना चाहिये। उसमें अविरोधी रस का अङ्गी रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिये यह परिपोष का पहला परिहार है; क्योंकि उत्कर्ष साम्य में भी उनका विरोध असम्भव होता है।

लोचन

अङ्गिनीति सप्तम्यनादरे। अङ्गिनं रसविशेषमनादृत्य न्यक्कृत्याङ्गभूतो न पोषयितव्य इत्यर्थः। अविरोधतेति। निर्दोषतेत्यर्थः। परिपोषपरिहारे त्रीन् प्रकारानाह—तत्रेत्यादिना तृतीय इत्यनेन। ननु न्यूनत्वं कर्तव्यमितिवाच्ये आधिक्याद्य का सम्भावनायेनोक्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्याशङ्क्याह—उत्कर्ष साम्य इति।

'अङ्गिनि' में अनादर में सप्तमी है। अर्थात् अङ्गी रस विशेष अनादर करके अर्थात् नीचे गिराकर अङ्गभूत को पुष्ट नहीं करना चाहिये। 'अविरोधिता' अर्थात् निर्दोषता। परिपोष परिहार में तीन प्रकारों को कहते हैं—'उसमें' इत्यादि से 'तृतीय' यहाँ तक। 'निस्सन्देह न्यूनत्व करना चाहिये इस कथन के उचित होने पर आधिक्य की क्या सम्भावना जिससे कहा गया है कि आधिक्य नहीं करना चाहिये?' यह शङ्का करके कहते हैं —'उत्कर्ष साम्य में' इत्यादि।

तारावती

के साथ किसी ऐसे रस को लाया जाता है जो उसका विरोधी है—किन्तु वह रस एक तो पुष्ट नहीं किया जाता; दूसरे युक्तिपूर्वक उसके अन्दर अंगरूपता की सिद्धि सङ्घटित कर दी जाती है तो उनका एक साथ निबन्धन सदोष नहीं होता और विरोध अकिञ्चित्कर हो जाता है। विरोध परिहार के उपाय आगे चलकर बतलाये जायेंगे। उन्हीं का आश्रय लेकर विरोधियों का परस्पर सङ्घटन करना चाहिये। आशय यह है कि निवेशन के प्रकार के प्रति ही जागरूक रहना चाहिये। यदि निपुणतापूर्वक किन्हीं भी दो रसों का एक साथ सङ्घटन कर दिया जाये तो दोष नहीं रह जाता। कारिका में 'अंगिनि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें सप्तमी विभक्ति है। यहाँ पर सप्तमी अनादर के अर्थ में हुई है। आशय यह है कि विशेष प्रकार के अंगी को अनादरपूर्वक दबाकर तथा तिरस्कृत करके ऐसे रस को पुष्ट नहीं करना चाहिये जो अंग-मात्र हो।

## लोचन

एतच्च मुक्तकविषयमेव भवति न तु प्रबन्धविषयमिति केचिदाहुस्तच्चासत्; आधिकारिकेष्वितिवृत्तेषु त्रिवर्गफलसमप्राधान्यस्य सम्भवात्। तथाहि रत्नावल्यां सचिवा-

कुछ लोग कहते हैं कि यह मुक्तकविषय में ही होता है प्रबन्ध विषय में नहीं—यह ठीक नहीं है; क्योंकि आधिकारिक इतिवृत्तों में त्रिवर्ग फल का समप्राधान्य सम्भव है। वह इस प्रकार—रत्नावली में सचिवायत्त

## तारावती

और जप के लिये वे किसी मन्त्र का उच्चारण नहीं कर रही थीं अपितु मिथ्या ही जप करती हुई जान पड़ रही थीं। उनके ओठों में गुप्तरूप से हँसी छिपी हुई थी जो ओठों के काँपने से कुछ-कुछ प्रकट हो रही थी। इस प्रकार देवी पार्वती सन्ध्या की असूया से पशुपति की हँसी उड़ा रही थीं। अपने भक्तों के द्वारा इस रूप में देखी हुई देवी आप सब लोगों की रक्षा करें।'

(यहाँ पर सन्ध्या के प्रति असूया शङ्कर के प्रति पार्वती के रतिभाव को अभिव्यक्त करती है। इस रतिभाव ने विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से शृङ्गार-रस का रूप धारण कर लिया है। साथ ही शङ्कर जी की सन्ध्योपासनकालिक चेष्टाओं के अनुकरण तथा अधरपुट में हास की अभिव्यक्ति से हास्य रस भी व्यक्त होता है। यहाँ हास्य और शृंगार दोनों समान बलवाले हैं। शङ्कर जी का सन्ध्यानुरागविषयक अनुकरण ईर्ष्या को पुष्ट करता है जोकि रतिभाव की पोषिका है। साथ ही प्रेम की अधिकता शङ्कर जी की हँसी उड़ाने में पर्यवसित हुई है। अतः दोनों रस शृङ्गार और हास्य एक दूसरे के पोषक हैं। अतः समान बलवाले होते हुये भी सदोष नहीं माने जा सकते। दीधितिकार ने लिखा है कि अक्षमाला जप इत्यादि से शान्तरस की अभिव्यक्ति होती है। अतः शान्त और शृङ्गार का एकत्र समावेश है। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि एक तो इस पद्य में पार्वती का वैराग्य व्यक्त नहीं होता। शान्तरस की चेष्टाओं का अनुकरण हास्य को ही अभिव्यक्त करता है। दूसरी बात यह है कि शान्त और शृङ्गार एक दूसरे के विरोधी रस हैं। प्रस्तुत प्रकरण अविरोधी रसों के समबल होने पर एकत्र समावेश की व्याख्या करनेवाला है। अतः शान्तरस को मानने में प्रकरण की संगति भी नहीं लगती। बालप्रिया में हास्यरस ही माना गया है और वही ठीक है।)

कुछ आचार्यों ने लिखा है कि यह नियम मुक्तक के विषय में ही लागू होता है प्रबन्ध के विषय में नहीं। किन्तु यह ठीक नहीं है। प्रबन्ध काव्य में भी दो रसों का प्राधान्य समकोटि का हो सकता है। प्रबन्धकाव्यों में आधिकारिक वस्तु का

## लोचन

यत्तसिद्धित्वाभिप्रायेण पृथिवीराज्यलाभ आधिकारिकं फलं कन्यारत्नलाभः प्रासङ्गिकं फलं नायकाभिप्रायेण तु विपर्यय इतिस्थिते मन्त्रिबुद्धौ नायकबुद्धौ च स्वाम्यमात्यबुद्धयेकत्वात्फलमिति नीत्या एकीक्रियमाणायां समप्राधान्यमेव पर्यवस्यति। यथोक्तम्—'कवेः प्रयत्नान्नेतृणां युक्तानाम्' इत्यलमवान्तरेण बहुना।

सिद्धित्व के अभिप्राय से पृथिवी राज्य का लाभ आधिकारिक फल है और रत्नलाभ प्रासङ्गिक फल है; नायक के अभिप्राय से तो विपरीत है ऐसी स्थिति में 'स्वामी और मन्त्री की बुद्धि की एकता से ही फल होता है इस नीति से मन्त्री की बुद्धि के एक किये जाने पर समप्राधान्य में ही पर्यवसान होता है। जैसा कि कहा गया है—'कवि के प्रयत्न से काम में लगे हुये नेताओं का' इत्यादि—बस अधिक अवान्तर की आवश्यकता नहीं।

## तारावती

फल ही प्रधान फल कहा जाता है और उसी को उद्दश्य मानकर प्रबन्ध काव्य प्रवृत्त होता है। काव्य का फल हो सकता है धर्म अर्थ और काम इन तीनों में किसी एक दो या तीन का साधन। अतः यह असम्भव नहीं है कि किसी प्रबन्ध काव्य के दो उद्देश्य हों और दोनों की प्रधानता समान कोटि की हो। उदाहरण के लिये रत्नावली मे कथावस्तु के बढ़ने का एक मात्र यही निमित्त है कि यौगन्धरायण मन्त्री ने रत्नावली को सागरिका के रूप में राजा के अन्तःपुर में रक्खा है। नीतिशास्त्र के अनुसार सिद्धियाँ तीन प्रकार की होती हैं—मन्त्री के दृष्टिकोण से, राजा के दृष्टिकोण से और दोनों के दृष्टिकोण से। रत्नावली में यौगन्धरायण का दृष्टिकोण है पृथिवीराज्य की प्राप्ति। यही मन्त्री की दृष्टि से आधिकारिक फल है और कन्यारत्न का लाभ प्रासंगिक फल है। अतः पृथिवीराज्य प्राप्ति के लिये सचेष्ट होने के कारण यौगन्धरायण का उत्साह अभिव्यक्त होता है जो वीर रस पर्यवसायी है। दूसरी ओर नायक उदयन के दृष्टिकोण से कन्यारत्न की प्राप्ति आधिकारिक फल है और पृथिवीराज्य लाभ प्रासंगिक फल। अतः उदयन का शृङ्गार रस अभिव्यक्त होता है। नीति यह है कि फल वही कहा जा सकता है जिसमें स्वामी और अमात्य दोनों की बुद्धि एक ही हो। अतः जब यौगन्धरायण और उदयन दोनों की बुद्धि को एक किया जाता है तब यौगन्धरायण के उत्साह और उदयन की रति दोनों की प्रधानता समान ही सिद्ध होती है। अतः दो अविरोधी रसों का समकोटिक होना प्रबन्ध में भी सम्भव है, केवल मुक्तक मे नहीं।

रसों के एक में सन्निवेश होने पर दोष होने का दूसरा प्रकार यह होता है—यदि

ध्वन्यालोकः

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम्, निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः।

(अनु०) अंगीरस के विरोधी व्यभिचारियों का निवेशन करना अथवा निवेशन करने पर शीघ्र ही अङ्गीरस के व्यभिचारियों की अनुवृत्ति करना यह दूसरा (प्रकार है)।

लोचन

एवं प्रथमं प्रकारं निरूप्य द्वितीयमाह—अङ्गीति। अनिवेशनमिति। अङ्गभूते रस इति शेषः। नन्वेवं नासौ परिपुष्टो भवेदित्याशङ्क्य मतान्तरमाह—निवेशने वेति। अत एव वा ग्रहणमुत्तरपक्षदार्ढ्यं सूचयति न विकल्पम्। तथा चैक एवायं प्रकारः। अन्यथा द्वौ स्याताम् अङ्गिनो रसस्य यो व्यभिचारी तस्यानुवृत्तिरनुसन्धानम्। यथा—'कोपात्कोमललोल' इति श्लोकेऽङ्गिभूतायां रतावङ्गत्वेन यः क्रोध उपनिबद्धस्तत्र 'बद्ध्वा दृढम्' इत्यमर्षस्य निवेशितस्य क्षिप्रमेव रुदत्येति हसन्निति च रत्युचितेर्ष्यौत्सुक्यहर्षानुसन्धानम्।

इस प्रकार प्रथम प्रकार का निरूपण कर दूसरे को कहते हैं—'अंगी रस' इत्यादि। 'न निविष्ट करना' यहाँ पर अंगभूत रस में यह शेष है। फिर तो निस्सन्देह यह परिपुष्ट नहीं होगा यह शङ्का करके दूसरा मत कहते हैं—'अथवा निवेशन में' यह। इसीलिये 'वा' ग्रहण उत्तर पक्ष की दृढता को सूचित करता है विकल्प को नहीं। अतएव यह एक ही प्रकार है नहीं तो दो हो जायें। अंगीरस का जो व्यभिचारी उसकी अनुवृत्ति अर्थात् अनुसन्धान जैसे 'कोपात्कोमललोल....' इस श्लोक में अङ्गीभूत रति में अंगभूत जिस क्रोध का उपनिबन्धन किया गया था उसमें 'बाँध कर' 'दृढ़ता से' इन शब्दों से निवेशित अमर्ष का शीघ्र ही 'रोती हुई के द्वारा' इससे और 'हँसते हुये' इससे रति के योग्य ईर्ष्या औत्सुक्य और हर्ष का अनुसन्धान किया गया है।

तारावती

अंगी रस के विरुद्ध किसी अन्य रस को काव्य में सन्निविष्ट किया जावे तो अंगीरस के विरोधी व्यभिचारियों का बहुत अधिकता से निवेश नहीं करना चाहिये और यदि विरोधी व्यभिचारियों का सन्निवेश अनिवार्य ही हो जावे तो उनका उपादान कर उन्हे ऐसा रूप दे देना चाहिये कि वे शीघ्र ही अंगी रस के व्यभिचारियों का अनुवर्तन करने लगे। यह दूसरा प्रकार है जो कि अंगी रस के साथ किसी अंग रस के प्रयोग में दिया जा सकता है। इस द्वितीय प्रकार के दो खण्ड हैं (१) अंगी रस से विरुद्ध व्यभिचारियों का प्रचुरता से सन्निवेश करना ही नहीं

चाहिये और ( २ ) सन्निवेश कर देने पर शीघ्र ही उन्हें अंगीरस के व्यभिचारियों का अनुयायी बना देना चाहिये। इस दूसरे खण्ड के उत्थापन का कारण यह है कि पहले खण्ड के अनुसार यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि विरोधी रस के व्यभिचारियों का सम्यक् उपादान नहीं किया जायेगा तो विरोधी रस का परिपोष किस प्रकार हो सकेगा ? यदि विरोधी रस का परिपोष न हुआ तो उस अपरिपुष्ट अविकसित अवस्था को रस की संज्ञा ही किस प्रकार प्राप्त हो सकेगी ? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिये द्वितीय खण्ड को स्वीकार किया गया है जिसका आशय यह है कि यदि विरोधी रस को पुष्ट करने के लिये व्यभिचारियों का उपादान अपरिहार्य ही हो जाये तो उनका उपादान करना तो चाहिये किन्तु उन व्यभिचारियों को मुख्य रस के व्यभिचारियों का अनुयायी अवश्य बना देना चाहिए। अतएव यहाँ पर द्वितीय खण्ड के उल्लेख के लिये जिस 'अथवा' शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अर्थ वैकल्पिक पक्ष को सूचित करना नहीं है जैसा कि अथवा शब्द का प्रायः अर्थ हुआ करता है अपितु उसका आशय है कि 'अच्छा तो यही है कि विरोधियों के व्यभिचारियों का उपादान किया ही न जाये। परन्तु यदि करना अनिवार्य ही हो तो उसे मुख्य रस की अपेक्षा गौण तथा मुख्य रस का पोषक बना देना चाहिये।' अतः दोनों खण्डों को मिलाकर यह एक ही प्रकार है। परिपोष की सङ्गति भी इसीप्रकार हो जाती है। अंग रस का परिपोष निषिद्ध नहीं है अपितु रस-संज्ञा के लिये उसका परिपोष आवश्यक ही है, उसके परिपोष के लिये यदि विरोधी व्यभिचारियों के उपादान की आवश्यकता पडे तो निस्सङ्कोच भाव से उनका उपादान करना चाहिए। किन्तु तत्काल ही अंगीरस के अनुकूल व्यभिचारियों का परिशीलन कर लेना चाहिए। यह है मुख्य पक्ष, इस प्रकार इस पक्ष के दो तत्त्व हैं विरोधियों का उपादान न करना और उपादान करके अगी का अनुवर्तन कर लेना। इन दोनों मे दूसरा तत्त्व ( विरोधियों का उपादान करके अंगी का अनुसरण कर लेना ) मुख्य पक्ष है। यदि 'अथवा' शब्द विकल्प-परक माना जायेगा तो ये पृथक्-पृथक् दो प्रकार हो जायेंगे। अंगी के व्यभिचारी की अनुवृत्ति का आशय यह है यदि विरोधी गौण रस का अधिक विस्तार हो रहा हो और उससे अंगी रस दृष्टि से ओझल होता जा रहा हो तो अंगी रस के व्यभिचारियों का बीच-बीच में इस प्रकार स्मरण कर लेना चाहिये कि विरोधी रस के व्यभिचारी उस मुख्य रस का अनुवर्तन करते हुये ही जान पड़ें और पाठकों या दर्शकों को मुख्य रस की प्रतीति भी हो जाये। उदाहरण के लिये—'कोपात्कोमललोलबाहु—' इत्यादि पद्य को लीजिये। इस पद्य का अङ्गीरस है शृंगार। नायक के अपराध के प्रमाणित होजाने

ध्वन्यालोकः

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः। अनया दिशा अन्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः।

(अनु०) परिपोष को प्राप्त भी अंगभूत रस का अङ्ग के रूप में पुनः पुनः पर्यवेक्षण यह तीसरा प्रकार है। इसी दिशा से अन्य प्रकारों की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिये।

लोचन

तृतीयं प्रकारमाह—अङ्गत्वेनेति। अत्र च तापसवत्सराजे वत्सराजस्य पद्मावती विषयः सम्भोगशृंगार उदाहरणीकर्तव्यः। अन्येऽपीति। विभावानुभावानां चापि उत्कर्षो न कर्तव्योऽङ्गिरसविरोधिनां निवेशनमेव वा न कार्यम्, कृतमपि चाङ्गिरसविभावानुभावैरुपबृंहणीयम्। परिपोषिता अपि विरुद्धरसविभावानुभावा अङ्गत्वं प्रतिजागरयितव्या इत्यादि स्वयं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्।

तृतीय प्रकार को कहते हैं—अंगत्व के रूप मे यह और यहाँ पर तापसवत्सराज में वत्सराज के पद्मावतीविषयक सम्भोग शृङ्गार का उदाहरण देना चाहिये। 'दूसरे भी' यह। विभावों और अनुभावों का उत्कर्ष नहीं करना चाहिये अथवा अंगीरस के विरोधियों का निवेश ही नहीं करना चाहिये, किये हुये को भी अंगीरस के विभाव अनुभाव इत्यादि के द्वारा बढ़ा दिया जाना चाहिये। परिपोषित किये हुये भी विरुद्ध रस के विभाव और अनुभावों को अंगत्व के प्रति जाग्रत कर देना चाहिये इत्यादि की कल्पना स्वयं कर लेना चाहिये।

तारावती

के कारण नायिका को क्रोध आगया है जो रौद्र रस का स्थायी भाव है। रौद्र को पुष्ट करने के लिये उसके 'बाध कर' 'पाश' 'मजबूती से' इन अनुभावों का उपादान किया गया है। जिससे क्रोध के व्यभिचारी अमर्ष की प्रतीति होती है। रौद्र शृंगार का विरोधी है। अतः अङ्गी शृंगार का कवि ने तत्काल परिशीलन कर लिया है और उसी निमित्त 'नायिका रो रही थी' 'नायक हँस रहा था' इन अनुभावों का उल्लेख कर दिया है। ये अनुभाव रति के व्यभिचारी ईर्ष्या, औत्सुक्य और हर्ष का अनुसन्धान करते है और अमर्ष रति के इन व्यभिचारियों का अनुयायी बन गया है। (यहाँ पर 'नन्वेवं नासौ परितुष्टो भवेत्' यही पाठ सभी पुस्तकों में पाया जाता है। रस का परितुष्ट होना कोई स्वभाविक बात नहीं जान पड़ती। अतः यहाँ पर 'परिपुष्टो भवेत्' यह पाठ किर लिया गया है। यदि 'परिपुष्टों भवेत्' यही पाठ माना जावे तो भी आशय वही होगा। रस का परितोप उसका परिपोष ही है। इस दशा में यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग माना जावेगा।)

अब तृतीय प्रकार को बतलाते हैं—यदि अंगीरस कोई अन्य हो और किसी अन्य रस को उसके अंग के रूप मे अभिव्यक्त किया जा रहा हो तथा उस अंग

ध्वन्यालोकः

विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता सम्पादनीया। यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य शृङ्गारे वा शान्तस्य। परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमितिचेत्—उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति। अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्तव्यः, स्वतस्तु सम्भवी परिपोषः केन वार्यते।

(अनु०) विरोधी तो किसी रस की अङ्गी रस की अपेक्षा न्यूनता कर देनी चाहिये। जैसे शान्त के अङ्गी होने पर शृङ्गार की अथवा शृङ्गार मे शान्त की। यदि कहो कि परिपोषरहित रस का रसत्व कैसा? तो यहाँ यह कहा गया है कि अङ्गीरस की अपेक्षा। निस्सन्देह अङ्गीरस का जितना परिपोष है उतना उसका नहीं करना चाहिये। स्वतः सम्भवी परिपोष तो किसके द्वारा मना किया जा सकता है।

तारावती

(अप्रधान) रस को पूर्ण रूप से परिपुष्ट भी कर दिया हो तो वह रस अंग है इस तथ्य की ओर परिशीलकों का ध्यान बार-बार आकृष्ट करते चलना चाहिये। यदि इस नियम का पालन किया जाता है तो एक रस मे दूसरे का समावेश सदोष नहीं माना जाता। उदाहरण के लिये तापसवत्सराज में अङ्गी रस है उदयन का वासवदत्ता के प्रति शृंगार। वासवदत्ता के मरण के समाचार के बाद उदयन परिस्थितियों से प्रभावित होकर पद्मावती से विवाह कर लेते हैं। पद्मावती को आलम्बन मानकर उदयन के सम्भोग शृंगार का वर्णन अंगी रस वासवदत्ता और उदयन के प्रेम का अंग बन गया है। पद्मावती के साथ सम्भोग शृंगार वर्णन पूर्ण रूप से परिपुष्ट हो गया है किन्तु कवि बीच-बीच में उदयन की वियोग-वेदना का वर्णन करता चलता है जिससे वासवदत्ता के प्रति रतिभाव भी परिशीलक की दृष्टि से सर्वथा ओझल नहीं होता। ऐसी दशा मे अंग रस का परिपोष भी दूषित नहीं माना जा सकता।

ऊपर तीन प्रकार बतलाये गये हैं जिनसे दो रसों का एकत्र समावेश दूषित नहीं होता। ये प्रकार केवल दिग्दर्शन मात्र है। इन्हीं का अनुसरण कर दूसरे प्रकारों की भी कल्पना करलेनी चाहिये। संक्षेप में जिन दूसरे प्रकारों की कल्पना की जा सकती है उनमें कुछ ये हैं—(१) अगीरस से भिन्न किसी दूसरे रस के विभावों और अनुभावों में उत्कर्ष नहीं आने देना चाहिये। (२) अथवा अंगी रस के विरोधी रस से सम्बद्ध विभावों और अनुभावों का विनिवेश करना नहीं चाहिये। (३) यदि विरोधी रस के विभावों और अनुभावों का सन्निवेश किया गया हो तो उनका पोषण अंगीरस के विभावो और अनुभावो के द्वारा करदेना चाहिये। (४) विरुद्ध रस के जिन विभावों और अनुभावों को परिपुष्ट भी कर

## लोचन

एवं विरोध्यविरोधिसाधारणप्रकारमभिधाय विरोधिविषयासाधारणदोष परिहार-प्रकारगतत्वेनैव विशेषान्तरमप्याह—विरोधिन इति। सम्भवीति। प्रधानाविरोधित्वे-नेतिशेषः।

इस प्रकार विरोधी और अविरोधी में सर्वसाधारण प्रकार को कहकर विरोधी विषयक असाधारण दोष के परिहार प्रकार के सम्बन्ध में ही दूसरी विशेषता भी कहते हैं—'विरोधी का' यह। 'सम्भवी यह'। यहाँ पर प्रधान के अविरोधी के रूप में यह शेष है।

## तारावती

दिया हो उन्हें भी जागरूक कर देना चाहिये कि वे कहीं अपने अप्रधान रूप को छोड़कर प्रधान न बन जायें। इसी भाँति के दूसरे प्रकारों की भी कल्पना कर लेनी चाहिये और उनका संगमन उदाहरणों में भी करलेना चाहिये।

ऊपर दो रसों के परस्पर सन्निवेश के जो प्रकार बतलाये गये हैं वे सामान्यतया विरोधियों और अविरोधियों में एक समान लागू होते हैं। किन्तु विरोधी रसों की संयोजना कुछ विलक्षण अवश्य होती है। अतः दोष परिहार के साधारण नियमों के साथ उनके कुछ असाधारण परिहार प्रकार अवश्य होते हैं। अतः उदाहरण के रूप में एक दूसरी विशेषता भी बतलाई जा रही है—यदि किसी अंगी रस के साथ अंगरूप में किसी विरोधी रस को सन्निविष्ट करना हो तो अंगी रस की अपेक्षा विरोधी रस को कुछ न्यून अवश्य करदेना चाहिये। जैसे यदि शान्त रस अंगी हो और शृंगार रस को उसका अंग बनाना हो तो शृंगार को शान्त रस से कुछ न्यून करदेना चाहिये और यदि शृंगार अंगी हो तो उसकी अपेक्षा शान्त को कुछ न्यून करदेना चाहिये। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि रस स्वप्रकाशनन्द चिन्मय तथा वेद्यान्तर स्पर्श शून्य होता है। रस का अर्थ है रसनया आस्वादन। किसी भी तत्त्व मे रसनीयता तभी उत्पन्न होती है। जब उसका पूर्ण परिपाक हो जाता है। यदि उसमें थोड़ी सी भी न्यूनता रह जाती है तो न तो उसमे रसनीयता ही उत्पन्न होती है और न उसे रस ही कहा जा सकता है। फिर उसको रस ही मानकर हम कैसे कह सकते हैं कि एक रस का दूसरे में समावेश हुआ? इसका उत्तर यह है कि हमने यह नहीं कहा कि उसके परिपोष मे कमी रखनी चाहिये किन्तु हमने यह कहा कि अङ्गी रस की अपेक्षा उसे कम रखना चाहिये। जितना परिपोष अङ्गी रस का करना चाहिये उतना अङ्ग या अप्रधान रस का परिपोप नहीं करना चाहिये। किन्तु यदि उसका परिपोष स्वतः हो रहा हो और उससे अङ्गी का विरोध न हो रहा हो तो उसके परिपोप को कौन रोक सकता है? कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि

ध्वन्यालोकः

एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छताऽप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्यनेन प्रकारेणाविरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्याद्विरोधः।

(अनु०) बहुत रसोंवाले प्रबन्धों में एक रस का यह आपेक्षिक प्रकर्षयोगित्व रसों के अङ्गाङ्गिभाव को न माननेवालों के द्वारा भी खण्डित नहीं किया जा सकता; अतः इस प्रकार से प्रबन्धों में अविरोधी और विरोधी रसों के अङ्गाङ्गिभाव के द्वारा समावेश करने में विरोध न हो।

लोचन

एतच्चेति। उपकार्योपकारकभावो रसानां नास्ति स्वचमत्कारविश्रान्तत्वात्; अन्यथा रसत्वायोगात्। तदभावे च कथमङ्गितेत्यपि येषां मतं तैरपि कस्यचिद्रसस्य प्रकृष्टत्वं भूयः प्रबन्धव्यापकत्वमन्येषां चाल्पप्रबन्धानुगामित्वमभ्युपगन्तव्यमिति वृत्तसङ्घटनाया एवान्यथानुपपत्तेः, भूयः प्रबन्धव्यापकस्य च रसस्य रसान्तरैर्यदि न काचित्सङ्गतिस्तदितिवृत्तस्यापि न स्यात्सङ्गतिश्चेदयमेवोपकार्योपकारकभावः। न च चमत्कारविश्रान्तेर्विरोधः कश्चिदिति समनन्तरमेवोक्तम्। तदाह—अनभ्युपगच्छतापीति। शब्दमात्रेणासौ नाभ्युपगच्छति। अकाम एवाभ्युपगमयितव्य इतिभावः।

अपने चमत्कार मे विश्रान्त होने के कारण रसों का उपकार्योपकारक भाव नहीं होता नहीं तो रसत्व होना ही न बने और उसके अभाव मे अङ्गिता कैसी? यह भी जिनका मत है उन्हें भी किसी रस का प्रकृष्टत्व अर्थात् अधिक प्रबन्ध में व्यापकत्व और दूसरों का थोड़े प्रबन्ध का अनुगामित्व मानना पड़ेगा क्योंकि नहीं तो इतिवृत्त की सङ्घटना ही सिद्ध नहीं होती। अधिक प्रबन्ध मे व्यापक रस को यदि अन्य रसों से कोई संगति नहीं होती तो इतिवृत्त की भी कोई सङ्गति नहीं होगी यदि ऐसा मानों तो यही उपकार्योपकारक भाव होता है। चमत्कार विश्रान्ति से कोई विरोध नहीं होता यह अभी कहा गया है। यह कहते हैं—'न माननेवालों के द्वारा भी' यह। वह केवल शब्द से नहीं मानता। आशय यह है है कि विना ही इच्छा के उनको स्वीकार कराया जाना चाहिये।

तारावती

रस अखण्ड चर्वणात्मक शुद्ध चिन्मयानन्द स्वरूप होता है तथा उसमें अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि कोई भी रस तभी रस कहलाने का अधिकारी होता है जब उसमें स्वमात्रविश्रान्त चमत्कार विद्यमान हो। यदि उसे अपने चमत्कार के लिये अपने क्षेत्र से भिन्न किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा हुई तो न तो उसमें आनन्द देने की शक्ति ही उत्पन्न हो सकती है और न उसे रस की संज्ञा ही प्राप्त हो सकती है। ऐसी दशा में यह कहना किसी प्रकार

तारावती

भी संगत नहीं हो सकता कि रस में अङ्गाङ्गिभाव होता है। आशय यह है कि कतिपय आचार्य रस को अखण्ड चर्वणात्मक स्वमात्रविश्रान्त चमत्कारपरक मानते हैं उनके मत मे रस की कोटियाँ होती ही नहीं। उनको भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जिन प्रबन्धों में अनेक रसों का उपादान किया जाता है उनमे कोई रस अधिक प्रबन्ध को घेरता है और दूसरा कम प्रदेश में ही समाप्त हो जाता है। जो रस अधिक प्रबन्ध में व्यापक होता है वह अधिक उत्कृष्ट माना जाता है और जो कम प्रदेश को व्याप्त करता है वह कम महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार आपेक्षिक महत्त्व योग का तो प्रतिवाद रस की अखण्डता और अंगांगिभाव के असम्भव माननेवाले भी नहीं कर सकते। क्योंकि अनेक रसोंवाले प्रबन्ध में किसी कथानक का विस्तृत होना और किसी का अल्प होना अनुभवसिद्ध ही है और यदि उन कथानकों को एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध माना जायेगा तो इतिवृत्त की सङ्घटना भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। यह तो उनको भी मानना ही पड़ेगा कि जो विभिन्न इतिवृत्त एक प्रबन्ध में गुंथे हुये है वे एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं है। उनमे एक दूसरे का उपकार्योपकारक भाव विद्यमान है। अधिक प्रबन्ध में व्यापक इतिवृत्त उपकार्य है और कम देश में व्यापक इतिवृत्त उपकारक है। जिस तर्क के आधार पर इतिवृत्तों का उपकार्योपकारक भाव माना जाता है उसी तर्क के आधार पर उनसे अभिव्यक्त होनेवाले रसों का भी उपकार्योपकारक भाव माना जा सकता है। यदि रसों मे उपकार्योपकारक भाव नहीं माना जायेगा तो वह इतिवृत्तों मे भी सिद्ध नहीं हो सकेगा और इतिवृत्त के विभिन्न खण्ड विशृङ्खल हो जायेंगे। चाहे इसे आप उपकार्योपकारक भाव कहे या अंगांगिभाव, इतिवृत्त और प्रबन्ध दोनों मे यह सिद्ध हो ही जाता है। किसी एक रस मे चमत्कार का विश्राम हो जाना या उस रस का स्वतः पर्यवसित होना कोई ऐसी बात नहीं है जो इस मान्यता में विरोध उत्पन्न करे। कोई रस स्वतः पर्यवसित और चमत्कारविश्रान्त होकर भी दूसरे रस का अंग हो सकता है यह अभी सिद्ध किया जा चुका। जो लोग रसों के अंगांगिभाव नहीं मानते उनका यह शाब्दिक विरोध ही है वस्तुतः आन्तरिक विरोध नहीं। अतः उनसे यह उनके न चाहने पर भी तर्क के आधार पर स्वीकृत करा लेना चाहिये।

कुछ लोगों ने इस वृत्तिग्रन्थ की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। वृत्तिग्रन्थ मे यहाँ पर दो मत दिखलाये गये हैं १—रसों का उपकार्योपकारक भाव होता है और २—रस शब्द का यहाँ पर अर्थ है स्थायीभाव तथा स्थायीभाव में श्रेणी-विभाजन हो सकता है। उसी को मानकर रसों के उपकार्योपकारक भाव की

ध्वन्यालोकः

एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारीभवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव ॥ २४ ॥

(अनु०) यह सब उनके मत से कहा गया है कि जिनका सिद्धान्त है कि रस दूसरे रस का व्यभिचारी होता है। दूसरे मत में तो रसों के स्थायीभाव औपचारिक रूप में रस शब्द से अभिहित किये गये हैं। उनका अङ्गत्व तो निर्विरोध ही है।

लोचन

अन्यस्तु व्याचष्टे—एतच्चापेक्षिकमित्यादिग्रन्थो द्वितीयमतमभिप्रेत्य यत्र रसानामुपकार्योपकारकता नास्ति तत्रापि हि भूयो वृत्तव्याप्यत्वमेवाङ्गित्वमिति। एतच्चासत्; एवं हि एतच्च सर्वमिति सर्वशब्देन य उपसंहार एकपक्षविषयः मतान्तरेऽपीत्यादिना च यो द्वितीयपक्षोपक्रमः सोऽतीव दुःश्लिष्ट इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह बहुना संलापेन।

दूसरे ने तो कहा-'यह आपेक्षिक—'इत्यादि ग्रन्थ द्वितीय मत लेकर (लिखा गया है) कि 'जहाँ रसों की उपकार्योपकारता नहीं होती वहाँ अधिक कथानक में व्याप्त होना ही अंगित्व होता है' यह। यह ठीक नहीं है—ऐसे तो एक पक्ष के विषय में 'यह सब' इत्यादि जो उपसंहार किया गया है और दूसरे मत मे इत्यादि के द्वारा जो द्वितीय पक्ष का उपक्रम किया गया है उसकी योजना बहुत कठिन हो जायेगी; बस, अपने पूर्व वंशवालों के साथ अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं।

तारावती

व्याख्या की जा सकती है। इन लोगों का कहना है कि प्रस्तुत वृत्ति-ग्रन्थ द्वितीय मत को मानकर लिखा गया है कि जहाँ रसों का उपकार्योपकारक भाव नहीं होता वहाँ भी उसे अंगी कहने लगते हैं जो अधिक कथानक मे व्याप्त हो। यह इन लोगों की व्याख्या ठीक नहीं है। ये हमारे पूर्ववंशज हैं अतः इनसे हम (अभिनवगुप्त) अधिक विवाद तो नहीं करेंगे। हाँ इतना अवश्य कहेंगे कि इस प्रकरण को द्वितीय मत में लगाने से इस ग्रन्थ की संगति नहीं बैठती। वृत्तिकार ने प्रस्तुत वाक्य को लिखकर इस प्रकरण का उपसंहार करते हुये लिखा है "यह सब 'रस दूसरे रस का व्यभिचारी होता है' इस मत को मान कर लिखा गया।" यहाँ पर सब शब्द का प्रयोग ही सिद्ध करता है कि इसके पहले जो कुछ लिखा गया है वह प्रथम मत को मानकर ही लिखा गया है। उसके बाद लिखा है कि 'दूसरे मत में भी···'। यदि उक्त कथन द्वितीय मत से संबद्ध माना जायेगा तो सारा कथन अस्त-व्यस्त हो जायेगा। अतः उक्त कथन प्रथम मत से सम्बद्ध ही माना जाना जाना चाहिये।

## लोचन

येषाति भाभिवध्यायसमाप्तावस्तिश्लोकः—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥ इति ।

तत्रोक्तक्रमेणाधिकारिकेतिवृत्तव्यापिका चित्तवृत्तिरवश्यमेव स्थायित्वेन भाति प्रासङ्गिकवृत्तान्तगामिनी तु व्यभिचारितयेति रस्यमानता समये स्थायिव्यभिचारिभावस्य न कश्चिद्विरोध इति केचिद्व्याचक्षिरे । तथा च भागुरिरपि किं रसानामपि स्थायिसञ्चारितास्तीत्याक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद्दाढमस्तीति ।

'जिनका' यह । भावाध्याय की समाप्ति में श्लोक है—

'एकत्र बहुतों में जिसका रूप बहुत हो वह स्थायी रस माना जाना चाहिये । शेष सञ्चारी माने जाते है ।'

उसमें उक्त क्रम से आधिकारिक इतिवृत्त मे व्यापक चित्तवृत्ति अवश्य ही स्थायी रूप में शोभित होती है और प्रासङ्गिकवृत्त मे रहनेवाली तो व्यभिचारी रूप मे इस प्रकार रसास्वादन के समय में स्थायी और व्यभिचारी भाव का कोई विरोध नहीं होता यह कुछ लोगों ने व्याख्या की है । उसी प्रकार भागुरि ने 'क्या रसों की स्थायीरूपता और सञ्चारीरूपता होती है ?' यह आक्षेप करके स्वीकृति के द्वारा ही उत्तर दिया है—'हाँ निसन्देह है ।' यह ।

## तारावती

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह उन लोगों का मत दृष्टिगत रखते हुये कहा गया है जो यह मानते है कि एक रस दूसरे में व्यभिचारी होता है । अर्थात् जिस प्रकार किसी रस की निष्पत्ति मे स्थायीभाव का परिपोष सञ्चारियों के द्वारा होता है उसी प्रकार किसी एक रस को अन्य दूसरे रस पुष्ट किया करते हैं । नाट्यशास्त्र में भावाध्याय की समाप्ति में एक श्लोक आया है जिसका आशय यह है—

'जहाँ बहुत से रस मिले हुये हों उन रसों मे जिस भाव का रूप बहुत अधिक व्यापक हो वह रस स्थायी होता है; शेष रस व्यभिचारी होते हैं ।'

भावाध्याय मे जो क्रम बतलाया गया है उस पर विचार करने से अवगत होता है कि किसी प्रबन्ध काव्य में कोई एक चित्तवृत्ति ऐसी होती है जो समस्त प्रबन्ध मे व्याप्त रहती है और आधिकारिक इतिवृत्त की चित्तवृत्ति कही जाती है । ऐसी चित्तवृत्ति स्थायीरूप मे आभासित होने के कारण स्थायी चित्तवृत्ति कही जाती है और प्रासंगिक इतिवृत्त मे रहनेवाली चित्तवृत्ति व्यभिचरित अथवा परिवर्तित होनेवाली होती है । अतः वह चित्तवृत्ति व्यभिचारिणी चित्तवृत्ति कही जाती है । आधिकारिक इतिवृत्त से सम्बन्ध रखनेवाली चित्तवृत्ति उपकरणों के संयोग से

## लोचन

अन्ये तु स्थायितया पठितस्यापि रसस्य रसान्तरे व्यभिचारित्वमस्ति। यथा क्रोधस्य वीरे व्यभिचारितया पठितस्यापि स्थायित्वमेव रसान्तरे, यथा तत्त्वज्ञाननिर्वेदभावकस्य निर्वेदस्य शान्ते, व्यभिचारिणो वा सत एव व्यभिचार्यन्तरापेक्षया स्थायित्वमेव, यथा विक्रमोर्वश्यामुन्मादस्य चतुर्थेऽङ्के इतीयन्तमर्थमवबोधयितुमयं श्लोकः बहूनां चित्तवृत्ति-रूपाणां भावानां मध्ये यस्य बहुलं रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः। स च रसो रसीकरणयोग्यः; शेषास्तु सञ्चारिण इति व्याचक्षते न तु रसानां स्थायिसञ्चारिभावे-नाङ्गतोक्तेति। अतएवान्ये रसस्थायीति षष्ठ्या सप्तम्या द्वितीयया वाश्रितादिषु गमि-गम्यादीनामिति समासं पठन्ति। तदाह—मतान्तरेऽपीति। रसशब्देनेति। 'रसान्त-रसमावेशप्रस्तुतस्य रसस्य यः' इत्यादि प्राक्तनकारिकानिविष्टेनेत्यर्थः॥ २४ ॥

दूसरे लोग तो ( कहते हैं )—'स्थायी के रूप मे पठित भी रस का रसान्तर में व्यभिचारित्व होता है जैसे वीर मे व्यभिचारी के रूप में पढ़े हुए भी क्रोध का दूसरे रस में स्थायित्व होता ही है। जैसे तत्त्वज्ञान विभाववाले निर्वेद का शान्त में अथवा विद्यमान भी व्यभिचारी का दूसरे व्यभिचारी की अपेक्षा स्थायित्व ही ( होता है ) जैसे विक्रमोर्वशीय में चौथे अङ्क मे उन्माद का इस इतने अर्थ का बोध कराने के लिये यह श्लोक है। बहुत से चित्तवृत्ति रूप भावों के मध्य में जिसका जैसा अधिक रूप उपलब्ध होता है वह स्थायी भाव होता है और वह रस अर्थात् आस्वादन के योग्य होता है। शेष तो सञ्चारी होते हैं यह व्याख्या करते है; रसों का स्थायी और सञ्चारी भाव के द्वारा अंगांगी भाव नहीं कहा गया है' यह। अतएव दूसरे लोग रसस्थायी इसमें षष्ठी सप्तमी अथवा द्वितीया के द्वारा' द्वितीयाश्रितातीत····' इत्यादि में 'गम्यादिकों का····' इससे समास हो जाता है यह पढते हैं। वह कहते हैं—'मतान्तर में भी' यह अर्थात् 'प्रस्तुत रस का रसान्तर में समावेश····' इत्यादि प्राक्तन कारिका में निविष्ट रस शब्द के द्वारा॥ २४॥

## तारावती

परिपोष को प्राप्त होकर स्थायी रस का रूप धारण कर लेती है और प्रासंगिक इतिवृत्त से सम्बद्ध चित्तवृत्ति व्यभिचारी रस का रूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार आस्वादन के अवसर पर स्थायीभाव का सञ्चारियों से कोई विरोध नहीं होता अपितु सञ्चारियों से स्थायी की पुष्टि ही होती है उसी प्रकार स्थायी रस की पुष्टि सञ्चारी रसों से हो जाती है। आचार्य भागुरि ने भी प्रश्न उठाया है कि क्या रसों में स्थायी और सञ्चारी की व्यवस्था होती है? इसका उत्तर उन्होंने स्वीकृतिपरक दिया है तथा कहा है कि रसों मे यह अवश्य मानना पड़ता है कि कुछ रस स्थायी होते हैं और कुछ सञ्चारी।

तारावती

'बहूनां समवेतानां·····सञ्चारिणो मताः' इस श्लोक की एक व्याख्या ऊपर दी गई है। दूसरे लोग उस व्याख्या को नहीं मानते। वे कहते हैं कि इस पद्य में यह सिद्धान्त माना गया है कि एक स्थान पर जो रस स्थायी के रूप में स्वीकृत किया जाता है वही अन्यत्र व्यभिचारी हो जाता है। भरत मुनि ने भावों की संख्या कुल ४९ बतलाई है। उनमें केवल ८ स्थायीभाव बतलाये गये हैं। वस्तुतः वे ८ स्थायीभाव सर्वदा स्थायी ही रहें ऐसा नहीं होता। जो भाव एक स्थान पर स्थायी होता है वही अन्यत्र व्यभिचारी भी हो सकता है और जो एक स्थान पर व्यभिचारी होता है वह दूसरे रस मे स्थायी हो सकता है। उदाहरण के लिये वीर रस में क्रोध व्यभिचारी के रूप में आता है और वही रौद्र रस में स्थायी बन जाता है। निर्वेद को सञ्चारियों में गिनाया गया है। यह भाव अनेक रसों में सञ्चारी होता भी है। किन्तु यही भाव उस समय स्थायी बन जाता है जब तत्त्वज्ञान को विभाव बनाकर शान्त रस की निष्पत्ति की जाती है। यह तो हुई प्रसिद्ध रसों की बात। जो भाव शास्त्रीय ग्रन्थों मे स्थायी की श्रेणी में नहीं रक्खे गये हैं केवल सञ्चारी ही होते हैं वे भी जब इतिवृत्त में व्यापक रूप धारण कर लेते हैं तब वे स्थायी भाव ही हो जाते हैं चाहे वे शास्त्रीय ग्रन्थों मे स्थायी के रूप में परिगणित न भी किये गये हों। उदाहरण के लिये विक्रमोर्वशीय के चौथे अङ्क में जब कि रुष्ट होकर उर्वशी ललनाओं के निषिद्ध उपवन में प्रविष्ट होकर शाप के अनुसार लता बन जाती है तब उसके वियोग में पीड़ित पुरूरवा उन्मत्त हो उठते हैं और कभी नदी को कभी मेघों को अपनी प्रेयसी के रूप में देखने लगते हैं। यह उन्माद इतना तीव्र हो गया है कि सामान्य सञ्चारी न रहकर स्थायी बन गया है। इस प्रकार सामान्य सञ्चारी भी बहुप्रबन्धव्यापी बनकर स्थायी बन जाते हैं। इसी अर्थ को कहने के लिये यह कारिका 'बहूनां समवेतानां····सञ्चारिणो मताः' लिखी गई है। इस प्रकार इस कारिका का अर्थ यह होगा—'जहाँ बहुत से समवेत हों' का अर्थ है जहाँ बहुत सी चित्तवृत्तियाँ जिनका पारिभाषिक शब्द है 'भाव' एक साथ मिली हुई हों उन चित्तवृत्तियों में जिस चित्तवृत्ति का स्वरूप अन्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक और विस्तृत हो उसे स्थायी भाव कहते है। वही रस होता है अर्थात् रसन या आस्वादन की योग्यता उसी में होती है। शेष सञ्चारी होते हैं। आशय यह है कि इस भावाध्याय की कारिका में रसों का एक दूसरे के प्रति स्थायित्व और सञ्चारित्व नहीं बतलाया गया है अपि तु यह बतलाया गया है कि भावों में कौन स्थायी होता है और कौन सञ्चारी।

(भावाध्याय की प्रस्तुत कारिका 'बहूनां·····मताः' मे यह स्पष्ट नहीं है कि यह कारिका रसों की परस्पर स्थायिता और सञ्चारिता का प्रतिपादन करती है या

तारावती

भावों में कौन सा भाव स्थायी होता है यह बतलाती है। कारिका की प्रथम पंक्ति में न रस शब्द का उपादान किया गया है और न स्थायी का। किन्तु द्वितीय पंक्ति में 'स रसस्थायी' यह आया है। 'रसस्थायी' शब्द का सन्धि विच्छेद दो प्रकार से किया जा सकता है (१) 'रसः + स्थायी' इसमे 'खर्परे शरि' इससे विसर्गों का लोप हो जाता है। (२) 'रस स्थायी' दोनों शब्दों में समास मानकर मध्यवर्तिनी विभक्ति का लोप हो गया है। यदि पहले सन्धिविच्छेद को मानकर 'रसः' और 'स्थायी' ये दो स्वतन्त्र शब्द माने जायें तो इनकी योजना दो प्रकार से हो सकती है—'जहाँ कई एक मिले हुये हों वहाँ जिसका रूप अधिक हो वह रस (स रसः) स्थायी होता है और शेष सञ्चारी होते हैं। यह योजना उन लोगों के मत में है जो रसों का परस्पर उपकार्योपकारक भाव मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि रसों मे भी कोई स्थायी और कोई सञ्चारी हुआ करते हैं। दूसरे प्रकार की योजना यह होगी—'कई एक समवेत (भावों) में जिसका रूप अधिक होता है वह भाव स्थायी होता है (सः स्थायी) और वही रस बनता है, अन्य भाव सञ्चारी होते हैं।' यह योजना उन लोगों के मत मे है जो यह मानते हैं कि रस अखण्ड चर्वणात्मक होता है उसमें परस्पर उपकार्योपकारक भाव नहीं होता।)

जो लोग 'रसस्थायी' में रस शब्द को स्वतन्त्र न मानकर समासगर्भित मानते हैं उनके मत में तीन प्रकार की व्युत्पत्ति हो सकती है (१) 'रस का स्थायी' यहाँ षष्ठी समास है। (२) 'रस में स्थायी' यहाँ 'सप्तमी' इस योग विभाग से समास किया गया है और (३) 'रसं स्थायी'—'रस के प्रति स्थायी' यहाँ द्वितीया-तत्पुरुष 'आश्रितादिषु गमिगम्यादीनामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से हो जाता है। इन तीनों मतों में रस का स्थायी कहकर रस शब्द से स्थायी भाव के ग्रहण की ओर संकेत किया गया है। अतएव 'रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः' इस कारिका में जो रस शब्द आया है उसकी व्याख्या ये लोग यह कहकर करते हैं कि यहाँ पर रस शब्द का अर्थ है स्थायी भाव। इस प्रकार इस मत मे विरोधी रसों के समावेश का अर्थ है विरोधी स्थायी भावों का परस्पर समावेश। स्थायीभावों के परस्पर उपकार्योपकारक भाव में कोई विरोध आता ही नहीं। अतः इस मत मे कोई अनुपपत्ति है ही नहीं। इस प्रकार यहाँ ये तीन मत हैं। (आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त प्रथम मत से सहमत प्रतीत होते हैं क्योंकि एक तो इन्होंने प्रथम मत का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है और उसी के आधार पर अपने निष्कर्ष भी निकाले हैं, दूसरी बात यह है कि 'मतान्तरे तु' तथा अभिनवगुप्त ने 'अन्ये तु' में 'तु' शब्द के द्वारा उक्त मतों से अपनी अरुचि प्रकट की है। अतः इन आचार्यों के मत का सार यह है कि स्वतन्त्र रसों का स्वतः परिपोष तो होता ही है किन्तु वे रस किसी प्रबन्ध में दूसरे रस का अङ्ग भी हो सकते हैं)॥ २४॥

ध्वन्यालोकः

एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते—

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
सविभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥२५॥

(अनु०) इस प्रकार अविरोधियों और विरोधियों का प्रबन्धस्थ अङ्गी रस के साथ समावेश करने में साधारण अविरोध का उपाय प्रतिपादित कर विरोधी के विषय में ही उसको प्रतिपादित करने के लिये यह कहा जा रहा है—

'जो एक आश्रय मे विरोध रखनेवाला स्थायी का विरोधी हो वह विभिन्न आश्रयवाला बना दिया जाना चाहिये उसके परिपोष में भी दोष नहीं होता' ॥२५॥

लोचन

अथ साधारणं प्रकारमुपसंहरन्नसाधारणमासूत्रयति—एवमिति। तमित्यविरोधोपायम्। विरुद्धेति विशेषणं हेतुगर्भम्। यस्तु स्थायी स्थाय्यन्तरेणासंभाव्यमानैकाश्रयत्वाविरोधी भवेद्यथोत्साहेन भयं स विभिन्नाश्रयत्वेन नायकविपक्षादिगामित्वेन कार्यः। तस्येति। तस्य विरोधिनोऽपि तथाकृतस्य तथानिबद्धस्य परिपुष्टतायाः प्रत्युत निर्दोषता नायकोत्कर्षाधानात्। अपिशब्दो भिन्नक्रमः। एवमेव वृत्तावपि व्याख्यानात्।

अब साधारण प्रकार का उपसंहार करते हुये असाधारण को सूत्रबद्ध कररहे हैं—'इस प्रकार' इत्यादि। 'उसको' अर्थात् अविरोधोपाय को। विरुद्ध यह हेतुगर्भित विशेषण है। जो स्थायी दूसरे स्थायी के साथ एकाश्रय के असम्भावित होने के कारण विरोधी हो जैसे उत्साह से भय उसे विपक्षाश्रयत्व के रूप में नायक के विपक्षादिगत रूप मे करदेना चाहिये। 'उसके' तथाकृत अर्थात् उस प्रकार निबद्ध उस विरोधी की परिपुष्टता की भी प्रस्तुत निर्दोषता ही होती है क्योंकि उससे नायक के उत्कर्ष का आधान होता है। आशय यह है कि अपरिपोषण तो दोष ही होता है। 'अपि' शब्द भिन्नक्रमवाला है। ऐसी ही वृत्ति मे भी व्याख्या की गई है।

तारावती

२४ वीं कारिका में यह सिद्ध किया गया है कि अङ्गी रस के साथ अन्य रसों का समावेश होता है तथा यह भी दिखलाया गया है कि एक रस में दूसरे के समावेश के प्रकार कौन से हैं। वहाँ जो प्रकार बतलाये गये हैं वे सामान्य प्रकार हैं और विरोधियों तथा अविरोधियों के अङ्गी रस में सन्निविष्ट होने की साधारण व्याख्या करते हैं। अब इस पच्चीसवीं कारिका मे यह दिखलाया जा रहा है कि

तारावती

विरोधी रस के अंगी में सन्निविष्ट होने के विशिष्ट नियम क्या हैं ? यह कहने की आवश्यकता इसलिये पड़ जाती है कि अवरोधी रसों का किसी रस में सन्निविष्ट होना एक साधारण बात है, किन्तु विरोधी के विषय में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि उसका विरोध परिहार किस प्रकार होता है और वह अंगी का अंग किस प्रकार बनता है ?

सामान्यतया विरोध दो प्रकार का हो सकता है एक तो दो रसों का एक ही अधिकरण मे रहने पर विरोध हो, दूसरे एक के तत्काल बाद दूसरे के आ जाने पर विरोध होना । ( एक ही अधिकरण मे विरोध दो प्रकार का होता है—एक ही आलम्बन के प्रति दो विरुद्ध रसों का होना और एक ही आश्रय में दो विरुद्ध रसों का होना । जैसे प्रेम और उत्साह दोनों का एक ही आलम्बन नहीं हो सकता। यह सम्भव नहीं कि जिसके प्रति रति हो उसी को विजय करने की आकांक्षा भी विद्यमान हो । इसी प्रकार उत्साह और भय दोनों का आश्रय एक नहीं हो सकता। यह सम्भव नहीं कि जो व्यक्ति शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये उत्साहित भी हो और शत्रु से डरे भी । ) प्रस्तुत कारिका प्रथम प्रकार के विरोध के निराकरण का प्रकार बतलाती है अर्थात् इसमे यह बतलाया गया है कि एक ही अधिकरण में विरोध होने पर उसका परिहार किसप्रकार करना चाहिये—

'जो रस एक आश्रय में होने के कारण एक दूसरे के विरोधी हों उनमें स्थायी रस को तो उसी रूप में रहने देना चाहिये किन्तु उसके विरोधी रस के आश्रय को बदल देना चाहिये । आश्रय के बदल देने पर यदि विरोधी रस का परिपोष भी कर दिया जाए तो भी कोई दोष नहीं होता ॥" २५ ॥

आशय यह है कि एक रस के स्थायी भाव का यदि दूसरे रस के स्थायी भाव के साथ एक आश्रय मे रहना किसी प्रकार भी सम्भव न हो और इस कारण उन दोनों रसों मे परस्पर विरोध हो जैसे भय और उत्साह एक ही व्यक्ति मे रह ही नहीं सकते इसीलिये दोनों परस्पर विरोधी हैं ऐसी परिस्थिति मे उनके आश्रय को बदल देना चाहिये । मान लो यदि कथानायक मे वीर रस का परिपोष हुआ है तो उसके शत्रु में भय दिखला दिया जाना चाहिये । ऐसी दशा में यदि भय का परिपोष भी कर दिया जाता है तो शत्रु का भय नायक के उत्साह का पोषक ही होता है और नायक मे उत्साह के आधान करने के कारण उसमें दोष तो नहीं होता अपि तु गुण हो जाता है । इसके प्रतिकूल उसका पुष्ट न करना ही दोष होता है ।

कारिका में अपि' शब्द 'पोषे' के साथ आया है 'तस्य पोषेऽप्यदोषता' । किन्तु इस अपि शब्द का क्रम बदलकर 'तस्य' के साथ लगाना चाहिये—'तस्यापि

ध्वन्यालोकः

ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी। तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः। तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादि सम्पत्सुतरामुद्योतिता भवति। एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम् ॥२५॥

(अनु०) दो प्रकार का विरोधी होता है ऐकाधिकरण्य विरोधी और नैरन्तर्य विरोधी। उसमे प्रबन्धस्थ स्थायी अङ्गीरस के साथ औचित्य की दृष्टि से विरुद्ध एक आश्रयवाला जो विरोधी, जैसे वीर से भयानक, वह विभिन्न आश्रयवाला किया जाना चाहिये। उस वीर का जो आश्रय कथानायक उसके विपक्ष के विषय में सन्निविष्ट किया जाना चाहिये। ऐसा होने पर उस विरोधी का भी जो परिपोष वह निर्दोष होता है। विपक्ष के विषय में भय के अतिशय वर्णन करने में नायक की नय पराक्रम इत्यादि की सम्पत्ति बहुत अधिक प्रकाशित हो जाती है। यह मेरे अर्जुनचरित मे अर्जुन के पाताल अवतरण के प्रसङ्ग मे विशदतापूर्वक दिखलाया गया है ॥२५॥

लोचन

ऐकाधिकरण्यमेकाश्रयेण सम्बन्धमात्रम्, तेन विरोधी यथा—भयेनोत्साहः; एकाश्रयत्वेऽपि सम्भवति कश्चिन्निरन्तरत्वेन निर्व्यवधानेन विरोधी यथा रत्या निर्वेदः। प्रदर्शितमिति। 'समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनो महानुपप्लवोऽभवत्पुरे पुरन्दरद्विषाम्' इत्यादिना ॥ २५ ॥

ऐकाधिकरण्य अर्थात् एक आश्रय से सम्बन्धमात्र। उससे विरोधी जैसे—भय से उत्साह। एकाश्रयत्व के सम्भव होते हुये भी कोई निरन्तरत्व के द्वारा अर्थात् व्यवधानराहित्य के द्वारा विरोधी (होता है) जैसे रति से निर्वेद। दिखलाया गया है'। यह अर्जुन की भया वह धनुर्ध्वनि के उठने पर इन्द्र शत्रुओं के नगर में महान् उपद्रव उठ खड़ा हुआ।' इत्यादि के द्वारा ॥ २५ ॥

तारावती

पोषे'। अर्थात् उस विरोधी के भी परिपोष मे। वृत्तिकार ने यही व्याख्या की है। (किन्तु इसकी कारिका के ठीक क्रम में योजना अधिक संगत प्रतीत होती है। इसका आशय यह हो जाता है कि 'यदि विरोधी को पुष्ट भी कर दिया जाए तो भी दोष नहीं होता।' यही अर्थ अधिक संगत है।)

ध्वन्यालोकः

एवमेकाधिकण्यविरोधिनः प्रबन्धस्थेन स्थायिना रसेनाङ्गभावगमने निर्विरोधित्वं यथा तथा दर्शितम्। द्वितीयस्य तु तत्प्रतिपादयितुमुच्यते—

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा ॥२६॥

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधी नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्धे निवेशयितव्यः। यथा शान्तशृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ।

(अनु०) इस प्रकार प्रबन्धस्थ स्थायी रस के साथ एकाधिकरण्य विरोधी (रस) के अङ्गभाव को प्राप्त होने में जिस प्रकार निर्विरोधित्व होता है वह दिखला दिया गया। दूसरे का तो निर्विरोधित्व प्रतिपादन करने के लिये कहा जा रहा है—

'एकाश्रयत्व मे निर्दोष और नैरन्तर्य मे विरोधवाला रस बुद्धिमान् के द्वारा अन्य रस के व्यवधान के साथ व्यक्त किया जाना चाहिये ॥२६॥

फिर जो एकाधिकरणत्व मे निर्विरोध और नैरन्तर्य मे जो विरोधी हो वह रसान्तर के व्यवधान के साथ प्रबन्ध निविष्ट किया जाना चाहिये। जैसे शान्त और शृङ्गार नागानन्द मे निविष्ट किये गये हैं।

तारावती

ऐकाधिकरण्य का अर्थ है एक आश्रय से सम्बन्ध होना। भय और उत्साह का एक आश्रय मे सहभाव दूषित होता है। किन्तु उनके आश्रय को बदल देने से उनका विरोध जाता रहता है। उदाहरण के लिए आनन्दवर्धन के लिखे हुये अर्जुनचरित में अर्जुन पातालविजय के लिये जाते हैं। वहाँ पर कहा गया है कि 'जब किरीटधारी अर्जुन के धनुष की ध्वनि भयानक रूप में उठने लगी तब इन्द्र के शत्रुओं के नगर में बहुत बड़ा कोलाहल मच गया।' इस प्रसंग में अर्जुन का वीर रस दिखलाया गया है और शत्रुओं का भय दिखलाया गया है। इस प्रकार एक आश्रय में जिन रसों का मिल सकना असम्भव हो उनको विभिन्न आश्रयों में रख देने से काम चल जाता है। वहाँ दोष का ही निराकरण नहीं हो जाता अपितु कभी-कभी प्रकृत रस का परिपोष भी हो जाता है॥ २५॥

२५ वीं कारिका में ऐसे रसों के विरोध परिहार का उपाय बतलाया गया है जिनका एक आश्रय में मिल सकना असम्भव हो। अब दूसरे प्रकार का विरोध लीजिये—कतिपय रस ऐसे होते हैं जिनका एक आश्रय में रहना तो विरुद्ध नहीं होता किन्तु एक के तत्काल बाद दूसरे रस के आ जाने में विरोध होता है। जैसे रति और वैराग्य का विरोध। ये दोनों भाव किसी व्यक्ति में एक साथ नहीं रह सकते। किन्तु कालान्तर में तो एक के बाद दूसरा भाव आया ही करता है। इस

## लोचन

द्वितीयस्येति। नैरन्तर्यविरोधिनः। तदिति। निर्विरोधित्वम्। एकाश्रयत्वेन निमित्तेन यो निर्दोषः न विरोधी किन्तु निरन्तरत्वेन निमित्तेन विरोधमेति स तथाविधविरुद्धरसद्वयाविरुद्धेन रसान्तरेण मध्ये निवेशितेन युक्तः कार्य इति कारिकार्थः। प्रबन्ध इति बाहुल्यापेक्षं, मुक्तकेऽपि कदाचिदेवं भवेदपि। यदक्ष्यति—'एकवाक्यस्थयोरपि' इति।

'द्वितीय का' अर्थात् नैरन्तर्यविरोधी का। 'वह' अर्थात् निर्विरोधित्व। एकाश्रयत्व निमित्त से जो निर्दोष अर्थात् विरोधी नहीं किन्तु निरन्तरत्व निमित्त से विरोध को प्राप्त होता है उसको उस प्रकार के दोनों विरोधी रसों के अविरुद्ध तथा मध्य में निवेशित किये हुये अन्य रस से युक्त कर दिया जाना चाहिये यह कारिका का अर्थ है। 'प्रबन्ध में' यह बाहुल्य की अपेक्षा से कहा गया है। मुक्तक में भी कभी ऐसा हो भी जाए। जैसा कि कहेंगे—'एक वाक्य में स्थित भी दो का''''' इत्यादि।

## तारावती

प्रकार इन रसों का एक साथ वर्णन करना ही विरुद्ध है क्योंकि वैराग्य रति से उपहत हो जाता है और रति वैराग्य से। एक के बाद दूसरे रस पर एकदम आ जाने से पाठक की मनोवृत्ति उसके आस्वादन के लिए सन्नद्ध नहीं रहती। ऐसे अवसरों पर क्या करना चाहिये यह इस २६ वीं कारिका में बतलाया गया है—

'जिन रसों का एक आश्रय में होना तो दूषित नहीं होता किन्तु उनकी निरन्तरता विरोध उत्पन्न करनेवाली होती है—बुद्धिमान् कवि को चाहिए कि ऐसे रसों की व्यञ्जना किसी अन्य रस को बीच रख कर करें ॥२६॥

आशय यह है कि जिन रसों के विरोध का निमित्त ही उनका एक साथ आना है उन रसों का विरोध तभी दूर होता है जब उन दोनों के बीच में कोई ऐसा तीसरा रस रख दिया जाए जो दोनों का विरोधी न हो और दो दो से मेल खा सके। यह बात अधिकतर प्रबन्ध काव्यों में ही होती है क्योंकि प्रबन्ध काव्यों में ही इतना अवकाश होता है कि अनेक रसों का परिपोष हो सके। किन्तु मुक्तक में यह बात बिल्कुल सम्भव न हो ऐसी बात नहीं है। अग्रिम कारिका में यही दिखलाया जायगा कि एक वाक्य में भी दो रसों के मध्य में तीसरा रख देने से उनका विरोध जाता रहता है।

यहाँ पर उदाहरण के रूप में नागानन्द में शान्त और शृङ्गार का अद्भुत को मध्य में रखकर मिलना बतलाया गया है। अभिनवगुप्त ने नागानन्द की प्रायः सम्पूर्ण कथा पर प्रकाश डाला है। अतः यहाँ पर नागानन्द का कथानक समझ लेना आवश्यक है। नागानन्द की वस्तु बौद्ध साहित्य से सम्बद्ध है और बृहत्कथा

से ली गई है । विद्याधरों का युवराज जीमूतवाहन स्वभावतः उदासीन है और अपने पिता जी का राज्य इत्यादि सभी कुछ छोड़ देता है तथा अपने घर के कल्पवृक्ष को भी दानकर माता-पिता की सेवा को ही परम कर्तव्य मानकर माता-पिता की सेवा को ही परम कर्तव्य मानकर माता-पिता के साथ तपोवन को जाता है । विदूषक के साथ जब वह मलय पर्वत पर किसी निवासोपयोगी स्थान की खोज मे जाता है तब उसे वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य आकर्षित कर लेता है । वहीं वह गीतध्वनि सुनता है और सङ्गीत की शास्त्रीय विशेषताओं पर ऐसा मुग्ध हो जाता है कि उस सङ्गीत का अनुसरण करते हुये देवमन्दिर की ओर जाता है जहाँ मलयवती अपनी चेटी के साथ भगवती गौरी की प्रार्थना में गाना गा रही है । मलयवती का रूप और भी आकर्षक है और जीमूतवाहन उसपर एकदम रीझ जाता है । चेटी के साथ वार्तालाप में यह प्रकट हो जाता है कि मलयवती एक कन्या है । अतः कन्याओं को देखना बुरा नहीं होता यह समझकर जीमूतवाहन को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है । मलयवती अपनी चेटी से अपने स्वप्न की कथा कहती है कि गौरी ने उन्हें स्वप्न में विद्याधर चक्रवर्ती को पति के रूप मे प्रदान किया है । इस पर जीमूतवाहन और विदूषक मलयवती के सामने आ जाते हैं और दोनों का परस्पर अनुराग व्यक्त हो जाता है । इसी समय मलयवती को एक तापस घर को बुला ले जाता है । दोनों एक दूसरे के वियोग में दुःखी हैं । संयोगवश जिस समय चेटी के साथ मलयवती प्रच्छन्नरूप मे सुन रही होती है उस समय जीमूतवाहन विदूषक से अपने प्रेम का वर्णन करते हैं और स्मृति से अपनी प्रेमिका का चित्र बनाते हैं । मलयवती निश्चय नहीं कर पाती कि यह प्रेमिका स्वयं वही है या कोई और । इसी समय मित्रावसु आकर अपनी बहन मलयवती के विवाह का प्रस्ताव जीमूतवाहन से करते हैं । जीमूतवाहन को यह पता नहीं है कि उनका प्रेम वस्तुतः मलयवती से ही है । अतः जीमूतवाहन अपने अन्य प्रेम की बात कहकर मलयवती के प्रेम को ठुकरा देते हैं और विदूषक के निर्देश पर मित्रावसु जीमूतवाहन के माता-पिता से जीमूतवाहन के विवाह की अभ्यर्थना करने चले जाते हैं । मलयवती निराश होकर फाँसी लगाकर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाती है । तब चेटी के चिल्लाने पर जीमूतवाहन उसे छुड़ाने जाते है जहाँ दोनों का परिचय होता है और राजा अपने प्रेम का प्रमाण अपने बनाये हुये चित्र के द्वारा देते हैं । फिर गुरुजनों की अनुमति से दोनों का विवाह हो जाता है । यहाँ पर दोनों के शृङ्गार का विस्तार किया गया है । विदूषक को वहाँ की स्त्रियाँ उपहास के रूप में कई सुगन्धित रंगों से रग

## तारावती

देती हैं। सुगन्धि की ओर आकृष्ट होकर भौंरे विदूषक की ओर आने लगते हैं। तब विदूषक भागने के लिये स्त्रियों के वस्त्र पहनकर और घूँघट काढ़कर चलता है। शंखरक और दास शराब के नशे में चूर होकर विदूषक को अपनी प्रेयसी समझ कर शृङ्गार चेष्टायें करते हैं जब कि विट की प्रेयसी आकर दोनों को खूब बनाती है। यहाँ हास्य का पुट मिल जता है।

जिस समय जीमूतवाहन मलयवती के प्रेम में मस्त हैं उसी समय मित्रावसु आ जाते हैं और मलयवती वहाँ से चली जाती है। मित्रावसु सूचना देते हैं कि मतङ्ग ने विद्याधरों का राज्य छीन लिया है और जीमूतवाहन से युद्ध की आज्ञा मागते है। जीमूतवाहन को राज्य छिन जाने की प्रसन्नता ही होती है। 'किन्तु मित्रावसु क्रोध से भरे हुये हैं। अतः जोमूतवाहन समय टाल देते हैं।

जीमूतवाहन समुद्रतट पर घूमने जाते है और वहाँ नागों के कङ्काल देखकर अपना शरीर देकर भी नागों की रक्षा करने का निश्चय कर लेते है। उधर शंखचूड़ अपनी पारी में गरुड़ के भोज्य के रूप मे उपस्थित होता है। जीमूतवाहन सब रहस्य जानकर अपने प्राण देने के लिये उद्यत हो जाता है और जब शंखचूड दक्षिण गोकर्ण की परिक्रमा करने जाता है तब तक जीमूतवाहन अपना शरीर गरुड को अपित कर देते है। गरुड उनको लेकर उड़ जाता है। शंखचूड भी उनका अनुसरण करता है तथा जीमूतवाहन के माता-पिता उनकी पत्नी मलयवती भी उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ गरुड़ जीमूतवाहन को लिये उपस्थित हैं। किन्तु जीमूतवाहन अन्त समय मे स्वजनों से मिलकर दिवङ्गत हो जाते हैं। गरुड़ पश्चात्ताप से आक्रान्त होकर प्रत्युज्जीवन के लिये अमृत लेने चले जाते हैं उसी समय गौरी आकर अपने कमण्डल के जल से जीमूतवाहन को जीवित कर देती हैं। उधर गरुड़ अमृत वर्षा के द्वारा अस्थिशेष नागों को जिला देते हैं और फिर कभी नागवंश का संहार न करने का व्रत लेते है।

इस नाटक मे निम्नलिखित रसों का उपादान किया गया है :—

१—सर्वस्वदान कर पितृचरण सेवा मे तत्परता और परार्थ जीवन का उत्सर्ग इसमें जीमूतवाहन के शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है।

२—मलयवती की संगीतपटुता में अद्भुत रस निष्पन्न होता है।

३—जीमूतवाहन और मलयवती की प्रणयलीला में शृंगार रस है।

४—शेखरक के वृत्तान्त मे हास्य रस है।

५—मित्रावसु द्वारा युद्ध की प्रेरणा में वीर रस है। जिसमे क्रोध सञ्चारी के रूप में सन्निहित है।

## लोचन

यथेति । तत्र हि 'रागस्यास्पदमित्यवैमि नहि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः' इत्यादिनोपक्षेपात्प्रभृति परार्थशरीरवितरणात्मकनिर्वहणपर्यन्तः शान्तो रसस्तस्य विरुद्धो मलयवतीविषयः शृङ्गारस्तदुभयाविरुद्धमद्भुतमुत्तरीकृत्य क्रमप्रसरसम्भवाभिप्रायेण कविना निबद्धः 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इति । एतदर्थमेव 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' इत्यादि नीरसप्रायमप्यत्र निबद्धमद्भुतरसपरिपोषकतयात्यन्तसरसत्वावहमिति 'निर्दोषदर्शनाः कन्यकाः' इति च क्रमप्रसरो निबद्धः । यथाहुः—'चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः सांख्याः पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनेति । अनन्तरं च निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गागतो यः शेखरकवृत्तान्तोदितहास्यरसोपकृतः शृङ्गारस्तस्य विरुद्धो यो वैराग्यशमपोषको नागीयकलेवरास्थिजालावलोकनादिवृत्तान्तः स मित्रावसोः प्रविष्टस्य मलयवतीनिर्गमनकारिणः 'संसर्पद्भिः समन्तात्' इत्यादिकाव्योपनिबद्धक्रोधव्यभिचार्युपकृतवीररसान्तरितो निवेशितः ।

'जैसे' यह । वहाँ पर निस्सन्देह 'राग का स्थान है यह जानता हूँ, मुझे यह ध्वंस होनेवाला है यह विश्वास न हो ऐसा नहीं' इत्यादि के द्वारा उपक्षेप से लेकर दूसरे के लिये शरीरदान रूप निर्वहण पर्यन्त शान्त रस है; उसके विरुद्ध मलयवती-विषयक शृंगार है उन दोनों के अविरुद्ध मलयवती के अनुराग को मध्य मे रखकर क्रमिक प्रसार की सम्भावना के अभिप्राय से कवि ने निबद्ध किया है—'आश्चर्यजनक गीत, आश्चर्यजनक वाद्य' इसके द्वारा । इसी निमित्त 'व्यञ्जन धातु के द्वारा अभिव्यक्ति' इत्यादि प्रायः नीरस ही निबद्ध किया गया है जो कि अद्भुत रस का परिपोषक होने के कारण अत्यन्त सरसता का सम्पादक है; इस प्रकार 'कन्या में निर्दोष दर्शनवाली होती हैं' इसके द्वारा क्रमप्रसर का निबन्धन किया गया है । जैसाकि कहा गया है—'सांख्य लोग चित्तवृत्ति के प्रसर के विवेचन को ही धन समझते हैं—यह निमित्त-नैमित्तिक के प्रसंग से पुरुषार्थहेतुक होता है ।' इसके बाद निमित्त-नैमित्तिक प्रसंग से आया हुआ जो कि शेखरक वृत्तान्त से अभिव्यक्त हास्यरस से उपकृत होनेवाला शृंगार रस है उसके विरुद्ध जो वैराग्य और शम का पोषक नागों के शरीर के अस्थिजाल के अवलोकन इत्यादि का वृत्तान्त वह मलयवती के निर्गमन करनेवाले प्रविष्ट हुये मित्रावसु के 'चारों ओर विचरणशील विभावों के द्वारा इत्यादि वचनों से उपनिबद्ध क्रोध व्यभिचारी से उपकृत वीररस को मध्य मे करके निविष्ट किया गया है ।

## तारावती

६—माता पिता और मलयवती के विलाप तथा शंखचूड और उसकी माता के संवाद में करुण रस है ।

तारावती

यहाँ अंगी रस शान्तरस है। क्योंकि अङ्गी रस वही होता है जिसका उपक्षेप नाट्यबीज के रूप में किया गया हो तथा जो निर्वहण में विद्यमान हो। उपक्षेप मुखसन्धि का पहला सन्ध्यंग है और इसमें बीज का उपन्यास किया जाता है। इस उपक्षेप में जीमूतवाहन कहते हैं—

'मैं जानता हूँ कि यौवन राग का प्रमुख स्थान है। यह विनश्वर है यह मुझे न मालूम हो ऐसा भी नहीं है। यह कौन नहीं जानता कि यौवन कर्तव्याकर्तव्य-विवेचन में अक्षम होता है। किन्तु यदि मेरा यह निन्दनीय यौवन भी इसी प्रकार माता-पिता की सेवा करते हुये व्यतीत हो जाए तो यह अभीष्ट फल को प्रदान करने-वाला ही होगा।'

यहाँ यौवन की गर्हणा वैराग्यपरक है। इस प्रकार नाट्य का बीज शान्त पर्य-वसायी ही है। निर्वहण में दूसरे के लिए जीवन का उत्सर्ग दिखलाया गया है जो कि वैराग्यपरक ही है। इस प्रकार बीज और फल दोनों वैराग्यपर्यवसायी हैं। अतः शान्तरस अङ्गी है। शान्तरस के बाद जिस रस का सर्वाधिक विस्तार हुआ है वह है शृंगार। यह रस प्रथम तीन अङ्कों मे व्याप्त है। किन्तु शान्त और शृङ्गार दोनों विरोधी रस हैं। अतः शान्त से एकदम शृङ्गार पर जाना एक दोष हो जाता। इसीलिये कवि ने "क्या ही सुन्दर गीत है क्या ही सुन्दर वाद्य है!" कह कर अद्भुत रस को बीच में निबद्ध कर दिया है। इसीलिये 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना—' इत्यादि के द्वारा सङ्गीत की शास्त्रीय विशेषताओं का उल्लेख किया गया है जो न तो प्रासङ्गिक ही है और न सरस ही। किन्तु उसका उपयोग यही है कि बीच में अद्भुत रस की निष्पत्ति कर दी जाए। यह अद्भुत रस न तो शृङ्गार का विरोधी है न शान्त का। अतः बीच में आकर दोनों के जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है जिससे संगीत शास्त्र की नीरस भी शास्त्रीयता सरस हो उठती है। क्रमशः जीमूतवाहन मन्दिर की ओर जाते हैं और यह जानकर कि संगीतपरायणा युवती एक कन्या है उनके हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है कि कन्याओं का देखना अनुचित नहीं होता! इस प्रकार उनकी तीव्र शान्तरसमयी चित्तवृत्ति में पहले आश्चर्य का प्रसार होता है फिर कन्या के सम्मिलन की उत्कण्ठा और उसके बाद शृङ्गार रस। यहाँ इस क्रमिक प्रसार के लिये ही मध्य में अद्भुत रस को लाया गया है।

यहाँ पर चित्त के प्रसार को समझाने के लिये अभिनव गुप्त ने सांख्य शास्त्र के दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है—चित्तवृत्ति का प्रसार और लिङ्गशरीर का अनेक रूप धारण करना। अतः इन दोनों तत्त्वों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है—

## तारावती

सांख्य शास्त्र के अनुसार दो तत्त्व होते हैं पुरुष और प्रकृति। पुरुष चेतन होता है और प्रकृति में क्रियाशीलता। पुरुष मे क्रियाशीलता नहीं होती और प्रकृति मे चेतना नहीं होती। किन्तु जिस प्रकार एक दूसरे के सामने रक्खे हुये दो दर्पणों में एक दूसरे की प्रतिच्छाया संक्रान्त हो जाती है उसीप्रकार पुरुष और प्रकृति की निकटता से एक दूसरे के धर्मों का संक्रमण एक दूसरे मे प्रतीत हो जाता है जिससे पुरुष क्रियाशील और प्रकृति चेतन प्रतीत होने लगती है।

प्रकृति मे तीन गुण होते हैं सत्त्व, रज और तम। सत्त्व का कार्य है प्रकाशित होना, रज का काम है क्रियाशील होना और तम का काम है स्थिरता। प्रारम्भ में तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है और प्रकृति मे तीनों गुण विद्यमान रहते हुये भी पूर्ण क्रियाशील नहीं रहते। उस अवस्था को मूल प्रकृति कहा जाता है। यह किसी से उत्पन्न नहीं होती किन्तु स्वयं अनेक तत्त्वों को जन्म देनेवाली होती है। अतः यह केवल प्रकृति ही कही जाती है। अदृष्ट इत्यादि के प्रभाव से रजोगुण की क्रियाशीलता के कारण सत्त्वगुण प्रकाश में आ जाता है तब उसे महत्तत्व या बुद्धि की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। बुद्धि मे जब रजोगुण का अंश तीव्र हो जाता है तब अहङ्कार या विभाजक तत्त्व का आविर्भाव होता है। इसी क्रम से अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चतन्मात्राओं से स्थूलभूत तथा ११ इन्द्रियों का आविर्भाव होता है। महत् से पञ्चतन्मात्राओं तक समस्त तत्त्व अपने परवर्तियों की प्रकृति हैं और पूर्ववर्तियों की विकृति। ११ इन्द्रियाँ और स्थूल भूत केवल विकृति हैं, प्रकृति किसी भी तत्त्व की नहीं। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति। इस प्रकार साख्याभिमत पदार्थ चार प्रकार के होते हैं। सांख्य के मत मे सत्कार्य-वाद माना जाता है।

बाह्येन्द्रियाँ विषय को ग्रहणकर अन्तःकरण को समर्पित करती है। उन विषयों के प्रभाव से अन्तःकरण की जो परिणामवृत्तियाँ उद्भूत होती है उन सबके समूह को चित्त कहते हैं। अन्तः करण के दो धर्म होते हैं प्रत्यय और संस्कार। प्रख्या और प्रवृत्ति को प्रत्यय कहते हैं और स्थिति को संस्कार। प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति, इन तीनों मे पांच-पांच वृत्तियां होती हैं। प्रख्या की ५ वृत्तियाँ होती हैं—प्रमाण, स्मृति, प्रवृत्ति-विज्ञान, विकल्प और विपर्यय। चित्त की भी प्रवृत्तियाँ ५ प्रकार की होती हैं—संकल्प, कल्पन, कृति, विकल्पन और विपर्यस्त चेष्टा। स्थिति रूप संस्कार के ५ प्रकार है—प्रमाण संस्कार, स्मृति संस्कार, प्रवृत्तिसंस्कार, विकल्प-संस्कार और विपर्याससंस्कार। इस प्रकार चित्तवृत्ति का प्रसार ही प्रमाणादि समस्त तत्त्वों को आवृत कर लेता है ( चित्तप्रवृत्ति के प्रमाणादि रूप मे प्रसार की विस्तृत व्याख्या के लिये देखिये—स्वामी हरिहरानन्द आरण्य कृत साख्यतत्त्वालोक )

तारावती

इसीलिये अभिनव गुप्त ने लिखा है कि सांख्यों का धन चित्तवृत्ति के प्रसार की व्याख्या करना ही है। इसीलिये चित्तवृत्ति का निरोध ही योग माना गया है।

पुरुष की योगप्राप्ति और निर्वाणप्राप्ति के निमित्त प्रकृति सचेष्ट होकर उसके लिये एक लिङ्गशरीर की रचना करती है। इस लिङ्गशरीर में महत् ( बुद्धि ), अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रायें और ११ इन्द्रियाँ ये मिलाकर १८ पदार्थ होते हैं और इसमें ८ भावों की अधिवासना होती है। वे ८ भाव है—धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य। यह लिङ्गशरीर सूक्ष्म होता है और भोग तथा अपवर्ग के लिये पुरुष को आवेष्टित किये रहता है। किन्तु यह लिङ्ग-शरीर तब तक अकिञ्चित्कर होता है जब तक स्थूल भूतों से बने हुये शरीर से इसका संयोग नहीं हो जाता। जिस प्रकार नट अनेक भूमिकायें करने के लिये कभी परशुराम, कभी अजात शत्रु कभी वत्सराज बन जाता है उसीप्रकार यह लिंग-शरीर भी अनेक योनियों मे भटकता फिरता है। स्थूल भौतिक शरीरों के नष्ट हो जाने पर भी इस लिंगशरीर का नाश नहीं होता और यह अपने कर्मों के अनुसार शरीरान्तर में प्रवेश करता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक ज्ञान के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध नहीं हो जाता जो कि अपवर्ग की एक आवश्यक शर्त है। यही सांख्य के सिद्धान्तों का सार है। इस प्रसंग में अभिनव-गुप्त ने सांख्य की निम्नलिखित कारिका उद्धृत की है—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते नित्यम्॥

[ पुरुष के प्रयोजन ( भोग और अपवर्ग ) को निमित्त मानकर बना हुआ यह लिङ्गशरीर निमित्त ( धर्म इत्यादि ) और नैमित्तिक ( भौतिक शरीर ) के प्रसंग से प्रकृति की व्यापकता के कारण नट के समान अनेक रूपों को धारण कर व्यवहार करता है। ]

नागानन्द में उसी क्रमिक चित्तवृत्ति के प्रसार के कारण शान्त से अद्भुत पर होती हुई चित्तवृत्ति शृङ्गार पर आती है फिर निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्ग से ही शेखरक, विदूषक और नवमालिका विषयक हास्यरस उपस्थित होता है। यह हास्य प्रस्तुत शृङ्गार का विरोधी नहीं है, अपि तु शृंगार की भावना की अभिवृद्धि ही करता है। इस हास्यरस से उपकृत होकर नायक-नायिका का शृंगार रस पुष्ट हो जाता है। ( किन्तु वह शृंगार रस है अङ्ग ही, क्योंकि पहले सिद्ध किया जा चुका है कि नागानन्द मे शान्तरस ही अंगी है। नायक का नवीन परिणय इस शान्त की भावना को अधिक महत्त्वपूर्ण बना देता है। ) अब कवि को शृङ्गार से पुनः शान्त पर

ध्वन्यालोकः

शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथाचोक्तम्—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

(अनु०) और तृष्णाक्षय सुख का जो परिपोष उस लक्षणवाला शान्तरस प्रतीत ही होता है। इसीलिये कहा गया है—

'लोक में जो कामना का सुख है जो दिव्य महान् सुख है, ये तृष्णाक्षय सुख की षोडशी कला के भी अधिकारी नहीं।'

तारावती

आना है। एकदम आया नहीं जा सकता क्योंकि दोनों का नैरन्तर्य विरोधी तथा सदोष माना जाता है। इसीलिये कवि ने जिस प्रकार पहले शान्त से शृङ्गार पर आने के लिये बीच में अद्भुत रस को रख दिया था उसी प्रकार शृंगार से पुनः शान्त पर आने के लिये कवि ने बीच में वीर रस को सन्निविष्ट कर दिया है। जब मित्रावसु आते हैं तब मलयवती चली जाती है जिससे शृङ्गार में विराम लग जाता है। मित्रावसु युद्ध का प्रस्ताव करते हुये कहते है—

संसर्पद्भिः समन्तात् कृतसकलवियन्मध्ययानैर्विमानैः
कुर्वाणाः प्रावृषीव स्थगितरविरुचः श्यामतां वासरस्य।
एते याताश्च सद्यस्तवववचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः
सिद्धश्चोद्वृत्तशत्रुक्षणभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यम्॥

[ चारों ओर से विचरणशील तथा समस्त आकाश में गमन करनेवाले विमानों से वर्षा काल के समान सूर्य के प्रकाश को रोककर दिन को काला करते हुये ये सिद्ध तुम्हारे वचनों को प्राप्तकर यहाँ से युद्ध के लिये प्रस्थान करें और तुम्हारा अपना राज्य उद्धत शत्रुओं के क्षणिक भय के दूर हो जाने से नम्र राजाओं-वाला बन जाए। ]

इसके बाद मित्रावसु अकेले ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने का उत्साह दिखलाते हैं। यह उत्साह क्रोध से मिला हुआ है। क्रोध वीररस का सञ्चारी भाव है। इस वीररस को बीच में डालकर कवि अनायास ही शृङ्गार से शान्त पर पहुँच जाता किसी तटस्थ रस को दो विरोधियों के मध्य में डाल देने से विरोध मिट जाता है।

## लोचन

ननु नास्त्येव शान्तो रसः तस्य तु स्थाय्येव नोपदिष्टो मुनिनेत्याशङ्क्याह—शान्तश्चेति। तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषो रस्यमानता कृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः। प्रतीयत एवेति। स्वानुभवेनापि निवृत्तभोजनाद्यशेषविषयेच्छाप्रसरत्वकाले सम्भाव्यत एव।

'निस्सन्देह शान्त तो है ही नहीं; उसका तो स्थायी ही मुनि के द्वारा उपदिष्ट नहीं किया गया है' यह शङ्का करके कहते हैं—'और शान्त'। तृष्णाओं का अर्थात् विषयाभिलाषों का क्षय अर्थात् सभी ओर से निवृत्तिरूप निर्वेद वही सुख; स्थायी-भूत उसका जो आस्वादनीयता से उत्पन्न परिपोष वही जिसका लक्षण (लक्षित करानेवाला) हो वह शान्तरस होता है। 'प्रतीत ही होता है'। भोजन इत्यादि समस्त विषयों की इच्छाओं के प्रसार की निवृत्ति के काल में सम्भावित ही किया जाता है।

## तारावती

(प्रश्न) ऊपर शान्त और शृङ्गार के नैरन्तर्य विरोध का उदाहरण दिया गया है। यह तभी सङ्गत हो सकता है जब दोनों रसों की सत्ता स्वीकार कर ली जाए। शान्त नाम का तो कोई रस ही नहीं है। भरतमुनि ने रसों के प्रसङ्ग मे शान्तरस के स्थायी भाव का उल्लेख ही नहीं किया है। फिर शान्त और शृङ्गार के विरोध का उदाहरण कैसे सङ्गत हो सकता है? (उत्तर) शान्तरस की प्रतीति होती ही है उसका अपलाप किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। जहाँ पर तृष्णाक्षय के सुख का परिपोष हो वहीं पर शान्तरस हुआ करता है। यही शान्तरस का लक्षण है। विषयाभिलाष से चारों ओर से निवृत्त हो जाना ही निर्वेद या वैराग्य कहलाता है। उस निर्वेद में एक अभूतपूर्व आनन्द आया करता है। यह निर्वेद रूप आनन्द ही शान्तरस का स्थायी भाव है। जब उसका परिपोष आस्वाद मे हेतु हो जाता है तभी शान्तरस कहा जाता है। यही शान्तरस का लक्षण है। इसका अनुभव एक साधारण व्यक्ति को भी हुआ करता है। जब मनुष्य की पूर्ण तृप्ति हो जाती है और उसकी भोजन इत्यादि सभी विषयों की ओर से इच्छा जाती रहती है उस समय उसे एक अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ करता है। इसीप्रकार तृष्णाक्षय के सुख मे भी एक अभूतपूर्व आनन्द की प्रतीति होती है। यही आनन्द शान्तरस का स्थायी भाव होता है। यह बात कही भी गई है :—

## लोचन

अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते। तृष्णासद्भावस्य प्रसज्य-प्रतिषेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात्। पर्युदासे त्वस्मत्पक्ष एवायम्।

अन्ये तु—

दूसरे लोग तो सब चित्तवृत्तियों का प्रशम ही इसका स्थायी है यह मानते हैं। क्योंकि सद्भाव के प्रसज्यप्रतिषेध रूप होने पर चित्तवृत्ति के अभाव से भावत्व ही सिद्ध नहीं होता। पर्युदास में तो यह हमारा ही पक्ष है। और लोग तो—

## तारावती

'लोक में कामना से जो सुख प्राप्त होता है और जो स्वर्गीय महान् सुख होता है, वे दोनों प्रकार के सुख तृष्णाक्षय से उत्पन्न होनेवाले सुख का सोलहवाँ भाग भी नहीं होते।'

कतिपय आचार्यों का मत है कि सब प्रकार की चित्तवृत्ति का प्रशम ही शान्त-रस का स्थायी भाव होता है। यहाँ पर मुझे यह पूछना है कि 'चित्तवृत्ति के न होने' में जो 'न' का प्रयोग किया गया है उसका क्या अर्थ है, निषेधवाचक 'न' के दो अर्थ हुआ करते हैं—(१) प्रसज्यप्रतिषेध, यह प्रतिषेध वहाँ पर होता है जहाँ 'न' क्रिया के साथ लगता है, जैसे 'यहाँ पुरुष नहीं है' इस वाक्य में क्रिया के साथ 'न' लगा हुआ है और इसका अर्थ यह हो जाता है कि 'न' यहाँ पुरुष है और न तत्सदृश कोई अन्य।' (२) पर्युदासप्रतिषेध, जहाँ संज्ञा के साथ 'न' जुड़ता है जैसे—यहाँ 'अपुरुष है' इसका अर्थ है कि यहाँ पुरुष नहीं है किन्तु तत्सम कोटि का कोई व्यक्ति विद्यमान है। अब प्रश्न यह है कि चित्तवृत्ति के निषेध में प्रसज्यप्रतिषेध है या पर्युदासप्रतिषेध। यदि आप प्रसज्यप्रतिषेध मानते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप किसी प्रकार की चित्तवृत्ति मानते ही नहीं। इस प्रकार आप तृष्णा की सत्ता का सर्वतोभावेन अभाव मान लेते हैं। ऐसी दशा में अभाव किसी प्रकार के भाव के अन्तर्गत किस प्रकार आ सकता है? अतः अभाव को स्थायीभाव कहना वदतोव्याघात दोष है। यदि आप पर्युदास-प्रतिषेध मानते हैं तो इसका अर्थ होगा कि तृष्णा से भिन्न तत्सदृश किसी अन्य प्रकार की चित्तवृत्ति। ऐसी दशा में मेरा ही पक्ष सिद्ध हो जाता है। क्योंकि हम निर्वेद एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति मानते हैं और तृष्णाक्षय को शान्त का लक्षण स्वीकार करते हैं। पर्युदासप्रतिषेध का यही अर्थ है।

दूसरे लोग कहते हैं कि शान्त एक सामान्य प्रकार की प्राकृत चित्तवृत्ति होती है और रति इत्यादि वैकृत चित्तवृत्तियाँ हैं। यही बात भरतमुनि ने छठे अध्याय के अन्तिम भाग में कही है :—

## लोचन

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तात्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

इति भरतवाक्यं दृष्टवन्तः सर्वरससामान्यस्वभावं शान्तमाचक्षाणा अनुपजात-चित्तवृत्तिविशेषान्तररूपं शान्तस्य स्थायिभावं मन्यन्ते । एतच्च नातीवास्मत्पक्षाद्दूरम् । आगभावप्रध्वंसाभावकृतस्तु विशेषः । युक्तश्च प्रध्वंस एव तृष्णानाम् । यथोक्तम्—'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति ।

'अपने-अपने निमित्त को प्राप्तकर शान्त से भाव प्रवृत्त होता है फिर निमित्त के अपाय मे शान्त में ही प्रलीन हो जाता है ।'

इस भरतवाक्य को देखे हुये सर्वरससामान्य स्वभाववाले शान्त को कहते हुये दूसरी चित्तवृत्ति की विशेषता की अनुत्पत्ति को शान्तरस का स्थायी भाव मानते है । यह हमारे पक्ष से बहुत दूर नहीं है । प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की उत्पन्न की हुई विशेषता तो है। तृष्णाओं का प्रध्वंस ही उचित है। जैसा कहा गया है—'वीतराग का जन्म न देखने से ।' यह ।

## तारावती

'रति इत्यादि विकृत भाव होते हैं और शान्त उनकी प्रकृति होता है । विकार प्रकृति से ही उत्पन्न होता है और प्रकृति मे ही लीन हो जाता है ।'

'अपने अपने कारणों को लेकर शान्त से ही दूसरे भावों का जन्म होता है और जब कारण जाता रहता है तब वह भाव शान्त में ही लीन हो जाता है ।'

इस भरतवाक्य का सहारा लेनेवालों का मत है कि शान्त रस सभी रसों के मूल में रहता है, सभी रसों की शान्तावस्था ही शान्त रस कहलाती है। अत एव शान्त रस का स्थायी भाव वही चित्तवृत्ति होती है जिसमें किसी अन्य प्रकार की चित्तवृत्ति की विशेषता का आविर्भाव न हुआ हो । यह सिद्धान्त भी लगभग वही है जिसे मैं मानता हूँ। विशिष्ट भावनाओं का अभाव ही हम दोनों के मत में शान्तरस का प्रयोजक होता है । अन्तर केवल यह है कि मेरे मत से तृष्णा का प्रध्वंसाभाव ( नष्ट होने के बाद का अभाव ) शान्तरस कहलाता है और इन लोगों के मत से तृष्णा का प्रागभाव ( उत्पत्ति के पहले का अभाव ) शान्तरस कहलाता है । उचित यहा है कि तृष्णा का प्रध्वंसाभाव ही शान्तरस माना जाए । न्याय-सूत्रकार ने तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक मे कहा है कि 'वीतराग का जन्म नहीं देखा जाता ।' वीतराग का यही आशय है कि जिसकी तृष्णा का प्रध्वंस हो गया हो ।

## लोचन

प्रतीयत एवेति। मुनिनाप्यङ्गीक्रियत एव 'क्वचिच्छम' इति वदता। न च तदीया पर्यन्तावस्था वर्णनीया येन सर्वचेष्टोपरमादनुभवाभावेनाप्रतीयमानता स्यात्। शृङ्गारादेरपि फलभूमाववर्णनीयतैव पूर्वभूमौ तु 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' इति सूत्रद्वयनीत्या चित्राकारा यमनियमादि-चेष्टा राजध्रुरोद्वहनादिलक्षणा वा शान्तस्यापि जनकादेर्दृष्टैवेत्यनुभावसद्भावाद्य-मनियमादिमध्यसम्भाव्यमानभूयो व्यभिचारिसद्भावाच्च प्रतीयत एव।

'प्रतीत होता ही है'। 'कहीं शम' यह कहते हुये मुनि के द्वारा भी अंगीकृत किया ही गया है। उसकी पर्यन्तावस्था तो नहीं वर्णनीय है जिससे समस्त चेष्टाओं के उपरम से अनुभव के अभाव से ही अप्रतीयमानता हो। शृंगार इत्यादि भी फलभूमि में अवर्णनीय ही होते हैं पूर्वभूमि में तो '( निरोध ) संस्कार से उसकी प्रशान्तवाहिता होती है; उसके छिद्रों में संस्कारों से दूसरे प्रत्यय होते हैं' इन दो सूत्रों की नीति से विचित्र प्रकार की यम नियम इत्यादि चेष्टा अथवा राज-धुरोद्वहन इत्यादि की चेष्टा शान्तजनक की भी देखी ही गई है। अतः अनुभावों के होने से और यम नियम इत्यादि के मध्य में सम्भावित अनेक व्यभिचारियों के योग से प्रतीत होता ही है।

## तारावती

'शान्तरस की प्रतीति होती ही है' कहने का आशय यह कि विषयों से पूर्ण तृप्ति के बाद उनके परित्याग में उसी प्रकार का आनन्द आता है जिस प्रकार भोजन से तृप्त होने के बाद एक प्रकार के आनन्द का अनुभव हुआ करता है। यह तृप्ति जन्य आह्लाद सर्वजनानुभव सिद्ध है। साथ ही इस प्रतीति का यह भी अर्थ हो सकता है कि भरत मुनि ने भी इसे अङ्गीकार किया है। मुनि ने कहा है कि 'कहीं कहीं भावों का प्रशम भी होता है।' (शान्त रस के पक्ष, विपक्ष, सिद्धान्त पक्ष तथा उसके स्थायीभाव पर अभिनव भारती में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अतः वहीं देखना चाहिये। ) कुछ लोगों का कहना यह है कि शान्त-रस में जब कि चेष्टाओं का उपरम हो जाता है तब न तो उसकी प्रतीति ही होती है और न उसका अभिनय ही सम्भव है। इस विषय में मुझे यह कहना है कि शान्तरस की इतनी पर्यन्तावस्था का वर्णन करना ही नहीं चाहिये जिससे सभी प्रकार की चेष्टाओं का उपरम हो जाए और अनुभावों के अभाव में उसकी प्रतीति ही न हो सके। शान्तरस की ही पर्यन्तावस्था का वर्णन करना निषिद्ध नहीं है अपितु शृङ्गार इत्यादि दूसरे रसों की पर्यन्तावस्था का वर्णन भी निषिद्ध ही है। यदि शृंगार की फलभूमि का वर्णन किया जाए तो सुरत का ही वर्णन होगा जो

तारावती

कि साहित्य में कभी समीचीन नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार रौद्र की पर्यन्तावस्था हत्या है जो कि शास्त्र में निषिद्ध मानी जाती है। पूर्वभूमि में किसी भी रस का वर्णन अनुचित नहीं होता और यही बात शान्तरस के विषय में भी लागू होती है। और शान्तरस में भी पूर्व भूमि में चेष्टायें सर्वथा समाप्त नहीं हो जातीं। इस विषय में योग के दो सूत्रों का उल्लेख असङ्गत न होगा। योगदर्शन के तृतीय पाद का एक सूत्र है—'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इसका आशय यह है—'जब चित्तवृत्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमिकायें समाप्त हो जाती हैं तब व्युत्थान रूप ( सांसारिक ) ज्ञानों का अवसर ही नहीं रहता। उस समय निरोध संस्कार से चित्तवृत्ति का प्रवाह प्रशान्त भाव की ओर चल देता है।' चतुर्थ पाद मे एक दूसरा सूत्र और है—'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।' इसका आशय यह है कि जिस समय जीव समाधि में स्थित हो जाता है उस समय भी बीच बीच में कुछ ऐसे विघ्न स्वरूप अवसर आते रहते हैं जिनमे दूसरे प्रकार के प्रत्ययों का आविर्भाव होता रहता है और उसमें पुराने संस्कार कारण होते हैं। आशय यह है कि समाधि की दशा मे आने से पहले जिन व्युत्थान रूप ज्ञानों का अनुभव किया था उनसे संस्कार बन जाते हैं। वे संस्कार समाधि में आने पर भी पीछा नहीं छोड़ते। बीच बीच मे विघ्न उपस्थित होते रहते है और उन अवसरों पर पुराने संस्कारों के बल पर व्युत्थानात्मक ज्ञानों का उद्रेक होता ही रहता है। यह शान्तरस की पूर्व भूमि का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्त रस की पूर्वावस्था मे भी चेष्टायें होती ही हैं। ( शान्तरस के उत्पन्न हो जाने पर भी विषयों मे अभ्यस्त हमारी मनोवृत्तियाँ उसी प्रकार की भावनाओं का अनुभव करने लगती हैं। केवल उनका विषय बदल जाता है। लौकिक अनुभूति मे भौतिक वस्तुओं के प्रति मन मे ललक रहती है, किन्तु वैराग्य के उत्पन्न हो जाने पर लौकिक वस्तुओं से वैमुख्य उत्पन्न हो जाता है तथा उसके स्थान पर मनोवृत्तियाँ परमात्मतत्त्व की ओर उन्मुख हो जाती है। ) यही बात जनक इत्यादि के अन्दर भी देखी जाती है। उनकी भी समाधि अवस्था मे यम नियम इत्यादि की चेष्टायें और व्युत्थान काल मे राज्य के भार का वहन करना प्रसिद्ध ही है। इस अनुभव के बल पर कहा जा सकता है कि यम नियम इत्यादि के मध्य में बहुत से व्यभिचारियों की सम्भावना की जा सकती है। अतएव शान्तरस की प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता।

( प्रश्न ) हम आपके इस तर्क से तो सहमत हो सकते हैं कि व्युत्थान काल की मनोवृत्तियां प्रशान्त अवस्था मे भी होती है। हम यह भी मान सकते हैं कि उन

ध्वन्यालोकः

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावतासावलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शक्यः।

(अनु०) यदि कहो कि उस (शान्त) की सर्वजनानुभवगोचरता नहीं होती तो इतने से ही अलोकसामान्य महानुभावों की विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का परित्याग किया जा सकता है।

लोचन

ननु न प्रतीयते नास्य विभावाः सन्तीति चेत् न; प्रतीयत एव तावदसौ तस्य च भवितव्यमेव प्राक्तनकुशलपरिपाकपरमेश्वरानुग्रहाध्यात्मरहस्यशास्त्रवीतरागपरिशीलनादिभिर्विभावैरितीयतैव विभावानुभावव्यभिचारिसद्भावः स्थायी च दर्शितः।

ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद्रस्यमानतैव नोपपन्ना। क एवमाह स नास्तीति, यतः प्रतीयत एवेत्युक्तम्।

ननु प्रतीयते सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसत्वाच्च्यवतामिति तदाह–यदि नामेति।

निस्सन्देह नहीं प्रतीत होता है (क्योंकि) इसके विभाव नहीं होते यदि यह कहो तो (ऐसा) नहीं (क्योकि) यह तो प्रतीत ही होता है और उसके पुराने शुभ कर्मों का परिपाक, परमेश्वरानुग्रह, अध्यात्म रहस्य शास्त्र, वीतरागपरिशीलनादि विभावादि होने ही चाहिये। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव की सत्ता और स्थायी दिखलाया गया है। (प्रश्न) निस्सन्देह वहाँ पर हृदय संवाद के अभाव से रस्यमानता ही सिद्ध नहीं होती। (उत्तर) कौन ऐसा कहता है कि वह नहीं होती क्योंकि प्रतीत होती ही है ऐसा कहा जा चुका है।

"निस्सन्देह प्रतीत होता है (किन्तु) सभी की प्रशंसा का स्थान नही होता" तो वीतरागों को शृंगार प्रशंसनीय नहीं होता अत. वह भी रसत्व से च्युत हो जाए, यह कह रहे हैं—'यदि नाम—' इत्यादि।

तारावती

मनोवृत्तियों की संवाहिका चेष्टायें (अनुभाव) भी सम्भव हैं। किन्तु केवल सञ्चारी भाव और अनुभावों से ही रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं होती। उसमे विभाव का भी योग अपेक्षित होता है। यदि कहीं विभाव का उपादान नहीं भी किया जाता है तो भी उसका आक्षेप करके ही रसनिष्पत्ति होती है। किन्तु शान्त के विभाव सम्भव ही नहीं हैं। अतः वहाँ पर रसनिष्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? (उत्तर) शान्त रस की प्रतीति होती है यह तो दिखलाया ही जा चुका। पुराने

ध्वन्यालोकः

न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कारप्रशमैकरूपतया स्थितेः। तयोश्चैवंविधसद्भावेऽपि यद्येकं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः।

(अनु०) वीर में भी उसका अन्तर्भाव करना उचित नहीं है। क्योंकि उसकी व्यवस्था अभिमानमयत्व के रूप में की गई है और इसकी स्थिति अहङ्कारप्रशम की एकरूपता के साथ होती है। उन दोनों की इस प्रकार की विशेषता के होते हुये भी यदि एकता की कल्पना की जाती है तो वीर और रौद्र की भी वही बात होगी।

लोचन

ननु धर्मप्रधानोऽसौ वीर एवेति सम्भावयमान आह—न चेति। तस्येति वीरस्य। अभिमानमयत्वेनेति। उत्साहो ह्यहमेवंविध इत्येवं प्राण इत्यर्थः। अस्य चेति। शान्तस्य। तयोश्चेति। ईहामयत्वनिरीहामयत्वाभ्यामत्यन्तविरुद्धयोरपीति चशब्दार्थः। वीररौद्रयोस्त्वत्यन्तविरोधोऽपि नास्ति। समानं रूपं च धर्मार्थकामार्जनोपयोगित्वम्।

निस्सन्देह धर्मप्रधान वह वीररस ही है यह सम्भावना करते हुये कहते हैं—'और नहीं' यह। उसका अर्थात् वीर का। 'अभिमानमयत्व के द्वारा' यह निस्सन्देह उत्साह का प्राण ही यह है कि मे इस प्रकार का हूँ। 'और इसका' अर्थात् शान्त का 'और उन दोनों का' यह। 'और' शब्द का अर्थ है उन दोनों के इच्छा से युक्तत्व और इच्छारहितत्व के द्वारा अत्यन्त विरोधी होते हुये भी वीर और रौद्र इन दोनों का तो अत्यन्त विरोध भी नहीं है। और समानरूपत्व धर्म, अर्थ और काम के अर्जन की उपयोगिता है।

तारावती

शुभ कर्मों का परिपाक, परमेश्वर का अनुग्रह, अध्यात्म शास्त्र के रहस्य का परिशीलन वीतरागों का संसर्ग इत्यादि उसके विभाव भी होते ही है। इस प्रकार विभाव अनुभाव के संयोग की सम्भावना और स्थायी भाव यह समस्त सामग्री दिखलाई जा चुकी। इस प्रकार शान्त रस की प्रतिष्ठा में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

(प्रश्न) परिशीलकों के हृदय का सन्तुलन और वस्तु से सामञ्जस्य रसास्वादन का मूल है। शान्त रस परिशीलन करनेवालों के हृदय से मेल खाता ही नहीं, अतएव उसका आस्वादन किस प्रकार सङ्गत कहा जा सकता है? (उत्तर) कौन कहता है कि शान्तरस हृदय से मेल नहीं खाता? जब उसका प्रतीत होना सिद्ध हो चुका है तब उसका सहृदयों द्वारा आस्वादन स्वतः उपपन्न हो जाता है।

ध्वन्यालोकः

दयावीरादीनां च चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीररसप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद्विरोधः। तदेवमस्ति शान्तो रसः। तस्य चाविरुद्धरसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम्। यथा प्रदर्शिते विषये ॥२६॥

(अनु०) दयावीर इत्यादि विशेष चित्तवृत्तियों का अहङ्काररहितत्व के कारण शान्तरस का प्रभेदत्व होता है अन्यथा वीररसप्रभेदत्व होता है, यह व्यवस्था किये जाने पर कोई विरोध नहीं होता। तो इस प्रकार शान्तरस है। और उसके अविरुद्ध रस के व्यवधान के द्वारा प्रबन्ध में विरोधीरस के समावेश के होने पर भी निर्विरोधत्व ही होता है। जैसा कि प्रदर्शित विषय मे ॥२६॥

तारावती

(प्रश्न) यह तो मैं मान सकता हूँ कि शान्तरस प्रतीतिगोचर होता है। किन्तु सभी लोगों की प्रशंसा का पात्र नहीं होता और न सभी लोगों के हृदयों से उसका सामञ्जस्य ही होता है। इसीलिये उसकी रसनीयता सन्देहास्पद हो जाती है। (उत्तर) यह कोई तर्क नहीं कि जो रस सभी के लिये हृद्य हो वही रस कहा जाता है। शृङ्गार भी तो वीतराग व्यक्तियों के आस्वादन और आदर का हेतु नहीं होता। तो क्या इसी आधार पर शृंगार भी रसत्व से च्युत हो जायेगा। शान्तरस सभी व्यक्तियों के अनुभवगोचर नहीं होता तो केवल इतने से ही अलोकसामान्य महानुभावों की एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति का खण्डन नहीं किया जा सकता।

(प्रश्न) शान्तरस का धर्मवीर में अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता? (उत्तर) शान्तरस और धर्मवीर इन दोनों प्रकार की चित्तवृत्तियों में स्पष्ट-रूप में अन्तर है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। यह व्यवस्थित ही किया जा चुका है कि उत्साह अभिमानमय होता है। वस्तुतः उत्साह का प्राण ही अपनी महत्ता को स्वीकार करना है। जब तक अपनी शक्ति का अभिमान और शत्रु के अपमान की चेतना नहीं होती उत्साह का जन्म ही नहीं हो सकता। इसके प्रतिकूल शान्तरस में अभिमान का प्रशम ही उसका एकमात्र स्वरूप होता है। इस प्रकार धर्मवीर ईहामय होता है और शान्तरस ईहारहित। इस प्रकार इन मे महान् वैषम्य है; अतः इन दोनों को एक माना ही नहीं जा सकता। यदि कोई व्यक्ति इनके एक मानने का दुराग्रह करता ही चलाजाय तो कहना होगा कि युद्धवीर तथा रौद्र में तो इतना भी अन्तर नहीं है; फिर युद्धवीर और रौद्र को एक मानना तो और भी अधिक युक्तियुक्त नहीं होगा। इनकी समानरूपता का आशय यही है कि धर्म

## लोचन

नन्वेवं दयावीरो धर्मवीरो दानवीरो वा नासौ कश्चित्, शान्तस्यैवेदं नामान्तरकारणम्। तथा हि मुनिः—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसवीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधसम्मितम्॥

इत्यागमपुरस्सरं त्रैविध्यमेवाभ्यधात्। तदाह—दया वीरादीनां चेत्यादि ग्रहणेन। विषयजुगुप्सारूपत्वाद्बीभत्सेऽन्तर्भावः शङ्क्यते। सा त्वस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति, पर्यन्तनिर्वाहे तस्यामूलत एव विच्छेदात्। आधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो न निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकारः। तच्चेहास्माभिर्न पर्यालोचितं प्रसङ्गान्तरात्। मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। न चास्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना॥२६॥

निस्सन्देह इस प्रकार दया-वीर, धर्म-वीर अथवा दान-वीर यह कुछ नहीं है। शान्त का ही यह दूसरा नामकरण है। ऐसा निस्सन्देह मुनि कहते हैं।

'ब्रह्मा जी ने दानवीर, धर्मवीर और उसी प्रकार युद्धवीर इन तीन विधाओं में विभक्त वीररस को कहा है।

इस प्रकार आगम के साथ तीन प्रकार ही कहे हैं। वही कहते हैं—दयावीर इत्यादि का इसमे आदिग्रहण से ( धर्मवीर और दानवीर लेलिये जाते हैं ) विषयों के जुगुप्सारूप होने से बीभत्स मे इसके अन्तर्भाव की शङ्का की जाती है। वह तो इसकी व्यभिचारिणी होती है स्थायिता को प्राप्त नहीं होती। पर्यन्तनिर्वाह में तो उसका मूल से ही विच्छेद हो जाता है। चन्द्रिकाकार ने कहा है कि आधिकारिक रूप मे शान्तरस को निबद्ध नहीं करना चाहिये। हमने यहाँ पर उसकी पर्यालोचना नहीं की क्योंकि वह दूसरा प्रसङ्ग था। और यह मोक्षफलवाला होने से परम पुरुषार्थनिष्ठ होने के कारण सब रसों से सर्वाधिक प्रधान है। इसके पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष का हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने काव्यकौतुक में और हमने उसके विवरण में बहुत अधिक निर्णय किया है, बस इतना कहना पर्याप्त है।

## तारावती

अर्थ और काम के उपार्जन की उपयोगिता का समान होना। इस दृष्टि से युद्धवीर और रौद्र दोनों की उपयोगिता एक जैसी है। धर्मवीर और शान्त में तो इस दृष्टि से भेद भी किया जा सकता है कि धर्मवीर में अभिमान की परिपुष्टि भी उसका उपयोग हो सकती है किन्तु शान्तरस में तो शुद्ध धर्मोपार्जन का ही उपयोग होता है। अतः जिस तर्क के आधार पर युद्धवीर और रौद्र एक नहीं माने जासकते उसी तर्क के आधारपर धर्मवीर और शान्त भी एक नहीं हो सकते।

## तारावती

( प्रश्न ) भरतमुनि ने वीररस के उपभेदों का परिगणन करते हुये लिखा है—'ब्रह्मा जी ने वीररस के तीन भेद बतलाये हैं—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर ।'

इस कारिका में केवल तीन प्रकार का ही वीररस बतलाया गया है और उसमें भी आगम की सम्मति दी गई है कि यह कथन ब्रह्मा जी का है । इन भेदों में दयावीर को सम्मिलित नहीं किया गया है । अतएव या तो दयावीर को ही शान्तरस की संज्ञा प्रदान की जा सकती है अथवा दयावीर धर्मवीर और दानवीर को अलग न मानकर शान्तरस स्वीकार किया जा सकता है और इन तीनों को शान्तरस का ही भेद माना जा सकता है । पृथक् रूप में शान्तरस को मानने की क्या आवश्यकता ? ( उत्तर ) दयावीर इत्यादि शान्तरस का प्रभेद उस समय होते हैं जब उनमें सब प्रकार के अहङ्कार का अभाव हो । यदि उनमें उत्साहके साथ अहङ्कार का भी समावेश किया जाता है तो वे सब वीररस का ही प्रभेद माने जाते हैं । ऐसी व्यवस्था करने में किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती । ( मूल में 'दयावीरादीनांच····' यह पाठ आया है । इस प्रतीक को लेकर अभिनवगुप्त ने लिखा है—'दयावीरादीनाञ्चेत्यादिग्रहणेन ।' इस 'आदि-ग्रहणेन' के बाद विराम लगा दिया गया है । स्पष्ट ही है कि यह वाक्य पूरा नहीं होता । ज्ञात होता है कि यहाँ पर 'दानवीरधर्मवीरयोर्ग्रहणम्' यह छूट गया है । यही मानकर उक्त व्याख्या की गई है और यह मान्यता बालप्रिया इत्यादि टीका-कारों को भी अभिमत है ।)

कुछ लोग शान्तरस का अन्तर्भाव बीभत्सरस में करते हैं । क्योंकि शान्तरस में भी विषयों की ओर से घृणा होती ही है । किन्तु यह मत भी ठीक नहीं । क्योंकि घृणा शान्तरस मे स्थायी भाव नहीं हो सकती अपितु व्यभिचारी भाव ही होती है । जिस समय शान्तरस का पर्यन्त निर्वाह किया जाता है उस समय घृणा का मूल से ही विच्छेद हो जाता है । ( शान्तरस के विषय मे और भी अनेक प्रश्न उठाये जासकते हैं । इसका विस्तृत विवेचन प्रकरणानुकूल अभिनव भारती में किया गया है । वहाँ रति इत्यादि प्रत्येक स्थायी भाव में शान्तरस का अन्तर्भाव क्यों नहीं होता यह दिखलाया गया है ।) इसी से सम्बद्ध मत चन्द्रिकाकार का भी है । उनका मत है कि शान्तरस का उपनिबन्धन आधिकारिक रस के रूप मे नहीं करना चाहिये । किन्तु अभिनव गुप्त का कहना है कि यह इस विषय का प्रकरण नहीं है । अतः यहाँ पर उसका विवेचन नहीं किया जारहा है । इस विषय मे अभिनव गुप्त के उपाध्याय भट्टतौत ने अपने काव्यकौतुक नामक ग्रन्थ में पूर्वपक्ष

ध्वन्यालोकः

एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥२७॥

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धयोर्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद्भ्रान्तिः । यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्त्या नीत्या विरुद्धता निवर्तते । यथा—

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिः वीराः स्वदेहान्पतितानपश्यन् ॥

इत्यादौ । अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी ॥२७॥

(अनु०) इसी को स्थिर करने के लिये यह कहा जा रहा है—

'दूसरे रस से अन्तरित, एक वाक्यस्थ भी दो रसों के समावेश में विरोधी भाव जाता रहता है' ॥२७॥

दूसरे रस से व्यवहित एक प्रबन्धस्थ ( दो रसों ) की विरोधिता निवृत्त हो जाती है इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं है । क्योंकि उक्त नीति से एक वाक्यस्थ भी दो रसों की विरुद्धता निवृत्त हो जाती है । जैसे—

'उस समय पर विमानपर्यङ्कतल में विराजमान वीर लोग जिनकी बाहुओं के मध्यभाग नवीन पारिजात की माला की रज से सुवासित हो रहे थे, जिनकी भुजाओं के आन्तरिक भाग का आलिङ्गन देवताओं की स्त्रियाँ कर रहीं थीं और जिनके ऊपर चन्दन जल से सिंचे हुये सुगन्धित कल्पलता के वस्त्रों से पंखा किया जा रहा था, कौतूहल से आविष्ट होने के कारण समरभूमि में पड़े हुये अपने ऐसे शरीरों को देख रहे थे जोकि पृथ्वी की धूल से सने हुये थे, शृगालियाँ जिनके शरीर का गाढ आलिङ्गन कर रही थीं, मांसाहारी पक्षियों के खून से सने हुये पंखों से जिन पर हवा की जा रही थी और ललनायें अंगुलियों से जिनकी ओर संकेत कर रहीं थीं ।'

इत्यादि में । यहाँ पर निस्सन्देह शृङ्गार और बीभत्स का अथवा उसके अंगों का वीररस के व्यवधान से समावेश विरोधी नहीं है ॥२७॥

## लोचन

स्थिरीकर्तुमिति । शिष्यबुद्धाविति यावत् । अपिशब्देन प्रबन्धविषयतया सिद्धोऽयमर्थ इति दर्शयति—भूरेणुरिति । विशेषणैरतीवदूरापेतत्वमसम्भावनास्पदमुक्तम् । स्वदेहानित्यत्वेन देहत्वाभिमानादेव तादात्म्यसम्भावनानिष्पत्तेरेकाश्रयत्वमस्ति, अन्यथा विभिन्नविषयत्वात्को विरोधः । ननु वीर एवात्र रसो न शृङ्गारो न वीभत्सः किन्तु रतिजुगुप्से हि वीरं प्रति व्यभिचारीभूते । भवत्वेवम्, तथापि प्रकृतोदाहरणता तावदुपपन्ना । तदाह—तदङ्गयोर्वेति । तयोरङ्गे तत्स्थायिभावाविति यावत् । वीररसेति । 'वीराः स्वदेहान्' इत्यादिना तदीयोत्साहाद्यवगत्या कर्तृकर्मणोः समस्तवाक्यार्थानुयायितया प्रतीतिरिति मध्यपाठाभावेऽपि सुतरां वीरस्य व्यवधायकतेतिभावः ॥२७॥

'स्थिर करने के लिये' यह । अर्थात् शिष्यबुद्धि में । अपिशब्द से प्रबन्धविषयता के रूप में यह अर्थ सिद्ध है यह दिखलाते हैं 'भूरेणु ··' इत्यादि। विशेषणों के द्वारा अत्यन्त दूरी होना ( और एकता का ) असम्भावनास्पदत्व कहा गया है । 'अपनी देहों को' इससे देहत्व के अभिमान से ही तादात्म्य की सम्भावना की निष्पत्ति से ही एकाश्रयत्व होता है, नहीं तो विभिन्न विषय होने से क्या विरोध हो ? ( प्रश्न ) निस्सन्देह यह वीररस ही है न शृङ्गार न वीभत्स; किन्तु रति और जुगुप्सा वीर के प्रति व्यभिचारी भाव हो गये हैं । हो ऐसा, तथापि प्रकृत का उदाहरण होना तो सिद्ध ही हो जाता है । वह कहते हैं—'अथवा उसके दोनों अङ्गों का' । उन दोनों के अङ्ग अर्थात् उनके स्थायीभाव । 'वीररस' यह । भाव यह है कि 'वीर अपनी देहों को' इत्यादि के द्वारा उसके उत्साह की प्रतीति से मध्य में पाठ न होने पर भी वीररस की तो व्यवधायकता ( असंदिग्ध रूप में ) विद्यमान है ही ॥

## तारावती

और सिद्धान्तपक्ष का विस्तृत विवेचन किया है । अभिनवगुप्त ने उस ग्रन्थपर विवरण लिखा है जिसमें उन्होंने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है । यहाँ उसके विस्तार करने की आवश्यकता नहीं । संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि शान्तरस का फल मोक्ष होता है जो कि सबसे बड़ा फल है । अतएव इस रस की निष्ठा पुरुषार्थ में भी सबसे अधिक होनी चाहिये । इस प्रकार यह रस सभी अन्य रसों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रधान माना जा सकता है ।

इस प्रकार शान्तरस सिद्ध हो जाता है । यदि उसको अविरोधी रसों के व्यवधान के द्वारा विरोधी रसों के साथ रक्खा जाय तो उनका परस्पर विरोध जाता रहता है ॥ २६ ॥

२६ वीं कारिका में बतलाया गया है कि अविरोधी रस को बीच में रख देने से दो विरोधी रसों का विरोध मिट जाता है । अब शिष्यों की बुद्धि में उसी

तारावती

बातको ठीक रूपमें जमा देने के लिये इस कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि यह सिद्धान्त बहुत ही स्थिरता तथा निश्चय के साथ लागू होता है। कारिका का भाव यह है—

'यदि दो विरोधी रस एक ही वाक्य में स्थित हों तो भी किसी अन्य रसको बीच में रख देने से उनका विरोध जाता रहता है।'

प्रायः देखा जाता है कि यदि दो विरोधी दूर दूर रहें तो न तो उनका विरोध अधिक तीव्र हो पाता है और न वे एक दूसरे को हानि ही पहुँचा सकते हैं। इसके प्रतिकूल जब वे एक दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं तो उनका विरोध भी तीव्र हो जाता है और एक दूसरे को हानि पहुँचाने की उनकी क्षमता भी बढ़ जाती है। प्रबन्ध का कलेवर विशाल होता है। उसमें यदि दो विरोधी बने भी रहें तो भी एक दूसरे को इतनी क्षति नहीं पहुँचा सकते। मुक्तक में केवल एक वाक्य होता है। यदि उसमें दो विरोधी एक साथ आ जाएँ तो वे एक दूसरे के अधिक हानिकर हो सकते हैं। बीच में एक तीसरे रस को रख देना एक ऐसा तत्त्व है जो एक वाक्य में आनेवाले दो रसों के विरोध को मिटा देता है। फिर यदि प्रबन्ध में दो विरोधियों के मध्य में एक तीसरे रस के आ जाने से उनका विरोध जाता रहे तो आश्चर्य ही क्या? एक वाक्य में भी विरोध मिट जाता है यह कहने से प्रबन्ध मे विरोध मिट जाता है यह बात तो स्वतः सिद्ध हो गई। एक वाक्य में विरोधनिवृत्ति का उदाहरण—

'युद्ध भूमि में अपने प्राण देकर वीर लोग देवत्व को प्राप्त हो गये हैं, वे देवशरीर में विमानों पर चढ़कर आकाश में पहुँच गये हैं और वहाँ से कौतूहल के साथ अपने मृत शरीरों को देख रहे हैं जोकि युद्धभूमि में पड़े हुये हैं। उनके शव पृथ्वी की धूल से सने हुये हैं जबकि उनके देवशरीरों में गले में पारिजात की मालायें हैं और उन देवपुष्पों की रज उनके वक्षस्थल को सुवासित बना रही है। उनके शवों में सियारियाँ बुरी भाँति चिपटी हुई हैं जबकि देवशरीरों में उनकी भुजाओं के मध्यभाग का आलिङ्गन देवों की अङ्गनायें कर रही हैं। उनके शवों पर मांसाहारी पक्षी अपने खून से सने हुये पंखों को फड़फड़ा कर हवा कर रहे हैं जबकि उनके देवशरीरों पर कल्पलता के बने हुये रेशमी वस्त्रों से वायु की जा रही है जिन पर चन्दन का जल छिड़का हुआ है और वे वस्त्र सुगन्धित हो गये हैं। उस समय उनके शवों की ओर देवसुन्दरियाँ सङ्केत कर रही हैं कि यह तुम्हारा शरीर पड़ा है और वे उसे कौतूहल तथा उत्कण्ठा से देख रहे हैं।'

## तारावती

यहाँ पर 'वीराः' में कर्ता कारक है और 'स्वदेहान्' में कर्मकारक, सभी पद्यों में प्रथमान्त तो कर्ता के विशेषण हैं और द्वितीयान्त कर्म के। इन विशेषणों से सिद्ध होता है कि दोनों का साम्य बहुत ही दूरवर्ती है और यह विश्वास करना असम्भव हो जाता है कि वस्तुतः दोनों एक ही है। शव के वर्णन मे बीभत्स रस का परिपाक होता है और देवशरीरों के वर्णन मे शृङ्गार रस का, दोनों एक दूसरे के विरोधी रस हैं। इन दोनों विरोधी रसों के मध्य में वीररस का व्यवधान हो जाता है। अतएव यहाँ पर दोनों विरोधी रसों का एक साथ सन्निवेश दूषित नहीं कहा जा सकता। (प्रश्न) यहाँ पर बीभत्स का विभाव है शव और शृङ्गार का विभाव है देवशरीर। इस प्रकार विभावभेद होने के कारण दोनों का विरोध सङ्गत ही नहीं होता। फिर वीररस को बीच में रखने से विरोध-निवृत्ति होती है यह कथन किस प्रकार सङ्गत कहा जासकता है? (उत्तर) यहाँ पर विशेषणों द्वारा यह व्यक्त हो रहा है कि उनकी दोनों दशाओं में इतना पार्थक्य था कि दोनों की एकता ही असम्भव प्रतीत हो रही थी। किन्तु वीर लोग देख रहे थे कि 'ये मेरे शरीर हैं।' इस देहत्वाभिमान से ही उन स्वर्गत वीरों का उन शरीरों के साथ तादात्म्य सिद्ध हो रहा था। अर्थात् वे वीर उन शरीरों को ही अपना स्वरूप समझ रहे थे; इसीलिये उन्हें दोनों दशाओं मे विरोध मालूम पड़ रहा था। अन्यथा शरीरों के पृथक् होने पर विषयभेद में विरोध की शङ्का ही निर्मूल हो जाती। (प्रश्न) यहाँ पर एकमात्र वीररस की ही सत्ता मानी जानी चाहिये, शृङ्गार और बीभत्स ये दोनों वीररस के ही पोषक हैं; ये किस प्रकार स्वतन्त्र रस माने जा सकते हैं? (उत्तर) मेरा यहाँ पर यह मन्तव्य नहीं है कि ये दोनों रस स्वतन्त्र हैं। चाहे हम इन्हें स्वतन्त्र रसों की दृष्टि से देखें और चाहे वीररस का व्यभिचारी भाव मानें, दोनों अवस्थाओं में यह उदाहरण तो अनुपपन्न हो ही नहीं सकता। यह तो सिद्ध ही हो जाता है कि किसी तटस्थ रस को मध्य में रख देने से दो विरोधी रसों का विरोध जाता रहता है। स्वतन्त्र रस मानने पर तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। वीररस का अङ्ग मानने पर शृङ्गार और बीभत्स के स्थायीभाव रति और जुगुप्सा के एक साथ समाविष्ट होने का यह उदाहरण हो सकता है।

वीररस के समावेश की इस प्रकार की व्याख्या का सार यह है—इस पद्य में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि 'वे वीर···युद्धभूमि में पड़े हुये···अपने शरीरों को देख रहे थे।' इन शब्दों से वीरों के उत्साह इत्यादि की प्रतीति होती है। इससे वीररस पुष्ट हो जाता है। शेष पद्यखण्डों में देह के विशेषणों से बीभत्सरस व्यक्त

ध्वन्यालोकः

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत्।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो ह्यसौ ॥२८॥

यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्धेऽन्यत्र च निरूपयेत्सहृदयः; विशेषतस्तु शृङ्गारे। स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते ॥२८॥

(अनु०) 'सर्वत्र इसी प्रकार विरोध और अविरोध का निरूपण करना चाहिये और विशेषरूप से शृङ्गार में क्योंकि यह सुकुमारतम होता है' ॥२८॥

यथोक्त लक्षणों का अनुसरण करते हुये समस्त रसों के विषय में प्रबन्ध में और अन्यत्र विरोध और अविरोध का निरूपण करना चाहिये। विशेष रूप से तो शृङ्गार में। निस्सन्देह उसके रतिपरिपोषात्मक होने से तथा रति का भंग थोड़े निमित्त से भी सम्भव होने के कारण वह (शृङ्गार रस) सुकुमारतम होता है अर्थात् सभी रसों से थोड़ा भी विरोध समावेश नहीं सह सकता ॥२८॥

तारावती

होता है और दिव्य शरीरों के वर्णन से शृङ्गाररस व्यक्त होता है। 'वीर' देखना क्रिया का कर्ता है और 'देह' कर्म। कर्ता और कर्म के विशेषण समस्त वाक्य में बिखरे हैं जिनसे क्रमशः शृङ्गार और बीभत्स की अभिव्यक्ति होती है। जब उनके वैषम्य के कारण का विश्लेषण किया जाता है तब उनका उत्साहरूप वीररस सामने आ जाता है। इस प्रकार यद्यपि वीररस का मध्य में उपादान किया नहीं गया है किन्तु मध्य में उसका आस्वादन करते हुये ही हम शृङ्गार और बीभत्स का आस्वादन कर सकते हैं। अतएव इनका विरोध दोष के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। कालिदास ने निम्नलिखित एक ही पद्य में वीररस को मध्यमें रखकर शृङ्गार और बीभत्स की योजना की है :—

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
वामाङ्कसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्ध समरे ददर्श ॥

(इन्दुमती के विवाह के बाद अज उन्हे लेकर अपनी राजधानी की ओर आ रहे हैं मार्ग में शत्रुओं ने घेर लिया है। उस समय जो महान् संहार हुआ उसका वर्णन करते हुये कवि कहता है कि—'किसी का मस्तक शत्रु की कृपाण से कट गया था, वह तत्काल विमान के प्रभुत्व को प्राप्त हो गया। उस समय उसके वामाङ्क में देवाङ्गना सुशोभित हो रही थी और वह भूमि पर नाचते हुये अपने कबन्ध को देख रहा था।)

ध्वन्यालोकः

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥२९॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्यसहृदयमध्ये क्षिप्रमेवाज्ञानविपयता भवति। शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविपयत्वात् सर्वरसेभ्यः क्रमनीयतया प्रधानभूतः ॥२९॥

(अनु०) 'सत्कवि उसी रस में अवधान की अतिशयतावाला हो। निस्सन्देह उसमें प्रमाद शीघ्र ही उपलक्षित हो जाता है' ॥२९॥

सभी ही रसों की अपेक्षा सौकुमार्य की अधिकता से युक्त उसी रस में कवि अवधानवान् अर्थात् प्रयत्नवान् हो। निस्सन्देह उसमें प्रमाद करनेवाले उस (कवि) की सहृदयों के मध्य में शीघ्र ही अज्ञानविपयता हो जाती है। शृङ्गार रस निस्सन्देह संसारियों के लिये नियम से अनुभव विषय होने के कारण सब रसों की अपेक्षा कमनीय होने से प्रधानभूत होता है ॥२९॥

लोचन

अन्यत्र चेति। मुक्तकादौ। स हि शृङ्गारः सुकुमारतम इति सम्बन्धः। सुकुमारस्तावद्रसजातीयः ततोऽपि करुणस्ततोऽपि शृङ्गार इति तमप्रत्ययः ॥२८-२९॥

'और अन्यत्र' यह। मुक्तक इत्यादि में। सम्बन्ध इस प्रकार होता है—वह शृङ्गार निस्सन्देह सुकुमारतम होता है। इसका कोई भी जातीय सुकुमार होता है। उससे भी करुण और उससे भी शृङ्गार, इसलिये तम प्रत्यय किया गया है ॥२८-२९॥

तारावती

२८ वीं और २९ वीं कारिकाओं तथा उनकी वृत्ति का सार इस प्रकार है—

विरोध और अविरोध के लक्षण ऊपर बतला दिये गये हैं किसी भी सहृदय व्यक्ति को उन्हीं का आश्रय लेकर सभी रसों मे विरोध और अविरोध का निरूपण कर लेना चाहिये फिर ये रस चाहे प्रबन्धगत हों चाहे मुक्तकगत। यह बात शृङ्गार के विषय मे विशेष ध्यान रखनी चाहिये। कारण यह है कि शृङ्गार रस की आत्मा रति का परिपोष ही है और रति स्वल्पतम विरोधी कारण के उपस्थित होते ही भङ्ग हो जाती है। इसीलिये रति सबसे अधिक सुकुमार मानी जाती है। कहा जाता है कि यों तो रसत्व जाति ही सुकुमार होती है; किन्तु उसमें भी करुण रस अधिक सुकुमार होता है और करुण से भी शृङ्गार रस अधिक सुकुमार होता है। दूसरे रस विरोधी को कुछ न कुछ तो सहन कर लेते हैं किन्तु शृंगाररस थोड़े से भी विरोधी को सहन नहीं कर सकता।

ध्वन्यालोकः

एवञ्च सति—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥३०॥

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति यावद्विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशं गृह्णन्ति । सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।

(अनु०) ऐसा होने पर—

'अथवा विनेयों को उन्मुख करने के निमित्त काव्यशोभा के लिये ही उसके अंगों का उसके विरुद्ध रस से स्पर्श दूषित नहीं होता' ॥३०॥

शृङ्गार के अंगों का जो शृंगारविरोधी रस से स्पर्शवहन केवल अविरोध लक्षण के योग होने पर दूषित नहीं होता अपितु विनेयों को उन्मुख करने के लिये काव्यशोभा-सम्पादन के निमित्त किये जाने पर भी दूषित नहीं होता । शृंगाररस के अंगों से उन्मुख किये हुये होकर निस्सन्देह विनेय लोग विनय के उपदेशों को सुखपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। मुनियों ने निस्सन्देह सदाचारोपदेशरूप नाटक गोष्ठी विनेयजनों के हित के लिये ही अवतारित की है ।

लोचन

एवञ्चेति। यतोऽसौ सर्वसंवादीत्यर्थः । तदिति । शृङ्गारस्य विरुद्धा ये शान्तादयस्तेष्वपि तदङ्गानां शृङ्गाराङ्गानां सम्बन्धी स्पर्शो न दुष्टः। तया भङ्ग्या रसान्तरगता अपि विभावानुभावाद्या वर्णनीया यया शृङ्गाराङ्गभावमुपागमन्।

'और ऐसा होने पर यह । अर्थात् क्योंकि यह सर्वसंवादी है । 'तत्' यह । शृङ्गार के विरोधी जो शान्त इत्यादि उसके अङ्गों का अर्थात् शृङ्गार के अङ्गों से सम्बद्ध स्पर्श दूषित नहीं होता । दूसरे रसों को प्राप्त भी विभाव अनुभाव इत्यादि उस भङ्गिमा के साथ वर्णन किये जाने चाहिये जिससे वे शृङ्गार के अङ्गभाव को प्राप्त हो जाएँ ।

तारावती

२६ वीं कारिका में कहा गया है कि सभी रसों की अपेक्षा अधिक सुकुमारता धारण करनेवाले उस शृङ्गाररस मे कवि को विशेष ध्यान रखना चाहिये । अर्थात् शृङ्गार की रचना करने के अवसर पर प्रयत्नपूर्वक विरोध और अविरोध को समझ लेना चाहिये । उसमे प्रमाद करनेवाला कवि शीघ्र ही सहृदयो के बीच

लोचन

यथा ममैव स्तोत्रे—

त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद्विलीयापि विलीयते मे ॥

जैसे मेरे ही स्तोत्र में—

'वह प्रगाढ वियोग से संतप्त चन्द्रकान्तामणि की बनी हुई आकृतिवाली पुतली के समान मेरी चेतना तुम प्राणेश्वर चन्द्रचूड का सहसा स्पर्श करती हुई विलीन होकर भी विलीन हो रही है।'

तारावती

अपमान तथा उपहास का पात्र बन जाता है। निस्सन्देह शृङ्गार रस सभी सांसारिक व्यक्तियों के लिये नियमपूर्वक अनुभव का विषय बनता है। इसीलिए वह सभी रसों की अपेक्षा अधिक कमनीय होता है तथा अधिक प्रधान माना जाता है ॥ २८–२९ ॥

पिछली कारिका में बतलाया गया था कि शृंगार मधुरतम और सुकुमारतम होता है। उसमें किसी भी दूसरे विरोधी रस का स्पर्श उसे मलिन बना देता है और उसके विरोध अविरोध में थोड़ी सी असावधानी करने से कवि उपहासास्पद बन जाता है। अब इस कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि शृंगार में तो किसी विरोधी रस का स्पर्श दूषित होता है किन्तु किसी भी विरोधी या अविरोधी रस में शृंगार का स्पर्श उस रस को अधिक हृद्य बना देता है:—

'( विरोध परिहार के जो उपाय पहले बतलाये गये हैं उनके अतिरिक्त एक यह बात भी है कि ) यदि कवि का मन्तव्य सहृदयों को अपनी ओर उन्मुख करना हो और इसके लिये कवि काव्यशोभा का आधान करना चाहे तो इसी मन्तव्य से शृंगाररस के अंगों का अपने विरोधी रस से स्पर्श दूषित नहीं कहा जा सकता ॥३०॥

आशय यह है कि शृङ्गार रस ही एक ऐसा रस है जो सभी व्यक्तियों के अन्तःकरणों से मेल खाता है। यह मनुष्य जाति के लिये ही नहीं पशु-पक्षियों तक के लिये हृद्य होता है। अतः इसकी ओर सर्वसाधारण की प्रवृत्ति स्वभाविक रूप में ही हो जाती है। वैराग्य, कर्तव्य इत्यादि दूसरे तत्त्वों की ओर अवलेप के कारण राजपुत्रादिकों की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप मे नहीं होती। अतः यदि उनको पहले शृंगार रस की ओर आकर्षित कर लिया जाय और वे शृङ्गार का अस्वादन करने की बुद्धि से ही किसी काव्यशोभा की ओर उन्मुख हों तो उस माध्यम से उन्हें विनय के उपदेश देना सरल हो जाता है। ( यह उसी प्रकार होता है जैसे कड़ुई दवा को शहद इत्यादि किसी मधुर वस्तु से मिलाकर खिला दिया जाय। ) कहने

## लोचन

इत्यत्र शान्तविभावानुभावानामपि शृङ्गारभङ्ग्या निरूपणम्। विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा, तदर्थं नैव दुष्यतीति सम्बन्धः। वाग्रहणेन पक्षान्तरमुच्यते—न केवलमिति। वाशब्दस्यैतद्व्याख्यानम्। अविरोधलक्षणं परिपोषपरिहारादि पूर्वोक्तम्। विनेयानुन्मुखीकर्तुं या काव्यशोभा तदर्थमपि वा विरुद्धरससमावेशः न केवलं पूर्वोक्तैः प्रकारैः, न तु काव्यशोभा विनेयोन्मुखीकरणमन्तरेणास्ते व्यवधानाव्यवधाने अपि केचित् लभ्येते यथान्यैर्व्याख्यातो। सुखमिति। रञ्जनापुरःसरमित्यर्थः। ननु काव्यं क्रीडारूपं क्व च वेदादिगोचरा उपदेशकथा इत्याशङ्क्याह—सदाचारेति। मुनिभिरिति। भरतादिभिरित्यर्थः। एतच्च प्रभुमित्रसम्मितेभ्यः शास्त्रेतिहासेभ्यः प्रीतिपूर्वकं जायासम्मितत्वेन नाट्यकाव्यगतं व्युत्पत्तिकारित्वं पूर्वमेव निरूपितमस्माभिरिति न पुनरुक्तभयादिह लिखितम्।

यहाँ पर शान्त के विभावानुभावों का शृंगार भङ्गिमा से निरूपण किया गया। है। यहाँ सम्बन्ध इस प्रकार है—विनेयों को उन्मुख करने के लिये जो काव्यशोभा उसके लिये दूषित नहीं होती। 'वा' ग्रहण से पक्षान्तर कहा गया है। उसी की व्याख्या करते है—'न केवल' यह। यह व्याख्या वा शब्द की है। अविरोध लक्षण परिपोष परिहार इत्यादि पहले कहा गया है 'अथवा विनेयों को उन्मुख करने के लिये जो काव्यशोभा उसके लिये भी विरुद्धरससमावेश (दूषित नहीं होता) केवल पूर्वोक्त प्रकारों से ही नहीं। काव्यशोभा विनेयों के उन्मुखीकरण के बिना नहीं होती। कोई व्यवधान और अव्यवधान भी उपलब्ध होते हैं जैसी कि दूसरों ने व्याख्या की है। 'सुखपूर्वक' यह। अर्थात् अनुरञ्जन के साथ। कहाँ तो क्रीडारूप काव्य और कहाँ वेदादिगोचर उपदेश कथा ?' यह शङ्का करके कहते है—'सदाचार इत्यादि'। 'मुनियों के द्वारा' यह। अर्थात् भरत इत्यादि के द्वारा। प्रभुमित्रसम्मित शास्त्र और इतिहासों की अपेक्षा प्रीतिपूर्वक जायासम्मित होने के कारण यह काव्यनाट्य-गत व्युत्पत्तिकारित्व हमने पहले ही निरूपित कर दिया है यहाँ पुनरुक्ति के भय से नहीं लिखा।

## तारावती

का सारांश यह है कि अन्य रसों के विभावानुभावादिकों का वर्णन ऐसी भगिमा से करना चाहिये कि जिससे वे शृंगार के अंगभाव को प्राप्त हो सकें। एक उदाहरण लीजिये। शृंगार और शान्त दोनों सर्वथा विरोधी रस है। किन्तु अभिनवगुप्त ने अपने शङ्कर स्तोत्र मे शान्त का वर्णन शृंगार की भंगिमा के साथ किया है। अभिनवगुप्त ने लिखा है—

तारावती

'मेरी चेतना चन्द्रकान्तामणि से बनी हुई पुतली जैसी रूपवती तरुणी के समान है; आप चन्द्र को अपने चूड़ा में धारण किये हुये हैं और आप उसके प्राणेश्वर हैं। आपके प्रगाढ वियोग से वह नितान्त सन्तप्त है और सहसा आपका संस्पर्श प्राप्तकर विलीन होती हुई भी पुनः विलीन हो जाती है।'

यहाँ पर कवि का आशय यह है कि जिस प्रकार कोई तरुणी अपने प्रियतम के वियोग में सांसारिक सन्तापों का अनुभव करती रहती है, फिर जब संयोगवश उसे अपने प्रियतम का संस्पर्श प्राप्त हो जाता है तब वह आनन्दातिरेक से अपने को भूल सी जाती है और प्रियतम मे ही लीन हो जाती है; उसी प्रकार कवि की चेतना भी शिवरूपी प्रियतम से वियुक्त होकर संसारिक संतापों का अनुभव करती है और जब थोड़ा बहुत शङ्कर जी का संस्पर्श कर पाती है तब वह अपने को भी विस्तृत कर देती है और शङ्कर जी मे ही लीन हो जाती है। 'विलीन होकर भी विलीन हो जाती है' का नायिका के पक्ष मे अर्थ है कि नायिका का हृदय अपने प्रियतम के स्मरणमात्र से सर्वदा द्रवित हो जाता है जिससे नायिका प्रियतमामय हो जाती है। शङ्कर जी के पक्ष मे इसका अर्थ यह है कि मेरी चेतना प्रायः सर्वदा ही आप में विलीन रहती है; किन्तु उससमय तन्मयता इतनी अधिक नहीं आती कि मैं ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद भूल जाऊँ। किन्तु जब मेरी चेतना किञ्चित् भी आपका सान्निध्य प्राप्त करती है तब वह अपने को सर्वथा आप में खो देती है। यहाँ पर शान्तरस के विभावों और अनुभावों का निरूपण शृंगार की भंगिमा से किया गया है।

यहाँ पर 'वा' शब्द की योजना कुछ जटिल है। 'विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्य-शोभार्थमेव वा' में 'वा' शब्द की प्रत्यक्ष योजना इस प्रकार मालूम पड़ती है कि 'विनेयों को उन्मुख करने के लिये अथवा काव्यशोभा के लिये।' किन्तु इस योजना मे एक आपत्ति यह है कि सहृदयों का उन्मुखीकरण और काव्यशोभा ये दो पृथक् प्रयोजन हो जाते हैं। वह काव्यशोभा कैसी जिसकी ओर सहृदय उन्मुख न हों और सहृदयों के उन्मुखीकरण के अतिरिक्त काव्यशोभा का दूसरा प्रयोजन ही क्या? अतः ये दोनों प्रयोजन एक ही होने चाहिये कि 'सहृदयों को उन्मुख करने के लिये जिस काव्यशोभा का सम्पादन किया जाता है....' इत्यादि। अतः लोचनकार ने इस 'वा' शब्द को इस प्रकार संयोजित किया है—'वा' शब्द का सम्बन्ध पिछले प्रकरण से है। यह शब्द पिछले प्रकरण का पक्षान्तर उपस्थित करता है। पहले यह बतलाया गया है कि वे कौन सी अवस्थायें हैं जिनसे दो विरोधी रसों का विरोध निवृत्त हो जाता है। 'वा' ग्रहण का आशय यह है किसी

ध्वन्यालोकः

किञ्च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिगमत्वात्तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः।

(अनु०) और भी शृंगार के सकलजन-मनोहर और अभिराम होने से काव्य में उसके अङ्गों का समावेश शोभातिशय को पुष्ट करता है इस प्रकार से भी विरोधी रस में शृंगार के अङ्गों का समावेश नहीं होता। इससे—

'सचमुच रामायें मनोरम होती हैं; सचमुच विभूतियाँ रमणीय होती हैं; किन्तु जीवन मत्त अङ्गनाओं के अपाङ्गभङ्ग के समान चञ्चल होता है।'

इत्यादि मे रसविरोध का दोष नहीं होता॥३०॥

तारावती

रस का परिपोष न करना इत्यादि पुराने तत्त्व ही विरोधनिवृत्ति में कारण नहीं होते अपितु एक और तत्त्व ऐसा है जो विरोध को निवृत्त कर देता है और वह यह है कि यदि अन्य रसों के साथ शृङ्गार की योजना कर दी जाय तो विरोध नहीं आता किन्तु शर्त यह है कि शृङ्गार की योजना काव्य की शोभा में कारण हो और काव्य की शोभा सहृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने में कारण हो। यदि यह बात पूरी हो जाती है तो शृंगार की अन्य रसों के साथ योजना सदोष नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर लोचन के 'व्यवधानाव्यवधाने अपि केचित् लभ्येते यथान्यैर्व्याख्याते' इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः इनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—विरोधपरिहार के पिछले प्रकरण में बतलाया गया था कि दो विरोधी रसों का यदि किसी तीसरे अविरोधी रस से व्यवधान हो जाता है तो विरोध का परिहार हो ही जाता है अव्यवधान मे भी विरोध-परिहार होते देखा जाता है व्यवधान और अव्यवधान दोनों प्रकार के काव्य देखे जाते हैं। व्यवधान की व्याख्या पहले की जा चुकी है। अव्यवधान में किस प्रकार विरोधपरिहार होता है यह कारिका में कहा गया है। यह व्याख्या अन्य आचार्यों ने की है जो लोचनकार के अनुसार बहुत असंगत नहीं है। किन्तु पूर्णरूप से इसका समर्थन भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस कारिका मे 'वा' शब्द पिछले पूरे प्रकरण की ओर संकेत करता है। उसमे केवल व्यवधान में विरोधपरिहार की बात नहीं कही गई है अपितु अनेक और तत्त्व भी दिखलाये गये हैं। 'सहृदय सुखपूर्वक विनय के उपदेशों को ग्रहण कर लेते है' यहाँ सुखपूर्वक का अर्थ है अनुरञ्जन के साथ।

## लोचन

ननु शृङ्गाराङ्गतामङ्ग्या यद्विभावादिनिरूपणमेतावतैव किं विनेयोन्मुखीकारः ? न; अस्ति प्रकारान्तरं, तदाह—किञ्चेति । शोभातिशयमिति । अलङ्कारविशेषमुपमाप्रभृतिं पुष्यति सुन्दरीकरोतीत्यर्थः । यथोक्तम्—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति । मत्ताङ्गनेति । अत्र हि शान्तविभावे सर्वस्यानित्यत्वे वर्ण्यमाने न कस्यचिद्विभावस्य शृङ्गारमङ्ग्या निबन्धः कृतः किन्तु सत्यमिति परहृदयानुप्रवेशेनोक्तम् , न खल्वलीकवैराग्यकौतुकरुचिं प्रकटयामः, अपितु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं चलमिति, तत्र मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गस्य शृङ्गारं प्रति सम्भाव्यमानविभावानुभावत्वेनाङ्गस्य लोलतायामुपमानतोक्तेति प्रियतमाकटाक्षो हि सर्वस्याभिलषणीय इति च तत्प्रीत्या प्रवृत्तिमान् गुडजिह्विकया प्रसक्तानुप्रसक्तवस्तुसंवेदनेन वैराग्ये पर्यवस्यति विनेयः ॥ ३० ॥

( प्रश्न ) शृंगारता की भङ्गिमा से जो विभावादि निरूपण क्या इतने से ही विनेयों का उन्मुखीकरण होता है ? ( उत्तर ) नहीं प्रकारान्तर है । वह कहते हैं—'और भी' यह । 'शोभातिशय' यह । अर्थात् अलङ्कार विशेष उपमा प्रभृति को पुष्ट करता है अर्थात् सुन्दर कर देता है । जैसा कहा गया है—काव्यशोभा के करनेवाले धर्म गुण होते हैं और उसके अतिशय में हेतु अलङ्कार होते हैं । 'मत्ताङ्गना' यह । यहाँ निस्सदेह शान्त के विभाव सभी के अनित्यत्व के वर्णनीय होने पर किसी विभाव का शृङ्गार की भङ्गिमा के साथ निबन्धन नहीं किया गया है, किन्तु सचमुच इन शब्दों से परहृदयानुप्रवेश के द्वारा कहा गया है कि हम निस्सन्देह अलीक वैराग्य कौतुक की रुचि प्रकट नहीं कर रहे हैं अपितु जिसके लिये सब कुछ चाहा जाता है यह वही चञ्चल है । उसमे मत्ताङ्गनपाङ्गभङ्ग की शृंगार के प्रति विभाव और अनुभावता की सम्भावना किये जाने से इसके अङ्ग की चञ्चलता मे उपमानता कही गई है और उस प्रकार प्रियतमा कटाक्ष निस्सन्देह सभी का अभिलषणीय है इससे उसके प्रेम से प्रवृत्तिवाला विनेय गुडजिह्विका से प्रसक्त और अनुप्रसक्त वस्तु के संवेदन के द्वारा वैराग्य मे पर्यवसित होता है ॥ ३० ॥

## तारावती

( प्रश्न ) काव्य तो क्रीड़ारूप होता है और उपदेशकथा वेदादि सच्छास्त्रों से गृहीत होती है । अतएव इन दोनों का सम्बन्ध हो ही किस प्रकार सकता है ? ( उत्तर ) भरत इत्यादि मुनियों ने काव्यगोष्ठी विनेयजनों के हित के लिये ही प्रवर्तित की थी और उसका प्रयोजन था विनेय व्यक्तियों को सदाचार का उपदेश। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि नाट्य और काव्य का उपदेश जायासम्मित

तारावती

होता है। यह प्रभुसम्मित और मित्रसम्मित शास्त्र और इतिहास की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह आनन्द के साथ व्युत्पत्ति को उत्पन्न करता है। यह विषय विस्तारपूर्वक पहले ही समझाया जा चुका है। अतः यहाँ पुनः उसका विवेचन पुनरुक्त मात्र होता। अतएव इस वास्तविकता को उसी प्रकरण में समझना चाहिये।

( प्रश्न ) क्या काव्य में शृंगार के द्वारा विनेयों का उन्मुखीकरण इसी प्रकार सम्भव है कि विभाव और अनुभाव का निरूपण शृंगार के अंगों की भंगिमा के साथ किया जाय या और भी कोई उपाय सम्भव है (उत्तर) इसके लिये एक उपाय और है शृंगार रस सभी प्रकार के व्यक्तियों के मन को हरण करनेवाला होता है। अतएव काव्य में उसके अंगों का समावेश उपमाप्रभृति अलंकार विशेषों को भी पुष्ट कर देता है। यहाँ पर 'शोभातिशयं पुष्यति' इस वाक्य का प्रयोग किया गया है। शोभातिशय शब्द का अर्थ है अलंकार। कहा भी गया है कि काव्यशोभाकारक धर्मों को गुण कहा जाता है और उस शोभा को अधिक बढ़ानेवाले ( अतिशय करनेवाले ) धर्मों को अलङ्कार माना जाता है। शृङ्गार रस अलङ्कार को अधिक सुन्दर बना देता है जिससे काव्य की सुन्दरता बढ़ जाती है। इस रूप में भी विरोधी रस में शृङ्गार के अंग का समावेश विरोधी नहीं माना जा सकता। आशय यह है कि यदि विरोधी रस में शृङ्गार के अंग का समावेश विभाव, अनुभाव इत्यादि के रूप में न हो तो अलङ्कार के रूप में हो सकता है। इससे भी काव्य की शोभा बढ़ जाती है और रसास्वादन में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता। अतएव—

'यह सच है कि रमणियाँ भी मनोरमा होती हैं और सम्पत्तियाँ भी रमणीय होती हैं, किन्तु जीवन तो मतवाली ललनाओं के अपाङ्गभङ्ग ( कटाक्ष-पात ) की भाँति ही क्षणभङ्गुर होता है।'

यहाँ पर सभी की अनित्यता का वर्णन करना है जो कि शान्तरस का विभाव है। इसमें काव्यशोभा का आधान करने के लिये शृङ्गाररस की किसी भी भङ्गिमा का समावेश नहीं किया गया है। अपितु 'यह सच है·····रमणीय होती है' यह आधा वाक्य दूसरे के हृदय मे अनुप्रविष्ट होकर कहा गया है। आशय यह है कि शान्तरस के विरोध मे कोई रसिक व्यक्ति जो कुछ कह सकता है उसको शान्तरस के समर्थक ने पहले ही मान लिया और इस प्रकार अपने विरोधी के हृदय मे प्रविष्ट हो गया। उसका कहना है कि जिन वस्तुओं मे तुम रमणीयता के दर्शन करते हो उन्हे मैं भी अरमणीय नहीं कहता। मैं तुम्हारे अन्दर झूठे वैराग्य के कौतूहल की रुचि उत्पन्न करना नहीं चाहता। किन्तु ये रमणीय वस्तुयें जिस

ध्वन्यालोकः

विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन् मुह्यति न क्वचित् ॥३१॥

इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदाभासानां परस्परं विरोधस्याविरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन् न क्वचिन्मुह्यति।

(अनु०) इस प्रकार सुकवि रस इत्यादि के अविरोध और विरोध के विषय को जानकर काव्य करते हुये कभी मोहित नहीं होता ॥३१॥

इस प्रकार अर्थात् अभी अनन्तर कहे हुये प्रकार से रस इत्यादि के अर्थात् रस भाव तथा उनके आभास के परस्पर विरोध और अविरोध के विषय को जानकर सुकवि अर्थात् काव्य के विषय में प्रतिभा की अतिशयता से युक्त काव्य करते हुये कहीं व्यामोह मे नहीं पड़ता ॥३१॥

लोचन

तदेतदुपसंहरन् अस्योक्तस्य प्रकरणस्य फलमाह—विज्ञायेत्थमिति ॥ ३१ ॥

अतः इसका उपसंहार करते हुये इस उक्त प्रकरण का फल कहते हैं—'इस प्रकार जानकर' यह ॥ ३१ ॥

तारावती

जीवन के लिये चाही जाती हैं वह जीवन ही स्थिर नहीं है, तब इसकी रमणीयता किस काम आएगी। यहाँ पर रमणियों और विभूतियों की अस्थिरता के लिए उपमा दी गई है मतवाली ललनाओं के कटाक्षपात की। इस उपमा को देखकर एकदम सम्भावना हो जाती है कि यहाँ पर अलङ्कार के विभाव नायक और नायिका का वर्णन किया गया होगा। मतवाली ललनाओं के कटाक्ष को कौन नहीं चाहेगा? अतएव कटाक्ष के अनुराग से कोई विनेय व्यक्ति इस सूक्ति की ओर प्रवृत्त होगा और प्रसंग प्राप्त तथा उससे अनुगत वस्तु अनित्यता के ज्ञान के द्वारा वैराग्य में उसी प्रकार उसकी भावनाओं का पर्यवसान हो जाएगा जिस प्रकार कोई रोगी गुड़ के संयोग से किसी कटु औषधि को ग्रहण कर लेता है। अतएव इस प्रकार के पद्यों में रसविरोध का दोष नहीं होता ॥ ३० ॥

३० वीं कारिका तक रसों के परस्पर सम्बन्ध तथा उनके एक में समावेश के प्रकार पर विचार किया गया। ३१ वीं कारिका इस प्रकरण का उपसंहार है। इसमें कहा गया है कि :—

'यदि कवि काव्यरचना के अवसर पर उक्त व्यवस्था का ध्यान रखता है तो वह अपनी काव्य क्रिया में कभी व्यामोह को प्राप्त नहीं होता ॥ ३१ ॥

ध्वन्यालोकः

एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरूपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्यवाचकनिरूपणस्यापि तद्विषयस्य तत्प्रतिपाद्यते—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥३२॥

वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादिविषयेणौचित्येन यद्योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म। अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम् ॥३२॥

(अनु०) इस प्रकार रस इत्यादि में विरोध और अविरोध निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन करके तद्विषयक व्यञ्जक वाच्यवाचक-निरूपण को भी वह प्रतिपादित कर रहे हैं—

'रस इत्यादि विषयक औचित्य के साथ वाच्यों की और वाचकों की जो योजना यह महाकवि का मुख्य कर्म है' ॥३२॥

वाच्यों का अर्थात् इतिवृत्तविशेषों का और वाचकों का अर्थात् तद्विषयकों (इतिवृत्तविषयकों) का रसादिविषयक औचित्य के साथ जो योजन यह महाकवि का मुख्य कर्म है। यही महाकवि का मुख्य व्यापार है जो कि रस इत्यादि को ही मुख्यरूप मे काव्यार्थ बनाकर उसकी व्यञ्जना के अनुरूप शब्दों और अर्थों का उपनिबन्धन ॥३२॥

लोचन

रसादिषु रसादिविषये व्यञ्जकानि यानि वाच्यानि विभावादीनि वाचकानि च सुप्तिङादीनि तेषां यन्निरूपणं तस्येति। तद्विषयस्येति। रसादिविषयस्य। तदिति उपयोगित्वम्। मुख्यमिति। आलोकार्थी इत्यत्र यदुक्तं तदेवोपसंहृतम्। महाकवेरिति सिद्धवत्फलनिरूपणम् एवं हि महाकवित्वं नान्यथेत्यर्थः। इतिवृत्तविशेषाणामिति। इतिवृत्तं हि प्रबन्धवाच्यं तस्य विशेषाः प्रागुक्ताः—'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्य-

रसादिकों मे अर्थात् रस इत्यादि के विषय मे व्यञ्जक जो वाच्य विभाव इत्यादि और वाचक जो सुप्तिङ् इत्यादि उनका जो निरूपण उसका। तद्विषय का अर्थात् रस इत्यादि विषय का। वह अर्थात् उपयोगित्व। 'मुख्य' यह। 'आलोकार्थी' यहाँ पर जो कहा गया था उसी का उपसंहार कर दिया गया। 'महाकवि का' यह। यहाँ सिद्ध के समान फल का निरूपण है। निस्सन्देह इस प्रकार महाकवित्व होता है अन्यथा नहीं। 'इतिवृत्त विशेषों का' इतिवृत्त निस्सन्देह प्रबन्ध वाच्य होता है उसकी विशेषतायें पहले गई हैं—विभावानुभावसञ्चार्यौचित्य—

## लोचन

चारुणः । विधिः कथा शरीरस्य' इत्यादिना । काव्यार्थीकृत्येति अन्यथा लौकिकशास्त्रीय-वाक्यार्थेभ्यः कः काव्यार्थस्य विशेषः ? एतच्च निर्णीतमाद्योद्योते—काव्यस्यात्मा स एवार्थः इत्यन्तरान्तरे ॥३२॥

चारुणः । विधि कथा शरीरस्य' इत्यादि के द्वारा । 'काव्यार्थ करके' यह । अन्यथा लौकिक और शास्त्रीय वाक्यार्थों से काव्यार्थ की क्या विशेषता । यह प्रथम उद्योत में 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इस कारिका के बीच में निरूपित किया गया है ।

## तारावती

रस इत्यादि में इत्यादि का अर्थ है रस, भाव, रसाभास और भावाभास । इनके परस्पर विरोध और अविरोध के विषय इसी पिछले प्रकरण में बतलाये जा चुके हैं । जब कोई अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति इनको समझकर काव्य रचना करता है तो उसमें त्रुटियाँ नहीं होतीं ॥ ३१ ॥

ऊपर यह बतला दिया गया कि रस इत्यादि के विषय में विरोध और अविरोध के निरूपण करने का उपयोग क्या है । रस के व्यंग्य स्वरूप के विषय में उतना निरूपण कर देने के बाद स्वभावतः उसके व्यञ्जक रूप पर विचार करने का प्रश्न सामने आ जाता है । व्यञ्जक दो होते हैं—वाच्य और वाचक । वाच्य और वाचक की योजना पर ३३ वीं कारिका में संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा । इस ३२ वीं कारिका में यह दिखलाया जा रहा है कि रस इत्यादि के विषय और वाचक के निरूपण का उपयोग क्या है ? यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि रस इत्यादि के विषय में वाच्य तो विभाव इत्यादि होते हैं और वाचक सुप् तिङ् ( शब्द इत्यादि ) होते हैं । इनके निरूपण का क्या उपयोग है यह इस कारिका में बतलाया गया है । कारिका का आशय यह है—

'कवि का सर्वाधिक प्रधान कर्म है ऐसे वाच्य और वाचक की योजना करना जिसमें रस इत्यादि को दृष्टिगत रखते हुए औचित्य का पूरा निर्वाह किया गया हो ।'

वाच्य का अर्थ है विशेष प्रकार के काव्यानुकूल इतिवृत्त की विशेषतायें और वाचक का अर्थ है उस इतिवृत्तविषयक शब्दों की योजना जिसमें रसादिविषयक औचित्य का ध्यान रक्खा गया हो । यह महाकवि का सर्वप्रमुख कर्तव्य है । यहाँ पर शब्द और अर्थ की योजना कवि का प्रमुख कर्तव्य बतलाया गया है । उससे यह भ्रम हो सकता है कि यहाँ पर रस की अपेक्षा शब्द और अर्थ को प्रधानता दे दी गई है । अतः यहाँ पर शब्द और अर्थ तथा रस इनके महत्त्व के

ध्वन्यालोकः

एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाःस्थिताः ॥३३॥

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहाररता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्या । वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिता कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च्छायामावहन्ति । रसादयो हि द्वयोरपि तयोः जीवभूताः इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव ।

(अनु०) और यह रसादि तात्पर्य से काव्यनिबन्धन भरत इत्यादि में भी सुप्रसिद्ध ही है यह प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

'रस इत्यादि के अनुगुणत्व के साथ जो औचित्यवाला शब्द और अर्थ का व्यवहार वे ये दो वृत्तियाँ स्थित है' ॥३३॥

व्यवहार निस्सन्देह 'वृत्ति' यह कहा जाता है । उसमें रसानुगुण औचित्यवाला वाच्याश्रय जो व्यवहार वे ये कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ है । और वाचकाश्रय उपनागरिका इत्यादि हैं । वृत्तियाँ निस्सन्देह रस इत्यादि के तात्पर्य से सन्निवेशित की हुई काव्य और नाट्य की कोई विचित्र छाया को उत्पन्न करती हैं । रस इत्यादि निस्सन्देह उन दोनों के जीवनभूत हैं । इतिवृत्त इत्यादि तो शरीर ही हैं ।

तारावती

तारतम्य को समझ लेना चाहिये । प्रथम उद्योत में कहा गया है कि व्यंग्यार्थ के लिये उत्सुक कवि वाच्यार्थ का उसी प्रकार आदर करता है जैसे—आलोक का इच्छुक व्यक्ति दीपशिखा के लिये प्रयत्नवान् होता है । क्योंकि दीपशिखा आलोक का उपाय है और वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का उपाय है । अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिये महत्त्व तो होता ही है । यहाँ इन दोनों के महत्त्व का तारतम्य है । इस प्रकार 'आलोकार्थी····' इत्यादि प्रथम उद्योत की कारिका मे जो बात कही गई थी उसी का उपसंहार यहाँ पर कर दिया गया । 'महाकवि का मुख्य कर्म है' इस वाक्य में महाकवि शब्द का प्रयोग सिद्ध हुये तत्त्व के फल का निरूपण है । आशय यह है कि कोई भी व्यक्ति महाकवि तभी हो सकता है जब वह रसानुग्रहण औचित्य का पालन करते हुये शब्द और अर्थ का प्रयोग करे । औचित्य युक्त शब्दार्थ प्रयोग कारण है और महाकवि होना कार्य । पहले शब्दार्थ का प्रयोग किया जायेगा बाद मे महाकवित्व का पद प्राप्त होगा । किन्तु यहाँ पर उचित शब्दार्थ प्रयोग की सम्भावना में ही महाकवित्व को सिद्ध मानकर कह दिया गया है कि महाकवि को उचित शब्दार्थ का प्रयोग करना चाहिये । यहाँ वाच्य का अर्थ किया गया है इतिवृत्तविशेष ।

## लोचन

एतच्चेति । यदस्माभिरुक्तमित्यर्थः । भरतादावित्यादिग्रहणादलङ्कारशास्त्रेषु परुषाद्या वृत्तय इत्युक्तं भवति । द्वयोरपि तयोरिति। वृत्तिलक्षणयोर्व्यवहारयोरित्यर्थः । जीवभूता इति । 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति ब्रुवाणेन मुनिना रसोचितेतिवृत्तसमाश्रयणोपदेशेन रसस्यैव जीवितत्वमुक्तम् । भामहादिभिश्च—

'और यह' यह । अर्थात् जो हम लोगों ने कहा है । भरत इत्यादि में महा इत्यादि शब्द से अलङ्कार शास्त्रों में परुषा इत्यादि वृत्तियाँ होती हैं यह बात कही गई है । 'उन दोनों का' अर्थात् वृत्तिलक्षण दोनों व्यवहारों का। 'जीव भूत' यह । 'वृत्तियाँ काव्य की माताएँ होती हैं' यह कहनेवाले मुनि ने रस के लिये उपयुक्त इतिवृत्त के आश्रय लेने का उपदेश देने के द्वारा रस का ही जीवितत्व कहा है । भामह इत्यादि ने भी—

## तारावती

इतिवृत्त यह प्रबन्ध का वाच्य होता है । उसकी विशेषता पहले बतला दी गई है ( देखें–तृतीय उद्योत की कारिका १० से १४ तक की व्याख्या ) सारांश यह है कि महाकवि का मुख्य व्यापार यही है कि रस इत्यादि को ही काव्यार्थ मानकर उसकी अभिव्यञ्जना के अनुकूल शब्द और अर्थ का उपनिबन्धन करे। रस इत्यादि को काव्यार्थ बनाने का आशय यही है कि रस का होना ही काव्यवाक्यों की सबसे बड़ी विशेषता है । नहीं तो लौकिक तथा शास्त्रीय वाक्यों से काव्य का भेद ही क्या रहे । इसका निर्णय तो प्रथम उद्योत की ५ वीं कारिका में ही कर दिया गया कि 'वही रसादि रूप अर्थ काव्य की आत्मा है' ॥ ३२ ॥

रस इत्यादि के तात्पर्य से वाच्य और वाचक की योजना कोई कपोलकल्पित सिद्धान्त नहीं है। इस को तो भरत इत्यादि आचार्यों ने भी मान्यता दी है । अतः यह सिद्धान्त परम्परानुमोदित ही है । यही बात इस ३३ वीं कारिका मे कही गई है :—

'अर्थ और शब्द का इस रूप में व्यवहार करना कि उसमे रस के अनुगुण होने का सर्वथा ध्यान रखा गया हो और औचित्य का भी पालन किया गया हो, वृत्ति कहलाता है । ये वृत्तियाँ दो रूपों में स्थित हैं' ॥ ३३ ॥

( वृत्तियों के विषय मे कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रकाश प्रस्तुत उद्योत की ४६ वों और ४७ वीं कारिका में डाला जायगा । यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि आनन्दवर्धन से पहले नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र ये दो पृथक्-पृथक् शास्त्र थे । जहाँ आनन्दवर्धन को काव्यशास्त्र की अनेक नवीन दिशाओं के उन्मीलन का श्रेय प्राप्त है वहाँ उनका एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह भी है कि उन्होंने नाट्य-

## लोचन

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥

इत्यादिना रसोपयोगजीवितः शब्दवृत्तिलक्षणो व्यवहार उक्तः । शरीरभूतमिति । 'इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरम्' इति मुनिः । नाट्यं च रस एवेत्युक्तं प्राक् ।

'स्वादु काव्यरस से मिश्रित वाक्यार्थ का उपयोग करते हैं । पहले शहद को चाटकर कड़ुई दवा पी लेते हैं ।'

इत्यादि के द्वारा शब्दवृत्ति लक्षणवाला ऐसा व्यवहार बतलाया है जिसका जीवन रस ही है । 'शरीरभूत' यह । मुनि ने कहा है 'इतिवृत्त नाट्य का शरीर होता है ।' यह हम पहले ही कह चुके कि नाट्य तो रस ही होता है ।

## तारावती

शास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों के एकीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया । वृत्तियों के विषय में भी आनन्दवर्धन के पहले दो प्रकार की वृत्तियाँ चल रही थीं एक तो भरत की नाट्यवृत्तियाँ जिनमें कैशिकी इत्यादि आतीं थीं और दूसरी उद्भट इत्यादि की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ जो कि काव्यवृत्तियाँ कही जा सकती थीं । इनके साथ ही काव्य में वैदर्भी इत्यादि रीतियाँ भी चल रही थीं । आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इन काव्यरीतियों को रसोचित शब्दव्यवहार कहकर वृत्तियों से इनके अद्वैत की स्थापना की । इसीलिये आगे चलकर मम्मट को कहने का अवसर प्राप्त हुआ कि—'केषांचिदेताः वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः' और पण्डितराज का 'वैदर्भी वृत्ति' शब्द का प्रयोग उपपन्न हो सका । सारांश यह है कि आनन्दवर्धन के पहले वृत्तियाँ दो प्रकार की थीं कैशिकी इत्यादि नाट्यवृत्तियाँ और उपनागरिका इत्यादि काव्यवृत्तियाँ । )

'वृत्ति' शब्द 'वृत्' धातु से संज्ञा में क्तिन् प्रत्यय होकर बना है । इसका अर्थ है वर्तन करना या व्यवहार करना । काव्य के पक्ष में व्यवहार दो प्रकार का हो सकता है—अर्थ का व्यवहार और शब्द का व्यवहार । यदि अर्थ का व्यवहार रसानुगुण तथा औचित्ययुक्त हो तो उसे कैशिकी इत्यादि नाट्य वृत्तियों में अन्तर्भूत कर दिया जाता है और यदि शब्दव्यवहार रसानुगुण तथा औचित्यवान् हो तो उसे उद्भट इत्यादि की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों में सन्निविष्ट करदिया जाता है । ( यहाँ पर नाट्यवृति और काव्य-वृत्ति दोनों के एकीकरण के लिये आनन्दवर्धन ने नाट्यवृत्तियों को अर्थवृत्ति कहा है और काव्यवृत्तियों को शब्दवृत्ति । इस मान्यता का आधार यह है कि भरत ने वृत्तियों में सभी प्रकार के अनुभावों और चेष्टाओं को सन्निविष्ट किया है । ये अनुभाव और चेष्टायें अर्थ से ही सम्बन्ध

ध्वन्यालोकः

अत्र केचिदाहुः—'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तः न तु जीवशरीरव्यवहारः। रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते न तु रसादिभिः पृथग्भूतम्' इति। अत्रोच्यते—यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरम्। एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन्। न चैवम्, तथा चैतत्प्रतिपादितमेव प्रथमोद्योते।

(अनु०) यहाँ कुछ लोग कहते हैं—'रसादिकों का इतिवृत्त के साथ गुण-गुणी व्यवहार उचित है, जीव-शरीर व्यवहार नहीं। क्योंकि वाच्य निस्सन्देह रसादिमय ही प्रतिभासित होता है रसादिकों से पृथग्भूत नहीं, यह। यहाँ पर कहा जा रहा है—यदि रसादिमय ही वाच्य होता है जैसे गौरत्वमय शरीर, ऐसी दशा में जैसे शरीर के प्रतिभासित होने पर नियम से ही सभी के लिये गौरत्व प्रतिभासित होता है उसी प्रकार वाच्य के साथ ही रस इत्यादि भी सहृदय और असहृदय सभी के लिए प्रतिभासित होने लगें। ऐसा है नहीं, वैसा यह प्रथम उद्योत मे ही प्रतिपादित कर दिया गया।

तारावती

रखती हैं। अतः आनन्दवर्धन का यह मानना कि नाटयवृत्तियाँ वस्तुतः अर्थवृत्तियाँ हैं, ठीक ही है। काव्यवृत्तियों का व्यवहार अधिकतर वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग मे किया जाता है जिसमे कोमल, कठोर इत्यादि वर्णों के आधार पर वृत्तियों का निरूपण किया जाता है। अतः यह स्पष्ट ही है कि ये शब्दवृत्तियाँ हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने नाट्य और काव्यवृत्तियों का सफल तथा सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है।) शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के व्यवहारों का नाटय और काव्य दोनों मे यदि रस इत्यादि के तात्पर्य से सन्निवेश किया जाता है तो दोनों की एक अनिर्वचनीय छाया उत्पन्न हो जाती है। आशय यह है कि दोनों वृत्तियाँ नाटय और काव्य दोनों में समान रूप से उपयोगिनी होती हैं, ऐसा नहीं है कि कोई एक प्रकार की वृत्ति नाटय के लिये ही उपयोगी हो और दूसरे प्रकार की काव्य के लिये ही। दोनों प्रकार की वृत्तियों का जीवन रस ही है। इतिवृत्त तो केवल शरीरस्थानीय ही होते हैं। मुनि ने लिखा है कि वृत्तियों की माता काव्य (कविता) ही है। मुनि ने यह भी कहा है कि इतिवृत्त नाटय का शरीर होता है और ऐसे इतिवृत्त का आश्रय लेने का उपदेश दिया है जो रस के लिये उपयुक्त हो। नाटय या अभिनय वस्तुतः रस ही होता है यह पहले समझाया जा चुका है। इस प्रकार भरत मुनि का मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है, रस

## लोचन

गुणगुणिव्यवहार इति । अत्यन्तसम्मिश्रतया प्रतिभासनाद्धर्मधर्मिव्यवहारो युक्तः । न त्विति । क्रमस्यासंवेदनादिति भावः । प्रथमेति । 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते' इत्यादिना प्रतिपादितमदः ।

'गुण-गुणि व्यवहार' यह । अत्यन्त सम्मिश्रित रूप में प्रतिभासित होने के कारण धर्म-धर्मी व्यवहार उचित है । 'नतु' यह । भाव यह है कि क्रम के असंवेदन के कारण । 'प्रथम' यह । 'शब्दार्थ-शासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते' के द्वारा उसका प्रतिपादन कर दिया गया ।

## तारावती

उसका जीवन है और वृत्तियों को आश्रय देनेवाला काव्य ही होता है । जो बात भरत मुनि ने कही है वह भामह के इस कथन से भी सिद्ध होती है—

'जिस प्रकार पहले शहद को चाटकर कड़ुई औषधि पी ली जाती है उसी प्रकार स्वादिष्ट काव्यरस से भलीभाँति मिले हुये वाक्यार्थ का उपभोग करते हैं ।'

इससे भी यही सिद्ध होता है कि भामह शब्दवृत्तिरूप व्यवहार का जीवन रस के उपयोग को ही मानते हैं । इस प्रकार नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों से सिद्ध हो जाता है कि रस जीवन है और इतिवृत्त शरीर ।

यहाँ पर एक यह विवाद उठ खड़ा हुआ है कि इतिवृत्त और रस का क्या सम्बन्ध है । दो प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं ( १ ) गुण और गुणी का सम्बन्ध अथवा धर्म और धर्मी का सम्बन्ध, तथा ( २ ) जीव और शरीर का सम्बन्ध । आलोककार ने जीव और शरीर का सम्बन्ध माना है । इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि काव्य के इतिवृत्त और रस में शरीर और जीव का सम्बन्ध मानना उचित नहीं । क्योंकि शरीर पहले होता है और जीव का प्रवेश उसमें बाद में होता है । इसके अतिरिक्त एक समय ऐसा भी होता है जब शरीर तो होता है किन्तु जीव नहीं होता । इस प्रकार जीव से पृथक् शरीर रह सकता है और उसमे एक क्रम होता है कि पहले शरीर और बाद में जीव । किन्तु रस के प्रसङ्ग में ऐसा नहीं होता । न उसमें पौर्वापर्य क्रम होता है और न पृथग्भाव । काव्य में वाच्य-प्रतीति सर्वदा रसादिमय ही होती है । रसादि से व्यतिरिक्त वाच्य की प्रतीति कभी नहीं होती । अतः जीव और शरीर का व्यवहार ठीक नहीं । अब दूसरे सम्बन्ध को लीजिये—रस गुण अथवा धर्म है और इतिवृत्त गुणी अथवा धर्मी है । यही सम्बन्ध ठीक जँचता है । गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं रहता और धर्म कभी धर्मी से पृथक् नहीं रहता । इनकी प्रतीति अत्यन्त सम्मिलित रूप में ही होती है । यही बात रस के विषय में लागू होती है अत्यन्तसम्मिश्रतारूप धर्म इनके

ध्वन्यालोकः

स्यान्मतं, रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषतः संवेद्यं वाच्यानां रसादिरूपत्वमिति। नैवम्; यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपानतिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते तथा रसादीनामपि विभावानुभावादिरूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव लक्ष्येत। न चैवम्, न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात्क्रमोऽवश्यंभावी। स तु लाघवान्न प्रकाश्यते 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादयः' इत्युक्तम्।

(अनु०) रत्नों के जात्यत्व के समान प्रतिपत्तिविशेष के आधार पर यदि वाच्यों का रसादिमयत्व आपका अभिमत हो तो ऐसा नहीं। क्योंकि जैसे जात्यत्व के रूप में प्रतिभासित होनेवाले रत्न मे उसका रत्नस्वरूपानतिरिक्तत्व ही लक्षित होता है उसी प्रकार रसादिकों का भी विभावानुभावादि वाच्यानतिरिक्तत्व ही लक्षित हो। किन्तु ऐसा होता नहीं। किसी के लिए यह अवगम नहीं होता कि विभावानुभाव व्यभिचारी ही रस होते हैं। और इसीलिए विभाव इत्यादि की प्रतीति से अविनाभाविनी रस इत्यादि की प्रतीति होती है इस प्रकार उन दोनों प्रतीतियों के कार्यकारण भाव के द्वारा व्यवस्थित किये जाने से क्रम अवश्यंभावी है। यह लाघव के कारण प्रकाशित नहीं होता अतः रस इत्यादि अलक्ष्यक्रम होते हुये ही व्यङ्ग्य होते हैं यह कहा गया है।

लोचन

ननु यद्यस्य धर्मरूपं तत्तत्प्रतिभासे सर्वस्य नियमेन भातीत्यनैकान्तिकमेतत्। माणिक्यधर्मो हि जात्यत्वलक्षणो विशेषो न तत्प्रतिभासेऽपि सर्वस्य नियमेन भातीत्याशङ्कते—स्यादिति। एतत्परिहरति—नैवमिति। एतदुक्तं भवति—अत्यन्तोन्मग्नस्वभावत्वे सति तद्धर्मत्वादिति विशेषणमस्माभिः कृतम्। उन्मग्नरूपता च न रूपवज्जात्यत्वस्य, अत्यन्तलीनस्वभावत्वात्। रसादीनां चोन्मग्नतास्त्येवेत्येव केचिदेतं ग्रन्थमनैषुः।

निस्सन्देह जो जिसका धर्मरूप होता है वह उसके प्रतिभान मे सभी के लिये नियमतः प्रतीत ही होता है यह अनैकान्तिक है। जात्यत्वलक्षण माणिक्य धर्मविशेष उसके प्रतिभास में भी सभी के लिये नियमपूर्वक प्रतीत नहीं होता यह शङ्का कर रहे हैं—'स्यात् मतम्' इत्यादि। इसका परिहार करते हैं—ऐसा नहीं यह। यहाँ यह कहा गया है—हमने 'अत्यन्त उन्मग्न स्वभाववाला होते हुये उसका धर्म होने के कारण यह विशेषण किया है। और उन्मग्नरूपता तो अत्यन्त लीन स्वभाववाला होने से रूप के समान जात्यत्व की नहीं होती। और रस इत्यादिकों की उन्मग्नता है ही—कुछ लोगो ने इस ग्रन्थ को इस प्रकार लगाया है।

अन्दर विद्यमान है जिससे ये गुण और गुणी अथवा सम्बन्ध और सम्बन्धी कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। (सिद्धान्ती) इस पर मेरा निवेदन यह है कि यदि आप इतिवृत्त को गुणी मानते हैं और रस को गुण मानते हैं, क्योंकि वाच्य सर्वदा रसादिमय ही होता है, तो जिस प्रकार शरीर के प्रतिभासित होनेपर नियमपूर्वक गौरत्व इत्यादि गुणों की प्रतीति अवश्य होती है उसी प्रकार वाच्य के प्रतिभासित होने के साथ ही रस भी अवश्य ही प्रतिभासित होना चाहिये। उसमें यह नियम नहीं होना चाहिये कि रस की प्रतीति केवल सहृदयों को ही होती है असहृदयों को नहीं होती। गुण और गुणी की प्रतीति सभी व्यक्तियों को चाहे वे सहृदय हों चाहे असहृदय, एक जैसी होती है। किन्तु रस और इतिवृत्त की प्रतीति सभी को एक जैसी नहीं होती। इस बात का प्रतिपादन प्रथम उद्योत में किया जा चुका है—'उस रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान केवल शब्दानुशासन और अर्थानुशासन के ज्ञान से ही नहीं होता उसका परिज्ञान तो काव्यार्थतत्त्ववेत्ता ही कर सकते हैं।'

(प्रश्न) गुणी के साथ गुण का अथवा धर्मी के साथ धर्म का अवश्य ही भान होता है इस हेतु मे अनैकान्तिक सव्यभिचार हेत्वाभास है। गुण दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे गुण होते हैं जिनका भाव गुणी के साथ अवश्य होता है जैसे गौरवर्ण का भान शरीर के साथ अवश्य होता है। दूसरे वे गुण होते हैं जिनका भान गुणी के साथ अनिवार्य रूप से अवश्य ही नहीं होता। जैसे माणिक्य का एक विशेष प्रकार का धर्म होता है जात्यत्व। इस धर्म के होने पर माणिक्य मे उत्कृष्टता आ जाती है। माणिक्य के प्रतिभास होने पर उसके देखनेवाले सभी व्यक्ति उस जात्यत्व धर्म को नही जान पाते। उस धर्म को विशेष प्रकार के देखनेवाले ही जान पाते हैं। इसी प्रकार वाच्य के धर्म रस इत्यादि की प्रतीति सभी वाच्यार्थाभिज्ञ व्यक्तियों को नहीं होती। उसे विशेष प्रकार के प्रतिपत्ता (सहृदय) व्यक्ति ही जान पाते हैं। इस प्रकार इनका धर्मी और धर्म का सम्बन्ध ही ठीक है शरीर और जीव का सम्बन्ध ठीक नहीं। (उत्तर) किसी भी तत्त्व के गुण दो प्रकार के होते है एक तो उन्मग्न स्वभाववाले और दूसरे निमग्न स्वभाववाले। उन्मग्न स्वभाववाले गुण केवल उसी द्रव्य मे नहीं रहते जबकि निमग्न स्वभाववाले गुण केवल उसी द्रव्य मे रहते हैं। जैसे गौरत्व इत्यादि ऐसे गुण हैं जो पुरुष मे भी रहते हैं और अन्यत्र भी। अतः ये उन्मग्न स्वभाववाले गुण कहे जा सकते है। इसके प्रतिकूल जात्यत्व ऐसा गुण है जो रत्न को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, अतः यह निमग्नस्वभाववाला गुण है। जब हम यह कहते हैं कि गुणी के प्रतीत होने पर गुण की प्रतीति अवश्य होती है तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि उन्मग्न

## लोचन

अस्मद्गुरवस्त्वाहुः—अत्रोच्यत इत्यनेनेदमुच्यते—यदि रसादयो वाच्यानां धर्मास्तथा सति द्वौ पक्षौ रूपादिसदृशा वा स्युर्माणिक्यगतजात्यत्वसदृशा वा। न तावत्प्रथमः पक्षः, सर्वान् प्रति तथानवभासात्। नापि द्वितीयः, जात्यत्ववदनतिरिक्तत्वेनाप्रकाशनात्। एष च हेतुराद्येऽपि पक्षे सङ्गच्छत एव। तदाह—स्यान्मतमित्यादिना न चैवमित्यन्तेन। एतदेव समर्थयति—न हीति। अत एव चेति। यतो न वाच्यधर्मत्वेन रसादीनां प्रतीतिः, यतश्च तत्प्रतीतौ वाच्यप्रतीतिः सर्वथानुपयोगिनी तत एव हेतोः क्रमेणावश्यं भाव्यं सहभूतयोरुपकारायोगात्। स तु सहृदयभावनाभ्यासान्न लक्ष्यते अन्यथा तु लक्ष्येतापीत्युक्तं प्राक्। यस्यापि प्रतीतिविशेषात्मैव रस इत्युक्तिः प्राक्तस्यापि व्यपदेशिवत्त्वाद्रसादीनां प्रतीतिरित्येवमन्यत्र।

हमारे गुरु लोग तो कहते हैं—'अत्रोच्यते' इस प्रकरण के द्वारा यह कहा जा रहा है—यदि रस इत्यादि वाच्यों के धर्म हैं तो ऐसा होने पर दो पक्ष हैं या तो रूप इत्यादि के सदृश हो या माणिक्यगत जात्यत्व के सदृश हों। प्रथम तो पक्ष नहीं हो सकता क्योंकि सबके प्रति वैसा अवभास नहीं होता। द्वितीय भी नहीं क्योंकि जात्यत्व के समान अनतिरिक्त रूप में प्रकाशन नहीं होता। और यह हेतु प्रथम पक्ष में भी सङ्गत हो जाता है। इसी का समर्थन करते हैं—'नहि' इत्यादि। 'और इसीलिये' यह। क्योंकि वाच्यधर्मत्व के रूप में रस इत्यादि की प्रतीति नहीं होती और क्योंकि उसकी प्रतीति में वाच्यप्रतीति सर्वथा अनुपयोगिनी नहीं होती इसी हेतु से क्रम अवश्य होना चाहिये, क्योंकि साथ में होनेवालों का उपकार का योग होता ही नहीं। वह सहृदय भावना के अभ्यास के कारण लक्षित नहीं होता अन्यथा लक्षित भी हो यह पहले कहा गया है। जिसकी पहले की यह उक्ति है कि प्रतीतिविशेषात्मक ही रस होता है उसके भी मत में व्यपदेशिवद्भाव से (भेदारोप) से रस इत्यादि की प्रतीति कही जाती है। ऐसा ही अन्यत्र भी (समझना चाहिये)।

## तारावती

स्वभाववाले गुण द्रव्य के साथ अवश्य प्रतीत होते हैं। गौरत्व उन्मग्न स्वभाववाला होता है, अतः द्रव्य के साथ उसकी प्रतीति निश्चित ही है। जात्यत्व अत्यन्त लीन स्वभाववाला होता है जो रत्न से भिन्न अन्यत्र रहता हीं नहीं। अतः रत्न की प्रतीति के साथ जात्यत्व की प्रतीति अपरिहार्य नहीं है। अतएव गौरत्व और जात्यत्व दोनों धर्मों में भेद हो गया। रस गौरत्व के समान उन्मग्नस्वभाववाला ही है। यदि रस जात्यत्व के समान इतिवृत्त का स्वरूपानतिरिक्त धर्म होता तो वह भी विभाव अनुभाव इत्यादि वाच्य से अव्यतिरिक्त ही प्रतीत होता। किन्तु ऐसा

तारावती

होता नहीं है। विभावादि वाच्य से सर्वथा भिन्न ही प्रतीत होते हैं। अतएव यदि रस और इतिवृत्त का धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध माना जायगा तो उसमें यह बात सिद्ध न हो सकेगी कि रसानुभूति केवल सहृदयों को ही होती है। अतः मानना पड़ेगा कि वाच्यार्थ सदा रसादिमय ही होता है, यह सिद्धान्त ठीक नहीं। अतएव इनके सम्बन्ध को जीव और शरीर का सम्बन्ध मानना ही ठीक है। यह है कुछ लोगों के मत में इस ग्रन्थ की व्याख्या।

'इसपर मेरा निवेदन है···मानना ठीक है' इस सन्दर्भ की व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त के गुरुओ ने इस प्रकार की है—'यदि रस इत्यादि वाच्य के धर्म माने जायेंगे तो वे या तो रूप इत्यादि के समान होंगे या माणिक्य के जात्यत्व गुण के समान। रूप इत्यादि के समान हो ही नहीं सकते क्योंकि ऐसी दशा में उसकी प्रतीति सबको होने लगेगी। माणिक्यगत जात्यत्व के समान भी नहीं हो सकते क्योंकि उनका प्रकाशन जात्यत्व के समान अनतिरिक्त या अभिन्नरूप में नहीं होता। अनतिरिक्त रूप में प्रकाशित न होना एक ऐसा हेतु है जो रस को दोनों प्रकार के धर्मों से पृथक् सिद्ध कर देता है। जिस प्रकार जात्यत्व माणिक्य से भिन्न नहीं रहता उसी प्रकार गौरत्व भी स्वाश्रय द्रव्य से पृथक् नहीं रहता। किन्तु रस इत्यादि का विभावानुभाव इत्यादि से वही अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार रस का इतिवृत्त से गुण-गुणी भाव या धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतएव इनका जीव और शरीर का सम्बन्ध मानना ही ठीक है।

ऊपर जो जीव-शरीर व्यवहार स्वीकार किया गया है इसमें सबसे बड़ी अनुपपत्ति यही शेष रह जाती है कि शरीर कभी जीव से पृथग्भूत भी रहता है। शरीर पहले होता है और जीव बाद में उसमें प्रवेश करता है। यह पौर्वापर्य क्रम रस और इतिवृत्त मे नहीं होता। रस और इतिवृत्त का प्रतिभास सर्वदा समकालिक ही होता है। अतः इनका जीव-शरीर व्यवहार ठीक नहीं है। इसका उत्तर यह है कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि विभाव इत्यादि का रस इत्यादि से अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है। यह कोई नहीं समझता कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव ही रस होते हैं। किन्तु रस इत्यादि की प्रतीति विभाव इत्यादि की प्रतीति के विना हो भी नहीं सकती। अतएव हम उनमें गुण-गुणीभाव अथवा धर्म-धर्मीभाव न मानकर कार्य-कारणभाव सम्बन्ध ही मानेंगे। कार्य-कारण भाव मे क्रम मानना अनिवार्य है अतः रस और इतिवृत्त में भी क्रम मानना ही पड़ेगा। साराश यह है कि क्रम मानने मे दो बहुत ही सबल तर्क विद्यमान हैं—एक तो रस इत्यादि की प्रतीति वाच्यधर्मत्व के रूप मे

ध्वन्यालोकः

ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः समसमेव प्रतीतिमुपजनयतीति। किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः।

( अनु० ) ( प्रश्न ) शब्द ही प्रकरण इत्यादि से संयुक्त होकर वाच्य और व्यङ्ग्य की एक साथ ही प्रतीति उत्पन्न कर देता है क्रमकल्पना की क्या आवश्यकता ? शब्द की वाच्यप्रतीति का परामर्श ही व्यञ्जकत्व में निबन्धन नहीं है। इस प्रकार—गीत इत्यादि शब्दों से भी रस की अभिव्यक्ति होती है। उनमें बीच में वाच्य का परामर्श नहीं होता।

तारावती

होती है और दूसरे रस इत्यादि की प्रतीति में वाच्य की प्रतीति का सर्वथा अनुपयोग नहीं होता। अतः क्रम मानना ही पड़ेगा क्योंकि जो तत्त्व एक साथ होते हैं उनमें न तो कार्यकारण भाव होता है और न उपकार्योपकारक भाव। यदि हम वाच्य और व्यङ्ग्य का उपकार्योपकारक भाव मानेंगे तो पौर्वापर्यक्रम मानने के लिये बाध्य हो जायेंगे। यह दूसरी बात है कि जिन लोगों ने सहृदय-भावना का अभ्यास किया है उनके उस अभ्यास के कारण वाच्य के बाद व्यङ्ग्य की इतनी शीघ्रता से प्रतीति होती है कि वे जान ही नहीं पाते कि उन दोनों तत्त्वों में कोई पौर्वापर्य क्रम है। उन्हे तो वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों एक साथ होते हुये दिखलाई देते हैं। जिन्होंने सहृदयता की भावना का अभ्यास नहीं किया है यदि वे सरस काव्य पढ़ें तो उन्हें पहले वाच्य की और फिर व्यङ्ग्य की प्रतीति हो भी सकती है। ( कभी कभी तो ऐसे व्यक्ति केवल वाच्यार्थ समझ पाते हैं और रसानुभूति के लिये उनका ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता पड़ जाती है। ) इन सब बातों की व्याख्या प्रथम तथा द्वितीय उद्योत में की जा चुकी है। जो लोग कहते हैं कि विशेष प्रकार की प्रतीति ही रस की आत्मा है अर्थात् वे लोग प्रतीति को ही रस कहते हैं उनके मत में 'रस की प्रतीति' यह भेदमूलक शब्द संगत नहीं होता। अतः उनके मत मे व्यपदेशिवद्भाव से 'रस की प्रतीति' यह संगत हो जाता है। एक ही वस्तु में भेद का आरोप करके सम्बन्ध कारक का प्रयोग करना व्यपदेशिवद्भाव कहलाता है। जैसे राहु एक राक्षस के सिर को ही कहते हैं। किन्तु आरोपित भेद को लेकर 'राहु का सिर' इस शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। इसी प्रकार रस की प्रतीति के विषय मे भी समझना चाहिये।

( प्रश्न ) यह मान भी लें कि रस इत्यादि वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त होते हैं, किन्तु फिर भी आपने ही कहा है कि वाच्यार्थ और रसादि की प्रतीति में क्रम

## लोचन

ननु भवन्तु वाच्यादतिरिक्ता रसादयस्तत्रापि क्रमो न लक्ष्यत इति तावत्त्वयैवोक्तम्। तत्कल्पने च प्रमाणं नास्ति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिमन्तरेण रसप्रतीत्युदयस्य पदविरहितस्वरालापगीतादौ शब्दमात्रोपयोगकृतस्य दर्शनात्। ततश्चैकयैव सामग्र्या सहैव वाच्यं व्यङ्ग्याभिमतं च रसादि भातीतिवचनव्यञ्जनव्यापारद्वयेन न किञ्चिदिति तदाह—नन्विति। यत्रापि गीतशब्दानामर्थोऽस्ति तत्रापि तत्प्रतीतिरनुपयोगिनी ग्रामरागानुसारेणापहस्िततवाच्यानुसारतया रसोदयदर्शनात्। न चापि सा सर्वत्र भवन्ती दृश्यते, तदेतदाह—न चेति। तेषामिति गीतादिशब्दानाम्। आदिशब्देन वाद्यविलपितशब्दादयो निर्दिष्टाः।

(प्रश्न) वाच्य से अतिरिक्त रस इत्यादि हों, वहाँ पर भी क्रम लक्षित नहीं होता यह तो तुमने ही कहा है। और उसकी कल्पना में प्रमाण (भी) नहीं है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से अर्थप्रतीति के विना ही पद से रहित स्वर आलाप गीत इत्यादि मे शब्द-मात्र से उपकृत रस इत्यादि की प्रतीति देखी जाती है। इससे एक ही सामग्री से साथ ही व्यङ्ग्याभिमत वाच्य रसादि शोभित होते हैं; अतः वचन और व्यञ्जन इन दों व्यापारों से कोई प्रयोजन नहीं। वही कहते हैं—'ननु' इत्यादि। जहाँ पर भी गीत-शब्दों का अर्थ होता है वहाँ पर भी उनकी प्रतीति अनुपयोगिनी होती है क्योंकि ग्रामराग के अनुसरण से वाच्यार्थ प्रतीति का तिरस्कार करके रसोदय देखा जाता है। वह (वाच्य प्रतीति) सर्वत्र होती हुई देखी भी नहीं जाती। यह वही कहते हैं—'और नहीं'। उनका अर्थात् गीत इत्यादि शब्दों का। आदि शब्द से वाद्य विलपित इत्यादि शब्द निर्दिष्ट किये गये हैं।

## तारावती

लक्षित नहीं होते। ऐसी दशा में क्रम की कल्पना करने मे ही क्या प्रमाण है? यदि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर परीक्षा की जाय तो सिद्ध होगा कि रस में क्रम का मानना आवश्यक नहीं है। अन्वय इस प्रकार होगा—'रस इत्यादि के होने पर क्रम अवश्य होता है' और व्यतिरेक इस प्रकार होगा—'क्रम के न होने पर रस इत्यादि नहीं होते।' कभी कभी देखा जाता है जहाँ पर अर्थ की प्रतीति नहीं भी होती अथवा जहाँ पद भी नहीं होते वहाँ पर केवल स्वरालाप और गीत इत्यादि के द्वारा केवल शब्द के ही उपयोग से रस की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार जहाँ वाच्यार्थ बिल्कुल नहीं होता वहाँ भी रसानुभूति देखी जाती है। इस प्रकार एक ही सामग्री से एक साथ वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ के लिये अभिमत रस इत्यादि प्रतीत हो जाते हैं। फिर अभिधा और व्यञ्जना इन दो व्यापारों की पृथक् सत्ता मानने की भी क्या आवश्यकता? जिस सामग्री से वाच्यार्थ और

## ध्वन्यालोकः

अत्रापि ब्रूमः—प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतदस्माभिः कम्। किन्तु तद् व्यञ्जकत्वं तेषां कदाचित्स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचिद्वाचकशक्तिनिबन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न तर्हि वाचकशक्तिनिबन्धनम्। अथ तन्निबन्धनं तन्नियमेनैव वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्ग्यप्रतीतेः प्राप्तमेव।

( अनु० ) हम यहाँ पर भी कहते हैं—यह तो हमारा अनुमत ही है कि प्रकरण इत्यादि की विशेषता के साथ शब्दों का व्यञ्जकत्व होता है। किन्तु वह उनका व्यञ्जकत्व कदाचित् स्वरूप विशेष के आधार पर होता है कदाचित् वाचक शक्ति के आधार पर। उसमें जिनका वाचक शक्ति के आधार पर होता है उनकी वह बात यदि वाच्यप्रतीति के विना ही स्वरूपप्रतीति से ही हो जाय तो वह वाचकशक्ति के आधार पर नहीं होती। यदि वाचकशक्तिनिबन्धन होती है तो नियम से ही व्यङ्ग्यप्रतीति की उत्तरकालता वाच्यप्रतीति की अपेक्षा प्राप्त हो जाती है।

## लोचन

अनुमतमिति। 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति ह्यवोचामेवेति भावः। न तर्हीति। ततश्च गीतवदेवार्थावगमं विनैव रसावभासः स्यात्काव्यशब्देभ्यः। न चैवमिति वाचकशक्तिरपि तत्रापेक्षणीया। सा वाच्यनिष्ठैवेति प्राग्वाच्ये प्रतिपत्तिरित्यभ्युपगन्तव्यम्। तदाह—अथेति। तदिति वाचकशक्तिः। वाच्यवाचक भावेति। सैव वाचकशक्तिरित्युच्यते।

'अनुमत ही है' यह। भाव यह है कि हमने यह कहा ही है—'जहाँ अर्थ अथवा शब्द' इत्यादि। 'तो नहीं····' इत्यादि। तो गीत के समान ही अर्थावगत के विना ही काव्यशब्दों से रस का अवभास हो जाय। ऐसा होता नहीं अतः वाचक शक्ति भी उसमें अपेक्षणीय होती है और वह वाच्यनिष्ठा ही होती है। अतः पहले वाच्य में प्रतिपत्ति होती है यह समझना चाहिये वह कहते हैं—'यदि' यह। वह अर्थात् वाचक शक्ति। 'वाच्य-वाचक भाव' यह। वही वाचक शक्ति होती है यह कहा जाता है।

## तारावती

व्यङ्ग्यार्थ दोनों की प्रतीति होती है वह है प्रकरणादि से अवच्छिन्न शब्द। यह आप कह ही नहीं सकते कि वाच्यप्रतीति का परामर्श ही व्यञ्जना मे निमित्त होता है। यह अभी सिद्ध किया जा चुका है कि गीत, वाद्य, विलाप इत्यादि शब्दों से भी रसाभिव्यक्ति देखी जाती है जिनमें वाच्यार्थ बिल्कुल नहीं होता। इसके अतिरिक्त जहाँ पर गीत इत्यादि के शब्दों का अर्थ भी हो वहाँ पर भी उन अर्थों की

ध्वन्यालोकः

स तु क्रमो यदि लाघवान्न लक्ष्यते तत्किं क्रियते। यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दमात्रसाध्या रसादिप्रतीतिः स्यात्तदनवधारितः प्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तृणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्। सहभावे च वाच्यप्रतीतेरनुपयोगः, उपयोगे वा न सहभावः। येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः। तत्तु शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यमनन्यसाध्यतत्फलघटनास्वाशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविलक्षणे रसादौ न प्रतीयते।

(अनु०) यदि वह क्रम लाघव के कारण लक्षित न हो तो क्या किया जाय। और यदि वाच्यप्रतीति के विना ही प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न शब्दमात्र से ही रस इत्यादि की प्रतीति साध्य हो तो प्रकरण इत्यादि का अवधारण न करनेवाले और स्वयं वाचकभाव में अव्युत्पन्न प्रतिपत्ताओं की वह (रसादिप्रतीति) काव्यश्रवणमात्र से ही हो जाय। और सहभाव में वाच्यप्रतीति का उपयोग नहीं होता और उपयोग होने पर सहभाव नहीं होता। जिनका स्वरूपविशेष प्रतीतिनिमित्त भी व्यञ्जकत्व होता है उनका भी स्वरूपप्रतीति और व्यङ्ग्यप्रतीति का नियमानुसार होनेवाला क्रम है। वह शब्द का क्रिया-पौर्वापर्य दूसरे को सिद्ध न करनेवाली, शीघ्र ही भावित करनेवाली, उसके फलवाली संघटनाओं में वाच्य के अविरोधी तथा दूसरे अभिधेयों से विलक्षण रसादि में प्रतीत नहीं होता।

तारावती

प्रतीति का कोई उपयोग नहीं होता क्योंकि ग्रामराग के अनुसार वहाँ पर वाच्यार्थ के अपहरण का अनुसरण करते हुये रसाभिव्यक्ति देखी जाती है। सारांश यह है कि व्यङ्ग्यार्थप्रतीति मे वाच्यार्थप्रतीति सर्वदा अनिवार्य नहीं होती। अतः क्रमकल्पना में कोई प्रमाण नहीं (उत्तर) इस विषय मे हमारा कहना यह है कि यह तो हम मानते ही हैं कि प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न होकर शब्द व्यञ्जक होते हैं। यह तो हमने प्रथम उद्योत की १३ वीं कारिका ('यत्रार्थः शब्दो वा—') में दिखला ही दिया है। किन्तु शब्दों का व्यञ्जकत्व दो प्रकार का होता है—कभी-कभी तो स्वरूपविशेष-निबन्धन होता है और कभी वाचकशक्ति-निबन्धन। गीत इत्यादि में स्वरूप-निबन्धन रसनिष्पत्ति होती है और काव्य मे वाचकशक्ति-निबन्धन। यदि काव्य में भी अर्थबोध के अभाव में ही गीत इत्यादि के समान रसनिष्पत्ति मान ली जाय तो वहाँ भी प्रथम प्रकार की अर्थात् स्वरूपनिबन्धन रसनिष्पत्ति ही मानी जायेगी। किन्तु ऐसा होता नहीं

## लोचन

एतदुक्तं भवति—मा भूद्वाच्यं रसादिव्यञ्जकम्, अस्तु शब्दादेव तत्प्रतीतिस्तथापि तेन स्ववाचकशक्तिस्तस्यां कर्तव्यायां सहकारितयावश्यापेक्षणीयेत्यायातं वाच्यप्रतीतेः पूर्वभावित्वमिति ।

ननु गीतशब्दवदेव वाचकशक्तिरत्राप्यनुपयोगिनी । यत्तु क्वचिच्छ्रुतेऽपि काव्ये रसप्रतीतिर्न भवति तत्रोचितः प्रकरणावगमादिः सहकारी नास्तीत्याशङ्क्याह—यदि-

यह कहा गया है—वाच्य रसादिव्यञ्जक न हो, शब्द से ही उसकी प्रतीति हो; तथापि उस ( शब्द ) के द्वारा उस ( रसप्रतीति ) के किये जाने योग्य होने पर अपनी वाचक शक्ति सहकारिता के रूप में अपेक्षित की जाती है। अतः वाच्यप्रतीति का पूर्वभावित्व आगया ।

निस्सन्देह गीत शब्द के समान ही वाचक शक्ति यहाँ पर भी अनुपयोगिनी है, और जो कि कहीं सुने हुये काव्य मे भी रसप्रतीति नहीं होती है वहाँ उचित प्रकरणावगम इत्यादि सहकारी नहीं है' यह आशङ्का करके कहते हैं—'यदि च'

## तारावती

है। वाचकशक्तिनिबन्धन व्यङ्ग्यार्थबोध के लिये वाचकशक्ति वाच्यार्थ में ही रहती है । अतएव पहले वाच्यार्थप्रतीति मानना ही उचित है । क्योंकि जब इतना सिद्ध हो गया कि व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति वाचक-शक्ति निबन्धन होती है तब यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि कारणभूत वाच्यार्थ के बाद ही कार्यभूत व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति होती है ।

यहाँ पर आशय यह है कि यदि आप वाच्य को रसप्रतीति का अनिवार्य हेतु नहीं मानना चाहते तो न मानिये शब्द को ही रसप्रतीति का हेतु मान लीजिये । फिर भी शब्द गीत इत्यादि में तो स्वरूप से ही रसाभिव्यञ्जन कर देता है किन्तु काव्य में उसे इस क्रिया में अपनी वाचक शक्ति की अपेक्षा अवश्य होती है । ऐसी दशा में भी वाच्यप्रतीति का पहले होना सिद्ध हो गया ।

रसादिप्रतीति के पहले वाच्यार्थप्रतीति भी होती है । यह दूसरी बात है कि हम शब्द सुनते जाते हैं उनका वाच्यार्थ समझते जाते हैं और उनसे रसास्वादन करते जाते हैं । इस समस्त क्रिया में एक पौर्वापर्य क्रम रहता है। किन्तु वह क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि हमें मालूम पड़ने लगता है कि मानों सारी क्रियायें एक साथ हो रही हैं उनमें कोई क्रम है ही नहीं । आशय यह है कि शब्दों के सुनने के बाद ही अर्थ की प्रतीति होती है और अर्थ की प्रतीति के बाद ही रसानुभूति होती है। किन्तु वह क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि विचारक और विवेचक तो उसे लक्षित कर पाते हैं; साधारण स्थिति में उसकी प्रतीति नहीं होती । यदि सर्व-

## लोचन

चेति । प्रकरणावगमो हिक उच्यते ? किं वाक्यान्तरसहायत्वम् ! अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिवाच्यम् । उभयपरिज्ञानेऽपि न भवति प्रकृतवाक्यार्थावेदने रसोदयः । स्वयमिति । प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद् येषां व्याख्यातमितिभावः । न चान्वयव्यतिरेकवतीं वाच्यप्रतीतिमपह्नुत्याद्दष्टसद्भावाभावौ शरणत्वेनाश्रितौ मात्सर्यादधिकं किञ्चित्पुष्णीत इत्यभिप्रायः ।

इत्यादि । निस्सन्देह प्रकरणावगम कौन कहा जाता है ?' क्या-वाक्यान्तरसहायत्व अथवा दूसरे वाक्यों का सम्बन्धी वाक्य ? दोनों के परिज्ञान में भी प्रकृत वाक्यार्थ के न समझने पर रस का उदय नहीं होता । 'स्वयम्' यह । भाव यह है कि जिनके सामने केवल प्रकरण की ही किसी दूसरे ने व्याख्या कर दी । अन्वय-व्यतिरेकवाली वाच्यप्रतीति को छिपाकर शरण के रूप में आश्रित किये हुये अदृष्ट की सत्ता और उसका अभाव मात्सर्य से अधिक कुछ पुष्ट नहीं ही करते हैं यह अभिप्राय है ।

## तारावती

साधारण व्यक्ति किसी तत्त्व को न समझ पायें तो उसका चारा ही क्या ! उससे किसी प्रमाणप्रतिपन्न वस्तु का अपलाप तो नहीं हो सकता ।

( प्रश्न ) जिस प्रकार गाने रोने इत्यादि के शब्दों से रसाभिव्यक्ति हो जाती है और उनमें वाचकशक्ति की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार अन्यत्र भी वाचकशक्ति के उपयोग के बिना ही शब्दों से ही रसानुभूति हो सकती है उसमे वाचकशक्ति का उपयोग मानने की क्या आवश्यकता । ( उत्तर ) वाचकशक्ति के उपयोग के बिना ही यदि शब्दमात्र से ही आप रसानुभूति मानेंगे तो आप के मत मे जिन्होंने वाच्य-वाचकभाव की व्युत्पत्ति नहीं कर पाई है इस प्रकार के परिशीलकों को भी रसानुभूति होने लगेगी । किन्तु ऐसा होता नहीं है । रसानुभूति केवल शब्द सुनने से ही नहीं होती अपितु अर्थ समझने से होती है । अतः वाच्यार्थ रसानुभूति का कारण अवश्य है । ( पूर्वपक्ष ) जहाँ काव्य को सुनने पर भी रसप्रतीति नहीं होती वहाँ यही समझा जाता है कि वहाँ पर प्रकरण इत्यादि का उचित ज्ञान नहीं होता । प्रकरण का ज्ञान रसानुभूति में सहकारी अवश्य होता है । सहकारी के अभाव में रसानुभूति का न होना स्वाभाविक ही है । ( उत्तर ) प्रकरण के ज्ञान से आपका क्या अभिप्राय है ? इसके केवल दो ही अभिप्राय सम्भव हैं—जिस वाक्य से रसानुभूति हो रही है उससे सम्बन्धित दूसरे वाक्यों का ज्ञान होना प्रकरणज्ञान कहलाता है अथवा प्रकृत वाक्यार्थ से सम्बद्ध दूसरे वाक्यों का अर्थ जानना प्रकरण-

ज्ञान कहलाता है। आप चाहे जो पक्ष मानें, चाहे आप यह स्वीकार करें कि प्रकृत वाक्य से सम्बद्ध दूसरे वाक्यों का ज्ञान होने पर प्रकरणज्ञान का होना कहा जाता है अथवा आप यह मानें कि प्रकृत वाक्य से सम्बन्धित दूसरे वाक्यों के सम्बन्धित वाच्यार्थ का ज्ञान ही प्रकरणज्ञान कहा जाता है, दोनों अवस्थाओं मे प्रकरणज्ञानमात्र से तब तक रसानुभूति नहीं होती जब तक प्रकृत वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो जाता। (गीत में यह जान लेने मात्र से ही कि गीत शृंगारविषयक है या वीरविषयक, रसानुभूति हो जाती है। उसमें वाक्यार्थज्ञान न होने पर भी स्वर ताल और लय से ही रसानुभूति हो जाती है। किन्तु काव्य में वाक्यार्थज्ञान का होना रसानुभूति के लिये अनिवार्य है। उसमें केवल प्रकरण-ज्ञान से काम नहीं चलता।) जिन्होंने प्रकरणज्ञान तो कर लिया है किन्तु वाच्य-वाचक भाव की व्युत्पत्ति जिन्हे नहीं है उनको काव्य सुनकर रसानुभूति नहीं होती। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि केवल प्रकरणज्ञान रसानुभूति के लिये पर्याप्त नहीं है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति प्रकरणमात्र ही समझा दे और काव्य सुनाने लगे तो जो व्यक्ति उस काव्य की भाषा को नहीं समझता उसे कभी भी रसास्वादन नहीं हो सकेगा। किन्तु आपके मत में प्रकरणज्ञान होने पर वाच्यार्थ-प्रतीति न होने में भी रसास्वादन होना चाहिये।

[ यहाँ पर आनन्दवर्धन का आशय यही प्रतीत होता है कि यदि वाच्यार्थज्ञान के अभाव में भी प्रकरणज्ञान से ही रसानभूति मानी जायेगी तो जिनको केवल प्रकरण का ज्ञान है और वे स्वयं वाच्यार्थ को नहीं समझते उन्हे भी रसास्वादन होने लगेगा जोकि लोकसिद्ध तथ्य नहीं है। इस आशय के अनुसार पाठ यही होना चाहिये—'तदवधारितप्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तृणां काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्' किन्तु इस मूल पाठ में एक 'न' और बढ़ गया है और 'अवधारित' के स्थान 'अनवधारित' पाठ हो गया है। इससे अर्थ करने में भी श्रम होगया है और प्रश्नोत्तर भी सङ्गत नहीं होते। किन्तु एक तो यह पाठ सभी पुस्तकों में पाया जाता है दूसरे बालप्रिया को छोड़कर सभी टीकाकारों ने यही पाठ माना है। यहाँ तक कि अभिनवगुप्त को भी यही पाठ मिला था। अतः ज्ञात होता है कि यह भूल या तो स्वयं अभिनवगुप्त की होगी या उनके तत्काल पर-वर्ती किसी लेखक की। दीधितिकार ने इसकी योजना इस प्रकार लगाई है—'आप प्रकरण को रसानुभूति का कारण मानते हैं। इससे आप का आशय यही सिद्ध होता है कि किसी प्रसङ्ग में प्रकरण का होना ही आपके मत मे पर्याप्त है। अब यदि एक व्यक्ति ने प्रकरण को समझ भी नहीं पाया और अर्थ भी स्वयं उसकी समझ में

तारावती

नहीं आया है तो भी उसे रसानभूति हो जानी चाहिये क्योंकि प्रकरण तो वहाँ पर विद्यमान है ही और आपके मत मे प्रकरण ही कारण है प्रकरणज्ञान नहीं।' किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है इसका तो पूर्वपक्षी तत्काल यह कहकर खण्डन कर सकता है कि मैं प्रकरण को नहीं प्रकरणज्ञान को कारण मानता हूँ। अतः इससे तो सिद्धान्त का अभिमत सिद्ध नहीं होता कि केवल प्रकरणज्ञान से नहीं अपि तु वाच्यार्थज्ञान से रसानुभूति होती है। अभिनवगुप्त ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है–'जिस व्यक्ति ने स्वयं प्रकरण को भी समझ नहीं पाया और वाच्य-वाचकभाव की व्युत्पत्ति उसे है ही नहीं, उसे भी यदि कोई दूसरा व्यक्ति प्रकरण समझा दे तो रसानुभूति हो जानी चाहिये।' यह व्याख्या कुछ ठीक मालूम पड़ती है। क्योंकि ग्रन्थकार के 'स्वयं' शब्द की इस प्रकार की योजना सरलता से की जा सकती है और 'स्वयं' का यह अर्थ भी हो सकता है। इसका आशय भी यह हो सकता है कि मान लीजिये किसी ऐसी भाषा का काव्य पढ़ा जा रहा है जिसको श्रोता स्वयं नहीं समझता और उसे प्रकरण का भी ज्ञान नहीं है; उसे यदि कोई दूसरा व्यक्ति यह समझा दे कि यहाँ पर अमुक के प्रेम की चर्चा की जा रही है तो भी काव्य सुनकर उसे रसानुभूति नहीं हो सकेगी। किन्तु सबसे अच्छा तो यही है कि 'अवधारितप्रकरणानाम्' यही पाठ माना जाय। ]

'रसप्रतीति के होने में वाच्यप्रतीति होती है'। यह अन्वय और 'वाच्यप्रतीति के अभाव में रसप्रतीति का अभाव होता है' यह व्यतिरेक विद्यमान है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों के मिल जाने से रसप्रतीति की कार्यरूपता और वाच्यप्रतीति की कारणरूपता सिद्ध हो जाती है। फिर भी आप उसे छिपा रहे हैं और किसी अदृष्ट तत्त्व के अन्वय-व्यतिरेक को सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि आप जो कुछ कहते हैं वह सब द्वेष बुद्धि तथा पक्षपात से पूर्ण है और आपका प्रतिपादन पूर्वाग्रह-ग्रस्त है। इसके अतिरिक्त और कुछ सिद्ध नहीं होता। (सम्भवतः अभिनवगुप्त के समसामयिक कतिपय विद्वान् किसी अदृष्ट तत्त्व की कल्पनाकर उसे रसास्वादन का कारण मानते होंगे और वाच्यप्रतीति की कारणता का निषेध करते होंगे। उन्हीं पर यह कटाक्ष किया गया है।)

इस विषय मे पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि 'हम इतना तो मान सकते हैं कि रसप्रतीति मे वाच्यप्रतीति का उपयोग होता है। किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि दोनों प्रतीतियाँ क्रमिक रूप में होती हैं और वाच्यप्रतीति पहले होती है तथा रसप्रतीति बाद में होती है। यदि पूछा जाय कि वाच्यप्रतीति का उपयोग किस

## लोचन

नन्वस्तु वाच्यप्रतीतेरुपयोगः क्रमाश्रयेण किं प्रयोजनम्, सहभावमात्रमेव ह्युपयोग एकसामग्र्यधीनतालक्षणमित्याशङ्क्याह—सहेति। एवं ह्युपयोग इति अनुपकारके संज्ञाकरणमात्रं वस्तुशून्यं स्यादिति भावः। उपकारिणो हि पूर्वभावितेति त्वयाप्यङ्गीकृतमित्याह—येषामिति। तद्दृष्टान्तेनैव वयं वाच्यप्रतीतेरपि पूर्वभावितां समर्थयिष्याम इति भावः। ननु संश्चेत्क्रमः किं न लक्ष्यते इत्याशङ्क्याह—तत्त्विति। क्रियापौर्वापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह—क्रियेते इति। क्रिये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती

'निस्सन्देह वाच्यप्रतीति का उपयोग हो—क्रम के आश्रय से क्या प्रयोजन ? एक सामग्री के आधीन होना इस लक्षणवाला सहभावमात्र ही उपयोग हो' यह शङ्का करके कहते हैं—'सहभाव में' इत्यादि। भाव यह है कि इस प्रकार निस्सन्देह अनुपकारक में उपयोग यह केवल संज्ञा करना ही वस्तुशून्य हो जायेगा। 'उपकारी का तो प्रथम होना तुमने भी अङ्गीकृत करलिया, यह कहते हैं—'जिनका यह'। भाव यह है कि उसके दृष्टान्त से ही हम वाच्यप्रतीति की पूर्वभाविता का भी समर्थन कर देंगे। निस्सन्देह होता हुआ क्रम लक्षित क्यों नहीं होता ?' यह शङ्का करके कहते हैं—'वह तो' यह। क्रियापौर्वापर्य इससे क्रम के स्वरूप को कहते हैं—'जो दो किये जाते हैं' यह। दो क्रियायें अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य की

## तारावती

प्रकार का होता है तो हम यही कहेंगे कि साथ-साथ उसका प्रतिभास होना ही उसका एकमात्र उपयोग है। जब हम किसी नाटक को देखते हैं या काव्य सुनते हैं तो हमें रसास्वादन तो होता ही है उसके साथ-साथ हम उस प्रकरण का वाच्यार्थ भी समझते जाते हैं, यही वाच्यप्रतीति का उपयोग है। दोनों की प्रतीति एक साथ होती है, अतः क्रम मानना ठीक नहीं।' इसका उत्तर यह है कि यदि एक कार्य के लिये किसी वस्तु का उपयोग किया जाता है तो उपयुक्त की जानेवाली वस्तु का पहले होना अनिवार्य होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि उपयोग में आनेवाली वस्तु अपने द्वारा निर्मित वस्तु के साथ ही उत्पन्न हो। जब वह वस्तु पहले होगी ही नहीं तो उपकार कैसे करेगी ? यदि निर्माण में उपकार नहीं करेगी तो 'उपयोग' इस नामकरण का क्या मन्तव्य होगा और उस शब्द के प्रयोग का लक्ष्य क्या होगा ? प्रत्येक शब्द से किसी वस्तु का बोध होता है किन्तु उपकार न करने पर उपयोग शब्द से किसी वस्तु का बोध नहीं होगा ? अतएव साथ होना मानने पर वाच्यप्रतीति का उपयोगी होना सिद्ध नहीं होगा और उपयोगी होना मानने पर सहभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह तो प्रतिपक्षी भी मानता है कि उपकारक तत्त्व पहले होता है और उपकार्य बाद में। उदाहरण के लिये गीत इत्यादि के

## लोचन

यदि वाभिधाव्यापारो व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वननव्यापारश्चेति क्रिये तयोः पौर्वापर्यं न प्रतीयते । क्वेत्याह—रसादौ विषये । कीदृशि ? अभिधेयान्तरात्तदभिधेयविशेषाद्विलक्षणे सर्वथैवानभिधेये; अनेन भवितव्यं तावत्क्रमेणेत्युक्तम् । तथा वाच्येनाविरोधिनि, विरोधिनि तु लक्ष्यत एवेत्यर्थः । कुतो न लक्ष्यत इति निमित्तसप्तमीनिर्दिष्टं हेत्वन्तरगर्भं हेतुमाह—आशुभाविनीष्विति । अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु घटनाः पूर्वं माधुर्यादिलक्षणाः प्रतिपादिताः गुणनिरूपणावसरे ताश्च तत्फलाः रसादिप्रतीतिः फलं यासाम् । तथा अनन्यत्तदेव साध्यं यासाम् । न ह्योजोघटनायाः करुणादिप्रतीतिः साध्या ।

प्रतीति अथवा अभिधाव्यापार और व्यञ्जना इस दूसरे नामवाला ध्वननव्यापार ये दोनों क्रियायें उन दोनों का पौर्वापर्य प्रतीत नहीं होता । 'कहाँ पर' ? यह कहते हैं—रस इत्यादि विषय होने पर । किस प्रकार के ? अभिधेयान्तर से अर्थात् विशेष प्रकार के अभिधेय से विलक्षण अर्थात् सर्वथा अभिधान के अयोग्य—इससे क्रम तो होना ही चाहिये यह कह दिया गया । उस प्रकार वाच्य के अविरोधी मे ( क्रम लक्षित नहीं होता ) अर्थात् विरोधी में तो लक्षित होता ही है । क्यों नहीं लक्षित होता ? इसके लिये निमित्त सप्तमी के द्वारा निर्दिष्ट एक ऐसा हेतु बतला रहे हैं जिसमें दूसरा हेतु गर्भित है—'आशुभाविनीषु' यह । 'अनन्यसाध्य तत्फल घटनाओं में' अर्थात् माधुर्य इत्यादि लक्षणवाली घटनायें पहले ही गुण-निरूपण के अवसर पर प्रतिपादित कर दी गई । वे उस फलवाली होती हैं अर्थात् जिनका रसादि की प्रतीति ही फल होता है इस प्रकार की होती हैं—तथा अनन्यसाध्य अर्थात् वही है साध्य जिनका इस प्रकार की होती हैं । ओजोघटना की साध्य करुणादि की प्रतीति नहीं होती ।

## तारावती

शब्द अपने स्वरूप से ही व्यञ्जक होते हैं; उनके अर्थ रस इत्यादि के व्यञ्जक नहीं होते । प्रतिपक्षी भी यह स्वीकार करता है कि रसानुभूति में निमित्त गीत इत्यादि के शब्दों की स्वरूपप्रतीति पहले होती है और रसप्रतीति बाद मे । हम भी उसी दृष्टान्त के आधार पर कह सकते हैं कि जहाँ काव्य मे वाच्यप्रतीति के आधार पर रसाभिव्यक्ति होती है वहाँ पर वाच्यप्रतीति पहले होती है; क्योंकि वह निमित्त है और व्यङ्ग्य रसानुभूति बाद मे होती है; क्योंकि वह नैमित्तिक है ।

ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि काव्य में रसानुभूति में वाच्यप्रतीति निमित्त होती है तथा यह भी बतलाया जा चुका है कि रसानुभूति के पहले वाच्यप्रतीति अनिवार्य है । किन्तु इस पौर्वापर्य क्रम मे सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यदि उनमें पौर्वापर्य क्रम विद्यमान है तो वह लक्षित क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का

उत्तर 'तत्तु''''''न प्रतीयते' इस वाक्य में दिया गया है। यदि इस वाक्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसमें क्रम के लक्षित न होने के पाँच कारण बतलाये गये हैं—( १ ) सङ्घटनायें दूसरी संघटनाओं से असङ्कीर्ण रहकर ही अर्थात् दूसरी संघटनाओं की परवा न करते हुये रसादि को अभिव्यक्त करती हैं। ( २ ) संघटनाओं का एकमात्र फल रसादि का प्रत्यायन ही होता है। ( ३ ) संघटनाओं की क्रिया अत्यन्त क्षिप्र होती है वह वाच्य वृत्ति की अपेक्षा नहीं करती। ( ४ ) वाच्यार्थ का रसादि से कोई विरोध नहीं होता और ( ५ ) रस इत्यादि दूसरे अभिधेयार्थों से इस रूप में विलक्षण होते हैं कि उनका प्रत्यायन कभी भी अभिधावृत्ति का विषय नहीं हो सकता। अब उक्त वाक्य को ले लीजिये—'तत्तु शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यम्' इस वाक्य-खण्ड से क्रम का स्वरूप बतलाया गया है। 'क्रिया' शब्द की व्युत्पत्ति होगी—'क्रियेते इति क्रिये' अर्थात् शब्द के जो दो करणीय हों उन्हें दो क्रियायें कहते हैं। शब्द के दो करणीय होते हैं। एक तो अभिधाव्यापार और दूसरे ध्वननव्यापार जिसका दूसरा पर्याय व्यञ्जनाव्यापार भी है। इन दोनों क्रियाओं का पौर्वापर्य अर्थात् क्रम लक्षित नहीं होता। 'रसादौ' इस विशेष्य से बतलाया गया है कि रस इत्यादि के विषय में ही क्रम लक्षित नहीं होता। 'रसादौ' के विशेषण दिये गये हैं—'अभिधेयान्तरविलक्षणे' और 'वाच्येन अविरोधिनि'। प्रथम विशेषण के द्वारा क्रम न लक्षित होने का उपर्युक्त ५ वाँ हेतु निर्दिष्ट किया गया है कि रस इत्यादि अन्य अभिधेयार्थों से विलक्षण होते हैं। विलक्षणता यही होती है कि अन्य अभिधेय अभिधावृत्ति से कहे जा सकते हैं किन्तु रसानुभूति अभिधावृत्ति से कही नहीं जा सकती। अतः दोनों मे भेद होने के कारण क्रम तो होना ही चाहिये। ( किन्तु दोनों की कोटियाँ भिन्न हैं। एक अभिधेय होता है दूसरा नहीं। अतः भिन्न कोटियोंवाले दो ज्ञानों में क्रम लक्षित नहीं होता। यदि एक ही प्रकार के दो ज्ञान हों अर्थात् या तो दोनों अभिधेय हों या दोनों अनभिधेय हों तो क्रम लक्षित होना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि जब हम एक ज्ञान के बाद उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान करना चाहेंगे तो पहले ज्ञान का उपसंहार हो जायगा और उसके स्थान पर दूसरे ज्ञान की प्रतीति होगी। इसके प्रतिकूल विभिन्न प्रकार की प्रतीतियों मे विभिन्न तत्त्वों का उपयोग होगा। उदाहरण के लिये वाच्यप्रतीति मस्तिष्क के द्वारा होगी और रसानुभूति हृदय के द्वारा। अतः दोनों एक दूसरे से इतनी अव्यवहित हो सकती हैं कि उनसे क्रम की प्रतीति का न होना ही स्वाभाविक है। ) 'रसादौ का' दूसरा विशेषण है—'वाच्येन अविरोधिनि' इसका आशय यह है कि रसानुभूति सर्वदा

## लोचन

एतदुक्तं भवति—यतो गुणवति काव्येऽसङ्कीर्णविषयतया सङ्घटना प्रयुक्ता ततः क्रमो न लक्ष्यते । ननु भवत्वेवं सङ्घटनायां स्थितिः क्रमस्तु किं न लक्ष्यते अत आह—आशुभाविनीषु वाच्यप्रतीतिकालप्रतीक्षणेन विनैव झटित्येव ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वादं विदधतीत्यर्थः ।

यह बात कही गई है—क्योंकि गुणवान् काव्य में असङ्कीर्ण विषय के रूप में सङ्घटना प्रयुक्त की गई है, उससे क्रम लक्षित नहीं होता । ( प्रश्न ) सङ्घटना में ऐसी स्थिति हो, क्रम क्यों लक्षित नहीं होता ? ( उत्तर ) अतः कहते हैं—'आशु-भाविनीषु' वाच्यप्रतीति काल की प्रतीक्षा के विना ही शीघ्र ही रसादिकों को भावित कर देते हैं अर्थात् आस्वाद को उत्पन्न कर देते हैं ।

## तारावती

वाच्य के अनुकूल ही होती है विरुद्ध कभी नहीं होती । यदि वाच्यार्थ शृंगार-परक होगा तो शृंगार की अनुभूति होगी और यदि वाच्यार्थ रौद्रपरक होगा तो रौद्ररसानुभूति होगी। जब दोनों प्रतीतियाँ एक ही दिशा में उद्भूत होनेवाली हैं तब उनमें क्रम लक्षित ही नहीं हो सकता। यदि दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हों तो दोनों का क्रम लक्षित होना अनिवार्य हो जाय । इस प्रकार इस विशेषण के द्वारा ऊपर बतलाये हुये चौथे हेतु की ओर संकेत किया गया है। 'आशुभाविनीषु' में निमित्त में सप्तमी है। अतः यह शब्द हेतु का प्रत्यायक हो जाता है। इसका एक दूसरा विशेषण शब्द दिया गया है 'अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु' यह भी हेतुवाचक सप्तमी परक ही है । इस प्रकार 'आशुभाविनीषु' की निमित्तसप्तमी दूसरे हेतु से गर्भित हेतु को प्रकट करती है । 'अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु' में 'अनन्यसाध्य' और 'तत्फल' इन दोनों शब्दों में बहुव्रीहि समास है और ये दोनों शब्द घटना के विशेषण हैं । घटनाओं का निरूपण पहले किया जा चुका है कि कुछ घटनाएँ माधुर्य लक्षणवाली होती हैं कुछ परुष लक्षणवाली । वे घटनायें 'तत्फल' होती हैं अर्थात् उनका फल रसादि की प्रतीति ही होता है । वे घटनायें अनन्यसाध्य होती हैं अर्थात् उन घटनाओं का साध्य उनका अपना निश्चित साध्य ही होता है; किन्तु कोई अन्य साध्य नहीं । उदाहरण के लिये ओजोघटना के लिये रौद्ररस साध्यरूप में निश्चित है । उसका साध्य करुणरस कभी नहीं हो सकता ।

आशय यह है कि काव्य में माधुर्य इत्यादि गुण तो रहते ही हैं । उस काव्य में जिन माधुर्य इत्यादि गुणोंवाली संघटना का प्रयोग किया जाता है उसका फल रसादि प्रतीति ही होता है और उस संघटना से अपने निश्चित विषय के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रसाभिव्यञ्जना नहीं की जा सकती । इसीलिये क्रम

## लोचन

एतदुक्तं भवति—सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्वाद्रसादीनामनुपयुक्तेऽप्यर्थविज्ञाने पूर्वमेवोचितसङ्घटनाश्रवण एव यत आसूत्रितो रसास्वादस्तेन वाच्यप्रतीत्युत्तरकालभवेन परिस्फुटास्वादयुक्तोऽपि पश्चादुत्पन्नत्वेन न भाति। अभ्यस्ते हि विषयेऽविनाभावप्रतीतिक्रम इत्थमेव न लक्ष्यते। अभ्यासो ह्ययमेव यत्प्रणिधानादिनापि विनैव संस्कारस्य बलवत्त्वात्सदैव प्रबुभुत्सुतया अवस्थापनमित्येवं यत्र धूमस्तत्राग्निरिति

यह बात कही गई है—रस इत्यादि के सङ्घटना द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण अर्थ विज्ञान का उपयोग न होने पर भी पहले ही अभ्यस्त सङ्घटना के सुनने में ही जो कि रसास्वाद कुछ स्फुरित हो जाता है वह उसी कारण से वाच्यप्रतीति के उत्तर काल में होनेवाले परिस्फुट आस्वाद से युक्त होते हुये भी पश्चात् उत्पन्न हुये के रूप में प्रतीत नहीं होता। अभ्यस्त विषय मे निस्सन्देह अनिवार्य साहचर्य का प्रतीति क्रम इसी प्रकार लक्षित नहीं होता। अभ्यास यही होता है कि प्रणिधान इत्यादि के विना ही संस्कार के बलवान् होने के कारण सदैव प्रतीत होने की इच्छा से स्थापित किया जाना। इस प्रकार जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है इस

## तारावती

लक्षित नहीं होता। प्रश्न किया जा सकता है कि क्रम के लक्षित किये जाने न किये जाने से संघटना का क्या सम्बन्ध? घटनाओं की जो स्थिति आप मानते हैं वह माना करें क्रम क्यों लक्षित नहीं होता? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये 'आशुभाविनीषु' यह विशेषण दिया गया है। 'भाविनी' का अर्थ है 'भावन करना है शील जिसका'। अतः आशुभाविनी का अर्थ हुआ कि संघटनायें वाच्यप्रतीति काल की अपेक्षा किये विना ही शीघ्र ही रस इत्यादि को भावित कर देती हैं अर्थात् उसके आस्वादन का विधान कर देती हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है—यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि संघटनायें भी रस की अभिव्यञ्जना करती हैं। संघटना का अर्थ है विशेष प्रकार की रसानुकूल वर्णसंयोजना जैसे कोमल योजना से शृंगारादि रसों की व्यञ्जना होती है और कठोर योजना से रौद्र इत्यादि रसों की व्यञ्जना होती है। वर्ण रसाभिव्यञ्जन करने में अर्थ ज्ञान की अपेक्षा नहीं करते। जब हम किसी सुमधुर काव्य को सुनते हैं तो अर्थ को विना ही समझे उस काव्य के सुनते ही हमारे हृदयों में रस कुछ स्फुरित हो जाता है। बाद में हमें अर्थ की प्रतीति होती है और तब रस का आस्वाद परिपुष्ट रूप में परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार काव्यश्रवण में वाच्यप्रतीति से पहले ही कुछ स्फुरित होकर रस वाच्यप्रतीति के बाद में परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है। अतः पहले से बाद

## लोचन

हृदयस्थितत्वाद्व्याप्तेः पक्षधर्मताज्ञानमात्रमेवोपयोगि भवतीति परामर्शस्थानमाक्रामति। झटित्युत्पन्ने हि धूमज्ञाने तद्व्याप्तिस्मृत्युपकृते तद्विजातीयप्रणिधानानुसरणादिप्रतीत्यन्तरानुप्रवेशविरहादाशुभाविन्यामग्निप्रतीतौ क्रमो न लक्ष्यते तद्वदिहापि। यदि तु वाच्यविरोधी रसो न स्यादुचिता च घटना न भवेत्तल्लक्ष्येतैव क्रम इति।

व्याप्ति के हृदय में स्थित होने के कारण पक्षधर्मता का ज्ञान ही उपयोगी होता है, अतः पक्षधर्मता के स्थान का अतिक्रमण कर जाता है। उसकी व्याप्ति की स्मृति के द्वारा उपकृत धूम ज्ञान के शीघ्र उद्भूत होने पर उसके विजातीय के प्रणिधान के अनुसरण इत्यादि की प्रतीति के अन्तः प्रवेश के विना ही शीघ्र होनेवाली अग्रिम प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। उसी प्रकार यहाँ पर भी। यदि रस वाच्य का अविरोधी न हो और उचित सङ्घटना भी न हो तो क्रम लक्षित ही हो जाये।

## तारावती

तक प्राप्त रहने के कारण यह प्रतीत नहीं होता कि रसास्वादन बाद में हुआ है। इसलिये संघटना द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण क्रम लक्षित नहीं होता। यह केवल इसी विषय में नहीं समस्त अभ्यस्त विषयों में ऐसा ही होता है। जिन विषयों की अविनाभाव प्रतीति होती है उनमें भी अभ्यास हो जाने पर क्रमलक्षित नहीं होता। अविनाभाव का अर्थ है व्याप्तिज्ञान। जहाँ कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के विना नहीं हो सकती वहाँ न हो सकनेवाली वस्तु को देखकर जिसके विना वह नहीं हो सकती उसका अनुमान लगा लिया जाता है। यही व्याप्तिग्रह है। उदाहरण के लिये धूम कभी भी अग्नि के विना नहीं हो सकता। अतः धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान करना अविनाभाव प्रतीति है। यह व्याप्तिग्रह इस प्रकार होता है कि कोई परिशीलक कई बार जलती हुई आग से धुँआ उठते हुये देखता है; वह जब कभी आग जलाता है तो उसे धुँआं अवश्य दिखलाई देता है। इसके अतिरिक्त वह सरोवर इत्यादि को भी देखता है और वहाँ आग नहीं देखता तथा वहाँ धुआँ भी नहीं देखता। इस प्रकार महानस इत्यादि पक्षों और सरोवर इत्यादि विपक्षों को बार बार देखकर वह इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है।' यही व्याप्तिग्रह है। इस व्याप्ति को अपने हृदय मे लिये हुये जब वह किसी ऐसे स्थानपर पहुँचता है जहाँ किसी झोपड़ी से उसे धुआँ उठता हुआ दिखलाई देता है। तब उसे सर्वप्रथम व्याप्ति का स्मरण होता है कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। न्यायदर्शन में 'प्रणिधान निबन्धाभ्यासलिङ्ग' इत्यादि लम्बे सूत्र मे स्मरण के हेतुओं का परिगणन

कराया गया है । उन्हीं से उसे व्याप्ति का स्मरण होता है और फिर 'झोपड़ी धुआं-वाली है जो कि सर्वदा अग्नि का सहचारी है' यह वितर्क उत्पन्न होता है । इस व्याप्ति स्मरण और वितर्क को परामर्श कहते हैं । उससे यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि झोपड़ी में अग्नि है । इस ज्ञान को अनुमान ज्ञान कहते हैं । इस प्रकार लिङ्ग ( धुआं ) से साध्य ( अग्नि ) का अनुमान करने में एक क्रम होता है । किन्तु जब बार-बार धुयें से अग्नि का अनुमान किया जा चुका होता है तो उसका इतना अधिक अभ्यास हो जाता है कि धुआं को देखते ही अग्नि का बोध हो जाता है और प्रधान इत्यादि स्मरण हेतु, व्याप्ति स्मृति, परामर्श इत्यादि का क्रम लक्षित ही नहीं होता । अभ्यास का अर्थ ही यह है कि किसी ज्ञान की पुनः पुनः अभ्यावृत्ति से संस्कार इतने बलवान् हो जायँ कि प्रणिधान इत्यादि स्मरण हेतुओं का बिना ही अनुसरण किये हुये सर्वदा वह तत्त्व अपने को ज्ञात कर देने की इच्छा करते हुये ही अवस्थित रहे । आशय यह है कि अभ्यस्त व्यक्ति धुयें को देखकर इतनी सरलता और शीघ्रता से आग को जान जाता है मानों धूम को स्वयं इस बात की आकांक्षा बनी रहती है कि अभ्यस्त व्यक्ति हमे देखते ही आग को जान ले । जिस स्थान पर किसी वस्तु का अनुमान लगाया जाता है उसे पक्ष कहते हैं; वह तत्त्व जिसको देखकर अनुमान लगाया जाता है हेतु या पक्षधर्म कहलाता है । उसकी भाववाचक संज्ञा ही पक्षधर्मता है । जैसे यदि पर्वत में धुयें को देखकर अग्नि का अनुमान लगाना हो तो पर्वत पक्ष होगा; धूम पक्षधर्म या हेतु होगा और धूमत्व को पक्षधर्मता की संज्ञा प्राप्त होगी । पूर्ण अभ्यास कर लेने पर व्याप्ति तो हृदय मे स्थित ही रहती है । साध्य ( अग्नि ) का अनुमान लगाने में केवल पक्षधर्मता ( धूमत्व ) का ही उपयोग होता है । ऐसा अनुमान परामर्श के स्थान का अतिक्रमण कर जाता है । धूमज्ञान व्याप्तिस्मृति से उपकृत ही रहता है; उस धूमज्ञान के शीघ्र उत्पन्न होने पर उन दोनों ( पक्षधर्मता और व्याप्तिज्ञान ) से विजातीय प्रणिधान के अनुसरण इत्यादि की प्रतीति के अन्दर आये बिना ही अग्नि की प्रतीति एकदम हो जाती है और वहाँ पर क्रम लक्षित नहीं होता । वही बात यहाँ पर भी होती है कि अधिक अभ्यस्त हो जाने से वाच्यप्रतीति हो जाती है और क्रम लक्षित नहीं होता । यह तो हुई शीघ्र प्रतीति की बात । क्रम न लक्षित किये जा सकने का एक कारण यह भी है कि जैसी वाच्यप्रतीति होती है वैसी ही रसप्रतीति भी होती है । दोनों का विरोध नहीं होता यदि वाच्य से अविरोधी रस न हो और संघटना भी प्रस्तुत रस के विपरीत हो तो क्रम लक्षित हो जाय ।

## लोचन

चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे—तस्य शब्दस्य फलं तद्वा फलं वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यात्मकं तस्य घटना निष्पादना यतोऽनन्यसाध्या शब्दव्यापारैकजन्येति। न चात्रार्थसतत्त्वं व्याख्याने किञ्चिदुत्पश्याम इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।

चन्द्रिकाकारने तो 'पढ़े हुए को ही पुनः पढ़ता है' इस न्याय से गजनिमीलिका के ढंग से व्याख्या की है—'उसका अर्थात् शब्द का फल अथवा वही अर्थात् वाच्य-व्यङ्ग्य-प्रतीत्यात्मक फल; उसकी घटना अर्थात् निष्पादन करना क्योंकि अनन्यसाध्य होती है अर्थात् केवल शब्दव्यापारमात्र से जन्य होती है' यह। इस व्याख्या में हमे अर्थ की कोई सङ्गति दिखलाई नहीं पड़ती, बस अपने पूर्व वंश्यों के साथ अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं।

## तारावती

चन्द्रिकाकार ने 'अनन्यसाध्यतत्फलघटनासु' इस शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'तत्फल' अर्थात् उस ( शब्द ) का फल ( तत्पुरुष समास ) अथवा 'वह फल' ( कर्मधारय समास ) दोनों अवस्थाओं में फल हुआ वाच्य-व्यङ्ग्यप्रतीतिरूप। उस वाच्य-व्यङ्ग्य-प्रतीतिरूप फल की घटना अर्थात् निष्पादन अन्य से साध्य नहीं होता अर्थात् केवल शब्दव्यापार से उत्पन्न होता है। आशय यह है कि वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति केवल शब्द से ही होती है, उसका साधन और कोई नहीं होता। इस व्याख्या का खण्डन करते हुये अभिनवगुप्त ने लिखा है कि चन्द्रिकाकार की यह व्याख्या मक्षिका के स्थान में मक्षिका जैसी है। ( चन्द्रिकाकार पर आक्षेप करने के लिये अभिनवगुप्त ने दो शब्दों का प्रयोग किया है—'पठितमनुपठति' और 'गजनिमीलिका'। 'पठितमनुपठति' का अर्थ यह है कि चन्द्रिकाकार ने जो शब्द जिस प्रकार देखे उनकी वैसी ही व्याख्या करदी। यह विचार करने की चेष्टा नहीं की कि क्या प्रस्तुत प्रकरण में सीधा सीधा अर्थ ठीक रहेगा! 'गजनिमीलिका' का भी यही अर्थ है कि जैसे हाथी केवल सामने ही देखता है इधर-उधर ध्यान नहीं देता उसी प्रकार चन्द्रिकाकार ने भी सीधा-सीधा अर्थ करदिया प्रकरण पर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी। ) चन्द्रिकाकार ने अर्थ यह किया है कि 'उस शब्द का फल अथवा वह वाच्यव्यङ्ग्य-प्रतीत्यात्मक फल उसकी संघटना शब्दव्यापारमात्रजन्य है। अन्य से उसका उद्भव नहीं होता। इस व्याख्या में यह समझ मे नहीं आता कि प्रस्तुत प्रकरण तो वाच्य और व्यङ्ग्य के पौर्वापर्यप्रतीति के विषय में है। इस प्रकरण में इस कथन का क्या उपयोग कि शब्द से ही वाच्य और व्यङ्ग्य प्रतीतियाँ होती हैं। अतः

ध्वन्यालोकः

क्वचित्तु लक्ष्यत एव। यथानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिषु। तत्रापि कथमिति चेदुच्यते—अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ तावदभिधेयस्य तत्सामर्थ्याक्षिप्तस्य चार्थस्याभिधेयान्तरविलक्षणतयात्यन्तविलक्षणे ये प्रतीती तयोरशक्यनिह्नवो निमित्तनिमित्तिभाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम्। यथा प्रथमोद्योते प्रतीयमानार्थसिद्ध्यर्थमुदाहृतासु गाथासु। तथाविधे च विषये वाच्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्तविलक्षणत्वाद्यैव एकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्।

(अनु०) कहीं तो लक्षित ही होता है। जैसे अनुरणनरूप व्यङ्ग्य की प्रतीतियों में। यदि कहो 'वहाँ भी कैसे?' तो कहा जा रहा है—अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में अभिधेय के तथा उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थ के दूसरे अभिधेयों से अत्यन्त विलक्षण होने के कारण अत्यन्त विलक्षण जो दो प्रतीतियाँ उनके निमित्त-निमित्तिभाव का छिपाया जाना असम्भव है। अतः उनका पौर्वापर्य स्फुट ही है। जैसे प्रथम उद्योत में प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिये उदाहृत की हुई गाथाओं में। और उस प्रकार के विषय में वाच्य और व्यङ्ग्य के अत्यन्त विलक्षण होने के कारण एक की जो प्रतीति है वही दूसरे के भी है यह नहीं कहा जा सकता।

लोचन

यत्र तु सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्वं नास्ति तत्र लक्ष्यत एवेत्याह—क्वचित्त्विति। तुल्ये व्यङ्ग्यत्वे कुतो भेद इत्याशङ्कते—तत्रापीति। स्फुटमेवेति।

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः॥

जहाँ पर सङ्घटनाव्यङ्ग्यत्व नहीं होता वहाँ पर तो लक्षित होता ही है यह कहते हैं—'कहीं तो' यह। व्यङ्ग्यत्व के तुल्य होते हुये भेद क्यों? यह शङ्का करते हैं—'वहाँ पर भी' यह। स्फुट ही है यह—

अविवक्षित वाच्य की और उससे भिन्न अनुरणनरूप व्यङ्ग्य की पद-वाक्य-प्रकाश्यता होती है।'

तारावती

इस वाक्य की वही व्याख्या करनी चाहिये जैसी कि ऊपर ५ प्रकारों के निर्देश के द्वारा बतलाई गई है। अभिनवगुप्त ने लिखा है कि बस इतना पर्याप्त है। हम अपने वंश के अपने पूर्वजों से अधिक विवाद करना उचित नहीं समझते। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रिका-कार अभिनवगुप्त के ही पूर्व वंशज थे।

किन्तु यह क्रम सर्वत्र असंलक्ष्य ही बना रहे यह बात नहीं है। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य में क्रम के लक्षित न होने का सबसे बड़ा कारण यह बतलाया गया है कि

## लोचन

इति हि पूर्वं वर्ण सङ्घटनादिकं नास्य व्यञ्जकत्वेनोक्तमितिभावः। गाथास्विति। भम धम्मिअ इत्यादिकासु। ताश्च तत्रैव व्याख्याताः।

भाव यह है कि इस प्रकार पहले वर्णसङ्घटना इत्यादि को उसके व्यञ्जकत्व के रूप में नहीं कहा। गाथाओं में—भम धम्मिअ' इत्यादि में उनकी वहीं व्याख्या की गई है।

## तारावती

वह ध्वनि सङ्घटना के द्वारा व्यक्त होती है। संघटना के द्वारा कुछ परिस्फुट होकर बाद में वाच्यार्थ के द्वारा उसकी पूर्ति होती है। अतः वाच्यार्थ के दोनों ओर व्यापक रहने के कारण वाच्यार्थ की प्राथमिकता और व्यङ्ग्यार्थ की उत्तर-कालिकता की प्रतीति नहीं होती। इसके प्रतिकूल जिस ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिये वर्णसङ्घटना अपेक्षित नहीं होती उस ध्वनि में व्यङ्ग्य और वाच्य अर्थों की प्रतीति में क्रम अवश्य लक्षित होता है क्योंकि उनमें वाच्यार्थ ही कारण होता है। जैसे अनुरणनरूप व्यङ्ग्य में क्रम की प्रतीति होती है। अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि के जो व्यञ्जक 'अविवक्षितवाच्यस्य' ( ३-१ ) इत्यादि कारिकाओं में गिनाये गये हैं उनमें वर्णसङ्घटना को ध्वनि का व्यञ्जक नहीं माना गया है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि जब दोनों ही व्यङ्ग्यार्थ होते हैं तब यह भेद कैसा कि रस इत्यादि की व्यञ्जना में क्रम लक्षित नहीं होता और अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में लक्षित हो जाता है? जब दोनों व्यङ्ग्यार्थ हैं तो या तो दोनों में क्रम लक्षित होना चाहिये या दोनों में नहीं होना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो प्रकार का माना जाता है अर्थशक्तिमूलक और शब्दशक्तिमूलक। अर्थशक्ति-मूलक अनुरणनरूप ध्वनि में अभिधेयार्थ और उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त दोनों ही साधारण अभिधेयार्थ से कुछ विलक्षण होते हैं। साधारण अभिधेयार्थ में किसी व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति नहीं होती जब कि व्यञ्जक अभिधेयार्थ में अर्थान्तर को अभिव्यक्त करने की शक्ति होती है। यह तो हुई वाच्यार्थ की विल-क्षणता। व्यङ्ग्यार्थ तो वाच्यार्थ की अपेक्षा सर्वथा विलक्षण होता ही है। इस प्रकार जो दो अत्यन्त विलक्षण प्रतीतियाँ होती हैं उनमें एक ( वाच्यार्थ ) तो निमित्त होता है और दूसरा ( व्यङ्ग्यार्थ ) निमित्ती अर्थात् कार्य होता है। उनका यह निमित्त-निमित्तिभाव छिपाया नहीं जा सकता।

उदाहरण के लिये प्रथम उद्योत में प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिये जिन गाथाओं का उद्धरण दिया गया था उनको ले लीजिये। उस प्रकार के विषय में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण होते हैं। यदि वाच्यार्थ

ध्वन्यालोकः

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये तु ध्वनौ—

'गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु' इत्यादावर्थद्वयप्रतीतौ शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीतिरूपमावाचकपदविरहे सत्यर्थसामर्थ्यादाक्षिप्तेति तत्रापि सुलक्षमभिधेयव्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीत्योः पौर्वापर्यम् ।

(अनु०) शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि में तो—

'पवित्रों मे सर्वोत्कृष्ट सूर्य किरणें और गायें आप मे अपरिमित प्रेम पैदा करें ।'

इत्यादि मे दो अर्थों की प्रतीति के शाब्दिक होने पर ( भी ) उपमावाचक पद के अभाव में भी दो अर्थों की उपमानोपमेयभाव प्रतीति अर्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त कर ली गई है अतः वहाँ पर भी अभिधेय और व्यङ्ग्यालङ्कार प्रतीतियों का पौर्वापर्य भलीभाँति सरलता से लक्षित किया जा सकता है ।

लोचन

शाब्द्यामिति । शाब्द्यामपीत्यर्थः । उपमावाचकं यथेवादि । अर्थसामर्थ्यादिति । वाक्यार्थसामर्थ्यादिति यावत् ।

'शाब्दी मे' यह । अर्थात् शाब्दी मे भी । उपमा वाचक यथा इव इत्यादि । 'अर्थसामर्थ्य से' यह । अर्थात् वाक्यार्थ सामर्थ्य से ।

तारावती

विधिपरक होता है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक । यदि वाच्यार्थ निषेधपरक होता है तो व्यङ्ग्यार्थ विधिपरक, यदि वाच्यार्थ विधिपरक होता है तो निषेधार्थ अनुभयपरक । इस प्रकार की विलक्षणता वहाँ पर दिखलाई जा चुकी है । अतएव आप यह तो नहीं कह सकते कि जो एक की प्रतीति होती है वही दूसरे की भी होती है । इस प्रकार प्रतीतियों की विलक्षणता और कार्य-कारण भाव सम्बन्ध इन दोनों हेतुओं से क्रम संलक्षित होना स्वाभाविक हो जाता है ।

अब शब्दशक्तिमूलानुरणन रूप व्यङ्ग्यध्वनि को लेलीजिये—इसके दो भेद बतलाये गये थे वाक्यप्रकाश और पदप्रकाश । द्वितीय उद्योत में वाक्यप्रकाश शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण दिया गया था—'दत्तानन्दाः·····प्रीतिमुत्पादयन्तु' । वहाँ पर दो अर्थ होते हैं—सूर्यकिरणपरक अर्थ और धेनुपरक अर्थ । सूर्यकिरणपरक अर्थ प्राकरणिक होने से वाच्यार्थ है और धेनुपरक अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है । यहाँ पर दोनों अर्थों की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक है । इसके बाद दोनों अर्थों की असम्बद्धार्थकता का निवारण करने के लिये 'किरणों के समान गायें इस उपमानोपमेय भाव की कल्पना करली जाती है । इस कल्पना मे कोई ऐसा शब्द सहायक नहीं होता जोकि उपमावाचक कहा जा सके । आशय यह है कि

## ध्वन्यालोकः

पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपदस्यो-भयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकपदमन्तरेण योजनमशाब्दमप्यर्थादवस्थितमित्य-त्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्तालङ्कारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वापर्यम्। आर्थ्यपि च प्रतिपत्तिस्तथाविधे विषये उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थ्यप्रसा-वितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते।

(अनु०) पदप्रकाश्य शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि में भी दोनों अर्थों के सम्बन्ध के योग्य विशेषण पद की योजना ( किसी ) योजक पद के अभाव में भी शब्दरहित होते हुये भी अर्थ से ही अवस्थित होती है; अतः यहाँ पर भी पहले के समान ही अभिधेय तथा उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त अलङ्कारमात्र प्रतीतियों का पौर्वापर्य ठीक रूप में स्थित ही है। आर्थी प्रतीति भी इस प्रकार के विषय में दोनों अर्थों के सम्बन्ध के योग्य शब्दसामर्थ्य से प्रसूत की गई है, अतः शब्द-शक्तिमूला की कल्पना की जाती है।

## लोचन

एवं वाक्यप्रकाशशब्दशक्तिमूलं विचार्य पदप्रकाशं विचारयति—पदप्रकाशेति। विशेषणपदस्येति। जड इत्यस्य। योजकमिति। कूप इति च अहमिति चोभयसमा-नाधिकरणतया संवलनम्। अभिधेयं च तत्सामर्थ्याक्षिप्तं च तयोरलङ्कारमात्रयोः। ये प्रतीती तयोः पौर्वापर्यक्रमः सुस्थितं सुलक्षितमित्यर्थः। मात्रग्रहणेन रसप्रतीति स्तत्राप्यलक्ष्यक्रमैवेति दर्शयति। नन्वेवमार्थत्वं शाब्दशक्तिमूलत्वं चेति विरुद्धमित्या-शङ्क्याह—आर्थ्यपीति। नात्र विरोधः कश्चिदितिभावः। एतच्च वितत्य पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते।

इस प्रकार वाक्यप्रकाश्य शब्दशक्तिमूल का विचार करके पदप्रकाश का विचार करते हैं—'पदप्रकाश' यह। 'विशेषण पद का' यह। 'जड' इसका। 'योजक' यह। 'कूप' यह और 'मैं' यह इन दोनों के समानाधिकरण के रूप में संमि-लन। अभिधेय और उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त उन दोनों का ( अर्थात् ) केवल दो अलङ्कारों का। जो दो प्रतीतियाँ उनका पौर्वापर्य क्रम। सुस्थित है अर्थात् भली भाँति लक्षित किया गया है। मात्र ग्रहण से यह दिखलाते हैं कि रस प्रतीति वहाँ पर भी अलक्ष्य क्रम ही होती है। 'निस्सन्देह इस प्रकार आर्थत्व और शब्द-शक्तिमूलत्व विरुद्ध है यह शङ्का करके कहते हैं—'आर्थी भी' यह। भाव यह है कि यहाँ कोई विरोध नहीं है। यह विस्तारपूर्वक पहले बतलाया गया है अतः पुनः नहीं कहा जा रहा है।

## तारावती

यहाँ पर इव इत्यादि कोई ऐसा शब्द नहीं आया है जोकि उपमावाचक माना जाता है। केवल अर्थसामर्थ्य से ही उपमा का आक्षेप करलिया जाता है। यद्यपि वहाँ पर प्रथम और द्वितीय अर्थों की प्रतीति ज्येष्ठ और कनिष्ठ की उत्पत्ति के समान होती है और उनमें कार्यकारण भाव के अभाव में पौर्वापर्य की कल्पना नहीं की जा सकती तथापि इन दोनों अर्थों की प्रतीति उपमा की कल्पना में कारण अवश्य होती है। अतएव अभिधेय और व्यङ्ग्य अर्थों की प्रतीति में तथा उपमालङ्कार की प्रतीति में कार्यकारण भाव सम्बन्ध होने से पौर्वापर्य क्रम लक्षित अवश्य होता है।

ऊपर वाक्यप्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में क्रम के संलक्षित होने की व्याख्या की गई है, अब पदप्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक को लीजिये—जहाँ पर शब्द-शक्ति के आधार पर अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि होती है वहाँ पर कोई एक ऐसा विशेषण विद्यमान होता है जिसमें दोनों अर्थों से सम्बन्ध करने की योग्यता होती है। वहाँ पर कोई ऐसा योजक पद नहीं होता जो दोनों में संयोग उत्पन्न करे। इस प्रकार विना ही शब्द के अर्थ सामर्थ्य से वहाँ पर उन दोनों अर्थों की योजना की जाती है। इस प्रकार वाक्यप्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के समान वाच्यार्थ और उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त केवल अलङ्कार की प्रतीति में पौर्वापर्यक्रम सरलता पूर्वक लक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए इसी उद्योत के 'प्रातुं धनैः·····कृतोऽहम्' इस पद्य को ले लीजिए। यहाँ पर 'जड' यह विशेषण कूप के साथ भी लगता है और मैं के साथ भी। क्योंकि 'जडः' में प्रथमा है और 'कूपः' तथा 'अहम्' के साथ उसका सामानाधिकरण्य है। यहाँ पर कोई 'यथा' 'वा' 'इव' इत्यादि वाचकशब्द विद्यमान नहीं है। फिर भी अर्थसामर्थ्य से उपमालङ्कार की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ उपमा की प्रतीति में पौर्वापर्यक्रम भली-भाँति लक्षित होता है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि ऐसे स्थान पर किसी रस की भी ध्वनि होती है तो वह असंलक्ष्यक्रम ही रहता है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिये 'केवल अलङ्कार' में 'केवल' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे 'प्रातुं धनै·····कृतोऽहम्' इस पद्य से ही उपमालङ्कार की ध्वनि तो संलक्ष्यक्रम है किन्तु उससे अभिव्यक्त होनेवाला करुण रस संलक्ष्यक्रम ही रहता है।

(प्रश्न) 'गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु' इस शाम्दी वाक्यव्यञ्जना में और 'प्रातुं धनै·····कृतोऽहम्' में शाब्दी पदव्यञ्जना में व्यङ्ग्यार्थप्रतीति को शब्दशक्तिमूलक कहा गया है, दूसरी ओर आप कहते हैं कि

## ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धस्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्वकमेवार्थान्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः। तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्ग्यस्य क्रमप्रतीतिविचारो न कृतः। तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावान्नियमभावी क्रमः। स तूक्तयुक्त्या क्वचिल्लक्ष्यते क्वचिन्न लक्ष्यते।

(अनु०) अविवक्षितवाच्यध्वनि का प्रकाशन तो अपने प्रसिद्ध विषय के वैमुख्य की प्रतीति के साथ ही होता है; अतः क्रम नियम से ही होनेवाला है। उसमे वाच्य के अविवक्षित होने के कारण ही वाच्य के साथ व्यङ्ग्य के क्रम की प्रतीति का विचार नहीं किया गया। अतएव अभिधान और अभिधेय की प्रतीति के समान वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीतियों का निमित्त-निमित्तिभाव होने से नियमानुसार क्रम होनेवाला है। वह उक्त युक्ति से कहीं लक्षित होता है कहीं लक्षित नहीं होता।

## लोचन

स्वविषयेति। अन्धशब्दादेरुपहतचक्षुष्कादिः स्वो विषयः, तत्र यद्वैमुख्यमनादर इत्यर्थः। विचारो न कृत इति नामधेयनिरूपणद्वारेणेति शेषः। सहभावस्य शङ्कितुमत्रायुक्तत्वादितिभावः। एवं रसादयः कैशिक्यादीनामितिवृत्तभागरूपाणां वृत्तीनां जीवितमुपनागरिकाद्यानाञ्च सर्वस्यास्योभयस्यापि वृत्तिव्यवहारस्य रसादिनियन्त्रितविषयत्वादिति यत्प्रस्तुतं तत्प्रसङ्गेन रसादीनां वाच्यातिरिक्तत्वं समर्थयितुं क्रमो विचारित इत्येतदुपसंहरति—तस्मादिति। अभिधानस्य शब्दरूपस्य पूर्वं प्रतीतिस्ततोऽभिधेयस्य। यदाह तत्र भवान्—

'अपने विषय' यह। अन्ध शब्द इत्यादि का फूटी हुई आँखोंवाला इत्यादि अपना विषय है, उसमे जो वैमुख्य अर्थात् अनादर यह अर्थ है। 'विचार नहीं किया गया' यह। यहाँ पर यह शेष है—'नामधेय निरूपण के द्वारा'। भाव यह है—क्योंकि यहाँ पर सहभाव की शङ्का करना उचित नही है। इस प्रकार इतिवृत्तभागरूप कैशिकी इत्यादि वृत्तियों के और उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों के जीवन रस इत्यादि होते हैं, क्योंकि दोनों प्रकार के इस सभी वृत्तिव्यवहार के विषय रस से नियन्त्रित होते है। इस प्रकार जो प्रस्तुत था उसके प्रसङ्ग से रस इत्यादि के वाच्यातिरिक्तत्व का समर्थन करने के लिये क्रम का विचार किया गया यह उपसंहार कर रहे है—'अतएव' इत्यादि। शब्दरूप अभिधान की पहले प्रतीति होती है तब अभिधेय की। जैसा कि श्रीमान् जी ने कहा है—

## लोचन

'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते' इत्यादि । 'अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते ।' इत्यत्रापि चाविनाभाववत् समयस्याभ्यस्तत्वात् क्रमो न लक्ष्येतापि ।

'विषयत्व को विना प्राप्त हुये शब्दों से अर्थ का प्रकाशन नहीं होता; इत्यादि । 'इससे रूप के अनिर्ज्ञात होने से क्या कहा ? यह कहा जाता है ।' यहाँ पर भी अविनाभाव के समान सङ्केत के अभ्यस्त हो जाने से क्रम लक्षित ही न हो ।

## तारावती

यहाँ पर अर्थ सामर्थ्य से अलङ्कार का अक्षेप कर लिया जाता है । इस प्रकार ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं । यदि अर्थ शक्ति से उपमा की व्यञ्जना होती है तो यह उपमा शब्दशक्तिमूलक कैसे हुई ? यदि शब्दशक्तिमूलक है तो अर्थसामर्थ्य से आक्षेप का क्या अर्थ ? अर्थ शक्ति से आक्षेप और शब्दशक्तिमूलकता इनमें विरोध क्यों नहीं ? ( उत्तर ) इस प्रकार के विषय मे ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनमे दोनों प्रकार के ( वाच्य और व्यङ्ग्य ) अर्थों से सम्बन्ध रखने की योग्यता हो । जब एक प्रकार का अभिधेय अर्थ प्रकरणादिवश नियन्त्रित हो जाता है तब शब्दसामर्थ्य से दूसरा भी अर्थ ले लिया जाता है और उसी शब्दसामर्थ्य से आर्थी प्रतीति भी प्रतिप्रसूत हो जाती है । अतएव वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थप्रतीति शब्दशक्तिमूलक कही जाती है । आशय यह है कि अर्थसामर्थ्य का पुनरुज्जीवन शब्दशक्ति के बल पर ही होता है । अतः अर्थसामर्थ्य से आक्षेप और शब्दशक्तिमूलकता इन दोनों कथनों मे परस्पर कोई विरोध नहीं । इस विषय की पहले शब्दशक्तिमूलक ध्वनि-निरूपण के प्रकरण में पर्याप्त व्याख्या की जा चुकी है, अतः यहाँ विशेष विवेचन अपेक्षित नहीं है ।

यह तो हुई विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की बात । अब अविवक्षितवाच्य ध्वनि को ले लीजिये—इस ध्वनि मे दूसरे अर्थ का प्रकाशन स्वविषयवैमुख्य की प्रतीति के द्वारा हुआ करता है । आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य ( लक्षणामूलक ) ध्वनियों में पहले तो अपने विषय ( वाच्यार्थ ) की प्रतीति होती है, फिर उसका बाध होता है जिसमे अपने विषय ( वाच्यार्थ ) से विमुख हो जाना पड़ता है, तब लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है और बाद में व्यञ्जनाजन्य बोध होता है । जैसे 'निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' मे अन्ध शब्द का अर्थ है नेत्रहीन। शीशा नेत्रहीन हो ही नहीं सकता । अतएव वाच्यार्थ का बाध हो जाता है । फिर मलिनरूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है और तब कहीं अतिशयतारूप व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है । इस प्रकार इस प्रक्रिया में नियम से ही एक प्रकार का क्रम अवश्य विद्यमान रहता है जो कि लक्षित भी किया जा सकता है । ( प्रश्न ) जब

कि यहाँ पर क्रम अवश्य लक्षित होता है तब आप इस भेद को संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदों में क्यों नहीं रखते ? ( उत्तर ) यदि वाच्यार्थ अभिमत और विवक्षित हो तब तो उसके साथ व्यङ्ग्यार्थ का विचार करना ठीक हो सकता है, किन्तु जब वाच्यार्थ विवक्षित ही नहीं तब उसके साथ व्यङ्ग्यार्थ के क्रम का न तो विचार ही किया जा सकता है और न उसके आधार पर नामकरण ही किया जा सकता है। आशय यह है कि क्रम होता तो प्रत्येक व्यङ्ग्यार्थ प्रकाशन में है। किन्तु वह कहीं लक्षित होता है कहीं नहीं।

( प्रश्न ) रस इत्यादि को वृत्तियों का जीवन बतलाने के लिये प्रकरण का उपक्रम किया गया था और उपसंहार 'कहीं वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का क्रम लक्षित होता है कहीं नहीं होता' यह कहकर दिया गया। इस उपक्रम और उपसंहार की संगति किस प्रकार बैठती है ? ( उत्तर ) प्रस्तुत प्रकरण यह दिखलाने के लिये उठाया गया है कि वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—कैशिकी इत्यादि अर्थवृत्तियाँ जो इतिवृत्त भाग रूप होती हैं और उपनागरिका इत्यादि शब्द वृत्तियाँ। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का जीवन रस इत्यादि ही होते हैं। इस प्रकार इस समस्त वृत्तिव्यवहार का नियन्त्रण रस इत्यादि के द्वारा ही होता है। इसीलिये वृत्तियों का जीवन रस माने जाते हैं। यही प्रस्तुत प्रकरण है। इस प्रकरण में प्रसंगवश यह दिखलाया गया कि रस इत्यादि वाच्य से भिन्न होते हैं। इसी बात का समर्थन करने के लिये वाच्य और व्यङ्ग्य के क्रम पर विचार कर लिया गया। इस प्रकार यहाँ पर उपक्रम और उपसंहार का कोई विरोध नहीं।

ऐसा तो प्रायः होता है कि कार्य कारण का क्रम अधिक अभ्यस्त हो जाने पर प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिये अभिधान और अभिधेय को ले लीजिये। शब्द अभिधान होता है। उसकी प्रथम प्रतीति होती है और अभिधेय ( वाच्यार्थ ) की प्रतीति बाद मे, क्योंकि शब्द और अर्थ का निमित्त-निमित्तिभाव सम्बन्ध होता है। ( इनमें भी एक क्रम होता है। पहले बालक वृद्ध व्यवहार में शब्द को सुनता है, फिर अवापोद्वाप से उसका अर्थ समझता है और तब प्रत्यभिज्ञा के बल पर अर्थबोध करता है। किन्तु जब अनेकशः व्यवहार के कारण उसे किसी अर्थ का पूर्ण ज्ञान होता है तब बिना ही क्रमप्रतीति के वह अर्थ को समझता जाता है। ) शब्द और अर्थ के क्रम के विषय में भगवान् भर्तृहरि जी ने कहा है—'जब तक शब्द श्रावण इत्यादि ज्ञान-विषय को प्राप्त नहीं हो जाते तब तक वे अर्थ का प्रकाशन नहीं कर सकते।' इसके बाद भर्तृहरि जी ने इसका प्रतिपादन करते हुये लिखा है—'इसीलिए 'शब्द के रूप-ज्ञान न होने पर लोग पूछा करते हैं कि आपने

## ध्वन्यालोकः

तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद्ब्रूयात्–किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम ? व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम् ? नहि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वं व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयाद-व्यवस्थानम् ।

(अनु०) वह इस प्रकार व्यञ्जक मुख से ध्वनि के प्रकारों के निरूपित कर दिये जाने पर कोई कहे—यह व्यञ्जकत्व क्या है ? क्या व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन ? अर्थ का व्यञ्जकत्व और व्यङ्ग्यत्व (बनता) ही नहीं । व्यङ्ग्यत्व व्यञ्जकत्व की सिद्धि के आधीन होता है और व्यङ्ग्य की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व की सिद्धि होती है । इस प्रकार अन्योन्याश्रय होने से अव्यवस्था हो जायेगी ।

## लोचन

उद्योतारम्भे युदुक्तं व्यञ्जनमुखेन ध्वनेः स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति तदिदानीमुपसंहरन् व्यञ्जकभावं प्रथमोद्योते समर्थितमपि शिष्याणामेकप्रघट्टकेन हृदि निवेशयितुं पूर्वपक्षमाह—तदेवमिति । कश्चिदिति । मीमांसकादिः । किमिदमिति । वक्ष्यमाण-श्रोदकस्याभिप्रायः ।

उद्योत के प्रारम्भ में जो कहा गया था कि 'व्यञ्जकमुख से ध्वनि के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है' यह उसका इस समय उपसंहार करते हुये प्रथम उद्योत में समर्थित भी व्यञ्जकभाव को शिष्यों के हृदय में एक प्रघट्टक के द्वारा निविष्ट करने के लिये पूर्वपक्ष को कहते हैं–'वह इस प्रकार' यह । 'कोई' यह । मीमांसक इत्यादि । 'यह क्या' यह । आगे कहा जानेवाला पूर्वपक्षी–प्रश्नकर्ता का अभिप्राय है ।

## तारावती

क्या कहा ?' इस प्रकार जैसे अविनाभाव सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति ज्ञान में क्रम होते हुये भी अधिक अभ्यस्त हो जाने के कारण लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार सङ्केत-ज्ञान भी अधिक अभ्यस्त हो जाने के कारण लक्षित नहीं होता । यही दशा वाच्य और व्यङ्ग्य की है कि इनमें एक क्रम अवश्य विद्यमान रहता है । किन्तु जब विशेष अभ्यास हो जाता है तब उसकी प्रतीति नहीं होती ।

प्रस्तुत (तृतीय) उद्योत के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की गई थी कि इस उद्योत में व्यञ्जना के रूप में ध्वनि का निरूपण किया जायगा।वह लगभग पूरी हो गई। अब उस प्रकरण का उपसंहार करते हुये व्यञ्जना की स्थापना की जा रही है । यद्यपि यह कार्य तो प्रथम उद्योत में ही किया जा चुका है तथापि शिष्यबुद्धिवैशद्य और विपक्षमुखमुद्रण के लिये उसका फिर एक बार समर्थन उचित प्रतीत होता है

ध्वन्यालोकः

ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता तत्सिद्ध्यधीना च व्यञ्जकसिद्धिरिति कः पर्यनुयोगावसरः। सत्यमेवैतत्; प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद्व्यपदिश्यते? यत्र च प्राधान्येनानवस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्वाद्वाक्यस्य। अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः। किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया? तरमात्तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मुख्यतया वाच्यः। या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रम् पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः।

(अनु०) (प्रश्न) वाच्यव्यतिरिक्त वस्तु की सिद्धि का प्रतिपादन तो पहले ही कर दिया; उसकी सिद्धि के आधीन व्यञ्जक की सिद्धि है तो परिप्रश्न का अवसर ही क्या? (उत्तर) यह सच ही है। पहले कही हुई युक्तियों से वाच्य-व्यतिरिक्त वस्तु की सिद्धि की गई। वह अर्थ तो व्यङ्ग्य के रूप मे ही क्यों व्यपदेश (नाम) को प्राप्त होता है। और जहाँ पर प्राधान्य के रूप मे अवस्थान नहीं होता वहाँ इसका नामकरण वाच्य के रूप मे ही करना उचित है क्योंकि वहाँ पर वाचकत्व तत्परक है। अतः उसको प्रकाशित करनेवाले वाक्य का वाचकत्व ही व्यापार है। उसके दूसरे व्यापार की कल्पना की क्या आवश्यकता? इससे तात्पर्यविषयक जो अर्थ होता है वह मुख्य रूप मे वाच्य होता है। और जो बीच मे उस प्रकार के विषय मे दूसरे वाच्य की प्रतीति होती है वह उस प्रतीति का केवल उपाय उसी प्रकार होती है जिस प्रकार पदार्थप्रतीति वाक्यार्थप्रतीति का उपायमात्र होती है।

लोचन

प्रागेवेति। प्रथमोद्योते अभाववादनिराकरणे। अतश्च न व्यञ्जकसिद्ध्या तत्सिद्धिर्येनान्योन्याश्रयः शङ्क्येत, अपि तु हेत्वन्तरैस्तस्य साधितत्वादिति भावः। तदाह—तत्सिद्धीति।

'पहले ही' यह। प्रथम उद्योत मे अभाववाद के निराकरण मे। और इसीलिये व्यञ्जक की सिद्धि से उसकी सिद्धि नहीं होती जिससे अन्योन्याश्रय की आशङ्का की जाय, अपितु क्योंकि दूसरे हेतुओं से उसे सिद्ध कर दिया गया है यह भाव है। वही कहते हैं—'उसकी सिद्धि' यह।

तारावती

जिससे एक प्रघट्टक मे ही सारी वस्तु शिष्यों की बुद्धि में सन्निविष्ट हो जाय। सर्व प्रथम यहाँ पर पूर्वपक्ष की स्थापना की जा रही है। अतः यहाँ पर जो कुछ कहा जा रहा है वह इस प्रकरण को उठानेवाले प्रेरक व्यक्ति की ओर से ही समझा

## लोचन

स त्विति। अस्त्वसौ द्वितीयोऽर्थः, तस्य यदि व्यङ्ग्य इति नाम कृतम्, वाच्य इत्यपि कस्मान्न क्रियते ? व्यङ्ग्य इति वाच्याभिमतस्यापि कस्मान्न क्रियते ? अवगम्यमानत्वेन हि शब्दार्थत्वं तदेव वाचकत्वम्। अभिधा हि यत्पर्यन्ता तत्रैवाभिधायकत्वमुचितम्, तत्पर्यन्तता च प्रधानीभूते तस्मिन्नर्थे—इति मूर्धाभिषिक्तं ध्वनेर्यद्रूपं निरूपितं तत्रैवाभिधाव्यापारेण सवितुं युक्तम्। तदाह—यत्र चेति। तत्प्रकाशिन इति। तद्व्यङ्ग्याभिमतं प्रकाशयत्यवश्यं तद्वाक्यं तस्येति।

'वह तो' यह। यह द्वितीय अर्थ हो। उसका यदि व्यञ्जक यह नाम किया गया है तो वाच्य यह भी क्यों नहीं किया जाता ? व्यङ्ग्य यह वाच्याभिमत का भी क्यों नहीं किया जाता ? अवगत होने के साथ जो शब्द का अर्थ वही निस्सन्देह वाचकत्व होता है। जिस पर्यन्त अभिधा हो वही अभिधायकत्व उचित होता है। उसका पर्यन्त होना तो उस अर्थ के प्रधान होने पर होता है; इस प्रकार ध्वनि का जो रूप मूर्धाभिषिक्त रूप में निरूपित किया गया था उसी में अभिधा-व्यापार का होना उचित है। वही कहते हैं—'जहाँ पर' यह। 'उसको प्रकाशित करनेवाला' यह। जो वाक्य उस व्यङ्ग्याभिमत को अवश्य प्रकाशित करे उसका यह ( अर्थ है )।

## तारावती

जाना चाहिये। कतिपय दार्शनिक विचारधारायें इस प्रकार की है कि जो ऐसे अवसरों पर व्यञ्जनाव्यापार को स्वीकार नहीं करती। इसमें मीमासक और वैय्याकरण मुख्य है। वे लोग कह सकते हैं कि आपने यहाँ पर व्यञ्जकत्व के द्वारा ध्वनि का निरूपण तो कर दिया, किन्तु इस पर प्रकाश नहीं डाला कि व्यञ्जकत्व क्या वस्तु है ? क्या आप व्यञ्जकत्व की परिभाषा यह करते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करना ( व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करनेवाला तत्त्व ) व्यञ्जक कहलाता है ? यदि आप व्यञ्जकत्व की यह परिभाषा मानेंगे तो न तो अर्थ का व्यङ्ग्यत्व ही सिद्ध हो सकेगा और न व्यङ्ग्यत्व ही। क्योंकि जब व्यङ्ग्यार्थ का पहले ज्ञान हो जायगा तभी व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करनेवाला तत्त्व व्यञ्जक कहला सकेगा। इस प्रकार व्यञ्जक की परिभाषा के अनुसार यदि पहले व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान नहीं हो जायेगा तो व्यञ्जक का ज्ञान हो ही न सकेगा। तब प्रश्न उठेगा कि व्यङ्ग्य किसे कहते हैं और व्यङ्ग्य की परिभाषा यह की जायेगी कि व्यञ्जक शब्दों से उत्पन्न बोध के विषय को व्यङ्ग्य कहते हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्य को समझने के लिये पहले व्यञ्जक को समझना अनिवार्य हो जायेगा। व्यञ्जक की सिद्धि व्यंग्य के आधीन और व्यंग्य की सिद्धि व्यञ्जक के आधीन, यह अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा।

## तारावती

शास्त्र का नियम है कि अन्योन्याश्रय दोष जहाँ होता है वहाँ उसे शास्त्रीय मान्यता प्राप्त नहीं होती तथा दोनों का ही परित्याग कर दिया जाता है। अतः यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष आ जाने से न तो व्यञ्जकत्व ही सिद्ध हो सकेगा न व्यंग्यत्व ही। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह सिद्ध कर दिया कि व्यञ्जकत्व का स्वरूपनिरूपण ही असम्भव है फिर उसके रूपमें ध्वनि के विवेचन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु पूर्वपक्षी को यह शङ्का है कि कहीं उसकी मान्यता का प्रत्याख्यान सिद्धान्ती एक दूसरे रूप में न कर दे। अतः वह सिद्धान्ती के सम्भावित उत्तर की कल्पना करके उसका निराकरण कर रहा है—इस पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम उद्योत में अभाववाद के निराकरण के अवसर पर व्यंग्य की सत्ता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है। अतः व्यंग्य की सिद्धि मे व्यञ्जक की सिद्धि की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। क्योंकि व्यंग्य तो पहले ही सिद्ध है। उस व्यंग्य के आधीन व्यञ्जक सिद्ध हो सकता है। अतः कोई दोष नहीं। इस सम्भावित कथन पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यह तो ठीक ही है कि पहले इसकी सिद्धि की जा चुकी है। हमे इसमे विवाद नहीं कि वाच्य से भिन्न दूसरा और अर्थ होता है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उसका नामणकरण 'व्यंग्य' होना चाहिये इसमे आपके पास क्या प्रमाण है? हम उसे व्यंग्य तभी कहेंगे जब व्यञ्जना नामक अतिरिक्त व्यापार सिद्ध हो जाय। उस व्यञ्जनाव्यापार को तो आपने सिद्ध ही नहीं किया, फिर आप उस वाच्यातिरिक्त अर्थ को व्यंग्य यह नाम दे किस प्रकार सकते हैं? यदि आप मनमाना नाम रखने के लिये स्वतन्त्र है तो जिसे आप व्यंग्य कहते हैं उसे हम वाच्य कह सकते हैं अथवा जिसे आप वाच्य कहते हैं उसे हम व्यंग्य कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों अर्थों को वाच्य कहने मे तर्क भी अधिक है, क्योंकि वाचकत्व की परिभाषा यही तो है कि किन्हीं शब्दों का ऐसा अर्थ हो जो कि तत्त्व का बोध करा सके। जिस तत्त्व का बोध कराया जाता है उसी तत्त्व को वाच्य की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। उचित यही है कि अभिधा का प्रसार जहाँ तक हो उसी अर्थ को अभिधेयार्थ माना जाय और उस क्रिया को अभिधान क्रिया कहा जाय। आशय यह है कि अभिधायकत्व उसे ही कहेंगे जो शब्दप्रयोग से अन्तिम बोध होगा। अन्तिम बोध तो प्रधानीभूत तात्पर्य में ही होता है। अतः अभिधा का प्रसार वहाँ तक हो जाता है जो शब्द का अन्तिम अभिप्रेत अर्थ होता है। इस प्रकार जिस अर्थ को आप ध्वनि नाम से मूर्धाभिषिक्त करते है और जिसको आप ध्वनि का स्वरूप घोषित करते हैं वह और कुछ नहीं

## लोचन

उपायमात्रमित्यनेन साधारण्योक्त्या भाट्टं प्राभाकरं वैय्याकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति। भाट्टमते हि—

वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥

'उपायमात्र' इसके द्वारा साधारण उक्ति से भाट्ट, प्राभाकर और वैय्याकरण के पूर्वपक्ष को सूचित करता है। निस्सन्देह भाट्टमत में—

'वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये हो उनकी प्रवृत्ति में अविनाभाव सम्बन्ध से प्राप्त पदार्थ का प्रतिपादन पाक मे काष्ठों की ज्वाला के समान होता है।'

## तारावती

वाक्य का तात्पर्य मात्र है और उस अर्थ के प्रत्यायन के लिये भी अभिधाव्यापार ही पर्याप्त है पृथक् रूप मे व्यञ्जनाव्यापार को मानने की क्या आवश्यकता? आशय यह है कि जहाँ वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ प्रधान रूप में स्थित हो वहाँ भी उसे वाच्य का नाम देना ही उचित है क्योंकि वाक्य का तात्पर्य उसी अर्थ मे होता है। अतएव जिस शब्दव्यापार का आश्रय लेकर उस अर्थ का प्रकाशन किया जाता है उसे वाचकत्व या अभिधाव्यापार कहना ही ठीक है। उसके लिये पृथग्भूत एक दूसरे व्यञ्जनाव्यापार को मानने की क्या आवश्यकता? इस प्रकार तात्पर्यविषयक जो अर्थ होता है मुख्यरूप में वही वाच्य कहा जाता है। जहाँ पर दो अर्थों की प्रतीति होती है वहाँ एक अर्थ तो अन्तिम अर्थ होता है और दूसरा अर्थ मध्यवर्ती होता है। वह अन्तिम अर्थ की प्रतीति का एक उपाय-मात्र होता है। (जहाँ पर व्यङ्ग्याभिमत अर्थ अन्तिम तात्पर्य का विषय होता है वहाँ वाच्यार्थमात्र मध्यवर्ती होकर व्यङ्ग्याभिमत अर्थ का उपाय हो जाता है और जहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण तथा वाच्यार्थ मुख्य होता है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ मध्यवर्ती होकर वाच्यार्थ का उपाय हो जाता है।) यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पद का अर्थ वाक्य के अर्थ का उपाय हुआ करता है।

ऊपर बतलाया गया है कि जिस प्रकार पदार्थ वाक्यार्थ का उपाय होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ भी अन्तिम तात्पर्यार्थ का उपाय होता है। यहाँ पर यह नहीं बतलाया गया है कि प्रस्तुत पूर्वपक्ष किन लोगों के मत में है; किन्तु सामान्य रूप मे उपाय का प्रतिपादन करने से यह संकेत मिलता है कि यह पूर्वपक्ष भाट्ट, प्राभाकर और वैय्याकरणों के मत के अनुसार प्रतिपादित किया गया है। इन तीनों मतों मे पदार्थ वाक्यार्थ का उपाय ही माना जाता है। श्लोक वार्तिक के वाक्याधिकरण मे इस विषय मे लिखा है:—

## लोचन

इति शब्दावगतैः पदार्थैस्तात्पर्येण योऽर्थ उत्थाप्यते स एव वाक्यार्थः। स एव च वाच्य इति। प्राभाकरदर्शनेऽपि दीर्घदीर्घो व्यापारो निमित्तिनि वाक्यार्थे, पदार्थानां तु निमित्तभावः पारमार्थिक एव। वैयाकरणानां तु सोऽपारमार्थिक इति विशेषः। एतच्चास्माभिः प्रथमोद्योत एव वितत्य निर्णीतमिति न पुनरायस्यते ग्रन्थयोजनैव तु क्रियते। तदेतन्मतत्रयं पूर्वपक्षे योज्यम्।

इस प्रकार शब्दों के द्वारा अवगत पदार्थों से तात्पर्य के रूप में जो अर्थ उत्थापित किया जाता है वही वाक्यार्थ होता है और वही वाच्य होता है। प्राभाकर दर्शन में भी नैमित्तिक वाक्यार्थ मे दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता है और पदार्थों का निमित्तभाव तो पारमार्थिक ही होता है। वैय्याकरणों के मत में तो वह अपारमार्थिक होता है यह विशेषता है। यह हमने प्रथम उद्योत मे ही विस्तारपूर्वक निर्णय कर दिया था। अतः पुनः कष्ट नहीं उठाया जा रहा है; केवल ग्रन्थयोजना की जा रही है। इस प्रकार इन तीनों मतों की योजना पूर्वपक्ष में की जानी चाहिये।

## तारावती

'जिस प्रकार जलते हुये काष्ठों का मुख्य प्रयोजन पाक को तैय्यार कर देना ही है; किन्तु ज्वाला के अभाव मे काष्ठ कभी भी पाक तैय्यार करने में समर्थ नहीं हो सकते, अतः ज्वाला का पाकक्रिया मे अविनाभाव सम्बन्ध है जिसको नान्तरीयक हेतु कहते हैं—अर्थात् ज्वाला के विना काष्ठ पाक तैय्यार नहीं कर सकता—इसीलिये मध्य में ज्वाला की कल्पना कर ली जाती है और यह मान लिया जाता है कि काष्ठ ज्वाला में हेतु है तथा ज्वाला पाक में। वस्तुतः काष्ठ का मुख्य प्रयोजन पाक ही है। इसी प्रकार अर्थबोध के लिये उच्चारण किये हुये शब्दों का मुख्य फल होता है वाच्यार्थबोध करना। किन्तु विना शब्दार्थ के वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता; इसीलिये मध्य में शब्दार्थ की कल्पना कर ली जाती है और पदार्थ का प्रतिपादन किया जाता है।'

यह है कुमारिल भट्ट के अनुयायियों का कथन। इसका आशय यह है कि शब्दों से जिन अर्थों का अवगमन होता है वे अर्थ पदार्थ कहलाते है; वे मध्यवर्ती अर्थ होते हैं और तात्पर्य के रूप में एक नये अर्थ को उठाने में कारण बनते है। इस प्रकार जो नया अर्थ उठाया जाता है वही वाक्यार्थ कहलाता है और वही वाच्यार्थ होता है। इस प्रकार पदप्रयोग का मुख्य प्रयोजन वाच्यार्थ-ज्ञापन होता है किन्तु अन्तरालवर्ती पदार्थ उसके सहायक या उपायमात्र होते हैं। यह है भट्टमतानुयायियों की मान्यता। प्राभाकर दर्शन में भी 'सोऽयमिषोरिव

ध्वन्यालोकः

अत्रोच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमनहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा? न तावदविशेषः, यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव। तथाहि—वाचकत्वलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः गमकत्वलक्षणस्त्वर्थान्तर विषयः। न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्ग्ययोरपह्नोतुं शक्यः, एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन।

(अनु०) यहाँ कहा जा रहा है—जहाँ शब्द अपने अर्थ को कहते हुये अर्थान्तर का अवगमन कराता है वहाँ जो उसका अपने अर्थ का कहना और जो दूसरे अर्थ के अवगम का हेतु होना उन दोनों में (कोई) विशेषता (भेद) नहीं है या है? यह नहीं कि भेद नहीं है क्योंकि वे दोनों व्यापार भिन्न विषयवाले और भिन्न रूपवाले प्रतीत होते ही हैं। वह इसप्रकार—शब्द का वाचकत्व रूप व्यापार अपने अर्थ के विषय में होता है और गमकत्वरूप व्यापार दूसरे अर्थ के विषय में होता है। वाच्य और व्यङ्ग्य का अपना और पराया यह व्यवहार छिपाया ही नहीं जा सकता क्योंकि एक की प्रतीति सम्बन्धी के रूप में होती है और दूसरे की सम्बन्धी के सम्बन्धी के रूप में।

तारावती

दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' का सिद्धान्त माना जाता है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार बाण का व्यापार सन्धान के बाद गात्रापघात और प्राणापहरण रूप मे आगे-आगे बढ़ता जाता है; प्राणापहरण ही उसका मुख्य प्रयोजन होता है; गात्रापघात इत्यादि मध्यवर्ती क्रियायें उसका उपायमात्र होती हैं उसी प्रकार पद, पदार्थ और वाक्यार्थ के विषय में भी समझना चाहिये। वाक्यार्थ नैमित्तिक होता है और पदार्थ निमित्त-मात्र। इस प्रकार प्राभाकर दर्शन में भी पदार्थ का वाक्यार्थ से उपायमात्र का सम्बन्ध माना जाता है। वैय्याकरण दर्शन मे भी इसी प्रकार की मान्यता है। अन्तर केवल यह है कि प्राभाकर दर्शन में कार्यान्वित में शक्ति मानी जाती है, अतएव उसमे पृथक् रूप मे तात्पर्य-वृत्ति के मानने की आवश्यकता नहीं होती और अन्तरालवर्ती पदार्थ तात्त्विक माने जाते हैं। किन्तु वैय्याकरण इन अन्तरालवर्ती अर्थों को उसी प्रकार अतात्त्विक मानते हैं जिस प्रकार वेदान्त मे अविद्या कल्पित घट पट इत्यादि समस्त पदार्थ अतात्त्विक ही माने जाते हैं। वेदान्त उन सबको ब्रह्मरूप ही मानता है। उसी प्रकार वैय्याकरण उन अन्तरालवर्ती पदार्थों को असत्य मानकर सभी को स्फोट (शब्दब्रह्म) रूप ही मानते हैं। उनके मत मे जिस प्रकार 'घट' में प्रत्येक वर्ण का कोई अर्थ नहीं

लोचन

अत्रेति पूर्वपक्षे—उच्यत इति सिद्धान्तः। वाचकत्वं गमकत्वं चेति स्वरूपतो भेदः स्वार्थेऽर्थान्तरे क्रमेणेति विषयतः। ननु तस्माद्भेदसौ गम्यतेऽर्थः कथं तर्ह्युच्यतेऽर्थान्तरमिति। नो चेत्स तस्य न कश्चिदिति को विषयार्थ इत्याशङ्क्याह—न चेति।

यहाँ पर अर्थात् पूर्वपक्ष में। 'कहा जा रहा है' अर्थात् सिद्धान्त वाचकत्व और गमकत्व यह स्वरूप से भेद है और क्रमशः स्वार्थ में तथा अर्थान्तर में यह विषय से (भेद है)। यदि उसे अर्थ अवगत होता है तो अर्थान्तर क्यों कहा जाता है। नहीं तो वह उसका कुछ नहीं होता तो विषय का क्या अर्थ! यह शङ्का करके कहते हैं—नच इत्यादि।

तारावती

होता उसी प्रकार 'घट लाओ' में प्रत्येक शब्द का कोई अर्थ नहीं। उनका अर्थ मानना केवल अविद्याकल्पित है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम उद्योत में किया जा चुका है। अतः यहाँ पर ग्रन्थयोजना के लिये संकेतमात्र कर दिया गया है। सारांश यह है कि यह पूर्वपक्ष भाट्ट, प्राभाकर और वैय्याकरण इन तीनों के मत में सामान्यरूप से स्थापित किया गया है।

अब सिद्धान्तपक्षी अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये पूर्वपक्ष की आलोचना कर रहा है—यहाँ पर मुझे यह कहना है कि जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को कहते हुये दूसरे अर्थ का अवगम कराता है वहाँ दो अर्थ हो जाते हैं एक स्वार्थ और दूसरा अर्थान्तर। वहाँ पर स्वार्थ और अर्थान्तर दोनों को प्रकट करने में शब्द के जो दो व्यापार होते हैं उनमें आप अभेद (व्यापार की एकात्मता) मानते हैं या भेद (विभिन्नरूपता)। यह आप कह ही नहीं सकते उनमें व्यापार की एकात्मता होती है क्योंकि दोनों व्यापारों के विषयों में भी भेद होता है और रूप में भी भेद होता है तथा दोनों में भेद की प्रतीति प्रकट रूप में होती है। शब्द पहले स्वार्थ को प्रकट करता है फिर अर्थान्तर को, इस प्रकार इनकी प्रतीति भिन्न कालों में क्रम से होती है, अतः दोनों का विषयभेद मानना अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार एक व्यापार को वाचकत्व (अभिधा) कहते हैं दूसरे को व्यञ्जकत्व (व्यञ्जना)। यह इनके रूप में भेद हो गया। विषय और रूप दोनों में भेद होने के कारण हम इन दोनों व्यापारों को अभिन्न नहीं मान सकते। (प्रश्न) यदि आप यह मानते हैं कि शब्द से ही दूसरा अर्थ अवगत होता है तो आप उसे अर्थान्तर (दूसरा अर्थ) क्यों कहते हैं; वह तो शब्द का अपना ही अर्थ है—अर्थान्तर कैसे हुआ? यदि आप यह मानते हैं कि वह अर्थ शब्द का नहीं है तो शब्द से उसका सम्बन्ध ही क्या? ऐसी दशा में उस अर्थ को शब्द का विषयार्थ

ध्वन्यालोकः

वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी । यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात्तदार्थान्तरत्व-व्यवहार एव न स्यात् । तस्माद्विषयभेदस्तावत्तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः ।

(अनु०) निस्सन्देह वाच्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी होता है और उससे भिन्न तो अभिधेय सामर्थ्य से आक्षिप्त सम्बन्धि-सम्बन्धी होता है । यदि उसका साक्षात् स्वसम्बन्धित्व हो तो अर्थान्तरत्व व्यवहार नहीं ही हो । अतएव उन दोनों व्यापारों का विषयभेद तो सुप्रसिद्ध है ।

लोचन

नस्यादिति । एवकारो भिन्नक्रमः, नैव स्यादित्यर्थः । यावता न साक्षात्सम्बन्धित्वं तेन युक्त एवार्थान्तरव्यवहार इति विषयभेद उक्तः ।

'नहो' यह । ( यहाँ ) 'एव' का प्रयोग भेद से होता है; अर्थात् नहीं ही हो। जिससे कि साक्षात् सम्बन्धित्व नहीं होता उससे अर्थान्तरत्व का व्यवहार उचित ही है । यह विषयभेद बतलाया गया ।

तारावती

मानना तो और भी दूर की बात हो गई । जब शब्द से उसका सम्बन्ध ही नहीं तो उसको शब्द का विषयार्थ मानना किस प्रकार संगत हो सकता है ? ( उत्तर ) इस बात को तो आप अस्वीकार कर ही नहीं सकते और न आप उसे छिपा ही सकते हैं कि वाच्यार्थ शब्द का अपना अर्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ अर्थान्तर होता है । कारण यह है कि वाच्यार्थ तो शब्द से साक्षात् सम्बद्ध होता है और व्यङ्ग्यार्थ परम्परा से सम्बद्ध होता है—व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बद्ध होता है और वाच्यार्थ शब्द से सम्बद्ध होता है । इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शब्द से नहीं होता इसीलिये वह शब्द का साक्षात् अर्थ न कहा जाकर अर्थान्तर कहलाता है । वह शब्द का विषय इसलिये कहा जाता है कि परम्परा से उसका सम्बन्ध शब्द से होता तो है ही । सारांश यह है कि वाच्यार्थ शब्द का असाक्षात् सम्बन्धी होता है और व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर सम्बन्धी का सम्बन्धी हो जाता है । यह तो ठीक ही है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ भी शब्द का साक्षात् सम्बन्धी होता तो अर्थान्तर कहा ही नहीं जाता । यहाँ पर 'व्यवहार एव न स्यात्' में 'एव' शब्द व्यवहार के साथ जुड़ा है किन्तु उसका अन्वय क्रम को बदल कर 'न' के साथ होता है । अतः यहाँ अर्थ होगा—कि यदि व्यङ्ग्यार्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी हो तो उसके लिये अर्थान्तर का व्यवहार नहीं ही हो । अतः विषयभेद तो प्रसिद्ध ही है ।

ध्वन्यालोकः

रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव । नहि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गतिशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात्। अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः । तथाहि—'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादिश्लोके चेष्टाविशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव ।

(अनु०) रूपभेद भी प्रसिद्ध ही है । जो अभिधानशक्ति है वही अवगमनशक्ति नहीं ही है । क्योंकि अवाचक भी गीत शब्द की रस इत्यादि लक्षणवाली अर्थ की प्रतीति देखी जाती है और शब्द से रहित भी चेष्टा इत्यादि की अर्थ विशेष प्रकाशन की प्रसिद्धि है ही । वह इस प्रकार—व्रीडायोगान्नतवदनया इत्यादि श्लोक में सुकवि ने विशेष प्रकार की चेष्टा को अर्थविशेष के प्रकाशन के रूप में प्रदर्शित ही किया है ।

लोचन

ननु भिन्नेऽपि विषये अक्षशब्दादेर्बहुर्थस्य एक एवाभिधालक्षणो व्यापार इत्याशङ्क्य रूपभेदमुपपादयति—रूपभेदोऽपीति । प्रसिद्धिमेव दर्शयति—न हीति । विप्रतिपन्नं प्रतिहेतुमाह—अवाचकस्यापीति—यदेव वाचकत्वं तदेव गमकत्वं यदि स्यादवाचकस्य गमकत्वमपि न स्यात्, गमकत्वेनैव वाचकत्वमपि न स्यात् न चैतदुभयमपि गीतशब्दे शब्दव्यक्तिरिक्ते चाधोवक्त्रत्वकुचकम्पनवाष्पावेशादौ तस्यावाचकस्याप्यवगमकारित्वदर्शनादवगमकारिणोऽप्यवाचकत्वेन प्रसिद्धत्वादिति तात्पर्यम् ।

'निस्सन्देह भिन्न विषय में बहुत अर्थोंवाले अक्ष शब्द इत्यादि का एक ही अभिधारूप व्यापार होता है' यह शङ्का करके रूपभेद का उपादान कर रहे हैं—यदि जो वाचकत्व है वही गमकत्व हो तो अवाचक का गमकत्व भी न हो और गमकत्व होने पर वाचकत्व नहीं है ऐसा भी न हो । यह दोनों ही बातें हैं क्योंकि गीत शब्द मे तथा शब्दरहित मुख के झुकने, स्तनों के कम्पन, वाष्प के आवेश इत्यादि मे उस अवाचक का भी अवगमकारित्व देखा जाता है अतः अवगमकारित्व की भी अवाचकत्व के रूपमे प्रसिद्धि है ।

तारावती

( प्रश्न ) जहाँ द्व्यर्थक या अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ दो या अनेक अर्थों का शब्द से साक्षात् सम्बन्ध होता है । जैसे 'अक्ष' शब्द के इन्द्रिय इत्यादि अनेक अर्थ होते है। ऐसे स्थलों पर एक ही व्यापार से काम चल सकता है और उसे अभिधाव्यापार की संज्ञा प्रदान की जा सकती है । फिर व्यापारभेद मानने की क्या आवश्यकता ? ( उत्तर ) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के

ध्वन्यालोकः

तस्माद्विन्नविषयत्वाद्विन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य यत्तयोः स्पष्ट एव भेदः। विशेषश्चेन्न तर्हीदानीमवगमनीयस्याभिधेय-सामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता । शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव न वाच्यत्वेन। प्रसिद्धाभिधानान्तर-सम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता।

(अनु०) इसलिये विषयभेद होने से और रूपभेद होने से शब्द का जो अपने अर्थ का कहना और दूसरे अर्थ के अवगमन का हेतु होना उन दोनों में स्पष्ट ही भेद है। यदि भेद है तो अब अवगमनीय अभिधेय सामर्थ्याक्षिप्त अर्थान्तर के लिये वाच्यत्व का नाम नहीं दिया जा सकता। हम लोग उसकी शब्दव्यापारगोचरता तो चाहते ही हैं। वह तो व्यङ्ग्यत्व के रूप में ही हो सकती है वाच्यत्व के रूप में नहीं। क्योंकि दूसरे प्रसिद्ध अभिधान के सम्बन्ध के योग्य होने के कारण उस अर्थान्तर की प्रतीति का जो अपने अर्थ को कहनेवाले दूसरे शब्द से विषय किया जाना है उसमें प्रकाशन की युक्ति ही ठीक है।

तारावती

व्यापारों में केवल विषय भेद ही नहीं होता इनका रूप भेद भी होता है। और वह रूप भेद भी सुप्रसिद्ध ही है। यदि अभिधाव्यापार और व्यञ्जनाव्यापार दोनों एक ही वस्तु होते तो जहाँ वाचकत्व विद्यमान न होता वहाँ व्यञ्जना भी नहीं हो सकती और यदि व्यञ्जना व्यापार होता तो यह कहा ही नहीं जा सकता वहाँ पर अभिधा व्यापार नहीं है। किन्तु ये दोनों बातें ही नहीं होती। जहाँ वाचकत्व नहीं होता वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार हो सकता है और जहाँ व्यञ्जना-व्यापार होता है वहाँ अवश्य ही अभिधा हो ऐसा नहीं होता। उदाहरण के लिये गीत नृत्य इत्यादि शब्दों में अभिधाव्यापार नहीं होता और न उनमे वाच्यार्थ ही होता है, फिर भी उनसे रस इत्यादि रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति देखी जाती है। केवल इतना ही नहीं अपितु जहाँ शब्द भी नहीं होता वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार देखा जाता है। उदाहरण के लिये 'व्रीडायोगान्नतवदनया' इत्यादि पद्य में नायिका का मुख नीचा हो जाना, स्तनों का काँपने लगना, आँसुओं का आवेश इत्यादि शब्द नहीं हैं; केवल चेष्टायें ही हैं किन्तु इनसे भी विशेष अर्थ की व्यञ्जना होती ही है। इस प्रकार जहाँ शब्द होता है किन्तु वाचकत्व नहीं होता वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार देखा जाता है और जहाँ शब्द भी नहीं होता केवल चेष्टायें ही होती हैं वहाँ भी व्यञ्जनाव्यापार देखा जाता है। अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि व्यञ्जना-

लोचन

एतदुपसंहरति— तस्माद्भिन्नेति। न तर्हीति। वाच्यत्वं ह्यभिधाव्यापारविषयता न तु व्यापारमात्रविषयता, तथात्वे तु सिद्धसाधनमित्येतदाह—शब्दव्यापारेति।

ननु गीतादौ मास्तूद्वाचकत्वमिह त्वर्थान्तरेऽपि शब्दस्य वाचकत्वमेवोच्यते किं हि तद्वाचकत्वं सङ्कोच्यत इत्याशङ्क्याह—प्रसिद्धेति।

इसका उपसंहार करते हैं—'इसलिये.....' इत्यादि। 'तो नहीं' यह—वाचकत्व निस्सन्देह अभिधाव्यापार की विषयता को कहते हैं समस्त व्यापारों की विषयता को नहीं। ऐसा होने पर तो यह सिद्ध का साधन ही है यह कहते हैं—'शब्द व्यापार' इत्यादि। 'गीत इत्यादि मे वाचकत्व न हो यहाँ पर तो अर्थान्तर में भी शब्दवाचकत्व ही कहा जाता है। उस वाचकत्व का सङ्कोच क्यों किया जा रहा है? यह शङ्का करके उत्तर देते हैं प्रसिद्ध यह।

तारावती

व्यापार न तो अभिधाव्यापार का पर्याय है और न इनका अनिवार्य साहचर्य ही है। इस प्रकार व्यञ्जना और अभिधा का विषय-भेद भी है और रूपभेद भी। अतः शब्द का अपना अर्थ प्रकट करना और अर्थान्तर के अवगम में हेतु होना इन दोनों तत्त्वों में स्पष्ट भेद है। अब दूसरे पक्ष को लीजिये कि आप स्वार्थ और अर्थान्तर के प्रत्यायन की क्रियाओं को भिन्न मानते हैं। ऐसी दशा मे आप यह नहीं कह सकते कि जिस द्वितीय अर्थ का अवगमन कराया जाता है और जिसका आक्षेप अभिधेय के सामर्थ्य से होता है उसको वाच्य की संज्ञा ही प्राप्त होती है। क्योंकि अभिधाव्यापार का जो विषय होता है उसको ही वाच्य की संज्ञा प्राप्त होती है, सभी व्यापारों के विषय को वाच्य नहीं कह सकते। यदि इतनी बात स्वीकार कर ली जाती है कि जिस अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे वाच्य की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती तो सिद्धान्तपक्षी का पूर्वपक्ष से कोई विरोध नहीं रह जाता। फिर तो पूर्वपक्षी उसी बात को सिद्ध करने लगता है जोकि सिद्धान्तपक्ष की मान्यता है। यह तो सिद्धान्तपक्ष में भी स्वीकार किया जाता है कि जिस अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह शब्द के व्यापार का ही विषय होता है अर्थात् अर्थान्तर की प्रतीति मे शब्द का व्यापार ही निमित्त होता है। वह शब्दव्यापार अभिधा से भिन्न होता है इतना मान लेने पर पूर्वपक्ष की दृष्टि से भी सिद्धान्ती का अभिमत व्यञ्जना व्यापार सिद्ध हो जाता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि शब्द से प्रतीत होनेवाले अर्थान्तर को व्यङ्ग्यत्व की ही संज्ञा प्राप्त होनी चाहिये वाच्यत्व की नहीं। (प्रश्न) आपने गीत इत्यादि में वाचकत्व के अभाव मे भी व्यङ्ग्यत्व को सिद्धकर वाचकत्व और व्यञ्जकत्व का विभेद प्रतिपादित किया है। इस पर निवेदन यह

## लोचन

शब्दान्तरेण तस्यार्थान्तरस्य यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता न वाचकत्वोक्तिः शब्दस्य, नापि वाच्यतोक्तिरर्थस्य तत्र युक्ता। वाचकत्वं हि समयवशादव्यवधानेन प्रतिपादकत्वं यथा तस्यैव शब्दस्य स्वार्थं, तदाह—स्वार्थाभिधायिनेति। वाच्यत्वं हि समयबलेन निर्व्यवधानं प्रतिपाद्यत्वं यथा तस्यैवार्थस्य शब्दान्तरं प्रति तदाह—प्रसिद्धेति। प्रसिद्धेन वाचकतयाभिधानान्तरेण यः सम्बन्धो वाच्यत्वं तदेव तत्र वा यद्योग्यत्वं तेनोपलक्षितस्य। न चैवं विधं वाचकत्वमर्थं प्रति शब्दस्येहास्ति नापि तं शब्दं प्रति तस्यार्थस्योक्तरूपं वाच्यत्वम्। यदि नास्ति तर्हि कथं तस्य विषयीकरणमुक्तमित्याशङ्क्याह—प्रतीतेरिति। अथ च प्रतीयते सोऽर्थो न च वाच्यवाचकव्यापारेणेति विलक्षण एवासौ व्यापार इति यावत्।

दूसरे शब्द के द्वारा जो दूसरे अर्थ का विषय बनाया जाना उसमें शब्द की प्रकाशन की उक्ति ही ठीक है न तो शब्द की वाचकत्व की उक्ति ठीक है और न अर्थ की वाच्यत्व की उक्ति। सङ्केतवश अव्यवधान रूप मे प्रतिपादन करना निस्सन्देह वाचकत्व है जैसे उसी शब्द का अपने स्वाथ में, वही कहते हैं—'अपने अर्थ को कहनेवाले के द्वारा' यह। वाच्यत्व निस्सन्देह सङ्केत के बल पर व्यवधान रहित प्रतिपादित होने को कहते हैं जैसे उसी अर्थ का दूसरे शब्द के प्रति। वही कहते हैं—'प्रसिद्ध' यह। वाचक के रूप में प्रसिद्ध दूसरे अभिधान के साथ जो सम्बन्ध अर्थात् वाचकत्व वही या उसी मे जो योग्यता उस योग्यता के द्वारा उपलक्षित ( अर्थान्तर की प्रतीति )। निस्सन्देह यहाँ पर शब्द का इस प्रकार का अर्थ के प्रति वाचकत्व नहीं है, नहीं ही उस शब्द के प्रति उस अथ का कहे हुये रूपवाला वाच्यत्व है। 'यदि नहीं है तो क्यों उसका विषयीकरण कहा गया है' यह शङ्का करके कहते हैं—'प्रतीति का' यह। यदि वह अर्थ प्रतीत होता है किन्तु वाच्य-वाचक व्यापार के द्वारा नहीं तो विलक्षण ही वह व्यापार है यह सब का सार है।

## तारावती

है कि जहाँ वाचकत्व बिलकुल नहीं होता उसकी बात जाने दीजिये। किन्तु जहाँ वाचकत्व होता है वहाँ अर्थान्तर में भी आप वाचकत्व ही क्यों नहीं मानते? वहाँ पर व्यञ्जकत्व स्वीकार करने से क्या लाभ? ( उत्तर ) गीत इत्यादि में वाचकत्व के अभाव मे भी व्यञ्जकत्व होता है केवल यही हेतु नहीं है जिससे हम वाचकत्व के साथ आनेवाले अर्थान्तर में व्यञ्जकत्व स्वीकार करते हैं। किन्तु इसका एक दूसरा भी हेतु है—व्यञ्जनाव्यापार के द्वारा जिस अर्थान्तर की प्रतीति करना हमे अभीष्ट है वह अर्थान्तर दूसरे शब्दों से भी आभाहित किया जा सकता है।

तारावती

( उदाहरण के लिये 'गङ्गायां घोषः' को लीजिये । यहाँ पर गङ्गा शब्द के प्रयोग से तट में लक्षणा होती है और उससे शैत्य और पावनत्व की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार जन्य है । इस प्रकार शैत्य पावनत्व रूप व्यञ्जनाजन्य बोध में 'शैत्य' और 'पावनत्व' रूप शब्दों के द्वारा अभिहित किये जाने की भी योग्यता विद्यमान है । आशय यह है कि शैत्य पावनत्व का प्रत्यायन दो प्रकार से हो सकता है, एक तो शैत्य पावनत्व इत्यादि शब्दों के प्रयोग के द्वारा और दूसरे इन शब्दों या इनके समानार्थक शब्दों का प्रयोग न करते हुये 'गङ्गा' शब्द के प्रयोग के द्वारा ही उनका प्रत्यायन कराया जा सकता है । ) इस प्रकार जहाँ पर अन्य शब्द के द्वारा अन्य अर्थ को विषय बनाया जाता है (जैसे उक्त उदाहरण में 'गङ्गा' शब्द के द्वारा शैत्य और पावनत्व को विषय बनाया गया है ।) वहाँ पर न तो शब्द को वाचकत्व का पद प्राप्त हो सकता है और न अर्थ को वाच्यत्व का पद दिया जाना ही उचित है । इस क्रिया को प्रकाशन का पद देना ही उचित है । क्योंकि वाचकत्व का यही अर्थ है कि जहाँ किसी अर्थ को बिना बीच में लाये सङ्केत के बल पर प्रत्यक्ष रूप मे किसी अर्थका प्रतिपादन कर दिया जाय इस प्रकार के अभिधायक शब्द को वाचक कहते हैं । जैसे उसी ( व्यञ्जक ) शब्द का अपने अर्थ में प्रयोग । ( गङ्गा शब्द का अपना एक स्वतन्त्र प्रवाहपरक अर्थ है । इस अर्थ के प्रत्यायन मे मध्य मे किसी अन्य अर्थ को नहीं लाना पड़ता । अतः प्रवाह अर्थ के कथन मे गंगा शब्द वाचक है । ) इसी प्रकार वाच्यत्व की परिभाषा यह है कि बीच में किसी दूसरे अर्थ को बिना लाये हुये केवल सङ्केत के बलपर जो अर्थ प्रतिपादित कर दिया जाता है उसे वाच्य कहते हैं ( जैसे शैत्य और पावन इन अर्थों का प्रत्यायन कराने के लिये गंगा से भिन्न साक्षात् शैत्य और पावन शब्द । इन शब्दों के प्रति शैत्य और पावनत्व अर्थों की वाच्यता कही जायगी । ) आशय यह है कि व्यञ्जक शब्द का अपना एक स्वतन्त्र अर्थ भी होता है । वही उसका वाच्यार्थ कहा जाता है । व्यङ्ग्यार्थ की भी एक स्वतन्त्र सत्ता होती है जोकि उस शब्द से भिन्न दूसरे शब्दों से अभिहित की जा सकती है । ( गंगा का स्वतन्त्र अर्थ होता है और शैत्य पावनत्व इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों का अभिधान गंगा से भिन्न अन्य शैत्य पावनत्व इत्यादि शब्दों से भी किया जा सकता है । ) वाचक और वाच्य की यह परिभाषा मान लेने पर न तो इस प्रकार का वाच्यत्व गंगा शब्द में आता है और न इस प्रकार का वाच्यत्व शैत्य पावनत्व इत्यादि अर्थों मे आता है । किन्तु उस वाच्यभिन्न अर्थ में किसी अन्य प्रसिद्ध शब्द के द्वारा कहे जाने की योग्यता होती है और शब्द अपने पृथक् अर्थ को कहा करता है । इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्विद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घट-तदुपादानकारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथाहि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम्। तेषां तदाविभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः, नहि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य-प्रकाशनात्। तस्माद्घटप्रदीपन्यायस्तयोः, यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। यत्तु प्रथमोद्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तं तदुपायमात्रात् साम्यविवक्षया।

(अनु०) वाच्य और व्यंग्य का पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय नहीं ही है क्योंकि कुछ विद्वानों ने 'पदार्थप्रतीति असत्य ही है' यह सिद्धान्त माना है। जो इसके असत्यत्व को नहीं भी मानते हैं उनको वाक्यार्थ और पदार्थ का घट तथा उसके उपादान कारण का न्याय स्वीकार करना चाहिये। जैसे घट के बन जाने पर उसके उपादान कारणों की पृथक् रूप में उपलब्धि नहीं होती उसी प्रकार वाक्य या उसके अर्थ के प्रतीत हो जाने पर पदों तथा उसके अर्थों का। उनकी उस समय विभक्त रूप में उपलब्धि होने पर वाक्यार्थबुद्धि ही दूर हो जाय। यह वाच्य और व्यंग्य का न्याय नहीं है। व्यंग्य के प्रतीत होने पर वाच्यबुद्धि दूर नहीं होती क्योंकि उसका प्रकाशन वाच्य के अवभास के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से होता है। इससे उनका घट-प्रदीप न्याय है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति के उत्पन्न हो जाने पर प्रदीप-प्रकाश निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार व्यंग्य प्रतीति मे वाच्य का अवभास (निवृत्त नहीं होता)। जो प्रथम उद्योत मे 'जैसे पदार्थ के द्वारा' इत्यादि कहा वह उपायमात्र से साम्यविवक्षा के आधार पर।

तारावती

अन्य प्रतीति को जहाँ अन्य शब्द का विषय बनाया जाता है वहाँ वाच्य-वाचक शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है। यहाँ पर यह पूछा जा सकता है जब वह अर्थ उस शब्द का वाच्य ही नहीं है तब उस अर्थ को उस शब्द का विषय बनाया ही किस प्रकार जा सकता है? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये आलोककार ने 'प्रतीतेः' इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह है कि इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति तो होती है। उसका अपवाद किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। प्रतीति होना ही उसकी सत्ता और उसके शब्द का विषय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। वह अर्थ प्रतीति-गोचर तो होता ही है, किन्तु उसकी प्रतीति वाच्य-वाचक व्यापार के द्वारा होती नहीं अतः उसके लिये विलक्षण व्यापार ही मानना पड़ेगा।

## लोचन

नन्वेवं माभूद्वाचकशक्तिस्तथापि तात्पर्यशक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति। कैश्चिदिति वैयाकरणैः। यैरपीति भट्टप्रभृतिभिः। तमेव न्याय व्याचष्टे—यथा हीति। तदुपादानकारणानामिति। समवायिकारणानि कपालानि अनयोक्त्या निरूपितानि। सौगतकापालिकमते तु यद्यप्युपादातव्यघटकाले उपादानानां न सत्ता एकत्र क्षणस्थायित्वेन परत्र तिरोभूतत्वेन तथापि पृथक्तया नास्त्युपालम्भ इतीयत्यंशे दृष्टान्तः। दूरीभवेदिति। अर्थैकत्वस्याभावादिति भावः।

'निस्सन्देह इस प्रकार वाचकशक्ति न हो तथापि तात्पर्यशक्ति हो जायगी, यह शङ्का करके कहते हैं—'न च' इत्यादि। कुछ लोगों के द्वारा। यह—अर्थात् वैय्याकरणों के द्वारा। और जिनके द्वारा भी यह अर्थात् भट्ट इत्यादिकों के द्वारा। उसी न्याय की व्याख्या कर रहे हैं—'यथाहि' यह। 'उसके उपादान कारणों का' यह। इस उक्ति के द्वारा समवायि कारण कपाल इत्यादि का निरूपण किया गया है। सौगत और कापालिक के मत में तो यद्यपि उपादान किये जाने योग्य घटकाल में उपादानों की सत्ता नहीं होती क्योंकि एक स्थानपर क्षणस्थायित्व होता है और दूसरे स्थानपर तिरोभाव हो जाता है तथापि पृथक् रूप में उपलब्धि नहीं होती। बस इतने ही अंश मे दृष्टान्त है। 'दूर हो जाये' यह। आशय यह है कि अर्थ की एकता के अभाव के कारण।

## तारावती

ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि शैत्य पावनत्व इत्यादि अर्थों की गङ्गा इत्यादि शब्दों से प्रतिपत्ति के लिये अभिधाव्यापार से भिन्न कोई अन्य व्यापार मानना पड़ेगा। इतना मान लेने पर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उस व्यापार को व्यञ्जनाव्यापार ही क्यों कहा जाना चाहिये? जिस प्रकार शब्दों के अर्थों से भिन्न तथा उन से गतार्थ न होनेवाले वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तात्पर्यवृत्ति मानकर काम चल जाता है उसी प्रकार तात्पर्यवृत्ति से ही शैत्य पावनत्व की प्रतीति भी हो जायगी। उसके लिये पृथक् वृत्ति की कल्पना व्यर्थ है। किन्तु इस विषय में कहा जा सकता है कि यहाँ पर पदार्थ और वाक्यार्थ की पद्धति लागू नहीं हो सकती। कारण यह है कि पदार्थ और वाक्यार्थ के विषय में सभी दार्शनिकों की एक जैसी सम्मति नहीं है। (केवल अभिहितान्वयवादी मीमांसक ही तात्पर्यवृत्ति स्वीकार करते हैं, अन्विताभिधानवादी मीमांसक उसे मानते ही नहीं।) वैय्याकरण लोग पदार्थप्रतीति को सर्वथा असत्य मानते हैं। (वैय्याकरण अखण्ड स्फोट को ही सत्य मानते हैं। उनके मत में वर्ण पद इत्यादि समस्त भेद-कल्पना असत्य ही है। पद मे वर्ण भिन्न नहीं होते, वर्णों में अवयव भिन्न नहीं

होते और वाक्य में पदों की भेदकल्पना भी प्रमाणप्रतिपन्न नहीं है ।' यह है वैय्याकरणों के मत का सार । ) इनके अनुसार जब पद-पदार्थ कल्पना ही ठीक नहीं तब उसका अनुसरण कर व्यञ्जना की तात्पर्य में गतार्थता स्वीकार ही किस प्रकार की जा सकती है ! कुछ आचार्य वैय्याकरणों के इस मिथ्यात्ववाद को नहीं मानते उनके मत में पद-पदार्थ कल्पना सत्य है । किन्तु उनके मत में उसकी व्याख्या इस प्रकार करनी होगी—वाक्य अथवा वाक्यार्थ कार्य है और पद अथवा पदार्थ कारण हैं । यहाँ पर कारण शब्द का अर्थ है उपादान अथवा समवायि कारण । कार्य-कारण के लिये यह सामान्य नियम है कि समवायि कारण की प्रतीति पहले तो होती रहती है किन्तु जब कार्य बन चुकता है तब कारण की प्रतीति समाप्त हो जाती है। जैसे घट में समवायिकरण मिट्टी है । जब तक घट नहीं बनता तब तक तो मिट्टी की प्रतीति होती रहती है किन्तु जब घट बन चुकता है तब मिट्टी की पृथक् उपलब्धि नहीं होती । यही बात पद-पदार्थ तथा वाक्य-वाक्यार्थ के विषय में भी कही जा सकती है । पद-पदार्थ की प्रतीति पहले होती रहती है किन्तु वाक्य-वाक्यार्थ के निष्पन्न हो जाने पर पद-पदार्थ बुद्धि जाती रहती है । वाक्यार्थबोध के समय पद-पदार्थ बुद्धि के तिरोहित हो जाने का सबसे बडा प्रमाण यही है कि वाक्य की परिभाषा की गई है कि वाक्य उसे कहते हैं जिसमें एक अर्थ हो । यदि वाक्यार्थ-बोध काल में पदार्थबोध बना रहेगा तो वाक्य की यह परिभाषा घटेगी किस प्रकार ? ऐसी दशा में उसको वाक्य या वाक्यार्थ कहना ही असंगत हो जायगा । ऐसी दशा में यह मानना ही पड़ेगा कि कार्य-कारण भाव के समान ( घट तथा मृत्तिका के समान ) वाक्य और वाक्यार्थबोध में भी पद और पदार्थ का ज्ञान समाप्त हो जाता है । यह तो हुई मीमांसकों के अनुसार व्याख्या । बौद्ध लोग क्षणिकतावादी होते हैं । उनके मत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण पर बदलता रहता है । इस प्रकार क्षणस्थायी होने के कारण कार्योत्पत्ति काल में समवायि कारण की सत्ता शेष ही नहीं रह जाती । इसी प्रकार ( सांख्यों और ) कापालिकों के मत में कार्योत्पत्ति होने पर कारणसत्ता तिरोहित हो जाती है । ऐसी दशा में कार्य-प्रतीति काल में कारणप्रतीति तिरोहित हो जाती है । आशय यह है कि चाहे हम वैय्याकरणों के अनुसार पदार्थकल्पना को असत्य मानें, चाहे मीमासकों के अनुसार कार्य-कारण भाव मानकर कार्यप्रतीति काल में कारण की अप्रतीति मानें, चाहे बौद्धों के अनुसार कारण के क्षणस्थायी होने से कार्यप्रतीति काल में कारण की असत्ता स्वीकार करें अथवा कापालिकों के अनुसार कार्य में कारण का तिरोधान मानें इतना तो निश्चित ही है कि किसी भी सिद्धान्त के अनुसार वाक्यार्थबोध-

## लोचन

एवं पदार्थवाक्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं प्रकृते विषये निराकृत्याभिमतां प्रकाशशक्तिं साधयितुं तदुचितं प्रदीपघटन्यायं प्रकृते योजयन्नाह—तस्मादिति। यतोऽसौ पदार्थवाक्यार्थन्यायो नेह युक्तस्तस्मात्। प्रकृतं न्यायं व्याकरणपूर्वकं दार्ष्टान्तिके योजयति—यथैव हीति। ननु पूर्वमुक्तम्—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः स प्रतीयते।
वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥

इति तत्कथं स एव न्याय इह यत्नेन निराकृत इत्याशङ्क्याह—यत्त्विति। तदिति। न तु सर्वथा साम्येनेत्यर्थः।

इस प्रकार तात्पर्यशक्तिसाधक पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय का प्रकृत विषय में निराकरणकर अभिमत प्रकाशशक्ति को सिद्ध करने के लिये प्रदीप-घट न्याय की योजना प्रकृत में करते हुए कहते हैं—'उससे' यह। क्योंकि यह पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय यहाँ पर उपयुक्त नहीं है इसलिये। प्रकृत न्याय की योजना विवरण-पूर्वक दार्ष्टान्तिक में की जा रही है—'निस्सन्देह जैसे' यह। (प्रश्न) निस्सन्देह पहले कहा गया था—

'जैसे पदार्थ के द्वारा उस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। उसी प्रकार उस वस्तु की प्रतीति वाक्यार्थपूर्वक होती है।' यह

अतः किस प्रकार वही न्याय यहाँ पर प्रयत्नपूर्वक निराकृत किया गया? यह शङ्का करके कहते हैं—'जो तो' यह। 'वह' यह। अर्थात् सर्वथा साम्य के द्वारा नहीं।

## तारावती

काल में पदार्थबोध नहीं होता। इसके प्रतिकूल वाच्य और व्यंग्य ये दोनों अर्थ एकसाथ प्रतीतिगोचर होते हैं। व्यंग्य के प्रतीतिगोचर होने के समय वाच्य-बुद्धि दूर नहीं हो जाती; अपितु व्यंग्य प्रतीति का यह अनिवार्य तत्त्व है कि उसकी प्रतीति वाच्यप्रतीति के साथ ही होती है। इसी अन्तर के कारण व्यंग्य और वाच्य की प्रतीतियों के विषय मे पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय लागू नहीं हो सकता। अतः उस विषय में किसी अन्य न्याय का अन्वेषण करना होगा क्योंकि पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय के निराकरण के साथ तात्पर्यशक्ति के द्वारा निर्वाह हो सकने का तो प्रश्न ही जाता रहा। अतएव कहना होगा कि वाच्य और व्यंग्य के विषय में प्रदीप-घटन्याय लागू होगा। प्रदीप घट को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता रहता है। पहले प्रदीप स्वयं प्रकाशित होता है और बाद में घट को प्रकाशित करदेता है। घट के प्रकाशित हो जाने के बाद प्रदीप का प्रकाशित

ध्वन्यालोकः

नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते, तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्; नैष दोषः; गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यङ्ग्यस्य हि क्वचित्प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनभावः क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः। तत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव, वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्देक्ष्यते। तस्मात् स्थितमेतत्—व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वम् अपितु व्यङ्ग्यत्वमेव।

(अनु०) (प्रश्न) निस्सन्देह इस प्रकार वाक्य का एक साथ दो अर्थों से युक्त होना सिद्ध हुआ, उसके होने पर उसकी वाक्यता ही विघटित हो गई क्योंकि उसका लक्षण एक अर्थ का होना है। (उत्तर) यह दोष नहीं है क्योंकि उन दोनों की व्यवस्था गौण और प्रधानभाव से हो जाती है और वाच्य की गौणरूपता होती है; कहीं वाच्य का प्राधान्य होता है और दूसरे की गौणरूपता होती है। उसमें व्यङ्ग्य की प्रधानता मे ध्वनि (होती है) यह कहा ही गया है। वाच्य प्राधान्य में तो प्रकारान्तर का निर्देश किया जायगा। इससे यह स्थिति है—काव्य के व्यङ्ग्यपरक होने पर भी व्यङ्ग्य की अभिधेयरूपता नहीं होती अपितु व्यङ्ग्यरूपता ही होती है।

तारावती

होना समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार अभिधेयार्थ प्रकाश के समान पहले प्रकाशित होता है; फिर जिस प्रकार प्रकाश घट को प्रकाशित करता है उसी प्रकार अभिधेयार्थ व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करता है। बाद में जैसे घट के प्रकाशित हो जाने से प्रदीप प्रकाश निवृत्त नहीं हो जाता उसी प्रकार व्यंग्यार्थ प्रकाशन के बाद वाच्यार्थ निवृत्त नहीं हो जाता किन्तु दोनों ही साथ-साथ प्रतीतिगोचर होते रहते हैं। आशय यह है कि चाहे हम व्याकरण-दर्शन के अनुसार यह मानें कि पद-पदार्थ कल्पना असत्य है; चाहे मीमांसकों के अनुसार कार्यकारणभाव सम्बन्ध माने, चाहे बौद्धों के अनुसार क्षणिकतावाद अंगीकार करें और चाहे कापालिकों के मत का अनुसरण करते हुये कार्योत्पत्ति के बाद कारण का तिरोभाव मान लें, प्रत्येक अवस्था में पद-पदार्थ और वाक्य-वाक्यार्थ की समसामयिक सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती जब कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का समसामयिक होना अनिवार्य है। इसीलिये वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के विषय में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय नहीं लागू हो सकता। इस विषय मे यही कहना होगा कि वाच्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रकाशित होता है; क्योंकि प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों एक साथ रह सकते हैं।

## लोचन

एवमिति । प्रदीपघटवद्युगपद्द्वयावभासप्रकारेणेत्यर्थः । तस्या इति वाक्यतायाः । ऐकार्थ्यलक्षणमर्थैकत्वाद्धि वाक्यमेकमित्युक्तम् । सकृत् श्रुतो हि शब्दो यत्रैव समयस्मृतिं करोति स चेदनेनैवावगमितः तद्विरम्य व्यापाराभावात् समयस्मरणानां बहूनां युगपदयोगात्कोऽर्थभेदस्यावसरः । पुनः श्रुतस्तु स्मृतो वापि नासाविति भावः । तयोरिति वाच्यव्यङ्ग्ययोः । तत्रेति । उभयोः प्रकारयोर्मध्याद्यदा प्रथमः प्रकार इत्यर्थः । प्रकारान्तरमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यसंज्ञितम् । व्यङ्ग्यत्वमेवेति प्रकाश्यत्वमेवेत्यर्थः ।

'इस प्रकार' यह । अर्थात् प्रदीपघट के समान एक साथ दोनों के अवभास के प्रकार के द्वारा । 'उसके' अर्थात् वाक्यता के । 'ऐकार्थ्य लक्षण का आशय यह है कि अर्थ की एकता में वाक्य होता है यह कहा गया है । निस्सन्देह एक बार सुना हुआ शब्द जिस किसी स्थान पर सङ्केत स्मरण करता है यदि वह इसी के द्वारा अवगत करा दिया जाय तो विरत होकर व्यापार न होने के कारण बहुत से सङ्केत स्मरणों का एक साथ होना सम्भव न होने से अर्थभेद का अवसर ही क्या ? भाव यह है कि यह पुनः सुना हुआ या स्मरण किया हुआ नहीं है । 'उन दोनों का' अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य का । 'वहाँ पर' यह । अर्थात् जहाँ पर दोनों प्रकारों के बीच में पहला प्रकार है । 'दूसरा प्रकार' यह । अर्थात् गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक । व्यङ्ग्यत्व ही अर्थात् प्रकाश्यत्व ही ।

## तारावती

( प्रश्न ) प्रथम उद्योत में व्यंग्याभिव्यक्ति के लिये पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय की उपमा दी गई थी । वहाँ पर कहा गया था—

'जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार व्यंग्यवस्तु की प्रतिपत्ति वाक्यार्थपूर्वक होती है किन्तु यहाँ पर प्रयत्नपूर्वक यह सिद्ध कर दिया गया कि वाच्य व्यंग्य के विषय में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय लागू नहीं होता । इस पूर्वापरविरोध की संगति किस प्रकार बैठ सकती है' ( उत्तर ) ( उपमा केवल साधर्म्य मे होती है । उसमें वैधर्म्य नहीं लिया जाता । ) प्रथम उद्योत की उक्त कारिका में उपमान और उपमेय का साधर्म्य केवल इतना ही है कि एक अर्थ की प्रतीति में दूसरा अर्थ उपाय हो सकता है । इतने साम्य के आधार पर ही प्रथम उद्योत में पदार्थ-वाक्यार्थ की उपमा दे दी गई थीं, पूर्ण साम्य के आधार पर नहीं ।

( प्रश्न ) जब आप घट और प्रदीप की उपमा देते हैं और उसके द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा करते है कि दोनों अर्थों की प्रतीति एक ही काल मे होती है

## तारावती

तब उस वाक्य की वाक्यता ही जाती रहती है। कारण यह है कि आचार्यों ने वाक्य की यही परिभाषा की है कि जिसका एक अर्थ हो उसे वाक्य कहते हैं जैमिनि सूत्र मे वाक्य की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' अर्थात् यदि विभक्त करने पर उसके पदरूप अवयव परस्पर साकांक्ष हों और समस्त पदसमूह का एक अर्थ हो तो उसे वाक्य कहते हैं। (प्रतिप्रश्न) जब वाक्य के लिये आप एक अर्थ का होना अनिवार्य मानते हैं तब ऐसे स्थलों की क्या व्यवस्था होगी जहाँ श्लेष के कारण एक वाक्य के दो अर्थ हो जाते हैं? (समाधान) ऐसे अवसरों पर भी वाक्य एकार्थक ही रहता है। दोनों अर्थों को मिलाकर एकरूपता स्थापित कर दी जाती है। वह इस प्रकार समझिये—मानलीजिये किसी शब्द का एक बार उच्चारण किया गया है, यदि वह शब्द एक से अधिक अनेक अर्थों का वाचक है। एक से भिन्न अनेक अर्थ उसी शब्द से ही निकलते हैं और उन अर्थों में उस शब्द का सङ्केत-स्मरण भी होता है। अब प्रश्न यह है कि उस एक शब्द से ही अनेक सङ्केतित अर्थ निकल किस प्रकार सकते हैं? क्या एक के बाद दूसरा इस क्रम से वे अर्थ निकलते हैं या सब अर्थ एक साथ ही निकलते है? क्रमशः अर्थ निकल नहीं सकते क्योंकि शास्त्र का नियम है कि शब्द की क्रिया रुक-रुक कर नहीं होती। एक अर्थ का प्रत्यायन कराकर अभिधा व्यापार समाप्त हो जाता है—उसका पुनरुज्जीवन हो ही नहीं सकता। सब अर्थों का अभिधान एक साथ भी नहीं हो सकता क्योंकि अर्थ के अभिधान के लिये सङ्केत-स्मरण एक अनिवार्य तत्त्व है। अनेक अर्थों का एक साथ बुद्धि में उपारूढ हो सकना असम्भव है। अतएव दोनों ही प्रकार से अर्थभेद की कल्पना सर्वथा असङ्गत है। शब्द न तो बार-बार सुना गया है न उसका स्मरण ही बार-बार किया गया है जिससे अनेकार्थता का प्रश्न उठे। अतएव वाक्य की यह परिभाषा असन्दिग्ध है कि एक अर्थ मे पर्यवसित होनेवाले पदसमूह को वाक्य कहते हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि किसी पद समूह के दो अर्थ होगये हों एक वाच्यार्थ और दूसरा व्यंग्यार्थ, वहाँ पर वाक्य का यह लक्षण किस प्रकार घट सकता है कि जहाँ एक अर्थ होता है उसे वाक्य कहते हैं। (उत्तर) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की व्यवस्था गौण और मुख्य रूप में कर दी जाती है। एक अर्थ को गौण मान लिया जाता है और दूसरे को प्रधान। इस प्रकार एक ही अर्थ मुख्य होने के कारण वाक्य की परिभाषा ठीक रूप में घट जाती है। कहीं-कहीं व्यङ्ग्य प्रधान होता है और वाच्य गौण होता है। कहीं-कहीं वाच्य प्रधान होता है और व्यङ्ग्य गौण होता है। यह विस्तार पूर्वक बतलाया जा चुका

ध्वन्यालोकः

किञ्च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद्भवद्भिर्नाभ्युपगन्तव्यम-तत्परत्वाच्छब्दस्य। तदस्ति तावद्व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद्विषय इति। यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्नूयते। एवं तावद्वाचकत्वादन्य-देव व्यञ्जकत्वस्यान्यत्वं यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात।

(अनु०) और भी व्यङ्ग्य की प्रधान्यरूप में विवक्षा न होने पर आपको वाच्यत्व स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि वहाँ पर शब्द तत्परक नहीं है। इससे व्यङ्ग्य शब्द का कोई विषय है। जहाँ पर उसका प्राधान्य भी है वहाँ पर भी उसका स्वरूप क्यों छिपाया जा रहा है। इस प्रकार वाच्यत्व से तो व्यञ्जकत्व अन्य ही है। इससे भी वाचकत्व की अपेक्षा व्यञ्जकत्व अन्य होता है जोकि वाचकत्व शब्द मात्र के आश्रित होता है और दूसरा शब्दाश्रित भी होता है और अर्थाश्रित भी, क्योंकि दोनों के व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

लोचन

ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये वाच्यत्वमेव न्याय्यम्, तर्ह्यप्रधाने किं युक्तं व्यङ्ग्यत्वमितिचेत्सिद्धो नः पक्षः, एतदाह—किंचेति। ननु प्राधान्ये मा भूद्व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह—यत्रापीति। अर्थान्तरत्वं सम्बन्धिसम्बन्धित्वमनु-पयुक्तसमयत्वमिति व्यङ्ग्यतायां निबन्धनं तच्च प्राधान्येऽपि विद्यत इति स्वरूप-

निस्सन्देह 'यत्परक शब्द होता है वह शब्दार्थ हुआ करता है' इसलिये व्यङ्ग्य के प्राधान्य होने पर वाच्यत्व ही न्याय्य है तो अप्रधान में क्या व्यङ्ग्यत्व उचित है, यदि यह कहो तो हमारा पक्ष सिद्ध हो गया। यह कहते हैं—'और भी' इत्यादि। 'निस्सन्देह प्राधान्य मे व्यङ्ग्यत्व न हो' यह आशङ्का करके कहते हैं—'यहाँ पर.....भी' इत्यादि। अर्थान्तरत्व, सम्बन्धि-सम्बन्धित्व और अनुपयुक्त सङ्केतत्व यह व्यङ्ग्यता में निबन्धन है और वह प्राधान्य में भी विद्यमान ही है,

तारावती

है कि जहाँ वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य प्रधान होता है उसे ध्वनि कहते हैं। इसके प्रतिकूल जहाँ व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य प्रधान होता है उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं। इस बात का निर्देश आगे चलकर किया जायगा। इस समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि शब्द व्यङ्ग्यपरक भी हो (और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के अनुसार उसे ही वाच्य संज्ञा प्राप्त होनेवाली हो) फिर भी वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ अभिधावृत्ति से गतार्थ नहीं होता अपितु उसके लिये व्यञ्जना-वृत्ति मानना अनिवार्य हो जाता है।

## लोचन

महेयमेवेति भावः। एतदुपसंहरति—एवमिति। विषयभेदेन स्वरूपभेदेन चेत्यर्थः। तावदिति वक्तव्यान्तरमासूत्रयति। तदेवाह—इतश्चेति। अनेन सामग्रीभेदात्कारणभेदोऽप्यस्तीति दर्शयति। एतच्च विततय ध्वनिलक्षणे 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति वाग्रहणं 'व्यङ्क्तः' इति द्विर्वचनं च व्याचक्षाणैरस्माभिः प्रथमोद्योत एव दर्शितमिति पुनर्नविस्तार्यते।

अतः उसका स्वरूप नहीं ही छिपाया जा सकता—यह भाव है। इसका उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार' यह। अर्थात् विषयभेद से और स्वरूप से। 'तावत्' इससे दूसरे वक्तव्य का उपक्रम करते हैं। वही कहते हैं—'इससे भी' यह। इससे यह दिखलाते है कि सामग्रीभेद से कारणभेद भी होता है। यह ध्वनिलक्षण मे 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस कारिका में 'वा' ग्रहण की और 'व्यङ्क्तः' मे द्विवचन की व्याख्या करते हुये हमने ही प्रथम उद्योत में ही विस्तारपूर्वक दिखला दिया है अतः पुनः विस्तारपूर्वक नहीं दिखलाया जा रहा है।'

## तारावती

(प्रश्न) सामान्यतया नियम यही है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिस अर्थ को कहने के लिये वह प्रयुक्त किया गया हो। यदि शब्द व्यङ्ग्यार्थप्रतीति के लिये प्रयुक्त किया गया है तो व्यङ्ग्यार्थ ही शब्द का अर्थ माना जायगा। ऐसी दशा मे जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो और वाच्यार्थ गौण हो वहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा शब्द व्यङ्ग्यार्थपरक ही होता है। अतः व्यङ्ग्यार्थ को मुख्य वाच्यार्थ कहना ही ठीक है। फिर आप उसे व्यङ्ग्य की संज्ञा क्यों प्रदान करते है? (उत्तर) व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे दो परिस्थितियाँ हो सकती हैं—एक तो ऐसी परिस्थिति जिसमें व्यङ्ग्यार्थ गौण हो और वाच्यार्थ मुख्य हो तथा मुख्य वाच्यार्थ की पुष्टि का उपकारक होकर ही व्यङ्ग्यार्थ आये। दूसरी परिस्थिति इसके प्रतिकूल होती है अर्थात् वहाँ पर वाच्यार्थ उपकारक होता है और उससे उपकृत होकर व्यङ्ग्यार्थ को ही प्रधानता प्राप्त होती है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के अनुसार प्रथम प्रकार की परिस्थिति में शब्द वाच्यपरक होता है और द्वितीय प्रकार की परिस्थिति मे व्यङ्ग्यपरक। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रथम प्रकार की परिस्थिति में जहाँ व्यङ्ग्यार्थ मुख्य नहीं होता और वह मध्यवर्ती ही रह जाता है वहाँ उसे वाच्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि शब्द तत्परक नहीं है। ऐसी दशा में आप उसे व्यङ्ग्य ही कहने के लिये बाध्य होंगे। इससे हमारा यह पक्ष तो सिद्ध ही हो गया कि

## तारावती

व्यङ्ग्यार्थ कुछ न कुछ होता अवश्य है और वह शब्द का विषय भी होता है। अब यह परिस्थिति शेष रह जाती है जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता होती है। उसे भी व्यंग्य कहना ही ठीक है वहाँ पर भी उसके स्वरूप का छिपाया जाना उचित नहीं है। (कारण यह है कि सङ्केतित अर्थ न होने के कारण उसे हम वाच्यार्थ नहीं कह सकते।) व्यंग्य संज्ञा प्राप्त करने के लिये जिन शर्तों की आवश्यकता होती है वे सब शर्तें वहाँ पर भी पूरी ही हो जाती हैं जहाँ वाच्यार्थ गौण और व्यंग्यार्थ मुख्य होता है। व्यंग्य संज्ञा प्राप्ति के लिये इन शर्तों की अपेक्षा होती है—(१) अन्य अर्थ का होना अर्थात् व्यंग्यार्थ वहीं पर होता है जहाँ एक से अधिक अर्थ होते हैं। (२) सम्बन्धी का सम्बन्धी होना अर्थात् शब्द का सम्बन्धी या तो वाच्यार्थ होता है या लक्ष्यार्थ, उस वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ का सम्बन्धी व्यंग्यार्थ होता है। और (३) सङ्केत का अनुपयुक्त होना अर्थात् व्यंग्यार्थ सङ्केतित अर्थ नहीं होता अपितु तदितर अर्थ होता है। यही तीनों शर्तें व्यंग्यार्थ की होती हैं। ये तीनों शर्तें वहाँ पर भी लागू ही हो जाती हैं जहाँ वाच्यार्थ गौण और व्यंग्यार्थ मुख्य होता है। अतः वहाँ पर भी उसकी व्यंग्य संज्ञा का परित्याग नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध हो गया कि व्यंग्यार्थ वाच्य से सर्वथा भिन्न ही हुआ करता है। इस भेद में दो कारण हैं (१) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में परस्पर भेद होता है। (वाच्यार्थ सङ्केतानुसारी होता है और व्यंग्यार्थ में सङ्केत की अपेक्षा नही होती।) और (२) वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के विषय परस्पर भिन्न होते हैं। (वाच्यार्थ का विषय सङ्केतित अर्थ होता है और व्यंग्यार्थ का विषय रस, वस्तु तथा अलङ्कार ये तीन होते हैं।) केवल इतना ही नहीं अपितु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में सामग्री का भी भेद होता है और सामग्रीभेद होने से कारण का भी भेद हो जाता है। कारण यह है कि वाच्यार्थप्रतीति के लिये केवल शब्द की ही सामग्री के रूप में अपेक्षा होती है; किन्तु जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय सामग्री के रूप मे लिया जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ में केवल शब्द ही कारण होता है किन्तु व्यंग्यार्थ में शब्द और अर्थ दोनों कारण होते हैं। इस बात का प्रतिपादन किया ही जा चुका है कि शब्द और अर्थ दोनों व्यञ्जक होते हैं। इस विषय का विशेष निरूपण प्रथम उद्योत में 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस कारिका में 'वा' ग्रहण तथा 'व्यङ्क्तः' के द्विवचन की व्याख्या के अवसर पर किया जा चुका है। अतः वहीं देखना चाहिये।

ध्वन्यालोकः

गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति। किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते। रूपभेदस्तावदयम्—यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा। व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः। नह्यर्थाद्व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते।

(अनु०) गुणवृत्ति तो उपचार और लक्षणा दोनों के आश्रयवाली होती है। किन्तु व्यञ्जकत्व उससे भी स्वरूप के द्वारा और विषय के द्वारा भिन्न हो जाता है। रूपभेद तो यह है—कि अमुख्यरूप में व्यापार गुणवृत्ति प्रसिद्ध है। व्यञ्जकत्व तो मुख्यरूप मे ही शब्द का व्यापार होता है। अर्थ से जो तीन व्यङ्ग्यों की प्रतीति है उसका अमुख्यत्व थोड़ा भी लक्षित नहीं होता।

लोचन

एवं विषयभेदात्स्वरूपभेदात्कारणभेदाच्च वाचकत्वान्मुख्यात्प्रकाशकत्वस्य भेदं प्रतिपाद्योभयाश्रयत्वाविशेषात्तर्हि व्यञ्जकत्वगौणत्वयोः को भेद इत्याशङ्क्यामुख्यादपि प्रतिपादयितुमाह—गुणवृत्तिरिति। उभयाश्रयापीति। शब्दार्थाश्रया। उपचारलक्षणयोः प्रथमोद्योत एव विभज्य निर्णीतं स्वरूपमिति न पुनर्लिख्यते। मुख्यतयैवेति। अस्खलद्गतित्वेनेत्यर्थः। व्यङ्ग्यत्रयमिति। वस्त्वलङ्काररसात्मकम्।

इस प्रकार विषयभेद से, स्वरूपभेद से और कारणभेद से मुख्य वाचकत्व से प्रकाशत्व के भेद का प्रतिपादनकर 'तो उभयाश्रयत्व की विशेषता के कारण व्यञ्जकत्व और गौणत्व मे क्या भेद है?' यह शङ्का करके अमुख्य से भी प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—गुणवृत्ति इत्यादि। दोनों के आश्रयवाली भी अर्थात् शब्द और अर्थ के आश्रयवाली भी। उपचार और लक्षणा का स्वरूप प्रथम उद्योत में ही विभक्त करके निर्णीत कर दिया गया अतः यहाँ पुनः नहीं लिखा जा रहा है। 'मुख्यता के रूप में ही' अर्थात् मुख्यार्थबाध होने के कारण ही। तीन व्यङ्ग्य अर्थात् वस्तु, अलङ्कार और रसरूप व्यङ्ग्य।

तारावती

ऊपर यह दिखलाया जा चुका है कि वाचकत्व मुख्य होता है तथा उसका प्रकाशकत्व से विषयभेद भी होता है और स्वरूपभेद भी होता है। इन्हीं हेतुओं से वाचकत्व और प्रकाशकत्व का भेद माना जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जो बातें व्यञ्जकत्व में होती हैं वे ही गौणीवृत्ति मे भी होती हैं। व्यञ्जकत्व भी शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय लेता है और गौणीवृत्ति भी दोनों का आश्रय लेती है! फिर व्यञ्जकत्व का गौणीवृत्ति से क्या भेद हुआ? इसी प्रश्न

ध्वन्यालोकः

अयं चान्यः स्वरूपभेदः—यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव। एतच्च प्रतिपादितम्। अयञ्चापरो रूपभेदो यद्गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। व्यञ्जकत्वमार्गे तु पदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ। यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते तदेवं सति लक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम्। यस्मात्प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्त तात्पर्यविषयार्थविभासित्वम्।

(अनु०) और यह दूसरा स्वरूपभेद है—जोकि गुणवृत्ति अमुख्यरूप में स्थित वाचकत्व ही कही जाती है। व्यञ्जकत्व तो वाचकत्व से अत्यन्त विभिन्न ही होता है। इसका तो प्रतिपादन किया ही जा चुका है। और यह दूसरा रूपभेद है जोकि गुणवृत्ति में जब अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित करता है तब उपलक्षणीय अर्थ की आत्मा के रूप में परिणत हुआ ही हो जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में। व्यञ्जकत्व के मार्ग में तो जब अर्थ दूसरे अर्थ को द्योतित करता है तब स्वरूप को प्रकाशित करते हुये ही यह दूसरे का प्रकाशक प्रतीत होता है जैसे 'पार्वती लीला-कमलपत्रों को गिन रही थीं' इत्यादि में। और अपनी प्रतीति का तिरस्कार न करते हुये जहाँ अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित करता है वहाँ लक्षणा व्यवहार किया जाय तो यह सिद्ध हो गया कि लक्षणा ही शब्द का मुख्य व्यापार है। क्योंकि वाक्य प्रायः वाच्यव्यतिरिक्त तात्पर्यार्थ के अवभासी होते हैं।

लोचन

वाचकत्वमेवेति। तत्रापि हि तथैव समयोपयोगोऽस्त्येवेत्यर्थः। प्रतिपादितमिति। इदानीमेव। परिणत इति। स्वेन रूपेणानिर्भासमान इत्यर्थः।

'वाचकत्व ही' यह। अर्थात् उसमें भी उसी प्रकार सङ्केत का उपयोग है ही। 'प्रतिपादन किया गया है' इसी समय 'परिणत' यह। अर्थात् अपने रूप में निर्भासित न होते हुये।

तारावती

पर विचार करने के लिये यहाँ यह प्रकरण उठाया जा रहा है। (लक्षणा दो प्रकार की होती है—शुद्धा और गौणी। यहाँ आलोक में शुद्धा लक्षणा के लिये लक्षणा शब्द का प्रयोग किया गया है और गौणी के लिये उपचार शब्द का। ये दोनों ही अप्रधान अर्थ को कहनेवाली होती हैं। इसीलिये दोनों को मिलाकर

गुणवृत्ति ( अप्रधानवृत्ति ) शब्द का प्रयोग किया जाता है । ) इसमें सन्देह नहीं कि गुणवृत्ति चाहे लक्षणापरक हो चाहे उपचारपरक, दोनों अवस्थाओं में गुणवृत्ति शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय लेती है; तथापि यह शङ्का नहीं की जा सकती कि गुणवृत्ति और लक्षणा दोनों एक ही वस्तु हैं । कारण यह है कि लक्षणा और गुणवृत्ति दोनों एक दूसरे से स्वरूप के दृष्टिकोण से भी भिन्न होती हैं और विषय के दृष्टिकोण से भी भिन्न होती हैं। स्वरूपभेद को इस प्रकार समझिये—गुणवृत्ति उसे कहते हैं जहाँ अमुख्यरूप मे शब्द का व्यापार हो । गुणवृत्ति में पहले वाच्यार्थबोध होता है; फिर तात्पर्यानुपपत्ति के कारण उस अर्थ का बाध हो जाता है । इस प्रकार शब्द अपने अर्थ के विषय में स्खलद्गति हो जाता है । तब उस मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ जहाँ पर ले लिया जाता है वहाँ वह गुणवृत्ति या लक्षणा कहलाती है । इस प्रकार स्खलद्गति होने के कारण लक्षणा या उपचार दोनों प्रकार की गुणवृत्तियों को अमुख्य व्यापार कहा जाता है । यह बात उसके गुणवृत्ति इस नाम से ही प्रकट होती है इसके प्रतिकूल यह कोई कह नहीं सकता कि व्यङ्ग्यार्थ भी गौण ही होता है, रस गौण होता है यह तो कहा ही नहीं जा सकता चमत्कारपर्यवसायी होने पर वस्तु और अलंकार भी मुख्य ही होते हैं वे कभी गौण कहे ही नहीं जा सकते । इस प्रकार तीनों ही प्रकार के व्यंग्यार्थ मुख्य ही होते हैं वे कभी गौण नहीं होते और लक्षणा सर्वदा अमुख्य ही होती है । यही इन दोनों का स्वरूपभेद है । ( आशय यह है कि लक्षणा सर्वदा बाध-सापेक्षिणी होती है और मुख्य अर्थ के बाधित हो जाने पर तत्संबद्ध अमुख्य अर्थ का प्रत्यायन कराती है। अतः अमुख्य वृत्ति व्यञ्जना बाध-सापेक्षिणी नहीं होती । अतः व्यञ्जना द्वारा प्रत्यायित अर्थ मुख्य ही होता है । यही इन दोनों का स्वरूपभेद है । )

दूसरे प्रकार का स्वरूपभेद यह होता है कि लक्षणा एक प्रकार की वाचकत्व वृत्ति ही कही जाती है अर्थात् वह एक प्रकार की अभिधा ही होती है; भेद केवल यह होता है कि अभिधा मुख्य संकेतित अर्थ का प्रत्यायन कराती है किन्तु लक्षणा अमुख्य अर्थ को कहती है । इसके प्रतिकूल यह सिद्ध ही किया जा चुका है कि व्यञ्जना अभिधा से सर्वथा भिन्न ही होती है । ( विस्तृत विवेचन के लिये देखिये प्रथम उद्योत का भेदनिरूपणपरक प्रकरण । ) आशय यह है कि लक्षणा सर्वदा शक्य-सम्बन्ध में ही होती है और वह अभिधापुच्छभूता कही जाती है । उसमें किसी न किसी रूप में संकेत का उपयोग होता ही है । किन्तु व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति के लिये संकेत की कोई अपेक्षा नहीं होती; व्यञ्जना शक्यसम्बन्ध में ही नहीं होती ।

ध्वन्यालोकः

ननु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्क्त्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापारः ? उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्नूयते ।

(अनु०) ( प्रश्न ) निस्सन्देह तुम्हारे पक्ष मे भी जब अर्थ तीन व्यङ्ग्यों को प्रकाशित करता है तब शब्द का किस प्रकार का व्यापार होता है ? ( उत्तर ) बतलाया जा रहा है--प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न शब्द के वश में ही अर्थ की उस प्रकार की व्यञ्जकता होती है, अतः यहाँ पर शब्द के उपयोग को कैसे छिपाया जा सकता है ?

तारावती

एक दूसरा स्वरूपभेद इस प्रकार का होता है कि गुणवृत्ति मे जहाँ एक अर्थ दूसरे अर्थ को उपलक्षित करता है वहाँ वह अपने को बिलकुल खो देता है और उपलक्षणीय अर्थ के रूप मे पूर्णतया परिणत हो जाता है । ( जैसे 'गंगा में घर' इस वाक्य में प्रवाहवाचक गंगा शब्द 'तीर—' अर्थ को लक्षित कराता है और पूर्णरूप से तीर अर्थ को ही कहने लगता है । प्रवाहरूप वाच्यार्थ अपने को तीर-रूप लक्ष्यार्थ मे सर्वदा खो देता है । ) किन्तु व्यञ्जकत्वमार्ग में ऐसा नहीं होता । उसमें जब एक अर्थ दूसरे को प्रकाशित करता है तब वह अपने को भी प्रकाशित करता रहता है और वह दूसरे को भी प्रकाशित कर देता है । वह दूसरे को प्रकाशित करने में अपने को खो नहीं देता । जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित होता है और घट को भी प्रकाशित करता है । घट के प्रकाशन के अवसर पर दीपक का प्रकाश जाता नही रहता । उदाहरण के लिये कुमारसम्भव में जिस समय नारद पार्वती के विवाह की चर्चा उनके पिता हिमाञ्चल से कर रहे थे उस समय 'पार्वती पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किये हुये लीला-कमल की पंखड़ियों को गिन रहीं थीं ।' यहाँ पर पार्वती का मुखनमन इत्यादि वाच्यार्थ है और पार्वती की लज्जा इत्यादि व्यंग्य है । पार्वती की लज्जा को अभिव्यक्त करने मे मुखनमन रूप वाच्यार्थ अपने को खो नहीं देता किन्तु अभिव्यंजना काल में स्वयं भी प्रकाशित बना रहता है । लक्षणा के लिये यह अनिवार्य है कि उसमे वाच्यार्थ का बाध अवश्य हो । यदि यह अनिवार्य शर्त नहीं मानी जायगी तो लक्षणा गौणीवृत्ति नहीं रह जायगी अपितु मुख्यवृत्ति बन जायगी । क्योंकि जितने भी वाक्य होते हैं उनमें अधिकतर वाक्यों में शब्दार्थ की अपेक्षा तात्पर्यार्थ अतिरिक्त हुआ करता है और सभी शब्दार्थ मिलकर तात्पर्यार्थ का अवभासन करते है । यदि लक्षणा ऐसे स्थान पर मानी जायगी जहाँ शब्दार्थ अपनी प्रतीति का तिरस्कार नकर दूसरे अर्थ का

## लोचन

कीदृश इति मुख्यो वा न वा प्रकारान्तराभावात्। मुख्यत्वे वाचकत्वमन्यथा गुणवृत्तिः, गुणो निमित्तं सादृश्यादि तद्द्वारिका वृत्तिः शब्दस्य व्यापारो गुणवृत्तिरिति भावः। मुख्य एवासौ व्यापारः सामग्रीभेदाच्च वाचकत्वाद्व्यतिरिच्यत इत्यभिप्रायेणाह—उच्यत इति।

'किस प्रकार का' यह। मुख्य है या नहीं है क्योंकि तीसरा प्रकार नहीं होता। मुख्य होने पर वाचकत्व होता है नहीं तो गुणवृत्ति होती है। भाव यह है कि जिसमे गुण निमित्त हो अर्थात् सादृश्य इत्यादि उसके द्वारा जो वृत्ति अर्थात् शब्द का व्यापार होता है उसे गुणवृत्ति कहते हैं। यह व्यापार मुख्य ही होता है किन्तु सामग्रीभेद से वाचकत्व से व्यतिरिक्त हो जाता है इस अभिप्राय से कहते हैं—'बतलाया जा रहा है' यह।

## तारावती

प्रत्यायन करा देता है तो प्रत्येक वाक्य का तात्पर्यार्थ लक्षणा-गम्य ही हो जायगा और लक्षणा मुख्य शब्द-वृत्ति बन जायगी वह गौणी-वृत्ति नहीं रहेगी। अतः लक्षणा वहीं पर मानी जा सकती है जहाँ मुख्यार्थ का बाध हो और मुख्यार्थ दूसरे अर्थ के प्रत्यायन में अपने को खो दे। व्यञ्जना में ऐसा होता नहीं। अतः व्यञ्जना-वृत्ति लक्षणा से सर्वथा भिन्न होती है।

(प्रश्न) आपके मत में उस स्थान पर शब्द की क्या व्यवस्था होगी जहाँ एक अर्थ दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है? आप शब्द के दो ही प्रकार के व्यापार मान सकते है—या तो मुख्य या अमुख्य। यदि ऐसे स्थल पर शब्द का मुख्य व्यापार होता है तो उसको आप अभिधा की संज्ञा प्रदान कर सकते है। यदि अमुख्य व्यापार होता है तो उसे आप गुणवृत्ति (लक्षणा) कह सकते हैं। क्योंकि गुणवृत्ति शब्द का अर्थ ही अमुख्यवृत्ति होता है। गुणवृत्ति शब्द का अर्थ है गुणों के द्वारा वर्तमान होना। अर्थात् शब्द के प्रयोग में गुण निमित्त होकर आते है। (जैसे 'देवदत्त बैल है' मे बैल के गुणों के आधार पर देवदत्त के लिये बैल शब्द का प्रयोग किया गया है।) इस प्रकार गुण-वृत्ति शब्द का अर्थ होगा—गुण अर्थात् सादृश्य इत्यादि निमित्त को माध्यम मानकर जहाँ 'वृत्ति' अर्थात् शब्द का व्यापार हो उसे गुणवृत्ति कहते हैं। आशय यह है कि जितने प्रकार के मुख्यार्थ होते हैं उन सब में अभिधा मानी जाती है और जितने प्रकार के अमुख्यार्थ होते हैं उन सब मे गुण-वृत्ति या लक्षणा मानी जाती है। मुख्य और अमुख्य के अतिरिक्त तीसरा प्रकार ही कोई नहीं होता। अतः, यदि आप इन दोनों वृत्तियों से भिन्न तीसरी व्यञ्जना नामक वृत्ति मानते हैं तो उसमें आप

## तारावती

शब्द का व्यापार कैसा मानेंगे मुख्य या अमुख्य ? ( उत्तर ) व्यंजना में भी शब्द का मुख्य व्यापार ही होता है । किन्तु उस मुख्य व्यापार को हम अभिधा नहीं कह सकते । कारण यह है कि दोनों व्यापारों में सामग्री का भेद होता है । अभिधा की सामग्री है सङ्केत ग्रहण और व्यंजना की सामग्री है प्रकरण इत्यादि का ज्ञान । जब एक अर्थ दूसरे अर्थ का प्रत्यायन कराने के लिये ऐसे शब्द का सहारा लेता है जिसमें प्रकरण इत्यादि का सहकार भी सन्निहित रहा करता है तब उस अर्थ में व्यञ्जकता आ जाती है । उस व्यञ्जकता में शब्द का सहकार भी अपेक्षित होता है । अतः शब्द के उपयोग का अपलाप नहीं किया जा सकता । ( कहा भी गया है—'शब्दबोध्य अर्थ व्यञ्जक होता है और शब्द भी अर्थान्तर का आश्रय लेकर व्यञ्जक होता है ।' अतः एक की व्यञ्जकता में दूसरे का सहकार होता है ।' )

ऊपर गुणवृत्ति और व्यञ्जकता के स्वरूपभेद की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है । इन तीनों प्रकारों का सार यह है कि ( १ ) व्यञ्जना में शब्द की गति स्खलित नहीं होती किन्तु लक्षणा में शब्द की गति स्खलित हो जाती है । अर्थात् लक्षणा मे बाध होता है किन्तु व्यञ्जना मे नहीं। ( २ ) व्यञ्जना में सङ्केत का किसी प्रकार भी उपयोग नहीं होता किन्तु लक्षणा मे प्रत्यक्ष रूप में सङ्केत का उपयोग होता है लक्षणा शक्यार्थबाध-सापेक्षिणी होती है, अतः लक्षणा में शक्यार्थज्ञान अपेक्षित होता है और ( ३ ) व्यञ्जना का प्रतिभास शक्यार्थ के साथ साथ उससे पृथक् रूप में होता है किन्तु लक्षणा का प्रतिभास शक्यार्थ से पृथक् नहीं किन्तु शक्यार्थ से मिलकर एकसाथ एक रूप मे ही होता है; यही तीन प्रकार हैं जिन से गुणवृत्ति और व्यञ्जना के स्वरूप मे भेद हो जाता है । ( निर्णयसागरीय संस्करण में आलोक में 'व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः' इस पंक्ति के बाद इतना पाठ और जोड़ दिया गया है—'अस्खलद्गतित्वं समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वं चेति त्रयम् ।' किन्तु इसकी यहाँ सङ्गति नहीं बैठती । इसीलिये कुछ लोगों ने इस पाठ की 'कथमपह्नूयते' के पहले कल्पना कर ली है और लिखा है कि लोचन में इन्हीं शब्दों के आने की सङ्गति बैठाने के लिये इस पाठ का मानना अत्यावश्यक है । किन्तु ध्यान देनेवाली बात यह है कि यदि आलोक में यह पाठ विद्यमान ही होता तो लोचन मे प्रतीक के रूप में इसका उपादान कर बाद में 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया होता तथा इसकी व्याख्या में कुछ कहा गया होता । इसके प्रतिकूल लोचनकार ने 'विषयभेदोऽपीति' के अवतरण के रूप में इन शब्दों का उपादान किया है । इससे स्पष्ट है कि यह पाठ लोचनकार का ही है । आलोककार का यह

## ध्वन्यालोकः

विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तु चारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत्प्रतिपादयितुमिष्यते तद् व्यङ्ग्यम्। तच्च न सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां शब्दानां प्रयोगदर्शनात्। तथोक्तम् प्राक्। यदपि च गुणवृत्तेर्विषयस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन। तस्माद्गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्यात्यन्तविलक्षणत्वम्। वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम्।

(अनु०) गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व का विषयभेद भी स्पष्ट ही है। क्योंकि व्यञ्जकत्व के तीन विषय हैं—रस इत्यादि अलङ्कार विशेष और व्यङ्ग्यरूप से अवच्छिन्न वस्तु। उनमें रस इत्यादि गुणवृत्ति हैं यह न किसी के द्वारा कहा गया है और न कहा जा सकता है। उसी प्रकार की व्यङ्ग्यालङ्कार-प्रतीति भी है। वस्तु की चारुता की प्रतीति के लिये अपने शब्द के द्वारा अभिधान न किये जाने के रूप में जिसके प्रतिपादन की इच्छा की जाती है वह व्यङ्ग्य होता है। वह सब गुणवृत्ति का विषय नहीं होता क्योंकि प्रसिद्धि और अनुरोध से भी गौण शब्दों का प्रयोग देखा जाता। वैसा पहले कहा जा चुका है। और जो भी गुणवृत्ति का विषय होता है वह भी गुणवृत्ति के अनुप्रवेश से। उससे गुणवृत्ति का भी व्यञ्जकत्व से अत्यन्त विलक्षणत्व होता है। और वाचकत्व तथा गुणवृत्ति से विलक्षण उस व्यङ्ग्य की व्यवस्था उन दोनों के आश्रय से ही होती ही है।

## लोचन

एवमस्खलद्गतित्वात् कथञ्चिदपि समयानुपयोगात् पृथगाभासमानत्वाच्चेति त्रिभिः प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैतद्विपरीतरूपत्रयायाश्च गुणवृत्तेः स्वरूपभेदं व्याख्याय विषयभेदमप्याह—विषयभेदोऽपीति। वस्तुमात्रं गुणवृत्तेरपि विषय इत्यभिप्रायेण विशेषयति—व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नमिति। व्यञ्जकत्वस्य यो विषयः स गुणवृत्तेर्न विषयः अन्यश्च

इस प्रकार गति के स्खलित न होने से (मुख्यार्थबाध न होने से), किसी प्रकार भी सङ्केत का उपयोग न होने से और पृथक् अवभास होने से इन तीन प्रकारों से प्रकाशकत्व की इससे विपरीत रूपोंवाली गुणवृत्ति के स्वरूपभेद की व्याख्या कर विषयभेद को भी कहते हैं—'विषयभेद भी यह। वस्तुमात्र गुणवृत्ति का भी विषय होता है इस अभिप्राय से विशेषण देते हैं—'व्यंग्यरूपावच्छिन्न' यह। व्यञ्जकत्व का जो विषय है वह गुणवृत्ति का विषय नहीं है और

लोचन

तस्या विषयभेदो योज्यः। तत्र प्रथमं प्रकारमाह—तत्रेति। 'न च शक्यत' इति। लक्षणासामग्र्यास्तत्राविद्यमानत्वादिति पूर्वमेवोक्तम्। तथैवेति। न च तत्र गुणवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः। वस्तुनो यत्पूर्वं विशेषणं कृतं तद्व्याचष्टे-चारुत्वप्रतीतये इति। न सर्वमिति। किञ्चित्तु भवति। यथा—'निश्वासान्ध इवादर्श' इति। यदुक्तम्—'कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्' इति। प्रसिद्धितो लावण्यादयः शब्दाः, वृत्तानुरोधव्यवहारानुरोधादेः 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' इत्येवमादयः। प्रागिति उस (गुणवृत्ति) का दूसरा है इस प्रकार विषयभेद की योजना की जानी चाहिये। उसमें प्रथम प्रकार को कहते हैं—'उसमें' यह। 'नहीं कहा जा सकता है' यह लक्षणा की सामग्री के वहाँ विद्यमान न होने से। यह पहले ही कहा जा चुका है। 'उसी प्रकार' यह। अर्थात् वहाँ पर गुणवृत्ति उपयुक्त नहीं है। वस्तु का जो पहले विशेषण दिया था उसकी व्याख्या करते हैं—'चारुत्व-प्रतीति के लिये' यह। 'सब नहीं' यह। कुछ तो होता ही है। जैसे 'निःश्वास से अन्धे शीशे के समान' यह। जो कि कहा गया है—'किसी ध्वनिभेद का वह उपलक्षण तो हो सके' यह प्रसिद्धि से लावण्य इत्यादि शब्द; वृत्त के अनुरोध और व्यवहार के अनुरोध इत्यादि से 'विसिनी के पत्तों की शय्या कहती है' इत्यादि।

तारावती

पाठ नहीं है। किसी ने भ्रमवश इसे आलोक में सन्निविष्ट करदिया है। वस्तुतः लोचनकार ने आलोक के विस्तृत प्रकरण का इन शब्दों में समाहार किया है।)

ऊपर स्वरूपभेद की व्याख्या की जा चुकी। अब विषयभेद को लीलिये। विषयभेद पर विचार करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणवृत्ति और व्यञ्जना ये दोनों वृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न ही हैं। व्यञ्जना के तीन विषय होते हैं—रस इत्यादि, विशेष प्रकार के अलङ्कार और व्यङ्ग्यत्व से युक्त वस्तु। यहाँ पर वस्तु के विशेषण के रूप मे 'व्यङ्ग्यत्व से अवच्छिन्न' शब्द का उपादान विशेष प्रयोजन से किया गया है। यहाँ प्रकरण है गुणवृत्ति और व्यञ्जना के भेद-निरूपण का। रस और अलङ्कार केवल व्यञ्जना के विषय होते हैं; वे गुणवृत्ति का विषय होते ही नहीं। केवल वस्तु ही गुणवृत्ति और व्यञ्जना दोनों का विषय होती है इसीलिये विशेष रूप से कहा गया है कि व्यङ्ग्य-वस्तु व्यञ्जना का विषय होती है। व्यञ्ज-कत्व का जो विषय होता है वह गुणवृत्ति का विषय नही होता। गुणवृत्ति का विषय और ही होता है; वह व्यञ्जना का विषय नहीं होता। यही व्यञ्जना और गुणवृत्ति के विषयभेद की योजना है। न तो अब तक किसी ने कहा ही है और न कोई कह ही सकता है कि रसप्रतीति गुणवृत्ति के द्वारा होती है। यह तो निश्चित ही है कि गुणवृत्ति वहीं पर होती है जहाँ लक्षणा की सामग्री विद्यमान हो। लक्षणा

## लोचन

प्रथमोद्योते 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इत्यन्तरान्तरे। न सर्वमिति यथास्माभिर्व्याख्यातं तथा स्फुटयति—यद्पि चेति। गुणवृत्तेरिति पञ्चमी। अधुनेतररूपोपजीवकत्वेन तदितरस्मात्तदितररूपोपजीवकत्वेन च तदितरस्मादित्यनेन पर्यायेण वाचकत्वाद्गुणवृत्तेश्च द्वितयादपि भिन्नं व्यञ्जकत्वमित्युपपादयति—वाचकत्वेति। चोऽवधारणे भिन्नक्रमः, अपिशब्दोऽपि न केवलं पूर्वोक्तो हेतुकलापो यावत्तदुभयाश्रयत्वेन मुख्योपचाराश्रयत्वेन यद् व्यवस्थानं तदपि वाचकगुणवृत्तिविलक्षणस्यैवेति व्याप्तिघटनम्। तेनायं तात्पर्यार्थः—तदुभयाश्रयत्वे व्यवस्थानात्तदुभयवैलक्षण्यमिति।

'पहले' यह। प्रथम उद्योत में 'जो शब्द अन्यत्र रूढ़ हों' इस कारिका के अन्दर कहा गया है। सब नहीं इसकी जैसी हमने व्याख्या की थी वैसा स्फुट कर रहे हैं—'और जो भी' यह। 'गुणवृत्तेः' में पञ्चमी है। अब इतर रूप (गुणवृत्ति) का उपजीवक होने से उस इतररूप (गुणवृत्ति) से और उससे भिन्न (अभिधा) का उपजीवक होने से उससे भिन्न से इस प्रकार पर्याय से वाचकत्व की अपेक्षा और गुणवृत्ति की अपेक्षा दोनों से ही व्यञ्जकत्व भिन्न है यह सिद्ध करते हैं—'वाचकत्व' इत्यादि। 'च' यह अवधारण अर्थ में भिन्न क्रमवाला है और अपिशब्द भी। केवल पूर्वोक्त हेतु-समूह ही नहीं अपितु उन दोनों का आश्रय होने से अर्थात् मुख्य और उपचार का आश्रय होने से जो व्यवस्थित होना है वह भी वाचक और गुणवृत्ति से विलक्षण का ही हो सकता है यह व्याप्ति की सङ्घटना है। इससे यह तात्पर्यार्थ है—'उन दोनों के आश्रय के रूप मे व्यवस्थित होने से उन दोनों से विलक्षणता है' यह।

## तारावती

की सामग्री है मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर। ये सब सामग्री रसप्रतीति में नहीं मिलती इसकी यथास्थान व्याख्या की जा चुकी है। रस केवल व्यञ्जना का ही विषय होता है। इसी प्रकार व्यंग्य अलङ्कारों की प्रतीति भी गुणवृत्ति के माध्यम से नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ पर भी लक्षणा की सामग्री विद्यमान नहीं होती। अब केवल वस्तु शेष रह जाती है जो गुणवृत्ति का भी विषय हो सकती है और व्यञ्जना का भी विषय हो सकती है। व्यञ्जना का विषय वही वस्तु होती है जिसमें कवि चारुता का आधान करना चाहे और इसीलिये उसे अपने वाचक शब्दों से ही अभिहित न कर दूसरे शब्दों से अभिव्यक्त करे। इस प्रकार की वस्तु ही व्यंग्य होती है। ऐसी सभी वस्तु सर्वत्र गुणवृत्ति का विषय बनसके ऐसा नहीं होता। हाँ गुणवृत्ति के कतिपय स्थल ऐसे अवश्य हो सकते हैं जिनमे कवि चारुता का आधान करना चाहे। उदाहरण के लिये 'निःश्वासान्ध

## ध्वन्यालोकः

व्यञ्जकत्वं हि क्वचिद्वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ। क्वचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण यथा अविवक्षितवाच्ये ध्वनौ। तदुभयाश्रयत्व-प्रतिपादनायैव प्रथमतरं द्वौ भेदावुपन्यस्तौ। तदुभयाश्रितत्वाच्च तदेकरूपत्वं तस्य

(अनु०) व्यञ्जकत्व निस्सन्देह कभी वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्थित होता है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि मे। कहीं तो गुणवृत्ति के आश्रय से जैसे अविवक्षित-वाच्य ध्वनि में। उन दोनों के आश्रयत्व का प्रतिपादन करने के लिये ही कुछ पहले दो भेदों को प्रस्तुत किया गया था। और उन दोनों के आश्रित होने से

## तारावती

इवादर्शः' में कवि ने आदर्श के लिये अन्ध विशेषण का बाधित प्रयोग चारुता के उद्देश्य से ही किया है। यही बात इस प्रकार एक कारिका में कही गई है कि 'लक्षणा किसी एक ध्वनि भेद का उपलक्षण हो सकती है।' आशय यह है कि रस तथा व्यंग्य अलङ्कार तो कभी गुणवृत्ति का विषय हो ही नहीं सकते। व्यंग्यवस्तु के कुछ प्रकार ऐसे होते हैं जो गुणवृत्ति का विषय हो सकते हैं। किन्तु व्यंग्यवस्तु के सभी प्रकार गुणवृत्ति का विषय नहीं हो सकते। इसी प्रकार सभी प्रकार की गुणवृत्ति व्यञ्जना का विषय नहीं हो सकती। प्रायः देखा जाता है कि बाधित शब्दों का प्रयोग केवल चारुता के आधान के ही लिये नहीं होता। ऐसे अनेक स्थान पाये जाते हैं जहाँ बाधित शब्दों का प्रयोग या तो प्रसिद्धि के आधार पर होता है; जैसे—लावण्य इत्यादि शब्दों का सौन्दर्य के अर्थ में प्रयोग प्रसिद्धि के बल पर ही होने लगा है अथवा किसी घटना के अनुरोध से या व्यवहार के अनुरोध से ही बाधित शब्दों का प्रयोग होने लगता है जैसे 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' में वदति का प्रयोग। इस प्रकार व्यंग्यवस्तु भी ऐसी होती है जो गुणवृत्ति का विषय नहीं हो सकती और गुणवृत्ति के ऐसे भी स्थल होते हैं जो व्यञ्जना का विषय नहीं हो सकते। यह सब 'रूढा ये विषयेऽन्यत्र' इस कारिका की व्याख्या में प्रथम उद्योत में विस्तारपूर्वक बतलाया जा चुका है। अब वह वस्तु शेष रह जाती है जो गुण-वृत्ति का विषय भी हो सकती है और व्यंग्य की संज्ञा भी प्राप्त कर सकती है। ऐसे स्थानों पर भी लक्ष्यार्थ और होता है और व्यंग्यार्थप्रयोजन और होता है। उस स्थान पर चारुता व्यञ्जना के अनुप्रवेश के कारण ही आती है। गुणवृत्ति के कारण नहीं। इस प्रकार व्यञ्जना का समस्त विषय गुणवृत्ति के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। अतएव यह सिद्ध हो गया कि स्वरूपभेद तथा विषयभेद दोनों दृष्टियों से जिस प्रकार व्यञ्जना अभिधा से अत्यन्त विलक्षण है उसी प्रकार गुणवृत्ति से भी अत्यन्त विलक्षण ही है।

ध्वन्यालोकः

न शक्यते वक्तुम् । यस्मान्न तद्वाचकत्वैकरूपमेव, क्वचिल्लक्षणाश्रयेण वृत्तेः । न च लक्षणैकरूपमेवान्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात् । न चोभयधर्मत्वेनैव तदेकैकरूपं न भवति । यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि । तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम् । न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते । शब्दादन्यत्रापि विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद्वाचकत्वादि-धर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम् । यदि च वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्ध प्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यञ्जकत्वं प्रकारत्वेन परिकल्प्यते तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते । तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः—वाचकत्वं गुणवृत्ति-र्व्यञ्जकत्वं च । तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः । तस्य चाविव-क्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ ।

उनकी एकरूपता नहीं कही जा सकती । क्योंकि वह वाचकत्व के साथ एकरूप नहीं होता क्योंकि कहीं लक्षणा के आश्रय से भी उसका व्यवहार होता है । लक्षणा से भी एक रूप नहीं होता क्योंकि अन्यत्र वाचकत्व के आश्रय से व्यवस्था होती है । उभयधर्म होने के कारण ही उन दोनों में प्रत्येक की एकरूपता न हो ऐसा नहीं है, अपितु वाचकत्व और लक्षणा इत्यादि रूपों से रहित शब्दधर्म होने के कारण भी। वह इस प्रकार—गीतध्वनियों का भी रस इत्यादि के विषय में व्यञ्जकत्व है । उनका वाचकत्व या लक्षणा किसी प्रकार भी लक्षित नहीं होती । शब्द से अन्यत्र विषय में भी व्यञ्जकत्व के दिखलाई पड़ने से वाचकत्व इत्यादि शब्दधर्मों से विशेषित होने का कथन अनुचित है । और यदि वाचकत्व तथा लक्षणा प्रसिद्ध प्रकारों से विलक्षण होते हुये भी व्यञ्जकत्व को आप वाचकत्व और लक्षणा इत्यादि शब्दप्रकारों का ही एक प्रकार कल्पित करते हैं तो शब्द के ही प्रकार के रूप में क्यों कल्पित नहीं कर लेते । इस प्रकार शाब्दव्यवहार में तीन प्रकार हैं—वाच-कत्व, गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व । उसमें व्यञ्जकत्व में जब व्यङ्ग्यप्राधान्य हो तो ध्वनि होती है । उसके अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन दो भेदों का पहले ही उपक्रम किया गया था और विस्तारपूर्वक निरूपण कर दिया गया ।

तारावती

ऊपर स्वरूपभेद और विषयभेद के आधार पर व्यञ्जकत्व का अभिधा तथा गुणवृत्ति से भेद सिद्ध किया गया है। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि एक हेतु ऐसा और है जिससे व्यञ्जकत्व अभिधा तथा गुणवृत्ति इन दोनों से भिन्न होता है । वह

## लोचन

एतदेव विभजते—व्यञ्जकत्वं हीति। प्रथमतरमिति। प्रथमोद्योते 'स च' इत्यादिना ग्रन्थेन। हेत्वन्तरमपि सूचयति—न चेति। वाचकत्वगौणत्वोभयवृत्तान्तवैलक्षण्यादिति सूचितो हेतुः। तमेव प्रकाशयति—तथाहीत्यादिना। तेषामिति। गीतादिशब्दानाम्। हेत्वन्तरमपि सूचयति—शब्दादन्यत्रेति। वाचकत्वगौणत्वाभ्यामन्यद्व्यञ्जकत्वं शब्दादन्यत्रापि वर्तमानत्वात् प्रमेयत्ववदिति हेतुः सूचितः। नन्वन्यत्रावाचके यद्व्यञ्जकत्वं तद्भवतु वाचकत्वादेर्विलक्षणम्, वाचके तु यद्व्यञ्जकत्वं तदविलक्षणमेवास्त्वित्याशङ्क्याह—यदीति। आदिपदेन गौणं गृह्यते। शब्दस्यैवेति। व्यञ्जकत्वं वाचकत्वमिति यदि पर्यायौ कल्प्येते, इच्छाया अव्याहतत्वात्। व्यञ्जकत्वस्य तु विविक्तं स्वरूपं दर्शितं तद्विषयान्तरे कथं विपर्यस्यताम्। एवं हि पर्वतगतो धूमोऽनग्निजोऽपि स्यादिति भावः। अधुनोपपादितं विभागमुपसंहरति—तदेवमिति। व्यवहारग्रहणेन समुद्रघोषादीन् व्युदस्यति।

इसी का विभाजन करते हैं—'व्यञ्जकत्व निस्सन्देह' इत्यादि 'कुछ पहले ही' यह। प्रथम उद्योत में 'स च' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा। दूसरे हेतु को भी सूचित करते हैं—'न च' इत्यादि। वाचकत्व और गौणत्व इन दोनों के वृत्तान्त से विलक्षण होने के कारण यह हेतु सूचित किया गया है। उसीको प्रकाशित करते हैं—तथाहि इत्यादि के द्वारा। 'उनका अर्थात् गीतादि शब्दों का। दूसरे हेतु को भी सूचित करते हैं—'शब्द से अन्यत्र भी' यह। वाचकत्व और गौणत्व से भिन्न व्यञ्जकत्व होता है क्योंकि वह शब्द से अन्यत्र भी वर्तमान होता है जैसे प्रमेयत्व यह हेतु सूचित किया गया है। (प्रश्न) अन्यत्र अवाचक में जो व्यञ्जकत्व वह वाचकत्व इत्यादि से विलक्षण हो; वाचक में तो जो व्यञ्जकत्व वह उससे अविलक्षण ही हो यह शङ्का करके कहते हैं—'यदि' इत्यादि। आदि शब्द से गौण ग्रहण किया जाता है। यदि व्यञ्जकत्व और वाचकत्व को पर्याय के रूप में कल्पित किया जाता है तो व्यञ्जकत्व शब्द होता है यह पर्यायता भी क्यों नहीं कर ली जाती क्योंकि इच्छा मे तो कोई प्रतिबन्ध है नहीं। व्यञ्जकत्व का तो पृथक् स्वरूप दिखलाया गया है वह विषयान्तर में किस प्रकार विपर्यस्त हो जाय। इस प्रकार तो पर्वतगत धूम बिना अग्नि के ही हो जाय, यह भाव है। अब उपपादित विभाग का उपसंहार करते है—'वह इस प्रकार' यह। व्यवहार ग्रहण से समुद्र-गर्जन इत्यादि का निराकरण कर रहे हैं।

## तारावती

हेतु यह है कि व्यञ्जकत्व अभिधा और गुणवृत्ति दोनों से विलक्षण होता है तथा उन दोनों के आश्रय से ही व्यवस्थित होता है। इसको इस प्रकार समझिये—व्यञ्जकत्व

## तारावती

अभिधा से इसलिये विलक्षण होता है क्योंकि वह अभिधा से इतर ( भिन्न ) गुणवृत्ति का सहारा लेता है और गुणवृत्ति से इसलिये भिन्न होता है क्योंकि गुणवृत्ति से इतर अभिधा का आश्रय लेता है । इस प्रकार यहाँ पर पर्याय ( क्रम ) से योजना करनी चाहिये कि व्यञ्जकत्व एक से भिन्न इसलिये होता है कि वह एक के अतिरिक्त दूसरे का भी सहारा लेता है और दूसरे से भिन्न इसलिये होता है कि वह दूसरे से भिन्न पहले का भी सहारा लेता है । इस प्रकार अपने से भिन्न का सहारा लेने के कारण व्यञ्जकत्व दोनों से भिन्न हो जाता है । यहाँ पर वृत्ति में यह पंक्ति है—'वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम्' इसमें 'अपि' और 'च' इन दोनों शब्दों को क्रममेद से स्थानान्तरित करके लगाना चाहिये। 'च' को 'विलक्षणस्य' के साथ और 'अपि' को 'व्यवस्थानम्' के साथ लगाना चाहिये । इस प्रकार यह पूरा वाक्य ऐसा हो जायगा—'वाचकत्वं गुणवृत्तिविलक्षणस्य च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानमपि' यहाँ पर 'व्यवस्थानम्' के साथ 'अपि' शब्द को लगाने का आशय है कि व्यञ्जना का अभिधा और गौणीवृत्ति से भेद सिद्ध करने के लिये पहले जो हेतुसमूह दिया गया है केवल वही उनके भेद को सिद्ध नहीं करता अपितु एक और हेतु ऐसा है जो उनके पृथक्त्व तथा स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध करता है और वह यह है कि व्यञ्जना अभिधा का भी आश्रय लेती है और गुणवृत्ति का भी आश्रय लेती है । इसलिये वह इन दोनों से एक रूप नहीं हो सकती। यहाँ पर व्याप्ति की संघटना हो जाती है । वह व्याप्ति दो प्रकार से बन सकती है—'जो जिसका सहारा लेता है वह उससे भिन्न होता है ।' व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा का सहारा लेती है अतः दोनों से भिन्न होती है। 'जो अपने से किसी अन्य का सहारा लेता है वह उससे भिन्न होता है ।' व्यञ्जना अभिधा का सहारा लेने के कारण लक्षणा से भिन्न होती है और लक्षणा का सहारा लेने के कारण अभिधा से भिन्न होती है ।

कहीं-कहीं व्यञ्जकत्व की अवस्थिति अभिधा के आश्रय से होती है जैसी कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में हुआ करती है और कहीं-कहीं उसकी अवस्थिति गुणवृत्ति के आश्रय से होती है जैसी कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि मे हुआ करती है । ( दोनों के उदाहरण 'एवं वादिनि''''पार्वती' और 'निश्श्वासान्ध इवादर्शः' में दिखलाये जा चुके हैं । ) व्यञ्जना इन दोनों के आश्रित होती है इसी बात का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रथम उद्योत मे ध्वनि के दो भेद बतलाये गये थे । इन दोनों के आश्रित होने के कारण यह बात नहीं कही जा सकती कि व्यञ्जना की अभिधा-लक्षणा से एकरूपता है । उसकी वाचकत्व से एकरूपता हो ही नहीं

तारावती

सकती क्योंकि व्यञ्जनावृत्ति लक्षणा के आश्रय से भी वर्तमान रहती है। इसी प्रकार लक्षणा से भी एकरूपता नहीं हो सकती क्योंकि व्यञ्जना वाचकत्व के आश्रय से भी व्यवस्थित होती है। यहाँ पर यह हेतु सूचित किया गया है कि व्यञ्जना में अभिधा तथा लक्षणा दोनों के वृत्तान्त से विलक्षणता होती है। केवल इतनी ही बात नहीं कि उभयधर्मता के कारण उनसे एकरूपता नहीं होती किन्तु यह भी बात है कि जहाँ पर शब्द तो होता है किन्तु अभिधा या लक्षणा कुछ भी नहीं होती वहाँ पर भी व्यञ्जना हो जाती है। इस प्रकार व्यञ्जना केवल अभिधालक्षणाधर्मिणी ही नहीं होती किन्तु शब्दमात्रधर्मिणी भी होती है। उदाहरण के लिये गीत इत्यादि के शब्दों को लीजिये। गीत इत्यादि के शब्दों से अर्थ का विना ही अनुगमन किये रसाभिव्यक्ति हो जाती है। वहाँ पर कोई नहीं कह सकता कि रसाभिव्यक्ति अभिधा या लक्षणा की अपेक्षिणी है। अतएव वहाँ पर व्यञ्जना को शब्दवृत्तिधर्ममात्र मानना पड़ेगा, यह कोई नहीं कहेगा कि व्यञ्जना वहाँ पर अभिधा या लक्षणाधर्मवाली है। इस व्यञ्जना को केवल शब्दधर्मिणी भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जहाँ पर शब्द बिल्कुल नहीं होता वहाँ पर भी चेष्टा इत्यादि से व्यञ्जना देखी जाती है। अतः यह कहना सर्वथा असङ्गत है कि व्यञ्जना वाचकत्वादि धर्मप्रकारक ही होती है। यहाँ पर आशय यह है कि व्यञ्जना न तो केवल वाचकत्वधर्मिणी कही जा सकती है; न केवल शब्दधर्मिणी और न केवल शब्देतरधर्मिणी। केवल वाचकत्वधर्मिणी इसलिये नहीं कही जा सकती क्योंकि यह वाचकत्व से भिन्न गुणवृत्ति शब्दमात्र शब्देतर स्थानों में भी रहती है। शब्दमात्रधर्मिणी इसलिये नहीं कही जा सकती क्योंकि यह शब्दमात्र से भिन्न वाचकत्व गुणवृत्ति और शब्देतर स्थानों में भी रहती है। केवल शब्देतरधर्मिणी भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि शब्देतरभिन्न वाचकत्व गुणवृत्ति और शब्दमात्र में भी पाई जाती है। इस प्रकार यह व्यञ्जना सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वच्छन्दचारिणी ही है किसी प्रकार भी किसी दूसरे तक ही सीमित नहीं रहती। यह बात अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जाती है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—व्यञ्जना में अभिधा और लक्षणा (अथवा मीमांसक के मत में गुणवृत्ति) में से किसी एक का अभावरूप भेद विद्यमान रहता है क्योंकि व्यञ्जना शब्द में भी रहती है और शब्दभिन्न में भी रहती है जैसे प्रमेयत्व। इसकी अन्वयव्याप्ति इस प्रकार होगी—जो पदार्थ शब्द में भी रहता है और उससे पृथक् भी रहता है वह अभिधा और लक्षणा इन दोनों से भिन्न हुआ करता है जैसे प्रमेयत्व (प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न होनेवाला वस्तुत्व) शब्द में भी रहता है और उससे भिन्न भी रहता है अर्थात् शब्द भी प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न होता है और

तारावती

दूसरी वस्तुयें भी प्रमाण द्वारा प्रतिपन्न होती हैं; इसीलिये प्रमेयत्व हेतु को कोई भी अभिधा और लक्षणा में अन्तर्भुक्त नहीं करता। इसी प्रकार व्यञ्जना के विषय में भी समझना चाहिये। व्यञ्जना भी शब्द तथा तद्भिन्न दोनों स्थानों पर रहती है; इसीलिये उसे भी अभिधा और लक्षणा के द्वारा गतार्थ नहीं माना जा सकता।

( प्रश्न ) इतना स्वीकार किया जा सकता है कि जहाँ विना ही शब्द के व्यञ्जना का उदय हो वहाँ व्यञ्जना एक पृथक् वृत्ति होती है। किन्तु जहाँ अभिधा लक्षणा और गौणी के आश्रय से व्यञ्जना का उदय होता है वहाँ व्यञ्जना को उन वृत्तियों से पृथक मानने की क्या आवश्यकता ? वहाँ पर व्यञ्जना अभिधा और लक्षणा से अभिन्न ही क्यों न मानी जाय। ( उत्तर ) वाचकत्व और लक्षणा ये शब्द के ही प्रकार हैं उनसे व्यञ्जना पृथक् होती है इस बात को बड़े विस्तार से अनेक रूपों में सिद्ध किया जा चुका है। अभिधा तथा लक्षणा इत्यादि को आश्रित करके जो व्यञ्जना प्रवृत्त होती है वह भी शब्द का एक विलक्षण ही प्रकार है जिस प्रकार अभिधा और लक्षणा इत्यादि शब्द के प्रकार होते हैं। यदि इस प्रकार के विभेद होने पर भी आप व्यञ्जना को अभिधा और लक्षणा का ही भेद मानने को प्रस्तुत हैं तो फिर आप उसे शब्द का ही प्रकार क्यों नहीं मान लेते ? ( यहाँ पर वृत्ति में 'शब्दप्रकाराणा' 'प्रकारत्वेन' इन शब्दों में 'प्रकार' का प्रयोग धर्म के अर्थ में किया गया है। वृत्तिकार का आशय यह है कि अभिधा और लक्षणा ये शब्द के विशिष्ट धर्म हैं और व्यञ्जना को आप अभिधा और लक्षणा का धर्म मान लेते हैं, उससे अच्छा यही है कि आप उसे अभिधा और लक्षणा के समान शब्द का ही धर्म मान लें। यही अर्थ यहाँ पर ठीक है। किन्तु लोचन-कार ने 'शब्दप्रकाराणां' के प्रकार शब्द को धर्मपरक तथा 'प्रकारत्वेन' को भेद-परक मानकर दूसरी ही व्याख्या की है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है— अनेक प्रमाणों के आधार पर अभिधा और लक्षणा से व्यञ्जना का भेद दिखलाया जा चुका, यह भी सिद्ध किया जा चुका कि अभिधा और लक्षणा के समान ही व्यञ्जना भी शब्द का व्यापार होती है तथा यह भी सिद्ध किया जा चुका कि व्यञ्जना कभी अभिधा का आश्रय लेती है और कभी लक्षणा का। ) इतना सब होते हुये यदि आप अभिधा और लक्षणा से व्यञ्जना का अभेद मानते हैं तथा व्यञ्जना को अभिधा का ही पर्यायवाचक मानते हैं तो आपको इस बात मे भी सङ्कोच नहीं होना चाहिये कि शब्द और व्यञ्जना का भी अभेद मान ले तथा शब्द और व्यञ्जना को भी एक दूसरे का पर्याय कहने लगे। क्योंकि मन अपना है और मानना भी अपना है। इच्छा तो बेरोक-टोक सभी कुछ मान सकती है। वास्तविकता तो यह है कि

ध्वन्यालोकः

अन्यो ब्रूयात्—ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तदयुक्तम्। यस्माद्वाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रार्थान्तरप्रतिपत्तिर्लक्ष्ये तत्र गुणवृत्तिव्यवहारः, नहि गुणवृत्तौ यदा निमित्तेन तेनाभिधेयान्तरे शब्द आरोप्यते अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थः यथा 'अग्निर्माणवकः' इत्यादौ, यदा वा स्वार्थमंशेनापरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामति यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तदा विवक्षितवाच्यत्वमुपपद्यते। अत एव च विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि स्वरूपप्रतीतिरर्थावगमनं च दृश्यत इति व्यञ्जकत्वव्यवहारो युक्त्यनुरोधी। स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते, तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वमिति गुणवृत्तिव्यवहारो नियमेनैव न शक्यते कर्तुम्।

(अनु०) (कोई) दूसरा कहे—'निस्सन्देह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति नहीं होती यह जो कहा जाता है वह उचित है। क्योंकि वाच्य-वाचक की प्रतीति के साथ जहाँ अर्थान्तर की प्रतिपत्ति होती है वहाँ गुणवृत्ति का व्यवहार किस प्रकार हो सकता है। गुणवृत्ति में जब किसी निमित्त से विषयान्तर में शब्द का आरोप किया जाता है जैसे 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि में, अथवा जहाँ स्वार्थ को एक अंश में न छोड़ते हुये उसके सम्बन्ध के द्वारा (शब्द) विषयान्तर को आक्रान्त कर लेता है जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में तब विवक्षितवाच्यत्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिये विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में वाच्य-वाचक इन दोनों की स्वरूपप्रतीति और अर्थावगम देखा जाता है, अतः व्यञ्जकत्व का व्यवहार तर्कसङ्गत है। स्वरूप को प्रकाशित करते हुए ही व्यञ्जक दूसरे का अवभासक होता है यह कहा जाता है, उस प्रकार के विषय में वाचकत्व का ही व्यञ्जकत्व होता है, अतः नियम से ही गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं किया जा सकता।

तारावती

व्यञ्जकत्व का स्वरूप सर्वथा पृथक् होता है यह दिखला दिया गया फिर उसका दूसरे विषय के द्वारा विपर्यास किस प्रकार किया जा सकता है। यदि इस प्रकार मनमाने ढंग से किसी के विषय के द्वारा हम स्वतन्त्र अस्तित्ववालों का विपर्यास करने लगेंगे तो सारी व्यवस्था ही उच्छिन्न हो जायगी। हम धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान पर्वत में लगाते हैं, किन्तु इस प्रकार का विपर्यास मानने पर तो पर्वत से उठनेवाले धुयें से आग का अनुमान हो ही न सकेगा, क्योंकि तब तो यह भी कहा जा सकेगा कि पर्वत का धुआँ अग्नि से उद्भूत नहीं हुआ है।

यहाँ तक जो कुछ भी प्रतिपादित किया जा चुका है उसका उपसंहार कर रहे हैं—इस प्रकार शाब्द व्यवहार में तीन प्रकार होते हैं—(१) वाचकत्व, (२)

## लोचन

ननु वाचकत्वरूपोपजीवकत्वाद् गुणवृत्त्यनुजीवकत्वादिति च हेतुद्वयं यदुक्तं तदविवक्षितवाच्यभागे सिद्धं न भवति तस्य लक्षणैकशरीरत्वादित्यभिप्रायेणोपक्रमते—अन्यो ब्रूयादिति। यद्यपि च तस्य तदुभयाश्रयत्वेन व्यवस्थानादिति ब्रुवता निर्णीतचरमेवैतत्, तथापि गुणवृत्तेरविवक्षितवाच्यस्य च दुर्निरूपं वैलक्षण्यं यः पश्यति तं प्रत्याशङ्कानिवारणार्थोऽयमुपक्रमः। अत एवाद्यभेदस्याङ्गीकरणपूर्वकमयं द्वितीयभेदाक्षेपः। विवक्षितान्यपरवाच्य इत्यादिना पराभ्युपगमस्य स्वाङ्गीकारो दर्श्यते। गुणवृत्तिव्यवहाराभावे हेतुं दर्शयितुं तस्या एव गुणवृत्तेस्तावद्वृत्तान्तं दर्शयति—न

(प्रश्न) निस्सन्देह 'वाचकत्वरूप के उपजीवक होने से' और 'गुणवृत्ति के अनुजीवक होने से' ये जो दो हेतु बतलाये गये हैं वे अविवक्षितवाच्य भाग में सिद्ध नहीं होते इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—'दूसरा कहे' यह। यद्यपि 'उसके उभयाश्रयत्व के रूपमें व्यवस्थित होने से' इन शब्दों के द्वारा इसका प्रायः निर्णय ही कर दिया गया तथापि गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य के निरूपण में अशक्य विलक्षणता को जो समझता है उसके प्रति आशङ्का निवारण करने के लिये यह उपक्रम है। इसीलिये प्रथम भेद के अङ्गीकार के साथ यह द्वितीय भेद का आक्षेप है। 'विवक्षितान्यपरवाच्य' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा दूसरे की मान्यता के प्रति अपनी स्वीकृति दिखला रहे हैं। गुणवृत्ति के व्यवहार के अभाव में हेतु दिखलाने के लिये उसी गुणवृत्ति का वृत्तान्त पहले दिखला रहे हैं—'नहि' इत्यादि।

## तारावती

गुणवृत्ति और (३) व्यञ्जना। इस व्यञ्जकत्ववृत्ति में जब व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो तब ध्वनिकाव्य होता है। उस ध्वनिकाव्य के दो भेद बतलाये गये हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। इन दोनों की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ पर शब्द व्यवहार के तीन प्रकार बतलाये गये हैं और उसमें विशेष रूप से व्यवहार शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका आशय यह है कि व्यवहार में आनेवाले शब्द की तीन वृत्तियाँ होती हैं। वैसे शब्द तो समुद्रगर्जन में भी होता ही है किन्तु उन सब शब्दों की वृत्तियाँ नहीं होती। इस प्रकार व्यवहार शब्द से समुद्रघोष इत्यादि शब्दों का निराकरण हो जाता है।

यहाँ तक ध्वनि का अभिधामूलकत्व और लक्षणामूलकत्व सिद्ध किया जा चुका। इससे व्यञ्जना की अभिधा और लक्षणा से विभिन्नता स्वभावतः सिद्ध हो गई। तथापि विचारकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य का विभेद मानने को तैय्यार ही नहीं। उनका आशय यह है कि व्यञ्जनावृत्ति को सिद्ध करने के लिये जो दो हेतु दिये गये हैं—(१) व्यञ्जना वाचकत्व

## लोचन

हीति। गुणतया वृत्तिर्व्यापारो गुणवृत्तिः। गुणेन निमित्तेन सादृश्यादिना च वृत्तिः अर्थान्तरविषयेऽपि शब्दस्य सामानाधिकरण्यमिति गौणं दर्शयति। यदा वा स्वार्थमिति लक्षणां दर्शयति। अनेन भेदद्वयेन च स्वीकृतमविवक्षितवाच्यभेदद्वयात्मक-गुण ( अप्रधान ) रूप में वृत्ति अर्थात् व्यापार गुणवृत्ति कहलाती है और गुण को निमित्त मानकर अर्थात् सादृश्य इत्यादि के द्वारा वृत्ति अर्थात् अर्थान्तर के विषय में शब्द का सामानाधिकरण्य इस अर्थ के द्वारा गौण को ( गौणी वृत्ति को ) दिखलाते हैं। 'अथवा जब स्वार्थ को' इत्यादि के द्वारा लक्षणा को दिखलाते हैं। इन दो भेदों के द्वारा अविवक्षितवाच्य दो भेदोंवाला स्वीकृत किया गया है यह

## तारावती

की उपजीवक होती है और ( २ ) व्यञ्जना गुणवृत्ति की अनुजीवक ( निकट सहचारिणी ) होती है—ये हेतु अभिधा और व्यञ्जना के विभेद को सिद्ध करने के लिये तो पर्याप्त हैं किन्तु अविवक्षितवाच्य के विषय में लागू नहीं होते क्योंकि अविवक्षियवाच्य और लक्षणा का शरीर एक ही होता है। इसी मन्तव्य से अग्रिम प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है। 'यद्यपि व्यञ्जना गुणवृत्ति और अभिधा दोनों के 'आश्रय' से अवस्थित होती है' इन शब्दों के द्वारा उक्त प्रश्न का उत्तर दिया ही जा चुका है तथापि जो लोग यह समझते हैं कि गुणवृत्ति और अविवक्षित-वाच्य का वैलक्षण्य सिद्ध ही नहीं किया जा सकता उनको समझाने के मन्तव्य से एक बार पुनः यह प्रकरण उठाया जा रहा है। इसमे सर्वप्रथम गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्य का अभेद माननेवाले की ओर से पूर्वपक्ष की स्थापना की जायगी और फिर सिद्धान्ती की ओर से उत्तर दिया जायगा। पूर्वपक्षी ने विव-क्षितान्यरपवाच्य के नाम के ध्वनिभेद को तो माना है किन्तु अविवक्षितवाच्य का अन्तर्भाव गुणवृत्ति में करने की चेष्टा की है। उसका कहना है कि आप विवक्षितान्य-परवाच्य नामक जो ध्वनि का भेद मानते हैं वह तो हम भी मानते हैं और उसका मानना ठीक ही है। कारण यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य को हम गुणवृत्ति के अन्तर्गत नहीं ला सकते। विवक्षितान्यपरवाच्य मे वाच्य-वाचक की प्रतीति भी होती रहती है और उसके साथ ही अर्थान्तर की भी प्रतीति हो जाती है। आशय यह है कि वहाँ पर मुख्यवृत्ति का प्रत्याख्यान नहीं होता, मुख्यवृत्ति ( वाच्य-वाचक भाव ) की प्रतीति साथ-साथ होती रहती है। अतः उसे हम गुणवृत्ति की संज्ञा दे नहीं सकते। गुणवृत्ति का अर्थ है गुणत्व के रूप में ( गौणरूप मे ) वृत्ति अर्थात् व्यापार तथा गुणों को निमित्त मानकर सादृश्य इत्यादि के द्वारा वृत्ति अर्थात् किसी अन्य के अर्थ मे शब्द का सामानाधिकरण्य। आशय यह है कि गुणवृत्ति वहीं पर हो

## लोचन

मिति सूचयति। अत एव अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थशब्देन विषयान्तरमाक्रामति चेत्यनेन शब्देन तदेव भेदद्वयं दर्शयति—अत एव चेति। यत एव न तत्रोक्तहेतुबलाद्गुणवृत्ति-व्यवहारो न्याय्यस्तत इत्यर्थः। युक्तिं लोकप्रसिद्धिरूपामबाधितां दर्शयति—अवि-वक्षितेति। उच्यत इति प्रदीपादिः, इन्द्रियादेस्तु कारणत्वान्न व्यञ्जकत्वं प्रतीत्युत्पत्तौ।

सूचित करते हैं। अतएव अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थ शब्द के द्वारा और विषयान्तर को आक्रान्त कर लेता है इस शब्द के द्वारा उन्हीं दो भेदों को दिखलाते हैं—'अतएव च' इत्यादि। अर्थात् उक्त हेतुओं के बल से वहाँ गुणवृत्ति का व्यवहार उचित नहीं है इसलिये। लोकप्रसिद्धि रूपवाली अबाधित युक्ति को दिखलाते हैं—'स्वरूप' यह। कहा जाता है अर्थात् प्रदीप इत्यादि। कारण होने से प्रतीति की उत्पत्ति में इन्द्रियों की कारणता नहीं होती।

## तारावती

सकती है जहाँ पर या तो किसी निमित्त को लेकर किसी दूसरे अर्थ में शब्द का आरोप कर दिया जाय और उसके मुख्य वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जैसे 'बालक आग है' में बालक और आग का सामानाधिकरण्य निर्दिष्ट किया गया है जो कि सङ्गत नहीं होता, अतः 'अग्नि' के शक्यार्थ की अन्वयानुपपत्ति हो जाती है और अग्नि का शाब्दिक अर्थ सर्वथा परित्यक्त हो जाता है; उससे तेजस्वी में लक्षणा हो जाती है जिसका प्रयोजन है तेजस्विता की अधिकता। यही अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य कहलाता है। अथवा जहाँ शब्द स्वार्थ का एक अंश में परित्याग नहीं करता और वाच्य सम्बन्ध के द्वारा वाच्य सम्बन्धी किसी अन्य अर्थ में आक्रान्त हो जाता है। जैसे 'गङ्गा में घर' यहाँ पर गङ्गा का वाच्यार्थ है धारा में प्रवाहित जलराशि। यह अपने अर्थ में बाधित होकर नीरसम्बद्ध तीर को लक्षित करा देता है। इसका प्रयोजन है गंगागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति। (वस्तुतः गुणवृत्ति दो प्रकार की होती है गौणी और शुद्धा। गौणी में गुणों के सादृश्य के आधार पर एक शब्द का दूसरे शब्द के अर्थ में प्रयोग किया जाता है जैसे 'बालक अग्नि है' में तेजस्विता के सादृश्य के आधार पर अग्नि का बालक के सामानाधि-करण्य के रूप में प्रयोग किया गया है। शुद्धा उसे कहते हैं जहाँ सादृश्य से भिन्न अन्य सम्बन्धों के आधार पर एक शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग किया जाता है। जैसे निकटवर्तिता के सम्बन्ध के आधार पर 'गङ्गा में अहीर का घर' इस वाक्य में प्रवाहवाचक गङ्गा शब्द का तट के अर्थ में प्रयोग किया गया है। ये दोनों प्रकार की लक्षणायें दो-दो प्रकार की होती हैं उपादानलक्षणा और लक्षित-

तारावती

लक्षणा। जहाँ शब्द के वाच्यार्थ का एक अंश में ग्रहण कर लिया जाता है और अर्थ की पूर्ति के लिये दूसरे अर्थ का उपादान किया जाता है वहाँ उपादानलक्षणा होती है, उसे ही अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। इसके प्रतिकूल जहाँ शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है उसे लक्षितलक्षणा या जहत्स्वार्था कहते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर वृत्तिकार का दिया हुआ 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण ठीक नहीं प्रतीत होता। यह उदाहरण अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य का दिया गया है। किन्तु इसमें गङ्गा का वाच्यार्थ प्रवाह लक्ष्यार्थ तीर में अपने को अत्यन्त तिरस्कृत कर देता है। अतः यह उदाहरण भी अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य (जहत्स्वार्था) का ही होना चाहिये। अतएव अजहत्स्वार्था के उदाहरण होंगे—'छाते जारहे हैं' 'कौओं से दही बचाना' इत्यादि। ज्ञात होता है वृत्तिकार ने यहाँ पर 'जहत्स्वार्था' और 'अजहत्स्वार्था' पर विचार न कर एक उदाहरण गौणी का दिया है और एक लक्षणा का। ऐसा मानने पर ही इस ग्रन्थ की सङ्गति बैठती है अन्यथा नहीं।) यद्यपि लक्षणा के और भी अनेक भेद हो सकते हैं तथापि यहाँ पर केवल दो का ही निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के केवल दो ही भेद किये गये हैं और उन भेदों से मिलते हुये भेद यहाँ पर दिखला दिये गये हैं। इसीलिये वृत्तिकार ने 'अत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थ' और 'विषयान्तर को आक्रान्त कर लेता है' इन शब्दों का प्रयोग किया है और इन शब्दों के द्वारा उन्हीं दो भेदों की ओर इङ्गित किया है। सारांश यह है कि गुणवृत्ति इन्हीं दोनों स्थानों पर होती है। विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि में ये दोनों तत्त्व आते ही नहीं। क्योंकि उसमें वाच्य और वाचक दोनों के स्वरूप भी प्रतीत होते रहते हैं और साथ ही दूसरे अर्थ का भी अवगमन करा देते हैं। इसी विशेषता के कारण विवक्षितान्यपरवाच्य में गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं हो सकता और हम उसके लिये व्यञ्जना कहने के लिये बाध्य हो जाते हैं। व्यञ्जना यह नामकरण भी अत्यन्त युक्तियुक्त है, इसमें एक लोकसिद्ध तर्क है जिसके स्वरूप का बाध हो ही नहीं सकता और वह तर्क यह है कि लोक में हम उसे ही व्यञ्जक कहते हैं जो अपने को प्रकाशित करते हुये दूसरे को प्रकाशित कर दे। जैसे दीपक अपने को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थ को भी व्यक्त कर देता है। प्रतीति की उत्पत्ति में इन्द्रियाँ व्यञ्जक नहीं कही जा सकतीं क्योंकि वे तो कारण होती हैं। आशय यह है कि विवक्षितान्यपर-वाच्य में वाच्यार्थ अपने को प्रकाशित करते हुये व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करता है, अतः उसके व्यापार को व्यञ्जनाव्यापार कहना ही उचित है।

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते ? तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्ति-द्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः ।

(अनु०) अविवक्षितवाच्यध्वनि तो गुणवृत्ति से कैसे भिन्न होती है ? क्योंकि उसके दोनों प्रभेदों में गुणवृत्ति के दोनों भेदों की एकरूपता देखी ही जाती है ।

लोचन

एवमभ्युपगमं प्रदर्श्य आक्षेपं दर्शयति—अविवक्षितेति । तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषं द्योतयति । तस्येति । अविवक्षितवाच्यस्य यत् प्रभेदद्वयं तस्मिन् गौणलाक्षणिकत्वात्मकं प्रकारद्वयं लक्ष्यते निर्भास्यत इत्यर्थः ।

इस प्रकार स्वीकृति ( सहमति ) प्रदर्शित करके आक्षेप को दिखलाते हैं—अविवक्षित इत्यादि । 'तु' शब्द पहले से विशेषता को द्योतित करता है । 'उसका' यह । अविवक्षित वाच्य के जो दो प्रभेद उसमें गौण लाक्षणिकत्वात्मक दो प्रकार लक्षित होते है अर्थात् भासित होते है ।

तारावती

यहाँ तक तो हुई वह बात जिसमे पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों एक मत हैं । मतभेद अविवक्षितवाच्य के विषय में है । इस विषय में पूर्वपक्षी का कहना यह है कि यह माना ही कैसे जा सकता है कि अविवक्षितवाच्य भी ध्वनि की सीमा में आने का अधिकारी है । अविवक्षितवाच्य में तो वह बात होती नहीं जो विवक्षि-तान्यपरवाच्य मे होती है । अर्थात् अविवक्षितवाच्य में अर्थान्तर के प्रकाशन के अवसर पर वाच्यार्थ अपने को प्रकाशित ही नहीं करता रहता । दूसरी बात यह है कि अविवक्षितवाच्य के दो भेद बतलाये गये हैं अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य । इन दोनों का अन्तर्भाव सफलतापूर्वक गुणवृत्ति के उक्त दोनों रूपों में किया ही जा सकना है । ( वे दोनों रूप हैं उपादान अथवा अजहत्स्वार्था लक्षणा और लक्षणलक्षणा अथवा जहत्स्वार्था लक्षणा । लोचनकार ने गौण लाक्षणिकत्वात्मक दो भेदों में अविवक्षितवाच्य का अन्तर्भाव माना है । वह ठीक नहीं है क्योंकि गौणी और लक्षणा दोनों के उक्त दो भेद होते हैं । ) अतः अविवक्षितवाच्य ध्वनि गुणवृत्ति ही है वह ध्वनि भेद के अन्तर्गत नहीं आती ।

( उत्तर ) यह दोष आप नहीं दे सकते । क्योंकि गुणवृत्ति का जो मार्ग है अर्थात् उसके जो दोनों भेद हैं वे अविवक्षितवाच्य का आश्रय बनते हैं । आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति के दोनों भेद निमित्त होकर आते हैं और इसीलिये अविवक्षितवाच्य ध्वनि से पहली कक्षा में उनका सन्निवेश हो जाता है । गुणवृत्ति-भेद कारण होते हैं और अविवक्षितवाच्य कार्य । कारण

ध्वन्यालोकः

अयमपि न दोषः। यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्तिरूप एव। गुणवृत्तिर्हि व्यङ्गकत्वशून्यापि दृश्यते। व्यङ्गकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते। गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति, यथा तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः आह्लादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखमित्यादौ। यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ। यापि लक्षणारूपा गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये।

(अनु०) यह भी दोष नहीं है। क्योंकि अविवक्षितवाच्यध्वनि निस्सन्देह गुणवृत्ति मार्ग का आश्रय लेनेवाली भी होती है, केवल गुणवृत्ति रूप ही नहीं होती। गुणवृत्ति तो निस्सन्देह व्यञ्जकत्व से शून्य भी देखी जाती है। व्यञ्जकत्व तो यथोक्तचारुत्व हेतु व्यङ्ग्य के विना व्यवस्थित नहीं होता। गुणवृत्ति तो केवल वाच्यधर्म के आश्रय से ही और केवल व्यङ्ग्य के आश्रय से अभेद के आरोपरूप होती है। जैसे तीक्ष्ण होने से 'बालक आग है', आह्लादक होने से चन्द्रमा ही इसका मुख है' इत्यादि में। और जैसे 'प्रियजन मे पुनरुक्त नहीं होता' इत्यादि मे। और जो लक्षणारूप गुणवृत्ति है वह भी केवल उपलक्षणीय अर्थ के सम्बन्ध के आश्रय से चारुतारूप व्यङ्ग्य की प्रतीति के विना भी सम्भव होती है जैसे 'मञ्च शोर मचा रहे हैं' इत्यादि विषय मे।

लोचन

एतत्परिहरति अयमपीति। गुणवृत्तेर्यो मार्गः प्रभेदद्वयं स आश्रयो निमित्ततया प्राक्कक्ष्यानिवेशी यस्येत्यर्थः। एतच्च पूर्वमेव निर्णीतम्। तादृप्यामावे हेतुमाह—गुणवृत्तिरिति। गौणलाक्षणिकोभयरूपी अपीत्यर्थः। ननु व्यञ्जकत्वेन कथं शून्या गुणवृत्तिर्भवति, यतः पूर्वमेवोक्तम्—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥ इति।

इसका परिहार कहते हैं—'यह भी' यह। अर्थात् गुणवृत्ति का जो मार्ग वह है आश्रय अर्थात् निमित्त के रूप में पूर्व कक्ष्या में निविष्ट होनेवाला जिसका। इसका तो निर्णय पहले ही कर दिया गया। तादृप्य के अभाव में हेतु बतलाते हैं—'गुणवृत्ति' यह। अर्थात् गौण और लाक्षणिक रूपवाली दोनों ही प्रकार की। (प्रश्न) गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व से शून्य कैसे हो सकती है। क्योंकि आप पहले ही कह चुके हैं—'जिस फल का उद्देश्य लेकर मुख्यवृत्ति का परित्यागकर गुणवृत्ति से अर्थदर्शन किया जाता है उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं होती।'

## लोचन

नहि प्रयोजनशून्य उपचारः प्रयोजनांशनिवेशी च व्यञ्जनाव्यापार इति भवद्भिरेवाभ्यधायीत्याशङ्क्याभिमतं व्यञ्जकत्वं विश्रान्तिस्थानरूपं तत्र नास्तीत्याह—व्यञ्जकत्वं चेति। वाच्यधर्मेति। वाच्यविषयो यो धर्मोऽभिधाव्यापारस्तस्याश्रयेण तदुपबृंहणायेत्यर्थः। श्रुतार्थापत्तावितरार्थान्तरस्याभिधेयार्थोपपादन एव पर्यवसानादितिभावः। तत्र गौणस्योदाहरणमाह—यथेति। द्वितीयमपि प्रकारं व्यञ्जकत्वशून्यं दर्शयितुमुपक्रमते—यापीति। चारुरूपं विश्रान्तिस्थानम्। तदभावे स व्यञ्जकत्वव्यापारो नैवोन्मीलति, प्रत्यावृत्य वाच्य एव विश्रान्तेः, क्षणदृष्टनष्टदिव्यविभवप्राकृतपुरुषवत्।

उपचार कभी प्रयोजन से शून्य नहीं होता और यह आपने ही कहा है कि व्यञ्जनाव्यापार प्रयोजनाश मे निविष्ट होनेवाला होता है यह शङ्का करके यह कहते हैं कि विश्रान्तिस्थानरूप अभिमत व्यञ्जकत्व यहाँ पर नहीं होता—'और व्यञ्जकत्व' इत्यादि। 'वाच्यधर्म' यह। वाच्यविषयक जो धर्म अर्थात् अभिधाव्यापार उसके आश्रय से अर्थात् उसके उपबृंहण के लिये। श्रुतार्थापत्ति के समान अभिधेयार्थ के उपपादन में ही अर्थान्तर का पर्यवसान हो जाता है। उसमें गौण का उदाहरण देते हैं—'जैसे' यह। द्वितीय प्रकार को भी व्यञ्जकत्वशून्य बतलाने का उपक्रम करते हैं—'जो भी' इत्यादि। विश्रान्तिस्थान चारुतारूप होता है। उसके अभाव मे व्यञ्जकत्वव्यापार उन्मीलित नहीं होता क्योंकि लौटकर उसकी विश्रान्ति वाच्य में ही हो जाती है जैसे कोई प्राकृत पुरुष जिसका दिव्य विभव क्षण भर दिखलाई पड़कर नष्ट हो गया हो।

## तारावती

कार्य से पहले होता है, अतः लक्षणाभेद पहले होते हैं और बाद में ध्वनिभेद। इस पौर्वापर्य के कारण गुणवृत्ति और ध्वनि में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है उनका तादूप्य नहीं हो सकता। कारण कभी कार्य से रहित भी होता है, अतः गुणवृत्ति कभी व्यञ्जना से रहित भी हो सकती है, फिर इनका तादात्म्य कैसा? (प्रश्न) यह कहना तो ठीक नहीं मालूम पड़ता कि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व से शून्य भी हो सकती है। क्योंकि आपने स्वयं ही कहा है कि—

'जिस फल के लिये मुख्यवृत्ति का परित्याग किया जाता है और अर्थदर्शन के लिये गुणवृत्ति का आश्रय लिया जाता है उस फल के प्रत्यायन में शब्द की गति कुण्ठित नहीं होती।'

आशय यह है कि लक्षणा के प्रयोजन के प्रत्यायन में बाध की अपेक्षा नहीं होती। ऐसा कोई उपचार या लाक्षणिक प्रयोग नहीं होता जिसका कोई

तारावती

प्रयोजन न हो और ऐसा कोई प्रयोजन नहीं होता जिसमें व्यञ्जनाव्यापार का सन्निवेश न हो, इतना तो आप भी मानते ही हैं। फिर आपके इस कथन का क्या आशय कि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वशून्य भी देखी जाती है! (उत्तर) (लक्षणा के आचार्यों ने दो भेद किये हैं—निरूढा लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। जहाँ अनादि परम्परा के आधार पर रूढि के समान लक्षणा का प्रयोग किया जाता है उसे निरूढा लक्षणा कहते हैं। इसमें कोई प्रयोजन नहीं होता, केवल अनादि परम्परा ही निमित्त होती है। जैसे लावण्य, कुशल, मण्डप, कुण्डल इत्यादि लक्षणामूलक शब्दों का शक्तिभ्रम से अभिधेयार्थ के समान प्रयोग हुआ करता है। ऐसे स्थानों पर प्रयोजन-प्रत्यायन की अपेक्षा नहीं होती। अब प्रयोजनवती लक्षणा को लीजिये—इसमें प्रयोजन-प्रत्यायन के लिये व्यञ्जना की अपेक्षा अवश्य होती है, किन्तु उसमें भी एक विशेषता है।) ठीक रूप में व्यञ्जकता वहीं पर कही जा सकती है जो विश्रान्तिस्थान हो अर्थात् अर्थ का पर्यवसान यदि व्यङ्ग्यार्थ में हो तभी वहाँ व्यञ्जनाव्यापार माना जा सकेगा। विश्रामस्थान का आशय यह है व्यङ्ग्यार्थ चारुता-हेतु होना चाहिये, अर्थात् सौन्दर्य का पर्यवसान व्यञ्जना में ही होना चाहिये। गुणवृत्ति में भी कहीं-कहीं चारुता का पर्यवसान और अर्थ की परिसमाप्ति व्यङ्ग्यार्थ में होती है। किन्तु गुणवृत्ति ऐसे स्थान पर सम्भव है जहाँ वाच्यविषयक धर्म अर्थात् अभिधाव्यापार के आश्रय से ही केवल व्यङ्ग्य का सहारा ले लिया जाता है। वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ का सहारा लेने का प्रयोजन केवल वाच्यार्थ का उपबृंहण करना ही होता है। जैसे श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति में दूसरे अर्थ लेने का प्रयोजन केवल यही होता है कि अभिधेयार्थ का उपपादन कर दिया जाय। उदाहरण के लिये 'स्थूल देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता।' बिना भोजन किये स्थूलता उपपन्न हो ही नहीं सकती। अतः श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति से देवदत्त के रात्रिभोजन का आक्षेप कर लिया जाता है। इस रात्रिभोजनरूप अर्थान्तर के आक्षेप का मन्तव्य केवल स्थूल के वाच्यार्थ को सिद्ध करना ही है, इसमे अर्थ का पर्यवसान आक्षिप्त अर्थ में नहीं होता। इसी प्रकार गुणवृत्ति के भी कुछ स्थान ऐसे होते हैं जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का उपयोग वाच्यार्थ के उपकार के लिये ही होता है। पहले गुणवृत्ति को लीजिये—गुणवृत्ति वहाँ पर होती है जहाँ दो सर्वथा पृथक् तथा विभिन्न पदार्थों के अभेद का औपचारिक प्रयोग किया जाय। यह प्रयोग गुणों के साम्य के आधार पर होता है और गुण उसमें व्यङ्ग्य होते हैं। जैसे अग्नि और बालक दोनों सर्वथा विभिन्न पदार्थ हैं। इनका औपचारिक तादात्म्य 'बालक अग्नि है' में स्थापित किया गया है। इस तादात्म्यस्थापन का हेतु है तीक्ष्णत्व जो कि

## तारावती

एक गुण है और जिसकी प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति के आधार पर होती है। यह व्यञ्जना तादात्म्य का हेतु बतलाकर ही विश्रान्त हो जाती है। इसी प्रकार 'मुख-चन्द्र है' में आह्लादकत्व व्यक्त होकर वाच्य तादात्म्य का उपकार करता है। इसी प्रकार 'प्रियजन में पुनरुक्त नहीं होता' में पुनरुक्त शब्द की गुणवृत्ति के विषय में भी समझना चाहिये। यह तो हुई गुणवृत्ति की बात। अब लक्षणा को लीजिये—इसमें गुणसाम्य के आधार पर अभेदस्थापन नहीं होता अपितु सादृश्य से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से अन्यार्थक शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग किया जाता है। उसमें भी यह सम्भव है कि जिस प्रयोजन में व्यञ्जना होती है उसमें न तो अर्थ का पर्यवसान हो और न चारुता की परिसमाप्ति ही तद्गत हो। जब कि चारुतारूप विश्रान्तिस्थान व्यञ्जनाव्यापार में होगा ही नहीं तब व्यञ्जना का उन्मीलन भी नहीं हो सकेगा। जैसे 'मञ्च शोर मचा रहे हैं' में तत्स्थ सम्बन्ध से बालकों के लिये 'मञ्च' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रयोजन है बहुत्व की प्रतीति जो कि व्यञ्जनाव्यापारगम्य है। यह बहुत्व की प्रतीति लक्ष्यार्थ का बोध कराकर लौटकर उसी में विश्रान्त हो जाती है। इसकी वही दशा होती है जो किसी ऐसे व्यक्ति की हुआ करती है जिसका दिव्य वैभव क्षणभर के लिये देखा गया हो और तत्काल नष्ट हो जाय। इसी प्रकार कुछ गुणवृत्तियाँ तथा लक्षणायें ऐसी होती हैं जिनमें व्यञ्जना का क्षणिक आभास मिलता है और फिर उसका पर्यवसान वाच्यार्थ के सिद्ध करने के लिये ही हो जाता है। ऐसे स्थानों के विषय में कहा जा सकता है कि गुणवृत्ति व्यञ्जनाशून्य है।

('गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रये च' इन शब्दों की ठीक सङ्गति न लगा सकने के कारण टीकाकारों में प्रायः भ्रम उत्पन्न हो गया है। अधिकतर टीकाकारों ने 'वाच्यधर्माश्रयेणैव' की योजना निरूढालक्षणापरक लगाई है और 'व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण' की योजना प्रयोजनवतीलक्षणापरक लगाई है। किन्तु यह अर्थ करने पर एक तो 'एव' का प्रयोग सङ्गत नहीं होता; दूसरे पूर्वापर ग्रन्थ की सङ्गति नहीं लगती, तीसरे उदाहरण भी निरूढालक्षणापरक नहीं दिये गये हैं और चौथी बात यह है कि लोचनकार ने स्पष्ट ही लिखा है कि श्रुतार्थापत्ति के समान वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ का प्रयोग अभिधाव्यापार के उपबृंहण के लिये ही होता है; ऐसे स्थानों पर व्यञ्जना की वही दशा होती है जो क्षणभर विभव को देखकर गरीबी में लौट जानेवाले व्यक्ति की हुआ करती है। इन सबकी सङ्गति बिठाने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर आलोककार ने ऐसे स्थलों का निर्देश किया है जहाँ व्यञ्जना अभिधा की साधक होती है।

ध्वन्यालोकः

यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्। असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, यथा 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्' इत्यादौ तत्र चारुरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार एव युक्त्यनुरोधी। तस्माद्विवक्षितवाच्ये ध्वनौ द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी प्रतीयमाना प्रतीतिहेतुत्वाद्विषयान्तरे तद्रूपशून्याया दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक्सूचितमपि स्फुटतरप्रतिपत्तये पुनरुक्तम्।

(अनु०) जहाँ पर तो वह (गुणवृत्ति) चारुरूप व्यङ्ग्यप्रतीति मे हेतु होती है वहाँ पर भी वाचकत्व के समान व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से ही (उसमें चारुता आती है।) और असम्भव अर्थ से जहाँ व्यवहार होता है जैसे 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादि में वहाँ चारुरूप व्यङ्ग्यप्रतीति ही प्रयोजिका होती है; अतः उस प्रकार के विषय में भी गुणवृत्ति के होते हुये भी 'ध्वनि' का व्यवहार युक्तिसंगत है। अतएव अविवक्षितवाच्य के दोनों ही प्रभेदों में गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व विशेष से विशिष्ट होकर ही सहृदयों के हृदयों को आह्लाद देनेवाली होती है। क्योंकि गुणवृत्ति प्रतीयमान की प्रतीति में हेतु नहीं होती क्योंकि वह उसके रूप से शून्य भी देखी जाती है। यह सब पहले सूचित किया हुआ भी अधिक स्फुट प्रतीति के लिये फिर कह दिया गया है।

लोचन

ननु यत्र व्यङ्ग्येऽर्थे विश्रान्तिस्तत्र किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह—तत्र त्विति। अस्ति तत्रापरो व्यञ्जनव्यापारः परिस्फुट एवेत्यर्थः। दृष्टान्तं पराङ्गीकृतमेवाह—वाच-

(प्रश्न) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ मे विश्रान्ति होती है वहाँ क्या करना चाहिये? इस शङ्का पर कहते हैं—(उ०) 'वहाँपर तो' यह। अर्थात् वहाँ पर दूसरा व्यञ्जनाव्यापार परिस्फुट ही है। दूसरे के द्वारा स्वीकार किया हुआ ही दृष्टान्त देते हैं—

तारावती

(प्रश्न) जहाँ व्यञ्जना गुणवृत्ति की साधिका होकर आती है उसके विषय में आपने जो कुछ कहा वह ठीक हो सकता है किन्तु ऐसे स्थलों के विषय में आप क्या करेंगे जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में ही अर्थ की विश्रान्ति होती है और उसी में चारुता की परिसमाप्ति होती है? (उत्तर) वहाँ पर स्पष्ट ही व्यञ्जना नामक एक अतिरिक्त व्यापार विद्यमान रहता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये आनन्दवर्धन ने वही उदाहरण दिया है जो कि पूर्वपक्षियों ने स्वीकार कर लिया था। पूर्वपक्षियों ने विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिभेद का खण्डन नहीं किया अपितु उसका

## लोचन

कत्ववदिति। वाचकत्वे हि त्वयैवाङ्गीकृतो व्यञ्जनव्यापारः प्रथमध्वनिप्रभेदमप्रत्याचक्षाणेनेति भावः। किञ्च वस्त्वन्तरे मुख्ये सम्भवति सम्भवदेव वस्त्वन्तरं मुख्यमेवारोप्यते विषयान्तरमात्रतस्त्वारोपव्यवहार इति जीवितमुपचारस्य, सुवर्णपुष्पाणां तु मूलत एवासम्भवात्तदुच्चयनस्य कस्तत्र आरोपव्यवहारः, 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इति हि स्यादारोपः, तस्मादत्र व्यञ्जनव्यवहार एव प्रधानभूतो नारोपव्यवहारः, स परं व्यञ्जनव्यापारानुरोधतयोत्तिष्ठति। तदाह—असम्भविनेति। प्रयोजिकेति। व्यङ्ग्य-

'वाचकत्व के समान' यह। भाव यह है कि प्रथम ध्वनि भेद का खण्डन न करते हुये तुमने ही वाचकत्व में व्यञ्जनाव्यापार अङ्गीकार कर लिया। दूसरी बात यह है कि मुख्य दूसरी वस्तु के सम्भव होते हुये सम्भव दूसरी मुख्य वस्तु का ही अरोप किया जाता है; केवल विषयान्तर होने से ही आरोप का व्यवहार किया जाता है; यही उपचार का जीवन है। सुवर्ण पुष्पों का होना तो मूल से ही असम्भव है अतएव उनके चयन करने के आरोप का व्यवहार ही कैसा? 'सुवर्णपुष्पा पृथिवी' यह आरोप हो सके, इससे यहाँ पर व्यञ्जनाव्यापार ही प्रधान है आरोपव्यवहार नहीं। वह केवल व्यञ्जनाव्यापार के अनुरोध से ही उठता है। वही कहते हैं—'असम्भव अर्थ के द्वारा' इत्यादि।

## तारावती

समर्थन ही किया था। यहाँ पर वृत्तिकार का कहना है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ के साथ प्रतीयमान अर्थ चारुता में हेतु होकर ध्वनिरूपता को धारण करता है और उसके लिये आपने व्यञ्जनाव्यापार स्वीकार किया है उसी प्रकार गुणवृत्ति में भी चारुताप्रतीति में हेतु व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायन करानेवाली व्यञ्जनावृत्ति ही होती है अर्थात् व्यञ्जकत्व के अनुप्रवेश से ही गुणवृत्तिमूलक ध्वनि मे भी चारुताप्रतीति होती है। दूसरी बात यह है कि गुण सादृश्य के आधार पर जहाँ पर दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्म्य का आरोप किया जाता है और विभिन्नवस्तुओं के भेद का स्थगन कर दिया जाता है उसे उपचार कहते हैं। इस उपचार का बीज यही है कि मुख्यवस्तु सम्भव हो और उसपर ऐसी ही मुख्यवस्तु का आरोप किया जाय जो स्वयं सम्भव हो। तभी उसे उपचार की संज्ञा प्राप्त हो सकती है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब दोनों वस्तुयें मुख्य भी होती हैं और दोनों ही सम्भव भी होती हैं तब उनका आरोप कैसे कहा जा सकता है! इसका उत्तर यह है कि मुख्य वस्तु का विषयान्तर में प्रयोग होता है इसीलिये उसे आरोप की संज्ञा दी जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस वस्तु का आरोप किया जाय और जिसपर आरोप किया गया हो दोनों वस्तुयें सम्भव अवश्य होनी चाहिये। इसके प्रतिकूल

## लोचन

मेव हि प्रयोजनरूपं प्रतीतिविश्रामस्थानमारोपिते त्वसम्भवति प्रतीतिविभ्रान्तिराशङ्कनीयापि न भवति। सत्यामपीति। व्यञ्जनव्यापारसम्पत्तये क्षणमात्रमवलम्बितायामितिभावः। तस्मादिति। व्यञ्जकत्वलक्षणो यो विशेषस्तेनाविशिष्टा अविद्यमानं विशिष्टं विशेषो भेदनं तस्याः व्यञ्जकत्वं न यस्याः भेद इत्यर्थः। यदि वा व्यञ्जकत्वलक्षणेन व्यापारविशेषेणाविशिष्टा व्यक्तस्वभावा आसमन्ताद्व्याप्ता। तदेकेति। तेन व्यञ्जकत्वलक्षणेन सहैकं रूपं यस्याः सा तथाविधा न भवति। अविवक्षितवाच्ये व्यञ्जकत्वं गुणवृत्तेः पृथक्चारुत्वप्रतीतिहेतुत्वात् विवक्षितवाच्यनिष्ठव्यञ्जकत्ववत्, नहि गुणवृत्तेश्चारुप्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति—विषयान्तर इति। अग्निर्ब्रह्मचारीत्यादौ। प्रागिति प्रथमोद्योते।

'प्रयोजिका' यह। निस्सन्देह प्रयोजनरूप व्यंग्य ही प्रतीति का विश्रामस्थान होता है। आरोपित के असम्भव होने पर प्रतीतिविश्रान्ति की शङ्का भी नहीं की जा सकती। 'होने पर भी' यह। भाव यह है कि व्यञ्जनाव्यापार की सम्पत्ति के लिये क्षणमात्र अवलम्बन की हुई होने पर भी। 'उससे' यह। व्यञ्जकत्व लक्षणवाला जो विशेष उससे अविशिष्ट अर्थात् विशिष्ट या विशेष अथवा भेदन जिसका विद्यमान नहीं है। अथवा व्यञ्जकत्वलक्षणवाले विशेष प्रकार के व्यापार के द्वारा अविशिष्ट अर्थात् तिरस्कृत स्वभाववाली, चारों ओर से व्याप्त। 'उससे एकरूप' यह। उससे अर्थात् व्यञ्जकत्व लक्षण के साथ एकरूप नहीं है जिसका उस प्रकार की नहीं होती। अविवक्षितवाच्य में व्यञ्जकत्व गुणवृत्ति से पृथक् होता है क्योंकि चारुता की प्रतीति में हेतु होता है जिस प्रकार विवक्षित वाच्य में रहनेवाला व्यञ्जकत्व। गुणवृत्ति की चारुप्रतीतिहेतुता नहीं है यह दिखलाते हैं 'विषयान्तर में' यह। 'अग्नि ब्रह्मचारी है' इत्यादि में। 'पहले' यह अर्थात् प्रथम उद्योत में।

## तारावती

कुछ स्थल ऐसे होते हैं जहाँ एक वस्तु सर्वथा असम्भव होती है। उदाहरण के लिये 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' को लीजिये सुवर्ण के पुष्पों का होना तो मूलतः असम्भव है; अतः वहाँ पर उनके उच्चयन के आरोप का व्यवहार हो ही कैसे सकता है! यदि यहाँ आरोप किया जाता पृथिवीपर सुवर्णपुष्पा होने का आरोप हो सकता था जोकि सुवर्णपुष्पों के असम्भव होने से सर्वथा असङ्गत हो जाता है। अतएव यहाँ पर आरोप का व्यवहार प्रधान नहीं है अपितु व्यञ्जनाव्यापार ही प्रधान है। व्यञ्जना व्यापार के अनुरोध से ही आरोप के व्यवहार का आश्रय ले लिया जाता है। आशय यह है कि जहाँ व्यञ्जना गुणवृत्ति की साधिका न होकर स्वयं स्वतन्त्र

## तारावती

तथा चमत्कारपूर्ण होती है वहाँ गुणवृत्ति का उपयोग केवल व्यञ्जना के उपकारक के रूप में ही होता है। यही बात वृत्तिकार ने 'असम्भविना चार्थेन' इन शब्दों के द्वारा व्यक्त की है। वृत्तिकार का आशय यह है कि जहाँ पर अर्थ असम्भव होता है वहाँ पर गुणवृत्ति के जिस प्रयोजन की व्यञ्जना की जाती है उसी मे प्रतीति का पर्यवसान हो जाता है और उसी में चारुता परिनिष्ठित होती है। यह तो शङ्का भी नहीं की जा सकती कि जो आरोप असम्भव है उसमें प्रतीति की विश्रान्ति होगी। ऐसे स्थानों पर व्यञ्जनाव्यापार की पूर्ति के लिये तथा उसके सम्पन्न हो जाने के लिये गुणवृत्ति का लक्षणभर के लिये आश्रय ले लिया जाता है; वस्तुतः वहाँ व्यञ्जना ही प्रमुख होती है, अतः ऐसे काव्य को ध्वनिकाव्य कहना ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस समस्त निरूपण का निष्कर्ष यही निकलता है कि गुणवृत्ति और व्यञ्जना दोनों एकरूप कभी नहीं हो सकती। अविवक्षितवाच्यध्वनि वहीं पर होती है जहाँ व्यञ्जना का उपकार करने के लिये साधक के रूप में गुणवृत्ति का लक्षणमात्र के लिये आश्रय ले लिया जाता है और उसमें व्यञ्जनावृत्ति ही प्रधान होकर स्थित होती है। आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य के दोनों प्रभेदों में ( अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य इन दोनों भेदों मे ) गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्ट होती है। लोचन में व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्ट के तीन अर्थ किये गये हैं—( १ ) व्यञ्जकत्वरूप विशेष से अविशिष्ट अर्थात् व्यञ्जकत्व एक विशेष तत्त्व है; गुणवृत्ति उससे विशिष्ट नहीं होती। आशय यह है कि गुणवृत्ति में व्यञ्जकत्वरूप विशेष या भेदकत्व विद्यमान नहीं रहता अर्थात् व्यञ्जकत्व उसका भेद नहीं है। ( २ ) विशिष्ट का अर्थ है आदर, अविशिष्ट का अर्थ है अनादर। व्यञ्जकत्वरूप व्यापारविशेष के द्वारा जिसका अनादर कर दिया गया हो अर्थात् जहाँ गुणवृत्ति व्यञ्जनाव्यापार के द्वारा दबा दी जाती है वह ध्वनि का विषय होता है और ( ३ ) व्यञ्जकत्वविशेषाविशिष्ट की सन्धि इस प्रकार होगी—व्यञ्जक विशेष + आ + विशिष्ट। विशिष्ट का अर्थ है व्याप्त अर्थात् जो व्यञ्जकविशेष से चारों ओर से व्याप्त हो। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि में गुणवृत्ति की स्थिति के विषय में बतलाया गया है कि इसमें गुणवृत्ति में व्यञ्जकत्व के द्वारा गुणवृत्ति दबा दी जाती है और व्यञ्जकत्व गुणवृत्ति में सभी ओर व्याप्त रहता है। इस प्रकार व्यञ्जना और गुणवृत्ति का तादात्म्य नहीं होता और गुणवृत्ति व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होनेपर ही अविवक्षितवाच्य ध्वनि का रूप धारण कर सहृदयों के हृदयों को आह्लाद देनेवाली होती है; इसके प्रतिकूल गुणवृत्ति सहृदयों के हृदयों को आह्लाद देनेवाली नहीं होती। व्यञ्जना प्रतीयमान होती

ध्वन्यालोकः

अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद्विमतिविषयतामर्हति। शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुसन्धान एव व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तर सम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते। अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियत औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः।

(अनु०) और भी—शब्द और अर्थ का जो अनुसरण करनेवाला होता है यह बात किसी के मतभेद का विषय बनने के योग्य है ही नहीं। शब्द अर्थ का जो प्रसिद्ध वाच्यवाचक नामक सम्बन्ध उसका अनुसरण करते हुये ही दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से व्यञ्जकत्व नामक व्यापार औपाधिकरूप मे प्रवृत्त होता है। इसीलिये वाचकत्व की अपेक्षा उसमे विशेषता होती है। निस्सन्देह वाचकत्व शब्दविशेष की निश्चित आत्मा होता है क्योंकि व्युत्पत्तिकाल से लेकर उससे अपृथग्भाव में वह प्रसिद्ध होता है। वह (व्यञ्जकत्व) तो अनियत होता है, क्योंकि औपाधिक होता है; प्रकरण इत्यादि से अवच्छिन्न होने पर उसकी प्रतीति होती है अन्यथा नहीं।

तारावती

है किन्तु गुणवृत्ति प्रतीयमान नहीं होती। व्यञ्जना चारुताप्रतीति में हेतु होती है किन्तु गुणवृत्ति चारुताप्रतीति मे हेतु भी नहीं होती; क्योंकि विषयान्तर में ('बालक अग्नि है' इत्यादि में) गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व के रूप से शून्य भी देखी जाती है। यही सब कारण हैं जिनसे व्यञ्जनावृत्ति को गुणवृत्ति से पृथक् मानना ही पड़ता है। यहाँ पर व्यंजकत्व और गुणवृत्ति का पृथक्त्व अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—अविवक्षितवाच्य का व्यंजकत्व गुणवृत्ति से पृथक् होता है।' (प्रतिज्ञा) 'क्योंकि वह चारुताप्रतीति में हेतु होता है' (हेतु) 'जो जो चारुताप्रतीति मे हेतु होता है वह गुणवृत्ति से भिन्न हुआ करता है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य में रहनेवाला व्यंजकत्व' (उदाहरण) 'उसी प्रकार का यह भी है' (उपनय) और 'अतएव उसी प्रकार का है' (निगमन)। यद्यपि प्रथम उद्योत मे यह सब सूचित किया जा चुका है तथापि यहाँ पर फिर से इसीलिये कह दिया गया है कि पाठक लोग अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकें।

यहाँ अब व्यंजना की सत्ता सिद्ध करने के लिये दो एक हेतु और दिये जा रहे हैं। इस विषय मे तो किसी को मतभेद होना ही नहीं चाहिये कि वाच्यवाचकभाव शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध सम्बन्ध है तथा उसी को उपजीव्य मानकर तथा उसी का आश्रय लेकर व्यंजनाव्यापार प्रवृत्त हुआ करता है। वाच्यवाचकभाव तथा

## लोचन

नियतस्वभावाच्च वाच्यवाचकत्वादौपाधिकत्वेनानियतं व्यञ्जकत्वं कथं न भिन्ननिमित्तमिति दर्शयति—अपिचेति। औपाधिक इति। व्यञ्जकत्ववैचित्र्यं यत्पूर्वमुक्तं तत्कृत इत्यर्थः। अत एव समयनियमितादभिधाव्यापाराद्विलक्षण इति यावत्। एतदेव स्फुटयति—अत एवेति। औपाधिकत्वं दर्शयति—प्रकरणादीति।

नियत स्वभाववाले वाच्यवाचकत्व से औपाधिक होने के कारण अनियत व्यञ्जकत्व क्यों भिन्न निमित्तवाला नहीं है यह दिखलाते हैं—'और भी' इत्यादि। 'औपाधिक' अर्थात् जो व्यञ्जकत्व वैचित्र्य पहले बतलाया गया है उसके द्वारा प्रयुक्त। आशय यह है कि इसीलिये सङ्केत में नियमित अभिधाव्यापार से विलक्षण होता है। इसी का स्फुट कर रहे हैं—अतएव इत्यादि। औपाधिकत्व को दिखलाते हैं—'प्रकरणादि' इत्यादि।

## तारावती

व्यंजनाव्यापार में एक बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि वाच्यवाचकभाव का स्वभाव निश्चित होता है तथा व्यंजनाव्यापार औपाधिक होता है। (उपाधि शब्द 'उप + आ' उपसर्ग 'धाञ्' धातु से 'कि' प्रत्यय होकर बना है इसका अर्थ है अपने धर्म को दूसरे के निकट ले जाना। वस्तु का स्वभाव एक सा ही होता है; किन्तु किसी विशेषतत्त्व को प्राप्तकर वह वस्तु अन्य प्रकार की प्रतिभासित होने लगती है। किन्तु उस वस्तु में भेद नहीं होता। उदाहरण के लिये मुख की आकृति एक सी ही रहती है किन्तु दर्पण, तेल, खड्ग इत्यादि में उसकी आकृति विभिन्न प्रकार की दिखलाई देने लगती है। अतः दर्पण, तेल, खड्ग इत्यादि पदार्थ उपाधि हुये और उनमें दिखलाई पड़नेवाली विभिन्न आकृतियाँ औपाधिक हुई। इसी प्रकार दर्पण इत्यादि वस्तुओं का रंग सफेद होता है किन्तु उनपर जिस प्रकार की बिजली का प्रकाश डाला जाता है वे वस्तुयें भी उसी रङ्ग की मालूम पड़ने लगती है। विभिन्न प्रकार के प्रकाश उपाधि कहे जायेंगे और उनसे प्रतीत होनेवाला वस्तुओं का विभिन्न प्रकार का वर्ण औपाधिक कहा जायगा। उपाधिभेद से वस्तु में भेद नहीं आता किन्तु उसकी प्रतीति भिन्नरूप में होने लगती है।) शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध है; किन्तु व्यंजना-जन्य बोध औपाधिक होता है (व्यंजना की उपाधियों का वर्णन काव्यप्रकाश की निम्नलिखित कारिकाओं में किया गया है—

'वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽन्यस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥'

## ध्वन्यालोकः

ननु यद्यनियतरतर्हि तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः; यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।

(अनु०) ( प्रश्न ) यदि अनियत है तो उसकी स्वरूपपरीक्षा से क्या लाभ ? ( उत्तर ) यह दोष नहीं है, क्योंकि उसका अनियतत्व शब्दात्मा में होता है; व्यङ्ग्यरूप अपने विषय मे नहीं।

## लोचन

किं तस्येति। अनियतत्वाद्यथारुचि कल्प्येत पारमार्थिकं रूपं नास्तीति; न चावस्तुनः परीक्षोपपद्यत इतिभावः। शब्दात्मनीति। सङ्केतास्पदे पदस्वरूपमात्र इत्यर्थः।

'उसकी····· क्या' यह। अनियत होने से रुचि के अनुसार कल्पना कर ली जाय; वास्तविक रूप नहीं होता है। भाव यह है कि अवस्तु की परीक्षा उत्पन्न ही नहीं होती। 'शब्दात्मा मे' यह। अर्थात् सङ्केतास्पद पद के स्वरूपमात्र में ही।

## तारावती

वक्ता इत्यादि की विशेषताओं से जो अन्य अर्थ में अन्य अर्थ की बुद्धि बन जाती है उसे व्यञ्जना ही कहा जाता है। आशय यह है कि वाच्यवाचक भाव तो शब्दविशेष की एक नियत आत्मा है। जब से हमें वाच्य-वाचक का ज्ञान होता है तब से जब कभी हम उस शब्द को सुनते हैं तब हमें उसी अर्थ की प्रतीति होती है और जब कभी उस अर्थ को कहने की प्रवृत्ति होती है तब वह शब्द सामने आ जाता है। इस प्रकार वाच्य और वाचक अपने ही रूप में सर्वदा एक दूसरे के साथ बने रहते हैं, उनमे कभी अन्तर नहीं आता है। ( पुस्तक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है। जब व्यक्ति को उस अर्थ का ज्ञान हो जाता है तब से लेकर जब कभी पुस्तक शब्द का प्रयोग किया जाता है वह व्यक्ति अनिवार्य रूप से पुस्तक शब्द का वही वाच्यार्थ समझ जाता है। ) इस प्रकार वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नित्य होता है। इसके प्रतिकूल व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध अनियत होता है। एक प्रकरण मे किसी एक शब्द का कोई एक व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है, उस प्रकरण के न रहने पर उसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती, जब दूसरा प्रकरण आ जाता है तब उसका दूसरा ही अर्थ हो जाता है। इस प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अनियत तथा औपाधिक होता है। सारांश यह है कि वाच्यवाचक भाव संकेतित अर्थ मे होता है और वह निश्चित भाव रहता है, इसके प्रतिकूल व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव उपाधि के आधार पर बदलता रहता है। जब दोनों में इतना अन्तर है तब उनको एक ही कैसे कहा जा सकता है ? ( प्रश्न ) जब व्यंग्य-

ध्वन्यालोकः

लिङ्गत्वन्यायश्चास्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते, यथा लिङ्गत्वमाश्रयेष्व-नियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात्, स्वविषयाव्यभिचारि च। तथैवेदं यथा दर्शितं व्यञ्जकत्वम्। शब्दात्मन्यनियतत्वादेव च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्पयितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद्वाचकत्ववत्।

(अनु०) और इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव का लिङ्गत्व न्याय भी लक्षित होता है। जैसे लिङ्गत्व का आश्रयों में अवभास अनियत होता है। क्योंकि वह इच्छाधीन होता है तथा अपने विषय का उसमें व्यभिचार भी नहीं होता। उसी प्रकार का यह व्यञ्जकत्व है जैसा दिखलाया गया है। शब्दात्मा मे अनियत होने के कारण ही उसकी वाचकत्वप्रकारता की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि उसमें वाचकत्वप्रकारता हो तो वाचकत्व के समान शब्दात्मा मे उनकी नियतता भी हो।

लोचन

आश्रयेष्विति। न हि धूमे वह्निगमकत्वं सदातनम्, अन्यगमकत्वस्य वह्न्यगम-कत्वस्य च दर्शनात्। इच्छाधीनत्वादिति। इच्छात्र पक्षधर्मत्वजिज्ञासाव्याप्तिसुस्मूर्षा-प्रभृतिः। स्वविषयेति। स्वस्मिन् विषये च गृहीते त्रैरूप्यादौ न व्यभिचरति।

'आश्रयों मे' यह। धूम मे वह्नि का प्रत्यायकत्व सर्वदा रहनेवाला नहीं होता। क्योंकि अन्यगमकत्व और वह्नि का अगमकत्व देखा जाता है। 'इच्छा के आधीन होने से' यह। यहाँ इच्छा पक्षधर्मत्व की जिज्ञासा और व्याप्ति के स्मरण की इच्छा इत्यादि है। 'अपने विषय मे' यह। अपने (लिङ्ग के) और अपने विषय के ग्रहण कर लिये जाने पर त्रैरूप्य (अनुसमानाङ्गभूत सपक्षसत्त्व) इत्यादि मे उसका व्यभिचार नहीं होता।

तारावती

व्यञ्जक भाव अनियत रहता है तब उसकी स्वरूपपरीक्षा से क्या लाभ? जब उसका कोई पारमार्थिक रूप ही नहीं, जब वह सर्वथा अनिश्चित है, तब जो जैसा चाहे वह वैसी कल्पना कर सकता है और अपनी रुचि के अनुसार उसको समझ सकता है, उसकी स्वरूपपरीक्षा हो ही कैसे सकती है? जो कोई वस्तु ही नहीं उसकी परीक्षा कैसी? (उत्तर) यह दोष नहीं। 'वाच्यवाचक भाव नियत होता है किन्तु व्यञ्जना नियत नहीं होती' यह कहने का आशय केवल यही है कि जिस प्रकार अभिधा में शब्द का एक नियत संकेतित अर्थ होता है उस प्रकार का संकेतित नियत अर्थ व्यञ्जना का नहीं होता। यह अनिश्चय केवल शब्द की आत्मा मे ही होता है, व्यञ्जना का अपना स्वतन्त्र विषय होता है

## तारावती

जिसको व्यंग्यार्थ की संज्ञा दी जाती है। यह व्यंग्यार्थ अपने विषय में तो नियत होता ही है। ( व्यंग्यार्थ का विषय-विभाजन रस, वस्तु और अलङ्कार के रूप में किया ही गया है। इन सबका भी अपना-अपना विषय नियत रहता है। अतः उस पर विचार करना अयुक्तियुक्त नहीं। ) व्यञ्जकत्व शब्दात्मा में नियत नहीं होता किन्तु अपने विषय में नियत होता है इस बात को समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिये इस व्यञ्जक भाव में लिङ्गत्व न्याय भी देखा जाता है। ( 'लिङ्ग' यह नैय्यायिकों का एक पारिभाषिक शब्द है जो कि साधक हेतु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है। इस शब्द का अर्थ है—जो तत्त्व अपने में लीन वस्तु को अवगत करा दे उसे लिङ्ग कहते हैं—( 'लीनं गमयति' इति लिङ्गम्। पृषोदरादित्वात् सिद्धम्। ) लिङ्ग न्याय को समझने के लिये अनुमान की प्रक्रिया पर संक्षिप्त विचार कर लेना चाहिये। जब हम किन्हीं दो तत्त्वों को कई बार साथ-साथ देखते हैं तब हमें उनके नियत साहचर्य का पता चल जाता है। जैसे कई बार धुआँ और आग को साथ साथ देखकर हमें ज्ञान हो जाता है कि 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है।' इस ज्ञान को अन्वयव्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार हमें यह भी ज्ञान हो जाता है कि 'जहाँ आग नहीं होती वहाँ धुआँ नहीं होता।' इस ज्ञान को व्यतिरेकव्याप्ति कहते हैं। ये दोनों प्रकार के ज्ञान अनुमिति में करण होते हैं तथा इन्हीं दोनों प्रकार के ज्ञानों को अनुमान कहते हैं। इन ज्ञानों को लेकर जब कोई व्यक्ति कहीं जाता है और उसे आग की तलाश होती है तब वह किसी मकान से उठते हुये धुयें को देखता है और व्याप्ति का स्मरण करता है तथा निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि इस मकान में आग है। यही अनुमान की संक्षिप्त प्रक्रिया है। इसमें जिस मकान से धुआँ उठता हुआ दिखलाई देता है उसे पक्ष कहते हैं और 'इस मकान में आग है' यह निष्कर्ष अनुमिति कहलाता है। धुआँ लिङ्ग है और वह्नि साध्य है। जिन स्थानों पर वह धुआँ और अग्नि इत्यादि के नियत साहचर्य का ज्ञान प्राप्त करता है उन्हें सपक्ष कहते हैं और जिन स्थानों पर नियत रूप से धुआँ और आग कुछ नहीं रहते उन्हे विपक्ष कहते हैं। ) आश्रयों में लिंगत्वप्रतीति अनिश्चित रहती है, कारण यह है कि उसकी प्रतीति इच्छाधीन हुआ करती है। इसको इस प्रकार समझिये—अनुमान के लिए पक्षधर्मत्व ( पक्षता ) का ज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। आचार्यों ने पक्षता में दो तत्त्व माने हैं—एक तो सिद्धि का अभाव और दूसरे सिषाधयिषा अर्थात् सिद्ध करने की इच्छा। जो वस्तु स्वयं सिद्ध है उसको सिद्ध करने के लिये अनुमान का आश्रय नहीं लेना पड़ता। जैसे चौके में

तारावती

हमें प्रत्यक्ष आग दिखलाई पड़ती है अतः चौके में आग को सिद्ध करने के लिये अनुमान का आश्रय नहीं लिया जाता। दूसरी बात यह है कि जब तक सिद्ध करने की इच्छा नहीं होती तब तक भी अनुमान का अवसर नहीं आता। उदाहरण के लिये लोक व्यवहार मे हमे बीसों वस्तुयें ऐसी दिखलाई पड़ती रहती हैं जिनसे हम दूसरे पदार्थों का अनुमान लगा सकते हैं। किन्तु उनकी ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता और अनुमान की प्रक्रिया प्रसार पा ही नहीं सकती। कारण यह है कि अनुमान के प्रसार के लिये एक तो हमे व्याप्तिज्ञान होना चाहिये दूसरे व्याप्ति के स्मरण की इच्छा भी होनी चाहिये। यह इच्छा तभी हो सकती है जब उस ओर हमारा ध्यान हो। जब तक ये सब शर्तें पूरी नहीं होती अनुमान की प्रक्रिया प्रसार पा ही नहीं सकती। इसी प्रकार की और भी बातें हैं जिनसे अनुमान की प्रक्रिया प्रसार पाती है जैसे हेतु का सपक्ष में होने का ज्ञान इत्यादि। आशय यह है कि लिंग (हेतु) सर्वदा साध्य का प्रत्यायन नहीं कराता रहता, उसके लिये अपेक्षित तत्त्वों का होना भी आवश्यक माना जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लिंग सर्वदा साध्य में नियत नहीं रहता और उसका कहीं-कहीं अतिक्रमण हो जाता है। लिंग साध्य में नियत तो रहता ही है किन्तु विशिष्ट शर्तों के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। जब हेतु के स्वरूप और उसके विषय का ग्रहण हो जाता है अर्थात् जब हेतु और साध्य के स्वरूप और उनकी व्याख्या व्यापकता का परिज्ञान हो जाता है तब उसका व्यभिचार (त्रैरूप्य इत्यादि में नहीं होता) त्रैरूप्य का अर्थ है—हेतु की पक्ष में सत्ता, सपक्ष में हेतु और साध्य की उपस्थिति और और विपक्ष में उनका अभाव। इसी प्रकार अबाधितत्व इत्यादि बातें भी स्वतः सङ्गत हो जाती हैं और अनुमान की प्रक्रिया वहाँ पर ठीक बैठ जाती है। इस समस्त निरूपण का सारांश यही है कि जिस प्रकार लिङ्ग का व्यभिचार अपने साध्य में नहीं होता और न उन दोनों का व्यभिचार सपक्ष इत्यादि में होता है उसी प्रकार व्यंजना का विषय भी अव्यभिचरित तथा निश्चित ही होता है। किन्तु जिस प्रकार लिङ्ग के द्वारा साध्य की प्रतीति सार्वकालिक नहीं होती उस प्रकार व्यंजना की प्रतीति भी औपाधिक होती है। उपाधियों के ज्ञात होने पर व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है—किन्तु उपाधियों के अभाव मे उसकी प्रतीति नहीं होती। शब्द की आत्मा मे वाचकत्व तो नियत होता है किन्तु व्यंजकत्व नियत नहीं होता। यही कारण है कि हम व्यंजकत्व को वाचकत्व की कोटि मे नहीं ला सकते। यदि व्यंजकत्व भी शब्द की आत्मा मे नियत हो तो वह भी वाचकत्व की कोटि मे आ जाय। यह भी एक प्रमाण है जिसके आधार पर कहा

ध्वन्यालोकः

स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्यतत्त्वविदा पौरुषेयापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः, तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्।

(अनु०) और वह उस प्रकार का औपाधिक धर्म शब्दों के औत्पत्तिक शब्दार्थ सम्बन्ध को माननेवाले, पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों मे विशेषता का प्रतिपादन करनेवाले, वाक्यत्व को समझनेवाले ( मीमांसक ) के द्वारा भी नियमपूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिये। उसके न स्वीकार करने पर उसके शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध होते हुये भी पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में अर्थप्रतिपादन में कोई विशेषता न रहे। उसके मानने पर पुरुषेच्छा के अनुविधान के कारण जिसमें दूसरे औपाधिक व्यापारों का आरोप कर दिया गया है इस प्रकार के पौरुषेय वाक्यों की अपने-अपने अभिधेय के सम्बन्ध का परित्याग करते हुये भी मिथ्यार्थता भी हो जाय।

लोचन

न कस्यचिद्विमतिमेतीति यदुक्तं तत्स्फुटयति-स चेति। व्यञ्जकत्वलक्षण इत्यर्थः। औत्पत्तिकेति। जन्मना द्वितीयो भावविकारः सत्तारूपः सामीप्यालक्ष्यते विपरीत-

किसी की विमति को प्राप्त नहीं होता यह जो कहा गया था उसको स्पष्ट करते हैं—'और वह' यह। अर्थात् व्यञ्जकत्व लक्षणवाली। 'औत्पत्तिक यह'। जन्म से ( जन्म के कारण ) दूसरा भावविकार जो कि सत्तारूप है। सामीप्य के कारण लक्षित

तारावती

जा सकता है कि व्यंजकत्व वाचकत्व की कोटि में नहीं आ सकता क्योंकि वह वाचकत्व के समान शब्द की आत्मा में नियत नहीं होता।

ऊपर व्यंजकत्व का वाचकत्व से विभेद सिद्ध किया गया। इस प्रकरण के उपक्रम मे कहा गया था कि इस व्यंजनाव्यापार को स्वीकार करने में किसी को मतभेद नहीं है। अब इसी कथन पर विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है। ( शब्दवृत्तियों पर विशेष विचार मीमासा दर्शन, व्याकरण और न्यायशास्त्र में किया गया है। इन्हीं दर्शनों के आधार पर अब यह दिखलाया जायेगा कि इन दर्शनों के माननेवालों को भी अनिवार्य रूप से व्यंजना माननी ही पड़ेगी। ) सर्व प्रथम मीमांसा दर्शन को लीजिये। मीमासा दर्शन में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य-

## लोचन

लक्षणातो वानुत्पत्तिः, रूढ्या वा औत्पत्तिकशब्दो नित्यपर्यायः तेन नित्यं यः शब्दार्थयोः शक्तिलक्षणं सम्बन्धमिच्छति जैमिनेयस्तेनेत्यर्थः। निर्विशेषत्वमिति। ततश्च पुरुषदोषानुप्रवेशस्याकिञ्चित्करत्वात्तन्निबन्धं पौरुषेयेषु वाक्येषु यदप्रामाण्यं तन्न सिध्येत्। प्रतिपत्तुरेव हि यदि तथा प्रतिपत्तिस्तर्हि वाक्यस्य न कश्चिदपराध इति कथमप्रामाण्यम्। अपौरुषेये वाक्येऽपि प्रतिपत्तृदौरात्म्यात्तथा स्यात्।

हो जाता है; अथवा विपरीत लक्षणा से अनुत्पत्ति होती है अथवा रूढि से औत्पत्तिक शब्द नित्य का पर्यायवाचक हो गया है। इससे अर्थ यह हो जाता है कि जो जैमिनिमतानुयायी शब्द और अर्थ के शक्तिरूप नित्यसम्बन्ध की इच्छा करता है उसके द्वारा। 'निर्विशेषत्व' यह। इससे पुरुष दोष के अनुप्रवेश के अकिञ्चित्कर होने के कारण उसके आधीन जो पौरुषेय में वाक्यों मे अप्रामाण्य वह सिद्ध न हो। यदि प्रतिपत्ता ( समझनेवाले ) की ही वैसी प्रतिपत्ति मानी जाय तो वाक्य का कोई अपराध नहीं अतः अप्रामाणिकता कैसे होती ? अपौरुषेय वाक्यों में भी प्रतिपत्ता के दौरात्म्य के कारण वैसा हो जायगा।

## तारावती

माना जाता है। एक जैमिनि सूत्र है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' अर्थात् शब्द का अर्थ से सम्बन्ध औत्पत्तिक होता है। इसके विवरण में शवर स्वामी ने लिखा है—औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धो नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः।' 'अर्थात् 'हमारे मत में औत्पत्तिक का अर्थ होता है नित्य। निस्सन्देह लक्षणा से उत्पत्ति का अर्थ है भाव। शब्द और अर्थ का भाव अर्थात् सम्बन्ध वियोगरहित ( नित्य ) होता है; उत्पन्न होने के बाद सम्बन्ध नहीं होता।' औत्पत्तिक शब्द किस प्रकार नित्य का वाचक होता है इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने लोचन में इस प्रकार की है कि भाव या द्रव्य के छः विकार होते हैं—'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति, अर्थात् कोई द्रव्य उत्पन्न होता है, सत्ता में आता है, बढ़ता है विपरिणाम को प्राप्त होता है, क्षीण होता है और नष्ट हो जाता है। यहाँ पर उत्पत्ति के तत्काल बाद सत्ता आती है अतः समीप होने के कारण जन्म के बाद का दूसरा भाव विकार सत्ता ही गृहीत होती है और उसका अर्थ हो जाता है कि शब्द का अर्थ से सम्बन्ध सत्तामात्र में ही रहता है उसके अन्दर और विकार उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उत्पत्ति के बाद सत्ता ही आती है। किन्तु इस व्याख्या में एक आपत्ति यह है कि यहाँ सत्तामात्र ही उपलब्ध होती है, उससे यह मान लेना कि उनकी सत्ता सदा बनी ही रहती

## तारावती

है कुछ अधिक संगत प्रतीत नहीं होता, यह कोरी कल्पना ही है। अतः (लोचनकार ने दूसरी व्याख्या यह दी है कि) अथवा उत्पत्ति में विपरीत लक्षणा कर ली जाती है और उससे यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की उत्पत्ति ही नहीं होती, वह नित्य है। (किन्तु इस व्याख्या में भी एक कष्टकल्पना है, अतः तीसरी व्याख्या दी गई है कि) अथवा औत्पत्तिक शब्द का रूढ़ अर्थ ही है नित्य (क्योंकि जैमिनि ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है और भाष्यो ने इसी रूप में इसकी व्याख्या भी की है)। आशय यह है कि जैमिनि के मत में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है। अब वाक्य को लीजिये। वाक्य में शब्द उसी प्रकार जोड़े जाते हैं जिस प्रकार माली पुष्पों को माला में गूँथता है। वह पुष्पों को बनाता नहीं अपितु उनको लेकर केवल संयोजना कर देता है। यही दशा वाक्यगत शब्दों की भी है। वाक्य का प्रयोक्ता शब्दों को बनाता नहीं अपितु बने बनाये शब्दों की योजना वाक्य में कर देता है। वाक्य दो प्रकार के होते हैं—अपौरुषेय और पौरुषेय। अपौरुषेय वाक्य पुरुष के बनाये नहीं होते किन्तु पौरुषेय वाक्य पुरुष के बनाये होते हैं। अपौरुषेय वाक्य वैदिक वाक्य होते हैं और स्वतः प्रमाण माने जाते हैं। जिन वाक्यों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये उन वाक्यों के ज्ञान की ग्राहक सामग्री ही पर्याप्त हो उन्हें स्वतः प्रमाण कहते हैं और जिन वाक्यों को प्रमाणित सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता पड़े उन्हें परतः प्रमाण कहते हैं। आशय यह है कि मीमांसकों के मत से वेदवाक्य पुरुषनिर्मित न होने के कारण स्वयं ही प्रामाणिक होने हैं, किन्तु लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित होने के कारण तभी प्रामाणिक माने जा सकते हैं जब उनमें कोई अन्य प्रमाण विद्यमान हो। अब प्रश्न यह उठता है कि वाक्यों में यह भेद कैसा? जब शब्द भी नित्य होते हैं, उनके अर्थ भी नित्य होते है और शब्द तथा अर्थ का परस्पर सम्बन्ध भी नित्य ही होता है तब उनकी संयोजना से जो अर्थ आयेगा वह भी नित्य तथा सर्वथा सत्य ही होगा उसमें यह विभेद कैसे सिद्ध हो सकता है कि कुछ वाक्य तो स्वतः प्रमाण कुछ परतः प्रमाण। जब शब्दों का अर्थ सत्य तथा एकरूप, नियत नित्य है तब उनकी अप्रामाणिकता का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। फिर उन वाक्यों की प्रामाणिकता में भेद कैसे सिद्ध हो सकता है। चाहे वे वाक्य पुरुष निर्मित हों चाहे सर्वथा अनिर्मित हों। यदि वहाँ पर शब्द जुड़े हुये हैं तो उनका कभी सन्देह का विषय हो ही नहीं सकता। अतः मीमांसकों के मत से पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में विशेषता सिद्ध करने के लिये व्यंजनाव्यापार मानना

ध्वन्यालोकः

दृश्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वभावानामपि सामग्रयन्तर सम्पातसम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम्। तथा हि—हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेव प्रियाविरहदहनदह्यमानमानसैर्जनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव। तस्मात् पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किञ्चिद्रूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम्। तच्च व्यञ्जकत्वादृते नान्यत्। व्यङ्ग्यप्रकाशनं हि व्यञ्जकत्वम्। पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति। स च व्यङ्ग्य एव नत्वभिधेयः, तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात्।

(अनु०) निस्सन्देह ऐसे भावों का विरुद्ध क्रिया करना देखा जाता है जिन्होंने अपने स्वभाव को न छोड़ा हो और दूसरी सामग्री के आ पड़ने से जिसमें दूसरे औपाधिक व्यापारों का सम्पादन हो गया हो। वह इस प्रकार—समस्त जीवलोक को शान्ति प्रदान करनेवाली शीतलता को धारण करते हुये भी प्रियतमा की वियोगाग्नि से जलते हुये मनवाले लोकों के द्वारा देखे जाने पर चन्द्रकिरण इत्यादि की सन्तापकारिता प्रसिद्ध ही है। अतएव पौरुषेय वाक्यों के नैसर्गिक अर्थ सम्बन्ध के होते हुये भी मिथ्यार्थत्व का समर्थन करने की इच्छा करनेवाले व्यक्ति के द्वारा वाचकत्व से व्यतिरिक्त किसी रूपवाले औपाधिक धर्म का स्पष्ट ही अभिधान करना चाहिये। और वह व्यञ्जकत्व से भिन्न और कुछ नहीं होता। व्यङ्ग्य का प्रकाशन ही व्यञ्जकत्व होता है। और पौरुषेय वाक्य प्रधानतया पुरुष के अभिप्राय को ही प्रकाशित करते हैं। वह व्यङ्ग्य ही हो सकता है अभिधेय नहीं। क्योंकि उसके साथ शब्द का वाच्यवाचकभाव रूप सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

तारावती

अनिवार्य हो जाता है। व्यंजनाव्यापार के मान लेने पर पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों का विभेद सिद्ध हो जाता है कारण यह है कि पौरुषेय वाक्य पुरुष की इच्छा का अनुविधान करते हैं। पुरुष के अपने दोष होते हैं। पुरुषों में भ्रम, प्रमाद इत्यादि दोष होते हैं, उनमें दूसरों को छलने की कामना होती है। ये सब पुरुष के दोष होते है। पुरुष के कहे हुये वाक्यों में ये सब दोष औपाधिक रूप में सन्निविष्ट हो जाते हैं और उन वाक्यों पर दूसरे व्यापारों का आरोप कर दिया जाता है जो कि वाच्यवाचकभाव व्यापार से भिन्न होता है। अन्य व्यापारों के आरोप कर देने के कारण ही पुरुषके वाक्यों में अप्रामाणिकता आ जाती है। जो वाक्य पुरुषनिर्मित नहीं होते उनमें पुरुष के दोषों का भी आरोप नहीं होता। उनमें

## लोचन

ननुधर्मान्तराभ्युपगमेऽपि कथं मिथ्यार्थता, नहि प्रकाशकत्वलक्षणं स्वधर्मं जहाति शब्द इत्याशङ्क्याह–दृश्यत इति। प्राधान्येनेति । यदाह–'एवमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययः नत्वेवमयमर्थः' इति । तथा प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते, न तु शाब्दोऽन्वय-इत्यनेन पुरुषाभिप्रायानुप्रवेशादेवाङ्गुल्यग्रवाक्यादौ मिथ्यार्थत्वमुक्तम् । तेन सह इति । अनियततया नैसर्गिकत्वाभावादितिभावः ।

( प्रश्न ) धर्मान्तर के प्राप्त होने पर भी मिथ्यार्थता कैसे होगी ? प्रकाशकत्व रूप अपने धर्म को तो शब्द छोड़ता ही नहीं । यह शङ्का करके कहते हैं—'देखा जाता है' यह । 'प्राधान्य के द्वारा' यह । जैसा कि कहा गया है—'यह सम्प्रत्यय होता है कि यह पुरुष ऐसा जानता है, यह सम्प्रत्यय तो नहीं होता कि यह ऐसा अर्थ है ।' उस प्रकार से प्रमाणान्तर दर्शन ( प्रत्यक्ष इत्यादि ज्ञान ) का बाध हो जाता है, शाब्दिक अन्वय का बोध नहीं होता । इसके द्वारा पुरुष के अभिप्राय के अन्तः प्रवेश से ही 'अङ्गुली के अग्रभाग मे ( सौ कवि हैं )' इत्यादि वाक्यों का मिथ्यार्थत्व कहा गया है । 'उसके साथ' यह । भाव यह है कि अनिश्चित होने के कारण स्वाभाविक न होने से ।

## तारावती

शब्द और अर्थ तथा उनके सम्बन्ध में रहनेवाला सत्य ही प्रयोजनीय होता है । इस प्रकार औपाधिक धर्मों को अभिव्यक्त करने के लिये व्यंजनावृत्ति के मानने पर ही पौरुषेय वाक्य अप्रामाणिक और अपौरुषेय वाक्य प्रमाणिक सिद्ध होते हैं और उनका विभेद व्यंजनावृत्ति के मानने पर ही सङ्गत होता है । यदि व्यंजनावृत्ति नहीं मानी जायगी तो पौरुषेय वाक्यों में पुरुष-दोषों का अनुप्रवेश भी नहीं हो सकेगा और उनके आधीन होनेवाला अप्रामाण्य भी पौरुषेय वाक्यों में सिद्ध न हो सकेगा । यदि कहो कि वक्ता के दोषों का आरोप न सही सुननेवाले ( प्रतिपत्ता ) के दोषों का आरोप हो जायगा और यह मान लिया जायगा कि प्रतिपत्ता की प्रतिपत्ति ही सदोष है जिससे लौकिक वाक्य अप्रामाणिक हो जाता है तो इससे भी निस्तार न हो सकेगा। क्योंकि वह तो प्रतिपत्ता का दोष रहा, उसमें वाक्य का क्या अपराध जो उसे अप्रामाणिक माना जाय । दूसरी बात यह है कि प्रतिपत्ता का दोष तो अपौरुषेय वैदिक वाक्यों में भी सम्भव है, फिर जिस आधार पर पौरुषेय वाक्यों को अप्रामाणिक माना जाता है उसी आधार पर अपौरुषेय वाक्यों को क्यों अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता । अतः व्यंजना के मानने पर ही यह विभेद सम्भव है कि पौरुषेय वाक्य परतः प्रमाण होते हैं और अपौरुषेय वाक्य स्वतः प्रमाण होते हैं ।

## तारावती

( प्रश्न ) एक धर्म में दूसरे धर्म का समावेश तभी सम्भव है जब कि पहले धर्म का सर्वथा तिरोधान हो जाय। जैसे उष्णत्व का तिरोधान हुये बिना शीतत्व का आरोप हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध में जो प्रामाणिकता का धर्म है वह जब तक समाप्त नहीं हो जाता तब तक पुरुष दोष के आरोप से मिथ्यार्थता कभी आ ही नहीं सकती। कारण यह है कि शब्द अपने वाच्यार्थ को प्रकाशित करने के धर्म का परित्याग तो कर ही नहीं देता। ऐसी दशा में व्यञ्जना के मान लेनेपर भी और धर्मान्तर की स्वीकृति में भी न तो पौरुषेय वाक्यों की मिथ्यार्थता ही सिद्ध हो सकती है और न पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्यों की विशेषता ही। फिर आपका व्यंजना व्यापार किस प्रकार उपयोगी हो सकता है। ( उत्तर ) प्रायः देखा जाता है कि जब भावों ( पदार्थों ) में दूसरी सामग्री आ पड़ती है और उससे उनमें दूसरे औपाधिक ( नैमित्तिक ) व्यापार का सम्पादन हो जाता है तब वे अपने स्वाभाविक धर्म को न छोड़ते हुये भी विरुद्ध क्रिया करने लगते हैं। उदाहरण के लिये चन्द्र की शीतल मयूखों को लीजिये। शीतलता उनका स्वाभाविक धर्म है और वे अपनी शीतलता के द्वारा समस्त जीवलोक के उष्णिमाजन्य सन्ताप को शान्तकर परा शान्ति प्रदान करती हैं। किन्तु जब ऐसे व्यक्ति उनको देखते हैं जिनके अन्तःकरण अपनी प्रियतमाओं की वियोगाग्नि से उद्भूत सन्ताप से जल रहे होते हैं तब वे ही चन्द्र की शीतल मयूखें उन व्यक्तियों को सन्ताप देनेवाली हो जाती हैं, इसमें किसी को आपत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि यह बात तो प्रसिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि विपरीत तथा विभिन्न क्रिया के लिये यह आवश्यक नहीं है कि पदार्थ अपने स्वाभाविक-धर्म को छोड़ दें। इसी प्रकार शब्द और अर्थ भी अपने नैसर्गिक सत्य तथा नित्य सम्बन्ध का परित्याग न करते हुये भी विरुद्ध क्रिया कर सकते हैं। अतएव पौरुषेय वाक्यों में यद्यपि अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध होता है और बना भी रहता है तथापि पुरुष-दोषों के प्रतिफलन से उनमें मिथ्यार्थकता आजाती है। उस मिथ्यार्थकता का समर्थन करने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि उनमें किसी प्रकार का औपाधिक धर्म आरोपित किया जाय। यह आरोपित धर्म व्यञ्जकत्व के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। क्योंकि व्यंजकत्व का अर्थ होता है व्यङ्ग्यार्थ को प्रकाशित करना। पौरुषेय वाक्यों से भी पुरुष का अभिप्राय ही प्रधानतया प्रकाशित होता है। शाबर भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि जब कभी हम किसी पौरुषेय ( लौकिक ) वाक्य को सुनते हैं तब हमें केवल इतना ही विश्वास होता है कि यह पुरुष जो कुछ

ध्वन्यालोकः

नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः। सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्जकत्वात्। सत्यमेतत्; किन्तु वक्त्रभिप्रायप्रकाशनेन यद् व्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टम्। तत्तु वाचकत्वान्न भिद्यते व्यङ्ग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यवस्थितम्। नतु विवक्षितत्वेन। यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिः तद्व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्।

(अनु०) (प्रश्न) इस न्याय से तो सभी लौकिक वाक्यों का ध्वनिव्यवहार प्रसक्त हो जायगा क्योंकि इसके द्वारा तो सभी व्यञ्जक हो जाते हैं। (उत्तर) यह सच है; किन्तु वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन के द्वारा जो व्यञ्जकत्व है वह सभी लैकिक वाक्यों में अविशिष्ट होता है; वह वाचकत्व से भिन्न नहीं होता; क्योंकि व्यञ्जकत्व वहाँ पर अनिवार्य आवश्यकता के रूप में व्यवस्थित होता है; वह वहाँ वक्ता के कथनोद्देश्य के रूप में अभीष्ट नहीं होता। वह व्यञ्जकत्व ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक होता है जिसमें व्यंग्य की स्थिति विवक्षितरूप में होती है।

तारावती

कह रहा है वह उसको उसी रूप में जानता है। हमें किसी भी पौरुषेय वाक्य को सुनकर यह विश्वास नहीं होजाता कि अमुक व्यक्ति ने जो कुछ कहा है वह वैसा ही है। आशय यह है कि वैदिक वाक्यों का अर्थ तो सर्वथा विश्वसनीय होता है किन्तु लौकिक वाक्यों में अर्थ विश्वसनीय नहीं होता किन्तु उससे इतनी ही प्रतीति होती है कि जो कुछ कहा गया है वह वक्ता का अपना दृष्टिकोण है या वक्ता के ज्ञान की वही सीमा है। उसमें प्रायः ऐसा हो जाता है कि जो कुछ उसने कहा है उसका प्रत्यक्ष दर्शन बाधित हो जाता है। अर्थात् जब हम उसके कथन की सत्यता प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं तब उसका प्रमाणप्रतिपन्न होना बाधित हो जाता है। किन्तु यह बाधा उसी में उत्पन्न होती है जोकि पुरुष का विचार समझा जाता है, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तो निर्भ्रान्त रहता है उसमें शब्द का अन्वय भी बाधित नहीं होता। इस कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि 'अङ्गुली के अग्र भाग में १०० कवि हैं।' इसमें अर्थ केवल इसी दृष्टि से मिथ्या हो जाता है कि उसमें पुरुष का अभिप्राय सन्निविष्ट हो गया है। अन्यथा शब्द और अर्थ का अपना स्वाभाविक सम्बन्ध तो सर्वथा अनुपहत ही रहता है। पुरुष का अभिप्राय तो व्यङ्ग्य ही होता है, वह कभी वाच्य नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष के अभिप्राय के साथ शब्द का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है ही नहीं। उसमें न तो सङ्केत ग्रहण होता है, न वह नियत होता है और न उस अर्थ में स्वाभाविकता ही होती है।

## लोचन

नान्तरीयकतयेति। गामानयेतिश्रुतेऽप्यभिप्राये व्यक्ते तदभिप्रायविशिष्टोऽर्थ एवमभिप्रेतानयनादिक्रियायोग्यो न त्वभिप्रायमात्रेण किञ्चित्कृत्यमितिभावः। विवक्षितत्वेनेति। प्राधान्येनेत्यर्थः। यस्य त्विति। ध्वन्युदाहरणेष्वितिभावः। काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपि तु प्रतीतिविश्रान्तिकारिणी, सा चाभिप्रायनिष्ठैव नाभिप्रेतवस्तु पर्यवसाना।

'नान्तरीयक रूप में' यह। भाव यह है कि 'गाय लाओ' यह सुने जाने पर अभिप्राय के व्यक्त होने पर भी उस अभिप्राय से विशिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत के आनयन इत्यादि की क्रिया के योग्य होता है; केवल अभिप्राय से कोई कार्य नहीं होता। 'विवक्षितत्व के रूप में' अर्थात् प्राधान्य के रूप में। 'जिसका तो' भाव यह है कि ध्वनि के उदाहरणों में। काव्य वाक्यों से निस्सन्देह ले आने-ले जाने की उपयोगिनी प्रतीति की अभ्यर्थना नहीं की जाती किन्तु प्रतीति को विश्रान्ति देनेवाली प्रतीति ही चाही जाती है और वह अभिप्राय मे रहनेवाली ही होती है; अभिप्रेत वस्तु में पर्यवसित होनेवाली नहीं होती।

## तारावती

(प्रश्न) यदि आप इस न्याय का समर्थन करेंगे कि पुरुष का अभिप्राय व्यङ्ग्य ही होता है तब तो सभी लौकिक वाक्य ध्वनि के क्षेत्र मे आ जायेंगे क्योंकि इस न्याय से तो सभी वाक्य व्यंजक हो जायेंगे। (उत्तर) यह हम मानते हैं कि सभी वाक्य वाच्य के अतिरिक्त वक्ता के अभिप्राय की भी व्यंजना करते हैं और व्यंजना ही ध्वनि की प्रयोजिका होती है। तथापि यह दोष नहीं आता कि सभी वाक्य ध्वनि की सीमा में सन्निविष्ट हो जायेंगे। कारण यह है कि वक्ता के अभिप्राय को प्रकाशित करनेवाली व्यजना तो सभी वाक्यों में एक जैसी ही होगी। अतः इस व्यङ्ग्य की सत्ता भी बिल्कुल वाच्यार्थ की सत्ता के समान ही होगी; इन दोनों में कोई भेद नहीं होगा। वहाँ पर वक्ता के अभिप्राय की व्यंजना केवल इसीलिये होती है कि वाक्यार्थबोध के लिये उसका मानना अपरिहार्य है। शब्दों से सङ्केतलभ्य वाच्यार्थ का बोध होता है और लौकिक वाक्य से वक्ता के तात्पर्य का बोध होता है। यदि वहाँ पर व्यंजना नहीं मानी जायगी तो वाक्यार्थपूर्ति ही न हो सकेगी। अतः वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ का प्रवेश अनिवार्य होने के कारण ही होता है। किन्तु इस प्रकार की व्यंजना ध्वनित्व की प्रयोजिका नहीं होती। ध्वनि वहीं पर हो सकती है जहाँ पर व्यङ्ग्य विशेष रूप से वक्ता का विवक्षित हो। आशय यह है कि केवल व्यङ्ग्य होने से ही कोई वस्तु ध्वनि नहीं हो जाती। ध्वनि तभी होती है जब व्यंग्यार्थ प्रधान हो। यद्यपि तात्पर्य तथा तद्विषयक अर्थ व्यङ्ग्य होता है तथापि वह उसमे विच्छित्तिविशेष का आधान नहीं करता, अतः वह ध्वनि नहीं

तारावती

हो सकता। इसको इस प्रकार समझिये, किसी ने 'गाय लाओ' यह ऐसी भङ्गिमा से कहा कि उसका कोई विशेष अभिप्राय भी व्यक्त हो गया कि 'शाम हो गई है' गाय लाकर बाँध लो; कहीं गुम न हो जाय' 'बच्चों को दूध की आवश्यकता है, गाय लाकर दूध दुह लो' इत्यादि। सुननेवाले ने इस वाक्य को सुना भी और उस पर उसने वक्ता का अभिप्राय भी समझ लिया कि अमुक व्यक्ति अमुक मन्तव्य से गाय लाने को कह रहा है। किन्तु इस वाक्य में अभिप्रेत है ले आने की क्रिया। वह क्रिया उस द्रव्यगत ही हो सकती है जिसके विषय मे कोई अभिप्राय व्यक्त किया गया है। आशय यह है कि आनयन क्रिया के योग्य गाय ही होगी यद्यपि उस गाय मे वक्ता का विशेष प्रयोजन सन्निहित रहेगा। केवल अभिप्राय वहाँ पर कुछ भी न कर सकेगा। अतएव वहाँ पर वक्ता का विवक्षित अर्थ उसका अभिप्राय नहीं है अपितु वाच्यार्थ ही उसे अभिप्रेत है। इस प्रकार व्यङ्ग्य अभिप्राय केवल वाच्य का साधक होता है स्वयं प्रधान नहीं होता। यही कारण है कि लौकिक वाक्य मे व्यङ्ग्य होते हुये भी उसे प्रधानता प्राप्त नहीं होती। इसके प्रतिकूल ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक वह व्यग्य होता है जिसमे व्यंग्य वक्ता के अभीष्ट के रूप में स्थित होता है और वाच्य की अपेक्षा प्रधान हो जाता है। यह बात ध्वनि के उदाहरणों में पाई जाती है। काव्यवाक्यों मे वक्ता का यह अभीष्ट नहीं होता कि जैसे लौकिक वाक्यों मे गाय के ले आने-ले जाने इत्यादि क्रिया मे अर्थ की परिसमाप्ति होती है उसी प्रकार किसी विशेष क्रिया में अर्थ की परिसमाप्ति हो। अर्थात् वहाँ पर कवि को यह अभीष्ट नहीं होता कि काव्यवाक्यों में जो कुछ कहा जा रहा है परिशीलक उसी के अनुसार कार्य करने लगे। वहाँ तो कवि को केवल यही अभीष्ट होता है कि परिशीलक की वाच्यार्थविषयक प्रतीति ही समाप्त हो जाय और उसकी अन्तरात्मा सर्वथा कवि के प्रतिपाद्य भाव से सर्वथा एकाकार हो जाय। कविता की सफल परिणति इसी में है कि कवि पाठकों के अन्तः करणों को भावनामय बना दे तथा जो कुछ वह कह रहा है वह सब पाठकों की मनोवृत्ति से सर्वथा तिरोहित हो जाय। इस प्रकार भावनामय परिणति वस्तुतः कवि का अभिप्राय ही है। लौकिक वाक्यों के समान अभिप्रेत वस्तु में उसका पर्यवसान नहीं होता। साराश यह है कि लौकिक वाक्यों मे व्यंग्यार्थ वाच्य का पूरक होता है और वक्ता को वाच्य ही अभिप्रेत होता है; अतः हम उसे ध्वनि की संज्ञा प्रदान नहीं कर सकते। इसके प्रतिकूल काव्यवाक्यों में वाच्यवस्तु का तिरोधान ही कवि को अभीष्ट होता है तथा भावनामय परिणतिरूप अभिप्राय ही वहाँ पर मुख्य होता है। इसीलिये हम उसे ध्वनि की संज्ञा प्रदान करते है।

ध्वन्यालोकः

यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्यं शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्। किन्तु तदेव केवलमपरिमितविषयस्य ध्वनिव्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात्। तथा दर्शितभेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वमेव ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे ध्वनिलक्षणे नातिव्याप्तिर्नचाव्याप्तिः। तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावद् व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते।

(अनु०) अभिप्राय विशेषरूप जो व्यंग्य तात्पर्य के रूप में प्रकाशित होता हुआ शब्द और अर्थ के द्वारा प्रकाशित होता है वह विवक्षित हुआ करता है। किन्तु केवल वही अपरिमित विषयवाले ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक नहीं होता है क्योंकि वह (ध्वनि की अपेक्षा) अव्यापक होता है। उस प्रकार से दिखलाये हुये तीन भेदोंवाला तात्पर्य के द्वारा द्योतित किया जानेवाला अभिप्रायरूप और अनभिप्रायरूप सभी प्रकार का ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक होता है। इस प्रकार जैसा बतलाया गया है उस प्रकार के व्यञ्जकत्वविशेषवाले ध्वनिलक्षण में न तो अतिव्याप्ति है और न अव्याप्ति है। इससे वाक्यतत्त्वज्ञों के मत से तो व्यञ्जकत्व नामवाले शब्द का व्यापार विरोधी नहीं है प्रत्युत अनुगुण ही लक्षित होता है।

लोचन

नन्वेवमभिप्रायस्यैव व्यङ्ग्यत्वात्त्रिविधं व्यङ्ग्यमिति यदुक्तं तत्कथमित्याह—यत्त्विति।

(प्रश्न) इसप्रकार अभिप्राय के ही व्यंग्यत्व के कारण जो कहा है कि तीन प्रकार का व्यंग्य होता है वह कैसे? यह कहते हैं—'जो तो' यह।

तारावती

(प्रश्न) जो कुछ आपने ऊपर कहा है उससे तो यही सिद्ध होता है कि केवल अभिप्राय ही व्यंग्य होता है। किन्तु इसके पहले आप व्यंग्य के तीन भेद कर चुके हैं रस, वस्तु और अलङ्कार। अतः इस कथन के प्रकाश में उक्त भेदों की सङ्गति कैसे बैठेगी? (उत्तर) जहाँ कहीं व्यङ्ग्य हो वहाँ सर्वत्र ध्वनि होती है यह नियम नहीं है। नियम यह है कि जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बना देते हैं और व्यंजना के द्वारा जिस विशेष अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हैं यदि उस अभिप्राय में विशेष रूप से चमत्कार के आधान की क्षमता हो तो वह विशेष अभिप्राय ही ध्वनि का रूप धारण करता है। कारण यह है कि काव्य का उद्देश्य ही है विशेष चमत्कार को उत्पन्न करनेवाली अभिप्रायरूप प्रतीति की उद्भावना करना। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि केवल शब्द और अर्थ से ही जहाँ चमत्कारपूर्ण अभिप्राय

ध्वन्यालोकः

परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।

(अनु०) जिन्होंने अविद्या-संस्कार रहित शब्दब्रह्म का पूर्णरूप से निश्चय कर लिया है उन विद्वानों ( वैय्याकरणों ) के मत का आश्रय लेकर ही यह ध्वनि व्यवहार प्रवृत्त हुआ है; अतः उनके साथ विरोध और अविरोध पर क्या विचार किया जाय ।

तारावती

की अभिव्यक्ति होती है उसे ही ध्वनिसंज्ञा प्राप्त होती है । चेष्टा इत्यादि से भी व्यंजना होती है; किन्तु उस व्यंजना को ध्वनि की पदवी प्राप्त नहीं होती अपितु वह गुणीभूत व्यङ्ग्य के अन्तर्गत ही आता है । इसी बात को प्रकट करने के लिये वृत्तिकार ने 'शब्दार्थाभ्याम्' शब्द का प्रयोग किया है। ( दीधितिकार ने वहाँ 'एव' और जोड़ दिया है—शब्दार्थाभ्यामेव ) यहाँ पर ध्वनि की जो परिभाषा की गई है वह वस्तुतः प्रथम उद्योत की ध्वनि-परिभाषा का अनुवाद मात्र है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

किन्तु ध्वनिव्यवहार अपरिमित होता है । अतः केवल उस चमत्कारपूर्ण अभिप्राय को ध्वनि कहें ऐसा नहीं होता । अभिप्राय ध्वनि के समस्त भेदों में व्यापक नहीं हो सकता और न ध्वनि के समान अभिप्राय का क्षेत्र ही व्यापक है । अतः केवल अभिप्राय को ध्वनि नहीं कह सकते । पहले ध्वनि के तीन भेद दिखलाये जा चुके हैं; जब उन तीनों भेदों की अभिव्यञ्जना कवि के तात्पर्य के रूप में होती है ( और उसमें चमत्कार आधान की शक्ति आ जाती है ) तब उसे ध्वनि कहने लगते हैं और फिर चाहे अभिप्रायरूप हो जैसे रसध्वनि या अभिप्राय से भिन्न रूपवाला हो जैसे वस्तु और अलंकार ध्वनि । जब हम ध्वनि का इतना क्षेत्र मान लेते हैं और जैसी व्यञ्जकता बतलाई गई है वैसी व्यंजकता को ध्वनि का प्रयोजक मानते हैं तब न तो कहीं अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति । ( यदि सभी प्रकार के अभिप्रायों को ध्वनि की संज्ञा दे दी जाय तो लौकिक वाक्यों में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि उनमें भी वक्ता का अभिप्राय सन्निहित रहता है । इसी प्रकार उन स्थलों में अव्याप्ति होगी जहाँ कवि का अभिप्राय तो पाठकों को चमत्कृत करना और रसमय बनाना है; किन्तु रचना के द्वारा वस्तु तथा अलङ्कार अभिव्यक्त होकर ध्वनि का रूप धारण कर लेते हैं । ध्वनि का उक्त स्वरूप मान लेने से न कहीं अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति । ) ऊपर जो कुछ कहा गया है

## लोचन

एवं मीमांसकानां नात्र विमतिर्युक्तेति प्रदर्श्य वैय्याकरणानां नैवात्र सास्तीति दर्शयति—परिनिश्चितेति। परितः निश्चितं प्रमाणेन स्थापितं निरपभ्रंशं गलितभेद-प्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररहितं शब्दाख्यं प्रकाशपरामर्शस्वभावं ब्रह्म व्याप्तकत्वेन बृहद्विशेषशक्तिनिभरतया च बृंहितं विश्वनिर्माणशक्तीश्वरत्वाच्च बृंहणम् यैरिति। एतदुक्तं भवति—वैय्याकरणास्तावद् ब्रह्मपदेनान्यत्किञ्चिदिच्छन्ति तत्र का कथा वाचकत्व-व्यञ्जकत्वयोः अविद्यापदे तु तैरपि व्यापारान्तरमभ्युपगतमेव। एतच्च प्रथमोद्योते वितत्य निरूपितम्।

इसप्रकार मीमासकों की असहमति यहाँ पर उचित नहीं है यह दिखलाकर वैय्याकरणों की यहाँ पर वह (असहमति) है ही नहीं यह दिखलाते हैं—'परि निश्चित' यह। चारों ओर से निश्चित किया गया है अर्थात् प्रमाणों से स्थापित किया गया है गलित भेदप्रपञ्चवाला अर्थात् अविद्या संस्कार से रहित प्रकाश परा-मर्श के स्वभाववाला ब्रह्म जिनके द्वारा। ब्रह्म अर्थात् व्यापक होने से बृहत् और विशेषों (व्यष्टियों) की शक्तियों से परिपूर्ण होने के कारण बृंहित तथा विश्वनिर्माण की शक्तियों के कारण ईश्वर होने से बृंहित अथवा विश्वनिर्माणशक्ति (माया) के ईश्वर होने के कारण बृंहित। यहाँ पर यह कहा गया है—वैय्याकरण लोग तो ब्रह्म दशा मे और कुछ नहीं चाहते तब वाचकत्व और व्यञ्जकत्व की बात ही क्या? अविद्या दशा मे तो उनके द्वारा भी दूसरा व्यापार स्वीकार ही किया गया है। यह सब विस्तारपूर्वक प्रथम उद्योत में निरूपित किया जा चुका है।

## तारावती

उससे सिद्ध होता है कि वाक्यतत्त्ववेत्ता मीमांसकों के मत में शब्द का व्यंजकत्व-रूप व्यापार विरोधी नहीं है अपितु उनके सिद्धान्तों से मेल ही खाता है।

मीमांसकों को तो व्यंजनावृत्ति के स्वीकार करने में वैमत्य हो भी सकता है यद्यपि उनके वैमत्य का अवसर नहीं है किन्तु वैय्याकरणों को तो इस सिद्धान्त से वैमत्य है ही नहीं। कारण यह है कि उन्हीं विद्वानों के मत का अनुसरण करके ही तो हमने अपने इस ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है, फिर उनका वैमत्य हो ही किस प्रकार सकता है? वैय्याकरणों ने पूर्णरूप से प्रमाणों के आधार पर शब्द-ब्रह्म की स्थापना की है। इस शब्दब्रह्म में समस्त भेदप्रपञ्च समाप्त हो जाता है और सारा अविद्या का संस्कार जाता रहता है। (वैय्याकरणों का मत अद्वैत वेदान्तियों के मत से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जिस प्रकार वेदान्ती सासारिक भेदप्रपञ्च घट पट इत्यादि को मिथ्या मानते हैं और एक अखण्ड ब्रह्म की सत्ता को ही सत्य कहते हैं, उसी प्रकार अनेक वर्णों से निष्पन्न शब्दों को वैय्याकरण भी असत्य ही मानते हैं, उनके मत में भी अखण्ड शब्द ब्रह्म (स्फोट) ही सत्य है। यह सारा भेदप्रपञ्च अविद्या

## ध्वन्यालोकः

कृत्रिमशब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दानामर्थान्तराणामिवाविरोधश्चेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति।

(अनु० कृत्रिम शब्दार्थ सम्बन्ध को माननेवाले तार्किकों का तो यह व्यञ्जकभाव अनुभव सिद्ध ही है और दूसरे पदार्थों के समान शब्दों का भी विरोध नहीं है अतः निराकरण की पदवी पर आरूढ़ नहीं होता ।

## तारावती

के संस्कारों से प्रादुर्भूत हुआ है। यह शब्दब्रह्म स्वप्रकाशज्ञान स्वरूप है। जिस प्रकार वेदान्तियों का ब्रह्म स्वप्रकाशानन्द चिन्मय होता है । ब्रह्म का अर्थ है व्यापक होने के कारण वृहत् ( वेदान्तियों का ब्रह्म समस्त वस्तुओं में व्यापक होता है और वैय्याकरणों का स्फोट समस्त वर्णों और शब्दों मे व्यापक होता है ।) अथवा विशेष या व्यष्टिरूप पदार्थों की शक्तियों से परिपूर्ण होने के कारण वह उनसे बढ़ाया हुआ होता है । ( वेदान्तियों का ब्रह्म जगत् के घट पट इत्यादि पदार्थों की शक्ति से बृंहित होता है और वैय्याकरणों का स्फोट पद-पदार्थों की मिलित शक्ति से बृंहित होता है।) अथवा विश्व की निर्माणकारिणी शक्तियों के कारण ईश्वर होता है। ( ब्रह्म संसार की रचना करता है और शब्दब्रह्म से वाङ्मय जगत् का निर्माण होता है। ) अथवा विश्व को निर्माण करनेवाली मायारूपिणी शक्ति पर वह ईश्वर होता है । ( ब्रह्म माया का ईश्वर होता है और शब्दब्रह्म वाङ्मय की रचना करनेवाली वैखरी वाणी का ईश्वर होता है । ) यहाँ कहने का आशय यह है कि वैय्याकरण जब शब्द को ही ब्रह्म मानते है और ब्रह्मज्ञान की दशा में और किसी की सत्ता मानते ही नहीं ( जिहि जाने जग जाइ हेराई ) तब वाचकत्व और व्यञ्जकत्व का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता । जब ब्रह्मज्ञान की दशा में कोई पदार्थ विद्यमान ही नहीं रहता तब वाचकत्व और व्यञ्जकत्व भी नहीं रह जाते यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं। हाँ अविद्या दशा में वे अन्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं । उस दशा में वे अभिधा से भिन्न व्यञ्जना नामक दूसरा व्यापार मानते ही हैं। ( वायुसंयोग स्फोट का व्यंजक होता है जिसको वैय्याकरण लोग ध्वनि कहते हैं । उन्हीं का अनुकरण कर साहित्यज्ञों ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है, अतः वैय्याकरणों से विरोध-अविरोध का प्रश्न ही नहीं उठता । ) वैय्याकरणों के सिद्धान्त का आधार लेकर किस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है इसकी विस्तृत व्याख्या प्रथम उद्योत मे की जा चुकी है । वहीं देखनी चाहिये ।

ऊपर यह दिखलाया जा चुका कि यह ध्वनि-सिद्धान्त मीमांसकों के मत मे भी अनिवार्य है जो वाक्य-तत्त्व पर विशेष विचार करते हैं और वैय्याकरणों के मत

## लोचन

एवं वाक्यविदां पदविदां चाविमतिविषयत्वं प्रदर्श्य प्रमाणतत्त्वविदां तार्किकाणामपि न युक्तात्र विमतिरिति दर्शयितुमाह—कृत्रिमेति। कृत्रिमः सङ्केतमात्रस्वभावः परिकल्पितः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति ये वदन्ति नैय्यायिकसौगतादयः। यथोक्तम्—'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्ये'ति। तथा शब्दा सङ्केतितं प्राहुरिति। अर्थान्तराणामिति। दीपादीनाम्। नन्वनुभवेन द्विचन्द्राद्यपि सिद्धं तच्च विमतिपदमित्याशङ्क्याह—अविरोधश्चेति। अविद्यमानो विरोधो निरोधो बाधकात्मको द्वितीयेन ज्ञानेन यस्य तेनानुभवसिद्धश्चाबाधितश्चेत्यर्थः। अनुभवसिद्धं न प्रतिक्षेप्यं यथा वाचकत्वम्।

इस प्रकार वाक्यज्ञों और पदज्ञों के अवैमत्य को दिखलाकर, प्रमाणतत्त्वज्ञ तार्किकों का वैमत्य भी यहाँ ठीक नहीं है, यह दिखलाने के लिये कहते हैं—'कृत्रिम' इत्यादि। जो लोग यह कहते है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृत्रिम है अर्थात् सङ्केतमात्र स्वभाववाला तथा पूर्णरूप से कल्पित है वे नैय्यायिक और सौगत (बौद्ध) इत्यादि। जैसा (न्याय सूत्र में) कहा गया है—कि (शब्द लिङ्गविद्या से अर्थबोधक होता है ऐसा) 'नहीं क्योंकि शब्द और अर्थ का प्रत्यय साङ्केतिक होता है।' इसीप्रकार (बौद्धोंने कहा है) 'शब्द सङ्केतित को कहते हैं।' 'दूसरे अर्थों (पदार्थों) का' यह। दीप इत्यादि का। (प्रश्न) अनुभव से तो दो चन्द्र इत्यादि का होना भी सिद्ध हो जाता है और वह तो विमति का स्थान हो जाता है। यह शङ्का करके कहते हैं—'और अविरोध' यह। नहीं विद्यमान है विरोध अर्थात् द्वितीय ज्ञान के द्वारा बाधकरूप प्रतिबन्ध जिसका। इससे यह अनुभवसिद्ध भी हो जाता है और अबाधित भी। अनुभवसिद्ध का प्रतिषेध नहीं हो सकता जैसे वाचकत्व का।

## तारावती

में भी इसका कोई विरोध नहीं जो पद-तत्त्व की व्याख्या को लक्ष्य बनाकर चलते है। अब यह दिखलाया जारहा है कि प्रमाण तत्त्व को लक्ष्य माननेवाले और उसी का विशेष विवेचन करनेवाले सिद्धान्तियों की दृष्टि से भी इस ध्वनि के विषय में मतभेद का अवसर नहीं है और न उन्हे विरोध ही होना चाहिये, प्रत्युत उनके मत से भी ध्वनि-सिद्धान्त अनिवार्य ही है। इस प्रकार के सिद्धान्ती हैं नैय्यायिक बौद्ध इत्यादि। ये लोग शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य नहीं अपितु कृत्रिम मानते हैं। इनका सिद्धान्त है कि 'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये' यह सङ्केत ही शक्ति है। (चाहे शब्दार्थ सङ्केत के विषय मे ईश्वरेच्छा को शक्ति कहा जाय या इच्छामात्र को शक्ति कहा जाय) उनके मत में यह सम्बन्ध परिकल्पित ही माना जाता है। न्यायसूत्रों में यह पूर्वपक्ष स्थापित किया गया है कि शब्द

ध्वन्यालोकः

वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वाभाविकं शब्दानामाहोस्वित्सामयिकमित्याद्याः। व्यञ्जकत्वे तु तत्पृष्ठभाविनि भावान्तरसाधारणे लोकप्रसिद्ध एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः। अलौकिके ह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः प्रवर्तन्ते न तु लौकिके। नहि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। नहि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयते?

(अनु०) वाचकत्व के विषय में तार्किकों की समस्त विप्रतिपत्तियाँ प्रवृत्त हों कि क्या यह शब्दों का स्वाभाविक (धर्म) है या साङ्केतिक इत्यादि। किन्तु उस (वाचकत्व) की पीठ पर होनेवाले दूसरे भावों (दीप इत्यादि पदार्थों) में साधारणरूप में मिलनेवाले लोक प्रसिद्ध व्यञ्जकत्व के अवलम्बन लेने में विमतियों का अवसर ही क्या है? अलौकिक पदार्थ मे तार्किकों की सभी विप्रतिपत्तियाँ प्रवृत्त होती हैं लौकिक पदार्थ में नहीं। नील, मधुर इत्यादि में समस्त लोक के इन्द्रियगोचर तथा बाधारहित तत्त्व के विषय में परस्पर विप्रतिपन्न (विरोधी विचारोंवाले) लोग नहीं देखे जाते। बाधारहित नील को नील कहनेवाला दूसरे के द्वारा मना नहीं किया जाता कि यह नील नहीं है यह तो पीत है। उसी प्रकार वाचक शब्दों का, अवाचक गीत ध्वनियों का और अशब्दरूप चेष्टा इत्यादिकों का जो व्यंजकत्व सभी का अनुभव सिद्ध तत्त्व है वह किसके द्वारा छिपाया जा सकता है?

तारावती

उसी प्रकार अर्थबोधक होता है जिस प्रकार लिङ्ग (हेतु) से साध्य की सिद्धि होती है। इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है—'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थप्रत्ययस्य' अर्थात् शब्द लिङ्ग विद्या से अर्थबोधक नहीं होता अपितु शब्दार्थप्रत्यय साङ्केतिक होता है। इसी प्रकार बौद्धों ने भी कहा है कि शब्द सङ्केतित अर्थ को कहा करता है। आशय यह है कि नैय्यायिक बौद्ध इत्यादि प्रमाणवादी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृत्रिम ही मानते हैं। उनके मत में भी यह व्यञ्जकभाव अनुभव सिद्ध ही है। एक पदार्थ दूसरे की व्यञ्जना किया करता है। जैसे दीपक इत्यादि घट इत्यादि की व्यञ्जना करते हैं। उसी प्रकार शब्द तथा उसका अपना अर्थ भी दूसरे अर्थ की व्यञ्जना कर सकता है। इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं आती।

(प्रश्न) जितने अनुभव होते हैं उनमे किसी प्रकार की अनुपपत्ति तथा असहमति न हो यह ठीक नहीं है। बहुत से ऐसे अनुभव होते हैं जिनसे सहमत

## लोचन

ननु तत्राप्येषां विमतिः। नैतत्, नहि वाचकत्वे हि सा विमतिः, अपितु वाचकत्वस्य नैसर्गिकत्वकृत्रिमत्वादौ तदाह—वाचकत्वे हीति। नन्वेवं व्यञ्जकत्वस्यापि धर्मान्तरमुखेन विप्रतिपत्तिविषयतापि स्यादित्याशङ्क्याह—व्यञ्जकत्वे त्विति। भावान्तरेति।

( प्रश्न ) उसमें भी इनका वैमत्य है। ( उत्तर ) ऐसा नहीं है। वह वैमत्य निस्सन्देह वाचकत्व के विषय मे नहीं है अपितु वाचकत्व के नैसर्गिकत्व, कृत्रिमत्व इत्यादि के विषय में है। यह कहते हैं—'वाचकत्व में निस्सन्देह' यह। ( प्रश्न ) इस प्रकार दूसरे धर्मों के द्वारा व्यञ्जकत्व की भी विप्रतिपत्तिविषयता हो जाय यह शङ्का करके कहते हैं—'व्यञ्जकत्व में तो' यह। 'भावान्तर' यह। आखों के संकोच

## तारावती

नहीं हुआ जा सकता। जैसे आखों मे उँगली लगाकर देखने से दो चन्द्र दिखलाई देते हैं। इस प्रकार दो चन्द्रों का होना अनुभव सिद्ध है। किन्तु उससे सहमत नहीं हुआ जासकता। ऐसी दशा में आप यह कैसे कह सकते हैं कि व्यञ्जकभाव अनुभवसिद्ध है अतः वह मान्य है? ( उत्तर ) समस्त अनुभवसिद्ध वस्तुयें प्रामाणिक ही होती हों ऐसा कोई नियम नहीं है। जिन अनुभवसिद्ध वस्तुओं का कोई विरोध विद्यमान होता है अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से जहाँ अनुभवसिद्ध वस्तु का कोई बाधक उपस्थित हो जाता है और उससे अनुभवजन्य ज्ञान मे प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाता है वह अनुभवसिद्ध वस्तु प्रामाणिक नहीं मानी जाती। किन्तु जिस वस्तु में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता वह प्रामाणिक ही मानी जाती है। जैसे दो चन्द्रों के अनुभव में प्रत्यक्ष प्रतीति प्रतिबन्धक का कार्य करती है जिससे वह ज्ञान बाधित हो जाता है। किन्तु व्यञ्जना के अनुभव में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं होता, अतः उस ज्ञान को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। आशय यह है कि व्यञ्जना की प्रतीति अनुभव सिद्ध भी है अबाधित भी है जो वस्तु अनुभव सिद्ध भी होती है और अबाधित भी होती है उसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। जैसे वाचकत्व का कोई प्रतिषेध नहीं करता।

( प्रश्न ) वाचकत्व के विषय मे भी तार्किक विप्रतिपत्ति उठाते हैं। ( उत्तर ) वह विप्रतिपत्ति उनकी इस विषय में नहीं होती कि शब्द का अभिधेयार्थ होता है या नहीं अथवा शब्द के वाचकत्व धर्म को स्वीकार किया जाय या नहीं। उनकी विप्रतिपत्ति इस विषय में होती है कि शब्द के वाचकत्व धर्म को नैसर्गिक मानें या कृत्रिम। वाचकत्व नित्य होता है या अनित्य इत्यादि विप्रतिपत्तियाँ होती हैं। शब्द के वाचकत्व धर्म की सत्ता स्वीकार करने में किसी को अनुपपत्ति है ही नहीं। आशय यह है कि वाचकत्व धर्मों मे अनुपपत्ति नहीं है किन्तु उसके धर्मों के विषय मे ही

## लोचन

अक्षिनिकोचादेः साङ्केतिकत्वं चक्षुरादिकस्यानादिर्योग्यतेति दृष्ट्वा काममस्तु संशयः शब्दस्याभिधेयप्रकाशने व्यञ्जकत्वं तु यादृशमेकरूपं भावान्तरेषु तादृगेव प्रकृतेऽपीति निश्चितैकरूपे कः संशयस्यावकाश इत्यर्थः। नैतन्नीलमिति नीले हि न विप्रतिपत्तिः, अपितु प्राधानिकमिदं पारमाणवमिदं ज्ञानमात्रमिदं तुच्छमिदमिति तत्सृष्टावलौकिक्य एव विप्रतिपत्तयः। वाचकानामिति। ध्वन्युदाहरणेष्वितिभावः।

विकास इत्यादि से उनकी संकेतवत्ता और नेत्र इत्यादि की अनादि योग्यता को देखकर शब्द के अभिधेयार्थ प्रकाशन में चाहे जितना सन्देह हो, किन्तु व्यञ्जकत्व तो दूसरे पदार्थों मे जिस प्रकार एकरूप होता है वैसा ही प्रकृत में भी है; इस प्रकार निश्चित एकरूप में सन्देह का अवसर ही क्या है? यही यहाँ पर आशय है। नील मे 'यह नील नहीं है' यह विप्रतिपत्ति किसी को नहीं होती, अपितु उसकी सृष्टि मे अलौकिकता के विषय में ही विप्रतिपत्ति होती है कि क्या यह प्रधान (मूलप्रकृति) से उत्पन्न हुआ है! क्या यह परमाणुजन्य है? क्या यह ज्ञानमात्र है? क्या यह शून्यमात्र है? इत्यादि। 'वाचकों का' यह। भाव यह है कि ध्वनि के उदाहरणों में।

## तारावती

अनुपपत्ति हो सकती है। (प्रश्न) जिस प्रकार वाचकत्व के धर्मों के विषय में विप्रतिपत्ति हो जाती है उसी प्रकार व्यञ्जकत्व के अन्दर भी दूसरे धर्मों का आश्रय लेकर उसे भी विप्रतिपत्ति का विषय क्यों नहीं बनाया जा सकता? (उत्तर) वाचकत्व के विषय मे अनेक धर्मों को लेकर तार्किकों को अनेक विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं; किन्तु उस प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ व्यञ्जकत्व धर्म के विषय में नहीं हो सकतीं। शब्द का वाच्य अर्थ के साथ नैसर्गिक सम्बन्ध होता है या साङ्केतिक इस विषय में सन्देह का पर्याप्त अवसर है। अर्थ के साथ सम्बन्ध के विषयमें दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। जैसे आँखों का सिकोड़ना फैलाना इत्यादि के द्वारा अर्थ का अभिव्यक्त अभिधान किया जाता है। यह आँख सिकोड़ने इत्यादि के द्वारा अर्थ का अभिधान सांङ्केतिक (कृत्रिम) है। दूसरी ओर आँख इत्यादि इन्द्रियाँ घट इत्यादि अर्थ को स्वयं ग्रहण करती हैं। घट इत्यादि अर्थ को ग्रहण करने मे इन्द्रियों मे स्वाभाविक योग्यता विद्यमान है। तब यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि शब्दों का अभिधेयार्थ से किस प्रकार का सम्बन्ध है? क्या अक्षि-सङ्कोच इत्यादि दृष्टान्त के आधार पर यह कहना ठीक होगा कि उनका सांकेतिक सम्बन्ध है या नेत्रों से पदार्थों के चाक्षुष ज्ञान के उदाहरण से यह कहना ठीक होगा कि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध है? दोनों प्रकार के उदाहरणों के मिलने से वाचकत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस प्रकार का

## तारावती

सन्देह व्यञ्जना के विषय मे उत्पन्न नहीं होता । कारण यह है कि एक तो व्यंजना वाचकत्व के पीछे आती है; अतः उस विषय मे किसी को सन्देह का अवसर है ही नहीं । दूसरी बात यह है कि व्यंजना सर्वत्र एक जैसी ही होती है । दीपक अपने को प्रकाशितकर घट को प्रकाशित करता है । जहाँ कहीं एक वस्तु के द्वारा दूसरे की व्यंजना होती है वहाँ सर्वत्र ऐसा ही होता है। प्रकृत मे भी यही बात है। शब्द या वाच्यार्थ पहले अपने को प्रकाशित करता है फिर किसी अन्य अर्थ को प्रकाशित कर देता है। इस विषय में अनुपपत्ति का कोई अवसर है ही नहीं । अतः जिस व्यंजना का रूप सर्वथा निश्चित है उसमें सन्देह का अवसर ही क्या हो सकता है ? तार्किकों में मतभेद सर्वदा अलौकिक वस्तु के विषय में हुआ करता है । लौकिक वस्तु के विषय मे तो निश्चय होता है । अतः उस विषय में मतभेद कभी होता ही नहीं । जो वस्तु नील है सारे संसार की आँखें उसे नीला ही समझती हैं अतः इस विषय में कभी विवाद उठता ही नहीं कि अमुक वस्तु नीली है या नहीं। इसी प्रकार जो वस्तु मधुर होती है सारे संसार की जिह्वायें उसे मीठा ही समझती हैं । अतः यह विवाद कभी उठता ही नहीं कि अमुक वस्तु मधुर है या नहीं । कारण यह है कि नीलत्व मे या मधुरत्व में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित ही नहीं होती, फिर उसमें विवाद ही किस बात का ? यह तो हुई लौकिक तत्त्व की बात । अब अलौकिक तत्त्व को लीजिये । नील यह क्या वस्तु है ? साख्य शास्त्र के आचार्य कहते हैं कि मूलप्रकृति प्रधानतत्त्व है; उससे महत्तत्व की उत्पत्ति होती है और उसी परम्परा में नील इत्यादि की भी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार साख्य के आचार्य नील को प्रधान का विपरिणाम मानते हैं । इसके प्रतिकूल न्यायशास्त्र के आचार्यों का कहना है कि संसार के समस्त पदार्थ परमाणुओं से बने है । अतः नैय्यायिकों के मत में नील यह परमाणुओं का कार्य है । इसके प्रतिकूल विज्ञानवादी संसार के सभी तत्त्वों को विज्ञानरूप मानते हैं। अतः उनके मत में नील भी विज्ञान रूप है । माध्यमिक बौद्ध संसार के समस्त तत्त्वों को शून्य रूप मानते हैं । अतः उनके मतमें नील भी शून्य का ही रूप है। इस प्रकार नील की उत्पत्ति के अलौकिक रूप में ही विप्रतिपत्तियाँ उठती हैं । यदि लौकिक नील को कोई नील कहे तो दूसरा व्यक्ति कभी उसका प्रतिषेध नहीं करेगा कि यह नील नहीं है यह तो पीत है। किन्तु यदि उसकी अलौकिकता के विषय में कोई कुछ कहे कि नील प्रधान का विपरिणाम है तो दूसरा चट कहेगा कि नहीं यह तो परमाणुओं से बना है; तीसरा कहेगा 'नहीं यह तो विज्ञानरूप है' चौथा कहेगा कि 'नहीं यह तो शून्य का परिणाम है ।' आशय यह है कि लौकिक पदार्थों में सन्देह नहीं होता; अलौकिक में सन्देह

ध्वन्यालोकः

अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते। तानुपहास्यतामात्मनः परिहरन् कोऽति-सन्दधीत सचेताः।

(अनु०) शब्दरहित ( वाच्यार्थ से भिन्न ) रमणीय अर्थ को सूचित करनेवाली उक्तियाँ तथा क्रिया कलाप निबद्ध तथा अनिबद्ध ( दोनों प्रकार के ) विद्वद्गोष्ठियों में पाये जाते हैं। कौन सहृदय अपनी उपहास्यता को बचाते हुये उनका अधिक तिरस्कार कर सकता है!

लोचन

अशब्दमिति। अभिधाव्यापारेणास्पृष्टमित्यर्थः। रमणीयमिति। यद्गोप्यमानतयैव सुन्दरीभवतीत्यनेन ध्वन्यमानतायामसाधारणप्रतीतिलाभः प्रयोजनमुक्तम्। निबद्धाः प्रसिद्धाः। तानिति। व्यवहारान्। कः सचेता अतिसन्दधीत नाद्रियेतेत्यर्थः। लक्षणे शत्रादेशः आत्मनः कर्मभूतस्य योपहसनीयता तस्याः परिहारेणोपलक्षितस्तां परिजि-हीर्षुरित्यर्थः।

'अशब्द' यह। अर्थात् अभिधा व्यापार से स्पर्शन किया हुआ। 'रमणीय' यह। जो कि गोप्यमान रूप मे ही सुन्दरता को प्राप्त होता है इसके द्वारा ध्वन्यमान होने मे असाधारण प्रतीति लाभ प्रयोजन के रूप में बतलाया गया है। निबद्ध का अर्थ है प्रसिद्ध। 'उनका' अर्थात् उक्तियों का। कौन सहृदय अत्यन्त सन्धान करे अर्थात् उनका आदर न करे। लक्षण में शत् आदेश ( यह अर्थ देता है कि ) कर्मरूप में स्थित अपनी जो उपहसनीयता उसके परिहार के द्वारा उपलक्षित किया हुआ अर्थात् उसके परित्याग की इच्छा करनेवाला।

तारावती

होता है। व्यंजकत्व भी लौकिक वस्तु ही है। व्यंजना वाचक शब्दों से भी होती है, अवाचक गतिध्वनियों से भी होती है और अशब्द रूप चेष्टा इत्यादि से भी होती है। सभी का यह अनुभवसिद्ध तत्त्व है। अतः इसे छिपा ही कौन सकता है?

अनेक प्रकार की उक्तियाँ और अनेक प्रकार के व्यापार ऐसे होते हैं कि शब्दों के द्वारा अभिधान करने में उनमे सुन्दरता नहीं आती, वे शब्द के द्वारा अभिहित किये ही नहीं जा सकते। जब उनको छिपाकर दूसरे शब्दों से अभि हित किया जाता है तब उनमें अभूतपूर्व रमणीयता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनित होने में असाधारण प्रतीति की प्राप्ति हो जाती है। यह ध्वनि सिद्धान्त का एक बहुत बड़ा प्रयोजन है। इस प्रकार के रमणीय कथन और व्यापार मुक्तक इत्यादि निबन्धों में भी होते हैं और गद्यकाव्यों में भी हो सकते हैं। विद्वानों की

ध्वन्यालोकः

ब्रूयात्—अस्त्यतिसन्धानावसरः व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव तेषां व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित् । अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव ।

(अनु०) ( कोई ) कहे—अतिसन्धान ( अस्वीकृति ) का अवसर है—व्यञ्जकत्व शब्दों के गमकत्व ( अन्यार्थ प्रत्यायकत्व ) को ही कहते हैं और वह लिङ्गत्व ( हेतु ) ही है; अतः व्यंग्यप्रतीति लिङ्गी ( साध्य ) की प्रतीति ही है । इस प्रकार इनका लिङ्गलिङ्गिभाव ( साधनसाध्यभाव ) ही है व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव कोई अन्य वस्तु नहीं । और इसलिये भी यह अवश्य ही समझा जाना चाहिये जिससे कि आपके द्वारा अभी प्रतिपादित किया गया है कि वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा करते हुये ही व्यञ्जकत्व होता है । वक्ता का अभिप्राय तो अनुमान गम्य ही होता है ।

लोचन

अस्तीति । व्यञ्जकत्वं नापह्नूयते तत्त्वतिरिक्तं न भवति, अपितु लिङ्गिलिङ्गभाव एवायम् । इदानीमेवेति जैमिनीयमतोपक्षेपे ।

'है' यह । व्यञ्जकत्व छिपाया नहीं जा रहा है; किन्तु वह अतिरिक्त ( सिद्ध ) नहीं होता, अपितु यह लिङ्ग-लिङ्गिभाव ही है । अभी अर्थात् जैमिनीय मत के उपक्षेप में ।

तारावती

सभा में इस प्रकार की सूक्तियों का प्रायः परिशीलन किया जाता है और उनका आनन्द लिया जाता है । इतना सब होते हुये भी यदि कोई व्यक्ति अपने को सहृदय कहलाने का दावा करता हो और साथ में इस प्रकार के रमणीय अर्थ को छलपूर्वक छिपाने की चेष्टा करे तथा चारुतापूर्ण कथन के व्यापार व्यञ्जना को स्वीकार न करे तो विद्वद्गोष्ठी में उसकी हँसी ही होगी । यदि वह चाहता है कि उसकी हंसी न उड़ाई जाय तो उसे चाहिये कि इतने स्पष्ट और इतने आदृत व्यञ्जनाव्यापार के विरुद्ध प्रचार करने की चेष्टा न करे । यहाँ सहृदय का यही लक्षण बतलाया गया है कि जो व्यक्ति अपनी उपहसनीयता को बचाना चाहता है और आदरास्पद ध्वनि-सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जाता वही सहृदय है । इस लक्षण में 'परिहरन्' शब्द मे 'शतृ' प्रत्यय किया गया है । यह शतृ प्रत्यय वर्तमानकाल प्रथमा समानाधिकरण में हुआ करता है । यहाँ प्रथमा है 'सचेताः' शब्द में और 'परिहरन्' शब्द उसीका समानाधिकरण है । 'परिहरन्' का कर्म है उपहास्यता और उपहास्यता का कर्म है ध्वनि का निरादर करनेवाले, जिनके लिये आत्मशब्द

ध्वन्यालोकः

अत्रोच्यते—नन्वेवमपि यदि नाम स्यात्तत्किं नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सर्वथा प्रसिद्ध शाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिश्चालिङ्गिप्रतीतिरेवेति।

(अनु०) यहाँ पर कहा जा रहा है—निस्सन्देह यदि ऐसा भी हो जाय तो हमारा क्या बिगड़ जायगा। हम लोगों ने यह स्वीकार किया है कि वाचकत्व और गुणवृत्ति से व्यतिरिक्त व्यञ्जकत्व लक्षणवाला शब्द का व्यापार होता है। उसके इस प्रकार होने में भी कोई दोष नहीं। निस्सन्देह वह व्यञ्जकत्व लिङ्गत्व हो जाय या कुछ और। हम दोनों का इस विषय में विवाद नहीं है कि वह शब्द प्रकारों से सर्वथा विलक्षण होता है और उसकी शब्दव्यापार विषयता होती है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है कि व्यञ्जकत्व सर्वत्र लिङ्ग (हेतु) ही होता है और व्यङ्ग्यप्रतीति सर्वथा लिङ्गी (साध्य) की ही प्रतीति होती है।

तारावती

का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि लोग अपनी उपहास्यता का परिहार करते हुये ही दृष्टिगत होते हैं अर्थात् अपनी उपहास्यता को उत्पन्न ही नहीं होने देते वे ही सहृदय हैं।

यहाँ पर कुछलोग कह सकते हैं कि हमें व्यञ्जकत्व के मानने में तो कोई आपत्ति नहीं और न हम उसे छिपाना ही चाहते हैं; किन्तु आप जो यह कह रहे हैं कि व्यञ्जना के प्रतिकूल बोला ही नहीं जासकता इससे हम सहमत नहीं। व्यञ्जना के प्रतिकूल बोलने का अवसर भी विद्यमान ही है। व्यञ्जकत्व कुछ और वस्तु नहीं है अपितु शब्दों के अन्यार्थ प्रत्यायन को ही व्यञ्जक कहते हैं। व्यञ्जक होते हैं शब्द और उनके अर्थ इत्यादि और व्यङ्ग्य होते हैं वस्तु, अलङ्कार तथा रस। ध्वनिवादी को भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। यदि बिना सम्बन्ध के व्यञ्जना प्रकाशित होने लगे तो चाहे जिस वाक्य से चाहे जो व्यञ्जना निकल सकती है। किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः व्यञ्जक और व्यङ्ग्य के साहचर्य सम्बन्ध को मानना ही पड़ेगा। व्यञ्जक लिङ्ग (हेतु) है और व्यङ्ग्य लिङ्गी (साध्य) है। दोनों की व्याप्ति बन जाती है कि जहाँ व्यञ्जक होता है वहाँ व्यङ्ग्य भी होता है और जहाँ व्यङ्ग्य नहीं होता वहाँ व्यंजक भी नहीं होता। इन व्याप्तियों के आधार पर व्यंजक

## लोचन

यदि नाम स्यादिति। प्रौढिवादितयाभ्युपगमेऽपि स्वपक्षस्तावन्न सिद्ध्यतीति दर्शयति—शब्देति। शब्दस्य व्यापारः सन् विषयः शब्दव्यापारविषयः, अन्ये तु शब्दस्य यो व्यापारस्तस्य विषयो विशेष इत्याहुः। न पुनरिति। प्रदीपालोकादौ लिङ्गिलिङ्गभावशून्योऽपि हि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽस्तीति व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य लिङ्गि-लिङ्गभावोऽव्यापक इतिकथं तादात्म्यम्?

'यदि ऐसा हो' यह। प्रौढिवादी होने के रूप में स्वीकार करने पर भी अपना पक्ष तो सिद्ध नहीं होता यह दिखलाते हैं—'शब्द' यह। शब्दव्यापारविषय का अर्थ है शब्द का व्यापार होते हुए जो विषय हो। और लोग तो शब्द का जो व्यापार उसका विषय अर्थात् उसकी विशेषता यह अर्थ करते हैं। 'किन्तु नहीं' यह प्रदीप के आलोक इत्यादि में लिङ्गलिङ्गि भाव से शून्य भी व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव होता है अतः व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव का लिङ्गलिङ्गिभाव अव्यापक है फिर तादात्म्य कैसा?

## तारावती

(लिङ्ग या हेतु) को देखकर उससे अविनाभूत व्यङ्ग्य (लिङ्गी या साध्य) का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार व्यंजनाव्यापार अनुमितिव्यापार से भिन्न वस्तु नहीं है। और यह तो आपको मानना ही पड़ेगा क्योंकि अभी जैमिनीव मत की व्याख्या करने के अवसर पर आप ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके हैं कि व्यंजकत्व वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा करते हुये होता है। वक्ता का अभिप्राय सर्वदा अनुमान का विषय ही होता है। अतः व्यंजना भी अनुमान से भिन्न सिद्ध नहीं होती।

कुछ लोगों के उक्त कथन पर हमारा कहना यह है कि यदि हम आपकी बात मान लें तो भी हमारा क्या बिगड़ जायगा। हमारा पक्ष तो केवल इतना है कि शब्द का एक तीसरा व्यापार भी होता है जो सामान्यतया माने हुये अभिधा और गुणवृत्ति इन दोनों शब्दव्यापारों से भिन्न होता है, इस व्यापार को हम व्यञ्जना व्यापार कहते हैं। उसको आप कहते हैं कि वह लिङ्ग-लिङ्गिव्यवहार से गतार्थ हो जाता है। मैं कहता हूँ कोई बात नहीं आप उसे लिङ्ग-लिङ्गिव्यवहार से गतार्थ हुआ मान लीजिये या कुछ और मान लीजिये। कमसे कम आपने हमारी बात तो मानली कि एक ऐसा भी शब्दव्यापार होता है जो अभिधा और गुणवृत्ति में अन्तर्भूत नहीं हो सकता, वह प्रसिद्ध शब्दव्यापारों से विलक्षण होता है और होता शब्दव्यापार का ही एक प्रकार है, इस विषय में हमारा और आपका मतभेद नहीं है। यदि आप उसे अनुमान में अन्तर्भूत करना चाहते हैं तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। यहाँ पर व्यञ्जना के लिये 'शब्दव्यापारविषयत्व' शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः व्यञ्जना शब्दव्यापार का विषय नहीं अपितु शब्द का

## ध्वन्यालोकः

यदपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितं त्वया वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात्तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्य प्रतिपाद्यते श्रूयताम्—द्विविधो विषयः शब्दानाम्—अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः। विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम्। प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः।

(अनु०) और जो अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये हमारा कहा हुआ तुमने अनूदित किया कि 'व्यंग्य के रूप में वक्ता के अभिप्राय को स्वीकार करने से उसके प्रकाशन में शब्दों का लिङ्गत्व ही होता है' तो यह जो हमने कहा है विभागपूर्वक प्रतिपादित किया जा रहा है सुनो—शब्द का विषय दो प्रकार का होता है—अनुमेय और प्रतिपाद्य। उसमें अनुमेय विवक्षारूप होता है। और विवक्षा दो प्रकार की होती है शब्दस्वरूप प्रकाशन की इच्छा और शब्द से अर्थ प्रकाशन की इच्छा। उनमें प्रथम शाब्दव्यवहार का अंग नहीं होती। उसका फल निस्सन्देह प्राणित्वमात्र की प्रतिपत्ति ही होता है और दूसरी यद्यपि शब्दविशेष के निर्णय करने में अध्यवसित होकर व्यवहित हो जाती है तथापि उस व्यवहार में निमित्त होती है जिसका करण शब्द है। ये दोनों शब्दों का अनुमेय विषय हैं। प्रतिपाद्य तो प्रयोक्ता के अर्थप्रतिपादन की इच्छा से विषय बनाया हुआ अर्थ होता है।

### लोचन

विषय इति। शब्द उच्चरिते यावति प्रतिपत्तिस्तावान् विषय इत्युक्तः। तत्र शब्दप्रयुयुक्षा अर्थप्रतिपिपादयिषा चेत्युभयत्रापि विवक्षानुमेया तावत्। यस्तु प्रतिपिपादयिषायां कर्मभूतोऽर्थस्तत्र शब्दः कारणत्वेन व्यवस्थितः न त्वसावनुमेयः। तद्विषया हि प्रतिपिपादयिषैव केवलमनुमीयते। न च तत्र शब्दस्य करणत्वे यैव लिङ्गस्येति-

'विषय' यह। शब्द के उच्चारण करने पर जितनी प्रतिपत्ति होती है उतना विषय यह कहा गया है। उसमें शब्द के प्रयोग की इच्छा और अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा यह दोनों प्रकार की विवक्षा तो अनुमेय ही होती है। और जो प्रतिपादन की इच्छा में कर्मरूप में स्थित अर्थ है उसमें शब्द कारण के रूप में व्यवस्थित होता है, वह अनुमेय नहीं होता, तद्विषयक प्रतिपादन की इच्छा का ही केवल अनुमान लगाया जाता है। शब्द के कारण होने में लिङ्ग की जो पक्षधर्मत्व

## लोचन

कर्तव्यता पक्षधर्मत्वग्रहणादिका सास्ति, अपि त्वन्यैव सङ्केतस्फुरणादिका तत्र तत्र शब्दो लिङ्गम्। इतिकर्तव्यता च द्विधा—एकयाभिधाव्यापारं करोति द्वितीयया व्यञ्जनाव्यापारम्। तदाह—तत्रेत्यादिना।

ग्रहणादिक इतिकर्तव्यता होती है वह वहाँ पर नहीं होती, अपितु संकेतस्फुरणादि रूप अन्य ही होती है, इसलिये शब्द वहाँ पर लिङ्ग नहीं होता। और इतिकर्तव्यता दो प्रकार की होती है—एक से अभिधाव्यापार करता है और दूसरे से व्यञ्जना-व्यापार। वही कहते हैं—'उसमें' इत्यादि के द्वारा।

## तारावती

एक व्यापार ही होती है, इस दृष्टि से शब्दव्यापार विषयत्व शब्द का प्रयोग उचित नहीं जान पड़ता। लोचन में इसकी योजना इस प्रकार की गई है—शब्द का व्यापार होते हुये जो उसका विषय होता है। अर्थात् व्यञ्जना शब्द का व्यापार होती है और शब्द का विषय होती है। लोचनकार का कहना है कि कुछ लोगों ने इस शब्द का अर्थ किया है—शब्द का जो व्यापार उसका विषय अर्थात् उसकी विशेषता। किन्तु यह अर्थ ठीक नही है क्योंकि व्यञ्जना शब्द का व्यापार होती है नकि शब्दव्यापार की विशेषता। यहाँ पर यह जो कहा गया है कि व्यञ्जना को यदि आप अनुमान में अन्तर्भूत करना चाहते हैं उसमे भी हमें भी कोई आपत्ति नहीं यह सब प्रौढ़िवाद मात्र है। प्रौढ़िवाद उसे कहते हैं जहाँ दूसरे की कही हुई बात को मान करके भी अपने सिद्धान्त की स्थापना की जाय। यहाँ पर ग्रन्थकार का आशय यह है कि यदि हम थोड़ी देर के लिये तुम्हारे कथन को स्वीकार भी कर लें तो भी बात हमारी ही सिद्ध होती है कि व्यञ्जना वृत्ति है अवश्य। इस प्रकार हमारी मान्यता के एक अंश से तो आप सहमत हो ही गये। अब उसका दूसरा अंश लाजिये कि हम उसका अन्तर्भाव अनुमान में कर सकते हैं। आपकी मान्यता का यही अंश ठीक नहीं है। आप अपने पक्ष की तभी सिद्धि कर सकते है जब कि अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों घटित हो जायँ। यहाँ पर अन्वय व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—'जहाँ व्यञ्जना होती है वहाँ अनुमान की प्रक्रिया लागू होती है' और व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार की होगी—'जहाँ अनुमान की प्रक्रिया लागू नहीं होती वहाँ व्यञ्जना भी नहीं होती।' ये दोनों व्याप्तियाँ व्यभिचरित हैं। क्योंकि प्रदीप व्यञ्जक होता है और घट इत्यादि पदार्थ व्यङ्ग्य। उसमें लिङ्ग-लिङ्गिभाव ( हेतु साध्यभाव ) लागू नहीं होता। वहाँ अनुमान की प्रक्रिया के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वहाँ पर घट है। जब कि समस्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव

## तारावती

उक्त व्याप्ति से अन्वित नहीं हो जाते तब यह कहना ठीक नहीं कि व्यञ्जकत्व तो लिङ्गत्व होता है और व्यङ्ग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति है। अतएव व्यञ्जना और अनुमान का तादात्म्य नहीं हो सकता।

हमने जो मीमांसकों का मत प्रतिपादित करते हुये यह कहा था कि वक्ता का अभिप्राय व्यङ्ग्य होता है उसका उद्धरण आपने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिये दिया और कहा कि वक्ता का अभिप्राय सर्वदा अनुमानगम्य ही होता है, इसी आधार पर आपने लिङ्ग-लिङ्गी भाव का समर्थन किया और अनुमान का व्यञ्जना से तादात्म्य सिद्ध किया। अतः यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि अपने कथन का मैं स्पष्टीकरण कर दूँ। अतः विभागपूर्वक दिखलाया जा रहा है कि कितने अंश में व्यङ्ग्य अनुमेय होता है और कितने अंश में वह शुद्ध व्यङ्ग्य होता है। शब्द के उच्चारण करने के बाद जहाँ तक प्रतिपत्ति होती है वह सब शब्द का विषय ही कहा जा सकता है। शब्द का विषय दो प्रकार का होता है—अनुमेय और प्रतिपाद्य। विवक्षारूप शब्द का विषय अनुमेय होता है। विवक्षा भी दो प्रकार की होती है—शब्दस्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और शब्द के द्वारा अर्थप्रकाशन की इच्छा। आशय यह है कि जब कोई व्यक्ति शब्द का उच्चारण करता है तब उससे सर्वप्रथम यही प्रतीत होता है कि अमुक व्यक्ति कुछ कहना चाहता है। यह कथन की उसकी इच्छा दो प्रकार की होती है—एक तो शब्द के स्वरूप-प्रकाशन की इच्छा और दूसरे शब्द के द्वारा अर्थप्रकाशन की इच्छा। शब्द के स्वरूपप्रकाशन की इच्छा से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि शब्द का प्रयोक्ता प्राणवान् है क्योंकि शब्द का प्रयोग तो प्राणी ही कर सकता है प्राणहीन नहीं। अतः शब्दप्रकाशन की इच्छा कभी भी व्यवहार का अङ्ग नहीं हो सकती। अब दूसरी विवक्षा के विषय में देखिये—जब वक्ता अपने अभीष्ट अर्थबोधन में समर्थ तथा उसके अनुकूल शब्दसमूह रूप वाक्य का प्रयोग करता है तब श्रोता सर्वप्रथम उस वाक्य का अनुसन्धान करता है और अर्थबोध का अवसर बाद में आता है। इस प्रकार शब्दसमूह के प्रयोग और अर्थबोधानुकूल बुद्धि में उस वाक्य के समझने और उसका अनुसन्धान करने का व्यवधान पड़ जाता है, तथापि अर्थप्रकाशन की इच्छा में शब्द करण होता है और उसी के व्यवहार के आधीन अर्थप्रकाशन की इच्छा होती है। ये दोनों प्रकार की विवक्षायें केवल अनुमेय होती हैं और इनको शब्द का अनुमेय विषय कह सकते हैं। इस समस्त विवेचन का सार यही है—वक्ता शब्दों का उच्चारण करना चाहता है और उन शब्दों के द्वारा अपने मनोगत अर्थ को भी प्रकट करना चाहता है। इस

प्रकार वक्ता की ये दो इच्छायें होती हैं। इन दोनों को विवक्षा कहते हैं। जब श्रोता वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्दसमूह को सुनता है तब उसे सर्वप्रथम तो यह ज्ञात होता है कि वक्ता कुछ शब्दों का उच्चारण करना चाहता है। और उन शब्दों को दूसरों को सुनाना चाहता है। यह इच्छा परगत (वक्ता के हृदय में विद्यमान) है अतः श्रोता उस इच्छा का अनुमान ही लगा सकता है। किन्तु इस अनुमान का कोई और फल नहीं होता। इसका केवल इतना ही फल होता है कि श्रोता यह जान लेता है कि अमुक व्यक्ति चेतन है और शब्द का प्रयोग कर सकता है। इसके बाद वह प्रयोग किये हुये शब्दविशेषों का निश्चय करता है और तब व्यवधान के बाद उसे यह ज्ञात होता है कि सार्थक शब्दों के प्रयोग के द्वारा वक्ता विशेष अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है। वक्ता को अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट होता है। अतः प्रतिपादन की इच्छा में कर्म अर्थ ही होता है और उस अर्थ के प्रतिपादन में शब्द करण होता है। शब्दप्रयोग की इच्छा और अर्थ-प्रतिपादन की इच्छा ये दोनों अनुमान का विषय ही होती हैं क्योंकि पराई इच्छा का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही हो सकता है। अनुमान में शब्द करण होता है और शब्दबोधनेच्छा तथा अर्थबोधनेच्छा साध्य होती है। शब्दबोधनेच्छा तो शब्द से सीधे संबद्ध होती है किन्तु अर्थबोधनेच्छा में शब्द से वाक्यानुसन्धान का व्यवधान पड़ जाता है तथापि हेतुता तो उसमें रहती ही है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वक्ता की केवल इच्छा ही अनुमान का विषय हो सकती है, जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है वह अर्थ स्वयं अनुमान का विषय नहीं हो सकता। वह अर्थ शब्द का प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है अनुमेय नहीं। इस प्रतिपाद्य अर्थ को हम अनुमान में अन्तर्भूत इसलिये नहीं कर सकते, क्योंकि जब लिङ्ग से साध्यसिद्धि की जाती है तब उस लिङ्ग की कुछ इतिकर्तव्यता होती है जैसे पक्ष में लिङ्ग की उपस्थिति, पक्षधर्मता का ग्रहण, व्याप्तिस्मृति इत्यादि। समस्त अनुमानों में ऐसा ही हुआ करता है। किन्तु जब हम शब्द से अर्थ का बोध करते हैं तब हमें लिङ्ग की वह समस्त इतिकर्तव्यता उपलब्ध नहीं होती। अतः शब्द से अर्थबोध को हम अनुमान में अन्तर्भूत नहीं कर सकते। जब हम शब्द से अर्थ-ज्ञान प्राप्त करते हैं तब उसमें लिङ्ग की नहीं शब्द की एक भिन्न ही इतिकर्तव्यता दृष्टिगत होती है। यह इतिकर्तव्यता होती है—संकेतस्फुरण, प्रकरण आदि का ज्ञान इत्यादि।

शब्द को जिस इतिकर्तव्यता से हमें अर्थबोध होता है वह इतिकर्तव्यता दो प्रकार की हो सकती है—एक से तो अभिधाव्यापार होता है और दूसरी से

## ध्वन्यालोकः

स च द्विविधः—वाच्यो व्यङ्ग्यश्च । प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित् । स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण प्रकाशते, अपितु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण सम्बन्धान्तरेण । विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम् । यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ् मिथ्यात्वादि विवादा एव न प्रवर्तेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत् ।

(अनु०) और वह दो प्रकार होता है—वाच्य और व्यंग्य । प्रयोग करनेवाला निस्सन्देह कभी स्वशब्द से अर्थ को प्रकाशित करने की इच्छा करता है कभी किसी प्रयोजन की अपेक्षा से अपने शब्द के द्वारा अनभिधेयरूप में । वह दोनो ही प्रकार का शब्दो का प्रतिपाद्य विषय लिङ्गी के रूप में स्वरूप से प्रकाशित नहीं होता अपितु कृत्रिम या अकृत्रिम दूसरे सम्बन्ध के द्वारा । उस अर्थ का विवक्षाविषयत्व शब्दों के द्वारा लिङ्गी के रूप मे प्रतीत होता है उसका स्वरूप नहीं । यदि वहाँ लिंगी के रूप मे शब्दो का व्यापार हो तो शब्दो के अर्थ के विषय में सम्यक् मिथ्यात्व इत्यादि विवाद ही प्रवृत्त न हों जैसे धूम इत्यादि लिङ्ग से अनुमित दूसरे अनुमेय ।

### लोचन

कयाचिदिति। गोपनकृतसौन्दर्यादिलाभामिसन्धानादिकयेत्यर्थः । शब्दार्थ इति । अनुमानं हि निश्चयस्वरूपमेवेतिभावः ।

'किसी अपेक्षा से' यह । अर्थात् गोपन से उत्पन्न सौन्दर्य इत्यादि के लाभ के अनुसन्धान की अपेक्षा से । 'शब्दार्थ' यह । भाव यह है कि अनुमान निश्चय स्वरूपवाला ही होता है ।

### तारावती

व्यञ्जनाव्यापार । संकेतस्फुरण से अभिधाव्यापार होता है और वक्तृवैशिष्ट्य इत्यादि से व्यञ्जनाव्यापार। इसी आधार पर प्रतिपाद्य अर्थ दो प्रकार का हो सकता है—वाच्य और व्यंग्य । प्रयोग करनेवाले का लक्ष्य कभी तो केवल इतना ही होता है कि शब्द जो भी अर्थ दे रहे हों और उनका संकेत जिस अर्थ में नियत हो ोता उतना ही अर्थ समझे । इसके प्रतिकूल कभी-कभी उसकी इच्छा यह होती है शब्द जो भी संकेतित अर्थ दे रहे हों उनसे भिन्न एक दूसरा अर्थ ही प्रतीतिगोचर हो । अन्य अर्थ को अन्य शब्दों द्वारा प्रकट करने में वक्ता का कुछ प्रयोजन भी होता है । छिपाकर किसी बात को कहने में एक सुन्दरता आ जाती है । अन्य

ध्वन्यालोकः

व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसाक्षाद्वावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः। वाच्यवाचकभावाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्। तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया। प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे च वाचकत्वेनैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक् सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव। न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वरूपमेव आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्। तस्मात्प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गित्वेन सम्बन्धी वाच्यवत्। यो हि लिङ्गित्वेन तेषां सम्बन्धी यथा दर्शितो विषयः स न वाच्यत्वेन प्रतीयते अपि तूपाधित्वेन। प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिङ्गित्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। एतच्चोक्तमेव।

(अनु०) और व्यंग्य अर्थ वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त होने के कारण वाच्य के समान शब्द का सम्बन्धी होता ही है। साक्षात् या असाक्षात् होना निस्सन्देह सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं होता। और व्यञ्जकत्व का वाच्यवाचक भाव का आश्रय लेना तो पहले ही दिखला दिया गया। अतएव वक्ता के अभिप्राय रूप व्यंग्य में ही लिङ्ग के रूप में शब्दों का व्यापार होता है। उन शब्दों का विषय बनाये हुये अर्थ में तो प्रतिपाद्य रूप मे शब्दों का व्यापार होता है। अभिप्राय रूप या अनभिप्राय रूप उसके प्रतीत होने पर या तो वाचकत्व से ही व्यापार होता है या दूसरे सम्बन्ध से। वाचकत्व से नहीं होता जैसा कि पहले कहा गया है। दूसरे सम्बन्ध से तो व्यंजकत्व ही होता है। व्यंजकत्व लिङ्गत्वरूप नहीं होता क्योंकि आलोक इत्यादि में अन्यथा देखा गया है। इससे शब्दों का प्रतिपाद्यविषय लिङ्गी के रूप में सम्बन्धी नहीं होता जैसे वाच्य जो निस्सन्देह लिङ्गी के रूप में उनका सम्बन्धी होता है जैसे दिखलाया हुआ विषय वह वाच्य के रूप मे प्रतीत नहीं होता अपितु औपाधिक रूप में। और प्रतिपाद्य विषय के लिङ्गीरूप में मानने पर लौकिकों द्वारा ही की हुई तद्विषयक लौकिक विप्रतिवत्तियों का अभाव ही प्रसक्त हो जाय। यह तो कहा ही जा चुका है।

लोचन

उपाधित्वेनेति। वक्त्रिच्छा हि वाच्यादेरर्थस्य विशेषणत्वेन भाति। प्रतिपाद्यस्येति। अर्थाद्व्यङ्ग्यस्य। लिङ्गित्व इति। अनुमेयत्व इत्यर्थः। लौकिकैरेवेति। इच्छायां लोको न विप्रतिपद्यतेऽर्थे तु विप्रतिपत्तिमानेव।

'उपाधित्व के रूप मे' यह। वक्ता की इच्छा निस्सन्देह वाच्य इत्यादि के विशेषण के रूप में शोभित होती है। 'प्रतिपाद्य का' यह अर्थात् व्यङ्ग्य का 'लिङ्गित्व में' यह। अर्थात् अनुमेयत्व में। 'लौकिकों के द्वारा' यह। इच्छा में लोक को विप्रतिपत्ति नहीं होती अर्थ में तो लोक विप्रतिपत्तिवाला होता ही है।

## तारावती

शब्दों से अन्य अर्थ को कहने में वक्ता का या तो यह प्रयोजन होता है कि किसी बात को छिपाकर कहने में जो सौन्दर्य आ जाता है उसका लाभ श्रोताओं और पाठकों को भी प्राप्त हो सके अथवा उसका कोई अन्य प्रयोजन होता है। इस प्रकार वक्ता का प्रतिपाद्य अर्थ दो प्रकार का होता है—शब्दों के अभिधेय के द्वारा प्रकाशित वाच्यार्थ और किसी प्रयोजन से प्रकाशित व्यंग्यार्थ। न तो यह दोनों प्रकार का प्रकाशित अर्थ लिंगी ( साध्य ) होता है, न इनका प्रकाशक लिंग ( हेतु ) होता है और न इनके प्रकाशन की क्रिया अनुमान कही जा सकती है। इनका प्रकाशन तो किसी अन्य सम्बन्ध के द्वारा ही होता है, वह सम्बन्ध मीमांसकों के अनुसार अकृत्रिम हो सकता है या नैय्यायिकों के अनुसार कृत्रिम ( सांकेतिक ) हो सकता है। कारण यह है कि अनुमान से जिस अर्थ ( वस्तु ) की साध्यरूप में प्रतीति होती है वह पदार्थज्ञान होता है। उसमें किसी प्रकार के संशय का अवसर नहीं रह जाता कि क्या यह ठीक हो सकता है, क्या यह मिथ्या हो सकता है इत्यादि। जैसे जब हम धूम को लिंग मानकर उससे अग्नि का अनुमान लगाते हैं तब अग्नि का हमें यथार्थज्ञान हो जाता है और यह सन्देह भी नहीं उठता कि क्या जहाँ से धूम उठ रहा है वहाँ आग हो सकती है या नहीं। ऐसा ही हेतु साध्य का साधक होता है जो अव्यभिचरित रूप में साध्य के साथ व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध रखता हो। अतः साध्यसिद्धि हो जाने पर उसमें सन्देह का अवसर ही नहीं रह जाता। अतएव यदि शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ वाच्य और व्यंग्य को अनुमान में अन्तर्भूत करें तो वह ज्ञान भी निश्चित ज्ञान ही होगा। उसमें यह सन्देह ही नहीं उत्पन्न होगा कि क्या अमुक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है ? क्या मिथ्या ज्ञान है ? इत्यादि। शब्दार्थ के विषय का ज्ञान होने में इस प्रकार के सन्देह तथा विकल्प उठते हैं अतः हम उसे अनुमान में अन्तर्भूत नहीं कर सकते।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि वाच्यार्थ तो शब्द का अर्थ होता ही है, व्यङ्ग्यार्थ तभी उस कोटि में आ सकता है जब कि उसका शब्द से सम्बन्ध सिद्ध हो जाय। वह सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ भी शब्द का प्रतिपाद्य विषय है ? इसका उत्तर यह है कि यह हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होता है। वाच्य तो शब्द का सम्बन्धी होता ही है और वाच्य का सम्बन्धी व्यङ्ग्य होता है। सम्बन्धी का सम्बन्धी अपना भी सम्बन्धी माना जाता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ भी शब्द का सम्बन्धी हो ही जाता है। ( प्रश्न ) यह सम्बन्ध तो परम्परा सम्बन्ध हुआ,

## तारावती

प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं हुआ। फिर इनको सम्बन्धी कैसे माना जा सकता है? (उत्तर) शब्दार्थ के क्षेत्र में यह कोई नियम नहीं कि शब्द और अर्थ का प्रत्यक्ष ही सम्बन्ध हो। यदि परम्परया भी सम्बन्ध होता है तो वह भी सम्बन्ध ही माना जाता है। यही बात अन्य सम्बन्धों के विषय में भी लागू होती है। (उदाहरण के रूप में प्रत्यक्ष को लीजिये। प्रत्यक्षज्ञान के लिये इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होना चाहिये। नैय्यायिकों की भाषा मे इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। ये सन्निकर्ष ६ प्रकार के माने जाते हैं। यदि उन सब पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें से कुछ तो इन्द्रियों से साक्षात् सम्बद्ध होते हैं जैसे संयोगसन्निकर्ष और कुछ परम्परया सम्बद्ध होते हैं जैसे संयुक्तसमवायसन्निकर्ष इत्यादि। घट का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और घट के साक्षात् सम्बन्ध से होता है और घट के गुणों का प्रत्यक्ष परम्परा सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्परा सम्बन्ध से शब्द और व्यङ्ग्यार्थ का सम्बन्ध मानने पर भी उसे शब्दव्यापार मानने में कोई आपत्ति नहीं। ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सार कतिपय शब्दों मे इस प्रकार दिया जा सकता है—वक्ता के अभिप्राय की जो व्यंजना होती है अर्थात् श्रोता को जो यह ज्ञान होता है कि वक्ता शब्दों का प्रयोग करना चाहता है अथवा उन शब्दों के माध्यम से कुछ अर्थ प्रकट करना चाहता है यह सब वक्ता की इच्छा अनुमान का विषय होती है। किन्तु वह जो कुछ कहना चाहता है वह शब्द का प्रतिपाद्य ही होता है उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता। जो कुछ वह कहना चाहता है वह अभिप्रायरूप (रसादिरूप) भी हो सकता है और उससे भिन्न (अलङ्कारादिरूप) भी हो सकता है। वह चाहे जिस रूपवाला क्यों न हो उसके प्रत्यायन में या तो वाचकत्वव्यापार हो सकता है या वाचकत्व से भिन्न कोई और व्यापार हो सकता है। वाचकत्वव्यापार वहाँ पर हो ही नहीं सकता, इस बात का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। अतः उससे भिन्न कोई अन्य सम्बन्ध ही हो सकता है। यह अन्य सम्बन्ध और कुछ नहीं केवल व्यञ्जना ही है और उसी व्यंजना के द्वारा अभिप्रेत या अनभिप्रेत अर्थ का प्रत्यायन होता है। व्यंजकत्व सर्वदा लिंगत्व (हेतुता) रूप ही नहीं होता और न उसका समावेश सर्वदा अनुमान में किया जा सकता है। क्योंकि यह देखा जा चुका है कि दीपालोक में व्यञ्जकता तो होती है किन्तु उसे अनुमान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। जब सभी व्यञ्जनायें अनुमान में नहीं आ सकती तब अनुमान में उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव जिस प्रकार वाच्य शब्दों का प्रतिपाद्य होता है वैसे ही व्यङ्ग्य भी शब्दों का प्रतिपाद्य होता है जिस प्रकार वाच्य को हम

## ध्वन्यालोकः

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित्क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्व्यङ्ग्यस्यापि। काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्।

और जिस प्रकार वाच्य के विषय में दूसरे प्रमाण के अनुगम के द्वारा कहीं सम्यक्प्रतीति किये जाने में उसके प्रमाणान्तर विषय हो जाने पर भी शब्दव्यापार की विषयता नष्ट नहीं होती वह व्यङ्ग्य का भी होता है और काव्यविषय में व्यङ्ग्यप्रतीतियों का सत्यासत्य निरूपण अप्रयोजनीय ही होता है; अतः वहाँ पर प्रमाणान्तर व्यापार परीक्षा उपहास के लिये ही होती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यङ्ग्य की प्रतीति सर्वत्र लिङ्गी की प्रतीति ही होती है।

## तारावती

शब्दों का सम्बन्धी मानते हैं उसीप्रकार व्यङ्ग्य को भी शब्दों का सम्बन्धी मानना पड़ता है। जिस प्रकार वाच्य को हम लिङ्गी ( साध्य ) की कोटि में नहीं रख सकते उसी प्रकार व्यङ्ग को भी हम लिङ्गी अर्थात् साध्य की कोटि मे नहीं रख सकते। इस प्रकार नैय्यापिकों को भी व्यञ्जना की स्वतन्त्र सत्ता माननी ही पड़ेगी। हाँ शब्दों का कुछ विषय ऐसा अवश्य होता है जो अनुमान के क्षेत्र में आता है। उसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है कि वक्ता के शब्दप्रकाशन की इच्छा और उसके अर्थप्रकाशन की इच्छा अनुमान का ही विषय होती है। उस इच्छा की प्रतीति वाच्यरूप में नहीं होती किन्तु औपाधिक रूप में होती है। औपाधिक का अर्थ है विशेषण के रूप में प्रतीत होना। 'इस वक्ता का यह अर्थ विवक्षित है' इस में वक्ता की इच्छा अर्थ के विशेषण के रूप में प्रतीत होती है। ( नैय्यायिकों के मत में प्रथमान्त विशेष्यक शाब्दबोध होता है। अतः उससे भिन्न तत्त्व प्रकार ( विशेषण ) के रूप मे माने जाते हैं। ) यदि प्रतिपादनीय अर्थ को लिङ्गी (साध्य) की कोटि मे रक्खा जायगा तो उसके विषय मे लौकिक लोग ही अनेक प्रकार की जो विप्रतिपत्तियाँ किया करते हैं वे किस प्रकार सिद्ध हो सकेगी ? उनका तो अभाव ही हो जायगा। आशय यह है कि अनुमानजन्य ज्ञान यथार्थज्ञान होता है। उसमे किसी को कभी कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती और न उसकी सचाई मे कभी कोई सन्देह ही उठाता है। सांसारिक व्यक्ति किसी के कहे हुये वाक्य के अर्थ की सचाई में सन्देह भी करते हैं, उसका खण्डन भी करते हैं और उससे अस-

## लोचन

ननु यदा व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतिपन्नस्तदासत्यत्वनिश्चयोऽस्यानुमानादेव प्रमाणान्तरात्क्रियत इति पुनरप्यनुमेय एवासौ। मैवम्, वाच्यस्यापि सत्यत्वनिश्चयोऽनुमानादेव। यदाहुः—'आप्तवादाविसंवादसामान्यादत्र चेदनुमानता' इति।

न चैतावता वाच्यस्य प्रतीतिरानुमानिकी किन्तु तद्गतस्य ततोऽधिकस्य सत्यत्वस्य तद्व्यङ्ग्येऽपि भविष्यति। एतदाह—यथा चेत्यादिना।

एतच्चाभ्युपगम्योक्तं न त्वनेन नः प्रयोजनमिति। काव्यविषये चेति। अप्रयोजकत्वमिति। नहि तेषां वाक्यानामग्निष्टोमादि वाक्यवत् सत्यार्थप्रवर्तनद्वारेण प्रवर्तकत्वाय प्रामाण्यमन्विष्यते, प्रीतिमात्रपर्यवसायित्वात्। प्रीतेरेव चालौकिकचमत्काररूपाया व्युत्पत्त्यङ्गत्वात्। एतच्चोक्तं वितत्य प्राक्। उपहासायैवेति। नायं सहृदयः केवलं शुष्कतर्कोपक्रमकर्कशहृदयः प्रतीतिं परामर्ष्टुं नालमित्येष उपहासः।

(प्रश्न) जब व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतिपत्ति हो गई तब इसके सत्यत्व का निश्चय दूसरे प्रमाण अनुमान से ही किया जाता है इस प्रकार फिर भी यह अनुमानगम्य ही हुआ। (उत्तर) ऐसा नहीं। वाच्य के भी सत्यत्व का निश्चय अनुमान से ही किया जाता है। जैसा कि कहते हैं—

'यदि यहाँ पर आप्तवाद के अविसंवाद (सत्यत्व) रूप सामान्य हेतु से अनुमानता मानी जाय' इत्यादि।

केवल इतने से ही वाच्य की प्रतीति आनुमानिक नहीं हो जाती किन्तु उससे भी अधिक तद्गत सत्यत्व की (प्रतीति आनुमानिकी की हो जाती है।) वह व्यङ्ग्य मे भी हो जायगा। यह कहते हैं—'यथा च' इत्यादि के द्वारा।

और यह स्वीकार करके कह दिया गया है, इससे हमारा कोई प्रयोजन तो है ही नहीं। 'और काव्य के विषय में' यह। 'अप्रयोजकत्व' यह। उन वाक्यों का अग्निष्टोम इत्यादि वाक्यों के समान सत्य अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा प्रवर्तकत्व के लिये प्रमाण का अन्वेषण नहीं किया जाता क्योंकि वह प्रीतिमात्रपर्यवसायी होता है और क्योंकि अलौकिक चमत्कार रूप प्रीति ही व्युत्पत्ति का अङ्ग होती है। यह विस्तारपूर्वक पहले समझा दिया गया। 'उपहास के लिये ही' यह। उपहास यह है कि यह सहृदय नहीं है, केवल शुष्क तर्कों के उपक्रम के कारण कर्कश हृदयवाला है और प्रतीति का परामर्श करने मे समर्थ नहीं है।

## तारावती

हमत भी होते है। यदि वाक्य के व्यङ्ग्यार्थ को अनुमान का विषय माना जायगा तो इन अनुपपत्तियों का क्या होगा? इनकी तो सत्ता ही मिट जायगी। 'वक्ता कुछ कहना चाहता है' इसमे किसी को न सन्देह होता है और न अनुपपत्ति। अतः यह अनुमान का विषय हो सकता है। यह है प्रस्तुत प्रकरण का सार।

## तारावती

( प्रश्न ) व्यङ्ग्य अर्थ को हम माने लेते हैं । किन्तु व्यङ्ग्य अर्थ ठीक है या नहीं इसके लिये तो हमें फिर भी अनुमान का ही सहारा लेना पडेगा । अनुमान से ही यह सिद्ध किया जायगा कि जो कुछ व्यक्त किया गया है वह सत्य है या नहीं । ऐसी दशा मे जिस अनुमान से पीछा छुड़ाया था वह पुनः गले पड़ गया । वाक्य के अर्थ मे तभी प्रामाणिकता आती है जब वह दूसरे प्रमाणों के मेल में ठीक बैठ जाय । अतः यह मान लेने पर भी कि प्रतिपाद्य व्यंग्यार्थ लिङ्गी नहीं हो सकता यह तो अनिवार्य ही है कि व्यक्त अर्थ की सत्यता प्रमाणित करने के लिये उसे लिङ्गी ( साध्य ) बनाया जाय । इस अनुमान से आप कैसे पीछा छुड़ायेंगे ? ( उत्तर ) यह कोई अनुपपत्ति नहीं कही जा सकती । वाच्यार्थ के भी सत्यत्व की परीक्षा तो अनुमान से ही होगी । पहले वाक्यार्थबोध हो जायगा, तत्त्व संवादक ( लौकिक सत्य से मेलखानेवाले ) अनुमान की प्रवृत्ति होगी । वाक्यार्थ शब्द का विषय और उसकी सत्यता अनुमान का विषय । जिस प्रकार वाच्य के विषय मे प्रमाणान्तर का अनुगमन करके उसके ठीक होने की परीक्षा की जाती है किन्तु उस प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति से शब्दव्यापार की विषयता समाप्त नहीं हो जाती वैसे ही यहाँ पर भी व्यंग्यार्थ की परीक्षा दूसरे प्रमाणों से करने पर भी उसकी शब्द-विषयता समाप्त नहीं हो जाती । यही बात श्लोक वार्तिक की निम्नकारिकाओं में कही गई है—

'आप्तवादाविसंवाद सामान्यादत्रचेदनुमानता ।
'निर्णयस्तावता सिद्धयेद्बुद्ध्युत्पत्तिर्न तत्कृता ॥
अन्यदेव हि सत्यत्वमाप्तवादत्वहेतुकम् ।
वाक्यार्थश्चान्य एवेति ज्ञातः पूर्वतरं ततः ॥
तत्र चेदाप्तवादेन सत्यत्वमनुमीयते ।
वाक्यार्थप्रत्ययस्यात्र कथं स्यादनुमानता ॥ इति।

अर्थात् 'यदि यह कहा जाय कि वाक्यार्थबोध में अनुमान की प्रक्रिया लागू होती है और उसमें आप्तवाद का सत्यरूप में सङ्घटित हो जाना ही सामान्य हेतु होता है तो इस पर कहा जा सकता है कि उतने से अर्थ की सत्यता का निर्णय तो सिद्ध हो जाता है किन्तु वाक्यार्थ बुद्धि उस ( अनुमान ) के द्वारा उत्पन्न नहीं की जाती । सत्यत्व और वस्तु है जिसमें आप्तवादत्व हेतु के रूप मे आता है और वाक्यार्थ अन्य ही वस्तु है यह उससे बहुत पहले जाना जा चुका है । अब उन दोनों व पृथक् वस्तुओं मे यदि एक वस्तु सत्यत्व का आप्तवाद के द्वारा अनुमान किया जाता है तो यहाँ पर वाक्यार्थ प्रत्यय अनुमान के अन्तर्गत कैसे आयगा !'

तारावती

इन कारिकाओं का आशय यही है कि वाच्यार्थ में अनुमान का उपयोग न होता हो यह बात नहीं है। उसमें अनुमान का योग होता है और वह अनुमान वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक तथा उससे अतिरिक्त अंश सत्यत्व का साधक होता है। इतने से ही यह तो नहीं कहा जा सकता कि वाच्यार्थप्रतीति ही अनुमानिक हो गई। इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थप्रतीति अन्य वस्तु है और सङ्गत सत्य की परीक्षा दूसरी वस्तु। सत्य की परीक्षा में अनुमान का उपयोग हो सकता है; किन्तु इतने से ही व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता। आप के प्रश्न के उत्तर में यहाँ तक जो कुछ कहा गया है वह सब आपकी इस बात को मानकर कहा गया है कि व्यङ्ग्यार्थ की सत्यता की परीक्षा करने के लिये अनुमान की आवश्यता होती है। वास्तविकता तो यह है कि हम काव्य में व्यञ्जना पर विचार कर रहे हैं। अतः हमें इस बात की आवश्यकता ही नहीं कि हम व्यञ्जना के सत्यत्व-असत्यत्व को सिद्ध करने पर विचार करें। व्यङ्ग्यार्थ के सत्यत्व-असत्यत्व की परीक्षा तो लोक में होती है जहाँ उस वाक्य को लेकर उसके सत्यत्व के आधार पर जनसमूह की प्रवृत्ति निर्दिष्ट कार्य में हुआ करती है। उदाहरण के लिये 'अग्निष्टोमेन यजेत' वाक्य को लीजिये। इसमें अग्निष्टोम यज्ञ करने का आदेश दिया गया है। यदि अग्निष्टोम से यज्ञ करना वस्तुतः लाभकर है तथा सत्य भी है तब तो जनता की प्रवृत्ति उस ओर होगी, अन्यथा लोग उस आदेश को नहीं मानेंगे। अतः अग्निष्टोम के सत्यत्व की परीक्षा के लिये दूसरे प्रमाणों का अन्वेषण उपपुक्त तथा आवश्यक होगा। इसके प्रतिकूल काव्यवाक्यों का उद्देश्य किसी कार्य का आदेश देना नहीं होता। उनका मन्तव्य होता है वेद्यान्तरस्पर्शशून्य आनन्द मात्र में अवस्थिति। जब परिशीलकों के अन्तःकरण अलौकिक चमत्काररूप आनन्द में ही पर्यवसित हो जाते हैं तब वह आनन्दात्मक सत्ता ही व्युत्पत्ति का आधान करनेवाली होती है। अर्थात् परिशीलकों का अन्तःकरण प्रतिपाद्य आनन्द भावना से एक रूप होकर जिस उपदेश को ग्रहण कर लेते हैं काव्य की वही व्युत्पत्ति कही जाती है। अतएव काव्य मे सत्यत्व असत्यत्व की परीक्षा ही मिथ्या है। काव्य का सत्यत्व तो परिशीलकों की अन्तरात्मा को आनन्दमय बना देना ही है। अतएव जो व्यक्ति काव्य के सत्यत्व की परीक्षा के लिये अनुमान का अन्वेषण करता है उसकी हँसी ही उड़ाई जाती है। हँसी की तो बात यही है कि जो व्यक्ति तर्क का सहारा लेकर काव्यानन्द का भी निरूपण करना चाहता है वह सहृदय नहीं कहा जा सकता। उसका हृदय शुष्क तर्कों के उपक्रम के कारण अत्यन्त कर्कश हो गया है। अतएव वह काव्यानन्द की प्रतीति का परामर्श करने मे समर्थ हो ही नहीं सकता। बस यही उपहास की बात है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि व्यंग्यप्रतीति सर्वत्र लिंगी की प्रतीति ही होती है।

## ध्वन्यालोकः

यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं तद्ध्वनिव्यवहारस्याप्रयोजकम्। अपि तु व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दानां व्यापार औत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाऽप्यभ्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम्। तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानाञ्च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्यस्माभिर्यत्न आरब्धः। तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यञ्जकत्वम्। तदन्तःपातित्वेऽपि तस्य हठादभिधीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत् प्रकाशनं विप्रतिपत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये वा तत्क्रियमाणमनतिसन्धेयमेव। न हि सामान्यमात्रलक्षणेनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुम्। एवं हि सति सन्तापमात्रलक्षणे कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनरुक्त्य प्रसङ्गः तदेवम्—

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसञ्ज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥३३॥

(अनु०) और जो शब्दों का व्यञ्जकत्व अनुमेयरूप व्यङ्ग्यविषयक होता है वह ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक नहीं होता। अपितु व्यञ्जकनाम रूपवाला शब्दों का व्यापार शब्दार्थ सम्बन्ध को औत्पत्तिक कहनेवाले के द्वारा भी स्वीकार किया जाना चाहिये यह दिखलाने के लिये प्रस्तुत किया गया है। वह वाचक और अवाचक दोनों प्रकार के शब्दों का व्यञ्जकत्व निस्सन्देह कभी लिङ्ग के रूप में कभी दूसरे रूप मे सभी वादियों के द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता यह प्रदर्शित करने के लिये हमने यह यत्न प्रारम्भ किया है। वह इस प्रकार गुणवृत्ति और वाचकत्व इत्यादि शब्दप्रकारों से व्यङ्ग्यत्व नियमपूर्वक ही विलक्षण होता है। हठपूर्वक उस ( ध्वनि ) के उनमें अन्तःपातित्व के कहे जाने पर भी विप्रतिपत्ति का खण्डन करने के लिये अथवा सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये ध्वनिरूप जो उनकी विशेषताओं का प्रकाशन वह किये जाने पर उसका अनादर नहीं किया जाना चाहिये। सामान्य लक्षणमात्र से ही उपयोगी विशेष लक्षणों का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर निस्सन्देह सत्तामात्र का लक्षण कर देने पर समस्त वस्तु के लक्षणों की पुनरुक्ति का दोष होगा। अतः इस प्रकार—

'जो काव्य का ध्वनिनामक प्रकार मनीषियों के लिये आवेदित के समान असहमति का विषय था, वह यह व्यक्त कर दिया गया ॥ ३३ ॥

### तारावती

( प्रश्न ) यदि आप व्यञ्जना को अनुमान रूप नहीं मानते और इस व्याप्ति को अंगीकार नहीं करते कि जहाँ जहाँ व्यञ्जना होती है वहाँ वहाँ अनुमान होता

## लोचन

नन्वेवं तर्हि मा भूद्यत्र यत्र व्यञ्जकता तत्र तत्रानुमानत्वम्, यत्र यत्रानुमानत्वं तत्र तत्र व्यञ्जकत्वमिति कथमपह्नूयत इत्याशङ्क्याह—

यत्त्वनुमेयेति। तद्व्यञ्जकत्वं न ध्वनिलक्षणमभिप्रायव्यतिरिक्तविषयाव्यापारादिति भावः। नन्वभिप्रायविषयं यद्व्यञ्जकत्वमनुमानकयोगक्षेमं तच्चेन्न प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारस्य तर्हि किमर्थं तत्पूर्वमुपक्षिप्तमित्याशङ्क्याह—अपि त्विति। एतदेव सङ्क्षिप्य निरूपयति—तद्धीति। यत एव हि क्वचिदनुमानेनाभिप्रायादौ क्वचित्प्रत्यक्षेण दीपालोकादौ क्वचित्कारणत्वेन गीतध्वन्यादौ क्वचिदभिधया विवक्षितान्यपरे क्वचिद्गुणवृत्त्या अविवक्षितवाच्येऽनुगृह्यमाणं व्यञ्जकत्वं दृष्टं तत एव तेभ्यः सर्वेभ्यो विलक्षणमस्य रूपं न सिध्यति तदाह—तदेवमिति।

(प्रश्न) तो फिर इस प्रकार जहाँ जहाँ व्यञ्जकता वहाँ वहाँ अनुमान यह न माना जाय इसको कैसे छिपाया जाय कि जहाँ जहाँ अनुमान होता है वहाँ वहाँ व्यञ्जकत्व होता है यह शङ्का करके कह रहे हैं—'जो कि अनुमेय' इत्यादि। भाव यह है वह व्यञ्जकत्व ध्वनि का लक्षण नहीं है क्योंकि उससे अतिरिक्त विषय में उसका व्यापार नहीं होता। (प्रश्न) अभिप्रायविषयक जो व्यञ्जकत्व होता है और जिसका योगक्षेम अनुमान से ही एक रूप होता है यदि वह ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक नहीं होता तो उसको पहले ही प्रस्तुत क्यों किया? यह शङ्का करके कहते हैं—'अपितु' इत्यादि। इसी को संक्षिप्त करके निरूपित करते हैं—'वह निस्सन्देह' यह। क्योंकि कहीं अभिप्राय इत्यादि में अनुमान के द्वारा, कहीं दीपालोक इत्यादि में प्रत्यक्ष के द्वारा, कहीं गीतध्वनि इत्यादि मे कारणत्व के द्वारा कहीं विवक्षितान्यपरवाच्य मे अभिधा के द्वारा कहीं अविवक्षितवाच्य में गुणवृत्ति के द्वारा अनुगृहीत किया जाता हुआ व्यञ्जकत्व देखा गया है उसी से इसका रूप हमारे लिये उन सबसे विलक्षण सिद्ध होता है। वही कहते हैं—'वह इस प्रकार' इत्यादि।

## तारावती

है तो जाने दीजिये। इसके विपरीत तो व्याप्ति बन ही सकती है कि जहाँ जहाँ अनुमान होता है वहाँ वहाँ व्यञ्जना होती है। इस व्याप्ति को आप कैसे छिपा सकते हैं? यहाँ पर पूछनेवाले का आशय यह है कि हम इस बात को मान सकते हैं कि सब प्रकार की व्यञ्जनायें अनुमान नहीं कही जा सकती। किन्तु इस बात का तो प्रतिपादन ग्रन्थकार ने ही किया है कि शब्दों के अर्थ के अतिरिक्त वाक्यार्थ रूप जो वक्ता का अभिप्राय होता है वह अनुमानगम्य ही हुआ करता है। अतः यहाँ पर ऐसी व्याप्ति बनाई जा सकती है कि जहाँ जहाँ अभिप्रायरूप वाक्यार्थ में

## तारावती

अनुमिति होती है वहाँ वहाँ व्यञ्जनाव्यापार होता है अर्थात् वक्ता का अनुमित अभिप्राय व्यंग्य ही होता है। यदि समस्त व्यञ्जनायें अनुमान नहीं हो सकती (क्योंकि प्रदीप इत्यादि बिना अनुमान के ही व्यञ्जक होते हैं) तो अनुमित अभिप्राय में व्यञ्जना का निषेध कौन करेगा? (उत्तर) (इस पर तो पहले ही विचार किया जा चुका है कि) शब्दों की जिस व्यञ्जकता से अभिप्रायरूप ऐसे वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है जो अनुमान का विषय बनने की क्षमता रखता है वैसी अभिव्यक्ति ध्वनि की प्रयोजिका नहीं होती। कारण यह है कि उस प्रकार की व्यञ्जना का व्यापार अभिप्राय की अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहता है। उसका प्रसार अभिप्राय से अतिरिक्त अन्य वस्तु, रस और अलङ्कार की व्यञ्जनाओं तक नहीं हो सकता। इस प्रकार अभिप्राय की व्यञ्जना में अव्याप्ति दोष आ जाता है और वह व्यञ्जना का पूरा रूप नहीं मानी जा सकती तथा वह ध्वनि की प्रयोजिका नहीं होती। (प्रश्न) यदि अभिप्रायविषयक व्यञ्जकत्व ध्वनि व्यवहार की प्रयोजक नहीं होती तो फिर आपने इस ध्वनिनिरूपण के प्रकरण में उसका उल्लेख ही क्यों किया? आपका उल्लेख करना ही यह सिद्ध करता है कि अभिप्रायव्यञ्जना भी ध्वनिसिद्धान्त की प्रयोजिका होती है। यह अभिप्रायव्यञ्जना अनुमान से गतार्थ हो जाती है क्योंकि इसका योगक्षेम अनुमान का जैसा ही होता है। इस प्रकार अनुमान और व्यञ्जकत्व का व्याप्य-व्यापक भाव मानना अनिवार्य हो जाता है। इसका समाधान आपके पास क्या है? (उत्तर) हमने जो पिछले प्रकरण में अभिप्राय व्यञ्जना का उल्लेख किया है उससे यह कभी सिद्ध नहीं होता कि अभिप्राय व्यञ्जना ध्वनितत्त्व की प्रयोजिका होती है। अभिप्रायव्यञ्जना के उल्लेख का मन्तव्य केवल इतना ही है कि वहाँ पर व्यञ्जना सिद्ध की जा रही थी और मैं यह दिखलाना चाहता था कि व्यञ्जना के सिद्धान्त को वे लोग भी अस्वीकार नहीं कर सकते जो लोग शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य नहीं मानते अपितु औत्पत्तिक मानते हैं। इस प्रकरण के प्रारम्भ करने का मेरा मन्तव्य यही है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी सिद्धान्त का माननेवाला क्यों न हो यह व्यञ्जना तो उसे माननी ही पड़ेगी, चाहे वह लिङ्ग और लिङ्गी (हेतु और साध्य) के रूपमें माने या किसी और रूपमे। वाचक शब्दों मे भी व्यञ्जना होती हैं और अवाचक शब्दों में भी। यह व्यञ्जना कहीं अनुमान के रूप में प्रकाशित होती है जैसे अभिप्राय की व्यञ्जना में (इस व्यञ्जना को मानने के लिये नैय्यायिक बाध्य है।) कहीं प्रत्यक्ष के द्वारा व्यञ्जना होती है जैसे दीपालोक वस्तुओं की व्यञ्जना करता है। कहीं कारण के रूप में व्यञ्जना होती है जैसे गीतध्वनि इत्यादि में रस की कारणता

## लोचन

ननु प्रसिद्धस्य किमर्थं रूपसङ्कोचः क्रियते अभिधाव्यापारगुणवृत्त्यादेः। तस्यैव सामग्र्यन्तरोपनिपाताद्यद्विशिष्टं रूपं तदेव व्यञ्जकत्वमुच्यतामित्याशङ्क्याह—तदन्तःपातित्वेऽपीति। न वयं संज्ञानिवेशनादि निषेधाम इति भावः। विप्रतिपत्तिस्तादृग्विशेषो नास्तीति व्युत्पत्तिः संशयाज्ञाननिरासः। न हीति। उपयोगिषु विशेषेषु यानि लक्षणानि तेषाम्। उपयोगिपदेनानुपयोगिनां काकदन्तादीनां व्युदासः। एवं हीति। त्रिपदार्थसङ्करी सत्तेत्यनेनैव द्रव्यगुणकर्मणां लक्षितत्वाच्छ्रुतिस्मृत्यायुर्वेदधनुर्वेदप्रभृतीनां सकललोकयात्रोपयोगिनामनारम्भः स्यादितिभावः। विमतिविषयत्वे हेतुः—अविदितसतत्त्व इति। अत एवाधुनात्र न कस्यचिद्विमतिरेतस्मात् क्षणात्प्रभृतीति प्रतिपादयितुम्—आसीत् इत्युक्तम् ॥ ३३ ॥

(प्रश्न) प्रसिद्ध अभिधा और गुणवृत्ति इत्यादि का रूपसंकोच क्यों किया जा रहा है? दूसरी सामग्री के उपनिपात से जो विशिष्ट रूप ही व्यञ्जकत्व कह दिया जाय यह आशङ्का करके कहते हैं—'उसके अन्दर आने से भी' यह। भाव यह है कि हम संज्ञानिवेशन आदि का निषेध नहीं कर रहे हैं। विप्रतिपत्ति का अर्थ है—उस प्रकार का विशेषतत्त्व (व्यञ्जनाव्यापार) नहीं है यह व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति का अर्थ है संशय और अज्ञान का निराकरण। 'नहि' इत्यादि। उपयोगी विशेषों के जो लक्षण हैं उनका। उपयोगी शब्द से अनुपयोगी काकदन्त इत्यादि का निराकरण हो जाता है। 'इस प्रकार निस्सन्देह' इत्यादि। भाव यह है कि 'तीन पदार्थों से सङ्कीर्ण सत्ता' इतने से ही द्रव्यगुणकर्मों के लक्षित होने से श्रुति स्मृति आयुर्वेद इत्यादि सभी लोकयात्रोपयोगी वस्तुओं का आरम्भ ही न हो। विमतिविषयता में हेतु बतलाते हैं—'अविदितसतत्त्व' यह। अतएव इसी क्षण से लेकर इस विषय में किसी की विमति नहीं है यह प्रतिपादन करने के लिये ही 'था' इस शब्द का प्रयोग किया गया।

## तारावती

विद्यमान है। कहीं व्यञ्जना अभिधा से अनुगृहीत होती है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में अभिधामूलक व्यञ्जना होती है। कहीं गुणवृत्ति के द्वारा व्यञ्जना अनुगृहीत होती है जैसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि में लक्षणामूलक व्यञ्जना हुआ करती है। इस प्रकार अनुमान, प्रत्यक्ष, कारणता, अभिधा और लक्षणा ये सब व्यञ्जना के अनुग्राहक ही होते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि व्यंजना नियम से सबका रूप नहीं अपितु इन सबसे विलक्षण होती है।

(प्रश्न) व्यञ्जना में अभिधाव्यापार गुणवृत्ति इत्यादि तो रहा ही करते हैं। वे तत्त्व प्रसिद्ध ही हैं। इनका अपलाप किया ही नहीं जा सकता। आपने एक दूसरी

तारावती

वस्तु की और कल्पना कर ली और उसका नाम व्यञ्जना रख लिया। इस कल्पित वस्तु से प्रसिद्ध अभिधा इत्यादि व्यापारों के रूपसङ्कोच की क्या आवश्यकता? उचित तो यह है कि स्वयं व्यञ्जना की यह परिभाषा कर दीजिये कि अभिधा और गुणवृत्ति ही दूसरी सामग्री के आ पड़ने से जो विशिष्ट रूप धारण कर लेती हैं वही व्यञ्जना है। यह व्यञ्जना और कुछ नहीं विशेष प्रकार की अभिधा और विशेष प्रकार की गुणवृत्ति ही है। अपने ही विशिष्ट प्रकार के द्वारा किसी एक वस्तु का रूपसङ्कोच कैसे किया जा सकता है? (उत्तर) यदि आप हठपूर्वक हमारी बतलाई हुई वस्तु (व्यञ्जना) की दूसरी संज्ञा (विशिष्ट अभिधा और विशिष्ट व्यञ्जना) ही रखना चाहते हैं तो हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। आप उसका यही नामकरण कर लीजिये। विप्रतिपत्ति तो वस्तुतः किसी तत्त्व के विषय में होती है। क्योंकि विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है विरुद्ध प्रतिपत्ति या किसी तत्त्व के विषय में यह कहना कि जो विशेष बतलाया जा रहा है वह नहीं है। यही विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है। जब आप उस तत्त्व को मानते ही हैं तब उस विषय में जो भी विरोध उत्पन्न होंगे उनका निराकरण करने के लिये आपको उसकी व्याख्या करनी ही होगी फिर आप नाम उसे चाहे जो दें। दूसरी बात यह है कि यदि आप उस तत्त्व को मानते हैं तो सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये भी आपको उसकी व्याख्या करनी ही होगी। व्युत्पत्ति का अर्थ है सन्देह और अज्ञान का निराकरण। सहृदयों को उस तत्त्व के विषय में सन्देह भी हो सकता है और उसके विषय में उनमें अज्ञान भी हो सकता है। उसका निराकरण तो आवश्यक है ही। इस प्रकार आप उस विशिष्ट तत्त्व को छलपूर्वक छिपा नहीं सकते और न आपको उसका विरोध ही करना चाहिये। आप यह भी नहीं कह सकते जब व्यंजना विशिष्ट प्रकार की अभिधा या विशिष्ट प्रकार की गुणवृत्ति ही है तब अभिधा और गुणवृत्ति का सामान्य लक्षण कर देने भर से वह विशिष्ट तत्त्व भी गतार्थ हो जायगा; उसकी पृथक् व्याख्या करने की क्या आवश्यकता? जब सामान्य का लक्षण बना दिया जाता है तब उस सामान्य के अन्दर बहुत से उपयोगी विशेष तत्त्व रह जाते हैं; उन तत्त्वों का लक्षण बनाना भी आवश्यक ही होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्य का लक्षण बना देने के बाद विशेषों का लक्षण बनाना व्यर्थ होता है हाँ यदि अनुपयोगी काकदन्त जैसी कोई वस्तु हो तो उसका लक्षण बनाना व्यर्थ भी हो सकता है। उदाहरण के लिये वैशेषिक दर्शन में पहले तो सातों पदार्थों और उनके अवान्तर भेदों का परिगणन किया गया; उसके बाद 'सदनित्यं....' इत्यादि सूत्र के द्वारा यह बतलाया गया कि द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थ सत्तावाले अनित्य इत्यादि होते हैं। सत्ता का होना इत्यादि सामान्य के लक्षण हैं।

## ध्वन्यालोकः

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥३४॥

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्येत । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता ।

(अनु०) 'काव्य का दूसरा प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक दिखलाई देता है जिसमें व्यङ्ग्य के साथ अन्वय करने मे वाच्यचारुता अधिक प्रकृष्ट हो जाय' ॥३४॥

ललनालावण्य के समान जो व्यङ्ग्य अर्थ पहले प्रतिपादित किया गया था उसकी प्रधानता होने पर 'ध्वनि' यह कहा गया । उसके गौण हो जाने से वाच्यचारुता के प्रकर्ष मे गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का काव्यप्रभेद प्रकल्पित किया जाता है । उसमें तिरस्कृतवाच्य ( शब्दों ) के द्वारा प्रतीत होनेवाले वस्तुमात्र व्यङ्ग्य के वाच्यरूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव हो जाने पर गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है ।

## तारावती

यदि कहो कि सामान्य के लक्षण बना देने के बाद विशेष के कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती तो फिर द्रव्य इत्यादि के अवान्तर भेदों के लक्षण ही व्यर्थ हो जायँ और श्रुति स्मृति आयुर्वेद धनुर्वेद इत्यादि जो तत्त्व समस्त लोकजीवन के लिये उपयोगी है उनका तो प्रारम्भ ही न हो। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्य का लक्षण बना देने के बाद विशेष का लक्षण बनाना व्यर्थ हो जाता है । अतएव सामान्य अभिधा और गुणवृत्ति का लक्षण बना देने पर भी उसमें विशिष्ट रूपसे रहनेवाली व्यञ्जना की व्याख्या निरर्थक नहीं कही जासकती । इस प्रकार—

'काव्य का यह प्रकार ध्वनि के नाम से प्रसिद्ध है । अभीतक विद्वानों की असहमति का यह इतना अधिक विषय था मानो यह लोगों को विदित ही न हो ।' यह यहाँ पर व्यक्त कर दिया गया ।

अविदित होने के समान होना असहमति का हेतु है । यहाँ पर 'आसीत्' इस भूतकाल की क्रिया का प्रयोग किया गया है । इसका आशय यह है कि अब जब कि मैंने बहुत ही साङ्गोपाङ्ग रूपमें ध्वनि का विवेचन कर दिया है, यह ध्वनि सिद्धान्त का विरोध इसी क्षण से अतीत की वस्तु बन गया । ( अब इसका विरोध करने का साहस किसी को भी न होगा ) ॥ ३३ ॥

## लोचन

एवं यावद्ध्वनेरात्मीयं रूपं भेदोपभेदसहितं यच्च व्यञ्जकभेद मुखेनरूपं तत्सर्वं प्रतिपाद्य प्राणभूतं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमेकप्रघट्टकेन शिष्यबुद्धौ विनिवेशयितुं व्यञ्जकवादस्थानं रचितमिति ध्वनिं प्रति यदुक्तव्यं तदुक्तमेव। अधुना तु गुणीभूतोऽप्यर्थं व्यङ्ग्यः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुना द्वारेण तस्यैवात्मकत्वं समर्थयितुमाह—प्रकार इति। व्यङ्ग्येनान्वयो वाच्यस्योपस्कार इत्यर्थः। प्रतिपादित इति। 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यत्र। उक्तमिति। 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यत्रान्तरे व्यङ्ग्यं च वस्त्वादित्रयं तत्र वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य ये भेदा उक्तास्तेषां क्रमेण गुणभावं दर्शयति—तत्रेति।

इस प्रकार भेदोपभेदों के सहित ध्वनि के समस्त आत्मीयभेद और जो व्यञ्जक भेद के द्वारा रूप उस सबका प्रतिपादन कर (ध्वनि के) प्राणरूप में स्थित व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव को एक प्रघट्टक में ही शिष्यबुद्धि में निविष्ट करने के लिये व्यञ्जक के वादस्थान की रचना कर दी गई। इस प्रकार ध्वनि के विषय में जो कहना था वह कह ही दिया। अब तो गुणीभूत भी यह व्यङ्ग्य कविवाणियों को पवित्र करता है इसके द्वारा उसी के आत्मत्व का समर्थन करने के लिये कहते हैं—'प्रकार···' इत्यादि। व्यङ्ग्य के साथ अन्वय अर्थात् वाच्य का उपस्कार। 'प्रतिपादन किया गया' यह। 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका में। 'कहा गया यह। 'यत्रार्थः शब्दो वा' इसके अन्दर। व्यङ्ग्य तो वस्तु इत्यादि तीन होते हैं, उसमें व्यङ्ग्यवस्तु के जो भेद बतलाये गये थे उनका क्रमशः गुणीभाव दिखलाते हैं—'वहाँ पर' यह।

## तारावती

ध्वनि के विषय में जो कुछ कहना था वह सब यहाँ तक कह दिया गया। ध्वनि के विषय में सम्भावित वैमत्य, ध्वनि का स्वरूप, वैमत्यों का निराकरण, व्यङ्ग्य की दृष्टि से ध्वनि के भेदोपभेद और व्यञ्जक की दृष्टि से ध्वनि के भेद तथा उनके स्वरूप इन सब विषयों पर तो प्रकाश डाला ही गया, साथ ही ध्वनि का प्राणतत्त्व व्यञ्जनाव्यापार है यह समझकर व्यञ्जना के विषय में वादविवाद उठाया गया और एक प्रघट्टक में ही शिष्यगण व्यञ्जना का ठीक रूप समझ सकें इसके लिये अनेक पक्षों के द्वारा व्यञ्जना की सत्ता सिद्ध कर दी गई। अब ध्वनि का जहाँ तक सम्बन्ध है कुछ कहने को शेष नहीं रहा। इस विषय में जो कुछ कहना था वह सब कह दिया। यह व्यञ्जनातत्त्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि कविगण इसका आश्रय लेकर इसे मुख्यरूप में निबद्ध कर सके और इसे ध्वनि के प्रतिष्ठित पद पर आसीन कर सकें तब तो कुछ कहना ही नहीं; यदि वे इसका सहारा लेते हैं और इसको मुख्य नहीं बना पाते गौणरूप में निबद्ध करके ही छोड़ देते तब भी

ध्वन्यालोकः

यथा—लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

(अनु०) जैसे—'यह यहाँ पर दूसरी ही कौन लावण्य का समुद्र है, जिसमे चन्द्रमा के साथ उत्पल तैर रहे हैं, जिसमें हाथी के मस्तक का तट ऊपर को उठ रहा है और जहाँ दूसरे कदली के स्तम्भ और मृणाल दण्ड विद्यमान हैं।'

तारावती

व्यङ्ग्यार्थ कविवाणी को पवित्र कर ही देता है। अतएव इस तत्त्व को काव्य में प्रमुखरूपता और काव्य की आत्मरूपता प्राप्त होनी ही चाहिये। इस चौंतीसवीं कारिका मे गुणीभूत व्यङ्ग्य की परिभाषा दीगई है। इसका आशय यही है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य भी जब इतना महत्त्वपूर्ण होता है तब प्रधानीभूत व्यङ्ग्य पर आधृत ध्वनि का तो कहना ही क्या? कारिका का अर्थ यह है-जहाँ व्यङ्ग्यार्थ स्वयं प्रधानीभूत नहीं होता किन्तु उसका वाच्य के साथ अन्वय हो जाता है और व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाक्यार्थ में ही चारुता का उत्कर्ष होता है उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं। यह भी काव्य का एक दूसरा प्रकार है और यह भी कविवाणी में प्रायः दृष्टिगत हुआ करता है। प्रथम उद्योत में यह बतलाया जा चुका है कि जिस प्रकार आँख नाक-कान इत्यादि अङ्गसंस्थान में सम्मिलित न हो सकनेवाला ललनाओं का लावण्य एक पृथक् ही वस्तु है जो समस्त अङ्गसंस्थान को आप्यायित किया करता है उसी प्रकार वाच्य अर्थों में सन्निविष्ट न हो सकनेवाला व्यङ्ग्यार्थ एक पृथक् ही वस्तु है जो वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्टता को प्राप्त होकर ध्वनि का रूप धारण कर लेता है। यदि वही व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के साथ अन्वित हो जाय और व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ मे चारुता का अधिक प्रकर्ष हो तो व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो जाता है जिससे इसका नाम गुणीभूत व्यङ्ग्य पड़ जाता है, यह काव्य का एक दूसरा ही भेद मान लिया जाता है। वाच्य के साथ व्यङ्ग्य का अन्वय होने का आशय यह है कि व्यंग्य वाच्य का उपस्कार कर देता है और इस प्रकार उसका गुण बन जाता है। इसीलिये इसे गुणीभूत कहने लगते हैं। अब यहाँ पर यह दिखलाया जा रहा है कि व्यंग्य के जितने भी भेद बतलाये गये हैं वे सब गुणीभूत हो जाते हैं। व्यंग्य तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलङ्कार और रस। वस्तु व्यञ्जना दो प्रकार की होती है अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य दो प्रकार का होता है अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। सर्वप्रथम अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य को लीजिये—इसमें तिरस्कृत वाच्यों के द्वारा प्रतीतिगोचर होनेवाले व्यंग्यार्थ वस्तु का कदाचित् वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव हो जाता है। जैसे—

## लोचन

लावण्येति। अभिलाषविस्मयगर्भेयं कस्यचित्तरुणस्योक्तिः। अत्र सिन्धुशब्देन परिपूर्णता, उत्पलशब्देन कटाक्षच्छटाः, शशिशब्देन वदनं, द्विरदकुम्भतटीशब्देन स्तनयुगलं, कदलिकाण्डशब्देनोरुयुगलं, मृणालदण्डशब्देन दोर्युग्ममिति ध्वन्यते। तत्र चैषां स्वार्थस्य सर्वथानुपपत्तेरन्धशब्दोक्तेन न्यायेन तिरस्कृतवाच्यत्वम्। स च प्रतीयमानोऽप्यर्थविशेषः 'अपरैव हि केयं' इत्युक्तिगर्भीकृते वाच्येंऽशे चारुत्वच्छायां

'लावण्य' इत्यादि। किसी तरुण की यह अभिलाषा और विस्मय से गर्भित उक्ति है। यहाँ सिन्धु शब्द से परिपूर्णता, उत्पल शब्द से कटाक्ष की शोभा, शशि शब्द से मुख, द्विरदकुम्भतटी शब्द से दो स्तन, कदली काण्ड शब्द से दोनों ऊरु और मृणाल दण्ड शब्द से दोनों बाँहें ध्वनित होती हैं। यहाँ इन शब्दों की स्वार्थ मे सर्वथा अनुपपत्ति के कारण अन्ध शब्द में बतलाये हुये न्याय से तिरस्कार वाच्यत्व होता है। वह प्रतीयमान भी अर्थ विशेष 'यह दूसरी कौन है' इस उक्ति के गर्भीकृतवाच्य अंश मे चारुता की छाया का आधान करता है क्योंकि

## तारावती

कोई तरुण किसी नायिका तरुणी के सौन्दर्य पर रीझ कर अभिलाषा और विस्मय के साथ कह रहा है—

'यह कोई विचित्र प्रकार की एक भिन्न ही नदी दृष्टिगत हो रही है; नदी जल से परिपूर्ण होती है यह लावण्य से भरी हुई है, इसमे चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं; इसमे हाथी की कुम्भतटी ऊपर को उठ रही है और इसमें दूसरे ही प्रकार के कदली स्तम्भ और मृणाल दण्ड दिखलाई पड़ रहे हैं।'

यहाँ सिन्धु ( नदी ) की उपमा से व्यक्त होता है कि नायिका लावण्य से परिपूर्ण है ( सिन्धु समुद्र को भी कहते हैं और विशाल नदी को भी। ) चन्द्रमा से मुख और कमलों से कटाक्ष की शोभा अभिव्यक्त होती है। ( चन्द्रमा और कमल साथ-साथ तैर रहे हैं इस कथन से व्यक्त होता है कि नायिका के कटाक्ष तथा मुख दोनों चञ्चल हैं। मुख की चञ्चलता नायिका की विलास-चेष्टाओं को अभिव्यक्त करती है। ) हाथी के कुम्भतट से दोनों स्तनों के विस्तार का, कदली स्तम्भों से दोनों ऊरुओं का और मृणाल दण्डों से दोनों भुजाओं का अभिव्यंजन होता है। यहाँ पर वाच्यार्थ यही है कि यह लावण्य की नदी है; इसमे कमल और चन्द्र साथ साथ तैर रहे है, हाथी का मस्तकतट उठता हुआ दिखलाई देता है और इसमें कदली स्तम्भ तथा मृणाल दण्ड पड़े हुये है। यह वाच्यार्थ बाधित है क्योंकि नदी जल-परिपूर्ण होती है लावण्य से भरीहुई नहीं; नदी में चन्द्र और कमल साथ-साथ तैर ही नहीं सकते और न लावण्य के प्रवाह मे हाथी का मस्तक कदली स्तम्भ और

## लोचन

विधत्ते, वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभानात्। सुन्दरत्वं चास्यासम्भाव्यमानसमागमसकललोकसारभूतकुवलयादिभाववर्गस्य अतिसुभगैकाधिकरणविश्रान्तिलब्धसमुच्चयरूपतया विस्मयविभावताप्राप्तिपुरस्कारेण व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतस्य तथा विचित्रस्यैव वाच्यरूपोन्मज्जनेनाभिलाषादिविभावत्वात्। अत एवेयति यद्यपि वाच्यस्य प्राधान्यं तथापि रसध्वनौ तस्यापि गुणतेति सर्वस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रकारे मन्तव्यम्। अत एव ध्वनेरेवात्मत्वमित्युक्तचरं बहुशः।

व्यङ्ग्य समूह को नियन्त्रितकर वाच्य ही अपनी आत्मा को ऊपर उठाकर सुन्दर के रूप में अवभासित होता है। कुवलय इत्यादि वस्तुसमूह ( सौन्दर्य मे ) समस्त लोक का साररूप है, उनका एक साथ में समागम सर्वथा असंभावित है, किन्तु अत्यन्त मनोरम ( स्त्रीरूप ) एक अधिकरण को प्राप्तकर उसमें विश्रान्त होने के कारण वह समुच्चयरूप में स्थित हो गया है। इससे पहले तो उसको विस्मय की विभावरूपता प्राप्त हो जाती है फिर व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत उस प्रकार विचित्र तत्त्व को ही वाच्यरूप में उन्मज्जित होने से अभिलाषा इत्यादि की विभावरूपता प्राप्त हो जाती है जिससे उसमे सुन्दरता आ जाती है। अतएव यद्यपि इतने तक तो वाच्य की प्रधानता है तथापि रसध्वनि में उसको भी गौणरूपता प्राप्त हो जाती है यह बात सभी गुणीभूतव्यङ्ग्यों के प्रकार में मानी जानी चाहिये। इसीलिये बहुशः यह बात कही गई है कि ध्वनि को ही आत्मत्व प्राप्त होता है।

## तारावती

मृणालदण्ड ही दृष्टिगत हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' मे दर्पण को अन्धा कहने में उसका अर्थ एकदम तिरस्कृत हो जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी चन्द्र, कमल इत्यादि शब्दों का वाच्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है। अतएव यहाँपर मुख कटाक्ष इत्यादि के सौन्दर्य की जो प्रतीति होती है वह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य व्यंजना कही जायेगी। 'यह कोई दूसरी ही कौन नदी है अर्थात् यह किस प्रकार की नदी है यह समझ में नहीं आता।' इस उक्ति में जो वाच्यांश है, व्यंग्यार्थ उसी मे काव्यचारुता की प्रतीति में हेतुभूत शोभा का आधान करता है। 'इसमें लावण्य भरा हुआ है' 'इसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' 'इसके कटाक्ष कमलों के समान सुन्दर हैं' इत्यादि व्यंग्यार्थ नीचा पड़ जाता है और वाच्यार्थ 'लावण्य-नदी में चन्द्रमा और कमल साथ-साथ तैर रहे हैं' में अधिक चमत्कार की प्रतीति होती है। इस प्रकार वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को दबाकर अपनी आत्मा को ऊपर उठा देता है और उसी में चारुता का प्रतिभास होता है। वाच्यार्थ मे सुन्दरता यही है कि चन्द्र और कमल ये दोनों तत्त्व संसार में सुन्दरता

## लोचन

अन्ये तु जलक्रीडावतीर्णतरुणीजनलावण्यसुन्दरीकृतनदीविषयेयमुक्तिरिति सहृदयाः। तत्रापि चोक्तप्रकारेणैव योजना। यदि वा नदीसन्निधौ स्नानावतीर्णयुवतिविषया। सर्वथा तावद्विस्मयमुखेनेयतिव्यापाराद् गुणता व्यङ्ग्यस्य।

दूसरे सहृदय तो कहते हैं कि जलक्रीड़ा के लिये अवतीर्ण तरुणीजन के लावण्यद्रव से सुन्दर बनाई हुई नदी के विषय में यह उक्ति है, उसमें भी उक्त प्रकार की ही योजना की जानी चाहिये। अथवा नदी के निकट स्नान के लिये युवतियों के विषय मे यह उक्ति है। सब प्रकार से विस्मय के द्वारा इतना होने के कारण व्यङ्ग्य को गुणीभाव प्राप्त होता है।

## तारावती

का सार माने जाते हैं। किन्तु ये दोनों एकसाथ न तो कभी रहते है और न इनके रहने की सम्भावना ही की जा सकती है। किन्तु उनको एक अद्वितीय रमणीय नायिका का शरीर प्राप्त हो गया है जिससे वे अपने नैसर्गिक विरोध को छोड़कर एक साथ दृष्टिगत होने लगे हैं। इन दोनों का एकसाथ दृष्टिगत होना विस्मय का विभाव बन गया है। यह विस्मय की विभावरूपता पहले आती हैं' फिर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है जिससे नायिका के मुख नेत्र इत्यादि का सौन्दर्यबोध होता है। वह विस्मय को उत्पन्न करनेवाला विचित्र तत्त्व ही वाच्य से उपस्कृत हो जाता है। अर्थात् कुवलय और चन्द्र इत्यादि का एक साथ होना एक विचित्र वाच्यत्व है, उसमें नायिका के मुख नेत्र इत्यादि के सौन्दर्य का समावेश हो जाता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का ही उपकार करता है और वाच्यार्थ ऊपर उठा हुआ दिखलाई देने लगता है जिससे हम कटाक्ष, वदन इत्यादि को कुवलय और चन्द्र इत्यादि के रूप में देखने लगते हैं। तब नायिका का मुखचन्द्र तथा नेत्रकमल इत्यादि अभिलाषा का विभाव बन जाते हैं। यही वाच्य की सुन्दरता का आशय है और इसीलिये व्यंग्य को केवल उपस्कारक और वाच्य का प्रधान माना गया है। इस प्रकार वाच्य की अपेक्षा गौण बनकर व्यंग्य गुणीभूत हो जाता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वाच्य की प्रधानता इतने ही अंश में है कि वाच्य विस्मय का विभाव बनकर और व्यंग्य से उपस्कृत होकर अभिलाषा का विभाव बन जाता है। इसके बाद जो नायक की रति अभिव्यक्त होकर शृङ्गाररस के रूप में ध्वनित होती है उसके प्रति तो यह वाच्य गौण बन जाता है। रसध्वनि ही प्रधान हो जाती है। जहाँ कहीं गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है। वहाँ सर्वत्र यही दशा होती है कि पहले एक व्यङ्ग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा गौण होता है; फिर वह वाच्यार्थ रसध्वनि में आत्मसमर्पण कर देता है और पर्यवसान

ध्वन्यालोकः

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्य-प्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता, यथोदाहृतम्—'अनुरागवती सन्ध्या' इत्येवमादि। तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशितत्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्—'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि। रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे दर्शितः; तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहन-प्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत्। व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः।

(अनु०) अतिरस्कृतवाच्य शब्दों से भी प्रतीयमान व्यंग्य की कदाचित् वाच्य-चारुत्व की अपेक्षा गुणीभाव हो जानेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यता हो जाती है, जैसे उदाहरण दिये हुये—'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि में। उसी का अपनी उक्ति से प्रकाशित होने के कारण गुणीभाव जैसे उदाहरण दिये हुये 'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि मे। रसादिरूप व्यंग्य का गुणीभाव रसवदलंकार में दिखलाया गया; और उसमे उनका आधिकारिक वाक्य की अपेक्षा गुणीभाव विवाह में प्रवृत्त भृत्य के अनुयायी राजा के समान होता है। व्यंग्य अलंकार के गुणीभाव में दीपक इत्यादि का विषय होता है।

तारावती

रसध्वनि में ही होता है। यही कारण है कि सामान्य व्यञ्जना को काव्य की आत्मा नहीं माना गया है अपितु अनेक बार यह कहा गया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि ही होती है। कुछ लोगों ने इस पद्य का अवतरण इस प्रकार लगाया है कि युवतियों का समूह जलक्रीडा के लिये किसी सरोवर में उतरा है जिससे सुन्दरियों के लावण्यरूप द्रव से नदी अधिक सुन्दर बन गई है। उस नदी का ही इस पद्य में वर्णन किया गया है। इस अवतरण मे भी इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये। (नदी का वर्णन मानने मे 'लावण्यसिन्धु' का अर्थ करना पड़ेगा लावण्य से परिपूर्ण नदी अथवा लावण्य के कारण सुन्दरता को प्राप्त नदी। उत्पल इत्यादि शब्दों मे तो पहले की बतलाई हुई परिपाटी ही लागू होगी, उसमें उसी प्रकार व्यञ्जनायें मानी जावेंगी। किन्तु इस व्याख्या मे यह दोष है कि एक तो सिन्धु का वर्णन प्रधान हो जाता है नायिका का नहीं। दूसरी बात यह है कुवलय और चन्द्र दोनों का एक में आना भी सिद्ध नहीं होता जो विस्मय का विभाव है। इस व्याख्या से सहृदय व्यक्ति का सरोवर की ओर आकृष्ट होना सिद्ध होता है नायिका की ओर नहीं, अतः वाच्य अभिलाष का विभाव भी नहीं बनता। अतः यह व्याख्या त्याज्य है।) अथवा नायिका नदी के निकट स्नान करने के लिये अवतीर्ण हुई है, उस नायिका का वर्णन ही प्रस्तुत पद्य में किया गया है। चाहे कोई व्याख्या क्यों न की

## लोचन

उदाहृतमिति। एतच्च प्रथमोद्योत एव निरूपितम्। अनुरागशब्दस्य चाभिलाषे तदुपरक्तत्वलक्षणया लावण्यशब्दवत् प्रवृत्तिरित्यभिप्रायेणातिरस्कृतवाच्यत्वमुक्तम्। तस्यैवेति। वस्तुमात्रस्य। रसादीति। आदिशब्देन भावादयः रसवच्छब्देन प्रेयस्वि-प्रभृतयोऽलङ्कारा उपलक्षिताः। नन्वत्यर्थं प्रधानभूतस्य रसादेः कथं गुणीभावः? गुणीभावे वा कथमचारुत्वं न स्यादित्याशङ्क्य प्रत्युत सुन्दरता भवतीति प्रसिद्धदृष्टान्त-मुखेन दर्शयति—तत्र चेति। रसवदाद्यलङ्कारविषये। एवं वस्तुनो रसादेश्च गुणीभावं प्रदर्श्यालंकारात्मनोऽपि तृतीयस्य व्यङ्ग्यप्रकारस्य तं दर्शयति—व्यङ्ग्यालंकारस्येति। उपमादेः॥ ३४॥

'उदाहरण दिया गया' यह। यह तो प्रथम उद्योत में ही निरूपित कर दिया गया। और अनुराग शब्द की उसके उपरक्तत्व की लक्षणा से अभिलाष मे लावण्य शब्द के समान प्रवृत्ति होती है इस अभिप्राय से अतिरस्कृतवाच्यत्व कह दिया गया। 'उसी का' यह। वस्तुमात्र का। 'रसादि' यह। आदि शब्द से भाव इत्यादि और रसवत् शब्द से प्रेयस्वी इत्यादि अलङ्कार उपलक्षित होते हैं। (प्रश्न) अत्यन्त प्रधानभूत रस इत्यादि का गुणीभाव कैसे होता है? अथवा गुणी-भाव होनेपर अचारुता क्यों न हो? यह शङ्का करके प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा दिखलाते हैं—'और वहाँ पर'। यहाँ रसवत् इत्यादि अलङ्कार के विषय में। इस प्रकार वस्तु और रस इत्यादि का गुणीभाव दिखलाकर अलङ्कारात्मक तृतीय व्यंग्य प्रकार के भी उसको (गुणीभाव को) दिखलाते है—'व्यङ्ग्यालङ्कार का' यह। अर्थात् उपमा इत्यादि का।

## तारावती

जाय चमत्कारात्मक व्यापार विस्मय के द्वारा ही होता है जोकि वाच्य के द्वारा अधिगत होता है। इसीलिये प्रत्येक पक्ष मे व्यंग्य को गुणीभूत ही मानना पडेता।

वस्तुव्यञ्जना का दूसरा प्रकार वह होता है जिसमे वाच्यार्थ का तिरस्कार नहीं होता। ऐसे शब्दों से जब व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तब कभी-कभी काव्य-चारुता की दृष्टि से वह व्यंग्य भी वाच्य की अपेक्षा गुणीभाव को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि में पहले उदाहरण दिया जा चुका है। यह उदाहरण प्रथम उद्योत में दिया जा चुका है और इसकी व्याख्या भी की जा चुकी है। (यह समासोक्ति अलङ्कार का उदाहरण है। यहाँ सन्ध्या और दिवस का वर्णन किया गया है, किन्तु उनका बाध नहीं होता। अपितु दम्पति-व्यवहार की जो व्यञ्जना होती है वह सन्ध्या और दिवस के वाच्यार्थ को ही अधिक सुन्दर बना देती हैं। इसीलिये यह गुणीभूतव्यंग्य है।) अनुराग शब्द का अर्थ है वस्तु का उपरञ्जन करना। इस शब्द का अभिलाषा में प्रयोग अनादि परम्परा से

## तारावती

लावण्य के समान रूढ़ रूप मे होता है। सन्ध्या के अर्थ में उपरंजन प्रत्यक्ष सिद्ध है; किन्तु अभिलाषा मे उसका प्रयोग निरूढा लक्षणा के रूप मे किया गया है। इसीलिये इसे अतिरस्कृतवाच्य कह दिया गया है। वस्तुव्यंजना ही कहीं-कहीं पर उस अवस्था मे भी गुणीभूत हो जाती है जब कि उक्ति के द्वारा उसका स्वयं प्रकाशन कर दिया जाय। जैसे—'यह जानकर कि विट सङ्केत काल को जानना चाहता है उस चतुर नायिका ने हँसते हुये नेत्रों से अभिप्राय को प्रकट करते हुये लीलाकमल को सिकोड़ लिया।' यहाँ पर लीलाकमल को सिकोड़ने से सायंकाल की व्यंजना होती है तथापि कवि ने 'आकूत' ( अभिप्राय ) शब्द का प्रयोग कर उस व्यंजना की ओर स्वयं सङ्केत कर दिया है 'अभिप्राय' इस वाच्य अंश की व्याख्या करने के लिये 'लीलाकमल निमीलन' के व्यंग्य को समझाना अनिवार्य है। अतएव वाच्याग होने के कारण यह व्यंग्य गुणीभूत हो गया है। रस इत्यादि व्यंग्यों की गुणीभावरूपता रसवदलङ्कार मे दिखलाई जा चुकी है। रसवत् शब्द उपलक्षण परक है। इससे प्रेयस् इत्यादि का उपलक्षण हो जाता है। ( रस के अलङ्कार होनेपर रसवत् अलङ्कारभाव के अपराग होनेपर प्रेयस्, रसाभास और भावाभास के अपरांग होनेपर ऊर्जस्वी, भावशान्ति के अपराग होनेपर समाहित ये प्राचीन आलङ्कारिकों के बतलाये हुये अलङ्कार हैं। इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता, शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल ध्वनियों की भी अपरागता अलङ्कार की कोटि मे आती है। इनका विस्तृत विवेचन काव्यप्रकाश के पाचवे उल्लास के प्रारम्भ में किया गया है। ) ( प्रश्न ) अत्यन्त प्रधान रूप में स्थित रस इत्यादि का गुणीभाव कैसे हो सकता है ? यदि गुणीभाव हो जाय तो अचारुता क्यों न आयेगी ? यह शङ्का करके उत्तर के रूप मे पूर्व यह कहा जा सकता है कि प्रत्युत सुन्दर ही हो जाता है। इस विषय मे यह एक प्रसिद्ध दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे यदि किसी नौकर का विवाह हो और उसकी बारात मे राजा चला जाय तो राजा अपने नौकर की अपेक्षा वहाँ पर गौण ही होगा तथापि राजा के बारात मे आ जाने से उस बारात की शोभा बढ़ ही जाती है। इसी प्रकार यदि किसी अर्थ में रस पोषक बन जाय तो उस काव्य का सौन्दर्य ही बढ़ जाता है। जब आधिकारिक ( प्रधान ) वाक्यार्थ के प्रति रसगुणीभूत हो जाते हैं तब उनमे गुणीभूतव्यंग्यता आ जाती है। आधिकारिक का अर्थ है वह वस्तु जिसे फल का स्वामित्व प्राप्त हो जाय ( अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः। ) इस प्रकार का फल किसी एक वाक्यार्थ को होता है उसकी सहायता करनेवाले सभी तत्त्व गुणीभूत हो जाते है। यह तो हुई वस्तु और रसव्यंजनाओं के गुणीभूत होने की बात। अब

ध्वन्यालोकः

तथा—

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥ ३५ ॥

(अनु०) उसी प्रकार—

'प्रसन्न और गम्भीर पदवाले जो सुखावह काव्यबन्ध हैं उनमें बुद्धिमान् मनुष्य को इसीप्रकार ( काव्यभेद ) की योजना करनी चाहिये ॥ ३५ ॥

तारावती

अलङ्कार व्यञ्जना को लीजिये—दीपक इत्यादि के विषय में व्यङ्ग्य अलङ्कार गुणीभाव को प्राप्त हो जाता है। ( दीपक अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ प्रकृत और अप्रकृत के एक धर्म का निर्देश किया जाय; जैसे—'कृपणों के धन, सर्पों के फन की मणि, सिंहों के केसर और कुलबालिकाओं के स्तन तब तक कौन छू सकता है। जब तक वे मर न जायँ।' यहाँ कुलबालिकाओं के स्तन प्रस्तुत वर्ण्य विषय हैं और कृपणों के धन इत्यादि अप्रस्तुत। इससे उपमालङ्कार की व्यञ्जना होती है कि—कुलबालिकाओं के स्तन कृपणों के धनों, सर्पों की फणमणियों और सिंहों के केसरों के समान स्पर्श में अशक्य होते हैं। इस प्रकार यहाँ व्यंग्य अलङ्कार उपमा है और वाच्य दीपक। उपमा का मूलाधार होता है सादृश्यविधान और दीपक का मूलाधार है कई एक अप्रस्तुतों की लड़ी सी पिरो देना। यहाँ पर चमत्कार सादृश्य में नहीं अपितु कई एक अप्रस्तुतों के उपादान में है अतः व्यंग्य उपमा गौण हो गई है और वाच्य दीपक प्रधान। अतः यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है। इसी प्रकार दृष्टान्त इत्यादि दूसरे सादृश्यमूलक अलङ्कारों में भी उपमा गर्भित रहती है और गुणीभूत हो जाती है।) इस प्रकार वस्तु, रस और अलंकार तीनों प्रकार के व्यंग्यार्थों को गुणीभाव प्राप्त हो जाता है। ( काव्यप्रकाश में गुणीभूतव्यंग्य के ८ प्रकार बतलाये गये हैं—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यंग्यमेवं गुणीभूतव्यंग्यस्याष्टौ भिदा स्मृताः ॥

अर्थात् ( १ ) अगूढ ( २ ) अपरांग, ( ३ ) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, ( ४ ) अस्फुट, ( ५ ) सन्दिग्धप्राधान्य, ( ६ ) तुल्यप्राधान्य, ( ६ ) काकाक्षिप्त और ( ८ ) असुन्दर, ये ८ भेद गुणीभूतव्यंग के होते हैं।

यद्यपि इसी रूप में ध्वन्यालोक में नहीं गिनाया गया है तथापि विवेचन करने पर अवगत होता है कि इनमें प्रत्येक का मूल आधार ध्वन्यालोक में विद्यमान है। ) ॥ ३४ ॥

ध्वन्यालोकः

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः। यथा—

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तंस धरिणिआ गङ्गा।
आमिअमिअङ्का अ सुआ अहो कुडुम्बं महोअहिणो॥

ये जो अपरिमित स्वरूपवाले भी प्रकाशमान और उस प्रकार के अर्थ से रमणीय होकर विवेकियों को सुख देनेवाले काव्यबन्ध हैं उन सबमे इसी गुणीभूत व्यंग्य नामक प्रकार की योजना करनी चाहिये। जैसे—

'उसकी पुत्री लक्ष्मी, जामाता हरि, गृहिणी गङ्गा, अमृत और मृगाङ्क ये पुत्र हैं; महासागर का कुटुम्ब आश्चर्यजनक है।

लोचन

एवं प्रकारत्रयस्यापि गुणभावं प्रदर्श्य बहुतरलक्ष्यव्यापकतास्येति दर्शयितुमाह—तथेति। प्रसन्नानि प्रसादगुणयोगाद्गभीराणि च व्यङ्ग्यार्थापेक्षकत्वात्पदानि येषु। सुखावहा इति चारुत्वहेतुः। तत्राऽयमेव प्रकार इतिभावः। सुमेधसेति। यस्त्वेतं प्रकारं तत्र योजयितुं न शक्तः स परमलीकसहृदयभावनामुकुलितलोचनोक्त्योपहसनीयः स्यादितिभावः।

इस प्रकार तीनों प्रकारों के गुणीभाव को दिखलाकर इसकी व्यापकता बहुत अधिक लक्ष्यों में है यह दिखलाने के लिये कहते हैं—'तथा' यह। प्रसाद गुण योग से प्रसन्न और व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा करते हुये गम्भीर पद हैं जिनमें। सुखावह इससे चारुताहेतु (बतलाया गया है।) भाव यह है कि उसमे इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये। 'बुद्धिमान् के द्वारा' यह। जो इस प्रकार को उस (काव्य) में संयोजित करने मे समर्थ नहीं है वह केवल मिथ्या 'सहृदयत्व की भावना से मुकुलित नेत्रवाला' इस उक्ति से उपहसनीय ही हो जाय।

तारावती

ऊपर यह सिद्ध किया गया है कि वस्तु, रस और अलङ्कार ये तीनों प्रकार के व्यंग्यार्थ गूणीभूत हो जाते हैं। अब इस ३५ वीं कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि गुणीभूतव्यंग्य का क्षेत्र कम नहीं है। यह भी बहुत अधिक क्षेत्र में व्याप्त है। साथ ही इसका महत्त्व भी कम नहीं है, काव्य की इस विधा का उपयोग तो उच्चकोटि के काव्यों में भी किया जा सकता है। इस कारिका का आशय यह है कि 'बुद्धिमान् कवि को चाहिये कि इस प्रकार की योजना ऐसे काव्यों मे करे जिसमें पदयोजना प्रसाद गुण से परिपूर्ण होने के कारण बहुत स्पष्ट तथा संशयहीन हो

तारावती

तथा व्यंग्यार्थ का आक्षेप करने के कारण उनमें गम्भीरता आ गई हो; इस प्रकार के काव्यबन्ध सुखावह होते हैं। इन काव्यों का स्वरूप अपरिमित होता है और व्यंग्यार्थ की रमणीता से ओतप्रोत होकर तथा प्रकाश में आकर ये विवेकियों को सुख देते हैं। ( यहाँ पर ध्वनिकार का आशय यही है कि ध्वनिकाव्य तो रमणीय होता ही है साथ ही गुणीभूतव्यंग्य का महत्त्व भी कम नहीं है। यहाँ पर दो प्रकार का पाठ अधिगत होता है—दीधिति में 'ये च तेषु प्रकारोऽयमेवं योज्यः सुमेधसा' इस पंक्ति मे एवम्' पाठ रक्खा गया है और उसकी व्याख्या की गई है कि बतलाये हुये तीनों प्रकारों से योजना करनी चाहिये। इस व्याख्या में सबसे बड़ी अनुपपत्ति यह है कि गुणीभूतव्यंग्य की योजना के तीन प्रकारों का उल्लेख ध्वनिकार ( कारिकाकार ) ने नहीं किया है उसका उल्लेख तो आलोककार ने किया है। अतः ध्वनिकार के मत से यह बतलाना कि गुणीभूतव्यंग्य की योजना के तीन प्रकार होते हैं ठीक नहीं है। दूसरा पाठ निर्णयसागरवाली प्रति का है जिसमे 'एवम्' के स्थान पर 'एव' रक्खा गया है। इसके अनुसार प्रस्तुत कारिका का सार यह है कि उच्चकोटि के काव्यों में गुणीभूतव्यंग्य का ही योग करना चाहिये। इसमें भी यह आपत्ति आती है कि गुणीभूतव्यंग्य मध्यम कोटि का काव्य माना जाता है' उत्तम कोटि का नहीं। अतः उत्तम कोटि के काव्य में केवल इसकी ही योजना करनी चाहिये यह कहना कुछ संगत प्रतीत नहीं होता यदि यह कहा गया होता कि इसकी भी योजना करनी चाहिये तब भी कोई बात नहीं थी। मेरी समझ में इस प्रकरण की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिये—सर्वत्र व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता होती है, अन्यथा किसी भी रचना को काव्यरूपता प्राप्त ही नहीं हो सकती। कारण यह है कि ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है और किसी भी रचना को ध्वनिरूपता तभी प्राप्त होती है जब कि उसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो। स्वयं गुणीभूतव्यव्यंग्य भी ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत ही आता है जैसा कि ध्वनिकर ने स्वयं कहा है—

प्रकारोऽयं गुणीभूत व्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥

इस कारिका का आशय यही है कि किसी काव्य को गुणीभूतव्यंग्य केवल इसी दृष्टि से कहा जाता है कि उसमे एक व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है। रसव्यञ्जना तो सर्वत्र प्रधान होती ही है। क्योंकि जबतक कवि का वर्ण्यविषय से भावात्मक सम्बन्ध नहीं होता अथवा कवि पाठकों का भावात्मक सम्बन्ध वर्ण्यविषय से स्थापित नहीं कर सकता तबतक रचना न तो सहृदयहृदयाह्लादकारिणी होती है और न

काव्यरूपता को ही धारण कर सकती है। अतः रसादि की प्रधानता सर्वत्र सिद्ध ही हो जाती है। अब काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) जहाँ वाच्यार्थ में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं होता और न कोई अन्य व्यञ्जना वाच्यार्थ की सहायिका होती है; केवल वाच्यार्थ ही रसादिव्यञ्जना करने में समर्थ होता है वहाँ पर प्रथम प्रकार का काव्य होता है। (२) दूसरे प्रकार का काव्य वह होता है जहाँ पर्यवसान में भावात्मक चमत्कार तो होता ही है और रस इत्यादि की व्यञ्जना सहृदयहृदयाह्लादन में समर्थ होती ही है, साथ में उसमें मध्यवर्तिनी एक और व्यञ्जना होती है। इस प्रकार के काव्य मे वाच्यार्थ या तो इतना उत्कृष्ट कोटि का होता है कि मध्यवर्ती व्यंग्य उसके सामने दब जाता है अथवा वाच्यार्थ की पूर्ति ही व्यंग्यार्थ के द्वारा होती है। स्वाभाविक बात है कि इस प्रकार का काव्य प्रथम प्रकार की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट होता है। क्योंकि रसादि में पर्यवसान तो दोनों में एक जैसा होता है। प्रथम प्रकार में वाच्यार्थ अधिक उत्कृष्ट नहीं होता किन्तु इस प्रकार में वाच्यार्थ अधिक उत्कृष्ट होता है। प्रथम प्रकार मे वाच्यार्थ मे रमणीयता उत्पन्न करनेवाला कोई अन्य व्यंग्यार्थ नहीं होता किन्तु इस प्रकार में कोई अन्य तत्त्व अभिव्यक्त होकर वाच्यार्थ में रमणीयता का आधान कर देता है। इसी मन्तव्य से यहाँ पर कहा गया है कि उच्चकोटि की रचनाओं में इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये। आशय यह है कि वही काव्य उत्कृष्ट माना जाता है जिसमे वाच्यार्थ चमत्कारपूर्ण हो और उसमें किसी व्यंग्यार्थ के द्वारा नवीन रमणीयता का आधान किया जा रहा हो, साथ ही उसकी चरमपरिणति रसादिध्वनि में हो। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनिकार ने कहीं पर भी ध्वनिकाव्य को उत्तम और गुणीभूतव्यंग्य को मध्यम काव्य नहीं कहा है। यही बात आलोककार और लोचनकार के मत से भी सिद्ध होती है। इन आचार्यों ने भी गुणीभूतव्यंग्य को ध्वनिकाव्य का सारभूत तत्त्व माना है। साथ ही इन आचार्यों ने कहीं भी गुणीभूतव्यङ्ग्य के ८ भेदों का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि ८ भेदों के विभिन्न रूपों का परिगणन नहीं पाया जाता तथापि उसका मूल ध्वन्यालोक में पाया जाता है। उनमें कुछ भेद तो रसप्रवण होकर वस्तुतः काव्योत्कर्ष का कारण होते हैं जैसे अपराग, वाच्यसिद्ध्यंग, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य इत्यादि तथा कुछ भेद काव्यापकर्ष के भी परिचायक होते है जैसे अगूढ, अस्फुट, असुन्दर इत्यादि गुणीभूतव्यंग्य। इन पिछले प्रकार के गुणीभूतव्यंग्यों को ही मध्यम काव्य कहना ठीक होगा; प्रथम प्रकार के गुणीभूतव्यङ्ग्य तो उत्कृष्टतम काव्य कहलाने के अधिकारी है, क्योंकि उनमें एक के स्थान पर दो व्यंग्य होते हैं—एक

लोचन

लक्ष्मीः सकलजनाभिलाषभूमिर्दुहिता । जामाता हरिः यः समस्तभोगापवर्गदानसततोद्यमी । तथा गृहिणी गङ्गा यस्याः समभिलषणीये सर्वस्मिन्वस्तुन्यनुपहत उपायभावः । अमृतमृगाङ्कौ च सुतौ, अमृतमिहवारुणी । तेन गङ्गास्नानहरिचरणाराधनाद्युपायशतलब्धाया लक्ष्म्याश्चन्द्रोदयपानगोष्ठ्युपभोगलक्षणं मुख्यफलमिति त्रैलोक्यसारभूतता प्रतीयमाना सती अहो कुटुम्बं महोदधेरित्यहो शब्दाच्च गुणीभावमनुभवति ॥ २५ ॥

सब लोगों की अभिलाषा का स्थान लक्ष्मी पुत्री है । दामाद हरि हैं जो समस्त भोग और अपवर्ग के देने में निरन्तर उद्यम करनेवाले हैं तथा गृहिणी गंगा हैं जिनका अभिलषणीय सभी वस्तु में उपायभाव उपहत नहीं होता । अमृत और मृगाङ्क दो पुत्र हैं, अमृत यहाँ पर वारुणी है । इससे गंगास्नान हरिचरणाराधन इत्यादि सैकड़ों उपायों से प्राप्त लक्ष्मी का चन्द्रोदय पानगोष्ठी का उपभोग रूप मुख्य फल है इस प्रकार तीनों लोकों की सारभूतता प्रतीयमान होकर और 'अहो कुटुम्बं महोदधेः' इसके 'अहो' शब्द से गुणीभाव का अनुभव करता है ।

तारावती

प्रधानीभूत होकर ध्वनिरूपता को धारण कर लेता है और दूसरा वाच्यार्थ में उत्कर्ष का आधान करता है । साथ ही उसमें वाच्यार्थ भी उत्कृष्ट कोटि का होता है । इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि उच्चतम काव्यों में इसी प्रकार की योजना करनी चाहिये । इसीलिये लोचन में अधिक बल देकर लिखा गया है—'तत्रायमेव प्रकार इति भावः ' बुद्धिमान् व्यक्ति को इसकी योजना करनी चाहिये' इस कथन में बुद्धिमान्' शब्द का आशय यह है कि वही कवि काव्यमर्मज्ञ कहा जा सकता है जो अपनी रचना में इस प्रकार की योजना करना जानता है । जो ऐसा नहीं करपाता उसके लिये सहृदय व्यक्ति यही कहेंगे कि उसका सहृदय कहलाना और अपने को सहृदय समझना बिल्कुल झूठा है और वह अपने को सहृदय समझने में इतना अन्धा हो गया है कि वह काव्य के वास्तविक सौन्दर्य को परखने की चेष्टा ही नहीं करता । इस प्रकार वह सहृदय समाज में उपहास पात्र ही बन जाता है । एक उदाहरण लीजिये—

'महासागर के कुटुम्ब को देखकर आश्चर्य होता है—लक्ष्मी तो उसकी पुत्री है, भगवान् विष्णु उसके दामाद हैं, गंगा उसकी गृहिणी है और अमृत तथा चन्द्रमा ये दोनों उसके पुत्र हैं ।'

( उक्त पद्य कहाँ से लिया गया है यह ज्ञात नहीं होता । लोचन में इसकी व्याख्या कुछ विचित्र प्रकार से की गई है । अन्य टीकाकारों ने सीधी-सीधी व्याख्या कर दी है जो लोचन की व्याख्या से मेल नहीं खाती । लोचन की व्याख्या को देखने से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत पद्य ऐसे व्यक्ति के विषय में कहा गया है जिसकी

## तारावती

वृत्ति धार्मिक रही है और उस धार्मिकता की कृपा से उस व्यक्ति ने बहुत अधिक धन तथा ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया है। अब वह अपने धन का उपभोग उन्मुक्त रूप मे अपनी विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये करता है तथा उसके जीवन में आनन्द-पभोग का ही प्राधान्य है। उसी व्यक्ति के विषय मे कोई तटस्थ द्रष्टा साश्चर्यभाव से उक्त शब्द कह रहा है।) 'लक्ष्मी उसकी पुत्री है' कहने का आशय यह है कि लक्ष्मी समस्त व्यक्तियों की अभिलाषा का एक बहुत बड़ा विषय होती है वह तो समुद्र को पुत्री रूप में ही प्राप्त है। भगवान् विष्णु दामाद हैं जो कि समस्त व्यक्तियों को सभी प्रकार के भोग और मोक्ष देने मे निरन्तर उद्योग करते रहते हैं। इसी प्रकार गङ्गा गृहिणी है जिनका कि एकमात्र व्रत सभी व्यक्तियों की सभी प्रकार की अभिलषणीय वस्तुओं को प्रदान करना है। गङ्गा जी का आश्रय कभी भी मिथ्या नहीं होता और जिस वस्तु की अभिलाषा की जाती है वह वस्तु गङ्गा जी की अनु-कम्पा से स्वयं प्राप्त हो जाती है। अमृत और मृगाङ्क उसके पुत्र ही हैं। यहाँ पर अमृत का अर्थ है वारुणी। (क्योंकि अमृत सर्वजनसुलभ नहीं है। इसमें व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि गङ्गास्नान हरिचरणा राधन इत्यादि सैकड़ों धार्मिक कृत्यों से जो लक्ष्मी प्राप्त की जाती है उसका एकमात्र यही मुख्य फल होता है कि चन्द्रोदय का आनन्द लिया जाय और उसमे मदिरा पान गोष्ठी का उपभोग किया जाय। यह उपभोगमय बन जाना ही तीनों लोकों का सारभूत तत्त्व है (और उसे अमुक व्यक्ति ने अत्यधिक मात्रा में प्राप्त कर लिया है।) यह व्यङ्ग्यार्थ बहुत ही सुन्दर है।) तथा प्रतीतिगोचर होकर 'समुद्र के कुटुम्ब पर आश्चर्य है' इस वाक्य मे जो वाच्य आश्चर्य है उसका यह अंग हो गया है और उसके प्रति गुणीभाव का अनुभव करता है॥ ३५॥

३५ वीं कारिका मे यह सिद्ध किया जा चुका है कि जिन काव्यों मे अलङ्कार नहीं होता और उनमें काव्यार्थ अधिक स्फुट हो जाता है उनमे एक तो अलङ्कार का अभाव दूसरे काव्यार्थ की वाच्यरूपता; ये दोनों तत्त्व मिलकर काव्य को अत्यन्त तुच्छ बना देते हैं। यदि वहाँ पर इस गुणीभूतव्यङ्ग्य का योग हो जाता है तो वह गुणीभूतव्यङ्ग्य ही उस काव्य का आन्तरिक तत्त्व अर्थात् उसकी आत्मा बन जाता है और इस प्रकार वह काव्य पवित्र हो जाता है। (वाच्यार्थ के निम्नस्तर पर होते हुये भी व्यङ्ग्यार्थ इसीलिये गुणीभूत हो जाता है कि वह वाच्यार्थ की पूर्ति में सहायक हो जाता है।) यह तो हुई ३५ वीं कारिका की बात। ३६ वीं कारिका में यह दिखलाया गया है कि अलङ्कारों में भी अधिकाधिक रमणीयता व्यङ्ग्यार्थ के योग से ही आती है। कारिका का आशय यह है—

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥३६॥

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा यथायोगमनुगमे सति च्छायातिशयं बिभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः । स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते । तथा हि—दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्ग्यालङ्कारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो दृश्यन्ते । यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यति, कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्येनोत्कर्षमावहेत् ।

(अनु०) 'यह वाच्यालंकार वर्ग व्यंग्यांश के अनुगम करने पर प्रायः लक्ष्य में परा छाया को धारण करते हुये देखा जाता है' ॥ ३६ ॥

यह वाच्यालंकार का समूह व्यंग्यांश अलंकार या वस्तुमात्र के यथायोग अनुगमन होने पर छाया की अधिकता को धारण करते हुये एक देश के रूप में लक्षणकारों द्वारा दिखलाया गया है । वह उस प्रकार का तो परीक्षा किये जाने पर प्रायः सभी ही लक्ष्य में देखा जाता है । वह इस प्रकार—दीपक समासोक्ति इत्यादि के समान अन्य भी अलंकार दूसरे व्यंग्य अलङ्कार या दूसरी वस्तु का स्पर्श करते हुये देखे जाते हैं । क्योंकि पहले तो सब अलंकारों में अतिशयोक्तिगर्भता दिखलाई जा सकती है । महाकवियों के द्वारा की हुई ही वह किसी अनोखी काव्यच्छाया को पुष्ट करती है । अपने विषय के औचित्य के साथ की हुई अतिशययोगिता काव्य में उत्कर्ष का आधान क्यों न करे ?

लोचन

एवं निरलङ्कारेषूत्तानतायां तुच्छतयैव भासमानमप्यनन्तःसारेण काव्यं पवित्रीकृतमित्युक्त्वालङ्कारस्याप्यनेनैव रम्यतरत्वमिति दर्शयति—वाच्येति । अंशत्वं गुणमात्रत्वम् । एकदेशेनेति । एकदेशविवर्तिरूपकमनेन दर्शितम् । तदयमर्थः—एकदेशविवर्तिरूपके—

इस प्रकार अलङ्काररहितों में ( अर्थ के ) उत्तान हो जाने पर ( ऊपर उठ जाने पर तुच्छ रूप में ही भासित होनेवाला काव्य अन्तस्तत्त्ववाले इस ( गुणीभूत व्यंग्य ) के द्वारा पवित्र कर दिया गया है यह कहकर अलङ्कार की भी अधिक रमणीयता इसी के द्वारा होती है यह दिखलाते हैं—वाच्य इत्यादौ। अंशत्व का अर्थ है गुणमात्रत्व । 'एक देश के रूप में' यह । इसके द्वारा एकदेशविवर्ति रूपक दिखलाया गया है । अतः यह अर्थ है—एकदेशविवर्ति रूपक में—

## लोचन

राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः ।

इत्यत्र हंसानां यच्चामरत्वं प्रतीयमानं तन्नृपा इति वाच्येऽर्थे गुणतां प्राप्तमलङ्कारकारैर्यावदेव दर्शितं तावदमुना द्वारेण सूचितोऽयं प्रकार इत्यर्थः । अन्ये त्वेकदेशेन वाच्यमागवैचित्र्यमात्रेणेत्यनुद्भिन्नमेव व्याचचक्षिरे । व्यङ्ग्यं यदलङ्कारान्तरं वस्त्वन्तरं संस्पृशन्ति ये स्वात्मनः संस्कारायाश्लिष्यन्तीति ते तथा । महाकविभिरिति । कालिदासादिभिः । काव्यशोभां पुष्यतीति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—कथं हीति । हिशब्दो हेतौ ।

'शरत् के द्वारा ही सरोवररूपी राजाओं पर राजहंसों से पंखा किया जा रहा था ।' यहाँ पर हंसों का जो चामरत्व प्रतीत होता है वह 'राजाओं पर' इस वाच्य अर्थ मे गुणता को प्राप्त हो गया है यह अलङ्कारकारों ने जितना कुछ दिखलाया है उतना इसके द्वारा यह प्रकार सूचित किया गया है । यह अर्थ है । और लोगों ने तो 'एक देश से' अर्थात् वाच्यभागवैचित्र्य मात्र से यह अस्पष्ट व्याख्या की है । व्यंग्य जो दूसरा अलङ्कार या दूसरी वस्तु उसको जो अपने संस्कार के लिये स्पर्श करते है या आलिंगन करते हैं वे वैसे होते हैं । 'महाकवियों के द्वारा' अर्थात् कालिदास इत्यादि के द्वारा । 'काव्यशोभा को पुष्ट करता है' यह जो कहा गया उसमे हेतु बतलाते' हैं—'क्यों' यह । 'हि' शब्द का प्रयोग हेतु के

## तारावती

'जितना भी वाच्य अलंकारों का समूह दिखलाया गया है यदि उसमें व्यङ्ग्य अश का अनुगमक हो जाता है तो वह बहुत बड़ी छाया ( काव्यशोभा ) को धारण कर लेता है । लक्ष्य मे यह बात प्रायः देखी जाती है ।' लक्षणकारों ने यह बात एक देश के द्वारा दिखलाई है कि व्यङ्ग्य अलङ्कार और व्यङ्ग्य वस्तु इन दोनों मे कोई एक व्यङ्ग्य अंश जब वाच्य अलङ्कारों से मिल जाता है तब वाच्य अलङ्कारों मे काव्य की अभूतपूर्व शोभा उत्पन्न हो जाती है । यहाँ पर एकदेश का अर्थ है एकदेशविवर्ति रूपक । लक्षणकारो ने रूपक दो प्रकार का माना है—साङ्ग और निरङ्ग । साङ्ग के दो भेद माने गये हैं—समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति । जहाँ पर रूपक के सभी अवयवों का उपादान शब्द के द्वारा वाच्यवृत्ति मे किया जाता है उसे समस्तवस्तुविषय साङ्गरूपक कहते हैं और जहाँ रूपक के कुछ अंगों का वाच्य-वृत्ति में प्रकथन किया जाता है और कतिपय अग अर्थतः समझ लिये जाते हैं उसे एकदेशविवर्ति साङ्गरूपक कहते हैं । इसका उदाहरण—

'शरद् राजहंसों से सरोवररूपी राजाओं पर पखा झल रही थी ।'

यहाँ सरोवरों पर राजाओं का आरोप किया गया है जो कि वाच्य है और राजहंसों पर चमर ( या पंखे ) का आरोप अर्थतः समझ लिया जाता है । इस

लोचन

अतिशययोगिता कथं नोत्कर्षमावहेत् काव्ये नास्त्येवासौ प्रकार इत्यर्थः। स्वविषये यदौचित्यं तेन चेद्धृदयस्थितेन तामतिशयोक्तिं कविः करोति। यथा भट्टेन्दुराजस्य—

अर्थ में हुआ है। 'अतिशय का योग क्यों उत्कर्ष को धारण न करे' अर्थात् काव्य में ऐसा प्रकार है ही नहीं यदि अपने विषय में जो औचित्य उसको हृदय में रखकर उस अतिशयोक्ति को कवि करता है। जैसे भट्टेन्दुराज का—

तारावती

प्रकार यहाँ पर एकदेशविवर्ति साङ्ग रूपक है। प्राचीन आचार्यों के इस एकदेश-विवर्ति रूपक के निर्देश से सिद्ध होता है कि प्रतीयमान अर्थ का कोई ऐसा भी रूप सम्भव है जो वाच्यार्थ का उपकारक होकर काव्यशोभा का आधान किया करता है। इस प्रकार इन आचार्यों ने मानों गुणीभूतव्यङ्ग्य की सत्ता स्वीकार ही कर ली। यदि अलङ्कारों की ठीक-ठीक परीक्षा की जाय तो ज्ञात होगा कि एकदेशविवर्ति रूपक के विषय में जो बात कही गई है वह प्रायः सभी अलङ्कारों के विषय में लागू होती है अर्थात् प्रायः सभी अलंकारों में व्यङ्ग्यार्थ का संसर्ग होता है। इस प्रकार के लक्ष्य प्रायः पाये जाते हैं जिनमें वाच्यार्थ का अनुप्राणन व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा होता है। कुछ लोगोंने 'एकदेश के द्वारा पुराने आचार्यों ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है' इस सन्दर्भ की व्याख्या इस प्रकार की है—एकदेश का अर्थ है केवल वाच्यभाग का वैचित्र्य। किन्तु यह व्याख्या बिलकुल स्पष्ट नहीं है और इससे यह ज्ञात नहीं होता कि वाच्यवैचित्र्यमात्र की व्याख्या करने से व्यङ्ग्यार्थ की स्वीकृति कैसे सिद्ध होती है? अतः 'एकदेश के द्वारा' इस शब्द की यही व्याख्या की जानी चाहिये कि लक्षणकारों ने रूपक के एकदेश को व्यङ्ग्य मानकर यह संकेत दिया है कि प्रायः सभी अलङ्कारों में व्यङ्ग्य का अंश मिला रहता है।

अलङ्कारों में व्यङ्ग्यांश के समावेश की बात को इस प्रकार समझना चाहिये—कुछ अलङ्कार ऐसे होते हैं जिनमें दूसरा अलंकार व्यक्त हो जाता है जैसे दीपक अलंकार में उपमा व्यक्त होती है। कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें वस्तु अभिव्यक्त होकर उस अलंकार की सत्ता को पूरा करती है जैसे समासोक्ति में अप्रस्तुत अभिव्यक्त हुआ करता है। इस प्रकार ये अलंकार अपने संस्कार के लिये दूसरे व्यङ्ग्य अलंकार या व्यङ्ग्य वस्तु का सहारा लिया करते हैं। केवल यही अलंकार ऐसे नहीं हैं अपितु दूसरे अलंकार भी व्यङ्ग्य वस्तु या व्यंग्य अलंकार का सहारा लेते हुये देखे जाते हैं। सबसे पहले अतिशयोक्ति अलंकार को लीजिये। यह एक ऐसा अलंकार है जिसके कार्यक्षेत्र का प्रसार सभी अलंकारों में दिखलाया

लोचन

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने ।
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत् ॥
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः ।
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः ॥

अत्र हि भगवतो मन्मथवपुषः सौभाग्यविषयः सम्भाव्यत एवायमतिशय इति तत्काव्ये लोकोत्तरैव शोभोल्लसति । अनौचित्येन तु शोभा लीयेत एव । यथा—

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥ इति ।

'बीच-बीच में रुक-रुककर होनेवाले दृष्टिपातों में जो कि नेत्र अस्थिरता को प्राप्त हो जाते हैं; काटी हुई कमलिनी की नाल के समान जो कि उसके सारे अंग सूखते चले जा रहे हैं, दूर्वाकाण्ड को भी तिरस्कृत करनेवाली घनी पीलिमा जो कि उसके कपोलों पर व्याप्त है, युवक कृष्ण के विषय में यौवनवती वनिताओं की बस यही वेषस्थिति है ।'

यहाँ पर निस्सन्देह कामदेव के समान शरीरवाले भगवान् का सौभाग्य-विषयक अतिशय सम्भावित ही किया जा सकता है, अतः उस काव्य में लोकोत्तर शोभा ही उल्लसित होती है । अनौचित्य से तो शोभा लीन ही हो जाती है। जैसे—

'ब्रह्माजी ने तुम्हारे इस होनेवाले इस प्रकार के स्तनविस्तार का बिना ही विचार किये छोटा सा आकाश बना दिया ।'

तारावती

जा सकता है । महाकवि कालिदास इत्यादि जब किसी अलंकार की योजना इस रूप में करते हैं कि उसमें अतिशयोक्ति गर्भित हो तब वह काव्य किसी विचित्र प्रकार के काव्यसौन्दर्य का पोषक हो जाता है । केवल एक शर्त है कि अतिशयता की योजना में कवि को औचित्य का ध्यान सर्वथा रखना चाहिये, अर्थात् उसे यह देखना चाहिये किस स्थान पर अलंकार व्यञ्जना उपयुक्त रहेगी और कहाँ पर वस्तुव्यञ्जना उचित होगी । इसी प्रकार कहाँ पर कौन अलंकार या कौन वस्तु उचित प्रतीत होगी इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये । यदि इस प्रकार के औचित्य को हृदय में रखकर कवि अतिशयोक्ति का गुम्फन करता है तो उससे काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट बन जाता है । उदाहरण के लिये भट्टेन्दुराज की निम्नलिखित उक्ति को लीजिये—

'कृष्ण तरुण हैं और युवतियाँ भी यौवन से परिपूर्ण हैं । कृष्ण के प्रति भावना से भरी होने से उनकी वेषस्थिति इस प्रकार की हो रही है कि वे रुक-

ध्वन्यालोकः

भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ इति।

तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। तस्याश्चालङ्कारान्तरसङ्कीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्व्यङ्ग्यत्वेन। व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद्गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः। तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता।

(अनु०) भामह के द्वारा भी अतिशयोक्ति के लक्षण में जो कहा गया है—

'वह यह सब वक्रोक्ति ही है; इसके द्वारा अर्थ का विभावन किया जाता है। कवि को इसमें यत्न करना चाहिये; इसके बिना अलंकार ही कौन होता है?'

वहाँ पर अतिशयोक्ति जिस अलङ्कार को अधिष्ठित करती है कविप्रतिभा के वश से उसमें चारुत्व की अधिकता का योग हो जाता है और की तो अलङ्कारमात्रता ही रहती है—इस प्रकार सभी अलङ्कारों के शरीर को स्वीकार करने की योग्यता के कारण अभेदोपचार से वही सभी अलङ्कारों के रूपवाली होती है, बस यही अर्थ समझा जाना चाहिये। और उसका दूसरे अलङ्कारों से सङ्कीर्णत्व कभी वाच्य के रूप मे होता है और कभी व्यंग्य के रूप में। व्यंग्यत्व भी कभी प्रधानरूप में और कभी गौण रूप मे। उसमे प्रथम पक्ष में वाच्यालङ्कार का मार्ग है। द्वितीय का तो ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाता है और तृतीय मे तो गुणीभूत व्यंग्यरूपता होती है।

तारावती

रुककर कृष्ण को बार-बार देखती हैं जिससे उनके नेत्र स्थिरता को प्राप्त नहीं हो पाते। उनके अंग प्रतिदिन काटी हुई कमलिनी की नाल के समान क्षीण होते जाते हैं और कपोलों पर पीलिमा दूब के गुच्छे की जैसी फैलती जा रही है।'

यहाँ कृष्ण के प्रति कामना रखनेवाली वियोगिनी वनिताओं की दशा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। काटी हुई कमलिनी के समान सूखना और दूर्वाकाण्ड के समान पाण्डुता यह सब अतिशयोक्तिपूर्ण ही है। किन्तु एक तो यह वर्णन मर्यादित है। अतिशयोक्ति को इतना अधिक नहीं खींचा गया है कि वह एक मजाक सी मालूम पड़ने लगे। दूसरी बात यह है कि इसमें भगवान् कृष्ण के प्रति अनेक स्त्रियों का आकर्षण दिखलाया गया है जोकि अनुचित नहीं है और इससे भगवान्

## लोचन

नन्वतिशयोक्तिः सर्वालङ्कारेषु व्यङ्ग्यतयान्तर्लीनैवास्त इति यदुक्तं तत्कथम् ? यतो भामहोऽतिशयोक्तिं सर्वालङ्कारसामान्यरूपामवादीत् । न च सामान्यं शब्दाद्विप्रतीतेः पृथग्भूतया पश्चात्तनत्वेन चकास्तीति कथमस्य व्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्क्याह—

( प्रश्न ) अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों मे व्यंग्य रूप मे अन्तर्लीन ही रहती है यह जो कहा है वह कैसे ? क्योंकि भामह ने अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों की सामान्य रूपवाली बतलाया है । विशेष प्रतीति से पृथग्भूत होकर परवर्ती रूप मे सामान्य प्रकाशित नहीं होता फिर इसका व्यङ्ग्यत्व कैसा ? यह शङ्का करके कहते

## तारावती

के लोकोत्तर सौभाग्य की व्यञ्जना होती है । भगवान् स्वयं ही कामदेव के समान रूपवान् है । अतएव उनके विषय मे जो कुछ कहा गया है वह सब उचित है । औचित्य को लेकर जो अतिशयोक्ति का गुम्फन किया गया है उससे काव्य में लोकोत्तर शोभा उद्भूत हो जाती है । किन्तु जब अनौचित्य का प्रतिभास होने लगता है तब अतिशयोक्ति सदोष हो जाती है और उसकी शोभा जाती रहती है । उदाहरण के लिये दण्डी की इस उक्ति को लीजिये ।

'ब्रह्माजी ने जब आकाश की रचना की तब सम्भवतः इस बात पर विचार नहीं किया कि तुम्हारे स्तन बढ़कर इतने विशाल हो जायेंगे । इसीलिये ब्रह्माजी ने आकाश को इतना छोटा बना दिया ।'

यह उक्ति एक खिलवाड़ जैसी मालूम पड़ती है और इसकी अतिशयता रमणीयता का ह्रास करनेवाली ही है ।

( प्रश्न ) आपकी यह स्थापना कैसे विश्वसनीय हो सकती है कि सभी अलङ्कारों में अतिशयोक्ति व्यंग्य के रूप में अन्तर्लीन रहती है ? भामह ने अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारों का सामान्य रूप माना है । सामान्य कभी भी व्यंग्य नहीं कहा जा सकता । व्यङ्ग्य और सामान्य में यह अन्तर है कि व्यङ्ग्य मे पहले तो शब्द से वाच्यार्थ का बोध होता है; फिर बाद मे शब्द से ही पृथक् रूप मे व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है । किन्तु सामान्य-विशेष के विषय में यह नियम लागू नहीं होता । सामान्य और विशेष दोनों की प्रतीति एकसाथ होती है; आगे पीछे नहीं । साथ ही सामान्य-विशेष दोनों की प्रतीति एकसाथ एकरूप मे होती है पृथक् रूप में नहीं । ( जैसे 'यह देवदत्त है' इस वाक्य मे देवदत्त का एक अर्थ है एक विशेष व्यक्ति और सामान्य अर्थ है मनुष्यत्व । मनुष्यत्व और विशिष्ट व्यक्ति दोनों का एक साथ एक ही रूप मे बोध होता है । न तो यही प्रतीत होता है कि मनुष्यत्व और है तथा विशिष्ट व्यक्ति और है और न यही होता है कि पहले विशिष्ट व्यक्ति

## लोचन

भामहेनेति। भामहेनापि यदुक्तं तत्राऽयमेवार्थोऽवगन्तव्य इति दूरेण सम्बन्धः। किं तदुक्तम्—सैषेति। यातिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः।

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

इतिवचनात्। शब्दस्य हि वक्रता अर्थस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलङ्कारस्यालङ्कारभावः, लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तितः सर्वालङ्कारसामान्यम्। तथाहि—अनया अतिशयोक्त्या, अर्थः सकलजनोपभोगपुराणी-

है—'भामह के द्वारा' यह। भामह के द्वारा भी जो कहा गया है वहाँ भी यही अर्थ समझा जाना चाहिये यह दूर से सम्बन्ध है। वह क्या कहा? 'वह यह'। जो अतिशयोक्ति लक्षित की गई है वही सब वक्रोक्ति का सब प्रकार है।

'अभिधेय और शब्द की वक्र उक्ति वाणी का अलङ्कार अभीष्ट है।'

इस वचन से। निस्सन्देह शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप मे अवस्थित होना है इस प्रकार यही वह अलङ्कारों का अलङ्कारभाव है। और लोकोत्तर होना ही अतिशय है। इससे अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों में सामान्य होती है। वह इस प्रकार इस अतिशयोक्ति के द्वारा सभी लोगों के उपभोग के

## तारावती

का बोध हो और बाद में मनुष्यत्व का।) आशय यह कि व्यञ्जकत्व का पौर्वापर्य तथा पृथक्‌रूपता सामान्य-विशेष भाव में लागू नहीं होते। अतिशयोक्ति और दूसरे अलङ्कारों का भी सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध है। अन्य अलङ्कार विशेष होते हैं और अतिशयोक्ति सामान्य। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि अन्य अलङ्कारों में भी अतिशयोक्ति व्यङ्ग्य रूप मे सन्निहित रहती है? (उत्तर) भामह का आशय यह नहीं है कि अतिशयोक्ति सामान्य रूप है अन्य अलङ्कार विशिष्ट रूप। भामह के मत मे भी अतिशयोक्ति एक स्वतन्त्र अलङ्कार है तथा दूसरे अलङ्कार भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। अतिशयोक्ति तथा अन्य अलङ्कारों का अभेद सम्बन्ध औपचारिक (लाक्षणिक) है। भामह ने यह कहा है—

'जिस अतिशयोक्ति का लक्षण किया गया है वही सब वक्रोक्ति है अर्थात् सभी अलङ्कारों के प्रकार वह अतिशयोक्ति ही है; क्योंकि इससे अर्थ रमणीयता को प्राप्त कराया जाता है; कवि को चाहिये कि इस अतिशयोक्ति की योजना की ही चेष्टा करे क्योंकि कोई अलङ्कार अतिशयोक्ति के विना हो ही नहीं सकता।'

(भामह का परिष्कृत पाठ 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' है। यही भामह की समस्त उपलब्ध प्रतियों में पाया जाता है और इसी को अन्य आचार्यों ने भी उद्धृत किया है।[1] किन्तु यहाँ पर आनन्दवर्धन ने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' पाठ रक्खा है और

ध्वन्यालोकः

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ ४० ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यपर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते । यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये ।

(अनु०) 'यह गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम का प्रकार भी पुनः रस इत्यादि तात्पर्य की पर्यालोचना करने पर ध्वनिरूपता को ही धारण करता है' ॥ ४० ॥

गुणीभूतव्यंग्य भी काव्य प्रकार रसभाव इत्यादि तात्पर्य की पर्यालोचना करने पर ध्वनि ही हो जाता है । जैसे अपने उदाहरण दिये हुये दो श्लोकों में ।

लोचन

एतदेव निर्वाहयन् काव्यात्मत्वं ध्वनेरेव परिदीपयति—प्रकार इति । श्लोकद्वय इति तुल्यच्छायं यदुदाहृतं पत्युरित्यादि तत्रेति । द्वयशब्दादेवंवादिनीत्यस्यानवकाशः ।

यही प्रतिपादित करते हुये काव्यात्मत्व ध्वनि का ही भली-भाँति प्रज्वलित कर रहे हैं—'प्रकार' यह । 'दो श्लोक' जो तुल्य छायावाले उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये है 'पत्युः' इत्यादि वहाँ इस प्रकार 'दो' शब्द से 'एववादिनि' इत्यादि का अवकाश नहीं है ।

तारावती

यहाँ पर 'अपि' शब्द 'वाच्यस्य' के साथ लगा हुआ है; किन्तु उसकी व्याख्या क्रम को तोड़कर 'प्राधान्य' के साथ लगाकर करनी चाहिये । इससे इसका अर्थ यह हो जाता है कि जहाँ पर उक्ति मे वाक्यपन हो वहाँ वाच्य की प्रधानता भी होती है । आशय यह है कि अवान्तर व्यग्य के द्वारा वाच्य का उपस्कार होता है; अतः वहाँ पर व्यंग्य गौण होता है और वाच्य प्रधान । अत एव उसे अनुरणनरूप व्यंग्य-ध्वनि की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती । यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि 'वाच्य की प्रधानता भी होती है' इस 'भी' का आशय यह है कि वाच्य में गौणरूपता तो होती ही है । गुणता और प्रधानता इस प्रकार सम्भव है कि अवान्तर व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्य में प्रधानता होती है; अतः उस दृष्टि से उसे गुणीभूत व्यंग्य ही कहना ठीक होगा अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि नहीं । किन्तु अन्तिम रस इत्यादि की अपेक्षा तो वाच्य मे गुणता होती ही है । अतः वहाँ पर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि तो कही ही जा सकती है । इसीलिये यहाँ पर आनन्दवर्धन ने यह नहीं कहा कि यहाँ पर ध्वनि नहीं होती अपितु विशेषण लगाकर विशेष रूप में यही कहा है कि अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि नहीं होती । इसका आशय यही है कि रसध्वनि तो सर्वत्र होती है ॥ ३६ ॥

ध्वन्यालोकः

यथा च—

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत—
स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम् ।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात्कल्याणं वो हरिरनुनयेष्वेवमुदितः ॥

(अनु०) और जैसे—

'हे सुभग ! अपनी प्राणेश्वरी की जङ्घा के इस वस्त्र से भी इस गिरे हुये आँसू को पोंछते हुये ( पोंछनेवाले ) तुम्हारे लिये राधा को प्रसन्न करना अत्यन्त दुष्कर है । स्त्री का चित्त कठोर होता है । इसलिये उपचारों की आवश्यकता नहीं । रुक जाओ । अनुनयों में इस प्रकार कहे हुए हरि तुम्हारा कल्याण करें ।'

तारावती

ऊपर बतलाया गया है कि गुणीभूतव्यंग्यत्व केवल एक दृष्टिकोण से ही होता है वह दृष्टिकोण है अवान्तरव्यंग्यत्व का । किन्तु अन्ततः सभी काव्य ध्वनिकाव्य ही होते हैं; वस्तुतः काव्य की आत्मा तो ध्वनि ही है । यही बात प्रस्तुत ( ४० वीं ) कारिका में कही गई है । प्रस्तुत कारिका का आशय यह है—

'जिस गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक प्रकार का ऊपर परिचय दिया गया है जब उसमें पर्यालोचना की जाती है और देखा जाता है कि उसका पर्यवसान रस इत्यादि रूप तात्पर्य में ही होता है तब उसे भी ध्वनि ही कहना पड़ता है ।'

आशय यह है कि आन्तरिक दृष्टि से चाहे हम किसी काव्य को ध्वनि कहें चाहे गुणीभूतव्यङ्ग्य, यदि अभिव्यक्त विभिन्न भाव प्रत्यक्ष रस को पुष्ट करे तो हम उसे ध्वनि कह लें और यदि वाच्य को पुष्ट करें तो गुणीभूतव्यङ्ग्य कहलें । किन्तु पर्यवसान सबका ध्वनि में ही होता है क्योंकि यह पर्यालोचना करने पर कि अमुक रचना का पर्यवसान कहाँ होता है ध्वनि ही आयेगी और स्वयं गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि का रूप धारण कर लेगा । उदाहरण के लिये कालिदास और भारवि के जो दो पद्य अभी उद्धृत किये गये हैं वे आन्तरिक व्यञ्जना की दृष्टि से तो गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं किन्तु रस की दृष्टि से ध्वनि ही कहे जा सकते हैं । वे दोनों श्लोक हैं—'पत्युःशिरश्चन्द्रकलामनेन' और 'प्रायच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी' । ये दोनों पद्य तुल्य छायावाले हैं अर्थात् इनमें काव्यसौन्दर्य एक जैसा है; दोनों गुणीभूत व्यङ्ग्य होकर ध्वनि बनते हैं । यद्यपि यहाँ पर उद्धरण तो 'एवं वादिनि—'इत्यादि पद्य का भी दिया गया है तथापि इसका अतिदेश यहाँ पर नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें शुद्ध रूपमें ध्वनि ही है, गुणीभूतव्यङ्ग्य का सहकार इसमें अपेक्षित नहीं होता । इस

## लोचन

दुराराधेति। अकारणकुपिता पादपतिते मयि न प्रसीदसि अहो दुराराधासि मारोदीरित्युक्तिपूर्वं प्रियतमेऽश्रूणि मार्जयति इयमस्या अभ्युपगमगर्भोक्तिः। सुभगेति। प्रियया यः स्वसम्भोगभूषणविहीनः क्षणमपि मोक्तुं न पार्यसे। अनेनापीति। पश्येदं प्रत्यक्षेणेत्यर्थः। तदेव च यदेवमादृतं यत् लज्जादित्यागेनाप्येवं धार्यसे। मृजत इत्यनेन हि प्रत्युत स्रोतःसहस्रवाही वाष्पो भवति। इयच्च त्वं हतचेतनो यन्मां विस्मृत्य तामेव कुपितां मन्यसे। अन्यथा कथमेवं कुर्याः। पतितमिति। गत इदानीं रोदनावकाशोऽपीत्यर्थः। यदि तूच्यते इयताप्यादरेण किमिति कोपं न मुञ्चसि·

'दुराराधा' यह। अकारण कुपित हुई मेरे चरणों पर गिरने पर भी प्रसन्न नहीं हो रही हो, आश्चर्य है कि आराधना करनेमें तुम बहुत ही दुष्कर हो, मत रोओ, इस उक्ति के साथ प्रियतमके अश्रु परिमार्जन करने पर यह उसकी स्वीकृति गर्भित उक्ति है। 'हे सुभग' यह। जो कि प्रिया के द्वारा अपने सम्भोग के विभूषण से रहित क्षणभर भी छोड़े नहीं जा सकते हो। 'इसके द्वारा भी' यह। अर्थात् इसको प्रत्यक्ष रूपमें ही देख लो। उसीको जो इस प्रकार आदर किया गया कि लज्जा इत्यादि के त्याग के द्वारा भी इस प्रकार धारण किया जा रहा है। 'मार्जन करते हुये' यह। इसके द्वारा प्रत्युत सहस्र स्रोतों में बहनेवाला वाष्प हो जाता है। तुम इतने अधिक चेतना रहित हो कि मुझे भुलाकर उसीको कुपित मानते हो। नहीं तो ऐसा क्यों करो। 'पतित' यह। अर्थात् अब तो रोदन का अवकाश भी चला गया। यदि कहा जाय कि इतने आदर से भी क्यों कोप नहीं छोड़ती हो तो क्या

## तारावती

लिये 'दो श्लोक' यह विशेष रूप से कह दिया गया है। नहीं तो कोई व्यक्ति सम्भवतः 'एवंवादिनि' इत्यादि में भी वही बात समझ लेता। एक और उदाहरण लीजिये—

राधा खण्डिता नायिका हैं कृष्ण कहीं अन्यत्र विहार कर राधा के पास आये हैं। धोखे से वे उस सौत का अधोवस्त्र ( साड़ी ? ) ओढ़े चले आये हैं। इस पर राधा ने मान किया है। कृष्ण उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं किन्तु राधा नहीं मानती। तब कृष्ण कहते हैं—'तुम व्यर्थ ही रुष्ट हो गई हो; मैं तुम्हारे पैरों पर पड़ा हुआ हूँ फिर भी प्रसन्न नहीं होती हो; आश्चर्य है कि तुम्हारी आराधना कितनी कठिन है।' इस पर राधा अपनी आराधना का कठिन होना स्वीकार करते हुये कहती हैं—

'हे सौभाग्यशाली ! मेरे इस गिरे हुये आँसू को जो तुम अपनी उस प्राणेश्वरी की जङ्घाओं पर धारण किये हुये वस्त्र से पोंछ रहे हो इस दशा में तुम्हारे लिये तो

## लोचन

तत्किं क्रियते कठोरस्वभावं स्त्रीचेतः । स्त्रीति हि प्रेमाद्ययोगाद्वस्तुविशेषमात्रमेतत्; तस्य चैष स्वभावः, आत्मनि चैतत् सुकुमारहृदया योषित इति न किञ्चिद्वज्रसाराधिकमासां हृदयं यदेवंविधवृत्तान्तसाक्षात्कारेऽपि सहस्रधा न दलति। उपचारैरिति दाक्षिण्यप्रयुक्तैः । अनुनयेष्विति बहुवचनेन वारं वारमस्य बहुवल्लभस्येयमेव स्थितिरिति सौभाग्यातिशय उक्तः । एवमेष व्यङ्ग्यार्थसारो वाच्यं भूषयति । तत्तु वाच्यं भूषितं सदीर्ष्याविप्रलम्भशृङ्गाराङ्गत्वमेतीति । यस्तु त्रिष्वपि श्लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रसाङ्गत्वं व्याचष्टेरम स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत् । एवं हि व्यंग्यस्य या गुणीभूतता प्रकृता सैव समूलं नुद्येत् । रसादिव्यतिरिक्तस्य हि व्यंग्यस्य रसाङ्गभागयोगित्वमेव प्राधान्यं नान्यत्किञ्चिदित्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन ।

किया जाय, 'कठोर स्वभाववाला स्त्रियों का चित्त होता है । 'स्त्री' यह प्रेम इत्यादि के योग न होने से केवल यह वस्तु ही है । उसका यह स्वभाव है । स्वयं में सुकुमार हृदयवाली स्त्रियाँ होती है यह कुछ नहीं । इनका हृदय वज्रसार से भी अधिक ( कठोर ) होता है जो कि इस प्रकार के वृत्तान्त के साक्षात्कार होनेपर भी सहस्रधा विदीर्ण नहीं हो जाता। 'उपचारों द्वारा' का अर्थ है दाक्षिण्य के द्वारा प्रयुक्त उपचारों से । 'अनुनयों में' इसमे बहुवचन के द्वारा यह कहा है कि बहुत सी वल्लभाओंवाले इन कृष्ण की बार-बार यही स्थिति होती है यह सौभाग्यातिशय कहा गया है । इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ का सार वाच्य को भूषित करता है । वह वाच्य तो भूषित होकर ईर्ष्या विप्रलम्भ शृंगार के अङ्गत्व को प्राप्त हो जाता है । जिसने तो तीनों ही श्लोकों में प्रतीयमान का ही रसाङ्गत्व कहा है उसने तो देवको बेचकर यात्रा का उत्सव किया । इस प्रकार निस्सन्देह व्यंग्य की जो गुणीभूतता प्रकृत है वही समूल नष्ट हो जाय । निस्सन्देह रसादि से व्यतिरिक्त व्यंग्य का रसाङ्गभावयोगित्व ही प्रधान है और कुछ नहीं, बस अपने पूर्व वंश्यों से अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं ।

## तारावती

राधा की आराधना दुष्कर है ही । स्त्रियों का चित्त तो कठोर होता ही है, इस लिये इन बाहरी दिखावों की आवश्यकता नहीं, अब रहने दो पर्याप्त चाटुकारिता होगई इससे कोई लाभ नहीं होगा ।' कवि कहता है कि अनुनयों में जिन कृष्ण से राधा के द्वारा इस प्रकार कहा जाता है वे कृष्ण आप का कल्याण करें ।'

इस पद्य की व्यञ्जनायें इस प्रकार हैं—

१—'हे सुभग !' इस सम्बोधन से अभिव्यक्त होता है कि आप बड़े सौभाग्यशाली हैं जो कि आप की प्रेयसी ( मेरी सौत ) क्षण भर भी आपको ऐसे नहीं रहने

देना चाहती कि आप उसके सम्भोग के विभूषण से रहित रहें। जब आप यहाँ आये तब भी आपकी प्रेयसी ने आपको अपनी साड़ी उढ़ा ही दी।

२—'इससे भी' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि वैसे तो आप अपने दुराचार को छिपा ही सकते थे, किन्तु जब आप प्रत्यक्ष रूपमें मेरी सौत की साड़ी ओढ़े हुये हैं तब आप उसे छिपा ही कैसे सकते हैं दूसरी बात यह है कि आप इसका इतना अधिक आदर करते हैं कि इसको धारण करने मे लज्जा का भी अनुभव नहीं करते कि कोई इसे देख लेगा।

३—'पोछ रहे हैं' इसमें वर्तमान काल के प्रयोग से व्यक्त होता है कि आप कितना ही पोछें ये आँसू निकलते ही जा रहे हैं, ये समाप्त नहीं हो सकते; प्रत्युत सहस्र स्रोतों में प्रवाहित होनेवाले हो रहे हैं। दूसरी बात यह है कि तुम इतने चेतना शून्य ( प्रेमावेश मे बेहोश ) हो कि मुझे भुलाकर तुम अपनी उसी प्रयसी को मुझमें देख रहे हो। तभी तो तुम उसके वस्त्र से मेरे आँसू पोछ रहे हो, नहीं तो ऐसा क्यों करते ?

( ४-'प्राणेशा' से व्यक्त होता है कि मैं तुम्हारी कोई नहीं हूँ, मेरी सौत तुम्हारी प्राणेशा है अतः मेरा कुपित होना उचित ही है।

५—'मैं' इस सर्वनाम के स्थान पर 'राधा' इस अपने नाम लेने का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि मैं कम स्वाभिमानिनी नहीं हूँ जो इस प्रकार मान जाय। )

६—'गिरे हुये' इस शब्द मे भूतकाल से अभिव्यक्त होता है कि मेरा रोने का अधिकार भी समाप्त हो गया।

( ७ ) 'स्त्री का चित्त कठोर होता है' में स्त्री शब्द से व्यक्त होता है कि मै आपकी प्रेयसी नहीं हूँ। मैं तो सामान्य स्त्री हूँ, जब मुझमें प्रेम का योग ही नहीं तब मेरे अन्दर विशेषता क्या रही! यह जो कहा जाता है कि स्त्रियाँ सुकुमार हृदय-वाली होती हैं यह कोई भी बात सही नहीं है। वस्तुतः उनका हृदय तो वज्रसार से भी अधिक कठोर होता है; देखो इस दशा मे भी जब कि तुम सौत की साड़ी से हमारा अश्रुपरिमार्जन करना चाहते हो तब भी यह हमारा हृदय सहस्र खण्डों में विदीर्ण नहीं हो रहा है।

( ८ ) 'उपचारों को रहने दो' कहने का आशय यह है कि वस्तुतः तुम्हें मुझसे प्रेम नहीं है। तुम्हारी प्रेमिका तो कोई दूसरी ही है। तुम केवल दाक्षिण्यवश मेरे पास आते हो। इस दाक्षिण्य की मुझे आवश्यकता नहीं है।

( ९ ) 'अनुनयों में' इसमें बहुवचन से सिद्ध होता है कि कृष्ण की अनेक वल्ल-

भायें हैं। अतः कृष्ण को वार-वार ऐसे अवसर मिलते रहते हैं जब कि उन्हें अनुनय-विनय के द्वारा राधा को मनाना पड़ता है।

इस प्रकार यह व्यङ्ग्यार्थ का सार वाच्य को दूषित करता है जिससे इस व्यङ्ग्य को गुणीभूत व्यङ्ग्य की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। वह भूषित वाच्य फिर ईर्ष्या-विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो जाता है। कतिपय आचार्यों ने इन तीनों श्लोकों में गुणीभूतव्यङ्ग्य की ध्वनिरूपता इस प्रकार सिद्ध की है कि इनमें प्रतीयमान अर्थ रस का अङ्ग हो जाता है। इन आचार्यों ने प्रतीयमान की गुणीभूतरूपता तो पहले ही समाप्त करदी फिर वे कहते हैं कि यह गुणीभूतव्यंग्य ध्वनिरूप होता है। यह उनका कहना ऐसा ही है जैसे किसी व्यक्ति के यहाँ देवता की कोई पुरानी मूर्ति रक्खी हो और वह उसकी सवारी निकालना तथा यात्रा का उत्सव करना चाहता हो। वह यात्रोत्सव के लिये पहले तो देवता की मूर्ति को वेचकर पैसा जुटाये फिर यात्रोत्सव करना चाहे। जब उसके पास देवता ही नहीं तो यात्रोत्सव किसका होगा (अथवा कोई व्यक्ति घड़ी की चैन के लिये घड़ी ही वेच दे।) वही दशा प्रतीयमान को रसांग वनाकर गुणीभूतव्यंग्य को ध्वनिरूप सिद्ध करनेवालों की भी है। उन्हें यह तो ध्यान रखना ही चाहिये कि रस सर्वदा व्यंग्य होता है और काव्य-तात्पर्य का पर्यवसान सर्वदा रस मे ही होता है क्योंकि काव्यात्मारूप में रसध्वनि को ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार रसध्वनि सर्वदा स्वमात्रपर्यवसायिनी होती है। किन्तु वस्तु और अलङ्कार की व्यञ्जनायें तभी ध्वनिरूपता को धारण कर सकती हैं जब वे रस का अंग होकर रसप्रवण हो जाती हैं। आशय यह है यदि व्यंग्यवस्तु को रस का अंग माना जायेगा तो वह तो वस्तुध्वनि हो जायगी, वह व्यंग्यवस्तु गुणीभूतव्यंग्य की कोटि में आयगी ही नहीं, फिर गुणीभूतव्यंग्य की ध्वनिरूपता का उदाहरण यह हो ही कैसे सकता है? (यहाँपर निष्कर्ष यह है कि वे स्थान ध्वनि के कहे जा सकते हैं—जहाँ रस भाव इत्यादि प्रधान रूप में अभिव्यक्त हो रहे हों या जहाँ वस्तु या अलङ्कार की अभिव्यक्ति रसप्रवण रूप मे हो रही हो। इसके प्रतिकूल जहाँ रस या भाव अपरांग होकर आते हैं अथवा वस्तु या अलङ्कार की अभिव्यक्ति वाच्याग के रूप में होती है वे समस्त स्थल गुणीभूत-व्यंग्य ही कहे जाते हैं। यहाँ पर यदि गुणीभूतव्यंग्यता सिद्ध करनी है तो व्यंग्यार्थ को वाच्यांग ही मानना होगा रसांग नहीं।) वस इतना पर्याप्त है अपने पूर्ववंद्यों से अधिक विवाद करना और उनका अधिक खण्डन करना ठीक नहीं मालूम पड़ता।

ध्वन्यालोकः

एवंस्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न तेषां पदानामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो विधातव्यः । विवक्षितवाच्यत्वात्तेषाम् । तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम् । तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि । न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्व्यञ्जकानि यावदर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि । यथात्रैव श्लोके रावण इत्यस्य प्रभेदान्तररूपव्यञ्जकत्वम् ।

(अनु०) ऐसी स्थिति होनेपर 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकमें निर्दिष्ट पदोंके व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्य के प्रतिपादन करने पर भी इस वाक्य के अर्थभूत रस की अपेक्षा व्यञ्जकत्व कहा गया है । उन पदों का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनका विवक्षितवाच्यत्व है । उनमे निस्सन्देह वाच्य का व्यङ्ग्यविशिष्टत्व प्रतीत होता है व्यङ्ग्यरूप में परिणतत्व नहीं । इससे वहाँ पर वाक्यध्वनि है और पद गुणीभूतव्यङ्ग्य हैं । केवल गुणीभूतव्यङ्ग्य पद ही अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के व्यञ्जक नहीं होते; क्योंकि ध्वनिप्रभेदरूप अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भी व्यञ्जक होते हैं । जैसे इसी श्लोकमें 'रावण' इसका प्रभेदान्तररूप व्यञ्जकत्व है ।

लोचन

एवंस्थित इति । अनन्तरोक्तेन प्रकारेण ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्विभागे स्थिते सतीत्यर्थः । कारिकागतमपिशब्दं व्याख्यातुमाह—न चेति । एष च श्लोकः पूर्वमेव व्याख्यात इति न पुनर्लिख्यते ।

'ऐसी स्थिति में' यह । अर्थात् अभी कहे हुये प्रकार से ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के विभाग के स्थित होने पर । कारिका में आये हुये 'अपि' शब्द की व्याख्या करने के लिये कहते है—'न च' यह । इस श्लोक की पहले ही व्याख्या कर दी गई इसलिये फिर नहीं लिखा जा रहा है ।

तारावती

ऊपर यह सिद्ध किया गया है कि गुणीभूत व्यंग्य भी अन्ततः ध्वनि काव्य ही होते है क्योंकि सभी काव्यों का तात्पर्य तो रसास्वादन ही होता है । एक उदाहरण और ले लीजिये—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय.' में प्रत्येक शब्द व्यञ्जक है। इसकी व्यञ्जकता की पूरी व्याख्या इसी उद्योत की १६ वीं कारिका में की जा चुकी है ।

## तारावती

इस पद्य में प्रत्येक शब्द का वाच्यार्थ व्यङ्ग्य के सहकार मे ही लिया जाता है और व्यङ्ग्यार्थ का एकमात्र प्रयोजन यही है कि वह वाच्यार्थ को पुष्ट करे। अतः वहाँ पर अभिव्यक्त होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत व्यङ्ग्य ही हैं। फिर भी सम्पूर्ण पद्य की चरम अभिव्यक्ति रसात्मक ही है और समस्त मध्यवर्ती व्यङ्ग्यार्थ वाच्य की पोषकता के माध्यम से रसाभिव्यञ्जन मे ही सहायक होते हैं। अतः मध्यवर्ती व्यङ्ग्यार्थों की दृष्टि से इसमे गुणीभूतव्यङ्ग्यता है किन्तु चरम रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह ध्वनि काव्य ही कहा जायगा।

(प्रश्न) यहाँ पर वाच्यार्थ में व्यङ्ग्यार्थ भी सम्मिलित हो जाता है और व्यङ्ग्य-विशिष्ट वाच्य की प्रतीति होती है। यही बात अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि में भी हुआ करती है। फिर आप अवान्तर व्यंग्यार्थों की दृष्टि से इसे अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य ध्वनि न कहकर गुणीभूतव्यंग्य क्यों कहते हैं? (उत्तर) अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य ध्वनि वहीं पर होती है जहाँ बाध का प्रतिसन्धान हो और वाच्यार्थ के व्यंग्यार्थ में बिना संक्रमण किये हुये वहाँ पर वाच्यार्थ सङ्गत ही नहीं हो। इस प्रकार अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तो अविवक्षितवाच्य का भेद होता है किन्तु प्रस्तुत पद्य 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' में व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ मे अभिसंक्रमण नहीं होता है और न वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के द्वारा विशेषित होकर के ही अर्थ की पूर्ति करता है अपितु वाच्यार्थ स्वतः पूर्ण होता है किन्तु उसमे व्यंग्यार्थ की विशेषता सन्निविष्ट हो जाती है। इस प्रकार इस उदाहरण में वाच्यार्थ विवक्षित ही रहता है। अतएव इस उदाहरण में वाक्यव्यञ्जना तो ध्वनिरूप है और पद-व्यञ्जनायें गुणीभूत व्यंग्य ही मानी जाती है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रसव्यञ्जना मे केवल गुणीभूत व्यंग्य ही निमित्त नहीं होते अपितु अविवक्षितवाच्य के भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भी रसव्यञ्जना में निमित्त होते हैं। उदाहरण के लिये—इसी पद्य मे 'जीवत्यहो रावणः' में 'रावण' शब्द अर्थान्तर-संक्रमित वाच्यपरक है। यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भी वाक्य से अभिव्यक्त होनेवाली रसध्वनि का अङ्ग है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। यह कारिका में आये हुये 'अपि' शब्द का आशय है कि 'गुणीभूतव्यङ्ग्य भी' ध्वनि-रूपता को धारण करते हैं अर्थात् अन्यतत्त्व तो धारण करते ही हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह नहीं है कि जहाँ-कहीं गुणीभूत-व्यङ्ग्य होता है वहाँ सर्वत्र ध्वनिकाव्य होता ही है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि पदों में गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है और उसका पर्यवसान ध्वनि में नहीं

ध्वन्यालोकः

यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदायधर्मः यथा—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपयुञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः॥

इत्यादौ।

(अनु०) जहाँ तो वाक्य में रस इत्यादि तात्पर्य न हो, गुणीभूत व्यङ्ग्य पदों से उद्भासित होनेपर भी वहाँपर गुणीभूतव्यङ्ग्यता ही समुदाय धर्म होता है। जैसे—

'निस्सन्देह कुशल मनुष्य राजा का भी सेवन करते है; विष का भी उपयोग करते हैं और स्त्रियों से भी रमण करते हैं।

इत्यादि में।

लोचन

यत्र त्विति। यद्यपि चात्र विषयनिर्वेदात्मकशान्तरसप्रतीतिरस्ति, तथापि चमत्कारोऽयं वाच्यनिष्ठ एव। व्यङ्ग्यं त्वसम्भाव्यत्वविपरीतकारित्वादि तस्यैवानुयायि, तच्चापि शब्दाभ्यामुभयतो योजिताभ्यां च शब्देन स्थानत्रययोजितेन खलुशब्देन चोभयतो योजितेन मानवशब्देन स्पृष्टमेवेति गुणीभूतम्।

'जहाँ तो' यह। यद्यपि यहाँ पर विषयनिर्वेदात्मक शान्त रस की प्रतीति होती है तथापि यह चमत्कार वाच्यनिष्ठ ही है। असम्भाव्यत्व, विपरीतकारित्व इत्यादि व्यङ्ग्य तो उसी का अनुयायी है। और वह दोनों ओर योजित 'भी' शब्द से, तीन स्थानो पर योजित 'और' शब्द से, दोनों और योजित 'खलु' शब्द से और 'मानव' शब्द से स्पृष्ट ही है अतः गुणीभूत है।

तारावती

होता। जहाँ कहीं वाक्यार्थ रसाभिव्यञ्जनपरक नहीं होता वहाँ यदि वाच्यार्थ गुणीभूत व्यंग्यों से उद्भासित भी हो रहा हो तथापि उसे ध्वनिकाव्य की संज्ञा नहीं दी जायगी अपितु वहाँ समुदाय धर्म भी गुणीभूतव्यंग्य ही होता है। उदाहरण के लिये इस उक्ति को लीजिये—

'निस्सन्देह वे मानव कुशल ही होते हैं जो राजा की भी सेवा कर लेते है, विष का भी उपयोग कर लेते हैं और स्त्रियो से भी रमण कर लेते हैं।'

यहाँ आशय यह है कि राजा की सेवा और स्त्रियों का उपभोग करना उतना ही विषम होता है जितना विष का सेवन करना। राजा के हृदय का पता नहीं चलता, विष सद्यः प्राणापहारक हो जाता है और स्त्रिया बाहर से अनुराग दिखलाती है किन्तु उनका हृदय छुरे की धार के समान तेज तथा घातक होता है।

तारावती

यद्यपि यहाँ पर शान्त रस की कल्पना की जा सकती है। सारा लौकिक व्यवहार ही नीरसप्राय तथा दुःख और क्लेश से भरा हुआ है। लोक राजाओं को अधिक महत्त्व देता है और स्त्रियों में अधिक लिप्त रहता है क्योंकि वे ही सर्वाधिक आकर्षक होती हैं। किन्तु ये सब तत्त्व हैं कुछ भी नहीं परिणाम में ये सब विषभक्षण के समान ही मारक हो जाते हैं। इस प्रकार यह सब वर्णन विषयवैरस्य का प्रतिपादक है और उससे शान्तरस की अभिव्यञ्जना होती है। तथापि रसध्वनि वहीं पर होती है जहाँ चमत्कार रसनिष्ठ हो और रस की स्पष्ट रूपमें अभिव्यक्ति हो रही हो। यहाँ पर रसध्वनि नहीं कहीं जा सकती क्योंकि यहाँ पर चमत्कार वाच्यनिष्ठ ही है। यहाँ पर पूरे वाक्य से भी व्यञ्जना निकलती है कि राजा की सेवा कर सकना, स्त्रियों का हृदय पहिचान सकना और उनका प्रेम प्राप्त कर सकना तथा विषभक्षण कर सकना ये सब असम्भव कार्य हैं और जिस फल की आकांक्षा से इन को स्वीकार करो ये उसके विपरीत ही फल देते हैं। किन्तु यह सम्पूर्ण वाक्यगत व्यञ्जना चमत्कारपर्यवसायिनी नहीं होती क्योंकि यह वाच्य का ही संस्कार करती है अतएव ध्वनि न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्य की ही कोटि में आती है। वाच्य का उपस्कार इस प्रकार होता है कि 'अपि' शब्द दोनों ओर लगाया जाता है कर्म के साथ भी लगाया जाता है और क्रिया के साथ भी। जैसे—'राजानम् अपि' 'सेवन्ते अपि' अर्थात् 'राजा को भी' इससे व्यञ्जना निकलती है राजा लोगों को प्रसन्न कर सकना अत्यन्त दुष्कर है, उनकी क्रूरता, असहिष्णुता और अयुक्तियुक्तता सर्वजनसंवेद्य है। 'सेवा भी करलेते हैं' इससे व्यञ्जना निकलती है कि राजाओं से दूर का व्यवहार तो कोई बड़ी बात नहीं है किन्तु उनकी सेवा में तो सदा उनके पास उपस्थित रहना पड़ता है जो अति दुष्कर कार्य है। इसी प्रकार 'अपि' की दोनों ओर योजना 'विषम् उपयुञ्जते' और 'स्त्रीभिः रमन्ते' में भी कर लेनी चाहिये और उनके व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या भी इसी प्रकार की जानी चाहिये। 'च' शब्द की योजना तीन बार होती है। क्योंकि द्योतकों का प्रयोग एक बार होता है किन्तु उनका सम्बन्ध प्रत्येक के साथ हो जाता है। 'च' भी द्योतक है। ('प्र' इत्यादि तथा 'च' इत्यादि को द्योतक माना जाता है। इसका आशय यह है कि इन शब्दों का अर्थ इनसे सम्बद्ध शब्दों में ही विद्यमान रहता है किन्तु ये शब्द इस अर्थ को व्यक्त मात्र कर देते हैं। जैसे 'रामः कृष्णश्च' मे कृष्ण का अर्थ है 'और कृष्ण' इस और शब्द का अर्थ 'च' शब्द के द्वारा द्योतित कर दिया गया है। यहीं 'च' शब्द की द्योतकता है। वैय्याकरण भूषण मे कहा गया है—

'द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा।'

## ध्वन्यालोकः

वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः। येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां चासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति। अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते।

(अनु०) वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य के विवेक में बहुत बड़ा प्रयत्न करना चाहिये जिससे ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का और अलङ्कारों का असङ्कीर्ण विषय भलीभाँति ज्ञात हो जाता है। नहीं तो प्रसिद्ध अलङ्कारों के विषय में ही व्यामोह प्रवृत्त हो जाता है।

## लोचन

विवेकदर्शना चेयं न निरुपयोगेतिदर्शयति—वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति। अलङ्काराणां चेति। यत्र व्यङ्ग्यं नास्त्येव तत्र तेषां शुद्धानां प्राधान्यम्। अन्यथात्विति। यदि प्रयत्नवता न भूयत इत्यर्थः। व्यङ्ग्यप्रकारस्तु यो मया पूर्वमुत्प्रेक्षितस्तस्या-संदिग्धमेव व्यामोहस्थानत्वमित्येवकाराभिप्रायः।

यह (स्थिति) विवेकदर्शनवाली है निरुपयोगिनी नहीं यह दिखलाते हैं 'वाच्य और व्यङ्ग्य का' यह। 'अलङ्कारों का' यह। जहाँ व्यङ्ग्य नहीं ही होता वहाँ उन शुद्धों (अलङ्कारों) का प्राधान्य होता है। 'नहीं तो' यह। अर्थात् यदि प्रयत्नवाला न हुआ जाय तो। 'एव' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि जिस व्यङ्ग्य प्रकार की मैंने पहले कल्पना की थी उसके व्यामोह स्थान होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

## तारावती

ये निपात अन्त मे प्रयुक्त किये जाते हैं किन्तु इनका अन्वय सभी से हो जाता है। जैसे 'रामः सीता लक्ष्मणश्च गच्छन्ति' यहाँ 'च' शब्द का अन्त में प्रयोग किया गया है किन्तु इसका सम्बन्ध राम, सीता और लक्ष्मण तीनों से हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी 'राजानमपि सेवन्ते, विषमपि उपयुञ्जते, स्त्रीभिश्च सह रमन्ते' यहाँ अन्तमें 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु तीनों के साथ जुड़ जाता है।) इस प्रकार 'च' शब्द की तीनों स्थानों पर योजना से अभिव्यक्त असम्भाव्यत्व इत्यादि का कुछ न कुछ स्पर्श हो ही जाता है क्योंकि इस से व्यक्त होता है कि 'केवल इतना ही नही और भी'। इसी प्रकार 'खलु' (निस्सन्देह) शब्द की योजना दो बार होती है—'मानव' शब्द के साथ और 'कुशल' शब्द के साथ—'वे निस्सन्देह मानव हैं।' क्योंकि मानवगत विशेषता तो उन्हें ही प्राप्त हुई है और 'वे निस्सन्देह कुशल हैं' इससे भी असम्भवकारित्व का स्पर्श हो जाता है। 'मानव' शब्द भी इसी अर्थ का स्पर्श करता है। इस प्रकार यहाँ पर शान्त इत्यादि किसी रस में

ध्वन्यालोकः

यथा—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः।
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः॥
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता।
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

(अनु०) जैसे—

'लावण्य धन के अपव्यय को नहीं गिना, महान् क्लेश स्वीकृत किया, सुखपूर्वक निवास करनेवाले स्वच्छन्द व्यक्ति के हृदय में चिन्ता की आग प्रदीप्त कर दी। यह बेचारी स्वयं ही तुल्य रमण के अभाव मे मारी गई। इस कृशाङ्गी को बनाने मे ब्रह्मा ने न जाने अपने चित्त मे कौन सा प्रयोजन रक्खा था।'

तारावती

वक्ता का तात्पर्य नहीं है अपितु यहाँ पर पर्यवसान अभिव्यंग्य अर्थ से अनुप्राणित वाच्य में ही होता है। अतः यहाँ समुदाय धर्म गुणीभूत व्यङ्ग्य ही है रसध्वनि नहीं।

ऊपर प्रधानता तथा अप्रधानता का जो विचार किया गया है वह व्यर्थ नहीं है अपितु काव्यतत्त्वचिन्तन के लिये उसका बहुत बड़ा उपयोग है। यह काव्य का एक अत्युत्कृष्ट विवेकदर्शन है। प्रत्येक विवेचक का यह बहुत बड़ा कर्तव्य है कि काव्य का परिशीलन करने मे बड़ी ही सावधानी से इस बात पर विचार करे कि अमुक काव्य मे कौन तत्त्व प्रधान है और कौन अप्रधान है। क्या व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है? अथवा क्या व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुप्राणन मात्र है? अथवा क्या व्यग्यार्थ स्वयं रस का पोषक है? अथवा वाच्योपस्कारक होकर रसाभिव्यञ्जक होता है। क्या कवि का रस में तात्पर्य है या नहीं! यदि इन सब बातों पर भलीभाँति ध्यान दिया जायगा तो यह सरलता से ही मालूम पड़ जायगा कि अमुक स्थान मे ध्वनिकाव्य है अथवा गुणीभूतव्यंग्य है या शुद्ध अलङ्कार की प्रधानता है जिसमे व्यंग्य होता ही नहीं। यदि प्रयत्नपूर्वक प्रधानता और अप्रधानता पर विचार न किया जाय तो प्रधान अलङ्कारों के विषय मे ही व्यामोह हो सकता है अप्रसिद्ध अलङ्कारों का तो कहना ही क्या? यहाँ पर 'अलङ्कार विषय एव' मे जो 'एव' शब्द लिखा गया है उसका अभिप्राय यह है कि यदि परिशीलक प्रधान और अप्रधान की विवेचना करने मे ही चूक जायगा तो जिस व्यंग्य प्रकार का मैंने पहले विस्तृत विवेचन किया है उसमे उसके व्यामोह मे पड़ जाने मे कोई सन्देह ही नहीं रह जायगा। प्रधानता का विचार न करने पर किस प्रकार व्यामोह सम्भव है इसके लिये केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। निम्नलिखित उक्ति को लीजिये—

## लोचन

द्रविणशब्देन सर्वस्वप्रायत्वमनेकस्वकृत्योपयोगित्वमुक्तम् । गणित इति । चिरेण हि यो व्ययः सम्पद्यते न तु विद्युदिव झटिति तत्रावश्यं गणनया भवितव्यम् । अनन्तकालनिर्माणकारिणोऽपि तु विधेर्न विवेकलेशोऽप्युदभूदिति परमस्याप्रेक्षावत्त्वम् । अत एवाह—क्लेशो महानिति । स्वच्छन्दस्येति । विशृङ्खलस्येत्यर्थः । एषापीति । यत्स्वयं निर्मीयते तदेव च निहन्यत इति महद्वैशसमपि शब्देनैवकारेण चोक्तम् । कोऽर्थ इति । न स्वात्मनो न लोकस्य न निर्मितस्येत्यर्थः ।

द्रविणशब्द से लगभग सर्वस्व होना और अपने अनेक कृत्यों का उपयोगी होना बतलाया गया । 'गिनागया' यह । बहुत समय मे जो व्यय किया जाता है बिजली के समान शीघ्र ही नहीं हो जाता वहाँ अवश्य गणना होनी चाहिये। अनेक काल से निर्माण करनेवाले भी ब्रह्म का विवेकलेश भी उदय नहीं हुआ यह उनका बहुत बड़ा नासमझी से कार्य करना है । इसीलिये कहते है—'बहुत बड़ा क्लेश' यह । 'स्वच्छन्द का' यह । अर्थात् विशृङ्खल का । 'यह भी' यह । जो स्वयं निर्मित किया जाता है वही मारा जाय यह बहुत बड़ा घात हुआ—यह 'अपि' शब्द तथा 'एव' शब्द के द्वारा कहा गया । 'कौन अर्थ' यह । अर्थात् न तो अपना ही अर्थ न लोक का ही और न बनाये हुये का ही ।

## तारावती

ब्रह्माजीने उसको न जाने क्यों बनाया एकतो सौन्दर्य की महती सम्पत्ति का निर्ममतापूर्वक व्यय कर डाला और उसकी परवा भी नहीं की । स्वयं इसके बनाने में न जाने कितना परिश्रम किया । लोक का भी इसकी रचना से क्या हितसाधन हुआ । लोग स्वच्छन्द विचरण कर रहे थे उनके हृदयों मे चिन्ता की आग जला दी। स्वयं यह बेचारी भी अपने जैसे किसी प्रियतम को प्राप्त न कर सकी अतः यह भी नष्ट ही हो गई । न जाने इस कृशागी के इतने मनोहर रूप की रचना करने में ब्रह्माजी ने अपने हृदय मे क्या प्रयोजन रक्खा जोकि ऐसी अभूतपूर्व सुन्दरी की रचना कर दी ।'

यहाँ पर लावण्य पर द्रविण का आरोप किया गया है । द्रविण ( पूँजी ) ही एक ऐसी वस्तु है जो किसी भी व्यक्ति का सर्वस्व कही जा सकती है और उसी से मानव के प्रायः सभी कार्य बन जाते हैं । अतः उसको सुरक्षित रखने की सर्वथा चेष्टा करनी चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं उसका अपव्यय न हो जाय । ब्रह्माजी की सम्पत्ति लावण्य ही है क्योंकि उससे वे समस्त विश्व की रचना करते हैं । प्रस्तुत नायिका की रचना में ब्रह्माजी ने खुले हाथों उस सौन्दर्य का अपव्यय किया और इस बात की परवा भी नहीं की कि उनका सर्वस्वभूत बहुमूल्य

तारावती

पदार्थ समाप्त होता जा रहा है। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि बिजली की चमक के समान पूँजी एकदम समाप्त हो जाती है और स्वामी उसे देखता ही रह जाता है, सम्पत्ति की रक्षा कर सकना उसके स्वामी के वश में ही नहीं रहता; अथवा इतनी अधिक आवश्यकता पड़ जाती है कि सम्पत्ति का मोह छोड़कर भी आई हुई विपत्ति से पीछा छुड़ाया जाता है। किन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है। ब्रह्माजी ने बहुत सोच समझ कर बहुत समय में नायिका की रचना की है। अतः सौन्दर्य की पूँजी का विनियोजन बहुत सोच समझ कर धीरे-धीरे किया गया है; बिजली के समान वह एकदम ही नहीं लग गई और न उसके विनियोजन के लिये ब्रह्माजी बाध्य ही थे। अतः उनको इस बात की परवा करनी ही चाहिये थी कि उनकी बहुमूल्य सम्पत्ति का यों ही अपव्यय हुआ जा रहा है। सबसे बड़ी आश्चर्य की बात तो यह है कि ब्रह्माजी अनन्तकाल से रचना करते चले आये हैं फिर भी उन्हें इतना विवेक प्राप्त नहीं हो सका कि ऐसी नासमझी न करें। केवल इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्माजी को इतने सुन्दर निर्माण में न जाने कितना कष्ट उठाना पड़ा होगा किन्तु ब्रह्माजी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। यदि कहा जाय कि ब्रह्माजी ने इस निर्माण से लोक का कोई बड़ा हित किया तो यह बात भी नहीं है। क्योंकि लोक पर तो इसकी रचना से एक आपत्ति ही आ गई। अभी तक लोग स्वच्छन्दता पूर्वक आनन्द से रहते थे उनके लिये कोई बन्धन नहीं था और कोई परेशानी नहीं थी। किन्तु इसकी रचना से उन सबके हृदयों में चिन्तारूप आग दहक उठी कि यह कैसे प्राप्त की जा सके। आशय यह है कि इस नायिका को देखकर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वासना की ज्वाला जल उठती है और प्रत्येक व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो जाता है। यह तो बैठे बैठे ये एक आपत्ति ही सब लोगों पर आ गई। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस निर्माण से इस नायिका का ही कोई हित हुआ है। क्योंकि इतना रूपवान् कोई मनुष्य संसार में बनाया ही नहीं गया जिसका रमण इसके अनुकूल कहा जा सकता। अतः यह बेचारी भी मारी ही गई। जिसको स्वयं बनाया जाय और उसी को मार डाला जाय यह तो बहुत बड़ी हत्या ही कही जायेगी। यह बहुत बड़ी हत्या का भाव 'एषापि स्वयमेव' में 'अपि' और 'एव' शब्दों से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार ब्रह्माजी ने न तो अपना ही हित किया क्योंकि अपनी सारी पूँजी व्यय कर दी और महान् कष्ट उठाया, न लोक का ही हित किया क्योंकि लोगों के हृदयों में कामाग्नि प्रज्वलित कर दी और न इस नायिका का ही उपकार किया जोकि इसे अपने समान प्रियतम नहीं मिल सका। नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्माजी ने इसको बनाने में क्या प्रयोजन रक्खा होगा।

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र व्याजस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायि केनचित्तन्न चतुरस्रम्, यतोऽस्याभिधेयस्यैतदलङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे न सुश्लिष्टता। यतो न तावदयं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' इत्येवं विधोक्त्यनुपपत्तेः। नापि नीरागस्य, तस्यैवंविधविकल्पपरिहारैकव्यापारत्वात्। न चायं श्लोकः क्वचित्प्रबन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्येत।

(अनु०) यहाँ पर व्याजस्तुति अलङ्कार है, यह किसी ने व्याख्या की, वह चारों ओर से ठीक नहीं बैठता; क्योंकि इस अभिधेय के इस अलङ्कार स्वरूपमात्र मे पर्यवसित होने पर सङ्गति ठीक नहीं बैठती। क्योंकि यह किसी रागी का तो विकल्प हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी इस प्रकार की उक्ति उपपन्न नहीं होती कि 'यह बेचारी भी तुल्य रमण ( प्रियतम ) के अभाव मे मारी गई।' यह किसी रागहीन की भी उक्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसका तो एकमात्र कार्य ही यह होता है कि इस प्रकार के विकल्पों का परित्याग करे। यह श्लोक किसी प्रबन्ध मे है यह भी नहीं सुना जाता जिससे उस प्रकरण के अनुगत अर्थ की वह कल्पना कर ली जाय।

लोचन

तस्येति। रागिणो हि वराकी हतेति कृपणतालिङ्गितममङ्गलोपहतं चानुचितं वचनम्। तुल्यरमणाभावादिति स्वात्मन्यत्यन्तमनुचितम्। आत्मन्यपि तद्रूपासम्भावनायां रागितायां च पशुप्रायत्वं स्यात्।

'उसका' यह। रागी का 'बेचारी मारी गई' यह वचन कृपणता से आलिङ्गित है और अमङ्गल से उपहत अनुचित वचन है। 'तुल्यरमण के अभाव मे' यह अपने विषय मे अत्यन्त अनुचित है। अपने विषय में भी तद्रूप की असम्भावना करने पर रागिता में भी पशुप्रायत्व हो जाय।

तारावती

यहाँ पर किसी किसी ने व्याजस्तुति अलङ्कार माना है। व्याजस्तुति अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ प्रस्तुत की निन्दा की जाय जिसका अभिप्राय प्रस्तुत की ही प्रशंसा मे हो। यहाँ पर ब्रह्मा प्रस्तुत है उनकी निन्दा की गई है। इस निन्दा का तात्पर्य है प्रशंसा में, क्योंकि इससे अभिव्यक्त होता है कि ब्रह्मा जी इतने निपुण हैं कि वे इतनी उच्चकोटि की सुन्दरियों का भी निर्माण कर सकते हैं। किन्तु वस्तुतः यहाँ नायिका का वर्णन ही प्रस्तुत है और ब्रह्मा जी की निन्दा के रूप में नायिका की निन्दा ही वाच्य है—'इस नायिका को व्यर्थ ही इतना लावण्य दे दिया गया, इसने स्वच्छन्द लोगों के हृदयों मे कामाग्नि की ज्वाला जला दी,

तारावती

इसका भी जीवन व्यर्थ है क्योंकि इसे अपने समान रूपवान् व्यक्ति उपभोग के लिये मिल ही नहीं सकता।' इस निन्दा से नायिका की प्रशंसा अभिव्यक्त होती है कि इसकी जैसी भुवनसुन्दरी और कोई है ही नहीं। इस प्रकार यह व्याजस्तुति अलङ्कार माना गया है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है और इस त्रुटि का कारण यही है कि विचारकों ने सभी दृष्टियों से इस पर विचार नहीं किया है तथा ठीक रूप में प्राधान्य-अप्राधान्य के विवेचन करने की चेष्टा नहीं की। कारण यह है कि यदि इस पद्य के वाच्यार्थ का पर्यवसान केवल व्याजस्तुतिपरक ही माना जाय तो इस पद्य की सङ्गति ठीक बैठ ही नहीं सकती। इसको इस प्रकार समझिये—इस पद्य में नायिका के निर्माण के प्रयोजन के सम्बन्ध में जो अनेक विकल्प किये गये हैं वे किस व्यक्ति के विकल्प हैं? क्या वे किसी प्रेमी व्यक्ति के विकल्प हैं? किन्तु प्रेमी तो वही हो सकता है जिसकी चित्तवृत्ति अपनी प्रेयसी मे बिल्कुल निमग्न हो गई हो और वह अपनी उस प्रेमिका की रूपसुधा का आस्वादन करने में ही अपने को कृतकृत्य मानता हो। वह तो अपनी प्रेयसी को सभी प्रकार का आदर देने को प्रस्तुत रहता है और उसी को सर्वस्व तथा सारभूत सफल पदार्थ समझता है। फिर भला वह अपनी प्रेयसी के लिये ही 'बेचारी' इस दीनता भरे हुये शब्द का प्रयोग कैसे करेगा? और 'नष्ट हो गई' यह अमाङ्गलिक वाक्य भी उसके मुख से कैसे निकलेगा? ये वचन सर्वथा अनुचित हैं जो एक प्रेमी अपनी प्रेयसी के लिये कह ही नहीं सकता। साथ ही प्रेमी तो वही हो सकता है जो नायिका के वियोग में दुःखी रहे और उसे प्राप्त करने की चेष्टा करे। 'इसको इसका जैसा रमण करने वाला व्यक्ति मिल ही नहीं सकता' ये शब्द किसी प्रेमी के मुखसे निकल ही नहीं सकते क्योंकि इससे यह स्पष्ट ही है कि वह अपने को उसके अनुकूल नहीं समझता। तब वह उसका प्रेमी कैसा? अपने अन्दर उसके जैसे रूप के प्राप्त कर सकने की योग्यता का अभाव समझना एक प्रेमी के लिये पशुओं की जैसी क्रिया हो जायगी। अतः यह कथन किसी रागी का नहीं माना जा सकता। तो क्या यह कथन किसी विरक्त व्यक्ति का है? किन्तु विरक्त व्यक्ति का तो एकमात्र कार्य यही होता है कि वह नायिकाओं के इस प्रकार के स्वरूप पर्यालोचन को सर्वथा बचाता रहे। यदि वह इस प्रकार सौन्दर्य की समीक्षा में प्रवृत्त रहे तो वह विरागी कैसा? अतः यह सिद्ध है कि यह कथन प्रस्तुतपरक नहीं हो सकता और न व्याजस्तुति अलङ्कार ही यहाँ सङ्गत हो सकता है। यहाँ तो अप्रस्तुत अंश पर ही प्रकाश पड़ता है। अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही हो सकता है।

(प्रश्न) यह कथन किसी रागी का क्यों नही हो सकता? मान लीजिये किसी

## लोचन

ननु च रागिणोऽपि कुतश्चित्कारणात् परिगृहीतकतिपयकालव्रतस्य वा रावण-प्रायस्य वा सीतादिविषये दुष्यन्तप्रायस्य वाऽनिर्ज्ञातजातिविशेषे शकुन्तलादौ किमियं स्वसौभाग्याभिमानगर्भा तत्स्तुतिगर्भा चोक्तिर्न भवति। वीतरागस्य वा अनादि-कालाभ्यस्तरागवासनावासिततया मध्यस्थत्वेनापि तां वस्तुतस्तथा पश्यतो नेयमुक्तिः न सम्भाव्या। न हि वीतरागो विपर्यस्तान् भावान् पश्यति। न ह्यस्य वीणाक्वणितं काकरटितकल्पं प्रतिभाति। तस्माद्प्रस्तुतानुसारेणोभयस्यापीयमुक्तिरुपपद्यते। अप्रस्तुत-प्रशंसायामपि ह्यप्रस्तुतः सम्भवन्नेवार्थो वक्तव्यः, नहि तेजसीत्थमप्रस्तुतप्रशंसा सम्भवति—अहो धिक्ते कार्ष्ण्यमिति सा परं प्रस्तुतपरतयेति नात्रासम्भव इत्याशङ्क्याह—न चेति।

( प्रश्न ) कहीं किसी कारण से थोड़े समय के लिये व्रत लिये हुये रागी की; अथवा सीता इत्यादि के विषय मे किसी रावण सदृश रागी की अथवा अज्ञात जातिविशेषवाली शकुन्तला इत्यादि के विषय में दुष्यन्त जैसे किसी रागी की—क्या यह अपने सौभाग्य के अभिमान से गर्भित तथा उसकी प्रशंसा से गर्भित उक्ति नहीं हो सकती ? अथवा अनादि काल से अभ्यस्त राग की वासना से वासित होने के कारण मध्यस्थ होते हुये भी उसको वस्तुतः उस प्रकार की देखनेवाले वीतराग की भी यह उक्ति सम्भावित नहीं की जा सकती ऐसा नहीं। इसकी वीणा का सुमनोहर शब्द कौये की काँव काँव जैसा तो मालूम नहीं पड़ता। इससे प्रस्तुत का अनुसरण करते हुये दोनों की यह उक्ति सिद्ध की जा सकती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में भी सम्भव हो अप्रस्तुत अर्थ कहा जाना चाहिये। तेज में यह अप्रस्तुतप्रशंसा सम्भव नहीं होती कि तुम्हारी कालिमा को धिक्कार है। इस प्रकार प्रस्तुतपरक ही है अतः यहाँ असम्भव नहीं यह शङ्का करके कहते हैं—'और नहीं यह श्लोक' इत्यादि।

## तारावती

रागी व्यक्ति ने कुछ समय के लिये किसी कारण से स्त्री-सहवास न करने का व्रत ले रक्खा है। वह अपने को उस नायिका के लिये उपयुक्त समझते हुये भी इस प्रकार के शब्द कह सकता है। अथवा ( यदि कहो कि उसका भी 'बेचारी' या 'मारी गई' ये शब्द कहना तो अनुचित ही है तो ) ये शब्द किसी ऐसे व्यक्ति के हो सकते हैं जो किसी ऐसी युवती से प्रेम करना चाहता हो जो स्वयं उससे विरक्त हो जैसे रावण का प्रेम सीता के प्रति। ( किन्तु इस प्रेम में भी रावण मदोन्मत्त है और वह अपने प्रेम की असफलता पर पश्चात्ताप ही करता रह जाय या उसके हृदय में अपनी प्रेयसी के प्रति करुणाभाव की जागृतिमात्र हो जाय यह रावण के स्वभाव के प्रतिकूल है। रावण तो दर्प के साथ सीता को प्राप्त करने की चेष्टा

तारावती

करेगा। ऐसी दशा में उसका भी इस प्रकार का कथन सङ्गत नहीं होता। क्योंकि रावण के सीता के प्रति प्रेम में तो चिन्ता की ही अधिकता होनी चाहिये। अथवा यह ऐसे प्रेमी के विषय में हो सकता है जैसा कि दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति उस समय भाव था जब दुष्यन्त को शकुन्तला की जाति का पता नहीं चल पाया था। (अभिज्ञान शाकुन्तल में यह प्रकरण आया है कि वृक्षों को सींचती हुई शकुन्तला को आड़ से देखकर दुष्यन्त यह वितर्क करने लगे कि क्या शकुन्तला उनके लिये उपभोग्य है या नहीं।) वास्तव में शकुन्तला अनन्य साधारण सुदरी है ही और उपभोगयोग्य न होने के कारण दुष्यन्त के हृदय में यह विचार आ ही सकता है कि बेचारी शकुन्तला को अपनी सुंदरता के योग्य प्रियतम मिलना असम्भव है। यद्यपि दुष्यन्त स्वयं को इस योग्य समझते हैं किन्तु सामाजिक प्रतिबंध उन्हें उसके सहवास में प्रवृत्त होने की अनुमति नहीं देता। इस प्रकार इस कथन से दुष्यन्त के सौभाग्य के अभिमान में भी कमी नहीं आती और शकुन्तला की प्रशंसा भी अभिव्यक्त हो जाती है। इस प्रकार यह कथन एक रागी व्यक्ति का हो ही सकता है। वीतराग की भी यह उक्ति असम्भव नहीं है। क्योंकि वीतराग व्यक्ति भी अनेक योनियों में भ्रमण करते हुये अनादि काल से जिस रागात्मक प्रवृत्ति का आनंद लेता रहा है उससे उसकी आत्मा वासित तो है ही। अतः इस समय यद्यपि वह समस्त विषयों का परित्याग कर चुका है तथापि किसी अभूतपूर्व सौन्दर्य-शाली पदार्थ को तो वह उसी रूप में देखेगा जैसा वह है, अर्थात् जो पदार्थ सौन्दर्य में सर्वातिशायी होते हैं उनको वीतराग भी सुंदरतम रूप में ही देखता है। उसकी सौन्दर्यप्रतीति की भावना समाप्त तो नहीं हो जाती। वह समस्त वस्तुओं को विपर्यस्त रूप में तो नहीं देखने लगता। वीणा का सुमनोहर क्वणन उसके लिये कौवे की काँव काँव तो नहीं हो जाती। अतएव चाहे आप इसे रागी व्यक्ति की उक्ति मानें चाहे वीतराग की; दोनों अवस्थाओं मे यह प्रस्तुत का ही वर्णन हो सकता है और दोनों का ही यह कथन सङ्गत हो जाता है। अतः यहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार ही मानना चाहिये। यदि आप अप्रस्तुतप्रशंसा मानेंगे तो भी ऐसा ही अप्रस्तुत अर्थ मानना पड़ेगा जो सम्भव हो। असम्भव अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति कभी नहीं हो सकती। यह तो आप कह ही नहीं सकते कि चाहे जिस अप्रस्तुत से चाहे जो प्रस्तुत अर्थ निकल सकता है। यदि आप ऐसा मानने लगेंगे कि चाहे जिस अप्रस्तुत से चाहे जिस प्रस्तुत की प्रतीति हो सकती है तब तो यह भी सम्भव हो सकेगा कि 'तुम्हारी कालिमा को धिक्कार है' इसको अप्रस्तुत मानकर इससे यह प्रतीति होगी कि वक्ता का अभिप्राय तेज का वर्णन

## ध्वन्यालोकः

तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम् । यस्मादनेन वाच्येन गुणीभूतात्मना निस्सामान्य-गुणावलेपाध्मातस्य निजमहिमोत्कर्षजनितसमत्सरजनज्वरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कञ्चिदेवापरं पश्यतः परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते । तथा चायं धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धः । सम्भाव्यते च तस्यैव । यस्मात्—

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
प्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि ।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं,
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥

इत्यनेनापि श्लोकेनैवंविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव ।

(अनु०) उस ( कारण ) से यह अप्रस्तुतप्रशंसा है । क्योंकि गुणीभूत आत्मा-वाले इस वाच्य से असामान्य गुणों के अभिमान से फूले हुए अपनी महिमा के उत्कर्ष से मत्सरपूर्ण व्यक्तियों के हृदय में सन्ताप उत्पन्न करनेवाले और अपने किसी अन्य विशेषज्ञ को न देखनेवाले व्यक्ति का यह विलाप है यह प्रकाशित किया जा रहा है । क्योंकि यह प्रसिद्धि है कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है और सम्भावना भी उन्हीं के श्लोक होने की है । क्योंकि—

'बहुत बढ़ी-चढ़ी बुद्धि की शक्तिवाले के द्वारा भी जिसके अवगाहन का अध्यवसाय नहीं किया जा सकता, अधिक अभियोगों के द्वारा भी जिसके परमार्थ तत्त्व को नहीं देखा जा सका है और जिसका समान प्रतिग्राहक प्राप्त नहीं होता इस प्रकार का हमारा मत महासागर के जल के समान अपने शरीर में ही जरा को प्राप्त हो जायगा ।

इस श्लोक के द्वारा भी इस प्रकार का अभिप्राय प्रकाशित ही किया गया है ।

## तारावती

करना है । सारांश यह है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुतपरक ही होना चाहिये मनमाना नहीं । जब अप्रस्तुतप्रशंसा में भी सम्भावना अपेक्षित होती ही है तब यहाँ पर व्याजस्तुति मानने मे आपत्ति ही क्या है ? ऊपर बतलाई हुई विधि से हम इसे किसी रागी की या विरागी की उक्ति क्यों नहीं मान सकते ? ( उत्तर ) यह श्लोक किसी प्रबन्ध में नहीं आया है । अतः इसके लिये यह कल्पना नहीं की जा सकती कि इसमे कोई प्रकरणानुगत अर्थ हो सकता है । यदि यह पद्य किसी प्रबन्ध के अन्दर होता तो उस प्रबन्ध के अनुसार ही उसकी योजना कर ली जाती । अतः जो अवतरण आपने सुझाये हैं वे यहाँ पर लागू ही नहीं होते ।

## लोचन

निस्सामान्येति निजमहिमेति विशेषज्ञमिति परिदेवितमित्येतैश्चतुर्भिः वाक्यखण्डैः क्रमेण पादचतुष्टयस्य तात्पर्यं व्याख्यातम्। नन्वत्रापि किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह—तथा चेति। ननु किमियतेत्याशङ्क्य तदाशयेन निर्विवादतदीयश्लोकार्पितेनास्याशयं संवादयति—सम्भाव्यत इति। अवगाहनमध्यवसितमपि न यत्र आस्तां तस्य सम्पादनम्। परमं यदर्थतत्त्वं कौस्तुभादिभ्योऽप्युत्तमम्, अलब्धं प्रयत्नपरीक्षितमपि न प्राप्तं सदृशं यस्य तथाभूतं प्रतिग्राहमेकैको ग्राहो जलचरः प्राणी ऐरावतोच्चैःश्रवोधन्वन्तरिप्रायो यत्र तदलब्धसदृशप्रतिग्राहकम्।

'निस्सामान्य' यह 'निजमहिमा' यह 'विशेषज्ञ' यह 'परिदेवित' यह इन चार वाक्यखण्डों से क्रमशः चार पदों के तात्पर्य की व्याख्या की गई। (प्रश्न) निस्सन्देह यहाँ पर भी क्या प्रमाण है? यह शङ्का करके कहते हैं—'तथा च' इत्यादि। इससे क्या? यह शङ्का करके उसके आशय से उन (धर्मकीर्ति) के निर्विवाद श्लोक के द्वारा अर्पित आशय का मेल करा रहे हैं—'सम्भावित किया जाता है' यह। जहाँ अवगाहन की तैय्यारी की हो और उसका सम्पादन न हो सके। परम जो अर्थतत्त्व अर्थात् कौस्तुभ इत्यादि से भी उत्तम। नहीं प्राप्त किया अर्थात् प्रयत्नपूर्वक परीक्षा करने पर भी जिसके समान प्राप्त नहीं हुआ उस प्रकार का प्रतिग्राह अर्थात् जलचर प्राणी ऐरावत, उच्चैःश्रवा, धन्वन्तरि इत्यादि हैं जिसमें उसको कहते हैं सदृश प्रतिग्राहक को न प्राप्त करनेवाला।

## तारावती

(प्रश्न) जब आपके मत में यहाँ व्याजस्तुति का मानना ठीक नहीं तो और कौनसा अलङ्कार होगा? (उत्तर) यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार मानना ही ठीक है। यहाँ पर प्रस्तुत है किसी विचारक की चिन्तनाशक्ति से उद्भूत गहन दार्शनिक सिद्धान्त जिसको समझ सकना भी प्रतिभाशालियों के लिये असम्भव है। कवि इसी बात को कहना चाहता है। अतः उसके तुल्य इस अप्रस्तुत अर्थ का उपन्यास करता है कि ब्रह्माजी ने एक ऐसी अभूतपूर्व सुन्दरी की रचना कर दी है कि उसके उपभोगयोग्य ही कोई व्यक्ति दृष्टिगत नहीं होता। इस अप्रस्तुत से इस प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है कि विचारक का सिद्धान्त समझने की क्षमता ही बड़े-बड़े विद्वानों में भी नहीं है। इस प्रकार तुल्य अप्रस्तुत से तुल्य प्रस्तुत का परिस्फुरण होने के कारण यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। यहाँ पर प्रस्तुत की अभिव्यक्ति की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'लावण्यरूपी धन के व्यय की भी परवा नहीं की और अपने ऊपर बहुत कष्ट उठाया' इस प्रथम पाद के अर्थ से व्यक्त होता है कि इसका वक्ता अपने असामान्य गुणों के अभिमान से

फूला हुआ है; उसका कहना है कि उसने अपने सिद्धान्त के प्रवर्तन में अपनी सारी प्रतिभा लगा दी है और उसमे उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ा है। यह सिद्धान्त ऐसा वैसा नहीं है अपितु इसमे असाधारण गुण भरे पड़े हैं। दूसरे पाद का अर्थ यह है—'जो लोग स्वच्छन्द विचरण करते थे उनके हृदयों में चिन्ता का ज्वर उत्पन्न कर दिया।' इसकी व्यञ्जना यह है कि 'जो लोग मुझसे मत्सर रखते हैं वे मेरे इस महिमा के उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या की आग से एकदम जलने लगे हैं।' तीसरे पाद का अर्थ है—'यह बेचारी भी अपने तुल्य रमण को प्राप्त न कर सकने के कारण मारी गई।' इसकी व्यञ्जना यह है कि—'मैंने जैसे सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है और जैसी उच्चकोटि की प्रतिपादनशैली इसमें अपनाई है उसकी तुलना विश्व के किसी विचारक से नहीं की जा सकती। मैं अपने विषय का अद्वितीय विशेषज्ञ हूँ।' चतुर्थ पादका अर्थ यह है—'न जाने ब्रह्माजी ने इस तन्वङ्गी की रचनाकर किस अर्थ की सिद्धि की?' इसका व्यङ्ग्यार्थ है—'मुझे दुःख है कि मेरा इतना उच्चकोटि का सिद्धान्त किसी की समझ में नहीं आयेगा और यह यों ही व्यर्थ हो जायगा।' इस प्रकार इस पद्य से वक्ता का परिदेवन व्यक्त होता है। अतः यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही है।

(प्रश्न) इस विषय में क्या प्रमाण है कि इस पद्य का प्रस्तुत अर्थ किसी विद्वान् की उच्चकोटि की रचना के न समझे जाने से उद्भूत परिदेवन है। (उत्तर) यह प्रसिद्ध है कि यह पद्य धर्मकीर्ति का लिखा हुआ है। (आनन्दवर्धन को भी इस बात का ठीक पता नहीं था कि यह पद्य किसका लिखा हुआ है। यहाँ पर उन्होंने अपने समय की प्रसिद्धिमात्र का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन के इसी उल्लेख के आधार पर क्षेमेन्द्र ने निश्चय के साथ लिख दिया है कि यह धर्मकीर्ति का पद्य है। धर्मकीर्ति एक बौद्धभिक्षु थे। इन्होंने न्यायबिन्दु की रचना की थी। सुबन्धु की वासवदत्ता में दी हुई एक उपमा से व्यक्त होता है कि इन्होंने एक अलङ्कार ग्रन्थ की भी रचना की थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि धर्मकीर्ति सुबन्धु से भी पहले हुये थे।) (प्रश्न) यह तो प्रसिद्धिमात्र है इसमें प्रमाण ही क्या कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है? दूसरी बात यह है कि यदि इसे धर्मकीर्ति का मान भी लिया जाय तो भी यह कैसे सिद्ध हो जायगा कि यह व्याजस्तुति न होकर अप्रस्तुतप्रशंसा है। (उत्तर) सम्भावना यही है कि उन्हीं का श्लोक होगा। कारण यह है कि इस पद्य में जिस प्रस्तुत की व्याख्या की गई है बिल्कुल उसी से मिलता-जुलता भाव धर्मकीर्ति के एक दूसरे श्लोक का भी है जिसके विषय में यह सन्देह नहीं है कि वह धर्मकीर्ति का है या नहीं। उस पद्य का आशय इस प्रकार है—

## लोचन

एवंविध इति। परिदेवितविषय इत्यर्थः। इयति चार्थे अप्रस्तुतप्रशंसोपमालक्षणमलङ्कारद्वयम्। अनन्तरं तु स्वात्मनि विस्मयधामतयाद्भुते विश्रान्तिः। परस्य च श्रोतृजनस्यात्यादरास्पदतया प्रयत्नग्राह्यतया चोत्साहजननेनैवं भूतमत्यन्तोपादेयं सत्कतिपयसमुचितजनानुग्राहकं कृतमिति स्वात्मनि कुशलकारिताप्रदर्शनया धर्मवीरस्पर्शनेन वीररसे विश्रान्तिरिति मन्तव्यम्। अन्यथा परिदेवितमात्रेण किं कृतं स्यात्। अप्रेक्षापूर्वकारित्वमात्मन्यावेदितं चेत् किं ततः स्वार्थपरार्थासम्भवादित्यलं बहुना।

'इस प्रकार का' यह। अर्थात् परिदेवन ( विलाप ) का विषय। और इतने अर्थ में अप्रस्तुतप्रशंसा और उपमा नाम के दो अलंकार हैं। बाद में तो अपने विषय में विस्मयधामता होने के कारण अद्भुत मे विश्रान्ति होती है। दूसरे श्रोता लोगों के लिए अत्यन्त आदरास्पद होने के कारण और प्रयत्नपूर्वक ग्राह्य होने से उत्साहजनक के द्वारा इस प्रकार के ( अर्थ ) को अत्यन्त उपादेय बनाकर कतिपय योग्यजनों का अनुग्राहक बना दिया गया है। इस प्रकार अपने अन्दर कुशलता प्रदर्शन के द्वारा धर्मवीर के स्पर्श से वीररस मे विश्रान्ति हो जाती है यह माना जाना चाहिये। नहीं तो परिदेवन मात्र से क्या कार्य बन सकेगा।

यदि कहो कि अपने अन्दर विना सोचे समझे कार्य करने की प्रवृत्ति बतलाई गई है तो इससे क्या ? क्योंकि इससे स्वार्थ और परार्थ दोनों असम्भव हैं। बस अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता ?

## तारावती

'मेरा मत महासागर के जल के समान अथाह और दुर्गम है। जिस प्रकार बुद्धि की बहुत बड़ी शक्ति रखनेवाले व्यक्ति भी न तो महासागर के जल में प्रविष्ट होने का साहस कर सकते हैं और न उसके आलोडन-विलोडन की शक्ति उनमें होती है उसी प्रकार मेरे मत में प्रवेश पासकने की शक्ति अधिक से अधिक बुद्धि की शक्ति रखनेवालों में भी नहीं है। यदि वे उसमें अवगाहन का अध्यवसाय भी करें तो वह कार्य उनसे सम्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार अधिक से अधिक उद्योग करने पर भी मानव-वर्ग महासागर के बहुत बड़े अर्थतत्त्व कौस्तुभमणि इत्यादि से भी बढ़ी चढ़ी रत्नराशि का अवलोकन नहीं कर सकता उसी प्रकार प्रकृष्ट अभियोग के द्वारा भी विद्वन्मण्डल मेरे मत के वास्तविक अर्थतत्त्व का परिज्ञान नहीं कर सकता। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक परीक्षा करने पर भी समुद्र के समान प्रतिग्राह अर्थात् प्रत्येक जलचर प्राणी प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् समुद्र से जैसे उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्राणी निकलते है वैसे अन्यत्र प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सकते उसी प्रकार मेरे मत के मुझ जैसे प्रतिग्राहक अर्थात्

ध्वन्यालोकः

अप्रस्तुतप्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिदविवक्षितत्वं कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया। तत्र विवक्षितत्वं यथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

यथा वा ममैव—

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम्।
निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना
समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः॥

(अनु०) और अप्रस्तुतप्रशंसा मे जो वाच्य होता है वह कदाचित् विवक्षित होता है; कदाचित् अविवक्षित और कदाचित् विवक्षिताविवक्षित। इस प्रकार तीन प्रकार की बन्धच्छाया होती है। उसमे विवक्षित जैसे—

'दूसरे के लिये जो पीड़ा का अनुभव करता है, जो टूटने पर भी मधुर होता है, जिसका विकार निस्सन्देह सभी व्यक्तियों के लिये अभिमत होता है यदि वह बुरे खेत मे पड़कर वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ तो क्या यह गन्ने का दोष है गुण-हीन मरूभूमि का नहीं ?

अथवा जैसे मेरा ही—

'ये जो सुन्दर रूपवाले (शरीरावयव) देखे जाते हैं इनकी सफलता जिस (चक्षु) के क्षणमात्र विषय बन जाने से हो सकती है; आश्चर्य है कि आलोकरहित इस लोक में ये नेत्र कैसे अन्य सब अवयवों के समान ही हो गये अथवा अन्य अवयवों के समान भी नहीं रहे।'

तारावती

ग्रहण करनेवाले और दूसरों को समझानेवाले नहीं मिलसकते। अतएव जिस प्रकार महासागर का जल अपने शरीर मे ही वृद्ध हो गया उसी प्रकार मेरे शरीर मे ही मेरा मत भी जीर्ण हो जायेगा।'

इस पद्य का वही भाव है जोकि 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि पद्य का है। इसमे वही परिदेवन की भावना है। अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही है व्याजस्तुति नहीं। यहाँ तक तो अलङ्कारों की व्याख्या हुई। 'लावण्यद्रविण-व्ययो न गणितः' इत्यादि मे अप्रस्तुतप्रशंसा है और 'अनध्यवसितावगाहन' इत्यादि

## लोचन

ननु यथास्थितस्यार्थस्यासङ्गतौ भवत्वप्रस्तुतप्रशंसा इह तु सङ्गतिरस्त्येवेत्याशङ्क्य सङ्गतावपि भवत्येवैषेति दर्शयितुमुपक्रमते—अप्रस्तुतेति। नन्विति। यैरिदं जगद्भूषितमित्यर्थः। यस्य चक्षुषो विषयतां क्षणं गतानामेषां सफलता भवति तदिदं चक्षुरिति सम्बन्धः। आलोको विवेकोऽपि। न सममिति। हस्तो हि परस्पर्शादानादावप्युपयोगी। अवयवैरिति अतितुच्छप्रायैरित्यर्थः। अप्राप्तः पर उत्कृष्टो भागोऽर्थलाभात्मकः स्वरूपप्रथनलक्षणो वा येन तस्य।

(प्रश्न) यथास्थित अर्थ की असङ्गति में अप्रस्तुतप्रशंसा हो जाय; यहाँ तो सङ्गति है ही यह आशङ्का करके सङ्गति होने पर भी यह हो ही जाती है यह दिखलाने के लिये उपक्रम करते है—'अप्रस्तुत' यह। 'निस्सन्देह' यह। अर्थात् जिनके द्वारा यह संसार भूषित किया गया है। जिस नेत्र की विषयता को क्षणभर गये हुये इन (अङ्गों) की सफलता होती है वह यह नेत्र—यह सम्बन्ध है। आलोक का अर्थ विवेक भी है। 'समान नहीं' यह। हाथ निस्सन्देह दूसरे के स्पर्श और आदान इत्यादि मे भी उपयोगी है। 'अवयवों' से अर्थात् जो अत्यन्त तुच्छप्राय हैं उनसे। नहीं प्राप्त किया गया है पर अर्थात् उत्कृष्ट भाग अर्थात् अर्थ प्राप्तिरूप अथवा स्वरूप प्रसिद्धिरूप जिसके द्वारा उसका।

## तारावती

मे उपमा अलङ्कार है। बाद मे रसध्वनि पर विचार का प्रश्न उठता है। इस दिशा मे कवि के दृष्टिकोण से विस्मय का स्थान होने के कारण इसकी विश्रान्ति अद्भुत में होती है। यदि श्रोताजनों के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो उनके लिये यह इस प्रकार का मत अत्यधिक आदरणीय होगा और वह मत इस योग्य है कि उसे ग्रहण करने की प्रयत्नपूर्वक चेष्टा की जानी चाहिये, अतः उससे श्रोताओं के हृदय में उत्साह का सञ्चार होता है; उन्हे अनुभव होता है कि 'जो सिद्धान्त कोई नहीं समझ पाता वह मैं समझकर दिखलाऊँगा'। इससे यह व्यक्त होता है कि कवि ने एक ऐसे मत का प्रवर्तन किया है जिसका उपादान सभी के लिये बहुत ही उपयोगी है और जो व्यक्ति इस योग्य होंगे कि उसे समझ सकें तथा वे परिश्रम करके समझेंगे भी वे बहुत ही कृतार्थ हो जायेंगे। चाहे संख्या में वे कितने ही कम हों। इस प्रकार कवि ने अपनी प्रतिभा का उपयोग कर अत्यन्त परिश्रम के साथ लोगों को अनुगृहीत करनेवाला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रवर्तित किया है। इस प्रकार इस उक्ति के द्वारा कवि ने अपनी उच्चकोटि की क्रियाशीलता व्यक्त की है। इस प्रकार यह उक्ति वीररस का स्पर्श करती है और इसकी विश्रान्ति वीररस में ही होती है। यदि इसकी विश्रान्ति साभिमान वीररस में न मानी जाय तो यह

केवल एक विलाप रह जायेगा। उससे लाभ क्या होगा? यदि कहो यहाँ कवि ने यह व्यक्त किया है कि मैं कितना नासमझी का काम करनेवाला हूँ तो इससे भी क्या लाभ होगा? नासमझी से न तो अपना ही अर्थ बनता है और न पराया ही। बस इस पद्य की व्याख्या मे इतना कहना पर्याप्त है अधिक की आवश्यकता नहीं।

(प्रश्न) अप्रस्तुतप्रशसा का ऐसे स्थान पर होना तो ठीक है जहाँ जो कुछ कहा गया हो उसकी सङ्गति ठीक न बैठे। यदि सङ्गति ठीक बैठ जाती है तो अप्रस्तुतप्रशसा हो ही नहीं सकती यहाँ पर 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि पद्य मे किसी व्यक्ति का किसी रमणी के अभूतपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध होना दिखलाया गया है जोकि सङ्गत ही है। अतः आप इसे अप्रस्तुतप्रशंसा कैसे कह सकते हैं?

(उत्तर) अप्रस्तुतप्रशंसा केवल वहीं पर नहीं होती जहाँ अर्थ की सङ्गति न हो। किन्तु अस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की होती है—(१) जहाँ वाच्य विवक्षित हो अर्थात् अर्थ की सङ्गति लग जाती हो, (२) जहाँ वाच्य अविवक्षित हो अर्थात् अर्थ की सङ्गति न लग सकने से वाच्यार्थ का बाध हो जाता हो और (३) जहाँ वाच्यार्थ एक अंश में विवक्षित हो और दूसरे अंश में अविवक्षित अर्थात् जहाँ अर्थ की सङ्गति एक अंश में लग जाती हो और एक अंश मे न लगती हो। इन तीनों प्रकारों को उदाहरणों द्वारा यहाँ पर स्पष्ट किया जायेगा। पहले प्रथम प्रकार को लीजिये—

प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई बहुत ही गुणवान् व्यक्ति किसी ऐसे स्थान पर जा पड़ा है जहाँ न तो उसे अपने गुणों के सम्मान की आशा है, न पैसा ही मिलने वाला है और न उसकी प्रसिद्धि ही हो सकती है। यह उसके लिये बड़े दुर्भाग्य की बात है; किन्तु इससे उस व्यक्ति की गुणहीनता तो नहीं सिद्ध हो जाती इससे तो उस स्थान के लोगों की गुणग्राहकता की कमी ही सिद्ध होती है। यही बात कवि गन्ने की अप्रस्तुत योजना क माध्यम से व्यक्त कर रहा है—

'गन्ना कितनी अच्छी वस्तु है? यह दूसरे के लिये पीडा सहता है और चाहे तोड़ा जाय चाहे पीसा जाय किन्तु अपनी मधुरता नहीं छोड़ता। यदि संयोगवश वह किसी बहुत ही बुरे ऊसर खेत में पड़ जाय और बढ़ न सके तो गन्ने का दोष तो नहीं हो गया। यह तो उस मरुप्रदेश का दोष होगा जो उस गन्ने जैसे अच्छे पदार्थ को भी नहीं बढ़ा सका।'

आनन्दवर्धन ने एक दूसरा और उदाहरण इसी विषय में दिया है जोकि उन्हीं का बनाया हुआ पद्य है और जिसमें उक्त बात ही कही गई है तथा यह बत-

ध्वन्यालोकः

अनयोर्हि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषी विवक्षितस्वरूपे एव न च प्रस्तुते। महागुणस्याविषयपतितत्वादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित्स्वरूपमुपवर्णयितुं द्वयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात्।

(अनु०) निस्सन्देह इन दोनों श्लोकों में गन्ना और नेत्र विवक्षित रूपवाले ही हैं किन्तु प्रस्तुत नहीं हैं। क्योंकि महागुणोंवाले और तुच्छस्थान में पड़ जाने के कारण उत्कर्ष को प्राप्त न करनेवाले किसी व्यक्ति के स्वरूप का वर्णन करने के लिये दोनों श्लोकों में ( वह व्यक्ति ) तात्पर्य के रूप में प्रस्तुत है।

तारावती

लाया गया है कि यदि पूज्य व्यक्ति के रहते हुये अपूज्यों की पूजा होती है तो उसमें पूज्य का क्या दोष ?

'हाथ पैर इत्यादि शरीर के विभिन्न अङ्ग बहुत ही सुन्दर कहे जाते हैं और यह समझा जाता है कि शरीर के इन सुन्दर अङ्गों से ही संसार भूषित कर दिया गया है। किन्तु इन अङ्गों की सफलता तभी होती है जब ये नेत्र के सम्पर्क में आते हैं। नेत्रों का महत्त्व इतना बढ़ा-चढा है कि क्षणमात्र के सम्पर्क से ही अर्थात् क्षण भरके लिये ही इन अङ्गों को अपना विषय बनाकर नेत्र इन्हें सफल बना देते हैं। यह कैसी आश्चर्य और दुःख की बात है कि आलोकरहित अन्धकारपूर्ण संसार में वे ही नेत्र अन्य अङ्गों के समान हो जाते हैं अथवा अन्य अङ्गों की समानता कर भी नहीं सकते।'

'आलोकरहित' में आलोक का अर्थ विवेक भी है। आशय यह है कि ऐसे स्थान पर जहाँ लोगों की विवेकशक्ति मारी जाती है अच्छे से अच्छे लोग भी जन साधारण मे ही गिने जाते हैं। 'अथवा अन्य अवयवों के समान नेत्र नहीं हो सकते' यहाँ पर 'अन्य अवयवों' से व्यञ्जना निकलती है कि वे अवयव बहुत ही तुच्छ हैं। अन्य अङ्ग हाथ-पैर इत्यादि तो अन्धकार में भी स्पर्श इत्यादि के द्वारा कुछ न कुछ कार्य कर ही सकते हैं किन्तु आँखें तो बिल्कुल व्यर्थ हो जाती हैं वे उस समय अन्य अङ्गोंके समान भी नहीं रह जाती। इस प्रकार यहाँ पर अप्रस्तुत इक्षु और चक्षु का वर्णन किया गया है। इक्षु के विषय मे जो कुछ कहा गया वह सब ठीक है और चक्षु भी सभी अङ्गों में अधिक महत्त्वपूर्ण है ही। अतः यहाँ पर वाच्यार्थ विवक्षित है। उससे इस प्रस्तुत की व्यञ्जना निकलती है कि अत्यन्त गुणी व्यक्ति ने बुरे स्थान पर पड़ कर परभाग अर्थात् उत्कृष्ट धन अथवा स्वरूप की प्रसिद्धि को नहीं प्राप्त कर पाया है। उसी की यहाँ व्यञ्जना होती है। इस प्रकार यहाँ विवक्षितवाच्य पर अप्रस्तुतप्रशंसा आधारित है।

ध्वन्यालोकः

अविवक्षितत्वं यथा—

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरिणी मार्गस्थितस्यापि मे॥

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते।

(अनु०) अविवक्षितत्व जैसे—

'अरे तुम कौन हो? कहता हूँ; मुझे दैव का मारा हुआ तुच्छ शाखोट (सिहोरा) का वृक्ष समझो। कुछ मानो वैराग्य से बोल रहे हो। ठीक समझ गये। क्यों? यह कहा जा रहा है? यहाँ से बाईं ओर वटवृक्ष है; यात्री लोग पूरी आत्मा से उसी का सेवन करते हैं; मार्ग में स्थित भी मेरी छाया भी परोपकार करनेवाली नहीं है।'

वृक्ष विशेष से उक्ति-प्रत्युक्ति सम्भव नहीं होती; अतः अविवक्षिताभिधेयवाले इस श्लोक से समृद्ध असत्पुरुष के निकटवर्ती किसी निर्धन मनुष्य का परिदेवन तात्पर्य से वाक्यार्थ बनाया गया है यह प्रतीत होता है।

लोचन

कथयामीत्यादि प्रत्युक्तिः। अनेन पदेनेदमाह—अकथनीयमेतत् श्रूयमाणं हि निर्वेदाय भवति, तथापि तु यदि निर्बन्धस्तत्कथयामि। वैराग्यादिति। काक्वा दैवहतकमित्यादिना च सूचितं वैराग्यमितियावत्। साधुविदितमित्युत्तरम्। कस्मादिति वैराग्ये हेतुप्रश्नः। इदं कथ्यत इत्यादिसनिर्वेदस्मरणोपक्रमं कथंकथमपि निरूपणीयतयोत्तरम्। वामेनेति। अनुचितेन कुलादिनोपलक्षित इत्यर्थः। 'वट' इति। छायामात्र-

'कहता हूँ' इत्यादि प्रत्युक्ति है। इस पद से यह कहते हैं—अकथनीय यह सुने जाने पर निर्वेद के लिये होता है तथापि यदि आग्रह है तो कहता हूँ। 'वैराग्य से' यह। काकु से तथा 'दैवहतक' इत्यादि से तुम्हारा वैराग्य सूचित हुआ है यह आशय है। 'ठीक समझा' यह उत्तर है। 'क्यों' यह वैराग्य के हेतुका प्रश्न है। 'यह कहा जा रहा है' इत्यादि निर्वेदपूर्ण स्मरण के उपक्रम के साथ जैसे तैसे निरूपण करने के योग्य होने के रूप में उत्तर दिया गया है। 'बाईं ओर से' अर्थात् अनुचित कुल इत्यादि से उपलक्षित। 'वट' यह। अर्थात् फलदान इत्यादि से

## लोचन

करणादेव फलदानादिशून्यादुद्धूरकन्धर इत्यर्थः। छायापीति। शाखोटको हि स्मशानाग्नि-ज्वालालीढलतापल्लवादिस्तरुविशेषः। अत्राविवक्षायां हेतुमाह—न हीति। समृद्धो हि योऽसत्पुरुषः। 'समृद्धसत्पुरुष'इति पाठे तु समृद्धेन ऋद्धिमात्रेण सत्पुरुषो न तु गुणादिनेति व्याख्येयम्।

शून्य छायामात्र करनेसे ही ऊपर को कन्धा उठाये हुये। 'छाया भी' शाखोटक निस्सन्देह एक विशेष वृक्ष होता है जिसके लतापल्लव इत्यादि स्मशानाग्नि की ज्वाला से कवलित कर लिये गये हों। यहाँ अविवक्षा में हेतु बतलाते हैं—'न हि' यह। समृद्ध जो असत् पुरुष। 'समृद्धसत्पुरुष' इस पाठ के होने पर यह व्याख्या करनी चाहिये कि जो समृद्ध से अर्थात् ऋद्धिमात्र से सत्पुरुष है गुण इत्यादि से नहीं।

## तारावती

अप्रस्तुतप्रशंसा का दूसरा प्रकार वह होता है जहाँ वाच्य की विवक्षा नहीं होती अर्थात् वाच्य बाधित होता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति सिहोड़े के वृक्ष से प्रश्नोत्तर कर रहा है—

व्यक्ति—'भाई तुम कौन हो?'

वृक्ष—'कहता हूँ'। आशय यह है कि यह बात बतलाने की तो नहीं है कि मैं कौन हूँ क्योंकि इसको सुनकर तुम्हे दुःख और निर्वेद ही होगा तथापि यदि तुम्हारा अधिक आग्रह है तो मुझे कहना ही पडेगा, लो कहता हूँ—'तुम यह समझ लो मैं दैव का मारा हुआ शाखोटक हूँ।'

व्यक्ति—'तुम तो विरागियों की भाँति बातें कर रहे हो?' अर्थात् तुम्हारे कहने के ढंग-कण्ठ विकार ( काकु ) और 'दैवका मारा' इत्यादि शब्दों से तुम्हारे वैराग्य की भावना अभिव्यक्त होती है।

वृक्ष—'हाँ ऐसा ही है, आप बिल्कुल ठीक समझे।'

व्यक्ति—'क्यों?' अर्थात् तुम्हारे वैराग्य में क्या कारण है?

वृक्ष—'यह मैं कहता हूँ?—( वृक्ष के इस कथन से व्यक्त होता है कि वह निर्वेद के साथ अपनी दशा का स्मरण कर रहा है और जैसे-तैसे ऐसा उत्तर देना चाहता है जो उसके वैराग्य का निरूपण कर सके। ) यहाँ बाईं ओर एक बरगद है, यात्रीगण उसका पूरे मनोयोग से सेवन करते हैं। यद्यपि मैं मार्ग मे स्थित हूँ तथापि मेरी छाया भी परोपकार करनेवाली नहीं है।'

यहाँ बाईं ओर की व्यञ्जना यह निकलती है कि वट वृक्ष न तो मार्ग पर ही उगा हुआ है और न ठीक स्थान पर ही स्थित है फिर भी यात्री लोग उसी ओर जाते हैं। 'बरगद' की व्यञ्जना यह है कि वह एक साधारण सा वृक्ष है,

ध्वन्यालोकः

विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा—

उप्पहजाआएँ असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए ।
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्जिहसि ॥

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी । तस्माद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये ॥४०॥

(अनु०) विवक्षिताविवक्षितत्व जैसे—

'हे पामर ! उत्पथ में उत्पन्न हुई, अशोभन तथा फल, पुष्प और पत्रों से रहित वेरी के लिये वाड़ देते हुये हँसे जाओगे ।'

यहाँ पर वाच्यार्थ न तो अत्यन्त सम्भव है और न असम्भव। अतः वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य का निरूपण प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये ॥ ४० ॥

तारावती

जिसमें फल इत्यादि बिल्कुल नहीं होते, केवल उसमें छाया मिल जाती है केवल इतने से ही वह अभिमान मे भर कर अपना कन्धा ऊपर किये हुये है यदि उसके पास फलों की आशा होती तो यात्रियों का उसके पास जाना ठीक भी कहा जा सकता था, किन्तु यात्री वहाँ केवल छाया के लोभ मे ही जाते हैं । यदि मेरे पास भी छाया होती तो यात्री लोग मेरे पास ही आया करते इतनी दूर चल कर क्यों जाते । किन्तु मैं ऐसा अभागा हूँ कि मुझे छाया भी नहीं मिल सकी जो मैं उसके द्वारा ही यात्रियों का उपकार कर सकता । शाखोटक नाम का एक वृक्ष होता है जो कि श्मशान में प्रायः उगता है और श्मशान की अग्नि से उसके लता पल्लव इत्यादि झुलस जाते हैं । ( नागेश भट्ट ने इसे भूतों के आवास का वृक्ष लिखा है । वैद्यक निघण्टु में लिखा है कि शाखोट भूतावास वृक्ष होता है जिसके फल पीले होते हैं, छाल कठोर होती है और छाया बहुत थोड़ी होती है। ) यह तो हुई अप्रस्तुत की व्याख्या । यहाँ पर प्रस्तुत यह है कि कोई बहुत ही सज्जन तथा उदार व्यक्ति है जो दान देना चाहता है । किन्तु उस बेचारे के पास ऐसे साधन ही नही हैं कि याचक उसके पास आया करें । उसी के पड़ोस में एक दूसरे महाशय रहते हैं जो वस्तुतः बड़ी ही नीच प्रकृति के है, किन्तु परमात्मा ने उसे पैसा दिया है, अतः वह सभी लोगों से घिरा रहता है, यद्यपि वह दान किसी को नहीं देता, केवल लोगों को दुराशामात्र है जिससे सभी लोग उसके पास आते रहते हैं । यह कथन उस निर्धन किन्तु सज्जन व्यक्ति का विलाप है । यही तात्पर्यरूप वाच्यार्थ है । यहाँ पर वाच्यार्थ मे वृक्ष के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर किया गया है जो कि असम्भव है । क्योंकि वृक्ष किसी से बातचीत नहीं

## लोचन

नात्यन्तमिति। वाच्यभावनियमो नास्ति नास्तीति न शक्यं वक्तुम्; व्यङ्ग्यस्यापि-भावादिति तात्पर्यम्। तथा हि उत्पथजाताया इति न तथा कुलोद्भवायाः। अशोभनाया इति लावण्यरहितायाः। फलकुसुमपत्ररहिताया इत्येवंभूतापि काचित्पुत्रिणी वा भ्रात्रादिपक्षपरिपूर्णतया सम्बन्धिवर्गपरिपोषिता वा परिरक्ष्यते। वदर्या वृत्तिं ददत् पामर भोः, हसिष्यसे सर्वलोकैरितिभावः। एवमप्रस्तुतप्रशंसां प्रसङ्गतो निरूप्य प्रकृतमेव यन्निरूपणीयं तदुपसंहरति—तस्मादिति। अप्रस्तुतप्रशंसायामपि लावण्येत्यत्र श्लोके यद्व्यामोहो लोकस्य दृष्टस्ततो हेतोरित्यर्थः ॥ ४० ॥

'नात्यन्त' यह। तात्पर्य यह है कि वाच्य भाव का नियम नहीं होता (और) नही होता यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यङ्ग्यकी भी सत्ता होती है। वह इस प्रकार—'उत्पथ में उत्पन्न हुई' अर्थात् उस प्रकार के (अपने समान) वंश मे उत्पन्न नहीं हुई। 'अशोमन' अर्थात् लावण्य रहित। 'फल, पुष्प, पत्र रहित अर्थात् इस प्रकार की भी कोई पुत्रिणी अथवा भाई इत्यादि पक्ष से परिपूर्ण होने के कारण सम्बन्धित वर्ग से परिपोषित की रक्षा की जाती है। भाव यह है कि अरे वेरी की वेडी लगानेवाले पामर! तुम सब लोगों के द्वारा हँसे जाओगे। इस प्रकार प्रसङ्गवश अप्रस्तुतप्रशंसा का निरूपण कर प्रकृत में ही जिसका निरूपण करना है उसका उपसंहार कर रहे हैं—'इससे' यह। अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा में भी लोक जा जो व्यामोह देखा गया है उस हेतु से ॥ ४० ॥

## तारावती

कर सकता। अतः यह अविवक्षितवाच्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है। यहाँ पर समृद्ध असत्पुरुषका निकटवर्ती होना अप्रस्तुतप्रशंसा मे हेतु है। यहाँ पर 'समृद्धा-सत्पुरुष' यह पाठ ठीक है। कहीं कहीं 'समृद्धसत्पुरुप' यह पाठ दृष्टिगत होता है। वहाँ भी आशय वही है। वहाँ अर्थ इस प्रकार करना होगा—जो समृद्ध होने से अर्थात् ऋद्धि या सम्पत्तिमात्र से सत्पुरुष है, अन्यथा तो वह असत्पुरुष ही है।

अप्रस्तुतप्रशंसा का तीसरा प्रकार वह होता है जिसमें वाच्य का कुछ अंश विवक्षित हो और कुछ अविवक्षित। इसके उदाहरण के रूप में एक प्राकृत गाथा उद्धृत की गई है। जिसकी संस्कृत छाया यह होगी—

उत्पथजाताया अशोभनाया फलकुसुमपत्ररहितायाः।
वदर्या वृत्तिं ददत् पामर भो अवहसिष्यसे ॥

कोई व्यक्ति किसी कुरूप तथा निम्नवंशोत्पन्न स्त्री को प्रयत्नपूर्वक पर्दे मे रखने और उसकी रक्षा करने के लिए चेष्टा कर रहा है कि कहीं कोई उसका शील भङ्ग न कर दे। उसे सुनाकर कोई दूसरा कह रहा है :—

## तारावती

'तुम बड़े मूर्ख हो जो कि बेरी के चारों ओर बाड़ी लगाने की चेष्टा कर रहे हो जो मार्ग से हटकर बुरे स्थान पर उगी हुई है। कोई सुन्दर वृक्ष नहीं है और न तो उसमें फल ही आते हैं और न कुसुम पत्र इत्यादि ही उत्पन्न होते हैं। लोग जब तुम्हे ऐसी बेरी के चारों ओर बाड़ी लगाते हुए देखेंगे तो तुम्हारी हंसी ही उड़ाएँगे।'

यहाँ पर बेरीपरक अर्थ अप्रस्तुत है और उससे इस प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है कि जिस रमणी की रक्षा करने के लिए तुम इतने प्रयत्नवान् हो वह न तो किसी अच्छे कुलमे उत्पन्न हुई है (उत्पथजातायाः) न देखने में सुन्दर तथा लावण्ययुक्त है (अशोभनायाः) तथा न तो उसके सन्तान ही होती है और न उसके भाई इत्यादि कुटुम्बियों का वर्ग ही है जिसने उसका प्रेमपूर्वक पालन-पोषण किया हो (फलकुसुमपत्ररहितायाः) आशय यह है कि ऐसी स्त्री की सुरक्षा का ध्यान रखना उचित भी कहा जा सकता है चाहे सुन्दर न हो किन्तु अच्छे वंश मे उत्पन्न हुई हो और अपने भाई बिरादरों में प्रेमपूर्वक पालन पोषण पाया हो। जहाँ यह भी न हो वहाँ तो किसी रमणी के सुरक्षित रखने की चेष्टा हास्यास्पद ही होती है। यहाँ पर वाच्यार्थ न तो बिल्कुल सम्भव है और न असम्भव। क्योंकि यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता भी विद्यमान है। (यहाँ पर न तो यह उदाहरण ही स्पष्ट है और न लोचन मे की हुई व्याख्या ही ठीक प्रतीत हो रही है। यह उदाहरण इस बात का दिया गया है कि कहीं कहीं जिस अप्रस्तुत वाच्य के माध्यमसे प्रस्तुत की प्रतीति कराई जाती है वह अप्रस्तुत एक अंश मे विवक्षित होता है और दूसरे अश मे अविवक्षित। बेरी की बाड़ लगाने में क्या अविविक्षत है और क्या विवक्षित यह समझ मे नहीं आता। लोचन में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है कि 'वाच्य होने का नियम नहीं है और न हो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यङ्ग्य की सत्ता भी यहाँ विद्यमान है।' सम्भवतः लोचनकार का आशय यह है कि बेरी में बाड कोई नहीं लगाता क्योंकि यह कार्य अनुचित है, अतः यह वाच्य अविवक्षित है। किन्तु व्यङ्ग्य कुरूप नायिका की रक्षा की जाती है अतः यह विवक्षित है। यही व्याख्या दीधिति मे कर दी गई है। किन्तु यहाँ आपत्ति यह है कि व्यङ्ग्य तो प्रस्तुत होता है और वह सर्वत्र विवक्षित ही होता है। यदि व्यङ्ग्यार्थ अविवक्षित होगा तो बात कही क्या जायेगी और पर्यवसान कहाँ होगा? 'कस्त्वं भोः कथयामि' इस पद्य में भी जो कि अविवक्षितवाच्य का उदाहरण दिया गया है वाच्यार्थ वृक्ष का उत्तर-प्रत्युत्तर ही अविवक्षित है। किसी निर्धन का वैराग्य तो विवक्षित

तारावती

ही है। अतः व्यङ्ग्यार्थ को लेकर उसके एक अंश को अविवक्षित कहना ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है 'विवक्षिताविवक्षितवाच्य' इस नामकरण से ही ज्ञात होता है कि वाच्यार्थ के ही विवक्षित और अविवक्षित होनेपर विचार किया जाना चाहिये। तब बेरी की बाड़ लगाने में क्या असम्भव है ? क्या उसमे फल इत्यादि नहीं होते ? अतः उदाहरण ठीक नहीं जँचता। विवक्षिताविवक्षित वाच्य का ठीक उदाहरण बिहारी का यह दोहा हो सकता है—

दिन दस आदरु पाइकै करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग सराध पख तौ लगि तो सनमानु॥

यहाँ पर कौवे का आदर और श्राद्धपक्ष भर सम्मान विवक्षित है। किन्तु कौवा स्वयं अपना बखान नहीं कर सकता, अतः यह अंश अविवक्षित है।)

ऊपर प्रसंगवश अप्रस्तुतप्रशंसा का निरूपण किया गया। इस निरूपण का मन्तव्य यही दिखलाना था कि अप्रस्तुतप्रशंसा केवल वहीं नहीं होती जहाँ वाच्य असङ्गत तथा अविवक्षित हो। यह वहाँ पर भी हो सकती है जहाँ वाच्य सङ्गत अथवा अर्धसङ्गत हो। ऐसा मान लेनेपर 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' में वाच्यार्थ के असङ्गत तथा अविवक्षित न होनेपर भी अप्रस्तुतप्रशंसा के हो सकने मे कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। किन्तु इस पद्य में (लावण्य-द्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि मे) अप्रस्तुतप्रशंसा को न समझकर कुछ लोगों ने व्याजस्तुति बतला दी है। इस भ्रम का एकमात्र कारण यही है कि इस बात का ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया जा सका है कि प्रधानता किस तत्त्व की है। यदि प्रधानता और अप्रधानता पर ठीक ध्यान न दिया जाय तो साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे बहुत अधिक त्रुटियाँ हो जाना सम्भव है। अतः इस दिशामें आलोचक को विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता है जिससे साहित्य का ठीक अभिप्राय समझा जा सके। यही इस प्रकरण का सार है॥ ४०॥

ऊपर व्यङ्ग्य के स्वरूप का भी निरूपण कर दिया गया और यह भी बतला दिया गया कि व्यङ्ग्यार्थ की विभिन्न परिस्थितियों में काव्य का कौन सा रूप कहा जा सकता है। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या काव्य मे कुछ ऐसे स्थल होते है या नहीं जहाँ व्यंग्यार्थ बिलकुल ही न हो ? यदि ऐसे स्थल होते हैं तो वहाँ पर क्या व्यवस्था होती है ? उस काव्य का क्या नाम रक्खा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर ४१ वीं और ४२ वीं कारिकाओं में दिया गया है। इन कारिकाओं का आशय यह है कि—'काव्य के उन दो प्रकारों के

ध्वन्यालोकः

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
उभे काव्ये ततोन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥१४॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥४२॥

व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता । ततोन्यद्यद्रसभावादि तात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यं । काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि । वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि ।

(अनु०) 'व्यङ्ग्य के प्रधान तथा गुणीभाव के द्वारा दो काव्य इस प्रकार व्यवस्थित हैं । उन दोनों से जो भिन्न है वह चित्रकाव्य कहा जाता है ॥ ४१ ॥'

'शब्द अर्थ के भेद से चित्रकाव्य दो प्रकार से व्यवस्थित होता है । उसमें कुछ शब्दचित्र होता है और उससे भिन्न वाच्यचित्र होता है ॥ ४२ ॥'

व्यङ्ग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि नाम का काव्यप्रकार होता है और गुणीभाव में तो गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है । उनसे भिन्न रसभावादि रहित तथा विशेष प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन की शक्ति से शून्य केवल वाच्यवाचक वैचित्र्यमात्र के आश्रय से उपनिबद्ध होकर आलेख्य के समान जो आभासित होता है उसे चित्र कहते हैं । वह मुख्य काव्य नहीं होता । वह निस्सन्देह काव्य का अनुकरण होता है । उसमे कुछ शब्दचित्र होता है जैसे दुष्करयमक इत्यादि। उस शब्दचित्र से भिन्न वाच्यचित्र होता है ( जैसे ) व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्श से रहित और रसादितात्पर्य से रहित वाक्यार्थ के रूप मे स्थित उत्प्रेक्षा इत्यादि ।

लोचन

एवं व्यङ्ग्यस्वरूपं निरूप्य सर्वथा यत्तच्छून्यं तत्र का वार्तेति निरूपयितुमाह—प्रधानेत्यादिना । कारिकाद्वयेन । शब्दचित्रमिति । यमकचक्रबन्धादि चित्रतया प्रसिद्धमेव तत्तुल्यमेवार्थचित्रं मन्तव्यमितिभावः । आलेख्यप्रख्यमिति रसादिजीवरहितं मुख्यप्रतिकृतिरूपं चेत्यर्थः ।

इस प्रकार व्यङ्ग्य के स्वरूप का निरूपणकर जो सर्वथा उससे शून्य होता है उसमे क्या बात होती है ? यह निरूपण करने के लिये कह रहे हैं—'प्रधान' इत्यादि। दो कारिकाओं के द्वारा। 'शब्दचित्र' यह। भाव यह है कि बन्ध यमकचक्र इत्यादि चित्र के रूप मे प्रसिद्ध ही हैं; उन्हीं के समान अर्थचित्र भी माना जाना चाहिये । 'आलेख्य के समान' अर्थात् रस इत्यादि जीवनरहित और मुख्य प्रतिकृतिरूप ।

## तारावती

व्यवस्थित होने की व्याख्या की जा चुकी जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान या गुणीभूत होता है। जो काव्य इन दोनों विधाओं में अन्तर्भूत नहीं होता अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ होता ही नहीं उस काव्य को चित्र-काव्य कहते हैं। इस चित्रकाव्य के भी दो भेद होते हैं—शब्दचित्र और अर्थचित्र। कहीं शब्दचित्र होता है और कहीं अर्थचित्र।'

इन कारिकाओं का आशय यह है कि जहाँ व्यंग्य अर्थ की प्रधानता होती है उस काव्यप्रकार को ध्वनि कहते हैं और जहाँ व्यंग्यार्थ गौण होता है उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। उनसे भिन्न ऐसा भी काव्य हो सकता है जिसमें न तो रस इत्यादि की तात्पर्यरूप मे व्यंजना हो रही हो और न अन्य किसी प्रकार की वस्तु अथवा अलंकार की व्यञ्जना ही विद्यमान हो। उसमे या तो केवल वाच्य का वैचित्र्य हो या केवल वाचक का वैचित्र्य हो और उसी वैचित्र्य को लक्ष्य बनाकर काव्य-रचना की गई हो। इस प्रकार के काव्य को चित्रकाव्य कहते हैं। इसके नामकरण का कारण यह है कि जिस प्रकार किसी वस्तु का कोई चित्र बनाया जाता है; उसमे मुख्य वस्तु के समस्त अवयव और समस्त बाह्याकृति दृष्टिगत होती है। केवल एक वस्तु की कमी होती है और वह है जीवन। इसी प्रकार जिस काव्य मे काव्य के सारे तत्त्व शब्द, अर्थ उनका वैचित्र्य इत्यादि तो विद्यमान होते हैं किन्तु काव्य-जीवन रस इत्यादि विद्यमान नहीं होता उसे चित्रकाव्य कहते है। वह मुख्यकाव्य की कोटि मे नहीं आता अपितु काव्य का अनुकरण मात्र कहा जाता है। उसमें केवल मुख्य की प्रतिकृति होती है। यह चित्रकाव्य दो प्रकार का होता है एक तो शब्दचित्र और दूसरा अर्थचित्र। शब्दचित्र मे ऐसे यमक सन्निविष्ट होते हैं जिनकी संयोजना दुष्कर होती है। (कुछ यमक तो ऐसे होते हैं जो स्वाभाविक रूपमे ही कविवाणी में स्फुरित होते चले जाते हैं उनसे रस परिपोष ही होता है। इसके प्रतिकूल कुछ यमक प्रयत्नपूर्वक लाये जाते हैं वे यमक चित्र-काव्य की ही कोटि मे आते है। उदाहरण के लिये रघुवंश के नवें सर्ग में और शिशुपाल वध के छठे सर्ग मे प्रयत्नपूर्वक द्रुतविलम्बित के तीसरे पाद मे यमक लाने की चेष्टा की गई है।) इसी प्रकार चक्रबन्ध, मुरजबन्ध, गोमूत्रिका बन्ध इत्यादि में भी यही चित्रकाव्यता होती है। (इस प्रकार के पद्य शिशुपालवध के १९ वें सर्ग मे और किरातार्जुनीय के १५ वें सर्ग मे बहुतायत से आये है। इन सर्गोंका विषय चित्रयुद्धवर्णन कहलाता ही है।) यह तो सब वाचक चित्र (शब्द-चित्र) हुआ। वाच्यचित्र ऐसी उत्प्रेक्षा इत्यादि को कहते हैं जो शब्दचित्र से भिन्न होता है, जिसमे व्यङ्ग्यार्थ का सस्पर्श नहीं होता; जिसमें रस इत्यादि का तात्पर्य भी नहीं होता और मुख्यवाच्यार्थ के रूपमें उत्प्रेक्षा इत्यादि की ही स्थिति होती है।

## ध्वन्यालोकः

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः। प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नामचित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद्यत्र चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।

(अनु०) अच्छा यह चित्र क्या वस्तु है ? यही न कि जहाँ प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श न हो। निस्सन्देह पहले तीन भेदोंवाला प्रतीयमान अर्थ पहले दिखलाया गया है। उसमें जहाँ पर कोई दूसरी वस्तु या दूसरा अलंकार व्यंग्य नहीं होता वह चित्रकाव्य का विषय कल्पित कर लिया जाय। जहाँ तो रस इत्यादि की अविषयता होती है वह काव्यप्रकार सम्भव ही नहीं होता है क्योंकि किसी वस्तु का स्पर्श न करना काव्य के लिये सम्भव ही नहीं होता। सभी संसार मे विद्यमान वस्तु अवश्य ही किसी रस या भाव की अंगता को प्राप्त हो जाती है क्योंकि अन्तत. विभावरूप ही होती है। रस इत्यादि तो चित्तवृत्तिविशेषरूप ही होते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। उसके उत्पादन न करने पर उसकी कविविषयता ही सिद्ध न हो और कोई कविविषय ही चित्र के रूप मे निरूपित किया जाता है।

## लोचन

'अथ किमिदमि'ति आक्षेपे वक्ष्यमाण आशयः। अत्रोत्तरम्—यत्र नेति। आक्षेपास्वाभिप्रायं दर्शयति—प्रतीयमान इति। अवस्तुसंस्पर्शितेति। कचटतपादिवन्निरर्थकत्वं दशदाडिमादिवदसंबद्धार्थत्वं वेत्यर्थः। ननु माभूत्कविविषय इत्याशङ्क्याह—कविविषयश्चेति। काव्यरूपतया यद्यपि न निर्दिष्टस्तथापि कविगोचरीकृत एवासौ वक्तव्य

'क्या वस्तु' इस आक्षेप में आगे कहा गया आशय है। यहाँ उत्तर है—'जहाँ नहीं' यह। आक्षेप करनेवाला अपना अभिप्राय दिखलाता है—प्रयीयमान' यह। 'अवस्तुसंस्पर्शिता' यह। 'कचटतप' इत्यादि के समान निरर्थकत्व अथवा 'दश दाडिम' इत्यादि के समान असम्बद्धार्थत्व हो जाय ( प्रश्न ) कवि का विषय न हो ( इससे क्या ? ) यह शङ्का करके कहते हैं 'और कवि विषय' यह। भाव यह है कि यद्यपि काव्यरूप में उसका निर्देश नहीं किया है तथापि कवि का गोचर

## लोचन

अन्यस्य वासुकिवृत्तान्ततुल्यस्येहाभिधानायोगात्। कवेश्चेद्गोचरो नूनममुना प्रीतिर्जनयितव्या सा चावश्यं विभावानुभावव्यभिचारिपर्यवसायिनीतिभावः।

किया हुआ यह कहा ही जाना चाहिये क्योंकि वासुकि के वृत्तान्त के समान उसके अभिधान का यहाँ योग ही नहीं है। यदि कवि का गोचर है तो निस्सन्देह इसके द्वारा आनन्द उत्पन्न किया जाना चाहिये और वह अवश्य ही विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभाव की पर्यवसायिनी होती है।

## तारावती

(चक्रबन्ध इत्यादि के नामकरण का कारण तो स्पष्ट है। उनमें वर्णविन्यास इस प्रकार किया जाता है कि कहीं चक्र कहीं मुरज कहीं गोमूत्र इत्यादि के चित्र बन जाते हैं; उसी की समता के आधार पर अर्थचित्र भी मान लिया जाना चाहिये। (यदि आधुनिक भाषा में कहें तो यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी कवि बिना ही रागद्वेष की संयोजना किये हुये इस प्रकार का वर्णन करदेता है जिससे किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्र सा खिच जाता है उसके अन्दर किसी प्रकार का रागद्वेष आनन्द इत्यादि भावना के उद्भावन की शक्ति नहीं होती। यदि हम कहें तो ऐसे वर्णन को अर्थचित्र कह सकते हैं।)

(प्रश्न) यह चित्रकाव्य है क्या वस्तु? आप उसे ही तो चित्र काव्य की संज्ञा दे रहे हैं जिसमें प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श न हो। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तुव्यञ्जना, अलङ्कारव्यञ्जना और रसव्यञ्जना। हम इतना तो मान सकते हैं कि कुछ काव्य ऐसे अवश्य हो सकते हैं जिनमें वस्तुव्यञ्जना या अलङ्कारव्यञ्जना न हो। यदि आप उसे चित्रकाव्य कहना चाहें तो कह सकते हैं। किन्तु यह कैसे माना जा सकता है कि कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिनमें रस या भाव नहीं होता? कारण यह है कि ऐसा तो काव्य हो ही नहीं सकता जिसके शब्दों से किसी वस्तु का सङ्केत न मिलता हो। यदि हम केवल कुछ अक्षरों को जोड़ दें जिनका कोई अर्थ न हो जैसे 'कचटतप' इत्यादि तो उसे तो काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार यदि हम कुछ शब्दों को जोड़ दें जो आपस में न तो सम्बद्ध हों और न उनसे किसी अर्थ का प्रत्यायन हो रहा हो जैसे 'छ पुये, दस अनार' इत्यादि तो उसे भी काव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी। सारांश यह है कि काव्य वही हो सकता है जो किसी वस्तु का प्रत्यायन कराये' जितनी भी कोई वस्तु संसार में विद्यमान हैं उनमें एक भी ऐसी नहीं हो सकती जो किसी रस या भाव को जागृत करनेवाली न हो। क्योंकि समस्त वस्तुओं

ध्वन्यालोकः

अत्रोच्यते—सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।

यहाँ पर कहा जा रहा है—सचमुच उस प्रकार का काव्य प्रकार नहीं होता जहाँ रस इत्यादि की प्रतीति न हो। किन्तु जब रस, भाव इत्यादि की विवक्षा से रहित कवि शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार का उपनिबन्ध करता है तब उसकी विवक्षा की अपेक्षा करते हुये अर्थ की रस इत्यादि से शून्यता कल्पित की जाती है। काव्य मे शब्दों का अर्थ निस्सन्देह विवक्षा मे उपारूढ ही होता है। कवि की विवक्षा के न होते हुये भी उस प्रकार के विषय में होनेवाली रस की प्रतीति अत्यन्त दुर्बल हो जाती है इस प्रकार से भी नीरसत्व की कल्पना करके चित्रविषय की व्यवस्था कर दी जाती है।

तारावती

का अन्तिम पर्यवसान तो विभाव के रूप में ही होता है। आशय यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु विभावरूपता मे परिणत होती है और उस रूप में वह किसी न किसी भाव या रस की या उद्भाविका होती है या उद्दीपिका। ऐसी दशा मे रस या भाव से शून्य तो कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। रस इत्यादि वस्तुतः है क्या वस्तु? विशेषप्रकार की चित्तवृत्ति ही तो रस कहलाती है। ऐसी कोई वस्तु संसार मे होती ही नहीं जो किसी न किसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे। विना वस्तु के काव्य नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक काव्य रस या भाव के विना सम्भव ही नहीं है। यदि आप किसी ऐसी वस्तु की कल्पना कर लें जो चित्त-वृत्ति के उत्पादन की क्षमता न रखती हो तो वह कवि का विषय ही नहीं बन सकती। यदि कहो कि कविविषय न रहने मे क्या हानि हो जायगी तो मेरा निवेदन है जिसे आप चित्रकाव्य के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं वह भी तो कविविषय ही है। यदि कवि ही उसे नहीं अपना विषय बनायेगा तो वह चित्र-काव्य की सज्ञा ही कैसे प्राप्त कर सकेगा? चाहे आप उसे काव्यरूप में स्वीकार न करें किन्तु कवि का विषय तो वह होगा ही। क्योंकि यहाँ पर जो कुछ लिखा जा रहा है वह कविता के विषय मे ही लिखा जा रहा है, कोई मनमानी बात तो लिखी नहीं जा रही है। यदि कविविषय के अतिरिक्त मनमाने ढंगसे यहाँ चाहे

## लोचन

किन्त्विति ।

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथंचन ।

इत्यादिर्योऽलङ्कारनिवेशने समीक्षाप्रकार उक्तस्तं यदा नानुसरतीत्यर्थः । रसादि-शून्यतेति । नैव तत्र रसप्रतीतिरस्ति यथा पाकानभिज्ञसूदविरचिते मांसपाकविशेषे । ननु वस्तुसौन्दर्यादवश्यं भवति कदाचित्तथास्वादोऽकुशलकृतायामपि शिखरिण्यामिवेत्याशङ्क्याह—वाच्येत्यादि । अनेनापीति । पूर्वं सर्वथा तच्छून्यत्वमुक्तमधुना तु दौर्बल्यमित्यपिशब्दस्यार्थः । अज्ञकृतायां च शिखरिण्यामहोशिखरिणीति न तज्ज्ञानाच्चमत्कारः अपि तु दधिगुडमरिचं चैतदसमक्षसयोजितमितिवक्तारो भवन्ति ।

'किन्तु' यह । अर्थात्

'तत्परक रूपमें विवक्षा ( होनी चहिये ) अङ्गी के रूप में कैसे भी नहीं ।'

इत्यादि जो समीक्षा प्रकार अलकार के निवेशन के विषय में बतलाया गया है उसका अनुसरण जब नहीं करता । 'रस इत्यादि से शून्यता' यह । वहाँ पर रस की प्रतीति नहीं होती जैसे पाक में अनभिज्ञ रसोइया के बनाये हुए विशेष प्रकार के मांस पाक मे । ( प्रश्न ) वस्तु के सौन्दर्य से कदाचित् वहाँ आस्वाद अवश्य आ जाता है । जैसे अकुशल की बनाई हुई शिखरिन में । यह शङ्का करके कहते हैं—'वाच्य' इत्यादि । 'इसके द्वारा भी' यह । यहाँ 'भी' का अर्थ है—पहले तो सर्वथा उसकी शून्यता बतलाई गई थी, अब उसका दौर्बल्य बतलाया गया है । अज्ञ की बनाई हुई शिखरिणी में 'आश्चर्य है शिखरिणी पर' यह उसके ज्ञान से चमत्कार नहीं होता; अपितु लोग यह कहने लगते हैं कि यह दही गुड़ और मरिच बेमेल रूप में मिलाई गई हैं ।

## तारावती

जो कहा जाने लगेगा तो वह सब उसी प्रकार अप्रयोजनीय होगा जिस प्रकार वासुकि की कथा लिखी जाने लगे । इस सबका निष्कृष्टार्थ यही है कि काव्य से अर्थबोध अवश्य होना चाहिये, अर्थ बोध से कोई वस्तु ही अवगत होगी । वस्तु सर्वदा विभावरूप ही होती है जो किसी न किसी भाव को जागृत अवश्य करती है । अतः यदि चित्रकाव्य की वस्तु कवि की विषयगोचर है तो उससे प्रीति का जनन अवश्य होना चाहिये । अतः प्रत्येक वस्तु का पर्यवसान विभाव, अनुभाव या सञ्चारीभाव मे ही होता है । इस प्रकार आप यह कदापि नहीं कह सकते कि चित्रकाव्य रस से भी रहित होता है ।

इस विषय में उत्तर दिया जा रहा है—यह तो ठीक ही है कि कोई काव्य ऐसा नहीं होता जिसमें रस इत्यादि की प्रतीति न होती हो । वस्तुतः

तारावती

कवि का लक्ष्य रसनिष्पत्ति ही होना चाहिये। यदि कवि अलङ्कार योजना भी करता है तो भी उसका लक्ष्य रस ही होना चाहिये। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि कवि को बहुत ही सावधानी से समीक्षा पूर्वक अलङ्कारों की योजना करनी चाहिये। उस प्रकरण में कहा जा चुका है कि कवि को अलङ्कार-योजना रस-परक रूप में ही करनी चाहिये, कभी भी अङ्गी या प्रधान रूप में नहीं करनी चाहिये। किन्तु कभी कभी कवि असावधानता के कारण इस समीक्षापद्धति की अनजाने अवहेलना कर जाता है। ऐसी दशा मे वह ऐसे शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों की योजना करता है जिनका मन्तव्य रसानुभूति को तीव्रता प्रदान करना नहीं होता। अतः उन स्थानों पर कवि का अनभिप्रेत होने के कारण रस, भाव इत्यादि की शून्यता की कल्पना कर ली जाती है। कारण यह है कि काव्य में शब्दों का अर्थ इसी दृष्टि कोण को लेकर किया जाता है कि कवि का अभिप्रेत विवक्षित अर्थ क्या है? अतः जो कवि अकुशल होते हैं उनकी कविता प्रायः रसभावादि शून्य हो जाती है। यह इसी प्रकार समझिये जैसे मास पकाना कुशल रसोइये का काम है। यदि कोई अकुशल रसोइया मांस पकाकर रख देता है तो उसमें मांस का स्वाद नहीं आता। उसमे अनुचित परिमाण मे डाले हुये मिर्च मसाले इत्यादि का स्वाद ही आ जाता है। इसी प्रकार काव्य का लक्ष्य रसनिष्पत्ति करना ही है। यदि कोई अकुशल कवि रसनिष्पत्ति के लिये प्रयत्नशील होकर उसमे असफल हो जाता है तब उसमें रस प्रतीति की अनुभूति नहीं होती अपितु अलङ्कारों की ही प्रतीति होकर रह जाती है। उसी को चित्रकाव्य कहते हैं। (प्रश्न) यदि अकुशल रसोइया भी किसी वस्तु को बनाता है तो भी उसमें जो पदार्थ डाले जाते हैं उनका तो स्वाद आ ही जाता है। उदाहरण के लिये यदि अकुशल रसोइया भी सिखरन बनायेगा तो उसमें जो चीनी इत्यादि डाली जाएगी उनका तो स्वाद आएगा ही। फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि अकुशल कवि द्वारा की हुई रसनिष्पत्ति में कोई रस आएगा ही नहीं? (उत्तर) यदि कवि को रसनिष्पत्ति अभिप्रेत नहीं भी होगी तब भी वाच्यसामर्थ्य के बल पर उस प्रकार के विषय में यदि रसनिष्पत्ति होगी भी तो भी बहुत ही शिथिल हो जायेगी। यह भी एक दूसरा प्रकार है जिससे उस प्रकार के काव्य की नीरसता की कल्पना कर ली जाती है और उसे चित्रकाव्य की संज्ञा प्रदान कर दी जाती है। इसी प्रकार चित्रकाव्य व्यवस्थापित किया जा सकता है। यहाँ पर दो प्रकार से काव्य की नीरसता को कल्पित करके चित्रकाव्य को रसविहीन सिद्ध किया गया है। एक तो मांस के परिपाक के समान बिल्कुल ही स्वाद का अनुभव न होना और

ध्वन्यालोकः

तदिदमुक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥'

एतच्चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति। अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्।

(अनु०) वह यह कहा गया है—

'रसभाव इत्यादि के विषय मे विवक्षा न होने पर जो अलंकार का निबन्ध वह चित्रविषय माना जाता है। जब रस इत्यादि के विषय में तात्पर्यवाली विवक्षा हो तब ऐसा काव्य नहीं ही होता जहाँ ध्वनि का गोचर न हो जाय।'

विशृङ्खलवाणीवाले कवियों की रसादि तात्पर्य की बिना अपेक्षा किये हुये काव्य मे प्रवृत्ति देखने से हमने यह चित्र कल्पित कर लिया है। आजकल के कवियों की तो काव्यनय की न्याय्य व्यवस्था करने पर ध्वनिव्यतिरिक्त काव्यप्रकार नहीं ही होता। क्योंकि परिपाकवाले कवियों का रसादितात्पर्य के न होने पर तो व्यापार ही शोभित नहीं होता। रस इत्यादि के तात्पर्य होने पर तो वह वस्तु नहीं ही होती जो अभिमत रस की अंगता को प्राप्त कराये जाने पर प्रगुण नहीं हो जाती। अचेतनभाव (पदार्थ) भी ऐसे नहीं होते जो ठीकरूप में उचित रस के विभाव होने के कारण अथवा चेतन वृत्तान्तयोजना के कारण रस का अंग नहीं बन जाते।

तारावती

शिखरन के समान स्वाद का पूरी मात्रा में अनुभव न होना। दूसरी अवस्था में भी नीरसता ही मानी जायेगी क्योंकि यदि किसी के सामने यह शिखरन है यह कहकर उसे परोस दिया जाय तो यह कोई नहीं कहेगा कि 'अहा यह शिखरन कितनी अच्छी है!' यही सब लोग कहेंगे कि इसमें दही चीनी मिर्च इत्यादि ठीक रूप में नहीं मिलाई गई है। इस प्रकार उसे नीरस मानकर चित्र काव्य की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। यही बात आनन्दवर्धन ने दो कारिकाओं में कही है जिनका सार यह है—

## लोचन

उक्तमिति । मयैवेत्यर्थः । अलङ्काराणां शब्दार्थगतानां निबन्ध इत्यर्थः । ननु 'तच्चित्रमभिधीयते' इति किमनेनोपदिष्टेन । अकाव्यरूपं हि तदितिकथितम् । हेयतया तदुपदिश्यत इतिचेत्—घटे कृते कविर्न भवतीत्येतदपि वक्तव्यमित्याशङ्क्य कविभिः खलु तत्कृतमतो हेयतयोपदिश्यत इत्येतन्निरूपयति—एतच्चेत्यादिना । परिपाकवतामिति । शब्दार्थविषयो रसौचित्यलक्षणः परिपाको विद्यते येषाम् ।

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्'

इत्यपि रसौचित्यशरणमेव वक्तव्यमन्यथा निर्हेतुकं स्यात् ।

'कहा गया' यह । अर्थात् हमारे ही द्वारा । अलङ्कारों का अर्थात् शब्द और अर्थगत अलङ्कारों का निबन्ध । ( प्रश्न ) उसे चित्र कहते है इस उपदेश की क्या आवश्यकता ? क्योंकि कहा गया है कि वह तो अकाव्यरूप ही होता है । यदि कहो कि उसका उपदेश हेय के रूप मे किया जा रहा है तो यह भी कहना चाहिये कि घड़ा बनाने पर कवि नहीं हो जाता यह शङ्का करके कवियों ने ऐसा किया है; अतः हेय के रूप मे उपदेश दिया जाता है यह निरूपण करते है—'और यह' इत्यादि के द्वारा । 'परिपाकवाले' यह शब्दार्थविषयक रसौचित्यलक्षणवाला परिपाक जिनका विद्यमान है ।

'जो पद परिवृत्ति सहिष्णुता को छोड़ ही देते हैं ।' यह भी रसौचित्य को शरण मे रखकर ही कहा जाना चाहिये अन्यथा हेतु रहित हो जाय ।

## तारावती

जहाँ कवि को रस या भाव की विवक्षा नहीं होती अर्थात् जहाँ कविता करनेमें कवि का प्रवृत्तिनिमित्त रसनिष्पत्ति नहीं होता, किन्तु वह वहाँ पर अलङ्कार का निबन्धन करता है वहाँ काव्य चित्रकाव्य कहा जाता है । इसके प्रतिकूल जहाँ कवि का विवक्षित तात्पर्यार्थ रस इत्यादि ही होता है अर्थात् जहाँ कवि रस को तात्पर्य का विषय बनाता है इस प्रकार का कोई भी काव्य ऐसा नहीं होता जिसे ध्वनि इस नाम से अभिहित न किया जा सके या जो ध्वनि के क्षेत्र में न आ जाय ।'

( प्रश्न ) जब रस ही काव्य का जीवन है और उस जीवन से शून्य केवल अलङ्कार के मन्तव्य से लिखा हुआ ध्वनि बाह्य काव्य कभी भी काव्यसंज्ञा का अधिकारी नहीं हो सकता । तब इस चित्रकाव्य के निरूपण से क्या लाभ ? यह तो आप कहते ही है कि वह चित्रकाव्य काव्य नहीं होता । यदि कहो कि यहाँ पर चित्रकाव्य का निरूपण इसलिये किया जा रहा है कि कविता करने में उसका परित्याग किया जा सके । यहाँ पर चित्रकाव्य के निरूपण का मन्तव्य यदि यह

## तारावती

बतलाना ही है कि वह काव्य नहीं होता तब तो फिर संसार की जितनी वस्तुयें काव्य नहीं होतीं उन सबको गिनाना चाहिये कि 'घड़ा काव्य नहीं होता ।' 'वस्त्र काव्य नहीं होता' इत्यादि । ( उत्तर ) चित्रकाव्य के परिहार का उपदेश यहाँ पर करना इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि कतिपय कवियों ने काव्य के नाम पर जो रचनायें प्रस्तुत की हैं वे वास्तविक काव्य की सीमा में नहीं आतीं; न उनमे रस है न ध्वनि । अतः उनको काव्य बाह्य करने का उपदेश आवश्यक प्रतीत होता है । हमने प्रायः देखा है कि जो कवि काव्यकला मे निष्णात नहीं होते और उनकी वाणी काव्य की व्यवस्थित पद्धति का अनुसरण करने में अक्षम होकर अनियन्त्रित भाव से प्रवृत्त हुआ करती है; वे रस इत्यादि तात्पर्य की परवा नहीं करते यों ही काव्य में प्रवृत्त हो जाते हैं । अतः उन्हीं को लक्ष्य बनाकर हमने ( आनन्दवर्धन ने ) चित्र नामक एक नये प्रकार की कल्पना कर ली है । किन्तु काव्य के इस प्रकार को काव्य की संज्ञा प्रदान करना उचित प्रतीत नहीं होता । आजकल काव्य जिस स्थिति पर पहुँच गया है और आजकल के काव्य में जैसी भावात्मक तथा कलात्मक प्रौढता के दर्शन होते हैं उसको देखते हुये यही कहना पड़ता है कि यदि आजकल की उचित तथा न्याय सम्मत काव्य नीति की ठीक रूप में व्यवस्थापना की जाय तो ऐसा कोई काव्यप्रकार दृष्टिगत ही नहीं होता जिसको ध्वनि से बाह्य कहा जा सके । क्योंकि कवि कहलाने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसकी वाणी परिपाक को प्राप्त हो गई हो । परिपाक का अर्थ यही है कि वाणी मे शब्द और अर्थ ठीक रूप में स्फुरित होने लगे और वे शब्द तथा अर्थ ऐसे ही हों जिनमे रसानुकूल औचित्य का सर्वथा पालन किया गया हो । जबतक रसानुकूल शब्द और अर्थ अनायास ही स्फुरित नहीं होने लगते तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि कवि को काव्य परिपाक प्राप्त हो गया है । पद परिपाक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥'

अर्थात् कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है यदि उन शब्दों को बदल कर उनके स्थान में दूसरे पर्यायवाचक शब्दों को रख देने से काव्य सौन्दर्य नष्ट हो जाय तथा कवि के प्रयोग किये हुये शब्दों को बदलना असम्भव हो तो शब्द प्रयोग मे निपुण लोग उस शब्दपाक कहते हैं ।

यहाँ पर भी शब्दों के न बदले जा सकने का आशय यही लगाया जाना चाहिये कि शब्दों के बदल देने से 'रस' में कमी नहीं आनी चाहिये । यदि रस

ध्वन्यालोकः

तथा चेदमुच्यते—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

(अनु०) और इस प्रकार यह कहा जाता है—

'अपार काव्य-संसारमें कवि ही प्रजापति है। जैसा विश्व इसे अच्छा लगता है वैसा ही हो जाता है। यदि काव्य में कवि शृंगारी हो तो जगत् रसमय हो जाता है; वही यदि वीतराग हो तो वह सब नीरस ही होता है॥ सुकवि काव्य में स्वतन्त्र-रूप से अचेतनभावों का चेतन के समान और चेतनों का अचेतन के समान व्यवहार करता है॥'

तारावती

की दृष्टि से ही शब्द और अर्थ के परिपाक पर विचार नहीं किया जायगा तो शब्दों के न बदल सकने का हेतु ही क्या रह जायगा। आशय यह है कि कवि की ऐसी कोई क्रिया सम्भव ही नहीं है जिसमें रस इत्यादि के तात्पर्य का अभाव हो। यदि ऐसी कोई क्रिया दिखलाई पड़े तो वह न तो शोभित ही होगी और न काव्य का नाम ही ग्रहण कर सकेगी। जब इतनी बात स्वीकार कर लो और यह मान लिया कि काव्य मे सर्वत्र रस इत्यादि ही तात्पर्य रूप में स्थित होते हैं तब ऐसी कोई वस्तु ही शेष नहीं रह जाती जिसको रस का अङ्ग बना देने से उसमें परम-रमणीयता न आ जाय और उसके रमणीयतारूप गुण में अभिवृद्धि न हो जाय। (प्रश्न) रस तो चेतनगत ही होता है। काव्य का विषय अचेतन भी बनता ही है। कवि लोग प्रकृति इत्यादि का वर्णन करते ही हैं; फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि सर्वत्र कवि का अभिप्राय रस ही होता है? (उत्तर) काव्य में अचेतन पदार्थों का समावेश दो ही रूपों मे होता है—या तो किसी मानव भाव के उद्दीपन के रूप में या स्वयं आलम्बन होकर वर्ण्य विषय के रूप में। जहाँ कहीं मानवभाव के उद्दीपन के रूप मे प्रकृति का उपादान होता है वहाँ तो प्रकृति अथवा अचेतन पदार्थ का वर्णन रसप्रवण होता ही है क्योंकि वहाँ पर अचेतन पदार्थ रस के विभाव के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ

## लोचन

अपार इति । अनाद्यन्त इत्यर्थः। यथा रुचिपरिवृत्तिमाह—शृङ्गारीति । शृङ्गारोक्तविभावानुभावव्यभिचारिचर्वणारूपप्रतीतिमयो न तु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम् । अत एव भरतमुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावं' 'काव्यार्थान् भावयति' इत्यादिषु कविशब्दमेव मूर्धाभिषिक्ततया प्रयुङ्क्ते । निरूपितं चैतद्रसस्वरूपनिर्णयावसरे । जगदिति । तद्रसनिमज्जनादित्यर्थः । शृङ्गारपदं रसोपलक्षणम् । स एवेति । यावद्रसिको न भवति तदा परिदृश्यमानोऽप्ययं भाववर्गो यद्यपि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यमात्रलौकिकं वितरति, तथापि कविवर्णनोपारोहं विना लोकातिक्रान्तरसास्वादभुवं नाधिशेते इत्यर्थः ।

'अपार' यह । अर्थात् आदि–अन्तरहित । रुचि के अनुसार परिवर्तन को कह रहे हैं—'शृङ्गारी' यह । शृङ्गारी का अर्थ यह समझ जाना चाहिये कि शृङ्गार मे बतलाये हुये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव की चर्वणा रूपप्रतीति से युक्त, स्त्री-व्यसनी नहीं । अतएव भरत मुनि ने कहा है—'कवि के अन्तर्गत भाव को···' इत्यादि तथा 'काव्यार्थ को भावित करता है' इत्यादिकों मे कवि शब्द को ही मूर्धाभिषिक्तरूप मे प्रयुक्त करता है । यह रसस्वरूपनिरूपण के अवसर पर निरूपित किया गया है । 'जगत्' यह । अर्थात् उस रस मे निमज्जन से । शृंगार शब्द रस का उपलक्षण है । 'वही' यह । यहाँ यह अर्थ है कि जब तक रसिक नहीं होता उस समय दिखलाई देनेवाला भी यह भाववर्ग केवल लौकिक सुख-दुःख और मोह की मध्यस्थता को ही प्रदान करता है तथापि कविवर्णना के उपारोह के बिना लोकातिक्रान्त रसास्वाद की भूमि पर आरूढ़ नहीं होता ।

## तारावती

प्रकृति स्वयं वर्ण्यविषय के रूप में उपात्त होती है वहाँ भी चेतन वृतान्त की योजना कर ही ली जाती है । कवि अचेतन पदार्थों को भी चेतन के प्रकाश में ही देखता है । वस्तुतः काव्य में कवि का भाव ही प्रधान होता है । चाहे चेतन पदार्थ हो चाहे अचेतन पदार्थ; जिस पदार्थ को कवि अपने जिस भाव के प्रकाश मे देखता है वह वस्तु कवि की उस भावना से सम्वलित ही दिखलाई पड़ती है । अतः कवि का तात्पर्य सर्वत्र रसाभिव्यञ्जन में ही होता है । यही बात कतिपय कारिकाओं मे इस प्रकार कही गई है :—

'यह नानाविध तथा अनन्त विस्तृत काव्य भी एक जगत् ही है जिसका न आदि है और न अन्त । ( अनादि काल से कविता होती आई है और अनन्तकाल तक होती रहेगी । इस प्रकार कविता के न तो प्रारम्भ का पता है और न अन्त ही दृष्टिगत होता है । यही दशा संसार की है; संसार भी आदि अन्त से रहित है—'आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम् ।' ) जिस प्रकार दृश्यमान जगत्

की रचना विधाता करता है उसी प्रकार काव्य जगत् की रचना कवि के द्वारा सम्पन्न होती है। इस प्रकार कवि इस काव्यजगत् का विधाता है। ब्रह्माजी तो सृष्टि की रचना कर देते हैं किन्तु अपने काव्य के माध्यम से उसकी व्यवस्था कवि ही करता है। कवि को जैसा विश्व अच्छा लगता है वह वैसा ही बदल जाता है। यदि काव्य में कवि शृङ्गारी बन जाता है तो सारा विश्व ही शृङ्गारी हो जाता है। कवि के शृङ्गारी होने का यह आशय नहीं है कि वह व्यक्तिगत जीवन में स्त्रियों के पीछे पड़ जाता है अपितु उसका अर्थ यह है कि कवि अपनी कविता में शृङ्गाररसानुकूल विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव की चर्वणा कराने में ही दत्तचित्त हो जाता है; वह चर्वणा ही प्रतीति है तथा कवि का हृदय उस चर्वणा रूप प्रतीति से ओतप्रोत हो जाता है; उसका परिणाम यह होता है कि सारे संसार का जीवन शृङ्गार की भावना से भर जाता है। यदि कवि वीतराग हो जाय अर्थात् अपने काव्यों में वैराग्य भावना का पोषण करने लगे तो सारा संसार ही रस की भावना से रहित हो जायगा। यही बात रस की परिभाषा करते हुये भरत मुनि ने लिखी है कि भाव उसे कहते हैं जो कवि की अन्तर्गत भावना को भावित करे। एक दूसरे स्थान पर भरतमुनि ने लिखा है कि कवि काव्यार्थों को भावित करता है। ( अभिनवभारती में लिखा है कि कवि शब्द 'कु' धातु से अथवा कव धातु से बनता है। अतः कवि-कर्मरूप काव्य का अर्थ होता है कवनीय और उसमें पदार्थ तथा वाक्यार्थ का पर्यवसान रस में ही होता है। इस प्रकार असाधारणता तथा प्रधानता से रस काव्य का अर्थ होता है; क्योंकि 'अर्थ' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही है कि जो प्रधानतया अभ्यर्थित किया जाय। प्रधानतया कवि का अभ्यर्थनीय रस ही होता है। ) यहाँ पर शृङ्गार शब्द उपलक्षणपरक है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार कवि के शृङ्गारी होने पर सारा संसार शृङ्गारमय हो जाता है उसी प्रकार अन्य रसों की कविता से संसार उन रसों के अनुकूल बन जाता है। कवि के जगत् में चेतन अचेतन की भी आबद्धता नहीं होती। कवि जैसा चाहता है उसी के अनुसार अचेतन भावों का व्यवहार चेतन के समान करता है और चेतन भावों का व्यवहार अचेतन के समान करता है। अर्थात् अचेतन पदार्थों पर कवि चेतन सत्ता का आरोप करता है और चेतन पदार्थों मे भी आनन्द इत्यादि के अवसर पर अचेतनता की स्थापना करता है।'

'यदि कवि वीतराग हो तो संसार नीरस हो जाता है' इस कथन का आशय यही है कि संसार की समस्त वस्तुओं में सुख दुःख और मोह के मध्य स्थित होने और सुख इत्यादि प्रदान करने की स्वाभाविक शक्ति होती है; किन्तु इन वस्तुओं

ध्वन्यालोकः

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमत-रसाङ्गतां न धत्ते । तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति । सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते । अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव । स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति । रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बत इत्युक्तं प्राक् । यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानं हृदयवतीषु च सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद्व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक् ।

(अनु०) अतएव वह वस्तु नहीं ही है जो पूरी आत्मा से रस को तात्पर्य माननेवाले कवि की उसकी इच्छा से उसकी अभिमत रसागता को धारण नहीं करता अथवा उस प्रकार से उपनिबद्ध किया हुआ चारुता की अतिशयता को पुष्ट नहीं करता । और यह सब महाकवियों के काव्यों में देखा जाता है । हमने भी अपने काव्य प्रबन्धों में ठीक रूप में दिखलाया ही है । इस प्रकार की स्थिति में सभी काव्य प्रकार ध्वनि की धर्मता का अतिक्रमण नहीं करता । यह पहले ही बतलाया जा चुका है कवि की रस की अपेक्षा में गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक प्रकार भी उसकी अङ्गता का अवलम्बन लेता ही है और जब चाटूक्तियों में अथवा देवतास्तुतियों में रस इत्यादि की व्यवस्था अङ्ग के रूप में होती है और हृदयवती सप्रज्ञक कतिपय गाथाओं में व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य में प्रधानता होती है वह भी गुणीभूतव्यङ्ग्य का ध्वनि निष्यन्द होना ही है यह पहले ही कहा जा चुका है ।

लोचन

चारुत्वातिशयं यन्न पुष्णाति तत्रास्त्येवेति सम्बन्धः । स्वेष्विति । विषमबाणलीलादिषु । हृदयवतीष्विति 'हिअअलिलिआ' इति प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु । त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाकाः उच्यन्ते । सहृदया तद्गाथा यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यहाँ सम्बन्ध ऐसा है—चारुत्व की अधिकता को जो पुष्ट नहीं करता वह नहीं ही है । 'अपने में' यह । विषय बाणलीला इत्यादि में । 'हृदयवतियों' में 'हिअअलीलआ' इस प्राकृत कविगोष्ठी में प्रसिद्धों में त्रिवर्गोपाय के उपेयों में कुशलों में प्रज्ञा से युक्त सहृदय कहे जाते हैं । उनकी गाथा जैसे महेन्दुराज का—

तारावती

में यह शक्ति नहीं होती कि वे लोकोत्तर रसास्वाद की भूमिका पर आरूढ़ हो सकें । वस्तुओं में यह शक्ति तभी आती है जब वे कविवर्णना पर आरूढ़ हो जाती हैं । यदि कवि अपनी कविता के माध्यम से वीतरागता को प्रसार देना चाहता

है तो समस्त वस्तु जगत् अपने स्वभाव के अनुसार सुख-दुःख इत्यादि तो देती ही है किन्तु लोकोत्तरानन्दरूपता को प्रदान नहीं कर सकती ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि विश्व में कोई ऐसी वस्तु होती ही नहीं जो कवि की इच्छा का अनुसरण न करे और जब कवि अपना लक्ष्य रस-निष्पत्ति को ही बनाकर चल रहा हो उस समय कवि की इच्छा का अनुसरण करते हुये अपनी पूरी आत्मा से कवि के चाहे हुये रस का अङ्ग न बन जावे । इसी भाँति ऐसी भी कोई वस्तु नहीं होती जो रसनिष्पत्ति के प्रयोजन से निबद्ध किये जानेपर चारुतातिशय को पुष्ट न करे । ऊपर जो कुछ कहा गया है उस सभी के उदाहरण महाकवियों की कविताओं में सर्वत्र देखे जाते हैं । आनन्दवर्धन का कहना है कि स्वयं मैंने अपने काव्यप्रबन्धों में औचित्य का निर्वाह करते हुये इन सभी बातों का ठीक-ठीक पालन किया है । वस्तुतः आनन्दवर्धन के विषम-बाणलीला इत्यादि प्रबन्धों में इसके उदाहरण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं ।

यहाँतक सारी स्थिति स्पष्ट हो गई । समस्त व्याख्या का सार यही है कि कोई भी काव्य ऐसा नहीं होता जिसका समाहार ध्वनिकाव्य में न हो जावे । आशय यह है कि जिस किसी रचना को काव्य की संज्ञा प्रदान की जा सकती है उसका समावेश ध्वनिकाव्य में सफलतापूर्वक किया ही जा सकता है । ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने का यही अभिप्राय है । यद्यपि काव्य का एक प्रकार वह भी होता है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न होकर गुणीभूत हो जाता है । किन्तु उस विषय मे यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि इस प्रकार के काव्य भी अन्तिम रसनिष्पत्ति की दृष्टि से ध्वनि के क्षेत्र में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । कुछ काव्य ऐसे भी होते हैं जिनमें रस भी अपनी मुख्यता को छोड़कर गौण बन जाता है । जैसे प्रशस्तियों मे राजा के प्रेम अथवा शौर्य इत्यादि के वर्णन में शृङ्गार वीर इत्यादि रस कविगत राजविषयक रति का अङ्ग होते हैं । अथवा देवताओं की स्तुतियों में देवताओं के विषय मे वर्णन की हुई कोई भी भावना कविगत देव-विषयक रतिभाव का अङ्ग होकर गौण हो जाती है । अथवा एक प्रकार और है—प्राकृत कवियों की गोष्ठी में कतिपय 'हिअअलीलआ' ( सम्भवतः 'हृदयललिता' ) नाम की सहृदयों की गाथायें प्रसिद्ध हैं । इन गाथाओं मे धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों के उपाय की ज्ञातव्यता मे निपुणता होती है । ( ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन के समय मे ही या उससे पहले कतिपय सहृदय कवियों ने अपनी गोष्ठी बना ली थी और उसके सम्मेलनों मे वे लोग अपनी प्राकृत की रचनायें प्रस्तुत किया करते थे । इस कविगोष्ठी का नाम भी कवित्व के अनुकूल ही था ।

लोचन

लङ्घिअगअणा फलहीलआओ होन्तुत्ति वहूअन्तीअ ।
हालिअस्स आसिसं पालिवेसवतुआ विणिट्ठविआ ॥

अत्र लङ्घितगगना कर्पासलता भवन्त्विति हालिकस्याशिषं वर्धयन्त्या प्रातिवेश्यवधुका निर्वृतिं प्रापिता इति चौर्यसम्भोगाभिलषणीयमित्यनेन व्यङ्ग्येन विशिष्टं वाच्यमेव सुन्दरम् ।

'कपासलतिकायें आकाश को लांघनेवाली हो जाएँ इस प्रकार हालिक को आशीर्वाद बढ़ाती हुई ( सखी ) के द्वारा पड़ोस की बहू शान्त की गई ।'

यहाँ 'आकाश को लांघनेवाली कपास की लता हो जाएँ यह आशीर्वाद हालिक को बढ़ाती हुई ( सखी ) ने पड़ोस की बहू को शान्त किया इस प्रकार 'चौर्य सम्भोग की अभिलाषा' रस व्यङ्ग्य से विशिष्टवाच्य ही सुन्दर है ।

तारावती

'हिअअललिआ' अर्थात् 'हृदयलतिका' या 'हृदयललिता' । कविता भी तो 'हृदयलतिका के पुष्प गुच्छ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । गोष्ठी की इन गाथाओं में धर्म, अर्थ और काम से सम्बद्ध गाथायें सुनाई जाती थीं । दीधितिकार ने 'अलीलया' यह नाम बतलाया है और 'संप्रज्ञकगाथासु' के स्थान पर 'षट्प्रज्ञादिगाथासु' यह पाठ मानकर त्रिकाण्डशेष की षट्प्रज्ञा की यह परिभाषा दी है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्त्वार्थयोरपि ।
षट्सु प्रज्ञास्ति यस्योच्चैः षट्प्रज्ञ इति संस्मृतः ॥'

आशय लगभग मिलता जुलता है । ज्ञात होता है कि यह गोष्ठी अभिनवगुप्त के समय तक चलती रही । अभिनवगुप्त ने इसी गोष्ठी में प्रस्तुत की हुई अपने गुरु की दो गाथायें उद्धृत की हैं । ) उदाहरण के लिये भट्टेन्दुराज की एक गाथा लीजिये जिसकी संस्कृतच्छाया इस प्रकार है—

लंघितगगनाः कर्पासलता भवन्त्विति वर्धयन्त्या ।
हालिकस्याशिषं प्रातिवेश्यवधुका निर्वापिता ॥

कोई पड़ोसिन किसी हालिक में अनुरक्त है । किन्तु उसे सहवास का अवसर नहीं मिलता जिससे वह बहुत ही सन्तप्त है । इधर हालिक कपास के खेत में काम कर रहा है । कोई सखी उस हालिक को आशीर्वाद देने के बहाने उस सन्तप्त पड़ोसिन को आश्वस्त करने के लिये कह रही है :—

'हे हालिक ! ईश्वर करे तुम्हारी ये कपास की लतायें इतनी बड़ी हो जाएँ कि आकाश को भी लाँघने लगें । सखी हालिक को बार-बार यही आशीर्वाद दे रही थी जिससे उसने पड़ोसिन के सन्ताप को शान्त किया ।'

लोचन

गोलाकच्छकुडङ्गे भरेण जम्बूसु पच्चमाणासु ।
हालिअवहुआ णिअंसइ जम्बूरसरत्तअं सिअअम् ॥

अत्र गोदावरीकच्छलतागहने भरेण जम्बूफलेषु पच्यमानेषु । हालिकवधूः परिधत्ते जम्बूफलरसरक्तं निवसनमिति त्वरितचौर्यसम्भोगसम्भाव्यमानजम्बूफलरसरक्तत्वपरभागनिह्नवनं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यलं बहुना ।

'गोदावरी के किनारे की कुञ्ज में जामुनों के भरकर पकने पर हालिक की वधू जम्बू के रस में रँगे हुये परिधान को धारण करती है ।'

यहाँ गोदावरी के किनारे के लतागहन में भरकर जम्बू फलों के पकने पर हालिकवधू जामुन के रस से रक्त वस्त्र को धारण करती है । इसमें शीघ्रता से किये जानेवाले चौर्यसम्भोग के कारण जिस जम्बूफल-रसरक्त स्वरूप परम सौभाग्य की सम्भावना की जासकती है उसका छिपाना गुणीभूतव्यङ्ग्य है, बस बहुत की आवश्यकता नहीं ।

तारावती

इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि सखी ने पड़ोसिन को यह समझाया कि तुम्हें अधिक सन्ताप नहीं करना चाहिए, अब तुम्हारे दुःख दूर होने का अवसर आ गया । ये कपास की लतायें धीरे-धीरे बहुत ही बढ़ जाएँगी और तब उनमें तुम्हारा चौर्य-सुरत सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकेगा । इस पद्य में ही यह बात कह दी गई है कि सखी ने पड़ोसिन को शान्त किया ।' इस वाच्यार्थ का सम्बन्ध आशीर्वाद से तभी स्थापित किया जा सकता है जब उक्त व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जाय । इस प्रकार वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा अधिक सुन्दर होकर चमत्कार में कारण बनता है । अतएव यह गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है । फिर उस वाच्यार्थ से पड़ोसिन की हालिक के प्रति भाव की अभिव्यञ्जना होती है जो शृङ्गाररस का रूप धारण कर लेती है । अतः यहाँ शृंगाररस ध्वनि है । एक दूसरा उदाहरण लीजिए जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

गोदाकच्छनिकुञ्जे भरेण जम्बूषु पच्यमानासु ।
हालिकवधूर्नियच्छति जम्बूरसरक्तं सिचयम् ॥

अर्थात् गोदावरी नदी के तटपर उगी हुई झाड़ियों में जब जामुन के फल रस से पूर्ण रूप से भर गये हैं और पके हुए हैं उस समय हालिक की वधू एक ऐसा वस्त्र धारण कर लेती है जो कि जामुन के फलों के रस से रंगा हुआ है ।

यहाँ पर जामुन के फलों के रस से अपने वस्त्रों को रंग गोदावरी तट पर स्थित निकुञ्जों में जाने से व्यक्त होता है कि वह हालिकवधू उन निकुञ्जोंमें अत्यन्त शीघ्रता के साथ

ध्वन्यालोकः

तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्। तदयमत्र सङ्ग्रहः—

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते।
संवृत्याभिहितौ वस्तु यत्रालङ्कार एव वा॥
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः॥

(अनु०) वह इस प्रकार आजकल के कवियों की नीति से उपदेश किये जाने पर प्राथमिक अभ्यासार्थियों का यदि केवल चित्र से व्यवहार हो (तो हो सकता है) परिणति को प्राप्त करनेवालों के लिये तो ध्वनि ही काव्य है यह स्थिति है। वह इस प्रकार यह संग्रह है :—

'जिस काव्यमार्ग में रस या भाव अथवा छिपाकर कही हुई वस्तु या केवल तात्पर्य के रूप में प्रकाशित होते हैं वह एकमात्र व्यङ्ग्यप्राधान्य के आधीन होनेवाली ध्वनि सहृदय लोगों के द्वारा विषयी समझी जानी चाहिये॥ ४१, ४२॥

लोचन

ध्वनिरेव काव्यमिति। आत्मात्मिनोरभेद एव वस्तुतः। व्युत्पत्तये तु विभागः कृत इत्यर्थः। वाग्रहणात्तदाभासादेः पूर्वोक्तस्य ग्रहणम्। संवृत्येति। गोप्यमानतया लब्धसौन्दर्येत्यर्थः। काव्याध्वनीति। काव्यमार्गे। स त्रिविधस्य ध्वनेः काव्यमार्गो विषय इति यावत्॥ ४१, ४२॥

'ध्वनि ही काव्य होता है' यह। अर्थात् वस्तुतः आत्मा और आत्मी का अभेद ही होता है; व्युत्पत्ति के लिये विभाग कर लिया गया है। 'वा' ग्रहण से पूर्वोक्त तदाभास इत्यादि का ग्रहण हो जाता है। 'छिपाकर' यह। छिपाकर कहने के कारण जिसको सौन्दर्य प्राप्त हो गया है। 'काव्य के अध्व में' अर्थात् काव्यमार्ग में। आशय यह है कि वह काव्य मार्ग त्रिविध ध्वनि का विषय होता है॥४१, ४२॥

तारावती

चौर्य सुरत करने जा रही है। उसे इस बात की सम्भावना है कि कहीं शीघ्रता में कार्य प्रवृत्त होने से उसके कपड़ों में जामुन के दाग न पड़ जायँ। अतः उन्हें छिपाने के लिये उसने पहले से ही यह प्रबन्ध कर लिया है कि अपनी साड़ी को जामुन के रंग में ही रंग लिया है जिससे उसमें जामुन के दाग छिप सकें। यहाँ पर जामुन के फलों के रस से साड़ी रंगनारूप वाच्यार्थ सहेतुगोपनरूप व्यङ्ग्यार्थ से अधिक सुन्दर हो जाता है। इस प्रकार वह व्यंग्य गुणीभूतव्यंग्य की

कोटि में आता है। फिर व्यंग्यार्थ से सुन्दरीभूत वाच्यार्थ ही रसध्वनि में पर्यवसित होता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण भी समझे जाने चाहिये। ये प्राकृत गाथायें हैं। इन सबमें जहाँ कहीं एक व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को सुन्दर बनाता है; फिर वह सुन्दरीभूत वाच्यार्थ रसध्वनि में पर्यवसित होता है वह सब गुणीभूतव्यंग्य का विषय है। इसके विषय में भी कहा जा चुका है कि यह ध्वनिनिष्यन्दभूत है। कारण यह है कि इसका अन्तिम पर्यवसान तो रसध्वनि मे ही होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे निष्कर्ष यही निकलता है कि आजकल के कवियों को जब काव्यकला का उपदेश दिया जाय तो उन्हें यह बतलाया जाना चाहिये कि जो कवि पहले पहल कविता करना प्रारम्भ करते हैं और काव्यक्रिया का अभ्यास प्राप्त करना चाहते हैं उन्हे रसनिष्पत्ति के फेर मे अधिक नहीं पड़ना चाहिये। उनके लिये यह सरल रहेगा कि वे चित्रकाव्य की रचना करने तक ही अपनेको सीमित रक्खें ( फिर उनकी चेष्टा न होने पर भले ही उनके चित्रित किये हुये भाव इस निष्पत्ति के रूप मे परिणत हो जावे। ) किन्तु जब बाद में काव्यक्रिया मे पूरी कुशलता प्राप्त हो जाय तब उनके बनाये हुये सभी काव्य ध्वनि ही कहे जाएँगे। ( प्रश्न ) उपक्रम मे तो ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। फिर यहाँ पर ध्वनि ही काव्य है यह उपसंहार कैसे सङ्गत कहा जा सकता है? ( उत्तर ) आत्मतत्त्व एक व्यापक तत्त्व है और ब्रह्म के रूप में आत्मा तथा शरीर दोनों एक ही होते हैं। उनमें भेद नहीं होता। अतः काव्य की प्रत्येक वस्तु चाहे वह बाह्य तत्त्व हो चाहे आभ्यन्तर, ध्वनि ही कहा जावेगा। वस्तुतः ब्रह्म के समान ध्वनि के रूप में काव्य का भी एक अद्वैत तत्त्व है। केवल शिष्यों को उपदेश देने के लिये विभाग कर लिया गया है। ( यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ध्वनिसिद्धान्त की उत्पत्ति स्फोटवाद से हुई है जो शब्दब्रह्म का दूसरा पर्याय है। जिस प्रकार ब्रह्म मे व्यवहार के लिये भेद की कल्पना कर ली जाती है उसी प्रकार काव्यब्रह्म ध्वनि के रूप मे एक है किन्तु व्यवहार के लिये विभागों की कल्पना कर ली गई है। ) यहाँ पर दो सङ्ग्रह श्लोक हैं :—

'जहाँ कवि का तात्पर्य रस या भाव मे हो अथवा रसाभास या भावाभास इत्यादि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के किसी अन्य प्रभेद मे हो अथवा वस्तु या अलङ्कार इस रूप मे छिपाकर कहे जायँ कि उनमे सौन्दर्य प्रकट हो जाय तो उस काव्यमार्ग मे सर्वत्र ध्वनि ही विषयी हुआ करता है अर्थात् उन तीन प्रकारोंवाला काव्यमार्ग ध्वनि का विषय हो जाता है क्योंकि उसको ध्वनिरूपता प्रदान करनेवाला मुख्यतत्त्व व्यङ्ग्य का प्राधान्य वहाँ पर विद्यमान ही रहता है यह सहृदयों को भलीभांति समझ लेना चाहिये॥ ४१, ४२॥

ध्वन्यालोकः

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥४३॥

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारैश्च सङ्करसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते। तथाहि स्वप्रभेदसङ्कीर्णः स्वप्रभेदसंसृष्टो गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णो गुणीभूतव्यङ्ग्यसंसृष्टो वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णः संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते।

(अनु०) 'गुणीभूतव्यङ्ग्यों और अलङ्कारों के सहित अपने प्रभेदों से संकर और संसृष्टि के द्वारा (वह ध्वनि) फिर भी बहुत प्रकार से उद्योतित होती है' ॥ ४३ ॥

और उस ध्वनि के अपने प्रभेदों से गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ और वाच्यालङ्कारों के साथ सङ्कर संसृष्टि की व्यवस्था किये जाने पर लक्ष्य में बहुत प्रभेदता देखी जाती है। वह इस प्रकार—अपने प्रभेदों से सङ्कीर्ण, अपने प्रभेदों से संसृष्ट, गुणीभूतव्यङ्ग्य से सङ्कीर्ण, गुणीभूतव्यङ्ग्य से संसृष्ट, दूसरे वाच्यालङ्कारों से सङ्कीर्ण, दूसरे वाच्यालंकारों से संसृष्ट, संसृष्ट अलंकारों से सङ्कीर्ण और संसृष्ट अलङ्कारों से संसृष्ट इस प्रकार बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है।

लोचन

एवं श्लोकद्वयेन सङ्ग्रहार्थमभिधाय बहुप्रकारत्वप्रदर्शिकां पठति—सगुणीति। सहगुणीभूतव्यङ्ग्येन सहालङ्कारैर्ये वर्तन्ते स्वध्वनेः प्रभेदास्तैः सङ्कीर्णतया संसृष्ट्या वानन्तप्रकारो ध्वनिरितितात्पर्यम्। बहुप्रकारतां दर्शयति—तथाहीति। स्वभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येनालङ्कारैः प्रकाश्यत इति त्रयो भेदाः। तथापि प्रत्येकं सङ्करेण संसृष्ट्या चेति षट्। सङ्करस्यापि त्रयः प्रकाराः अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन सन्देहास्पदत्वेनैकपदानुप्रवेशेनेति द्वादश भेदाः। पूर्वं च ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः।

इस प्रकार दो श्लोकों से संग्रहार्थ कहकर बहुप्रकारत्व को दिखलानेवाली (कारिका) को पढ़ते हैं—'सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ और अलङ्कारों के साथ जो अपने अर्थात् ध्वनि के प्रभेद वर्तमान होते हैं उनके साथ सङ्कीर्णरूप में अथवा संसृष्टि से ध्वनि अनन्त प्रकार की होती है। बहुप्रकारता को दिखलाते हैं—'वह इस प्रकार' यह। अपने भेदों से, गुणीभूत व्यङ्ग्य से और अलङ्कारों से प्रकाशित होता है यह तीन प्रकार हुये। उसमें भी प्रत्येक का सङ्कर और उसकी संसृष्टि होती है उससे ६ भेद हो गये। सङ्कर के भी तीन प्रकार होते हैं—अनुग्राह्यानुग्राहकभाव के द्वारा, सन्देहास्पदत्व के रूप में और एकपदानुप्रवेश के द्वारा ये १२ भेद होते हैं। और जो पहले ३५ भेद बतलाये

## लोचन

स्वप्रभेदास्तावन्तोऽलङ्कार इत्येकसप्ततिः। तत्र सङ्करत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके। तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणनेन सप्तसहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति। अलङ्काराणामानन्त्यात्त्वसंख्यत्वम्।

गये हैं वे गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी माने जाने चाहिये। उतने ही अपने अवान्तर भेद और अलङ्कार ये ७१ हुये। उसमें तीन प्रकार के सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि से गुणा करने पर २८४ हो जाते हैं। उतने से ३५ मुख्य भेदों के गुणा करने पर ७४२० हो जाते हैं। अलङ्कारों के अनन्त होने से तो असंख्यता आ जाती है।

## तारावती

ऊपर ध्वनि का पूर्ण विवेचन किया जा चुका। अब ४३ वीं कारिका मे ध्वनि के विस्तार पर प्रकाश डाला जा रहा है और यह दिखलाया जा रहा है कि ध्वनि के विभिन्न भेदों के परस्पर एकत्र सन्निविष्ट होने मे उनके भेदोपभेदों की संख्या कितनी अधिक बढ़ जाती है। कारिका का आशय इस प्रकार है :—

'ध्वनि के अपने जितने भी भेद हैं उनका परस्पर साङ्कर्य और संसृष्टि होती है। उन अवान्तर भेदों से गुणीभूतव्यङ्ग्य के विभिन्न प्रकारों का साङ्कर्य और संसृष्टि होती है तथा इसी प्रकार अलङ्कारों से भी साङ्कर्य और संसृष्टि होती है इस प्रकार की जब व्यवस्था की जाती है तब इस ध्वनि के अनेक भेद हो जाते है। आशय यह है कि इन भेदोपभेदों की कल्पना करने पर ध्वनि के इतने भेद हो जाते हैं कि उनका अन्त ही नहीं मिलता।'

इस अनन्तता और अनेकरूपता को इस प्रकार समझिये—सर्वप्रथम तो ध्वनि के ३५ भेद होते हैं जिनका उल्लेख द्वितीय उद्योत के अन्त में किया जा चुका है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—ध्वनि के दो मूल भेद होते हैं—लक्षणामूलक और अभिधामूलक। लक्षणामूलक के दो भेद होते हैं—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रम के अनन्त भेद होते हैं अतः उसको एक प्रकार का ही कहना ठीक होगा। संलक्ष्यक्रम दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। अर्थशक्तिमूलक तीन प्रकार का होता है—कविप्रौढोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध और स्वतः सम्भवी। इनमें व्यङ्ग्य दो प्रकार का होता है—वस्तु और अलङ्कार तथा व्यञ्जक दो प्रकार का होता है वस्तु और अलङ्कार। इस प्रकार प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं, जैसे कविप्रौढोक्तिसिद्ध के चार भेद—(१) वस्तु से वस्तु। (२) वस्तु से अलङ्कार, (३) अलङ्कार से वस्तु और (४) अलङ्कार से अलङ्कार। इस प्रकार उक्त तीनों

तारावती

भेदों में प्रत्येक के चार-चार भेद होकर कुल १२ भेद हो गये इस प्रकार ध्वनि के मूल भेद १६ हुये—लक्षणामूलक – २ + असंलक्ष्यक्रम १ + शब्द शक्तिमूलक १ + अर्थ शक्तिमूलक १२। इनमें प्रत्येक के दो भेद होते हैं—पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। इस प्रकार ये ३२ भेद हो गये। असंलक्ष्यक्रम के तीन भेद और होते हैं—वर्णप्रकाश्य, सङ्घटनाप्रकाश्य और प्रबन्धप्रकाश्य। इस प्रकार ध्वनि के कुल ३५ मूल भेद हो गये। अब इनके परस्पर संयोग को लीजिये। यह संयोग तीन प्रकार का होता है—(१) मूलभेदों का मूलभेदों से संयोग; (२) मूलभेदों का गुणीभूतव्यङ्ग्य से संयोग और (३) मूलभेदों का अलङ्कार से संयोग। यह संयोग दो प्रकार का होता है—(१) जहाँ संयुक्त होनेवाले तत्त्व परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थित हों वहाँ संसृष्टि कही जाती है। और (२) जहाँ संयुक्त होनेवाले तत्त्व परस्पर सापेक्षभाव से स्थित हों वहाँ सङ्कर होता है। इन उक्त तीनों प्रकार के संयोगों के सङ्कर और संसृष्टि के रूप में ६ प्रकार हो जाते हैं। सङ्कर तीन प्रकार का होता है—(१) अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर—जहाँ दो संयोज्य तत्त्वों में परस्पर उपकार्योपकारक भाव हो (२) सन्देह सङ्कर—जहाँ यह निश्चय न किया जा सके कि ध्वनि का कौन सा भेद अमुक स्थान पर विद्यमान है। और (३) एकपदानुप्रवेश सङ्कर—जहाँ एक ही पद मे दो ध्वनि भेद इत्यादिकों का समावेश हो। इस प्रकार संयोजन के १२ प्रकार होते हैं—तीन प्रकार का सङ्कर और उनमें प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार—तथा संसृष्टि ३ प्रकार की इस भाँति मूल भेदों का १२ प्रकार से संयोजन हो सकता है। उदाहरण के लिये सन्देह सङ्कर के तीन भेद होते हैं—(१) अपने भेदों का परस्पर सन्देह सङ्कर, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य से सन्देह सङ्कर और (३) अलङ्कार से सन्देह सङ्कर। इसी प्रकार के तीन तीन प्रकार सङ्कर के दो अन्य भेदों के होते हैं और यही प्रकार संसृष्टि के भी होते हैं। अब मूल भेदों को लीजिये—अभी ३५ भेद ध्वनि के बतलाये गये हैं। वे ही भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य के हो सकते हैं। इस प्रकार इन दोनों के मिलाकर ७० भेद हुये। एक प्रकार अलङ्कार का है। इस प्रकार मूलभेद ७१ हुये। उनका यदि तीन प्रकार के सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि से गुणन किया जाय तो ७१ × ४ = २८४ भेद हो गये। उनको यदि ३५ मुख्य भेदो से गुणित किया जाय तो २८४ × ३५ = ७४२० भेद हो जाते हैं। अलङ्कार तो अनन्त हैं; अतः ध्वनि के असंख्य भेद हो जाते हैं।

[ऊपर लोचन के गणना-परक भाग की व्याख्या की गई है। ज्ञात होता है कि यह प्रकरण अभिनव गुप्त ने बहुत ही लापरवाही से लिखा है। पहली बात तो

यह है कि २८४ × ३५ = ९९४० होते हैं ७४२० नहीं। दूसरी बात यह है कि गुणा करने के जिन विभिन्न तत्वों का उपादान किया गया है वे भी बहुत अधिक सङ्गत नहीं हैं। सम्भवतः इस लापरवाही का कारण यह है कि वस्तुतः काव्य प्रकारों को संख्या की सीमा में आवद्ध करना ठीक है ही नहीं।

'गा रही कविता युगों से मुग्ध हो;
मधुर गीतों का न पर अवसान है।'

वृत्तिकार के अनुसार भी केवल गुणी भूत व्यङ्ग्य के ही भेदों की गणना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार संसार के सभी शब्दों का गिन सकना। अलङ्कार अनन्त होते ही है। केवल शृङ्गार रस के ही भेदोपभेदों का परिसंख्यान असम्भव है फिर भला ध्वनि के समस्त भेदों को संख्या के संकुचित घेरे में बांधा ही कैसे जा सकता है? यह परिगणन और परिसंख्यान भी अनन्तता का ही परिचायक है। इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य की यह असावधानता बहुत कुछ उपेक्षणीय हो जाती है।

यहाँ पर यह कह देना भी अप्रासङ्गिक न होगा कि काव्य-प्रकाशकार की गणनापद्धति अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक है। पहला अन्तर तो यह है कि काव्यप्रकाश में ३५ नहीं अपितु ५१ मूलभेद माने गये हैं। मूल दो भेद तो काव्यप्रकाश मे भी लोचन के जैसे ही हैं और लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य लोचन के समान ही हैं। इन दोनों भेदों के पदगत और वाक्यगत ये दो दो भेद वैसे ही हैं। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के चार भेदों में कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर केवल अभिधामूलक ध्वनि के भेदों मे है। अभिधामूलक ध्वनि के प्रथम भेद असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के लोचन मे ५ भेद माने गये है—पदप्रकाश्य, वाक्यप्रकाश्य, वर्णप्रकाश्य, सङ्घटनाप्रकाश्य और प्रबन्धप्रकाश्य। काव्यप्रकाश मे प्रबन्धप्रकाश्य नामक एक भेद और जोड़कर असंल्लक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य की संख्या ६ कर दी गई है। लोचनकार ने शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम के केवल दो भेद माने हैं पदगत और वाक्यगत। किन्तु काव्यप्रकाश मे ४ भेद माने गये हैं—पदगत वस्तु, वाक्यगत वस्तु, पदगत अलङ्कार और वाक्यगत अलङ्कार। इसी प्रकार काव्यप्रकाश में अर्थशक्तिमूलक के १२ भेद तो वे ही हैं, जो लोचनकार ने बतलाये हैं। किन्तु व्यञ्जकों मे भेद हो जाता है। लोचन में केवल दो व्यञ्जक माने गये हैं पद और वाक्य। किन्तु काव्यप्रकाश मे प्रबन्ध को भी व्यञ्जक मानकर व्यञ्जक तीन प्रकार का मान लिया गया है। इस प्रकार लोचन में

## तारावती

अर्थशक्तिमूलक के १२×२=२४ भेद किये गये हैं जब कि काव्यप्रकाश में १२×३=३६ भेद हो जाते हैं। लोचन में उभयशक्तिमूलक का कोई भेद नहीं बतलाया गया है। किन्तु काव्यप्रकाश में उभयशक्तिमूलक का भी एक भेद विद्यमान है। इस प्रकार काव्यप्रकाश के भेदोपभेदों की गणना इस प्रकार होगी—लक्षणामूलक ध्वनि ४+असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ६+शब्दशक्तिमूलक ४+अर्थशक्तिमूलक ३६+उभयशक्तिमूलक १=५१ भेद हो जाते हैं। जो बात मूल भेदों के विषय में कही गई है वही गुणन की प्रक्रिया में भी लागू होती है। गुणन की प्रक्रिया मे भी दोनों आचार्यों में परस्पर पर्याप्त मतभेद हैं।

काव्यप्रकाशकार की गुणन प्रक्रिया इस प्रकार है—इन ५१ भेदों में प्रत्येक का दूसरे के साथ संशयसङ्कर हो जाता है और प्रत्येक भेद के ५१ उपभेद हो जाते हैं। जैसे पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का वाक्यद्योत्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्य से, पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से, वाक्यद्योत्य अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य से, पदद्योत्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से इत्यादि। इस प्रकार सन्देह सङ्कर के कुल मिलाकर ५१×५१=२६०१ भेद हो जाते हैं। इतने ही भेद अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर, एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर और संसृष्टि में प्रत्येक के हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २६०१×४=१०४०४ सङ्कीर्ण उपभेद ध्वनि के हो जाते हैं।

इस गुणनप्रक्रिया के विषय में काव्यप्रकाश की टीकाओं में एक आक्षेप उठाया गया है और उसका समाधान भी वहीं दिया गया है। आक्षेप और समाधान इस प्रकार हैं—कुछ लोगों का कहना है कि यह गणना ठीक नहीं है क्योंकि इसमे कई भेद कई कई बार आ जाते हैं। जैसे यदि अर्थान्तर संक्रमित वाच्य के उपभेदों की गणना की जायगी तो उसका साङ्कर्य अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य से आ ही जायगा। फिर अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य के उपभेद की गणना में पुनः अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का साङ्कर्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से हो जायगा। इस प्रकार सभी भेद अनेक बार आ जायंगे। क्योंकि अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ये दोनों एक ही वस्तुयें हैं। अतः यहाँ गणना का वही क्रम होना चाहिये जो काव्यप्रकाश मे विरोधालङ्कार के प्रसङ्ग में उठाया गया है। वहाँ पर काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—

'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणैस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश'॥

विरोध चार तत्त्वों मे होता है—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। इन चार का

## तारावती

चार से विरोध होने पर गणना की प्रक्रिया यह होगी—जाति का जाति इत्यादि चार से विरोध, गुण का गुण इत्यादि ३ से विरोध, ( क्योंकि गुण और जाति का विरोध तो जाति के विरोधों में ही आ गया । ) क्रिया का क्रिया और द्रव्य से विरोध और द्रव्य का द्रव्य से विरोध । इस प्रकार ४+३+२+१=१० भेद हुये सीधे सीधे ४×४=१६ भेद नहीं । यही प्रक्रिया यहाँ भी अपनाई जानी चाहिये । अर्थात् अग्रिम अग्रिम भेदों में एक एक कम करके गणना की जानी चाहिये । जैसे पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य के ५१ भेद । फिर वाक्यद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य के ५०, इसी प्रकार एक एक कम करके गणना की जानी चाहिये । इस दशा में गुणन की प्रक्रिया यह बतलाई गई है—

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं गुरु ।
समार्धेनासमो गुण्य एतत्सङ्कलितं लघु ॥ ( लीलावती )

अर्थात् एक से जिस राशि तक गुणन करना हो उस राशि को दो बार रखना चाहिये । एक राशि मे एक को जोड़ देना चाहिये जिससे यदि वह राशि विषम होगी तो सम हो जायेगी और सम होगी तो विषम हो जायेगी । जो सम हो उसका आधा करके उससे विषम को गुणा कर देना चाहिये । यह सङ्कलन की लघु प्रक्रिया है । इस प्रकार १ से ५१ तक प्रत्येक राशि को जोड़ने की लघु प्रकिया यह होगी—५१+१=५२ इस राशि ५२ का $\frac{१}{२}$=२६, अब ५१ को २६ से गुणा कर देना चाहिये ५१×२६=१३२६ भेद सन्देह सङ्कर के हुए । कुल मिलाकर ध्वनि के सङ्कीर्ण भेद १३२६×४=५३०४ होने चाहिये १०४०४ नहीं । इसका समाधान यह दिया गया है कि विरोध की गुणन प्रक्रिया यहाँ पर लागू नहीं हो सकती । क्योंकि जाति और गुण का विरोध अथवा गुण और जाति का विरोध एक ही बात है । किन्तु अर्थान्तरसंक्रमित का अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से साङ्कर्य एक बात नहीं । जब अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य की प्रधानता होगी तब अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से विरोध कहा जायगा और यदि अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य की प्रधानता होगी तो अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से विरोध कहा जायेगा । इसी उत्तर के कारण काव्य प्रकाश में बतलाई हुई प्रक्रिया ही ठीक सिद्ध होती है ।

यहाँ पर एक प्रश्न और शेष रह जाता है कि उक्त अन्तर के मान लेने पर भी एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर के विषय में फिर यह संख्या ठीक सिद्ध नहीं होती । एक व्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर में एक ही व्यञ्जक मे दो भेदों का समावेश होता है ।

## तारावती

इस प्रकार पद के एकदेश, पद, वाक्य, प्रबन्ध इनमें परस्पर सङ्कर नहीं हो सकता। क्योंकि मान लीजिये वाक्य से एक व्यङ्ग्य निकलता है तो उसका एक व्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर तभी हो सकता है जब दूसरा व्यङ्ग्य उसी वाक्य से निकले। यदि एक व्यङ्ग्य वाक्य से निकलेगा और दूसरा पद से तो ऐसी दशा में व्यञ्जक की एकता नहीं रहेगी और इनका एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर नहीं बन सकेगा। इस प्रकार भी इनकी संख्या पर्याप्त रूप में कम हो जायगी। इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर व्यञ्जकता का अर्थ है व्यञ्जना मे किसी प्रकार का सहयोग देना। अब मान लो कि कोई ऐसा स्थान है जहाँ एक व्यङ्ग्य तो वाक्य से निकलता है और दूसरा वाक्य के केवल एक भाग पद से। वहाँ पर यदि वाक्य से निकलनेवाले व्यङ्ग्य मे पद की किसी भी प्रकार की सहकारिता हो जाती है तो उस वाक्य के द्वारा उस व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जकता भी उस पद में आ गई। इस प्रकार पद और वाक्य के व्यङ्ग्यार्थों में एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर हो सकता है। अतएव सङ्कीर्ण भेदों की संख्या १०४०४ मानना ही ठीक है। इनमें शुद्ध ५१ भेदों के जोड़ने से १०४५५ ध्वनि भेद हो जाते हैं।

अब गुणीभूतव्यङ्ग्य के साङ्कर्य को लीजिये—ध्वनि के जो ५१ मूलभेद बतलाये गये हैं उनमे कुछ भेद ऐसे हैं जो गुणीभूतव्यङ्ग्य मे सम्भव नहीं हो सकते। जैसा कि ध्वनिकार ने लिखा है कि जब वस्तु से अलङ्कार की अभिव्यक्ति होती है तब उसे केवल ध्वनिरूपता ही प्राप्त होती है। कारण यह है कि वस्तु की अपेक्षा अलङ्कार में स्वाभाविक प्रकर्ष होता है। अतः व्यङ्ग्य अलङ्कार वस्तु की अपेक्षा तो कभी गौण हो ही नहीं सकता। वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है—( १ ) स्वतः सम्भव वस्तु से अलङ्कारव्यञ्जना, ( २ ) कविकल्पित वस्तु से अलङ्कारव्यञ्जना और ( ३ ) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से अलङ्कार व्यञ्जना। इन तीनों में प्रत्येक के तीन भेद होते हैं—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत। इस प्रकार ये ९ भेद हुये। ये केवल ध्वनि भेद ही हो सकते हैं। शेष ५१—९ = ४२ भेद गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी हो सकते हैं। इन ४२ भेदों में प्रत्येक के ८ भेद होते हैं—( १ ) अगूढ, ( २ ) अपराङ्ग, ( ३ ) वाच्यसिद्ध्यङ्ग, ( ४ ) अस्फुट, ( ५ ) सन्दिग्ध प्राधान्य, ( ६ ) तुल्य प्राधान्य, ( ७ ) काक्वाक्षिप्त और (८) असुन्दर। इन ८ प्रकारों से मूल ४२ भेदों का गुणा करने पर ४२ × ८ = ३३६ शुद्ध हो गये। इन ३३६ भेदों की संसृष्टि करने पर ३३६ × ३३६ = ११२८९६ भेद हो जाते हैं। एक प्रकार की संसृष्टि और तीन प्रकार का सङ्कर इस प्रकार इन भेदों को ४ से गुणा करने पर, ११२८९६ × ४ = ४५१५८४ भेद सङ्कीर्ण गुणीभूतव्यङ्ग्य

ध्वन्यालोकः

तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णत्वं कदाचिदनुग्राह्यानुग्राहकभावेन। यथा 'एवंवादिनि-देवर्षौ' इत्यादौ। अत्र ह्यर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदेनालक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते।

(अनु०) उनमें अपने भेदों से सङ्कीर्णत्व कभी अनुग्राह्यानुग्राहक भाव के द्वारा होता है। जैसे—'एवं वादिनि देवर्षौ' में यहाँ निस्सन्देह अर्थशक्त्युद्भव अनुरणन-रूप व्यङ्ग्य नामक ध्वनि के प्रभेद के द्वारा ध्वनि का अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक प्रभेद अनुगृहीत किया जाता हुआ दृष्टिगत होता है।

लोचन

तत्र व्युत्पत्तये कतिपयभेदेपूदाहरणानि दित्सुः स्वप्रभेदानां कारिकायामन्यपदार्थ-त्वेन प्रधानतयोक्तत्वात्तदाश्रयाण्येव चत्वार्युदाहरणान्याह—तत्रेति। अनुगृह्यमाण इति। लज्जया हि प्रतीतया। अभिलाषशृङ्गारोऽत्रानुगृह्यते व्यभिचारिभूतत्वेन।

उनमे व्युत्पत्ति के लिये कतिपय भेदों में उदाहरण देने की इच्छा करते हुये कारिका में अपने प्रभेदों के अन्यपदार्थत्व होने के कारण प्रधानरूपमें कहे जाने से उसके आश्रयवाले ही चार उदाहरणों को कहते हैं—'उनमें' यह। 'अनुगृह्यमाण' यह। निस्सन्देह प्रतीत होनेवाली लज्जा के द्वारा। वहाँ व्यभिचारीभाव होने के कारण (लज्जा के द्वारा) अभिलाष शृङ्गार अनुगृहीत किया जाता है।

तारावती

के हो गये। ध्वनि के १०४५५ भेद बतलाये जा चुके हैं यदि इनका परस्पर चार बार गुणा किया जाय तथा शृङ्गाररस के नायक-नायिका भेद विभाव अनुभाव और समस्त अलङ्कारों से पृथक् गुणन किया जाय तो इतने भेद हो जाते हैं कि कोई व्यक्ति उनकी गणना कर ही नहीं सकता इस प्रकार नवनवोन्मेषशालिनी कवि प्रतिभा के लिये कहीं अन्त का अवसर ही नहीं आता। इस प्रकार यह सरस्वती का अनन्य भण्डार अनन्त काल तक सहृदयों के समक्ष स्फुरित होता रहता है। यह है काव्यप्रकाश की गुणन प्रक्रिया का संक्षिप्त परिचय।

साहित्यदर्पण में मूल भेद तो ५१ ही हैं, किन्तु उसमें विरोधालङ्कारवाली काव्यप्रकाश की शैली को अपनाकर प्रत्येक अग्रिम भेद में एक एक भेद कम कर दिया है। इस प्रकार १ से ५१ तक की संख्याओं का जोड़ ही साहित्यदर्पण-कार के मत मे एक प्रकार के सङ्कर की संख्या मानी जानी चाहिये। तीन प्रकार का सङ्कर और १ प्रकार की संसृष्टि को मिलाकर ४ से गुणा कर देने पर ध्वनि के सङ्कीर्ण भेदों की संख्या आ जायेगी। इस प्रकार साहित्य दर्पण के अनुसार ५१ × २६ = १३२६ भेद संसृष्टि के हो जाते हैं और कुल भेद १३२६ × ४ = ५३०४

तारावती

सङ्कीर्ण भेद सिद्ध होते हैं। किन्तु वस्तुतः यह सब गणना ध्वनि-अनन्तता को ही सिद्ध करती है।]

अब आलोककार यह दिखलाना चाहते हैं कि इन भेदों का परस्पर संसर्जन (संसृष्टि) और साङ्कर्य होता किस प्रकार है। इसके लिये कुछ उदाहरण देने की आवश्यकता है। किन्तु काव्य अनन्तपार है अतः कतिपय उदाहरणों से ही सन्तोष करना पड़ेगा। जिस क्रम से उदाहरण दिये जावेंगे उसको समझ लेना चाहिये। सामान्यतया सङ्कर या संसृष्टि तीन तत्त्वों में होती है—(१) अपने भेद से, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य से और (३) अलङ्कारों से। इनमें सर्वप्रथम अपने भेदों से सङ्कर और संसृष्टि को लीजिये। सर्वप्रथम अपने भेदों से ही सङ्कर और संसृष्टि के उदाहरण देने का कारण यह है कि ४३ वीं कारिका में गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कार के साथ 'स' शब्द जोड़ दिया गया है—'गुणीभूतव्यङ्ग्यैः' 'सालङ्कारैः' यह 'सह' के अर्थ में 'स' हुआ है तथा इसमें बहुव्रीहि समास का निर्देश है। बहुव्रीहि समास का मूल निर्देशक पाणिनीय सूत्र है 'अनेकमन्यपदार्थे' अर्थात् अनेक प्रथमान्तों का अन्य पद के अर्थ में समास हो जाता है। इसमें समास में आने-वाले शब्द गौण हो जाते हैं और अन्य पदार्थ प्रधान हो जाता है। अतः यहाँ पर 'सालङ्कारैः' में अलङ्कार गौण है और 'सगुणीभूतव्यंग्यैः' में 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' गौण है। प्रधानता किसी अन्य पदार्थ की है। वह अन्य पदार्थ क्या है? इसका निर्देश कारिका में ही कर दिया गया है 'स्वप्रभेदैः स्वैः'। इस प्रकार स्वप्रभेद अर्थात् ध्वनि के मूल भेद (काव्यप्रकाश के अनुसार ५१ और लोचन के अनुसार ३५) प्रधान है। अतः इन प्रधान भेदों के साङ्कर्य की व्याख्या पहले की जायेगी तथा दूसरे भेदों से साङ्कर्य की व्याख्या बाद में की जायेगी। अपने प्रभेदों से साङ्कर्य तीन प्रकार का होता है और संसृष्टि एक प्रकार की। इस प्रकार कुल मिलाकर चार प्रकार हुये। इन्हीं चार प्रकारों में प्रत्येक का एक एक उदाहरण दिया जा रहा है।

सर्व प्रथम सङ्कर को लीजिये। यह तीन प्रकार का होता है—(१) कभी तो एक भेद दूसरे का अनुग्राहक होता है और उससे उपकृत होकर दूसरा भेद अधिक उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है। उसे अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सङ्कर कहते हैं। जैसे—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

तारावती

यह कुमारसम्भव का पद्य है, इसमें कहा गया है कि नारद जी हिमाञ्चल से पार्वती के विवाह के विषय में बात कर रहे थे। उस समय पार्वती अपने पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किये हुये लीलाकमल पत्रों को गिन रही थी। यहाँ पर पार्वती के अधोमुख और लीलापत्र गणना से लज्जा की अभिव्यक्ति होती है। यह लज्जा अनुरणनरूप व्यङ्ग्य के रूप में प्रतीत होती है और स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु व्यञ्जना कही जा सकती है। दूसरी व्यञ्जना यहाँ पर अभिलाष शृङ्गार की होती है जो कि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रस ध्वनि का एक भेद है। प्रतीतिगोचर होनेवाली लज्जा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि को अनुगृहीत करती है क्योंकि लज्जा शृंगार का व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार ध्वनि के एक भेद अनुरणनरूप व्यङ्ग्य से रस ध्वनि उपकृत होकर चमत्काराधिक्य में कारण होती है। यहाँ पर दो स्वरूपगत भेदों का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सङ्कर है। (यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि व्यभिचारी भाव तो एक संयोज्य तत्त्व है जिसके संयोग से रसव्यञ्जना हुआ करती है जैसा कि मुनि ने कहा है–'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः। फिर यहाँ पर लज्जा को अनुरणनरूप व्यङ्ग्य कैसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि विभाव इत्यादि सभी तत्त्व स्थायीभाव से मिलकर रसनिष्पत्ति किया करते हैं। किन्तु जहाँ कोई व्यभिचारी भाव प्रमुख हो जाता है वहाँ उस भाव की ध्वनि कही जाती है। जैसे कपूर शकर इत्यादि अनेक पदार्थों के योग से बने हुये पदार्थ में एक सङ्घात-रस तैय्यार हो जाता है। किन्तु जब उस सङ्घात-रस में मिर्च चीनी इत्यादि किसी एक वस्तु की प्रधानता हो जाती है तब कहा जाता है कि अमुक पदार्थ में चीनी का स्वाद है, मिर्च का स्वाद है इत्यादि। इसी प्रकार सामूहिक रसध्वनि में जब एक भाव की प्रधानता हो जाती है तब वहाँ उस भाव की ध्वनि कही जाती है, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः.....'

इस प्रकार यहाँ पर लज्जा-भाव की व्यञ्जना अनुरणन रूप में ही होती है और इससे अभिलाष शृंगार अनुगृहीत होकर चमत्कार में कारण बनता है। अतः यह अनुग्राह्यानुग्राहक भाव का उदाहरण है।

(२) कभी दो ध्वनिभेद एक साथ आ पड़ते हैं और दोनों में किसी एक का निश्चय नहीं किया जा सकता कि अमुक भेद ही सङ्गत रहेगा दूसरा नहीं। ऐसे स्थान पर सन्देह होनेके कारण सन्देहसङ्कर कहा जाता है। उदाहरण—

ध्वन्यालोकः

एवं कदाचित्प्रभेदद्वयसम्पातसन्देहेन । यथा—

खणपाहुणिआ देअर एपा जाआएँ किंपि दे भणिदा ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥
( क्षणप्राघुणिका देवर एपा जायया किमपि ते भणिता ।
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥ इतिच्छाया )

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत्पदमर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते । न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति ।

(अनु०) इसी प्रकार कदाचित् दो भेदों के सन्देह के द्वारा । जैसे—

'हे देवर ! उत्सव में निमन्त्रण के द्वारा बुलाई हुई, यह (बेचारी प्रेयसी) तुम्हारी पत्नी के द्वारा कुछ कही हुई शून्यवलभीगृह में रो रही है; बेचारी को मना लो।'

यहाँ निस्सन्देह 'मनालो', यह पद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के रूप में और विवक्षितान्यपरवाच्य के रूप में सम्भावित किया जाता है । किसी एक पक्ष के निर्णय में प्रमाण नहीं ही है ।

लोचन

क्षण उत्सवस्तत्र निमन्त्रणेनानीता हे देवर ! एषा ते जायया किमपि भणिता रोदिति । पडोहरे शून्ये वलभीगृहे अनुनीयतां वराकी । सा तावद्देवरानुरक्ता तज्जाया विदितवृत्तान्तया किमप्युक्तेत्येषोक्तिस्तद्वृत्तान्तं दृष्टवत्या अन्यस्यास्तद्देवरचौरकामिन्याः । तत्र तव गृहिण्यायं वृत्तान्तो ज्ञात इत्युभयतः कलहायितुमिच्छन्त्येवमाह । तत्रार्थान्तरे सम्भोगेनैकान्तोचितेन परितोष्यतामित्येवं रूपे वाच्यस्य सङ्क्रमणम् । यदि वा त्वं तावदेतस्यामेवानुरक्त इतीर्ष्याकोपतात्पर्यादनुनयमन्यपरं विवक्षितम् । एषा तवेदानीमुचितमगर्हणीयं प्रेमास्पदमित्यनुनयो विवक्षितः, वयं त्विदानीं गर्हणीयाः

'क्षण' अर्थात् उत्सव उसमें निमन्त्रण के द्वारा बुलाई हुई हे देवर ! यह तुम्हारी जाया के द्वारा कुछ कही हुई रो रही है । पडोहर अर्थात् शून्य वलभी गृह में बेचारी मना ली जाय । वह देवर में अनुरक्त है, वृत्तान्त को जानलेनेवाली उसकी जाया के द्वारा कुछ कही गई है यह उक्ति उनके वृत्तान्त को देखनेवाली किसी दूसरी अपने देवर की चौरकामिनी की है । वहाँ वह 'तुम्हारी गृहिणी के द्वारा यह वृत्तान्त जान लिया गया है' इस प्रकार दोनों ओर कलह की इच्छा करते हुए कहती है । वहाँ 'एकान्त में उचित सम्भोगके द्वारा परितुष्ट कर ली जाए' इस प्रकार के अर्थान्तर में वाच्य का संक्रमण होता है । अथवा तुम तो इसी में अनुरक्त हो इस ईर्ष्या कोप तात्पर्य से अन्यपरक अनुनय विवक्षित है । यह तुम्हारी इस समय उचित तथा अगर्हणीय प्रेमास्पद है इस अनुनय का कहना अभीष्ट है, हम

## लोचन

सम्वृत्ता इत्येतत्परतया उभयथापि च स्वामिप्रायप्रकाशनादेकतरनिश्चये प्रमाणाभाव इत्युक्तम्। विवक्षितस्य हि स्वरूपस्थस्यैवान्यपरत्वम्। संक्रान्तिस्तु तस्यैतद्रूपतापत्तिः। यदि वा देवरानुरक्ताया एव तं देवरमन्यया सहावलोकितसम्भोगवृत्तान्तं प्रतीयमुक्तिः, देवरेत्यामन्त्रणात्। पूर्वव्याख्याने तु तदपेक्षया देवरेत्यामन्त्रणं व्याख्यातम्।

तो इस समय गर्हणीय हो गये हैं इस आशयपरता के रूप मे दोनों प्रकार से अपने अभिप्राय के प्रकाशन के कारण एक ओर निश्चय न होने में प्रमाणाभाव कहा गया है। स्वरूपस्थ (वाच्यस्थ) ही विवक्षित की अन्यपरता होती है। उसकी इस रूप को प्राप्ति तो संक्रान्ति होती है। अथवा देवरानुरक्ता की ही उस देवर के प्रति, जिसके सम्भोग वृत्तान्त को अन्य के प्रति देखा गया है, यह उक्ति है। प्रथम व्याख्यान में तो 'देवर' इस आमन्त्रण की व्याख्या कर दी गई।

## तारावती

कोई नायिका अपने देवर में अनुरक्त है। वह अपने देवर के यहाँ किसी उत्सव में आई है। देवर की पत्नी उनके प्रच्छन्न अनुराग को जान गई है। अतः उसने प्रच्छन्नानुरागिणी से कुछ कह दिया जिससे वह दुःखित होकर एकान्त स्थान पर जाकर रोने लगी। उस नायिका के देवर को कोई दूसरी स्त्री भी चाहती है। उनका भी गुप्त प्रेम है। उस दूसरी कामिनी ने ये सब बातें देखली हैं कि उसके प्रेमी की पत्नी ने उस घर मे आई हुई से कुछ कह दिया है और वह एकान्त में जाकर रो रही है। अतः वह सब समाचार उस अपने प्रेमी से कह रही है :—

'तुम्हारे उत्सव में प्रेमपूर्वक आमन्त्रित किये जाने पर वह (तुम्हारी भाभी) तुम्हारे यहाँ आई थी। तुम्हारी जाया (पत्नी) ने न जाने उससे क्या कह दिया कि वह एकान्तवलभी गृह में जाकर रो रही है, अरे देवर! वेचारी को मना लो।'

वलभी का अर्थ है—अन्तःपुर, चन्द्रशाला या घर की ऊपरी मञ्जिल ('शुद्धान्ते वलभी चन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेश्मनि')

'देवर' इस आमन्त्रण से व्यञ्जना निकलती है कि 'तुम्हारा उससे स्वाभाविक प्रेम होना ही चाहिये। 'उत्सव मे प्रेमपूर्वक बुलाई गई थी' इससे व्यञ्जना निकलती है कि यहाँ तो कम से कम तुम्हारी पत्नी को उसका आदर करना ही चाहिये था किन्तु यहाँ भी उसने उसे स्पष्ट कर दिया। अतः उसका दुःखित होना स्वाभाविक ही है। 'जाया' शब्द के प्रयोग से व्यक्त होता है कि 'यह मैं जानती हूँ कि वह तुम्हारी विवाहिता पत्नी ही है, उसने तुम्हारा प्रेम कभी प्राप्त नहीं कर पाया और जब वह ऐसी अनुचित बातें करती है तब तुम्हारा प्रेम उसे मिल ही कैसे

तारावती

सकता है ? 'तुम्हारी पत्नी ने कहा है' में 'तुम्हारी' शब्द से व्यक्त होता है कि 'जब तुम्हारी पत्नी ने कहा है तब मनाना भी तुम्हें ही पड़ेगा । 'कुछ कह दिया' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि जो कुछ कह दिया वह इतना अनुचित है कि मैं उसका उच्चारण भी नहीं कर सकती । वलभी के शून्य होने से एकान्त में प्रेम करने की सुकरता, 'रोती है' से प्रतीकाराक्षमत्व तथा नायक के प्रति प्रेमाधिक्य के कारण पलायन की असमर्थता व्यक्त होती है जिससे नायक के शीघ्र जाकर मनाने का औचित्य सिद्ध होता है । 'वराकी' शब्द से भी नायिका की अक्षमता ही व्यक्त होती है । यहाँ पर वक्त्री का यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि वह नायक को यह सूचना देकर नायक और उसकी पत्नी में कलह कराना चाहती है ।

'अनुनय' का वाच्यार्थ है समझा बुझाकर दुःख दूर कर देना । किन्तु यहाँ पर कहनेवाली का केवल यही अभिप्राय नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो वह एकान्त स्थान इत्यादि का निर्देश करती है, दूसरे प्रणयीजनों का मानना और मनाना बात चीत तक ही सीमित नहीं रहता । अतः 'अनुनय' का वाच्यार्थ तात्पर्यानुपपत्ति के कारण बाधित है और इससे यह अर्थ निकलता है कि सम्भोग के द्वारा उसे प्रसन्न करो । सम्भोग के साथ बात चीत द्वारा अनुनय का भी वच्यार्थ सन्निविष्ट हो जाता है । अतः यहाँ पर वाच्य अर्थान्तरसंक्रमित हो जाता है । अतः यह अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य नामक ध्वनि भेद है । अथवा यहाँ यह कथन एक अन्य प्रेमिका का है; अतः उससे यह व्यञ्जना भी निकल सकती है—'मेरे सामने आज तुम्हारा रहस्य खुला है ; तुम वस्तुतः मेरे अतिरिक्त एक अन्य प्रेमिका ( अपनी भार्भा ) से भी प्रेम करते हो ; तभी तो तुम्हारी पत्नी उससे रुष्ट होती है ।' इससे वक्त्री का अभिप्राय ईर्ष्याजन्य कोप में पर्यवसित होता है । इस अर्थ में अनुनय के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है । अतः यह अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि नामक प्रभेद हो सकता है । अब यहाँ पर यह निश्चय करना कठिन है कि अर्थान्तर संक्रमित वाच्य माना जाय अथवा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य । एक के निश्चय करने में यहाँ कोई प्रमाण है ही नहीं । क्योंकि दोनों अवस्थाओं में वक्त्री का यही प्रयोजन रूप तात्पर्य व्यङ्ग्य होता है कि 'यह तुम्हारी भाभी तुम्हारी सच्ची प्रेमास्पद है । भला अब तुम मुझसे प्रेम क्यों करोगे । इसका तुम्हारा प्रेम उचित भी है और अनिन्दनीय भी । अब मैं तो निन्दनीय हो ही गई हूँ ।' चाहे अनुनय का सम्भोगपरक अर्थ मानकर तथा एक प्रेमिका से दूसरी प्रेमिका के सम्भोग का निर्देश दिलवाकर यहाँ पर अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य माना जाय या ईर्ष्या कोप में लक्षणा मानकर अन्यन्ततिरस्कृत वाच्य माना जाय दोनों अवस्थाओं में प्रयोजन

## ध्वन्यालोकः

एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति। यथा 'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ।

(अनु०) एक व्यञ्जकानुप्रवेश के द्वारा तो व्यङ्ग्यत्व अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अपने दूसरे प्रभेदों की दृष्टि से बहुलता से सम्भव है। जैसे—'स्निग्ध श्यामल' इत्यादि में।

## लोचन

बाहुल्येनेति। सर्वत्र काव्ये रसादितात्पर्यं तावदस्ति। तत्र रसध्वनेर्भावध्वनेश्चैकेन व्यञ्जकेनाभिव्यञ्जनं स्निग्धश्यामलेत्यत्र विप्रलम्भशृङ्गारस्य तद्व्यभिचारिणश्च शोकावेगात्मनश्चर्वणीयत्वात्।

'बाहुल्य से' यह। सर्वत्र काव्य में रसादि तात्पर्य तो होता ही है। उसमें रसध्वनि और भावध्वनि का एक ही व्यञ्जक के द्वारा अभिव्यञ्जन (होता है) क्योंकि 'स्निग्ध श्यामल' इत्यादि मे विप्रलम्भशृङ्गार और उसके व्यभिचारी शोक और आवेश की (एक साथ) चर्वणा होती है।

## तारावती

रूप व्यङ्ग्यार्थ तो एक ही होगा। अतः एक का निश्चय करने में कोई तर्क न होने से यहाँ सन्देह सङ्कर है। यह तो बहुशः बतलाया जा चुका है कि जहाँ वाच्यार्थ के स्वरूप में ही व्यङ्ग्यार्थ अवस्थित होता है उसे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य कहते है और जहाँ स्वरूप दूसरे रूप मे परिणत हो जाता है वहाँ अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य कहा जाता है।

अथवा उक्त पद्य की योजना एक रूप मे और हो सकती है। यह कथन भाभी का ही है जिसका कि अपने देवर से स्वयं प्रच्छन्न प्रेम है। उसने किसी अन्य से देवर का प्रेम जान लिया है। वह दूसरी प्रेमिका देवर के घर किसी उत्सव मे आई है और उसको देवर की पत्नी ने अपमानित किया है। यही सारा समाचार अपने देवर को देकर वह अपना ईर्ष्या जन्य रोष प्रकट कर रही है। वस्तुतः यही अर्थ ठीक है। क्योंकि इसमें 'देवर' इस सम्बोधन की सङ्गति ठीक बैठ जाती है। यदि पहली वाली व्याख्या के अनुसार यह माना जाय कि कहने वाली भाभी नहीं कोई अन्य प्रेमिका है और वह भाभी के अपमानित होने की सूचना दे रही है तो 'हे देवर' यह सम्बोधन भाभी की दृष्टि से माना जायगा (और यह कटाक्षपरक सम्बोधन होगा।)

(३) सङ्कर का तीसरा प्रकार है एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर। अपने भेदों का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरे भेदों से प्रायः हुआ

ध्वन्यालोकः

स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव। अत्र ह्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः।

(अनु०) स्वप्रभेद संसृष्टत्व जैसे—पहले के उदाहरण में ही। यहाँ निस्सन्देह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का संसर्ग है।

लोचन

एवं त्रिविधं सङ्करं व्याख्याय संसृष्टिमुदाहरति—स्वप्रभेदेति। अत्र हीति। लिप्तशब्दादौ तिरस्कृतो वाच्यः, रामादौ तु सङ्क्रान्त इत्यर्थः।

इस प्रकार के सङ्कर की व्याख्या करके संसृष्टि का उदाहरण देते हैं—'अपने प्रभेद से' यह। 'यहाँ निस्सन्देह' यह। लिप्त शब्द इत्यादि में वाच्य तिरस्कृत है और राम इत्यादि में संक्रान्त।

तारावती

करता है। क्योंकि काव्य में सर्वत्र तात्पर्य तो रसध्वनि में ही होता है, उस रस के पोषक भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिये 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियत' इत्यादि पद्य को लीजिये। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका में की जा चुकी है। यहाँ पर असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसध्वनि विप्रलम्भशृंगारपरक है। साथ ही शोक और आवेश की भी अभिव्यक्ति होती है जो कि उसका व्यभिचारी भाव है। इन दोनों की एक साथ चर्वणा होती है। दोनों का व्यञ्जक यह पद्य ही है। अतः यहाँ पर ध्वनि के स्वगत भेदों का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर है।

(कुछ लोगों ने यहाँ पर रामशब्द के अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और रसध्वनि इन दो का एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर बतलाया है। क्योंकि दोनों का अभिव्यञ्जन रामशब्द से ही होता है। वस्तुतः यह ठीक भी है। किन्तु इससे आलोककार के इस कथन की सार्थकता नहीं होती कि अधिकतर ऐसे स्थान पाये जाते हैं जहाँ एक पद में दो व्यङ्ग्यों का समावेश होता है। अतः बाहुल्य की व्याख्या करने के लिये रसध्वनि का व्यभिचारियों की व्यञ्जना से उपकृत होना मानना ही पड़ेगा। यही लोचनकार का आशय है।)

ऊपर स्वगत भेदों में तीनों प्रकार के सङ्कर की व्याख्या की जा चुकी। अब स्वगत भेदों की संसृष्टि को लीजिये। संसृष्टि वहाँ पर होती है जहाँ दो ध्वनिभेद निरपेक्ष रूप में स्थित होते हैं। जैसे 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः' इसी पद्य को लीजिये। यहाँ पर 'लिप्त' शब्द इत्यादि का अर्थ बाधित है। लेप किसी मूर्त तथा स्पृश्य वस्तु का किया जाता है। कान्ति का लेप नहीं हो सकता इससे

ध्वन्यालोकः

गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णत्वं यथा—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ। यथा वा—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः॥
राजा दुश्शासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्।
कास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिभिः पदैः सम्मिश्रता। अत एव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत्। यथा हि ध्वनेः प्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि।

(अनु०) गुणीभूतव्यङ्ग्य संकीर्णत्व जैसे—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि मे। अथवा जैसे—

'द्यूत के छलों का करनेवाला, लाख के बने मकान का जलानेवाला, वह अभिमानी, द्रौपदी के केश तथा उत्तरीय के अपसारण में निपुण, जिसके दास पाण्डव हैं, दुश्शासन इत्यादि का राजा, सौ छोटे भाइयों का ज्येष्ठ, अङ्गराज का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है, कहते क्यों नहीं हो, हम दोनों क्रोधपूर्वक देखने आये हैं।'

यहाँ निस्सन्देह वाक्यार्थीभूत अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्य को कहनेवाले पदों से सम्मिश्रण होता है। और इसीलिये गुणीभूतव्यङ्ग्य के पदार्थाश्रित होने पर और ध्वनि के वाक्याश्रित होने पर सङ्कीर्ण होने में कोई विरोध नहीं है अपने दूसरे प्रभेदों के समान। निस्सन्देह जैसे ध्वनि के दूसरे प्रभेद परस्पर सङ्कीर्ण होते हैं और पदार्थ तथा वाक्यार्थ के आश्रय के रूप में उनमे विरोध नहीं आता।

लोचन

एवं स्वप्रभेदं प्रति चतुर्भेदानुदाहृत्य गुणीभूतव्यङ्ग्यं प्रत्युदाहरति—गुणीभूतेति। अत्र हीत्युदाहरणद्वयेऽपि। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्येति रौद्रस्य व्यङ्ग्यविशिष्टेत्यनेन गुणता व्यङ्ग्यस्योक्ता। पदैरित्युपलक्षणे तृतीया। तेन तदुपलक्षिता योऽर्थो

इस प्रकार स्वप्रभेदो के प्रति चारों प्रभेदों के उदाहरण देकर गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रति उदाहरण देते हैं—'गुणीभूत' यह। यहाँ निस्सन्देह' अर्थात् दोनों ही उदाहरणों मे। 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का' यह। रौद्र के प्रतीत होने से 'व्यङ्ग्य विशिष्ट' इत्यादि के द्वारा व्यङ्ग्य की गुणरूपता कही गई है। 'पदैः' मे उपलक्षण मे तृतीया है। इससे उसके द्वारा उपलक्षित की हुई, व्यङ्ग्य के गुणीभाव के द्वारा

## लोचन

व्यङ्ग्यगुणीभावेन वर्तते तेन सम्मिश्रता सङ्कीर्णता। सा चानुग्राह्यानुग्राहकभावेन, सन्देहयोगेनैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति यथासम्भवमुदाहरणद्वये योज्या। तथाहि मे यदस्य इत्यादिभिः सर्वैरेव पदार्थैः कर्तेत्यादिभिश्च विभावादिरूपतया रौद्र एवानुगृह्यते। जो अर्थ वर्तमान रहता है, उसकी सम्मिश्रता अर्थात् सङ्कीर्णता और वह अनुग्राह्यानुग्राहक भाव के द्वारा, सन्देह योग के द्वारा और एक व्यञ्जकानुप्रवेश के द्वारा यथासम्भव दोनो उदाहरणों में जोड़ दी जानी चाहिये। वह इस प्रकार 'मेरे जो शत्रु' इत्यादि इन सब पदार्थों के द्वारा और 'कर्ताद्यूतच्छलानां' इत्यादि के द्वारा विभावादि रूपता से रौद्र ही अनुगृहीत होता है।

## तारावती

'लिप्त' शब्द का प्रकृत कान्ति के लेप के अर्थ में बाध हो जाता है। उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'कान्ति सभी अवयवों में व्याप्त है।' इसकी प्रयोजन-रूप व्यञ्जना यह है कि कान्ति सभी अवयवों में परिपूर्ण रूप मे तथा अतिशयता के साथ भर गई है। इस प्रकार यहाँ पर 'लिप्त' शब्द के अर्थ का सर्वथा त्याग हो जाता है। अतः यह अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य नामक ध्वनि भेद का उदाहरण है। 'राम' शब्द अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य नामक ध्वनि भेद का उदाहरण है ही जैसा कि विस्तारपूर्वक द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका की व्याख्या में दिखलाया जा चुका है। ये दोनों ध्वनि भेद परस्पर असम्बद्ध होकर स्थित रहते हैं। अतः यहाँ ध्वनि के दो स्वगत भेदों की संसृष्टि है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

यहाँ तक ध्वनि के स्वगत भेदों के चारों प्रकारों की व्याख्या की गई। अब गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ ध्वनि के साङ्कर्य और संसृष्टत्व को लीजिये—तृतीय उद्योत की १६ वीं कारिका की व्याख्या मे 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि पद्य में प्रत्येक पद की व्यञ्जना की व्याख्या की जा चुकी है। इस व्याख्या के अनुसार प्रत्येक पद व्यङ्ग्यविशिष्ट होकर ही चमत्कारकारक होता है। इस प्रकार प्रत्येक पद गुणीभूत-व्यङ्ग्य का उदाहरण है। पूर्ण पद्य में रौद्र रसध्वनि होती है। (यहाँ पर रौद्र रस की व्यञ्जना होती है यह लोचनकार का मत है। निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव की प्रधान रूप मे अभिव्यक्ति होती है यह दर्पणकार का मत है। वस्तुतः यहाँ पर निर्वेद व्यभिचारी से पुष्ट होकर वीर रस ही ध्वनि का रूप धारण करता है।) इस प्रकार यहाँ पर रस, ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का साङ्कर्य है। दूसरा उदाहरण लीजिये—

यह पद्य वेणीसंहार के पञ्चम अङ्क से लिया गया है। महाभारत के युद्ध में अनेक वीरों का सङ्क्षय हो चुका है। भीम ने दुश्शासन के हृदय का रक्त

## लोचन

कर्तेत्यादौ च प्रतिपदं प्रत्यवान्तरवाक्यं प्रतिसमासं च व्यङ्ग्यमुत्प्रेक्षितुं शक्यमेवेति न लिखितम्। 'पाण्डवा यस्य दासाः' इति तदीयोक्त्यनुकारः। तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतापि योजयितुं शक्या, वाच्यस्यैव क्रोधोद्दीपकत्वात्। दासैश्च कृतकृत्यैः स्वाम्यवश्यं द्रष्टव्य इत्यर्थशक्त्यनुरणनरूपतापि। उभयथापि चारुत्वादेकपक्षग्रहे प्रमाणाभावः। एकव्यञ्जकानुप्रवेशस्तु तैरेव पदैः गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्य प्रधानीभूतस्य च रसस्य विभावादिद्वारतयाभिव्यञ्जनात्। अत एव चेति। यतोऽत्र लक्ष्ये दृश्यते तत इत्यर्थः।

और 'कर्ता' इत्यादि प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक अवान्तर वाक्य में और प्रत्येक समास में व्यङ्ग्य की उत्प्रेक्षा की जा सकती है इसलिये नहीं लिखा गया। 'पाण्डव जिसके दास हैं' यह उसकी उक्ति का अनुकरण है। उसमें गुणीभूत व्यङ्ग्यता की भी योजना की जा सकती है, क्योंकि वाच्य ही क्रोधोद्दीपक है और 'कृतकृत्य' दासों के द्वारा स्वामी अवश्य देखा जाना चाहिये' यह अर्थशक्तिमूलक अनुरणन रूप व्यङ्ग्यता भी है। दोनों प्रकार से चारुत्व होने के कारण एक पक्ष के ग्रहण में प्रमाण नहीं है। एकव्यञ्जकानुप्रवेश तो उन्हीं पदों से गुणीभूत व्यङ्ग्य के और प्रधानीभूत रस के विभाव इत्यादि के द्वारा अभिव्यञ्जन होने के कारण सिद्ध हो जाता है। अतएव च' यह। 'क्योंकि यहाँ लक्ष्य में दिखलाई देता है इससे।

## तारावती

पी लिया है; कर्ण और अर्जुन का युद्ध चल रहा है। दुर्योधन वट वृक्ष के नीचे चिन्ताग्रस्त मुद्रा में बैठे हैं। उसी समय धृतराष्ट्र, सञ्जय और गांधारी आकर दुर्योधन को युद्ध छोड़ने का उपदेश देते हैं किन्तु दुर्योधन दृढ है। इतने में सुनाई देता है कि कर्ण मारा गया। सब उद्विग्न तथा खिन्न हैं; दुर्योधन बदला लेने के लिये एकदम चल देना चाहता है। इसी समय पर्दे के पीछे भीम और अर्जुन का स्वर सुनाई देता है। वे कहते हैं—

'हम दोनों दुर्योधन से क्रोध के साथ मिलने आये हैं, तुम लोग हमें क्यों नहीं बतलाते कि वह दुर्योधन कहाँ है? वह दुर्योधन जो कि द्यूतच्छलों का करनेवाला है, वह दुर्योधन जो लाख के बने हुये हमारे आवासस्थलोंको जलानेवाला है, वह अभिमानी दुर्योधन जो द्रौपदी के केश और उत्तरीय के हटाने में बड़ा ही निपुण है, वह दुर्योधन पाण्डव जिसके दास हैं, वह दुर्योधन दुश्शासन इत्यादि का राजा, सौ छोटे भाइयों में ज्येष्ठ, अङ्गराज (कर्ण) का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है।'

(लोचनकार ने इस पद्य की व्यञ्जनाओं के विषय मे केवल इतना ही लिखा है कि इसके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक उपवाक्य और प्रत्येक समास की व्यञ्जनायें

तारावती

स्पष्ट हैं, अतः उनका उल्लेख अनावश्यक है।' इसकी व्यञ्जनाओं की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है 'कर्ता' मे 'कृ' धातु से सीधे कर्त्रर्थक प्रत्यय से व्यक्त होता है कि द्यूत के अवसर पर छल करने में शकुनि तो निमित्तमात्र था वास्तविक उत्तरदायी तो यह दुर्योधन ही था। 'द्यूतच्छलानां' के बहुवचन से व्यक्त होता है कि इस दुर्योधन ने हम लोगों से एक नहीं अनेक छल किये हैं। 'जतुमय शरणोद्दीपना' की व्यञ्जना यह है कि इस दुर्योधन ने हम लोगों को नष्ट कर देने में कोई कमी शेष नहीं रक्खी, यह तो परमात्मा की कृपा थी कि हम अपने भाग्य से बचते रहे। 'कर्ता द्यूतच्छलानां' 'जतुमयशरणोद्दीपना' इन दोनों वाक्यखण्डों से व्यञ्जना निकलती है कि सारा अपराध इसी दुष्ट दुर्योधन का है जिससे यह सारा वंश नष्ट हो गया। 'सः' 'वह' से अभिव्यक्त होता है कि दुर्योधन अपनी दुष्टता के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। 'अभिमानी' की व्यञ्जना यह है कि अब दुर्योधन का अभिमान कहाँ चला गया? उसे अपने अभिमान का पूरा बदला मिल गया। 'कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः' से सभी को साक्षी बनाकर दुश्शासन की बाहें उखाड़ने और उसके वक्षस्थल का रक्त पीने की व्यञ्जना होती है। 'पाण्डवा यस्य दासाः' से व्यञ्जना निकलती है कि दुर्योधन ने तो द्यूत के अवसर पर पाण्डवों को जीतकर अपना दास बना लिया था और वह सर्वदा पाण्डवों को अपना दास ही कहा करता था। क्या उसे अब तक पता नहीं चला कि ऐसे अन्याय का परिणाम क्या होता है? 'दुश्शासनादे राजा' से दुश्शासन इत्यादि सभी वशवर्त्तियों के मारे जाने की व्यञ्जना होती है, 'गुरुरनुजशतस्य' से व्यक्त होता है कि जिस दुर्योधन को अपने सौ भाइयों पर पूरा अभिमान था वह अब अकेला शेष रह गया; उसके सभी भाइयों को एकाकी भीम ने ही मार डाला। 'अङ्गराजस्य मित्रम्' से व्यक्त होता है कि दुर्योधन सर्वदा अङ्गराज की ही सम्मति पर चला करता था और समस्त अनर्थ अङ्गराज की दुर्बुद्धि के ही कारण हुये थे। दुर्योधन समझता था अकेला अङ्गराज ही सभी पाण्डवों को मार सकता है किन्तु आज अङ्गराज का कहीं पता नहीं। आज हम क्रोध और क्रूरता के साथ दुर्योधन का अन्त करने आये है। दुश्शासन उसके सौ भाई और कर्ण इत्यादि उसके सहायक अब कहाँ हैं जिनके बल पर उसने इतना अन्याय किया था)।

'न्यक्कारो ह्ययमेव' और 'कर्ता द्यूतच्छलानां' इन दोनो पदों में रौद्ररस की व्यञ्जना होती है (अथवा प्रथम मे वीररस की और दूसरे में रौद्ररस की व्यञ्जना होती है।) यह रौद्ररस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य है और प्रधानीभूत वाक्यार्थ बनकर यही ध्वनि का रूप धारण करता है। इन दोनों पद्यों मे शब्दों से जो

## तारावती

व्यञ्जनायें बतलाई गई हैं शब्दों के अर्थ उन विशिष्ट प्रकार की व्यञ्जनाओं से मिश्रित होकर ही अवभासित होते हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्यविशिष्ट वाक्य का अभिधान करने के कारण इन मे गुणीभूतव्यङ्ग्य है। यहाँ पर 'पदैः सम्मिश्रता' अर्थात् व्यङ्ग्यविशिष्ट वाक्य को कहनेवाले से असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का सम्मिश्रित होना बतलाया गया है। वस्तुतः असंल्लक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य पदों से नहीं अपितु उनके अर्थों से सम्मिश्रित होता है। अतः यहाँ पर 'पदैः' में उपलक्षण मे तृतीया माननी चाहिये जिसका आशय यह होता है कि पदो के विशिष्टाभिव्यञ्जनपरक प्रयोग के कारण ही असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य से विभिन्न गुणीभूतव्यङ्ग्यो का सम्मिश्रण उपलक्षित होता है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों पद्यों मे यह सम्मिश्रण होता किस प्रकार है? इसका उत्तर यह है कि सङ्कर के तीनों भेदों की यहाँ यथासम्भव योजना कर लेनी चाहिये। वह इस प्रकार—(१) 'मेरे और शत्रु' इत्यादि सभी वाक्यार्थों से अथवा 'कर्ता' इत्यादि के वाक्यार्थों से इन दोनों पद्यों की विभावरूप सामग्री का ही सम्पादन किया जाता है। यह विभावरूप सामग्री सर्वदा रसनिष्पत्ति मे अनुग्राहक होती है। इस प्रकार व्यङ्ग्य विशिष्ट वाक्य के द्वारा रस ध्वनि के अनुगृहीत होने से गुणीभूतव्यंग्य और रस का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर है। (२) 'पाण्डव जिसके दास हैं' यह दुर्योधन की उक्ति का अनुकरण है। अर्थात् दुर्योधन ऐसा कहा करता था। उसने हम लोगों को दास बना लिया था जिसका उचित दण्ड उसे मिल गया कि उसके सब भाई इत्यादि मारे गये। इस प्रकार 'पाण्डव जिसके दास हैं' से यह व्यञ्जना निकलती है। किन्तु प्रधानता वाच्यार्थ की ही है क्योंकि क्रोध की अभिव्यक्ति वाच्यार्थ से ही होती है। व्यंग्यार्थ उसमे सहायक मात्र होता है। इस प्रकार यह गुणीभूतव्यंग्य है। साथ ही इससे यह भी व्यञ्जना निकलती है कि 'हम तो दुर्योधन के दास है, दासो का यह कर्तव्य होता है कि स्वामी का कार्य कर के स्वामी का दर्शन करे। इस दुर्योधन का काम कर आये हैं और अब उनसे मिलना चाहते हैं, उनसे कह दो कि तैय्यार हो जाएँ।' यह व्यञ्जना वाक्य की अपेक्षा प्रधान है अतः स्वतः सम्भवी वस्तु से अनुरणनरूप वस्तु ध्वनि भी यहाँ विद्यमान है। यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि उक्त व्यंग्यविशिष्ट वाच्य अधिक चमत्कारकारक है या यह अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि। इस प्रकार यहाँ सन्देहसङ्कर है। (३) एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर तो स्पष्ट ही है। उन्हीं शब्दों से गुणीभूतव्यंग्य की भी व्यञ्जना होती है और उन्ही से विभाव इत्यादि के माध्यम से असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य रसध्वनि भी अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार सङ्कर के तीनो भेदो की यहाँ पर व्याख्या की जा सकती है।

## लोचन

ननु व्यङ्ग्यं गुणीभूतं प्रधानं चेति विरुद्धमेव तद्दृश्यमानमप्युक्तत्वान्न श्रद्धेयमित्याशङ्क्य व्यञ्जकभेदात्तावन्न विरोध इति दर्शयति—अत एवेति। स्वेति। स्वप्रभेदान्तराणि सङ्कीर्णतया पूर्वमुदाहृतानीति तान्येव दृष्टान्तयति तदेव व्याचष्टे—यथा हीति। तथात्रापीत्यध्याहारोऽत्र कर्तव्यः। 'तथाहि' इति वा पाठः।

( प्रश्न ) व्यङ्ग्य गुणीभूत भी और प्रधान भी यह विरुद्ध है वह दिखलाई पड़ता हुआ भी उक्त हेतु से श्रद्धेय नहीं है यह शङ्का करके व्यञ्जक भेद से विरोध नहीं होता यह दिखलाते है 'अतएव' यह। 'अपने' यह। अपने दूसरे प्रभेद जिनका सङ्कीर्ण के रूप मे उदाहरण दिया गया है उन्हीं को दृष्टान्त बना रहे है। वही कहते है—'निस्सन्देह जैसे'। 'वैसा यहाँ पर' यह अध्याहार करना चाहिये। अथवा 'तथाहि' यह पाठ है।

## तारावती

( प्रश्न ) यह तो विचित्र सी बात है कि व्यंग्य गुणीभूत भी है और प्रधान भी। यह परस्पर विरुद्ध बात मानी कैसे जा सकती है? ( उत्तर ) क्योंकि यह लक्ष्य मे दिखलाई पड़ता है जिसके उदाहरण अभी दिये गये हैं; अतः यह मानना ही पड़ता है। ( प्रश्न ) चाहे वह लक्ष्य में दिखलाई ही क्यों न पड़ता हो; किन्तु दिया हुआ हेतु इतना प्रबल है कि लक्ष्य मे दिखलाई पड़नेवाले तत्त्व पर भी श्रद्धा करना उचित ही प्रतीत नहीं होता। जब प्रधान और अप्रधान सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध हैं तब दोनों तत्त्वो को एकत्र सन्निविष्ट कहना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? ( उत्तर ) प्रधान और अप्रधान व्यङ्ग्यों में व्यञ्जकों का भेद है। अतः उनका परस्पर सन्निवेश विरुद्ध नहीं कहाँ जा सकता। यहाँ पर गुणीभूत-व्यंग्य की अभिव्यक्ति पदो के अर्थ से होती है और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रसध्वनि की अभिव्यक्ति वाक्यार्थ से होती है। एक के व्यञ्जक पदार्थ है और दूसरे के व्यञ्जक वाक्यार्थ हैं। इस प्रकार जब दोनों के व्यञ्जको मे भेद है तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि दोनो के प्रधान और अप्रधान होने मे परस्पर विरोध है? इनका साङ्कर्य हो सकता है और व्यञ्जकभेद के कारण उनमें कोई विरोध भी नहीं आता। यह इस प्रकार समझिये कि जैसे ध्वनि के स्वगत भेदों में सङ्कर और संसृष्टि दिखलाई गई है। उसमें व्यञ्जकभेद के कारण ही दो भेदो के प्रधान और अप्रधानभाव मे विरोध नहीं आता। ध्वनि के स्वगत भेदो के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं और यह दिखलाया जा चुका है कि पदार्थ तथा वाक्यार्थ इन दो विभिन्न तत्त्वो से अभिव्यक्त होने के कारण दोनो का साङ्कर्य बन जाता है। उसी दृष्टान्त से गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि के साङ्कर्य के विषय में भी समझ लिया

ध्वन्यालोकः

किं चैकव्यङ्ग्याश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुद्ध्यते न तु व्यङ्ग्यभेदापेक्षया यतोऽप्यस्य नविरोधः। अयं च सङ्करसंसृष्टिव्यवहारो बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः।

(अनु०) और भी—एकव्यंग्याश्रयत्व में प्रधान तथा गुणभाव का परस्पर विरोध होता है व्यंग्यभेद की दृष्टि से नहीं। इससे भी इसका विरोध नहीं होता। और यह सङ्कर-संसृष्टि व्यवहार बहुतों के एकत्र वाच्यवाचकभाव के समान व्यंग्य-व्यञ्जकभाव मे भी निर्विरोध ही माना जाना चाहिये।

लोचन

ननु व्यञ्जकभेदात्प्रथमभेदयोः परिहारोऽस्तु एकव्यञ्जकानुप्रवेशे तु किं वक्तव्यमित्याशङ्क्य पारमार्थिकं परिहारमाह—किञ्चेति। ततोऽन्यद्व्यङ्ग्यं गुणीभूतमन्यच्च प्रधानमिति को विरोधः? ननु वाच्यालङ्कारविषये श्रुतोऽयं सङ्करादिव्यवहारो न तु व्यङ्ग्यविषय इत्याशङ्क्याह—अयं चेति। मन्तव्य इति मननेन प्रतीत्या तथा निश्चेयः उभयत्रापि प्रतीतेरेव शरणत्वादितिभावः।

(प्रश्न) व्यञ्जक भेद से प्रथम दो भेदों का परिहार हो जाय, एक व्यञ्जकानुप्रवेश शङ्कर के विषय में क्या कहा जाना चाहिये? यह शङ्का करके वास्तविक परिहार बतला रहे हैं 'और भी' यह। 'उससे भी' यह। क्योंकि दूसरा व्यङ्ग्यगुणीभूत है और दूसरा प्रधान है, अतः उसमें क्या विरोध? (प्रश्न) यह संकर इत्यादि का व्यवहार तो वाच्यालंकार के विषय मे सुना गया है; व्यंग्य के विषय मे तो नहीं? यह शंका करके कहते हैं—'और यह' यह। 'माना जाना चाहिये' यह। भाव यह है कि मनन से अर्थात् प्रतीति से वैसा निश्चय करना चाहिये क्योंकि दोनों ओर प्रतीति का ही सहारा है।

तारावती

जाना चाहिये। यहाँ पर आलोक में—'यथाहि·····विरुद्धानि' यह वाक्य अधूरा सा मालूम पड़ता है। क्योंकि इसमें केवल दृष्टान्त तो दिया गया है दार्ष्टान्त नहीं। अतः यहाँ पर 'तथात्रापि' यह वाक्यखण्ड जोडकर पूरा कर लेना चाहिये। अथवा 'यथाहि' के स्थान पर 'तथाहि' कर लेना चाहिये जिससे यह तर्क हो जावेगा और वाक्य की अपूर्णता जाती रहेगी।

(प्रश्न) आपने विरोधपरिहार के लिये व्यञ्जकभेद का सहारा लिया है। यह अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सङ्कर और सन्देहसङ्कर के विषय मे तो ठीक कहा जा सकता है; किन्तु एकाश्रयानुप्रवेश संकर के विषय में क्या व्यवस्था होगी जहाँ एक ही व्यञ्जक से दो व्यङ्ग्यार्थ निकलते हैं? जब तक व्यञ्जक एक ही नहीं

ध्वन्यालोकः

यत्र तु पदानि कानिचिदविवक्षितवाच्यान्यनुरणनरूपव्यङ्ग्यवाच्यानि वा तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वम् । यथा—'तेषां गोपवधूविलासमुहृदाम्' इत्यादौ। अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणाम्' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेदरूपे 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपे ।

(अनु०) जहाँ कुछ पद तो अविवक्षितवाच्य होते हैं अथवा अनुरणनरूप व्यंग्यवाच्य होते हैं वहाँ ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य की संसृष्टि होती है । जैसे—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादि में । यहाँ निस्सन्देह 'विलाससुहृदाम्' और 'राधारहःसाक्षिणां' ये दो पद ध्वनि के उपभेदरूप ही हैं और 'ते' तथा 'जाने' ये दो पद गुणीभूतव्यंग्यरूप हैं ।

तारावती

होगा तब तक यह भेद कहा ही नहीं जा सकेगा और व्यञ्जक के एक हो जाने पर व्यञ्जकभेद का आपका आश्रय समाप्त हो जावेगा । ( उत्तर ) केवल व्यञ्जकभेद ही नहीं व्यङ्ग्यभेद भी प्रधानता तथा गुणीभाव का भेदक होता है । प्रधानता तथा गुणीभाव का विरोध वहीं पर होता है जहाँ एक ही व्यङ्ग्य को प्रधान भी कहा जाय और उसी को गुणीभूत बतलाया जाय । इसके प्रतिकूल जहाँ प्रधान कोई दूसरा व्यङ्ग्य होता है और गुणीभूतव्यङ्ग्य कोई दूसरा होता है वहाँ विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता । वस्तुतः यही उत्तर ठीक है । व्यञ्जकभेद का उत्तर तो अधूरा रह जाता है । व्यङ्ग्य भेद का उत्तर सभी भेदों में ठीक बैठ जाता है । जब दो वस्तुयें भिन्न भिन्न ही हैं तब उनमें एक प्रधान और दूसरी अप्रधान होगी ही । उसमें विरोध की कल्पना की ही किस प्रकार जा सकती है ? ( प्रश्न ) पुराने आचार्यों ने सकर और संसृष्टि का व्यवहार तो वाच्यालंकारों के विषय में किया है । आप उन्हें ध्वनिभेदों के क्षेत्र में लागू कर रहे हैं इसमें क्या औचित्य है ? ( उत्तर ) पुराने आचार्यों ने मनन किया और उन्हें प्रतीत हुआ कि संकर और संसृष्टि का व्यवहार वाच्यालकारों के विषय में किया जा सकता है । इस बात का निर्णय कि किस तत्त्व का व्यवहार किस क्षेत्र मे किया जाय मनन और प्रतीति का ही कार्य है । यही मनन और प्रतीति यह बतलाती है कि संकर और संसृष्टि का व्यवहार व्यङ्ग्य अर्थों के विषय में भी हो सकता है । दोनों स्थानों पर प्रतीति का ही एकमात्र आश्रय लिया जा सकता है और वह आश्रय वाच्यालंकारों के समान व्यञ्जना के क्षेत्र में भी इनके व्यवहार के औचित्य को सिद्ध करता है ।

## लोचन

एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्करभेदांस्त्रीनुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति-यत्र तु पदानीति। कानिचिदित्यनेन सङ्करावकाशं निराकरोति। सुहृच्छब्देन साक्षिशब्देन चाविवक्षितवाच्यो ध्वनिः; 'ते' इतिपदेनासाधारणो गुणगणोऽभिव्यक्तोऽपि गुणत्वमवलम्बते, वाच्यस्यैव स्मरणस्य प्राधान्येन चारुत्वहेतुत्वात्। 'जाने' इत्यनेनोत्प्रेक्ष्यमाणानन्तधर्मव्यञ्जकेनापि वाच्यमेवोत्प्रेक्षणरूपं प्रधानीक्रियते। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि चत्वारो भेदा उदाहृताः।

इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के संकर के तीन भेदों के उदाहरण देकर संसृष्टि का उदाहरण देते हैं—'जहाँ तो पद' इत्यादि 'कुछ' इससे संकर के अवकाश का निराकरण करते हैं। 'सुहृत्' शब्द से और 'साक्षि' शब्द से अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। 'ते' इस पद के द्वारा यद्यपि असाधारण गुणगणों की अभिव्यक्ति होती है तथापि (वह गुणगण) गौणरूपता को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि यहाँ पर वाच्यस्मरण ही प्रधानरूप मे चारुता में हेतु है। 'जाने' इस शब्द के उत्प्रेक्षा किये जानेवाले अनन्तधर्म के व्यञ्जक होने पर भी उत्प्रेक्षणरूप वाच्य ही प्रधान बना दिया जाता है। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्यमे भी चारों भेदों के उदाहरण दिये गये।

## तारावती

ऊपर गुणीभूत व्यङ्ग्य के साकर्य के तीनों प्रकारों को उदाहरणों के द्वारा समझाया गया। अब गुणीभूत व्यङ्ग्य की संसृष्टि पर विचार किया जा रहा है। गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा ध्वनिभेदों की संसृष्टि वहाँ पर होती है जहाँ कुछ पद अविवक्षितवाच्य परक हों और उनसे भिन्न कुछ दूसरे पद अनुरणनरूप व्यङ्ग्यपरक हों तथा उनमे कुछ तो प्रधान होकर ध्वनि का रूप धारण करते हों और दूसरे गुणीभूतव्यङ्ग्य का। कुछ पद इस प्रकार के हों और कुछ उस प्रकार के यह कहने का अभिप्राय यह है कि ध्वनिरूपता मे परिणत होनेवाली व्यञ्जना और गुणीभूत व्यङ्ग्य का रूप धारण करनेवाली व्यञ्जना पृथक् पृथक् शब्दों से प्रतीत होने चाहिये। यदि व्यञ्जक शब्दों का पार्थक्य नहीं होगा तो एक ही शब्द से उद्भूत होकर दो पृथक् व्यञ्जनायें संकर का रूप धारण कर लेंगी संसृष्टि का उदाहरण नहीं बन पायेंगी। इसी मन्तव्य से 'कुछ' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'कुछ शब्दों' में 'कुछ' शब्द के प्रयोग से ध्वनि की सम्भावना का निराकरण हो जाता है। उदाहरण के लिये 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्। इस पद्य को लीजिये। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय उद्योत की ५ वीं कारिका मे की जा चुकी है। वहाँ पर 'लतावेश्म' को 'गोपवधुओं के विलास का मित्र' तथा 'राधा के एकान्त विहार का साक्षी' कहा गया है। मित्रता करना या सादृश्य देना,

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यापेक्षया रसवति सालङ्कारे काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम्।

(अनु०) वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्व अलक्ष्यक्रमव्यंग्य की दृष्टि से रसवान् तथा सालङ्कार काव्य मे सर्वत्र सुव्यस्थित है।

लोचन

अधुनालङ्कारगतांस्तान् दर्शयति-वाच्यालङ्कारेति। व्यङ्ग्यत्वे त्वलङ्काराणामुक्तभेदाष्टक एवान्तर्भाव इति वाच्यशब्दस्याशयः। 'काव्य' इति। एवंविधमेव हि काव्यं भवति। 'सुव्यवस्थित'मिति। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इति द्वितीयोद्योतमूलो-

अब अलंकारगत उन (भेदों) को दिखलाते हैं—'वाच्यालंकार' यह। वाच्य शब्द का आशय यह है कि व्यंग्यत्व में तो अलंकारोंका उक्त ८ भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। 'काव्य' यह। निस्सन्देह इस प्रकार का ही काव्य होता है। 'सुव्यवस्थित' यह। 'विवक्षा तत्परत्वेन' इस द्वितीयोद्योत के मूल के उदाहरणों से

तारावती

यह चेतन धर्म ही है, लतावेश्म जैसे जड तत्त्व से न तो मित्रता की ही सम्भावना की जा सकती है और न साक्ष्य ही का कार्य उनसे सम्पन्न हो सकता है। अतः सुहृद् और साक्षी शब्द बाधित हैं तथा उनसे लक्ष्यार्थ निकलता है कि उन लताओं मे गोपियों के विलास और राधा की एकान्त प्रणय लीला चला करती थी। इनसे प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ यह निकलता है कि उनमें पर्याप्त मात्रा मे स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त विहार हुआ है, इसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता है। अतः यहाँ पर अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। इसके साथ ही 'ते' 'वे' शब्द से व्यक्त होता है कि उनमें असाधारण गुणसमूह विद्यमान है। यह अभिव्यक्त असाधारण गुणसमूह गौण ही है क्योंकि इन अभिव्यक्त गुणगणों से युक्त 'ते' शब्द ही चारुता में हेतु है और वही स्मरण का बोधक है। इस प्रकार 'जाने' 'ज्ञात होता है' यह शब्द उत्प्रेक्षा या कल्पना का वाचक है। इससे अनेक उत्प्रेक्ष्य धर्मों की व्यञ्जना होती है। उन व्यङ्ग्य उत्प्रेक्ष्य धर्मों से उपस्कृत होकर 'जाने' की उत्प्रेक्षा ही चमत्कार में कारण होती है। इस प्रकार 'ते' और 'जाने' शब्दों मे व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्य ही चमत्कार में कारण है। अतएव इन शब्दों में गुणीभूत व्यङ्ग्य है। 'सुहृदां' और 'साक्षिणाम्' शब्दों में अविवक्षितवाच्य ध्वनि सिद्ध की जा चुकी है। इस ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के व्यञ्जक पृथक् पृथक् हैं। अतएव यहाँ इन दोनों की संसृष्टि है। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य में भी तीन प्रकार का सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि ये चार भेद बतलाये जा चुके और उनके उदाहरण दे दिये गये।

## : लोचन

दाहरणेभ्यः सङ्करत्रयं संसृष्टिश्च लभ्यत एव। 'चलापाङ्गां दृष्टिम्' इत्यत्र हि रूपकव्यतिरेकस्य प्राग्व्याख्यातस्य शृङ्गारानुग्राहकत्वं स्वभावोक्तेः शृङ्गारस्य चैकानुप्रवेशः। 'उप्पहजाया' इतिगाथायां पामरस्वभावोक्तिर्वा ध्वनिर्वेति प्रकरणाद्यभावे एकतरग्राहकं प्रमाणं नास्ति।

तीन प्रकारका संकर और संसृष्टि ये प्राप्त हो जाते हैं। 'चलापांगांदृष्टिं यहाँ पर रूपक और व्यतिरेक जिनकी पहले व्याख्या की जा चुकी है शृंगाररस के अनुग्राहक है, स्वाभावोक्ति और शृङ्गार का एक में अनुप्रवेश है। 'उप्पह जाया' इस गाथा मे पावर स्वभावोक्ति है या ध्वनि है? इनमें एक को ग्रहण करनेवाला प्रमाण प्रकरण इत्यादि के अभाव मे है ही नहीं।

## तारावती

अब अलङ्कारों के साङ्कर्य और संसृष्टि का प्रश्न सामने आता है। अलंकार मूलतः दो प्रकार के होते है—एक तो व्यङ्ग्य अलंकार और दूसरे वाच्य अलंकार। व्यङ्ग्य अलंकार के सांकर्य और संसृष्टि का अन्तर्भाव तो उक्त ८ भेदों मे ही हो जाता है जो कि ध्वनि के ४ और गुणीभूत व्यङ्ग्य के ४ भेद अभी तक बतलाये गये है। अब वाच्यालंकारों का प्रश्न शेष रह जाता है। जहाँ कहीं रसमयी रचना होती है और उसमें अलंकारों का भी प्रयोग किया जाता है वहाँ सर्वत्र असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य की दृष्टि से वाच्यालंकार और ध्वनि का साकर्य तो सुव्यवस्थित रूप में अधिगत हो ही जाता है। यदि सच पूछा जाय तो ठीक रूप मे काव्य की संज्ञा उसे ही प्राप्त हो सकती है जिसकी रचना का उद्देश्य रसनिष्पत्ति हो और उसमें रसप्रवण अलंकारों का चमत्कार की दृष्टि से प्रयोग किया गया हो। द्वितीय उद्योत मे बहुत विस्तार के साथ दिखलाया जा चुका है कि समीक्षा पूर्वक सन्निविष्ट किये हुये अलंकार ही रसोपकर होते हैं। वहाँ यह भी बतलाया जा चुका है कि रस के उद्देश्य से अलंकारों के निबन्धन मे किस प्रकार की समीक्षा से काम लेना चाहिये। वहाँ पर 'विवक्षातत्परत्वेन' इत्यादि कारिकाओं की व्याख्या के अवसर पर जो उदाहरण दिये गये थे उन्हीं मे वाच्यालंकार और रसध्वनि भेद के सांकर्य के उदाहरण भी सन्निविष्ट हैं और उन्हीं मे रसध्वनि तथा वाच्यालंकार की संसृष्टि भी मिल जाती है। जैसे 'चलापाङ्गा दृष्टिम्' इस उदाहरण को लीजिये। इसकी विस्तृत व्याख्या द्वितीय उद्योत की १९ वीं कारिका मे की जा चुकी है। वहाँ यह भी बतलाया गया था कि इसमे मतान्तर से रूपक से युक्त व्यतिरेक भी है। वह रूपकव्यतिरेक शृंगाररस का अनुग्राहक है। अतः रूपक व्यतिरेक और शृंगार ध्वनि का वहाँ पर अनुग्राह्यानुग्राहक भाव संकर है। उस पद्य में प्रमुख रूप में

ध्वन्यालोकः

प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वं भवत्येव। यथा ममैव—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥

इत्यत्र विरोधालङ्काराणामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम्।

(अनु०) दूसरे प्रभेदों का भी कदाचित् सङ्कीर्णत्व होता ही है। जैसे मेरा ही—

'हे समुद्रशायी भगवन्! जो रसों को आस्वादमय बनाने के लिये व्यापारवाली कवियों की कोई नवीन दृष्टि और जो परिनिष्ठित अर्थविषय का उन्मेष करनेवाली विद्वानों की दृष्टि उन दोनों का अवलम्ब लेकर निरन्तर विश्व का वर्णन करते हुये हम श्रान्त हो गये; किन्तु तुम्हारी भक्ति के समान सुख प्राप्त नहीं हुआ।'

यहाँ पर विरोधालङ्कारों का अर्थान्तर संक्रमितवाच्य नामक ध्वनि प्रभेद से सङ्कीर्णत्व है।

तारावती

स्वभावोक्ति अलंकार है। अतः स्वभावोक्ति और शृंगार रस का एकाश्रयानुप्रवेश संकर है। एक दूसरी गाथा है 'उप्पह जाआए' इसकी व्याख्या तृतीय उद्योत की ४० वीं कारिका मे की जा चुकी है। वहाँ यदि प्रकरण का ज्ञान न हो तो यह निश्चय ही नहीं किया जा सकता कि वहाँ पर पामरों के स्वभाव का कथन किया गया है या रस ध्वनि है। क्योंकि गाथा से दोनों बातें सिद्ध होती हैं। इस प्रकार इस गाथा मे रसध्वनि और वाच्यालंकार का सन्देहसंकर है।

ऊपर वाच्यालंकार और रसध्वनि के तीनों प्रकार के संकर की व्याख्या की जा चुकी। अब रसध्वनि और अलंकार की संसृष्टि पर विचार करना है। वस्तुतः जितने भी अलंकार होते हैं वे रस को अवश्य ही अनुगृहीत करते हैं तथापि कुछ अलंकार ऐसे अवश्य होते है जिनके निर्बन्धन मे कवि का मन्तव्य अलंकार निर्बन्धन ही होता है। इसीलिये तो रसपोषक अलंकारों का उपदेश देते हुये आचार्य ने कहा है कि 'अलंकार की योजना करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिस अलंकार की योजना मे कवि का ध्यान अलंकार के निर्वहण की ओर होता है वह अलंकार रसपोषक नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि कुछ अलंकार ऐसे भी होते हैं जो रसध्वनि को पुष्ट नहीं करते। ऐसे अलंकारों का रसध्वनि से संकर हो ही नहीं सकता। अतएव उनकी रसध्वनि ही होगी। जैसे उसी प्रकरण मे 'नाति-

## लोचन

यद्यप्यलङ्कारो रसमवश्यमनुगृह्णाति, तथापि 'नातिनिर्वहणैषिता' इतियदभिप्रायेणोक्तं तत्र सङ्करासम्भवात् संसृष्टिरेवालङ्कारेण रसध्वनेः। यथा 'बाहुलतिकापाशेन वद्ध्वा दृढम्' इत्यत्र। प्रभेदान्तराणामपीति। रसादिध्वनिव्यतिरिक्तानाम्। व्यापारवतीति। निष्पादनप्राणो हि रस इत्युक्तम्। तत्र विभावादियोजनात्मिका वर्णना, ततः प्रभृति घटनापर्यन्ता क्रिया व्यापारः, तेन सततयुक्ता। रसानिति। रस्यमानतासारान् स्थायिभावान् रसयितुं रस्यमानतापत्तियोग्यान् कर्तुम्। काचिदिति। लोकवार्ता-

यद्यपि अलंकार रस को अवश्य अनुगृहीत करते हैं तथापि 'अत्यन्त निर्वहण की इच्छा नहीं होनी चाहिये' यह जिस अभिप्राय से कहा गया है उसमें संकर असम्भव होने से रसध्वनि की अलंकार के साथ संसृष्टि ही होती है। जैसे 'बाहुलतिकापाश से दृढ़तापूर्वक बांधकर' इसमें। 'दूसरे प्रभेदों का भी' यह। रस इत्यादि की ध्वनि से व्यतिरिक्त। 'व्यापारवाली' यह। यह कहा गया है कि रस का प्राण निस्सन्देह निष्पादन है। उसमें विभाव इत्यादि योजनात्मक वर्णना होती है। वहाँ से लेकर घटनापर्यन्त जो क्रिया होती है उसे व्यापार कहते हैं उससे निरन्तर युक्त। 'रसों को' यह। रस्यमानता या आस्वादन करना ही जिनका सार है इस प्रकार के स्थायिभावों को रसित करने के लिये अर्थात् रस्यमानता की प्राप्ति के योग्य बनाने के लिये। 'कोई' यह। लोकवार्ता में आये हुए बोध की

## तारावती

निर्वहणैषिता' का उदाहरण दिया गया था—'कोऽतःकोमललोलबाहुलतिकापाशेन वद्ध्वा दृढम्' इत्यादि। यह बतलाया गया था कि यदि 'बाहुलतिकापाशेन' इस रूपक का निर्वाह किया जाय तो नायिका पर व्याधवधू का आरोप करना होगा। इस प्रकार का रूपक रस का पोषक नहीं होगा अपितु उसकी रसध्वनि से संसृष्टि ही होगी। इस प्रकार वाच्यालंकार की रसध्वनि से संसृष्टि और संकर के तीन भेद, इन चारों भेदों की व्याख्या की गई।

जिस प्रकार वाच्यालकार की संसृष्टि और संकर रसध्वनि के साथ होते हैं उसी प्रकार अन्य भेदों के साथ भी उनका सांकर्य हो सकता है। उदाहरण के लिये आनन्दवर्धन का ही पद्य लीजिये—इसका भाव यह है कि 'एक तो हम कवियों की किसी नवीन दृष्टि का आश्रय लेकर विश्व का निर्वर्णन करते रहे जो दृष्टि निरन्तर रसों को आस्वादमय बनाने के लिए व्यापारमयी रहती है, दूसरे हमारी दृष्टि प्रामाणिकों की दृष्टि का आश्रय लेकर निश्चित वस्तुओं के प्रकथन में दृढता से जमी रही। इन दोनों दृष्टियों का अवलम्बन लेकर हमने निरन्तर ही विश्व का निर्वर्णन किया और इस कार्य में हम श्रान्त हो गये किन्तु हे क्षीरसागरशायी भगवन्! हमने आपकी भक्ति के समान सुख कहीं भी प्राप्त नहीं कर पाया।'

लोचन

पतितबोधावस्थात्यागेनोन्मीलन्ती। अत एव ते कवयः वर्णनायोगात् तेषाम्। न वेति। क्षणे क्षणे नूतनैर्नूतनैर्वैचित्र्यैर्जगन्त्यासूत्रयन्ती। दृष्टिरिति। प्रतिभारूपा, तत्र दृष्टिश्चाक्षुषं ज्ञानं षाडवादि रसयतीति विरोधालङ्कारोऽत एव नवा। तदनुगृहीतश्च

अवस्था के त्याग के द्वारा उन्मीलित होनेवाली। अतएव वे कवि होते हैं क्योंकि उनका वर्णना से योग होता है। 'नई' यह। क्षण क्षण में नई नई विचित्रताओं से जगत् को प्रकाशित तथा गुम्फित करती हुई। 'दृष्टि' यह। अर्थात् प्रतिभारूप। उसमें दृष्टि अर्थात् चाक्षुष ज्ञान षाडव इत्यादि को रसित करती है यह विरोधालंकार है इसीलिये नई है। और ध्वनि उससे अनुगृहीत

तारावती

अब इस पद्य के शब्दों के प्रयोग पर विचार कीजिये—इसमें कवियों की दृष्टि को व्यापारवाली कहा गया है और इस व्यापार का उद्देश्य बतलाया गया है रसों को आस्वादयोग्य बनाना। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि रसों का प्राण होता है निष्पादन या निष्पत्ति। यह निष्पत्ति इसी प्रकार होती है कि पहले उसमें विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव इस रस सामग्री की संयोजना की जाती है और उस संयोजना को ही वर्णन का विषय बनाया जाता है। फिर उस वर्णन के लिये उचित शब्द और अर्थ की सङ्घटना की जाती है। इस प्रकार सङ्घटित हुये शब्द अर्थ के माध्यम से जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव से सम्वलित रसों को समर्पित किया जाता है तब ठीक रूप में रसनिष्पत्ति हो पाती है। इस रस निष्पादन की क्रिया मे कवि वाणी निरन्तर ही प्रवृत्त रहती है। यहाँ पर रस शब्द का अर्थ है स्थायीभाव। क्योंकि स्थायीभाव का सार ही उनमें रसनीयता उत्पन्न करना है। रति इत्यादि भाव जब विभावादिरहित होते हैं तब उन्हें स्थायीभाव कहते हैं और जब उनमें विभावादि के योग से आस्वादनीयता उत्पन्न हो जाती है तब उसे रस कहने लगते हैं। स्थायीभाव को आस्वादयोग्य बनाने में कवि की वाणी निरन्तर क्रियाशील रहती है। यही 'व्यापारवती' इस विशेषण का आशय है। 'कोई' 'काचित्' यह दृष्टि का दूसरा विशेषण है। इसका आशय यह है कि यह दृष्टि अभूतपूर्व तथा आश्चर्यजनक है। यह वही दृष्टि नहीं है जो कि लौकिक वस्तुओं को देखने के काम में लाई जाती है। लोक में दृष्टि के अन्दर जो वस्तु आ पड़ती है उसका बोध हो जाता है, किन्तु कवि की दृष्टि लोकवार्ता में आ पड़नेवाली बोध की व्याख्या को पीछे छोड़कर नवीन रूप में उन्मीलित होती है और उसी दृष्टि का आश्रय लेकर कवि लोग विश्व का वर्णन करते हैं। कवि शब्द का भी यही अर्थ है। 'कवि' शब्द 'कवृवर्णे' इस धातु से निष्पन्न हुआ है तथा

## लोचन

ध्वनिः, तथाहि चाक्षुषं ज्ञानं नाविवक्षितमत्यन्तमसम्भवाभावात्। न चान्यपरम्, अपि त्वर्थान्तरे ऐन्द्रियकविज्ञानाभ्यासोल्लसिते प्रतिभानलक्षणेऽर्थे सङ्क्रान्तम्। सङ्क्रमणे च विरोधोऽनुग्राहक एव। तद्वक्ष्यति—'विरोधालङ्कारेण' इत्यादिना। या चैवंविधा दृष्टिः परिनिष्ठितोऽचलः अर्थविषये निश्चेतव्ये विषये उन्मेषो यस्याः। तथा परिनिष्ठिते लोकप्रसिद्धेऽर्थे न तु कविवदपूर्वस्मिन्नर्थे उन्मेषो यस्याः सा। विपश्चितामियं, वैपश्चिती। ते अवलम्ब्येति कवीनामिति वैपश्चितीतिवचनेन नाहं कविर्न पण्डित इत्यात्मनो, नौद्धत्यं ध्वन्यते। अनात्मीयमपि दरिद्रगृह इवोपकरणतयाऽन्यत आहृतमेतन्मया दृष्टिद्वयमित्यर्थः। ते द्वे अपीति। न ह्येकया दृष्ट्या सम्यङ् निर्वर्णनं निर्वहति। विश्वमित्यशेषम्। अनिशमिति। पुनः पुनरनवरतम्। निर्वर्णयन्तो वर्णनया तथा निश्चितार्थं वर्णयन्तः इदमित्थमिति परामर्शानुमानादिना निर्भज्य निर्वर्णनं किमत्र सारं स्यादिति तिलशस्तिलशो विचयनम्।

भी होती है, वह इस प्रकार—चाक्षुष ज्ञान अविवक्षित नहीं है क्योंकि उसमें अत्यन्त असम्भव होने का अभाव है। अन्यपरक भी नहीं है, अपितु ऐन्द्रियिक विज्ञान के अभ्यास से उल्लसित प्रतिभान रूप अर्थ मे संक्रान्त हो जाता है। और संक्रमण में विरोध अनुग्राहक ही होता है। वह कहेंगे—'विरोधालंकार' इत्यादि के द्वारा। और जो इस प्रकार की दृष्टि है कि जिसका उन्मेष अर्थविषय में अर्थात् निश्चेतव्य विषय में परिनिष्ठित अर्थात् अचल है। उसी प्रकार परिनिष्ठित अर्थात् लोक प्रसिद्ध अर्थ में कवि के समान अपूर्व अर्थ मे नहीं जिसका उन्मेष है। विपश्चितों अर्थात् विद्वानों की यह (दृष्टि) वैपश्चिती कहलाती है। 'उन दोनों का सहारा लेकर' यह। कवियों की और विद्वानों की इस कथन से 'न मैं कवि हूँ न विद्वान् हूँ' इस प्रकार अपना अनाद्धत्य ध्वनित किया जाता है। अर्थात् अपना न होते हुए भी दरिद्र गृह में उपकरण के रूप मे दूसरे स्थान से यह दो दृष्टियां मैं लाया हूँ। 'उन दोनों को भी यहाँ केवल एक के द्वारा ठीक निर्वर्णन का निर्वाह नहीं होता है। विश्व का अर्थ है सम्पूर्ण। 'निरन्तर' यह। बार-बार निरन्तर। निर्वर्णन करते हुए अर्थात् वर्णना के द्वारा तथा निश्चित अर्थ का वर्णन करते हुए 'यह इस प्रकार है' यह परामर्श और अनुमान इत्यादि के द्वारा विभक्त करके निर्वचन करना, यहाँ क्या सार होगा? यह तिल-तिल करके चयन करना।

## तारावती

इसका आशय है 'लोकोत्तर रूप में वर्णन करनेवाला'। दृष्टि का तीसरा विशेषण है 'नई' 'नवा'। इसका आशय यह है कि कवि की दृष्टि प्रत्येक क्षण पर विश्व को

नये रूप में ही देखती और प्रकाशित करती है। कवि अपनी दृष्टि से प्रतिक्षण नई नई विचित्रताओं का आश्रय लेकर लोक-लोकोत्तर तत्त्व का जिस रूप में गुम्फन करता है वह सर्वथा अद्वितीय तथा लोकातिक्रान्त रूप में अवस्थित होता है। दृष्टि का आशय है प्रतिभा। कवि की दृष्टि प्रतिभारूपिणी ही होती है जिससे वह नई कल्पना करके विश्व को नये रूप मे ही दिखलाने की चेष्टा करता है। 'कवि की दृष्टि रसों को आस्वादमय बनाने में सर्वदा क्रियाशील रहती है' इस कथन में विरोधाभास अलंकार है। दृष्टि तो चाक्षुष ज्ञान को कहते हैं। दृष्टि का काम तो चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण ही है। वह सरसता सम्पादन का कार्य कर ही नहीं सकती। सरस बनाने का अर्थ तो यह है कि पाडव इत्यादि पेय अथवा दूसरे प्रकार के लेह्य चोष्य भोज्य इत्यादि पदार्थ बनाये जावें उनमें चीनी कपूर इत्यादि डालकर उनको सरस बना देना ही सरसतासम्पादन कहा जा सकता है। यह कार्य दृष्टि का हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ पर विरोध है। किन्तु जब दृष्टि का अर्थ कविप्रतिभा ले लिया जाता है और उससे लौकिक पदार्थों मे रस का सञ्चारकर कविता का रूप प्रदान करने का अर्थ किया जाता है तब विरोध जाता रहता है। अतः यह विरोधाभास अलकार है। इसी प्रकार यहाँ ध्वनि की भी व्याख्या की जा सकती है। यहाँ पर 'दृष्टि के द्वारा देखकर वर्णन करने' में दृष्टि का अर्थ सर्वथा बाधित नहीं है। क्योंकि कवि को भी तो लौकिक पदार्थों का चाक्षुष साक्षात्कार करके ही अपनी कल्पना की भित्ति खड़ी करनी पड़ती है। इस प्रकार दृष्टि को हम अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य नहीं कह सकते। कारण यह है कि यह शब्द सर्वथा अपने अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ का ही बोधक नहीं हो जाता। किन्तु यहाँ पर अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि हो जाती है। क्योंकि इस शब्द का यहाँ पर अर्थ हो जाता है ऐसी कविप्रतिभा जिसमे लौकिक विभिन्न वस्तुओं का ऐन्द्रिय विज्ञान भी सन्निविष्ट हो और उस ऐन्द्रिय ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करने के कारण प्रतिभा मे एक चमक आ गई हो। इस प्रकार दृष्टि का अर्थ यहाँ पर अत्यन्ततिरस्कृत न होकर अर्थान्तरसंक्रमित हो जाता है और इस प्रकार यहाँ पर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि हो जाती है। इस अर्थान्तरसंक्रमण मे सहयोग और सहायता उक्त विरोधा-लंकार से भी मिलती है। अतः विरोधालंकार और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का यहाँ पर अनुग्राह्यानुग्राहकभाव संकर है। यही बात मूल मे आनन्दवर्धन ने कही है। यह तो हो गई एक प्रकार की दृष्टि की बात जिसके द्वारा कवि नई नई उद्भावनायें और कल्पनायें करके विश्व को नवीन रूप मे ही प्रदर्शित करता है। अब दूसरे प्रकार की दृष्टि को लीजिये। यह दृष्टि विद्वानों की दृष्टि होती है। इसमें

## तारावती

नवीन कल्पनाओं का अवसर नहीं होता और न नये विश्व की उद्भावना ही की जाती है, किन्तु विश्व जिस प्रकार का है उसका ठीक रूप में वैसा ही उद्घाटन किया जाता है। वस्तुतः संसार रहस्यों से भरा हुआ है। यह एक जादू की पिटारी है। इसको खोलना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं। यह तो वस्तुतः विद्वानों के ही समझने और निरूपित करने की वस्तु है। अतः विद्वान् लोग जिस दृष्टि का सहारा लेकर विश्व के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं वह दूसरे प्रकार की दृष्टि होती है। यहाँ पर इस दृष्टि के लिये विशेषण दिया गया है—'परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा' इसमें बहुव्रीहि समास है और इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है—एक के अनुसार परिनिष्ठित शब्द अर्थ-विषय का विशेषण होगा। प्रथम व्युत्पत्ति यह होगी—अर्थ विषय अर्थात् निश्चेतव्य विषय का उन्मेष अर्थात् निरूपण जिसका परिनिष्ठित है अर्थात् जिसका निरूपण सर्वदा निश्चित और एकरूप ही रहता है कवियों के समान नवनवोन्मेषशाली नहीं होता। दूसरी व्युत्पत्ति यह होगी—जिसका निरूपण परिनिष्ठित अर्थविषयक ही होता है अर्थात् जो दृष्टि कल्पित संसार का निरूपण नहीं किया करती अपितु दृश्यमान जगत् जिस प्रकार का है उसी प्रकार का उसका वर्णन किया करती है। 'इन दोनों दृष्टियों का सहारा लेकर' कहने का आशय यह है कि एक दृष्टि तो कवियों की है और दूसरी विद्वानों की। हमारी दृष्टि इनमे कोई नहीं। न मैं कवि हूँ न विद्वान्। किन्तु जैसे दरिद्र के घर मे अपना कुछ भी नहीं होता; वह अवसर पड़नेपर इधर-उधर से कुछ वस्तुओं को मांगकर अपना घर सजा लेता है। उसी प्रकार कवियों और विद्वानों दोनों की दृष्टियों मे मेरी कोई अपनी दृष्टि नहीं है। मैं तो इधर-उधर से कुछ ले-लिवाकर विश्व का वर्णन करने लगा हूँ। इस कथन से अपने औद्धत्य का निराकरण हो जाता है। यहाँ पर जगत् के लिये विश्व शब्द का प्रयोग किया गया है। विश्व शब्द का एक अर्थ और है–समस्त, इस प्रकार इसका आशय यह है कि हम निरन्तर ही बार बार समस्त विश्व का वर्णन करने में लगे रहते हैं। समस्त विश्व का पूर्ण रूप से वर्णन न तो केवल काल्पनिक दृष्टि से सम्भव है और न केवल पारमार्थिक दृष्टि से। अतः हम समस्त विश्व का वर्णन दोनों दृष्टियों का आश्रय लेकर किया करते हैं। हम इस विश्व का निर्वर्णन अर्थात् निश्शेष रूप मे वर्णन किया करते हैं। निर्वर्णन में दोनों दृष्टियों की आवश्यकता होती है एक तो कविकृत वर्णना की क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि कवि शब्द की निष्पत्ति ही वर्णनार्थक 'कवृ' धातु से होती है। दूसरी दृष्टि है विद्वानों की। इस अर्थ में निर्वर्णन का अर्थ होगा निश्चितार्थ का वर्णन। यहाँ 'निः' उपसर्ग का अर्थ है निश्चित। आशय यह है

## लोचन

यच्च निर्वर्ण्यते तत्खलु मध्ये व्यापार्यमाणया मध्ये चार्थविशेषेषु निश्चितोन्मेषया निश्चलया दृष्ट्या सम्यङ्निर्वर्णितं भवति। वयमिति। मिथ्यातत्त्वदृष्ट्या हरणव्यसनिन इत्यर्थः। श्रान्ता इति। न केवलं सारं न लब्धं यावत्प्रत्युत खेदः प्राप्त इतिभावः। च शब्दस्तुशब्दस्यार्थे। अब्धिशयनेति। योगनिद्रया त्वमत एव सारस्वरूपवेदी स्वरूपावस्थित इत्यर्थः। श्रान्तस्य शयनस्थितं प्रति बहुमानो भवति। त्वद्भक्तीति। त्वमेव परमात्मस्वरूपो विश्वसारस्तस्य भक्तिः श्रद्धादिपूर्वक उपासना क्रमजस्तदावेशस्तेन तुल्यमपि न लब्धमास्तां तावत्तज्जातीयम्।

और जिसका निर्वर्णन किया जाता है वह निस्सन्देह मध्य में व्यापारित की जानेवाली और मध्य में अर्थविशेषों में निश्चित उन्मेषवाली निश्चल दृष्टि से ठीक रूप में निर्वर्णित हो जाता है। 'हम' यह। अर्थात् मिथ्या और तत्त्व दृष्टि से आहरण काव्यवसन रखनेवाले। 'श्रान्त' यह। भाव यह है न केवल सार ही प्राप्त नहीं कर पाया प्रत्युत खेद भी प्राप्त किया। यहाँ पर 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। 'अब्धिशयन' यह। अर्थात् इसलिये योगनिद्रा से तुम सारस्वरूप को जाननेवाले और अपने स्वरूप मे ही स्थित हो। थके हुये का सोये हुए के प्रति बहुमान होता है। 'तुम्हारी भक्ति' यह। तुम्हीं परमात्मस्वरूप विश्वसार हो उसकी श्रद्धापूर्वक उपासना इत्यादि के क्रम से उत्पन्न जो भक्ति उसके जो आवेश उसके तुल्य भी प्राप्त नहीं किया तज्जातीय की तो बात दूर रही।

## तारावती

कि हम कविवर्णना के अतिरिक्त निश्चितार्थ का भी वर्णन करते हैं जिसमें व्याप्तिग्रह, लिङ्गपरामर्श इत्यादि अनुमान की सारी प्रक्रिया सन्निविष्ट रहती है और हम प्रत्येक वस्तु के विभिन्न तत्त्वों को पृथक् पृथक् करके समझाते हैं कि अमुक वस्तु के बनानेवाले विभिन्न पदार्थ कौन कौन से हैं। हम यह भी दिखलाते हैं कि किसी वस्तु का सार क्या है और उसको तिलतिल करके पृथक् पृथक् कर उनको सङ्कलित करके सम्झाते हैं। ( आशय यह है कि एक ओर तो हम तर्क का आश्रय लेकर वस्तुतत्त्व की वास्तविकता का निर्वचन किया करते है और दूसरी ओर वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेकर हम किसी पदार्थ के सार, उसके पृथक् पृथक् निर्मायक तत्त्व और उन तत्त्वों से किसी वस्तु के निर्माण की प्रक्रिया को समझाया करते हैं। यह सब वैपश्चिती बुद्धि की ही क्रिया है। ) जिस वस्तु का ठीक रूप में वर्णन करना हो उसके प्रकथन करने में बीच बीच मे स्थायीभावों की रसनात्मकता के सम्पादक के व्यापार से उसमे भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और उसी बीच में विशेष अर्थों का निश्चित उन्मेष किया जाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु का

## लोचन

एवं प्रथममेव परमेश्वरभक्तिभाजः कुतूहलमात्रावलम्बितकविप्रामाणिकोभयवृत्तेः पुनरपि परमेश्वरभक्तिविश्रान्तिरेव युक्तेति मन्वानस्येयमुक्तिः सकलप्रमाणपरिनिश्चित-

इस प्रकार पहले ही परमेश्वर की भक्ति से युक्त तथा कुतूहल मात्र से कवि तथा प्रामाणिक दोनों की वृत्ति का अवलम्ब लेनेवाले फिर भी परमेश्वर की भक्ति में विश्रान्ति ही उचित है ऐसा माननेवाले की यह उक्ति है। समस्त प्रमाणों से

## तारावती

ठीक-ठीक निर्वचन हो सकता है। 'हम' 'वयम्' इस कर्ताकारक से व्यक्त होता है कि हमारा यह व्यसन ही है कि कभी मिथ्या ( काल्पनिक ) दृष्टि से और कभी तत्त्व दृष्टि से इधर-उधर का कुछ खींच-खांच कर विश्व का वर्णन करते रहें। किन्तु इस व्यसन से हमें लाभ क्या हुआ ? विवेचन करते करते थक गये कि हमें इस विश्व का सार प्राप्त ही न हो सका। केवल इतना ही नहीं कि हमें इसका सार नहीं मिला; अपितु हमारी बहुत बड़ी हानि यह हुई कि हमें अत्यधिक कष्टों का सामना करना पड़ा। हे भगवान् आप क्षीरसागर में सोनेवाले हैं और हम थके हुये हैं। जो व्यक्ति थक जाता है वह ऐसे व्यक्ति का ही तो सम्मान करता है जो सो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर हे अब्धिशयन ! यह सम्बोधन साभिप्राय है। इस सम्बोधन का दूसरा प्रयोजन यह है कि हम प्रत्येक प्रकार से विश्व का सार ग्रहण करना चाहते हैं; किन्तु हमें कहीं सार के दर्शन होते ही नहीं। किन्तु उस सार का आकर तो हे भगवान् आप ही हैं। आपका यह शयन योगनिद्रा का परिचायक है। योगमाया का आश्रय लेकर आप शयन करते हैं और योगमाया के आश्रय से ही एकमात्र आप ही संसार के सार को भलीभाँति जानते हैं तथा अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। केवल आप ही परमात्मस्वरूप हैं; विश्व का सार हैं। आपकी उपासना जब श्रद्धापूर्वक की जाता है तब उसी क्रम से हमारे अन्दर भक्ति उत्पन्न हो जाती है और भगवद्विषयक प्रेमाधिक्य जब हमारे अन्तःकरणों में सञ्चरित हो जाता है तथा हमारे अन्तःकरण की वृत्तियाँ जब भगवदाकार रूप में ही परिणत हो जाती हैं उस समय हमें जितना सुख प्राप्त होता है उस सुख के तुल्य भी सुख हमें समस्त विश्व के निर्वचन में प्राप्त नहीं होता; यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि हमें तज्जातीय सुख विश्व मे नहीं मिलता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सिद्ध होता है कि यह कथन किसी ऐसे व्यक्ति का है जो पहले से ही परब्रह्म परमात्मा की भक्ति से ओतप्रोत रहा है; वह कवि भी बना है और प्रामाणिक भी। किन्तु ये दोनों वृत्तियाँ उसने केवल अपनी कौतूहलवृत्ति शान्त करने के लिये ही स्वीकार की हैं। सब कुछ कर चुकने

## लोचन

दृष्टादृष्टविषयविशेषजं यत्सुखं, यदपि च लोकोत्तरं रसचर्वणात्मकं तत उभयतोऽपि परमेश्वरविश्रान्त्यानन्दः प्रकृष्यते। तदानन्दविप्रुण्मात्रावभासो हि रसास्वाद इत्युक्तं प्रागस्माभिः। लौकिकं तु सुखं ततोऽपि निकृष्टप्रायं बहुतरदुःखानुषङ्गादितितात्पर्यम्। तत्रैव दृष्टिशब्दा पेक्षयैकपदानुप्रवेशः। दृष्टिमवलम्ब्य निर्वर्णनमितिविरोधालङ्कारो वाश्रीयताम्, अन्धपदन्यायेन दृष्टिशब्दोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो वास्तु इत्येकतरनिश्चये नास्ति प्रमाणम्। प्रकारद्वयेनापि हृद्यत्वात्। न च पूर्वत्राप्येवं वाच्यम्। न वा शब्देन शब्दशक्त्यनुरणनतया विरोधस्य सर्वथावलम्बनात्।

परिनिश्चित दृष्ट और अदृष्ट विषय की विशेषता से उत्पन्न जो रसचर्वणात्मक लोकोत्तर सुख उन दोनों से परमेश्वरविश्रान्ति का आनन्द प्रकृष्ट हो जाता है। हमने यह पहले ही कहा था कि उस आनन्द के विन्दुमात्र का अवभास ही रसास्वाद है। लौकिक सुख तो उससे भी निकृष्टप्राय है क्योंकि उसमे बहुत से दुःखों का अनुषङ्ग हो जाता है यह तात्पर्य है। वहीं पर दृष्टि शब्द की अपेक्षा से एक पदानुप्रवेश हो जाता है। अथवा दृष्टि का आश्रय लेकर निर्वर्णन करने में विरोधालंकार का आश्रय ले लिया जाय। अथवा अन्धशब्दन्याय से दृष्टिशब्द अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य हो जाय इसमें एक के निश्चय में प्रमाण नहीं है। क्योंकि दोनों प्रकारों से हृद्यता आ जाती है। यह नहीं कहा जा सकता कि पहले भी ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर नवा शब्दशक्तिमूलक अनुरणन होनेके कारण वहाँ विरोध का सर्वथा आलम्बन लिया जाता है।

## तारावती

के बाद उसे ज्ञात हो गया है कि संसार में सार नहीं है। यदि कहीं सार है तो वह परमात्मा में। मनुष्य की अन्तरात्मा को विश्राम केवल परमात्मा में ही मिलता है। अतः मनुष्य के लिये विधेय भगवद्भक्ति ही है। यह मानकर ही प्रस्तुत कथन किया गया है। इसका सारांश यही है कि समस्त प्रमाणों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विश्व की विशेषताओं का जितना भी निश्चय किया जाता है और उससे जो भी सुख मिलता है अथवा रसचर्वणाजन्य जितना भी लोकोत्तर सुख मिलता है वह समस्त सुख मिलकर भी परमेश्वरानन्द के समकक्ष नहीं हो सकता, परब्रह्मानन्द इन दोनों प्रकार के सुखों से अत्यधिक प्रकृष्ट होता है। यह तो हम पहले ही बतला चुके कि ब्रह्मानन्द का जो विन्दुमात्र अवभास या प्रतीति है वही रसास्वाद है। जब रसास्वाद की यह दशा है तब लौकिक आनन्द का तो कहना ही क्या! लौकिक आनन्द तो रसास्वाद की अपेक्षा भी निम्नातिनिम्न कोटि का होता है। क्योंकि रसास्वाद आनन्दचिन्मय होता है और लौकिक आनन्द में अनेक दुःखों

ध्वन्यालोकः

वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित् पदानि वाच्यालङ्कारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेदयुक्तानि।

(अनु०) और वाच्यालङ्कार संसृष्टत्व पद की अपेक्षा ही होता है। जहाँ निस्सन्देह कुछ पद वाच्यालङ्कार से युक्त होते हैं और कुछ ध्वनिप्रभेद से युक्त।

लोचन

एवं सङ्करं त्रिविधमुदाहृत्य संसृष्टिमुदाहरति—वाच्येति। सकलवाक्ये हि यद्यलङ्कारोऽपि व्यङ्ग्यार्थोऽपि प्रधानं तदानुग्राह्यानुग्राहकत्वसङ्करस्तदभावे त्वसङ्गतिरित्यलङ्कारेण वा ध्वनिना वा पर्यायेण द्वाभ्यामपि वा युगपत्पदविश्रान्ताभ्यां भाव्यमिति त्रयो भेदाः। एतद्गर्भीकृत्य सावधारणमाह—पदापेक्षयैवेति। यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावं

इस प्रकार तीन प्रकार के सङ्कर का उदाहरण देकर संसृष्टि का उदाहरण दे रहे हैं—'वाच्य' यह। यदि समस्त वाक्य में अलङ्कार भी और व्यङ्ग्यार्थ भी प्रधान हो तो अनुग्राह्यानुग्राहकत्व सङ्कर होता है। उसके अभाव मे तो असङ्गति ही हो जायेगी, अतः पर्याय से अलङ्कार को अथवा ध्वनि को अथवा दोनों को एक साथ पदविश्रान्त होना चाहिये। इस प्रकार तीन भेद होते है। इसको गर्भित करके अवधारण के साथ कह रहे हैं—'पद की अपेक्षा से' यह। जहाँ अनु-

तारावती

का संसर्ग रहता है। अब इसमें तीनों प्रकार के सङ्कर को समझ लीजिये-पहले दृष्टि से रससञ्चार मे विरोधाभास और दृष्टि शब्द में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की व्याख्या की जा चुकी है और इनका अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर भी बतलाया जा चुका है। इस दृष्टि शब्द में ही एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर भी बतलाया जा सकता है। अब निश्चित वर्णनपरक दृष्टि शब्द को लीजिये। क्या यहाँ विरोधाभास अलङ्कार माना जाय या जैसे—'निश्वासान्ध इवादर्शः' मे अन्ध शब्द की भाँति अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य माना जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी दृष्टि शब्द अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य माना जाय? विरोधाभास और तिरस्कृतवाच्य में किसको माना जाय इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि दोनों ही प्रकारों के मानने मे चमत्कार की समान प्रतीति होती है और दोनों ही प्रकार हृद्य तथा आनन्ददायक हैं। इस प्रकार इस दूसरे दृष्टि शब्द मे सन्देह सङ्कर है। इस प्रकार इस एक ही पद्य मे सङ्कर के तीनों प्रकार मिल जाते हैं। प्रथम कविसम्बन्धिनी दृष्टि में अनुग्राह्यानुग्राहकभाव और एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर तथा वैपश्चिती दृष्टि में सन्देह सङ्कर। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि कविसम्बन्धिनी दृष्टि में भी सन्देह सङ्कर क्यों नहीं माना जाता? इसका उत्तर यह है कि पहले दृष्टि शब्द के लिए 'नई' 'नवा' यह विशेषण दिया

## लोचन

प्रत्याशङ्कापि नावतरति तं तृतीयमेव प्रकारमुदाहर्तुमुपक्रमते—यत्र हीति। यस्माद्यत्र-कानिचिदलङ्कारभाञ्जि कानिचिद्ध्वनियुक्तानि, यथा दीर्घीकुर्वन्नित्यत्रेति। तथा विधपदापेक्षयैव वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वमित्यावृत्त्या पूर्वग्रन्थेन सम्बन्धः कर्तव्यः। अत्र हीति। अत्र्यो हिशब्दो मैत्रीपदमित्यस्यानन्तरं योज्य इतिग्रन्थसङ्गतिः।

ग्राह्यानुग्राहक भाव के प्रति आशङ्का भी अवतीर्ण नहीं होती उस तृतीय प्रकार का उदाहरण देने के लिये ही उपक्रम करते हैं—'जहाँ निस्सन्देह' यह। क्योंकि जहाँ कुछ पद अलङ्कार से युक्त और कुछ ध्वनि से युक्त होते हैं जैसे 'दीर्घीकुर्वन्' इत्यादि में। उस प्रकार के पद की अपेक्षा से ही वाच्यालङ्कार संसृष्टत्व होता है इस प्रकार आवृत्ति से पूर्व ग्रन्थ से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। 'यहाँ निस्सन्देह' यह। यहाँ का 'निस्सन्देह' 'हि' शब्द 'मैत्री पद' इसके बाद जोड़ा जाना चाहिये यह ग्रन्थ की सङ्गति है।

## तारावती

गया था। अतः इस 'नई' शब्द की व्याख्या करने के लिए शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप व्यङ्ग्य विरोधालङ्कार का आश्रय लेना ही पड़ेगा। ऐसी दशा में एक ओर निर्णय का हेतु अधिगत हो जाने से वहाँ पर सन्देह सङ्कर का अवसर ही नहीं रहा।

ऊपर सङ्कर के तीनों भेदों के उदाहरण दे दिये गये। अब यह दिखलाया जायेगा कि वाच्यालङ्कार की ध्वनि से संसृष्टि किस प्रकार होती है? इसका एक वाक्य में उत्तर यह है कि वाच्यालङ्कार की ध्वनि से संसृष्टि भी पद को दृष्टिकोण में रखकर ही होती है। सम्पूर्ण वाक्य में नहीं। क्योंकि यदि सम्पूर्ण वाक्य से ही किसी अलङ्कार की प्रतीति होगी और इसी से व्यङ्ग्यार्थ की भी प्रतीति होगी तो उनमें अनुग्राह्यानुग्राहक भाव साङ्कर्य अनिवार्य रूप से आ जायेगा। आशय यह है कि अलङ्कारों को अलङ्काररूपता तभी प्राप्त होती है जब वे अलङ्करण करें, अलङ्कार रस को ही अलङ्कार करते हैं। अतः जब समासोक्ति इत्यादि अलङ्कार सम्पूर्ण वाक्य से अवगत होते हैं और रसध्वनि भी सम्पूर्ण वाक्य से ही होती है तब उनका अनुग्राह्यानुग्राहक भाव हो जाना स्वाभाविक ही है। यदि उनमें अनुग्राह्यानुग्राहक भाव न माना जाय तो उनका अलङ्कार होना ही असङ्गत हो जायेगा। अतः यह निश्चय ही है कि अलङ्कार तथा ध्वनि की संसृष्टि वहीं पर हो सकती है जहाँ अलङ्कार पद के आश्रित हो। (यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पदबोध्य अलङ्कार रसोपकारक तो होता ही है। अन्यथा उसमें अलङ्कारता ही नहीं आती। किन्तु केवल रसध्वनि ही तो नहीं होती। दूसरी ध्वनियाँ भी तो होती हैं। पदाश्रित अलङ्कार

ध्वन्यालोकः

यथा—

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां,
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,
क्षिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥

अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षितवाच्यो ध्वनिः। पदान्तरेष्वलङ्कारान्तराणि।

(अनु०) जैसे—

'सारसों के रमणीय तथा मद के कारण मधुर कूजन को निपुणतापूर्वक दीर्घ करते हुये, प्रातःकालों मे खिले हुये कमलों की सुगन्धिसे मैत्री के कारण सुगन्धित, अङ्ग के अनुकूल सिप्रा का वायु प्रार्थनाचाटुकार प्रियतम के समान जहाँ स्त्रियों की सुरतग्लानि को दूर करता है।'

यहाँ मैत्री शब्द अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। दूसरे पदों में दूसरे अलङ्कार हैं।

तारावती

उन्हीं रसातिरिक्त ध्वनियों के साथ संसृष्टि को प्राप्त होता है। इस संसृष्टि की तीन अवस्थायें सम्भव हैं—या तो अलङ्कार पदविश्रान्त हो या ध्वनि ही पदविश्रान्त हो अथवा दोनों एक साथ पदविश्रान्त हों। यही समझकर 'येव' शब्द का प्रयोग किया गया है, 'एव' शब्द का यहाँ पर अर्थ है अवधारण अर्थात् केवल पद की दृष्टि से ही संसृष्टि हो सकती है वाक्य की दृष्टि से नहीं। जहाँ पदाश्रित अलङ्कार मे पर्यवसान होता है अथवा वहाँ यह भी शका हो सकती है कि अलंकार और ध्वनि का कोई न कोई संकर हो। अतः यहाँ पर तृतीय प्रकार का ही उदाहरण दिया जा रहा है जहाँ ध्वनि और अलङ्कार दोनों की एक साथ पृथक् रूप मे विश्रान्ति होती है। इस प्रकार की स्थिति में अनुग्राह्यानुग्राहक भाव या दूसरे प्रकार के सङ्कर की सम्भावना ही नहीं रहती। क्योंकि इसमें कुछ पद अलङ्कार से युक्त होते हैं और कुछ पद ध्वनि से युक्त होते हैं। यहाँ पर यह एक वाक्य है—'जहाँ निस्सन्देह कुछ पद वाच्यालङ्कारवाले होते हैं और कुछ ध्वनि के किसी प्रभेद से युक्त, यह वाक्य अधूरा मालूम पड़ता है। अतः इसकी सङ्गति बैठाने के लिए इसका सम्बन्ध पूर्ववाक्य से कर देना चाहिये कि 'वहाँ उस प्रकार के पद की दृष्टि से ही वाच्यालङ्कार संसृष्टत्व होता है।' इस वाच्यालङ्कार ससृष्टत्व का उदाहरण दिया गया है 'दीर्घीकुर्वन्' इत्यादि मेघदूत का पद्य और लक्षण से इसकी सङ्गति करने के लिये पद्य के बाद आलोककार ने लिखा है—'अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षितवाच्यो ध्वनिः।' 'यहाँ निरसन्देह मैत्रीपद अविवक्षित वाच्य-

लोचन

दीर्घीकुर्वन्निति। सिप्रावातेन हि दूरमप्यसौ शब्दो नीयते तथा सुकुमारपवनस्पर्शजातहर्षाः चिरं कूजन्ति, तत्कूजितं च वातान्दोलितसिप्रातरङ्गजमधुरशब्दमिश्रं भवतीति दार्घत्वम्। पटुरिति। तथासौ सुकुमारो वायुर्येन तज्जः शब्दः सारसकूजितमपि नाभिभवति प्रत्युत तत्सब्रह्मचारी तदेव दीपयति। न च दीपनं तदीयमनुपयोगि यतस्तन्मदेन कलं मधुरमाकर्णनीयम्। प्रत्यूषेष्विति। प्रभातस्य तथाविधसेवावसरत्वम्। बहुवचनं सदैव तत्रैषा हृद्यतेति निरूपयति। स्फुटितान्यन्तर्वर्तमानमकरन्दभरेण। तथा स्फुटितानि नयनहारीणि यानि कमलानि तेषां य आमोदस्तेन या मैत्री अभ्यासाङ्गाविवियोगपरस्परानुकूल्यलाभस्तेन कषाय उपरक्तो मकरन्देन च कषायवर्णीकृतः।

'दीर्घ करते हुये' यह। सिप्रावात के द्वारा निस्सन्देह यह शब्द दूर ले जाया जाता है। उसी प्रकार सुकुमार पवन के स्पर्श से उत्पन्न हर्षवाले बहुत समय तक कूजते रहते है, उनका कूजन वायु से आन्दोलित सिप्रातरङ्गों से उत्पन्न मधुर शब्द से मिला हुआ हो जाता है यह दीर्घत्व है। 'पटु' यह। वह वायु इतना सुकुमार है कि उससे उत्पन्न शब्द सारसों के कूजन को भी नहीं दबा पाता प्रत्युत उसका सहचर बन कर उसी का दीपन करता है। उसका दीपन अनुपयोगी तो नहीं ही है क्योंकि वह मद के कारण कल अर्थात् मधुर और आकर्णनीय है। 'प्रभातों में' यह। प्रभात का ही उस प्रकार की सेवा का अवसर है। बहुवचन यह निरूपित करता है कि यह हृद्यता वहाँ सर्वदा रहती है। स्फुटित अर्थात् अन्दर विद्यमान मकरन्द के भार के द्वारा। तथा स्फुटित अर्थात् विकसित नेत्रों को हरनेवाले जो कमल उनका जो आमोद उससे जो मैत्री अर्थात् संश्लेष के अवियोग से परस्पर अनुकूलता का लाभ उससे कषाय वर्ण का बनाया हुआ।

तारावती

ध्वनि है।' इस पर लोचनकार ने लिखा है कि इस वाक्य का 'ही' 'निस्सन्देह' शब्द 'मैत्रीपदम्' के बाद जोड़ा जाना चाहिये। इससे यह वाक्य बन जाता है—'यहाँ मैत्रीपद निस्सन्देह अविवक्षितवाच्य ध्वनि है।'

अब उदाहरण को लीजिये—यक्ष मेघ को अपने घर का मार्ग बतलाते हुए विशाला नगरी का परिचय देने लगता है। वह कहता है कि 'यह विशाला नगरी सिप्रा नदी के तट पर बसी हुई है। यहाँ सिप्रा के जल के सम्पर्क से शीतल होकर जो वायु चलता है वह सारसों के सुमधुर तथा आकर्षक कूजन को और अधिक बढ़ा देता है। प्रातःकाल जब कमल खिल जाते है तब उनकी सुगन्धि को लेकर जो वायु बहता है वह अत्यन्त सुगन्धित हो जाता है। वह वायु शरीर के अनुकूल होता है और जिस प्रकार कोई चाटुकार प्रियतम प्रातःकाल अपनी प्रियतमाओं की सुरतजन्य श्रान्ति को दूर किया करता है उसी प्रकार वह सिप्रा का वायु भी इस

## लोचन

स्त्रीणामिति । सर्वस्य तथाविधस्य त्रैलोक्यसारभूतस्य य एवं करोति सुरतकृतां ग्लानिं तान्ति हरति, अथ च तद्विषयां ग्लानिं पुनः सम्भोगाभिलाषोद्दीपनेन हरति । न च प्रसह्य प्रभुतयापि त्वङ्गानुकूलो ह्यस्पर्शः हृदयान्तर्भूतश्च । प्रियतमे तद्विषये प्रार्थनार्थं चाटूनि कारयति । प्रियतमोऽपि तत्पवनस्पर्श-प्रबुद्धसम्भोगाभिलाषः । प्रार्थनार्थं चाटूनि करोतीति तेन तथा कार्यत इति परस्परानुरागप्राणशृङ्गारसर्वस्वभूतोऽसौ पवनः । युक्तं चैतत्तस्य यतः सिप्रापरिचितोऽसौ वात इति नागरिको न त्वविदग्धो ग्राम्यप्राय इत्यर्थः । प्रियतमोऽपि रतान्तेऽङ्गानुकूलः संवाहनादिना प्रार्थनार्थं चाटुकार एवमेव सुरतग्लानिं हरति । कूजितं चानङ्गीकरणवचनादिमधुरध्वनितं दीर्घीकरोति । चाटुकरणावसरे च स्फुटितं

'स्त्रियों का' यह। उस प्रकार के त्रैलोक्यसारभूत सभी का जो यह करता है—सुरत से उत्पन्न हुई ग्लानि को हरता है और तद्विषयक ग्लानि को पुनः सम्भोग की अभिलाषा के उद्दीपन के द्वारा हरता है । बलात् प्रभुता से नहीं अपितु अङ्गानुकूल अर्थात् प्रियतम के विषय मे प्रार्थना के लिए चाटुकारिता कराता है । प्रियतम भी उस पवन के स्पर्श से प्रबुद्ध सम्भोग की अभिलाषावाला हो जाता है । प्रार्थना के लिये चाटुकारिता करता है और उससे वैसा कराता है । इस प्रकार यह पवन ऐसे शृङ्गार का सर्वस्वभूत है जिसका प्राण परस्परानुराग ही होता है । यह उसके लिये उचित ही है क्योंकि यह वायु सिप्रा से परिचित है अतः नागरिक है एक गवार के समान अविदग्ध नहीं है । प्रियतम भी सुरत के अन्त मे अङ्गों के अनुकूल अर्थात् सवाहन इत्यादि के द्वारा प्रार्थना के चाटुकार होकर इस प्रकार सुरत ग्लानि का हरता है । कूजित अर्थात् अस्वीकृति के वचन इत्यादि अर्थात् मधुरध्वनि को और अधिक बढ़ाता है । और चाटुकरण के

## तारावती

नगरी की स्त्रियों के शरीर की सुरतजन्य थकावट को दूर किया करता है ।' यह है कालिदास के पद्य का सारांश । अब इस पद्य के शब्दप्रयोग पर ध्यान दीजिये । वायु के लिये कहा गया है कि वह सारसों के कूजन को और अधिक 'दीर्घ' कर देता है । इस दीर्घ करने मे कई एक व्यञ्जनायें निकल सकती हैं—सिप्रा का वायु सारसों के कूजन को दूर ले जाता है जिससे सारसों का कूजन एक स्थान पर उद्भूत होकर दीर्घदेशव्यापी हो आता है । दूसरी बात यह है कि जब यह शीतल मन्द सुगन्धित वायु के संस्पर्श से सारसों मे आनन्द का अतिरेक उत्पन्न हो जाता है जिससे सारस बड़ी देर तक सुमधुर स्वर में कूजन करते रहते है । तीसरी बात यह है वायु सिप्रा की तरङ्गों को धारे धीरे आन्दोलित करता है जिससे सिप्रा की तरङ्गों

## लोचन

विकसितं यत्कमलकान्तिधारि वदनं तस्य यामोदमैत्री सहजसौरभपरिचयस्तेन कषाय उपरक्तो भवति । अङ्गेषु चातुष्पष्टिकप्रयोगेष्वनुकूलः । एवं शब्दरूपगन्धस्पर्शा यत्र हृद्या यत्र च पवनोऽपि तथा नागरिकः स तवावश्यमभिगन्तव्योपदेश इति मेघदूते मेघं प्रति कामिन उक्तिः । उदाहरणे लक्षणं योजयति—मैत्रीपदमिति । हि शब्दोऽनन्तरं पठितव्य इत्युक्तमेव । अलङ्कारान्तराणीति । उत्प्रेक्षा स्वभावोक्तिरूपकोपमाः क्रमेणेत्यर्थः ।

अवसर पर स्फुटित अर्थात् विकसित जो कमल की कान्ति को धारण करनेवाला मुख उसकी जो सुगन्धि की मैत्री अर्थात् स्वाभाविक सुगन्धि से परिचय उससे कषाय अर्थात् उपरक्त हो जाता है । अङ्गों में अर्थात् चतुष्पष्टिक प्रयोगों में अनुकूल होता है । इस प्रकार शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्श जहाँ हृद्य हैं और जहाँ पवन भी नागरिक है वह देश तुम्हारे लिये अवश्य ही अभिगन्तव्य है यह मेघदूत में मेघ के प्रति कामी की उक्ति है । उदाहरण मे लक्षण को योजित करते हैं—'मैत्रीपद' यह । 'हि' शब्द बाद में पढ़ा जाना चाहिये यह कहा ही गया है । 'दूसरे अलङ्कार' यह । अर्थात् उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, रूपक और उपमा क्रमशः ।

## तारावती

में एक मनोहर शब्द होने लगता है । उस शब्द से मिलकर सारसों का कूजन अधिकाधिक दीर्घ हो जाता है । 'दीर्घ करते हुये' का विशेषण दिया गया है 'कुशलता पूर्वक' ( पटु ) । यह क्रियाविशेषण है । कुशलतापूर्वक कहने का आशय यह है कि यह वायु इतना सुकुमार है कि इसके शब्द से सारस का मन्द स्वर भी दब नहीं पाता । अपितु जैसे कोई साथ में पढ़नेवाला साथी ब्रह्मचारी 'अपने दूसरे सहचर के अध्ययन में सहायता पहुँचाता है वैसे ही यह वायु भी एक अच्छे सहचर के समान सारसकूजन को प्रदीप्त ही करता है । यह प्रदीप्त करना व्यर्थ ही नहीं है अपितु इसका बहुत बड़ा उपयोग यह है कि कोमल वायु के कारण सारस मदमस्त हो जाते हैं और उससे उनके स्वर में एक स्वाभाविक माधुर्य आ जाता है । इससे वह कूजन मनोहर आकर्षक और सुनने योग्य हो जाता है । 'प्रभातों में' यह शब्द भी साभिप्राय है । कारण यह है कि अपनी प्रियतमाओं की सहवास की थकावट को दूर करने का सबसे अच्छा अवसर तो प्रभात ही होता है । इसमें बहुवचन का अभिप्राय यह है कि इस विशाला नगरी में कोई एक प्रभात ही ऐसा नहीं होता कि उसमे हृद्यता आ जाती है । अपितु यहाँ सदैव सभी प्रभात ऐसे ही हृद्य होते हैं । 'स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः' स्फुटित का अर्थ है फूटा हुआ ।

## तारावती

जब कोई वस्तु अत्यधिक मात्रा में भर दी जाती है और वह समाती नहीं है तब पात्र फूट पड़ता है। विशाला के कमलों में पुष्पों का रस मकरन्द इतनी अधिक मात्रा में भरा रहता है कि उनके भार से कमल फूट पड़ते हैं। स्फुटित का दूसरा अर्थ है खिले हुये। मकरन्द भार से दब करके ही कमल एकदम खिल उठते हैं। (यहाँ पर विकसित के लिये स्फुटित शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे व्यञ्जना निकलती है कि कमल मकरन्द भार के आधिक्य से फूट कर खिलते हैं।) अतएव वे कमल इतने सुन्दर होते हैं कि दर्शकों के नेत्र एकदम उनकी ओर खिच जाते हैं। इन कमलों में मस्तिष्क को तृप्त कर देनेवाला अनुपम गन्ध विद्यमान रहता है जिस से सिप्रा के वायु की स्थायी मैत्री है। जिस प्रकार दो निकटवर्ती मित्र कभी एक दूसरे से अलग नहीं रहना चाहते उसी प्रकार विशाला में सिप्रा का वायु भी मकरन्द के अतिनिकट सम्पर्क से रहित नहीं रहता। यह वायु निरन्तर कमलों के आमोद से संपृक्त रहने के कारण सर्वदा उसके अनुकूल ही रहता है और उससे कषाय अर्थात् उपरक्त हो जाता है। दार्शनिक भाषा में कषाय चित्त के उपरञ्जक भावों को कहते हैं। मित्र का चित्त अपने मित्र के प्रति सदा उपरक्त रहता है। उसी प्रकार यह वायु खिले हुए कमलों की सुगन्धि से सर्वदा उपरक्त रहता है। कषाय का दूसरा अर्थ है लाल पीला मिला हुआ एक विशेष प्रकार का वर्ण। सिप्रा का वायु मकरन्द के मिश्रण से उसी वर्ण का हो जाता है। 'स्त्रियों की' यहाँ स्त्री शब्द में बहुवचन का प्रयोग विशेष मन्तव्य से किया गया है। एक तो स्त्रियाँ स्वतः तीनों लोकों का सारभूत तत्त्व हैं। उनसे अधिक रमणीय वस्तु जगतीतल पर कोई अन्य है ही नहीं। फिर यह वायु केवल किसी एक विशेष स्त्री की सुरतग्लानि को ही दूर नहीं करता अपितु सभी स्त्रियों की सुरतग्लानि को दूर करता है। सुरत-ग्लानि के दूर करने के भी दो अर्थ हैं—एक तो स्त्रियों मे रात्रि में सहवासजन्य थकावट के कारण जो मालिन्य आ जाता है यह ताजा वायु उन स्त्रियों के शरीर का स्पर्श कर उस थकावट को दूर कर देता है। दूसरा अर्थ यह है कि जब स्त्रियों में सम्भोग की कामना उद्दीप्त हो उठती है तब उनमें एक अवसाद तथा मुखमालिन्य उत्पन्न हो जाता है। यह वायु उन रमणियों के प्रियतमों में एक हर्ष तथा सम्भोगाभिलाष उत्पन्नकर उन रमणियों की सुरताकाक्षाजन्य मलिनता को दूर करता है है। किन्तु प्रश्न यह है कि वायु उस मलिनता को दूर किस प्रकार करता है? क्या प्रभुओं के समान आदेश देकर बलात् उनके अन्दर से उस ग्लानि को दूर करता है? उत्तर है नहीं। वह अङ्गानुकूल बनकर उनकी उस ग्लानि का अपाकरण करता है। इस अङ्गानुकूल शब्द के भी दो अर्थ हैं। एक तो अङ्गों में स्पर्श करने में सुख देता

तारावती

है, दूसरे यह हृदय के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् इसके प्रति हृदय में एक अनुराग उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार यह वायु बलात् नहीं अपितु प्रेमपूर्वक हृदय में प्रवेशकर तथा अङ्गों में सुखकर स्पर्श करके सुरतग्लानि को दूर करता है। 'प्रियतम इव' शब्द की सन्धि दो प्रकार से तोड़ी जा सकती है। 'प्रियतम+इव' और 'प्रियतमः+इव'। प्रथम सन्धिविच्छेद में प्रियतम शब्द विषयसम्बन्ध है। अतः इसका अर्थ यह होगा कि स्त्रियों के हृदय में प्रियतमविषयक सम्भोग की अभिलाषा का उत्पादन करने के लिए यह पवन चाटुकारिता करता है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ होगा कि प्रियतम के हृदय में भी उस पवन के स्पर्श से सम्भोग की अभिलाषा प्रबुद्ध हो जाती है और प्रियतम स्त्रियों में सहवास की आकांक्षा उत्पन्न करने के लिए चाटुकारिता करने लगता है। प्रियतम को चाटुकारिता करने में प्रेरणा वायु से प्राप्त होती है। अतः वायु प्रियतमों से स्त्रियों की चाटुकारिता कराता है। इस अर्थ में 'प्रार्थनाचाटुकारः' में प्रेरणार्थक णिच् होकर उससे घञ् प्रत्यय होता है। प्रियतम चाटुकारिता करता है। वायु उसे प्रेरित करता है इस प्रकार वायु प्रियतमों से स्त्रियों की चाटुकारिता कराता है। उधर दूसरे अर्थ में वायु स्त्रियों के हृदय में स्वयं सम्भोग की प्रार्थना का भाव जागृत कर देता है। इस प्रकार वायु शृङ्गाररस का सर्वस्व है। क्योंकि शृङ्गार रस का प्राण ही यह है कि दोनों में एक दूसरे के प्रति अनुराग की भावना जागृत हो और उक्त व्याख्या में यह बतलाया ही जा चुका है कि वायु दोनों में अभिलाषा को जागृत करता है। और यह बात ठीक भी है कि वायु में यह गुण विद्यमान हो क्योंकि वायु कोई देहाती गँवार तो है नहीं वह तो एक अच्छे नागरिक के समान है। अतः उसमें यह निपुणता होनी ही चाहिये कि वह दोनों के हृदयों में प्रेम-भावना जागृत करे। यह बात सिप्रावात शब्द से अभिव्यक्त होती है। यह वायु सिप्रा से परिचित है जो कि विशाला जैसी नगरी के पास होकर बहती है। अतः यह विशाला के व्यवहार को भलीभाँति जानता है, नागरिक है और नागरिकों का जैसा व्यवहार करना है।

ऊपर इस पद्य की पवनसम्बन्धी व्याख्या की गई है। इसी प्रकार यह पद्य प्रियतम के विषय में घटाया जा सकता है। प्रियतम भी जो सुरत के बाद में अङ्गानुकूल होकर अर्थात् अङ्गों को दबा दबाकर इसी प्रकार तो सुरत की ग्लानि को दूर किया करता है जिससे उसकी प्रियतमा में सुरत के लिये प्रार्थना उत्पन्न हो जावे। अतः वह भी अङ्गों के संवाहन इत्यादि से चाटुकारिता करता है। जिस प्रकार वायु सारसों के कूजन को दीर्घ करता है उसी प्रकार प्रियतम भी स्त्रियों के कूजन अर्थात् सुरत को अस्वीकार करने के मधुर स्वर

को अधिकाधिक बढ़ाता जाता है। प्रियतम प्रार्थना करता है और स्त्रियाँ इन्कार करती जाती है जिसमें उनका बड़ा मधुर कूजन के समान स्वर होता है। (कामशास्त्र में स्त्रियों के सुरत कालीन शब्द के लिये अनेक पक्षियों के कूजन की उपमा दी गई है।) प्रियतम जिस समय अपनी प्रियतमाओं से चाटुकारिता करते हैं उस समय स्त्रियों का मुख प्रसन्नता से विभोर होकर खिल उठता है और उनके मुख की शोभा प्रफुल्लित कमल की जैसी हो जाती है। उस मुख में एक प्रकार की स्वाभाविक सुगन्ध होती है जो हर समय बनी रहती है। उससे सम्भोगकाल में रसिकों का विशेष परिचय होता है जिससे रसिकों के अन्तःकरण कषाय या अनुरक्त हो जाते हैं। 'अङ्गों के अनुकूल' यह जब प्रियतमपरक होगा तो उसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रियतम कामशास्त्र की ६४ कलाओं में निष्णात है और उसके अनुकूल ही सहवासविधि में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह विशालानगरी सभी गुणों से परिपूर्ण है और सभी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली है। यहाँ सारसों और रमणियों का मधुर कूजन कानों को तृप्त करता है। खिले हुये कमल तथा सुन्दरियों के वदनारविन्द रूप के आगार हैं और नेत्रों को तृप्त करते हैं। चारों ओर सौरभ उड़ता है और वायु आमोद से परिपूर्ण है जिससे घ्राणेन्द्रिय तृप्त हो जाती है। यहाँ वायु का त्वचा को तृप्त करनेवाला बड़ा ही सुकोमल स्पर्श है। यहाँ का पवन भी बहुत ही नागरिक है जो कि प्रेम की विधि को भलीभाँति जानता है। हे मेघ! तुम्हें उस देश मे अवश्य जाना चाहिये। यह मेघदूत में मेघ के प्रति कामी यक्ष का कथन है।

अब इस उदाहरण की योजना लक्षण में कीजिये। यहाँ पर मैत्री शब्द अपने अभिधेयार्थ में बाधित है। क्योंकि मित्रता करना मनुष्य का धर्म है पवन का नहीं। अतः यहाँ पर लक्ष्यार्थ निकलता है कि वायु का कमल-मकरन्द की सुगन्ध से अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। इससे प्रयोजनरूप व्यञ्जना यह निकलती है कि वहाँ का वायु और कमल की सुगन्ध एक दूसरे के सर्वथा अनुकूल हैं और वह प्रदेश बड़ा ही मनोरम है। इस प्रकार मैत्री शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। अतएव मैत्री शब्द में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। साथ ही दूसरे शब्दों से यहाँ अलङ्कार भी प्रतीत होते हैं—(१) मानों वायु सारसों के कूजन को और अधिक बढ़ाता है, मानों वायु स्त्रियों की सुरतग्लानि को दूर करता है, इस प्रकार यहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। (२) वायु तथा प्रभात का स्वाभाविक वर्णन किया गया है, अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है। (३) खिले हुये कमलरूपी स्त्रियों के मुख, नायकरूपी

ध्वन्यालोकः

संसृष्टालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो ध्वनिर्यथा—

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा,
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ।

अत्र हि समासोक्तिसंसृष्टेन विरोधालङ्कारेण सङ्कीर्णस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकाशनम्। दयावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थीभूतत्वात्।

( अनु० ) दूसरे संसृष्ट अलङ्कार से सङ्कीर्ण जैसे—

'उठे हुये घने पुलकवाले आपके शरीर पर रक्तमनवाली सिंही की वधू के द्वारा दिये हुये दन्तक्षत और नाखूनों से विदारण, उत्पन्न इच्छावाले मुनियों के द्वारा भी देखे गये ।'

यहाँ निस्सन्देह समासोक्ति से संसृष्ट विरोधालङ्कारके द्वारा सङ्कीर्ण अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकाशन होता है। क्योंकि यहाँ वस्तुतः तो दयावीर ही वाक्यार्थ हो जाता है।

लोचन

एवमियता—

"सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः। सङ्करसंसृष्टिभ्याम् ।"

इत्येतदन्तं व्याख्यायोदाहरणानि च निरूप्य पुनरपि इति यत्कारिकाभागे पदद्वयं तस्यार्थं प्रकाशयत्युदाहरणद्वारेणैव—संसृष्टेत्यादि। पुनः शब्दस्यायमर्थः—न केवलं ध्वनेः स्वप्रभेदादिभिः संसृष्टिसङ्करौ विवक्षितौ यावत्तेषामन्योन्यमपि। स्वप्रभेदानां स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यङ्ग्येन वा सङ्कीर्णानां संसृष्टानां च ध्वनीनां सङ्कीर्णत्वं संसृष्टत्वं च दुर्लक्ष्यमितिविस्पष्टोदाहरणं न भवतीत्यलङ्कारस्यालङ्कारेण संसृष्टसंकीर्णस्य वा ध्वनौ सङ्करसंसर्गौ प्रदर्शनीयौ।

इस प्रकार इतने से—'गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ, अलङ्कारों के साथ अपने प्रभेदों से सङ्कर और संसृष्टि से।' यहाँ तक की व्याख्या करके और उदाहरणों का निरूपण करके 'पुनः भी' ये जो कारिका भाग में दो पद हैं उनके अर्थ को उदाहरणों के द्वारा ही प्रकाशित करते हैं—संसृष्ट इत्यादि। पुनः शब्द का यह अर्थ है—न केवल ध्वनि के अपने प्रभेदों से सङ्कर और संसृष्टि कहना अभीष्ट है अपितु उनका एक दूसरे के साथ भी। अपने भेदों का अपने प्रभेदों से अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य से सङ्कीर्ण और संसृष्ट ध्वनियों का सङ्कीर्ण और संसृष्ट मिलना कठिन है, अतः इनका विस्पष्ट उदाहरण नहीं मिल पाता।

तारावती

वायु इनमें रूपक अलङ्कार है और (४) प्रियतम इव में उपमा है; इन अलङ्कारों का यहाँ मैत्री शब्द की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि से संसृष्टि है (मल्लिनाथ ने 'प्रार्थनाचाटुकारः' से खण्डिता के अनुनय की व्याख्या की है और 'सुरतग्लानिं हरतीव' यह अन्वय मान कर लिखा है—क्योंकि खण्डिता का सुरत हुआ ही नहीं है, अतः इस समय उसको मनाना बाद में होनेवाले सुरत की ग्लानि को हरने के समान है, अतः यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।)

प्रस्तुत (४३ वीं) कारिका में कहा गया था कि ध्वनि की गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कार सहित अपने प्रभेदों से सङ्कर और संसृष्टि होती है। यहाँ तक उस सङ्कर और संसृष्टि की पूरी व्याख्या कर दी गई और प्रत्येक प्रकार का सङ्गमन उदाहरणों से भी कर दिया गया। कारिका के अग्रिम भाग में लिखा है—'पुनरप्युद्योतते बहुधा' 'यह ध्वनि और भी बहुत प्रकार से उद्योतित होती है।' इस 'पुनरपि' शब्द का क्या अर्थ है? अब इसी पर विचार किया जायगा। यहाँ 'पुनरपि' शब्द का यह अर्थ है कि इस ध्वनि के उक्त साङ्कर्य और संसृष्टि में भिन्न और भी संकर और संसृष्टि सम्भव हैं। वे संकर और संसृष्टि इस प्रकार हो सकती हैं कि ध्वनि के अपने भेदों से, गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकारों से और अलङ्कारों से जब एक बार सङ्कर और संसृष्टि हो जाती हैं तब उन सङ्कीर्ण और संसृष्ट प्रकारों से पुनः ध्वनि की संसृष्टि और संकर हो सकते हैं। उसमे ये भेद और सम्भव हैं—(१) अपने स्वतन्त्र सङ्कीर्ण भेदो की अपने स्वतन्त्र भेदों से संसृष्टि या सङ्कर। (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य से संसृष्ट या सङ्कीर्ण अपने भेदों की पुनः अपने भेदों से संसृष्टि या संङ्कीर्णता। (३) परस्पर संसृष्ट गुणीभूत व्यङ्ग्य की संसृष्टता या सङ्कीर्णता (४) अलङ्कारों से संसृष्ट ध्वनि की अपने भेदों से संसृष्टता या सङ्कीर्णता। (५) परस्पर संसृष्ट या सङ्कीर्ण अलङ्कारों की ध्वनि के किसी भेद से संसृष्टता या सङ्कीर्णता। इत्यादि। यहाँ पर प्रथम चार प्रकारों के उदाहरण नहीं दिये जावेंगे क्योंकि उदाहरणों मे उनका सङ्घटित करना कुछ कठिन है। अतः अन्तिम प्रकार के ही उदाहरण दिये जावेंगे। ये भेद भी चार प्रकार के हो सकते हैं—(१) सङ्कीर्ण अलंकारों का ध्वनिभेद से साङ्कर्य (२) सङ्कीर्ण अलङ्कार की ध्वनि भेद से संसृष्टि। (३) संसृष्ट अलङ्कारों का ध्वनि भेद से साङ्कर्य और (४) संसृष्ट अलङ्कारों की ध्वनि भेद से संसृष्टि। यहाँ पर दो के उदाहरण दिये जावेंगे एक तो संसृष्ट अलङ्कारों की सङ्कीर्णता और दूसरे संसृष्ट अलङ्कारों की संसृष्टि। शेष उदाहरण स्वयं समझ लेने चाहिये। पहले संसृष्ट अलङ्कार की सङ्कीर्णता का उदाहरण लीजिये—

लोचन

तदिस्मन् भेदचतुष्टये प्रथमं भेदमुदाहरति—दन्तक्षतानीति। बोधिसत्त्वस्य स्वकिशोरभक्षणप्रवृत्तां सिंहीं प्रति निजशरीरं विनिर्णयतः केनचिच्चाटुकं क्रियते। प्रोद्भूतः सान्द्रः पुलकः परार्थसम्पत्तिजेनानन्दभरेण यत्र। रक्ते रुधिरे मनोऽभिलाषो यस्याः, अनुरक्तं च मनो यस्याः। मुनयश्चोद्बोधितमदनावेशाश्चेति विरोधः। जातस्पृहैरिति च वयमपि कदाचिदेवं कारुणिकपदवीमधिरोक्ष्यामस्तदा सत्यतो मुनयो भविष्याम इति मनोराज्ययुक्तैः। समासोक्तिश्च नायिकावृत्तान्तप्रतीतेः। दयावीरस्येति। दयाप्रयुक्त-

वह इन चार भेदों में प्रथम भेद का उदाहरण देते हैं—'दन्तक्षत' यह। अपने किशोरों के भक्षण में प्रवृत्त सिंही के प्रति अपने शरीर को दे देनेवाले बोधिसत्व की कोई चाटुकारिता कर रहा है। उत्कृष्ट रूप में उद्भूत हुआ है घना पुलक—दूसरे के अर्थ सम्पादन से उत्पन्न आनन्द भार के द्वारा जिसमें। रक्त में अर्थात् रुधिर में मनोऽभिलाषा है जिस (सिंही) की। और अनुरक्त है मन जिसका। मुनि होते हुए मदन के आवेश को उद्बोधित करनेवाले यह विरोध है। 'जातस्पृहैः' इसका अर्थ यह है कि हम भी कदाचित् कारुणिक पदवी पर अधिरूढ़ होंगे तब मुनि बनेंगे इस मनोराज्य से युक्त। और समासोक्ति है नायिका के वृत्तान्त की प्रतीति के द्वारा। 'दयावीर का' यह। यहाँ धर्म के

तारावती

कोई भूखी सिंही अपने बच्चों को खा जाने के लिये तैय्यार है। बोधिसत्व उन सिंही के बच्चों की रक्षा करने के लिये उस सिंहिनी को अपना शरीर अर्पित कर देते हैं उस समय वह सिंहिनी अपने दाँतों और नाखूनों से बोधिसत्व की जो दुर्दशा कर डालती है उसको देखकर कोई भक्त बोधिसत्व की प्रशंसा करते हुये कह रहा है—

जिस समय बोधिसत्व ने यह देखा कि कोई सिंहिनी भूख से अत्यधिक पीड़ित हो गयी है और यहाँ तक कि अपने बच्चों को भी खा जाने को उद्यत है। उसी समय बोधिसत्व ने उन सिंहिनी के बच्चों को बचाने के लिये अपना शरीर उस सिंहिनी को अर्पित कर दिया। उस समय दूसरे का उपकार करने का अवसर मिल जाने और अपने कर्तव्य का निर्वाह करने में समर्थ हो सकने के कारण बोधिसत्व के हृदय में अभूतपूर्व आनन्द उत्पन्न हो गया और उस हर्ष के कारण उन के शरीर पर बहुत ही घना रोमाञ्च उठ आया। उस समय सिंहिनी का मन रक्तपान में लगा हुआ था। अतः उस सिंहिनी ने बोधिसत्व पर आक्रमण कर दिया और उनके शरीर में दाँतों के घाव बना दिये और नाखूनों से उनका शरीर विदीर्ण कर डाला। यह देख कर मुनियों के हृदय में भी आकाक्षा जागृत हो गई कि परमात्मा

## लोचन

त्वादत्र धर्मस्य धर्मवीर एव दयावीरशब्देनोक्तः। वीरश्चात्र रसः उत्साहस्यैव स्थायित्वादिति भावः। दयावीरशब्देन वा शान्तं व्यपदिशति सोऽत्र रसः संसृष्टालङ्कारेणानुद्यगृते। समासोक्तिमहिम्ना ह्ययमर्थः सम्पद्यते—यथा कश्चिन्मनोरथशतप्रार्थितप्रेयसीसम्भोगावसरे जातपुलकस्तथा त्वं परार्थसम्पादनाय स्वशरीरदान इति करुणातिशयोऽनुभावविभावसम्पदोद्दीपितः।

दयाप्रवृत्त होने के कारण धर्मवीर ही दयावीर शब्द से कहा गया है। यहाँ पर वीररस है, क्योंकि उत्साह का ही स्थायीभावत्व है, यह भाव है। अथवा दयावीर शब्द से शान्त का नामोल्लेख करते हैं। वह यह रस संसृष्ट अलङ्कार से अनुगृहीत किया जाता है। समासोक्ति की महिमा से यह अर्थ हो जाता है। जैसे कोई सैकड़ों मनोरथों से प्राप्त प्रार्थनीय प्रेयसी के सम्भोग के अवसर पर पुलकपूर्ण हो जाता है वैसे ही तुम परार्थसम्पादन के लिये अपने शरीरदान में, यह करुणा का अतिशय अनुभाव विभाव की सम्पत्ति से उद्दीपित किया गया है।

## तारावती

हमें भी ऐसी शक्ति देता और हमारे अन्दर भी कारुणिकता की ऐसी ही भावना जागृत होती कि हम भी परोपकार के लिए अपना शरीर अर्पित कर सकते जिससे हमारा भी मुनि कहलाना वास्तविक रूप में सत्य हो सकता। किन्तु वह अभिलाषा उनकी मनोराज्यपदवी पर ही आरूढ़ है। अर्थात् यह उनका खयाली पुलाव पकाना ही है। और मुनियों में इतनी शक्ति ही नहीं कि वे जीवरक्षा के लिये अपने प्राण दे सकें।

यहाँ पर नायिका के वृत्तान्त की भी प्रतीति होती है। अतः यहाँ पर समासोक्ति अलङ्कार है। समासोक्ति अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ विशेषणवाचक शब्द द्व्यर्थक हो किन्तु विशेष्य द्व्यर्थक न हो, किन्तु उन द्व्यर्थक विशेषणों के बल पर एक अप्रस्तुत अर्थ और निकाल लिया जाय और प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अर्थों का उपमानोपमेय भाव स्थापित कर दिया जाय। यहाँ पर दन्तक्षत इत्यादि शब्द द्व्यर्थक हैं किन्तु विशेष्य मृगराजवधू शब्द द्व्यर्थक नहीं है। द्व्यर्थक विशेषणो के बल पर एक अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है कि किसी नायिका ने किसी नायक के शरीर पर अनुरागपरिपूर्ण चित्त होकर दन्तक्षत और नखक्षत के चित्र बना दिये। उस समय नायक के शरीर पर सम्भोगजन्य हर्ष के कारण अत्यन्त घना रोमाञ्च हो रहा था। इस अर्थ में 'रक्तमनसा' का अर्थ होगा—'अनुरक्त है मन जिनका।' इस प्रकार इस समासोक्ति के द्वारा इसका अर्थ हो जावेगा—'जिस

तारावती

प्रकार कोई रसिक प्रेमी व्यक्ति सैकड़ों मनोरथों से प्रेयसी के समागम की कामना करता रहे और सौभाग्य से उसे अपनी मनचाही प्रेयसी का समागम मिल भी जाय तथा वह सुन्दरी हर्ष निर्भर होकर अपने उस प्रियतम के शरीर पर दन्तक्षत और नखक्षत के अनेक चिह्न बनाये उस समय वह रसिक प्रेमी आनन्द निर्भर हो जाता है और उसके शरीर पर अत्यन्त घना रोमाञ्च उद्भूत हो जाता है। उसी प्रकार भगवान् बोधिसत्व के हृदय मे प्रणिरक्षा के लिए अपने शरीर दे देने की कामना अत्यन्त तीव्रता के साथ विद्यमान थी फिर जब उन्हें सिंही के बच्चे की रक्षा के लिए अपने शरीरदान का सौभाग्य प्राप्त हो गया तब हर्षातिरेक से उनके शरीर पर भी गाढ़ा रोमाञ्च हो गया। यह तो हो गया समासोक्ति अलङ्कार। यहाँ पर दूसरा अलङ्कार है विरोधाभास—'मुनियों ने स्पृहापूर्वक देखा' यहाँ स्पृहा का अर्थ है कामवासना का आवेश। रसिकों के शरीर पर दन्तक्षत और नखक्षत देखकर रागियों के हृदय कामवासना से भर ही जाते हैं। यहाँ मुनियों के मन कामवासना से भर गये यह विरोध है। मुनियों के चित्तों में भगवान् बुद्ध के समान अपने शरीरदान की उत्कट स्पर्धा उत्पन्न हुई यह विरोध का परिहार है। इस प्रकार यह विरोधाभास अलङ्कार है। उक्त समासोक्ति और विरोधाभास की परस्पर संसृष्टि है। क्योंकि दोनों में न उपकार्योपकारक भाव है और न सन्देह ही; तथा दोनों की प्रतीति विभिन्न शब्दों से होती ही है। यह समासोक्ति और विरोधाभास की संसृष्टि समस्त पद्य से अभिव्यक्त होनेवाले दयावीर को उपकृत करती है। दयावीर ही यहाँ मुख्य वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) है। अतः समासोक्ति और विरोधाभास की संसृष्टि से उपकृत दयावीर ही यहाँ पर ध्वनि का रूप धारण करता है। अतः यहाँ पर दयावीर और उक्त दोनों अलङ्कारों की संसृष्टि का सङ्कर है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि भरत मुनि ने वीररस का दयावीर नामक भेद तो माना ही नहीं फिर दयावीर की ध्वनि कहना कहाँ तक शास्त्रसम्मत हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि यहाँ यदि दयावीर न माना जाय तो धर्मवीर ही माना जा सकता है। आनन्दवर्धन ने दयावीर इसलिये बतलाया है कि यहाँ पर धर्म वस्तुतः दयाप्रयुक्त ही है। वास्तविकता यह है कि चाहे इसे आप धर्मवीर कहें चाहे दयावीर, है यह वीररस ही। क्योंकि यहाँ पर उत्साह ही स्थायीभाव है। अथवा दया का यहाँ पर अर्थ है शान्तरस। क्योंकि निर्वेद की भी यहाँ प्रधानता बतलाई जा सकती है इस प्रकार यह रस संसृष्ट अलङ्कारों से अनुगृहीत हुआ है।

अब दूसरे भेद का उदाहरण लीजिये जहाँ संसृष्ट अलंकार और ध्वनि के किसी भेद की संसृष्टि होती है। इसके उदाहरण के रूप में एक गाथा उद्धृत की गई है

ध्वन्यालोकः

संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वं च ध्वनेर्यथा—

अहिणअ पओअर सिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु।
सोहइ पसारिअगिआणं णच्चिअं मोरवन्दाणम्॥

अत्र ह्युपमारूपकाभ्यां शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः संसृष्टत्वम् ॥ ४३ ॥

( अनु० ) संसृष्ट अलङ्कार का ध्वनि से संसृष्टत्व जैसे—

'अभिनव पयोदों के शब्द से युक्त पथिकों के लिये श्यामायित दिवसों मे ग्रीवा को फैलाये हुये मयूरवृन्दों का नृत्त शोभित हो रहा है।'

यहाँ निस्सन्देह उपमा और रूपक से शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि की संसृष्टि हो जाती है ॥ ४३ ॥

लोचन

द्वितीयं भेदमुदाहरति—संसृष्टेति। अभिनवं ह्यद्यं पयोदानां मेघानां रसितं येषु दिवसेषु। तथा पथिकान् प्रति श्यामायितेषु मोहजनकत्वाद्रात्रिरूपतामाचरितवत्सु। यदि वा पथिकानां श्यामायितं दुःखवशेन श्यामिका येभ्यः। शोभते प्रसारितग्रीवाणां मयूरवृन्दानां नृत्तम्। अभिनयप्रयोगरसिकेषु पथिकसामाजिकेषु सत्सु मयूरवृन्दानां प्रसारितगीतानां प्रकृष्टसारणानुसारिगीतानां तथा ग्रीवारेचकाय प्रसारितग्रीवाणां नृत्तं शोभते। पथिकान् प्रति श्यामा इवाचरन्तीति क्यच्। प्रत्ययेन लुप्तोपमा निर्दिष्टा। पथिकसामाजिकेष्विति कर्मधारयस्य स्पष्टत्वात् रूपकम्। ताभ्यां ध्वनेः संसर्ग इति ग्रन्थकारस्याशयः। अत्रैवोदाहरणेऽन्यद्भेदद्वयमुदाहर्तुं शक्यमित्याशयेनो-

द्वितीय भेद का उदाहरण देते हैं—'संसृष्ट' यह। अभिनव अर्थात् ह्यद्य पयोदों अर्थात् मेघों का गर्जन हैं जिन दिवसों में। तथा पथिकों के प्रति श्यामायित अर्थात् मोहजनक होने से रात्रिरूपता का आचरण करनेवाले ( दिनों ) में। अथवा पथिकों के लिये श्यामायित अर्थात् दुःखवश श्यामवर्ण की हैं जिनसे। फैलाई हुई गर्दनोंवाले मयूरवृन्दों का नृत्य शोभित होता है। अभिनव प्रयोग के रसिक पथिक सामाजिकों के होते हुये प्रकृष्ट सारणा के अनुसार गीतोंवाले तथा ग्रीवा रेचक के लिये फैलाई हुई गर्दनोंवाले मयूरवृन्दों का नृत्य शोभित हो रहा है। पथिकों के प्रति श्यामा के समान आचरण करते हुए हैं इस अर्थ हैं इस अर्थ में क्यच् प्रत्यय हो जाता है। प्रत्यय से लुप्तोपमा का निर्देश किया गया है। 'पथिकसामाजिकेषु' में कर्मधारय के स्पष्ट होने के कारण रूपक है। उन दोनों से ध्वनि का संसर्ग होता है यह ग्रन्थकार का आशय है। इसी उदाहरण में और दो भेदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं इस आशय से दूसरे

## लोचन

दाहरणान्तरं न दत्तम्। तथाहि व्याघ्रादेराकृतिगणत्वे पथिकसामाजिकेष्वित्युपमारूपकाभ्यां सन्देहास्पदत्वेन संकीर्णाभ्यामभिनयप्रयोगे अभिनवप्रयोगे च रसिकेष्विति प्रसारितगीतानामिति यः शब्दशक्त्युद्भवस्तस्य संसर्गमात्रमनुग्राह्यत्वाभावात्। 'पहिअ सामाइएसु' इत्यत्र तु पदे संकीर्णाभ्यां ताभ्यामुपमारूपकाभ्यां शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेः संकीर्णत्वमेकव्यञ्जकानुप्रवेशादिति संकीर्णालङ्कारसंसृष्टः सङ्कीर्णालङ्कारसङ्कीर्णश्चेत्यपि भेदद्वयं मन्तव्यम् ॥ ४३ ॥

उदाहरण नहीं दिये गये। वह इस प्रकार—व्याघ्रादि के आकृतिगण होने के कारण 'पथिक सामाजिकों' में सन्देहास्पद के रूप में सङ्कीर्ण उपमा और रूपक के द्वारा 'अभिनय के प्रयोग में और अभिनव' प्रयोग मे रसिकों में और 'गीत को प्रसारित करनेवालों का' यह जो शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है उसका केवल संसर्ग होता है क्योंकि अनुग्राह्यत्व का अभाव है।' 'पथिअ सामाइएसु' इसमे तो पदों मे सङ्कीर्ण उन दोनों उपमा रूपकों से एकव्यञ्जकानुप्रवेश के कारण शब्दशक्तिमूलक का सङ्कीर्णत्व हो जाता है इस प्रकार सङ्कीर्णालङ्कार संसृष्ट और संकीर्णालङ्कार सङ्कीर्ण ये दो भेद भी माने जाने चाहिये ॥ ४३ ॥

## तारावती

जिसकी छाया यह है:—

अभिनवपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु।
शोभते प्रसारितग्रीवाणा नृत्तं मयूरवृन्दानाम्॥

इस वर्षाकाल के इन दिनों मे अभिनव अर्थात् हृदय को प्रिय मेघ गरज रहे है तथा विरहियों के लिये विरह वेदना के कारण ये दिन मोह या मूर्छा उत्पन्न करने वाले हैं जिससे ये रात्रि के जैसे होगये हैं अथवा इन दिनों के कारण ही पथिकों में श्यामता अर्थात् कालुष्य उत्पन्न होगया है। इस समय गर्दन को फैलाकर मोर नाच रहे है अतः बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ते हैं।

इस पद्य की एक छाया यह भी हो सकती है :—

अभिनयप्रयोगरसिकेषु पथिकसामाजिकेषु दिवसेषु।
शोभते प्रसारितगीताना नृत्तं मयूरवृन्दानाम्॥

अर्थात् पथिक सामाजिकों के अभिनेय प्रयोग के रसिक होने पर इन दिनों मे सारणा के अनुसार उत्कृष्ट गानवाले मयूरवृन्दों का नाच शोभित हो रहा है।

इस द्वितीय छाया मे 'प्रसारितगीताना' के स्थान पर 'प्रसारितग्रीवाणां' यह छाया भी रक्खी जा सकती है। तब इसका अर्थ यह होगा कि मयूरवृन्द ग्रीवा-

रेचक नामक नृत्यभेद के लिये अपनी गर्दन फैला रहे हैं और उनका नृत्य बहुत शोभित हो रहा है ।

इस पद्य का आशय यह है कि वर्षाकाल में मेघों का गर्जन मयूरों के लिये हर्षपरवश करदेनेवाला है जिससे मयूरवृन्द अपनी गर्दन को फैलाकर नाचने और गाने लगते हैं । ये दिन पथिकों अर्थात् वियोगियों के लिये अन्धकारपूर्ण हैं। इसके दूसरे अर्थ का सार यह है कि पथिक तो सामाजिक अर्थात् दर्शक हैं, अभिनय प्रयोग मे आनन्द लेना चाहते हैं और उस समाज को आनन्द देने के लिये मयूरों का गान तथा नृत्य प्रवृत्त हो रहा है ।

यहाँ पर 'पथिकश्यामायितेषु' की पथिकों के प्रति श्यामायित यह व्युत्पत्ति होगी । श्यामायित का विग्रह होगा—'श्यामा इवाचरन्ति' अर्थात् रात्रि के समान आचरण करनेवाली । यहाँ आचारार्थ मे क्यच् प्रत्यय हो जाता है । इस प्रकार इसमें लुप्तोपमालङ्कार है । यदि इस का पाठ 'पथिक सामाजिकेषु' रक्खा जाय तो कर्मधारय समास होगा—'पथिका एव सामाजिकाः' अथवा 'पथिकाश्च ते सामाजिकाः' इस कर्मधारय समास के अनुसार इसमें रूपक अलङ्कार माना जावेगा । ये दोनों अलंकार विभिन्न दो शब्दों में हैं इसलिये इनकी यहाँ पर संसृष्टि है । यहाँ पर श्यामायित शब्द का अर्थ होता है दिन रात्रि बन जाते हैं अथवा अन्धकारमय हो जाते हैं क्योंकि जब मेघ गर्जन हो रहा हो और मयूरों का नृत्यगान भी प्रारम्भ हो गया हो उस समय दिनों की उद्दीपकता बहुत बढ़ जाती है। इस प्रकार यहाँ पर दिनों के उद्दीपन के आधिक्य की व्यञ्जना होती है । यह व्यञ्जना शब्दशक्तिमूलक है क्योंकि 'श्यामायित' परिवृत्ति को सहन नहीं कर सकता । अतः उक्त अलकारों की संसृष्टि से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की संसृष्टि है ।

यहाँ पर दो उदाहरण और दिये जाने चाहिये थे एक तो दो सकीर्ण अलंकारों की ध्वनि के किसी भेद से सकीर्णता का और दूसरा दो संकीर्ण अलकारों की ध्वनि के किसी भेद से संसृष्टि का। किन्तु वृत्तिकार ने ये दो उदाहरण नहीं दिये हैं। उसका कारण यह है कि यह अन्तिम उदाहरण ऐसा है जिसमें शेष दो उदाहरण भी सन्निविष्ट किये जा सकते हैं । वह इस प्रकार—'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र के अनुसार जहाँ साधारण धर्म का प्रयोग न हो वहाँ उपमान और उपमेय का समास हो जाता है । इस प्रकार 'पथिकसामाजिकेषु' का यह भी विग्रह किया जा सकता है—'पथिकाः सामाजिकाः इव' इस प्रकार यहाँ पर 'पथिकसामाजिकेषु' शब्द मे ही लुप्तोपमा हो सकती है । व्याघ्रादिगण आकृति-गण है; अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि सामाजिक शब्द उसमें नहीं आया है, अतः

## ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥ ४४ ॥

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम् ॥

(अनु०) इस प्रकार ध्वनि के प्रभेद और प्रभेदों के भी भेद किसके द्वारा परिगणित किये जा सकते हैं ? उनका यह दिग्दर्शनमात्र हमारे द्वारा कह दिया गया है' ॥ ४४ ॥

ध्वनि के निस्सन्देह अनन्त प्रकार होते हैं । सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये उनका यह दिग्दर्शनमात्र कहा गया है ॥

## लोचन

एतदुपसंहरति—एवमिति । स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—'इस प्रकार' यह । स्पष्ट है ॥ ४४ ॥

## तारावती

यह समास यहाँ पर नहीं हो सकता । 'पथिक सामाजिकेषु' में रूपक बतलाया ही जा चुका है । इस प्रकार एक ही शब्द से दो अलंकारों के सम्भव होने के कारण इन दोनों अलंकारों का सन्देह संकर है । इन संकीर्ण अलंकारों के साथ ध्वनि की संसृष्टि हो जाती है । यह ध्वनि शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि है—'अभिनय के प्रयोग में या अभिनव प्रयोग में रसिकों के मध्य गर्दन को फैलाये हुये या गीतों का निसार करनेवाले.....' इत्यादि से यह ध्वनि निकलती है कि पथिक रूपी रसिकों का समूह उपस्थित है जोकि नये अभिनयों को देखने की आकांक्षा कर रहा है । समा बंधा हुआ है, मयूर नाच रहे हैं और अपनी नई नई कला दिखला रहे हैं, साथ ही अभिनय और संगीत भी चल रहा है । इस ध्वनि से उक्त दोनों अलंकारों की संसृष्टि हो जाती है क्योंकि रूपक ध्वनि के अनुग्राहक नहीं होते । यहाँ पर ध्वनि शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि है क्योंकि 'अहिणअ' इत्यादि शब्द बदले नहीं जा सकते । इसी प्रकार 'पथिकसामाजिकेषु' शब्द में जो उपमा और रूपक का सन्देह संकर है उसके साथ इसी शब्द से अभिव्यक्त होनेवाली ध्वनि का संकर हो जाता है क्योंकि यहाँ एक ही व्यञ्जक से अलंकार और ध्वनि दोनों निकलते हैं इस प्रकार संकीर्णालंकार संसृष्टि और सकीर्णालंकार संकर के दोनों उदाहरण प्रस्तुत उदाहरण में ही गतार्थ हो जाते हैं । इसीलिये इनके उदाहरण पृथक् नहीं दिये गये ॥ ४३ ॥

ध्वन्यालोकः

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥ ४५ ॥

उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति ।

अस्फुटस्फुटितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ४६ ॥

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुटितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली च रीतयः प्रवर्तिताः । रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक्स्फुटितमासादिति लक्ष्यते । तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित् ।

(अनु०) यह उक्त लक्षणवाली जो ध्वनि सज्जनों के द्वारा अथवा सत्काव्य को करने के लिये या जानने के लिये ठीक रूप मे उद्यत लोगों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक विवेचित की जानी चाहिये ॥ ४५ ॥

उक्त स्वरूपवाली ध्वनि के निरूपण में निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चितरूप से ही काव्यविषय में प्रकर्ष पदवी को प्राप्त कर लेते हैं ।

'जैसा कहा गया है यह काव्यतत्त्व अस्फुटरूप में स्फुटित हो रहा था। ( इसकी ) व्याख्या करने के लिये असमर्थ होनेवालों के द्वारा रीतियों को प्रवृत्त किया गया' ॥४६॥

इस ध्वनिप्रवर्तन के द्वारा निर्णय किया हुआ काव्यतत्त्व अस्फुटरूप में स्फुरित होते हुये प्रतिपादन करने के लिये असमर्थ होनेवालों के द्वारा वैदर्भी गौडी और पाञ्चाली ये रीतियाँ प्रवृत्त की गईं । रीति तत्त्व का विधान करनेवालों के सामने यह काव्यतत्त्व अस्फुटरूप में थोड़ा सा स्फुरित हो रहा था यह लक्षित होता है । वह यहाँ पर स्फुटरूपमें प्रदर्शित ( ध्वनि सिद्धान्त ) के कारण अन्य रीति लक्षण की कोई आवश्यकता नहीं ।

तारावती

४४ वीं कारिका उपसंहारात्मक है जिसमे कहा गया है कि किसी मे इतनी शक्ति नहीं है जो ध्वनि-भेदों का पूरा परिगणन कर सके । ध्वनि के भेद, भेदों के भेद, उनकी संसृष्टि और सङ्कर फिर संसृष्टि और सङ्कर की संसृष्टि और सङ्कर, इसप्रकार ध्वनि के अनन्त प्रकार हो जाते हैं । हमने यहाँ पर जितने भी उदाहरण दिये हैं वह तो केवल भेदों की दिशा दिखलाना है जिससे सहृदय लोग उसी पद्धति का आश्रय लेकर ध्वनि की व्याख्या विभिन्न काव्यों में कर सकें अथवा उसे समझ सकें । ध्वनि की इयत्ता दिखलाना प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य नहीं है ॥ ४४ ॥

## लोचन

अथ 'सहृदयमनःप्रीतये' इतियत्सूचितं तदिदानीं न शब्दमात्रमपितु निर्व्यूढमित्याशयेनाह—इत्युक्तेति । यः प्रयत्नतो विवेच्यः अस्माभिश्चोक्तलक्षणो ध्वनिरेतदेव काव्यतत्त्वं यथोदितेन प्रपञ्च निरूपणादिना व्याकर्तुमशक्नुवद्भिरलङ्कारकारैः रीतयः प्रवर्तिताः इत्युक्तकारिकया सम्बन्धः । अन्ये तु यच्छब्दस्थाने 'अयम्' इति पठन्ति । प्रदर्पपदवीमिति । निर्माणे बोधे चेति भावः । व्याकर्तुमशक्नुवद्भिरित्यत्र हेतुः—अस्फुटं कृत्वा स्फुरितमिति । लक्ष्यत इति । रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता । यदाह—विशेषो गुणात्मा गुणाश्च रस पर्यवसायिन एवेति ह्युक्तं प्राग्गुणनिरूपणे—'शृङ्गार एव मधुरः इत्यत्रेति ॥ ४५–४६ ॥

अब 'सहृदयमन की प्रीति के लिये' यह जो सूचित किया था वह इस समय शब्दमात्र नहीं है अपितु पूरा हो गया । इस आशय से कहते हैं—'यह उक्त' इत्यादि । जो उक्त लक्षणवाली ध्वनि प्रयत्नपूर्वक हमारे द्वारा विवेचित की जानी चाहिये; यही काव्यतत्त्व है, इस काव्यतत्त्व की ठीक रूपमें बतलाये हुए प्रपञ्च-निरूपण इत्यादि के द्वारा व्याख्या करने में असमर्थ लोगों के द्वारा रीतियाँ प्रवृत्त की गई यह उत्तर कारिका से सम्बन्ध है । और लोग तो 'यत्' शब्द के स्थानपर 'अयम्' यह पढते हैं । 'प्रकर्षपदवी को' यह । भाव यह है कि निर्माण में और बोध में । 'व्याख्या करने मे असमर्थ हुये' इसमे हेतु है—'अस्फुट करके स्फुरित यह । 'लक्षित होता है' यह । रीतियाँ निस्सन्देह गुणों में ही पर्यवसित होती हैं। जैसा कहा गया है—विशेष गुणात्मक होता है और गुण रसपर्यवसायी होते ही हैं यह निस्सन्देह पहले गुणनिरूपण में कहा गया है—'शृङ्गार ही मधुर होता है' इसमें ॥ ४५, ४६ ॥

## तारावती

४५ वीं कारिका में ध्वनि निरूपण के प्रयोजन का उपसंहार किया गया है । उपक्रम में प्रयोजन पर दृष्टिपात करते हुए 'सहृदयमनःप्रीतये' लिखा गया था यह सहृदयमनःप्रीति कोई झूठा वादा नहीं था । यहाँ तक ध्वनिसिद्धान्त का पूर्ण विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया गया कि सहृदय मनःप्रीति जो कि प्रमुख लक्ष्य था वह पूरा कर दिया गया । ४५ वीं कारिका के प्रथम चरण में लोचन के अनुसार दो प्रकार का पाठ प्राप्त होता है—( १ ) 'इत्युक्तलक्षणोऽयं ध्वनिः' और ( २ ) 'इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिः' । प्रथम पाठ के अनुसार यह एक पूरा वाक्य है और स्वतन्त्र रूप में अर्थ का प्रतिपादन करता है । इस पाठ के अनुसार इसका सार यह है इस ध्वनि का लक्षण बतलाया जा चुका और उसकी व्याख्या भी कर दी गई। सज्जनों का कर्तव्य है कि वे इस की मनोयोगपूर्वक विवेचना करें । इसी

## तारावती

प्रकार जिन लोगों की कामना है कि वे उत्तम काव्य की रचना कर सकें अथवा जिनकी कामना है कि वे उत्तम काव्य का परिज्ञान कर सकें इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों का परम कर्तव्य है कि वे ध्वनि का ठीक रूप में अनुसन्धान तथा विवेचन करें। प्रथम पाठ के अनुसार इस कारिका का यही आशय है। अब दूसरे पाठ को लीजिए। इसमें 'अयम्' के स्थान पर 'य.' पाठ है। अतएव यह एक अपूर्ण वाक्य रह जाता है और उसका अर्थ पूरा करने के लिये ४६ वीं कारिका का आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार ४५ वीं और ४६ वीं कारिकाओं का सम्मिलित अर्थ हो जाता है। ४५ वीं कारिका उद्देश्य वाक्य है और ४६ वीं कारिका विधेय वाक्य। इस प्रकार इन दोनों का मिलाकर अर्थ यह होगा कि—जिस ध्वनि के लक्षणों का हमने उक्त प्रकरण में ठीक रूप मे निरूपण किया है, जिस ध्वनि का विवेचन करना सज्जनों का परम कर्तव्य है और सत्काव्य की रचना करनेवाले कवियों तथा सत्काव्य को समझने की इच्छा करनेवाले सहृदयों दोनों के द्वारा जिस ध्वनि का विवेचन करना अपरिहार्य कर्तव्य है वह ध्वनि एक सर्वप्रमुख काव्यतत्त्व है जैसा कि उक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। यह काव्यतत्त्व अस्फुट रूप में प्राचीन काव्य शास्त्रियों के सम्मुख स्फुरित अवश्य हुआ था। किन्तु क्योंकि यह तत्त्व बहुत स्पष्ट नहीं था अतएव प्राचीन आचार्य उसकी ठीक रूप में व्याख्या नहीं कर सके। किन्तु उन्होंने इस तत्त्व की व्याख्या करने की चेष्टा अवश्य की और उसका परिणाम यह हुआ कि उन आचार्यों ने रीतियों का प्रवर्तन कर डाला। उनके विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि काव्य का यह तत्त्व बहुत ही मन्द रूप में उनके मस्तिष्क में विद्यमान अवश्य था किन्तु उसका स्पष्ट चित्र उनके सामने नहीं था। उन्होंने व्याख्या करने की चेष्टा की किन्तु वे ठीक व्याख्या नहीं कर सके। इसीलिये उन्होंने रीतियों को प्रवृत्त कर दिया। ये रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडी, और पाञ्चाली। उन्होंने रीति की परिभाषा बनाई 'विशिष्ट-पदरचना रीतिः' अर्थात् विशेष प्रकार की पदरचना को रीति कहते हैं। इस पद-रचना की विशेषता होती है गुणात्मक अर्थात् ऐसी पदरचना जिसमे गुण विद्यमान हो। बस उन आचार्यों का विवेचन यहाँ पर रुक गया। उन्होंने यह बतलाने की चेष्टा नहीं की कि गुणों को गुणरूपता प्रदान करनेवाला तत्व कौन सा है। यदि उन्होंने यह विचार किया होता तो उन्हे ज्ञात हो जाता कि गुणों का पर्यवसान रस में ही होता है। ध्वनिकार ने कहा ही है—'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।' इसका अर्थ यह है कि माधुर्य शृङ्गारपर्यवसायी ही होता है। (रस सर्वदा व्यङ्ग्य ही होत हैं।) इस प्रकार स्वतः सिद्ध हो जाता है कि काव्य का

तारावती

सर्वप्रमुख तत्त्व ध्वनि ही है। इस ध्वनि की व्याख्या की जा चुकी। अतः अब रीति के विस्तृत विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं रह गई।

[ यहाँ पर ध्वनिकार ने लिखा है कि रीति का प्रवर्तन वस्तुतः काव्य के मूल-तत्त्व के अनुसन्धान की चेष्टामात्र है। यहाँ पर ध्वनिकार ने सम्भवतः वामन की ओर सङ्केत किया है क्योंकि वामन ने ही स्पष्ट रूप में रीति को काव्य-आत्मा कहा है। आनन्दवर्धन ने व्याख्या करने में तीन रीतियों का उल्लेख किया है वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। यह मान्यता भी वामन की ही है। अभिनव गुप्त ने तो वामन के सूत्रों का भी उल्लेख कर दिया है। इन सब प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ पर वामन की ही ओर आचार्यों ने सङ्केत किया है।

वस्तुतः रीतियों का इतिहास बहुत पुराना है। भरतमुनि ने तो देश-भेद पर आधारित आचार-व्यवहार और रीति-रिवाजों का वर्णन किया ही है। वाणी का आचार ही रीति है। काव्य शास्त्र का सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ भामह का काव्यालङ्कार है। इसमें सबल शब्दों में काव्य रीति को वैदर्भी और गौडी के रूप में विभाजित करने का प्रतिवाद किया गया है और कहा गया है कि दूसरे विद्वान् रीतियों की मान्यता स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भामह के बहुत पहले रीतियाँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं और देशभेद के आधार पर एक अच्छी और दूसरी बुरी ये दो रीतियाँ मानी जाने लगी थीं। बाणभट्ट ने चार रीतियों का उल्लेख कर उनके समन्वय की चेष्टा की है। ये चारों रीतियाँ है उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी। ज्ञात होता है कि काल क्रम से उत्तरी और पश्चिमी शैलियों ने अपनी सत्ता खो दी थी और दक्षिणी ( वैदर्भी ) तथा पूर्वी (गौडी) ये दो शैलियाँ ही शेष रह गई थीं। इन दोनों शैलियों का विस्तृत विवेचन और इनके प्रति पूरी आस्था हमें दण्डी के काव्यादर्श में प्राप्त होती है। दण्डी ने १० काव्य गुणों का उल्लेख किया है और उनकी सत्ता वैदर्भी रीति में मानी है। दण्डी के बाद वामन ने स्पष्ट रूप मे रीति को काव्य की आत्मा कहा। इनकी मौलिकता दो बातों में है—( १ ) एक तो इन्होंने १० के स्थान पर २० गुण मान लिये १० शब्द गुण और १० अर्थ गुण। अर्थ गुणों मे ओज प्रौढि माधुर्य ( उक्तिश्लेष और कान्ति ( दीप्तरसत्व ) को स्वीकारकर इन्होंने रीतियों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक बना दिया और ( २ ) इन्होंने दो के स्थान पर तीन रीतियाँ स्वीकार कीं। उक्त दोनों रीतियों में एक पाञ्चाली रीति और जोड़ दी। किन्तु आज वामन ने गुण साकल्य के कारण वैदर्भी को ही ग्राह्य बतलाया और शेष दो में गुणों की कमी बतलाकर उनको स्वीकार न करने का निर्देश दिया। वामन के बाद आनन्दवर्धन के समय

ध्वन्यालोकः

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥ ४७ ॥

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति । अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्वम् ।

(अनु०) 'इस काव्यलक्षण के ज्ञात हो जाने पर वृत्तियाँ भी प्रकाशित होती हैं; कुछ शब्दतत्त्व के आश्रित होती हैं और दूसरी अर्थतत्व के आश्रित' ॥ ४७ ॥

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-विवेचनमय काव्यलक्षण के ज्ञात हो जाने पर जो कोई प्रसिद्ध उपनागरिका इत्यादि शब्दतत्त्वाश्रित वृत्तियाँ और जो अर्थतत्त्व से सम्बद्ध कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ वे ठीक रूप में रीतिपदवी पर अवतीर्ण होती हैं। नहीं तो उन वृत्तियों का अदृष्टार्थ के समान अश्रद्धेयत्व ही हो जाय अनुभवसिद्धत्व नहीं ।

तारावती

तक रीतियों की संख्या में केवल एक की वृद्धि हुई—रुद्रट ने लाटीया रीति को और स्वीकार कर रीतियों की संख्या चार कर दी और अच्छी रीतियों में वैदर्भी तथा पांञ्चाली को और बुरी रीतियों में गौडी तथा लाटी को सन्निविष्ट कर दिया । रुद्रट ने रीतियों का सम्बन्ध वस्तु से भी स्थापित कर दिया । आनन्दवर्धन के पहले रीतियों की यही स्थिति थी । रीतियों का मुख्य आधार तो शब्दगुम्फ ही है । कतिपय आचार्यों ने रीतियों के विवेचन में वर्ण सङ्घटना पर विचार किया है तथा कतिपय अन्य रुद्रट इत्यादि आचार्यों ने समासप्रयोग पर रीतियों को आधृत माना है । किन्तु रीतियों के केवल यही दो आधार नहीं हैं। दण्डी तथा वामन ने रीतियों के आधारभूत तत्त्वों में काव्य के प्रायः सभी तत्त्व समेट लिये हैं । बाण ने भी श्लेष इत्यादि को रीतियों का आधार माना है । ध्वनिकार तथा ध्वनिसम्प्रदायवादी दूसरे आचार्य रीतियों को अस्वीकृत तो नहीं करते । किन्तु उनका कहना है कि रीतियों की काव्य के मूलतत्व के रूप में यह कल्पना सर्वथा अधूरी है । यदि रीतियों के मूलाधार का अनुसन्धान किया जाय तो वह रस ही सिद्ध होगा । 'कोमलबन्ध से शृङ्गाररस' कठोर बन्ध से रौद्ररस' इत्यादि कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शृङ्गार इत्यादि सब वाच्य नहीं होते अपितु बन्ध के आधार पर उनकी अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार यदि रीतियों का ठीक रूप में अनुसन्धान किया जाय तो उनका पर्यवसान ध्वनि सिद्धान्त में ही होगा । ध्वनि सिद्धान्त की ठीक ठीक व्याख्या कर देने पर रीतियों के विवेचन की आवश्यकता ही नहीं रह गई । ]

लोचन

प्रकाशन्त इति । अनुभवसिद्धतां काव्यजीवितत्वे प्रयान्तीत्यर्थः । रीतिपदवीमिति । तद्वदेव रसपर्यवसायित्वात् । प्रतीतिपदवीमिति वा पाठः । नागरिकया ह्युपमितेत्यनुप्रासवृत्तिः शृङ्गारादौ विश्राम्यति । परुषेति दीप्तरौद्रादिषु । कोमलेति हास्यादौ। तथा—'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टाविशेषो वृत्तिः । यदाह—'कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गाररससम्भवा' इत्यादि ।

'प्रकाशित होती है' यह । अर्थात् काव्यजीवितत्व में अनुभवसिद्धता को प्राप्त हो जाती हैं । 'रीतिपदवी को' यह । उसी के समान रसपर्यवसायी होने के कारण । अथवा 'प्रतीतिपदवी को' यह पाठ है । 'नागरिका के साथ 'उपमित' इस ( अर्थ ) से अनुप्रासवृत्ति शृङ्गार इत्यादि में विश्रान्त होती है । 'परुषा' यह । दीप्त रौद्र इत्यादि में । 'कोमला' यह हास्य इत्यादि में । तथा मुनि ने जो कहा है कि वृत्तियों की माता काव्य ही होता है उसमें रसोचित चेष्टाविशेष ही वृत्ति कहलाती है जैसा कि कहते हैं—

'कैशिकी कोमल नेपथ्यवाली होती है जिसका जन्म शृंगार से होता है ।'

तारावती

४७ वीं कारिका वृत्तियों के विषय मे है । इसका आशय यह है कि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का विवेचन करना ही काव्य का लक्षण है । जब इतनी बात मान ली गई और व्यङ्ग्यव्यञ्जक के रूप में काव्यलक्षण का विवेचन कर दिया गया तब काव्य जीवन के पर्यालोचन के क्षेत्र मे वृत्तियों पर विचार करना भी सार्थक हो जाता है । ये वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ होती हैं जिनका आश्रय शब्दतत्त्व होता है और दूसरी वृत्तियाँ कैशिकी इत्यादि होती हैं जिनका आश्रय अर्थतत्त्व होता है । इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के विषय मे भी वही कहा जा सकता है जो कि ४६ वीं कारिका में रीतियों के विषय मे कहा गया है । अर्थात् वृत्तियाँ भी रीतियों के समान ही रसपर्यवसायिनी होती हैं । यदि रस की सत्ता ही न मानी जाय तो वृत्तियों पर विचार करना ही व्यर्थ हो जायेगा । अतः रस पर विना विचार किये वृत्तियों पर विचार अधूरा ही रह जावेगा । रसप्रवणता के अभाव मे उन वृत्तियों पर उसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकेगा जिस प्रकार यज्ञ इत्यादि कार्यों पर विश्वास नहीं किया जाता क्योंकि उनका फल प्रत्यक्ष नहीं अपितु अदृष्ट होता है जिस प्रकार प्रत्यक्ष फल न दिखलाई पड़ने के कारण यज्ञ इत्यादि अनुभव सिद्ध नहीं माने उसी प्रकार वृत्तियों को भी कोई प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध नहीं मानेगा । अतः वृत्तियों रसप्रवण मानना ही उचित है ।

## लोचन

इयता तस्याभावं जगदुरपरे इत्यादावभावविकल्पेषु वृत्तयो रीतियश्च गता श्रवणगोचरं, तदितिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति तत्र कथञ्चिदभ्युपगमः कृतः कथञ्चिच्च दूषणं दत्तमस्फुटस्फुरितमिति वचनेन।

इतने से 'दूसरे लोग उसका अभाव कहते हैं' इत्यादि में अभाव के विकल्पों में वृत्तियाँ और रीतियाँ श्रवणगोचर हुई हैं, उनसे अतिरिक्त यह ध्वनि क्या वस्तु है ?' यह ( जो कहा था ) उसमें किसी प्रकार स्वीकृति दे दी और किसी प्रकार 'अस्फुट स्फुरित' इस वचन के द्वारा दोष दे दिया।

## तारावती

[ यहाँ पर वृत्तियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति ये तीन शब्द काव्यशास्त्र में प्रयुक्त हुये हैं। इनका अन्तर दिखलाते हुये राजशेखर ने लिखा है—वेषविन्यासक्रम को प्रवृत्ति कहते हैं, विलासविन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं और वचनविन्यासक्रम को रीति कहते हैं। अग्निपुराण में इनको अनुभावों के अन्तर्गत रक्खा गया है। शरीरारम्भ अनुभाव आङ्गिक अभिनय कहलाता है जिसे प्रवृत्ति शब्द से अभिहित किया जाता है। वागारम्भ अनुभाव वाचिक अभिनय होता है जो कि रीति शब्द से अभिहित किया जा सकता है। वृत्ति समस्त क्रियाओं को कहते हैं। वृत्तियों का निरूपण आनन्दवर्धन के पहले पर्याप्त मात्रा में किया जा चुका था। भरत मुनि ने ही वृत्तियों का सर्वप्रथम विवेचन किया था। उनके अनुसार वृत्तियाँ चार प्रकार होती हैं—सात्वती, कैशिकी, आरभटी और भारती। यदि इन वृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो उसका निष्कर्ष यह होगा कि सात्वती वृत्ति सात्विकाभिनय में प्रयुक्त होती है। इसका उपयोग नाट्य मे होता है। कैशिकी वृत्ति कोमल वर्णन मे प्रयुक्त होती है और आरभटी कठोर वर्णन मे। भारती वृत्ति सभी प्रकार के वाचिक अभिनय को कहते हैं। अतः समस्त श्रव्यकाव्य भारती वृत्ति में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इस भारती वृत्ति को कैशिकी और आरभटी परिवर्तित कर देती हैं। यदि भारतीवृत्ति कैशिकी के साथ होगी तो वह वैदर्भी रीति बन जावेगी और यदि आरभटी के साथ होवेगी तो गौडीरीति बन जावेगी। यह वृत्तियों के विषय में भरतमुनि-सम्मत परम्परा है। इसके अतिरिक्त वृत्तियों के विषय में दूसरी मान्यता है अलङ्कारवादियों की। इनके अनुसार अनुप्रास-जाति को ही वृत्ति कहते हैं। अनुप्रास तीन प्रकार का होता है, उसी आधार पर तीन वृत्तियों की कल्पना की गई है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। इसी आधार पर अनुप्रास का एक भेद वृत्त्यनुप्रास माना गया है। आनन्दवर्धन को भरत की वृत्तियों का तो ज्ञान है ही उद्भट की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों का भी

तारावती

उन्हें पूरा ज्ञान है। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों की व्यवस्था तथा समन्वय उन्होंने इस प्रकार किया है कि भरत की कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ अर्थगत होती हैं और उद्भट की उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ शब्दगत होती हैं। यहाँ पर ध्वनिकार का आशय यही है कि वृत्तियाँ रसाभिव्यक्ति और रसानुभूति की साधनमात्र हैं। अतः इनकी मान्यता ही ध्वनिसिद्धान्त में एक प्रमाण है। ]

यह तो स्पष्ट ही है कि उपनागरिका का अर्थ है नगरनिवासिनी ललना का अनुकरण करनेवाली वृत्ति। जिस प्रकार नगरनिवासिनी ललना अपने सौकुमार्य के लिये प्रसिद्ध होती है उसी प्रकार अनुप्रास की उपनागरिका नामक वृत्ति भी शृङ्गाररस में विश्रान्त होती है। उसी प्रकार परुषा शब्द का अर्थ है कठोर वृत्ति। यह रौद्र इत्यादि दीप्त रसों में विश्रान्त होती है तथा कोमला हास्य इत्यादि में विश्रान्त होती है। ये वृत्तियाँ रसपर्यवसायिनी होती हैं इसमें स्वयं भरतमुनि प्रमाण हैं। उन्होंने लिखा है कि 'वृत्तियों की माता काव्य ही है।' इस कथन से मुनि का तात्पर्य यही है कि वृत्ति उन विशेष प्रकार की चेष्टाओं को कहते है जिनका सन्निवेश रस के औचित्य को ध्यान में रखकर किया गया हो। ( क्योंकि भरत की कैशिकी इत्यादि वृत्तियाँ वस्तुतः चेष्टा की विशेषता में ही हैं क्योंकि उन्हीं को लक्षित कर कहा गया है कि 'विलासविन्यासक्रमो हि वृत्तिः'। ) यहाँ पर मुनि का अभिप्राय रसप्रवण चेष्टाविशेष को वृत्ति कहना है। इस मान्यता मे भी मुनि का वचन ही प्रमाण है, क्योंकि मुनि ने अन्यत्र स्वयं कहा है कि—'कैशिकी का संविधान कोमल होता है और उसकी उत्पत्ति शृङ्गार-रस से होती है।'

सारांश यही है कि वैदर्भी रीति कैशिकी अर्थवृत्ति और उपनागरिका शब्द-वृत्ति माधुर्य के कारण शृङ्गाररस के अनुकूल होती हैं। इसी प्रकार गौडी रीति आरभटी अर्थवृत्ति और परुषा शब्दवृत्ति ये ओज के कारण रौद्र रस के अनुकूल होती हैं और पाञ्चालीरीति, सात्वती अर्थवृत्ति और कोमला शब्दवृत्ति ये प्रसाद की प्रधानता के कारण हास्य इत्यादि के अनुकूल होती हैं। इन वृत्तियों की स्वरूपस्थिति रस के कारण ही होती है। अतः वृत्तियों से रस सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। रस सर्वदा व्यङ्ग्य ही होता है, अतः वृत्तियों की दृष्टि से भी ध्वनि ही काव्य का परम तत्त्व सिद्ध होता है।

रीतियों और वृत्तियों को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते अपितु उनका अन्तर्भाव ध्वनिसिद्धान्त में ही हो जाता है, यह ऊपर दिखलाया गया है। इसके प्रतिपादन का कारण यह है कि अभाववादियों में कुछ लोग रीतियों और वृत्तियों मे ध्वनि के अन्तर्भाव का समर्थन करते थे। अतः उनकी मान्यता पर विचार

ध्वन्यालोकः

एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः। यत्र शब्दानामर्थानां च केषाञ्चित्प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमवभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहार इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते केनचित्तदयुक्तमिति नाभिधेयतामर्हति। यतः शब्दानां स्वरूपाश्रयस्तावदक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः। वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेतिविशेषः। अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यङ्ग्यपरत्वं व्यङ्ग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेषः। तौ च विशेषौ व्याख्यातुं शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम्। तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूलैव। यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति। अन्ततो नाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात्। सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सति प्रकाशमानत्वं तु यदनाख्येयत्वमुच्यते क्वचित् तदपि काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां लक्षणकारैर्व्याकृतरूपत्वात्। रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैवमूल्यस्थितिपरिकल्पनादर्शनाच्च। उभयेषामपि तेषां प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यत्वमस्त्येव। वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः?

(अनु०) इस प्रकार स्फुटरूप में ही इस ध्वनि का स्वरूप लक्षित करने योग्य है। जहाँ कुछ शब्दों और अर्थों का रत्नविशेषों के जात्यत्व के समान विशेष प्रतिपत्ता से संवेद्य चारुत्व न कहने योग्य ही अवभासित होता है उस काव्य में ध्वनि—व्यवहार होता है यह जो ध्वनि का लक्षण किसी के द्वारा कहा जाता है वह अनुचित है अतः वर्णन की योग्यता को प्राप्त नहीं कर पाता। क्योंकि शब्दों की स्वरूपाश्रित विशेषता है क्लिष्ट न होने पर प्रयुक्त का प्रयोग न करना। वाचकाश्रित विशेषता है प्रसाद और व्यञ्जकत्व। अर्थों की विशेषता है स्फुटरूप में अवभासित होना, व्यङ्ग्यपरता और व्यङ्ग्यांशविशिष्टता। उन दोनों विशेषताओं की व्याख्या की जा सकती हैं और बहुत प्रकार से व्याख्या की भी गई है। उससे भिन्न अनाख्येय विशेष की सम्भावना तो विवेकध्वंसमूलक ही है। क्योंकि सर्व शब्द के अगोचररूप में किसी का अनाख्येयत्व सम्भव नहीं है क्योंकि अन्त में अनाख्येय शब्द से उसका अभिधान सम्भव है। सामान्य का स्पर्श करनेवाले विशेष से जो शब्द, उससे अगोचर होते हुए प्रकाशमानत्व यदि कहीं अनाख्येयत्व कहा जाय वह भी रत्नविशेषों के समान काव्यविशेषों का सम्भव नहीं है। क्योंकि लक्षणकारों ने उसके रूप की व्याख्या कर दी और क्योंकि सामान्य सम्भावना के द्वारा ही मूल्यस्थिति की परिकल्पना देखी जाती है। उन दोनों का ही प्रतिपत्तृविशेष संवेद्यत्व है ही क्योंकि वैकटिक ही रत्न का तत्त्व जाननेवाले होते हैं और सहृदय ही काव्यों के रसज्ञ होते हैं इस विषय में किसको विप्रतिपत्ति हो सकती है?

## लोचन

इदानीं वाचां स्थितमविषये इति यदूचे तत्तु प्रथमोद्योते दूषितमपि दूषयति सर्वप्रपञ्चकथने हि असम्भाव्यमेवानाख्येयत्वमित्यभिप्रायेण। अक्लिष्टत्व इति। श्रुतिकष्टाद्यभाव इत्यर्थः। अप्रयुक्तस्य प्रयोग इत्यपौनरुक्त्यम्। तावितिं शब्दगतोऽर्थगतश्च। विवेकस्यावसादो यत्र तस्य भावो निर्विवेकत्वम्। सामान्यस्पर्शी यो विकल्पस्ततो यः शब्दः। दृष्टान्तेऽपि अनाख्येयवं नास्तीति दर्शयति—रत्नविशेषाणां चेति। ननु सर्वेण तत्र संवेद्यत इत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरयति—उभयेषामिति। रत्नानां काव्यानां च।

इस समय 'वाणी के अविषय में स्थित' यह जो कहा गया वह प्रथम उद्योत में दूषित भी सर्वप्रपञ्चकथन में निस्सन्देह अनाख्येयत्व असम्भव ही है इस अभिप्राय से (पुनः) दूषित कर रहे हैं—'अक्लिष्टत्व' यह। अर्थात् श्रुतिकष्टत्व इत्यादि का अभाव। अप्रयुक्त के प्रयोग का अर्थ है अपौनरुक्त्य। वे दोनों अर्थात् शब्दगत और अर्थगत। विवेक का अवसाद है जिसमें उसका भाव अर्थात् निर्विवेकत्व। सामान्य का स्पर्श करनेवाला जो विकल्प उससे जो शब्द। दृष्टान्त में भी अनाख्येयत्व नहीं है यह दिखलाते हैं—'और रत्न विशेषों का' यह। (प्रश्न) सबके द्वारा वह विदित नहीं किया जा सकता यह शङ्का करके स्वीकृति पूर्वक ही उत्तर देते हैं—'दोनों का' यह। रत्नों का और काव्यों का।

## तारावती

करना उचित तथा आवश्यक था। इस मान्यता को आनन्दवर्धन ने आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया और आंशिक रूप में उसका प्रत्याख्यान कर दिया। ध्वनिकार ने इसी सिद्धान्त का समर्थन कर कि रीति और वृत्ति को काव्य की आत्मा मानना केवल एकाङ्गी दृष्टिकोण है। रीतियाँ और वृत्तियाँ रसप्रवण होकर ही काव्य की आत्मा हो सकती हैं। अतः दृष्टिकोण ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना ही है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे अभाववाद के तीनों पक्षों और लक्षणा में अन्तर्भाव के प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है और यह सिद्ध हो गया है कि ध्वनि का अन्तर्भाव इन किन्हीं काव्य के प्रतिष्ठित तत्त्वों में नहीं हो सकता तथा ध्वनिकाव्य का सर्व प्रमुखस्वतन्त्र तत्त्व है। अब पाँचवाँ पक्ष शेष रह जाता है जिसमें यह कहा गया है कि ध्वनि का तत्त्व सर्वथा अनिर्वाच्य है और वाणी में इतनी शक्ति ही नहीं कि उसका ठीक विवेचन कर सके। यद्यपि इसका उत्तर भी पहले उद्योत में दिया जा चुका है तथापि अन्त में उसपर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। इस पक्षवालों के कथन का सार यही है

तारावती

कि जिस प्रकार माणिक्य का एक धर्म होता है जात्यत्व। यह धर्म माणिक्य में उत्कर्ष का आधान करता है। इस जात्यत्व धर्म को एक तो सभी लोग जान नहीं पाते, कतिपय विशेषज्ञ ही इससे परिचित होते हैं, दूसरे जो लोग इस जात्यत्व को जानते भी हैं वे भी ठीक रूप में उसकी व्याख्या नहीं कर सकते जिससे दूसरे लोग जात्यत्व के आधार पर माणिक्य के उत्कर्ष को पहिचान सकें। इसी प्रकार शब्दों और अर्थों में एक प्रकार की चारुता होती है। जिस प्रकार सभी रत्नों में जात्यत्व गुण विद्यमान नहीं होता उसी प्रकार सभी शब्दों और अर्थों में चारुता नहीं होती। कतिपय शब्द ही ऐसे होते हैं जिनमें इस प्रकार की चारुता विद्यमान होती है। जिस प्रकार रत्नों के जात्यत्व गुण को सभी लोग नहीं समझ पाते उसी प्रकार शब्दों और अर्थों की चारुता का ज्ञान भी कतिपय विशेष सहृदयों को ही होता है। किन्तु वह चारुता गूँगे के गुड के समान सर्वथा अनिर्वचनीय है। उसका आनन्द ही लिया जा सकता है प्रकथन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सौन्दर्य का जो अनिर्वचनीय तत्त्व अवभासित होता है वही ध्वनि नाम से अभिहित किया जा सकता है। यह है कुछ लोगों का मत। इस पर निवेदन है कि यह मत तो नितान्त अनुचित है, अतः इस प्रश्न का उठाया जाना भी ठीक नहीं। ऐसी कौन सी विशेषता होती है जिसका निरूपण न किया जा सके। उदाहरण के लिये शब्द को ही लीजिये। शब्द की तीन प्रकार की विशेषतायें होती हैं—( १ ) स्वरूपगत विशेषता ( २ ) वाचकत्व के आश्रित रहनेवाली विशेषता और ( ३ ) अर्थ की विशेषता। शब्द की स्वरूपगत विशेषता यही होती है कि शब्द श्रुतिकटु न हो और एक ही शब्द का बार-बार प्रयोग न किया जाय अर्थात् शब्द की पुनरुक्ति न हो। शब्द की वाचकाश्रित विशेषता यही होती है कि उसमें शीघ्र ही अर्थसमर्पण की शक्ति हो अर्थात् उसमें प्रसाद गुण विद्यमान हो और विशेष अर्थ के अभिव्यञ्जन की क्षमता हो। इसी प्रकार अर्थ की भी यही विशेषता होती है कि अर्थ स्फुटरूप में अवभासित हो रहा हो, वह दूसरे व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति उन्मुख हो और व्यङ्ग्यांश को लेकर उसकी चारुता में अभिवृद्धि हो रही हो। यही शब्द की कतिपय विशेषतायें हैं। इन समस्त विशेषताओं का कथन कर सकना असम्भव नहीं है और अधिकतर आचार्यों ने शब्द और अर्थ की इन विशेषताओं पर प्रकाश डाला भी है। इतना सब होते हुये भी शब्द और अर्थ की विशेषताओं को अनिर्वचनीय ( गूँगे का गुड़ ) कह देना तो यही सिद्ध करता है कि कहनेवाले के विवेक का सर्वथा ध्वंस हो गया है और उसके अविवेक से ही इस प्रकार के तर्क उद्भूत हो गये हैं।

तारावती

आखिर 'अनाख्येय' शब्द का अर्थ क्या है ? यही न कि ऐसी विशेषता जिसके लिये किसी शब्द का प्रयोग न किया जा सके अर्थात् जिसका निर्देश किसी शब्द के द्वारा न किया जा सके । यह तो सम्भव ही नहीं है । जितनी भी विशेषतायें होती हैं सबके लिये किसी न किसी शब्द का प्रयोग तो किया ही जाता है और प्रत्येक वस्तु का अभिधान शब्द के द्वारा तो हो ही जाता है । यदि कहो कि कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जिनके लिये किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता तो इस पर मेरा निवेदन है कि यदि कोई ऐसी विशेषता सम्भव भी हो तो भी उसे 'अनाख्येय विशेषता' कहेंगे अर्थात् ऐसी विशेषता जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।' यह कहना भी तो उस विशषता का एक परिचय देना ही हो गया । 'अनाख्येय' शब्द स्वयं ही उस विशेषता का परिचायक हो गया । अतः यह कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं कि कोई भी तत्त्व अनाख्येय हो सकता है ।

इस विषयमें पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि ज्ञान दो प्रकार का होता है एक तो सविकल्पक और दूसरा निर्विकल्पक । जो ज्ञान विशेषण-विशेष्य पर आधृत होता है वह सविकल्पक कहलाता है और जो ज्ञान विशेष्य पर आधृत नहीं होता वह निर्विकल्पक कहलाता है । उदाहरण के लिये हम किसी गाय को इस लिये पहिचान लेते हैं कि हमें गोत्व का ( आकृति ) ज्ञान है। गाय का ज्ञान विशेष्य ज्ञान है और गोत्व का ज्ञान विशेषण ज्ञान । अतएव गाय का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहा जावेगा । इसके प्रतिकूल जो ज्ञान विशेषण पर आधृत नहीं होता वह निर्विकल्पक कहलाता है । जब हम किसी ज्ञान को अनाख्येय या अनिर्वाच्य कहते हैं तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि उस ज्ञान का आधार कोई सामान्य धर्म नहीं है और वह ज्ञान सविकल्पक ज्ञान नहीं कहा जा सकता । आशय यह है कि जो ज्ञान प्रकाशित तो होता है किन्तु सामान्य धर्म का स्पर्श करनेवाले सविकल्पक शब्द का क्षेत्र नहीं होता वह ज्ञान अनाख्येय कहा जाता है । इस पर मेरा निवेदन है कि यह परिभाषा मान लेनेपर भी काव्य अनाख्येय सिद्ध नहीं होता । जैसे रत्नों की विशेषतायें जात्यत्व इत्यादि अनाख्येय नहीं होती । काव्यशास्त्र के अनेक लक्षणकार अचार्यों ने उन विशेषताओं की व्याख्या कर दी है । अतः हम उसे अनाख्येय कह ही नहीं सकते । रत्नों के विषय में और काव्य के विषय में उभयत्र यह कहा जा सकता है कि सामान्य की सम्भावना ही उनके लिये पर्याप्त होती है । रत्नों के मूल्य की परिकल्पना इतने से ही हो जाती है कि उनकी दृष्टि में सामान्य रूप से उसे रत्न की संज्ञा दे दी जावे । किन्तु उनका विशेष ज्ञान तो विशेष व्यक्तियों को ही होता है सामान्य व्यक्ति इतना तो जान लेता है कि यह रत्न होने के कारण

ध्वन्यालोकः

यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः। इह तु ग्रन्थान्तरश्रवणलवप्रकाशनं सहृदयवैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते। बौद्धमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथास्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति। तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादशब्दार्थत्वाच्च तस्योक्तमेव, ध्वनिलक्षणं साधीयः। तदिदमुक्तम्—

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षणं लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम्॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके तृतीय उद्योतः॥

(अनु०) जो तो सब लक्षणों के विषय में अनिर्देश्यत्व बौद्धों का प्रसिद्ध है उसका निरूपण हम उनके मत की परीक्षा में दूसरे ग्रन्थ में करेंगे। यहाँ तो ग्रन्थान्तर के श्रवण के एक अंश का प्रकाशित करना सहृदयों को वैमनस्य देनेवाला होगा अतः (उसका अंशमात्र भी प्रकाशन) नहीं किया जा रहा है। अथवा बौद्धमत से जैसे प्रत्यक्ष इत्यादि का लक्षण (किया जाता है) वैसा हमारा ध्वनिलक्षण हो जावेगा। उस कारण से उसके दूसरे लक्षण के घटित न होने से और शब्द का अर्थ न होने से कहा हुआ ही ध्वनिलक्षण अधिक अच्छा है। वह यह कहा गया है—

'ध्वनि के निर्वाच्यार्थक होने के कारण अनिर्वाच्यांशभासित्व लक्षण नहीं है; इसका लक्षण तो वही ठीक है जैसा कहा गया है॥'

यह राजानक आनन्दवर्धनाचार्य के रचे हुये ध्वन्यालोक में तीसरा उद्योत है।

तारावती

बहुमूल्य है किन्तु उसमें जात्यत्व इत्यादि गुण विद्यमान है यह बात तो जौहरी ही जान पाता है। इसी प्रकार सामान्य सहृदय काव्य से चमत्कृत हो जाता है किन्तु उसके विशेष गुणों को विशेष सहृदय ही जान पाते हैं। इस विषय में तो किसी को विप्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती। यह उन लोगों को उत्तर दिया गया है जो यह कहते थे कि विशेषताओं का ज्ञान सभी को नहीं होता।

यहाँ पर एक प्रश्न यह है कि बौद्धों में एक क्षणिकतावादी वर्ग है जो प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानता है। इस मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षण बदलती रहती है। देवदत्त एक क्षण पहले और था दूसरे क्षण वह और ही हो गया। इस मत के अनुसार अनिर्देश्यत्व तो सभी वस्तुओं मे आ गया। क्योंकि क्षणिक होने के कारण शब्द तो अर्थ का स्पर्श कर ही नहीं सकते। इस प्रकार जब सभी वस्तुयें अनाख्येय ही हैं तब ध्वनि में ही क्या विशेषता है कि उसको अनाख्येय न माना

## लोचन

ननु नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपीति, अनिर्देश्यस्य वेदकमित्यादौ कथमनाख्येयत्वं वस्तूनामुक्तमिति चेदत्राह—यत्त्विति। एवं हि सर्वभाववृत्तान्ततुल्य एव ध्वनिरिति ध्वनिस्वरूपमनाख्येयांशमित्यतिव्यापकलक्षणं स्यादितिभावः। ग्रन्थान्तर इति। विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तर्यां या विवृत्तिरमुना ग्रन्थकृता कृता तत्रैव तद्व्याख्यातम्। उक्तमिति। संग्रहार्थं मयैवेत्यर्थः। अनाख्येयांशस्याभासो विद्यते यस्मिन् काव्ये तस्य भावस्तत्र लक्षणं ध्वनेरिति सम्बन्धः। अत्र हेतुः। निर्वाच्यार्थतयेति। निर्विभज्य वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः। अन्यस्तु 'निर्वाच्यार्थतया' इत्यत्र निसोनञर्थत्वं परिकल्प्यानाख्येयांशभासित्वेऽयं हेतुरिति व्याचष्टे, तत्तु क्लिष्टम्। हेतुश्च साध्याविशिष्ट इत्युक्तव्याख्यानमेवेति शिवम्।

(प्रश्न) अर्थ को शब्द स्पर्श नहीं ही करते यह अनिर्देश्यत्व का आवेदक है इत्यादि मे वस्तुओं का अनाख्येयत्व कैसे कहा गया है यदि यह कहो तो यहाँ पर कहते हैं—'जो तो' यह। इस प्रकार निस्सन्देह सब पदार्थों के वृत्तान्त के समान ही ध्वनि है इसमें ध्वनिस्वरूप अनाख्येय है यह लक्षण अतिव्यापक हो जावेगा यह भाव है। 'ग्रन्थान्तर मे' यह। विनिश्चयटीका में धर्मान्तरों में ग्रन्थकार ने जो विवृत्ति लिखी है वहीं उसकी व्याख्या की है। 'कहा गया है' यह। अर्थात् संग्रह के लिये मेरे द्वारा ही। अनाख्येय अंश का आभास जिस काव्य में विद्यमान है उसका भाव वह ध्वनि का लक्षण नहीं है यह सम्बन्ध है। इसमे हेतु है—निर्वाच्य होने के कारण। अर्थात् निर्विभक्त करके कहे जाने योग्य होने के कारण। दूसरे ने तो 'निर्वाच्यार्थतया' यहाँ पर निस के निषेध अर्थ की परिकल्पना करके यह हेतु अनाख्यायांशभासित्व मे है यह व्याख्या की। वह तो क्लिष्ट है और हेतु साध्य से अविशिष्ट है अतः उक्त व्याख्या ही ठीक है। बस, आनन्द मङ्गल और कल्याण हो।

## तारावती

जा सके। इस विषय में आनन्दवर्धन का कहना यह है कि यह दार्शनिक विषय है। इसका विवेचन हम विनिश्चय नामक बौद्धग्रन्थ पर धर्मोत्तमा नाम की टीका लिखने के अवसर पर करेंगे। साहित्य के छात्र सुकुमार बुद्धिवाले होते हैं अतः यह विषयान्तर यदि उनके सामने विस्तार से रक्खा जावेगा तो वे ऊब उठेंगे और उनको वह विषय नीरस प्रतीत होगा। हाँ यहाँ पर इतना कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि बौद्ध लोग मानते तो सभी पदार्थों को क्षणिक हैं; फिर भी प्रत्यक्ष इत्यादि का लक्षण बनाते ही हैं। इसी प्रकार उनके मत को दुर्जनतोष न्याय से स्वीकार करते हुये भी हमारे ध्वनिलक्षण करने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस-

## लोचन

काव्यालोके प्रथां नीतान् ध्वनिभेदान् परामृशत् ।
इदानीं लोचनं लोकान् कृतार्थान् संविधास्यति ॥
आसूत्रितानां भेदानां स्फुटतापत्तिदायिनीम् ।
त्रिलोचनप्रियां वन्दे मध्यमां परमेश्वरीम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केते तृतीय उद्योतः ॥

'काव्यालोक में विस्तार को प्राप्त ध्वनिभेदों का परामर्श करनेवाला लोचन अब लोकों को कृतार्थ कर देगा ।

'आसूत्रित भेदों को स्पष्टता की प्राप्ति करानेवाली त्रिलोचन की प्रिया परमेश्वरी मध्यमा देवी की मैं वन्दना कर रहा हूँ ।'

यह है परममाहेश्वर श्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित ध्वनि-संकेत रूप सहृदयालोक लोचन में तृतीय उद्योत ॥

## तारावती

प्रकार क्योंकि कोई दूसरा लक्षण सङ्घटित नहीं होता और ध्वनि का वाच्य अर्थ है भी नहीं इसलिये हमारा बनाया हुआ लक्षण ही ठीक है । ऊपर जो कुछ कहा गया है उसको एक ही श्लोकमें मैंने इस प्रकार सङ्गृहीत किया है:—

'इस ध्वनि का अर्थ ( निः ) निश्शेष रूप में तथा इसको ( निर्विभक्त कर ) खण्ड-खण्ड करके निरूपित किया जा सकता है; अतः ध्वनि का यह लक्षण नहीं है कि ध्वनि उसे कहते जिसमें अनाख्येय ( अनिर्वाच्य ) तत्त्व आभासित हो रहा हो । ध्वनि का वास्तविक लक्षण तो वही है जिसका भली भाँति इस ग्रन्थ में प्रतिपादन कर दिया गया है ।

इस श्लोक का अर्थ करने में किसी ने 'निर्वाच्यार्थतया' इस हेतु को 'अनाख्येयांशभासित्व' के साथ लगाया है और 'निः' का अर्थ किया है निषेध। इस प्रकार उनका अर्थ यह हो जाता है कि 'क्योंकि ध्वनिके अर्थ का निर्वचन नहीं किया जा सकता अतः ध्वनि अनाख्येयांशभासी है ।' किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि एक तो इसमें क्लिष्ट कल्पना है दूसरे 'निर्वाच्यार्थतया' यह हेतु है और 'अनाख्येयांशभासित्व' साध्य है । दोनों का अर्थ एक ही है । अतः हेतु और साध्य में कोई भेद नहीं रहता । अतः ऊपर जो अर्थ किया गया है वही माना जाना चाहिये । बस इतना पर्याप्त है । शेष यही कहना है कि सभी का इस ग्रन्थ के द्वारा आनन्दमङ्गल हो ।

## तारावती

अन्त में लोचनकार ने दो उपसंहारात्मक श्लोक लिखे हैं। एक में लोचन के प्रयोजन का उपसंहार है और दूसरे में अन्त का मङ्गलाचरण है। प्रथम श्लोक का अर्थ यह है:—

'काव्यालोक ( ध्वन्यालोक ) में विस्तारपूर्वक जिन ध्वनिभेदों का निरूपण किया गया है उन्हीं की छानबीन इस लोचन नामक व्याख्या में की गई है। यह लोचन तृतीय उद्योत तक पूरा हो चुका है। अतः अब यह इस योग्य हो गया है कि सहृदय समाज को ध्वनि का रहस्य समझाकर कृतार्थ कर दे। यह लोचन ऐसा ही करेगा ऐसी हमारी आशंसा है।'

दूसरा श्लोक ग्रन्थान्त में मङ्गलाचरणपरक है। दूसरे उद्योत में पश्यन्ती देवी की अभ्यर्थना की गई थी; अब इस उद्योतमें मध्यमा देवी की अभ्यर्थना की गई है। ( वाणी के चार रूप हैं परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परारूप में सभी ध्वनियाँ 'क ख ग' इत्यादि एक सी रहती है; पश्यन्ती मे भेद का सूत्रपात होता है जिसको केवल बुद्धि ग्रहण कर सकती है; फिर मध्यमा में वे भेद स्फुट हो जाते हैं। द्वितीय उद्योत मे ध्वनिभेदों का सूत्रपात किया गया था; अतः उसमें पश्यन्ती की प्रार्थना ठीक थी। अब इस उद्योत मे ध्वनिभेदों का स्पष्टीकरण किया गया है, अतः इसमें मध्यमा की प्रार्थना ही उचित है। दूसरी बात यह है कि शैव लोग शिव को ही परब्रह्म का स्वरूप मानते हैं और महामाया भगवती पार्वती ही हैं। भेदों का सूत्रपात कर जगत् को सत्ता में लाना और उसको स्पष्टता प्रदान करना यह महामाया भगवती पार्वती का ही कार्य है। अतः पश्यन्ती और मध्यमा ये भगवती पार्वती के ही रूप हैं। इस प्रकार इस पद्य में मध्यमा के रूप में भगवती पार्वती की वन्दना की गई है। श्लोक का सार यह है—

'जिन भेदों का सूत्रपात हो जाता है उनको स्पष्टता प्रदान करनेवाली भगवती पार्वती की शक्ति मध्यमा रही है। यह त्रिलोचन भगवान् शंकर की प्रेयसी है। और उन्हीं के आधीन रहकर कार्य करती है। इसकी हम बन्दना करते हैं।'

यहाँ पर शंकर के लिए त्रिलोचन शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है। 'त्रि' शब्द तृतीय उद्योत की ओर सङ्केत करता है और 'लोचन' शब्द लोचन टीका की ओर। अतः त्रिलोचन की प्रिया मध्यमा देवी की बन्दना भी सार्थक हो जाती है और इससे यह भी अभिव्यक्त हो जाता है कि ध्वनि भेदों को स्पष्टता प्रदान करना ही लोचन टीका का प्रमुख उद्देश्य है।

—:०:—

# ध्वन्यालोकः

## चतुर्थ-उद्योतः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते—

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥ १॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम्॥

(अनु०) इस प्रकार विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिये प्रपञ्च के साथ ध्वनि का व्युत्पादनकर उसके व्युत्पादन में दूसरा प्रयोजन कहा जा रहा है।'

'गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ ध्वनि का जो यह मार्ग दिखलाया गया है इससे कवियों का प्रतिभागुण अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।'

जो यह ध्वनि का और गुणीभूतव्यङ्ग्य का मार्ग प्रकाशित किया गया है इसका फल है कविप्रतिभा की अनन्तता।

### लोचन

कृत्यपञ्चकनिर्वाहयोगेऽपि परमेश्वरः।
नान्योपकरणापेक्षो यया तां नौमि शाङ्करीम्॥

उद्योतान्तरसङ्गतिं विचारयितुं वृत्तिकार आह—एवमिति। प्रयोजनान्तरमिति। यद्यपि 'सहृदयनःप्रीतये' इत्यनेन प्रयोजनं प्रागेवोक्तं, तृतीयोद्योतावधौ च सत्काव्यं

'परमेश्वर कृत्यपञ्चक के निर्वाह योग में भी जिस माया के कारण अन्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं करते उस शाङ्करी माया की हम वन्दना करते हैं।'

दूसरे उद्योत की सङ्गति पर विचार करने के लिये वृत्तिकार कहते हैं—'इस प्रकार' यह। 'दूसरा प्रयोजन' यह। यद्यपि 'सहृदयों की मन प्रीति के लिये' इसके द्वारा प्रयोजन पहले ही कहा गया और तृतीय उद्योत की समाप्ति पर्यन्त अच्छे

### तारावती

चतुर्थ उद्योत के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में भी अभिनवगुप्त ने भगवान् शङ्कर की मायारूपिणी शक्ति की ही अभ्यर्थना की है। जिसका सार यह है—

## लोचन

कर्तुं वा ज्ञातुं वेति तदेवेषत्स्फुटीकृतं तथापि स्फुटतरीकर्तुमिदानीं यत्नः। यतस्सुस्पष्टरूपत्वेन विज्ञायते, अतोऽस्पष्टनिरूपितात्स्पष्टनिरूपणमन्यथैव प्रतिभातीति प्रयोजनान्तरमित्युक्तम्। अथवा पूर्वोक्तयोः प्रयोजनयोरन्तरं विशेषोऽभिधीयते, केन विशेषेण सत्काव्यकरणमस्य प्रयोजनं, केन च सत्काव्यबोध इति विशेषो निरूप्यते। तत्र सत्काव्यकरणे कथमस्य व्यापार इति पूर्वं वक्तव्यं निष्पादितस्य ज्ञेयत्वादिति तदुच्यते ॥ १ ॥

काव्य को करने के लिये अथवा जानने के लिये उसीको कुछ स्पष्ट कर दिया गया तथापि और अधिक स्पष्ट करने के लिये यह यत्न है। क्योंकि सुस्पष्टरूप में विज्ञात होता है; अतः अस्पष्ट निरूपित की अपेक्षा स्पष्टनिरूपण अन्यथा ही प्रतिभात होता है इसलिये प्रयोजनान्तर यह कहा गया है। अथवा पूर्वोक्त दोनों प्रयोजनों का अन्तर अर्थात् विशेषता बतलाई जारही है कि किस विशेषता से सत्काव्य का बनाया जाना इसका प्रयोजन है और किससे सत्काव्यबोध यह विशेषता निरूपित की जा रही है। उसमें सत्काव्य करण में इसका व्यापार कैसे होता है यह पहले कहा जाना चाहिये क्योंकि निरापादित ही ज्ञेय होता है। वह कहते हैं-'ध्वनि का जो' यह ॥ १ ॥

## तारावती

'भगवान् शिव सर्वदा ५ कर्तव्यों का निर्वाह किया करते हैं—उत्पत्ति, स्थिति, (पालन) संहार, तिरोभाव और अनुग्रहकरण। इन कर्तव्यों का पालन कोई सामान्य बात नहीं है तथापि इनके पालन में परमेश्वर को केवल एक साधन की अपेक्षा होती है वह है शङ्कर जी की मायारूपिणी शक्ति। उसके रहते हुये संसार के क्रियाकलाप सञ्चालित करने में भगवान् को किसी अन्य उपकरण की अपेक्षा ही नहीं होती। हम उसी मायारूपिणी शङ्कर की शक्ति को नमस्कार कर रहे हैं।'

यहाँ आशय यह है कि भगवती शाङ्करी शक्ति ही सबसे बड़ा साधन है जिससे विश्व के सारे क्रियाकलाप सञ्चालित होते हैं। हमें भी उस शाङ्करी शक्ति का ही पूरा विश्वास है कि केवल उसी की सहायता से हम ध्वन्यालोक की व्याख्यारूप अपने दुस्तर कार्य को सफलतापूर्वक पूरा कर लेंगे।

चौथे उद्योत की प्रथम कारिका की व्याख्या करने के पहले वृत्तिकार ने प्रतीकात्मक उपक्रम में तृतीय और चतुर्थ उद्योतों की सङ्गति बैठाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि ध्वनि के विषय में आचार्यों में पर्याप्त विप्रतिपत्तियाँ चल रहीं थीं। जब तक उन विप्रतिपत्तियों का निराकरण नहीं किया जाता तब तक इस सिद्धान्त को स्थिरता प्राप्त ही नहीं हो सकती थी। अतः ध्वनि का हमें प्रपञ्च के साथ निरूपण करना पड़ा है और यह कार्य हमने तृतीय उद्योत के अन्त तक

तारावती

पूरा कर लिया। इस ध्वनिनिरूपण के और भी प्रयोजन हैं। अब इस चतुर्थ उद्योत में उन्हीं प्रयोजनों पर प्रकाश डाला जावेगा। 'दूसरे प्रयोजन' कहने का आशय यह है कि तृतीय उद्योत तक कतिपय प्रयोजन तो बतलाये जा चुके। प्रथम उद्योत में ही कहा गया था कि प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रयोजन है सहृदयमनः-प्रीति, तृतीय उद्योत में भी ४५ वीं कारिका में कहा गया था कि इस ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन है सत्काव्य का करना या सत्काव्य का समझना। वस्तुतः प्रथम उद्योत में कहे हुए प्रयोजन 'सहृदयमनःप्रीति का ही स्पष्टीकरण है—सत्काव्य का करना या सत्काव्य का समझना। किन्तु यह बात वहाँ पर बहुत स्पष्ट नहीं थी। अब यह जो चतुर्थ उद्योत में प्रयोजन का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है उसका मन्तव्य उसी प्रयोजन को और अधिक स्पष्ट करना है। (प्रश्न) जब उसी प्रयोजन को अधिक स्पष्ट किया जावेगा तब 'दूसरा प्रयोजन' कहने का क्या आशय? (उत्तर) चतुर्थ उद्योत के विवेचन के बाद वह प्रयोजन अधिक स्पष्टरूप में ज्ञात हो जावेगा। अतः अस्पष्टनिरूपण और स्पष्टनिरूपण दोनों एक तत्त्व नहीं कहे जा सकते। स्पष्टता और अस्पष्टता में स्वाभाविक भेद होता है। इसीलिये स्पष्ट-निरूपण को अस्पष्टनिरूपण की अपेक्षा पृथक् प्रयोजन कहा गया है। अथवा यहाँ पर प्रयोजनान्तर की यह व्युत्पत्ति नहीं होगी कि—'अन्यत् प्रयोजनमिति प्रयोजनान्तरम्' अपितु यहाँ पर अन्तर शब्द का अर्थ है भेद। अतएव यहाँ व्युत्पत्ति यह होगी—'प्रयोजनयोरन्तरमिति प्रयोजनान्तरम्' अर्थात् दो प्रयोजनों का भेद। आशय यह है कि दो प्रयोजन बतलाये गये हैं—सत्काव्य की रचना और सत्काव्य का बोध। अब इस चतुर्थ उद्योत में यह दिखलाया जावेगा कि इन दोनों प्रयोजनों में भेद क्या है? वे कौन सी विशेषतायें होती हैं जिनसे सत्काव्य की रचना ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन है तथा वे कौन सी विशेषतायें होती हैं जिनसे सत्काव्य का बोध ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन होता है? यही निर्णय इस उद्योत में किया जावेगा। समझना निर्माण के बाद आता है क्योंकि जब वस्तु बन जाती है तभी वह समझी जा सकती है। अतः पहले कवि की दृष्टि से ध्वनिनिरूपण के प्रयोजन पर विचार किया जावेगा; बाद में सहृदय की दृष्टि से प्रयोजन बतलाया जावेगा। इस पहली कारिका में कवि की दृष्टि से प्रयोजन बतलाया गया है। कारिका का अर्थ यह है :—

'ध्वनि का भी मार्ग बतलाया जा चुका और गुणीभूतव्यङ्ग्य का भी। इसका (सहृदयमनःप्रीति तो फल है ही दूसरा) फल यह भी है कि इससे कवि का प्रतिभा-गुण अनन्त हो जाता है॥ १॥

ध्वन्यालोकः

कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥ २ ॥

अतो ध्वनेरुक्तप्रभेदमध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती वाणी पुरातनकविनिबद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति ।

( अनु० ) यदि कहो कैसे ? तो—

'यदि दोनो में से किसी एक प्रकार से भी विभूषित वाणी पूर्व अर्थ के अन्वयवाली होते हुये भी नवीनताको प्राप्त होजाती हैं ॥ २ ॥

'इन दोनों मे से अर्थात् ध्वनि के उक्त प्रभेदों के मध्य से अन्यतम प्रकार से विभूषित होती हुई वाणी पुराने कवियों के निबद्ध अर्थ का स्पर्श करती हुई भी नवीनता को प्राप्त हो जाती है ।

लोचन

ननु ध्वनिभेदात् प्रतिभानामानन्त्यमिति व्यधिकरणमेतदित्यभिप्रायेणाशङ्कते—कथमितीति । अत्रोत्तरम्—अताहीति । आसमन्तात् बहवः प्रकाराः, एकेनाप्येवं भवतीत्यपिशब्दार्थः । एतदुक्तं भवति—वर्णनीयवस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रतिभानं, तत्र वर्णनीयस्य परिमित्यादाद्यकविनैव स्पृष्टत्वात् सर्वस्य तद्विषयं प्रतिभानं तज्जातीयमेव स्यात् । ततश्च काव्यमपि तज्जातीयमेवेतिभ्रष्ट इदानीं कविप्रयोगः उक्तिवैचित्र्येण तु तएवार्था निरवधयो भवन्तीति तद्विषयाणां प्रतिभानामानन्त्यमुपपन्नमिति । ननु प्रतिभानन्त्यस्य किं फलमितिनिर्णेतुं वाणी नवत्वमायातीत्युक्तं, तेन वाणीनां काव्यवाक्यानां तावन्नवत्व-

( प्रश्न ) ध्वनिभेद से प्रतिभानन्त्य यह व्यधिकरण है इस अभिप्राय से आशङ्का करते हैं—'कैसे?' यह। यहाँ उत्तर है—'इन दोनों में से' यह।' 'आ' का अर्थ है चारों ओर से बहुत से प्रकार; अपिशब्द का अर्थ है कि एक प्रकार के द्वारा भी ऐसा हो जाता है । यह कहा गया है—'प्रतिभान का अर्थ है वर्णनीय वस्तु में रहनेवाली प्रज्ञा की विशेषता । उसमे वर्णनीय के परिमित होने के कारण आदि कवि के द्वारा ही स्पृष्ट होने से सभी का तद्विषयक प्रतिभान तज्जातीय ही होगा । उससे काव्य भी तज्जातीय ही होगा इससे इस समय कविप्रयोग भ्रष्ट हो गया । उक्तिवैचित्र्य से तो वे ही विषय सीमातीत हो जाते हैं अतएव उनके विषयों का प्रतिभानन्त्य सिद्ध हो जाता है । ( प्रश्न ) प्रतिभानन्त्य का क्या फल है ? यह निर्णय करने के लिये वाणी नवीनता को प्राप्त हो जाती है यह कहा गया है। इससे वाणियों का अर्थात् काव्यवाक्यों का नवीनत्व आ जाता है । और वह प्रतिभा के

## लोचन

मायाति। तच्च प्रतिभानन्त्येसत्युपपद्यते, तच्चार्थानन्त्ये तच्चध्वनिप्रभेदादिति।

अनन्त होने पर सिद्ध होता है और वह अर्थ की अनन्तता में और वह ध्वनि के प्रभेद से।

## तारावती

दूसरी कारिका की प्रतीकयोजना करते हुये वृत्तिकार ने प्रश्न किया है 'यह कैसे ?'। इस प्रश्न का आशय यह है कि वस्तुतः प्रयोजन एकाधिकरण्य में होता है। जो व्यक्ति कोई कार्य करता है या जिसमें कोई गुण होता है उसी व्यक्ति को उसका फल मिलता है अन्य को नहीं। यहाँ पर काव्यमार्ग बतलाया गया है और उसी प्रसङ्ग में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का विवेचन किया गया है। अतः फल भी ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही दिखलाया जाना चाहिये था। किन्तु इसके प्रतिकूल प्रथम कारिका में फल दिखलाया गया है कवि की प्रतिभा की अनन्तता। इस प्रकार ध्वनि इत्यादि भेद तो काव्यगत होते हैं फल दिखलाया जा रहा है प्रतिभा की अनन्तता जोकि कविगत होती है। यह वैय्यधिकरण्य हो गया अर्थात् गुण कहीं अन्यत्र है और फल कहीं अन्यत्र। इसकी सङ्गति किस प्रकार लगती है ? इसी प्रश्न का उत्तर दूसरी कारिका में दिया गया है। इस कारिका का आशय यह है कि जिस अर्थ को प्राचीन कवि वाल्मीकि इत्यादि ने काव्य-बद्ध कर दिया हो उसी अर्थ को लेकर अर्वाचीन कवियों की जो वाणी प्रवृत्त होती है यद्यपि उसमें उपान्त अर्थ पुराना ही होता है तथापि यदि उसमे ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य के किसी एक ही प्रकार का आश्रय ले लिया जाता है तो वह पुराना अर्थ भी नया मालूम पड़ने लगता है। 'किसी एक ही' कहने का आशय यह है कि यदि अनेक प्रकारों का आश्रय लिया जाय तो कितनी नवीनता आ जावेगी यह तो कहा भी नहीं जा सकता। 'आयाति' में 'आ' इस उपसर्ग का अर्थ है चारों ओर से। अर्थात् ध्वनि के प्रभेद अनन्त हैं; अतः नवीन प्रकार का आश्रय लेने से सभी ओर से उसमें नवीनता आ जाती है।

यहाँ कहने का आशय है कि प्रतिभा का अर्थ क्या है ? यही न कि कवि की एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा जो वर्णनीय विषय के सम्बन्ध में होती है अर्थात् कवि के अन्दर एक विशेष प्रकार की प्रज्ञा होती है जिससे वह किसी वस्तु को उसके अनेक रूपों मे देख लेता है। उसी प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो कविता के क्षेत्र मे आनेवाली वर्णनीय वस्तुयें तो बहुत थोड़ी है। (चन्द्र, कमल इत्यादि के कुछ गिने-चुने अप्रस्तुत तथा रति उत्साह इत्यादि कतिपय प्रस्तुत भाव ही कविता के क्षेत्र में अपनाये जाते रहे हैं।) इन

## तारावती

सबका वर्णन तो आदि कवि वाल्मीकि ने ही कर दिया। अब यदि उन्हीं विषयों को लेकर कवि की प्रतिभा प्रस्फुटित होगी तो उसमें भी वही तत्त्व आयेंगे जिनको महाकवि वाल्मीकि ने पहले ही अपने काव्य में स्थान दे दिया था। यदि इस प्रकार समस्त काव्य एक जैसा ही बनेगा तो कविवर वाल्मीकि के लिये तो कवि कहना ठीक होगा उसके बाद जितने भी कवि हुये हैं उन सबके लिये कवि शब्द ही उच्छिन्न हो जायेगा। अतः उस तत्त्व का अन्वेषण किया जाना चाहिये जिसके कारण पुराने विषय भी नये जैसे प्रतीत होते है। वह तत्त्व है उक्ति वैचित्र्य अथवा वैदग्ध्य भङ्गीभिणित। यदि उक्तिवैचित्र्य का आश्रय लिया जाय तो वही पुराना विषय नवीन हो जाता है और जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है उक्ति वैचित्र्य असीमित होता है; अतः कोई एक विषय भी काव्य के लिये असीमित हो सकता है। इस प्रकार प्रतिभा की अनन्तता सिद्ध हो जाती है। प्रतिभा की इस अनन्तता का यही फल है कि कवि की वाणी मे नवीनता का सञ्चार हो जाय और चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ नई-नई ज्ञात होने लगें। इस प्रकार यह जो प्रश्न उठाया गया था कि ध्वनि के अनन्त भेदों से प्रतिभा के अनन्त भेद कैसे हो जायेंगे? यह तो वैय्यधिकरण्य में फल का स्वीकार कर लेना हो जायेगा। इसका उत्तर भी हो गया। वह इस प्रकार कि इनमें परम्परा सम्बन्ध है। ध्वनियों के भेदाभेद अनन्त होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उपादेय अर्थ भी अनन्त हो जाते हैं क्योंकि यह बतलाया ही जा चुका है कि एक ही अर्थ नवीन भङ्गिमा से कहे जाने पर नवीन ही हो जाता है। किन्तु अर्थों में अनन्तता स्वयं एक हेतु है और उससे कविप्रतिभा में अनन्तता आ जाती है। क्योंकि प्रतिभा भी अन्ततः कवि की वर्णनीय वस्तुनिष्ठ विशेष प्रकार की प्रज्ञा ही है। प्रतिभा की अनन्तता का फल यह होता है कि काव्य वाक्य भी अनन्त हो जाते हैं। इस प्रकार वैय्यधिकरण्य का परिहार हो जाता है। यही बात दूसरी कारिका में कही गई है जिसका सार यह है—

'ध्वनि के बहुत से भेदोपभेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यदि उनमें से किसी एक का ही आश्रय ले लिया जाय तो कवि चाहे ऐसी ही बात कहे जो पुराने किसी कवि ने कह दी हो फिर भी वह बात पहले कही गई सी नहीं प्रतीत होगी अपितु उसमें एक नवीनता के दर्शन होने लगेंगे।'

इस विषय में दो एक उदाहरण देना वाञ्छनीय होगा। सर्वप्रथम यह दिखलाया जा रहा है कि कही हुई बात में ही यदि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दोनों प्रकारों की योजना कर दी जाय तो किस प्रकार नवीनता आ जाती है। देखिये:—

ध्वन्यालोकः

तथा ह्यविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वयसमाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव नहि रम्यं मृगदृशः॥

इत्यस्य—

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः॥

इत्येवमादिषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्यध्वनिसमाश्रयेणापूर्वत्वमेव प्रतिभासते।

(अनु०) वह निस्सन्देह पूर्व अर्थ के अनुगम मे भी अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो प्रकारों के आश्रय लेने से नवीनता जैसे—

'कुछ मुग्ध स्मित, तरल और मधुर दृष्टि का विभव, अभिनव विलास की ऊर्मियों से सरस वाणी का प्रवाह; लीला का परिमल जिसमें किसलय का आचरण कर रहा है इस प्रकार का गमन का आरम्भ (इत्यादि), ऐसी तारुण्य को स्पर्श करनेवाली नायिकाओं का क्या वस्तु है जो रमणीय नहीं प्रतीत होता।' इसका—

'जिनकी मुस्कुराहट का उद्भेद विलासपूर्ण है, नेत्र चञ्चल हैं; वाणी स्खलित होरही है और जो नितम्बभार से आलस्ययुक्त गमनवाली हैं वे कामिनियां किसको प्यारी नहीं हैं।'

इत्यादि के होते हुए भी तिरस्कृतवाच्यध्वनि के समाश्रय से अपूर्वत्व ही प्रतिभासित होता है।

लोचन

तत्र प्रथममत्यन्ततिरस्कृतवाच्यान्वयमाह—स्मितमिति। मुग्धमधुरविभवसरसकिसलयितपरिमलस्पर्शनान्यत्यन्ततिरस्कृतानि। तैरनाहृतसौन्दर्यसर्वजनवाल्लभ्याक्षीणप्रसरत्वसन्तापप्रशमनतर्पकत्वसौकुमार्यसार्वकालिकतत्संस्कारानुवृत्तित्वयत्नाभिलषणीयसङ्गत्वानि ध्वन्यमानानि यानि, तैः स्मितादेः प्रसिद्धार्थकस्य स्थविरवेधोविहित-

उसमे प्रथम अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का अन्वय कहते हैं—'स्मित' यह। मुग्ध, मधुर, विभव, सरस, किसलयित, परिमल और स्पर्श ये शब्द अत्यन्ततिरस्कृत हैं, इनसे अनाहृत सौन्दर्य सर्वजनवाल्लभ्य, अक्षीणप्रसरत्व, सन्तापप्रशमन, तर्पकत्व, सौकुमार्य, सार्वकालिक तत्संस्कारानुवृत्तित्व और यत्नाभिलषणीय सङ्गतत्व ये जो ध्वन्यमान होते हैं उनसे प्रसिद्ध अर्थवाले स्मित इत्यादि की बुड्ढे ब्रह्मा के द्वारा

## लोचन

धर्मव्यतिरेकेण धर्मान्तरपात्रता यावत्क्रियते तावत्तदपूर्वमेव भासत इति दूरेण सम्बन्धः। सर्वत्रैवास्य नवत्वमिति सङ्गतिः।

बनाये हुये धर्म से भिन्न दूसरे धर्मों की जब तक पात्रता की जाती है तब तक वह अपूर्व ही हो जाता है यह सर्वत्र माना जाना चाहिये। 'इसका' 'अपूर्व हो जाता है' इस दूर के शब्द से सम्बन्ध है। सङ्गति यह है कि सर्वत्र इसका नवत्व ही हो जाता है।

## तारावती

'जब मृगनयनी तारुण्य का स्पर्श करती है तब उससे सम्बद्ध क्या वस्तु मनोरम नहीं हो जाती? मुस्कुराहट कुछ मुग्ध होती है, दृष्टि का वैभव कुछ तरल और मधुर होता है, वाणीका प्रवाह अभिनव विलास की लहरों से सरस हो जाता है, गमन मे यह तत्त्व उद्भूत हो जाता है कि उसमें लीला परिमल किसलय का कार्य करने लगता है।'

अब इसके शब्दप्रयोग पर विचार कीजिये:—

(१) 'मुस्कुराहट कुछ मुग्ध है' 'मुग्ध' (भोलाभाला) कोई व्यक्ति हो सकता है मुस्कुराहट नहीं। अतः यह शब्दार्थ में बाधित होकर स्वाभाविक इस अर्थ को लक्षित कराता है। इससे प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य निकलता है कि मुस्कुराहट में बिना किसी बनावट के सौन्दर्य का अतिरेक विद्यमान है।

(२) 'दृष्टि मधुर है' मधुर कोई खाद्य पदार्थ हो सकता है; दृष्टि के लिये यह विशेषण बाधित है। अतः इससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'दृष्टिप्रसार सुन्दर है।' इसका प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ होगा कि दृष्टि का प्रसार इतना आकर्षक है कि बिना किसी अपवाद के सभी रसिकों के हृदयो का प्रेम अपनी ओर खींच लेता है।

(३) 'दृष्टि का वैभव' वैभव या ऐश्वर्य व्यक्ति का हो सकता है दृष्टि का नहीं। इससे लक्ष्यार्थ निकलता है 'दृष्टि का प्रसार' और व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि नायिका का दृष्टिपात बेरोकटोक अविरतगति से हो रहा है; उसको कोई रोक ही नहीं सकता।

(४) 'वाणी का सरस प्रवाह' सरस प्रवाह जलधारा का ही हो सकता है वाणी का नहीं। इससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि वह निरन्तर श्रुतिसुखद वाणी बोल रही है। इससे व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि उसकी मधुरवाणी को सुनकर सन्ताप शान्त हो जाता है और हृदय मे एक तृप्ति का अनुभव होने लगता है।

(५) 'गमन किसलय का कार्य कर रहा है।' गमन का किसलय कार्य असम्भव है; अतः बाध होकर लक्ष्यार्थ निकलता है कि उसकी चाल में मनोहरता

है । इससे व्यङ्ग्य निकलता है कि उसकी चाल सौकुमार्य से युक्त है और हर समय सौकुमार्य का ही अनुवर्तन करती रहती है ।

( ६ ) 'लीला-परिमल' परिमल कमलों का हो सकता है लीला में सम्भव नहीं । अतः बाधित होकर परिमल शब्द सुन्दरता को लक्षित करता है जिससे व्यङ्ग्यार्थ निकलता है उसकी चाल इतनी सुन्दर है कि प्रयत्नपूर्वक उसके देखने की अभिलाषा की जानी चाहिये ।

( ७ ) 'तारुण्य का स्पर्श' स्पर्श किसी मूर्त वस्तु का किया जा सकता है; तारुण्य का सम्भव नहीं है। अतः बाध होकर लक्षित होता है कि उसके अन्दर तारुण्य का सञ्चार हो गया है । इससे व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि तारुण्य उसके अंग से मिलकर बहुत ही सङ्गत प्रतीत होता है ।

यहाँपर स्मित इत्यादि शब्दों के वाच्यधर्म का सर्वथा परित्याग हो जाता है । ब्रह्मा जी तो वृद्ध हो गये हैं; उनमें रसिकता कहाँ से आई । अतः उन्होंने स्मित में भी जिस धर्म की स्थापना की वह बड़ा ही अनाकर्षक था । तारुण्य के सञ्चार के साथ वह अनाकर्षक रूप दूर हो गया और यह शब्द दूसरे धर्मों का पात्र बन गया। जब इस तथ्यपर विचार किया जाता है तब इस पद्य में एक अभूतपूर्व चारुता की प्रतीति होने लगती है । किन्तु इस पद्य में कोई नई बात नहीं कही गई है । रमणियों की मुस्कुराहट, दृष्टिपात, भोली भाली वाणी का सरस प्रवाह और लीलागति ये ऐसे तत्त्व हैं, जिनका कविता में प्रायः उपादान होता ही है । इस पद्य की रचना के पहले ही किसी कवि ने लिखा था—

'ऐसी कामिनियाँ किसको प्यारी नहीं होतीं जिनकी मुस्कुराहट हर समय प्रस्फुटित होती रहती है और उस मुस्कुराहट के साथ विलासों का भी योग रहता है, जिनके नेत्र चञ्चल होते हैं, जिनकी वाणी ( मद के कारण ) स्खलित होने लगती है और जिनका गमन नितम्बभार के कारण आलस्यमय होता है ।'

इस पद्य में भी वे ही सब बातें आ जाती हैं जिनका उपादान उक्त पद्य में कवि ने किया है । अतः वस्तु की तो कोई नवीनता है नहीं । यदि कोई नवीनता कही जा सकती है तो केवल यह कि उस पद्य में कवि ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का प्रयोग किया है जो कि पुराने पद्य में नहीं किया गया था । अतएव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि ने ही परिचित पुराने भाव को सर्वथा नया बना दिया ।

एक दूसरा उदाहरण और लीजिये जिसमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के कारण पुराने परिचित भाव में नवीनता आई है । पद्य का भावार्थ यह है :—

## ध्वन्यालोकः

तथा—

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हतहस्तिवहलपललाशी ।
श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते ॥

इत्यस्य—

स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते ।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिसमाश्रयेण नवत्वम् ।

( अनु० ) उसी प्रकार—

'जो प्रथम है वह प्रथम ही है । वह इस प्रकार कि मारे हुये हाथियों के घने मांस को खानेवाला जङ्गली जीवों मे सिंह ही है क्या उसको पराभूत किया जा सकता है । इसकी—

'अपने तेज से महिमा को अर्जित करनेवाला किस दूसरे के द्वारा नीचा किया जा सकता है ? बड़े-बडे हाथियोंसे भी सिंह क्या दबाया जा सकता है ?'

इत्यादि श्लोकों के होते हुये भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का आश्रय ले लेने से नवीनता आ जाती है ।

## लोचन

द्वितीयः प्रथमशब्दोऽर्थान्तरेऽनपाकरणीयप्रधानत्वासाधारणत्वादिव्यङ्ग्यधर्मान्तरे सङ्क्रान्तं स्वार्थं व्यनक्ति । एवं सिंहशब्दोऽपि वीरत्वानपेक्षत्वविस्मयनीयत्वादौ व्यङ्ग्यधर्मान्तरे संक्रान्तं स्वार्थं ध्वनति ।

दूसरा प्रथम शब्द अनुपेक्षणीय प्रधानत्व असाधारणत्व इत्यादि व्यङ्ग्य धर्मान्तर रूप अर्थान्तर मे सक्रान्त अपने अर्थ को व्यक्त करता है । इसी प्रकार सिंह शब्द भी वीरत्व, अनपेक्षत्व, विस्मयनीयत्व इत्यादि व्यङ्ग्य धर्मान्तर में संक्रान्त स्वार्थ को ध्वनित करता है ।

## तारावती

'जो प्रथम है वह सर्वदा प्रथम ही है, इस में सब से बडा प्रमाण यही है कि शेर स्वयं हाथियों को मारकर उनके बहुत ही पुष्कल घने मांस को खाता है । समस्त जङ्गली जीवों मे वह शेर शेर ही है । क्या कोई इस विश्व मे ऐसा है जो अपने वीरता के गुणों से शेर को नीचा दिखा सके ।'

यहाँ पर 'जो प्रथम है वह प्रथम है' यह कोई बात नहीं हुई । तात्पर्यानुपपत्ति के कारण दूसरा प्रथम शब्द स्वार्थ मे बाधित है । और उससे लक्ष्यार्थ निकलता

ध्वन्यालोकः

विवक्षितान्यपरवाच्यस्याप्युक्तप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं यथा—

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदनैर्विन्यस्य वक्त्रं वधूः
बोधाभासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः
साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥

इत्यादेः श्लोकस्य।

( अनु० ) विवक्षितान्यपरवाच्य का भी उक्त प्रकार के आश्रय से नवत्व जैसे—

'निद्रा का बहाना करनेवाले प्रिय के मुख पर मुख रखकर वधू जागजाने के त्रास से चुम्बनरस को रोके हुये प्रयत्न के कारण चञ्चल होकर स्थित रही। लज्जा के कारण विमुख हो जायगी इसलिये उस ( नायक ) के भी आरम्भ न करने पर साकाङ्क्ष प्रवृत्ति के कारण रति के तो पार पहुँच गया।'

इत्यादि श्लोक का,

तारावती

है कि जिसको अपने गुणों के कारण प्रथम स्थान प्राप्त होता है वह सर्वथा प्रधान ही बना रहता है। इसका प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ है कि जिस व्यक्ति को समाज प्रधान मान लेता है उसके गुण इतने महान् होते हैं कि उसकी प्रधानता को टाल सकने की शक्ति किसी में नहीं होती; और उसमें लोक की अपेक्षा एक विलक्षणता तथा असाधारणता होती है। इसी प्रकार 'सिंह सिंह है' यह कथन भी कुछ सङ्गत नहीं होता और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि सिंह सब जीवों में प्रधान है। उससे भी यही व्यञ्जना निकलती है कि सिंह की प्रधानता को कोई भी ठुकरा नहीं सकता और उसमें असाधारण पराक्रम होता है जिससे उसे किसी की परवा नहीं होती। चमत्कार व्यङ्ग्यार्थनिष्ठ है अतः यह अर्थान्तरसंक्रमित विवक्षितान्यपर वाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। किन्तु यह भाव भी कोई नया नहीं है। इस पद्य की रचना में भी एक पुराने श्लोक का भाव ही लिखा गया है। उस श्लोक का भावार्थ यह है :—

'जिस व्यक्ति को महिमा प्राप्त करने के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। वह अपने तेज से ही महिमा को प्राप्त कर लेता है। क्या उसका अतिक्रमण किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है, क्या बडे बड़े हाथियों के द्वारा भी सिंह का पराभव किया जा सकता है?'

प्रथम पद्य का भाव भी लगभग वही है। वस्तु मे प्रायः कोई अन्तर नहीं अन्तर है तो केवल इतना कि उस पद्य में वही बात कहने के लिये अर्थान्तर

## लोचन

एवं प्रथमस्य द्वौ भेदावुदाहृत्य द्वितीयस्याप्युदाहर्तुमासूत्रयति—विवक्षितेति। निद्रायां कैतवी कृतकसुप्त इत्यर्थः। वदने विन्यस्य वक्त्रमिति। वदनस्पर्शजमेव तावद्दिव्यं सुखं त्यक्तुं न पारयतीति। अत एव प्रियस्येति। वधूः नवोढा। बोधत्रासेन प्रियतमप्रबोधमयेन निरुद्धो हठात् प्रवर्तमानः प्रवर्तमानोऽपि कथञ्चित्कथञ्चित् क्षणमात्रधृतश्चुम्बनाभिलाषो यया। अत एव आयोगेन पुनः पुननिंद्राविचारनिर्वर्णनया विलोलं कृत्वा स्थिता, न तु सर्वथैव चुम्बनान्निवर्तितुं शक्नोतीत्यर्थः।

इस प्रकार प्रथम के दो भेदों के उदाहरण देकर द्वितीय के भी उदाहरण देने के लिए उपक्रम करते हैं—'विवक्षित' इत्यादि। 'निद्रा में कैतवी' अर्थात् बनावटी सोये हुये। 'मुख के ऊपर मुख रखकर' यह। अर्थात् वदनस्पर्श से ही उत्पन्न हुये दिव्य सुख को छोड़ने मे समर्थ नहीं हो रही है। इसीलिये—'प्रिय का' यह। वधू अर्थात् नवोढ़ा। बोधत्रास से अर्थात् प्रियतम के प्रबोध के भय से हठपूर्वक पुनः पुनः प्रवृत्त हुई भी चुम्बन की अभिलाषा को जैसे तैसे क्षणमात्र के लिए रोका अतएव आभोग से अर्थात् बार-बार निद्रा के विचार से निरूपण के द्वारा चञ्चल होकर स्थित हुई। अर्थात् सर्वथा ही चुम्बन से निवृत्त होने में समर्थ नहीं है।

## तारावती

संक्रमितवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि का आश्रय ले लिया गया है। इस प्रकार ध्वनि की नई प्रक्रिया का सहारा ले लेने से पुराना अर्थ भी नया हो गया है।

ऊपर इस बात का दिग्दर्शन करा दिया गया कि अविवक्षितवाच्य के दोनों भेदों का आश्रय लेने से पुराने अर्थ मे भी किस प्रकार नवीनता आ जाती है। अब एक उदाहरण इसका भी लीजिये कि विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का आश्रय लेने से किस प्रकार पुराने अर्थ मे नवीनता आती है। उदाहरण का भावार्थ यह है :—

'प्रियतम निद्रा का अभिनय कर रहा था। अर्थात् वह वस्तुतः सो नहीं रहा था अपितु अपने को ऐसा प्रकट कर रहा था मानों सो रहा हो। वधू के अन्दर सहवास की इतनी उत्कट आकाङ्क्षा थी कि वह क्षणमात्र विलम्ब भी सहन नहीं कर सकती थी। किन्तु प्रियतम के सो जाने के कारण उसे सहवास तत्काल सुलभ नहीं था। अतः उसने प्रियतम के मुख पर अपना मुख रख लिया जिससे उसे वदनस्पर्श का ही सुख प्राप्त हो सके जिसे वह दिव्य सुख समझती थी और जिसे छोड़ने की उसमे शक्ति नहीं थी। क्योंकि सोनेवाला व्यक्ति उसका प्रियतम था। वस्तुतः वह बधू थी अर्थात् नई ही व्याह कर आई थी। अतः प्रियतम से उसका सङ्कोच पूर्णरूप से छूट नहीं सका था। अतएव उसे भय मालूम पड़ रहा था कि

ध्वन्यालोकः

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम् । यथा वा 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि-श्लोकस्य 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादि श्लोकापेक्षयान्यत्वम् ।

( अनु० ) 'वासगृह को शून्य देखकर शयन से धीरे से कुछ उठकर निद्रा के बहाने को प्राप्त हुये पति के मुख को बड़ी देर तक देखकर विश्वासपूर्वक चुम्बन करके उत्पन्न हुये पुलकवाली गण्डस्थली को देखकर लज्जा के कारण नीचे को मुख की हुई बाला हंसनेवाले प्रियतम के द्वारा बहुत देर तक चुम्बन की गई ।'

इत्यादि श्लोकों के होते हुये भी नवीनता है । अथवा जैसे 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि श्लोक का 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादि श्लोक की अपेक्षा अन्यत्व है ।

लोचन

एवंभूतैषा यदि मया परिचुम्ब्यते तद्विलक्षाविमुखीभवेदिति । तस्यापि प्रियस्य परिचुम्बनविषये निरारम्भस्य । हृदयं साकाङ्क्षप्रतिपत्तिनामेति । साकाङ्क्षा साभिलाषा प्रतिपत्तिः स्थितिर्यस्य तादृशं रुहरुहिकाकदर्थितं न तु मनोरथसम्पत्तिचरितार्थं किन्तु रतेः परस्परजीवितसर्वस्वाभिमानरूपायाः परनिर्वृतेः केनचिदप्यनुभवेनालब्धावगाहनायाः पारङ्गतमिति परिपूर्णीभूत एव शृङ्गारः । द्वितीयश्लोके तु परिचुम्बनं सम्पन्नं लज्जा स्वशब्देनोक्ता । तेनापि सा चुम्बितेति यद्यपि पोषित एव शृङ्गारः, तथापि प्रथमश्लोके परस्पराभिलाषप्रसरनिरोधपरम्परापर्यवसानासम्भवेन या रतिरुक्ता सोमयोरप्येकस्व-

इस प्रकार की यह यदि मेरे द्वारा चुम्बित की गई तो विलक्ष (लज्जित) होकर विमुख हो जायेगी इसलिए उस प्रियतम के भी परिचुम्बनविषय को प्रारम्भ न करने पर । 'सांकाक्ष प्रवृत्तिवाला हृदय' यह । साकांक्ष अर्थात् साभिलाष प्रतिपत्ति अर्थात् स्थिति है जिसकी उस प्रकार का उत्कण्ठा से कदर्थित मनोरथ की सम्पत्ति से चरितार्थ नहीं किन्तु परस्पर जीवितसर्वस्वाभिमान रूपवाली परा निर्वृति रूप रति के, जिसका अवगाहन किसी भी अनुभव के द्वारा प्राप्त नहीं हुआ है, पार को गया हुआ इस प्रकार शृङ्गार परिपूर्ण ही हो गया है । द्वितीय श्लोक में तो परिचुम्बन हो गया है, लज्जा स्वशब्द से कही गई है । उसके द्वारा भी वह भलीभाँति चुम्बित की गई इससे यद्यपि शृंगार पुष्ट ही कर दिया गया है तथापि प्रथम श्लोक में परस्पर अभिलाषप्रसार की निरोधपरम्परा के पर्यवसान के असम्भव होने से जो

## लोचन

रूपचित्तवृत्त्यनुप्रवेशमाचक्षाणा रतिं सुतरां पोषयति ॥ २ ॥

निवृत्ति कही गई है वह दोनों की एक स्वरूपवाली चित्तवृत्ति को कहती हुई रति को भलीभाँति पुष्ट कर देती है ॥ २ ॥

## तारावती

कहीं प्रियतम जाग न पड़े। इसीलिये यद्यपि उसके अन्दर बार-बार चुम्बन की उत्कण्ठा उद्दीप्त होती जाती थी तथापि वह बड़ी कठिनाई से अपनी उस अभिलाषा को बार-बार दबा जाती थी। किन्तु बार-बार उसके अन्दर चञ्चलता उत्पन्न हो जाती थी और जब यह विचार करती थी कि प्रियतम तो सो रहा है क्यों न अपनी चुम्बन की अभिलाषा पूरी कर ली जाय तब उसकी वह चञ्चलता और अधिक उद्दाम हो जाती थी। चञ्चलता का आशय यह है कि वह न तो चुम्बन कर ही सकती थी और न चुम्बन से सर्वथा निवृत्त ही हो सकती थी। दूसरी ओर प्रियतम सोचता था कि यह इस प्रकार मुख पर मुख रक्खे हुये दुविधा में पड़ी है यदि मैं इसका चुम्बन करूँ तो इसके अन्दर लज्जा उत्पन्न हो जायगी और फिर लज्जा के कारण यह सहवास से पृथक् हो जायगी। अतः प्रियतम भी अपनी ओर से चुम्बन का प्रारम्भ नहीं कर रहा था। इस प्रकार दोनों की स्थिति आकांक्षा से भरी हुई थी, दोनों का मन उत्कण्ठा से पीडित था किन्तु मनोरथ की पूर्णता से उनके मन को सफलता नहीं मिली थी। ऐसी स्थिति में भी उनका हृदय रति के पार पहुँच गया था। रति वस्तुतः है क्या वस्तु ? यही तो कि दोनों एक दूसरे को जीवनसर्वस्व माने और जीवनसर्वस्व के प्राप्त हो जाने का दर्प भी उनमें विद्यमान हो। परा तृप्ति उन्हें उस अवस्था में किसी प्रकार नहीं मिल रही थी। चुम्बन आलिङ्गन इत्यादि किसी भी अनुभाव से उनको रति के आस्वादन और अवगाहन का अवसर नहीं मिल रहा था फिर भी उनका हृदय रति की अन्तिम सीमा पर पहुँच गया और उनका शृङ्गार पूरा हो ही गया।'

यह पद्य एक दूसरे ( अमरुक कवि लिखित ) पद्य की छाया पर लिखा गया है जिसका आशय यह है :—

'नायिका ने भली-भाँति देख लिया कि सोने का कमरा बिल्कुल सूना है अर्थात् कोई सखी इधर-उधर छिपी हुई भी नहीं देख रही है। वह चुपके से धीरे से अपनी चार पाई से कुछ उठी अर्थात् आधे शरीर से लेटी रही और शरीर का आधा ऊपरी भाग उसने कुछ कुछ उठा लिया। प्रियतम पास ही लेटा हुआ था, वह सो नहीं रहा था किन्तु सोने का बहाना कर रहा था। वह बड़ी देर तक अपने प्रियतम के मुखकी ओर ध्यान से देखती रही। जब उसे विश्वास हो गया कि

प्रियतम वस्तुतः सो ही रहा है तब उसने निश्चिन्तता से प्रियतम के कपोलों का चुम्बन किया जिससे कामोद्दीपन जन्य हर्षातिरेक से प्रियतम के कपोलों पर रोंगटे खड़े हो गये। यह देखकर उसे लज्जा आ गई और उसने सिर झुका लिया। प्रियतम हंसते हुये उठा और उसने उस बाला का बड़ी देर तक चुम्बन किया।'

दोनों पद्यों का अर्थ एक ही है, किन्तु फिर भी रूपविधान में कुछ अन्तर आ गया है। अमरुक के पद्य मे चुम्बन का कार्य पूरा हो गया है किन्तु प्रथम पद्य में वह आकांक्षागत ही है। अमरुक के पद्य में लज्जा शब्द का ही प्रयोग किया गया है जिससे उसमें स्ववाच्यता आ गई है, किन्तु प्रथम पद्य मे लज्जा के लिये विलक्ष शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है स्वभाव का परिवर्तन अर्थात् उत्कण्ठा की शान्ति और लज्जा का उदय इस प्रकार प्रथम पद्य में लज्जा व्यंग्य है। अमरुक के पद्य में नायक और नायिका दोनों एक दूसरे को चूमते हैं। इस प्रकार रति उभय निष्ठ है। अतः यह पूर्ण स्थायी भाव है। इसके पोषक सभी तत्त्व विद्यमान हैं। नायिका इत्यादि आलम्बन, शून्य वासगृह इत्यादि उद्दीपन, शय्या से उठना इत्यादि अनुभाव और लज्जा इत्यादि सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर उभयनिष्ठ वह रति आस्वादगोचर होकर पूर्ण शृङ्गार का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार कमी अमरुक के पद्य में भी नहीं है। किन्तु प्रथम श्लोक मे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गई है कि एक दूसरे के अन्दर अभिलाषा तो विद्यमान है किन्तु उसका प्रसार एकदम रुका हुआ है और यह रुकावट की परम्परा अभी समाप्त होती हुई भी नहीं जान पड़ती। इस प्रकार अवरुद्ध हो जाने के कारण रति का उपभोग नहीं हो रहा है, जिससे रति तीव्रतम अवस्था को प्राप्त हो गई है। वह रति यह बात प्रकट करती है कि दोनों की चित्तवृत्ति का अनुप्रवेश एक जैसा ही है। इस प्रकार रति का जितना परिपोष प्रथम श्लोक में हुआ है उतना अमरुक के पद्य में नहीं हुआ। इस उदाहरण द्वारा यह सिद्ध हो गया कि विवक्षितान्यपरवाच्य की नई भङ्गिमा का आश्रय ले लेने से भी पुराना अर्थ नया हो जाता है।

इसी प्रकार 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि पद्य पर 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इस पद्य की छाया लक्षित होती है। ( 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' यह विक्रमोर्वशीय का पद्य है और इसकी व्याख्या द्वितीय उद्योत मे की जा चुकी है। दूसरे पद्य का पता नहीं कि यह कहाँ से लिया गया है। और पूरा पद्य किस प्रकार है। ज्ञात होता है वृत्तिकार ने इस पद्य मे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का आश्रय लेने के द्वारा भावनवीनता लाने की व्याख्या की होगी। क्योंकि लोचनकार ने अग्रिम कारिका का अवतरण देते हुये लिखा है कि यहाँ तक ध्वनि के चार मूलभेदों की व्याख्या की जा चुकी। इन चार भेदों की

ध्वन्यालोकः

युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः ।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥ ३ ॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावभेदकलनया यथोक्तं प्राक् । स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः । यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति । रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम् । तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथास्थितमप्यन्यथैव विवर्तते । प्रतिपादितं चैतच्चित्रविचारावसरे ।

(अनु०) 'इस युक्ति से बहुत विस्तारवाले रस इत्यादि का अनुसरण करना चाहिये जिसके आश्रय से सीमित भी काव्यमार्ग अनन्तता को प्राप्त हो गया है ॥३॥

यह रस भाव उनके आभास और प्रशम लक्षणवाला मार्ग अपने सत्वत्व के अनुरूप विभाव अनुभाव इत्यादि प्रभेदों की आकलना के द्वारा बहुत प्रकार का है जैसा कि पहले कहा गया है । उस सभी का ही इस युक्ति से अनुसरण किया जाना चाहिये । जिस रस इत्यादि के आश्रय से यह काव्यमार्ग पुराने सहस्रसंख्यावाले अथवा असंख्य कवियों के द्वारा बहुत प्रकार अभ्यस्त होने के कारण सम्मित भी अनन्तता को प्राप्त हो जाता है । रस भाव इत्यादि में निस्सन्देह प्रत्येक का विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के आश्रय से अपरिमितत्व है उनमें एक एक भेद की दृष्टि से भी सुकवियों के द्वारा जगद्वृत्त का उपनिबन्धन करने पर उनकी इच्छा से अन्यथा स्थित भी अन्यथा परिवर्तित हो जाता है। चित्र विचार के अवसर पर यह भी प्रतिपादित कर दिया गया ।

लोचन

एवं मौलं भेदचतुष्टयमुदाहृत्यालक्ष्यक्रमभेदेष्वतिदेशमुखेन सर्वोपभेदविषयं निर्देशं करोति—युक्त्यानयेति । 'अनुसर्तव्य' इति । उदाहर्तव्यमित्यर्थः । यथोक्तमिति ।

इस प्रकार मूलभूत चार भेदों के उदाहरण देकर अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अतिदेश के माध्यम से सभी उपभेदों के विषय मे निर्देश करते हैं—'इस युक्ति से' यह । 'अनुसरण किया जाना चाहिये' यह । अर्थात् उदाहरण दिये जाने चाहिये । 'जैसा कहा गया है' यह ।

तारावती

व्याख्या तभी पूरी होती है जब इसे रसध्वनि से नवीनता लाने का उदाहरण मान लिया जाय ।' ) ॥ २ ॥

ध्वन्यालोकः

गाथाचात्र कृतैव महाकविना—

अतहट्ठिए वि तहसण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी ॥

[ अतथास्थितानपि तथा संस्थितानिव हृदये या निवेशयति ।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ॥ ] इति छाया ।

तदित्थं रसभावाद्याश्रयेण काव्यार्थानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम् ॥ ३ ॥

(अनु०) और यहाँ पर महाकवि के द्वारा गाथा रची गई है—

'जो उस रूप में न स्थित भी अर्थ विशेषों को तथास्थित के समान हृदय में निविष्ट कर देती है उस विकट कविगोचर विकट वाणी की जय हो ।

वह इस प्रकार रसभाव इत्यादि के आश्रय से काव्यार्थों का आनन्त्य भलीभाँति प्रतिपादित कर दिया गया ॥ ३ ॥

तारावती

द्वितीय कारिका में मूल चार भेदों के द्वारा काव्य मे पुराना अर्थ भी किस प्रकार नवीन बन जाता है इस बात की व्याख्या की जा चुकी और उनके उदाहरण भी दिये जा चुके। वे चार मूलभेद हैं—दो प्रकार का अविवक्षितवाच्य अर्थात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य अर्थात् संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम । अब तीसरी कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि वस्तुतः काव्य मार्ग अनन्तपार है । इसका कारण ध्वनिभेदों का आश्रय लेना ही है । यहाँ पर रस इत्यादि अलक्ष्यक्रमव्यंग्य का अतिदेश किया गया है अर्थात् यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार रसध्वनि के भेदों की इयत्ता नहीं उसी प्रकार का सभी ध्वनिप्रपञ्च है । किसी भी भेद की इयत्ता नहीं कही जा सकती । कारिका का भाव यह है—

'जो उक्ति द्वितीय कारिका मे बतलाई गई है वह दिग्दर्शन मात्र है । ( कहीं कहीं 'दिशानया' भी पाठ है । ) उसीका आश्रय लेकर अतिविस्तृत रस इत्यादि के भी उदाहरण दे दिये जाने चाहिये । इस प्रकार यद्यपि काव्यमार्ग बहुत ही सीमित है तथापि इन भेदोंपभेदों के कारण वह अनन्त हो जाता है ।'

ध्वनिभेदों के निरूपण के अवसर पर पहले ही बतलाया जा चुका है कि ध्वनि का केवल एक भेद रसध्वनि ही ऐसा है कि उसका अन्त नहीं मिल सकता । पहले तो रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता ये आठ भेद आते हैं । फिर इनमें प्रत्येक के विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों का विस्तार होता है । ( आलम्बन विभाव मे नायक और नायिका आते हैं । आचार्यों ने केवल नायिका के ही सहस्रों भेद बतलाये हैं । वस्तुतः

## लोचन

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये ।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥

इत्यत्र । प्रतिपादितं चैतदिति । च शब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः । एतदपि प्रतिपादितं 'भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवदि'त्यत्र । अतथास्थितानपि बहिस्तथासंस्थितानिवे'ति इवशब्देन एकतरत्र विश्रान्तियोगाभावादेव सुतरां विचित्ररूपानित्यर्थः । हृदय इति । प्रधानतमे समस्तभावकनकनिकषस्थान इत्यर्थः । निवेशयति यस्य यस्य हृदयमस्ति तस्य तस्य अचलतया तत्र स्थापयतीत्यर्थः । अत एव ते प्रसिद्धार्थेभ्योऽन्य एवेत्यर्थविशेषा सम्पद्यन्ते । हृदयनिविष्टा एव च तथाभवन्ति नान्यथेत्यर्थः । 'सा जयति' परिच्छिन्नशक्तिभ्यः प्रजापतिभ्योऽप्युत्कर्षेण वर्तते । तत्प्रसादादेव कविगोचरो वर्णनीयोऽर्थो विकटो निस्सीमा सम्पद्यते ॥ ३ ॥

'उसके अङ्गों के जो प्रभेद और स्वगत जो प्रभेद उनके अन्योन्य सम्बन्ध की परिकल्पना मे उनका आनन्त्य हो जाता है ।'

यहाँ पर । 'यह भी प्रतिपादित किया गया है' यह । 'च' शब्द अपि शब्द के अर्थमे भिन्नक्रम है । यह भी प्रतिपादित किया गया है—'अचेतन भावों को भी चेतनवत् और चेतनों को अचेतनवत्' यहाँ पर । 'उस प्रकार न स्थितों को भी बाहर तथास्थितों के समान' यह । 'इव' शब्द से ( प्रकट होता है ) एक स्थान पर विश्रान्तियोगके अभाव से ही विचित्र रूपवाले यह अर्थ है । 'हृदय में' यह । अर्थात् प्रधानतम तथा समस्त भावरूपी सोनेके लिए कसोटी के स्थान पर स्थित 'निविष्ट करती है' अर्थात् जिसके जिसके हृदय है उसके उसके अन्दर अचल रूप मे वहाँ पर स्थापित कर देती है । अतएव वे प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न ही होते हैं यह अर्थ विशेष हो जाता है । अर्थात् हृदय में निविष्ट ही वैसे बनते हैं अन्यथा नहीं । 'उसकी विजय होती है' अर्थात् सीमित शक्तिवाले प्रजापति से भी उत्कृष्ट रूपमें वर्तमान रहती है । उसके प्रसाद से ही कविगोचर वर्णनीय अर्थ विकट अर्थात् सीमा रहित हो जाता है ॥ ३ ॥

## तारावती

संसार के जितने भी स्त्री-पुरुष हैं उनके स्वभाव में कुछ भेद होता ही है, अतः स्वयं नायक-नायिका भेद ही अनन्त हो जाता है । फिर उनकी चेष्टाओं की भी इयत्ता नहीं कही जा सकती । उद्दीपन विभाव के रूप मे विश्व के समस्त जड-चेतन पदार्थ आ सकते हैं । सञ्चारी भाव मानव चित्तवृत्तियाँ ही हैं । विश्व की अनन्तता की प्रतिफलनरूप ये चित्तवृत्तियाँ भी अपरिमित ही होती हैं । आशय यह है कि केवल रसध्वनि के भेदों की ही कोई सीमा और संख्या

नहीं है। फिर ध्वनि के दूसरे भेदों के विषय में तो कहना ही क्या? इस अनन्तता और अपरिमितता की व्याख्या 'तस्याज्ञाना प्रभेदा ये—परिकल्पने' (उ. २ का. १२) में की जा चुकी है। इन रसभावादिकों के एक एक भेद का आश्रय ले लिया जाय और उसके माध्यम से जगद्वृत्त को काव्य के अन्दर लाया जाय तो वे वृत्त जिस प्रकार के होते हैं वे अन्यथा ही प्रतीत होने लगते हैं। आशय यह है कि यदि जगत् के सामान्यवृत्त का ही उपनिबन्धन किया जाय तो भी काव्य के माध्यमों और ध्वनि के भेदों का इतना अधिक विस्तार है कि कविता के विषय कभी समाप्त ही नहीं हो सकते, फिर कविता के विषय कल्पित भी होते हैं और कवि की जैसी भी इच्छा होती है दृश्यमान विश्व वैसा ही बन जाता है। इस प्रकार जब विश्व में कवि की इच्छा से परिवर्तन होता ही रहता है तब काव्यार्थ का अन्त हो सकेगा इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि अनन्त काल से अनन्त कवि इस काव्यमार्ग को पीसते चले आये हैं, यह सीमित ही जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। अतः इसको बहुत पहले ही समाप्त हो जाना चाहिये था। किन्तु रसध्वनि इत्यादि ध्वनिभेदों का इतना विस्तार है और उनकी ऐसी अनन्तता है कि वह काव्यमार्ग न तो अभी तक समाप्त हुआ ही और न हो ही सकता है। 'प्रतिपादितं चैतत्' में च' का अन्वय भिन्न क्रम से होता है – 'एतत् च'। 'च' का यहाँपर अर्थ है 'भी' इस बात का भी प्रतिपादन चित्र काव्य के विचार के अवसर पर किया जा चुका है और कवि किस प्रकार अपनी रुचि के अनुसार विश्व को बदल लेता है। इसपर भी संकेत रूप में प्रकाश डाला चुका है जैसा कि वहाँ पर एक कारिका का उद्धरण देकर बतलाया गया था कि कवि अचेतन भावों को चेतन के रूप में और चेतन भावों को अचेतन के रूप में जैसा चाहता है वैसा ही व्यवहृत करता है। प्राकृत के एक महाकवि ने (सम्भवतः) शालिवाहन ने यही बात एक गाथा में कही है। महाकवि का आशय यह है:—

'जिन कवियोंकी सम्पत्ति लोकोत्तर वर्णन ही है और जो ऐसी रचना करने में समर्थ होते हैं कि जिसमें अनन्त पदार्थ-समूह का प्रकाशन हुआ करता है इस प्रकार वे कवि अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं और ऐसे कवियों को विकट कवि कहा जाता है। ऐसे कवि ही जिस वाणी का विषय होते हैं वह कविवाणी लोकोत्तर रूप मे विद्यमान रहती है। उस कविवाणी की जय हो। इस कविवाणी की विशेषता यही है कि संसार मे जो वस्तुयें भिन्नरूप मे ही स्थित होती हैं उन वस्तुओं को यह कविवाणी सहृदयों में अन्यथा के समान निविष्ट कर देती है अर्थात् कामिनी के मुख इत्यादि जो पदार्थ संसार मे चन्द्र इत्यादि के रूप में प्रसिद्ध नहीं होते हैं उनको सहृदयों के हृदयों में वह उन्हीं विलक्षण रूपों में निविष्ट कर देती है।"

## ध्वन्यालोकः

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥ ४ ॥

तथाहि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्—'धरणी धारणायाधुना त्वं शेषः' इत्यादेः।

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥

इत्यादिषु सत्स्वपि। तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा—'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि श्लोकस्य।

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥

इत्यादिषु सत्सु। अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीरत्वेन नवत्वम्। 'यथा सज्जेइ सुरहिमासो' इत्यादेः?

सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः ॥

इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव।

(अनु०) इसीका उपपादन करने के लिए कहा जा रहा है।

'काव्य मे पहले देखे हुए अर्थ भी रस परिग्रह से सभी नये जैसे मालूम पड़ते हैं, जैसे मधुमास मे वृक्ष' ॥ ४ ॥

वह इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य की ही शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य का आश्रय ले लेने से नवीनता (हो जाती है)। 'जैसे धरणी के धारण करने के लिये इस समय तुम शेष हो' इत्यादि का।

'शेष, हिमगिरि और तुम महान् स्थिर गुरु हैं, जो कि मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए विचलित पृथ्वी को धारण करते हैं।'

इत्यादि के होते हुये भी। उसी का अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्य के आश्रय लेने से नवत्व। जैसे—इस प्रकार देवर्षि के कहने पर इत्यादि श्लोक का।

'वर कथा सम्बन्धी बातचीत करने पर कुमारियाँ लज्जा से नीचे को सिर झुकाये हुए पुलकोद्गम के द्वारा अन्तर्गत स्पृहा को कहती है।'

इत्यादि के होते हुये भी। अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यङ्ग्य का कविप्रौढ़ोक्तिनिर्मित शरीर के द्वारा नवत्व जैसे 'सुरभिमास सजित करता है' इत्यादि का—

'सुरभि समय के प्रवृत्त होने पर रागियों की रमणीय उत्कण्ठायें सहकार-कलिकाओं के साथ ही प्रादुर्भूत होती है।' इत्यादि के होते हुये भी अपूर्वत्व ही है।

## लोचन

प्रतिभानां वाणीनां चानन्त्यं ध्वनिकृतमिति यदनुद्भिन्नयुक्तं तदेव कारिकया भङ्ग्या निरूप्यत इत्याह—उपपादयितुमिति। उपपत्त्या निरूपयितुमित्यर्थः। यद्यप्यर्थानन्त्यमात्रे हेतुर्वृत्तिकारेणोक्तः तथापि कारिकाकारेण नोक्त इति भावः। यदि वा उच्यते संग्रहश्लोकोऽयमिति भावः। अतएवास्य श्लोकस्य वृत्तिकारेण व्याख्यानं न कृतम्।

प्रतिभाओं और वाणियों का आनन्त्य ध्वनि का किया हुआ है यह जो अस्पष्ट कारिका में कहा गया वही कारिका के द्वारा भङ्गिमा से निरूपण किया जा रहा है यह कहते हैं—'उपपादन करने के लिये' यह। अर्थात् उपपत्ति के द्वारा निरूपण करने के लिये। भाव यह है कि यद्यपि वृत्तिकार ने अर्थानन्त्य मात्र में हेतु बतलाया तथापि कारिकाकार ने नहीं बतलाया। अथवा कहा जाता है भाव यह है कि यह संग्रह श्लोक है। इसीलिये वृत्तिकार ने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की।

## तारावती

अन्यथा के समान कहने का आशय यह है कि जिन अर्थसमूहों को कवि की वाणी सहृदयों के हृदयों मे निविष्ट कर देती है वे अर्थसमूह विचित्ररूपवाले होते हैं क्योंकि किसी एक ही रूप में उनका पर्यवसान नहीं होता। अतः नये-नये कवि आते जाते हैं और पुरानी वस्तुओं को नये रूप मे ही प्रस्तुत करते जाते हैं, उन नये रूपों से सहृदयगण पूर्व परिचित नहीं होते, अतः नवीन अर्थ सहृदयों को विलक्षण ही प्रतीत होते हैं। 'सहृदयों के हृदयों में' कहने का आशय यह है कि सहृदयों के हृदय ही वस्तुतः ऐसी कसौटी होते हैं जिनपर कसकर प्रत्येक भाव रूपी स्वर्ण अपना वास्तविक रूप प्रकट करता है कि वह खरा हैं या खोटा। 'प्रविष्ट कर देती है' शब्द का आशय यह है कि जो लोग सहृदय होते हैं अर्थात् जिस किसी भी व्यक्ति के पास हृदय होता है उसके अन्दर वह विलक्षण भाव अचलरूप में स्थित हो जाता है। जिनके हृदय मे कविवाणीप्रसूत अर्थ अचल स्थान प्राप्त नहीं कर लेता वे वस्तुतः हृदयहीन ही होते हैं। इसीलिये वे अर्थ कहे जाते हैं। क्योंकि वे प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न ही होते है और वे अर्थ विलक्षणता को तभी प्राप्त कर पाते हैं जब सहृदयो के हृदयों में उन्हें स्थान मिल जाता है। 'जय हो' कहने का आशय यह है कि कवि वाणी सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान रहती है यहाँ तक कि ब्रह्मा जी की भी शक्ति सीमित होती है। उसकी अपेक्षा भी कविवाणी उत्कृष्टरूप में वर्तमान रहती है। विकट कवियों की कृपा से ही कवि गोचर वर्णनीय अर्थ असीम हो जाता है। इस प्रकार रस और भाव के आश्रय से काव्यार्थों के आनन्त्य का भलीभाँति प्रतिपादन कर दिया गया॥ ३॥

## लोचन

दृष्टपूर्वा इति। बहिः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः प्राक्तनैश्च कविभिरित्युभयथा नेयम्। काव्यं मधुमासस्थानीयम्, स्पृहां लज्जामिति। रागवतामुत्कलिका इति च। शब्दस्पृष्टेऽर्थे का ह्रद्यता।

'दृष्टपूर्व' यह। बाहर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से और पुराने कवियों के इस प्रकार दोनों ओर लगाना चाहिये। काव्य मधुमासस्थानीय है। स्पृहा, लज्जा, रागवालों की उत्कण्ठा इन शब्दों से स्पर्श हुये अर्थ में क्या ह्रद्यता है ?

## तारावती

यह कहा गया था कि कवियों की प्रतिभायें भी अनन्त होती हैं इस अनन्तता का कारण बतलाया गया था ध्वनिप्रभेदों का विस्तार, किन्तु यह बात वहाँ अस्पष्टरूप मे कही गई थी क्योंकि उस बात में कोई प्रमाण नहीं दिया गया था। अब चतुर्थ कारिका में उसी बात को सिद्ध किया जा रहा है। (प्रश्न) पिछले प्रकरण में तो उदाहरण देकर भलीभाँति सिद्ध कर दिया गया कि पुराना अर्थ भी नई भङ्गिमा से कहे जानेपर नया ही हो जाता है। इस प्रकार वहाँ अनन्तता तो सिद्ध कर दी गयी थी। अब उसके लिए यह कहना कि पहले अस्पष्ट तथा अनुपपत्तिक रूप में कहा गया था और उसके लिये एक नई कारिका लिखना कहाँ तक ठीक है ? (उत्तर) उस बात को सिद्ध करने के लिए जो कुछ कहा गया था वह सब वृत्तिकार का कथन था। कारिकाकार ने उसके प्रमाण के रूप में कुछ नहीं कहा था। अतः कारिकाकार ने उसी कथन मे प्रमाण देने के लिये यह कारिका लिखी है। दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि जिसपर चार संख्या डाली गई है वह वास्तव में परिकर श्लोक है। वृत्तिकार की यह शैली है कि किसी बात को विस्तारपूर्वक सिद्ध करके उसके सार के रूप में एक श्लोक लिख देते हैं। यह श्लोक परिकर श्लोक कहलाता है। प्रस्तुत श्लोक वस्तुतः ध्वनिकार की कारिका नहीं अपितु परिकर श्लोक है इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वृत्तिकार ध्वनि कारिकाओं की व्याख्या के रूप में कुछ न कुछ अवश्य लिखते हैं किन्तु इस कारिका की व्याख्या में कुछ नहीं लिखा है। कारिका का आशय यह है:—

'जिन अर्थों को पहले देखा जा चुका है वे अर्थ भी यदि रस को स्वीकार कर लेते हैं तो नये ही जान पड़ते हैं। जैसे जिन वृक्षों को हम देखते ही रहते हैं वे वृक्ष भी वसन्त काल मे नए मालूम पड़ने लगते हैं॥ ४॥

पुराना अर्थ नई भङ्गिमा से कहे जाने पर किस प्रकार नवीन मालूम पड़ता है इसके कई उदाहरण पहले दिये जा चुके। यह बतलाया जा चुका है कि अविवक्षित वाच्य के दो भेदों का आश्रय लेने से पुराने अर्थ में किस प्रकार नवीनता

आती है। अब विवक्षितान्यपरवाच्य के अनुरणनरूप व्यङ्ग्य के दो भेदों को लीजिये—पहला भेद है शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। एक पुराना भाव था—

कोई चाटुकार राजा की प्रशंसा करते हुए कह रहा है—'हे राजन् केवल तीन व्यक्ति ऐसे हैं जो अपनी मर्यादा को न छोड़ते हुए विचलित भूमि को धारण करते हैं—शेषनाग, हिमालय और आप। तीनों ही महान् हैं, (शेषनाग और हिमालय विशाल आकारवाले हैं और राजा महनीय गुणोंवाला है।) गुरु हैं, (पृथिवी के भार को सहन करने में समर्थ हैं और राजा प्रतिष्ठित है) और स्थिर हैं, (शेषनाग और हिमालय तो अविचलित हैं और राजा दृढ़प्रतिज्ञ है।)

इसी भाव को बाणभट्ट ने हर्षचरित में अपनाया है। प्रभाकरवर्धन और राजवर्धन दोनों ही समाप्त हो चुके हैं अब केवल हर्षवर्धन ही बच रहे हैं जो राज्य का भार वहन कर सकें। उसी अवसर पर यह वाक्य आया है कि—'पृथिवी को धारण करने के लिये अब तुम शेष हो।' यहाँ पर पृथिवी को धारण करने के दो अर्थ हो सकते हैं—पृथिवी को विचलित होने से रोकना और राज्य-भार वहन करना। इसी प्रकार 'शेष' के भी दो अर्थ हो सकते हैं—शेषनाग और अवशिष्ट। प्रकरण के कारण राज्यभार वहन करने के लिये अवशिष्ट इस अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण हो जाता है तब दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य होकर उपमानोपमेयभाव धारण कर लेता है—जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करने के लिये शेषनाग होता है उसी प्रकार तुम भी राज्यभार वहन करने के लिये अवशिष्ट हो। इस उपमा में महाराज हर्ष की अभूतपूर्व सक्षमता अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार बात वही है किन्तु 'शेष' शब्द के प्रयोग द्वारा शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का सम्पादन कर पुराने अर्थ की ही नवीनता देदी गई है।

[ 'शेषो हिमगिरिः' इत्यादि श्लोक का वास्तविक पाठ 'बिभ्रते भुवम्' है। किन्तु यह पाठ अशुद्ध है क्योंकि नियमानुसार जहाँ मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष दोनों के कर्ता पृथक् पृथक् विद्यमान हों वहाँ क्रिया का प्रयोग मध्यम पुरुष में होना चाहिये। किन्तु वचन का प्रयोग पृथक् शब्दों की संख्या के अनुसार होता है। इस प्रकार 'शेषः' 'हिमगिरिः' और 'त्वम्' इन तीन कर्ताओं के कारण मध्यम पुरुष का बहुवचन आना चाहिये। अतः यहाँ पाठ होना चाहिये 'बिभृथ' या 'बिभृध्वे'। इस प्रकार या तो 'बिभृथ भुवम्' यह पाठ होना चाहिये या 'बिभृध्वे भुवम्' यह पाठ। किन्तु दोनों दशाओं में छन्दोभङ्ग दोष आ जाता है। 'बिभृथ भुवम्' में 'थ' यह षष्ठ वर्ण ह्रस्व हो जाता है जो दीर्घ होना चाहिये और 'बिभृध्वे

तारावती

भुवम्' मे 'भृ' यह संयुक्ताद्य होने के कारण गुरु हो जाता है जो पञ्चम वर्ण होने के कारण लघु होना चाहिये। अतः इन दोषों को दूर करने के लिये दीधितिकार ने 'विभृथ क्षितिम्' यह पाठ कल्पित कर लिया है। यही पाठ ठीक प्रतीत होता है।]

विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद है अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य-ध्वनि। इसके आश्रय से पुराना अर्थ नया मालूम पड़ता है। जैसे एक प्रसिद्ध श्लोक है जिसका आशय यह है—

'जब कुमारियों के सामने उनके अभिभावक उनके विवाह और उनके भावी पति की बात करने लगते हैं तब कुमारियों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और लज्जा से उनका सिर नीचे झुक जाता है। इस प्रकार वे अपनी अन्तर्गत अभिलाषा को अभिव्यक्त करने लगती हैं।'

इसी पद्य का आशय कालिदास के 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य में भी आया है। (विस्तृत व्याख्या के लिये देखें द्वि. उ. का. २२, तृ. उ. का. ३६ तथा तृ. उ. का. ४३) उक्त श्लोक में लज्जा और स्पृहा शब्दोपात्त हैं, किन्तु कालिदास के श्लोक में लीला-कमलपत्र गणना से उनकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार यहाँ अनुरणनरूप व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य का आश्रय लेने से ही अर्थ में नवीनता आ गई है।

अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य का जो ऊपर उदाहरण दिया गया है वह तो है स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु व्यञ्जना। इसके प्रतिकूल कभी कभी कवि-प्रौढोक्तिरूप वस्तु से भी वस्तुध्वनि होती है। उसके अवलम्बन में नवीनता का उदाहरण जैसे एक पद्य का भाव है :—

'वसन्त काल के आ जाने पर आम्रकलिकाओं के साथ ही रागियों की रमणीय उत्कण्ठायें सहसा प्रादुर्भूत हो जाती हैं।'

इसी पद्य का भाव 'सज्जेइ सुरहिमासो' इत्यादि पद्य में भी लिया गया है। (दे. द्वि. उ. का. २४) भाव वही है। केवल अन्तर यह है कि इस पद्य में वसन्त मास का कामदेव के बाणों को तैय्यार करना कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु है जिससे अत्यन्त गाढ़ी होनेवाली मन्मथ की दशा अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि के कारण पुराने भाव मे नवीनता आ गई है।

इसी प्रकार कविनिबद्ध-वक्तृ कल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि का आश्रय लेने से भी काव्य में नवीनता आ जाती है। जैसे एक पुराना भाव है—

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरत्वेन नवत्वम्। यथा–'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादिगाथार्थस्य।

करिणीवेहव्वअरो मह पुत्तो एक्ककण्डविणिवाइ।
हअसोन्हाएँ तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ॥
[ करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती।
हतस्नुषया तथाकृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति॥ ] इतिच्छाया।

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव।

यथा व्यङ्ग्यभेदसमाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जकभेदसमाश्रयेणापि। तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिख्यते स्वयमेव सहृदयैरभ्यूह्यम्।

(अनु०) अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यङ्ग्य का कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर के द्वारा नवत्व–जैसे–'हे वणिक् हाथी के दांत' इत्यादि गाथा के अर्थ का—

'करिणी को वैधव्य करनेवाला एक प्रहार में ही विनिपात कर देनेवाला मेरा पुत्र दुष्ट बहू के द्वारा ऐसा कर दिया गया कि वाणों की राशि को ढो रहा है।'

इत्यादि अर्थों के होते हुये भी अगतार्थता ही है।

जिस प्रकार ध्वनि के व्यङ्ग्य भेद का आश्रय लेने से काव्यार्थों का नवत्व उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यञ्जकभेद का आश्रय लेने भी। वह ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं लिखा जा रहा है, सहृदयों के द्वारा स्वयं ही जान लिया जाना चाहिये।

लोचन

एतानि चोदाहरणानि वितत्य पूर्वमेव व्याख्यातानीति किं पुनरुक्त्या। सत्यपि प्राक्तनकविस्पृष्टत्वे नूतनत्वं भवत्येवैतत्प्रकारानुग्रहादित्येतावति तात्पर्यं हि ग्रन्थस्याधिकं नान्यत्। करिणीवैधव्यकरो हि मम पुत्रः एकेन काण्डेन विनिपातनसमर्थः हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहतीत्युत्तान एवायमर्थः, गाथार्थस्यानालीढतैवेति सम्बन्धः॥ ४॥

और इन उदाहरणों की विस्तारपूर्वक पहले ही व्याख्या कर दी गई, अतः पुनरुक्ति से क्या? प्राक्तन कवियों के द्वारा विशेष स्पृष्ट होते हुये भी इन प्रकारों के अनुग्रह से नवीनत्व होता ही है, ग्रन्थ का केवल इतने मे ही तात्पर्य है और कुछ भी नहीं। करिणी वैधव्य करनेवाला एक बाण में विनिपातन में समर्थ मेरा पुत्र दुष्ट बहू के द्वारा ऐसा कर दिया गया, जिससे वाणों का समूह ढो रहा है, यह अर्थ उत्तान ही है, गाथा के अर्थ की अगतार्थता ही है यह सम्बन्ध है॥

तारावती

'मेरा पुत्र हाथियों की पत्नियों को विधवा बनाने वाला है और वाण के एक ही प्रहार में महागजराजों को धराशायी कर देता है। किन्तु आजकल जीविका को नष्ट करनेवाली दुष्ट बहू ने उसे ऐसा बना दिया है कि वह वाणों का समूह धारण करनेवाले तरकस को ढो रहा है।'

यह किसी व्यक्ति के हाथीदाँत के लिये पूछने पर व्याध ने उत्तर दिया है। इसकी व्यञ्जना यह है कि मेरा पुत्र बहू के सम्भोग के कारण इतना क्षीण हो गया है और बहू के हाव-भाव कटाक्षों मे ऐसा फँसा रहता है कि न तो उसमे इतनी शक्ति ही रह गई है कि वह मत्त हाथियों को मार सके और न उसकी प्रवृत्ति ही उस ओर है। वह वाणों को ढो रहा है, किन्तु उनका उपयोग कुछ नहीं। अतः हमारे घर में हाथी दाँत कहाँ से आये? इसी आशय को लेकर 'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादि गाथा लिखी गई है। (दे. उ. तृ. का. १) यद्यपि भाव वही है, किन्तु 'करिणीवेहव्व अरो""वहइ' मे 'हतस्नुषया तथाकृतः' यह कहकर व्यङ्ग्यार्थ को एक अंश मे वाच्य बना दिया गया है जब कि 'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादि गाथा में 'यावल्लुलितालकमुखी' इत्यादि शब्दों के द्वारा उस अर्थ को सर्वथा ध्वङ्ग्य ही रक्खा गया है। इस प्रकार पुराने अर्थ के होते हुये भी 'वाणिअअ' इत्यादि गाथा का अर्थ सर्वथा नवीन तथा पुराने पद्य के द्वारा अगतार्थ ही है। यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि का आश्रय लेकर नवीनता का सञ्चार किया गया है।

ऊपर व्यङ्ग्य की दृष्टि से ध्वनि के विभिन्न भेदों का आश्रय लेने से पुराना अर्थ किस प्रकार नवीन हो जाता है इसका दिग्दर्शन करा दिया गया और कुछ उदाहरण भी दिये गये। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि केवल व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ही ध्वनिभेद अनन्तता के प्रयोजक नहीं होते अपितु व्यञ्जकभेद भी अनन्तता के प्रयोजक होते है। एक भाव को एक कवि शब्द इत्यादि जिन उपकरणों का आश्रय लेकर अभिव्यक्त करता है उसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिये दूसरा कवि दूसरे ही शब्दों का प्रयोग किया करता है। इस प्रकार एक भाव के अनन्त व्यञ्जक हो सकते हैं। व्यञ्जकों का निरूपण तृतीय उद्योत के प्रारम्भ में किया जा चुका है। उन भेदों का आश्रय लेकर किस प्रकार नवीनता सम्पन्न हो जाती है यह स्वयं समझ लेना चाहिये। यदि इन सब के उदाहरण दिये जायेंगे तो ग्रन्थ का अनपेक्षित विस्तार हो जायगा। इस समस्त प्रकरण का सार यही है कि ध्वनि-विस्तार काव्यगत भावों को अनन्तता प्रदान कर देता है, यह ध्वनि का सब से बड़ा प्रयोजन है॥ ४॥

ध्वन्यालोकः

अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ ५ ॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थलाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नादवदधीत । रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्ग्ये तद्व्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचनाप्रबन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते । तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनः पुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते । प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति । कस्मिन्निवेतिचेत्—यथा रामायणे यथा वा महाभारते । रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवं वादिना । निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता ।

( अनु० ) और यहाँ पर बार-बार कहा हुआ भी साररूप में यह कहा जा रहा है—

'इस विविध व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के सम्भव होते हुये भी कवि एक रसादिमय में ही ध्यान देनेवाला हो' ॥ ५ ॥

शब्दों के इस अर्थानन्त्य में हेतु विचित्र व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के सम्भव होते हुये भी अपूर्व अर्थ के लाभ की इच्छावाला कवि एक रसादिमय व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव मे ( ही ) यत्न से ध्यान दे । रस, भाव और तदाभास रूप व्यङ्ग्य में और उसके यथा निर्दिष्ट व्यञ्जक वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्ध में मन को सावधानतापूर्वक लगानेवाले कवि का सभी काव्य अपूर्व हो जाता है । वह इस प्रकार—रामायण महाभारत इत्यादि में बार बार कहे हुये भी संग्राम इत्यादि नये नये प्रकाशित होते हैं और प्रबन्ध में एक ही अङ्गीरस उपनिबद्ध किया जाता हुआ अर्थविशेष की प्राप्ति को और छाया के आधिक्य को पुष्ट करता है । यदि कहो किसके समान ? तो जैसे रामायण मे अथवा जैसे महाभारत में । रामायण में निस्सन्देह करुण रस 'शोक श्लोक को प्राप्त हो गया' यह कहनेवाले स्वयं आदिकवि ने सूत्ररूप मे निर्दिष्ट कर दिया है और सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त प्रबन्ध की रचना करते हुए उसे समाप्ति को भी प्राप्त करा दिया ।

लोचन

अत्यन्तग्रहणेन निरपेक्षभावतया विप्रलम्भशङ्कां परिहरति ।

अत्यन्त ग्रहण से निरपेक्ष भाव रूप में विप्रलम्भ की शंका को दूर करते हैं ।

तारावती

प्रस्तुत पुस्तक के पिछले प्रकरणों में कई बार कहा गया है कि ध्वनि के तीनों भेदों मे रसध्वनि ही प्रधान होती है तथा अन्य ध्वनियाँ रसप्रवण होकर ही काव्य की संज्ञा प्राप्त करती हैं। यही प्रस्तुत रचना का सार है, अतः अन्त में एक बार पुनः इसी बात को दृढ करने के लिये ५ वीं कारिका लिखी गई है। कारिका का आशय यह है :—

यह ध्वनि अनन्तता में हेतु होती है और ध्वनि का प्रयोजक व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव बड़ा ही विचित्र तत्त्व है। इसके अनेक भेद सम्भव हैं। तथापि यदि कवि ऐसी रचना करने के लिए उत्सुक हो जिसका प्रयोजन चमत्कार प्रकर्ष की अपूर्व प्राप्ति ही हो तो उसे ऐसे व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव में प्रयत्नपूर्वक ध्यान देना चाहिये जिसका स्वरूप रसादिमय हो। यदि कवि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव शान्ति, भावोदय, भावशबलता इत्यादि रस ध्वनि के व्यङ्ग्य भेदों का ध्यान रखता है और उनके व्यञ्जक वर्ण, पद, वाक्य रचना और प्रबन्ध का भी विशेष ध्यान रखता है तो उसका समस्त काव्य अद्वितीय बन जाता है।'

(इस कथन का आशय यही है कि कवि को वस्तुयोजना अलङ्कार ध्वनि इत्यादि काव्य सम्बद्ध सभी तत्त्वों के प्रति जागरूक रहना चाहिये किन्तु विशेष रूप से उसे ऐसे शब्दों और अर्थों का प्रयोग करने में सावधान रहना चाहिये जिससे रस व्याहत न होने पाए। यदि कवि रसोपघातक शब्दों और अर्थों का प्रयोग करेगा तो यह उसके लिये दोष होगा। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस रस की वह व्यञ्जना कर रहा है वह भी लोकानुमोदित हो तथा औचित्य की सीमा से च्युत न होने पाए। ऐसा करने पर ही उसका काव्य अपूर्व बन जाता है।) यदि कवि रस के प्रति जागरूक रहता है तो एक बात यदि वह बार-बार कहता है तो भी उसमें नवीनता ही आती रहती है और यह प्रतीत नहीं हो पाता कि वही पुरानी बात बार-बार कही जा रही है। उदाहरण के लिये रामायण और महाभारत मे युद्ध का न जाने कितनी बार वर्णन किया गया किन्तु हर-बार नया ही मालूम पड़ता है। उसका कारण यही है कि यद्यपि युद्ध का वर्णन तो वैसा ही सर्वत्र है तथापि युद्ध के अभिव्यञ्जक और अभिव्यङ्ग्य तत्त्वों मे भेद पड़ जाने से जो भी अगला वर्णन किया गया है वह नया ही मालूम पड़ता है। प्रबन्धकाव्यों में प्रकरणानुसार अनेक रसों का उपादान होता है कहीं शृङ्गार, कहीं वीर, कहीं शान्त, कहीं हास्य इत्यादि अनेक रस अवसर के अनुसार आते रहते हैं। उन रसों में अङ्गीरस का अनुसन्धान करना पड़ता है। यह तो निश्चित ही है जितने रसों का प्रबन्ध में उपादान किया जायगा उनमें कोई एक ही प्रधान होगा

अन्य रस उसके पोषक होंगे। पोषक रसों को अङ्ग कहते हैं और पोष्य रस को अङ्गी। अतः किसी प्रबन्धकाव्य का अध्ययन करने में इस बात का विशेष रूप से अनुसन्धान कर लेना चाहिये कि उस प्रबन्ध में कौन सा रस अङ्गी है और कौन कौन से रस अङ्ग हैं। अङ्गी रस वही होता है जो अन्य रसों से पुष्ट किया जाय, जिसमे विशिष्ट चमत्कार के आधान की शक्ति हो और छायाधिक्य के कारण उससे विशेष अर्थ की अवगति हो रही हो। इस बात को ठीक रूप में हृदय में करने के लिये हमें सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रबन्ध रामायण और महाभारत के अङ्गी रस की परीक्षा कर लेनी चाहिये। इस परीक्षा के द्वारा हम दूसरे महाकाव्यों के अङ्गी रस की परीक्षा पद्धति भली भाँति समझ सकेंगे।

(अङ्गी रस की परीक्षा कई प्रकार से की जा सकती है—कवि स्वयं अङ्गी रस का संकेत दे देता है, कभी कभी उपक्रम में अङ्गी रस का उल्लेख कर दिया जाता है और उपसंहार में उसी रस का निर्वाह किया जाता है, अन्य रस उसके निर्वाह के लिये आते हैं और उस रस का पोषण ही करते हैं। इत्यादि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनसे अङ्गी रस की परीक्षा की जा सकती है।) सर्व प्रथम रामायण को लीजिये। रामायण मे वाल्मीकि जी ने उपक्रम में लिखा है कि—क्रौञ्च के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक ही श्लोक रूप में परिणत हो गया। यह शोक वस्तुतः करुण रस का स्थायी भाव है, क्योंकि क्रौञ्च का वियोग आत्यन्तिक है। मुनि के इस संकेत से व्यक्त होता है कि रामायण का अङ्गीरस करुण है। मुनिवर वाल्मीकि जी ने रामायण की रचना वहाँ तक की है जहाँ राम और सीता का वियोग आत्यन्तिक रूप में हो जाता है और उनके पुनः सम्मिलन की सम्भावना नहीं रहती। अतः अन्त मे भी करुण रस मे ही रामायण की समाप्ति होती है। इस प्रकार मुख और निर्वहण दोनों सन्धियों मे करुणरस विद्यमान है। मध्य मे भी जो वीर रस इत्यादि आये हैं वे भी करुणरस के परिपोषक और अङ्ग ही हैं। इस प्रकार रामायण का अङ्गीरस करुणरस ही है। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि सीतावियोगजन्य दुःख तो विप्रलम्भ शृङ्गार का विषय है फिर यहाँ यह कैसे कहा गया कि रामायण का अङ्गीरस करुण है? इसका उत्तर यह है कि विप्रलम्भ की शङ्का का परिहार करने के लिये ही तो यहाँ पर 'अत्यन्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। आत्यन्तिक वियोग करुणरस का ही विषय होता है विप्रलम्भ शृङ्गार का नहीं। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि वृत्तिकार का यह कथन सर्वथा चिन्त्य है क्योंकि 'शोकः श्लोकत्वमागतः' यह श्लोकपाद तो ध्वनिकार है—'काव्यस्यात्मा स एवार्थः.....' इत्यादि कारिका का यह अन्तिम चरण है—वाल्मीकि का नहीं। यह श्लोक-पाद रामायण मे आया भी नहीं। फिर

## ध्वन्यालोकः

महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमन्यैर्व्याख्याविधायिभिः। स्वयमेव चैतदुद्गीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्नमुज्जिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन—

(अनु०) शास्त्र और काव्य की छाया के अन्वयवाले महाभारत में भी वृष्णि और पाण्डवों के विरसावसान से वैराग्य देनेवाली समाप्ति को निबद्ध कर महामुनि ने भी अपने प्रबन्ध का मुख्य तात्पर्य वैराग्यजनन ही दिखलाते हुये सूचित किया है कि मोक्षरूप पुरुषार्थ और शान्तरस मुख्यरूप में विवक्षाविषय है। अन्य व्याख्याकारों ने यह आंशिक रूप में विवृत किया है। बड़े-चड़े महामोह में डूबे हुये लोक को निकालते अति निर्मल ज्ञान का आलोक देनेवाले उन लोकनाथ (व्यास) ने स्वयं कह दिया है :—

## लोचन

वृष्णीनां परस्परक्षयः, पाण्डवानामपि महापथक्लेशेनानुचिता विपत्तिः, कृष्णस्यापि व्याधाद्विध्वंस इति सर्वस्यापि विरसमेवावसानमिति। मुख्यतयेति। यद्यपि 'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे चे'त्युक्तं, तथापि चत्वारश्चकारा एवमाहुः—यद्यपि धर्मार्थकामानां सर्वस्वं तादृङ्नास्ति यदन्यत्र न निगद्यते, तथापि पर्यन्तविरसत्वमत्रैवावलोक्यताम्। मोक्षे तु यद्रूपं तस्य सारतात्रैव विचार्यतामिति।

वृष्णियों का परस्पर क्षय, पाण्डवों की भी महापथ क्लेश से अनुचित विपत्ति, कृष्ण का भी व्याध से विध्वंस इस सबका भी विरस ही अवसान (हुआ) यह। 'मुख्य रूप में' यह। यद्यपि धर्म में और अर्थ और काम में और मोक्ष मे' यह कहा गया है कि तथापि चार 'और' यह कहते हैं—यद्यपि धर्म अर्थ और काम का सर्वस्व (यहाँ) वैसा नहीं है जैसा अन्यत्र विद्यमान न हो तथापि पर्यन्तविरसत्व यहीं पर देखा जावे, मोक्ष में तो जैसा रूप है उसकी सारता यहीं विचारी जावे, यह।

## तारावती

यह कथन सङ्गत ही कैसे हो सकता है ?' इस विषय में निवेदन यह है कि यह चरण स्वयं महाकवि वाल्मीकि का ही है और रामायण मे बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग के अन्त में आया है। टीकाकार को आक्षेप करने के पहले रामायण का उपक्रम देख लेना चाहिये था।)

अब महाभारत के अङ्गी रस पर विचार कीजिये। महाभारत एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें हमें पातञ्जल इत्यादि शास्त्रों की भी छाया दृष्टिगत होती है और रामायण

इत्यादि काव्यों के स्वरूप का भी प्रतिफलन इस महाग्रन्थ में हुआ है। यह ग्रन्थ तत्त्वनिर्णय की दिशा मे शास्त्र का काम देता है और चमत्कारोत्पादन दिशा में यह महाकाव्य का कार्य करता है। इस ग्रन्थ का पर्यवसान सभी के विनाश में होता है। वृष्णिवंशवाले इतने महान् तथा संख्या में इतने अधिक हैं, किन्तु अन्त में शाप से वे सब परस्पर लड़कर ही समाप्त हो जाते हैं और उनका भरापूरा ऐश्वर्य बात की बात में समाप्त हो जाता है। पाण्डवों की कथा मुख्य है। पाण्डव अपनी वीरता में किसी को भी अपने सामने नहीं आने देते। महाभारत जैसे महासंग्राम मे अभूतपूर्व पराक्रम दिखलाकर और सभी शत्रुओं का संहार कर एक समृद्ध राज्य के अधिकारी बन जाते हैं। किन्तु अन्त में होता क्या है ? सभी को हिमालय के महापथ की ओर जाना पड़ता है और अनेक वर्णनातीत विपत्तियों को सहते हुये हिमराशि में अपनी कथा समाप्त कर देनी पड़ती है। उन युगपुरुष भगवान् वृष्णि का ही क्या होता है! जो अपने योगेश्वर रूप के कारण अपने प्रभुत्व से सारी जनता पर छा जाते हैं और भगवान् के रूप मे उनकी पूजा होने लगती है वे भगवान् कृष्ण भी अन्त में एक साधारण बहेलिये से मारे जाते हैं। सभी का कितना नीरस अन्त होता है! यह नीरसता दिखलाकर ही महाभारत समाप्त कर दिया जाता है। इस उपसंहार से व्यक्त होता है कि महामुनि व्यास वृष्णि पाण्डव और कृष्ण का महान् उत्कर्ष दिखलाकर यही सिद्ध करना चाहते हैं कि जब इतने महापुरुषों और उत्कर्षशालियों का ऐसा नीरस अन्त हो सकता है तब साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या ? मानव कितना ही बढ़ जाय किन्तु अन्त में समाप्ति नीरसता में ही होती है। विश्व की सभी वस्तुयें क्षणभंगुर है। इससे सिद्ध होता है कि महामुनि का तात्पर्य वैराग्य-जनन ही है। यदि काव्यरूप में इस महाग्रन्थ का परिशीलन किया जाय तो वैराग्यजनक परिस्थितियाँ विभाव होकर तृष्णाक्षय-जन्य सुख में पर्यवसित होंगी और सम्पूर्ण काव्य का अङ्गीरस शान्तरस ही सिद्ध होगा। यदि इसकी पर्यालोचना शास्त्र की दृष्टि से की जाय तो धर्म अर्थ और काम ये तीनो पुरुषार्थ गौण सिद्ध होंगे और मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष ही सिद्ध होगा। आशय यह है कि महाभारत के कवि भगवान् व्यास को मुख्य रूप में यह कहना अभीष्ट है कि शान्त रस ही इस ग्रन्थ का अङ्गी रस है और मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मुख्य कहने का आशय यह है कि गौण रूप में इसमे दूसरे रस भी विद्यमान है, किन्तु उनका पर्यवसान शान्त रस में ही होता है। इसी प्रकार गौण रूप में इसमें धर्म अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ के रूप में प्रतिपादित किया गया है किन्तु परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। पुरुषार्थ-निरूपण के विषय में महाभारत का यह श्लोक प्रसिद्ध है :—

तारावती

धर्मे चाथ च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

इस श्लोक मे प्रत्येक पुरुषार्थ का उल्लेख करने के बाद एक 'च' जोड़ दिया गया है। इस प्रकार चार चकारों का प्रयोग यहाँ किया गया है। इन चकारों का अभिप्राय यह है कि लोक में धर्म, अर्थ और काम ये पुरुषार्थ माने जाते हैं। इन पुरुषार्थों का जिस प्रकार का उल्लेख इस महाग्रंथ में हुआ है वह सब लोक मे पाया जाता है। किन्तु लोक मे इनकी निस्सारता नहीं पाई जाती जिसका ठीक रूप में उल्लेख इसी ग्रन्थ में किया गया है। मोक्ष के विषय में जो कुछ कहा गया है और उसका जैसा रूप है वह लोक की वस्तु नहीं है। मोक्ष का सार रूप तो इस ग्रन्थ मे ही है और इसी मे इस तत्व का विचार किया जाना चाहिये।

('च' का प्रयोग समुच्चय, अन्वाचय इत्यादि अर्थों में होता है। जिन शब्दों अथवा वाक्यखण्डों का एक मे अन्वय करना होता है उनके साथ 'च' का योग किया जाता है। सामान्यतया संयुक्त होनेवाले शब्दों और वाक्यखण्डों को लिखकर अन्तमें 'च' का प्रयोग कर दिया जाता है। किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से प्रत्येक शब्द के साथ 'च' का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ पर इसका विशिष्ट अर्थ लिया जाना चाहिये। वह विशिष्ट अर्थ यही होगा कि जो कुछ लोक में अधिगत होता है वह इस महाग्रन्थ मे न हो ऐसी बात नहीं है वह सब तो इसमें है ही। किन्तु लोक मे उनकी विरसावसानता दृष्टिगत नहीं होती जिसका इस ग्रन्थ मे प्रतिपादन किया गया है। मोक्ष का तो प्रतिपादन इस महाग्रन्थ की विशेषता ही है। इस प्रकार विरसावसानता और मोक्ष की विशेषता ही विशिष्ट अर्थ हैं जिनकी अभिव्यक्ति चार चकारों के प्रयोग से होती है।)

महाभारत के अङ्गी रस के विषय मे ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका आंशिक विवरण महाभारत के विभिन्न व्याख्याताओं ने दे दिया है किन्तु स्पष्ट रूप मे यह किसी ने नहीं कहा कि शान्तरस ही महाभारत का अङ्गी रस है। किन्तु महाभारत के रचयिता को तो हम लोकनाथ कह सकते हैं क्योंकि एक तो अवतारों के परिगणन मे भगवान् व्यास का नामोल्लेख पाया जाता है, अतः भगवान् का अवतार होने के कारण वेदव्यास जी लोकनाथ हैं। दूसरी बात यह है कि उन्होंने महाभारत जैसा परमोत्कृष्ट प्रबन्ध लिखकर सांसारिक व्यक्तियों की भावनाओं को नियन्त्रित कर सन्मार्ग में प्रवृत्त करने की चेष्टा की है। इस प्रकार लोक पर नियन्त्रण करने के कारण वे लोकनाथ हैं। उन्होंने देखा

ध्वन्यालोकः

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते। अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव।

(अनु०) 'जैसे जैसे लोकतन्त्र असार के समान विपरीत होता जाता है वैसे वैसे इसमें विराग होता जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं।'

इत्यादि बहुत बार कहते हुये। उससे शान्तरस दूसरे रसों के द्वारा और मोक्षरूप पुरुषार्थ दूसरे पुरुषार्थों के द्वारा उसके प्रति गौण होने के कारण अनुगमन किया जाता हुआ अङ्गी के रूप में विवक्षा का विषय है यह महाभारत का तात्पर्य स्पष्ट ही अवभासित होता है। रसों का जैसा अङ्गाङ्गिभाव है वैसा प्रतिपादित ही कर दिया गया।

लोचन

यथा यथेति। लोकैस्तन्त्र्यमाणं यत्नेन सम्पाद्यमानं धर्मार्थकामतत्साधनलक्षणं वस्तुभूततयाभिमतमपि। येन येनार्जनं रक्षणक्षयादिना प्रकारेण। असारवत्तुच्छेन्द्रजालादिवत्। विपर्येति। प्रत्युत विपरीतं सम्पद्यते। आस्तान्तस्य स्वरूपचिन्तेत्यर्थः। तेन तेन प्रकारेण अत्र लोकतन्त्रे। विरागो जायत इत्यनेन तत्त्वज्ञानोत्थितं निर्वेदं शान्तरसस्थायिनं सूचयता तस्यैव च सर्वेतरासारत्वप्रतिपादनेन प्राधान्यमुक्तम्।

'जैसे जैसे' यह। लोकों के द्वारा तन्त्रित किया जाता हुआ अर्थात् प्रयत्नपूर्वक सम्पादित किया जाता हुआ धर्म, अर्थ और काम तथा उसके साधन के रूप में स्थित वस्तुरूप होने से अभिमत भी। जिस जिस अर्जन रक्षण और क्षय इत्यादि के प्रकार से। असारवत् अर्थात् तुच्छ। इन्द्रजालवत् 'विपर्येति' अर्थात् प्रत्युत विपरीत हो जाता है, उसकी स्वरूपचिन्ता तो दूर रही। उन प्रकारों से इस लोकतन्त्र मे। 'विराग उत्पन्न हो जाता है' इसके द्वारा तत्त्वज्ञान से उत्थित शान्त रस के स्थायी निर्वेद को सूचित करते हुये समस्त दूसरी वस्तुओं के असारत्व के प्रतिपादन के द्वारा उसी का प्राधान्य कहा गया है।

तारावती

कि सारा विश्व एक महान् अज्ञान और मोह में डूबा हुआ है, चारों ओर सत्त्वगुण का पराभव हो चुका है और रजोगुण और तमोगुण ही प्रधान हो गये हैं। अतः यह महामोह बहुत अधिक उदीर्ण हो गया है और लौकिक व्यक्तियों के लिये यह

तारावती

एक बहुत बड़ा बन्धन है। उनकी केवल एक यही कामना थी कि जैसे भी हो सके यह अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ विश्व निस्तार प्राप्त कर ले और मोह-महोदधि से बाहर निकल सके। इसी मन्तव्य की पूर्ति के लिए उन भगवान् ने महाभारत की रचना की। इस रचना के द्वारा उन्होंने तत्त्वज्ञान का ऐसा प्रकाश प्रदान करने की चेष्टा की जो महामोहान्धकार के अपसरण में समर्थ हो। अतः यह कहा ही जा सकता है कि उनका मन्तव्य मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहना था और शान्तरस को ही वे प्रधान मानकर चले थे। केवल इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने यह बात कही भी है। उनके कथन का एक नमूना देखिये :—

तन्त्र का अर्थ है प्रयत्नपूर्वक सम्पादन किये जानेवाले तत्त्व हैं धर्म, अर्थ और काम तथा उनके सम्पादन के लिए उपयुक्त साधन। ये सब लौकिक तत्त्व हैं, सांसारिक वस्तुयें हैं और सभी लोग इनके जुटाने का प्रयत्न किया करते हैं तथा सभी लोगों के लिये ये वस्तुयें अभिमत होती हैं। संसार इनके उपार्जन तथा संरक्षण के लिये अनेक प्रकारों को अपनाया करता है। किन्तु अन्त में वे समस्त प्रकार और उनके फल धर्म अर्थ और काम सभी कुछ असार सिद्ध हो जाता है तथा ज्ञात होने लगता है कि जैसे इन्द्रजाल में दिखलाई गई वस्तुयें मिथ्या होती हैं उसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या ही हैं। केवल इतना ही नहीं अपितु मानव आनन्द की कामना लेकर जिन वस्तुओं की ओर दौड़ता है वे अन्त में विपरीत फलदायक अतएव दुःखकारक हो जाती हैं। अतः उनकी स्वरूप चिन्ता से क्या लाभ ? जैसे जैसे ये भावनायें जाग्रत होती हैं और अनुभव मनुष्य के सामने वास्तविकता को प्रस्तुत करता जाता है वैसे ही वैसे विराग उत्पन्न होता जाता है।

'विराग उत्पन्न होता है' इन शब्दों से अभिव्यक्त होता है कि तत्त्व ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही संसार का एक मात्र सत्य है। यह निर्वेद शान्तरस का स्थायी भाव है। इससे अन्य समस्त वस्तुओं की असारता का प्रतिपादन करते हुए निर्वेद को ही महाभारत का प्रधान प्रतिपाद्य बतलाया है। इस प्रकार के बहुत से वाक्य महाभारत में आये हैं। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि महाभारत में जितने भी रस आये हैं चाहे वे वीर हों चाहे करुण वे सब शान्तरस के ही पोषक हैं और शान्तरस के ही अङ्ग है, अङ्गी शान्तरस ही है। इसी प्रकार धर्म, अर्थ इत्यादि जितने भी पुरुषार्थ प्रतिपादित किये गये हैं वे सब मोक्षरूप पुरुषार्थ के ही अङ्ग हैं और उसी के पोषक हैं, अङ्गी मोक्ष नामक पुरुषार्थ ही

ध्वन्यालोकः

पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य पुरुषार्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम् । ननु महाभारते यावान् विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते—सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यां दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन—

(अनु०) पारमार्थिक अन्तस्तत्व की अपेक्षा न करते हुये अङ्गभूत शरीर के समान रस का और पुरुषार्थ का अपने प्राधान्य के द्वारा चारुत्व विरुद्ध नहीं है। (प्रश्न) महाभारत में जितना विवक्षा का विषय है वह अनुक्रमणी में सभी अनुक्रान्त किया गया है; यह तो वहाँ नहीं ही देखा जाता; इसके प्रतिकूल महाभारत का सब पुरुषार्थों के प्रबोध का हेतुत्व और सर्वरसगर्भत्व उस उद्देश में स्वशब्दनिवेदितत्व के रूप में प्रतीत होता है। यहाँ कहा जा रहा है—सच ही है कि शान्त रस का ही अङ्गित्व और मोक्ष का ही समस्त पुरुषार्थों में प्रधानत्व यह स्वशब्दाभिधेय के रूप में अनुक्रमणी के द्वारा नहीं दिखलाया गया है; व्यङ्ग्य के द्वारा तो दिखलाया गया है :—

लोचन

ननु शृङ्गारवीरादिचमत्कारोऽपि तत्र भातीत्याशङ्क्याह—पारमार्थिकेति। भोगाभिनिवेशिनां लोकवासनाविष्टानामङ्गभूतेऽपि रसे तथाभिमानः, यथा शरीरे प्रमातृत्वाभिमानः प्रमातुर्भोगायतनमात्रेऽपि।

निस्सन्देह शृङ्गार वीर इत्यादि का चमत्कार भी वहाँ शोभित होता है यह शंका करके कहते हैं—'पारमार्थिक' यह। भोग में अभिनिवेश रखनेवाले लोकवासनायें में आविष्ट लोगों का अङ्गभूत भी रस में वैसा अभिमान होता है जैसा प्रमाता के भोगायतन मात्र शरीर में भी प्रमाता का प्रमातृत्वाभिमान होता है।

तारावती

है। इस प्रकार इन कथनों के आधार पर स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाता है कि मुनि की इच्छा शान्तरस और मोक्ष का प्रतिपादन करने की ही है और यही महाभारत का तात्पर्य है। रसों का अङ्गाङ्गिभाव तो हो ही सकता है। इसका तो प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका है। (दे. उ. ३ का. २०)

बहुत से विचारक महाभारत में कई दूसरे अङ्गीरसों का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः महाभारत मे कई दूसरे रस भी पर्याप्त विस्तार के साथ आये हैं। कहीं

ध्वन्यालोकः

'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः'

इत्यस्मिन् वाक्ये। अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीर्त्यते तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात्तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभूतिषु निस्सारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रीतिनिविष्टधियः। तथा चाग्रे पश्यत निस्सारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः। एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोकाः लक्ष्यन्ते—'सहि सत्यम्' इत्यादयः।

(अनु०) 'यहाँ सनातन भगवान् वासुदेव का कीर्तन किया जाता है।'

इस वाक्य में। इससे यह अर्थ व्यङ्ग्यत्व के रूप में कहना अभीष्ट है कि यहाँ पर महाभारत में जो पाण्डवादि चरित कीर्तित किया जा रहा है वह सब अवसान में विरस है और अविद्याप्रपञ्चरूप है; परमार्थ सत्यस्वरूप तो भगवान् वासुदेव यहाँ कीर्तित किये जा रहे हैं। इससे उन परमेश्वर भगवान् में ही भावित चित्तवाले बनो, निस्सार विभूतियों में रागी न बनो और न नय, विनय, पराक्रम इत्यादि केवल कुछ गुणों में पूर्ण आत्मा से आग्रहयुक्त बुद्धिवाले बनो। उसी प्रकार आगे 'संसार की निस्सारता देखो' इस अर्थ को द्योतित करते हुये व्यञ्जक शक्ति से अनुगृहीत 'च' शब्द स्पष्ट ही अवभासित होता है। इस प्रकार के गर्भित अर्थ को दिखलाते हुये बाद के श्लोक देखे जाते हैं—'स हि सत्यम्' इत्यादि।

लोचन

केवलेष्विति। परमेश्वरभक्त्युपकरणेषु तु न दोष इत्यर्थः। विभूतिषु रागिणो गुणेषु च निविष्टधियो माभूतेतिसम्बन्धः। अग्र इति। अनुक्रमण्यनन्तरं यो भारतग्रन्थस्तत्रेत्यर्थः।

'केवलों में' यह। अर्थात् परमेश्वर की भक्ति के उपकरणों मे तो दोष नहीं है। सम्बन्ध यह है—विभूतियों में रागी और गुणों मे निविष्ट बुद्धिवाले न होओ'। 'आगे' यह। अर्थात् अनुक्रमणी के बाद जो भारत ग्रन्थ है वहाँ।

तारावती

शृङ्गार है, कहीं वीर। किन्तु ये सब रस शान्तरस के ही पोषक हैं। किन्तु जो लोग महाभारत के वास्तविक अन्तस्तत्त्व को नहीं समझते अथवा उस ओर ध्यान नहीं देते वे कहने लगते हैं कि महाभारत में अन्य रसों की प्रधानता है। इसी प्रकार महाभारत में धर्म, अर्थ और काम का भी विस्तार देखकर वे लोग भ्रम में

पड़ जाते हैं और यह नहीं समझ पाते कि ये सब धर्म अर्थ और काम वस्तुतः मोक्ष के ही साधन होकर आये हैं। इन लोगों की यही दशा है जैसे जो लोग सारभूत तत्त्व आत्मा को नहीं जान पाते और शरीर को ही अनेक कार्य करते हुये देखते हैं वे क्रियाकलाप में शरीर की ही प्रधानता बतलाने लगते हैं। शरीर और कुछ नहीं आत्मा का भोगायतन ही है। इसमे रहकर आत्मा अपने कर्मों का भोग किया करता है। किन्तु जब प्रमाता अपने स्वरूप को नहीं जान पाता तब वह शरीर को ही प्रमाता मानने लगता है। इसी प्रकार जिन लोगो का आग्रह ही सासारिक वस्तुओं का उपभोग करना है और जिनमें लोकवासनायें आविष्ट हो चुकी हैं वे अङ्गभूत रस को ही अंगी मान बैठते हैं।

( प्रश्न ) महाभारत मे कवि को जो कुछ कहना अभीष्ट है वह सब अनुक्रमणी मे ही दिखला दिया गया है। यह अनुक्रमणी महाभारत मे दी हुई है। अनुक्रमणी लिखने का मन्तव्य यही है कि रचना के सारे उद्देश्यों से पाठक परिचित हो जावे। जिन पुरुषार्थों की सिद्धि महाभारत का लक्ष्य है वे सब पुरुषार्थ वहीं दिखला दिये गये हैं। वहाँ वेद, योग, विज्ञान, धर्म अर्थ, काम, विभिन्न शास्त्र, लोकयात्रा विधान, इतिहास, विभिन्न श्रुतियाँ इत्यादि ही उद्देश्य के रूप में गिनाये गये हैं। वहाँ यह लिखा ही नहीं कि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और ये सब प्रतिपादन उसी का अङ्ग हैं। महाभारत के देखने से यही अवगत होता है कि महाभारत का उद्देश्य सभी पुरुषार्थों का प्रतिपादन करना है। इसी प्रकार सभी रसों से गर्भित होना भी उसी प्रकरण से सिद्ध होता है। जो बात कवि ने स्पष्ट शब्दो में स्वयं कही है वही मानी जानी चाहिये। फिर मोक्ष को परम पुरुषार्थ और शान्त-रस को अङ्गी रस मानने का आपके पास क्या आधार है?

( उत्तर ) यह तो सच ही है कि महाभारत की अनुक्रमणी मे ऐसा कोई प्रकरण या श्लोक नहीं है कि शान्तरस तथा मोक्ष को अङ्गी सिद्ध किया जा सके। किन्तु उसी प्रकरण में कई ऐसे वाक्य हैं जिनके परिशीलन करने से स्पष्ट रूप में ज्ञात होता है कि मुनि का अभिप्रेत शान्तरस को ही अंगी मानना है। व्यञ्जना के आधार पर शान्तरस को अंगी सिद्ध किया जा सकता है। अनुक्रमणी के निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
सहि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं परमं ब्रह्म ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥

लोचन

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वम्' । इत्यादौ अंशिरूपमेतत्संज्ञाभिधेयमितिनिर्णीतं तात्पर्यम् । निर्णीतश्चेति । शब्दा हि नित्या एव सन्तोऽनन्तरं काकतालीयवशात्तथा सङ्केतिता इत्युक्तम्—ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्चेत्यत्र ।

'बहुत जन्मों के अन्त मे ज्ञानवान् मुझे 'वासुदेव सभी है' इस रूपमें प्राप्त होता है । इत्यादि मे यह संज्ञाभिधेय अङ्गी रूपमें है यह निर्णीत तात्पर्य है । शब्द, नित्य होते हुये निस्सन्देह बाद में काकतालीय न्याय से वैसे संकेतित किये गये हैं यह 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस सूत्र में कहा गया है ।

तारावती

'अनुक्रमणी समाप्त कर लेने के बाद जो महाभारत ग्रन्थ का अगला प्रकरण प्रारम्भ होता है वहाँ पर' । किन्तु वृत्तिकार का यह आशय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि एक तो 'स हि सत्यम्' इत्यादि श्लोक-खण्ड का उद्धरण दिया गया है जो कि अनुक्रमणी का ही श्लोक है, दूसरी बात यह है कि 'अनन्तरश्लोकाः' लिखा गया है जिसका अर्थ है 'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' के तत्काल बाद में आनेवाले श्लोकों का संग्रह। अतः यहाँ पर अनुक्रमणी के श्लोकों से ही तात्पर्य है । बाद के प्रकरण के श्लोकों से नहीं । )

अनुक्रमणी मे जो कुछ कहा गया है वह सर्वथा वाच्य है और इसीलिये प्रकट है । अतएव उसमें सौन्दर्य नहीं है । किन्तु उसका यह शान्त की अङ्गीरूपता और मोक्ष के परमपुरुषार्थता का अर्थ निगूढ रूप में व्यक्त किया गया है, अतः उसमें रमणीयता आ गई है । महाकवि वेदव्यास कवियों के विधाता हैं । उनके मूर्धन्य प्रबन्ध महाभारत को भुवनोपजीव्य कहा जाता है और यह अनिवार्य माना जाता है कि कविता करने में पूर्णता प्राप्त करने के लिये महाभारत का आश्रय लिया जाय । इसीलिये रमणीयता सम्पादन के उद्देश्य से ही उन्होंने इस अर्थ को प्रच्छन्न रूप में अभिव्यक्त किया है । किन्तु इसे उन्होंने सर्वथा प्रच्छन्न रक्खा भी नहीं है । महाभारत के परिशिष्ट के रूप मे हरिवंश पुराण जोड़ा गया है और उसी से महाभारत की समाप्ति की गई है । हरिवंश मे कृष्ण की लोकोत्तर लीलायें वर्णित की गई हैं । भगवद्गुणानुवाद से ग्रन्थ का समाप्त करना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि ग्रन्थ का उद्देश्य भगवद्गुणानुवाद का प्रकथन करना ही है । हरिवंश पुराण का जो भी अर्थ है उस से पाठक की मनोवृत्ति लौकिक तत्त्व से उदासीन होकर परम सत्ता परमात्मा मे ही लीन हो जाती है और उसी ओर पाठक की अतिशय भक्ति प्रवर्तित हो जाती है । इससे महाभारत के मुख्य भाग में जो कुछ सांसारिक व्यवहार वर्णित किया गया है वह पूर्वपक्ष ही सिद्ध होता है । शास्त्रकारों की यह सामान्य परम्परा है कि वे पहले पूर्वपक्ष को विस्तारपूर्वक दिख-

लाते हैं और बाद में उसकी त्रुटियाँ दिखलाकर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना कर देते हैं। महाभारत में भी ऐसा ही हुआ है। इसमे पहले धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, यह सब पूर्वपक्ष है। फिर पाण्डवादिकों का करुण-अन्त दिखलाकर उसके दोष बतलाये गये हैं जिससे सांसारिक वैभव बहुत ही निम्नस्तर पर आ जाता है और उसके प्रति एक हेय बुद्धि तथा घृणा-बुद्धि उद्भूत हो जाती है अन्त में सिद्धान्तपक्ष के रूप मे भगवद्गुणानुवाद का उपादान किया गया है। यह सिद्धान्तपक्ष है। किन्तु शास्त्रकार पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष को केवल उपक्रम और उपसंहार मे ही नहीं दिखलाता, वह मध्य में भी सिद्धान्त पक्ष की झलक देता चलता है। यही कारण है कि महाभारत के विस्तृत त्रिवर्गभावना वर्णन के मध्य में कहीं देवता, तप, तीर्थ इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया गया है ( कहीं गीता इत्यादि प्रदेशों मे ज्ञानोपदेश दिया गया है। ) यह सब उस परब्रह्म को प्राप्त करने के उपाय ही हैं। ( प्रश्न ) देवता तप और तीर्थ का वर्णन भगवत्प्राप्ति का उपाय कैसे हो सकते हैं ? देवता तो भिन्न होते है, तीर्थ इत्यादि भी विभिन्न देवताओं से सम्बद्ध होते हैं और तप भी जिन देवताओं के उद्देश्य से किया जाता है उन्हीं की प्राप्ति का उपाय हो सकता है, वह भगवत्प्राप्ति का उपाय कैसे हो सकता है ? ( उत्तर ) इसका निरूपण तो गीता इत्यादि में ही किया गया है कि जितने विभूतिमान् पदार्थ हैं वे सब भगवान् के ही रूप हैं :—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशसम्भवम् ॥

अन्य देवताओं की आराधना को भी गीता में भगवदाराधन ही का संग्रह कहा गया है।

येऽप्यन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

इतना ही नहीं मुख्य पाण्डवचरित इत्यादि का तात्पर्य वैराग्यजनन ही है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, वैराग्य मोक्ष का मूल है और मोक्ष भगवत्प्राप्ति का उपाय है। गीता इत्यादि प्रकरणों में यही दिखलाया गया है। ( गीता में शरीरादियों को अन्तवान् तथा शरीरियों को नित्य कहकर ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्मों को भस्मकर भगवत्सायुज्य प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। यहाँ पर यह कहना ठीक नहीं है कि मोक्ष तो भगवत्प्राप्ति रूप ही होता है, अतः मोक्ष को भगवत्प्राप्ति का उपाय बताने का आशय यही है कि मोक्ष भगवत्प्राप्ति रूप ही होना है। मोक्ष एक व्यापार है और भगवत्प्राप्ति फल। व्यापार और फल को कभी एक नहीं बतलाया जा सकता। )

तारावती

( प्रश्न ) उद्देश्य वाक्य में तो वासुदेव के कीर्तन करने की बात कही गई है– 'भगवान वासुदेवो हि कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।' वासुदेव का अर्थ है वसुदेव का पुत्र। वसुदेव यदुवंशी थे उनसे मथुरा में कृष्ण ने जन्म लिया था। यहाँ पर उनके ही विषय में कहा गया है कि भगवान् वासुदेव का गुणानुवाद किया जा रहा है। वासुदेव शब्द से आपने यह कैसे अर्थ निकाल लिया कि परब्रह्म का कीर्तन किया जा रहा है ? ( उत्तर ) 'वासुदेव' यह संज्ञा बहुत पुरानी है, केवल मथुरा में उत्पन्न हुये व्यक्तिविशेष का ही नाम नहीं है। ( 'वासु' शब्द 'वास' धातु से औणादिक उण् प्रत्यय होकर बनता है जिसका अर्थ होता है आत्मरूप में समस्त जगत् में निवास करनेवाली व्यापक सत्ता। उसी का क्रीडार्थक दिव धातु से निष्पन्न देव शब्द से समास हो जाता है। इस प्रकार 'वासुदेव' शब्द का अर्थ हो जाता है समस्त विश्व में व्याप्त सत्ता जो कि लीलामयता से युक्त है। वासुदेव शब्द के इस अभिधेयार्थ की ओर विष्णुपुराण में इस प्रकार निर्देश किया गया है :—

'वासुस्सर्वनिवासश्च विश्वानि सर्वलोमसु
वासुदेवस्ततो वेद्यो वृहत्त्वाद्विष्णुरुच्यते ॥'

स्वयं महाभारत में इस अर्थ की ओर सङ्केत मिलता है :—

'वासनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद्देवयोनितः
तस्य देवः परं ब्रह्म वासुदेव इतीरितः।'

गीता में लिखा है कि अनेक जन्मों की साधना के बाद ही कोई विरला ज्ञानी मेरे इस तत्त्व को जान पाता है कि यह सारा विश्व वासुदेव ही है। जिसको इस प्रकार का ज्ञान हो गया हो ऐसे महात्मा का मिलना बड़ा ही कठिन है। ( यही भाव और भी पुराणों मे पाया जाता है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में लिखा है कि 'वेद वासुदेवपरक ही हैं, यज्ञ वासुदेवपरक ही हैं, योग वासुदेवपरक ही हैं क्रियायें वसुदेवपरक है, ज्ञान, तप, धर्म और गति सब कुछ वासुदेवपरक ही है। इन्हीं विभु वासुदेव भगवान् ने जो स्वयं गुणरहित हैं अपनी सदसद्रूपिणी गुणमयी आत्ममाया के द्वारा इस विश्व की रचना की :—

'वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥
स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।

ध्वन्यालोकः

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षय-परिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन। सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्द-वाच्यत्वेन।

( अनु० ) वह इस प्रकार भगवान् से भिन्न सभी अन्य पदार्थों की अनित्यता का प्रतिपादन करनेवाले अनुक्रमणीनिर्दिष्ट वाक्य से शास्त्र की नीति में मोक्षरूप एक ही परम पुरुषार्थ और काव्य की नीति में महाभारत का अङ्गीरस तृष्णाक्षय सुखपरिपोषरूप शान्तरस भलीभाँति प्रतिपादित कर दिया गया। इस अर्थ के अत्यन्त साररूप होने के कारण यह व्यङ्ग्यरूप में ही प्रतिपादित किया गया है; वाच्य के रूप मे नहीं। निस्सन्देह सारभूत अर्थ अपने अनभिधेय रूप में प्रकाशित किये जाने पर भलीभाँति शोभा को धारण करता है। विदग्ध विद्वानों की परिषद् मे यह प्रसिद्धि है ही कि अधिक अभिमत वस्तु व्यङ्ग्य के रूप मे ही प्रकाशित की जाती है साक्षात् शब्दवाच्यत्व के रूप मे नहीं।

तारावती

इन सभी प्रकरणों में वासुदेव का परब्रह्म सत्ता के लिए प्रयोग किया है।) इसके अतिरिक्त वसुदेव के पुत्र के लिये ही नहीं अपितु वासुदेव शब्द का प्रयोग भगवान् के दूसरे अवतारों के लिये भी होता है। ( जैसे निम्नलिखित श्लोक में भगवान् राम के लिये वासुदेव शब्द का प्रयोग हुआ है :—

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान् प्रभुः॥ )

वैय्याकरणों में भी स्वयं ही इस तत्त्व का सङ्केत मिलता है कि वासुदेव शब्द व्यापक सत्ता के लिये आनेवाला नित्य शब्द है 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस सूत्र की व्याख्या करते हुये कैय्यट ने लिखा है—'शब्द तो नित्य होते हैं उनका अन्वाख्यान अनित्य अन्धक वंश इत्यादि के आश्रय से कैसे उचित हो सकता है। ( उत्तर ) त्रिपुरुषानुक नाम करना चाहिये इस नियम से अन्धक शब्द इत्यादि भी नित्य है।' काशिकाकार ने भी यही लिखा है कि शब्द नित्य ही होते हैं, जब नामकरण मे उनका उपादान होता है तब वह काकतालीय न्याय से ही समझा जाना चाहिये। आशय यह है कि शब्द संयोगवश ही नाम से मेल खा जाते हैं

## लोचन

शास्त्रनय इति। तत्रास्वादयोगाभावे पुरुषेणार्थ्यत इत्ययमेव व्यपदेशः सादरः, चमत्कारयोगे तु रसव्यपदेश इति भावः। एतच्च ग्रन्थकारेण तत्त्वालोके विस्तरेणोक्तमिह त्वस्य न मुख्योऽवसर इति नास्माभिर्दर्शितम्। सुतरामेवेति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—प्रसिद्धिश्चेति। च शब्दो यस्मादर्थे। यत इयं लौकिकी प्रसिद्धिरनादिस्ततो भगवद्व्यासप्रभृतीनामप्येवमेवास्वादशब्दाभिधाने आशयः। अन्यथा हि क्रियाकारकसम्बन्धादौ 'नारायणं नमस्कृत्ये'त्यादि शब्दार्थनिरूपणे च तथाविध एव तस्य भगवत आशय इत्यत्र कि प्रमाणमिति भावः। विदग्धविद्वद्ग्रहणेन न काव्यनये शास्त्रनय इति चानुसृतम्।

'शास्त्रनीति में' यह। भाव यह है कि वहाँ आस्वाद के अभाव में पुरुष के द्वारा अर्थित किया जाता है यही नामकरण आदरपूर्ण है, चमत्कार के योग में तो रस का नामकरण है। और यह ग्रन्थकार ने तत्त्वालोक में विस्तारपूर्वक बतलाया है, यहाँ तो उसका मुख्य अवसर नहीं है इस लिये हमलोगों ने नहीं दिखलाया। 'भलीभाँति ही' यह जो कहा उसमें हेतु बतलाते हैं—'और प्रसिद्धि' यह। 'च' शब्द क्योंकि के अर्थ में है। क्योंकि यह लौकिक प्रसिद्धि अनादि है उससे भगवान् व्यास इत्यादि का भी अपने शब्द के द्वारा न कहने में यही आशय है, अन्यथा क्रिया-कारक सम्बन्ध इत्यादि में और 'नारायणं नमस्कृत्य' इत्यादि शब्दार्थनिरूपण में उस प्रकार का ही उन भगवान् का आशय है उसमें क्या प्रमाण है? यह भाव है। 'विदग्ध विद्वत्' इस शब्द से काव्य की नीति में और शास्त्र की नीति में इन दोनोंका अनुसरण कर लिया गया।

## तारावती

वस्तुतः तो शब्द नित्य ही होते हैं। इस प्रकार वासुदेव शब्द नित्य ही है, सांयोगिक रूप में वसुदेव के पुत्र के रूप में भी उसकी व्युत्पत्ति हो गई है। इसका आशय यह नहीं है कि मथुरा में जन्म लेनेवाले वसुदेव के पुत्र को ही वासुदेव कहते हैं। एक बात और है—यहाँ पर वासुदेव के लिये 'सनातनः' यह विशेषण दिया गया है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य भगवद्भक्ति ही है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि चाहे हम शास्त्र की दृष्टि से विचार करें चाहे काव्य की दृष्टि से, दोनों दशाओं में यही बात सिद्ध होगी। शास्त्र और काव्य इन दोनों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। शास्त्र ऐसे व्यक्तियों के लिये लिखा जाता है जो वस्तु मे आनन्द तो लेते नहीं, वे उसे

समझना चाहते हैं, ये लोग विद्वान् होते हैं और विषयों की आस्वादनीयता से तटस्थ रहकर निर्लिप्त बुद्धि से वस्तुतत्त्व को जानने की चेष्टा किया करते हैं। यदि उनकी दृष्टि से महाभारत के उद्देश्य पर विचार किया जाय तो यही निर्णय करना होगा कि महाभारत मे किस पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है पुरुष के द्वारा प्रार्थित की जानेवाली वस्तु। अर्थात् उनकी दृष्टि से महाभारत में यही देखा जावेगा कि महाभारत मे किस तत्त्व को पुरुष के लिये प्रधान रूप में प्रार्थनीय माना गया है और इसका विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलेगा कि महाभारत में परम पुरुषार्थ मोक्ष ही माना गया है। दूसरे लोग वे होते हैं जो वस्तु मे आस्वाद का अन्वेषण करते हैं; ऐसे लोग काव्यरसिक कहे जा सकते हैं। उनके दृष्टिकोण से महाभारत में अङ्गीरस पर विचार किया जावेगा उनके मत से विचार करने पर यही सिद्ध होगा कि शान्तरस ही महाभारत का अङ्गीरस है जिसको लक्षित करानेवाला स्थायीभाव तृष्णाक्षय सुख ही है। यह सब यहाँ पर भली-भाँति सिद्ध किया जा चुका। लोचनकार ने इस प्रकरण पर टिप्पणी करते हुये लिखा है कि ग्रन्थकार ने तत्त्वालोक में ही यह बात भली भाँति समझाकर विस्तारपूर्वक कह दी है। अतः हमे इस विषय मे अब कुछ और नहीं कहना है। यह एक सामान्य नियम है कि जो बात प्रधान होती है और जो सारभूत तत्त्व होता है उसका प्रकथन कभी भी वाच्य वृत्तियों मे नहीं किया जाता। यदि वह बात साफ-साफ कह दी जाती है तो उसमे कोई सुन्दरता नहीं आती। इसके प्रतिकूल जो बात व्यञ्जनावृत्ति से कही जाती है वह कुछ छिपाकर कही जाने के कारण उसी प्रकार अत्यधिक शोभा को धारण कर लेती है जिस प्रकार कामिनी-कुचकलश कुछ प्रच्छन्न रूपमे ही प्रकट होकर शोभा को धारण करते हैं। इसका कारण यह है कि सहृदयों और विद्वानों दोनों में यह बात प्रसिद्ध ही है कि जो वस्तु अधिक अभीष्ट हो उसे व्यंग्य के रूप मे ही प्रकाशित करना चाहिये वाच्य के रूप मे नहीं। इसी प्रसिद्धि के आधार पर भगवान् व्यास ने सभी अप्रधान उद्देश्यों का अनुक्रमणी में वाच्यवृत्ति मे उल्लेख किया है और प्रधान उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति तथा शान्तरस का उल्लेख व्यंग्य के रूपमे 'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः' इन शब्दों के द्वारा किया है। इन शब्दों की सङ्गति हमें इस लौकिक प्रसिद्धि के आधार पर ही लगानी चाहिये कि अत्यन्त अभिमत बात व्यंग्य के द्वारा कही जाती है वाच्य के द्वारा नहीं। साराश यह है कि यह प्रसिद्धि अनादि है और इस प्रसिद्धि का ज्ञान भगवान् व्यास को भी था। इसीलिये उन्होंने अपना मुख्य प्रयोजन कहने के लिये व्यञ्जना वृत्ति का ही आश्रय लिया। यदि ऐसा न माना

ध्वन्यालोकः

तस्मात्स्थितमेतत्—अङ्गिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो-भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति। अत एव च रसानुगुणार्थविशेषोप-निबन्धमलङ्कारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते। यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्यकच्छपौ॥

इत्यादौ। अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलुके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति। तत्र ह्येकचुलुके सकलजलनिधिसन्निधानादपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शन-मत्तुष्णत्वादद्भुतरसानुगुणतरम्। ह्यप्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्ध्याद्भुतमपि नाश्चर्य-कारि भवति।

(अनु०) इससे यह स्थित हुआ—अङ्गिभूतरस इत्यादि के आश्रय से काव्य किये जाने पर नवीन अर्थ का लाभ होता है और बन्धच्छाया भी बहुत अधिक हो जाती है यह। अतएव दूसरे अलङ्कार के अभाव में भी रसानुकूल अर्थविशेष का उपनिबन्धन लक्ष्यमे छाया की अतिशयता से युक्त होते हुये देखा जाता है। जैसेः—

'कुम्भ सम्भव महात्मा योगीन्द्र मुनिकी जय हो जिन्होंने एक चुल्लू में उन दो दिव्य मत्स्य और कच्छप को देखा।'

इत्यादि में। यहाँ पर अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मछली और कच्छप का दर्शन छायातिशय को पुष्ट करता है। वहाँ पर निस्सन्देह एक चुल्लूमें समस्त महासागरो के सन्निधान से भी दिव्य मत्स्य कच्छप का दर्शन अनभ्यस्त होने के कारण अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है। निस्सन्देह अभ्यस्त वस्तु अद्भुत होते हुये भी लोकप्रसिद्धि के कारण आश्चर्य कारक नहीं होती।

तारावती

जाय कि भगवान् व्यास ने लौकिक प्रसिद्धि का अनुसरण किया था तो फिर महा-भारत का कोई अर्थ ही नहीं हो सकेगा। कौन सी क्रिया है? उसका कर्ता कौन है? कर्ता मे कौन सी विभक्ति होती है? उत्तम पुरुष की क्रिया अथवा कर्ता कौन होते हैं? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर ही दिया जा सकता है। इसी प्रकार शब्दो के अर्थ का निर्णय भी लोकप्रसिद्धि के अधार पर ही होता है। 'नारायणं नमस्कृत्य' मे नारायण का अर्थ विष्णु और नमः का अर्थ प्रणति है इसका भी निर्णय लोकप्रसिद्धि से ही होता है। यदि लोकप्रसिद्धि को न माना जाय तो महाभारत के किसी भी पद्य का कोई अर्थ ही न लगाया जा सकेगा। लोकप्रसिद्धि का आधार स्वीकार करलेने पर यह भी मानना ही होगा कि महा-भारत के मुख्य मन्तव्य का निर्णय भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर ही हो और इस

## लोचन

'रसादिमय एतस्मिन् कविः स्यादवधानवानि'त्यदुक्तं तदेव प्रसङ्गागतभारत-सम्बन्धनिरूपणानन्तरमुपसंहरति–तस्मात्स्थितमिति। अथ इति। यत एवं स्थितम् अत एवेदमपि यल्लक्ष्ये दृश्यते तदुपपन्नमन्यथा तदनुपपन्नमेव, न च तदनुपपन्नम्, चारुत्वेन प्रतीतेः। तस्याश्चैतदेव कारणं रसानुगुणार्थत्वमेवेत्याशयः। अलङ्कारान्तरेति। अन्तर-शब्दो विशेषवाची। यदि वा दित्सिते उदाहरणे रसवदलङ्कारस्य विद्यमानत्वात्तदपेक्षया-लङ्कारान्तरशब्दः।

'इस रसादिमय में कवि सावधान रहे' यह जो कहा गया था, उसीका प्रसंगात् भारतसम्बन्ध के निरूपण के बाद उपसंहार करते हैं—'इसलिये यह स्थित है' यह। 'अतः' यह। क्योंकि ऐसी स्थिति है इसीलिये यह भी जो लक्ष्य में देखा जाता है वह उपपन्न है अन्यथा वह अनुपपन्न ही हो, वह अनुपपन्न नहीं ही है क्योंकि उसकी प्रतीति चारुता के रूप में होती है। आशय यह है कि उसका कारण यही है कि उसकी रसानुगुणार्थता ही है। 'अलङ्कारान्तर' यह। अन्तर शब्द विशेष अर्थ का वाचक है। अथवा दिये जाने के लिये अभीष्ट उदाहरण मे रसवत् अलङ्कार के विद्यमान होने से उसकी अपेक्षा से अलङ्कारान्तर शब्द का प्रयोग किया गया है।

## तारावती

आधार पर निर्णय करने से यही सिद्ध होता है कि महाभारत मे मोक्ष परम पुरुषार्थ माना गया है और उसका अङ्गीरस शान्त है।

यहाँ पर इस बात का विचार किया जा रहा था कि यद्यपि अनेक प्रकार के व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्भव हैं तथापि कवि को एकमात्र रसादिमय व्यंग्य-व्यञ्जक भाव के प्रति ही जागरूक रहना चाहिये। इसी प्रसङ्ग मे महाभारत के अङ्गीरस का प्रश्न आ गया और उस पर भी विस्तारपूर्वक विचार कर लिया गया। किन्तु यह प्रासङ्गिक ही था मुख्य विषय नहीं। मुख्य विषय तो यहाँ पर यही चल रहा है कि यदि काव्य की रचना इस प्रकार की जाती है कि एक अङ्गीरस मान लिया जाय और समस्त कथानक मे सभी अवान्तर रस उसी परिवेष मे ग्रथित किये जायँ तो रचना सुसम्बद्ध हो जाती है और उसमे एक बडी बन्धच्छाया सम्पन्न हो जाती है। यह बात यहाँ पर ठीक रूप मे सिद्ध हो गई और उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष भी निकल आया। जब हम इस सिद्धान्त को मान लेते हैं तब जो कुछ लक्ष्यग्रन्थों में देखा जाता है वह भी तर्क-सङ्गत सिद्ध हो जाता है। यदि हम इसे न मानें तो लक्ष्यग्रन्थों मे देखी हुई बात भी असङ्गत हो जाय। किन्तु वास्तविकता यह है कि लक्ष्यग्रन्थों मे देखी हुई बात असङ्गत होती नहीं। क्योंकि लक्ष्यग्रन्थों में देखा जाता है कि कवि किसी एक प्रधान रस के परिवेष में ही

## लोचन

ननु मत्स्यकच्छपदर्शनात्प्रतीयमानं यदेकचुल्लुके जलनिधिसन्निधानं ततो मुनेर्माहात्म्यप्रतिपत्तिरिति न रसानुगुणेनार्थेन च्छयापोषितेत्याशङ्क्याह—अत्र हीति। नन्वेवं प्रतीयमानं जलनिधिदर्शनमेवाद्भुतगुणं भवत्विति रसानुगुणोऽत्र वाच्योऽर्थ इत्यस्मिन्नंशे कथमिदमुदाहरणमित्याशङ्क्याह—तत्रेति। क्षुण्णं हीति। पुनः पुनर्वर्णन निरूपणादिना यत्पिष्टपिष्टत्वादतिनिर्भिन्नस्वरूपमित्यर्थः।

(प्रश्न) मत्स्य और कच्छप के दर्शन से प्रतीत होनेवाला जो एक चुल्लू में समुद्र का सन्निधान उससे मुनि के माहात्म्य की प्रतिपत्ति होती है अतः रसानुगुण अर्थ से छाया पोषित नहीं हुई है यह शङ्का करके कहते हैं—'यहाँ निस्सन्देह' यह। (प्रश्न) इस प्रकार प्रतीत होनेवाला जलनिधिदर्शन ही अद्भुतरस के अनुगुण है, इस प्रकार रसानुगुण यहाँ पर वाच्यार्थ है इस अंश में यह उदाहरण कैसे हो सकता है? यह शङ्का करके कहते हैं—'वहाँ पर' यह। 'निस्सन्देह क्षुण्ण' यह। अर्थात् पुनः पुनः वर्णन और निरूपण इत्यादि के द्वारा जो अत्यधिक पिष्ट होने से अत्यन्त निर्भिन्न स्वरूपवाला हो गया है।

## तारावती

समस्त काव्य को गुम्फित कर देता है और ऐसा करने से उसके काव्य में चारुता भी बढ़ जाती है। अतः एक रस के परिवेष में सम्पूर्ण काव्य को आवद्ध कर देना असङ्गत नहीं कहा जा सकता। अतः इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पड़ेगा। यही कारण है कि अलङ्कार ही काव्य की शोभा का आधान नहीं है। यहाँ पर अन्तर शब्द का अर्थ है विशेष। अतः इस वाक्य का आशय यह हो जाता है कि काव्यसौन्दर्य का सम्पादन करनेवाला सबसे बड़ा तत्त्व रस ही है। यदि किसी काव्य में कोई विशेष अलङ्कार न भी हो तब भी यदि वस्तु की योजना रस की दृष्टि से कर दी जाय तो काव्य-सौन्दर्य का सम्पादन हो ही जाता है। अथवा यहाँ पर 'दूसरा' यह अर्थ भी किया जा सकता है। उस दशा में इस वाक्य की योजना अग्रिम उदाहरण 'मुनिर्जयति''''मत्स्यकच्छपौ' की दृष्टि से करनी होगी। इस दशा में इस वाक्य का आशय यह होगा कि प्रस्तुत पद्य का प्रतिपाद्य मुनिविषयक रतिभाव है। मत्स्य-कच्छप का एक चुल्लू में दर्शन अद्भुतरस के अनुगुण होने से अद्भुतरस की निष्पत्ति कर देता है। यह अद्भुतरस प्रधान प्रतिपाद्य मुनिविषयक रतिभाव का अङ्ग होकर रसवत् अलङ्कार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर एक तो अलङ्कार विद्यमान ही है। अतएव किसी दूसरे अलङ्कार के न होने पर भी वस्तुकी रसप्रवण योजना से ही छायाकी अधिकता सम्पन्न हो गई है। उदाहरण का आशय इस प्रकार है।

तारावती

'कुम्भ से उत्पन्न योगिराज महात्मा अगस्त्य की जय हो जिन्होंने उन प्रसिद्ध तथा विचित्र प्रकार के मत्स्य और कच्छप को एक ही अञ्जली मे देखा।'

भगवान् ने प्रलयकाल में मत्स्यावतार लिया था और समुद्रमन्थन के अवसर पर कच्छपावतार। ये दोनों भगवान् के अवतार प्रसिद्ध हैं। 'तौ' इस सर्वनाम से अभिव्यक्त होता है वे मत्स्य और कच्छप असाधारण थे तथा उनको सब कोई जानता है। इसी असाधारणता ( लोकातिक्रान्तता ) को 'दिव्य' शब्द पुष्ट करता है। ये दोनों अवतार महासागर में ही निवास करते हैं। जब महर्षि अगस्त्य ने समस्त महासागर को एक ही चुल्लू में पी जाना चाहा तो वे दिव्य मत्स्य और कच्छप भी उनके चुल्लू में आ गये। यह महामुनि अगस्त्य की लोकोत्तर शक्ति का निदर्शन है। यहाँ पर तिमि नाम की मछली का भी अर्थ लिया जा सकता है। एक ही चुल्लू में उस प्रकार के अनिर्वचनीय मत्स्य और कच्छप का दर्शन विस्मयाधिक्य का उत्पादक है और इस प्रकार अद्भुत रसास्वादन का प्रवर्तक है। काव्य की सुषमा का आधार यह अद्भुत रसास्वादन ही है। यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि छाया की पुष्टि तो मुनि के माहात्म्य से होती है। एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप को देखने से जलधि-पान अभिव्यक्त होता है और उससे मुनि के माहात्म्य की प्रतीति होती है। यह मुनि का माहात्म्य ही काव्य सौन्दर्य में पर्यवसित होता है। फिर यह कैसे कहा गया कि एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप को देखना एक ऐसा वाच्यार्थ है जो अद्भुत रस के अनुकूल पड़ता है उस वाच्यार्थ में ही छाया की अधिकता का पर्यवसान होता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मुख्यरूप में प्रतीति मुनिविषयक रति की ही होती है। किन्तु उस रति में सौन्दर्य का आधान करनेवाली तो यह उक्ति ही है। अतएव यह उक्ति ही चमत्कारपर्यवसायिनी है। ( प्रश्न ) यहाँ पर मत्स्यकच्छप दर्शन रूप वाच्यार्थ चुल्लू मे समुद्र को भर लेने का अभिव्यञ्जक है। यह व्यङ्ग्यार्थ ही अद्भुत रस के अनुगुण माना जाना चाहिये। यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि यहाँ पर उक्त वाच्यार्थ ही सौन्दर्य का पोषक है! ( उत्तर ) सामान्यतया नियम यह है कि जब किसी वस्तु का बार-बार वर्णन कर दिया जाता है और उसका निरूपण भी पर्याप्त मात्रा में हो चुकता है तब वह वस्तु भलीभाँति पिस जाती है और लोगों के सामने बार-बार आने से लोग उससे परिचित हो जाते हैं। वह वस्तु कितनी ही अद्भुत क्यों न हो किन्तु लोकप्रसिद्धि के कारण फिर वह वस्तु लोगों के हृदयों में आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती। ( जैसे कितना आश्चर्य जनक है कि विज्ञान के प्रभाव से सैकड़ों मील की दूरी पर बैठे हुये दो व्यक्ति ऐसे ही बातें

ध्वन्यालोकः

न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि । तद्यथा—

सिज्जइ रोमञ्चिज्जइ वेवइ रत्थातुलग्गपडिलग्गो ।
सोपासो अज्ज वि सुहअ जेणासि वोलीणो ॥

एतद्गाथार्थाद्भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवं विधार्थात्प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते ।

( अनु० ) उपनिबद्ध किये जाने पर अक्षुण्ण वस्तु अद्भुत रस की ही अनुगुण नहीं होती अपितु दूसरे रस की भी होती है। वह इस प्रकार—

'हे सुभग ! उस ( नायिका ) के जिस पार्श्व से रथ्या में संयोगवश तुम लग गये थे वह इसका पार्श्व आज भी पसीजता है, रोमाञ्चित होता है और कांपता है।'

भावित किये हुये रस गाथा के अर्थ से जैसी रस की प्रतीति होती है वह प्रतीति 'वह तुम्हे स्पर्श कर पसीजती है, रोमाञ्चित होती है और काँपती है' इस प्रकार के प्रतीयमान अर्थ से बिल्कुल नहीं होती ।



करते हैं मानों एक कमरे मे बैठे हों । किन्तु टेलीफोन इतना सामान्य हो गया है कि आज उसे देखकर लोगो को आश्चर्य नहीं होता । ) इसके प्रतिकूल जो वस्तु अनेकशः परिशीलन के माध्यम से पूर्ण रूप से पिस नहीं जाती वह जब नये नये रूप मे सामने आती है तब उससे विस्मय की भावना उद्भूत हो जाती है । अगस्त्य का समुद्रपान इतना क्षुण्ण हो चुका है कि अब पाठकों के सामने उसको प्रस्तुत करने मे उन्हे आश्चर्य नहीं होता । किन्तु एक अंजली में भगवान् के विशाल दो अवतारों का दर्शन वस्तुतः पाठको के लिए नवीन कल्पना है । अतएव इस वस्तु में अद्भुतरस का आस्वादन कराने की अधिक क्षमता है । अधिक कहने का आशय यह है कि समुद्र पान मे भी कुछ न कुछ तो आश्चर्य हो ही जाता है । यहाँ पर कोई विशेष अलङ्कार नहीं है, फिर भी वस्तु की योजना ही इतने सुन्दर ढंग से कर दी गई है कि उसमे अद्भुतरसानुगता आ जाती है । ( यहाँ पर रुय्यक ने भाविक अलङ्कार का होना बतलाया है । किन्तु भाविक अलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ भूत और भविष्य के अर्थों को वर्तमान मे प्रत्यक्षीकरण दिखलाया जाय । किन्तु यहाँ पर भूतकाल में ही प्रत्यक्षीकरण दिखलाया गया है, अतः भाविक अलङ्कार यहाँ पर नहीं हो सकता । )

ऊपर कहा गया है कि जो बात लोक मे भलीभाँति मंज जाती है और सर्वसाधारण मे प्रचलित हो जाती है वह बात आश्चर्यजनक नहीं होती किन्तु जिस बात

## लोचन

बहुत्तरलक्ष्यव्यापकं चैतदिति दर्शयति—न चेत्यादिना । रथ्यायां तुलाग्रेण काकतालीयेन प्रतिलग्नः सामुख्येन स पार्श्वोऽद्यापि सुभग तस्या येनास्यतिक्रान्तः । रसप्रतीतिरिति । परस्परहेतुकश्रृङ्गारप्रतीतिः । अस्यार्थस्य रसानुगुणत्वं व्यतिरेकद्वारेण दृढयति—सा त्वामित्यादिना ।

और यह बहुत से लक्ष्यों में व्यापक है यह दिखलाते हैं—'और नहीं' इत्यादि के द्वारा । रथ्या में तुलाग्र से अर्थात् काकतालीय से प्रतिलग्न वह (नायिका) मुख्यरूप से वह उसका पार्श्व आज भी हे सुभग जिसके अतिक्रान्त हो गये हो । 'रस प्रतीति' यह । परस्परहेतुक श्रृंगार की प्रतीति । इस अर्थ का रसानुगुणत्व व्यतिरेक के द्वारा दृढ़ करते हैं—'वह तुम्हें' इत्यादि के द्वारा ।

## तारावती

की पूर्ण प्रतिष्ठा लोक में नहीं हो चुकी होती है वही आश्चर्यजनक तथा अद्भुतरस-प्रयोजक होती है । यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अक्षुण्ण वस्तु केवल अद्भुत रस की ही प्रयोजक नहीं होती अपितु उससे अन्य रसों की भी पुष्टि होती है । उदाहरण के लिए देखिये अक्षुण्ण (नवीन) वस्तु से श्रृङ्गार रस की किस प्रकार पुष्टि होती है—

नायिका की कोई दूती नायक से नायिका के प्रणय का निवेदन करते हुये कह रही है :—

स्विद्यति रोमाञ्चति वेपते रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः ।
स पार्श्वोऽद्यापि सुभग तस्या येनास्यतिक्रान्तः ॥ (छाया)

'उस दिन जब तुम उस गली से निकल रहे थे नायिका भी उधर से आ गई । न तुमने उससे टकराने का प्रयत्न किया और न उसने ही । किन्तु संयोग-वश उसका एक पार्श्व तुम्हारे शरीर से टकरा गया । तुम सौभाग्यशाली हो कि उसी दिन से उसका वही पार्श्व निरन्तर सात्विक भावों से भरा रहता है, कभी रोमाञ्चित हो जाता है, कभी कांपने लगता है ।

यहाँ पर नायक और नायिका का उभयनिष्ठ प्रेम है, नायक सौभाग्यशाली है और नायिका अनेक सात्विकों से ओत प्रोत है । इस श्रृंगार के आस्वादन कराने के लिये जिस वस्तु का उपादान किया गया है वह सर्वथा नवीन है। सांकरी गली मे सांयोगिक स्पर्श और उससे केवल उसी पार्श्व का निरन्तर पसीजना इत्यादि न तो कवियों का सामान्य विषय है और न लौकिक घटना में ही प्रायः देखा जाता है । इसमें एक नवीनता है जिससे इसमें रसास्वादन कराने की विशेष क्षमता उत्पन्न हो गई है । यदि इसके स्थान पर यह कहा गया होता कि 'वह

ध्वन्यालोकः

तदेवं ध्वनिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम्। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेदव्यङ्ग्यापेक्षया ये प्रकारास्तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तूनां नवत्वं भवत्येव। तत्त्वतिविस्तारकारीति नोदाहृतं सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम्।

( अनु० ) वह इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का आश्रय लेने से भी जिस प्रकार काव्यार्थों की नवीनता उत्पन्न हो जाती है वैसा प्रतिपादित कर दिया गया। गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी तीन भेदोंवाले व्यङ्ग्य की दृष्टि से जो प्रकार होते हैं उनका आश्रय लेने से भी काव्यवस्तुओ की नवीनता हो ही जाती है। वह तो अत्यन्त विस्तार देनेवाला है इसलिये उसके उदाहरण नहीं दिये गये सहृदयों के द्वारा स्वयं समझ लिये जाने चाहिये।

लोचन

'ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।

इत्युद्योतारम्भे यः श्लोकः तत्र ध्वनेरध्वना कवीनां प्रतिभागुणोऽनन्तो भवतीत्येष भागो व्याख्यात इत्युपसंहरति—तदेवमित्यादिना। सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्येत्यमुं भागं

'गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ ध्वनि का जो भाग दिखलाया गया है।' यह जो उद्योतारम्भ मे श्लोक था उसमें ध्वनि के मार्ग से कवियों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है इस भाग की व्याख्या कर दी गई यह उपसंहार करते हैं—'वह इस प्रकार' इत्यादि के द्वारा। 'सगुणीभूतव्यङ्ग्य का' इस भाग की व्याख्या

तारावती

तुम्हें देखकर पसीने से युक्त हो जाती है, रोमाञ्चित हो जाती है और कांपने लगती है' तो उससे प्रतीयमान रति उसका अंश-मात्र भी आस्वादन प्रदान न कर सकती जितना गाथा मे बतलाये हुये तथ्य से हो जाता है।

चतुर्थ उद्योत के प्रारम्भ में कहा गया था कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के मार्ग का अवलम्बन करने से कवियो का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है। ऊपर यह बतला दिया गया कि ध्वनि-मार्ग के आश्रय से प्रतिभागुण में अनन्तता किस प्रकार आती है। अब यह विचार करना शेष रह गया है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य का आश्रय लेने से प्रतिभागुण में अनन्तता किस प्रकार आती है। गुणीभूतव्यङ्ग्य भी तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलङ्कार और रस। यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु इत्यादि का भी आश्रय लिया जाय तो भी पुराना अर्थ नया सा मालूम पड़ने लगता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य का विस्तार अनन्त है। एक तो जितने भी

## लोचन

व्याचष्टे—गुणीभूतेत्यादिना। त्रिप्रभेदो हि यस्त्वलङ्काररसात्मना यो व्यङ्ग्यस्तस्य यापेक्षा वाच्ये गुणीभावः तयेत्यर्थः। तत्र सर्वे ये ध्वनिप्रभेदास्तेषां गुणीभावादानन्त्यमिति तदाह—अतिविस्तरेति। स्वयमिति। तत्र वस्तुना व्यङ्ग्येन गुणीभूतेन नवत्वं सत्यपि पुराणार्थस्पर्शे यथा ममैव—

भअ विहल रक्खणेक्कमल्लसरणागआणअत्थाण।
खणमत्तं विण दिण्णा विस्सामकहेत्ति जुत्तमिणम्॥

करते हैं—गुणीभूत इत्यादि के द्वारा। अर्थात् तीन उपभेदोंवाला निस्सन्देह वस्तु रस और अलङ्कार की आत्मा से युक्त जो व्यङ्ग्य उसकी जो अपेक्षा अर्थात् वाच्य में गुणीभाव उसके द्वारा। वहाँ पर ध्वनि के जो सब उपभेद उनके गुणीभाव से आनन्त्य हो जाता है वह कहते हैं—'अतिविस्तार' यह। 'स्वयम्' यह। उसमें गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु के द्वारा नवीनता पुराने अर्थ के स्पर्श होते हुए भी जैसे मेरा ही पद्य—

'भय से व्याकुल शरणागतों की रक्षा करने मे अद्वितीय योद्धा (हे राजन्) शरणागत धनों को क्षणमात्र भी विश्राम की बात ही न करने दी, यह ठीक था?'

## तारावती

ध्वनिभेद होते हैं वे सब गुणीभूत हो जाते हैं। ध्वनिभेद स्वयं ही अनन्त हैं। अतः गुणीभूतव्यङ्ग्यों का अनन्त हो जाना भी स्वाभाविक ही है। दूसरी बात यह है कि अलङ्कार भी अनन्त होते है जिनमें प्रायः गुणीभूतव्यङ्ग्य का ही आधार पाया जाता है। अतः वृत्तिकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के द्वारा काव्यार्थ में नवीनता लाने के उदाहरण नहीं दिये हैं। उन्होंने उदाहरणों का अन्वेषण पाठकों पर ही छोड़ दिया है। किन्तु अभिनवगुप्त ने दिग्दर्शन कराने के लिये वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीन गुणीभूतव्यङ्ग्यों से काव्य मे नवीनता लाने का एक एक उदाहरण दे दिया है। उनके उदाहरण इस प्रकार है—

(१) पुराने अर्थ के स्पर्श करने पर भी गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु से नवीनता आ जाती है इसका उदाहरण स्वयं अभिनवगुप्त की बनाई हुई एक गाथा है। गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार है—

भयविह्वलरक्षणैकमल्लशरणागतानामर्थानाम्।
क्षणमात्रमपि न दत्ता विश्रामकथेतियुक्तमिदम्॥

कोई कवि राजा की दानशीलता की प्रशंसा करते हुये कह रहा है:—हे राजन्! जो लोग भय से व्याकुल होते हैं उनकी रक्षा करने में जितना शौर्य आपके अन्दर है उतना और किसी में नहीं पाया जाता। धन भी आपकी शरण में

## लोचन

अत्र त्वमनवरतमर्थांस्त्यजसीति औदार्यलक्षणं वस्तु ध्वन्यमानं वाच्यस्योपस्कारकं नवत्वं ददाति, सत्यपि पुराणकविस्पृष्टेऽर्थे। तथाहि पुराणी गाथा—

चाइअणकरपरम्परसञ्चारणखे अणिस्सहससरीरा।
अत्था किवणघरत्था सअणापत्थास्ववंतीव॥

अलङ्कारेण व्यङ्ग्येन वाच्योपस्कारे नवत्वं यथा ममैव—

वसन्तमत्तालिपरम्परोपमाः कचास्तवासन् किल रागवृद्धये।
श्मशानभूभागपरागभासुराः कथन्तदेते न मनाग्विरक्तये॥

अत्र ह्याक्षेपेण विभावनया च ध्वन्यमानाभ्यां वाच्यमुपस्कृतमिति नवत्वं सत्यपि पुराणार्थयोगित्वे। तथाहि पुराणश्लोकः—

यहाँ पर तुम निरन्तर धनों का त्याग करते हो यह औदार्यलक्षणवाली वस्तु ध्वनित होते हुये वाच्य की उपस्कारक नवीनता को दे देता है। यद्यपि पुराने कवि का स्पर्श किया हुआ अर्थ विद्यमान है। वह इस प्रकार पुरानी गाथा है—

'त्यागी लोगों के हाथों की परम्परा में सञ्चारण के खेद को अपने शरीरपर न सह सकनेवाले धन कृपणों के घरों में स्थित होकर मानों स्वस्थ अवस्था में सो रहे हैं।'

व्यङ्ग्य अलंकार से वाच्योपस्कार में नवत्व जैसे मेरा ही—

'वसन्त काल के मत्त भौंरों की परम्परा की उपमावाले तुम्हारे केश निस्सन्देह राग को बढ़ानेवाले थे। स्मशान भूभाग की पराग के समान भासुर वर्ण के ये कुछ भी विरक्त करनेवाले नहीं हैं, यह क्या बात है?'

यहाँ ध्वनित होनेवाले आक्षेप और विभावना से वाच्य उपस्कृत हुआ है जिससे नवीनता आ गई है यद्यपि पुरानी गाथा विद्यमान थी। वह इस प्रकार पुरानी गाथा है—

## तारावती

आये। किन्तु उन धनों को आपने एक क्षण भी अपने यहाँ विश्राम नहीं करने दिया। क्या ऐसा करना आपकी शरणागतरक्षणतत्परता के अनुकूल था।'

यहाँ पर यह व्यञ्जना निकलती है कि हे राजन् आप बड़े ही दानशील हैं और शरणागतों की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा सुन्दर भी है और उसका उपकारक भी। अतएव यह गुणीभूतव्यङ्ग्य है। इस पद्य का आशय एक दूसरी गाथा से लिया गया है जिसकी छाया इस प्रकार है :—

त्यागिजनपरम्परासञ्चारणखेदनिस्सहशरीराः।
अर्थाः कृपणगृहस्थाः स्वस्थावस्थाः स्वपन्तीव॥

लोचन

क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यं मरणाच्च महद्भयम् ।
पञ्चैतानि विवर्धन्ते वार्धके विदुषामपि ॥ इति

'भूख, प्यास, कामवासना, मात्सर्य और मरण से महान् भय ये ५ वृद्धावस्था मे विद्वानों के अन्दर भी बढ़ जाते हैं ।'

तारावती

'धन दानी लोगों के हाथों मे नित्य प्रति घूमते ही रहते हैं, एक हाथ में आते हैं और दूसरे में चले जाते हैं, कभी रुकते ही नहीं । इस भ्रमणलीला में वे इतने थक जाते हैं कि और अधिक भ्रमण करने की शक्ति ही उनमे नहीं रहती । मानो इसीलिये कृपणों के घरों मे पहुँचकर वे धन स्वस्थ अवस्था को प्राप्त होकर आराम से सोते हैं ।'

बात वही है । किन्तु अभिनवगुप्त ने अपने पद्य में ऐसी व्यङ्ग्य वस्तु का आश्रय ले लिया है जो गुणीभूत हो गई है । इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य वस्तु का आश्रय लेने से पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है ।

( २ ) यदि अलङ्कार व्यंग्य हो और वह गुणीभूत हो जाय तो उसका आश्रय ले लेने से भी पुरारी वस्तु में नवीनता आ जाती है। इसका उदाहरण भी अभिनवगुप्त का पद्य ही है :—

किसी व्यक्ति को वृद्धावस्था मे भी वासनायें पीडित कर रही हैं । उसका कोई ज्ञानी मित्र उससे कह रहा है:—

'तुम्हारे यौवन काल में तुम्हारे बाल इतने काले थे और ऐसे मालूम पड़ रहे थे मानो वसन्तकाल के मतवाले भौंरे पक्ति बनाकर उड़ रहे हों । उस समय तुम्हारे उस भरे पूरे यौवन ने तुम्हारे अन्दर काम-वासना को खूब बढ़ाया । अब तुम्हारे ये बाल इतने सफेद हो गये हैं कि मालूम पड़ता है मानो स्मशानभूमि पर पड़ी हुई सफेद चिताभस्म हो । इन सफेद बालों से तो तुम्हारे अन्दर विराग होना ही चाहिये । किन्तु क्या बात है कि ये बाल तुम्हारे अन्दर विराग को जागृत नहीं करते ।'

इस गाथा की रचना मे भी एक पुराने पद्य का आशय ग्रहण किया गया है—

'चाहे कोई कितना ही विद्वान् और ज्ञानवान् क्यों न हो किन्तु जब उसकी वृद्धावस्था आ जाती है तो उसके अन्दर ये पाँच बातें बढ़ ही जाती हैं—भूख और प्यास, काम-वासना, दूसरों से ईर्ष्या-द्वेष और मरने से बहुत अधिक भय ।'

आशय दोनों पद्यों का एक ही है । किन्तु इस पुराने पद्य का आशय लेते हुये भी अभिनवगुप्त ने इसमें कुछ नवीनता पैदा कर दी है । अभिनवगुप्त के पद्य में

## लोचन

व्यङ्ग्येन रसेन गुणीभूतेन वाच्योपस्कारेण नवत्वं यथा ममैव—

जरा नेयं मूर्ध्नि ध्रुवमयमसौ कालभुजगः,
क्रुधान्धः फूत्कारैः स्फुटगरलफेनान् प्रकिरति ।
तदेनं संपश्यत्यथ च सुखितम्मन्य हृदयः
शिवोपायं नेच्छन् वत वत सुधीरः खलु जनः ॥

अत्राद्भुतेन व्यङ्ग्येन वाच्यमुपस्कृतं शान्तरसप्रतिपत्त्यङ्गत्वाच्चारु भवतीति न नवत्वं सत्यप्यस्मिन् पुराणश्लोके—

जराजीर्णशरीरस्य वैराग्यं यन्न जायते ।
तन्नूनं हृदये मृत्युर्ध्रुवं नास्तीति निश्चयः ॥' ५ ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य रस से वाच्योपस्कार के द्वारा नवत्व जैसे मेरा ही—

'यह बुढ़ापा नहीं है अपितु कालरूपी भुजङ्गम क्रोधान्ध होकर सिरपर निस्सन्देह फूत्कारों के द्वारा स्पष्ट रूप मे विष के झाग को छोड़ रहा है । उसको देखता है अपने को सुखी हृदयवाला समझता है, कल्याणकारक उपाय की इच्छा नहीं करता आश्चर्य है कि व्यक्ति कितना धीर है ?'

यहाँ पर व्यङ्ग्य अद्भुत से उपस्कृत वाच्य शान्त रस की प्रतिपत्ति का अङ्ग होने से सुन्दर हो जाता है इससे नवीनता आ जाती है यद्यपि पुराना श्लोक विद्यमान है :—

'जराजीर्ण शरीरवाले व्यक्ति के अन्दर जो वैराग्य नहीं उत्पन्न होता है उससे उसके हृदय मे यह दृढ़ निश्चय है कि मृत्यु निश्चित रूप से है ही नहीं ॥ ५ ॥

## तारावती

दो अलङ्कार ध्वनित होते हैं—( क ) 'मृत्यु के निकट पहुँचकर तो तुम्हारे अन्दर विराग होना ही चाहिये; किन्तु अधिक हम तुमसे क्या कहें ? हमारा तुमसे कुछ अधिक कहना ठीक नहीं है।' यह उक्तविषयक आक्षेप अलङ्कार है क्योंकि इसमें कहीं हुई बात का निषेध कर दिया गया है। अथवा 'अब तुम्हारी मृत्यु निकट आ रही है' इस न कही हुई बात के कहने का निषेध व्यंग्य है जिससे यह अनुक्तविषयक आक्षेप है। विराग की भावना को तीव्र करना ही विशेष अभिधेय है।( ख ) काम-वासना का कारण विद्यमान नहीं है फिर भी कामोत्पत्ति रूप कार्य हो रहा है। यह विभावना है । ये दोनों व्यंग्य अलङ्कार वाच्य का सौन्दर्य ही बढ़ाते हैं । अतः ये गुणीभूत हो गये है । इस प्रकार यहाँ पर गुणीभूतव्यंग्य अलङ्कार का आश्रय ही पुराने भाव मे नवीनता उत्पन्न करनेवाला है ।

ध्वन्यालोकः

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥ ६ ॥

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुण, तस्मिन्सत्यसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते? अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्—परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ॥ ६ ॥

( अनु० ) 'इस प्रकार यदि प्रतिभागुण हो तो ध्वनि के और गुणीभूतव्यङ्ग्य के आश्रय लेने से काव्यार्थ का विराम नहीं होता ॥ ६ ॥'

पुरातन कवि-प्रबन्धों के होते हुये भी यदि प्रतिभागुण हो; उसके न होने पर कुछ भी कवि की वस्तु नहीं होती। बन्धच्छाया भी दो अर्थों के अनुरूप शब्द-सन्निवेश ( ही है वह ) अर्थप्रतीति के अभाव में कैसे सिद्ध होती है? अर्थविशेष की अपेक्षा न करते हुये अक्षर रचना ही बन्धच्छाया है। यह सहृदयों के निकट नहीं है। निस्सन्देह ऐसा होने पर अर्थ की अपेक्षा न करनेवाले तथा मधुर वचन-रचना में भी काव्य का नाम प्रवृत्त हो जावेगा। यदि कहो कि जब शब्द और अर्थ के साहित्य के द्वारा काव्यत्व होता है तब उस प्रकार के विषय में काव्यव्यवस्था कैसे होगी? तो ( इसका उत्तर यह है कि ) दूसरों से उपनिबद्ध अर्थ की रचना में जैसे उस काव्य का व्यवहार होता है वैसे ही उस प्रकार के काव्यसन्दर्भों के लिये भी ( काव्य का व्यवहार हो जावेगा। )

लोचन

सत्स्वपीति कारिकाया उपस्कारः। त्रीन् पादान् स्पष्टान् मत्वा तुर्यं पादं व्याख्यातुं पठति—यदीति। विद्यमानो ह्यसौ प्रतिभागुण उक्तरीत्या भूयान् भवति, नत्वत्यन्तासन्नेवेत्यर्थः। तस्मिन्निति। अनन्तीभूते प्रतिभागुणे। किञ्चिदेवेति। सर्वं हि पुराण-

'होते हुये भी' यह कारिका का उपस्कार है तो। तीन पादों को स्पष्ट मानकर चौथे पाद की व्याख्या करने के लिए पढ़ते हैं—'यदि' यह। निस्सन्देह का अर्थ यह है कि निस्सन्देह विद्यमान वह प्रतिभागुण उक्त रीति से अधिक हो जाता है, अत्यन्त रूप में न होते हुये नहीं। 'उसके' यह। अर्थात् अनन्तभूत प्रतिभागुण के। 'कुछ भी नहीं' यह। निस्सन्देह सभी कुछ पुराने कवि द्वारा ही स्पर्श कर

## तारावती

( ३ ) रस गुणीभूतव्यंग्य होकर जब वाच्य को उपस्कृत करता है तब भी पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है । इसका भी उदाहरण अभिनवगुप्त का बनाया हुआ एक पद्य ही है उस पद्य का आशय इस प्रकार है:—

'लोगों के सिर के सफेद बाल बुढापा नहीं हैं किन्तु निस्सन्देह यह कालरूपी सर्प क्रोध में अन्धा हो गया है और बार-बार फुफकारता है जिससे तुम्हारे सिर पर विष का झाग छूट रहा है और वह स्पष्टरूप से सफेद बालों के रूप में झलक रहा है, इसको लोग देखते हैं और फिर भी उनका हृदय अपने को सुखी ही समझता है । लोग इस बात की चेष्टा नहीं करते कि कल्याणकारक उपाय का सहारा लें । निस्सन्देह लोगों में आश्चर्यजनक धैर्य है । यह दुःख की बात है ।'

इस पद्य में भी एक दूसरे पुराने श्लोक की छाया है:—

'जिस व्यक्ति का शरीर जरा से जीर्ण हो चुका है उसके हृदय में भी यदि वैराग्य की भावना उत्पन्न नहीं होती तो इसका तो आशय यही है कि उसके हृदय में दृढ़ निश्चय है कि असंदिग्ध रूप में मौत है ही नहीं ।'

दोनों पद्यों के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है । किन्तु इस श्लोक में शान्त-रस का परिपाक हुआ है । शान्तरस का परिपाक उक्त अभिनवगुप्त के श्लोक में भी है किन्तु अन्तर यह हो गया है कि अभिनवगुप्त के पद्य में विस्मय स्थायी भाव का उपादान हुआ है वह विस्मय अद्भुतरस के रूप में आस्वादयोग्य है अद्भुत-रस शान्त की प्रतिपत्ति का अंग ही है इसीलिये वह गुणीभूत होकर शान्त को अधिक रमणीय बना रहा है यहाँ पर गुणीभूतव्यंग्य रस का आश्रय लेने से ही नवीनता आ गई है इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का आश्रय लेकर किस प्रकार पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है इसका दिग्दर्शन करा दिया गया है और गुणीभूतव्यंग्य के मूलभेदों का एक-एक उदाहरण दे दिया गया है ॥ ५ ॥

ऊपर विस्तारपूर्वक सिद्ध किया जा चुका है कि कविता में नवीनता ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य से ही आती है । अर्थ तो पुराने ही होते हैं किन्तु अभिव्यञ्जन कौशल पुराने अर्थों को भी नवीन रूप दे देता है । इस कारिका में उसी प्रकरण का उपसंहार किया गया है । कारिका का अर्थ करने में 'सत्स्वपि पुरातनकवि-प्रबन्धेषु' इतना वाक्यखण्ड और जोड़ देना चाहिये । इस प्रकार पूरी कारिका का आशय यह हो जावेगा :—

जैसा ऊपर वर्णन किया गया है उस से सिद्ध होता है कि चाहे पुराने कवियों

## लोचन

कविनैव स्पृष्टमिति किमिदानीं वर्ण्यं यत्र कवेर्वर्णनाव्यापारः स्यात्। ननु यद्यपि वर्ण्यमपूर्वं नास्ति, तथाप्युक्तिपरिपाकगुम्फघटनाद्यपरपर्यायबन्धच्छाया नवनवा भविष्यति। यन्निवेशने काव्यान्तराणां संरम्भ इत्याशङ्क्याह—बन्धच्छायापीति। अर्थद्वयं गुणीभूतव्यङ्ग्यं प्रधानभूतं व्यङ्ग्यं च। नेदीय इति। निकटतरं हृदयानुप्रवेशि न भवतीत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—एवं हि सतीति। चतुरत्वं समाससङ्घटना। मधुरत्वमपारुष्यम्। तथाविधानामिति। अपूर्वबन्धच्छायायुक्तानामपि परोपनिबद्धार्थनिबन्धने परकृतकाव्यत्वव्यवहार एव स्यादित्यर्थस्यापूर्वत्वमाश्रयणीयम्। कवनीयं काव्यं तस्य भावः काव्यत्वं, न त्वयं भावप्रत्ययान्तात् भावप्रत्यय इति शङ्कितव्यम्॥ ६॥

लिया गया, अतः इस समय क्या वर्ण्य शेष रह गया जिसमें कवि का वर्णना-व्यापार हो? (प्रश्न) यद्यपि नवीन नहीं है तथापि उक्तिपरिपाक गुम्फघटना इत्यादि दूसरे पर्यायवाली बन्धच्छाया नई नई हो जावेगी जिसके निविष्ट करने में दूसरे काव्यों की रचना के प्रति अभिनिवेश होता है यह शङ्का करके कहते हैं—'बन्धच्छाया भी' यह। 'दो अर्थ' गुणीभूतव्यंग्य और प्रधानभूतव्यंग्य। 'नेदीय' निकटतर अर्थात् हृदय में अनुप्रविष्ट होनेवाला। इसमें हेतु बतलाते हैं—'ऐसा होने पर निस्सन्देह' यह। चतुरत्व अर्थात् समाससघटना। मधुरत्व अर्थात् अपारुष्य। 'उस प्रकार के' यह। अपूर्व बन्धच्छाया से युक्तों के लिए दूसरों से उपनिबद्ध अर्थ के निबन्धन करने पर परकृत काव्यत्व का व्यवहार ही होगा इसलिये अर्थ के अपूर्वत्व का आश्रय लेना चाहिये। काव्य कहते हैं कवनीय को, उसका भाव है काव्यत्व। यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि यहाँ भावप्रत्यय से भाव-प्रत्यय किया गया है॥ ६॥

## तारावती

के काव्यप्रबन्ध कितनी ही संख्या में विद्यमान हो किन्तु यदि कवि में प्रतिभा का गुण विद्यमान है और वह पुराने अर्थ की ही अभिव्यञ्जना करने के लिये ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य का सहारा ले लेता है तो पुराने अर्थ भी नये ही मालूम पड़ने लगते हैं इस प्रकार काव्यार्थों की कहीं परिसमाप्ति आयेगी ही नहीं। काव्यार्थ अनन्त हो जायेंगे।'

इस कारिका में और जो कुछ कहा गया है वह तो सब पुरानी ही बात है; वह सब स्पष्ट है और उस विषय में कुछ नहीं कहना है। हाँ एक बात नई अवश्य है। वह यह है कि यदि प्रतिभा गुण विद्यमान हो। (प्रतिभा कवियों की उस स्फुरणात्मक शक्ति को कहते हैं जिससे अवसर के अनुकूल शब्द और अर्थ एकदम स्फुरित हो जाते हैं।) यदि यह प्रतिभा का गुण बीजरूप में विद्यमान

## तारावती

हो तो ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के विभिन्न प्रकारों का आश्रय लेने से उस प्रतिभाशाली कवि के सामने नये-नये अर्थ आते जाते हैं और उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। अनन्तता का सम्पादक तो प्रतिभा-गुण ही है। यदि वह बीजरूप में विद्यमान नहीं है तो कवि के लिये कोई भी विषय वर्णनीय रह ही नहीं जावेगा। नये अर्थ उसे दिखाई नहीं पड़ेंगे और जो अर्थ दिखलाई पड़ेंगे वे ऐसे मालूम पड़ेंगे कि उनका वर्णन तो पुराने कवि ही कर चुके हैं। अतः नवीन अर्थों के स्फुरण के लिये प्रतिभा का होना अनिवार्य है और कवि के लिये केवल यही एक शर्त है। (प्रश्न) नवीनता केवल अर्थ की ही नहीं होती; यदि अर्थ नवीन न भी हो तो भी बन्धच्छाया के नवीन होने से काव्य भी नवीन हो जावेगा। बन्धच्छाया को ही हम उक्तिपरिपाक, गुम्फ, सङ्घटना इत्यादि अनेक नामों से पुकार सकते हैं। इस प्रकार पुराने अर्थों को लेकर बन्धछाया यदि नई जोड़ दी जाय तो काव्य भी नवीन हो सकता है और उसी प्रकार के काव्य लिखने में सहृदयों का अभिनिवेश भी हो सकेगा। ऐसी दशा में क्या तो ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के आश्रय की अपेक्षा और क्या प्रतिभागुण की आवश्यकता? (उत्तर) बन्धच्छाया का अर्थ क्या है? यही न कि ऐसे शब्दों का सन्निवेश किया जाय जो कि ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य इन दो प्रकार के अर्थों के अनुरूप हों। यही तो सङ्घटना या बन्धच्छाया की परिभाषा है। ऐसी दशा में यदि अर्थ का प्रतिभान ही नहीं होगा तो बन्धच्छाया भी कैसे बनेगी? क्योंकि तब हम बन्ध की परीक्षा किस आधार पर कर सकेंगे? (प्रश्न) बन्धच्छाया की परिभाषा में ध्वनि और गुणीभूत के व्यर्थ सन्निवेश की क्या आवश्यकता? बन्धच्छाया तो हम काव्य के उसी सौन्दर्य को मानते हैं जिसमें अर्थ की अपेक्षा न की जाय; केवल अक्षररचना के सौन्दर्य पर ही ध्यान दिया जाय। केवल शब्दसौन्दर्य को ही लेकर काव्य प्रवृत्त हो सकता है, अर्थ की नवीनता पर विचार करने से क्या लाभ? (उत्तर) इस प्रकार की बन्धच्छाया जिसमें अर्थ पर ध्यान ही न दिया जाय केवल शब्द-सङ्घटना सौन्दर्य को लेकर ही सब कुछ निर्णय कर लिया जाय सहृदयों के हृदयों में न तो प्रविष्ट हो सकती है और न उनके निकट ही जा सकती है। यदि बन्धच्छाया आप ऐसी ही मानते हैं और उसी के मानने का आग्रह करते हैं तो जहाँ पर समासोंकी सुन्दर सङ्घटना कर दी जाय और पारुष्यहीन मधुर अक्षर जोड़ दिये जायँ तो उसे भी आप काव्य की संज्ञा देने के लिये बाध्य होंगे चाहे उसमें अर्थ बिल्कुल ही न हो। (प्रश्न) इसके लिये तो हमें काव्य की परिभाषा पर ध्यान देना होगा। काव्य उसे ही कहते हैं जहाँ सहृदय-हृदय-ह्लादजनक शब्द और अर्थ दोनों विद्यमान हों। केवल आह्लादजनक शब्द-

## तारावती

रचना में अर्थसौन्दर्य तो होगा नहीं फिर वहाँ पर काव्य की परिभाषा ठीक कैसे बैठेगी और हम उसे काव्य की संज्ञा भी कैसे दे सकेंगे ? ( उत्तर ) जहाँ पर कवि किसी दूसरे के कहे हुये अर्थ को लेकर अपना काव्य बना देता है; वहाँ उस कवि का काव्यबन्धन ही अपूर्व ( नया ) होता है और बन्धच्छाया ही उसकी अपनी होती है; केवल इतनी सी नवीनता को लेकर उस कवि का वह काव्य कहा जाता है । अतः बन्धच्छाया ही तो आप के मत मे काव्यव्यवहार की प्रयोजिका हुई । क्योंकि अब दूसरे कवि का बन्ध ही अपना रहा; अर्थ तो पूर्ववर्ती कवि का हो गया । अतः यदि आप उक्त स्थल पर बन्धच्छाया को लेकर उस कविता को परवर्ती कवि की रचना मान सकते हैं तो जहाँ केवल बन्ध है अर्थ है ही नहीं उसे आप कविता की संज्ञा क्यों नहीं दे सकते ? यदि अर्थ को लेकर आप काव्य के कर्ता का निर्णय करेंगे तो उस काव्य का कर्ता पुराना ही माना जावेगा । अतएव बन्धच्छाया मे अनिवार्य रूप से अर्थ की विशेषता सम्मिलित की जानी चाहिये। वह अर्थ की विशेषता ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के द्वारा ही होगी । अतः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को काव्य की अनन्तता का प्रयोजक मानना ही चाहिये और उसका प्रवर्तन कवि की प्रतिभा के द्वारा ही होता है । ( इस उत्तर वाक्य का अर्थ विभिन्न व्याख्याओं में विभिन्न प्रकार से प्राप्त होता है । किन्तु एक तो वे व्याख्यायें लोचन के प्रतिकूल हैं, दूसरे उनसे न तो वृत्ति के शब्द ही ठीक सङ्घटित होते हैं और न प्रकरण की सङ्गति ही ठीक बैठती है । अतः उक्त अर्थ ही मान्य है । )

यहाँ पर वृत्तिकार ने 'काव्यत्व' शब्द का प्रयोग किया है । यह शब्द 'व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध मालूम पड़ा है 'कवृ-वर्णे' धातु से 'कवि' शब्द निष्पन्न होता है । कवि शब्द से भाव और कर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होकर 'काव्य' बनता है जिसका अर्थ होता है कवि का भाव या कर्म । इस प्रकार 'कवि' शब्द से भावार्थक प्रत्यय होकर काव्य शब्द बनता है । व्याकरण का नियम है कि एक भावप्रत्यय के बाद दूसरा भावप्रत्यय नहीं होता । अतः यहाँ पर 'त्व' प्रत्यय नहीं हो सकता । इस प्रकार यह शब्द अशुद्ध है । लोचनकार ने इसका उत्तर यह दिया है कि यहाँ पर भाव प्रत्यय है ही नहीं । यहाँ पर तो विधि के अर्थ मे 'कवृ' धातु से ही 'ण्यत्' प्रत्यय हो गया है—सूत्र है—'ऋहलोर्ण्यत्' । यह प्रत्यय उसी अर्थ में होता है जिस अर्थ मे तव्य और अनीय हुआ करते हैं । अतएव काव्य का अर्थ हुआ कवनीय अर्थात् कवि का विधेय । इस प्रत्यय से त्व प्रत्यय हो सकता है । अतः यह शब्द अशुद्ध नहीं है ॥ ६ ॥

ध्वन्यालोकः

न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥ ७ ॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः । स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्थाभेदाद्देशभेदात्कालभेदात्स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति । तैश्च तथाव्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते। तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा–भगवतीपार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' मन्मथोपकरणभूतेन भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता । सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्नवेनैव प्रकारेण निरूपितरूपसौष्ठवा । न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वाऽ-

(अनु०) और अर्थानन्त्य न केवल व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही अपितु वाच्यार्थापेक्षा से भी होता है यह प्रतिपादन करने के लिये कहा जा रहा है—

'अवस्था, देश, काल इत्यादि की विशेषताओं से शुद्ध भी वाच्य का स्वभावतः आनन्त्य हो जाता है ॥' ७ ॥

शुद्ध का अर्थात् व्यङ्ग्य की अपेक्षा न करनेवाले भी वाच्य का स्वभावतः आनन्त्य हो जाता है । वाच्यों का निस्सन्देह यह स्वभाव होता है कि चेतनों और अचेतनों की अवस्था के भेद से, देशभेद से, कालभेद से और अपने स्वरूप के भेद से अनन्तता हो जाती है । उस प्रकार व्यवस्थित किये हुये होनेवाले उनसे अनेक स्वभावों के अनुसरण रूपवाली स्वभावोक्ति के द्वारा भी निबद्ध किये जानेवालों से काव्यार्थ अवधिहीन हो जाता है । वह इस प्रकार अवस्थाभेदभिन्नत्व जैसे—कुमारसम्भव में 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि उक्तियों से पार्वती के रूप का वर्णन यद्यपि पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया गया तथापि पुनः भगवान् शङ्कर के नेत्रों के सामने आती हुई 'वसन्त पुष्पों का आभरण धारण करती हुई' कामदेव की उपकरणभूत दूसरी भङ्गिमा के द्वारा वर्णित की गई है । वह फिर नवीन उद्वाह के समय आभूषित की जाती हुई 'पूर्व को मुख किये हुये उस तन्वी को बैठाकर' इत्यादि उक्तियों के द्वारा नये ही प्रकार से रूपसौष्ठव में निरूपित की गई । वे उस कवि के एक ही स्थान पर बार बार किये हुये वर्णन के प्रकार

ध्वन्यालोकः

नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते। दर्शितमेव चैतद्विषमबाणलीलायाम् –

ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइ वाणीणम्॥

पुनरुक्तत्व रूप में अथवा पुराने पुराने अर्थ से परिपूर्ण रूप में नहीं प्रतीत होते। और यह विषमबाणलीला में दिखलाया ही गया है—

'उनकी सीमा नहीं घटित होती, और वे कैसे भी पुनरुक्त नहीं दिखलाई देते जो प्रियाओं के विभ्रम होते हैं अथवा जो सुकवियों के अर्थ होते हैं।'

लोचन

प्रतिपादयितुमिति। प्रसङ्गादिति शेषः। यदि वा वाच्यं तावद्विविधव्यङ्ग्योपयोगि तदेव व्यङ्ग्यानन्त्यं भवतीत्यभिप्रायेणेदं प्रकृतमेवोच्यते। शुद्धस्येति। व्यङ्ग्यविषयो यो व्यापारः तत्स्पर्श विनाप्यानन्त्यं स्वरूपमात्रेणैव पश्चात्तु तथा स्वरूपेणानन्तं सद्व्यङ्ग्यं व्यनक्तीति भावः। न तु सर्वथा तत्र व्यङ्ग्यं नास्तीति मन्तव्यमात्मभूततद्रूपाभावे काव्यव्यवहारहानेः। तथा चोदाहरणेषु रसध्वनेः सद्भावोऽस्त्येव। आदिग्रहणं व्याचष्टे—स्वालक्षण्येति। स्वरूपेत्यर्थः। यथा रूपस्पर्शयोस्तीव्रैकावस्थयोरेकद्रव्यनिष्ठयोरककालयोश्च।

'प्रतिपादन करने के लिये' यह। प्रसङ्गवश यह शेष है। अथवा वाच्य तो विभिन्न व्यङ्ग्यों का उपयोगी होता है, यदि वही अनन्त हो तो उसके बल पर व्यङ्ग्यों की भी अनन्तता हो जावेगी इस अभिप्राय से यह प्रकृत ही कहा जा रहा है। 'शुद्ध का' यह। व्यङ्ग्यविषयक जो व्यापार उसके स्पर्श के बिना भी स्वरूपमात्र से ही आनन्त्य हो जाता है; बाद में तो स्वरूप से अनन्त होते हुये व्यङ्ग्य को व्यक्त करता है यह भाव है। सर्वथा वहाँ पर व्यङ्ग्य नहीं होता ऐसी बात नहीं मानी जानी चाहिये क्योंकि आत्मस्थानीय उस रूप के अभाव में काव्यव्यवहार की ही हानि हो जायेगी, और भी उदाहरणों में रसध्वनि की सत्ता है ही। आदि ग्रहण की व्याख्या करते हैं—'स्वालक्षण्य' यह। अर्थात् स्वरूप। जैसे तीव्र एक अवस्थावाले, एक द्रव्य में रहनेवाले और एक काल में रहनेवाले रूप और स्पर्श का।

तारावती

ऊपर ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य की दृष्टि से काव्य की अनन्तता की पूरी व्याख्या कर दी। अब इस ७ वीं कारिका में वाच्य की दृष्टि से काव्य की अनन्तता की व्याख्या की जा रही है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि प्रकरण तो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोजन-निरूपण का है, यहाँ पर वाच्य की अनन्तता के प्रति-

तारावती

पादन से क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोजन निरूपण के प्रसंग में ही यह भी विषय आ पड़ा कि इनसे काव्य अनन्त हो जाता है। अतः इस अनन्तता के प्रसंग में ही यह भी दिखला देना आप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता कि अनन्तता केवल व्यंग्यार्थ के ही अधीन नहीं होती अपितु वाच्यार्थ के आधीन भी होती है। अथवा इसका दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक तो वाच्यार्थ ही होता है। एक वाच्यार्थ से बहुत से व्यग्यार्थ निकल आते हैं। यदि व्यञ्जक वाच्यार्थ ही अनन्त होगा तो व्यंग्यार्थ के अनन्त होने में तो कोई सन्देह रह ही नहीं जाता। अतः इस कारिका में जो वाच्यार्थ की अनन्तता बतलाई गई है वह प्राकरणिक ही है अप्राकरणिक नहीं। कारिका का आशय यह है :—

'यदि शुद्ध वाच्य को दृष्टि से ही विचार किया जाय अर्थात् वाच्य का जो व्यङ्ग्य विषयक व्यापार होता है उसका विचार न किया जाय केवल उसके स्वरूप पर ही ध्यान दिया जाय तो भी स्वाभाविक रूप में ही वाच्य की अनन्तता हो जाती है। यह अनन्तता अवस्था देशकाल इत्यादि अनेक विशेषताओं से हुआ करती है।'

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि 'शुद्ध वाच्य का यह अर्थ नहीं है कि ऐसा वाच्य जिसमें व्यञ्जना की सत्ता ही न हो। क्योंकि यदि यह अर्थ माना जायेगा तो काव्य की आत्मा तो वहाँ रहेगी नहीं। कारण यह है कि आत्मा तो प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ ही हो सकती है। अतः यहाँ पर शुद्ध वाच्य का अर्थ यह है कि केवल वाच्यार्थ की दृष्टि से ही विचार किया जाय व्यंग्यार्थ पर विचार बाद के लिये स्थगित कर दिया जाय तो भी वाच्यार्थ भी अनन्त ही होते हैं। वृत्तिकार का मन्तव्य यही है इसमें प्रमाण यह है कि उन्होंने शुद्ध वाच्य के जो भी उदाहरण दिये हैं उनमें सब में रसव्यञ्जना विद्यमान है। वाच्य चाहे चेतन हों चाहे अचेतन उनका स्वभाव ही यह होता है कि जब वे काव्य का विषय बनते हैं तब उनमें अनंतता आ जाती है। यह अनंतता अनेक कारणों से होती है जैसे अवस्था-गत भेद, देश-गत भेद, काल-गत भेद। इन विभेदक तत्त्वों का परिगणन कराते हुये कारिका में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है। आदि का अर्थ है स्वालक्षण्य ( स्वालक्षण्य शब्द स्वलक्षण शब्द की भाववाचक संज्ञा है। स्व अर्थात् स्वयं ही लक्षण है जिसका अर्थात् अपना स्वरूप )। आशय यह है कि अवस्थाभेद, देशभेद और कालभेद के साथ अपना स्वरूप भी भेदक होता है जैसे एक ही द्रव्य में, एक ही काल में तीव्र एक अवस्थावाले रूप और स्पर्श में परस्पर

भेद होता है। आशय यह है कि वस्तुएँ तो अवस्था इत्यादि के भेद से अनेक स्वभाववाली होती हैं। यदि उन वस्तुओं को काव्य मे इस रूप में उपनिबद्ध किया जाय कि उसमें स्वभावोक्ति का ही प्रयोग किया जाय जिसका रूप यह होता है कि वस्तुओं के प्रसिद्ध अनेकविध स्वभावों का अनुसरण किया जाता है तो भी काव्य का विस्तार इतना अधिक हो जायेगा कि काव्यार्थों की कोई सीमा ही न रहेगी। सर्वप्रथम अवस्थाभेद से अनतता को लीजिये। कुमारसम्भव में कविवर कालिदास ने पार्वती के यौवनजन्य लावण्य का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है। यह वर्णन 'असंभृतं मण्डन मगयष्टेः' इस पद्य से प्रारम्भ होता है। अंग-प्रत्यंग का वर्णन तथा 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि पद्य के द्वारा सामूहिक समस्त शरीर वर्णन इतना मनोरम बन पड़ा है कि मालूम पड़ने लगता है कि रूप-लावण्य के वर्णन की दिशा मे अब कुछ कहने को शेष ही नहीं रह गया। फिर जब तृतीय सर्ग मे सखियों के साथ शङ्कर जी की पूजा करने जाती हैं 'वहाँ पर 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' 'सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव' इत्यादि के द्वारा पुनः उनके सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। यह अवस्था भिन्न है जिससे वर्णन मे भी एक नया चमत्कार आ जाता है। (फिर पञ्चम सर्ग मे 'विमुच्य साहारमहार्यनिश्चया' इत्यादि के द्वारा उनके तपस्विनी रूप का वर्णन किया जाता है वह अवस्था भिन्न ही है और वह वर्णन भी नवीन हो गया है।) इसके बाद सप्तम सर्ग मे जब विवाह का अवसर आता है तब सखियाँ उनका मण्डन कर रही हैं—'ता प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्यादि पद्यों के द्वारा उनकी इस नवीन अवस्था का वर्णन किया गया है जो कि नई चमक पैदा कर देता है। एक ही पार्वती हैं और वर्णन करने वाला कवि भी एक ही है तथा एक ही काव्य में बार-बार वर्णन किया गया है फिर भी वहाँ पर न तो स्वल्प मात्रा में भी पुनरुक्ति मालूम पड़ती है और न यही मालूम पड़ता है कि प्रत्येक वर्णन मे एक नवीनता नहीं है। कारण स्पष्ट है—एक ही व्यक्ति अवस्थाभेद से असंख्य प्रकारों से वर्णित किया जा सकता है। (यहाँ पर 'दीधिति' टीकाकार ने 'पुनरुक्तत्वेन वाऽनवनवार्थनिर्भरत्वेन' यही पाठ माना है और प्रकरण के अनुसार यह ठीक भी है। आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है कि सभी संस्करणों मे 'अपुनरुक्तत्वेन, और 'नवनवार्थनिर्भरत्वेन' यह पाठ पाया जाता है। यद्यपि प्रकरणानुसार यह ठीक नहीं है तथापि जो सभी संस्करणों में पाया जाता है वह लेखक का प्रमाद नहीं हो सकता, अतः उसकी संगति बिठाई ही जानी चाहिये। उन्होंने उसकी संगति बैठाने की चेष्टा की है और बहुत कुछ संगति बैठ भी गई है। किन्तु मेरी समझ में अशुद्ध पाठ की जैसे तैसे संगति

## लोचन

न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः ।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥

चकाराभ्यामतिविस्मयः सूच्यते । कथमपीति । प्रयत्नेनापि विचार्यमाणं पौनरुक्त्यं न लभ्यमितियावत् । प्रियाणामिति । बहुवल्लभो हि सुभगो राधावल्लभप्रायस्तास्ताः कामिनीः परिभोगसुभगमुपभुञ्जानोऽपि न विभ्रमपौनरुक्त्यं पश्यति तदा । एतदेव प्रियात्वमुच्यते यदाह—

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।' इति

'नच·····वाणीनाम्' उक्त गाथा की संस्कृतच्छाया है ।

दो चकारों से अतिविस्मय सूचित होता है । 'कैसे भी' यह । आशय यह है प्रयत्नपूर्वक विचार किया हुआ भी पौनरुक्त्य प्राप्य नहीं है । 'प्रियाओं को' यह । बहुत वल्लभाओंवाला राधावल्लभ का जैसा सुभगव्यक्ति विभिन्न कामिनियों का सम्भोग के सौभाग्य के साथ उपभोग करता हुआ उस समय विलासों के पौनरुक्त्य को नहीं देखता । यही तो प्रियात्व कहा जाता है जैसा कि कहा गया है—

'क्षण-क्षण पर जो नवीनता को धारण करे वही रमणीयता का रूप यह है ।'

## तारावती

बैठाने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि लेखक का प्रमाद मान लिया जाय । दीधितिकार ने ऐसा किया भी है । ) यह आनंदवर्धन की लिखी हुई विषम वाण लीला में दिखलाया गया है । पद्य का आशय यह है—

'प्रियतमाओं के जितने विलास होते हैं तथा सत्कवियों के जितने अर्थ होते हैं न तो उनकी इयत्ता ही निश्चित की जा सकती है, न उनकी सीमा ही प्राप्त होती है और यदि एक ही प्रकार की चेष्टायें बार-बार होती हैं तो भी उनमें किसी प्रकार भी पुरानापन तथा पुनरुक्ति नहीं मालूम पड़ती ।

उक्त पद्य में दो बार 'न च' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे ध्वनित होता है कि यह महान् आश्चर्य की बात है कि रमणियों के विलासों और कवियो के अर्थों मे कभी पुरानापन नहीं आता । 'किसी प्रकार भी' शब्द का आशय यह है कि कितना ही प्रयत्नपूर्वक उनका मनन तथा चिन्तन किया जाय, कितना ही उनका पर्यवेक्षण तथा अनुसन्धान किया जाय किन्तु उनमें पुरानापन तथा घिसापिटापन दिखलाई ही नहीं देता । 'प्रियतमाओं' में बहुवचन का आशय यह है कि राधावल्लभ भगवान् कृष्ण जैसे जो व्यक्ति अनेक वल्लभाओ का उपभोग किया करते है और प्रत्येक कामिनी के उपभोग में सौभाग्य का अनुभव करते हैं उन्हें कभी भी ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि उनकी प्रत्येक प्रेयसी के विभ्रम एक जैसे ही हैं । उन्हें

## लोचन

प्रियाणामिति चासंसारं प्रवहद्रूपो योऽयं कान्तानां विभ्रमविशेषः स नवनव एव दृश्यते। नह्यसावग्निचयनादिवदन्यतः शिक्षितः, येन तत्सादृश्यात् पुनरुक्ततां गच्छेत्। अपि तु निसर्गोद्भिद्यमानमदनाङ्कुरविकासमात्रं तदिति नवनवत्वम्। तद्व-त्परकीयशिक्षानपेक्षनिजप्रतिभागुणनिष्यन्दभूतः काव्यार्थ इतिभावः।

और 'प्रियाओं का' इसका भाव यह है कि समस्त संसार में प्रवाहमय रूप-वाला जो कान्ताओं का विभ्रम विशेष वह नवीन नवीन ही दिखलाई देता है। भाव यह है कि यह अग्निचयन इत्यादि के समान कहीं और स्थान से नहीं सीखा गया है जिससे उसके सादृश्य से पुनरुक्तता को प्राप्त हो जाय। अपितु वह स्वभावतः खिलनेवाले मदनाङ्कुर का विकासमात्र है, अतः वह नवीन नवीन ही होता है। वैसे ही पराई शिक्षा की अपेक्षा न करते हुये अपनी प्रतिभा के गुण का निष्यन्द रूप ही काव्यार्थ होता है।

## तारावती

प्रत्येक वार नया ही आनन्द आता है। प्रिय होने की परिभाषा भी तो यही है जैसा कि शिशुपाल वध में कहा गया है कि 'जो वस्तु प्रत्येक क्षण पर नई ही मालूम हो वही रमणीयता का रूप कही जा सकती है।' समस्त संसार में कामि-नियाँ और प्रियतमायें भरी पड़ी हैं। प्रत्येक कामिनी के विलास धारावाहिक रूप मे प्रवाहित होते रहते हैं। कान्ताओं का प्रत्येक दृष्टिपात, प्रत्येक चाल तथा अंगों की प्रत्येक क्रिया सर्वदा नई ही मालूम पड़ती है। उसमें कभी पुरानापन नहीं आता। बात यह है कि पुरानापन तो उसमें आता है जो किसी दूसरे से सीखा जाय और सीखकर उसी प्रकार उसका अभ्यास किया जाय। उदाहरण के लिये अग्नि का आधान एक ऐसी वस्तु है जिसकी शिक्षा दूसरों से ली जाती है और उसी के अनुसार अभ्यास किया जाता है। अतएव अग्न्याधान की क्रिया एक जैसी ही मालूम पड़ेगी और वार वार देखने पर वह क्रिया देखी हुई पुरानी प्रतीत होगी। इसके प्रतिकूल रमणियों की प्रेमाभिव्यञ्जक चेष्टायें कहीं से सीखी हुई नहीं होतीं अपितु जिस समय उनके हृदयों मे कामवासना का अङ्कुर फूटता है उस समय उनके विलास उसी प्रकार प्रारम्भ हो जाते हैं जैसे किसी अङ्कुर के निकल आने के वाद उसका विकास अपने आप होता जाता है। विभिन्न अङ्कुरों के विकास विभिन्न प्रकार के होते हैं उसी प्रकार नायिकाओं के यौवनजन्य विलास भी व्यक्तिगत ही होते हैं, कभी पुराने नही पड़ते। यही दशा सत्कवियों की काव्यवस्तु की भी होती है। वस्तु की कल्पनामय उद्भावना कहीं से सीखी हुई नहीं होती और न इसकी कोई शिक्षा ही दे सकता है अपितु कवियों में जो जन्मजात प्रतिभा होती है उसी

ध्वन्यालोकः

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम्। तच्चोचितविषयस्वरूपयोजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते। यथा कुमारसम्भव एव पर्वतस्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं, पुनः सप्तर्षिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति। प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः। इदञ्च प्रस्थानं विषमबाणलीलायां सप्रपञ्चं दर्शितम्। चेतनानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामवस्थाभेदेऽप्यवान्तरावस्थाभेदान्नानात्वम्। यथा कुमारीणां कुसुमशरभिन्नहृदयानामन्यासां च। तत्रापि विनीतानामविनीतानाञ्च। अचेतनानाञ्च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति। यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरास्वत्य कूजता—
मन्यः काऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु विसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः॥

एवमन्यत्रापि दिशानयानुसर्तव्यम्।

(अनु०) यह दूसरा अवस्थाभेद का प्रकार है जो हिमालय गंगा इत्यादि सब अचेतनों का दूसरा चेतनरूप अभिमानित्व के रूप में प्रसिद्ध है। वह उचित विषय स्वरूप की योजना के द्वारा उपनिबद्ध किये जाने पर और ही हो जाता है। जैसे कुमार-सम्भव में ही पर्वत स्वरूप हिमालय का वर्णन, फिर सप्तर्षियों की प्रिय उक्तियों में उसके चेतन स्वरूप की दृष्टि से दिखलाया हुआ वह अपूर्व ही प्रतीत होता है। और यह सत्कवियों का मार्ग प्रसिद्ध ही है। यह प्रस्थान विषमबाणलीला में प्रपञ्च के साथ दिखलाया गया है। चेतनों का बाल्य इत्यादि अवस्थाओं से अन्यत्व सत्कवियों में प्रसिद्ध ही है। चेतनों का अवस्थाभेद होने पर भी अवान्तर अवस्थाभेद से नानात्व हो जाता है। जैसे कुमारियों का कामदेव से भिन्न हृदयवालियों का और दूसरों का। उसमें भी विनीतों का और अविनीतों का। आरम्भ इत्यादि अवस्थाभेद भिन्न अचेतनों का एक एक स्वरूप उपनिबद्ध किये जाने पर अनन्तता हो जाती है। जैसे :—

'जिनको भक्षण करने पर शब्दायमान हंसों के मधुर कंठों में संयोग होने से कोमल स्निग्ध नया ही विलासमय स्वर सम्पन्न हो जाता है; हथिनियों के कोमल दन्ताङ्कुरों से स्पर्धा करनेवाली कमलिनीकन्द की वे ही अग्रिम ग्रन्थियाँ कमलाकरों में निकल आई हैं।' इस प्रकार अन्यत्र भी इसी दिशा से ( अनन्तता का ) अनुसरण कर लेना चाहिये।

ध्वन्यालोकः

देशभेदान्नानात्वमचेतनानां तावत् । यथा वायूनां नानादिग्देशचारिणामन्येषामपि सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव । चेतनानामपि मानुषपशुपक्षिप्रभृतीनां ग्रामारण्यसलिलादिसमेधितानां परस्परं महान् विशेषः समुपलक्ष्यत एव । स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमानस्तथैवानन्त्यमायाति । तथाहि-मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादिभिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम् , विशेषतो योषिताम् । उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम् ।

कालभेदाच्च नानात्वम् यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम् । चेतनानां चौत्सुक्यादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव । क्षालक्षण्यप्रभेदाच्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव । तच्च यथावस्थितमपि तदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति ।

(अनु०) देशभेद से नानात्व। पहले अचेतनों का लीजिये जैसे नाना दिशाओं और देशों से चलनेवाली वायु और दूसरे जल पुष्प इत्यादि का प्रसिद्ध ही है। चेतनों का गाँव वन जल इत्यादि में बढ़े हुये मनुष्य पशुपक्षी इत्यादिकों का परस्पर महान् विशेष दिखलाई ही देता है। और वह विवेचन करके ठीक रूप में उपनिबद्ध किया हुआ उसी प्रकार आनन्त्य को प्राप्त हो जाता है। वह इस प्रकार—दिशा देश इत्यादि से भिन्न मनुष्यों के ही जो व्यवहार और व्यापार इत्यादि उनकी जो विचित्र विशेषताएँ होती हैं उनके अन्त को कौन जा सकता है विशेष रूप से स्त्रियों का। और वह सब कवियों के द्वारा प्रतिभा के अनुसार निबद्ध किया जाता है।

और कालभेद से नानात्व जैसे ऋतुओं के भेद से दिशा आकाश इत्यादि अचेतनों का। और चेतनों के औत्सुक्य इत्यादि कालनिमेष का आश्रय लेनेवाले प्रसिद्ध ही हैं। और स्वरूपभेद से समस्त संसार में विद्यमान वस्तुओं का विनिबन्धन प्रसिद्ध ही है। और वह ठीक अवस्था में उपनिबद्ध किये जाने पर काव्यार्थ की अनन्तता का ही सम्पादन करता है।

लोचन

तावदिति । उत्तरकालं तु व्यङ्ग्यसंस्पर्शनेन विचित्रितां परां भजतां नाम तावति तु स्वभावेनैव सा विचित्रेति तावच्छब्दस्याभिप्रायः ।

'तावत्' यह। बाद में तो व्यङ्ग्य के संस्पर्श से बहुत बड़ी विचित्रता को प्राप्त कर ले उतने में तो स्वभाव से ही वह विचित्र होती है यह 'तावत्' शब्द का अभिप्राय है।

का सारभूत निष्यन्द काव्यवस्तु है। वह भी युवतियों की विलास चेष्टा के समान व्यक्तिगत ही होती है। अतः उसमें पुरानापन कभी आता ही नहीं।

(अग्रिम तीन चार अनुच्छेदों में वृत्तिकार ने वस्तु की नवीनता की ही व्याख्या की है। यह समस्त प्रकरण स्पष्ट है और लोचनकार ने इस पर टिप्पणी भी नहीं दी है। यहाँ इसका सार दिया जा रहा है।) अवस्था भेद से वस्तु भेद इस प्रकार भी होता है कि हिमालय गंगा इत्यादि का एक तो अपने स्वाभाविक अचेतन रूप में वर्णन किया जाता है, दूसरा रूप उन पर चेतना के आरोप के द्वारा होता है जिनमें उनके अभिमानी देवता की कल्पना कर दी जाती है। (पुराण इत्यादि में जहाँ कहीं हिमालय गंगा इत्यादि के मानवसुलभ क्रियाकलापों का वर्णन किया जाता है वहाँ उनके एक चेतन अभिमानिनी देवता की कल्पना कर ली जाती और उस देवता के क्रियाकलापों को ही गंगा इत्यादि का क्रियाकलाप माना जाता है। इसके अतिरिक्त मानव-गत चेतना के आरोप के साथ वस्तुओं के वर्णन की भी कविपरम्परा है।) कुमार सम्भव में हिमालय के अचेतन रूप का प्रारम्भ में वर्णन किया गया है, किन्तु बाद में सप्तर्षियों की बातचीत के अवसर पर उनपर मानव धर्म का आरोप कर लिया गया है। अचेतन पर चेतन भावों का आरोप कवियों का एक सामान्य मार्ग है। इसका विस्तृत विवेचन आनंदवर्धन ने विषम बाण लीला में किया है। अचेतन भावों की आरम्भ इत्यादि अवस्थाओं का भी भेद होता है जैसे 'हंसानां निनदेषु' इत्यादि पद्य में बिसिनी कन्द की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन एक नई ही वस्तु है यद्यपि बिसिनी के अनेक रूपों का कवियों ने वर्णन किया है। इसी प्रकार चेतनों की अवस्थायें भी बाल यौवन इत्यादि के द्वारा भिन्न होती हैं फिर उनमें अवान्तर अवस्थायें होती हैं जैसे कुमारियों की कामवासना से पीड़ित अवस्था और विकार रहित अवस्था, उसमें भी विनीत कुमारियाँ और अविनीत कुमारियाँ।

देश भेद से अचेतनों का नानात्व जैसे अनेक दिशाओं से चलने वाली वायु अनेक देशों और दिशाओं के जल तथा पुष्प इत्यादि एक दूसरे से भिन्न होते ही है। चेतनों में भी मानव, पशु, पक्षी इत्यादि में भी देशजन्य तथा ऋतुजन्य भेद होता ही है। इसी प्रकार ग्रामीण, जंगली, जलीय, शहरी इत्यादि विशेषताएँ जीवों में होती हैं। यदि देशभेद को दृष्टिगत रखकर काव्यरचना की जाय तो काव्य-वस्तु अनन्त हो जायेगी। दिशा और देश के भेद से मनुष्यों में, उनके व्यवहार में, रीति-रिवाज में, क्रियाकलाप में, मनुष्यों में परस्पर इतने भेद होते हैं कि कोई भी व्यक्ति उनका पार नहीं पा सकता। स्त्रियों में विशेष रूप से जैसा

पक्षों में देख सके तथा उसका अनुभव कर सके। आशय यह है कि जिस प्रकार योगी अपरिचित के स्वरूप को भी योगसाधना से प्रत्यक्ष के समान देख सकता है वैसी शक्ति कवि को नहीं होती। कवि तो जितना कुछ उसके लिये प्रत्यक्ष होता है उतना ही देख सकता है। अतः कवि को यह करना पड़ता है कि वह अपने अनुभव से ऐसे सामान्य तत्त्वों को छाँटता है जो दूसरों के भी अनुभव हो सकते हैं। इस कार्य में कवि उन तत्त्वों को बचाने की चेष्टा करता है जो विशिष्ट अंश होते हैं और सामान्य अनुभव का विषय नहीं बन सकते। कवि केवल सामान्य तत्त्व का आश्रय लेकर काव्यवस्तु को चुनता है। अपने अनुभव किये हुये सुख इत्यादि तथा सुख इत्यादि के निमित्त ऋतु माला इत्यादि का आरोप अपने कल्पित पात्रों पर कर देता है। इस सबकासार यही है कि सामान्य तत्त्व ही काव्य का विषय बन सकते हैं विशिष्ट नहीं। इससे सिद्ध होता है कि अनुभवयोग्य जितने भी सुख इत्यादि हैं, उनके जितने भी लौकिक पदार्थ हैं वे सभी सभी गृहीताओं के लिये एक जैसे ही होते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के सामान्य रूप तो सीमित ही होते है और उन सबको पुराने कवियों ने ही प्रत्यक्ष कर लिया था तथा उनको अपने काव्यों में स्थान भी दे दिया। यह तो हम कह ही नहीं सकते और न यह बात सिद्ध ही की जा सकती है कि सामान्य-रूप में सभी पदार्थ काव्य का विषय नहीं बन सके तथा पुराने क्रान्तदर्शी कवियों ने वस्तुओं को उनके सामान्य रूप में नहीं देख पाया। यहाँ पर जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि कवि अपने काव्य मे सामान्य वस्तु का ही व्यवहार करते हैं। समस्त वस्तुओं को उनके विशेष रूप मे देखना सर्वथा असम्भव है। जिन वस्तुओं को कवि विशिष्ट रूप मे देखता भी है उन वस्तुओं का प्रयोग भी वह उनके सामान्य रूप मे ही करता है विशेष रूप में नहीं। यदि कवि विशेष रूपों का अपने काव्य में उपादान करे तो वे वस्तुये सर्वसाधारण की समवेदना का विषय बन ही न सकेंगी। जैसा कि कहा गया है :—

'शब्द संकेतित अर्थ को ही कहते हैं। सङ्केत ग्रहण का प्रयोजन यही है कि व्यवहार का निर्वाह हो सके। शब्दों का अर्थ विशिष्ट नहीं होता और न संकेत-ग्रहण के अवसर पर विशेषता की ओर ध्यान ही जाता है। इसीसे संकेत उन वस्तुओं में सम्भव होता है।' ( आशय यह है कि 'गो' शब्द से संकेत के द्वारा गोत्व का ही बोध होता है विशिष्ट गाय का नहीं। क्योंकि विशिष्ट गाय में सङ्केत ग्रहण नहीं हो सकता। )

इस प्रकार वस्तुयें अपने सामान्य रूप में प्राचीन कवियों के द्वारा ग्रहीत हो ही

तारावती

चाल ढाल पहिरावों इत्यादि में भेद होता है उसका तो कोई ठिकाना नहीं। कवि लोग अपनी प्रतिभा के अनुसार इन सभी विभेदों का उपयोग अपने काव्यों में करते हैं।

कालभेद से भी नानात्व होता है। विभिन्न ऋतुओं में दिशायें, आकाश जल इत्यादि विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। यह तो हुई अचेतन की बात। चेतनों में उत्कण्ठा इत्यादि का परिमाण और उनका स्वरूप आयु, ऋतु, इत्यादि काल भेद के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। स्वरूपभेद तो प्रसिद्ध ही है। किसी एक लोहे के खम्भे पर ही असंख्य दृष्टियों से विचार किया जा सकता है, अतः उसके असंख्य ही स्वरूप हो जाते हैं। यदि इन समस्त भेदों को दृष्टिगत रखते हुए इनकी स्वाभाविक स्थिति का ही काव्य में निरूपण कर दिया जाय तो भी काव्यविषय अनन्त हो जायगा। फिर यदि उनमें कल्पना का भी योग कर दिया जाय तब तो कुछ कहना ही नहीं।

वृत्तिकार ने इस प्रकरण में देशभेद का परिचय देते हुये 'तावत्' शब्द का प्रयोग किया है ( देशभेदेन नानात्वमचेतनानां तावत् ) इस तावत् शब्द का आशय बतलाते हुये लोचनकार ने लिखा है—'तावत्' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि यहाँ पर जो भी विचार किया गया है वह वाच्यवृत्ति तथा काव्यविषय को ही दृष्टिगत रखते हुये किया गया है। यदि हम अभिव्यङ्ग्य अर्थ की विचित्रता पर ध्यान न दे केवल वाच्य वस्तु की ही विलक्षणता पर विचार करें तो भी काव्य-वस्तु का स्वाभाविक स्वरूप ही अनन्त हो जाता है। इसके बाद जब बाद में उन वाच्यार्थों से व्यङ्ग्य का स्पर्श होता है और एक एक वाच्य के सैकड़ों व्यंग्य हो जाते हैं। तब तो काव्य की अनन्तता का ठिकाना ही नहीं रहता।

वाच्य की दृष्टि से काव्य की अनन्तता का ऊपर प्रतिपादन किया गया है। इस पर पूर्वपक्ष की ओर से एक प्रश्न उठाया जा रहा है कि इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु के अनेक पक्ष हो सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की होती है, फिर भूत, भविष्य, वर्तमान कृत कालभेद के कारण भी वस्तुयें बदल जाती हैं फिर विभिन्न अवस्थाओं में पड़ने के कारण भी वस्तुभेद हो जाता है; फिर उनके अपने तो स्वगत असंख्य पक्ष हो ही सकते हैं। यह सब विवादास्पद नहीं है। किन्तु प्रश्न यह है कि इस सबका परिज्ञान होता किसको है? इस प्रश्न का उत्तर होगा एक योगी को। केवल योगी ही अपनी योगसाधना के द्वारा करतलामलकवत् सभी विश्व को देख सकता है और भूत, भविष्य तथा वर्तमान का प्रत्यक्ष कर सकता है। कवि कोई योगी तो है नहीं। जो वस्तु को उसके समस्त

पक्षों में देख सके तथा उसका अनुभव कर सके। आशय यह है कि जिस प्रकार योगी अपरिचित के स्वरूप को भी योगसाधना से प्रत्यक्ष के समान देख सकता है वैसी शक्ति कवि को नहीं होती। कवि तो जितना कुछ उसके लिये प्रत्यक्ष होता है उतना ही देख सकता है। अतः कवि को यह करना पड़ता है कि वह अपने अनुभव से ऐसे सामान्य तत्त्वों को छाँटता है जो दूसरों के भी अनुभव हो सकते हैं। इस कार्य में कवि उन तत्त्वों को बचाने की चेष्टा करता है जो विशिष्ट अंश होते हैं और सामान्य अनुभव का विषय नहीं बन सकते। कवि केवल सामान्य तत्त्व का आश्रय लेकर काव्यवस्तु को चुनता है। अपने अनुभव किये हुये सुख इत्यादि तथा सुख इत्यादि के निमित्त ऋतु माला इत्यादि का आरोप अपने कल्पित पात्रों पर कर देता है। इस सबकासार यही है कि सामान्य तत्त्व ही काव्य का विषय बन सकते हैं विशिष्ट नहीं। इससे सिद्ध होता है कि अनुभवयोग्य जितने भी सुख इत्यादि हैं, उनके जितने भी लौकिक पदार्थ हैं वे सभी सभी गृहीताओं के लिये एक जैसे ही होते हैं। इस प्रकार वस्तुओं के सामान्य रूप तो सीमित ही होते है और उन सबको पुराने कवियों ने ही प्रत्यक्ष कर लिया था तथा उनको अपने काव्यों मे स्थान भी दे दिया। यह तो हम कह ही नहीं सकते और न यह बात सिद्ध ही की जा सकती है कि सामान्य-रूप में सभी पदार्थ काव्य का विषय नहीं बन सके तथा पुरान क्रान्तदर्शी कवियों ने वस्तुओं को उनके सामान्य रूप में नहीं देख पाया। यहाँ पर जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि कवि अपने काव्य में सामान्य वस्तु का ही व्यवहार करते हैं। समस्त वस्तुओं को उनके विशेष रूप में देखना सर्वथा असम्भव है। जिन वस्तुओं को कवि विशिष्ट रूप में देखता भी है उन वस्तुओं का प्रयोग भी वह उनके सामान्य रूप में ही करता है विशेष रूप में नहीं। यदि कवि विशेष रूपों का अपने काव्य में उपादान करे तो वे वस्तुयें सर्वसाधारण की समवेदना का विषय बन ही न सकेंगी। जैसा कि कहा गया है :—

'शब्द सकेतित अर्थ को ही कहते हैं। सङ्केत ग्रहण का प्रयोजन यही है कि व्यवहार का निर्वाह हो सके। शब्दों का अर्थ विशिष्ट नहीं होता और न संकेत-ग्रहण के अवसर पर विशेषता की ओर ध्यान हो जाता है। इसीसे संकेत उन वस्तुओं में सम्भव होता है।' ( आशय यह है कि 'गो' शब्द से संकेत के द्वारा गोत्व का ही बोध होता है विशिष्ट गाय का नहीं। क्योंकि विशिष्ट गाय में सङ्केत ग्रहण नहीं हो सकता। )

इस प्रकार वस्तुयें अपने सामान्य रूप में प्राचीन कवियों के द्वारा ग्रहीत हो ही

## ध्वन्यालोकः

तत्रोच्यते—यत्तूक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति तदयुक्तम्—यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किंकृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः ? वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य कविव्यपदेश एव वा ? सामान्यव्यतिरिक्तस्यान्यस्य काव्यार्थस्याभावात्, सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्। उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्—किमिदमुक्तिवैचित्र्यम् ? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादितवचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम् ? वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्। तदयमत्र सङ्क्षेपः—

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम्॥

(अनु०) उस विषय में कहा जा रहा है—जो यह कहा गया है कि सामान्यमात्र के आश्रय से काव्यप्रवृत्ति होती है और उसके परिमित होने के कारण पहले ही गोचरीभूत हो जाने से काव्यवस्तुओं का नवीनत्व होता ही नहीं वह ठीक नहीं है क्योंकि यदि केवल सामान्य का आश्रय लेकर काव्य प्रवृत्त होता है तो महाकवियों के द्वारा निबद्ध किये हुये काव्यार्थों की अतिशयता किसके द्वारा सम्पादित की हुई होती है ? अथवा वाल्मीकि से व्यक्तिरिक्त किसी अन्य का कवि नाम ही कैसे होता है। क्योंकि सामान्य से भिन्न अन्य काव्यार्थ का अभाव ही होता है और सामान्य का आदि कवि के द्वारा ही प्रदर्शन कर दिया गया है। यदि कहो उक्तिवैचित्र्य से यह दोष नहीं होता तो यह उक्तिवैचित्र्य क्या वस्तु है ? उक्ति निस्सन्देह वाच्य विशेष के प्रतिपादन करलेनेवाले वचन को कहते हैं। उसके वैचित्र्य में वाच्य वैचित्र्य क्यों नहीं होता ? क्योंकि वाच्य और वाचक की प्रवृत्ति अविनाभाव सम्बन्ध से होती है। और काव्य में प्रतिभासित होनेवाले वाच्यों का जो रूप वह तो ग्राह्य विशेष के अभेद के साथ ही प्रतीत होता है। इससे उक्तिवैचित्र्यवादी के द्वारा न चाहते हुये भी वाच्यवैचित्र्य स्वीकृत किया जाना चाहिये। तो यह यहाँ पर संक्षेप है :—'यदि वाल्मीकि से भिन्न किसी एक की भी प्रतिभा अर्थ में अभीष्ट हो तो वह आनन्त्य हो जायेगा।'



चुकी हैं। आधुनिक काव्य में अर्थ की तो कोई नवीनता है नहीं। जो लोग अपने अर्थ को नवीन कहने का साहस करते हैं यह उन का दम्भमात्र ही है। यदि काव्य

## लोचन

किमिति। असंवेद्यमानमर्थंपौनरुक्त्यं कथं प्राकरणिकैरङ्गीकार्यमितिभावः। तमेव प्रकटयति—न चेदिति। उक्तिर्हीति। पर्यायमात्रतैव यद्युक्तिविशेषस्तत्पर्यायान्तरैरविकलं तदर्थोपनिबन्धे अपौनरुक्त्याभिमानो न भवति। तस्माद्विशिष्टवाच्यप्रतिपादकेनैवोक्तेर्विशेष इति भावः। ग्राह्यविशेषेति। ग्राह्यः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यो विशेषः तस्य योऽभेदः। तेनायमर्थः—पदानां तावत्सामान्ये वा तद्वति वाऽपोहे वा यत्र कुत्रापि वस्तुनि समयः, किमनेन वादान्तरेण? वाक्यात्तद्विशेषः प्रतीयत इति कस्यात्र वादिनो विमतिः? अन्विताभिधानतद्विपर्ययसंसर्गभेदादिवाक्यार्थपक्षेषु सर्वत्र विशेषस्याप्रत्याख्येयत्वात् उक्तिवैचित्र्यं च न पर्यायमात्रकृतमित्युक्तम्।

'किसके द्वारा' यह। भाव यह है—संवेदनागोचर न होनेवाला अर्थ पौनरुक्त्य प्राकरणिकों के द्वारा कैसे अङ्गीकार किया जाने योग्य है। उसी को प्रकट करते हैं—'यदि कहो' इत्यादि। 'निस्सन्देह उक्ति' यह। यदि उक्तिविशेष पर्यायमात्रता ही है तो दूसरे पर्यायों से अविकल रूप मे उस अर्थ के उपनिबद्ध करने पर अपौनरुक्त्य का अभिमान नहीं होता। उससे विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादक के द्वारा ही उक्ति की विशेषता होती है यह भाव है। 'ग्राह्य विशेष' यह। ग्राह्य अर्थात् प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से जो विशेष उसका जो अभेद। उससे यह अर्थ होता है—पदों का तो सामान्य मे अथवा तद्वान् में अथवा अपोह में चाहे जिस किसी वस्तु मे हो, इन विशेषवादों की क्या आवश्यकता? वाक्य से उसकी विशेषता प्रतीत होती है इस विषय में किस वादी की असहमति है? क्योंकि अन्विताभिधान, उसके विपर्यय, संसर्ग भेद इत्यादि वाक्यार्थ। पक्षों में सर्वत्र विशेष का तो प्रत्याख्यान किया ही नहीं जा सकता। यह तो कहा ही गया है कि उक्त वैचित्र्य केवल पर्यायकृत नहीं होता।

## तारावती

में कोई नवीनता सम्भव है तो वह उक्तिवैचित्र्य या अभिव्यक्ति के प्रकार की ही नवीनता है, या हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वस्तु के प्रस्तुत करने में ही कोई नवीनता हो सकती है वस्तु मे कोई नवीनता नहीं हो सकती। ऐसी दशा में अवस्था, देश, काल इत्यादि के द्वारा काव्य-वस्तु की नवीनता का प्रतिपादन कहाँ तक सङ्गत कहा जा सकता है? यह है प्रश्नकार का आशय। (यह प्रश्न स्वरूपगत भेद के विषय में विशेष रूप से सङ्गत होता है किन्तु अवस्था, देश, काल इत्यादि सभी भेदकों के विषय मे लागू किया जा सकता है।) यह एक सम्भावनामूलक प्रश्न है क्योंकि 'आचक्षीरन्' इसमें लिङ्लकार का प्रयोग किया गया है।

तारावती

यह सम्भावना उसी प्रकार की है जैसी कि प्रथम उद्योत में विरोधी सिद्धान्तों की उद्भावना में की गई थी। यहाँ पर बहुवचन प्रयोग सिद्ध करता है कि यह मत अनेकों का है किसी एक का नहीं।

अब इस प्रश्न के उत्तर पर विचार किया जा रहा है—यह कहना ठीक नहीं है कि काव्य में वस्तुओं के सामान्य रूपों का ही उपादान होता है। यदि सामान्यरूप में ही वस्तुओं को काव्यविषय बनाया जाय तो काव्य की असीमता सिद्ध ही नहीं हो सकती। वास्तविकता यह है कि काव्य मे वस्तुयें अपने विशिष्ट रूप में ही प्रस्तुत की जाती है अथवा सामान्य रूप के साथ वस्तुओं का कुछ न कुछ विशेष रूप रहता ही है। कवि जिस देश जाति अथवा वर्ग का होता है और जिस समय में उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है साथ ही वस्तु की जिन अवस्थाओं को वह प्रत्यक्ष करता है उन सबकी झलक उसकी कविता मे आ ही जाती है। इस प्रकार उसकी कविता कभी भी सामान्यमात्र को लेकर प्रवृत्त नहीं हो सकती। (उदाहरण के लिये राम-काव्य की रचना वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, मैथिलीशरणगुप्त इत्यादि अनेक कवियों ने की है। प्रत्येक कवि की कविता में उसके देशकाल की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है जिससे रामकथा अनन्त प्रकार की हो गई है। इसी आधार पर तुलसी ने कहा है—'राम कथा की मिति जग नाहीं।') यदि देशकाल अवस्था इत्यादि परिस्थितियों को काव्य-वस्तु के भेदक तत्त्व के रूप मे स्वीकृत न किया जाय और यही माना जाय कि काव्य केवल वस्तु के सामान्य रूप को लेकर चलता है तो महाकवियों के काव्यों की जो सीमातीत-रूपता है उसमें प्रमाण ही क्या रह जाय? क्या यह सब व्यर्थ ही है जो कहा जाता है कि कालिदास महाकवि हुये, भारवि और माघकवि ने महाकाव्यों की रचनायें की, भवभूति बड़े अच्छे नाटककार थे, इत्यादि। क्या जितना भी काव्यवैचित्र्य दिखलाई देता है वह पिष्टपेषण ही है? क्या सर्वत्र पौनरुक्त्य ही है? जब हम कोई नया काव्य पढ़ने लगते हैं तब हमें यह आभासित ही नहीं होता कि हम पढ़े हुये पुराने भावों को ही पढ़ रहे हैं। जब अर्थपौनरुक्त्य हमे संवेदनागोचर होता ही नहीं तब उसे प्रसङ्गानुकूल कविता करनेवाले लोग स्वीकार कैसे कर सकते है? जब वे किसी विशेष प्रसङ्ग को लेकर कविता करते हैं तब यह कैसे मान सकते हैं कि उस प्रसङ्ग की उनकी कविता पर कोई छाप नहीं वे तो केवल कही हुई बातो को ही दोहरा रहे है! यदि सामान्य को लेकर ही काव्यरचना की जाती है तो वाल्मीकि से भिन्न कालिदास इत्यादि किसी अन्य व्यक्ति को कवि कहना ही ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाल्मीकि आदि कवि

है—उनके काव्य का इतना विस्तार है कि उन्होंने सभी सामान्य काव्यविषयों को काव्यबद्ध कर ही दिया है तथा आपके मत में सामान्य से भिन्न कोई काव्यार्थ होता नहीं। अतः कोई नया कवि कवि ही न कहा जासकेगा और कोई भी नई कविता पुरानी कविता का पिष्टपेषण ही रह जायेगी। यहाँ पर सामान्यतावादी यह कह सकते हैं कि काव्य मे नवीनता विषयवस्तु से नहीं अपितु उक्तिवैचित्र्य से आती है। इसे मैं पूछना चाहता हूँ कि उक्तिवैचित्र्य से आपका तात्पर्य क्या है? यदि पुरानी बात को पर्यायवाचक शब्दों द्वारा प्रकट करदिया जाय तो उसे आप उक्तिवैचित्र्य कहेगे? यदि हाँ तो यदि पूरा-पूरा वही अर्थ पर्यायवाचक शब्दों के माध्यम से उपनिबद्ध कर दिया जाता है तो आपका यह अभिमान सिद्ध नहीं हो सकता कि आपने कोई नई बात कही है या आप यह नहीं कह सकते कि आप पुरानी बात को ही नहीं दुहरा रहे हैं। आपका अपौनरुक्त्य का अभिमान सिद्ध ही नहीं हो सकता। अतः उक्तिवैचित्र्य के मूल में आपको नये शब्द ही नहीं अपितु नया वाच्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। आपको यह कहना पड़ेगा कि उक्तिवैचित्र्य उसे ही कहते हैं जिसमें किसी विशेष उक्ति के द्वारा विशिष्ट वाच्य का प्रतिपादन किया जाय। क्योंकि वाच्य और वाचक का अविनाभाव सम्बन्ध है। वाच्य के बिना वाचक नहीं रह सकता और वाचक के बिना वाच्य नहीं रह सकता। दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः यदि वाचक में नवीनता आयेगी तो वाच्य मे नवीनता स्वतः ही आ जायेगी। काव्य में जितने भी वाच्य प्रतीतिगोचर होते है उन वाच्यों के जितने भी रूप होते हैं वे सब अपने विशिष्ट रूप मे ही प्रतीत हुआ करते है। प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों के आधार पर वस्तु की जो विशेषता अवगत होती है उस विशेषता से अभिन्न रूप में ही काव्य के वाच्य संवेदनागोचर हुआ करते हैं। आशय यह है कि काव्यवस्तु विशिष्ट से ही सम्बन्ध रखती है सामान्य से नहीं। इस सबका निष्कर्ष यह है कि जो लोग काव्य मे उक्तिवैचित्र्य को अङ्गीकार करते है वे यदि न भी चाहें तब भी उनको उक्तिवैचित्र्य के साथ वाच्यवैचित्र्य मानना ही पड़ेगा। इससे वे पीछा नहीं छुड़ा सकते।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका आशय यह है कि यद्यपि अनेक विचारक पद की शक्ति सामान्य में मानते हैं तथापि वाक्यार्थ की दृष्टि से उन्हें विशेष में शक्ति माननी ही पड़ेगी। पदों का अर्थ आप चाहे जो मानें (१) चाहे आप मीमांसकों के अनुसार यह मानें कि 'जिस शब्द से नियमित रूप से जो प्रतीत होता है वह उसका वाच्य होता है' जैसे, गाय लाओ इस वाक्य में गाय शब्द का वाच्य गोत्व है' (अर्थसंग्रह) अतः मीमांसकों के अनुसार सामान्य में शक्ति मानें; (२)

ध्वन्यालोकः

किञ्च उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्यनवत्वे निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव। यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्रदर्शितः स सर्व एव पुनरुक्तिवैचित्र्याद्विगुणतामापद्यते। यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारवर्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्। भणितिश्च स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति। यथा ममैव—

महमह इत्ति भणन्तउ वज्जादि कालो जणरस।
तोइ ण देउजणद्दण गोअरी भोदि मणसो॥

इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम् ॥७॥

(अनु०) और भी उक्तिवैचित्र्य जो काव्य की नवीनता में हेतु कहा जाता है वह हमारे पक्ष के अनुगुण ही है। क्योंकि जितना यह काव्यार्थों के आनन्त्य भेद में हेतु के रूप में प्रकार पहले दिखलाये गये हैं। फिर वे सभी उक्तिवैचित्र्य से द्विगुणता को प्राप्त हो जाते हैं। और जो यह उपमा श्लेष इत्यादि अलङ्कारवर्ग प्रसिद्ध है यह भणितिवैचित्र्य से उपनिबद्ध किया हुआ स्वयमेव सीमातीत होकर शतशाखता को धारण कर लेता है। और भणिति अपने भाषा-भेद से व्यवस्थित होकर प्रत्येक नियत भाषा में दिखलाई पड़नेवाले अर्थवैचित्र्य के कारण फिर दूसरा ही काव्यार्थोंका आनन्त्य सम्पादित कर देती है। जैसे मेरा ही—

'मेरा मेरा कहते यद्यपि लोगों का समय व्यतीत हो जाता है फिर भी मधुमथन देव जनार्दन उनके मन के गोचर नहीं होते।'

इस प्रकार जैसे जैसे निरूपित किया जाता है वैसे वैसे काव्यार्थों का अन्त नहीं मिलता॥ ७॥

तारावती

चाहे नैय्यायिकों के अनुसार जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानें (१) चाहे बौद्धों के अनुसार अपोह को पदार्थ के रूप में स्वीकार करें अर्थात् यह मानें कि गो इत्यादि शब्दों का अर्थ अश्व इत्यादि का परित्याग होता है, हम चाहे जिस सिद्धान्त तथा चाहे जिस वाद को स्वीकार करें हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि पदार्थ के मानने में चाहे जैसा वैमत्य क्यों न हो वाक्यार्थ विशिष्ट में ही होता है और वाक्य से विशेष अर्थ की ही प्रतीति होती है इस विषय में किसी भी वादी को वैमत्य नहीं है। चाहे हम अन्विताभिधान के अनुसार यह मानें कि शब्द की अन्वित में शक्ति होती है चाहे (२) तद्विपर्यय अर्थात् अभिहितान्वय के अनुसार अभिहितों का अन्वय स्वीकार करें, (३) चाहे नामार्थों का संसर्गविधा से अन्वय मानें (देखिये

## लोचन

अन्यत्तु यत्तत्प्रत्युतास्माकं पक्षसाधकमित्याह—किञ्चेति। पुनरिति। भूय इत्यर्थः। उपमा हि निभ, प्रतिम, च्छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्यसदृशाभासादिभिर्विचित्राभिरुक्तिभिर्विचित्रीभवत्येव। वस्तुत एतासामुक्तीनामर्थवैचित्र्यस्य विद्यमानत्वात्। नियमेन भानयोगाद्धि निभशब्दः, तदनुकारतया तु प्रतिमशब्द इत्येवं सर्वत्र वाच्यं केवलं बालोपयोगि काव्यटीकापरिशीलनदौरात्म्यादेषु पर्यायत्वभ्रम इतिभावः। एवमर्थानन्त्यमलङ्कारानन्त्यञ्च भणितिवैचित्र्याद्भवति। अन्यथापि च तत्ततो भवतीति दर्शयति भणितिश्चेति। प्रतिनियतायां भाषायां गोचरो योऽर्थस्तत्कृतं यद्वैचित्र्यं तन्निबन्धनं निमित्तं यस्य, अलङ्काराणां काव्यार्थानाञ्चानन्त्यस्य। तत्कर्मभूतं भणितिवैचित्र्यं कर्तृभूतमापादयतीति सम्बन्धः। कर्मणो विशेषणच्छलेन हेतुर्दर्शितः।

मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरो भवति मनसः॥

मधुमथन इति योऽनवरतं भणति, तस्य कथन्न देवो मनोगोचरो भवतीति विरोधालङ्कारच्छायां। सैन्धवभाषया महमह इत्यनया भणित्या समुन्मेषिता॥ ७॥

और जो कुछ है वह प्रत्युत हमारे पक्ष को ही सिद्ध करनेवाला है यह कहते हैं—'और भी' 'अर्थात् फिर' उपमा निस्सन्देह निभ, प्रतिम, छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृश, आभास इत्यादि विचित्र उक्तियों से विचित्र हो ही जाती है। क्योंकि वस्तुतः इन उक्तियों का अर्थवैचित्र्य विद्यमान ही है। नियम से भान का योग होने से निभ शब्द; उसका अनुकरण होने से प्रतिम शब्द इस प्रकार सर्वत्र कहा जाना चाहिये। केवल बालोपयोगी काव्यटीकाओं के परिशीलन के दौरात्म्य से इनमें पर्यायत्व का भ्रम है यह भाव है। इस प्रकार अर्थानन्त्य और अलङ्कारानन्त्य यह भणिति वैचित्र्य से निस्सन्देह हो जाता है। अन्यथा भी वह भणितिवैचित्र्य से हो जाता है यह दिखलाते हैं—'और भणिति यह। प्रतिनियत भाषा में गोचर अर्थात् वाच्य जो अर्थ उससे किया हुआ जो वैचित्र्य वह है निबन्धन अर्थात् निमित्त जिसका अर्थात् अलङ्कारों के और काव्यार्थ के आनन्त्यका। उस कर्मभूत को कर्तृभूत भणिति वैचित्र्य सम्पादित कर देता है यह भाव है। कर्म के विशेष के बहाने हेतु दिखलाया गया है। 'मम मम—मनसः" यह छाया है। 'मधुमथन' यह जो निरन्तर कहता है देव उसके मनोगोचर क्यों नहीं होते यह विरोध अलङ्कार की छाया है। सैन्धव भाषा के द्वारा 'महमह' इस उक्ति से प्रकट की गई है॥ ७॥

तारावती

व्युत्पत्ति वाद, प्र० प्रकरण ) और चाहे ( ४ ) भेदसम्बन्ध का सिद्धान्त मानें अथवा इसी प्रकार की कोई और वाक्यार्थ की व्याख्या करें, प्रत्येक अवस्था में इस तथ्य का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता कि वाक्य सर्वदा विशिष्ट अर्थ का ही अभिधायक होता है। इस विषय में किसी सिद्धान्ती का वैमत्य है ही नहीं। केवल उक्ति-वैचित्र्य के आधार तक ही काव्य की अनन्तता सीमित नहीं होती और न यह कहा ही जा सकता है कि किसी वाक्य में शब्दों के पर्याय रख देने से ही उसमें उक्ति-वैचित्र्य आ जाता है। उक्तिवैचित्र्य तो तभी हो सकता है जब वाच्यवैचित्र्य भी हो। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि—

'यदि आप वाल्मीकि को छोड़कर किसी एक कवि को भी कविरूप में स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि अर्थ की दिशा में उसकी प्रतिभा प्रस्फुरित हुई है तो यही बात आपको सभी कवियों के विषय में माननी पड़ेगी तथा इस प्रकार काव्य की अनन्तता स्वतः सिद्ध हो जायेगी। यदि वाल्मीकि से भिन्न किसी एक कवि को भी आप कवि नहीं मानते तो दूसरी बात है।'

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे काव्य की अनन्तता पूर्णरूप से प्रतिपादित हो जाती है। और भी बहुत सी बातें हैं जो काव्य की अनन्तता का प्रतिपादन करने की ओर अग्रसर करती हैं। आपने जो उक्तिवैचित्र्य की बात कही है वह भी निस्सन्देह काव्य की अनन्तता का ही निष्कर्ष निकालती है। क्योंकि हमने ऊपर बहुत से हेतु ऐसे दिखलाये हैं जो काव्यार्थ की अनन्तता का प्रतिपादन करते हैं। उन सब प्रकारों के साथ जब उक्तिवैचित्र्य भी सम्मिलित हो जाता है तब काव्यार्थों की अनन्तता और दूनी हो जाती है। उपमा श्लेष इत्यादि बहुत से अलङ्कार गिनाये गये हैं। एक तो इन अलङ्कारों की संख्या ही बहुत अधिक है। फिर इनके भेदोपभेद असंख्य हो जाते हैं। उन भेदोपभेदों के साथ जब अन्य अलङ्कारों का प्रवर्तन होता जाता है तब सिद्ध होता है कि उनकी कोई निश्चित संख्या ही नहीं, वे असंख्य हैं फिर उन अलङ्कारों का सङ्कर या संसृष्टि होती है, दो-दो अलङ्कारों का सङ्कर, तीन-तीन का, चार-चार का, इस प्रकार अलंकारों के प्रयोग की कोई सीमा ही नहीं रह जाती। इतना ही नहीं एक-एक अलंकार के प्रयोग के भी इतने रूप हो सकते हैं कि उनका अन्त मिलता ही नहीं। उदाहरण के लिये उपमा को ही लीजिये—इसको प्रकट करनेवाले बहुत से शब्द हैं—निभ, प्रतिम, छल, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाय, तुल्य, सदृश, आभास इत्यादि। इन सब विचित्र प्रकार की उक्तियों से स्वयं उपमा अलङ्कार विचित्र हो ही जाता है। यह भी बात नहीं कि उपमा वाचक इन सब शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर न हो। सूक्ष्म अन्तर तो इन सभी

तारावती

अर्थों में पाया ही जाता है 'निभ' शब्द का अर्थ है नियम से भान होना। प्रतिम शब्द का अर्थ है–'प्रति' अर्थात् 'ओर' और 'मा' अर्थात् नापना अर्थात् जिसकी ओर करके कोई वस्तु नापी जाय, आशय यह है कि जिसका अनुकरण किया जाय। इस प्रकार सभी अर्थ कुछ न कुछ एक दूसरे से भिन्न अवश्य हैं। किन्तु कुछ लोगों ने बच्चों को समझाने के लिये काव्य ग्रन्थों की टीकायें लिखीं और उनमें उपमा वाचक सभी शब्दों को समानार्थक बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जब दूसरे लोगों ने भी उन टीकाओं को पढ़ा तो वे भी उन सब शब्दों को पर्याय समझने लगे। किन्तु यह केवल उनका भ्रम है और इस भ्रम का उत्तरदायित्व उन टीकाओं के परिशीलन पर है। वस्तुतः सभी शब्दों मे कुछ न कुछ अर्थभेद होता है जिससे एक ही अलङ्कार की सैकड़ों शाखाये हो जाती हैं। इस प्रकार उक्तिवैचित्र्य का ही यह प्रभाव है कि अर्थों मे भी आनन्त्य आ जाता है और अलङ्कारों मे भी आनन्त्य आ जाता है।

केवल उक्तिवैचित्र्य ही भाषाभेद से भी काव्यार्थ मे अनन्तता का सम्पादन करता है। संसार मे संख्यातीत भाषायें हैं और सब भाषाओं की अपनी अपनी विशेषताएं होती हैं। उन विशेषताओं से उक्तिवैचित्र्य सम्पन्न हो जाता है जिससे पुनः काव्यार्थों मे अनन्तता आ जाती है। भाषा की विशेषता से अर्थानन्त्य भी हो जाता है और अलङ्कारानन्त्य भी। उदाहरण के लिये आनन्दवर्धन ने एक सिन्धी भाषा का पद्य बनाया था जिसका आशय यह है—

'लोगों का समय मधुमथन मधुमथन कहते ही बीतता जा रहा है तथापि देवजनार्दन लोगों के मनोगोचर नहीं होते।

जो लोग निरन्तर मधुमथन की ही रट लगाये रहते हैं उनको भगवान् जनार्दन मनोगोचर नहीं होते यह विरोध है। विरोध का परिहार यह है कि 'अहमह' शब्द के सिन्धी भाषा मे दो अर्थ हो सकते हैं—'मधुमथन' और 'मम मम' अर्थात् 'मेरा मेरा'। जब दूसरे अर्थ को लिया जाता है तब इस पद्य का आशय हो जाता है कि लोग माया मोह मे फसे हैं; रात दिन 'यह मेरा' 'यह मेरा' की रट लगाये रहते हैं किन्तु भगवान् जनार्दन का ध्यान नहीं करते। यह विरोध का परिहार है। इस प्रकार सिन्धी भाषा के 'मह मह' शब्द के आधार पर यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार बन गया है। इसी प्रकार भाषाओं का आश्रय लेने से भी काव्यार्थ अनन्त विध हो जाता है। जितना जितना निरूपण किया जाय उतना उतना काव्य की अनन्तता का ही परिचय मिलता है॥७॥

ध्वन्यालोकः

इदं तूच्यते—

अवस्थादि विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।
यत्प्रदर्शितं प्राक्
भूम्नेव दृश्यते लक्ष्ये
न तच्छक्यमपोहितुम्
तनु भाति रसाश्रयात् ॥ ६ ॥

तदिदमत्र संक्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय—

रसभावादिसंबद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥ ९ ॥

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम् ।
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥१०॥

तथा हि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भूतविचित्रवस्तुप्रपञ्चा सती पुनरिदानीं परिक्षीणा परपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम् । तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते ॥ १९ ॥

(अनु०) 'अवस्था इत्यादि से विभिन्न वाच्यों का निबन्धन' जो पहले दिखलाया गया है । 'लक्ष्य में अधिकता से देखा जाता है' उसका परित्याग नहीं हो सकता 'वह तो रस के आश्रय से शोभित होता है' ॥

वह यहाँ पर सत्कवियों के उपदेश प्रसङ्ग में कहा जा रहा है :—

यदि रस भाव इत्यादि से सम्बद्ध औचित्य का अनुसरण करनेवाली तथा देश काल इत्यादि से भिन्न होनेवाली वस्तु का अनुगमन किया जाय ॥ ९ ॥

तो दूसरे परिमित शक्तिवाले कवियों की गणना ही क्या जब कि 'सहस्र वाचस्पतियों के द्वारा सहस्रों ही यत्नों से निबद्ध की हुई वह संसारो की प्रकृति के समान क्षय को प्राप्त नहीं होती' ॥ १० ॥

वह इस प्रकार 'जगत् की प्रकृति अतीत कल्प परम्परा से आविर्भूत विचित्र वस्तु प्रपञ्चवाली होते हुये पुनः इस समय दूसरे पदार्थ के निर्माण की शक्ति परिक्षीण हो गई है यह नहीं कहा जा सकता ।' उसी प्रकार यह काव्यस्थिति भी अनन्त कविमतियों के द्वारा उपभुक्त भी इस समय परिहीन नहीं होती प्रत्युत नई नई व्युत्पत्तियों द्वारा बढ़ती जाती है ॥ १० ॥

## लोचन

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥

इतिकारिका। अन्यस्तु ग्रन्थो मध्योपस्कारः॥ ८॥

अत्र तु पादत्रयस्यार्थमनूद्य चतुर्थपादार्थोऽपूर्वतयाभिधीयते। तदित्यादि शक्तीनामित्यन्तं कारिकयोर्मध्योपस्कारः। द्वितीयकारिकायास्तुर्यं पादं व्याचष्टे—यथा हीति॥ ९, १०॥

संवादा इति कारिकाया अर्धं नैकरूपतयेति द्वितीयम्॥ ११॥

'अवस्थादि··· रसाश्रयात्' यह कारिका है। अन्यग्रन्थ का उपस्कार है।

यहाँ तो तीन पादों के अर्थ का अनुवाद करके चौथे पाद का अर्थ अपूर्व होने के कारण कहा जा रहा है। 'तत्' यहाँ से 'शक्तीनाम्' यहाँ तक दो कारिकाओं के मध्य का उपस्कार। द्वितीयकारिका के चौथे पद की व्याख्या करते हैं—'वह इस प्रकार इत्यादि॥ १०॥

'संवादास्तु' यह कारिका आधा है; 'नैकरूपतया' यह द्वितीय है॥ ११॥

## तारावती

८ से १० तक कारिकायें सामान्य उपसंहारात्मक हैं। न इन पर वृत्तिकार ने कोई विशेष टिप्पणी की है और न लोचनकार ने ही विशेष कुछ कहा है। इन सबका सार यह है—यह अधिकतर देखा जाता है कि वाच्यों को काव्य में अवस्था, देश, काल, स्वरूप इत्यादि के भेद से निबद्ध किया जाता है जिसका पहले परिचय दिया जा चुका है और जिसका अपलाप सम्भव ही नहीं है। किन्तु उस सबकी शोभा रस के आश्रय से ही होती है। शर्त यह है कि औचित्य का पालन किया जाय और रचना को रस, भाव इत्यादि से सम्बद्ध रक्खा जाय तो देश और काल से विभेद को प्राप्त होनेवाली वस्तु की गति इतनी अनन्त हो जाती है कि साधारण सीमित शक्तिवाले कवियों का तो कहना ही क्या यदि हजारों वाचस्पति आ जावें और हजारों प्रयत्नों के द्वारा उसको निबद्ध करने की चेष्टा करें तो यह काव्यस्थिति समाप्त नहीं हो सकेगी। इसमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि संसार अनादि काल से चला आ रहा है। अनेक कल्पों में सृष्टि की रचना करने के लिये प्रकृति का उपयोग किया गया और सर्वदा सृष्टि में विचित्र और आश्चर्यजनक वस्तुओं का ही आविर्भाव हुआ। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे पदार्थों के निर्माण की शक्ति अब समाप्त हो गई है। उसी प्रकार कवियों की संख्यातीत बुद्धियों का समूह इस काव्यस्थिति का उपभोग करता रहा है फिर भी काव्यवस्तु समाप्त नहीं हुई प्रत्युत नवीन नवीन व्युत्पत्तियों से बढ़ती ही जा रही है॥८, ९, १०॥

ध्वन्यालोकः

इत्थं स्थितेऽपि—

संवादास्तु भवन्त्येववबाहुल्येन सुमेधसाम् ।

स्थितं ह्येतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः । किन्तु—

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥ ११ ॥

कथमिति चेत्—

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।

आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम् । यत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम् । किञ्चिद्धि वस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम्, अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम् ।

( अनु० ) ऐसा स्थित होने पर भी—'बुद्धिमानों के ( वचनों में ) मेल तो बहुलता से होता ही है' यह निश्चित रूप से सिद्ध है कि बुद्धिमानों की बुद्धियाँ संवादिनी ही होती है । किन्तु—'बुद्धिमानों के द्वारा वे सब एक रूप में नहीं माने जाने चाहिये । यदि कहो किस प्रकार ? तो—'संवाद निस्सन्देह अन्तःसादृश्य को कहते हैं, फिर वह शरीरियों के प्रतिबिम्बवत्, चित्र के आकार के समान और तुल्य देही के समान होता है।

संवाद निस्सन्देह काव्यार्थ का कहा जाता है जो कि दूसरी काव्य वस्तु से सादृश्य हो । जो कि फिर शरीरियों के प्रतिबिम्बवत् आलेख्यवत् और तुल्यदेहिवत् इन तीन रूपों मे व्यवस्थित है । निस्सन्देह कोई काव्यवस्तु शरीरी ही दूसरी वस्तु के प्रतिबिम्ब के समान होती है, दूसरी आलेख्य के समान दूसरी तुल्य शरीरी के समान ।

लोचन

किमियं राजाज्ञेत्यभिप्रायेणाशङ्कते कथमिति। चेदिति। अत्रोत्तरम्—संवादो ह्यन्येत्यनया कारिकया । एषा खण्डीकृत्य वृत्तौ व्याख्याता । शरीरिणामित्यत्रशब्दः प्रतिवाक्यं द्रष्टव्य इति दर्शितम् । शरीरिण इति पूर्वमेव प्रतिलब्धस्वरूपतया प्रधानभूतस्येत्यर्थः ।

क्या यह राजा की आज्ञा है इस अभिप्राय से शङ्का करते हैं—'कैसे' यह 'यदि' यह । यहाँ उत्तर है—'संवादो ह्यन्य' इस कारिका से । वृत्ति में इस कारिका की खण्डित करके व्याख्या की गई है । और यह दिखलाया गया है कि 'शरीरियों की' यह शब्द प्रत्येक वाक्य में दिखलाया जाना चाहिये । 'शरीरी का' यह । अर्थात् पहले ही स्वरूप को प्राप्त हो जाने के कारण जो प्रधान है उसका ॥ १२ ॥

## तारावती

११ वीं कारिका मे यह बतलाया गया है कि अच्छे कवियों की कवितायें प्रायः एक दूसरी से मिलती ही हैं। इसका कारण यही है कि मेधावी लोगों की बुद्धियां एक दूसरे से मेल खाती ही हैं। अतः होता यही है कि एक कवि को जो भाव सूझता है प्रायः वही दूसरे को भी सूझ जाता है। अतः एक कवि का भाव यदि दूसरे कवि के भाव से मिलता हुआ दिखलाई दे तो यह नहीं समझना चाहिये कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के भाव का अपहरण ही किया है और इसी आधार पर किसी कवि पर भावापहरण का दोषारोपण भी नहीं करना चाहिये। जो इस प्रकार का आक्षेप करता है वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता। ११॥

यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि इसमे प्रमाण क्या है कि पूर्ववर्ती कवि के भाव का परवर्ती कवि ने अपहरण नहीं किया है; पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों कवियों को निरपेक्ष भाव से कोई वस्तु सूझी है। क्या आपकी यह बात हम राजाज्ञा के समान अङ्गीकार कर ले? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये १२ वीं कारिका लिखी गई है और इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि दो भावों का मेल कितने प्रकार का होता है। इस कारिका के प्रथम पाद मे 'संवाद' की परिभाषा की गई है और शेष तीन पादों मे संवाद के प्रकार बतलाए गये हैं। 'संवाद' की परिभाषा है अन्य सादृश्य अर्थात् एक कवि की बुद्धि का दूसरे कवि की बुद्धि से सादृश्य अथवा एक कवि की काव्यवस्तु से दूसरे कवि की काव्यवस्तु का सादृश्य। यह सादृश्य तीन प्रकार का होता है—

प्रतिबिम्बवत् अर्थात् पहले जो काव्यवस्तु अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुकी है और इस प्रकार प्रधान पद पर आरूढ़ हो गई है उसी काव्यवस्तु को लेकर जब दूसरे काव्य लिखे जाते हैं; भाव में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता; केवल पर्याय-वाचक शब्दों से वही बात कह दी जाती है तब बने बनाये काव्यशरीर का प्रतिबिम्ब दूसरे काव्य पर पड़ जाता है। इस प्रकार के काव्य की वही स्थिति होती है जो स्थिति दर्पण मे मानव शरीर के सङ्क्रमण हो जाने पर उसके प्रतिबिम्ब की हुआ करती है। अतः इस प्रकार के अनुकरण रूप काव्य को प्रतिबिम्ब-कल्प काव्य कहते हैं।

काव्यमीमासा मे प्रतिबिम्बकल्प की यह परिभाषा दी गई है:—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥ (अ० १२)

अर्थात् जहाँ सभी अर्थ पुराने कवि का ही कहा हो किन्तु वाक्यरचना दूसरे प्रकार की कर दी जाय और उसमे तात्त्विक भेद न हो उस काव्य को 'प्रतिबिम्ब-कल्प काव्य कहते हैं।'

तारावती

जैसे एक पुराना पद्य है :—

ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः ।
चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढैर्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः ॥

अर्थात् 'पशुपति के कण्ठ प्रदेश में संलग्न स्फुरित होनेवाले वे सर्प आप लोगों की रक्षा करें; जिनसे कालकूट इस प्रकार शोभित होता है मानों चन्द्र के अमृत रूपी जल के कणों से सींचकर सुखपूर्वक उस कालकूट के अङ्कुर निकल आए हों।'

इसी अर्थ को लेकर एक नवीन पद्य बनाया गया है :—

जयन्ति नीलकण्ठस्य कण्ठे नीला महाहयः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ॥

'नीलकण्ठ के कण्ठ में लगे हुये बड़े बड़े सर्पों की जय हो जो कि गिरनेवाले गङ्गाजल से सिंचकर उगे हुये कालकूटाङ्कुर जैसे प्रतीत होते हैं।'

अर्थ वही है केवल शब्दभेद कर दिया गया है। ( इस प्रकार के काव्य को प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं। )

अर्थापहरण काव्य का दूसरा प्रकार होता है आलेख्याकारवत् काव्यरचना। अर्थात् जिस प्रकार किसी मूर्त पदार्थ का कोई चित्र उतार लिया जाता है और वह चित्र वास्तविक वस्तु के बिलकुल समानाकार मालूम पड़ता है। उस काव्य को आलेख्याकारवत् कह सकते हैं। ( आलेख्याकारवत् की परिभाषा काव्य मीमांसा में इस प्रकार दी गई है:—

कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति ।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

अर्थात् जहाँ काव्यवस्तु तो पुरानी ही ली जाय किन्तु उसका कुछ थोड़ा सा संस्कार कर दिया जाय जिससे वस्तु भिन्न जैसी प्रतीत होने लगे उस काव्य को अर्थचतुर लोग आलेख्यप्रख्य काव्य कहते हैं। जैसे ऊपर के ही भाव को लेकर एक दूसरा पद्य बनाया गया है :—

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ॥

'शङ्कर जी के जटाजूट में लम्बमान श्वेत सर्पों की जय हो जो ऐसे शोभित होते हैं मानों गिरनेवाले गङ्गाजल से सिंचकर चन्द्ररूपीमूल से अङ्कुर निकल आए हों।'

बात वही है किन्तु अन्तर यह पड़ गया है कि मूल पद्य में चन्द्रामृत को जल माना गया था इसमें गङ्गाजल के द्वारा सिञ्चन का उपादान किया गया है,

## तारावती

पहले कृष्ण सर्प थे इसमें श्वेत सर्प हैं, पहले कालकूट के अंकुर थे इसमें चन्द्र के अंकुर हैं। इस प्रकार थोड़ा सा संस्कार कर देने से यह भाव कुछ कुछ नया सा हो गया है। इस प्रकार का काव्य आलेख्यप्रख्य कहलाता है।

( ३ ) तीसरे प्रकार का काव्य होता है तुल्यदेहिवत् अर्थात् जिस प्रकार दो व्यक्ति एक सी ही आकृतिवाले होते हैं और उन दोनों को देखकर यह कहा जाता है कि दोनों की आकृति एक जैसी ही है, उसी प्रकार भावों के मेल के कारण जहाँ पर यह कहा जाता है कि दोनों पद्य एक जैसे ही हैं उस काव्य को तुल्यदेहिवत् कहते हैं ( तुल्यदेहिवत् काव्य की परिभाषा काव्यमीमांसा में यह दी गई है—

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्निबन्धनसादृश्यात्।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं निबध्नन्ति सुधियोऽपि॥

अर्थात् जहाँ विषय का भेद होते हुये भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद बुद्धि भासित होने लगती है उस काव्य को तुल्यदेहिवत् काव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य का निबन्धन बुद्धिमान् लोग भी करते हैं।

उदाहरण के लिए एक पुराना पद्य है—

अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधि
पशुर्धन्यस्तावत् प्रतिवसति यो जीवति सुखम्॥
अमीषां निर्माणं किमपि तदमृद्ग्धकरिणाम्
वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम्॥

जो पशु अश्व भेड़ों को आगे करके जब तक रहता है अर्थात् अपने साथ भेड़ों को भी सुख पहुँचाता है तब तक वह सुखपूर्वक रहता है और जीता भी है ऐसा पशु धन्य है। इन भाररूप नष्ट हाथियों का निर्माण ही कैसा अर्थात् व्यर्थ हुआ जिनका निवास या तो वन में होता है या राजाओं के घर मे होता है। आशय यह है कि जो सभी के काम नहीं आ सकते उनका जीवन व्यर्थ है।'

इसी अर्थ को लेकर एक दूसरा पद्य लिखा गया है :—

प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो मुहुरुपकरणत्वादर्चिताः पूजिताश्च।
स्फुरितहृतमणीनां किन्तु तद्धाम येन क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः॥

प्रत्येक घर में पत्थरों का एक ही प्रकार है जो उपभोग का साधन होने के कारण बार बार अर्चित किया जाता है और पूजा जाता है। किन्तु इन अभागिन मणियों का एक अद्वितीय प्रकाश स्फुरित हो रहा है। जिससे उनका निवास या तो राजभवनों में होता है या अपनी खानों में ही होता है।

ध्वन्यालोकः

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥ १३ ॥

तत्र पूर्वं प्रतिविम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना । यतस्तदनन्यात्म तात्त्विकशरीरशून्यम् । तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम् ।

( अनु० ) 'उनमें पहला अनन्य आत्मावाला और उसके बाद तुच्छ आत्मावाला और तृतीय प्रसिद्ध आत्मावाला होता है । कवि दूसरे के सामान्य का त्याग न करे ॥' १३ ॥

उनमें पहले काव्यवस्तु प्रतिविम्ब के समान होती है वह बुद्धिमान् के द्वारा छोड़ दी जानी चाहिये । क्योंकि वह अनन्य आत्मावाली अर्थात् तात्त्विकशरीरशून्य होती है। उसके बाद चित्र के समान अन्यसाम्य दूसरे शरीर से युक्त भी तुच्छ आत्मावाली होने के कारण छोड़ दी जानी चाहिये । तीसरी तो विभिन्न कमनीय शरीर के होने पर मिलती हुई भी काव्यवस्तु कवि के द्वारा छोड़ी नहीं जानी चाहिये । एक शरीरी दूसरे शरीरी के समान होते हुये भी एक ही है यह नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

तारावती

यहाँ पर दोनों पद्यों का निष्कृष्टार्थ एक ही है, जीवन उसी का धन्य है जो सभी का उपकार करता है, किन्तु इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये जिन विषयवस्तुओं का उपादान किया गया है वे दोनों परस्पर भिन्न हैं । इस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे दो शरीरी अत्यन्त सादृश्य के कारण एक जैसे मालूम पड़ते हैं । अतः यह प्रकार तुल्यदेहितुल्य कहा जा सकता है । )

( राजशेखर ने परार्थहरण का श्रेणीविभाजन अन्य प्रकार से किया है । उन्होंने इस दृष्टि से प्रथमतः काव्य के तीन प्रकार माने हैं—अन्ययोनि, निह्नुतयोनि और अयोनि । अन्ययोनि के दो प्रकार बतलाये हैं—प्रतिविम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य । निह्नुतयोनि भी दो प्रकार की बतलाई है—तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेश सदृश । अयोनि को केवल एक प्रकार का ही बतलाया है । फिर इन भेदों के अवान्तर भेद किये हैं । इनका विस्तृत निरूपण काव्यमीमांसा में किया गया है । वहीं देखना चाहिये । अनपेक्षित होने के कारण यहाँ पर उन पर विचार नहीं किया जा रहा है ।) ॥ १२ ॥

## लोचन

तत्र पूर्वमितिकारिका। अनन्यः पूर्वोपनिबन्धकाव्यादात्मा स्वभावो यस्य तदनन्यात्म येन रूपेण भाति तत्प्राक्कविस्पृष्टमेव, यथा येन रूपेण प्रतिबिम्बं भाति तेन रूपेण बिम्बमेवैतत्। स्वयं तु तत्कीदृशमित्यत्राह—तात्त्विकशरीरशून्यमिति। नहि तेन किञ्चिदपूर्वमुत्प्रेक्षितं प्रतिबिम्बमप्येवमेव। एवं प्रथमं प्रकारं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे—तदनन्तरन्त्विति। द्वितीयमित्यर्थः। अन्येन साम्यं यस्य तत्तथा। तुच्छात्मेति। अनुकारे ह्यनुकार्यबुद्धिरेव चित्रपुस्तादाविव न तु सिन्दूरादिबुद्धिः स्फुरति, सापि च चारुत्वायेति भावः ॥ १३ ॥

'तत्र पूर्वम्.....' इत्यादि कारिका है। पहले उपनिबन्ध किये हुये काव्य से अनन्य है आत्मा अर्थात् स्वभाव जिसका वह है अनन्यात्म, वह जिस रूपसे शोभित होता है वह दूसरे कविका स्पर्श किया हुआ ही है। अर्थात् जिस प्रकार जिसरूप में प्रतिबिम्ब शोभित होता है उस रूप में यह बिम्ब ही है। स्वयं तो वह किस प्रकार का है इसमें कहते हैं—'तात्त्विकशरीरशून्य'। उसके द्वारा किसी अपूर्व की कल्पना नहीं की गई। प्रतिबिम्ब भी तो ऐसा ही है। इस प्रकार प्रथम प्रकार की व्याख्या करके द्वितीय की व्याख्या करते हैं—'तदन्तर तो' यह अर्थात् द्वितीय। अन्य से है साम्य जिसका वह उस प्रकार का। 'तुच्छात्म' यह। अनुकरण में चित्रलिखित किसी कलाकृति के समान अनुकार्यबुद्धि ही स्फुरित होती है; सिन्दूर इत्यादि की बुद्धि नहीं और वह भी चारुता के लिये नहीं होती ॥ १३ ॥

## तारावती

१२ वीं कारिका मे यह दिखलाया गया था कि कितने प्रकार के सम्वाद हो सकते हैं। अब इस तेरहवीं कारिका मे उनकी उपादेयता के तारतम्य पर विचार किया जा रहा है। इस कारिका में यह बतलाया गया है कि सम्वाद का पहला रूप होता है प्रतिबिम्बकल्प अर्थात् जिस प्रकार दर्पण में संक्रान्त प्रतिमा प्रतिबिम्ब कहलाती है उसी प्रकार जब किसी पुराने कवि की कविता नये कवि के बुद्धिदर्पण में उसी रूप में संक्रान्त हो जाती है तब उसे प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं। बुद्धिमान् कवि का कर्तव्य है कि इस प्रकार के काव्यनिर्माण से सदा दूर रहे क्योंकि उसकी कोई दूसरी आत्मा नहीं होती। आशय यह है कि जिस प्रकार दर्पण में संक्रान्त प्रतिमा स्वरूपहीन होती है और उसका वही स्वरूप माना जाता है जो वास्तविक वस्तु का होता है। उसी प्रकार बाद के कवि के लिखे हुये काव्य का स्वरूप, स्वभाव अथवा आत्मा उससे भिन्न नहीं होती जो कि पहले उपनिबद्ध काव्य में विद्यमान थी। प्रतिबिम्ब छायामात्र होता है उसका तात्त्विक शरीर नहीं होता। उस रूप में तो वह बिम्ब ही होता है। इस प्रकार के काव्य की रचना करनेवाले को स्वयं कुछ भी श्रेय नहीं मिलता; उसका तो कार्य केवल इतना

तारावती

ही होता है कि दूसरे की कही हुई बात अपने शब्दों में पाठकों तक पहुँचा दे। अतः महत्त्व तो पूर्ववर्ती कवि को ही मिलता है। अतएव कवियों का यह कर्तव्य है कि जिसके लिये लोग यह कहें कि इसने तो कोई नई कल्पना नहीं की इस प्रकार के काव्य की रचना में कभी प्रवृत्त न हो।

दूसरे प्रकार का काव्य आलेख्यप्रख्य होता है। अर्थात् चित्र के समान उसमें कुछ थोड़े से संस्कारों को बदलकर वही बात दूसरे रूप में कही जाती है। इस काव्य का शरीर तो दूसरा अवश्य होता है; किन्तु इसमें भी दूसरे की समानता बनी रहती है। अतः इसका स्वरूप या स्वभाव अथवा आत्मा अत्यन्त तुच्छ होता है; क्योंकि अनुकरण करने में प्रधानता तो उसीकी रहती है जिसका अनुकरण किया जाता है, उसकी प्रधानता कभी नहीं होती जिसमें अनुकरण किया जाता है। जैसे यदि सिन्दूर इत्यादि से कोई कलात्मक वस्तु बनाई जाय तो उसे देखकर एकदम मुँह से निकल जाता है कि यह घोड़ा इत्यादि अमुक वस्तु है और ध्यान भी उसीकी ओर जाता है जिसका वह चित्र बना होता है। सिन्दूर इत्यादि की ओर ध्यान प्रायः जाता ही नहीं। उसी प्रकार किसी ऐसे काव्य को पढ़कर जिसमें पुराने काव्य की छाया कुछ विभिन्नता के साथ दृष्टिगत हो रही हो उस पुराने काव्य पर ही ध्यान जाता है। यह काव्य तुच्छ आत्मावाला होता है अतः इसकी रचना में भी कवि को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये क्योंकि उसमें भी कोई चारुता नहीं होती।

तीसरे प्रकार का काव्य वह होता है जिसमें या तो केवल अभिव्यंग्यार्थ का साम्य हुआ करता है, (वैसे दोनों के अभिव्यञ्जक वस्तुतत्त्व भिन्न-भिन्न ही होते हैं) या ध्वनितत्त्व भिन्न होते हैं दोनों का अभिव्यञ्जकतत्त्व एक होता है। दोनों को देखने से यह मालूम पड़ता है कि दोनों भाव समान हैं। यद्यपि यह समानता एक दूसरे से ली हुई नहीं मालूम पड़ती अपितु जैसे दो आकृतियाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुये भी सांयोगिक रूप में एक दूसरे से मिलती हुई प्रतीत होती हैं उसी प्रकार उन भावों का साम्य भी अवगत होता है। इस प्रकार यदि उनकी अपनी सत्ता पृथक् पृथक् हो और दोनों का कमनीय कलेवर भी एक दूसरे से निरपेक्ष होकर स्थित हो तो यदि काव्यवस्तु मेल भी खाती हो तो भी कवि को उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि दो समान आकृतियों को देखकर यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार वहाँ पर परवर्ती काव्य को पूर्ववर्ती से मिलता हुआ देखकर कोई नहीं कह सकता कि परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि के आशय का अपहरण किया है। कारण यह है कि दोनों के कलेवर भिन्न होते हैं॥ १३॥

ध्वन्यालोकः

एतेदवोपपादयितुमुच्यते—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥ १४ ॥

तत्त्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम् । पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्णाति । न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते । तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥ १४ ॥

( अनु० ) इसीको उपपादित करने के लिये कहते हैं—

'पूर्वस्थिति का अनुगमन करनेवाली वस्तु अन्य आत्मा के होने पर तन्वी के चन्द्रमा की छायावाले मुख के समान अत्यन्त शोभित होती है ॥ १४ ॥

तत्त्व के अर्थात् सारभूत दूसरी आत्मा के होनेपर पूर्वस्थिति का अनुगमन करनेवाली भी वस्तु अत्यन्त शोभित होती है । पुरानी रमणीय अनुगृहीत वस्तु निस्सन्देह शरीर के समान परा शोभा को पुष्ट करती है, पुनरुक्तत्व के रूप में तो अवभासित नहीं होती । जैसे तन्वी का चन्द्रमा की छायावाला मुख ॥ १४ ॥

लोचन

एतदेवेति तृतीयस्य रूपस्यात्याज्यत्वम् । आत्मनोऽन्यस्येतिकारिका खण्डीकृत्य वृत्तौ पठिता । केषुचित्पुस्तकेषु कारिका अखण्डीकृता एव दृश्यन्ते । आत्मन इत्यस्य शब्दस्य पूर्वपठिताभ्यामेव तत्त्वस्य सारभूतस्येति च पदाभ्यामर्थो निरूपितः ॥१४॥

'इसी को' अर्थात् तृतीय रूप की आत्मान्यता को। 'आत्मनोन्यस्य' यह कारिका वृत्ति में खण्डित करके ही पढ़ी गई है । किन्हीं पुस्तकों में कारिकायें अखण्डीकृत ही दिखलाई देती हैं । 'आत्मा का' इस शब्द का पहले पढ़े हुए 'तत्त्वस्य' और 'सारभूतस्य' इन दो पदों से अर्थ निरूपित किया गया है ॥ १४ ॥

तारावती

ऊपर बतलाया गया है कि प्रतिविम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य रचना करने से कवि निन्दनीय हो जाता है, किन्तु यदि तुल्यदेहितुल्य रचना की जाय तो कवि को दोष नहीं होता । अब इस १४ वीं कारिका में उसी बात को सिद्ध किया जा रहा है कि तुल्यदेहितुल्य काव्यरचना करने मे कवि को दोष नहीं होता । कारिका का सार यह है कि 'काव्य की आत्मा दूसरी होनी चाहिये । आत्मा का अर्थ है तत्त्व अथवा सार रूप अंश । यदि इस प्रकार की आत्मा मे तादात्म्य नहीं होता तो वह काव्य नवीन ही कहा जाता है फिर चाहे उस काव्य का निर्माण किसी पुराने काव्य की छाया पर ही हुआ हो । उदाहरण के लिये सुन्दरियों के मुख चन्द्र के समान हुआ करते हैं । उनमें भी पूर्णचन्द्र की जैसी आकृति और वैसी ही रम-

तारावती

णीयता विद्यमान रहती है। किन्तु उनमें लावण्य का भेद होता है। नायिकाओं के मुख पर एक ऐसी यौवनजन्य चमक और आह्लादकता होती है जैसी चन्द्र में नहीं होती। चन्द्र का लावण्य दूसरे ही प्रकार का होता है। इस प्रकार यद्यपि नायिकाओं के मुख का निर्माण पूर्णचन्द्र का जैसा ही हुआ है फिर भी लावण्य का भेद होने के कारण यह कोई नहीं कहता कि चन्द्र और मुख दोनों एक ही वस्तु है। यह पहले ही ( प्रथम उद्योत में ) बतलाया जा चुका है कि काव्य का ध्वनि तत्त्व ( प्रधानीभूत प्रतीयमान अर्थ ) ललनाओं के लावण्य के समान हुआ करता है। अतः यदि वह तत्त्व भिन्न हो तो जिस प्रकार ललनाओं का लावण्यमय मुखचन्द्र पुनरुक्त नहीं मालूम पड़ता उसी प्रकार नवीन काव्य भी पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता।' आशय यह है कि जिस काव्य से भावापहरण किया गया हो उसमें भी सङ्घटनाजन्य एक रमणीयता विद्यमान ही होती है उस रमणीय वस्तु का उपादान कर यदि नवीन काव्य की रचना की जाय और उसमें आत्मा को बदल दिया जाय तो काव्य पुराना नहीं नया ही मालूम पड़ता है। जैसे सभी शरीरों की बनावट एक जैसी होती है किन्तु रमणियों का लावण्य ही प्रत्येक की आकर्षकता में विभाजक तत्त्व का काम देता है। पुराने अङ्गप्रत्यङ्गों से युक्त भी शरीर नये लावण्य को पाकर नया हो जाता है। ऐसा ही काव्य के विषय में भी समझना चाहिए।

यहाँ पर 'आत्मनः' इस शब्द की व्याख्या करने के लिये ही वृत्तिकार ने 'तत्त्वस्य' और 'सारभूतस्य' इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुतः पर्यायवाचक शब्द बाद मे लिखे जाते हैं, किन्तु यहाँ पर वृत्तिकार ने 'आत्मन.' के पहले इनको लिख दिया है। कहीं कहीं इस कारिका को दो भागों में खण्डित करके भी पढा गया है अर्थात् पहली पंक्ति के बाद वृत्ति की 'तत्त्वस्य.....पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि' यह पंक्ति आई है। फिर दूसरी पंक्ति लिखकर वृत्ति का शेष भाग लिखा गया है। ऐसी दशा मे भी अर्थ में कोई भेद नहीं पडता।

[ ऊपर अर्थ हरण पर पूरा प्रकाश डाला गया है और उसके प्रयोजनों पर भी दृष्टिपात किया गया है। इसके प्रयोजनों के विषय मे राजशेखर ने काव्यमीमांसा मे विभिन्न मतों का उल्लेख किया है जिसका सार यह है:—

आचार्यों का कहना है कि 'पुराने कवियों के द्वारा भली भाँति अभ्यस्त मार्ग में ऐसी वस्तु का प्राप्त करना ही कठिन है जिसका पहले स्पर्श न किया गया हो। अतः पुराने कवियों के द्वारा अभ्यस्त मार्ग का संस्कार करने की ही चेष्टा करनी चाहिये।' इस पर वाक्पतिराज का कहना है कि "ऐसा नहीं होता क्योंकि—

तारावती

'संसार की प्रगति पर्यन्त ( उसको मर्यादा मानकर ) उदार कवि प्रतिदिन उसका सार ग्रहण करते रहते हैं फिर भी वाणी के प्रवाह की मुहर आज तक नहीं टूटी ।'

अतः "दुर्लभ और अस्पृष्ट वस्तु के स्पष्ट करने के लिये दूसरों के प्रबन्ध पढ़ने चाहिये ।" कुछ लोगों का कहना है कि "दूसरों के प्रबन्धों के पढ़ने से यह बात मालूम पड़ जाती है कि जो एकरूप भाव विभिन्न काव्यों में आ गये हैं उनमें पार्थक्य कहाँ कहाँ पर क्या क्या है ?" दूसरे लोग कहते हैं कि 'विभिन्न काव्यों में पढ़े हुये अर्थों का नवीन छाया के द्वारा परिवर्तन कर लेना ही प्राचीन काव्यग्रन्थों के पढ़ने का फल है ।' कुछ लोग कहते हैं कि 'महात्माओं की बुद्धियाँ मेल खाने-वाली होती हैं और वे एक समान अर्थ को उपस्थित करती हैं, अतः अपने काव्यों में पुरानी बातें न आ जायँ इसके लिये पुराने काव्यों को पढ़ना चाहिये ।' इस पर यायावरीय राजशेखर का कहना है कि 'ऐसा नहीं होता । आचार्य इत्यादिकों ने जो कुछ कहा है वह सब ठीक नहीं है । कारण यह है कि कवियों के नेत्र सरस्वती के तत्त्व से ओतप्रोत होते हैं । उनको भी योगियों की समाधि का वरदान प्राप्त हुआ रहता है । उनकी भी समाधि लोकोत्तर होती है जहाँ न वाणी जा सकती है और न मन । कवियों के ऐसे विलक्षण नेत्र समस्त अर्थ तत्त्व को उनके सामने स्पष्ट कर देते हैं और उन्हें स्वयं वे सब तत्त्व दिखलाई पड़ जाते हैं जिनको पुराने कवि देख चुके होते हैं या नहीं देख चुके होते हैं । ( तुलसी ने अपनी काव्य रचना में इसी सारस्वत चक्षु का सहारा लिया था किन्तु दिव्य दर्शन का श्रेय गुरु की चरण-रज को दिया था :—

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिअ दृग दोष विभञ्जन ।
तिहिकरि विमल विवेक विलोचन । वरणौं रामचरित भव मोचन ॥
यथा सुअञ्जन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखहि शैल वन भूतलभूरि निधान ॥ )

राजशेखर का कहना है कि—'यदि महाकवि सो भी रहा हो तो भी सरस्वती उसके सामने शब्द और अर्थ को प्रकट कर देती है । दूसरे लोग यदि जाग भी रहे हों तो भी उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं । महाकवि औरों के देखे हुये अर्थ में जन्मना अन्धे होते हैं और दूसरों के द्वारा अदृष्ट अर्थ में उन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है । न तो त्रिनेत्र शंकर और न सहस्राक्ष इन्द्र उस वस्तु को देख पाते हैं जिसको चर्मचक्षुवाले कवि लोग देख लेते हैं । सारा विश्व कवियों के मतिदर्पण में प्रतिफलित हो जाता है । महात्मा कवियों के सामने शब्द और अर्थ 'मैं पहले जाऊँ

ध्वन्यालोकः

एवं तावत्ससंवादानां समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः। पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥१५॥

नहि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानि चिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि।

(अनु०) इस प्रकार संवाद से युक्त समुदायरूप वाक्यार्थों की सीमाएँ विभक्त हो गईं। (अब) पदार्थरूप दूसरी वस्तु के समान काव्यवस्तुओं को दोष नहीं है यह प्रतिपादित करनेके लिये कह रहे हैं—

'अक्षर इत्यादि की रचना के समान स्फुरित होनेवाली नूतन काव्यवस्तु में पुरानी वस्तुरचना संयुक्त की जाती है वह स्पष्टरूप में ही निस्सन्देह दूषित नहीं होती' ॥ १५ ॥

वाचस्पति के द्वारा भी कुछ अपूर्व अक्षर या पद सङ्घटित नहीं किये जा सकते। वे तो उसी रूप में उपनिबद्ध किये हुये नवीनता के विरुद्ध नहीं जाते। उसी प्रकार पदार्थरूप श्लेषादिमय अर्थतत्त्व भी ॥ १५ ॥

लोचन

ससंवादानामिति पाठः। संवादानामिति तु पाठे वाक्यार्थरूपाणां समुदायानां ये संवादाः तेषामितिवैय्यधिकरण्येन सङ्गतिः। वस्तुशब्देन एको वा द्वौ वा त्रयो वा चतुरादयो वा पदानामर्थाः। तानि त्विति। अक्षराणि च पदानि च। तान्येवेति। तेनैव

'ससंवादानाम्' यह पाठ है। 'संवादानाम्' इस पाठ में तो वाक्यार्थरूप समुदायों के जो संवाद उनका इस वैय्यधिकरण्य से सङ्गति होगी। वस्तु शब्द से एक अथवा दो अथवा तीन अथवा चार इत्यादि पदों के अर्थ लिये जाते हैं। 'वे तो' यह। अक्षर और पद। 'वे ही' यह। अर्थात् उसी रूप से युक्त तथा थोड़ी

तारावती

मैं पहले जाऊँ' इस होड़ के साथ आगे आगे दौड़ते चले आते हैं कि मैं कैसे देख लिया जाऊँ। सिद्ध प्रणिधानवाले योगी जिसको देखते हैं कवि उसमें वाणी के द्वारा विहार करते हैं। इस प्रकार कवियों की सूक्तियों का अन्त नहीं मिल सकता।'] ॥ १४ ॥

## लोचन

रूपेण युक्तानि मनागप्यन्यरूपतामनागतानीत्यर्थः। एवमक्षरादिरचनैवेति दृष्टान्तभागं व्याख्याय दार्ष्टान्तिकेयोजयति—तथैवेति । श्लेषादिमयानीति । श्लेषादिस्वभावानीत्यर्थः। सद्वृत्ततेजस्विगुणद्विजादयो हि शब्दाः पूर्वपूर्वैरपि कविसहस्रैः श्लेषच्छायापथा निबध्यन्ते, निबद्धाश्चन्द्रादयश्चोपमानत्वेन । तथैव पदार्थरूपाणीत्यत्र नापूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते इत्यादिविरुध्यन्तीत्येवमन्तं प्राक्तनं वाक्यमभिसन्धानीयम् ॥

भी अन्यरूपता को न प्राप्त हुये। इस प्रकार 'अक्षरादिरचना ही' इस दृष्टान्त भाग की व्याख्या करके दार्ष्टान्तिक मे जोड़ते हैं—'उसी प्रकार' यह । 'श्लेषादिमय' यह अर्थात् श्लेष आदि स्वभाववाले। सद्वृत्त, तेजस्वि, गुण, द्विज इत्यादि शब्द पुराने पुराने भी सहस्रों कवियों के द्वारा श्लेप की छाया से निबद्ध किये जाते है । और चन्द्र इत्यादि उपमानत्व के रूप मे निबद्ध किये गये हैं । 'उसी प्रकार पदार्थरूप' यहाँ पर 'अपूर्वरूप में घटित नहीं किये जा सकते' यहाँ से 'विरुद्ध होते हैं' यहाँ तक पहले के वाक्य का भी अभिसन्धान कर लेना चाहिए ॥ १५ ॥

## तारावती

ऊपर यह बतलाया गया है कि वाक्यार्थ जो कि शब्दार्थसमुदायरूप होते हैं यदि एक दूसरे से मेल खा रहे हों अर्थात् एक कवि का शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ दूसरे कवि के शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ से मेल खा रहा हो तो उसकी सीमायें क्या क्या होती हैं और कौन सा प्रकार उपादेय है तथा कौन सा प्रकार त्याज्य है । अब इस कारिका मे यह बतलाया जा रहा है कि यदि काव्यवस्तु पदार्थ की दिशा मे दूसरी वस्तु के समान हो तो उसके मेल खाने मे पौनरुक्त्य इत्यादि दोष तो होते ही नहीं । यहाँ पर वृत्तिग्रन्थ का दो प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—'ससंवादानाम्' और 'संवादानाम्' । यदि पहला पाठ माना जाय तो 'ससवादानाम्' शब्द 'वाक्यार्थानाम्' का विशेषण होगा और यदि दूसरा पाठ माना जाय तो 'समुदायरूपाणा वाक्यार्थानाम्' यह 'संवादानाम्' का सम्बन्धी होगा । ऐसी दशा मे इसका अन्वयार्थ इस प्रकार किया जायगा—'समुदायरूप वाक्यार्थों के जो संवाद उनका' । प्रथम पाठ में सामानाधिकण्य है और दूसरे में वैय्यधिकरण्य । आशय में कोई भेद नहीं। इस कारिका का भाव यह है कि—रचना करनेवाले स्वयं वाचस्पति ही क्यो न हों किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि वे पुराने अक्षर न लिखें यह हो ही नहीं सकता कि अक्षर भी नये कल्पित कर लिये जायँ और उन्हीं का प्रयोग किया जाय । अक्षर पुराने ही जोड़े जाते हैं । इसी प्रकार वाङ्मय मे जो शब्द निश्चित हैं उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाता है । यह भी सम्भव नहीं है कि प्रत्येक

## तारावती

व्यक्ति अपने नये शब्द बनाया करे और और उन्हीं का प्रयोग किया करे। आशय यह है कि पुराने ही अक्षरों का प्रयोग किया जाता है और पुराने ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु इस तथ्य के आधार पर यह कोई नहीं कहता कि कवि ने कोई नई बात नहीं कही है। पुराने अक्षरों और पदों का प्रयोग नवीनता का विरोधी नहीं होता। उसी प्रकार जब नवीन रूप में स्फुरित होनेवाली काव्य-वस्तु में पुरानी वस्तुरचना सयोजित की जाती है तब स्पष्ट ही उसमें पौनरुक्त्य का दोष नहीं होता। यहाँ पर 'वस्तुरचना' शब्द में वस्तु का आशय यह है कि बहुत से शब्दों के अर्थ एक होते हैं, बहुतों के दो, बहुतों के तीन, बहुतों के चार या इससे भी अधिक होते हैं। इस प्रकार के शब्दों के आधार पर जहाँ पुरानी वस्तुरचना संयुक्त की जाती है और उसका पर्यवसान नवीनता में होता है, वहाँ पर दोष नहीं होता। वे अक्षर और पद वे ही अर्थात् अपने ही रूप में निबद्ध किये जाते हैं और उनमें थोड़ी भी अन्यरूपता नहीं आती। यह है दृष्टान्त। इसका दार्ष्टान्तिक यह है कि उसी प्रकार शब्द पर आधृत कोई अर्थ-तत्त्व भी जब पुराना ही होता है और नया कवि उसे नई भङ्गिमा के साथ प्रस्तुत करता है तब उनमें भी पुरानापन नहीं रह जाता। श्लेषादिमय अर्थ तत्त्वों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सहस्रों कवि अनेक परम्पराप्राप्त श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं जैसे सद्वृत्त के अर्थ हैं सदाचारी, गुणवान्, वर्तुलाकार, सदाचार, सत्स्वभाव इत्यादि। इसी प्रकार तेजस्वी शब्द के अर्थ हैं—प्रकाशमान, शक्तिशाली, उदात्त, प्रसिद्ध, प्रदीप्त, अभिमानी इत्यादि। गुण शब्द भी अनेक रूपों में प्रयोग किया जाता है—सामान्य विशेषता, अच्छी विशेषता, उपयोग ( कः स्थानलाभे गुणः ? ), परिणाम, सूत्र, धनुर्ज्या इत्यादि। द्विज के अर्थ हैं पक्षी, दाँत, नक्षत्र इत्यादि। श्लेष के लिए कवि लोग प्रायः इन्हीं तथा इन जैसे दूसरे शब्दों का आश्रय लिया करते हैं जैसे शिलीमुख, हरि, कौशिक, विष, कमल इत्यादि। अनेकशः इन शब्दों का श्लेषमयी रचना के लिये प्रयोग होता है किन्तु इनमें पुरानापन नहीं आता। इसी प्रकार मुख के लिए चन्द्र और कमल; नेत्रों के लिये इन्दीवर, खञ्जन, हरिण; स्तनों के लिये कलश, पर्वत; केशों के लिये मयूरकलाप, भृङ्ग, तिमिर, सर्प इत्यादि की उपमायें अनादि काल से दी जाती रही हैं। किन्तु इनमें कभी पुरानापन नहीं आया। इस पुरानेपन न आने का कारण यही है कि पद्यों में पदार्थवस्तु के पुराने होते हुये भी उनकी अन्तरात्मा नई ही होती है। यहाँ पर वृत्तिग्रन्थ का अन्तिम वाक्य पिछले वाक्यों के सन्दर्भ में उनसे मिलाकर पढ़ा जाना चाहिए। इस प्रकार पूरा वाक्य यह हो

ध्वन्यालोकः

तस्मात्—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्-
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।
स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते ।
अनुगतमपि पूर्वच्छाययावस्तु तादृक् ।
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥

तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तुतादृक् तादृक्षं सुकविर्विवक्षितव्यङ्ग्यवाच्यार्थसमर्पणसमर्थशब्दरचनारूपया बन्धच्छाययोपनिबध्नन् निन्द्यतां नैव याति ॥ ६॥

(अनु०) उससे—

'जहाँ लोक की यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि यह कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे जो हो रमणीय होता है ।'

यह कोई स्फुरण है अतः सहृदयों में चमत्कार उत्पन्न होता है ।

'सुकवि उस प्रकार की वस्तु को पूर्वच्छाया के रूप मे भी उपनिबद्ध करते हुये निन्दता को प्राप्त नहीं होता' ॥ १६ ॥

तो पूर्व छाया से अनुगत भी उस प्रकार की वस्तु विवक्षित व्यङ्ग्य और वाच्य अर्थ के समर्पण में समर्थ शब्दरचनारूप बन्धच्छाया के द्वारा उपनिबद्ध करते हुये कवि निन्दता को प्राप्त नहीं होता ।

लोचन

लोकस्येति व्याचष्टे—सहृदयानामिति । चमत्कृतिरिति । आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यर्थः। अभ्युज्जिहति इति व्याचष्टे—उत्पद्यत इति । उदेतीत्यर्थः । बुद्धेरेवाकारं दर्शयति—स्फुरणेयं काचिदिति । 'यदपि तदपि रम्यं.....नोपयाति' इति कारिका खण्डीकृत्य पठिता ।

'लोक की' इसकी व्याख्या करते हैं—'सहृदयों का' यह । 'चमत्कृति' यह । अर्थात् आस्वादप्रधाना बुद्धि । 'अभ्युज्जिहीते' इसकी व्याख्या करते हैं—'उत्पन्न होती है' । अर्थात् उदय होती है । बुद्धि के ही आकार को दिखलाते हैं—'यह कोई सम्मुख है ।' 'यदपि तदपि रम्यं....नोपयाति' इस कारिका को खण्डित करके पढ़ा गया है ॥ १६ ॥

तारावती

जायेगा—'तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि नहि कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते । तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति' इस वाक्य का आशय यही है कि जिस प्रकार महान् से महान् कवि नये अक्षर नहीं

तारावती

लिख सकता या नये शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकता पुराने अक्षरों और पुराने शब्दों का ही प्रयोग किया करता है फिर भी नवीनता में न्यूनता नहीं आती उसी प्रकार कवि शब्दों के अर्थों और श्लेष इत्यादि के क्षेत्र में परम्परा का ही पालन करता रहता है और पुराने अर्थों को ही लिखता रहता है फिर भी उसकी नवीनता त्रुटित नहीं हो जाती। इस समस्त कारिका के लिखने का मन्तव्य यह बतलाना है कि पिछली कारिकाओं में समस्त वाक्यार्थ के अपहरण करने पर भी कवि किस प्रकार नवीन बना रह सकता है यह बतलाया गया है तथा इस कारिका में यह बतलाया गया है कि उसी प्रकार विशिष्ट पदों के अर्थों का अपहरण करके भी कवि नवीन बना रह सकता है॥ १५॥

सोलहवीं कारिका उपसंहारात्मक है। इस कारिका में पूर्वार्ध की दो पंक्तियाँ लिखी गई हैं। फिर 'स्फुरणेयं ···· उत्पद्यते' यह वृत्तिकार की पंक्ति है। इस उत्तरार्ध की शेष दो पंक्तियाँ बाद मे लिखी हुई हैं। इस कारिका का सारार्थ यह है—जिस कविता को पढ़कर सहृदयों की बुद्धि में यह आभासित होने लगे कि इस कविता मे कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे पुराना हो चाहे नया, रमणीय ही कहा जायगा। 'कुछ स्फुरित' होने का आशय यह है कि जिसको पढ़कर सहृदय लोग चमत्कृत हो जायँ अर्थात् सहृदयों की बुद्धि में आस्वाद उत्पन्न हो जाय। तात्पर्य यह है कि रमणीयता का एकमात्र आधार है सहृदयों को आस्वाद-मय चमत्कार की अनुभूति। यदि वह अनुभूति उत्पन्न हो जाती है तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि उस अनुभूति का साधन क्या है? क्या वह कोई नया अर्थ है या पुराना? इन प्रश्नों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अतएव यदि कवि ऐसी वस्तु का उपनिबन्धन करता है जो आस्वादमय चमत्कार को उत्पन्न करती है तो फिर वह चाहे पुरानी छाया से अनुगत ही क्यों न हो उस कवि की निन्दा नहीं होती। हाँ शर्त यह है कि उसकी अभिव्यक्ति शिथिल नहीं होनी चाहिए। कवि जिस व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करना चाहता है और उसके लिये जिस वाच्यार्थ का अभिधान करता है और उन दोनों व्यंग्य-वाच्य अर्थों के समर्पण करने में उसकी शब्दरचना समर्थ अवश्य होनी चाहिये और उसकी बन्धचारुता भी उतनी ही सशक्त होनी चाहिए॥ १६॥

१७ वीं कारिका मे कवियों को निश्शङ्क होकर रचना करने का उपदेश दिया गया है। इस कविता का सारार्थ यह है—कि कवि को निश्शङ्क होकर अपनी भारती का यथेष्ट विस्तार करना चाहिए। जो कुछ भी स्फुरित हो उसको निः-संकोच भाव से व्यक्त कर देना चाहिये। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि

ध्वन्यालोकः

तदित्थं स्थितम्—

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा।
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये॥

सन्ति नवाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धार्थविरचनेन कश्चित्कवेर्गुण इतिभावयित्वा।

परस्वादानेच्छा विरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती॥१७॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु। येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम्॥१७॥

(अनु०) वह इस प्रकार स्थित है—

'विविध अर्थों का अमृतरस मिला दिया गया है इस प्रकार की वाणियाँ कवियों द्वारा विस्तारित की जायँ। उन्हें अपने अनिन्दनीय विषय मे विषाद नहीं करना चाहिये।'

नये काव्यार्थ हैं; दूसरों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ की रचना में कवि का कोई गुण नहीं है यह समझकर।

'दूसरे के अर्थ का आदान करने की इच्छा से विरत कवि की वस्तु को यह भगवती सरस्वती ही यथेष्ट रूप में संघटित कर देती है।'

दूसरे के अर्थ का आदान करने की इच्छा से विरत मनवाले सुकवि की यह सरस्वती भगवती ही यथेष्ट वस्तु सङ्घटित कर देती है। जिन सुकवियों की प्रवृत्ति पुराने पुण्यों से और अभ्यास के परिपाक के कारण होती है दूसरों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ के ग्रहण करने में निस्पृह उन कवियों का अपना व्यापार कहीं उपयुक्त ही नहीं होता। वही भगवती सरस्वती स्वयं अभिमत अर्थ का आविर्भाव कर देती है। यही महाकवियो का महाकवित्व है। बस आनन्द मङ्गल हो॥ १७॥

लोचन

स्व विषय इति। स्वयं तात्कालिकत्वेनास्फुरित इत्यर्थः। परस्वादानेच्छेत्यादि द्वितीयं श्लोकार्धं पूर्वोपस्कारेण सह पठति—परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेरिति।

'स्वविषय' यह। अर्थात् स्वयं तात्कालिक रूप मे स्फुरित न हुये। 'परस्वादानेच्छा' इत्यादि द्वितीय श्लोकार्ध पूर्वोपस्कार के 'परस्वादानेच्छा विरतमनसो वस्तु सुकवेः' यह तृतीय पाद है। कहाँ से अपूर्वता लाएँ इस आशय से

## लोचन

तृतीयः पादः। कुतः खल्वपूर्वमानयामीत्याशयेन निरुद्योगः परोपनिबद्धवस्तूपजीवको वा स्यादित्याशङ्क्याह—सरस्वत्येवेति। कारिकायां सुकवेरिति जातावेकवचनमित्यभिप्रायेण व्याचष्टे—सुकवीनामिति। एतदेव स्पष्टयति—प्राक्तनेत्यादिना तेषामित्यन्तेन। आविर्भावयतीति नूतनमेव सृजतीत्यर्थः॥ १७॥

निरुद्योग या परोपनिबद्ध वस्तु का उपजीवक हो जाय यह शङ्का करके कहते हैं—'सरस्वती ही' यह। कारिका मे 'सुकवेः' यह जाति में एक वचन है इस अभिप्राय से कहते हैं—'सुकवियों का' यह। इसी को स्पष्ट करते हैं—'प्राक्तन' इत्यादि से लेकर 'न तेषाम्' इस तक। 'आविर्भूत कर देती है' अर्थात् नूतन ही रच देती है॥ १७॥

## तारावती

उसकी वाणी से जो वर्ण या शब्द निकलें वे अर्थगर्भित हों और प्रत्येक अर्थ अमृतोपम काव्यरस से ओतप्रोत हो। उसको यह समझ लेना चाहिये कि कविता का अनन्त क्षेत्र हो सकता है और कवि के असंख्य विषय हो सकते हैं। कोई भी विषय कवि की वाणी में आकर निन्दनीय नहीं रह जाता। अतः कवि को अपने मन में अवसाद नहीं आने देना चाहिये कि उसकी वाणी निम्न कोटि की है, अथवा उसकी वाणी में नवीनता नहीं है, या उसकी वाणी सहृदयसवेद्य नहीं है।) उसे यह समझकर भी मन मे अवसाद नहीं आने देना चाहिए कि 'नये काव्यार्थ विद्यमान हैं ही' पुराने अर्थों को लेकर कविता करने में कवि की क्या विशेषता? साथ ही जिन लोगों की यह दृढ़ धारणा बन गई है कि नवीन अर्थ के लिखने में ही कवि का गौरव होता है पुराना अर्थ लिखना उसके लिये व्यर्थ है उन्हें भी यह समझकर निराश नहीं होना चाहिये कि अब हम नया अर्थ कहाँ से ले आवें। क्योंकि यदि उनकी यह धारणा बन जावेगी तो या तो वे काव्यक्रिया से विरत हो जावेंगे या दूसरों के बनाये हुए काव्य को आश्रय लेकर उसी के आधीन कविता करने लगेंगे। ये दोनों स्थितियाँ श्रेयस्कर नहीं हैं। न तो उनका काव्यक्रिया को छोड़ बैठना ही वाञ्छनीय है और न सर्वथा परमुखापेक्षी हो जाना ही उचित है। (ऐसी दशा में या तो काव्यरचना होगी ही नहीं या यदि होगी भी तो प्रतिबिम्बकल्प अथवा आलेख्यप्रख्य होगी। यह बतलाया जा चुका है कि इस प्रकार की रचनायें साहित्यजगत् में वाञ्छनीय नहीं कही जा सकती।) तब प्रश्न यह है कि ऐसे लोगों को और चारा ही क्या है जिन्होंने दूसरों की रचनाओं से भावापहरणकर रचना न करने का व्रत ले लिया है? उनकी धारणा यह है कि कवियों की कविता भी उनका एक धन है।

ध्वन्यालोकः

इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो,
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमाभोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥

(अनु०) इस प्रकार अक्लिष्ट रस के आश्रय से उचित गुण और अलङ्कार की शोभा को धारण करनेवाले, जिससे समीहित समस्त वस्तु पुण्यात्माओं के द्वारा प्राप्त कर ली जाती है, समस्त सौख्य के धाम इस काव्य नामक देवोद्यान में ध्वनि प्रदर्शित की गई है। जिसकी महिमा कल्पवृक्ष की उपमावाली है वह यह भव्य आत्मावालों के उपभोग के योग्य बने।

तारावती

अतः उनके भाव को लेना दूसरों की सम्पत्ति की चोरी करना जैसा है। ('स्व' शब्द का अर्थ धन भी है और यहाँ पर उसका अर्थ काव्यार्थ भी है।) इसका उत्तर यह है कि उन्हें भी निराश होने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भगवती सरस्वती में अपूर्व शक्ति है। वे ऐसे लोगों के हृदय मे स्वयं ही उस समस्त नवीन अर्थ-समूह को सघटित कर देती है जो कि एक कवि के लिये वाञ्छनीय होता है। वे भगवती यह क्रिया किसी एक कवि पर ही नहीं करती अपितु कवियों की पूरी जाति पर उनकी यह अनुकम्पा होती है। जिन कवियों की काव्य मे प्रवृत्ति या तो पूर्वजन्म के सञ्चित पुण्यों के प्रभाव से होती है या अभ्यास का पूरा परिपाक कर लेने पर उन कवियों की प्रवृत्ति होती है तथा दूसरों के रचे हुये अर्थ का उपादान करना ही नहीं चाहते उनको यह आवश्यकता नहीं होती कि वे स्वयं अपने प्रयत्न से नवीन अर्थों की कल्पना करें। यह तो भगवती सरस्वती की उन-पर अनुकम्पा का ही प्रभाव है कि उन्हे नये-नये अर्थ एकदम दृष्टिगत हो जाते हैं। भगवती सरस्वती की इस प्रकार की कृपा प्राप्त कर लेना ही महाकवित्व का सबसे बड़ा लक्षण है। (ऐसे ही कवियों को राजशेखर ने सारस्वत कवि कहा है।) ॥१७॥

यहाँ पर वृत्तिग्रन्थ समाप्त होता है और इस समाप्ति की सूचना देने के लिये आनन्दवर्धन ने 'इत्योम्' शब्द का प्रयोग किया है। ओम् शब्द मङ्गलाचरण-परक है क्योंकि स्मृति मे कहा गया है कि अथ और ओम् शब्द पहले ब्रह्माजी के कण्ठ को भेदकर निकले थे अतः दोनों माङ्गलिक हैं। यहाँ पर 'ओम्' का प्रयोग आशीर्वादात्मक मङ्गल के लिये किया गया है। इसका आशय यह है कि बस, अब मैं वह सब कुछ कह चुका जो मुझे ध्वनि-कारिकाओं की व्याख्या मे कहना था। यदि कुछ शेष रह गया है तो बस यही कि पाठकों का—समस्त विश्व

## लोचन

इतीति। कारिकातद्वृत्तिनिरूपणप्रकारेणेत्यर्थः। अक्लिष्टा रसाश्रयेण उचिता ये गुणालङ्कारास्ततो या शोभा तां बिभर्ति काव्यम्। उद्यानमप्यक्लिष्टः कालोचितो यो रसः सेकादिकृतः तदाश्रयस्तत्कृतो यो गुणानां सौकुमार्यच्छायावत्त्वसौगन्ध्यप्रभृतीनामलङ्कारः पर्याप्ततात्कारणं तेन च या शोभा तां बिभर्ति। यस्मादिति। काव्याख्यादुद्यानात्। सर्वसमीहितमिति। व्युत्पत्तिकीर्तिप्रीतिलक्षणमित्यर्थः। एतच्च सर्वं पूर्वमेव वितत्योक्तमितिश्लोकार्थमात्रं व्याख्यातम्। सुकृतिभिरिति। ये कष्टोपदेशेनापि विना तथाविधफलभाजः तैरित्यर्थः। अखिलसौख्यधाम्नीति। अखिलदुःखलेशेनाप्यनुविद्धं यत्सौख्यं तस्य धाम्नि एकायतन इत्यर्थः। सर्वथा प्रियं सर्वथा हितं च दुर्लभं जगतीतिभावः। विबुधोद्यानं नन्दनम्। सुकृतीनां कृतज्योतिष्टोमादीनामेव समीहितासादननिमित्तम्। विबुधांश्च काव्यतत्त्वविदः। दर्शित इति। स्थित एव सन् प्रकाशितः। अप्रकाशितस्य हि कथं भोग्यत्वम्। कल्पतरुणा उपमानं यस्य तादृङ् महिमा यस्येति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः। सर्वसमीहितप्राप्तिर्हि काव्ये तदायत्ता। एतच्चोक्तं विस्तरतः।

'इस प्रकार' यह। अर्थात् कारिका और वृत्ति के निरूपण के प्रकार से। रस के आश्रय से उचित (और) क्लेशरहित जो गुण और अलङ्कार उनसे जो शोभा उसको (जो) धारण करता है (अर्थात्) काव्य। उद्यान भी अक्लिष्ट अर्थात् कालोचित जो सेक इत्यादि से उत्पन्न रस उसके आश्रयवाला अर्थात् उससे किया हुआ जो गुणों का, अर्थात् सौकुमार्य छायावत्त्व सौगन्ध्य इत्यादि का अलङ्कार अर्थात् पर्याप्त कर देना उससे जो शोभा उसको धारण करता है। 'जिससे' यह। अर्थात् काव्य नामक उद्यान से। 'सभी' समीहित यह। अर्थात् व्युत्पत्ति कीर्ति और प्रीतिलक्षणवाला। यह सब पहले ही विस्तारपूर्वक बतला दिया गया है इसलिये श्लोक के अर्थमात्र की व्याख्या की गई है। 'सुकृतियों के द्वारा' यह। अर्थात् जो कष्टोपदेश के बिना भी उस प्रकार का फल प्राप्त करनेवाले हैं उनके द्वारा। 'समस्त सुख के धाम' यह अखिल अर्थात् दुःखलेश से भी अननुविद्ध जो सौख्य उसके धाम अर्थात् एक मात्र आयतन। भाव यह है कि सर्वथा प्रिय और सर्वथा हित लोक में दुर्लभ है। विबुधोद्यान अर्थात् नन्दन सुकृतियों का अर्थात् किया है ज्योतिष्टोम इत्यादि जिन्होंने उनकी समीहित प्राप्ति के निमित्त। विबुध काव्यतत्त्ववेत्ता भी (कहलाते हैं)। 'दिखलाया है' यह। स्थित होता हुआ ही प्रकाशित किया गया है; अप्रकाशित का भोग्यत्व कैसा? 'कल्पतरूपमानमहिमा' में बहुव्रीहिगर्भित बहुव्रीहि है—कल्पतरु से उपमान है जिसका उस प्रकार की महिमा है जिसकी। काव्य मे निस्सन्देह समीहित प्राप्ति एकमात्र उसी के अधीन है। और यह विस्तारपूर्वक बतला दिया गया है।

का कल्याण हो। यहाँ यह समझना ठीक नहीं है कि 'इत्योम्' यह शब्द वृत्ति-भाग की समाप्ति का सूचक है; अतः बाद के दोनों पद्य कारिका-भाग समझे जाने चाहिए। यहाँ पर 'इत्योम्' शब्द केवल इस बात का सूचक है कि वृत्तिकार को कारिकाओं की व्याख्या में जो कुछ कहना था वह उसने कह दिया। अब अगले दोनों पद्य उसके अपने निवेदन हैं जो कि उसने उपसंहार के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत किये हैं।

अब उपसंहार के रूप में लिखे गये दोनो पद्यों में ग्रन्थकार (वृत्तिकार) ग्रन्थ के विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन इत्यादि का निरूपण कर रहे हैं। यहाँ पर पहले पद्य में काव्य पर नन्दनवन का आरोप किया गया है और ध्वनि को कल्पवृक्ष की उपमा दी गई है। यहाँ पर कई शब्द द्व्यर्थक हैं—(१) रस—काव्य रस तथा जल, (२) गुण—माधुर्यादि तथा सौकुमार्य इत्यादि, (३) अलङ्कार—उपमा इत्यादि तथा सीमा तक पहुँचा देना, (अलम् अर्थात् समाप्ति और कार अर्थात् करना), (४) समीहित वस्तु—व्युत्पत्ति कीर्ति प्रीति इत्यादि तथा मनचाही वस्तु, (५) सुकृति—काव्यतत्त्ववेत्ता सहृदय तथा समीहित की प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञ करनेवाले, (६) विबुध—विद्वान् तथा देवता। यहाँ पर देवोद्यान नन्दन अप्रस्तुत है और काव्य प्रस्तुत है। यहाँ पर उपमानोपमेय भाव के अनुसार इस पद्य का यह अर्थ होगा—जिस प्रकार अक्लिष्ट अर्थात् समयानुसार विना कष्ट के प्राप्त रस अर्थात् जल से सींचने इत्यादि के आश्रय से देवोद्यान नन्दन उद्यान के सभी वाञ्छनीय गुणों की चरम सीमा प्राप्त कर लेता है—वे गुण हो सकते हैं सौकुमार्य, कोमल छायावत्त्व, सौगन्ध्य इत्यादि। तथा जिन लोगों ने समीहित की प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञ किये हैं और पुण्यों के प्रभाव से वे नन्दनवन में विहार करने के अधिकारी बन गये हैं वे लोग उस नन्दनवन से अपनी मनचाही सभी वस्तु प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार का यह काव्यजगत् नन्दनोद्यान की उपमावाला है। इसमें भी गुणों और अलङ्कारों की संयोजना इस रूप मे की जाती है कि उनके संयोजन मे यह प्रतीत नहीं होता कि बलात् उनको काव्य में समाविष्ट किया गया है और उन (गुणों और अलङ्कारों) का प्रयोग रस निष्पत्ति के अनुकूल भी होता है। काव्य में इस प्रकार के गुणों और अलङ्कारों का सौन्दर्य विद्यमान रहता है। जिस प्रकार नन्दनवन से पुण्यात्माओं को सब कुछ मिल जाता है उसी प्रकार जिन लोगों को अपने प्राक्तन पुण्यों के प्रभाव से सहृदयता प्राप्त हो गई है वे काव्य से व्युत्पत्ति कीर्ति प्रीति इत्यादि सभी कुछ प्राप्त कर लेते हैं। काव्यप्रयोजनों के प्रसङ्ग मे

ध्वन्यालोकः

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्य विरचिते ध्वन्यालोके चतुर्थ उद्योतः।
समाप्तोऽयं ग्रन्थः॥

(अनु०) सत्काव्यतत्त्व की नीति का मार्ग जो परिपक्व बुद्धिवालों के मनों में बहुत समयसे सोया हुआ जैसा था उसकी सहृदयों के उदयलाभ के लिये आनन्दवर्धन इस प्रसिद्ध नामवाले ( आचार्य ) ने व्याख्या की।

यह है श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्य कृत ध्वन्यालोक का चौथा उद्योत।

यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

## तारावती

इन तत्त्वों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है वहीं देखना चाहिए। यह काव्यरूपी विबुधोद्यान सममत सुखों का धाम है। क्योंकि सुख दो प्रकार का होता है – एक तो लौकिक सुख और दूसरा अलौकिक सुख। लौकिक सुख में दुःख का अंश अवश्य विद्यमान रहता है। इसके प्रतिकूल अलौकिक सुख वही होता है जो दुःख से सर्वथा विनिर्मुक्त हो। स्वर्ग में नन्दनवन-विहार और काव्यास्वाद दोनों ही दुःख से संभिन्न नहीं होते। इनमें केवल सुख ही सुख होता है। ( काव्यप्रकाशकार ने काव्य-सृष्टि को ह्लादैकमयी बतलाया है। इसमें दुःखाश्रुओं में भी केवल आह्लाद ही होता है। ) आशय यह है कि जगत् में सर्वथा प्रिय और सर्वथा हित दुर्लभ ही होता है। किन्तु काव्य तथा नन्दनोद्यान में सभी कुछ आनन्दमय ही होता है। इस काव्यरूपी नन्दनोद्यान में ध्वनि की महिमा कल्पवृक्ष की उपमावाली है। 'कल्पतरूपमानमहिमा' में दो बहुव्रीहि हैं। एक है 'कल्पतरूपमान' में 'कल्पतरु है उपमान जिसका' और दूसरा है 'कल्पतरूपमान-महिमा' में अर्थात् कल्पतरु की उपमावाली है महिमा जिसकी। काव्यरूपी नन्दनोद्यान में ध्वनिरूपी कल्पवृक्ष पहले से ही विद्यमान था किन्तु इस नन्दनोद्यान मे विचरण करनेवाले लोग इसे जानते नहीं थे। अब इस ध्वन्यालोक की रचना से लोग जान गये हैं कि इस उद्यान में यह कल्पवृक्ष है। कल्पवृक्ष नन्दनोद्यान मे अपनी सत्ता-मात्र से ही उपभोग का साधन नहीं बन सकता। इसके लिए आवश्यकता होती है कोई आकर उस कल्पवृक्ष के दर्शन करा दे। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक लिखकर उसी कल्पवृक्ष के दर्शन करा दिये हैं। अब आनन्दवर्द्धन की कामना यह है कि यह कल्पवृक्ष उन लोगों के उपभोग का साधन बने जिनकी आत्माएँ

## लोचन

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोः—

इति संबन्धाभिधेयप्रयोजनोपसंहारः। इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या सम्भावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते। स च सम्भावनाप्रत्ययो नाम श्रवणवशात्प्रसिद्धान्यतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुसरणेन भवति। तथाहि भर्तृहरिणेदं कृतं-यस्यायमौदार्यमहिमा यस्यास्मिञ्छास्त्रे एवंविधस्सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदितिलोकः प्रवर्तमानो दृश्यते। लोकश्चावश्यं प्रवर्तनीयः तच्छास्त्रोदितप्रयोजनसम्पत्तये। तदनुग्राह्यश्रोतृजनप्रवर्तनाङ्गत्वाद्ग्रन्थकाराः स्वनामनिबन्धनं कुर्वन्ति, तदभिप्रायेणाह—आनन्दवर्धन इति। प्रथितशब्देनैतदेव प्रथितं यत्तु तदेव नामश्रवणं केषाञ्चिन्निवृत्तिं करोति, तन्मात्सर्यविजृम्भितं नात्र गणनीयम्, निश्रेयसप्रयोजनादेव हि श्रुतात्कोऽपि रागान्धो यदि निवर्तते किमेतावता प्रयोजनमप्रयोजनमवश्यं वक्तव्यमेव स्यात्। तस्मादर्थिनां प्रवृत्यङ्गं नाम प्रसिद्धम्।

'सत्काव्य'....'लाभ हेतोः' यह सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन का उपसंहार है। यहाँ अधिकता से लोक लोक प्रसिद्धि से सम्भावना के विश्वास नाम श्रवण से प्रसिद्ध अन्य उसके समाचार कवित्व विद्वत्ता इत्यादि के भलीभाँति अनुसरण के द्वारा प्रवृत्त होता है। वह इस प्रकार—भर्तृहरि के द्वारा यह किया गया है जिसकी यह औदार्य महिमा है जिसका इस शास्त्र में इस प्रकार का सार दिखलाई देता है, उसका यह श्लोक प्रबन्ध है, उससे यह आदरणीय है इस बात को लेकर लोक प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है। उस शास्त्र में कहे हुए प्रयोजन की पूर्ति के लिये लोक को अवश्य प्रवृत्त किया जाना चाहिए। इसलिये अनुग्राह्य श्रोताजनों के प्रवर्तन का अङ्ग होने के कारण ग्रन्थकार अपने नाम का निबन्धन करते हैं। उस अभिप्राय से कहते हैं—'आनन्दवर्धन' यह। प्रथित शब्द से जो यह प्रकाशित किया गया है वही नाम श्रवण किसी की निवृत्ति कर देता है; इसलिये मात्सर्य के विजृम्भण को यहाँ पर नहीं गिना जाना चाहिए। निश्रेयस प्रयोजनवाले ही शास्त्र से यदि कोई रागान्ध निवृत्त हो जाय तो क्या इतने से ही प्रयोजन को अप्रयोजन कहना आवश्यक हो जायेगा। इसलिये प्रसिद्ध नाम अर्थियों की प्रवृत्ति का अङ्ग होता है।

## तारावती

सच्ची तथा होनहार हैं। (कल्पवृक्ष सभी इच्छाओं को पूरा कर देता है और यह ध्वनि सिद्धान्त भी काव्य के सभी तत्त्वों को आत्मसात् करा देता है।)

## तारावती

दूसरे पद्य में संबन्ध, विषय, प्रयोजन, ( और अधिकारी ) इन अनुबन्धों का उपसंहार किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी इन पर प्रकाश डाला गया था और अब यहाँ पर उपसंहार में भी इनका उल्लेख किया जा रहा है। यह ध्वनि-सिद्धान्त सत्काव्य का एक उचित तथा न्याय्य मार्ग है। यह सहृदयों के अन्तःकरण की अवचेतन अवस्था में सोया हुआ सा पड़ा था। जिन लोगों की प्रज्ञा परिपाक को प्राप्त हो चुकी है उनको इस ध्वनिमार्ग का आभास अवश्य प्राप्त हो रहा था किन्तु यह तत्त्व उनके सामने सर्वथा प्रकट रूप में विद्यमान नहीं था। आनन्द-वर्धन इस प्रसिद्ध नामवाले आचार्य ने सहृदयों के उदयलाभ के लिए उस तत्त्व की व्याख्या कर दी है। यह नहीं समझा जाना चाहिए कि आनन्दवर्धन ने किसी नये काव्यतत्त्व का प्रवर्तन किया है। यहाँ पर निगूढध्वनि तत्त्व ग्रन्थ का विषय है, काव्यसम्बन्धी इतर तत्त्व विषय से सबद्ध है। सहृदयों को उदय प्रदान करना ग्रन्थ का प्रयोजन है और सहृदय उसके अधिकारी हैं। प्रारम्भ में "सहृदयमनःप्रीति" प्रयोजन माना गया था यहाँ पर सहृदयों का उदय प्रयोजन माना गया है।

अभिनवगुप्त ने यहाँ पर 'आनन्दवर्धन' इस नामग्रहण पर विशेष प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि यह लोक की एक सामान्य प्रवृत्ति होती है कि लोग किसी काम में तभी प्रवृत्त होते हैं जब उन्हें लोकप्रसिद्धि के आधार पर किसी से विशेष सम्भावना हो जाती है और उसका उन्हें विश्वास हो जाता है। कहने का आशय यह है कि हमें किसी नई बात का अतिशीघ्र प्रायः विश्वास ही नहीं होता। किन्तु जब कोई लेखक लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है और लोक उससे सम्भावना करने लगता है कि जो कुछ कहेगा वह सब अनुभूत तथा सत्य होगा तब लोग उसकी कही बात को प्रमाणरूप में मानने लगते हैं और उसके अनुसार अपना आचरण बनाने की चेष्टा करते हैं। जब उस प्रामाणिक महापुरुष का नाम लिया जाता है तब उसके दूसरे प्रसिद्ध कार्योंपर एक दम ध्यान चला जाता है और उसकी विद्वत्ता तथा कवित्वशक्ति एकदम नेत्रों के सामने नाचने लगती है। तब उसपर विश्वास जम जाता है और उससे एक प्रकार की सच्ची बात की सम्भावना की जाने लगती है। जैसे यह प्रायः देखा जाता है कि लोग कहते हैं कि यह पद्य भर्तृहरि का बनाया हुआ है, उनकी उदारता की ऐसी महिमा है और उनका इस शास्त्र में इतना अधिक प्रवेश है। इस प्रकार भर्तृहरि के नाम आजाने से उनके औदार्य महिमा तथा शास्त्र में उनकी गति एकदम सामने आ जाती है तथा लोग कहने लगते हैं कि अमुक पद्य उन्हीं भर्तृहरि का बनाया हुआ

है अतः इसका आदर करना चाहिए और इसी आधार पर लोग उस कार्य मे प्रवृत्त होते हुए दिखलाई देते हैं। शास्त्र का मुख्य प्रयोजन यही होता है कि शास्त्र में जो कुछ कहा गया हो उसमें लोक की प्रवृत्ति हो जानी चाहिए। क्योंकि लोक को प्रेरणा ही न मिले और लोक उस शास्त्र का आदर ही न करे तो शास्त्र-रचना में जो भी उद्योग किया गया होता है वह व्यर्थ ही हो जाता है। इसीलिये ग्रन्थकार अपना नाम ग्रन्थ के साथ जोड़ देते हैं जिससे उनका शास्त्र ऐसे श्रोताओं की प्रवृत्ति का अङ्ग बन जाय जिनपर शास्त्रकार अनुग्रह करना चाहता है। आनन्दवर्धन भी लोक में प्रमाणिकता के पदपर प्रतिष्ठित हो चुके हैं, अतः उनकी कही हुई बात को लोग नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेगे इसी मन्तव्य से यहाँ पर उन्होंने अपना नाम लिखा है। यहाँ पर 'प्रथित' शब्द का प्रयोग इसी मन्तव्य से किया गया है। इस शब्द का आशय यह है कि जिन आनन्दवर्धन का नाम लोक मे प्रसिद्ध हो चुका है उनका लिखा हुआ यह शास्त्र है। यहाँ पर एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि जिस प्रकार किसी का नामोल्लेख दूसरों के अन्दर श्रद्धा पैदा करता है उन्हें उस शास्त्र की ओर झुका देता है उसी प्रकार किसी का नाम सुनकर कुछ लोग उस ओर से उदासीन भी हो जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की वैराग्यभावना तभी जागृत हो जाती है जब दूसरे लोगों मे द्वेष की भावना उद्दीप्त हो रही हो। अतः इस प्रकार की द्वेष बुद्धि से जो बात प्रकट होती है उस पर तो ध्यान देना ही नहीं चाहिये। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति राग से अन्धा हो रहा है और वासनाएँ उसके अन्तःकरण मे भरी हुई हैं तो जब उसके सामने कहा जावेगा कि श्रुति का प्रयोग है पारलौकिक कल्याण प्रदान करना तब वह उससे विरक्त ही हो जावेगा। तो उसके विरक्त हो जाने से क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्रुति का प्रयोजन तो विपरीत फल देता है? ऐसा तो शायद कोई विचार भी न करेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी महान् लेखक का नामग्रहण केवल उन्हीं को प्रवृत्त कर सकता है जो उस शास्त्र को जानने के लिये प्रार्थी होते हैं। ऐसे ही लोगों को ध्वनिसिद्धान्त में प्रवृत्त करने के लिये और उनमे श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए आनन्दवर्धन ने अपना नाम लिखा है।

अन्त मे लोचनकार ने ५ पद्य उपसंहार के रूप में लिखे हैं। प्रथम पद्य मे ग्रन्थान्त का मङ्गलाचरण है, द्वितीय में लोचन का परिचय दिया गया है, तृतीय में अभिनव गुप्त ने अपने और अपने गुरु के विषय मे कुछ कहा है, चौथे में सज्जन और दुर्जन का विभाजन किया गया है और पाँचवें मे हृदय के शिवमय होने पर सभी विश्व का शिवमय होना बतलाया गया है और पाठकों की मङ्गलाशंसा की गई है।

## लोचन

स्फुटीकृतार्थवैचित्र्यबहिःप्रसरदायिनीम् ।
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिदर्शिनीम् ॥ १ ॥

आनन्दवर्धनविवेकविकासिकाव्यालोकार्थतत्त्वघटनादनुभेदसारम् ।
यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशि व्यापार्यतामिनवगुप्तविलोचनं तत् ॥ २ ॥

श्रीसिद्धिचेलचरणाब्जपरागपूतभट्टेन्दुराजमतिसंस्कृतबुद्धिलेशः ।
वाक्यप्रमाणपदवेदिगुरुः प्रबन्धसेवारसो व्यरचयद्ध्वनिवस्तु वृत्तिम् ॥ ३ ॥

मन में स्पष्ट किये हुये अर्थ वैचित्र्य को बाहर प्रसार देनेवाली प्रत्यक्षार्थ को दिखलानेवाली चौथी शक्ति की हम वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

आनन्दवर्धन के विवेक से प्रकाशमान काव्यालोक के अर्थतत्त्व को संयोजित करने से जिसके सारपूर्ण होने का अनुमान लगाया जा सकता है, जो सब प्रकार के भलीभाँति प्रकट होनेवाले विषयों को प्रकाशित करनेवाला है इस प्रकार के अभिनवगुप्त के नवीन और गुप्त विलोचन को क्रियाशील बनाया गया है ॥ २ ॥

श्री सिद्धिचेल के चरणकमलों की पराग से पवित्र हुये भट्टेन्दुराज की बुद्धि से जिनकी बुद्धि का अंश संस्कृत हुआ है; जो मीमांसा, न्याय और व्याकरण जाननेवालों के गुरु हैं और जिनको प्रबन्धरचना के सेवन में आनन्द आता है ( इस प्रकार के अभिनवगुप्त ने ) ध्वनि नामक वस्तु के विवरण की रचना की ॥ ३ ॥

## तारावती

प्रथम पद्य मङ्गलाचरणपरक है । इसमें क्रमप्राप्त वैखरी वाणी की वन्दना की गई है । यह बतलाया जा चुका है कि वाणी ४ प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी । प्रथम तीन उद्योतों मे क्रमशः परा, पश्यन्ती और मध्यमा की वन्दना की गई है और इस उद्योत के अन्त में चौथी अर्थात् वैखरी वाणी की वन्दना है । वैखरी वाणी की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें शब्द स्थान और प्रयत्न के बल पर मुख से बाहर निकल कर दूसरों के श्रुतिगोचर हो जाते हैं । प्रथम तीन वाणियों को लोग सुन नहीं पाते, अतः कहने का काम चौथी वाणी से ही लिया जाता है । ( गुहात्रीणि निहितानेङ्गयन्ति तुर्यां वाचं मनुष्या वदन्ति । ) परा वाणी में सभी अर्थ एकरूप रहते हैं, उनमें वैचित्र्य नहीं होता, सर्वप्रथम मन में अर्थवैचित्र्य स्फुट होता है; उसको बाह्य जगत् में प्रसार देनेवाली वैखरी वाणी ही होती है जिसके प्रभाव से लोग समझ सकते है कि अमुक व्यक्ति के मन में अमुक बात है । वैखरी ही अर्थ का प्रत्यक्ष निदर्शन करती है । इसीलिये अभिनवगुप्त ने यहाँ इस वैखरी वाणी की वन्दना की है और उसे शक्ति का एक रूप बतलाया है ।

## लोचन

सज्जनान् कविरसौ न याचते ह्लादनाय शशभृत्किमर्थितः ।
नैव निन्दति खलान् मुहुर्मुहुः धिक्कृतोऽपि नहि शीतलोऽनलः ॥ ४ ॥
वस्तुतश्शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतश्शिवमयं विराजते ।
नाशिवं क्वचन कस्यचिद्वचः तेन वश्शिवमयी दशा भवेत् ॥ ५ ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचिते काव्यालोकलोचने चतुर्थ उद्योतः ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

वह कवि सज्जनों से प्रार्थना नहीं करता । क्या आह्लाद देने के लिए चन्द्र से प्रार्थना की गई है ? दुष्टों की निन्दा भी नहीं करता । वार-वार धिक्कार करने पर भी अग्नि शीतल नहीं होती ॥ ४ ॥

वस्तुतः शिवमय हृदय होने पर स्फुट रूप में सभी शिवमय ही शोभित होता है; कहीं किसी के वचन अशिव नहीं होते। इससे आप लोगों की दशा शिवमय हो जाय।

यह है महामाहेश्वर अभिनवगुप्तविरचित काव्यालोकलोचन में चतुर्थ उद्योत ।
और यह ग्रन्थ समाप्त हो गया ॥

## तारावती

दूसरे पद्य में लोचन की विशेषता बतलाई गई है । अभिनवगुप्त ने अपने प्रसिद्ध लोचन को ध्वन्यालोक समझने के पुनीत कार्य में प्रवृत्त किया है । यह लोचन अपने कर्ता के नाम के अनुसार अभिनव भी है और गुप्त भी, क्योंकि दूसरे लोग अभी तक इसे समझ नहीं सके हैं । इस लोचन में सार भरा हुआ है जिसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि आनन्दवर्धन जैसे परमनिष्णात आचार्य के विवेक से जिस काव्यालोक का विकास हुआ था उसके अर्थ को पूर्णरूप से इसमें संघटित करा दिया गया है और सहृदयों में काव्य के जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय प्रकृष्ट रूप में प्रकाशित होते हैं उन सबको यह प्रकाशित करनेवाला है ॥२॥

तीसरे पद्य में बतलाया गया है कि अभिनव गुप्त ने भट्टेन्दुराज से शिक्षा पाई थी । भट्टेन्दुराज के गुरु थे श्रीसिद्धिचेल । यहाँ पर लिखा गया है कि अभिनवगुप्त की बुद्धि के एक अंश का भट्टेन्दुराज ने संस्कार किया था। इसका आशय यह है कि अभिनवगुप्त ने कई आचार्यों से शिक्षा पाई थी । विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन की इनकी अभिरुचि इतनी अधिक बढ़ी चढ़ी थी कि ये काश्मीर के तथा बाहर के अनेक अधिकारी विद्वानों के पास शिक्षा प्राप्त करने गये थे । इनके कतिपय आचार्यों के नाम ये हैं—श्रीनरसिंहगुप्त—इनके पिता जो चुखुलक नाम से प्रसिद्ध थे इनके व्याकरण गुरु थे । श्रीशम्भुनाथ कौलमत के गुरु, भूतिराज वेदान्त के गुरु,

तारावती

त्रिकदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन और शैव सम्प्रदाय के गुरु थे श्री सोमानन्द, श्री उत्पलपादाचार्य और लक्ष्मण गुप्तनाथ, ध्वनि सिद्धान्त के गुरु भट्टेन्दुराज इत्यादि अनेक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों से इन्हों ने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। यहाँ इन्हों ने अपने को वाक्यानुशासन अर्थात् मीमांसा दर्शन, प्रमाणानुशासन अर्थात् न्याय दर्शन और पदानुशासन अर्थात् व्याकरण शास्त्र का गुरु बतलाया है। साथ ही इन्हों ने इसमें अपने को विभिन्न रचनाओं में रस लेनेवाला कहा है। (इनके विशेष परिचय के लिये देखें भूमिका का संबद्ध भाग।) ॥ ३ ॥

कवियों तथा लेखकों की सामान्य परम्परा है कि वे अपने ग्रन्थों में सज्जनों की प्रशंसा और दुष्टों की निन्दा किया करते हैं तथा सज्जनों से अपने ग्रन्थ पढ़ने की अभ्यर्थना करते हे और दुष्टों की निन्दा कर उनकी आलोचना की ओर ध्यान न देने का उपदेश देते हैं। (तुलसी ने ऐसा ही किया है।) किन्तु अभिनवगुप्त ऐसा नहीं करना चाहते क्योंकि सज्जनों और दुर्जनो का जन्मजात दृढ़ स्वभाव होता है, कहने सुनने से उसमे अन्तर नहीं आ सकता। चन्द्र स्वतः आह्लाद देता है और सज्जन स्वभाव से ही बिना प्रार्थना किये ही अपने आचरण से आनन्दित किया करते हैं। इसके प्रतिकूल दुष्ट लोगों को कितना ही धिक्कृत किया जाय वे अपने दुष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ते। क्या निन्दा के भय से अग्नि भी कभी शीतल हुआ है या हो सकता है? यहाँ 'वह कवि' का अर्थ यह है कि जिसका परिचय तीसरे पद्य मे दिया गया है ॥ ४ ॥

सज्जनों और दुर्जनों के व्यवहार पर विचार करने की आवश्यकता ही क्या? कवि को तो अपने भक्ति भाव पर विश्वास है। कवि महाशैव है और उसका हृदय शिवमय है। अतः उसके लिये तो सारा विश्व ही शिवमय है क्योंकि हृदय की झलक सभी पदार्थों पर पड़ती है और अपना हृदय जैसा होता है सारा विश्व वैसा ही मालूम पड़ने लगता है। जिसके हृदय मे भगवान् शिव सदा विराजमान रहते हैं उसकी कहीं भी कोई भी वाणी अशिव हो ही नहीं सकती। अतः कवि की कामना यही है कि उसकी शिवमयी वाणी का पाठकों पर ऐसा प्रभाव पड़े कि सभी पाठकों की दशा भी शिवमय हो जाय ॥ ५ ॥

महामाहेश्व तथा ग्रन्थ की "तारावती" नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या भी समाप्त हुई अभिनवगुप्त के द्वारा रचा गया यह काव्यालोकलोचन का चौथा उद्योत समाप्त हुआ और साथ ही यह ग्रन्थ भी समाप्त हो गया।

——:o:——

# कारिकार्धभागानामुदाहरणानां लोचनोद्धृत-कारिकादिखण्डानाञ्च वर्णानुक्रमणी

## अ


अकाण्ड एव विच्छित्तिः ( का० ) ८७२
अक्षरादिरचनेव योज्यते ( का० ) १४००
अण्णन्तवच्चवाल अह्ला ( वृ० ) ८४५
अतहट्ठि वितहसण्ठिए ( वृ० ) १३२३
अतिक्रान्त सुखाः काला ( वृ० ) ८३८
अतोऽनिर्ज्ञातहेतुत्वात् ( लो० ) १०२३
अतो ह्यन्यतमेनापि ( का० ) १३१०
अनध्यवसितावगाहनम् ( वृ० ) १२०५
अनवरतनयनजलनिपतन ( वृ० ) ७२४
अनाख्येयांशभासित्वं ( वृ० ) १३०३
अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वत् ( वृ० ) ६९३
अनुगतमपि पूर्वच्छायया ( का० ) १४०३
अनुरागवती सन्ध्या ( वृ० ) ११२९
अनुस्वानोपमात्मापि ( का० ) ८२१
अनेनानन्त्यमायाति ( का० ) १३०७
अनौचित्यादृते नान्यत् ( वृ० ) ७८०
अनौचित्यादृते नान्यत् ( लो० ) ७३९
अन्वीयते वस्तुगतिः ( का० ) १३८८
अपारे काव्यसंसारे ( वृ० ) १२२९
अमी ये दृश्यन्ते ( वृ० ) १२०९
अमुं कनकवर्णाभं ( लो० ) ( महाभा० शा० १५३–१४ ) ८२८
अयं मन्दद्युतिर्भास्वान् ( लो० ) ( भामह ३–३४ ) ११५२
अयं स रसनोत्कर्षी ( वृ० ) ( महाभा० स्त्रीप० २४–१९ ) ९२०
अयं राआ उदयणोत्ति ( लो० ) ( वासव० ) ८११
अयमेकपदे तया वियोगः ( वृ० ) ( विक्रमो० ४–३ ) ८४७
अर्थान्तरगतिः काक्वा ( का० ) ११७१

अलङ्कृतीनां शक्तावपि ( का० ) ७७३
अलंस्थित्वाग्मशानेऽस्मिन् ( लो० ) ( महाभा० शा० १५२–११ ) ८२७
अल्पं निर्मितमाकाशं ( लो० ) ११४१
अवधानातिशयवान् ( का० ) ९८१
अवसररोइंचित्र ( वृ० ) ८४२
अवस्थादिविभिन्नाना ( का० ) १३८८
अवस्थादेशकालादि ( का० ) १३६८
अविरोधी विरोधी वा ( का० ) ९३५
अविवक्षितवाच्यस्य ( लो० ) ६५७,१०१७
अव्युत्पत्तिकृतोदोषः ( वृ० ) ७३८
अशक्नुवद्भिः व्याकर्तुं ( का० ) १२९१
असमासा समासेन ( का० ) ७१७
अस्फुट स्फुरितं काव्यं ( का० ) १२९१
अहिणअ पओअरसिएसु ( वृ० ) १२८७
अहो बतानि स्पृहणीयवीर्यः ( वृ० ) ८५३

## आ

आगर्भादाविमर्शाद्वा ( लो० ) ९२९
आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे ( का० ) ( ना० शा० ) १३९७
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः ( लो० ) ( महा० भा० शा० १५२–१३ ) ८२८
आनन्त्यमेव वाच्यस्य ( का० ) १३६८
आनन्दवर्धनप्रत्येक ( लो० ) १४०४
आप्तवादाविसंवाद ( लो० ) ( श्लो० वा० १–१–७ ) १११५
आम असय्योओरम् ( वृ० ) ११७६
आलेख्याकारवत्तुल्य ( का० ) १३९०
आलोकार्थी यथादीपं ( लो० ) ८८१
आश्चर्यवदभिख्यानं ( लो० ) ८०९
आसूत्रितानां भेदानां ( लो० ) १३०५

## इ

इतिवृत्तवशायातां ( का० ) ७७२
इतिवृत्तं हि नाट्यस्य ( लो० ) ९९४
इत्थं यन्त्रणया ( लो० ) ८१८

इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणाः ( वृ० ) १४०७
इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तः ( वृ० ) ९९७
इत्युक्तलक्षणो यः ( का० ) १२६१
इन्दीवरद्युति यदा ( लो० ) ( भट्टेन्दुराजस्य ) ८६५
इष्टस्यार्थस्य रचना ( लो० ) ८०६

उ

उत्कम्पिनी भय ( वृ० ) ( ता० व० ) ७०५
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट ( का० ) ७७२
उद्दीपनप्रशमने ( का० ) ७७३
उपक्षेपः परिकर ( लो० ) ( ना० शा० २६–३६ ) ८०३
उपभोगसेवावसरोऽयं ( लो० ) ८०७
उप्पह जाआए ( वृ० ) १२१५
उप्पह जाया ( लो० ) १२६३

ए

एकन्तो रूअहपिआ ( वृ० ) ९३८
एकाश्रयत्वे निर्दोषः ( का० ) ९५७
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः ( का० ) ९२२
एतद्ययोक्तमौचित्यं ( का० ) ७६७
एमेयजणोतिस्सा ( वृ० ) ६६६
एवं वादिनि ( वृ० ) ( कु० स० ६–८४ ) ११८४, १२४५, १३२६
एहि गच्छपतोत्तिष्ठ ( वृ० ) ( व्यासस्य ) ९०६, ९१३

औ

औचित्यवान्यस्तायत ( का० ) ९९२

क

कथमयिकृत प्रत्यापत्तौ ( वृ० ) ७६१
कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयं ( वृ० ) ९३९
कथाशरीरमुत्पाद्य ( वृ० ) ७९२
करिणोवेहव्वअरो ( वृ० ) १३३१
कर्ताद्यूतच्छलानां ( वृ० ) ( वे० सं० ५–२६ ) १२५३
क वे. प्रयत्नान्नेतृणां ( लो० ) ( ना० शा० ) ९४१

कवेरन्तर्गतं भावं ( लो० ) १२३०
कस्त्वंभोः कथयामि ( वृ० ) १२१३
कस्यचिद्व्वनिभेदस्य ( लो० ) १०५६
कस्सम्बद्धे विरहविधुरां ( वृ० ) ( मे० दू० ) ६३१
कार्यमेकं यथाव्याप्ति ( का० ) ६२८
काव्यप्रभेदाश्रयतः ( का० ) ७५५
काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः ( लो० ) ( वा० सू० ३–१–१ ) ६८७
काव्यस्यात्मा व्वनिः ( लो ) ११६३
काव्याध्वनि व्वनिः ( वृ० ) १२३६
काव्यार्थान् भावयति ( लो० ) ( ना० शा० ७–६६ ) १२३०
काव्यालोके प्रथां नीतान् ( लो० ) १३०५
काव्ये उभे ततोन्यत् ( का० ) १२१८
किमिव हि मधुराणां ( वृ० ) ६६१
कुरङ्गीवाङ्गानि ( लो० ) ( शाकुन्तल १–१७ ) ११६६
कुरवककुचाघात ( लो० ) ६१७
कृतक कुपितैः ( वृ० ) रामाभ्युदये ) ७११
कृतक कुपितैः ( लो० ) ( रामाभ्युदये ) ७१२
कृते घरकथालापे ( वृ० ) १३२६
कृत्तद्धितसमासैश्च ( का० ) ८३०
कृत्यपञ्चकनिर्वाह्ययोगेऽपि ( लो० ) १३०७
कैशिकीश्लक्ष्ण नेपथ्या ( लो० ) ( ना० शा० ) १२६६
कोपात्कोमललोलवाहुलतिका ( वृ० ) ( लो० ) ( अमरु–६ ) ६००, ६४२
क्रामन्त्यः क्षण कोमलांगुलि ( वृ० ) ६२१
क्रियायैव तदर्थस्य ( लो० ) ( भामह ३–३२ ) ११५१
क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः ( वृ० ) ( विक्रमो–४ ) ८६६
क्षणे क्षणे यन्नवतामु ( लो० ) ( माघ ४–१७ ) १३७२
क्षिप्तोहस्तावलग्नः ( वृ० ) ( अमरु २ ) ६०२, ६१४
क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यं ( लो० ) ( पुराणश्लोक ) १३६१

## ख

खणपाहुणिआ देअर ( वृ० ) १२४७
खलेवालीयूपः ( लो० ) ११५७

## ग


| | |
|---|---|
| गद्यपद्यमयीचम्पूः ( लो० ) ( दण्डी० ) | ७५६ |
| गावोवः पावनानां ( वृ० ) | १०१९ |
| गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती ( का० ) | ७२० |
| गुणः कृतात्मसंस्कारः ( लो० ) ( ना० शा० ) | ६२७ |
| गोलाकच्छकुडङ्गे ( लो० ) ( स० श० ) | १२३५ |
| गोप्येवंगदिता सलेशं ( लो० ) | ११७३ |


## च


| | |
|---|---|
| चलापाङ्गा दृष्टि ( लो० ) ( शा० १-२५ ) | १२६३ |
| चाह्यणकर परम्पर ( लो० ) ( पुराणी गाथा ) | १३६० |
| चित्तवृत्तिप्रसरप्रसंख्यानधनाः ( लो० ) | ९६१ |
| चित्रं शब्दार्थभेदेन ( का० ) | १२१९ |
| चूअङ्कुरावअंसं ( वृ० ) ( हरिविजये ) | ६८३ |
| चूर्णपादैः प्रसन्नैः ( लो० ) ( ना० शा० ) | ७६९ |


## ज


| | |
|---|---|
| जराजीर्णशरीरस्य ( लो० ) | १३६५ |
| जरा नेयं मूर्ध्नि ( लो० ) ( अभिनव ) | १३६३ |


## ण


| | |
|---|---|
| ण अताण घड़ै ओही ( वृ० ) | १३६९ |


## त


| | |
|---|---|
| त एव तु निवेश्यन्ते ( का० ) | ६९७ |
| तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं ( का० ) | १२१९ |
| तत्र पूर्वमनन्यात्म ( का० ) | १३९४ |
| तथा दीर्घं समासेति ( का० ) | ७१७ |
| तथा रसस्यापि विधौ ( का० ) | ६२८ |
| तथाभूते तस्मिन् मुनिवचसि ( लो० ) ( ता० व० ५ ) | ८१८ |
| तदन्यस्यानुरण न रूप ( का० ) | ६५७ |
| तदा तं दीपयन्त्येव ( का० ) | ६९७ |
| तद्गेहं नतभित्ति ( वृ० ) | ८५६ |
| तद्वक्त्रेन्दु विलोकनेन दिवसः ( लो० ) ( ता० व० १ ) | ८१६ |

तद्विरुद्धरसस्पर्शः ( का० ) ९८२
तमर्थमवलम्बन्ते ये ( वृ० ) ७२६
तया स पूतश्च विभूषितश्च ( लो० ) ( कु० सं० ) १३५३
तरङ्गभ्रूभङ्गाः ( वृ० ) १३१८
तस्य प्रशान्त वाहिता ( लो० ) ( यो० सू० ३–१० ) ९६९
तस्याङ्गानां प्रभेदा ये ( लो० ) १३२४
तस्याभावं जगदुरपरे ( लो० ) १२९७
तां प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य ( वृ० ) ( कु० सं० ) १३६८
तालैः शिञ्जावलयसुभगै. ( वृ० ) ( मे० दू० १६ ) ८४१
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म ( का० ) १३९४
तीर्थे तोयव्यतिकरभवे ( लो० ) ८९४
तेषां गोपवधूविलाससुहृदां ( वृ० ) १२६०
त्वत्सम्प्राप्ति विलोभितेन ( लो० ) ८१९
त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती ( लो० ) ९८३
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां ( लो० ) ( मे० दू० ) ७६४

## द

दन्तक्षतानि करजैश्च ( वृ० ) १२८२
दानवीरं धर्मवीरं ( लो० ) ( ना० शा० ) ९७४
दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं ( वृ० ) १२७५
दुराराधा राधा सुभग ( वृ ) ११८८
दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः ( का० ) १३२६
दृष्टिर्नामृतवर्षिणी ( लो० ) ८१६
देवी स्वीकृतमानसस्य ( लो० ) ( ता० व० ४ ) ८१७

## ध

धत्ते रसादितात्पर्यं ( का० ) ११८७
धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः ( वृ० ) १३२६
धर्मे चार्थे च कामे च ( लो० ) १३३६
धृतिः क्षमा दया शौचं ( लो० ) ( या० स्मृ० ) ६६२
ध्वनेर्यः सगुणीभूत ( लो० ) १३५८
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु ( का० ) ८२१
ध्वनेरित्थं गुणीभूत ( का० ) १३६३

ध्वनेर्यस्य गुणीभूत ( का० ) १३०७

न

न काव्यार्थं विरामो ( का० ) १३६३
च चेह जीवितः कश्चित् ( लो० ) ( म० भा० शा० १५३०१२ ) ८८७
न तु केवलया शास्त्र ( का० ) ७७३
नातिनिर्वहणोचिता ( लो० ) ( ना० शा० ) ७१६,१२६५
नानाभङ्गि भ्रमद्भ्रूः ( वृ० ) १३१९
नारायणं नमस्कृत्य ( लो० ) १३५०
निद्राकैतविनः ( वृ० ) १३१७
निबद्धा सा क्षयं नैति ( का० ) १३८८
निवर्तते हि रसयोः ( का० ) ९७६
निश्श्वासान्ध इवादर्शः ( लो० ) ६६३,१०५६
नीरसस्तु प्रबन्धो यः ( वृ० ) ८८६
नीवाराः शुक ( वृ० ) ( शाकु० १०१८ ) ८५०
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि ( का० ) १४००
नैकरूपतया सर्वे ( का० ) १३९०
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य ( का० ) ९२५
नोपादानं विरुद्धस्य ( लो० ) ९१३
न्यक्कारो ह्ययमेव ( वृ० ) ( ह० ना० अं० १४ ) ८३३,११९३,१२५३

प

पशुः शिरश्चन्द्रकलामनेन ( वृ० ) ११८४
पादानां स्मारकत्वेऽपि ( वृ० ) ६९३
परस्वादानेच्छा ( का० ) १४०५
परार्थे यः पीडामनुभवति ( वृ० ) ( भ० श० श्लो० ५६ ) १२०९
परिपोषं न नेतव्यः ( का० ) ९३५
पहिअसामाइएसु ( लो० ) १२८८
पाएहुक्खामं वदनं ( लो० ) ९००
पुरुषार्थहेतुकमिदं ( लो० ) ९६१
पूर्वे विश्रृङ्खलगिरः ( वृ० ) ८८८
प्रकरणनाटकयोगात् ( लो० ) ( ना० शा० ) ७८३
प्रकारोऽन्यो गुणीभूत ( का० ) ११८७

प्रकारोऽयं गुणीभूत ( का० ) ११२३
प्रतायन्तां वाचो ( का० ) १४०५
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव ( लो० ) ११२४
प्रतीयमानच्छायैषा ( लो० ) ६६५
प्रधानगुणभावाभ्यां ( का० ) १२१६
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे ( लो० ) ६०३
प्रबन्धस्य रसादीनां ( का० ) ७७१
प्रबन्धे मुक्तके वापि ( का० ) ८७०
प्रभामहत्या शिखयेव ( वृ० ) ११४६
प्रभ्रश्यत्युत्तरीयसि ( वृ० ) ८५२
प्रभेदस्यास्य विषयो ( का० ) ११८१
प्रसादे वर्तस्व ( लो० ) ( चन्द्रकस्य ) ८७६
प्रसिद्धे पि प्रबन्धानां ( का० ) ६२३
प्रातुं जनैरर्थिजनस्य ( वृ० ) ६७८
प्राप्तादेवी भूतधात्री च ( लो० ) ( रत्ना० ) ८१५
प्रायच्छनोच्चैः कुसुमानि ( वृ० ) ११८४
प्रायेणैव परां छायां ( का० ) ११३८
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च ( लो० ) ७६६
प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनः ( लो० ) ८०७
प्रासङ्गिके परार्थत्वात् ( लो० ) ( ना० शा० २१-२० ) ८०६
प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम् ( वृ० ) १०७०
प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ( लो० ) ६८५

## ब

बद्धोत्कण्ठमिदं मनः ( लो० ) ( ता० व० १ ) ८१६
बहूनां जन्मनामन्ते ( लो० ) १३४६
बहूना समवेतानां ( लो० ) ( ना० शा० ) ६५०
बाध्यानामङ्गभावं वा ( का० ) ८८६

## भ

भगवान् वासुदेवश्च ( वृ० ) १३४२
भअविहल रक्खणे ( लो० ) ( अभिनव० ) १३५६
भम धम्मिअ ( लो० ) ( गा० स० श० ७६ ) ११७३

भवेत्तस्मिन् प्रमादो हि ( का० ) ६८१
भावानचेतनानपि ( वृ० ) १२२६
भावानचेतनानपि ( लो० ) १२२६,१३२४
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये ( का० ) १३८८
भूरेणुदिग्धान् ( वृ० ) ६७६
भ्रमिमरतिमलस ( वृ० ) ६००

## म

मथ्नामि कौरवशतं ( लो० ) ( वेणी० १–१५ ) ११७६
मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं ( वृ० ) ( लो० ) ८५२
मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरित ( वृ० ) ७२४
महुमहु इति भणन्तो ( वृ० ) १३८४
मापन्यं रुन्धीयो अवेहि ( वृ० ) ( स० श० ६६१. ) ८४४
मीअवहीरिड अरोरो ( लो० ) ८२६
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः ( का० ) १३२२
मुख्या महाकविगिरां ( का० ) ११६६
मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य ( लो० ) १०७०
मुख्या व्यापारविषयाः ( वृ० ) ८८६
मुनिर्जयति योगीन्द्रः ( वृ० ) १३५२
मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं ( वृ० ) ( शा० ३–३८ ) ८४८

## य

यः प्रथमः प्रथमः ( वृ० ) १३१६
यच्च कामसुखं लोके ( वृ० ) ६६५
यत्नः कार्यः सुमतिना ( का० ) ८७०
यत्पदानि त्यजन्त्येव ( लो० ) ( ना० शा० ) ११२३,१२२७
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्य ( का० ) १०४७,११२४
यत्रार्थः शब्दो वा ( लो० ) ६५७,१००३
यथापदार्थद्वारेण ( लो० ) १०३१,१०४२
यथा यथा विपर्येति ( वृ० ) १३३६
यदपि तदपि रम्यं ( का० ) १४०३
यद्वञ्चनाहितमतिः ( वृ० ) ( सुभाषितावली २७१ ) ८५५

यद्वाभाभिनिवेशित्वम् ( लो० ) ( ना० शा० ) ८११
यद्विभ्रम्य विलोकितेषु ( लो० ) ११४१
यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः ( का० ) ६९५
यस्मिन्रसो वा भावो वा ( का० ) १२३६
या निशा सर्वभूतानां ( वृ० ) ६७१
या व्यापारवती रसान् ( वृ० ) १२६४
युक्त्यानयानुसर्तव्यः ( का० ) १३२२
ये च तेषु प्रकारोऽयम् ( का० ) ११३२
ये जीवन्ति न मान्ति ( वृ० ) ८५३
योयः शस्त्रं बिभर्ति ( वृ० ) ( लो० ) ( वेणी० ३–३२ ) ७३५,७३६,७५३

## र

रचना विषयापेक्षं ( का० ) ७६८
रसवन्धोक्तमौचित्यं ( का० ) ७६८
रसभावादिविषय ( वृ० ) १२२६
रसभावादि सम्बद्धां ( का० ) १३८८
रसस्यारब्धविश्रान्तेः ( का० ) ७७३
रसस्य स्याद्विरोधाय ( का० ) ८७२
रसादिमय एकस्मिन् ( का० ) १३३३,१३५३
रसादिविषयेणैतत् ( का० ) ९९०
रसादिषु विवक्षा तु ( वृ० ) १२२६
रसाद्यनुगुणत्वेन ( का० ) ९९२
रसान् तन्नियमे हेतुः ( का० ) ७४१
रसान्तर व्यवधिना ( का० ) ( लो० ) ७२०,९५७
रसान्तरसमावेशः ( का० ) ( लो० ) ९५१
रसान्तरसमावेशः ( लो० ) ९२५
रसान्तरान्तरितयोः ( का० ) ९७६
रागस्यास्पदमित्यवैमि ( लो० ) ( नागा० १–५ ) ९६१
राजहंसैरवीज्यन्त ( लो० ) ११३९
राजानमपि सेवन्ते ( वृ० ) ११९५
राज्यं निर्जित शत्रु ( लो० ) ८०७
रामेण प्रियजीवितेन तु ( वृ० ) ६६५

रूढा ये विषयेऽन्यत्र ( लो० ) १०५७
रौद्रस्य चैव यत्कर्म ( लो० ) ( ना० शा० ) ९१६-९३२

'ल'

लङ्घियगअणा फल ( लो० ) १२३०
लच्छी दुहिदाजामाउओ ( वृ० ) १०९२
लावण्यद्रविणव्ययेन गणितः ( वृ ) ११९८
लावण्यसिन्धुरपरैवहि ( वृ० ) ११२५
लीलाकमलपत्राणि ( वृ० ) ( कु० स० ) १०५०
लीलादाढाशुध्यूढा ( लो० ) ८२५

'व'

वक्त्रासिधे शब्दोक्ति ( लो० ) ( भामह १-२६ ) ११४४
वदति विसिनीपत्रशयनम् ( लो० ) १०५६
वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ( वृ० ) ( कु० स० ) १३६८
वसन्तमत्तालिपरम्परोपमा ( लो० ) ( अभिनव० ) १३९०
वस्तुत शिवमये हृदि ( लो० ) १४१५
वस्तुभातितरां तन्व्याः ( का० ) १३९७
वाक्यार्थमितये तेषाम् ( लो० ) ( श्लो० वा० १-१-७ ) १०२९
वाक्ये सङ्घटनायां च ( का० ) ६९५
वागङ्गसत्वोपेतान् काव्यार्थान् ( लो० ) ( ना० शा० ) ७४४
वाग्विकल्पानामानन्त्यात् ( लो० ) १२६१
वाचस्पतिसहस्राणां ( का० ) १३८८
वाच्यानां वाचकानाञ्च ( का० ) ९९०
वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं ( का० ) ११३८
वाणिअअ हत्थिदन्ता ( वृ० ) ६८७-१३३१
वाणीनवत्वमायाति ( का० ) १३१०
वाल्मीकि व्यतिरिक्तस्य ( वृ० ) १३८०
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ( वृ० ) ८८८
वासुदेवः सर्वमिति ( लो० ) १३४६
विच्छित्तिशोभिनैवेन ( वृ० ) ६९३
विज्ञायेत्थं रसादीनाम् ( का० ) ९८९
विघातव्या न सहृदयैः ( का० ) ११८१

विधिः कथाशरीरस्य ( का० ) ७७२
विनेयानुन्मुखीकर्तुम् ( का० ) ६८२
विन्ध्यो वर्धितवान् ( लो० ) ११५७
विभावभावानुभाव० ( का० ) ७७२,८७१,६६०
विमतिविषयो य आसीत् ( वृ० ) १११८
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः ( वृ० ) ६७६
विरुद्धैकाश्रयो यस्तु ( का० ) ८५४
विरोधमविरोधञ्च ( का० ) ६८०
विरोधालङ्कारेण ( लो० ) ३६७
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे ( का० ) ६९७
विरोधिरससम्बन्धि ( का० ) ८७८
विवक्षातत्परत्वेन ( लो० ) ७१६,१२२४,१२६२
विवक्षिते रसे लब्ध ( का० ) ८८९
विशेषतस्तु शृङ्गारे ( का० ) ६८०
विश्रान्त विग्रहकथा ( लो० ) ८०७
विषयत्वमनापन्नैः ( लो० ) ( ना० शा० ) १०२३
विषयं सुकविः काव्यं ( का० ) ६८६
विषयाश्रयमप्यन्यत् ( का० ) ७५५
विसमद्दयो काणवि ( वृ० ) ६७४
विस्तरेणान्वितस्यापि ( का० ) ८७१
विस्मर्मोत्था मन्मथाज्ञाविधौ न ( वृ० ) ११६६
वीतरागजन्मादर्शनात् ( लो० ) ( न्या० सू० ३–१ ) ६६८
वीरस्य चैव यत्कर्म ( लो० ) ( ना० शा० ) ६३२
वृत्तयः काव्यमातृकाः ( लो० ) ( ना० शा० ) ६६३,१२८६
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ( का० ) १२८५
वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये ( वृ० ) ( ह० च० ) ६८१
व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना ( लो० ) ६६१
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदेऽस्मिन् ( का० ) १३३३
व्रीडायोगान्नतवदनया ( वृ० ) ७०६,१०३४

## श

शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चित् ( का० ) १२६२

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव ( लो० ) ९९६
शब्दाः सङ्केतितं प्राहुः ( लो० ) १३७७
शषौ सरेफसंयोगः ( का० ) ६९६
शून्यं वासगृहं विलोक्य ( वृ० ) ( अमरु ) १३१९
शृङ्गार एव परमः ( लो० ) ७३५
शृङ्गार एव मधुरः ( लो० ) १२९२
शृङ्गारश्च तैः प्रसभम् ( लो० ) ( ना० शा० ) ९३२
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये ( वृ० ) १२२९
शेषो हिमगिरिस्त्वं च ( वृ० ) ( भामह ३–२८ ) १३२६
शोकः श्लोकत्वमागतः ( वृ० ) ( रामा० ) १३३३
श्रीसिद्धिचेलचरणाब्ज ( लो० ) ( अभिनव० ) १४१४

## स

स एव वीतरागश्चेत् ( लो० ) ७४६
संख्यातुं दिङ्मात्रम् ( का० ) १२९०
संवादास्तु भवन्त्येव ( का० ) १३९०
संवादो ह्यन्यसादृश्यं ( का० ) १३९०
संवृत्याभिहितौ वस्तु ( वृ० ) १२३६
संसाध्ये फलयोगे तु ( लो० ) ( ना० शा० २१–७ ७९९
सगुणीभूतव्यङ्ग्यै सालङ्कारैः ( का० ) १२३८
सगुणीभूतव्यङ्ग्यौ ( लो० ) १२८२
सङ्करससृष्टिभ्यां पुनः ( का० ) १२३८
सङ्केतकालमनसं ( लो० ) ११२९
सज्जनात् कविरसौ ( लो० ) १४१५
सज्जे हि सुरहिमासो ( वृ० ) ६८४,१३२६
सत्काव्यकर्तुं वा ज्ञातुं ( का० ) १२९१
सत्काव्यतत्त्व नयवर्त्म ( वृ० ) १४१०
सत्यं मनोरमाः कामाः ( लो० ) ६८५
सत्यं मनोरमा रामाः ( वृ० ) ९८६
सन्तिसिद्धिरसप्रख्याः ( वृ० ) ७९३
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं ( का० ) ७७३
सप्तैताः समिधः श्रियः ( वृ० ) ( व्यासस्य ) ६६१

समर्पकत्वं काव्यस्य ( लो० ) ७५२
समविषमणिव्विमेस ( वृ० ) ८५७
समीहा रतिभोगार्था ( लो० ) ८१०
समुत्थिते धनुर्ज्यानौ ( लो० ) ( अर्जुन च० ) ९५६
समुद्र कुण्डिका ( लो० ) ११५७
सर्वक्षितिभृता नाथ दृष्टा ( लो० ) ( विक्रमो० ) ८५६
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि ( का० ) ७६७
सर्वत्रज्वलितेषु वेश्मसु ( लो० ) ( ता० व० ) ८१७
सर्वो नवा इवाभाति ( का० ) १३२६
सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन ( वृ० ) ( कुमार सं ) १३६८
सविभिन्नाश्रय. कार्यं ( का० ) ९५४
सविभ्रमस्मितोद्भेदाः ( वृ० ) १३१३
स शोणितैः द्रव्यभुजां ( वृ० ) ९७६
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे ( का० ) ११७१
सिज्जइ रोमञ्चिज्जइ ( वृ० ) १३५६
सिंहिपिच्छ करणऊरा ( वृ० ) ६८८
सुप्तिङ् वचनसम्बन्धैः ( का० ) ८३०
सुरभिसमये प्रवृत्ते ( वृ० ) १३२६
सुवर्णपुष्पां पृथिवी ( लो० ) १०७४–१०७५
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः ( वृ० ) ११४२
स्त्रियोनरपतिर्वह्निः ( लो० ) ७६९
स्थितमिति यथाशय्याम् ( लो० ) ( रामाभ्युदये ) ७९५
स्थैर्येणोत्तममध्यम ( लो० ) ( ना० शा० ) ७८६
स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त ( वृ० ) १२५१
स्फुटीकृतार्थं वैचित्र्य ( लो० ) १४१४
स्मरनवनदीपूरेणोढा ( वृ० ) ( अमरु १०४ ) ७१४
स्मरामिस्मर संहार ( लो० ) ( अभिनव० ) ६५७
स्मितं किञ्चिन्मुग्धं ( वृ० ) १३१३
स्वच्छितपक्ष्यमकपाटं ( लो० ) ( स्वप्नवा० ) ८१९
स्वतेजःक्षोतमहिमा ( वृ० ) १३१६
स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं ( लो० ) ( ना० शा० ) ९२९
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति ( वृ० ) ( वे० सं० ) ११७१

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य ( लो० ) ( ना० शा० ) ९६८
स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं ( लो० ) ( भामह ५–३ ) ९९४

## ह

हसन्नेत्रार्पिताकूतं ( लो० ) ११७३
हंसानां निनदेषु यैः ( वृ० ) १३७४
हिअअलिआ ( लो० ) १२३२